श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला ७४

श्रीमद्विद्यारण्यस्वामिप्रणीत

अनुभूतिप्रकाश

द्वादश उपनिषदों की श्लोकबद्ध व्याख्या

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य महामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी

महाराज के प्रवचनों से संकलित

हिन्दी व्याख्या

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन

वाराणसी

ॐ

आमुख

कैवल्य-लाभ के लिये एकमात्र साधन आत्मसाक्षात्कार उपनिषद्रूप प्रमाण का ही दुर्लभ प्रसाद है। 'सर्वं चाऽन्यद् वेद्यम् अधिगम्य अकृतार्थ एव भवति यावद् आत्मतत्त्वं न जानाति' (छांदो. भाष्य पृ. २०८, ६-१-३) आदि आचार्य-निर्देश कृतकृत्यता के लिये सश्रद्ध ब्रह्मनिष्ठलभ्य वेदान्तबोध अनिवार्य सिद्ध करते हैं। कर्म-उपासना (भक्ति) इसीलिये आवश्यक हैं कि इस ज्ञान की पात्रता में हेतु हैं। अधिकारके बिना साधन भी कार्यकारी न होने से मुमुक्षुकी प्राथमिकता मनआदि के शोधनार्थ ईश्वराराधनबुद्धि से कर्म-उपासना का अनुष्ठान है जिससे ईश्वरजिज्ञासा होने पर शास्त्रानुसार विवेकादि में तत्पर हो शनैःशनैः निदिध्यासन-पर्यन्त मार्ग तय किया जा सकता है। 'ज्ञानमात्रे सर्वाश्रमिणाम् अधिकारः' (मुण्ड. भा.) इस भाष्यवचन से प्रेरक ज्ञान, प्रतिबद्ध या परोक्ष ज्ञान, पूर्णाधिकार के बिना भी सम्भव है अतः प्रत्येक मुमुक्षु कम-से-कम परमात्मा के बारे में सही समझ पाने के लिये एवं स्वयं के वास्तविक स्वरूप की संकल्पना के लिये वेदान्तविचार अवश्य करे जिससे चित्तशुद्धि होने पर शीघ्र सही दिशा में साधना की प्रगति हो। सत्य में निश्चित प्रमाण वेद आत्मसम्बन्धी चर्चा उपनिषदों में करता है। यद्यपि अष्टोत्तर शत उपनिषदें हैं और यथाशक्ति सभी अध्येतव्य एवं उनमें कही रीति से अभ्यास कर्तव्य है तथापि आचार्य बादरायण एवं भगवान् भाष्यकार द्वारा विचारित उपनिषदों की सर्वाधिक प्रधानता, सर्वांगपूर्ण होने से पर्याप्तता तथा निश्चयोत्पादकता सर्वसम्मत है। उपनिषदों का विचार और उससे अखण्डबोध पाना संन्यासिकर्त्तव्य है जो अद्यावधि आचार्य की इस उक्ति से पालित है 'इदं त्यक्तसर्वबाह्येषणैः अनन्यशरणैः परमहंसपरिव्राजकैः अत्याश्रमिभिः वेदान्तविज्ञानपरैः एव वेदनीयं पूज्यतमैः ... तथानुशासति अद्यापि त एव नान्ये' (छा. भा. पृ. ४१४; ८. १२.१)। दश उपनिषदों पर प्राचीनतम व्याख्यान भगवान् शंकराचार्य का भाष्य ही है और उनके सम्प्रदाय के अलावा किसी वैष्णव आदि अन्य ने दसों का व्याख्यान आज

तक नहीं किया। यही पर्याप्त प्रमाण है कि वेदार्थविचार से ही मोक्ष स्वीकारने वाला यह एकमात्र सम्प्रदाय है। आचार्य के अनन्तर श्रीशंकरानन्द सरस्वती जी ने दीपिकाओं द्वारा और 'उपनिषद्रत्न' नामक आत्मपुराण द्वारा प्रभूत विचार उपनिषदों पर किया। उनके शिष्य आचार्य श्री विद्यारण्य स्वामी ने भी कुछ वृत्तियों द्वारा एवं 'अनुभूति-प्रकाश' द्वारा उपनिषदर्थ का मंथन किया। नारायण नामक आचार्य की भी अतिमहत्त्वपूर्ण दीपिकाएँ उपलब्ध हैं। अन्य अनेकों ने तत्तत् उपनिषत् पर चिंतन किया तथा उपनिषद् ब्रह्मयोगी ने संक्षिप्त व्याख्या अष्टोत्तरशत उपनिषदों की रची। इससे अतिरिक्त, लौकिक भाषाओं में अनेक अनुवाद एवं व्याख्यान हुए हैं। कोई भी जिज्ञासु बारम्बार वेदान्तचिन्तन करना चाहे तो पूर्वाचार्यों ने इतना बृहत् साहित्य उपलब्ध करा दिया है कि यदि पुनः एक ग्रंथ न भी पढ़े तो जीवनभर अध्ययन के लिये सामग्री पर्याप्त है।

भाष्यार्थ हृदयंगम हो इसके लिये भूमि-तैयारी के रूप में जैसे प्रकरणग्रंथ समझना आवश्यक वैसे ही उपनिषदों का भी सरलार्थ समझना अत्यन्त उपयोगी है। इसके लिये अध्येतृवर्ग सर्वाधिक अधमर्ण है आचार्य विद्यारण्य का जिन्होंने जैसे पंचदशी से सभी अन्य प्रकरणों को गतार्थ किया वैसे अनुभूतिप्रकाश से उपनिषदों के भाव समझना एकत्र ही सम्भव बना दिया। बीस अध्यायों में बारह प्रधान उपनिषदों का सरलतम भाषा में श्लोकबद्ध व्याख्यान आचार्य का अनुपम प्रसाद है। श्रीशंकरानन्द, विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ आदि दिग्गज ब्रह्मनिष्ठों से लब्धबोध विद्यारण्य स्वामी चौदहवीं ईस्वी शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक होने के साथ पूर्वमीमांसा, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र, संगीत, औपनिषद दर्शन आदि अनेक विषयों के प्रामाणिक व्याख्याता रहे। इनकी विशेषता है कि प्रतिपाद्य का ऐसा सटीक खाका खींच देते हैं कि चाहे जितना सूक्ष्म हो पर विषय मानो एक सुस्पष्ट चित्र के रूप में आँखों के सामने नाच जाता है और इसमें उनकी भाषा अतिसुबोध किंतु अतिसुनिश्चितार्थ-बोधिका होती है। इसी रीति से इस ग्रंथ में उपनिषदें समझायी हैं।

प्रथम सात अध्याय 'चतुर्वेदविद्याप्रकाश' के रूपमें अष्टमाध्याय-प्रारंभ में स्पष्ट कथित होने पर भी लोकव्यवहार में सारा ही ग्रंथ अनुभूतिप्रकाश नाम से प्रचलित है। ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य (३-५), मुण्डक, प्रश्नवेदक्रमानुसार ये उपनिषदें पूर्वभाग में (१-७ अध्याय); एवं कौषीतकी (८, ९), मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक (१३-१८), केन और नृसिंहतापनीयये उत्तर भाग में व्याख्यात हैं। प्रायः पौने तेइस

सौ श्लोकों का यह महाप्रबन्ध उपनिषद्-अर्थ समझने के लिये अतुलनीय अवलम्ब है। बृहदारण्यक से ईश और तापनीय से माण्डूक्य का व्याख्यान सुगम समझते हुए सम्भवतः आचार्य ने उन्हें यहाँ संगृहीत नहीं किया। इस ग्रंथ पर पुरातन व्याख्या सुलभ नहीं। काशीनाथ शर्मा द्वारा कृत 'मिताक्षराविवृति' ईस्वी १९२३-२४ में छपी थी एवं क्वचित् पुस्तकालयों में सुरक्षित है। शिवरामाश्रम कृत आठवें अध्याय तक की 'आदर्श' टीका अमेरिका में हस्तलेखरूप से रखी सुनी जाती है। ईस्वी सन् १९८४ में श्रीमुत्तुशास्त्री ने 'श्रुतिसंयोजिनी' प्रकाशित की। काशीनाथ एवं मुत्तुशास्त्री व्याख्येय श्रुतिभाग का स्पष्ट निर्देश देने के अलावा अन्वय और दुर्बोध शब्दों का अर्थ सूचित करते हैं। ग्रंथ का प्रवाह कायम रखने के लिये दोनों विद्वानों ने किसी विस्तार का प्रयास नहीं किया है। मुत्तुशास्त्री ने पाठ की उपयुक्तता पर चिंतन किया जो स्तुत्य है। ईस्वी सन् १९९२ में श्री गोदावरीश मिश्र ने सम्पूर्ण ग्रंथ का अंग्रेज़ी अनुवाद मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित कर आंग्लविदों का महान् उपकार किया है। ईस्वी १९२६ में निर्णयसागर मुद्रणालय से मूलमात्र प्रकाशित हुआ जिसका पुनर्मुद्रण आजकल सुलभ है। कुछ वर्ष पूर्व पुणे विश्वविद्यालय से विद्यावारिधि (पी.एच.डी.) के निमित्त सुश्री ज्योत्स्ना खरे द्वारा लगभग तीस हस्तलेखों से मिलान कर मूल का पाठ तैयार हुआ है जो श्लाघनीय प्रयास है।

ईस्वी सन् २००२-३ में परमाराध्य महाराज श्री जीने आबू पर्वत के नित्य स्वाध्याय के क्रम में इस सद्ग्रन्थ पर विस्तृत विवेचन किया। औपनिषद विचारों की समंजस समग्रता का जीवन्त उपस्थापन करने में सिद्धहस्त उनकी वाणी ने मानो इस प्रकाश का आलोक और अधिक बढ़ा दिया। आचार्य विद्यारण्य ने जो बीजमात्र रखे होंगे उनके फुल्लित-फलित स्वरूपों की अभिव्यक्ति होने से महाराजश्री का व्याख्यान ग्रन्थसे एकरस होना स्वाभाविक था। किंतु वे प्रवचन यथावत् लिखे नहीं गये। फिर भी प्रायः समग्र ग्रंथ के सभी व्याख्यान पट्ट लेखों में संगृहीत (टेप रिकार्ड) हो गये थे। उन्हें सुनकर लिखने का कठिन श्रम श्री बिशनदास जी मेहता ने अपने प्रतिष्ठान में कराया। ध्वनि सुनकर शब्द की सही समझ यन्त्रों का व्यवधान हो जाने पर दुःशक होती है। किं च पट्टलेखों में प्रवचन-मध्यवर्त्ती शंका-समाधान भी गृहीत होने से विचार-प्रवाह में अवरोध भी रहा। यह सब देखकर, पट्टलेख सुनकर लिखे उन प्रवचनों का सारभाग संकलित कर यह व्याख्यान सम्पन्न हुआ है। सम्पादक ने स्वयं महाराजश्री के ये सब प्रवचन सुने भी थे एवं सम्पादनकाल में प्रायः आधे ग्रंथ के कार्य तक महाराजश्री की

उपस्थिति रहने से शंकासमाधान का अवसर पाया है अतः यद्यपि सर्वांश में यह व्याख्या महाराजश्री के शब्दों में एकत्र नहीं हुई तथापि विचार उन्हीं के संकलित समझे जा सकते हैं। सम्बद्ध श्रुतिवाक्यों का निर्देश और अर्थकथन साथ रख देने से ग्रंथ परिपूर्ण हो गया है। श्लोकादिसूची की सहायता से अनुसन्धान-कर्मियों का कार्य सरल बना दिया है।

औपनिषद दर्शन के अनुयायी इस प्रकार के शास्त्रीय चिन्तन के परिशीलन से आत्मकल्याण के भागी बनें ऐसी भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है।

भगवत्पादीय

शिवरात्री

स्वामी पुण्यानन्द गिरि

वि. सं. २०६८

(आचार्य महामण्डलेश्वर)
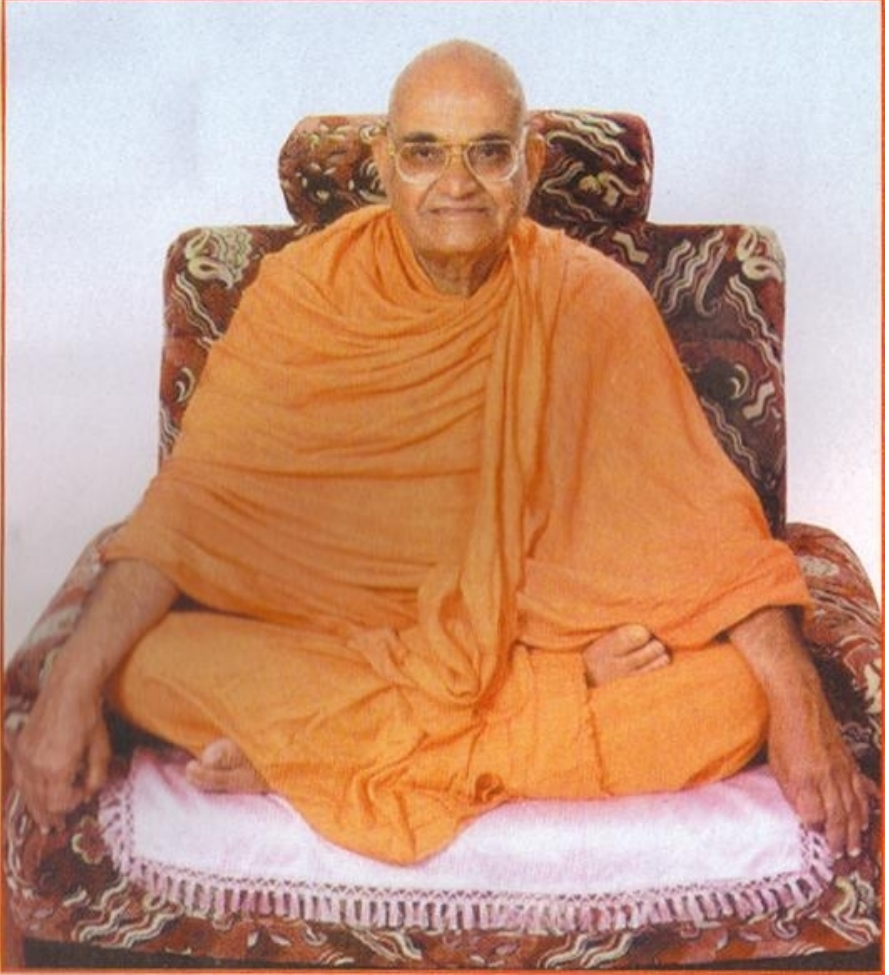
स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

ॐ

विषयसूची

प्रथम भाग

चतुर्वेदविद्याप्रकाश

ॐ

विषयसूची

द्वितीय भाग

अनुभूतिप्रकाश

१२. श्वेताश्वतरोपनिषद्विवरण १०३७–११३३

ॐ

विषयसूची

तृतीय भाग

स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

ॐ

ऐतरेयोपनिषद्विवरणम्

प्रथमोऽध्यायः

ऐतरेय उपनिषत् का विवरण : पहला अध्याय

नमोऽनुभूतिरूपाय प्रकाशाय तमश्छिदे।
विद्यारण्यमहेशाय निर्मलार्चिःप्रदायिने।।

परमात्मस्वरूप मोक्ष ही संसाररूप दुःख का वास्तविक उपरम है। संसार में कुछ दुःख है जिसे दूर करना हैयह वेदान्तदृष्टि से मुमुक्षा नहीं है वरन् संसार ही दुःख है जिसे मिटाकर नित्य परमानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की इच्छा मुमुक्षा है। अतः संसार के कुछेक दुःखों से पिण्ड छुड़ाने के लिये वेदान्ती की प्रवृत्ति नहीं है जैसे उन सभी की है जो संसार को सत्य स्वीकारते हुए मोक्ष या स्वर्ग की बातें करते हैं। इहलोक-परलोकरूप सारा जगत् मिथ्या है इसे सत्यरूप अधिष्ठान के प्रामाणिक दृढ अनुभव से निर्धारित करना ही संसार-बन्धन से छूटना है। संसार सत्य होता तो इसका कोई बंधन भी होता जिसे छुड़ाने के उपाय होते किन्तु क्योंकि संसार मिथ्या है इसलिये इसका बंधन मोहात्मक ही है और उसकी निवृत्ति केवल सही ज्ञान से ही संभव है जैसे रज्जुसर्प के भयादिका निवारण अन्य किसी साधन से असंभव है, केवल रज्जु के ज्ञान से हो सकता है। संसार के अंतर्गत रहते हुए दुःखों से बचना सभी चाहते हैं पर संसार से दूर होने की अभिलाषा दुर्लभ है अतः आचार्य शंकर ने दुर्लभ वस्तुओं में मुमुक्षा को गिना है। उस मुमुक्षा के लिये जीव के मानस में एक विशेष शुद्धता चाहिये जो कर्म-उपासना के बल से ही आती है। शास्त्र ने विभिन्न अधिकारियों के लिये अलग-अलग कर्मों का विधान किया है। अपने लिये विहित कर्म तत्तत् फल के लिये न कर इसी उद्देश्य से किये जायें कि परमात्मा के अनुभव की प्राप्ति हो, तभी चित्त में वह विशेष शुद्धि आती है जो मुमुक्षा को तीव्र करती है। इससे अतिरिक्त, मन में परमात्मा के प्रति जो दृढ आकर्षण और एकाग्रता चाहिये उसके लिये विभिन्न उपासनाएँ करना ज़रूरी पड़ता है। इस तैयारी के होने पर ही शम-दम आदि अधिकारिगुणों का गांभीर्य

आता है। सामान्य शांति आदि से आत्मदर्शन संभव नहीं। आत्मा के यथार्थ ज्ञान के लिये शांति आदि की पुष्कलता चाहिये। वेद ने स्पष्ट किया है कि शान्त दान्त उपरत तितिक्षु समाहित और श्रद्धावान् होकर आत्मा जैसा है वैसा देखा जाये। अतः आत्मा के सही ज्ञान के लिये आवश्यक शांति आदि आये बिना आत्मा के बारे में अज्ञान दूर नहीं होगा। वैसी शांति आदि तभी आयेगी जब साधक ने अपना मन विशुद्ध कर लिया है जो कर्म-उपासना से ही संभव है। आत्मानुभव के लिये दो स्तरों के साधन बताये गये हैंपहला है बहिरंग जिसमें कर्म-उपासना आते हैं जिनका उपयोग मनकी तैयारी में है, दूसरा है अन्तरंग जिसमें शम दम आदि आते हैं जो आत्मदर्शन में उपयोगी हैं। जिस साधक ने बहिरंग की सहायता से अन्तरंग-साधनभूत शान्त्यादि गुणों को स्वयं में सम्पन्न कर लिया है उसे कर्मादि सब प्रवृत्तियाँ छोड़कर वेदान्त के श्रवण-मनन और इनसे हुए निश्चय पर टिके रहनारूप निदिध्यासन ही करते रहना उचित है क्योंकि इसी से तत्त्वबोधकपूर्वक कैवल्यलाभ होता है।

श्रवण का अर्थ है वेदान्तों के समन्वित अर्थ का बुद्धि से निर्धारण करना। शास्त्र तो सनातन है पर जब हमारी बुद्धि उसका तात्पर्य समझेगी तभी हमें शास्त्र का लाभ मिलेगा। आत्मतत्त्व में प्रमाण केवल उपनिषत्-शास्त्र है। रूपादि बाह्य इंद्रियों के विषय गुणों वाला न होने से प्रत्यक्ष व तन्मूलक किसी प्रमाण के अविषय आत्मा को वेदांत से अन्य कोई शास्त्र तात्पर्यतः बताता भी नहीं कि इसमें कोई विकल्प आये। उपनिषदें वेद में भरी हुई हैं पर प्रधानता की दृष्टि से कुछ-एक उपनिषदों का अत्यंत महत्त्व है अतः अद्वैतविद्याचार्यों ने उन्हीं पर व्याख्यायें रची हैं। चारों ही वेदों में उपिनषदें उपलब्ध हैं। सारे वेद का आत्मसम्बन्धी उपदेश सर्वथा एक है। शाखाभेद आदि से आत्मा के बारे में कोई मतभेद वेद में नहीं है। जहाँ भी समझाया है वहाँ वेद ने आत्मा को एकरूप ही समझाया है। इसे व्यक्त करने के लिये चुनी हुई प्रधान उपनिषदें चारों वेदों से ली गयी हैं। मन्त्र व ब्राह्मण दोनों भागों में उपनिषदें आयी हैं और दोनों तरह की उपनिषदों पर आचार्यों ने विचार किया है। आत्मज्ञान के लिये उपनिषदों का सम्यग् अध्ययन अनिवार्य है और उसे शांकरभाष्य के प्रकाश के बिना सम्पन्न करना असंभव है। भाष्यानुसार उपनिषत्चिंतन में प्रवेश पाने के लिये उपनिषदों से एक स्पष्ट परिचय बहुत ज़रूरी होता है। इसी उद्देश्य से प्राचीन-नवीन आचार्यों ने उपनिषदों पर वृत्ति आदि का प्रणयन किया। किन्तु इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सर्वांगीण प्रयास करने वाले सबसे प्राचीन आचार्य **श्रीशङ्करानंद सरस्वती** हैं जिन्होंने **'आत्मपुराण'**

नाम से उपनिषद्व्याख्या का अपूर्व प्रकार दिखाया। उन्हीं के सच्छिष्य हुए आचार्य **श्रीविद्यारण्य**। विद्यारण्य स्वामी ने अनेक उपनिषदों की वृत्तियाँ भी रची हैं तथा वेदभाष्य में भी जहाँ उपनिषदें आयी हैं वहाँ प्रभूत विस्तार किया है और बृहदारण्यकवार्तिक के 'सार' की रचना द्वारा उस उपनिषत् का भी गंभीर मंथन किया है। वेद का अर्थ आज स्पष्ट समझा जा सकता है इसके लिये हम सर्वाधिक ऋणी विद्यारण्य स्वामी के हैं जिन्होंने सायणभाष्य द्वारा वेदार्थ निर्धारित कर दिया है। उपनिषदों की शैली जितनी सहज है उतनी ही जटिल भी। बल्कि सहजतावश ही उसमें इस दृष्टि से जटिलता आ गयी है कि किसी प्रक्रिया के बन्धन का कोई आदर वहाँ नहीं है, तत्त्व का अवबोधन ही उपनिषदों का उद्देश्य है, उसके साधनों का प्रतिपादन इसी दृष्टि से है व अन्य कुछ विषय यथावसर प्रकाशित कर दिये गये हैं। सामान्य प्रारंभिक साधक की अर्थग्रहण-शक्ति विकसित नहीं हो चुकने से वह उपनिषदों में कहे रहस्य-रत्नों के चाकचिक्य से अभिभूत होकर तात्पर्य समझ नहीं पाता। जैसे नया सैलानी रास्ते पर ही चल सकता है, यों ही पहाड़ पर चढ़ने का साहस नहीं कर सकता, वैसे शुरू का अध्येता अद्वैत को तभी ग्रहण कर पाता है जब तरतीब से व्यक्त किया गया हो। इस बात को मन में रख कर विद्यारण्य मुनि ने विश्वप्रसिद्ध 'पञ्चदशी' की रचना की है। सभी का अनुभव है कि उस ग्रन्थरत्न के प्रकाश में वेदान्त के तथ्यों का जो स्फुरण होता है वह अन्य किसी तरह प्राप्त नहीं होता। इसी तरह उपनिषदों के अर्थ को सरलता से हृदयंगम किया जा सके इस प्रयोजन से उन्हीं ने 'अनुभूतिप्रकाश' नामक विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की है जिसमें बीस अध्यायों द्वारा बारह प्रधान उपनिषदों का खुलासा कर दिया गया है। व्याख्येय उपनिषदों को वेदक्रमानुसार ग्रहण कर इसके दो भाग ग्रंथकार को इष्ट हैं : प्रथम सात अध्यायों तक का हिस्सा **'चतुर्वेदविद्याप्रकाश'** है व उससे आगे **'अनुभूतिप्रकाश'**। यह तथ्य आठवें अध्याय के प्रथम श्लोक से प्रकट होता है। फिर भी सारे ग्रंथ का एक 'अनुभूतिप्रकाश' नाम ही प्रचलित है। कुछ आचार्यों ने इस विभाजन को आदर देते हुए पूर्वभाग से उद्धरण देकर 'तदुक्तं विद्याप्रकाशे' आदि कहा है। जैसे अभिनवनारायणेन्द्र-सरस्वती ने छान्दोग्यभाष्यटीका ६.८.७., ८.१२.६ आदि में। प्रथम भाग में ऋग्वेद की ऐतरेय, यजुर्वेद की तैत्तिरीय, सामवेद की छान्दोग्य और अथर्ववेद की मुण्डक-प्रश्न इन पाँच उपनिषदों का सात अध्यायों में विवेचन है। खासकर तैत्तिरीय व छांदोग्य में केवल तत्त्वज्ञान के विषय ग्रहण किये गये हैं, उपासनादि वाले अंश छोड़ दिये हैं। अतः छांदोग्य में आयी तीन विद्याओं पर ही यहाँ

प्रतिज्ञा

ऐतरेयेण सम्प्रोक्ता द्वितीयारण्यकान्तगा।
ब्रह्मविद्या सुविस्पष्टं बालबोधाय तन्यते।।१।।

चिंतन हैश्वेतकेतुविद्या, सनत्कुमारविद्या और प्रजापतिविद्या। द्वितीय भाग में ऋग्वेद की कौषीतकी, यजुर्वेद की मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक, सामवेद की केन और अथर्ववेद की नृसिंहतापनीय उपनिषदों का विचार सुस्पष्ट किया है। बृहदारण्यक को छह अध्यायों में समझाया है। ग्रंथकार ने वार्तिकसार भी रचा है। तत्तत् प्रसंगों से वहाँ के श्लोकों को ग्रहण कर ही अनुभूतिप्रकाश के बृहदारण्यक-व्याख्यात्मक अध्यायों को तैयार किया गया है। यह समग्र ग्रंथ अत्यन्त प्रामाणिक और सरल ढंग से वेदान्त के मूल आकरों का अभिप्राय हृदयंगत कराने में सक्षम है। साक्षात् उपनिषत् पढ़ने-समझने में असमर्थ साधक भी इसी ग्रंथ के श्रवण- मनन से अद्वैत वस्तु का प्रकाश प्राप्त कर सकता है। तथा समर्थ अधिकारी इस ग्रंथ से उपनिषत्-परिचय पाकर भाष्यादि में प्रवेश कर सकता है। जिसने उपनिषद्-अध्ययन संपन्न कर लिया वह इस ग्रंथ से उस विषय का पुनरीक्षण करता रह सकता है। अतः यह प्रबंध सभी के लिये सादर उपयोगी है। इसका प्रत्येक अध्याय अपने में संपूर्ण प्रकरण है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ विषय-कथनरूप मङ्गल से करते हैं : **ऐतरेय ऋषि द्वारा समीचीन और विशेष तरह से समझाई ब्रह्मविद्या ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक में द्वितीय आरण्यक के अन्त में निहित है जिसके अभिप्राय का विस्तार इस अध्याय में किया जाता है ताकि बालकों को भी संशय-विपर्ययरहित स्पष्ट ज्ञान हो जाये।।१।।** उक्त आरण्यक के चौथे-पाँचवें-छठे अध्याय छह खंडों में बँटे हैं जिन्हें 'आत्मषट्क' कहते हैं। इसी हिस्से पर शांकरभाष्य है और विद्यारण्यदीपिका है तथा इसे ही यहाँ समझायेंगे। इससे पूर्व का भाग उपासनापरक है। यद्यपि उस पर भी एक शांकरभाष्य उपलब्ध है तथापि वह प्रस्थानत्रयी भाष्यकार श्री शंकराचार्य-विरचित प्रतीत नहीं होता। श्री शंकरानंद स्वामी ने आत्मपुराण में उस अंश का संदर्भ संक्षेप में दिखा दिया है पर विद्यारण्य स्वामी ने उसका यहाँ परामर्श अनावश्यक समझकर आत्मषट्क की ही व्याख्या की है।

उपनिषत् का प्रथम खण्ड है

'ॐ आत्मा वा इदम् एक एवाऽग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान् नु सृजाइति। स इमाँल्लोकान् असृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः। अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात् ता आपः। स

आत्मा कारणम्

आत्मैव सृष्टेः प्रागासीद् नामरूपविवर्जितः।

सोऽप्येक एव नान्योऽस्ति जडं चान्यद् न विद्यते।।२।।

ईक्षतेमे नु लोकाः। लोकपालान् नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्याऽमूर्छयत्। तमभ्यतपत् तस्याऽभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्। मुखाद् वाग् वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद् वायुः।। अक्षिणी निरभिद्येताम् अक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद् दिशः। त्वङ्निरभिद्यत। त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः। नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद् रेतो रेतस आपः।।' प्रथमखण्डः।।

इसका अक्षरार्थ है : यह जगत् पहले एक अकेला आत्मा ही था, उससे अन्य व्यापारवान् या निर्व्यापार कुछ नहीं था। उसने विचार किया 'क्यों न मैं लोकों को उत्पन्न करूँ!' उसने ये लोक बनायेअम्भ, मरीचि, मर और आप। द्युलोकरूप प्रतिष्ठा और उससे परे के लोक, वे 'अम्भ' हैं। अंतरिक्ष 'मरीचि' है। पृथिवी 'मर' है। जो पृथ्वी से नीचे हैं वे 'आप' हैं। उसने विचार किया 'ये लोक तो बन गये, लोकपालों को क्यों न उत्पन्न करूँ।' उसने जल आदि पंचमहाभूतों से ही पुरुषाकार पिण्ड को तैयारकर उसे मूर्त (ठोस) बनाया। उसने उस विराट् पुरुष के बारे में हर तरह का विचार किया। जैसे पका अण्डा फूटता है ऐसे ही जिसका विचार किया गया था उस पिण्ड का मुख-छिद्र खुल गया। मुख से वाग् इन्द्रिय निष्पन्न हुई। वागिन्द्रिय से अग्नि देवता निष्पन्न हुए। पिण्ड के नासिका-छिद्र खुले, नासिकाओं से घ्राणेन्द्रिय व उससे वायुदेव निष्पन्न हुए। पिण्ड की आँखें खुलीं, उनसे चक्षुरिन्द्रिय और उनसे आदित्य देवता बने। पिण्ड के दोनों कान खुले, कानों से श्रोत्र इन्द्रिय व उससे दिक् देवता निष्पन्न हुए। पिण्ड की त्वचा तैयार हुई, उससे त्वगिन्द्रिय व उससे ओषधि-वनस्पति देवता (वायुदेव) बने। पिण्ड का हृदय बना, हृदय से मन (अंतरिंद्रिय) और उससे चन्द्रदेव निष्पन्न हुए। पिण्ड की नाभि खुली, नाभि से अपानवायु व उससे मृत्यु देव बने। पिण्ड का शिश्न खुला, उससे उपस्थेन्द्रिय व उससे अप्-देव (प्रजापति) बने।। प्रथम खण्ड।।

द्वितीय से सप्तम श्लोक तक इस भाग को समझाते है : **सृष्टि से पूर्व आत्मा ही था। वह आत्मा नामों और रूपों से रहित था। वह भी एक ही है, उससे अन्य न आत्मा ही है और न जड कुछ है।।२।।** हमें दीखता जड-चेतन प्रपंच यह

समझना मुश्किल कर देता है कि वास्तविक वस्तु एकमात्र परमात्मा है। भेद दीखते यह बुद्धिगत नहीं हो पाता है कि भेद नहीं वरन् अभेद है। गहनों के दीखते जैसे यह प्रतीति कठिन होती है कि एकमात्र स्वर्ण से अतिरिक्त कुछ सत्य नहीं है वैसे संसार का अनुभव रहते यह नहीं समझ आता कि एकमात्र परमात्मा से अन्य कुछ सत्य नहीं है। इसीलिये वेद समझने की सुविधा देखकर तब की बात बताता है जब यह संसार नहीं था। संसार जिस समय नहीं था तब केवल परमात्मा था, अकेले परमात्मा से सारा संसार बना अतः सिद्ध होता है कि संसार परमात्मा से पृथक् कुछ नहीं है। जैसे कहें कि बर्तनों के बनने से पूर्व सिर्फ मिट्टी थी, उसी से सब बर्तन बने हैं तो पता चल जाता है कि मिट्टी से पृथक् बर्तन नहीं हैं। इसका मतलब यह नहीं कि जगत्काल में अकेला परमात्मा नहीं है। है अभी भी अकेला वही लेकिन अब क्योंकि संसार का फैलाव दीख रहा है इसलिये अकेला परमात्मा है यह एकाएक समझना मुश्किल है। जो प्रपंच अब व्यक्त मिल रहा है यह पहले सिर्फ एक आत्मा था। आत्मा का लक्षण पुराणकार ने बताया है

'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति कीर्तितः।।'

चार कारणों से तत्त्व को 'आत्मा' कहते हैं : १. सुषुप्ति में उपाधि-विलय होने पर परमानंद ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है इसलिये आत्मा है। २. स्वप्नावस्था में विषयवासनाओं का आदान करता है इसलिये आत्मा है। ३. जाग्रदवस्था में बाह्य विषयों को खाता है, उन्हें ग्रहण करता है इसलिये आत्मा है। ४. क्योंकि इस स्वभाव से नित्य अपरिच्छिन्न है इसलिये यह आत्मा है। निखिल जगत् अध्यस्त है जिसका अधिष्ठान होने से आत्मा सर्वस्वरूप है। 'जगत् आत्मा है' कहने से भ्रम हो सकता था कि जगद्भेद जैसा है वैसा ही आत्मा है अर्थात् आत्मा सप्रपंच है। इसका यद्यपि परिहार हो जाता है कि बाध-सामानाधिकरण्य है अर्थात् 'चोर स्थाणु है' में जैसे 'चोर नहीं वरन् स्थाणु है' मतलब होता है वैसे 'जगत् नहीं वरन् आत्मा है' मतलब है तथापि स्पष्टता, सरलता के लिये 'है' के बजाय 'था' कह दिया ताकि भ्रम की संभावना न रहे। 'एक अकेला आत्मा ही था' कहकर अखण्ड एकरस तत्त्व की सत्ता बतायी, वह स्वगत, सजातीय, विजातीय किसी भी भेद से असंबद्ध था। वृक्षादि में जो शाखा-पत्र-पुष्पादि निरूपित भेद है वह स्वगत कहलाता है, अन्य

'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्'।
इति श्रुत्यन्तरे प्रोक्ता माया नान्यत्र तत्त्वतः।।३।।

वृक्षों से जो उसमें भेद है वह सजातीय और पत्थर आदि से उसमें भेद विजातीय कहा जाता है। आत्मा में ऐसा कोई भेद नहीं है, वह न तो सांश है, न उसकी जाति है व न उससे विजातीय कुछ है। श्रुति में 'मिषत्' कहा है। इसका अर्थ भाष्य में किया है 'व्यापार वाला' अर्थात् सजीव; तात्पर्य है कि जड तो तब कुछ था ही नहीं, चेतन भी परमात्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं था। विद्यारण्यदीपिका में 'मिषत्' का 'आसीत्' अर्थ बताया है, अर्थात् आत्मभिन्न कुछ नहीं था। विद्याप्रकाश में 'जडं चान्यत्' से भाष्योक्त अर्थ ग्रहण किया है। सृष्टि की प्रागवस्था का स्पष्टीकरण किया आत्मा को नामरूप-रहित कहकर। वर्तमान में आत्मा नाम-रूपसहित है। भले ही नाम-रूप कल्पित हैं पर प्रतीयतमान हैं जबकि प्रागवस्था वह है जहाँ वे प्रतीयमान भी नहीं हैं। नामरूपयुक्त होकर प्रतीति ही सृष्टि है, जगत् की अभिव्यक्ति है। अनभिव्यक्त दशा में जगत् के नाम-रूप सत्तावान् नहीं होते। इस प्रकार सर्वथा अद्वितीय अखण्ड आत्मवस्तु का उपन्यास किया है।।२।।

प्रश्न होता है कि आत्मा की नित्य अद्वितीयता उपपन्न करने के लिये सद्वैत जगत् की व्यवस्था 'माया' के सहारे बनायी जाती है; माया को चाहे परिणामी उपादान, चाहे सहकारी या 'द्वार' कारण मानें, पर जगत् के कारण कोटि में उसे स्वीकारा गया ही है; फिर कैसे कहा कि जगत्-उत्पत्ति से पूर्व 'सिर्फ' आत्मा था? इसका उत्तर देते हैं : **'माया को तो प्रकृति समझो, मायावी को तो महेश्वर' यों अन्य वेदवाक्य में बतायी माया तत्त्वभूत आत्मा से अन्य नहीं है।।३।।** श्वेताश्वतरोपनिषत् ४.१० में बताया है कि प्रकृति को वेदान्तों में माया कहते हैं लेकिन वह कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं वरन् महेश्वर द्वारा सर्वथा नियंत्रित है, अपनी सत्ता-स्फूर्ति के लिये माया महेश्वर पर ही निर्भर है। जगत् की उपपत्ति के लिये माया मान्य है पर वह सांख्यों की प्रकृति या वैशेषिकों के परमाणु आदि की तरह आत्मा से स्वतंत्र सत्ता वाली कोई वस्तु नहीं है वरन् परमात्मा पर कल्पित अज्ञान ही है। अतः उसे आत्मा की शक्ति भी कहा जाता है। शक्ति कभी भी शक्तिमान् से स्वतन्त्र वस्तु नहीं होती। अतः माया स्वीकारने से अखण्ड-एकरसता में कोई विरोध नहीं बल्कि उसे न मानकर जो अद्वैत को स्वीकारना चाहते हैं वही असंगत है क्योंकि प्रतीयमान द्वैत यदि मायिक नहीं तो सत्य ही हो सकता है जिससे सद्वितीयता ही सिद्ध होती है। इस प्रकार निर्धारित हुआ कि सृष्टि

निस्तत्त्वं व्यवहारार्हम् अनृतं बालयक्षवत्।
बालो यक्षं प्रकल्प्याऽस्माद् बिभेति व्याघ्रतो यथा।।४।।
वस्तुतत्त्वं जडं किञ्चिद् नान्यदस्त्यात्मवस्तुनः।
अद्वयानन्दरूपात्मा तदा सुप्ताविव स्थितः।।५।।

की अभिव्यक्ति से पूर्व एकमात्र परमात्मा ही था।।३।।

माया वास्तविक न हो तो प्रपंच-कारण के रूप में कैसे मानी जा सकती है, वस्तु ही कारण हुआ करती है? इस शंका का समाधान करते हैं : **अनृत अर्थात् मिथ्या वह होता है जो तात्त्विकता से रहित होने पर भी व्यवहार के योग्य हो जैसे 'बालयक्ष'बच्चा यक्ष की कल्पना कर उससे वैसे ही डरने लगता है जैसे बाघ से!।।४।।** 'है' ऐसा जिसका अनुभव न हो और न ही उसका होना युक्ति-प्रमाणसे समर्थित हो वह असत् होता है जैसे खरगोश के सींग। 'है' ऐसा ही जिसका हमेशा अनुभव रहे वह सत् है जैसे परमात्मा। जिसका होना युक्ति-प्रमाण से समर्थित नहीं बल्कि न होना ही समर्थित हो फिर भी 'है' ऐसा अनुभव हो जाये उसे मिथ्या (अनृत) कहते हैं जैसे भ्रम से दीखा साँप। वह मिथ्या चीज़ भय-कंप आदि व्यवहार संपन्न भले ही करे, उससे सत्य नहीं हो जाती। न सत्य व्यवहार पर निर्भर करता है और न व्यवहार सत्य को निश्चित कराता है अर्थात् सत्य से व्यवहार हो ही ऐसा भी नियम नहीं और व्यवहार-योग्य सत्य ही हो ऐसा भी नियम नहीं। माया जगत् के कारण कोटि में होने पर भी मिथ्या ही है सत्य नहीं है इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। 'यक्ष' अर्थात् विचित्र योनि का प्राणी, किस्से आदि सुनकर बच्चे ऐसे भूत प्रेत आदि की कल्पना कर उनसे डरते हैं। वहाँ भूत है और उन्हें डरा रहा हैऐसी बात नहीं अर्थात् व्यावहारिक भूत उपस्थित नहीं है फिर भी डर-रूप व्यवहार हो रहा है। अतः मिथ्या चीज़ व्यवहार का कारण बनती है यह अनुभव-सिद्ध है। माया भी प्रपंच-व्यवहार का कारण बनी है पर है मिथ्या।।४।।

'अकेला आत्मा था' का अभिप्राय है कि सत्य वस्तु एक आत्मा थी; अनृत माया नहीं थीऐसा कहना नहीं पड़ता, अनृत तो वास्तव में हो ही नहीं सकता तो उसके लिये 'वह नहीं था' कहना बेकार है। अनुभव दिखाते हुए वैसे अकेले आत्मा की विद्यमानता स्पष्ट करते हैं : **जड अर्थात् आत्मरूप वस्तु से अन्य कुछ भी वास्तविक नहीं है। सृष्टि से पहले अद्वय आनंदरूप आत्मा था जैसे सुषुप्ति में रहता है।।५।।** 'सिर्फ एक आत्मा था, कोई दूसरा नहीं था।' इसका अर्थ है कि

वस्तुतः 'है' कहा-समझा जाने लायक कुछ ऐसा नहीं जो आत्मा न हो। आत्मा से अन्य अर्थात् अनात्मा, जड; अनात्मा होना और अवास्तविक होना एक ही बात है क्योंकि वास्तविक एक आत्मा ही है। सृष्टिपूर्वक अनात्मभूत माया का 'होना' बालयक्ष की तरह सृष्टिव्यवहार संभव करने पर भी वैसा 'होना' नहीं जैसा आत्मा का होना; आत्मा का 'होना' उसका वास्तविक सनातन स्वभाव है जबकि अनात्मा का 'होना' उसका आत्मा से तादात्म्य मात्र है। सृष्टिरहित आत्मा को समझने का उत्तम उदाहरण सुषुप्ति है। तब आत्मा की मौजूदगी निर्विवाद है तथा तब किसी अनात्मा की उपस्थिति अनुभव में नहीं आती अतः उस समय कोई॥अनात्मा है यह नहीं कह सकते फिर भी स्वप्न व जाग्रत् बनते हैं अतः उनका कारण सुषुप्ति में था यह कहना भी ग़लत नहीं लगता। ऐसे ही सृष्टिपूर्व दशा में था आत्मा ही, फिर भी 'सृष्टिका कोई कारण भी रहा होगा' यह कहना भी ग़लत नहीं लगता। यों कल्पित जगत्कारण ही माया है। सुषुप्ति का विचार करने से परमात्मा के बारे में स्पष्टता बढ़ती जाती है। नाम-रूप वाला आत्मा सुषुप्ति में भी नहीं और परमात्मा का भी परम स्वरूप नाम-रूप से रहित है। सुषुप्ति में परमानंद है व परमात्मा भी आनंदघन है। (मुत्तुकृष्णशास्त्री ने यहाँ श्लोकक्रम में व्यत्यास माना है।)।।५।।

आत्मा सर्वथा अद्वय था तो सद्वय संसार उसने कैसे बनाया? यह समझाते हैं : **जैसे नींद स्वप्न भ्रम की कल्पना करा देती है वैसे तात्त्विकता से रहित होने पर भी माया जगद्रूप भ्रान्ति की कल्पना करा देती है।।५ १/२।।** स्वप्न में जो कुछ दीखता है उसे बनाने वाला अकेला वही व्यक्ति है जो स्वप्न देख रहा है। व्यावहारिक कारणसामग्री के बिना ही बनाता है अतः प्रातिभासिक सद्वय स्वप्न बना लेता है। परमात्मा भी पारमार्थिक सामग्री के बिना बनाता है अतः सद्वय संसार व्यावहारिक ही बनता है, पारमार्थिक नहीं। अद्वय आत्मा पारमार्थिक है पर उससे जायमान प्रपंच व्यावहारिक ही है इसलिये सद्वयता का उपपादक कारण भी अपारमार्थिक ही उचित है। जीव जैसे नींद के सहारे सपना खड़ा कर लेता है वैसे परमात्मा माया के सहारे प्रंपच खड़ा कर लेता है। नींद भी तत्त्व का अज्ञान ही है, सचाई न जानने का ही नाम नींद है। इसी अज्ञान से सद्वय प्रपंच संभव हुआ है। सपने का भेदवान् संसार अकेले जीव से उत्पन्न हो जाता है, जाग्रत् का संसार भी अकेले परमात्मा से उत्पन्न हो जाता है। स्वप्न जीव से कैसे बनता है?इसका समाधान यही है 'पता नहीं'; जाग्रत् भी परमात्मा से कैसे बनता है इसका पता नहीं है। 'पता नहीं' का ही नाम है अज्ञान,

निस्तत्त्वाऽपि जगद्भ्रान्तिं माया निद्रेव कल्पयेत्।
निर्विकारोऽप्यसावात्मा मायावृत्त्या व्यचारयत्।।६।।

लोकादिसृष्टिः

स विचार्याखिलान् लोकान् सृष्ट्वा पालकसृष्टये।
कृत्वा विराट्-तनुं छिद्रेष्वथ तद्देवता व्यधात्।।७।।

माया। अतः सद्वय प्रपंच अद्वय आत्मा से उत्पन्न होना अज्ञान से संभव है। जो घट नहीं है ऐसी मिट्टी से ही घट बनता है, जो गहना नहीं ऐसे सोने से ही गहना बनता है, इसी प्रकार जो द्वय नहीं है अर्थात् अद्वय है उस आत्मा से ही द्वयरूप संसार बनता है। जो कुछ सद्वय है वह कार्य है अतः परम कारण हो भी अद्वय ही सकता है। संसार में सत् अनुस्यूत है अतः इसका कारण सत् ही हो सकता है। अद्वय सत् ही परमात्मा है। स्वप्नदशा में सपना सच्चा लगता है, जगने पर ही उसकी भ्रमरूपता पता चलती है उसी प्रकार संसारदशा में यह प्रपंच भी सच्चा लगता है, अधिष्ठान परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर ही इसकी भ्रमरूपता पता चलती है। भ्रम बिना अधिष्ठान के नहीं होता और अधिष्ठान-प्रमा के बिना भ्रम का बाध भी नहीं होता। जगत् को मिथ्या तभी अनुभव किया जा सकता है जब उसके अधिष्ठानरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाये। उसी के लिये आत्मविचार का यहाँ क्रम बता रहे हैं।

आत्मा ने माया से सृष्टि-रचना कैसे की? यह समझाते हैं : **जगदभिव्यक्ति से पूर्व जो आत्मा था वह स्वयं किसी भी परिवर्तन से परे है। उसने माया की वृत्ति से विचार किया।।६।। विचार कर उसने समस्त लोक उत्पन्न किये, फिर लोकपालों की सृष्टि के लिये परमात्मा ने विराट्-शरीर की रचना कर तत्तत् छेदों में उन-उन देवताओं को बैठाया।।७।।** संसार एक इतनी सुव्यवस्थित और जटिल प्रक्रिया है कि जो लोग इसे जड प्रकृति का प्रवाह मानते हैं उन पर बुद्धिमान् को हँसी आती है। कुछ वादी तो शास्त्र में भी जड कारण ही बताया है ऐसा कहते हैं पर बादरायण महर्षि ने उनकी कल्पनाओं का खोखलापन ब्रह्मसूत्र में विस्तार से समझाया है। उपनिषदों का स्पष्ट सिद्धान्त है कि सृष्टि चेतन परमात्मा ने की है और सोच-विचार कर की है। यद्यपि परमात्मा स्वरूप से निर्विकार है तथापि वह स्वयं में काल्पनिक विकार दिखाने में समर्थ है। काल्पनिक, मायिक विकारों से वास्तविक पदार्थ में कोई अन्तर न आने से संसाररूप में दीखते हुए भी उसकी निर्विकारता यथावत् रहती है। यह याद रखना चाहिये कि कभी-कभी समझाने के सुभीते को

देखकर परिणामवाद के ढंग से सृष्टि बता देते हैं लेकिन वेदान्त में विवर्तवाद ही अभिप्रेत होता है अर्थात् वास्तविक परिवर्तन होता है यह मान्य नहीं है। मायासहित परमात्मा ही जगदुपादान है अतः संसार परमेश्वर का विवर्त है यही समझना है। परमात्मा केवल निमित्त कारण ही नहीं है जैसे घड़े का निमित्त कुम्हार होता है वरन् घड़े के प्रति मिट्टी की तरह उपादान भी वही है क्योंकि उसने 'बहुत हो जाऊँ' यह संकल्प किया। यहाँ 'लोक उत्पन्न करूँ' इतना ही बताया है पर अन्यत्र सृष्टि-प्रसंग में 'बहुत हो जाऊँ' इस संकल्प को भी कहा है अतः उसे भी यहाँ समझ लेना चाहिये। वेद में समान प्रसंगों में कही बातों को मिलाकर उनका ताल-मेल बैठाकर सारी बात समझनी पड़ती है जिसे 'गुणोपसंहार' कहते हैं, तभी उस विषय पर वेद का क्या निर्णय है यह पता चलता है। क्योंकि परमेश्वर का संकल्प अमोघ होता है अतः महाभूत लोक आदि के उत्पादनार्थ उसे अन्य किसी साधन आदि का सहारा नहीं चाहिये। ऐतरेय में लोकसृष्टि बतायी है अतः उससे पूर्व भूतसृष्टि परमेश्वर ने की यह भी अन्य श्रुतिप्रसंगों से जान लेना चाहिये। यद्यपि विषयमात्र को लोक कहते हैं तथापि यहाँ स्थान को दृष्टि में रखकर लोकों के चार विभाजन माने हैंद्युलोक व उससे ऊपर के सभी महद् आदि लोकों को 'अम्भ' नाम से एकत्र किया है। दूसरा है अंतरिक्षलोक जिसे 'मरीचि' कहा है। पृथ्वी व द्युलोक के मध्य का स्थान अंतरिक्ष है। 'मर' कहा है भूलोक को क्योंकि यहाँ प्राणी सहसा मर जाते हैं। चौथा 'आपः'शब्द से बताया विभाजन है जिसमें पृथ्वी से नीचे के सभी लोक गिन लिये हैं। लोकों का पालन करने वाले अधिष्ठाताओं के बिना लोकों का विनाश हो जाता है अतः इन्हें बनाये रखने के लिये परमात्मा ने लोकपाल पैदा करना ज़रूरी समझा। जड लोकों का समुचित रक्षण बिना चेतन रक्षकों के संभव नहीं। संसार में भी घर यदि चेतनों द्वारा बसा न रहे तो शीघ्र नष्ट हो जाता है और टूटे-फूटे घर में भी लोग बसे हों तो वह मकान दीर्घकाल तक चलता है। लोकपाल बनाने के लिये परमेश्वर ने पहले विराट् देह बनाया, पाँचों महाभूतों का पिण्ड बनाकर उसे मूर्ति का आकार प्रदान किया। सारे ब्रह्माण्ड का पालक यह समष्टिरूप विराट् पुरुष है। उसी विराट्-शरीर के बारे में परमेश्वर ने और विचार किया तो जैसे अण्डा फूटता है ऐसे उस पिण्ड में मुँह का छेद फूट आया, उस छिद्र से वागिन्द्रिय और उससे अग्नि देवता निष्पन्न हुए। ऐसे ही नासिका-घ्राण-वायु, आँखें-चक्षु-आदित्य; कान-श्रोत्र-दिक्; त्वचा-त्वगिन्द्रिय-ओषधि-वनस्पति; अष्टदलक-मलात्मक हृदय-मन-चंद्र; नाभि-अपान-मृत्यु; शिश्न-उपस्थ-प्रजापतिये सभी उत्पन्न

हुए। यहाँ बताये देवता लोकपाल विवक्षित हैं। विराट्-देह स्थूल था, उससे इंद्रिय उत्पन्न हुई का यह मतलब नहीं कि स्थूल से सूक्ष्म उत्पन्न हुआ! इंद्रियाँ तो सूक्ष्म भूतों का कार्य हैं; अतः जिस गोलक में इंद्रिय अभिव्यक्त हुई उससे इंद्रिय को उत्पन्न कहा यह तात्पर्य है। रेडियो में गीत बजता है तो रेडियो ने उसे उत्पन्न नहीं किया वरन् मौजूद तरंगों को खास तरह से अभिव्यक्त कर दिया ताकि ध्वनि सुनी जा सके, फिर भी 'रेडियो से आवाज हो रही है' यह कहा जाता है। ऐसे ही गोलक-छिद्र से इंद्रिय का होना समझ सकते हैं। इसी प्रकार इंद्रियों से देवता उत्पन्न हुए का भी अर्थ है कि देवताओं से अधिष्ठित इंद्रियाँ ही कार्यकारी होने से इंद्रियचेष्टा से देवताओं का अस्तित्व स्फुट हो जाता है। ६-७।।

इससे आगे देवताओं के भोगयोग्य अल्प शरीर की सृष्टि बताते हुए उपनिषत् का द्वितीय खंड आता है

'ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तम् अशना-पिपासाभ्याम् अन्ववार्जत्। ता एनम् अब्रुवन्आयतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामइति। ताभ्यो गाम् आनयत्। ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलम् इति। ताभ्योऽश्वमानयत्। ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलम्इति। ताभ्यः पुरुषमानयत्। ता अब्रुवन्सुकृतं बतेति! पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतइति। अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा-ऽक्षिणी प्राविशद् दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन् चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशद् मृत्त्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशद् आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्। तम् अशना-पिपासे अब्रूताम्आवाभ्याम् अभिप्रजानीहि इति। ते अब्रवीद्एतास्वेव वां देवतासु आभजामि एतासु भागिन्यौ करोमिइति। तस्माद् यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेव अस्याम् अशना-पिपासे भवतः।।' द्वितीयखण्डः।।

इसका अक्षरार्थ है : उत्पादित वे इन्द्रिय-देवता विराड्-देहरूप इस महान् अर्णव में गिर पड़े। परमेश्वर ने विराड्-देह को भूख-प्यास से जोड़ दिया। देवताओं ने परमेश्वर से निवेदन किया, 'जिस अल्प शरीर में रहकर हम अन्न-उपभोग में समर्थ हों वैसा शरीर हमारे लिये तैयार कीजिये।' इस पर परमेश्वर ने उन्हें क्रमशः गायका व घोड़े का शरीर बनाकर दिखाया लेकिन देवताओं ने उन दोनों शरीरों को अपने लिये अयोग्य घोषित कर दिया। तब उनके बैठने के लिये पुरुष शरीर तैयार कर दिखाने पर देवता

समुद्रतुल्ये देहेऽस्मिन् देवताः पतितास्तथा।
तं देहं क्षुत्पिपासाभ्यां योजयामास स प्रभुः।।८।।

संतुष्ट होकर बोले 'वाह! यह आपने बहुत श्रेष्ठ कृति तैयार की है'। निश्चय ही पुरुष-देह परमेश्वर की उत्तम कृति है। परमेश्वर ने देवताओं को निर्देश दिया 'विराड्-देह के जिस-जिस छिद्र से जो-जो इंद्रिय देवता उत्पन्न हुए हैं वे इस स्वल्प शरीर में भी उसी प्रकार के छिद्रों में प्रवेश करें।' तब अग्निदेव वागिन्द्रिय में अभिमानी बनकर व्यष्टिदेह के मुख छिद्र में घुस गये। वायुदेव प्राण से एक होकर नासिका-छिद्र में, आदित्य चक्षुरिन्द्रिय से तादात्म्य रखकर आँखों में, दिग्देव श्रोत्रेन्द्रिय से एक होकर कानों में, ओषधि वनस्पति देवता त्वगिन्द्रिय बनकर त्वचा में; चंद्रमा मन को अधिष्ठित कर हृदय में, मृत्यु देव अपान से एक होकर नाभि में तथा प्रजापति उपस्थेन्द्रिय में तादात्म्य कर शिश्न में प्रवेश कर गये। तब भूख-प्यास ने परमेश्वर से कहा 'हमें आज्ञा दें कि हम कहाँ बैठें।' परमेश्वर ने उनसे कहा 'इन सभी देवताओं का तुम्हें भागीदार बनाता हूँ।' इसलिये चाहे जिस देवता को भोग समर्पित किया जाये, भूख-प्यास को हिस्सा मिलता ही है, भूख-प्यास मिटती ही है।। द्वितीय खण्ड।।

तीन श्लोकों से इस अंशका संग्रह करते हैं : **समुद्र-समान इस विराट्-शरीर में वे इन्द्रिय-देवता गिर पड़े तथा जगद्-उत्पादक प्रभु ने उस शरीर को भूख-प्यास से जोड़ दिया।।८।।** विराट् का शरीर अर्थात् यह स्थूल संसार मानो एक समुद्र है। भगवान् भाष्यकार ने संसार-सागर का वर्णन करते हुए कहा है कि अविद्या-कामना-कर्म से उत्पन्न होने वाला दुःख ही इसमें जल है। तीव्र रोग, बुढ़ापा, मृत्युये बड़े-बड़े ग्राह; (घड़ियाल) हैं। विषयभोगों से जो थोड़ा-सा सुखांश प्रतीत होता है वही इस अपार सागर में कुछ समय का सहारा है, यद्यपि यहाँ स्थिर सक्षम कोई सहारा है नहीं। समुद्र में भयंकर बड़ी लहरें उठती हैं; पाँचों इंन्द्रियों के विषयों की तृष्णा ही वह तीव्र वात है जिससे सैकड़ों अनर्थ पैदा होते हैं जो लहरों की जगह हैं। समुद्र के भीषण घोष की जगह दुःखोद्रेक से रुदन है, आक्रोश है। इससे पार जाने के लिये सक्षम बेड़ा है पूर्णज्ञान और उसमें भरा जो पाथेय चाहिये वह है सत्य, अकुटिलता, दान, दया, अहिंसा, शम, दम, धैर्य आदि सद्गुण। जिस मार्ग पर इसे खेया जाये वह है सत्संग और सर्वत्याग। मोक्ष ही इसका परला किनारा है। ऐसा यह समुद्रतुल्य विराट् है जिसमें लोकपाल आ गिरे। गिरने का मतलब है आत्मस्वरूप का अज्ञान होने से संसार में अहम्-अभिमान द्वारा आसक्ति। महान् कर्म व उपासना के फलस्वरूप लोकपाल भी

अन्नभोगायात्मदेहान् गवाश्वपुरुषादिकान्।
सृष्ट्वा प्रावेशयत् तत्र देवतास्ता यथायथम्।।९।।

बन जायें फिर भी इस पतन से नहीं बचा जा सकता है जब तक आत्मतत्त्वका निरावरण न कर लिया जाये। संसार सागर में डूबते-उबरते रहने में ही प्राणी क्यों लगे रहते हैं? क्योंकि भूख-प्यास चैन नहीं लेने देते। थोड़ा-सा मिलने पर तृप्ति-सी लगती है पर शीघ्र ही फिर भूख-प्यास तैयार हो जाती हैं। यहाँ भूख-प्यास से सभी कामनाएँ समझ लेनी चाहिये। ये भूख-प्यास भगवान् ने ही इस विराट्-पिण्ड से जोड़ रखी हैं। संसार की चक्रात्मक गति, इसकी स्वचालित-व्यवस्था इन्हीं पर निर्भर है क्योंकि ये ही निरंतर गति कराती रहती हैं। कामना तभी संभव है जब जड-चेतन में परस्पर तादात्म्य होयह बताने के लिये देवताओं के पतन के बाद भूख-प्यास से जोड़ने की बात कही। जोड़ा क्यों? क्योंकि वे प्रभु हैं, संसार के पालनकर्ता हैं।।८।।

विराट् अर्थात् समष्टिभाव में भोग संभव नहीं। भोग के लिये संकुचितता, व्यष्टिभाव चाहिये। न तो समष्टि से स्फुट तादात्म्य ही ऐसा हो जाता है जो भोग के उपयोगी हो और न उतना असीम भोग्य ही संपन्न किया जा सकता है। चाहे जितनी व्यापकता की भावना दृढ हो, 'सभी मनुष्यों में मानवतारूप से मैं ही हूँ' यह लगता हो, पर न इथोपिया की भुखमरी से भूख का अनुभव होगा व न अन्यत्र की अन्न की बहुतायत से तृप्ति का। इस भोग के लिये संकुचित होना पड़ेगा। अतः विराट-शरीर में पड़े देवताओं ने भोगोपयोगी स्वल्प-उपाधियों की प्रार्थना की। परमेश्वर ने व्यष्टिशरीर बनाये जिनमें देवता विराजमान हुए। यह बताते हैं **अन्नभोग के लिये गाय-घोड़ा-पुरुष आदि आत्मदेह बनाकर परमात्मा ने उन देवताओं को यथोचित स्थानों में उन देहों में प्रविष्ट कराया।।९।।** 'अन्न-भोग' अर्थात् जिसका सम्पादन किया जा सके उतने अन्न का उपभोग करने लायक व उसका संपादन करने लायक शरीर बनाया तथा उस अन्न का भोग कर सके ऐसा शरीर बनाया। तात्पर्य है कि छोटे शरीर बनाये जिनमें स्वल्प अन्न अर्जित करने की व उसे भोगने की सामर्थ्य है। पहले गाय फिर घोड़ा बनाया, उन्हें देवताओं ने अपर्याप्त बताया। तब पुरुष बनाया जिसमें प्रसन्नता से देवता घुस गये। यह नहीं समझना चाहिये कि गाय घोड़े में देवता बैठे नहीं। वे बैठे सभी व्यष्टि प्राणिनिकायों में पर तभी जब पुरुष-शरीर में बैठने का अवसर उपलब्ध हो गया। अन्य योनियों में भोग तो हो सकता है पर भोगोपलब्धि के लिये सत्कर्म संपन्न कर नहीं सकते यही उन देहों की अपर्याप्तता है। पुरुष-शरीर में कर्माधिकार

होने से उसमें भोग-प्राप्ति के लिये कर्म किये जा सकते हैं तथा संसार बंधन से छूटने के उपायभूत ज्ञान को पाया जा सकता है यह उसकी श्रेष्ठता है। उपनिषत् का यह अर्थ नहीं कि केवल दो देह बनाकर तीसरा मानवदेह बना दिया वरन् जितने प्राणी शरीर हैं सभी को बनाकर तब मानव देह बनाया यह अर्थ है। अतः भाष्यकार ने 'सर्वप्रत्याख्याने ताभ्यः पुरुषम् आनयत्' कहा है अर्थात् सभी शरीरों को देवताओं ने कमी वाला बताया तब पुरुषदेह उनके सामने किया। हर तरह के विवेक की संपत्ति ही पुरुष की विशेषता है। लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक भूमिकाओं पर सही-ग़लत का फ़र्क समझे व तदनुकूल प्रवृत्त हो तभी पुरुष सही मायने में पुरुष है। जब देवताओं ने देख लिया कि मानव शरीर बन गया है जहाँ कर्मादि कर सकेंगे, तब वे सभी शरीरों में घुस गये क्योंकि भोग तो सर्वत्र होता है। यहाँ कोई क्रम भी विवक्षित नहीं कि देह अमुक क्रम से बने या देवता अमुक क्रम से घुसे। देहों की उत्पत्ति और उनमें देवताओं का प्रवेश तथा मानव का वैशिष्ट्यइतना बताने के लिये यह घटना के रूप में वर्णन है। 'आत्मदेह' अर्थात् व्यष्टि शरीर। स्वल्प होने से इसे व्याप्त करना सरल है, इसे पुनः-पुनः ग्रहण किया जाना सहज है, विषय-भोग इसी में संभव और पुत्रादि सन्तति इसकी प्रसिद्ध है अतः इसे आत्मदेह कहना ठीक है। विराट्-शरीर सभी के लिये एक है जबकि व्यष्टि शरीर सबके विभिन्न हैं इसलिये इन्हें ही आत्मदेह कहा जाये यह उचित है। आत्मा से यहाँ देवादि समस्त जीव समझने चाहिये। देवता इंद्रियादि के माध्यम से सभी शरीरों में यद्यपि मौजूद होते हैं तथापि उनके स्वयं के भी भोगायतनरूप शरीर हुआ ही करते हैं। समस्त देहों की सृष्टि परमात्मा ने की। यद्यपि सृष्ट शरीर आगे स्वसमान देहांतर पैदा करते हैं तथापि आदि शरीर ईश्वरसृष्ट हैं। उन शरीरों में देवताओं को परमेश्वर ने ही प्रवेश करने को कहा क्योंकि पहले देवों ने यह अभिलाषा व्यक्त की थी कि भोगयोग्य शरीर मिलें। व्यष्टि देह की प्राप्ति तभी होती है जब जीव में भोग-कामना हो। विराट् के जिस छिद्र से जो इंद्रिय-देवता उत्पन्न हुए उन्होंने व्यष्टि शरीरों में उन्हीं छिद्रों में प्रवेश किया जो विराट् देहगत छिद्रों के स्थानापन्न हैं। अर्थात् विराट् के चक्षुश्छिद्र से उत्पन्न आदित्य व्यष्टि देह में भी चक्षुश्छिद्र में ही घुसे, इत्यादि। देवों के प्रवेश का उद्देश्य भोग व क्रिया होने से जहाँ वे स्वनिर्वर्त्य ज्ञान व क्रिया कर सकते हैं वहीं वे घुसे यह अभिप्राय है, स्थानविशेष में आग्रह नहीं। अभी तक उपकरणरूप से ही देवप्रवेश की चर्चा है, कर्तृ-भोक्तृरूप से प्रवेश आगे कहेंगे। याद रखना चाहिये कि स्थितिकाल में आत्मा के बारे में समझाया जा रहा है अतः अभी जो

ईशोऽसाधारणं स्थानम् अपश्यन् क्षुत्पिपासयोः।
प्रावेशयद् देवतासु तद्भोगात् ते च तृप्यतः।।१०।।

मौजूद हैं उनकी उपस्थिति को बता रहे हैं जिसे क्रमशः ही समझा जा सकता है। सृष्टि में तात्पर्य नहीं, प्रवेश में तात्पर्य नहीं, तात्पर्य आत्मा के निष्कृष्ट स्वरूप में है, उसे समझने में उपयोगी होने से ये कदम बता रहे हैं।।६।।

देवताओं को व्यष्टिदेह में अपने लिये स्थान मिल गये तब पूर्वोत्पादित भूख-प्यास के प्रवेश का मौका आया **व्यष्टि-शरीर में भूख-प्यास के लिये नियत स्थानविशेष न देखते हुए परमेश्वर ने देवताओं में उनका प्रवेश कर दिया जिससे देवताओं द्वारा किये भोग के फलस्वरूप भूख-प्यास भी तृप्त हो जाती हैं।।१०।।** पूर्व में बताया था कि ईश्वर ने विराट् के बारे में विचार किया तो इंद्रिय-देवता उद्बुद्ध हो गये। तदनंतर परमेश्वर ने अपनी तरफ से विराट् को भूख-प्यास से युक्त किया। भूख-प्यास चेतनपक्षीय विकार हैं। क्योंकि विराट् के किसी स्थान-विशेष से भूख-प्यास उत्पन्न नहीं हुई इसलिये व्यष्टि में भी इनका कोई खास स्थान न होना ठीक है। परमेश्वर ने उन्हें व्यष्टि में भी किसी खास स्थान पर नहीं बैठाया वरन् देवताओं में घुसा दिया अर्थात् देवताओं के भोग में भागीदार बना दिया। प्रक्रियानुसार भी भूख-प्यास स्थूल देह के नहीं वरन् सूक्ष्म के धर्म हैं। कामना भी सूक्ष्म में रहती है। इंद्रिय-मन-बुद्धि-प्राणों में सर्वत्र भूख-प्यास हैं एवं जिस-जिसको भोग मिलता है वहाँ रहने वाली भूख-प्यास भी उपशांत हो जाती है। यद्यपि भूख-प्यास का तात्पर्य कामनामात्र से है तथापि कुछ अंतर समझ सकते हैं : जीवन-व्यवहार के लिये आवश्यक भोग की कामना को भूख तथा तदतिरिक्त की कामना को प्यास से कहा है। सामान्य व्यवहारार्थ प्रकाशादि में घटादि के रूपादि दीखेंयह भूख है एवं नृत्त्य, नाटक आदि विशेष दृश्यों की कामना प्यास है; भोजन की इच्छा भूख और रसगुल्ले आदि द्रव्यविशेष की इच्छा प्यास है। यदि भूख-प्यास को भक्ष्य-पेय विषयक ही मानें तो अग्नि, वायु आदि देवता जो स्वयोनि-समुचित भोजनादि करते हैं उससे उनकी भी भूख-प्यास मिटती हैं यह अर्थ समझना चाहिये। किं च हमें भी जब भूख-प्यास हो और अन्न-पेय की उपलब्धि हो जायेआँखों से दीखने लगे, कान से छौंक आदि सुनाई दें, गंध आये इत्यादितो भूख-प्यास की तृप्ति होने लगती है, पूर्ववत् वे अति बाधा नहीं पहुँचाती। इस तरह भूख-प्यास की निवृत्ति में सभी इंद्रियों का योगदान समझ सकते हैं। 'ज्योतिराद्य-धिकरण' (ब्र.सू.२.४.७) में यद्यपि शारीर अर्थात् जीव का ही भोग माना है, उसकी

अन्ने सृष्टे भोक्तृवर्गो ह्यजिघृक्षत् तद् इन्द्रियैः।।
तत्र वागादयोऽशक्तास्तदपानो गृहीतवान्।।११।।

इंद्रियों पर अनुग्रह करने वाले देवताओं का नहीं, अतः हमारे द्वारा रूपादि का भोग करने पर आदित्यादि में होने वाली भूख आदि मिटने की बात ठीक नहीं क्योंकि हमारे भोग से उनका भोग होता ही नहीं, तथापि यदि ऐसा कहा जाता है तो अभिप्राय है कि शारीर वास्तव में अभोक्ता ब्रह्म ही है, इंद्रिय-देवतादि उपाधिवश ही उसमें भोगादि संसार दीख रहा है। अतः वह भोग मानों उन्हीं का है! परमार्थतः तो भोग है ही नहीं, व्यवहार में वह शारीर में ही मिलता है पर विवेकोपयोगी होने से भोग को देवताओं पर आरोपित किया जा सकता है। 'आँख की तृप्ति हुई, मुझे क्या मिला?' इत्यादि चिन्तन साधक को भोगों से विरत करता है ऐसा बताया गया है। तृप्ति यद्यपि जीव की होती है, आँख की नहीं क्योंकि वह तो करणमात्र है, तथापि वैराग्य के लिये कारगर होने से ऐसा विचार उचित मानकर प्रकृत श्रुति-प्रसंग की भी व्याख्या समझनी चाहिये। यहाँ तक उपनिषत् के द्वितीय खंड की व्याख्या हुई।

तृतीय खण्ड में कहा है कि लोक-लोकपाल व्यष्टिदेहों को बनाकर परमात्मा ने विचारपूर्वक पाँचों भूतों से सभी प्राणियों के उपयोगी अन्न की सृष्टि की जिसे ग्रहण करने के लिये आँखादि इंद्रियों ने प्रवृत्ति की पर सक्षम नहीं हुए, यदि हो गये होते तो आज भी अन्न देख-सुनकर ही भूख मिट जाती! अपानवृत्ति ही अंत में सफल हुई अन्न खाने में, अतः आज भी उसी से अन्न निगल कर खाया जाता है। फिर परमेश्वर ने विचार किया 'मेरे बिना यह संघात कैसे रहेगा! इसमें मैं किस मार्ग से प्रवेश करूँ?' उसने मूर्धा में छेद बनाकर संघात में प्रवेश किया। प्रवेश किये हुए ब्रह्म का ही नाम जीव है जिसके तीन वासस्थान हैं जो तीनों ही स्वप्न हैं! जीव ने भूतों के बारे में विवेक किया तो उसे समझ आया कि ब्रह्म से अन्य यहाँ कुछ नहीं है। शरीर में प्रविष्ट वस्तु को ही उसने विस्तृततम ब्रह्म जाना और उसे इन शब्दों में प्रकट किया 'इदम् अदर्शम् इतीँ ३' ''इसे देख लिया! बड़े सन्तोष की बात है'। ऐसा कहने से वह आत्मा ही 'इदंद्र' हुआ जिसे परोक्ष नाम से 'इन्द्र' कहते हैं क्योंकि पूज्यों को पसंद ही यह है कि उनका परोक्ष नाम से ही उल्लेख हो।इस खण्ड को श्लो. ४२ तक समझाया जायेगा।

अन्न की रचना हो जाने पर भोक्ता-वर्ग ने एक-एक इंद्रिय से अन्न ग्रहण करने की कोशिश की। इंद्रियों में वाग् आदि अन्न-ग्रहण में असमर्थ रहे, अपान ने अन्न को ग्रहण कर लिया।।११।। देवताओं ने माँग नहीं की फिर भी

परमेश्वर ने उनके लिये अन्न पैदा कर दिया यह उनकी अपार करुणा है। हर प्राणी के लिये आवश्यक अन्न भगवान् बना ही देते हैं, हम इस बारे में चिन्ता-विलाप व्यर्थ ही करते हैं। यदि भूख मिटाने का साधन अन्न बनाना था तो पहले भूख ही क्यों बनायी? यह प्रश्न ईश्वर की स्वतंत्रता पर आक्षेप है। भूख-अन्न उपलब्ध वस्तुए हैं, उन्हें बनाकर परमेश्वर ने संसार की चक्रात्मक व्यवस्था की है जो प्रभु की कृपा को दिखाती हैयही विचार समझने लायक है। अनेक प्राणी भूख-प्यास से पीडित रहते हैं, पर्याप्त अन्न-जल से वंचित हैं तो ईश्वर की व्यवस्था कैसे समझी जाये? तत्तत् प्राणी को अन्न-जल अपने कर्मानुसार मिलता है। मानव योनि में कर्माधिकार रहते समुचित कर्म-निवेश न करने से ही भोगों के अभाव का सामना करना पड़ता है। ईश्वर की व्यवस्था ही ऐसी है कि अधिकारिशरीर में किये निवेश के अनुसार भोग-लाभ होता है। मानव स्वोपलब्ध साधनों से धर्मार्जन कर सकता है क्योंकि शास्त्र ने केवल बहुधनसाध्य कर्म ही नहीं बताये, अन्य विविध धर्मोपायों का भी विधान किया है। यथाशक्ति धर्मार्जन करे तो अवश्य तत्फलस्वरूप पर्याप्त अन्न-जल पाता है। ईश्वरानुग्रह यही है कि मानवयोनि में निवेश का मौका देते हैं और फिर नियमतः उसका समुचित व्यवस्थित फल प्रदान करते ही हैं। हर योनि के अनुकूल अन्न-जल भगवान् उपलब्ध करा देते हैं। जिन महाभूतों से शरीर बने उन्हीं से तदनुकूल अन्न भी बने हैं। उन महाभूतों को उपनिषत् ने 'अप्' अर्थात् जल यही याद दिलाने को कहा कि प्राणी के कर्मानुसार पदार्थ उसका अन्न बनता है। चीज़ है इतने मात्र से वह मेरे लिये अन्न नहीं बन जायेगी, मेरा उचित कर्म फलोन्मुख होगा तभी वह मेरा अन्न बनेगी। यद्यपि व्यष्टिदेह में अभी जीवप्रवेश की चर्चा नहीं आयी अतः वहाँ भोग होने की बात ठीक नहीं तथापि 'भोक्ता-वर्ग' से यहाँ करण समझने चाहिये, अन्न के अदन की व्यवस्था समझा रहे हैं अतः भोक्ता के पक्ष वाले होने से उन्हें भोक्ता कहना ठीक है। किं च खाये अन्न से सभी इंद्रियाँ पुष्ट होती हैं इसलिये वे भी भोक्ता हैं ही। प्रधानतः भक्षणीय अन्न के अभिप्राय से ही यह प्रसंग समझना चाहिये। पूर्व खण्ड की भूख-प्यास कामनोपलक्षणार्थ होने पर भी यहाँ अपान-ग्राह्य अन्न से भक्षणयोग्य ही समझना उचित है। यदि सभी के विषय-ग्रहण समझने ही हों तो अभिप्राय है कि तत्तदिन्द्रिय भी विषय-भोग से तृप्त तभी होगी जब विषय को देह के भीतर जो भोक्ता जीव है उस तक पहुँचा दे; आँख का विषय से संबंध होने मात्र से आँख नहीं तृप्त होगी, 'मैंने देख लिया' यह जब तक जीव न समझे तब तक आँख को तृप्ति नहीं मिलेगी। ऐसे ही

अन्य इंद्रियों के बारे में है। विषय को तो भीतर लाया नहीं जा सकता! हिमालय तो देह में समायेगा नहीं! अतः भोक्ता तक विषयका जो असर या प्रकार-विशेष पहुँचाया जाता है उसका ग्राहक सर्वत्र अपान को मान सकते हैं। इन्द्रिय-प्रवृत्ति भी प्राणवृत्ति के बिना हो नहीं सकती, चक्षु ज्ञानेंद्रिय है, उसे विषय तक जाने की क्रिया करने के लिये जो रजोगुण चाहिये वह प्राण से ही मिलेगा अतः चक्षुर्वृत्ति में प्राण का विनियोग मान्य है। ऐसा ही अन्यत्र भी समझना चाहिये। इंद्रियों को सहायता देने वाली प्राणवृत्तियों में अपान भी आ जाती है जिससे यह प्रसंग समझा जा सकता है। स्पष्टतः तो भोज्य अन्न की ही बात है यह निर्विवाद है। अन्न उपलब्ध होते ही एक-एक कर सभी इंद्रियों ने कोशिश की कि उसे 'खा' लें अर्थात् उसे विषय कर अपनी तृप्ति कर सकें। यद्यपि कुछ-कुछ उपशांति तो तत्तदिन्द्रिय को हो सकती है तथापि 'भोक्ता-वर्ग' को अन्नोपलब्धि तब तक नहीं होगी जब तक अपान से अन्न जठर में न लाया जाये। अन्त में अपानने प्रयास किया व अन्नाहरण में सफल हुआ। निगलना जिससे संभव होता है वह प्राणवृत्ति यहाँ अपान कही जा रही है। इसलिये आज तक अपान नामक वायु ही अन्न का मुख्य ग्राहक है तथा अन्न द्वारा यही आयुष्यहेतु बनता है। अन्नरस ही प्राणों को देह से बाँधे रखता है यह अनुभवसिद्ध है।।११।।

भोग के अधिष्ठान शरीर, साधन इंद्रियाँ और भोग्य अन्न की उत्पत्ति के बाद भोग के स्वामी की सृष्टि का प्रसंग उठता है। शहर बन जाये, उसमें जनता भी बस जाये, प्रहरी आदि रक्षक भी तैनात हो जायें, पर जब तक शहर का मालिक, राजा वहाँ न वास करे तब तक उस नगर की न कोई शोभा होगी और न ही उसकी व्यवस्थाएँ सुचारु रहेंगी। ऐसे ही शरीर में परमात्मा की अवस्थिति के बिना शरीर का हाल होगा। परमेश्वर ने स्वयं विचार किया 'यह शरीर संघात मेरे बिना कैसे रहेगा! संघात तो अन्यार्थ ही होता है अतः इसके घटकों से अन्य जो मैं, उसी के लिये इसका अस्तित्व है। इंद्रियाँ अपनी-अपनी चेष्टाएँ करें तो किसके लिये? मैं शरीर में रहूँ तब तो मेरे लिये वे सब कुछ करें यह ठीक है, यदि मैं वहाँ हूँ ही नहीं तो उनका कुछ भी करना निरर्थक है। राजा मौजूद ही न हो और बंदीजन स्तुति गायें तो जैसे बेकार है ऐसे मेरे न रहने पर इंद्रियादि की प्रवृत्ति भी निष्प्रयोजन हो जाने से हुआ ही नहीं करेगी। अतः मुझे भोक्ता बनना पड़ेगा, संघात के किये न किये कामों का साक्षी बनना पड़ेगा। मैं शरीर में किस द्वार से प्रवेश करूँ? तत्तत् देवता तो तत्तत् छिद्रों से घुसे, सभी कार्यों का संचालक क्रियाशक्तिरूप प्राण पैरों के तले से घुसा, इनके द्वारों से घुसना मेरे लिये

परस्य प्रवेशः

जीवाऽभावे वृथा सर्वम् इत्यालोच्य परेश्वरः।
शिरोमध्यं विदार्याऽत्र प्राविशज्जीवरूपतः।।१२।।

शोभनीय नहीं।' यह सोचकर सिर के द्वार से परमात्मा ने संघात में प्रवेश किया। यह बताते हैं **परमेश्वर ने विचार किया कि जब तक जीव न हो तब तक जो कुछ अब तक बनाया हैशरीर, इंद्रियाँ, अन्नसब निष्फल रहेगा, किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करेगा। अतः उन्होंने सिर के मध्य को फोड़कर उसके द्वारा शरीर में जीवरूप से प्रवेश किया।।१२।।** मानव के खोपड़े की हड्डियों की संधि मूर्धा के मध्य में होती है, उसी को परमेश्वर के प्रवेश का छिद्र कह रहे हैं। वह छिद्र बनाया ही इसलिये गया कि उससे ज्ञानशक्ति का शरीर में प्रवेश हो। क्योंकि परमेश्वर के निजी प्रवेश के लिये स्वयं उन्हीं ने इस द्वार का उद्घाटन (विदारण) किया इसलिये इसका खास नाम 'विदृति' है तथा साधनावश यदि श्रेष्ठ उपासक इसी मार्ग से प्रयाण करे तो ब्रह्मलोक पाकर मुक्त हो जाता है अतः आनंदकारी होने से इसे 'नान्दन' भी कहते हैं। इस प्रकार के प्रयाण का भगवान् ने गीता में (८.१०-१३) वर्णन किया है और 'तदोकोऽधिकरण' (ब्र.सू.४.२.९) में यही निर्णय है कि जिसकी ब्रह्मोपासना परिपक्व है वह मूर्धा-द्वार से ही निष्क्रमण करता है जिससे ब्रह्मलोक जाता है। परमेश्वरभाव से जीवभाव में आने का मार्ग होने से इसी के द्वारा वापिस जाने पर जीव परमेश्वरभाव प्राप्त करता है। प्रवेश करने पर ब्रह्म का नाम हुआ 'जीव'। वस्तु में अंतर नहीं, प्रविष्ट होते ही वह 'जीव' कहा-समझा जाने लगा। परमेश्वर का 'प्रवेश' घड़े में पानी की तरह संभव नहीं क्योंकि वह व्यापक है। परिच्छिन्न उपाधि में तादात्म्याध्यास ही उसका प्रवेश है। यह बात उपनिषदों में अनेक जगह समझायी है। सूत्रभाष्य में (२.३.१७.४८) आचार्य शंकर ने कहा है 'कः पुनर्देहसम्बन्धः? देहादिरयं सङ्घातोऽहमेवइत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पत्तिः।' आत्मा का शरीर से संबंध क्या है? देहादि इस संघात को 'मैं' समझ लेना यह अयथार्थ अनुभव ही आत्मा का देह-संबंध है। यह अध्यास ही परमेश्वर का जीवरूप से प्रवेश है। इसे संभव करने के लिये ज्ञानशक्तिरूप अंतःकरण की शरीर में उपस्थिति चाहिये, उसका प्रवेश अवश्य घड़े में जल की तरह संभव है अतः उसका क्रियात्मक प्रवेश मूर्धद्वार से मान्य है जिसका उपचार परमेश्वर-प्रवेश में हो जाता है। 'जीवरूप से' में 'रूप'-शब्द का अभिप्राय है कि वास्तव में परमात्मा जीव-नामक कोई तत्त्वान्तर बना नहीं, केवल जीव का रूप धारण

प्राणानां धारकः कर्ता चेतनो जीव उच्यते।
आनखाग्रम् अहङ्कारश्चिद्व्याप्तश्चेतनोऽभवत्।।१३।।

किया है। जैसे बहुरूपिया अन्य रूप धारण करता है जब कि उसके निज स्वरूप में कोई अंतर नहीं है।।१२।।

व्यष्टि शरीर में प्रवेश कर परमात्मा का जो रूप हुआ, जिसे जीव कहा, उसे समझाते हैं ताकि उसी का विवेक कर जिसने वह रूप धरा है उस परमेश्वर को समझा जा सके **जीव उसे कहते हैं जो प्राणों को धारण करता है, चेष्टायें करता है तथा भोगों का अनुभव करता है। उससे व्याप्त हुआ अहंकार भी मानो चेतन है तथा शरीर में नाखून की नोक तक पूरा भरा है।।१३।।** जीव-शब्द ही उसे कहता है जो प्राणों का धारण करे अर्थात् जिसके सहारे प्राण बने रहें। चिन्मात्र नित्य व्यापक वस्तु है, उससे प्राण धारण हो तो सदा सर्वत्र रहे! ऐसा नहीं होता क्योंकि प्राणों को धारण करता है जीव अर्थात् परिच्छिन्न उपाधि में अभिमानी आत्मा। व्यष्टि सूक्ष्म शरीर में अभिमान करता आत्मा जीव है, वही प्राणधारण करता है। वह जिस स्थूल व्यष्टि में जब तक है तब तक उसमें प्राण बँधे रहते हैं, जब वह जीव उस स्थूल का परित्याग कर देता है तब प्राण भी उस स्थूल को छोड़कर जीव के साथ उत्क्रमण करते हैं। अतः प्राणों को जीव का चिह्न मानते हैं, प्राण रहने तक जीव का वहाँ अस्तित्व सर्वसम्मत है। किं च चेष्टाओं को करना अर्थात् कर्ता बनना जीव की खासियत है। 'मैंने किया, मैं कर रहा हूँ, मैं कर सकता हूँ' आदि अनुभव जीव को ही होते हैं और जो किया उसका असर भी जीव ही भोगता है। जीव चेतन है अर्थात् भोक्ता है, जानकारी रखता है। चिन्मात्र तो ज्ञस्वरूप है, जीव ज्ञाता है अर्थात् आगमापायी ज्ञान वाला है, वृत्तिज्ञानों से स्वयं को ज्ञान वाला समझता है। 'मैं ज्ञान हूँ' यह न लगकर 'मुझे ज्ञान है' ऐसा जीव को लगता है। ईसाई-मुसलमान जानवरों में, पौधों में प्राण मानकर भी चेतना नहीं मानते, उन्हें अनुभव होता है, सुख-दुःख होता हैऐसा नहीं स्वीकारते। किन्तु यह मान्यता ग़लत है, प्राणधारण है ही जीव का चिह्न और जीव का स्वभाव ही है अनुभव करना, सुख-दुःख भोगना। शरीर को सजीव बनाने का तरीका है कि अंतःकरण की अहंकार-वृत्ति पूरे शरीर में, नाखून की नोक तक फैली रहती है, उस वृत्ति से जीव एकमेक है अर्थात् उसे अपने से अलग नहीं समझता है अतः जहाँ भी वह वृत्ति है वहाँ जीव को अनुभव है कि 'मैं हूँ'; इस प्रकार सारे शरीर में जीव मौजूद हो जाता है ताकि स्थूल शरीर भी सजीव बन जाता है। अतः शरीरभर में कहीं

अन्तःकरणभागौ द्वावहङ्कारो मनस्तथा।
वृक्षस्य मूलमग्रं च यथा भागौ तथेक्ष्यताम्।।१४।।
चिद्बिम्ब-प्रतिबिम्बाभ्यां युक्तोऽहङ्कार एव तु।
चेतनः प्राणभृत् तस्य हृन्निष्ठं करणं मनः।।१५।।

भी अनुभव होने पर 'मुझे अनुभव हुआ', शरीर के किसी अंग की क्रिया होने पर 'मैंने क्रिया की' यह जीव का अनुभव संभव हो जाता है। जीव के बारे में ब्रह्मसूत्र द्वितीयाध्याय तृतीयपाद के अधिकरण दस से सत्रह तक विचार कर ये आठ बातें निर्णीत की हैंः १) जीव स्वयं जन्म-मरण से रहित है २) जीव उत्पन्न नहीं होता। ३) वह ज्ञानरूप और ४) विभु है। ५) उपाधि-संबंध से वह कर्ता बनता है अतः ६) उपाधिका उच्छेद होने पर मुक्त ही बना रहता है। ७) जीव का संसरण ईश्वरानुज्ञा से ही चलता है और उसी के अनुग्रह से इसे मोक्षप्रद ज्ञान मिलता है। ८) जिस दृष्टि से प्रतिबिंब को बिंब का अंश कह सकते हैं उसी दृष्टि से जीव परमात्मा का अंश समझा जाना चाहिये। स्थूल देह में घुसने पर ही जीव-व्यवहार होता हो ऐसी बात नहीं क्योंकि लोकांतरगमन भी जीव करता है। सूक्ष्मशरीर से तादात्म्य के निमित्त से ही 'जीव' यह व्यवहार संगत हो जाता है। किन्तु शास्त्र में जीव के बारे में इसीलिये बताया है कि उसका विवेक किया जाये और विवेक तभी होगा जब जीव स्थूलाभिमानी रहकर जाग्रद् अवस्था में हो अतः जीव को स्थूल के संदर्भ में बताना उचित ही है। अन्नमयकोश से आत्मा का विवेक करना प्रारंभ करना पड़ता है अतः उस कोशरूप से ग्रहण किये आत्मा को जीवरूप से परिचित कराया जाता है।।१३।।

जिस उपाधि के सहारे शरीर सजीव रहता है उस अहङ्कार को स्पष्ट करते हैं **जिस तरह वृक्षके दो हिस्से होते हैंमूल (जड़) और अग्र (तना) उसी तरह अन्तःकरण के दो भाग हैंअहंकार और मन।।१४।। चिद्रूप बिम्ब और उसकी परछाईं, दोनों से जुड़ा अहंकार ही लोकप्रसिद्ध चेतन है, प्राण-धारण करता है। उसके लिये करण का कार्य करता है मन जो हृदय में निहित है।।१५।।** सूक्ष्मभूतों का कार्य है अंतःकरण। उसकी विभिन्न वृत्तियाँ हैं। वृत्ति अर्थात् वह जो कार्य करता है। वृत्ति या व्यापार (कार्य) के निमित्त अंतःकरण के कुछ नाम पड़ जाते हैं जैसे देवदत्तादि व्यक्ति के पाचक, पाठक आदि नाम पड़ जाते हैं उसके तत्तत् कार्यों के निमित्त से। अनात्मामात्र में 'यह मैं हूँ' ऐसी समझ बनाने का कार्य करने पर

अंतःकरण का नाम 'अहंकार' है जिससे आत्मा में कर्तृता-भोक्तृता प्रतीत होती है। अंतःकरण जब साधन के रूप में कार्य करता है तब उसे 'मन' कहते हैं। 'मैंने जाना'यह अहंकार है, 'मन से जाना'यहाँ अंतःकरण साधन बना हुआ है। चीज़ एक होने पर भी उसके कार्यों के अनुसार उसके नाम हैं। हम व्यवहारभूमि में जिसे चेतन कहते हैं वह चिन्मात्र नहीं वरन् साहंकार चित्तत्त्व ही है। चिन्मात्र न तो हमें ज्ञात है और न ही चेतन के बारे में हमारी भ्रांत धारणाओं के वह अनुरूप ही है। हम अहंकार-विशिष्ट को ही चेतन समझ पाते हैं। अहंकार में यह सामर्थ्य है कि वह चेतन का ज्ञानांश प्रकट करता है जैसे दर्पण प्रकाश की चमक प्रकट करता है या घड़ा आकाश का धारकत्व प्रकट करता है। अहंकार द्वारा प्रकट किया ज्ञानांश ही चित् की परछाईं या चिच्छाया, चित्प्रतिबिम्ब, चिदाभास कहा जाता है। अहंकार स्वयं जिस चित् पर कल्पित है, जिसके ज्ञानांश को अपने में प्रकट करता है वह चित् ही बिम्ब कहा जाता है, अधिष्ठान कहा जाता है। अधिष्ठान से स्वतंत्र अध्यस्त नहीं होता अतः अध्यस्त का उल्लेख करने पर अधिष्ठान भी अर्थात् समझ ही लिया जाता है। स्पष्टता के लिये उसका कथन भी करते हैं। यहाँ व्यावहारिक चेतन को बिम्ब-प्रतिबिम्ब-अहंकार का पुंज कहा है ताकि यह न भूल जायें कि पारमार्थिक चेतन इसमें निहित है जो मोक्षकाल में भी रहेगा। यदि उसे छोड़कर व्यावहारिक चेतन हो तो मोक्ष में उसका सर्वथा अभाव होने से वह मोक्षार्थ प्रवृत्ति ही न करेगा, स्वनाशार्थ प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। पंचदशी के द्वैतविवेकप्रकरण में (श्लोक.११) भी अधिष्ठान चैतन्य-लिंग देह-लिंगगत चिच्छायाइनके संघ को जीव कहा है, आशय एक ही है। जीव चेतन ही प्राणधारण करता है और ज्ञान व क्रिया के लिये मन को साधन बनाता है। मन का स्वाभाविक स्थान हृदय है जो नाभि से दस अंगुल ऊपर स्थित है। कार्यवश मन विभिन्न स्थानों में पहुँच जाता है पर स्थायीरूप से हृदय में रहता है।।१४-५।।

शरीर में प्रविष्ट जीव के संचार-स्थानों के अनुसार उसकी अवस्थाओं को उपनिषत् में सूचित किया है। जीव तीन स्थानों में रहता है और तीनों में एक-एक 'स्वप्न' देखता है। इस बात को ब्रह्मोपनिषत् में और स्पष्ट किया है।

'अथाऽस्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्तिनाभिः हृदयं, कण्ठं, मूर्धेति। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभातिजागरितं, स्वप्नं, सुषुप्तं, तुरीयम् इति।' वहीं यह श्लोक भी है 'नेत्रे जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्।।'

अवस्थाः

तस्य हृत्-कण्ठ-नेत्रेषु प्रचारवशतोभवेत्।
सुप्तिः स्वप्नो जागरश्च सोऽयं संसार ईरितः।।१६।।

नाभि, हृदय, कण्ठ, मूर्धाये चार स्थान हैं जहाँ रहने पर इसकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय अवस्थाएँ होती हैं अर्थात् नेत्र में रहने पर जाग्रत्, कण्ठ में रहने पर स्वप्न, हृदय में रहने पर सुषुप्त और मूर्धा में रहने पर तुरीय। 'दक्षिणाक्षिस्थितो विश्वः' आदि आचार्योक्ति भी होने से यहाँ जो नाभि कहा है उसका तात्पर्य नेत्र से ही समझ लेना चाहिये। ब्रह्मोपनिषत् में चार बताये होने पर भी ऐतरेय में तीन ही कहे हैं, कैवल्य में भी 'पुरत्रये' ही कहा है क्योंकि तुरीय स्थिति सर्वसाधारण नहीं है। यद्यपि जाग्रत् और सुषुप्ति को स्वप्न कहना अटपटा लगता है तथापि क्योंकि वास्तविकता वहाँ भी छिपी रहती है और अवास्तविक जीव का अवभास रहता है इसलिये उन अवस्थाओं को भी उपनिषत् ने स्वप्न कहा है। इस बात को समझाते हैं **वह जीव हृदय, कण्ठ व नेत्रइन स्थानों में आता-जाता है जिससे सुषुप्ति, स्वप्न व जाग्रत् अवस्थाएँ होती रहती हैं। यह जो अवस्थाओं में भटकना है इसे संसार कहते हैं।।१६।।** संसरण जीव का है। जैसे देह-देहान्तर का गमनागमन संसरण है वैसे अवस्थाओं में जाते-आते रहना भी। संसरण-शब्द का अर्थ है गति, सरकना। अवस्थाओं में लगातार सरकने वाला जीव है। सरकती उपाधि है पर उससे तादात्म्यवश जीव का संसरण है जैसे घड़ा चलता है पर घटाकाश के चलने का व्यवहार हो जाता है। देहान्तरग्रहणरूप संसरण का भी प्रसंग आगे (श्लोक. ४४ से) आयेगा। तदनुसार यहाँ पिता का शरीर, माता का शरीर व अपना शरीरये तीन आवसथ, वासस्थान कहे हैं यह भी समझ लेना चाहिये। दैनंदिन संसरण की दृष्टि से नेत्रादि तथा जन्मान्तर की दृष्टि से पिता आदि के शरीरये आवसथ बताये हैं। देह-देहान्तर का गमन-आगमन फिर भी शास्त्रीय संस्कार की अपेक्षा से ही समझ आता है लेकिन अवस्थाओं में संसरण तो सबको स्वानुभवसिद्ध है। जाग्रद् आदि से सभी अवस्थाओं का उपलक्षण है, बाल्य-यौवन आदि, खड़ा-बैठा आदि समस्त अवस्थाओं में सरकते रहना सबको प्रत्यक्ष है। यह संसरण जीव के लिये स्वाभाविक नहीं वरन् औपाधिक है यह समझना आवश्यक है। अवस्थाओं के बदलते रहने पर भी मैं वही बना रहता हूँयह विचार करे तभी आत्मबोध की तरफ बढ़ेगा। आचार्य शंकर ने इसे बताया 'सर्वास्ववस्थास्वपि व्यावृत्तास्वनुवर्तमानम् अहम् इत्यन्तः स्फुरन्तं सदा' आदि के द्वारा। व्यावृत्त अर्थात्

स्वप्नः स्वकाल एवाऽस्ति नान्यदा सुप्तिजागरौ।
तथैवेति स्वप्नसाम्यात् त्रयः स्वप्ना उदीरिताः।।१७।।

बदलने वाला, अनुवृत्त अर्थात् बदलने वालों में एक-समान रहने वाला। अवस्थाएँ व्यावृत्त हैं, बदलती रहती हैं, उनमें आत्मा अनुवृत्त है, एक ही बना रहता है। उसी एक को, हमेशा मैं-रूप से स्फुरने वाले को समझने से कल्याण है लेकिन क्योंकि हम अवस्थाओं में लगातार भटक रहे हैं इसलिये रुक कर सोचने का मौका भी नहीं निकाल पाते! भाष्यकार ने इस उपनिषत् की व्याख्या में बड़े मार्मिक ढंग से कहा है

'आवसथेषु पर्यायेण आत्मभावेन वर्तमानोऽविद्यया दीर्घकालं गाढं प्रसुप्तः स्वाभाविक्या, न प्रबुद्ध्यतेऽनेकशतसहस्राऽनर्थसन्निपातजदुःख-मुद्गराऽभिघातानुभवैरपि!'

जैसे मुद्गरों से किसी को लगातार पीटा जाये फिर भी उसे होश न आये ऐसे जीव अनंत अनर्थ भोगता रहकर भी आत्मविषयक अज्ञानरूप अति गहरी नींद से उठने का नाम ही नहीं लेता! अतः सावधान होकर विवेक करना चाहिये कि भटकना उपाधिका है, मेरा नहीं; मैं उपाधि-साक्षी उससे स्वतंत्र हूँ।।१६।।

जीव का संसरण अवास्तविक है तभी मोक्ष संगत सनातन सत्य है। नित्य मोक्ष का वैदिक सिद्धान्त तब तक संगत नहीं जब तक बन्धन का असत्यत्व न समझा जाये। अत एव मधुसूदन सरस्वती अपने महनीय ग्रंथ का प्रारंभ ही इन शब्दों से करते हैं 'अद्वैतसिद्धेः द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वाद् द्वैतमिथ्यात्वमेव प्रथममुपपादनीयम्'अद्वैत ही एकमात्र सत्य है इसका निश्चय तभी हो सकता है जब पहले निर्णय हो जाये कि द्वैत मिथ्या है अतः सर्वप्रथम यही निर्धारण करना चाहिये कि द्वैत वास्तविक नहीं है। संसारसत्यतावादी कभी मोक्ष को नित्य नहीं मान सकते। सांख्यों की कोशिश तो है लेकिन उसके लिये वे अख्यातिवाद का सहारा लेकर अनुभव का अपलाप करते हैं जो हृदयग्राही नहीं। श्रुति संसरण को मुखतः मिथ्या कहने के लिये उसे 'स्वप्न'-शब्द से बताती है, जीव के तीन आवसथ कहकर तीनों को स्वप्न कहा है। उसी वाक्य को समझाते हैं **जैसे स्वप्न स्वकाल में ही होता है अन्य समय नहीं वैसे ही सुषुप्ति और जाग्रत् भी अपने-अपने समय में ही होते हैं अन्य समय नहीं अतः उनमें भी स्वप्न की समानता होने से तीनों को स्वप्न कहा है।।१७।।** 'स्वकाल' अर्थात् जब तक जो सपना अनुभव में आ रहा हो वह तभी तक 'है' समझा जाता है, न आगे-पीछे और न जाग्रत्काल में; जिस समय देवदत्त स्वप्न देख रहा है उसी समय

यज्ञदत्त के जाग्रत् काल में वह स्वप्न 'है' नहीं समझा जाता। सपना सपने के ही काल में 'है' समझा जाता है, सपने से अन्य काल में नहीं। 'सपने का काल' अर्थात् सपने में प्रतीत होता समय। सपने का मिथ्यात्व इसी से मानते हैं कि वह केवल स्वकाल में है, आगे पीछे नहीं जैसे रज्जुसर्प सर्पानुभवकाल में ही है, आगे-पीछे नहीं अतः मिथ्या है। आचार्य कहते हैं कि केवल स्वकाल में होना तो जाग्रत् व सुषुप्ति में भी समान है! जाग्रत् में पेट-भर भोजन कर सोयें तो भी सपने में भूख लगी रहती है अतः उस समय जाग्रत् के पेट में पड़े भोजन की सत्ता कैसे मानी जाये? जैसे स्वप्न में कमाया धन जाग्रत् में बेकार है वैसे जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में बेकार हैं। अतः जाग्रत् भी स्वकाल में ही है, अन्यकाल में नहीं। सुषुप्तिकाल में जाग्रत्-स्वप्न के होने का कोई प्रमाण नहीं। सुषुप्ति भी जाग्रत्-स्वप्न के कालों में होती नहीं। इस प्रकार केवल स्वकाल में होनायह तीनों अवस्थाओं में एक-सा है जिससे तीनों को सपना कहना ठीक है। स्वप्न-मिथ्यात्व में अयोग्य देश-काल में प्रतीति को हेतु बनाया ही जाता है। स्वप्न व जागरित का मिथ्यात्वेन ऐक्य गौडपादाचार्य ने भी (२.५) बताया है। जाग्रत् के पदार्थों की सप्रयोजनता स्वप्न-सुषुप्ति में नहीं रहती जैसे स्वप्न के पदार्थों की सप्रयोजनता जाग्रत् में नहीं रहती अतः मिथ्यात्व में अंतर नहीं। गौडपादाचार्य ने 'चित्तकाल' और 'द्वयकाल' शब्दों का प्रयोग (२.१४) किया है। कल्पना के रहते ही जिसकी उपलब्धि हो वह चित्तकाल तथा परस्पर भिन्न वस्तुएँ एक-दूसरे को निरूपित करें तो उन्हें द्वयकाल माना है। यह विभाजन त्रिविधसत्ता के अनुसार ठीक है पर सूक्ष्म विचार करने पर चित्त से स्वतंत्र होकर द्वयकाल कुछ नहीं रहता है अतः सब केवल स्वकाल ही है यह विद्यारण्य स्वामी ने समझाया। आगे सोचें तो घट भी घटकाल में ही है, अघटकाल में नहीं अतः उसे भी मिथ्या समझना समुचित है। लगातार यह चिंतन करते रहना चाहिये कि सारा दृश्य जगत् स्वकाल में ही होने से मिथ्या है। इससे राग क्षीण होता है, आशा-प्रतीक्षा आदि निरर्थक भाव दूर होते हैं, बीते की चिंता मिटती है और जो जब है तब उसी का पूर्ण आनंद लिया जा सकता है। यद्यपि अद्वैतसिद्धिकार ने ध्वंस-प्रतियोगिता को ही कालपरिच्छेद कहा है तथापि यहाँ बताये ढंग से स्वकालमात्रवर्तित्वको भी कालपरिच्छेद समझकर मिथ्यात्व निश्चय करना चाहिये।।१७।।

संसरण क्योंकि मिथ्या है इसलिये इसकी निवृत्ति का एक ही सही उपाय है अपवाद। अवास्तविक का ही वस्तु-याथात्म्यज्ञान से निवारण हो सकता है। निवारण

अपवादः

अध्यारोपो मायिकोऽयम् उक्तोऽथाऽसावपोद्यते।
अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।।१८।।

करने वाले ज्ञान को कार्य करने के लिये निवारणीय की जैसी समझ चाहिये उसे पैदा करने वाली प्रक्रिया को अध्यारोप शब्द से कहते हैं। यथानुभव द्वैत को एकाएक ज्ञान से हटा नहीं सकते। पहले द्वैत को तरतीब से इस तरह अवस्थित करना पड़ेगा कि अधिष्ठान के अज्ञान के मिटते ही द्वैत का सारा ढाँचा ढह जाये। सारा द्वैत केवल आत्मा के अज्ञान का विलास है यह समझना अध्यारोप है तथा वह अज्ञान व उसका कार्य है ही नहींयह समझना अपवाद है। वेदांत की समझाने की यही एक-मात्र प्रक्रिया है कि पहले अध्यारोप द्वारा भेद को मायिक समझायें फिर अपवाद द्वारा उसका समूल निवारण करें। तात्पर्यविषय न होने पर भी अपवाद के लिये अनिवार्य होने से अध्यारोप का महत्त्व भूल नहीं सकते। अध्यारोप के तरीकों में अनेक विकल्प मान्य हैं क्योंकि वह किसी तथ्य को तो विषय नहीं करता वरन् भ्रम की व्याख्यामात्र है। अपवाद में विकल्प नहीं क्योंकि वह वास्तविकता को बताता है जो एकरूप है। ऐतरेयोपनिषत् में भी इसी ढंग से आत्मवस्तु समझायी है यह बताते हैं **अब तक माया-विलासरूप अध्यारोप बताया। अब उसका अपवाद करेंगे। अध्यारोप और अपवाद के द्वारा संसारातीत परब्रह्म का विस्तृत वर्णन किया जाता है।।१८।।** सृष्टि कैसे हुईयह अब तक बताया। सृष्टि हुईयह बताना शास्त्र का प्रयोजन नहीं वरन् प्रतीयमान संसार है ही नहीं यह बताना ही प्रयोजन है। लेकिन 'है ही नहीं' इसे समझने के लिये पहले उन सब संभावनाओं को हटा लेना पड़ेगा जो सृष्टि हुई या है के पक्ष को सिद्ध करती लगती हैं। उन सब को ग़लत सिद्ध करने के लिये जिस तरह सृष्टि के होने को बताया जाता है वह अध्यारोप है। इसमें यह नहीं कहते कि सृष्टि यों हुई वरन् यह कहते हैं कि इससे अन्य और किसी ढंग से सृष्टि नहीं हुई। अन्य तरीकों को हटा कर एक तरीका बचा लेने पर अपवाद से उसे जब दूर करते हैं तब अत्यंत अद्वैत स्वतः सिद्ध रहता है। केवल उत्पत्ति ही नहीं, स्थिति, वर्तमान प्रतीति भी उपपन्न करने की पद्धति अध्यारोप है। सारा द्वैत और उसका अनुभव माया का ही फैलाव है। आत्मतत्त्व को न जानने से ही अनात्मा का दर्शन हो रहा है। आगे जो विचार आयेगा वह अपवाद के लिये है। अध्यारोप होता ही अपवाद के लिये है। मोक्ष अपवाद द्वारा ही उपलब्ध होगा। वास्तव में परमात्मा संसार से अस्पृष्ट है।

स संसारीश्वरो जात ईश्वरानुग्रहात् पुनः।
पृथिव्यादीनि भूतानि यथाशास्त्रं व्यचारयत्।।१९।।

कल्पित सर्प से जैसे रज्जु का कोई संपर्क नहीं वैसे संसार से परमात्मा का कैसा भी संबंध नहीं। अतः परमात्मा को समझाया जा सके इसके लिये उसका संसार से कोई संबंध मान लेना पड़ता है क्योंकि हमारी शब्दप्रवृत्ति और विचार प्रवृत्ति संसार के आयामों में ही होती है। यह संबंध मानना ही अध्यारोप है। संसार का कारण परमात्मा हैयह मानना अध्यारोप है क्योंकि वस्तुस्थिति में जब संसार है ही नहीं तब उसके कारण की बात ही निरर्थक है। लेकिन इस संबंध को माने बिना परमात्म-विषयक कहना-समझना हो ही नहीं सकता। अतः संसारातीत को समझने के लिये तरीका ही अध्यारोपपूर्वक अपवाद का है।।१८।।

अपवाद-प्रकरण का प्रारंभ करते हुए श्रुति ने कहा है 'स जातो भूतानि अभिव्यैख्यत्'परमात्मा ने देह में प्रवेश किया तो जन्म-मृत्यु आदि और जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाओं में भटकने वाला संसारी हो गया। फिर कभी उसने आकाशादि भूतों को एवं सब प्राणियों को विवेक दृष्टि से समझा। जब तक विवेक नहीं किया तब तक 'मैं मनुष्य हूँ, काणा हूँ, सुखी हूँ' आदि ही कहता समझता रहा, संसार के बारे में ही नाना शब्द-प्रत्ययों का व्यवहार करता रहा, न दृश्य में और न ही द्रष्टा में जो वास्तविक आत्मतत्त्व है उसे समझ पाया। इस वाक्य को समझाते हैं **वह ईश्वर संसारी बनकर बारंबार जन्म लेता रहा। कभी ईश्वर के अनुग्रह से उसने पृथिवी आदि भूतों का शास्त्रोक्त ढंग से विचार किया।।१९।।** वेदांत मानता है कि ब्रह्म ही संसरण कर रहा है अतः ईश्वर जीव बना यह कहा। यहाँ ईश्वर-शब्द निर्विभाग चेतन के अभिप्राय से समझना सरल होगा। वस्तुतः जीव-ईश्वर का विभाग कल्पित है और विभाजन रहते दोनों ही मानने पड़ते हैंजीव भी ईश्वर भी। जब तक संसारी है तब तक वह जिसे ईश्वर समझता है वह वास्तव में निर्विभाग है और उसी के लिये कहा कि वह जीव बना। ईश्वरता रहते उसमें जीवता आयीयह अर्थ नहीं है वरन् जिसमें ईश्वरता कल्पित है उस ईश्वर में जीवता आयी यह अर्थ है। ईश्वर-ता कल्पित है, ईश्वर कल्पित नहींयह याद रखना चाहिये। ऐसे ही जीव नहीं वरन् जीव-ता कल्पित है। ब्रह्म संसारी 'बना' नहीं क्योंकि यह बनना मिथ्या ही है जैसे रज्जु कभी सर्प बनती नहीं, पर हमारा अनुभव है कि हम पैदा हुए या अन्य सब पैदा हुए इसलिये कहा 'पुनः जातः'बारम्बार पैदा हुआ अर्थात् पैदा होने की अनादि परंपरा है, कोई प्रथम जन्म

नहीं है। इसीलिये कर्म-फल की व्यवस्था सुचारु चलती है, यदि कोई प्रथम जन्म हो तो वह निष्कारण मानना पड़ेगा जो सर्वथा असंगत है। अत एव जीव को अजन्मा माना गया है। बार-बार विभिन्न शरीर धारण करता ही जाता है पर कोई शरीरधारण ऐसा नहीं कि उससे पूर्व शरीर न धारण किया हो। जीव अपने वास्तविक कल्याण के लिये तभी प्रयास कर सकता है जब उस पर ईश्वर की कृपा हो। यद्यपि कृपा करने में प्रभु परम स्वतंत्र हैं तथापि स्ववर्णाश्रमोचित धर्मों को परमेश्वरार्पण बुद्धि से करता रहे तो जीव ईशकृपा का हकदार बन ही जाता है। भगवान् की कृपा का परिचय सांसारिक उपलब्धियों से कभी नहीं समझना चाहिये वरन् आत्मज्ञान समझाने वाले श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ की प्राप्ति ही परमेश्वरकृपा का चिह्न है। शास्त्र पर अटल श्रद्धा रखना जीव का कर्तव्य है तभी शास्त्र का सही अर्थ समझ आ पाता है। सद्गुरु जब सच्छास्त्र का उपदेश दे और सच्छिष्य श्रद्धा से तदनुसार आचार-विचार करे तभी आत्मबोध के मार्ग पर प्रगति संभव है। विविदिषु का आचार भी सामान्य संसारी से पृथक् होना पड़ता है क्योंकि वह त्याग-तपस्या-शमादि से भरा-पूरा होना चाहिये और विचार भी पृथक् होता है क्योंकि बहुत्वपक्षीय विचारों को छोड़ते हुएतद्बोधक शब्दों की भी उपेक्षा करते हुए अद्वैतविचारों का ही प्रवाह चलाना चाहिये। मोक्षेच्छुक जीव क्या विचार करेयह यहाँ बता रहे हैं। अनुभूयमान आकाशादि भूत और प्राणिशरीर किसलिये उत्पन्न होते हैं, इनकी रक्षा कौन करता है, ये नष्ट होने पर किसमें लीन होते हैं?ये विचार कर्तव्य हैं। महाभारत का अनुकरण करते हुए तैत्तिरीयवार्तिक में इसे कहा है

‘कोऽहं कस्य कुतो वेति कः कथं वा भवेदिति।
प्रयोजनमतिर्नित्यम् एवं मोक्षाश्रमी भवेत्।।’

मैं कौन हूँ, किससे वस्तुतः संबद्ध हूँ, किस कारण से हूँ, कौन बन सकता हूँ, कैसे बनूँगा?इत्यादि समझकर तदनुसार यत्नशील होने के लिये किया गया विचार ही हितकारी है। जैसे बिना रोशनी के रूप नहीं दीख सकता ऐसे ही विचार के बिना अन्य किसी साधन से वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान असंभव है। वह क्या विचार है जो आत्मज्ञान देता है यह अपरोक्षानुभूति में (श्लोक १२-१६) सुस्पष्ट किया है। बार-बार इन प्रश्नों पर शास्त्रानुकूल तरह से स्वानुभवानुसार चिंतन कर वेदसिद्ध निर्णयों को दुहराते रहना चाहिये। शास्त्र से दिशानिर्देश बिना लिये किया विचार सत्य की ओर

कार्यं कारणाऽव्यतिरेकि

परमात्मन उत्पन्नं जगदात्मैव नेतरत्।

मृदो जातो घटो यद्वद् मृद्वस्त्वेव तथेक्ष्यताम्।।२०।।

नहीं ले जायेगा अतः अनर्थक ही होगा। कथंचित् चार-छह सही बातें समझ आ जायें तो भी ज्ञान की सम्पूर्णता पाना असंभव है। घुणाक्षरन्याय से अक्षर ही बनते हैं, काव्य नहीं!।।१८।।

विचार प्रक्रिया ही स्पष्ट करते हैं **परमात्मा से पैदा हुआ जगत् आत्मा ही है, उससे अन्य नहीं जैसे मिट्टी से बना घड़ा मिट्टी ही होता है उससे अलग नहीं।।२०।।** सारा संसार परमात्मा से बनायह शास्त्र ने क्यों बताया इसे इस श्लोक द्वारा स्पष्ट किया। छान्दोग्योपनिषत् में बताया है कि जैसे मिट्टी के सब विकारों का सत्य मिट्टी ही है, सभी लोहकार्यों की वास्तविकता लोहा है, समस्त स्वर्णालंकारों की सचाई सोना है वैसे सारे जगत् का सत्य सद्रूप परमात्मा ही है। विवेकचूडामणि में (श्लोक. २३०-२) यह विषय समझाया गया है। यदि जगत् सद्ब्रह्म का कार्य न होता तो इसमें सर्वत्र सत् की'है' कीअनुगति न होती। मृत्कार्यों में ही मृत् की अनुगति होती है। सद्-अनुगति ही सिद्ध कर देती है कि संसार सत् का विलास है। विचार करें तो घट आदि को मिट्टी से पृथक् नहीं मान सकते, वे मिट्टी में कल्पित ही हैं, इसी तरह संसार ब्रह्म में कल्पित ही निश्चित होता है। संसार मिथ्या होने से ब्रह्म में कल्पित होते हुए भी ब्रह्म को सविकार नहीं बनाता! जगत् आत्मा का विवर्तरूप कार्य है, परिणामरूप नहीं। आरंभ-रूप कार्य तो कहीं संभव नहीं क्योंकि गीता में स्पष्ट किया कि असत् का भाव और सत् का अभाव कभी संभव नहीं। परिणाम भी आपाततः ही संभव है, विवेकदृष्टि से कार्य को संगत करने का एक ही तरीका हैविवर्त। परमार्थतः तो कार्य है ही नहीं यह बात अलग है। विवर्त होन से 'जगत् परमात्मरूप है, उससे अलग नहीं'यह बाध-समानाधिकरण की दृष्टि से समझना चाहिये। यदि जगत्-पद से प्राणी भी समझें तो उनके उपाध्यंश का बाध-सामानाधिकरण्य ही है, उपाधि का बाध होने पर चेतन का तो मुख्य सामानाधिकरण्य है यह स्पष्ट है। जगत् का अनुभव होते समय बार-बार याद करना चाहिये कि परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण यह वस्तु परमात्मरूप ही है। जो अपरमात्मांश दीखे वह 'कल्पित है' समझने की कोशिश करनी चाहिये। यह अपवादका सीधा ढंग है। क्रमशः भी अपवाद किया जा सकता है कि घड़ा

घटः शराव इत्यादिविकाराणां मृदः पृथक्।
तत्त्वं नास्ति प्रतीते तु नामरूपे प्रकल्पिते।।२१।।

मिट्टी से अलग नहीं, मिट्टी जल से, जल अग्नि से अग्नि वायु से वायु आकाश से, आकाश माया से और माया ब्रह्म से अलग नहीं है। यों कदम- कदम चिंतन करना ही उपादेय है।।२०।।

जगद्रूप कार्य परमात्मरूप कारण से अभिन्न है सुनकर यह न लगे कि संसार को सत्य कह रहे हैं! इसलिये बताते हैं **घड़ा, सिकोरा आदि कार्यों की तात्त्विकता मिट्टी से अन्य कुछ नहीं है। मिट्टी से अलग प्रतीत होते नाम-रूप तो केवल कल्पित हैं, वास्तविक नहीं।।२१।।** घड़ा, सिकोरा आदि के अनुभव में पाँच अंश हैं'घड़ा' नाम, मोटा पेट आदि रूप, है, जाना जा रहा है, प्रिय है। इनमें हैआदि तीन ब्रह्म के बारे में अनुभव है और नाम-रूप यह अब्रह्म का अनुभव है। है आदि तो सदा सर्वत्र एक रहते हैं, बदलते केवल नाम-रूप हैं। घड़ा फूटने पर केवल नाम-रूप बदलेंगे, बाकी है आदि तो फूटे घड़े में, ठीकरों में, मिट्टी के चूरे में भी बने ही रहेंगे। बदलने वाले नाम-रूप ही कल्पित हैं, मिथ्या हैं। बदलना मिथ्या में ही संभव है। सर्प मिथ्या है तभी संभव है कि कभी 'है' लगे कभी 'नहीं है' लगे। सच्चा सर्प हमेशा 'है' ही लगता है, उसे कोई 'नहीं है' नहीं समझता। घड़ा आदि पहले 'नहीं है' लगते हैं, फिर कुम्हार के जादू से 'है' लगते हैं, फिर कुछ काल में 'नहीं है' लगते हैं अतः स्थायी 'है'-प्रतीति उनकी न होने से वे मिथ्या हैं जैसे रज्जुसर्प। 'तात्त्विकता' अर्थात् जिसका कभी निषेध न हो सके। व्यवहार भूमि में घटादि-नाम-रूपों का निषेध तो होता रहता है पर मिट्टी का निषेध नहीं होता अतः मिट्टी को घटादिकी तात्त्विकता कहा जाता है। परमार्थभूमि पर मिट्टी जल आदि का भी निषेध हो जाता है, केवल सच्चिदानंद का निषेध नहीं होता क्योंकि वह निषेध का भी साक्षी है इसलिये वह जगत्प्रपंच की तात्त्विकता है। नाम-रूप को 'प्रकल्पित' कहा क्योंकि केवल कल्पना उसे कहते हैं जो वैयक्तिक हो जबकि जगत्कल्पना सार्वजनिक है अर्थात् जगत् की व्यावहारिकता मानकर यहाँ समझना चाहिये। विचार का प्रसंग है। विचार व्यवहारभूमि पर ही करते हैं अतः व्यवहारसिद्ध जगत् की कल्पितता समझनी ज़रूरी है। कल्पित से भी व्यवहार-सिद्धि हो जाती है जैसे दर्पण में मुख देखने से कंघी फेर लेते हैं। जगत् से व्यवहार चल रहा हैइस बात को इतना तूल नहीं दे सकते कि इसी से जगत् को सत्य मान लें! इससे केवल यह निश्चय होता है कि यह 'काम चलाऊ' है, व्यावहारिक है। नाम-रूप

सोपाधिकभ्रमः

प्रतिबिम्बभ्रमो नीराद्युपाधिवशतो यथा।
सन्निवेशोपाधितोऽयं तथा कुम्भादिविभ्रमः।।२२।।

की प्रतीति की मनाही नहीं, यही विचार बनाये रखना है कि प्रतीत होते हुए भी ये सत्य नहीं मिथ्या हैं।।२१।।

घट आदि यदि भ्रममात्रसिद्ध हैं तो मिट्टी देखने पर भी बने कैसे रहते हैं, अधिष्ठानज्ञान से निवृत्त क्यों नहीं हो जाते? इसका सोदाहरण उत्तर देते हुए सच्चिदानन्द ग्रहण होने पर भी संसार उपलब्ध होता रह सकता है यह समझाते हैं **जिस प्रकार जल आदि उपाधि के कारण प्रतिबिम्बरूप भ्रम उपस्थित रह जाता है उसी प्रकार सन्निवेशरूप (आकारविशेष रूप, संस्थानरूप) उपाधि के कारण घट आदिरूप भ्रम भी रह जाता है।।२२।।** बिम्बरूप अधिष्ठान का ज्ञान होने पर भी जब तक उसके सामने जल, दर्पण आदि कोई ऐसी चीज़ है जो प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है तब तक प्रतिबिम्ब पड़ना रुकता नहीं, बिम्बज्ञान से यह नहीं होता कि प्रतिबिंब पड़ना ही बंद हो जाये। ऐसे ही मिट्टी के कण जब तक अमुक ढंग से व्यवस्थित रहते हैं तब तक घड़ा बना रहता है, भले ही अधिष्ठान मिट्टी का ज्ञान हो जाये। भ्रम के दो प्रसिद्ध भेद हैंसोपाधिक व निरुपाधिक। सर्वदर्शनसंग्रह में कहा है

'दोषेण कर्मणा वाऽपि क्षोभितोऽज्ञानसम्भवः।
तत्त्वविद्याविरोधी च भ्रमोऽयं निरुपाधिकः।।
उपाधिसन्निधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम्।
उपाध्यपगमाऽपोह्यम् आहुः सोपाधिकं भ्रमम्।।'

अज्ञान और कर्म तो भ्रममात्र में कारण हैं। निरुपाधिक भ्रम के लिये मंदप्रकाश, चाकचिक्य, दूरी आदि दोष भी चाहिये। अधिष्ठान-साक्षात्कार से यह भ्रम मिट जाता है जैसे रज्जुप्रत्यक्ष से सर्पभ्रम दूर हो जाता है। सोपाधिक भ्रम दोष पर निर्भर न कर उपाधि पर निर्भर करता है। अधिष्ठानज्ञान भले ही रहे (या न रहे) फिर भी उसके बारे में अयथार्थज्ञान पैदा करा सके ऐसी चीज़ को उपाधि कहते हैं। वह भ्रम तभी दूर होता है जब उपाधि वहाँ से हट जाये। सोपाधिक भ्रम में विशेषता यह है कि भ्रम दीखते हुए भी यह पता रह सकता है कि यह अयथार्थ ज्ञान है अर्थात् ग़लत अनुभूति तो

भ्रान्तिः सोपाधिकोपाधिनिवृत्त्यैव निवर्तते।।
न बोधात् तेन भासन्ते जानतोऽपि घटादयः।।२३।।

रहती है पर ग़लतफहमी नहीं होती, व्यक्ति उससे धोखा नहीं खाता। किंतु तभी जब भ्रम का बाध हो जाये; बाध अर्थात् प्रतीयमान मिथ्या है यह निश्चय; अप्रतीति बाध के लिये अनिवार्य नहीं, मिथ्यात्वनिश्चय ही पर्याप्त है। परमात्मसाक्षात्कार के बावजूद प्रारब्धरूप उपाधि रहते संसार की प्रतीति बनी रहने का कोई विरोध नहीं। इससे जीवन्मुक्ति भी समझ आ जाती है।।२२।।

उपाधिप्रयुक्त भ्रम सर्वानुभवसिद्ध है व उसी से घटादि की उपलब्धि उपपन्न हो जाती है, उपलब्धिमात्र से सत्यता नहीं माननी पड़ती यह निगमन करते हैं **सोपाधिक भ्रम केवल अधिष्ठानप्रमा से नहीं हटता वरन् उपाधि हटने पर ही दूर होता है अतः 'मिट्टी ही वास्तविकता है' ऐसा जानने वाले को भी घटादि की प्रतीति बनी रह जाती है।।२३।।** भ्रम में दो अंश हैंअनुभव और अनुभूयमान की सत्यता का निश्चय। अधिष्ठानबोध से सत्यता-निश्चय तो निवृत्त हो जाता है पर अनुभव निवृत्त होने के लिये उपाधि-निवृत्ति भी चाहिये। यदि अधिष्ठानबोध हुए बिना केवल उपाधि हट जाये तो यद्यपि अनुभव समाप्त हो जायेगा तथापि 'जिसका अनुभव हुआ वह था ही नहीं' यह पता नहीं चलेगा अर्थात् बाध नहीं होगा। 'वह विषय सच्चा ही देखा था' ऐसी स्मृति रहने से फलतः भ्रम बना ही रहेगा क्योंकि उसके भरोसे व्यक्ति धोखा खाता रहेगा। इसलिये भ्रम मिटने में प्रधान कारण अधिष्ठानज्ञान ही है, उपाधि हटना केवल अप्रतीति के लिये ज़रूरी है। संसारभ्रम भी परमात्मानुभव से बाधित तो हो ही जाता है, प्रतीति भले ही बनी रहे।।२३।।

आकारविशेष-रूप उपाधि से घटादिभ्रम की उपपत्ति करने से जगन्मिथ्यात्व स्पष्ट किया, किन्तु जगत्सत्यता के आग्रही लौकिक व दार्शनिक इसे सहन न कर कार्य-कारणव्यवस्था स्थापित कर मिथ्यात्व का प्रतिरोध करते हैं। कारणवादियों के प्रधान प्रस्थान दो हैंआरंभ और परिणाम। परिणाम पर सूक्ष्मतर विचार किया जाये तो विवर्तवाद स्वयमेव अवतरित हो जाता है अतः विवर्त का मुख्य प्रतिपक्षी आरंभवादी ही है। पूर्व में जो असत् हो वही कारण में उत्पन्न होने वाला कार्य होता है यह आरंभवाद है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वथा नहीं होता यह इनका अभिप्राय है। उत्पन्न होकर भी कार्य अपने कारण से पृथक् कोई वस्तु रहता है, समवाय-नामक संबंध से कार्य अपने कारण में रहता हैयह आरंभवाद की मान्यता है। इस मत का निरास

कार्यकारणभेदनिरासः

पृथग् द्रव्यस्वरूपः सन् समवेतो घटो मृदि।
इत्याहुस्तार्किकास्तत् तु न द्वैगुण्यप्रसङ्गतः।।२४।।
मृद्भाराद् घटभाराच्च गुरुत्वं द्विगुणं भवेत्।
तथाऽलङ्कारकर्ता स्यात् कृती हेमादिवृद्धितः।।२५।।

करते हुए विवर्त के समर्थन से प्रपंचमिथ्यात्व को उपोद्बलित करते हैं **तार्किक कहते हैं कि कारण से पृथक् द्रव्यस्वरूप वाला घड़ा मिट्टी में समवाय सम्बन्ध से रहता है। यह तो हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा हो तो दुगुना होने की आपत्ति है अर्थात् मिट्टी के भार से अलग घड़े का भी भार होने से कुल वजन दुगुना हो जाना चाहिय जो होता नहीं। यदि ऐसा हो जाये तो सुनार अत्यधिक लाभान्वित होगा क्योंकि गहने उनके भार से बिक जाने पर भी उसके पास उतना ही सोना बचा रहेगा!।।२४-५।।** तार्किक वैशेषिकों ने माना है कि परस्पर स्वतंत्र छह भाव पदार्थ होते हैंद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और विशेष। जिसमें गुण व क्रिया रहें और जो समवायिकारण बने उसे द्रव्य कहते हैं। दिक्, काल, आत्मा, मन और पंचमहाभूतइन नौ को ही वे द्रव्य गिनते हैं। महाभूतों के परमाणुओं को तो वे नित्य द्रव्य स्वीकारते हैं लेकिन पृथ्वी आदि चार महाभूतों के परमाणुओं के जुड़ते जाने से जो-जो चीज़ें बनती हैं उन्हें वे अनित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः घड़ा अनित्य द्रव्य है। घड़े का उपादान तार्किकरीति से वे कपाल-द्वय को बताते हैं अर्थात् घड़ा तैयार होने से पूर्व दो हिस्से बनाकर उन्हें जोड़ने से घड़ा पैदा होता है ऐसा समझकर उन दो हिस्सों को वे घड़े का उपादान बताते हैं। दो हिस्सों में तात्पर्य नहीं, घड़ा बनने से पूर्व जितने भी अवयव तैयार हों जिनके जुड़ते ही 'घड़ा बन गया' समझा जाये वे अवयव घड़े के उपादान हैं यह उनका मानना है अतः उन अवयवों से सर्वथा नयी चीज़ घड़ा हैयह आरंभवाद है। रूप रस आदि चौबीस को वे गुण मानते हैं जो अनिवार्यतः द्रव्याश्रित रहेंगे। कर्म अर्थात् क्रियाएँ, वे भी द्रव्य में ही रह सकती हैं। अनेकों में समवायसे रहने वाली जो चीज़ उन सबके बारे में यह अनुभव कराती है कि 'ये समान हैं' उसे सामान्य कहते हैं जैसे घटत्व। अयुतसिद्धों का आपसी संबंध समवाय है जो अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, विशेष-नित्य द्रव्यइन्हीं में होता है। जिन दोनों में से एक जब तक रहे तब तक दूसरे पर आश्रित ही रहे, उन दोनों को अयुतसिद्ध कहते हैं जैसे घड़ा कपालों में ही रहेगा, अन्यत्र नहीं।

न सन्निवेशमात्रेण पृथग् द्रव्यत्वसम्भवः।
शयनोत्थानगमनैर्न पुत्रे बहुपुत्रता।।२६।।
तस्मात् कार्यं न वस्तु स्यात् कारणव्यतिरेकतः।।
किन्तु कारण एवैतद् अनृतं भासते मृषा।।२७।।

'कपालों में या मिट्टी में या जो भी अवयव हैं उनमें घड़ा है' ऐसी प्रतीति है, यह 'में' की प्रतीति जिस संबंध को विषय कर रही है वही समवाय है। परमाणुओं को परस्पर भिन्न करने वाली चीज़ को वे 'विशेष' नामक पदार्थ कहते हैं। वेदान्त में और साधारणतः भी जिसे उपादान कारण कहते हैं उसी को तार्किक समवायी कारण बताते हैं क्योंकि समवाय-संबंध से उसी में कार्य का रहना मानते हैं। द्रव्य ही समवायी कारण होता है। कपालद्वय द्रव्य हैं, उनमें कुछ भार है ही, उनसे पैदा हुआ घड़ा भी द्रव्य है, उसमें भी भार है तो कुल भार दुगुना क्यों नहीं होगा? पंचदशी के त्रयोदश प्रकरण में (श्लोक ५२) भी इस विषय का विवेचन है। भार और द्वैगुण्य तो उपलक्षणार्थ है, सभी गुणादि में बढ़ोतरी होनी चाहिये और द्व्यणुक से घट पर्यन्त हर स्तर पर द्वैगुण्य होकर अनंतगुणता ही होनी चाहिये! आरंभवाद में सर्वप्रधान दोष तो यही है कि जो पूर्व में असत् है वह बाद में सत् माना जाता है, असत् कभी सत् नहीं हो सकता यह 'कथमसतः सज्जायेत?', 'नासतो विद्यते भावः' आदि श्रुति-स्मृति से विरुद्ध है और 'शशशृंग का भी जन्म हो जाये' आदि लौकिक तर्क से भी पराहत है। अतः आरंभवाद असंगत है। परिणाम का भी सूक्ष्म विचार करें तो वे कहते हैं कि जन्म से पूर्व कार्य की व्यक्तता असत् थी, जन्म होने पर वह सत् हो गयी! इस प्रकार द्रव्य के स्तर पर न सही, व्यक्तता के स्तर पर उन्होंने भी आरंभवाद मान ही रखा है। गीताभाष्य (१८. ४८) में यह रहस्य खोला गया है। अतः विवर्तवादानुसार ही कार्यकारणता समझनी चाहिये कि सचमुच कहीं कोई जन्म नहीं, केवल अविद्यावश प्रतीतिमात्र है।।२४-५।।

कारण से सर्वथा पृथक् कार्य नहीं हो सकता अतः कार्य मिथ्या ही संभव है यह समझाते हैं **केवल पूर्वापरीभाव से (ऊपर-नीचे होने से) द्रव्य ही अलग हो जाये यह संभव नहीं, लेटना, खड़े होना, चलना-इत्यादि अवस्था-भेदों से एक ही पुत्र को अनेक पुत्र नहीं मान लिया जाता!।।२६।। इसलिये कारण से सर्वथा अलग कार्य कोई वस्तु नहीं है किन्तु अनृत कार्य ही कारण में प्रतीत होता है अतः मिथ्या ही है।।२७।।** श्लोक २२ में बता चुके हैं कि संनिवेशरूप उपाधि से घटादि भ्रम होता है अर्थात् अमुक तरह से मृत्कण स्थित होने पर उन्हें घड़ा कहा-समझा जाता

अर्थक्रियाऽनृतेऽप्यस्ति स्थाणौ चोरभयेक्षणात्।
ततोऽनृता घटाद्याः स्युर्भान्तु कुर्वन्तु वा क्रियाम्।।२८।।

है और वे घड़ा-साध्य व्यवहार भी करते हैं। इसका तात्पर्य हुआ कि मिट्टी से पृथक् घट कुछ नहीं है। लड़का लेटा हो तो उसके देहावयव एक तरह से व्यवस्थित रहते हैं, खड़ा हो तो अन्य तरह से, चले तो और ही तरह से तथा यदि नाचे या व्यायामादि करे तो असंख्य अनेक तरहों से बनते रहते हैं पर इतने से यह नहीं समझते कि अनेक लड़के हैं या लेटे लड़के से खड़ा लड़का अलग है। ऐसे ही मिट्टी के अवयव अलग-अलग ढंग से स्थित हो जायें तो क्यों माना जाये कि कोई नई चीज़ पैदा हो गयी? किन्तु इतने मात्र से यह भी कहना नहीं बनता कि मिट्टी से अलग घड़ा कुछ नहीं है! यदि सर्वथा वह कुछ न होता तो कुम्हार की चेष्टाएँ ही व्यर्थ होती, घड़ा खरीदना ही न पड़ता! अतः मिट्टी से घड़ा न भिन्न ही कहा जा सकता है और न अभिन्न है। आस्तिक तार्किक सर्वथा भिन्न कहता है तो नास्तिक तार्किक (संघातवादी) सर्वथा अभिन्न कहता है, लेकिन वैदिक दोनों को ग़लत समझकर कार्यकारण में अनिर्वचनीय संबंध ही स्वीकारता है कि भिन्न-अभिन्न दोनों से विलक्षण है। 'अनृतम्' से सद्भेद कहा और 'मृषा' से असद्भेद कहा अतः सदसद्विलक्षणता स्पष्ट कर दी। अनृत होने में हेतु है कि विषयतया भान होता है और क्योंकि भासमान है इसलिये असद्विलक्षण है यह अभिप्राय है।।२६-७।।

मिथ्यात्व की नासमझी वाले वादी और लौकिक सभी का एक ही आक्षेप रहता है कि 'आखिर काम तो सारा द्वैत जगत् से ही चल रहा है!' चाहे जितने दार्शनिक शब्दों में कह दें, मिथ्यात्व का विरोधी तर्क इतना ही दिया जाता है कि सारा व्यवहार चलाने वाले को मिथ्या कैसे कहें? इसका समाधान करते हैं **प्रयोजन-साधकता मिथ्या में भी होती है यह मानना पड़ेगा क्योंकि ठूँठ में दीखते चोर से भय का अनुभव हो जाता है। इसलिये चाहे भासमान हैं और अर्थक्रियाकारिता वाले हैं फिर भी घटादि मिथ्या ही हैं।।२८।।** 'मिथ्या में भी'यह गुडजिह्विका-न्याय से कहा, वस्तुतः मिथ्या ही अर्थक्रियाकारी होता है। 'अपि' का अर्थ 'एव' समझना चाहिये। अर्थक्रियाकारी या प्रयोजन सिद्ध करने वाला अर्थात् काम-चलाऊ कहें, मिथ्या कहें एक ही बात है। परमार्थ सत्य तो है ही व्यवहारातीत, न किसी का कारण है, न किसी का फल है, श्रुति ने ही 'अदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम्' आदि स्पष्ट किया है। अतः पूर्वोक्त आक्षेप ही मिथ्यात्व को न समझने से है। साधक को चाहिये कि द्वैत से

सन्निवेशोपाधिहाने गच्छत्येव घटादिधीः।
विवेकिनां तु वस्तुत्वं घटादीनां निवर्तते।।२९।।

'वाचारम्भणं विकारः'

घटः शराव इत्येवं वाचैवारभ्यते वृथा।
मृत्तिकेत्येव सत्यं स्याद् न तु सत्यं घटादिकम्।।३०।।

यथावश्यक व्यवहार भले ही कर ले पर इससे उसे सत्य न समझने लगे, द्वैतमिथ्यात्व को हमेशा दुहराता रहे, इससे रागक्षय में सहायता मिलती है।।२८।।

घटादि द्वैत के बाध की सरल रीति व्यक्त करते हैं **सन्निवेश (आकारविशेष, पूर्वापरीभाव) रूप उपाधि समाप्त होने पर 'घड़ा' इत्यादि प्रतीति चली ही जाती है, उसी से विवेकियों का यह आग्रह मिट जाता है कि घटादि वास्तविक हैं।।२९।।** जैसे दर्पण हटते ही प्रतिबिंब मिट जाता है वैसे ही मृत्कणों की जिस व्यवस्थिति से घटानुभव हो रहा था वह व्यवस्थिति हटते ही घटानुभव समाप्त हो जाता है बल्कि उन्हीं मृत्कणों के बारे में 'यह घड़ा नहीं है' यही निश्चय होता है! जो साँप दीख रही थी उसी के बारे में 'यह साँप नहीं है' यह निश्चय ही साँप का बाध कहा जाता है। इसी तरह जो मिट्टी घड़ा दीख रही थी उसी के बारे में 'यह घड़ा नहीं है' ऐसा निश्चय घड़े का बाध है। इस प्रकार घटबाध लोकसिद्ध है तथा घट औपाधिक है अतः घट के मिथ्यात्व में कोई संशय नहीं रहना चाहिये। अविवेकी मिट्टी के बारे में 'घड़ा नहीं है' व्यवहार करते हुए भी घड़े को मिथ्या नहीं समझते जबकि विवेकी उसी से द्वैतमिथ्यात्वनिश्चय कर लेता है। नित्य-अनित्य वस्तुओं के विवेक का पर्यवसान सत्य-असत्य वस्तुओं के विवेक में इस रीति से स्पष्ट हो जाता है। श्रुति ने 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' से इंगित किया कि कभी न बदलने वाले को ही वास्तविक समझना चाहिये, इस नियम का पालन करें तो सच्चिद्रूप आत्मा ही वस्तु है यह निर्णय सहज हो जाता है क्योंकि वही कभी नहीं बदलता।।२९।।

छान्दोग्य में कही रीति से भी जगत् का मिथ्यात्व उपोद्बलित करते हैं **घड़ा, सिकोरा आदि वाणीमात्र से व्यर्थ ही बनाये जाते हैं। मिट्टीयही सत्य है, घड़ा आदि तो सत्य नहीं हैं।।३०।।** छान्दोग्योपनिषत् कहती है कि सभी कार्यों की नाममात्र की सत्ता है, वाणी से कहे जाते हैंयही कार्यों का अस्तित्व है, सत्य केवल कारण है। सन्निवेशरूप उपाधि की तरह वाग्विषयता भी उपाधि है जिससे कार्यसत्ता का व्यवहार होता है। इस बात पर सूत्रकारने भी (ब्र.सू.२.१.६.१४-२०) काफी विचार

एवम् आत्मन उत्पन्नं पृथिव्याद्यपि नात्मनः।
पृथग् वस्त्विति किन्त्वात्मन्यारोपात् प्रतिभासते।।३१।।
सद्वस्तु ह्यात्मनस्तत्त्वं तस्मिन् भूम्यादिकल्पनात्।
पृथिव्यादीनि सन्तीति भासते तत्तद् इन्द्रियैः।।।३२।।

किया है। वाक् को प्रकाशक, ज्ञापक समझना चाहिये अर्थात् दृष्टिसृष्टि का प्रसंग है यह याद रखना चाहिये अन्यथा गूंगा-बहरा कार्यों से व्यवहार न कर पायेगा! एवं च वाचारंभण का अभिप्राय है ज्ञातैकसत्, ज्ञायमान से हटकर जिसका अस्तित्व नहीं। सभी कार्यों को वृथा या व्यर्थ इसलिये कहा कि कार्यों में ऐसा कोई प्रमाविषय नहीं होता जिससे वे कारणों से स्वतन्त्र सिद्ध हों। घड़े को किसी भी प्रमाण से विषय करें तो मिट्टी से अगल कुछ नहीं मिलता। इसलिये अर्थ या प्रमेय रूप से न कहा जा सकने से कार्य व्यर्थ है। सभी अनर्थों का हेतु होने से भी कार्य व्यर्थ है, अनर्थों का प्रारंभ कार्यों से ही होता है, कार्यप्रधानता के चलते ही राग-द्वेष आदि अनर्थ बढ़ते हैं। मिट्टी को सत्य कहना कारण की सत्यता समझाने के लिये है। आगे मिट्टी भी सत्य नहीं, जल ही सत्य है इत्यादि रीति से आत्मा तक, सद्ब्रह्म तक पहुँचना है।।३०।।

कार्य-कारणों में उत्तरोत्तर सत्यत्व परमार्थ सत्य समझने के लिये ही है यह स्पष्ट करते हैं **इसी प्रकार आत्मा से उत्पन्न पृथ्वी आदि भी आत्मा से अलग कोई वस्तु नहीं हैं वरन् आत्मा पर आरोपित होने से ही सद्रूप से प्रतीति होते हैं।।३१।।** जैसे मिट्टी से हटकर घड़े की कोई सचाई नहीं वैसे ही परम कारण परमात्मा से हटकर किसी भी कार्य की कोई सचाई नहीं। यहाँ पृथ्वी आदि का उल्लेख इसलिये किया कि वे कार्य हैं। माया को कार्य न मानने से इस शृंखला में उसे स्थान नहीं दिया। लेकिन वह भी आत्मा पर आरोपित होने से स्वयं सत् नहीं यह समझ ही लेना चाहिये। जैसे रस्सी की लम्बाई उस पर आरोपित साँप में दीख जाती है वैसे आत्मा की सद्रूपता उस पर कल्पित आकाशादि भूत-भौतिकों में दीख जाती है। जगत् आत्मा से उत्पन्न हुआ यह बताने का प्रयोजन ही यह है कि जगन्मिथ्यात्वपूर्वक ब्रह्मसत्यत्व समझ आ सके।।३१।।

अधिष्ठान के अनुवेध को मुखतः कहते हैं **सद्रूप वस्तु ही आत्मा की तात्त्विकता है, उसी में पृथ्वी आदि की कल्पना होने से उन-उन इन्द्रियों से यह भान होता है कि पृथ्वी आदि 'हैं'।।३२।।** आत्मा का स्वरूप है सत्-चिद्-आनंद। परमार्थतः विद्यमान को वस्तु कहते हैं। आत्मा 'में' सत्ता नहीं है वरन् सत् ही आत्मा

इन्द्रियोपाधिका भ्रान्तिरक्षरोधाद् न भासते।
इत्येतद् विशदी कर्तुं योगो वेदेषु वर्ण्यते।।।।३३।।

है। आत्मा के सापेक्ष स्वभाव भी हैं, उनसे व्यावृत्ति के लिये सत् को आत्मा का तत्त्व कहा। तत्त्व अर्थात् तत् का भाव, 'तत्' आत्मा को विषय करता है, अतः अर्थ है आत्मा का भाव अर्थात् जिसके कारण वह आत्मा है; सत् के कारण ही वह आत्मा है, असत् आत्मा नहीं होता। आत्मा ही सबका अंतिम अधिष्ठान है, सभी अंततः उसी पर कल्पित हैं अतः सत् का सर्वत्र अनुवेध या अनुगम मिलता है, हर चीज़ 'है' लगती है। 'घड़ा है' ऐसा दीखता है, इसमें 'घड़ा' आरोपित है और 'है' आत्मा का स्वरूप है। जैसे लड्डू मीठा लगता है तो उसमें मिठास चीनी का स्वरूप है, सब मिठाइयों में चीनी अनुगत है, वैसे सब पदार्थों में सत् (है) अनुगत है, वह आत्मा का स्वरूप है। आभरणों की स्वर्णता उपादान से आती है, नाम-रूप उस उपादान पर आरोपित हैं, ऐसे ही पदार्थों की सत्ता अधिष्ठान से आती है, नाम-रूप उसी पर आरोपित हैं। यद्यपि एक अखण्ड सत् ही सर्वत्र अनुगत है तथापि अनेकों 'में' दीखने से उसे 'सत्' इतना ही न कहकर सत्ता कह देते हैं। अनेक सत् हों जिसमें अनुगत को सत्ता कहा जाये ऐसी बात नहीं है वरन् सत् को ही सत्ता कहते हैं। आत्मा का सद्-अंश इंद्रियों से ग्रहण हो जाता है क्योंकि आँख से न केवल घड़ा दीखता है वरन् वह है यह भी दीखता है। ऐसे ही 'शब्द है' यह कानों से सुनाई देता है। अतः ब्रह्म को काल की तरह सर्वेन्द्रियग्राह्य मान लेते हैं। स्वयं अतीन्द्रिय होने पर भी उपाधिवश ऐंद्रिय होना संगत है जैसे स्वयं अदृश्य होने पर भी चंद्र पर आरूढ राहु दृश्य हो जाता है।

'सन्तीति भासन्ते' ऐसा भी पाठ ठीक है। 'इति' के कारण 'भासते' पाठ ग़लत नहीं है।।३२।।

क्योंकि जगत् की उपलब्धि पर ही जगत् टिका है इसलिये उपलब्धि पर नियंत्रण होने से जगत्प्रयुक्त विक्षेप नियंत्रित हो जाता है। यह योग का फ़ायदा दिखाते हैं **इन्द्रियरूप उपाधि से होने वाला भ्रम तब प्रतीत नहीं होता जब इन्द्रियों का रोध हो जाये। इस बात को स्पष्ट करने के लिये वेदों में योग का वर्णन किया गया है।।३३।।** 'वाचारंभण' का अभिप्राय बताया था प्रकाश्य होना अर्थात् द्रष्टा के ज्ञानसाधनों का विषय बनना। बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रधान साधन इंद्रियाँ हैं अतः इन्द्रियविषय बनने पर ही संसार है। इस प्रकार संसाररूप सोपाधिक भ्रान्ति में उपाधि इंद्रियाँ हैं। इसलिये जब इंद्रियाँ अपने व्यापार से विरत हो जायें तब

संसार-भ्रम नहीं रहेगा। स्वभावतः सुषुप्ति आदि में ऐसा होता ही है, वही स्वतंत्रता से कर पायें इसके लिये योग का अभ्यास करना चाहिये। चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहते हैं। भाष्यकार ने कहा है 'निरुद्धं सर्वतोनिवारितप्रचारं' (गीता. ६.२०) अर्थात् चित्त की जब किसी भी तरह चंचलता न रहे तब उसे निरुद्ध कहेंगे। अत एव यह तामस स्थिति नहीं है क्योंकि तब तो निद्रावृत्ति का प्रचार होता है जबकि कोई प्रचार न हो तभी निरोध होता है। इसीलिये वृत्तियों के अभाव मात्र से निरोध नहीं माना गया है वरन् उसे अवस्थाविशेष माना है जहाँ चित्त केवल संस्कारशेष रह जाता है। चित्त-निरोध के उपायरूप से इंद्रिय-निरोध करना पड़ता है और साथ ही विषयों के प्रति वैराग्यभाव बढ़ाना पड़ता है। इंद्रियनिरोध को योगशास्त्र में प्रत्याहार-शब्द से बताया है। अनावश्यक विषयसंपर्क से बचना, अनावश्यक विषयों की जानकारी से भी दूर रहना, विषयों में दोष देखकर उनसे भरसक दूर रहना इत्यादि प्रारंभिक कदम इंद्रिय-नियंत्रण के हैं। चित्त-नियंत्रण द्वारा इंद्रियों को एकाग्र करने का अभ्यास करें तथा आवश्यक विषय पर ही इंद्रिय केन्द्रित हो, वहीं मौजूद भी अनावश्यक की उपेक्षा होती रहेइस अभ्यास से इंद्रिय पर विजय होती है। योगमार्ग से यहाँ इतना अंतर है कि प्रतीति बंद होने पर यह निश्चय रखना है कि विषय है ही नहीं क्योंकि 'विषय है' यह इन्द्रियोपाधिवश ही प्रतीत हो रहा था, जबकि योगमार्ग में विषयों की स्वतंत्र सत्ता बनी ही रहती हैं क्योंकि प्रकृति सत्य है। इसीलिये यहाँ 'भ्रान्तिर्न भासते' कहा और इसे वेदों में बताया योग कहा। पातंजल योग सांख्य पक्षपाती है जबकि वैदिक योग अद्वैतपक्षीय है। श्वेताश्वतर आदि में वैदिक योगप्रक्रिया पर विस्तार है। यद्यपि अकेला योग भी संसार-अदर्शन द्वारा दुःख से दूर कर देता है तथापि वह तात्कालिक ही रहता है, वैदिक ज्ञान से सहकृत होने पर जगत् का बाध भी बना रहकर अद्वैत-निष्ठा के परिपाक में योग का विनियोग हो जाता है।।३३।।

द्वैत भ्रमरूप होने से योग को ज्ञानपरिपाकार्थ और ज्ञानलाभार्थ ही आवश्यक समझना चाहिये, द्वैत की अप्रतीति में आग्रही होना भी एक भूल है जिसके पीछे द्वैतसत्यताकी शंका ही कारण बनती है। उपनिषदों में, गीता में, भाष्यादि में यह बात काफी स्पष्ट है फिर भी अनेक वेदान्त-विचारक अप्रतीति को विशेष महत्त्व देते हैं लेकिन विद्यारण्य स्वामी सर्वत्र इस पर ज़ोर देते हैं कि अप्रतीति एक साधन है, ज्ञाननिष्ठा से ज़्यादा उसका महत्त्व नहीं हो सकता। यही बात यहाँ भी स्पष्ट करते हैं **सद्रूप आत्मा से अलग हुए पृथ्वी आदि असत् हैं इसलिये वे चाहे इंद्रियों से**

सदात्मनः पृथग्भूतम् असद् भूम्यादि तेन तत्।
भात्वक्षैः कार्यकृद् वाऽस्तु मिथ्यैव स्याद् घटादिवत्।।३४।।

प्रतीत हों और कार्यकारी रहें पर हैं घड़े आदि की तरह मिथ्या ही।।३४।। मिट्टी से यदि अलग कर घड़े को समझें तो उसे 'कुछ' (वस्तु) नहीं कहा-समझा जा सकता क्योंकि मिट्टी ही उसकी वस्तु है। ऐसे ही 'सत्, है' से अलग कर यदि संसार को समझने की कोशिश करें तो उसे 'कुछ' (वस्तु) नहीं समझ सकते। जैसे मिट्टी से अगल होकर घड़ा ग़ैर मिट्टी ही रह जायेगा वैसे सत् से अलग होकर संसार असत् ही हो सकता है। मिट्टी से अलग किया घड़ा न प्रतीत होगा, न कार्यकारी होगा। सत् से अगल किया संसार भी न प्रतीत होगा और न अर्थक्रियाकारी होगा। विचारणीय बात यह है कि मिट्टी से घड़ा वैसे अगल नहीं कर सकते जैसे चौकी से उस पर रखे फूल को अगल कर लेते हैं। केवल विवेक से मिट्टी से घड़े को अलग किया जा सकता है। इसी तरह ब्रह्म से संसार को हटाकर कहीं फैंक दें यह संभव नहीं! विवेकदृष्टि से ही समझना पड़ेगा कि वास्तविकता केवल परमात्मा है, नाम-रूप केवल कल्पित हैं। योग से अदर्शन होगा लेकिन वह भी दर्शनाभाव ही होने से एक नाम-रूप विशेष ही है। अतः जैसे भगवान् ने गीता में कहा कि अकर्म को भी कर्म समझकर उससे बचना है वैसे अदर्शन में भी फँस नहीं जाना है। संसार का भान हो, वह कार्यकारी रहे, इससे आत्मा में कोई अंतर है नहीं। संसार को सत्य समझते ही उसका आत्मा पर असर प्रतीत होने लगता है। यदि 'संसार असत्य है' इसका भान बना रहे तो प्रतीति व कार्यकारिता दुःखद, बंधकारी नहीं होगी। संसार को स्वयं अपनी सत्ता वाली चीज़ समझने में हर्जा है, संसार की प्रतीत में हर्जा नहीं। संसार की अपनी कोई सत्ता नहीं है, परमात्मा की ही सत्ता को वह अपने में मानों सिमेट कर दिखाता है। संनिवेशविशेष उपाधि रहते घट-प्रतीति होती है, उपाधि हटने पर वह प्रतीति नहीं रहती, पर इससे घट सत्य नहीं हो जाता, मिथ्या ही रहता है; प्रारब्धादि उपाधि रहते संसार-प्रतीति और उपाधिनिवृत्ति से अथवा योगरूप प्रतिबंधक से संसार की अप्रतीति होने पर भी संसार सत्य नहीं होता, मिथ्या ही रहता है। आवश्यकता इस मिथ्यात्वनिश्चय की है, न संसार-प्रतीति और इससे व्यवहार करने की, न इससे भागने की! अप्रतीति से ज़ोर हटाते ही लोग सांसारिक प्रवृत्ति की ओर बढ़ जाते हैं, वह भी उतना ही गलत है। साधक के लिये मिथ्यात्व निश्चय रखते हुए प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति दोनों के प्रति तटस्थ साक्षिभाव रखना ही आवश्यक है।।३४।।

जगद् आत्मा

ईदृग् विवेकदृष्ट्येदं जगद् आत्मैव नेतरत्।
एवं सत्यात्मनोऽन्यत् किं वस्तुतोऽस्तीति शङ्क्यते।।३५।।
अद्वयानन्दरूपात्मा सृष्टेः पूर्वम् अभूद् यथा।
तथैवाऽद्यापि सम्पन्नो बुद्ध्या सम्यग् विवेचितः।।३६।।

व्याख्येय श्रुति में आया है 'किमिहान्यं वावदिषत्' अर्थात् विचार करें तो परमात्मा से अन्य कुछ नहीं है। उसी वाक्य को समझाते हैं **उपनिषत् में समझाये ढंग से किये विवेक के फलस्वरूप जो शास्त्रानुसारी सत्यदर्शी दृष्टि प्राप्त होती है उससे पता चलता है कि यह जगत् आत्मा ही है, आत्मातिरिक्त कुछ नहीं। ऐसा होने पर क्या यह शंका संभव है कि आत्मा से अन्य वस्तुतः कुछ भी है! यदि विचार के लिये यह शंका उठायें भी तो विशुद्ध बुद्धि से समीचीन तरह से विवेचन करने पर यही निर्णय होता है कि सृष्टि से पूर्व जैसा अद्वय आनंदरूप आत्मा था वैसा ही आज (सृष्टिदशा में) भी है, आत्मा में कोई अंतर नहीं।।३५-६।।** मिली-जुली चीज़ों को अलग-अलग करने का नाम विवेक है जैसे भूसे और दानों को अलग-अलग कर लेना। जगत् में सत्य-मिथ्या मिले-जुले हैं, इन्हें स्पष्टतः पृथक् समझना विवेक है। भूसा-चावल जैसे उठाकर एक-दूसरे से दूर किये जा सकते हैं ऐसे जगत् के सत्य-मिथ्या अंश स्थूलतः पृथक् नहीं किये जा सकते, केवल उनका भेद समझा जा सकता है। जगत् में नाम-रूप को मिथ्या और सच्चिदानंद को सत्य पहचान लेना विवेक है। इसका फल होगा कि जगत् आत्मा से अतिरिक्त कुछ वस्तु हैयह भ्रम नहीं रहेगा। जगत् के नाम-रूप मिथ्या हैं अतः इनका बाध कर देने से सत्य वस्तु ब्रह्म ही रह जाता है। 'जगत् आत्मा ही है' यह बाध समानाधिकरण के अनुसार है अर्थात् जगत् के मिथ्यांश का बाध कर दें तो केवल आत्मा ही है जैसे 'चोर ठूँठ ही है' अर्थात् चोर का बाध कर देने पर सामने ठूँठ ही है। गहने सोना ही होते हैं, घटादि बर्तन मिट्टी ही होते हैं क्योंकि गहना व बर्तन कल्पित हैं, वस्तु सोना व मिट्टी ही है; ऐसे ही जगत् के नाम-रूप अनृत हैं, ब्रह्म ही सत्य है अतः जगत् ब्रह्म ही है। आत्मा से भिन्न होकर जगत् कुछ भी नहीं है, उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। ब्रह्म ही सत् है जिससे जगत् में सत्ता प्रतीत हो रही है। 'किं शंक्यते'यहाँ 'किम्' प्रश्न में नहीं आक्षेप में है अर्थात् ऐसी शंका नहीं की जा सकती। 'है'ऐसी कही-समझी जाये इस लायक वस्तु एक आत्मा ही है, और कुछ नहीं। मिथ्या को कहा-समझा तो

जा ही सकता है पर उसे 'है' कहना-समझना नहीं बनता, यह भाव है। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व आत्मा ही था और जो पूर्व में 'नहीं है' था वह कभी भी 'है' हो नहीं सकता इसलिये वर्तमान में भी आत्मा ही है, जगत् की प्रतीति भले ही होती रहे, वह 'है' नहींयह समझने की बात है। आत्मा जगदभिव्यक्ति से पूर्व जैसा था वैसा ही अभी है। आत्मा अद्वय और आनंदरूप है। आनंद अर्थात् व्यापक। कम में सुख नहीं दुःख ही होता है, व्यापक में, पूर्ण में ही आनंद है। यहाँ तक कि यदि सापेक्ष कमी हो तब भी दुःख ही होता है : दो साथी हों, एक का वेतन पाँच सौ बढ़े और दूसरे का तीन सौ; बढ़ा दोनों का वेतन है पर पाँच सौ की *अपेक्षा* तीन सौ कम है इसलिये तीन सौ की बढ़ोतरी वाला दुःखी रहता है। यहाँ दुःख कमी का ही है भले ही वह कमी केवल सापेक्षता से है। यदि दूसरे की बढ़ोतरी भी तीन सौ हुई होती तो दुःख नहीं होता, अतः बढ़े हुए तीन सौ से दुःख नहीं बल्कि उन्हें कम समझने से ही दुःख है। बड़ी चीज़ देखो तो छोटी चीज़ दुःख लगती है। सबसे बड़ा परमात्मा है, यह समझ आते ही संसार दुःख लगने लगता है। यह हो नहीं सकता कि परमेश्वर का ज्ञान हो जाये फिर भी संसार में सुख प्रतीत हो! सर्वव्यापक आनंद सामने आ जाने के बाद परिच्छिन्न जगत् सर्वथा हेय ही दीखेगा, कभी उपादेय नहीं। परमात्मा अपने स्तर पर सदा एक-सा है, जगत् के छोटेपन से (परिच्छेद से) उसमें कमी नहीं आती जैसे गहनों के छोटेपन से सोने में कमी नहीं आती। चाहे जैसे गहने की शक्ल ले ले, सोना यथावत् ही रहता है, वैसे ही परमात्मा यथावत् ही रहता है। उपाधियों से अनेक प्रतीत होने पर भी उसकी अद्वयता कभी खंडित नहीं होती, परिच्छिन्न दीखने पर भी पूर्णता हटती नहीं। भ्रम से दीखने पर अधिष्ठान में फ़र्क़ नहीं आता, मरुमरीचिका के भ्रम से बालू का एक कण भी गीला नहीं होता! अविवेकदशा में भी परमात्मा ठीक वैसा है जैसा विवेकदशा में। अंतर यह है कि अविवेकी को परमात्मा की पूर्णता का लाभ नहीं मिलता, आनंद नहीं मिलता। मकान पहले से है पर तुम्हें तभी सुख देगा जब तुम उसे खरीदो, उसे अपनी संपत्ति बनाओ। ऐसे ही पूर्ण ब्रह्म से जीव तभी सानंद होगा जब यह विवेक कर उस पूर्णता को अपनी संपत्ति बनाये, 'मैं ही पूर्ण हूँ' यह समझे। अज्ञानदशा में जीव जगत् के उपादानरूप से उपस्थित भी आत्मा को पहचान नहीं रहा अतः दुखी है, विवेक से ज्ञानदशा पा लेने पर केवल आत्मा ही देखता है अतः सर्वथा निर्दुःख है। यही मोक्ष है।।३५-६।।

आत्मा ब्रह्म

इत्थं सर्वात्मकं ब्रह्म विविच्य पुनरप्यसौ।
एतमेव स्वमात्मानं ब्रह्मत्वेन व्यलोकयत्।।३७।।

आगे श्रुति कहती है 'स एतमेव पुरुषं ततमम् अपश्यत्', उसने इसी व्यापक पुरुष को देखा। इसे समझाते हैं **इस प्रकार सारे संसार के आत्मा अर्थात् स्वरूपभूत ब्रह्म को विवेकदृष्टि से समझकर उसी ने फिर इसी निज आत्मा के बारे में समझा कि यही ब्रह्म है।।३७।।** जीव-ईश्वर दोनों पदार्थों का शोधन करनेपर ही अखण्ड वाक्यार्थ भासता है। शोधन अर्थात् उपाधि-उपहित को पृथक्-पृथक् समझकर उपहित की स्वरूपतः शुद्धि को पहचानना। सारे संसार का आत्मा ब्रह्म हैयह ईश्वर के बारे में विवेक हुआ। फिर, प्रत्यगात्मा को पूर्ण ब्रह्म समझनायह जीव के बारे में विवेक है। 'फिर' का मतलब इतना ही है कि एक विवेक से काम नहीं चलेगा, दोनों करने पड़ेंगे; क्रम विवक्षित नहीं क्योंकि उपनिषदों में दोनों क्रम मिलते हैं, कहीं त्वम्पदार्थशोधन पहले है तो कहीं तत्पदार्थ का शोधन पहले है। अतः साधक चाहे जिस का शोधन पहले करे पर करना दोनों का पड़ेगा। 'संसार का आत्मा' इसलिये कहा कि सच्चिदानंद ही सर्वत्र आत्मा या वस्तु है यह पूर्व में समझा चुके हैं। जो सद्रूप से घटादि में उपलब्ध है वही चिद्रूप से हम में, प्रत्यगात्मा में स्फुरित हो रहा है। सर्वात्मक ब्रह्म एक ही है, अंतःकरणोपाधि में उसका चिदंश अभिव्यक्त होता है, घटादि में केवल सदंश, किन्तु व्यक्त होने वाली चीज़ एक ही है। शोधित तत्पदार्थ और शोधित त्वम्पदार्थ सर्वथा एक ही है। फिर भी, क्योंकि भेदभ्रम है इसलिये केवल पदार्थशोधन पर्याप्त नहीं, वाक्यार्थभूत अभेद भी जानना पड़ता है। 'उसी ने' अर्थात् जिसने शरीर में प्रवेश किया, जो जीव बना उसी ने। श्लोक १६ में जिसे विचार करने वाला कहा था उसी से अभिप्राय है। प्रत्येक मुमुक्षु को उक्त ढंग से विवेक करना पड़ेगा तभी व्यापक आत्मा के दर्शन से मुक्ति होगी यह तात्पर्य है।।३७।।

'भूमिआदि जगत् ब्रह्म है' यह समझाया था जगत् को मिथ्या बताकर, उसी तरह 'जीव ब्रह्म है' में कोई समझ ले कि जीव भी मिथ्या होगा तो साधना रुक जायेगी क्योंकि तब विवेक का फल होगा कि जीव रहेगा ही नहीं और साधना करने वाला जीव ही है अतः वह कभी यह नहीं चाह सकता कि मैं ही न रहूँ! इसलिये जीव ब्रह्म है इसे अन्य तरह से उपपन्न करते हैं **'मैं ऐसा'यह वृत्तिरूप उपाधि और उसमें चेतन का तादात्म्याध्यास, चिदाभास,ये दोनों पृथ्वी आदि की तरह मिथ्या हैं।**

अहङ्कारश्च चिच्छाया मिथ्या भूम्यादिवत् ततः।
चिदात्मकोऽवशिष्टोऽयं जीवो ब्रह्मैव नेतरः।।।।३८।।

(चिद्, वृत्ति, आभासये तीन ही जीव के घटक हैं, इनमें से वृत्ति और आभास दोनों मिथ्या सिद्ध हो गये) अतः बचा हुआ यह जीव चिद्रूप ही रह जाने से ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं।।३८।। पूर्व में (श्लोक.१५) जीव के घटक बता चुके हैं। उनका परीक्षण करने पर दो मिथ्या निकलते हैं तो तीसरा ही जीव का सत्य स्वरूप स्थिर होता है। क्योंकि अपने सत्य स्वरूप से जीव सनातन होकर मुक्त रहेगा इसलिये जीव मोक्षार्थ प्रवृत्ति करे यही संगत है। जैसे आगंतुक मल से जल मलिन लगने पर भी शोधन के बाद अपने निर्मल स्वरूप से बना रहता है और वही उसका स्वाभाविक सत्य रूप है वैसे उपाधि व अध्यास से बद्ध प्रतीयमान जीव जब अपना शोधन करता है तब पाता है कि बंधन केवल मिथ्या है, वास्तव में वह नित्यमुक्त ही है। पृथ्वी आदि जैसे ज्ञेय हैं वैसे अहंकार भी है और आगमापायी होने से उसमें अध्यास भी पृथ्वी आदि के समान है अतः ये दोनों पृथ्वी आदि की तरह मिथ्या निर्णीत होते हैं। किं च, जैसे इन्द्रियाँ-रूप उपाधि के कारण परमात्मा पृथ्वी आदि भूत-भौतिकों के आकार में उपलब्ध होता है उसी प्रकार अहंकाररूप उपाधि के कारण वही परमात्मा जीव, प्राणधारी, शरीरी प्रतीत हो रहा है। अहंकार रहते ही जीव की उपलब्धि है, अहंकार न रहने परसुषुप्ति-समाधि मेंजीव की उपलब्धि नहीं होती अतः अन्वय-व्यतिरेक से जीव औपाधिक, सापेक्ष, मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अहंकार और उसमें अध्यास, इन्हीं का नाम जीवत्व है; परिशिष्ट जीवस्वरूप तो चिन्मात्र ब्रह्म है।

यद्यपि पृथ्वी आदि के समान मिथ्या है तथापि अहंकार में यह विशेषता है कि वह ब्रह्म के चिद्रूप का भी परिच्छेदन, प्रतिबिम्बन कर देता है जबकि पृथ्वी आदि केवल सद्रूप को ही ग्रहण कर अपने में दिखा पाते हैं अतः वे तो केवल 'हैं' लगते हैंपृथ्वी है, जल है, तेज है इत्यादि, जबकि अहंकार 'जानता हुआ' और 'है' दोनों लगता है। दीवाल आदि भी मिट्टी से बनती हैं और दर्पण भी मिट्टी से ही तैयार होता है लेकिन सूर्य की चमक-रूपता दर्पण तो ग्रहण कर लेता है, दीवाल नहीं कर पाती अतः जहाँ सूर्य का प्रकाश सीधे नहीं पहुँच पाता वहाँ भी दर्पण के सहारे सूर्य की रोशनी पहुँचा सकते हैं, दीवाल आदि द्वारा नहीं। दीवाल खुद तो सूर्य से प्रकाशित हो सकती है पर इस ढंग से नहीं कि किसी और को भी प्रकाशित करे, दर्पण खुद भी प्रकाशित हो जाता है तथा अन्य को भी प्रकाशित कर देता है। तात्पर्य है कि एक ही वस्तु की

अलग-अलग विशेषताओं के ग्रहण करने की सामर्थ्य विभिन्न चीज़ों में होती है, यह प्रश्न नहीं उठता कि वह सामर्थ्य अमुक में ही क्यों है। ऐसे ही सत् व चित् परमात्मरूप से एक ही हैं, परमात्मा का स्वरूप अखण्ड ही है, फिर भी पृथ्वी आदि उसके सद्रूप को ही ग्रहण करते हैं जबकि अंतःकरणउसमें भी प्रधानतः उसकी अहंकारात्मिका वृत्ति तथा वे वृत्तियाँ जो ज्ञान कहलाती हैंपरमात्मा के चिद्रूप को भी ग्रहण कर लेता है। अन्तःकरण द्वारा ग्रहण किया वह चिद्रूप ही चिच्छाया या चिदाभास कहा जाता है, वह चित् नहीं फिर भी चित् की तरह प्रतीत होता है जैसे दर्पण प्रकाश न होने पर भी लगता है मानो प्रकाश हो। जैसे प्रतिबिंब बिंब से पृथक् वस्तु प्रतीत होता है वैसे अहंकार में पड़ी चिच्छाया भी चेतन ब्रह्म से पृथक् प्रतीत होकर जीव लगती है। विचारदृष्टि से घड़ा मिट्टी से पृथक् कोई वस्तु नहीं कहा जा सकता फिर भी प्रतीत होता है कि पृथक् है, जो कार्य घड़े से होता है वह मिट्टी से नहीं हो पाता अतः घड़े की पृथक्ता जँचती भी है और यह मान लिया जाता है कि मिट्टी कोई व्यापक तत्त्व है, घड़ा एक परिच्छन्न पदार्थ है। इसी प्रकार अहंकारगत चिच्छाया को चित् से पृथक् परिच्छिन्न जीवस्वरूप मानकर हम बंधन महसूस कर रहे हैं एवं स्वयं से अलग एक व्यापक चित्-तत्त्व ईश्वर है यह समझ रहे हैं। जैसे घट-कार्य के लिये घटरूप उपाधि चाहिये पर इससे घट पृथ्वी से अलग नहीं हो गया वैसे अनेक कार्यों के लिये अहंकारगत चिच्छाया ही सक्षम है, चिन्मात्र वे कार्य नहीं कर सकता, पर इससे वह छाया चित्-तत्त्व से अलग नहीं हो जाती। उदाहरण के लिये द्वेष-रूप कार्य संपन्न करना है तो अहंकार चाहिये ही, इसके बिना केवल चिद्वस्तु से द्वेष नहीं संपन्न हो सकता। 'मैं हिंदुस्तानी' यह अहंकार रहते ही पाकिस्तानी से द्वेष कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। नानकदेव की प्रसिद्ध कथा है कि सौदा तोलते हुए 'तेरह' आया तो उन्हें स्मरण हो गया कि 'प्रभु! सब तेरा ही है' और जैसे ही 'मेरा-तेरा' का भेद मिटा वैसे ही वे व्यापार करने में असमर्थ हो गये। अतः व्यापार भी चिन्मात्र से नहीं, चिच्छाया से ही संभव होता है। ऐसे ही सभी लौकिक व्यवहारों में समझ लेना चाहिये। अत एव साधक के लिये सारे व्यवहार छोड़ना, सर्वकर्मसंन्यास एक आवश्यक साधन हो जाता है चिन्मात्र में दृढ स्थिति पाने के लिये। व्यवहार बिना अहंकार के होता नहीं, जितना व्यवहार करे उतना अहंकार का भाव दृढ होता रहेगा तो 'मैं अहंकार नहीं वरन् शुद्ध चित् हूँ' यह भाव दृढ नहीं हो पायेगा। इस प्रकार चिदाभास की व्यावहारिकता तो है पर वह स्वयं कुछ है नहीं, केवल चित् को समझने का उपाय है। जैसे इंद्रियों

इन्द्रः

यथाशास्त्रं विविच्येत्थं प्रत्यग्दृष्ट्या चिदात्मनः।
साक्षाच्चकार ब्रह्मत्वं जीवः शान्त्यादिसंयुतः।।३९।।

के कारण भूमि आदि की प्रतीति और इंद्रिय-निरोध से सन्मात्र का अवस्थान श्लोक ३२ आदि में बताया था वैसे अहंकार के कारण जीवभाव है और अहंकार मिटने पर चिन्मात्र का अवस्थान है। विवेक के बल से घट आदि का बाधकर सद्रूप ब्रह्म को समझ कर अहंकार का बाधकर चिद्रूप ब्रह्म को भी समझा जा सकता है। समझना भी एक व्यवहार है अतः इसके लिये भी अहंकार चाहिये जैसे बाध-व्यवहार के लिये भ्रमसिद्ध सर्पादि चाहिये, इसलिये सुषुप्ति आदि काल में अहंकार का न होना मात्र इस तत्त्वावगम के लिये पर्याप्त नहीं वरन् जब अहंकार प्रतीत हो रहा है तब विवेक से इसका विश्लेषण करने पर ही यह समझ आयेगा कि जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से पृथक् जीव कुछ नहीं है; ब्रह्म से अलग जो स्वरूप जीव का प्रतीयमान है वह मिथ्या ही है।।३८।।

श्लोक ३७ में व्यापक पुरुष के दर्शन का प्रसंग प्रारंभ किया था; वह किसे और कैसे होता है यह बताते हैं **शम आदि से सम्पन्न जीव ने इस प्रकार शास्त्रानुसार अविषयभूत सत्य का विवेक कर चिदात्मा की व्यापकता, पूर्णता का साक्षात्कार पाया।।३९।।** विचार का एक सही ढंग होता है जिससे सचाई तक पहुँचा जा सकता है। मन-माने तरीके से कोई सोचे तो सत्य तक नहीं पहुँच पायेगा। जैसे रसायन-विज्ञान में प्रक्रियाएँ होती हैं जिनका पूरा-पूरा अनुसरण करने पर ही वे-वे पदार्थ तैयार हो पाते हैं, उन प्रक्रियाओं में मन-मानी हेर-फेर कारगर सिद्ध नहीं होती; ऐसे ही आत्मा को समझने का एक तरीका है, उससे सोचने पर ही सही नतीजे पर पहुँचेंगे अन्यथा गलत ही निर्णय होगा। वह सही तरीका शास्त्र, उपनिषत् में स्पष्ट किया गया है। 'कैसे' का पता शास्त्र से लगाकर उसे स्वयं करने पर वह उत्तर हमारे लिये प्रत्यक्ष होता है। केवल रसायन की पुस्तक पढ़ना पर्याप्त नहीं, तदनुसार प्रयोग करने से ही रसायनविद्या हृदयंगम होती है, ऐसे ही अध्यात्मविद्या भी शास्त्रानुसार विचार करने पर ही अपरोक्ष होती है। रसायनविज्ञान में भी अनेक ढंग आपाततः व्यर्थ लगते हैं पर जब उन्हीं ढंगों से करने पर फल मिलता है, उनके बिना नहीं, तब उनका महत्त्व पता चल जाता है; इसी तरह आत्मा के ज्ञान के लिये शास्त्र ने जो विचार-पद्धति बता दी उसके ही अनुसरण से फल प्राप्त होने

से उसका महत्त्व है। आत्मदर्शन के लिये विवेक करना है 'प्रत्यग्दृष्टि' से। जो कुछ हमारा विषय हो सकता है उसे 'पराक्' कहते हैं और जो कभी विषय न हो सके उस निज तत्त्व को ही 'प्रत्यक्' कहते हैं। दीखने वाली चीज़ों का विवेक अनात्मविज्ञान में है, देखने वाले का विवेक आत्मविज्ञान में है। तुम्हें घड़ा दीखा। पराग्दृष्ट्या विवेक कर सकते हो घड़े का कि आखिर वह क्या है जो दीखा? प्रत्यग्दृष्ट्या विवेक करोगे अपना कि आखिर तुम कौन हो जिसे वह दीखा? हर अनुभव का दोनों ही दृष्टियों से विश्लेषण संभव है। बाह्य दृष्टि अपनाने से विषय जगत् फैलता जाता है, आत्मदृष्टि अपनाने से आत्मज्ञान हो जाता है। घड़ा दीखने से जैसे पता चला कि घड़ा है वैसे ही यह भी पता चला कि 'मेरी आँखें ठीक हैं, देख रही हैं'। घड़े की अपेक्षा आँखें प्रत्यक् हैं पर घटज्ञान का ही प्रत्यग्दृष्ट्या विवेचन करने पर आँखों का पता चलेगा। चश्मे की संख्या इसी तरह निर्धारित होती है; दूर अक्षर या आकृतियाँ पहचान सको ऐसी संख्या का चश्मा लेने के लिये विभिन्न चश्मों से देखकर पता लगाते हो कि सबसे साफ किस चश्मे से दीखा। देखते हो अक्षर को पर पता लगाते हो आँख की शक्ति का, अर्थात् विषयज्ञान का ही प्रत्यग्दृष्ट्या विवेक करने से प्रत्यग्वस्तु का पता लगता है। इसी प्रकार प्रत्यक्तम वस्तु जो आत्मा उसका पता भी प्रत्यग्दृष्टि से ही लगता है। अत एव आत्मबोध 'मैं' इस तरह से होता है, 'यह' इस तरह से नहीं। पराक् का ज्ञान 'यह' इसी तरह से होगा पर प्रत्यक् को कभी 'यह' इस तरह नहीं जान सकते। यह रहस्य शास्त्र ही बताता है कि परमात्मा तक पहुँचना है तो प्रत्यग्दृष्टि अपनानी पड़ेगी, हमेशा 'मैं' की तरफ आते जाओ, जो भी उससे अतिरिक्त है उसे छोड़ते जाओ। अंत में जो बचेगा वही परमात्मा है।

प्रत्यङ्मात्रस्वरूप तक वही पहुँच सकता है जो शान्ति आदि साधनों से संयुक्त है। शम, दम, उपरति आदि अनेक साधन शास्त्रों में सूचित हैं जिनका पर्याप्त अभ्यास किये बिना आत्मदर्शन संभव नहीं। 'नाशान्तो नासमाहितः' (कठ.२.२४) आदि द्वारा उपनिषद् ने यह स्पष्ट कर दिया है। संयम के बिना केवल मानस या बौद्धिक चिन्तन से यह साक्षात्कार नहीं होता। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा होना चाहियेयह तो चिन्तनमात्र से लग सकता है पर 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह दृढ अनुभव शमादि के अभ्यासी को ही संभव है। प्रकृत ऐतरेय में यहाँ यद्यपि साधनविधान नहीं किया है तथापि आगे जन्मपरंपरा का वर्णन कर वैराग्य उपजाने का यत्न किया है जिससे वैराग्यादि सभी साधनों का उल्लेख समझ लेना चाहिये ऐसा मानकर ग्रंथकार ने यहाँ शान्ति

'इदम्' इत्यपरोक्षेण ददर्शेति विवक्षया।।
'इदन्द्र'-नामाऽभूज्ज्ञानी वैयाकरणदृष्टितः।।४०।।
तम् 'इन्द्र' इत्याहुरन्ये नाम्नः पारोक्ष्यसिद्धये।
पूज्यस्य देवपित्रादेः परोक्षं नाम हि प्रियम्।।४१।।

आदि साधन कह दिये। किं च श्रुति ने 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमम् अपश्यत्' कह दिया तथा दर्शन के लिये शमादि की अनिवार्यता 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति' (बृ. ४.४.२३) इस वाक्य में कही ही है अतः ग्रंथकार ने 'अपश्यत्' के कर्त्ता की आवश्यक विशेषताओं में शम आदि की गणना की है। ऐतरेय में वैराग्य की सूचना इसलिये है कि वह प्रधान साधन है। राग-द्वेष ही मन को उद्वेलित करते हैं, उन्हीं के विषयों से हटाकर मन को प्रत्यक् स्वरूप में स्थिर करना कठिन है। वैराग्य बताने के लिये शरीरवर्णन ही इसलिये किया कि राग-द्वेष शरीर को ही आधार लेकर होते हैं।।३६।।

आगे श्रुति कहती है 'इदमदर्शमितीऽ३। तस्माद् इदन्द्रो नाम, इदन्द्रो ह वै नाम, तम् इदन्द्रं सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः' अर्थात् 'अहो आश्चर्य है कि मैंने अपने इस पूर्ण स्वरूप को देख लिया! इसे देखने के कारण ही आत्मा 'इदन्द्र' कहलाता है। क्योंकि देवताओं को यही पसंद है कि उनका सीधा नाम न लिया जाये इसलिये इदन्द्र की जगह 'इन्द्र' ऐसा कहते हैं। इस श्रुति को श्लोकों द्वारा समझाते हैं : **व्याकरण जानने वालों की समझ ध्यान में रखकर ज्ञानी 'इदन्द्र' नाम वाला हुआ यह बताने के लिये कि उसने ब्रह्मस्वरूप को 'यह' यों साक्षात् देखा है।।४०।। साक्षात् नाम न लिया जाये इस प्रयोजन से अन्य लोग उस इदन्द्र को ही 'इन्द्र' कहते हैं; क्योंकि देवता, पिता आदि पूज्यों को यही प्रिय है कि उनका साक्षात् नाम न ग्रहण किया जाये, कुछ बदलकर नामोच्चारण हो।।४१।।** श्रौत निर्वचन करते हुए तात्पर्यार्थ प्रधान होता है। 'इदन्द्र' में दो शब्द हैंइदम् और द्र। इदम् मायने 'यह' और द्र का अभिप्राय है 'देखा।' *यह* उसे कहते हैं जो निकट हो अतः जिसे सुस्पष्ट जान रहे हों। आत्मा सबसे अधिक निकट है ही और उसका ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट होने से उसे 'यह' कहना ठीक है। वैसे, इदम् या यह शब्द से विषयों को, सारे जगत् को, युष्मत्प्रत्यय-गोचर को कहा जाता है। संसार के बारे में हमारा ज्ञान अनेक माध्यमों से होता है जैसे रूप के ज्ञान में प्रकाश, आँख व मन सभी माध्यम बनते हैं या शब्दज्ञान में वायु, श्रोत्र आदि

माध्यम होते हैं। किसी भी माध्यम के दोष से ज्ञानमें ग़लती आ जाती है। रोशनी सही रंग की न हो तो चीज़ का रंग ठीक नहीं दीखता, आँखों की खराबी से भी वस्तु ठीक-ठीक नहीं दीखती, मनोदोष होने पर भी विषय का यथावत् ग्रहण नहीं होता। क्योंकि मन अनिवार्य माध्यम है और ज्ञानवृत्ति बनती भी उसी में है इसलिये मन के दोष का बहुत प्रभाव पड़ जाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि के कारण व्यक्ति को ज्ञान होता ही गलत है क्योंकि यथास्थिति न देखकर वह रागादि से विकृत कर ही उसे देख पाता है। मन को जानने में आत्मा को अन्य कोई माध्यम नहीं चाहिये पर बाह्य सब चीज़ें मन, इंद्रिय आदि के द्वारा ही ज्ञात होती हैं, साक्षात् नहीं। इसी दृष्टि से अपरोक्ष और साक्षात् अपरोक्ष में अन्तर किया जाता है; बिना माध्यम के हुए अपरोक्ष को साक्षात् कहते हैं व माध्यम वाला केवल अपरोक्ष कहलाता है। अज्ञानदशा में जगत् का हमें अपरोक्ष तो है, साक्षात् नहीं। किन्तु जब सत् और चित् की एकता पता चल जाती है तब जगत् क्योंकि सत् से अभिन्न है इसलिये वैसे ही साक्षात् अपरोक्ष हो जाता है जैसे चित्! तात्पर्य है कि हमें घट आदि जगत् है लग रहा है अतः इसका है या सत् से अभेद भास ही रहा है तभी 'घड़ा है' आदि सामानाधिकरण्य-व्यवहार करते हैं। इधर, चित्, चेतन, प्रत्यक् हमें साक्षात्, बिना माध्यम के अपरोक्ष है ही। शुद्ध चित् को न भी जानें तो चिदाभास को जानते ही हैं, वही व्यावहारिक चित् है। जब सत्-चित् की एकता पता चलेगी तब बलात् सत् का साक्षात् अपरोक्ष होगा और अत एव सत् से अभिन्न जगत् का भी साक्षात् अपरोक्ष होगा ही। ज्ञानी ईश्वर से अभिन्न है अतः ईश्वर के अनुभव की दृष्टि से समझ सकते हैं कि ईश्वर को संसार के सभी पदार्थ स्वयं से अभिन्न हुए अपरोक्ष भासते हैं। इस तरह भी इदंकारास्पद का साक्षात्त्व समझा जा सकता है। वस्तुतः तो साधारण व्यक्ति सन्निकट पदार्थ को ही अपरोक्ष मानता है अतः सुस्पष्ट अपरोक्षता के अभिप्राय से ही यहाँ 'आत्मा को 'यह' यों देखा' ऐसा कहा।

श्रुति में 'अदर्शम्' यह सामान्य भूतकाल का ही प्रयोग है पर ग्रंथकार ने 'ददर्श' से उसकी व्याख्या की है अर्थात् लिट् लकार का प्रयोग किया है। अपह्नव या निषेध के लिये ऐसा प्रयोग शिष्टसम्मत है। कलिंग-देश जाने को सामान्यतः बुरा माना गया है। किसी से पूछा 'क्या तुम कलिंग गये थे?' वह ज़ोर देकर मना करना चाहता है तो कह देगा 'नाहं कलिङ्गान् जगाम' मैं कलिंग नहीं ही गया, मेरे वहाँ जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता, तुमने यह मुझे पूछा ही कैसे! इसी तरह यहाँ अभिप्राय है

कि जो चीज़ कभी देखी ही नहीं जा सकती, वह भी देख ली गयी! अर्थात् दृष्टि की विषयता का अपह्नव या निषेध है; आत्मा को देखा पर आत्मा उस दर्शन का विषय नहीं बना। 'सपना देखा था' यह कहते समय भी जानते हैं कि 'देखा' नहीं था, चक्षु से विषय नहीं किया था, और न वहाँ कुछ था जो दीख सके! ऐसे ही, जो कुछ इदम् है, अनात्म जगत् है, उसे प्रत्यगात्मा से एक जानना संभव नहीं फिर भी 'सपने में जो कुछ दीखा वह मैं ही था' इस जाग्रत्-अनुभव की तरह 'अविद्यावस्था में जो इदम् दीखा वह मैं ही था' यह ज्ञानी का अनुभव संगत है। वास्तव में न स्वप्न था, न आविद्यिक इदम् है। यों अनेक रहस्यों से गर्भित नाम ग्रहण किया साधारण लोगों के उपयोग के लिये नहीं वरन् व्याकरण के जानकार इस नाम से उन रहस्यों को समझें इसलिये।

देवता और दैवी संपत्ति वाले अन्य भी सज्जन यह नहीं पसंद करते कि आदरणीयों का सीधे ही नाम लिया जाये वरन् श्री, जी आदि शब्द जोड़कर या नाम को कुछ बदलते हैं या व्यक्तिगत नाम न लेकर अन्य ही विशेषण से उल्लेख करते हैं। अभी तक भारत में यह शिष्टता व्यवहार में है, पति का नाम पत्नी या पिता-दादा का नाम पुत्रादि नहीं लेते, कहीं परिचयार्थ लेना ही पड़े तो अत्यंत संकोच से बोलते हैं। बृहदारण्यक में भी 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' (४.२.२) कहा है। अतः परमात्मरूप तत्त्ववेत्ता के 'इदन्द्र' नाम का लोक में प्रयोग नहीं वरन् थोड़ा परिवर्तन कर 'इन्द्र' नाम का प्रचलन है। श्रुति ने तो वास्तविक नाम कह दिया पर अन्य लोग इसकी जगह इन्द्र ही कहते हैं। जो व्याकरण नहीं जानते उन्हें 'इदन्द्र' के कोई मायने समझ ही नहीं आयेंगे इसलिये भी वे सीधे-सादे इन्द्र-नाम का ही प्रयोग करते हैं जो शक्तिवृत्ति से देवराज का बोधक है अतः लक्षणा से सर्वाधिक महत्त्वशील परमात्मा को सूचित कर देता है। इदन्द्र तो यौगिक शब्द ही है अतः इसका अर्थ वैयाकरण ही समझे यह उचित है।।४०-१।।

'इन्द्र' इस बदले हुए नाम से भी परमात्मारूप ज्ञानी ही समझना चाहिये न कि देवताविशेष, क्योंकि श्रुतियों में परमेश्वर का इन्द्र नाम प्रसिद्ध है। बृहदारण्यक में 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (२.५.१९) इन्द्र-नाम से परमेश्वर का स्पष्ट कथन है। इसलिये ज्ञानी इन्द्र कहलाये यह उचित ठहराते हुए उपनिषत्-प्रथमाध्याय की व्याख्या समाप्त करते हैं **क्योंकि परमेश्वर के स्वरूप से अभिन्न है इसलिये तत्त्ववेत्ता को इन्द्र कहना उचित है। यहाँ तक बतायी ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ अधिकारी के लिये**

परमेश्वररूपत्वाद् अपीन्द्रत्वम् इहोचितम्।
समाप्ता ब्रह्मविद्येयम् उत्तमस्याऽधिकारिणः।।४२।।

पर्याप्त है।।४२।। 'इदि' धातु (भ्वा.प.से) का अर्थ परम ऐश्वर्य है। इसी से इन्द्र-शब्द बनता है जो सर्वाधिक ऐश्वर्य वाले देवराज को और निरवधिक ऐश्वर्य वाले परमात्मा को कहता है। परमात्मा से ज्ञानी सर्वथा एक है अतः ज्ञानी आत्मा को यहा इंद्र कह दिया। ऐतरेय उपनिषत् में 'आत्मा वा इदम् एक एव' से प्रारंभ कर सृष्टि-विस्तार कहा और संसरण में पड़े जीव के स्वरूप का विवेक बताते हुए उसे परिपूर्ण व्यापक सिद्ध किया; इतने में समूची ब्रह्मविद्या समा गयी! सारे ब्रह्माण्ड का रूप धारण करने वाले परमेश्वर से मैं भिन्न नहीं हूँयह जान लेना ही ब्रह्मविद्या का फल है। किंतु इतने-से इशारे द्वारा वही समझ सकता है जो अतियोग्य साधक है। साधारण मुमुक्षु को यही बात तरह-तरह से व विभिन्न क़दमों से समझानी पड़ती है अतः प्रधान वक्तव्य पूरा होने पर भी आगे उपनिषत् उपदेश दे ही रही है। यहाँ तक उपनिषत् के प्रथम अध्याय को समझाया।।४२।।

वेदान्तों की मान्य प्रक्रिया के अनुसार अध्यारोप-अपवाद द्वारा तत्त्व-प्रतिपादन किया जाता है। आत्मबोध के लिये उपयोगी ढंग से पूर्व प्रसंग में अध्यारोप किया ताकि जगद्रूप अंकुर से इसके मूल आत्मवस्तु को पहचाना जा सके। संसारकारण बताने पर आत्मतत्त्व की अस्तिता तो निश्चित हो जाती है पर उसका प्रत्यक्त्व नहीं पता चलता। इसके लिये अपवाद का प्रयोग होता है जिसमें संसारी के स्वरूप का परीक्षण करते-करते सारे परिच्छेदों का निरास हो जाने पर वही व्यापक पूर्ण अद्वैत तत्त्व निर्णीत हो जाता है। अतः अभी तक के ग्रंथ में क्रमशः दोनों कदमों से उपदेश दिया। अध्यारोप के दौरान तीन आवसथ बताये थे जिससे सूचित किया था कि जीवात्मा एक से दूसरे स्थूल देहों में जाता रहता है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए दूसरे अध्याय में तीन जन्मों का वर्णन किया है। जिससे जन्म लेना है उस पिता के वीर्य में आना एक जन्म है, वहाँ से माता के गर्भ में पहुँचना दूसरा जन्म है; फिर जीवन बीतने पर मरकर नये पिता में पहुँचना तीसरा जन्म है। यह विषय अब बताया जायेगा किन्तु प्रश्न होगा कि इसे बताने का प्रयोजन क्या? वह प्रयोजन ही कहते हैं **पूर्वदर्शित आत्म-साक्षात्कार उसे ही होता है जो वैराग्यवान् है। वैराग्य का कारण है विषयों के दोषों को पहचानना। संसरण की प्रक्रिया को प्रारंभ करने वाला अतः प्रधान दोष है जन्म धारण करना। जन्म की घृणितता, भयावहता का**

वैराग्याय त्रिजन्मवर्णनम्

विरक्तस्योक्तबोधः स्याद् वैराग्यं दोषदर्शनात्।
जन्मैव प्रथमो दोषः तद्बीभत्सा निरूप्यते।।४३।।

वर्णन आगे किया जा रहा है।।४३।। पूर्ण वैराग्यवान् ही परमात्मबोध के लिय उत्तम अधिकारी है। ब्रह्मा के पद से लेकर तुच्छातितुच्छ विषय तक किसी के बारे में जिसे यह भ्रम नहीं होता कि वह सुख का कारण है वही सर्वथा विरक्त है। सुखहेतुता प्रतीत होने पर ही राग होता है, दुःख से किसी को राग नहीं होता। वैराग्य-लाभ का एक ही तरीका हैदोष दर्शन। केवल दुःखानुभूति क्षणिक प्रतिबंध तो राग का कर सकती है पर उसे मिटा नहीं सकती। राग तभी मिटता है जब विषय में दोष निर्णीत कर उस दोष को देखते रहा जाये, जब विषय सामने आये तब उसका दोष ही स्पष्ट प्रतीत हो; अतः दोष के ज्ञान मात्र से नहीं वरन् दोष के दर्शन से वैराग्योत्पत्ति बतायी। यदि दोषदर्शन न हुआ तो विषय से वैराग्य संभव नहीं। गुण दीखने पर भी यदि प्रबल दोष को देखा जाये तो भी राग नहीं रहता, जैसे आकर्षक दीखते लड्डू के बारे में निश्चित पता चल जाये कि वह जहरीला है तो उसे खाने की इच्छा नहीं होती। अत एव वेदान्त समझाता है कि साधन-प्रक्रिया विवेक से प्रारंभ करनी चाहिये क्योंकि विवेकी ही दोष पहचान सकता है। अनित्यता, जडता, दृश्यता आदि सभी अनात्मवस्तुओं में समान दोष हैं जिनसे पता चल सकता है कि सब अनात्म चीज़ें दुःख का ही हेतु हैं। हमारे सुखों का प्रधान आधार हमारा शरीर होता है क्योंकि इसी की अनुकूलता को हम सुख का पैमाना बनाते हैं। अतः सर्वाधिक प्रेम, राग हमें शरीर से ही रहता है। 'शरीर' से स्थूल व सूक्ष्म दोनों समझने चाहिये किंतु प्रधानता स्थूल की इसलिये है कि इसी के अनुसार सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् स्थूल शरीर में जो भोगा जा सके उसी के उपयुक्त संस्कार सूक्ष्म शरीर में प्रकट होते हैं। अत एव मानव को मलभक्षण या सुअर को काव्यश्रवण के प्रति राग नहीं होता जबकि वही सूक्ष्म शरीर उन स्थूल देहों में पहुँच जाये तो उन चीजों में राग हो जाता है। कदाचित् लोग आत्महत्या भी करते हैं तो देह से वैराग्य के कारण नहीं वरन् किसी दुःख सेचाहे वह दुःख शरीर के विकार से ही होबचने के लिये। क्योंकि शरीर ही अन्य रागों का निर्धारण करता है इसलिये इसी से वैराग्य कर लेने पर विषयान्तर के राग को मिटाने के लिये पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। शरीर का सबसे पहला दोष है जन्म! यदि शरीर उत्पन्न न होता तो जीव बेचारा संसरण का कष्ट क्यों भोगता? जन्म के प्रति

प्रथमं जन्म

स्वर्गाद् वा नरकाद् वाऽयं वृष्टिद्वाराऽन्नसंस्थितः।
प्रविश्य पितरं तत्र गर्भो भवति रेतसि।।४४।।

घृणा हो, इससे बचने की इच्छा हो तभी जीव वे साधन अपनायेगा जिनसे आगे फिर जन्म न हो। प्रसंगवश, याद रखना चाहिये कि ऐतरेयोपनिषत् में इस प्रसंग का प्रारंभ करते हुए निर्देश है 'अपक्रामन्तु गर्भिण्यः' तथा जन्मप्रसंग पूरा होने पर कहा है 'यथास्थानं गर्भिण्यः।' अर्थात् इस वैराग्य-वर्णन को गर्भिणी स्त्रियाँ न सुनें। यदि उन्हें वैराग्य हो गया और उन्होंने गर्भ का उचित ख्याल न रखा तो महान् दोष हो जायेगा। गर्भ धारण कर लिया है अतः उसे सुरक्षित जन्म देना ही कर्तव्य है। वैदिक मर्यादा है कि कार्य प्रारंभ करने से पूर्व खूब सोच-समझ लेना चाहिये पर प्रारंभकर उसे पूरा करना ही चाहिये। मध्य में यदि उस कार्य के फल के प्रति इच्छा समाप्त भी हो जाये तो भी कार्य को अध-बीच में छोड़ना शोभा नहीं देता। स्त्री वैराग्य भले ही प्राप्त करे पर एक बार यदि गर्भ धारण कर लिया तो उसके दायित्व को संभालना आवश्यक है। सभी कर्तव्यों के लिये यह न्याय है। अतः ऋण-श्रुति भी उसी को विषय करती है जो गृहस्थ हो गया; विवाह से पूर्व विवेक करे यही उचित है, यदि विवाह कर लिया तो पत्नी-पुत्रों की उचित व्यवस्था किये बिना, ऋण चुकाये बिना चतुर्थाश्रम में जाना ठीक नहीं। इसी तरह जो शरीर धारण कर लिया इसे ढंग से रखना भी उचित है; आगे शरीर धारण न किया जाये, लेकिन जिसे स्वीकार कर लिया उसे तो उपेक्षित छोड़ना ठीक नहीं। अतः तत्त्वज्ञान के बाद भी प्रारब्धानुसार शरीर-व्यवहार सहन करना ही मान्य है, ऐसा नहीं कि शरीर लेने का प्रधान फल आत्मबोध हासिल हो गया तो विद्वान् जाकर काशी करवत ले ले! जन्म की कष्टमयता का निरूपण इसी उद्देश्य से है कि विवेकी को शरीर आदि सारे अनात्मवर्ग से दृढ वैराग्य हो जाये और वह पूर्ण अनंत आत्मा का साक्षात्कार कर ले।।४३।।

श्रुति ने शरीर में दोष-दृष्टि कराने के लिये उसके तीन जन्मों का वर्णन किया है। श्लोक ४४ से ४६ तक प्रथम का, ४७ से ५२ तक द्वितीय का तथा ५३ से ५४ तक तृतीय का कथन यहाँ ग्रंथकार करेंगे। प्रधान उद्देश्य शरीरधारण करने के प्रति वैराग्य उपजाना है यह स्मरण रख इस प्रसंग को समझना चाहिये। **यह जीव स्वर्ग से या नरक से वृष्टि द्वारा पृथ्वी पर आकर अन्न में प्रतिष्ठित हो जाता है फिर पिता में प्रवेश कर वहाँ शुक्र में गर्भरूप हो जाता है।।४४।। पिता के देह में स्थित**

तद् रेतः पितृदेहस्थं सर्वाङ्गेभ्यः समुत्थितम्।
पितुः स्वदेहो गर्भाख्यदेहश्चेति वपुर्द्वयम्।।४५।।
स्त्रियां सिञ्चति तद् रेतः तत् पुत्रोत्पादनं पितुः।
पुत्ररूपेण तज्जन्म पितुराद्यं स्वयं कृतम्।।४६।।

वह शुक्र पिता के सभी अंगों से उपजता है। उस दशा में पिता के दो शरीर रहते हैंएक उसका अपना शरीर और दूसरा उसके शुक्र में स्थित गर्भनामक शरीर।।४५।। उस गर्भ समेत शुक्र को जब पिता स्त्री में स्थापित कर देता है? तब वह पिता का पुत्ररूप से पहला जन्म है जो उसने खुद किया है।।४६।।

अनादि संसार-प्रवाह में पहला, दूसरा आदि किसी अपेक्षा से ही कह सकते हैं अतः यहाँ साधक को अनुभूयमान मानव जन्म की अपेक्षा से त्रिजन्म-प्रक्रिया समझा रहे हैं। पूर्व में किये कर्मानुसार जीव स्वर्ग या नरक जाकर जब पुनः कर्मभूमि पृथ्वी पर लौटता है तब बरसात के सहारे ही। यह प्रसंग पंचाग्निविद्या में समझाया गया है। जीव का लोकांतरगमन कर्मानुसर होता है। कर्मों में जल की (द्रव द्रव्यों की) प्रधानता होती है अतः परलोक से लौटते समय जल के सहारे आना संगत है। जीव स्वर्गादि से पहले बादल के जल में आता है फिर बरसात गिरने पर धरती पर आकर अन्न में पहुँच जाता है जिसे पिता खाये तो वह उसमें गर्भाकार ग्रहण कर लेता है। स्पष्ट ही है कि इस ढंग में कितनी कम संभावना है कि जीव उचित स्थान पर पहुँचकर गर्भ बने अतः उपलब्ध मानव देह में ही तत्त्वज्ञान पाने का प्रयास कर लेना चाहिये। पिता ने खा लिया, फिर वह उसके सभी धातु बनते-बनते अन्त में चरमधातु रेतस् या शुक्र या वीर्य बनता है। गर्भभाव से पहले तक जीव जल-अन्नादि में था तो सही पर उन जल आदि में उसे तादात्म्य नहीं था अतः जल आदि के शोषण-पेषण आदि से उसे कोई कष्ट भी नहीं था। अब उसे गर्भाख्य देह से तादात्म्य हो जाता है। अत एव मातृगर्भ में जाने से पूर्व ही जीव व्यक्त हो जाने के कारण आज-कल जो दुष्प्रचार हो रहा है कि माता के गर्भ में दो-तीन मास तक जीव नहीं होता जिससे तब गर्भपात निर्दोष है, वह सर्वथा गलत है। माता के गर्भ में प्रारंभ से ही जीव रहता है क्योंकि वह पिता के गर्भ से आता है। अतः कभी भी गर्भपात दोष का ही कार्य है। हर हालत में, प्रथमतः पिता द्वारा खाया जाकर उसके चरम धातु में रहना अति घृणित और कष्टप्रद है। पिता के सभी अंगों से सारभूत तत्त्व परिपक्व होकर उसका रेतस् बनता है जैसे दही के प्रत्येक बिंदु से मक्खन निकलता है। अत एव जन्म लेने वाला शरीर अनेक तरह से पिता के सदृश

द्वितीयं जन्म

योषिद्योनिं प्रविश्याऽयं योषिद्गर्भे स्फुटीभवेत्।
योषिद्वीर्येण पुष्टोऽसौ तद्देहेनैकतां व्रजेत्।।४७।।
अन्यथैनां स्त्रियं हन्याद् गुल्मव्याधिवद् आन्तरः।
स्वाङ्गवद् न हिनस्त्येनां गर्भं रक्षति सा ततः।।४८।।

होता है। खाये अन्न का अंश ही सारे शरीर में पहुँचकर तत्तद् अंगों का आकार लेकर क्रमशः शुक्र बनता है अतः सभी अंगों से उसका समुत्थान उचित है। जब पिता के रेतस् में जीव गर्भरूप से पहुँचता है तब पिता का शरीर और वह गर्भयों दो शरीर इकट्ठे रहते हैं जैसे माता के गर्भ में जीव रहते दो शरीर होते हैं। ऋतुकाल में पिता उस गर्भ-नामक देह को स्त्री के गर्भ में स्थापित करता है। पिता-कर्तृक पुत्रोत्पादन तो इतना ही है, इसके बाद तो माता उसे पुष्ट करेगी अतः पिता के गर्भ से निकलकर माता के गर्भ में आनायह एक जन्म है। पुत्र के रूप में पिता का वह जन्म हुआ। जो प्रौढ देह पिता कहलाता है वह तो उसके भी पिता का दिया हुआ है, स्वयं उसने तो यह पहला ही जन्म लिया जो वह पुत्ररूप से उत्पन्न हुआ अर्थात् स्त्री-गर्भ में आहित हुआ। जिन तीन जन्मों की यहाँ बात चल रही है उनमें यह प्रथम जन्म है।।४४-६।।

अब द्वितीय जन्म बताने के लिये मातृगर्भ में स्थित का वर्णन करते हैं ताकि उस हेय अवस्था के प्रति वितृष्णा हो और साधक इसी जीवन में तत्त्वज्ञान पाकर जन्म-संसार-बंधन से मुक्त होने के लिये अधिकतम प्रयास करे। **स्त्री के योनियन्त्र में घुसकर यह जीव उसके गर्भाशय में पहुँचता है तथा उसके वीर्य अर्थात् शोणित से पोषण प्राप्त कर इस तरह विकसित होने लगता है कि स्त्री में गर्भ पल रहा है यह स्पष्ट हो जाये। स्त्री शरीर से गर्भस्थ शरीर यों एक हो जाता है मानो उसका अंग ही हो।।४७।। यदि इस तरह स्त्री-शरीर से एक न हो तो फोड़ा आदि बीमारी की तरह ही गर्भान्तर्गत भ्रूण उस गर्भिणी को नुकसान पहुँचाता। जैसे देह के यकृत, प्लीहा आदि अंग देह की हानि नहीं करते वैसे भ्रूण उस स्त्रीदेह की कोई हानि नहीं करता और इसीलिये वह स्त्री भी उस गर्भ को यत्नपूर्वक सुरक्षित रखती है।।४८।।** देहाकार में 'जो' विकसित होता है वह पुरुषांश है एवं 'जिससे' विकसित होता है वह स्त्री-अंश है जैसे वृक्षाकार में विकसित तो बीज होता है पर विकसित खाद-पानी से होता है। पिता-शरीर में

गर्भरूपं भर्तृदेहं यतः सा पालयत्यतः।
साऽपि भर्त्रा पालनीया तदिष्टाऽन्नादिवस्तुभिः।।४६।।

रहते समय गर्भ अस्पष्ट होता है, उसकी वहाँ स्थिति किसी को मालूम नहीं चलती पर माँ के गर्भ में विकसित होते ही वह प्रारंभ में माता को व बाद में सभी को स्पष्ट पता चलने लगता है। स्त्रीगर्भ में बढ़ता शरीर अलग होने पर भी स्त्री-शरीर से इस तरह जुड़ा रहता है कि उसी से पोषण आदि लेने पर भी स्वाभाविक रूप से उसे कोई नुकसान नहीं पहुँचाता। स्त्रीदेह और गर्भगत देह हैं तो अलग-अलग पर जब तक गर्भगत देह स्त्रीशरीर से बाहर नहीं निकलता तब तक उन्हें एक मानकर चलते हैं। अतः अंगों की अंगी से जैसे एकता कह दी जाती है वैसे यहाँ भी जाननी चाहिये।।४७-८।।

गर्भ-पोषण कितने धैर्य और कष्ट से करना पड़ता है यह माताओं को ही पता चलता है। माता के लिये गया-श्राद्ध सिद्धपुर (गुजरात) में करते हैं, वहाँ संकल्प में बहुत विस्तृत वर्णन है कि माँ ने कितनी पीड़ा सहन कर बालक को जन्म दिया; उसे सुनकर निश्चय होता है कि चाहे जितनी सेवा कर लें, माता से उऋण हो ही नहीं सकते। इतना कष्ट सहकर वह गर्भ को पालती क्यों हैं? क्योंकि गर्भगत देह उसके पतिका है और पति से उसे प्रेम है इसीलिये वह उस भ्रूण का पोषण करती है। पिता इस रहस्य को जानता है अतः वह भी उस स्त्री का विशेष ख्याल रखता है। पति के लिये यह शास्त्रीय कर्तव्य भी है कि गर्भिणी पत्नी का समीचीन पालन-पोषण करे। इस विषय को श्लोक से कहते हैं **क्योंकि स्त्री अपने पति के उस शरीर का पालन करती है जो अब स्त्री गर्भ में आ चुका है इसलिये स्त्री को अभिलषित अन्न आदि चीज़ें देकर उसका पालन करना पति का भी कर्तव्य है।।४६।।** गर्भ जब चतुर्थ मास में प्रवेश करता है तब माता को बहुधा विविध इच्छाएँ होती हैं जिन्हें 'दोहद' कहते हैं। पति को यथाशक्ति वे इच्छाएँ पूरी करनी चाहिये क्योंकि जिस इंद्रिय-संबंधी कामना को तब पूरा नहीं किया जाता, जायमान शिशु की वह इंद्रिय विकृत हो जाती है ऐसा सुश्रुत आदि ने बताया है। अतः अन्न ही नहीं वस्त्र, यान, शय्या, आभरण आदि की दोहद भी पूरणीय है। पति स्मरण रखे कि उसके देह को वह स्त्री पाल रही है तो वह स्त्री की तब उपेक्षा नहीं कर पायेगा। स्त्री को भी सावधानी से स्वाभाविक इच्छाएँ व्यक्त कर देनी चाहिये ताकि शिशु विकलांग न हो जाये। 'स्वाभाविक' इसलिये कि पति पर दबाव डालने के लिये सोची-समझी इच्छाएँ

गर्भो विण्मूत्रयोः स्थित्वा दशमे मासि जायते।
पिता स्वात्मधिया पुत्रं संस्करोति यथाविधि।।५०।।
पितुर्द्वितीयं तज्जन्म पुत्ररूपेण संस्थितम्।
स्वोदराद् दारजठराद् अपि जन्मद्वयं क्रमात्।।५१।।

दोहद नहीं होती वरन् जो स्वतः उठती हैं वे ही दोहद हैं और पूरणीय हैं। पौष्टिक आहार आदि से स्त्री-पालन तो करना चाहिये ही, स्त्री के माध्यम से ही गर्भगत शरीर भी पल जाता है।।४६।।

द्वितीय जन्म बताते हैं **माता के शरीर में मल-मूत्र के बीच रहकर दसवें महीने में गर्भ उत्पन्न होता है। 'यह मैं ही हूँ' ऐसा समझकर पिता उस पुत्र का विधिवत् संस्कार करता है।।५०।। पुत्र के रूप में एक स्वतंत्र प्राणी हो जाना ही पिता का दूसरा जन्म है। शुक्र रूप में अपने शरीर से बाहर निकलना और पत्नी के गर्भ से बाहर निकलना ये क्रमशः दो जन्म हुए।।५१।।** जैसे पिता के शरीर में गर्भ रूप से वास कष्टप्रद है वैसे ही माता के शरीर में भी। मल, मूत्र, रक्त, पीप, वसा, मज्जा आदि सभी घृणित चीज़ों के मध्य, हवा-रोशनी के बिना नौ महीने उल्टे लटके रहना कितना बड़ा दुःख है यह कल्पना कोई भी कर सकता है। साधारण नियम यही है कि दसवें महीने प्रसव होता है, अपवाद रूप से सातवें-आठवें मास में भी कभी-कभी प्रसव हो जाता है। जब माता के गर्भ से निकलता है तब उसके जातकर्म आदि संस्कार पिता करता है क्योंकि उसे लगता है कि वही पुत्र के आकार में पैदा हुआ है और बात भी ठीक ही है क्योंकि उसी का रेतोबिंदु बढ़कर बालक-आकार में उपस्थित हुआ है अतः जैसे अपना नाखून, बाल आदि बढ़ जाने पर भी वह 'मैं' ही रहता है वैसे बालक भी पिता ही है। इसीलिये वह शास्त्रोक्त संस्कारों से उस शिशु को संपन्न करता है अन्यथा परकीय बालकों की तरह या अपने ही मल आदि की तरह अपने पुत्र का भी विधिवत् संस्कार न करता! इस प्रकार दूसरा जन्म समझा दिया। 'संस्थितम्' अर्थात् संस्थिति; पुत्र के रूप में अवस्थित होनायही पिता का दूसरा जन्म है। प्रथम जन्म के समय वह केवल गर्भ रूप से स्थित हुआ था, तब वह 'पुत्र' कहा-समझा नहीं जा सकता था। अब जब माता के गर्भ से बाहर प्रकट हो गया तब पिता का दूसरा जन्म हुआ।।५०-१।।

जन्म लेने में गर्भवासादि स्थूल दुःख ही नहीं, एक अत्यंत कष्टकर वैचारिक दुःख भी है यह मंत्रोद्धरणपूर्वक कहते हैं **प्रकृत जन्मत्रय के प्रारंभ में पति गर्भ का रूप**

पतिर्जायां विशत्यादौ गर्भो भूत्वा स्वमातरम्।
जायैव माता सम्पन्नेत्यहो संसारकष्टता।।५२।।

तृतीयं जन्म

लौकिकं वैदिकं सर्वं पुत्रेऽवस्थाप्य तत्पिता।
मृतो देहान्तरे पित्रोरन्ययोर्विशति स्वयम्।।५३।।
पुत्ररूपेण यज्जन्मद्वयं पूर्वम् उदीरितम्
तदपेक्षं तृतीयं तज्जन्म स्याद् देहधारिणः।।५४।।

धारणकर पत्नी में, किं वा अपनी माता में ही प्रवेश कर जाता है! ओह! संसार कैसा कष्ट है कि पत्नी ही माता हो गयी।।५२।। इसका आधार यह मन्त्र है :

'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्।
तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते।।'

जिसके गर्भ में रहा जाये वही माता है। पति अपनी पत्नी के गर्भ में रहता है तो उसकी पत्नी उसकी माता ही हुई! फिर भी जन्म लेना है तो करना यही पड़ेगा अतः यह वैचारिक दुःख हर सहृदय को लज्जित करता है कि उसे अनिवार्यतः मातृगमन का दोष लगता है। इससे भी वैराग्य की तीव्रता होकर मुमुक्षु को शीघ्र ब्रह्मज्ञान पाने में लगाती है।।५२।।

अब तृतीय जन्म बताते हैं **लोकसिद्ध तथा वेदादि शास्त्रों द्वारा कर्तव्यतया प्राप्त सर्व कर्मादि को पुत्र के जिम्मे छोड़कर उसका पिता मरकर खुद जब अन्य माता-पिता के अन्दर नवीन देह में घुसता है तब वह उसका तीसरा जन्म है। पुत्र रूप में पिता व माता से उत्पन्न होनाये दो जन्म पूर्व में कहे, उन्हीं की अपेक्षा से यह देही का जन्म 'तीसरा' कहा जा रहा है।।५३-४।।** यथाविधि संयत जीवन व्यतीत करने वाले सच्चरित्र पुण्यात्मा को मालूम पड़ जाता है कि मृत्यु सन्निकट है अतः 'सम्प्रत्ति कर्म' द्वारा वह अपना सारा दायित्व अपने सुशिक्षित पुत्र को सौंपकर शान्त निश्चिन्त प्रयाण करता है। लौकिक कार्य जैसे 'भाई-बहनों की परवरिश करते रहना' तथा शास्त्रीय जैसे 'अग्निपरिचर्या करते रहना, अन्नक्षेत्रादि बंद मत करना' यों पुत्र को सौंपे जाते हैं। आजकल इच्छापत्र द्वारा धन-संपत्ति तो प्रदान करते हैं पर इहलोक-परलोक के कर्तव्य न देते हैं न पुत्र लेने को ही तैयार होता है! कारण है कि पुत्र सुशिक्षित नहीं होता,

'अनुशिष्ट' अर्थात् अपने कर्तव्यों का ज्ञाता नहीं होता। समीचीन विद्या-कर्म वाला पिता यों जब पुत्र में सब प्रतिष्ठित कर मरकर जन्मान्तर लेता है तब वह उसका तृतीय जन्म है। यहाँ शंका होती है कि पूर्वोक्त दो जन्म जिसके कहे थे वह तो पुत्ररूप से जीवित ही रह गया, तीसरा जन्म भी उसीका बताना चाहिये, पिता के जन्मान्तर को तीसरा कैसे कहा? इसका एक समाधान है कि दो की अपेक्षा से तीसरा होता है इतना ही ज़रूरी है, तीनों एक के ही बारे में हों ऐसा ज़रूरी नहीं। अतः जैसे पाँच इंद्रियों की अपेक्षा से अनिन्द्रिय मन को भी छठा कह दिया है वैसे पुत्र के दो जन्मों की अपेक्षा से पिता के जन्म को तीसरा कहना भी संगत है। किं च 'आत्मा वै पुत्रनामासि' आदि वचन से पिता-पुत्र का अभेद होने से पुत्राकार में भी पिता को ही मानकर 'तीसरा' कहना बन जाता है। अथवा देवदत्त जब अपने पिता के गर्भ से निकला तब देवदत्त का प्रथम जन्म हुआ, वही जब माँ के गर्भ से निकला तब उसका द्वितीय जन्म हुआ और वही जब, मरकर नवीन देह में आया तब उसका तीसरा जन्म हुआयों एक के ही तीनों जन्म कहे हैं। इसी प्रकार देवदत्त से जो यज्ञदत्त पैदा हुआ उसके भी तीन जन्म हो जायेंगे। इस ढंग में इतना ध्यान रखना चाहिये कि पूर्वापेक्षया जो तीसरा है वही आगे वालों की दृष्टि से पहला है : देवदत्त मरकर जब नयी जगह पैदा होगा तब मान लो ब्रह्मदत्त कहलायेगा अतः देवदत्त का जो तीसरा जन्म वही ब्रह्मदत्त का प्रथम जन्म है। किंतु क्योंकि यहाँ जन्मों का सतत प्रवाह बताया जा रहा है, तीन के बाद जन्म समाप्त हो जाते हों ऐसी बात नहीं, इसलिये तीसरा ही प्रथम होकर पुनः तीसरे की ओर बढ़े, यह सही तरीका है अनवरत शृंखला समझाने का। इस पक्ष में, 'पुत्र रूप से पिता का जन्म हुआ' यह जो प्रतिपादन था वह संख्याव्यवस्था के लिये नहीं वरन् जाया की मातृरूपता कहकर वैराग्यातिशय के लिये था यह मानना चाहिये। वस्तुतस्तु प्रकृत ग्रंथ के शब्दों की दृष्टि सेपिता के गर्भ से निकलना प्रथम जन्म है और नवीन पिता के शरीर में घुसना तृतीय जन्म है अतः तीसरा ही प्रथम है यह मानना ज़रूरी नहीं। फिर भी, तीसरा किसकायह प्रश्न पूर्ववत् समाधेय है। श्लोक ५३ में 'पित्रोः' इस द्विवचन से ध्वनित है कि मातृशरीर में शोणित रूप से, गर्भ से निकलना और फिर माता का जन्मान्तर भी यहाँ विवक्षित है और पुत्र से पुत्री भी समझनी चाहिये। ऐसा न मानने पर स्त्री शरीरों की व्यवस्था संगत नहीं होगी। यह नहीं पूछ सकते कि जीव जाता कहाँ हैमातृदेह में, पितृदेह में या उभयत्र? क्योंकि यहाँ तात्पर्य जीव

स्वोदरं दारजठरं तथा पित्रन्तरोदरम्।
त्रय आवसथा इत्थं जन्तोः सर्वस्य जन्मने।।५५।।
जन्मानि योनिलक्षाणां जन्तुश्चतुरशीतिषु।
उत्तमाधमरूपाणि प्राप्नोत्येवं पुनः पुनः।।५६।।

के गमनागमन को बताने में नहीं वरन् वैराग्य में है। वास्तव में तो जीव का जाना-आना है ही नहीं यही समझना है। अतः उभयत्र जाने वाला मानने में भी दोष नहीं क्योंकि होता तो शोणित भी सजीव पदार्थ ही है; किन्तु शास्त्र-प्रक्रिया पितृदेह में जाने को ही मान्यता देती है यह याद रखना चाहिये।।५३-४।।

जन्म-प्रबन्ध के वर्णन का उपसंहार करते हैं **सभी जन्तुओं को जन्म लेने के लिये इन तीन आवसथों (धर्मशालाओं) में ठहरना पड़ता हैअपना उदर, पत्नी का उदर और अगले पिता का उदर।।५५।। प्रत्येक जन्तु चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए अच्छे-बुरे जन्म इसी तरह बार-बार ग्रहण करता रहता है।।५६।।** पूर्व-दर्शित त्रिजन्म को ही स्थानदृष्टि से स्पष्ट किया। अपने उदर से अपना जन्मयह सुनने में अटपटा ही लगता है किन्तु क्योंकि पुत्र अपने पिता से अतिरिक्त नहीं इसलिये यह बात समझ आ जाती है। उदाहरण के लियेडाल को वृक्ष से अभिन्न ही मानते हैं। वृक्ष की डाल जब एक नया वृक्ष बनती है तब उस 'नये' वृक्ष को 'पुराने' से अलग देख सकते हैं पर क्योंकि है वह उसी की डाल इसलिये उससे एक भी कह सकते हैं और तब यह भी संगत हो जाता है कि वह नये रूप वाला वृक्ष अपने ही पुराने रूप वाले वृक्ष से पैदा हुआ है। इसी तरह एक ही के नये-पुराने शरीर पिता-पुत्र कहलाते हैं। उदर-वास कहने का प्रयोजन है कि व्यक्ति इस दुरवस्था से बचने के लिये कृतसंकल्प हो जाये। चाहे जितनी शुभ योनि मिल जाये, चौरासी के चक्र से जब तक नहीं निकलेगा तब तक जल्दी या देर से उक्त गर्भों में पड़े रहना ही जीव की नियति है।।५५-६।।

जन्मदोष का कथन दोषान्तर की उपलक्षणा के द्वारा वैराग्यपूर्वक ज्ञानाधिकार दिलाने के लिये है यह बताते हुए उपनिषत् में कहे इतिहास को प्रस्तुत करते हैं **जन्म की सदोषता श्रुति ने स्पष्ट कही, रोग आदि भी शरीर के दोष हैं यह तो सभी को साफ दीखता है! इन दोषों के अवलोकन से जो शरीरादि विषयों के प्रति दृढ वैराग्य वाला हो जाता है वह तत्त्व का जानकार बन पाता है और उस तत्त्वबोध के प्रभाव से वह उसी तरह संसार बंधन से निर्मुक्त हो जाता है जैसे**

वामदेवोदाहरणम्

दुष्टत्वं जन्मनः प्रोक्तं स्पष्टं रोगादिदुष्टता।
विरक्तो बुद्धतत्त्वस्तु मुच्यते वामदेववत्।।।।५७।।

वामदेव ऋषि मुक्त हुए थे।।५७।। स्थान, बीज, मल आदि की दृष्टि से एवं रोगादि असंख्य दुःख देता है इसलिये शरीर राग के सर्वथा अयोग्य है। यहाँ जन्मरूप दोष ही कण्ठतः कहा है क्योंकि इसके बारे में हम स्वतः समझ नहीं सकते। दोषान्तर तो यों ही स्फुट होने से वेद को उन्हें बताने की ज़रूरत नहीं लगी। शास्त्रतात्पर्य समझते हुए साधक उक्त दोषों की बार-बार भावना करे तभी वैराग्य प्राप्त कर पायेगा। इसके लिये शास्त्र पर श्रद्धा चाहिये, अन्यथा व्यक्ति सोचता है कि ये दुःख आदि दोष यों ही कह दिये हैं! संसार में सुख भी मिलते ही हैं, उन्हें याद ज्यादा रखें तो संसार-आसक्ति बढ़ेगी और दुःखादि दोषों को ज़्यादा याद रखें तो वैराग्य होगा। किसे प्रधानता दी जाये यह हमारे हाथ में है। यदि बंधन में रहना चाहो तो संसार-सुखों को याद रख लो और मुक्त होना चाहो तो संसार के दोषों को याद रखो। गीता में भगवान् ने भी ज्ञानसाधनों में 'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषों का अनुदर्शन' गिना है। शास्त्र पर श्रद्धा होगी तभी संसार के सुखों को तुच्छ जानकर अनंत सुख के लिये इन्हें छोड़ सकोगे, अन्यथा जैसे मछली खाने वाले इसलिये मछली खाना नहीं छोड़ते कि कभी-कभी काँटे गड़ जाते हैं वैसे दुःखों के डर से संसारिक सुख भी नहीं छोड़े जा सकेंगे। अध्यात्म-साधना में श्रद्धा मुख्य पूंजी है, अत एव मधुसूदन सरस्वती ने इसे धन कहा है। वैदिक ऋषि रात-दिन प्रार्थना करते थे कि दृढ-दृढतर श्रद्धा प्राप्त हो। नचिकेता को जो अद्वितीय उपलब्धि हुई वह भी इसलिये कि उसमें 'श्रद्धाविवेश', श्रद्धा का आवेश था, शास्त्र-दृष्टि ही एकमात्र सत्य पद्धति है यह निश्चय था। श्रद्धालु प्रयास करता है वेद की बात समझने का जबकि अश्रद्धालु अपने अनुभव से मेल न खाये तो वेद को झुठलाता है! अतः मुमुक्षु को चाहिये कि श्रद्धापूर्वक वेदोक्त ढंग से संसार के दोषों को समझकर, इससे वैराग्य करे और आत्मा की वास्तविकता पहचानकर मुक्त होवे। श्लोक ४३ में कहा था कि विरक्त को ही आत्मबोध होगा। उसी वैराग्य की प्राप्ति के लिये त्रिजन्म का वर्णन किया। वैराग्य हो जाने पर तत्त्वज्ञान सहज है। हम अपनी उपाधियों को छोड़ते नहीं इसी से शुद्ध पदार्थ को न देख पाने से वाक्यार्थ नहीं समझ पाते। वैराग्य होने पर उपाधि का आकर्षण न रह जाने से पदार्थ स्पष्ट हो जाता है तो वाक्यार्थ का अवबोध कठिन नहीं रहता। आत्मा के व्यापक स्वरूप का जिसे

पूर्वजन्मनि बोधेन स्वमुक्तिं चाऽब्रवीद् ऋचा।
गर्भस्थो वामदेवोऽयं प्रतिबन्धविवर्जितः।।५८।।

प्रतिबन्ध-निवृत्ती

जन्मन्यतीते वेदान्तं श्रुत्वाऽप्येष न बुद्धवान्।
बलिना प्रतिबद्धत्वात् कर्मणा जन्महेतुना।।५६।।
गर्भे प्रविश्य तत्कर्म विनष्टं प्रतिबन्धकम्।
नवमे मासि संस्मृत्य श्रवणं प्रतिबुद्धवान्।।६०।।
विद्वान् भूत्वा समुत्पन्नो जीवन् मुक्तोऽभवत् तदा।
शरीरमात्मनो भिन्नं मिथ्यैवेत्यवगच्छति।।६१।।

मुक्तानुभवः

इयन्तं कालमेतस्मिन् भ्रान्त्या देहे निमग्नवान्।
बोधेन देहाद् उत्क्रम्योत्कृष्टोऽभूत् जीवतां त्यजन्।।६२।।

साक्षात्कार हो गया वह तत्क्षण मुक्त है। इस बात को उपनिषत् ने ऋषि वामदेव के उदाहरण से स्पष्ट किया है।।५७।।

उदाहरण को ही व्यक्त करते हैं **प्रतिबंध से छूटे हुए इस वामदेव ने मातृगर्भ में रहते हुए ही ऋचा के माध्यम से कहा था कि पूर्वजन्म में प्राप्त बोध के फलस्वरूप वह गर्भस्थ दीखते हुए भी सब बंधनों से निर्मुक्त है!।।५८।। पूर्वजन्म में उपनिषत्-श्रवण करके भी इसे दृढ साक्षात्कार नहीं हुआ था क्योंकि जन्मकारणभूत किसी बलवान् कर्म ने रुकावट डाल रखी थी।।।५६।। इस जन्म में जब इसने गर्भ में प्रवेश किया तब वह रुकावट डालने वाला कर्म समाप्त हो गया अतः नौवें महीने में इसे जब पूर्वकृत वेदान्तश्रवण याद आया तब यह आत्मा की अखण्ड वास्तविकता को सुस्पष्ट समझ गया।।६०।। आत्मविद्या से सम्पन्न होकर वामदेव मातृगर्भ से बाहर आया और जीवन व्यतीत करते हुए भी रहा मुक्त ही, शरीर को अपने से अलग तथा मिथ्या ही जानता था।।६१।। इस जन्म से पूर्व तक भ्रमवश देह में ही फँसा रहता था पर अब वास्तविकता के बोध से उसने 'देह मैं हूँ' यह मिथ्या-अभिनिवेश छोड़कर देह का उत्सर्ग कर इसकी परिधि को लाँघ लिया। अतः जीवरूपता छोड़ने से वह उत्तम ब्रह्म ही रह गया।।६२।।** वामदेव की कथा का संक्षेप है कि अनेक ऋषि आत्मबोध के प्रयास में संलग्न थे। उनमें एक ऋषि तत्त्वनिष्ठा मिलने से पूर्व मर गये

और शीघ्र ही उन्हीं ऋषियों के आस-पास किसी स्त्री के गर्भ में पुनः उत्पन्न हो गये। पूर्वजन्म में साधना करने पर भी उन्हें निष्ठा नहीं मिल पा रही थी क्योंकि कर्मफलवश उन्हें एक और जन्म लेना आवश्यक था। जब वे मातृगर्भ में आ गये तो वह कर्म फलीभूत हो ही गया अतः ज्ञान में रुकावट समाप्त हो गयी। नवम मास में गर्भ को पूर्व स्मृति आती ही है। इनके दृढ संस्कार वेदांत के थे तो पूर्वकृत श्रवण इन्हें याद आया और रुकावट न होने से तत्काल इन्हें अखण्ड वस्तु का सुदृढ निश्चय हो गया। अपने पूर्व साथियों को यह समझाने के लिये कि 'वेदांत साधना में लगे रहो, यही मोक्ष का एकमात्र सक्षम उपाय है' वामदेव ने गर्भ से ही उन्हें सम्बोधित किया। उन्होंने कहा 'जैसे बाज पक्षी कमज़ोर जाल तोड़कर उड़ निकलता है वैसे लोहे की बेड़ियाँ तोड़कर मैं मुक्त हो गया हूँ!' इस कथा को उपनिषत् ने सूचित किया है व यहाँ ग्रन्थकार ने उपस्थित किया है।

श्लोक ५८ में कहा कि पूर्वजन्म में हुए बोध से वामदेव को मोक्षलाभ हुआ। साधारणतः बोध होते ही मोक्ष हो जाता है पर यदि प्रतिबंधक या रुकावट हो तो कुछ विलंब भी संभव है। वस्तुतस्तु दृढ बोध को ही वह रुकावट असंभव बना देती है और बोध की दृढता के बिना मोक्ष नहीं होता। दृढ बोध एवं मोक्ष में कोई अंतराल नहीं, अदृढ बोध और मोक्ष में ही अंतराल रहता है। हेतु वर्तमान रहते फल उत्पन्न न होने का नाम प्रतिबंध है। जल स्वभावतः नीचे को बहता है। बाँध प्रतिबंधक हो जाता है क्योंकि जल का स्वभाव बिना बदले ही बहाव को रोक देता है। बाँध टूटने पर जो पानी बहेगा उसमें अन्य कोई कारण नहीं; जल अपने स्वभाववश ही बहेगा, अब तक रुकावट उसे बहने दे नहीं रही थी, अब रुकावट नहीं रही तो वह बहेगा ही। इसी प्रकार ज्ञान अवश्य मोक्ष देता है किन्तु यदि कोई रुकावट है तो जब तक वह न हटे तब तक मोक्ष रुका रहता है। कुछ प्रतिबंधक साधारण लौकिक उपायों से दूर होते हैं, अन्य हैं जो परमेश्वर की आराधना आदि अलौकिक साधनों से मिटते हैं पर कोई ऐसा प्रबल भी प्रतिबंधक होता है जिसे भोगकर ही निवृत्त करना पड़ता है, दृष्ट-अदृष्ट उपायों से वह नहीं दूर होता। ऐसा नहीं कि सर्वसमर्थ ईश्वर उसे हटा न सके, लेकिन परमेश्वर ऐसा करता नहीं; जिसे बलवान् बनाकर रखा है उसे वह कारगर भी होने देता है जैसा कि प्रसिद्ध है 'स्वयं बोये विषवृक्ष को भी खुद नहीं काटना चाहिये!' ऐसे प्रबल प्रतिबंधक से अतिरिक्त रुकावटें मनन, निदिध्यासन, योग आदि से हट जाती हैं। यह विश्वास रखना चाहिये कि मोक्ष का एकमात्र उपाय दृढ अखण्ड साक्षात्कार है और

उसका पर्याप्त उपाय विवेकादि-पूर्वक श्रवणादि ही है। बाह्य या मानस कर्म क्योंकि कर्तृत्व-बुद्धि को ही दृढ करता है इसलिये कभी मोक्ष का साक्षात् उपाय हो ही नहीं सकता बल्कि सभी कर्मों का एवं कर्मसाधनों का त्याग ही ज्ञाननिष्ठा के लिये आवश्यक है। कुछ भी 'करने' से मोक्ष नहीं, वह तो सत्य को 'जानने' से ही होगा। अतः कर्मसाधनों के त्याग का महत्त्व है। साधन रहते तो कभी वेगवश कर्मप्रवृत्ति हो भी जाये पर जब साधन ही नहीं रहेंगे तब वेग भी निस्तेज हो जायेगा। श्रवणादि के अभ्यास में तो अकर्तृता के ही संस्कार दृढ होंगे अतः उसी में तत्पर रहना चाहिये, अन्य चेष्टाओं से बचना चाहिये। वामदेव ने पूर्व जन्म में जो बोध पाया, बोधसाधनों का अनवरत अभ्यास किया, उसी से पर जन्म में वह दृढ साक्षात्कार पाकर मुक्त हो गया; यही पर्याप्त प्रमाण है कि बोध से अन्य कर्मादि साधन मोक्ष के लिये नहीं चाहिये, क्योंकि गर्भ में वह कोई कर्म आदि कर ही नहीं सकता था! गर्भ में नौवें महीने में पूर्व जन्मों की याद आती है, पूर्वानुभूत दुःखादि स्मरण कर जीव संकल्प करता है कि अब केवल ईश्वर-प्रपत्ति ही करेगा, भले ही जन्म के बाद इसे भूल जाये! यह तथ्य गर्भोपनिषत् में प्रकट है। अतः वामदेव को नौवें महीने पूर्व जन्म याद आया और वहाँ प्रधानतः वह वेदांत श्रवण में ही संलग्न रहा था अतः उन्हीं संस्कारों से उसे अद्वैत बोध का ही स्मरण हुआ। रुकावट हट चुकी थी अतः स्मरण होते ही उसका अज्ञान मिट गया। 'श्रुतवाक्यस्मृतेश्चान्यः' से नैष्कर्म्यसिद्धि (२.२) में यह स्वीकारा है कि स्मरणात्मक ज्ञान भी अज्ञानविरोधी है। अद्वैतरत्नरक्षण में भी मधुसूदन स्वामी ने प्रयोजक ज्ञान के बाद प्रमाण-प्रमेय विषयक असंभावनाएँ हटाने के लिये श्रवण-मनन और विपरीतभावना मिटाने के लिये निदिध्यासन के अभ्यास के अनन्तर यह माना है कि महावाक्य का अनुसंधान किया जाता है जो मोक्षफलक वृत्ति बना देता है। अनुसंधान स्मरणात्मक ही होगा। यथाज्ञान स्मृति होती है, ज्ञान जब अज्ञान नहीं मिटा पाया तो स्मरण कैसे मिटायेगा? इसका समाधान पूर्व में बता चुके हैं कि ज्ञान तो सक्षम था लेकिन प्रतिबंधक उसे कार्य नहीं करने दे रहा था, अब प्रतिबंधक हट गया तो कार्य संभव हो गया। स्मरण की ज़रूरत भी इतने में ही है कि अखण्डाकार वृत्ति बने, क्योंकि अज्ञान तभी निवृत्त होगा। उदाहरणार्थ, किसी वाक्य में आये एक शब्द का अर्थ न जानने से वाक्यार्थ समझ में नहीं आता। दो-चार दिन बाद उस शब्द का मतलब पता चलता है तो झट से वह वाक्य याद आकर उसका अर्थ भी स्पष्ट भास जाता है। इसी तरह प्रतिबंध मिटने पर

महावाक्य याद आते ही अखण्डाकार वृत्ति बनकर अविद्या का उन्मूलन कर देती है यह भाव है। श्रवणकाल में जो बोध हुआ था, गर्भ में भी बोध वही हुआ, पर तब कारगर नहीं हो पाया था, अब कारगर हो गया। स्मृति से नवीन बोध हो जायेगा यह नहीं कह रहे पर बोध सफल हो जायेगा यह बता रहे हैं। अत एव श्रवणकाल में समझ की उपेक्षा नहीं कर सकते, कि प्रतिबंधक हटेगा तो स्वयमेव समझ आ जायेगी! समझना तो श्रवणकाल में ही पड़ेगा और जिसे सर्वथा ठीक समझ आयी है। उसी को स्मरण से अविद्यानिवर्तक वृत्ति का लाभ होगा।

वामदेव गर्भ में ही विद्वान् अर्थात् अद्वैत ज्ञान वाले हो चुके थे अतः जब उत्पन्न होकर जीने लगे तब मुक्त ही थे। प्रारब्ध का विरोध तत्त्वज्ञान नहीं करता अतः मुक्त होने के बाद गर्भ से बाहर आना संगत है। मोक्ष के बाद जन्म नहीं लेना पड़ता किंतु वामदेव तो जन्म ले ही चुके थेपितृदेह से निकलना भी जन्म बताया थाअतः उनका प्रारब्ध फलीभूत हो ही रहा था जिससे यह 'द्वितीय' जन्म धारण करना संभव हो गया। किंतु 'तृतीय' जन्म प्रारब्ध से नहीं होता वरन् उसके लिये संचित कर्मों से चयन कर नवीन व्यवस्था की जाती है अतः वामदेव का जन्मान्तर संभव नहीं। आधिकारिकाधिकरण-न्याय से तो मोक्ष के अनंतर भी जन्म स्वीकारा जा सकता है, बस इतना ध्यान रखना पड़ेगा कि मुक्त यदि नया जन्म लेता भी है तो यह सुस्पष्ट जानता है कि वह नहीं शरीर जन्मा है तथा शरीर एवं उसका जन्मादि भी केवल आभास है, मिथ्या है। जैसे अवतार लेने पर भी ईश्वर का ज्ञान नहीं मिटता वैसे ही समझना चाहिये क्योंकि तत्त्वज्ञ भी ईश्वर से अभिन्न ही है। जीवन्मुक्तदशा की खासियत यहाँ ग्रंथकार ने व्यक्त कर दी कि उसे अनवरत यह भान होता है कि शरीर आत्मा नहीं है और शरीर मिथ्या है। जिस प्रकार कच्चा रहते नारियल अपने आवरण से चिपका रहता है पर पक जाने पर वह आवरण के भीतर रहते हुए भी उससे चिपका नहीं होताहिलाने पर बजता भी हैइसी प्रकार अज्ञानी तो शरीर से एकमेक हुआ रहता है जबकि विद्वान् शरीर में प्रतीत होते हुए भी उससे सर्वथा असंबद्ध होता है। सिर्फ शरीर को भिन्न समझे तो भी द्वैत-दर्शन प्रसक्त होगा अतः स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानी उसे मिथ्या ही देखता है। प्रतिबिंब न केवल अपने से भिन्न वरन् मिथ्या भी स्पष्ट 'दीखता' है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ को देह, देह-संबंध, सारा संसार मिथ्या सुस्पष्ट अनुभव होता है।

अनादि काल से हम इस शरीर-परंपरा में डूब रहे हैं। शरीर को ही अपना सर्वस्व

मानकर हम दुःख भोगते हैं, राग-द्वेष करते हैं और इसी को कुछ अनुकूल लग जाये तो सोचते हैं हम सुखी हो गये! यह मात्र भ्रम है कि 'मैं शरीर हूँ, शरीर के धर्म मेरे हैं।' आत्मस्वरूप को नहीं जाना इसी से इस मिथ्याज्ञान में फँसे हैं। जब सत्य का प्रबोध होता है तब इससे उबर जाते हैं। नीचे छोड़कर ऊँचा उठ जाना उत्क्रमण कहा जाता है। शरीर व्यवहारभूमि पर छूट जाता है व आत्मा परमार्थभूमि पर पहुँच जाता है अतः यहाँ देह से उत्क्रमण कहा। साधारण दृष्टि से, भिन्न या पृथक् हो जाने को भी उत्क्रमण कह देते हैं अतः सांख्यादि मतानुसार शरीरादि से आत्मा पृथक् हो गया इतना ही कोई न समझ ले इसलिये परमानंदरूपता-प्राप्ति को भी कहा 'उत्कृष्टोऽभूत्' से। अद्वैत सिद्धांत को संमत मोक्ष परमार्थ सत्, स्वप्रकाश ज्ञान, निर्विषय आनंद तथा अपरिच्छिन्न स्वरूप है यह याद रखना चाहिये। अत एव जीवरूपता छोड़कर उत्कृष्ट होना बताया। जीव के तीन घटकों में दो मिथ्या होने से छूट गये, तीसरा सत्य है अतः बना रहा। मिथ्या घटकों के कारण ही अपकर्ष-प्रतीति थी, वे हट गये तो उत्कर्ष स्वतःसिद्ध है।।५८-६२।।

वामदेव की स्थिति बताते हुए उपनिषत् कहती है 'अस्माच्छरीरभेदाद् ऊर्ध्व उत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृतः समभवत्' अर्थात् अविद्या के उपमर्दन से जब उसने शरीर का अस्तित्व मिटा दिया तब वह ऊर्ध्व परमात्मा ही हो गया, अधोभावरूप संसार उसने छोड़ दिया। मुक्तोपसृप्य परमात्मस्वरूप इन्द्रियों से अतीत है अतः श्रुति ने कहा 'उस स्वर्ग लोक में अमृत हुआ।' 'उस' अर्थात् शास्त्र में जिसे अजर, अमर, अभय, सर्वज्ञ, अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य, एकरस आनंद बताया है। तत्त्वज्ञान द्वारा भली-भाँति अर्जित होने के कारण उसे 'स्वर्ग' कहा एवं स्वप्रकाश होने से 'लोक' कहा। संसार के सभी सुख उस परमानंद में सर्वथा समाये हैं अतः उसे पा लिया तो कोई सुख ऐसा नहीं रह जाता जो मिल न गया हो, सभी कामनाएँ पूरी हो चुकती हैं। मुक्त के लिये मरण अत्यन्त अप्राप्त है, यही उसका अमृत हो जाना है; आगे नहीं मरता इतना ही नहीं, वह पहले भी कभी मरा नहीं था यह बताने के लिये श्रुति ने अ-मृत कहा। इस ग्रंथ भाग को श्लोक ६९ तक समझायेंगे। **आत्मा पर कल्पित जीवत्व जब बाधित हो जाता है तब आत्मा की पारमार्थिक व्यापकता ही रहती है, प्रतीयमान परिच्छिन्नता नहीं रह जाती। तब वही स्वर्ग-समान हो जाता है क्योंकि इंद्रियों का वह विषय नहीं होता। विमूढ जनों के लिये वह परोक्ष होने पर भी विद्वान् उसका अवलोकन कर लेते**

जीवत्वेऽपगते तस्य शिष्यते परमात्मता।
स एव स्वर्गतुल्योऽभूद् इन्द्रियाऽविषयत्वतः।।
परोक्षोऽपि विमूढानां विद्वद्भिरवलोक्यते।।६३।।

हैं।।६३।। सर्वज्ञात्म महामुनि ने संक्षेप में यह रहस्य प्रकट कर दिया है कि जीवत्व कल्पित है, न कि जीव! विचार्यमाण ग्रंथ की रीति सेजीव-घटक बुद्धि व आभास कल्पित हैं, न कि चित्! अतः तत्त्वबोध से जीवत्व का ही अपगम होता है, न कि वास्तविक आत्मा का। अभी आत्मा और जीवता दोनों भास रहे हैं, तब जीवता अर्थात् परिच्छिन्नता भासना असंभव हो जाता है अतः कहते हैं कि केवल व्यापकता रहती है। ऐसा नहीं कि अभी व्यापकता न हो! किंतु अभी उसके साथ परिच्छिन्नता भी है, तब परिच्छिन्नता मिट जाने से व्यापकता ही है। उस आत्मस्वरूप को स्वर्ग-सा कहा। अज्ञदशा में हम क्योंकि देह से तादात्म्यापन्न हैं इसलिये पराये देह को ही देखकर समझते हैं कि उसे देखा और वह भी क्योंकि देहतादात्म्यवान् ही होता है इसलिये जब हम उसके शरीर को देखें तभी उसे भी लगता है कि उसे देखा गया। तत्त्वज्ञ शरीर से छूट चुकता है। अब हम 'उसे' देख नहीं सकते, जिसे (शरीरादि को) देखते हैं वह 'वह' नहीं है। अतः जैसे स्वर्ग हमें परोक्ष है वैसे मुक्त। अत एव हम मुक्त-स्थिति समझ नहीं पाते। शरीर-मन के सुख-दुःखों को ही देखने-समझने की हमारी सामर्थ्य है और वह इनसे अस्पृष्ट है, इनके किसी भी विकार से उसमें किंचित् भी परिवर्तन नहीं है। सुखात्मा होने से तो स्वर्ग कहा ही गया है। स्वर्ग का लक्षण करते हुए बताया कि ऐसे सुख को स्वर्ग कहते हैं जिसके न बीच में व न बाद में दुःख हो और जिसके लिये कोई आयास न हो। इस तरह का सुख हमारे अनुभव से सर्वथा परे है अतः हमें परोक्ष ही है। शास्त्र-श्रद्धालु तो फिर भी इसे कुछ समझ सकते हैं, परोक्षतया ही सही पर इसका ज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु 'विमूढ' अर्थात् मूढता के आग्रही संसारी लोग तो ऐसे स्वर्ग की संकल्पना ही नहीं कर पाते, लोकविशेष के भोगों से होने वाले सुख को ही स्वर्ग सुख मानते रहते हैं। विवेकी भी इसी तरह देहातीत आत्मा को अनुभव से न सही, बुद्धि से तो समझता है अतः मुक्त की देह-विलक्षणता मान लेता है, देहविकारों का, मनोविकारों का उससे कोई स्पर्श नहीं यह विश्वास रखता है लेकिन अविवेकी इस बात को कुछ भी नहीं समझ पाते। उन्हें यही लगता है कि 'विद्वान् भी हमारी तरह ही खाता-पीता, रोता-हँसता है, उसकी मुक्ति के कोई मायने नहीं हैं!' जिन्हें स्वयं आत्मसाक्षात्कार है वे तो तत्त्ववेत्ता को पहचानने में चूकते नहीं।।६३।।

आनंदसामस्त्यम्

सर्वेऽपि विषयानन्दाः प्राप्ता दृष्टे निजात्मनि।।६४।।
आत्मानन्दसमुद्रस्य विप्लुषो विषयोत्थिताः।
आत्मन्यन्तर्भवन्त्यन्ते समुद्रे बिन्दवो यथा।।६५।।

भोगरसिकों के मन में रहता है कि मोक्ष में भले ही कोई खास सुख होता हो पर विषय-भोगों का सुख तो नहीं ही मिलता होगा! जैसे बहुत साफ-सुथरे सजे कमरे में बैठने का खास सुख भले ही हो पर वहाँ जहाँ मर्ज़ी थूकने का सुख तो नहीं ही मिल पाता। इस शंका को मिटाने के लिये श्रुति ने अनेक जगह यह बताया है कि सारे विषय-सुखों का आत्मानंद में अंतर्भाव हो जाता है अतः उसे न मिला कोई सुख नहीं रह जाता। इसे समझाते हैं **प्रत्यक् स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार होने पर सारे ही वैषयिक सुख पा लिये जाते हैं। विषयजन्य सुख तो आत्मरूप आनंद समुद्र की बूँदें ही हैं अतः जैसे सभी जलबिंदुओं का अन्ततः समुद्र में अंतर्भाव है वैसे ही सब परिच्छिन्न सुखों का आत्मा में अन्तर्भाव है।।६४-५।।** 'अन्तर्भाव' का अभिप्राय समझना ज़रूरी : समुद्र मिल जाने से संसार के अंदर जहाँ भी जल है उसकी हर बूँद प्राप्त हो गयी यह नहीं कह सकते किन्तु यही कह सकते हैं कि समुद्र मिल जाने के बाद बूँद भर जल की यत्किंचित् भी कीमत नहीं रह जाने से उसके न मिलने के कोई मायने नहीं हैं। जैसे किसी को सत्रह लाख सैंतीस हज़ार नौ सौ बावन रुपये तेईस पैसे देने हैं और हमने तीन पैसे कम दिये तो न उसे व न हमें अनुभव होता है कि उसे उसके हक का कुछ अप्राप्त रह गया है, वैसे ही आत्मानंद मिल जाने पर सांसारिक सुखों की कुछ भी कीमत नहीं रह जाती, इन सबके मिलने से जो सुख हो सकता है उससे अनंत गुणा ज़्यादा सुख वहाँ मौजूद है, इसी को कहा कि इन सबका उसमें अंतर्भाव है। मुक्त को विषय-सुखों के बारे में यह लगता ही नहीं कि ये भी कोई सुख हैं। विचार करें तो मानना पड़ेगा कि भूखा सुअर जब विष्ठा खाता है तो उसे ज़रूर सुख होता है लेकिन क्या किसी प्रौढ मानव को (भूखा होने पर भी) नाली में पड़े मल के प्रति सुख-बुद्धि होती है? उसी समय सुअर को वह स्वादिष्ट भोग्य भले ही दीखता है। इसी प्रकार इन्द्रादि पर्यन्त जीवों को अपने काम्य भोग सुखप्रद भले ही लगें; आत्मवेत्ता को भूल से भी वे सुख लगते ही नहीं कि उनकी अप्राप्ति से कोई कमी महसूस हो। अत एव कह दिया जाता है कि सारे विषय-सुख वह पा चुका है। समुद्र ही जल का आयतन है। जहाँ-कहीं भी गया हो, जल चला समुद्र से ही है और तब

आत्मन्यानन्दमज्ञात्वा विषये सुखविभ्रमात्।
बाह्यमिच्छति तल्लाभाद् धीरात्मन्युपशाम्यति।।६६।।

तक वह बहता रहेगा जब तक समुद्र में न पहुँच जाये। इसी प्रकार आनंद का आयतन, घर आत्मा है। जैसे सूर्यताप से कुछ बूँदें उठकर समुद्र से अलग हो जाती हैं वैसे कामना के तापवश क्षुद्र सुख आत्मानदं से पृथक् हो जाते हैं। काम-ताप नहीं रह जाने पर उनकी स्वाभाविक स्थिति आत्मसुखरूप से ही है। श्लोक ६५ में 'अन्ते' कहा; उसका अर्थ है बिन्दुभाव या परिच्छेद के हेतु की समाप्ति होने पर। परिच्छिन्नता औपाधिक है, स्वभाविक तो अनंतता है। कामोपाधि से ही विषय सुख हैं, उसका अंत होते ही भूमा आनंद है।।६४-५।।

यदि आत्मा असीम सुखरूप है तो सभी लोग उसी से तृप्त न होकर विषयों की तरफ क्यों भागते हैं? उत्तर है **आत्मा में जो स्वरूपभूत आनन्द है उससे बेखबर रहकर इस भ्रम से कि विषयों में सुख है, जीवों की बुद्धि अनात्म विषयों को चाहती रहती है। अभिलषित विषय मिलने पर जब कामनारूप आकर्षण समाप्त होता है तब बुद्धि विषय से छूटकर आत्मा की ओर ही लौट आती है और क्योंकि उस समय बुद्धि में कामना-नामक चांचल्य नहीं होता इस लिये आत्मा के स्वरूपभूत आनंद की छाया ग्रहण कर लेती है जिसका नाम है सुखभोग। किन्तु क्योंकि यह पता नहीं कि सुख आत्मा से ही मिला है इसलिये क्षणभर में ही फिर उसी या अन्य विषय को सुख समझकर बुद्धि आत्मा को छोड़कर अनात्म विषय की तरफ आकृष्ट हो जाती है।।६६।।** उपलब्ध वस्तु का भी अज्ञान हो तो उसका लाभ नहीं मिलता। एक व्यक्ति का काफी धन बैंक खाते में था पर उसे वह बात पूर्णतः भूली हुई थी अतः किसी से उधार माँग रहा था! तब तक एक जानकार ने उसे याद दिलाया तो उधार न माँगकर बैंक से निकालने चला गया। ऐसे ही जीव आत्मसुख से वंचित रहकर विषयों से सुख-याचना करता है। विषयों की भी धूर्तता देखो : विषयों में स्वतः कोई सुख नहीं है। वे सुखरूपता आत्मा से ग्रहण करते हैं, फिर आत्मा को ही सुख देकर उसे बंधक बना लेते हैं! विषय स्वतः सुख नहीं, यह थोड़े भी विचार से पता चल सकता है। मान लो तुम रसगुल्ले को सुख मानते हो। तीन चार दिन लगातार रसगुल्ले ही खाते जाओ, ठूस कर रसगुल्ले खा लो। उस दशा में कोई पुनः रसगुल्ला लाये तो क्या वह सुख लगता है? अथवा कभी चिढ़ जाओ या तुम्हारा शत्रु रसगुल्ला लाकर दे तब भी वह सुख नहीं लगता। पर उस समय भी दूसरे

को तो वह सुख लग जाता है। यदि रसगुल्ला सुख होता तो तुम्हें भी लगता, हमेशा लगता और यदि न होता तो दूसरे को भी न लगता। इससे सिद्ध होता है कि रसगुल्ला सुख नहीं है वरन् हम यदि उसे अपनी इच्छा का विषय बनाते हैं तो अपना सुख उसमें डालकर उसे सुख समझते हैं। हम जब उसमें अपना सुख नहीं डालते तब हमें वह सुख लगता भी नहीं पर उसी समय जो अन्य व्यक्ति उसमें अपना सुख डालता है उसे वही रसगुल्ला सुख लगता है। जैसे तार से बिजली बहती है वैसे इच्छा से सुख बहता है; जिधर बिजली नहीं होती उसी ओर वह बहती है और उसका बहाव तभी पूरा होता है जब स्रोत तक लौट आये। विषय में सुख नहीं है अत एव आत्मा से सुख बहकर विषय तक जाता है और बहाव पूरा तब होता है जब पुनः आत्मा में लौट आये, 'मुझे सुख हो गया' यह अनुभव हो जाये। यदि यह लौटना नहीं हो तो सुख लगने वाला विषय उद्वेग ही देता है जैसे ताले में बंद रसगुल्ला उसे कष्ट देता है जो उसे चाहता तो है पर पा नहीं सकता। माथे पर चश्मा हो और हम भूलकर सब जगह ढूँढें तो कहीं नहीं मिलेगा। किंतु दर्पण के सामने पहुँच गये तो 'उसमें' मिल जायेगा! फिर भी यदि सोचें कि दर्पण के अंदर चश्मा पड़ा है तो हमारी घोर नादानगी ही होगी। इसी तरह सुख आत्मरूप है। हमें इसका अज्ञान है अतः उसे बाहर ढूँढ रहे हैं। इच्छारूप 'पॉलिश' जिस विषय पर लग जाती है वह विषय हमारे सुख को प्रतिबिंबित करता है तो हमें सुख मिल जाता है पर हमारी मूर्खता ऐसी है कि तब भी हम मानते हैं कि विषय में ही सुख है।

सबका अनुभव है कि जब मन में कोई कामना नहीं होती तब वह तृप्ति-सुख से सराबौर रहता है। कामना आने पर ही वह तृप्तिसुख अपर्याप्त हो जाता है और मन कामित विषय की ओर दौड़ता है। विषय मिलने पर मन की बहिर्मुखता ख़त्म होते ही वह आत्मा की ओर लौटता है, तभी वह आत्मा को विषयकर उसका आनंदमय विग्रह निहारते ही प्रसन्न हो जाता है। भ्रम यह हो जाता है कि 'विषय से सुख मिला'! विषय ने तो इतना ही किया कि मिलते हुए तृप्तिसुख को कुछ देर के लिये छीन लिया तथा कामनापूर्ति के प्रयासों का दुःख दिया; विषय ने सुख बिलकुल भी नहीं दिया वरन् दिया दुःख, पर जब दुःख देना बंद किया और हमें अपना आत्मसुख मिला तब हम मान लेते हैं कि यह सुखप्राप्ति विषय के कारण हुई। जैसे प्रजातंत्र में सरकार जनता को कुछ नहीं देती बल्कि जनता से ही लेकर अपना काम चलाती है और बचे हुए कुछ पैसे अकाल आदि के समय लौटाती है, किंतु प्रजा को लगता है कि 'अकाल में सरकार

आत्मानन्दं क्षणं भुक्त्वा पुनर्भ्रान्त्या बहिर्व्रजेत्।
विवेकिधीर्निजानन्दं भुंक्ते तत्स्थैव सर्वदा।।६७।।
विषये दुःखजातं यत् तद् वीक्ष्याऽपक्षपाततः।
शक्यो बोद्धुं निजानन्दो बुद्ध्यन्ते हि विवेकिनः।।६८।।

ने सहायता दी'; ऐसे ही आत्मसुख की कुछ बूँदें आत्मा को लौटाने वाले विषय हमें सुखप्रद लगते हैं। जैसे सरकार के मार्फत जब प्रजा को धन वापिस मिलता है तब कुछ (काफी) घटकर ही मिलता है, वैसे ही विषय के मार्फत जब आत्मा को सुख मिलता है तो बहुत घटकर ही मिलता है। तृप्ति या संतोष सुख अपरिच्छिन्न है जबकि विषय सुख हमेशा परिच्छिन्न ही होता है। इसी प्रकार हमेशा कामना की निवृत्ति सुखहेतु बनती है, कामना कभी भी सुख नहीं देती, फिर भी भ्रमवश हम मान लेते हैं कि कामना होगी तब सुख होगा अतः स्वयं में और अन्यों में कामनोत्पादन बढ़ाते रहते हैं। इस प्रकार, आत्मस्वरूप का अज्ञान और विषयों को भ्रम से सुख समझनाइन कारणों, से ही जीव आत्मसंतुष्ट नहीं रह पता, पुनः पुनः बहिर्मुख होता रहता है।।६६।।

अविचारशीलों का हाल बताकर समझदारों की स्थिति बताते हैं **विवेकियों की मति आत्मा में ही स्थित रहने से प्रत्यक्स्वरूप के आनंद का हमेशा उपभोग करती रहती है।।६७।। विषय में जो असंख्य दुःख हैं उन्हें निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो हो नहीं सकता कि आत्मा आनंदरूप है यह तथ्य समझ न आये। आखिर अनादि काल से विवेकी लोग यह रहस्य समझते ही हैं! ६८।।** विवेकी अर्थात् वास्तविकता पहचानने में सजग। हम अपनी भावनाओं के वेग को नियंत्रित नहीं करते इसलिये वस्तुस्थिति सामने रहते भी उसे देखते नहीं। विवेकी प्रमाण पर निर्भर करता है, सत्य- असत्य के निर्णय में राग-द्वेष की दखल नहीं सहन करता। अतः सन्तोष, समाधि, सुषुप्ति में उपलब्ध आत्मसुख तथा विषय-सुख दोनों पर खुले दिमाग से विचार करता है। यह मानकर नहीं चलता कि सुख तो विषयपक्षीय ही है। विवेकी देखता है कि पहली बात है कि जब बुद्धि केवल आत्मा में स्थित होती है, किसी अनात्मा से आकृष्ट नहीं होती, अकामहत होती है, कामना का आघात उस पर नहीं पड़ रहा होता, तब वह सदा आनंदमग्न होती है। शांत बुद्धि कभी भी दुःखी नहीं होती, सुखी ही होती है। इससे विपरीत, विषय हमेशा सुख नहीं देता वरन् जिस समय उसकी कामना मिट रही होती है उसी समय सुख देता है, आगे-पीछे तो दुःख ही देता

है। अर्जन, रक्षा, परिपालन, व्यय, नाशादि सभी दशाओं में विषय दुःख ही प्रदान करता है, केवल क्षणभर को कामनिवृत्ति के समय सुख देता है। पक्ष-पाती तो विषय-सुख को इतना महिमामंडित कर देता है कि विषयदुःखों का ज़िक्र ही नहीं सुन पाता पर विवेकी निष्पक्ष रहता है अतः दोनों की तुलना करता है कि विषय कितना सुख और कितना दुःख देता है। अविवेकी को बतायें कि विषय दुःख दे रहा है तो वह उस दुःख के लिये कारणांतर खोजने लगता है। सुख विषय से मिला यह तो आपात दृष्टि से ही स्वीकार लेता है, दुःख विषय से मिलायह सोच-समझकर भी नहीं स्वीकारता। तीव्रगति के वाहनों से सुख होता हैयह सबको स्पष्ट है पर उनसे कितनी दुर्घटनायें व प्रदूषणादि दुःख होते हैं इस ओर दृष्टि डालने की कोई आवश्यकता नहीं महसूस करता। बल्कि अध्यात्मवादी जब यह समझाते हैं कि विषय तो थोक में दुःख देते हैं अतः इनसे वैराग्य करना चाहिये, तब लोग उन्हें निराशावादी आदि कहने लगते हैं! वास्तविकता से मुख मोड़ना कोई आशावाद नहीं है। अध्यात्मशास्त्र दुःखरूप विषयों के बंधन से छुड़ाकर असीम अनंत आनंद में उन्मुक्त करता है, साधक को स्थायी सुख की आशा से प्रेरित करता है। 'सभी दुःख है, सभी शून्य है' कहने वाले नास्तिक भले ही निराशावादी हों पर वैदिक दर्शन ऐसा नहीं है, वह दुःख की पहचान के साथ परमार्थ आनंद और उस लक्ष्य को हासिल करने के उपाय भी प्रस्तावित करता है। निष्पक्ष विवेकी ही अध्यात्ममार्ग का पथिक बनेगा।

अनुभव के धरातल पर पाते हैं कि यद्यपि विचार से निर्णीत है कि विषय प्रधानतः दुःखहेतु हैं तथापि प्रतीतिसिद्ध है कि वे सुख दे रहे हैं। अतः विश्लेषण की आवश्यकता है : विषय-सुख स्वतःसिद्ध वस्तु नहीं है वरन् किसी चेतन भोक्ता को होने वाला अनुभव है। इस तरह विषय सुख दो के, आत्मा व अनात्मा के संबंध से होता है। चेतन इच्छा करता है, विषय मिलकर उस इच्छा को पूरी करता है तब चेतन सुखी होता है। क्योंकि विषय और आत्मा दो चीज़ें साथ होने पर सुख मिलता है इसलिये जिज्ञासा होती है कि सुख आया किससेविषय से या आत्मा से? आत्मा की परीक्षा करने पर पाते हैं कि आत्मा कभी किसी हालत में दुःख नहीं देता। और, अकेला आत्मा निष्कामदशा में, समाहित दशा में, सौषुप्त दशा में अकेले ही सुख दे देता है; आत्मसुख स्वतःसिद्ध है, जिसे है उसी का है अर्थात् आत्मा ही आत्मसुख से सुखी होता है। विषय तो कदाचित् सुखद लगते हैं, प्रायः दुःखद बने रहते हैं, आत्मा दुःख कभी नहीं देता, जब देता है तब सुख देता है। अतः विषय-आत्मा में से आत्मा की सुखदता में कोई शंका

वामदेवोऽखिलानन्दान् आप्त्वात्मन्यमृतोऽभवत्।
देहप्राणवियोगाख्या मृतिश्चिद्वस्तुनो न हि।।६९।।

नहीं। विषय का क्या योगदान हैइसका परीक्षण करें तो पता चलता है कि कामना के आकर्षण का जो दुःख विषय देते हैं, उपलब्ध होने पर उसी का वे प्रतिकार करते हैं जिससे दुःख मिट जाता है। इससे अधिक कोई भावात्मक देन विषय की नहीं है। इससे सुख की विषयजन्यता की व्याख्या हो जाती है तथा वे सुखदायी हैं यह प्रमाणहीन कल्पना नहीं करनी पड़ती। अतः विवेकी निज आत्मा को अपार आनंदराशि जानकर उसी में मग्न रहता है, 'विषय सुख हैं' इस भ्रम में नहीं पड़ता है।।६७-८।।

वामदेव के प्रसंग का उपसंहार करते हैं **अखिल आनंदों को आत्मा में ही पाकर वामदेव अमृत हो गये। ठीक ही है; चेतन वस्तु (आत्मा) का मृत्यु से कोई संबंध नहीं क्योंकि शरीर और प्राण के वियोग का नाम ही मृत्यु है।।६९।।** 'खिल' कहते हैं टुकड़े को। ब्रह्मा से लेकर कृमि-कीट तक के सभी आनंद केवल खिल आनंद हैं, परिच्छिन्न सुख हैं। एक परमात्मानन्द ही अखिल है, पूर्ण है। जहाँ भी आत्मा-अनात्मा के संपर्क का सुख होगा वहाँ सीमा स्वतःसिद्ध है अतः वह आंशिक आनंद ही हो सकता है। अज्ञान रहते तो आत्मा का प्रतीयमान आनंद भी क्योंकि पूर्ण नहीं महसूस होता इसलिये वस्तुगत्या अखण्ड होने पर भी व्यापक माना नहीं जाता। अखण्ड साक्षात्कार होने पर ही व्यापक भूम आनंद अनावृत होता है। वामदेव के लिये यही पूर्णता प्रकट हुई थी जिससे वे अमृत हो गये। अज्ञानी बारंबार मरता रहता है क्योंकि उसे अपने लिंग शरीर में दृढ तादात्म्य है; लिंगदेह अवश्य स्थूल देह से बिछुड़ता है जिसका नाम मृत्यु है और लिंगदेह के वियोग को स्वयं पर ओढ़ कर अज्ञानी अपनी मृत्यु समझता है। तत्त्ववेत्ता को शरीरों से कुछ भी तादात्म्य है नहीं अतः इनके संयोग-वियोग से उसे जन्म-मरण का अनुभव नहीं होता। सुषुप्ति में रोज़ इन शरीरों से निरपेक्ष होने पर भी अज्ञानवश यह समझ नहीं पाते कि हमारी वास्तविकता इनसे निरपेक्ष ही है। ज्ञान से यह समझ आ जाने पर पता चलता है कि कभी भी हमारा जन्म या मरण हुआ ही नहीं।।६९।।

यहाँ तक उपनिषत् के द्वितीयाध्याय का सार बताया। तृतीयाध्याय में विरक्त जिज्ञासुओं का आत्मविषयक विचार बताया गया है। हमें दर्शन, श्रवणादि विभिन्न अनुभव तथा कामना, सुख, दुःख आदि प्रतीतियाँ होती हैं जिन सबमें 'मैं' रूप से हम अनुगत रहते हैं। ये सारी प्रतीतियाँ आगमापायी हैं, मैं एकरस हूँ अतः इन सब

मीमांसा

इत्थं संसारदुष्टत्वं पुरुषार्थं च बोधतः।
श्रुत्वा विरक्ता बोधार्थं मीमांसन्ते मुमुक्षवः।।७०।।

प्रतीतियों से स्वतन्त्र चित्स्वरूप ही मैं आत्मा हूँ। यह जीव के बारे में विवेक कर लेना चाहिये। सारा दृश्य उच्चावच जगत् जिससे नियंत्रित है, जहाँ प्रतिष्ठित है, जिसमें विलीन होता है वह भी निरुपाधि चेतन से अन्य कुछ नहीं सिद्ध होता। यह ईश्वर के बारे में विवेक कर लेना चाहिये। तब उपनिषत् का प्रधान उपदेश 'प्रज्ञानं ब्रह्म' समझ आ जाता है कि जीव ईश्वर में कोई अंतर नहीं है। इस विषय को आगे के ग्रंथ से समझायेंगे।

मोक्ष चाहने वालों ने जब सुना कि संसार इस प्रकार सदोष है और सत्य के प्रामाणिक अनुभव से ही परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है तब उन्हें संसार से वैराग्य हो गया तथा सत्य के साक्षात्कार के लिये वे मीमांसा करने लगे।।७०।। शास्त्र, गुरुजन आदि के उपदेश को सुन-समझकर ही विवेक जाग्रत् होगा तथा निरर्थक संसार की आसक्ति छोड़कर जीवन-प्रयोजन की सिद्धि के प्रयास में तत्परता आयेगी। उपदेश के बिना स्वयं संसार-दोष पहचानना असंभव है। हमें स्त्री देह अत्यंत सुंदर दीखता है। उस महिला को अतिसार हो जाये तो हफ्ते-दस दिन बाद अत्यंत बदसूरत दीखने लगती है क्योंकि उसका सारा 'सौन्दर्य' तो निकल गया! जिसके निकल जाने से वह सुंदर नहीं रही वही तो उसमें सौन्दर्य था। जिसे हम सौन्दर्य देखते हैं उसकी वास्तविकता कितनी घृणित व दुर्गन्धयुक्त है यह बिना उपदेश के कैसे पता चले? संसार के दोष समझने पड़ते हैं तभी इससे वैराग्य होगा, अन्यथा यह सुंदर लगता रहेगा और इसी में भटकते रह जायेंगे। शास्त्र और सद्गुरु की महत्ता है कि न केवल संसारदोष बताते हैं वरन् परमार्थ आनंदघन के लाभ का अचूक उपाय भी बताते हैं। वेद व आचार्य से सुने एवं स्वयं चिंतन से दृढ करे तभी साधक वैराग्यपूर्वक ज्ञानप्राप्ति में संलग्न होगा।

उपनिषत् में इतना ही सूचित है कि जिज्ञासुजन आपस में विचार करने लगे पर ग्रंथकार ने विशिष्ट शब्द का प्रयोग कियामीमांसा करने लगे। जिसे पूज्य, श्रेष्ठ समझते हैं उसके बारे में विचार का नाम मीमांसा है। संसार से वैराग्य न होने तक आत्मा को श्रेष्ठ नहीं समझा जा सकता। अत एव लोग परमाणु से लेकर ध्रुव तारे तक का शोध करते हैं पर 'मैं कौन हूँ?' इसका किंचित् भी विचार बेकार समझते हैं। अन्य

कोऽहम्

अहं पश्याम्यहं वच्मीत्यात्मानं सर्वदा वयम्।
उपास्महे योगिवद् यं कोऽसौ मूर्ध्नि प्रविष्टवान्।।७१।।
मायावी शुद्धचिद् वाऽऽत्मा कतरः सृष्टितः पुरा।
बुभुत्सन्ते द्वयोस्तत्त्वं जीवात्मपरमात्मनोः।।७२।।

कोई काम-काज न हो तो थोड़ी देर आत्मचर्चा कर भी लें पर उनके लिये वह कोई महत्त्वपूर्ण खोज नहीं है। या बहुश्रुत, विद्वान् बनने के लिये आत्मशास्त्र पढ़-पढ़ा भी लें फिर भी उन्हें दो-पाँच हज़ार रुपये ही महत्त्वपूर्ण लगते हैं।

कारण यही है कि संसार के प्रति वैराग्य-भाव नहीं है। केवल विचार तो वे कर सकते हैं पर मीमांसा नहीं कर सकते, वही एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वशाली विषय हैयह विश्वास रखते हुए विचार में परायण नहीं हो सकते। श्रुति ने इस भाव को 'उपासना' शब्द से प्रकट किया है 'कोऽयमात्मेति वयम् उपास्महे।' विष्णु, शंकर आदि पूज्य के आकार के प्रत्ययों का प्रवाह ही प्रायः उपासना कहलाता है। यदि हम पूज्य नहीं मानते तो प्रत्यय-प्रवाह होने पर भी प्रायः उसे उपासना नहीं कहते जैसे दुश्मन के बारे में या किसी बड़े नुकसान के बारे में कोई बार-बार सोचता है तो उसे उपासक नहीं कहा जाता! श्रुतिप्रयुक्त उपासना-शब्द से पूज्यता के साथ यह भी ध्वनित है कि आत्मा वह है जिसके हम उप अर्थात् अतिनिकट रहते हैं। अज्ञदशा में भी हम उससे दूर नहीं और तज्ज्ञदशा में तो उससे अत्यन्त अभिन्न ही हैं।

बोध-प्राप्ति मीमांसा का प्रयोजन है। पुरुषार्थ लाभ बोध का फल है। केवल जानकारी एकत्र करने के लिये आत्ममीमांसा नहीं होती। दृश्य से द्रष्टा को अभ्यर्हित, पूज्य समझते हुए इस तथ्य में प्रतिष्ठा पाने के लिये विचार ही मीमांसा होगा जो मुमुक्षुओं को मुक्ति दिलायेगा।।७०।।

उपनिषद्-दर्शित मीमांसा का वर्णन करते हैं **'मैं देखता हूँ, मैं बोलता हूँ' इत्यादि प्रकार से हम हमेशा आत्मा की वैसे ही उपासना करते हैं जैसे योगी अपने ध्येय का चिन्तन करता है। वह आत्मा है कौन? क्या 'देखता हूँ' आदि रूप से अनुभूयमान वस्तु ही आत्मा है? किं च, जिसने मूर्धा से प्रवेश किया, क्या वह मायावी आत्मा है या वह है जो सृष्टि से पूर्व शुद्ध चैतन्य था? दोनों में से कौन वास्तविक आत्मा है? इस प्रकार मोक्षेच्छुकों ने जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों के सच्चे स्वरूप को समझने की कोशिश की।।७१-२।।** हमें

जीवस्य चेतनत्वेन चैतन्यं चिन्त्यतामिदम्।
चक्षुरादिविशिष्टं तच्छुद्धं वा तत्त्वमस्य किम्।।७३।।

अपना अनुभव इसी तरह होता हैदेखता-सुनता हूँ, चलता-फिरता हूँ, भूखा-प्यासा हूँ, सोचता-समझता हूँ इत्यादि। अर्थात् ज्ञानशक्तिवाला और क्रियाशक्ति वाला स्वयं को समझते हैं। अतः एव ज्ञानों के उपलक्षणार्थ देखना और क्रियाओं के उपलक्षणार्थ बोलना यहाँ बताया। क्योंकि हमें हमेशा अपना, साहंकार आत्मा का, भान रहता है इसीलिये मानो इसकी उपासना कर रहे हैं! देखना, बोलना, खाना, चलना आदि सब बदलते रहते हैं पर 'मैं' निरन्तर बना रहता है, यह वृत्ति स्थायी रहती है। कुछ विद्वान् तो सुषुप्ति में भी अहमाकार वृत्ति स्वीकारते हैं। अतः प्रश्न होता है कि सदा जिसे याद रख रहे हैं वह वस्तु क्या है? 'पूर्व में एक अकेला आत्मा ही था' आदि से एक निरुपाधिक तत्त्व आत्मा बताया गया है। एवं 'मूर्धा द्वारा शरीर में प्रवेश किया' आदि से सोपाधिक आत्मा बताया गया है जिससे शंका होती है कि हमें अनुभूयमान आत्मा इनमें से कौन है? सोपाधिक ही चक्षु आदि उपाधियों से देखने आदि वाला लगता है। शरीरों में जो प्रविष्ट हो गया वह जीवात्मा हुआ और प्रवेश से पहले भी जो था वह परमात्मा है ही। आत्मा वस्तुतः कौन हैजीव या परमात्मा।

आचार्य श्रीविद्यारण्य 'वह आत्मा कौन है?' इसे जीव-विषयक और 'दोनों में से कौन-सा है?' इसे परमात्मा-विषयक प्रश्न समझते हैं तदनुसार त्वंपदार्थ और तत्पदार्थ का क्रमशः यहाँ (श्लोक. ९६ और १०५) निर्णय भी मिलेगा। इस दृष्टि से श्लोक ७२ का अर्थ है'जिस मायावी (सोपाधिक) ने मूर्धा द्वारा प्रवेश किया वह आत्मा (परमात्मा) है या सृष्टिपूर्व जो शुद्ध चेतन था वह परमात्मा है?' इसी तरह जीवविषयक प्रश्न में भी देखने-बोलने वाला प्रमाता आत्मा है या साक्षी?ये विकल्प समझ लेने चाहिये। अथवा कर्ता व करण में से कौन है?ये विकल्प श्लोक ८३ आदि के अनुसार समझ लेने चाहिये।।७१-२।।

स्वयं के लिये प्रत्यक्ष होने से तथा अधिक श्रमसाध्य होने से प्रत्यग्रूप का विवेक कराते हैं **क्योंकि जीव चेतन है इसलिये यह विचार किया जाये कि नेत्रादि से परिच्छिन्न ज्ञान का नाम चैतन्य है या नेत्रादि से अपरिच्छिन्न शुद्ध का नाम चैतन्य है; जीवस्वरूपभूत चैतन्य की सचाई है क्या?।।७३।।** जीव अर्थात् मैं एक क्षण भी बिना ज्ञान के नहीं रहता इसलिये इसमें संदेह नहीं कि ज्ञान मेरा स्वरूप है। जड ईंट-पत्थर से चेतन जीव का अन्तर ज्ञान को लेकर ही है। हमें ज्ञान का अनुभव

चक्षुःश्रोत्रे घ्राणजिह्वे त्वक् च धीन्द्रियपञ्चकम्।
रूपशब्दौ गन्धरसौ स्पर्शश्च विषयाः क्रमात्।।७४।।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियपञ्चकम्।
भाषणादानगमनविसर्गानन्दकाः क्रियाः।।७५।।

नेत्रादि द्वारा परिसीमित ज्ञानों के रूप में ही होता है, देखना-सुनना आदि ही हम 'ज्ञान' जानते हैं, अन्तर्-बाह्य इंद्रियों से निरपेक्ष कोई ज्ञान हमें पता नहीं है। अत एव जब इन्द्रियाँ अशक्त हो जाती हैं जब व्यक्ति को जीना भी अच्छा नहीं लगता; ज्ञान तो तब भी है कि 'मैं कुछ देख-सुन नहीं पा रहा, दुःखी हूँ' पर चक्षु आदि से सीमित किया ज्ञान नहीं है, इसी से जिजीविषा मिटने लगती है। अतः यह पक्ष जँचता है कि जीव का स्वरूप वही ज्ञान होना चाहिये जो इंद्रियादि से विशिष्ट है। दूसरा पक्ष, कि ज्ञान एक शुद्ध वस्तु है, यह शास्त्रबोधित होने से महत्त्वपूर्ण लगता है। पुराणकार ने कहा है,

'ज्ञानमेकं पराचीनैः इन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा।।'

अर्थात् ज्ञान तो ब्रह्मरूप होने से निर्गुण ब्रह्ममात्र है। शब्दादि के ज्ञानों के रूप में उसकी प्रतीति तो बहिर्मुख इंद्रियों के निमित्त से ही है, वास्तविक नहीं है। अतः यह भी पक्ष विचारयोग्य लगता है।।७३।।

इंद्रियादि से विशिष्ट ज्ञान जीवस्वरूप है या नहीं यह निर्धारित करने के लिये पहले उसी का परीक्षण करेंगे। विशिष्ट में विशेषण और विशेष्य दो अंश हैं, इनमें विशेषणांश जो इंद्रियादि वे स्वयं जड हैं अतः जीव नहीं हो सकते यह स्पष्ट करने के लिये उन सबका उल्लेख कर देते हैं **आँख, कान, नाक, जीभ और त्वक्ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनके खास विषय क्रमशः हैं रूप, शब्द, गंध, स्वाद और स्पर्श।।७४।। वाणी, हाथ, पैर, मलनिःसरणेंद्रिय और जननेन्द्रियये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं जिनकी क्रमशः खास क्रियाएँ हैंबोलना, पकड़ना, चलना, मल-मूत्र का विसर्जन करना और प्रजोत्पादन करना।।७५।। इन दसों इंद्रियों के कार्य करने के निश्चित स्थान हैं जिन्हें गोलक कहते हैं जैसे चक्षु इंद्रिय का गोलक दोनों नेत्र हैं इत्यादि। गोलक स्थूल शरीर के अंग होने से स्पष्ट सभी को ज्ञात हो जाते हैं किन्तु अकेले गोलक कार्यकारी नहीं होते वरन् उनमें स्थित इंद्रियाँ कार्य करती हैं। ज्ञानशक्ति को प्रकट करने वाली ज्ञानेन्द्रियाँ तथा**

गोलकानि दशैतेषाम् अक्ष्यादीनि स्फुटानि हि।
ज्ञानक्रियाशक्तिरूपम् इन्द्रियं गोलकस्थितम्।।७६।।

क्रियाशक्ति को प्रकट करने वाली कर्मेन्द्रियाँ ही तत्तद् गोलकों में रहकर दर्शन, भाषणादि संपन्न करती हैं।।७६।। यदि इंद्रियाँ ही चेतन (ज्ञानवान्) सिद्ध हो जायें तो इनसे पृथक् किसी शुद्ध चेतन को मानने का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा क्योंकि अनुभूयमान सभी ज्ञानों की व्याख्या हो जायेगी। किन्तु विचार करने पर पता चलता है कि ये जड हैं, चेतन नहीं हैं। सामान्य बात यह याद रखनी चाहिये कि 'देखने-सुनने-चलने-बोलने वाला मैं अखण्ड हूँ', अतः जीवरूप चेतन एक वस्तु है, पृथक्-पृथक् अनेक चेतन नहीं हैं। यदि इंद्रियाँ चेतन हों तो हमारे शरीर में दस चेतन होने चाहिये! पर यह अनुभव व युक्ति दोनों से विरुद्ध है। अतः अपनी अखण्डता देखते हुए इंद्रियों को और इसी नीति से प्राण मन आदि को चेतन नहीं माना जा सकता। इससे सिद्ध हो जाता है कि शुद्ध ज्ञान ही चेतन है जो इंद्रियादि से सीमित होने पर विशिष्ट ज्ञान प्रतीत होता है। रूपादि विषयों की सत्ता तभी तक है जब तक आँख आदि इंद्रियाँ कार्य करती हैं, अन्यथा विषयों में कोई प्रमाण ही नहीं है। अतः विषय-विशेषित ज्ञानों में विशेषणीभूत विषय स्वयं इंद्रियापेक्ष-सिद्धिक होने से मिथ्या और जड हैं जिससे उनकी चेतनता की कोई संभावना नहीं। न इंद्रियाँ व न विषय चेतन हैं, चेतन शुद्ध ज्ञान ही है।

स्थूल शरीर के कुछ निश्चित स्थान हैं जहाँ इंद्रियाँ ज्ञान या कर्म की शक्ति को प्रकट करती हैं। उन स्थानों को गोलक कहते हैं। बाह्य छिद्रादि से लेकर भेजे आदि पर्यन्त जो कोई भी स्थूलदेहावयव ज्ञान-क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति में सहयोगी हैं सभी को गोलक समझना चाहिये। बक्से अनेक होते हैं पर पैसे गोलक में ही रखते हैं क्योंकि गोलक है ही इसलिये; ऐसे ही एड़ी से चोटी तक सारा ही शरीर तो है पर इंद्रियाँ खास जगहों पर कार्य करती हैं, उन जगहों का प्रयोजन ही यह है। जैसे कदाचित् पैसे अन्यत्र भी रख लेते हैं वैसे कदाचित् यदि गोलकेतर स्थान पर इन्द्रिय कुछ कार्य कर भी ले तो वह अपवाद ही है, सामान्य नियम नहीं। चिकित्सकों का क्षेत्र गोलकें ही हैं क्योंकि वे स्थूल शरीर को ही विषय कर पाते हैं, उसी का उपचार कर सकते हैं। इन्द्रियाँ सूक्ष्मभूतों का कार्य हैं अतः चिकित्सकों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं। केवल गोलकों को इंद्रिय मानना ग़लत है, शास्त्र में इंद्रियों को स्थूल देह से पृथक् ही माना है।।७५-६।।

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः।
हृद्गुदे नाभिकण्ठौ च देहश्चैषु वसन्ति ते।।७७।।
श्वासाधोगतिवृत्ती द्वे वपुष्यन्नसमीकृतिः।
उद्गारादिर्देहबलं पञ्च वायुक्रिया इमाः।।७८।।
अहं कर्ता वपुर्व्याप्य जडं चेतनतां नयेत्।
मनोऽन्तर्हृद्यवस्थाय वृत्तीः कामादिकाः सृजेत्।।७९।।

इंद्रियों की तरह प्राण व अंतःकरण भी जीवात्मा के विशेषण प्रतीत होते हैं अतः उनकी भी गणना कर देते हैं **शरीर-व्यवहार का संचालन करने वाली अध्यात्म वायुएँ हैंप्राण, अपान, समान, उदान और व्यान जो क्रमशः हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ तथा देह में रहती हैं। इनके कार्य हैंसाँस, नीचे की ओर गति, शरीर में अन्न को बराबर फैलाना, वमन आदि, और देह को सबल बनाना ।।७७-८।।** यद्यपि प्राण केवल वायु नहीं है तथापि श्वास प्राण की प्रधान वृत्ति है और श्वास का स्थूल रूप वायु का ही आवागमन है इसलिये प्राण को प्रायः वायु ही कह दिया जाता है। प्राणादि प्रत्येक के हृदयादि स्थान हैं जबकि व्यान सारे शरीर में रहता है। ये पाँचों भी आत्मा नहीं हैं। प्राण क्रिया तो करते हैं पर इन्हें ज्ञान होता हो ऐसा कोई अनुभव भी नहीं होता अतः इनकी आत्मरूपता का प्रसंग ही नहीं। तथापि जीवन के लिये प्राण अनिवार्य हैं; इंद्रियों के बिना तो जी सकते हैं पर प्राणों के बिना जी ही नहीं सकते; अतः इन्हें जीव का आवश्यक विशेषण मानना अनिवार्य है।।७७-८।।

अन्तकरणः का संग्रह करते हैं **अहंकार शरीर को घेर कर इसे जड होने पर भी चेतन बना डालता है। मन हृदय के अंदर रहकर कामना आदि वृत्तियाँ उत्पन्न करता है।।७९।।** अंतःकरण का वह व्यापार जिससे हमें 'मैं अमुक' लगता है उसे अहंकार कहते हैं। यह शरीर को घेरे है अत एव हमें शरीर जड नहीं चेतन लगता है। जब यह शरीर को नहीं घेरतासुषुप्ति, मूर्छा आदि मेंतब हमें शरीर का भान भी नहीं होता। बाह्य पदार्थ भी जब शरीर में आकर अहंकार से व्याप्त हो जाता है तब वह अनात्मा प्रतीत नहीं होता। जाग्रत्-स्वप्न का कोई क्षण नहीं जब जीव को अहंकार विशेषित न करे। फिर भी इसे आत्मा नहीं मान सकते क्योंकि यह परिवर्तनशील है। अहंकार से बुद्धिरूप वृत्ति भी समझ लेनी चाहिये, वह भी अनात्मा है क्योंकि जन्म-नाश वाली है। संकल्प-विकल्प एवं काम-क्रोधादि वृत्तियाँ बनाने वाला

ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चाऽत्र तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि।
वायवः पञ्च कर्ता च मनः सप्तदशं स्मृतम्।।८०।।
सोऽयं सप्तदशस्तोमो लिङ्गदेहः स्वयोनिषु।
सर्वासु संसरत्यस्य विनाशो मोक्ष उच्यते।।८१।।

है मन तथा इससे चित्त भी समझ लेना चाहिये, ये भी पूर्वोक्त हेतुओं से ही आत्मा नहीं हैं। इंद्रियाँ तो बाह्य विषयों से ही व्यवहार करती हैं, प्राणों का प्रमुख कार्यक्षेत्र स्थूल शरीर में ही है, अंतःकरण बाह्यविषयों से भी संपर्क करता है और उनसे निरपेक्ष भी कल्पना, विचार, कामना आदि करता रहता है। बाहरी चीज़ों से अंतःकरण का संपर्क इंद्रियों द्वारा ही होता है किंतु अनुमानादि के आधार पर यह बाह्य वस्तुओं की अनेक विशेषताओं को भी जान लेता है जो बाह्य इंद्रियों से अज्ञेय हैं।।७६।।

पूर्वोक्त इंद्रियादि सब मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाता है जो एक से दूसरे देह में मोक्षपर्यन्त जाता है अतः वही जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप होगाइस शंका को मिटाते हैं : **पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मन्द्रियाँ, पाँच प्राण, अहंकार और मनये सत्रह वस्तुएँ यहाँ बतायी। इन सत्रह का समूह ही वह प्रसिद्ध लिंग शरीर है जो जीव को प्राप्त होने वाली सभी योनियों में भटकता रहता है तथा इस लिंगदेह का विनाश मोक्ष कहा जाता है।।८०-१।।** छिपी चीज़ का पता बताने वाले चिह्न को लिंग कहते हैं जैसे आग दीख न रही हो पर धूमलेखा उठ रही हो तो दूर से भी पता चल जाता है कि वहाँ आग है अतः धुएँ को आग का लिंग कहते हैं। उक्त सत्रह चीज़ें देखते ही पता लग जाता है कि यहाँ जीव है अतः ये जीव का निश्चित चिह्न होने से लिंग कहे जाते हैं। मरने पर यही लिंगेदह इस स्थूल देह से वियुक्त होकर अगली योनि में जाता है, इसकी गति ही जीव की गति है जैसे घट की गति ही घटाकाश की गति है। क्योंकि अविद्यानिवृत्ति-पर्यन्त लिंग देह का विनाश नहीं होता इसलिये प्रसिद्ध है कि 'लिंगभंगो हि मोक्षः' सूक्ष्म शरीर की आत्यंतिक निवृत्ति ही मोक्ष है। सुषुप्ति आदि में इसका अदर्शन भले ही हो पर जाग्रदादि में पुनरुत्पत्ति हो जाने से इसका तब विनाश नहीं मान सकते। विनाश तो इसका तभी होगा जब इसके कारण की, अविद्या की निवृत्ति होगी। अविद्या-निवृत्ति के बाद प्रारब्ध पर्यन्त लिंगदेह कार्यकारी दीखता है पर जली रस्सी की ऐंठन की तरह वह दीखने-भर का ही रहता है, वस्तुतः वह नष्ट ही है। श्लोक में 'कर्ता' शब्द अहंकार के लिये है। अन्यत्र भी 'अन्नादाभ्यन्तरः प्राणः प्राणादाभ्यन्तरं मनः, ततः कर्ता ततो भोक्ता' इत्यादि में अहंकार को कर्ता कहा है।

आत्मविचारः

अज्ञानकल्पितो देहस्तत्त्वज्ञानेन नश्यति।
ज्ञानोत्पत्तिर्विचारेण तस्माद् आत्मा विचार्यते।।८२।।

लिंगदेह भी है अनात्मा ही क्योंकि इसके सब घटक अनात्मा हैं तथा यह परिच्छिन्न है, क्रियाशील है तथा विनाशी है।।८०-१।।

लिंग देह स्वयं मायाकार्य है यह सूचित करते हुए चैतन्य-चिन्ता ही आगे बढ़ाते हैं **(सूक्ष्म) शरीर अज्ञान से कल्पित है अतः वास्तविकता के ज्ञान से नष्ट होता है। ज्ञान की उत्पत्ति का साधन है विचार। क्योंकि विचारजन्य सत्य-ज्ञान ही अज्ञाननिवृत्ति द्वारा लिंगदेह के नाश का अतः मोक्ष का हेतु है इसीलिये आत्मवस्तु का विचार किया जाता है।।८२।।**

पूर्व श्लोक में जिस देह के विनाश को मोक्ष कहा था उसी देह के विनाशार्थ यहाँ उसका कारण बताया क्योंकि कारणनिवृत्ति से ही कार्य की स्थायी निवृत्ति हो सकती है। यद्यपि सारा संसार अज्ञान से कल्पित है तथापि स्थूल पदार्थों के हेतु जैसे प्रायः ज्ञात हैं वैसे सूक्ष्मशरीर के कारण का कोई ज्ञान नहीं है इसलिये इसे विशेषतः अज्ञानकल्पित कहा। आत्मस्वरूप का अज्ञान रहते ही इसमें तादात्म्याध्यास होता है व तभी तक इसकी स्थिति है, इसलिये भी यह अज्ञानकल्पित है। देह अर्थात् लिंगदेह की निवृत्ति तभी हो जब इसका कारणभूत अज्ञान निवृत्त हो और उसके लिये चाहिये विचार। लौकिक अज्ञान भी विचार के ही सहारे दूर होता है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति का मूल यही है कि बाह्य जगत् का विचार किया जा रहा है। अज्ञान मिटता तो प्रमाण से है लेकिन प्रमाण कार्य कर सके इसे संभव विचार बनाता है। अत एव उपनिषत्-रूप प्रमाण के साथ शारीरक-मीमांसा रूप विचार आवश्यक है। भाष्यकार ने सावधान किया है कि विचार किये बिना जिस-किसी बात को मान लेने से निःश्रेयस की हानि और अनर्थ की प्राप्ति ही होती है। आत्मवस्तु के ही अज्ञान से संसरणफलक देह उपलब्ध होने से आत्मवस्तु के ही ज्ञान की आवश्यकता है अतः आत्मा का ही विचार कर्तव्य है। संसार की चीज़ों का विचार करने से कभी मोक्ष नहीं मिलेगा। यह द्वैत जगत् मिथ्या है, इसके विचार से सत्य लाभ संभव ही नहीं। अद्वैत आत्मा ही सत्य है, उसके विचार से वास्तविक मोक्ष उपलभ्य है। संसारी लोग परमार्थ अद्वैत की उपेक्षा करते हैं अतः दुःख में निमग्न रहते हैं; विवेकी द्वैत की अवज्ञा करे तो उसकी कोई हानि नहीं क्योंकि उसे आत्मविचार से सत्य फल मिलेगा। अत एव वैराग्य की

येन पश्यत्यसावात्मा यः पश्यति स वा भवेत्।
द्रष्टा पश्यति बोधेन चाक्षुषेण तयोस्तु कः।।८३।।
शृणोति येन यः श्रोता तयोरित्यादि योज्यताम्।
चैतन्यमस्ति करणे कर्तरीत्यत्र चिन्त्यते।।८४।।
बहूनि करणान्येषु बोधा दृष्ट्यादिनामकाः।
बहवः कर्तृबाहुल्यमपि द्रष्ट्रादिभेदतः।।८५।।

आवश्यकता है अन्यथा सात्त्विक व्यक्ति तुरंत दया, परोपकार आदि से प्रवृत्त होकर बहिर्मुखी बन जायेगा। मुमुक्षु को अपनी प्राथमिकता स्पष्ट रखनी चाहिये कि उसे पूरे प्रयत्न से आत्मज्ञान प्राप्त करना है। आत्मनिष्ठा मिलने के बाद चाहे तो दया करे, तर्क पढ़े या खेती करे, कोई हानि नहीं!।।८२।।

श्लोक ७४ से अब तक स्पष्ट किया कि विशेषणांश आत्मा नहीं है। अब बतायेंगे कि विशिष्ट रूप भी आत्मा नहीं है वरन् शुद्ध ही आत्मा है। **जिससे देखता है क्या वह आत्मा है या जो देखता है वह आत्मा है? चक्षु-जन्य अनुभव द्वारा द्रष्टा देखता है; इन दोनों में से आत्मा कौन है?।।८३।। इसी तरह जिससे सुनता है और जो सुनता हैइन दोनों में से कौन है? इत्यादि सभी करणों व उनसे होने वाली क्रियाओं के कर्त्ताओं के बारे में यह प्रश्न है यह स्वयं समझ लेना चाहिये। विचारणीय यह है कि चैतन्य क्या करण में है या कर्त्ता में।।८४।। करण बहुत-से हैं व उनके होने पर दृष्टि आदि कहलाने वाले बोध भी अनेक हैं तथा द्रष्टा, श्रोता आदि भेद से कर्त्ता भी बहुतेरे हैं।।८५।।** रूपादि-विषयक विविध अनुभव जीव अपने नेत्रादि करणों से प्राप्त करता है। देखने वाली क्या आँख है जिसे मेरी ज़रूरत है या देखने वाला मैं हूँ जिसे आँख की ज़रूरत है? आत्मा प्रधान ही होगा अतः कर्त्ता को आत्मा मानना चाहिये किंतु जिससे वह देख रहा है वह भी चाक्षुष बोध ही है अतः उसकी भी स्वयं ज्ञानरूपता होने से उसे आत्मा मानना चाहिये। करणमात्र तो आत्मा नहीं ही है, जब वह व्यापार कर रहा है तब ज्ञानवान् लगने से चेतन लगता है पर है तब भी वह अनात्मा यह समझना है। कर्त्ता भी अहंकार-उपाधि से अतः वह भी अनात्मा है। इसलिये जो और जिससे देखता है दोनों विशिष्ट हैं अतः दोनों ही आत्मा नहीं वरन् दोनों जिसमें आते-जाते हैं फिर भी जो उनसे अस्पृष्ट है वही आत्मा है। करणों व कर्त्ताओं के बहुत्व का कथन यह बताने के लिये है कि इनमें से किसे आत्मा कहें यह निर्धारण ही असंभव है! द्रष्टा आत्मा है तो

करणानां च कर्तॄणां भेदः स्याच्चक्षुरादिके।
बाह्ये यथा तथैवान्तः शरीरेऽप्यवगम्यताम्।।८६।।
कर्त्रुपाधिरहङ्कारो वाच्यो हृदयशब्दतः।
करणं स्याद् मनस्तस्य संज्ञानाद्यास्तु वृत्तयः।।८७।।

श्रोता क्यों आत्मा नहीं? इत्यादि प्रश्न उठ जायेंगे और इकट्ठे ही बहुतेरे आत्मा हमारे शरीर में है यह मानना संभव नहीं क्योंकि न ऐसा हमें अनुभव है और न ही यह उपपन्न है। अनेक आत्मा हों तो परस्पर के अनुभवों का सामंजस्य न होदेखने वाला सुन नहीं सकता, सुनने वाला देख नहीं सकता, दोनों ही चल नहीं सकते तो गाड़ी की आवाज़ सुनकर, दायीं ओर जगह देखकर कदम कैसे बढ़ेंगे! इस प्रकार बहुतों को आत्मा नहीं मान सकते वरन् इन सबका जिसमें सामंजस्य है वह एक ही आत्मा होना ठीक है।।८३-५।।

जैसे चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों के सन्दर्भ में करणों का व कर्त्ताओं का भेद है, बहुत्व है, वैसे ही शरीर के भीतर भी समझना चाहिये।।८६।। श्रुति में हृदय-शब्द से कहा गया अहंकार कर्त्ता की उपाधि है और मन करण है जिसकी वृत्तियाँ हैं संज्ञान आदि।।८७।। शरीर के भीतर जो 'मैं मन से सोच रहा हूँ, बुद्धि से समझ रहा हूँ, चित्त से याद कर रहा हूँ' आदि अनुभव हैं उनमें भी कर्त्ता-करण का अंतर है ही। जिसका कर्त्ता से अनुविधान है वह अहंकार हैअहंकार रहते ही कर्त्ता होता है, अहंकार छिपने पर कर्त्ता भी नहीं रहता। 'मन आदि को मैं प्रयोग में ला रहा हूँ' यों उनकी करण-रूपता स्पष्ट होती है पर अहंकार कभी इस तरह करण बनता नहीं। अतः अहंकार कर्त्ता की उपाधि है। क्या उस उपाधि वाला आत्मा है या करण-उपाधि वाला? यह यहाँ विचार कहा है। प्रकृत ऐतरेय में वाक्य है 'यद् एतद् हृदयं मनश्च, एतत् संज्ञानम् आज्ञानं विज्ञानं मेधा दृष्टिः धृतिः मतिः मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुः असुः कामो वश इति।' यहाँ हृदय से अहंकार व मन से करण कहा है यह ग्रंथकार ने माना है। दीपिका में भी हृदय से बुद्धि समझकर उसे आत्मा में कर्तृत्वादि का आरोप करने वाली कहा है तथा बुद्धिविशिष्ट कर्त्ता के लिये संकल्प-विकल्प करने का साधन मन बताया है। श्रुति में कहे संज्ञानादि मन के वृत्तिविशेष हैं। वृत्ति रूप में कार्यरत मन का नाम संज्ञान है अथवा 'यह वस्तु सम्यक् है' ऐसा ज्ञान संज्ञान है या जिस वृत्ति के रहते व्यक्ति चेतन अर्थात् होश में कहा जाता है वह संज्ञान है। आज्ञा का, शासन का आकार ग्रहण किया मन अर्थात् जब मन आज्ञा दे रहा हो तब

तत्र सर्वत्र चैतन्यं लक्ष्यते हि पृथक् पृथक्।
एवं सति बहुष्वेषु कः स्याद् आत्मेति संशयः।।८८।।

वह आज्ञान है। 'यह उससे अलग है' आदि विवेक या कला आदि की जानकारी विज्ञान है। ग्रन्थ आदि के अर्थों की स्फुरणा होना प्रज्ञान है जिसे प्रतिभा भी कहते हैं। याददाश्त को मेधा कहते हैं। कल्पना की सामर्थ्य को दृष्टि समझना चाहिये जिससे मन को भीतर ही वह सब साफ दीख जाता है जो अभी मौजूद नहीं है। इसी के धनी कवि क्रान्तदर्शी कहलाते हैं। आपत्ति उपस्थित रहने पर भी उसे अधिक महत्त्व न देना रूप धैर्य धृति है। राजकार्य आदि का विचार करना मति और स्वतन्त्रतापूर्वक उस कार्य के संदर्भ में निर्णय लेना मनीषा है। कार्य आने पर मन पूरी तरह उसमें लग जाना जूति है या रोगादि से मन का दुःखी होना जूति है। स्मृति अर्थात् अनुभूत चीज़ों की स्मरण। मेधा में ग्रंथ-ग्रंथार्थ की याद का ही ग्रहण है, स्मृति सामान्यतः याद को कहा है। गलत चीज़ को भी सही रूप में समझने का नाम संकल्प है अर्थात् मन ग़लती पर ध्यान न देकर उसके सही अंश को देखे। अथवा ठीक-ठीक पहचानने को संकल्प कहते हैं। 'अवश्य करूँगा' ऐसा निश्चय क्रतु है। जीवन की अनिर्वाय प्रक्रिया चलाने वाला मनोव्यापार असु है। अनुपस्थित विषय की इच्छा काम और स्त्री-संपर्क की अभिलाषा वश है। ये कुछ-एक वृत्तियाँ उपनिषत् ने मन की यहाँ गिनायी हैं। इस प्रकार की असंख्य वृत्तियाँ मन में होती रहती हैं पर हैं सब मन ही। अतः इन-इन वृत्तियों से उपहित स्वरूप क्या आत्मा है?यह प्रश्न यहाँ समझना चाहिये।।८६-८७।।

श्लोक ८३ से प्रारंभ किये प्रश्न को स्पष्ट करते हैं **इन सबमें अलग-अलग चैतन्य प्रतीत होता है अतः संशय होता है कि इन बहुत-सों में आत्मा कौन है।।८८।।** 'इन सब में' अर्थात् करणों में भी और कर्त्ताओं में भी। चैतन्य अलग इसलिये लगता है कि कोई स्वस्थ व्यक्ति अंधा हो जाये तो देखने वाला (कर्त्ता और करण भी) नहीं रह जाता पर सुनने आदि वाला रहता ही है जिसका मतलब है कि दोनों (देखने वाला और सुनने वाला) अलग हैं। श्लोक ७३ में 'चक्षुरादिविशिष्टं' कहा था, उसी का विस्तार कर यहाँ प्रश्न का उपसंहार है। मूलकार ने प्रश्न न कहकर 'संशय' इसलिये कहा कि इन सबको चैतन्य मानने का कोई-न-कोई आधार दीखता है इसीसे साधारण लोग ही नहीं दार्शनिक भी इस विषय में निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। इसका निर्णय वेद ही कर पाता है।।८८।।

प्रज्ञानमात्मा

प्रज्ञानमेकं सर्वेषु यत् स आत्मेति निर्णयः।
प्रकृष्टं निरुपाधित्वाच्चैतन्यं यत् तदीक्ष्यताम्।।८६।।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं **निर्णय यही है कि सभी में जो एक प्रज्ञान है वही आत्मा है। जो चैतन्य (ज्ञान) उपाधिनिरपेक्ष होने से प्रकृष्ट है वही आत्मा समझना चाहिये।।८६।।** 'सभी में' अर्थात् पूर्वदर्शित एवं अन्य भी जो 'ज्ञान' के रूप में संभावित होते हैं सभी में अनुगत का ही वास्तविक नाम ज्ञान होना उचित है जैसे सब मिठाइयों में अनुगत चीनी ही वस्तुतः मीठी है। घट-पट आदि सर्वत्र हमें सत्ता एक-सी मिलने के कारण जैसे निर्णय होता है कि सत्ता का अनुभव सद्रूप ब्रह्म को विषय करता है (यह बात श्लोक ३१-२ में समझाई थी), वैसे ही अनेक ज्ञान मिलने के कारण विवेकी निर्णय कर लेता है कि अनेकता-सम्पादक उपाधियों से रहित जो सर्वत्र एक है वही ज्ञान है। एक ही आकाश घट-शराव-उदंचन आदि द्वारा घेरा जाने से घटाकाश-शरावाकाश-उदंचनाकाश आदि लगता है, इसी तरह एक ही अखंड ज्ञान तत्तद् वृत्तियों की उपाधि से दृष्टि, श्रुति, संज्ञान, कामना आदि लगता है यह भाव है। उपाधि-परिच्छिन्न होने पर जो 'ज्ञान' कहा समझा जा रहा है वही उपाधि-परिच्छेद के बिना प्रज्ञान कहा जा रहा है। दृष्टि, श्रुति आदि तभी हैं जब आँख-कान आदि उपाधियों की सीमा है; किसी भी उपाधि का परिसीमन न रहने पर जो ज्ञान है वही प्रज्ञान है! है तो सीमित लगते समय भी वह प्रज्ञान ही, क्योंकि सीमा मिथ्या है, किन्तु अज्ञानवश यथाप्रतीति वह वास्तव में सीमित अतः अनेक माना जा रहा है, शास्त्रोपदेश से वह अज्ञान मिटने पर फिर वह सीमित लगते हुए भी निश्चय रहेगा कि वह अखण्ड असीम है। जिसे कहीं से खींचकर, आकर्षणकर बाहर किया गया हो उसे कृष्ट कहते हैं। हमें अनुभव तो दर्शन, श्रवण आदि उपाधि-सहित ज्ञानों का ही हो रहा है, इनमें से खींचकर ज्ञानको बाहर निकाल लेने पर वह प्रकृष्ट हो जाता है। हमें सोना हमेशा किसी-न-किसी गहना-पासा आदि आकार में ही मिलता है किन्तु विवेक से हम उन आकारों में से 'खींच' कर सोने को समझते हैं, हमें पता चल जाता है कि वे कोई भी आकार वास्तव में सोने के नहीं हैं; हमें मिलते घट आदि व्यक्ति ही हैं पर उनमें से खींचकर हम घटत्व आदि सामान्य को समझ लेते हैं; इसी तरह दृष्टि-श्रुति आदि विशिष्ट ज्ञानों में से खींचकर प्रज्ञान को समझना पड़ता है। केवल 'कृष्ट' न कहकर प्र-कृष्ट इसलिये कहा कि साधारण व्यवहार के लिये भी थोड़ा-सा आकर्षण तो करना

अहङ्कारो मनो बाह्यं करणं चाप्युपाधयः।
तेषु सर्वेषु चिच्छाया सङ्क्रान्ता चेतनास्ततः।।९०।।
न मुख्यं तेषु चैतन्यम् आत्मत्वस्याऽप्यमुख्यता।
सुषुप्तौ तानि लुप्यन्ते न त्वात्मा तत्र लुप्यते।।९१।।

ही पड़ता है पर हम विवेक कर निरुपाधि स्वरूप में दृढ नहीं रहते, उसके लिये विशेष आकर्षण करना पड़ेगा। 'हमने लम्बाई देखी' और 'हमें लम्बाई का ज्ञान हुआ'; सुना और शब्द का ज्ञान हुआ; सोचा और सोचने का ज्ञान हुआ; क्रुद्ध हुए और क्रोध का ज्ञान हुआ;यों देखा-सुना-सोचा आदि सोपाधिक रूपों से पृथक् ज्ञान का हमें पता तो है; हम जानते हैं कि देखना अलग है, सुनना अलग है लेकिन देखने से भी ज्ञान होता है, सुनने से भी ज्ञान होता है अतः देखनामात्र ज्ञान नहीं है वरन् उसका एक सीमित पहलू है; किंतु देखना आदि जिसके पहलू हैं उस अखण्ड ज्ञान को ही वास्तविक न समझने के कारण हम उससे सन्तुष्ट न होकर देखना आदि में फँस जाते हैं। 'देख रहा हूँ' की तरह ही 'नहीं देख रहा' भी ज्ञान पूरा ही है; ज्ञान का महत्त्व जानने वाले के लिये देखना-न देखना एक-सा है किन्तु हम देखने में फँसे रहते हैं, यही चाहते हैं कि देखें। निरुपाधि ज्ञान हमें सदा है क्योंकि वह आत्मरूप ही है, उसके लिये कोई प्रयास नहीं चाहिये पर उससे तृप्त न होकर हम यत्न करते हैं कि हमें सोपाधिक ज्ञान हों! उस प्रयत्न में और उसके फलस्वरूप मिले सोपाधिक ज्ञानों से हमें दुःख भी बहुत होता है पर अज्ञानवश, अविवेक के प्रभाव से हम उसी ओर लगे रहते हैं। अतः 'कृष्ट' ज्ञान क्योंकि अज्ञाननिवारण में सहयोग नहीं दे पाता इसलिये प्रकृष्ट ज्ञान को समझना ज़रूरी है। वह प्रज्ञान ही आत्मा है।।८९।।

शंका होगी कि पूर्वमें दिखाया था कि करण और कर्त्ता भी चेतन लगते हैं, ज्ञान वाले लगते हैं; यदि वस्तुतः प्रज्ञान उनसे अलग है तो वे चेतन लगते क्यों हैं? समाधान करते हैं **अहंकार, मन, बाहरी करण (इंद्रियाँ)ये सभी उपाधियाँ हैं जिनमें चेतन की छाया पड़ती है जिससे लगता है माने ये चेतन हैं। (ये स्वयं चेतन नहीं हैं वरन् इनसे स्वतंत्र जो प्रज्ञान उससे इनमें चेतना आती है जैसे साँप में रस्सी से लंबाई-गोलाई आती है।)।।९०।। अहंकारादि की चेतनता और आत्मता मुख्य नहीं वरन् औपचारिक ही है। सुषुप्ति में ये सभी उपाधियाँ लुप्त हो जाती हैं किन्तु इनके लोपका भी भासक आत्मा सुषुप्ति में भी लुप्त नहीं होता।।९१।। उपाधियाँ और उनका लोप-दोनों का जिसे भान होता है**

मुख्यात्मता

प्रज्ञानं निरुपाधित्वाद् नित्यं तल्लोपभासकम्।
प्रज्ञानस्यात्मता तस्माद् मुख्या नान्यस्य कस्यचित्।।६२।।

वह वस्तुतः उपाधि-निरपेक्ष होने से सनातन प्रज्ञान है। वास्तव में वह प्रज्ञान ही आत्मा है, अन्य कोई सचमुच में आत्मा नहीं।।६२।। चेतनकी छाया पड़ने का मतलब है कि चेतन का उनमें तादात्म्याध्यास होता है। अहंकारादि वस्तुतः मैं नहीं पर अध्यासवश हम उन्हें मैं समझे हुए हैं; यही हमारा बंधन है। उपाधियों को चेतनता मिल रही है प्रज्ञान से पर प्रज्ञान को यह रहस्य पता नहीं अतः उपाधियों को ही चेतन समझकर दुःखी है! 'पुत्र अय्याश होकर बर्बाद हो रहा है' इससे पिता दुःखी होता है क्योंकि अध्यासवश यह नहीं समझता कि उसी के पैसे से पुत्र अय्याशी कर पा रहा है! प्रजातंत्र में भी प्रजा सरकार से इसीलिये त्रस्त होती है कि यह नहीं समझ पाती कि प्रजा ही सरकार को सामर्थ्य दे रही है। उपाधियाँ जड अनात्मा हैं फिर भी क्योंकि उन्हें आत्मा से ज्ञान और आत्मता मिल जाती हैं इसलिये वे भी ज्ञानवान् (चेतन) और आत्मा कहलाती हैं। जिसमें वस्तुतः ज्ञान है, जो वस्तुतः आत्मा है वह ज्ञान और आत्मा शब्दों का मुख्य अर्थ है तथा जिनमें ज्ञान और आत्मता वास्तव में नहीं हैं केवल भ्रम से दीखते हैं वे ज्ञान और आत्मा शब्दों के अमुख्य अर्थ हैं। 'गर्म आग' कहें तो गर्मी आग में मुख्य है; 'गर्म पानी' कहें तो पानी में गर्मी अमुख्य है; इसी तरह प्रज्ञान में आत्मता मुख्य है, अहंकारादि में अमुख्य है। यह निर्णय कैसे करें? आग हमेशा गर्म मिलती है जबकि पानी हमेशा गर्म नहीं मिलता इसीसे पता चल जाता है कि पानी में गर्मी मुख्य नहीं है। इसी प्रकार उपाधियाँ लीन होने का जो साक्षी है वह कभी ज्ञान से पृथक् नहीं होता, उपाधियाँ तो लीन होते ही ज्ञानविहीन हो जाती हैं अतः पता चल जाता है कि उनमें मुख्य ज्ञान नहीं है। प्रत्येक जीव सुषुप्ति में जाता है। वहाँ उपाधियाँ नहीं रहतींअहंकार, दृष्टि, श्रुति आदि कर्तृ-करण नहीं रहतेऔर जीव को
यह स्पष्ट पता है कि वहाँ उपाधियाँ नहीं रहतीं, अतः जो नहीं रहतीं वे उपाधियाँ तो ज्ञान से पृथक् हो जाती हैं पर जिसे उनके न रहने का पता है वह जीव (साक्षी) कभी ज्ञान से पृथक् नहीं होता। इससे निर्णय हो जाता है कि उपाधियों के होने-न-होने का साक्षी ही वास्तव में आत्मा है, ज्ञान है। कुछ लोग कहते हैं कि सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता! किंतु यह बात ग़लत है। कोई विषय नहीं हैं, उपाधियाँ और उनके व्यापार नहीं हैंइस बात का ज्ञान सुषुप्ति में अवश्य होता है तभी जगने पर स्मृति होती है कि

द्रष्ट्राद्या अपि दृष्ट्याद्याः शब्दा मुख्यात्मवस्तुनः।
नामान्युपाधिमालम्ब्य तस्मादात्मोपलक्षकाः।।६३।।
यथैकस्यैव सम्बन्धविशेषोपाधिनाऽखिलाः।
पुत्रभ्रात्रादयः शब्दा नामत्वेनोपलक्षकाः।।६४।।
उपलक्ष्यं तु हस्तादियुक्तमेकं वपुस्तथा।
चेतनैः कर्तृकरणैः प्रज्ञानमुपलक्ष्यते।।६५।।

'वहाँ यह सब कुछ नहीं था, मैं आनंद से सो रहा था'। कमरे में देवदत्त नहीं है यह वही कह सकता है जिसने खाली कमरा देखा है, ऐसे ही जिसने सुषुप्ति का अनुभव (ज्ञान) किया है वही कहा सकता है कि वहाँ उपाधि आदि नहीं होते। यदि सुषुप्ति में ज्ञान ही न हो तो यह भी पता नहीं चल सकेगा कि सुषुप्ति होती है, उसमें ज्ञान नहीं होता! अतः क्योंकि उपाधिवाले को ही ज्ञान समझते हैं इसलिये तार्किक आदि मान बैठते हैं कि सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता, वस्तुतः तो वहाँ अहंकारादि से रहित ज्ञान है यह अधिक स्पष्ट होता है।।६१-२।।

जैसे उपाधियों के लिये ज्ञान और आत्मा शब्द अमुख्य हैं वैसे ही द्रष्टा-श्रोता आदि शब्द आत्मा के लिये अमुख्य हैं यह स्पष्ट करते हैं **द्रष्टा आदि और दृष्टि आदि शब्द उपाधि के सहारे ही मुख्य आत्मरूप वस्तु के नाम बनते हैं इसलिये आत्मा के उपलक्षण ही है।।६३।। जिस प्रकार पुत्र, भाई आदि सभी शब्द विशेष-सम्बन्ध रूप उपाधियों के सहारे एक ही व्यक्ति के नाम बनकर उसे उपलक्षित करते हैं, उन सबसे उपलक्षित होने वाला तो हाथ-पैर आदि वाला एक शरीर ही है, उसी प्रकार अध्यस्त चैतन्य वाले कर्त्ताओं व करणों द्वारा प्रज्ञान की उपलक्षणा हो जाती है।।६४-५।।** द्रष्टा आदि कर्तृबोधक शब्दों से पता चलने वाला आत्मा और दृष्टि आदि करणबोधक शब्दों से पता चलने वाला ज्ञान परस्पर पृथक् नहीं वरन् एक प्रज्ञान ही है। व्यवहार बिना उपाधिके नहीं होता पर इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि उपाधि ही सब कुछ है! उपाधि केवल व्यवहार चलाने के लिये है, उसी स्तर पर उसकी कीमत है, वास्तविक तत्त्व तो पारमार्थिक ही है। द्रष्टा आदि शब्द आत्मा के 'नाम' इस अभिप्राय से कहे कि व्युत्पत्ति की दृष्टि से वे शब्द आत्मा को उपस्थित नहीं करते, उस स्तर पर तो वे उपाधिविशिष्ट के ही बोधक हैं, किंतु उपलक्षणा से आत्मा का द्योतन करते हैं।

'प्रकाश'-पद प्रकाश्य-सापेक्ष प्रकाशकता के माध्यम से ही प्रकाश का बोधक है पर

बोध्य प्रकाश स्वयं प्रकाश्यापेक्ष नहीं है, इसी तरह प्रज्ञान को समझना ऐसे ही पड़ता है कि जो घटादि को देखता है वह आत्मा है, जिससे घटादि दीखते हैं वह ज्ञान है, किंतु स्वयं प्रज्ञान देखने दिखाने वाले द्रष्टा-दृष्टि से स्वतंत्र ही है। उसका वह स्वतंत्र स्वरूप स्वप्रकाश है पर अविद्या रहते उसे समझना इसी ढंग से पड़ता है, समझने के बाद भले ही उपाधियों की कोई जरूरत न रह जाये। साधारणतः ज्ञाता और ज्ञान पृथक् माने जाते हैं अतः द्रष्टा आदि व दृष्टि आदि का उल्लेख किया, किंतु पूर्वोक्त प्रक्रिया से स्पष्ट कर चुके हैं कि एक ही प्रज्ञान कर्तृ-उपाधि से ज्ञाता और करणोपाधि से ज्ञान प्रतीत हो रहा है अतः यहाँ बता दिया कि द्रष्टा आदि ज्ञातृ-पक्षीय शब्द और दृष्टि आदि ज्ञानपक्षीय शब्द दोनों ही एक प्रज्ञान के ही नाम हैं। मूर्ति बन जाने पर एक ही पत्थर सिर भी कहलाता है व पैर भी, क्योंकि दोनों आकार उसी पत्थर ने लिये हैं; ऐसे ही प्रज्ञान ही क्योंकि द्रष्टा व दृष्टि दोनों बनता है इसलिये ये दोनों उसके नाम पड़ जाते हैं। इन नामों को उपलक्षक कहने का तात्पर्य है कि आत्मा को समझ लेने के बाद द्रष्टा, दृष्टि आदि कर्तृरूपों व करणरूपों के रहने-न रहने का कोई महत्त्व नहीं है जैसे 'कौवे वाला घर देवदत्त का है' सुनकर घर पहचान लेने के बाद कौवा रहे न रहे इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। इस विषय को दृष्टांत से समझा दियाएक ही देवदत्त को पिता, पुत्र, भ्राता, पितृव्य, मातुल आदि विभिन्न शब्दों से कहा समझा जाता है; वह कहना समझना ज़रूरी भी है पर स्वरूप से वह देवदत्त ही रहता है और इन शब्दों से समझने पर भी उसके उस निरपेक्ष रूप का अवबोध होता ही है। इसी तरह कर्ताओं व करणों का सहारा लेकर आत्मा का परिचय पाया जाता है। पर स्वयं वह कर्तृ-करणों से पृथक् रहता ही है। कर्ताओं व करणों को यहाँ 'चेतन' यह स्पष्ट करने के लिये कहा कि क्योंकि वे चेतन प्रतीत हो रहे हैं इसीलिये वे प्रज्ञान को समझने के उपाय बन रहे हैं। घट-पट आदि से वह प्रज्ञान इसीलिये नहीं समझाया जा सकता कि घटादि चेतन प्रतीत ही नहीं हो रहे! हलवा, खीर आदि खिलाकर समझा सकते हैं कि मीठा क्या होता है, भले ही हलवा आदि स्वयं मीठे नहीं हैं, उनमें मिठास चीनी का ही है! किन्तु पापड़, भुजिया खिलाकर तो यह नहीं समझा सकते कि मीठा क्या है! अथवा शाखा-चंद्रन्याय से चंद्र तभी दिखा सकते हैं जब चंद्र की दिशा वाली शाखा का सहारा लें; चंद्र पूर्व में हो तो पश्चिम की तरफ वाली शाखा के सहारे चंद्रदर्शन नहीं कराया जा सकता। इसी प्रकार, क्योंकि आपाततः लगता है कि ये आत्मा हैं इसीलिये आत्मा को समझने में इनका उपयोग है। अत एव ये उपाधियाँ घटादि की तरह

त्वम्पदार्थः

प्रज्ञानं कर्तृदेहादिसाक्षिभूतं यदस्ति तत्।
जीवस्य वास्तवं रूपम् इत्येवं निर्णयो भवेत्।।६६।।

अनात्मा होने पर भी आत्मबोध में सहायक हैं। इसी दृष्टि से इन्हें यहाँ चेतन कहा। अन्यत्र भी इसीलिये आत्मा को दृष्टि का द्रष्टा, मनका मन आदि बताया है।।६४-५।।

श्लोक ७३ से शुरू हुए जीवके, त्वम्पदार्थ के प्रसंगका समापन करते हैं **कर्ता-शरीरादि का साक्षी बना जो प्रज्ञान है वह जीव का वास्तविक स्वरूप है यह निश्चय पूर्वोक्त ढंग के विचार से प्राप्त हो सकता है।।६६।।** क्योंकि जीव के स्वरूप का प्रसंग है इसलिये प्रमाता के साक्षी के रूप में ही प्रज्ञान को उपस्थित करना उचित है। तात्पर्य है कि साक्षित्व भी साक्ष्यापेक्ष होने से अवास्तविक है किन्तु अभी 'जीव की वास्तविकता' के ही संदर्भ में बात चल रही है इसलिये उसे कर्ता के साक्षी रूप से बताना ठीक है। साक्षी सनातन होने से वास्तविक है। जो कभी न बदले, हमेशा एकरूप रहे वही वास्तविक होता है। सोपाधिक रूप तो बदलते रहने से अवास्तविक हैं यह भाव है। द्रष्टा आदि को उपाधिकृत रूप कहा न कि विशेषणकृत क्योंकि यह बताना है कि द्रष्टा-दृष्टि आदि लगते हुए भी प्रज्ञान यथावत् रहता है, उसमें तब भी कोई अंतर नहीं आता। द्रष्टृत्व यदि आत्मा का विशेषण होता तो आत्मा सदा द्रष्टा ही रहता पर क्योंकि वह उपाधि है इसलिये आत्मा निर्विकार रहते हुए भी द्रष्टाका व्यवहार संभव कर देता है। जैसे जीवस्तर पर द्रष्टा आदि औपाधिक रूप हैं वैसे ईश्वर स्तर पर स्रष्टृत्व की उपाधि से ब्रह्मा, पालकत्व की उपाधि से विष्णु, संहारकत्व की उपाधि से रुद्र इत्यादि औपाधिक ही रूप हैं। जो भ्रम से इन उपाधियों को विशेषण मान लेते हैं वे परस्पर विरोधी हो जाते हैं कि यह श्रेष्ठ या वह श्रेष्ठ! जैसे द्रष्टा श्रेष्ठ या श्रोता श्रेष्ठयह प्रश्न ही व्यर्थ है क्योंकि देवदत्त एक ही है, वैसे ब्रह्मा श्रेष्ठ कि विष्णु श्रेष्ठयह प्रश्न भी निरर्थक ही है। आत्मवस्तु के शुद्ध रूप के बारे में उक्त निर्णय औपनिषद प्रक्रियानुसारी विचार से ही संभव है अतः कहा 'इति निर्णय एवं भवेत्' अन्य ढंगों से यह सही उत्तर नहीं मिलेगा। 'कोऽयमात्मा?' इस प्रश्न का यहाँ तक विचार हुआ।।६६।।

श्लोक ७२ में जो 'कतरः स आत्मा' प्रश्न उठाया था उसका अब उत्तर देते हुए महावाक्य का अवतरण करेंगे। त्वंपदार्थ हमें अपरोक्ष होने से उसके बारे में शास्त्र जो कहता है उसे समझने में श्रम अधिक होता है क्योंकि अपने अनुभव से अविरोध

तत्पदार्थः

प्रज्ञानं स्वशरीरेऽस्ति तथा देहान्तरेष्वपि।
ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु तस्य स्यात् परमात्मता।।६७।।
प्रज्ञानस्याऽस्य जीवत्वं प्राणधारणतो यथा।
जगत्सृष्ट्यादिहेतुत्वाद् ब्रह्मत्वं च तथेष्यताम्।।६८।।

स्थापित करना पड़ता है। तत्पदार्थ मुख्यतः शास्त्रैकवेद्य होने से उसके शोधन में श्रम भी कम होता है। ऐतरेयोपनिषत् में संज्ञानादि सबको 'ये प्रज्ञान के ही नाम हैं' यह कहकर फिर उस प्रज्ञानरूप आत्मा को ही ब्रह्मा, इन्द्रादि देव, पाँचों महाभूत, सब तरह के प्राणी तथा सारे स्थावरों का स्वरूप बताया। क्योंकि परिच्छिन्न एक उपाधि के बजाय सारी उपाधियों की समष्टि को यहाँ उपस्थित किया इसलिये यह तत्पदार्थ का प्रसंग बन गया है। इसी दृष्टि से समझाते हैं **जैसे हमारे अपने शरीर में प्रज्ञान है वैसे ब्रह्मा से स्थावर-पर्यन्त अन्य शरीरों में भी प्रज्ञान ही है अतः उसकी परमात्मरूपता निश्चित है।।६७।। प्राणों को धारण करने के निमित्त से जैसे प्रज्ञान की जीवरूपता है वैसे जगत् की सृष्टि आदि करने के निमित्त से उसकी ईश्वररूपता समझनी चाहिये।।६८।।** घड़ा ही घटाकाश-महाकाश का भेद एक अखंड आकाश में उपस्थित कर देता है। इसी तरह अखण्ड प्रज्ञान में जीव-ईश्वर का भेद उसी उपाधि को लेकर है जिसे हम अपना परिच्छेदक समझते हैं। हमारी अध्यात्म-उपाधि से सीमति हुआ वही जीव है और उस उपाधि से बहिर्भूत वही ईश्वर है। तत्तद् उपाधियों को पृथक्-पृथक् समझने पर अनंत जीव हैं किंतु 'अध्यात्म से बहिर्भूत' इस रूप में सबको मिलाने पर अनध्यात्म जो कुछ है सब ईश्वर ही है। आचार्य शंकरानंद जी ने आत्मपुराण में समझाया है कि एक घड़े के आधार पर सारे जगत् को विभाजित किया जा सकता है! जगत् में दो ही हिस्से हैंएक यह घड़ा और दूसरा जो यह घड़ा नहीं है! 'घटाऽघटम् इदं जगत्'। इसी तरह साधक अपनी अध्यात्मोपाधि से विभाजन करे तो एक वह जीव है और जो वह जीव नहीं है वह ईश्वर है। शास्त्रीय शब्दों में, व्यष्टि जीव है और समष्टि ईश्वर है। इस तरह से ईश्वर न समझ आये तो दूसरा तरीका हैप्रज्ञान को जीव बनाने वाली क्या चीज़ है? प्राणों को धारण करता है इसीसे प्रज्ञान जीव कहलाता है।।६७-६८।।

इसी प्रकार प्रपंच के सृष्टि-स्थिति-संहार करता है इसलिये प्रज्ञान ईश्वर कहलाता है। इस बात को उपनिषत् ने 'सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं, प्रज्ञानेत्रो लोकः,

स्थावरं जङ्गमं सर्वं जगद् इत्यभिधीयते।
तस्य प्रज्ञैव नेत्रं स्यात् सृष्ट्यादिनयनाद् असौ।।९९।।
प्रज्ञानं शुद्धचिद्रूपम् आसीद् यत् सृष्टितः पुरा।
तस्मिन् प्रतिष्ठितं सर्वं माययोत्पादितत्वतः।।१००।।

प्रज्ञा प्रतिष्ठा' के द्वारा कहा है। ईश्वर के इस रूपको उपनिषत् के प्रारंभ में समझा ही चुके हैं, प्रायशः इसी तरह ईश्वर का वर्णन सर्वत्र किया जाता है। यह रूप प्रज्ञान में कैसे है यह बताते हैं(**'सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्' इस वाक्य में) 'सर्वम्' इस शब्द से चराचर जगत् का उल्लेख है। उस सारे जगत् का 'नेत्र' प्रज्ञा ही है क्योंकि उसे उत्पत्ति आदि तक पहुँचाता है।।९९।।** पहुँचाने वाले को नेत्र कहते हैं। आँखें भी मार्ग दिखाकर गंतव्य तक पहुँचाती हैं अतः नेत्र हैं। जगत् उत्पत्तिदशा में पहुँचता है, उसे वहाँ पहुँचाता कौन है? प्रज्ञान ही। ऐसे ही स्थितिदशा व लयदशा में प्रज्ञान ही उसे पहुँचाता है अतः जगत् प्रज्ञा द्वारा पहुँचाया जाने वाला होने से प्रज्ञानेत्र है। स्वयं जगत् जड है अतः चेतन ही इसे उन अतिविशिष्ट स्थितियों पर पहुँचा सकता है जहाँ जगत् के जन्म-स्थिति-नाश संभव हैं। न जगत् की उत्पत्ति कोई आकस्मिक अव्यवस्थित घटना है, न इसकी स्थिति जडोचित अव्यवस्था वाली है और न बिना तरतीब से यह लीन होता है। सृष्टिप्रक्रिया, कर्मफलप्रक्रिया, लयप्रक्रिया आदि बताकर शास्त्र ने यह स्पष्ट किया है कि जगत् प्रज्ञानेत्र है।।९९।।

'प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्' को बताते हैं **सृष्टि से पहले जो सजातीयादि भेदों से रहित चिद्रूप प्रज्ञान था उसी में सारा जगत् प्रतिष्ठित है क्योंकि माया द्वारा उत्पादित है।।१००।।** सृष्टि से पूर्व अद्वैत आत्मा ही था, वही प्रज्ञान है। जिसके सृष्टि आदि होते हैं वह सारा जगत् माया का ही फैलाव होने से सत्य अधिष्ठान पर ही कल्पित हो सकता है। अतः उस प्रज्ञान पर ही अध्यस्त है। जगत् प्रज्ञान का अध्यस्त- अधिष्ठानभाव प्रकट करने के लिये अत एव प्रज्ञान की सदा शुद्धि स्पष्ट करने के लिये बताया कि जगत् की उत्पत्ति माया से है। ग्रंथकार का शब्दविन्यास कहता हैक्योंकि सर्व में अर्थात् जगत् में मायाहेतुक उत्पादितता है इसलिये यह प्रज्ञान में स्थित है। तात्पर्य है कि जगत् उत्पन्न होता है तो इसका कोई हेतु अवश्य है जिससे यह उत्पादित होगा और उस उत्पादितता को संभव करती है माया। उत्पादितता मायिक होने से उत्पादकता मायिक है यह पता चल जाता है। अतः शुद्ध चिन्मात्र में किसी विकार के बिना ही जगत् उसमें अध्यस्त

उत्पत्तिस्थितिकालेऽसौ लोकः प्रज्ञाननेत्रकः।
नेत्रत्वं व्यवहारस्य सुखादेर्नयनाद् भवेत्।।१०१।
लये प्रज्ञा प्रतिष्ठा स्यात् तत्र सर्वस्य संहृतेः।
सृष्टिस्थितिलया इत्थं श्रुताः प्रज्ञानहेतुकाः।।१०२।।

है। प्रज्ञान में प्रतिष्ठा पाने से जगत् प्रज्ञान की उपाधि बनकर उसके ज्ञानका भी साधन बन जाता है यह जगत् का लाभ भी है।।१००।।

श्रुतिकथित 'प्रज्ञानेत्रो लोकः' समझाते हैं

उत्पत्तिकाल व स्थितिकाल में यह लोक प्रज्ञानरूप नेत्र वाला है। सुखादि के व्यवहार का संपादन करने से प्रज्ञानमें नेत्ररूपता है।।१०१।। 'लोक' से सारे प्राणी (जीव) समझने चाहिये क्योंकि उन्हें ही सुखादि होता है, जिसे करने से प्रज्ञान को यहाँ नेत्र कहा। अथवा लोक से जड-चेतन सारा संसार समझ सकते हैं तथा हर वस्तु की प्रवृत्ति भी प्रज्ञानाधीन है यह प्रज्ञानेत्र का मतलब है। पूर्व श्लोक में प्रतिष्ठा कहकर बताया था कि प्रज्ञान ही जगत् को सत्ता प्रदान करता है और यहाँ कह रहे हैं कि स्फूर्ति (प्रकाश, ज्ञान) भी वही प्रदान करता है। प्रज्ञान ही सारे संसार का प्रवर्तक है, इसे चलाता है। व्यवहार का नयन अर्थात् कर्म कराना और सुखादिका नयन अर्थात् फल दिलानाइन्हीं दो से संसार-संचालन प्रज्ञान कर लेता है। इस दृष्टि से 'सुखादिका संपादन और व्यवहार का संपादन' ऐसा अनुवाद समझना चायिहे। कौषीतक्युपनिषत् में भी बताया है 'एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष उ एवैनम् असाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' अर्थात् अच्छे-बुरे कर्म भी प्रज्ञा के बल से ही होते हैं और उच्च-नीच लोकों की अर्थात् फलों की प्राप्ति भी प्रज्ञा के बल से ही होती है। वहाँ भी आत्मवस्तु के लिये 'प्रज्ञा' नाम का प्रयोग है। उस प्रज्ञा को ही वहाँ 'लोकपाल' कहा है। वही लोकपालता यहाँ नेत्र-शब्द से समझनी चाहिये। पूर्वश्लोक में कहे 'मायया' का यहाँ भी संबंध है ही, यह लोकपालन, व्यवहार-संपादन होता माया से ही है अतः इससे प्रज्ञान में कोई विकार नहीं आता।।१०१।।

'प्रज्ञा प्रतिष्ठा' की प्रलय-संदर्भ में व्याख्या करते हैं **लयमें सबका संहार प्रज्ञामें होने से वह प्रतिष्ठा है। इस प्रकार श्रुति से समझ आया कि प्रज्ञान ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय का हेतु है।।१०२।।** कारण में ही लय होने से प्रतिष्ठा-शब्द का ही यहाँ भी प्रयोग किया। जगत् नष्ट होने के बाद जो बचता है उसीको जगत् की लयभूमि कह सकते हैं। जगल्लय के बाद अखण्ड प्रज्ञान ही बचता है जो जगदुत्पत्तिसे

स्वप्नसृष्टिस्थितिलया जीवचैतन्यसाक्षिकाः।
निर्जीवस्तम्भकुड्यादौ स्वप्नसृष्ट्यादयो न हि।।१०३।।
जगत्सृष्टिस्थितिलया ब्रह्मचैतन्यसाक्षिकाः।
ब्रह्मचैतन्यरहिते वन्ध्यापुत्रे न सन्ति ते।।१०४।।

पूर्व था अतः वही इसकी प्रतिष्ठा है। नित्य प्रलय अर्थात् सुषुप्ति में हमें यह प्रत्यक्ष है : जब हम सुषुप्ति में जाते हैं तब यह सारा जगत् कहाँ लीन होता है? हम में ही लीन होता है अत एव हमारे जागने पर पुनः प्रकट हो जाता है। बाह्य पदार्थों का सुषुप्ति में लय समझना कठिन लगे तो भी अपनी देखने-सुनने-चलने-सोचने आदि की शक्तियों का उस अवस्था में विलय स्पष्ट ही है और जागने पर उनका पुनरुद्भव भी आनुभविक है। सुषुप्ति में एक हम ही रहते हैं, ये शक्तियाँ आदि नहीं रहतीं अतः ये हममें ही विलीन हैं। इसी तरह महाप्रलय में सभी कार्य प्रज्ञानमें ही विलीन होते हैं। प्रज्ञान का विलय संभव नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी नहीं होती है। जो न हो उसीका जन्म होता है, जो न रहे उसीको लीन् कहते हैं; प्रज्ञान को कभी भी 'नहीं है' या 'नहीं रहा' कह नहीं सकते क्योंकि इसमें कोई प्रमाण होगा नहीं, प्रमाण तो स्वयं प्रज्ञानरूप है। अतः अनादि अनंत प्रज्ञान ही कारणों की सीमा है, इसका आगे कोई कारण नहीं हो सकता। अतः प्रज्ञान को प्रतिष्ठा कहना सुसंगत है। तैत्तिरीय उपनिषत् में ब्रह्म की परिभाषा की है कि इन भूतों के सृष्टि-स्थिति-संहार जिससे होते हैं अर्थात् जो इन सबका अभिन्न निमित्त उपादान कारण है वही ब्रह्म है। यह परिभाषा प्रज्ञान को ब्रह्म सिद्ध कर देती है यह यहाँ समझाया।।१०२।।

सुषुप्ति के सहारे सिद्ध बात को स्वप्न के सहारे भी सिद्ध करते हैं **स्वप्नमें होने वाली चीज़ों के सृष्टि-स्थिति-लयका साक्षी जीवरूप चैतन्य होता है क्योंकि निर्जीव खंभे-दीवाल आदि में स्वप्न के सृष्टि आदि नहीं होते।।१०३।। जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय का साक्षी ब्रह्मरूप चैतन्य है क्योंकि जहाँ ब्रह्मचैतन्य नहीं उस वन्ध्या-पुत्र आदि में जगत् के सृष्टि आदि नहीं होते!।।१०४।।** सद्रूप होने से सनातन प्रज्ञान ही जगज्जन्मादिहेतु है यह पूर्व में बताया। यहाँ बता रहे हैं कि चिद्रूप होने से भी वही जगज्जन्मादिहेतु है। स्वप्न भी इसीलिये सिद्ध होता है कि जीवको उसका अनुभव होता है। किसी को अनुभव न हो तो स्वप्न को कौन मानेगा! स्वप्न हुआ, रहा, समाप्त हुआतीनों में प्रमाण वही है जिसने तीनों का अनुभव किया अतः जीव ही इस बात में साक्षी है कि सपने पैदा होते हैं, रहते हैं व समाप्त होते हैं।

जगत्सृष्ट्याद्यधिष्ठानं शुद्धचैतन्यमद्वयम्।
परमात्मस्वरूपं स्याद् इति तस्याऽत्र निर्णयः।।१०५।।

स्वप्न-निर्माता, उसका संरक्षक और उसका लय-स्थान जीव ही सिद्ध होता है। यदि बाह्य चीज़ों की तरह स्वप्न भी ईश्वर-सृष्टि होते तो जहाँ जीव नहीं उन ईंट-पत्थरों को भी सपने आते! ऐसा होता नहीं, अतः मानना पड़ता है कि स्वप्न जीवसृष्टि है। स्वप्नानुभव से पता चलता है कि सृष्टि-स्थिति-संहार का साक्षी ही उनका हेतु होता है। इसी स्वानुभवसिद्ध नीति से जगत्कारण ब्रह्म सिद्ध हो जाता है क्योंकि जगत् के सृष्टि आदि का वही साक्षी है। यद्यपि ब्रह्मचैतन्य के राहित्य का प्रसंग ही नहीं उठता तथापि इसी बात को स्पष्ट करने के लिये कहा कि जो ब्रह्म नहीं वह असत् वंध्यापुत्र जगत् के सृष्टि आदि का साक्षी भी नहीं बनता! ऐसा नहीं कि वंध्यापुत्र है पर सृष्टि आदि का साक्षी न होता हो वरन् वह है ही नहीं। स्वप्न-साक्षी जीव चैतन्य स्वतः सिद्ध है, इसी प्रकार, ब्रह्मचैतन्य स्वतः सिद्ध है। प्रश्न होगा कि यदि ब्रह्म स्वतः सिद्ध है तो उसके अस्तित्व में विवाद क्यों?? उत्तर है कि विवाद तो बौद्ध, चार्वाक आदि जीव के भी बारे में करते हैं! विवादास्पदता स्वतःसिद्धि का विरोधी नहीं। इस प्रकार ईश्वररूप तत्पदार्थ बताया।।१०३-४।।

महावाक्य द्वारा जीव-ईश्वर की एकता बतानी है अतः जीवका जो स्वरूप और ईश्वरका जो स्वरूप अभिन्न हो सकता है उसे समझा रहे हैं। श्लोक ९६ में स्पष्ट किया था कि साक्षी ही जीवका वास्तविक रूप है अर्थात् त्वम्पदका शोधित अर्थ है, महावाक्यगत जीवबोधक शब्द साक्षी के तात्पर्य से है, प्रमाता के तात्पर्य से नहीं। इसी तरह ईश्वर का कौन-सा स्वरूप विवक्षित है जिसे जीव से अभिन्न कह रहे हैं यह भी बताना ज़रूरी अर्थात् तत्पद का शोधितार्थ भी बताना पड़ेगा। प्रतिष्ठा, नेत्र आदि रूप से कहे ईश्वरका वह स्वरूप अब कहते हैं **इस विचारमें ईश्वरके वास्तविक स्वरूप के बारे में निर्णय यह है कि जगत् के सृष्टि आदि का अधिष्ठान अद्वय शुद्ध चैतन्य ही परमात्मा का स्वरूप है।।१०५।।** श्लोक ७२ में उठाये सवाल पर श्लोक ९७ से विचार प्रारंभ कर यहाँ निष्कर्ष दे दिया। जैसे साक्षी का ही औपाधिक रूप प्रमाता है वैसे शुद्ध चैतन्य का औपाधिक रूप सविशेष ईश्वर है। प्रमाता और सविशेष ईश्वर का अभेद नहीं है जैसे घटाकाश मठाकाश का अभेद नहीं होता किंतु जैसे आकाशमात्र अभिन्न है वैसे साक्षी व शुद्ध चैतन्य अभिन्न है। यही महावाक्य से प्रकट करना वेदांत का अपूर्व उपदेश है। यद्यपि श्लोक १०० आदि में 'मायया' के द्वारा यह

प्रज्ञानं ब्रह्म

यत् प्रज्ञानं स्वात्मरूपं तद् ब्रह्मेति विबुद्ध्यताम्।
प्रज्ञानं ब्रह्म विज्ञाय तिष्ठेत् प्रज्ञात्मना सदा।।१०६।।
जीवन्नेव स्थितप्रज्ञो मुक्तः स्याद् वामदेववत्।
म्रियतां यत्र तत्राऽस्य वपुः सोऽयं न जायते।।१०७।।

ध्वनित था ही कि वस्तु शुद्ध ही है तथापि जब तक अपनी माया शक्ति से प्रतिष्ठा, नेत्र आदि बनता है तब तक सविशेष है, जब यह माया ही निवृत्त हो जाती है तब शुद्ध है। 'जब-तब' काल की दृष्टि से नहीं, अवस्था की दृष्टि से समझने चाहिये अर्थात् व्यवहारावस्था में सविशेष है, परमार्थावस्था में निर्विशेष है। ईश्वर का वास्तविक अर्थात् उपाधिरहित, मायारहित रूप अद्वय शुद्ध चित् ही है। 'ईश्वर का'इतना बताने के लिये उसे अधिष्ठान कहा। अधिष्ठानता कोई वास्तविक धर्म नहीं है। जैसे 'जीव का'इसे बताने के लिये साक्षी कह देते हैं जबकि साक्षित्व वास्तविक नहीं वरन् साक्ष्यापेक्ष है, वैसे अध्यस्तापेक्ष अधिष्ठानता भी वास्तविक न होने पर भी तत्पद के शोधित अर्थ के रूप में उपस्थित करने के लिये उसे अधिष्ठान कहना पड़ता है। शुद्ध अर्थात् मायारहित है, अद्वय अर्थात् मायाकार्य से रहित है; अथवा माया का अभाव भी कोई धर्म बनकर उसमें नहीं यह कहने के लिये अद्वय-शब्द का प्रयोग है। चैतन्य अर्थात् प्रज्ञान ही परमात्मा का स्वरूप है।।१०५।।

ऐतरेय उपनिषत् का महावाक्य है 'प्रज्ञानं ब्रह्म', इसे समझाते हैं **निजका वास्तविक स्वरूप जो प्रज्ञान है वह ब्रह्म है यह भली-भाँति समझा जाये। प्रज्ञान ब्रह्म है इसका अनुभव करके सदा प्रज्ञात्मा रूपसे रहे।।१०६।। जो यों रहता है वह स्थितप्रज्ञ जीवन व्यतीत करते हुए भी वैसे ही मुक्त है जैसे पूर्वदर्शित ऋषि वामदेव। उसका शरीर जहाँ-कहीं मरे, वह मुक्त तो पैदा होता नहीं।।१०७।।** महावाक्य में प्रज्ञान-शब्द जीव को और ब्रह्मशब्द ईश्वर को कहते हैं, दोनों शब्द जब वाक्यविधया परस्पर मिलते हैं तब जीव-ईश्वर का अभेद वाक्यार्थ हो जाता है। प्रथमतः शक्यार्थ सामने आने पर लगता है कि अभेद होना नहीं चाहिये किन्तु शास्त्र-तात्पर्य समझने पर लक्ष्यार्थ का अभेद सुसंगत हो जाता है। वाक्यवृत्ति, महावाक्यविवेक आदि प्रकरणों में यह विषय सुस्पष्ट है। जिस प्रकार एक बूंद पानी की परीक्षा कर लेने से संसार के सारे पानी का पता चल जाता है क्योंकि पानी की वास्तविकता सर्वत्र वही है, इसी तरह अहंकारात्मिका

वृत्ति के द्वारा जिस प्रज्ञान को समझते हैं, सारे ब्रह्माण्ड का अधिष्ठान भी वही प्रज्ञान पता चलता है। वास्तविकता तो प्रज्ञान ही है, अहंकाररूप छोटी उपाधि से वह जीव लगता है, मायारूप बड़ी उपाधि से ईश्वर लगता है। जीव-ईश्वर दोनों ही औपाधिक अतः मिथ्या रूप हैं, सत्य एक अद्वैत प्रज्ञान ही है। यह वास्तविकता तो है पर मोक्ष तभी होगा जब इसे भलीभाँति अर्थात् संशय-विपर्यय मिटा कर समझा जाये। उपदेश से यह बात पता चल जाये तो भी संशय-विपर्यय रहते वह पता चलना निस्तेज होता है, अविद्या नहीं मिटाता। संशयादि मिट जाने पर वही ज्ञान कारगर हो जाता है जैसा वामदेव के प्रसंग में देख चुके हैं। संक्षेपशारीरक में भर्छु के दृष्टांत से यही बताया है : राजा को कुछ लोगों ने दृढ संस्कार डाल दिया कि भर्छु नामक उसका मंत्री मरकर भूत बन गया है! अतः भर्छु को संमुख देखने पर भी राजा उसे भूत ही समझता रहा, जीता-जागता मनुष्य नहीं समझ पाया। जब सूचकों की बदमाशी पता चली तब तुरंत उसे जीवित भर्छु समझ गया। इसी प्रकार संशयादि रहते तत्त्वबोध अविद्या नहीं मिटाता, विचारपूर्वक संशयादि हट जाने पर मिटा देता है। अत एव मूलकार ने 'विबुध्यताम्' यों 'वि' जोड़कर कहा। 'वि' अर्थात् विशेषतः, संशय-विपर्यय निवृत्त करना ही यहाँ विशेषता है। जब संशयादि मिट जाते हैं तब प्रज्ञान ही ब्रह्म है यह अनुभव हो जाता है। इस अनुभव के लिये कोई साधनान्तर नहीं चाहिये, मनन-निदिध्यासन सहकृत श्रवण ही अधिकारी को यह अनुभव प्रदान करता है। श्रवण अर्थात् शास्त्र से होने वाला ज्ञान अपरोक्ष कैसे करायेगा?यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि जब वस्तु ही अपरोक्ष है तब उसका प्रमाज्ञान अपरोक्ष ही होगा तथा 'तू दसवाँ है' आदि स्थलों में शब्द से अपरोक्ष ज्ञान लोकसिद्ध है। ब्रह्मानुभव हो जाने पर क्षणमात्र के लिये भी अपनी प्रज्ञारूपता ओझल नहीं होती। अतः 'प्रज्ञात्मारूप से रहे' का अर्थ है कि उसी रूप से वह रहता है। फिर भी 'रहे' कहने का आशय है कि साधकावस्था में सायास उस स्थिति में रहे। तत्त्वज्ञ तो स्वभाव से रहता है, मुमुक्षु प्रयास से प्रज्ञात्मस्थिति में रहे। गीता के स्थितप्रज्ञ-प्रकरण में भाष्यकार ने यही बताया है कि अध्यात्मशास्त्र में कृतार्थ के लक्षण बताये ही इसलिये जाते हैं कि वे साधन हैं जिन्हें यत्नपूर्वक करने से साधक को सिद्धि प्राप्त होती है। यह अनुभव हो गया तो स्थितप्रज्ञ के गीतोक्त लक्षण, गुणातीत के लक्षण स्वतः प्रकट होते हैं। प्रारब्धानुसार जीवन व्यतीत होने पर भी उसकी मुक्त दशा ही रहती है। उसकी जीवनलीला चाहे शुभाशुभ कालों में, अंग-बंगादि में पूरी हो या काशी में, उसे

उपसंहारः

ऐतरेयब्रह्मविद्यां व्याख्यातां सङ्ग्रहादिमाम्।
सुस्थिरामनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१०८।।

श्रीविद्यारण्यमुनिकृतेऽनुभूतिप्रकाशे (चतुर्वेदविद्याप्रकाशे)
ऐतरेयोपनिषद्विवरणं नाम प्रथमोध्यायः

कोई अंतर नहीं पड़ता, वह मुक्त ही रहा, मुक्त ही रहता है; उसका न पहले कभी जन्म हुआ था, न आगे होता है।।१०६-७।।

प्रथमाध्याय और ऐतरेयोपनिषद्व्याख्या समाप्त करते हुए गुरु से प्रार्थना करते हैं **महेश्वररूप गुरुवर श्रीविद्यातीर्थ ऐसा अनुग्रह करें कि संक्षेप में जिसकी व्याख्या की वह ऐतरेयशाखीय ब्रह्मविद्या सुस्थिर रहे।।१०८।।** ग्रंथकार में, अध्येताओं में तथा परंपरा में यह तत्त्वबोध बना रहे यह प्रार्थना है। इसी तरह हर अध्याय गुरुप्रार्थना से समाप्त होगा। प्रथम अध्याय में ऋग्वेद की ऐतरेयोपनिषत् का व्याख्यान हुआ।।१०८।।

।। प्रथम अध्याय।।

ॐ

तैत्तिरीयविद्याप्रकाशः

द्वितीयोऽध्यायः

प्रतिज्ञा

ब्रह्मवल्ल्यां ब्रह्मविद्यां तित्तिरिः प्राह यामिमाम्।
वक्ष्ये सुखावबोधाय क्रीडन्त्वत्र मुमुक्षवः।।१।।

तैत्तिरीयोपनिषद्-विवरण : दूसरा अध्याय

ऋग्वेद की उपनिषत् समझाने के बाद यजुर्वेद की उपनिषत् का व्याख्यान कर रहे हैं। यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण ये दो विभाग हैं जिनमें कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा की उपनिषत् का प्रधान विषय स्पष्ट किया जायेगा। इस उपनिषत् पर ही आचार्य श्रीशंकर ने सर्वप्रथम भाष्यरचना की थी ऐसी भी एक परम्परा है; श्री सुरेश्वराचार्य ने इस पर वार्तिक रचना की, इससे भी इसका महत्त्व द्योतित होता है। तैत्तिरीय-नाम के पीछे एक पौराणिक कथा है जिसके अनुसार जब याज्ञवल्क्य ने पिप्पलाद से अधीत वेद का वमन कर दिया था तब पिप्पलाद के शिष्यों ने तीतर बनकर उसे चुग लिया था अतः शाखा का नाम ही तैत्तिरीय पड़ गया। तैत्तिरीय उपनिषत् तीन भागों में है : पहली है 'सांहिती उपनिषत्' जिसे शीक्षावल्ली कहते हैं। इसमें संहितोपासनादि उपासनाओं का विधान है जिनके अनुष्ठान से ब्रह्मविद्या ग्रहण करने लायक एकाग्रता सुलभ होती है। दूसरे व तीसरे प्रपाठकों में ब्रह्मविद्या ही प्रधान है; इस विद्या के सम्प्रदायाचार्य वरुण होने से यह 'वारुणी उपनिषत्' है जिसमें 'ब्रह्मवल्ली' और 'भृगु वल्ली' दोनों आती हैं। चौथे प्रपाठक में यज्ञ-संबंधी भी बातें होने से उसे 'याज्ञिकी उपनिषत्' कहते हैं, उसीका प्रसिद्ध नाम 'महानारायणोपनिषत्' है। प्रकृत ग्रन्थ में ब्रह्मवल्ली के विषयका ही स्पष्टीकरण है क्योंकि है भी वही प्रधान। प्रारंभ में शीक्षावल्ली का एवं समाप्ति में भृगुवल्ली और महानारायण का संकेतमात्र से संग्रह किया गया है।

अध्याय-प्रतिपाद्य विषय का परिचय देते हैं **तित्तिरि ऋषि ने जो परमात्मज्ञान ब्रह्मवल्ली में ऊहापोहपूर्वक समझाया है उसे इस अध्याय में इस ढंग से बतायेंगे कि मोक्षेच्छुक अधिकारी सरलता से, मानो खेल-खेल में उसे समझ लें।।१।।** तैत्तिरीयशाखा के प्रवर्तक ऋषि तित्तिरि थे। उनके नाम का उपपादन पूर्वोक्त कथा से होता है। संहिता-ब्राह्मण भागों में कर्म-उपासना बताकर उपनिषद् भाग में उन्होंने परमात्मस्वरूप का प्रतिपादन किया है। सभी शाखाओं में अद्वैत तत्त्व का समान उपदेश है, इस विषय में शाखाओं का कोई मतभेद नहीं; सिद्ध सत्य वस्तु के बारे में प्रमाणों का मतभेद हो सकता भी नहीं। फिर क्यों सभी उपनिषदें पढ़नी चाहिये? आचार्य शंकर ने समझाया है 'महच्च प्रामाण्यकारणम् एतद् यद् वेदान्तवाक्यानां चेतनकारणत्वे समानगतित्वम्' (सूत्रभा० १.१.१०)। यद्यपि एक प्रमाण भी अर्थबोध करा देता है तथापि यदि अनेक प्रमाण उसे उसी तरह का बतायें तो वस्तु के बारे में निश्चय दृढ होता है और यदि प्रमाणान्तर उसे अन्य प्रकार का बतायें तो संदेह बना रहता है। 'कुछ सफेद चल रहा है' यह आँखों से दीखे, हिनहिनाने की व टापों की आवाज भी आये तब 'घोड़ा दौड़ रहा है' यह निश्चय हो जाता है किंतु धड़धड़ाने की आवाज आये तो 'गाड़ी चल रही है' यह निश्चय होता है; इसी प्रकार दीखे लड्डू, छूने पर भी पता लगे कि लड्डू है, स्वाद भी लड्डू का आये तब निश्चय होता है कि लड्डू है और छूने पर या खाने पर लड्डू न मालूम पड़े तो दीखने पर भी वह लड्डू है यह निश्चय नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा के अभेद को जब सब उपनिषदें बताती हैं तब निश्चय हो जाता है और यदि एक-दो अभेद कहें व अन्य उपनिषदें भेद कहें तो निश्चय होता नहीं, संदेह ही हो जाता है। इसलिये सभी उपनिषदों का अध्ययन करना जरूरी है क्योंकि इस विषय में अन्य तो कोई प्रमाण है नहीं। यदि श्रद्धालु को एक उपनिषत् से निश्चय हो जाये तब तो आवश्यक नहीं कि वह और अध्ययन करे लेकिन जब तक लगे कि 'क्या कोई उपनिषत् इस बारे में और कुछ भी कहती है?' तब तक सभी उपनिषदों का श्रवण करना ही चाहिये। किं च गुणोपसंहारपाद में (३.३ ब्र.सू) आनन्दाद्यधिकरण (६) द्वारा आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म के बारे में सभी आवश्यक बातें समझे बिना उसके बारे में अज्ञान नहीं मिट सकता और ब्रह्म के बारे में कुछ किसी उपनिषत् में व कुछ किसी और में समझाया है इसलिये सभी का श्रवण अनिवार्य हो जाता है।

तित्तिरि महर्षि ने उपनिषत् अर्थात् ब्रह्मविद्या का साङ्गोपाङ्ग उपदेश दिया है अतः

सम्बन्धः

दर्शादि-पितृमेधान्तैः कर्मभिर्बहुजन्मसु।
अनुष्ठितैर्विविदिषा जायतेऽन्तिमजन्मनि।।२।।

पर्याप्त विस्तार हो गया है जिससे साधारण जिज्ञासु उनके वक्तव्य का प्रतिपाद्य तत्त्व समझने में कठिनाई अनुभव करता है, उस कठिनाई को दूर करना इस अध्याय का कार्य है। पूर्व-उत्तर वल्लियों के विस्तार को छोड़कर ब्रह्मबोधन मात्र में तत्पर आनन्दवल्ली-नामक ब्रह्मवल्ली के वक्तव्य को ही सरलतम शैली में प्रकट करेंगे। 'क्रीडन्तु' अर्थात् 'खेलें'; तात्पर्य है कि बोझा मानकर न पढ़ें, रस लेते हुए श्रवण करें। अथवा, आराम से बोध हो जाने पर 'अत्र' अर्थात् ब्रह्मविद्या में ही क्रीडा करें, आत्मक्रीड हों यह भाव है।।१।।

व्याख्येय वल्ली वेद का एक भाग है अतः इससे पूर्व में आये वेदभाग में जो कहा गया है उसके सन्दर्भ में ही इसे सही समझा जा सकता है। इसीलिये आचार्य पूर्वकाण्ड से ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध अवश्य बताते हैं। इसी दृष्टिसे भूमिका रचते हैं **दर्श से लेकर पितृमेध तक जितने कर्म विहित हैं उनमें अनेकों का अनुष्ठान बहुत से जन्मों में कर चुकने पर चरम जन्म में आत्मतत्त्व की वास्तविकता समझने की गम्भीर अभिलाषा होती है।।२।।** वैदिक कर्मों का प्रतिपादन यजुर्वेद में दर्श-पौर्णमास के प्रकरण से प्रारंभ होकर पितृमेध के प्रकरण में समाप्त होता है अतः यहाँ कर्मों को 'दर्श से पितृमेध तक' कहा, अभिप्राय सभी कर्मों से है। विविदिषा अर्थात् जानने की इच्छा; आत्मविषयक विविदषा के लिये अपेक्षित मनोदशा प्राप्त करने का साधन वेदादि-विहित कर्तव्यों का पालन है। एक जन्म में कर्मानुष्ठान इतना हो जाये कि मन में विविदिषा पनपे यह लगभग असंभव है। अनेक जन्मों तक इस इच्छा से कर्म करें कि 'मुझे आत्मजिज्ञासा हो' तभी विविदिषा संभव है। समस्त कर्म करना किसी के लिये भी अशक्य है पर जितने अधिकाधिक हो सकें उतने कर लेना ही श्रेयस्कर है। जिस जन्म में विविदिषा हो जाये वही अन्तिम जन्म है किन्तु होनी चाहिये विविदिषा तीव्र, 'आत्मानुभव से अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं चाहिये, आत्मज्ञान पाये बिना मैं रह नहीं सकता' यह दृढता होनी चाहिये। जब तक ऐसी विविदिषा न हो तब तक इसके उद्देश्य से स्ववर्ण-आश्रम धर्मों का पालन करते रहना चाहिये।।२।।

यद्यपि विद्या में विविदिषु का अधिकार है तथा विविदिषा कर्मानुष्ठानके फलस्वरूप उत्पन्न हो भी जाती है तथापि आत्मबोध के लिये अपेक्षित एकाग्रता केवल कर्मों से

ततो योगं समभ्यस्य संहितोपासनादिभिः।
एकाग्रे साधितेऽथाऽस्य विद्यां सूत्रयति श्रुतिः।।३।।

नहीं मिल पाती बल्कि प्रवृत्ति की बहुलता से विक्षेप की ही वासना बढ़ती है। एकाग्रता के लिये उपासनाका, योगका अनुष्ठान चाहिये अतः कर्मविधान के बाद उपासना का विधान वेद में मिलता है। तैत्तिरीयोपनिषत् में उपासनाएँ इसी प्रयोजन से उपदिष्ट हैं यह बताते हैं **विविदिषालाभ हो जाने के बाद संहितोपासना आदि द्वारा चित्तवृत्ति के निरोध का भलीभाँति अभ्यास कर जिसने एकाग्रता हासिल कर ली उसके लिये वेद ब्रह्मज्ञान का सूत्र बताता है क्योंकि अधिकार-प्राप्तिके बाद पुरुषार्थ-प्राप्ति का साधन ब्रह्मज्ञान ही है।।३।।** शीक्षावल्ली में बारह अनुवाक हैं। विरक्त को भी विद्या में अरुचि कराने वाले विघ्नों, अन्तरायों के निवारणार्थ शान्ति मंत्र का प्रथम अनुवाक में विधान कर दूसरे में उच्चारण की सावधानी के प्रति जागरूक रहने का उपदेश दिया है। ऐहिक-आमुष्मिक फलसिद्धि के लिये तीसरे में संहितोपासना बतायी : संहिता अर्थात् सन्धि, अक्षरों का पर-संनिकर्ष या अत्यंत सामीप्य। वेदादि में जहाँ-कहीं सन्धि मिले वहाँ उसे चार हिस्सों में बाँटेंपूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि और संधानतथा उनमें पाँच स्तरों पर चिन्तन करते हुए हर स्तर पर चार वस्तुओं का आरोप करें तो यह संहितोपासना का अनुष्ठान है। उक्त चार विभागों में संधि का मतलब है दो वर्णों के बीच का स्थान तथा संधान का मतलब है जुड़ने से हुआ परिवर्तन। पाँच स्तर हैं अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म। इनमें प्रत्येक के चार पदार्थ हैं जिनका उक्त चार विभागों पर आरोप कर्तव्य है

आलम्बन अधिकरण	पूर्वरूप	उत्तररूप	सन्धि	सन्धान
१ अधिलोक	पृथ्वी	द्युलोक	आकाश	वायु
२ अधिज्यौतिष	अग्नि	आदित्य	जल	वैद्युत
३ अधिविद्य	आचार्य	अन्तेवासी	विद्या	प्रवचन
४ अधिप्रज	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
५ अध्यात्म	अधरा हनु	उत्तरा हनु	वाक्	जिह्वा

इस ध्यानका नाम संहितोपासना है। चौथे अनुवाक में मेधालाभ के लिये जप-विधान कर ब्रह्म की अंगप्रधान उपासना पाँचवें में और अंगिप्रधान उपासना छठे

अनुवाक में बतायी है तथा सातवें में स्थूल ब्रह्मोपासना का विधान कर आठवें में प्रणवाभिधेय शुद्ध ब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन है। इस प्रकार पाँचवें से आठवें अनुवाक तक ब्रह्म की विविध उपासनाएँ हैं। नौवें में स्पष्ट किया कि उपासक के लिये कर्मानुष्ठान अनिवार्य है, कर्म-उपासना का समुच्चय ही शास्त्रीय है। जो प्रज्ञामंदतावश ब्रह्मयज्ञ में शाखा-आवृत्ति में असमर्थ हैं उसके लिये कृपाकर 'अहं वृक्षस्य' इत्यादि एक मंत्र के जप को भी वेद ने पर्याप्त घोषित दसवें अनुवाक में किया है तथा ग्यारहवें में आचार आदि का अनुशासन देते हुए बारहवें में शांतिमंत्र से वल्ली का समापन किया है। क्योंकि यहाँ उपासनाओं का प्रारंभ संहितोपासना से हुआ इसलिये ग्रंथकार ने उसे नामतः ग्रहण किया, अभिप्राय सभी उपासनाओं से है। योग का मतलब है चित्त की वृत्तियों का निरोध। चित्त हमारे नियंत्रण में नहीं है, निरोध अर्थात् उसे अपने नियंत्रण में लाकर स्थूलोन्मुखता से रोककर सूक्ष्म में स्थापित करना तथा स्थापित हो जाने पर वह उस सूक्ष्म का आकार न छोड़े ऐसी उसमें सामर्थ्य लाना। इसके लिये दीर्घ अभ्यास आवश्यक है। उपासना में यही किया जाता है। इसी से वह एकाग्रता आती है जिससे श्रवण-मनन संभव होता है। अध्यात्म-साधक की उपासना का फल एकाग्रता है अतः उसे एक उपासना में ही तत्पर रहना चाहिये। हालाँकि अनेक उपासनाएँ भी साथ-साथ या क्रमशः की जा सकती हैं और विभिन्न फलों के लिये लोग करते हैं, फिर भी पूर्ण एकाग्रता चाहने वाला एक का ही अभ्यास करे यही उचित है। बिना एकाग्रता के लौकिक वार्ता समझना भी कठिन होता है तो उपनिषत्-श्रवण की कठिनाई का क्या कहना! और हमारी पूर्ण एकाग्रता बनी रहे इसके लिये श्रुति ने भी विषय इस तरह बिखेर रखा है कि कहाँ की बात को कहाँ जोड़ना है, पीछे क्या कह आये हैं आदिके बारे में थोड़ी भी असावधानी हो जाये तो ग़लत नतीजे पर पहुँच सकते हैं। चित्त-समाधान चाहे पूर्वकृत योगाभ्यास से हो या यहीं किये से, पर है जरूरी। इसलिये पूर्वकाण्ड में कर्मों को बताकर ब्रह्मविद्या का प्रसंग उठाने से पूर्व शीक्षावल्ली में श्रुति ने नाना उपासनाएँ उपस्थित की हैं ताकि इनके सहारे साधक समाहित हो सके। ऐसे अधिकारी को ही अद्वैतोपदेश फलीभूत होता है। यहाँ 'अथ' शब्द का प्रयोग संकेत देता है कि कर्म-उपासनाजन्य शुद्धि से शारीरक-प्रसिद्ध अथ-पदार्थ अर्थात् साधन-आनन्तर्य सम्पन्न हो जाता है। कर्म व उपासना का कृत्य पूरा हो चुकने से इनका त्याग अर्थसिद्ध है। किं च इनका प्रयोजन सिद्ध होने के बाद श्रुति कुछ बता रही है इससे यह भी निर्णीत होता है कि परमपुरुषार्थ में ये पर्याप्त नहीं और क्योंकि विद्या

सूत्रात् पूर्वं शान्तिमन्त्रो जपायाऽत्रोपवर्णितः।
जपेन विघ्ना द्वेषाद्याः शाम्यन्ति मनसि स्थिताः।।४।।

का उपदेश दे रही है इसलिये अब तक जो बताया वह अविद्या का क्षेत्र था अतः सारा बंधन अविद्यारूप एवं ज्ञान से ही मोक्ष है। 'अस्य' अर्थात् साधक की विद्या का सूत्रण इसलिये कि साधक के ही वास्तव स्वरूप का ज्ञान उसके मोक्ष का हेतु है। अत एव ब्रह्मशास्त्र का नाम शारीरक-मीमांसा है। वह शारीरक परीक्षा करने पर ब्रह्म निकलता है अतः वह ब्रह्मसूत्र कहलाता है। साधक की विद्या बताना प्रारंभ करते हुए ब्रह्म का लक्षण कहा इससे जीव-ब्रह्म की एकता स्पष्ट हो गयी। सूत्रकार ने तो इसे मन में रखकर सीधे ही ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर दी लेकिन भगवान् जगद्गुरु ने कृपाकर इस रहस्य को स्पष्ट करने के लिये अध्यासभाष्य द्वारा जीव को सामने रखा कि पता जीव के स्वरूप का करना है क्योंकि अनर्थ यही भोग रहा है, पुरुषार्थ इसे ही चाहिये। अथ वा 'अस्य' का अर्थ 'अस्मै' है, शुद्धमना एकाग्रचित्त साधक के कल्याणार्थ उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश श्रुति देगी। विद्या का सूत्रण इसलिये कि यहाँ पहले सूत्र बताकर फिर उसका विस्तार किया गया है। स्वयं भाष्यकार ने 'ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वाक्यं सूत्रभूतं सर्वस्य वल्ल्यर्थस्य' कहकर यह स्पष्ट किया है।।३।।

विद्याप्राप्ति में रुकावट आती ही है! न केवल स्वयं साधक के मनआदि वरन् सांसारिक लोग व परिस्थितियाँ और यहाँ तक कि देवता भी इसमें विघ्न अवश्य करते हैं। इसलिये पुनः पुनः परमेश्वर से प्रार्थना करने के लिये शास्त्र ने निर्देश दिया है क्योंकि एक उसे छोड़कर और कोई नहीं जो हमारा परम कल्याण चाहता हो। मुमुक्षु के लिये एक शिव ही शरण उपलब्ध है, बाकी सबको तो इसी में लाभ दीखता है कि जीव बद्ध रहे। अतः अन्य किसी व्यक्ति-वस्तु-परिस्थिति से सहयोग की आशा रखे बिना केवल परमेश्वर से प्रार्थना करता रहे और पूर्ण धैर्य से विचार में तत्पर हो तभी प्राणी का कल्याण सम्भव है। प्रार्थना के कुछ मंत्र 'शान्ति मन्त्र' कहे जाते हैं। प्रतिदिन दुहराने के लिये दस शांतिमन्त्र प्रसिद्ध हैं जिनका तत्तत् उपनिषत् से सम्बन्ध मुक्ति-कोपनिषत् से सिद्ध है। उपनिषत् पढ़ने से पूर्व और रोज का पाठ पूरा होने पर तत्तत् शान्तिमन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। ब्रह्मवल्ली के प्रारंभ में इकट्ठे ही दो शांतिमन्त्र आये हैं जिनका प्रयोजन बताते हैं **ब्रह्मवल्ली में विद्यासूत्र बताने से पहले शान्तिमन्त्र का विन्यास है जिसका जप करना चाहिये। मन में स्थित द्वेष आदि विघ्न उस जपके प्रभाव से दूर हो जाते हैं।।४।।**

ब्रह्मवल्ली

'ब्रह्मवित् परमेती' ति सूत्रं सर्वार्थसूचनात्।
ज्ञेयं ज्ञानं फलं चेति सर्वेऽर्थाः सूचिता इह।।५।।

यद्यपि ग्रन्थकार की दृष्टिसे यहाँ 'सह नौ' आदि एक ही शांतिमन्त्र है तथापि भाष्यके अनुसार 'शं नो मित्रः' आदि भी यहाँ हैं अतः दो शांतिमंत्र हैं। इन मन्त्रों का अर्थानुसन्धान-सहित जप करना चाहिये, अतिमंद स्वर में पुन-पुनः उच्चारण करना चाहिये। इनके द्वारा प्रार्थना करने पर प्रभु कृपाकर विघ्न मिटा देते हैं। जिस भी हेतु से मन विद्या-ग्राही न बने वह शिष्य के मन में विघ्न है और यदि गुरु किसी हेतुवश विद्या नहीं दे तो वह गुरु के मन में विघ्न है। 'गुरु सही नहीं समझा रहा' आदि सोचकर शिष्य को गुरु के प्रति द्रोहभाव हो सकता है, 'शिष्य सही सेवा नहीं कर रहा' आदि सोचकर शिष्य के प्रति गुरु को क्रोध हो सकता है, या अन्य भी अनेक निमित्त हो सकते हैं जो विद्या के आदान-प्रदान में रुकावट डालें, उन सभी की निवृत्ति के लिये यह प्रार्थना है। क्योंकि मंत्र में 'विद्वेष न करें' यह शब्दशः प्रार्थना है इसलिये यहाँ द्वेषादि विघ्न कहे अर्थात् ये मन्त्र प्रधानतः मनोगत विघ्न मिटाने के लिये हैं। अन्य विघ्नों से बचने के लिये देवाराधना आदि करने चाहिये जैसा कि बृहदारण्यकभाष्य में (१.४.१०) कहा है कि देवता विघ्न न करें वरन् श्रद्धासंपन्न बनाकर सहायता करें इसके लिये मुमुक्षु देवाराधनपर रहे, श्रद्धा-भक्ति रखे, कर्तव्य पालन करे, हर तरह की सावधानी रखे। द्वेषादि से सारी आसुर संपत्ति तथा गीता-त्रयोदशाध्याय में कहे 'ज्ञान' से विरुद्ध प्रवृत्तियाँ समझ लेनी चाहिये। अध्यात्म साधना का प्रधान स्थान मन है अतः वहाँ विघ्न न रहें। यह अत्यंत आवश्यक है। साधक बाहरी विघ्नों की उपेक्षा कर मानस विघ्नों को दूर करने को प्राथमिकता दे यह बताने के लिये 'मनसि स्थिताः' कहा। बाह्य भी तभी तक विघ्न हैं जब तक हम उनसे द्वेष रखते हैं अतः द्वेष दूर होने से बाह्य विघ्न भी रह नहीं जातेयह भी ग्रंथकार का आशय है।।४।।

शान्ति के बाद वल्ली सूत्र से प्रारंभ होती है, सूत्र है 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्'। इसकी सूत्ररूपता स्पष्ट करते हैं **'व्यापक आत्मा का जानकार परमार्थ वस्तु प्राप्त कर लेता है' यह सूत्र है क्योंकि सारे अर्थों की सूचना देता है; ज्ञेय, ज्ञान और फलये ही 'अर्थ' हैं एवं ये सभी इस वाक्य में सूचित हैं।।५।।** ब्रह्म-शब्द का अर्थ ही है व्यापक अतः यहाँ पूर्ण, व्यापक परमात्मा के साक्षात्कार का कथन है। 'पर'

ज्ञेयं ब्रह्म, तदीया धीर्ज्ञानं स्याद्, ब्रह्मता फलम्।
सूत्रव्याख्यानरूपायाम् ऋच्येतद् विशदीकृतम्।।६।।

कहते हैं जो सर्वोत्तम हो अतः उत्तम सत्य के लाभ की चर्चा है। सूत्र-पदार्थ बताया गया है :

'स्वल्पाक्षरम् असन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभम् अनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।'

अर्थात् कम शब्दों में सारयुक्त बात निःसंदिग्ध ढंग से बताये, निष्प्रयोजन शब्दों से रहित हो, निर्दोष हो तथा अनेक आशयों से गर्भित होऐसा वाक्य सूत्र होता है। प्रकृत वाक्य में ये सभी विशेषता हैं। जिन्हें जानने का कोई मतलब है, लाभ है उन्हें 'अर्थ' कहते हैं। जो कुछ भी ऐसा अर्थ है वह इस वाक्य में सूचित होने से भी यह सूत्र है क्योंकि सूत्र शब्दका एक अर्थ 'सूचना देने वाला' भी होता है।।५।।

कौन-से ज्ञेयादि सूचित हैं यह बताते हैं **ब्रह्म ज्ञेय है, उसके बारे में प्रामाणिक निश्चय ज्ञान है जिसका फल है ब्रह्मस्वरूप हो जाना। सूत्र की व्याख्या करने वाली ऋचा में यह तथ्य विस्तार से व्यक्त किया है।।६।।** 'ब्रह्मविद्' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला; अतः ज्ञेय, जिसे जानना है वह ब्रह्म है यह स्पष्ट हो गया। वेदान्तों द्वारा प्रतिपाद्य प्रधानतः ज्ञानयोग्य विषय ब्रह्म ही है, अन्य कुछ नहीं। ब्रह्मातिरिक्त कथित पदार्थ ब्रह्मज्ञानोपयोग के लिये ही ज्ञेय है, तात्पर्य केवल ब्रह्मप्रबोधन में है। यह समन्वयाधिकरण से सिद्ध है। यद्यपि सर्वप्रत्ययवेद्य एवं सर्वप्रमाणगम्य एकमात्र ब्रह्म को कहा जाने से ब्रह्मातिरिक्त कुछ ज्ञेय है ही नहीं तथापि भ्रमप्राप्त ज्ञेयता के निराकरण द्वारा ब्रह्म की ज्ञेयता बताना ठीक है। ज्ञेय का मतलब इतना ही है कि वह वृत्तिविषय बनाया जाये। 'द्रष्टव्यः' से अन्यत्र भी श्रुति ने ब्रह्म की ज्ञेयता, ज्ञानार्हता कही है। ब्रह्मावगम बिना किसी सहायता के स्वयं ही पुरुषार्थप्रद है। इसलिये वही सफल ज्ञेय है। अन्य चीजें जानें-न जानें, कोई अंतर नहीं पड़ता क्योंकि वे चीज़ें हैं ही मिथ्या, उनसे जो कुछ अच्छा-बुरा हो सकता है वह मिथ्या ही होगा। वास्तविक फल ब्रह्म को जानने से मिलेगा अतः वही ज्ञेय है। इससे 'ब्रह्म सत्यं जगद् मिथ्या' यह वेदान्तका आधार सूचित हो गया। ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्मरूपता को फल कहा; घटज्ञान से देवदत्त घट नहीं बनता! दशम के ज्ञान से वह दसवाँ बन जाता है। तात्पर्य है कि जीव यदि ब्रह्मरूप न हो तो ब्रह्मज्ञान से भी ब्रह्म नहीं बनेगा। अतः ब्रह्म को ही ज्ञेय कहने से 'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' यह आधार भी सूचित हो गया। ब्रह्ममात्र को ज्ञेय

कहने से उसके ऐश्वर्यादि को जानना बेकार बताया अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म ही वास्तविक है, सविशेष औपाधिक अतः मिथ्या है यह स्पष्ट द्योतित हो जाता है। ज्ञेय कहने से जिज्ञासाधिकरण का सारा ही विषय यहाँ सूचित है यह स्फुट है। ब्रह्म-स्वरूप का प्रतिपादक होने से समन्वय और अविरोध अध्याय उसमें शंकानिवारक होने से संकेतित हैं इसमें संदेह नहीं।

जैसे ब्रह्म बताया वैसे 'ब्रह्म-विद्' में विद्-द्वारा ज्ञान का भी उपन्यास हो गया। ब्रह्म की जिसे विद्या है, जिसने ब्रह्म का अनुभव किया है उसे ब्रह्मविद् कहते हैं। विचारपूर्वक ब्रह्मानुभव से लब्ध ब्रह्मभाव विद्वान् ब्रह्मवित्-पदार्थ है। 'ब्रह्म को जानने वाला' यों ब्रह्म-सम्बन्धी ही ज्ञान यहाँ विवक्षित है तथा अब्रह्म की जानकारी निषिद्ध है अर्थात् 'नानुध्यायेद् बहून् शब्दान्', 'समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' आदि साधन सूचित हैं। ब्रह्मधी की प्राप्ति के सारे ही साधन, गीतात्रयोदशोक्त 'ज्ञान', सन्निपत्य एवं आरात् उपकारी सभी का, अर्थात् साधनाध्यायार्थ का समावेश भी सूत्र में हो गया है। ब्रह्म का स्वरूपभूत ज्ञान न समझ लिया जाये इसलिये 'धीः' शब्द का प्रयोग किया। धी की उत्पादक उपनिषदों का एवं प्रमाण्य का, उनका तात्पर्य ब्रह्ममें ही है, उनका किसी प्रमाण से विरोध नहीं है इत्यादि बातों का अत एव शास्त्रयोन्यधिकरण का यहाँ सूत्रण स्पष्ट है। धी कहते हैं निश्चय को अतः ज्ञानमात्र ही नहीं, ज्ञाननिष्ठा एवं उसको संभव बनाने वाला संन्यास, पाण्डित्य एवं मौन, सभी यहाँ सूचित हैं। यह निश्चय जिन श्रवणादि पर निर्भर है उनका फल दृष्ट व अदृष्ट दोनों है अर्थात् यदि विशेष प्रति-बंधक न हो तो जिस जन्म में भरपूर विचार किया उसी जन्म में निश्चय हो जाता है लेकिन प्रतिबंधवश अगर उस जन्म में न हो पाया तो भी वह विचार व्यर्थ नहीं जाता वरन् जन्मान्तर में प्रतिबन्ध निवृत्त होने पर फलीभूत हो जाता है। क्योंकि अदृष्ट भी इसका फल है इसलिये ब्रह्मविचार वैध है और इसके सहयोगी (इतिकर्तव्य) भी विधि से प्राप्त हैं, विधिसंमत ढंग से श्रवणादि करने पर ही अदृष्ट फल निश्चित है, दृष्ट फल तो विधि पर आश्रित नहीं है। यह निश्चय अपरोक्ष ही होता है क्योंकि इसका विषय स्वयं अपरोक्ष वस्तु है। जब अविद्या दशा में ही हमें आत्मा का जैसा भी ज्ञान है वह अपरोक्ष ही है, तब उसका प्रमाणजन्य ज्ञान क्यों न अपरोक्ष होगा! इसी धी में महावाक्य प्रमाण है अतः श्रवण प्रधान उपाय है जिसे मनन-निदिध्यासन का सहकार यथावश्यक प्राप्त होना चाहिये।

'ब्रह्मवेत्ता परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है' कहने से सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञान से ही

परतत्त्व मिलता है। जैसे जब कहते हैं कि 'धनी सुखी है' तब यह समझ आता है कि धन को सुख का कारण कहा जा रहा है, वैसे यहाँ ब्रह्मवेदन परप्राप्ति का कारण है यह समझ आता है। ज्ञानैकनिमित्तक होने से यह प्राप्त की ही प्राप्ति संभव है इसके लिये किसी लोकांतर या अवस्थान्तर में जाना आदि गति न अपेक्षित है, न संभव है। एकरस, तारतम्यहीन मोक्ष ही तत्त्वधी का फल है। यहाँ कहा परतत्त्व ब्रह्म ही है जो जीव से किञ्चित् भी अलग नहीं है। 'पर' का मतलब ही होता है उत्कृष्ट अतः निरतिशय उत्कर्ष वाला ब्रह्म ही यहाँ 'पर' कहा है। अन्यत्र भी ब्रह्म ज्ञान से 'परम' ब्रह्म की प्राप्ति उपनिषदों में कही है'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं.३.२.९) 'ये विदुर्यान्ति ते परम्' (गी.१३.३४) आदि। इसके लाभ के लिये प्राणों का उत्क्रमण नहीं चाहिये वरन् जीव की उपाधि के विलयसे ही यह सनातन लाभ संभव है। यह परभाव मुक्तका स्वरूप है। 'पर' कहा गया तत्त्व ही ईश्वर है; मुक्त की स्वयं की दृष्टि से वह निरुपाधि वस्तु है तथा बद्ध जीवों की दृष्टि से वही ईश्वर है। शारीरक-चतुर्थाध्याय का सारा वक्तव्य यहाँ सूचित समझना चाहिये। यद्यपि मूल प्रसंग के अनुरूप नहीं तथापि 'विश्वतोमुखता' के आधार पर 'ब्रह्म' से अपर ब्रह्म, 'विद्' से उपासना भी समझ सकते हैं तथा उससे प्राप्य कैवल्येतर मोक्ष 'परमाप्नोति' से विवक्षित मान सकते हैं। तब तो सभी उपनिषदों के तथा शारीरक मीमांसा के सभी विषय यहाँ सूचित समझना सरल है। 'आप्नोति' से ध्वनित है कि परभाव पाने लायक है अतः यह निश्चित होता है कि वह सुखरूप है। और भी गंभीर चिंतन करने पर स्पष्ट होता जायेगा कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' समस्त अर्थों की कैसे सूचना देता है।

स्वयं श्रुति ने इस सूत्र को समझाने के लिये पहले एक ऋचा उदाहृत की है और फिर 'तस्माद् वा' इत्यादि से सृष्टि बताकर अध्यारोप दिखाया है। ऋचा है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामन् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।।' अर्थात् सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है उसे जो गुहा में, परम व्योम में निहित जान लेता है वह विपश्चित् ब्रह्म के साथ सब कामनाओं का उपभोग कर लेता है। गुहा, परम व्योम से बुद्धि समझनी चाहिये। उसमें निहित उसका साक्षी आत्मा है। विपश्चित् अर्थात् सर्वज्ञ ब्रह्म के लिये जैसे सारी कामनाएँ भोगी हुई हैं क्योंकि उससे पृथक कुछ है नहीं ऐसे ही तत्त्वज्ञ सारी कामनाएँ इकट्ठे ही भोग लेता है क्योंकि ब्रह्म के साथ सर्वथा एक हो जाता है। ऋचा ने, ऋङ्मन्त्र ने सूत्र का आशय खोला है।।६।।

ज्ञेयं ब्रह्म

ज्ञातव्यं ब्रह्म यत् तत् किम् इति चेत् तस्य लक्षणम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् तद् ब्रह्मेत्यवगम्यताम्।।७।।

उक्त ऋचा को समझाते हैं **प्रश्न होता है कि जिसे जानने लायक कहा वह ब्रह्म है क्या वस्तु? उत्तर हैजो सत्य ज्ञान अनन्त है उसे ब्रह्म समझो, यही उसका लक्षण है।।७।।** ब्रह्म वह अखण्ड वस्तु है जो सत्यरूप है, ज्ञानरूप है, अनंत है। सत्यादि शब्दों का अर्थ स्वयं बतायेंगे। लक्षण उसे कहते हैं जिसका ज्ञान लक्ष्य को सजातीय-विजातीयों से पृथक्कर परिचित करा दे। मधुसूदनस्वामी ने 'यत् प्रमितं सद्, यस्य तत्सजातीयादिभ्यः सर्वेभ्यो व्यावर्तकं, तत् तल्लक्षणम्' इस व्याख्या को मान्यता दी है। प्रायः लक्ष्यार्थ में स्थित गुणादि को लक्षण कहते हैं किन्तु 'स्वरूपतया गमकं स्वरूपलक्षणम्' आदि तत्त्वदीपन (पृ. १०२) के आधार पर मान्य है कि लक्ष्य-लक्षण में धर्म-धर्मिभाव आदि भेदसंबंध होना अनावश्यक है। अतः संक्षेपशारीरक में भी स्वरूपलक्षण माना है 'लक्ष्यस्वरूपमपि सद् यद् अमुष्य साक्षाद् अर्थान्तराद् भवति भेदकम्' (१.५१६)। विशेषण लक्षण और उपलक्षण में लक्ष्य से संबंध होता है। इनका परिचय संक्षेपशारीरक के अनुरूप ही तत्त्वदीपन में है 'धर्मिसमकालं स्थित्वा धर्मतया गमकं विशेषणलक्षणम्।' 'कदाचिद्भावमात्रेण लक्षकम् उपलक्षणम्।' लक्ष्य के विशेषण रूप से लक्षण का भान हो जैसे सास्ना का होता है तो उसे विशेषण लक्षण कहते हैं तथा लक्ष्य-परिचय एवं उसकी इतरव्यावृत्ति के बाद संबंध भान न रहे तो उपलक्षण है जैसे कौवा घर का उपलक्षण होता है। विशेषणमात्र और लक्षणभूत विशेषण में अंतर स्वयं भाष्यकार ने तैत्तिरीय के इसी प्रसंग में समझाया है कि समानजातीयों से ही व्यावर्तक को केवल विशेषण कहते हैं और जो सभी से व्यावृत करे उसे लक्षणभूत विशेषण कहते हैं 'समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य; लक्षणं तु सर्वत एव'। यहाँ कहे सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूपलक्षण ही हैं, आगे कही जाने वाली आकाशादि के प्रति कारणता उपलक्षण है। ब्रह्म निर्विशेष वस्तु होने से उसका विशेषणलक्षण संभव नहीं फिर भी 'अपृथक्त्वेऽपि ब्रह्मणः पृथगिवावभासन्ते' न्याय से सत्यतादि को विशेषण लक्षण भी कहा जाता है। सूत्रकारने उपलक्षण को प्राथमिकता देकर जन्मादि सूत्र बनाया और आनन्दाद्यधिकरण में (३.३.६) स्वरूप का संग्रह किया क्योंकि वह मीमांसा या विचार का शास्त्र होने से ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ता है लेकिन श्रुति ने स्वरूप को मुख्य मानकर यहाँ विद्यासूत्र में लक्षण दिया फिर उसे

समझाते हुए उपलक्षणभूत सृष्टिहेतुतादि का उपन्यास किया क्योंकि यह उपदेशशास्त्र होने से इसमें अज्ञातज्ञापन प्रधान है।

सत्यादि तीनों लक्षण हैं क्योंकि प्रत्येक निर्दुष्ट लक्षण है यह मान्य है फिर भी स्पष्टतार्थ स्वीकारा जा सकता है कि तीनों मिलकर एक लक्षण है अर्थात् 'सत्य ब्रह्म है', 'ज्ञान ब्रह्म है' 'अनन्त ब्रह्म है', ये तीन वाक्य समझे जा सकते हैं या 'जो सत्य है और ज्ञान है और अनंत है वह ब्रह्म है' ऐसा एक वाक्य माना जा सकता है। सत्य कहने पर प्रकृति आदि की तरह जडता की संभावना उठने से ज्ञान कहा और लौकिक ज्ञान सान्त मिलने से परिच्छेद की संभावना आयी तो अनन्त कहा यों तीनों पदों का प्रयोजन है। इनमें सत्य-ज्ञान शब्द विधिमुख से और अनंत-शब्द निषेधमुख से ब्रह्मस्वरूप कहता है। लक्ष्य का बोधक तो ब्रह्म-शब्द ही है। सत्यादि शब्दों का सीधा संबंध ब्रह्म-शब्द से हो जाने पर भी परस्पर विशेष्य-विशेषणता रहती ही है अर्थात् सत्य ब्रह्म है किंतु वह सत्य ज्ञान से अभिन्न है और अनंत है; ज्ञान ब्रह्म है पर वह सत्य और अनंत भी है; अनंत ब्रह्म है लेकिन सत्य व ज्ञान रहते हुए हीयह पता चलता है। यों दो अन्वय मीमांसक भी 'अरुणया क्रीणाति' और 'अरुणया गवा' आदि स्थलों में मानते ही हैं। इसकी आवश्यकता इसलिये है कि प्रधान होने से ब्रह्म शब्द से सीधा संबंध भी मानना पड़ता है और सत्य-ज्ञानादि यदि परस्पर भिन्न रहते हुए ब्रह्म स्वरूप कहे जायें तो बात ही असंभव हो जायेगी क्योंकि एक वस्तु अनेक स्वरूपों वाली नहीं हुआ करती! सत्य आदि विधि शब्दों का रूढार्थ ब्रह्म हो नहीं सकता अतः वे लक्षणा से ब्रह्म-पदार्थ का बोध कराते हैं किंतु सत्यादि पदों से लक्ष्य होने पर भी ब्रह्म असत्यादि नहीं हो जाता क्योंकि सोपाधिक को वाच्य मानने पर निरुपाधिक भी वाच्य का एक हिस्सा होता ही है। सत्यादि-पदों से लक्ष्य ब्रह्म अतः सत्यादि ही रहता है, असत्यादि नहीं हो जाता। किं च सत्य यदि ज्ञानरूप न हो तो दृश्य होने से मिथ्या होगा, सत्य ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार ज्ञान यदि सत्य न हो तो वंध्यापुत्र के समान ज्ञान ही नहीं रहेगा! अतः सत्य ज्ञान है, ज्ञान सत्य है, यह अवश्य मान्य है। सत्य-ज्ञान ही नहीं, नित्य-शुद्ध आदि स्वरूपपरक सभी विधिशब्दों के बारे में यह नीति लागू होती है। यद्यपि सत्यपद असद्व्यावर्तक, ज्ञानपद जडव्यावर्तक इत्यादि अपोह रीति से भी ब्रह्म-वस्तु बताते हैं तथापि विधि-शब्द सीधे तो वह सत्य है यह बताते हैं फिर अपोह से असद्निवृत्ति भी करते हैं जबकि निषेध-पद मुखतः निवृत्ति ही बताते हैं, वस्तु-बोधन अर्थात् ही करते हैं। तात्पर्य है कि 'ब्रह्म सत्य है' इस लक्षण को सुनकर यह

अवश्य पता लगता है कि ब्रह्म सत्य है और साथ में यह भी समझ आता है कि वह असत्य नहीं है। 'ब्रह्म अनन्त है' सुनकर यह पता लगता है कि अन्त नहीं है पर यह भी समझ आता है कि कुछ है जो अंतात्मक नहीं है या जिसका अंत नहीं है। यों 'कुछ है'यह अर्थात् सिद्ध होता है। जैसे 'घड़ा नहीं है' सुनकर 'किसी स्थान पर किसी काल में घड़ा नहीं है अतः स्थान व काल तो हैं' यह भी समझ आता है पर मुखतः तो केवल घड़े का न होना ही पता चलता है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। क्योंकि विधिपद अर्थात् व्यावृत्ति करते हैं इसलिये साक्षाद् व्यावृत्ति करने वाले निषेध-पदों का महत्त्व है, कारण कि विधिपदों के आर्थिक अर्थ में निषेधपद ही प्रमाण बनते हैं। यदि निषेध-पद न होते तो इतरव्यावृत्ति विवक्षित है यह निर्णय नहीं होता। प्रायः लोग सत्य भी बोलते हैं, झूठ भी बोलते हैं अतः उन्हें सत्यवादी भी कह सकते हैं असत्यवादी भी कह सकते हैं; सत्यवादी कहने से यह अर्थ नहीं निकलता कि वह असत्यवादी नहीं है। किंतु यदि मुखतः बता दें कि झूठ नहीं बोलता तो सत्यवादी कहने से अर्थात् भी समझ आ जाता है कि असत्य नहीं बोलता। इसी प्रकार ब्रह्म के बारे में विधिपद जो बात अर्थात् बताते हैं उसका बताना शास्त्र में इष्ट है यह पता लगता है निषेधपदों के द्वारा। अतः प्रकृत लक्षण वाक्य में सत्य-ज्ञान ये विधिपद और अनन्तयह निषेधपद, दोनों का विन्यास है।

सत्यमादि लक्षण वाक्य के पदों का आपसी संबंध सामानाधिकरण्य है। एक अर्थ में तात्पर्य वाले अपर्याय पदों का परस्पर यही संबंध होता है। सत्य-ज्ञान-अनंत पर्याय तो हैं नहीं क्योंकि इनके वाच्यार्थ परस्पर विलक्षण हैं, फिर भी तीनों का तात्पर्य एक ब्रह्मवस्तु में ही है, सत्य भी ब्रह्म को बता रहा है, ज्ञान-अनंत भी उसी को बता रहे हैं, अतः शब्दों का आपसी संबंध यही है। इस संबंध वाले शब्दों के अर्थ चार तरह से पता चल सकते हैं'रज्जु सर्प है' का मतलब रज्जु नहीं वरन् सर्प हैयह होता है। 'शालग्राम विष्णु है' का मतलब होता है कि शालग्राम को विष्णु समझना चाहिये। 'लाल फूल है' का अर्थ होता है कि फूल की एक खासियत ललाई है। इस प्रकार बाध-अध्यास-विशेषण, इन तीन तरह से जब अर्थ पता चले तब सामानाधिकरण्य गौण कहलाता है क्योंकि अत्यन्त अभेद नहीं बता पा रहा। किन्तु जब अखण्ड अर्थ बताये तब उसे मुख्य कहते हैं जैसे 'वही यह देवदत्त' आदि वाक्यों में। प्रकृत 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' वाक्य अखण्ड अर्थ में तात्पर्य वाला है। स्वरूप लक्षण बताने वाले सभी वाक्य अखण्डार्थक होते हैं। 'ब्रह्मवेत्ता परम पाता है' यों निरतिशय बृहद्रूप ब्रह्म

आकाशादि जगत् सर्वम् अनृतं मायिकत्वतः।
नानृतं ब्रह्म तेनैतत् 'सत्यम्' इत्यभिधीयते।।८।।
जगज्जडं स्वतः स्फूर्तिराहित्याद्, ब्रह्म तु स्वयम्।
स्फुरतीत्यजडं तेन 'ज्ञानम्' इत्यभिधीयते।।९।।

के ज्ञान का महत्त्व सुनने पर प्रश्न यही होता है कि वह ब्रह्म क्या है? क्योंकि ब्रह्म के किसी वैशिष्ट्यादि की जिज्ञासा उठने का कोई कारण नहीं इसलिये 'ब्रह्म क्या है' इसी प्रश्न का समाधान देने आया सत्यमादि वाक्य इतना ही बतायेगा कि ब्रह्म क्या है अर्थात् केवल ब्रह्म को बतायेगा जिससे वह अखण्डार्थपरक निश्चित हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म जिज्ञासित है इसलिये वह अज्ञात है अतः उसे बताना पड़ेगा ज्ञात के द्वारा। यह स्पष्ट करने के लिये श्लोक में 'यत्-तद्' पद रखे कि 'जो सत्यादि है वह ब्रह्म है' यह यहाँ अर्थ है। सत्यादि ज्ञात हैं जिनसे ब्रह्म का ज्ञान कराया जा रहा है। अत एव सत्यादि तीनों पद रखे; केवल सत्य कहते तो घटादि भी लोक में सत्य माने जाते हैं, ऐसा ही कुछ ब्रह्म होगा यह समझ आता! ज्ञान भी लोक में जन्य सविषय अनुभव ही होते हैं, ऐसा ही कोई अनुभव वह होगा ऐसा भ्रम हो जाता। लोक में बहुत स्थायी, बहुत विस्तृत चीज़ को अनंत कहते हैं, ऐसी ही कोई चीज़ ब्रह्म होगी यह प्रतीत होता। इन भ्रमों से बचाने के लिये वेद ने तीनों साथ रख दिये अतः जो सत्य भी हो, ज्ञान भी हो, अनंत भी हो वही ब्रह्म है यह विवक्षित बात ही समझ आती है, गलतफहमी नहीं होती। लोक में कोई एक ऐसी चीज़ नहीं मिलती अत एव लक्षण के अनुसार ब्रह्म की खोज प्रारम्भ होती है। लक्षण से पूर्व तो पता ही नहीं कि ढूँढना क्या है, जानना किसे है; लक्षण समझकर यह पता चल जाता है कि किसका अन्वेषण करना है। यह व्यवहार ही यहाँ लक्षण का प्रयोजन है अर्थात् 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' बताकर लक्षण का उल्लेख किया ही इसलिये है कि परमार्थ फल का इच्छुक साधक इस लक्षण वाले ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर परम पुरुषार्थ का भागी बने।।७।।

लक्षणवाक्य की व्याख्या करते हैं **क्योंकि माया-संबंधी है इसलिये आकाश आदि सारा जगत् झूठा है जब कि ब्रह्म झूठा नहीं है, इसलिये यह ब्रह्म 'सत्य' कहा गया।।८।। खुद स्फुरणरूप न होने से जगत् जड है पर ब्रह्म खुद स्फुरता है अतः जड न होने से उसे 'ज्ञान' कहा गया।।९।। घट आदि जड वस्तुएँ देश, काल आदि चीज़ों से सीमित हो जाती हैं किन्तु देशादि से इस ब्रह्म की कोई**

जडं घटाद्यन्तवत् स्याद् देशकालादिवस्तुभिः ।
न देशादिकृतोऽन्तोऽस्य ब्रह्मा-'ऽनन्तं' ततः स्मृतम् ।।१० ।।

सीमा नहीं होती अतः ब्रह्म 'अनन्त' कहा गया ।।१० ।। जगत् अर्थात् जो कुछ भी दृश्य है, परिवर्तनशील है। माया व उसके कार्य जगत् हैं। 'आकाशादि' से आकाशका कारण, स्वयम् आकाश और आकाश के साक्षात् व परंपरा से होने वाले सारे स्थूल-सूक्ष्म कार्य एवं उनके प्रभाव, सभी का संग्रह हो जाता है। माया भी मायासंबंधी है क्योंकि माया के बल पर ही धृत है, 'मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहः' आदि प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट किया है। मायादि उपाधियाँ ही नहीं उनके प्रभाव से जो औपाधिक होता है वह भी असत्य है। जिस वस्तु का कोई निश्चित रूप हो जिसे वह कभी छोड़े नहीं उस वस्तु को सत्य कहते हैं। माया-तत्कार्यों का कोई भी निश्चित रूप नहीं है, उनके जिस भी रूप को निर्धारित करें उसे वे छोड़ देते हैं अतः उन्हें सत्य नहीं कह सकते। इससे विपरीत ब्रह्म है जिसका स्वरूप निश्चित है व उसे वह कभी छोड़ता नहीं अतः वही सत्य है। ऐसा सत्य अलौकिक है अतः किसी पद का (शब्द का) उससे सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया जा सकता फिर भी वाक्य उसे बता ही सकता है इसलिये सत्यपद की व्याख्या 'अनृत नहीं है' इस तरह वाक्य रूप से की जाती है। इससे केवल असद्वैलक्षण्य ही नहीं मालूम पड़ता वरन् लौकिक सत्य के सापेक्षतांश को छोड़कर सत्यरूपता का भी पता चलता है। लोक में निरपेक्ष सत्य अलभ्य होने पर भी विचार दृष्टि से सापेक्षतांश को पृथक् किया जा सकता है। हमें जब भी मिलता है तब गुड-चीनी-शहद आदि का मिठास ही मिलता है, इनमें से किसी 'का' न हो ऐसा मिठास कभी नहीं मिलता, फिर भी हम 'मीठा' शब्द का अर्थ ऐसा मिठास समझते हैं जो इनमें से किसी 'का' नहीं है। यह समझ विचार से ही होती है, इंद्रिय से नहीं। इसी प्रकार लोकसिद्ध सत्यों के अनुभव के आधार पर अलौकिक सत्य समझना संभव है।

व्यावहारिक सत्य को ऋत कहते हैं, उससे उत्कृष्ट पारमार्थिक सत्य है यह स्पष्ट करने के लिये ब्रह्म अनृत नहीं है ऐसा कहा : 'ऋत नहीं है' कहते तो प्रातिभासिक समझ लिया जाता या असत्य ही समझ लिया जाता किन्तु 'ऋतभिन्न से भिन्न है' कहने पर ऋत के संदर्भ में जो कुछ हो सकता है उससे अतीत का बोधन हो जाता है। किं च 'न अनृतम्' से यह भी पता चलता है कि वह अनृतत्व के अत्यन्ताभाव वाला है अर्थात् अनृत का अधिष्ठान है अनृत के बाध की अवधि है। माया-तत्कार्य

असत्य हैं इसमें संदेह नहीं फिर भी प्रतीयमान होने से उन्हें 'मिथ्या' कहकर अप्रतीत्यर्ह असत्य से पृथक् बताया जाता है अतः असत्य एवं मिथ्या दोनों से ही विलक्षण वस्तु सत्य ब्रह्म है। कुछ विचारक तो स्पष्ट मानते हैं कि असत् होता ही नहीं तो उसका ज़िक्र ही कैसे और क्यों किया जाये! अतः सत्य व मिथ्यायही विभाजन पर्याप्त है, सद्भिन्न ही मिथ्या होता है। उसका अधिष्ठान होने से ब्रह्म ही सत्य है।

बुद्धि की अविद्या-निवर्तक वृत्ति ज्ञान कहलाती है किंतु उसमें अविद्याविरोधी-अंश ही वस्तुतः ज्ञान है, वृत्ति का इतना ही उपयोग है कि उसे व्यवहार में ले आती है जैसे जलधारण करने वाला आकाश ही है पर जलधारण के व्यवहार में उसे लाने वाला घट होता है। बिना वृत्ति के ज्ञान अविद्याविरोध नहीं करता किंतु वृत्ति में उपारूढ होकर अविद्याविरोध करने से ही वह ज्ञान है। तात्पर्य है कि जो वृत्ति में आरूढ होकर अविद्याविरोधी होता है उसे ज्ञान कहते हैं। क्योंकि बिना वृत्ति के वह अविद्याविरोध नहीं करता इसलिये उसे अविद्यासापेक्ष नहीं कह सकते अर्थात् यह नहीं कह सकते कि अविद्या संदर्भ में ही ज्ञान का अस्तित्व है। ज्ञानका व्यवहार्य रूप भले अविद्यासंदर्भ में समझा जाये पर उसका स्वरूप उससे अतीत निर्धारित होता है। अतः ज्ञान की क्रियारूपता, जन्य-नश्वररूपता, न्यूनाधिकता आदि वृत्तिपक्षीय हैं, ज्ञान एकरूप निर्विकार नित्य है। बृहदारण्यक के ज्योतिर्ब्राह्मण में आत्मा की ज्ञानरूपता अनुभवारूढ करायी गयी है जिसका विस्तार से व्याख्यान अनुभूतिप्रकाश में अष्टादशाध्याय में आयेगा। यद्यपि ज्ञानस्वरूप व्यवहारातीत है तथापि उसे समझना क्योंकि एक व्यवहार है इसलिये इसमें ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष ही उपाय बनता है। रूपग्रहणादि व्यवहार जैसे सूर्यादि के सहारे होते हैं ऐसे सब सहारे हट जाने पर जिससे व्यवहार संभव हो जाता है वही ज्ञान-पदार्थ है। यहाँ 'व्यवहार' से असत्त्वापादक आवरण की निवृत्ति समझनी चाहिये। स्वप्न-सुषुप्ति का व्यवहार हर हालत में देहादि से अन्य को ही होता है। तथा किसी सहारे के बिना ही होता है, वही अन्य ज्ञानरूप आत्मा समझ लेना चाहिये। विषयों का व्यवहार संभव करते हुएविषयों का अभाव भी एक विषय ही हैज्ञान स्वयं अपने अपरोक्ष व्यवहार को भी अन्य सहारे के बिना संपन्न कर लेता है। जहाँ-कहीं भी व्यवहारसंपादकता है, 'प्रकाश' है, वह ज्ञानरूप आत्मा की ही उपाधिगत अभिव्यक्ति है; उपाधि-वैशिष्ट्य से जैसे रोशनी, ठंड, गर्मी, गति आदि विलक्षण अभिव्यक्तियाँ एक बिजली की हो जाती हैं वैसे यहाँ भी ज्ञान की अभिव्यक्ति में चाहे जितना तारतम्य एवं वैलक्षण्य रहे पर उसके स्वरूप की अखण्डता बनी रहती

है। 'स्फुरता है' यह प्रयोग हिंदी में अप्रचलित है। जैसे 'चमकता है' को दृश्य रोशनी के संदर्भ में समझते हैं वैसे अनुभूति के संदर्भ में 'स्फुरता है' समझना चाहिये। स्फुरण का मतलब है अनुभव किंतु जन्य, कादाचित्क, आगमापायी अनुभव नहीं, किसी 'को' होने वाला और किसी 'का' अनुभव नहीं वरन् जो किसी के संबंध से उस 'को' और किसी के संबंध से उस 'का' हो जाता है, कोई संबंधी न रहने पर भी स्वयं बना ही रहता है वही स्फुरण है। जैसे बाह्य रोशनी रूपवाली चीजों को घेर लेती है तो वे चीज़ें रोशन हो जाती हैं ऐसे यह स्फुरण जिस वस्तु को 'घेर' लेता है वह ज्ञात हो जाती है। अतः ज्ञान को 'अर्थ-परिच्छित्ति' या अर्थ का परिच्छेदन, अर्थ को चारों ओर से घेर लेनाइस रूप में भी समझा जाता है। क्योंकि असत्त्वावरण-विरोध ज्ञान का स्वभाव है इसलिये स्वयं ज्ञान का कभी असत्त्वावरण नहीं होता और स्फुरणात्मक होने से इसका अभानावरण भी होता नहीं जिससे कह सकते हैं कि जो कभी भी 'नहीं है' ऐसा न लगे वह ज्ञान है।

संसार की सभी चीज़ें सीमित हैं, उनका या देश में (स्थान में) अंत है, या काल में और सभी का वस्तुकृत अंत तो है ही। कोई देश हो जहाँ अमुक चीज़ न हो तो उस चीज़ को देश में सांत कहते हैं। ऐसे ही कोई समय हो जब अमुक चीज़ न हो तो उस चीज़ को काल में सान्त कहते हैं। इसी तरह कोई वस्तु हो जो अमुक चीज़ नहीं है तो उसे वस्तुकृत सान्त कहते हैं। वस्तुकृत सान्तता साधारणतः सीमा नहीं समझी जाती पर विचार करें तो समझ आ जाती है। अभाव को संभव बनाने वाले को सीमा कहते हैं। जैसे देश-काल यह संभव करते हैं कि घट का अभाव हो वैसे ही पट आदि वस्तुएँ भी उसके अभाव को संभव करती है। पट है तभी उसके बारे में यह कह-समझ सकते हैं कि 'यह घड़ा नहीं है'। यदि कपड़ा होता ही नहीं तो किसके बारे में कहते कि 'यह घड़ा नहीं है'? अतः जैसे स्थान है तो कह सकते हैं 'यहाँ घड़ा नहीं है' या काल है तो कह सकते हैं 'अभी घड़ा नहीं है' अतः स्थान (देश) व काल घड़े की सीमा हैं वैसे ही कपड़ा है तो कह सकते हैं कि 'यह घड़ा नहीं है' इसलिये कपड़े को भी घड़े की सीमा समझना उचित है। जो कुछ भी अघट है वह सभी घड़े की सीमा है। 'घड़ा नहीं है' इसे संभव करने वाले होने से वे सभी घड़े की सीमा हैं। अतः संसार में जो कुछ भी परस्पर भिन्न हैं वे सभी वस्तुकृत सीमा वाले अतः सान्त हैं। देश की देशकृत सीमा न होने पर भी एवं काल की कालकृत सीमा न होने पर भी दोनों की वस्तुकृत सीमायें तो हैं ही अर्थात् देशादि अनंत चीज़ों से काल भिन्न है, काल आदि

अनंत चीज़ों से देश भिन्न है अतः देश-काल दोनों वस्तुतः सान्त हैं। जैसे स्वसमानसत्ताक देश-काल ही सीमा बनते हैं वैसे स्वसमानसत्ताक वस्तु ही सीमा बनती है, न्यूनसत्ताक नहीं। यदि प्रयोजनवश न्यूनसत्ताक को सीमा बनाते हैं तो वह परिसीमन भी न्यूनसत्ताक ही रहता है यह तात्पर्य है। इस प्रकार सारा दृश्य वर्ग ससीम है। इससे विलक्षण ब्रह्म असीम है, अनंत है। अथवा, 'जिसके द्वारा निर्देश किया जाता है' वह देश है अर्थात् रूप, एवं 'जिसके द्वारा कलना की जाती है' वह काल है अर्थात् नाम, एवं 'देशकालादिवस्तुभिः' में 'आदि' से कर्म समझना चाहिये; अतः सारे जड पदार्थ नाम-रूप-कर्म से परिच्छिन्न हैं जबकि ब्रह्म इनसे परिच्छिन्न नहीं अतः अनंत हैयह आशय है। दोनों ही व्याख्याओं में, क्योंकि देशादि ब्रह्म पर अध्यस्त हैं अतः उसकी सीमा बनने के अयोग्य हैं, यह बात समान है। यद्यपि माया व मायिक प्रपंच से ब्रह्म को भिन्न कहते हैं, 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' इस पहले कदम में ही यह बात सामने आती है, तथापि माया व मायिक मिथ्या हैं जबकि ब्रह्म सत्य है अतः सत्य की सीमा मिथ्या नहीं बन सकता जिससे ब्रह्म वस्तुकृत अंत वाला नहीं है। विवेक के प्रयोजन से उसे पृथक् समझ सकते हैं पर वह पृथक्ता काल्पनिक ही है जैसे अधिष्ठानभूत रज्जु में कल्पित सर्पादि से पृथक्ता कोई वास्तविक धर्म नहीं होता। काल्पनिक वस्तु का भेद भी काल्पनिक ही होता है। मिथ्या के अन्य अभाव भी इसी तरह काल्पनिक ही सिद्ध होते हैं। कोई पूछे कि 'रज्जु में सर्पभेद मिथ्या है तो क्या रज्जु सर्परूप है?' तो उसे यही समझाना पड़ेगा कि जब सर्प कुछ है ही नहीं तो रज्जु 'सर्परूप' नहीं हो सकती! इसी तरह प्रपंच और उसके भेदादि सभी अभाव ब्रह्म में कल्पित ही हो सकने से ब्रह्म को सीमित नहीं करते।

यद्यपि सत्यादि पर्याप्त लक्षण हैं तथापि आनन्दाद्यधिकरणन्याय से उन सभी बातों को यहाँ समझ लेना चाहिये जिनके ज्ञान के बिना ब्रह्म के बारे में अज्ञान मिटता नहीं। संक्षेपशारीरक (१.१७३) में ऐसी कई बातें इकट्ठी की हैंनित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, सत्य, सूक्ष्म, सद्रूप, विभु, अद्वितीय, आनन्द, परमात्मा, प्रत्यक्। तात्पर्य यही है कि ब्रह्म के बारे में कोई भ्रम या अज्ञान न रहे ऐसी सब बातें जानना जरूरी है अतः 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' यह परिगणनार्थ नहीं वरन् निदर्शनार्थ है।।७-१०।।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस सूत्र से अज्ञानरूप माया भी सिद्ध होती है क्योंकि ज्ञान की ज़रूरत ही तब है जब पहले अज्ञान हो। इतना ही नहीं, आगे बतायी जाने वाली सृष्टि की अन्यथानुपपत्ति से भी माया सिद्ध होती है अर्थात् तटस्थ लक्षण या उपलक्षण

देशकालाद्यन्यवस्तुत्रयं मायाविजृम्भितम्।
ब्रह्म सत्यं, मायिकैस्तैः परिच्छिन्नं कथं भवेत्।।११।।

भी माया का समर्थक है। माया वेदद्वारा तात्पर्यतः प्रतिपादित नहीं है क्योंकि वह कोई सत्य वस्तु नहीं है और प्रमाणभूत वेद तात्पर्यतः असत्य का प्रतिपादक हो नहीं सकता, किंतु निर्विकार ब्रह्म से संसार की सृष्टि आदि बताकर वेद ने सूचित किया ही है कि माया को मानकर ही वह उपदेश दे रहा है। इसलिये अद्वैतसिद्धान्त का माया-अवलम्बन श्रुतिमूलक ही है, भले ही श्रुति द्वारा प्रमित न हो। ग्रन्थकार आत्मा से सृष्टि आदि बताने से पूर्व ही मायाकृत सृष्टि का उल्लेख कर यही भाव व्यक्त कर रहे हैं **देश, काल और उन्हीं के सन्दर्भ में होने वाली क्रिया-द्रव्यादि सभी चीज़ेंये तीनों ही माया का फैलाव है। ब्रह्म सत्य है, वह उन मायिक पदार्थों से सीमित क्यों कर होगा।।११।।** ब्रह्म ही वास्तविक होने से वस्तु है परन्तु लोक में देशादि भी वस्तु समझे जाते हैं अतः ब्रह्मसे अन्य होने के कारण इन तीनों को अन्य वस्तु कहा। जो कुछ पैदा होता है वह 'कहीं' और 'कभी' ही पैदा होता है अतः वह सब चाहे क्रियारूप हो या द्रव्यरूप, देश-काल के संदर्भ में ही होने से देश काल के साथ आदिशब्द से कह दिया गया। अथवा वस्तु-परिच्छेद करने में समर्थ 'वस्तु' तो देश-काल भी है; देशभेद व कालभेद भी घटादि में होता ही है; अतः वस्तुओं में देश-काल को भी समझ लिया जाये इसलिये बीच में आदि शब्द रखा है। यदि 'देशकालावन्यवस्तु त्रयम्' पाठ मिले तो सरलता होगी क्योंकि देश और काल तथा अन्य-कहलाने वाली सभी वस्तु, इन तीनों की मायिकता समझना संगत होगा।

'माया का फैलाव' कहने का इतना ही अर्थ है कि इन तीनों का स्वरूप माया ही है, माया से अतिरिक्त उनका कोई निजी अस्तित्व नहीं है। जैसे गहनों को सोने का फैलाव कहते हैं वैसे ही समझना चाहिये। स्वप्न जिस प्रकार मनका फैलाव माना जाता है उसी प्रकार जगत् मायाका, अज्ञान का फैलाव है। अर्थात् फैलाव-शब्द का साधारण अर्थ यहाँ नहीं है; साधारणतः, एक चीज़ जहाँ पहले से है वहाँ रहते हुए ही अन्य जगह भी पहुँच जाये तो फैलना कहते हैं, ऐसा माया का कोई प्रसार विवक्षित नहीं है; प्रलय दशा में जिन तरहों से प्रतीत नहीं हो रही थी उन तरहों से प्रतीत होने लगी, इसे ही कहते हैं कि फैल गयी या वे प्रकार उसका फैलाव है। अत एव प्रपंच न ब्रह्म का और न माया का कार्य है, क्योंकि ऐसे है ही नहीं कि प्रपंच उत्पन्न हुआ हो जैसे स्वप्न उत्पन्न होता नहीं है; उत्पत्ति वास्तविक परिवर्तन को कहते हैं, जहाँ परिवर्तन न हो

जडाऽनृतपरिच्छिन्नव्यावृत्त्यैव पदत्रयम्।
लक्षकं स्यादखण्डस्य यत्तद् ब्रह्मेति बुद्ध्यताम्।।१२।।

वहाँ उत्पत्ति कहना ही नहीं बनता। फिर भी जैसे प्रतीति की दृष्टि से 'सपना हुआ, समाप्त हुआ' कहते हैं वैसे प्रपंच का भी सृष्ट्यादि है और उस प्रातीतिक सृष्ट्यादि के संदर्भ में उसके कारणों की पहचान भी है। सृष्टि अवास्तविक है अतः उसका कारण भी अवास्तविक चाहिये, उसी का नाम माया है। अवास्तविक की भी सिद्धि क्योंकि वास्तविक से ही होती है इसलिये वास्तविक को उसका संबल समझकर यह कह दिया जाता है कि अवास्तविक का जो कार्य, उसके प्रति वास्तविक भी कारण है। साँप से जो भय उत्पन्न हुआ उसका एक कारण रस्सी भी जिस तरह है उसी तरह जगत् का कारण ब्रह्म है। अतः कारण होकर भी उन कार्यों से ब्रह्म परिच्छिन्न नहीं हो पाता। यदि माया का फैलाव न होकर ब्रह्म का ही कार्य होता तो जगत् अवश्य ब्रह्म को परिच्छिन्न करता। इसलिये तथाकथित 'शुद्धाद्वैत' विचार करने पर द्वैतवाद ही रह जाता है, इससे तो भेदाभेदवाद बेहतर है जिस पर गंभीर चिंतन करें तो भेद उपेक्ष्य और अभेद स्वीकार्य होकर अद्वैत में प्रतिष्ठा मिल सकती है। सत्यमादि वाक्य से कहा स्वरूप और 'तस्माद् वा' आदि से बताया रूप एक-समान सत्य न समझ लिये जायें वरन् स्वरूपलक्षण व उपलक्षण का अंतर पहचाना जाये इसलिये ग्रंथकार ने यहीं अनन्तता का उपपादन माया से किया है।।११।।

पूर्व में कहा कि 'अनृत नहीं, जड नहीं, अन्तवान् नहीं' और फिर प्रपंच को मायाविजृंभित बताया तो शंका होती है कि 'है'कहा समझा जाये ऐसा कोई वास्तविक कारण होगा ही नहीं; इसके समाधानार्थ बताते हैं कि 'अनृत नहीं' आदि से भी कही भाववस्तु ही जा रही है **सत्य आदि तीनों पद जड-अनृत-सीमित के निषेध के द्वारा भी लक्षणा से जिस अखण्ड के उपस्थापक हैं उसे ही ब्रह्म समझना चाहिये।।१२।।** निरालम्बन निषेध नहीं हुआ करता। किसी आलंबन या भावभूत वस्तु के बारे में ही निषेध हो सकता है। कपड़ा आदि कुछ हो तभी कह सकते हैं 'यह घड़ा नहीं है', भूतल आदि कोई स्थान हो तभी कह सकते हैं 'यहाँ घड़ा नहीं है', कोई-न-कोई काल हो (कपालकाल या ठीकरा-काल हो) तभी कह सकते हैं कि अभी या अब घड़ा नहीं है, कोई-न-कोई जानकार हो वही कह सकता है 'घड़ा नहीं'; अतः भाव का सहारा बिना लिये अभावमात्र अलीक है। 'अत्यन्त असत्' भी काल्पनिक प्रतियोगी का अभावइसी रूप से व्यवहार में आता है, इस रूपको छोड़कर

अत्यंत असत् अव्यवहार्य हो जाता है अतएव तार्किक उससे अपरिचित रहते हैं। निषेध की सालम्बनता के आधार पर सत्यादि पद अनृतादि निषेध करते हुए भी वस्तुभूत ब्रह्म के द्योतक हैं। 'ब्रह्म सत्यम्' का अर्थ हुआ 'ब्रह्म न अनृतम्'। 'न अनृतम्' यदि अनृत-व्यावृत्तिमात्र करे तो जिसे 'न अनृतम्' कहा उसे ब्रह्म से अभिन्न नहीं कह सकेंगे अतः 'न अनृतम्' से कोई ऐसा अर्थ भी समझना पड़ेगा जिसे ब्रह्म से अभिन्न कहा जाना संगत हो अर्थात् लक्षणा द्वारा अर्थावगम आवश्यक है तभी 'ब्रह्म न अनृतम्' वाक्य प्रमाण होगा। इसी तरह 'ब्रह्म न जडम्' और 'ब्रह्म अनन्तम्' वाक्यों में भी समझ लेना चाहिये। 'नानृतं', 'न जडम्', 'अनन्तम्' तीनों का लक्ष्यार्थ अखण्ड वस्तु है जिसे ब्रह्म कहा है।

'अखण्ड' का मतलब वह वस्तु है जो विशिष्ट न हो और अपर्याय अनेक शब्दों से प्रकाशित हो; या जो केवल प्रातिपदिक का अर्थ हो उसे अखण्ड कहते हैं। 'विशिष्ट न हो' का मतलब है कि उससे अन्य कोई ऐसी चीज़ है ही नहीं जिसका उससे कोई स्थायी संबंध हो सके। गुण, क्रिया, द्रव्य, सम्बन्ध आदि कुछ भी सम्बन्धी जिसका न हो सके वह अविशिष्ट है। ऐसे को यद्यपि तदन्य कोई जाने यह मुमकिन नहीं क्योंकि किसी ज्ञाता से ज्ञेयतया इसका सम्बन्ध नहीं होता तथापि यही स्वयम् अज्ञदशा में जब स्वयम् को समझना चाहे तब उपाय एक ही हैअपर्याय अनेक शब्दों से इसे बताया जाये। अकेला पद तो अज्ञातज्ञापक बनता नहीं अतः अनेक शब्दात्मक वाक्य का प्रयोग आवश्यक है। वे शब्द विभिन्नार्थक होंगे तो अर्थों के परस्पर किसी सम्बन्ध को सूचित करने से सखण्डार्थक बन जायेंगे और कोई सम्बन्ध न सूचित किया तो वाक्य निरर्थक रह जायेगा। अतः एकार्थक शब्द होने चाहिये लेकिन तब भी यदि पर्याय हुए तो वाक्य किसी अर्थ को नहीं कह पायेगा अतः वे शब्द अपर्याय होने चाहिये। पर्याय न हों और एकार्थक होंयह तभी होगा जब उनके प्रवृत्तिनिमित्तों में तो फ़र्क़ हो पर तात्पर्यविषय में फ़र्क़ न हो। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'सोऽयं देवदत्तः', 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः' आदि है जहाँ प्रत्येक शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अलग है पर बताते एक वस्तु को ही हैं। जिस शरीर को कह रहे हैं वही 'सः' का 'अयम्' का और 'देवदत्त' का विषय है लेकिन उसके भूतकाल संबंध, वर्तमानकाल संबंध आदि को निमित्त बनाकर ये शब्द उसे बता रहे हैं। अत एव सभी शब्दों का प्रयोजन भी है, उस शरीर के बारे में किसी-न-किसी अज्ञान या अन्यथा ज्ञान को मिटाने का कार्य कर रहे हैं लेकिन अर्थ, तात्पर्य विषय, एक पिण्ड ही है। अतः ये वाक्य अखण्डार्थक हैं और उनका अर्थ

अखण्ड वस्तु है। दीखने वाला शरीर या चंद्र भले ही विशिष्ट है लेकिन इन वाक्यों का अर्थभूत पिण्ड या चंद्र अखण्ड है क्योंकि वाक्य विशिष्टादिका प्रतिपादन नहीं कर रहे।

ऐसे अर्थ को प्रातिपदिक का अर्थ भी समझ सकते हैं। धातु व प्रत्यय न हों ऐसे सार्थक शब्द प्रातिपदिक कहे जाते हैं। धातु अर्थात् वे परिगणित शब्द जिनमें अधिकतम वे शब्द हैं जो क्रियावाचक हैं। प्रत्यय भी कुछ परिगणित शब्द ही हैं जो यों तो विभिन्न अर्थों के बोधक हैं पर वे अर्थ किसी अन्य वस्तु के विशेषण रूप ही होते हैं, जैसे 'राम ने'-पद में 'ने' एक प्रत्यय है। धातु-प्रत्यय से अलग घट, मठ आदि शब्द सार्थक होने से प्रातिपदिक हैं। ये जब 'ने, को' आदि प्रत्ययों से जुड़ते हैं तब पद बनते हैं व तभी कर्तृत्व-कर्मत्व आदि से विशेषित निजार्थ के बोधक होते हैं, उन प्रत्ययों के बिना ये लिंग-संख्या-सम्बंधादि विशेषताओं के बिना केवल निजार्थ को प्रकट करते हैं, वही प्रातिपदिकार्थ कहलाता है, उसमें कोई अंश नहीं होते अतः वह अर्थ अखण्ड होता है। 'अंश', 'खंड' से यहाँ घटादि वस्तु के कपालादि अंशों का निषेध नहीं वरन् 'घट' इस शब्द से बोध्य होते हुए वह वस्तु किसी अन्य शब्दार्थ से सम्बद्ध नहीं प्रतीत होती, यही विवक्षित है। किं च, देश, काल और विभिन्न व्यक्ति क्योंकि उसे खण्डित अर्थात् परिच्छिन्न नहीं करते इसलिये भी वह अखण्ड अर्थ होता है : घट-शब्दार्थ भूत-भावी कालों में, उत्तर-दक्षिण देशों में तथा बड़े-छोटे-लाल-काले घटव्यक्तियों में अपरिवर्तित रहता है, कालादि से वह विशिष्ट नहीं हो पाता, उपहित ही रहता है अतः इनसे सखण्ड न बनने के कारण वह अर्थ अखण्ड है। इतना ही नहीं, घट शब्दार्थ वह है जो भाषांतर में घट नहीं भी कहा जाता अर्थात्, वाचक से भी खंडित नहीं है, सीमित नहीं है। इसी तरह वह गुण-क्रिया आदि से भी अखंडित है; घट शब्दार्थ लाल घट 'ही' नहीं या काला घट 'ही' नहीं अतः लाल-काले आदि गुणों से सीमित नहीं। जलधारणादि क्रिया भी घट-व्यक्ति से ही होती है, घट-शब्दार्थ से नहीं, क्योंकि घट-शब्दार्थ कोई व्यक्ति है ही नहीं। इन सभी दृष्टियों से प्रातिपदिकार्थ को अखण्ड कहते हैं।

धात्वर्थ भी यदि क्रियासामान्य है तो प्रातिपदिकार्थात्मक हो जाता है; समस्त गम्-धात्वर्थों को 'ये गमन हैं' यों पहचाना ही जाता है सभी क्रियाओं को इसी तरह पहचानते हैं तभी एक ही धातु से विषय कर लेते हैं, अतः जिसके कारण सभी गमनों को गमन समझा जाता है वही गम्-धात्वर्थ होना उचित है और वह अखण्ड ही हो सकता है। इसी प्रकार तत्तत् प्रत्यय के समस्त अर्थव्यक्तियों के लिये तत्तत् प्रत्यय का

ही प्रयोग करना बताता है कि प्रत्ययार्थ भी अखंड है; अत एव 'राम ने खाया' और 'राम ने कहा' आदि विभिन्न परिस्थितियों में 'ने' प्रत्ययका प्रयोग संगत है। एवं च धातु-प्रत्ययों का पर्युदासकर प्रातिपदिकार्थ को अखण्ड कहने पर अभिप्राय है कि धातु-प्रत्यय जब व्यक्तिपरक हों तब सखण्डार्थक होते हैं अतः व्यक्तिपरक प्रातिपदिक भी सखण्डार्थक ही होगा। इससे यह भ्रम नहीं कर लेना चाहिये कि 'सामान्य' को अखण्डार्थ कह रहे हैं क्योंकि सामान्य एक पारिभाषिक पदार्थ है जिसे युक्ति-प्रमाण से सिद्ध नहीं कर सकते। यदि सामान्य का इतना ही अर्थ लें कि विभिन्न घटों की घट-यह पहचान कराने वाला अर्थ (ज्ञेय) घटसामान्य है, तब स्वीकार है कि उसे ही प्रातिपदिकार्थ या अखण्ड घट कह रहे हैं। भूतादि काल से विशिष्ट एवं वर्तमानादि काल से विशिष्ट 'विभिन्न' देवदत्तों को जिसके कारण 'ये एक ही हैं' यों पहचान लिया जाता है वह अखण्ड देवदत्त है, देवदत्त-सामान्य है, 'सोऽयं देवदत्तः'-अनुभव का विषय है।

इस प्रकार अखण्ड पदार्थ इंद्रियमात्र का विषय न होने से अनुसंधान द्वारा साक्षिभास्य वस्तु है। प्रमातृभास्य न होने से छह में से किसी प्रमाण का इसे विषय नहीं कह सकते। प्रमातृविषय न होने वाले अबाध्य ज्ञेयों को साक्षिभास्य मानना वेदान्तसंप्रदाय में स्वीकार है। अत एव कहा कि सत्यादि पद अनृतादि के व्यावर्तन द्वारा अखंड के लक्षक हैं; अखण्ड यदि प्रमेय होता तो वाच्य भी हो सकता था क्योंकि उसे प्रमाणतः उपस्थित कर शब्द से उसका सम्बन्ध ग्रहण किया जा सकता था, किन्तु प्रमेय न होने से यह संभव नहीं कि वह वाच्य हो अतः उसे लक्ष्य ही स्वीकारना उचित है। जिसे भी 'सत्य' यों पहचाना जाता है वह अनृत-भिन्न अवश्य होता है अतः 'अनृतभेद को संभव करने वाला' (अनृतभेदसंभावकत्व) सम्बन्ध से अखण्ड सत्य में सत्य-शब्द की लक्षणा हो जाती है। ऐसे ही ज्ञानशब्द में समझना चाहिये।

प्रश्न होगा कि तब सत्यादि प्रातिपदिकों का वाच्य क्या है? उत्तर है कि व्यक्तितादात्म्य का परित्याग किये बिना जो अखण्ड वह तो वाच्य है और उस तादात्म्य को छोड़कर वही लक्ष्य है। देवताधिकरण की रत्नप्रभा का इस विषय में अनुसंधान कर्तव्य है। अखण्डार्थ को वाच्यार्थ का एक हिस्सा माना जाता है अत एव भाग-त्यागलक्षणा से तत्त्वमादि वाक्य में अर्थबोध स्वीकार है। इसलिये अखण्ड को वाच्य नहीं मानते, वाच्य का घटक ही मानते है। 'अखण्ड और तादात्म्य'यह वाच्य होता है। इसे अन्विताभिधान के प्रकाश में समझना सुकर है अत एव विवरणाचार्य ने कार्यान्विता-भिधान न मानने पर भी इतरान्विताभिधान स्वीकार किया है। 'अखण्ड + अन्वय'

गुहाहितम्

तादृग् ब्रह्म कथं विद्याद् इति चेदभिधीयते।
गुहायां परमे व्योम्नि स्थितं ब्रह्म तु वेद यः।।१३।।

वाच्य होगा तभी 'इतर' को स्वयं से जोड़ेगा। इसलिये अकेला अखण्ड लक्ष्य होगा। एवं च 'प्रातिपदिकार्थ' से प्रातिपदिक का लक्ष्यार्थ ही अखण्ड विवक्षित है। सत्यादि शब्दों का लक्ष्यभूत अर्थ ज्ञातव्य वस्तु है यह तात्पर्य है।।१२।।

उक्त लक्षण वाली वस्तु पूर्ण होने पर भी प्रत्यक्प्रकाश के रूप में ही निःसन्दिग्ध होकर पुरुषार्थ-सम्पादक होती है अतः उसे बुद्धिसाक्षी समझना चाहिये यह 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' वाक्य से श्रुति ने कहा है इस बात को व्यक्त करते हैं **सत्यादिरूप ब्रह्म को साधक कैसे जाने? गुहामें, परम व्योम में स्थित ब्रह्म तो जो जानता है (वही है)!।।१३।।** 'कैसे जाने?' अर्थात् विषयरूप से जाना जाये या विषयीरूप से जाना जाये? उत्तर दिया कि जो जानता है वही क्योंकि ब्रह्म है इसलिये उसे बुद्धिसाक्षी ही समझना होगा, विषय-विषयी के विभाग का प्रकाशक समझना पड़ेगा। 'यो वेद (स) तु (एव) ब्रह्म' ऐसा श्लोकान्वय उचित है। या श्लोक के 'यः' का श्रुतिस्थ 'सोश्नुते' से सम्बन्ध समझ सकते हैं क्योंकि वह वाक्य भी बुद्धिस्थ ही है। अन्नमय से आनंदमय तक के कोश 'गुहा' हैं जिनका उपादान कारण अव्याकृत ही 'परम व्योम' है जिसका साक्षी ब्रह्म है। बृहदारण्यक के अक्षरब्राह्मण में अव्याकृत के लिये स्पष्ट ही 'आकाश' शब्द का प्रयोग है। व्योम से भूताकाश न ले लिया जाये इसलिये 'परम्' विशेषण दिया। यद्यपि ब्रह्म में ही सारा संसार अध्यस्त है, ब्रह्म किसी 'में' हो यह संभव नहीं क्योंकि जिसमें ब्रह्म हो उसे ब्रह्म से व्यापक होना पड़ेगा और ऐसा कुछ है नहीं, तथापि साधक क्योंकि बाह्य विषयों से लेकर आनंदमय कोश तक को छोड़कर जब बुद्धिसाक्षी पर एकाग्र होता है तभी ब्रह्म का साक्षात् दर्शन पाता है इसलिये ब्रह्म को गुहा में, परम व्योम में बताया अर्थात् इनमें एकाग्र होने पर वह प्रकट रूप से पाया जाता है अतः उसे इनमें कह देते हैं। गुहा अर्थात् कोशपंचक में जो अव्याकृत उसका साक्षीयह एक ढंग है समझने का अथवा, अव्याकृत को ही गुहा कहा है यह भी मान सकते हैं अर्थात् परम व्योमरूप गुहा में स्थित ब्रह्म को ज्ञेय कह रहे हैं। तात्पर्य में अंतर नहीं। अथवा परम व्योम अर्थात् अव्याकृत में तदेकदेशभूत या तत्कार्यभूत जो बुद्धिरूप गुहा उसके साक्षी को ब्रह्म कहा है यह उचित अर्थ है। अथवा नाभि से दशांगुल ऊपर जो हृदयकमल है उसके अंदर जो अंगूठेभर का

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा।।१४।।

आकाश है वही यहाँ परम व्योम है और उसमें अवस्थित बुद्धि गुहा है तथा उसमें उपलभ्य होने से ब्रह्म उसके अंदर है। दहरविद्या-नामक उपासना का अनुसन्धान कर लेना चाहिये, उसके अभ्यास से ब्रह्मदर्शन में अधिक सुविधा होती है ऐसा अनुभवियों का कहना है। यद्यपि यह ब्रह्म हमारे कोशों में छिपा है तथापि क्योंकि हम कोशों से तादात्म्य कर उन्हें ही प्रधानतः अनुभव करते रहते हैं इसलिये इससे बेखबर रहते हैं। कोशादि सारी कल्पनाओं का आश्रय होने पर भी ब्रह्म उसी प्रकार नहीं दीखता जैसे सारे रूपों को दिखाने वाला प्रकाश : हम तत्तद्रूपों को तो देखते हैं पर यह भूले ही रहते हैं कि प्रकाश दीख रहा है! ऐसे ही ब्रह्म स्वतः भासमान होने पर भी हमें लगता है कि हम उसे नहीं जानते। श्रुति का निर्देश है कि गुहा-निहित प्रत्यग्रूप ब्रह्म का निरावरण कर लेना चाहिये जिससे परम पुरुषार्थ सिद्ध होगा।।१३।।

जिस गुहा में ब्रह्मवेदन करना है उसे स्पष्ट करते हैं **देह के भीतर प्राण, प्राण के भीतर मन, उससे भीतर कर्त्ता व उससे भीतर भोक्तायह वह परंपरा (शृंखला, क्रमिक आवरण) है जो यहाँ गुहा-शब्द का अर्थ है।।१४।।** देहसे अन्नमय, प्राणसे प्राणमय, मनसे मनोमय, कर्त्तासे विज्ञानमय और भोक्ता से आनंदमय कोश कहे जा रहे हैं। श्लोक ४५ से इन कोशों के विवेक का प्रसंग आयेगा। माता-पिता द्वारा खाये अन्न से जन्य वीर्य से उत्पादित और अन्न से ही संवर्धित स्थूल शरीर यहाँ देह है। यह पहला कोश है। इस ग्रंथ में गौणात्माओं को भी एक कोश माना है अत एव श्लोक १३८ में 'कोशषट्क' का कथन है, उस दृष्टि से देह का अभिप्राय देह-सम्बन्धियों सहित अन्नमय से है, यह समझना चाहिये। अथवा, कोशों में ग्राह्य होने पर भी गुहा में गौणात्माओं का ग्रहण इष्ट नहीं है यह मान सकते हैं। अध्यारोप-प्रसंग में गौणात्मा-रूप छठे कोश को न कहकर अपवाद प्रसंग में उसके कथन से यह द्योतित है कि देहपर्यन्त अहंकार तो स्वाभाविक है पर ममतास्पदों से भी घनिष्ठ तादात्म्य करना जीव का निज प्रयास है। अत एव जानवरों में गौणात्माका बंधन न्यून होता है, मनुष्य चिन्तन आदि द्वारा उसे दृढतर और विस्तृत करता है। फिर भी, जानवरों में होता है, इतने से यह तो निश्चित है कि वह भी अज्ञानहेतुक अर्थात् स्वाभाविक है, किंतु स्वभाववश वह अतिक्षीण है, उसका पोषण विचारापेक्ष है। अतः उस कोश को गुहा में न गिनना भी संगत है। प्राणापानादि पाँचों वृत्तियों वाला प्राण

ही प्राणमय कोश है। इसमें कर्मेन्द्रियों का अंतर्भाव समझना चाहिये। प्राण सारे देह में भरा रहकर शरीर को बल देता है एवं सारी इंद्रियों को इस लायक बनाये रखता है कि वे अपने व्यापार कर सकें घर-व्यापारादि एवं शरीर में अहन्ता-ममता करने वाला जो कामनादि अवस्थाओं में भटकता रहता है वह मन है जिसे ज्ञानेन्द्रियों सहित एक कोश समझने पर मनोमय कहा जाता है। तैत्तिरीय में तो यजु, ऋक्, साम, आदेश (ब्राह्मण), और अथर्वयों वेदघटित मनोमयकोश बताया है। वेद मनोवृत्तिरूप होने से कामादि की तरह यजुरादि का उल्लेख भी मनका ही उपस्थापक है अतः मनःप्रधान होने के कारण मनोमय कोश को मनोवृत्तिरूप कहना संगत है। 'कर्त्ता' अर्थात् विज्ञानमय कोश जिसमें ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि का ग्रहण है। चेतन के तादात्म्य से युक्त बुद्धि जो जाग्रदवस्था में सारे देह में फैली हुई 'चेतना' कही जाती है, वही विज्ञानमय है। करण-प्रधान मनोमय और कर्तृप्रधान विज्ञानमय है ऐसा पंचदशी में (३.८) स्पष्ट किया है। श्रद्धा, ऋत, सत्य, योग और महःइनसे विज्ञानमय निर्मित है ऐसा तैत्तिरीयोपनिषत् में बताया है। योग अर्थात् शास्त्र के अर्थ के विषय में संशय-विपर्यय से रहित निश्चय। महः से महत्तत्व, हिरण्यगर्भ विवक्षित है जो विज्ञानमय का कारण होने से उसकी प्रतिष्ठारूप से उसका घटक कहा गया है। यज्ञविस्तारक होने से यही कर्तृत्वसम्पादक है। 'भोक्ता' से आनन्दमय समझना चाहिये। पुण्यकर्म के फलानुभव का काल आने पर बुद्धि की अन्तर्मुखी वृत्ति बनती है जिसमें आत्मा का आनंदस्वरूप प्रतिफलित होता है तथा भोग समाप्ति पर वह वृत्ति निद्रारूप से लीन हो जाती है; उस वृत्ति को आनंदमय कहते हैं। यद्यपि निद्रा तामस है तथापि वहाँ आनंद होने से मलिनसत्त्व की स्थिति भी स्वीकार है। जाग्रदादि में बुद्धिवृत्ति स्फुट है, सुषुप्ति में अस्फुट है अथवा वहाँ अज्ञान की ही वैसे वृत्ति है जैसा कि सिद्धान्तबिंदु अष्टमश्लोक व्याख्या में बताया है। तैत्तिरीयमें प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द, ब्रह्मइनसे घटित आनंदमय बताया है। सुखानुभव के ही ये विभिन्न पहलू हैं अतः तात्पर्यतः कोई विशेष नहीं है।

इन पाँचों कोशों को इकट्ठा कर 'गुहा' कहा है। क्योंकि ये कोश निश्चित क्रम से अवस्थित हैं इसलिये इनकी 'परंपरा' बतायी। अन्नमय सबसे बाहरी है यह तो प्रत्यक्ष है। बाकी चार का क्रम तादात्म्य के न्यूनाधिक्य के अनुसार समझना चाहिये हालांकि क्रम वाचनिक ही मानना पड़ता है। निरतिशय और निर्हेतुक प्रिय होने से आनंदमय आत्मा के निकटतम है, करण से कर्ता प्रधान होने के कारण मनोमय की

अपेक्षा विज्ञानमय निकट है तथा मन की संतुष्टि के लिये प्राण का विनियोग होता है अतः मन से प्राण बाह्य है; यह आनुभविक पारंपर्य सुगम है। किसी एक कोश को ही गुहा मानने का बंधन नहीं अतः परंपरा को गुहा कहा; तात्पर्य है कि प्रत्येक कोश ही गुहा है जिसमें ब्रह्मदर्शन कर्तव्य है जैसा भृगु ने किया भी लेकिन आनंदमय की पुच्छ तक पहुँचे बिना तत्तत् कोश में किया ब्रह्मदर्शन अपूर्ण रहता है, भूयोभूयः विचारात्मक तप द्वारा जिज्ञासा बनाये रखनी पड़ती है। उस पूँछ पर पहुँचते ही क्योंकि परंपरा समाप्त हो जाती है इसलिये उससे आगे कुछ जानने को नहीं रहता, पूर्ण आत्मा का अवगम हो जाता है। साधक एक-एक कोश में जो आत्मा है उसे ही ब्रह्मस्वरूप समझ कर बाहर-बाहर के कोशों से आत्मबुद्धि हटाये, जिसे उपनिषत् ने उपसंक्रमण कहा है जिसका वार्तिककार ने अर्थ कहा है

‘गुहाश्रयाऽभिसम्बन्धो योऽविद्याविभ्रमाद् भवेत्।
आत्मज्ञानाद् भ्रमध्वस्तौ ‘संक्रान्तिः’ इति गीरियम्।।’

आत्मस्वरूप के अज्ञानवश भ्रम से हम उक्त गुहाओं को आत्मा समझते हैं अतः जितना-जितना आत्मा का स्वरूप समझते जाते हैं उतना-उतना उसके बारे में भ्रम मिटता जाता है। भ्रम मिटना ही उपसंक्रमण है। यद्यपि प्राणमय की आत्मता सच्ची नहीं है तथापि अन्नमय की आत्मता का भ्रम तो प्राणमय को आत्मा समझने से दूर होता ही है अतः प्राणमयात्मतावबोध से अन्नमयात्मताभ्रम मिटाने को ही ‘अन्नमयात्मा का उपसंक्रमण करना’ वेद ने कहा है। स्थूलारुन्धती-न्याय से भी यही भाव स्पष्ट होता है। उपासना की दृष्टि से भी यही अभिप्राय है क्योंकि तत्तत् कोश में अभिमान-दाढ्‍र्य से पूर्व-पूर्व कोश में अभिमान शिथिल होगा ही। छान्दोग्य में सनत्कुमारविद्या से भी यह प्रक्रिया स्पष्ट होती है क्योंकि वहाँ भी एक-एक को व्यापक समझते-समझते व्यापक परमात्मा का ज्ञान बताया है। अवस्थाविवेक, शरीरत्रयविवेक की वेदान्तप्रक्रिया भी इसी तरह है। साधक जब तक यों क्रमशः उस-उस मिथ्यात्मा से आत्मबुद्धि नहीं हटायेगा तब तक संभव नहीं कि एकबारगी ही पाँचों कोशों से आत्मबुद्धि हट जाये! बौद्धिक स्तर पर इनकी अनात्मता की वार्ता तो की जा सकती है लेकिन इनमें जो तादात्म्य है उसे शिथिल करने के लिये उक्त क्रम से अगली-अगली पौड़ी पर पैर जमाकर ही पिछली पौड़ी से उठा जा सकता है। इसलिये यद्यपि श्रुति ने किसी एक ही गुहा का उल्लेख किया है तथापि आचार्य स्पष्ट कर रहे हैं कि यह परंपरा ही वह गुहा है अतः प्रत्येक कोश को गुहा समझते हुए उपसंक्रमण करते जाना चाहिये।।१४।।

पञ्चकोशगुहायां यद् अज्ञानं कारणं स्थितम्।
तद् व्योम परमं तस्मिन् निगूढं ब्रह्म तिष्ठति।।१५।।

गुहा-पदार्थ बताकर 'परमे व्योमन्' का अर्थ समझाते हैं **पाँचों कोशरूप गुहा में जो कारणरूप अज्ञान मौजूद है वह परम व्योम है जिसमें ब्रह्म यों छिपा रहता है कि उसकी झलक मिलती रहने पर भी उसका सही, समग्र ज्ञान नहीं होता।।१५।।** आत्मा का अज्ञान सारे अनात्माओं का आकार लेकर उपस्थित है अतः सभी अनात्माओं में वह अज्ञान मौजूद है, क्योंकि कार्य में कारण रहता है। प्रायः, कारण में कार्य रहता हैऐसा कहते हैं; वह विचारदृष्टि से है। प्रतीतिकी दृष्टि से कार्य में कारण रहता है यह ठीक ही है। कार्य में कारण तो है ही, साथ में विशेष नाम-रूप-कर्म भी हैं अतः प्रतीतिस्तर पर कार्य का एकदेश ही कारण होता है जिससे उसे 'कार्य में' कहना बन जाता है। अथवा, जब तक पाँचों कोशों में है तभी जाग्रदवस्था में आत्मा यथाशास्त्र विचार कर इस निश्चय पर पहुँच सकता है कि अनात्मवैविध्य का कारण अज्ञान ही है। अतः पंचकोश रूप गुहा रहने पर जो अज्ञान 'स्थित' अर्थात् निश्चित होता है कि कारण है, उसे परम व्योम कहा है यह अभिप्राय है। 'स्थित' से यह भी कह रहे हैं कि अज्ञान नैसर्गिक है, उपलब्ध है, 'इसे मानो' यह विधान नहीं करना पड़ता और न ही इसे मना किया जा सकता है। विचार से इतना ही निर्धारित करना पड़ेगा कि नानात्व का वही कारण है। संघात-आरंभ-परिणामवादों का विश्लेषण कर जब तक अज्ञात का निश्चय नहीं होता तब तक जिस विवर्तवाद का अवलंबन किया जाता है वह यही है कि अज्ञान कारण है। जब तक आत्मा और उसके अज्ञान से अतिरिक्त किसी भी चीज को कारण माना जाता है तब तक आत्मजिज्ञासा अध्यात्मसाधना नहीं बनती, बहिर्मुखता और प्रपंचसत्यता का आग्रह दूर नहीं होता। अज्ञान-कारणतावाद या मायावाद इसी लिये ब्रह्मवाद की पूर्वभूमि बतायी गयी है। कहीं उसे ही चरम तत्त्व न समझ लिया जाये इसलिये श्रुति ने स्पष्ट किया कि वह तो केवल परम व्योम है, वस्तु तो उसमें निहित है। ब्रह्म का तटस्थ लक्षण जगज्जन्मादिहेतुत्व कहा; यदि अज्ञान ही कारण है तो वही ब्रह्म होगायह प्रश्न होता है जिसके उत्तर में बताया कि कारण होने पर भी अज्ञान नहीं वरन् उसमें जो निहित है वह ब्रह्म है। अपरम व्योम भूताकाश है, उससे परे अव्याकृत या अज्ञानरूप आकाश है और उसमें ब्रह्म निहित है। कामना आदि के उपप्लव वाली बुद्धि में वह ब्रह्म स्पष्ट नहीं होता, इनका बाध करने वाली सात्त्विक बुद्धि में स्पष्ट होता है यों भ्रांतिदशा में

जीवचैतन्यमेवाऽत्र निगूढमिति चेत् तदा।
तस्यैव ब्रह्मतां विद्याज्जीवत्वभ्रान्तिहानये।।१६।।

छिपा भी वहीं है और विवेकदशा में उपलब्ध भी वहीं होता है इसलिये इसे निगूढ कहा। खोल में तकिया छिप जाता है, तब भी इतना तो पता चल जाता है कि तकिया है, पर कैसा हैयह नहीं दीखता। इसी तरह अज्ञान में आत्मा छिपा है अतः कैसा है यह नहीं मालूम लेकिन 'अस्ति, भाति, प्रिय' रूपों से आत्मा की झलक सदा मिल रही है। इसीलिये सिर्फ 'हित' के बजाये 'निहित' कहा। अज्ञान का आश्रय व विषय दोनों ही ब्रह्म है अतः अज्ञान में निहित है। ब्रह्मलक्षण जगत्कारणता अज्ञान में बताने से यह स्पष्ट हो गया कि वह तटस्थ लक्षण या उपलक्षण ही है, स्वरूप लक्षण नहीं है। जगत्कारणता अज्ञान का स्वरूपलक्षण तथा ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है; लाल खोल वाले तकिये को 'लाल तकिया' कह-समझ सकते हैं, ऐसे ही जगत्कारणता वाले अज्ञान में निहित ब्रह्म को जगत्कारण कह-समझ सकते हैं। जगत् के समान सत्ता वाली कारणता तो अविद्या में ही है अतः जैसी (व्यावहारिक) अविद्या वैसी उसमें स्थित कारणता, जबकि ब्रह्म पारमार्थिक है और उसमें कही-समझी जाने वाली कारणता व्यावहारिक है। अविद्या परतंत्र होने से 'स्थित' कही व ब्रह्म स्वतन्त्र होने से 'तिष्ठति' (रहता है) कहा। ब्रह्म में अज्ञान है या अज्ञान में ब्रह्म है? उत्तर है कि अधिष्ठान ब्रह्म है पर आवरण अज्ञान है अतः तकिये 'पर' खोल है और खोल 'में' तकिया है की तरह ब्रह्म पर अज्ञान अध्यस्त है तथा अज्ञान के आवरण में ब्रह्म हैदोनों बातें ठीक हैं। ब्रह्म हालाँकि किसी में नहीं रहता लेकिन जब तक 'निगूढ' या छिपा है तब तक अज्ञान में रहने वाला समझा जाता है अर्थात् 'निगूढं ब्रह्म तस्मिन् तिष्ठति' यह सम्बन्ध मान लेना चाहिये।।१५।।

उक्त ब्रह्म ज्ञेय होने पर भी ज्ञाता साधक से भिन्न नहीं है इसे प्रश्नोत्तर से व्यक्त करते हैं **जब यह प्रश्न हो कि परम व्योम में छिपा चैतन्य जीव ही है (तो उसे ब्रह्म क्यों कहा)? तब उत्तर है कि उसी चैतन्य की ब्रह्मरूपता को समझना चाहिये ताकि यह भ्रम मिटे कि वह जीव है।।१६।।** क्योंकि पाँचों कोशों में तादात्म्य रखने वाले को ही जीव कहते हैं इसलिये इनमें होने वाले आकाश के अंदर छिपा वही होगा यह सहज शंका है। बुद्धिसाक्षी तो 'मैं' ही हूँ, अज्ञानसाक्षी भी 'मैं' ही हूँ क्योंकि अज्ञानका 'मैं अज्ञ हूँ' यही अनुभव है, इसलिये परम व्योम में जो चेतन छिपा है वह मैं हूँ, मैं जीव हूँ, उसे शास्त्र ब्रह्म कैसे कह रहा है? अन्यत्र श्रुति ने शरीर

में दो चेतनों की अवस्थिति भी बतायी है 'द्वा सुपर्णा' आदि कहकर, अतः शंका हो जाती है कि यहाँ मैं से अन्य उस दूसरे चेतन को ही ब्रह्म कहा जा रहा होगा। छिपने का अभिप्राय कहा था कि पूरी तरह न दीखने पर भी उसकी झलक मिल रही है। यह भी जीव के संदर्भ में ही ठीक है। ईश्वर या जीवभिन्न किसी चेतन की तो हमें गुहान्तःस्थ रूप से झलक भी नहीं मिलती! इसलिये प्रश्न संगत है। उत्तर भी सुस्पष्ट है : श्रुति ने सत्यादि लक्षण वाले को ही गुहा में, परम व्योम में निहित कहकर यही स्फुट किया कि जो वहाँ छिपा है वही ब्रह्म है। जैसे कोई राजा भेष बदलकर कहीं छिपा हो, वहाँ भिखमंगा समझा जा रहा हो, उसके बारे में कोई प्रामाणिक व्यक्ति कहे 'यह राजा है' तो पता चल जाता है कि उसका भिखमंगापना मिथ्या है, वस्तुतः वह राजा है; वैसे ही यहाँ छिपा चेतन जीव समझा जा रहा है। इसी को श्रुति ने ब्रह्म कह दिया तो यह पता चल गया कि इसकी जीवरूपता मिथ्या है। हमें जो यह भ्रम है कि हम जीव हैं, इसे मिटाने के लिये ही वेद ने उपदेश दिया कि हम ब्रह्म हैं। हम हैं तो चिन्मात्र पर क्योंकि खुद को जीव माने हुए हैं इसलिये उस भ्रम को मिटाने के लिये अपनी ब्रह्मरूपता समझनी पड़ती है। चेतन की न जीवता सच्ची है, न ब्रह्म'ता' सच्ची है! 'ता'का अर्थ कोई खासियत होता है जैसे मनुष्यों की खासियत को मनुष्यता कहते हैं। ऐसी कोई खासियत चेतन में वस्तुतः है नहीं क्योंकि वह खासियत चेतन 'में' रहने के लिये चेतन से भिन्न होनी पड़ेगी और चेतन ही सत्य है तो उससे भिन्न होने पर असत्य ही होगी। फिर भी चेतन की जीवता हमें निसर्गतः प्रतीयमान है अतः उस भ्रम को दूर करने के लिये जीवता की काट ब्रह्मता बताकर की जाती है; जीवता हटाने के बाद ब्रह्मता चेतन के सिर पर नहीं बैठी रहती! जीव अर्थात् परिच्छिन्न चैतन्य, ब्रह्म अर्थात् व्यापक चैतन्य; जैसे परिच्छेद अनात्मापेक्ष है वैसे व्यापकता भी, क्योंकि कुछ व्याप्य हो तभी उसे व्याप्त करने वाला व्यापक होगा, जब कुछ व्याप्य नहीं तब व्यापक कहने का भी कोई मतलब नहीं। इसलिये परिच्छेद और व्यापकता दोनों मिथ्या हैं, परस्पर विरोधी हैं। जब तक परिच्छेद का निश्चय है तब तक 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' यह लगता है अर्थात् जीवता ब्रह्मता का विरोध कर रही है। जब व्यापकता का निश्चय है तब 'मैं जीव नहीं हूँ' यह लगता है अर्थात् ब्रह्मता जीवता का विरोध करती है। जीवभाव दुःख देता है, ब्रह्मभाव दुःख मिटाता है। अतः भले ही ब्रह्मता मिथ्या हो फिर भी पुरुषार्थ है क्योंकि दुःख दूर करती है। कह सकते हैं कि मिथ्या ब्रह्मता दुःख को सचमुच कैसे दूर करेगी? जवाब सीधा हैसचमुच दुःख

स्वतो ब्रह्मैव चैतन्यं जीवत्वं प्राणधारणात्।
कोशतादात्म्यविभ्रान्त्या भात्यस्य प्राणधारणम्।।१७।।

होता तो उसे दूर भी सचमुच किया जाता! जैसा दुःख है वैसा ही उसका दूर होना भी है। यदि दुःख सच्चा नहीं तो उसे दूर करना क्यों? इसलिये कि वह सच्चा लग रहा है और बुरा लग रहा है। कई बार झूठी चीज़ भी बुरी लगे तो हटानी पड़ती है जैसे अवसादग्रस्त मनोरोगी काल्पनिक दुःखों व भयों से पीडित होता है तो उस पीडा को मिटाने के लिये उसकी कल्पनाओं को रोकना या अन्य दिशा में मोड़ना पड़ता है। यद्यपि वे दुःख, भय काल्पनिक हैं अतः उन्हें दूर करना अनावश्यक लगता है तथापि उनका असर अनिष्ट है अतः उन्हें दूर करना अभीष्ट होता है। इसी प्रकार जीवता काल्पनिक होने पर भी अनिष्ट है, अतः इसे ब्रह्मता के सहारे दूर करना चाहिये यह शास्त्र कह रहा है।।१६।।

चैतन्य को जीव समझना भ्रम है जो उसे ब्रह्म समझने से मिटता है। भ्रम तभी मिटता है जब सत्य का ज्ञान हो। इससे सिद्ध होता है कि वास्तव में चैतन्य ब्रह्म है। ब्रह्मता कल्पित होने पर भी ब्रह्म कल्पित नहीं वरन् सत्य है। इस दृष्टि से व्यापक के बजाये पूर्ण-शब्द का प्रयोग भी किया जाता है क्योंकि जैसे व्यापक व्याप्यापेक्ष है ऐसे पूर्ण अन्यापेक्ष नहीं होता। तात्पर्य समान ही है। जीवता की भ्रमरूपता प्रकट करते हैं **चैतन्य खुद तो ब्रह्म ही है, प्राणों को धारण करने से उसकी जीवता है। यह जो प्रतीति है कि जीव प्राणों को धारण कर रहा है वह इसलिये कि चैतन्य को कोशों से तादात्म्य का भ्रम है।।१७।।** 'खुद' अर्थात् बिना किसी सहारे के, निरुपाधिक तो चेतन की पूर्णता ही है, परिच्छिन्नता उपाधि से है अतः मिथ्या है जैसे आकाश में घटादि उपाधि के कारण परिच्छिन्नता होती है अतः असत्य है, खुद आकाश व्यापक ही है। जीवरूपता किस उपाधि से है? प्राणों को धारण करना ही वह उपाधि है जिसकी अपेक्षा से चेतन जीव समझा जा रहा है। यद्यपि चेतन नित्य विभु है तथापि जिस शरीर में प्राण रहते हैं वहाँ लगता है यहाँ जीव है और जिस शव में प्राण नहीं रहते वहाँ लगता है कि जीव नहीं रहा। अतः प्राणधारण से ही जीव का होना पता लगने के कारण उसी को उपाधि कहा। बिना जीव वाले शव, कुर्सी आदि में हमें चेतन भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि हम जीव से अन्य चेतन को समझते ही नहीं। पहले चेतन में जीव का भ्रम हुआ फिर जहाँ जीव नहीं वहाँ चेतन ही नहीं यह भ्रम हो गया! अर्थात् चेतन को उपाधि के परिप्रेक्ष्य

बिना समझें तो यही निर्णय होगा कि वह पूर्ण है, उसकी अपूर्णता तो औपाधिक भ्रम ही है। यह प्रतीत होता क्यों है कि चेतन प्राणों को धारण कर रहा है? पाँचों कोश सम्बद्ध रहें इसी का नाम प्राणधारण है। क्योंकि चेतन पाँचों में अध्यास कर रहा है इसीलिये पाँचों सम्बद्ध हैं। कोशों को स्वयं से अभिन्न समझना, उन्हीं को 'मैं' समझनाइसे ही तादात्म्य का भ्रम कहा है। वस्तु अपने से अलग हो फिर भी उसे अपने से एक समझा जाये, इसे तादात्म्य कहते हैं। कोशों से चेतन का अभेदाध्यास इतना है कि जहाँ कोश नहीं वहाँ स्वयं को भी नहीं मानता! स्थूल देह काशी में है तो चेतन खुद को भी काशी में ही मानता है, हरद्वार में नहीं; प्राणमय में बल है तभी स्वयं को बली मानता है इत्यादि। पाँचों कोशों का परस्पर यही सम्बन्ध है कि वे सभी चेतन पर ऐसे अध्यस्त हैं कि चेतन स्वयं को कोशरूप समझ रहा है। अन्नमय में ऐसा अध्यास प्रारब्धानुसार आता-जाता है, बाकी कोशों में तो आमोक्ष रहता है। जिस अन्नमय में अध्यास रहता है उससे अन्य कोश भी सम्बद्ध हो जाते हैं तो प्राणधारण हो जाता है और उससे वह अध्यास समाप्त होता है तो अन्य कोशों का सम्बन्ध टूटने से प्राणवियोग हो जाता है। इसलिये कोशों में तादात्म्याध्यास से ही चेतन में जीवता-भ्रान्ति है। तादात्म्याध्यास अविद्याकृत है अतः आत्मवस्तु की विद्या से ही निवृत्त होता है।।१७।।

पाँचवें श्लोक में ज्ञेय, ज्ञान और फल इन तीन विषयों की प्रतिज्ञा की थी। इनमें ज्ञेय का विचार यहाँ तक किया। अब ज्ञान के बारे में बताना प्रारंभ करते हैं। चैतन्य स्वभाव से ब्रह्म और अध्यास से जीव है यह कहा तो जिज्ञासा होगी कि वह अध्यास दूर कैसे हो? इससे ध्वनित है कि अध्यास तभी कहना बनता है जब उसे मिटाने वाला कोई सत्य हो। यही बौद्धों की ग़लती है कि वे सभी कुछ मिथ्या मानते हैं; कुछ सत्य हो तभी बाकी सब को मिथ्या कहना उचित है, यदि कुछ सत्य नहीं तब सबको मिथ्या कहो या सत्य कहो, बात एक ही रहेगी। वेदान्त परमार्थ सत्य की अपेक्षा से ही प्रपंच को, जीव-ईश्वरादि भेद को मिथ्या बताते हैं। साधक भी उस सत्य के बल पर ही इसे मिथ्या समझे तभी उसका हित है। यदि परमार्थ सत्य को जाने बिना संसारादि को भ्रम मानता रह गया तो पुरुषार्थ से वंचित रह जायेगा। अतः उक्त अध्यास को मिटाने के उपायभूत ज्ञान की सूचना देते हैं **आगे बताये जाने वाले विवेक से पूर्वोक्त आत्माऽनात्म-अभेदभ्रम का बाध होता है। गुहा में, परम व्योम में निहित सत्य-ज्ञान-अनन्त के निःसन्दिग्ध समीचीन अनुभव से ही ब्रह्म का साक्षात्कार**

ज्ञानम्

वक्ष्यमाणविवेकेन तत्तादात्म्यमपोह्यते।

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वीदृग् बोधेनैव न चान्यथा।।१८।।

होता है, अन्य किसी तरह नहीं।।१८।। अभेद का भ्रम मिटाने के लिये भेदज्ञान जरूरी है अतः विवेक से इसका निरास कहा। विवेक भेद का ज्ञान होता है, सही-गलत, काला-सफेद आदि को पृथक्-पृथक् सुनिश्चित करने का नाम विवेक है। कोशों से एकमेककर आत्मा समझा जा रहा है, इसके विरोध के लिये यह जानना पड़ेगा कि कोश व आत्मा परस्पर अलग हैं। 'मैं मनुष्य, बली, विज्ञ, कर्त्ता, सुखी' आदि प्रतीति कोश से एक हुए आत्मा की है, विवेक से स्पष्ट होगा कि मनुष्यतादि कोशधर्म हैं, उनसे आत्मा सर्वथा असम्बद्ध है। जब एक लग रहा है तब भी इनका कोई वास्तविक सम्बंध नहीं है अतः जो प्रतीतिसिद्ध संबंध है वह मिथ्या ही हो सकता है जिसे ज्ञानसे ही दूर किया जा सकता है। अत एव उक्त अध्यास मिटाने का एकमात्र साधन तत्त्वज्ञान है, साधनान्तर संभव ही नहीं। आत्मा का अज्ञान जिसे है उसी को विवेकाभ्यासपूर्वक तत्त्वज्ञान पाना पड़ेगा। कोशों से विवेक हर साधक को स्वयं ही करना पड़ता है, जैसा अभी कोशों से एकता का दृढ अनुभव है ऐसा दृढ अनुभव ही इनके भेद का बना रहे तभी साधक का कल्याण है। इसीलिये श्रुतिने आत्मा का लक्षण बताते हुए प्रारंभ किया कि जहाँ सत्यादि लक्षण मिलें उसे ही आत्मा समझो, जहाँ वे लक्षण न मिलें उन्हें अनात्मा समझते जाओ, उन्हें मैं समझना छोड़ते जाओ। इसके लिये विचार पर, प्रमाण पर निष्ठा चाहिये। स्वयं के अनुभव का और उसका विश्लेषण करने से जिस नतीजे पर पहुँचते हैं उसका जो भरोसा न कर सके वह विचार मार्ग का पथिक नहीं बनेगा। विचारित अनुभव को अविचारित प्रतीति से बलवत्तर माने तभी ग़लत मान्यताएँ छूट सकती हैं। जब तक संशय आये तब तक उसे मिटाने के लिये गंभीरतर विचार करे पर जब निर्णय पर पहुँचे तब 'यही ठीक बात है' ऐसा निश्चय रखे तभी ज्ञान-साधना संभव है। जिसे अपने विचार पर एवं प्रमाण पर श्रद्धा नहीं होती वह साधनान्तर की ओर प्रवृत्त हो जाता है पर क्योंकि ग़लत अनुभव को ग़लत समझना एवं ठीक अनुभव पाना यह केवल विचार से संभव है इसलिये जप-अनुष्ठान आदि साधनांतर इसमें सहायक नहीं बन पाते बल्कि कर्तृभोक्तृभाव को ही दृढ करते हैं। इन अन्य साधनों का विनियोग चित्त-शोधन में ही है, वस्तुसिद्धि तो केवल यथाप्रमाण विचार से ही होगी। यदि किसी क्रिया से शारीरिक या मानस प्रयास

सेकोई विशेष अनुभव हुआ भी तो वह औपाधिक ही होगा, उस क्रियारूप उपाधि से ही होगा अतः पूर्वानुभव को निवृत्त भले ही कर दे, बाधित नहीं करेगा। दुर्बल व्यक्ति व्यायाम आदि से सबल होता है तो यह नहीं लगता कि 'मैं पहले भी दुर्बल नहीं था' वरन् यही लगता है कि 'पहले दुर्बल था, अब सबल हूँ'। इसका नाम दौर्बल्यकी निवृत्ति है। बाध का मतलब है यह निश्चय होना कि दौर्बल्य तीनों कालों में नहीं है, 'मैं जब दुर्बल लग रहा था तब भी दुर्बल नहीं था'यह अनुभव दौर्बल्य का बाध कहा जायेगा। बाध का एक ही साधन हैज्ञान, यह बात सर्वलोकसिद्ध है एवं शास्त्र से भी समर्पित है। कुछ करने से ब्रह्मभाव मिलेगायह ग़लतफ़हमी साधक न रखे इसीलिये जगह-जगह वेद स्पष्ट कहता है कि 'जैसे हो वैसे ही तुम ब्रह्म हो।' जीवदशा में भी वह चेतन ब्रह्म ही है, मुक्तदशा में चेतन में कोई नवीनता आती नहीं। जो अविद्यानिवृत्ति होती भी है वह भी यों नहीं कि कोई अविद्या थी जो दूर हुई वरन् जो थी ही नहीं वही मिटती है जैसे जो सर्प प्रतीतिकाल में भी नहीं था वही रज्जुज्ञान से दूर होता है, ऐसा नहीं कि पहले कोई साँप था जो अब चला गया! मनुष्यता आदि से भोक्तृत्वादि पर्यन्त सब कोशधर्म है, आत्मधर्म नहीं। कोशों की शुद्धि अवश्य चाहिये क्योंकि उसके बिना आत्मविविदिषा ही नहीं होती पर भ्रमनिवारण तो केवल तत्त्व के प्रामाणिक निश्चय से होगा।

आत्मानुभव किसी लोक-परलोक के संदर्भ में सफल नहीं होता वरन् इन सन्दर्भों की तुच्छता प्रकट कर ही सफल होता है। अतः आत्मसाधना से अणिमादि ऐश्वर्य मिलेंगे या ऐसी ही कोई शक्ति आयेगी इत्यादि आशा से साधक मत प्रवृत्त होवे। यदि ये शक्तियाँ आती भी हैं तो ज्ञानी को इतनी तुच्छ, निरर्थक लगती हैं कि इनकी अभिव्यक्ति करता ही नहीं। रामकृष्ण परमहंस से उनके भतीजे ने प्रार्थना की कि गाँव वालों की गरीबी दूर करने के लिये प्रयास करें, तो परमहंस ने कहा 'यदि दुनिया सच होती तो गाँव की हर ईंट सोने की बना देता पर क्या करूँ, दुनिया है ही झूठी'! आत्मानुभव दृश्यक्षेत्र के महत्त्व को पूर्णतः समाप्त कर देता है। ज्ञानी करुणाकर भी तत्त्वज्ञान का उपदेश ही देगा क्योंकि उसे ही दुःख दूर करने का उपाय समझता है, धनादि को वह खुद ही दुःखनिवारक नहीं मानता तो अन्यों को धनादि देने का प्रयास कैसे करेगा! अभी हमने दुनिया-भर की झूठी चीज़ें इकट्ठी कर रखी हैं और इनके सुधार-उद्धार की बातें करते हैं, आत्मविचार से पता लगेगा कि ये सब झूठी हैं; न ये कोशादि मैं हूँ, न इनसे संबद्ध चीज़ें मेरी हैं; तब इनके सुधार आदि की बात के वैसे

ही कोई मायने नहीं रहेंगे जैसे सपने से उठ जाने पर स्वप्नदृष्ट परिस्थितियाँ बदलने के प्रयास के कोई मायने नहीं रहते। इसीलिये अध्यात्म साधना के अधिकारी को वैराग्यवान् होना अनिवार्य है। अनात्मभाव से कोई सरोकार न रखना चाहेयही वैराग्य है। तभी वह आत्मविचार पर दृढ रहेगा।

विचार को बार-बार करके सही बात का संस्कार दृढ करना पड़ता है। अन्यथा जानी हुई बात भी मौके पर कारगर नहीं होती। जैसे ग़लती दुहराने से ग़लत संस्कार दृढ हुए हैं ऐसे ही सही संस्कार भी दुहराने से ही दृढ होंगे। प्याज स्वादिष्ट है इसे दुहराने से प्याज खाने में प्रवृत्ति होती है; प्याज अखाद्य है यह दुहराने से उसे खाने से निवृत्ति होती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि प्याज खाने की संभावना भी सामने नहीं आती। इसी प्रकार 'मैं मनुष्य' आदि संस्कारों से पुनः पुनः ये ही अनुभव होते हैं; जब-जब ये अनुभव हों तब-तब विचार करो कि वास्तविकता क्या है, मनुष्य कौन है, मैं कौन हूँ, और इस विचारित निर्णय पर पहुँचो कि मनुष्य अन्नमय है जबकि मैं सत्य-ज्ञान-अनंत हूँ साक्षी हूँ। फिर अगले क्षण लगेगा 'मैं मनुष्य हूँ' तो पुनः विचार दुहराने लग जाओ। ऐसे ही दुःखी-सुखी आदि होने पर विचार करो कि दुःखादि कोशधर्म ही हैं, मैं दुःखादि वाला नहीं। नींद आते ही 'मनुष्य, दुःख' आदि का कोई अनुभव नहीं होता, मैं रहता हूँ अतः मैं इनसे असम्बद्ध हूँयह निर्णय पुनरावर्तन से दृढ करना पड़ता है। अविचार के संस्कारों से ही बंधन है, विचार के संस्कारों से ही मोक्ष है। संस्कारों के लिये आवृत्ति चाहिये और वह तभी संभव है जब अन्य कोई प्रवृत्ति न रह जाये। अत एव संन्यास का महत्व है। यदि अन्य कोई प्रवृत्ति की तो 'मैं कर्ता' आदि संस्कार ही दृढ होते रहेंगे, अकर्तृत्व के संस्कार नहीं पड़ेंगे। साधारण 'शारीर कर्म'भोजन, मलादित्याग आदिकरते हुए भी साधक यह न सोचे कि 'मैं इनका कर्ता हूँ' वरन् यही विचार करे कि 'मैं अकर्ता ही हूँ, इन कोशों में प्रारब्धादि दोष से ये प्रवृत्तियाँ प्रतीत हो रही हैं, मैं इन्हें नहीं कर रहा।' ऐसा सोचते हुए सांसारिक चेष्टाएँ संभव नहीं क्योंकि उनके लिये बहिर्मुख सावधानी ही प्रधान होती है; ऐसा सोचना तभी संभव है जब न्यूनतम अनिवार्य व्यवहार ही यथाभ्यास होवे। 'विचार कर रहा हूँ' यह भी अभिमान करना ग़लत है, उसमें भी निश्चय रखना चाहिये कि 'बुद्धि विचार कर रही है, मैं साक्षी ही हूँ'। दुःख बुद्धि में है, वहीं उसे मिटाना है अतः बुद्धि ही विचार करे यही ठीक है। एक प्रश्न हो सकता है कि दुहराने से संस्कार पड़ा तो वह ठीक ही है यह कैसे पता? इसका उत्तर है कि प्रथमतः तो प्रामाणिक होने से ठीक

बाह्यं जगत् पञ्चकोशांश्चाऽपोह्यान्तर्मुखाऽस्य धीः।
ब्रह्म साक्षात्करोत्येव सर्वोपाधिविवर्जितम्।।१९।।

है; दूसरा, अबाधित होने से ठीक है और तीसरा सफल होने से ठीक है। ठीक बात के भी संस्कार चाहिये यह रत्नपरीक्षा आदि में अनुभव-सिद्ध है अतः आत्मविद्या में भी पुनरावृत्ति से संस्कार दृढ करना साधक का कार्य है। इसलिये अन्य प्रवृत्ति छोड़कर विचार में ही तत्पर होना चाहिये।।१८।।

ब्रह्म के अपरोक्ष अनुभव की ओर प्रवृत्ति का ढंग समझाते हैं **जब साधक की बुद्धि बाहरी संसार और पाँचों कोशों का अपोहन कर भीतर की ओर मुँह कर लेती है तब सब उपाधियों से रहित ब्रह्म का साक्षात्कार अवश्य प्राप्त करती है।१९।।** अपोहन अर्थात् चिन्तन द्वारा लीन करना। जैसे, कोई शब्द सुनो तो सोचो वह अक्षर से अतिरिक्त कुछ नहीं, अक्षर आकाश से अतिरिक्त कुछ नहीं, आकाश अव्यक्त से तथा अव्यक्त भी उसके साक्षी से अतिरिक्त कुछ नहीं है। शब्द सुनकर उसके अर्थ की ओर या वह किस दिशा से किस स्रोत से आया आदि बाहर (अनात्मा) की तरफ प्रवृत्ति मत करो वरन् जो कोई भी विषय उपलब्ध हो जाये तुरंत उसे निमित्त बनाकर भीतर (आत्मा) की तरफ प्रवृत्त हो जाओ तो यह विषयों का अपोहन हो जायेगा। ऐसे ही रूपमात्र तेजस्तत्त्व से भिन्न नहीं, तेज वायु से वायु आकाश से, आकाश अव्याकृत से व अव्याकृत प्रज्ञान से अभिन्न हैयह विचार शृंखला चलानी चाहिये। जो संसार अभी हमारे बंध का हेतु बना हुआ है वह यों अपोह के द्वारा हमारे मोक्ष का उपाय बन जाता है। इसी प्रकार अपने व्यक्तिगत कोशों का भी अपोहन करना चाहिये। ये कोश चेतना वाले ही प्रतीत होते हैं अतः इनकी प्रतीति होते ही चेतन पर दृष्टि एकाग्र कर लेनी चाहिये, उस चेतन से ये कोश अतिरिक्त नहीं हैं यह निश्चय करना चाहिये। अतः कोशों की प्रतीति होने पर भी बाहर नहीं जाना है, मन की इच्छा नहीं पूरी करने दौड़ना है, इंद्रियों की विषयाशा की पूर्ति के प्रयास में अनात्मोन्मुख नहीं होना है वरन् कोशों का अनुभव होने पर उनसे चेतन की ओर उन्मुख हो जाना है। जो भी अभिव्यक्त हो रहा है वह ज्ञान से, अतः सारी अभिव्यक्ति ज्ञान को प्रकट करती है, यदि सावधान हो जाये तो साधक के लिये कोई भी अभिव्यक्ति आत्मा का स्मरण दिला देती है। विद्युदुपकरण से किसी को झटका लगे तो मूर्ख उस व्यक्ति को पकड़कर खींचने लगता है; वह स्वयं भी झटका खाता है जबकि बुद्धिमान् विद्युद्धारा रोकने के लिये तार का संपर्क तोड़ता है जिससे वह व्यक्ति

स्वयमेव झटके से मुक्त हो जाता है। ऐसे ही बाह्य जगत् की ओर पंचकोशों की समस्या को बाहर दूर करना मूर्खता का काम है क्योंकि अनात्मा की भूमिका पर अनात्मा की समस्या कभी समाप्त नहीं होगी। विवेकी समस्या दूर करने बाहर नहीं जाता वरन् इस सबका जो मूल कारण है उस आत्मा की तरफ मुड़ता है। आत्मा का सामना होने के साथ ही अनात्मा की सारी समस्यायें दूर हो जाती हैं, उन्हें मिटाने के लिये कोई पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता। पाँच कोश और इनसे बाहर का जगत् ये ही बंधनकारी हैं, इनका अपोहन अर्थात् विचार से विलयन कर ब्रह्म तक पहुँचने से इनकी बंधनकारी शक्ति समाप्त हो जाती है। कार्य अपने कारण से पृथक् नहीं इस सूत्र को अंतिम कारण पर्यन्त लागू करते जाने का नाम यहाँ अपोहन है। वैसे, जो है उससे अन्य का निषेधयह अपोह कहलाता है, जैसे घट का अर्थ यदि अघटव्यावृत्ति कहें तो इसका नाम अपोह है। सत्य, ज्ञान, आनंद से अन्य जो नाम-रूपात्मक कोशरूप और बाह्य प्रपंच उसका निषेध करना यहाँ अपोह है। निषेध का ढंग है कि सत्यादि अव्यभिचारी हैं, नाम-रूप व्यभिचारी हैं अतः नाम-रूप सत्यादि सहित भी मिलते हैं व इनसे रहित भी, इसलिये जैसे कभी सत्-सहित व कभी सद्-रहित मिलने से साँप मिथ्या होता है वैसे ही समस्त नाम-रूप मिथ्या हैं, सत्यादि ही वास्तविक हैं। यों सारे व्यष्टि-समष्टि संसार का अपोह या निषेध कर देने पर बुद्धि नाम-रूप की ओर न जाकर जो सत्य है उस आत्मा की ओर ही जाती है। नाम-रूप को वास्तविक मानने से ही उनका आकर्षण है जिससे वृत्ति उधर उन्मुख होती है। उनकी अवास्तविकता की श्रद्धा हो जाये तो वह आकर्षण टूट जाने पर वृत्ति स्वयमेव आत्मा की तरफ उन्मुख होती है। शास्त्रकारों ने कहा कि चित्त हमेशा आत्माकार और अनात्माकार दोनों ग्रहण करता रहता है। साधना से जब उसे अनात्माकार बनने से रोक देते हैं तब केवल आत्माकार तो वह स्वयं बनता है। आत्मा निरतिशय प्रिय है, असीम आनंद है, अतः चित्त तदाकार बने यह स्वाभाविक है। अज्ञदशा में नाम-रूप भी प्रिय होते हैं अतः चित्त नाम-रूपाकार भी बनता है जिससे उसकी आत्माकारता बेकार हो जाती है; जैसे अशुद्ध जल में अशुद्धि के साथ जल तो है पर जल की शोधकता को अभिभूत कर अशुद्धि ही प्रबल होकर रोगादि पैदा कर देती है वैसे अनात्माकार अर्थात् बहिर्मुख बुद्धि आत्मानुभूति को व्यर्थ कर देती है। अतः पानी से अशुद्धि दूर करने की तरह बुद्धि का अनात्माकार दूर करना पड़ता है, आत्माकार लाने का कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

जब सारे बाह्याभ्यंतर प्रपंचका अपोह हो गया तब अवशेष रहा ब्रह्म निरुपाधि ही

है क्योंकि अनात्मा ही उपाधि है और अव्याकृत पर्यन्त सारे कार्य-कारण जगत् का निषेध कर दिया गया। निरुपाधि ब्रह्म वृत्तिविषय होता है या नहीं होतायह विचित्र समस्या है क्योंकि वृत्तिविषय होते समय वह वृत्ति ही उपाधि रहने से ब्रह्म निरुपाधि नहीं होगा और वृत्ति भी न रहे तब वह उसका विषय कैसे बना! अतः यही मानना पड़ता है कि अन्य सब उपाधियों से रहित ब्रह्म को वृत्ति विषयकर स्वयं भी विलीन हो जाती है, तब शुद्ध ही बच जाता है। जैसे गहरे समुद्र में गिरा व्यक्ति डूबेगा ही, थोड़ी देर हाथ-पाँव मारकर तैर ले तो भी थकने पर डूबेगा ही; वैसे अंतर्मुख होने पर ब्रह्मदर्शन होगा ही क्योंकि अंदर है ही ब्रह्म। यहाँ 'अंदर' का मुख्य मतलब है नाम-रूप का जिसमें निषेध कर दिया वह सच्चिदानंद। सच्चिदानंद ही अंदर अर्थात् प्रत्यक् है। वैसे कोशों के भीतरयह भी 'अंदर' का अर्थ है ही। प्रारंभ में कोशों के भीतर ही आत्मदर्शन होगा, वहाँ हो जाने के बाद अनन्त असीम आत्मा का साक्षात्कार दुर्लभ नहीं। यह साक्षात्कार कौन प्राप्त करता है? वस्तुतः तो जिसे अज्ञान है उस चेतन को ही साक्षात्कार होता है किन्तु क्योंकि साक्षात्कार के लिये अन्तर्मुखी वृत्ति अनिवार्य है इसलिये वृत्ति को साक्षात्कार पाने वाला कह देते हैं। साक्षात्कार व्यावहारिक होने से औपाधिक है यह सूचित करने के लिये 'वृत्ति साक्षात्कार प्राप्त करती है' यह कथन है। यही सूत्रोक्त ज्ञान है।।१६।।

परमात्म-साक्षात्कार के लिये गुहा में ही क्यों झाँकना पड़ता है जबकि परमात्मा सर्वत्र होने से कहीं भी उसका दर्शन हो सकना चाहिये? उत्तर है कि परमात्मा की प्रत्यग्रूपता अज्ञात है अतः उसे जानने के लिये उसका वहीं ज्ञान चाहिये जहाँ प्रत्यग्रूपता पता चले। हमें क्योंकि बुद्धिसाक्षी में ही प्रत्यग्धी है इसलिए प्रत्यग्वस्तु को ब्रह्म समझने के लिए बुद्धिगुफा में झाँकना पड़ेगा। एकाएक बुद्धि तक नहीं पहुँच सकते इसलिये अन्नमयादि प्रत्येक में जो आत्मा उसे ब्रह्म समझते चलना पड़ेगा, इस स्थूलारुंधतिन्याय से अन्त में जब भोक्ता अर्थात् आनंदमय में पहुँचेंगे तब उसकी पूँछ जो ब्रह्म उसे जान लेंगे। आनंदमय अव्याकृत का ही व्यष्टि रूप है अतः वह ब्रह्म अव्याकृत का साक्षी है। आनंदमय में ही बुद्धि विलीन हुई रहती है अतः वही बुद्धिसाक्षी भी है। इस प्रकार गुहान्तःस्थ ब्रह्मदर्शन से प्रत्यग्रूप परमात्मा का साक्षात्कार होकर पुरुषार्थलाभ हो जाता है। गुहाप्रवेश इसलिये नहीं कि परमात्मा केवल वहीं है वरन् इसलिये है कि परमात्मा की समग्रता का साक्षात्कार होने का उपाय ही यह है कि उसे गुहा में देखें। सुरेश्वराचार्य ने यहाँ समझाया है

सोपाध्येव बहिर्दृष्ट्या भाति ब्रह्म न तावता।
अपैति जीवता तस्माद् अन्तर्दृष्ट्यैव बुध्यताम्।।२०।।

'सत्याद्यर्थविरुद्धेभ्यः सम्यग्व्यावृत्तधीर्यतिः।
धियः प्रत्यक्प्रविश्याऽथ सत्यात्मानं प्रपश्यति।।
तस्मादुपायसिद्ध्यर्थं बुद्धेः प्रत्यक्प्रवेशनम्।
गुहायां परमे व्योमञ्श्रुतिरस्मान् अतोऽन्वशात्।।'

यति को विवेकपूर्वक असत्-जड-दुःखरूप संसार से अपनी मति को व्यावृत्त कर लेना चाहिये, उधर से मोड़कर उलट लेना चाहिये और बुद्धि से भी प्रत्यग्भूत जो 'कारण ब्रह्म' उसमें एकाग्र कर सारी कार्यकारण-परम्परा को अध्यस्त समझकर कार्यकारणभाव से रहित परमार्थ सत्य ब्रह्म का दर्शन करना चाहिये। इस प्रकार क्योंकि बुद्धि जब भीतर आती है तभी ब्रह्मानुभव पाती है इसलिये श्रुति ने परम व्योम में, गुहा में ब्रह्मदर्शन का उपदेश दिया। इस विषय को बताते हैं **बाहर की ओर दृष्टि रखने पर उपाधियुक्त ब्रह्म का ही भान होता है, उतने मात्र से 'मैं जीव हूँ' यह भ्रम नहीं मिटता, अतः भीतर की ओर दृष्टि रखकर ही ब्रह्म को समझना चाहिये।।२०।।** नाम-रूपकेंद्रित बुद्धि नाम-रूपरहित ब्रह्म को नहीं समझती। वर्तमान में हमारी बुद्धि नाम-रूप पर ही एकाग्र है और इससे हमें पुरुषार्थलाभ नहीं हो रहा। अतः नाम-रूप की उपेक्षा कर सत्य-ज्ञान-आनंद पर ही बुद्धि को एकाग्र करना होगा तभी नाम-रूप के मिथ्यात्व का पता चलने पर नाम-रूपका ही एक अंश जो जीवोपाधि उसका बाध होने से 'मैं जीव हूँ' यह भ्रम दूर होकर मोक्ष मिलेगा। यदि बहिर्दृष्टि ही रही तो नाम-रूप में सत्यता का भ्रम ही दृढतर होगा। इससे सांसारिक राग-द्वेष बने रहकर दुःख ही होगा, आनंद नहीं। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं इसलिये नाम-रूप भी ब्रह्मात्मक ही हैं। वेदान्ती तो मानता है कि क्योंकि नाम-रूप भ्रम हैं इसलिये वस्तुतः ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नहीं है किन्तु उक्त विचार वाले कहते हैं कि सच्चिदानंद की तरह नाम-रूप भी पारमार्थिक ही हैं। अतः उनके दर्शन के अनुसार अन्तर्मुखता को कोई स्थान नहीं, केवल इतना आवश्यक है कि हम संसार का व्यवहार करते हुए यह पहचानें कि यह ठाकुर जी की सेवा है। उस पद्धति का यहाँ नुकसान बताया कि तब अपने जीवभाव की निवृत्ति न होने से दुःख-हानि संभव नहीं होगी। अत एव उक्त दर्शन वाले नाम-रूप को भी ब्रह्म ही मानते हुए भी स्वयं को, जीव को ब्रह्म नहीं ही मानते! नाम-रूप सत्य होते ही भेद का

बहिर्दृष्टिर्जगद्भानं तस्य सत्यत्वधीरपि।
विवेकात् सत्यताऽपैति जगद्भानं तु योगतः।।२१।।

निरङ्कुश साम्राज्य अवश्य खड़ा रहेगा और द्वितीय से अवश्य भय लगता रहेगा। इसलिये वेद ने समीचीन उपाय प्रकट किया कि बहिर्मुखता अर्थात् नाम-रूप-परायणता का परित्याग कर अंतर्मुख अर्थात् सच्चिदानंद-परायण होना चाहिये, तभी ब्रह्म का सही ज्ञान होगा। प्रत्यग्वस्तु को ब्रह्म जानने के बाद बाहर भी ब्रह्मदर्शन सुलभ है। क्योंकि बाहर जो कुछ है वह कार्य है जिसका कारण वही है जो भीतर है। बाहर मात्र ब्रह्मदर्शन करने पर प्रत्यक्तत्त्व का आवरण नहीं दूर होता, यह नहीं पता चलता कि ब्रह्म ही प्रत्यक् है। क्योंकि प्रत्यक् का अपरोक्ष भान सदा अबाध्य है इसलिये यह संभव नहीं कि हम प्रत्यक् का पराक् में विलय कर फिर पराक् में ब्रह्मदर्शन से ही काम चला लें, जब कि यह संभव है (और सुषुप्ति आदि में अनुभवसिद्ध है) कि पराक् का प्रत्यक् में विलय कर (क्योंकि प्रत्यक् अव्यभिचारी है और प्रत्यक् का पराक् व्यभिचारी है), फिर प्रत्यक् में ब्रह्मदर्शन से मोक्ष पा लें। जैसे माण्डूक्य में अभिधान-अभिधेय का ऐक्य संपन्न कर फिर एक ही प्रयत्न से परमार्थ स्थिति बन जाती है ऐसा प्रतिपादन है वैसे यहाँ पराक् का प्रत्यक् में विलय कर फिर एक ही प्रयत्न से उसी स्थिति को पाने का निर्देश है, यह तात्पर्य है। उपाधि अर्थात् नाम-रूप। क्योंकि नाम-रूप व्यभिचारी हैं, अनित्य, ज्ञेय, परिच्छिन्न हैं इसलिये ये ब्रह्मात्मक नहीं हैं अतः इन्हें ब्रह्मरूप कहने वाला दर्शन भ्रान्त है। बाहर ब्रह्म भले ही हो पर मोक्षप्रद ज्ञान तभी होगा जब बाहरीपन का अपोहन कर भीतर ब्रह्म देखा जाये।।२०।।

जो बाहर की ओर दृष्टि केवल उपाधिपरतंत्र रखती है, स्वातंत्र्य नहीं देती उसे और उसे सुधारने का तरीका बताते हैं **जगत् की प्रतीति होना तथा जगत् सत्य है ऐसा निश्चय होनाइन्हें मिलाकर कहते हैं 'बाहर की ओर दृष्टि'। जगत् की सत्यता का निश्चय विवेक से दूर होता है एवं जगत् की प्रतीति योग से समाप्त होती है।।२१।।** जीव जब अनात्मा का अनुभव करता है, कोश और उनसे भी बाहर आकाशादि प्रपंच की प्रतीति पाता है, तब न केवल नाम-रूप भासते हैं वरन् यह भी लगता है कि वे वास्तविक हैं। देखते हुए नहीं लगता कि नाम-रूप मिथ्या है। घट-प्रतीति प्रायः नहीं होती, 'घड़ा है'यही प्रतीति होती है। 'है'यही व्यवहार में सत्य का अनुभव है अतः जो है दीखे वह सत्य ही माना जाता है। साधक के लिये यह याद रखना जरूरी कि शरीर या अन्य चीज़ें दीखेंगी तो सत्य ही, उसे तीव्र विवेक

से पहचानते रहना होगा कि जो सत्यांश है, 'है' अंश है, वह नाम-रूप का स्वभाव नहीं वरन् परमात्मा का स्वभाव है जो नाम-रूप से एकमेक हुआ प्रतीत हो रहा है। नाम-रूप आदि-अंत वाले हैं, 'है' अनादि-अनंत है, अतः दोनों एक तो हो नहीं सकतेयह बात केवल विचार से पता चलेगी और विचार रहते ही इसका ख्याल भी रहेगा। यह बात दूसरी है कि अतिदीर्घ दृढ विचार होने के बाद ख्याल बना रहता है और देखते हुएबिना प्रयत्न केपता रहता है कि उपाधि और सत् पृथक् हैं, किन्तु वह उत्तम जीवन्मुक्तों की स्थिति है, साधक उसकी आशा में अपनी बहिर्मुखतासांसारिक व्यवहारों में व्यस्तताबनाये रखेगा तो अवश्य भ्रष्ट हो जायेगा। घड़ा ही दीखता है, वह मिट्टी ही है यह बात विचार से ही स्पष्ट होती है, विचार छोड़ते ही, दीखता हुआ घड़ा प्रधान बन जाता है और जहाँ नाम-रूप प्रधान बने वहाँ राग-द्वेष आदि बंधन तैयार हो जाता है। क्योंकि जगत् का भान सत् से एकमेक होकर होता है इसलिये जगत् की असलियत को पहचानने की प्रवृत्ति नहीं होती, शास्त्रादि से प्रेरित होने पर भी आपाततः इतना ज़्यादा सच लगता है कि जीव परीक्षा की ओर प्रवृत्त नहीं होता जैसे कुशल दुकानदार प्रशंसा करते हुए जब आत्मविश्वास से माल दिखाता है तब ग्राहक को सामान ऐसा जँच जाता है कि उसकी परीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं समझता। न केवल घटादि 'है' प्रतीत होंगे, देहादि भी 'मैं हूँ' प्रतीत होंगे अतः वे भी बाँधते रहेंगे क्योंकि उनकी प्रतीति होने पर भी व्यक्ति परीक्षा नहीं करेगा कि 'देहादि मैं हूँ या नहीं।' अत एव मुमुक्षु को तीव्र विवेकाभ्यास तो करना ही पड़ेगा, समाधान के अभ्यास से जगद्भान भी न्यूनतम रखना पड़ेगा, तभी अन्तर्दृष्टि मिलेगी जिससे गुहानिहित ब्रह्म का दर्शन होगा। विवेक अर्थात् पृथक्ता समझना; प्रारंभ में और यही अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैनित्य-अनित्य का पृथक्त्व समझना चाहिये। 'मैं ब्राह्मण हूँ' अनुभव हुआ; ब्राह्मण तो पैदा होने के बाद से मरने तक ही हूँ अर्थात् ब्राह्मणत्व अनित्य है। जबकि मैं सनातन हूँ, नित्य हूँयह विवेक कर पहचानना चाहिये कि मैं अलग हूँ, ब्राह्मण अलग है। ऐसे ही घट आदि चीज़ें अनित्य होने से 'है' से अलग हैं। उपाधि-सत्यता आपात दृष्टि से प्रतीत होगी ही, उसे हटाने का एक ही तरीका हैविचार, विवेक। विवेक-संस्कार दृढ होने पर आँख से भी वैसा दीखने की प्रतीति हो जाती है, उदाहरणार्थ, एक गोला, उसमें टेढ़ी रेखा व बगल में खड़ी रेखाआँखों से तो इतना ही दीखता है लेकिन संस्कारवश हमें प्रतीत होता है कि आँख से ही हमें 'ब' दीख रहा है। जिसे देवनागरी का संस्कार नहीं, उसे गोला व रेखायें ही दीखती हैं,

बहिर्दृष्टावपेतायाम् अन्तर्दृष्ट्या यदीक्ष्यते।
निगूढं जीवचैतन्यं तद् ब्रह्मेति प्रपश्यति।।२२।।

'ब' नहीं दीखता है। ऐसे ही विवेकाभ्यास दृढ होने पर जगद्भान विविक्तरूप से ही होगा, नाम-रूप अलग ही दीखेंगे, अस्ति-भाति-प्रिय अलग दीखेंगे। लेकिन इस स्थिति तक पहुँचने के लिये साधकावस्था में समाधान या योग की भी सहायता चाहिये। अकेला ध्यान-समाधि का अभ्यास तो इतना ही करता है कि ध्यानादि काल में विक्षेप नहीं होता, किन्तु विवेकाभ्यास सहित ध्यानाभ्यास से अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है। साधक ध्यानाभ्यास से जगद्भान अर्थात् नाम-रूप की प्रतीति को दूर करेगा तो सच्चिदानंद की स्फूर्ति स्थायी रहने पर उसकी पहचान होगी, फिर जो थोड़ा-बहुत अनिवार्य जगद्भान होगा उस समय विवेक का अभ्यास कर उस पहचान को प्रयोग में लायेगा; धीरे-धीरे यह स्थिति भी आ जायेगी कि जगद्भान के होने न होने से फ़र्क़ नहीं पड़ेगा, हमेशा ही दृष्टि सच्चिदानंद पर टिकी रहेगी, वह सच्चिदानंद चाहे अकेला रहे, चाहे उपाधि ओढ़े रहे, अभ्यासी तो सिर्फ उसे देखता रहेगा। इसी का नाम अन्तर्दृष्टि है। प्रयत्नपूर्वक नाम-रूप की उपेक्षा कर सच्चिदानंद पर एकाग्र होनायही योग है। उपेक्षा तीव्र होने पर ध्यान-समाधि सिद्ध हो जाती है, प्रारब्धवश उपेक्षा कम होने पर व्युत्थान रहता है पर उभयथा योग बना ही रहता है, अंतर्दृष्टि स्थायी हो जाती है। यह याद रखना चाहिये कि भगवान् भाष्यकार की परंपरा विवेक पर अत्यधिक ज़ोर देती है क्योंकि इसीसे पदार्थ-शोधनपूर्वक वाक्यार्थज्ञान होगा जो जगत् का बाध करेगा और बाध होने पर जगत् मिथ्या ही प्रतीत होने से इसका कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा। किंतु इसका मतलब यह नहीं कि साधक सांसारिक गतिविधि में बना रहे, जगत् के भान में लगा रहे! भाष्यादिकार 'समाधान' को अधिकारी का विशेषण मानते हैं। जगद्भान से दूर रहना तो अधिकार-प्राप्ति के प्रयास में ही स्वभाव बन जाना चाहिये। वैराग्य इसे सरल बनाता है, फिर भी योगाभ्यास से बहिर्मुखता मिटानी ही पड़ती है। अतः उपनिषदादि में योग का विधान है तथा विविध उपासनायें इस तरह की हैं जिनसे जगद्भान क्षीण होता जाये और दृष्टि बुद्धिगुहा में एकाग्र बने। इसलिये साधक दोनों का अभ्यास करे यही हितकर है।।२१।।

विवेक और योग का फल बताते हैं **गुहा-निहित जो चैतन्य जीव लग रहा है उसी चैतन्य को साधक ब्रह्म समझ लेता है जब बहिर्दृष्टि छोड़कर अन्तर्दृष्टि से देखता है।।२२।।** स्वतः स्फुरमाण चैतन्य परमार्थ सत् है। अज्ञदशा में हम उसे

जीव समझते हैं, बुद्धिसाक्षी के बजाये बुद्धिविशिष्ट समझकर गुहा में परिसीमित मानते हैं। यह बहिर्दृष्टि का फल है क्योंकि इसमें प्रधानता नाम-रूप की है। गुहा-निहित चेतन अनुभव में तो आ रहा है लेकिन क्योंकि गुहा (बुद्धि) प्रधान हो रखी है इसलिये उस चेतन को हम जीव अर्थात् प्राणधारण करने वाला, भोक्त-कर्त्ता-कामनादिमान्, भूख आदि वाला, मोटा-पतला व्यष्टि समझते हैं। पाँचों कोश प्रधान होकर चेतन उनमें सिमटा प्रतीत होता है। बहिर्दृष्टि जब छोड़ी जाती है, विवेक से नाम-रूप के मिथ्यात्व का निश्चय और योग से नाम-रूप के ग्रहण का परित्याग किया जाता है, तब संभव होता है कि चेतन की जीवरूपता का अनुभव बंद हो। किन्तु इतने से व्यापकता का स्फुरण नहीं होगा, उसके लिये अन्तर्दृष्टि चाहिये। अर्थात् बहिर्दृष्टि छोड़ने पर जो गुहागत चेतन की स्वाभाविक स्फुरणा है यह शोधित त्वम्पदार्थ की अनुभूति है तथा अन्तर्दृष्टि से जो दर्शन होगा वह महावाक्यार्थ का, तत्पदार्थ से अभेद का होगा अत एव मोक्षप्रद होगा। अन्तर्दृष्टि के अभ्यास में प्रत्येक कोश की आत्मरूपता स्थिर करते हुए क्रमशः बाह्यकोशों का उपसंक्रमण कर पुच्छ ब्रह्म तक पहुँचना है। इसमें, हर कोश में व्यष्टि-समष्टि की एकता समझते जाने से तत्पदार्थशोधन सिद्ध हो जाता है। पहले गौणात्माओं से खुद को समेटकर स्थूल में स्थिर होवे, 'मैं मोटा हूँ' आदि में स्थिर होवे; फिर इसका लय करे यह समझकर कि 'शरीर मोटा है' अर्थात् स्थूल के अभिमान का स्थूलमात्र में विलय करे। तदनन्तर स्थूल व्यष्टि का स्थूल समष्टि में विलय करे कि शरीर विराट् से अतिरिक्त नहीं है। फिर स्थूल का सूक्ष्म में लय होगा, इसमें भी सूक्ष्माभिमान को सूक्ष्मदेह में, सूक्ष्मदेह को हिरण्यगर्भ में विलीन करना पड़ेगा। फिर सूक्ष्म का इसी तरह कारण में विलय करना होगा। यह अंतर्दृष्टि हैविचारपूर्वक यथाशास्त्र ऐसा निश्चय कर निरन्तर ऐसा ध्यान करना है ताकि विलय का जो साक्षी उस चेतन का ही भान रहे। क्योंकि समष्टि का भी शोधन हो गया इसलिये अब चेतन परिच्छिन्न नहीं वरन् पूर्ण भासेगा।

इस भान के बारे में जब शंका न रहे और बहिर्दृष्टि मिट चुकने से विपर्यय न रहे तब ब्रह्मस्थिति स्वतः सिद्ध है। इस विचारानुसारी ध्यान में असमर्थ हो तो साधक अध्यात्म कोशों का ध्यान करे। अन्नमय में तो आरोप्य-अधिष्ठान एक ही हैं अतः इतना ही करना पड़ेगा कि तत्तत् अंग से अतिरिक्त की वृत्ति न बने। आगे के कोशों में उपनिषद्-उक्त आरोप्यों का प्राण-मन-आदि पर आरोप करता जाये और तत्तत् पर्याय का ध्यान करते हुए तत्तत् कोशमात्र में मैं-बुद्धि करे, उससे बाह्य कोश में

मैं-बुद्धि छोड़े। यों आनंदमय पर पहुँचकर उसकी पूँछ में ही मैं-बुद्धि रखेयह ध्यान का क्रम है। इससे चित्त की विशेष शुद्धि होती है और विवेक की वह शक्ति आती है जो कोशों में तादात्म्य मिटाकर व्यापक आत्मा को निरावृत कर देती है। इस ध्यानमय साधना की दृष्टि से ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में 'योग' शब्द का प्रयोग किया था। उपासनापूर्वक प्रमा होने पर 'प्र-पश्यति' अर्थात् प्रकर्ष से देखता है, प्रकर्ष है कि कोई प्रतिबंधक नहीं रह जाता। विपर्यय तो योग से मिट चुकता है, संशय विवेक से दूर हो चुकता है अतः अब जो दर्शन है वह बिना प्रतिबंध वाला ही है।

'जीवचैतन्य' समस्त पद होने पर भी 'यत्' व 'तत्' शब्द चैतन्य को विषय करते हैं। 'ब्रह्म प्रपश्यति' के स्थान पर 'ब्रह्म इति प्रपश्यति' कहकर निर्विकल्प, निष्प्रकारक बोध का संकेत है।।२२।।

प्रारंभ में (श्लोक.५) प्रतिज्ञात विषयों में से ज्ञेय और ज्ञान बताकर अब ब्रह्मतारूप फल का वर्णन करते हैं। श्रुति ने कहा कि जो गुहानिहित सत्यादिरूप ब्रह्म का वेदन कर लेता है, 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता', वह सर्वज्ञ ब्रह्म से अभिन्न हो जाने से सभी इष्ट विषयों का युगपत् उपभोग कर लेता है। जीव परिच्छिन्न होने से कुछेक विषयों का क्रमशः ही भोग कर पाता है जबकि ब्रह्मवेत्ता अपरिच्छिन्न हो जाने से एक-साथ ही सबका उपभोग वैसे ही कर लेता है जैसे सर्वज्ञ ईश्वर। छोटे-मोटे दीपादि प्रकाश कुछ चीज़ें ही प्रकाशित करते हैं और वह भी उन चीज़ों को अंशशः दिखाते हैं, मूर्ति के चरणों के सामने दीपक हो तो उसके मस्तक को नहीं दिखाता। इससे विलक्षण है सूर्य जो सब चीज़ों को एक-साथ प्रकाशित कर देता है। ब्रह्मवेत्ता की यह सर्वविषयों की उपलब्धि ब्रह्मस्वरूप से अलग नहीं है। ब्रह्मरूप ज्ञान द्वारा जो विषय-प्रकाशन है उसे ही ब्रह्मज्ञकृत विषय-भोग कहा है। अतः यहाँ औपाधिक भोग नहीं समझना चाहिये। ऐसा नहीं कि वामदेवादि विद्वान् के मुख में इकट्ठे ही सारे भक्ष्य-भोज्यादि ठूस दिये जायेंगे! धर्मादि निमित्त व चक्षुरादि करणों की अपेक्षा के बिना ही यह सर्वकामप्राप्ति है। जब तक जीवभाव अर्थात् कर्तृत्वाभिमान है तब तक यह प्राप्ति असंभव है, ब्रह्मरूपता आने पर ही यह लाभ होता है। प्रश्न होगा कि ब्रह्मरूप से तो अज्ञदशा में भी सब विषयों का प्रकाश हो ही रहा है फिर अज्ञ से विज्ञ में क्या अंतर है? उत्तर है कि अज्ञ को उक्त बात पता न होने से वह परिच्छिन्न भोग की कामना से तड़पता है और प्रवृत्ति-निवृत्ति करता है जबकि विज्ञ को पता होने से वह संतुष्ट रहकर प्रवृत्ति-निवृत्ति के बिना परम आनंद में रहता है। 'संसार में जो

फलम्

दृष्टे तस्मिन् परप्राप्त्या विदुषोऽतिशयोऽत्र कः।
इति चेद्, युगपत् सर्वकामाप्तिरधिका भवेत्।।२३।।

कोई विषय प्रतीयमान है वह मुझ ब्रह्म से ही प्रकाशित है' ऐसा जानने वाला किसी एक मुख में कोई एक रसगुल्ला डालने की न कामना करता है, न प्रवृत्ति। अज्ञानी को यह मालूम नहीं अतः वह चाहता भी सीमित भोग है व उसके लिये यत्न भी करता है, यही अज्ञ-विज्ञमें भेद है। दूसरा प्रश्न होता है कि यदि सब विषय मिल जाते हैं तो ज्ञानी को दुःख भी बहुत हो जाता होगा क्योंकि इष्ट की तरह अनिष्ट विषय भी मिल जाते होंगे? उत्तर है कि पूर्वोक्त रीति से जब सीमित-परिप्रेक्ष्य हट जाता है तब इष्ट-अनिष्ट का विभाग न रहने से दुःख तो नहीं मिलता जबकि स्वरूप होने से सुख मिल जाता है। श्रुति ने अन्यत्र इसीलिये 'न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' यों दुःख से अलेप कहा है। 'दुःखं नृणां दुश्चरितैकमूलम्' यह सर्वज्ञात्मोक्त सिद्धान्त है। तत्त्ववेता का कोई दुश्चरित न रह जाने से दुःख असंभव है। सच्चरित भी न रह जाने से विषय-सुख भी असंभव है पर स्वरूप-सुख तो निर्बाध है। इस विषय को प्रकट करते हैं **सत्यादि लक्षण वाले ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर परमार्थ वस्तु की प्राप्ति से हुए मोक्ष में विद्वान् की (अज्ञानी की अपेक्षा) क्या विशेषता है? इकट्ठे ही सब कामनाओं की पूर्ति विज्ञ में अज्ञ से अधिकता है।।२३।।** साधक की स्वाभाविक जिज्ञासा है कि साधना से वह कौन-सी विशेषता मिलेगी जो बिना साधना के अनुपलब्ध है। इस प्रश्न का उत्तर न जानकर कई साधक अज्ञदशा में ही शब्द रटकर सन्तुष्ट हो जाते हैं, मान लेते हैं कि बंधन मिथ्या है, मोक्ष अनादिसिद्ध है तो साधना करना-न करना बराबर है! अतः इस शंका को दूर करना ज़रूरी है। शास्त्र ने कहा कि विद्वान् की सब कामनाएँ एक-साथ पूरी हो जाती हैं। अज्ञानी हमेशा कामहत रहता है, एक कामना पूरी होते-न होते और दस कामनाएँ उसे घेर लेती हैं तथा उपस्थित भी छह-सात कामनाओं की वह पूर्ति क्रमशः ही कर पाता है, एक-साथ नहीं। इससे विपरीत, विद्वान् की सारी ही कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और इसके लिये उसे कोई इन्तज़ार भी नहीं करनी पड़ती वरन् एक ही बार में वे पूरी हो जाती हैं। अतः अज्ञानी को शब्द रटने से संतुष्ट नहीं होना चाहिये, यों युगपत् सब कामनाओं की पूर्ति होने तक साधनाभ्यास करते रहना चाहिये। अपनी ब्रह्मरूपता की अवगति एक पूर्ण ज्ञान है जिसमें कोई क्रम नहीं क्योंकि उसके विषयभूत आत्मा में कोई क्रम नहीं। पूर्ण,

अनन्त, निरवयव, निरतिशय, सत्य में क्रम होने के कोई मायने भी नहीं हैं। उस अवगति से ही संसार के सारे विषयों का बाध हो जाता है, यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सभी प्रत्यग्रूप अखण्ड वस्तु पर कल्पित होने से मुझसे अतिरिक्त सत्ता से रहित हैं। अतः कोई विषय अप्राप्त न रह जाने से सारी कामनायें पूरी हो जाती हैं। 'अश्नुते' अर्थात् 'व्याप्नोति', विद्वान् सारे काम्य पदार्थों को एक-साथ घेर लेता है, व्याप्त कर लेता है। अत एव एकबारगी ही उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाने से वह कामरहित हो जाता है। अज्ञानी सदा कामना-पीडित रहता है जबकि ब्रह्मवेता में कामना और उसका मूल सर्वथा नहीं रहते। अज्ञ-तज्ज्ञ में यही महान् अन्तर है कि एक कामनाग्रस्त व दूसरा कामना से अनाहत रहता है। आत्मबोध से ब्रह्मरूप रस पाकर ही वह आनंद में मग्न हो जाता है। सब कामनाओं की पूर्ति वह भी इकट्ठे ही एवं इस तरह कि उसे कोई कमी न महसूस हो, पर्याप्तता की सन्तुष्टि रहे, जो मिला वह भी अधिक ही है ऐसा लगेये विशेषताएँ ब्रह्मज्ञ में स्वतः भास जाती हैं। आत्मप्रमा हुए बिना यह संभव नहीं कि सर्वकामना-निवृत्ति हो। निवृत्ति के लिय 'आप्ति' या प्राप्ति-शब्द का प्रयोग कर द्योतित किया कि कामना-अनुत्पत्ति की दशा में जो निष्कामता है वह विज्ञ में नहीं कही जा रही वरन् कामना-पूर्ति की दशा वाली निष्कामता कही जा रही है। यद्यपि परिच्छिन्न भोगरूप प्राप्ति के अभिप्राय से यह संभव नहीं तथापि समष्टि से अभेद स्थापित हो जाने के अभिप्राय से सुसंगत है। वस्तुतस्तु भोग्य के असत्त्व के निश्चय से और भोग्यप्रयुक्त सुख की स्वात्मरूप से स्वतः प्राप्तता के अनुभव से यह कामाप्ति कही जा रही है। साधक को निर्देश है कि कामना-निवृत्ति के मापदण्ड से ब्रह्मज्ञान की ओर प्रगति नापता रहे। विषयों में सत्यताबुद्धि जितनी क्षीण होगी उतनी कामाहतता शिथिल होगी; साथ ही यदि आत्म-मात्र में सन्तोष न हुआ तो निष्कामतादशा आकर्षक नहीं लगकर सूनापन लगेगा और झूठा जानकर भी विषयों की ओर लोलुपता बढ़ जायेगी अतः साधक आत्मा के स्वरूप सुख को महसूस करना सीखे, उसका अभ्यास डाले यह आवश्यक है। इसके लिये विवेक एवं ध्यानाभ्यास-साधन हैं। किं च, यह निष्कामता केवल स्वयं को मालूम पड़ती है अतः 'कौन विद्वान् है?' इसके परीक्षण में न लगकर अपनी उन्नति ही जाँचते रहना चाहिये।।२३।।

जैसे गीता में बताया कि, सर्वत्र जल व्याप्त रहते छोटे गड्ढे में पड़ा थोड़ा-सा पानी अभिलाषा-योग्य नहीं रह जाता है वैसे ब्रह्मविज्ञानी के लिये संसार में कुछ भी कमनीय नहीं होता। कामनापूर्ति इसीलिये संगत है कि जो काम्य हैं उनका अन्तर्भाव भूमानंद

काम्यन्ते विषयानन्दा निखिलैः प्राणिभिः सदा।
ब्रह्मानन्दस्य ते सर्वे लेशा इत्यपरा श्रुतिः।।२४।।

में हो जाता है। इसे बताते हैं **अखिल प्राणियों द्वारा हमेशा जिन विषय-प्रयुक्त सुखों की कामना की जाती है वे सब ब्रह्मरूप आनंद के अतीव अल्प अंशमात्र हैंयह अन्यत्र श्रुति ने बताया है।।२४।।** प्राणी अर्थात् जीव। जीवभाव रहते विषयकामना बनी ही रहेगी। बड़े-से-बड़ा देवादि पद पाकर भी जीव की विषयाशा नहीं मिटती है। अज्ञान रहते सुख को निर्विषय न समझ पाने से सुख के लिये विषय को व्यक्ति चाहता ही रहता है। जीव को चाहिये तो सुख पर क्योंकि उसे लगता है कि विषय मिलने से ही सुख होगा इसलिये वह विषयकामना करता है। ब्रह्मज्ञान से जब निरवधि आनन्द-सागर में स्वयं को स्वतन्त्र पाता है तब विषयों से मिलने वाले स्वल्प सुख की स्मृति भी कैसे आये! बृहदारण्यक उपनिषत् (४.३.३२) में बताया है 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति' कि अन्य प्राणी जिस सुख का उपभोग कर जीवन बिताते हैं वह आत्मा के स्वरूपभूत आनंद का थोड़ा-सा हिस्सा ही है। जैसे हमारे व्यवहार में आने वाले घटाकाश, मठाकाश आदि महाकाश के अल्पांश हैं वैसे रूपसुख, रससुख आदि ब्रह्मानन्द के अल्पांश हैं। तुच्छ व्यवहार इन तुच्छ सुखों से चलता है पर परमार्थ आनंद मिलने के बाद न उस व्यवहारका अतः न इन सुखों का कोई मूल्य रह जाता है जिससे इन सुखों के प्रयोजक विषयों का किंचित् भी आकर्षण मिट जाता है बल्कि ग्लानिपूर्ण विस्मय होता है कि कितना महान् आनंद होते हुए मैं कितने फल्गु विषयों में अटका था! ब्रह्मानंद स्वाभाविक वस्तु है पर अज्ञानवश हम उसे पहचानते नहीं अतः उसका जो मिलावटी रूप हम जानते हैं उस विषयसुख की ही परीक्षा कर हमें ब्रह्मरूप आनन्द को विवेकतः समझना पड़ेगा। जैसे-जैसे अविद्या की गहनता बढ़ती है वैसे-वैसे स्वात्मानन्द ज़्यादा ओझल होता जाता है और विषयों में अधिकाधिक सुख दीखने लगता है। अविद्या की पर्तें हटने पर धीरे-धीरे विषयों में सुखबुद्धि क्षीण होती जाती है और आत्मा ही सुख है यह तथ्य स्पष्ट होता जाता है। आनन्दवृद्धि और विषयाभिलाषा, इनका परस्पर विपरीत अनुपात है, एक के बढ़ने पर दूसरे को घटना ही पड़ेगा। गुहानिहित अनन्त सत्य प्रत्यक्तत्त्व निरावृत होते ही परिच्छिन्न में सुखबुद्धि असंभव हो जाती है, तभी 'नाल्पे सुखमस्ति' (छां. ७.२३) इस वेदवाक्य का मतलब पता चलता है। यद्यपि अल्प में सीमित रूप से प्रतीयमान सुख वही है जो वास्तव में असीम है अतः अल्प में सुख है सही, तथापि वह सापेक्ष

आनन्दहेतवो बाह्या विषया इति विभ्रमात्।
कामयन्ते बहिर्दृष्ट्या विषयान् प्राणिनोऽखिलाः।।२५।।

सुख होने से निरपेक्ष सुख मिलने पर उसकी अपेक्षा मिट जाने से वह सुख नहीं रह जाता। अज्ञानी 'विषय में सुख नहीं है' इसे विवेक से और भावना से ही समझ सकता है, साफ प्रतीति ऐसी नहीं होगी क्योंकि अभी उसकी अपेक्षाएँ समाप्त नहीं हुई। ज्ञानी क्योंकि अपेक्षाशून्य हो चुकता है इसलिये सुस्पष्ट अनुभव करता है कि विषय में सुख नहीं है। पूर्व श्लोक में जो सर्वकामपूर्ति कही थी वह इस दृष्टि से नहीं कि ज्ञानी को विषयों में सुख लगता है और वह उसे मिल जाता है, वरन् इसी दृष्टि से कि उसे उनमें कोई सुख लगता ही नहीं; वे सब मिलकर जितना सुख दे सकते हैं उससे अनंत गुणा अधिक सुख वह पा लेता है इसलिये सर्वकामाप्ति कही जाती है। 'लेश'शब्द के प्रयोग से यह भी ध्वनित है कि विषयानंद वस्तुतः आनंद है नहीं, केवल अध्यास से उन्हें आनंद समझा जाता है। जिस प्रकार भ्रमसिद्धसर्प 'लम्बा' न होने पर भी रस्सी की लंबाई के कारण लम्बा दीखता है उसी प्रकार आनंदरहित होने पर भी विषय आनंदप्रद दीखते हैं।।२४।।

जिज्ञासा होगी कि विषय यदि सुखप्रद हैं नहीं तो सभी जीव उनकी ओर सुख पाने के लिये प्रवृत्त होते क्यों हैं? इसका उत्तर देते हैं **सभी प्राणी बहिर्दृष्टि रखते हुए विषयों की कामना करते हैं इस विभ्रम से कि बाहरी विषय आनंद के हेतु हैं।।२५।।** बहिर्दृष्टि अर्थात् स्वयं को पाँच कोशों से एकमेक समझना और अन्य विषयों को सच्चा समझना। इन भ्रमों के रहते यह भ्रम स्वाभाविक है कि 'बाहरी विषय मुझे सुख देंगे।' 'मैं' से कोश समझने पर कोशों को अनुकूल लगने वाली चीज़ 'मुझे सुख दे रही है' यही प्रतीति होगी। विषयों में आनंदकारणता को केवल भ्रम न कहकर विभ्रम कहा; शरीरत्रय से मैं अलग हूँयह घनघोर विचार से भी साधारण लोगों को प्रतीत नहीं होता अतः यह भ्रम आमोक्ष कायम रहे तो आश्चर्य नहीं। विषयों के अनित्यत्व, परिवर्तनशीलता, जैसा समझते हैं वैसा न निकलना आदि अनुभवों से विषय-सत्यता का आग्रह विचारशील को नहीं रहता, कम-से-कम शिथिल तो पड़ ही जाता है। किन्तु विषय सुखकारी हैंइसके विरोधी असंख्य अनुभव रोज़ होने पर भी और थोड़े भी विचार से यह निश्चित होने पर भी कि विषयों में सुखदान की सामर्थ्य नहीं है वरन् अर्जन-रक्षण-पश्चाद्भावी प्रभाव आदि की दृष्टि से दुःख ही अधिक देते हैं, यह आग्रह नहीं जाता कि सुख तो विषयों से ही मिलेगा! चलचित्र, उपन्यास आदि

अभीष्टविषये लब्धे धीः प्रत्यावृत्य हृद्गतम्।
ब्रह्मानन्दं क्षणं भुक्त्वा बाह्यं कामयते पुनः।।२६।।

में विषयमिथ्यात्व का निश्चय होने पर भी सुखाशा से ही उनकी ओर प्रवृत्ति होती ही है। इस प्रकार, मिटाना बहुत मुश्किल होने से विषयों में सुखदाता की मान्यता केवल भ्रम नहीं वरन् विभ्रम है। सुख नाम-रूप से ही मिलेगा यह हमें आग्रह है भले ही सुषुप्ति में नाम-रूप के बिना ही असीम सुख मिलता है तथा नाम-रूप के सुख को छोड़कर सुषुप्ति के लिये चेष्टा करते हैं। सोचें तो, मानना चाहिये कि नाम-रूप आनंदहेतु नहीं वरन् जो सुषुप्ति में भी है वही आनंदहेतु है, फिर भी यह न स्वीकार कर बाह्य अर्थात् नाम-रूपात्मक विषय से ही सुखाशा रखते हैं। सारी सांसारिक, इहलोक व परलोक की प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रेरक यही विभ्रम है। हम नाम-रूप में ही हेरफेर की कोशिश करते रहते हैं इस आशा से कि कोई नाम-रूप ऐसा मिल जायेगा जो सदा सुख देगा और हमेशा दुःख दूर करेगा। चाहे सामाजिक-राजनैतिक प्रयोग हों या कला-विज्ञान के, सभी के पीछे दृष्टि यही है। केवल एक कैवल्य का प्रयास निर्विषय सुख के लिये होता है जिसके लिये अन्तर्दृष्टि आवश्यक ही है। शान्ति के सहज सुख के बारे में, निष्कामता, सन्तोष के सुख के बारे में जितना ज़्यादा जागरूक रहेंगे उतनी ही विषयहीन आनंद पाने की उमंग होगी। विषयसुख और निर्विषय सुख के स्तर ही विभिन्न हैं। चंचल चित्त निर्विषय सुख पहचान ही नहीं पाता। जैसे सूक्ष्म स्वर, रत्न आदि के सुख के लिये चित्त को प्रशिक्षित करना पड़ता है वैसे निर्विषय सुख भी वही चित्त ग्रहण कर सकता है जो शास्त्र-आचार्य के उपदेश से संस्कारों वाला बनकर शम-आदि पूर्वक समाधान से उस विषय-निरपेक्ष स्वरूपभूत सुख को समझ चुका हो। जब तक यह प्रशिक्षण प्राप्त नहीं होता तब तक बहिर्दृष्टि रहने से विषयों में सुखमति दूर नहीं होती अतः विषयकामना ही स्वाभाविक होती है।।२५।।

विषय से मिलने वाला सुख 'लेश' कैसे है तथा ब्रह्मरूप आनंद से कैसे अतिरिक्त नहीं है यह समझा देते हैं **अभीष्ट विषय मिलने पर बुद्धि उससे लौटकर हृदय-निहित ब्रह्मरूप आनंद का क्षणभर को भोग करती है जिसे 'विषयसुख' कहते हैं। वह स्वल्पकालिक भोग करते ही फिर से बाहरी विषय की कामना कर बहिर्मुखी बन जाती है।२६।। यद्यपि यों ग्रहण होने वाला आनंद-स्वरूप से पूर्ण ही है तथापि क्षणभर को ही होता है इसलिये ऐसा गौण-व्यवहार किया**

क्षणिकत्वाल्लेशताऽस्य पूर्णस्याऽप्युपचर्यते।
विषयानन्दता भ्रान्त्या ब्रह्मानन्दो हि वस्तुतः।।२७।।

जाता है कि वह आनंद का लेश ही है। वास्तव में जो ब्रह्मरूप आनंद है उसे ही विभ्रमवश विषय-प्रयुक्त आनंद समझा जा रहा है।।२७।। सिद्धान्तानुसारी सुखभोग की प्रक्रिया है कि स्वरूपतः हम आनंद हैं, किसी भी विषय की कामना आने पर हम स्वरूपानंद से असंतुष्ट होकर उस विषय की ओर आकृष्ट हो जाते हैं। जब तक वह विषय न मिले तब तक उसी को पाने के प्रयास में तल्लीन रहकर स्वरूपानंद भूले रहते हैं। वह विषय मिलने पर कामना पूरी हो जाती है तो बुद्धि उस विषय से तृप्त होकर बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुखी होती है। जब बुद्धिवृत्ति भीतर को मुँह करती है तब भीतर बैठे स्वात्मा का दर्शन होता है। वह निज आत्मा परिपूर्ण आनंदरूप है अतः उसे ग्रहण कर बुद्धि सुखाकार हो जाती है। किन्तु भ्रम से लगता यह है कि सुख इसलिये हुआ कि अभीष्ट विषय मिला! यह नहीं समझ आता कि विषय छोड़कर आत्मा पर केंद्रित होने से सुख मिला! अत एव क्षणभर को वह आनंद लेने पर भी पुनः उसी या अन्य विषय की कामना का आकर्षण बुद्धि को बहिर्मुख बना देता है। विवेकी के लिये प्रत्येक आनंद आत्मा का स्वरूप ही है। किन्तु अविवेकी उसे विषयों का प्रसाद समझता है।

यहाँ 'अभीष्ट' विषय की प्राप्ति से सुख इसलिये कहा कि सामान्यतः इच्छा-विषय चीज़ों के लाभ से होने वाले सुख के प्रति हम उपेक्षाशील हो जाते हैं। अत एव प्रारंभ में सुविधा लगने वाली चीज़ें भी धीरे-धीरे आवश्यकता बन जाती हैं, सुविधा-काल में उनसे सुख होता लगता था पर आवश्यकता हो जाने पर उनके न मिलने से दुःख अवश्य होता है, मिलने पर 'सुख हो रहा है' ऐसा लगता नहीं। इसी प्रकार सामान्यतः जिसके प्रति इच्छा होती है उसे पाने की कोई छटपटाहट भी नहीं होती अतः उसकी प्राप्ति भी किसी विशेष आनंद को नहीं देती। जब इच्छा तीव्र हो, इच्छित वस्तु के बिना रहा न जाये, उसके लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति अवश्य हो, तब उसके लाभ से विशेष सुख महसूस होता है। इसलिये यद्यपि सुखमात्र आत्मस्वरूप है तथापि साधारण से उत्कृष्ट होकर उसकी पहचान जहाँ होती है वहीं उसे ब्रह्मरूप बताया जा रहा है। ऐसे ही कुछ चीज़ें इसलिये अभीष्ट कहलाती हैं कि प्रायः लोगों को अच्छी लगती ही हैं पर क्योंकि परिस्थितिभेद से, मात्राभेद से, या कारणांतरवश वे अच्छी नहीं भी लगतीं इसलिये यहाँ अभीष्ट से व्यक्तिगत इच्छा के विषय को कह रहे हैं। जिसे जब जो

अभीष्ट होता है उसे तब वही उत्कृष्ट सुख देता है। विचारपूर्वक उस सुख का परीक्षण कर यह पहचानना साधना है कि वह वास्तव में निजस्वरूप का सुख है, न कि विषय से मिली वस्तु। विषय ने तो पहले कामना का दुःख दिया, फिर मिल जाने पर उस दुःख को समाप्त किया, बस, इससे अधिक योगदान विषय का नहीं रहा। जितनी ज़्यादा कामना की तीव्रता थी उतना ही उसके मिटने पर लगता है कि सुख तीव्र हुआ किन्तु वस्तुतः सुख एकरूप ही होता है। ध्यान देकर यदि विभिन्न विषयों से उपलब्ध सुखों को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्यादा अच्छी लगी चीज़ से और कम अच्छी लगी चीज़ से हुए सुख में कोई अंतर नहीं। जैसे सत्ता व ज्ञान चाहे घट के हों या हिमालय के, विषयों में अंतर होने पर भी सत्ता व ज्ञान में कोई तारतम्य नहीं बता सकते, वैसे ही आनंद चाहे बाजरे के सोगरे का हो या रसगुल्ले का, विषयों में ही तारतम्य है, उनके प्रति आकर्षण में ही तारतम्य है, उनसे होने वाले सुख में कोई तारतम्य नहीं है। 'स्प्रिंग' को जितना कम या ज़्यादा खींचकर छोड़ते हैं उतनी ही कम या ज़्यादा गति से वह लौटकर अपनी सामान्य स्थिति पर आता है। किन्तु सामान्य स्थिति एक ही है, चाहे धीरे वहाँ पहुँचे या तेज़। इसी प्रकार मन में तीव्र अभिलाषा हो और वह पूरी हो जाये तो मन तेज़ी से आत्मा में लौटता है इसलिये लगता है कि सुख ज़्यादा हुआ, और थोड़ी-सी कामना हो एवं वह पूरी हो जाये तो धीरे-से लौटने के कारण लगता है कि सुख कम हुआ किन्तु सुख वस्तु में कमोबेश नहीं है, मन उसे विषय करे इसीमें अर्थात् मनोवृत्ति में ही न्यूनाधिकभाव है। इस विवेक से साधक निश्चित कर सकता है कि निष्काम, स्वाभाविक शांत स्थिति में जो आनंद है, सारे विषय पाकर भी वही मिलेगा अतः विषयाकर्षण छोड़कर उस निजानंद में प्रसन्न रहे। प्रवृत्तिमात्र क्लेश देती है। निवृत्ति भी जब 'की' जाये तब प्रवृत्तिविशेष होने से क्लेश ही देती है। प्रवृत्ति-निवृत्ति जब तक स्वभाव से विचलनरूप हैं तब तक क्लेश हैं अतः इन्हें छोड़कर स्वमात्र में अवस्थित रहना आनंद है। प्रवृत्ति-निवृत्ति छूटे तभी जब कामना मिटे क्योंकि कामना ही वह अशांति पैदा करती है जिसे दूर करने के लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति की अनिवार्य प्रतिक्रिया हो जाती है। जैसे खुजली होने पर खुजलाना या न खुजलाना दोनों के लिये प्रयत्न करना पड़ता है लेकिन दोनों ही हैं खुजली के प्रभाव से ही, वैसे ही कामना के प्रभाव से ही प्रवृत्ति-निवृत्ति की जाती है। अतः यदि कोई ऐसी क्षणिक दुर्बल इच्छा मनमें आ भी जाये जो प्रवृत्त-निवृत्त न करे तो वह सुख को आवृत नहीं कर पाती, उससे यह नहीं लगता कि अपना स्वाभाविक आनंद तिरोहित

हो गया। वैसी इच्छा क्षणिक ही होगी तथा उसके दूर होने से कोई विशेष सुख भी नहीं होगा। सुख में विशेषताका अनुभव कामनारूप उपाधि पर निर्भर है। स्वरूपतः सुख परिपूर्ण ही है। अत एव कहा कि विषयसुख को ब्रह्मानंद का 'लेश' (हिस्सा) कहना केवल समझाने का ढंग है, वस्तुतः ब्रह्मानंद कोई सावयव पदार्थ है नहीं जिसके टुकड़े हो सकें, वह तो एक, अखंड, सदा पूरा ही है। स्वल्पकाल भासा, तुरंत कामनाने वृत्ति बहिर्मुखी कर दी तो भासना बंद हो गया, इस भासने के काल की स्वल्पता से आनंद को स्वल्प कह देते हैं। रात को दीपक से या 'टार्च' से पहाड़ देखें तो दीखेगा थोड़ा-सा पहाड़ पर पहाड़ रहेगा तो पूरा ही, ऐसे ही विषयाशा-पूर्ति के निमित्त से प्रतीत होने वाला आनंद पूर्ण ही है, केवल प्रतीत थोड़ी-सी देर को होता है अतः उसे लेश कह देते हैं। किन्तु विडम्बना यह है कि उस लेश से हमें ऐसा राग हो जाता है कि हम पूर्ण का आस्वादन छोड़े रहते हैं! इसी से बचाने के लिये शास्त्र बताता है कि विषयलभ्य सुख तो लेशमात्र है। हालाँकि सुख स्वरूपतः ब्रह्म ही है अतः विषयसुख भी है ब्रह्मसुख ही फिर भी विषयों के प्रति वैराग्य का विधान इसीलिये किया जाता है कि विषयसुख लेश-मात्र है, उसमें उलझे रहना मूर्खता है जब असीम आनंदसागर सुलभ है। इसी तरह घटज्ञान भी है ब्रह्मज्ञान ही क्योंकि ज्ञान है ही ब्रह्म का स्वरूप, लेकिन मोक्ष तभी होगा जब ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो, भूम-स्वरूप का अनावरण हो। अतः बहिर्मुखता का परित्याग करने का विधान अध्यात्मशास्त्र में संगत है।।२६-७।।

क्योंकि हमें सुख के क्षणिक संस्करण ही उपलब्ध हुए हैं इसलिये समझाते हैं कि इसके संपूर्ण स्वरूप को पाने के लिये अपनी दृष्टि बदलनी पड़ेगी, यदि शास्त्र न स्पष्ट करे तो अपने विचार से प्राणी कभी यह नहीं समझ सकता कि बहिर्दृष्टि दुःख का मूल है, कभी सुख नहीं देगी। अविवेकी क्षणिक सुखों को बढ़ाने में लगता है जो इसलिये बेकार है कि क्षणिक सुख चाहे जितने इकट्ठे हो जायें, कभी पूर्ण सुख नहीं हो सकते। जैसे, चाहे जितने दीपक जल जायें सब मिलकर भी हिमालय को प्रकाशित नहीं कर सकते, उसके लिये तो सूरज उगने का ही इन्तजार करना पड़ेगा, वैसे पूर्ण सुख के लिये विषय कभी पर्याप्त नहीं हो सकते, उसके लिये विषयाभिलाषा छोड़कर गुहानिहित सत्यादिरूप ब्रह्मका ही दर्शन चाहिये यह बताते हैं **गहन विचार और अभ्यास से जिसने नाम-रूप की उपेक्षा कर सच्चिदानंद पर ही एकाग्र होने का शील बना लिया वह तो हमेशा अन्तर्दृष्टि से ब्रह्म अर्थात् भूम, परिपूर्ण आनंद का अनुभव करता है। वह ब्रह्मानंद लगातार है, अखण्ड है, सभी क्षणिक सुख उसमें समाये**

अन्तर्दृष्ट्या विवेकी तु ब्रह्मानन्दं सदेक्षते।
अन्तर्भवन्ति क्षणिकाः सर्वे तस्मिन्निरन्तरे।।२८।।
तत्त्वविद् ब्रह्मरूपेण सर्वान् कामान् सहाऽश्नुते।
इत्येषोऽतिशयो ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलं श्रुतम्।।२६।।

हुए हैं।।२८।। एक विवेकी प्रारंभका साधक होता है और दूसरा वह जिसमें विवेक प्रतिष्ठित हो चुका है, जिसका अपने विवेक पर अधिकार है। यहाँ दूसरे विवेकी को ही कह रहे हैं जिसे उपनिषत् ने 'ब्रह्मवित्' कहा है। इस स्थिति के लिये संशय-विपर्यय से रहित ब्रह्मात्मानुभव आवश्यक है। उसकी प्राप्ति अन्तर्मुखता से होगी लेकिन प्राप्त होने के बाद जब दृढता आ जायेगी तब अंतर्मुखता स्वभाव हो जाती है। 'अन्तः' अर्थात् विषयों व कोशों का परित्याग करने पर जो रहे; इस तरह सच्चिदानंद ही वस्तुतः 'अन्दर' है, नाम-रूप ही 'बाहर' हैं। दृढता होने पर तत्त्वज्ञ सदा आत्ममात्रका अवलोकन करता है। अदृढ ज्ञानी तो सायास आत्मावबोध करता है और आयास शिथिल होने पर प्रारब्ध एवं वासना के अनुसार बाहर की दृष्टि बना लेता है अतः उसे पूर्ण आनंद सदा नहीं हो पाता, आयासापेक्ष होता है, किंतु दृढ ज्ञानी को सदा होता है।

'सदा' से यह भी बता दिया कि उसे मालूम है कि जब अज्ञदशा में महसूस नहीं भी हो रहा था तब भी यही पूर्णानंद विद्यमान था। अतः देखना हमेशा भले ही न रहा हो पर देखता यह है कि वह हमेशा है। क्योंकि वह स्वरूप से सनातन एकरस है इसलिये उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं, निरपेक्ष सम्पूर्णता ही है। विषयों की अपेक्षा से प्रकट होने वाले सारे तूलानन्द उसी मूलानन्द की सापेक्ष अभिव्यक्तियाँ होने से उसमें इन सबका, अन्तर्भाव हो जाता है, अर्थात् ये सब उसी में समाये हुए हैं। ऐसा नहीं कि विवेकी को सारे विषयानंद मिल जाते हों वरन् सारे विषय मिलकर जो आनंद दे सकते हैं उससे अनन्त गुणा ज़्यादा आनंद में वह सराबौर हो जाता है, यह भाव है।।२८।।

श्लोक २३ में उठाये प्रश्न के उत्तर का निगमन करते हैं **व्यापक प्रत्यक् तत्त्व का जानकार आनंदरूप ब्रह्म से अभिन्न होकर एक-साथ ही सभी कामनाओं की पूर्ति का उपभोग कर लेता है; अज्ञानी की अपेक्षा उसमें यह जो विशेषता है उसे ही ब्रह्मज्ञान का ब्रह्मप्राप्तिरूप फल वेद ने बताया है।।२६।।** सफलता से भी प्रामाणिकता का उपोद्बलन होता है। तत्त्वज्ञान हुआ या नहीं, सही तत्त्व समझ

आया या नहींइसका पता इससे लग जाता है कि सारी कामनायें इकट्ठे ही पूरी हो गयीं या नहीं। यदि हो गयीं तो ब्रह्म का प्रामाणिक अवगम हो गया यह निश्चित है। तत्त्वबोध संपूर्ण सन्तुष्टि देता है, किसी विचलन की गुंजाइश नहीं छोड़ता। जिस आनंद की प्राप्ति होनी है उसीसे एक हो जानायह तत्त्वज्ञान से सिद्ध होता है। समग्र आनंद मैं हूँ, सदा भासमान हूँइस स्थिति में कोई कामना हो ही नहीं पाती क्योंकि आनंद की कमी महसूस हो तभी उसे पूरा करने की कामना होती है। कामना स्वाभाविक नहीं वरन् कमी प्रतीत होने पर आने वाली भावना है। अज्ञानी को अवश्य कमी लगती है अतः उसे कामना ज़रूर होती है लेकिन उसे भी उसी क्षेत्र में कामना होती है जहाँ उसे न्यूनता लगे। तत्त्वज्ञ को कोई कमी न लगने से कोई कामना नहीं होती। कमी न लगना और पूर्ति का अनुभव होनाइनमें फ़र्क़ है। जिज्ञासा न होनायह अतिमूर्ख और सर्वज्ञ में एक-सा है पर सर्वज्ञ को ज्ञान की पूर्ति उपलब्ध होती है जबकि अतिमूर्ख घने अज्ञान से आवृत रहता है। इसी तरह ब्रह्मज्ञ को यह अनुभव होता है कि उसकी सारी अभिलाषायें पूरी हो गयीं, इस संपूर्ति की अनुभूति से वह निष्काम हो जाता है। श्रुति ने 'आप्नोति परम्' यह जो सूत्र में कहा था उसे ही व्याख्या में 'सोऽश्नुते' आदि से स्पष्ट किया कि विपश्चिद् ब्रह्म का स्वरूप बन जाने से सकल कामनाओं की एक-साथ पूर्ति तत्त्वज्ञ को प्राप्य फल है। ब्रह्मरूप तो अज्ञानी भी है पर क्योंकि इस रहस्य को जानता नहीं इसलिये ब्रह्मानंद से वंचित हुआ तुच्छानंदों के लिये लालायित रहता है जब कि ज्ञानी सांसारिक सुखों को वैसा ही समझता है जैसा सागर अपनी तरंगों को। अतः परम लाभ का व्यावहारिक परिचय निष्कामता है जो तज्ज्ञ को अज्ञ से पृथक् कर देती है।।२६।।

सूत्र और उसके व्याख्यान से बतायी बात का ही स्पष्टीकरण आगे के ग्रंथ से किया जायेगा। श्रुति ने यहाँ सृष्टि का वर्णन किया है कि पूर्वोक्त गुहानिहित आत्मा से आकाशादि भूत, ओषधियाँ, अन्न, 'पुरुष' उत्पन्न हुए। यह जायमान पुरुष अन्नरस का विकार है। यद्यपि अन्य प्राणी भी कहे जा सकते थे तथापि कर्म और ज्ञान में अधिकारी होने से प्रधान होने के कारण यहाँ पुरुष का ग्रहण किया। इस पुरुष को अपने स्थूल शरीर में आत्मभावना दृढ है, उसी का सहारा लेकर धीरे-धीरे उसे एक-एक कोश भीतर पहुँचाकर अन्तरतम ब्रह्म तक पहुँचाने के लिये श्रुति ने सिर आदि का साँचा तैयार कर क्रमशः सब कोशों का वर्णन किया है। यद्यपि सृष्टि हुई यह वेद का अभिप्राय नहीं क्योंकि वस्तुभूमिका पर सृष्टि होती ही नहीं, तथापि

अध्यारोपः

सूत्रव्याख्यानरूपायाम् ऋच्यनन्तम् इतीरितम्।
तदानन्त्यप्रसिद्ध्यर्थं जगत्कारणतोच्यते।।३०।।

अध्यारोप के अभिप्राय से सृष्टि बतायी जाती है। हमें संसार उपलब्ध है, इससे परमात्मा सीमित ही होगायही सहज भ्रम है जिसे दूर करने के लिये बताते हैं कि संसार यदि परमात्मा से पृथक् होता तब उसे सीमित करता, क्योंकि यह परमात्मा से पृथक् है नहीं इसलिये यह उसे सीमित नहीं करता। जब दीख रहा है उससे अलग तब ब्रह्म से पृथक् कैसे नहीं? इसके जवाब में कहते हैं कि यह सारा संसार ब्रह्म से ही उत्पन्न है अतः लगता भले ही पृथक् है पर है नहीं जैसे घट-शराव आदि मिट्टी से पृथक् लगने पर भी उससे पृथक् नहीं होते अतः मिट्टी को परिच्छिन्न नहीं करते। इस पर शंका होगी कि जगत्कारण होने से ब्रह्म परिणामी होगा? तो समाधन किया जायेगा कि कार्य केवल अध्यस्त हैं अतः ब्रह्ममें कोई परिणाम या परिवर्तन नहीं, केवल अज्ञानवश यह नानात्व अनुभव में आ रहा है। यों अध्यारोप से ब्रह्म की असीमता बताकर स्पष्ट करते हैं कि आरोपित होने से संसार मिथ्या है अतः अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से संसार का बाध हो जाता है; इस स्पष्टीकरण को अपवाद कहते हैं जिसे श्लोक ४१ से बतायेंगे। तब तक आरोप-प्रकरण उपस्थापित करते हैं **'ब्रह्मज्ञ परतत्त्व पाता है' इस विद्यासूत्र का अभिप्राय समझाने वाले ब्राह्मण-वाक्य में ब्रह्म को अनन्त कहा। उसी अनन्तता को युक्ति व अनुभव से अविरुद्ध सिद्ध करने के लिये यह बताया जाता है कि ब्रह्म जगत् का कारण है।।३०।।** ब्रह्म सत्य है यह समझना सरल है। जब उसे प्रत्यग्रूप कहते हैं तब यह भी समझ आ जाता है कि वह ज्ञान है। सत्य समझने की अपेक्षा उसे ज्ञान समझना कठिन है पर सबसे मुश्किल है उसे अनन्त समझना। सभी पदार्थ देश-काल-वस्तु से परिच्छिन्न होते हैं, ब्रह्म भी कोई पदार्थ है तो परिच्छिन्न ही होना चाहिये यही स्वाभाविक लगता है। अतः प्रयासपूर्वक श्रुति ब्रह्मकी अनन्तता उपपन्न करती है क्योंकि इसके सहारे ही प्रत्यग्रूपता व भूमरूपता एक-साथ समझ आयेगी जो मोक्षहेतु है। देश-काल-वस्तु सभी जब ब्रह्म पर आरोपित हैं तब ब्रह्म इनसे सीमित नहीं ही हो सकता, जैसा वार्तिककार ने कहा है'कल्पितेन परिच्छेदो न ह्यकल्पितवस्तुनः' कि कल्पनारूप पदार्थ वास्तविक तत्त्व का परिसीमन नहीं कर सकते। इस संदर्भ में छान्दोग्य की वाचारम्भण-श्रुति का अनुसंधान कर लेना चाहिये जिसके आधार पर ब्रह्मसूत्र में कार्य को कारणसे अनन्य घोषित किया है। क्योंकि ब्रह्म

यत् सत्यं ब्रह्म कोशाख्यगुहायां व्योमनामके।
अज्ञाने कारणे गूढं तस्माद् आकाश उद्गतः।।३१।।

को अनंत समझाना उद्देश्य है न कि उसे कारण बताना, इसलिये कारण-वर्णन के ढंगों में काफी अन्तर मिलता है किंतु सर्वत्र इसमें कोई मतभेद नहीं कि कारण ब्रह्म है। कारण से कार्य कैसे निष्पन्न हुआ इसके कदमों में अन्तर बताने से यही सूचित होता है कि ये कदम वास्तविक नहीं हैं तथापि सर्वत्र ब्रह्म को ही कारण बताने से सूचित होता है कि शास्त्रतात्पर्य इतने में ही है, कदमों में नहीं। ब्रह्म की अनन्तता इसी से निर्णीत होती है कि उसे सीमित करने वाला कोई नहीं है अतः उतना ही वेद को विवक्षित है। वैसे, तैत्तिरीयोक्त पंचभूतोत्पत्ति काफी संग्राहक है क्योंकि जगत् में पाँच भूतों से अलग कुछ स्वतन्त्र वस्तु नहीं मिलती एवं हमारी पाँच इंद्रियाँ भी पाँच भूतों से पृथक् कुछ ग्रहण कर नहीं सकतीं। यहाँ आकाश से सृष्टि प्रारंभ बतायी है अतः आकाश से प्राक्तन कोई उत्पाद हो तो उसका आनंतर्य स्वयं समझ लेना चाहिये जैसे तेजआदि सृष्टि बताने पर आकाशादि का आनन्तर्य समझना पड़ता है। सर्वथाऽपि, ब्रह्म से अतिरिक्त देश-काल-वस्तु न होने से ब्रह्म अनन्त है यह स्पष्ट करना यहाँ ब्रह्म से सृष्टि बताने का अभिप्राय है। अन्यत्र तात्पर्य होने से यह मतलब नहीं कि आकाशादि को ब्रह्म से उत्पन्न न माना जाये! प्रमाणान्तर से अविरुद्ध एवं अनधिगत विषय होने से सृष्टि व क्रम में अवान्तर तात्पर्य भी है अत एव मीमांसा में सृष्टि व इसके क्रम पर प्रभूत ऊहापोह है किन्तु वास्तविक तात्पर्य अनन्तता-प्रकाशन में है, यह भाव है।।३०।।

श्रुतिप्रवृत्ति का प्रयोजन एवं सूत्र-व्याख्यान की परस्पर संगति बताकर श्रुति का अर्थ समझाते हैं **'कोश' कहलाने वाली गुहा में कारणभूत एवं 'व्योम' नाम वाले अज्ञान में छिपा जो सत्य ब्रह्म, उससे आकाश का उद्गम हुआ।।३१।।** कोश अर्थात् छिपाने वाला आवरण, जैसे तलवार की म्यान या बक्सा आदि। अन्नमयादि आनन्दमयान्त कोशों का पूर्व में उल्लेख किया था जिन्हें गुहा बताया था क्योंकि आत्मा वहीं छिपा, वहीं ढूँढने पर मिलता है। उस गुहा में अव्याकृत या अज्ञान को व्योम श्लोक १५ में बताया था। उसी अज्ञान से छिपे आत्मा से आकाशादि प्रपंच पैदा हुआ है। कारण परम व्योम है अतः जन्य आकाश को अपरम व्योम समझना चाहिये।

श्रुतिवाक्य है 'तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः', तस्माद् = उससे,

वै = निश्चित, एतस्माद् = इससे; आत्मनः = आत्मा सेयह शब्दार्थ है। 'उस' कहते हैं परोक्ष को और 'इस' कहते हैं अपरोक्ष को, अतः एक ही वस्तु को 'उस' व 'इस' कहने से बताया कि परोक्ष अर्थात् शास्त्र से समधिगम्य तत्पदार्थ और अपरोक्षानुभवगम्य प्रत्यगात्मा एक ही है जिसे आत्मा कहा। 'परमात्मा' व 'जीवात्मा' दोनों जगह आत्म-शब्द समान ही है। 'वै' से कहा कि वेदान्तों में तात्पर्यतः वह प्रतिपादित है। 'उससे' आदि में 'से' यह पंचमी विभक्ति का प्रयोग उस आत्मा को उपादान कारण बताने के लिये है। 'मिट्टी से घड़ा पैदा होता है; कहने पर जैसे मिट्टी उपादान पता चलती है वैसे आकाशादि का उपादान प्रत्यगभिन्न परमेश्वर है। उपादान को प्रकृति भी कहते हैं जैसा ब्रह्मसूत्रों में (१-४-५३) कहा ही है। जब माया को उपादान कहते हैं तब भी तात्पर्य मायी को उपादान बताने में है क्योंकि अज्ञात ब्रह्म को ही अज्ञान, मायावी ब्रह्म को ही माया कहना उपाधि-प्रधानता की विवक्षा से संगत है। मायावी से स्वतन्त्र माया का कोई अस्तित्व है ही नहीं कि अकेली माया उपादान बन सके। ब्रह्म निर्विकार हैइसे स्पष्ट करने के लिये अनेक जगह कहते जरूर हैं कि माया उपादान है पर सर्वत्र इतनी बात मन में रहती ही है कि वह माया परमात्मा से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। ब्रह्म ही सारे प्रपंच का निमित्त व उपादान है यह वेद का सिद्धान्त है। कार्य को कारण से पृथक् प्रतीत होने पर भी पृथक् अस्तित्व वाला मानना शास्त्र-युक्ति से विरुद्ध है क्योंकि स्वर्णादि से स्वतंत्र गहने आदि की उपलब्धि नहीं होती। अतः न कार्य का 'आरंभ' होता है व न कोई 'परिणामविशेष' ही कार्य है वरन् कारण के रहते उपाधिवश कार्य प्रतीत होता है, व्यवहार्य होता है। जो पूर्व में सर्वथा न हो, उसका नवीन जन्म 'आरंभ' है किन्तु जो सर्वथा न हो वह जन्म ले ही नहीं सकता अन्यथा गधे के सींग भी उग जाया करें! अतः न्याय-वैशेषिक-अभित आरंभवाद गलत है। सांख्य-योग दर्शनों के अनुसार, कारण ही बदल कर कार्य बन जाता है, जिसे वे 'परिणामवाद' कहते हैं। कार्य पूर्व में कारण के अंदर छिपा रहता है और कारण में खास तरह का बदलाव आने पर वह कार्य प्रकट हो जाता हैयह उनकी मान्यता है। किन्तु ब्रह्म परिवर्तनशील वस्तु है नहीं अतः ब्रह्म परिणत होकर जगत् बने यह संभव नहीं। कुछ आधुनिक वैष्णव विकार व परिणाम में अन्तर मानकर परिणामी ब्रह्म स्वीकार कर लेते हैं किंतु 'न जायते' आदि श्रुति-स्मृति से और उक्त अन्तर अप्रामाणिक होने से उनका वाद ग़लत निश्चित होता है। इस प्रकार यही स्वीकार्य है कि ब्रह्म यथावत् है फिर भी जगत् उपलब्ध हो रहा है, इसे 'विवर्तवाद' कहते हैं जिसे अज्ञान

से, माया से संगत किया जाता है। अन्य आस्तिकों के मत स्थूलमति प्राणियों को विचारमार्ग पर चलाना प्रारंभ कराने के लिये हैं, वास्तविकता के आधर पर नहीं। प्रपंच में सच्चिदानंदये ब्रह्मांश और नाम-रूपये मायांश मिलते हैं अतः मायावी ब्रह्म को
कारण समझना सम्यक् है। माया अर्थात् आश्चर्यरूप चीज़ें; संसार के नाम-रूप के बारे में विचार से कुछ समझ नहीं आता, केवल आश्चर्य ही होता है, इसलिये नाम-रूप माया हैं। ब्रह्म की शक्ति माया ही कामना, संकल्प आदि क्रम से संसाराकार ग्रहण कर लेती है। माया, उसका अकार्याकार व विभिन्न कार्याकार, सभी आश्चर्यमय ही हैं, यह याद रखना चाहिए। प्राणियों के कर्म फलोन्मुख होने पर फलदाता परमेश्वर कर्मानुसार भोग देने के लिए समष्टि-व्यष्टि शरीरों की रचना करता है। चित्प्राधान्य से निमित्तता व उपाधिप्राधान्य से उपादानता संगत होने से वेदान्तों में तत्र-तत्र कहे विभिन्न वाक्य अभिन्न-निमित्तोपादान परमेश्वर को ही कारण कहते हैं यह स्पष्ट है। सृष्टि के क्रम के बारे में शास्त्र ने विविध बातें कही भी हों पर स्रष्टा परमेश्वर है इसमें कहीं मतभेद नहीं। क्रम भी, विचार करें तो तरतीब से यों समझ आ जाता है कि सभी वाक्य अविरुद्ध रहते हैं। क्रमविगान सृष्टि के असत्यत्व के द्योतनार्थ है, यह तो पहले भी बता चुके हैं। जगत् के प्रति परमाणु, प्रकृति आदि कारण नहीं हैं यह शास्त्रश्रवण से स्पष्ट होता है क्योंकि शास्त्र सर्वत्र ब्रह्म को कारण बताता है। चेतन ब्रह्म से जड जगत् की उत्पत्ति केश-नख आदि की तरह स्वयं वेद ने उपपादित की है। भोक्ता व भोग्य दोनों संसार एक परमेश्वर से बनना स्वप्नन्याय से या तरंग-फेनादिन्याय से संगत है; स्वप्न में सभी को जड-चेतन स्वयं से उत्पन्न दीखते ही हैं तथा समुद्र से तरंग फेन आदि विविध कार्य उत्पन्न होते ही हैं। परमेश्वर क्योंकि सर्वज्ञ है अतः उसे संसार असत्य है यह सदा मालूम है, इसलिये उस पर विषमता आदि का कोई दोष नहीं आता। स्वप्नसृष्टि या इन्द्रजाल की सृष्टि से जैसे सृष्टिकर्ता पर भेदभाव आदि का दोष नहीं मढ सकते वैसे सुखी-दुःखी जीवों के उत्पादक ईश्वर पर नहीं मढ सकते। वस्तुभूमिका पर जीव जब पैदा ही नहीं होता तब उसके सुख-दुःखों की औपाधिकता अथ च मिथ्यात्व का क्या कहना! ईश्वर नित्य ही तृप्त है, जगत्-लीला तो मानो उसका स्वभाव है। वह क्योंकि जगद्भ्रम का अधिष्ठान होने से जगत्कारण है इसलिए उसमें इस कारणता से कोई अतिशय नहीं आ सकता। अत एव ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानना असंगत है; यदि सृष्टि कोई स्वतन्त्र वस्तु है तब तो स्रष्टा का उससे व्यवहार स्रष्टा पर कई दायित्व डालेगा किन्तु जब सृष्ट भी वही है जो स्रष्टा है

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहेषु कारणम्।
पूर्वं पूर्वं भवेत् कार्यं परं परमितीक्ष्यताम्।।३२।।

तब उस पर कोई दबाव नहीं कि वह क्यों वैसा करता है, अन्यथा क्यों नहीं करता आदि। अतः माया द्वारा अभिन्न निमित्तोपादानता को स्वीकारना ही ईश्वरवादी के लिये उचित है। क्योंकि ईश्वर से अन्य कोई सृष्ट-असृष्ट वस्तु नहीं है इसीलिये ईश्वर को जान लेने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है, सब कुछ प्राप्त हो जाता है। अत एव अन्य वादियों की तरह वेदान्ती आकाश, परमाणु आदि को अजन्य, नित्य नहीं स्वीकारते वरन् जडमात्र को ब्रह्मकार्य ही बताते हैं। माया कार्य न होने पर भी ब्रह्म पर ही अध्यस्त होने से कार्यतुल्य तो है ही। चेतन स्वप्रकाश सद्रूप होने से अकार्य हो यही शास्त्र से व तर्क से संगत है। यद्यपि क्रमिक उत्पत्ति में विभिन्न कारण प्रतीत व व्यवहृत होते हैं तथापि सर्वत्र कारण ब्रह्म ही है, तत्तत् उपाधियाँ ओढ़ते हुए वह तत्तत् कार्य करता है जिससे भ्रम होता है कि वे उपाधियाँ कारण हैं जबकि वास्तव में उपाधि स्वयं तो कुछ है ही नहीं कि कुछ कर सके! यद्यपि क्रमशः जागतिक पदार्थों का उत्पादन बुद्धिसंगत व शास्त्रसंमत है तथापि इसे समझने का मुख्य उपयोग साधक के लिये है लय-चिन्तन में; कार्य का कारण में विलय समझते हुए मूलकारण तक मन ले जाना इस ढंग को समझने का व्यावहारिक फल है। अत एव प्रसिद्ध क्रम में न आये पदार्थों का भी क्रम में स्थान निश्चित कर लेना सम्प्रदायसिद्ध है। यहाँ भूतसृष्टि क्रमवार बतायी गयी है तथा छान्दोग्य में सूचित तरीके से पाँचों भूतों का विशिष्ट संमिलन होकर स्थूल प्रपंच तैयार हुआ है अतः साधक सृष्टि की अपेक्षा विपरीत क्रम से हर-एक दृश्य का विलय करे तो अंतर्मुखता सिद्ध हो जायेगी। गुहानिहित अतः प्रत्यगभिन्न अज्ञात ब्रह्म से आकाशादि का उद्गम बताने से ही जीव-ईश्वर का अभेद प्रतिज्ञात हो जाता है। 'सम्भूतः' इस श्रौत शब्द को 'उद्गतः' से समझा कर आरंभ-परिणाम के निषेध द्वारा विवर्तके मार्फत अजात को सूचित किया है यह अनुसन्धान कर लेना चाहिये।।३१।।

श्रुति ने बताया कि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न तथा अन्न से पुरुष उत्पन्न हुए। इसे श्लोक से एकत्र करते हैं **आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ओषधियाँ, अन्न और देहइनमें पूर्व-पूर्व कारण तथा अगला-अगला पदार्थ कार्य है यह समझा जाये।।३२।।** अर्थात् आकाश वायु के प्रति कारण है, वायु तेज के प्रति इत्यादि। यह

बता ही चुके हैं कि तत्तत् भूत को कारण नहीं मानना है वरन् उस भूत की उपाधि वाले ब्रह्म को ही कारण मानना है क्योंकि वेद ने स्पष्ट कहा है कि सारे जगत् का जन्म परमेश्वर से है। जैसे गेहूँ फुलके का कारण है यद्यपि आटा, गुँथा आटा, लोई, बेला हुआ आकार आदि क्रम जरूरी है। केवल बेला हुआ आकार ही कारण दीखता है पर वस्तुतः उस आकार में गेहूँ ही कारण है। वैसे ही सर्वत्र ब्रह्म ही कारण है। श्रुति के 'पुरुषः' का अर्थ देह कर दिया ताकि यह भ्रम न हो कि कहीं जीव की सृष्टि बतायी जा रही है! जीव उत्पाद्य हो तो कर्म-व्यवस्था न रहने से, अकृत-अभ्यागम व कृतविप्रणाश होने से श्रुतिसम्मत मर्यादा असंगत हो जायेगी। प्रथम बार जीव क्यों उत्पन्न हुआ?इस असमाधेय प्रश्न का कोई उत्तर जन्यजीववाद में नहीं है। अतः अनादि जीव ही सिद्धांत-संमत है। आकाशादि देहपर्यन्त कारण-कार्यों को समझना साधक के लिये पर्याप्त है, वह देह का अन्न में, अन्न का ओषधियों में आदि विलय कर अन्तर्मुख हो सकता है तथा बाह्य विषयों को भी भूतों से अभिन्न जानकर उनका भी स्वस्वकारण में विलय करा गुहाहित अज्ञात ब्रह्म तक मन पहुँचा सकता है। क्योंकि यह आरोप-प्रसंग है इसलिये सावधानी से इसका अभ्यास कर यह दृढ कर लेना चाहिये कि यहाँ बताये से अतिरिक्त संसार में कोई वस्तु नहीं है। यदि किसी ऐसी चीज़ की संभावना रह गयी जो यहाँ कहे आकाशादि में न आती हो तो एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की श्रौतप्रतिज्ञा एवं दृश्यमात्र की बाध्यता, अथ च अद्वैत में ही विरोध आ जायेगा। यह इसलिये याद रखना चाहिये कि प्रारंभिक साधक को ईश्वरपरक बनाने के लिये ईश्वर के नाम-धाम आदि को दिव्य कहकर ऐहिक दृश्यों से विमुख कर उन उपाधियों के प्रति आकृष्ट किया जाता है किंतु मुमुक्षु को सावधान रहना चाहिये कि वह उस दिव्यता पर इतना न मुग्ध हो जाये कि दिव्यता को मिथ्यात्व के दायरे से बाहर समझ ले! नाम-रूप चाहे ऐहिक हो या आमुष्मिक, लौकिक हो या दिव्य, भूतमय हो या चिन्मयरहेगा मायात्मक ही। अतः सृष्टि-प्रक्रिया समझते समय समस्त संसार का अंतर्भाव जानने पर ही अपवाद के द्वारा सारा दृश्य बाधित हो सकेगा।।३२।।

अद्वैत निर्विकार परमात्मा से विविध आकारों वाला जगत् उत्पन्न होना असंगत नहीं क्योंकि जगत् एक अवास्तविक कार्य है जिसकी प्रतीति संभव करना अज्ञात ब्रह्म का स्वभाव हैइसे अन्य श्रुतिवाक्यों के सहारे स्पष्ट करते हैं **क्योंकि वेद ने कहा है कि 'परमेश्वर मायाशक्तियों द्वारा बहुत रूपों वाला हुआ', इसलिये ब्रह्म में**

इन्द्रो मायाभिरभवद् बहुरूप इति श्रुतेः।
आसन् मायिकरूपाणि खादीनि ब्रह्मगानि हि।।३३।।

प्रतीत होने वाले आकाशादि मायाकृत रूप ही थे।।३३।। बृहदारण्यक में (२.५.१९) कहा है

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयःशता दशा।'

जो-जो रूप (उपाधि) बनाता गया, खुद भी उस-उस रूप वाला होता गया। विविध रूपों वाला होने का प्रयोजन यही है कि परमात्मा का निरुपाधिक रूप विवेकपूर्वक समझा जाये। इंद्र अर्थात् परमेश्वर मायाशक्तियों से बहुत रूपों वाला प्रतीत होता है। क्योंकि सारी इंद्रियाँ रूपों को ही ग्रहण करने में लगी रहती हैं इसलिये अज्ञ को ये रूप ही उपलब्ध होते हैं, इनसे अतीत परमार्थ वस्तु तभी समझ आती है जब अंतर्मुख हो शास्त्रश्रवण किया जाता है।यह उक्त श्रुति का अर्थ है। इसमें 'संसाराकार माया से ग्रहण करता है' यह बात पता चलने से प्रकृत सृष्टिप्रक्रिया भी माया से उपपन्न है यह तात्पर्य है। यद्यपि अविकारी ब्रह्म को जगत्कारण बताने से माया अर्थ-सिद्ध ही है तथापि कुछ 'लकीर के फकीर' स्पष्टतः ऐसा कथन सुने बगैर निश्चय नहीं कर पाते अतः जहाँ स्पष्ट माया-द्वारकता कही वह वाक्य यहाँ ग्रहण कर लिया। 'थे' का मतलब यह नहीं कि अब नहीं हैं! जब उत्पन्न हुए तब मायिक ही उत्पन्न हुए व ऐसे ही हैं यह भाव है। अथवा आकाश है, आदि सत्तादात्म्येन आकाश प्रतीत हो रहा है, यह ऐसी प्रतीति से पूर्व, अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व माया में ही निहित था यह अर्थ है। जगज्जन्मादि-हेतु होने पर भी ब्रह्म निर्विकार ही रहता है यही तात्पर्य है।।३३।।

पूर्वदर्शित बृहदारण्यकश्रुति में 'मायाभिः' यों माया शब्द का बहुवचन में प्रयोग होने से शंका संभव है कि अनेक माया होती होंगी; किं च एक माया भी अनेक विविध कार्य कैसे संभव करती हैयह भी प्रश्न होता है। दोनों के समाधानार्थ स्पष्ट करते हैं कि एक ही माया की अनेक शक्तियाँ हैं जिनसे विविध कार्य संपन्न होते हैं तथा उन्हीं को दृष्टि में रखकर बहुवचन-प्रयोग भी संगत हो जाता है **अन्यत्र वेद ने बताया है कि इस परमात्मा की परा शक्ति नाना प्रकार की है अतः निश्चित हो जाता है कि जिसके सहारे ब्रह्म आकाशादि उत्पन्न करता है उसकी वह सामर्थ्य अलग-अलग ढंगों की है (जिससे बहुवचन संगत है)। वह शक्ति असत्य होने से**

पराऽस्य शक्तिर्विविधेत्येवं श्रुत्यन्तरेरणात्।
विविधा ब्रह्मणः शक्तिः सा च मायाऽनृतत्वतः।।३४।।
सत्यस्य ब्रह्मरूपत्वाच्छक्तेरनृततोचिता।
निस्तत्त्वा भासते याऽसौ माया स्याद् इन्द्रजालवत्।।३५।।

माया है।।३४।। श्वेताश्वतरोपनिषत् में (६.८) कहा है

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।'

महेश्वर का न कोई कार्य है न करण, न उसके समान कोई है न उससे अधिक। उसकी परा शक्ति विभिन्न प्रकारों की सुनी जाती है। वह शक्ति स्वभावतः अर्थात् अकारण ही है तथा ज्ञानरूप बल से वह जगत् की सर्गादि क्रिया संपन्न कर लेती है। कार्यभूत आकाशादि की अपेक्षा से यह शक्ति 'परा' कही जाती है तथा अघटमान को घटमान दिखा देने से इसमें सदा विविधता है। शक्ति एक ही है, विभिन्न कार्य करती है यही उसकी विभिन्न-प्रकारता है। ऐसा नहीं कि माया में अनेक शक्तियाँ हैं! क्योंकि शक्ति में शक्ति मानना व्यर्थ है, व अनवस्था का आपादक है। यद्यपि विक्षेप-आवरण की 'शक्तियाँ' माया में कही जाती हैं तथापि वहाँ इतना ही मतलब होता है कि माया दोनों कार्य करती है। अतः 'मायाभिः' से मायाशक्तियाँ कहने का अर्थ हैवह मायाशक्ति जिसके कार्य अनेक हैं; कार्यबाहुल्य से बहुवचन उपपाद्य है। अत एव बृहदारण्यकभाष्य में 'मायाभिः' की व्याख्या 'नामरूपभूतकृतमिथ्याभिमानैः' बतायी है अर्थात् कार्याविद्या के बाहुल्य को स्वीकारा है। यह पारमेश्वरी शक्ति अखण्डबोध से बाध्य है अतः सत्य न होकर असत्य, मिथ्या है। मिथ्या कार्यों का उपादान होने से भी यह मिथ्या ही है। सदसत्, भिन्नाभिन्न, सांगानंग आदि प्रकारों से निर्वचन के अयोग्य होने से यह शक्ति माया है।।३४।।

ब्रह्म की शक्ति माया ही क्यों होना संगत है इसे स्पष्ट करते हैं **क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप है सत्य इसलिये यही उचित है कि ब्रह्म की शक्ति असत्य हो। जो तात्त्विक न होते हुए प्रतीत हो वह माया होती है। जैसे इन्द्रजाल (जादूगर का खेल)।।३५।।** स्वरूप और शक्ति में अन्तर है क्योंकि स्वरूप सनातन है जबकि शक्ति को अधिष्ठान-साक्षात्कार समाप्त कर देता है। सत्य केवल ब्रह्म है यह 'सत्यं ब्रह्म' इस

लक्षण से बता चुके हैं अतः उसके स्वरूप से अतिरिक्त होने से शक्ति बलात् असत्य हो सकती है। लौकिक शक्तियाँ भी आगमापायी होने से शक्तिमान् की अपेक्षा न्यून सत्य होती हैं यह अनुभवसिद्ध है। ब्रह्म सत्य है तो उसकी शक्ति भी सत्य होनी चाहियेऐसा प्रश्न प्रायः उठता है। विचारणीय बात यह है कि 'शक्ति सत्य है' का मतलब क्या? यदि अबाध्य कहें, तो ग़लत है क्योंकि 'जगज्जन्मादि में ब्रह्म शक्त है' इसका बाध अद्वैतज्ञान से हो जाता है। यदि सत्य का मतलब 'व्यावहारिक' है, तब बात ठीक ही है, माया व्यावहारिक तो मान्य ही है। पारमार्थिक कार्य न कर सकने से माया को पारमार्थिक कहना तो बनता नहीं। जादूगर अपनी माया से जो कुछ दिखाता है उसका क्योंकि बाध होता है इसलिये असत्य कार्य में ही सक्षम होने से उसकी वह शक्ति भी असत्य है। जादूगर की व्यावहारिक शक्तियाँ वे ही हैं जो व्यावहारिक कार्य करती हैं। यद्यपि 'जादूगर में माया शक्ति न थी, न है, न होगी'यह बाध न होने से लगता है कि उसकी वह शक्ति अबाध्य अतः व्यावहारिक है, तथापि शक्ति क्योंकि कार्यैकगम्य है इसलिये असत्य कार्यों से अवगम्य, उन्हें दिखाने की शक्ति असत्य ही हो सकती है। अर्थात् जादूगर की मायाशक्ति की सिद्धि ही असत्य शक्ति के रूप में होने से उसके बाध की जरूरत ही नहीं। मणि-मंत्र-औषध-अभ्यास आदि उपाधियों पर निर्भर होने से उन उपाधियों की व्यावहारिकता के बल पर उस शक्ति को व्यावहारिक कह दिया जाता है। परमात्मा की मायाशक्ति इसी तरह असत्य है। क्योंकि उसके सारे प्रभाव असत्य हैं इसलिये उनके आधार पर समझी जाने वाली वह असत्यरूप से ही समझी जा सकती है। तथापि केवल कार्यबाध से मायाबाध इसलिये नहीं होता कि 'मैं अज्ञ हूँ' यों यह अपरोक्ष भी है। ऐन्द्रजालिक की माया तो सदा परोक्ष है, कार्यानुमेय है, पर ब्रह्म की माया अज्ञान के रूप में अपरोक्ष है। हमें जो अज्ञान है यही माया हैइसे हम भले ही न जानें पर क्योंकि बात ऐसी है इसलिये मायात्व के बाध के लिये न सही, अविद्या के बाध के लिये तो प्रयास अपेक्षित ही रहेगा अतः कार्य-बाधमात्र अविद्यानिवृत्ति के लिये अपर्याप्त है। अविद्या-माया विभिन्न नहीं हैं। सारे भेदों की उपपत्ति ही माया से है, अतः पुनः उसमें भेद मानना निष्प्रयोजन है। कहीं-कहीं आचार्यों ने जो इनके अंतर का वर्णन किया है वह साधकों को समझाने के उद्देश्य से। अलग मानने से कई प्रश्नों का उत्तर सहज हो जाता है इतना ही इन्हें अलग बताने का प्रयोजन है। वास्तव में जब माया है ही नहीं तब 'वह विभिन्न है या नहीं' यह विचार ही अनर्गल है। अतः कुछ आधुनिक जो सर्वथा इन्हें पृथक् मानते हैं

मायाया विविधत्वेन तस्याः कार्येषु खादिषु।
नामरूपेष्वनेकत्वं भात्यन्योन्यविलक्षणम्।।३६।।
भाति सर्वेषु सत्यत्वम् एकं यद् ब्रह्मगं हि तत्।
सर्वाधिष्ठानधर्मत्वात् तत् सर्वत्राऽनुगच्छति।।३७।।

वह पूरी तरह गलत है। वे अविद्या को अभावरूप पहले स्वीकार लेते हैं फिर शक्तिरूप से माया को समझकर उसे अविद्या से अतिरिक्त बताते हैं! साम्प्रदायिक इसीलिये अविद्या को भावरूप कह देते हैं जिससे वह शक्ति भी हो सकती है, उसकी शक्ति-रूपता को 'माया' शब्द प्रकट करता है। इस ढंग से दृग्दृश्य दो ही पदार्थ हैं। दृश्य पदार्थ असत्य हैयह सिद्धांत सुसंगत रहता है।।३५।।

प्रपंच ब्रह्मकार्य कहा गया है, फिर इसे माया का कार्य कैसे समझें? इसके उत्तर में बताते हैं कि माया किस तरह अनुगत मिलती है **क्योंकि माया में विविधता है इसलिये इसके कार्यभूत आकाशादि में, किं वा सभी नाम-रूपों में अनेकता प्रतीत होती है, सभी नाम-रूप परस्पर अलग-अलग ही लगते हैं।।३६।।** पूर्वश्लोक में माया की विविधता का उल्लेख कर चुके हैं। ब्रह्म एक अद्वितीय है ही। संसार में भेद प्रतीत हो रहा है, इसका हेतु ब्रह्म होना मुमकिन नहीं क्योंकि वह अभिन्न है अतः माया ही इसका हेतु है। इस प्रकार भेदरूप से, अनेकता या विविधता रूप से माया ही संसार में अनुगत होने से इसे कारण समझना सरल है। 'रूप' से केवल चक्षुर्गम्य गुण नहीं वरन् जिनसे निरूपण संभव है वे सभी वैशिष्ट्य विवक्षित हैं। अतः अवकाशप्रदता, शब्द आदि आकाश के 'रूप' हैं। विषय और उनके अनुभव तो परस्पर विलक्षण लगते हैं ही, हर एक का जो वैलक्षण्य है वह भी दूसरे के वैलक्षण्य से अलग ही लगता है; हर वस्तु में जो अन्य पदार्थों के भेद हैं वे भी आपस में अलग ही हैं अन्यथा एक भेद की निवृत्ति से ही सब भेद मिट जाते! अतः मायासहाय परमात्मा को कारण कहते हैं।।३६।।

माया की तरह ब्रह्म कैसे अनुगत है यह भी बता देते हैं **आकाशादि में, किं वा सभी नाम-रूपों में जो एक सत्यता प्रतीत होती है वह ब्रह्म की एकता ही है। सबके अधिष्ठानरूप ब्रह्म की विशेषता होने से वह सभी अध्यस्तों में अनुस्यूत है।।३७।।** संसार के पदार्थ 'सत्य हैं' यों प्रतीत होते हैं। विवेकपूर्वक भले ही समझ-समझा न सकें कि यह सत्यता क्या है, किस इंद्रिय से दीखती है, किस चिह्न से पहचानी जाती है, कैसे आती-जाती है आदि, किन्तु प्रतीत सभी को होती है और हर

चीज़ में प्रतीत होने वाली सत्यता लगती एक ही है। सबकी सत्यताएँ अलग-अलग हैंऐसा किसी को नहीं लगता। जो मुझे सत्यता लगती है उससे भिन्न को मैं असत्य ही समझता हूँ। अतः सत्यता सभी चीज़ों में है और एक ही है तो अवश्य सबके कारण में निहित होनी चाहिए; सबका कारण जो ब्रह्म वह सत्य और एक है अतः उसी की एक सत्यता की सब नाम-रूपों में प्रतीति हो रही है यही मान्य है। जैसे रस्सी की लम्बाई सर्प-जलधारा-दण्ड-माला सभी में उपलब्ध होती है ऐसे ब्रह्म की एक सत्यता सर्वत्र मिल रही है अतः अकेली माया नहीं, ब्रह्म भी कारण है ही। सत्यता से सद्रूपता समझ सकते हैं। त्रिकालाबाध्य सत्य होता है। सांसारिक वस्तुएँ 'त्रिकाल में' न सही पर प्रतीतिकाल में अबाध्य तो लगती ही हैं तभी सत्य मानी जाती हैं। सबमें लगने वाली अबाध्यता ही सूचित करती है कि सबका कारण अबाध्य है। सब बर्तनों में मिट्टी मिले तो जैसे पता चल जाता है कि सबका कारण मिट्टी है वैसे संसारकारण ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। अतः असत्यकारणवादी बौद्धों का अनुभव से ही विरोध है। वे असत् को (शून्यको) कारण कहते हैं। यदि ऐसा होता तो 'घट है' आदि की जगह 'घट नहीं है' आदि ही अनुभव होना चाहिये था! किन्तु होता नहीं; अतः असत् को कारण मानना असंगत है।

सत्यता को अधिष्ठान का धर्म कहा। अध्यस्त, अधिष्ठान और आधारये वेदान्तदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जो वास्तव में है नहीं पर है प्रतीत हो उसे अध्यस्त कहते हैं। जिसके ज्ञान से पता चलता है कि अध्यस्त तीनों कालों में नहीं है उसे अधिष्ठान कहते हैं। अधिष्ठान का जो हिस्सा अध्यस्तानुभव में भी प्रतीत हो और अधिष्ठानानुभव में भी, उसे आधार कहते हैं। 'हिस्सा' अवयव के अभिप्राय से नहीं वरन् प्रतीयमान विशेषता के अभिप्राय से है। अधिष्ठान से अलग न होने पर भी आधार का ज्ञान अध्यस्त का बाध नहीं करता जबकि अधिष्ठान की कोई विशेषता ज्ञात होते ही अध्यस्त का बाध कर देती है। यहाँ कहा 'धर्म' आधाररूप ही है अतः घटादि में दीखने पर भी इनका बाधक नहीं जबकि है ब्रह्मरूप ही। इससे यह भी समझ आ जाता है कि अस्ति-भाति-प्रिय का सर्वत्र भान होने पर भी ब्रह्म का अज्ञान है जिसे मिटाने के लिये साधना का विधान है। कुछ वादी इस आधार-अधिष्ठान का अंतर न जानकर अद्वैत के प्रतिपादन पर दोष देते हैं कि क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मानुभव अनादिसिद्ध है इसलिये न ब्रह्म का अज्ञान संभव है, न उसे मिटाने के लिये शास्त्र-प्रवृत्ति! साधक को यह भेद याद रखना चाहिये। आचार्य शंकर ने तो सूत्रभाष्य के प्रारंभ में ही कहा

सर्पधारादण्डमाला रज्ज्वां याः परिकल्पिताः।
एतासु रज्जुगं दैर्घ्यं सर्वास्वनुगतं यथा।।३८।।
व्योमाद्या देहपर्यन्ताः सत्ये ब्रह्मणि कल्पिताः।
सर्वेष्वनुगतं ब्रह्म सत्यत्वं तस्य सुस्थितम्।।३९।।

कि 'मैं' अनुभव में आत्मा अपरोक्षरूप से सबको प्रसिद्ध है किन्तु उसे नित्यशुद्धबुद्ध आदि नहीं जाना जा रहा जिसके लिये साधना है। प्रपंच के बाधक अनुभव की प्राप्ति पर्यन्त साधक को यत्नशील रहना चाहिये, केवल ब्रह्म के ज्ञानमात्र को पर्याप्त नहीं समझना चाहिये क्योंकि वह तो अभी भी है ही। आधारांश नहीं वरन् अधिष्ठानांश के ज्ञान के लिये ही सारा प्रयास है। अतः 'सत्यता भास ही रही है, सत्य ही ब्रह्म है, तो ब्रह्म भास ही रहा है, फिर विवेकादि का क्या उपयोग' इत्यादि शंकाओं का अवसर नहीं है। इस तरह मायावी ब्रह्म की कारणता स्पष्ट की।।३७।।

'आधार' को सोदाहरण बताते हैं **रस्सी में पूर्णतः कल्पित जो साँप, जलधारा, दण्डा, माला आदि, उन सबमें जो एक-समान लम्बाई प्रतीत होती है वह रस्सी की लंबाई ही है। इसी तरह, आकाश से शरीर तक सभी कार्य सत्य ब्रह्म पर कल्पित हैं अतः सबमें ब्रह्म अनुगत है जिससे निश्चित है कि ब्रह्म की ही सत्यता कार्यप्रपंच में प्रतीयमान है।।३८-९।।** पूर्णतः कल्पित अर्थात् स्वरूपतः अध्यस्त। रस्सी पर स्वरूपतः अध्यस्त सर्प में रस्सी की लंबाई आदि का संसर्गाध्यास होता है। 'है ही नहीं'यों जिसका बाध हो वह स्वरूपतः अध्यस्त तथा 'इसका नहीं'यों जिसके केवल संबंध का ही बाध होता है वह संसर्गाध्यस्त कहा जाता है। साँप नहीं हैयह बाध होता है किंतु लंबाई के बारे में यही लगता है कि 'रस्सी की लंबाई ही प्रतीत हो रही थी मानो साँप की हो।' अतः लंबाई का सर्प-संबंध ही बाधित होता है, 'लंबाई है ही नहीं'यह बाध न होने से लम्बाई का संसर्गाध्यास है, स्वरूपतः 'लंबाई सत्य ही है क्योंकि वह सत्य रज्जु की है। इसी प्रकार आकाशादि शरीरपर्यन्त जगत् में अनुभूयमान सत्यता स्वरूपतः असत्य नहीं है, केवल उसका जगत् से संबंध असत्य है, कल्पित है। 'सत्य नहीं है' ऐसा बाध कभी नहीं होगा, 'जगत् सत्य नहीं' यही बाध होगा। ब्रह्म की स्वरूपभूत सत्यता का प्रपंच पर संसर्गाध्यास है। संसार की सब चीजें सत्य इसलिये लगती हैं कि उनमें ब्रह्म की सत्यता आरोपित है। आकाश से देह तक के पदार्थों का उल्लेख इसलिये किया कि तैत्तिरीय में यही सृष्टि बतायी है, तात्पर्य सारे संसार से ही है। संसार को ब्रह्म में कल्पित कहने का मतलब यह नहीं

कि जीवों ने बैठकर उस तरह इसकी कल्पना की हो जैसे किसी उपन्यास, नाटक आदि की करते हैं! अज्ञानवश जो अध्यास या भ्रम है उसे भी कल्पना कहते हैं। चेतन को व्यापक स्वरूप का अज्ञान होने से उसे संसार का भ्रम हो रहा है। इसके लिये पहली जरूरत है कि अधिष्ठान का अज्ञान रहने पर भी उसका थोड़ा-बहुत ज्ञान हो। रस्सी सर्वथा न दीखे तो सर्प भ्रम नहीं होगा। रस्सी का कुछ ज्ञान होना पड़ता है, 'सामने है, लंबी-गोल है' आदि तरह से तो दीखे, 'रस्सी है' यह न मालूम पड़े, तभी सर्पादिका भ्रम उस पर संभव है। इसी प्रकार ब्रह्म का सही ज्ञान नहीं, उसकी व्यापकता का अनुभव नहीं, किन्तु है-रूप से, मैं-रूप से उसका भान है ही। दूसरी ज़रूरत है कि साँप का (अध्यास जिसका हो उसका) संस्कार हो। साँप का संस्कार होगा तभी सर्पभ्रम होगा। सर्प का प्रमा ज्ञान या अपरोक्ष ज्ञान ही नहीं चाहिये किंतु उसके बारे में कुछ जानकारी (सच्ची-झूठी चाहे जैसी हो) चाहिये। झूठी जानकारी से पड़े संस्करों से झूठी चीज़ का भ्रम हो जायेगा जैसे यदि किसी को बता दिया कि दक्षिण में घोड़ों के भी सींग होते हैं तो उसे कदाचित् घोड़े पर सींग का भी भ्रम हो जायेगा। अनादि संसार-प्रवाह में संसार हमेशा पूर्व में भी अनुभूत है अतः उसके संस्कार हैं ही जिससे संसार भ्रम होता रहता है। भ्रम से पूर्व संस्कार का उद्बोधन भी ज़रूरी है क्योंकि संस्कार तो अनंत चीज़ों के पड़े हैं पर भ्रम तो एक बार में एक चीज़ का ही होता है। संसार-संस्कार भी यथावश्यक उद्बुद्ध हो जाते हैं यह संसारभ्रम से स्वतः सिद्ध है। इससे अतिरिक्त, यदि दोष को भी भ्रमोत्पादन के लिये आवश्यक मानें तो अविद्या ही यहाँ दोष है यह समझ लेना चाहिये। हर हालत में, 'कल्पना' का मतलब समझ-बूझ कर किये मनोराज्य से नहीं है। सत्य एक ही ब्रह्म है। एक को उस पर रसगुल्ले का भ्रम हो रहा है, दूसरे को कपड़े का; जिसका पुण्य फलोन्मुख है उसे इष्ट विषय दीखता है, जिसका पाप फलोन्मुख है उसे अनिष्ट दीखता है। अधिष्ठान में कोई अन्तर नहीं, द्रष्टा के संस्कारों के प्रारब्धानुसार उद्बोधन से उसे विविध संसार मिल रहा है। प्रश्न होगा कि फिर क्रमसृष्टि की चर्चा क्यों? उत्तर है कि क्रमसृष्टि का एक प्रयोजन बता ही चुके हैं कि लय-प्रक्रिया का अनुसंधान संभव हो जाता है। दूसरा, सृष्टिदृष्टि के स्तर पर सारी व्यवस्था सुबोध हो जाती है और अधिकतर साधक इसी स्तर पर साधना आरंभ करते हैं।।३८-९।।

श्लोक ३० से शुरू हुए अध्यारोप के प्रसंग का समापन करते हैं **प्रपंचरहित परमात्मवस्तु का विस्तृत वर्णन अध्यारोप-अपवाद के द्वारा किया जाता हैइस**

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।'
इति न्यायेन देहान्त आरोपः खादिरीरितः।।४०।।

नीति का अनुसरण कर आकाशादि देहपर्यन्त आरोप बताया।।४०।। अद्वैत सम्प्रदाय में यह प्राचीन व्याख्या-परिपाटी है कि अद्वैत को हृदयंगत करने के लिये पहले द्वैत का आरोप समझाकर फिर उसका बाध कराते हैं। उपनिषदों में ही यह ढंग स्पष्ट है, तदनुसार आचार्यों ने भी इसी को अपनाया है। गणित में भी बहुत बार ऐसी प्रक्रिया अपनाई जाती है; ऐसे समीकरण होते हैं जिन्हें वर्ग बनाने के लिये उनमें एक संख्या जोड़ देनी पड़ती है किन्तु अंतिम उत्तर निकालने के लिये वही संख्या घटा भी देनी पड़ती है। साधारण दृष्टि से देखें तो जब घटाना ही है तब जोड़ना बेकार है किन्तु हल निकालने का ढंग वही है। इसी प्रकार निष्प्रपंच ब्रह्म पर प्रपंच का आरोप कर फिर उसका अपवाद कर देने से अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। संसार में नाम-रूपों के कारण जिस सुख-दुःख के बंधन का अनुभव करते हैं वही हमारी समस्या है, उसी से हमें छूटना है। जब पता चलता है कि नाम-रूप मायिक अतः असत्य हैं तब समस्या हट गयी क्योंकि असत्य वस्तु को कोई समस्या नहीं समझा करता। आरोप न करें तो प्रपंच सत्य ही लगता रहेगा, वैकुण्ठ गोलोकादि जहाँ भी जायें, नाम-रूप से पीछा नहीं छूटेगा। आरोप से ही समझ आता है कि नाम-रूप मायिक है, फिर इसे देखकर भी इससे परेशानी नहीं होती। अध्यास और अध्यारोप में अंतर है : जो भ्रम हो चुका, हो रहा है वह अध्यास है। भ्रम को ऐसे कदमों से समझना कि उसकी भ्रमरूपता प्रकट हो 'सके', अध्यारोप है। प्रकट तो होगी अपवाद से किंतु अपवाद तभी संभव है जब पहले अध्यारोप किया है। पहले निश्चित हो जाये कि प्रपंच न स्वयंसिद्ध है और न प्रकृति-परमाणु-पुद्गल-स्कन्धादि किसी अन्य कारण से उत्पन्न है वरन् एकमात्र परमेश्वर से जन्य है, तब यह समझ आने पर कि 'परमेश्वर किसी चीज़ का कारण नहीं है', यह बात प्रकट होगी कि प्रपंच उत्पन्न ही नहीं हुआ। यदि अध्यारोप नहीं किया होगा तो ब्रह्म जनक नहीं हैसुनकर लगेगा कि कुछ और जनक होगा! किन्तु अध्यारोप कर चुके होंगे तो अन्य संभावनाएँ पहले ही निरस्त हो चुकेंगी अतः प्रपंच है ही नहीं, निष्प्रपंच ब्रह्म ही है यही निश्चय होगा। अतः इसे 'न्याय' कहा, यह सुविचारित निश्चित तरीका है, इसे लागू करने पर ही नतीजा निकलेगा। इसीलिये शास्त्रोक्त अध्यारोप ही कारगर होता है, मन-माना नहीं। अध्यारोप को सृष्टिविज्ञान नहीं समझना चाहिये क्योंकि अध्यारोप का तात्पर्य तो अपवाद द्वारा निष्प्रपंच के अनावरण

अपवादः

अथापवादो जगतः कथ्यते ब्रह्मबुद्धये।
तत्रादौ पुत्रमित्रादिनुत्त्यै देहात्मतोच्यते।।४१।।

में है, न कि सृष्टि उपपन्न करने में! इसलिये हो सकता है कि अनेक वस्तुओं के जन्म का यहाँ उल्लेख न हो पर साधक उनके जन्म की खोज-बीन में मत लगे, यही समझने का प्रयास करे कि सारा नाम-रूप मायिक है अतः मिथ्या है और उसका बाध अखण्ड ज्ञान से कर दे।।४०।।

पुरुषपर्यन्त सृष्टि बताकर श्रुति ने अपवाद का प्रकरण प्रारंभ किया है। बुद्धि को आत्मा में ही एकाग्र करने के लिये यहाँ वेद ने एक कल्पना का सहारा लिया है। जो हमें अपना शरीर दीख रहा है इसी की समानता प्राणमयादि कोशों में बताते हुए आत्मोपदेश किया गया है। सारा संसार ब्रह्मकार्य होने से ब्रह्म का परिच्छेदक नहीं अतः सद्रूप ज्ञानरूप ब्रह्म अनंत है यह पूर्व-संदर्भ में स्पष्ट हो चुका। अब बतायेंगे कि वही गुहानिहित भी है। गुहा से अन्नमयादि-आनंदमयांत कोश-परंपरा विवक्षित होने से पाँचों कोशों से विविक्त जो ब्रह्म इनमें छिपा है उसे समझाने के लिये क्रमशः सब कोश बतायेंगे और प्रथम चार कोशों के 'अन्दर' अगला-अगला कोश बताते हुए आनंदमय तक कहकर फिर उसके 'अंदर' और कुछ नहीं कहेंगे वरन् 'अनुप्रश्नों' से उक्तार्थ में संदेहों का निवारण किया जायेगा। इस संदर्भ को अवतरित करते हैं **अब प्रत्यगभिन्न परमात्मा के स्वरूप का निश्चय कराने के लिये जगत् का 'अपवाद' कहा जाता है : अपवाद करते हुए सर्वप्रथम स्थूल शरीर को आत्मा कहते हैं ताकि पुत्र-मित्र आदि को आत्मा समझना समाप्त हो।।४१।।** अध्यारोप की अवास्तविकताका प्रतिपादन अपवाद है। सूत्रभाष्य में (३.३.९) कहा है 'अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद् वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चाद् उपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेः निवर्तिका भवति' अर्थात् पहले से मौजूद भ्रम को सही ज्ञान से हटाना अपवाद है। कारण से कार्य अतिरिक्त नहींयह समझ लेना अपवाद है ऐसा लघुवासुदेवमनन में कहा है। अवस्तु की वस्तुमात्रता का अवगम वेदान्तसारोक्त अपवाद पदार्थ है। अतः 'अथ' मायने अध्यारोप के अनंतर। यदि अध्यास को अध्यारोप के ढंग से पहले नहीं समझा होगा तो अपवाद हो नहीं सकता। कार्य को कारण से अनतिरिक्त तभी समझेंगे जब पहले निश्चय हो कि उसका कारण है क्या। पूर्व में कारण-प्रक्रिया बता दी अतः अब अपवाद द्वारा जगद्भ्रम की निवृत्ति करेंगे।

आत्मा के व्यापक स्वरूप को जानने के लिये ही जगत् का अपवाद है। जगत् से कोई दुश्मनी नहीं; यह तो इसीलिये अपवादयोग्य है कि यह हमें स्वयं को देखने में रुकावट डालता है। इसी प्रयोजन से संसार के प्रति वैराग्य चाहिये। राग बाधक है अतः उसे उखाड़ फेंकना ज़रूरी। कई आधुनिक यह आक्षेप करते हैं कि अध्यात्मशास्त्र जगद्विरोधी है। अध्यात्मशास्त्र तो दुःखविरोधी, असत्यविरोधी है। जगत् क्योंकि दुःख है व असत्य है इसलिये उसे निवृत्त करना जो चाहता है उसे उपाय व परम सत्य का उपदेश अध्यात्मशास्त्र करता है। जो भोगलोलुप जगत् में रचे-पचे रहने से संतुष्ट है वह अध्यात्मशास्त्र का अधिकारी ही नहीं, उसे शास्त्र विवेक-वैराग्यादि के लिये कहता भी नहीं वरन् उसके लिये प्रवृत्ति-धर्म के पालन का विधान ही करता है। आधुनिकों को संसार का स्वाद भी लेना है, अध्यात्मका लाभ भी लेना है, पर दोनों होना संभव है नहीं। मोक्षमार्ग पर चलने के लिये जगत् का अपवाद करना ही होगा, इसके मूल्य को निरस्त करना ही होगा।

श्रुति ने यहाँ पहले अन्नमय देह को आत्मा कहा। यद्यपि सीधे-सीधे ऐसा नहीं कहा तथापि भृगुवल्ली में 'एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य' कहा होने से यहाँ भी इसकी आत्मता उक्तवत् ही है। अतः 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' में 'सः' से जगत्कारण आत्मा कहा जा रहा है क्योंकि वही अविद्यावश शरीर को स्वरूप माने हुए है ऐसा वार्तिककार ने समझाया है

'मूलात्मानं 'स'-शब्देन स्पृष्ट्वा तत्स्मृतयेऽथ 'वै'।
कोशात्मतां समापन्न 'एष' इत्यभिधीयते।।
अविद्ययाऽतदर्होऽपि रज्जुः सर्पात्मतामिव।
कोशपञ्चकतां यातः' (तै. वा. २.१.२५२-३)।

प्रायः पामर स्थूल शरीर को 'मैं' अर्थात् आत्मा माने ही रहता है अतः जिज्ञासा होती है कि श्रुति को क्या ज़रूरत थी यह बताने की कि शरीर आत्मा है? इसका उत्तर ग्रंथकार ने दिया कि लोगों की मैं-बुद्धि शरीर तक सीमित न रहकर पुत्रादि गौणात्माओं में भी फैल जाती है। देखा ही जाता है कि उत्पथगामी, दुःखदायी, अपयश कराने वाले पुत्रादि के उद्देश्य से भी लोग अपने देह को पीडित करते हैं, उनकी रक्षा के लिये अपने प्राण भी न्यौछावर कर देते हैं, उनके प्रयोजन से अपने मन की शांति खो देते हैं, अपनी बुद्धि विपर्यस्त बना देते हैं, अपने सुखों को छोड़ देते हैं, ऐसे अतिबहिर्मुखी संसारी को अंतर्मुखी बनाने के लिये पहला कदम यह समझाया कि शरीर आत्मा है।

इसे दृढ करने पर गौणात्माओं से तादात्म्य क्षीण होगा ऐसा श्रुति का तात्पर्य है। क्योंकि प्रसंग गुहानिहित ब्रह्म समझाने का है इसलिये देह को आत्मा बताने में नहीं वरन् पुत्रादि को अनात्मा बताने में तात्पर्य है। ऐसे ही प्राण को आत्मा नहीं वरन् देह को अनात्मा बताने के लिये अगला पर्याय है। 'पुत्रादि आत्मा नहीं' कहने पर प्रश्न होगा कि आत्मा कौन है? तब स्थूलमति जितना समझ सकता है उतना कहा कि शरीर आत्मा है। यों एक-एक कोश की अनात्मता समझते हुए आनंदमय की पुच्छ तक ले जाना श्रुति का अभिप्राय है। 'पुत्रमित्रादिनुत्त्यै' का मतलब पुत्रादि में आत्मता के अपनोदन से है। नुत्ति अर्थात् धकेल देना; हम गौणात्माओं को स्वयं ये चिपटाये रखते हैं, देह में आत्मबुद्धि करने पर उन्हें धकेलेंगे अर्थात् स्वयं से दूर करेंगे, उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व पर अपना अधिकार नहीं जमायेंगे, उन पर अपने को, अपनी मान्यतादि को नहीं थोपेंगे इत्यादि। इस प्रकार बहिर्दृष्टि पर रुकावट आ जाती है।।४१।।

पुत्रादि गौणात्माओं को आत्मा समझना लोक-व्यवहार में देखा जाता है, शास्त्रसंदर्भ भी इसे सूचित करते हैं अतः यह एक प्रचलित भ्रम है जिसे मिटाने का प्रयास ज़रूरी है। यह इसलिये बता रहे हैं कि कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ऐसा भ्रम किसी को नहीं होता तो इसे दूर करने की क्या आवश्यकता? जबकि वस्तुस्थिति है कि ऐसा भ्रम होता है। आत्मा शेषी होता है। जब हम पुत्र भार्यादि के प्रति स्वयं को (स्थूल देहको) शेष बनाते हैं तब वास्तव में हमें पुत्रादि के अंदर आत्मता का भ्रम ही है। अतः सदा भले ही किसी को पुत्रादि में आत्मता नहीं लगती पर बहुधा लगती अवश्य रहती है जिससे केवल कुछ लोगों के लिये नहीं, सभी साधकों के भ्रम को मिटाने के लिये गौणात्मा से आत्मबुद्धि दूर करना आवश्यक होने से अन्नमय-आत्मा का वर्णन सार्थक है। हर व्यक्ति तत्तत्, परिस्थिति में कैसे यह भ्रम पालता है इसे 'आत्मानन्द' प्रकरण में (पंचदशी.१२. श्लोक ३२ आदि से) सुस्पष्ट किया है। इसे समझाते हैं **पुत्र को आत्मा समझना इस लोकसिद्ध विभ्रम को 'पुत्रनामक आत्मा ही है' (कौ.२.१२) आदि श्रुति भी (तत्तत् संस्कार, कर्म आदि के प्रयोजन से) लागू करती है। पुत्रादि आत्मा हैंइसमें उपपत्ति भी हैः पुत्र-पत्नी आदि के बढ़ोतरी-घटोतरी, सुख-दुःखादि व्यक्ति को स्वयं में दीखते हैं अतः पुत्रादि स्वयंरूप होना संगत है। स्वयं भाष्यकार ने इस बात को सूचित किया है। इसलिये पुत्र को आत्मा समझनायह लोकसिद्ध भ्रम है। 'यह इसका आत्मा पुण्यों के लिये प्रतिनिधि ा बनाया जाता है' (ऐ.२.४) यह ऐतरेयका वचन भी है। इसलिये पुत्रादि को**

'आत्मा वै पुत्रनामासी'-त्येवम् आत्मत्वविभ्रमः।
लौकिको नुद्यते पुत्रे श्रुत्या युक्तिश्च विद्यते।।४२।।
साकल्यं पुत्रभार्यादिर्वैकल्यं चात्मनीक्ष्यते।
इत्याह भाष्यकृत् तेन पुत्रेऽस्ति स्वात्मताभ्रमः।।४३।।
'सोऽस्याऽयमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयत' इत्यदः।
वचो वक्त्यैतरेयोऽतः स्वात्मता भ्रम एव हि।।४४।।

'मैं' नहीं समझा जाता है यह नहीं कह सकते।।४२-४।। वेद में कहा है कि पुत्र आत्मा ही है। इससे पिता पर पुत्र के संस्कारादि का ज़िम्मा दृढ होता है, जैसे स्वयं के हाथ-पैर की विकृति दूर करने का दायित्व स्वयं पर वैसे पुत्र की भी। पुत्र पैदा कर फिर उसे सत्संस्कारों से संपन्न न करे तो पिता अपनी ही हानि करता है। इदानीं काल में यह व्यक्त बात है; लोगों ने वैचारिक स्वतंत्रता के नाम पर पाश्चात्य अनुकरण को महत्त्व दिया, अपनी परंपरायें भुला दीं तो सौ सालों में ही समाज महसूस करने लग गया कि हम आत्मविरोधी प्रक्रिया में फँस गये हैं। पुत्रादि को संस्कारों वाला उनके लिये नहीं, अपने लिये बनाना हैयह दृष्टि तब बने जब 'मैं ही पुत्ररूप से मौजूद हूँ' ऐसा लगे, तभी बिना बाह्य दबाव के मैं पुत्र को नियंत्रित करूँगा, अन्यथा 'उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है' मानकर उसे छूट देकर बिगड़ने दूँगा। इसी मनोभाव को समझकर श्रुति ने कहा कि पुत्र भी पिता का आत्मा ही है। यद्यपि पुत्र को आत्मा समझना सामान्य बुद्धि वाले के लिये सहज है अतः वेद को यह बताने की ज़रूरत होनी नहीं चाहिये तथापि उक्त खास प्रयोजन से उस भ्रम को काम में लेने के लिये वेद ने उसका विनियोग कर दिया। **नुद्यते** ऐसा निर्णयसागर एवं गुजराती प्रिंटिंग प्रेस का पाठ है। मुत्तुकृष्णशास्त्री ने **अनूद्यते** पाठ माना है जो बेहतर है। अन्यतः अधिगत बात प्रयोजनवश शास्त्र में कही जाये तो उसे अनुवाद कहते हैं। उस बात में शास्त्र का तात्पर्य नहीं होता, वह बात शास्त्र से प्रमाणित नहीं होती। अतः उक्त वेदवाक्य के आधार पर कोई पुत्र को आत्मा सिद्ध नहीं कर सकता, लोक में प्रचलित मान्यता को वेद ने दुहरा दिया है, वेद उसे सत्यापित नहीं कर रहायह अनुवाद का अभिप्राय है। यह अंतर न समझने से लोग घपला कर जाते हैं, कहते हैं वेद में पुत्र को आत्मा कहा है अतः पुत्र का लालन-पालन आदि करना आत्मधर्म हैं! ग्रंथ का अर्थ समझने के लिये उसे पूरा पढ़ना पड़ता है, जहाँ कहीं का आधा-अधूरा वाक्य उठा लो तो ग़लत रास्ते ही पड़ोगे। एक मुसलमान से मौलवी ने कहा 'तू कभी नमाज़ नहीं पढ़ता, क्या बात है?

कभी-कभार तो पढ़ा कर।' वह बोला 'जी, कुरान में नमाज़ पढ़ने का मना लिखा है इसलिये नहीं पढ़ता।' मौलवी स्तब्ध रह गया! पूछा 'ऐसा कहाँ लिखा है?' धूर्तों को अपने मतलब के प्रमाण सदा याद रहते हैं, उसने कुरान की पृष्ठ संख्या बता दी जहाँ लिखा है। मौलवी ने पुस्तक देखी, वहाँ लिखा था 'नमाज़ मत पढ़ जबकि नापाक हो', अशुद्ध दशा में नमाज़ की मनाही थी। उन्होंने जाकर उस व्यक्ति से कहा 'देख, पूरा वाक्य पढ़।' उसने उतना ही बाँचा 'नमाज़ मत पढ़'; मौलवी ने कहा 'रुक क्यों गया?; वह बोला 'आगे आप बाँचो! मेरे काम की बात मैंने पढ़ ली।' इसी तरह, पुत्र को आत्मा कहा तो इसलिये कि उसे शास्त्र-संस्कारों से संपन्न, 'लोक्य' बनायें पर लोग उस वाक्य का प्रयोग बच्चों को लाड-प्यार से बिगाड़ने के लिये करते हैं। इसी बात पर नहीं, कई लोग परमेश्वर के बारे में भी ऐसा करते हैं, कहते हैं 'हमारे लिये सगुण ब्रह्म ही पर्याप्त है। निर्गुण भी होता होगा लेकिन हमें उससे मतलब नहीं!' अपने अनुयायियों को भी ऐसा ही उपदेश देते हैं, 'तुम्हारी वह अवस्था नहीं कि निर्गुण समझ सको इसलिये हमारी बतायी साधना में ही लगे रहो, इसी से मोक्ष हो जायेगा।' आपाततः लगता है कि यह अच्छी बात है, निर्गुण-सगुण के विवाद से बच रहे हैं, अपनी योग्यतानुसार साधन अपना रहे हैं, किंतु वास्तव में यह दृष्टि गलत है, मूल को ही नष्ट करने वाली है। निर्गुण समझने की योग्यता पाने के लिये साधना करनी चाहियेयह है निर्गुण को शास्त्रसंमत मानकर स्वाधिकारानुरूप सोचना। यदि 'अधिकार' के नाम पर एक स्तर पर ही अटक गये तो उन्नति की संभावना कैसे होगी? किंच यों शास्त्र के तत्तत् अंशों का विचार न करने से धीरे-धीरे शास्त्र में परस्पर विरोध दीखने लगेगा और तब सारे ही शास्त्र पर अश्रद्धा हो जाने से सगुणांश की साधना भी छूट जायेगी। आधुनिक युग में यह भी दीख ही रहा है। आर्यसमाजियों ने पुराणादि पर से भावना मिटायी तो नई पीढ़ी वेद पर भी अश्रद्धालु बन गयी। अन्य सुधारवादियों ने भी सनातन धर्म के कुछ अंशों परसे श्रद्धा हटाई तो धीरे-धीरे बाकी अंश भी संदिग्ध बन गया। अतः विचार ही सही मार्ग है और वह समग्र शास्त्र का करना पड़ता है, आधे-अधूरे वाक्यांशों का नहीं। पुत्र में आत्मता काफी हद तक स्वभावसिद्ध है, उसका पुत्र के व अपने हित में कैसे प्रयोग कर सकते हैं यह बताना श्रुति का प्रयोजन है, न कि पुत्र आत्मा है यह बताना। फिर भी, कह तो दिया ही, इसलिये किसी 'लकीर के फकीर' को यह संशय भी हो सकता है कि शायद वेद का वह अर्थ होगा, अतः उसे दूर करने के लिये यहाँ देह को आत्मा भी वेद कह रहा है।

इससे पता चल जाता है कि पुत्रात्मता में वेद का तात्पर्य नहीं। आगे, देह को हटाकर प्राण में आत्मता भी इसी तरह बतायी जायेगी अतः देहात्मवाद में भी वेदतात्पर्य नहीं यह पता चल ही जाता है।

पुत्रात्मता में एक उपपत्ति भी है : शरीर 'मैं' क्यों हूँ? इसीलिये कि इसके फूलने से मुझे लगता है 'मैं फूल गया', इसके कटने से लगता है 'मैं कट गया'। इसी तरह पुत्रादि के भी फलने-फूलने से, पीडित-उन्नत होने से मुझे यही लगता है कि 'मैं फल-फूल रहा हूँ, पीडित हूँ या उन्नति कर गया'। अतः जैसे मैं शरीर, वैसे मैं पुत्रादि। पत्नी-पुत्रादि को मिले धनादि से भी 'मुझे मिला' लगता है, अतः भी वे आत्मा ही हैं। उनके खाने से मेरा पेट नहीं भरतायह भी कोई दोष नहीं; पैर पर दवा लगाने से हाथ का रोग नहीं मिटता अतः हाथ-पैर ही अलग सिद्ध होते हैं, दोनों में 'मैं' तो एक ही रहता है। इसी तरह पत्नी-पुत्र के उदर भले ही भिन्न हों पर उनमें 'मैं' तो वही रहूँ इसमें क्या विरोध! आचार्य श्रीशंकर ने इसी बात को व्यक्त किया : 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः इत्यवोचाम। तद्यथा, पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मान् आत्मनि अध्यस्यति' (ब्र.सू. अध्यासभाष्य)। अर्थात्यह कह चुके हैं कि हो कुछ, उसे समझा कुछ और जाये, इसका नाम अध्यास (भ्रम) है। मसलन, पुत्र-पत्नी आदि के विकल होने पर 'मैं ही विकल हूँ' ऐसा लगता है, उनके विकास से 'मैं ही विकसित हो गया' ऐसा प्रतीत होता है अर्थात् ये अनुभव सिद्ध करते हैं कि बाहरी चीज़ों की विशेषताओं को व्यक्ति खुद पर ग़लती से ओढता ही है।यहाँ भाष्यकार ने गौणात्माओं में आत्मबुद्धि कही है। कभी-कभी यह बुद्धि इतनी तीव्र हो जाती है कि मिथ्यात्मा में अभिमान से भी ज्यादा प्रभावी हो जाती है। प्रसिद्ध है कि महाराणा प्रताप खुद के सभी घोर कष्टों से किंचित् भी विचलित नहीं हुए पर जब घास की रोटी भी छिन जाने पर अपने पुत्र को रोता देखा, तब उनका धैर्य जवाब दे गया और संधिवार्ता का उन्होंने प्रयास किया, भले ही बाद में चेतना लौटने पर पुनः अपनी स्थिति पर कायम रहे। तात्पर्य है कि मिथ्यात्मा के दुःख से अविचलित रहकर भी गौणात्मा के दुःख से वे विचलित हुए। यह पुत्र में स्वात्मता के भ्रम का प्रसिद्ध स्थल है। उक्त भाष्यवाक्य भी श्रुति की तरह लोकसिद्ध अभिमान का अनुवादक है।

ऐतरेय का विचार पूर्वाध्याय में आ ही चुका है। पिता ही पुत्ररूप में जन्म लेता है अतः पुत्र में आत्मता उचित है। मरते समय पिता पुत्र को ही अपने धर्म की सुरक्षा

अन्नमयः

एवं व्युदसितुं देहस्यैवात्मत्वम् इहोच्यते।
यो देहोऽन्नमयः सोऽयमेवात्माऽन्यो न कश्चन।।४५।।

के लिये नियुक्त करता है। यह बृहदारण्यक में (१.५.१७) सम्प्रत्तिविद्या द्वारा बताया है। अतः पुत्र की आत्मता संगत है क्योंकि यदि वह पिता का आत्मा न होता तो उसके द्वारा किये कर्मों को पिता द्वारा किया कैसे मान लिया जाता है? लौकिक ऋण भी यदि पुत्र चुका दे तो पिता को ऋणग्रस्त नहीं माना जाता। पिता मर जाये तो उसे देय धन पुत्र को सौंपने से भी व्यक्ति उसके पिता से उऋण माना जाता है। अन्त्येष्टि, श्राद्ध आदि करता पुत्र है, इनका फल मृत पिता को मिलता है। इस प्रकार पुत्र की आत्मता में उपपत्तियाँ हैं।।४२-४।।

अन्नमय को आत्मा बताना क्यों ज़रूरी हुआ यह समझाया। गौणात्मा में आत्मत्व भ्रम दूर करते हुए अन्नमयपर्याय की व्याख्या प्रारंभ करते हैं **इस प्रकार प्रसिद्ध भ्रम मिटाने के लिये यहाँ देह को ही आत्मा कहा जा रहा है। यह अन्नमय शरीर ही आत्मा है, अन्य कोई नहीं है।।४५।।** पुत्रादि आत्मा नहींयह स्पष्ट करने के लिये यह पहला कदम है कि शरीर ही आत्मा है। पूर्वोक्त श्रुति-आदि के नियम तो यथावत् रहेंगे, ऐसा नहीं कि पुत्र आत्मा नहीं तो उसके संस्कारादि न किये जायें या वह श्राद्धादि न करे! ये कर्म तो विधि के अनुसार हैं। पुत्रादि में आत्मता का कथन तो इनमें प्रवृत्त करने का अर्थवाद था। उसका प्रयोजन यही था कि पुत्रादिका शिक्षणादि सही किया जाये या पिता आदि का श्राद्धादि सही किया जाये। पुत्रादि को आत्मा बताना वहाँ तात्पर्य था ही नहीं अतः अन्नमयात्मता समझकर भी कर्मानुष्ठान में अंतर की संभावना नहीं। यहाँ 'देह' से हमें दृश्यमान स्थूल शरीर विवक्षित है। समष्टि-व्यष्टि की एकता को यहाँ अभिप्रेत मानना संगत है अतः सारे स्थूल जगत्, विराट्पिण्ड को दृष्टि में रखकर ही जिसे अन्नज पुरुष कहा था उसी को अन्नरसमय बताया। अत एव '...अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' यह वाक्यरचना समुचित ठहरती है। सृष्टिक्रम में उत्पन्न पुरुष तो विराट् था, उसे हमारे शरीर से एककर कहा है क्योंकि हमारा शरीर उसी का अंग है। अन्न के मधुर आदि छह तरह के रसों के परिपाक का फल है शरीर। मुख्यतः यहाँ स्थूलदेह विवक्षित है पर सूक्ष्म शरीर भी समझ लेना चाहिये क्योंकि वह भी पांचभौतिक है एवं खाये गये अन्न आदि से पोषित है। सूक्ष्म जब तक स्थूल में है तभी तक इसे देह या शरीर कहते हैं, बाद

मदीयः पुत्रभार्यादिरिति भेदावभासनात्।
गौणी स्याद् आत्मता पुत्रे भृत्यादौ सिंहता यथा।।४६।।

में तो शव, मुर्दा ही रह जाता है। विवेकादि जीवित शरीर में ही किया जा सकता है। अतः सूक्ष्मसहित स्थूल शरीर को अन्नरसमय आत्मा कहा जा रहा है। साधक को पुत्रादि से आत्मबुद्धि हटानी पड़ेगी इसे द्योतित करने के लिये 'अन्य कोई नहीं' कहा। आगे बताये जाने वाले प्राणमयादि की भी इस स्तर पर आत्मता न सोची जाये यह ज़रूरी है। चाहे ध्यानरूप से करे या विवेकरूप से, साधक प्रत्येक स्तर को पार करे यह अतीव आवश्यक है। 'देह ही मैं हूँ इससे अन्य कुछ नहीं हूँ'यह दृढ स्थायी अनुभव हो तब तक इसी स्तर पर रहना चाहिये, तदनंतर ही अगला कदम, प्राणमयात्मत्व लेना उचित है। यों करने पर ही 'उपसंक्रमण' होगा, अर्थात् बाहरी आवरणों में अभिमान छूटेगा और अंतर्मुखता आयेगी। यों ही पाँचों कोशों के बारे में पढ़-समझ लेने से यह फल नहीं होगा।।४५।।

शरीर ही आत्मा है यह क्यों मानें जब पुत्रादि भी आत्मा ही लग रहे हैं? इसका उत्तर देते हैं **'मेरा पुत्र, मेरी पत्नी' आदि अनुभवों में क्योंकि पुत्रादि मैं से अलग प्रतीत होते हैं इसलिये उन्हें आत्मा केवल गुणसंबंध से कहा-समझा जाता है जैसे नौकर आदि निर्भीक, बलिष्ठ हो तो उसे शेर कह देते हैं।।४६।।** सामान्य नियम है कि जो मेरा है वह मैं नहीं। मेरा अर्थात् मुझसे सम्बन्धित। मैं तो स्वयं से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता क्योंकि संबंध पृथक् चीज़ों में ही संभव है। किं च पुत्रादि पैदा होने से पूर्व भी मैं था, उनके मर जाने पर भी मैं रहता हूँइसलिये पुत्रादि मैं नहीं यह निश्चित है। अतः उनकी आत्मरूपता गौण है। भाष्यभावप्रकाशिका में 'प्रसिद्धभेदत्वाद् गौणोऽहंभावः पुत्रादौ' कहा है अर्थात् पुत्रादि आत्मा से भिन्न हैं यह बात प्रसिद्ध है अतः उन्हें आत्मा कहना किसी गुण के संबंध से ही संभव है। स्वयं भाष्यकार ने गीता में (१८-६६) स्पष्ट किया है 'गौणप्रत्ययविषयं च जानाति नैष सिंहो देवदत्तः स्याद् नायमग्निर्माणवक इति' अर्थात् एकता कहने वाला भी जहाँ समझता हो कि एकता है नहीं वहाँ एकता गौण होती है। बहादुर को शेर कहते समय भी मालूम रहता है कि वह है तो आदमी ही! अतः उसे शेर कहना गौण है, गुण संबंध से है। इसी को शब्द की गौणीवृत्ति कहते हैं। जिस अर्थ को नियमतः कहे उस अर्थ में शब्द की मुख्य वृत्ति होती है। मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ को कहे तो शब्द की लक्षणा वृत्ति होती है। लक्षित गुण के संबंधवश कहे गये अर्थ में शब्द की गौणी वृत्ति होती है।

लक्षणा में गुणसंबंध से कोई सरोकार नहीं होता, गौणी में होता है यही इनमें अंतर है ऐसा सर्वज्ञात्माचार्य ने (सं.शा.१.१७२) कहा है

'गुणतो गुणवृत्तिरिष्यते ह्यपरा लाक्षणिकी तु सङ्गतेः।
इति भेदकमस्ति लक्षणागुणवृत्त्योरिति वेदवादिनः।।'

जैसे गंगाशब्द जब तट को कहता है तब किसी गुणसंबंध से नहीं जबकि किसी पुष्करिणी आदि को जब गंगा-शब्द कहता है तब पावकत्व-गुण के संबंध से। कुछ विचारक गौणीवृत्ति को लक्षितलक्षणा कहकर लक्षणा में ही समेटना चाहते हैं किंतु तंत्रवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि ने एवं अनेक अन्य विद्वानों ने इसे पृथक् वृत्ति माना है। जब पुत्रादि को 'मैं' कहते हैं तब गुणसंबंध ही ध्यान में रहता है। 'मेरे हित-अहित के प्रति जागरूक रहना', 'मेरे भोजनादि की व्यवस्था करना', 'मेरे धनादि पर ममत्व रखना', आदि गुण पुत्रादि में हों (या होने की संभावना हो) तभी उसे 'मैं' मानते हैं। यदि कुसंगी पुत्र दुश्मन बनकर मारने आये तब तो उसे कोई 'मैं' नहीं मानता वरन् उससे स्वयं की रक्षा ही करता है। कभी-कभी विरोधी पुत्र में भी गौणात्मता होती है तो वहाँ भी 'मेरे कर्म से प्राप्त'यह गुण समान है; मेरा शरीर जैसे मेरे कर्म से मिला वैसे ही पुत्र भी मेरे कर्म से मुझे मिला अतः देह की तरह वह आत्मा है, देहावयव भी कदाचित् शरीरघाती हो जाता है (जैसे कैंसर में) फिर भी है देह ही, वैसे विरोधी होने पर भी पुत्र हूँ मैं हीयह वहाँ भाव है। अतः गीताभाष्य में 'लुप्तोपमाशब्द' कहकर समझाया है; 'शेर की तरह है'यह कहने की जगह 'शेर है' कह देते हैं ऐसे ही 'मेरी तरह है' की जगह 'मैं हूँ' कह देते हैं, यह भाव है। आत्मानंद प्रकरण में समझाया भी है कि पिता की दाढी चुभने से बच्चा रोता है तो भी पिता प्रेम से उसे चूमता ही जाता है जिससे पता चलता है कि पिता को स्वयं में ही आत्मबुद्धि दृढ है, पुत्र को आत्मा कह-भर रहा है, अन्यथा उसके प्रतिकूल आचरण न करता। इस प्रकार थोड़े-से विचार से ही निश्चित हो जाता है कि पुत्र-मित्र आदि 'मैं' नहीं हैं।।४६।।

यदि विचारमात्र से गौणात्माओं से तादात्म्य न हटे, रागातिशयवश 'पुत्र-पत्नी आदि सब मैं ही हूँ, मेरा ही वे सब विस्तार हैं, हाथ-पैरों की तरह वे भी मेरे ही अंग हैं' आदि लगता रहे तब देहमात्र में आत्मबुद्धि का आवर्तन कर संस्कार प्रबल बनाने चाहिये ताकि फिर गौणात्माओं में आत्ममति न हो, यह विधान करते हैं **विचार करने पर भी यदि पुराने संस्कारों से प्रतीत हो कि 'पुत्र मैं हूँ' तो उन संस्कारों को**

पूर्ववासनया पुत्रे स्वात्मता भाति चेत् पुनः।
तद्वासनाऽपनुत्त्यर्थं देहात्मत्वम् उपास्यताम्।।४७।।
शिरः पक्षौ मध्य-पुच्छे इति देहस्य पक्षिताम्।
ध्यात्वा तन्निष्ठतां प्राप्य त्यजेत् पुत्रात्मतामतिम्।।४८।।

दूर करने के लिये 'शरीर मैं हूँ' ऐसी उपासना करनी चाहिये।।४७।। सिर, दायें-बायें पंख, धड़ और पूँछइन अवयवों वाले पक्षी के रूप में शरीर की कल्पना कर 'ऐसा यह पक्षी ही मैं हूँ' यह निष्ठा पानी चाहिये जिसके बल पर पुत्र को मैं समझना छूटेगा।।४८।। प्रायः केवल बौद्धिक निश्चय में इतना बल नहीं होता कि पूर्व के अभ्यास को अशक्त कर दे, क्योंकि जानते हुए भी, अभ्यास से उल्टा काम हो जाता है। ग़लत हिज्जे याद हो जायें, ग़लत पहाड़ा याद हो जाये तो बाद में जान भी जायें कि वह ग़लत है, फिर भी मौके पर वही याद आ जाता है। इसी तरह गौणात्माओं को मैं समझने की इतनी आदत पड़ी है कि वे अनात्मा हैं यह जानने पर भी जब उन्हें सुखी-दुःखी देखते हैं तब तुरंत 'मैं सुखी, या दुःखी' यह महसूस होने लगता है और सोच पाये उससे पूर्व ही व्यक्ति उनके दुःखादि मिटाने के लिये लग जाता है, बहिर्मुख हो जाता है। अतः पुनः-पुनः दुहराकर संस्कार पक्का करना ज़रूरी है कि गौणात्माओं में कभी मैं-बुद्धि बने नहीं। इसे अपना स्वभाव-सा बना लेना पड़ेगा कि जिस कोश-स्तर पर व्यक्ति है उससे अन्यत्र मैं-बुद्धि न हो। इस प्रयोजन से श्रुति ने यहाँ उपासना बतायी है।

भाष्यकार की दृष्टि से प्रकृत प्रसंग में उपासना का विधान नहीं है वरन् प्रत्यङ्मात्र में बुद्धि एकाग्र करने के लिये शरीर के रूपक का प्रयोग है। किन्तु वार्तिक में 'शिरआदिप्रक्लृप्तिस्तु स्याद् उपासनकर्मणे' (२.१.२४५) से यहाँ उपासना भी मानी है। तत्तत् कोश की उपासना का मुख्य फल आत्मबुद्धि और अवान्तर अन्यान्य फल हैं यह श्रुतिप्रमाण से मान्य है। वार्तिककार ने भी प्रधान तो भाष्यपक्ष ही समर्थित किया है पर उपासना की संभावना नकार नहीं सकते यह भी समझाया है। अतः सायणाचार्य ने 'अथाऽस्य कोशस्य चित्याऽग्निवत् पक्ष्याकारेण उपासनार्थं पञ्चावयवान् उपन्यस्यति' कहकर यहाँ उपासनाविधि ही कही है। द्वितीयानुवाक में अन्न की उपासना का विधान शंकरानंददीपिका में भी अनुमत है किंतु प्रथमानुवाक में उन्होंने पूर्ण आत्मा के अवबोधार्थ ही कोश का उपन्यास माना है। भाष्यटीकाकारने तो स्पष्ट उपासना के विधान की मनाही की है और षड्लिंगों से ब्रह्मतात्पर्य निर्धारित किया है। सूत्रों में आये

विचार के अनुसार, यद्यपि वहाँ अन्नमयादिका ज़िक्र नहीं है तथापि, कह सकते हैं कि वृत्तिकार की व्याख्या उपासना को मान्यता देती है। जहाँ स्वमतानुसार सूत्रव्याख्या आयी है वहाँ आनंदगिरिटीका में 'परपक्षे पूर्वोत्तरपक्षयोः उपास्तिरेव फलम्, इह पूर्वपक्षे तथा, सिद्धान्ते प्रमितिः' यह स्पष्ट किया है। आनंदमयपर्याय में उपासना मानने पर पूर्व पर्यायों में उपासना मानना ठीक ही है। भाष्यमत में वहाँ उपासना न मानने से पूर्व में भी उपासना मानना ज़रूरी नहीं। तथापि वार्तिककार ने अनेक विकल्पों से यह अनुमति दी है कि यहाँ उपासना मानी जा सकती है अतः सायणभाष्य की तरह प्रकृत ग्रंथ में भी विद्यारण्य स्वामी ने उपासना को स्वीकार लिया है। अधिकारिभेद से दोनों ही बातें शास्त्र को अभिप्रेत हों इसमें विरोध नहीं।

अग्निचयन के लिये जो यज्ञकुण्ड तैयार करते हैं वह जैसे पक्षी के आकार का होता है वैसा पक्षी मैं हूँ; मेरे स्थूल शरीर का सिर पक्षी के सिर के स्थान पर है, दायीं-बायीं भुजाएँ उसके दायें-बाँयें पंख हैं, धड़ की जगह धड़ है और पूँछ की जगह पैर हैंऐसा ध्यान समझना चाहिये। स्वयं को पूर्व की दिशा की तरफ अभिमुख समझकर दायें-बाँयें का विभाजन समझना चाहिये अर्थात्, दाहिनी तरफ दक्षिण व बाँयी तरफ उत्तर होंगे। भाष्य में ही 'पूर्वाभिमुखस्य दक्षिणः पक्षः' कहा है। इस उपासना का उद्देश्य गौणात्मा से तादात्म्य मिटना है यह याद रखना चाहिये अतः उपासना से अन्य काल में भी गौणात्माओं में न्यूनतम व्यस्त रहना चाहिये तभी उपासना-संस्कार स्थिर रहेंगे अन्यथा घंटे-दो घंटे की उपासना पंद्रह-सोलह घंटों के व्यवहार के सामने फीकी पड़ी रहेगी। उद्देश्य भूलने पर तो लौकिक व्यवहार भी बिगड़ जाता है। एक महात्मा को दिल्ली से आबू आना था। स्टेशन पहुँचा तो देखा कि एक नयी रेल का उद्‌घाटन हो रहा था। नये, साफ, चमचमाते डिब्बे देखकर वह उसी में बैठ गया और कानपुर पहुँच गया! इसी प्रकार साधना से कहाँ पहुँचना है यह भूले तो एक भी गलत कदम लेकर न जाने कहाँ जा पहुँचोगे। यद्यपि प्रत्येक साधक सर्वथा सांसारिक व्यवहार से निवृत्त नहीं रह सकता तथापि यथासंभव अपने कर्तव्यमात्र को संपन्न कर व्यवहार में अधिक नहीं उलझे रहना चाहिये। आवश्यक कार्य पूरा होते ही पुनः प्रत्यङ्मुख होने की कोशिश करता रहे तभी दीर्घकाल तक देहात्ममति रहेगी और गौणात्माओं से अहंभाव हटेगा।।४७-८।।

पुत्रादि में आत्मता का अनुभव लोक, श्रुति व युक्ति से समर्थित बताया था। लोक के स्तर पर श्लोक ४६ में बता दिया कि 'मेरा' यों पुत्रादि का अनुभव होने से उनकी

धीर्मनुष्योऽहम् इत्यस्ति पुत्रोऽहम् इति नास्ति धीः।
विकारोऽस्ति परिव्राजो न पुत्रसुखदुःखयोः।।४६।।
अन्नजो देह एवात्मा तदन्नं ब्रह्मबुद्धितः।
उपास्य सर्वमप्यन्नं स्वाभीष्टं लभते पुमान्।।५०।।

आत्मता भ्रम ही है। श्रुति के स्तर पर स्वयं उपनिषत् देहात्मता बताकर पुत्रादि की आत्मता मना कर रही है। युक्ति से स्पष्ट करते हैं कि पुत्रादि आत्मा वास्तव में नहीं है **'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा अभिमान तो होता है पर 'पुत्र मैं हूँ' यह अभिमान नहीं होता। पिता जब वैराग्य से प्रेरित हो संन्यास ले चुकता है तब पुत्र के सुख-दुःखों से स्वयं में विकार नहीं महसूस करता। (अतः पुत्र की आत्मता भ्रम ही है)।।४६।।** गौणात्मा के धर्मों से स्वयं को प्रभावित तो समझते हैं किन्तु उनके संघातों में हमें मैं-बुद्धि नहीं होती। पुत्र की पीडा से मुझे दुःख तो होता है पर वह पीडा मुझे नहीं हो पाती क्योंकि उसके शरीर में मुझे अभिमान नहीं है। अतः 'मैं देह' की तरह 'मैं पुत्र' नहीं लगता। अतः अहंकारास्पद न होने से घट की तरह पुत्र आत्मा नहीं, यह भाव है। किं च देह में आत्मबुद्धि यावद्देहभावी है, ऐसे पुत्र में यावत्पुत्रभावी आत्मबुद्धि नहीं है क्योंकि संन्यासी को पूर्वाश्रम के पुत्रादि में आत्मबुद्धि नहीं होती, उनकी सकलता-विकलता से वह स्वयं को सकल-विकल नहीं अनुभव करता। वस्तु जब तक रहे तब तक उसमें एक-समान रहने वाली बुद्धि को ही उसके बारे में वास्तविक बुद्धि कह सकते हैं, वस्तु रहते व्यभिचरित होने वाली बुद्धि को वस्तु के बारे में सत्य नहीं कहा जा सकता। देह रहते उसमें मैं-बुद्धि एक-समान है जबकि गौणात्माओं में नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वे आत्मा नहीं वरन् शरीर आत्मा है।।४६।।

आगे उपनिषत् कहती है कि भूमि पर स्थित सभी प्रजा अन्न से ही उत्पन्न है, अन्न से ही जीवित है, अंत में अन्न में ही विलीन होती है। प्राणियों का 'ज्येष्ठ' अर्थात् कारण होने से अन्न 'सर्वौषध' (सभी के भूख-रोग की दवा) कहलाता है। अन्न की ब्रह्मरूप से उपासना करने वालों को सारा अन्न मिल जाता है। इस उपासना की ओर पचासवें श्लोक से संकेत है **अन्न से उत्पन्न शरीर ही आत्मा है। वह (कारणभूत) अन्न ब्रह्म हैऐसी उपासना करने से पुरुष को अपने लिये अभिलषित सभी अन्न प्राप्त हो जाता है।।५०।।** इस ध्यान का फलितार्थ होगा कि मैं ब्रह्म हूँ; अन्न को ब्रह्म समझा और उससे उत्पन्न शरीर को मैं समझा अतः ब्रह्मजन्य होने से मैं ब्रह्म हूँ जैसे घट मिट्टी होता है, यह भाव है। देहकारणभूत अन्न को व्यापक अन्न समझना

विवेकाद् वा ध्यानतो वा पुत्राद्यात्मत्वनिह्नुतौ।
तथा देहात्मतां त्यक्तुं प्राणात्मत्वं विचिन्त्यताम्।।५१।।

चाहिये, केवल पिता द्वारा या स्वयं द्वारा खाये दानों को ही नहीं। संसार में सभी कुछ किसी-न-किसी का अन्न है ही। बहते पानी में पड़े भँवर जैसे पानी से अतिरिक्त कुछ नहीं वैसे व्यापक अन्न के प्रवाह में एक भँवर मेरा व्यष्टि देह है अतः यह भी उस अन्न से अन्य कुछ हो नहीं सकता। शरीर दीखता स्थायी है पर इसमें नया अन्न-जल आ रहा है, पुराना निकल रहा है अतः बहते अन्न का भँवर ही है। यों व्यष्टि-समष्टि की एकता का ध्यान या विचार करना चाहिये।

सायणभाष्य में समझाया है कि यहाँ अन्न प्रतीक है, उसमें ब्रह्म (सत्य, ज्ञान, अनंत) की दृष्टि करनी है। ब्रह्म समझे गये अन्न से जो शरीर निर्मित हो रहा है उसकी पक्षीरूप से अहंग्रहोपासना करनी है। वहीं विकल्पांतर बताया हैब्रह्म ने आकाशादि क्रम से अन्न उत्पन्न किया। वही अन्न अध्यात्म में हमारा शरीर और अधिदैव में विराट् है। इन दोनों रूपों में अवस्थित अन्नरूप उपाधि वाला ब्रह्म हैयह उपासना करनी है। अर्थात् इस विकल्प में पक्षी आदि कल्पना नहीं करनी वरन् व्यष्टि-समष्टि दोनों का कारण में विलय कर उसमें ब्रह्मदृष्टि करनी है। इसके फलस्वरूप विराट्-रूप अन्न मिल जाता है। अर्थात् विराट् की प्राप्ति होकर क्रममुक्ति हो जाती है। उपासक को भोजन की कमी नहीं रहती, यथेच्छ भक्ष्य-भोज्य आदि उपलब्ध होते रहते हैं यह तो अवांतर फल है ही।।५०।।

उपनिषत् गुहानिहित सत्त्यादि ब्रह्म बताने में प्रवृत्त है अतः अन्नमय की आत्मता समझाकर अगला कदम प्राणमय का लेती है। उस पर्यायका अवतरण कराते हैं **विवेक से या ध्यान से पुत्रादि को आत्मा समझना पूर्णतः छोड़ चुकने पर उसी प्रकार देह को मैं समझना छोड़ने के लिये प्राण की आत्मरूपता का चिंतन किया जाये।।५१।।** वासिष्ठ में दो तरह के साधक कहे हैंकुछ के लिये योग मुश्किल पड़ता है व अन्यों को ज्ञान से निश्चय करना कठिन होता है। प्रथम तरह वाले वस्तुस्थिति समझ लें फिर उन्हें उससे विचलन नहीं प्रतीत होता किंतु द्वितीय तरह वालों को यथार्थ का ज्ञान रहने पर भी अन्यथा प्रतीति होते ही वह ज्ञान धूमिल हो जाता है अतः उन्हें पुनरावृत्ति से उसे स्मृतिपटल पर अंकित रखने का प्रयास आवश्यक होता है। यद्यपि वेदान्तग्रंथों में इस बारे में बहुत शास्त्रार्थ है कि इस प्रकार के योग का क्या और कितना उपयोग है तथापि दो तरह के लोग हैं इसे मना नहीं

कर सकते अतः दोनों के लिये साधन-निर्देश करना पड़ेगा। मीमांसा की परिपाटी तात्पर्य-निर्धारण के लिये ज़रूरी है किंतु निर्णीत तात्पर्य के अनुसार साधन-व्यवस्था बनाने में वह आड़े नहीं आ सकती। अतः प्रकृत तैत्तिरीय-प्रसंग का सत्यादिलक्षण ब्रह्म में ही तात्पर्य है इसे मानकर उस ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये उपासना करनी चाहिये यह स्वीकारना किसी भी तरह विरुद्ध नहीं है। अन्यत्र भी, ज्ञेय-ब्रह्म-प्रसंगों में उसी बात का ध्यान करना भी सूचित माना जाये यह उचित है। पंचदशी के ध्यानदीप प्रकरण के आधार पर, निर्गुण ब्रह्म का भी ध्यान संभव है अतः तत्र-तत्र विधिवाक्य न उपलब्ध हो तो भी निर्धारित अर्थ का ध्यान वैसे साधक के लिये उपयोगी हो जाता है जो ज्ञानमात्र से स्थायी निश्चय पर नहीं पहुँचता। इसी तरह देह से बाहर आत्मतानुभूति की काट करने के लिये देहात्मता कही, इसे समझकर जो गौणात्माओं से आत्माभिमान दूर न कर सके वह पूर्वोक्त ढंग से उपासना कर भी उक्त प्रयोजन सिद्ध कर सकता है। जब देह से बाहर आत्मता-प्रतीति निवृत्त हो जाये तब अगला कदम लेना चाहिये जिसमें देहात्मता को छोड़ कर प्राणात्मता पर चित्त एकाग्र किया जाता है।।५१।।

उपनिषत् ने आगे कहा है कि इस अन्नरसमय आत्मा से अन्य व इसके अन्दर प्राणमय आत्मा है जिससे यह पूर्ण है। वह भी पुरुषाकार हैप्राण, व्यान, अपान, आकाश (समान) और पृथ्वी (उदान) क्रमशः उसके सिर, दायाँ पक्ष, बायाँ पक्ष, धड़ और पूँछ हैं। प्राणों से ही देव, मानव, पशु, सभी सचेष्ट हैं एवं प्राण ही सबकी आयु का हेतु है। प्राण की ब्रह्मदृष्टि से उपासना पूर्णायु प्रदान करती है।

इस प्रसंग में प्राण का अर्थ क्रियाशक्ति है जिसका आधार अध्यात्म में (शरीर में) पाँचवृत्ति वाला प्राण-पदार्थ है। अर्थात् साँस-रूप प्राण ही यहाँ प्राण नहीं, वह तो एक वृत्तिमात्र है, पाँचों वृत्तियाँ जिसकी हैं वह वस्तु प्राण है। वृत्तियों के प्रधान स्थान हैं

'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थः व्यानः सर्वशरीरगः।।'

प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभि में, उदान कंठ में और व्यान सारे देह में रहता है। वृत्तिसमूहात्मक प्राण का स्वयं पर आरोप कर 'मैं साँस ले रहा हूँ' आदि अनुभव होते हैं। प्राण को हम प्रायः स्वयं से पृथक् नहीं समझते अतः यह आत्मा ही लगता है। शरीर की अपेक्षा भी प्राण हमें स्वयं के ज्यादा नज़दीक लगता है, प्राणरक्षार्थ हम शरीर को कष्ट देना मंजूर करते हैं। अतः यहाँ देहात्मता-बुद्धि हटाने के लिये

प्राणात्मताबुद्धि लाने को कह रहे हैं। पुत्रादि तो गौणात्मा हैं पर शरीर मिथ्यात्मा है यह अंतर स्मरणीय है। पुत्र अनात्मा है यह बोध रहते हुए ही उससे आत्मता-व्यवहार करते हैं किंतु शरीर में स्वभावतः ही आत्मताबुद्धि रहती है। इसकी निवृत्ति परमार्थ-बोध से ही होगी। शास्त्रादि से समझ तो आ जाता है कि शरीर मैं नहीं पर महसूस ऐसा तभी हो जब आत्मसाक्षात्कार हो। अतः प्राणात्मता के अभ्यास से देहात्मता वैसी लुप्त नहीं होगी जैसी पुत्रात्मता किंतु वृत्ति अवश्य अंतर्मुख होगी। देह में पाँच मुख्य एवं अनेक अन्य व्यापार करने वाला प्राण भी देह की तरह भौतिक है, भूतकार्य है किंतु सूक्ष्म भूतों के रजोंश से निर्मित है तथा स्थूल भूतों से, प्रमुखतः जल से पुष्ट होता है। भूख-प्यास इसके धर्म हैं। इसे इंद्रिय नहीं मान सकते क्योंकि वैदिक प्रसंगों में इंद्रियाँ परिगणित हैं एवं इंद्रियों से पृथक् प्राण का जन्म बताया है। सुषुप्ति में इंद्रियाँ लीन होने पर भी देहरक्षार्थ प्राण सक्रिय बना रहता है यह प्रत्यक्ष व श्रुति में पता चलता है। अधिदैव या समष्टि में यही प्राण हिरण्यगर्भ है जबकि अध्यात्म या व्यष्टि में यह परिच्छिन्न है। इंद्रियों की तरह यह अतीन्द्रिय होने से एवं आकार में अतिस्वल्प होने से अणु भी कह दिया जाता है। इसी प्राणमय में जब आत्मताभिमान दृढ हो जाता है तब देह में आत्मता का भ्रम शिथिल पड़ जाता है। आपाततः भले ही हम स्वयं को देह कह दें पर विचार करने पर प्राण-मन आदि सभी को एक-साथ रखकर ही हमें अपनी पूर्णानुभूति हो रही है। आचार्य श्रीशंकर ने इसी प्रसंग में स्पष्ट किया है 'नाऽन्नमयेनैव परिच्छिन्नेन...आत्मवन्तः प्राणिनः, किन्तर्हि,...प्राणमयेनाऽपि,...एवं मनोमयादिभिः.... आनन्दमयान्तैः...आत्मवन्तः सर्वे प्राणिनः।' यहाँ तक तो स्वल्प विवेक से पहुँच सकते हैं किन्तु इतने से ही हमारी पूर्णता नहीं है! ये तो केवल कोश या ढक्कन हैं, वास्तव में हम पूर्ण उससे हैं जो इन कोशों से छिपा है'तथा, स्वाभाविकेनापि आकाशादिकारणेन नित्येन अविकृतेन सर्वगतेन सत्यज्ञानाऽनन्तलक्षणेन पञ्चकोशातिगेन सर्वात्मना आत्मवन्तः, स हि परमार्थतः आत्मा सर्वेषाम्।' यह वहीं स्पष्ट किया है। अतः देहात्मता समझने से कभी व्यक्ति तृप्ति नहीं अनुभव करेगा क्योंकि देह हमारा एक छोटा-सा ही आयाम है। इसलिये देहपर्याय के बाद स्वभावतः जिज्ञासा होती है 'क्या मैं इतना ही हूँ या और भी मेरा कोई स्वरूप है?' तब अगला पर्याय प्राण का सामने आता है। भृगु महर्षि ने अत एव इसी क्रम से आत्मविवेक कर पूर्ण वस्तु का ज्ञान पाया था यह इसी उपनिषद् की तीसरी वल्ली में वर्णित है।

पुत्रादि की अनात्मता व देह की आत्मता जैसे बताकर गौणात्मा से दृष्टि प्रत्यावृत्त

प्राणमयः

न देहस्यात्मता युक्ता पूर्वजन्मन्यभावतः।
पुरात्मा देहदं कर्म कृत्वा प्राप्नोत्यदो वपुः।।५२।।

कर शरीर तक लाये थे वैसे ही देह की अनात्मता बताकर प्राण की आत्मता संभावित करते हैं ताकि प्राण को आत्मा समझना समीचीन लगे **क्योंकि पूर्व जन्मों में यह स्थूल शरीर मैं नहीं था इसलिये यह उपपन्न नहीं है कि देह आत्मा हो। पूर्व में शरीरान्तर में रहकर आत्मा ऐसे पुण्य-पाप अर्जित करता है जिनसे शरीर मिलता है तब वर्तमान में आत्मा यह शरीर पाता है। (अतः कपड़ों की तरह शरीर बदलते रहने वाला आत्मा शरीररूप नहीं हो सकता।)।५२।।** स्थूल शरीर स्पष्ट ही जन्म-नाश वाला तथा यहाँ भी सतत परिवर्तनशील है अतः यह आत्मा हो नहीं सकता। आत्मा के जन्म-नाश असंभव हैं क्योंकि जन्म तभी हो जब उससे पूर्व आत्मा न हो और 'आत्मा नहीं है' इसमें कभी प्रमाण मिलता नहीं! कोई जाने कि आत्मा नहीं है तभी प्रमाणित हो कि आत्मा का अभाव (प्रागभाव भी, ध्वंस भी) है। किंतु जानने वाला ही तो आत्मा है अतः वह रहते उसका अभाव होगा नहीं और कोई जानने वाला नहीं तब तो सुतराम् आत्माऽभाव अप्रामाणिक है। इस प्रकार जन्म-नाश से रहित जो आत्मा वह जन्म-नाश वाला शरीर नहीं हो सकता। ऐसे ही हमारा अनुभव है कि जायमान छोटे-से शरीर से लेकर बुढ़ापे तक के शरीर में मैं एक-समान हूँ, अर्थात् शरीर के परिवर्तनों का स्वयं को साक्षी समझते हैं, शरीर के बदलाव को जान ही इसलिये पाते हैं कि स्वयं उससे अपरिवर्तित रहते हैं। अतः परिवर्तनशील शरीर हम नहीं हैं। इतना ही नहीं, हम जन्म-जन्मान्तर का, उच्चावच लोकों का अनुभव करते हैं। हर जन्म में, हर लोक में हमें पृथक्-पृथक् शरीर प्राप्त होते हैं तो हम शरीररूप हो ही कैसे सकते हैं! हम तो वह हैं जो देह से वैसे कर्म करते हैं जिनके फलस्वरूप तत्तत् शरीर प्राप्त करते हैं। स्मृतियों में कहा है कि शरीरज कर्मदोषों से नर स्थावर बनता है, वाचिक दोषों से पक्षी, मृग आदि बनता है और मानस दोषों से अन्त्यज बनता है। श्रुति ने भी रमणीय कर्मों से रमणीय योनि व कपूय कर्मों से कुत्सित योनि की प्राप्त कही है। अतः कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाला देह है तथा जिसे मिलता है वह मैं हूँ, आत्मा है। गीता में इसीलिये शरीर को कपड़ों की तरह समझाया है कि जैसे कपड़े बदलते रहते हैं शरीर वही रहता है वैसे शरीर बदलते रहते हैं, आत्मा वही रहता है। शरीर को भोगायतन कहते हैं अर्थात् इसमें बैठकर आत्मा

आयुर्मरणयोर्हेतौ प्राणे जीवात्मतोचिता।
स्थिते प्राणे भवत्यायुः प्राणापाये तु हीयते।।५३।।

भोग करता है अतः कुर्सी की तरह यह अनात्मा होना ही उचित है। छान्दोग्य की प्रजापति विद्या में शरीर की अनात्मता और भी स्पष्ट की जायेगी। यद्यपि देह की अनात्मता युक्ति व शास्त्र से सिद्ध है एवं देहान्तर-संबंधी व लोकांतर-संबंधी आत्मा मानने वाले सभी आस्तिक-नास्तिक बौद्धिक स्तर पर यह स्वीकारते भी हैं तथापि अनुभूति के स्तर पर हमें यह लगना ही सबसे कठिन है कि शरीर मैं नहीं हूँ। यह प्रतीत हो जाये तो साधना का बहुत बड़ा मार्ग तय हो चुकता है। परछायीं को, प्रतिबिंब को, मनोराज्य में कल्पित अपने किसी विलक्षण शरीर को जैसे हम 'मैं' महसूस नहीं करते ऐसे इस जीवित शरीर को न करें, इसके उद्देश्य से विवेक व योग द्वारा अन्नमय का उपसंक्रमण कर्तव्य बताया जा रहा है।।५२।।

स्थूल देह आत्मा नहीं, पर प्राण आत्मा हो यह ठीक है इसे बताते हैं **जो उपस्थित रहकर आयु का और वियुक्त होकर मरण का कारण है वह प्राण जीवात्मा हो यह उचित है। प्राणों के रहते आयु बनी रहती है और प्राण निकलते ही आयु समाप्त हो जाती है, जीवन पूरा हो जाता है। (अतः वही आत्मा है।)।५३।।** मैं-अनुभूति रहते प्राण अवश्य रहता है और प्राण निकलने के बाद मैं-अनुभूति नहीं रहती अतः प्राण का मैं से स्थिर सम्बन्ध पता चलता है जो बाधक के अभाव में अभेदरूप होना उचित है अतः 'प्राण मैं हूँ' यह मानना संगत है। आत्मा शरीर में रहे तो शरीर जीवित और शरीर मृत हो तो उसमें आत्मा नहींयही सर्वलोकसिद्ध बात है। यह आत्म-लक्षण प्राण में स्पष्ट है अतः वही आत्मा है। कोई शरीर सात्मक है या निरात्मक इसे प्राण की उपस्थिति-अनुपस्थिति से ही निर्धारित किया जाता है, इससे निश्चित है कि प्राण की आत्मरूपता सभी मानते हैं। चार्वाकों का तो एक संप्रदाय इसे अपने दर्शन की मान्यता स्वीकारता है, जैसा सिद्धांतबिंदु में कहा है कि त्वम्पदार्थ के बारे में 'प्राण इत्यपरे।' वहाँ गौड ब्रह्मानंद स्वामी ने प्राणात्मता में दो हेतु दिखाये हैं(i) प्राण सर्वदा एकरूप है और (ii) जिनमें मन नहीं फिर भी सात्मक माने जाते हैं उनमें भी प्राण होता है। अमनस्कों में उन्होंने योगी आदि का उदाहरण दिया है, पेड़-पौधे भी समझे जा सकते हैं। जैसे पूर्व में श्रुत्यर्थ बताते हुए कहा था, प्राण न केवल वायु है, न कोई अभौतिक तत्त्व है, वरन् भूतों के रजोंशों से निर्मित ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है जो सभी क्रियायें संपन्न करता है, जिसको समष्टिदृष्टि से

सूत्रात्मा कहते हैं तथा व्यष्टि-शरीर में विशेष तरह से सम्बद्ध हुआ वह जब तक रहता है तब तक शरीर जीवित रहता है। क्योंकि भूतों में क्रिया को वायुधर्म माना है इसलिये क्रियासंपादक होने से प्राण को भी वायुप्रधान स्वीकारा जाता है जैसा भाष्यकार ने कहा है 'वायुरेवाऽयमध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनाऽवतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते, न तत्त्वान्तरं, नाऽपि वायुमात्रम्' (ब्र. सू. २.४.९)।।

कुछ आचार्यों ने अंतःकरण और प्राण का वैसा संबंध माना है जैसा दर्पण के सामने व पिछले हिस्सों का होता हैसामने का फलक प्रतिबिंब ग्रहण करता है, पिछला फलक प्रतिबिंब ग्रहण तो नहीं करता है पर वही यह संभव करता है कि सामने का हिस्सा प्रतिबिंब ग्रहण करे। इसी प्रकार एक ही सूक्ष्मोपाधि का सा त्त्वकांश मन व राजसांश प्राण है, मन में ज्ञानशक्ति निहित है व प्राण में क्रियाशक्ति। ज्ञान व क्रिया शक्तियों में यह अंतर तो है कि ज्ञान शक्तिरूप भी है और आत्मरूप भी जबकि क्रिया आत्मरूप नहीं है वरन् प्राणात्मक उपाधि में जब आत्मा का ज्ञानरूप ही परिच्छिन्न होता है तब क्रियाशक्ति से प्राण आविष्ट हो जाता है। अर्थात् आत्मा के ज्ञानस्वरूप को ही प्राण इस ढंस से ग्रहण करता है कि वह क्रिया करने में सक्षम हो जाता है। अत एव क्रिया को सूक्ष्मता से समझने जायें तो ज्ञान से अतिरिक्त उसे नहीं देख पाते। यह सर्वसंमत है कि स्वतंत्र रूप से क्रिया चेतन शरीरादि ही करते हैं, जड पत्थर आदि नहीं, अतः क्रिया का चेतन से गंभीर संबंध अवश्य है। क्रिया कोई 'सिद्ध' पदार्थ तो है नहीं कि आत्मा का (या किसी का भी) स्वरूप हो सके अतः क्रिया-आत्मा का यही संबंध संगत है कि प्राणावच्छिन्न होने पर ज्ञान ही क्रिया को प्रकट कर देता है। अंतःकरण-प्राण का उक्त संबंध दक्षिणामूर्तिस्तोत्रटीका मानसोल्लास में (४.८) कहा है। पञ्चपादिका में इसे यों बताया है कि माया का एक खास कार्य है जिसमें ज्ञान-क्रिया दोनों शक्तियाँ हैं। उसे 'अहंकार' कहते हैं। उसी को ज्ञानशक्ति की दृष्टि से अंतःकरण और क्रियाशक्ति की दृष्टि से प्राण कहते हैं। '...अविद्या, तस्याः परमेश्वराऽधिष्ठितत्व-लब्धपरिणामविशेषो विज्ञान-क्रियाशक्तिद्वयाश्रयः कर्तृभोक्तृत्वैकाधारः कूटस्थचैतन्यसंजात-ज्योतिः स्वयम्प्रकाशमानोऽपरोक्षोऽहंकारः...। स च बुद्ध्या निष्कृष्य वेदान्तवादिभिः अन्तःकरणं, मनः...विज्ञानशक्तिविशेषमाश्रित्य व्यपदिश्यते; परिस्पंदशक्त्या च प्राणः।' (पंचपादिका पृ. १७४-८)। अतएव कौषीतकी में आत्मा को समझाने के लिये जो उपाधि चुनी वह प्राण और प्रज्ञा है 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा।' प्राण की अनात्मता समझना सरल नहीं है। नारद जैसे देवर्षि भी प्राण को आत्मा मानकर संतुष्ट हो गये थे ऐसा

छांदोग्य-सप्तम में प्रसंग है। सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ ही परम तत्त्व हैऐसी स्थिति में अनेक साधकों का अटक जाना वर्णित है जहाँ से आगे उन्हें आचार्य ही ले जा पाते हैं। यहाँ तो अंतर्मुखता लाने के लिये 'मैं प्राण हूँ' इसे युक्ति से समझकर शरीर की आत्मरूपता को लाँघना है, प्राण में रुक नहीं जाना है। प्राण की प्रधान पाँच वृत्तियाँ हैं। इनसे अन्य भी पाँच वृत्तियाँ वर्णित हैं पर उनका उक्त प्राणादि में अंतर्भाव ही प्रायः सभी ने माना है। दसों वृत्तियाँ व उनके कार्य ये हैं

	वृत्ति	**कार्य**
१.	प्राण	उच्छवास
२.	अपान	गुदा की ओर निःश्वास
३.	व्यान	नाडियों को बल देना
४.	उदान	वायु को शरीर में रखना
५.	समान	जठर में अन्न पचाना
६.	नाग	वमन
७.	कूर्म	पलकें झपकना
८.	कृकर	छींक
९.	देवदत्त	जँभाई
१०.	धनंजय	शरीर फुलाना

यहाँ कहे कार्य भी उपलक्षणार्थ हैं, शरीर में जो कोई कार्य होते हैं वे सभी संपन्न करना प्राण का दायित्व है। तत्तत् कार्य करने पर उसे तत्तत् नाम मिलता है। प्रधान कार्यों के आधार पर उक्त प्रधान वृत्तियों का नामकरण है, अन्य कार्यों के लिये प्राण के नामान्तर नहीं, इतनी ही बात है, यह नहीं कि वह अन्य कार्य करता नहीं। प्राण कोई इंद्रिय नहीं है पर इसका यह मतलब नहीं कि उसके कार्य नहीं हैं तथा अपने कार्यों की अपेक्षा से ही प्राण की विभिन्न वृत्तियाँ प्रसिद्ध हैं। यह ब्रह्मसूत्रों में (२.४.११.२) स्पष्ट किया है। प्रधान पाँचों वृत्तियाँ सिर आदि पाँच अंग हैं जिस पक्षी के वह मैं हूँयह यहाँ ध्यानपक्ष में समझना चाहिये।

प्राण-आयु का संबंध सभी को समझ लेना चाहिये। आयु का निर्धारण दिन-वर्ष आदि काल में नहीं वरन् श्वासों में होता है, व्यक्ति कुल कितने श्वास लेकर मरेगा यह निर्धारित है। फिर प्रायः एक दिन में लोग कितने साँस लेते हैं इसे गिनकर कुल श्वासों के अनुसार वर्ष-मास-दिनों में आयु गिनकर बता दी जाती है। अत एव ज्योतिषशास्त्र

देहात्मवासनानुत्त्यै प्राणात्मत्वमुपास्यताम्।
प्राणो ब्रह्मेत्युपासीनः सर्वमायुः समश्नुते।।५४।।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वृत्तयः।
एतासु पूर्ववत् पक्षमूर्धादीन् परिकल्पयेत्।।५५।।
श्वासोऽधोगमनं कृत्स्ने देहेऽन्नस्य समीकृतिः।
उद्गारादिर्बलं देहे क्रियास्तासां क्रमादिमाः।।५६।।

में निर्देश है कि ग्रह-नक्षत्रों के हिसाब से जो आयु बतायी जाये उसमें अतिभोगी और अतियोगी दोनों को अपवाद माना जाये। अतिभोगी श्वासों को शीघ्र खर्च करता है अतः कम दिनों में अधिक श्वास बीत जाने से जल्दी मरता है जबकि अतियोगी श्वासों को रोके रखता है जिससे उतने ही श्वास अधिक काल में फैल जाते हैं। अतः सभी को चाहिये कि जीवन लंबा चाहें तो श्वास व्यर्थ न गँवायें और ऐसे भोगों से बचें जिनमें श्वास शीघ्र चलने लगते हैं। व्यायाम भी योग की प्रक्रिया में ऐसे ही हैं जो श्वास नियंत्रित करते हैं तथा अन्य प्रक्रियाओं में वैसे हैं जिनमें श्वास तेज़ चलते हैं। जीवन-दीर्घता के लिये योगासनादि ही बेहतर हैं। भले ही शारीरिक बल आदि के लिये अन्य व्यायाम ज्यादा कारगर हों। प्राणों को आत्मा समझने वाला उन्हें व्यर्थ नहीं गँवायेगा क्योंकि स्वयं का अपव्यय कोई नहीं चाहता।।५३।।

प्राणमय की पुरुषविधता अर्थात् पक्षिशरीर की तरह अवयव-व्यवस्था बताकर श्रुति ने कहा कि जो ऐसी उपासना करते हैं कि 'प्राण ब्रह्म है' वे सारी आयु प्राप्त करते हैं। तात्पर्य है कि उनकी अपमृत्यु नहीं होती तथा यदि आगे विवेकादिपूर्वक तत्त्वबोध न पा सके और प्राण-ब्रह्मता के ध्यान में परिपक्व होकर मरे तो अगले जन्म में हिरण्यगर्भ होकर महाप्रलय-पर्यन्त सारी आयु भोग लेंगे। इस भाग को समझाते हैं **'देह मैं हूँ' इस वासना के अपनोदनार्थ यह उपासना करनी चाहिये कि 'मैं प्राण हूँ।' 'प्राण ब्रह्म है' ऐसी उपासना करने वाला सारी आयु भोगता है।।५४।। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानये वृत्तियाँ हैं। अन्नमय-पर्याय की तरह इन्हीं प्राणादि पर मूर्धा, पक्ष आदि अवयवों का आरोप कर ध्यान करना चाहिये।।५५।। उक्त प्राणादि शरीर में ये क्रियाएँ करते हैंश्वास, नीचे की ओर ले जाना, सारे शरीर में अन्न को बराबर फैला देना, डकार आदि, और बल प्रदान करना।।५६।। उक्त वृत्तियों के समूहरूप प्राणमय के अहंग्रह ध्यान से 'देह आत्मा है' इस संस्कार का सन्त्याग कर फिर प्राणमय में आत्मभाव को**

वृत्तिसङ्गं प्राणमयं ध्यात्वा देहात्मवासनाम्।
सन्त्यज्याऽथ प्राणमये त्यजेद् देहवद् आत्मताम्।।५७।।

भी छोड़ने का प्रयास करना चाहिये।।५७।। प्राण को इसीलिये आत्मा कहा कि देह से आत्मभाव हटे। विवेक से यदि यह कार्य संपन्न हो जाये तो बहुत अच्छा है अन्यथा ध्यान से यह संस्कार-दृढता पानी चाहिये। लोक में भी महान् कार्यों का एक ढंग होता है; उसी को अपनाकर चलें तो कार्य सिद्ध होता है। इसी तरह परमार्थ आत्मा को समझने का यहाँ ढंग बताया जा रहा है, इन्हीं कदमों से चलने पर साक्षात्कार होगा। अतः यह पूछना व्यर्थ है कि यदि देहात्मता-बुद्धि छोड़नी ही है तो उसे पहले करे ही क्यों? जैसे मल-त्याग करना ही है तो खायें ही क्यों?यह प्रश्न निरर्थक है क्योंकि जीवन चलाने का तरीका ही वह है; या दान ही करना है तो कमायें ही क्यों?यह प्रश्न नहीं बनता क्योंकि पुण्य पाने का तरीका ही वह है; इसी तरह बुद्धिगुहा में निहित सत्य-ज्ञान-अनंत आत्मा के वेदन का तरीका ही यह है अतः इसी क्रम को आदर देना पड़ेगा। इतना अवश्य है कि यदि पूर्वसंस्कारादि के फलस्वरूप बहि-कोशों में आत्मबुद्धि नहीं है तो उसके लिये प्रयत्न नहीं करना है वरन् जिस कोश में आत्मबुद्धि है उसकी अपेक्षा प्रत्यग्भूत जो कोश है उसी में आत्मबुद्धि का प्रयास करना है। अतः यदि पूर्वजन्म की साधनावश किसी को जन्म से ही देह के बजाय प्राण में ही आत्मता प्रतीत होती है तो उसे प्रारंभ भी मनोमयकोश की उपासना से करना पड़ेगा, प्राणमय से बहिर्भूत जो अन्नमय उसमें आत्मबुद्धि नहीं करनी पड़ेगी। यहाँ साधना ही यह है कि जिस भी स्थिति में हैं उससे अंतर्मुख हों। अतः जैसे जो जिस पौड़ी पर है उसी से सीढ़ी चढ़ना शुरू करता है वैसे यहाँ भी कोशों के उपसंक्रमण के बारे में समझना चाहिये। किंतु है यह केवल वैचारिक बात, व्यवहार में तो लगभग सभी साधक स्वभावतः सभी कोशों में आत्मता समझते हुए ही साधना प्रारंभ करते हैं अतः यहाँ कहा क्रम सभी को स्वीकारना पड़ता है। यद्यपि तत्तत् कोश की उपासना का फल कहा है अतः उस फल के लिये उस कोश की उपासना भी संभव लगती है।

तथापि 'अंगेषु स्तुतिः परार्थत्वात्' (जै.सू.४.३.१९) न्याय से उन फलों को स्तुतिरूप मानना संभव होने से अंतःकोश में प्रतिष्ठित के लिये तत्तत्फलार्थ भी बहिःकोश की उपासना अकर्तव्य ही है। सर्वायु-प्राप्ति के लिये ब्रह्मोपासना में यह चिंतन करना चाहिये 'अहमस्मि प्राणः सर्वभूतानामात्मा, आयुः' (भाष्य) अर्थात् सब प्राणियों का

आत्मा और आयु जो प्राण वह मैं हूँ। इस उपासना से सर्वायु-लाभ अवांतर फल है। कोश में जो पाँच वृत्तियाँ हैं वे प्राण के व्यापार ही हैं। प्राण से उसकी वृत्ति कोई अलग चीज़ नहीं है वरन् तत्तत् कार्य के लिये प्राण जो व्यापार करता है वही उसकी वृत्ति है। व्यापार या वृत्ति को साधारण शब्द से कहें तो प्रयास कह सकते हैं; तत्तत् कार्य संपन्न करने के लिये प्राण का जो प्रयास वही उसकी वृत्ति है। प्रधान पाँच कार्यों की दृष्टि से प्रधान पाँच वृत्तियाँ हैं जो सिर आदि की जगह समझकर ध्यान करना पड़ता है।

अवयवों में विन्यास इस तरह हैसाँचे में पड़कर जैसे ताँबा आदि साँचे का आकार ही ग्रहण कर लेता है ऐसे स्थूल देह में पड़े प्राण ने वही आकार लिया है जो स्थूल देह का है। स्थूल देह को पूर्व-पर्याय में पक्षी के आकार का समझा था अतः प्राण भी उसी आकार का हो गया। उस पक्षी का सिर इस कोश में प्राण है, व्यान दायाँ पक्ष है, अपान बायाँ पक्ष है, समान धड़ है और उदान पूँछ है।

उपनिषत् में प्राण, व्यान, अपान को नामतः कहा और समान-उदान के लिये आकाश-पृथ्वी शब्दों का प्रयोग किया। शंकरानंदजीने इससे संकेत माना है कि प्राण के प्रसंग में अप्राणभूत आकाश-पृथ्वी के उल्लेख से श्रुति बताती है कि कोशप्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है। तथापि इन शब्दों से समान-उदान समझकर, कोशतादात्म्य तो प्राप्त करना ही है, चाहे विवेक से करें या ध्यान से। प्राणात्मतानिश्चय का इतना ही प्रयोजन है कि देहात्मतामति निवृत्त हो अतः यह कार्य हो चुकने पर फिर प्राण में ही न अटके वरन् मनआत्मता के बल पर प्राणात्मता का त्याग करे यह साधक के लिये ज़रूरी है।।५४-७।।

आत्म-दर्शन कराने के लिये श्रुति ने प्राणमय के बाद मनोमय का वर्णन किया है। माया के तामसांश से उत्पन्न अन्नमय में तो जडता ही प्रधान है, ज्ञान-क्रिया शक्तियाँ उसमें स्वतः उपलब्ध नहीं हैं। रजोंश से बने प्राणमय में क्रियाशक्ति उपलब्ध होती है तथा सत्त्वांश से बने अगले तीन कोशों में ज्ञानशक्ति। तमोमिश्रित सत्त्वगुण मनोमय का कारण है अतः तामस भाग के धर्म राग-द्वेष आदि मन में मिलते हैं। रजोमिश्रित सत्त्व विज्ञानमय का कारण है अतः उसमें कर्तृत्व उपलब्ध होता है। आनंदमय, सत्त्व का कार्य है अतः वहाँ विभिन्न स्तर के सुख ही गिने जाते हैं। इस प्रकार तम से रज में आकर रजसे सत्त्व में पहुँचने के लिये पहला कदम मनोमय में पहुँचना है। उसके लिये प्राण की अनात्मता बताते हैं **यही उचित है कि जो चेतन है वही आत्मा हो। प्राण क्योंकि जड है इसलिये वह आत्मा नहीं है वरन् सभी चीज़ों का ज्ञान**

मनोमयः

प्राणो नात्मा जडत्वेन चेतनस्यात्मतोचिता।
मनस्तु चेतनत्वेन सर्वस्य प्रतिभासनात्।।५८।।
चक्षुराद्यक्षसापेक्षं मनो बाह्यार्थभासकम्।
निरपेक्षेण मनसा सुखाद्यान्तरभासनम्।।५९।।

करने वाला होने से चेतन जो मन वही आत्मा है।।५८।। नेत्रादि इन्द्रियों की सहायता से मन बाहरी पदार्थों को ज्ञात करा देता है और सुख आदि आंतरिक पदार्थों को इंद्रियों की ज़रूरत के बिना ही ज्ञात करा देता है। (अतः वस्तुओं को ज्ञात बनाने वाला होने से चेतनरूप मन ही आत्मा है।)।।५९।। चेतन उसे समझा जाता है जो जान सके, महसूस करे। सारी जानकारी मन करता है अतः वह चेतन लगता ही है। प्राण को जानकारी कुछ नहीं होती। सुषुप्ति में प्राण चलता रहता है और चोर तकिये के नीचे से रुपये ले जाते हैं फिर भी प्राण को कुछ पता नहीं चलता। आंतरिक सुख-दुःख, पीडा, भूख आदि भी सुषुप्त प्राण नहीं जानता। अतः प्राण में ज्ञान न होने से वह जड है। प्यास धर्म प्राण का है पर क्योंकि उसे उसका भी पता नहीं चलता इसलिये यदि मन प्यास न जान पाये तो कई बार व्यक्ति इतना प्यासा रह जाता है कि शरीर-स्थिति के लिये आवश्यक मात्रा में भी जल देह में नहीं बचता! प्राण के लिये मन साधन का काम करता है और सुषुप्ति में मन सो जाता है इसलिये प्राण नहीं जान पातायह नहीं कह सकते क्योंकि चेतन शेषी होने से वह
यदि कार्यरत है तो उसके करण का कार्य से विरत होना संगत नहीं ऐसा तत्र-तत्र आचार्यों ने समझाया है एवं दृष्टांत दिया है कि जैसे मालिक कार्यरत रहते नौकर काम छोड़कर सो नहीं जाता ऐसे प्राण के कार्यरत रहते उसके करणभूत मनआदि सो नहीं सकते। इससे पता चलता है कि क्योंकि प्राण कार्य करता ही रहता है और मन आराम से सोता है इसलिये मन ही मालिक की जगह अर्थात् चेतन है, आत्मा है। साँस रुकने पर जो तड़पता है, जिसे लगता है 'मेरा दम घुट रहा है', वही चेतन हो सकता है, न कि प्राण। ममतास्पद होने से, भौतिक होने से, परिच्छिन्न होने से, ज्ञेय होने से प्राण अनात्मा है यह समझना सरल है। प्राणात्मवाद हिरण्यगर्भ-संप्रदायका मत था ऐसा पंचदशी-चित्रदीप आदि में वर्णित है। विवेकवश इस भ्रम के पार देखकर यदि आवश्यक हो तो दाढ्र्य के लिए अगले पर्याय की उपासना भी करना चाहिये।

साधारणतः मन हमेशा ज्ञानवान् ही मिलता है, बिना ज्ञान के नहीं। भावका हो या अभाव का, कोई-न-कोई ज्ञान मन में रहता ही है। मन को यदि कुछ जानने या करने लायक, रुचिकर विषय नहीं मिलता तो वह ऊबने लगता है जिसे अंग्रेज़ी वाले 'बोर' होना कहते हैं; पर तब भी वह यह तो जान ही रहा होता है कि 'कोई मज़ेदार विषय नहीं है, नीरसता है।' यों हमेशा ज्ञानवान् रहने से मन को चेतन समझना ठीक है। वेदांत सिद्धांत तो ज्ञान को चेतन कहता है किंतु अन्य मत एवं सामान्य लोग ज्ञानवान् को चेतन कहते हैं; उसी दृष्टि से ज्ञानवान् होने से मन चेतन कहा जा रहा है। विचारकों ने यहाँ तक माना है कि नैयायिक जिसे आत्मा कहते हैं वह मन से परे नहीं है। मन विषयों का प्रतिभासन करता है अर्थात् विषयों पर पड़े आवरण को मिटा देता है। अंधेरा मिटाने वाले को जैसे प्रकाश कहते हैं वैसे आवरण मिटाने वाले को ही ज्ञान कहते हैं। इसलिये मन को आत्मा मानना उचित है। शरीर से बहिर्भूत चीज़ें इंद्रियों द्वारा एवं भीतरी भूख-दर्द-सुखादि इंद्रियों के बिना जानता है। सिद्धांत में सुखादि को मनोवृत्ति स्वीकारने से साक्षिभास्य बताया जाता है। किन्तु मनआत्मवादी के यहाँ मनोऽतिरिक्त साक्षी है ही नहीं अतः उसके अनुसार मन ही सुखादि को जानता है। साधक भी इस स्तर पर ऐसा ही समझ सकता है क्योंकि अभी वह साक्षी का अनुभव कर नहीं पाया है। अज्ञान का स्फुट भान भी मन को ही होता है। 'मैं जर्मन भाषा नहीं जानता' यह तभी पता रहता है जब मन है, गहरी नींद में यह बात मालूम नहीं रहती। सौषुप्तानुभव छोड़ दें, तो सभी अवस्थाओं में ज्ञान होते समय मन कार्यकारी रहता ही है जिससे यह मान लेना सहज है कि मन को ज्ञान होता है। यद्यपि भ्रम या सुख आदि को साक्षी जानता है ऐसा सिद्धांती कहता है तथापि वह भ्रम, सुख आदि का ज्ञान ऐसी ही स्थिति में दिखा पाता है जहाँ मन भी उपस्थित है एवं कुछ ऐसा कर रहा है जिससे वह ज्ञान हो; भ्रम में मन अधिष्ठान-संबंध स्थापित करता है एवं सुखादि का तो आकार स्वयं मन ही लेता है; अतः ये अनुभव भी मन से निरपेक्ष नहीं हैं। इंद्रियों को मन ही साधन बनाता है, तत्तत् ज्ञान या क्रिया में विनियुक्त करता है इसलिये सभी इंद्रियों का मनोमय में अंतर्भाव है। सायणाचार्य ने कहा है 'सर्वेषां ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनोमयाख्ये कोशेऽन्तर्भावो द्रष्टव्यः।' मनोवृत्ति जैसी हो वैसी प्रवृत्ति इंद्रियाँ करती हैं, दिदृक्षा हो तो आँखें देखती हैं, विवक्षा हो तो वाणी बोलती है। मनोविरुद्ध भी इन्द्रियप्रवृत्ति होती है लेकिन उसे 'विरुद्ध' कहना ही सिद्ध करता है कि मनोनुकूल प्रवृत्ति ही उचित है अतः मन

ही प्रधान है, आत्मा है।।५८-९।।

वेदान्तों की विचारसरणि स्थूल से सूक्ष्म और उससे कारण तक जाकर फिर कारण से भी अतीत अज तक पहुँचाती है। अवस्थात्रय-पद्धति में यह स्पष्ट ही है, कोशों में भी क्रम यही है अन्नमय स्थूल है, फिर तीन कोश सूक्ष्म और अंतिम कारण है तथा आनन्दमय की पुच्छ अधिष्ठान है। सूक्ष्म के तीन कोशों में प्राणमय प्रथम है। इसका जीवमात्र से संबंध है; मन-बुद्धि तो पौधों आदि में लगभग अकार्यकारी हैं पर प्राण सभी जीवित वस्तुओं में है। प्राण की वृत्तियाँ भी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं; मन-बुद्धि कुछ हैं या नहीं हैं तो कैसे हैं आदि मतभेद बहुतेरे हैं पर प्राण के बारे में सामान्यतः ऐकमत्य हो जाता है, साँस है अतः जीवित है, साँस बंद हो गया इसलिये मृत है यह व्यवहार साधारण लोग भी कर पाते हैं। इससे सूक्ष्म है मन जहाँ अनुभव तो है पर भावनाएँ व्यक्त नहीं हैं, श्रद्धा, प्रेम, कर्तव्य आदि प्रकट नहीं हैं। ये बुद्धि के स्तर पर विकसित होती हैं। भौतिक होने पर भी स्थूल शरीर और बाह्य विषय तामस हैं, प्राणमय राजस है एवं बाकी तीन कोश सत्त्वांश के विकार हैं। अतः इन तीन में ही ज्ञानशक्ति स्पष्ट होती है। हमें अपना स्वरूप ज्ञानात्मक ही अनुभव में आता है तथा वास्तव में भी वही आत्मा का स्वभाव है। जन्य ज्ञान के दायरे में रह जाना बंधन है जबकि सनातन उदय-अस्त से रहित ज्ञान ही रह जाना, उससे अतिरिक्त कुछ न रह जाना मोक्ष है। अतएव जड में आत्मबुद्धि का निवृत्त होना संभव ही नहीं स्वाभाविक ही है, सहजभाव से ही हम जड के बजाये चेतन को अपना स्वरूप स्वीकारते हैं, बल्कि जड में भी आत्मबुद्धि इस भ्रम से ही होती है कि वह चेतन है! जैसे झूठ चल इसीलिये पाता है कि वह सच का जामा पहने रहता है वैसे ही जड इसीलिये मैं-भाव ग्रहण करता है कि वह चेतन का जामा पहन लेता है। विवेक के लिये यही क्रम उचित रहता है कि गौण से मिथ्यामें व फिर कोशक्रम से प्रत्यक् की ओर बढ़ा जाये और चेतनता की प्रधानता के अभिवर्धन के सहारे उपाधि-अंश का परित्याग किया जाये। कर्तृत्व की स्थूल अभिव्यक्ति जैसे प्राणमय में वैसे भोक्तृत्व की भी वहीं होती है क्योंकि भोक्तृत्व के प्रधान स्थल भूख-प्यास प्राणमय के धर्म हैं। एवं च 'प्राण मैं हूँ' यह वासना स्थायी रह जाती है पर त्वमर्थविवेक के लिये इस अभिमान का उन्मूलन आवश्यक है जो तभी संभव है जब अगले कोश में आत्मतानुभूति हो, यह समझाते हैं **मन आत्मा है इस बात को समझ कर प्राण की आत्मरूपता के संस्कार मिटाने के लिये साधक को यथावश्यक उपासना भी करनी चाहिये। जिसकी मैं-रूप से उपासना करनी है**

आत्मत्वं मनसो बुद्ध्वा त्यक्तुं प्राणात्मवासनाम्।
उपासीत मनस्तच्च वृत्त्याख्यावयवैर्युतम्।।६०।।
यजुराद्याश्चतुर्वेदा आदेशस्तद्गतो विधिः।
तद्भासके मनोवृत्तिपञ्चके पक्षिकल्पना।।६१।।

वह मन 'वृत्ति' नामक हिस्सों वाला है।।६०।। विवेकप्रधान साधक विचारदार्ढ्य से जो स्थिति पाता है, योगप्रधान को उसके लिये उपासना की ज़रूरत होती है यह पूर्व में बता चुके हैं। मन आत्मा हैयह समझकर प्राण मैं हूँ अर्थात् मैं भूखा-प्यासा क्रियाशील हूँ यह अभिमान यदि निवृत्त न हो तो साधक 'मैं मन हूँ' ऐसा ध्यान करे ताकि प्राण में मैं-बुद्धि हटे, उस बात के संस्कार धुल जायें। मन के भी पाँच हिस्से हैं जो उसकी वृत्तियाँ हैं। यद्यपि वृत्ति का अर्थ व्यापार है अर्थात् मन जो विभिन्न चेष्टाएँ (कार्य) करता है, उसके जो बर्ताव हैं वे ही उसकी वृत्तियाँ हैं, तथापि यहाँ मन को वेदात्मक बताना है अतः तत्तत् विशिष्ट संस्कारों वाले मन को ही वृत्ति कहा जा रहा है, जब ऋगादि का आकार लेता है तब वे मन की वृत्तियाँ होती हैं तथा उन्हीं को मन के 'हिस्से' कहा है। वेदान्त दर्शन के अनुसार अंतःकरण मध्यमपरिमाणी होने से उसकी सावयवता समझने में कठिनाई नहीं होती पर यहाँ तो विभिन्न वृत्तियाँ ही सिर आदि अवयव के रूप में ध्यान करने को कह रहे हैं। विचारपद्धति से चलने वाला 'इन्हीं अवयवों वाला मन मैं हूँ' यही समझेगा। मन की अनंत वृत्तियाँ होने पर भी प्रधानता से वेदात्मक वृत्तियों का ही ग्रहण करना संगत है।।६०।।

अब मनोमयकोश का आकार बताते हैं। पूर्व की तरह पक्षी का रूपक चल ही रहा है, उसी के सिर, पक्ष आदि के स्थानापन्न मनोवयवों का उल्लेख कर देते हैं **यजुः आदि चार वेद और आदेश अर्थात् वेद में आयी विधियाँइन पाँच को प्रकाशित करने वाली पाँचों मनोवृत्तियों में पक्षी की कल्पना (उपासक को करनी चाहिये)।।६१।।** श्रुति ने कहा है यजु ही सिर है, ऋक् दायाँ पक्ष है, साम बायाँ पक्ष है, आदेश धड़ है और अथर्वांगिरस पूँछ है। यजुरादि से मंत्रभाग और आदेश से सभी ब्राह्मणभाग समझे जाते हैं। यजु से गद्यात्मक मंत्र, ऋक् से पद्यात्मक मंत्र, साम से गीतात्मक मंत्र तथा अथर्व अंगिरा महर्षि द्वारा दृष्ट मंत्र अथर्वांगिरस कहे जाते हैं। यजु को सिर समझना इसलिये उचित है कि हविर्दान आदि याग के खास कार्यों में यजुर्मंत्र ही प्रयोग किये जाते हैं। याज्या-पुरोऽनुवाक्या का भी प्राधान्य होने से उन्हें दाहिना बाजू समझना ठीक है तथा अथर्वांगिरस ऐहिकप्रधान होने से पूँछस्थानीय हैं

अतः साम वामांग हो जाता है। क्या व कैसे करना है यह बताने वाले होने से ब्राह्मणभाग धड़ हैं। वस्तुतस्तु किस वेदांश में क्या दृष्टि की जाये यह जैसा श्रुति ने कहा है वैसा ही स्वीकार्य है फिर भी स्मरण की सुविधा के लिये संगति खोज लेनी चाहिये। सभी शास्त्रीय विषयों में यह याद रखने की बात है कि मानना केवल इसलिये है कि शास्त्र ने कहा है पर समझने के लिये कोई उपपत्ति भी सोच लेनी चाहिये। उपपत्ति में ग़लती होने से मान्य बात नहीं बदलेगी वरन् नई उपपत्ति सोची जायेगी।

वेद को प्रायः एक खास शब्दराशि ही माना जाता है किंतु यहाँ क्योंकि उसे मनोमयरूप कहा है इसलिये आचार्य शंकर ने तैत्तिरीयभाष्य में काफी विचार कर यह समझाया है कि मनःसंकल्पात्मक वेद मानना संगत है। उसी मनोवृत्ति की स्थूल अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य शब्द के रूप में होती है। शब्द को ही पहले गुरुमुख से ग्रहण करना पड़ता है पर ग्रहण हो चुकने पर उसका मानसरूप वेद कहलाता है। भाष्य की वनमाला टीका में इसे दृष्टांत से बताया है कि जैसे चक्षु आदि का अर्थ पहले गोलक ही समझ आता है पर विचार से पता चलता है कि चक्षु आदि शब्दों का वास्तविक अर्थ इंद्रियाँ हैं उसी प्रकार प्राथमिक बोध यह होने पर भी कि शब्दाराशि वेद है, विचार करने पर पता चल जाता है कि मनोवृत्तियों को वेद मानना उचित है। वस्तुतस्तु वेद ज्ञानात्मक है। जीव का ज्ञान मनोवृत्तिरूप होने से वेद भी मनोमय है पर ईश्वरज्ञान मायावृत्तिरूप होने से वेद मायिक है अर्थात् ईश्वर के लिये मायावृत्तिरूप वेद ही जब जीव ग्रहण करता है तब मनोवृत्ति रूप बनाकर। वेद भौतिक वस्तु नहीं है इसे सूचित तो सूत्रकारने इसी से कर दिया कि आकाशादि सारे जगत् के जन्मादि को द्वितीयसूत्र से बताकर वेदोत्पत्ति को तृतीयसूत्र से पृथक् बताया। स्वयं श्रुति में भूतों की उत्पत्ति वेदशब्दपूर्वक कही है, इससे भी वेद भूतों से पूर्ववर्ती अतः भिन्न सिद्ध होता है। ज्ञानात्मक और शब्दात्मक वेद दो नहीं हैं क्योंकि उनका प्रतिपाद्य अभिन्न ही है। यद्यपि बहुधा एक ही ज्ञान को शब्दों से प्रकट करने पर अलग-अलग शब्द-प्रयोग संभव हो जाते हैं तथापि अतिसूक्ष्म और अतिमहत्त्वपूर्ण बातें लोक में भी सर्वथा उन्हीं शब्दों में व्यक्त करनी पड़ती हैं जैसे कानून, विज्ञानसंमत माप, समीकरण इत्यादि। इसी प्रकार वेद को जब भी व्यक्त किया जायेग तब सर्वथा एक समान शब्दों में ही कहना पड़ेगा तभी ठीक अभिव्यक्ति होगी, उसमें मनमानी हेर-फेर करने से अवश्य ग़लती संभव है। अतः वेदशब्दों की आनुपूर्वी नियत ही है, उन्हीं शब्दों में

हमेशा से वेद को प्रकट किया गया है और आगे भी उन्हीं में किया जा सकेगा इसी से शब्दात्मक वेद भी सनातन कहा जाता है। आकाश ही जब जन्म-नाश वाला है तब उसका गुण शब्द अनित्य है इसमें कहना क्या, किंतु उन्हीं शब्दों की पुनरावृत्ति होने से हमेशा वे ही शब्द प्रयोग किये जाते हैं इस तात्पर्य से शब्दों के क्रम को भी नित्य कह दिया जाता है। वास्तविक नित्यता तो उस ज्ञान की, उन नियमों की है जो वेदप्रतिपाद्य हैं। व्यावहारिक स्तर पर न्यूटन या आइन्स्टाइन के कथन को भी इसीलिये नित्य कहते हैं कि उनके द्वारा कही बात नित्य है; इसी तरह वेदबोध्य धर्म के नियम और ब्रह्म का स्वरूप हमेशा वही होने से वेद नित्य है। इसीलिये वेद-प्रामाण्य में विशेषता है : अन्य शब्द अपनी प्रामाणिकता के लिये वक्ता पर निर्भर करते हैं कि अमुक व्यक्ति ने कही इसलिये बात सही है, जबकि वेद किसी वक्ता पर निर्भर नहीं करता। प्राचीन आगमादि भी वक्ता-अधीन प्रामाण्य वाले हैं एवं नवीन ईसाई, मुसलमान आदि भी ईसा-मुहम्मद आदि की महत्ता के आधार पर उनके उपदेश को सत्य घोषित करते हैं। बौद्ध शब्दप्रामाण्यवादी न होने पर भी सुगत की सर्वज्ञता को इसीलिये सिद्ध करते हैं कि उनके उपदेश को सत्य स्वीकारा जा सके। संसार में एकमात्र वेद है जो स्वयं को किसी की भी रचना होने से प्रमाण नहीं मनवाता वरन् अपने ही आधार पर प्रमाण रहता है। इसी को अपौरुषेयप्रामाण्य कहते हैं अर्थात् प्रामाण्य किसी पुरुष के अधीन नहीं है। यहाँ तक कि 'ईश्वरवाक्य होने से प्रमाण है' ऐसा भी वेद के बारे में नहीं कहा जाता! वेद को प्रमाण होने के लिये किसी का भीईश्वर का भीसहारा नहीं लेना पड़ता। इतनी दृढता इसीलिये है कि वेद
सत्य का बोधक है अतः अधिकारी वेद के उपेदश को स्वयं में साक्षात् अनुभव कर सकता है; जैसे रूप दिखाने के लिये रोशनी अकेली सक्षम है, वह किससे उत्पन्न हुई इसका कोई महत्त्व नहीं, वैसे वेद भी सत्य का ज्ञान कराने में अकेला सक्षम है, वह किसने कहा इसका कोई महत्त्व नहीं। आधुनिक युग में आस्तिक-नास्तिक सभी शास्त्रों को एक तराजू पर तोलने वाले नासमझ लोग इस विशेषता को नहीं पहचानने के कारण ही वेद से प्राप्य लाभ से वंचित रह जाते हैं। उपदेश भले ही बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद या आज के भी विद्वान् का हो पर वह प्रमाण क्यों हैइस पर विचार
करना आवश्यक है। वेदातिरिक्त कोई भी यह नहीं मानता कि वक्ता का कोई महत्त्व नहीं अतः उन उपदेशों को स्वीकारना इसी पर निर्भर करता है कि उनके वक्ता को ऐसा स्वीकारा जाये जो सही जानता था और सही ढंग से उसने व्यक्त किया। किन्तु

उन वक्ताओं का पता तथा उनके सहीपने का पता उन्हीं उपदेशों से लगाना है! बाइबल इसलिये सही है कि ईसा का उपदेश है और ईसा इसलिये सही था कि बाइबल उसे सही बताती है! यही कुरान आदि के बारे में बात है। अतः विवेकी इन उपदेशों को हृदय से स्वीकार नहीं सकता। इनसे विपरीत, वेद को स्वीकारने के लिये किसी मसीहे आदि अन्य परयहाँ तक कि ईश्वर पर भी भरोसा करने की ज़रूरत नहीं वरन् खुद वेद का ही ऊहापोह कर उसके तात्पर्य को स्वयं समझकर, अपने जीवन में लाकर सत्यापित करने की ही ज़रूरत है। जैसे न्यूटन को माने बिना भी उसके नियम को इसलिये स्वीकारा जा सकता है कि वह अनुभव में खरा उतरता है ऐसे वेदोपदेश भी क्योंकि जीवन के धरातल पर सत्य निकलता है इसीलिये स्वीकार्य है। यद्यपि परलोक-फलक क्रियाओं वाले उपदेशों के बारे में उक्त बात समझना कठिन है तथापि वेद के अध्यात्मोपदेश के लिये तो सर्वथा ठीक और व्यावहारिक है तथा जब उस अंश में पूर्णतः सत्य निकलता है तब अन्य अंशों में भी उसकी सत्यता अशंकनीय हो जाती है। इस प्रकार विचारशील को वेद की विशेषता पर ध्यान रखकर ही उसके बारे में अध्ययन करना चाहिये, अन्य उपदेशों के समकक्ष मानने के अंधविश्वास में नहीं फँस जाना चाहिये।

यहाँ तो त्वमर्थ-शोधन का प्रसंग है, अतः साधक जब गौणात्मा से अन्नमय में, फिर केवल प्राणमय में आत्मतानुभूति करे तब प्राणमय छोड़कर मनोमय को ही आत्मा समझेयह बताया जा रहा है। विवेक विचार से इसमें स्थिर रहे और जो उतने मात्र से निष्ठा न पा सके वह उक्त ढंग से ध्यान भी करे। अन्नमय को पक्षी के आकार का समझा था अतः उसमें भरा होने से प्राणमय भी उसी आकार का था जैसे साँचे में पड़ा पिघला ताँबा; और मनोमय भी प्राणमय में भरा होने से उसी आकार का है। इसके यजुरादि अंग जिस पक्षी के सिर आदि हैं वही मैं हूँऐसा ध्यान करते-करते मनोमय से बाह्य प्राणमयादि से तादात्म्य छूट जाता है, यही मुख्य फल है।।६१।।

मनोमय के बारे में उपनिषत् ने कहा है कि मन-वाणी जिसे बिना पाये लौट जाते हैं उस ब्रह्मानंद का जानकार कभी नहीं डरता। तात्पर्य है कि मनोमय की ब्रह्मरूप से उपासना क्रममुक्ति तो दे ही देगी। मनोमय में वेद आ जाने से यहाँ मन के साथ वाणी का भी ग्रहण हो गया। मन-वाणी एक निरंजन ब्रह्म को छोड़कर बाकी सब को विषय करते हैं यह इनकी विशेषता है और इनसे विषय न हो पाना ब्रह्म की विशेषता है! भृगुवल्ली में मन को ब्रह्म समझने की बात आयी है पर वहाँ विवेक का ही कथन है

अवाङ्मनसगम्यस्य ब्रह्मणोऽप्यवबोधने।
शक्तं भवेन्मनस्तच्च मनो ब्रह्मेति कल्पना।।६२।।

उपासना का नहीं। यहाँ दोनों बातें साथ ही साथ कह रहे हैं। अतः मन से अगम्य ब्रह्म को समझना चाहिये यह भी विवक्षित है और 'मनोमयरूप मैं ब्रह्म हूँ' यह ध्यान भी करने को कहा जा रहा है। इस दृष्टि से समझाते हैं **वाणी और मन से जिसे विषय नहीं किया जा सकता उस परमात्मा के भी ज्ञान में मन समर्थ हो जाये इसलिये 'मन ब्रह्म है' ऐसी कल्पना, उपासना करनी चाहिये।।६२।।** तात्पर्य है कि मनोमयरूप स्वयं की जब परमेश्वर से अभेदेन उपासना की जाती है तब मन इस लायक बन जाता है कि परमेश्वर का साक्षात्कार पाये। जैसा परमेश्वर है वैसा जब तक मन न बने तब तक ब्रह्मज्ञान संभव नहीं। मन को वैसा बनाने के लिये ही साधना है। वेद ही मन में भर जाये, वेद से अन्य मन में कुछ न रहे तभी मन ब्रह्म का आकार लेगा अतः मनोमय को वेदरूप कहा। उसे जब परमेश्वर से अभिन्न समझेंगे तब राग-द्वेष आदि तुच्छताएँ स्वतः दूर हो जायेंगी। अतः परिशुद्ध मन झट से परमात्मा की तरह बन जायेगा, ब्रह्माकार हो जायेगा। अतः आपाततः विरोध है कि अवाङ्मनसगम्य भी कहें और मन को उसे जानने में समर्थ भी कहें, किंतु अशुद्ध मन असमर्थ एवं शुद्ध मन समर्थ है यह अभिप्राय होने से कोई विरोध नहीं है। वाणी का अविषय ब्रह्म इसलिये है कि शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त ब्रह्म में नहीं हैं। संबंध, गुण, क्रिया, जातिइन्हीं को निमित्त बनाकर शब्द प्रवृत्त होता है और इनमें से एक भी ब्रह्म में है नहीं। यदि अन्य प्रमाण से ज्ञेय वस्तु हो तब उसे दिखाकर शब्द-संबंध बताते हैं जिसे रूढि कह देते हैं,पर ब्रह्म यों भी उपलब्ध न होने से 'अमुक देवदत्त है' की तरह 'अमुक ब्रह्म है' यों भी उसे शब्द से नहीं विषय कर सकते। फिर भी वह तात्पर्यतः या लक्षणा वृत्ति से तो समझ आता ही है यह शब्द की अचिन्त्य शक्ति है, महिमा है। मन भी 'ऐसा' 'वैसा' की श्रेणियों में बाँट कर ही चीज़ों को समझता है पर ब्रह्म न 'ऐसा' है न 'वैसा' है अतः मन उसे कैसे समझे! 'ऐसा' अर्थात् इंद्रियगम्य, 'वैसा' अर्थात् परोक्ष; मन इंद्रियगम्य भी नहीं पर साक्षादपरोक्ष होने से परोक्ष भी नहीं! यह पंचकोशविवेकप्रकरण में पंचदशीकारने सुस्पष्ट किया है।।६२।।

मन के अविषय आत्मा को जानने में मन समर्थ है इस विरोध का परिहार करते हैं **मन के कारण ब्रह्म में 'स्फूर्ति' न पैदा होने से ब्रह्म मन से अगम्य है पर क्योंकि जब मन अंतर्मुख होता है तब ब्रह्म की अविद्या नष्ट होती है इसलिये**

न ब्रह्मणि मनोजन्यस्फूर्तिस्तस्मादगम्यता।
मनस्यन्तर्मुखे नश्येदविद्या तेन शक्तता।।६३।।

मन आत्मज्ञान में समर्थ है।।६३।। जड विषय को ज्ञात होने के लिये न केवल अविद्यानिवृत्ति चाहिये वरन् ज्ञान का सम्बन्ध भी चाहिये; इस ज्ञान-संबंध को ही यहाँ स्फूर्ति कहा है किंतु जिस-किसी ज्ञान का जैसा-तैसा संबंध नहीं वरन् अविद्यानिवर्तक वृत्ति से विशेषित ज्ञान का संबंध विवक्षित है। आत्मस्थल में क्योंकि उक्त वृत्ति से विशेषित स्वयं ज्ञान है इसलिये आगे उसके संबंध की संभावना नहीं क्योंकि संबंध भिन्नों में ही हो सकता है। उदाहरण से इसे ऐसे समझाते हैंढके लड्डू को देखना हो तो ढक्कन हटाना पड़ेगा और लड्डू पर रोशनी भी डालनी पड़ेगी लेकिन ढका हुआ दीपक देखना हो तो केवल ढक्कन हटाना पड़ेगा, रोशनी नहीं डालनी पड़ेगी क्योंकि दीपक स्वयं रोशन है। ऐसे ही जड को जानने के लिये आवरण हटाना पड़ता है और ज्ञानसंबंध स्थापित करना पड़ता है पर चेतन को जानने के लिये केवल आवरण हाटाना काफी है। प्रायः हम जड वस्तुओं को ही जानने में लगे रहते हैं इसलिये जहाँ उक्त दोनों कार्य हों, वहीं मनोविषयता समझते हैं। आत्मा में आवरणनिवृत्ति के लिये मनोवृत्ति तो चाहिये पर ज्ञानसंबंध नहीं चाहिये। अतः उक्त दोनों कार्य न होने से आत्मा को अगम्य कहा जाता है किन्तु आवरण मिटना ज़रूरी है और यह मन ही कर सकता है इसलिये यह भी कहा जाता है कि मन आत्मा को जान सकता है। शास्त्रीय भाषा मेंआवरण को मन दूर करता है इसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं तथा स्फूर्ति पैदा करने को फलव्याप्ति कहते हैं। आत्मस्थल में वृत्तिव्याप्ति तो होती है, फलव्याप्ति नहीं होती। अतः ब्रह्म को अज्ञेय एवं ज्ञेय दोनों कहना संगत है, फलव्याप्त न होने से अज्ञेय और वृत्तिव्याप्त होने से ज्ञेय है। क्योंकि स्फूर्ति नहीं चाहिये इसलिये आत्मज्ञान जन्य नहीं हैं केवल अविद्यानिवृत्ति जन्य है। इस दृष्टि से 'ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किन्तु अनात्मबुद्धिनिवृत्तावेव' (१८.५०) आदि गीताभाष्य का आशय स्पष्ट होता है। अविद्या दूर करने की सामर्थ्य मन में लानी पड़ेगी। जैसे कुल्हाड़ी पेड़ काटेगी पर जब धार बनायी जाये तभी, ऐसे ही आवरण दूर करेगा मन पर तभी जब वह अंतर्मुख हो, अनात्ममात्र को न देखते हुए आत्मा को ही देखे। इस प्रकार प्रमाणप्रधान, साधन-प्रधान मनोमय कोश का वर्णन हुआ।।६३।।

अगला कोश बताया है विज्ञानमय। मनोमय को वेदरूप कहा था, वेदार्थविषयक निश्चय को विज्ञान कह रहे हैं। यह भी अंतःकरण का ही धर्म है। श्रुति ने श्रद्धा को

विज्ञानमयः

प्राणात्मवासनानाशे मनसोऽप्यात्मतां त्यजेत्।
कर्तुरात्मत्वमुचितं मनोऽन्तःकरणं खलु।।६४।।

सिर, ऋत-सत्य को दायाँ-बायाँ पक्ष, योग को धड़ और मह को पूँछ बताया है। ऋत से यथार्थ ज्ञान व सत्य से उसकी अभिव्यक्ति समझनी चाहिये। योग अर्थात् समाधान, एकाग्रता। 'मह' से सूत्रात्मा, महत्तत्त्व कहा गया है। यद्यपि प्रकरणग्रंथों में बुद्धि सहित इंद्रियों को विज्ञानमय कहते हैं तथापि यहाँ श्रद्धादिघटित अंतःकरण ही विज्ञानमय समझाना इष्ट है। मनोमय में करणता अधिक स्फुट होती है जबकि विज्ञानमय में कर्तृता। अत एव इसे और भी 'आंतर', प्रत्यक् के निकट बताया है। अहंकार विज्ञानमय में ही स्फुट है। सभी लोग 'मैं' के ही रूप में जिसका प्रायः अनुभव करते हैं वह विज्ञानमय है। विज्ञानमय कभी इदंकारास्पद नहीं होता, 'यह'ऐसा नहीं लगता वरन् 'मैं'ऐसा ही लगता है। मन तो 'यह' भी लगता ही है। विज्ञानमयरूप उपाधि से ही आत्मा कर्त्ता बनता है। यह बात तक्षा या बढ़ई के दृष्टांत से सूत्रकारने (२.३.४०) समझाई है। बृहदारण्यक में इसे 'स समानः सन्' आदि द्वारा कहा है कि विज्ञानमयरूप उपाधि ग्रहण कर आत्मा उस उपाधि के समान हो जाने से उपाधिसंचार से संचरणशील हो जाता है। 'तद्गुणसार'-शब्द से सूत्रकारने (२.३.२६) यह और स्पष्ट किया है। नैयायिकादि जिसे जीवात्मा समझते हैं वह विज्ञानमय ही है। विवेकशील साधक मनआत्मता में स्थिर हो चुकने पर उसे छोड़कर विज्ञानमय में ही सीमित होने की कोशिश करे, इससे बाहरी कोशों से आत्मबुद्धि हटाये, इस तात्पर्य से समझाते हैं **मनआत्मता के अभ्यास से जब 'प्राण आत्मा है' यह वासना मिट जाये तब 'मन आत्मा है' इस भ्रम को भी छोड़ देना चाहिये। मन तो भीतरी करण ही है, आत्मा वह होना उचित है जो कर्ता है।।६४।।** यहाँ प्रक्रिया ही अन्तर्मुख होकर निरुपाधि आत्मवस्तु के दर्शन की बतायी जा रही है। जीव अनेक कंचुकों को पहनकर स्वयं को संसरण करता अनुभव करता है। उन्हीं कंचुकों को, उपाधियों को, क्रमशः अनात्मा निश्चित कर अवशिष्ट तत्त्व ही मैं हूँयह निर्णय करना है। क्रम-निर्धारण का आधार है इदंकारास्पद होना : जिसके बारे में 'यह'ऐसी प्रतीति जितनी ज्यादा सुविधा से हो वह उतना बाहरी कंचुक या कोश समझना चाहिये। भाष्यकार ने अध्यासभाष्य में यही सूत्र दिया है 'युष्मद्-अस्मत्-प्रत्ययगोचरयोः'जो मैं ही समझा जाये वह आत्मा तथा जो गैर-मैं (यह, वह, तू) समझा जा सके वह अनात्मा है। अतः

परीक्षा यही करनी है कि किसे गैर-मैं समझ सकते हैं; जिसे भी समझा जा सके उसे फिर मैं न समझें इसकी पूरी कोशिश करें और यह ढंग तब तक अपनायें जब तक केवल वही बचे जिसे किसी हालत में गैर-मैं नहीं ही समझा जा सकता। इसी रीति से जब मन की अनुभूति पर विचार करते हैं तब समझ आता है कि 'मेरा मन', 'मन नहीं मानता', 'मन लगाकर सुन रहा हूँ', 'मन से समझ आ रहा है भले ही आँखों से स्पष्ट नहीं है' आदि प्रतीतियाँ मन को 'मैं' से पृथक् बताती हैं तथा मन को मैं एक औजार की तरह प्रयोग करता हूँ यह भी स्पष्ट करती हैं। औजार, करण कभी कर्ता नहीं होता यह सामान्य नियम है। अतः मन की अनात्मता को कर्त्ता की आत्मता के सहारे छोड़ना चाहिये। यह याद रखने की बात है कि बिना किसी सहारे के अनात्मा को आत्मा समझना नहीं छूट सकता। बौद्धों की इसी ग़लती से कि बिना सहारे अनात्मा छोड़ा जाये, वे आत्मा से ही हाथ धो बैठे! अतः जैसे अन्नमय के सहारे गौणात्मा को छोड़ा, प्राणमय के सहारे अन्नमय को छोड़ा वैसे ही अब मनोमय को छोड़ने के लिये विज्ञानमय का सहारा लेना पड़ेगा। भले ही वास्तव में आत्मा कर्त्ता नहीं है, कर्तृत्व औपाधिक ही है, पर मन को मैं समझना तभी छूटेगा जब अहंकार को ही मैं समझा जायेगा। कठोपनिषत् में मन को लगाम और बुद्धि को सारथि बताया है; जो मन पर नियंत्रण करता है वही मैं हूँयह भाव दृढ कर मन को मैं समझना, मनोव्यापारों को निज व्यापार समझना छोड़ना चाहिये। वेदरूप मन भी मैं नहीं वरन् वेद से सीखकर मैं जो करता हूँ वह करने वाला मैं हूँ यह भाव स्थिर करना चाहिये। अपना व्यक्तित्व अपनी जानकारियों से निर्धारित नहीं होता वरन् जो हम करते हैं, निश्चयपूर्वक जो हमारी प्रवृत्तियाँ हैं उनसे होता है। यदि हमारा ज्ञान परम विशुद्ध है पर हम करते ग़लत हैं तो यही मानना चाहिये कि हम ग़लत हैं। अतः अपने सुधार, विकास के लिये अपने निश्चय, अपनी चेष्टाएँ बेहतर करना अनिवार्य है। इसीलिये छांदोग्य-सप्तम में भूमतत्त्व तक पहुँचाते हुए सनत्कुमार ने मति (मनोमय) और सुख (आनंदमय) के बीच विज्ञानमय को रखा। निष्ठा से क्रतु (संकल्प) समझें तो स्पष्ट है कि श्रद्धानुरूप निश्चयानुसार कृति ही जीवका प्रमुख व्यावहारिक रूप है। आनंदमय तो कारणकोटि में एवं सुषुप्तिप्रधान होने से जीव के बाह्य व्यवहार में अप्रकट ही रहता है। जीव का जो स्वरूप संसार-व्यवहार में प्रकट होता है वह विज्ञानमय वाला ही है, कर्तृत्व पर ही निर्भर है। छांदोग्य में पुरुष को 'क्रतुमय' (३.१४) और गीता में 'श्रद्धामय' कहकर भी इसी रहस्य को द्योतित किया है। अतः साधक को चाहिये कि मनोमय में आत्मबुद्धि

अहङ्कर्तेत्यदो ज्ञानं विशिष्टं यस्य भासकम्।
तत् कर्तृरूपं विज्ञानम् आत्मत्वेनाऽवगम्यताम्।।६५।।

छोड़कर विज्ञानमय में संकुचित हो जाये क्योंकि वह संकोच आगे परम विकास देगा।।६४।।

करण अर्थात् अन्य-शेष मन को छोड़कर कर्ता अर्थात् स्वतंत्र, शेषी को आत्मा समझने का विधान करते हैं **'मैं कर्ता हूँ' यह विशेषण-युक्त विशेष्य का ज्ञान जिसे विषय करता है वही कर्ता के रूप वाला विज्ञानमय है, उसी को 'मैं' समझना चाहिये।।६५।।** 'मैं कर्ता हूँ' इस अनुभूति में कृतिरूप विशेषण से युक्त आत्मारूप विशेष्य प्रतीत होता है, वह विशिष्ट आत्मा ही विज्ञानमय है। वेदान्त में जब अज्ञात आत्मा से अन्य अज्ञान ही अमान्य है तब अन्य उपाधियाँ आत्मा से स्वतन्त्र कैसे स्वीकारी जा सकती हैं! अतः कृतिविशिष्ट आत्मा को ही उपाधिप्राधान्य से विज्ञानमय कहते हैं। किं च विज्ञानमय उपलब्ध ही 'मैं कर्ता' के रूप में होता है, इसलिये भी इसे कर्तृरूप आत्मा से पृथक् कहना नहीं बनता। श्लोक में ज्ञान को 'भासक' कहा है, पर तात्पर्य विषय करने से ही है क्योंकि 'मैं कर्त्ता' यह अनुभव विज्ञानमय का भासक नहीं है, भासक तो साक्षी ही है। जिसे साधन बनाकर करते हैं उस मन को नहीं वरन् जो करता है उस विज्ञान को ही आत्मा समझना यहाँ अंतर्मुख बनना है। यद्यपि लगता है कि हम स्वयं को कर्ता-भोक्ता समझ ही रहे हैं, इसके ही लिये उपनिषत् क्यों विधान कर ही है? तथापि विचार से समझ आता है कि हम स्वयं को 'सिर्फ' कर्ता-भोक्ता नहीं मानते, साथ में अन्य भी बहुत-कुछ मानते हैं इसलिये उन सब मान्यताओं को छोड़ने के लिये उपनिषत् विधान कर रही है। विज्ञानमय में ही आत्मबुद्धि हो जाने पर मनोनियंत्रण अतिसरल हो जाता है। अभी मन पर हम इसीलिये नियंत्रण नहीं कर पाते कि उसे अपना स्वरूप मानते हैं अतः उस पर नियंत्रण से स्वयं ही परतंत्रता महसूस करते हैं। जब अभ्यास से मन में मैं-बुद्धि छोड़ देते हैं तब क्योंकि उसे अपना स्वरूप नहीं समझते इसलिये विवेकानुसार उस पर नियंत्रण करने से घबराहट महसूस नहीं करते। गौणात्मा हो या शरीरादि मिथ्यात्मा, नियंत्रण की कठोरता के लिये आवश्यक है उसमें तादात्म्य क्षीण होना। बच्चों आदि से भी दृढ तादात्म्य रहे तो उन पर सही शासन नहीं रख सकते, इसके लिये एक हद तक निर्ममता आवश्यक है। तादात्म्य सर्वथा मिट चुकने पर तो पुनः नियंत्रण का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि नियंत्रण उसी का किया जाता है जिससे अपना संबंध हो, लेकिन यदि

अहं क्रियत इत्येषोऽहङ्काराख्यः स विग्रहे।
आनखाग्रमभिव्याप्य स्थितो जागरणे स्फुटः।।६६।।
तेन चेतनवद् देहो भाति सुप्तौ तु तल्लयात्।
भवेत् काष्ठसमो देहस्तेनाऽहङ्कार आत्मता।।६७।।

सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो जाये कि उसे हम मैं ही समझने लगें, तो भी नियंत्रण संभव नहीं रहता। अतः भेदाभेद की स्थिति में ही नियन्त्रण हो पाता है और भेदांशकी अधिकता के अनुसार ही नियंत्रण की दृढता, कठोरता संभव होती है। विज्ञानमय को आत्मा समझने का जहाँ एक फल अपनी श्रद्धा, निष्ठा, कृति को सुधारना है वहीं दूसरा फल मन पर कठोर शासन है। साधक के लिए ये दोनों कदम आवश्यक हैं अन्यथा उपाधि की अनात्मता के भरोसे यदि वह उपाधियों को बिगड़ने देगा तो परम पुरुषार्थ से वंचित तो होगा ही, संसार में भी कष्टमय स्थिति प्राप्त करेगा। उपाधियाँ अनात्मा हैं इसलिये नियंत्रणपूर्वक आत्मोन्नति के लिये विनियोग के योग्य हैं, न कि उपेक्षापूर्वक बिगड़ने देने के योग्य। मनोमय का उपसंक्रमणकर साधक कर्ता बनता है अर्थात् उसकी कृति की प्रधानता बढ़ती है। मनोमयदशा में वेद से जो सीखा उसे अब जीवन में उतारता है। ज्ञान जितना आवश्यक है उससे ज्यादा ज़रूरी उसे जीवन में लाना है। जो हमारे जीवन में न घट सके वह ज्ञान निर्जीव सूचना ही रह जाता है और यदि उसका जीवन्त रूप उपलब्ध ही न हो तो वह ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। अनेक प्राचीन विद्याओं का विनाश इसी लिये हुआ कि हमने उन्हें जीवन में लाना छोड़ा। ऐसी विद्याओं की जानकारी भले ही रही, ग्रंथ भी बच गये, लेकिन उनका स्वरूप समझ से परे होता गया और धीरे-धीरे उनकी स्मृति भी धूमिल हो गयी। अध्यात्म साधनाओं को भी यदि प्रयोग में न रखा गया तो उनका भी ऐसा ही हश्र बचाया नहीं जा सकता। साधक विज्ञानमय के स्तर पर पहुँचकर सभी संभव साधनाओं को दृढता से करे, प्रयासशील बने यह यहाँ अभिप्रेत है।।६५।।

विज्ञानमय की उपलब्धि स्पष्ट करते हैं **जो 'मैं' नहीं उसे भी 'मैं' बना देता है इसलिये विज्ञानमय 'अहंकार' कहलाता है। यह शरीर में नाखून की नोक तक फैलकर रहता है तथा जाग्रत् अवस्था में इसका स्पष्ट भान होता है।।६६।। इसी से व्याप्त होने के कारण देह चेतना वाला प्रतीत होता है तथा सुषुप्ति में विज्ञानमय के विलीन हो जाने पर शरीर लकड़ी की तरह चेतनाशून्य हो जाता है। अतः अहंकार में आत्मस्वरूपता स्वीकारना संगत है।।६७।। 'मेरा**

मदीयं मन इत्युक्तेरात्मनः करणं मनः।
इत्यात्मानं विविच्याऽथ तमुपासीत पक्षिवत्।।६८।।

मन' इत्यादि व्यवहार से पता चलता है कि मन तो आत्मा द्वारा प्रयोग में लाया जाने वाला एक औजार है, वह आत्मा हो यह संभव नहीं है वरन् उसे प्रयोग में लाने वाला कर्ता, विज्ञानमय आत्मा है। इस प्रकार मनोमय से पृथक् कर आत्मा समझ लिया जाये तब उस विज्ञानमयरूप आत्मा को पक्षी की तरह मानकर 'वही मैं हूँ' ऐसी उपासना करनी चाहिये।।६८।। मैंयों जिसका भान हो तथा जो जहाँ भी संबद्ध हो वहाँ मैंऐसा भान कराये उसे अहंकार कहते हैं। 'अहं' संस्कृत में 'मैं' को कहते हैं तथा 'करने वाले' को 'कार' कहते हैं। जैसे कथा करने वाले को कथा-कार कहते हैं। स्वयं भी मैं-मैं रूप से स्फुरता है तथा अन्य की भी मैं रूप से स्फुरणा करा देता है इसलिये विज्ञानमय का उक्त नाम सार्थक है। अन्तःकरण दीपज्योति की तरह पसर जाता है अतः सारे शरीर में फैला रहता है तभी शरीर मैं लगता है। यहाँ शरीर से अन्नमयपर्यंत समझना चाहिये, उसमें भी नाखून के कोने तक इसलिये कहा कि वहाँ तक हमें 'मैं' लगता है। उससे बाहर शरीर का आलोकमय आवरण भी माना गया है किन्तु उसे हम मैं नहीं समझते अतः वहाँ विज्ञानमय को भी नहीं कहा। अंतःकरण तो घटादि बाहर के स्थान तक भी जाता है पर वहाँ मैं-बुद्धि न होने से यही मान्य है कि अंतःकरण की अहंकार-वृत्ति (विज्ञानमय) शरीर-पर्यंत ही रहती है, इससे बाहर साधारणतः नहीं जाती। खास उपासकों या योगियों को शरीर से बाहर भी कहीं मैं-अनुभूति होती है तो उनके विज्ञानमय की वहाँ भी व्याप्ति मानी जा सकती है। यहाँ नखाग्र तक सामान्य लोगों की दृष्टि से बताया है। जैसे तेल चुपड़ने से लकड़ी भी चमकने लगती है वैसे विज्ञानमय का संबंध होने से शरीर भी भीतर-बाहर मैं-रूप से चमकने अर्थात् प्रतीत होने लगता है। क्योंकि जाग्रत् में ही विज्ञानमय अप्रतिबद्धरूप से कार्यकारी है इसीलिये तभी इसकी स्पष्ट उपलब्धि है। स्वप्न में यह कार्यकारी तो है पर प्रतिबद्ध होने के कारण स्वाप्न देहादि में तो इसकी उपलब्धि रहती है, स्थूल शरीर में यह स्वप्नदशा में स्पष्ट नहीं रहता, कोई विशेष उत्तेजक आये तो प्रकट हो जाता है। सुषुप्ति में तो विज्ञानमय लीन हो चुकता है, कार्यकारी ही नहीं रहता अतः न तब इसकी मैंरूप से अनुभूति होती है न इसके कारण होने वाली शरीरादि में मैं-अनुभूति होती है।

जाग्रत् में शरीर को चेतनावान् बनाने से ही अहंकार का स्फुट भान होता है। इसी

को भाष्यकार ने कहा है 'तस्याम् अभिव्यक्ता अन्तःकरणवृत्तिः, तप्त इव लोहपिण्डेऽग्निः, आत्मचैतन्याभासरसविद्धा चेतना' (गीता.१३.६); लोहे का गोला तपा हो तो उसमें जैसे आग को प्रकट स्वीकारा जाता है वैसे देहेन्द्रियादि के संघात में अंतःकरण की अहंवृत्ति को प्रकट स्वीकारना पड़ता है। लोहपिंड में प्रकट होकर आग यही करती है कि यह प्रतीत हो कि लोहा आग है। लोहा गर्म हैयह लगता है जबकि लोहा नहीं वरन् उसमें जो आग वह गर्म है। अतः लोहे को आग मानकर ही 'लोहा गर्म है' इसे हम प्रमा मानते रहते हैं! ऐसे ही आत्मा का स्वरूपभूत चैतन्य बुद्धि की अहंवृत्ति में प्रकट होकर प्रतीत कराता है कि वह आत्मा है और वह वृत्ति शरीर से ऐसी लिपट जाती है कि लगने लगता है कि शरीर आत्मा है! आत्मा के आभास से युक्त अहंवृत्ति ही चेतना है और इसके संबंध से शरीर चेतनावाला हो जाता है। शरीर में प्राण रहते वह 'चेतन' है पर 'चेतना' वाला तभी है जब उसमें अहंकार प्रकट है। यह जाग्रत् में ही होता है। वृत्ति-शरीर का संयोग संबंध होता है तथा आत्मा का वृत्ति से और तद्द्वारा शरीर से तादात्म्य संबंध होता है। अतः जाग्रत् में भी देह के किसी अंश से वृत्तिसंयोग न होने पर या होते हुए भी प्रतिबंधकवश उस अंश में चेतना न रहे यह संगत है। क्योंकि विज्ञानमय अनात्मभूत शरीर को भी आत्मरूप से प्रतीत कराने में विशेष योगदान देता है इसलिये विज्ञानमय को आत्मा समझना बुद्धिसंगत है जैसे फीके बेसन को भी मीठा बनाने वाले गुड़ को मीठा मानना संगत है। सामान्यतः प्राणवान् की तरह चेतनावान् को ही आत्मा स्वीकारा जाता है अतः प्राण या चेतना की आत्मरूपता स्वतः सिद्ध है। इनमें प्राण का विवेक पूर्व में कर चुके हैं, अतः अभी केवल चेतना (प्रज्ञा) की आत्मरूपता की चर्चा चल रही है। इससे पूर्व प्राण की अनात्मता को मनआत्मता के सहारे सिद्ध किया था।

मन भी अनात्मा है यह समझे बिना विज्ञानमय की आत्मता पर स्थिर नहीं हुआ जा सकता। मन इदमास्पद है, 'मेरा मन' यह सार्वजनिक अनुभूति है। यद्यपि 'मेरा अहंकार' भी कहते हैं तथापि वहाँ अहंकार से पृथक् जो मैं कहा जा रहा है वह अविवेकी के लिये तिरोहित है क्योंकि साक्षी को मैं मानकर ही अहंकार मेरा कहा जा सकता है। मन को मेरा कहते समय जिसे मैं मानते हैं वह अहंकार है और वह सभी के लिये स्पष्ट प्रकट है, साक्षी की तरह छिपी वस्तु नहीं है। अतः मन को अपने से पृथक् तथा 'मन लगाना, मन हटाना' आदि तरह से उसे एक उपकरण के रूप में समझना कठिन नहीं है। वेदात्मक मन तो प्रायः सभी को 'मैं' से पृथक् लगता ही है

श्रद्धाद्याः पञ्च तत्रस्थाः कल्प्या मूर्द्धादिरूपतः।
श्रद्धाऽऽस्तिक्यम् ऋतं बुद्धौ यथावस्त्वनुचिन्तनम्।।६९।।
यथार्थभाषणं सत्यं योग एकाग्रता धियः।
महस्तु योगजं ज्ञानं चिन्त्याः श्रद्धादयोऽखिलाः।।७०।।

आहार पर निर्भर करने वाला, नशे आदि से विकृत या निश्चेष्ट होने वाला, सुषुप्ति में लुप्त होने वाला, चंचल, अनियंत्रणीय, अपनी कुचेष्टाओं से 'मुझे' दुःखी करने वाला, हितप्रयासों से उचाट होने वाला मन मैं नहींयह समझना ज्यादा मुश्किल नहीं है। 'जो मेरा (मैं का) है वह मैं नहीं'यह सामान्य नियम लागू करते जाने से आत्मशोधनसिद्ध हो जाता है। साधक का कर्तव्य इस बारे में सावधानी रखना है कि किसे वह मेरा समझ सकता है और किसी भी तरह जिसे मेरा समझे उसके बारे में मैं-बुद्धि न बनने दे, पूर्वाग्रहवश बने तो मेरापन याद कर मैंपने को काटे। आत्मविवेक के क्रम में 'मन आत्मा है' तक पहुँचा साधक उसको लाँघे व विज्ञानमय आत्मा है यह समझ ले। यदि मनोमय-विज्ञानमय को अंतःकरण की विभिन्न वृत्तियाँ ही मानें तो भी अहंकारात्मक वृत्तिरूप उपाधि वाले स्वरूप में ही मैं-बुद्धि रखे। वार्तिककार ने तो मनोमय को वृत्तिप्रधान और विज्ञानमय को वृत्तिवाला कहकर भेद किया है

'वृत्तिप्रधानो वेदात्मा, वृत्तिमान् स्याद् अथोत्तरः।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः वृत्तिमान् इत्युदीर्यते।।' (तै.वा.)

तात्पर्य है कि जिसे मन अपना लगता है वही विज्ञानमय है अतः इसी को मैं समझना पड़ेगा। संस्कारदाढ्र्य के लिये समझने के बाद उपासना भी कर लेना कल्याणकारी होता है।।६६-८।।

विज्ञानमय के अंग समझाते हैं **विज्ञानमय में विद्यमान श्रद्धा आदि पाँच की पक्षी के मूर्द्धा आदि रूप से कल्पनाकर ध्यान कर्तव्य है। श्रद्धा का अर्थ है आस्तिकता। बुद्धि में वस्तु का वैसा विचार करना जैसी सचमुच वह है, ऋत कहलाता है।।६९।। जैसा पदार्थ है वैसा उसे वाणी से प्रकट करने को सत्य कहते हैं। बुद्धि की एकाग्रताका का नाम योग है। योग से उत्पन्न ज्ञान महः है। श्रद्धादि सब का सिर आदि रूप से चिन्तनकर 'मैं विज्ञानमय ही हूँ' यह संस्कार दृढ कर लेना चाहिये।।७०।।** उपनिषत् में सभी कोश 'पुरुषविध' कहे गये हैं किन्तु ग्रंथकार ने प्रारंभ से ही पक्षी के आकार के अनुरूप अंगवर्णन किया है। तैत्तिरीयभाष्य की आनंदगिरिटीका में भी अन्नमय के स्थल में स्पष्ट कहा है

'पक्षपुच्छशब्दप्रयोगात् सुपर्णाकारक्लृप्तिं दर्शयति।' विचार के रास्ते वाले के लिये तो इससे कोई अंतर नहीं आता क्योंकि स्वयं को तत्तत् कोश से अतिरिक्त न समझना ही तात्पर्य है पर उपासना करने वाले के लिये यह स्मरण रखना ज़रूरी है। यहाँ कहे सभी ध्यान अहंग्रह से होंगे यह तो स्फुट ही है। श्रद्धा का अर्थ आस्तिकता किया जाता है। परलोक है ऐसे निश्चय वाले को आस्तिक कहते हैं। अतः आस्तिक को देवतादि पारलौकिक व्यक्तियों व वस्तुओं के बारे में 'वे हैं' यही निश्चय रहता है और वह अवश्य नरकों से बचने के लिये पापों से दूर रहकर स्वर्ग जाने के लिये उन कर्मों में अवश्य प्रवृत्ति करता है जिनका फल परजन्म में ही संभव है। परलोक के बारे में केवल 'है' ही नहीं, आदर व प्रेम भी हो तभी वस्तुतः श्रद्धा कही जाती है। श्रद्धा प्रेरकभावना है, वह यज्ञ-दानादि करने में प्रवृत्त करती है। शुभ कर्मों को करने का उत्साह श्रद्धा से ही प्राप्त होता है, धर्म-मोक्ष पुरुषार्थों के साधनों का प्रयोग तभी संभव है जब श्रद्धा हो। श्रद्धा सात्त्विक वृत्ति है अतः यह चित्त को प्रशान्त रखती है, प्रसन्न रखती है। अत एव यह विचार-पक्षीय है, ज्ञान से पुष्ट होती है न कि ढिठायी-रूप, ज़िद या हठ। भाष्यकार ने इसे कर्तव्यों में प्रथम कहा है अर्थात् साधक सबसे पूर्व स्वयं में श्रद्धा उपजायेजैसा माध्यंदिन-बृहदारण्यक में 'श्रद्धावित्त' बनने के लिये कहा हैऔर फिर इसीसे प्रेरित होकर कर्तव्य-निर्वाह करे। कर्तव्य करने से कोई स्थूल फललाभ नहीं होता, दायित्व निभाने का संतोष ही होता है अतः कर्तव्यपरायण वही हो सकता है जो श्रद्धालु हो; इलहोक से परे कुछ हैऐसा न मानने वाला कर्तव्यों से नहीं बाँधा जा सकता, वह या तो दृष्ट लाभों से प्रलोभित होकर करेगा, अन्यथा दण्ड के भय से। समाज में यह अंतर प्रत्यक्ष हो ही रहा है; जब तक श्रद्धालु प्रधान थे तब तक स्वतः कर्तव्य-पूर्ति के लिये उत्साहित रहते थे एवं आज परलोक में शंकालु प्रधान हैं तो धन-बलादि के अर्जन के लिये ही पूर्ण उत्कण्ठा से प्रयासशील रहते हैं, किसी भी प्रकार के कर्तव्य का निर्वाह अनावश्यक मानते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि न केवल पारलौकिक वरन् इहलोक में भी वास्तविक उन्नति के लिये श्रद्धा चाहिये। सर्वज्ञ शंकर ने इसीलिये मुंडक व्याख्या में (२.१.६) 'यत्पूर्वकः सर्वपुरुषार्थ-साधनप्रयोगः' यों 'सभी' पुरुषार्थों को संपन्न कराने वाली को श्रद्धा कहा है। इस महती प्रधानता से इसे सिर समझना सर्वथा उपयुक्त है। सत्य को धारण करना श्रद्धा की महत्ता है यह इस प्रसंग में वार्तिककार ने बताया है।

ऋत-शब्द का अर्थ तैत्तिरीयोपनिषत् के प्रारंभ में भाष्यकार ने बताया है 'ऋतंयथाशास्त्रं

यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितम् अर्थम्'; शास्त्रानुसारी एवं करने योग्य, जीवन में लाने योग्य तथा हर तरह से सोच-समझकर निर्णीत बात को ऋत कहते हैं। क्योंकि इसमें जीवन में उतारने का महत्व है इसलिए सायणाचार्य व्यावहारिक सत्य को ऋत बताते हैं क्योंकि पारमार्थिक सत्य व्यवहार से अतीत होता है। विषयानुसारी उसका प्रमाणाधारित चिंतन यहाँ ऋत कहा है। प्रायः व्यक्ति अपने संस्कारों व भावों से रंजित विचार का विषय पर आरोप कर देता है फिर तदनुरूप प्रभाव न मिलने से स्वयं को ठगा महसूस करता है! ग़लती यही है कि हम ऋत के बारे में असावधान रह जाते हैं। सत्य हमारे भरोसे नहीं है, हमें ही उस पर भरोसा करना पड़ता है। हम जैसा चाहते हैं, समझते हैं, वैसा सत्य हो यह बिलकुल ज़रूरी नहीं है। जैसा सत्य है वैसा उसे समझें और क्योंकि वह एक अनिवार्यता है इसलिये दुःखी न होने के लिये कोशिश कर उसे ही चाहें, यह हमारा कार्य है। लौकिक-पारलौकिक आध्यात्मिक सभी स्तरों पर उन्नति का आधार ऋत ही बनेगा। अविवेक, यथार्थ को न पहचानना किसी हालत में कल्याण-हेतु नहीं बन सकता। धर्म के बारे में यह सावधानी और भी ज़रूरी है। धर्म ऐसे कार्यकारणभाव को कहते हैं जो हमारी लौकिक बुद्धि से परे है। अतः इसके लिये शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। जैसे रूप में अकेली आँख प्रमाण है, यदि चाहें कि कान-नाक से रूप पहचानें तो असंभव है, वैसे ही धर्म का ज्ञान शास्त्र से ही होता है, उसे छोड़कर, और कोई उपाय धर्म को नहीं बतायेगा। साधारण से सत्य, अस्तेय आदि धर्म भी शास्त्रनिरपेक्ष किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होते तथा प्रत्यक्ष तो धर्म का हमें होता ही नहीं। अतः धर्म के बारे में अर्द्धजरतीय लागू करना मूर्खता है : वेद पढ़ना पुण्य हैयह मानने में क्या हेतु है? यही कहना पड़ेगा कि वेदादि में उसे पुण्य कहा है इसलिये ऐसा मानते हैं। अगर वेदोक्त होने से उसे पुण्य मानते हो तो कौन वेद पढ़े, कौन न पढ़ेयह भी वेदादि में बताया है, इस अधिकार-व्यवस्था को भी मानना चाहिये। अर्द्धजरतीय लागू करने वाले यही मूर्खता करते हैं कि वेद पढ़ने से पुण्य तो वेदोक्त होन से मान लेते हैं पर उसके अधिकारादि नियमों में मन-मानी करते हैं। फल यह होता है कि ग़लत लोग व ग़लत ढंग से कार्य करते हैं तो पुण्य की जगह पाप ही हो जाता है तथा जब एक बार शास्त्र की बात मनमाने तर्क से काटना शुरू होता है तब सारा ही शास्त्र अमान्य हो जाता है अर्थात् यदि अधिकार के विषय में वेद की बात नहीं माननी है तो वेद पढ़ने से पुण्य होगा यह भी मानना समाप्त हो जाता है। जैसे दवा लाभकारी मानो तो उसके सेवन के नियम भी मानने पड़ेंगे अन्यथा वह

हानिकारक हो जायेगी उसी प्रकार शास्त्र को सर्वांश में स्वीकारने से ही हित होगा अन्यथा अहित नहीं रोका जा सकता। ऋत को सु-परि-निश्चित कहकर भाष्यकार ने विचार की पूरी आवश्यकता स्वीकारी है अतः धर्म को भी विचारपूर्वक माना जाये यह उचित है। अर्द्धजरतीय तो अविचार है, ऐसे प्रयास बुद्धिमान् नहीं करते। धर्म में वेद को प्रमाण मानने के लिये विचार ज़रूर करना चाहिये और मनोमय-प्रसंग में इस पर विचार कर भी चुके हैं, पर श्रद्धापूर्वक ऋत तक पहुँचे बिना सत्यरूप इसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। वेद अपौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण है, पौरुषेय वाक्य पुरुषाप्तता के भरोसे प्रमाण हैं और उन पुरुषों को आप्त मानने का कोई सर्वसम्मत, तर्कसम्मत आधार है नहीं। और निराधार ही भरोसा करें तो इतने ज़्यादा पुरुष स्वयं को धर्मद्रष्टा घोषित करते हैं कि यह निर्णय कैसे हो कि कौन भरोसे लायक है? अतः पौरुषेय वाक्यों को धर्म में स्वतः प्रमाण मानना तर्क से विरुद्ध और अव्यावहारिक है। पौरुषेय वाक्य देशकाल में सीमित हैं, अतः भी वे अमान्य हैं; दो हज़ार साल पूर्व हुए ईसा से पहले क्या धर्म में कोई प्रमाण था ही नहीं और था तो क्या अब वह प्रमाण नहीं रह गया? ऐसे ही, मुहम्मद को कुरान समझ आने से पूर्व विश्व में धर्म था ही नहीं यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। अतः अनादिसिद्ध वेद को ही धर्म में प्रमाण स्वीकारना हर तरह से उचित है। वेदानुसार ब्रह्म व धर्मवस्तु का निर्णय यहाँ ऋत समझना चाहिये। 'अनुचिंतन' कहकर द्योतित किया कि ऋत को सतत बुद्धि में उपस्थित रखना चाहिये तभी आगे सत्य के रूप में वह जीवन में उतरेगा। यदि ऋत समझकर उसे भुला दिया तो व्यवहार के मौके पर असत्य से बचना संभव नहीं।

सत्य का अर्थ है जैसी वस्तु है उसे वैसा समझकर इस ढंग से व्यक्त करना कि उसका सही ज्ञान हो और व्यक्त करने की प्रक्रिया किसी को पीडित करने के उद्देश्य से न होकर हित साधने के ही उद्देश्य से हो। अभिव्यक्ति का प्रधान उपाय वाणी होने से प्रायः भाषण को ही सत्य समझा जाता है किंतु तात्पर्य हर तरह की अभिव्यक्ति से है। मनोमयरूप प्रमाण से श्रद्धापूर्ण जो ऋतरूप निश्चय है उसे अभिव्यक्त करना सत्य है। अर्थात् छांदोग्यसप्तम में कही कृति को यहाँ सत्य कहा है। कर्तृरूप विज्ञानमय का यही वामांग, सबसे सुन्दर पक्ष है। सत्य (अभिव्यक्ति) के बिना ऋत निष्फल ही रह जाता है जैसे वामा के अभाव में संतान रूप फल नहीं होता। उपनिषदादि में सत्य को अत्यंत प्रधान साधन बताया है। वैदिक धर्म की सबसे महत्त्वपूर्ण पहचान सत्य ही है। अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिये सत्त्य पर दृढ रहना अनिवार्य है अन्यथा मोक्ष की

संभावना नहीं है। वैराग्य, पदार्थशोधन आदि सभी की आधारशिला सत्य है। असत्य होने से ही विषय हेय हैं, उपाधियाँ बाध्य हैं। क्योंकि ब्रह्म सत्य है इसलिये वह सत्य को ही सहन करे, असत्य को नहीं, यह उचित ही है। विज्ञानमय का धड़ योग बताया है। भाष्यकार ने योग का अर्थ किया है 'युक्तिः, समाधानम्' । युक्ति अर्थात् प्रमाणमिश्रित विचार को विज्ञानमय का प्रधान हिस्सा मानना संगत ही है। विज्ञान अर्थात् बुद्धि विचार-प्रधान, निश्चय रूप होती ही है। विचारशील कर्ता ही श्रद्धादि को सार्थक बना पाता है। युक्ति का सहारा न लेने वाला प्रायः धर्महानि ही करता है। समाधान या समाधि का अर्थ है बुद्धि की एकाग्रता। यद्यपि चित्तवृत्ति के निरोध को समाधि कहा जाता है तथापि 'समाहितो भूत्वा' (बृ.४.४.२३) के भाष्य में आचार्य ने 'इन्द्रियान्तः-करणचलनरूपाद् व्यावृत्त्य ऐकाग्र्यरूपेण समाहितो भूत्वा' व्याख्या की है अतः प्रकृत ग्रंथकार ने बुद्धि की एकाग्रता को समाधानरूप योग माना है। निश्चय एकरूप ही हो सकता है, भगवान् ने इसीलिये अव्यवसायी अर्थात् अनिश्चय वालों को ही बहुत तरफ फैले ज्ञान वाला कहा है, अतः विज्ञानमय का शरीर एकाग्रता होना उचित ही है। कर्ता वही सफल होता है जो एकाग्र हो। लौकिक-अलौकिक किसी भी क्षेत्र में सही ज्ञान पाकर तदनुसार चेष्टारत होने के लिये आवश्यक है कि एक ही प्रधान ध्येय सामने हो, उससे विरुद्ध दिशाओं में मन न भटके। एकाग्रता को परम तप माना गया है। पूँछ रूप से कहा महः योगज ज्ञान है। भाष्य में स्पष्टीकरण है कि महः अर्थात् महत्तत्व, जिसे वेदान्त में हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा नामों से ज्यादा समझा जाता है। अन्यत्र श्रुति ने उसे प्रथमज बताया है। सायणभाष्य में भी अव्याकृत के प्रथम कार्य हिरण्यगर्भ को ही यहाँ महः माना है। अतः यहाँ योगज का अर्थ है कि पूर्वकल्प में अनुष्ठित हिरण्यगर्भभाव-फलक उपासना के प्रभाव से उत्पन्न जो ज्ञान अर्थात् समष्टि ज्ञानशक्ति वाला हिरण्यगर्भ। उसे यहाँ प्रतिष्ठा इसलिये कहा कि वह कारण है, कार्य की प्रतिष्ठा कारण ही होती है। अथवा 'सर्वव्यापक हिरण्यगर्भ का एक हिस्सा मेरी बुद्धि है' ऐसा योग-जन्य, ध्यानजन्य ज्ञान अर्थात् प्रतीति यहाँ महः शब्द से कही गयी समझनी चाहिये। यदि 'महः प्रथमजं ज्ञानं' पाठ मिले तो सरलता से समझना संभव है। 'विज्ञानमय मैं हूँ' यह अनुसंधान करते हुए स्वयं को समष्टि पर आश्रित स्वीकारना आवश्यक है। यही निरभिमान होने का उपाय है। जीव कर्ता है पर वह किसी कार्य को कर पाता तभी है जब उसे समष्टि का सहयोग मिलता है अतः उसका कर्तृत्व समष्टि के सहारे ही है। यह भूलने पर ही 'मैं कर्त्ता हूँ' के अभिमान में जीव फँसता

लौकिके वैदिके कर्तृ विज्ञानं ब्रह्म वेत्ति चेत्।
त्यजेदामरणं नो चेद् ब्रह्मलोके सुखं व्रजेत्।।७१।।

है और रुकावटों से दुःखी होता है। समष्टि का स्वयं को अंग मानकर कर्त्ता रहने वाला अत एव सात्त्विक कर्त्ता बन पाता है जिसकी भगवान् ने विशेषतायें कही हैंवह आसक्ति छोड़े रहता है, 'मैंने ही किया है, जैसा चाहूँ वैसा मैं ही कर सकता हूँ, मुझ से अन्य करने में अक्षम हैं' आदि तरह से स्वयं को ही महत्त्वपूर्ण नहीं मानता, धैर्यवान् एवं उद्यमी होता है तथा जो करे उसका फल संपन्न हो या न हो इससे हर्ष-विषाद आदि विकारों वाला नहीं होता वरन् अपने कर्तव्य की सम्यक् पूर्ति से सन्तुष्ट रहता है। ऐसा श्रेष्ठ कर्ता तभी होगा जब उसे स्मरण रहे कि वह हिरण्यगर्भ पर आश्रित है और संसार संचालन में उसका एक सीमित ही दायित्व है।

विचार से स्वयं को मनोमय से परे जानकर अपनी विज्ञानमयरूपता के संस्कार पुष्ट करने के लिये श्रद्धादि अंगों वाले कोश की अहंग्रहोपासना करना लाभकारी है। श्रद्धा आदि को 'अखिल' इसलिये कहा कि ये सभी निरंश, पूर्ण वस्तुएँ हैं। श्रद्धा, ऋत, सत्य एकाग्रतायह भले ही परिच्छिन्न हैं लेकिन इनके कोई हिस्से नहीं हैं, ये अस्थूल भावनात्मक पदार्थ होने से हर जीव में जितने हैं उतने ही 'पूरे' हैं क्योंकि इन्हें परिमाण में नहीं नापा जा सकता। श्रद्धादि में किसी एक-दो का चिंतन पर्याप्त नहीं, सभी का विचार करना चाहिये तथा अन्य कोशों का भी पाँचों अंगों से युक्त चिन्तन करना चाहिये यह 'अखिल' कहने का तात्पर्य है।।६८-७०।।

विज्ञानमय के बारे में उपनिषत् ने श्लोक बताया है कि शास्त्रीय और लौकिक कर्म करने वाला विज्ञान है, सभी देवता उसी की ज्येष्ठ ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं। विज्ञानोपाधिक ब्रह्म को समझकर सावधानी से जो उसी में आत्मबुद्धि रखता है वह शरीर रहते ही निष्पाप होकर ब्रह्मलोक पहुँचता है व उसकी सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। इसे समझाते हैं **लौकिक और वैदिक कार्यों के कर्ता विज्ञान को यदि ब्रह्म समझ ले और यदि मरणपर्यन्त इस जानकारी को दृष्टि से ओझल न होने दे तो ब्रह्मलोक में सुख पाता है।।७१।।** आत्मा जिस उपाधि से कर्ता बनता है उसी को विज्ञानमय कहा अतः ऐहिक आमुष्मिक सभी कर्म करने वाला विज्ञानमय निश्चित होता है, भ्रमवश ही उसके साक्षी पर कर्तृत्व का आरोप हो जाता है। इसलिये आत्मा में प्रतीयमान कर्तृत्व को विज्ञानमय में समझकर स्वयं के अकर्तृत्व के प्रति जागरूक रहना इस पर्याय का उपयोग है। विज्ञानमय में आत्मबुद्धि करना इसी स्थिति

में पहुँचने के लिये उठाया कदम है, ख़ुद को कर्ता मान बैठा जाये यह अभिप्राय नहीं है।

इन्द्रादि सभी देवता हिरण्यगर्भ के अंश हैं अतः अपने शेषी उसी हिरण्यगर्भ के लिये कार्यरत रहकर उसकी उपासना करते हैं। हिरण्यगर्भ प्रथम शरीरी होने से ज्येष्ठ और सर्वव्यापक होने से ब्रह्म है। वही सब कार्यों के प्रति मुख्य कर्ता है, अन्तःकरणोपाधिक प्रमाता तो उसके उपकरणमात्र हैं जैसे सरकारी अधिकारी राजा के उपकरण होते हैं। देवता अपने अध्यात्म विज्ञानमय को अधिदैव विज्ञान से, हिरण्यगर्भ से एक समझ कर इस तथ्य को कभी भूलते नहीं अत एव स्वर्ग में आनंद पाते हैं। यद्यपि पूर्वमीमांसा में देवताओं को सशरीर प्राणी नहीं माना गया है अतः न उन्हें हवि का उपभोक्ता स्वीकारते हैं और न यही कि वे ऐश्वर्यवान् होने से प्रसन्न होकर फल देते हैं, तथापि वेदान्तसिद्धांत में मन्त्र अर्थवाद आदि के आधार पर देवता सशरीर प्राणी स्वीकारे गये हैं। बादरायणाचार्य ने समझाया है कि वेद में जो कहा है वह यदि किसी प्रमाण से विरुद्ध नहीं है तो जैसा कहा वैसा उसे मानना जरूरी है। यदि प्रयोजनवश भी कुछ बताया जाता है तो प्रयोजन में तात्पर्य होने से जो बताया है उसे गलत मानकर नहीं चल सकते। देवताओं के वर्णन का प्रयोजन यह भले ही हो कि अधिकारी मनुष्य अपने कर्तव्यों का उत्साह से पालन करे, पर इसका यह मतलब नहीं कि देवता होते ही नहीं! अतः शरीरधारी होने से देवता उपासना कर सकते हैं जैसा यहाँ उपनिषत् में कहा है 'विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठम् उपासते।' अध्यात्म में इद्रियों को देवता बताया जाता है, वे सब विज्ञानमय की सेवा में रत हैं यह स्पष्ट ही है।

उपासक को कोशिशकर यह भावना बनाये रखनी है कि 'पूर्ववर्णित विज्ञानरूप ब्रह्म ही मैं हूँ'। इसमें वह प्रमाद न करे अर्थात् स्वयं को मनुष्य, सुखी दुःखी आदि न मान बैठे, इन धर्मों को कोश-पक्षपाती ही जाने। आजीवन यह उपासना करने का फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति है जहाँ सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं और ब्रह्मा के मोक्ष के साथ ही तत्त्वज्ञानपूर्वक कैवल्य-लाभ हो जाता है। सगुण ब्रह्म का उपासक निष्पाप होकर ही प्रयाण करता है यह शास्त्र में स्थापित है। इन प्रसंगों में पाप से पुण्य भी समझने चाहिये। कौषीतकि में (१.४) स्पष्ट ही 'सुकृतदुष्कृते विधूनुते' कहा है। यद्यपि ब्रह्मलोक जाने के लिये पुण्यातिशय चाहिये तथापि केवल उसी उपयोग वाले पुण्यों की ज़रूरत होने से अन्य फल देने वाले पुण्यों का यहीं छूट जाना ही उचित है। उपासक के सेवकों को वे पुण्य प्रसादस्वरूप प्राप्त हो जाते हैं और उसे परेशान करने वालों को दण्डस्वरूप उसके पाप प्राप्त होते हैं यह समझ लेना चाहिये। भाष्यकार ने समझाया

विज्ञानध्यानतो नश्येद् मनस्यात्मत्ववासना।
विज्ञानात्मत्वमप्येष त्यजेच्छोकयुतत्वतः।।७२।।

है कि सभी पापों का निमित्त है शरीर में अभिमान अतः उपासक ने जब विज्ञानमय ब्रह्म में आत्मबुद्धि से शरीराभिमान छोड़ दिया तब निमित्त न रहने पर नैमित्तिक पाप भी हट जायें यह संगत है।

ब्रह्मलोक पहुँचकर उपासक को सुख होता है क्योंकि उसकी सारी कामनायें पूरी हो जाती हैं। श्रुति ने यहाँ 'सर्वान् कामान्' कहकर बताया कि विषय भोगकर उसकी इच्छा मिटती हो यह नहीं समझना चाहिये क्योंकि तब 'सब' कामनाएँ नहीं पूरी होंगी वरन् तत्तत् कामना ही पूरी होगी। अतः भाष्य में कहा कि विज्ञानमय-आत्मरूप से ही उपासक को सर्वकाम-प्राप्ति होती है अर्थात् जो भी प्राप्य फल हैं उनके कारणरूप हिरण्यगर्भ से एक हो जाने से कार्यरूप सभी फल उपलब्ध हो जाते हैं। परिच्छिन्न चाहने वाला यहाँ अधिकारी ही नहीं; अपरिच्छिन्न को पाकर क्योंकि जानता है कि सब परिच्छिन्न इसी में समाये हुए हैं इसलिये सिद्ध को परिच्छिन्नों की, कार्यों की कामना होना संभव नहीं यह भाव है।।७१।।

'ब्रह्मलोक पहुँचकर सुख होगा' का मतलब है कि तब तक अर्थात् व्यष्टि विज्ञानमय से बँधे रहते सुख नहीं होगा; इसी को आधार बनाकर साधक विज्ञानमय को भी लाँघे यह विधान करते हैं **विज्ञानमय के ध्यान से 'मैं मनोमय हूँ' यह संस्कार नष्ट हो सकता है किंतु यह अंतिम स्थिति नहीं है! शोकयुक्तता समझकर 'विज्ञान मैं हूँ' इस अभिमान का परित्याग भी मुमुक्ष के लिये कर्तव्य है।।७२।।** उत्तरोत्तर कोश में अपने को सीमित करना व उसी सीमा में सावधानी से रहना इसीलिये है कि सभी अनात्म बंधनों से छूटकर प्रत्यक्तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त हो। अन्न-प्राण-मन से निवृत्त होकर विज्ञान में पहुँचा साधक यद्यपि ब्रह्मलोक का अधिकारी बन जाता है तथापि जो जीवन्मोक्षका इच्छुक है, ब्रह्मलोक पहुँचने का विलम्ब भी नहीं सहना चाहता और न उपासना के श्रम में जीना चाहता है, उसे विज्ञान को लाँघने का प्रयास करना ही चाहिये। उपासना भले ही फलद है पर आमरण अप्रमाद अनिवार्य है और रोग, आवेग आदि के बारे में कोई भी नहीं जानता कि कब आक्रमण कर देंगे जिससे उक्त अप्रमाद संभव नहीं रह जायेगा। कल्याण-कामना वाले के लिये अतएव तत्काल सारी ताकत लगाकर सिद्धि पाने की प्रेरणा दी जाती है जैसा अप्पय दीक्षित ने कहा है

'अयि भ्रातश्चेतः परममुपदेशं शृणु मम
स्मरारेरर्चायां पटुषु करणेषु स्मर फलम्।
तवैषां प्रेष्याणाम् उपरतिकृति श्रान्तिमहति
त्वयैकेन श्वासप्रशमसमये किं नु सुकरम्।।'

'अरे भाई चित्त! मेरा यह श्रेष्ठ उपदेश मान ले : जब तक करण पटु हैं, इंद्रियादि कार्यक्षम हैं तब तक स्मरारि की अर्चना का फल याद कर पूजा में लग जा। श्वास निकलने के समय कोई करण कार्यकारी नहीं रहेंगे, तब अकेला तू कोई उपाय नहीं कर पायेगा।' अतः विवेकी साधक विज्ञानमयोपासना के भरोसे न बैठा रहे वरन् विज्ञानमय से परे जो सत्य वस्तु है उसे पहचाने यह आवश्यक है। इसके लिये वैराग्य भी ज़रूरी है। साधारण व्यक्ति को लगता है कि उत्तम लोकों से वैराग्य सरल है! क्योंकि उनकी प्राप्ति की अभी कोई संभावना नहीं दीखती। किन्तु जो विज्ञानोपासक है उसे ब्रह्मलोक-लाभ हाथ लगा जैसा ही प्रतीत होता है अतः दृढ वैराग्य से उस लोभ को छोड़े तभी अगला कदम ले पायेगा जिसके लिये विज्ञानोपासना बंद करनी पड़ेगी, ब्रह्मलोक की संभावना समाप्त करनी पड़ेगी। हिरण्यगर्भपर्यन्त नाम-रूप-कर्म का प्रसंग रहने से उपासना सरल है, जब ईश्वर की ओर गति होती है तब यह चिर-परिचित परिप्रेक्ष्य हटने से घबराहट स्वाभाविक है। प्रायः लोग अतएव देवतोपासक बने रहना चाहते हैं, ईश्वरोपासक बनने से डरते हैं। वैदिकों को छोड़कर अन्य लोग तो देवता को ही ईश्वर मान बैठते हैं, हिरण्यगर्भ से परे जो ईश्वर है उसकी उन्हें कोई अवधारणा ही नहीं बन पाती बल्कि ईश्वर को एक 'व्यक्ति' मानने को ही महत्त्वपूर्ण स्वीकारते हैं! इस प्रकार समझ आता है कि विज्ञानमय का उपसंक्रमण कितना कठिन किंतु आवश्यक है।

कर्ता का शोक से अनिवार्य संबंध है क्योंकि कर्तृत्व परिच्छिन्नता की अपेक्षा रखता है और परिच्छिन्न में शोक स्वाभाविक है। कर्ता को हमेशा परिवर्तन में रहना पड़ता है जबकि अशोकता के लिये स्थायिता चाहिये, अज्ञात परिस्थिति का भय न हो यह चाहिये। कर्ता कारकों के पराधीन होता है अतः सपने में भी शोकरहित नहीं हो सकता। कहने को भले ही 'स्वतन्त्रः कर्ता' अच्छी बात लगती है पर वास्तविकता यही है कि कारकान्तराधीन ही कर्ता रहता है अत एव कार्य-सिद्धि के प्रति सदा शंकित रहना पड़ता है जो काफी दुःखद स्थिति है। गीता में साफ ही कहा है कि कार्यसिद्धि के लिये कर्ता का योगदान पंचमांश ही है (१८.१४) अर्थात् अस्सी प्रतिशत अन्य

घटकों पर निर्भर है। ऐसे में कर्ता शोकग्रस्त न रहे यह कैसे संभव है! श्रद्धापूर्वक ऋत निर्धारण कर सत्यपरायण होने पर संसार में कर्ता दुःखी ही रहेगा इसमें तो कहना ही क्या? लोक में तात्कालिक सफलता जिन तरीकों से मिलती है वे सत्यादि के विपरीत ही हैं। और यदि उन ग़लत तरीकों को अपनाया जाये तो दीर्घ काल तक भय, ग्लानि आदि का दुःख एवं मरकर नरक का दुःख मिलेगा। अतः सही कर्ता हों या ग़लत, कर्ता बनकर दुःख आवश्यक है। हमें निज से अहेतु प्रेम है अतः हमारा स्वरूप दुःख हो नहीं सकता, इसलिये कर्ता विज्ञानमय आत्मा नहीं है यह जानकर अगले कोश की तरफ विकास करना चाहिये।।७२।।

शेषी आत्मा होना उचित है अतः प्रश्न होता हैकर्त्ता किसलिये बनते हैं? इसलिये कि हम भोक्ता बनें। इससे सिद्ध होता है कि भोक्ता ही हमारा स्वरूप है, न कि कर्ता। भाष्यकार ने बताया है 'ज्ञानकर्मणोर्हि फलं भोक्त्रर्थत्वाद् अन्तरतमं स्याद्, अन्तरतमश्चानन्दमय आत्मा' उपसना व कर्मजो कर्तृपक्षपाती हैंफल के लिये किये जाते हैं और फल भोक्ता के लिये चाहिये अतः भोक्ता ही कर्ता की अपेक्षा भी अधिक प्रत्यक् होने से आत्मा है। न्याय-वैशेषिक दर्शनों में आत्मा कर्ता-भोक्ता दोनों माना गया है एवं सांख्य-योग में उसे अकर्ता किंतु भोक्ता माना गया है। पूर्वमीमांसा भी कर्ता-भोक्ता आत्मा मानती है। विज्ञानमय की आत्मता इसलिये इन मतों के अधिक प्रतिकूल नहीं है और साधरण आत्मवादी जनता भी आत्मा को कर्ता-भोक्ता दोनों मानकर ही चलती है। आत्मा की अकर्तृता स्वीकारने के लिये दार्शनिक सूक्ष्मदृष्टि एवं योगज मनोबल चाहिये तथा इसके साथ जब प्रमाणपर निष्ठा भी हो तब पता चलता है कि आत्मा भोक्ता भी नहीं वरन् उसका भी साक्षी है। अधिदैवदृष्टि से विज्ञानमय हिरण्यगर्भ अर्थात् सूक्ष्मोपाधि का स्तर है जबकि आनंदमय ईश्वर का, कारणोपाधि का स्तर है। समष्टि-व्यष्टि के अभेद की दृष्टि से चलने पर अन्तर्मुखता और व्यापकता का एक साथ विकास होता है जिससे प्रत्यगात्मा का विज्ञान और परमात्मा का विज्ञान अलग नहीं रह जाते। केवल समष्टि को दृष्टि में रखें तो भक्तिवाद में रह जायेंगे, केवल व्यष्टि को दृष्टि में रखें तो समाधि में रह जायेंगे; हर तरह के बंधन से तो तभी छूट सकते हैं जब दोनों दृष्टियाँ साथ रहें। आत्मा गुहा में निहित हैइसी दिशानिर्देश से यहाँ विचार चला अतः विज्ञानमयरूप गुहा में जो छिपा है, उससे भी प्रत्यक् है उसे अब खोजा जायेगा। इसके लिये कर्ता की अनात्मता स्पष्ट करते हैं **छान्दोग्य उपनिषत् में घोषित है कि आत्मा के अवबोध से**

आनन्दमयः

शोकं तरत्यात्मबोधाद् इति श्रुत्यन्तरे जगौ।
शोकसागरमग्नोऽयं कर्ता तस्यात्मता न हि।।७३।।

व्यक्ति शोक से परे हो जाता है। पूर्ववर्णित विज्ञानमयरूप कर्ता क्योंकि शोक-सागर में डूबा रहता है इसलिये स्पष्ट है कि वेदप्रतिपादित आत्मा यह नहीं है।।७३।।

सामवेद की छांदोग्योपनिषत् के सातवें अध्याय में सनत्कुमार से नारद ने कहा है 'आप सरीखों से सुना जाता है कि आत्मवेत्ता शोकसमुद्र को तर जाता है। मैं अतिविस्तृत अध्ययन के बाद भी शोक में हूँ। मुझे इससे तारने की कृपा करें।' इस पर सनत्कुमार ने सबसे बृहत् आत्मा की पहचान कराने के लिये नारद को क्रमशः एक से ज्यादा दूसरे बृहत् पदार्थ समझाये और उनकी उपासना करने को कहा। जैसे तैत्तिरीय में प्रत्यङ्मुख साधना बता रहे हैं, एक के भीतर दूसराइस तरह सबसे भीतर की वस्तु तक पहुँचा रहे हैं, और हर एक की उपासना भी बता रहे हैं, वैसे छांदोग्य में बृहद्मुख साधना कही है, अधिकाधिक बृहत् तत्त्वों की भूमिका पर आरूढ करते हुए अन्त में भूमतत्त्व आत्मा को समझाया है। किंतु दोनों उपदेशों में परमार्थ वस्तु एक ही अभिप्रेत है अतः तैत्तिरीय में सत्यादि लक्षण वाले ब्रह्म (व्यापक) से उपदेश प्रारंभ कर उसे गुहा-निहित बताकर अंत में भी 'सोऽकामयत' आदि से ब्रह्म का कथन किया है तो छांदोग्य में भूम-पर्यंत समझाकर अंत में 'आत्मादेश' से उसकी प्रत्यग्रूपता स्पष्ट की है। आत्मज्ञान की ज़रूरत ही यह है कि इससे शोकनिवृत्ति हो। सभी प्रवृत्ति इस उद्देश्य से होती है कि दुःखहानि-सुखलाभ हो अतः आत्मा को जानने की प्रवृत्ति का भी यही हेतु है। वेद की यह कृपा है कि स्पष्ट शब्दों में उसने समझा दिया है कि अन्य कोई लाभ निर्दुःख स्थायी आनंद नहीं देगा, केवल आत्मस्वरूप का अवगम ही यह फल दे सकता है। इस तथ्य में अनेक युक्तियाँ भी वेद ने ही तत्र-तत्र सुझा दी हैं जिनका विकास अनेक आचार्यों ने किया है। विज्ञानमय-पर्यंत पहुँचने पर भी क्योंकि शोकहानि नहीं होती इसीलिये आगे जिज्ञासा बनी रहती है। अधिदैव स्तर पर भी भय-अरति आदि से हिरण्यगर्भ बच नहीं पाया यह बृहदारण्यक में वर्णित है अतः स्वभावतः प्रश्न उठता है कि उससे परे क्या है? हम स्वयं को कर्ता समझ लें, इतने मात्र से क्योंकि हमारा दुःख दूर नहीं होता इसलिये कर्ता चरम तत्त्व नहीं है। अस्थायी होने से भी यह हमारा स्वरूप नहीं है; सुषुप्ति-समाधि आदि में कर्तृभाव न रहने पर भी आत्मा रहता

आनन्दस्यात्मता युक्ता सोऽत्रास्ति प्रीतिदर्शनात्।
सदा भूयासमेवेति नित्यं प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते।।७४।।

ही है जिससे पता लग जाता है कि कर्ता आत्मा नहीं है। कर्ता कामना से आहत रहता है क्योंकि कामना होने पर ही हम कुछ करते हैं, कामना एक तरह का दुःख ही है जिसे मिटाने के लिये ही काम्यलाभ की चेष्टा की जाती है। इसलिये कर्ता अनिवार्यतः दुःखी होगा। यदि वह निर्दुःख हो जाये, निष्काम हो जाये तो कर्ता ही नहीं रह जायेगा! लोक में भी देखा जाता है कि ज़रूरतमंद लोग ही मेहनत से कार्यरत रहकर अपनी आवश्यकता पूरी करते हैं तथा जिनकी सब ज़रूरतें भलीभाँति पूरी हो चुकती है, भविष्य में भी कमी की संभावना नहीं होती, वे कार्यनिवृत्त होकर आनंद से रहते हैं। जो भी कार्यरत है वह कामहत होता ही है चाहे धनादि की नहीं, यश, धर्म आदि की ही कामना हो। कामना दुःखरूप होने से कर्ता सदुःख होता है अतः उसे परमार्थ आत्मा नहीं मान सकते।।७३।।

जैसे संसार दुःखालय है ऐसे आत्मा भी दुःखमय क्यों न मान लें? 'सर्वं दुःखम्', यह बौद्धों की मान्यता है ही, तदनुसार आत्मा भी दुःखरूप मानकर कर्ता को आत्मा क्यों न मान लें? इसका उत्तर देते हैं **युक्तिसंगत यही है कि आनंद आत्मा हो। प्रत्यग्वस्तु में आनंदरूपता है भी क्योंकि इससे अकारण असीम प्रेम रहता ही है। 'मैं हमेशा रहूँ ही'यह आत्मविषयक प्रेम सबको सदा अनुभव में आता है।।७४।।** असंख्य वेदवचन और सुषुप्ति आदि का अनुभव तो आत्मा को सुखरूप बताता ही है, इसमें युक्ति भी सुगम है : सर्वज्ञात्माचार्य ने दो श्लोकों में यह समझाया है। पहला श्लोक इस अनुमान को व्यक्त करता हैआत्मा सुख से अभिन्न है क्योंकि उसमें सुख का लक्षण मौजूद है। जिसमें जिसका लक्षण हो उसे वह मानते ही हैं जैसे सास्ना वाले प्राणी को गाय मानते ही हैं। वैषयिक सुख में जो लक्षण मिलता है वही आत्मा में हैं अतः आत्मा सुख है। सुख का लक्षण बताते हुए यही अनुमान दिखाते हैं

'सर्वं यदर्थमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्
पारार्थ्यमुज्झति च यद् निजसत्तयैव।
तद् वर्णयन्ति हि सुखं सुखलक्षणज्ञाः
तत् प्रत्यगात्मनि समं, सुखताऽस्य तस्मात्।।' १.२४।।

अन्य सब जिसके लिये चाहिये पर जो बिना प्रयोजन के स्वतः चाहिये वह सुख

होता है। यही सुख का लक्षण है। सुखोपायरूप से तो दुःख भी सह लिया जाता है अतः जिसका साधन होने पर अन्य चीज़ें भी चाही जाती हैं वह स्वयं चाहा ही जाता है इसमें क्या कहना! साधनों को इसीलिये चाहते हैं कि उनसे सुख मिलता है, आगे, सुख क्यों चाहते हैं?यह प्रश्न न उठता है और न इसका कोई जवाब है। सुख होता ही वह है जो चाहा ही जाये, जिसे चाहने का कोई प्रयोजन न हो। यह लक्षण आत्मा में उपलब्ध है क्योंकि सब कुछ अपने लिये चाहते हैं पर स्वयं को क्यों चाहते हैंइसका उत्तर नहीं। सुख को भी अपने लिये ही चाहते हैं। दुश्मन को सुख हो ऐसा कोई नहीं चाहता। इसलिये आत्मा सुखरूप है यह युक्तिसंगत है।

दूसरा अनुमान हैकिसी अन्य प्रयोजन के बिना प्रिय होने से आत्मा सुख है क्योंकि जो सुख नहीं होता वह अकारण प्रिय भी नहीं होता। इसे श्लोक द्वारा कहा

'प्रेमाऽनुपाधिरसुखात्मनि नोपलब्धः
स प्रत्यगात्मनि कृमेरपि नित्यसिद्धः।
प्रेयःश्रुतेरपि ततः सुखताऽनुमानं
नैयायिकोऽपि न दृगात्मनि निह्नुवीत।।'१.५५।।

कृमि, छोटा कीटाणु भी स्वयं से प्रेम करता ही है अत एव आत्मरक्षा के लिये सभी उपाय करता है, नये-नये स्राव आदि पैदा करता है, विष में भी जी सकने की सामर्थ्य उपजाता है। पुराण में कथा भी है कि एक कीड़ा शीघ्रता से रास्ता पार कर रहा था तो नारद जी ने कारण पूछा। उसने बताया कि 'उधर से एक रथ गुजरने वाला था जिससे पिचककर मर न जाऊँ इसलिये भाग कर किनारे आ गया था।' तात्पर्य है कि स्वयं के प्रति उसे भी उतना ही प्रेम है जितना इंद्रादि को। यद्यपि यह प्रेम शरीर-संबंध से है तथापि तभी जब शरीर में मिथ्यात्मदृष्टि है, जब तक शरीर को मैं समझते हैं तभी तक शरीर से यह प्रेम रहता है अतः प्रेम मैं से ही है न कि शरीर से। अत एव शरीर कटाने को भी तैयार हो जाते हैं जब कोई अंग सड़ने लगता है। किंच 'मैं दुःख से छूट जाऊँ इस उद्देश्य से लोग शरीरत्याग भी करते हैं, अतः शरीर से नहीं वरन् मैं से ही प्रेम है यह निश्चित होता है। स्वयं से प्रेम क्यों है? इसका कोई उत्तर नहीं। निष्प्रयोजन, अकारण प्रेम असुख से होता नहीं अतः यह प्रेम आत्मा को सुख बताता है। यह तर्क पंचदशी में भी ग्रंथकार ने बताया है

'इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदत्वतः।
'मा न भूवं हि भूयासम्' इति प्रेमात्मनीक्ष्यते।।'१.८।।

आनन्दैकस्वभावोऽपि कर्तृविज्ञानसङ्गमात्।
निजानन्दं तिरस्कृत्य कदाचिच्छोकमाप्नुयात्।।७५।।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में आत्मा की सर्वाधिक प्रियता का खुलासा मिलता है। कोई दुःख न हो तो स्वाभाविक स्थिति में आत्मा प्रसन्न ही मिलता है, उस प्रसन्नता का कोई हेतु न होता है न जिज्ञास्य ही है। दुःख अनिवार्यतः किसी कारण से होता है और वह कारण हमेशा मैं से अलग ही होता है। बिना कारण प्रसन्नतायह भी आत्मा की सुखरूपता में सशक्त युक्ति है। हमेशा रहने की अभिलाषा भी यही बताती है कि आत्मा स्वरूपतः ही सुख है। सुख ही हमेशा तथा हमेशा के लिये चाहा जाता है। आत्मप्रेम तारतम्य वाला भी नहीं सदा एकरस, परिपूर्ण है, इससे भी आत्मा की आनंदता स्पष्ट होती है। श्लोक में 'आत्मनि प्रेम ईक्ष्यते' से यह भी सूचित है कि जब तक मुख्य आत्मा नहीं जानते तब तक जब जिसे आत्मा समझते हैं तब उसे प्रेम करते ही हैं तथा जैसे ही उससे आत्मबुद्धि हटती है, तुरंत उससे प्रेम भी निवृत्त हो जाता है। आत्मानुभूति रहते प्रेम अवश्य प्रकट होता है अतः हर हालत में आत्मा को सुख ही मानना पड़ता है। न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों के अनुयायी भी उक्त युक्तियों का हृदयग्राही खंडन नहीं कर पाते क्योंकि इन तर्कों को सबके अनुभव का बल मिला हुआ है। साधक भी सावधानी से इनका अनुसंधान करे, स्वानुभव से मेल करे और विज्ञानमयपर्यन्त, कर्ताभावपर्यन्त की असुखता, अप्रियता समझकर उसे अनात्मा निर्धारित करे यह तात्पर्य है।।७४।।

आत्मा आनंदरूप है तो सर्वसुलभ शोक की क्या उपपत्ति है? श्लोक से उत्तर देते हैं **आत्मा का एकमात्र स्वभाव आनंद होने पर भी कर्तारूप विज्ञानमय के सम्बन्ध के फलस्वरूप वह अपने आनंद को नज़रन्दाज़ कर कभी शोक भी प्राप्त करता है।।७५।।** पानी स्वभावतः मीठा होने पर भी नमक पड़ जाने से खारा लगता है, रंगीन रोशनी पड़ने पर चीज़ों के रंग बदले दीखते हैं, स्वयं सुरीली होने पर भी किन्हीं स्वरों के साथ सुनाई देने पर आवाज़ बेसुरी लगती है, पानी पड़कर सड़ने लगे तो चंदन का मूठा भी बदबू देता है, धूल पड़ी हो तो चिकना काँच भी खुरदरा लगता है, ऐसे ही स्वरूप से सुखरूप भी आत्मा उपाधिवश शोक अनुभव कर रहा है। अविद्या ही शोक का मुख्य उत्स है जैसा भाष्यकार ने कहा है 'तम इति शोकादिकारणमविद्योच्यते' (सूत्रभा.१.३.८)। किंतु अनुभव में शोक तभी आता है जब अविद्या कार्याकार ग्रहण करती है। इन आकारों में प्रथम है विज्ञानमय, कर्ता। 'दुःख

से सोया' ऐसी स्मृति भी मानी जाती है पर वह तभी होती है जब सुषुप्ति के दौरान अविद्या की राजस वृत्ति बने अतः वह दुःख उस वृत्ति के प्रभाव से होता है। हर हालत में, दुःख सोपाधि दशा में ही होता है जिससे निश्चित है कि दुःख औपाधिक ही है, आत्मरूप नहीं है। कर्तृभाव प्रकट होने पर दुःख इसलिये आता है कि ज़िम्मेवारी महसूस होने लगती है। कोई खिलाड़ी विश्वप्रतियोगिता जीत आये तो हमें केवल प्रसन्नता होती है, उस खिलाड़ी की पढ़ाई कमज़ोर है या वह उधार नहीं चुकाता आदि बातों से हमें कोई दुःख नहीं होता क्योंकि उस सबके प्रति हम जिम्मेवार नहीं हैं। किन्तु हमारा पुत्र यदि खेल में पुरस्कार ले भी आये तो हम उसकी अन्य दस ग़लतियाँ देखकर दुःखी होते हैं, प्रसन्नता का आनंद नहीं ले पाते क्योंकि उसके दोषों के प्रति स्वयं को ज़िम्मेवार समझते हैं, हमारा कर्तृभाव सामने आता है कि इसे सुधारने को कुछ करूँ। ऐसे ही स्वयं की समस्याएँ अपनी सफलताओं से आनंद नहीं लेने देतीं यह भी अनुभवसिद्ध है। कर्तृभाव हमारी दृष्टि आनंद से हटा कर कर्तृत्व पर, विज्ञानमय पर ला देता है कि 'अब क्या करें', अतः आनंद सहज होने पर भी छिप जाता है और असहज, औपाधिक होने पर भी शोक प्रधान हो जाता है। 'कभी शोक भी प्राप्त करता है' इसलिये कहा कि साधारणतः अधिकतर तो आत्मानंद बना ही रहता है। आदत से हम दुःख को प्रधानता देते हैं इसीलिये लगता है कि जीवन दुःखमय है। यदि विवेकपूर्वक देखें तो अकाल, बाढ़, युद्धादि मौकों से अतिरिक्त सामान्यतः हमारे जीवन में ज्यादा अवसर हैं तो सुख के किंतु आशा एवं कामना के कारण हम उन सुखों को भोगना चाहते नहीं, जो भोग हमें अनुपलब्ध हैं उनकी कल्पना से हमें दुःखी होना मंज़ूर है पर उपलब्ध सुखों से प्रसन्न होना नहीं। मिष्टान्न न मिलने के दुःख से हम रोटी का सुख भी नहीं ले पाते, दूरदर्शन द्वारा विदेशी दृश्यों को न देख पाने के दुःख से बगीचे में खिले फूल को देखने का सुख नहीं ले पाते। जो है उसके सुख को न लेना यह मूढता ही कही जायेगी किन्तु कर्तृविज्ञान यही कर देता है। कहीं-कहीं दुःख को मनोमय का धर्म भी बताया गया है किंतु मनोमय कभी भी विज्ञानमय के बिना होता नहीं है इसलिये तब भी विज्ञानमय का संबंध तो अनिवार्यतः रहता है अतः यहाँ कही बात से विरोध नहीं है। कर्तृरूप विज्ञानमय का संगम यह अध्यास ही है कि 'मैं कर्त्ता हूँ'। जैसे राधेय होने के अध्यासवश ही कर्ण क्षत्रियता के सुख से वंचित रहा वैसे कर्ता होने के अध्यास से ही हम आत्मरूप आनंद से वंचित हैं।।७५।।

विज्ञानमय ही अपने अध्यास के कारण शोकप्रद है इसे अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध

समाधि-सुप्ति-मूर्च्छासु विज्ञानस्य लये सति।
नित्यानन्दस्वरूपेऽस्मिञ्छोकोऽल्पोऽपि न वीक्ष्यते।।७६।।

करते हैं **समाधि, सुषुप्ति, मदहोशी अवस्थाओं में विज्ञानमय का लय होने पर हमेशा आनंदस्वरूप इस प्रत्यगात्मा में थोड़ा भी शोक अनुभव में नहीं आता।।७६।।** कर्तृभाव के विलय का अनुभव तीन दशाओं में होता है : समाधि, गहरी नींद और मदहोशी अर्थात् नशे से प्राप्त अचेतनता। प्रसिद्ध मूर्च्छावस्था में दुःख होता है, उससे जगने पर याद दुःख की आती है पर नशे से संज्ञाशून्य होने की स्थित में दुःख नहीं रहता, उससे जगकर यही याद आता है कि 'कुछ पता नहीं चला', दुःख याद नहीं आता। समाधि योगाभ्यास से लब्ध सात्त्विक स्थिति है जिसे जाग्रत् के अंतःपाती माना जाता है। समाधि प्रयत्नपूर्वक प्राप्त होती है। यद्यपि इसमें चित्त लीन नहीं होता, तथापि कर्तृभाव नहीं रहता अतः विज्ञानमय की कार्यकारिता समाप्त हो चुकती है। सुषुप्ति में अंतःकरण ही लीन हो जाता है तो कर्तृविज्ञान रहने की संभावना ही नहीं। समाधि अभ्याससाध्य है, सुषुप्ति तब होगी जब कुछ समय तक कर्म फलोन्मुख नहीं है और मदहोशी नशे से आती है। प्रायः सांसारिक परेशानियाँ कुछ काल पूर्णतः भूलने के लिये ही लोग नशे में चूर होते हैं। थोड़े-बहुत नशे से ऐसा नहीं होता वरन् एक तरह के स्वप्न की स्थिति आती है पर गहरे नशे से ऐसी बेहोशी हो जाती है जिसमें भान नहीं रहता। समाधि में कर्तृविज्ञान न होने पर भी चेतना रहती है जबकि सुषुप्ति व मदहोशी में वह भी नहीं रहती। सुषुप्ति प्रयत्नसाध्य नहीं अतः मदहोशी को सुषुप्ति नहीं कह सकते क्योंकि यह नशाजन्य अर्थात् प्रयत्नसाध्य है। चेतना-रहित होने से यह समाधि से सर्वथा अलग है। अतः ग्रंथकार ने तीन दशाओं का उल्लेख किया जहाँ कर्तृविज्ञान नहीं। इन तीनों में आत्मा को थोड़े से भी शोक की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक स्पष्ट हो गयाजहाँ-जहाँ दुःख है, वहाँ कर्तृविज्ञान अवश्य है, जहाँ कर्तृविज्ञान नहीं वहाँ दुःख नहीं है। अतः कर्तृविज्ञान-दुःख का परस्पर संबंध है। जबकि आत्मा दुःख से सर्वथा वर्जित है। आत्मा का स्वरूप दुःख होता तो उक्त दशाओं में भी मिलता पर इनमें आत्मा रहने पर भी दुःख सर्वथा नहीं रहता। प्रश्न होगा कि मूर्छा में अर्थात् मदहोशी में केवल गाढ अज्ञान रहता है, वहाँ आत्मरूप सुख क्यों नहीं भासता? उत्तर है कि सुखाभिव्यक्ति के लिये सत्त्ववृत्ति चाहिये जबकि मदहोशी में तमोवृत्ति रहती है अतः तब केवल अज्ञता रहना ही संगत है। सिद्धांतबिंदु में नौ अवस्थाएँ बताते हुए जिसे 'सुषुप्ति-सुषुप्ति' कहा है उसे यहाँ की

मूर्च्छासुप्त्योर्यदज्ञानं भाति तत् कारणं धियः।
कारणे बुद्धिवृत्तौ च स्वानन्दः प्रतिबिम्बति।।७७।।

मदहोशी से समझा जा सकता है। किं च स्वयं की अवस्थिति तो तब भी भासती है अत एव परामर्श यही होता है कि 'कुछ अर्थात् किसी दुःख को नहीं जान रहा था।' स्वयं अर्थात् आत्मा प्रियरूप से सुख है ही अतः आत्मरूप से तब भी सुखभान मना नहीं किया जा सकता। भंगेड़ियों का अनुभव भी है कि अंधाधुंध नशे की दशा में 'घर के जानें मर गया, आप करे आनन्द!' अर्थात् उन्हें उठकर आनंद की स्मृति होती है। इसमें व सुषुप्ति की स्मृति में अंतर है पर निर्दुःख सुख तब सिद्ध हो जाता है। सार यही है कि कर्तृभाव ही दुःख पैदा करता है, इसके बिना सिर्फ आत्मा में कोई दुःख नहीं है। दुःख उपाधि-धर्म ही है। विषयजन्य सुख भी उपाधि-धर्म ही है अतएव गीता में उसे क्षेत्र में ही गिना है। विषयनिरपेक्ष सुख को आनंद कहते हैं जो आत्मस्वभाव है। वैषयकि सुख इसी के उपाधि-सीमित रूप हैं जैसे प्रतिबिंब बिंब के उपाधि-सीमति रूप होते हैं। अतः विषयसुख में आनंद का साम्य है। दुःख पूरी तरह उपाधिपक्षीय है, उसमें आत्मा का कोई साम्य नहीं है। उक्त अन्वय-व्यतिरेक इसी तथ्य को स्पष्ट करता है कि आत्मा स्वयं आनंदरूप है, कतृविज्ञानरूप उपाधि का संपर्क ही दुःख उपस्थित करता है। अतः विज्ञानमय को आत्मा समझने के स्तर को लाँघना ही साधक के लिये कल्याणकारी है।।७६।।

उक्त दशाओं में विज्ञानमय नहीं रहता इस आधार पर उसे दुःख के लिये ज़िम्मेवार ठहराया। प्रश्न होता है कि यदि तब वह नहीं रहता तो जगने पर उन अवस्थाओं का और उनके सुख का स्मरण कैसे होता है? जिसे अनुभव हुआ हो उसे ही याद आती है। जगने पर अहंकारविशिष्ट को स्मरण होता है तो मानना चाहिये कि अनुभव भी उसे ही हुआ था अतः तब अहंकाररूप विज्ञानमय की स्थिति मान्य है अन्यथा स्मृति असंगत होगी। इसके उत्तर में बताते हैं कि उक्त अवस्थाओं में विज्ञानमय नहीं रहने पर भी जाग्रत् में उसे स्मृति आना कैसे संगत है **विज्ञानमय अपने जिस कारण में लीन होता है वह अज्ञान मदहोशी व गहरी नींद में मौजूद रहता है एवं आत्मा के स्वरूपभूत आनंद की उसी में परछाईं पड़ती है अतः उसमें लीन बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञानमय में भी वह पड़ी है जिससे विज्ञानमय को स्मृति आना उपपन्न है।।७७।।** बेहोशी व नींद में बुद्धि अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाती है, इसी कारणरूप अज्ञान में आनंद का प्रतिबिंब पड़ता है। स्वयं अज्ञान तो आनंदरूप है नहीं

वरन् दुःखमूल ही है अतः सुख तभी संभव है जब उसमें आत्मा सुख डाले जो प्रतिबिंबविधया ही समझ आता है। उस आनंद के संस्कार से युक्त अज्ञान से उत्पन्न होने वाली बुद्धि में भी आनंद के संस्कार आयेंगे ही अतः जगने पर विज्ञानमय को स्मरण होना उचित है। इस श्लोक में समाधि को नहीं गिना क्योंकि तब न अहंकार का अज्ञान में लय होता है व न अज्ञान का ही भान होता है। अतः तब तो सात्त्विक वृत्तिविशेष स्वीकारना संभव है जिससे बाद में समाधि का अनुसंधान भी संगत है। मदहोशी एवं सुषुप्ति में विज्ञानमय न रहने से उन्हीं के स्मरण की संगति समझानी ज़रूरी है। लाख पिघाल कर उसमें रंग डाल दें, फिर उससे जो चूड़ी, गहने आदि बनायेंगे वे उस रंग वाले ही बनेंगे; इसी प्रकार कारणरूप अज्ञान में आनंद का 'रंग' पड़ गया अतः उससे बने विज्ञान में भी वही 'रंग' रह जाता है जिससे उक्त स्मृति उत्पन्न हो जाती है। अविद्या एक ही है जिसके अनंत अंतःकरण कार्य हैं। एक अंतःकरण लीन होने पर भी अन्य अंतःकरण तो बने ही रहते हैं। अतः मानना पड़ेगा कि अंतःकरण जिस अविद्यांश में लीन हुआ है उसी में सौषुप्त आनंद प्रकट होता है और उसी से अंतःकरण पुनरुत्पन्न होता है। इस प्रकार लीनावस्थ अंतःकरण को ही अविद्या कहते हैं जो सुषुप्ति में है। तब अंतःकरण कोई कार्य नहीं कर सकता अतः विज्ञानमय या अहंकार नहीं होता, जगने पर ही विज्ञानमय प्रकट होता है। अतः नींद तो याद आती है, 'मैं' याद नहीं आता अर्थात् अहंभाव स्मरण का विषय होकर नहीं वरन् स्मरण का आश्रय होकर प्रतीत होता है। वास्तव में यह प्रतीति भी उसे स्मरण का आश्रय नहीं सिद्ध करती क्योंकि स्मरण का आश्रय साक्षी चैतन्य होता है किंतु स्मरण के समय उसी साक्षी में अहंकार अध्यस्त है इसलिये स्मरण व अहंकार का सामानाधिकरण्य साक्षिचैतन्य में संपन्न हो जाता है जिससे अहंकार स्मरणाश्रय प्रतीत हो जाता है। सिद्धांतबिंदु अष्टमश्लोक में यह विषय विस्तार से समझाया गया है।

प्रकृत श्लोक में निर्णयसागर और गुजराती प्रिंटिंग प्रेस के पाठ में 'करणं धियः' है और मुत्तुकृष्णशास्त्री का 'कारणं' पाठ है। करण का भी अर्थ कारण ही जानना चाहिये। 'कारणे बुद्धिवृत्तौ च' का सुषुप्ति-मूर्छा के पक्ष में अर्थ है कि बुद्धि जिसमें विलीन होकर वर्तमान है उस कारण में ही। दो वाक्य समझें तो अर्थ है कि उक्त अवस्थाओं में कारण में तथा जाग्रत्-स्वप्न में बुद्धिवृत्ति में स्वानंद का प्रतिबिंब पड़ता है। 'च' उपमार्थक है अर्थात् जैसे बुद्धिवृत्ति में पड़ता है वैसे ही उसके लय होने पर कारण में प्रतिबिंब पड़ता है।

दुःखं राजसधीवृत्तौ सात्त्विक्यां तत्सुखं भवेत्।
प्रियं मोदः प्रमोदश्चेत्युच्यते धीसुखं त्रिधा।।७८।।

किं च, यह प्रश्न संभव है कि आनंद की तरह दुःख भी आत्मधर्म क्यों न माना जाये? सुप्ति आदि में वह व्यक्त नहीं होता, अवस्थांतर में हो जाता है पर धर्म आत्मा का ही है। इसका उत्तर है कि आत्मा की सुखरूपता में श्रुतिप्रमाण व पूर्वदर्शित प्रियता का तर्क है, ऐसे उसकी दुःखरूपता या दुःखधर्मता में न प्रमाण व न तर्क है। दुःख उपाधिदशा में ही मिलता, बिना उपाधि के नहीं मिलता जबकि सुख बिना उपाधि के भी मोक्षदशा में मिलता है अतः सुख ही आत्मस्वरूप है। दुःख का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है।।७७।।

शंका होती है कि स्वप्रकाश आत्मा जब आनंद है, तब केवल सुषुप्ति में क्यों, जाग्रत् में भी क्यों नहीं भासता? विवरणाचार्य ने समाधान किया है'जागरणे तर्हि किमिति नावभासते? भासत एव परमप्रेमास्पदत्वलक्षणं सुखं, तीव्रवायुविक्षिप्तप्रदीप-प्रभावद् मिथ्याज्ञानविक्षिप्ततया न स्पष्टम् अवभासते, सुषुप्तौ तु तदभावाद् अधिकं व्यज्यते।' (पृ.१७०)। तेज़ हवा में जलता हुआ भी दीपक किसी चीज़ को साफ दिखा नहीं पाता हालाँकि प्रकाशरूप है; इसी प्रकार जिस दशा में मिथ्या वस्तुओं की जानकारियों की मार पड़ती है तब आत्मा का आनंद साफ-साफ नहीं प्रतीत होता किंतु उसका भान अवश्य रहता है जो इससे पता चलता है कि तब भी हमें स्वयं से ही परम प्रेम बना रहता है। तात्पर्य है कि विद्यमान भी आनंद विक्षेपदशा में छिप जाता है अतः जाग्रत्-स्वप्न के दुःख में हेतु विक्षेप है। इस रहस्य को प्रकट करते हैं **बुद्धि की रजोगुणी वृत्ति होने पर दुःख का अनुभव होता है। सत्त्वगुणी बुद्धिवृत्ति में तो आत्मा का सुख प्रकट हो जाता है। आत्मरूप सुख एकरूप होने पर भी बुद्धि में प्रकट होने पर वृत्तिभेद से वह तीन तरह का प्रतीत होता हैप्रिय, मोद और प्रमोद।।७८।।** भगवान् ने गीता में रजोगुण की विशेषताएँ स्पष्ट की हैं। इसका स्वरूप राग को कहा है जिससे तृष्णा और आसक्ति होती हैं एवं व्यक्ति कर्म-पंक में धँसता जाता है। रागवश लोभ होने से कुछ-न-कुछ करने की प्रवृत्ति और नये-नये उपक्रम खोलने का क्रम चल पड़ता है पर इस सबमें लगे रहकर भी न स्पृहा कम होती है व न मन में शांति आती है। अत एव रजोगुण का प्रधान फल ही दुःख बताया है। यह न समझने पर व्यक्ति सुख चाहकर दुःखोपायों में व्यस्त रहता है। भ्रम से लोग काम करना, लोभ-लालच, विभिन्न भोगों से उत्साहित होनाइन्हें सुखहेतु मानकर इनके

लिये ही अपना सर्वस्व लगा देते हैं और फलतः केवल दुःखी ही बने रहते हैं। कार्य करना स्वयं में सुख नहीं दे सकता, क्या और क्यों करते हो इससे भले ही सुख देगा। अत एव वही कार्य बलात् करते हो तो दुःख होता है, स्वेच्छा से करने पर सुख होता है। समान प्रभाव वाला एक कार्य दुःख तो दूसरा कार्य सुख देता है। अतः कार्य करना सुखद नहीं यह पता चलता है। सुख वस्तुतः शांति में है यह समझे बिना व्यक्ति सुख पाने के लिये अशांति, उद्दीपन का सहारा लेता है। क्योंकि बीच-बीच में इच्छापूर्ति के समय कुछ काल के लिये राजसता दब जाती है इसलिये भ्रम दृढ हो जाता है कि अशांति से सुख होता है। विचार करें तो पता लग जाता है कि सुख तभी है जब अशांति रुकती है अतः शांति ही सुखहेतु है। शांति में तो भाव रहता है कि जो कुछ उपस्थित है वह पर्याप्त है। सन्तोष सात्त्विक वृत्ति है, उसमें हमेशा सुख है। राजस भाव हमेशा दुःख ढूँढने की प्रेरणा देता हैपशमीना मिले तो 'कहीं चोरी न हो जाये' का दुःख प्रधान होकर उसे ओढ़ने का सुख नहीं लेने देता तथा गुदड़ी मिले तो 'बढ़िया पशमीना क्यों नहीं मिला' का दुःख गुदड़ी के प्रति निश्चिन्तता का सुख नहीं लेने देता। इसी प्रकार स्वादिष्ट भोजन मिले तो हलके भोजन की इच्छा उसका सुख नहीं लेने देती व सुपाच्य पथ्य मिले तो स्वादिष्ट व्यंजन याद आकर दुःख देते हैं। रजोगुण निवृत्त होने पर सुख हैयह ध्यान रहे तो व्यक्ति प्रयास सत्त्विक रहने का करे पर अज्ञानवश लगता है कि रजोगुण होगा तभी तो निवृत्त होगा, अतः व्यक्ति पहले रजोगुणी बनता है फिर उसे निवृत्त करना चाहता है, यह चक्र चलता रहता है।

वर्तमान समाज में रजोगुण को महिमामण्डित किया जाने से सभी को राग-भोग के अभिवर्द्धन की प्रेरणा मिलती है जो सबको साधन बटोरने में लगा देती है। क्योंकि सत्त्व की कोई कीमत आंकी नहीं जाती इसलिये नैतिक-अनैतिक का विभाजन निरर्थक हो रहा है जिससे प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का बोल-बाला है। इसे कानून-दण्ड आदि से दूर किया ही नहीं जा सकता जब तक समाज रजोगुण की हेयता और सत्त्वकी उपादेयता न समझे। विभिन्न भोगसाधनों से संपन्न होना ही जब श्रेष्ठता का, उन्नति का लक्षण हो तब क्योंकि सभी के सामने वही लक्ष्य है इसलिये जिस किसी उपाय से शीघ्रातिशीघ्र सभी यही कोशिश करेंगे कि भोगसाधन बटोर लें। जैसे जहाँ परीक्षा में अधिक अंक पाना ही प्रधान समझते हैं, व्यक्ति के ज्ञान को, योग्यता को नजरंदाज़ कर देते हैं वहाँ छात्र जैसे-तैसे अंक ही बटोरते हैं, शिक्षा नहीं ग्रहण करते। अथवा जब 'पिछड़ा' होने से सुविधायें ज़्यादा मिलने लगती हैं तब सभी वर्ग पिछड़ों की सूची में

नाम लिखाने की कोशिश करते हैं। क्योंकि प्राप्तव्य के बारे में भ्रम है और उसे ही प्रचार, उदाहरण आदि से दृढ किया जा रहा है इसलिये आज की पीढ़ी रजोवर्धन को सुखहेतु समझकर दुःख में डूबती जा रही है।

साधक को सावधानी से विवेकपूर्वक यह समझना ज़रूरी है अन्यथा लोकप्रवाह में वह भी बहता रहेगा। साधना भी रजोगुण से प्रवृत्त न करे यह आवश्यक है अन्यथा दुःख पायेगा। दस तरह के जप आदि में लगना, अवांतर फलों को भी ग्रहण कर लेना, प्रयास से सफलता न मिलने पर स्वयं को धिक्कारना, अवसादग्रस्त हो जाना, किंचित् लाभ के प्रदर्शन में लग जाना, अपनी साधना को ही अपने अहंकार की पुष्टि का उपाय बना लेना इत्यादि साधना की राजसता है जिससे बचना चाहिये। मन ध्यान में लगा तो व्यक्ति सुखी और न लगा तो दुःखी हो जाता है जबकि उसे प्रयास समता का करना चाहिये कि 'मैं साक्षी हूँ, न मन लगाने वाला, न उसे बिखेरने वाला'। अन्यथा बाहरी की जगह भीतरी राग ले लेगा, राग निवृत्त नहीं होगा और राग हटे बिना साधना नहीं हो सकती। रागपूर्ति के प्रति उपादेयता की भावना बंधन का ही हेतु बनती है, मोक्षमार्ग में बाधा ही डालती है। अतः साधक के लिये वैराग्य का विधान है। राग-निवृत्ति अभीष्ट है, विषयलाभ से तात्कालिक उपशांति होने पर भी वासनादार्ढ्यवश राग-अभिवृद्धि ही होने से भोग-परायणता इसमें विपरीत-फलक ही होती है। वैराग्य से ही रजोगुण शांत हो सकता है। वैराग्य के लिये विषयों में दोषदर्शन प्रधान उपाय है। जैसे गुणानुचिंतन राग बढ़ाता है वैसे ही दोषानुसंधान वैराग्य उपजाता है। चीज़ों में गुण-दोष दोनों हैं, हमें यदि राग चाहिये तो गुणों पर दृष्टि एकाग्र करें और वैराग्य चाहिये तो दोषों पर। दोनों को समानरूप से देखेंगे तो न विषयभोग कर पायेंगे न निवृत्ति का आनंद ले पायेंगे वरन् एक ओर बढ़ने पर दूसरी ओर आकृष्ट होते रहकर 'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः' के अनुसार केवल व्यग्र रहेंगे। विज्ञान, औद्योगिकीकरण, यन्त्राश्रयता, दूरसंचार, सूचनालाभ-सुलभता आदि सभी के गुण भी देखे जा सकते हैं और सबके दोष तो अनुभव में आ ही रहे हैं। रजोगुण के पक्षधर इनके गुणों का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करते हैं और दोषों के बारे में शुतुर्मुर्ग की तरह आँखें मीच लेते हैं या तार्किक बनकर दोष व्यक्तियों की गलती के माथे मढ़ते हैं और गुणों से तकनीक की महत्ता सिद्ध करते हैं! बारूद के लाभों को गिनाते हैं पर युद्धों के अत्यधिक विनाशकारी बन जाने या गुण्डों की मारकक्षमता में अतिशय वृद्धि के लिये बारूद को हेतु नहीं कहते। संगणकों के प्रयोग के लाभ की कभी इससे तुलना

नहीं करते कि बेरोजगारी बढ़ रही है, उत्पादन-वृद्धि से प्रदूषण बढ़ रहा है, अपराध बढ़ रहे हैं इत्यादि। दूरदर्शन आदि की शिक्षा प्रदता, मनोरंजकता आदि को तो सामने रखते हैं पर उन्हीं के फलस्वरूप व्यक्ति व समाज के विकृत होते मानस की चर्चा से मुँह मोड़ते हैं। जैसे यह एकांगी चिंतन रजोवर्धक है वैसे ही साधक सभी विषयों के दोषों का ही अनुसंधान करे तो रजोगुण दूर होगा। वह चिंतन एकांगी हैयह स्वीकार है परंतु वैराग्यफलक वही है। जिसे न राग और न वैराग्य चाहिये अर्थात् जो कृतकृत्य हो चुका वह तो किसी पक्ष का आश्रयण न ले यह संभव और उचित है लेकिन साधक को तो वैराग्य चाहिये अतः उसके अभिवर्धक उपाय को ही ग्रहण करे यह ज़रूरी है। तला, भारी आहार और उबला, फीका पथ्यदोनों के गुण-दोष हैं; रोगी को आग्रहपूर्वक पथ्यपरायण होना पड़ेगा, भले ही स्वस्थ के लिये वह ज़रूरी नहीं। ऐसे ही संसार में दोषदर्शन ही करे ताकि वैराग्य पाये यह साधक के लिये ज़रूरी है, सिद्ध के लिये नहीं। वैराग्य से जिन विषयों की ओर राग हट जाता है वे दुःख नहीं दे पाते। जिसे मांसभक्षण से वैराग्य है उसे मांस महँगा होना कोई दुःख नहीं दे सकता। यह व्यास जी ने सूत्र बताया है कि जिस-जिस विषय से राग निवृत्त होगा उस-उसके बंधन से छुटकारा मिल जायेगा, जब सब चीज़ों से छुट्टी मिले तब दुःख का नामोनिशान नहीं रहेगा

'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि।।'

संग-मोह-चंचलता ये रजोगुण के ही प्रकट रूप हैं जिनका हटना मोक्षोपाय है ऐसा मोहमुद्गर में आचार्य ने कहा है

'सत्सङ्गत्वे निःसङ्गत्वं निःसङ्गत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं निश्चलितत्वे जीवन्मुक्तिः।।'

इसलिये रजोगुण दुःख का ही हेतु है। यद्यपि गीता में राजस सुख भी बताया है तथापि क्योंकि उसे मीठा जहर ही वहाँ समझाया है इसलिये पता चल जाता है कि भगवान् का तात्पर्य रजकी दुःखमयता में ही है। जितने अंश में वह सुख है उतने अंश में सत्त्वसंपर्क ही कारण है क्योंकि त्रिगुणात्मकता मानने पर स्वल्प सत्त्व की विद्यमानता संमत है। गर्मी में ठंडा पानी पिये तो जलांश प्यास बुझाता है पर ठंडापन उससे कहीं ज्यादा प्यास भड़का देता है ऐसे ही राजस सुख में थोड़े-से सत्त्व से किंचित् सुख होने पर भी रजोगुण दुःख ही बढ़ाता है यह अभिप्राय है।

मुत्तुकृष्णशास्त्री ने 'राजसधीवृत्तौ प्रतिबिम्बित आत्मानन्दो दुःखं भवति' लिखा है।

वृत्ति में आत्मप्रतिबिंब अनिवार्य है और तभी दुःखानुभूति होती है एवं आत्मा अखंड है अतः आनंदरूप आत्मा का ही प्रतिबिंब भी मान्य है। जैसे दर्पणदोषवश सुंदर मुख का भद्दा प्रतिबिंब पड़ जाता है या यंत्रादि के दोष से भद्दा चित्र आता है वैसे वृत्ति की राजसता से आनंद का ही प्रतिबिंब दुःख के आकार का पड़ता है।

ग्रंथकार ने दुःख के लिये रजोगुणी वृत्ति को ज़िम्मेवार ठहराकर सुख के लिये सात्त्विक वृत्ति को हेतु माना है। सुख मनोवृत्ति तो है पर वही वृत्ति जो सात्त्विक है। असात्त्विक मनोवृत्ति सुखाकार नहीं होती। वृत्ति भी स्वयं में सुख नहीं वरन् उसमें प्रतिबिंबित आत्मा ही सुख है। वृत्ति राजस होने पर दुःख और सात्त्विक होने पर सुख को व्यक्त करती है। वैराग्य की दृढता से सात्त्विकता स्थायी रहती है जिससे सुख ही बना रहता है। वैराग्य की यह एक परीक्षा है कि व्यक्ति शांत, संतुष्ट, सुखी रहता है। वैराग्य सात्त्विक वृत्ति होने से उससे दुःख नहीं हो सकता। साधक स्वयं को दुःखी पाये तो समझ ले कि वैराग्य का कोई ग़लत रूप अभ्यास में आ रहा है और गुरु से सही दिशानिर्देश प्राप्त करे। एक भक्त स्त्री सो रही थी। एक चोर उसका पायजेब खोलने लगा। वह जग गयी और जैसे ही पायजेब खुली, स्त्री ने करवट ली तो चोर भाग गया। स्त्री का पति भी जगा हुआ था, स्त्री को डाँटने लगा 'थोड़ी देर और चुप पड़ी रहती तो बेचारे को दूसरा पायजेब भी मिल जाता!' स्त्री ने कहा 'मैंने करवट ली ही इसलिये थी कि दूसरा पैर ऊपर आये तो वह सुविधा से खोल ले।' ऐसी मनोवृत्ति वाले को दुःखी करना बहुत मुश्किल होता है। आत्मरूप सुख तो नित्य एकरस वस्तु है। सुषुप्ति में मनोवृत्ति नहीं होती, अविद्यावृत्ति बनती है पर किसी न किसी विषय के कारण व न किसी कामना की पूर्ति के कारण अतः एकरूप ही होती है। अतः न एक व्यक्ति के विभिन्न दिनों की सुषुप्तियों के आनंद में कोई भेद महसूस होता है न विभिन्न व्यक्तियों की सुषुप्तियों के सुख में कोई भेद होता है। सुखभेद मनोवृत्तियों के भेद के कारण ही अनुभव में आता है। राग की शांति की अधिकता से सुख की अधिकता एवं शांति की कमी से सुख की कमी हो जाती है। अंतर आत्मरूप सुख का नहीं वरन् वह जिसमें व्यक्त हो रहा है उन वृत्तियों का है। उसी भेद को यहाँ प्रिय, मोद, प्रमोद नामें से बताया जिनका स्वरूप अगले श्लोक में कहेंगे। रूपक के अनुसार, यहाँ जिस आनंदमय कोष को कह रहे हैं उसके पक्षी आकार में प्रिय-नामक सुख शिरःस्थानीय है, मोद-प्रमोद दाँयें-बाँयें पक्ष हैं। इनसे अतिरिक्त 'आनंद' धड़ और ब्रह्म को पूंछ कहा है।।७८।।

इष्टस्य दर्शनाल्लाभाद् भोगाच्च स्युः प्रियादयः।
ते त्रयः कारणानन्द आत्मानन्दश्च पञ्च ते।।७९।।
पक्षिणोऽवयवाः पञ्च मूर्द्धाद्यास्तेषु कल्पिताः।
आनन्दमयकोशोऽयम् उपास्यः पूर्वकोशवत्।।८०।।

कर्तृरूप विज्ञानमय से भीतर है आनंदमय, भोक्ता। यहाँ सायणाचार्य ने समझाया है कि प्रिय-मोद-प्रमोद करणरूप मन की विभिन्न वृत्तियाँ होने से विज्ञानमय की अपेक्षा बाह्य होने पर भी आन्तर आत्मा के प्रतिबिंब को धारण करने से आंतर कही गयी हैं। इसी तरह ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाली भी मनोवृत्ति है पर ब्रह्म की आंतरता से उसे भी आंतर कहते हैं। उनका वाक्य है'यद्यपि प्रियमोदप्रमोदा मनसः करणरूपस्य वृत्तिविशेषतया कर्तृरूपाद् विज्ञानमयाद् बहिर्भूतः, तथापि आन्तरस्य अवच्छिन्न-जीवानन्दस्य, अनवच्छिन्न ब्रह्मानन्दस्य वा प्रतिबिम्बं धारयन्ति इति आन्तरत्वम् अभिप्रेत्य विज्ञानमयाद् अभ्यन्तर आत्माऽऽनन्दमय इत्युक्तम्।' ब्रह्मसूत्र में आनंदमय के बारे में एक पूरा अधिकरण है। एकदेशी आचार्य तो आनंदमय परमात्मा है ऐसा मान लेते हैं किंतु सिद्धान्त है कि आनंदमय तो जीव है पर उसकी पूँछ कहा गया ब्रह्म परमात्मा है। अत एव उसे पूँछ इसलिये नहीं कहा कि वह गौण है वरन् इसलिये कहा कि वह अधिष्ठान है। एवं च चैतन्य का आभास जो भोक्तृरूप जीव वही आनंदमय शब्द से कहा है। व्यष्टि-समष्टि की एकता को लेकर इसे ईश्वर का अंग भले ही माना जाये पर कोश यह जीवका ही बता रहे हैं। आनंदमय परमात्मा है इस मतका खंडन वार्तिक में भी स्पष्ट किया है। भाष्यकार ने अनेक हेतुओं से उक्त पक्ष का निराकरण करा ही है। 'मैं करता इसीलिये हूँ कि भोगूँ अतः करने से भोगना प्रधान होने के कारण मैं कर्त्ता नहीं हूँ वरन् भोक्ता हूँ' यह विचार करने के लिये भोक्तारूप आनंदमय का वर्णन करते हैं **इच्छित वस्तु दीखने से होने वाला सुख प्रिय है, उसकी प्राप्ति से होने वाला मोद है एवं उसको भोगने से होने वाला प्रमोद है। कारणरूप आनन्द में प्रकट सुख श्रुति में 'आनंद' शब्द से धड़-स्थानीय कहा गया है और आत्मा का स्वरूपभूत आनंद 'ब्रह्म' शब्द से पूँछ-स्थानीय बताया गया है। इस प्रकार तीन वृत्ति-आनंद, एक कारण-आनंद और एक आत्मा-आनंदये पाँच ही रूपकगत पक्षी के मूर्द्धा आदि पाँच अवयव हैं अर्थात् उक्त पाँच आनंदों में मूर्द्धा आदि पाँच अवयवों की कल्पना उपासक करे। जैसे पूर्वोक्त कोशों के बारे में उपासना करने के लिये कहा था वैसे इस आनन्दमय कोश की भी उपासना करनी चाहिये।**

।७६-८०।। विज्ञानमय से भीतर जो आनंदमय उसका अनुभव 'मैं सुखभोग प्राप्त कर रहा हूँ' इस तरह से जाग्रत् में एवं सुषुप्ति के सुख को स्मरण करने वाले के रूप में होता है। विभिन्न सात्त्विक, वृत्तियों में प्रतिबिम्बित होने पर आनंद के प्रिय आदि अलग-अलग नाम हो जाते हैं, सत्त्व के तारतम्य से और उसमें मिश्रित गुणांतरों के न्यूनाधिक्य से प्रिय आदि सुखों की तीव्रता का अन्तर हो जाता है। जो भी अभिलषित है वह दीख-भर जाये, अपरोक्ष ज्ञान का विषय बन जाये, उतने से होने वाले सुख को प्रिय कहते हैं। कई बार यह निश्चित पता होता है कि इस इच्छित वस्तु को पाकर इसका हमें भोग करने का मौका नहीं मिलेगा फिर भी देखने का सुख तो मिलता ही है। कैद में पुत्र-मित्रादि हो तो उसे समय-समय पर देखना मिल जाये इतने से भी माता आदि को संतोष-सुख हो जाता है। यद्यपि दर्शनादि प्रत्यक्ष ज्ञान से प्राप्य को प्रिय कहा तथापि परोक्षानुभव-जन्य सुखका भी इसमें अंतर्भाव मानना चाहिये अतः पत्र, दूरभाष, चित्र आदि से ज्ञान होने पर जो सुख होता है वह भी प्रिय है। सुखमात्र में प्रधान हेतु विषय नहीं वरन् उसके प्रति इच्छा है। अतः एक ही वस्तु किसी को सुख व दूसरे को दुःख देती है। इच्छा का विषय प्राप्त हो जाये तो जो सुख होता है उसे मोद कहा। प्राप्त का मतलब है कि वह अधिकार क्षेत्र में आ गया। सुंदर वस्तु तो दीख कर ही सुख देती है पर जब उसे खरीद लें तो उसकी मिलकियत का पृथक् सुख होता है। बहुधा यह भी होता है कि स्वायत्त कर लेने के बाद उस पदार्थ को देखने का मौका भी कम मिलता है अतः 'प्रिय' नामक सुख तो घट गया पर 'मोद' नामक सुख बना रहता है। भोग की संभावना के बिना भी यह सुख ग्रहण हो जाता है, 'इच्छित वस्तु मेरे पास है'इसी का एक सुख अनुभव में आता है। व्यक्तियों के संबंध में भी यह अनुभव होता है; माता-पिता आदि वृद्ध हों तो पुत्रादि उनका भोग तो कुछ नहीं कर सकते पर 'बड़े-बूढ़े घर में बैठे हैं' इस बात का 'मोद' परिवार वालों को रहता ही है। इच्छित के उपभोग का सुख 'प्रमोद' है। इसमें तीव्रता तो अधिक होती है पर कार्यकाल संक्षिप्त होता है। रसगुल्ला खाने में जितना समय लगे उतनी देर ही प्रमोद रहेगा। पाँच रसगुल्ले खाकर छठा खाने में प्रमोद की तीव्रता भी घट जाती है। लाभजन्य मोद होता कम तीव्र है पर उसकी मौजूदगी काफी देर रहती है। पुनरुपयोग के लायक वस्त्रादि के बारे में यह स्पष्ट है। उपभोग अनेक तरह का होता है, जो जैसा उपभोग करना चाहता है वैसे उपभोग से उसे प्रमोद मिलेगा अन्यथा नहीं। जो अपने पुत्र को रसगुल्ला खिलाना चाहता है उसे वही रसगुल्ला खिला दें तो रसगुल्ले का

शौकीन होने पर भी वह प्रमोद का अनुभव नहीं कर पायेगा क्यों वह 'खिलाने' की इच्छा रखे था, 'खाने' की नहीं। ऐसे ही, श्रेष्ठ वर को अपनी कन्या का दान करने से, पिता को प्रमोद होता है क्योंकि 'दान' ही पिता के लिये उपभोग हो गया। व्यक्ति-वस्तु-परिस्थिति का अभीष्ट विनियोग करने का सुख प्रमोद है, यह भाव है। विनियोग हो जाये, इतने से प्रमोद नहीं होता, खुद उसका विनियोग करने से ही प्रमोद होता है। अतः पुत्र के लिये रखा रसगुल्ला पुत्र आकर चुप-चाप खा लेइतने मात्र से पिता को प्रमोद नहीं होगा वरन् स्वयं कहकर वह उठाकर पुत्र को दे व सामने ही पुत्र खाये और प्रसन्न हो तब पिता को प्रमोद होगा। ऐसे ही मौका आ गया और फ़ायदा उठा लिया तो प्रमोद नहीं, वरन् मौका पैदा करके जब फायदा उठायें तब प्रमोद होता है। भाष्यकार ने केवल 'प्रकृष्टो हर्षः' प्रमोद का स्वरूप कहा है, वह प्रकर्ष भोग से ही हो ऐसा ज़रूरी न होने से ही उन्होंने जैसे मोद को लाभजन्य कहा वैसे प्रमोद को भोगजन्य नहीं कहा। वार्तिक में भी 'प्रकर्षगुणसंयुक्तः प्रमोदः स्यात् स एव तु' मोद ही विशेष होने पर प्रमोद होता है यही कहा है। सायणभाष्य में 'तत्कृतोपकारजन्यः' प्रमोद को बताया है अर्थात् इष्ट विषय से हम अपने लिये जो उपकार चाहते हैं वह होने से जो सुख मिले वह प्रमोद है। इसलिये प्रकृत ग्रंथ में भी 'भोग'-शब्द का पूर्वोक्त संग्राहक अर्थ ही समझना चाहिये। इन तीनका अनुभव जाग्रत् व स्वप्न में ही हो सकता है अतः इन्हें एक समूह में रखा 'ते त्रयः' कहकर। ये तीनों सविषय ही होते हैं यह भी इनमें समानता है। तारतम्य वाले होने से भी ये एक श्रेणी में समझे जाते हैं। तीनों में वृत्ति का प्रमुख उपयोग है यह स्पष्ट है। आनंदमयकोश को कारणशरीर से एक समझा जाता है, और कारणशरीर की अवस्था सुषुप्ति कही जाती है किंतु उक्त तीन सुख सुषुप्ति में नहीं, अन्य अवस्थाओं में होते हैं जिससे स्पष्ट है कि कारण शरीर केवल सुषुप्ति में नहीं, बाकी समय भी उपस्थित है, कार्याकार में कारण ही रहता है अतः कार्यावस्थाओं में कारण की स्थिति अवश्य मान्य है। जैसे तत्त्व का अज्ञान सुषुप्ति है जो जाग्रदादि में भी है ऐसा 'निद्रा तत्त्वमजानतः' आदि मांडूक्यकारिका से पता चलता है वैसे जाग्रदादि में होने वाले प्रियादि भी आनंदमयकोश ही हैं यह समझ लेना चाहिये।

धड़रूप बताये 'आनंद' को भाष्य में 'सुखसामान्य' कहा है। प्रियादि तीन सुखविशेष हैं; आगे, प्रियादि प्रत्येक के अनन्त विशेष होते हैं पर श्रेणि-विभाजन में प्रियादि तीन ही गिने गये हैं; सुखविशेषों में अनुस्यूतरूप से प्रतीत होने वाला

सुखसामान्य होता है यद्यपि वास्तव में ऐसा नहीं कि विशेषों में सामान्य की अनुगति हो वरन् सामान्य में ही विशेष आश्रित रहते हैं। इसे भाष्यकार ने स्पष्ट किया है : जैसे प्रतिबिंबों में बिंब अनुस्यूत लगता है जबकि वास्तव में बिंब पर ही उसके सब प्रतिबिंब अध्यस्त हैं वैसे उक्त तीन सुखों में अनुस्यूत लगने वाला किंतु वास्तव में उनका आश्रय यहाँ आनंद कहा जा रहा है। यह सोपाधिक, आवृत आनंद ही है अतः इसे यहाँ 'कारणानंद' कह दिया अर्थात् यह निरुपाधिक ब्रह्मरूप आनंद नहींउसे तो पूँछरूप ब्रह्म कहा हैवरन् अज्ञान से परिच्छिन्न आनंद है जैसा कि सायणाचार्य ने 'यथोक्तवृत्त्युपादानभूताऽज्ञाने प्रतिबिम्बितः' से समझाया है। परंतु इसे प्रतिबिंबरूप कहने पर पुनः इसे वृत्तियों में अनुगत समझना कठिन लगता है क्योंकि एक प्रतिबिंब का दूसरे प्रतिबिंब में अनुगमन मानने की अपेक्षा बिंब का ही दोनों उपाधियों में अनुगमन सरलता से समझ आता है अतः सायणभाष्य में अर्थान्तर भी कहा है 'यद्वा वृत्तिप्रतिबिम्बानां प्रतियोगिजीवात्म-स्वरूपभूतोऽवच्छिन्नो बिम्बस्थानीयः स आनंदः' अर्थात् जिसका प्रतिबिंब पड़ने से प्रियादि वृत्तियाँ 'सुख' बनती हैं वह जीवात्मा यहाँ धड़रूप आनंद है। वास्तव में आनंद तो चेतन ही है, वही परिच्छिन्नावस्था में जीव है, वृत्तियाँ तो इसीलिये सुख लगती हैं कि उनमें आत्मा का प्रतिबिंब है जैसे उपग्रह सूर्य से प्रकाशित होकर ही सप्रकाश हैं। 'मुझे सुख हो रहा है' आदि व्यष्टिगत अनुभव भी इस रीति से समझ आते हैं। जीव अनादिसिद्ध है इसलिये भी उसी के प्रतिबिंब की चर्चा पर्याप्त है, ब्रह्म का वृत्ति में प्रतिबिंब मानने की ज़रूरत नहीं। जीव भी है ब्रह्म ही, इस दृष्टि से ब्रह्म का प्रतिबिंब भी कह देते हैं। यह व्याख्या अविद्या को जीवोपाधि समझकर उचित ठहरती है। 'आनंद' सामान्य होने से 'विशेष सुखों' के भेद में क्या कारण है? पुण्यभेद ही कारण है। पुण्यानुसार दर्शनादि से प्रियादि वृत्तियाँ बनने पर जो विशेष सुख हैं वे ही विषय-सुख कहे जाते हैं। उनका 'सामान्य' जो आनंद वह विषयापेक्ष नहीं है। किंतु वह भी अज्ञानरूप उपाधि की सात्त्विकता की अपेक्षा से बढ़ता है। भाष्य में कहा है कि तप, उपासना, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा से अंतःकरण जितना निर्मल होगा उतना आनंद में उत्कर्ष आयेगा। यद्यपि 'आनंद' की उपाधि अविद्या है न कि अंतःकरण तथापि अविद्या में सात्त्विकता बढ़ाने का उपाय यही है कि अंतःकरण उक्त साधनों से संपन्न हो। जैसे साफ सोने को करना हो तो भी गर्म तो गहने को ही करना पड़ता है या कपड़े की मैल हटाने के लिये धोना कुर्त्ते आदि को ही पड़ता है वैसे अविद्यारूप उपाधि में विशेष के आधान के लिये तत्कार्य अंतःकरण से ही साधना

करनी पड़ती है। उससे अंतःकरण भी परिशुद्ध हो जाता है, उसका भी कामनादि ज्वर निवृत्त हो जाता है जिससे प्रशांति कायम रहती है। कामना-उपशांति की अधिकता के अनुसार आनंद का उत्कर्ष होता है यह आनंदमीमांसा में कहेंगे जिसका संक्षेप श्लोक १३१ आदि से है। वह वर्द्धमान आनंद प्रियादिरूप नहीं है वरन् धड़स्थानीय है यह यहाँ समझ लेना चाहिये। 'कारणानन्द' से यह भी सूचित है कि गहरी नींद में बुद्धिकारणभूत अज्ञान में प्रतिबिंबित आनंद यही है जिसे वृत्तियों में अनुगत सामान्य कह रहे हैं। अर्थात् सौषुप्तानन्द ही अवस्थांतर में आनंदसामान्य के रूप में मौजूद रहता है। क्योंकि विशेषों की अपेक्षा सामान्य ही प्रधान होता है इसलिए यह कारणानन्द ही आनन्दमयकोश में प्रधान है एवं इसका कारणशरीर व सुषुप्ति अवस्था से विशेष सम्बन्ध प्रसिद्ध है।

प्रतिष्ठा बताया गया ब्रह्म ही आत्मानंद है। परमार्थ ब्रह्म का विज्ञान होकर अज्ञान हटने से जो निरावृत होता है वह सत्यादि-लक्षण वाला परतत्त्व ही यहाँ 'ब्रह्म' कहा है जिसे समझने के लिये पाँचों कोश उपस्थापित हैं, जो इन पाँचों के भतीर है और इन्हें सस्वरूप बनाता है। वही सारे जगत् का अधिष्ठान अतः प्रतिष्ठा है। अन्य कोशों में कही पूँछ कोशों का हिस्सा थी पर यहाँ ब्रह्म को आनंदमय के हिस्से की दृष्टि से पूँछ नहीं कहा वरन् पूर्व-पर्यायों में पूँछ का प्रवाह है इतने मात्र से कह दिया, तात्पर्य उसे सबका अधिष्ठान बताने में है। पूँछ पर लंगूर आदि बैठते देखे जाते हैं, अतः पूँछ अधिकरण भी बनती है इसलिये उसे प्रतिष्ठा बताया है। सूत्रभाष्य में कहा 'पुच्छवत् पुच्छं प्रतिष्ठा परायणम् एकनीडं लौकिकस्य आनंदजातस्य ब्रह्मानन्दइत्यनेन विवक्ष्यते, नावयवत्वम्' (१.१.१९)। यद्यपि भाष्यटीका वनमाला में आनंदमय कोश की पूर्व कोशों की तरह उपासना का निषेध किया है तथापि प्रकृत ग्रंथ एवं सायण भाष्य में इसकी भी उपासना मानी है। जैसे 'महः पुच्छम्' की उपासना संगत है वैसे यहाँ भी 'अनवच्छिन्न मुख्य आनंद ब्रह्म रूपकगत पक्षी की पूँछ है' ऐसा ध्यान संभव है। सायणाचार्य ने माना है कि जैसे मणिप्रभा को मणि समझकर उस ओर जायें तो ठीक उस जगह नहीं पर निकट में मणि मिल ही जाती है वैसे पुच्छब्रह्मरूप प्रतिबिंब पर एकाग्र बुद्धि ही बिंब को पहचान लेती है। तात्पर्य है कि उपास्य ब्रह्म को अवयवस्थानीय मानकर भी प्रवृत्त होने पर वह रहेगा तो ब्रह्म ही। ब्रह्म पर एकाग्र होने का यह भी एक उपाय बने तो कोई हर्ज़ नहीं यह भाव है। वस्तुतः तो गुहा में निहित आत्मा तक पहुँचना है, गुहाओं में अंतिम आनंदमय है अतः उसके 'अंत' में (पूँछ में) आत्मा (ब्रह्म) मिलेगायह उपदेश है।

अन्न-प्राण-मनो-विज्ञाना-ऽऽनन्दैर्जनिता इमे।
कोशास्तेषु क्रमेण स्युरुत्तरोत्तरम् आन्तराः।।८१।।
विज्ञानकोशन्यायेन फलमुन्नीयतामिह।
तदुपास्तिफलं चार्थात् तत्त्वबोधफलं भवेत्।।८२।।
आनन्दं ब्रह्म विज्ञाय त्यजेदामरणं न चेत्।
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामानवाप्नुयात्।।८३।।

आचार्य शंकरानंद ने दीपिका में समझाया है : स्थूल देह ब्रह्म को ढाँकने वाला बाहरी कोश है जिसे सबसे पहले हटाना पड़ेगा अतः उसका सबसे पहले वर्णन किया, एवं च वह प्रथम कोष है। (गौणात्मा की कोषता न मानकर अन्नमय को प्रथम जानना चाहिये)। स्थूल के व्यवहारों का निमित्त क्रियाशक्तिरूप प्राण द्वितीय कोष है। प्राण को मन इधर-उधर ले जाता है अतः अनिश्चयात्मक ज्ञानशक्तिरूप मन तीसरा है। मन जिसके पराधीन है वह निश्चयात्मक बुद्धि चौथा कोश है। बुद्धि भी सुख के परतंत्र है; अवस्थात्रय में जो कार्य-कारण उपाधियों से अवच्छिन्न सुख है वही पाँचवाँ कोश है। प्रियादि तीन जाग्रत्-स्वप्न में होते हैं और अव्याकृत उपाधि वाला आनंद सुषुप्ति में होता है। (इतने ही कोश हैं)। इससे परे अकार्यकारण सर्वाधार ब्रह्म का कथन है।इस प्रकार ब्रह्म कोशों के अधिष्ठानरूप से समझना है जो व जब तक समझने में दिक्कत महससू करे वह तब तक ब्रह्म की अधिकरण (आधार) के रूप में उपासना कर ले। 'आधार' को द्वार बनाकर अधिष्ठान में प्रवेश मिलता है यह वेदांतशास्त्र की मान्य रीति है, तदनुसार यहाँ भी समझना चाहिये।।७६-८०।।

आनंदमयकोश साक्षात् ब्रह्म का आवरक है, अन्तिम गुहा है जिसमें सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म निहित है, इस कोश की आत्मरूप से अवगति, उपासना का फल इस कोश की चरमता प्रकट करते हुए बताते हैं **पूर्वोक्त पाँच कोश अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनंदों से उत्पन्न होते हैं तथा क्रमशः एक-दूसरे से भीतर रहते हैं।।८१।। विज्ञानमय कोश की उपासना के फल को ही देहलीदीप न्याय से आनंदमयकोश की उपासना का फल भी समझ लेना चाहिये। मुख्य फल तो यही है कि इस अंतिम कोश से भी विविक्त आत्मतत्त्व का अवबोध प्राप्त हो जाये।।८२।। 'आनंद ब्रह्म है' ऐसा समझे, उपासना करे और मरणपर्यन्त यह वृत्ति कायम रखे तो शरीर रहते ही निष्पाप होकर ब्रह्मलोक जाकर सब कामनाएँ पूरी कर लेता है।।८३।।** कोशों के अवयवों से ही कोश निर्मित हुए हैं।

अन्न से स्थूल देह की उत्पत्ति स्पष्ट है। प्राण-पंचक विशिष्ट क्रम से स्थित होकर प्राणमय कोश बनाता है। मन अर्थात् वेद और विज्ञान अर्थात् श्रद्धादि-पंचक; इनसे मनोमय-विज्ञानमय कोश बनते हैं। आनंद अर्थात् प्रियादि तीन सुख और सुख सामान्य, इन चार का जब ब्रह्मरूप अधिष्ठान पर अध्यास होता है तब आनंदमय कोश तैयार होता है। अन्नमय कोश प्रतिजन्म नया पैदा होता है, बाकी कोश मोक्षपर्यन्त रहते वही हैं, सुप्ति-प्रलय में अप्रकट होकर अन्यदा प्रकट रहते हैं। अन्नमय विराट् के अंशरूप से, प्राण-मन-विज्ञानमय कोश हिरण्यगर्भ के अंशरूप से और आनन्दमय ईश्वर के अंशरूप से पैदा होते हैं। ईश्वर की वास्तव निरंशता होने पर भी प्रातीतिक सांशता है। कर्मों के फलस्वरूप भोक्तृकोश प्रकट होने पर भोग पाने की चेष्टा में समर्थ कर्तृकोश प्रकट होता है। वह भी साधन-सापेक्ष ही कृति सफल करेगा अतः करणकोश प्रकट होता है। बाह्य अभिव्यक्ति अर्थात् क्रिया और भोगोपयोगी स्थूलार्थसंबंध के लिये सप्राण आयतन आवश्यक होने से प्राणकोश व अन्नकोश प्रकट होते हैं। इनका आत्मा से नैकट्य शेषिता की दृष्टि से स्पष्ट है।

उपनिषत् में पूर्व के कोशों की उपासना के फलों का कथन करने पर भी आनंदमय की न उपासना कही न फल कहा जिससे प्रधान पक्ष में यहाँ उपासना मान्य भी नहीं किंतु ग्रंथकार ने मानी है अतः उसे उपपन्न भी किया है। सप्रयोजनता, सफलता भी वस्तु के सद्भाव में एक उपपत्ति होती है अतः आनंदोपासना यदि सफल है तो उसके विधान को स्वीकारना उचित है। आनंदमय का ज्ञान तो आत्मविवेकरूप फल प्रदान करता ही है जिसका अंतिम फल मोक्ष है, उसकी उपासना क्या फल देगी? यह प्रश्न होने पर ग्रंथकार ने उत्तर दिया कि जैसे देहली पर रखा दीपक भीतर-बाहर दोनों तरफ प्रकाश प्रदान करता है वैसे विज्ञानकोश की उपासना का जो फल बताया गया वही आनंदकोश की उपासना का भी फल समझा जा सकता है। 'अर्थात्' मायने अर्थ को समझकर (अर्थमवगम्य) तो तत्त्वबोधरूप परमफल होता ही है पर उपासना भी सफल है, उससे साधक निष्पाप होकर ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेता है। आनंदकोश व्यष्टि में ईश्वरस्थानीय होने से ईश्वरोपासना ब्रह्मलोकफलक होना संगत ही है। 'आनंदमय कोश का आश्रय ब्रह्म है; ऐसा ब्रह्म मैं हूँ' यों अहंग्रहेण उपासना परिपक्व होने पर उक्त फल हो जाता है। विज्ञानकोश की उपासना का फल श्रुति ने यों बताया 'विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामन् समश्नुते।' (तै.ब्रह्म. ५)। उसी श्लोक का प्रसंगानुसार 'ऊह' से परिवर्तनकर ग्रंथकार ने 'आनन्दं ब्रह्म'

आनन्दमयकोशेऽस्मिन् पञ्चमावयवः श्रुतः।
ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म स्वात्मानन्द इतीक्ष्यताम्।।८४।।
उपासनाच्चित्तशुद्धौ ब्रह्मतत्त्वमवेक्ष्यते।
गुहाहितब्रह्मबोधात् सर्वकामाप्तिरीरिता।।८५।।

आदि कहा है। ऊह मीमांसा की मान्य प्रक्रिया है जिसमें उपयोग के अनुसार शब्दों में हेर-फेर की जाती है। इन न्यायों का दुरुपयोग न हो अर्थात् हर कोई मनमानी हेर-फेर आदि न करे इसलिये परंपरानुसार ही ऊहादि को माना जाता है। वृत्तिकार की परंपरा ध्यान में रखकर यहाँ उपासना स्वीकारने से फल भी समझना संभव है। भाष्य-दृष्टि से तो यह प्रसंग विवेकपूर्वक तत्त्वावगमफलक ही है यह याद रखना चाहिये।।८१-३।।

उपासना होने पर भी पूर्ववत् यह कोश की उपासना नहीं वरन् परमात्मा की उपासना है यह समझाकर ग्रंथकार आनंदमयाधिकरण के सिद्धान्त से भी अविरोध स्थापित करते हैं **'आनंदमय' नामक पाँचवें कोश के वर्णन में पूँछ रूप पाँचवे हिस्से को 'ब्रह्म' शब्द से कहा है; वह ब्रह्म निज-आत्मारूप आनंद है ऐसी उपासना करनी चाहिये।।८४।।** पूर्व में तो समूचे कोश की मैं-रूप से उपासना थी पर यहाँ कोश के अधिष्ठान की ही मैं-रूप से उपासना है। अतः स्पष्ट ही ईश्वरोपासना होने से ईशोपासना के मान्य फल का इससे लाभ होना उचित ही है। आनंदमयाधिकरण में भाष्यसिद्धांत यही है कि चार अंगों वाला आनंदमय जीव है और 'पूँछ' कहा ब्रह्म परमात्मा है। पंचावयव आनंदमयकोश को ईश्वर मानकर उपासना स्वीकारने से सिद्धान्तविरोध आता। पर आचार्य विद्यारण्य स्पष्ट कर रहे हैं कि वे आनंदमय को जीव मानते हुए ही यहाँ ईश्वरोपासना का ही विधान स्वीकारते हैं अतः सिद्धांतानुकूल ही व्याख्या है। आनंदमय के अवयव के रूप में कथन तो केवल पूर्वागत प्रवाह के अनुसार रूपकपूर्ति के लिये है। अतः यहाँ जो उपासना है वह जीव के आश्रय परमात्मा की अहंग्रहोपासना ही होने से उक्त फल प्रदान करती है।।८४।।

इस उपासना का मुख्य प्रकरण के अनुसार दृष्ट फल भी है **उपासना से चित्त की शुद्धि हो जाने पर साधक ब्रह्म के वास्तव स्वरूप का दर्शन पाता है। गुहा में छिपे ब्रह्म के ज्ञान से सारी कामनायें पूरी होती हैं यह वल्ली के प्रारंभ में ही कह दिया था।।८५।।** चित्त की अशुद्धि है राग-द्वेषादि। इन्हीं के वेग से प्राणी सत्य को देख नहीं पाता। गहना, कपड़ा आदि जितने ज़्यादा सुंदर आकार का होता

है उतना ही ग्राहक उसके स्वर्ण, सूत आदि के बारे में धोखा ज़्यादा खाता है। नाम-रूप का आकर्षण वस्तु के परीक्षण में प्रतिबंधक बनता है, सावधान करने पर भी व्यक्ति फँस जाता है। आजकल तो सत्संग में भी ऐसा होने लगा है! मंच, पंडाल आदि की साज-सज्जा, गीत-संगीत की मधुरता आदि के राग से लोग 'क्या समझाया गया' इससे बेखबर रह जाते हैं। सप्ताहादि तक प्रतिदिन दीर्घकालीन सत्रों में कथाश्रवण करने वाले महसूस भी करते हैं कि समझने का मौका मिले बिना केवल सुनते जाने से जीवन में उतारें ऐसे साधन का परिचय नहीं मिलता किन्तु कार्यक्रम की रौनक से ही प्रसन्न होकर 'अच्छा सत्संग हुआ' मान लेते हैं। सांसारिक वार्ता से बचकर भगवत्संबंधी चर्चा सुनी यह बहुत अच्छी बात है और इससे कुछ पुण्य भी अर्जित होगा, किन्तु आध्यात्मिक साधना के लिये कोई प्राप्ति हुई या नहीं हुई यह विचारने का मौका न मिलने से सत्संग के वास्तविक लाभ से वंचित रह जाना पड़ता है। संसार के रचयिता ने स्वयं बताया है कि यह अशाश्वत दुःखालय है किन्तु इस पर उसने जो नाम-रूप का मुलम्मा चढ़ा दिया है उसके आकर्षण से जीव संसार की उस वास्तविकता को देखना ही नहीं चाहता, भले ही बारंबार दुःख की मार सहता रहे! वेदवाक्य सुनकर भी सही ज्ञान न होने में कारण चित्त की यह अशुद्धि ही है। उपासना के फलस्वरूप चित्त शुद्ध हो जाता है तो यह हिम्मत आती है कि वस्तु की यथार्थता स्वीकारें। जानकर भी स्वीकारना नहींयह अशुद्ध चित्त का स्वभाव है : पुत्रों में परस्पर वैमनस्य पनप रहा है अतः शत्रुता आने से पूर्व बँटवारा हो जाये तो हितकर है ऐसा जानकर भी 'मेरे जीवित रहते अलग न हों, बाद में चाहे जो करें' यह मनोवृत्ति सत्य को स्वीकारने की हिम्मत न होना ही दर्शाती है। इसी तरह, भगवान् ने कहा है तो संसार दुःखालय होगा पर हम इसको दुःखरूप न देखें, आपाततः प्रतीयमान सुखों पर एकाग्र रहेंयह अशुद्ध-चेतस्क का भाव रहता है। ऐसा व्यक्ति वैराग्य से वंचित रहकर मोक्षमार्ग पर नहीं चल पाता। ईश्वरोपासना का दृष्ट फल यह अशुद्धि दूर होना है, राग मिटना है। नैष्कर्म्यसिद्धि में 'चित्तशुद्धिः, ततः संसारयाथात्म्यावबोधः, ततो वैराग्यम्' (१.५१) यह क्रम बताया है एवं इसका उपाय कहा है

'शुद्ध्यमानं तु तच्चित्तम् ईश्वरार्पितकर्मभिः।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यथ सुनिर्मलम्।।' (१.४७)

अर्थात् परमेश्वरप्रसन्नतार्थ स्वधर्मपालन से चित्त शुद्ध होता है। उपासना भी मानस कर्म ही है अतः इसी न्याय से वह मन को रागादि मलों से रहित करती है। शुद्ध मन

ही शुद्ध परमात्मा का दर्शन प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार 'शरीरे पाप्मनो हित्वा' यह फल संपन्न हो जाता है क्योंकि पापों के मूल रागादि से छुटकारा मिल जाता है। 'सर्वान् कामानवाप्नुयात्' (श्लोक.८३) यह फल तब प्राप्त होता है जब उक्त शुद्धि से संपन्न मन प्रत्यग्रूप परब्रह्म का साक्षात्कार संभव कर देता है। इस प्रसंग के प्रारंभ में ही 'सूत्र' का व्याख्यान करने वाली ऋचा ने यह फल बताया था (श्लो.२३)। उपासना से पर्याप्त शुद्धि न हो और आजीवन उपासना चले तो ब्रह्मलोक फल होगा तथा शुद्धि हो जाये तो परमात्म-साक्षात्कार से कैवल्यलाभ हो जाता है यह तात्पर्य है। एवं च आनंदमयपर्याय में उपासना स्वीकारने पर भी मूल प्रसंग का विच्छेद नहीं है तथा शारीरक-विरोध नहीं है यह दिखा दिया। कोशोपन्यास का उपसंहार होने से उपक्रमोक्त फल का अनुसंधान उचित है अतः अंतिम कोश के फल का ऊहन उपक्रमोपसंहार की एकवाक्यता का सम्पादक होने से न्याय्य है यह भी आचार्य ने स्पष्ट कर दिया।।८५।।

परम लाभ ब्रह्मज्ञान से होता है, वह ब्रह्म सत्य ज्ञान-अनन्त है। ब्रह्म की अनन्तता उसे आकाशादि जगत्कारण कहकर समझाई तथा ज्ञानरूपता गुहाहित, कोशान्तर्वर्ती प्रत्यग्रूप कहकर समझाई। अब सद्रूपता स्थापित करेंगे। लोक में ज्ञेय को सत्य व साधारण साधनों से अज्ञेय को असत्य मानते हैं। ब्रह्म सबको ज्ञेय बनाने वाला होने से स्वयं ज्ञेय बनता नहीं अतः संसारी लोग जगत् को सत्य एवं ब्रह्म को असत्य मानते हैं जबकि समझदार इससे विपरीत ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य स्वीकारता है। कौवे-उल्लू की रात की तरह दोनों की अनुभूतिका अंतर है जैसा गीता में कहा है कि लोगों को जो बिलकुल नहीं सूझता उसे संयमी साफ देखता है, लोग जिसे साफ देखते हैं वह यथार्थदर्शी मुनि को नहीं दीखता (२.६९)। आचार्य शंकर ने एक सूक्ष्म तथ्य प्रकट किया है जो अनुभव में आता है एवं आधुनिक मनोविज्ञान उस पर आधारित होकर व्यक्तित्व-निर्माण का प्रयास भी करता है। 'तत्क्रतु' न्याय के रूप में यह रहस्य श्रुति में (बृ.४.४.५) निहित है। आचार्य ने अपरोक्षानुभूति में बताया है

'भावितं तीव्रवेगेन यद् वस्तु निश्चयात्मना।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत्।।' (श्लोक १४०)।।

जिस वस्तु का निश्चयकर उसी की तीव्र भावना बनायी जाती है वह वस्तु पुरुष के स्वरूप में अंकित हो जाती है। अत एव उन्होंने वहीं सावधान किया है कि आत्मवस्तु के बारे में सही निश्चय और भावना ही बनानी चाहिये।

'भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।

ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत्।।' (श्लो.१२९)
भाव के, विद्यमान के बारे में वृत्ति बनाते रहने से साधक स्वयं भावरूप रहेगा व शून्य की वृत्ति बनाता रहा तो खुद भी शून्य हो जायेगा! ब्रह्माकार वृत्ति बनाने से ही पूर्णता आती है अतः इसी का अभ्यास करना चाहिये। शून्य बनने का मतलब यही है कि अपनी सच्चिदानंदता से इतना बेखबर हो जायेगा कि मोक्षलाभ की प्रवृत्ति भी दुर्लभ हो जायेगी। ब्रह्मवृत्ति के अभ्यासी को ही उन्होंने वहाँ सत्पुरुष कहा है। यही प्रसंग इस उपनिषत् में आया है। यहाँ मंत्र है

'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः।।' (तै. ब्र. ६)

ब्रह्म असत् है ऐसा समझने वाला स्वयं असत् हो जाता है एवं ब्रह्म हैऐसा समझने वाला परमार्थ सत् होता है। ब्रह्म को नकारने वाला असत् इसलिये भी है कि वह सन्मार्गदूषक हो जाता है। आचार्य ने यहाँ भाष्य में कहा है 'यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्य अश्रद्दाधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यते, ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात् तस्य; अतो नास्तिकः सोऽसन्नसाधुरुच्यते।' सन्मार्ग की सद्रूपता यही है कि वह सद्रूप ब्रह्म तक पहुँचाता है। यदि ब्रह्म ही नहीं है तो वह मार्ग कहाँ का है! अतः ब्रह्म को अस्वीकार करने पर सन्मार्ग पर चलने का कोई उद्देश्य ही नहीं रह जाने से व्यक्ति नास्तिक ही होगा। ब्रह्म को ही परमार्थ सत्य समझेगा तभी व्यक्ति व्यावहारिक भोगों से आकृष्ट हुए बिना सन्मार्ग पर चलेगा, वर्णाश्रम धर्मों का पालन करेगा जिससे चित्त शुद्ध होकर अपनी परमार्थरूपता पहचानेगा। इससे वेद सूचित करता है कि केवल स्वर्गादि पारलौकिक फलों के लालच से जीव हमेशा सन्मार्गगामी नहीं बन सकता वरन् व्यवहार से अधिक जो परमार्थ सत्य है उसी के साधनरूप से धर्माचरण करे तभी दृढता से इस मार्ग पर चलता रह सकता है। धर्मपालन का एकमात्र फ़ायदा ब्रह्मदर्शन समझे तभी 'साधु' होगा। सनातन धर्म ही स्वयं को ब्रह्मदर्शन का उपाय मानता है अतः इसी में विकल्पहीनता है; स्वर्गादि फल तो असनातन धर्म भी अपने अनुयायियों को प्रतिज्ञात करते हैं अतः स्वर्गादि के लिये विकल्प उपलब्ध है। वास्तव में वे स्वर्गोपाय हैं या नहींयह अलग विषय है पर स्वर्गोपायरूप में उपस्थित तो हैं। किन्तु ब्रह्मदर्शन के लिये तो अन्य उपाय प्राप्त ही नहीं है। अतः वर्णाश्रमधर्म का पालन वही कर सकता है जो ब्रह्म को सत् स्वीकार कर मुमुक्षु हो।

दृग्दृश्यविवेकः

गुहाहितं ब्रह्म यत् तत् 'सत्यं ज्ञानम्' इति श्रुतम्।
तस्य ज्ञानस्य दृश्यास्ते कोशाः सर्वं जगत्तथा।।८६।।
जगत् कोशाश्च दृश्यत्वात् सन्ति, ब्रह्म न दृश्यते।
अतो नास्तीत्याह मूढस्तत्सत्तां वक्ति बुद्धिमान्।।८७।।
ब्रह्म नास्तीति चेद् वेद स्वयमेव भवेदसन्।
कोशात्मता दूषिता चेद् नाऽन्य आत्माऽस्ति तन्मते।।८८।।

उक्त मंत्र को समझाते हैं **मूढमति का कहना हैगुहा में निहित ब्रह्म को वेदने 'सत्य, ज्ञान' कहा है अतः ज्ञानरूप उस ब्रह्म के दृश्य हैं पूर्वोक्त कोश और सारा जगत्। दृश्य (ज्ञेय) होने से जगत् और कोश हैं, जबकि ब्रह्म नहीं है क्योंकि दृश्य नहीं है। इससे विपरीत, बुद्धिमान् कहता है कि ब्रह्म है।।८६-७।।** मूढ की विचित्र सोच है कि ज्ञान का विषय तो है माना जाये पर जिस ज्ञान के बल पर ज्ञेय को है मानें उस ज्ञान को नहीं है माना जाये! इस व्याघात को स्पष्ट करने के लिये 'सत्यं ज्ञानम्' यों सत्य का भी उद्धरण दिया। अनुभव करने वाला अनुभव में नहीं आता यह अनेक जगह वेद में समझाया है और 'तू दसवाँ है' आदि प्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा यह लोकप्रसिद्ध भी है। बहुधा अनुभव होता है कि स्वयं की सत्ता स्पष्ट मान लेने के कारण अपना उल्लेख करना रह जाता है, जैसे रेल से यात्राका पत्र (टिकट) लाना हो तो कुल यात्री गिनते समय स्वयं को गिनने से छोड़ देते हैं। विषयतया प्रतीयमानों को गिनते समय विषयी को न गिनना स्वाभाविक है। पर 'मैं विषय नहीं हूँ' की जगह 'मैं हूँ ही नहीं' मानना मूढता का लक्षण है! बुद्धिमान् को आत्मसत्ता साधने के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता क्योंकि आत्मा स्वतः सिद्ध है, केवल मूढता का आग्रह छोड़ना पड़ता है कि दृश्य को ही सत्य मानेंगे। सब कोश दृश्य हैं अतः इन्हें दृश्य बनाने वाला इनमें छिपा ब्रह्म कोशातीत है यह स्पष्ट हो जाता है।।८६-७।।

बुद्धिमान् के कथन को स्पष्ट करते हैं **यदि कोई समझता है कि ब्रह्म नहीं है तो वह स्वयं ही 'नहीं है' हो जाता है! दृश्यभूत कोशों को ही वह आत्मा मान सकता है, उनसे अन्य द्रष्टा को वह स्वीकारता नहीं क्योंकि वह दृश्य नहीं होता। यदि कोशों को आत्मा मानना सदोष सिद्ध हो जाता है तो आत्मा नहीं है यही अंगीकार्य रह जाता है।।८८।। (अन्नमयादि कोश आत्मा नहीं है यह तो पहले ही बता चुके।) आनन्दमयकोश में भी प्रिय आदि प्रथम तीन अवयव**

आनन्दमयकोशेऽपि प्रियाद्या नश्वरास्त्रयः।
अज्ञानं च ज्ञाननाश्यं न ब्रह्माङ्गीकरोत्यसौ।।८९।।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद स्वयमेवाऽत्र सन् भवेत्।
अदृश्यस्याऽपि सत्ता स्यात् स्वप्रकाशत्वसम्भवात्।।९०।।

नाशवान् होने से स्पष्ट ही आत्मा नहीं हैं। चौथा हिस्सा कारणानंद अज्ञानविशिष्ट है और अज्ञान भी तत्त्वज्ञान से नष्ट होता ही है अतः वह भी आत्मा हो नहीं सकता। यहीं तक दृश्यवर्ग है, इससे परे जो आश्रयरूप से कहा ब्रह्म वह दृश्य न होने से दृश्यमात्र-सत्यवादी को मान्य ही नहीं है। इस प्रकार ब्रह्मनास्तिक बनने पर स्वयं का अस्तित्व ही नकारने की स्थिति बन जाती है।।८९।। इससे विपरीत, यदि श्रुति-युक्ति से समझ लिया जाये कि ब्रह्म है, तो परमार्थभूमि पर भी साधक स्वयं सद्रूप हो जाता है। दृष्टिविषय न बनने वाला भी सद्रूप हो यह संगत है क्योंकि स्वप्रकाशता की सम्भावना नकारना अनुभव का अपलाप होगा।।९०।। यद्यपि सुनने में अटपटा लगता है तथापि शून्यवादी बौद्ध को देखकर मानना पड़ता है कि 'मैं नहीं हूँ' यह भी एक सिद्धांत है! आज-कल लोग बौद्ध साधनाएँ अपनाने लगे हैं, ईश्वर और जीवात्मा दोनों को नकारने वाले मत के अनुसार चिंतन करेंगे तो कहाँ पहुँचेंगे यह यहाँ उपनिषत् ने बता दिया। मूर्ख लोग आपात प्रचार से आकृष्ट होते हैं, सिद्धांत की तह में जाते नहीं और प्रचार करने वालों के लिये यह सुविधा हो जाती है क्योंकि विवेकशीलों को प्रचार से प्रभावित करना अतिकठिन है; एक बार उन मार्गों पर चल पड़े तो धीरे-धीरे वे संस्कार स्थिर होकर वे बातें सही लगती हैं। साधारण मानव स्वयं विशेष परीक्षा में अक्षम होता है, संस्कारानुसार मान्यतायें स्वीकारता है। परंपरावाद में यह सुविधा है कि कुछ-एक विचारकों ने गहन परीक्षा कर ली है, सामान्य व्यक्ति उन लोगों पर भरोसा कर चलता है। जब परंपरा शिथिल हो जाती है तब हर-एक को स्वयं विचार या निर्णय करना पड़ता है क्योंकि भरोसेमन्द 'अपना' तो कोई रहता नहीं। व्यक्तिवाद, स्वतंत्रवाद की बात बहुत अच्छी है पर व्यवहार में होता यह है कि अधिकतर लोग स्वयं गंभीर विचार में अक्षम होने से दिग्भ्रांत ही रह जाते हैं तथा विज्ञापनों से ही प्रभावित हुए जो कुछ भी मानने लगते हैं। वर्तमान बौद्ध साधनाओं का अवलंबन ऐसी ही परिस्थिति है, अनुयायी बने लोग उस धर्म दर्शन को समझते नहीं, उसके अर्थसिद्ध आयाम पहचानते नहीं अतः ठगे जाते हैं। जैसा पूर्व में तत्क्रतुन्याय बताया था, तदनुसार याद रखना चाहिये कि

असद्भावना से असत् ही प्रतीत होने लगेगा जो ग़लत और अनिष्ट है। सारी नैतिकता आत्मा की स्थायिता पर निर्भर है। आत्मा है ही नहीं तो नैतिकता, धार्मिकता आदि निरर्थक है। आत्म-असत्त्ववाद स्वीकारने पर इसके लिये तैयार रहना पड़ेगा कि समाज में, घर में झूठ-चोरी-जारी आदि का साम्राज्य रहेगा। यदि इनसे भय है तो मूल जो असद्वाद उसे छोड़ना पड़ेगा। बुद्ध की प्रशंसा करने वाले उनकी मान्यता के इन आयामों की ओर देखना नहीं चाहते जो वैचारिक छिछलापन ही है।

उपनिषत् समझा रही है कि ईश्वर को नकारोगे तो स्वयं को भी नकारना पड़ेगा। 'मैं हूँ' को भ्रम नहीं मान सकते क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' यह ज्ञान हो तभी 'मैं हूँ' का बाध हो और 'मैं नहीं हूँ' इसे जाना तो जानने वाला मैं रह ही गया! जैसे लोक में जो सब पर अविश्वास करता है वह अंत में स्वयं पर भी भरोसा नहीं रख पाता वैसे ही सर्वत्र असत्त्व देखने लगे तो खुद का भी असत्त्व मान बैठता है। 'आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म' आदि शब्दों के प्रयोग से भी गड़बड़ी हो जाती है क्योंकि इनके अर्थ का ख्याल नहीं रखते। इनका अर्थ वह वस्तु है जिसे 'मैं'-अनुभव से हमेशा जानते हैं। 'मैं नहीं हूँ' यह कहने में जैसा स्पष्ट विरोध है वैसा 'ब्रह्म नहीं है' कहने में लगता नहीं जबकि बात एक ही है। हम लोग शरीर को ही आत्मा समझते हैं अतः यदि सिद्ध हो जाये कि शरीर आत्मा नहीं तो हम भौंचक्के रह जाते हैं। ऐसे ही उन सबका हाल होता है जो किसी भी ज्ञेय वस्तु को या ज्ञेय वस्तु के ही परिप्रेक्ष्य में आत्मा समझते हैं जब यह सिद्ध होता है कि ज्ञेय अनात्मा होता है। फलतः ज्ञेय को आत्मा मानने वाला बाध्य हो जाता है यह मानने के लिये कि आत्मा ही नहीं है! विचारशील तो शास्त्रोक्त इस रीति से चलता है कि 'मैं'-प्रतीति किस विषय की है ? रमण महर्षि 'मैं कौन हूँ?' के अनुसंधान को अत्यधिक महत्त्व इसीलिये देते थे कि इस पर डटे रहने से त्वम्पदार्थ तो हाथ से नहीं जायेगा। भाष्यकार ने आत्मा को इसी के आधार पर सर्वजन प्रसिद्ध बताया है 'अस्मत्प्रत्यविषयत्वादपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः' (अध्यासभा.) 'सर्वो हि आत्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न 'नाहमस्मि' इति' (सूत्रभा.१.१.१) आदि।

मैं-प्रतीति के जो व्यभिचारी विषय हैं उन्हें अलग कर देने पर आत्मा का स्वरूप पता चल जाता है। अन्नमयादि कोशों का इसी आधार पर निराकरण होता है कि ये मैं-प्रतीति में हमेशा नहीं रहते, उस प्रतीति के व्यभिचारी हैं। आनंदमय कोश के भी प्रियादि तीन स्पष्ट ही आगमापायी होने से अनात्मा हैं। इनका सामान्य 'आनंद' क्या वस्तु है यह विचारणीय है। यदि स्वीकारें कि किसी-न-किसी विशेष के बिना सामान्य

हो ही नहीं सकता तब तो सब विशेषों के अनात्मा होने पर सामान्य भी अनात्मा मानना पड़ेगा। यदि अज्ञानरूप उपाधिविशेष वाले को आनंद कहें तो वह भी केवल सुषुप्ति में रहने से अस्थायी अतः अनात्मा है। अज्ञान ज्ञाननिवर्त्य प्रसिद्ध भी है, अज्ञान-विशिष्ट होने पर आत्मा भी निवर्त्य बन जायेगा। अज्ञान से परे तो ब्रह्मतत्त्व ही है, उसे स्वीकारें तब तो ठीक, अन्यथा अनात्मवादी ही बनना पड़ेगा। अत एव वेद समझाता है कि ब्रह्म आत्मरूप से ही प्रसिद्ध है। वैदिकों से अतिरिक्त सब ईश्वरवादी किसी दूसरे के कहने से ही ईश्वर स्वीकारते हैं, सबको स्वानुभव सिद्ध ईश्वर केवल वैदिक बताता है। अत एव हमारे यहाँ 'परमात्मा' शब्द प्रचलित है। अन्य सब कहते हैं कि आत्मा जीव हैं और उनसे सर्वथा पृथक् ईश्वर है। सनातनी कहता है कि जीव भी आत्मा है, ईश्वर भी आत्मा है, अतः ईश्वर के लिये हम परम-आत्मा शब्द का प्रयोग करते हैं। जीव के आकार में हमें आत्मा का साक्षात् ज्ञान है अतः ईश्वर का आकार (उपाधि) भले ही हमसे तिरोहित हो पर उसका आत्मा हमारे लिये साक्षात् ही है। हमने झोपड़े, टीन की छत वाले, एक मंजिले, दुमंजिले घर देखे हैं, डेढ़ सौ मंजिलों वाला घर नहीं देखा फिर भी घर क्या होता है यह हमसे छिपा नहीं है। डेढ़ सौ तल्ले वाले के बारे में भी हम समझ जाते हैं। इसी तरह आत्मा को हम जीव की उपाधि में समझ चुके हैं, ईश्वर की उपाधि को भले ही न जानें पर उपाधि जिसकी है वह तो हमसे छिपा नहीं है। औपाधिक रूप तो वैसे भी अवास्तविक है, सच्चा तो आत्मा है और वह हमें साक्षात् अपरोक्ष है अतः ईश्वर का सच्चा स्वरूप अनुभवारूढ है यह वैदिक सिद्धांत है। यह आत्मा अवश्य मान्य है। पार्थिवप्रकरण (उपदेशसाहस्री) में आचार्य कहते हैं

'अस्ति तावत् 'स्वयं' नाम ज्ञानं वाऽऽत्माऽन्यदेव वा।
भावाभावज्ञतस्तस्य नाभावस्त्वधिगम्यते।।' (श्लोक ३१)।।

'स्वयं कहलाने वाली वस्तु है अवश्य, उसे आत्मा, ज्ञान आदि नामों से कहें या न कहें। लोकसिद्ध सभी भावों व अभावों का वही साक्षी है। भाव-अभाव जिससे अधिगत होते हैं वह सद्रूप ही हो सकता है अन्यथा असाक्षिक विषय ही असिद्ध हो जाते हैं। है-नहीं है आदि विचार की प्रवृत्ति से पूर्व ही साक्षी आत्मा उपस्थित है जो विचारों का प्रवर्त्तक होता है। इसे उद्धृत करते हुए पंचदशी में (३.२३) कहा है

'अस्ति तावत् स्वयं नाम विवादाऽविषयत्वतः।
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत् प्रतिवाद्यत्र को भवेत्।।'

गौणात्मा पुत्रभार्यादिर्मिथ्यात्माऽन्नमयादिकः।
ब्रह्मानन्दो मुख्य आत्मा क्रमेणैते विवेचिताः।।९१।।

इसी दृष्टि से यहाँ (श्लोक.९०) ब्रह्म को 'स्वयं', स्वप्रकाश बताकर स्पष्ट किया है। क्योंकि स्वयं सत् है इसलिये ब्रह्म सत् है। स्वयं स्वप्रकाश है अतः ब्रह्म स्वप्रकाश है। अदृश्य, अज्ञेय, ज्ञानाऽविषय को नकारना नहीं बनता यदि वह स्वप्रकाश है। बौद्ध शून्यको स्वप्रकाश मानता नहीं, अन्यथा आत्मवादी ही हो जायेगा! निःस्वरूप होने से शून्य अज्ञेय रहकर अमान्य है, स्वप्रकाशरूप होने से ब्रह्म अज्ञेय रहकर भी अनिषेध्य है यह स्मर्तव्य है। अनात्मा ही प्रमाणापेक्ष होता है, ब्रह्म आत्मा होने से वैसे ही प्रमाण का मोहताज नहीं जैसे 'स्वयम्'। स्वप्रकाश का मतलब है कि उसे अपने अपरोक्ष व्यवहार के लिये बुद्धिपर्यन्त किसी अन्य की कोई अपेक्षा नहीं है। निज स्वरूप के बारे में सबका यही अनुभव है अतः स्वप्रकाश वस्तु होती है इसमें संदेह नहीं। वही वस्तु समस्त परिच्छेदों से रहित समझी जाये तो ब्रह्मज्ञान है। इसी के लिये गुहाओं में प्रवेश कराया गया।।८८-९०।।

श्रवण-प्रसंग समाप्त हो रहा है अतः कोशप्रक्रिया का उपसंहार करते हैं **अब तक क्रमशः इन बातों का विचार हुआ१) पुत्र, पत्नी आदि गौणात्मा हैं, २) अन्नमयादि आनंदमयपर्यन्त कोश मिथ्यात्मा हैं और ३) आनंदमय का आश्रय बताया गया आनन्दरूप ब्रह्म मुख्य आत्मा है।।९१।।** पूर्ववर्णित विषय का ही संक्षेप है, कोई नवीन बात इस श्लोक में नहीं कही।।९१।।

उपनिषत् में अन्नमयादि सब पर्यायों में 'भीतरी' आत्मा और उससे बाहरी की 'पूर्णता' कही है : १. 'तस्माद्वा एतस्माद् अन्नरसमयाद् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, तेनैष पूर्णः'। २. 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद् वा एतस्माद् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः, तेनैष पूर्णः'। ३. '...विज्ञानमयः,..'। ४. '...आनंदमयः...'। पंचम के बारे में यही कहा है 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य'। प्राणमय से अन्नमय पूर्ण है, प्राणमय के बिना अन्नमय रिक्त है, खाली है, निरर्थक है। ऐसे ही मनोमय से प्राणमय, विज्ञानमय से मनोमय और आनंदमय से विज्ञानमय पूर्ण है। भोक्ता के बिना कर्ता अपूर्ण, कर्ता के बिना ज्ञान अपूर्ण, ज्ञान के बिना शक्ति अपूर्ण और शक्ति के बिना शरीर अपूर्ण है। वार्तिककार ने 'पूर्णो रज्ज्वेव पन्नगः' (तै.२.२.१६) से समझाया है कि उत्तर से पूर्व को पूर्ण कहने का मतलब है कि उत्तर (प्रत्यक्) की अपेक्ष पूर्व (पराक्) मिथ्या है। अन्नमय से प्राणमय अलग है पर प्राणमय से अन्नमय अलग नहीं वरन्

उत्तरात्मविवेकेऽस्य पूर्वात्मा देहतां व्रजेत्।
तेनोत्तरेण पूर्वस्य पूर्णत्वाद् देहिदेहता।।६२
सत्येवं निखिलं पूर्वं शरीरं ह्यन्तिमात्मनः।
ब्रह्मानन्दस्तु शारीरः पूर्वस्याऽऽत्मेति निर्णयः।।६३।।

उसी से पूर्ण है अतः प्राणमय सत्य एवं अन्नमय असत्य है। यही न्याय आगे तत्तत् कोशों में लगता जायेगा। हर बार 'शारीर आत्मा' कहकर बाहरी कोश को शरीर और उसमें स्थित भीतरी कोश को शरीरी बताया है। वस्तुतस्तु तात्पर्य है कि सभी कोशों का आत्माअधिष्ठान, स्वरूपएक ही है, जो बाह्य कोशका आत्मा है वही आंतर कोशका आत्मा है। आनंदमय का आत्मा ब्रह्म ही है, उसका आगे कोई आत्मा नहीं। वार्तिक (२.६.८) में कहा है

'तस्यैष एव शारीरो योऽशरीरः सदेकलः।
आनन्दान्तस्य पूर्वस्य ह्यात्मा नात्मा ततः परः।।'

ब्रह्म कोई शारीर न होने से इसका शारीर आत्मा संभव ही नहीं। कोश क्रमशः शरीर-शरीरी बनते हैं एवं अंतिम शरीरी आत्मा ही ब्रह्म है। यह विषय सूचित करते हैं **विवेक से समझ लेने पर कि अगला (प्रत्यक्तर) कोश आत्मा है, पहले आत्मा समझा जा रहा बाह्य कोश केवल शरीर के रूप में समझ लिया जाता है। क्योंकि पहला (बाह्य) कोश अगले (आंतर) कोष से पूरा होता है इसलिये कोशों में देह-देही का संबंध संगत है।।६२।। अतः अंत में बताये आत्मा के लिये पूर्वदर्शित सारे कोश शरीर ही हैं तथा उन सभी का शारीर आत्मा ब्रह्मरूप आनन्द ही है।।६३।।** शेषी देही और उसका शेष देह होता है। जो अन्य के प्रयोजन से कार्यरत रहे वह शेष तथा जिसके प्रयोजन से कार्यरत रहे वह शेषी कहा जाता है। एक के लिये शेषी दूसरे का शेष भी हो जाता है जैसे बाबू का शेषी अफसर और वह निदेशक का शेष है, आगे निदेशक भी सचिव का शेष है। कोशों में भी इसी तरह शेष-शेषी का भाव है। गौणात्मा शेष है मिथ्यात्मा का, स्थूल शेष है सूक्ष्मका, उसमें भी प्राण शेष है मनका और वह विज्ञान का शेष है जो फिर आनंद का शेष है तथा वह ब्रह्म का, साक्षी का शेष है। शेष शरीर तथा शेषी शरीरी (शरीर जिसका है) समझाया जा रहा है क्योंकि हर स्तर पर 'शारीर' आत्मा का उल्लेख श्रुति में आया है। इसमें अवांतर विभाग असंख्य हैं : पुत्र-पत्नी दोनों गौणात्मा हैं पर पुत्र अपनी माँ का विरोधी हो जाये तो पिता अपनी पत्नी का ही ख्याल रखता है अतः पुत्र शेष है

व पत्नी शेषी है। इसी तरह स्थूल शरीर में मर्म पर चोट लगने को हो तो हाथ-पीठ आदि पर उस मार को लेते हैं अतः मर्म शेषी है। ऐसे ही अन्यत्र है। अवस्थाविशेष में शेषशेषिभाव उलट भी जाता है, एक समय जो अप्रधान है वही अन्य परिस्थिति में प्रधान हो जाता है। यह सारा विचार व्यवहार-कुशलता के लिये ज़रूरी है। विवेक के लिये तो इस विस्तृत विभाजन के चिंतन का प्रयोजन नहीं है। छह कोशों में आत्मदृष्टि छोड़कर सच्चिदानंद ब्रह्म को ही अपना स्वरूप समझनायही यहाँ तात्पर्य है। यद्यपि जीवन में सभी कोशों का उपयोग है तथापि प्रधान-गौण का विचार रखने से गौण के लिये प्रधान का नुकसान नहीं किया जायेगा। गौणात्मा की खुशी के लिये लोग शरीर बिगाड़ लेते हैं, शरीर के आराम के लिये प्राण (स्वास्थ्य) बिगाड़ लेते हैं, प्राण के (भूख-प्यास के) सुख के पीछे मन खराब कर लेते हैं, मन की खुशी के लिये विज्ञान को कमज़ोर करते हैं, विज्ञान (कर्तृभाव) के लिये आनंद की उपेक्षा करते हैं, सुख के लिये ब्रह्म की उपेक्षा किये हुए हैं। देह-देही के विचार से यह क्रम विपरीत बनाया जाये तभी साधक प्रगति करेगा। आज-कल इसे 'स्वार्थ' कहकर व्यक्ति को अनात्मा के व्यूह में फँसाना प्रचलित है पर विवेकी उस भ्रम से बचे, अनात्मा की महत्त्वहीनता याद रखे तभी साधना कर सकेगा। पुराणों की कथा है : नारद व पर्वत दोनों ऋषि कहीं जा रहे थे तो एक कुतूहल देखकर पर्वत ने संसार की कष्टमय स्थिति प्रकट की। उन्होंने देखा कि एक बकरा एक दुकान पर रखे अनाज पर बार-बार मुँह मार रहा है और दुकानदार उसे मार कर भगा रहा है। ऋषि होने से वे जान रहे थे कि वह बकरा अन्य कोई नहीं वरन् उस दुकानदार का बाप ही था एवं उसी ने दुकान जमाई थी। मरा तब बेटे व दुकान का आकर्षण था अतः बकरे योनि में भी वहीं जाता था पर मार ही खाने को मिलती थी। पुराण में ही नहीं, लोक में भी ऐसा अवसर मिलता है : एक ब्राह्मण को यक्षिणी सिद्ध थी। वह ऊँट पर कहीं जा रहा था, तेज़ चलने के लिये ऊँट को मारने लगा तो यक्षिणी ने बताया कि उसका बाप ही ऊँट बना उसके घर वाहन का कार्य कर रहा था! ब्राह्मण तुरंत ऊँट से उतर गया। पर ऐसी सिद्धियों के बिना हमें पता चले इसकी संभावना नहीं फिर भी यह तो समझ आता है कि जिस धनदौलत के पीछे हम सैंकड़ों अनर्थ बटोर रहे हैं वह मरने के साथ ही हमारी किंचित् भी नहीं रहने वाली है अतः उसके लिये अधर्म न करें। अविवेकी बाह्य प्रवृत्ति को प्रधान रखकर अध्यात्मसाधना करता ही नहीं, घोर विवेकी सर्वकर्मसंन्यासकर केवल अध्यात्मसाधना करता है, मध्यम विवेक वाला साधना का महत्त्व आंक कर यथासंभव बाह्य प्रवृत्ति

मननम्

श्रवणं मननं चोभे तत्त्वज्ञानस्य साधने।
उक्तनिर्णयपर्यन्तं विज्ञानं श्रवणाद् भवेत्।।६४।।

घटाता जाता है और साधना बढ़ाता जाता है। कोशविवेक का जीवन में यह असर आना चाहिये अन्यथा ख्याली पुलाव जैसा ही विवेक रह जायेगा।

यद्यपि आनंदमय के भीतर अन्य किसी का साफ उल्लेख कर नहीं बताया कि वह इसका आत्मा है एवं इसीलिये कुछ प्राचीन व्याख्याता इस प्रसंग में आनंदमय को चरम तत्त्व मान भी बैठे तथापि भगवान् भाष्यकार ने विस्तृत मीमांसा से स्पष्ट कर दिया है कि आनंदमय की पूँछ कहा ब्रह्म ही यहाँ प्रतिपाद्य है, वही सबसे प्रधान है, आनंदमय भी उसी का शेष है। आनंद क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप है इसलिये श्रुति ने यह प्रक्रिया रखी कि सोपाधि आनंद अर्थात् कोश से सर्वथा पृथक् कर निरुपाधि आनंद नहीं कहा पर दोनों के विवेक के लिये आत्मा (धड़) और पूँछ का अंतर कह भी दिया तथा आगे अनुप्रश्नों से रहस्य खोल भी दिया। ब्रह्म अंतिम शारीर (शरीरी) है तथा वस्तुतः वही सब कोशों का शरीरी है पर उपाधि रखकर, अर्थात् मनोमय की उपाधि से वह प्राणमयका शरीरी है इत्यादि। आनंदमय का शरीरी वह अन्य किसी उपाधि से नहीं है, उपाधि-प्राधान्य से शरीर और उपधेयप्राधान्य से शरीरी है यह भाव है। युक्ति की एक आवश्यकता 'समाप्ति' भी है अर्थात् अनवस्था से संतोष नहीं होता भले ही अनादि मानकर कहीं-कहीं मनको चुप कर लें। लोक में भी ज़िम्मेदारी टालने की प्रक्रिया कहीं समाप्त हो यही सब चाहते हैं। शरीरी बनना भी समाप्त होता है ब्रह्म में और शरीर बनना समाप्त होता है अज्ञान में अत एव मूलकार ने यहाँ 'निर्णय' शब्द का प्रयोग किया। इसी निर्णय के आधार पर साधक अन्तर्मुख होता चले यह तात्पर्य है।।६२-३।।

शारीर आत्मा बताकर श्रुति में 'अथाऽतोऽनुप्रश्नाः' से प्रश्नोत्तरद्वारा परमात्मविषय पर और प्रकाश डाला है जिसे मनन-स्थानीय समझकर यहाँ तक के प्रसंग को श्रवण के रूप में बताते हैं **श्रवण और मननये दोनों ही परमात्मा की वास्तविकता का निश्चय प्राप्त करने के साधन हैं। 'ब्रह्मानंद आत्मा है' इस पूर्वकथित निर्णय पर श्रवण से पहुँचा जाता है।।६४।। किन्तु साधक की अपनी बुद्धि में जो दोष हैं उनसे क्योंकि इस विषय में सन्देह होते हैं इसलिये ज़रूरी है कि वह मनन करे। उक्त निर्णय के बारे में तीन प्रधान संदेह होते हैं (जिन्हें श्रुति**

अथ स्वबुद्धिदोषेण यतः सन्देहसम्भवः।
अतोऽसौ मननं कुर्यात् सन्देहाः स्युस्त्रयोऽस्य हि।।६५।।

ने आगे के वाक्यों से दूर किया है)।।६५।। अज्ञात अर्थ के अपरोक्षका साधन प्रत्यक्ष और शब्द ही प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को वेद से ही जाना जा सकता है। वेद में ब्रह्म के बारे में क्या कहा गया है, इसे वेदार्थनिर्धारण के नियमों के अनुसार समझ लेना श्रवण है। वेदोक्त होने पर भी उस अर्थ के बारे संदेहों को विचार से मिटाने का नाम मनन है। वेदार्थ क्या हैयह निर्णय श्रवण से होगा, वह बात सही हैइसमें निःसंदिग्धता मनन से आयेगी। वेद में कर्म-उपासना भी बताये हैं, उनका श्रवण तो चाहिये ताकि क्या व कैसे करना है यह पता चले, किन्तु उनके बारे में मनन को स्थान नहीं है। लोक में भी, प्रयोगानुसार निर्धारित प्रक्रिया सीखकर कार्य में लानी पड़ती है, उस पर मनन न हो पाता है न आवश्यक है। दृश्य-विषयक होने से यथाकथंचित् उन प्रक्रियाओं में किसी तर्क की खोज भौतिक-रसायनादिशास्त्री कर भी लें पर उन तर्कों पर वे प्रक्रियायें निर्भर नहीं होती तथा प्रक्रिया अपनाने वाले उन तर्कों को महत्त्व भी नहीं देते। धर्म की फलहेतुता सर्वथा अलौकिक है, जीव को उपलब्ध ज्ञानसाधन कभी धर्म-फल में कार्यकारणता बताने में सक्षम नहीं होते। अत एव शास्त्र का उपयोग है, वही धर्म में प्रमाण है। शास्त्र जो व जिस तरह करने को कहे उसे उसी तरह करने से पुण्य होगा, शास्त्र में जिसे करने की मनाही है वह करने से पाप होगा, यह श्रवण से निश्चय हो जाता है। इस पर मनन नहीं किया जा सकता, 'क्यों?' का सवाल नहीं उठा सकते कारण कि शास्त्रैकसमधिगम्य बात का शास्त्रेतर उपाय से विवेचन संभव नहीं। 'क्यों' का प्रश्न उठायें भी तो उत्तर मिलना ही नहीं है क्योंकि उस उत्तर में प्रमाण क्या होगा? प्रत्यक्ष का धर्म विषय नहीं, अत एव तन्मूलक अनुमान का अविषय है। इस प्रकार उत्तर की संभावना न होने से प्रश्न उठाना बेकार है। जैसा बताया वैसा करके फल ले लेना व दुष्फल से बच जाना, यही किया जा सकता है।

क्यों-का विचार ब्रह्म के प्रसंग में ही संगत है क्योंकि वह हमारा स्वप्रकाश आत्मा है, उसका वेदोक्त स्वरूप हमें सुस्पष्ट अपरोक्ष भासता है बशर्ते हम अपनी बुद्धि उस लायक बनायें। बुद्धि में संदेह रहते वेदार्थ अपरोक्ष नहीं भासता अतः संदेह मिटाना ज़रूरी है। यह ग़लती नहीं करनी चाहिये कि धर्म में तो प्रश्न करते रहें, फलतः धर्मानुष्ठान से वंचित हो जायें, और ब्रह्म को 'मान' कर बैठ जायें, फलतः अपरोक्ष साक्षात्कार से वंचित रह जायें! यद्यपि अत्युत्तम साधक को श्रवण से ही निश्चय हो

जाने पर संदेह उठते ही नहीं अतः मनन नहीं चाहिये तथापि सामान्य साधक को अवश्य संदेह उठते हैं अतः उन्हें अवश्य मिटाना पड़ेगा। ब्रह्म-श्रवण का फल अपरोक्षानुभव है, यदि श्रवणमात्र से वह हो गया तब मनन नहीं चाहिये, यदि केवल श्रवण से वह नहीं हुआ तब संदेहनिवारण का प्रयत्न आवश्यक है। वेद में स्वयं इसलिये श्रवण से अतिरिक्त मनन का विधान ही है क्योंकि 'हमारे' बारे में कही बात है इसलिये हमें उससे विपरीत जो प्रतीत हो रहा है वह सब ग़लत है यह जब तक निर्णय नहीं कर लेंगे तब तक अपने बारे में उस वेदोक्त बात का अनुभव नहीं कर पायेंगे। शब्द की महती शक्ति है कि असंभव बात भी कही-समझी जा सकती है! समझते समय यह भी पता रहता है कि वस्तु ऐसी नहीं है लेकिन शब्दार्थ-रूप से पता चलता ही है। 'गधे का सींग लाओ!' सुनकर जवाब देते हैं 'गधे का सींग होता ही नहीं।' क्या नहीं होतायह पता है, वही लाने को कहा है इतना समझ आया, तभी जवाब दिया। इसलिये शब्द से ज्ञान हो जाने मात्र से ज़रूरी नहीं कि निश्चयात्मक प्रमा हो जाये, विरोध प्रतीत होगा तो शंका उठेगी ही। अतः प्रमा के लिये उसका समाधान करना पड़ेगा जिसे मनन कहते हैं। वेद ने मुझे ब्रह्म कहायह श्रवण से पता चलेगा तब शंका होगी 'मैं कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुखी परिच्छिन्न हूँ, मैं ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ?' इसे दूर करने के लिए मनन है अन्यथा मान लेंगे कि मैं तो जैसा हूँ वैसा ही हूँ, शरीर में और भी कोई होगा जो ब्रह्म है! कई वादी ईश्वर को व्यापक, सबके हृदय में मौजूद तो कहते हैं पर जिनके हृदय में हैं वे जीव तो ईश्वर से अलग ही हैं, मेरे हृदय में ईश्वर है पर मैं ईश्वर नहीं ऐसा मानते हैं। श्रवण के अभाव में वेद की बात ग़लत समझ आती है और मनन के अभाव में वेदोक्त बात अनुभवारूढ नहीं होती, पता तो रहती है, महसूस नहीं होती। कर्म-उपासना से कार्यकारण के तहत यथाकाल फल होगा अतः उसमें सही कर्म होना ज़रूरी है, उसके बारे में तर्क की कोई ज़रूरत नहीं। ब्रह्म का तो ज्ञान ही फल है अतः श्रवण-मनन चाहिये ताकि अप्रतिबद्ध साक्षात्काररूप निश्चय हो। संशय ही प्रतिबंधक होता है अतः उसे मिटाना आवश्यक है। तत्त्वज्ञान का साधन तो श्रवण है, वह अपरोक्ष ज्ञान निश्चय बने इसका उपाय मनन है। यहाँ दोनों को साधन इसलिये कहा कि सामान्यतः दोनों मिलकर ही निश्चय होता है, अकेले श्रवण से मोक्षफलक निश्चय दुर्लभ साधकों को ही संभव है। प्रमाणगत संशयों को श्रवण से और प्रमेयगत संशयों को मनन से हटाकर 'जैसा वेद ने कहा वैसा ही तत्त्व है' इस निश्चयरूप निदिध्यासन से विपरीतभावना दूर रखकर ही ब्रह्मसाक्षात्कार सफल किया

जा सकता है।।६४।।

निर्दोष प्रमाण होने से वेद तो अवश्य सही प्रमा उत्पन्न करता है लेकिन प्रमाता तैयार न हो तो प्रमा से वंचित रह जाता है जैसे वक्ता की भाषा न समझे तो श्रोता उसकी बात का सही अर्थ नहीं जान पाता। इस तथ्य पर सर्वज्ञात्ममहामुनि ने काफी विचार किया है तथा 'पुरुषापराध' निवृत्त करने की ज़रूरत और ढंग का खुलासा किया है। यहाँ 'बुद्धिदोष' से वही बात इंगित है। हर साधक के मन में जो संशय हों उनका उन्मूलन उसके लिये आवश्यक है। केवल तार्किक उधेड़बुन का नाम मनन नहीं वरन् मुझे अपनी ब्रह्मरूपता में जो अनुभव-विरोध, युक्ति-विरोध प्रतीत हो रहे हैं उन्हें दूर करने के लिये विचार को मनन कहते हैं। क्योंकि सबके संशय अलग-अलग होंगे इसलिये मनन में अत्यन्त वैविध्य रहता है। श्रवण तो प्रमाणाश्रित होने से एकरूप होता है। ग्रंथकार विभिन्न तरह के साधकों के उपयोगी तर्क एकत्र करते हैं अतः हर-एक अध्येता उनमें अनेक तर्क अनुपयोगी समझता है किन्तु उन तर्कों के भी उपयुक्त अधिकारी होते हैं जिन्हें वे तर्क ही निःसंशय बनाते हैं। साधक स्वयं तर्क से उत्तर नहीं पा सकता इसीलिये ब्रह्मसूत्र द्वितीयाध्याय से आज तक अनेक ग्रंथ तैयार हुए जो साधकों को अपने संशय दूर करने में सहायता देते हैं। कई लोग कहते हैं 'अपनी बात बताइये, दूसरे मतों की ग़लतियाँ क्यों बताते हैं?' उसका भी यही जवाब है कि मंदमति साधक अन्यों की ग़लत बातों को सही समझकर मार्गच्युत न हो जाये इसीलिये ग़लत मतों के दोष भी बताये जाते हैं, न कि द्वेषवश। श्रवण में गुरु का कार्य प्रधान है, मनन में प्रधान है शिष्य का कार्य, गुरु उसे मदद करता जाता है। जिसकी बुद्धि में ज़्यादा विरोधी बातें भरी हैं उसे उतना अधिक मनन करना पड़ेगा। मननफल निःसंदिग्ध बनना है अतः जितने विचार से मन श्रुत तत्त्व पर स्थिर हो जाये उतना ही अपेक्षित है। उसके बाद तो वह स्थिरता बनी रहे इसके प्रति सावधानी ही चाहिये जिसे निदिध्यासन कहते हैं।

वेद ने स्वयं विषय इस तरह उपस्थापित किया है कि तर्क भी मिलते रहते हैं। यद्यपि वेदोक्त होने से है वह उपदेश तथापि युक्ति का उपदेश है यह विशेषता है। यहाँ भी अनुप्रश्न कहकर प्रश्न-उत्तर के रूप में जो समझाया है वह युक्ति के ढंग को सूचित कर मनन के स्थानापन्न है। अन्यत्र उपनिषदों में भी अनेक युक्तियाँ मिलती हैं। यहाँ अनुप्रश्न तो दो हैं, एक प्रश्न यद्यपि पूर्वप्रसंग में समाहित है तथापि प्रकारान्तर से उसका पुनः उत्तर आयेगा इसलिये उसे इन दो से जोड़कर कुल

तीन प्रश्न ग्रंथकार ने बताये। भाष्यकार ने भी इसी प्रकार प्रश्न माने हैं। अन्य भी प्रकार भाष्य में है जिससे चार प्रश्न बनते हैं पर उसमें भाष्यकार को अधिक स्वारस्य नहीं लगता। तीन प्रश्न उठाकर उनका उत्तर श्रुति में दिया है, तात्पर्य है कि अन्य भी यदि प्रश्न उठे तो विचार से उसका भी उत्तर ऐसा खोज लेना चाहिये जिससे उपनिषत् का प्रतिपाद्य उपपन्न हो। तर्क का दिशाहीन प्रयोग निरर्थक होता है। आचार्य ने 'श्रुतिमत तर्क' के अनुसंधान का इसीलिये निर्देश दिया कि तभी तर्क सार्थक होगा। शास्त्रप्रदर्शित तर्क भी शास्त्रोक्त अर्थ के समर्थक ही होते हैं अतः वह निर्देश शास्त्रमूलक ही है।।९५।।

उपनिषत् में 'अनुप्रश्न' अर्थात् उपदेश को समझ लेने के अनंतर उठने वाले संदेह इस तरह बताये हैं

'उताऽविद्वान् अमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३?
आहो विद्वान् अमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता ३ उ?'

क्या परमात्मा को न जानने वाला भी मरकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है? क्या ब्रह्मज्ञ ब्रह्म को पाता है? तात्पर्य है कि अज्ञ हो या तज्ज्ञ, जीव है तो ब्रह्म ही अतः या दोनों को ब्रह्मप्राप्ति होगी या दोनों को नहीं होगी; एक को हो, दूसरे को न होयह कैसे संगत है? इन दो प्रश्नों से अन्य तीसरा प्रश्न श्रुति ने मुखतः नहीं कहा पर पूर्व वाक्य में 'यदि ब्रह्म को असत् समझता है, यदि ब्रह्म को 'है' समझे'यों कहा होने से 'ब्रह्म है या नहीं?' यह भी एक प्रश्न समझ आता है और आगे दिये उत्तर से भी पता चलता है कि यह प्रश्न मानकर उत्तर है अतः इसे तीसरा प्रश्न मानना चाहिये। सर्वप्रथम इसी का जवाब दिया जायेगा। 'अनु' कहकर वेद ने सूचित किया कि ये प्रश्न उस स्थिति के हैं जब वेदार्थ क्या है यह समझा जा चुका है अर्थात् श्रवण संपन्न हो चुका है। प्रमाण के बारे में अब शंका नहीं, प्रमेय की परीक्षा है। आत्मा अपरोक्ष है। उसे हम स्वानुभव से कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी समझ रहे हैं। वेद उसे इनसे विपरीत सच्चिदानंदघन बता रहा है। एक चीज़ के बारे में दो विरोधी ज्ञान हों और दोनों ज्ञानों के बारे में शंका की गुंजाइश न हो तो यही मानना पड़ता है कि दोनों के विषय अलग-अलग होंगे। प्रमाण परस्पर विरुद्ध कभी नहीं होते, यदि प्रतीत हों तो या उनमें से कम-से-कम एक अप्रमाण होगा और या उनके विषय अलग होने से उनका विरोध भ्रम होगा। स्वानुभव का जब तक बाध नहीं तब तक इसे अप्रमाण नहीं कह सकते और वेद स्वतः प्रमाण ही है। अतः इनका आत्मा के बारे में विरोध होने पर

ब्रह्माऽस्ति नो वेत्येकः स्याद्, अज्ञानी मुच्यते न वा।
तत्त्वविद् मुच्यते नो वेत्यपरौ संशयावुभौ।।९६।।

इनके विषय-क्षेत्र की ही परीक्षा करनी पड़ेगी। वेद जिसे आत्मा कह रहा है और हम जिसे कर्ता-भोक्तादि अनुभव कर रहे हैं, क्या वे दोनों एक हैं या पृथक् हैं? क्योंकि श्रवण हो चुका इसलिये साधक को वेद प्रमाण से 'मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ' यह पता चला है। फिर भी सुख-दुःख का अनुभव हो रहा है। अतः संशय होना स्वाभाविक है। यदि संशय न हो तो इसका मतलब है वेद प्रमाण से शुद्ध आत्मा का ज्ञान ही नहीं हुआ! दही सफेद और काला दोनों दीखे, फिर भी संदेह न हो यह हो नहीं सकता। वेद में प्रामाण्य-निश्चय वाले को श्रवण से यह पता चल जाता है कि मैं शुद्ध चेतन हूँ। लेकिन लौकिक सुख-दुःख भी उसे स्वयं में अनुभव होते हैं। अतः उसके मन में तीव्र जिज्ञासा होती है कि आखिर वास्तव में मैं क्या हूँशुद्ध निर्विकार आनंद हूँ, या विकारवान् संसारी हूँ? बुद्धिदोषों के अनुसार आत्मविषयक अनेक संदेह उठते हैं जिन सबका निराकरण किये बिना साधक का आत्मबोध सफल नहीं होता। प्रश्न मूलकार बताते हैं **पहला प्रश्न है कि ब्रह्म है या नहीं? दूसरा है कि अज्ञानी मुक्त होता है या नहीं? तीसरा है कि तत्त्ववेत्ता मुक्त होता है या नहीं?।।९६।।** ब्रह्म के अस्तित्व की शंका प्रधान है। यदि है तभी उसकी प्राप्ति का प्रश्न उठता है। वार्तिककार ने कहा है 'कार्यमात्रावबद्धान्तःकरणत्वात् तमस्विनः' अज्ञानग्रस्त जीव का अंतःकरण व्यक्त जगत् में ही सीमित होने से जब अव्यक्त को ही अत्यंत कठिनाई से समझ पाता है तब उससे अतीत परमार्थ को समझने में मुश्किल महसूस करे इसमें आश्चर्य नहीं। जिसे देखा-सुना न जा सके ऐसे गुण-क्रिया-प्रभावादिरहित तत्त्व को 'है' समझना बहुत कठिन है। इसलिये यही प्रथम प्रश्न है कि ब्रह्म है भी या नहीं? क्या केवल वेद कहता-भर है या इस कथन का कोई अर्थ है? कुछ लोग कहते हैं कि 'ईश्वर मानने के बहुत फायदे हैं अतः शास्त्र में उसे कहा है'; कर्मकाण्डी भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं कि उपासनोपयोगी होने से वेद में ईश्वर कहा है; तात्पर्य है कि ईश्वर है नहीं फिर भी उसे मान लेना चाहिये। किंतु ऐसी मान्यता से विविदिषा नहीं होगी, ज्ञान नहीं हो सकेगा और कैवल्य असंभव होगा। अतः यह प्रश्न अवश्य निर्णेतव्य है कि ब्रह्म है या नहीं। द्वितीय प्रश्न अज्ञानी को अर्थात् उपासना व कर्म के अनुष्ठाता को विषय करता है। स्वयं को व्यापक, जगत् का एकमात्र कारण और दृष्ट-अदृष्ट फलों को असत्य मानकर कर्म-उपासना में प्रवृत्ति नहीं होती। भेद को सत्य माने तो सभी उपलब्धि कुछ

करके ही होगी, केवल ज्ञान मोक्ष दिलाये यह संभव नहीं। अज्ञानी की साधना का मतलब है जीव-ईश्वर का, जीव-जगत् का, जीवों का परस्पर आदि भेदों को वास्तविक अत एव बाह्य-आभ्यंतर क्रिया से मोक्ष मानकर किया प्रयास। यद्यपि ज्ञानमार्ग का साधक भी है अज्ञानग्रस्त तथापि वह उस अज्ञान को सत्य नहीं स्वीकारता, उसकी श्रद्धा यही है कि अज्ञान मिथ्या है, अतः उसे यहाँ अज्ञानी नहीं कह रहे। यह ठीक है कि ज्ञाननिष्ठा पाये बिना ज्ञानसाधक भी मरे तो मुक्त नहीं होगा। अतः उसकी वह गति है जो अज्ञानी की, लेकिन क्योंकि प्रश्न मोक्ष का है इसलिये उचित उसी को लेना है जो अज्ञान की श्रेणी का मोक्ष मानकर यत्नशील है। भेद कायम रहते मोक्ष होगा व कर्म से, भक्ति से होगा ऐसी मान्यता वाले साधक का यहाँ ग्रहण उचित है। ऐसा साधक तत्त्वबोध के प्रयास को निष्फल मानता है अतः ज्ञानका विरोधी होने से अज्ञानी कहलाता है। तीसरा सवाल तत्त्ववेत्ता का है, जो यह स्पष्ट अनुभव करता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' अनादि काल से एकत्र असंख्य सदसत् कर्मों के रहते केवल तत्त्वज्ञान से मोक्ष कैसे होगा? सब कर्म भोगकर मोक्ष हो तो असंभव है क्योंकि भोगने की प्रक्रिया में नये कर्म भी बन जायेंगे तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्व के संस्कारों की दृढता बढ़ने से अकर्तृत्व निश्चय हो यह असंगत है।

श्रुति में 'प्रेत्य' का सीधा अर्थ है 'मरकर'। भाष्यकार ने 'इतः प्रेत्य' व्याख्या कर दी है जिसे ध्यान में रखकर सायणाचार्य ने 'देहात् प्रेत्य' कह दिया है। तात्पर्य है कि देह को पूर्णतः छोड़कर जाने पर क्या ब्रह्म मिलता है या नहीं? शरीरत्रय से अतिरिक्त, पंचकोशों से अतिरिक्त प्रत्यगात्मा है तभी वह ब्रह्म को पायेगा। यदि कोशादि से अन्य प्रत्यग्वस्तु कुछ नहीं है तब ब्रह्मलाभ होगा किसे! अतः यहाँ जिसे अज्ञानी कहा वह भी देहादि से अन्य आत्मा तो समझता है पर उसे ब्रह्म नहीं समझता। प्रश्न है कि न समझने के अपराध से क्या उसे विवेक के फलस्वरूप व्यापकता का अवबोध नहीं मिलेगा? सांख्यप्रक्रिया से या अन्य ढंग से जिसने शरीरों को अनात्मा जानकर स्वयं को उनसे अलग समझ लिया क्या इतना समझना उसके मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं है? तथा विद्वान् देहात्मभाव छोड़कर क्या कोई नया अनुभव प्राप्त करता है? परिच्छिन्नता-निवृत्ति से अतिरिक्त क्या कोई व्यापकता का अनुभव है? इन प्रश्नों का संक्षेप में समाधान है : देहान्य मात्र जानने से मोक्ष नहीं क्योंकि इतने ज्ञान से बंधन का *बाध* नहीं होता, उसके लिये अधिष्ठान का साक्षात्कार चाहिये। अज्ञान के कारण मौजूद वस्तु का भी फ़ायदा नहीं मिलता यह अनुभवसिद्ध है तथा हिरण्यनिधि आदि

यदस्ति नामरूपाभ्यां व्याप्तं तद् वियदादिकम्।
ब्रह्म निर्नामरूपत्वाद् नास्तीत्याह विमूढधीः।।९७।।

दृष्टान्तों से शास्त्र में प्रसिद्ध है। एवं विद्वान् को न केवल स्वयं का देहातीत रूप से अनुभव होता है वरन् पूर्णरूप से भी अनुभव होता है। देहादि सारे जगत् का बाध होने से 'मुझसे अन्य कुछ है ही नहीं' यह पूर्णतानुभव है जबकि 'संसार यथावत् है पर मेरा उससे कोई संबंध नहीं'यह देहान्य आत्मा जानने वाले का अनुभव है। श्लोक १२६ से इन प्रश्नों का उत्तर ग्रंथ में आयेगा।।९६।।

पहला प्रश्न परमात्मा की सत्ता का है यह दिखाते हैं **आकाश आदि जो कुछ भी 'है' उसका नाम-रूप से अवश्य सम्बन्ध है। क्योंकि नाम-रूप से संबद्ध है इसलिये ब्रह्म नहीं है।वैविध्यपूर्ण जगत् में मोहग्रस्त बुद्धि वाला उक्त शंका करता है।।९७।।** वेदान्त-शास्त्र में नाम और रूप शब्दों का खास अर्थ है। ज्ञेय विषय का अस्तित्व उसके ज्ञान पर निर्भर है। जिसे विषय करता है उसकी कोई पहचान ज्ञान को होती है जिसके आधार पर पुनः उसे विषय करने पर पता चलता है कि वही चीज़ है या उस चीज़ की याद भी आती है तो पहचान के आधर पर जिसे विषय कर रहा है उसी का ज्ञान है अन्य का नहींयह संभव बनाने वाली वह पहचान ही है। ज्ञान तो जैसा घटका वैसा पटका, फिर पता कैसे लगे किये ये दोनों अलग-अलग ज्ञान हैं? ज्ञानरूप से उनमें भेद न होने पर भी उनके विषय अलग हैं इसी से दोनों ज्ञानों में भेद है। विषय अलग हैं यह कैसे पता चलता है? घटज्ञान घट की जिस विशेषता को देखता है वह विशेषता पट में नहीं है अतः मानते हैं कि विषय अलग हैं। उस विशेषता को ही पहचान कहा और वही 'रूप' का तात्पर्य है। केवल आँखों से विषय होनेवाले को रूप मानकर जगत् नाम-रूपात्मक नहीं कहा जाता! बृहद्वार्तिक में (१.६.१९) कहा है 'यद्यद्धि रुप्यते किञ्चिच्छब्दस्पर्शादिकं धिया तत्तद् रूपमिति ज्ञेयम्।' इसी प्रकार 'नाम' वह है जो रूप का प्रकाशन करता है, रूप के ज्ञान को सम्भव करता है। यह भी बृहद्वार्तिक में (१.५.१४१) कहा है

'प्रकाश्यमेव रूपं स्यात् प्रकाशो वाक् तथैव च।
विद्यादेतत् समासेन लक्षणं रूप-संज्ञयोः।।'

ज्ञापक बनते हुए जो 'नाम' है वह भी ज्ञेय बनते हुए 'रूप' हो जाता है

'नामाऽपि गृह्यमाणं सद् रूपं भवति शौक्ल्यवत्।
रूपं च बोधयत् तद्वद् नामपक्षेऽवतिष्ठते।।' (बृ.१.५.१४२)

रूप का नाम से संबंध होता है, अपने से संबद्ध रूप का ही नाम प्रकाशन करता है। एक ही चीज़ को 'स्वर्ण' और 'कुण्डल' नामों से कहने पर अलग-अलग रूपों का ज्ञान होता है, भले ही विषय एक है। ऐसे ही आँख से और त्वगिन्द्रिय से विभिन्न रूपों का ज्ञान होता है, जबकि विषय एक ही है।

संसार में हमें जो वस्तु 'है'-व्यवहार के योग्य मिलती है, जिसे हम यों समझते हैं कि वह है, उसमें हमें रूप अवश्य मिलता है और उसका प्रकाशक नाम भी अवश्य मिलता है। अक्षरबद्ध शब्दात्मक नाम न भी मिले पर ज्ञापक कोई-न-कोई अवश्य होता है। इन दोनों के बिना विषय का व्यवहार असंभव है। जिसे पहचाना न जा सके, जिसके बारे में समझने-समझाने का कोई उपाय न हो, जिससे कोई प्रयोजन न सिद्ध किया जा सके, ऐसे को 'है', नहीं माना जाता। नाम, रूप के साथ इसीलिये उपनिषत् ने 'कर्म' को भी संसार की विशेषता बताया है 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (बृ. १.६.१)। जिस चीज़ से जो प्रयोजन सिद्ध हो वह उस चीज़ का 'कर्म' है। अतः संसार में 'है' वही जिसका कोई रूप, नाम और कर्म है। दृश्य चीज़ें ही नहीं, अदृश्यों के बारे में भी हमें यही लगता है; ईश्वर को हम 'है' समझने चलते हैं तो उसके नाम, रूप, कर्म की ही जिज्ञासा होती है कि वह शिव है या विष्णु, दुर्गा है या लक्ष्मी, गोरा है या काला, स्त्री है या पुरुष, वह करता क्या है? इस प्रकार अब तक के अनुभव से यही निश्चय है कि जिसके नाम-रूप-कर्म हों वही है।

ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले उसे 'है' तो मानते हैं पर यह भी स्वीकारते हैं कि वह नाम-रूप-कर्म वाला नहीं है। उसे वे नामादि का रचयिता बताते हैं। नामादि की रचना करने वाला अवश्य ही उनसे पूर्व अतः उनसे अव्याप्त है, उनसे किसी अनिवार्य संबंध वाला नहीं हो सकता। जिस घर को जिसने बनाया वह उस घरके बनने से पूर्व उस घरवाला नहीं था, यह स्पष्ट है। ऐसे ही नामादि को बनाने वाला नामादि बनने से पूर्व नामादि वाला नहीं था यह समझ आता है। जो पहले नामादि वाला नहीं था उसे अब नामादि से किसी तरह संबद्ध मान भी लें लेकिन यह तो नहीं कह सकते कि वह अवश्य नामादि वाला है, क्योंकि मान ही चुके हैं कि पहले वह नामादि वाला नहीं था। नामादि और ब्रह्म का अव्यभिचारी संबंध नहीं है अर्थात् ब्रह्म जब भी हो तब नामादि वाला हो और नामादि न हों तो ब्रह्म भी न होयह नहीं मान सकते। अतः ब्रह्म नामादि से व्याप्त नहीं होने से निर्नामरूप है, नाम-रूप से वर्जित है।

विमूढधी अर्थात् व्यक्त संसार में ही भटकने वाली, इससे परे को न समझने वाली

विवेकी ब्रह्मणः सत्तां सृष्टिकामादिहेतुभिः।
साधयन् बहुधा मूढं बोधयेद् मोहनुत्तये।।६८।।

जिसकी मति हो ऐसा जीव। आज तक का अनुभव नामादि वाले को 'है' मानने की अनुमति देता है तो विमूढधी कहता है कि जिसके नामादि नहीं उसे 'है' भी नहीं माना जाय। अतः ब्रह्मवादी को अभिमत ब्रह्म 'है' ही नहींयह युक्त होने से उसे 'है' कैसे समझेंयह शंका है। 'अनुप्रश्न' का प्रसंग है अतः आक्षेप या नास्तिकपक्ष नहीं रखा जा रहा वरन् श्रुत निर्नामरूप ब्रह्म को 'है' समझने में जो अनुभव-विरोध आ रहा है उसे दूर करने का मार्ग पूछा जा रहा रहा।।६७।।

इस प्रश्न के उत्तर का उपक्रम करते हैं **जगत् की सृष्टि करता है, कामना करता है आदि कारणों से यह सिद्ध करते हुए कि ब्रह्म है, विवेकशील को चाहिये कि मोहग्रस्त को समझाये ताकि मोह का निवारण हो सके।।६८।।** यहाँ श्रुति ने ब्रह्म है इसे अनेक कारणों से सिद्ध किया है १. उसने सृष्टि की, २. कामना की, ३. पर्यालोचन किया, ४. जीवरूप से प्रवेश किया और ५. भोग्यों का आकार ग्रहण किया। इससे अतिरिक्त, ६. 'सुकृत' यह नाम ब्रह्म को सिद्ध करता है, ७. विद्वानों के परितोष का हेतुभूत आनंद होने से ब्रह्म है, ८. देहादि की चेष्टा का हेतु होने से एवं ९. विषयानदं का हेतु होने से ब्रह्म हैऐसा इस प्रसंग में समझाया है। इन पर क्रमशः ग्रंथकार विचार करेंगे। ब्रह्म की मौजूदगी नाम-रूप पर नहीं वरन् विवेक पर निर्भर करती है। वह अनुभव-विषय नहीं पर जो अनुभव-विषय है वह बताता है कि ब्रह्म है। संसार की उत्पत्ति उसके उत्पादक में प्रमाण है। व्यवस्थित संसार जड प्रकृति की प्रक्रिया नहीं, चेतन की विचारित लीला है। जगत् की व्यवस्थितता इसके चेतन सर्वज्ञ संचालक को अपरिहार्य बनाती है। नाम-रूप का रचयिता इनसे विरहित होना तो संगत ही है, उसका निर्नामादि होना उसके सद्भाव का विरोधी नहीं। यह विचार मोह-निवारक है। दूसरे को ही नहीं खुद को समझाने के लिये भी यही विचार कर्तव्य है। दूसरे को भी यदि विवेकी समझाये तो लक्ष्य मोहनिवृत्ति ही रखे, कम-से-कम स्वयं के मोह को तो निवृत करे ही। किं च, ये हेतु ब्रह्म-सद्भाव में तात्पर्य वाले हैं, इनसे यही दृढ करना है कि ब्रह्म है, अतः सृष्टि आदि में शास्त्र का अभिप्राय नहीं यह स्पष्ट है।।६८।।

परमात्मा की विद्यमानता बताते हुए श्रुति ने कहा है 'सोऽकामयतबहु स्यां प्रजायेय। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च।' कि उस

अकामयत सृष्ट्यादौ परमात्मा स्वमायया।
बहु स्यामहमेवाऽतः प्रजायेयेति कामना।।९९।।

ब्रह्म ने कामना की कि 'बहुत हो जाऊँ, अधिक होकर उपपन्न हो जाऊँ।' उसने तप अर्थात् विचार किया फिर यह जो कुछ है उसे पैदा किया। यों श्रुति ने ब्रह्म सिद्ध किया है। वल्ली के प्रारंभ में ब्रह्म को सत्य कहा था, उसी सत्यता को उपपन्न करने के लिये यहाँ उसे 'है' सिद्ध कर रहे हैं क्योंकि 'है' ही सत्य है यह वेद का अभिप्राय है। 'सदेव' आदि छांदोग्य में भी यह स्पष्ट है। मंदभाग्य ही सद्रूप बृहत्स्वरूप से अनभिज्ञ रहने से संसरण करते हैं अन्यथा सत् के रूप में सदा सर्वत्र उपलब्ध ब्रह्म के अनुभव से मुक्त हो जायें। ब्रह्म इसलिये है कि उसने कामना की, अचेतन तो कामना करता नहीं। किंतु जैसे हमें कामना 'हो' जाती है ऐसे उसे 'हुई' नहीं वरन् उसी ने 'की' अर्थात् कामना से ब्रह्म प्रवृत्त होता नहीं वरन् कामना को प्रवृत्त करता है, ब्रह्म की स्वतंत्रता कहीं व्याहत नहीं है क्योंकि वही अद्वितीय था इसलिये किसी विषय की तो कामना कर नहीं सकता अतः यही कामना की कि 'खुद ही बहुत हो जाऊँ'। वह तभी हो जब 'मैं ही बहुत के रूप में पैदा होऊँ' अर्थात् जो 'नाम-रूप अनभिव्यक्त हुए पड़े हैं उन्हें व्यक्त कर दूँ।' जैसे मिट्टी में अव्यक्त बर्तनों को व्यक्त कर दिया जाता है तो मिट्टी 'बहुत' हो जाती है वैसे ही सृष्टि बनने से परमात्मा 'बहुत' हो जाता है। जिसे उत्पन्न करना था उस जगत् की रचना आदि के बारे में ब्रह्म ने जो विचार किया वही यहाँ उसका 'तप' कहा है। तदनुसार प्राणियों के कर्मों के अनुरूप ब्रह्म ने यह सारा संसार बना दिया। उक्त श्रुति का अर्थ समझाते हैं **जगद्रचना के प्रारंभ में परमात्मा ने अपनी माया द्वारा कामना की 'मैं ही बहुत हो जाऊँ'। इसे संभव करने के लिये 'उत्पन्न होऊँ' यह भी कामना की।।९९।।** व्यवस्थित संरचना होने से जगत् न आकस्मिक है, न किसी जड प्रक्रिया का नतीजा है किंतु चेतन द्वारा विचारपूर्वक बनाया गया है। मकान चाहे हज़ार साल पुराना हो, उसे बनाने वाले मिस्त्री का कुछ पता न हो, फिर भी मकान देखकर निश्चय होता है कि किसी मिस्त्री ने इसे बनाया है। कारण अनुभव में न आये तो भी कार्य से समझ आता ही है। मिस्त्री अवश्य था यह पता लगने के साथ यदि किसी शिलालेख में उत्कीर्ण मिल जाये कि 'देवदत्त ने इस भवन-निर्माण में शिल्पीका, वास्तुकारका कार्य किया' तो परोक्ष ज्ञान हो जाता है कि उसे बनाने वाला मिस्त्री देवदत्त है। यदि और भी वर्णन मिले तो गाँव-जाति आदि सब मालूम हो जाता है। अन्य कोई प्रमाण इसकी काट न करे तो यह बात यथावत्

स्वीकार हो जाती है। इसी प्रकार छोटे-से-छोटे परमाणु की संरचना देखें या बड़ी-बड़ी नीहारिकाओं की, सर्वत्र अतिसूक्ष्म सुव्यवस्था एवं कार्यकारण-प्रक्रिया का प्रबन्ध देखकर यह निश्चित समझ आता है कि इस सबका रचयिता सर्वज्ञ चेतन अवश्य है। हमेशा होते संचालन से यह भी निश्चय हो जाता है कि इस रचना का व्यवस्थापक सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् है। साथ ही वेद बताता है कि परब्रह्म परमात्मा संसार को बनाता है और चलाता है। वेद की बात काटने वाला कोई प्रमाण मिलता भी नहीं। अतः यह पता चल जाता है कि संसारकारण परमेश्वर है। परमेश्वर को न मानकर किसी अन्य को जगत् का कारण कोई प्रमाण नहीं बताता। कारण है ही नहींयह कहने वाले अनेक हैं, जिनकी बात वैसे ही अमान्य है जैसे कोई कहे कि मकान बनाने वाला कोई नहीं। कारण जो बताते हैं वे परमेश्वर को ही कहते हैं अतः निर्विवाद तथ्य है, युक्तिसंगत है।

वेद ने स्पष्ट किया कि परमात्मा ने कैसे बनायी : सर्वप्रथम उसने इच्छा की कि 'अभी मैं एक ही हूँ मैं अनेक हो जाऊँ'। हम मनसे इच्छा करते हैं पर ईश्वर के पास मन नहीं था, वह तो पाँचों महाभूत बनने के बाद तैयार हुआ; ईश्वर ने इच्छा अपनी माया शक्ति से की, माया की वृत्ति ही ईश्वर की कामना है। मन में इच्छा उठने के लिये संस्कार चाहिये ऐसे ही माया में संस्कार चाहिये जो इसलिये मौजूद थे कि पूर्वसृष्टि माया में ही विलीन हुई थी; कारण में विलीन कार्य ही उसका संस्कार कहलाता है। कार्यों के संस्कारों से युक्त माया द्वारा ईश्वर ने कामना की। मायिक होने से कामना और उससे आगे के सभी क़दम मायिक ही हैं, वास्तविक नहीं, यह स्पष्ट हो जाता है। जगद्रचना से ईश्वर सिद्ध होता है पर जगत् और उसकी रचना मायिक ही है यह उपनिषत् बताती है। अनुभव से यह पुष्ट भी होता है क्योंकि जगत् में मायिकता सर्वत्र मिल रही है, हर वस्तु अस्ति-भाति-प्रिय के साथ कभी संबद्ध तो कभी असंबद्ध मिलती है अर्थात् जगत् की किसी चीज़ को 'सत् ही है' या 'असत् ही है' यह नहीं कह समझ सकते। मायिकता इसी सदसद्विलक्षणता का नाम है। यह अनेकान्तवाद नहीं है, उसमें तो विपरीत बातें युगपत् स्वीकारी जाती हैं जबकि मायिकता में विरुद्धों से विलक्षण मानकर विरोधों का परिहार होता है अर्थात् 'सत् भी है, असत् भी है' यह अनेकांतता है, 'सत्-असत् दोनों से अलग है अतः कभी सत् तो कभी असत् प्रतीत हो जाता है' यह मायिकता है। जिसके द्वारा ईश्वर ने कामना की वह उनकी माया, उनकी शक्ति है। शक्ति शक्तिमान् से स्वतंत्र नहीं होती, शक्ति की पृथक् सत्ता नहीं होती। कुछ लोग

'ईश्वर पुरुष है, शक्ति स्त्री है, दोनों मिलकर सृष्टि करते हैं' आदि कल्पना करके ईश्वर प्रधान है या शक्ति (माया) प्रधान है आदि विवाद खड़ा करने की कोशिश करते हैं। ये बातें अविचार के स्तर तक ही अच्छी लगती हैं, कहानी-किस्सों से मन बहलाने के लिये उपयोगी हैं, इनका दार्शनिक आधार नहीं क्योंकि विचार से समझ आता है कि शक्ति ऐसा स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं जिससे ईश्वर में द्वैत प्रसक्त हो, गुण-प्रधानभाव संभव हो। विचार में असमर्थ लोगों को ईश्वर के बारे में कुछ दृष्टि बन सके इस प्रयोजन से शास्त्रकारों ने कहीं-कहीं कल्पना का सहारा लिया है और कथानक बताये हैं किंतु वे स्वयं अनेक जगह और अनेक तरह से यह स्पष्ट करते ही हैं कि वे किसी परिच्छिन्न, सद्वितीय ईश्वर को नहीं बता रहे। पुराण कहीं पुरुषाकार वाले को तो कहीं स्त्री आकार वाली को चरम तत्त्व बताकर यही समझाते हैं कि परमेश्वर स्त्री-पुरुष आदि भेद से परे है। उपनिषत् समझते समय यह ख़्याल रखना चाहिये कि कल्पना, भावना के स्तर वाली मान्यताओं में न उलझा जाये।

ईश्वर ने कामना की कि 'बहुत हो जाऊँ। 'एकोऽहं, बहु स्याम्'ऐसा बोल-चाल में प्रसिद्ध है और सर्वथा ठीक बात है लेकिन इस आनुपूर्वी का वाक्य दस उपनिषदों में नहीं है। 'बहु स्याम्' को समझने के लिये 'एकोऽहम्' याद रखना ज़रूरी है। 'बहुत चीज़ें हो जायें' यह ईश्वर ने कामना नहीं की वरन् 'मैं ही बहुत हो जाऊँ' यह कामना की। इसका हेतु है कि ईश्वर जानता है कि वही अनेक रूप धारण करे तो बहुत चीज़ें प्रतीत होंगी, अन्यथा उससे अतिरिक्त कुछ भी है ही नहीं, तो बहुत प्रतीत हो यह असंभव है। केवल बेसन घर में हो तो चतुर गृहिणी मिठाई, नमकीन, रोटी, सब्ज़ीसब बना लेती है, एक बेसन ही वह सब बन जाता है। इसी तरह क्योंकि केवल परमेश्वर है इसलिये वही बहुत बन जाता है। अन्य कुछ होता तो उससे बहुत चीज़ें बनाने की कोशिश की भी जाती, पर जब अन्य कुछ है नहीं तब वैसा प्रयास निरर्थक है, सर्वज्ञ ईश्वर वैसा प्रयास क्यों करेगा! एक ही अनेक हुआ है अतः वास्तविक तो एकता ही रहती है, अनेकता उस पर आरोपित, कल्पित है। अत एव सारा जगत् रचकर, इसे चलाते हुए भी परमात्मा बिलकुल निर्विकार है। बाजीगर लाखों रुपयों के नोट 'पैदा' करता है, दर्शकों को बाँट भी देता है लेकिन उन सबसे वह स्वयं लखपति नहीं बनता बल्कि खेल दिखाकर दो-चार आने माँगने लगता है। मायिक वस्तु मायावी को प्रभावित नहीं करती। ईश्वर भी ऐसे ही संसार के उत्पत्ति-स्थिति-नाश से सर्वथा अप्रभावित है। एक का बहुभवन प्रजनन में प्रत्यक्ष है, अकेला पिता ही अपनी पत्नी

के द्वारा अनेक पुत्र-पुत्रियों के रूप धारण कर बहुत हो जाता है। अतः यहाँ 'बहुत हो जाऊँ' के बाद, 'उत्पन्न होऊँ' यह इच्छा की, क्योंकि अकेला जब बहुत होना चाहे तो यही तरीका है। पुत्र भी पिता से स्वतंत्र पदार्थांतर नहीं है यह पूर्वाध्याय में ऐतरेयव्याख्या द्वारा कह चुके हैं। वेद ने अनेक जगह जीवों को परमेश्वर का पुत्र इसी दृष्टि से कहा है। हम उसके पुत्र हैं इसलिये वह सदा जागरूकता से हमारा ख्याल रखता है, हमारी ज़रूरतें पूरी करता है जो उचित है। जब लगता है कि वह हमारा ख्याल नहीं रख रहा तब भी वस्तुतः वह हमें शिक्षा ही दे रहा है अतः उसका ख्याल हम पर ही है। ईश्वर हमारी आवश्यकताएँ पूरी करता है यह सभी ईश्वरवादी मानते हैं। ईसाई रोज़ की प्रार्थना में इसके लिये शुक्रिया भी अदा करते हैं। वैदिक रीति में 'शुक्रिया' कहने का रिवाज़ नहीं है वरन् जीवन से व्यक्त किया जाता है। ईश्वर के प्रति शुक्रिया करने का हमारा ढंग है कि ईश्वर ने शास्त्र में हमारे लिये जो कुछ करने को कहा है वह हम और अधिक सावधानी से, सद्भाव से, ईश्वरसेवा कर रहे हैं इस दृष्टि से करें और जो करना मना किया है वह इसीलिये न करें कि वह प्रसन्न हो। तत्तत् फलों के लिये न कर परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये ही करनायह हमारे यहाँ शुक्रिया करने का ढंग है। मुँह से बोलकर हमारी छुट्टी नहीं हो जाती।

सृष्टि हुई अतः उसे करने वाला परमात्मा अवश्य है। परमेश्वर ने कामना की, संकल्प किया इसलिये भी वह अवश्य है। संसार क्योंकि प्रयोजन-सापेक्ष मिलता है, हमारी आवश्यकताएँ पूरी हों इस तरह से इसकी रचना व प्रक्रियाएँ मिलती हैं इसलिये समझ आता है कि यह कामनापूर्वक बना है। जैसे यदि हमारी पसंद के अनुसार ही क्रमशः भक्ष्य-भोज्यादि रसोई से आते हैं तो हम समझ लेते हैं कि हमारी माता या पत्नी रसोई में है, केवल नौकर यों ख़्याल नहीं रख सकता; या बार-बार माँगने पर भी स्वादिष्ट व्यंजन की जगह पथ्य आहार ही मिले तो भी समझ आ जाता है कि माता आदि रसोई में है क्योंकि नौकर इतना दृढ हितचिंतक नहीं होगा; वैसे हम अपने प्रारब्ध की व्यवस्था देखकर, तदनुसार उपलब्धि-अनुपलब्धि देखकर समझ लेते हैं कि परमेश्वर ही हमारे लिये यह सब कर रहा है। एवं च कामना-संकल्प समझकर कामयिता-संकल्पयिता के रूप में परमेश्वर को स्वीकार किया जाता है यह भाव है।।६६।।

सृष्टिहेतु ईश्वर है। हेतु दो तरह के होते हैंनिमित्त और उपादान। जो चीज़ कार्य का आकार लेती है वह उपादान एवं जो उसे उस आकार में लाता है वह निमित्त होता

स्वस्यैव बहुधा चोक्तेरुपादानं मृदादिवत्।
तथा कामयितृत्वेन निमित्तत्वं कुलालवत्।।१००।।

है। घड़े का उपादान मिट्टी और निमित्त कुम्हार है। आदान अर्थात् ग्रहण करना; कार्यरचना के लिये जो सामग्री ग्रहण की जाये वह उपादान कारण कही जाती है। जो चेतन व्यक्ति यत्न करके कार्य उत्पन्न करता है वह निमित्त कहा जाता है। यद्यपि उपादानभिन्न सभी कारण निमित्त की श्रेणी में आ जाते हैं तथापि वेदांत ग्रंथों में प्रायः निमित्त से सचेतन कारण समझा जाता है जैसे कुम्हारादि। उपनिषदों में परमेश्वर को निमित्त एवं उपादान दोनों स्वीकारा है, जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ईश्वर है यही सिद्धांत है। क्योंकि पूर्व में वह है ही अकेला इसलिये संभव भी यही है कि वही दोनों कारण बने। इसे समझाते हैं **'वह खुद ही बहुत तरह का हो गया' इस कथन से सिद्ध है कि परमेश्वर जगत् का उपादान है जैसे घटादिका उपादान मिट्टी आदि होते हैं। इसी तरह क्योंकि उसे कामना करने वाला कहा है अतः वही जगत् का निमित्त है जैसे घड़े का निमित्त कुम्हार होता है।।१००।।** यद्यपि अनेक मत-मज़हब स्वयं को ईश्वरवादी कहते हैं पर औपनिषदों को छोड़कर कोई अभिन्ननिमित्तोपादान ईश्वर नहीं मानता। कुछ आगमपंथी उसे उपादान मानें भी तो निर्विकार नहीं मानते, परिणामी स्वीकार लेते हैं। अतः सब ईश्वरवादी किसी एक ही तत्त्व की बात करते हों ऐसा नहीं है। प्रायः दार्शनिक ईश्वर को सिर्फ निमित्त मानते हैं और कई धर्मों का ईश्वर तो देवताविशेष से अधिक कुछ नहीं है। केवल निमित्त मानने पर ईश्वर *सारे* जगत् का कारण नहीं होता क्योंकि उपादान को अनादिसिद्ध मानना पड़ता है, उसे ईश्वर ने नहीं बनाया, केवल उसे लेकर कार्यों को बनाया। जैसे मिट्टी के बर्तन कुम्हार बनाता है पर मिट्टी तो नहीं बनाता, ऐसे जगत् के कार्यों का ईश्वर कारण होता है, जिससे वे कार्य बने उस उपादान का ईश्वर कारण नहीं होता। इस प्रकार ऐसा ईश्वर परमुखापेक्षी रहता है। वेदान्ती ऐसा ईश्वर नहीं मानता वरन् सर्वसमर्थ पूर्ण स्रष्टा मानता है। ऐसी कारणता स्वप्न के प्रति हममें ही मिल जाती है, स्वप्न के हम ही उपादान और निमित्त हैं। अतः यह कारणता अप्रसिद्ध नहीं है। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की श्रौत प्रतिज्ञा उक्तविध कारणता मानना अनिवार्य करती है। मिट्टी, लोहे आदि को ईश्वर में दृष्टांत देकर भी वेद ने यह बताया है कि उसे उपादान मानना ज़रूरी है। पृथ्वी से पौधों की तरह परमात्मा से संसार की उत्पत्ति कहकर मुंडकोपनिषत् यह और स्पष्ट करती है। कामना, ईक्षण आदि बताकर उसे निमित्त भी

निर्धर्मकेऽप्यात्मतत्त्वे निमित्तत्वं स्वमायया।
उपादानत्वसहितं माया दुर्घटकारिणी।।१०१।।
असम्भाव्यं न मायायाम् उपालम्भं न साऽर्हति।
ततो वेदो यथा ब्रूते सृष्टिरेषा तथेष्यताम्।।१०२।।

कहा है। प्रकृत्यधिकरण में (१.४.७) तथा अन्यत्र इस विषय पर काफी स्पष्टीकरण उपलब्ध है। साधक के लिये यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है, इसे याद रखकर वह संसार की हर चीज़ को (उपाधियों को) और परिस्थितियों को प्रेम से, भक्ति से स्वीकार कर सकता है, आदर दे सकता है। जगत् का प्रत्येक परिवर्तन परमेश्वर के निर्देशन से ही हो रहा हैयह मालूम रहे तो विषाद को, शिकायत को स्थान नहीं रह जाता। प्रत्येक वस्तु के आकार में, हर व्यक्ति के आकार में परमेश्वर ही उपस्थित हैयह याद रहे तो दुरुपयोग, दुर्व्यवहार का अवसर नहीं रह जाता। दुर्मार्गी आदि प्रतीत होने वाले और उन्हें वैसा करने की सामर्थ्य देने वाले एक ईश्वरका भक्त उनके प्रति द्वेष नहीं कर सकता। इसका मतलब यह नहीं कि उनका अनुयायी बन जाये! सन्मार्गी भी तो ईश्वर ही है, उसका प्रेरक भी ईश्वर ही है। अतः सन्मार्गी सत्कर्म में ही परायण रहेगा, यथावश्यक दुर्मार्गी से युद्ध भी कर लेगा। किंतु द्वेषपूर्वक नहीं, वरन् धर्मबुद्धि से। वेदान्त से अन्य जो स्वयं को एक-ईश्वरवादी कहते हैंजैसे ईसाई, मुसलमानवे क्योंकि किसी परिच्छिन्न देवता को ही समझ पाते हैं इसलिये अत्यंत असहिष्णु, परद्रोही, परनिंदक बने रहते हैं। ईसा या मुहम्मद के मार्फत ही मिलने वालायह उनकी ईश्वर-विषयक सोच है न कि सारे चराचर का इकलौता कारण। अतः तत्त्व एक है, नाम अनेक हैंकहकर वेदान्त-प्रसिद्ध ईश्वर और अन्यान्य मत-मज़हबों में स्वीकार ईश्वर को अभिन्न घोषित करना अविचारमात्र है। 'यतो वा इमानि' आदि से, 'जन्माद्यस्य' आदि से प्रतिपादित परमेश्वर संसार का निमित्त व उपादान दोनों है।।१००।।

अत्यन्त अद्वैत स्वीकारने पर परमात्मा को निर्धर्मक मानना पड़ता है अन्यथा धर्म-धर्मी के भेद से द्वैत की आपत्ति होगी। जब परमेश्वर में कोई धर्म, गुण, विशेषता नहीं तब उसे निमित्त और उपादान कहना कैसे संगत है? कारणता एक धर्मविशेष है जो निर्धर्मक में असंभव है। इस संशय को दूर करते हैं **आत्मतत्त्व सभी धर्मों से परे होने पर भी अपनी माया से उपादानता समेत निमित्तता ओढ़ लेता है। जो घट नहीं सकता उसे घटा हुआ दिखा देना यह माया का कार्य होने से माया**

के क्षेत्र में ऐसा कुछ नहीं है जिसे असंभव कहा जाये। माया को कोई उलाहना नहीं दिया जा सकता कि 'ऐसा कैसे कर दिखाया।' इसलिये वेद जैसा बताता है वैसा ही इस सृष्टि को स्वीकारना उचित है।।१०१-२।। माया अर्थात् अधिष्ठान का अज्ञान। रस्सी न जानी तो सर्प, जलधारा आदि चाहे जो उसमें दीख जाता है। यह सब दिखाने में रस्सी का अज्ञान ही समर्थ है, बिना उचित सामग्री आदि के उसने ऐसी विपरीत चीज़ें एक-साथ कैसे दिखा दीआदि कोई उलाहना उसे दिया जाये यह निरर्थक है। यही माया की शक्ति है कि जिसका सत्त्व असंभव हो उसे विद्यमान प्रतीत करा दे। ब्रह्म अपनी उसी माया नामक शक्ति से निमित्त व उपादान बना जगत्-कारण हो गया है जबकि वास्तविक स्तर पर वह निर्धर्मक ही है, कारण ही नहीं है तो न निमित्त, न उपादान है। जैसे सर्पादि के प्रति रज्जु वस्तुतः कारण न होने पर भी अज्ञानवश कारण बन जाती है वैसे ब्रह्म जगत् के प्रति है, यह भाव है। प्रश्न होगा कि यदि इस रीति से अज्ञानवश ब्रह्म कारण है तो कामना, विचार की बात कैसे कही? उत्तर है अज्ञान के चलते 'ईश्वर' और 'जीव' ये भ्रम हैं, उस भ्रमसिद्ध ईश्वर में इच्छादि एवं भ्रमसिद्ध ही जीवों के सदसत् कर्म संगत ही हैं। जड अधिष्ठान में जड के अध्यास की तरह चेतन अधिष्ठान में अध्यास भी चेतन का हो जाता है। अप्रकाशरूप में भ्रम से प्रकाशरूपता समझी जा सकती है तो प्रकाशरूप में भ्रम से प्रकाशरूप क्यों नहीं समझा जा सकता! यदि अधिष्ठान प्रकाश है तो अध्यस्त भी प्रकाश होने पर भ्रम कहाँ रहा? इसका उत्तर है कि प्रकाश में प्रकाश का स्वरूपाध्यास न होने पर भी संसर्गाध्यास हो जाता है। शुद्ध सफेद प्रकाश को लाल नीला आदि भ्रम से समझ लेते हैं या रंगीन प्रकाशों को अमुक ढंग से देखने पर सफेद प्रकाश लगता है। बिंबभूत प्रकाश पर जब दर्पणादि से प्रतिबिंब की कल्पना होती है तब भी विपरीत दिशा, दूसरी ओर वाला प्रकाश अध्यस्त है, बिंबभूत प्रकाश वैसा नहीं अतः अध्यस्त नहीं है। इसी तरह उपाधि-धर्मों वाले चेतनों के रूप में ईश्वर व जीव कल्पित हैं, स्वरूपतः नहीं। क्योंकि कल्पित भी चेतन हैं इसलिये कामना, विचार आदि ईश्वर में और कर्तृत्व- भोक्तृत्व आदि जीव में संगत है। जैसे अत्यंत असंभव घटनाएँ स्वप्न में हो जाती हैं तो उपालंभ का, प्रश्न का अवसर नहीं होता कि 'ऐसा कैसा संभव है', या बाजीगर के खेल में 'यह तो असंभव है' ऐसा आक्षेप निरर्थक है, उसी प्रकार माया से परमात्मा का कारण बन जाना और जगत् कार्य का उत्पन्न हो जाना क्योंकि सत्य नहीं मिथ्या है इसलिये इसके बारे में 'नहीं हो सकता' आदि कहना असंगत है। पंचदशी

सृज्यमालोचयन् सर्वम् असृजत् परमेश्वरः।
सृष्ट्वाऽथ जीवरूपेण प्रविवेश वपुष्ययम्।।१०३।।

में माया को एक असमाधेय प्रश्न कहा है, उसी तरह यहाँ उसे उपालंभ के अयोग्य कह रहे हैं। वास्तविकता निर्विशेष रहते अवास्तविक सविशेष, जीव, जगत् की लीला माया से संभव है। लीला प्रत्यक्ष है, परमार्थ निर्विकार है यह श्रुतिसिद्ध है, दोनों का सामंजस्य कैसेइसी का उत्तर तो 'माया' है। स्वयं माया कोई सत्य चीज़ नहीं है क्योंकि मिथ्या दृश्यों की उपपत्ति मिथ्या माया से ही हो जाती है। वेद ने परमात्मा को अकार्यकारण बताया, उसी से सारे संसार की उत्पत्ति भी बतायी और इस विरोध के परिहार का सुसंगत तरीका माया को सुझा दिया। माया वेदतात्पर्यविषय नहीं इतने से ही उसे प्रमाण से असिद्ध कहते हैं, वेद में कथित तो है ही, 'मायाभिः पुरुरूपः', 'मायां तु प्रकृतिम्' आदि प्रसिद्ध वाक्य हैं। बाध्य होने से वह तत्त्वावेदक प्रमाण से सिद्ध नहीं यह ठीक है पर अनुभवानुसारी युक्ति से तब तक की व्यवस्था को समझने के लिये उपयोग में तो लाने योग्य है जब तक हेतुफलावेश उतर न जाये। वेदोक्त सृष्टिप्रक्रिया इसीलिये स्वीकार्य कही जा रही है कि उसे मानने पर ही मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। वेद का प्रयोजन हमें मुक्त करना है, उसमें सहायक होने से ही वेद ने हमें सृष्टि का ढंग, किससे सृष्टि हुई आदि बताया है। इस उद्देश्य की पूर्ति वेदोक्त सृष्टि आदि के अनुसार विचार के द्वारा ही होगी। क्योंकि वेद का प्रयोजन खगोल, ब्रह्माण्डोत्पादन विज्ञान आदि सांसारिक विद्याओं का प्रतिपादन है ही नहीं इसलिये वेदोक्त सृष्टि आदि का इन शास्त्रों से तालमेल बैठाने का प्रयास व्यर्थ है। ये शास्त्र संसार सत्य मानकर चलते हैं, वेद संसार मिथ्या मानकर चल रहा है अतः दोनों की मूल सोच ही अलग होने से इनके ऐकमत्य-वैमत्य की कोई कीमत नहीं। कम-से-कम मुमुक्षु के लिये तो एक ही रास्ता है कि वेदानुसार इन विषयों का चिंतन कर विवेकपूर्वक तत्त्वनिष्ठा प्राप्त करे।।१०१-२।।

तप अर्थात् विचारपूर्वक यह सारा संसार ब्रह्म ने बनाया। और उसमें 'अनुप्रवेश' कियाइस श्रुतिवाक्य को समझाते हैं **जो कुछ पैदा करने लायक है उसके बारे में विचार करते हुए परमेश्वर ने सभी कुछ उत्पन्न किया। शरीरपर्यन्त जगत् बनाकर इसी परमेश्वर ने देह में 'जीव' इस रूप से प्रवेश किया।।१०३।।** वेदान्त की मर्यादा है कि अन्त्य कार्य पर्यन्त जो कुछ पैदा होता है, स्थित रहता है, नष्ट होता है उस सबको पैदा करने, स्थित रखने और नष्ट करने वाला परमब्रह्म ही है।

कुछ कार्य वह केवल माया उपाधि रखकर करता है, बाकी कार्यों के लिये मायिक उपाधियाँ रख लेता है, पर करता वही है। अतः उत्पादन के योग्य सभी चीज़ों का उसने विचार किया। कुछ बनाना हो तो हम भी पहले सोच-समझ लेते हैं कि क्या-कैसे-क्यों तैयार करें, इसी तरह परमेश्वर ने कामना होने के बाद विचार किया। सृष्टिक्रम अनादि प्रवाह है। पूर्व सृष्टि में जैसे कार्य थे, उत्तरोत्तर सभी सृष्टियों में वैसे ही कार्य होते हैं यह वेद से पता चलता है। पुराणादि में कल्पभेद से जो कारणप्रक्रियाओं के नानात्व का विचार है वह अवान्तर प्रलयों के बाद की खण्ड सृष्टियों के बारे में समझना चाहिये, महाप्रलयोत्तर होने वाली आकाशादि सृष्टि के बारे में नहीं। ईश्वर द्वारामायोपहित द्वाराही की जाने वाली जो भूतादि सृष्टि है उसकी प्रक्रिया में हेर-फेर नहीं होता ऐसा शारीरक मीमांसा में समझाया है। साधारण व्यक्ति हेरफेर इसीलिये करता है कि पूर्व ढंग में कोई कमी समझता है। ईश्वर सर्वज्ञ होने से उसका ढंग सर्वथा पूर्ण समुचित है अतः उसमें परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं है। असीम ज्ञान और शक्ति वाले से कोई गलती होती नहीं कि उसे बाद में सुधारना पड़े। ईश्वर की निर्धारित प्रक्रियाएँ हमेशा एक-सी चलती हैं। हम रोज़ जब गहरी नींद में जाते हैं तब इंद्रिय-मन आदि लीन हो जाते हैं और जैसे ही हम जगते हैं वैसे ही वे सब सर्वथा पूर्ववत् पैदा होकर कार्यरत हो जाते हैं। आँख हर बार देखती ही है, कभी सुनने नहीं लग जाती, कान हमेशा सुनता ही है, कभी देखने नहीं लग जाता। अतः स्पष्ट है कि लीन-उत्पन्न होने की प्रक्रिया ईश्वर ने समुपयुक्त नियत की है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। क्योंकि पुनः पुनः एक ही ढंग से सृष्टि होती है इसलिये सिद्ध होता है कि चेतन विचारपूर्वक इसे उत्पन्न करता है। जड चीज़ों के परिवर्तन इस तरह नियत नहीं हो सकते। यदि लगातार एक ही निशाने पर पत्थर लगे तो अवश्य कोई फैंकने वाला चेतन होता है, स्वतः गिरें तो कभी कहीं, कभी कहीं और लगेंगे। अतः हमेशा एक ही तरतीब से जगत् उत्पन्न होना, चलना व लीन होना सिद्ध करता है कि इसका उत्पादक, रक्षक, नाशक चेतन परमात्मा है।

श्रुति ने कहा 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' अर्थात् यह जो कुछ है उस सबको पैदाकर उसमें ब्रह्म ने अनु-प्रवेश किया। सीधा अर्थ यह है कि भूत-भौतिक सभी चीज़ों में परमेश्वर ने प्रवेश किया। अस्ति-भाति-प्रिय रूप से यह अनुप्रवेश मान्य है, अनुभूयमान है। तथापि उपक्रम में, गुहानिहित को जानने की बात आयी थी अतः यहाँ भी उसी की चर्चा होना उचित है इसलिये पाँच कोशों की गुहा में जो प्रवेश हुआ उसी

यो विज्ञानमयस्तस्मिन् चैतन्यं प्रतिबिम्बितम्।

तच्च धारयति प्राणान् जीवाख्यां लभते ततः।।१०४।।

को यहाँ बताया जा रहा है यह आचार्यों ने स्पष्ट किया। शरीर में, कोशों में ब्रह्म ने प्रवेश जीवरूप से किया अर्थात् अप्रविष्ट रूप में जो सर्वज्ञ-सर्वशक्ति है वही प्रविष्ट रूप में अल्पज्ञ-अल्पशक्ति है जैसे घट में प्रविष्ट होकर आकाश स्वल्प हो जाता है। इस विषय में बहुत विस्तृत ऊहापोह भाष्य, वार्तिक, ब्रह्मसूत्र आदि में उपलब्ध है। तात्पर्य है कि जो जीवरूप से उपलब्ध हो रहा है उसी पर एकाग्र होने से ब्रह्म का साक्षात्कार होगा क्योंकि ब्रह्म ही जीवरूप से मौजूद है। ध्यान रखना चाहिये कि कोशों में घुसकर वह ईश्वररूप से स्थित नहीं है वरन् जीवरूप से ही स्थित है अतः जीवोचित ही व्यवहार यहाँ उपलब्ध होगा, ईशोचित की आशा नहीं रखनी चाहिये। जैसे जीव सोपाधिक है वैसे ईश्वर भी अतः दोनों के व्यवहार अपनी-अपनी उपाधियों के ही अनुरूप होंगे। उपाधि का विवेक कर लेने पर स्वरूप की एकता है जिसके अनुभव के लिये यह प्रवेशादि-विचार है।।१०३।।

जीवरूप क्या है यह बताते हैं **जो विज्ञानमय है उसमें चेतन की परछायी पड़ती है और वह चिच्छायायुक्त विज्ञान प्राणों को धारण करता है जिससे वह 'जीव' यह नाम पाता है।।१०४।।** यहाँ 'कार्योपाधिक जीव है' मानकर विचार कर रहे हैं। विज्ञानमय कोश अर्थात् अहंकार; वह चिच्छाया से संबद्ध होता है अर्थात् चेतन उस कोश को अपने से एकमेक समझने लगता है। प्रतिबिंब, प्रवेश आदि शब्द अध्यास को ही कहने के प्रकार हैं। जैसे काँच में दोष से प्रतिबिंब बिंब के अननुरूप दीखता है वैसे कोशदोष से चिच्छाया कर्ता-भोक्ता आदि दीखती है। बिंब की तरह चेतन तो इस सबसे अस्पृष्ट ही बना रहता है। सचेतन विज्ञान ही प्राणों को संग्रथित रखता हैकहने का मतलब यह नहीं कि सुषुप्ति में विज्ञान लीन होने पर प्राण विशृंखल हो जाता है! मतलब इतना ही है कि प्राणों को तत्तत् कार्यों में विनियुक्त तभी किया जा सकता है जब विज्ञानमय हो। इस जीवरूप को द्वैतविवेकप्रकरण में (श्लोक.११) इस तरह बताया है

'चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।

चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते।।'

अधिष्ठान चेतन, लिंगदेह और उसमें पड़ी चिच्छायातीनों का संघ जीव कहा जाता है। विज्ञानमय में परिसीमित होने से जीव का ईश्वर से अन्तर संगत है।

जन्म-मरण का अनुभव जीव करता है पर वह न जन्मता है न मरता है, उसका संबंध किसी स्थूल शरीर से हो जाये तो जन्म कहा जाता है और उससे वियोग को मरण कहा जाता है। अपने संबंध-असंबंध से स्थूल शरीर को चेतन या जड बनाने वाला जीव तो अनादि है और आमोक्ष बना ही रहता है। जीव पैदा होता है ऐसा भागवत आदि वैष्णव मानते हैं जो ग़लत है क्योंकि तब अकृत-अभ्यागम आदि दोष प्राप्त होते हैं। इस पर सूत्रकार ने स्वयं चर्चा की है। जीव भी है चिद्रूप ही, ज्ञानरूप ही। सुषुप्ति आदि में करणादि के लय से बाह्य चीजों को न जानने पर भी जीव अपने चेतन रूप से मौजूद ही रहता है, जानता हुआ ही रहता है, नित्य अलुप्त दृष्टि वाला है। विज्ञानसीमा में बँधे रहना ही जीव की परिच्छिन्नता है, चिन्मात्र (बिंब) रूप से वह व्यापक ब्रह्म है। कर्ता-भोक्ता जीव ही है भले ही इसके लिये वह करणों पर निर्भर करता है। करण-सापेक्ष होने से जीव का कर्तृत्वादि औपाधिक, मिथ्या है परंतु जैसा भी है, है जीव का ही। उसे करने की शक्ति ईश्वर ही प्रदान करता है। तदनुसार कर्म करके अपूर्व से (पुण्य-पाप से) घिरा हुआ वह स्वर्गादि लोक जाकर फलभोग करता है और वहाँ भोगोचित कर्म क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में लौटता है। जन्मान्तरण की प्रक्रिया में भोगायतन-प्राप्ति से पूर्व, मध्य में जो वाहनादिरूप में शरीर प्राप्त होते हैं उनमें जीव कोई भोग नहीं करता। जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ जीव ही भोगता है। स्वप्न में सारे मिथ्या पदार्थों की सृष्टि करने वाला जीव है। सुषुप्ति में सूक्ष्मोपाधि विलीन होने पर सत् से संपन्न होकर जीव रहता है तथा जगने पर वही उपाधि प्रकट होने पर वही जीव उठ जाता है। विज्ञान का भी कारण जो अज्ञान उसकी निवृत्ति होने पर ही जीव मुक्त होता है। जीव की संकल्पना विषयज्ञान के लिये भी आवश्यक है। केवल जड चीज़ों के सन्निवेशविशेष से चेतन (ज्ञान) हो जाना असंभव है। जीव ही ज्ञानरूप ब्रह्म और जड विषयों का संपर्क संभव कर विषय-ज्ञान उपपन्न करता है। जड-चेतन का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता, फिर भी प्रतीत अवश्य होता है अतः अवास्तविक, मिथ्या संबंध है जो प्रतिबिंबात्मक मिथ्या जीव से संगत हो जाता है। उत्पत्ति-नाश वाला विषयज्ञान जीव को ही होता है, ईश्वर का ऐसा अस्थायी ज्ञान नहीं है, अतः इसकी जीव से संगति उचित है।।१०४।।

अनुप्रवेश के बाद ईश्वर ने मूर्त-अमूर्त प्रपंच तैयार किया। मूर्त की विशेषताएँ सत्, निरुक्त, निलयन शब्दों से कहीं, अमूर्त की विशेषताएँ त्यत्, अनिरुक्त अनिलयन शब्दों से बतायीं। जानने वाले शरीरादि और न जानने वाले पत्थर आदि सब ईश्वर ने निर्मित

भोक्ता भूत्वेश्वरस्तद्वद् भोग्यरूपोऽपि सोऽभवत्।
भोग्यं च बहुधा सच्च त्यच्चेत्यादिविभेदतः।।१०५।।
सत् प्रत्यक्षं परोक्षं त्यत् तदभावावुभौ तथा।
वक्तुं शक्यमशक्यं चेत्यादि द्वन्द्वेऽस्ति भोग्यता।।१०६।।

किये। व्यावहारिक-प्रातिभासिक जो कुछ है उसे बनाने वाला सच्चिदानंद परमात्मा ही है। इसे समझाते हैं **ईश्वर पहले भोक्ता बना फिर उसी प्रकार वह भोग्यके रूप वाला भी बना। सत्, त्यत् आदि भेदों से भोग्य बहुत तरह का है।।१०५।। (भोग्यों के भेद इस प्रकार हैं) सत् अर्थात् जो प्रत्यक्ष है, त्यत् अर्थात् जो परोक्ष है, जो प्रत्यक्ष नहीं, जो परोक्ष नहीं, जिसे साफ-साफ कहा जा सकता है, जिसे शब्दों में बाँधना संभव नहीं; इसी प्रकार के और भी जोड़े उपलब्ध हैं जो भोग के विषय हैं।।१०६।।** उपाधि ग्रहण कर भोक्ता बनने के बाद ईश्वर उपाधि के सहारे ही भोग्य भी बना। बना एक परमात्मा पर उपाधिभेद से भोक्तृ-भोग्य का भेद सम्भव हो गया। भोक्तृभाव आनंदमय में आने पर ही बहिर्मुख होकर भोग्य ग्रहण किया जाता है। हम जिस विषय के भोक्ता नहीं उसे भोग्य बनाते भी नहीं, अंधे को रूप देखने की छटपटाहट नहीं होती। पहले आँख वाले बनोगे तब रूप ढूँढोगे। अंधा सुनकर रूप चाहे भी तो यही इच्छा करता है कि पहले मुझे आँख मिले फिर रूप मिले। अतः सृष्टिक्रम में ईश्वर ने भी पहले भोक्तृभाव ग्रहण किया, तदनन्तर भोग्य बने। इससे यह भी संकेत है कि भोक्तृसामर्थ्य हो तभी भोग्य ग्रहण करना चाहिये, अपनी भोक्तृसीमा लाँघकर भोग्य बटोर लेने से सर्वविध नुकसान होता है। भोक्ता, भोग्य शब्द केवल खाने वाले और खाये जाने वाले के लिये नहीं, सभी इंद्रियों से होने वाले भोग के अभिप्राय से हैं, द्रष्टा रूप खाता है, स्प्रष्टा स्पर्श खाता है आदि। उपनिषत् यह रहस्य बता रही है कि जो भोक्ता बना वही भोग्य भी बना। अद्वैत सब स्तरों पर कायम है। साधक के लिये इससे भोग का तरीका सूचित है : भोग्य को अपने से अलग मानने पर ही हम उसका दुरुपयोग करते हैं, उसकी बर्बादी की परवाह नहीं करते। साधक याद रखे कि जो भोक्ता है वही भोग्य है, भोग्य मुझसे (भोक्ता से) अलग कोई चीज़ नहीं है, चीज़ मैं ही हूँ, उपाधियों का फ़र्क है। यह याद रखने पर दुरुपयोग, बर्बाद करने आदि की प्रवृत्ति रुकेगा। एक मालिक के दो व्यापारिक संस्थान बाज़ार में प्रतिस्पर्धा भले ही करें, मालिक दोनों में किसी का नुकसान नहीं करता, दोनों को अपनी संपत्ति जानकर दोनों के फ़ायदे की ही कोशिश करता है। इसी प्रकार

भोक्ता-भोग्य की एकता का जानकार, दोनों का फ़ायदा ही करेगा, एक का भी नुकसान नहीं करेगा। इसी प्रकार, सभी भोक्तओं का रूप एक ही ईश्वर ने लिया हैयह ध्यान रखकर किसी भोक्ता का नुकसान मेरा ही नुकसान है यह समझते हुए साधक सर्वत्र समभाव रखे यह ज़रूरी है। जैसे स्वप्न में हम अकेले ही भोक्ता व भोग्य बनते हैं वैसे ईश्वर अकेला ही जाग्रत् में भोक्ता-भोग्य बना है। भोक्ता अपनी उपाधियों के कारण विविध हैं तो भोग्य भी विविध हैं। अत एव अनादिकाल से भोक्ता भोग करते जाते हैं फिर भी नये-नये भोग्य सामने आते जाते हैं। यही माया का जीव को बहलाने का तरीका है! संसार देखकर मन भर जाये फिर इसे छोड़ सकोयह कभी नहीं होगा। संसार केवल विवेक से छूट सकता है। देखने चले तो नित नवीन दीखता जायेगा, मन कभी नहीं भरेगा।

श्रुति ने सत्, त्यत् आदि शब्दों से भोग्यों का वैशिष्ट्य बताया है। प्रसंग भोग्यों का है अतः व्यक्त के बारे में ही समझना चाहिये, अव्याकृत तो कारणविधया ही भोग्य है, साक्षात् उसका अज्ञान-रूप से ही भोग कहा जा सकता है। 'सत्' मायने जो प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं, पृथ्वी-जल-तेज और इनके कार्य। इन्हें मूर्त शब्द से भी कहते हैं। 'त्यत्' मायने जो परोक्षतया सिद्ध हैं, वायु-आकाश, जिन्हें अन्यत्र अमूर्त शब्द से भी कहा है। वायु की क्रिया का तो त्वाच प्रत्यक्ष होता है पर बिना क्रिया के स्थिर वायु का नहीं, एवं आकाश रूपादिहीन होने से इन्द्रियविषय है नहीं, अतः ऐंद्रिय प्रत्यक्ष इन दो भूतों का नहीं होता जिससे ये परोक्ष कहे जाते हैं। तार्किक क्रियावान् को मूर्त मानकर वायु को मूर्त कहते हैं किन्तु उपनिषत् में वायु को अमूर्त ही गिना है अतः यहाँ क्रियावान् नहीं वरन् इंद्रियविषय को मूर्त कहा है। श्रुति में 'सत् च त्यत् च' यों दो चकार हैं, उनसे प्रत्यक्ष का अभाव और परोक्ष का अभावइन दो अभावात्मक विषयों को समझ लेना चाहिये। अभाव चाहे जिस प्रमाण का विषय बने पर उसका प्रतियोगी प्रत्यक्ष है या परोक्ष इससे अभाव में भेद समझना चाहिये। जैसे भाव वस्तु का भोग होता है ऐसे अभाव का भी; बुखार दुःख देता है तो बुखार उतर जाना सुख देता है, सुख-दुःख दोनों भोग हैं ही। 'निरुक्त' मायने जिसे काफी स्पष्ट रूप में शब्दों द्वारा समझाया जा सके, उसकी खासियत बता सकें ताकि अपने समान चीजों में भी वह पहचाना जाये और विषम चीज़ों से भी पृथक् पता चले, उसके स्थान-समय-प्रभाव आदि को बताया जा सके। और जिसे यों साफ़-साफ़ कहना संभव नहीं वह 'अनिरुक्त' है। घड़े आदि चीजों को निरुक्त कह सकते हैं और अलग-अलग वस्तुओं के स्वादों को अनिरुक्त कह सकते

कामित्वम्, आलोचकत्वं, स्रष्टृत्वं, च प्रवेष्टृता।
भोग्याकारश्च पञ्चैते ब्रह्मसद्भावहेतवः।।१०७।।
सद्रूपः परमात्मा स्यात् कामित्वात् स्वर्गकामिवत्।
आलोचनाद् मन्त्रिवत् सन् स्रष्टृत्वाच्च कुलालवत्।।१०८।।

हैं, जैसा भामती में (पृ.१२५) कहा है 'न हि इक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदः शक्य आख्यातुम्'। 'निलयन' अर्थात् आश्रय; गुण-क्रियादि के आश्रय को, द्रव्य को निलयन तथा आधेय गुणादि को अनिलयन समझना चाहिये, दोनों भोग्य हैं। अथवा सवृत्तिक (किसी पर रहने वाली) वस्तुओं को निलयन समझना चाहिये जैसे घटादि और निर्वृत्तिक वस्तुओं को अनिलयन, जैसे आकाशादि। 'विज्ञान' से सजीव हो सकने वाले संघात और 'अविज्ञान' से निर्जीव रहने वाले पदार्थ कहे हैं। व्यावहारिक को 'सत्य' तथा जो व्यावहारिक भी नहीं ऐसे मिथ्यादि को 'अनृत' कहा है। जो उपक्रमोक्त परमार्थतः सत्य ब्रह्म है उसीने ये सब भोग्य आकार ग्रहण किये। इस प्रसंग में, सारे दृश्य को और द्रष्टा के उपाध्यंश को विवेकदृष्टि से जब ब्रह्म से पृथक् नहीं हैयों समझ लेते हैं तब सच्चिदानंद ब्रह्म का बोध हो जाता है यह विवक्षित है। अनात्मा को ब्रह्म से अलग न समझना ही संभव करने के लिये कहा कि वही सब बना। सारी उपाधियाँ विवेकदृष्टि से हटा देने पर कार्य-कारण से परे जो सनातन वस्तु है वह स्वतः स्फुर जाती है। जन्य सभी अनुभवों के होने-न-होने का साक्षी वही परमार्थ तत्त्व है जो द्रष्टा-दृश्य रूप लिये प्रतीत हो रहा है।।१०६।।

पूर्वोक्त ढंग से 'ब्रह्म है या नहीं?' इस प्रश्न का उत्तर सयुक्तिक पूरा हुआ यह दिखाते हैं **ब्रह्म है यह सिद्ध करने वाले पाँच कारण बताये १. उसने कामना की, २. विचार किया, ३. जगद्रचना की, ४. जीवरूप से प्रवेश किया और ५. भोग्यों का आकार ग्रहण किया।।१०७।। इन हेतुओं से ये अनुमान समझने चाहिये १. परमात्मा अवश्य है क्योंकि उसने कामना की, कामना करने वाला होता ही है जैसे स्वर्ग की कामना करने वाला जीव। २. परमात्मा अवश्य है क्योंकि उसने विचार किया, जो विचार करता है वह होता ही है जैसे मंत्री। ३. कुम्हार की तरह सृष्टिका निमित्त होने से परमात्मा अवश्य है। ४. साँप है तभी बिल आदि में प्रवेश करता है, इसी तरह परमात्मा ने जगत् में प्रवेश किया तो परमात्मा अवश्य है। ५. चावलादि की तरह भोग्य होने से भी परमात्मा अवश्य है।।१०७-८-१/२।।** कामनादि हेतु पूर्व में समझा चुके हैं। संसार की

व्यवस्था देखकर इसे विचारित, संकल्पित रचना मानना आवश्यक हो जाता है। नैयायिक केवल कार्यता से सकर्तृकता कहता है पर भगवान् भाष्यकार संसार की व्यवस्थितता की तरफ ध्यान आकृष्ट करते हैं। केनवाक्यभाष्य में 'तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः' आदि में काफी विस्तार है। न केवल जड चीज़ें वरन् जीवों के सुख-दुःखादि भी व्यवस्थानुसार हैं, कर्म-चक्र से नियंत्रित हैं। जड-चेतन सभी की विविधता और परस्पर उपकारकता बाध्य करती है इसके रचयिता को सर्वज्ञ मानने के लिये। इसे चेतनका सुविचारित कार्य न मानना अंधविश्वास और हठधर्मिता ही है। इच्छामात्र नहीं वरन् लाभ-हानि का दीर्घकालिक आकलन करके ही सृष्टि चलायी जा रही है यह थोड़ा भी सोचने से पता चलता है। अतएव इसके नियमों में हेरफेर नहीं होती। साधारण व्यक्ति प्रशंसादि से खुश होकर आवेश में स्वयं के निर्णयों को परिवर्तित कर देता है, बाद में पछताता है, किन्तु परमेश्वर के नियम अटल हैं, प्रार्थनादि से वे कृपाकर किसी को कुछ दें किंतु नियम में कोई परिवर्तन नहीं करते यह असंख्य पुराणादि कथाओं से सिद्ध है। परमेश्वर न केवल परोक्ष है वरन् जीवरूप से अपरोक्ष भी है। प्रवेश करके उन्होंने 'गुहा' में अपने उस रूप का प्रदर्शन कर रखा है जिसके दर्शन से हमारा मोक्ष सुनिश्चित है। क्रीडारूप सृष्टि में यदि हम थक गये, और नहीं खेलना चाहते, तो इस खेल से बाहर होने का रास्ता भगवान् ने बना रखा है अतः शिकायत का मौका नहीं कि भगवान् हमसे ज़बर्दस्ती खेल करा रहे हों। शिकायत इसी से है कि हम खेलना तो चाहते हैं पर अपनी मर्ज़ी से! यह असंभव है। खेलना न चाहें तो संसार से निवृत्त होकर मुक्त हो सकते हैं पर यदि खेलना है तो क्रीडा के नियमों से ही खेल चलेगा क्योंकि वे नियम सर्वज्ञ ने विचारकर निर्धारित किये हैं, सर्वथा उचित नियम हैं।

श्लोक में परमात्मा को सद्रूप बताया है। तात्पर्य यही है कि वह अवश्य है। उसका स्वरूप सन्मात्र कहकर स्पष्ट किया कि यहाँ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' आदि में प्रसिद्ध परमब्रह्म को ही कह रहे हैं, सविशेष तत्त्व को नहीं। किंच, अनुमान से दृष्टांतानुरूप सिद्ध होने पर वह सत्तावान् प्रतीत होगा पर वैसा न समझें वरन् उसे सद्रूप समझें यह ज़रूरी है। दृष्टांत भी सत् समझने चाहिये; स्वर्गकामी है, कुलाल है आदि सत्सामानाधिकरण्य सदभेद में पर्यवसित होता है, सत् ही उपाधिवश स्वर्गकामी, कुम्हार आदि लगता है। हर विशेष अपने सामान्य से अभिन्न होता है और सत् महासामान्य है अतः सभी विशेष उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार कामनादि करने से

चिद्रूप सिद्ध होने वाला परमेश्वर सद्रूप ही है यह तात्पर्य है। स्वर्गकामी आदि दृष्टांतों से पता चलता है कि परमात्मा अवश्य है। इन अनुमानों में सद्रूपता ही साध्य है एवं सभी दृष्टांत सद्रूप हैं। दृष्टांतों में हेतु भी निर्विवाद हैं अतः अनुमान स्पष्ट हैं। कामित्वादि यदि सत् के व्यभिचारी होते तो सत्से अनुविद्ध न मिलते, सत् के कार्य न होते आदि तर्क भी समझ लेने चाहिये। परमात्मा को सद्रूप कहने वाली श्रुति की अन्यथा अनुपपत्ति भी सिद्ध करती है कि ये अनुमान सही व्याप्ति पर आधारित हैं। बृहदारण्यक के अक्षरब्राह्मणका (३.८) भी अनुसंधान करना चाहिये। श्रुति से अवगत हेतु-तर्कों को ही विभिन्न वादी प्रयोग में लाकर युक्तिसिद्ध ईश्वर की चर्चा करते हैं जो नास्तिकादि अविचारशीलों को सन्मार्ग पर लाने के लिये ठीक भी है पर आस्तिक को यह जान लेना चाहिये कि श्रुति से स्वतंत्र होकर स्वानुभव पर निर्भर कर किसी भी हेतु-तर्क से परमब्रह्म की सिद्धि संभव नहीं। अत एव पत्यधिकरण में (३.२.७) परिमलादिकार ने तर्कैकसिद्ध ईश्वर स्वीकारने की कठिनाइयाँ प्रकाशित की हैं। सिद्ध श्रुति से होने पर भी उसकी विद्यमानता उपपन्न है यह युक्ति से समझना चाहिये एवं इसीलिये स्वयं वेदने अनेक हेतु दिये हैं। अतः यहाँ कहे हेतुओं में वेद ही प्रमाण है; पक्ष व साध्य भी वेदप्रमाणक ही है; लौकिक दृष्टांत तो वेदोक्त बात को बुद्धिसंगत बनाने के लिये हैं।।१०७-८-१/२।।

यदि लोकदृष्ट के आधार पर अपनी बुद्धि से निर्णय करना होता तो ईश्वर-अस्तित्व का निर्णय दुर्लभ हो जाता क्योंकि इस विषय में हर विचारशील अलग तर्क पेश कर सकता है और सब विद्वान् एकत्र हो एकमत बनें यह असंभव है जैसा 'तर्काप्रतिष्ठानात्' आदि (२.१.११) सूत्रव्याख्या में आचार्य शंकर ने कहा है 'न च शक्यन्तेऽतीताऽनागत-वर्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले च समाहर्तुं येन तन्मतिरेकरूपैकार्थविषया सम्यङ्मतिरिति स्यात्'। यदि केवल वेदवचन से मानना होता तो भी शंका रहती कि क्या वेद का हम सही अर्थ समझे हैं? किंतु यह भी शंका न रहे इसे संभव करते हैं श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ जिन्हें परमात्मा सुस्पष्ट साक्षात् उपलब्ध है। साधारण सांसारिक बातों में भी तत्तत् विषय के विशेषज्ञों के अनुभव से सत्यापित तत्तत् शास्त्रों की बातें मान्य हो जाती हैं भले ही हमें उन शास्त्रों की बारीकियाँ न समझ आयें और न ही हमें वैसा सूक्ष्म अनुभव हो। इसी प्रकार जिन्होंने अनेक जन्मों तक अध्यात्म साधनाकर परमेश्वर का साक्षात्कार किया है वे जब घोषित करते हैं कि शास्त्र का यही अर्थ है, तब उस अर्थ के बारे में शंका नहीं रह जाती। सनातन धर्म की पद्धति में संप्रदाय,

प्रवेष्टृत्वात् सर्पवत् सन् भोग्यत्वाच्चौदनादिवत्।
नानुमानैरेव किन्तु विद्वत्प्रत्यक्षतोऽपि सन्।।१०९।।

ब्रह्मणि प्रत्यक्षम्

यत् सत्यं ब्रह्म पूर्वोक्तं तदेव जगदात्मना।
भाति भ्रान्त्या ततः सर्वं ब्रह्मेत्याचक्षते बुधाः।।११०।।

आचार्य, उपपत्तिइनका आगम से मिलान आवश्यक है और जहाँ संभव हो वहाँ स्वानुभव से भी मिलान आवश्यक है, अत एव ग़लतीकी संभावना नहीं रह जाती। अनेक महापुरुष स्वयं को परमात्मदर्शी कहते हैं। यदि केवल विद्वद्वाक्य पर निर्भर करना हो तो उन महापुरुषों में से किसे मानेंयह असमाधेय समस्या है। किंतु श्रौत रीति विद्वान् को महत्त्व देकर भी उसकी बात को श्रुति के आधार पर परखने की है अतः श्रुति के सर्वाधिक अनुरूप जिसका अनुभव है उसी विद्वान् को स्वीकारा जाता है। अनुभव तो साँप-रस्सी दोनों का होता है, केवल अनुभव से तथ्य नहीं सिद्ध होता, तथ्य के लिये प्रमाण चाहिये और परमात्मा में वेद प्रमाण है अतः वेदानुसारी अनुभव ही तथ्यपरक होता है। आगे, श्रुत्यर्थ व अनुभव दोनों विचारसिद्ध भी होने चाहिये, युक्तिसंगत होने चाहिये अन्यथा अवश्य मीमांसा की गुंजायश है, अनुभव की और गहन जाँच ज़रूरी है। इतना ही नहीं, जब प्रसंग आत्मा का हो (परमात्मा भी आत्मा तो है ही!) तब कोई भी व्यक्ति, सर्वश्रेष्ठ ऋषि आदि भी, देवता भी इस विशेषाधिकार वाला नहीं कि उसी को वेदार्थ अपरोक्ष हो सकता है; प्रत्येक साधक के लिये उस साक्षात्कार का मार्ग खुला होना चाहिये अतः यदि कोई महापुरुष वेदार्थ के अनुकूल भी कहकर अन्य साधकों के लिये उस परमात्मानुभव को वर्जित बातये तो सनातनी उस महापुरुष के विचारों से सहमत नहीं होता। केनोपनिषद्भाष्य में (२.२) यह सारा विषय विस्तार से स्पष्ट किया गया है। अत एव प्रकृत प्रसंग में तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मज्ञों के कथन को उद्धृत करती है'तत् सत्यमित्याचक्षते', अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को सत्य कहते हैं। उनका कथन उनके अनुभव के अनुसार है क्योंकि वे सत्यवादी हैं'।।

इस दृष्टि से व्याख्या करते हैं **केवल अनुमानों से ही नहीं, ब्रह्मवेत्ताओं के प्रत्यक्ष ज्ञान से भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म है।।१०९।। जिन्होंने परमात्मा को समझ लिया है वे कहते हैं कि वल्ली के प्रारंभ में जिस सत्य ब्रह्म का कथन था वही भ्रमसे जगत् के रूपमें प्रतीत हो रहा है अतः सारा जगत् ब्रह्म ही है। ।११०।। जिस तरह भ्रम से कल्पित सर्प, जलधारा आदि अधिष्ठान-प्रमा होने**

सर्पधारादिका भ्रान्त्या कल्पितास्तत्त्वदर्शने।
रज्जुरेव तथा तद्वद् ब्रह्मैव सकलं जगत्।।१११।।

पर रस्सी ही रह जाते हैं उसी तरह सारा जगत् ब्रह्म ही है।।१११।। विद्वान् अर्थात् वास्तविकता का यथार्थ जानकार। रज्जु को समझ चुकने पर स्पष्ट 'दीखता' है कि सर्पादि रस्सी है। रबर इत्यादि से बने साँप आदि के खिलौनों में यह बात और साफ है : पहले वह सचमुच साँप लगता है, फिर जब पता लग जाता है कि खिलौना है तब भी दीखता बिलकुल साँप है पर यह भी साफ दीखता है कि वह साँप नहीं है केवल खिलौना है। सोपाधिक भ्रम स्थलों में यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसी प्रकार तत्त्ववेत्ता को व्युत्थान काल में जगत् ब्रह्म दीखता है। दीखने का मतलब केवल चाक्षुष ज्ञान नहीं! ब्रह्म अपरोक्ष अनावृत रहता है और प्रपंच का इंद्रियादि योग्य साधनों से ग्रहण होता है पर यह पता रहता है कि द्रष्टा-दृश्य जगत् केवल अनुभव में आ रहा है, ब्रह्म से अन्य यह कुछ नहीं है। यह जो जगद्बाधात्मक प्रत्यक्ष है वह सिद्ध करता है कि अधिष्ठान वस्तु सद्रूप परमात्मा है। प्रत्यक् पूर्ण वस्तु का सद्रूप स्फुरण तो उसे सत् सिद्ध करता ही है। 'सभी कुछ ब्रह्म है' यह अनुभव बताता है कि जो अब्रह्मकी तरह जगत् प्रतीयमान है वह केवल भ्रम है। अब्रह्म का बाध होने पर जो सन्मात्र रहता है, वह ब्रह्म ही है। इस तरह अखण्ड साक्षात्कार तथा प्रपंच का बाधानुभवइन दो विद्वत्प्रत्यक्षों से ब्रह्मकी सद्रूपता समर्पित है।।११०-११।।

जगत् की सन्मूलता होने से और सत् में उसका बाध होने से सत् ही जगत्कारण अतः ब्रह्म है। 'घट है' यह अनुभव भी विचारशील के लिये घट की सद्रूपता में प्रमाण है क्योंकि जो घट वही है, जो है वही घट यों है-से घट अभिन्न अनुभव हो रहा है। घट कुछ समय 'है' रहकर 'नहीं है' हो जाता है जबकि 'है' हमेशा 'है' ही बना रहता है अतः है का व्यभिचारी होने से घट सद्विलक्षण, मिथ्या सिद्ध होता है और सनातन है सत्य सिद्ध होता है। रस्सी रहते ही साँप प्रतीत होकर रस्सी रहते ही साँप का निषेध हो जाता हैजिससे अभिन्न हुआ वह दीख रहा था उससे अभिन्न हुआ वह नहीं है यह निश्चय हो जाता हैअतः रस्सी सच और साँप मिथ्या है; इसी तरह 'घड़ा है' यों है से अभिन्न हुआ प्रतीत होने वाले घड़े का ही 'घड़ा नहीं है' यों निषेध हो जाता हैहै से एक हुआ लग रहे घड़े को ही घड़ा फूटने पर कह देते हैं कि वह है से एक नहीं हैअतः घड़ा मिथ्या और है सत्य है। इसलिए मिथ्या होते हुए वह सद्रूप तभी है जब सत् पर कल्पित है अतः सत् ही अधिष्ठान है यह पता चलता है। 'जगत्

ब्रह्म है' इस बात को वेदांती जब कहता है तब उसका मतलब होता है कि जगत् नहीं है किंतु ब्रह्म है जैसे 'साँप रस्सी है' का मतलब है कि साँप नहीं किंतु रस्सी है। कुछ वैष्णवाचार्य यह भूल कर बैठे हैं कि 'सब कुछ परमेश्वर है' यह मानते हुए भी प्रपंच को मिथ्या नहीं समझते। इसका मतलब निकलता है कि परमेश्वर को विकारी मानना पड़ता है जिससे वह नश्वर है आदि असंगत बातें स्वीकारनी पड़ेंगी। वे लोग या तो इन समस्याओं के विचारसे मुँह फेरे रहते हैं, या परिणामी को भी नित्य मान लेते हैं या अविकृत परिणाम की कल्पना करते हैं; इन सभी तरीकों में युक्तिविरोध और वेदविरोध होने से ये आस्तिक को अमान्य हैं। दार्शनिक मर्यादा लाँघकर यदि विचार किया जाये तो सीधा प्रश्न है कि सब कुछ यथावत् ब्रह्म है तो कार्य-अकार्य आदि विभाग का कोई आधार नहीं तथा उपलब्ध संसार के सुख छोड़कर किसी परम धाम के लिये तप का कोई हेतु नहीं, फिर भोगपरायणता छोड़ भक्तिपरायणता का विधान क्यों? विषय जगत् मिथ्या है तब तो इसे छोड़ने का औचित्य है, जो सत्य है उसे पाने के प्रयास की सफलता है, किंतु जब विषय भी परमेश्वर के समकक्ष सत्य हैं तब इन्हें छोड़कर भगवान् की ओर कोई क्यों बढ़े? दुःखी व्यक्ति भी जिन कारणों से, रोग-गरीबी आदि से कष्ट में है उन्हें दूर करने की कोशिश करेगा, संसारमात्र छोड़कर भजन में क्यों लगेगा? अतः कोई भी अध्यात्म-मार्गी हो, उसे किसी-न-किसी मायने में संसार के विषयों को परमेश्वर से कम महत्त्व का स्वीकारना ही पड़ेगा, तभी साधना का विधान संभव होगा। इस 'कम महत्त्व' के बारे में ही गहन विचार करने से मिथ्यात्वका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। वेदांत असत् और मिथ्या का भेद स्पष्ट करता है। संसार को असत् नहीं वरन् मिथ्या माना जाता है अत एव इसके आकर्षण से छूटकर सत्य परमेश्वर प्राप्त करने के लिये साधना की जाती है। प्रपंच मिथ्या होने से 'सब ब्रह्म है' का अर्थ यही निकलता है कि सब जिस नाम-रूप-कर्म वाला दीख रहा है उस तरह वह है ही नहीं, वास्तविक नामादि-रहित ब्रह्म ही है जो भ्रम से संसार दीख रहा है। यह अनुभव होने पर ही साधक 'विद्वान्, बुध' आदि कहा जाता है और उसके वचन से यह बात दृढ हो जाती है कि ब्रह्म है। शास्त्र, अनुमान, विद्वत्प्रत्यक्ष और विद्वद्वाक्यइन चार उपायों से ब्रह्म अवश्य है यह बताकर श्लोक ६७ में उठायी शंका का समाधान करते हैं **पूर्वपक्षी जो यह मानता है कि नाम-रूप वाला होने से जगत् तो अवश्य है और नामादिहीन होने से ब्रह्म नहीं है; वह उसका मानना ग़लत है क्योंकि ब्रह्म हैयह स्वयं अनुभव**

नामरूपयुतत्वेन जगत् सद्, ब्रह्म नेति यत्।
पूर्वपक्षिमतं तन्न, ब्रह्मसत्त्वं तदीक्ष्यताम्।।११२।।
रज्जुदैर्घ्यं यथा सर्पधारादिष्वनुगच्छति।
ब्रह्मसत्त्वं तथा व्योमवाय्वादिष्वनुगच्छति।।११३।।

किया जा सकता है।।११२।। जिस प्रकार अधिष्ठानभूत रस्सी की लंबाई उस पर अध्यस्त सर्प, जलधारा आदि में अनुगत होती है उसी प्रकार ब्रह्म का ही है-रूप आकाश-वायु आदि में अनुगत मिल रहा है।।११३।। पूर्वपक्षी और सामान्य अविचारशील भी यही समझता है कि नाम-रूप-कर्म हों तभी चीज़ है, ये नहीं तो चीज़ भी नहीं। 'घड़ा है' का यही मतलब है कि उसका घड़ा आदि नाम है, मोटा-पेट, छोटा मुँह आदि रूप है और जलधारणादि कर्म है; ये तीनों न हों तो समझा जाता है कि घड़ा नहीं है। शास्त्र ब्रह्म को नामादि से रहित कहता है तो ब्रह्म नहीं है यह समझना स्वाभाविक है। किंतु विचार करने पर प्रश्न उठता है कि वस्तु को तो नामादि वाला होने पर 'है' माना पर नामादि को 'है' कैसे माना? किसी को भी 'है' क्यों मानते हैं? 'है'-अनुभव का विषय क्या है? किस प्रमाण से 'है' समझा जाता है? संसार के भाव-अभाव सभी विषय 'है'-अनुभव में आते हैं अतः है सबमें एक-समान विद्यमान है। घड़ा बनने से पूर्व जो मिट्टी आदि उपादान वह भी है, घड़ा बनने पर वह है और घड़ा फूटने पर ठीकरे आदि भी हैं; अतः पिण्ड-घड़ा- ठीकरा आदि सब बदल जाते हैं पर है नहीं बदलता। आग-पानी आदि परस्पर विरोधी चीज़ों में भी 'है' सर्वथा समान रहता है। इससे समझ आता है कि 'है' ही सब चीज़ों का कारण है। जैसे सब बर्तनों में रूप-रंगादि तो बदलने वाले हैं, एकरूप रहती है मिट्टी अतः पता चलता है कि सब बर्तनों का कारण मिट्टी है वैसे बदलने वाली सब चीज़ों में एकरूप रहने वाला 'है' ही सबका कारण निश्चित हो जाता है। आकाश है, वायु है आदि भूत-भौतिक सब कुछ है ही मिलता है अतः वह सर्वकारण है। सर्वकारण को ही ब्रह्म कहते हैं अतः पता चलता है कि ब्रह्म है। छांदोग्य में समझाया है कि जैसे पानी में घुल जाने पर नमक पानी से अलग दीखता नहीं पर पानी चखते ही पता चल जाता है कि उसमें नमक है वैसे संसार के अनुभव से पता चलता है कि इसमें ब्रह्म है क्योंकि नमक के स्वाद की तरह ब्रह्म का है-रूप संसार में मिल रहा है। अधिष्ठान का कोई अंश भ्रम में भी प्रतीत होता है, उसी अंश के सहारे अधिष्ठान तक पहुँचा जाता है; वह अंश 'आधार' कहलाता है। उदाहरण के लियेभ्रम से दीखने वाले सर्पादि उतने ही लंबे,

उसी तरह लिपटे दीखते हैं जितनी लंबी, जिस तरह लिपटी रस्सी पड़ी हो। अतः भ्रम में दीखने वाली लंबाई है तो रस्सी की ही पर लगती है मानो सर्प की हो। क्योंकि सभी अध्यस्तों में एक-समान दीखती है तथा प्रमाकाल में भी उसका बाध नहीं होता इसलिये लंबाई रस्सी की ही दीखी यह मानना उचित है। यही अध्यस्त में अधिष्ठान का अनुवेध कहलाता है। संसार में सब कुछ 'है' लगता है अतः 'है' को इसके कारण का अंश स्वीकारना संगत है। इस प्रकार कारण हैय्ही निश्चित होता है जिससे पूर्वपक्षी का मत कि कारण नहीं है, खंडित हो जाता है; कारण कहें या ब्रह्म कहें, एक ही बात है। 'ब्रह्म नहीं है' का एक मतलब है ब्रह्म को ही अस्वीकार करना तथा दूसरा मतलब है यह मानना कि ब्रह्म तो स्वीकार है पर उसका स्वरूप सत् नहीं असत् है। पूर्व विचार से जगत्कारणरूप ब्रह्म तो सिद्ध हो चुका अतः उसके अस्वीकार का यहाँ प्रसंग नहीं वरन् वह असत् है यह पूर्वपक्षी का मत है जिसका निरास सिद्धांती ने किया कि कारण अपने सब कार्यों में अनुगत रहता है, सब कार्यों में अनुगत 'है' मिल रहा है, अतः यही कारण है; है मायने सत् ही कारण मायने ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म की सद्रूपता स्पष्ट की।।११२-३।।

आगे उपनिषत् में मंत्र आया है

'असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सद् अजायत।

तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते।।'

अर्थात् यह जगत् पहले असत् था, फिर सत् के रूप में पैदा हुआ। ब्रह्मने अपने आपको खुद (जगद्रूप में तैयार) किया इसलिये ब्रह्म सुकृत कहलाता है। यहाँ जगत् को जन्म से पूर्व असत् कहने का मतलब है कि क्योंकि तब स्वरूप से ही जगत् का अध्यास नहीं था इसलिये सत्-तादात्म्येन अध्यासका प्रसंग ही नहीं। इस बात को भगवान् भाष्यकार ने असत्-शब्द के अर्थ में बताया है : व्यक्त होने वाले नाम-रूपात्मक विशेषों से विपरीत स्वरूप वाला अविकृत ब्रह्म यहाँ असत्-पदार्थ है, वह ब्रह्म ही तब था, व्यक्त नाम-रूप वाला जगत् नहीं था। उस असत्-शब्दित ब्रह्म से ही यह जगत् सत् बना, सत् से तादात्म्यापन्न हुआ। जो असत् है उसे कोई दूसरा सत् प्रदान करेगा तभी वह असत् न रहकर सत् होगा, अतः पूर्व में जो असत् था उस जगत् को ब्रह्म ने सत् प्रदान किया तो जगत् अब है। पितासे पुत्र की तरह ब्रह्म से अलग होकर जगत् नहीं बना वरन् ब्रह्म ने (असत् कहलाने वाले ने, जिसमें नाम-रूप व्यक्त नहीं था उसने) स्वयं को ही जगत् बना लिया जैसे नट स्वयं को राम आदि बना लेता है। इस प्रकार भी यह सिद्ध होता

असदेवेदमग्रेऽभूद् नामरूपात्मकं जगत्।
पश्चात् तु ब्रह्मणा सृष्टं सदभूद् ब्रह्मसत्त्वतः।।११४।।

है कि ब्रह्म है; वही जगत् का पूर्वरूप है, उसी से जगत् 'है' बनता है। इस मंत्र का अर्थ बताते हैं **नाम-रूप ही जगत् है जो 'यह है' इस तरह सत् से तादात्म्यापन्न हुआ उपलब्ध है, किंतु यों उपलब्ध होने की अवस्था से पूर्व यह सत्-तादात्म्य वाला नहीं था। बाद में, कामना संकल्पादि होने पर ब्रह्म ने इसे उत्पन्न किया अर्थात् ब्रह्म के सत् का तादात्म्य पाकर जगत् मानो सत् हो गया।।११४।।** 'नहीं है या नहीं था' आदि निषेध दो की अपेक्षा से ही सार्थक होते हैंजिसके बारे में कहा जा रहा है और जिसके बारे में मना किया जा रहा है। 'घड़ा नहीं है' समझने के लिये पता होना पड़ेगा कि किसके बारे में कह रहे हैं, क्या किसी जगह के बारे में कह रहे हैं या समय के बारे में या किसी मिट्टी के लोंदे के लिये कह रहे हैं या पानी को कह रहे हैं कि वह घड़ा नहीं है। किसी-न-किसी के बारे में ही कहा जा सकता है कि घड़ा नहीं है। और दूसरी बात पता होनी पड़ेगी जिसके बारे में मना कर रहे हैं अर्थात् घड़ा; घड़े का ही पता न हो तो भी 'घड़ा नहीं है' का मतलब समझ नहीं आ सकता। इसी तरह 'सृष्टि से पूर्व जगत् नहीं था' को समझने के लिये एक तो जगत् पता होना चाहिये, वह तो 'ये नाम-रूप' इस प्रकार पता चल ही रहा है। दूसरी चीज़ पता होनी चाहिये कि किसके बारे में कह रहे हैं; जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जो था उसी के बारे में कह सकते हैं; तब कारण ही था अतः उसी के लिये कहा गया है कि ब्रह्म तब जगत् नहीं था जैसे कह देते हैं कि माला बनने से पूर्व सोना माला नहीं था। तात्पर्य है कि शून्यादिवाद-प्रसिद्ध असत् अनुभवविरुद्ध है, वह यहाँ श्रुति के असत् शब्द का अर्थ किसी तरह संभव नहीं। कारणमात्र की दशामें जो कार्य सत्ता वाला नहीं था उसे सत्तावाला बना दिया, जो नहीं था उसे 'है' करके दिखा दिया इसी को कहते हैं कि ब्रह्मने सृष्टि कर दी। जैसे घड़ा बनते हुए ही घटाकाश वाला बनता है वैसे संसार बनते हुए ही सत्ता वाला बना, ब्रह्म ने सद्रूप से उसमें प्रवेश किया। वास्तव में कार्य की निजी कोई सत्ता नहीं है, सत्ता ब्रह्म की ही है, कार्य उसे ऐसे आत्मसात् करता है कि लगता है मानो कार्य सत् हो, सत्ता कार्य की हो। असत् का सत् जैसा प्रतीत होनायही सृष्टि है। यह केवल प्रारंभिक सृष्टि के बारे में नहीं, हमेशा के लिये नियम है कि नाम-रूप स्वयं असत् हैं, ब्रह्म की सद्रूपता को अपनी सत्ता के रूप में दिखा रहे हैं। इसे अन्यत्र क्रमशः भी समझाया है : घट के नाम-रूप सत्य नहीं वरन् घटका कारण मिट्टी

तद् ब्रह्मात्मानमेवेमं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अकार्षीज्जगदाकारं स्वयमेव स्वमायया।।११५।।

ही सत्य है, आगे मिट्टी का कारण जल ही सत्य है इत्यादि। तात्पर्य एक ही है। विवेक के लिये साधक इस तथ्य का निरंतर प्रयोग करे कि हर विषयानुभवमें जो सत्त्वका, सद्रूप का, 'है'ऐसा अनुभव है वह ब्रह्म को विषय कर रहा है, तदतिरिक्त जो अनुभव में आ रहा है वह है नहीं अतः मिथ्या, उपेक्ष्य है; जो है वही महत्त्वपूर्ण है; तो शनैः-शनैः विषयों से वैराग्य संभव है। राग-द्वेष हमेशा नाम-रूप से होते हैं, उनकी उपेक्षा करें तो सिर्फ 'है' से राग-द्वेष कभी नहीं होता। सिर्फ 'है' से व्यवहार भी नहीं होता अत एव वैराग्य के बाद उपरति स्वाभाविक है। साधक व्यवहार-सिद्धि का दायित्व छोड़े यह उचित ही है। काँटे को काँटे से निकालने की तरह व्यवहार छोड़ने के लिये जो साधना का ज़रूरी व्यवहार है वह जब तक फल नहीं हो तब तक करे, बोधदाढ्र्य के बाद साधना भी छोड़नी ही है। इसलिये है-रूप से अनुगत ब्रह्म का दर्शन बहुत महत्त्वपूर्ण है।।११४।।

'ब्रह्म ने खुद को जगदाकार बनाया' इस मंत्रांश को बताते हैं **ब्रह्म के आत्मा अर्थात् स्वरूप का लक्षण है सत्-चिद्-आनंद और वह प्रत्यग्रूपसे सदा स्फुरमाण है। उस ब्रह्मने खुद ही अपनी माया-शक्तिका प्रयोग कर अपने आत्मा को जगत् के आकार का कर दिया।।११५।।** जो तत्त्वतः ब्रह्म है वही माया द्वारा जगत् के रूप में उपलब्ध है और इस तरह उपलब्ध होने के लिये वह किसी के अधीन नहीं है, खुद अपनी शक्ति के प्रयोग से यों उपलब्ध हो रहा है। हज़ारों तरह के गहने बनने पर भी कसौटी पर कसने पर तो सोने का रंग ही उभरेगा, इसी प्रकार अनंत नाम-रूपों के आकार से उपलब्ध होने पर भी विवेकदृष्टि से तो सच्चिदानंद ही प्रकट होगा क्योंकि जैसे गहनों की वास्तविकता सोना है वैसे नामरूपात्मक प्रपंच की वास्तविकता सच्चिदानंद है। पूर्व श्लोक में केवल सत् का अनुवेध दिखाया था। जो सत् है वही चिद्-आनंद है अतः इनका भी अनुवेध अर्थसिद्ध है। अब इनके अनुवेध को स्पष्ट करेंगे, उसकी भूमिका इस श्लोक में बाँधी कि ब्रह्म स्वयं जगत् बना तो ब्रह्म का स्वरूप जगत् में अनुगत हो यह स्वाभाविक है।।११५।।

संसारका कारण परमात्मा यदि घटादि के कारण मिट्टी की तरह है तो संसार में परमात्मा मौजूद मिलना चाहियेइस आवश्यकता की पूर्ति अनुभवारूढ कर दिखाते हैं **हर वस्तु के बारे में ये तीन अनुभव होते ही हैहै, भासमान है, प्रिय है।**

अस्ति भाति प्रियं चेति प्रतिवस्त्ववभासते।
त एते सच्चिदानन्दा ब्रह्मगा भान्ति वस्तुषु।।११६।।

ये सत्-चिद्-आनंद हैं कारणभूत ब्रह्म का स्वरूप अतः उसके कार्यों में प्रतीत होते हैं।।११६।। सभी पदार्थ 'है'-से एक हुए मिलते हैं जैसे घड़ा है, कपड़ा है आदि। अभाव-पदार्थ भी 'है' इसी तरह मिलता है जैसे घटाभाव है, पटाभाव है आदि। भाव-अभाव सभी चीज़ें 'है' से युक्त ही मिलती हैं अतः 'है' या सत् सबमें उसी तरह उपस्थित है जैसे सब बर्तनों में मिट्टी। एवं सब पदार्थ ज्ञान-संवलित रहते हैं, चाहे परोक्ष हो या अपरोक्ष, ज्ञानसे असम्बद्ध कोई पदार्थ है नहीं, जो ज्ञान से सर्वथा असंबद्ध हो उसे है कहा ही नहीं जा सकता। यह भी भाव-अभाव सबके बारे में समान है। ज्ञान अर्थात् चित् परमात्माका स्वरूप है और संसार की हर वस्तु में मिल ही रहा है। ब्रह्मके ये दो स्वरूप संसार में अनुगत हैं इसे समझना सरल है। ब्रह्म का तीसरा स्वरूप है आनंद, वह संसार में इस तरह मिलता है कि हर चीज़ प्रिय होती है। हमें हो या अन्य को हो पर प्रिय होती अवश्य है। जैसे भाव वैसे अभाव भी प्रिय होता है, जैसे किसी वस्तु का मिलना प्रिय लगता है वैसे किसी का न मिलना या दूर हो जाना प्रिय लगता है। इस तरह प्रिय अर्थात् आनंद भी संसार की हर चीज़ में है। क्योंकि परमात्मा का आनंदरूप आवृत है इसलिये अज्ञानदशा में आनंद की अनुस्यूतता उतनी स्पष्ट नहीं है, सोचने से समझ तो आती है पर महसूस नहीं होती, किंतु तत्त्वज्ञानी को महसूस भी होती है जैसा 'सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनम्' आदि कहकर विद्वानों ने सूचित किया है। सूर्य से रोशनी गर्म ही आती है पर बादलों से छनकर आये तो उसकी गर्मी साधारणतः महसूस नहीं होती, सूक्ष्म मापक से ही पता चलती है; ऐसे ही सत् है तो आनंदरूप ही पर अंतःकरण सुसंस्कृत, सुप्रशिक्षित न हो तो उस आनंद को महसूस नहीं कर पाता। इस प्रकार संसार में सर्वत्र अनुस्यूत मिलने से सच्चिदानंदरूप ब्रह्म ही इसका कारण निश्चित होता है। 'दृगदृश्यविवेक' नामक प्रकरण में भी स्पष्ट किया है 'अस्ति भाति प्रियं नाम रूपमित्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।।' यही विचार यहाँ समझा रहे हैं।।११६।।

'सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदेव' न्याय से प्रश्न होता है कि सत् से बना प्रपंच सत् होना चाहिये, यह मिथ्या कैसे है? उत्तर देते हैं कि जैसे भ्रममें आधारांश सत्य ही होता है, केवल अध्यस्तांश मिथ्या होता है वैसे प्रपंच में सच्चिदानंद को मिथ्या नहीं वरन् नाम-रूप को मिथ्या बताते हैं तथा उन नाम-रूप से जो सच्चिदानंद का संबंध प्रतीत

नामरूपे घटादीनां प्रागभावयुते ततः ।
अभावत्वं च भावत्वं पर्यायेणेक्ष्यते तयोः ।।११७।।
आगमापायिधर्मौ यौ न तयोर्धर्मिरूपता ।
शयनोत्थानयोर्नास्ति देहवस्तुस्वरूपता ।।११८।।
सत्त्वाऽसत्त्वे अन्यदीये भासेते नामरूपयोः ।
मायारूपम् असत्त्वं स्यात् सत्ताया ब्रह्मरूपता ।।११९।।

होता है उसे मिथ्या कहते हैं क्योंकि मिथ्या का सम्बन्ध मिथ्या ही होना संभव है **घटादि की स्थितिकाल में उनके जो नाम-रूप 'है' लगते हैं वे ही घटादि की उत्पत्ति से पूर्व 'नहीं है' लगते हैं अर्थात् 'नहीं है' लगना और 'है' लगना नाम-रूप में क्रमशः अनुभव किया जाता है।।११७।। आने-जाने वाली विशेषताएँ विशेष्य का स्वरूप नहीं होती जैसे लेटना खड़े होना शरीर के स्वरूप नहीं हैं। ।११८।। अतः नाम रूप में आने-जाने वाले 'होना' और 'न होना' नाम-रूप के निज स्वरूप नहीं वरन् अन्यों के स्वरूप हैं जो संबंधवश नाम-रूप में प्रतीत हो जाते हैं। 'न होना' माया का रूप है तथा 'होना' ब्रह्मका रूप है।।११९।।** कार्य उत्पत्ति से पूर्व वह नहीं होता, इसी का नाम है कि कार्य का प्रागभाव है। प्राक् अर्थात् पूर्व में जो अभाव अर्थात् न होना वह प्रागभाव कहलाता है। जब तक घड़ा पैदा नहीं होता तब तक उसके नाम-रूप नहीं हैं और घड़ा बनने पर वे हैं। अतः नाम-रूप सदा हैं नहीं और न सदा नहीं हैं; इससे वे मिथ्या सिद्ध हो गये। अस्ति-भाति-प्रिय तो वस्तुमात्रमें एक-जैसे अनुगत होने से घड़ा बनने से पूर्व मिट्टी में थे, घड़ा फूटने पर ठीकरों में मिलते हैं अतः उन तीन के प्रागभाव का प्रसंग नहीं पर नाम-रूप तो हर वस्तु के अलग होते हैं अतः घटोत्पत्ति से पूर्व घटके नाम-रूप कहीं नहीं मिल सकते, घट फूटने पर भी कहीं नहीं मिल सकते, अतः नाम-रूप कभी होते व कभी नहीं होते हैं इसलिये मिथ्या हैं। सत्के अनुगमसे नाम-रूप सत् नहीं वरन् क्योंकि वे सत्के व्यभिचारी हैं अतः सद्विविक्त अर्थात् मिथ्या ही है। जो विशेषता जिस विशेष्य में स्थायी हो वह उसका स्वरूप मानी जाती है और जिसमें कभी रहे, कभी न रहे, उसका स्वरूप नहीं मानी जाती क्योंकि स्वरूप वस्तु को कभी छोड़ता नहीं। मिट्टी में घड़ा आता-जाता है अतः घड़ा मिट्टी का स्वरूप नहीं, हमेशा रहने वाली गंध ही मिट्टी का स्वरूप है। ऐसे ही शरीर कभी लेटता है कभी उठ बैठता है कभी खड़ा होकर चल देता है इसलिये लेटना-बैठना-चलना आदि को शरीर का स्वरूप नहीं माना जाता। धर्म (विशेषता)

जाड्यदुःखे मायिके स्तो भानानन्दौ परात्मगौ।
लौकिकाः सच्चिदानन्दा ब्रह्मगाश्चेदसत् कथम्।।१२०।।

कभी अपना ही धर्मी (विशेष्य) नहीं होता क्योंकि पूर्व में धर्मी हो तभी उसमें धर्म का जन्म होगा और पश्चात् भी धर्मी हो तब उसमें धर्म का लय होगा। नाम-रूप कभी 'है' तो कभी 'नहीं है' लगने से 'हैनहीं है' ये दोनों ही नाम-रूप के आगमापायी धर्म हैं अतः ये नाम-रूप का स्वरूप नहीं हैं। दर्पण में कभी दीखने व कभी न दीखने वाला मुख दर्पण से अन्यत्र ग्रीवादि पर होता है। इसी तरह नाम-रूप में कभी दीखने व कभी न दीखने वाले सत्त्व-असत्त्व भी अन्यत्र ही हैं। इनमें सत्त्व (है) तो ब्रह्म का स्वरूप है और असत्त्व (नहीं है) माया का स्वरूप है, माया का अर्थ ही है 'जो नहीं है'या मा सा माया।' यद्यपि यहाँ सत्त्वको आगमापायी धर्म कहा है तथापि सत्त्व स्वरूप से न धर्म है, न आगमापायी है, किंतु आगमापायी जो नाम-रूप उन पर संसर्गेण अध्यस्त होकर सत्त्व आगमापायी व धर्म बन जाता है। इसी प्रकार, नाम-रूप पर आने-जाने वाले असत्त्वका मतलब है असत्त्वापादक आवरण की विषयता; वह विषयता रहते 'नाम-रूप नहीं हैं' व्यवहार होता है तथा वह विषयता न रहने पर 'नाम-रूप है' व्यवहार होता है। नाम-रूप से अवच्छिन्न सत्त्व जब आवृत रहता है तभी नाम-रूप का अभाव होता है एवं उनसे अवच्छिन्न सत्त्व निरावृत रहने पर उनका भाव होता है। यह आवरणविषयता माया का स्वरूप नहीं वरन् आवरण ही उसका स्वरूप है किंतु यह आवरण होने पर जो असत्त्व (सद्वैलक्षण्य) नाम-रूप से संबद्ध प्रतीत होता है वह माया का स्वरूप ही है। जैसे घड़े में गंध मिट्टी की होने से अन्यदीय कही जा सकती है क्योंकि मिट्टी घटमात्र न होने से घट से अन्यत् है; वैसे नाम-रूप में असत्त्व माया का होने से अन्यदीय है। नाम-रूप में सत्त्व तो आधारविधया आता है अर्थात् वस्तुतः नहीं आता जबकि असत्त्व परिणामी-उपादान का स्वरूप होने से आता है यह अंतर है। अर्थात् नाम-रूप असत् तो वैसे ही हैं जैसे माया असत् है पर वे सत् वैसे नहीं हैं जैसे ब्रह्म सत् है, वरन् भ्रम से ही सत् लगते हैं। इस प्रकार सदनुवेध के बावजूद नाम-रूपात्मक प्रपंच मिथ्या है।।११७-९।।

सत् के बारे में बतायी बात चिद्-आनंद पर भी लागू करते हैं **नाम-रूप में आगमापायी तौर पर प्रतीयमान जडता और दुःख स्वभावतः माया के हैं तथा उनमें उसी तरह प्रतीयमान भान और आनंद स्वभावतः ब्रह्मके हैं। इस प्रकार जब ब्रह्मस्वरूप सच्चिदानंद ही लोक में उपलब्ध सत्त्वादि हैं तब यह कहा ही**

नहीं जा सकता कि ब्रह्म सत् नहीं है।।१२०।। जडता का मतलब है ज्ञानहीनता। नाम-रूप का जब ज्ञान होता है उससे पहले-पीछे वे ज्ञानहीन हैं। ऐसे ही जब प्रिय हैं उससे अन्य समय अप्रिय अर्थात् दुःख हैं। यों जडता-दुःख तथा ज्ञान-आनंद नाम-रूप में आने-जाने वाले धर्म हैं अतः सत्त्व-असत्त्व की तरह ही इन्हें समझ लेना चाहिये। जडता व दुःख मायिक तथा ज्ञान-आनंद आत्मरूप हैं, भ्रमवश नाम-रूप के धर्म होकर दीखते हैं। यहाँ भी जडता से अभानापादकावरणविषयता और दुःख से अनानन्दापादकावरणविषयता समझकर सारी व्यवस्था पूर्ववत् जान लेनी चाहिये। दुःख मायिक होने से साधक हमेशा याद रखे कि बहिर्मुख होने पर ही दुःख संभव है। मुझे दुःख तभी है जब मैं बहिर्मुख हूँ क्योंकि दुःख अवश्य मुझे अन्य किसी कारण से होता है और तभी जब मैं उस कारण से सम्बद्ध बनता हूँ। स्वमात्र से अन्यत्र अहन्ता किये बिना दुःख नहीं हो सकता अतः दुःखी होना बहिर्मुख होने का लक्षण है। आनंद तो ब्रह्म का स्वरूप है, उसके लिये न कुछ बनना पड़ता है न किसी कारण की ज़रूरत है। विषयसुख स्थल में विषय हेतु लगता है पर वास्तव में विषय इतना ही करता है कि दूर रहकर जिस इच्छारूप दुःख को उसने उत्पन्न किया था, पास आकर उस दुःख को दूर कर देता है। दुःख दूर करने से ज़्यादा विषय कुछ नहीं कर सकता। दुःख मिटने पर आनंद तो अपने स्वरूप का ही है। इस दार्शनिक आधार पर ही भारतीय संस्कृति आनन्दोन्मुख होने से अन्तर्मुखता-प्रधान है। पाश्चात्य विचार आत्मा की आनंदरूपता न समझ पाने से बहिर्मुखताप्रधान है। अन्तर्मुखता को पाश्चात्य लोग स्वार्थिता कहकर निकृष्ट मानते हैं जबकि हम उसे परमार्थिता समझते हैं क्योंकि गुहानिहित ही परमार्थ सत्य है। उससे बाहर जो पाँचों गुफायें हैं व उनसे भी बाहर का जगत् है वह असत्-जड-दुःख है अतः इन सब के लिये चेष्टा करना दुःखोन्मुखता है। अनुभव से भी यह सत्यापित है कि जितनी बहिर्मुखता बढ़ती है उतना दुःख ही बढ़ता है। अंतर्मुखता में ही आनंद है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि लोक में प्रतीयमान सत्-चिद्-आनंद वस्तुतः लोक के नहीं वरन् ब्रह्म के हैं अतः उस ब्रह्म को असत् नहीं माना जा सकता है।।१२०।।

आगे श्रुतिवाक्य है 'यद्वैतत् सुकृतम्, रसो वै सः। रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यद् एष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।' अर्थात् जो सुकृत नामक ब्रह्म है वह रस है, तत्त्वज्ञ उस रस को पाकर ही प्रफुल्लित होता है। यदि आत्मरूप आनंद न हो तो श्वास-प्रश्वास भी कोई क्यों ले!

भवेत्तु ब्रह्मसत्ताऽस्मिन्नानन्दोऽस्ति कथं शृणु।
आनन्दोऽत्राभ्युपेतव्यो रसत्वाद् मधुरादिवत्।।१२१।।
मूढस्य मधुरादिः स्याद् रसो ब्रह्म विवेकिनः।
मधुरादिभुगानन्दी ब्रह्मविच्च तथा सुखी।।१२२।।

आनदंरूप आत्मा ही सबको परितुष्ट करता है। रस उसे कहते हें जो तृप्ति दे। ब्रह्मवेत्ता की तृप्ति विषयहेतुक नहीं, आत्महेतुक ही है। जिज्ञासुओं का ब्रह्म से प्रेम उसे रसरूप बताता है। रस होने से भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म है। जो हो ही नहीं उससे रसनिष्पत्ति असंभव है। इस श्रुति का विचार करते हैं **जगत् में सत्ता ब्रह्म से आयी है यह मान भी लें पर यह कैसे समझा जाये कि वह ब्रह्म आनंदरूप है और उसी से जगत् सुखवाला बनता है? सुनो, उत्तर देते हैं : ब्रह्म में आनंद अवश्य स्वीकार्य है क्योंकि मधुर आदि की तरह ब्रह्म भी रस है।।१२१।। मूढ के लिये जैसे मधुर आदि रस हैं वैसे विवेकी के लिये ब्रह्म रस है क्योंकि जैसे मधुर आदि के आस्वादन से मूढ आनंदानुभव करता है वैसे विवेकी ब्रह्मज्ञान से सुखी होता है।।१२२।।** आत्मवादी उसे सत् मानते ही हैं, सांख्यादि विचारक उसे चित् भी मानते हैं पर उसे आनंद केवल औपनिषद दर्शन समझाता है। 'मैं आनंद हूँ' ऐसा अज्ञदशा में कभी अनुभव न होने से इस बारे में शंका स्वाभाविक है। बल्कि विषयों से सुख मिलता है वही सहज लगता है जिससे आत्मा की आनंदरूपता समझना और कठिन हो जाता है। श्रुति ने भी विद्वदनुभव के सहारे उत्तर दिया है : विद्वान् के लिये ब्रह्म ही रस है अतः ब्रह्म में आनंद अवश्य है और जब ब्रह्म के संपर्क से जगत् के आनंद की व्यवस्था बन जाती है तब जगत् में पृथक् आनंद की कल्पना व्यर्थ है। तृप्ति दे, आनंद करे वही रस है जैसे मधुर। ब्रह्म ही विवेकी को तृप्ति देता है, आनंदित करता है अतः वह रस है। ब्रह्मज्ञ ही 'अनीह निरेषण सानंद' होता है ऐसा भाष्य में बताया।

अन्य रस स्वल्पकालिक स्वल्प सुख देते हैं एवं इच्छोत्तेजक बनते हैं। ब्रह्म रस सनातन अनंत सुख देकर सारी इच्छाओं का समापक होता है। अतः यही मुख्य रस है। ब्रह्मवेत्ता नियमतः सुखी होता है तो इसका कारण ब्रह्मज्ञान ही संभव है और सुखज्ञान से ही सुख हो सकता है अतः ब्रह्म ही सुख है। यों ब्रह्म की आनंदरूपता निर्विवाद है। जगत् में सुख आगमापायी है अतः अन्यत्र से आयातित ही होना उचित है जिससे सिद्ध है कि सत्ता की तरह वह ब्रह्म से ही जगत् में आया लग रहा है।

आनंद को 'रस' कहा यह द्योतित करने के लिये परमात्मा से असंबद्ध हुआ जगत् नीरस है, इसमें आस्वादनीय कुछ नहीं। वार्तिक में कहा है

'नीरसस्याऽस्य कार्यस्य रसोऽसौ परमः स्मृतः।
रसः सारोऽमृतं ब्रह्म आनन्दोह्लाद उच्यते
निःसारं तेन सारेण सारवल्लक्ष्यते जगत्।।' (२.७.७-८)

रस का अर्थ सार भी प्रसिद्ध है, संसारसार परमात्मा ही है इसलिये भी उसे रस कहा। खाकर आने वाले स्वाद को भी रस कहते हैं जैसे मीठा, नमकीन आदि। स्वादरूप रस सभी पहचानते हैं; साहित्यादि के रस तो शिक्षादि से ही ग्रहण होते हैं पर भोजन के रस सबको सुलभ हैं। पसंद विभिन्न होती है पर कुछ-न-कुछ हर-एक को अतिस्वादिष्ट लगता है जिसे खाकर उसे अत्यंत आह्लाद होता है, उसी को दृष्टांत बनाकर ब्रह्म की आनंदरूपता समझनी चाहिये। रसनेंद्रिय की लोलुपता प्रसिद्ध है, यहाँ तक कहा है 'जितं सर्वं जिते रसे' कि रसना जीत लेने से सब कुछ जीत लिया जाता है, अतः रस की तीव्र आकर्षकता भी ध्वनित है, परमात्मा भी अत्यंत आकर्षक है। अज्ञानवश हमें उसका पता नहीं अतः हमें आकर्षण नहीं लग रहा पर वस्तु वह अत्याकर्षक है, एक बार हलकी-सी भी उसकी झलक मिल जाये तो फिर बाकी सारे आकर्षण मिट जाते हैं, और कोई रसनीय नहीं रह जाता। मूढ, तत्त्व से अनभिज्ञ के लिये ब्रह्म का प्रतिबिंबभूत विषयसुख ही रस है, सार है, उसे पाने के लिये ही वह सारा जीवन व्यतीत करता है, उसे पाकर स्वयं को धन्य समझता है। विवेकी उस परछायी के सौंदर्य से मुग्ध न होकर प्रेरित होता है उसके बिंब के दर्शन के लिये, मुख्य आनंद को ही वह रस, सार समझता है, उसी के लिये सारी चेष्टा करता है, उसी के लाभ से संतुष्ट होता है।।१२१-२।।

जिजीविषा प्राणिमात्रमें स्वभावसिद्ध है, छोटे से कीटाणु में एवं देवराज इन्द्र में यह भावना एक-समान मिलती है कि 'मैं न मरूँ'। अत एव प्राणी सदा श्वास-प्रश्वास चलाता रहता है। यद्यपि लगता है कि साँस खुद चलती है तथापि जब कुछ भी रुकावट आती है तब जो असह्य छटपटाहट होती है उससे पता चलता है कि हम कितना चाहते हैं कि साँस चलता रहे। केवल साँस चले इतना ही नहीं, सभी इंद्रियाँ कार्यकारी रहें यह भी सबकी तीव्र इच्छा रहती है। यह सब तभी संभव है जब हमें बने रहने में कोई सुख है। वह सुख किसी विषय-विशेष का तो है नहीं, केवल हमारा खुद का ही है। इससे आत्मा आनंदरूप है यह निश्चित होता है यह स्पष्ट करते हैं **ब्रह्म**

ब्रह्मानन्दो न चेदत्र देहं को नाम चेष्टयेत्।
प्राणाक्षाणां चेष्टकत्वं न तत्र करणत्वतः।।१२३।।

का आनंदरूप यदि सबको स्वयं में अपरोक्ष न होता तो शरीर को सचेष्ट कौन बनाता! प्राण या इंद्रियाँ शरीर से चेष्टा करायें यह संभव नहीं क्योंकि वे तो साधन के रूप में शरीर में निहित हैं।।१२३।। श्रुति ने प्राण-अपान का ही नाम लिया पर कई जगह प्राणपद से इंद्रियाँ भी समझी जाती हैं अतः यहाँ इंद्रियों को भी भाष्यकार ने एकत्र किया है कि मिल-जुलकर कार्य करने वाले स्थूल-सूक्ष्म शरीरों द्वारा की जाती हुई प्राणों की और इंद्रियों की चेष्टाऐं दीख रही हैं जो इसमें प्रमाण है कि कोई चेतन अवश्य है जिसके लिये ताल-मेल बैठाकर ये विभिन्न वस्तुएँ कार्यरत हैं। उपनिषत् के 'आकाशे' को यहाँ श्लोक में 'अत्र' कहा अर्थात् गुहामें, परम व्योम में। शंका होगी कि प्राण या इंद्रियाँ या दोनों मिलकर शरीर को चेष्टा वाला क्यों नहीं बना सकते कि इसके लिये कोई अन्य चेतन माना जाये? समाधान है कि शरीर जो क्रिया करता है उसमें इंद्रियों का विनियोग होता है और प्राणों से बल पाकर ही शरीर क्रियादि में सक्षम बनता है अतः स्पष्ट है कि शरीर के प्रति प्राण व इंद्रियाँ गौण हैं इसलिये वे इसे चेष्टा में लगायें यह संभव नहीं। किं च अनेक एवं अचेतन होने से भी उनमें चेष्टकत्व संभव नहीं। हित-प्राप्ति या अहित-परिहार के लिये की जाने वाली क्रिया को ही चेष्टा कहते हैं जो शरीर करता है। प्रश्न है कि शरीर से चेष्टा कराता कौन है? प्राण इंद्रियाँ तो उस चेष्टा में खुद ही साधन बनेंगी अतः प्रयोजक नहीं हो सकतीं। हित-अहित किसका खोजा जाता है? प्राण-इंद्रिय-शरीर का नहीं वरन् इन्हें अपना मानने वाले चेतन का ही हित-अहित समझकर शरीर चेष्टा करता है अतः चेतन अवश्य स्वीकार है और वह निष्प्रयोजन अपने लिये चेष्टा कराता है तो यह भी सिद्ध है कि वह स्वयं आनंदरूप है। श्लोक में 'तत्र' का मतलब है देहसे जो चेष्टा करायी जाती है उसमें; अर्थात् देह जब चेष्टा करता है तब इन्हें साधन के रूपमें प्रयोग करता है। करण कर्ता से गौण होता है अतः वह प्रयोजक नहीं हो सकता क्योंकि प्रयोजक कर्ता से प्रधान होता है। देह को सचेष्ट रखना अर्थात् इसकी अंदरूनी प्रक्रियाएँ बरकरार रखते हुए बाह्य क्रियाओं में व ज्ञानों में प्रेरित करना; यह किसी एक करण में या प्राण में संभव नहीं वरन् सबके अभिमानी में ही संभव है और अनुभव भी ऐसा ही होता है कि 'मैं शरीर को प्रेरित कर रहा हूँ' न कि ऐसा कि 'प्राण या आँखादि इसे प्रेरित कर रहे हैं।' इस प्रकार शरीर चलाने वाले के रूप में भी ब्रह्म सिद्ध हुआ।।१२३।।

श्रुतिने ब्रह्मसिद्धिमें अंतिम हेतु दिया कि क्योंकि सबको आनंदित करता है इसलिये ब्रह्म है। पुत्र मर जाये, घाटा हो जाये, फालिज हो जाये आदि कोई भी छोटा-बड़ा दुःख मिले तो सब सोचते हैं, 'भगवान् ने यह दुःख क्यों दिया?' अर्थात् दुःख देने वाला ईश्वर तो सब मानते हैं पर उपनिषत् समझाती हैं कि सुख देने वाला ईश्वर है। जिसके पास जो है वही वह दे सकता है, ईश्वर के पास अथाह आनंद है तो दे भी वह आनंद ही सकता है; दुख जब ईश्वर के पास है ही नहीं तो दूसरों को वह देगा कहाँ से! ईश्वरसे अन्य जो अज्ञान वही दुःख का मूल है, उसे स्वयं पर ओढ कर हम खुद अपने लिये दुःख अर्जित करते हैं। सर्वज्ञात्माचार्य ने स्पष्ट कहा है 'दुःखं नृणां दुश्चरितैकमूलम्' (सं. शा.१.४४२) अर्थात् हम जो गलत आचरण करते हैं वही इकलौता मूल है हमारे दुःखों का। अतः दुःख देने वाले हम स्वयं हैं न कि परमेश्वर, वह तो सुख देने वाला है। श्रुति ने उसे 'आनंदयाति'आनंददाता तो कहा है, यह नहीं कहा कि वह दुःख देता है। प्रतिबिंब में जो बिंब की समानता हो उसमें तो कारण बिंब होता है और असमानता में कारण उपाधि होती है, यही नियम है। अतः सत्-चिद्-आनंद विषयापेक्ष मिलने पर भी आत्मा से ही मिलेंगे और असत्-जड-दुःख उपाधि से, अज्ञान से ही संभव होंगे।

इसी आधार पर कुछ भक्त ईश्वर को सकल गुणों से नहीं वरन् सकल कल्याण गुणों से सम्पन्न मानते हैं। भक्ति के लिये वैसा मानना उचित हो सकता है किंतु विचार की दृष्टि से समझ लेना चाहिये कि हम जब चेतन और उपाधि का भेद कहते हैं तो उपाधिका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है यह स्पष्ट करते हैं जिससे चेतन की अखंडता में रुकावट नहीं आती। भक्त लोग स्वरूप के बजाये गुणों का उल्लेख करते हैं तो अकल्याण गुणों को ईश्वर से अन्यत्र जीवों में स्वीकारते हैं जिससे ईश्वर की अखंडता नहीं रह जाती, वह परिच्छिन्न हो जाता है। इसका नतीजा होता है, जैसा ईसाई आदि धर्मों में मिलता है, कि ईश्वर का कोई-न-कोई विरोधी (शैतान आदि) मान्य होकर ईश्वर की सर्वसामर्थ्य प्रतिबद्ध हो जाती है। अतः औपनिषद विचारक गुणचर्चा में स्पष्ट करते हैं कि अच्छे-बुरे सभी गुण परमात्मा पर ही अध्यस्त हैं। रुद्रीय के नमकाध्याय, गीता के विभूतियोग आदि में यह विचार प्रकट है। स्वरूप-चर्चा में यह समझा देते हैं कि सच्चिदानंद परमात्मा ही है, चाहे जहाँ, चाहे जितना, चाहे जैसा मिले। आग में गर्मी तेजस्तत्त्व की ही है पर यदि होमाग्नि है तो उसमें पवित्रता मिलती है, शवाग्नि है तो अपवित्रता मिलती है; अतः अच्छाई (पवित्रता) और बुराई (अपवित्रता)

न केवलं चेष्टकत्वं विषयानन्दहेतुता।
अप्यल्पविषयान् लब्ध्वा स्वानन्दे मज्जति क्षणम्।।१२४।।

दोनों उपाधियों के अनुसार हैं, गर्मी उपाधियों की नहीं वरन् तेज की है, उसी पर अच्छाई-बुराई आरोपित है। स्वरूप और गुणों का विवेक न कर पाने से ही भक्तिवादी प्रायः उपनिषत्सिद्धांत से भटक गये और किसी-न-किसी तरह द्वैत की भूमि को वास्तविक मानने लग गये। सच्चिदानंद ब्रह्मधर्म नहीं वरन् ब्रह्मस्वरूप है अतः विषयादि में मिलें, स्वल्प मिलें, चाहे जैसे मिलें उनमें हेतु ब्रह्म ही रहेगा जैसे गर्मी चाहे जहाँ, कम-ज़्यादा जैसी भी मिले उसमें हेतु तेजस्तत्त्व ही है। इसलिये विषयों से मिलने वाला आनंद भी सिद्ध करता है कि आनंदरूप ब्रह्म है **शरीर को सचेष्ट करता है इतने से ही ब्रह्म की विद्यमानता सिद्ध हो ऐसा नहीं, ब्रह्म है यह इससे भी निश्चित होता है कि विषयजन्य सुखों का वही कारण है। अल्प विषय पाकर जीव क्षणभर के लिये अपने ही स्वरूपभूत आनंद में डूब जाता है, यह विषयानंद है।।१२४।।** संसार सुख से सर्वथा अस्पृष्ट होता तो जीवों की इसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती! घोर दुःखमय होकर भी क्योंकि यह कभी-कभी ब्रह्मानंद की थोड़ी-सी झलक दिखा देता है इसीलिये लोग संसार में रचे-पचे रहते हैं इस आशा में कि शायद और भी सुख मिल जाये। विषयों में आनंद न होने पर भी क्योंकि यह भ्रम बना रहता है कि इनसे आनंद मिलेगा इसलिये लोग विषय-प्रवण बने रहते हैं । जिस आनंद के लिये सारी चेष्टाएँ हैं वह वस्तुतः ब्रह्म है। घड़ा है, कपड़ा है, आदि सर्वत्र घड़ा-कपड़ा बदलते रहने पर भी है एक-समान रहता है, घटज्ञान-पटज्ञान आदि सर्वत्र घट-पट बदलने पर भी ज्ञान एक-समान है, ऐसे ही लड्डूसुख, पेड़ासुख आदि सर्वत्र लड्डू-पेड़ा बदलने पर भी सुख एक-समान है क्योंकि स्वरूप से आनंद एक अखंड ब्रह्म है।

प्रश्न होगा कि यों सच्चिदानंद सर्वत्र सुलभ है तो सबका मोक्ष क्यों नहीं हो गया? उत्तर है कि वास्तव में सच्चिदानंद अनंत है जबकि सुलभता से जो उसकी उपलब्धि है वह परिच्छिन्न रूप में है इसीलिये इस सार्वजनिक ज्ञान से मोक्ष नहीं होता। परिच्छिन्नता का भ्रम मिटाने के लिये ही सारी साधना है। सच्चिदानंद में अल्पता के प्रति कारण माया है। उसी से हम उपाधि-बद्ध दृष्टि वाले बनकर उपाधि से राग रखते हैं अतः उपाधिलाभ से उतना-सा ही सुख हमारे लिये अनावृत होता है जिसे विषयसुख कहा जाता है। इच्छा से हम विषयाभिमुख होते हैं, विषय मिलकर इच्छा उपशांत होते ही हम आत्मा में लौट आते हैं। लौटकर जितनी देर

मुक्तिचर्चा

विषयानन्दपर्यन्तैः कामसृष्ट्यादिहेतुभिः।
ब्रह्मसत्त्वे स्थिते मुक्तिश्चिन्त्यते विद्वदज्ञयोः।।१२५।।

आत्मा में बने रहते हैं उतनी ही देर सुख है, तब तक कोई अन्य इच्छा पुनः हमें बाहर भेज देती है। जितनी इच्छा तीव्र होकर पूरी होगी उतना हमारे लौटने की तीव्रता होगी और उतना ही लगेगा कि सुख ज़्यादा हुआ। सुख ज़्यादा-कम नहीं होता! ज़्यादा-कमका अनुभव इच्छा की तीव्रता और पूर्ति पर निर्भर करता है तथा नयी इच्छा न उत्पन्न हो इसकी भी अपेक्षा रखता है। विषयों में सुख होता तो सबको सदा महसूस होता। ऐसा होता नहीं अतः मानना पड़ता है कि विषयों में या विषयों से सुख नहीं होता। केवल इच्छापूर्ति से ही सुख नहीं होता, इच्छारहित शांत स्थिति में भी सुख होता है, सुषुप्ति में भी सुख होता है। इसलिये स्वीकार करना पड़ता है कि सुख हमारा सनातन स्वरूप है जो आवरणवश अनुपलब्ध लगता है और जब जितना आवरण हटे तब उतना सुख उपलब्ध हुआ लगता है। सुषुप्ति में आवरण हटता तो नहीं किंतु कार्यकारी न रह जाने से तब आनंद की स्थिति बन जाती है, यह अनुभवसिद्ध है। जैसे शांति आदि सात्त्विक वृत्ति आनंद के आवरण को अभिभूत कर देती है वैसे सुषुप्ति भी। इस आवरण को समूचा हटाने का तरीका ब्रह्म का अखण्ड ज्ञान ही है। विषयज्ञानों से यह थोड़ा-बहुत संकुचित होता है पर अतिशीघ्र पुनः फैल जाता है अतः विषयज्ञानों से यद्यपि आनंद ही अनावृत होता है तथापि यह किसी तरह संभव नहीं कि वह हमेशा के लिये पूरा अनावृत हो जाये। इस प्रकार, हमें अनुभूयमान सभी विषयानंदों के प्रति एकमात्र कारण परमात्मा होने से उसकी विद्यमानता सिद्ध है। वैषयिक आनंद विषयों से जन्य प्रतीत होते हैं पर उनका कारण ब्रह्म ही है। किं च, उक्त उपपत्ति से अतिरिक्त कोई तरीका नहीं यह समझाने का कि सुख क्या है, हमें सुख कैसे होता है, विविध सुखों में वह अनुगत कैसे है, सविषय-निर्विषय दोनों भेदों वाला कैसे है, उसमें तारतम्य कैसे है? इत्यादि। उपनिषदुक्त प्रक्रिया से ये सारी बातें समझ आती हैं अतः इसे मानना ठीक है।।१२४।।

तीन अनुप्रश्नों में एक की चर्चा पूरी करते हुए अन्य दोनों प्रश्न उठाते हैं **कामना, सृष्टि आदि से विषयानंद तक के हेतुओं से यह निश्चित हो जाने पर कि ब्रह्म है, अब विद्वान् और अज्ञानी के मोक्ष के बारे में विचार करते हैं।।१२५।।** श्लोक १०७ में ब्रह्म है का निर्णय करने वाले पाँच हेतु एकत्र किये थे। उसके बाद

विद्वान् के प्रत्यक्ष से भी ब्रह्म है यह बताकर सच्चिदानंद की सर्वत्र अनुगति से ब्रह्म को सिद्ध किया तथा रसरूप होने से और संघात का स्वामी होने से उसकी सत्ता समझाई। यों उस प्रश्न का उत्तर हुआ कि ब्रह्म है या नहीं। नाम-रूप से रहित होने से शंका उठी थी कि ब्रह्म है यह कैसे समझें? जवाब दिया कि नाम-रूप में बँधा न होने से वह निर्नामरूप है पर सारे नाम-रूपों का वह अधिष्ठान है इस तरह उसे समझना चाहिये। नाम-रूप की सत्ता ब्रह्म पर निर्भर है, ब्रह्म नाम-रूप पर निर्भर नहीं। विभिन्न मिठाइयाँ मीठी होती हैं चीनी से। वह चीनी उनमें दीखती नहीं, शुद्ध चीनी का उनमें स्वाद भी नहीं आता, फिर भी समझ आ जाता है कि सब में मिठास चीनी का ही है। इसी तरह सर्वत्र सत्-चिद्-आनंद ब्रह्म का ही है यह समझना चाहिये। नाम-रूप भी ब्रह्म से संबद्ध होने पर ही हैं, अन्यथा ब्रह्म पर अध्यास से पूर्व वे असत् ही थे। जैसे बिना चासनी पड़े मिठाई मीठी नहीं होती ऐसे ब्रह्मतादात्म्य के बिना नाम-रूप सत्तावान् नहीं होते। इनकी स्वयं की सत्ता होती तो हमेशा रहती पर रहती नहीं अतः निश्चित है कि जो इन्हें बनाता है वह सत्ता कीचिदानंद की भीचासनी इनमें डाल देता है। इस प्रकार ब्रह्म हैयह निर्णय हुआ।

अब विचारणीय है कि अज्ञानी मुक्त होता है या नहीं तथा ज्ञानी मुक्त होता है या नहीं? अज्ञानी अर्थात् जो न अपने वास्तविक स्वरूप को जाने व न जगत् के सार को जाने। परमेश्वर ने ही क्योंकि जगत् में प्रवेश किया इसलिये उसने इससे निकलने का रास्ता भी रखा; वह है जीव-ईश्वर की एकता का ज्ञान। प्रश्न है कि जाने या न जाने, जब जीव है ही ब्रह्म तब उसके मोक्ष में क्या रुकावट है? न जानने से यह ग़ैरब्रह्म तो हो नहीं गया! अतः ज्ञान का महत्त्व क्या है? इस बारे में श्रुति ने यों कहा :

'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विंदते, अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य।'

परमात्मा का स्वरूप बताया कि वह दृश्य नहीं, शरीररहित है, वाणी से अतीत है, उसका कोई अन्य आधार नहीं है। जो साधक यह भय बिना किये कि 'मेरा व्यक्तित्व नष्ट हो जायेगा', उस परमात्मा को ही अपना प्रत्यगात्मा समझ लेता है वह सब भयों से निर्मुक्त हो जाता है। जब तक अज्ञानी स्वयं से ब्रह्म में थोड़ा भी भेद देखता है, 'मुझसे ब्रह्म अलग है या ब्रह्म से मैं अलग हूँ' ऐसा समझता है, तब तक वह भयग्रस्त रहता ही है। अभेद न समझने वाले के लिये ब्रह्म ही भयहेतु बना रहता

विद्वान् ब्रह्मेति मुक्तश्चेद् मुच्येताऽज्ञोऽप्यभिज्ञवत्।
ब्रह्मरूपोऽपि बद्धश्चेद् अज्ञोऽभिज्ञोऽपि बध्यते।।१२६।।

है। इस प्रकार ज्ञान-अज्ञान से अभय और भय अर्थात् मोक्ष और बंधन समझाया है।।१२५।।

पहले प्रश्न उपस्थित करते हैं **यदि मानते हो कि क्योंकि वस्तुतः जीव ब्रह्म ही है इसलिये ब्रह्मवेत्ता मोक्ष पा जाता है तो अज्ञानी को भी मुक्त हो जाना चाहिये क्योंकि विद्वान् की तरह अज्ञानी भी वास्तव में तो ब्रह्म ही है और यदि ब्रह्मरूप होते हुए भी अज्ञानी बंधनग्रस्त है तो ब्रह्मवेत्ता भी ब्रह्मरूप होने से बद्ध ही मानना पड़ेगा।यह प्रश्न है।।१२६।।** पुनः स्मर्तव्य है कि यह मननका प्रसंग है, श्रवण हो चुका है। अतः वेदतात्पर्य को बुद्धिसंगत बनाने के लिये विचार है न कि शुष्क तर्क किया जा रहा है। वेद ने अनेक जगह व्यक्त किया है कि कैवल्यका एकमात्र उपाय ब्रह्म-साक्षात्कार ही है, अन्य कोई साधन नहीं है। यद्यपि मार्ग में पड़ाव कई आ सकते हैं तथा कई प्रवेश-मार्गों से मुख्य मार्ग पर आया जा सकता है तथापि गंतव्य तक पहुँचाने वाला मार्ग एक ही है। आजकल कुछ अविचारशील 'बहुमार्गवाद' स्वीकारने की बात करते हैं पर यह नहीं सोचते कि गंतव्य क्या है? विभिन्न गंतव्यों के लिये विभिन्न मार्ग भले ही हों पर सभी मार्गों को हठात् एक गंतव्य पर पहुँचाने वाला घोषित वही करता है जिसे न मार्ग का पता है, न उस पर चलना है। अगल-अलग मार्ग पर विश्वासपूर्वक चलने वाले तो अपने प्राप्तव्यों को पृथक्-पृथक् समझते ही हैं और अन्य मार्गों से प्राप्त होने वाले फलों को वास्तव में हेय ही मानते हैं, स्वयं को स्वीकार मार्ग को ही सही एवं अन्य सबको ग़लत अंगीकार करते हैं; किंतु जिन्हें किसी गंतव्य पर पहुँचना नहीं, किसी मार्ग पर विश्वास करना नहीं, कोई साधन अपनाना नहीं, वे इस विषय को इस ढंग से व्यक्त करते हैं मानो ये सब मन-गढन्त गप्पे हैं, चाहे जो चाहे कुछ माने - करे, उसका कोई फल नहीं है। कैवल्य का स्वरूप समझें तो स्पष्ट होगा कि अन्य कोई धर्म या दर्शन इस गंतव्य से या वाकिफ नहीं है या परिचित होने पर भी इसे परमार्थ लक्ष्य मानता नहीं है अतः मार्गान्तर *इसी* ओर आते हैं यह कहना सर्वथा ग़लत है। वेद कैवल्य का मार्ग एक तत्त्वज्ञान को ही बताता है क्योंकि कैवल्य को वह आत्मा का स्वरूप मानता है। मोक्ष को प्राप्तकी प्राप्ति घोषित करता है। अत एव यह प्रश्न उठा कि जीव जब सदा ब्रह्मरूप है तो या सदा मुक्त रहे या सदा बद्ध रहे, ज्ञान-अज्ञान से मोक्ष और बंधन कैसे होंगे, ज्ञान-

मैवं, ब्रह्मात्मैक्यबोध एवैको मोक्षकारणम्।
ऐक्यदर्शी मुच्यतेऽतो भेददर्शी न मुच्यते।।१२७।।

अज्ञान से वस्तु का स्वरूप कैसे बदलेगा? जीव ब्रह्मरूप है अतएव ज्ञानसे मोक्ष संभव है किंतु अत एव अज्ञानी भी मुक्त ही है, तब ज्ञान से क्या लाभ? और यदि ब्रह्मरूपता मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं तो ज्ञानी का भी मोक्ष संभव नहीं क्योंकि ज्ञान से ब्रह्मरूपता से अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता। गले की माला सोने की है तो तुम जानो या न जानो, वह सोने की ही रहेगी, न तुम्हारे न जानने से पीतल की बन जायेगी और न उसे सोने की बनाने के लिये कोई ज्ञान ज़रूरी है। ऐसे ही जीव जाने या न जाने, वह ब्रह्मरूप होने से मुक्त ही है तो साधना का क्या फल? यदि वह ब्रह्म होने के बावजूद बद्ध है तो भी साधना से क्या फ़ायदा?।।१२६।।

अब उत्तर स्पष्ट करते हैं **ब्रह्मस्वरूपता मोक्षका कारण हो ऐसी बात नहीं है वरन् ब्रह्म से प्रत्यगात्मा के अभेद का साक्षात्कार ही मोक्ष का हेतु है। इसलिये जिसे ब्रह्म से अपनी एकता का दर्शन हो गया वह मुक्त हो जाता है जबकि जो ब्रह्म और अपने में कैसा भी भेद समझता है वह मुक्त नहीं हो पाता।।१२७।।**

नित्य मोक्ष और पुरुषार्थरूप मोक्ष का अंतर समझना ज़रूरी है। वेद परमात्मा को नित्यमुक्त बताते हुए भी ब्रह्मरूप जीव को मोक्षोपाय सुझाकर स्पष्ट करता है कि अनादि-अनंत ब्रह्मरूप मोक्ष के लिये नहीं वरन् प्राप्तव्य मोक्ष के लिये सारी साधना है। यद्यपि स्वरूपतः ये दो मोक्ष नहीं हैं तथापि अविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित होने-न होने का फ़र्क़ है। नित्य मोक्ष परमार्थ है, उसके लिये उपलक्षण के कोई मायने नहीं हैं। पुरुषार्थ मोक्ष व्यावहारिक है अतः उपलब्ध होने वाला है। परमार्थ में अत एव व्यावहारिक मोक्ष का निषेध भी किया है 'न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता'। पूर्वोक्त गले की मालाके दृष्टांत से भी समझ सकते हैंवह माला भले ही सोने की है पर यदि तुम्हें पता नहीं तो माला पहने हुए भी स्वयं को दरिद्र समझकर भूखे बैठे रहोगे जबकि पता हो तो उसे बेचकर भोजन की व्यवस्था कर लोगे। अतः वस्तुतः वह क्या हैअकेले इससे फल नहीं, तुम उसे यथार्थ जानो भीयह फल के लिये ज़रूरी है। यदि वह सोने की है ही नहीं तब तुम उसे सोने की जानकर भी कोई लाभ नहीं कमा पाओगे बल्कि सोने की कहकर बेचने गये तो धोखाधड़ी के मामले में जेल पहुँच जाओगे! अतः वह सोने की हो भी और तुम उसे सोने की जानो भीतब फल होता है। इसी तरह जीव ब्रह्मरूप होने से मुक्त है भी और इस बात को जाने भी तब पुरुषार्थसिद्धि होती है। जीव-ब्रह्म में भेद

ऊर्ध्वाकारे समेऽप्यस्मिंश्चोरदर्शी बिभेति हि।
स्थाणुदर्शी निर्भयोऽतस्तत्त्वबोधः प्रयोजकः।।१२८।।

सिर्फ औपाधिक है, वास्तव में चेतन अखंड है। ईश्वर महान् उपाधि वाला अतः सर्वज्ञ-सर्वशक्ति तथा जीव स्वल्प उपाधि वाला अतः अल्पज्ञ-अल्पशक्ति है पर सारे अंतर उपाधि में हैं, चेतन में नहीं जैसे शालाकाश व घटाकाश का अंतर वस्तुतः शाला और घट का अंतर है न कि आकाश का। यह स्पष्ट समझना चाहिये क्योंकि अद्वैत के बारे में ज़्यादातर संशय इस औपाधिक भेद को न समझ पाने से ही उठते हैं। मैं ब्रह्म हूँ तो चोरी हो चुकी भैंस का पता लगा सकूँयह नहीं होगा और चुरायी गयी भैंस का पता लगा लिया तो ब्रह्म हो गयायह भी नहीं है। ईश्वर व जीव की उपाधियाँ छोड़कर जो चेतन तत्त्व वह एक है, उपाधियों से होने वाले व्यवहार एक न हैं न होंगे। वेदांत जीव-ईश्वर की उपाधियाँ एक नहीं बताता, चेतन को एक बताता है। इस एकता के निःसंशय ज्ञान से कैवल्य सिद्ध है यह श्रौत मत है। जीव-ईश्वर का भेद है नहीं फिर भी उसे मानते रहने से बंधन है। जैसे पीतल की न होने पर भी यदि माला को तुम पीतल का समझो तो भूखे रहना पड़ेगा। वैसे ही भेददर्शन बंधन में रखता है। कई जगह वेद ने यह समझाया है कि वस्तुस्थिति का फ़ायदा उठाने के लिये ज्ञान ज़रूरी होता है। ब्रह्म स्वरूपतः भी मुक्त है और उसे जब मुक्त जानें भी तब हमें मोक्ष मिलता है। इस प्रकार अज्ञानी ब्रह्मरूप रहकर भी बद्ध है व ज्ञानी मुक्त हो जाता हैदोनों बातें संगत होने से साधना सार्थक है।।१२७।।

संसार में अकेला ज्ञान फलप्रद नहीं होता वरन् जानकर कुछ करना पड़ता है तब फल मिलता है। यदि ब्रह्मभावरूप मोक्ष ज्ञान से होगा तो ज्ञान के बाद क्या करना पड़ेगा जिससे वह मिले? इस प्रश्न का उत्तर उदाहरण से देते हैं कि ज्ञान अकेला ही मोक्ष के लिये समर्थ है, किसी क्रियादि की ज़रूरत नहीं **ठूँठ का ऊँचा आकार एक-सा रहने पर भी जो उसे चोर देखता है वह डरता ही है जबकि उसे ठूँठ देखने वाला निर्भय होता है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञान ही यह संभव करता है कि फललाभ हो।।१२८।।** मंदान्धकार में ठूँठ को मनुष्य समझना सामान्य भ्रम है। संस्कारवश वह सिर्फ मनुष्य नहीं, चोर दीखता है! तब दर्शक डर जाता है। तब तक बिजली चमके या मशालादिकी रोशनी पड़ जाये तो दीख जाता है कि वह ठूँठ है और सारा भय तत्क्षण निवृत्त हो जाता है। अतः अनुभवसिद्ध है कि वस्तु जस-की-तस रहने पर भी अयथार्थ ज्ञान से दुःख व यथार्थ ज्ञानसे उस दुःख की निवृत्ति हो जाती

ज्ञातेऽपि कर्मकाण्डार्थे वेदान्तार्थमजानतः।
जन्मादिभीर्भवत्येव वाय्वादीनां यथा तथा।।१२६।।
वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्युश्चातीतजन्मनि।
धर्मज्ञा अप्यतत्त्वज्ञा इदानीं बिभ्यतीश्वरात्।।१३०।।

है। इसी प्रकार परमात्मा के अयथार्थ ज्ञान से बंधन तथा यथार्थ ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है। जैसे ठूँठ का यथार्थ ज्ञान अकेला ही भय मिटाने में सक्षम है, किसी क्रिया की ज़रूरत नहीं, वैसे ब्रह्मज्ञान अकेला ही जगद्बंधन समाप्त कर देता है, किसी क्रिया-उपासना की कोई आवश्यकता नहीं रहती। श्लोक में 'प्रयोजक' शब्द का प्रयोग इसलिये किया कि मोक्ष नित्य होने से उसका कोई भी कारण होना संगत नहीं क्योंकि कारण पूर्ववर्ती ही होता है। नित्य मोक्ष के उद्देश्य से जिसके लिये प्रयास किया जाना आवश्यक है और जिसके सिद्ध होने पर वह उद्देश्यपूर्ति होती ही है वह तत्त्वज्ञान मोक्ष का प्रयोजक अवश्य है। इस प्रकार समझा दिया कि अज्ञानी ब्रह्म रहते हुए भी मुक्त नहीं होता, तत्त्वदर्शी अवश्य मुक्त हो जाता है। यों तीनों अनुप्रश्नों के उत्तर बता दिये।।१२८।।

उपनिषत् ने उदाहरणपूर्वक समझाया है कि आनंदरूप ब्रह्म भी अज्ञानवश भयहेतु होता है

'भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।।'

अर्थात् वायु, सूर्य, अग्नि, इंद्र, मृत्यु आदि देवता ब्रह्म के डर से अपने-अपने कार्यों पर लगे रहते हैं। है वह प्रत्यक्तम और आनंद किन्तु उसके अज्ञान से ये महावीर्य देवता उससे सहमे रहते हैं। पूर्व जन्मों में असीम पुण्य अर्जित कर, कठोर उपासनाएँ कर इन स्वर्गीय पदों पर पहुँचे पर अज्ञान के कारण हैं भयभीत ही। अतः अन्य कोई आयास मोचक नहीं, अखण्ड साक्षात्कार ही मोचक है। इस अर्थ को बताते हैं **कर्मकाण्ड का अर्थ जान लेने पर भी जो वेदान्तों का अर्थ नहीं जानता उसे जन्म-जरा-मृत्यु आदि का भय रहता ही है जैसे वायु आदि देवताओं को है।।१२६।। वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, यम आदि अपने-अपने पूर्व जन्मों में धर्म को समझ-बूझकर कर्म-उपासना कर चुके हैं किन्तु अखण्ड तत्त्व न जान पाने से अब भी ये ईश्वर से डरते हैं।।१३०।।** आत्मज्ञान से अन्य कोई मोक्षसाधन नहीं इसे यहाँ स्पष्ट किया। कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड समझकर व उनका यथावत् अनुष्ठान करके भी जब मोक्ष नहीं मिलता तब अन्य उपायों से कहाँ मिलेगा!

इन्द्रादि देवताओं ने जो कर्मोपासना का अनुष्ठान किया उससे बेहतर सांगोपांग अनुष्ठान और कोई नहीं कर सकता और जब उन्हें ही उससे मोक्ष नहीं मिला तो अन्य किसी को कैसे मिलेगा? इन्द्रादि ने अनुष्ठान किया अवश्य अन्यथा वे इन उच्च पदों पर नहीं नियुक्त हो सकते थे। इसलिये साधक कर्मोपासना के व्यूह में न फँसे वरन् विवेकादिपूर्वक आत्मबोध प्राप्त कर मोक्ष पाये यह तात्पर्य है। ये बहुत बड़े पद हैंयह सोचने से इनके प्रति आकर्षण होता है पर जब इनके भय को सोचते हैं तब इनसे वैराग्य हो जाता है। जब इन्हें पाकर भी मोक्ष नहीं तब इनके लिये घोर परिश्रम व्यर्थ है। मुमुक्षु संसार के प्रति दोषदृष्टि वैराग्यार्थ करता है अतः इन महत्त्वपूर्ण पदों के भी दोष अवश्य देखता है। श्रीगंगाधरेन्द्र सरस्वती ने स्वाराज्यसिद्धि में बहुत संतोष व्यक्त किया है कि 'धन्य हूँ जो कर्म-उपासना में फँसकर, बड़े पदों में उलझकर असीम झंझटों में बिना पड़े आत्मबोध से पूर्ण तृप्त हो गया।' कठोपनिषत् में स्वयं यम ने (२.१०) इसी तरह का भाव ध्वनित किया है। भक्तिवादी तो विष्णु-ब्रह्मादिक के महत्त्व को ही प्रकाशित करते हैं क्योंकि उनका लक्ष्य सालोक्यादि है किंतु वेदान्ती सत्त्यान्वेषण में तत्पर होने से उनकी भयभीतता को भी देखता है, परेशानियाँ भी देखता है क्योंकि उसका लक्ष्य निरुपाधिक कैवल्य है। यदि भक्तों की तरह इन देवी-देवताओं की महिमा ही सोचते रहे तो इन पदों को पाने की या इन देवों के निकट पहुँचने की इच्छा अवश्य होगी जो बंधन-हेतु ही होगी। अतः 'परीक्ष्य लोकान्' विधि से मुमुक्षु को निर्मम परीक्षा ही करना उचित है। यह सत्त्य है कि इन्द्र, यम आदि आधिकारिकों को तत्त्वबोध हुआ जिससे वे जीवन्मुक्त हैं लेकिन इनका जीवन विक्षेप-प्रधान होने से अन्तर्मुख साधक के लिये हेय ही है। जैसे दृढ निश्चय हो कि यह विष्ठा नहीं वरन् उसकी प्रतिकृति हैमोम से बना मलका नमूना हैतो भी कोई उसे सजाकर अपने सामने नहीं रखना चाहता! वैसे जिस विरक्त को दृश्यमात्र वान्तवत्, श्वमूत्रवत् लगते हैं वह इसकी व्यवस्था करते हुए बना रहने को उत्सुक नहीं होता। ऐसे वैराग्य से पूर्व ऐश्वर्य में आसक्ति से जिन्होंने कर्म-उपासना का सफल अनुष्ठान कर लिया उन्हें प्रारब्धानुसार विशेष पदों पर नियुक्त रहना पड़ता है, भले ही बाद में ऐश्वर्य को भी क्षयिष्णु समझकर निर्वेदपूर्वक परमात्मज्ञान में परिनिष्ठा पायें व कैवल्यभागी बनें। यह विचार 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (३.३.३२) सूत्र में विस्तार से स्पष्ट है। जैसे इहलोक में तत्त्वनिष्ठ की स्वाभाविक प्रवृत्ति मनोनाश-वासनाक्षय करते हुए भूमिकारोहण की ओर मानी जाती है, प्रारब्धवेगवश यदि बहिर्मुख

आनन्दमीमांसा

ज्ञानी कामानेति सर्वान् रसौ वै स इति श्रुतम्।
ब्रह्मानन्दं स्फुटी कर्तुं मीमांसाऽऽनन्दगोच्यते।।१३१।।

जीवन बिताना पड़े तो जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनंद को स्थायी रूप से नहीं चख पाता, ऐसे ही आधिकारिक मुक्त हैं इसमें संदेह नहीं किंतु प्रारब्धानुसार उन्हें बहिर्मुखता सहनी आवश्यक है। इस दृष्टि से विरक्त उन पदों के लिये आकृष्ट न हो इसी में उसका भला है। लोकांतर में ज्ञान-काठिन्य आदि हेतुओं से भी यहीं मुक्त होने का प्रयास ही श्रेयस्कर है यह भाव है।।१२८-३०।।

तैत्तिरीय में इस सूत्र से प्रतिपादन प्रारंभ हुआ कि ब्रह्मविद् परतत्त्व पा लेता है। उस परतत्त्व को सत्य, ज्ञान, अनंत बताकर उसे ढूँढने का स्थान पाँच कोशों के भीतर बताया। प्रत्यग्रूप परमात्मा के बारे में शास्त्र से ज्ञान पाकर साधक को स्वयं विचार करने पर जो प्रश्न उठे उनका उत्तर भी समझा दिया गया। इसी क्रम में ब्रह्म को सुख की पूर्णता 'रस' शब्द से बताया। पूर्ण सुख हमारे अनुभवमें नहीं है अतः अपने अनुभवमें होने वाले अपूर्ण सुख के सहारे उस पूर्ण सुख की संकल्पना करनी पड़ेगी। तीन-चार सालों के सूखे के बाद जहाँ आठ-दस इंच पानी बरसता है उस मारवाड़ के वासी को महासागर के अथाह जल के बारे में समझाना हो तो जो प्रक्रिया अपनायी जा सकती है वही श्रुति ने आंनद की पूर्णता को समझाने के लिये अपनाई है। विश्वसाहित्य में संभवतः एकमात्र वेद में आनंद का मापदण्ड निर्धारित किया है तथा यहाँ ही दशमलव प्रणालि का सर्वप्रथम प्रयोग भी किया है। तैत्तिरीयकी तरह ही बृहदारण्यक में (४.३) भी यह विचार आया है। दोनों जगह यत्किञ्चित् अंतर का महत्त्व नहीं क्योंकि दोनों ही स्थलों पर प्रतिपाद्य तो पूर्ण आनंद एकरूप ही है। इस विचार को स्वयं श्रुति ने मीमांसा कहा है। यहाँ विचारणीय यह है कि ब्रह्मानंद विषय-विषयी के संबंध के अधीन है या स्वाभाविक है? इसका निर्णय गुहानिहित व परमानंद की एकता कहकर दिया 'स यश्चायं पुरुषे, यश्चासावादित्ये, स एकः'। इस प्रसंग का संग्रह करते हैं **वेद ने बताया कि ब्रह्मज्ञानी की समग्र कामनाएँ एक -साथ पूरी हो जाती हैं तथा वह जिस ब्रह्म से अभिन्न है वह अवश्य रस है। ब्रह्म के रसनामक आनंदस्वरूप को सुस्पष्ट करने के प्रयोजन से आनन्द-विषयक विचार व्यक्त किया जाता है।।१३१।। सद्गुण-संपन्न सार्वभौम सम्राट् का सुख मानुष आनंद की समग्रता है और दिव्य आनंदों की समग्रता हिरण्यगर्भ के सुख**

सम्पूर्णो मानुषानन्दः सार्वभौमे गुणैर्युते।
हिरण्यगर्भे सम्पूर्णो देवानन्दोऽवधी हि तौ।।१३२।।
मध्यस्थे पूर्वपुण्यानाम् उत्कर्षाद् वर्धते सुखम्।
सर्वेषां यत् सुखं तत्तु निष्कामे ज्ञानिनीष्यते।।१३३।।
सर्वकामाप्तिरेषाऽथ रसाख्यानन्द उच्यते।
अध्यात्ममधिभूतं चाधिदैवं चैक एव सः।।१३४।।

में है। जन्य आनंदों की ये दो सीमाएँ हैं।।१३२।। मनुष्य और हिरण्यगर्भ के बीच की योनियों में क्रमशः सुख बढ़ता जाता है क्योंकि पूर्व में अर्जित पुण्यों की श्रेष्ठता के अनुरूप वे सद्योनियाँ प्राप्त होती हैं। किंतु सभी को जो सुख मिलता है वह निष्काम ज्ञानी को स्वतः सिद्ध है।।१३३।। यह जो स्वतः सिद्ध सुख सब कामनाओं की पूर्तिरूप है उसे ही रस-नामका आनंद कहा गया है। अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैव सर्वत्र वह रस एक ही है।।१३४।। वल्ली-प्रारंभ में 'सोऽश्नुते सकलान् कामान्' कहा व अनुप्रश्नों के उत्तर की समाप्ति में 'रसो वै सः' कहा, इनका आपसी संबंध है कि सकल-कामना-पूर्ति ही रस कही गयी है, दोनों तरह से बताया एक अखण्ड आनन्द को ही है। लौकिक अनुभव परिच्छिन्न सुख का होने से अलौकिक अपरिच्छिन्न आनंद के लिये रस-शब्द रखा। इसे स्पष्ट समझने से ब्रह्म की परम पुरुषार्थता पता चलकर तीव्र मुमुक्षा संभव होगी अतः यह मीमांसा सार्थक है। मीमांसा मायने विचार लेकिन प्रायः उसी विचार को मीमांसा कहते हैं जो शास्त्र पर आधारित हो। वैजयन्तीकोष में 'मीमांसा तु विजिज्ञासा' कहकर यह भाव स्पष्ट किया है कि प्रामाणिक तथ्य को स्वानुभव में परिणत करने का सर्वांगीण प्रयास मीमांसा शब्द से अभिप्रेत है। अतः कहीं-कहीं 'पूज्यभाव से विचार करना' मीमांसा-शब्द का अर्थ कहा जाता है। तात्पर्य है कि इस प्रसंग में उत्कृष्ट योनियों वालों के सुखों के बारे में शंकालु के लिये यह विचार नहीं है वरन् शास्त्रोक्त विषय मानकर चलने वाले साधक के उपयोगार्थ विचार है। अतः सम्राट्, गंधर्व, देवता आदि को बहुतेरा दुःख भी भले ही होता हो पर उसे नज़रन्दाज़ कर उनके सुखमात्र को मानकर निर्दुःख पूर्ण सुख ब्रह्म है यह निर्णय यहाँ इष्ट है। अन्यत्र बृहदारण्यक में (२.१.१९) कुमार, महाराजा और श्रेष्ठ ब्राह्मण के सुख को उदाहरण बनाकर भी समझाया है, वे दृष्टांत लोकसिद्ध हैं अतः तदनुसार समझना भी संभव है। तात्पर्य तो दार्ष्टांत में होता है, न कि दृष्टांत में, यह याद रखना चाहिये।

श्रुति ने जिस इकाई से आनंद मापना प्रारंभ किया वह मानुष आनंद है। सच्चरित्र, जवान, वेदज्ञ, फुर्तीला, मनोबल व शारीरिक बल से संपन्न सम्राट् जिसका सारी पृथ्वी पर राज्य हो और पृथ्वी धन-धान्य से भरी-पूरी हो, उसे जो सुख होता है वह मानुष आनंद की इकाई है। इससे सौ गुणा ज़्यादा मनुष्य-गंधर्वों का आनंद है, उनसे सौ गुणा ज़्यादा देवगंधर्वों का आनंद है, इसी प्रकार सौ-सौ गुणा ज़्यादा आनंद है पितरों का, आजानदेवों का, कर्मदेवोंका, देवोंका, इंद्रका, बृहस्पतिका, प्रजापतिका और ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ का। इस प्रकार शुरू की सीमा मानुष आनंद और चरम सीमा हिरण्यगर्भ का आनंद बताया। बीच में आये आनंदों की मात्रा पुण्यानुसार क्रमशः बढ़ती जाती है। जैसे मानुषानंद समझने के लिये है, लोक में ऐसा मिले यह ज़रूरी नहीं, वैसे मध्यवर्ती गंधर्वादि-आनंद भी समझने के लिये ही हैं। हिरण्यगर्भ का आनंद अवश्य चरम सीमा का है क्योंकि वह एक तरह से ईश्वर ही है जैसा बृहदारण्यक के प्रारंभ में भाष्यकार ने ऊहापोह से स्थापित किया है। मनुष्यगंधर्व से ब्राह्म तक सभी आनंदों को बताते हुए श्रुति ने हर बार एक बात समान कही है 'श्रोत्रियस्य च अकामहतस्य' कि वेदार्थवेत्ता यदि कामनासे आहत नहीं है तो उसे उतना सुख स्वतः सिद्ध है। मानुष आनंद के प्रति निष्काम को तो मानुष से सौ गुणा ज़्यादा सुख रहता है ऐसा भाष्य में बताया है। जिस विषय के भोग से जो सुख होता है उस विषय के प्रति वैराग्य से भी वही सुख होता हैयह आधारभूत विचार है और परमानंद-प्राप्ति का साधन सर्वकामनानिवृत्ति को बताना है अतः अकामहत को तत्तत् सुख सुलभ कहा है। ज़्यादा विषयों से वैराग्य सुख भी ज़्यादा देता है जैसा वार्तिक में कहा है 'कामाऽनुपहतत्वस्य वृद्धौ ह्लादो विवर्धते' (तै.२.८.२६)। वैराग्य रागाभाव मात्र नहीं किंतु भाववृत्ति-विशेष है। अतः उसका तारतम्य संगत है। वैराग्य विवेकपूर्वक होता है अतः अज्ञात विषयों के प्रति जो राग की अनुत्पत्ति है उसे यहाँ नहीं ग्रहण कर सकते वरन् विषय जानकर विवेक से उसके प्रति वैराग्य को ही अकामहत-शब्द से समझना चाहिये। विषयज्ञान अपरोक्ष ही ज़रूरी नहीं, परोक्ष भी हो सकता है। यहाँ कहा अकामहत जैन आदि की तरह जडमति नहीं वरन् वेद-वेदार्थ का जानकार सच्चरित्र साधक है जिसे निजानंद की स्फुरणा बनी रहती है। हिरण्यगर्भ की सारी कामनाएँ पूरी हो चुकी हैं, उससे एक हुए साधक की भी अत एव सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। मानुष से ब्राह्म तक तो तारतम्य वाले आनंद कहे, 'अथ' (श्लोक १३४) अब रस-नामक आनंद समझाते हैं जो इन सभी आनंदों में एक-समान, एकरस है। अध्यात्म

सर्वे स्वस्वपदे तृप्ताः कामयन्ते न तत्पदम्।
ज्ञानी तु दोषदृष्ट्याऽत्र निष्कामस्तैः समस्ततः।।१३५।।

अर्थात् हमें जो अपने शरीर में मिलता है, अधिभूत अर्थात् जो विषयों में दीखता है और अधिदैव अर्थात् जो हिरण्यगर्भपर्यन्त अलौकिक सुख है, इन सभी में एक-समान जो सुख वही रस है, ब्रह्मानंद है। इसका मतलब न्यूनतम सुख नहीं वरन् तात्पर्य है कि रस तो परिपूर्ण सुख है, तारतम्य उपाधियों के कारण है। घट-शाला-मठ आदि में आकाश तारतम्य वाला है पर जो सबमें एक-सा आकाश है वह पूर्ण अखंड ही है, या तारतम्य वाले प्रतिबिंबों में समान रहने वाला बिंब पूर्ण ही है, ऐसे यहाँ रस समझना चाहिये।।१३१-४।।

कामनाराहित्य से सुख होना उपपन्न करते हैं **अपने-अपने पद पर प्रतिष्ठित हुए सभी तृप्ति का अनुभव करते हैं व उस पद की उन्हें कामना नहीं रहती (अतः सुखी होते हैं) जब कि ज्ञानी उन पदों को सदोष समझकर उनके प्रति पूर्ण निष्काम हो जाने से उन सब पदों वालों के बराबर सुख पा लेता है।। १३५।।** कामना अप्राप्त को विषय करती है, वह प्राप्त होने पर उपशांत होती है तब सुख होता है। देवादिपदों की कामनासे तपस्या कर जब वे पद मिलते हैं तब उनके प्रति कामना मिटती है और तभी उन पदों का सुख होता है। ज्ञानी विवेक से उन पदों की कामना दूर कर लेता है क्योंकि उनके दोषों को सामने रखता है। कामना-निवृत्त होने से ज्ञानी को वही सुख मिल जाता है जो कामनापूर्ति से देवादि को मिलता है। बल्कि देवादि की तो केवल उस पद की कामना पूरी होती है, अन्य तो अनेक कामनाएँ सालती ही रहती हैं, जबकि विवेकी अपनी सारी कामनायें जला डालता है जिससे उसे पूर्ण सुख सुलभ हो जाता है। यहाँ विषयसुख लेने का तरीका भी ध्वनित है; जिस विषय की इच्छा हो उसके लाभसे उस इच्छा को पूर्ण करना चाहिये तभी उसका सुख हासिल होगा। प्रायः हम इतनी ज़्यादा कामनाओं से विचलित रहते हैं कि जब जो विषय मिलता है तब उसे धैर्यपूर्वक भोग ही नहीं पाते फलतः हमारी कामना पूरी न होने से हमें सुख भी नहीं हो पाता। विशिष्ट पद पाने के लिये जितना यत्न करते हैं, पद मिलने पर उसका पूरा उपयोग करने का उतना यत्न नहीं करते अतः पद मिलकर भी हमारी उस पद के प्रति कामना मिटती नहीं। यहाँ सूचित है कि विषय, पद आदि का ऐसा उपभोग कर लेना चाहिये कि उससे तृप्ति की अनुभूति हो, 'अब और नहीं चाहिये' यह दृढ भाव आये, तभी विषय-सुख मिलेगा। देवादि श्रेष्ठ योनियाँ

होने से वे इसी तरह तृप्तिपर्यन्त भोग कर लेते हैं, सत्त्वगुण बढ़ाने से, दैवीसंपत् बढ़ाने से हम भी ऐसा कर सकते हैं। विवेकी देखता है कि अप्राप्त विषय की कामना होती है, विषय मिलने पर क्योंकि अब वह काम्य नहीं रह गया इसलिये उससे सुख भी नहीं मिलता! अनुभव होता है कि जितना व जैसा सुख हम सोचते हैं कि मिलेगा, विषयलाभ से उतना व वैसा प्रायः नहीं मिलता। इसका फल होता है कि उस विषय से हमें तृप्ति नहीं होती, उसकी कामना बनी ही रहती है। हालाँकि मिलते समय लगता है कि कामना पूरी हुई पर वह एक छलावा ही है, यत्किंचित् प्रतिबद्ध होकर वह पुनः और तीव्रता से हमें आहत करती है। अतएव मनु महाराज ने बताया है कि विषयभोग से विषय-कामना बढ़ती है, घटती नहीं। अविचारशील के विषयभोग के तरीके के अनुसार मनु की बात बिलकुल ठीक है। यहाँ जो विद्यारण्यस्वामी ने पदलाभ से तृप्ति कही वह विचारवानों की दृष्टि से है। विषयभोग भी विचारशील व अविचारशील के विलक्षण होते हैं अतः यह फ़र्क़ होना संगत है। मोक्षेच्छुक भोगद्वारक तृप्ति के आकर्षण में नहीं पड़ता वरन् विषयों के दोषों को प्रधानता देकर निष्कामताद्वारक तृप्ति पाता है जो पूरी तरह स्वायत्त है (अर्थात् उसके लिये किसी पर निर्भर नहीं रहना पड़ता), पूर्ण है, बहिर्मुखता रोकती है, स्थायी है एवं शम-दम आदि के प्रयास के लिये सहायक है।।१३५।।

समुद्र-स्थानीय अखण्डैकरस परमार्थ आनंद के बिंदु-स्थानीय हैं हिरण्यगर्भादि-आनंद। वह परम सत्य आनंद प्रत्यग्रूप है और अपरिच्छिन्न है। यही उपनिषत् का सर्वप्रमुख उपदेश है। तैत्तिरीय में इस अखण्डता को बताने वाला महावाक्य 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' है। जीव-ईश्वर के अभेदबोधक वाक्य महावाक्य होते हैं। यहाँ 'पुरुषेऽयं' से जीव, 'आदित्येऽसौ' से ईश्वर और 'स एकः' से अभेद सुस्पष्ट किया है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस उपक्रम-वाक्य से कहा कि ब्रह्मज्ञ को ब्रह्मभाव मिलता है। अब्रह्म ब्रह्मज्ञान से ब्रह्म नहीं हो सकता अतः उक्त वाक्य की अन्यथानुपपत्ति से पता चलता है कि जीव-ब्रह्मकी एकता ही उक्त वाक्य में कही है। उसी अभेद का उपसंहार 'स यश्चायम्' आदि वाक्य से किया गया है। इस प्रकार यह वाक्य निश्चित रूप से अभेद-बोधक है। वार्तिक में (२.८.५१) भी कहा है

'क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन ह्यभिन्नं वस्त्वविद्यया।
तस्मात् तद्धानतश्चैक्यं घटेतरखयोरिव।।'

घट के अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती आकाशों की एकता घटनिवृत्ति से जैसे हो जाती है वैसे

महावाक्यम्

बुभुत्सौ पुरुषेऽन्येषु मनुष्येषु च योऽस्ति यः।
आदित्ये चान्यदेवेषु स आनन्दो न भिद्यते।।१३६।।
परप्रेमास्पदत्वस्य लक्षणस्यैकरूपतः।
लक्ष्यानन्दो न भिन्नः स्याद् अखण्डैकरसो ह्यतः।।१३७।।

ही क्षेत्रज्ञ जीव और ईश्वर की उपाधिनिवृत्ति से एकता है। इस प्रसंग का अत्यन्त विस्तार वेदान्तसाहित्य में है और इस ग्रंथ में भी प्रायः प्रत्येक अध्याय में इस पर विचार आया है अतः यहाँ संक्षेप में इसका उल्लेख करते हैं **जो साधक ब्रह्म हो जाना चाहता है उसकी हृदयगुहामें, जो मुमुक्षु नहीं हैं उन सबकी भी हृदयगुहा में, आदित्य में तथा अन्य देवताओं में जो आनन्दरूप आत्मा उपस्थित है उस आनंद में किसी तरह का कोई भेद नहीं है।।१३६।। आनंद की परिभाषा है परम प्रेम का विषय होना। क्योंकि परिभाषा एक ही है इसलिये इससे परिभाषित होने वाला आनंद भी विभिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि आनंदरूप आत्मा में न किसी तरह की परिच्छिन्नता है, न न्यून-आधिक्य है।।१३७।।** जीवमात्र का बुद्धिसाक्षी परमेश्वर है। आस्तिक-नास्तिक भोगी-त्यागी जो भी हो, सबका साक्षी चिन्मात्र है। उपाधियों के भेद से ही सारा व्यावहारिक भेद संगत हो जाता है, व्यवहार के उद्देश्य से आत्मभेद निष्प्रयोजन है। व्यवहार से अतिरिक्त कोई हेतु नहीं कि आत्मा अनेक समझे जायें। शास्त्र उसे एक बता ही रहा है, सभी जब विवेकपूर्वक स्वानुभवका परीक्षण करते हैं तब आत्मामें कोई अंतर पाते नहीं, अतः आत्मा की एकता ही बुद्धिसंगत है। विचार करें तो लोक में भी यही प्रक्रिया है : स्वर्ण एक वस्तु है। दुनिया में जहाँ-कहीं हो सोने का लक्षण एक ही रहता है। सोने के परमाणु अलग-अलग हैं, अनंत आकार हैं जिनमें सोना मिलता है और व्यवहार उन आकारों वाले सोने से ही होता है किन्तु सब आकार, सारे परमाणु जिसके हैं वह सोना तो एक अखंड ही है, उसमें कमो-बेश की गुंजायश नहीं। इसी प्रकार आत्मा की अखंडता समझ आ जाती है। जिसे हम 'व्यक्तिभेद' का अनुभव मानते हैं वह अनात्माओं के ही भेद को विषय करता है, उससे आत्मभेद स्वीकारना अंधविश्वास ही है। प्रश्न हो सकता है कि व्यवहार से जब कोई लेना-देना नहीं तब ऐसे आत्मा को मानना ही क्यों? उत्तर में पूछा जा सकता है कि फिर स्वर्ण को भी मानना क्यों! जैसे स्वर्ण अनुभव में आता हैकि यह सोना, वह भी सोना इत्यादिइसलिये पहचाना

जाने से मानना ही पड़ता है, वैसे आत्मा स्वप्रकाश है, उसका अनुभव नकारा नहीं जा सकता; आत्मा 'माना' नहीं जाता वरन् 'मैं हूँ' यों सदा भासता है। आत्मा की अनेकता तो मान्यता है, उसमें कोई प्रमाण नहीं है। उस एक आत्मा को परमेश्वर से अभिन्न समझाना महावाक्य का उद्देश्य है। परमेश्वर भी जड तो है नहीं, आत्मा ही है, अतः अभेद स्वाभाविक है। भेद-प्रतीति उपाधिवश है यह समझते ही अखण्डार्थ का स्फुरण अनिर्वाय है। 'यश्चासावादित्ये' वाक्य तत्पद के लक्ष्य का बोधक है। यहाँ आदित्य से सूर्यदेवता नहीं ले सकते क्योंकि जीवरूप देवता तो त्वमर्थ से समझे जा चुके हैं। अतः आदित्य से ईश्वर समझना चाहिये। 'अन्य देवों' का उल्लेख ईश्वर के सभी रूपों के संग्रहार्थ है। सिद्धांतबिंदु-अष्टम श्लोक में त्रिविध ईश्वर और उसके पुं- स्त्री-मत्स्यादि अनंत आकार कहे हैं, उन सबको एकत्र करने के लिये 'अन्य देव' कहे हैं। यदि 'स यश्चायम्' आदि को महावाक्य के ढंग से न समझना हो तब तो पृथ्वी पर उपलब्ध जीवों को 'पुरुषे' पर्यंत से और लोकान्तरवर्ती जीवों को 'आदित्ये' पर्यन्त से समझकर अखण्ड साक्षी का प्रतिपादन इस वाक्य में मान लेना चाहिये। भाष्यादि के अभिप्राय से महावाक्य समझना बेहतर लगता है।

आत्मा की अखण्डता को उसके स्वरूप की एकता से निश्चित करना चाहिये, क्योंकि स्वरूप एक है इसलिये आत्मा एक है। इसीलिये आत्मा के आनंदरूप को यहाँ परिभाषित किया। जिसका लक्षण हो वह लक्ष्य कहलाता है। आनंद प्राणिमात्रका प्राप्तव्य होने से भी लक्ष्य है। यद्यपि साधनों को बहुधा सुख कह देते हैं तथापि सुख का तात्पर्य साधन नहीं वरन् उनसे साध्य आनंद ही है। साधनभूत आनंद हमारे लक्ष्य नहीं, लक्ष्य तो साध्यभूत आंनद ही है, उसके लिये अनिर्वाय होने से ही हम साधन एकत्र करते हैं। भोगादि के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सुखाकार वृत्ति हमारी इच्छा का विषय है, न कि उसके उपाय, क्योंकि जब वे वैसी वृत्ति नहीं बना पाते तब हमें वे अनिष्ट हो जाते हैं। सुख कभी अनष्टि नहीं होता। इस प्रकार साध्य-साधन के भेद से लक्ष्य और अलक्ष्य दो आनंद हैं, इनमें अलक्ष्य आनंद तो अनेकरूप है पर लक्ष्य आनंद एकरूप ही है। परम प्रेम का विषय होनायह लक्षण जहाँ है वही लक्ष्य आनंद है। 'परम' विशेषण अवश्य याद रखना चाहिये ताकि यत्किंचित् प्रिय साधनादि की व्यावृत्ति हो। अथवा वाच्य-लक्ष्य भेद से दो तरह का अनांद है जिनमें लक्ष्य की अखण्डता बतायी जा रही है। संक्षेपशारीरक आदि में इस दृष्टि से काफी विचार है। जीव-ईश्वर की एकता के बारे में सभी शंकाएँ इस मूलभूत सिद्धान्त को न समझने से

बोधप्रभावः

एवं विद्वान् स्वपुत्रादेः कोशषट्कात् प्रकल्पितात्।
व्युत्थायाऽखण्डैकरसे स्वानन्दे प्रतितिष्ठति।।१३८।।

ही होती हैं कि किसकी एकता कह रहे हैं और एकता का मतलब क्या। जो व्यावहारिक जीव-ईश्वर हैं उनकी एकता नहीं कही जा रही वरन् पारमार्थिक आत्मा की एकता कह रहे हैं। और एकता किसी संख्या-परिच्छेद के अभिप्राय से नहीं वरन् स्वरूप में फ़र्क़ नहीं है इस तात्पर्य से कह रहे हैं। अत एव प्रायः वेदांत 'एकवाद' नहीं बल्कि 'अद्वैतवाद' कहलाता है। सुअर को सुअरी से मिलने वाले और इंद्र को रम्भा से मिलने वाले आनंद का स्वरूप एक ही है, एक ही परिभाषा दोनों जगह लागू होती है, इसलिये दोनों आनंद एक हैं। ऐसे ही जीव का आत्मा और ईश्वर का आत्मा एक ही है। यह महावाक्य का अर्थ है। आत्मा का 'सच्चिदानंद' लक्षण जहाँ-कहीं मिले वह आत्मा ही है अतः आत्मा में भेद की शंका नहीं हो सकती। यही अखण्ड एकरसता है जिसे कोशादि-विवेकपूर्वक स्पष्ट किया।।१३६-७।।

आगे श्रुति है 'स य एवंवित्। अस्माल्लोकात् प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति।... मनो... ।... विज्ञान... ।... आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' 'एवंवित्' अर्थात् 'मैं सत्य ज्ञान आनन्द हूँ' ऐसा अद्वैत समझने वाला इस लोक को पूर्णतः छोड़ देता है। यह लोक अर्थात् दृष्ट-अदृष्ट इष्ट विषयों का समुदाय, उसे छोड़ना अर्थात् उससे निरपेक्ष हो जाना। इसीसे सब कोशों का उपसंक्रमण होता है अर्थात् उन्हें 'मैं' समझना छूटता है; अभी हम उन्हें 'मैं' समझते हैं, विवेक से हम उन्हें लाँघ जाते हैं, उन्हें 'मैं' नहीं समझते। भाष्य में कहा है '...अन्नमयादिषु अनात्मसु आत्मविभ्रमः संक्रमणेन आत्मविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विनश्यति।' इस उपसंक्रमण के फलस्वरूप निर्भय आनंद में प्रतिष्ठा हो जाती है। यह प्रसंग समझाते हैं **अपने पुत्रादि से लेकर आनंदमयपर्यन्त छह कोश हैं जिन्हें हमने आत्मा मान रखा है, वे आत्मा हैं नहीं। उपनिषत् में बताये तरीके से जो अखंड आत्मा का साक्षात्कार पा जाता है वह इन छहों कोशों से विमुख होकर सर्वभेदवर्जित, तारतम्यरहित, प्रत्यग्रूप आनंद हो जाता है।।१३८।।** प्रायः पाँच कोशों का उल्लेख होता है पर यहाँ गौणात्मा को भी एक कोश के रूप में वर्णित किया था (श्लो.४१ आदि) अतः उसके संग्रह से छह कोश कहे। सभी कोश आत्मा को परिच्छिन्न बनाते हैं अतः अनंतता के लाभ के लिये इनसे व्युत्थान आवश्यक है। जो कुछ ग़लती से

सार्वभौमादिकानन्दाः पूर्वेभ्यः शतसंख्यया।
परेऽधिकास्ते तु लेशा ब्रह्मानन्दस्य बिन्दुवत्।।१३९।।
तस्माद् इयत्ता नैवास्य वक्तुं ध्यातुं च शक्यते।
न बिभेत्येव तं विद्वान् जन्महेतोः कुतश्चन।।१४०।।

आत्मा समझ रखा है उसे वैसा समझना छोड़ने को यहाँ व्युत्थान कहा। कोशों से तादात्म्य समाप्त होते ही मैं सच्चिदानंद मात्र रह जाता हूँ। परमप्रेमास्पद केवल प्रत्यग्रूप आनंद है। अन्यत्र प्रेम आत्मता-भ्रांति से होता है। भ्रांति मिटते ही वह प्रेम स्वतः निवृत्त हो जाता है तो लगता है कि आत्ममात्र में प्रेम रह गया जबकि था प्रेम हमेशा ही आत्मा से; जिसे भी हम आत्मा समझते थे उससे प्रेम कर लेते थे, अब अनात्मा को आत्मा नहीं समझ रहे अतः अनात्मा से प्रेम भी नहीं हो रहा। अनन्त आत्मा से अन्यत्र आत्ममति न होना ही आत्मामें स्थिति कही जाती है। छांदोग्य में बताया है कि व्यापक आत्मा किसी 'में' स्थित नहीं हो सकता, इसी बात को कहने का ढंग है कि वह स्वयं में स्थित है। वैसे ही यहाँ 'स्वानंदे प्रतितिष्ठति' कहा है कि अपने आनंद में प्रतिष्ठा पाता है; तात्पर्य यही है कि अज्ञानवश जो स्वयं को अनात्मा में प्रतिष्ठित समझ रहा था वह समझना छोड़ देता है, स्वप्रकाश व्यापकरूप से बना रहता है।।१३८।।

वल्ली-समाप्तिमें उपनिषत् में मंत्र आया है 'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चन।' मन-वाणी से अतीत आनन्दरूप ब्रह्म का जानकार किसी से नहीं डरता। वह सर्वातीत आनंद ही आनंद की पूर्णता है, उससे अन्य कहीं कोई आनंद नहीं है। इसका संग्रह करते हैं **सार्वभौम के आनन्द से सौ-सौ गुणा ज़्यादा जितने आनंद संसार में है (श्लोक १३२-३) वे ब्रह्मरूप आनंद के स्वल्पांशमात्र हैं मानो ब्रह्म समुद्र हो और ये आनंद बड़ी-छोटी बूँदें हों।।१३९।। ससीम में विचरणे वाले के लिये असीम समझना असंभव होने से ब्रह्मरूप आनंद कितना हैयह कहा व सोचा भी नहीं जा सकता। इतना निश्चित है कि उसे जानने वाला डरता नहीं क्योंकि उसके जन्म का कोई कारण रह नहीं जाता और जन्मके बिना भय की परिस्थिति असंभव है।।१४०।।** यद्यपि साधारणतः चोर-व्याघ्र-रोगादि का ही भय मनुष्य को पीडित करता है तथापि विवेकी उस ओखली को पहचानता है जिसमें सिर देने से इन मूसलों के आघात अनिवार्य हो जाते हैं। वह ओखली ही जन्म है। पूर्व में भेददर्शन को, अज्ञान को

भयकारण कहा था (श्लोक. १२५)। वह अज्ञान ही जब यह अनुभव कराता है कि 'मैं बाकी सबसे भिन्न हूँ' तब हम परिच्छिन्न 'हो' जाते हैंयही जन्म है। स्वयं को उपाधिपरवश समझना, उपाधितादात्म्य जन्म है। इसका कारण अज्ञान है, वही निवृत्त हो गया तो जन्म असंभव होने से दुःख की आशंकारूप भय हमेशा के लिये मिट गया इसमें कहना क्या! अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि स्वयं से अन्य जो कोई भी होगा उससे भय अवश्य होगा। तत्त्वज्ञ को खुद से अन्य कहीं कुछ न दीखने से भयहानि स्वाभाविक है। वार्तिक में (२.९.१३१) यह समझाया है

'भयहेतुर्द्वयं यस्मात् तच्चाऽविद्यासमुद्भवम्।
प्लुष्टायां विद्यया तस्यां न कुतश्चन भीर्भवेत्।।'

अन्य साधनाओं से वेदांत-साधना का यह प्रसिद्ध अन्तर है कि यह समस्याओं को एक-एककर दूर न करके सब कष्टों का मूल ढूँढकर उसे निःशेष समाप्त करने को ही प्रवृत्त होती है। अतः आधे-अधूरे प्रयत्न में रुचि वाले इससे बचते हैं! शास्त्रीय होने से साधना का अदृष्ट भी प्रभाव है और कल्याणमार्ग के पथिक की दुर्गति नहीं होती ऐसा गीता में भी समझाया है अतः जन्मान्तर में भी इष्टलाभ संभव है ही जिससे अन्य साधनाओं की तरह ही इसमें भी धैर्य संगत है परन्तु मुख्य पक्ष है कि

'विद्वान् सन् न बिभेतीति विद्याकालं भवेत् फलम्।
न तु स्वर्गादिवत् प्राप्यं भुञ्जानस्तृप्यतीतिवत्।।' (तै.वा२.९.१२९)

वेदांतसाधना को परलोक-फलक उपाय न बनाकर जब समस्या है तभी उसका समाधान कर लेना चाहिये। कर्म-उपासना तुच्छ फलों को भी सिद्ध कर देते हैं तो सामान्य लोग संतुष्ट हो जाते हैं कि कुछ मिला, किंतु ज्ञानसाधना तो चरम लक्ष्य के वेधन को ही एकमात्र प्रयोजन मानकर प्रवृत्त होती है अतः छोटे-मोटे सांसारिक फलों के लिये यह व्यय नहीं होती। वैराग्य का इसीसे साधन-सम्पत् में अत्यंत महत्त्व है। ज्ञानफल के रूप में अभय-प्राप्ति अनेक जगह श्रुति ने बतायी है। जैसे सन्तोष एक निर्विषय वृत्ति है वैसे ही अभय भी। मोक्ष की विषय-निरपेक्षता के अनुसार ही इन भावों को फलावस्था में बताया जाता है। साधारण भयनिवृत्ति तो मनोमयकोश के प्रसंग में (श्लोक.९२) कही थी पर यहाँ भय ही नहीं उसके कारण की भी निवृत्ति कही जा रही है। और क्योंकि यहाँ 'विद्वान् न बिभेति' यों विद्यामात्र से निवृत्ति कही है अतः बाध ही विवक्षित है। कार्य-समेत अज्ञान जब ज्ञान से मिट जाये तब बाध कहा जाता है

पुण्यं नाकरवं कस्मात् पापं तु कृतवान् कुतः।
इति चिन्ता तपत्यज्ञं ज्ञानिनं न तपत्यसौ।।१४१।।
तापकत्वं तयोर्विद्वान् उपेक्ष्याऽनुष्ठितं तयोः।
आत्मानं प्रीणयन् बोधात् सुदृढी कुरुते धियम्।।१४२।।

'अज्ञानस्य स्वकार्येण सता लीनेन वा सह।
ज्ञानेनैव निवृत्तिर्या सा बाध इति गीयते।।'

अतः मनोमयोक्त से यहाँ अंतर है।।१३८-४०।।

भावी दुःख का भय उसे रहता है जो जानता है कि उसने दुःख का कारण एकत्र कर रखा है। कर्तव्यों का उल्लंघन और अकार्यों का आचरणये ही कारण हैं दुःख के। अज्ञानी में कर्तृबुद्धि रहने से 'मैंने ये कारण बटोर रखे हैं' यह अभिमान होता है जो उसे भयत्रस्त रखता है। विद्वान् का कर्तृ-अभिमान निवृत्त हो जाने से उसे भय की संभावना नहीं। भोक्तृ-अभिमान भी न होने से 'मुझे दुःख हो सकता है' यह उसे लगता नहीं कि भय का प्रसंग उठे। श्रुतिने वल्लीका समापन यही कहते हुए किया है

'एत ँ ह वाव न तपति। किमहँ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवम् इति। स य एवं विद्वान् एते आत्मान ँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मान ँ स्पृणुते। य एवं वेद।' अर्थात् 'मैंने पुण्य क्यों नहीं किये, पाप क्यों किये?' यह विचार तत्त्वज्ञ को ताप नहीं देता। वह पुण्य-पाप को भी आत्मरूप ही जानता है तथा स्वयं आत्माको अकर्ता, अभोक्ता, निर्विकार, परमानन्द समझता है। अतः सनातन प्रसन्नता से सराबौर ही रहता है। इसे संगृहीत करते हैं' **मैंने पुण्य क्यों नहीं किया, पाप क्यों किया?' ऐसी चिंता अज्ञानी को सन्ताप देती है न कि अकर्तृ-आत्मा के जानकार को।।१४१।। पुण्य न करना व पाप करना अज्ञानी को ही ताप दे सकता हैइस रहस्य का जानकार पुण्योल्लंघन व पापाचरण दोनों से उदासीन होकर अपनी असंगता व पूर्णता के अनुभव से स्वयं को प्रसन्न रखते हुए इसी निश्चय को ज़्याद-ज़्यादा पक्का करता जाता है।।१४२।।**

कर्मविचार से संतप्त अज्ञानी श्रद्धालु व धर्मवेत्ता समझना चाहिये, आजकल का पशुसदृश वह व्यक्ति नहीं जो धर्माधर्म जानता ही नहीं बल्कि मानता है कि धर्माधर्म को कोई नहीं जान सकता! धर्म समझने वाला भी राग-मोह आदि के परवश होकर अनेक कर्तव्यों का उल्लंघन और पापों का आचरण करता है, फिर पछताता

और दुःख भोगता रहता है। यह मानव के लिये विचित्र द्वन्द्व है कि भावी कष्ट जानते हुए भी तात्कालिक सहूलियत के लालच को नहीं छोड़ पाता। तत्त्ववेत्ता स्वयं को कर्म और फल के क्षेत्र से परे महसूस करता है अतः 'मैंने ऐसा किया या नहीं किया' यह भी उसे नहीं प्रतीत होता और 'मुझे दुःख मिलेगा' यह भी नहीं लगता जिससे वह संतप्त नहीं हो पाता, सदा आनंदमग्न रहता है। परब्रह्म के स्तर पर पुण्य-पाप के कोई मायने नहीं क्योंकि नाम-रूप तो पुण्य-पाप दोनों के मिथ्या हैं व सच्चिदानंद दोनों में समान है, पाप हो या पुण्य दोनों हैं (सत्), दोनों अनुभूयमान हैं (चित्) और एक फलदृष्टि से व दूसरा करते समय प्रिय लगता ही है (आनंद)। अत एव ब्रह्म का इनसे कोई विरोध नहीं। अत एव अन्तर्यामी या बहिर्यामी यह नहीं करता कि पाप होवे ही नहीं! ईश्वर को पाप से विरोध होता तो हमें पाप करने ही न देता। करते हम अवश्य हैं और करने की सामर्थ्य, सुविधा परमेश्वर ही देता है तो पता चल जाता है कि उसे इससे विरोध नहीं। हम साँप देखकर परेशान हों या मोतियों की माला देखकर खुश हों इससे रस्सी को कोई फ़र्क नहीं पड़ सकता। पाप-पुण्य के भेद का महत्त्व हमारे लियेअज्ञानी जीव के लिये है क्योंकि हम एक का फल चाहते हैं व दूसरे के फल से दूर रहना चाहते हैं। तत्त्ववेत्ता क्योंकि करने-भोगने के स्तर से ऊँचा उठ चुका है इसलिये वह न कृत-अकृत का अनुसंधान करता है व न उसे दुःख की आशा रहती है। अत एव अब न उसे पुण्य करने की प्रेरणा रहती है, न पाप से बचने की; वह सर्वकर्मसंन्यासी हो जाता है। श्रुति में 'स्पृणुते' शब्द आया है। 'स्पृ प्रीतिबलयोः' धातु है अतः 'प्रसन्न होता है' और 'प्रबल होता है' दोनों अर्थ हैं। 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' (मुं.३.१.४) आदि श्रुति एवं 'यस्त्वात्मरतिः' (गी.३.१७) आदि स्मृति इसमें प्रमाण हैं कि तत्त्वनिष्ठ निज बोध से ही प्रसन्न रहता है। आत्मबोध जितना दृढ होगा उतनी ही यह प्रसन्नता ज्यादा होगी अतः विद्वान् पुण्यादि के चक्र में न फँसकर बोध की दृढता का ही यत्न करता है। इस यत्न को 'बुद्ध्या विशुद्धया' (गी.१८.५१) आदि से भगवान् ने एवं शास्त्रों में अन्यत्र भी स्पष्ट किया है। यह प्रयास विधिबल से ही हो यह ज़रूरी नहीं इसे सूचित करने के लिये 'प्रीणयन् कुरुते' कहा; इस प्रयास से स्वयं की प्रसन्नता ही बढ़ती है अतः स्वतः इसमें प्रवृत्ति हो जाती है। बृहद्भाष्य में विद्यासूत्र के (१.४.७) व्याख्यान में भाष्यकार ने इस बात को समझाया है। उसी उपनिषत् में मोक्षोपयोगी बल बताया है ज्ञान को (३.५.१)। अज्ञानी का बल साधन और फल के सहारे रहता है, उसे छोड़कर विद्वान् आत्मविज्ञानरूप बल का ही प्रयोग करता है जिससे इसकी

देहेन्द्रियकृते पुण्यपापे चात्मतया सदा।
पश्यन् सर्वात्मतां स्वस्य गायन् साम्नावतिष्ठते।।१४३।।

भृगुवल्लीसारः

अहमन्नं तथाऽन्नादः श्लोककृच्चेतरोऽप्यहम्।
इति सर्वात्मतां गायन् जीवन्मुक्त इतीर्यते।।१४४।

बहिर्मुखता न्यूनतर होती जाती है। बल की वहाँ भाष्यकार ने परिभाषा दी है 'बलं नामआत्मविद्यया अशेषविषयदृष्टितिरस्करणम्।' विषय-दर्शनमात्र का तिरस्कार, उपेक्षा, जब इसलिये और इस तरह किया जाता है कि स्वात्मानुभव का रसास्वादन होता रहे तब विद्वान् का बल-प्रयोग माना जाता है। अनात्मा तो अनादि प्रवाह में आकृष्ट कर ही रहा है, उसी में बहना-बहाना दुर्बलता ही है, उस प्रवाह को काटने में ही बल की सार्थकता है।।१४१-२।।

तैत्तिरीयोपनिषत् में अगली है भृगुवल्ली। भृगु ने वरुण से ब्रह्मोपदेश के लिये प्रार्थना की तो उन्होंने पहले ब्रह्मबोध के द्वार बतायेअन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक्। ये 'मैं' समझे जाते हैं, इन्हीं के परीक्षण से असली मैं, ब्रह्म पता चलेगा। फिर ब्रह्म का लक्षण बताया कि जगत् के जन्म-स्थिति-भंग का कारण वह है। भृगु ने इसे समझने के लिये तप किया, स्वाध्यायपूर्वक पूर्ण एकग्रता की। सर्वप्रथम उसे लगा अन्न ब्रह्म है पर पिताने और तप करने के लिये कहा। यों क्रमशः उसे प्राण, मन, विज्ञान और अंत में आनंद की ब्रह्मरूपता पता चली। वल्ली में इतनी भार्गवी-वारुणी विद्या बताकर कुछ उपासनाओं का विधान किया है। तदनंतर ज्ञानफलभूत ज्ञेय तत्त्व का वर्णन आता है जो पूर्ववल्ली की तरह ही है। फिर मुक्त का वर्णन किया है और उसके द्वारा गेय गान बताया है जिसमें वह अपनी सर्वरूपता को व्यक्त करता है। क्योंकि इसमें ब्रह्मविद्या का वही विषय है जो गतवल्ली में आ चुका है इसलिये प्रकृतग्रंथ में भृगुवल्ली का पृथक् से वर्णन अनावश्यक है। जीवन्मुक्त के प्रसंग का उल्लेख करते हुए उस वल्ली का विशेषांश प्रकाशित कर देते हैं **तत्त्ववेत्ता शरीर-इन्द्रियों द्वारा किये पुण्य-पाप को भी सिर्फ आत्मरूप से देखते हुए अपनी सर्वात्मता को सामगान से व्यक्त करते हुए परमानंद में रहता है।।१४३।। 'मैं अन्न और अन्नभक्षक हूँ तथा अन्न-अन्नाद का संघ बनाने वाला हूँ। यही नहीं, और भी सब कुछ मैं ही हूँ।' यों अपनी सर्वरूपता गाते हुए रहने वाला जीवन्मुक्त कहा जाता है।।१४४।। जीवन्मुक्तिपर्यन्त विद्या का मुख्य साधन ब्रह्मका विचार है, उसीसे**

जीवन्मुक्त्यवसानाया विद्याया मुख्यसाधनम्।
विचारो ब्रह्मणस्तेन भृगुर्ब्रह्मावबुद्धवान्।।१४५।।

भृगु ने ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त किया।।१४५।। ब्रह्मवल्ली में समाप्ति वाक्य 'उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते' का अर्थ श्लो.१४३ में बता दिया है। इस वाक्य में 'स्पृणुते' का मतलब है 'देखता है'; धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं ऐसा व्याकरणसंमत है। 'पश्यन्' तक इसका अर्थ कर 'सर्वात्मतां' से भृगुवल्ली के प्रसंग का कथन है। पुण्य पाप या कोई भी कार्य शरीरादि उपाधि तक ही है, अज्ञ भ्रम से उसे स्वयं पर ओढता है, ज्ञानी उसे नहीं ओढ़ता। परंतु इसका मतलब यह नहीं कि ज्ञानी पुण्यादि को अपने से अलग स्वतंत्र कुछ समझता हो, वह तो उनके नाम-रूपांश को मिथ्या व सच्चिदानंदांश को प्रत्यग्रूप से एक ही जानता है। और दृढ ज्ञानी को इसके लिये कोई यत्न नहीं करना पड़ता, वह हमेशा ऐसा ही जानता है। विद्वान् की प्रसन्नता स्फुट होती है, आचार्य शंकर ने छांदोग्य में (४.९.२) कहा है 'प्रसन्नेन्द्रियः प्रहसितवदनश्च निश्चिन्तः कृतार्थो ब्रह्मविद् भवति'; अतः यहाँ उसका आनंद गीत के रूप में प्रकट होता बताया। भोग्य-भोक्ता व इनका समागम करने वाला अर्थात् प्रेरिता सब मैं हूँयह तत्त्वज्ञ का स्वानुभव है। मल-कीट से ब्रह्मा-पर्यन्त जहाँ कहीं भी भोगादि है वह सब मैं ही हूँ। श्लोककृत् से मंत्रद्रष्टा ऋषि आदि भी समझने चाहिये, वे भी मैं हूँ। इसी प्रकार मंत्रप्रतिपाद्य देवता भी मैं हूँ। श्रुति ने कहा 'मैं प्रथमज हूँ'; प्रथमज हिरण्यगर्भ ही समस्त देवताओं की समष्टि है अतः 'सारे देवता मैं हूँ' यह भाव है। देवताओं से पहले भी मैं ही हूँ क्योंकि कारण भी मुझसे अलग नहीं है। अमृत अर्थात् मोक्ष की मैं नाभि अर्थात् आश्रय, स्वरूप हूँ, मुक्तोपसृप्य ब्रह्म मैं ही हूँ। ऐसे मेरे भूम स्वरूप का ज्ञान देने वाला सद्गुरु ही वस्तुतः त्राता है, शोक-मोह के संसरण से बचाता है। अन्नरूप मुझे बिना बाँटे खाने वाले को मैं नष्ट करता हूँ। प्रलय में सबका संहार मैं ही करता हूँ। सूर्य की तरह मैं स्वतः प्रकाशमान हूँ।यह उपनिषत् में आये गीत का भाव है। स्वयं की सर्वात्मता का साक्षात् असंदिग्ध अनुभव रहते प्रपंचभान होना ही जीवन्मुक्ति की दशा है। इसे युक्ति से नहीं समझ सकते। शास्त्र और स्वानुभवसे ही इसका पता चलता है। तत्त्वज्ञ उपदेष्टा से ही विद्यालाभ संभव होने से जीवन्मुक्त मानना अत्यावश्यक है। हो सकता है हमें ऐसे विद्वान् का संग न मिले क्योंकि शास्त्र ही ऐसे को अत्यंत दुर्लभ बताता है, किंतु जीवन्मुक्त होता नहीं या हो सकता नहीं यह कहना ग़लत है। किंच ऐसी सुदृढ ज्ञाननिष्ठा-पर्यन्त साधना में पूरी तत्परता रखनी पड़ेगी तभी मोक्ष होगा। 'अन्य कोई जीवन्मुक्त नहीं दीखता तो मैं ही इसके लिये क्यों

प्रयास करूँ?'यह सोचने वाला आलसी या बहिर्मुखी होकर संसार के आवर्तन में ही भटकेगा, कैवल्य नहीं पा सकता। ग्रंथकार ने 'जीवन्मुक्तिविवेक' नामक एक स्वतंत्र प्रकरणग्रंथ ही बनाया है जिसमें उपपत्तियों सहित साधना का सांगोपांग वर्णन है अतः यहाँ इस विषय पर विस्तार नहीं है। प्रधान साधन तो आत्मविचार है ही, इसीको संभव करने वाले बाकी साधन हैं अतः भृगु ने विचार से और विचारांगभूत साधनांतरों से ही जीवन्मोक्ष हासिल कर लिया था। यह केवल ऐतिहासिक रुचि की बात नहीं कि किसने कैसे मोक्ष पाया, वरन् हमें प्रेरित करने के लिये है कि हम भी उनकी तरह एकनिष्ठ विचार से कैवल्यभागी बनें।।१४३-५।।

तैत्तिरीय आरण्यक के सप्तम-अष्टम और नवम प्रपाठक क्रमशः शीक्षावल्ली, ब्रह्म या आनंद वल्ली, और भृगुवल्ली के नाम से प्रसिद्ध हैं एवं भगवान् भाष्यकार ने इन्हीं तीन पर भाष्य लिखा है अतः तैत्तिरीयोपनिषत् के नाम से प्रायः इतना ही ग्रंथ समझा जाता है। दशम प्रपाठक खिलकाण्ड है, उसे प्रायः महानारायणोपनिषत् कहते हैं। उसकी व्याख्या सायणभाष्य में है। उस हिस्से में ब्रह्मविचार और कर्मकाण्ड दोनों का काफी मिला-जुला प्रतिपादन है तथा उपासना का भी वर्णन है। प्रकृत ग्रंथ में उस प्रपाठक का संग्रह तो नहीं किया जा रहा किन्तु उल्लेखमात्र कर रहे हैं कुछ चुनी हुई बातों का ताकि जैसे शीक्षा-भृगु वल्लियाँ अनुक्त नहीं रहीं वैसे यह अंश भी अनुक्त न रहे। महानारायण के प्रारंभ में ब्रह्मविद्या, सविशेष के प्रार्थनामन्त्र, स्नानादि के मंत्र, जप-होम के मंत्र बताकर छठे अनुवाक में 'यश्छन्दसाम्' आदि मंत्रजप का विधान किया है जिससे साधक को वेदांतों का अर्थ समझ आये। सातवें आदि में जप, तप, पुण्यादिका महत्त्व बताकर दसवें-ग्यारहवें में तत्त्वज्ञान और दहरोपासना का विस्तार है। पुनः उपासना, जप, होम, रक्षोघ्न मंत्र, अन्य काम्य मंत्र, संध्या, भोजन, मेधादि-प्रार्थना, पंचब्रह्म, त्रिसुपर्ण, विरजा होम आदि के बाद बासठवें अनुवाक में सत्यादि साधनों से संन्यास की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए चौसठवें में मुक्त के जीवन को यज्ञके रूप में वर्णित कर ग्रंथ पूरा हुआ है। यह सायणाचार्य के अनुसार अनुवाक-विभाजन मानकर बताया। संप्रदाय-भेद से इसमें यत्किंचित् अंतर भी मिलता है पर मुख्य विषय में कोई भेद नहीं है। मोक्षोपयोगी ज्ञाननिष्ठा संन्यास-सापेक्ष होने से संन्यासप्रशंसार्थ साधनान्तर सूचित करते हुए यहाँ महानारायण का वही अंश ग्रहण करते हैं **इन साधनों से ब्रह्मबोध पाने का प्रयास करना चाहिये १. सत्य, २. तप, ३. दम, ४. शांति, ५. दान, ६. धर्म, ७. प्रजा ८. अग्नियाँ, ६. अग्निहोत्र, १०. याग,**

महानारायणसारः

सत्यं तपो दमः शान्तिर्दानं धर्मः प्रजाऽग्नयः।
अग्निहोत्रं यागयोगौ न्यासश्चैतैर्बुभुत्सताम्।।१४६।।

११. योग और १२. संन्यास।।१४६।। यद्यपि उपनिषत् में विभिन्न ऋषियों के मत के रूप में इन साधनों का कथन है तथापि तात्पर्य सभी की साधनता बताने में है एवं अंत में कहे संन्यास की आवश्यकता कहने में है। ये साधन संन्यास की सीढ़ी तक पहुँचाते हैं, वह अंतिम साधन है, उसके बाद कोई साधन नहीं चाहिये। प्रथम साधन सत्य है। हमेशा सत्य को समझने की कोशिश करनायह मनका सत्याचरण है; सत्य-पक्षीय ही निश्चय करनायह बुद्धि का सत्याचरण है; सत्य ही व्यक्त करना और सत्य का ही शरीर से अनुष्ठान करनाये वाणी और शरीर के सत्याचरण हैं। यद्यपि परमार्थ सत्य अलौकिक है तथापि साधक को लौकिक सत्य पर दृढता से स्थित रहना अत्यावश्यक है। न केवल धार्मिक-नैतिक दृष्टि से, आध्यात्मिक दृष्टि से भी सर्व-विध सत्याचरण के अभ्यास वाला ही परम सत्त्य परमात्मा को पहचान सकता है। दूसरा साधन तप बताया। कष्ट सहना तप है। गीतोक्त सात्त्विकादि एवं कायिकादि भेद यहाँ समझ लेने चाहिये किंतु सात्त्विक तप आदि को ही यहाँ साधनरूप से अनुष्ठेय कहा जा रहा है, राजस-तामस छोड़ने के लिये समझने चाहिये। तीसरा साधन दम अर्थात् इंद्रियनिग्रह है, शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति ही हो, शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्ति न हो इसका प्रयास दम है। चौथा साधन शांति अर्थात् शम है कि मन विचलित न हो, नियंत्रण में रहे। किसी ने अपकार किया तो उसे अपने प्रारब्ध का फल समझकर मनको विक्षेप से बचाये रखना शम है। क्षमा में तो दूसरे को अपराधी मानकर सहन कर जाने का भाव है, शम में दूसरे को दोषी मानते ही नहींयह अंतर है। पाँचवाँ साधन दान है, अपनी चीज़ सत्पात्र को समर्पित कर देना दान है। इसके बारे में भी गीतोक्त विस्तार समझ लेना चाहिये। बृहदारण्यक के 'द द द' प्रसंगानुसार कह सकते हैं कि सात्त्विक साधक दम को ज़्यादा महत्त्व दे, राजस साधक दान को और तामस साधक दया को ज़्यादा महत्त्व दे। साधन सभी करने पड़ते हैं लेकिन अपनी-अपनी मन-बुद्धि की स्थिति के अनुसार किन्हीं साधनों के प्रति अधिक जागरूक रहना पड़ता है। इसमें गुरुनिर्देश भी आवश्यक हो जाता है और नकल की प्रवृत्ति फलप्रद नहीं होती। छठा साधन बताया धर्म। आचार को यहाँ धर्म शब्द से समझना चाहिये क्योंकि सत्य, यज्ञ आदि पृथक् से कहे ही हैं। जो सदाचारी नहीं उसे स्वयं वेद भी पवित्र नहीं

कर पाता। वर्तमान जनमानस थोड़े बहुत कर्मकाण्ड को मान लेने को तैयार हो जाता है पर आचार के बारे में मनमानी ही चाहता है। कहते भी हैं कि 'अमुक मज़हब में अमुक दिनविशेष प्रार्थना कर लेना पर्याप्त होता है, सनातन धर्म में रोज़ दिन-भर धर्म आड़े आता रहता है'! सनातन धर्म क्योंकि सदाचार को बहुत महत्त्व देता है इसीलिये प्रातः उठने से रात को सोने तक के हर कार्य का एक धार्मिक तरीका बताया गया है। हफ्ते में एक दिन आधे घंटे धार्मिक रहने से कार्य नहीं होगा, आजीवन धर्म के अनुष्ठान में तत्पर रहना पड़ेगा तभी मानस संशुद्ध होकर मोक्ष संभव बनेगा। सारे पापों का बीज मनमानी करना है, मन-मर्ज़ी के लिए ही हम कोई भी पाप करते हैं। मन के अनुसार नहीं वरन् ईश्वराज्ञारूप शास्त्र के अनुसार चलने से हम सदाचारी बनते हैं जिससे अंततः हमारा अहंकार पूर्णतः निवृत्त होकर हम व्यापकभाव प्राप्त कर लेते हैं। खान-पान आदि छोटी-बड़ी सभी चीज़ों में मन जब शिक्षित होता है शास्त्रानुसरण में, तभी अध्यात्मविद्या हृदय में उतरती है।

सातवाँ साधन प्रजा को बताया। यह याद रखना कि संसार में एकमात्र सनातन धर्म ही पुत्रोत्पादन को परमात्मलाभ के साधनों में गिनता है। पुत्रोत्पादन भी एक यज्ञ है। अन्य मज़हब प्रजनन को पाप ही मानते हैं और अनिवार्यतः अपराधभावना से ग्रस्त रहते हैं। वेद की रीति है कि जो कार्य अहंकार-ममकार के घेरे को प्रधान रखकर किया जाये वह ग़लत भी हो सकता है पर इस घेरे को छोड़कर परमेश्वर के लिये किया जाये तो उचित ही हुआ करता है। 'सर्वकर्माण्यपि सदा' (गीता.१८.५६) में भाष्यकार 'प्रतिषिद्धान्यपि' कहकर यह रहस्य ध्वनित करते हैं। यहाँ भी, पुत्र को अपने लिये पैदा नहीं करना, ऐसा भी नहीं कि स्त्रीभोग प्रधान हो जिसका अवांतरफल प्रजा है, वरन् वैदिक धर्म की परंपरा का रक्षण करने के उद्देश्य से योग्य प्रजा को उत्पन्न करना है। वेदोक्त धर्म परमेश्वर का है, उसकी पद्धतियाँ बनी रहें इसके लिये यत्न परमेश्वर की आराधना ही है। जैसे भगवान् ने गीता की अर्थ-परंपरा बनाये रखने को परा भक्ति कहा है (१८.५८) वैसे ही वेदपरंपरा कायम रखना भी अतिश्रेष्ठ भक्ति है। केवल बेटा-बेटी पैदा कर, इंजीनियर-डाक्टर-व्यापारियों की फौज खड़ी कर लेना यहाँ ब्रह्मज्ञान का साधन नहीं! वैदिक परंपरा की रक्षा के लिये संतान उत्पन्न करना व उसे उसके अनुरूप प्रशिक्षित कर उस कार्य के लिये प्रेरित करना यहाँ साधन बताया जा रहा है। प्रयत्नपर्यन्त साधककर्तव्य है, प्रजा तदनुरूप करे-न करे, यह तो प्रजा के हाथ में है। पुत्र ही नहीं पुत्री का भी उत्पादन धर्मार्थ ही करना चाहिये

क्योंकि योग्य माता वाले को ही तत्त्व समझ आता है जैसा अन्यत्र कहा 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' जिसे योग्य माता, पिता व गुरु मिलें वही सत्य का ज्ञान प्राप्त करता है। वेद में विदुषी कन्या के उत्पादन के उपाय भी बताये हैं। ऐसी सन्तति से संसार में भी अशांति नहीं फैलती और ईश्वराराधना भी संपन्न हो जाती है जबकि धर्मविरोधी औलाद इहलोक-परलोक तो बिगाड़ती ही है, अध्यात्मदृष्टि से भी हानि ही करती है। अतः साधक यदि गृहस्थ हो तो प्रजनन के अवसर को भी ज्ञानप्राप्ति का उपाय बना सकता है।

आठवाँ साधन अग्नियाँ अर्थात् श्रौत-स्मार्त अग्नियों को यथानियम ग्रहणकर उनकी सेवा करना। द्विजों के लिये अग्नि प्रधान देवता है। छांदोग्योपनिषत् में एक साधक ने अग्निसेवा के फलस्वरूप ही परतत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया था इसका विस्तृत वर्णन है। नौवाँ साधन अग्निहोत्र है। सायं-प्रातः नियमानुसार आहुति आदि देकर यह अनुष्ठान किया जाता है व पूर्णिमा आदि कालों में विशेष पूजन करना पड़ता है। अग्निसेवा तो शिष्यादि ब्रह्मचारी भी कर सकता है, अग्निहोत्र तो गृहस्थ ही करता है अतः पृथक् गिना। आज अग्निहोत्र की परंपरा अत्यंत क्षीण है पर यह आवश्यक और पुष्ट फलप्रद साधन है। एक कथानुसार एक ऋषि नियमपूर्वक अग्निहोत्र करते थे। किसी योगी से उन्हें ऐसा लेप मिला जो चरणों में लगा लेने से वे यथेष्ट गति वाले हो गये। उससे उन्होंने सभी तीर्थ घूमे पर कैलास में बर्फ पर चलने से वह लेप धुल गया तो घर लौटने में असमर्थ हो गये। उन्होंने वहीं अग्नि से प्रार्थना की कि 'आप कृपा करें, मेरा अग्निहोत्र का नियम न टूटे' तो अग्नि ने ऋषि को तुरंत घर पहुँचा दिया। इसी प्रकार धनलाभ भी अग्निहोत्री को हो जाता है। भगवान् शंकर की आठ मूर्तियों में अग्नि गिना ही है अतः अग्निपूजा से शिवपूजा भी संपन्न हो जाती है। दसवाँ साधन याग है। श्रुति-स्मृति में अनेक याग हैं, अपनी सामर्थ्य व अधिकार के अनुसार भगवल्लाभार्थ यज्ञानुष्ठान साधक का फर्ज है। यज्ञ यदि सांसारिक प्रयोजनों से किया जाये तो ज्ञानसाधना नहीं बनता। विविदिषा से करने पर ही वह साधना होता है। केवल होम को यज्ञ नहीं समझना चाहिये; होमात्मक यज्ञ तो होते ही हैं, पर शास्त्र में अन्य तरह के यज्ञ भी कहे हैं। गीता में यह संदर्भ स्पष्ट किया गया है। ग्यारहवाँ साधन योग है। इसमें प्रणवोपासनादि उपनिषदुक्त उपासनाओं का भी संग्रह है। श्रुति में योगशब्द की जगह 'मानस' शब्द आया है, सायणाचार्य ने उसकी व्याख्या में पतंजलिप्रोक्त योगशास्त्र का उल्लेख किया है। श्वेताश्वतर, गीता षष्ठाध्याय आदि में

न्यासोऽधिकं तपो न्यासी युञ्जीतात्मानमोमिति।
योगिनस्तस्य देहांशा यागाङ्गैरखिलैः समाः।।१४७।।
अहोरात्रादिकालास्तु समा दर्शादियागकैः।
जीवनं सत्रतुल्यं स्याद् मुच्यते योगिसेवकः।।१४८।।

और विस्तार सुलभ है। समाहित होना साधक के लिये अनिवार्य है, उसका उपाय योग है। यद्यपि पतंजलि ने बहुत संगत और व्यावहारिक योगप्रक्रिया बतायी है तथापि श्रुतियों में या तदनुसारी अन्य ग्रंथों में योग का उल्लेख आने पर पातंजल योग का पूर्णतः संग्रह अनिर्वाय नहीं, श्रुति-स्मृति में कई जगह योग का वर्णन है, उससे अविरुद्ध पातंजल ढंग ही ग्राह्य है। मुमुक्षु के लिये पर्याप्त योग ही यहाँ समझना चाहिये, सिद्धि आदि देने वाले अंशों का संग्रह आवश्यक नहीं।

बारहवाँ साधन संन्यास कहा। साधन-समेत सारे कर्मों का परित्याग संन्यास है। कर्मलभ्य सब चीज़ों से वैराग्य होने पर ही संन्यास होता है। लौकिक पारलौकिक सभी फलों के साधनों से मोह हटने पर उनका पूरा त्याग संभव है। अन्य सभी प्रवृत्ति छूटने पर केवल अध्यात्म-अनुसंधान में तत्पर हो जाना संन्यासी का कर्तव्य है। शमादि के अभ्यास सहित ब्रह्मसंस्थता को परमहंसका आश्रमकर्म आचार्य शंकर ने बताया है। उपनिषदों के श्रवण-मनन में ही तत्पर होवे और श्रुत-मत अर्थ का ही निदिध्यासन करे, इससे अन्य कोई बाह्य-आन्तर चेष्टा न करे यह ब्रह्मसंस्थता है। प्रणव के अर्थ का सांगोपांग चिन्तन संन्यासी के लिये ज़रूरी है। संन्यासी प्रमादी न हो, बहिर्मुखी न हो यह अति आवश्यक है। त्वम्पदार्थ-विवेक के लिये ही सारे कर्तव्य छोड़े जाते हैं अतः पूरी तत्परता से उस विवेक में लगना चाहिये अन्यथा महान् दोष होता है। यथासंभव इन साधनों से आत्मज्ञान पाना चाहिये।।१४६।।

उक्त एक दर्जन साधनों में सर्वप्रमुख का निर्णय बताते हुए तत्त्वज्ञ के जीवन को ही यज्ञ रूप से वर्णित करते हैं **सभी साधनों में सर्वाधिक महत्त्व का तप संन्यास ही है। संन्यासी को चाहिये कि त्रिमात्र ॐ का उच्चारण करते हुए वेदांतों में निर्णीत प्रत्यग्रूप परमात्मा पर चित्त स्थिर रखे। उस योगी के देहावयव याग के समस्त अंगों के समान हो जाते हैं।।१४७।। उसके दिन-रात आदि काल दर्श आदि यागों के समान हो जाते हैं। उसका जीवन सत्र के समान है। ऐसे तत्त्ववेता का सेवक भी मुक्त हो जाता है।।१४८।। यदि उसने निष्काम भाव से सेवा की है तो उत्तरायण में मरकर आदित्य तक पहुँचकर मुक्त होता है पर**

स चोत्तरायणे प्रेत आदित्यं प्राप्य मुच्यते।
अयने दक्षिणे प्रेतश्चन्द्रं प्राप्य न मुच्यते।।१४६।।

सकाम सेवा की है तो दक्षिणायन में मरकर चंद्रलोक तक जाता है, मोक्ष से वंचित रह जाता है।।१४६।। शुद्ध ब्रह्म की विद्या में सर्वप्रधान साधन पारमहंस्य है यह बहुत स्थानों पर विचारित है। आचार्य शंकर कर्म और ब्रह्मनिष्ठा का साहचर्य नहीं स्वीकारते। ज्ञानमात्र तो सभी को हो सकता है पर ज्ञाननिष्ठा तभी होगी जब अन्य सारी गतिविधि छूटकर आत्ममात्र में स्थिरता रखी जाये। 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। प्रणव के जप और प्रणवार्थ के ध्यान का संन्यासी के लिये बहुत महत्त्व है। सुरेश्वराचार्य ने इसे हमेशा और कम-से-कम संध्याकाल में अवश्य कर्तव्य कहा है। व्यष्टि-समष्टि की एकता का चिंतन करते हुए प्रपंचमिथ्यात्व के निश्चय को दुहराये और जीव-ईश्वर की अखण्डरूपता के प्रति जागरूक बना रहे यह संन्यासी का सनातन कार्य है। ऐसा करने वाले का ही यतिजीवन स्वयं उसके लिये सार्थक है। जो यों साधना में नहीं लगा यति है उसकी पूजा आदि कर गृहस्थ आदि पुण्य तो कमा लेंगे पर स्वयं उस संन्यासी को कुछ हाथ नहीं लगेगा। जैसे वेदग्रहणादि-पूर्वक षट्कर्म में लगे तभी ब्राह्मण को स्वयं लाभ होगा, अन्यथा दूसरे लोग उससे भोजनादि बनवाकर खा सकेंगे या श्राद्धादि में उसे भोजन करा सकेंगे, इत्यादि अन्य व्यवहार होते रहेंगे पर खुद ब्राह्मण की पुरुषार्थसिद्धि नहीं होगी, वैसे स्वधर्मपरायण न हुआ तो संन्यासी भी मोक्ष से वंचित ही रहेगा।

प्रश्न होता है कि ब्रह्मज्ञान के लिये संन्यास ज़रूरी हो तो ज्ञान से पूर्व भले ही संन्यास किया जाये, ज्ञान के बाद तो कर्म ही करने चाहिये? इसके उत्तर में श्रुति ने तत्त्वज्ञानी का जीवन ही यज्ञ है यह वर्णन किया है। जब उसका सभी कुछ यज्ञ है तब वह अन्य किस यज्ञ का अनुष्ठान करे! जो स्वयं यज्ञ बन गया, वह क्या यज्ञ करे! श्रुति ने साक्षी से श्रोत्रपर्यन्त अवयवों को यजमान से अग्नीत् (ऋत्विक्) पर्यन्त यज्ञावयवों के स्थानापन्न बताकर ज्ञानी के व्यवहारों को ज्योतिष्टोम की तत्तत् क्रियाओं के स्थानापन्न समझाया है। तदनंतर ज्ञानी के विविध कालों को अनेक याग के रूप में बताकर ऐसे सर्वयज्ञरूप योगी के उपासक को क्रममोक्ष प्राप्त होता है यह स्पष्ट किया है। विद्वान् के लिये यहाँ ऐसे ध्यान का विधान नहीं है, उसकी तो स्तुति है। अविद्वान् उसके बारे में यों सोचकर उस पर श्रद्धा करे, उसकी सेवा साक्षात् यज्ञपुरुष की सेवा समझकर करे यह विधान है। ज्ञानी तो जीवन्मुक्त है, वह प्रारब्ध-

उपसंहारः

तैत्तिरीयकविद्यायाः प्रकाशेनोपसेविनः।
बुभुत्सून् अनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१५०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिकृतेऽनुभूतिप्रकाशे तैत्तिरीयकविद्याप्रकाशो नाम द्वितीयोऽध्यायः।।

समाप्ति पर विदेह हो जाता है। शरीर छोड़ने के काल का उसके लिये कोई महत्त्व नहीं। किंतु उसका सेवक काल-सापेक्ष रहता है क्योंकि वह ज्ञानी हो नहीं चुका। जो सेवक जीवनकाल में ही ज्ञाननिष्ठा पा ले उसके लिये काल का महत्त्व नहीं पर जो स्वयं ज्ञान नहीं प्राप्त कर सका, ज्ञानी की सेवा के फलस्वरूप मोक्ष पायेगा, उसे काल की अपेक्षा है। 'काल' से भी तत्तद् देवता समझने चाहिये। निष्काम सेवक जब भी मरेगा वह उत्तरायण गति पायेगा, सकाम सेवक जब भी मरेगा वह दक्षिणायन गति पायेगा। क्रममोक्ष का मतलब है मरकर श्रेष्ठ लोकों में जाकर वहाँ तत्त्वज्ञान होने पर मोक्ष मिलना। सकाम सेवक स्वर्ग जाकर भोग भोगकर पुनः जन्म लेता है, निष्काम सेवक आदित्य को प्राप्त कर, ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्मा के उपदेश से ज्ञान मिलने पर मुक्त होता है। ब्रह्मसूत्र-फलाध्याय में सद्योमोक्ष व क्रममोक्ष का स्पष्ट वर्णन है।।१४७-९।।

गुरुप्रार्थना करते हुए इस अध्याय को समाप्त करते हैं **विद्याप्रकाश में समझाये ढंग से तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्मविद्या के साधनों का अनुष्ठान करने वाले मुमुक्षुओं पर श्री विद्यातीर्थरूप शंकर अनुग्रह करें।।१५०।।** चतुर्वेदविद्याप्रकाश प्रकृत ग्रंथ का नाम है। श्रीविद्यातीर्थ ग्रंथकार के गुरु थे। इस अध्याय में यजुर्वेद की प्रतिनिधि तैत्तिरीय उपनिषत् के सारभूत अर्थ का सुस्पष्ट प्रकाशन किया गया है।।१५०।।

।। द्वितीय अध्याय।।

ॐ

छान्दोग्योपनिषदि

श्वेतकेतुविद्याप्रकाशः

तृतीयोऽध्यायः

छान्दोग्योपनिषत् की श्वेतकेतुविद्या का विवरण : तीसरा अध्याय

ऋग्वेद और यजुर्वेद की प्रतिनिधि उपनिषदों की व्याख्या के बाद अब सामवेद की उपनिषत् का तात्पर्य समझायेंगे। सामवेद की हज़ार शाखायें सुनी जाती हैं पर आज चार ही उपलब्ध हैंकौथुम, जैमिनि, तलवकार और राणायन। इनमें से अधिक प्रचलित है कौथुम शाखा जिसका ब्राह्मणभाग आठ ग्रन्थों में निबद्ध है, उनमें एक ग्रंथ छान्दोग्योपनिषत् है। इसमें परमेश्वर की अनेक उपासनओं का विस्तृत वर्णन कर अंतिम तीन अध्यायों में परब्रह्म के स्वरूप का सुस्पष्ट उपदेश दिया गया है। ब्रह्मसूत्रों में इस उपनिषत् के बहुत-से स्थलों पर विचार किया गया है। इस पर कोई 'द्राविड विवरण या भाष्य' भी काफी विस्तृत था ऐसा श्रीनरेन्द्रपुरी, आनंदगिरि आचार्यों ने बताया है, पर वह अब अनुपलब्ध है और भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर का 'ऋजुविवरण' नामक भाष्य ही सबसे प्राचीन व्याख्यान मिलता है। उपासना-प्रकरणों का भी स्पष्टीकरण भाष्य व उसकी टीकाओं में विस्तार से है तथा निर्विशेष प्रकरणों पर अत्यन्त गम्भीर चिन्तन करते हुए इन्हें आचार्य ने ऐसे समझाया है कि साधक अद्वैतविज्ञान हासिल कर ही ले जो उपनिषत् के उपदेश का प्रयोजन है। उपनिषद्भाष्य के उपोद्घात में कहा है 'स्वाभाविकस्य आत्मनि अक्रियेऽध्यारोपितस्य कर्त्रादिकारकक्रियाफलभेदविज्ञानस्य निवर्तकम् अद्वैतविज्ञानम्'। ऐसे भेदबाधक अवगम के लिये शुद्धचेता साधक परमब्रह्म के बारे में ही सोचता-समझता रहे यह एकपरता आवश्यक है। इसके लिये मध्यम स्तर का साधक शास्त्रचिन्तन का सहारा लेता ही है। परब्रह्म-बोधक शास्त्र उपनिषत् हैं किंतु सर्वविध प्रमाताओं को दृष्टि में रख चलने से उनमें उपासना के रहस्य भी भरे पड़े हैं। जो उपासनामार्ग पर चलता है वह उनमें से किसी एक को समझ-बूझकर उसके अभ्यास में तत्पर हो जाता है, उसे वह प्रसंग ही बारंबार नहीं पढ़ना पड़ता तो जिन उपासनाओं को वह कर नहीं रहा उनके बारे में पुनः-पुनः क्योंकर पढ़ता रहेगा! अतः उपासक को वे सभी प्रसंग तभी तक विचारने पड़ते

हैं जब तक वह उनमें से अपने लिये कोई उपासना चुनकर उसमें लग नहीं जाता। विचारमार्ग के उपासक को शास्त्र का अध्ययन-मनन तब तक करते ही रहना पड़ता है जब तक अद्वैतनिश्चय न हो जाये क्योंकि उसे संशयहीन प्रमा की आवश्यकता है। एक बार पढ़कर शास्त्र का समग्र अभिप्राय हृदयंगम हो नहीं सकता, हर बार पढ़ने से कोई खास तत्त्व स्पष्ट होता है। जितना समझा उसका जीवन से, अनुभव से मिलान करने पर कई विरोध सामने आते हैं जिनका शास्त्रीय परिहार करने के लिये शास्त्र का ही ऊहापोह आवश्यक होता है। इससे अतिरिक्त, बहिर्मुखता रोकने के लिये भी शास्त्र-चिन्तन में मन लगाये रखना अचूक उपाय हो जाता है। क्योंकि ऐसे साधक को श्रवणपरायण रहना पड़ता है इसलिये जब वह उपनिषदें पढ़ता है तब उनमें जो उपासना-प्रसंग हैं उनका पुनः-पुनः अध्ययन उसके लिये निष्प्रयोजन हो जाता है। प्रारंभ में चार-छह बार तो सारे प्रसंगों को सांगोपांग समझना ज़रूरी है क्योंकि उनके संदर्भों के अनुसार ही वहाँ तत्त्वविद्या भी बतायी है अतः वे प्रसंग जाने बिना निर्गुण विद्या ठीक से नहीं समझ आयेगी, किन्तु उसके बाद उपासनादि के संदर्भों का पुनरालोडन व्यर्थ लगने लगता है। उन विषयों में सोचने-समझने के लिये स्थान भी कम है, उनके तो अनुष्ठान से फल है और विचारोन्मुख साधक उपासनापरायण होता नहीं अतः वह स्वभाव से ही उन प्रसंगों के प्रति कम रुचि वाला हो जाता है। ऐसे साधक के लिये निर्विशेषविद्या के प्रसंग ही चिंतनीय हैं यह समझते हुए आचार्य विद्यारण्य ने अनुभूतिप्रकाश की योजना बनायी है। आज स्थिति है कि लोग पुराणों की कथा-वार्ता को वेदान्त-विचार मानते हैं क्योंकि बीच-बीच में कहीं-कहीं शुद्ध तत्त्व का उल्लेख आता है जब कि प्राचीन आचार्यों ने देखा कि सारी उपनिषत् पढ़ने में भी ब्रह्मसंदर्भ से हटकर बहुत-कुछ पढ़ना पड़ता है अतः उन्होंने वे प्रकरण छोड़कर केवल परमात्मप्रसंग एकत्र किये ताकि साधक सम्पूर्ण एकाग्रता अखण्ड तत्त्व पर रखे। इसी दृष्टि से सर्वज्ञात्ममुनिका भी प्रयास था जिसमें उन्होंने शारीरक-मीमांसा के ज्ञानप्रसंग एकत्र कर संक्षेपशारीरक की रचना की। विद्यारण्यस्वामी ने छान्दोग्योपनिषत् के भी प्रारंभिक पाँच अध्याय उपासनाप्रधान समझकर इस संकलन में ग्रहण नहीं किये हैं, अंतिम तीन अध्यायों का व्याख्यान किया है। मुमुक्षु को सारी उपनिषत् समझनी चाहिये, पूर्वाध्यायों में भी अनेक ऐसे तथ्य हैं जो केवल उपासना के लिये ही नहीं, सोच-समझकर अनुभव करने लायक हैं तथा भगवान् भाष्यकार ने अनेक रहस्यों का पूर्वाध्यायों में काफी खुलासा किया है, किंतु बारम्बार चिंतन के योग्य जो तीन प्रधान स्थल हैं उन्हें इस ग्रंथ में समझाया जा रहा है ताकि विविदिषु को यह दिशानिर्देश

प्रतिज्ञा

छान्दोग्ये श्वेतकेतुर्याम् आरुणेर्लब्धवान् इमाम्।
ब्रह्मविद्यां सङ्ग्रहेण वक्ष्येऽहं सुखबुद्धये।।१।।
वेदान् अधीत्य गर्वेण श्वेतकेतुः पराङ्मुखः।
आसीत् प्रत्यङ्मुखी कर्तुं गुरुराहातिविस्मयम्।।२।।

मिले कि वह किन स्थलों का विशेष विचार करता रहे। यहाँ एकत्र विद्याओं में पहली ब्रह्म के सत्स्वरूपको प्रधानतः स्पष्ट करती है, दूसरी आनंदरूप को और तीसरी ज्ञानरूप को। इस प्रकार तीन अध्यायों में सच्चिदानंद का वर्णन पूरा हो जाता है। इनमें पहली विद्या का महत्त्व बहुत है क्योंकि इसी में 'तत्त्वमसि' का उपदेश है। जिन पर वेदान्त का सारा विचार प्रवृत्त होता है वे दो ही आधार हैं जीव ब्रह्मरूप है, और एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। इन दोनों तत्त्वों का इस अध्याय में भलीभाँति विचार किया गया है जिससे इसमें लगभग वह सब समा गया है जो वेदान्त समझने के लिये अवश्य अवगम्य है।

प्रतिपाद्य विद्या का उल्लेख करते हुए सन्दर्भ स्पष्ट करते हैं **छान्दोग्योपनिषत् में आयी कथा के अनुसार जो ब्रह्मविद्या आरुणि से श्वेतकेतु ने प्राप्त की, उसे संक्षेप में समझाते हैं ताकि वह आराम से समझ आ जाये।।१।।** उपनिषत् का बताने का ढंग ऐसा है कि जो अतिगंभीरता से वस्तु को हृदय में उतार कर उसका सर्वांगीण समीक्षण नहीं करते वे प्रतिपाद्य को समझने में बहुत कठिनाई अनुभव करते हैं। अत एव सभी को आज भाष्य का सहारा लेकर ही उपनिषत् समझनी पड़ती है। भाष्य में प्रतिपद अर्थ और शास्त्रार्थ दोनों के कारण साधारण अध्येता के लिये समझने में बहुत श्रम पड़ता है अतः आराम देने की दृष्टि से इस ग्रंथ में सारे विषय को संक्षेपेण उपस्थित किया गया है।।१।।

उपनिषत् ने संवाद के रूप में यह विद्या वर्णित की है। महर्षि आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु था। वह विद्याध्ययन के योग्य होने पर भी पढ़ने में रुचि नहीं रख रहा था तो पिता ने उसे समझाया 'हमारे कुल में यह शोभा नहीं देता कि विद्याहीन रहा जाये अतः तू अवश्य अध्ययन कर।' घरमें नियंत्रणपूर्वक पठन-पाठन कठिन देखकर उसे योग्य गुरुकुल में दाखिल करा दिया गया जहाँ बारह वर्ष पढ़कर चौबीस साल की उम्र में श्वेतकेतु लौटा। उस परिस्थिति का कथन करते हैं **वेदों का अध्ययन कर श्वेतकेतु को यह गर्व हो गया कि 'मैं बड़ा विद्वान् हूँ' अतः वह बहिर्मुखी, अनात्मप्रवण हुआ घर लौटा। उसे अन्तर्मुखी बनाने के उद्देश्य से गुरु (पिता) आरुणि ने**

उससे एक अत्यन्त आश्चर्य की बात पूछी।।२।। नीतिकारों ने माना है कि विद्या से विनय आता है। यह तभी संभव है जब परमात्मविषयक ज्ञान प्राप्त किया जाये। उसके बिना तो वेद-पढ़ा व्यक्ति भी गर्वीला हो जाता है। व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, कर्मकाण्ड ने सैद्धांतिक स्तर पर इस गर्व का परिचय दिया है ईश्वर को अस्वीकार कर तथा देवताओं को शब्दमात्र मानकर। फलप्राप्ति कर्माधीन है, इसमें देवता या ईश्वर कुछ नहीं कर सकते, कर्म करना हमारे अधीन है इसलिये हम सब संपन्न कर सकते हैंयह उनका घमण्ड है। वेद में श्रद्धा रखकर भी इसके चलते वे परमेश्वर के स्वरूप के बोधक प्रसंगों की घोर उपेक्षा करते हैं और कर्म ही फल देता है मानकर उसीमें परायण हो जाते है। अश्रद्धालु सांसारिक कार्यों की ही उपयोगिता स्वीकारकर ईश्वर से सरोकार नहीं रखते तो वे भी अविनयी ही बने रहते हैं। केवल ईश्वर-देवता आदि के प्रति ही नहीं, जिस परंपरा से ज्ञान मिला उसके प्रति, समाज के, राष्ट्र के प्रति भी विनयरहित होना ऐसे लोगों के लिये स्वाभाविक है। विकास के पुरातन कदमों के औचित्य का सत्यापन जिस विकसित स्थिति से ही हो रहा है उसी के सहारे उन कदमों को अनुचित मान बैठना नितान्त मूर्खता ही है। गर्व व्यक्ति को इसीलिये ऐसा मूर्ख बना पाता है कि वह उसे स्वयं के बारे में सोचने नहीं देता, केवल पराक्, बाह्य, अनात्मा के बारे में ही सोचने को प्रेरित करता है। जब तक व्यक्ति 'मैं कौन हूँ, कैसा हूँ' यह नहीं समझता तब तक उसका गर्व समाप्त नहीं होता। किन्तु गर्वीले की दुर्गति ही होती है, यह जानकर आरुणि को पुत्र पर दया आयी कि यों तो यह केवल संसारचक्र में भटकता ही रहेगा, मनुष्य-जीवन के प्रधान उद्देश्य से वंचित रह जायेगा। मनु महाराज ने कहा है कि बताये गये सब कर्म यदि छोड़ दे तो भी उत्तम द्विज को श्रवण, मनोनियन्त्रण और आत्मज्ञान के प्रति यत्नशील बने ही रहना चाहिये। विशेषकर ब्राह्मण-शरीर क्षुद्र कामनापूर्ति के लिये नहीं मिलता, जो कार्य अन्य वर्णों वाले या म्लेच्छ पशु आदि भी कर सकते हैं उसके लिये ब्राह्मण बनने की कोई आवश्यकता नहीं। ब्राह्मण जन्म तभी सार्थक है जब परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही सम्पूर्ण यत्न किया जाये। जीवन-निर्वाह का भी प्रयोजन वही हो, भले ही निर्वाह के लिये कुछ अन्य चेष्टा की जाये। अतः आरुणि ने श्वेतकेतु को आत्मज्ञान की ओर प्रेरित करना ज़रूरी समझा। इसके लिये उन्होंने अजीब ढंग अपनाया। वे सीधा कहते कि आत्मा-परमात्मा को समझने की कोशिश करो, तो श्वेतकेतु संभवतः यही जवाब देता 'इन फालतू के कामों के लिये मुझे फुर्सत नहीं'! अतः आरुणि ने एक ऐसा सवाल किया जिससे श्वेतकेतु पहली बार में ही स्तब्ध रह गया, उसका गर्व मिट गया।।२।।

एकज्ञानात् सर्वज्ञता

एकतत्त्वे श्रुते सर्वम् अश्रुतं च श्रुतं भवेत्।
अमतं च मतं तद्वद् अविज्ञातं च बुद्ध्यते।।३।।

आरुणि का प्रश्न था 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातम् इति?' कि तू स्वयं को बड़ा-भारी विद्वान् समझ रहा है, क्या तूने वह आदेश भी जाना है जिससे न सुनी बात सुनी हुई हो जाती है, न विचारा विषय विचारित हो जाता है, अननुभूत भी अनुभव में आ जाता है?' इसे उपस्थापित करते हैं **एक ऐसा तत्त्व है जिसे सुन लेने पर वह सब सुना हुआ हो जाता है जो सुना नहीं गया, जिसे समझ लेने पर वह सब समझा हुआ हो जाता है जिसे समझा नहीं गया, जिसका अनुभव कर लेने पर वह सब अनुभूत हो जाता है जो अनुभव किया नहीं गया, (क्या तुम उस तत्त्व को जानते हो?)।।३।।** यहाँ सीधे ब्रह्म, आत्मा आदि के बजाये 'आदेश' शब्द से श्रुतिने तत्त्व का कथन यह बताने के लिये किया कि यह वस्तु सद्गुरु के उपदेश से ही समझ आ सकती है। वेद तो श्वेतकेतु पढ़ ही चुका था, उतने मात्र से वह परमात्मा नहीं समझ पाया क्योंकि साधनसंपन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ से उसने उसका उपदेश नहीं लिया था। इसका प्रधान कारण है कि यह तत्त्व इन्द्रियों का विषय नहीं और शब्द भी इसे केवल लक्षणा से बता पाता है। लक्षणा-स्थल में यह समस्या रहती है कि किस अर्थ को समझना है यह यदि पता नहीं तो अनर्थ ही हो जाता है। पूर्णिमा का चाँद गोल दीखता है। स्त्री को 'चन्द्रमुखी' कहें तो क्या उसे वैसे गोल चेहरे वाली अतः भद्दी समझें या जैसे चाँद आह्लाद देता है वैसे सुख देने वाली समझें? जिसे पता न हो वह उलटा भी समझ ही सकता है क्योंकि चंद्रशब्द के वाच्यार्थ को छोड़कर कोई लक्ष्य अर्थ ही ग्रहण करना है। ऐसे ही परमेश्वर को शब्द लक्ष्य करता है तो जानकार के इशारे के बिना हम सही अभिप्राय नहीं ही समझ पाते। एक प्रश्न होगा कि यदि लक्ष्य का पता चल ही गया तो लक्षणा का प्रयोजन क्या? उत्तर है कि प्रमाणभूत शब्द के सहारे जब उस लक्ष्य को समझते हैं तब उसकी प्रमा होती है, उसके पहले ज्ञान तो है पर प्रमा नहीं। यद्यपि अबाध्य ज्ञान प्रमा होता है तथापि वह पारिभाषिक ही है, अज्ञाननिवर्तक ज्ञान ही प्रमा माना जाता है। लक्ष्यार्थ बुद्धि में तो आ जाये पर जब तक यह न पता चले कि शास्त्र इसे ही कह रहा है तब तक तद्विषयक अज्ञान निवृत्त नहीं होता। अतः गुरु से समझना आवश्यक होने से यहाँ 'आदेश' कहा। श्वेतकेतु को विस्मित करने के लिये भी इस ढंग से कहना सार्थक था। एकविज्ञान से सर्वविज्ञान यह वेदान्तों की प्रसिद्ध प्रतिज्ञा

नर्ग्वेदज्ञानमात्रेण यजुर्वेदादि बुद्ध्यते।
तस्माद् एकधिया सर्वज्ञानं स्याद् इत्यलौकिकम्।।४।।
मैवं मृद्धेमलोहेषु लौकिकेष्वस्य दर्शनात्।
मृदादिज्ञानतः सर्वं मृन्मयं ज्ञायते स्फुटम्।।५।।

है। मुंडकोपनिषत् के प्रारंभ में भी इसकी चर्चा है तथा ब्रह्मसूत्र (१.४.२३) में इसके महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।।३।।

एक के ज्ञान से सबका ज्ञान नामुमकिन है ऐसा श्वेतकेतु ने संशय किया **केवल ऋग्वेद जान लेने से यजुर्वेद आदि तो पता चल नहीं जाते, अतः एक को समझने से सब कुछ पता चल जायेगायह तो अप्रामाणिक बात लगती है।।४।।** आश्चर्य की बातें होती ही ऐसी हैं कि जब तक अनुभव न हो तब तक उन्हें मानना मुश्किल लगता है। परमात्मा और उसे समझ पाना आश्चर्य है यह कठोपनिषद् आदि में भी कहा है। लोकदृष्ट है कि जिसे जानें उसी का अज्ञान मिटता है; जानें घट को, पट भी ज्ञात हो जाये ऐसा अनुभव होता नहीं। अतः श्वेतकेतु की शंका वाजिब है। पिता ने ऐसा प्रश्न रखा ही इसलिये था कि श्वेतकेतु के घमण्ड को ठोकर लगे, उसे यह स्वीकारने को बाध्य होना पड़े कि वह किसी बारे में अज्ञानी भी है। जब हम स्वयं को अज्ञानी समझें तभी जिज्ञासा को स्थान मिलेगा, तभी आचार्यवचन को महत्त्व देकर उस पर सश्रद्ध चिंतन करेंगे। किं च, गुरु के कथन को बिना सोचे-विचारे 'सद्वचन' के रूप में प्रशंसित कर देने से शिष्य को लाभ नहीं, उस वचन को अपने अनुभव से मिलाकर देखे व यदि मेल न खाता हो तो गुरु से पूछकर रहस्य समझे तभी लाभान्वित होगा यह आचार भी इससे प्रकट किया।।४।।

आरुणि ने लौकिक अनुभव के ही उदाहरण से सिद्ध किया कि एक के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे संभव है। उन्होंने मिट्टी, सोना व लोहा जानने से इनके कार्यों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि कार्यों का नाम-रूपांश मिथ्या होता है, उपादानांश सत्य होता हैयह दृष्टान्त पेश किया। जाना तो मिट्टी को पर ज्ञात हो गये घड़ा, सिकोरा आदि मृत्कार्य सब, या स्वर्ण को जान लेने से समस्त आभूषण जान लिये गये, अर्थात् कारण-ज्ञान से कार्य-ज्ञान हो जाता है तो समस्त संसार का जो एक कारण है उसे जान लेने से सारा संसार ज्ञात क्यों नहीं हो जायेगा! यह स्पष्ट करते हैं **उक्त प्रतिज्ञा प्रमाणविरुद्ध नहीं है क्योंकि लोकप्रसिद्ध मिट्टी, सोने, लोहे आदि में देखा जाता है कि मिट्टी आदि के ज्ञान से उनके कार्य भी स्पष्ट ज्ञात हो जाते हैं।।५।।** इस उत्तर की एक

मृदो घटशरावाद्या विकारास्तत्तदाकृतिः ।
मृद्बोधाद् बुद्ध्यते नेति यदुच्येत न बुद्ध्यताम् ।।६ ।।
आकृत्याधारभागो यो घटस्याऽसौ तु बुद्ध्यते ।
आधारो मृत्तिकाऽऽधेय आकारश्चोभयं घटः ।।७ ।।
आधारभागमात्रेऽपि ज्ञाते ज्ञातो घटो भवेत् ।
गोपुच्छमात्रसंस्पर्शाद् गोस्पर्शव्रतपूर्तिवत् ।।८ ।।
आकृतेर्यद्वदज्ञाने घटाऽज्ञानं त्वयोच्यते ।
तद्वदाधारबोधेन घटो बुद्धः कुतो न हि ।।९ ।।

महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि लोक-विरोध का परिहार लोकस्तर पर किया है। विचार-शास्त्र के लिये यह आवश्यक है कि साधक के अनुभव के क्षेत्र की चर्चा हो, न कि ऐसी बातें जिनमें 'जानने' से अधिक 'मानना' जरूरी हो। गुरु कह सकते थे कि लोकदृष्ट नहीं पर एक अजीबो-ग़रीब चीज़ ऐसी है जिसे जानने से सब ज्ञात हो जाता है! पर यह उत्तर नहीं दिया जबकि वास्तव में परमात्मा है अलौकिक ही। विचार से बचने वाले तो लौकिक को भी अलौकिक का जामा पहनाकर स्वीकार करवाना चाहते हैं जबकि विचारशील अलौकिक को भी लोकानुसार समझाता है। आरुणि ने बताया कि जब मिट्टी आदि को पहचान लिया गया तब उनसे बनने वाली सभी चीज़ें पता चल ही गयीं क्योंकि उन सभी में सचाई तो मिट्टी आदि ही है। कारणज्ञान से कार्यज्ञान लोकसिद्ध है, सारे व्यवहार इसी के आधार पर चलते हैं। इसी प्रकार सारे संसार का जो कारण वह समझ आ जाये तो संसार में कुछ अज्ञात नहीं रह जायेगा। श्रुति में यहाँ कारणद्रव्यों को मृत्पिंड, लोहमणि (स्वर्णपिण्ड) और नखनिकृन्तन (नहनी) शब्दों से कहा क्योंकि कारणरूप मिट्टी लोहादि जब भी मिलेगा तब किसी-न-किसी कार्याकार में ही मिलेगा। इसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान संसारानुभव रहते ही होगा, ऐसा नहीं कि कोई उपाधि न होने पर ब्रह्मज्ञान हो, क्योंकि तब शास्त्र, चित्त आदि भी न होने से अखण्ड वृत्ति ही नहीं बन सकेगी। इस प्रकार एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का समर्थन हो गया।।५।।

वैराग्य के बिना जो शंका मिटना असंभव है उसे उठाकर समाधान समझाते हैं

मिट्टी के ज्ञान से उसके घट, शराव आदि कार्यों को प्रातिस्विक आकृतियों का ज्ञान तो होता नहीं (फिर सर्वविज्ञान कैसे कहा)? यदि यह पूछो तो उत्तर है उन कार्यों के अपने-अपने आकार भले ही न पता चलें, घटादिकी आकृतिका आधारभूत जो मिट्टी-अंश है वह तो जान ही लिया जाता है। आधार-भाग मिट्टी

और आधेय भाग आकार, ये दोनों मिलकर घड़ा है। केवल आधारभाग को जानने से भी घड़ा जाना ही गया जैसे गायकी केवल पूँछ छूने से भी गाय छूने का नियम पूरा होता ही है। जैसे आकृति न जानने से तुम 'घड़ा नहीं जाना' ऐसा कहते हो वैसे आधार को जानने से 'घड़ा जान लिया' यह क्यों नहीं कहते?।।६-८।। नाम-रूप-कर्म ही राग के विषय हैं अतः वैराग्य के बिना लगता है कि उनका ही महत्त्व है, वे नहीं जाने तो वस्तु ही नहीं जानी। वैराग्यवान् नामादि की उपेक्षा करता है अतः उसे लगता है कि नामादि जिसने धारण किये हैं वह महत्त्वपूर्ण है, वह जान लिया तो वस्तु जान ली। जैसे गहनों के प्रति राग न होने से सुनार स्वर्ण के ज्ञान को ही महत्त्व देता है, कितने टंचका सोना है यह पता लग गया तो गहने के आकार को न जानना उसके लिये कोई मायने नहीं रखता, वैसे संसार से राग न हो तो यदि यह पता लग जाये कि किस वस्तु ने सारे नाम-रूप धारण किये हैं तो उसके लिये पर्याप्त होता है, एक-एक कर नाम-रूप जानने को वह कोई महत्त्व नहीं देता। शंका यही है कि उपादान जान लेने से कार्यों को जान ही लिया यह कैसे स्वीकारा जाये; अर्थात् कार्यों के नाम-रूपों को जाने बिना उन्हें ज्ञात क्यों मानें? समाधान किया कि महत्त्वपूर्ण क्योंकि उपादानांश है इसीलिये उसे जानना पर्याप्त है। विचार-स्तर पर महत्त्व होता है वास्तविक का, कारण क्योंकि कार्य से पूर्व, कार्यकाल में और कार्य के पश्चात् भी रहता है इसलिये वह वास्तविक है। व्यवहार में महत्त्व नाम-रूप-कर्म का होता है, उस स्तर पर उसी के ज्ञान की आवश्यकता है। एक के ज्ञान से सर्वज्ञान व्यवहारार्थ नहीं है अतः इस प्रसंग में नाम-रूपों को जानने का कोई महत्त्व नहीं। इस बात को यों समझाया कि जिसे घड़ा कहते हैं उसमें दो हिस्से हैं एक हिस्सा है मिट्टी और दूसरा हिस्सा है आकार अर्थात् मिट्टी के कणों का खास तरह का विन्यास। आकारभाग आधेय है अर्थात् वह कभी मिट्टी में आता है, कभी चला जाता है; घड़ा बनने से पूर्व मिट्टी तो थी पर यह आकार नहीं था, घड़ा फूटने के बाद मिट्टी वही रहेगी पर वह आकार नहीं रहेगा। मिट्टी-भाग आधार है क्योंकि उसमें आकृति भाग आता-जाता है। किसी भी चीज़ को जानते हैं तो क्या उसके सभी भाग ज्ञात होते हैं? अनुभव होता है 'हमने देवदत्त को देखा।' क्या उसे पूरा देखा? कथंचित् नंगा करके बाहर से देख भी लो तो भीतर से उसके प्रत्येक अंग को देख नहीं सकते, अन्यथा वह मर ही जायेगा! अतः मुँहादि महत्त्वपूर्णांश देखने को ही 'देवदत्त देखा' समझा जाता है। इसी तरह घटका महत्त्वपूर्णांश मिट्टी है तो मिट्टी देखने को ही घट देखना मानना पड़ेगा। यदि डाक्टर कोई शल्य करे तो उसे वही अंग अवश्य देखना पड़ेगा, उस

आकृत्याऽऽधारयोस्तुल्यं भागत्वं न मृदं विना।
केवलाकृतिमात्रः सन् घटः क्वापि समीक्ष्यते।।१०।।

समय मुँहादि का महत्त्व नहीं, उसी अंग का महत्त्व है। इसी तरह यदि पानी भरना आदि कोई विशेष कार्य है तब घट के नाम-रूप का महत्त्व होगा। उस समय मिट्टी का न हो तो भी पीतल आदि के घट से काम निकालेंगे क्योंकि तब आकृति प्रधान है। तत्तत् संदर्भ में गौण-प्रधानभाव अलग-अलग हो जाते हैं। व्यवहार-भूमि पर नाम-रूप के ज्ञान की ज़रूरत हो सकती है पर परमार्थ की ओर ले जाने वाला विचार सत्य वस्तु पर ही केन्द्रित होगा। आरुणि ने उसी अभिप्राय से सर्वज्ञता पूछी थी पर श्वेतकेतु संसार में राग वाला था अतः उसे नाम-रूप के ज्ञान के बिना सर्वज्ञता हो सकती है यह समझ नहीं आया। आरुणि ने यह स्पष्ट किया कि हर हालत में, घटज्ञान घटके सब अंशों का ज्ञान नहीं होता और उसके मिट्टी-अंश का ज्ञान हो ही रहा है, तो मुख्यांश के ज्ञान को घटज्ञान स्वीकारना ही ठीक है। दृष्टांत दिया कि किसी व्रत में नियम होता है कि गाय को छूने के बाद ही भोजन किया जाये तो गाय की पूँछ भी छू लेने से गाय छू ली समझी जाती है। या कबड्डी खेलते समय किसी की अंगुली भी छू ली जाये तो वह 'मर' जाता है, खेल से बाहर हो जाता है। अर्थात् एकदेश-स्पर्श से पूरा स्पृष्ट हो गया, ऐसे ही एकदेशदर्शनादि से पूरा दृष्टादि हो गया यह मानना ठीक है। आखिर, मिट्टी ज्ञात होने पर भी जो सकल घटों का अज्ञान कह रहा है वह भी घटों के नाम-रूपांशों का ही अज्ञान होने से कह रहा है अर्थात् एक भाग अज्ञात होने से जब घट अज्ञात हो सकते हैं तो उसी तरह एक भाग के ज्ञान से ज्ञात भी क्यों न होंगे! आकृति को क्यों विशेष दर्जा दिया जाये कि उसे नहीं जानना अज्ञान व उसे जानना ही ज्ञान माना जाये? पुत्र का कारण हैं उसके माता-पिता। सनातनी कहता है कि माता-पिता ब्राह्मण हैं तो पुत्र ब्राह्मण होगा। आर्यसमाजी आकृति को प्रधान मानकर कहता है कि कारण चाहे जो हो, यदि ब्राह्मण के गुण-धर्मों वाला है तो ब्राह्मण होगा। मतभेद इसलिये है कि दोनों अलग हिस्सों को महत्त्व देते हैं। इसी प्रकार संसारी व्यक्ति नाम-रूपों के ज्ञान से सर्वज्ञता मानता है जबकि परमार्थदर्शी आधारांश के ज्ञान से सर्वज्ञता मानता है।।६-९।।

आधारांशको महत्त्व देना अधिक संगत है यह समझाते है **आकृति और आधार की हिस्सा-रूपता तो एक-सी है (पर आधार की प्रधानता इसलिये है कि आधार तो आकृति के अधीन नहीं पर आकृति आधार के अधीन है) मिट्टी के बिना सिर्फ आकृति के रूप में घड़ा किसी देश-काल-अवस्था में नहीं देखा जाता।।१०।।**

वाचारम्भणन्यायः

मृद्रूपात् कारणद्रव्यात् कार्यद्रव्यं घटादिकम् ।
अन्यत् तत्समवेतं हि मृदीति प्राह तार्किकः ।।११।।
स्वयुक्त्याऽसौ तथा ब्रूते न त्वेतल्लोकसम्मतम् ।
घटे मृदः पृथग्भूते, कीदृक् तत्त्वमुदीर्यताम् ।।१२।।

उक्त प्रधानता स्पष्ट ही है। आकृतियाँ बदलती रहती हैं पर उन्हें हमेशा रहना पड़ता है आधार में। कह सकते हैं कि आधार को भी किसी-न-किसी आकृति में ही रहना पड़ता है; पर अंतर यह है कि आधार एक है, आकृतियाँ अनेक हैं अतः किसी आकृति-विशेष के अधीन आधार नहीं है जबकि आकृतियाँ उस एक ही आधार पर आश्रित हैं। कारण अनुगत वस्तु है, कार्य व्यावृत्त आकृतियाँ हैं। याद रखना चाहिये कि तत्तत् मिट्टीकणों को ही तत्तद् घट का कारण मानकर यहाँ विचार नहीं कर रहे वरन् सब कणों को जिस 'मिट्टी' इस एक रूप से समझा जाता है उसे कारण मानकर विचार हो रहा है। क्योंकि यहाँ व्यवहार प्रधान नहीं अतः व्यापक मिट्टी को आधार समझाया ताकि इसी तरह व्यापकतम सत् ही सर्वाधार है यह स्पष्ट हो जाये।।१०।।

यद्यपि आधार-आकृति इन अंशों से घटादि कार्य यथानुभव युक्तिसंगत समझ आते हैं तथापि संसार को सत्य, निर्वचनीय मानने के वहमी, तर्क करने वाले वादी कारण से सर्वथा अलग कार्य-नामक नयी वस्तु उत्पन्न होने वाली मानते हैं। उनके निरासार्थ श्रुति ने यहाँ स्पष्ट किया 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' कि कारण से पृथक् कार्य नाममात्रको है, वाणीके सहारे ही उसका व्यवहार है, वास्तव में ऐसा स्वतंत्र कार्य नहीं हुआ करता। यह प्रसंग स्पष्ट करते हैं **तार्किक कहता है कि घटादि कार्यद्रव्य मिट्टीरूप कारणद्रव्य से सर्वथा अलग होता है, घटादि कार्य अपने कारण मिट्टी आदि में समवेत होता है।।११।। खुद ही कल्पित प्रक्रिया से वह ऐसा कहता है, वह बात लोकसंमत नहीं है।।११-१/२।।** कणाद के अनुयायी सात पदार्थ मानते हैं जिनमें एक है द्रव्य जो गुण या क्रिया का आश्रय होता है। द्रव्यात्मक कार्य को द्रव्यात्मक कारण अवश्य चाहिये किन्तु वह कार्य अपने कारण से पृथक् वस्तु होता है तथा कार्य अपने कारण से एक विलक्षण संबंध रखता है जिसे समवाय कहते हैं, उस संबंध से रहने वाला कार्य समवेत कहा जाता है। 'समवाय' तार्किक को जँचने वाला एक संबंध है। कपड़ा देखकर उसे प्रतीति होती है ' इन धागों में यह कपड़ा है'; ऐसे ही वह 'कारण में कार्य है' यह अनुभव करता है।

वाचैवाऽऽरभ्यते किं वा पृथगानीयते वद।
वाचैवाऽऽरभ्यते तत्त्वं किञ्चिद् न स्यात् खपुष्पवत्।।१३।।
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
वन्ध्यापुत्र इति प्रोक्तो निस्तत्त्वम् अखिलं खलु।।१४।।
पृथगानयनं कर्तुं धीमताऽपि न शक्यते।
अतोऽनृतो घटो नैव सत्य इत्यभ्युपेयताम्।।१५।।

घड़े में पानी की तरह होता तो धागे-कपड़े का संबंध संयोग मान सकते थे, पर ऐसा है नहीं। अतः संयोग से अन्य वह 'समवाय' संबंध मानता है जिससे कार्य अपने कारण में रहता है। गुण गुणवान् में, क्रिया क्रियावान् में, जाति व्यक्ति में तथा 'विशेष'-नामक पदार्थ नित्य द्रव्यों में भी इसी संबंध से रहते हैं। स्पष्ट ही है कि तार्किक अपने प्रक्रियाजाल को बुनने के लिये ऐसी कल्पनाएँ करता है। ये मान्यताएँ अनुभवसिद्ध नहीं हैं। तार्किक इस तरह कार्य को कारण से पृथक् सत्ता वाला सिद्ध कर श्रौत प्रतिज्ञा का विरोध करता है कि कारणज्ञान से कार्यज्ञान संपन्न नहीं होता क्योंकि कारण से कार्य पृथक् है। संबंध होता ही पृथक् चीज़ों में है अतः कार्य को पृथक् मानता है, इस तथ्य को नज़रन्दाज़ कर देता है कि पृथक् चीज़ें परस्पर स्वतंत्र उपलब्ध भी होनी चाहिये। मिट्टी से सर्वथा अलग घड़ा कभी कहीं नहीं मिलता अतः मिट्टी से पृथक् वह कोई वस्तु नहीं हैयह तार्किक को नहीं समझ आता। जो जिससे अलग नहीं ही मिले वह तद्रूप होता हैयह युक्तियुक्त बात है पर तार्किक की प्रक्रिया के अनुकूल नहीं अतः वह इसे नहीं मानता। घड़े की सारी मिट्टी हटा दें तो घड़ा नाम की कोई चीज़ नहीं बचती जबकि उसकी आकृति फोड़ डालें तो भी मिट्टी चीज़ ही है अतः मिट्टी ही वस्तु है, घड़ा अवस्तु है यह वेदांती की प्रक्रिया है। तार्किक भेदवादी होने से उसी संदर्भ में सोच पाता है अतः अभेद-श्रुतियाँ उसे समझ नहीं आतीं।।११-१/२।।

उक्त तार्किक मत का निरास करते हैं **तार्किक यह बताये कि मिट्टी से अलग हुए घट में कैसी तात्त्विकता है?।।१२।। शब्द से कहा जा सकता हैक्या यही उसका तत्त्व है? या मिट्टी से अलग हुआ घट लाया ले जाया भी जा सकता है? यदि केवल कहने-भर को है तब उसे तत्त्व मानना बेकार है क्योंकि आकाशपुष्प की तरह कहने मात्र को जो होता है उसे कोई तत्त्व नहीं मानता।।१३।। 'मृगतृष्णा के जल से नहाया हुआ, आकाश-पुष्प माथे पर सजाया हुआ वन्ध्यापुत्र' यह कहा जाये तो सभी मानते हैं कि सारी बात तत्त्वहीन है ।।१४।। और मिट्टी**

समवायस्त्वया प्रोक्त आरोपं ब्रूमहे वयम् ।
स्थाणावारोपितश्चौरो यथा मृदि घटस्तथा ।।१६ ।।

से पृथक्कर घट को बुद्धिमान् द्वारा भी ले जाया जा नहीं सकता कि वैसी तात्त्विकता मानी जा सके। इसलिये तार्किक की बात नहीं वरन् यही मानना ठीक है कि घटादि कार्य मिथ्या होते हैं, सत्य नहीं ही होते ।।१५ ।। विचार सरल ही है कपड़े से कोई छेड़-छाड़ न कर हम केवल धागे सारे खींच कर हटा देते हैं तो कपड़े का क्या होता है? उसका जो तत्त्व है, वास्तविकता है उसका कौन-सा स्वरूप वहाँ मिलता है? निश्चित स्वरूप वाला वास्तविक प्रमेय 'तत्त्व' कहलाता है। कार्य तत्त्व है तो वास्तविक होना चाहिये अर्थात् अन्य से निरपेक्ष सत्ता वाला होना चाहिये, वैसा होता नहीं, कार्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं वरन् कारणसत्ता पर ही निर्भर रहती है अतः वह तत्त्व हो नहीं सकता। यदि तत्त्व की परिभाषा बदल दें और कहें कि शब्द के सहारे जिसका उल्लेख हो वह तत्त्व होता है तो विकल्पभूत असत् चीज़ें भी तत्त्व होंगी और ऐसा यदि कार्य है तो वेदान्ती का कोई अनिष्ट नहीं! 'विकल्प' अर्थात् शब्द सुनकर ऐसा लगे कि कुछ समझ आया किन्तु वह समझी बात असंभव हो, न कभी हुई हो न हो ही सके। पुत्रवाली जो न हो वह वन्ध्या; वन्ध्यापुत्र कहने से लगता है कि जैसे सीतापुत्र वैसे वन्ध्यापुत्र कोई है, किंतु यदि पुत्र है तो वह वन्ध्या नहीं और वन्ध्या है तो उसका पुत्र नहीं अतः वन्ध्यापुत्र असंभव है। ऐसी बात निस्तत्त्व ही सर्वमान्य होती है। यदि इसे छोड़ परिभाषा करें कि लाना-ले जाना आदि व्यवहार जिसका हो वह तत्त्व है तो भी कारण से पृथक् कर व्यवहार-विषय न बनने से कार्य तत्त्व नहीं सिद्ध होता। इसलिये घट में तत्त्व केवल मिट्टी ही सिद्ध होती है, उससे अन्य जो कुछ भी प्रतीत होने वाला है, जिसे आकृति-संज्ञा दी थी, वह मिथ्या ही निश्चित होता है। प्रतीतिमात्र से रहे, विचार करने पर समझ आये कि 'नहीं है', ऐसे को ही मिथ्या कहते हैं। सभी कार्य वर्ग मिथ्या है यह यहाँ वेद ने सुस्पष्ट कह दिया है। इस विषय पर तदनन्यत्वाधिकरण में (२.१.६.१४-२०) घनघोर विचार है।।१५ ।।

यह तो समझ आता है कि कार्य अपने कारण से स्वतंत्र कुछ नहीं और न समवाय संभव है लेकिन अनुभव-स्तर पर कार्य-कारण के भेद को मना नहीं किया जा सकता अतः उसकी संगत व्याख्या करते हैं **तार्किक ने कार्य का कारण में समवाय कहा (किन्तु वह ग़लत है।) हम कहते हैं कि कार्य का कारण पर आरोप है। जैसे ठूँठ पर आरोपित चोर रह जाता है वैसे मिट्टीमें घड़ा रहता है।।१६ ।। क्योंकि**

आरोपात् पूर्वम् ऊर्ध्वं च तदभावाद् असत्यता।
'आदावन्ते च यद् नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा'।।१७।।

आरोप से पहले और आरोप दूर हो जाने के बाद न चोर रह जाता है न घड़ा, इसलिये उनकी असत्त्यता मान्य है क्योंकि विद्वानों का निर्णय है कि जो आदि-अन्त में नहीं होता वह वर्त्तमान में भी नहीं ही होता है।।१७।।

अविद्यमान की मिथ्या प्रतीति आरोप कही जाती है। इसे भ्रम, अध्यास भी कहते हैं। कहीं-कहीं प्रतीति की जगह कल्पना को भी आरोप कह देते हैं अतः वेदान्त ग्रंथों में भ्रम के लिये अध्यास या अध्यारोप शब्द का ज़्यादा प्रचलन हुआ। यहाँ आरोप मायने भ्रम। वेदांती समझाता है कि वस्तु कारण है जिसे अधिष्ठान बनाकर हमें कार्य का भ्रम हो जाता है अतः कार्य-कारण के भेद के अनुभव की संगति बैठ जाती है और कार्य मिथ्या है इस विचारित तथ्य का विरोध भी नहीं होता। सत्त्य-मिथ्या का परस्पर संबंध ही आरोप कहा जाता है। यद्यपि कारणभूत मिट्टी दीखते हुए घट दीखता है तथापि कार्यभ्रम सोपाधिकभ्रम होने से अधिष्ठानज्ञानमात्र से निवृत्त नहीं होते अतः विरोध नहीं है। अत एव विचारपूर्वक कार्यमिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर भी उपाधि रहने तक कार्यों की प्रतीति भी संगत है। उपाधि यहाँ अवयवों का सन्निवेश-विशेष आदि फलबलकल्प्य है। कुलालादि की चेष्टा से जो होता है और घट-प्रतीति पर्यन्त रहता है उसे उपाधि समझना चाहिये। संक्षेप में कहें तो घट ही उपाधि है जिससे मिट्ट को घट समझा जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि विवर्तवाद केवल अजातवाद के लिये तैयार की जाने वाली भूमिका है, अतः 'उपाधि भी कार्य है तो उसके लिये अन्य उपाधि चाहिये' आदि प्रश्न व्यर्थ हैं; सिद्धान्ती का कहना है कि अतात्त्विक प्रतीति हो रही है क्योंकि तत्त्व का संपूर्ण ज्ञान नहीं है, और अतात्त्विक को युक्तियुक्त बनाने का प्रयास बेकार का है ही। पूर्वाध्याय में माया के बारे में विचार करते हुए (श्लो. ३३ आदि) भी यह समझाया गया था। माया की संकल्पना है ही इसलिये कि साधक केवल सत्य पर एकाग्र रहे, उससे अतिरिक्त सभी प्रतीतियाँ असत्य समझकर उनकी उपेक्षा करे। यदि माया की भी प्रक्रियाएँ बनाने में उलझ गया तो माया स्वीकारना ही निरर्थक हो जाता है। अतः यहाँ आचार्य ने घड़े को भ्रमदृष्ट चोर की तरह का समझाया, कार्यमात्र के बारे में यही दृष्टि साधक को रखनी चाहिये। जैसे ठूँठ से चोर का संबंध भ्रम ही कहा जा सकता है वैसे मिट्टी से घड़े का भी संबन्ध भ्रममात्र है। चोर जैसे भ्रमकाल में ही है, आगे-पीछे नहीं, वैसे घट भी प्रतीतिकाल में ही है, आगे-पीछे नहीं। दृष्टिसृष्टि के

अनुसार यह स्पष्टतर है। सृष्टिदृष्टि में यों समझना चाहिये : उत्पन्न होने से पूर्व घड़ा 'नहीं है', नष्ट होने के बाद घड़ा 'नहीं है'; जो कभी भी 'नहीं है' होता है वह हमेशा 'नहीं है' होता है जैसे भ्रम से पूर्व-उत्तर 'नहीं है' अतः वह चोर हमेशा ही 'नहीं है'। माण्डूक्यकारिका में (२.६) 'आदावन्ते' आदि पंक्ति आयी है तथा उस ग्रंथ में गौडपादाचार्य ने कार्यमिथ्यात्व को अनेक युक्तियों से समझाया है। 'नासतो विद्यते भावः' आदि गीता भी द्रष्टव्य है। व्यवहारमात्र से वस्तु सत्य नहीं सिद्ध होती। भ्रम से दीखे चोर से भी डरकर भागना आदि व्यवहार होता है। नित्य, व्यापक शब्द मानने वाले मीमांसकों को तो सारा ही शाब्द व्यवहार भ्रम पर आधारित स्वीकारना पड़ता है यह संक्षेप शारीरक (२.२२६.३१) आदि में व्यक्त है। अतः असत्य से व्यवहार न हो यह बात नहीं है। वर्तमान काल में तो मुद्रा (करंसी नोट) भी इसका उत्तम दृष्टांत है कि असत्य भी व्यवहार संपादक हुआ करता है। पैसे-भरके कागज़ के टुकड़े को हज़ार रुपये मानते ही हो, वह कागज़ तो हज़ार रुपये है नहीं! यदि वस्तुतः वह हज़ार रुपये होता तो भारतीय रिज़र्व बैंक जब उसका प्रचलन बंद करता है तब भी रहता, किन्तु रहता नहीं है, तब केवल काग़ज़ का टुकड़ा रह जाता है अतः यही मानना पड़ता है कि वस्तु तो वह कागज़ है, हज़ार रुपये भ्रम है। फिर भी हज़ार रुपये का सामान खरीदने के काम में आ ही जाता है अर्थात् व्यवहार सिद्ध कर ही देता है। इसलिये व्यवहार-साधकता से सत्यता नहीं पता चलती। घट भी व्यवहारसाधक है, यह मान्य ही है पर इससे उसे सत्त्य नहीं कह सकते यह वेदांती का मानना है। इसलिये अतीत का अनुसंधान और भविष्य की चिंता इन दो को छोड़ना ही बुद्धिमानी है। ठूँठ में दीखे चोर का न अतीत खोजा जाता है न रोशनी आने के बाद वह कहाँ भाग गया वह ढूँढने जाते हैं, इसी प्रकार साधक संसार की किसी भी चीज़, घटना, व्यक्ति के बारे में किसी खोज-बीन में मत उलझे; जब अच्छी-बुरी प्रतीति हो तब उसे अनुभव कर ले लेकिन याद रखे कि 'यह मेरा भ्रम ही है' अतः अपने अनुभव से अतिरिक्त उसकी सत्ता मत माने और न ही उसे सुधारने-बिगाड़ने आदि की प्रवृत्ति में फँसे। जैसे भ्रमसिद्ध चोर को न दण्ड देते हैं न शिक्षा ऐसे ही अपने समस्त विषयानुभव को भ्रम जानकर साधक विषयों की उपेक्षा करे। प्रारब्धवश सुख-दुःख देने जो सामने आये उसे ग्रहण करे एवं सुख-दुःख भोगकर कर्म नष्ट कर ले, सुख से विषयराग न बनाये, दुःख से विषयद्वेष न बनाये क्योंकि याद रखे कि 'सुख-दुःख देने लगने वाले विषय कोई तत्त्व नहीं हैं। तत्त्व एकमात्र सच्चिदानंद है जिसे मैं अज्ञानवश भ्रम से विषय समझ रहा हूँ।' कोशिश यही करे

सत्यानृतविवेकः

कालत्रयानुगः स्थाणुः सत्यो मृच्च तथेक्ष्यताम् ।
सत्यानृते च मिथुनी कृत्य कुम्भ इतीर्यते ।।१८ ।।
शब्द-प्रत्यय-कार्याणि सन्ति मृद्घटयोः पृथक् ।
स्थाणौ चौरे च दृष्टानि पृथक् तानि तथाऽत्र च ।।१९ ।।

कि वह अज्ञान मिटे। प्रपंच-मिथ्यात्व का साधकोपयोगी यह पक्ष जितना-जितना जीवन में आयेगा उतनी ही अविचलित शांति रहेगी।।१६-७।।

यथोपलब्ध व्यवहार में ही सत्य-मिथ्या के विवेक से सत्त्यपरायण होकर कल्याण-लाभ संभव है इस तात्पर्य से समझाते हैं **(जैसे भूत-भविष्य में सर्वथा न रहने के कारण वर्तमान में भी न रहने वाला होने से चोर को मिथ्या और) भूत-वर्तमान-भविष्य सभी समय रहने वाले ठूँठ को सत्त्य समझा जाता है वैसे (घट को मिथ्या और) मिट्टी को सत्य समझना चाहिये। सत्य (मिट्टी) और अनृत (आकृति) को मिला-जुलाकर 'घड़ा' यह कहा जाता है।।१८।। मिट्टी और घड़े के शब्द, ज्ञान व कार्य अलग-अलग वैसे ही हैं जैसे ठूँठ और चोर के (अतः उनसे जैसे चोर सत्य नहीं हो जाता वैसे घड़ा भी सत्य नहीं होगा)।।१९।।** भाष्यकार ने सारे ही लोकव्यवहार को सत्य-अनृत के मेल-जोल से संपन्न होने वाला कहा है; उसी का यहाँ अनुसंधान है। हमें कार्यों से व्यवहार करना पड़ता है, उनमें एक सत्यांश व दूसरा असत्यांश होता है। विवेकी सत्यांश समझे यह ज़रूरी है। यद्यपि हर स्तर पर जो कारणांश है वह परम सत्त्य नहीं है तथापि वह परम सत्य तक पहुँचने की सीढी तो बनता ही है। एक बार जब कारण की तरफ दृष्टि चलने लगती है तब अंतिम कारण तक पहुँच ही जाती है। भ्रमानुभव में सत्त्य का भी एक अंश रहता है यह वेदांत की आवश्यक विचारधारा है जिसे न समझकर बौद्ध असद्वादी बन गये। भ्रम के लिये सद्-अधिष्ठान अनिवार्य है, निरधिष्ठान भ्रम नहीं होता। कुछ सत्य है जिसे पूरा न समझने से हम किसी असत्य का अनुभव करते हैं यह वेदांत का मानना है जबकि बौद्ध कहता है कि कुछ सत्त्य है ही नहीं। वेदांती तो सत्त्य की अपेक्षा से असत्य की प्रतीति मानता है जबकि बौद्ध बिना किसी सत्त्य की अपेक्षा से सब कुछ असत्य मानता है। अविचारशील कई बार कह देते हैं कि मिथ्यात्व के संदर्भ में बौद्धों से वेदांत की समानता है किन्तु इस आधारभूत अंतर को न जानकर ही ऐसा कहा जाता है। मिट्टी सत्य है जिस पर असत्य घट का भ्रम है। आगे, जल सत्य है जिस पर असत्य मिट्टी का भ्रम है। इस तरह परम सत् तक

द्विविधव्यवहारस्य सद्भावेऽपि विवेकिनः।
सत्यायां मृदि तात्पर्यं नानृतेऽस्ति घटादिके।।२०।।
इक्षौ रसोऽस्त्यृजीषं च रसं गृह्णाति बुद्धिमान्।
नर्जीषम् एवं कुम्भेऽपि मृद्भागे युक्त आदरः।।२१।।

पहुँचना चाहिये। इस पर शंका होती है कि 'घड़ा' शब्द, 'घड़ा' ज्ञान और 'जल भरना' कार्य ये घड़े से संबद्ध हैं, मिट्टी से नहीं और 'मिट्टी' शब्द, 'मिट्टी' ज्ञान, और माँजना आदि कार्यये मिट्टी से सम्बद्ध हैं घड़े से नहीं; इस प्रकार शब्द-ज्ञान-कार्य परस्पर पृथक् हैं तो घड़ा व मिट्टी पृथक् वस्तु क्यों न माने जायें? समाधान है कि शब्दादि तो चोर-ठूँठ के भी पृथक् हैं; चोर को ठूँठ और ठूँठ को चोर नहीं कहते, चोर से डरते हैं ठूँठ से डरते नहीं, चोर को मनुष्यादि देखते हैं, ठूँठ को जड लकड़ी देखते हैं; इस प्रकार शब्दादि दोनों के पृथक् होने पर भी चोर मिथ्या ही है, ठूँठ सत्य है, ऐसे ही कार्यमात्र मिथ्या व कारण सत्य है, भले ही कार्य कारण के शब्दादि पृथक् हैं। नट और उस पर आरोपित राम-रावणादि पात्र के शब्दादि पृथक् होते हुए ही पात्र को मिथ्या व नट को सत्य समझा ही जाता है, ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिये। मिथ्या से व्यवहार संपन्न हो जाता है यह लोकसिद्ध है किंतु न्यायी डरते हैं कि यदि कहीं भी मिथ्या स्वीकारा तो संसार से हाथ धो बैठना पड़ेगा इसलिये वे भ्रमस्थल में भी मिथ्या चोर आदि न मानकर अलौकिक सन्निकर्ष से सत्य चोर का ही ज्ञान मानते हैं! उनका कहना है कि जहाँ दीखा वहाँ न सही पर जो दीखा वह चोर सत्य है। वैष्णव भी इसी रास्ते जाते हैं। संसार सत्य मानने के लिये ही ये कुशावलम्बन हैं, इनके पीछे अनुभवपूर्ण युक्ति नहीं है। अनेक वाद-ग्रंथों में इन कल्पनाओं का खोखलापन स्थापित किया गया है। अनुभव के स्तर पर यही मान्य है कि भ्रमसिद्ध विषय मिथ्या ही है फिर भी वह व्यवहार संभव कर देता है। अतः अर्थक्रियाकारी होने से भी कार्य घटादि तात्त्विक नहीं हो जाते।।१८-९।।

सत्य-मिथ्या के संवलित रूप में उपस्थित होने पर मुमुक्षु को सत्यपरायण होने का अवसर मिलता है यह बताते हैं **दोनों तरह का व्यवहार होने पर भी विवेकी का तात्पर्य सत्य मिट्टी में ही होता है, मिथ्या घड़े आदि में नहीं।।२०।। ईख में रस और छिलका (बघास) दोनों होते हैं। बुद्धिमान् रसको ग्रहण कर लेता है, छिलका छोड़ देता है। ऐसे ही यह संगत है कि घड़े के भी मिट्टी भाग को ही महत्त्व दिया जाये।।२१।। घटादि में जो मिट्टी भाग हैं वे सावधानी से समझने चाहिये। मिट्टी की एक राशि को भलीभाँति समझ लेने से ही सभी मिट्टी भाग**

ये घटादिषु मृद्भागा ज्ञातव्या आदरेण ते।
सर्वेऽपि राशिविज्ञानाद् एव ज्ञाता भवन्ति हि।।२२।।
मृद ऐक्येऽपि सर्वत्वम् आकारैस्तदुपाधिभिः।
निरुपाधिकविज्ञानात् सर्वोपहितधीर्भवेत्।।२३।।

समझ आ जाते हैं।।२२।। मिट्टी एक ही तत्त्व है फिर भी 'सभी भाग' कहना इस दृष्टि से बन जाता है कि विभिन्न उपाधिभूत आकारों से मिट्टी में बहुत्व प्रतीत होता है। निरुपाधिक वस्तु को समझ लेने से उपहित सारी ही वस्तु का ज्ञान हो जाता है।।२३।। दोनों तरह का व्यवहार अर्थात् कार्य-कारण दोनों तरह से किया जाने वाला व्यवहार। पहनने आदि के लिये उसीसे गहने का (कार्य) व्यवहार करते हैं और बेचने आदि के लिये उसीसे स्वर्ण का (कारण) व्यवहार करते हैं। दोनों से व्यवहार भले ही करे, विवेकी सत्य को सत्य और झूठको झूठ पहचानने में असावधानी नहीं करता। इसके लिये वैराग्य भी चाहिये क्योंकि यदि असत्यांश में राग है तो सत्त्य की उपेक्षा हो जायेगी। व्यापारी को दाल बेचने में राग है तो उसमें मिले कूड़े को बिना साफ किये ही बोरा बेच देगा! झूठ को छोड़ने के लिये भी सामर्थ्य चाहिये। न्यायी इसी सामर्थ्य के अभाव में झूठ को भी सच सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, भ्रमविषय को भी सत्य मानना चाहते हैं। विवेकी समझता है कि व्यवहार-स्तर पर कार्य का भी महत्त्व है किंतु यह नहीं भूलता कि कार्य है मिथ्या। अतः तात्पर्य वह कारण में रखता है, हानि-लाभ का प्रश्न आने पर कारण को महत्त्व देता है। वस्तुतस्तु अभिप्राय है कि विवेकी आगमापायी से हर्ष-शोक में नहीं डूबता, स्थायी परमात्मा पर दृष्टि एकाग्र रखता है। जैसे जिसे गहनों की विविधता का मज़ा लेना है वह बार-बार गहने तुड़वाता-बनवाता रहता है और हर बार सोना खोता रहता है, वैसे जिसे संसार के नाम-रूप के व्यवहार का मज़ा लेना है उसे मोक्ष दुर्लभ रहता है। सांसारिक व्यवहार में तो मिट्टी-प्राधान्य व घटादि-प्राधान्यका ज़्यादा अंतर नहीं रह सकता क्योंकि जहाँ कार्य की ज़रूरत है वहाँ वही अपेक्षित है, कारण कमज़ोर भी हो तो चलेगा जैसे यदि घटिया मिट्टी के कुल्हड़ और बढ़िया मिट्टी के घड़े मिल रहे हैं तो भी विवेकी कारण को महत्त्व देकर कुल्हड़ों की ज़रूरत होने पर घड़े लेकर नहीं आयेगा! अतः यहाँ जो बता रहे हैं वह परमार्थ कारण को दृष्टि में रखकर ही समझना पड़ता है और साधक सामान्य व्यवहार क्योंकि न्यूनतम रखे यह इष्ट ही है इसलिये उसमें भी वह यथासंभव नाम-रूप की उपेक्षा करने का अभ्यास तो करे ही। यह अभ्यास करते हुए नौकरी-धन्धा-अध्यापन आदि व्यवहार असंभव है; 'शारीरं केवलं' क्रियाकलापों

का ही कथंचित् संपादन हो सकता है। अत एव विरक्त के लिये ही यह साधना है। वेदादि पढ़ने में भी दृष्टिभेद रहता है कार्यप्रधानता वाले को अच्छे फल देने वाले कर्म-उपासना समझकर करने में रुचि रहती है, निर्विशेष ब्रह्म में नहीं, जबकि नाम-रूप से विरक्त को प्रवृत्ति विषय निरर्थक लगते हैं और वह सबके कारण को, सत्तत्त्व को ही समझना चाहता है। पुराण पढ़ने में भी एक को लीलाएँ आकृष्ट करती हैं, दूसरे को स्वरूपोपदेश। परमेश्वर को मात्र इसलिये जानना है कि वही सत्त्य है; उसे जानकर कुछ मिलेगा इसलिये तो जानना नहीं है क्योंकि कुछ चाहनेवाले को तो वह मिलेगा ही नहीं। यों सर्वत्र सत्त्य को महत्त्व देने का अभ्यास कर्तव्य है। श्रुतिने स्पष्ट निर्देश दिया है कि बहुत्व-बोधक शब्दों में जिसे गीता में पुष्पित वाक् कहा है बिना उलझे अप्रमेय, अज, महान् आत्मामात्र को समझकर उसी प्रज्ञा में स्थिर रहे (बृ.४.४.२१)।

नाम-रूप और सच्चिदानंद का संमिश्रण मिल रहा है जिसमें से सारभाग ग्रहण करना है इसे समझने का उत्तम दृष्टांत दिया गन्ने का। रससे भरा गन्ना खरीदो तो जो भाव रसका वही उसके छिलके का भी देना पड़ता है पर चूसते समय छिलका फैंक कर बाकी हिस्से का रस चूसकर उस हिस्से को भी फैंक ही देते हैं। एक दाम में लिये हैं तो छिलके भी खायें ऐसा कोई नहीं सोचता। इसी तरह शरीरादि कोशों समेत आत्मा हमें द्रष्टा रूप में मिल रहा है तथा नाम-रूप सहित आत्मा विषयरूप में मिल रहा। बुद्धिमान् का कार्य है कि कोषरूप व नामादिरूप छिलके छोड़ दे और आत्मरूप रस ग्रहण करे। इससे विपरीत, यदि गन्ने के छिलके खा गये तो बीमार पड़ोगे, ऐसे ही अनृत व्यवहार में लग गये तो चौरासी के चक्कर में रह जाओगे। रस लेने के लिये भी जैसे छिलके के साथ व्यवहार करना ही पड़ता है वैसे ब्रह्मबोध के लिये भी नाम-रूप से व्यवहार करना पड़ेगा ही, तात्पर्य का अंतर रहने से विवेकी नाम-रूप के उद्देश्य से आत्मावगम को तिलांजलि नहीं देगा जैसी अविवेकी देता है। पंचदशी में भी कहा है कि द्वैती, संसारी लोग सच्चे अद्वैत की अवज्ञा कर संसरण में पड़े रहते हैं और विचारशील द्वैत की अवज्ञाकर भी लाभ में ही रहते हैं क्योंकि सत्य अद्वैत प्राप्त कर लेते हैं। गन्ने के भी छिलके आदि का कोई उचित प्रयोग हो सके तो किया ही जाता है पर रस ग्रहण करने के बाद ही; इसी तरह ब्रह्मनिष्ठा हो जाने के बाद लोकसंग्रह के रूप में नाम-रूप का सद्विनियोग किया जाये तो कोई हर्ज़ नहीं। साधक को सावधानी रखनी पड़ती है कि रस निकाले बिना यदि छिलके आदि को प्रयोग में लेने लगा तो हानि ही होगी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा हासिल किये बिना केवल आपात बोध के आधार पर सांसारिक सद्विनियोग में लग गया तो मोक्ष से वंचित ही

रहेगा। एक विद्वान् महात्मा के वचन हैं

'निष्किञ्चनत्वं च विवासनत्वं विश्वात्मभावं च समाधिनिष्ठम्।
अप्राप्य संपत्तिमिमाममोघां परोपकारः परवञ्चनैव।।'

पूर्ण वैराग्य, दुर्वासनाराहित्य, सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि, चित्त पर पूरा नियंत्रणइस अचूक सामग्री को पाये बिना कोई परोपकार कर नहीं सकता तथा परोपकार के रूप में जो भी करता है उसमें स्फुट या अस्फुट कोई स्वार्थ रहता ही है। अतः साधकावस्था में नाम-रूप की उपेक्षा ही कर्तव्य है, सच्चिदानंद पर ही एकाग्र रहना उचित है।

कार्य-कारण के स्तर पर कारण के प्रति जागरूक होने का भी मतलब यह नहीं कि उससे क्या-क्या कार्य बनाये जा सकते हैं यह जाने! कार्यों की अपेक्षा से कारण में भी विशेषताएँ होती हैं, घी रखने के लिये घड़ा बनाने के लिये अलग ढंग की मिट्टी चाहिये व दूध पकाने का घड़ा बनाने के लिये अलग ढंग की; कारण मिट्टी है पर विभिन्न कार्यों के लिये उसमें विभिन्न विशेषताएँ चाहिये; यहाँ जब कहा कि 'मिट्टी में तात्पर्य रखो' तब उन विशेषताओं को जानने के लिये नहीं कहा वरन् सर्वानुगत मिट्टी मात्र में तात्पर्य रखने को कहा जिसे स्पष्ट करने के लिये 'राशि विज्ञान' शब्द रखा। कहीं भी मिट्टी की थोड़ी-बहुत ढेरी हो उसमें मिट्टी का स्वरूप समझकर सर्वत्र मृन्मय विकारों की सत्यता वह स्वरूप ही है यह निश्चय प्राप्त करना इष्ट है। मिट्टी की विशेषताओं का ज्ञान तो पुनः कार्यापेक्ष होने से मिथ्या ही है, उसे प्राप्तव्य नहीं कह रहे हैं। अतः हर मिट्टीकण को जानने का प्रयास न करना है न करना संभव ही है! ईश्वर ही सर्ववित् (विशेषतः सब जानने वाला) है, जीव के लिये वह स्थिति असंभव है। जो उपलब्ध हो जाये उसी ढेरी में मिट्टी का स्वरूप पहचान कर 'जहाँ-कहीं भी मिट्टी है उसका स्वरूप यही है, इसे समझ लिया तो सारी मिट्टी समझ आ गयी' इस भावकी प्राप्ति यहाँ कही जा रही है। इस दृष्टि से यद्यपि मिट्टी एक तत्त्व का ही नाम है तथापि क्योंकि अनन्त आकारों में ही मिट्टी मिलती है इसलिये 'सारी मिट्टी' कहना संगत है। दार्ष्टान्त में भी ब्रह्म एक अखण्ड वस्तु है फिर भी अनन्त अन्तःकरणों में और अनंत भूत-भौतिक आकाश में मिलने से 'सारा ब्रह्म' समझने लायक लगता है पर उसे समझना केवल अपने बुद्धिसाक्षी के रूप में ही पर्याप्त है, वहाँ उसके स्वरूप को जानकर 'सारा ही ब्रह्म इसी स्वरूप वाला है' यह निष्ठा प्राप्त करनी है। उपाधि जिसकी परिचायक बनती है वह उपाधिधर्मों से अस्पृष्ट रहता है अतः वास्तव भूमिका पर वह निरुपाधिक ही होता है, प्रतीति स्तर पर उपहित लगता है।

कटकादौ सत्यभागा बुद्धा हेमधिया यथा।
कुठारादौ सत्यभागा बुद्ध्यन्ते लोहबुद्धितः।।२४।।
यद्यत् कार्यं तस्य तस्य धीः स्वोपादानबुद्धितः।
इति व्याप्तिं विवक्षित्वा दृष्टान्ता बहवः श्रुताः।।२५।।

उसे समझने का यह तरीका नहीं कि प्रत्येक उपाधि द्वारा उसका परिचय पायें! क्योंकि यह ढंग असंभव है और इस तरह समझने जायेंगे तो उपाधिसापेक्ष रूप ही सामने आयेंगे। अतः उसे समझने का तरीका यही है कि उसका निरुपाधिक रूप समझें, वही उसका सत्य स्वरूप होगा और उपाधिसम्बद्ध होने पर भी यह स्वरूप एक-समान रहेगा। इसीलिये कहा कि सारी उपाधियाँ जिसका परिचय कराती हैं उसे समझने के लिये उपाधि-निरपेक्ष होकर उसके स्वरूप को जानना पड़ेगा। उपहित रूप तो परस्पर विभिन्न लगते हैं, सभी उपाधियों से जो उपहित है, उसका स्वरूप वही है जो उन समस्त विभिन्न रूपों में एक-समान है अतः उपाधिनिरपेक्ष या निरुपाधिक है। आत्मवस्तु भी उपाधिसम्बन्ध से शून्य है, सोपाधिकता, प्रतीतिमात्रसिद्ध है। 'समग्र आत्मा' को जानने के लिये सारी उपाधियों के मार्फ़त उसे जानने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना है वरन् स्वयं को उपलब्ध उपाधियों के ही द्वारा समझ लेना है कि वह निरुपाधिक है।।२०-३।।

प्रकृत श्रुति में मिट्टी, सोना, लोहातीन उदाहरणों से सद्रूप उपादान समझाया है ताकि निश्चय हो कि सर्वत्र नियम यही है कि कार्य से कारण अधिक सत्य होता है यह समझाते हैं **(जैसे मिट्टी को समझ लेने से सब बर्तनों का सत्यांश समझ आ जाता है) इसी प्रकार स्वर्ण को समझ लेने से गहनों का सत्य भाग और लोहा समझ लेने से कुल्हाड़ी आदि का सत्य भाग पता चल जाता है।।२४।। तीन उदाहरण यह नियम बताने के लिये हैं कि जो-जो कार्य होता है उसके उपादान को समझ लेने से उस-उस (कार्य) का सही ज्ञान हो जाता है।।२५।।** तर्क- प्रक्रिया में साहचर्य का नियम स्थापित करने पर सहचरों में से एक भी उपलब्ध हो तो अपने सभी नियत सहचरों की उपस्थिति निश्चित करा देता है। उक्त नियम ग्रहण करने के लिये प्रायः अनेक परिस्थितियों में साहचर्य का परीक्षण किया जाता है। उपादान-ज्ञान ही उपादेयों के सत्यांश का ज्ञान है इसे नियम के रूप में स्वीकारा जा सके इस उद्देश्य से श्रुतिने अनेक दृष्टांत दिये। उपादेयांश क्योंकि हैं ही असत्य इसलिये उन अंशों का ज्ञान सत्यांश ज्ञान के लिये व्यर्थ है यह युक्ति भी

सर्वं जगद् उपादाने श्रुते सति भवेच्छ्रुतम्।
मते ज्ञाते मतं ज्ञातम् इत्यलौकिकता कुतः।।२६।।

जाननी चाहिये। श्रौत प्रतिज्ञा की अन्यथानुपपत्ति तो मुख्य अनुकूल युक्ति है ही। इस प्रकार एकविज्ञान से सर्वविज्ञान का आशय स्पष्ट होता है। सर्व के नाम-रूपांश के ज्ञान की यहाँ संभावना नहीं कही जा रही वरन् सत्त्यांश के ज्ञान की प्राप्ति बतायी जा रही है।।२४-२५।।

चौथे श्लोक में शंका उठी थी कि एक के ज्ञान से सबका ज्ञान लोकविरुद्ध है, उसका समाधान हो गया यह बताते हैं **जगत् के उपादान का श्रवण हो जाने पर सारा जगत् सुन लिया गया हो जाता है, उसका विचार और विज्ञान हो जाने पर जगत् भी विचारित और विज्ञात हो जाता हैइस बात में लोक-विरोध कैसे होगा (जब पूर्वोक्त दृष्टांतों से उक्त नियम स्थापित होता है)?।।२६।।?** आरुणि समझाना चाहते हैं परमात्मा को। उसके ज्ञान का ढंग यही है कि उसे जगत्कारण के रूप में ग्रहण किया जाये। उपनिषत् ब्रह्मसूत्र आदि सर्वत्र यही प्रकार अपनाया है। व्यापकता को बुद्धि में लाने का तरीका यही है। यहाँ सत् अर्थात् 'है' को जगत् का उपादान बतायेंगे क्योंकि यही सबसे ज्यादा स्पष्ट अंश है; चिदंश जड चीज़ों में समझना मुश्किल है और आनंदांश तो अप्रत्यक् सजीव-अजीव दोनों में ही समझना मुश्किल है। सत् का ज्ञान हो गया तो सारा जगत् जान लिया गया यह मानकर सर्वविज्ञान की बात पूर्वोक्त नियम से सुसंगत है। जगत् के नाम-रूपों के ज्ञान की प्राप्ति नहीं कही जा रही है, वह सविशेष अर्थात् ईश्वर के स्तर की बात है; जीव कभी ईश्वर नहीं बनेगा! वह तो उस ब्रह्म से स्वयं को अभिन्न समझेगा जिसमें जीवभाव और ईश्वरभाव दोनों कल्पित हैं। सत् का पहले श्रवण करना पड़ेगा कि उसे शास्त्र कैसा बता रहा है। फिर उसके बारे में जो शंकाएँ उठें उन्हें दूर करने के लिये विचार करना पड़ेगा। फिर जिस निश्चय पर पहुँचो उसकी वृत्ति स्थिर करनी पड़ेगी ताकि विज्ञान हो, ऐसा अनुभव हो कि हर परिस्थिति में निश्चय अडिग रहे। किया यह सब सत् के बारे में जायेगा और इसी से सारा जगत् समझा, सोचा और अनुभव किया हो जायेगा क्योंकि सत् ही सारे जगत् का सत्यांश है।।२६।।

श्रवणादि तीनों का स्वरूप बताते हैं **श्रवण अर्थात् गुरु के और शास्त्र के उपदेश के तात्पर्य का अवधारण करना। मनन अर्थात् उस तात्पर्य-विषयभूत अर्थ के बारे में स्वयं को जो शंकाएँ उठें उनका युक्तियों से समाधान करना। विज्ञान अर्थात् उक्त अर्थ स्वयं का अनुभव बन जाये। अतः श्रवण - मनन -**

श्रुत-मत-विज्ञानानि

श्रवणं गुरुशास्त्राभ्यां मननं तु स्वयुक्तिभिः।
विज्ञानं स्वानुभूत्येति श्रवणादेरसङ्करः।।२७।।

विज्ञान का स्वतंत्र स्वरूप और उपयोग स्पष्ट है।।२७।। आत्मतत्त्व मन वाणी से परे है अतः शब्द उसे वाच्य के रूप में कहता नहीं जिससे विचार अपेक्षित होता है शब्द का इंगित अर्थ समझने के लिये। उस विचार को श्रवण कहते हैं। अरुंधति दिखाने के लिये जैसे स्थूल तारों का सहारा लेना पड़ता है वैसे आत्मा को बताने के लिये उपाधियों का सहारा लेना पड़ता है और विचार से उपाधियाँ छोड़ने पर आत्मा पता चलता है। यहीं मिट्टी, लोहे, सोने जैसी अतिस्थूल चीज़ों के उदाहरण से परमसूक्ष्म सत्तत्त्व को समझाना पड़ा है। अतः बिना गहन विचार के पता नहीं लगता कि शास्त्र कह क्या रहा है। इसी से गुरु का अत्यधिक महत्त्व हो जाता है। इंद्रियादि से गम्य बात तो किसी तरह समझी भी जाये पर उन सभी से अगम्य वस्तु को ठीक समझा या गलत, इसका स्वतः निर्णय करना कठिन है। जानकार गुरु परीक्षापूर्वक कह सकता है कि हम ठीक समझे या नहीं। इसीलिये संप्रदाय के प्रति आदर आवश्यक है। आचार्य ने यहाँ तक कहा कि सम्प्रदायानुसार न समझने वाला चाहे जितना विद्वान् हो, मूर्ख की तरह उपेक्षा के ही योग्य है। क्योंकि तत्त्व इतना सूक्ष्म है इसलिये अपनी मनीषा से यह निर्णय असंभव है कि हमने सही अनुभव पाया या नहीं। जब शास्त्र-तात्पर्य मालूम चल जाये तब तद्विषयक जो शंकाएँ स्वयं को हों उनका उन्मूलन करना पड़ता है अन्यथा निश्चय नहीं होगा कि वही बात ठीक है। श्रवण में तो गुरु भी बहुत-सी युक्तियाँ बतायेगा, शास्त्र भी युक्तियाँ देगा, किंतु मनन में खुद युक्तियाँ सोचनी पड़ेंगी, सहारा गुरु-शास्त्र से मिलेगा। स्वयं को जँचे इसके लिये किया विचार मनन है। वकील की तरह चाहे-जिस पक्ष में तर्क बटोरना मनन नहीं है। साधक के जैसे संस्कार हैं वैसी उसकी शंकाएँ होंगी जो वैसी ही युक्तियों से दूर भी होंगी। मीमांसा-संस्कारों से उठी शंकाएँ न्याय की युक्तियों से कभी दूर नहीं होंगी, आधुनिक विचारधाराओं के अनुसार होने वाली शंकाएँ प्राचीन परिपाटी के उत्तरों से दूर नहीं होंगी। अतः जिस स्तर की शंका है, उस स्तर पर उसका विश्लेषण साधक स्वयं करे। एक बात याद रखने की है समस्या के स्तर से समाधान का स्तर ऊँचा ही होना पड़ेगा। जो स्तर समस्या खड़ी कर रहा है वह समाधान दे पाता तो समस्या खड़ी ही क्यों करता! अतः साधक शंका उठाने वाली युक्ति की काट के लिये उससे बेहतर स्तर की युक्ति सोचे यह ज़रूरी है। 'मैं जितना समझता हूँ उतने पर ही बना रहूँ और समाधान

प्रत्यङ्मुखायोपदेशः

श्वेतकेतुः सर्वबोधम् एकबोधेन विश्वसन् ।

प्रत्यङ्मुखोऽभवत् तस्मै सर्वोपादानमीरितम् । ।२८ । ।

निकल आये' इस आशा में नहीं रहना चाहिये वरन् श्रेष्ठ शिक्षा ग्रहण करने का श्रम करके शंकाओं का उन्मूलन करना चाहिये। सावधानी यह रखनी होगी कि उच्च स्तर पर जाते ही उस स्तर की शंकाएँ भी उठ सकती हैं जिनके लिये फिर और ऊँचा जाना पड़ेगा! अतः हमेशा याद रखना है कि हम विचार क्यों कर रहे हैं? मनन का एकमात्र प्रयोजन विज्ञान है, अनुभव की अविचलितता है। जो स्वयमेव उपस्थित होकर विचलन कराये उस शंका को दूर करना मनन है। खोज कर शंकाओं का उद्भावन करें फिर उन्हें दूर करें यह अभीष्ट नहीं है। जिसे विज्ञानलाभ हो चुका वह पूर्वसंस्कारवश यदि तार्किक ऊहापोह का आनंद लेना चाहे तो अवश्य ले, जैसे यदि वह खेती करने का मज़ा लेना चाहे तो ज़रूर ले, पर साधक उस भँवर से अवश्य बचे, मनन के नाम पर तर्कव्यूह में न घुसे। श्रवण-मनन से प्राप्त होगा विज्ञान अर्थात् वह तत्त्व अपना स्थायी अनुभव हो जायेगा। जैसे स्फीतालोक में घट साफ-साफ दीख जाता है ऐसा सुस्पष्ट अपरोक्ष होना विज्ञान है। आत्मा वस्तु अपरोक्ष है तो इसका श्रवण से हुआ ज्ञान भी अपरोक्ष होता है पर संशय-विपर्यय के कारण वह निस्तेज होता है, संशयादि मिटने पर वह विज्ञान हो जाता है, तेजस्वी ज्ञान हो जाता है, अविद्या को जला डालता है। ।२७ । ।

मृत्तिकादि दृष्टान्त इतना ही स्पष्ट करने लिये थे कि नाम-रूपका वैविध्य सत्त्य नहीं वरन् एकरूप वस्तु सत्य होती है जिसके ज्ञान का ही महत्त्व है, असत्य नाम-रूपों को जानने का कोई प्रयोजन नहीं। अब मुख्य विषय समझाना प्रारंभ करते हैं **उक्त विचार से श्वेतकेतु को विश्वास हुआ कि एक के ज्ञान से सब जाना जा सकता है अतः नाम-रूप की उपेक्षा करते हुए वह वास्तविक तत्त्व की ओर उन्मुख हो गया, तब आरुणि ने उसे परमात्मवस्तु का उपदेश दिया जो सबका उपादान है। ।२८ । ।** अतिसूक्ष्म होने से आत्मा तभी बुद्धि में आता है जब इधर-उधर से मन हटकर स्थिर, जागरूक हो। यह तभी संभव है जब श्रद्धा हो, अन्यथा इसे फालतू की बात मानने वाला इस पर एकाग्र होने की कोशिश ही नहीं करेगा। अत्यल्प बुद्धि-गुफाके भी अंदर मौजूद आत्मा जानने से सारी दुनिया जान ली जायेगी यह सुनने में ही हास्यास्पद लगता है अतः शास्त्र-गुरु-युक्ति पर श्रद्धा होनी आवश्यक है, तभी व्यक्ति अन्य प्रवृत्तियाँ छोड़कर इसे जानने के यत्न में लगेगा। सामान्य लोग यंत्र-तंत्र-मंत्र-दवा आदि का ज्ञान

ही महत्त्व का समझते हैं, नाम-रूप-कर्म से रहित आत्मा को जानने का किंचित् भी महत्त्व नहीं आँकते तो उसके लिये यत्न करना दूर की बात है। अतः प्रथम आवश्यकता श्रद्धा की है। श्वेतकेतु को पिता के समझाने पर यह श्रद्धा हुई कि 'हाँ, यह सम्भव अवश्य है।' इससे सूचित किया कि योग्य गुरु तरीके से समझाये तो शिष्य को श्रद्धा भी हो सकती है। श्रद्धा नहीं है तो समझाये नहीं यह विचार श्रुति को इष्ट नहीं वरन् श्रद्धा उपजाने के लिये उचित ढंग से समझाया जाये यह इष्ट है। श्रद्धा का परिचय है प्रत्यङ्-मुखता अर्थात् बहिर्मुखता को छोड़कर ज्ञानरूप आत्मा से सरोकार रखना। यहाँ क्योंकि अभी तक आरुणि ने अध्यात्मोपदेश नहीं दिया और सारे जगत् के ज्ञान की बात कही जो सारे जगत् के कारण के ज्ञान से ही संभव है, इसलिये प्रत्यगात्मा के प्रधानतः सद्रूप पर श्वेतकेतु एकाग्र हुआ यह समझना चाहिये, उसके बुद्धिसाक्षिरूप पर अभी एकाग्र हुआ ऐसा कह नहीं सकते। इससे वैराग्य भी सूचित है। उक्त दृष्टांत बता चुके हैं कि यहाँ नामादि के ज्ञान की संभावना नहीं कही जा रही बल्कि उन्हें मिथ्या ही बताया जा रहा है अतः श्वेतकेतु पराक् नाम-रूपों की महत्त्वरहितता समझ गया तभी वास्तविक कारण समझने को उत्सुक हुआ। तब आरुणि ने उसे वह तत्त्व समझाना प्रारंभ किया जो सारे जगत् का कारण है। जैसे मिट्टी का ज्ञान मिट्टी के सारे कार्यों की सत्यता का ज्ञान करा देता है पर जल आदि अन्य चीज़ों के कार्यों का तो ज्ञान नहीं कराता ऐसे ही जो भी तत्त्व जाना जायेगा वह अपने ही कार्यों का ज्ञान करा सकेगा। सारे जगत् का ज्ञान वही करा सकता है जो सारे जगत् का कारण है, जिस सत्य पर सारा मिथ्या संसार कल्पित है। दृष्टांतों में जो मिट्टी आदि को 'सत्त्य' कहा था वह सापेक्ष सत्यताके अभिप्राय से, यह तो स्पष्ट ही है।।२८।।

उपदेश-प्रारंभ का वाक्य है 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद् एकम् एव अद्वितीयम्' कि 'हे प्रियदर्शन श्वेतकेतु! यह जो कुछ है वह सब सृष्टि से पूर्व सत् ही था, वह सत् तब एक अद्वितीय ही था।' इससे बताया कि समस्त संसार का कारण एकमात्र सद्रूप परमात्मा है। सब कार्यों में यह व्यापक है अतः इसकी कारणता संगत है तथा यह जब नाम-रूप से संवलित नहीं था तब सर्वथा अखण्ड था, निरपेक्ष पूर्ण था। यद्यपि नाम-रूप काल में भी है सत् यथावत् ही तथापि मिल रहा है वैविध्यपूर्ण अतः समझना कठिन है पर जब यह विविधता नहीं थी तब इसका अद्वैत होना समझ आ जाता है। इस वाक्य का ही व्याख्यान करते हैं **आज सद्वस्तु भले ही नाम-रूप से युक्त दीख रही है पर जो यह नाम-रूपवाला जगत् आज सत् (है) दीख रहा है वह अपनी सृष्टि से पूर्व**

इदं जगद् नामरूपयुक्तम् अद्य सद् ईक्ष्यते।
सृष्टेः पुरा सद् एवाऽऽसीद् नाम-रूपविवर्जितम्।।२६।।
मृद्धेमलोहवस्तूनि विकारोत्पत्तितः पुरा।
निर्विकाराण्युपादानमात्राण्यासन् यथा तथा।।३०।।

सन्मात्र था, तब सद्वस्तु नाम-रूप से रहित ही थी।।२६।। अकेले सत् से जगत् बना तो सद्रूप ही हो सकता है जैसे एक पत्थर से बनी मूर्ति पत्थररूप ही होती है या रज्जु से बना सर्प रज्जुरूप ही होता है यह भाव है। यहाँ 'था' आदि केवल कहने का ढंग है क्योंकि सृष्टि से 'पूर्व' तो काल भी नहीं था! पौर्वापर्य स्वयं एक कल्पना है जो तीक्ष्ण विचार से कटकर अजात में निष्ठा अनिवार्य करती है पर अभी हेतुफल की भूमिका स्वीकार कर कह रहे हैं अतः सृष्टिकाल की अपेक्षा से उसे 'था' कहना ठीक है। क्योंकि सत् जगत् का कारण है इसलिये सब चीज़ें सत् से अन्वित मिलती हैं किंतु संसारदशा में सत् भी नाम-रूप से संवलित ही उपलब्ध होता है। नाम-रूप के बिना केवल 'है' से कुछ समझ नहीं आता, 'है' सुनते ही क्या या कौन ऐसी आकांक्षा स्वतः होती है। स्वयं को भी शरीर - मन आदि के संदर्भ में ही हम समझ पाते हैं, इन्हें हटाकर खुद की भी पहचान बहुत मुश्किल है। भोक्ता हो या भोग्य, जगत् के दोनों पहलू नाम-रूपात्मक हैं और इन उपाधियों से एकमेक हुआ सत् हमें प्रतीत हो रहा है। यहाँ की प्रक्रिया में पहले भोग्य जगत् को फिर भोक्ता-जगत् को ब्रह्मरूप सिद्ध करेंगे। प्रारंभ इससे कर रहे हैं कि आज जो फैलाव है यह जब तक फैला नहीं था तब तक एक सत् ही था, जिससे समझ आये कि क्योंकि अकेला सत् ही फैलकर जगत् दीख रहा है इसलिये यह अब भी सत् ही है। तह किया कपड़ा फैलकर चाहे जो दीखे तम्बू, कमरा आदि लेकिन वह वास्तव में रहता तो कपड़ा ही है। इससे यद्यपि परिणामवाद का आभास होता है तथापि विचार की गहरायी में उतरने पर विवर्तरूपता ही स्वीकार होती है।।२६।।

अनेकरस कार्य का कारण एकरस होना भी कोई अचंभा नहीं यह दिखाते हैं **बर्तन, गहने, औजार आदि विकारों की उत्पत्ति से पूर्व मिट्टी, सोना, लोहा वस्तुएँ सिर्फ़ उपादानरूप थीं, उन्हें विकारों के परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा रहा था। इसी तरह सृष्टि से पूर्व सद्वस्तु एकरस थी।।३०।।** उपादान में नानारसता कार्याकार ही हैं, जब वे थे नहीं तब एकरसता स्वाभाविक थी। मिट्टी आदि में ही जब यह दीखता है कि अनेकरस कार्यों में कारण एकरस है तब सारे जगत् के बारे में यह समझना कठिन नहीं है। ध्यान रहे कि केवल उपादान को दृष्टि में

स्व-सजाति-विजात्युत्थभेदत्रयविवर्जनात् ।
एकमेवाऽद्वितीयं तत् सद्वस्त्वित्यवगम्यताम् । ।३१ । ।

रखकर यहाँ बात है, उपादान भी किसी आकार में रहता है जैसे मिट्टी पिण्ड आदि आकार में रहती है, सोना पासा आदि आकार में रहता है पर उन आकारों को नज़रन्दाज़कर जो 'आधार' (श्लो.७) है उसे एकरस कह रहे हैं। मिट्टी आदि तो स्वयं कार्य होने से हमेशा साकार मिलेंगे, उनकी निराकारता तो आकारों के व्यभिचार से और मिट्टी के अनुगम से समझ आयेगी, जबकि सत्तत्त्व अकार्य होने से कार्योत्पत्ति से पूर्व सर्वथा निराकार रहता है। महाभूतविवेक प्रकरण में (श्लो.४१ आदि) पंचदशीकार ने इसे सुस्पष्ट किया है। कारणकाल में कार्य न होने से कारण को निर्विकार कहना संगत है। यद्यपि सत्कार्यवाद के समर्थन के लिये कारण में कार्य निहित बताया जाता है तथापि उसका इतना ही मतलब है कि कारण में कार्य असत् नहीं है, असत् की उत्पत्ति के निषेध में तात्पर्य है, कार्य की वर्तमानता बताने में नहीं, कार्य को तो सदसद्विलक्षण ही समझाना है। जब व्यक्त दशा में ही वह मिथ्या है तो कारणदशा में सत् था यह तो कहना बनता ही नहीं! इस प्रकार स्थापित हुआ कि व्यक्त होने से पूर्व समस्त नाम-रूप केवल सन्मात्र होते हैं। यद्यपि है यह सृष्टि के समय की बात फिर भी साधक इस दृष्टि का प्रयोग करता रह सकता है; विरक्त भी भावी उपयोग को सोचकर अनेक कारण, धनादि एकत्र करने को प्रेरित होता है, तब उसे यह विचार दृढ करना चाहिये कि सन्मात्र से सारा संसार बना है, जब जिस कार्य को प्रकट होना है वह सत् से ही होगा, जो नाम-रूप कारण लग रहे हैं ये सिर्फ़ उपाधि हैं, कारण तो सत् ही है और वह नित्य व्यापक है, उसे न एकत्र करने की ज़रूरत है न सुरक्षित रखने की; इस निश्चय से अपरिग्रह को स्वाभाविक बनाया जा सकता है। ।३० । ।

श्रुति ने सत् को 'एक, ही, अद्वितीय' यों तीन विशेषणों से इतरानपेक्ष बताया क्योंकि तीन तरह से भेद संभावित होते हैं, तीनों का निषेध इष्ट है यह समझाते हैं **स्व के कारण होने वाले, सजाति के कारण होने वाले और विजाति के कारण होने वाले तीनों ही तरह के भेदों से सद्वस्तु रहित थी यह कहने के लिये वेद ने 'एक, ही, अद्वितीय' ये तीन शब्द रखे। ।३१ । । वृक्षका जो शाखा आदि अवयवों से भेद है वह स्व के कारण होने वाला या स्वगत कहा जाता है। अन्य वृक्षों से जो वृक्ष का भेद है वह सजाति के कारण होने वाला या सजातीय कहा जाता है। पत्थर आदि से जो वृक्षका भेद है वह भिन्न जाति वाले के कारण**

वृक्षस्य स्वगतो भेदः शाखाद्यवयवैस्तथा।
वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीयः शिलादितः।।३२।।
न सत्यवयवाः सन्ति तेनैकं स्यादखण्डकम्।
जात्यभावात् सजातीयं विजातीयं च दुर्भणम्।।३३।
एकादिभिः पदैर्भेदत्रयमत्र निवार्यते।
सर्वभेदविहीनं यद् अखण्डं तत् सद् ईक्ष्यताम्।।३४।।

होने वाला या विजातीय कहा जाता है।।३२।। सत् में हिस्से नहीं हैं अतः वह एक, अखण्ड है। सत् अकेला होने से उसकी 'जाति' ही नहीं तो सजातीय या विजातीय भेद की संभावना नहीं।।३३।। अतः 'एक' आदि शब्दों से सत् में त्रिविध भेदका निषेध कर रहे हैं। सारे भेदों से रहित जो अखण्ड वस्तु है उसे सत् समझना चाहिये।।३४।। 'देवदत्त जंगल में अकेला गया' कहने से यह नहीं समझते कि हाथ-पैर-नाक-कान सब घर छोड़कर गया! देवदत्त हाथ-पैर आदि से अलग तो है क्योंकि हाथ कटने पर भी देवदत्त बना रहता है, लेकिन 'अकेला' कहने पर यह अलगाव मना नहीं होता, इतना ही समझ आता है कि दूसरा मनुष्य उसके साथ नहीं गया अर्थात् सजातीय भेद की मनाही है। 'अग्रहार मेंया ब्रह्मपुरी मेंसिर्फ ब्राह्मण रहते हैं' यहाँ इतना ही मतलब है कि क्षत्रियादि वहाँ नहीं रहते, ब्राह्मण तो अनेक वहाँ रहते ही हैं अर्थात् सजातीय भेद तो है, विजातीय भेद नहीं। 'इस गाँव में यह अकेला लोहार है'अर्थात् सजातीय भेद का ही निषेध है। यों त्रिविध भेद लोकसिद्ध हैं अतः तीनों का ही सद्वस्तु में निषेध श्रुति ने किया। ब्रह्म सावयव हो तो कार्य, नश्वर आदि होगा जो वह है नहीं अतः निरवयव है जिससे उसमें स्वगत भेद नहीं। अनेक व्यक्ति हों तो उनमें अनुगत सामान्य को जाति कह सकते हैं, ब्रह्म इकलौता है अतः उसकी जाति असंभव होने से बाकी दोनों तरह के भेद भी उसमें असंभव हैं। वैष्णव ब्रह्म में सजातीय-विजातीय भेद न मानें तो भी स्वगत भेद मानते ही हैं। द्वैतवादी वैष्णवादि तो विजातीय भेद भी मानते हैं। ईश्वर को 'पुरुषविशेष' मानने वाले सजातीय भेद भी कह सकते हैं क्योंकि जीव-ईश्वर एक ही जाति के हैं, दोनों आत्मा हैं। श्रुति ने तीनों तरह के भेद मना कर दिये अतः न तो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि अनेक ईश्वर तब थे, न ब्रह्मातिरिक्त परमाणु, प्रकृति आदि विजातीय कुछ था, वरन् अखण्ड चिन्मात्र ही था यह अभिप्राय है। वृक्ष के दृष्टांत से त्रिविध भेद सुस्पष्ट हैं। तार्किक आदि सत्ता-जाति की कल्पना करते हैं पर वास्तव में सत्ता सन्मात्र का ही नाम है, तद्धित प्रत्यय स्वार्थ में ही है। क्योंकि सत् अधिष्ठान है इसलिये

असद्वादखण्डनम्

अस्तीति शब्द-बुद्धी द्वे दृश्येते नामरूपयोः ।
तदभावात् पुरा सृष्टेः शून्यमाहुरवैदिकाः ।।३५ ।।
नामरूपात्मकं शून्यात् किलैतद् उपपद्यते ।
तदयुक्तं न वन्ध्यायाः पुत्रात् पुत्रान्तरोद्भवः ।।३६ ।।

सब अध्यस्तों में अनुगत दीखता है जिससे उसे सत्ता कह दिया जाता है। जाति मानना तब संगत होता है जब जाति की समान सत्ता वाले अनेक व्यक्ति हों, न्यूनसत्ताक व्यक्तियों में अधिष्ठानविधया अनुगत को जाति कहने का कोई मतलब नहीं। अतः सत्ता जाति मानकर ब्रह्म में सजातीय - विजातीय भेद करना असंगत ही है। यदि अधिष्ठान के लिये ही जाति-शब्द के प्रयोग का आग्रह हो तो भी ब्रह्म में अध्यस्त भेद ही सिद्ध होगा जो दृष्ट होने से स्वीकार ही है! वास्तव में अद्वैत है यही शास्त्र का तात्पर्य है। अत एव सत् में जो जगदुत्पादन की शक्ति थी उससे भी सत् को सद्वितीय नहीं कह सकते क्योंकि वह शक्ति मिथ्या ही थी। यद्यपि यह सन्मात्र विचारपूर्वक श्रवणादिसे ही होगा तथापि साधक ध्यान के समय प्रयास करे कि जो नाम-रूप प्रतीत हो उसे हटाकर सत् पर एकाग्र हो, तो शनैः शनैः सन्मात्र की संकल्पना साफ होगी। प्रारंभ में नाम-रूप हटने पर नींद आने लगेगी, पर तब सोना नहीं चाहिये; जगे रहने का प्रयास करते ही नाम-रूप सामने आयेंगे, तब उन्हें हटाना चाहिये; ऐसा बारंबार लंबे समय तक करते रहने से बुद्धि सद्वस्तु को समझने के लिये तैयार होगी।।३१-४ ।।

आरुणि ने बताया कि जगत्कारण अकेला सत् था तो एक सामान्य शंका होती है कि जगत् ही है, जब जगत् नहीं था तो कुछ भी नहीं रहा होगा! इस शंका का वे स्वयं समाधान करते हुए बोले 'तद्धैक आहुःअसदेवेदमग्र आसीद् एकमेवाऽद्वितीयं, तस्मादसतः सज्जायत।।१।। कुतस्तु खलु सोम्य! एवं स्याद्? इति होवाच। कथम् असतः सज्जायेत? इति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्।' कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि से पूर्व केवल 'नहीं है' था, उसी से 'है'-रूप जगत् पैदा हुआ! लेकिन 'नहीं है' से 'है' पैदा हो नहीं सकता अतः उनकी बात ग़लत है, 'है' ही पूर्व में था। इस श्रुतिखंड को समझाते हैं **अवैदिक कहते हैं कि 'है'यह शब्द और ज्ञान नाम-रूप को ही विषय करते हैं। सृष्टि से पूर्व नाम-रूप न होने से 'है' कहलाने वाला कुछ नहीं हो सकता अतः 'है' न कहलाने वाला शून्य ही तब था, उस शून्य से ही यह नाम-रूपात्मक जगत् पैदा हुआ। अवैदिकों की बात युक्ति-प्रमाण से विरुद्ध है। वन्ध्या के पुत्र से एक**

अन्य पुत्र पैदा हो जाये यह संभव नहीं!।।३५-६।। भाष्यकारने स्पष्ट किया है कि श्रुति का सहारा छोड़कर यदि शुष्कतर्क को ही माना जाये तो निरात्मता, शून्यता पर पहुँचना कठिन नहीं है। जो तो स्वानुभव को भी महत्त्व देगा, वह शून्यके गर्त में नहीं गिरेगा क्योंकि समझ लेगा कि निषेधकर्ता का निषेध कौन कर सकता है! किंतु शुष्कतार्किक वह होता है जो स्वानुभव समेत सब प्रमाणों का अनादर करता है, वह शून्य का प्रतिपादन करे यह ठीक है। आरुणि ने ऐसों का पक्ष बताया कि 'है' वही समझा जाता है जो नाम-रूप वाला है, सृष्टि से पूर्व नाम-रूप नहीं थे तो तब कुछ भी 'है' नहीं कहा जा सकता अतः यही मानना चाहिये कि तब 'नहीं है' ही था। उसी से संसार बन गया। यद्यपि यह श्रुतिदर्शित असद्वाद है तथापि परवर्ती काल में सौगतों ने जो शून्यवाद की कल्पना की उसके प्रकाश में भी इस श्रौत पूर्वपक्ष को समझकर श्रुत्युक्त निरास के अनुसार शून्यवाद का निरास भी कर लेना चाहिये जैसा भाष्यादि में कर दिया गया है। प्रकृत ग्रंथ में उस प्रसंग की कठिनता देखकर केवल असद्वाद का निषेध कर दिया है, पूर्वोत्तर पक्षों का विकास नहीं किया है। वैसे, किसी भी समझदार को असद्वाद इतना मूर्खतापूर्ण और अनुभवविरुद्ध लगता है कि इसकी परीक्षा के लिये उद्यम भी व्यर्थ प्रतीत होता है। फिर भी सौगतों ने यह पक्ष मानने का प्रयास किया अतः आचार्यों ने इसका विस्तृत खण्डन किया है। वर्तमान काल में भी सामाजिक-राजनैतिक कारणों से बौद्धमत में जनता की रुचि बढ़ रही है अतः विवेकी के लिये उस मत की ग़लती समझना ज़रूरी हो जाता है जिसके लिये भाष्यादि का अनुसंधान करना चाहिये।

'शून्यात् किलैतदुपपद्यते' निर्णयसागर में छपा है; मुत्तुकृष्णशास्त्री ने 'दुपजायते' पाठ माना है जो अर्थतः ठीक है। निर्णयसागर में छपे से निकटता रखनी हो तो 'दुदपद्यत' पाठ समझ सकते हैं 'उपपद्यते' का भी अर्थ यही है 'एतद्भवतीति उपपद्यते'।

असद्वाद के निरास में श्रुति ने इतना ही कहा 'यह कैसे हो सकता है!' इसे दृष्टांत से आचार्य ने स्पष्ट किया कि वन्ध्या के जब कोई पुत्र ही नहीं तो उसे पौत्र कहाँ से मिलेगा? वंध्यापुत्र असत् है, उससे जैसे सत् पुत्र नहीं पैदा होता ऐसे ही सृष्टि से पूर्व यदि असत् होता तो उससे भी सत् संसार नहीं पैदा हो सकता था यह तात्पर्य है।।३५-६।।

युक्तिविरोध दिखाकर अब अनुभवविरोध दिखाते हैं **संसार शून्य से पैदा हुआ होता तो 'नाम शून्य (अर्थात् नाम नहीं है), रूप शून्य (रूप नहीं है) यों शून्य (नहीं है) सर्वत्र अनुस्यूत मिलता जबकि मिल रही है सत् की (है की)**

शून्यजत्वे नाम शून्यं रूपं शून्यम् इतीदृशः।
शून्यानुवेधो भासेत सद्वेधस्त्ववभासते।।३७।।

ईक्षणादि

ततः सत् कारणं सत्तु सर्वसृष्ट्यर्थम् ऐक्षत।
बहु स्याम् अहमेवाऽतः प्रजायेयेति मायया।।३८।।

अनुगति, अतः सत् ही कारण है।।३७।। मिट्टी से बनी चीज़ों में मिट्टी की अनुगति अनिवार्य है। आज तक यही देखा जा रहा है कि उपादान के अवयवों को ऊपर-नीचे करने से, उन्हीं में कोई-न-कोई हेरफेर करने से कार्य बनते हैं, कोई सर्वथा नवीन वस्तु बनायी नहीं जा सकती। अधिकाधिक यही होता है कि ऊर्जा द्रव्याकार ग्रहण करे या द्रव्य ऊर्जाकार, किन्तु कुल तत्त्व जो है वही रहता है, न नष्ट होता है, न नया बनता है। इससे सिद्ध होता है कि कार्याकार में उपादान रहना अनिवार्य है। उपादान असत् हो तो वह कार्याकार में भी रहेगा जिससे नाम-रूप हमेशा असत् (नहीं है) लगने चाहिये जबकि लगते सब नियमतः सत् हैं जिससे निश्चित हो जाता है कि उपादान सत् ही है न कि असत्। किंच कुछ भी उत्पन्न करने के लिये सत् कारण को ही बटोरते हैं, ऐसा नहीं कि कुछ नहीं से रोटी बन जाये! सत् आटे से ही रोटी बनती है। इसलिये असत् को जगत्-कारण मानना सर्वथा असंगत है, श्रुति-युक्ति-अनुभूति से विपरीत है।।३७।।

कारणावस्थ सत् ने सृष्टि कैसे की यह आरुणि ने समझाया 'तद् ऐक्षत, बहु स्यां, प्रजायेय इति तत् तेजोऽसृजत' इत्यादि। इसका व्याख्यान करते हैं **सभी कुछ पैदा करने के लिये सत् ने विचार किया 'मैं ही बहुत हो जाऊँ, अतः माया द्वारा प्रकर्ष से उत्पन्न हो जाऊँ।'।।३८।।** पूर्वाध्याय में श्लो.९९ आदि में भी यह विषय आ चुका है। उपनिषदें विचारपूर्वक सृष्टि बताती हैं। यहाँ सत् ने ईक्षण, विचार किया से यह भी पता चल गया कि सत् चेतन है। ईक्षत्यधिकरण में (१.१.५.५-११) इस सन्दर्भ में असीम विचार हैं। इस श्रुति से ब्रह्मकारणता स्थापित होती है, जड क्योंकि विचार, संकल्प, कामना नहीं कर सकता अतः जगत् का कारण नहीं हो सकता यह वेद का सिद्धांत है। क्योंकि सत् को मालूम था कि उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसे लेकर सृष्टि की जाये, इसलिये उसने खुद ही बहुत बनने का निर्णय किया। ऐसा वह इसलिये कर सकता था क्योंकि समर्थ था। अपनी सामर्थ्य से स्वयं में द्वैत नहीं हुआ करता अतः सत् अद्वितीय रहते हुए ही समर्थ था। कुछ खेल अकेला व्यक्ति ही खेलता है, हार-जीत भी होती है; ऐसे ही यह संसार का खेल अकेला सत् ही खेल रहा है। सामर्थ्य मात्र से अकेले

वस्तुतो बहुभावश्चेद् अद्वैतं सद् विनश्यति।
मा भूद् नाश इति श्रुत्या प्रकर्षेण जनिः श्रुता।।३९
प्रकर्षो नाम पूर्वस्माद् आधिक्यम् अधिका तु या।
सा माया न सती नाऽपि शून्या स्याद् दूषितत्वतः।।४०।।
मायया बहुरूपत्वे सदद्वैतं न नश्यति।
मायिकानां हि रूपाणां द्वितीयत्वमसम्भवि।।४१।।

का बहुत हो जाना सपने में हम सबको अनुभूत है। बिना किसी अन्य उपादान या सहायक के हम अकेले ही उच्चावच सारे स्वाप्न पदार्थों को पैदा कर लेते हैं, जड-चेतन, सभी कुछ बना लेते हैं। ऐसे ही सत् ने जीव-ईश्वर-जगत् सब कुछ तैयार किया बिना किसी अन्य उपादान या सहायक के। जैसे स्वप्न सच्चा नहीं, जिसने बनाया वही सच्चा है वैसे जगत् नहीं केवल सत् सत्य है। उसी ने भूत-भौतिक प्रपंच बनाया, भौतिक ही अंतःकरण प्राणादि बनाये तथा उपाधियों के अनुरूप जड-चेतन विभाग कर संसार का खेल कर रहा है।।३८।।

'प्र-जायेय' का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **बहुत होना यदि वास्तविक होता तो सत् अद्वैत न रह जाता, यों अद्वैत समाप्त नहीं हुआ यह बताने के लिये श्रुति ने प्रकर्ष से जन्म कहा।।३९।। पूर्व में जो है उसे नष्ट किये बिना जो अधिकता होती है उसका नाम प्रकर्ष है। एकता बिगाड़े बिना अनेकता मायारूप ही हो सकती है। वह माया न सत् है, न शून्य है क्योंकि दोनों हालतों में श्रुति-युक्ति का विरोध आता है।।४०।। माया के कारण अनेकरूपता होने पर सत् की अद्वितीयता बनी ही रहती है क्योंकि मायिक रूपों को सच की अपेक्षा 'दूसरा' या अलग नहीं माना जा सकता।।४१।।** बीजसे पेड़ बन जाने पर जैसे बीज समाप्त हो जाता है वैसे संसार बनने से परमात्मा का शुद्ध स्वरूप समाप्त नहीं हो जाता! कुछ दार्शनिक यों मानते हैं कि वास्तव में ही परमात्मा कभी सप्रपंच तो कभी निष्प्रपंच होता रहता है! अतः मोक्ष में वे जीवका ईश्वरभाव मानकर भी कहते हैं कि जब ईश्वर पुनः सप्रपंच होगा तो जीवभाव भी फिर से आ जायेगा। कुछ अन्य, दोबारा, सप्रपंचता न मानने पर भी इतना स्वीकारते हैं कि प्रपंचदशा में तो परमेश्वर सविशेष ही है, प्रपंच निवृत्त होने पर ही निर्विशेष हो जायेगा। किसी ने कल्पना की है कि जब तक कोई भी जीव मौजूद है तब तक परमात्मा की सप्रपंचता है, जब सभी जीव मुक्त होंगे तब वह निष्प्रपंच हो जायेगा। ये सारे विचार मायिकता को नज़रन्दाज़ कर ही विकसित होते हैं।

अचिन्त्यशक्तिर्मायाऽतो दुर्घटं घटयत्यसौ।
उपादान-निमित्तत्वे कल्प्येते सति मायया।।४२।।

मायिक सप्रपंचता तो जब है तब भी तत्त्व की निष्प्रपंचता को नहीं मिटाती जैसे मृगतृष्णा का जल बालू के एक कण को भी गीला नहीं करता। श्रुति ने सत् का संकल्प 'जायेय' इतना ही न कहकर 'प्र' विशेषणपूर्वक कहा। 'प्र' का अर्थ प्रकर्ष है : विद्यमान की ही अधिकता को लोक में प्रकर्ष कहते हैं। जिसका प्रकर्ष बतायें वह वस्तु ही न रहे तो प्रकर्ष किसका होगा! अतः वस्तु स्वरूपतः बनी रहे, उसे बिगाड़े बिना अधिकता आ जाये तब प्रकर्ष होता है। बिना कुछ परिवर्तन लाये बढ़ोत्तरी होना यह मायाका ही खेल संभव है,वास्तविक बढ़ोतरी होगी तो परिवर्तन अनिवार्य है। अतः 'प्र' के प्रयोग से श्रुति ने बहुभवन को मायिक घोषित कर दिया। माया स्वयं सदसद्विलक्षण है अतः इससे होने वाला बहुभवन भी अवास्तविक ही होता है, वस्तु यथावत् अविकृत ही बनी रहती है। जैसे हमारी चलने की शक्ति हमसे न अलग कही जा सकती है न एक, वैसे परमात्मशक्ति माया भी सत् से भिन्न या अभिन्न नहीं कही जा सकती। सारा सावयव संसार बनाती है अतः माया निरवयव नहीं कही जा सकती लेकिन अनादि होने से वह सावयव भी नहीं हो सकती। अतः उस अद्भुत सामर्थ्य को अनिर्वचनीय रूप वाला ही मानना पड़ता है। उसका प्रभावभूत बहुत्व भी अत एव अनिर्वाच्य, मिथ्या ही है। सत् तत्त्व का परमार्थ अद्वैत इसीलिये बना रहता है कि सारा द्वैत मायाविलास है। जैसे बाजीगर लाखों रुपये दिखा देता है पर उससे वह धनी नहीं बन जाता, खेल पूरा होने पर दो-दो आने ही माँगता है; वैसे सप्रपंच दीख जाने से सत् सप्रपंच हो नहीं जाता। मायावश दीखने वाले सौ रुपयों में अपना एक रुपया मिलाकर जैसे हम 'एक सौ एक रुपये' नहीं कह सकते उसी प्रकार मायिक बहुत्व के कारण परमात्मा के अद्वैत को समाप्त नहीं मान सकते। इस प्रकार परमेश्वर की निर्विकार नित्य एकरसता बताने वाले श्रुतिवचनों को ध्यान में रखकर यहाँ 'प्र'-शब्द का ऐसा गंभीर भाव मानना पड़ता है।।३९-४१।।

क्योंकि मायासहाय सत् सृष्टि करता है इसलिये अभिन्ननिमित्तोपादानता भी समझ आ जाती है यह बताते हैं **क्योंकि माया वह सब भी कर दिखाती है जो हम सोच भी नहीं सकते इसलिये जो घटित होना असंभव है वह भी माया से घटित हो जाता है। सत् ब्रह्म में संसार के प्रति उपादान होना व निमित्त होना दोनों माया से ही संभव है।।४२।। 'बहुत हो जाऊँ' के द्वारा सत् की उपादानरूपता कही; बर्तन आदि के प्रति जैसे मिट्टी उपादान है वैसे संसार के प्रति सत् उपादान है।**

बहु स्याम् इत्युपादानभावः प्रोक्तो मृदादिवत्।
ऐक्षतेति निमित्तत्वम् इति प्रोक्तं कुलालवत्।।४३।।

'विचार किया' के द्वारा सत् की निमित्तरूपता कही; जैसे कुम्हार विचारपूर्वक बर्तन बनाता है वैसे ईश्वर ने विचारपूर्वक जगत् तैयार किया।।४३।। माया की खास वृत्ति में जो चेतन की छाया पड़ती है वह सत् का ईक्षण या विचार कहा गया है।।४३-१/२।। युक्ति से परे को भी घटाकर दिखाना यही माया का कार्य है। चाहे जितना निर्वचनवाद अपनाया जाये, किसी-न-किसी महत्त्वपूर्ण स्तर पर निर्युक्तिकता को स्थान देना ही पड़ता है। चाहे प्राचीन वैशेषिक हों या आधुनिक वैज्ञानिक, प्रयास अवश्य करते हैं कि सब कुछ तर्कसंगत बने पर बना नहीं पाते। वैशेषिक निरवयव अणुओं का संयोग जैसी अतर्क्य बात मानने को मज़बूर होता है तो वर्तमान वाले हर स्तर पर संभावनाओं के प्रतिशतों को मानना ज़रूरी समझते हैं। इदमित्थम् निर्णय न होना ही संसार की मायिकता स्पष्ट करता है। आनंदरूप आत्मा ही जीव बना दुःखी हो रहा हैयह बिना माया के कैसे समझा जा सकता है! इसी प्रकार वास्तव में सत् न उपादान है न निमित्तक्योंकि दोनों ही सविकारता की अपेक्षा रखते हैंफिर भी कोई वह उपादान और निमित्त दोनों मानना पड़ रहा है क्योंकि श्रुति ऐसा ही समझा रही है और युक्ति से भी अन्य कोई उपाय संभव लगता नहीं, तो यह माया की अचिंत्य सामर्थ्य से ही संभव है। जगत् जब बिना उत्पन्न हुए मौजूद दीख रहा है तब सत् को बिना कारण हुए कारण समझना भी असंगत नहीं कहा जा सकता। स्वप्न के उदाहरण से यह विलक्षण स्थिति स्वीकार्य हो जाती है। सत् को उपादान-निमित्त मानने का हेतु यही है कि श्रुति ने उसी का बहुभवन और ईक्षण दोनों कहे हैं। सत् के ईक्षण, कामना, संकल्प आदि वैसे ही समझने पड़ते हैं जैसे जीव के, पर अंतर यह है कि जीव की उपाधि अंतःकरण रहती है और ईश्वर की उपाधि माया। माया की वृत्ति बनती है और वह सत् से अविविक्त रहती है तो सत् के ही वे ईक्षणादि हो जाते हैं। वृत्तियों के भेद से ईक्षण-कामना-संकल्पादि का भेद है, वृत्तियाँ ये सभी हैं पर इनके आकारादि में अंतर रहता है जैसे मनोवृत्ति तो ज्ञान, इच्छा आदि सब हैं, आकारभेद से ही इनका भेद होता है। वास्तव में न जीव का आत्मभाग कामनादि करता है न ईश्वर का आत्मभाग, दोनों के ही उपाधि-संवलित रूप ईक्षणादि करते हैं। एक प्रश्न होगा कि जीव को तो मन में अध्यास है जिससे वह मनको संचालित कर इच्छादि वृत्तियाँ बनाता है और उनसे स्वयं को इच्छादि वाला समझता है, पर ईश्वर को ऐसा अध्यास संभव नहीं तो मायावृत्ति में चिच्छाया कहने का क्या मतलब? उत्तर है

मायावृत्तिविशेषे या चिच्छायाऽसौ सदीक्षणम्।
ईक्षित्वा ससृजे तेजस्तादृक् सङ्कल्पलीलया।।४४।।

सृष्टिः

आकाशवायू प्राक् सृष्टाविति प्रोवाच तित्तिरिः।
दिङ्मात्रमारुणिः सृष्टेर्वक्तुं तेज उदैरयत्।।४५।।
ब्रह्मोपलक्षणायैव सृष्टिः सर्वत्र कथ्यते।
जगता कियताऽप्येतच्छक्यं लक्षयितुं खलु।।४६।

कि अध्यासरूप नहीं पर आहार्य अभिमान ईश्वर का समझना चाहिये। आहार्य अर्थात् ग़लत है, मिथ्या है ऐसा जानते हुए भी करना। यह भी अनादिसिद्ध मानकर व्यवस्था संगत हो जाती है। अनिर्वाच्य जीव की तरह अनिर्वाच्य ईश्वर भी मान लेने से उक्त प्रश्न का समाधान सरल है। जो अज्ञ है उसे दोनों भ्रम हैं कि 'मैं जीव हूँ' और 'एक कोई ईश्वर है'; भ्रमसिद्ध होने से क्यों-कैसे का सवाल ही निरर्थक हो जाता है।।४२-३-१/२।।

छान्दोग्य में सृष्टिप्रक्रिया तेजस्तत्त्व की उत्पत्ति बताने से प्रारंभ की है अतः इससे पूर्व उत्पन्न आकाश-वायु अर्थात् समझ लेने चाहिये। ऐसे ही यहाँ तीन भूतों का जन्म कहा तो उन्हीं का मिश्रण त्रिवृत्करण से बताया लेकिन तात्पर्य है कि जो भी भूत उत्पन्न हुए हैं उनका ऐसे मिश्रण होता है अतः पाँच भूतों का जन्म होने से पंचीकरण अर्थसिद्ध है। सृष्टि बताने का प्रयोजन ब्रह्म की अद्वैतरूपता उपपन्न करना है अतः इन फ़र्कों का महत्त्व नहीं है; जन्म हुआयह विवक्षित ही नहीं, इतना ही अभिप्रेत है कि जो कुछ है वह एक ब्रह्म ही है। फिर भी शास्त्र ने जो विचार की सरणि स्थापित की है उसे परस्पर संगत रूप में ही समझना उचित होने से शारीरक में उत्पत्ति-प्रसंगों के प्रतीयमान विरोधों का परिहार कर मान्य प्रक्रिया प्रकाशित कर दी है अतः तदनुसार व्याख्या करते हैं **विचार के बाद उक्त ढंग का संकल्प करने की लीला द्वारा सत् ने तेजस्तत्त्व उत्पन्न किया।।४४।। तित्तिरि महर्षि ने बता रखा है कि तेज से पूर्व आकाश और वायु की उत्पत्ति की गयी। आरुणि को सृष्टि की ओर इशारा ही करना था इसलिये उन्होंने तेज से ही प्रारंभ कर दिया।।४५।। उपनिषदों में सृष्टि बताने का इतना ही उद्देश्य है कि कारणता से उपलक्षित हुआ ब्रह्म समझ आ जाये और जगत् के एक हिस्से की कारणता से भी ब्रह्म उपलक्षित हो ही जाता है (अतः हर बार सारी ही सृष्टि बताना अनावश्यक है)।।४६।।** परमात्मा का ईक्षण (विचार) होने पर संसार-रचना का जो संकल्पादि किया गया वह केवल लीला थी, एक लोकसिद्ध क्रम का

प्रदर्शन ही था। नाटक में धक्का खाकर पात्र गिरता है, वहाँ धक्का इतनी ज़ोर से कभी नहीं लगाया जाता जिसके कारण वह गिरे! गिरने का उसने जैसा प्रशिक्षण पाकर अभ्यास किया है वैसे ही गिरेगा, धक्का उसके गिरने का कारण नहीं बनता, फिर भी गिरना उपपन्न लगे इसके लिये ज़रूरी है कि धक्का दिया जाये, बिना धक्के यदि गिरा तो अभीष्ट प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार परमेश्वर का ईक्षण ही सब कुछ संपन्न करेगा, संकल्पादि की अनिवार्यता नहीं है, फिर भी अटपटा न लगे इसलिये वे संकल्पादि करते हैं। विचार में असीम ऊर्जा लोकदृष्ट भी है; मार्क्स का विचार ही था जिससे रूस-चीन के साम्राज्य बड़े हुए। सिद्धान्त-वैज्ञानिकों के विचार में ही सारी तकनीकी प्रगति निहित होती है। स्थूल दृष्टि से सर्वाधिक प्रयास मज़दूर का या प्रयोगादि करने वाले वैज्ञानिक का दीखता है पर उन सबको भी जिसने प्रेरित किया, दिशा दी उस विचार का ही महत्त्व सर्वाधिक है। इसी तरह सत् के ईक्षण में ही सब कर देने की समर्थता है, उसके बाद के कदम तो प्रक्रियामात्र हैं। लीला कहकर यह भी सूचित है कि सृष्टि-निर्माण ईश्वर के लिये कोई आयास-साध्य कार्य नहीं, पलकें खोलना या साँस छोड़ने जैसा यह अनायास कार्य है। स्वप्न में जैसे हम अनायास सड़कें, मकान, शहर, वाहन, जंगल, जानवर आदि सब झट-से बना लेते हैं वैसे सद्ब्रह्म ने लीलामात्र से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बना लिये। कहीं-कहीं वर्णन आता है कि जगद्रचना में परिश्रम हुआ, थकान हुई आदि, वह सब लीला के रूप में ही समझना चाहिये तभी सत्यकाम-सत्यसंकल्प आदि वचनों से तालमेल बैठता है।

आरुणि ने सृष्टि तेजस् से प्रारंभ क्यों बतायी? आकाश-वायु सूक्ष्म हैं, प्रत्यक्ष से उनका ग्रहण नहीं होता। बौद्ध और अनेक आधुनिक भी आकाश को तत्त्व ही नहीं मानते! अभाव को ही आकाश नाम से समझते हैं कि 'कुछ नहीं है' का ही नाम है आकाश। आकाश भी एक भावात्मक तत्त्व है यह काफी विचार से ही समझ आता है। 'आकाशे चाविशेषात्' (२.२.२४) सूत्र में कुछ विचार दिखाये हैं। वायु भी नीरूप होने से सूक्ष्म ही है। दृश्य को मनुष्य जिस सहजता से स्वीकार लेता है उतने आराम से अदृश्य को अंगीकार नहीं कर पाता यह समझकर क्योंकि तेज और उसके आगे के भूत दृश्य हैं इसलिये श्वेतकेतु को उन्हें ही बताने से प्रारंभ किया। जाग्रत् में जीव का स्थान जो दाँयी आँख कहा उसके पीछे एक भाव यह भी है कि हम चक्षुर्दृष्ट को ही अधिक महत्त्व देते हैं। समझाना इतना ही है कि सत् के ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है। मूर्त (तेज-जल-पृथ्वी) पदार्थ हर एक को सच लगते हैं, जब इन सबका ज्ञान सत् को जान

लेने से हो जाता है तब अमूर्तों के लिये कहना ही क्या! अतः दिङ्मात्र अर्थात् दिशानिर्देश यहाँ किया कि कारण-ज्ञान से कार्य ज्ञात होते हैं; आकाश-वायु भी कार्य हैं अतः उनके भी कारण को जानने से वे भी ज्ञात होंगे। उनका कारण तेजआदि के कारण से पृथक् इसलिये नहीं कि मूल प्रतिज्ञा है 'एक को जानने से सब ज्ञात होता है'; यदि उनका कारण कुछ और हो तो सब ज्ञात करने के लिये एक नहीं दो को जानना पड़ेगा! तब प्रतिज्ञा-भंग होगी जो अनुचित है। अत एव आकाश आदि किसी चीज़ को नित्य (अकार्य) मानना भी ग़लत है क्योंकि तब एक के ज्ञान से उन चीजों को नहीं जान पायेंगे, कारणज्ञान से कार्य ही ज्ञात होते हैं, अकार्य तो ज्ञात होंगे नहीं, जबकि श्रुति ने सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की है। अत एव जो कुछ संसार में उपलब्ध है उसकी यदि सृष्टि नहीं भी कही गयी है तो भी सृष्टि माननी अनिवार्य है, तभी एक सत् के ज्ञान से सभी कुछ ज्ञात हो सकेगा। शास्त्र का तात्पर्य सत् के प्रतिपादन में है, सृष्टि उसी प्रयोजन से कही है अतः इसकी सूक्ष्मताओं को शास्त्र आदर नहीं देता। वार्तिकादि में यह और स्पष्ट किया है कि प्रक्रिया के नियमों का महत्त्व नहीं, परम पुरुष का ज्ञान हो इसका ही महत्त्व है। हम दुःखी हैं। यह समझ आ जाये कि जिन नाम-रूपों को हम दुःखहेतु समझ रहे हैं वे कोई सत्य चीज़ें हैं नहीं तो दुःख खुद-ब-खुद मिट जाये। असत्य जानने के बाद यदि रोते भी हैं तो बुरा नहीं लगता! बाइस्कोप या नाटक में दुःखद दृश्य को बहुत जीवंत ढंग से खेला जाये तो सहृदय दर्शक रो पड़ता है किंतु उस रोने को वह नाटक की सफलता का ही चिह्न मानता है, उस नट या निर्देशक को अपना दुश्मन नहीं मान लेता कि 'इसने मुझे क्यों रुलाया'। इसी तरह संसार-मिथ्यात्व का निश्चय होने के बाद यथावसर सुख-दुःख सामने आने पर तदुचित प्रतिक्रियाएँ भले ही हों पर जीव को शोक होना संभव नहीं। कुछ मूर्ख ऐसे भी होते हैं जो मिथ्या जानते हुए भी स्वयं सचमुच उद्वेलित हो जाते हैं, आन्दोलन तक करने लगते हैं कि अमुक खेल में अमुक स्थल पर नायक को नहीं मरना चाहिये! ऐसे ही जो साधक मिथ्या दुःख का भी मज़ा न ले सके उसके लिये रास्ता है कि वह अधिकाधिक समाधि में मग्न रहे ताकि दृश्य का सामना ही न करना पड़े। क्योंकि शास्त्र ब्रह्मबोधन में तत्पर है इसलिये जितना आवश्यक है उतना ही अब्रह्म का उल्लेख पर्याप्त है; पाँच भूत से जैसे ब्रह्म समझ सकते हैं, तीनसे भी वैसे ही वह समझ आ जाता है अतः यहाँ तीन कहना ही पर्याप्त माना। जैसे ध्यान के लिये जो उपाधि मन को स्वयं में एकाग्र कर सके वही पर्याप्त समझी जाती हैयहाँ तक कि किसी साधक को अपनी भैंस से ही अत्यन्त प्रेम था तो गुरु ने उसी में चित्त एकाग्र करने को कह दियावैसे ही जितने से

तेजसोऽचेतनत्वेऽपि तेजः कञ्चुकसंयुतम् ।
सद् ब्रह्म पूर्ववद् वीक्ष्य सङ्कल्पात् ससृजेद्यपः । ।४७ । ।
अप्कञ्चुकं ब्रह्म पृथ्वीम् अन्नहेतुम् अकल्पयत् ।
तेजोऽबन्नेभ्य एतेभ्यो देहबीजानि जज्ञिरे । ।४८ । ।
जरायुजाण्डजोद्भिज्जानीति बीजत्रयं खलु ।
जीवरूपप्रवेशार्थम् ऐक्षत ब्रह्म देवताः । ।४९ । ।

ब्रह्म उपलक्षित हो जाये उतना बताना काफ़ी हो जाता है। सभी वस्तुएँ सत् से बनी हैं अतः किसी के भी द्वारा कारणभूत सत् को समझा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ तीन भूतों का उल्लेख कोई न्यूनता नहीं है यह समझ लेना चाहिये। ।४४-६ । ।

'तेज को सत् ने बना दिया' यह कहकर श्रुति ने बताया 'उस तेज ने विचार किया 'बहुत हो जाऊँ, प्रकर्ष से पैदा होऊँ' । उसने जल बनाया। अत एव गर्मी लगने से पसीना आता है और चित्त में सन्ताप होने से आँसू आते हैं। फिर जल ने विचार किया 'बहुत होऊँ, प्रकर्ष से उत्पन्न होऊँ', और अन्न पैदा किया। आज भी पानी बरसने से पर्याप्त अन्न पैदा होता है। यहाँ तेज और जल को विचार करने वाला कहा जबकि वे जड हैं, विचार कर नहीं सकते। 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः' (२.३.७.१३) इस शारीरकोक्त न्याय से समस्या को सुलझाते हैं **तेज भले ही अचेतन है पर तेजोरूप उपाधि वाले सद् ब्रह्म ने पूर्ववत् विचारपूर्वक संकल्प से जल पैदा किया। ।४७ । । जलोपाधिक ब्रह्म ने ही अन्नोत्पादक पृथ्वी की रचना की। इन तेज-जल-अन्नों से देहों के बीज पैदा हुए। ।४८ । । जरायुज, अण्डज और उद्भिज ये तीन देहबीज हैं। जीवरूप से प्रवेश करने के लिये ब्रह्म ने देवताओं का विचार किया। ।४९ । ।** जिस प्रकार चौराहे पर यातायात-नियंत्रण करता तो सिपाही है पर समुचित वर्दी पहनने पर ही, बिना वर्दी के खड़ा होकर प्रयास करे तो कोई उसके निर्देशों का पालन नहीं करता, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वर्दी नियंत्रण करती है! इसी प्रकार सर्वत्र विचारपूर्वक सृष्टि तो सद् ब्रह्म ही करता है पर तत्तत् उचित उपाधि को धारण करके ही वह वैसा करता है, फिर भी यह मतलब नहीं कि उपाधि सृष्टि आदि करती है। अतः जैसे 'कुर्सी का प्रभाव' कह देते हैं जबकि प्रभाव कुर्सी वाले का है वैसे 'तेज-जल ने विचार किया' यह कह दिया है जबकि विचारादि किया तेजवाले और जलवाले ब्रह्म ने। श्लोक में आये 'कंचुक'-शब्द का मतलब ही वस्त्र है; तेजःकंचुक अर्थात् मानो तेज कोई कुर्ता हो जिसे पहनकर ब्रह्मने जल बनाया। ऐसे ही अप्कंचुक अर्थात् जलरूप कुर्ता पहनकर पृथ्वी

दृष्ट्वा भूय इहोत्पन्नास्तेजोऽबन्नाख्यदेवताः।
एकैकां त्रिवृतं तासु कुर्वे देहादिसृष्टये।।५०।।

बनायी। विवेकी तो मानते हैं कि जहाँ-कहीं भी सृष्टि है वहाँ ब्रह्म ही पैदा कर रहा है, कुम्हार का कंचुक पहनकर वही घड़ा बनाता है, जुलाहे का कंचुक पहनकर वही कपड़ा बनाता है। यहाँ श्रुति ने पृथ्वी को ही अन्न-शब्द से कहा है, आगे भी 'काला रंग अन्न का है' में अन्न से पृथ्वी ही अभिप्रेत है। कार्यवाचक शब्द से कारण का कथन संगत है। 'पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः' (२.३.६.१२) इस शारीरक अधिकरण में इसका विचार है।

तेज-जल-पृथ्वी इन तीनों मूर्त चीज़ों से मूर्त शरीर बनेगा अतः इनसे देहबीजों की उत्पत्ति कही। आकाश-वायु भी शरीर के आवश्यक घटक हैं पर उन्हें यहाँ छोड़कर बात कर रहे हैं, समझना उन्हें भी चाहिये। देहबीज जरायुजादि तीन बताये; यद्यपि स्वेदज चौथे भी प्रसिद्ध हैं तथापि उनका अंडजों में अन्तर्भाव हो सकता है; तात्पर्य गिनती में नहीं वरन् सभी प्रकार के देहबीजों की उत्पत्ति में है। बीजों से देह बनें तब उनमें सद् ब्रह्म प्रवेश करे जिससे संसरण का खेल चलेयह तात्पर्य है। बीज यहाँ जरायुज आदि शरीर कहे हैं जो त्रिवृत्करण के बाद ही बन सकते हैं अतः यहाँ 'पैदा हुए' का मतलब है यथावसर पैदा हुए। अथवा यहाँ सूक्ष्मशरीररूप बीज की उत्पत्ति मान सकते हैं, उसके लिये त्रिवृत्करण नहीं चाहिये। अपूर्वयुक्त सूक्ष्मदेह को बीज समझना संगत है। 'देवताओं का' अर्थात् उक्त तेजादि का। श्रुति है 'सेयं देवतैक्षतहन्त! अहम् इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।' (छां.६.३.२) अर्थात् उस परा देवता सद् ब्रह्म ने विचार किया'अरे! मैं इस जीवरूप से इन देवताओं में घुसकर नाम-रूप का विभाजन करूँ।' श्रुति में देवता कहा अतः यहाँ भी वैसा कह दिया।।४७-९।।

महाभूत बनने पर भी स्थूलीकरण के बिना शरीर और विषय तैयार न हो सकने से बहुभवन संपन्न नहीं होता अतः सद् ब्रह्म ने सृष्टिक्रम जारी रखा **तेज, जल, अन्न नामों वाले उत्पन्न हुए देवताओं को देखकर सत् ने पुनः संकल्प किया कि 'देहादि की सृष्टि हो सके इसलिये अब इनमें से प्रत्येक देवता को त्रिवृत् कर दूँ।'।।५०।।** 'देखकर' अर्थात् जिसलिये ये भूत बनाये थे वह कार्य इनसे कैसे संपन्न किया जाये यह विचार कर। तीनों भूतों को एक विशेष अनुपात में मिलाना त्रिवृत् करना कहा जाता है। आधा हिस्सा तेज में एक चौथाई जल और एक चौथाई पृथ्वी मिलाने पर

तेजस्यबन्नयोरंशावल्पौ प्रक्षिप्य मिश्रणात्।
तेजस्त्रिवृत्कृतं तद्वद् अन्ययोरपि योज्यताम्।।५१।।
तेजोऽबन्नैस्त्रिवृद्भूतैरण्डजादिवपूंष्ययम्।
निर्माय जीवरूपेण प्राविशत् तेषु सर्वतः।।५२।।

प्रवेशः

अहङ्कारस्तु चैतन्यसंयुक्तः प्राणधारणात्।
जीवः स्यात् सर्वदेहेषु व्याप्नोत्यापादमस्तकम्।।५३।।

तैयार तत्त्व त्रिवृत्कृत तेज होगा, तेज की मात्रा ज़्यादा होने से कार्यकारी वही रहेगा पर दूसरों की उपस्थिति से अब वह तत्त्व स्थूल हो जायेगा अर्थात् बहिरिन्द्रियों से व्यवहार के योग्य हो जायेगा। ऐसे ही बाकी दोनों भूतों का त्रिवृत्करण जानना चाहिये। स्थूल भूतों से स्थूल शरीर और स्थूल विषय बनते हैं।।५०।।

त्रिवृत्करण का स्वयं कथन करते हैं **तेज में जल और अन्न के अल्प अंश डालकर मिलाने से त्रिवृत्कृत तेज तैयार हो जाता है। इसी तरह बाकी दोनों भूतों का त्रिवृत्करण समझना चाहिये।।५१।।** उक्त संमिश्रण ईश्वर करता है यह 'त्रिवृत्कुर्वतः' (२.४.२०) सूत्रांश के भाष्य में स्पष्ट है। प्रसंगवश ध्यान रखना चाहिये कि त्रिवृत्करण से पंचीकरण उपलक्षित है अर्थात् क्योंकि कुल पाँच पैदा हुए इसलिये पाँचों के स्थूलीकरण की ज़रूरत है जिससे ईश्वर ने पंचीकरण किया। चाहे त्रिवृत्करण हो या पंचीकरण, एक भूत का अंश अधिक होता है व उसमें अन्य भूतों के स्वल्प अंश मिले होते हैं। अधिक-न्यून के अनुपात में आचार्यों में कुछ मतभेद है, भाष्यकार ने किसी अनुपात का उल्लेख नहीं किया है। हम जिन इन्द्रिय-मन-प्राणों द्वारा व्यवहार करते हैं वे सूक्ष्म भूतों के कार्य हैं, जिन विषयों से व्यवहार करते हैं वे स्थूल भूतों के कार्य हैं। सूक्ष्म भूत शास्त्र से ही समझे जा सकते हैं, इंद्रियों के वे विषय नहीं हैं। अतः इस बारे में युक्ति आदि को विशेष स्थान नहीं है।।५१।।

त्रिवृत्करण के बाद सत् ने शरीरों में जीवरूप से प्रवेश किया यह बताते हैं **त्रिवृत्कृत तेज-जल-अन्न से सद् ब्रह्म ने अण्डज आदि सकल शरीर बनाकर उनमें जीवरूप से पूरी तरह प्रवेश किया।।५२।। चैतन्य से एकमेक हुआ अहंकार क्योंकि प्राणों को धारण करता है इसलिये जीव है जो सभी देहों में पैर से सिर तक फैला हुआ है।।५३।।** प्रवेश के विषय में पूर्वाध्यायों में भी विचार आ चुका है। तादात्म्याध्यास का नाम ही प्रवेश है। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान कहा अतः भूत-भौतिक

अपवादः

सद्वस्तुन्येवमारोप्य संसारो मायया कृतः ।
अविचारकृतारोपनिवृत्त्यर्थं विचार्यताम् । ।५४ । ।

का ही नहीं जीवों का भी विज्ञान सत् के ज्ञान से संभव होना चाहिये। भूत-भौतिक तो सत् के कार्य हैं अतः सत्के ज्ञान से ज्ञात हो जाते हैं, जीव स्वयं सत् ही है अतः सद्विज्ञान से इसका ज्ञान समुचित है। अन्तःकरण की अहमाकार वृत्ति में चेतन का आभास पड़ता है, वह जीव कहा जाता है। पूर्वाध्याय के श्लो. १०४ में भी यह विषय आया था। अपनी उपाधि सहित जो हमें 'मैं' अनुभव होता है वह जीव का ही अनुभव है। इसी के रहते प्राण शरीर में संचार करते रहते हैं। यद्यपि सुषुप्ति आदि में अंतःकरणवृत्ति लीन हो जाती है तथापि जाग्रदादि में पुनः उदय होने से निश्चित है कि सुषुप्ति में भी वह बीज रूप से थी, अत एव प्राण शरीर में संचार करते रहे। सारे शरीर में एक-समान 'मैं' यह चेतना अर्थात् जीव मौजूद है। क्योंकि तादात्म्यपूर्वक परिच्छिन्न बना हुआ है यह सत् ही इसलिये सत् को जान लेने से इसका भी सभी जीवों के वास्तव स्वरूप का, उनके आधारांश का (श्लो.७) ज्ञान संपन्न हो जाता है। ।५३। ।

त्रिवृत्करण कहकर श्रुति ने उपलब्ध हर भूत का ऐसा विवेक भी स्पष्ट किया है जिससे पता चले कि हर-एक में तीनों कैसे विद्यमान हैं। लाल, सफेद और कालाये तीन रंग क्रमशः तेज, जल और पृथ्वी के हैं। हर चीज़ में ये तीन रंग मिलने से पता चलता है कि हर-एक में तीनों तत्त्व हैं। कारणभूत ये तीन तत्त्व ही सत्त्य हैं, इनसे अन्य प्रतीत होने वाले कार्य मिथ्या हैं। कार्य मिथ्या व कारण सत्य होता है अतः भूत भी कार्य होने से मिथ्या तथा इनका कारण सत् ही सत्य है। यह विस्तार से श्रुति ने समझाया है, उसी का संक्षिप्त व्याख्यान करते हैं **माया द्वारा सम्पादित संसार का उक्त ढंग से सद्रूप वस्तु में आरोप करने के बाद अविचार से किये आरोप को मिटाने के लिये विचार करना चाहिये। ।५४। ।** नाम-रूप की सद्रूप से प्रतीति कैसे संभव है यह समझने का नाम शास्त्रीय आरोप है। यह बिना समझे हमें जो सत् के बारे में भ्रम हैं वे अविचार से किये आरोप हैं। जैसे मैल साफ करने के लिये मिट्टी, साबुन आदि खास तरह का मैल ही काम में लेना पड़ता है, मैल को दूसरे मैल से काटकर फिर दोनों मैल हटाने से पदार्थ साफ होता है, वैसे ही अविचारकृत आरोप दूर करने के लिये विचारकृत आरोप का प्रयोग करना पड़ता है, फिर अपवाद द्वारा दोनों आरोप हटाने से निर्विकार सत्तत्त्व प्रकाशमान रहता है, निरावृत हो जाता है। अविचारकृत आरोप बेतरतीब है अतः उसमें एक-एककर

त्रिवृत्करणमग्न्यादौ स्पष्टं तावद् विचारिणः।
प्रसिद्धे तैजसेऽप्यग्नावबन्नांशाववस्थितौ।।५५।।

ही आरोप हटा सकते हैं जो अनंत प्रक्रिया होने से सब आरोप मिटना असंभव है। विचारकृत आरोप सारे आरोपों को तरतीबवार लगा देता है और एक-एक श्रेणी के सभी आरोपों के मूल आरोप तय कर देता है जिससे जब वे मूल आरोप हटते हैं तब उस श्रेणी के समस्त आरोप एक बार में ही हट जाते हैं। इस प्रकार आरोप मिटाने की प्रक्रिया सरल संक्षिप्त सुसाध्य हो जाती है। जैसे पूर्वाध्याय में पाँच कोशों में सारे अध्यात्म आरोप एकत्र कर दिये थे अतः उन्हें दूर भी करा दिया; मैं कामी, मैं क्रोधी, मैं लोभी आदि तो अनेक आरोप होते रहेंगे, उन्हें कहाँ तक कोई हटायेगा! इन सब को एक मन में एकत्र कर लिया तो अब केवल इतना समझना रह गया कि मैं मन नहीं हूँ अर्थात् मन का आरोप ही हटाना है। जब मैं मन नहीं तो अनंत मनोवृत्तियों का मुझ पर आरोप समाप्त हो गया! ऐसे ही सभी कोशों के बारे में समझना चाहिये। इसी तरह घट, पट, मठ आदि असंख्य चीज़ों का आरोप नहीं दूर कर सकते पर उन्हें भूतों में एकत्र कर लें तो केवल पाँच भूतों का आरोप दूर करना पड़ता है, उतने से ही सारे आरोप मिट जाते हैं। इसीलिये वेदान्त-प्रबोधन का ढंग अध्यारोपपूर्वक अपवाद करने का रहा है।।५४।।

अपवाद प्रारंभ करते हुए श्रुति ने कहा 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं, यच्छुक्लं तद् अपां, यत् कृष्णं तद् अन्नस्य; अपागाद् अग्नेरग्नित्वं, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (६.४.१)। अर्थात्त्रिवृत्कृत (स्थूल, दृश्य) अग्नि का जो लाल रूप है वह तेजस्तत्त्व का रूप है, अग्नि का शुक्लरूप जल का रूप है, अग्नि का काला रूप अन्न (पृथ्वी) का है; यों जब तीनों रूप तत्तत् तत्त्व के हैं तो अग्नि की अग्निता निवृत्त हो गयी, केवल कहने को अग्नि कोई एक वस्तु है, वास्तव में तो तीन रूप ही हैं। इसी प्रकार अन्य चीज़ों की भी परीक्षा दिखाई गयी है। जैसे मिट्टी से अन्य बर्तन आदि नहीं यह पहले बताया था वैसे यहाँ समझा रहे हैं कि त्रिवृत्कृत भूत अत्रिवृत्कृत भूतों से पृथक् कुछ नहीं है, मिथ्या ही प्रतीत हो रहे हैं। हमारे व्यवहार का विषय स्थूल प्रपंच इस विचार से मिथ्या निर्णीत हो जाता है। यह प्रसंग स्पष्ट करते हैं **विचारशील के लिये अग्नि आदि स्थूल भूतों में त्रिवृत्करण स्पष्ट ही है। तैजस रूप से प्रसिद्ध अग्नि में भी जल और पृथ्वी के अंश मौजूद हैं।।५५।। अग्नि की लपट में ज़्यादातर लाल रूप रहता है, वही तेजस्तत्त्व का हिस्सा है; ज्वाला में थोड़ा-सा सफेद रूप भी होता है, वह जल का अंश है; ज्वाला में जो थोड़ा-सा काला रूप होता है वह**

ज्वालायां रोहितं रूपं बहुलं तत्तु तेजसः।
किञ्चिच्छुक्लम् अपाम् एतत् किञ्चित् कृष्णं तु भूमिगम्।।५६।।
रूपत्रये भूतगते विविक्ते भौतिकोऽनलः।
कारणव्यतिरेकेण वाचैवारभ्यते वृथा।।५७।।
जगतश्चाक्षुषस्येत्थं मिथ्यात्वं वक्तुमादितः।
तेजोऽबन्नत्रयस्याऽत्र चाक्षुषस्योदिता जनिः।।५८।।
आदित्यचन्द्रविद्युत्सु मिथ्यात्वं वह्निवद् नयेत्।
गृहीत्वैतावता व्याप्तिं कार्यमिथ्यात्वम् ऊह्यताम्।।५९।।

पृथ्वी का भाग है।।५६।। उक्त तीनों महाभूतों के तीनों रूपों को अलग-अलग समझ लें तो पता चलता है कि कारणीभूत सूक्ष्म महाभूतों से अतिरिक्त जो उनसे जन्य स्थूल अग्नि है वह कोई *वस्तु* नहीं, केवल कहने के लिये वह कोई द्रव्य है, वास्तव में उक्त तीन रूपों से स्वतंत्र 'अग्नि'-शब्द का अर्थभूत कोई तत्त्व नहीं है।।५७।। इस प्रकार नेत्रदृश्य जगत् मिथ्या है यह समझाने के लिये यहाँ प्रारंभ में नेत्रदृश्य तीन भूतों की तेज, जल, पृथ्वी कीसत् से उत्पत्ति कही थी।।५८।। आग की तरह सूर्य, चन्द्र, बिजली का मिथ्यात्व भी समझ लेना चाहिये और इतने स्थलों की परीक्षा से नियम जानकर यह निर्णय कर लेना चाहिये कि सभी कार्य मिथ्या होते हैं।।५९।। सारा व्यवहार कार्यक्षेत्र में है, उस कार्य की परीक्षाकर उसे मिथ्या समझ लेने से व्यवहार का मिथ्यात्व निर्णीत हो जाने पर जीव के विक्षेप की शांति हो जाती है। विक्षेप तभी होता है जब विक्षेपहेतु को सत्य समझा जाये, उसे मिथ्या जानने के बाद यह तो हो सकता है कि वह अच्छा न लगे पर उससे विक्षेप नहीं होता, हम स्वयं अपनी शांति नहीं खोते। यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया तेज की उत्पत्ति से प्रारंभ की थी क्योंकि वहीं से चक्षुर्दृश्य पदार्थ शुरू होते हैं और हमें वे ही सर्वाधिक निश्चित सत्य लगते हैं। उन्हें मिथ्या सिद्ध कर देने पर जो अदृश्य कार्य हैं वे मिथ्या हैं यह समझना सरल हो जाता है। हमें लगता है कि यह फूल दीख रहा है, यह सत्य वस्तु है। उक्त ढंग से सोचें तो पता चले कि पृथ्वी-जल-तेज से अलग फूल-नाम की कोई चीज़ है ही नहीं! इन्द्रियविषयों को हम सत्य मानते हैं पर यहाँ बताये विवेक से स्पष्ट होता है कि सत्य माना जाता कार्यवर्ग केवल कहने-भरको है, कारणरूप भूतों से अतिरिक्त ये कोई चीज़ें नहीं हैं। आधुनिक रसायन की दृष्टि से जैसे अट्ठानवे ही 'तत्त्व' हैं, उन्हीं के मेल-जोल से संसार के सारे पदार्थ हैं, लगता है कि पदार्थ अलग-अलग हैं

लेकिन रासायनिक दृष्टि से अट्ठानवे तत्त्वों से अलग कुछ नहीं है, वैसे ही भूतत्रय से अलग कोई स्थूल चीज़ें नहीं हैं। अथवा आधुनिक भौतिकशास्त्री ऋणाणु-धनाणु से अतिरिक्त कोई 'तत्त्व' नहीं मानता; ऋणाणु आदि की संख्या बढ़ने-घटने से ही विविध पदार्थ प्रतीत होते हैं पर उन ऋणाणु आदि से स्वतंत्र वे पदार्थ कुछ हैं नहीं, इसी तरह भौतिक जगत् भूतमात्र है। विचारक हो या वैज्ञानिक, किसी स्तर पर सब मानते हैं कि जो प्रतीयमान संसार है यह जैसा लग रहा है वैसा सत्य नहीं है, सत्य कुछ और है जो सामान्यतः अनुभव में नहीं आ रहा, विचार से ही समझ आता है, तथा उस सत्य को न समझकर ही प्रतीतिसिद्ध भेदभिन्न जगत् सत्य माना जा रहा है। वैदिकों ने इसी बात को मिथ्यात्व की धारणा से प्रकट किया जिसे यहाँ तीन रूपों, तीन भूतों के सहारे समझा रहे हैं। चक्षु से दृश्य की तरह अन्य इंद्रियों से ग्राह्य और मनोग्राह्य वस्तुओं का भी विवेक के प्रकाश में विश्लेषण करने पर यह समझ आ सकता है कि वास्तव में भूतत्रय ही हैं; तदन्य जो विषयों का वैविध्य दीख रहा है यह मिथ्या ही है। हमें कष्ट भूतत्रयसे नहीं, विविध विषयों से ही होता है, उन्हें असत्य जान लें तो कष्ट मिट जायेगा। 'है कुछ, दीखता कुछ और है'यह साधारण विचार विवेकी भी समझ सकता है। इसके बावजूद, द्वैत सत्य मानने वाले आस्तिक-नास्तिक वादी भगवान् भाष्यकार के सिद्धान्त के अंगभूत मिथ्यात्व की अवधारणा को आत्मसात् नहीं कर पाते यह एक आश्चर्य ही है! तत्त्व है हाइड्रोजन-आक्सीजन नामक *दो* गैसें, लगता है पानी कोई *एक* चीज़ है; उक्त गैसों से अन्य पानी कहलाने वाली चीज़ मिथ्या हैयह स्थूल दृष्टि वाला रसायनशास्त्री भी मान लेता है पर स्वयं को दार्शनिक कहने वाले वादी नहीं समझ पाते तो अवश्य उनका आग्रह ही आड़े आता होगा। अस्तु, श्रुति तो भौतिक-भूत-सत् इस क्रम से कार्यमिथ्यात्व समझाकर सन्मात्र को सत्य बता रही है। यहाँ भूतत्रय केवल सरलता के लिये ग्रहण किये हैं, समझना पाँचों को है। यद्यपि पाँच की गिनती में विशेषता नहीं तथापि पाँच ही हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ होने से पाँच भूतों के संदर्भ में संसार को समझना सहज होता है। श्रुति ने अग्नि से अतिरिक्त सूर्य, चंद्र और बादलों में चमकने वाली बिजलीइन तीन का भी विवेक दिखाया है कि ये तीनों दृश्य पदार्थ भी लाल-सफेद-काले भूतत्रय से स्वतंत्र कुछ नहीं हैं। इन सब स्थलों के विचार से निर्णय यह करना है कि सभी कार्य अपने कारणों से अतिरिक्त मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, सच कारण ही होता है।।५५-६।।

एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की ओर जाने का मार्ग बना : भूतत्रय विज्ञान से समस्त भौतिकों का विज्ञान; लाल-सफेद-काला जान लिये तो संसार में सभी चाक्षुष चीज़ें जान

तेजोऽबन्नाख्यकार्याणां मिथ्यात्वे स्यात् सदद्वयम्।
कारणं सत्यमेषां तु पूर्वेषां ज्ञानिनां मतिः।।६०।।

देहविवेकः

दृश्ये बाह्ये भौतिकत्वमस्तु देहे तु नो तथा।
इति मूढमतेर्नुत्त्यै देहे भौतिकतोच्यते।।६१।।

लीं, इसी नीति से सत् जान लेने पर ये भूत भी ज्ञात हो जाते हैं। दृश्य जगत् के संदर्भ को पूरा करते हैं **क्योंकि पूर्वोक्त तेज-जल-पृथ्वी नामक कार्य मिथ्या हैं इसलिये इनका कारण अद्वय सत् ही सत्य हैयह प्राचीन जानकारों का विचारित निर्णय है।।६०।।** प्राचीनों का उल्लेख श्रद्धा उपजाने के लिये है। प्रतीति को महत्त्व न देकर विचारित निश्चय को महत्त्व देने से ही मिथ्यात्व समझ आता है और इसका उपयोग क्या है, सामान्य व्यवहार में व्यवधान बिना डाले यह शोक-मोह से कैसे छुटकारा दिलाता है यह पता चलता है। संसार किसी और तरह का दीखेगा नहीं! दीखेगा ऐसा ही, विवेक से पता रहेगा कि जैसा दीख रहा है वैसा है नहीं, सत्य केवल सत् है। इस स्थिति के लिये पुनः-पुनः उक्त क्रम से हर चीज़ का विवेक करना साधक का कार्य है।।६०।।

द्रष्टा की ओर बढ़ने के लिये अब क्रमशः शरीर-मन के मिथ्यात्व को स्पष्ट करेंगे। श्रुति ने समझाया है कि खाये अन्न के परिपाक से जो स्थूलतम भाग बनता है वह मल है, मध्यम भाग मांस या स्थूल शरीर बनता है और सूक्ष्म भाग मन बनता है। पिये जल का स्थूलतम हिस्सा मूत्र, मध्यम हिस्सा खून और सूक्ष्म हिस्सा प्राण बनता है। खाये हुए तेज का (तेल, घी आदि का) स्थूलतम अंश हड्डी, मध्यम मज्जा और सूक्ष्म वाक् बनता है। इस प्रकार हमें जो शरीर नामक एक चीज़ अनुभव में आ रही है वह भी तेज-जल-पृथ्वी से अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैसे दही मथने से मक्खन ऊपर आ जाता है, छाछ नीचे रह जाती है वैसे ही उक्त खाये-पिये पदार्थों के तीन तरह के परिपाक हो जाते हैं जिनसे उक्त त्रिविध कार्य बनते हैं। आजकल मिट्टीतेल का शोधन ऐसे करते हैं कि उस एक मूल तेल से ही विभिन्न स्तरों की शुद्धि होने पर विभिन्न पदार्थ तैयार हो जाते हैं, उसी तरह एक ही अन्न-जलादि से उक्त स्थूलतम-मध्य-सूक्ष्म त्रिविध कार्य बनते हैं। तात्पर्य यही स्पष्ट करने में है कि शरीरादि भी वास्तव में तेज आदि मात्र है, उससे अन्य कुछ नहीं। इस प्रसंग को समझाते हैं **बाहरी दृश्य विषय भले ही भौतिक हों, हमारा शरीर तो भूतमात्र नहीं होगा, कोई सत्य चीज़ होगाऐसा मूर्खों को लगता है। उनका भ्रम दूर करने के लिये बताते हैं कि शरीर भी भौतिक ही है।।६१।।**

यदन्नं पार्थिवं भुक्तं तद् धी-मांस-पुरीषकैः।
सूक्ष्म-मध्य-स्थूलभागैर्देहेऽस्मिन् परिणम्यते।।६२।।
प्राणलोहितमूत्रांशैरपां परिणतिस्त्रिधा।
वाङ्मज्जास्थिविभेदः स्याद् घृततैलादितेजसः।।६३।।
स्थूले च मध्यमे भागे कारणानुगतिः स्फुटा।
धीप्राणवाक्षु सन्देहं दधिदृष्टान्ततोऽनुदत्।।६४।।
घृते विलीनो दध्यंशोऽनुगतो भाति न स्फुटः।
तथापि दधिकार्यत्वं विद्यते सर्वसम्मतम्।।६५।।
तथा मनःप्राणवाचां भवत्वन्नादिकार्यता।
अतीन्द्रियत्वात् प्रत्यक्षा कारणानुगतिर्न हि।।६६।।

खाये गये पार्थिव अन्न के सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल भाग इस शरीर में क्रमशः मन, मांस और विष्ठा के रूप में परिणत हो जाते हैं।।६२।। पिये जल के तीन तरह के कार्य होते हैंप्राण, खून और मूत्र। घी, तेल आदि तैजस जो कुछ खाया जाता है उससे वाणी, मज्जा और हड्डी बन जाते हैं।।६३।। स्थूल और मध्यम भागों के परिणामों में तो अन्नादि की अनुगति स्पष्ट है। मन-प्राण-वाणी में अन्नादि कैसे अनुस्यूत हैं यह समझाने के लिये दही का उदाहरण दिया गया।।६४।। घी में दही का अंश मौजूद होने से दही उसमें अनुगत तो है पर साफ़-साफ़ पता नहीं चलता फिर भी सभी को स्वीकार है कि घी दही का कार्य है।।६५।। ऐसे ही मन-प्राण-वाणी हैं अन्न-जल-तेज के कार्य ही लेकिन इन्द्रियातीत होने से उनमें कारण की अनुगति प्रत्यक्ष नहीं है।।६६।। बाह्य विषयों में विवेक करने वाले भी जब अपने शरीर के विश्लेषण की बात आती है तब विचार से मुँह मोड़ना चाहते हैं। जानते हुए भी मोहवश उसे यथाप्रतीति सत्य मानना चाहते हैं। जन्मान्तरवादी जानता है कि आत्मा ब्राह्मणादि नहीं हो सकता, क्योंकि हर जन्म में ब्राह्मण ही रहे ऐसा नियम नहीं, लेकिन इस बात को स्वीकारना नहीं चाहता, छिपाये रखने की प्रवृत्ति होती है। ऐसे ही 'अन्य सब अट्ठानवे तत्त्व हैं तो तुम्हारा शरीर भी उन तत्त्वों से अलग कुछ नहीं है?' पूछने पर रसायनशास्त्री भी साफ जवाब नहीं देना चाहता। इसी प्रकार यहाँ, सारे संसार को भौतिक मानकर भी अपने शरीर को वास्तविक मानने वाले साधक के मार्गदर्शनार्थ श्रुति प्रवृत्त हो रही है।

खाये गये अन्न से शरीर बनता है यह अनुभव, युक्ति आदि सभी से सिद्ध है।

कीटनाशक आदि से संयुक्त अन्न खाकर शरीर में विविध विकार, दौर्बल्य आज स्पष्ट ही हैं। श्रुति स्पष्ट करती है कि खाये अन्न से ही मन भी बनता है। यद्यपि सभी इंद्रियों से तत्तत् विषय खाये जाते हैं और सभी का मन की रचना में पूरा योगदान है तथापि पार्थिव अन्न से मन का बनना विशेष है क्योंकि आगे बतायेंगे कि पंद्रह दिन न खाने से मन क्षीण हो जाता है और खाने पर पुनः अंगोपेत हो जाता है। अतः सात्त्विक भोजन करने पर भी यदि इन्द्रियान्तर से असात्त्विक विषय-आहरण करेंगे तो मन सात्त्विक नहीं रहेगा यह भी ठीक है क्योंकि सभी इंद्रियों से किया आहार मन बनाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सात्त्विक भोजन करना व्यर्थ है, क्योंकि वह भी मन बनाता ही है। अन्न सात्त्विक होगा तो कम-से-कम उतना मनोंश भी सात्त्विक होगा। सनातन धर्म से अन्य मत-मज़हब भोजन का महत्त्व नहीं आँकते, पर हम इसका महत्त्व पहचानते हैं। किस की दृष्टि पड़ी, किसने और किस भाव से बनाया, कहाँ-कब बनाया, कैसे धन से अन्न आया आदि सबका प्रभाव शरीर और मन पर अवश्य पड़ता है। चित्त-शुद्धि के लिये आहार-शुद्धि आवश्यक है। ऐसे ही जल-तेज के बारे में समझना चाहिये। जल-प्राण का संबंध आधुनिकों को भी मान्य है अतः अन्यान्य ग्रहों में जल के होने-न-होने से ही प्राणियों के होने-न-होने की संभावना मानी जाती है। सर्वथा जल के अभाव में प्राणी नहीं रह सकता यही मान्यता है। विष्ठा-मूत्र-हड्डी स्थूलतम हैं, इनमें चेतना अभिव्यक्त नहीं। मध्यम भाग में चेतना है और सूक्ष्म में वह ज़्यादा स्फुट है। मन आदि में अन्नादि उस तरह प्रतीत नहीं हो सकते जैसे घट में मिट्टी या मल में गंध, क्योंकि मन आदि स्वयं अतींद्रिय हैं, पर शास्त्रानुसार मान्य हैं, युक्ति व प्रयोग से समझे जा सकते हैं। अन्न का प्रयोगात्मक प्रमाण स्वयं श्रुति बतायेगी, प्राण-जल का स्वयं प्यासे रहकर देख सकते हैं, तेज-वाक् के लिए भाष्यकार ने कहा है कि तेल-घी आदि के भक्षण से वाक् बोलने में विशेष समर्थ होती है, इसका भी प्रयोग से सत्यापन किया जा सकता है।

साफ़-साफ़ न दीखने पर भी कारण की अवस्थिति माननी पड़ती इसे यहाँ घी में दही के दृष्टांत से बताया। दूध में ही घी है, वही दही में रहता है, वही मथने पर पृथक् हो जाता है, अतः दूध या दही के अंश का ही नाम घी है जिसे यों भी कह सकते हैं कि दही अंशविधया घीरूप में मौजूद है। पर जिसने दही से दूध बनता है यह नहीं समझा है वह घी देखकर नहीं पता लगा सकता कि उसमें दही का अंश है। तात्पर्य यह है कि अनेक स्थलों पर कार्य में कारण की अनुगति बिना समझाये नहीं पता चलती पर रहती सर्वत्र है। ऐसे ही मन आदि तीनों में अन्नादि की अनुगति है। इसलिये मन आदि भी अन्नादि

मनोविवेकः

नित्यद्रव्यं मनो नाऽन्नकार्यम् इत्याह तार्किकः।
स एषोऽङ्गारदृष्टान्तद्वारेण प्रतिबोध्यते।।६७।।

से पृथक् कोई वस्तु नहीं हैं, मिथ्या हैं।।६१-६।।

मनको अन्न का कार्य कहा; इसे अन्वय-व्यतिरेक द्वारा समझाते हैं **तार्किक कहता है कि मन अन्न का (महाभूतों का ही) कार्य नहीं वरन् स्वतंत्र नित्य द्रव्य है। अंगारे के दृष्टान्त से तार्किक को समझाया जाता हैः।।६७।। जिस तरह ईंधन क्षीण हो जाने पर अंगारे में जुगुनु जितनी आग रह जाती है और उसी में ईंधन बढ़ाते जायें तो आग तेज़ हो जाती है उसी प्रकार अन्नकी कमी से मन हीनबल हो जाता है तथा अन्न मिल जाये तो पुष्ट हो जाता है।।६८।। अन्न खाना छोड़ दिया जाये तो पन्द्रह दिनों में मन क्षीण हो जाता है। अतः जब श्वेतकेतु ने ऐसा प्रयोग किया था तब पंद्रह दिन बाद उसे कुछ याद नहीं रह गया था।।६९।। फिर जब अन्न से मन पुष्ट हो गया तब तत्काल उसे वेद याद आ गये। यों 'मनकी पुष्टि तभी होती है जब पर्याप्त अन्न मिलता है' इस अन्वय और 'अन्न न मिलने पर मन क्षीण हो जाता है' इस व्यतिरेक से यह समझ लेना चाहिये कि मन अन्न का विकार है।।७०।।** गौतम व कणाद ऋषियों द्वारा विकसित न्याय व वैशेषिक दर्शन अपनी मान्यताओं को तर्कसंमत मानते हैं, उनके लिये शास्त्र पर ही निर्भर नहीं हैं अतः वे दोनों तार्किक कहलाते हैं। उन्होंने मनको सनातन, अभौतिक, अणुपरिमाणी द्रव्य माना है जिसकी संख्या अनंत है, प्रत्येक आत्मा का एक मन है, आत्मा अनंत हैं अतः मन भी अनंत हैं। शास्त्र में अनेक जगह मनको भौतिक, कार्य कहा है एवं युगपत् अनेकों से उसे संयोगी मानकर उसे अणु मानना भी विरुद्ध है अतः तार्किकों की बात सर्वथा गलत है। आरुणि ने यह स्पष्ट करने के लिये कि मन अन्न से बनता है, श्वेतकेतु से कहा 'पंद्रह दिन कुछ न खा, पानी पीता रह क्योंकि बिना पानी के प्राण रह नहीं पायेंगे।' पंद्रह दिन से भूखे श्वेतकेतु को पिता ने कहा 'ऋगादि जो याद है वह सुना।' उसे कुछ याद नहीं आया! तब आरुणि ने अंगारे का उदाहरण दिया

'यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः
स्यात् तेन ततोऽपि न बहु दहेद्, एवं सोम्य ते षोडशानां
कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात् तयैतर्हि वेदान् नानुभवसि।
अशान। अथ मे विज्ञास्यसीति' (६.७.३)

अर्थात् 'खूब तेज़ जलती आग का ईंधन खत्म होने पर जुगुनु जितना अंगारा बच जाये तो जैसे वह थोड़ी चीज़ भी नहीं जला पाता वैसे तेरी सोलह में से एक कला ही बची है अतः तू याद नहीं कर पा रहा। जाकर भोजन कर, फिर मेरी बात (कि अन्न से मन बनता है) समझ आ जायेगी।' श्वेतकेतु ने जब भोजन कर लिया तब उसे पढ़ा हुआ सारा वेद याद आ गया। तब आरुणि ने समझाया

'एकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय
प्राज्वलयेत् तेन ततोऽपि बहु दहेत्।।५।। एवं सोम्य ते
षोडशानां कलानाम् एका कलाऽतिशिष्टाऽभूत् साऽन्नेन
उपसमाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदान् अनुभवसि' (६.७.५-६)

अर्थात् क्षीण से अंगारे को भी छोटे तिनकों का ईंधन देकर आग को बढ़ाया जाता है, ऐसे ही बची हुए एक कला को अन्नका ईंधन मिल गया तो वह बढ़कर पूर्ववत् स्मरण में सक्षम हो गयी। इससे सिद्ध है कि मन अन्नकार्य ही है। चावल में जितना-मर्ज़ी देखते रहो, खुर्दबीनसे भी देख लो, वहाँ मन नहीं दीखेगा! विचारपूर्वक और प्रयोगपूर्वक ही पता चलता है कि अन्न से मन बनता है। वर्तमान काल में भी माना जाता है कि खुराक अच्छी मिले तो बुद्धि का विकास समुचित होता है, यह भी मन को अन्नमय मानकर ही समझ आता है।

मन को सूक्ष्म भूतों का कार्य भी बताया गया है, अन्न स्थूल है, स्थूल का भी वह कार्य कहा जा रहा है, दोनों बातों की संगति कैसे? भूखे रहकर भी जो एक कला बच गयी वह सूक्ष्मभूतों का कार्य है जो सृष्टि-आरंभ में बन जाता है और प्रलय तक रहता है, सुषुप्ति में कुछ देर लीन होकर पुनः प्रकट हो जाता है तथा पुर्यष्टक में जुड़कर देहान्तर में जाता है। बाकी पंद्रह कलाएँ स्थूल अन्न का कार्य हैं जिनका उपचय-अपचय होता रहता है। हवा भरने से गुब्बारा या पहिये की ट्यूब फूलकर कार्यसमर्थ होती है, हवा निकलने से असमर्थ हो जाती है पर ट्यूब तो रहती ही है, उसमें फिर भी हवा भर सकते हैं; इसी तरह अपंचीकृत भूतों का कार्य मन ट्यूब की जगह है। तथा अन्नकार्य सक्षम मन फूली हुई ट्यूब की जगह है। अतः दोनों बातें संगत हैं। यही न्याय प्राण-वाक् में भी समझना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं कि उस एक कला को यहाँ भौतिक नहीं बताया जिससे एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा-पूर्ति में बाधा आये! यहाँ जब पंद्रह कलाएँ भौतिक सिद्ध कर दीं तब मनोरूप होने से सोलहवीं भी भौतिक है यह अनुमान सरल है। सूक्ष्म-स्थूल भूतों के कार्यांशों का भेद होने पर भी भूतकार्यता तो समान ही है। अथवा

यथा खद्योतमात्रः स्याद् अङ्गारः काष्ठसङ्क्षये।
काष्ठवृद्धौ ज्वलत्यग्निस्तथा विद्याद् मनोऽन्नयोः।।६८।।
त्यक्तेऽन्ने पञ्चदशसु दिनेषु क्षीयते मनः।
तेन स्मर्तुं न शक्तोऽभूच्छ्वेतकेतुः स किञ्चन।।६९।।
अन्नेन पुष्टे मनसि वेदान् सस्मार तत्क्षणात्।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां मनोऽन्नमयम् इष्यताम्।।७०।।

सन्निर्णयः

भौतिकत्वेऽखिलस्यैवं स्थिते भूतातिरेकतः।
तन्नास्ति तद्वद् भूतानि नैव सद्व्यतिरेकतः।।७१।।
जगतः कारणं यत् सद् अद्वैतं तद् विजज्ञिवान्।
श्वेतकेतुस्तावताऽस्य जीवत्वं न निवर्तते।।७२।।

पूर्ववर्णित क्रमिक पाक की दृष्टि से मिट्टीतेल के शोधन की तरह मान सकते हैं कि अन्नका सूक्ष्मांश भी मन से जुड़ता है। श्रुति ने 'योऽणिष्ठस्तन्मनः' (६.५.१) यों कहा भी था कि सर्वाधिक अणु भाग ही मन बनता है और अणु का यहाँ अर्थ सूक्ष्म ही है इसमें 'अणवश्च' (२.४.३.७) सूत्र-भाष्यादि प्रमाण है। क्योंकि 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' आदि से अन्न-पाक ईश्वरकार्य है इसलिये यह भी प्रश्न नहीं उठता कि जीव स्थूल से सूक्ष्म कैसे निकाल लेगा; ईश्वर ही निकालकर मन से जोड़ देता है यह स्वीकारना उचित है। इस प्रकार विषय, शरीर, मन आदि सब तेज आदि ही हैं, उनसे अन्य इनकी प्रतीति इन्हें मिथ्या ही निर्धारित करती है।।६७-७०।।

उक्त विवेचन का सार बताते हैं **इस तरह निश्चित है कि प्रतीयमान सारा जगत्मनआदि अध्यात्म उपाधियों से घट पर्यन्तभौतिक है अतः भूतों से पृथक् जगत् की कोई सत्ता नहीं है। इसी तरह भूत भी सत् से पृथक् कुछ नहीं है।।७१।। जगत् का कारण जो सत् ब्रह्म है उस वास्तव अद्वैत को श्वेतकेतु ने समझ लिया। किंतु इतना जानकर उसका जीवभाव नहीं छूटा!।।७२।।** कारण से कार्य अनन्य है अतः कार्य मिथ्या है, इस नियम से एक अधिष्ठान सत् को छोड़कर सारा संसार असत्य है यह समझ आ जाता है। विवेक का अभ्यास बार-बार करने से ही यह पहचानने की सामर्थ्य आती है कि सत्य क्या है। दृढ अभ्यास होने पर तो दृश्य को सीधे ही सन्मात्र समझ सकते हैं, प्रारंभ में भौतिक-भूत क्रम से विचार करना पड़ेगा। जो भी दृश्य हो उसे तीन रंगों से अर्थात् भूतों से अनतिरिक्त समझकर भूतों को

सत्से अनतिरिक्त समझना चाहिये। नाम-रूप विशेषों की उपेक्षा करने का शनैः शनैः अभ्यास होगा। यहाँ की प्रक्रिया चाक्षुष दृश्यों के अपवाद के लिये है। अन्य इन्द्रियों के विषयों का अपवाद बृहदारण्यक की एकायन प्रक्रिया से या माण्डूक्य की अवस्था प्रक्रिया से समझना चाहिये। मुख्य व्यवहार्य विषय दृश्य होते हैं अतः उनके लिये बताये इस तरीके का अभ्यास बहुत कारगर है। वैसे भी साधक प्रायः एक इंद्रिय के विषयों के बारे में ही ज़्यादा सावधानी से अपवाद का प्रयास कर सकता है, उसमें दृढता आने के बाद ही अन्य विषय का विश्लेषण करना चाहिये, इकट्ठे ही सब विषयों के विलयन में प्रवृत्ति अतिकठिन है। सफेद कागज़, कपड़ा, फूल आदि देखते हैं; निश्चय करना पड़ेगा कि यह जल ही है, जल से अन्य इसकी कोई सत्ता नहीं। ऐसे ही जो लाल दीखे उसे तेज और काले को पृथ्वी जानने का प्रयास करना चाहिये। सभी रंगों को इन तीन में समेटना पड़ेगा, थोड़े-बहुत अंतरों को न गिनते हुए सफेद आदि तीनों की अनेक छायाएँ, छटाएँ समझ लेनी पड़ेंगी। यह उपासना नहीं क्योंकि वास्तव में विषय भूतकार्य हैं। यदि घट मृत्कार्य न हो और समझा जाये तो उपासना हो सकती है पर मृत्कार्य है और उसे मृद्रूप समझें तो यथावस्तु ज्ञान ही है। भ्रम से जो उसका पृथक् सत्त्व मान रहे हैं वह छोड़कर उसका स्थायी स्वरूप समझा जा रहा है अतः प्रयासपूर्वक प्रमा कर रहे हैं, उपासना नहीं। सूक्ष्म चीज़ों की प्रमा के लिये भी यत्न चाहिये होता है यह स्वर, रत्न आदि की प्रमाओं में देखा ही जाता है।

श्वेतकेतु को सद्विद्या का उपदेश मिला तो वह इस बारे में निःसन्देह हो गया कि सत् ही सारे संसार का कारण है किंतु स्वयं की समस्या आ खड़ी हुई कि मैं कौन हूँ? क्या मैं भी सत् का कार्य अतः मिथ्या हूँ? यदि नहीं तो सत् से मेरा क्या संबंध है? सत् से अलग भी यदि मैं 'हूँ' तो जगत् भी वैसे ही 'हो' सकता है, फिर जगत् मिथ्या नहीं होगा। यदि सत् से मेरा कोई संबंध नहीं तो सत् के विज्ञान से मेरा ज्ञान सिद्ध नहीं होगा अतः मूल प्रतिज्ञा भंग होगी। अध्यात्मशास्त्र की मूल समस्य 'मैं' की है, जगत् तो दोयम दर्ज़े की चीज़ है, दुःख-शोक तो मुझे है, वह छूटे और नित्य-निरंतर आनंद का उद्रेक बना रहे यह मुझे चाहिये। संसार सत्य हो या मिथ्या, यदि मेरी कष्ट स्थिति दूर नहीं होती तो मुझे क्या लाभ? दृश्य के यथार्थ के विचार से द्रष्टा की सत्यता निर्धारित नहीं होती। 'मैं जीव नहीं, ब्रह्म हूँ' यह निश्चय हुए बिना संसार दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। अनेक विचारक, भक्त आदि यह मानने को तैयार हैं कि सारा जगत् परमात्मरूप है किन्तु स्वयं को परमात्मा नहीं मान पाते, उससे भयभीत हो जाते हैं। कुछ को लगता है कि इससे

अपना व्यक्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और कुछ समझते हैं कि परमात्मा का अंग हम हैं, सर्वथा परमात्मा ही नहीं हैं। 'मैं जगत्कारण हूँ' यह अनुभव नहीं होता अतः 'मैं परमेश्वर हूँ' यह उपदेश स्वीकार्य नहीं लगता। जब तक शोधनकर ईश्वर-जीव की उपाधियों का विवेक न हो जाये तब तक 'मैं ब्रह्म हूँ' यह आपाततः भी समझ नहीं आयेगा। जैसे मिट्टी ज्ञान से सब पार्थिव बर्तनादि का ज्ञान बताया था क्योंकि वे सब मिट्टी से एक हैं, वैसे ही जीव-ईश्वर ब्रह्म से एक हैं यह समझना है। दोनों के नाम-रूपों को सर्वथा नज़रन्दाज़ करने पर ही चिन्मात्र का अभेद स्पष्ट होता है। श्वेतकेतु-विद्या के प्रथम प्रकरण में दृश्य की सद्रूपता बतायी। द्वितीय प्रकरण में जीव की ब्रह्मरूपता बतायेंगे। उपाधि-विवेक के लिये यही क्रम उपयुक्त है। शारीरक में यही क्रम अपनाकर तृतीयाध्याय द्वितीय पाद में पदार्थशोधन कर तृतीयपाद में गुणोपसंहार से आनंदादिरूप परमात्मा का निर्देश दिया है। पंचदशी में भी तत्त्व-भूत-कोश-द्वैत का विवेक होने के बाद महावाक्य का प्रकरण रखा है। अनुभवस्तर पर पहले 'अहं ब्रह्म' तब 'इदं ब्रह्म' ऐसा क्रम होने पर भी विवेकस्तर पर विपरीत होता है। अहम् है ही इदंगर्भित अतः अहं का विवेक इदंविवेकपूर्वक होना उचित ही है। आरुणि ने समझ लिया कि सद्विद्या को श्वेतकेतु ने ग्रहण ठीक से किया है अतः आगे दूसरे प्रकरण में उसे प्रत्यग्विद्या का उपदेश दिया। ये दो 'प्रकरण' पारिभाषिक दृष्टि से नहीं हैं, लम्बे उपदेश को खण्डशः समझने के लिये विभाजन है। 'सदेव' से उपक्रम कर अध्याय-समाप्ति के 'तत्त्वमसि' में ही इस विद्या का उपसंहार है अतः मध्य में प्रकरणभेद नहीं है। इसीलिये नरेन्द्रपुरी, आनंदगिरि आदि आचार्यों ने सद्विद्या के 'महाप्रकरण' के अंतर्गत त्रिवृत्करण का 'अवान्तर प्रकरण' मानकर समझाया है।।७१-२।।

जीव की व्यक्त उपाधि मन है अतः उसके निवृत्त होने पर जीव का लगभग यथार्थ स्वरूप रह जाता है; 'लगभग' इसलिये कि अविद्या-उपाधि तो ज्ञानपर्यन्त बनी रहती है। आत्मा के परमार्थ स्वरूप को समझाने के लिये सुषुप्ति में आत्मा का वर्णन आरुणि ने किया। उस समय एक अज्ञान को छोड़कर कोई संसारधर्म आत्मा में प्रतीत न होने से उसका यथार्थ स्वरूप समझ आ जाता है। आरुणि ने प्रारंभ किया 'स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति, यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वम् अपीतो भवति, तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वम् अपीतो भवति।।' (६.८.१) अर्थात् अब स्वप्नान्त को समझो जहाँ जीव का नाम पड़ जाता है स्वपिति। तब यह सत् से एक हो जाता है। क्योंकि स्व-रूप सत् में ही तब विलीन होता है इसलिये 'स्वपिति' कहलाता है। इस

प्रतीचः स्वपित्युपदेशः

स्वस्य ब्रह्मत्वबोधेन जीवत्वमपगच्छति।
इत्यभिप्रेत्य तं शिष्यं पुनः प्रोत्साहयत्यसौ।।७३।।
स्वप्नावसानं जानीहि मम व्याकुर्वतो मुखात्।
स्वस्य स्वरूपं सत्तत्त्वम् इति सुप्तौ स्फुटं खलु।।७४।।
यदा सुषुप्तिमाप्नोति पुमानेतं तदा जनाः।
स्वपितीत्याहुरेतस्य तात्पर्यं प्रविचिन्त्यताम्।।७५।।
तिङ्ङन्तं पदमज्ञानां सुबन्तं तु विवेकिनाम्।
स्याद् निद्राणस्य नामैतद् वस्तुतत्त्वावभासकम्।।७६।।

प्रसंग का व्याख्यान करते हैं **आचार्य आरुणि का तात्पर्य श्वेतकेतु को मुक्त करने में था और जीवभावरूप बन्धन तभी दूर होता है जब खुद को ब्रह्म समझ लिया जाये अतः जीव की ब्रह्मरूपता बताने के लिये श्वेतकेतु को उत्साह दिलाते हुए उन्होंने पुनः उपदेश दिया।।७३।। वे बोलेमैं समझा रहा हूँ, अब 'स्वप्नावसान' को समझ। स्वयं का सच्चा स्वरूप सद्रूप वस्तु है यह गहरी नींद का विचार करने पर अवश्य पता चलता है।।७४।। जीव जब सुषुप्ति, गहरी नींद में पहुँचता है तब लोग उसे 'स्वपिति' (सो रहा है) कहते हैं। इस कथन के तात्पर्य का विचार करना चाहिये।।७५।। 'स्वपिति'-शब्द अज्ञानियों की दृष्टि से तिङ्प्रत्यय वाला है (क्रिया है) जबकि विवेकियों की दृष्टि से सुप्प्रत्यय वाला है (संज्ञा है)। सोते जीव का यह नाम परम वस्तु के स्वरूप का बोधक है।।७६।।** उपनिषदें व ब्रह्मसूत्र सृष्टिप्रक्रिया से प्रारंभ कर ईश्वर को बताकर उससे जीव को अभिन्न बताने का ढंग अपनाते हैं, तभी प्रपंचमिथ्यात्वपूर्वक सत्य आत्मा भासता है। केवल त्वमर्थ-विवेक से बहुत लाभ होने पर भी सर्वात्मता न सिद्ध होने से द्वैत अत एव भय अनिवार्य है, मोक्ष संभव नहीं है। स्वयं की व्यापकता महसूस न हो तो जो अपूर्णता प्रतीत होती है वही विवेकी के लिये घोर कष्ट है। वास्तव में परिपूर्ण होने से पूर्णताभिव्यक्तिपर्यन्त आत्मा को असन्तोष अनिवार्य रहता है। इसलिये औपनिषद प्रक्रिया संसार के कारण सत् से त्वम् को अभिन्न समझाती है। जीवभाव आत्मा की परिच्छिन्नता है, उसके हटने पर ही मोक्ष है। सद्गुरु शिष्य को तब तक नहीं छोड़ता जब तक उसका शोक-मोह न निवृत्त हो जाये। अतः सद्विद्या से श्वेतकेतु यद्यपि तुष्ट-सा हो गया था क्योंकि अपनी तरफ से और कुछ पूछ नहीं रहा था, तथापि पिता ने आगे समझाना

आवश्यक समझा। स्वप्नान्त या स्वप्नावसान का अर्थ है सुषुप्ति जो जाग्रत्-स्वप्न की समाप्ति पर आती है। द्रष्टा-दृश्यभाव रहते स्वप्न ही माना जाता है, जाग्रत्को भी 'दीर्घ स्वप्न' के रूप में स्वीकारा गया है, अतः यहाँ जाग्रत्के उल्लेख को अनावश्यक मानकर स्वप्नान्त या स्वप्नावसान कहकर सुषुप्ति इंगित की गयी है। जाग्रत्-स्वप्न में हम विभिन्न उपाधियाँ ओढ़ कर द्रष्टा-श्रोता आदि बने रहते हैं, सुषुप्ति में पहुँचते ही ये सब मुखौटे उतर जाते हैं और हम अपने स्वाभाविक स्वरूप में ही रह जाते हैं। हम तो तब भी रहते हैं पर देखते-सुनते हुए नहीं अतः निर्णय हो जाता है कि द्रष्टा-श्रोता आदि हम स्वरूप से नहीं उपाधि से ही हैं, स्वरूप से सन्मात्र हैं। मन रहते मन्ता-बोद्धा भी बनते हैं, गहरी नींद में मन भी रह नहीं जाता फिर भी हम रहते ही हैं। उठकर यह नहीं लगता कि हम इतनी देर थे नहीं! यही लगता है कि सो रहे थे। अतः मनआदि सभी उपाधियों से जो औपाधिक रूप हमें स्वयं का लग रहा है उस कर्तृ-भोक्तृरूप से रहित स्वयं को सुषुप्ति में देखकर यह निश्चय हो जाता है कि स्वयं आत्मा सारे संसार-धर्मों से रहित सच्चिदानंदमात्र है। सब गहने उतारने पर जैसे व्यक्ति के वास्तविक सौंदर्य का पता चलता है वैसे आत्मा के स्वरूप का पता उपाधियाँ हटने पर ही लगता है। जैसे दृश्य में नाम-रूप के व्यभिचार से सद्वस्तु ही एकमात्र सत्य समझी थी वैसे प्रत्यक् में भी सन्मात्र आत्मा ही वास्तविक समझना है, बाकी रूप औपाधिक, मिथ्या है।

संस्कृत में 'सो रहा है' या 'सोता है' कहने के लिये ञिष्वप् शये (अदा.प.अ.) धातु के लट् प्रथमपुरुष एकवचन का रूप 'स्वपिति' प्रयोग किया जाता है। श्रुति इसी पद के अक्षरों के आधार पर सिद्ध कर रही है कि उस अवस्था में आत्मा उपाधिमुक्त होता है। अनेक स्थलों पर यह निरुक्त, निर्वचन की प्रक्रिया अपनाकर शास्त्रों में गंभीर तथ्य सरल तरह से प्रकट किये गये हैं। शब्दों पर अर्थ निर्भर नहीं कि अन्य व्युत्पत्ति संभव हुई तो वास्तविकता बदल जाये! वास्तविकता समझकर उसे हृदयग्राही बनाने के लिये निरुक्त-प्रक्रिया अपनाई जाती है। मानव के विचार प्रधानतः शब्दों में बँधे होते हैं अतः शब्दों के सहारे विचारों का परिष्कार सरल व उचित है। तिङ् पाणिनीय व्याकरण के वे प्रत्यय हैं जो धातुओं (क्रियावाचक शब्दों) से जुड़कर पद बनाते हैं। अज्ञानी 'स्वपिति' कहता है तो उक्त स्वप् (ञिष्वप्) धातु से तिप् जोड़कर 'सोने की क्रिया कर रहा है' इस अर्थ से प्रयोग करता है। विचारक सोचता है कि सोने की 'क्रिया' क्या है? सारी क्रियायें छोड़कर तो सोते हैं, वह सोना भी क्रिया कैसे है? कौन-सी कर्मेन्द्रिय वहाँ चेष्टा करती है? इससे वह मानता है कि

स्वप्नजागरयोर्जीवः सत्तत्त्वाद् भिन्नवद् भवेत्।
सुषुप्तौ सम्यगेकत्वं याति सद्वस्तुना सह।।७७।।
जीवत्वमात्मनः प्राणधारणाद् न स्वभावतः।
सद्रूपत्वं स्वतस्तत्तु स्फुटं स्वपिति-नामतः।।७८।।
स्वम् अपीतीति नाम्नोऽस्य निरुक्तिरवगम्यताम्।
स्वरूपं वास्तवं सुप्तौ प्राप्यम् इत्युदितं भवेत्।।७९।।

यह क्रिया के अभिप्राय से नहीं कहा जा सकता वरन् सोते हुए का नाम ही हो सकता है अतः 'स्वपिति' को वह सुबंत समझता है। सुप् पाणिनीय व्याकरण के वे प्रत्यय हैं जो प्रातिपदिकों से जुड़कर पद बनाते हैं। प्रातिपदिक अर्थात् धातु-प्रत्ययों से भिन्न सार्थक शब्द। पूर्वाध्याय श्लो.१२ की व्याख्या में इसे बता चुके हैं। सुप्-जुड़े पद 'नाम' भी कहलाते हैं। विवेकी स्वपिति को यों समझता है कि सोये हुए की सच्ची स्थिति बताने वाला यह नाम है, क्रिया का होना नहीं बताता। क्रिया तो विकार है, नाम समझने पर निर्विकार स्वरूप पता चलता है यह विशेष है।।७३-६।।

इसे ही स्पष्ट करते हैं **स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में जीव सद्रूप वस्तु से अलग-सा हो जाता है, सुषुप्ति अवस्था में सद्रूप वास्तविक तत्त्व से समीचीन एकता प्राप्त करता है।।७७।। प्राणों को धारण करने से आत्मा की जीवरूपता है, स्वभाव से नहीं। स्वभाव से आत्मा सत् ही है। 'स्वपिति' इस नाम से यह बात स्पष्ट हो जाती है।।७८।। स्वम् अर्थात् खुद को अपीति अर्थात् प्राप्त होता है यह इस नाम की निरुक्ति समझनी चाहिये। इसके अनुसार कहा जा रहा है कि सुषुप्ति में (जीव को) वास्तविक स्वरूप मिल जाता है।।७९।।** हम खुदको 'मैं चलता हूँ, बैठा हूँ, देखता हूँ' आदि समझते हैं। 'मैं' से अलग कर 'देखता हूँ' आदि नहीं हैं अतः घटादि में सत् की तरह 'देखता हूँ' आदि में 'मैं' अनुस्यूत होने से 'मैं' पर ही 'देखता हूँ' आदि आरोपित हैं यह निश्चय हो जाता है। लगते हैं 'मैं' और 'देखता हूँ' भिन्न जैसे सत् और घट लगते भिन्न हैं, पर विचार से पता चलता है कि 'मैं' से स्वतंत्र इनकी कोई सत्ता नहीं जैसे सत् से स्वतंत्र घटादि का अस्तित्व नहीं। जल से अन्य कुछ न होकर भी जैसे लहर अलग-सी प्रतीत होती है वैसे द्रष्टा-श्रोता आदि भी चिन्मात्र से मानो अलग हैं ऐसा लगता है। वस्तुतः अलग होकर तो रह ही नहीं सकते अतः 'अलग-सा' कहा। गहरी नींद में पहुँचने पर द्रष्टा-श्रोता आदि सारे सोपाधि नाम-रूप दूर हो जाते हैं, 'मैं' बचा रहता हूँ, यह सर्वानुभव सिद्ध है।

जैसे गहने गलाकर सोना देखने से मालूम चलता है कि गहने सोना ही थे वैसे सुषुप्तिके अनुभवसे पता चलता है कि द्रष्टा-श्रोतादि मैं ही थे। विवेकी जानता है कि 'पिघला रूप' भी सोना नहीं है, जैसे गहना एक रूप है वैसे तरल भी एक रूप ही है; ऐसे ही सुषुप्ति में भी कारणोपाधि मौजूद ही है; फिर भी पिघले रूप को देखकर निश्चय होने की तरह सुषुप्ति के विचार से निश्चय सरल हो ही जाता है। सारे विशेष रूप निवृत्त होकर 'मैं' रहता हूँ और फिर स्वप्न-जाग्रत् में सारे विशेष रूप प्रकट हो जाते हैं, अतः निश्चित है कि वे मुझमें ही लीन होकर मुझसे ही बनते हैं जैसे सोने में लीन होकर उसीसे गहने बनते हैं। इस प्रकार 'स्वपिति' का विचार सिद्ध करता है कि उस अवस्था में हम अपने सारे व्यक्त विशेष रूप छोड़कर केवल अपने वास्तविक स्वरूप से रह जाते हैं। अज्ञान वहाँ रहता है, वह कारणोपाधि है, व्यक्तोपाधियाँ तो विलीन हो जाती हैं, कारणनिवृत्ति तत्त्वानुभूति से ही होगी।

आत्माका वास्तव रूप सच्चिदानंद है, उससे अन्य रूप औपाधिक हैं। जीवरूप भी प्राणधारण की उपाधि से ही है, स्वरूपसे आत्मा जीव नहीं है। जैसे अंधे, गूंगे, पागल आदि होने पर भी 'मैं' रहता हूँ ऐसे ही प्राण धारण न करने पर भी 'मैं' रहता ही हूँ, वही 'मैं' मुक्त होता हूँ। यदि प्राणधारण करना स्वभाव हो तो जीव कभी मोक्ष प्राप्त ही नहीं कर सकेगा! सद्रूपता आत्माका सच्चा स्वभाव है। स्वपिति-नाम सुषुप्ति में गये आत्मा का है, उस अवस्थामें 'मैं साँस ले रहा हूँ, प्राण धारण कर रहा हूँ, भूखा-प्यासा हूँ' ये अनुभव नहीं रहते अतः आत्मा और इन अनुभवों का नियत संबंध न होने से ये आत्मा के स्वभाव नहीं यह पता चल जाता है। सुषुप्ति का विचार विवेकी को उन्हीं तथ्यों से परिचित करा देता है जिन्हें जानने के लिये समाधि ज़रूरी होती है! स्वयं में सुषुप्ति का व्यावहारिक ही लाभ है पर उसके विश्लेषण से बहुत महत्त्वपूर्ण आत्मस्वरूप का निर्णय होता है। सामान्य लोग केवल जाग्रत् के विचार को सार्थक मानते हैं। कुछ समय से मनोविज्ञान के जानकार स्वप्न को भी विचारणीय समझने लगे हैं। अध्यात्मशास्त्रियों में औपनिषद चिन्तकों ने सुषुप्ति का महत्त्व आँका है। जीव के लिये तो जैसे जाग्रत् एक अवस्था वैसे ही स्वप्न-सुषुप्ति भी हैं अतः इनका बराबर महत्त्व होना उचित है पर शास्त्र बताता है कि जाग्रत्-स्वप्न में तो आत्मा के साथ मिलावट बहुत है जबकि सुषुप्ति में कोई मिलावट नहीं है अतः आत्मा को समझने के लिये सुषुप्ति का विचार ज़्यादा ही महत्त्वका है।

निरुक्ति, निर्वचन का अर्थ है शब्द के अवयवों को और उनके संबंध को समझाना। 'स्वपिति' की अज्ञ-पक्षीय निरुक्ति तो 'स्वप्+तिप्' है अर्थात् सोने की क्रिया करता है।

उपाधिना संसारः

उपाधेर्मनसो जाग्रत्सुप्त्यवस्थे हि नात्मनः।
इत्यभिप्रेत्य शकुनिदृष्टान्तः प्रोच्यते धियः।।८०।।
शकुनिः सूत्रबद्धो यः स गच्छन् विविधा दिशः।
अलब्ध्वाऽऽधारम् आकाशे बन्धनस्थानमाव्रजेत्।।८१।।

विज्ञ-पक्षीय निरुक्ति है 'स्वम्+अप्येति' अर्थात् स्वयं में ही लीन रहता है। 'स्वाप्ययात्' (ब्र. सू. १.१.९) सूत्र के भाष्य में कहा है 'स्वशब्देन इहात्मा उच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यः तम् अपीतो भवति अपिगतो भवति इत्यर्थः। अपि-पूर्वस्यैतेः लयार्थत्वं प्रसिद्धं 'प्रभवाप्ययौ' इत्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात्....।.... उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तावस्थायाम् उपाधिकृतविशेषाऽभावात् स्वात्मनि प्रलीन इव इति....।.... स्वम् आत्मानं सच्छब्दवाच्यम् अपीतो भवति इति इममर्थं स्वपिति-नामनिर्वचनेन दर्शयति।' स्व का मतलब है सद्रूप आत्मा, उसीमें अपीत अर्थात् विलीन होने से स्वापीत कहलाना चाहिये, छांदस स्वातंत्र्य से स्वापीत की जगह स्वपीत नाम रख दिया है। तात्पर्य है कि निरुपाधि आत्मस्वरूप ही प्राप्तव्य है, सुषुप्ति में अनायास मिलकर ही वह इतना आनंद दे देता है तो जब वह अज्ञानावरण से रहित मिलेगा तो अथाह आनंद निरावृत होगा इसमें कहना क्या!।।७७-९।।

जाग्रत्-स्वप्न में थक जाने पर जीव सुषुप्ति में जाता है, तब वाणी आदि उपाधियाँ कार्यकारी नहीं रह जातीं और जीव थकान मिटाने के लिये अपने परमार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। बनावटी स्थितियाँ छोड़कर स्वाभाविक स्थिति में ही आराम संभव है। इस बात को श्रुति ने पक्षी के दृष्टान्त से समझाया है : बहेलिया डोरी से पक्षी को बाँधकर डोरीका एक छोर पकड़े रहता है। पक्षी छूटने के लिये इधर-उधर उड़ता रहता है पर डोरी से बँधा होने के कारण छूटकर उड़ नहीं पाता, थककर बहेलिये के पास ही आ जाता है। ऐसे ही जीव जाग्रत्-स्वप्न में भटकता है आनंद के लिये पर आनंद न मिलने पर सुषुप्ति में आत्मा में पहुँचकर विश्राम पाता है। यह प्रसंग समझाते हैं **जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाएँ मनरूप उपाधि के कारण आती-जाती हैं अतः वे आत्मा की स्वाभाविक स्थितियाँ नहीं हैं। इसे समझाने के लिये बुद्धि (मन) को पक्षी के दृष्टान्त से बताया गया है।।८०।। धागे से बँधा पक्षी विविध दिशाओं में उड़कर आकाश में आधार नहीं पाता तो वहीं लौट आता है जहाँ बँधा है ।।८१।। मन भी माया की डोरी से सद्ब्रह्म में बँधा हुआ है। (सुखादि भोगने के लिये) वह जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओं में आता है पर वहाँ आराम (आनंद) न मिलने पर फिर**

सत्तत्त्वे मायया बद्धं मनो जागरणं व्रजेत्।
अलब्ध्वा तत्र विश्रान्तिं सत्तत्त्वे लीयते पुनः।।८२।।
आत्मच्छायाऽपि मनसा सदाऽऽगच्छति गच्छति।
गत्यागती तु संसारः स च स्वात्मनि कल्पितः।।८३।।
मनोलयेऽनुपाधिः सन्नात्मा संसारवर्जितः।
स्वेन वास्तवरूपेण सुषुप्ताववतिष्ठते।।८४।।

सद्रूप से एक हो जाता है।।८२।। मन के साथ आत्मा की छाया भी हमेशा आती-जाती रहती है। गमन-आगमन ही संसार है जो स्वात्मा पर आरोपित है।।८३।। सुषुप्ति में मनका लय हो जाने पर आत्मा निरुपाधि हुआ संसार से रहित हो जाता है और अपने वास्तविक सच्चिदानंद रूप से रहता है।।८४।।

कारणरूप उपाधि अज्ञान है पर अकेला अज्ञान कोई दुःख तब तक नहीं देता जब तक कार्योपाधियाँजिनमें प्रधान मन हैउपस्थित न हों। अतः स्वप्न-जाग्रत् में ही शोकमोह होते हैं, सुषुप्ति में केवल आनंद रहता है। मनआदि सदा आत्मा के साथ नहीं रहते अतः वे स्वभावतः आत्मा से संबद्ध नहीं हैं यह सुषुप्ति से पता चलता है। आत्मा का स्वभाव केवल सत् है। उसी से मन बँधा है पर केवल अज्ञान ही उन्हें परस्पर जोड़े है। अविद्यासूत्र से ही मन-आत्मा जुड़े हैं। जैसे मिट्टी-घड़े का संबंध अविद्या है वैसे सत्-आत्मा का संबंध भी अविद्या ही है। आत्मा से अन्य हुए बिना अन्य प्रतीत होकर उससे संबद्ध लगते हुए उसे सुखी-दुःखी करने वाला ही मनआदि उपाधिसमुदाय है। उपाधिसंपर्क रहते कभी शांति नहीं मिल सकती। सुषुप्ति में उपाधियाँ लीन होने से शांति है पर बीजरूपसे वे रह जाती हैं अतः पुनः प्रकट होकर अशांति छा जाती है। तत्त्वज्ञान क्योंकि अज्ञान को मिटा देता है इसलिये फिर अशांति का प्रसंग ही नहीं रह जाता। अज्ञान रहते मन प्रकट होते ही उससे आत्मा का तादात्म्य होता है जिससे मनोविकार प्रतीत होते हैं कि आत्मविकार हैं। मन विषयों की तरफ लपके तो लगता है 'मैं विषयी हो गया'। मन शांत हो तो लगता है 'मैं शांत हूँ'। अपनी शांति-अशांति दोनों मनके अधीन बनायी हुई हैं, ज्ञानसे इस बंधनसे छूट जाना है, मन के पराधीन नहीं रहना है। सुषुप्ति को मोक्ष के लिये उदाहरण ही देते हैं, अज्ञान रहता है इसलिये सुषुप्ति मोक्ष है नहीं! जब कार्यावस्था लीन होने पर ही संसारधर्म निवृत्त हो जाते हैं तब कारण भी समाप्त होने पर संसार की आत्यंतिक निवृत्ति हो जायेगी इसमें क्या कहना! इस प्रकार जीवभाव को दूर करने के लिये जीव के स्वरूपका विश्लेषण करने पर उसको उपाधिहीन दशा में सुषुप्ति में देखकर निर्णय हो

बोधनद्वाराणि

चिच्छाया च वपुः स्थूलम् इन्द्रियाण्यात्मबोधने।
द्वाराणीत्याह मन्त्रोऽयं रूपं रूपमिति स्फुटम्।।८५।।
देहे देहे प्रतिच्छायारूपोऽभूत् स्वात्मबुद्धये।
मायाभिरिन्द्रो बहुधा देहोऽभूत स्वात्मबुद्धये।।८६।।
इन्द्रियाश्वास्तेन युक्तास्तच्च स्वात्मावबुद्धये।
छायामाश्रित्य तत्रात्मा बोधितः सुप्तिवर्णनात्।।८७।।

जाता है कि सब प्रकार के परिच्छेदों से रहित, नाम-रूप कर्म से रहित सच्चिदानंद ही जीव की सचाई है।।८०-४।।

आत्मस्वरूप का विवेक होने पर ही अनात्मांश हटाकर आत्मा की सद्रूपता स्थापित होती है। विवेक के उपायरूपसे शरीर, इंद्रियाँ और मन विचारणीय हैं, इन्हीं से मिला-जुलाकर हम अपने व्यक्तित्व को समझते हैं। मन सदा आत्मतादात्म्य वाला होता है अतः उसे चिदाभासयुक्त होने से चिच्छाया कह सकते हैं। पूर्वोक्त सुषुप्ति-विचार से मन या चिच्छायाका विश्लेषण हुआ कि प्रकट रूप मिथ्या और उसका वास्तव रूप सत् है। अब चौदह श्लोकों से शरीर का विवेचन करेंगे फिर संक्षेप में इंद्रियों का विवेक दिखायेंगे।

बृहदारण्यक २.५.१९ में मंत्र आया है

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।।'

अर्थात् माया से परमेश्वर ने अनंतरूप धारण किया ताकि स्वयं का वास्तविक तत्त्व प्रकट हो। जीवकी सभी इन्द्रियाँ विषय-दर्शन में ही संलग्न हैं, आत्मदर्शन में नहीं, वह शास्त्ररूप साधन से ही संभव है। इसे ध्यान में रखकर उक्त संदर्भ स्पष्ट करते हैं **चिच्छाया, स्थूल शरीर और इन्द्रियाँ आत्मा के बोधके लिये साधन हैं। यह बात 'रूपं रूपम्' आदि मंत्र स्पष्ट कहता है।।८५।। स्वात्मज्ञानके लिये परमात्मा अनंत सामर्थ्य वाली माया से हर शरीर में वैसा ही हो गया जैसे वे शरीर हैं अतः विवेक करें तो शरीर भी स्वात्माके ज्ञानके लिये साधन बन जाता है।।८६।। इन्द्रियाँ मानो घोड़े हैं जो शरीररूप रथ में जुते हैं। इंद्रियों का शरीरमें युक्त होना भी आत्मज्ञान कराता है (जब शास्त्रानुसार विवेचन करें)। चिदाभास, शरीर और इंद्रियाँइन तीन में चिदाभास के सहारे आत्मस्वरूप का वर्णन सुषुप्ति के प्रसंग में किया।।८७।।** जिन चीज़ों से हम बंधन में हैं और

अधिकाधिक फँसते जा रहे हैं उन्हीं का शास्त्रानुसार विश्लेषण करें तो वे ही मोक्षद्वार बन जाते हैं। अवस्था, कोश, नाम-रूप आदि सभी विषयों में यह विशेषता है कि दुरुपयोग से दुःख तथा सदुपयोग से सुख दे सकते हैं। यहाँ प्रारंभ में बाह्य विषयों से सद्विज्ञान बता चुके हैं, अब अध्यात्माधिकार में मन, शरीर और इंद्रियों से आत्मज्ञान समझा रहे हैं। इनमें मन के बारे में पूर्व प्रसंगमें विचार आया। मन सदा चेतनकी छाया से युक्त रहता है, आत्मा का उससे तादात्म्य अवश्य रहता है। क्योंकि इस तरह मन-आत्मा का संग्रथित रूप ही हमारे सामने है इसीलिये वह आत्मबोध में उपाय बनता है; मिलावटी सोना हो तभी खोट दूर कर शुद्ध सोना पा सकते हैं; चिच्छाया मिलावटी माल है, उसमें से अनात्मांश निकाल दें तो चिन्मात्र समझ आ जायेगा। इसे स्पष्ट करने के लिये मन न कहकर यहाँ चिच्छाया कहा। तार्किक चिच्छाया नहीं समझते इसलिये मनका विवेक करने से भी उन्हें आत्माका शुद्ध स्वरूप नहीं पता चलता। विचार एक सशक्त साधन है लेकिन उसकी दिशा पता हो, क्रम सही हो तभी सकल बोध कराता है। उपनिषत् ने शरीर के पुरीष, मांस, मूत्र, लोहित, अस्थि, मज्जा के ही विचार से सत् का परिचय करा दिया पर इस ढंग से न सोचकर मनमाना चिंतन करें तो इस नतीज़े पर नहीं पहुँचेंगे। सही उत्तर के लिये ढंग भी सही चाहिये जैसे गणित आदि में। सही ढंग श्रुति ने बताया है, इसीसे सद्रूप सही हल निकलता है। यही सही इसलिये है कि मोक्ष देता है। अध्यात्मविद्या में सही-गलत का निर्णायक यही है मोक्षोपयोगी सही होता है, मोक्षविरोधी गलत होता है। वेदांत-विचार आधुनिक निरुद्देश्य दार्शनिक चिंतन नहीं है वरन् इसका निश्चित उद्देश्य है मोक्ष और उसका भी स्वरूप निर्धारित है कि अपरिच्छिन्न आत्मरूप से अवस्थान। इससे अन्य प्रयोजनों वाले अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान भले ही हों, मुमुक्षु को उनसे सरोकार नहीं, उसके लिये कैवल्यफलक वेदान्तचिंतन ही साधन है। अतः शरीरादि का उक्त ढंग से विचार वैद्यक, रसायन आदि शास्त्रों के अनुकूल-प्रतिकूल है-नहीं है आदि विचार निरर्थक है, मोक्ष के अनुकूल है इतना ही इसकी ग्राह्यता के लिये पर्याप्त है। शरीर की तरह मन भी निर्विकार सद्रूप आत्मा सिद्ध करता है। सुख-दुःखादि अस्थायी अनुभव मनःपक्षीय हैं, इनसे नित्य अविलुप्तदृष्टि साक्षी का निर्णय हो जाता है। इंद्रियाँ भी ज्ञान-क्रियाशक्तियाँ व्यक्त कर यही द्योतित करती हैं कि अखण्ड ज्ञानरूप आत्मा ही सत्य है। क्रिया ज्ञानसे स्वतंत्र कोई वस्तु नहीं है यह कई जगह आचार्यों ने स्पष्ट किया है। आत्मा में मन-शरीर-इंद्रियों से ही भेद कल्पित होता है, इन्हें अनात्मा जानते ही अद्वय वस्तु प्रकाशमान हो जाती है। शरीर चाहे जिस योनि का हैएककोषा वाले से विराट्

पर्यन्तवह एक परमात्म वस्तु की ही छाया पाकर सचेतन है, सभी शरीर ग्रहण उस एक ने ही किये हैं, समस्त क्षेत्रों में एक वही क्षेत्रज्ञ है। अनंत देह धारण करना स्वयं की अनंतता समझने के लिये ही है। देह और देही दोनों एक ही बना, उसका अद्वैत सदा अक्षुण्ण रहता है।

बृहदारण्यक के उक्त मंत्र में 'युक्ता ह्यस्य हरयः' से कहा कि इसके असंख्य हरि अर्थात् घोड़े जुते हुए हैं। घोड़ों से क्या समझा जाये? कठोपनिषत् १.३.४ में शरीर को रथ और इंद्रियों को उसमें जुते घोड़े बताया है तदनुसार यहाँ भी घोड़ों से इंद्रियाँ समझनी चाहिये। इंद्रियाँ भी हमारा हरण कर विषयों में पहुँचाती हैं इसलिये हरि हैं। ये इन्द्रियाँ जो शरीर में जुती हैं वह भी आत्मावगम के लिये ही। कठ में ही सविज्ञानतादि से साधना का निर्देश है। और विचार से वे आत्मविवेक में उपयोगी हैं यह श्लो.१०३ से संकेत देंगे। बाह्य विषयों से संपर्क इंद्रियों से होता है और उसका विचार करें तो व्यापक आत्मा सिद्ध हो जाता है अन्यथा विषयों का प्रत्यक्ष ही संभव नहीं है यह वेदांत की प्रक्रिया प्रसिद्ध है। कर्मेंद्रियाँ सिद्ध करती हैं कि निर्विकार रहते हुए ही आत्मा उपाधियों पर नियंत्रण कर निमित्तकारण बन जाता है। स्वयं में निमित्तता समझकर परमेश्वर में उसे निश्चित किया ही जा सकता है। शरीर-इंद्रियों से आत्मसंबंध मनमें पड़ी छाया द्वारा ही होता है; आत्मा का अहंकार रूप मनमें प्रकट होता है तभी शरीर-इंद्रियाँ उससे जुड़कर सात्मक लगती हैं। बिना मनके माध्यमसे आत्माका चिदंश (प्रत्यगंश) शरीर-इंद्रियों से संबद्ध नहीं होता, सदंश का ही संबंध रहता है। अंश न होने पर भी आत्मा के आवरणके वैविध्य से उस पर अंशों का आरोप होता है जो अनुभव से भी संगत बन जाता है। इस प्रकार जीवभाव में प्रधान है छाया, चिदाभास। उसकी विद्यमानता जाग्रत्-स्वप्न में ही है, सुषुप्ति में वह मौजूद नहीं रहता। सभी को सुषुप्ति पूर्ण आराम देती है, सारी थकावट दूर करती है; जाग्रत्-स्वप्न दोनों ही थकाने वाली अवस्थाएँ हैं पर सुषुप्ति कभी थकाती नहीं। स्वरूप ही ऐसा होता है जो न थकाए, स्वरूप से अन्य जो कुछ भी है वह देर-सबेर थकाता ही है। अतः छाया हमारा स्वरूप नहीं क्योंकि आगमापायी है एवं सुषुप्ति में स्पष्ट चिन्मात्र हमारा स्वरूप है क्योंकि थकाता नहींयह स्थापित हो गया है।।८५-७।।

शरीर के दो प्रधान कष्ट हैं भूख और प्यास। प्राण के धर्म होने पर भी ये शरीर से संबद्ध हुए ही प्रकट होते हैं, शरीर से हटकर प्राण को भूख-प्यास नहीं लगती। भूख-प्यास को भी परमात्माके ज्ञान का उपाय बताते हुए आरुणि ने कहा कि 'जब पूर्व में खाये अन्न को पानी पचा देता है, शरीर में सर्वत्र फैला देता है, तब व्यक्ति भूखा होता

देहद्वारा बोधनम्

अशनायापिपासोक्त्या देहमाश्रित्य बोध्यते।
अशनायापिपासाख्या द्वयं स्वपिति-नामवत्।।८८।।
अशनाया जनैः प्रोक्ता क्षुधा वस्तुविवेकिभिः।
नयत्यशितमित्येवमप्सु निर्वचनं भवेत्।।८९।।
पीता आपोऽशनं भुक्तं द्रवीकृत्य नयन्त्यतः।
अशनायेति शब्दोक्ता विण्मांसोत्पत्तिरन्नतः।।९०।।
विण्मांसहेतुरन्नं यदेतस्योत्पादकं जलम्।
जलस्योत्पादकं तेजस्तस्य चोत्पादकं च सत्।।९१।।
अनुमायाऽत्र कार्येण ज्ञेयं तत् कारणं परम्।
सद् मूलकारणं ज्ञेयं स्याद् विश्वासोऽनुमानतः।।९२।।

है। क्योंकि अशित (भुक्त) का तत्र-तत्र नयन करता है इसलिये पानी ही अशनाया है। पानी से पचाये अन्न से ही शरीर बनता है अतः शरीर का मूल अन्न, अन्न का मूल पानी, उसका मूल तेज व उसका भी मूल सत् है।' संस्कृत में अशनाया भूख को कहते हैं, उसे जलका बोधक बनाकर सत्-पर्यन्त पहुँचाने में यह विचार साधन है। श्लोक ९७ तक यह प्रसंग स्पष्ट करते हैं **स्थूल शरीर के आधार पर समझाना प्रारंभ करते हैं अशनाया (भूख) और पिपासा (प्यास) के उल्लेख से। जैसे स्वपिति को संज्ञा के रूप में समझाया ऐसे ही अशनाया-पिपासा ये दोनों भी समझाये जायेंगे ताकि सद्रूप आत्मा स्पष्ट हो।।८८।। जनता भूख को अशनाया कहती है पर वास्तविकता को पहचानने वाले इसे जल का नाम मानते हैं। अशित का नयन करने से जल अशनाया है यह निर्वचन से समझ आता है।।८९।। खाये हुए भोजन को पिया हुआ जल तरल बनाकर परिपाक में सहायता करता है फिर शरीर में जहाँ ज़रूरी है वहाँ रसरूपसे उसे पहुँचाता है इसलिये जल अशनाया कहा जाता है। विष्ठा और मांस अन्न से बनते हैं। उस अन्न का उत्पादक जल है, जल का तेज और उसका भी उत्पादक सत्तत्त्व है।।९०-१।। कार्य से कारण का अनुमान किया ही जाता है, यहाँ भी अन्नरूपकार्य से प्रारंभ कर अंतिम कारण सत् का अनुमान कर लेना चाहिये। यद्यपि शास्त्र से बात पता चलती है तथापि स्वानुभव पर आधारित अनुमान से भी वही बात निर्णीत हो तो विश्वास ज़्यादा जमता है।।९२।। जैसे जो मिट्टी है (सत् है) उसी से घटादि**

पुरीषाद्यन्नकार्यं स्यात् सत्येवाऽन्नेऽस्य सत्त्वतः।
सत्यामेव यथा कुम्भो मृदि दृष्टो न चान्यथा।।६३।।
व्रीह्याद्यन्नं सतीष्वेव दृष्टमप्सु न चान्यथा।
आपश्च स्वेदरूपाः स्युः सत्येवोष्णे हि तेजसि।।६४।।
तेजश्च भावरूपत्वात् सम्भवेद् न सता विना।
सतस्तूत्पत्तिराहित्याद् नाऽन्वेष्यं कारणान्तरम्।।६५।।
सन्मूलाः सकला देहा इदानीं च सति स्थिताः।
अन्ते सत्येव लीयन्ते विद्यात् सत्तत्त्वमद्वयम्।।६६।।
यथा भूतातिरेकेण भौतिकं नैव विद्यते।
भूतानि च सतोऽन्यानि तथा नेत्युपपादितम्।।६७।।

कार्य बनते हैं वैसे जो है उसी अन्न से मल आदि कार्य बनते हैं। इस तरह सत् का अनुगम सिद्ध करता है कि अवांतर कारण अन्न और कार्य शरीर ये दोनों सत् से अतिरिक्त नहीं हैं। सर्वत्र एकमात्र सत् ही निश्चित होता है।।६३।। ऐसे ही जो है उसी जल से चावल आदि अन्न उपलब्ध होता है, जो नहीं है ऐसे जल से तो अन्न पैदा होता नहीं! जल भी उस तेज से पैदा होता है जो विद्यमान है। जब गर्मी है तभी पसीना होता है यह दृष्ट है; गर्मी तेज है, पसीना जल है।।६४।। तेज भी एक भावरूप (हैऐसा लगने वाली) वस्तु है अतः सद्रूप कारण के बिना उसकी भी उत्पत्ति संभव नहीं। सत् की तो उत्पत्ति होती नहीं अतः उससे परे कोई कारण नहीं खोजना पड़ता।।६५।। सारे शरीरों का मूल सत् है, मौजूदा हालत में भी सब शरीर सत् में स्थित हैं और समाप्त होने पर भी सबका सत् में ही विलय होगा अतः समझ लेना चाहिये कि हमेशा एक अद्वय सत् ही वास्तविक है।।६६।। जैसे महाभूतों से पृथक् हुआ कोई भूतकार्य विद्यमान नहीं वैसे ही महाभूत भी सत् से पृथक् हुए विद्यमान नहीं हैंयह इस विचार से संगत किया गया।।६७।।

लोकप्रसिद्ध शब्दों को विवेकदृष्टि से समझें तो वे सूक्ष्म रहस्य प्रकट कर देते हैं। यद्यपि लोग नाम का महत्त्व ज़्यादा नहीं आँकते तथापि कोई-न-कोई सार्वजनिक, सार्वकालिक आयाम सूचित करने वाला शब्द ही स्थायित्व पाता है जिससे विचारक के लिये शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तों का अन्वेषण महत्त्वपूर्ण है। अकेले नाम से समूचा सत्य नहीं पता चलता लेकिन सत्य का कोई अंश अवश्य उससे अनावृत हो सकता है। लौकिक विचार के लिय भी शब्दों के समीचीन अर्थों का

निर्धारण अत्यावश्यक है, उसके बिना विचार ङिच्च-पिच्च बने रहते हैं। आपसी मतभेदका भी एक मुख्य हेतु है कि श्रोता-वक्ता शब्दों के साफ़-साफ़ अभिप्राय नहीं समझते। साधना में भी शब्द-अर्थ का महत्त्व है अतः वेद ने अनेक शब्दों का विश्लेषण किया है और उनके अर्थों का आविष्कार किया है। साधारण व्याकरण और कोश उन शब्दरचनाओं और अर्थों का संग्रह नहीं कर पाते यह व्याकरण-कोशों की ही कमी है, श्रुति का दोष नहीं! श्रुतिसिद्ध निर्वचन और अर्थ प्रामाणिक हैं, व्याकरणादि का कर्तव्य है उन्हें संगृहीत करें। अशनाया का यहाँ जल अर्थ श्रुति ने बताया। खाया-पिया पच चुके तभी भूख लगती है। यहाँ प्राणधर्म भूख की बात है; इससे अन्य मानसिक भूख होती है। जल शरीर को ज़रूरी है तब लगने वाली और आवश्यक मिलने से मिटने वाली प्राणधर्म भूख है जबकि शरीर को न ज़रूरत हो तब भी लगने वाली तथा आवश्यकमात्र से न मिटने वाली मानस भूख है! प्राणधर्म भूख तभी लगती है जब पूर्व में खाया अन्न पच चुका है। 'अश' अर्थात् खाये गये अन्न को 'नाया' मायने ले जाने वाला। जो खाये को ले जाये वही अशनाया है अर्थात् जल। भोजन जब जलसे तरल बनाया जाये तभी वह पचता है, मलभाग निकाल दिया जाता है और बाकी भाग सब अंगों में पहुँचता है। सर्वथा जलीयांश न हो तो भोजन पचेगा ही नहीं। आवश्यक मात्रा में इसीलिये जल पीना स्वास्थ्यकारी ही होता है। अन्न पचे तब शरीर बनता है। इस प्रकार शरीर-अन्न-जल का क्रम स्थापित होता है, आगे जल से तेज और फिर सत् में पहुँचना पूर्ववत् है।

अपने शरीर का विचार कर सद्वस्तु का अद्वैत समझने का इस तरह प्रयास बार-बार करने से ही ये संस्कार दृढ होंगे। कार्य-कारणभाव मानव मनीषा की आवश्यक पद्धति है, इसे भूलकर मनुष्य विचार नहीं कर सकता। शरीर की कार्यरूपता स्पष्ट है, उसका कारण अन्न भी समझ आता ही है, इसी तरह कार्य से कारण तो तब तक समझते जायें जब तक अकार्य पर न पहुँचें तो सत् का ज्ञान हो जाता है। ये अनुमान प्रमाणमूलक हैं। जैसे धूम-वह्नि का साहचर्य प्रमित होकर ही व्याप्ति द्वारा अनुमान प्रवृत्त होता है वैसे ये अनुमान भी प्रमाण पर आधारित हैं, यहाँ श्रुति प्रमाण है। शास्त्रचक्षुसे रहित शुष्क तार्किकों को लगता है ये अनुमान नहीं, केवल बाते हैं! शास्त्ररूप नेत्र वाले जानते हैं कि शास्त्र से समझी व्याप्ति के सहारे ये अनुमान किये जा रहे हैं जो अनुभव को हर तरह से संगत बनाते हैं। अनुभव की उपपत्ति होने से, विचारपूर्वक निगमित होने से शास्त्रोक्त बात पर स्थिरता ज्यादा हो जाती है। आँखसे आग दीखे, धुएँ आदि अग्निकार्यों से भी पता लगे कि आग है, कोई कह भी दे कि आग है तो जितनी दृढता से आग का निश्चय होता

है उतना केवल एक तरह से जानकर नहीं होता यह अनुभव है। प्रमाण-सम्प्लव आदि का जो भी विचार होउसकी व्यवस्था भी बन ही जाती है पर अनुभव तो यही है कि अनेक प्रमाणों से पता लगे तो निश्चय में पक्कापन ज़्यादा आता है। अतः श्रुतिदर्शित अनुमानों से भी सत्तत्त्व का निर्णय अवश्य कर्तव्य है। मनन की विधि भी है ही। सत् जो कारण, अर्थात् जो कारण है, उसी से कार्य बनता है अतः निश्चय होता है कि सत् ही कारण है और इसीलिये सत् ही वास्तविक है, बाकी जो कुछ कारण-कार्य की शृंखला में बद्ध हैं वे अवास्तविक, मिथ्या हैं।

श्लोक ९६ में सत्येवाऽन्नेऽस्य सत् तु अतःऐसा समझना चाहिये। निर्णयसागर का 'सत्येवान्नस्य' में क्लिष्टता है, अन्नेयह मुत्तुकृष्णशास्त्री का पाठ है। 'अतः' सत् का निश्चित संबंध होने से 'अस्य' सभी कार्यों का वास्तविक स्वरूप 'तु' और कुछ नहीं वरन् 'सत्' सद्ब्रह्म ही है। अथवा 'अस्य' पुरीषादेः 'सत्त्वतः' जायमानत्वात्अन्न होने पर ही पुरीषादि पैदा होता है इसलिये पुरीषादि अन्नकार्य हैयह सरल योजना है।

कार्यकाल में भी कार्य मिथ्या व सत् ही वास्तविक है यही प्रतिपाद्य है। शरीर अन्नकार्य होने से अन्नमात्र है, अन्न भी जलकार्य होने से जलमात्र है आदि विचार बारम्बार करते रहना साधक का धर्म है। तेज भी है अतः इसका कारण भी कोई-न-कोई 'है' ही हो सकता है, वही शास्त्रोक्त सत्तत्त्व है यह भाव है। कार्यता तेज (या आकाश) में समाप्त हो जाती है, उसका कारण सत् अज है। जो पहले न हो, बाद में हो जाये, वही कार्य हो सकता है। जो स्वरूपतः ही 'है' वह क्योंकि 'नहीं है' नहीं हो सकता इसलिये वह कार्य हो यह संभव ही नहीं। वैसे, सत् का यदि प्रागभाव मानें तो उसमें प्रमाण क्या होगा? असत् प्रमाण हो नहीं सकता और यदि प्रमाणविधया सत् है तो सत् का अभाव प्रमेय नहीं होगा। इसलिये सत् को नित्य अज ही स्वीकारना अनिवार्य है। सारा सात्मक-निरात्मक संसार सद्मूलक है, अभी भी सत् में स्थित है, लीन भी सत् में होता है। सूत से बने कपड़े के चाहे जितने आकार बदल जायें पर रहता सूत ही है, ऐसे ही सत् का विलास रहता सत् ही है। यह सत् वास्तव में अद्वय है। इसे व्यवहार से परे का समझ लेना चाहिये, इस विद्या का व्यवहार में विनियोग हो सकता है यह आशा नहीं रखनी चाहिये। ज्ञान के बाद अन्यत्र विनियोगयह द्वैतज्ञानों में ही होता है, अद्वैत ज्ञान तो स्वतंत्र ही पुरुषार्थ सिद्ध कर जीव को कृतकृत्य कर देता है, उसके विनियोग का प्रश्न ही नहीं है। पटना से एक-साथ जैसे गंगोत्री व गंगासागर नहीं जा सकते वैसे ही अंतिम कारण में निष्ठा पाने का प्रयास और अन्य कार्यों का संपादन एक-साथ नहीं हो सकते। सांसारिक उपयोग की

अशनायामुखेनेत्थं सत्तत्त्वे धीः प्रवेशिता।
पिपासामुखतोऽप्यस्मिन् सति धीरवतार्यते।।६८।।
उदन्येति पिपासायाः पर्यायस्तं विवेकिनः।
उदकं नयतीत्येवं तेजस्येव प्रयुञ्जते।।६६।।
पीतं जलं शरीरस्थं तेजसा जीर्यते ततः।
मूत्रं रक्तं च निष्पन्नं द्रवत्वाज्जलजे उभे।।१००।।

होती हैं कार्यविद्याएँ, अध्यात्मलाभ की है कारणविद्या अतः दोनों की विचारसरणि ही विरुद्ध है। कारण सूक्ष्म और व्यापक होगा, कार्य स्थूल और परिच्छिन्न होगा, इसलिये साधक कभी दोनों क्षेत्र सँभालने की न सोचे तभी कल्याण पायेगा।।८८-६७।।

चार श्लोकों से स्पष्ट किये जाने वाले विषय का उल्लेख करते हैं **इस प्रकार अशनाया के सहारे सद्वस्तु में बुद्धिका प्रवेश कराया। इसी सत् में बुद्धिका प्रवेश पिपासा के सहारे भी कराते हैं।।६८।।** शरीर रूप द्वार (श्लो. ८८) का एक कपाट भूख और दूसरा प्यास है। इनमें, भूख के अनुभव को 'सत् ही अद्वय है' इस निश्चय का उपाय बताने का ढंग समझा चुके, अब प्यास लगे तो मुमुक्षु क्या चिंतन करे कि सद्वस्तु में समाहितता बनी रहे यह बतायेंगे।।६८।।

श्रुति ने कहा है कि पूर्व में पिये उदक को जब तेजस्तत्त्व ले जा चुकता है (सुखा चुकता है) तब व्यक्ति 'पिपासति' प्यासा कहलाता है। उदक को ले जाने वाला होने से तेज 'उदन्या' कहलाता है। जल को तेज यथोचित ढंग से ले जाता रहता है, सुखाता रहता है, इसी से शरीर बना रहता है अतः शरीर का मूल पानी भी है, पानी का तेज और उसका मूल सत् है। इस प्रकार प्यास लगे तो सोचना चाहिये कि पानी शरीर का एक मूल है, उसका मूल तेज व चरम मूल सत् है अतः सत् से पृथक् न तेज है, न जल है, न शरीर है (और न प्यास है)। इस श्रुतिभाग को समझाते हैं **सामान्य लोगों के लिये 'उदन्या'-शब्द पिपासा, प्यास का पर्याय है पर विवेकशील उसका प्रयोग तेजस्तत्त्व के अर्थ में करते हैं यह समझकर कि उदक, जल को ले जाने वाला तेज ही है।।६६।। पिया हुआ जल शरीर में स्थित होकर तेज द्वारा पचाया जाता है तब उस जल से मूत्र और रक्त बनते हैं। ये दोनों स्थूलशरीरगत वस्तुएँ तरल हैं अतः निश्चित है कि जल से ही बनी हैं।।१००।। अतः मूत्र व रक्तसे उनके कारणभूत जल का अनुमान होता है कि मूत्रादि जलमात्र हैं जैसे घटादि मृन्मात्र हैं। इसी तरह जल से तेज का व तेज से सत् का अनुमान हो**

ताभ्यामापोऽनुमीयन्ते ताभिस्तेजस्ततस्तु सत्।
व्याप्तिं गृहीत्वा सर्वत्र योजनायोदितं पुनः।।१०१।।

जाता है। कार्य-कारण के अभेद का नियम समझकर जो कोई भी कार्य हो उसे उसके कारण से अनतिरिक्त जान लिया जाये यह सूचित करने के लिये उपनिषत् ने 'तत्रैतदेव शुंगमुत्पतितं' आदि दुहरा दिया है।।१०१।। जो देह में अवयव हैं वे ही बाहर उपलब्ध तेजआदि पदार्थ हैं। अध्यात्म-अधिभूत सभी वस्तुएँ केवल अद्वय सद्रूप हैं यह निश्चय करना चाहिये।।१०२।। संस्कृत में उदन्या कहते हैं प्यास को। श्रुति कह रही है कि 'उद' जल को जो 'न्या' ले जाये वह तेज ही उदन्या है। प्यास का मतलब यही है कि जो शरीर में जल था वह ले जाया जा चुका है, काम आ चुका है, सूख चुका है। पानी को सुखाने वाला तेज ही है। गर्मी ज़्यादा पड़ने पर ही प्यास भी ज़्यादा लगती है। इस प्रकार प्यास का अर्थ तेज हुआ। तेज ही जल को पचाता है तो मूत्र-रुधिर बनते हैं। प्राण भी बनता है पर यहाँ स्थूल शरीर की बात चल रही है अतः उसे छोड़ दिया। चाहे मूत्र-खून से, चाहे प्यास से, समझना यही है कि शरीर अपने कारण से पृथक् मिथ्या है, आगे वह कारण भी अपने कारण से अलग नहीं, यों अंतिम कारण सत् तक पहुँचना है। शरीर के अवयव और बाह्य पदार्थ सभी भौतिक हैं अतः भूतातिरिक्त नहीं, भूत भी सदतिरिक्त नहीं हैं यह निश्चय रखना चाहिये। अध्यात्म-अधिभूत की एकता का चिंतन भी इस रीति से संपन्न हो जाता है क्योंकि भूतों के स्तर पर सब चीज़ों का अभेद है। विश्व-वैश्वानर आदि की एकता का विचार यहाँ समझ लेना चाहिये जो पंचीकरण-प्रकरण में आचार्यों ने स्पष्ट किया है। बाहरी चीज़ों को तो सद्रूप पहले भी श्वेतकेतु ने समझा था, अब शरीर और उसके भीतर की चीज़ें भी सद्रूप समझ रहा है। मैं का रूप चिच्छाया है; जिसमें छाया पड़ रही है वह मन भी सद्रूप और जिसकी छाया पड़ रही है वह चैतन्य भी सद्रूपइसलिये सत् ही अद्वय है यह निर्णय हो जाता है।।९९-१०२।।

शरीरमात्रको भौतिक बताया, इस पर शंका होती है कि वैशेषिक, पौराणिक आदि मानते हैं कि विभिन्न लोकों में होने वाले प्राणिशरीर विभिन्न भूतों से रचे होते हैं अतः सभी शरीर पांचभौतिक कहना कैसे उचित है? समाधान है कि लोकानुसार शरीरारंभक भूतों की व्यवस्था में श्रुतिका कोई वाक्य प्रमाण नहीं है। भूतमय अन्नादि खाने पर अपने-अपने स्वभाव के अनुसार वे भूत शरीर के तत्तद् अंगों को संपुष्ट करते रहते हैं। यह बात पूर्व में 'अन्नमशितम्' आदि से कह ही चुके हैं, यहाँ भी उसको

देहे येऽवयवाः सन्ति पदार्थाः सन्ति ते बहिः।
तेषु सर्वेषु सन्मात्ररूपत्वम् अवधार्यताम्।।१०२।।

याद कर लेना चाहिये। सब शरीरों में सभी भूतों के कार्य अनुभव में आते ही हैं अतः उन्हें भौतिक मानना संगत ही है। शरीर-प्रसंग में यद्यपि यह कहना चाहिये कि किस भूत से कौन-सा शरीरभाग बनता है, तथापि थोड़ा ही पहले यह कह चुके हैं इसलिये श्रुति ने इतना ही कहा कि इस बारे में जो बताना चाहिये 'तदुक्तं पुरस्तादेव' वह पहले ही कह दिया है। इस बात का उल्लेख करते हैं **देह की और बाह्य विषयों की भूतकार्यता जो अतीत में कही उसे यहाँ भी कहा गया समझ लेना चाहिये।।१०२-१/२।।** तात्पर्य है कि पूर्व में समझा चुके हैं कि भुक्त अन्नादि के मध्यम भाग ही सात धातुओं वाले स्थूल शरीर बनाते हैं अतः शरीरमात्र भौतिक हैं यह ठीक ही है और भौतिक होने से ही सन्मात्र हैं यह निश्चय करना चाहिये। अत एव 'दिव्य', विशिष्ट शरीर और विषय अमिथ्या हैं इत्यादि भक्तों की कल्पना श्रुति-अनुसारी नहीं यह समझ लेना चाहिये।।१०२-१/२।।

आगे श्रुति ने बताया है कि जीव द्वारा अधिष्ठित प्राण-करणसंघात स्थूल शरीर छोड़कर किस तरह जाता है

'अस्य सोम्य पुरुषस्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।।६.८.६।। अर्थात् मरणासन्न व्यक्ति की वाणी मन में उपसंहृत हो जाती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परा देवतामें प्रशांत हो जाता है। वाग् आदि की वृत्ति, व्यापार समाप्त होकर मन आदि का सव्यापार रहना ही वाग् आदि का मनआदि में उपसंहार है। प्राण का तेजमें उपसंहार कहने का मतलब है कि तेजआदि महाभूतों सहित जो विज्ञानात्मा है उसमें प्राण लीन होता है न कि केवल तेज में। तेज कहा इसलिये कि प्राणवृत्ति रुकने पर भी कुछ समय स्थूल शरीर में गर्मी प्रतीत हो जाती है यह लोकदृष्ट है। वस्तुतः तेजआदिक सृष्टि यहाँ बतायी है अतः तेजकी प्रधानता होने से सभी भूतों का उसे प्रतिनिधि मानकर उसका उल्लेख किया। जीव, विज्ञानात्मा तो प्रधान होने से समझना ही चाहिये। इस क्रम से जब मन अपने मूलभाव को प्राप्त हो जाता है तब मन-रूप निमित्त न रह जाने से जीव भी सद्ब्रह्म से पृथक् नहीं रह जाता। है हमेशा अपृथक्, उपाधि से पृथक् लग रहा है, उपाधि न रहे तो पृथक् प्रतीति समाप्त हो जाती है। मन जब तक तत्त्वानुभूति के बिना लीन होता है तब तक सुषुप्ति-तुल्यता होने से शरीरान्तर में जन्म हो जाता है जहाँ पुनः जीव प्रकट हो जाता है पर जब तत्त्वज्ञानपूर्वक

भौतिकत्वं पुरा प्रोक्तं तदुक्तं देहबाह्ययोः।
इन्द्रियद्वारतो बोद्धुं प्रोच्यते मरणक्रमः।।१०३।।

इन्द्रियद्वारा बोधनम्

म्रियमाणस्य वागादिवृत्तिर्मनसि लीयते।
मनोवृत्तेर्लयः प्राणे प्राणवृत्तेस्तु तेजसि।।१०४।।
श्वासस्योपरतावुष्णं स्पृष्ट्वा जीवननिश्चयम्।
कुर्वन्त्युष्णं तु तत्तेजः सद्वस्तुनि विलीयते।।१०५।।

मन लीन होता है तब विदेह कैवल्य ही मिलता है। इस तरह मरणक्रम बताते हुए इंद्रियों के सहारे सत् तत्त्व को कैसे समझाया यह सूचित करते हैं **इन्द्रियों के द्वारा सत् के बोधन के लिये मरने का क्रम बताते हैं।।१०३।। जब व्यक्ति मरने लगता है तब उसके वागादि के व्यापार मन में लीन होते हैं, मन के व्यापारों का प्राण में लय होता है और प्राण-व्यापार तेज में लीन होता है।।१०४।। साँस रुक जाने पर शरीर छूकर देखते हैं, यदि गर्मी महसूस हो तो निश्चय कर लेते हैं कि अभी जीवन है। वह तेज सद्रूप वस्तु में लीन होता है।।१०५।।** द्रष्टा-श्रोता आदि रूपों से हम स्वयं को मानते हैं। द्रष्टा आदि बनते हैं इंद्रिय-उपाधियों से अतः शरीर-मन की तरह इंद्रियाँ भी विचारणीय हैं। इन्द्रियाँ भी वस्तुतः सत् से अतिरिक्त नहीं हैं। इन्द्रियाँ भूतकार्य हैं ही अतः भूतातिरिक्त नहीं, अन्ततः सदतिरिक्त नहीं यह पूर्ववत् समझना चाहिये। जैसे चिच्छाया के बारे में समझने के लिये सुषुप्ति का सहारा लेना पड़ता है वैसे इंद्रियाँ समझाने के लिये मरणक्रम का सहारा लिया है। जाग्रदादि की तरह मरण भी जीव की अवस्था है अतः उसके विचार की भी आवश्यकता है। आकस्मिक या रोगविशेष से अतिशय अशक्त होकर मरण होते समय उक्त क्रम न मिलने पर भी स्वाभाविक मृत्यु में यह क्रम लोकसिद्ध है। सबसे पहले वाणी ही लड़खड़ाने लगती है, फिर होश जाने लगता है, मन काम नहीं करता, फिर साँस उखड़ती है और अंत में शरीर ठंडा पड़ जाता है। जब शरीर में गर्मी भी न रहे तब निश्चय होता है कि व्यक्ति मर गया। उस वक़्त भी सत्तत्त्व तो रहता ही है! अतः तेजका सत् में लय कहा। अन्यत्र कलाओं का उल्लेख है, वहाँ बताया है कि मुक्त भी जब मरता है तब उसकी बाकी कलाएँ समाप्त होने पर भी नाम बच जाता है, लोग नाम याद रखते हैं। वहाँ भी समझ लेना चाहिये कि 'नाममात्र रह गया' का भी मतलब यही है कि वास्तविक तो सत् ही है, उससे पृथक् जो शुक-वामदेव आदि

तत्त्वमसि

छायादेहेन्द्रियद्वारैः पदार्थो योऽत्र बोधितः ।
स एष सर्वजगतोऽणिमा वस्त्वन्तरं न तु ।।१०६ ।।
स्थूलत्वाऽणुत्वरूपाभ्यां वस्त्वेकं भासते द्विधा ।
स्थूलमिन्द्रियगम्यत्वाद् नामरूपात्मकं जगत् ।।१०७ ।।
सदद्वैतं भवेत् सूक्ष्मम् इन्द्रियाऽविषयत्वतः ।
एतदात्मैकतैवाऽस्य स्थूलस्येतीह युज्यते ।।१०८ ।।
अणुत्वं वस्तुनः प्रोक्तं यत् तत् सत्यमबाधनात् ।
स्थूलत्वं मायया क्लृप्तं ज्ञानेनैतस्य बाधनात् ।।१०९ ।।
अबाध्यो यः स एवाऽऽत्मा सर्वस्य न तु कल्पितः ।
श्वेतकेतो यदद्वैतं तदसि त्वं न मानवः ।।११० ।।

को समझा जाता है वह नाममात्र को अर्थात् मिथ्या है। सुषुप्ति में इंद्रियाँ नहीं रहतीं पर वहाँ सब इंद्रियाँ व मन एक-साथ लीन होते हैं इसलिये यह क्रम स्पष्ट नहीं होता अत एव मरण का अनुभव दिखाना ज़रूरी हुआ।।१०३-५।।

इतना बताकर आरुणि ने श्वेतकेतु को महावाक्य सुनाया 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो! (६.८.७)
अर्थात् सर्वाधिक सूक्ष्म जगत्कारण सत् ही जगत् का आत्मा है, वही परमार्थ सत्य है, हे श्वेतकेतु! वही तू है। यह प्रसंग समझाते हैं **चिच्छाया, स्थूल शरीर और इंद्रियाँ इनके द्वारा जो पदार्थ यहाँ समझाया वही सारे जगत् का अत्यंत सूक्ष्म कारण है, उस सत् से अलग कुछ नहीं जो जगत् का कारण हो।।१०६।। एक ही वस्तु स्थूल और सूक्ष्म दो तरह से प्रतीत होती है। इन्द्रियों का विषय बनने के कारण नाम-रूपस्वरूप जगत् स्थूल है।।१०७।। इन्द्रियोंका विषय न होने से अद्वैत सत् ही सूक्ष्म है। इस स्थूल जगत् का आत्मा वह सूक्ष्म सत् ही है। इसमें श्रुति व युक्ति दोनों की संमति है।।१०८।। सद्रूप परमार्थ का बाध न होने से वही सत्य है। स्थूलता माया से कल्पित है क्योंकि अधिष्ठान सत् के साक्षात्कार से स्थूल का बाध हो जाता है।।१०९।। जो बाध के अयोग्य है वही सबका आत्मा है, कल्पित रूप आत्मा नहीं है। हे श्वेतकेतु! तू मानव नहीं वरन् जो अद्वैत सत् है वही तू है।।११०।। चारों वेदों का अध्येता चिच्छाया वाला अहंकार ही है, तू तो उस अहंकार का साक्षी ही है अतः तू केवल सत् है,**

चिच्छायावानहङ्कारोऽधीते वेदचतुष्टयम्।
त्वं तु साक्ष्येव तस्याऽतः सदसि त्वं न चेतरः।।१११।।

अहंकारादि अन्य कुछ भी तू नहीं है।।१११।। मन या चिच्छाया, चिदाभास आदि तीन द्वारों की सहायता से प्रतिपादित जगत्कारण अतिसूक्ष्म होने से श्रुति में 'अणिमा' कहा गया है। अणिमापद का अर्थ होता है अणु का भाव, यहाँ तात्पर्य है सूक्ष्म से कि सत्तत्त्व सूक्ष्म है। उसे समझने के लिये बुद्धि की तैयारी काफ़ी चाहिये, यह सूक्ष्म का वैशिष्ट्य होता है। अतिसूक्ष्म कीटाणु जल में, वायु में रहते हैं, साधारण दृष्टि से उन्हें कभी नहीं देखा जा सकता पर उपायविशेष से उनकी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती है। श्रवण और तदनुसार अनुभव-परीक्षा बारम्बार करें तभी जगत्कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्तत्त्व का पता चल सकता है। सद्रूप से स्वयं की, प्रत्यगात्मा की एकता समझने से ही पूर्ण अद्वैत का बोध होगा। दृश्य वर्ग तो स्वरूपतः अध्यस्त है, उसका बाध कर सन्मात्र को समझ सकते हैं। द्रष्टा संसर्गतः अध्यस्त है, उसके तादात्म्य का ही बाध कर उसकी स्वरूपभूत एकता समझ लेनी चाहिये। मैं हूँ तो सन्मात्र, पर देह-इंद्रिय-प्राण-मन आदि उपाधियों से स्वयं को सम्बद्ध करने के कारण खुद को सत् से अलग समझ रहा हूँ। उपाधियों को पूर्वदर्शित तरीके के सन्मात्र समझने पर जब भेदक निवृत्त हो जायेंगे तब उनसे प्रतीयमान अपनी परिच्छिन्नता भी नहीं रह कर अद्वैत सिद्ध हो जायेगा। एक मिट्टी ही जैसे छोटे-बड़े बर्तनों के रूप में दीखती है, पिण्ड-कपाल आदि अवांतर कारणों के रूप में प्रतीत होती है, वैसे एक सत् ही सूक्ष्म व स्थूल सारे जगत् के रूप में दीख रहा है, मिट्टी पर बर्तनादि की तरह सत् पर नाम-रूपों का अध्यास है। स्थूल दृष्टि से जो जगत् लग रहा है वही सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सत् समझ आ जाता है। इन्द्रिय-ग्राह्य को वेदांत-प्रक्रिया में स्थूल कहते हैं। स्थूल लगने वाला संसार विचार-दृष्टि से सूक्ष्मतम सत् से किंचिद् भी पृथक् नहीं है। अवान्तर कारण भी सत् से अलग नहीं हैं। अविद्या तो अज्ञात सत् से पृथक् है ही नहीं 'अज्ञातात्मातिरेकेण नाऽज्ञानं' यह वेदांताचार्य समझा चुके हैं। इस तरह ऐन्द्रिय जगत्, जो स्थूल है, और व्यापक सत्, जो सूक्ष्म है, दोनों पृथक् नहीं हैं। जो सांसारिक भाव ऐन्द्रिय नहीं हैं जैसेकाम, क्रोध, कार्यकारणता आदिवे भी स्थूल हैं यह बताने के लिये नाम-रूपात्मक जो कुछ है वह स्थूल है यह कहा। इन्द्रियाऽग्राह्य होने से ही उन्हें लौकिक सूक्ष्म पदार्थ माना ही जाता है पर वास्तविक सूक्ष्म सत् की अपेक्षा वे स्थूल ही हैं क्योंकि स्थूल से निरपेक्ष उनकी वर्तमानता नहीं। स्थूल शरीरादि की अपेक्षा रखते हुए ही ये भाव भी सव्यापार होते हैं। अत एव सूक्ष्मशरीर भी सत् की दृष्टि

में स्थूल ही है। सत् से हटकर जो कुछ प्रतीयमान है उसे यहाँ स्थूल कहा यह जानना चाहिये।

आत्मा मायने वास्तविक स्वरूप। इदम्बुद्धि से गम्य जो कुछ है उसका सच्चा स्वरूप सत् ही है। झूठे रूप का ज्ञान मोक्ष नहीं, बंधन ही देता है, सच्चे रूप का ज्ञान ही मोक्ष देता है। परम सूक्ष्म सत्तत्त्व ही सत्य है, केवल अनुभव स्वरूप है, सनातन है, उसी के साक्षात्कार से, निरावरण से अविद्यापरिकल्पित नाम-रूप, 'स्थूल'प्रपंच के बारे में निर्णय हो जाता है कि यह कभी नहीं हुआ! हुए बिना ही है-जैसा लगा था। वास्तव सत् कभी इदम्बुद्धि से नहीं जाना जाता,जो इदंकारास्पद रूप होता है वह मायिक ही, मिथ्या ही होता है जैसा नारद जी को भगवान् ने बताया कि 'जो मनोहर रूप तूने देखा वह मैंने माया का ही विलास किया था, मेरे व्यापक स्वरूप को तू यों देख नहीं सकता।' मायिक रूप का दर्शन यदि कल्याणकारी होता तो हमारा अब तक कल्याण बहुत पहले हो चुकता क्योंकि यह सारा संसार परमात्माका मायिक ही रूप है! मायिक रूप चाहे भौतिक हो या 'दिव्य' अर्थात् अक्रम सृष्टि से तैयार किया हुआ, उसका दर्शन कैवल्यप्रद नहीं, इतना ही हो सकता है कि या उसके दर्शन से उत्तम लोक मिलें या मन संशुद्ध हो जाये और उससे उपदेश मिलकर ज्ञान हो जाये। भगवान् साकार दर्शन देकर भी यदि कैवल्य देना चाहें तो यही उपाय है कि हमें तत्त्वज्ञान करायेंगे, इसके बिना वे भी हमें कैवल्यभागी नहीं बना सकते क्योंकि स्वयं श्रुति ने 'तमेव विदित्वा' आदि कहा है। आदि-अंत वाली चीज़ें असत्य ही होती हैं, सनातन वस्तु ही सत्य होती है। आत्मा ही हमेशा विद्यमान है, इसका बाधक असंभव है अतः यही सद्वस्तु है जो जगत्कारण भी है। प्रत्यक् रूप में प्रतीयमान परिच्छिन्नता और जगत् के प्रति कारणता ये दोनों औपाधिक धर्म हैं, दोनों छोड़कर सच्चिदानन्द अखण्ड स्वरूप ही परमार्थ है। सत् की ही जो अनिर्वाच्य सहाय शक्ति है उससे वह सारे औपाधिक रूपों में भास जाता है फिर भी स्वयं निर्विकार बना रहता है। वेदान्तशास्त्रका प्रधान उपदेश 'तत्त्वमसि' ही है। केवल साक्षी या केवल परमेश्वर को जानने से या केवल संसार को असत्य मान लेने से कैवल्य नहीं, जीव-ईश्वर के भेद का बाध कर अखण्ड चिन्मात्रको समझने से ही कैवल्य है। श्वेतकेतुको पूर्व में सद्विद्या से नाम-रूप का मिथ्यात्व और सद्ब्रह्म की सत्यता का उपदेश मिला था पर उससे शोकमोह की आत्यंतिक निवृत्ति संभव नहीं अतः आरुणि ने महावाक्य से समझाया कि जिसे हम अपना जीवस्वरूप समझ रहे हैं वह वास्तव में पूर्ण है, व्यापक है, ईश्वर की सत्यता से अतिरिक्त नहीं है। स्वयं की पूर्णता, अद्वितीयता के ज्ञान से ही शोकादि संसारधर्मों की

मननम्

भिन्नोऽभूद् हृदयग्रन्थिः श्वेतकेतोर्विवेकतः।
धीदोषं संशयं मार्ष्टुं भूयो ब्रूहीत्यवोचत।।११२।।

निवृत्ति होती है। क्योंकि सत् से जीव भी भिन्न नहीं इसलिये सत् के ज्ञान से न केवल नाम-रूपों की वरन् जीवों की भी वास्तविकता का ज्ञान हो जाने से प्रारंभ में की प्रतिज्ञा पूरी हो जाती है कि एक को जानने से सब जान लिया जाता है।

पिता ने रहस्य समझाकर उसका प्रयोग-स्थल में अतिदेश भी कर दियाः श्वेतकेतु घमण्ड से मस्त था। उसे बताया कि जो अक्षरराशि के स्मरण का अभिमान है वह तेरा वास्तव स्वरूप है ही नहीं, तू उसका केवल साक्षी है। श्वेतकेतु प्रमाता से स्वयं को एकमेक समझ रहा था, अब उसे बताया कि तू प्रमाता नहीं है क्योंकि वह औपाधिक रूप है, तू साक्षी है, उपाधि से निरपेक्ष है। जिसकी छाया पाकर मन चेतन-सा बन जाता है वह तू है, छाया तू नहीं यह पिता का उपदेश है। यद्यपि मन से स्वयं को अलग जानने मात्र से मनोगत गर्ववृत्ति निवृत्त हो यह नियम नहीं तथापि हम तो उस गर्व से छूट ही जाते हैं, 'मैं गर्वीला हूँ' यह आत्मा को प्रतीत होना बंद हो जाता है। गर्व हटाना साधना के लिये अनिवार्य है क्योंकि उसके चलते आत्मा का निर्विशेष स्वरूप स्वीकार्य ही नहीं होता अतः सिद्धका मन भी गर्वहीन ही होता है। किंतु मन की वह गर्वहीनता साधना का फल है, ज्ञान का नहीं। ज्ञानफल तो आत्मा की अविद्या की निवृत्ति ही है। इस प्रकार प्रथम तत्त्वमसि-उपदेश का अर्थ समझाया।।१०६-११।।

श्रुति में आया है कि श्वेतकेतु ने इसके बाद आठ बार निवेदन किया कि 'और समझाइये' तथा आरुणि ने विभिन्न दृष्टान्तों व युक्तियों से यही रहस्य स्पष्ट करते हुए फिर-फिर तत्त्वमसि को दुहराया जिससे कुल नौ बार इस प्रसंग में महावाक्य आया है। आरुणि के उत्तरों से श्वेतकेतु के प्रश्नों का अनुमान हो जाता है जिससे पता लगता है कि यों वह मनन कर रहा था। श्रवण के बाद मनन करना चाहिये। अपने मन में श्रुत तत्त्व के विरुद्ध जो भी संशय और विरोधी तर्क आयें उनका प्रमाण-युक्तिपूर्वक उन्मूलन साधक का कर्तव्य है। इसमें आवश्यक सहायता गुरु, अन्य विद्वान्, सतीर्थ्य, ग्रंथ आदि से ली जा सकती है। यह प्रसंग समझाते हैं **मिथ्या नाम-रूप उपाधियों से अत्यन्त पृथक् व्यापक सत् तत्त्व समझने से श्वेतकेतु के हृदय की गाँठ तो खुल गयी पर बुद्धि के संशयरूप दोष को पूर्णतः दूर करने के लिये उसने कहा 'पुनः समझाइये'।।११२।। प्रश्न उठता है कि आपने कहा कि सुषुप्ति में जीव सत्**

सता सम्पद्यते जीवः सुषुप्तावित्युदीरितम्।
तथा चेत् सति सम्पन्नोऽहम् इत्यस्य कुतो न धीः।।११३।।

से एक हो जाता है पर यदि ऐसा होता है तो 'मैं सत् से एक हो चुका हूँ' ऐसा निश्चय क्यों नहीं होता?।।११३।। हृदय की गाँठ अर्थात् चेतन व जड का परस्पर अध्यास जिससे हम स्वयं को प्रमाता ही समझते हैं। अहंकार मनोवृत्ति है, आत्मा साक्षी है, चिदाभास में दोनों की एकता का भ्रम होता है। संसार के व्यवहार आत्मा अकेला नहीं करता, जड उपाधियाँ भी स्वतः कुछ नहीं करतीं, चिदाभास से उपाधियाँ सचेतन और चेतन सोपाधि बन जाता है तभी व्यवहार होता है। जीवस्थल में यह गाँठ हृदय में है। जड चीज़ों की सत् से गाँठ 'सत्ता' के रूप में मिलती है, घटकी सत्ता अनुभव में आती है, वह सत्ता ही घट-सत् की गाँठ है। कर्म करना व उनके फल भोगना ग्रंथिरूप जीव ही कर सकता है। ग्रंथि या अहंकार, चिदाभास में जड-चेतन दोनों के धर्म मिल जाते हैं अतः विवेक से गाँठ खुलने पर निर्विकार साक्षी स्पष्ट हो जाता है। विकार अनात्मांश हैं, साक्ष्य हैं; साक्षी आत्मा, निर्विकार है। आभास में तो आत्मा विकारी लगता है, विवेक होने पर उसका सत्य निर्विकार स्वरूप प्रकट हो जाता है। गुरु के उपदेश से ही यह आत्मानात्मविवेक संपन्न होता है, स्वतः इसे करना संभव नहीं है। द्रष्टा-दृश्य तक का विवेक यथाकथंचित् कर भी लें पर साक्षी को समझना बिना आचार्योपदेश के असंभव है। अत एव इस तत्त्व को पहले ही 'आदेश'-शब्द से कहा था। गुरु के उपदेश से तत्त्व समझ तो आता है पर तुरंत नाना संशय उस समझ को अभिभूत कर देते हैं, उन्हें दूर करने के लिये मनन करना पड़ता है। संशय से ज्ञान अस्थिर हो जाता है, 'नहीं पता' ऐसी बात नहीं, किंतु निश्चय न होने से ज्ञान का फल नहीं हो पाता। जैसे लौकिक ज्ञान यदि संशयग्रस्त है तो व्यक्ति मौके पर उचित कदम नहीं उठा पाता, वैसे ब्रह्मज्ञान संशयित हो तो अविद्या, शोक-मोहादि नहीं दूर कर पाता। जो ज्ञान अपने विरोधी ज्ञान का निरास नहीं कर पाये वह अनिश्चय, संभावना, संशय आदि रूप ही है। इनमें अवांतर भेद हैं पर दुर्बलता समान ही है। इसे मनन, विचार से ही हटाना पड़ेगा। बौद्धिक शंकाएँ आवृत्ति आदि से या जप-तप आदि से दूर नहीं होतीं, उन्हें व्यवस्थित ऊहापोह ही हटाता है।

ज्ञान तो श्रवण से ही होगा पर उसके बारे में आये प्रश्नों के उत्तर मनन से मिलेंगे। मैं ब्रह्म हूँ यह शब्द से पता चला; मुझे मच्छर काट रहा है यह अपरोक्ष हुआ; प्रश्न उठता है कि क्या जो 'मैं' ब्रह्म हूँ उसी 'मैं' को मच्छर काट रहा है? इसका उत्तर

नानावृक्षरसैक्येन सम्पन्ने मधुनि स्थितः।
न बुद्ध्यते रसोऽस्येति तथा सर्वलयाद् न धीः।।११४।।
जीवोपाधिलयेऽप्यत्र तद्बीजस्यावशेषतः।
तदुपाधिक एवाऽस्मिन् देहेऽन्येद्युः प्रबुद्ध्यते।।११५।।

निकालना मनन है। तर्कादि प्रक्रियाओं की कोटियाँ चढ़ाने का नाम मनन नहीं है। शास्त्रतात्पर्य का अवधारण कर उसके बारे में स्वयं को जो शंकाएँ उठें उन्हें दूरकर श्रवणसिद्ध तत्त्व में स्थित होने का नाम मनन है 'मैं ब्रह्म हूँ, जगत् मिथ्या है' इस बारे में उठने वाले प्रश्नों का उत्तर खोजकर इस निर्णय पर पहुँचना कि जैसा शास्त्र ने कहा, वास्तव में वैसा ही है, मैं ब्रह्म ही हूँ, जगत् मिथ्या ही है इस साधन-विशेष को मनन कहते हैं। शरीर को मच्छर अवश्य काटेगा, खुजली होगी, मन को प्रतिकूल लगेगा, हाथ से उसे उड़ायेगा ये सब हो, और यदि काट ही चुका तो मलेरिया भी हो, पर यह न महसूस हो कि 'मुझे' काटा या खुजली हुई या प्रतिकूल लगा या मैंने उड़ाया या मैं मलेरिया-पीड़ित हूँ, तब समझना चाहिये कि मनन संपन्न हुआ। इसी दृष्टि से श्वेतकेतु ने बार-बार पूछा और हर बार जवाब देकर आरुणि ने 'तत्त्वमसि' दुहराया। इससे पूर्व जो प्रथम बार तत्त्वमसि कहा था उससे श्रवण हो चुका, बाद वालों से मनन हुआ है।

श्वेतकेतु का प्रश्न है कि सुषुप्ति में सत् से एक हों तो हमें पता चलना चाहिये, पता क्यों नहीं चलता? अर्थात् पता नहीं चलता तो एक नहीं होते होंगे यह आक्षेप नहीं है वरन् प्रश्न है कि क्यों नहीं चलता।।११२-३।।

उत्तर में गुरु ने दृष्टान्तों का उपयोग किया। यद्यपि हेतु बताना चाहिये तथापि उदाहरण से संभावना दृढ हो जाती है कि अन्यत्र ऐसा होता है तो प्रकृत में भी ऐसा होना मुमकिन है, इसलिये दृष्टांत से समाधान दिया। समाधान समझाते हैं **विभिन्न वृक्षों के रसों की संमिलित होकर एकता हो जाने पर तैयार शहद में स्थित वे विभिन्न रस जैसे नहीं समझते कि 'मैं इस वृक्ष का रस हूँ', वैसे ही सुषुप्ति में सारी ज्ञान-सामग्री लीन हो चुकने से हम लोगों को पता नहीं चलता कि हम सत् से एक हैं।।११४।। जीवभावको व्यक्त करने वाली मनआदि उपाधियाँ सुषुप्ति दशा में यद्यपि अविद्या में विलीन हो जाती हैं तथापि उपाधियों के बीज बचे रहते हैं अतः अगले दिन इस शरीर में जब जीव जगता है तो उन्हीं उपाधियों वाला हुआ जगता है जिनसे युक्त वह पिछले जाग्रत् में था।।११५।।** मधुमक्खी

विभिन्न फूलों से रस पीकर उसे मुँह से निकालती है तो शहद तैयार होता है। अलग-अलग वृक्षों के फूलों का रस पीकर निकालती तो अपने छत्ते में एक ही जगह है अतः तैयार शहद में वे सभी रस इकट्ठे रहते हैं किंतु उस मधुको देखकर मधुमक्खी भी नहीं समझ सकती कि कौन-सा हिस्सा किस फूल के रसका है। स्वयं रस तो नहीं ही जान सकते इसमें क्या कहना! शहद में अलग-अलग पुष्परस हैं अवश्य पर क्योंकि सब मिल-जुल गये हैं इसलिये उनका पृथक् अस्तित्व समझा नहीं जा सकता। ऐसे ही सुषुप्ति में सभी जीव और उनके उपकरण लीन हो जाते हैं, उपकरण अज्ञान में और जीव सद् ब्रह्म में लीन होते हैं, फिर भी अपने-अपने व्यक्त रूपों के विभाग तब समझ नहीं आते और न यही मालूम पड़ता है कि सब सत् से एक हुए हैं। स्वरूप ज्ञान नित्य है किन्तु उससे कोई विषय सम्बद्ध हो इसके लिये उपकरण चाहिये। सुषुप्ति में उपकरण कार्यकारी न रह जाने से तब विभाग की अनुभूति नहीं हो सकती और विलीन हो चुकने से तब विभाग रह भी नहीं जाता अतः विभागानुभव न होना ही संगत है। प्रकाश के अभाव में जैसे आँखों से कुछ देख न पाने के कारण हमें लगता है कि 'दीख कुछ नहीं रहा' न कि यह समझते हैं कि 'कुछ है ही नहीं', वैसे ही सुषुप्ति में सामग्री न रह जाने से हमें ज्ञान नहीं होता पर उस अज्ञान के आधार पर वहाँ हम सत्से एक थे ही नहीं यह नहीं कह सकते। अगला प्रश्न होता है कि जब सत्से एक हो ही गये तो मोक्ष हो जाना चाहिये था, पुनः जाग्रत् में हम जीव कैसे बन जाते हैं? उत्तर है कि जीवभावको व्यक्त करने वाली सूक्ष्मदेहरूप उपाधि सुषुप्ति में समूल नष्ट नहीं होती वरन् उसका बीज वहाँ रहता है जिससे पुनः वही उपाधि तैयार होकर वही जीव जग जाता है। मशीन के सब कल-पुर्जे खोल देने से मशीन अपने बीजभाव में पहुँच जाती है, सारे अवयव अन्यत्र ले जाकर पूर्ववत् कस देते हैं तो पुनः वही यन्त्र व्यक्त हो जाता है, इसी तरह सूक्ष्मांग सुषुप्ति में कारण में विलीन रहकर अवस्थान्तर में पुनः प्रकट हो जाता है तथा क्योंकि 'वही' उपाधि जीव को परिच्छिन्न करती है इसलिये 'वही' जीव जगा यह उपपन्न है। आत्मा तो है ही एक, भेद उपाधिभेद से ही बोध्य है, उपाधि वही होने से जीव वही हो यह संगत है। जीव क्योंकि कार्य नहीं इसलिये उसका कोई बीजभाव भी नहीं, वह कहीं लीन नहीं होता, स्वरूप से बना रहता है। उपाधिका बीज अज्ञान है, उस रूपसे वह बनी रहती है। प्रारब्ध फलोन्मुख होने पर झटिति अज्ञान से उपाधि तैयार हो जाती है जिससे जब जाग्रत् या स्वप्न का अनुभव हो तब वही जीव उसका अनुभव करता है जो सोने गया था। शेर सोकर उठे तो शेर ही रहता है, ऐसा नहीं कि शेर और बकरी एक समय में सोयें तो इकट्ठे उठने पर बकरी के शरीर

चित्तैकाग्र्याय तच्छङ्का परिहार्या तु वस्तुषु।
पूर्वोक्तमेव तद् बोद्धुं तदेवाह पुनर्गुरुः।।११६।।
प्राज्ञंमन्यतया तत्त्वम् अविश्वस्य स्वशङ्कया।
पुनः पुनरपृच्छत् तं प्रत्याहाऽसौ पुनः पुनः।।११७।।

में शेर जग जाये और शेर के शरीर में बकरी जग जाये! इसका कारण है कि स्थूल शरीर से परिसीमित अविद्या में ही सूक्ष्म शरीर सुषुप्ति में लीन होता है अतः उसीमें व्यक्त भी होता है। मरने पर अवश्य उसे आतिवाहिक देह मिल जाता है जिसमें भरा हुआ वह देहांतर, लोकान्तर ले जाया जाता है। जीव सुषुप्ति में जिस आत्मा से एक होकर पुनः जगता है वही सर्वसूक्ष्म, सबका स्वरूप परमार्थ सत्य सत्तत्त्व है, वही 'तत्त्वमसि' से उपदिष्ट है।।११४-५।।

अनेक तरह से बार-बार कथन किया है तो लग सकता है कि विभिन्न विषय समझाये होंगे अतः बता देते हैं कि प्रतिपाद्य तत्त्व अभिन्न परमात्मा ही है **प्रतिपाद्य वस्तु की संभावित सभी विशेषताओं के बारे में शिष्यहृदय में जो भी शंका उठे उसे मिटाना आवश्यक है ताकि तत्त्व पर शिष्यका चित्त एकाग्र हो सके, इसीलिये शिष्य को पूर्व-कथित तत्त्व ही सुस्पष्ट करने के लिये गुरु ने उसी का फिर से उल्लेख किया।।११६।। स्वयं को विचार-कुशल मानकर श्वेतकेतु उपदिष्ट तत्त्व पर सहसा श्रद्धा नहीं कर पा रहा था, उसे जो उसके बारे में शंकायें उठ रही थीं तदनुसार वह बारम्बार प्रश्न करता गया और आरुणि हर प्रश्न का उत्तर देते गये।।११७।।** सोकर उठने की व्यवस्था समझाकर गुरु ने 'स य एषोऽणिमा' इत्यादि उपदेश दुहरा दिया और शिष्य ने 'भूय एव मा' आदि से पुनः समझाने के लिये कहा। इससे सूचित किया जब तक स्वयं को निश्चय न हो तब तक शंकासमाधानके प्रयास में लगे ही रहना चाहिये और गुरु को धैर्य से शिष्य के प्रश्नों का जवाब देना चाहिये चाहे शिष्य विचार में अधिक कुशल न भी हो। वैसे, श्वेतकेतु के प्रश्न अत्यंत उपयुक्त ही हैं, विचारपूर्वक उनका समाधान समझने योग्य ही है। मनमें जब तक शंका रहे तब तक चित्त उथल-पुथलमें व्यग्र रहता है, एकाग्र नहीं हो पाता। अतः मननपूर्वक निदिध्यासन का विधान है।

तीव्र दर्द होने पर जैसे मन उस पीडा पर ही एकाग्र होता है ऐसे स्वयमेव आत्मा पर एकाग्र नहीं होता वरन् करना पड़ता है, वृत्ति को प्रयासपूर्वक एकाकार बनाना, बनाये रखना पड़ता है। जब ज्ञान हो जाता है तब तो प्रयास आवश्यक नहीं, जैसे दर्द का अनुभव

होने पर तदाकार वृत्ति के लिये प्रयास आवश्यक नहीं। अपनी आनंदरूपता का साक्षात्कार हो जाने पर तो चाहकर भी उधर से वृत्ति हटती नहीं किन्तु साक्षात्कार पाने के लिये वृत्ति को सायास आत्मैकाकार बनाये रखना आवश्यक है। इसके लिये ज़रूरी है कि उसके बारे में संशय न रह जाये अतः शिष्य-गुरु का प्रश्न-उत्तर में प्रवृत्त होना उचित है। शंकाओं के उठने में बड़ा कारण जीवकी यह मान्यता है कि 'मैं बुद्धिमान हूँ', इसे और बढ़ाता है विभिन्न विद्याओं का परिचय। जिसने जितने ज़्यादा ग्रंथ पढ़े हों उसे प्रारंभ में उतनी ही ज़्यादा शंकाएँ भी होती हैं। गंभीर साधक तो परिश्रम से उनका समाधान खोजते-खोजते सभी शास्त्रों को एक महासंवाद समझकर अनुभव करता है कि शंकाओं की गुंजाइश अत्यधिक घट जाती है जब विभिन्न पद्धतियों के अनुसार समाधानों का तालमेल बैठाया जाता है, किंतु प्रारंभ में शंकाओं की बढ़ोतरी होती ही है। स्वामी विवेकानन्द जी का भी अनुभव था कि स्वयं को पढ़ा-लिखा समझने से ही अद्वैत पर टिकने में कठिनाई आती है, वह भूलने से मन शांत होता है। आत्मविषयक कोई शास्त्रीय संस्कार न हों तब तो श्रद्धा से गुरु की बात समझकर व्यक्ति उस पर स्थिर रह सकता है अन्यथा अन्य शास्त्रों में बतायी बातों के विरोधों के परिहार की इच्छा अवश्य रहती है।

केवल स्वानुभवके विरोध का परिहार समझना बौद्धिक स्तर पर इतना कठिन नहीं जितना अलग-अलग दर्शनों के विरोध का समाधान समझना। शंकाबाहुल्य उपदेश पर विश्वास नहीं होने देता। यद्यपि बात संगत है तथापि बुद्धिके दोषसे वह उसे ग्रहण नहीं करती। अतः अध्यात्मशास्त्रके आचार्य धैर्य से पुनःपुनः सारी शंकाएँ दूर कर बार-बार अपना सिद्धांत समझाते हैं। अज्ञानदशा में दृढ संस्कार है कि दृश्य सत्य होता है अतः दृश्य को मिथ्या समझना अत्यंत कठिन है। ऐसे ही 'मैं कर्ता-भोक्ता' यह दृढ अभिमान है जिसे काटने वाला उपदेश समझना और भी कठिन है। क्रिया से फल होता हैयह भी हमारी मान्यता पक्की है जिसका निषेध कर ज्ञानसे फल समझना बहुत मुश्किल है। इन कठिनाइयों के चलते ही वेदान्त-अवबोध के लिये दीर्घकाल तक गुरु-शिष्य का सन्निकट रहकर परस्पर विचार करना अनिवार्य है। केवल पुस्तक पढ़कर या बड़े समूह में प्रवचन सुनकर आत्मा के बारे में अशंकित ज्ञान नहीं मिल पाता है। बार-बार के इस आरुणिकृत उपदेश के आधार पर व्यास जी ने निर्णय किया है कि वेदान्तविचार की आवृत्ति करना साधक का कर्तव्य है।।११६-११७।।

अगली शंका उठी कि जैसे गाँव से शहर आये व्यक्ति को मालूम रहता है कि 'मैं गाँव से यहाँ आया हूँ' वैसे जगने पर हम लोगों को 'सत्से आये हैं' ऐसा प्रतीत क्यों नहीं होता?

सुषुप्तौ बुद्ध्यभावेऽपि पुनर्जागरणेऽस्ति धीः ।
आगच्छं सत इत्येवं तदा कस्माद् न वेत्त्यसौ ।।११८ ।।
सुप्तौ सद्रूपमज्ञात्वा सदैक्यं प्राप्तवांस्ततः ।
सतो नागमनं स्मार्यम् अपामस्मरणं यथा ।।११६ ।।

समाधान दिया कि विभिन्न स्रोतों से आयी नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं फिर बादलों द्वारा पुनः पृथ्वी पर वह पानी बरस जाता है लेकिन पानी जब जहाँ होता है तब वहीं का पहचाना जाता है, यह कभी नहीं पता चलता कि कौन-सा जल कहाँ से आया; ऐसे ही जगे हुए हम खुद को जगा हुआ तो समझते हैं पर 'सद्ब्रह्म से आये हैं जहाँ सुषुप्ति में थे' यह अनुभव नहीं होता। बाह्य जगत् तो कार्य होने से कारणरूप है अतः सन्मात्र है यह सर्वप्रथम समझाया। फिर 'मैं' का सवाल उठा; हमें अपना अनुभव शरीर-मन आदि समेत ही होता है अतः उपाधियों का विवेक कराकर सूक्ष्मतम आत्मवस्तु को वास्तविक 'मैं' समझाया। इससे जीवभाव शिथिल पड़ जाता है क्योंकि उपाधियाँ छोड़ने पर कर्तृभोक्तृरूपता नहीं रहती। किंतु इस सन्मात्रता में स्थिरता न हो पाने में शंकाएँ हेतु बनती हैं। अतः श्वेतकेतु स्पष्टता के लिये दूसरा प्रश्न पूछता है **सुषुप्ति में बुद्धि कार्यकारी न रहने से सत्से अभेद भले ही न समझ आये पर जगने पर तो फिर से बुद्धि कार्य करने लगती है, तब जीव क्यों नहीं समझता कि 'मैं सद् ब्रह्म से आया हूँ'? ।।११८ ।।** प्रथम प्रश्न था कि सुषुप्तिमें सद्में विलय होता है तो क्यों जीव को उसका अनुभव नहीं होता? उत्तर था कि सुषुप्ति में साधन नहीं रहते इसलिये तब नहीं पता चलता। यहाँ प्रश्न है कि सोकर आने पर क्यों नहीं महसूस होता कि सद् ब्रह्म से आये हैं; जगने पर तो बुद्धि आदि साधन मौजूद हैं अतः ज्ञान होना उचित है यह श्वेतकेतु का भाव है।।११८ ।।

आरुणि उत्तर देते हैं **सुषुप्ति में जीवने जो सत् से एकता प्राप्त की थी वह बिना सत्स्वरूप समझे ही की थी इसलिये यह योग्य नहीं है कि 'सत्से आया' यों सत् की याद आये। जैसे जल अपने मूल में पहुँचकर बिना 'हम अपने मूल में पहुँचे हैं' यह समझे ही वहाँ से वर्षा द्वारा अन्यत्र पहुँचते हैं इसलिये उन्हें यह याद नहीं आता कि वे किस मूल से आये हैं वैसे जीव बिना समझे सत्से एक होकर पृथक् हुए इसलिये स्वयं को सत्से आया नहीं याद कर पाते।।११६ ।। गंगाजल सागर में घुसकर बादलों द्वारा खींचा जाकर बरसाया जाता है किंतु सागर में जलसे एक होने का अवबोध न होने के कारण जैसे सागर से आने**

गङ्गाजलं प्रविश्याब्धौ मेघेनाऽऽकृष्य सिच्यते।
नाज्ञातत्वात् स्मृतिस्तत्र तद्वदत्र स्मृतिर्न हि।।१२०।।
व्याघ्रादिः सुप्त एवाऽत्र बुध्यते वासनावशात्।
न नष्टा वासनेत्येवं विवक्षित्वोच्यते पुनः।।१२१।।

की स्मृति नहीं होती वैसे जगे जीवको सत्से आने की स्मृति नहीं रहती।।१२०।। जिस स्थूल देह में व्यक्त रहकर जो व्याघ्र आदि सोते हैं वे ही पुनः उस शरीर में जगते हैं क्योंकि सुषुप्ति में लीन होने पर वासना नष्ट नहीं होती, वासना के अनुसार ही वे वहाँ पुनः व्यक्त होते हैं।।१२१।। स्मृति के लिये संस्कार चाहिये जो अनुभव से प्राप्त होते हैं। साधनों के अभाव में क्योंकि सुषुप्ति में सत्से एकता जानी नहीं इसलिये उसके संस्कार नहीं पड़े तो स्मृति होना संभव ही नहीं। अतः 'सत्से आया' ऐसी याद न आना स्वाभाविक है। आँखें बंद कर अपहृत व्यक्ति को कहीं ले जाकर फिर वहाँ से लाकर छोड़ते हैं तो क्योंकि उसने रास्ता देखा नहीं था इसलिये उसे रास्ता याद भी नहीं आता, ऐसे ही यहाँ समझना चाहिये। जल का दृष्टांत स्पष्ट ही है, गंगा में बहते हुए भी जल को मालूम नहीं कि वह गंगाजल है अतः उसे समुद्रमें, बादलमें पहुँचकर या पुनः अन्यत्र बरसकर भी याद नहीं आ सकता कि 'मैं गंगा से आया'। इसी प्रकार जीव सुषुप्ति में परमात्मा से एक हुआ पर उसे इसका पता नहीं लगा अतः प्रारब्धरूप बादलों ने वहाँ से खींचकर भोग करने के लिये पुनः शरीर में बरसा दिया तो भी उसे याद नहीं आ सकता कि 'मैं सत्से आया हूँ'। जल स्वभाव से ज्ञानहीन है, जीव सुषुप्ति में सामग्री-राहित्य से ज्ञानहीन है यह भेद भले ही हो, ज्ञान न होना तो समान है। जगने पर जीव पुनः स्वयं को स्थूल शरीर से विशिष्ट बाघ, मच्छर, शेर, भेड़िया, सुअर, कीड़ा, पतंगा, डाँस आदि समझता है। वासना, संस्कार नष्ट नहीं हुए थे इसीलिये फिर से अभिमान जाग्रत् हो जाता है, पूर्वार्जित ज्ञानादि की स्मृति हो जाती है। यह बात पूर्व पर्याय में भी कही थी पर वहाँ ज़ोर इस पर था कि वही जीव पुनः उसी शरीर में जगता है और यहाँ यह बता रहे हैं कि सुषुप्ति में जाने पर वासनाएँ नष्ट नहीं होतीं। इस प्रकार द्वितीय शंका का समाधान हुआ।।११९-२१।।

श्वेतकेतु की तीसरी शंका है कि लहर, बुद्बुदा आदि जब अपने कारण में लीन हो जाते हैं तब वही उनका नाश है परंतु जीव रोज़ कारणभाव प्राप्त करके भी नष्ट नहीं होते, यह कैसे संगत है? अर्थात्, जीव नष्ट हो सकता हैयह मानकर प्रश्न है। इसके जवाब में आरुणि ने कहावृक्ष में जब तक जीव है तब तक उसे कुल्हाड़ी मारने पर रस

जीवस्य नश्वरस्यैक्यं न नित्येन सतेति चेत् ।
जीवो न नश्यति क्वापीत्येवं वृक्षवदीक्ष्यताम् ।।१२२ ।।
शाखां वृक्षे जीवपूर्णे जीवस्त्यजति यामसौ ।
शुष्येद् नान्या तथा जीवेऽपगते म्रियते वपुः ।।१२३ ।।

निकलता है और वह वृक्ष जलादि का उपभोग भी करता है किंतु जीव जब वृक्ष की किसी शाखा को छोड़ देता है तब वह सर्वथा सूख जाती है और सारे वृक्ष को छोड़ता है तो पूरा ही सूख जाता है। इसी तरह जीव से वियुक्त होने पर स्थूल शरीर मरता है, स्वयं जीव नहीं मरता। प्रश्नोत्तर में आपाततः ताल-मेल नहीं लगता किंतु अभिप्राय है कि 'जीव नष्ट हो सकता है' मानकर प्रश्न है, जवाब है कि जीव नश्वर है ही नहीं। 'स य एषोऽणिमा' आदि पुनः बताकर 'तत्त्वमसि' कहा ताकि स्पष्ट रहे कि पूर्वोक्त तत्त्व ही समझाया जा रहा है। इस पर्याय को संक्षेप में सूचित करते हैं **प्रश्न है कि नाशवान् जीव नित्य सत् से एक हो यह कैसे संगत है? उत्तर है : वृक्ष के दृष्टान्त से जीव कभी नष्ट नहीं होता यह समझना चाहिये।।१२२।। जीवसे पूर्ण वृक्ष में जिस शाखा को जीव छोड़ता है वह शाखा ही सूखती है, जीवने जिसे छोड़ा नहीं वह शाखा नहीं सूखती। इसी तरह जीव के चले जाने पर शरीर मरता है (जीव नहीं मरता)।।१२३।।** 'तत्त्वमसि' समझने में प्रधान विरोध यही आता है कि मैं जन्म-मरण वाला हूँ, मैं नित्य परमेश्वर कैसे हो सकता हूँ? उत्तर यहाँ दिया कि जन्म-मरण जीव के नहीं होते! स्थूल शरीर से वह संबंध स्थापित करता है तो शरीर सजीव होता है, सम्बंध तोड़ देता है तो शरीर निर्जीव हो जाता है। जैसे यात्री रहने से धर्मशाला भर जाती है, यात्री चले जायें तो खाली हो जाती है, वैसी परिस्थिति है। धर्मशाला से गया यात्री नष्ट नहीं हो गया; शरीर से जीव गया तो वह भी नष्ट नहीं हो गया। इस प्रकार नश्वर न होने से जीव ब्रह्म हो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। गीता के प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि कपड़े बदलने की तरह शरीर बदलना है, जीव तो जन्म-मरण से रहित ही है। हरे पेड़ की एक डाल काटने से क्या पेड़ मर जाता है? नहीं। कट जाने से डाली मर सकती है, पेड़ नहीं। क्योंकि बाकी वृक्ष में जीव बचा रहा, सिर्फ़ डाली से उसका सम्बंध टूटा, इसलिये जीव नहीं मरा, डाली भले ही मरे। ऐसे ही जीव जिस शरीर से निकल जाता है वह शरीर मर जाता है, भ्रम यह होता है कि जीव मर गया। जीवित दशा में भी भ्रमवश लोगों को शरीर ही जीव, प्राणी लगता है, अतः शरीर के जन्म-मरण को ही जीव का जन्म-मरण भी समझते हैं। इस भ्रम का निवारण होने पर समझ आता है

नामरूपयुतं स्थूलं तद्धीनात् सदणोः कथम्।
उत्पन्नमिति चेद् बीजाद् वटवृक्षवद् ईक्ष्यताम्।।१२४।।

श्रद्धा

न्यायागमाभ्यां सिद्धं च श्रद्धाहीनः पराङ्मुखः।
न बुद्ध्यते श्वेतकेतो श्रद्धस्वान्तर्मुखो भव।।१२५।।

कि जीव जन्मता-मरता नहीं, अतः नित्य है, अत एव ब्रह्मसे एक हो यह संगत है। यह तीसरी शंका का समाधान समझाया।।१२२-३।।

चौथा प्रश्न उठा कि नाम-रूप वाला यह जगत् अत्यन्त स्थूल है, यह अत्यन्त सूक्ष्म सद्रूप ब्रह्म से उत्पन्न कैसे हो सकता है जबकि वह ब्रह्म नाम-रूप से रहित है? इसके जवाब में आरुणि ने वट के बीज का उदाहरण दिया; वह बीज अत्यंत छोटा होता है जबकि अत्यंत विस्तृत वटवृक्ष उसी से पैदा होता है। बीजदशामें उसे काट-तोड़ कर देखें तो वृक्ष नहीं दीखता पर छिपा उसी में है, उसीसे निकलकर बाहर आता है। खासकर वट के बीज का उल्लेख किया क्योंकि वृक्षों में वट बहुत ही बड़ा होता है तथा बीजों में उसी का बीज बहुत ही छोटा होता है! अर्थात् साधारण बुद्धि से लगता है कि छोटा बीज है तो इससे छोटा ही पौधा पैदा होता होगा लेकिन स्थिति विपरीत है, ऐसे ही अतिसूक्ष्म सद्ब्रह्म से अतिस्थूल संसार पैदा होना मुमकिन न लगने पर भी होता उसीसे है। इसे समझने में श्रद्धा चाहिये अतः इसी पर्याय में 'श्रद्धत्स्व सोम्य' कहा है। दो श्लोकों से इस प्रश्नोत्तर का संग्रह करते हैं **नाम-रूप से वर्जित, सूक्ष्म सत् से नाम-रूप वाला स्थूल असत्य संसार कैसे उत्पन्न हो सकता है? बीजसे वट वृक्षकी तरह सत् से संसारका जन्म उपपन्न समझ सकते हैं।।१२४।। हे श्वेतकेतु! श्रद्धारहित बहिर्मुख व्यक्ति यह रहस्य नहीं समझ पाता हालाँकि युक्ति और शास्त्र से यह निश्चित होता है, अतः तू श्रद्धा कर और अन्तर्मुख बन।।१२५।।** इन्द्रियविषय स्थूल होता है, इंद्रियातीत सूक्ष्म होता है। सत् सूक्ष्म है, उससे उत्पन्न होने वाला जगत् स्थूल है। कार्य-कारण में होनी चाहिये समानता, है विषमता अतः प्रश्न संगत है। किं च नमक का स्वाद नमकीन है तो उससे अन्य नमकीन वस्तु तैयार होती है, कारण नमकीन न हो तो कार्य नमकीन नहीं होता; ब्रह्म में नाम-रूप हैं नहीं, जगत् में नाम-रूप हैं, यह भी विलक्षण बात होने से प्रश्न संगत है। आरुणि ने दृष्टांत से जवाब दिया; अति छोटा बीज इतने बड़े पेड़ को अपने में समाये रखता है यह तथ्य है जबकि सामान्य बुद्धि से ऐसी व्यवस्था समझ नहीं आती। बोकर देखें तो निश्चय हो जाता है, अन्यथा पता लगाने का

तरीका नहीं है। इसी प्रकार सत्से जगत् बना यह शास्त्र व तदनुसारी युक्ति से ही पता चलेगा, अन्य तरीका नहीं है। इसीलिये यह समझने के लिये श्रद्धा चाहिये और आत्मा पर ही दृष्टि एकाग्र होनी चाहिये अन्यथा अनात्मा को ही कारण के रूपमें खोजते रहेंगे। अश्रद्धालु को लगता है कि अनात्मा का कारण कोई अनात्मा ही होना चाहिये अतः आत्मा ही कारण है इससे संतुष्ट न होकर वह अनात्माभिमुखी बना रहता है। जब तो प्रमाण-युक्ति कोई अन्य कारण प्रतीत हो तब विचार करना अश्रद्धा नहीं लेकिन प्रमाण-युक्ति के बिना ही सोचना कि 'हमें पता न भी लगे पर ज़रूर कोई और कारण होता होगा' यह अश्रद्धा का चिह्न है। इसमें एक प्रधान कारण राग है, नाम-रूप के आकर्षणवश जीव चाहता नहीं कि परम तत्त्व नाम-रूप से रहित हो, अत एव आग्रह पाले रहता है। जैसे धनको महत्त्व देने वाला यह सुनना नहीं चाहता कि धन निरर्थक चीज़ है बल्कि यही सुनना चाहता है कि 'पुण्य के फलरूप से धन मिलता है अतः धनी हो तो ज़रूर पुण्यात्मा हो'! वैराग्य की बात, धन सारे अनर्थों का मूल है यह बात ही वह सुन नहीं सकता, धनकी खराबी जानकर भी उसे स्वीकार नहीं सकता, उसकी अच्छाई ही सोचना-समझना उसे उचित लगता है। उसे दान करने को कहें तो जँच जायेगा, यह मान सकता है कि 'मैं न भोगूँ, ज़रूरतमंद को दूँ यह ठीक है', लेकिन यह नहीं मानेगा कि जैसे अपने घर में बिच्छू निकल आये तो उसे तुरंत बाहर फैंकने की ही सोचते हैं उसके किसी उपयोग की नहीं; वैसे धन अनर्थकारी है, जिसके पास जायेगा उसका नुकसान करेगा, अतः उसे यों ही छोड़ देना चाहिये, दान देकर दूसरे को अनर्थसे संयुक्त नहीं करना चाहिये। इसी तरह नाम-रूपको वास्तविक मानना अर्थात् बहिर्मुख होना मनुष्य को यह मानने नहीं देता कि नाम-रूप असत्य है, अवास्तविक है। अतः अंतर्मुखता आवश्यक है ब्रह्ममात्र को परम सत्य समझने के लिये। यह तथ्य युक्ति-शास्त्र के अनुकूल है पर जँचेगा उसी को जो श्रद्धावान् और अंतर्मुख हो। अन्यथा शास्त्रोक्त से अन्य संभावनाओं की कल्पनाओं का ही जाल बुनकर मन को उलझाता रहेगा पर शास्त्र की प्रामाणिक और अनुभवाऽविरुद्ध बात स्वीकार नहीं करेगा। शास्त्र स्पष्ट कहता है कि एक सद् ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है, जीव भी उस सत् से पृथक् कुछ नहीं है। इसे बीज-वृक्ष के दृष्टांत से अनुभवारूढ करना संभव है। यद्यपि दृष्टांत से कुछ सिद्ध नहीं होता तथापि प्रमाणसिद्ध को स्वीकारना अधिक सहज हो जाता है अतः इस उपाय का काफी प्रयोग शास्त्रीय विचार में होता है।।१२४-५।।

पाँचवाँ सवाल श्वेतकेतु के मन में आया कि यदि जगत् का मूल सत् है तो जगद्

तत् सर्वत्र स्थितं कस्माद् न सर्वे विदुरीदृशम्।
मुमुक्षुस्तु कथं वेत्तीत्यत्र दृष्टान्त उच्यते।।१२६।।
लवणस्य घनं नीरे विलीनं वेत्ति न त्वचा।
जिह्वया वेत्ति तद्वत् सद् उपायेनैव बुद्ध्यते।।१२७।।

अवस्था में भी वह मौजूद होगा, फिर हमें वह साफ-साफ मिल क्यों नहीं रहा? इसके जवाब में आरुणि ने एक प्रयोग कराया : कहा, 'रात को नमक एक लोटा जल में डाल दे।' सुबह उससे पूछा 'पानी में नमक दीख रहा है?' उसने मना किया। फिर कहा 'पानी चखकर देख'; चखा तो पानी नमकीन था ही। पिता ने समझाया कि छुआ व देखा जा सकने वाला नमक पानी में घुलकर मौजूद होने पर भी छूकर या देखकर नहीं पता लगाया जा सकता, केवल चखकर पता लगता है। ऐसे ही जगत् में सद्ब्रह्म इंद्रियों से भले ही न दीखे, शास्त्र-आचार्योपदेश से ही समझ आ सकता है। इसे दो श्लोकों से सूचित करते हैं **वह सत् सभी जगह मौजूद है तो सभी क्यों नहीं समझ पाते कि वह इस तरह व्याप्त है? और मोक्षेच्छुक उस तत्त्व को किस तरह समझ पाते हैं? इन प्रश्नों के जवाब में दृष्टान्त बताते हैंः जल में घुली नमक की डली छूकर मालूम नहीं पड़ती, सिर्फ जीभ से चखने पर पता चलता है कि पानी में नमक है। इसी प्रकार उपाय-विशेष से ही सत् पता चलता है।।१२६-७।।** उपादान कारण ही कार्य के आकार में उपस्थित होता है, मिट्टी घड़ा बनती है, सोना गहना बनता है, अतः कार्यदशा में भी कारण मिलना उचित है। सत् जगत् का कारण है तो जगत् के रहते भी सत् पता चलना चाहिये जैसे गहना दीखते समय सोना दीखता है। ऐसे ही मैं जीव भी कभी ब्रह्म नहीं लगता! कुछ भी कार्य तैयार करना हो तो सत् के अलावा ही सामग्री एकत्र करनी पड़ती है, सिर्फ़ सत् से कोई कार्य संपन्न नहीं हो पाता। यहाँ तक कि, जो आस्तिक है, परमेश्वर को सबका मालिक मानता है, वह भी तत्तत् कार्यों में विभिन्न व्यक्ति-वस्तु-साधनों को ही समर्थ समझता है, केवल परमेश्वर सर्वसमर्थ है यह निश्चय रख उसी की सेवा-भक्ति में संलग्न नहीं रह पाता। इसीलिये उपनिषत् ने बताया है कि 'ब्रह्म है' ऐसे निश्चय वाला दुर्लभ सत्पुरुष है। ऐसे व्यक्ति से ग़लती होना मुश्किल है क्योंकि ग़लत विचार भी मन में आते ही वह सावधान हो जाता है कि 'साक्षात् परब्रह्म परमात्मा के सामने ऐसी धारणा नहीं बनानी चाहिये क्योंकि क्रिया न करने पर भी मन में सूक्ष्म पापभावना आये तो वह भी परमात्मा से छिपती नहीं, उसका भी वे दण्ड देते ही हैं'। 'कलिकाल

में मानस दोष क्षम्य हैं' आदि बहानों से ग़लत विचारों को सत्पुरुष प्रश्रय नहीं देता।

सत् कारण होने से समस्त कार्यों में नित्य व्याप्त है फिर भी साधारण व्यक्ति उसे पहचानता नहीं क्योंकि वह मन-वाणी इंद्रियों से परे का तत्त्व है, अतिसंस्कृत बुद्धि ही उसको ढाँकने वाली अविद्या को मिटा पाती है। सामान्य अविचारशील तो आकाश को भी वस्तु नहीं समझता! उसे अभावरूप मानना उचित लगता है। शब्द आकाश में रहता है अतः जहाँ शब्द है वहाँ आकाश वस्तु मान्य है आदि विचार करने से ही समझ आता है, बिना विचार के नहीं। ऐसे ही सृष्टि अत्यंत नियमित कार्य है, व्यवस्था है, इसका रचयिता, संचालक अवश्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति चेतन हैयह काफी विचार करने वाला ही समझेगा, अविचारशील नहीं। सही प्रक्रियासे न समझने वाला अज्ञेयवादी बन सकता है कि 'होगा कोई पर हमें पता नहीं चल सकता कि है या नहीं और है तो कौन, कैसा है'। जो भगवत्स्वरूप की वास्तविकता से अनभिज्ञ है वह सरलता से कह देता है कि अल्लाह, गॉड, विष्णु आदि सब एक के नाम हैं; अभिज्ञ तो जानता है कि अल्लाह की क्या परिभाषा है, गॉड किसका नाम है, विष्णु किसे कहते हैं, अतः वह इनमें घपला नहीं करता; किंतु जिसके लिये वह परम तत्त्व या तो है ही नहीं और या अज्ञेय है, वही ऐसे घपले को प्रोत्साहन दे सकता है। 'कुछ भी मान लो, जैसा मानो वैसा दीखेगा' आदि कहने का भाव यही है कि वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है जो दीखता है! नाम-रूप को मिथ्या समझकर ही वेदांती कहता है कि सभी नाम-रूप परमात्मा पर कल्पित हैं अतः किसी एक को दूसरे से ज़्यादा सत्य नहीं मान सकते। इसी तरह जो परमेश्वर के स्वरूप को मिथ्या माने वही कह सकता है कि सभी स्वरूपों को समान स्तर मिलना चाहिये! जो तो किसी स्वरूप को सत्य जानता है वह उससे विरुद्ध स्वरूपों को समान स्तर का नहीं ही स्वीकार सकता। जो परमात्माका कोई निश्चित स्वरूप है ऐसा नहीं मानता वह उसके वास्तविक स्वरूपके ज्ञान से मोक्ष भी नहीं मान सकता। सिद्धांती परमात्मज्ञान से मोक्ष स्वीकारता है क्योंकि सच्चिदानंदको उसका सत्य स्वरूप जानता है, शास्त्र से ऐसा समझता है।

स्वरूपानुसार सत्तत्त्व जगत् में मिलता है पर शिक्षित बुद्धि ही उसे पहचानती है। नमक की डली तो कोई भी आँख से देख सकता है पर पानी में नमक जानने के लिये चखना पड़ेगा; डली या चूरा आँख से दीखता है तो घुला नमक भी आँख से दीखना चाहियेआदि तर्क करने वाला घुला नमक कभी नहीं समझ सकेगा। इसी तरह शास्त्र

व सद्गुरु के उपदेश से ही सद्वस्तु अनुगत रूपमें समझ आती है, अन्यथा 'है' ऐसा व्यवहार करने पर भी उसका अर्थ क्या है इस ओर विचार ही नहीं जाता। संसार में हर चीज़ 'है'यों ही मिलती है अतः 'है' ही सबका उपादान समझना शास्त्रदृष्टि वाले के लिये ही संभव है। पानी के सब अवयवों में फैल जाने पर जैसे नमक दृश्य नहीं रहा वैसे जगत् के सब पदार्थों में फैला 'है' भी स्थूल बुद्धि वाले को 'है' नहीं लगता! ब्रह्मदर्शन का उपाय वेद से पता चलता है, यही वेद का सबसे असाधारण, गुह्य संदेश है। परमेश्वर का स्वरूप सत्, 'है' को बताने वाला एकमात्र वेद ही है। श्रद्धा व अंतर्मुखता के सहारे वेद का उपदेश समझकर सर्वत्र सर्वदा सत् का दर्शन सुलभ है, उस उपदेश को बिना ग्रहण किये तो वह सर्वथा असंभव है। श्रद्धा इसलिये जरूरी है कि युक्ति की तो काट सोच-समझकर संगततर युक्त्यन्तर से की जा सकती है पर अश्रद्धा को बाहरी सहायता से नहीं मिटाया जा सकता। यदि अपने अनुभव पर और अपनी बुद्धि पर भी श्रद्धा हो तो काफी हद तक कार्य सरल है क्योंकि शास्त्र का उपदेश है ही ऐसा कि सभी को अनुभव में और समझ में आ सकता है, पर जिसे स्वानुभूतिपर भी शंका रहे उसे सत् तत्त्व समझ आये इसकी आशा नहीं है। इस प्रकार, सत् के ज्ञानका उपाय शास्त्र-आचार्य-उपदेश एवं तदनुसार मनन है यह सूचित हुआ। यह समझाकर आरुणि ने तत्त्वमसि का उपदेश फिर दुहराया ताकि यह शंका न हो कि सद्विद्या से अतिरिक्त कुछ कहा जा रहा है।।१२६-७।।

छठा प्रश्न श्वेतकेतु का है कि कृतार्थ होने के लिये सद्विज्ञान आवश्यक है और वह विशेष उपाय से मिलता है तो वह उपाय है क्या? इसका उत्तर पिता ने दिया : गान्धार देश से आँखें बन्दकर किसी का अपहरण कर अन्य स्थान पर लाकर छोड़ दें तो आते समय मार्ग देख न सकने से वह स्वयमेव सही रास्ता पकड़कर लौट नहीं पाता, कोई दयालु उसकी आँखों की पट्टी खोले, रास्ता समझाये, तब पूछते-पूछते एक से दूसरे गाँव होते हुए वह गंधार देश तक लौट सकता है। इसी तरह जीव की ज्ञानदृष्टि अज्ञान से बँधी रहते वह अनर्थपूर्ण भवाटवी में पहुँचा हुआ है अतः किसी कारुणिक आचार्य द्वारा समझाया जाने पर ही तदनुसार साधना करने से वह अपने व्यापक भाव में स्थित हो सकता है। आरुणि ने स्पष्ट कहा 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के उपदेश से ही अधिकारी को ज्ञान होता है। चार श्लोकों से इस प्रसंग को स्पष्ट करते हैं **सभी इंद्रियों के अविषय सद् ब्रह्म को समझने का उपाय क्या है? बताते हैं : जैसे गंधार देश जाने के मार्ग को समझने का उपाय सिर्फ**

उपदेशावश्यकता

सति सर्वेन्द्रियाऽगम्ये क उपायः स उच्यते।
उपाय उपदेशोऽत्र भवेद् गन्धारमार्गवत्।।१२८।।
गन्धाराद् यो वने नीतस्तस्करैर्बद्धनेत्रकः।
तस्य बन्धं विमुच्याऽत्र कृपालुर्मार्गमादिशत्।।१२९।।
तेनाऽऽदिष्टम् अविस्मृत्य धीमान् गन्धारमाप्तवान्।
अविद्ययाऽऽवृतं तत्त्वं वेत्त्येवम् उपदेशतः।।१३०।

कर्महानम्

अश्लेषनाशौ विदुषः सञ्चितागामिकर्मणोः।
प्रारब्धे भोगसंक्षीणे मुच्यते न तु जायते।।१३१।।

उपदेश है वैसे सत् तत्त्व को समझने का भी उपाय उपदेश प्राप्त करना ही है।।१२८।। तस्करों द्वारा आँखें बाँधकर जो गंधारदेशसे लाकर किसी जंगल में छोड़ दिया गया, किसी कृपालु ने उसका बंधन खोलकर उसे गंधार का मार्ग बताया। उसके द्वारा निर्दिष्ट रास्ता बिना भूले वह बुद्धिमान् व्यक्ति गंधार देश पहुँच गया। इसी तरह, अविद्या से ढँका तत्त्व अधिकारी तभी समझता है जब उसे समुचित उपदेश मिले।।१२९-३०।। आत्मज्ञानी के संचित कर्मों का नाश हो जाता है, आगामी कर्मों का उससे संबंध ही नहीं होता, अतः प्रारब्ध कर्म जब भोग से क्षीण हो जाते हैं तब वह मुक्त हो जाता है, उसका जन्म नहीं होता।।१३१।। संसार में ही ऐसी अनेक चीज़ें हैं जो तभी पता चलती हैं जब कोई बताये। बताने वाला निर्दोष हो और उसकी बात मानकर समुचित फल मिल जाये तो तत्त्वके बारेमें वही बात ठीक है यही स्वीकारा जाता है। बताने वाला सही बात तभी कहेगा जब उसे सही पता चला हो। जगत् के अंतःपाती तो कोई भी ऐसा नहीं जो जगत्-कारण को बता सके क्योंकि कार्य से पूर्व वही था इसे जगत् के अंतर्गत होने वाला जान ही नहीं सकता! जैसे हम स्वयं का जन्म नहीं जान सकते, माता, पिता, दायी आदि ही हमें पैदा होते हुए देख सकते हैं। ऐसे ही जगत् को उत्पन्न होते वही देख सकता है जो इससे पूर्व हो। एक सद् ब्रह्म ही पूर्व में था, अतः वही इस बारे में बता सकता है। उसी ने वेद में स्पष्टतः समझाया है, उसका उपदेश साधक के अनुभव के अविरुद्ध भी है और पालन करे तो अधिकारी उस तत्त्व को जानकर मोक्ष फल भी पा लेता है। इसलिये सत् के बारे में वेदका उपदेश पूर्ण सत्य है।

सद्गुरु उसे स्पष्ट समझा दे तभी शिष्य को वह उपदेश प्राप्त हो और उसका कल्याण हो।

इसके लिये जो उदाहरण दिया वह सहज-गम्य है क्योंकि रास्ता भटक जाने पर ऐसे ही पूछ-पूछकर जाना पड़ता है। शिष्य मेधावी होना ज़रूरी है ताकि मार्ग याद रख सके अन्यथा चल पड़ने पर अध-बिच में भी भूलकर फिर भटक सकता है। यदि मध्यमें किसीने कोई ग़लत रास्ता सुझा दिया तो सोच-समझकर उसकी ग़लती पहचानने की सामर्थ्य भी शिष्य में होनी चाहिये। अज्ञान से जीवकी विवेकदृष्टि प्रतिहत है अतः अज्ञानकार्यरूप सृष्टि ही हमें दीखती है, निज स्वरूप को हम नहीं देख पाते। आँख को आवृत करने वाली भी दो तरह की चीज़ें होती हैं चश्मा भी करता आँख को आवृत ही है पर विषय को साफ दिखाता है, कपड़ा आदि आँख को आवृत कर विषय को देखने नहीं देता। ऐसे ही शास्त्रदृष्टि भी अविद्याक्षेत्र की है, वृत्ति भी है अज्ञानकार्य ही, किंतु चश्मे की तरह यह आत्मा का यथार्थ अनुभव कराती है और लोकदृष्टि, अविवेकादि वृत्तियाँ आत्मा का दर्शन असंभव बनाती हैं। रूप देखकर उससे हम इतने आकृष्ट हो जाते हैं कि वह 'है' इसे भूले ही रहते हैं। है, तभी रूप आकर्षक है अतः प्रधान 'है' को समझना चाहिये पर समझते रूप को हैं। जैसे लोग साधारणतः प्रशंसा गहने की करते हैं, जिस अंगुली, कलई, गर्दन आदि पर गहने हैं उनकी प्रशंसा नहीं करते जबकि प्रधान वे हैं, ऐसे ही संसार फल इसीलिये रहा है कि वह है, पर हम संसार देखने में मग्न हैं, है को नज़रन्दाज़ किये हैं। यों आँखें बँधी होने से संसाररूप जंगल में भटक रहे हैं। काम-क्रोधादि तस्करों ने हमें लूटकर यहाँ डाल दिया है। चाहते हैं सुखी होना पर सुख का रास्ता मिलता नहीं। विषयों में सुखाशा से टक्कर मारते हैं पर मिलता दुःख है। दयालु गुरु ही आँखों की पट्टी खोलकर रास्ता बता सकता है। अविद्यावश जिसे समझ नहीं पा रहे उस आत्मा को शास्त्रदृष्टि के सहारे गुरु ही समझा सकता है। महावाक्य के चश्मे से ही अखण्ड आत्मवस्तु दीखेगी। जैसे गंधार की दिशा को ही पकड़कर चलना पड़ता है वैसे यहाँ अंतर्मुख ही होना पड़ता है, विषय की ओर देखते रहने से कभी दुःख-जंगल से बाहर नहीं निकल पायेंगे। सर्वव्यापक होने पर भी परमात्मा को सर्वप्रथम प्रत्यगात्मा में, 'मै' में ही पहचानना पड़ता है। इस दिशानिर्देश को कभी भूलना नहीं चाहिये, जो कुछ भी इदम्बुद्धि का विषय बने उसे छोड़ते चलना होगा तभी प्रत्यक् की अवगति होती है। अध्यात्मपथिक को भटकाने वाले असंख्य मिलते हैं, कुछ तो परलोक की ओर भेजना चाहते हैं और अनेक ऐसे हैं जो इहलोक में ही चक्कर

लगवाना चाहते हैं जिसे परोपकार आदि शब्दों से कहते हैं। कुछ मन आदि उपाधियों के ही परिष्कार में लगाये रखने की इच्छा करते हैं, योगाभ्यासादि को ही कर्तव्य बताते हैं, तो कुछ विभिन्न उपासनाओं को ही आवश्यक समझाते हैं। अतः मेधावी शिष्य ही गुरु द्वारा कथित मार्ग पर टिक सकता है, कमज़ोर बुद्धि वाला भटके तो कोई आश्चर्य नहीं। सत् ही परमात्मा है, नाम-रूप परमात्मा नहीं यह एक तथ्य सदा स्मरण रखना चाहिये और दूसरा यह कि संपूर्ण अन्तर्मुखता से ही जो मिलता है वही परमात्मा है, बहिर्मुखतासे मिलने वाला नहीं।

इस प्रकार दृढतापूर्वक साधनामें लगा रहे तो जीवन् मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी। ज्ञानका फल केवल अदृष्ट नहीं वरन् प्रत्यक्ष है, यह प्रमाणित ही तब होता है जब मुक्त जीवित मिले; यदि कोई जीवित व्यक्ति मुक्त मिले ही नहीं तब मोक्ष भी स्वर्ग जैसा ही मानना पड़ेगा, प्रत्यक्ष नहीं समझा जा सकेगा। इसलिये विद्वानों को स्वानुभवसिद्ध, शास्त्र-समर्थित एवं युक्तिसंमत जीवन्मुक्ति मान्य है। श्रुति में यहाँ 'तस्य तावदेव चिरं यावद् न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' से यही सूचित है। भाष्यकारने इसका अर्थ बताया है कि देहपात तक का ही विलंब है, शरीर नष्ट होते ही विद्वान् विदेह कैवल्य पा जाता है। जिन कर्मों ने फल देना प्रारंभ कर दिया है और जिन्होंने अभी प्रारंभ नहीं किया है उनके बारे में शास्त्रीय स्थिति है कि फलदान को प्रवृत्त हो चुके कर्मों को तो भोग कर समाप्त किया जाता है तथा बाकी कर्म विद्वान् को फल नहीं देते। बाकी वाले भी दो तरह के हैं एक तो ज्ञान से पूर्व अनादिकाल से एकत्र हुए कर्म; वे ज्ञानाग्नि से जल जाते हैं। दूसरे हैं ज्ञान के बाद जीवनकाल में होने वाले कर्म; उनका विद्वान् से सम्बंध ही नहीं होता क्योंकि विद्वान् उनके प्रति स्वयं को कर्ता समझता ही नहीं। ब्रह्मसूत्रों के चौथे अध्याय-प्रथम पाद में नौंवे अधिकरण से चौदहवें अधिकरण तक यह विषय विस्तार से स्पष्ट किया गया है। परमात्म-विज्ञान के सिवाय कोई उपाय नहीं जो सारे कर्म जला डाले। प्रायश्चित्त आदि से कुछ एक कर्म भले ही निवृत्त हों पर सारे कर्म तत्त्वबोधसे ही मिटते हैं। अज्ञानी क्योंकि अहंकार से स्वयं को कर्त्ता समझता है इसीलिये उसका कर्मसम्बन्ध है, ज्ञानी का अहंकार न रहने से उसका कर्मों से कोई संबंध नहीं रह सकता। कर्मों का आत्मा से अभिमान से अन्य कोई संबंध नहीं है। प्रारब्ध क्योंकि प्रवृत्तफलक हैं तथा क्योंकि उन्हीं की सहायता से विद्या का उदय हुआ है इसलिये उन्हें विद्या नष्ट नहीं करती। किं च विद्यापरंपरासिद्धि के लिये और जीवन्मुक्ति के विलक्षण सुख के लिये उपयोगी होनेसे भी विद्या प्रारब्ध का विरोध नहीं करती। वस्तुतस्तु विद्वान् का जीवन दृष्ट होने से स्पष्ट है

कीदृशी मृतिरस्येति चेद् वागादिलयाद् यथा।
मूढस्य तद्वदेवाऽस्य वैलक्षण्यं न किञ्चन।।१३२।।

कि विद्या प्रारब्ध-विरोधी नहीं अतः इसमें हेतुगवेषणा ही निरर्थक है। क्योंकि तत्त्ववेत्ता स्वयं को अभोक्ता ही जानता है इसलिये प्रारब्ध उसे दुःखी नहीं कर पाता; उसके चित्त में दुःखवृत्ति तो बनती है पर उसे वह स्वयं पर ओढ़ कर 'मैं दुःखी' यह नहीं अनुभव करता। इस प्रकार जीवित दशा में भी वह मुक्त ही है अत एव 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठ. २.२.१) कहा है, 'चिरं' या विलंब का कथन इतने ही अभिप्राय से है कि अज्ञों को वह परिच्छिन्न तभी तक लगता है जब तक उसका प्रारब्ध पूर्ण नहीं हो गया। प्रायः तो ज्ञान वाले जन्म में ही प्रारब्ध पूर्ण हो जाता है पर किसी आधिकारिक को देहांतर भी मिल ही सकता है किंतु रहता वह मुक्त ही है। छांदोग्य-अष्टम के प्रारंभ में भी भाष्यकार ने जीवन्मुक्ति सूचित की है। ब्रह्मसंस्थ के प्रसंग में तथा अन्यत्र भी इस पर चर्चा है। यहाँ तो उपाय का ही प्रसंग था, उपेय दशा का संकेतमात्र कर दिया है।।१२८-३१।।

श्वेतकेतु का सातवाँ प्रश्न है कि तत्त्ववेत्ता की सत्संपत्ति किस क्रमसे होती है अर्थात् क्या वह अर्चिरादि मार्ग से जाता है या केवल अविद्यानिवृत्ति इसमें पर्याप्त हेतु है कि वह सद्रूप हो जाता है? उत्तर आरुणि ने दिया कि संसारी का मरणक्रम ही विद्वान् का भी होता है। अंतर यह है कि अज्ञानी तो मरकर फिर जन्म लेता है जबकि तत्त्वज्ञ सद् ब्रह्म में प्रवेश कर फिर जन्म नहीं लेता क्योंकि उसके जन्मप्रद कर्म सब समाप्त हो चुकते हैं। ब्रह्मसाक्षात्कार से वंचित लोग ही मरकर अन्यत्र जाते हैं, सत्कर्मी स्वर्गादि जाते हैं, उपासक देवयानसे ब्रह्मलोक तक जाते हैं, पापी नरक जाते हैं, साधारण लोग यहीं एकसे दूसरी योनि में भटकते रहते हैं; एकमात्र परब्रह्म का साक्षात्कार किया सिद्ध ही सर्वथा गतिहीन होता है, उसके प्राण यहीं लीन होते हैं, उनका उत्क्रमण नहीं होता। इस बात को एक ही श्लोक से कहते हैं विद्वान् का मरण कैसा होता है?
इसका उत्तर है : जैसे अज्ञानी का मरण वाक् आदि लीन होने के क्रम से होता है वैसे ही ज्ञानी का भी मरण होता है। मरने के ढंग में कोई विलक्षणता नहीं होती।।१३२।। अज्ञ मरते समय बहुत कष्ट पाता देखा जाता है, क्या विज्ञ भी ऐसे ही कष्ट पाता है? इसका उत्तर है कि मरणक्षणपर्यन्त के दुःख तो प्रारब्ध से निर्णीत हैं अतः दुःख पाकर मरने के प्रारब्ध वाला ज्ञानी भी मरते समय तड़प सकता है जैसा पंचदशी (२.१०६) में बताया है पर तब भी उसे निज का अकर्तृ-अभोक्तृ स्वरूप किंचित्

भी विस्मृत नहीं होता। मरकर जाना तो अज्ञानियों का ही होता है, ज्ञानी जाता नहीं, केवल मरता है और उसका मरना वैसा ही है जैसा अज्ञानियों का। स्थूल शरीर में प्राण कार्य करना बंद कर दें यही लोकप्रसिद्ध मरण है। यह कदाचित् अकस्मात् हो, दुर्घटना, हृदयादि के आघात से हो मूर्छादि के दौरान हो तो कोई क्रम लक्षित नहीं होता किंतु प्राकृतिक ढंग से मौत होने पर क्रम अवश्य मिलता है। शास्त्रोक्त क्रम है वाक् मनमें लीन होती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परा देवता में लीन होता है। पहले मरणासन्न की बोली बंद होती है पर मनसे समझता है जो उसकी आँख आदि से पता चलता है; फिर बेहोशी आती है, मन काम करना बंद कर देता है, केवल साँस चलता है; फिर साँस भी क्षीण हो जाता है, शरीर में गर्मी बचती है; जब शरीर भी ठंडा पड़ जाता है तब निश्चय होता है कि व्यक्ति मर गया। यह क्रम अज्ञ-तज्ज्ञ के लिये समान है। जैसे प्रारब्धभोग दोनों का एक-सा, वैसे मरणक्रम भी एक-सा है। अंतर है मरण के बाद; अज्ञानी मरकर सत् में जाता है अज्ञान से अतः अज्ञान में पड़े कामना-कर्म आदि उसे पुनः शरीर धारण करा देते हैं, जबकि ज्ञानी का अज्ञान मिट चुका होने से वह अज्ञान से सत् में नहीं जाता अतः उसका फिर देहधारण भी नहीं होता। अतएव तत्त्वज्ञ का उत्क्रमण नहीं होता, आँख-मुख आदि अच्छे-बुरे किसी दरवाज़े से वह निकलता नहीं, क्योंकि निकलकर उसे कहीं जाना नहीं है। प्रारब्ध रहते ज्ञानी को संसार-शरीर-सुखादि का भेद प्रतीत होता है, प्रारब्ध-समाप्ति होते ही वह प्रतीति समाप्त हो जाती है; भेद था तो पहले भी नहीं क्योंकि बाधित हो चुका था, मरने के बाद भी नहीं ही है। स्थूल शरीर का मरणक्रम तो उपासकों का भी वही है जो साधारण लोगों का, पर निकलने के मार्ग का फ़र्क होता है जबकि तत्त्वज्ञ निकलता नहीं अतः उसके लिये मार्ग भी नहीं है। उसकी सारी 'कलाएँ' अर्थात् प्राण-इंद्रियादि परमात्मामें विलीन हो जाती हैं जबकि अज्ञ की कलाएँ अविद्यामें लीन हुई रहती हैं। इस विषय पर सूत्रभाष्य (४.२. अधि. १ से ८) में काफी विचार है। यहाँ संक्षेप में इतना ही कहा कि मरणक्रम अज्ञ-विज्ञ का एक-सा होता है।।१३२।।

आठवाँ प्रश्न उठा कि मरना एक-जैसा है तो क्या ज्ञानी का पुनर्जन्म भी होता है जैसे अज्ञानी का? पाँच श्लोकों से इस आखिरी प्रश्न का उत्तर देते हैं : **यह बताइये कि ज्ञानी-अज्ञानी का मरण समान है तो यह क्यों कि एक मुक्त हो जाता है व दूसरा नहीं? सुनो : ज्ञानी और मोहग्रस्त में विषमता यह है कि ज्ञानी को सत्य का निश्चय है जबकि मूढ उसी (नाम-रूप) के बारे में निश्चय रखता है जो है**

मोक्षः

समानायां मृतावेको मुक्तो नान्यः कुतो वद।
सत्यानृताभिसन्धत्वं वैषम्यं ज्ञानिमूढयोः।।१३३।
तस्कराऽतस्करौ चौर्यशङ्कया तलरक्षकैः।
गृहीतौ न कृतं चौर्यम् इत्याहतुरुभावपि।।१३४।।
गृह्णीतः परशुं तप्तं तौ तयोस्तस्करोऽनृतम्।
अभिसन्धाय दग्धः सन् हन्यते तलरक्षकैः।।१३५।।
अतस्करः सत्यसन्धो न दग्धो मुच्यते च तैः।
अज्ञान्यनृतसन्धोऽत्र सत्त्यसन्धस्तु तत्त्ववित्।।१३६।।
मर्त्योऽहमिति सन्धाय म्रियते जायते च सः।
ब्रह्माऽहमिति सन्धाय मुच्यते न च जायते।।१३७।।

ही असत्य!।।१३३।। किसी स्थान की रक्षा करने के लिये नियुक्त चौकीदार 'ये चोर हैं' इस शक से दो जनों को पकड़ लें और दोनों कहें 'हमने चोरी नहीं की', तो निर्णय करने के लिये 'दिव्य परीक्षा' की जाती हैः एक अभिमंत्रित एवं आग में तपे फरसे को वे दोनों चोर हाथों से पकड़ते हैं। जो झूठ कह रहा था कि चोरी नहीं की, उसका हाथ जल जाता है जिससे उसे चोर जानकर चौकीदार उसे दण्ड देते हैं तथा जो चोर नहीं था, सच ही कह रहा था कि उसने चोरी नहीं की, उसका हाथ जलता नहीं अतः उसे छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी को आत्मा के बारे में झूठा आग्रह है जबकि तत्त्ववेत्ता का निश्चय सत्य है। 'मैं मरणधर्मा हूँ' ऐसा भ्रांत आग्रह रखने वाला अज्ञानी मरता-जन्मता रहता है जबकि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रमाणजन्य सत्य निश्चय वाला विद्वान् मुक्त हो जाता है, जन्म नहीं ग्रहण करता।।१३४-७।। मरण प्रक्रिया एक होने पर भी ज्ञान-अज्ञान से मोक्ष-जन्मांतर की व्यवस्था संगत है। गजमुक्ता किसी भील को मिले या जौहरी को तो उपलब्धि का ढंग एक ही होने पर भी भील उसे कौड़ियों में बेच देता है जबकि जौहरी उससे असीम धन कमा लेता है। अतः ज्ञान का महत्त्व लोक में भी दृष्ट है। कल्पतरु (पृ. ८३६) में कहा है 'दृष्टो हि मणिविक्रये वणिक्-छबरयोः ज्ञानाऽज्ञानकृतः फलभेदः'। ऐसे ही तत्त्ववेत्ता मरकर भी ज्ञानप्रभावसे पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता, अज्ञानी मरकर जन्मान्तर लेने के लिये प्रयाण करता है यह दोनों में अंतर उपपन्न है। जो वस्तु सचमुच जैसी है उसे वैसा ही ज्ञानी जानता है, अज्ञानी उसे अन्यथा

समझता है। आत्मा को अज्ञ कर्ता-भोक्ता समझता है अत एव संसरण में भटकता रहता है, विज्ञ उसे अकर्ता-अभोक्ता जानकर मुक्त हो जाता है। 'अभिसन्धि' अर्थात् आशय, निश्चय, तात्पर्य। ज्ञानी की अभिसंधि सत्य होने से सत्य फल पाता है, अज्ञानी की झूठी अभिसंधि है अतः वह असत् फल ही पाता है। आत्मा को परिपूर्ण आनंद न जानकर स्वयं को परिच्छिन्न समझते हुए कामना आदि के फंदे में फँसा अज्ञ संसार चक्र में घूमता रहता है। भेद को सत्य समझने पर ही कामना संभव है, कामना ही सारे अनर्थों का बीज है। अज्ञ भेदाग्रही अतः कामनावान् होकर अनर्थ ही प्राप्त करता है। चाहे स्वर्गादि की कामना हो पर क्योंकि क्षयिष्णु असत्य विषयों की है इसलिये अनर्थप्रद ही है। तत्त्ववेत्ता भेदमात्र को असत्य जानता है अतः कामना से कभी ग्रस्त होता नहीं उसे कोई अनर्थ भी नहीं मिलता। झूठा आग्रह रखने तक ही संसारचक्र में भ्रमण होता है, सच पहचान लेने पर नहीं।

ज्ञानी का प्रारब्ध रहते वह व्यवहार करता दीखता है पर स्वयं वह उस व्यवहार को भी मिथ्या ही जानता है अतः हमें दीखने वाले अनर्थ भी उसे जीवनदशा में भी मिल नहीं रहे होते, केवल लगता है कि दुःख-प्रारब्ध भोग रहा है। अज्ञ तो जीवन दशा में भी दुःख भोगता है और कर्मों पर निज का स्वामित्व मानने से आगे भी संसार में भटकता है। एक ही तपा फरसा पकड़ने पर भी सत्यवादी नहीं जलता, मिथ्याभाषी जलता है, ऐसे ही मरण समान होने पर भी तत्त्वज्ञ मुक्त और अज्ञ बद्ध रह जाता है। सत्यका बल जैसे तपे फरसे से बचा लेता है वैसे पुनर्जन्मादि संसरण से भी बचाता है। शरीर को ज्ञानी-अज्ञानी दोनों ने पकड़ा है, अज्ञानी उससे जलता है, तापका अनुभव करता है, मृत्यु से विद्ध होकर पुनः जन्म लेता है, जबकि ज्ञानी शरीर से किसी तापका अनुभव नहीं करता, मृत्यु भी उसे संतप्त नहीं करती अतः वह पैदा भी नहीं होता। 'मैं मनुष्य, ब्राह्मण, अग्निहोत्री हूँ' आदि झूठे अभिमानों वाला ही यमके दण्ड भोगकर पुनः गर्भवास पाता है। वास्तव में अकर्ता होने पर भी जब स्वयं को कर्ता मानते हैं तब भोक्ता भी बनना ही पड़ता है। जैसे कोई स्वयं थाने जाकर कहे कि 'मैंने चोरी की' तो उसे सजा हो ही जाती है, चाहे वास्तव में उसने चोरी न भी की हो, वैसे अनृताभिसंध का संसरण अनिवार्य हो जाता है क्योंकि वह स्वयं अभिमानग्रस्त है। आत्मा अमरणधर्मा है और मनुष्यत्वादि मर्त्यधर्म हैं अतः इन्हें स्वयं पर ओढ़ना अनृताभिसंधि है जिससे संसरण का दण्ड भोगना पड़ता है। जो अनृत को, झूठ को खुद पर न ओढ़कर स्वयं को नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ही समझता है उसका मरण भले ही अज्ञानीके मरण जैसा हो पर वह जन्म-मरणके चक्र से छूट जाता है।।१३३-७।।

बुद्धिदोषं समाधातुं दृष्टान्तास्तैस्तवाऽत्र किम्।
त्वं सदेवेत्यभिप्रेत्य नवकृत्व उपादिशत्।।१३८।।

उपसंहार

भिन्नग्रन्थिः श्वेतकेतुर्मननाच्छिन्नसंशयः।
सदद्वैतं स्वमात्मानं विशेषेणावबुद्धवान्।।१३९।।

इस प्रकार एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा से प्रारंभ कर दृश्य-द्रष्टृ जगत् का भेद केवल मायिक है, वस्तु अद्वैत आत्मा ही है जो प्रत्यक्तत्त्व से अभिन्न है यह समझाया एवं इसे स्पष्टतर करने के लिये विभिन्न दृष्टांत दिये, अब इस प्रसंग का उपसंहार करते हैं **हे श्वेतकेतु! संशयरूप बुद्धिदोष का समाधान करने के लिये अनेक दृष्टान्त हैं पर उन दृष्टांतों से तेरे स्वरूप में क्या अन्तर आना है! तू हमेशा ही सन्मात्रस्वरूप है। इसी तात्पर्य से नौ बार 'तत्त्वमसि' उपदेश दिया।।१३८।।** तत्त्वोपदेश सुनकर अधिकारी को तत्त्वका अवबोध हो जाता है पर बुद्धि-अपराध से वह संशयग्रस्त हो जानेसे अविद्या नहीं मिटाता, जब संशय दूर हो जाते हैं तब कोई नया ज्ञान नहीं होता, वही पुराना ज्ञान अविद्या मिटाने में सक्षम हो जाता है। वास्तविकता को न अज्ञान से, न भ्रम से, न संशय से और न संशयनिवृत्ति से कोई फ़र्क पड़ता है! अन्तर भी उसी भूमिका पर है जो अज्ञान की भूमिका है, अविद्या और उसकी निवृत्ति दोनों व्यावहारिक ही हैं। उपदेश सुनने से पूर्व आत्मा जैसा मुक्त है, वैसा ही सुनकर भी मुक्त है, फ़र्क जीव को पड़ता है, वह पहले स्वयं को बद्ध महसूस करता था, अब मुक्त महसूस करता है। आरुणि ने 'तत्त्वमसि' नौ बार समझाया जिससे स्पष्ट हो कि यह एक ही तथ्य मोक्षार्थ शास्त्रप्रतिपाद्य है, इसी को समझने की कोशिश कर्तव्य है।।१३८।।

तप्तपरशु के दृष्टान्त से ज्ञानप्रयुक्त मोक्षलाभ समझ लेने पर श्वेतकेतु की सारी शंकाएँ मिट गयीं, उसे परमात्मा का सुस्पष्ट अनुभव हो गया, 'तद्धाऽस्य विजज्ञौ'; शिष्यको अशंक अनुभूति हो तभी तक उपदेश सप्रयोजन है अतः यहीं इस विद्या का उपसंहार होता है **ब्रह्मोपदेश सुनने पर श्वेतकेतु के हृदय की गाँठ तो खुल गयी थी पर संशयसे उसका ज्ञान प्रतिबद्ध था, अब मनन कर चुकने से उसके जब सारे संशय मिट गये तब सत्, अद्वैतरूप निज आत्मा का उसे प्रौढ अवबोध हो गया।।१३९।।** श्लोक ११२ में ही कह दिया था कि श्वेतकेतु की हृदयग्रंथि खुल गयी थी, उसीका परामर्श है। शास्त्र की यही मर्यादा है कि अधिकारी को प्रमाणभूत वेदवाक्य से प्रमा उत्पन्न होगी; यदि प्रमाफल अविद्याहानि उपलब्ध न हो तो मानना पड़ेगा

कि संशयादि प्रतिबंधक हैं अतः उन्हें दूर करने के लिये मननादि करने पड़ेंगे। उनसे ज्ञान नवीन नहीं होगा, केवल प्रतिबंधक मिटेंगे। अनधिकारी को तो श्रवणसे प्रमा न उत्पन्न हो यह संगत है, उसे अधिकार पाने का प्रयास कर पुनः श्रवण भी करना पड़ेगा क्योंकि प्राथमिक श्रवण से प्रमा हुई नहीं; किन्तु अधिकारी श्रवण कर चुका तो उसे मननादि ही करना पड़ेगा, पुनः श्रवण करना निष्प्रयोजन है। श्वेतकेतु श्रवण से प्राप्य निश्चय कर चुका था अतः मननसे संशय दूर होते ही उसे अप्रतिबद्ध विज्ञान हो गया। मैं अद्वितीय सद् हूँ इस बारे में जो कोई शंका आये उसे मिटाना मनन है जो साधक का कर्तव्य है क्योंकि शंका रहते श्रवणजन्य प्रमा भी अविद्या नहीं मिटायेगी। अँधेरे में बिजली चमकने पर पेड़ दीखता है पर वह ज्ञान क्षणिक होता है अतः कौन-सा पेड़ है आदि निश्चय नहीं होता; अलात आदि से स्थिर, रोशनी में पेड़ देखने से निश्चय होता है; पेड़ कोई नया नहीं दीखता! बिजली चमकने से जो, दीखा, अलातसे भी वही दीखता है किन्तु स्थिर रोशनी में देख लेने पर पेड़-विषयक शंका नहीं रहती। इसी प्रकार श्रवण से जो ब्रह्म समझ आता है, मनन से भी वही समझ आयेगा किन्तु मनन से शंकायें मिट जाने के कारण निश्चय दृढ हो जायेगा। जब सदा, सब परिस्थितियों में 'मैं सद् अद्वैत हूँ' यही महसूस हो, कभी भी स्वयं को कर्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न न समझा जाये, तब समझना चाहिये कि मनन पूर्ण हो गया। पेड़ आदि सांसारिक चीज़ों में तो विशेषताएँ अनेक होती हैं अतः कई बार उनको जानने से नयी-नयी बातें पता चलती हैं किन्तु ब्रह्म निर्विशेष अखण्ड वस्तु है, उसे बार-बार जानने से कोई नयी बात नहीं मालूम चलती लेकिन उसके बारे में जो हमें असंख्य ग़लत फ़हमियाँ हैं वे एक-एककर दूर होती जाती हैं जिससे बार-बार ब्रह्म को समझने का प्रयास सार्थक है। अनेक जगह कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान एक ही बार हो सकता है क्योंकि होते ही वह अज्ञान मिटा देता है जिससे उसका फिर ज्ञान नहीं हो सकता, कारण कि ज्ञान उसी का होता है जो अज्ञात हो; यह कथन अप्रतिबद्ध ज्ञान के लिये ठीक है पर प्रतिबद्ध ज्ञान तो बार-बार किया जाना ही पड़ता है, अभ्यास, परिसंख्यान की आवश्यकता नकार नहीं सकते। प्रसंख्यानवादी से फ़र्क यह है कि वह मानता है कि पुनरावृत्ति मोक्षप्रद है जबकि हम मानते हैं कि पुनरावृत्ति संशयादि दूर करने में सहायक है, अंतर्मुखता कायम रखने का उपाय है। प्रसंख्यानवादी को आवृत्ति के फलस्वरूप कोई विशेष ज्ञान नहीं होता जबकि हमें आवृत्ति से अप्रतिबद्ध ज्ञान होता है; उसमें ज्ञानांश आवृत्ति का फल न होने पर भी अप्रतिबद्धतांश उसका फल है। किंच मोक्षोपयोगी ज्ञान की हम आवृत्ति नहीं मानते, प्रसंख्यानवादी उसी की आवृत्ति मानता है यह भी अंतर है।

श्वेतकेतोर्ब्रह्मविद्या व्याख्याता स्फुटमेतया।
तुष्टोऽस्मान् अनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१४०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिकृतेऽनुभूतिप्रकाशे छान्दोग्योपनिषदि श्वेतकेतुविद्याप्रकाशो नाम तृतीयोऽध्यायः।।

यद्यपि हृदयंग्रंथि का भेदन, सब संशयों का छेदन और सारे कर्मों का क्षय परमात्मदर्शन के ही फलस्वरूप बताया गया है तथापि प्रमाणगत व प्रमेयगत संशयों की निवृत्ति की दृष्टि से यहाँ पहले ग्रंथिभेद, फिर संशयछेद और तब आत्माऽवबोध कह दिया है। छांदोग्यकी यह सद्विद्या वेदान्तोपदेशों में अत्यंत प्रधान है एवं यहाँ आया 'तत्त्वमसि' महावाक्य सारे विश्व में उपनिषत् के संदेश के रूप में प्रसिद्ध है। इसके सम्यक् श्रवण-मनन से परमात्मदर्शन अवश्य होता है।।१३९।।

इस अध्याय को समाप्त करते है **श्वेतकेतु को उपदिष्ट ब्रह्मविद्या का स्पष्ट व्याख्यान इस अध्याय में किया। महेश्वरस्वरूप श्रीविद्यातीर्थ इस व्याख्या से संतुष्ट हो हम पर कृपा करें।।१४०।।** विद्यारण्यस्वामी ने बहुत संक्षेप में लेकिन बहुत साफ करते हुए छांदोग्य की सद्विद्या समझाई है। विस्तार भाष्यादि में उपलब्ध है पर उपनिषत् में दिये उपदेश को समझने के लिये पर्याप्त व्याख्या यहाँ व्यक्त कर दी गयी है। अन्य अध्यायों की तरह इसे भी गुरुचरणों में निवेदित कर उनकी कृपा की याचना की है क्योंकि व्याख्या कितनी सही है यह गुरु ही जान सकते हैं तथा कृपापूर्वक उसे सुधार सकते हैं। किं च व्याख्या कर देना तो वैदुष्य पर निर्भर है पर विषय हृदय में प्रतिष्ठित हो इसके लिये गुरुकृपा ही हेतु है। स्वयं ही नहीं, इस ग्रंथ के अध्येता भी तत्त्व को हृदयंगम कर सकें इसके लिये यह प्रार्थना है।

।। तृतीय अध्याय।।

ॐ

छान्दोग्योपनिषदि

सनत्कुमारविद्याप्रकाशः

चतुर्थोऽध्यायः

सनत्कुमारश्छान्दोग्ये नारदायोपदिष्टवान् ।
विद्यामेतां प्रवक्ष्येऽत्र सर्वशोकनिवृत्तये । ।१ । ।

छान्दोग्योपनिषत् की सनत्कुमार-विद्या का विवरण : चौथा अध्याय

परमात्मा के स्वरूप की समग्र जानकारी मोक्ष के लिये अनिवार्य है। भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं, उन्हें केवल सत् या केवल चित् जानकर संसार-बंधन से छूटा नहीं जा सकता, वे ही एकमात्र सत्, चित्, आनन्द हैं यह समझना पड़ेगा। उनकी प्रत्यग्रूपता का चित्-स्वरूप में और अनंतरूपताका आनंद-स्वरूप में अन्तर्भाव है अतः सच्चिदानंद को समझना ही परमात्मा के पूर्ण स्वरूपको जान लेना है। पूर्वाध्याय में सद्रूप का स्पष्टीकरण हुआ, अब आनंदरूप को स्फुट करेंगे। इस अध्याय में भी गुरु-शिष्य संवाद है, गुरु यहाँ भगवान् सनत्कुमार हैं, शिष्य देवर्षि नारद हैं। ये दोनों ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं, दोनों परमविरक्त तत्त्वनिष्ठ हैं। सनत्कुमारों को उत्पन्न कर ब्रह्माजी ने आदेश दिया कि 'प्रजोत्पादनादि कर सृष्टि-चक्र चलाओ', तो कुमारों ने जवाब दिया कि 'संसार में प्राणी दुःखी ही होंगे, अतः इस चक्र का प्रवर्तन करना ठीक नहीं।' ब्रह्माजी ने उन्हें अपने प्रयोजन के लिये बेकार समझकर विदा कर दिया तो वे कुमार भगवान् शंकर से परमार्थ तत्त्व समझने पहुँच गये। कर्मनिष्ठा छोड़ चुका ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी ही अखण्ड वस्तु के उपदेश का मुख्य स्रोत हो सकता है इसलिये शंकरजीने 'दक्षिणामूर्ति' नामक संन्यासी-रूप धारण कर भद्रा मुद्रा से, चिन्मुद्रा से ही सनकादि को वस्तुतत्त्वका गुह्य उपदेश दिया। अतिशुद्ध मन वाले कुमार उसी उपदेश से सत्य को समझ गये, सर्वथा तत्त्वनिष्ठ हो गये। उन्हीं सनत्कुमार ने वही आत्मतत्त्व नारद जी को जिस तरह समझाया वह इस अध्याय में वर्णित है। **सनत्कुमार ने नारद को छांदोग्योपनिषत् में आयी जिस विद्या का उपदेश दिया उसका इस अध्याय में प्रकथन करेंगे ताकि सारा शोक निवृत्त हो । ।१ । ।** इस विद्या का समधिगम होने पर सारे शोक मिट जाते हैं, जब तक सब

नारदस्य गुरूपसत्तिः

पुराणपञ्चमान् वेदान् शास्त्राणि विविधानि च।
ज्ञात्वाऽप्यनात्मवित्त्वेन नारदः शोकमाप्तवान्।।२।।

शोक दूर न हो जायें तब तक यह जानते हुए कि यह विद्या पूर्णतः प्राप्त नहीं हुई, साधक को प्रयास करते रहना चाहिये।।१।।

नारद जी ने प्रार्थना की 'अधीहि भगव इति' कि मुझे उपदेश दीजिये, तो भगवान् सनत्कुमार ने कहा 'जो अब तक तुम जान चुके हो वह मुझे बताओ, फिर मैं आगे उपदेश दूँगा।' तब नारद ने लम्बी सूची सुनाई कि वे क्या पढ़ चुके हैं : चारों वेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, शकुन विद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षादि वेदांग, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पविद्या, नृत्य-शिल्प आदि विद्यायें ये सब वे जानते थे फिर भी शोकमग्न थे। उन्होंने सुन रखा था कि आत्मज्ञ शोकरहित होता है अतः शोकसागर से पार जाने का उपाय आत्मज्ञान है यह जानते हुए वे अपने बड़े भाई सनत्कुमार के पास आये थे। इस प्रकार इस विद्या की विशेषता ही यह है कि यह सारे शोकों को निवृत्त कर देती है। आत्मा को सही तरह न समझने तक शोक नहीं मिटता, चाहे अन्य जो कुछ पढ़ लिया जाये यह सूचित करते हैं **चारों वेद, उनकी अपेक्षा पाँचवाँ पुराण तथा विविध शास्त्रों को जानकर भी आत्मा की वास्तविकता से अनभिज्ञ होने के कारण नारद जी शोक से तप्त थे।।२।।** ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चार वेद हैं। वेद को सही समझ सकने के लिये पुराणों को जानना ज़रूरी है अतः चार वेदों के साथ आवश्यकतया अध्येतव्य होने से पुराण को पाँचवाँ कहते हैं। कोई एक पुराण यहाँ विवक्षित नहीं, सारे पुराण ही एकत्रकर 'पुराणपञ्चमान्' कहा है। विविध शास्त्रों में व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा आदि सब समझने चाहिये। नारद ने इतना विस्तृत अध्ययन किया पर अपनी सचाई नहीं पहचानी तो शोक में मग्न ही रहे। आज भी विद्यालयों में बाकी सब पढ़ाते हैं, आत्मस्वरूप का कोई परिचय नहीं दिया जाता अतः बीस वर्ष पढ़कर विद्यावारिधि की उपाधि लेकर भी 'मैं कौन हूँ?' का सही ज्ञान नहीं होता। अनपढ़ व्यक्ति जैसे स्वयं को यज्ञदत्त, ब्राह्मण, पुरुष आदि जानता है वैसे ही यदि पढ़ा-लिखा भी स्वयं को समझे तो उसे महामूर्ख ही मानना पड़ेगा! पढ़कर भी वही समझा जो बिना पढ़े लोग जानते हैं तो पढ़ना व्यर्थ ही रहा। माता-पिता भी अन्यान्य जानकारी दिलाने को उतावले रहते हैं पर सबसे मूल्यवान् आत्मविद्या ग्रहण कराने का कोई प्रयास

वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता।
पश्चात् त्वभ्यास-विस्मार-भङ्ग-गर्वैश्च शोकिता।।३।।

नहीं करते। गाली सुनकर गुस्सा आये तो पढ़ने का क्या फायदा! वह तो अनपढ़ को भी आ ही जाता है। नारद जी ने यही विचार किया कि अध्ययन से पूर्व जैसा शोक था, अध्ययन करने पर भी वैसा ही बना हुआ है तो अवश्य कोई कमी है कि विद्या सफल नहीं हुई। अन्य सब वे जान ही चुके थे, एक आत्मवस्तु उन्होंने नहीं जानी थी अतः समझ गये कि आत्मा के अज्ञान के कारण ही उनका शोक बर्करार है। उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं कि आत्मवेत्ता दुःख-शोक से परे हो जाता है, पुराण आदि में भी यह वर्णन मिलता है और आत्मा का जो स्वरूप बताया गया है उसके यह अनुरूप भी है कि आत्मज्ञ निःशोक हो अतः नारद ने आत्मज्ञान पाने का निश्चय किया। यह नारद की विशेषता है कि वे अपनी कमी और उसका हेतु स्वयं खोज पाये। श्वेतकेतु भी पढ़ा काफ़ी था पर वह घमण्डी हो गया, न यह समझा कि उसे विद्याफल नहीं मिला और न यह पता लगा पाया कि वह किस महत्त्वपूर्ण ज्ञान से वंचित है। नारदमें घमण्डसे विपरीत नम्रता आयी जैसा कि उचित है, 'विद्या ददाति विनयम्'। किंतु बुद्धिमान् ही विद्या पाकर नम्र होता है, 'मैं क्या नहीं जानता' इस तरफ दृष्टि देता है, जबकि अविचारशील 'मैंने कितना जान लिया' इस ओर ध्यान देकर घमण्डी बन जाता है। नारद जी अतिशुद्ध बुद्धि वाले थे अतः विद्या पढ़कर विनयी बने तथा अपनी कमी पूरी करने के लिये यत्नशील हुए।।२।।

ज्ञानार्जन यदि उसके सही प्रयोजन को उद्देश्यकर न किया जाये तो शोक-निवारण के विपरीत शोक बढ़ा देता है यह बताते हैं **वेदाध्ययन से पूर्व केवल त्रितापसे शोक रहता है पर अध्ययन के बाद अभ्यास का, भूलने का, मानभंग होने का और गर्व का शोक बढ जाता है।।३।।** ताप तीन प्रसिद्ध हैंआध्यात्मिक अर्थात् अपने ही शरीर-मनके निमित्त से होने वाले; आधिभौतिक अर्थात् अन्य प्राणियों के कारण होने वाले; आधिदैविक अर्थात् दैवाधीन होने वाले। ये ताप सर्वसाधारण हैं, मनुष्य ही नहीं अन्यों को भी होते हैं। अध्ययन कर लेने के बाद यदि समुचित साधना न की तो उक्त ताप बने ही रहते हैं तथा अन्य ताप भी जुड़ जाते हैं! वेद पढ़कर उसके मंत्र याद करने पड़ते हैं और फिर यदि एक भी मंत्र भूलें तो भ्रूणहत्या का पाप लगता है अतः यावज्जीवन वेद का अभ्यास करते रहने का कष्ट अनिवार्य है और यदि अभ्यास न किया तो मंत्र भूलने पर पाप का कष्ट है ही। वेद-विस्मृति भ्रूणहत्या-समान इसलिये है कि वेदमंत्र बुद्धि में ही गर्भित होकर रहता है, उसे भूलने से उसका पात हो जाता है, मंत्र बुद्धि से लुप्त

शोकं तरत्यात्मवेदीत्यभिज्ञेभ्यः श्रुतं वचः ।
शोकपारं नयेत्युक्त्वा नारदो गुरुमाप्तवान् । ।४ । ।

होकर अन्यत्र तो कहीं रह नहीं सकता अतः मानो मर ही जाता है। जैसे भ्रूण असहाय है वैसे मंत्र भी अध्येता के ही सहारे रह सकता है अतः उसे भूल जाना भ्रूणहत्या-समान ही है। इस डरसे अभ्यास का बोझा लद जाना एक अतिरिक्त ताप है। कारणविशेष से किसी दिन मौका न मिले तो दिन-भर परेशानी महसूस होती है। इसी तरह 'पढ़े हुए को भूल न जाऊँ' इसकी चिंता और भूल जाने पर उसका कष्टये दो ताप भी हैं। स्वयं के समान या कनिष्ठ विद्वान् के सामने निरुत्तर होना पड़े तो भी पण्डित को महान् पश्चात्ताप होता है। पढ़ने से स्वयं में प्रायः गर्व भी आ जाता हैजैसा श्वेतकेतु को आया थातथा
गर्व भी एक तरह का दुःख ही है! गर्वीला व्यक्ति खुद को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है पर समाज में उसे कोई ऐसा समझता नहीं अतः पग-पग पर उसे अपनी हेठी ही महसूस होती है, हमेशा शिकायत ही करता रहता है। किं च अन्य किसी को सम्मान मिले यह भी गर्वीले को सहन नहीं होता जबकि मिलता अवश्य है अन्यों को सम्मान अतः गर्वित के दुःख का अंत नहीं। इस प्रकार सर्वसाधारण त्रिताप से अतिरिक्त अनेक ताप अधीतशास्त्र व्यक्ति के सिर आ पड़ते हैं यह स्पष्ट है। पंचदशी ११.१६ में भी यह श्लोक है। नारद जी ने विवेकद्वारा यह समस्या पहचानी अत एव शोक-निवारक ज्ञान के लिये उत्सुक हुए। ।३ । ।

विचारशील स्वयं को ज्ञात विषयों में ही समस्या के हल की कुंजी खोजता है अत एव 'नवीन ज्ञान' के नाम पर उसे ठगना संभव नहीं होता। नारद जी को निश्चय था कि वेद सर्वज्ञकल्प है, उसमें उन सभी प्रश्नों के उत्तर निहित हैं जिनका जीवन में कोई भी महत्त्व है। इस निष्ठा से शोक-निवृत्ति का वेदोक्त उपाय ढूँढने पर 'शोकं मोहं जरां मृत्युम् अत्येति' (बृ.३.४.१), 'तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति (बृ.४.३.२२), 'को मोहः कः शोकः' (ई.७), 'हर्षशोकौ जहाति' (कठ.२.१२) 'तरति शोकम्' (मुं.३.२.६) आदि अनेक सन्दर्भ मिले जिनसे पता लगा कि वेद मानता है कि परमात्मज्ञान ही शोक मिटाता है। यह भी वेद से मालूम हुआ कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से ही आत्मज्ञान मिलता है अतः वे सनत्कुमार के पास आये यह बताते हैं **'जानकारों से मैंने यह बात सुनी है कि आत्मज्ञानी शोकसागर को तर जाता है। मुझे भी शोक से उबार लीजिये'यह निवेदन कर नारद गुरु के निकट आ गये। ।४ । ।**
शास्त्रोक्त उपाय अमोघ है, हम अपनी कमी के कारण उसका सही उपयोग नहीं कर

नामाद्युपास्त्युपदेशः

बहुग्रन्थाऽभ्यासतस्ते महती शब्दवासना।
नाम ब्रह्मेत्युपास्वाऽत इति प्रोवाच तं गुरुः।।५।।

पाते तो स्वयं की योग्यता बढ़ानी चाहिये, न कि शास्त्र पर अश्रद्धा कर लेनी चाहिये। आत्मज्ञान का फल है कि दुःखका कभी स्पर्श न हो, 'मैं दुःखी' ऐसा कभी महसूस न हो। इस शास्त्रोक्त साधन पर नारद को श्रद्धा थी अत एव इसी उपाय को ग्रहण करना चाहते थे। विद्या यदि दुःख बढ़ा देती है तो अवश्य कहीं ग़लती है, विद्या से दुःख दूर ही होना चाहिये। क्योंकि शोक मिटने का शास्त्रप्रसिद्ध उपाय है इसलिये नारद सनत्कुमार से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें भी शोक में डूबने से बचाया जाये। प्रयोजनान्तर से प्रेरित होकर आत्मविद्या नहीं मिलती, अपने दुःख को समूल उखाड़ फैंकने मात्र के लिये जो ज्ञान चाहता है वही इस रहस्य को जान पाता है। गुरु के निकट आने का मतलब है कि अन्य किसी उद्देश्य से और कुछ अब करना नहीं है, केवल गुरु के निर्देश में साधनाभ्यास करना है।।४।।

भगवान् सनत्कुमार समझ गये कि नारद वास्तविक मुमुक्षु तो है पर अभी मन इतना विकीर्ण है, बिखरा हुआ है कि एकाएक सूक्ष्मतम वस्तु ग्रहण नहीं करेगा अतः क्रमशः अन्तर्मुख करने के लिये उन्हें नामादि की ब्रह्मदृष्टि से उपासना में प्रवृत्त किया। उन्होंने कहा **'बहुत ग्रंथों का पुनः पुनः आलोचन करने से शब्दों के गहरे संस्कार तुझमें पड़ गये हैं अतः पहले यही उपासना कर कि नाम ब्रह्म है।।५।।** आत्मा एकस्वरूप है, उसे समझने के लिये थोड़ा-सा पढ़ना पड़ता है क्योंकि उसके बारे में बताने को ज़्यादा कुछ है ही नहीं। अनात्मा ही अनन्त रूपों वाला है, उसे ही बताने के लिये बहुत कहते रहना पड़ता है, फिर भी 'उसके बारे में सब कुछ कह दिया' ऐसा नहीं होता। 'बहुत ग्रंथ' अर्थात् बहुत्व-प्रतिपादक ग्रंथ; उनको बार-बार पढ़ते रहने से भेदके ही संस्कार पड़ते हैं, भेद ही सत्य है यह वासना हो जाती है तो अभेदरूप सत्य का ग्रहण नहीं हो पाता। शोक का हेतु भेद ही है, अभेद ही शोकराहित्य है। लोकमें भी जितना अनात्मभेद का ज्ञान बढ़ता है उतना दुःख बढ़ता है। कपड़ा धोने की मशीन, बर्तन धोने की मशीन, गैस का चूल्हा, नलके में बहता पानी आदि अनात्मवस्तुओं की जानकारी दूरदर्शन आदिसे गाँवों में पहुँची तो वहाँ के लोगों को उन चीज़ों की चाह हो गयी जिसे पूरा करने के साधन उनके पास हैं नहीं अत एव वे सतत दुःख से पीडित और धनलाभ के लिये अनैतिक उपायों की ओर आकृष्ट होते हैं। दुर्भाग्य से आज इस प्रकार की

अनात्मज्ञानोपलब्धि को प्रगति का नाम देकर समाज की तड़पन बढ़ाई जा रही है। लड़कियों को आधुनिक विषय पढ़ाने का रिवाज़ हो गया है अतः बड़ी होकर नौकरी-धंधे में भी खटना पड़ता है, घर भी सँभालना पड़ता है और घर न सँभालें तो बच्चे बिगड़ कर बुढापा खराब हो जाता है। सबका प्रारंभ यहीं से है कि अनावश्यक विषयों का ज्ञान एकत्र किया। समाजके सब लड़के पढ़-लिखकर रोजगार में लग गये होते, उसके बावजूद कार्य बचे होते और उनके लिये लड़कियों को तैयार करते तो बात समझ आती, पर आज हालत यह है कि विद्यालय-महाविद्यालयों में ही प्रवेश दुर्लभ हो रहे हैं, बेरोज़गारी बढ़ती जा रही है फिर भी हठ है कि सबको अनात्मविद्या अवश्य देनी है! जितना यह अनात्मज्ञान बढ़ रहा है उतना सबका दृष्ट-अदृष्ट दुःख ही बढ़ रहा है अतः विवेकी इसे ज्ञानकी नहीं वरन् अज्ञानकी बढ़ोत्तरी समझते हैं। किंतु अविवेकी लोगों को शब्दवासना होती है, 'प्रगति' शब्द और उसके किसी वर्णन की ऐसी वासना हो जाती है कि विचार ही नहीं कर पाते कि वास्तव में वह कोई सुखोपाय हो रहा है या नहीं। ऐसे ही नाना शास्त्रों की परिभाषाओं के ही परिष्कार से अपने वैदुष्य को धन्य समझने वाले पंडित पुरुषार्थ से वंचित रहते हैं। सनत्कुमार ने समझ लिया कि नारद को शब्दों से प्रेम है, शब्दवासना है।

जिसमें प्रेम हो वहीं चित्त एकाग्र करना सरल होता है। गुरु पहले पता लगाता है कि साधक का प्रेम किसमें है तब उससे उसी के सहारे साधना प्रारंभ करवाता है। जैसे पुराने ज़माने में बचपन में ब्याह हो जाता तो शुरू से ही एक ही संस्कार दृढ होता जाता था कि 'यह मेरा पति है' या 'यह मेरी पत्नी है'। जैसे प्रारंभ से मालूम है कि 'यह माँ है' तो ऐसा मनमें नहीं आता कि 'इसकी नाक छोटी है, लंबी नाक वाली माँ हो तो अच्छा है' आदि, वैसे ही पति-पत्नी के बारे में हो जाता था। अब ढंग बदल गया है अतः पहले तो पति-पत्नी चुनते समय ही अस्थिरता रहती है और बाद में भी हमेशा लगता है 'इसमें अमुक खराबी है, इससे वह बेहतर है' तथा इससे तनाव आदि से सब पीडित हैं। ऐसे ही उपासना एक आलंबन पर स्थिर करते जाना ही उचित है क्योंकि तभी दृढता मिलती है। नारद जी को पहले कदम में बताया कि जो कुछ उन्होंने पढ़ा था वह केवल 'नाम' ही था, अब वे नामकी उपासना करें, इससे उनका वहाँ तक स्वातंत्र्य हो जायेगा जहाँ तक नामकी गति है। नामकी उपासना अर्थात् जैसे प्रतिमा को विष्णु समझकर 'यह विष्णु है' ऐसी प्रत्यय-संतति बनाते हैं वैसे नाम को ब्रह्म समझकर ध्यान किया जाये। नाम से समस्त शब्द समझने चाहिये। क्रिया, कर्तृत्वादि, संबंध, कर्तव्यतादि अर्थों के बोधक शब्द

स्वशब्दवासनां त्यक्त्वा प्राप्स्यसि ब्रह्मवासनाम्।
पश्चाद् ब्रह्मण आत्मत्वं वक्ष्यामीति गुरोर्मतिः।।६।।
ब्रह्मदृष्ट्या नाममात्रध्यानाद् नाऽपैति शोकिता।
इत्यभिप्रेत्य नाम्नोऽस्माद् अधिकं पृष्टवान् असौ।।७।।

भी यहाँ नाम कह दिये गये हैं। समस्त शब्दों को पहले 'नाम' के स्वरूप से एक समझकर फिर उस शब्दमात्र के संपिंडितरूप नाम को ब्रह्म जानकर ऐसा ध्यान करना चाहिये कि यही ब्रह्म है।।५।।

प्रश्न होता है कि नाम की वासना उपादेय तो है नहीं, नाम की उपासना करने से वही वासना बढ़ेगी, ऐसा अनुचित मार्ग क्यों अपनाया जा रहा है? इसका उत्तर देते हैं **सद्गुरु श्री सनत्कुमार का विचार है कि 'नारद! तुम्हें जो शब्दों की वासना हो रखी है इसे छोड़कर ब्रह्म की वासना प्राप्त कर लोगे, उसके बाद समझाऊँगा कि ब्रह्म ही आत्मा है'।।६।। सिर्फ नामकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना द्वारा शोक नहीं मिटताइस अभिप्रायसे नारदने इस नामसे अधिक के बारे में पूछा।।७।।**

'नाम ब्रह्म है' यह ध्यान करने पर ब्रह्म के संस्कार पड़ना स्वाभाविक है क्योंकि प्रतिमा की तरह नाम गौण रह जाता है, ब्रह्म ही प्रधान होता है और संस्कार उसी के ज़्यादा पड़ते हैं जिसके प्रति प्राधान्य-बुद्धि हो। साधक को कदम-कदम आगे ले जाने से साधना संभव और सफल हो जाती है। बिना भूमिका तैयार किये उत्तम स्तर का उपदेश व्यर्थ ही जाता है। अतः सनत्कुमार ने शब्द-ब्रह्म का ध्यान बताया लेकिन मनमें जानते थे कि उससे चित्त परिष्कृत होने पर परमात्मा की बात बतायेंगे जो शोक दूर करने का उपाय है। जिसे स्वभाव से महत्त्वपूर्ण समझते हों उसे और अधिक पवित्र समझने को कहें तो चित्त झटसे स्थिर होता है। नारद की मनः-स्थिति के अनुरूप ध्यान इसीलिये बताया कि वह तत्परता से ब्रह्मसंस्कार एकत्र कर ले। प्रतीक की तरफ चित्त एकाग्र होने पर ध्येय का चिंतन करें तो ध्येय के संस्कार प्रभावशाली होकर पड़ते हैं। ध्यान में बुद्धि लगती है, निश्चयवृत्ति दुहरायी जाती है। चित्त (मन) सहजता से एकाग्र हो तो केवल बुद्धि को एकाग्र करने में परिश्रम लगता है। यदि प्रतीक पर चित्त न स्थिर हो तो परिश्रम भी द्विगुणित हो जाने से ध्यान मुश्किल होता है। आजकल कई लोग प्रतीकोपासना पर आक्षेप करते हैं किंतु उनके पास भी इससे सरल कोई प्रक्रिया नहीं जो ध्यान के लिये उपकारी हो। प्रतीक के सहारे ध्येयाकार वृत्ति का आवर्तन सरल हो जाता है। शनैः-शनैः ध्येय के संस्कार प्रबल हो जाते हैं। नारद भी जब नाम के सहारे ब्रह्मकी उपासना से ब्रह्म-वासना दृढ कर लेगा

तब ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है यह उपदेश समझना संभव होगा। सनत्कुमार की यद्यपि यही भावना थी तथापि नारद ने प्रारंभ में नामोपासना ही शोक-निवारक उपाय है ऐसा समझकर उपासना की। यद्यपि प्रेरणा के लिये प्रशंसा ज़रूरी होती है तथापि भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये कि प्रतीक ही परम वस्तु है। 'भगवान् से भी भगवान् का नाम बड़ा है' कहते हैं ताकि नामोपासना में संलग्न हुआ जाये न कि इसलिये कि नाम में ही अटक जायें! शोकनिवृत्तिरूप फल की प्राप्ति हो रही है या नहीं इस चिह्न से समझ लेना चाहिये कि साधन पर्याप्त है या अन्यकी अपेक्षा है। औपनिषद विद्या परलोक में सुख के लिये नहीं है, साधनाभ्यास करते हुए ही उसकी सफलता पहचान में आनी चाहिये। नामोपासना करने से शोक निवृत्त हो तो ठीक है, और न हो तो अवश्य ढूँढना पड़ेगा कि अगला क्या साधन अपनाया जाये। प्रायः शास्त्रीय कर्म व उपासनाएँ अदृष्टफलक होती हैं, उनका अनुष्ठान यहाँ करने से कालांतर-देशांतर में फल मिलता है, किन्तु ब्रह्मविद्या का फल यहीं मिलना चाहिये जैसे भोजन करने का फल भूख-मिटना यहीं होता है। अभ्यास करने पर पूर्ण फल यहाँ न मिला तो परलोक में पूर्णता का लाभ हो सकता है लेकिन किंचित् भी फल न मिले तो मतलब होगा कि या साधन ग़लत है, या अभ्यास सही नहीं हो रहा। ब्रह्मोपासना जितनी स्थिर हो उतनी शोकमोह की निवृत्ति होनी चाहिये। नारद ने उपासना कर जब फललाभ नहीं देखा तब पुनः पूछा 'क्या नाम से भी श्रेष्ठ कुछ है जिसकी ब्रह्मरूप से उपासना की जाये?' गुरु ने कहा 'हाँ, है।' नारद ने उसके उपदेश की प्रार्थना की तो अगला प्रतीक बताया गया।।६-७।।

साधक को जो उपदेश मिले उसके अनुसार पूर्णयत्न करे, तदनंतर आगे की बात पूछे तब तो क्रमशः चरम तत्त्व भी पा जायेगा, और केवल सूक्ष्म-सूक्ष्मतर विषय सुनता चला जाये, साधना करके हर कदम को सुस्थिर न कर ले तो कुछ भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं होगी। उपनिषदादि में बार-बार प्रश्न पूछने पर उत्तर बताने की पद्धति यह सूचित करती है कि साधक के स्तर के अनुरूप उपदेश होना चाहिये। यहाँ छांदोग्य में सनत्कुमार भी इस न्याय से एक-एक स्तर बढ़ाकर उपदेश दे रहे हैं। बाद में जब नारद स्तब्ध-से हो गये तब ज़रूर सनत्कुमार ने अपनी तरफ से उन्हें प्रेरित कर आगे का उपदेश दिया। नाम से आगे का तत्त्व पूछा जाने पर गुरु ने क्या बताया यह श्लोक से कहते हैं **'नाम का कारण होने से वाक् उससे अधिक अर्थात् श्रेष्ठ है अतः वाक् में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये' यह गुरु ने समझाया। पहले की तरह (वाक् प्रतीक में ब्रह्मोपासना कर चुकने पर फललाभ न देखकर बेहतर उपाय की जिज्ञासा से)**

वाङ् नाम्नः कारणत्वेनाऽधिकेति ब्रह्मदर्शनम् ।
वाचि प्राह गुरुः शिष्यः पूर्ववत् पृष्टवान् पुनः ।।८ ।।
आप्राणम् इत आरभ्य पूर्वस्माद् उत्तराधिके ।
प्रवर्तते शिष्यगुर्वोः प्रश्नोत्तरपरम्परा ।।९ ।।

शिष्य ने फिर प्रश्न किया ।।८ ।। वेदान्त की चिन्तनपद्धति है कार्य से कारण की तरफ जाना। जीव व जगत् का एकमात्र कारण परमात्मा ही है यह निश्चय प्राप्त करने के लिये ही वेदांत-साधना है। कारण का अन्वेषण करते-करते परब्रह्म तक पहुँचने की प्रक्रिया उपनिषत् में बतायी है। छांदोग्य के छठे अध्याय में सद्रूप के अनावरण का प्रकार बताया था। पृथ्वी-जल-तेज इन तीन को अध्यात्म-अधिभूत सारे जगत् का कारण निर्धारित कर फिर इनका कारण सत् है यह समझाया था। जिस सातवें अध्याय की अब व्याख्या चल रही है उसमें भी चिन्तन कारण-क्रम से है किंतु केवल आन्तर अनुभवों के संदर्भ में। अतः नाम अर्थात् शब्द से महान् बताया उसके कारण वाक् को। कारण कार्य से बड़ा होता है। सनत्कुमार ने नारद को ब्रह्मदृष्टि से वाक् की उपासना करने को कहा। यहाँ सभी उपासनाएँ हैं ब्रह्मकी, प्रतीक एक-से-दूसरा महान्-सूक्ष्म ग्रहण किया जा रहा है। कार्यसे कारण सूक्ष्म और व्यापक होता है। जिह्वामूल आदि आठों स्थानों में स्थित होकर ककारादि वर्णों को अभिव्यक्त करने वाली इंद्रिय यहाँ वाक् कही जा रही है। धर्मादि अलौकिक रहस्य समझे इसीलिये जा सकते हैं कि वाक् है। उस वाक् को ब्रह्म समझते हुए ध्यान करने पर भी शोकनिवृत्ति न हुई तो नारद ने अगले साधन की जिज्ञासा की।।८ ।।

सनत्कुमार हर प्रश्न पर एक-एक साधन बताते गये; नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान (ध्यानजन्य अनुभव), बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मर, आशा, प्राण, सत्य, विज्ञान (विचारजन्य ज्ञान), मति, श्रद्धा, निष्ठा, कृति और सुख इनका क्रमशः उपदेश देकर सुखकी वास्तविकता के रूप में आत्मा का वर्णन किया। प्राण से पूर्व तक एक स्तर है, प्राण दूसरा स्तर है, सत्य से सुख तक तीसरा स्तर है और भूमा अंतिम तत्त्व है। इस प्रसंग का अब वर्णन करते हैं **यहाँ से शुरू होकर प्राण के कथन तक चलने वाली शिष्य-गुरु की प्रश्न-उत्तरों की शृंखला जिनके बारे में प्रवृत्त है उनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अगला तत्त्व अधिक (व्यापक) है ।।९ ।।** जैसे नाम से वाक् 'अधिक' है ऐसे आगे के सभी घटकों में अगले-अगले घटक पूर्व-पूर्व की अपेक्षा अधिक हैं। कारण कार्य से अधिक होता है अतः कारण-परंपरा का उपन्यास होने से

इच्छात्मकं मनो वाचोऽधिकं तत्कारणत्वतः ।
सत्यामेव विवक्षायां वक्तुमारभते पुमान् । ।१० । ।

ज़्यादा-ज़्यादा अधिक तत्त्वों का ही यहाँ निर्देश है और अंत में सर्वाधिक जो आत्मा उसका उपदेश है। यहाँ आत्मा का भूम, व्यापक, सर्वाधिक के रूप में ही वर्णन है। उसीके अवतरणार्थ अधिकाधिक का कथन करना संगत है। जैसे तैत्तिरीय में कोशों को भीतर बताते-बताते सबसे भीतर के आत्मा को समझाया वैसे यहाँ बड़ों का वर्णन करते-करते सबसे बड़े को आत्मा समझाया। नामादि प्रतीकों को ब्रह्म समझकर ध्यान करना है, ध्यान की दृढता होने पर नामादि जो भी सामने आयेगा उसे ब्रह्मरूप से ही ग्रहण किया जायेगा जैसे चतुर्भुजी मूर्ति देखते ही संस्कारी जन उसे विष्णु समझते हैं। असंस्कारी व्यक्ति तो पत्थर ही देख पाता है पर जिसने उपासना की है वह मूर्ति देखते ही उसे विष्णु समझता है। शब्द परमात्मा का प्रतीक है इसकी वासना दृढ होने पर छपे शब्दों के प्रति भी व्यक्ति आदर ही प्रकट करता है, वे जिन शब्दों के प्रतीक हैं उनकी महत्ता को ध्यान में रखकर ही लिपिबद्ध शब्दों को आदर दिया जाता है। चाहे जिस भाषा में चाहे जो विषय व्यक्त किया गया हो पर शब्द तो ब्रह्म का ही प्रतीक है ऐसा शब्दब्रह्मोपासक को प्रतीत होता है। शब्दमात्र में ब्रह्मदृष्टि उपासक की हो जाती है। शब्द से व्यापक वाक् की ब्रह्मरूप से उपासना करने पर भी इसी तरह ब्रह्मप्रतीति होगी। बाकी सब तो नाम (शब्द) में एकत्र हो चुका था, उसे जब वाक् में लीन किया तब बाकी सब भी वाक् में ही समा गया। व्यापक के अंदर व्याप्य का समावेश स्वाभाविक है। क्योंकि यहाँ व्यापकतर प्रतीकों का उल्लेख है इसलिये पूर्ववर्ती प्रतीकों का उत्तरवर्ती प्रतीकों में अन्तर्भाव हो जाता है। प्राणरूप उपाधि बताने तक यही न्याय समझना चाहिये।।९।।

वाग्-ब्रह्मोपासना से शोकनिवृत्ति न होने पर उससे महान् का प्रश्न नारद ने किया तो सनत्कुमार ने मन को वाक् से बड़ा बताया। इसे समझाते हैं **इच्छारूप मन वाणी का कारण होने से वाणी की अपेक्षा अधिक अर्थात् व्यापक है। बोलने की इच्छा होने पर ही पुरुष बोलना शुरू करता है।।१०।।** श्रुति में मन-शब्द आया है, उसका मतलब है बोलने की इच्छा की वृत्ति वाला अंतःकरण। करना व भोगना इच्छा से नियन्त्रित है अतः यहाँ श्रुति ने मनको आत्मा, लोक और ब्रह्म कह दिया है 'मनोऽस्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म' । यद्यपि कदाचित् लगता है कि बिना चाहे मुँह से निकल गया तथापि यह संभव नहीं, चेतन नहीं तो अचेतन मन में इच्छा रहते ही बोली निकलती है। मनको तालाब और वाक् को उससे निकलने वाली नहर इसीलिये बताया गया है।

सङ्कल्प्येदं सम्यगिति तद् इच्छति पुमांस्ततः।
सङ्कल्पो हेतुरिच्छायाश्चित्तं सङ्कल्पकारणम्।।११।।

अपनी वाणी पर ध्यान रखना चाहिये, उससे अपने मन का पता लगता रहता है। वाक् का कारण होने से मन उससे बड़ा है। मन की ब्रह्मरूप से उपासना करने को कहा जा रहा है। जो ऐसी उपासना करेगा वह महसूस करेगा कि 'मैं नहीं वरन् परमात्मा मन को चला रहा है। ब्रह्मप्रतीकरूप मन मेरे संमुख है, मैं इसका द्रष्टामात्र हूँ।' अतः उपासना से मनकी गति के क्षेत्र में स्वतंत्रता तो मिलती ही है साथ ही मनसे अपना विवेक सिद्ध होता है।।१०।।

किन्तु इतने मात्र से शोक नहीं मिटता! अतः अगला प्रतीक पूछा गया : **जिसके बारे में 'यह समीचीन है' ऐसा संकल्प किया जाता है, पुरुष उसी की इच्छा करता है अतः इच्छा का कारण संकल्प है। संकल्प का भी कारण चित्त है।।११।।** संकल्प भी अंतःकरण की एक खास वृत्ति है जो सही-गलत का विभाजन कर सही का समर्थन करती है। उसके बाद ही सही के लिये इच्छा होती है। श्रुति ने यहाँ कहा है कि संकल्पपूर्वक इच्छा से नामोच्चारणार्थ वाक् की चेष्टा होती है, नाममें सारे मंत्रों का और मंत्रों में सब कर्मों का अंतर्भाव समझना चाहिये। मनआदि सब संकल्प में विलीन होते हैं अतः संकल्परूप ही हैं। अपने-अपने स्वरूप में स्थिर रहने वाले द्यु, पृथ्वी आदि सभी मानो संकल्प करके यों मौजूद हैं। वर्षा, अन्न, प्राण, मन्त्र, कर्म, लोक, सारा ही जगत् अपने स्वरूपमें बना रहने को मानो कृतसंकल्प है! संकल्प ब्रह्म है इस उपासना से ध्रुव लोकों में प्रतिष्ठा फल मिलता है। इच्छाके प्रति संकल्प कारण है यह अनुभवसिद्ध है, जिसे समीचीन समझते हैं उसी की इच्छा हुआ करती है रोगादि को असमीचीन जानते हैं तो उनकी इच्छा भी नहीं होती। अत एव विज्ञापनों द्वारा वस्तुओं में समीचीन-बुद्धि पैदा करा देने पर उनकी इच्छा स्वयमेव हो जाती है। मनुमहाराज ने भी कहा है 'काम! जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे' अर्थात् हे कामना! तेरा मूल समझ गया हूँ, संकल्प से ही तेरा जन्म है। अतः चीज़ों को अच्छा समझना छोड़ दें तो कामना उत्पन्न ही नहीं होगी। इस प्रकार संकल्प इच्छाहेतु होने से महान् है। उसकी उपासना से भी शोकहानि न होने पर नारद को अगला प्रतीक चित्त बताया। चित्त अर्थात् समयोचित समझ; पूर्वानुभव के आधार पर उपस्थित परिस्थिति में हेतु-फलभाव की परख होना यहाँ चित्त है। भाष्य में कहा है 'चित्तं चेतयितृत्वं; प्राप्तकालानुरूपबोधवत्त्वम्, अतीताऽनागतविषयप्रयोजननिरूपणसामर्थ्यं च।' इसी से समीचीनता या असमीचीनता

विक्षिप्तचित्ताद् ऐकाग्र्यं ध्यानमभ्यधिकं ततः।
ध्येयविज्ञानमधिकं ज्ञानाद् अभ्यधिकं बलम्।।१२।।

की बुद्धि बनती है अतः संकल्पका कारण यह चित्त है। इसी चित्तमें संकल्पादि सब निहित हैं। जानकार भी यदि सामयिक मति से वंचित हो तो अवहेलनाका ही पात्र बनता है। इस समझ को चित्त कहना उचित है क्योंकि इसके लिये दृढ संस्कार चाहिये और संस्कार चित्त में ही प्रसिद्ध हैं। संस्कार प्रबल हों तभी मौके पर आवश्यक स्मृति उपस्थित हो पाती है जिससे विषय-प्रयोजन का संबंध ग्रहण हो पाता है। संकल्पका कारण अतः महान् चित्त भी ब्रह्मबुद्धि से उपासनीय है।।११।।

चित्तोपासना से भी शोकग्रस्तता न दूर हुई तो नारद को और महान् प्रतीक बताये गये **बिखरे हुए चित्त की अपेक्षा एकाग्रतारूप ध्यान अधिक है। ध्यानसे अधिक है ध्यान के विषय के बारे में विज्ञान और उस ज्ञानसे बल अधिक है।।१२।।** शास्त्रोक्त देवता आदि के बारे में वृत्तिधारा ध्यान है। ध्यानसे संस्काराधान स्पष्ट है अतः वह चित्तका हेतु है। जिसका चित्त ध्यानाभ्यास से वश में नहीं आ चुका है वह मौके पर उपयुक्त-अनुपयुक्त सभी स्मृतियों से आंदोलित हो जाने से संकल्प में असमर्थ रहता है अतः संकल्प-हेतुभूत चित्तका कारण ध्यान ही है। विक्षिप्त चित्तकी अपेक्षा एकाग्रता अधिक महान् है। वार्ता सुनते हुए जिस बात पर चित्त एकाग्र हो जाता है उसे दृढता से ग्रहण कर लेता है, बाकी बातें न सुनी जैसी हो जाती हैं, उन्हें सर्वथा भूल जाते हैं यह अनुभव सबका है अतः एकाग्रता का महत्त्व स्पष्ट है। ध्यान ब्रह्म है ऐसी उपासना से भी शोक न मिटा तो अगला प्रतीक बताया विज्ञान अर्थात् शास्त्रोक्त ध्येय तत्त्व की जानकारी। बिना जानकारी के ध्यान असंभव होने से विज्ञान ध्यान का भी कारण अतः महान् है। यहाँ अपरोक्ष ज्ञानके अर्थमें नहीं वरन् जानकारी के अभिप्रायसे विज्ञान-शब्द रखा है। जिसका ध्यान करना है उसकी जानकारी होना बहुत ज़रूरी है। प्रमाण से स्वरूप बिना समझे ध्यानमें लग गये तो ग़लत संस्कार ही दृढ होंगे जिनसे आगे अनुभव भी ग़लत होंगे। अतः ध्यानसे पूर्व ध्येय की प्रामाणिक जानकारी अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। किंतु इस ज्ञानकी भी उपासना शोक नहीं मिटा पाती! अगला प्रतीक बताया बल। अन्न के उपयोग से उत्पन्न मनकी वह सामर्थ्य जिससे विज्ञान-विषय की समझ संभव हो, बल कही जा रही है। भूखे रहने पर याद की हुई विद्या विस्मृत हो जाती है यह श्वेतकेतुविद्या में देखा जा चुका है अतः विज्ञान का हेतु बल मानना ज़रूरी है। शरीर से बलिष्ठ के सामने सैकड़ों विज्ञानी भी डर जाते हैं, इससे भी पता चलता है कि

ज्ञानहेतुर्देहबलं बलं स्याद् अन्नकारणम् ।
आपोऽन्नहेतवोऽपां तु तेजः कारणमीरितम् । ।१३ । ।
हेतुः सवायुराकाशस्तेजसो वियतः पुनः ।
स्रष्टव्यस्मृतिरीशस्य सृष्ट्याशा स्मृतिकारणम् । ।१४ । ।

विज्ञान से बल महान् है। गुरुसेवादि, तप आदि उपायों के लिये भी बल आवश्यक है। बली शिष्य सेवादि में अधिक तत्पर होने से गुरु का अधिक अंतरंग होकर सरलता से उपदेश ग्रहण कर पाता है। यहाँ बलसे देह-बुद्धि दोनों की सामर्थ्य समझनी चाहिये, तभी विज्ञानसे ज़्यादा महत्त्व संगत होता है। ।१२ । ।

बलकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना भी शोक नहीं मिटा पायी। नारद ने पुनः जिज्ञासा की तो सनत्कुमार ने बताया **देहका बल ज्ञानके प्रति कारण बनता है पर बल का भी कारण है अन्न। आगे, अन्नका कारण जल और उसका कारण तेज है। ।१३ । । वायुसमेत आकाश तेज का कारण है एवं आकाश के प्रति कारण ईश्वर की वह स्मृति है जो उसे विषय करती है जिसकी सृष्टि होनी है। इस स्मृतिका भी कारण सृष्टि की आशा है। ।१४ । ।** बल अन्नहेतुक है यह स्पष्ट ही है, आहार के अनुसार ही शरीर सबल होता है, बलिष्ठ को भी दो-तीन महीने भोजन न मिले तो दुर्बल हो जाता है। अन्न का कारण जल है ही। अकाल पड़े तो अन्न दुर्लभ हो जाता है, वर्षा हो तो पर्याप्त अन्न उपजता है। आगे, जल का कारण तेज है, जितनी गर्मी पड़ेगी उतना पानी बरसेगा यह लोक में भी प्रसिद्ध है। तेज से बड़ा बताया आकाश को। क्रमानुसार वायु को कहना चाहिये था लेकिन तेज से वायु भी उपलक्षित मानकर वायुकारण आकाश को तेज का कारण कहा है। पूर्वाध्याय में तो तेज से ही सृष्टि-प्रारंभ माना था अतः तेजका कारण ब्रह्म ही कहा था किंतु यहाँ आकाशादिक सृष्टि मानी है अतः वायु-सहित तेज का कारण आकाश को बताया है। आकाश से वायु और उससे तेज पैदा होता है अतः यहाँ आकाश व वायु को कारण-कोटि में रखा है। जगह होने पर ही हवा चलती है तथा आग सुलगाने के लिये हवा करनी ही पड़ती है अतः यह क्रम अनुभवानुसारी है। आकाश में सूर्य, चंद्र, बिजली, नक्षत्र आदि तेज प्रतिष्ठित भी हैं। कहना-सुनना, रमण, जन्म आदि सभी आकाश में ही संभव है; शब्द आकाश में ही होगा, रमण अर्थात् क्रीडा, उसके लिये स्थान चाहिये ही, अंकुर आदि का जन्म भी स्थान रहने पर ही होता है। इसलिये आकाश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है पर फिर भी उसकी उपासना शोक नहीं मिटाती। अगला प्रतीक श्रुति ने 'स्मर' बताया। भाष्यकार ने

नामाद्याशान्ततत्त्वेषु ब्रह्मदृष्टिं करोति यः।
स पुमान् लभते सर्वं तत्र तत्रोदितं फलम्।।१५।।

'स्मरणं स्मरोऽन्तःकरणधर्मः' यों जीव का स्मरण यहाँ विवक्षित माना है। जीव को याद आये कि आकाशादि है तभी उसका उपयोग कर सकता है इसलिये स्मर को आकाश से महान् कहा है। किन्तु विद्यारण्यस्वामी ईश्वर की स्मृति को स्मर से विवक्षित मान रहे हैं। आकाशपर्यन्त प्रतीकों के महत्त्व को लौकिक प्रमाणों से भी समझा-बूझा जा सकता है पर उससे आगे के प्रतीकों में शास्त्र की बहुत प्रधानता है। जो कुछ उत्पन्न किया जाता है वह उसी तरह का होता है जैसा पहले था यह 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' से श्रुति ने अन्यत्र कहा है। पूर्व कल्प में पानी ठंडा व आग गर्म थी तो इस कल्प में भी वैसा ही है, आगे भी वैसा ही होगा तथा सुदूर भूत में भी ऐसा ही था। ईश्वर की सृष्टि इतनी समुचित है कि इससे बेहतर असंभव है अतः इसमें हेर-फेर नहीं की जाती। इसलिये जिस संसार को ईश्वर पैदा करते हैं उसके बारे में पहले याद करते हैं कि पूर्व कल्प में क्या, कैसा था; उस स्मृति से ही आगे सृष्टि होती है अतः आकाश का भी हेतु होने से वह उससे भी महान् है। स्मृति के बाद संकल्पपूर्वक सृष्टि होती है। किंतु स्मृति आनेमात्र से संकल्प नहीं होता, यह भी आवश्यक होता है कि कार्यसिद्धि की आशा हो। आशा न हो तो सृष्टि का आयास नहीं होता जैसे समय कम हो, मौसम ठंडा हो तो दही जमाने में व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि जम पायेगा ऐसी आशा ही नहीं होती। इसलिये सृष्टि की आशा को स्मृति के प्रति भी कारण मानना उचित है। श्रुति ने यहाँ आशा को ईंधन-सा बताया है जिससे स्मृति आगे के कार्यों में प्रवृत्त करती है 'आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रान् अधीते कर्माणि कुरुते'। अतः आशा को स्मृतिकारण कहने का मतलब है स्मृति को कार्यक्षम बनाने वाली है आशा। इस प्रतीक के बाद प्राणका उपदेश है।।१३-४।।

प्राण-प्रकरण समझाने से पूर्व उक्त उपासनाओं का फल सूचित करते हैं **नाम से प्रारंभकर आशा तक बताये गये प्रतीकों में जो 'यह ब्रह्म है' ऐसी दृष्टि करता है उस पुरुष को वह सब फल मिल जाता है जो उन-उन पर्यायों में कहा गया है।।१५।।** 'तत्रोचितं' निर्णयसागर में छपा है, मुत्तुकृष्णशास्त्री का 'तत्रोदितं' पाठ बेहतर है। ये प्रतीक क्रमशः कहे हैं पर ज़रूरी नहीं कि इसी क्रम का अनुसरण किया जाये। सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि हो यह उद्देश्य है। क्रमसे उपासना की जाये यह ठीक है पर यदि अपनी स्थिति के अनुसार मध्य से भी प्रारंभ किया जाये तो मनाही नहीं

प्राणोपदेशः

प्रतीकोपासनैरेतैर्बह्वायासैः प्रशोचति ।
न शोकं तरतीत्युक्त्वा ह्यपृच्छत् सोऽधिकं पुनः ।।१६ ।।

है। हर प्रतीक में उपासना का अपना महत्त्व है, फल है। सबके फलों में अंतर है। यद्यपि यहाँ उपदेश तो शोकनिवर्तक ज्ञान का है, उस तक पहुँचने के लिये स्थूलारुन्धतिन्यायसे इन सब प्रतीकों का कथन है इसलिये तत्तत् फल अवान्तर प्रयोजन ही हैं, मुख्य फल तो शोकनिवृत्ति है, तथापि श्रुत्युक्त होने से इन फलों को नकारा नहीं जा सकता। किं च, यदि साधना का क्रम संपूर्ण न हो पाया और भूमबोध न हो सका तो भी ये अवान्तर फल तो मिलेंगे ही, महाफल अगले जन्मों में होगा क्योंकि ब्रह्मोपासक की सद्गति ही होती है और सद्गति का प्रधान अर्थ सद् ब्रह्म की अवगति ही है। 'पार्थ! नैवेह नाऽमुत्र विनाशस्तस्य विद्यते' आदि गीता के अनुसार 'इह' अविनाश इन अवांतर फलों से और अमुत्र अविनाश महाफल से संगत हो जाता है। इससे यह अभिप्राय नहीं कि नामादि की स्वतंत्र उपासनाओं का भी विधान मान लिया जाये। शोकनिवृत्तिके उपायरूप से उपदिष्ट होने से और परमात्मविज्ञानके बिना शोक-निवृत्ति असंभव होने से भूम तत्त्व के ज्ञानके शेषरूपसे ही नामादि की उपासना का उपदेश है, फिर भी अवांतर फल स्वीकार है यह तात्पर्य है।।१५ ।।

इतने प्रतीक क्यों बताने पड़े यह स्पष्ट करते हैं **'बहुत प्रयास से की जा सकने वाली इन प्रतीकोपासनाओं से साधक काफी शोक ही पाता है, शोक से तरता नहीं' यह कहकर नारद ने अधिक के बारे में फिर से प्रश्न किया।।१६ ।।** हर उपासना को विधिवत् करना बड़े श्रम का कार्य है, उससे शोक बढता ही है, हटता नहीं। अतः हरएक उपासना करके नारद ने पाया कि शोक हटा नहीं बल्कि बढ़ा है, तभी सनत्कुमार से फिर-फिर पूछा कि शोकनिवृत्ति का बेहतर उपाय क्या है? श्रद्धाका यही रूप है कि गुरुप्रोक्त उपायका निष्ठा से अनुष्ठान किया जाये, फललाभ न हो तो गुरु से ही उपायान्तर पूछा जाये। आधे-अधूरे मनसे साधन किया, फल नहीं मिला और सोच लिया कि गुरु के पास सक्षम उपाय है ही नहींयह अश्रद्धा का रूप है। पूर्व में कहे साधन का अभ्यास बिना किये आगे का उपाय पूछनायह भी सही श्रद्धा का रूप नहीं है। श्रद्धालु जानता है कि उसके लिये कौन-सा साधन उपयुक्त है यह चुनाव गुरु कर सकता है, स्वयं साधक नहीं, जबकि अश्रद्धालु को लगता है कि 'गुरु चार-छह साधन बताये जिनमें से मैं चुनाव करूँ'! नारद श्रद्धामूर्ति थे अतः हर साधन करने के

पराक्पदार्थध्यानेषु फलेषु च विरक्तितः।
दृढां प्रत्यग्विविदिषां दृष्ट्वा प्राणम् उपादिशत्।।१७।।

बाद ही आगे का उपाय पूछते रहे। आशाकी उपासना से भी अतृप्ति बनी रही तब नारद ने पूछा कि क्या आशा से भी महान् कुछ है?।।१६।।

भगवान् सनत्कुमार ने नारद को उत्तम साधक पहचान कर आत्माके अतिनिकट के तत्त्वका उपदेश दिया **पराग्भूत पदार्थों के ध्यान के प्रति और उनके ध्यान से प्राप्य फलों के प्रति वैराग्य के कारण प्रत्यक् तत्त्वके विज्ञान की दृढ इच्छा नारद में है यह देखकर सनत्कुमार ने उन्हें प्राण का उपदेश दिया।।१७।।** नाम से आशा-पर्यन्त सभी प्रतीक आत्मा से पृथक् प्रतीत होते हैं, उन्हें 'मैं' नहीं समझा जाता। अतः इन्हें पराक् कहा गया है। पराक् वस्तु का ध्यान शोक नहीं मिटा पाता। इन प्रतीकों के ध्यान के जो अवान्तर फल मिले उनके प्रति नारद को वैराग्य था इसीलिये उनसे असन्तुष्ट रहकर प्रधान फल अशोकता के लिये वे आगे के साधनों की जिज्ञासा कर पाये। यदि वैराग्य में कमी होती तो इन अवान्तर फलों से संतोष हो जाता, आगे की साधना में प्रवृत्ति न होती। जब तक आत्मा से भिन्न किसी फलको पाकर जीवको अच्छा लगे कि 'यह अच्छा हुआ', तब तक वैराग्य पूर्ण नहीं समझा जा सकता। वैराग्य की पूर्णता पर ही ज्ञान की योग्यता आती है। बच्चा रोता है तो माँ पहले खिलौना, गुड़, मिठाई आदि देकर चुप कराती है, यदि चुप हो गया तो समझ लेती है कि अभी भूखा नहीं है। जब किसी भी चीज़ से चुप नहीं होता तब निश्चय होता है कि भूखा ही है। वेद हमें काम्य कर्मों का उपदेश देता है, काम्य अनुष्ठानों से विषय मिलकर जब तक संतोष हो जाये तब तक जानना चाहिये कि ज्ञानाधिकार नहीं है। जब समस्त विषयभोगों से असन्तोष हो, वे चाहिये ऐसा न लगे, उनके मिलने से मन बिलकुल न बहल पाये, तब वैराग्य हो गया यह जान लेना चाहिये तभी ज्ञान में अधिकार मिलता है। इसीलिये आचार्य शंकर ने उपदेश-साहस्री में 'समापय्य क्रियाः सर्वाः' कहा है कि सारी क्रियाएँ समाप्त होने के बाद ब्रह्मविद्या का प्रसंग आता है। लौकिक-अलौकिक किसी भी फल की उपादेयता प्रतीत होती रहे तो ज्ञाननिष्ठा परिपक्व नहीं होती। 'मुझे अपने लिये नहीं चाहिये' इतना ही पर्याप्त नहीं क्योंकि यदि किसी और के लिये चाहिये तो भी प्रवृत्ति का विषय बनकर बहिर्मुखता लायेगा ही; विषय को किसी के भी लिये फायदे का समझने तक उससे सर्वथा वैराग्य नहीं होता। नारद का वैराग्य तीव्र विवेक से प्रेरित था अतः अत्यंत महत्त्व की उपलब्धियाँ भी उनके लिये कोई मायने नहीं रख पायीं। यह समझकर सनत्कुमार अतीव

न मुख्यं प्रत्यगात्मत्वं यद्यपि प्राणवस्तुनः।
तथाऽप्यात्मप्रतिनिधिः सम्भवेदात्मलक्षकः।।१८।।

प्रसन्न हुए क्योंकि श्रेष्ठ विद्या का उत्तम पात्र पाकर गुरु को सन्तोष होता है कि इसे उपदेश देने से विद्या का सदुपयोग और परंपरा का संरक्षण हो जायेगा। किंतु अभी भी वे मुख्य आत्मा का उपदेश देने से बचते रहे! भूमि पूर्णतः तैयार न हो तो उसमें डाला बीज व्यर्थ जाता है। अतिसूक्ष्मतम आत्मवस्तु को ग्रहण कर सके ऐसा चित्त जब तक न मिले तब तक दिया आत्मोपदेश शिष्य में भ्रम पैदा कर सकता है; जब तक प्रत्यङ्मात्र समझ न आ जाये तब तक आत्माको ब्रह्म कहने पर उपाधिसंपर्क वाले को ही महान् मानना सहज होता है। अतः पदार्थ-शोधन हो चुकने पर ही महावाक्य का उपदेश मिलना चाहिये। इसी उद्देश्य से प्राण का उल्लेख किया, जीव की निकटतम उपाधि प्राण है। इन्द्र ने भी 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' कहकर परमार्थ वस्तु समझायी थी। प्राण रहते शरीर में आत्मा है, प्राण नहीं तो आत्मा नहीं ऐसा लोकव्यवहार आत्मा-प्राण का घनिष्ठ संबंध द्योतित करता है। प्राण पर दृष्टि टिकने पर आत्मा दीख जायेगा तब उसकी व्यापकता समझायी जा सकेगी यह सनत्कुमार का भाव था।।१७।।

सीधे ही आत्मा को न बताकर प्राण का कथन क्यों किया इसे स्पष्ट करते हैं

यद्यपि प्राण-नामक वस्तु को मुख्यवृत्ति से प्रत्यगात्मा नहीं कहा जा सकता तथापि आत्माका प्रतिनिधि होने से वह आत्मा को लक्षित करने का उपाय बन जाता है।।१८।। मुख्य अर्थात् बिना निमित्तादि विशेष के शब्द के निरुपाधिक अर्थ के रूप में जो प्रसिद्ध हो; प्रत्यगात्मा का ऐसा अर्थ प्राण नहीं है क्योंकि प्राण भौतिक, जन्य वस्तु है जबकि आत्मा चेतन है। फिर भी आत्मा का प्रतिनिधि तो प्राण ही है। प्राण जब शरीर में मिले तब बिना संदेह समझा जाता है कि आत्मा है। इसीलिये आत्मा को लक्षित अर्थात् समझने के लिये प्राण उपाय बन जाता है जैसे घर को समझने के लिए कौवा उपाय बन जाता है। स्वयं आत्मा न होने पर भी प्राण आत्मा का ज्ञान करा देता है। प्रत्यक् की ओर सिमटने पर उपाधियों में अंतिम आते हैं प्राण व मन। अतः प्राण में प्रत्यग्रूपता अवश्य है, आत्मता गौण है। प्राण से जीवात्माको समझकर उसकी भूमरूपता का पता लगाना है। जड होने पर भी आत्मज्ञान का उपाय होने से प्राण आत्मा कह दिया जाता है। लौकिक दृष्टि से भी शरीर में प्राण रहते सबको निश्चय होता है कि आत्मा है और प्राण निकल जाने पर प्रतीत होता है कि आत्मा नहीं है। आत्मा वस्तु व्यापक है फिर भी शरीर में उसका रहना तभी तक समझा जाता है जब तक शरीर में

कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि स्थिते स्थितः ।
इति वीक्ष्याऽसृजत् प्राणं परमात्मेति हि श्रुतिः । ।१६ । ।

प्राण-संचार है, यह प्राण की महत्ता का प्रबल प्रमाण है। अतः प्राण-द्वारा समझ में आने वाला आत्मा होगा जीव क्योंकि प्राणोपाधिक वही है, उसकी व्यापकता का पता लगाने के लिये प्राण से परे जाना पड़ेगा । ।१८ । ।

प्राण को आत्मा का प्रतिनिधि मानने का आधार श्रुति है। प्रश्नोपनिषत् में प्राणोत्पत्ति के प्रसंग में कहा है 'कस्मिन्नु अहम् उत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि, इति स प्राणम् असृजत्' (६.) अर्थात् आत्माने विचार किया किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा, किसके प्रतिष्ठित रहते मैं स्थित रहूँगा? तब ऐसी चीज़ बनाई जो प्राण है। इसलिये आत्मानुसंधान के क्रम में प्राण को महत्त्वपूर्ण स्थान है यह सूचित करते हैं **'किसके निकल जाने पर मैं निकला हुआ हो जाऊँगा, किसके स्थित रहते मैं स्थित रहूँगा'यह विचारकर परमात्मा ने प्राण की सृष्टि की क्योंकि श्रुति ने ऐसा बताया है (इसलिये प्राण परमात्मा का प्रतिनिधि है)। ।१६ । ।** व्यष्टि शरीरों में परमात्मा का प्रवेश व निर्गम प्राणोपाधिक है। व्यापक होने पर भी जीव-व्यवहार के योग्य उपलब्धि रहते आत्मा शरीर में स्थित समझा जाता है व वैसी उपलब्धि न होने पर वह निकल गया ऐसा माना जाता है। 'निकला हुआ होने' का मतलब यही है कि 'निकल गया' इस व्यवहार का विषय हो जाना। स्वयं व्यापक होने से आत्मा में गति, घुसना-निकलना संभव नहीं अतः ये व्यवहार उपाधिप्रयुक्त ही हो सकते हैं। इन व्यवहारों को संभव बनाने वाली उपाधि का ही नाम प्राण है। इसे बनाया परमात्मा ने अतः इस उपाधि से व्यवहार परमात्मा का होता है अर्थात् प्राण के रहने-न रहने से परमात्माका रहना-न रहना ही समझा जाता है किन्तु रहने-निकलकर जाने वाले परमात्माका ही नाम 'जीव' पड़ जाने से व्यवहार यह होता है कि 'जीव निकल गया' या 'अभी जीव मौजूद है'। जीव-ईश्वर की वास्तविक एकता होने से इस व्यवहार-भेद से अंतर नहीं पड़ता। प्राण की महत्ता से उसकी आत्मलक्षकता तो निश्चित है यह अभिप्राय है। ।१६ । ।

प्राणको आशासे महान् बताकर सनत्कुमार ने उसे उपपन्न करते हुए कहा है 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवम् अस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति, प्राणः प्राणं ददाति, प्राणाय ददाति, प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता, प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः।' (छां. ७.१५.१) जैसे चक्के की नाभिमें अरे (ताडियाँ) प्रतिष्ठित

चक्रस्यारा यथा नाभावाश्रिताश्चक्षुरादिकम् ।
आश्रितं निखिलं प्राणे ततस्तस्याऽऽत्मता भवेत् ।।२० ।।
अश्वेन याति पुरुषो दत्ते विप्राय गां पुमान् ।
प्राण एवाश्वादिशब्दैरुक्तो न तु शवः क्वचित् ।।२१ ।।
पितृमात्रादिशब्दैश्च प्राणः प्रोक्तः शवो न तु ।
तस्मात् सर्वात्मकः प्राणः परमात्मेति निश्चयः ।।२२ ।।

होते हैं ऐसे इस प्राण में सब स्थित हैं। प्राण स्वतंत्र है, अपनी ही शक्ति से गमनादि करता है। क्रिया-कारक-फल सभी प्राण ही हैं, प्राणसे बहिर्भूत नहीं। माता-पिता आदि सब प्राण ही हैं। इस श्रुतिभाग की व्याख्या करते हैं **चक्के (पहिये) की ताड़ियाँ जैसे नाभि में आश्रित होती हैं वैसे चक्षु आदि सभी कुछ प्राण में आश्रित है अतः प्राण की आत्मरूपता संगत है।।२०।। पुरुष घोड़े से यात्रा करता है, ब्राह्मण को गाय दान करता है; घोड़ा आदि शब्दों से प्राण ही कहा जाता है, मुर्दा इन शब्दों से कभी नहीं कहा जाता।।२१।। पिता, माता आदि शब्दों से भी प्राण ही कहा जाता है, न कि मुर्दा। इसलिये यह निःसंदिग्ध है कि सबका स्वरूपभूत प्राण परमात्मा है।।२२।।** रथ, बैलगाड़ी, या साइकिल के पहिये में स्पष्ट दीखता है कि ताड़ियाँ नाभि में स्थित रहती हैं, नाभि के घूमने से ही ताड़ियाँ घूमती हैं जिससे चक्का चलता है। इसी तरह मन-समेत सभी इंद्रियाँ प्राण पर आश्रित हैं। आँख फूटे तो आदमी मर नहीं जाता; कान, हाथ आदि इंद्रियाँ कार्यकारी न रहने से भी नहीं मरता, जो-जो इंद्रिय बेकार हो उससे अन्य इंद्रियाँ अपने कार्य करती रहती हैं व शरीर चलता रहता है; मन भी खराब हो जाये तो भी मृत्यु नहीं हो जाती; किंतु प्राण के निकलते ही शरीर मर जाता है, फिर कोई इंद्रिय नहीं बच पाती। जैसे दो-चार ताड़ियाँ टूटने से पहिया चलता रहता है पर नाभि टूटने पर बिलकुल नहीं चलता ऐसे प्राणके ही सहारे शरीर-इंद्रियों का व्यवहार चलता है। इससे प्राणको शरीर-इंद्रिय आदि का आत्मा समझना संगत है। व्यवहार प्राणाश्रित है यह इससे भी स्पष्ट है कि 'घोड़े पर चढ़कर जा रहा है' आदि कहने पर यह स्वयं समझ आता है कि घोड़े में प्राण हैं! मरे घोड़े पर चढ़कर कोई नहीं जाता। आज-कल तो मोटर आदि भी हवा पर चलती हैं क्योंकि चक्के में हवा भरी हो तभी गाड़ी चलती है, हवा निकल जाये तो नहीं चलती, अर्थात् गाड़ी हवा पर चलती है; ऐसे ही प्राण रहते ही घोड़ा चलता है अतः वह अपने प्राण पर ही चलता है। इसी प्रकार ज़िंदा गाय का ही दान होता है, मरी गाय का नहीं, अतः 'गोदान दिया' सुनकर स्वयं समझ आ जाता

अतिवादी

यो बुभुत्सुरसौ प्राणम् एवं पश्यन् गुरूक्तितः।
युक्त्या धिया च निश्चिन्वन्नतिवादीति कथ्यते।।२३।।
नामाद्याशान्ततत्त्वानि यः प्राणोऽतीत्य वर्तते।
तमात्मानं वक्ति यस्माद् अतिवादी भवेत् ततः।।२४।।
तर्काद् विप्लावकेभ्योऽयं निर्भीः सन् स्वातिवादिताम्।
अङ्गी कुर्यादेव यस्मात् सन्देहो नाऽत्र विद्यते।।२५।।

है कि गाय में प्राण हैं। इसलिये कहते घोड़ा, गाय आदि हैं पर मतलब प्राण से होता है। शव को इन शब्दों से नहीं कहा जाता। इससे सिद्ध हो जाता है कि घोड़े आदि का रूप धारण कर प्राण ही इनके व्यवहार संपन्न करता है अतः वही इनका आत्मा है। ऐसे ही पिता-माता आदि शब्द भी प्राण को विषय करते हैं। ज़िन्दा बाप को थोड़ी भी पीड़ा पहुँचाने से बहुत दोष है पर बाप के शव को तो कपाल फोड़कर जलाया जाता है! अतः प्राण वाला है तभी तक बाप है यह स्पष्ट होता है। घोड़े आदि लौकिक प्रयोग दृष्टांत हैं कि लोक में घोड़ा कहने पर प्राण को समझा जाता है; माता-पिता आदि शास्त्रीय प्रयोग के दृष्टान्त हैं कि जब शास्त्र आज्ञा देता है कि माता-पिता से ऐसा व्यवहार करना चाहिये तब माता आदि शब्दों से प्राण समझा जाता है। इस प्रकार, सबका आत्मा प्राण है यह स्पष्ट हो जाता है तथा सबका आत्मा ही परमात्मा कहा जाता है यह निश्चित बात है अतः प्राण ही परमात्मा का लक्षक सिद्ध होता है।।२०-२२।।

सनत्कुमार ने प्राणात्मताके अनुभव का फल अतिवादी होना बताया है 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति' (छां. ७.१५.४)। अतिवादी का अर्थ है नामसे आशापर्यन्त पदार्थों को लांघकर विद्यमान जो प्राण उसे ही आत्मा कहना। इसे समझाते हैं **जो आत्मजिज्ञासु गुरु के उपदेश से प्राण को उक्त प्रकार से आत्मा समझ लेता है, युक्तिपूर्वक बुद्धि से इस बात का निश्चय कर लेता है वह 'अतिवादी' कहलाता है।।२३।। नामसे प्रारंभ कर आशा पर्यन्त जो तत्त्व कहे थे उन्हें लाँघकर वर्तमान प्राण को ही आत्मा कहने से यह 'अतिवादी' होता है।।२४।। प्राणात्मताके निश्चय से विचलित कराने वाले तार्किकों के संमुख निर्भय होकर यह साधक अपनी अतिवादिता को अवश्य स्वीकारे क्योंकि उसे इस विषय में संदेह होता नहीं।।२५।।** साधक को सर्वप्रथम बुभुत्सु अर्थात् बोध पाने का इच्छुक बनना पड़ेगा तभी आत्मा का ज्ञान हो सकेगा। जब तक आत्मजिज्ञासा नहीं

उत्पन्न होगी तब तक अपने देवदत्तादि रूप को ही आत्मा समझकर जीव संतुष्ट रहेगा। सत्य को जानने की इच्छा होने पर उसे समझने के लिये गुरु के उपदेश का सहारा आवश्यक है जिसके बिना स्वमति से जीव इस रहस्य को अनावृत नहीं कर सकता। यह बोध युक्तिपूर्वक विचार से ही संभव है; केवल प्रमाण, युक्तिकी सहायता के बिना, आत्मा की वास्तविकता के ज्ञानमें प्रतिष्ठित कर सके यह दुर्लभ ही है। यहाँ प्राणको आत्मा सिद्ध करने में युक्ति स्पष्ट की कि प्राण-सम्बन्धसे ही चेतन-व्यवहार होता है, जहाँ प्राण है उसी को चेतन समझते हैं, निष्प्राण को जड मानते हैं। युक्ति भी जब तक साधक की बुद्धि में जँचे नहीं तब तक उसके उपयोग की नहीं हो पाती। सही होने पर भी कोई युक्ति किसी को नहीं ही जँचती, अतः उसे अन्य युक्ति का सहारा लेना पड़ेगा। इसलिये यहाँ युक्ति और बुद्धि को अलग-अलग कहा। जिसने जिज्ञासापूर्वक गुरु के कथनानुसार युक्तियाँ सोचकर बुद्धि में निर्णय कर लिया कि 'मैं प्राण ही हूँ', प्राण ही सबका आत्मा है, वह 'अतिवादी' हो जाता है। 'अति' अर्थात् लाँघकर होनेवाला जो प्राण उसीको आत्मा कहता है अतः अतिवादी है। अन्य चीज़ों को आत्मा कहने वालों की अपेक्षा यह ज़्यादा ठीक बोलने वाला है क्योंकि नाम से आशा तक की उपाधियों की अपेक्षा प्राण अधिक निकट की उपाधि है, इससे भी यह अतिवादी हो जाता है। आशा से नाम तक के तत्त्व प्राण पर आश्रित हैं, प्राण ही उन्हें सिद्ध करता है। प्राण ही उन-उन रूपों में प्रकट होकर उन विशेषताओं वाला बनता है। प्राण के विकार-रूपों की अपेक्षा मुख्य प्राण को ही आत्मा समझकर इस बात को आत्मविश्वास से कहना इस साधक की महत्ता है। साधारण जीव तो देहादिसंघात से अतिरिक्त ही आत्मा को कह नहीं पाता, उससे सूक्ष्म वे हैं जो नाम से आशा तक के किसी प्रतीक को आत्मा समझ पाते हैं और उनसे भी प्राणात्मवेत्ता सूक्ष्मतर मति वाला है। अतः वेद उसे अतिवादी कह रहा है। उसके लिये यह विधि भी कर रहा है कि शुष्क तर्क से प्राण की आत्मरूपता का खण्डन करने वालों के सामने हतप्रभ हुए बिना 'हाँ, मैं डंके की चोट घोषणा करता हूँ कि प्राण आत्मा है' यों डट जाना चाहिये। साधक को अपने निश्चय से डिगाने के लिये तार्किक हज़ार तर्क दें पर उसे श्रुतिबल पर भरोसा रख अपने निश्चय से च्युत नहीं होना चाहिये यह भाव है। 'तर्कात्' से सूचित किया कि जब सद्गुरु श्रुति के अनुसार प्राण से भी आगे ले चलने लगे तब हठपूर्वक प्राण में न अटका रहे। यह स्वीकारना कि केवल प्राण आत्मा है, तर्क से विचलित न होना, तभी संभव है जब साधना का परिपाक हो चुका हो। सिद्धावस्थ साधक साध्य से अभिन्न हो जाता है अतः प्राणरूप हुआ साधक अपनी प्राणात्मता के कथन में संकोच नहीं करता;

नामादीनामनात्मत्वं स्पष्टमित्यत्र नारदः।
असन्तुष्टोऽधिकं तत्त्वं पप्रच्छैव पुनः पुनः।।२६।।
प्राणात्मत्वं तु सम्भाव्यं सम्यक् तस्योपपादनात्।
शोकश्च सुप्तौ प्राणस्य न दृष्टोऽतस्तुतोष सः।।२७।।

अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्राणको 'मैं' कहना उस साधक के लिये वैसा ही है जैसे हम खुद को देवदत्त कहते हैं अतः उसे संकोच नहीं होता। विनयप्रदर्शन के लिये वह कभी इस बात से इनकार न करे इसलिये यहाँ श्रुति ने विधि कर दी कि अपनी अतिवादिता अवश्य कहे।।२३-५।।

अब तक हर प्रतीक से असंतुष्ट होकर नारद जी ' इससे बड़ा क्या है?' ऐसा पूछते रहे और सनत्कुमार अगले-अगले प्रतीकों का उपदेश देते रहे किंतु प्राण को सुनकर नारद जी चुप हो गये, आगे पूछा नहीं। इसमें क्या कारण है यह समझाते हैं **नाम से आशा पर्यन्त तत्त्व अनात्मा हैं यह बात बिना विशेष विचार के समझ आ जाती है अतः उन प्रतीकों को आत्मा मानकर सन्तुष्ट न हो सकने से नारद ने बार-बार अधिक महान् तत्त्व के बारे में पूछा।।२६।। लेकिन प्राण आत्मा है यह बात संभव लगती है, सनत्कुमार ने सही ढंग से उसे युक्तिसंगत भी कर दिया था अतः एकाएक संदेह नहीं उठा। किं च सुषुप्ति में प्राण को कोई शोक होता नहीं देखा जाता जिससे नारद समझ गये कि यही अशोक आत्मवस्तु है और सन्तुष्ट हो गये कि शोक-तरण के प्रश्न का उत्तर मिल गया अतः इससे आगे प्रश्न नहीं किया।।२७।।** नामादि को 'मैं' नहीं समझा जाता, 'मेरा' समझा जाता है अतः उन्हें आत्मा कहने पर सहज ही शंका होती है कि 'मैं नहीं समझे जाने वाले तत्त्व को आत्मा क्यों कहा?' यद्यपि प्राण भी 'मेरा' लगता है, 'मैं' नहीं, तथापि जिस तरह समझाया उससे प्रतीत हुआ कि गुरु प्राण को ही आत्मा कह रहे हैं। प्राण को सबके अंदर मौजूद बताया तथा उसके सहारे ही आत्मताका व्यवहार कहा जिससे लगता है कि वास्तव में प्राण ही आत्मा है, उसमें 'मेरा'पन भ्रम से है। नामसे आशा तक की चीज़ों की उपासना तो कही थी पर उन्हें सर्वरूप या व्यापक नहीं समझाया था, प्राण की व्यापकता कहने से लगता है कि उसे आत्मा कहना इष्ट है क्योंकि आत्मा ही व्यापक वस्तु है। इतना ही नहीं, स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के बिना जब अकेला प्राण वर्तमान होता है उस सुषुप्ति अवस्था में कोई शोक नहीं होता जिससे स्पष्ट है कि प्राण शोकरहित है। नारद की समस्या शोक ही थी, 'प्राण निःशोक है, वही आत्मा है'यह समझने से लगा कि समस्या का हल हो

प्राणाद् अधिकस्योपदेशः

श्रद्धालुं योग्यशिष्यं तम् उद्धरामीत्यसौ गुरुः ।
अपृष्टोऽप्यधिकं तत्त्वं स्वयमेवोपदिष्टवान् । ।२८ । ।

गया। इसीसे नारद संतुष्ट होकर और प्रश्न करने से विरत हो गये। नारदके इस सन्तोष के आधार पर प्राण ही चरम तत्त्व है यह संभावना उठाकर विस्तार से उसका खण्डन ब्रह्मसूत्र में भूमाधिकरण में (१.३.२.८) द्रष्टव्य है। ।२६-७ । ।

योगवासिष्ठ में (निर्वाण. पूर्वा. ६६.३) कहा है 'बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा हि साधवः' अर्थात् साधु क्योंकि कृपालु होते हैं इसलिये योग्य शिष्य को ज़बर्दस्ती भी बोध कराते हैं। इसी न्याय से भगवान् सनत्कुमार ने जब देखा कि नारद उत्तम साधक होने पर भी प्राणात्मता में अटक गया है तो उन्होंने अपनी तरफसे कहना प्रारंभ किया कि वास्तविक अतिवादी तो वह है जो सत्य से अतिवदन करता है! इस पर नारद ने कहा 'तो भगवन्! मैं भी सत्य से ही अतिवदन कैसे करूँ?' तब सत्य, विज्ञान, मति, श्रद्धा, निष्ठा, क्रिया, सुख बताते हुए भूमा का उपदेश दिया। यह प्रसंग समझाते हैं **'श्रद्धालु एवं विद्याप्राप्ति के लिये आवश्यक सब विशेषताओं वाले शिष्यका उद्धार कर ही दूँ' यह निश्चय कर गुरुश्रेष्ठ सनत्कुमार ने नारद द्वारा न पूछने पर भी उन्हें प्राण से अधिक जो शास्त्रप्रसिद्ध तत्त्व है उसका स्वयं अपनी ओर से ही उपदेश दिया। ।२८ । ।** अन्य योग्यता होने पर भी अश्रद्धालु उपदेश का पात्र नहीं होता अतः 'योग्य' के द्वारा सूचित होने पर भी गुरु-वेदांतवाक्यों पर अत्यन्त विश्वासरूप श्रद्धा का पृथक् उल्लेख किया। विषय जितना सूक्ष्म होता जाता है उतना ही वह तर्क का विषय कम बनता जाता है। अश्रद्धालु को युक्ति जँचे तब मान लेता है, न जँचे तो उस दिशा में मंथन ही नहीं कर पाता जबकि श्रद्धावान् बताई बात समझने के लिये बौद्धिक-मानस प्रयत्न में तब तक लगा रहता है जब तक तत्त्व का अधिगम न कर ले। श्रद्धा से अन्य योग्यताएँ सच्चरित्र, विवेकादि, अद्वेष्टृत्व-अमानित्वादि सभी समझनी चाहिये। नारद ऐसे उत्तम शिष्य थे पर प्राण से आगे की वस्तु के बारे में कल्पना नहीं कर पा रहे थे अतः उन्होंने तो नहीं पूछा लेकिन अतियोग्य गुरु होने से सनत्कुमार ने निर्णय किया कि नारद प्राण की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण परमार्थ व्यापक वस्तु पाने का अधिकारी है इसलिये खुद ही प्राण से श्रेष्ठ तत्त्व की सूचना देने लगे। सामान्य नियम है कि पूछे जाने पर ही बताना चाहिये। सहदेव अच्छे ज्योतिषी थे पर सबसे छोटे होने से अन्य पाण्डव उनसे कुछ पूछते नहीं थे तो वे भविष्य जानते हुए भी बताते नहीं थे! ज़बर्दस्ती अपना ज्ञान

आत्मोपलक्षकः प्राणो न त्वात्मैषोऽनृतत्वतः ।
नामरूपात्मकः प्राणो माययोत्पादितो ह्यसौ ।।२९।।
अनृतोऽप्येष सत्यस्य लक्षकः प्रतिबिम्बवत् ।
मुखस्य प्रतिबिम्बेन मुखं स्वस्योपलक्ष्यते ।।३०।।
आत्मेदम्बुद्धिगम्यैस्तैः आशान्तैर्नोपलक्ष्यते ।
प्राणोऽहम्बुद्धिगम्येषु स्थितत्वाद् आत्मलक्षकः ।।३१।।

दूसरे के गले उतारना सनातन धर्म की पद्धति नहीं है। सामान्य रीति यह होने पर भी सद्गुरु के लिये विशेष नियम है कि शिष्य की योग्यता के अनुसार उससे साधना कराये। जैसे बच्चे को गड्ढे में गिरने की ओर जाता देख कर माता-पिता इंतज़ार नहीं कर पाते कि वह पूछे तो उसे बतायें कि वह गिरने जा रहा है वरन् तत्काल दौड़कर उसे पकड़ लेते हैं, वैसे ही सद्गुरु भी शिष्य के लाभ के लिये पूछा न जाने पर भी उपदेश देते ही हैं। सनत्कुमार ने नारद में जिज्ञासा पैदा करने की दृष्टि से ही कहा कि 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येन अतिवदति' कि सत्य के निमित्त से ही वास्तविक अतिवादिता आती है। नारद प्राणात्मता से संतुष्ट न रहे यह गुरु का उद्देश्य था। बेहतर वस्तु उपलभ्य है यह पता चल जाने पर मनस्वी पुरुष अवश्य उसे पाने को उत्सुक होता है। अतः नारद ने पूछ ही लिया 'सोहं भगवः सत्येन अतिवदानीति' कि मैं सत्य से कैसे अतिवदन करूँ?।।२८।।

इसके उत्तर में सनत्कुमार ने सत्य की विजिज्ञासा करने को कहा। उस संदर्भ को सूचित करते हैं **बिना वास्तविक सम्बन्ध के ही आत्मा के बारे में ज्ञान करा देने वाली वस्तु प्राण है। क्योंकि यह मिथ्या है इसलिये यह स्वयं आत्मा नहीं है। मायासे पैदा किया होने के कारण प्राण नाम-रूप के स्वभाव वाला है (सच्चिदानंद-स्वभाव वाला नहीं)।।२९।। झूठा होने पर भी यह सत्य आत्मा को लखा देता है जैसे प्रतिबिंब : अपने मुखके प्रतिबिंब से जैसे अपना मुख स्पष्ट समझ लिया जाता है वैसे प्राणके सहारे आत्माका पता चल जाता है।।३०।। नाम से आशा-पर्यन्त सभी उपाधियाँ 'यह' इस ज्ञानका ही विषय रहती हैं अतः उनसे आत्मा वैसा नहीं समझा जा सकता जैसा प्राण से; क्योंकि वह 'मैं' समझी जाने वाली चीज़ों में से एक है इसलिये वह आत्मा का समीचीन ज्ञापक है।।३१।। इस विशेषता के कारण प्राणको आत्मा समझने से साधक अतिवादी हो तो जाता है किन्तु वैसा अतिवादी होना सर्वश्रेष्ठ नहीं है। सत्य आत्मा के**

अत एवातिवादित्वम् अस्ति प्राणात्मवेदनात्।
अमुख्यं तच्च मुख्यं तु भवेत् सत्यात्मवेदनात्।।३२।।

साक्षात्कार से ही सर्वोत्तम अतिवादी हुआ जा सकता है।।३२।। यद्यपि प्राण को आत्मा कहा था तथापि वह इसलिये कि वह आत्मा का ज्ञापक है, प्राणमात्रमें आत्मबुद्धि सिमट जाने के बाद वास्तविक आत्मा को जान पाना सरल हो जाता है। प्रारंभ में यदि कह दें कि 'प्राण है तो आत्मा नहीं फिर भी मान लो' तो साधक प्राणात्मता में दृढ नहीं हो पाता अतः पहले इतना ही कहना उचित था कि प्राण आत्मा है। जब नारद इस भूमिका पर आरूढ हो गये तब उन्हें और भीतर बढ़ने का कदम बताने के लिये सनत्कुमार का आयास है। यहाँ वे स्पष्ट कर रहे हैं कि आत्मा को लखाने वाला, ज्ञान कराने वाला होने से ही प्राण को आत्मा कहा था, वास्तविकता की दृष्टि से नहीं। दूर से धुँआ दीख जाये तो निश्चय होता है कि वहाँ आग है अतः कह देते हैं 'दीख रहा है कि वहाँ आग है' जबकि दीख केवल धुँआ रहा है। ऐसे ही प्राण को आत्मा कहना संगत है। स्वयं प्राण आत्मा नहीं वरन् मिथ्या अतः अनात्मा है। शरीरादि को जीवित रखना-यह प्राण का 'रूप' है और 'प्राण' यह नाम है; नाम-रूप वाले पदार्थ मिथ्या ही होते हैं। 'रूप' अर्थात् जिससे वस्तुका निरूपण होता है। प्राण का यही निरूपण है कि उसके कारण शरीर ज़िंदा है अतः यही उसका रूप है। साधारण लोग नाम-रूप वाले को सत्य और इनसे बिना वाले को असत्य मान लेते हैं लेकिन औपनिषद दृष्टि वाले जानते हैं कि नाम-रूप होना असत्य का लक्षण है। प्राण स्पष्ट ही ज्ञेय है, विषयतया अवगम्य है, दूसरे के प्राण का डाक्टर आदि को पता चलता ही है, स्वयं भी 'मेरा प्राण' यों अपने से अलग ही प्राण की प्रतीति होती है। यों अनात्मा प्रतीत होने वाली चीज़ें मिथ्या होती ही हैं। प्राण के बारे में वेद में कहा है कि वह परमात्मा से पैदा हुआ; पैदा हुआ अर्थात् पहले नहीं था और अब है; यही मिथ्या का लक्षण है! जो नहीं है वह हमेशा 'नहीं है' रहेगा, जो है वह हमेशा 'है' रहेगा, जो कभी 'नहीं है' और कभी 'है' वह मिथ्या होता है। परमात्मा की माया-नामक शक्ति से उत्पन्न प्राण नाम-रूप वाला, दृश्य अतः मिथ्या ही निश्चित होता है। तथापि सत्य जो आत्मा उसके ज्ञान का निमित्त प्राण बन जाता है। आत्मा सत्य है पर दृश्य नहीं, दीख सकता है प्राण और उसी से पता चल जाता है आत्मा का। झूठी चीज़ सत्य का ज्ञान करा सकती है इसमें सर्वानुभवसिद्ध दृष्टांत प्रतिबिम्ब का है। प्रतिबिंब झूठी वस्तु है परन्तु सत्य जो मुँह उसका सही ज्ञान करा देता है। अतः झूठा होने पर भी सत्य आत्मा का ज्ञान प्राण कराये तो कोई आश्चर्य नहीं। अन्य उपाधियों से प्राण की यही विशेषता है, बाकी प्रतीकों

की अपेक्षा प्राण आत्मा की अतिनिकटतम उपाधि है, अतः आत्मा को लखायेगा ही। हिलते हुए, गंदे और साफ़ काँचों में प्रतिबिंब तो पड़ते हैं लेकिन स्थिर साफ काँच में पड़ा प्रतिबिंब ही बिंब का सही ज्ञान कराता है। ऐसे ही अन्य प्रतीकों में भी परमात्मोपासना हो तो सकती है लेकिन प्राण को प्रतीक बनाकर उपासना करने से आत्मा की सबसे साफ समझ आती है। नामसे प्रारंभकर आशा तक जो उपाधियाँ बतायीं वे सब 'मैं' के बजाये 'यह' लगती हैं अतः वास्तविक 'मैं' जो आत्मा उसका समुचित ज्ञान नहीं करा पातीं। आत्माको 'मैं' समझना है, यदि उपाधि 'मैं' नहीं लगेगी तो उसके माध्यम से समझने पर आत्मा भी 'मैं' कैसे लगेगा? इसलिये उपाधि भी 'मैं' लगने वाली चुनी जाये तो उससे समझने पर आत्मा स्वतः 'मैं' ही लगेगा। यद्यपि पूर्व में कहा था कि आत्मा दृश्य है तथापि उसके साथ घनिष्ठ तादात्म्य होने से उसमें 'मैं'-बुद्धि रहती है। अत एव प्राण निकलने पर लगता है कि मैं ही शरीर छोड़ रहा हूँ। अन्य सभी चीज़ें छोड़ देते हैं प्राण बचाने के लिये, इससे सिद्ध होता है कि प्राण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अतिशय प्रिय अतः आत्मा है। मैं-बुद्धि से ग्रहण किये जाने वाले शरीरादि अनेक पदार्थ हैं पर उनमें प्राण प्रधान है जिससे आत्मज्ञान के लिये वह श्रेष्ठ प्रतीक है। इस श्रेष्ठता के कारण ही प्राण को आत्मा समझना भी 'अति'-उत्तम है जिसके कारण उसे ही आत्मा कहना 'अतिवादिता' बतायी। है वह प्राणवादिता लेकिन प्राण भी अन्य उपाधियों से बहुत ज़्यादा बेहतर है इसलिये उसे अतिवादिता कह दिया। तथापि वस्तुदृष्ट्या प्राण आत्मा है तो नहीं, अतः वह अतिवादिता भी मुख्य नहीं गौण है। जैसे प्रधानमंत्री को राजा कहना गौण है वैसे प्राणज्ञान से अतिवादिता भी गौण है। अन्य कर्मचारियों की अपेक्षा प्रधानमंत्री सर्वश्रेष्ठ है ऐसे ही अन्य प्रतीकों की अपेक्षा प्राण प्रतीक सर्वश्रेष्ठ है फिर भी तन्निमित्तक अतिवादिता है गौण ही। वास्तविक अतिवादी वही है जो सत्य आत्मा को ही आत्मा समझता है, अनात्मा से जिसकी आत्मबुद्धि हट चुकी है। सनत्कुमार ने यह सूचना देकर नारद को विचलित कर दिया क्योंकि उन्हें प्रेरणा मिली कि 'मैं वास्तविक अतिवादी ही बनूँ' ।।२६-३२।।

उन्नति की संभावना भी जब तक समाप्त न हो जाये तब तक प्रयास-तत्पर होना साधक का कार्य है। नारद को जैसे ही पता चला कि वे अभी और महान् हो सकते हैं वैसे ही वे उसके उपाय के अनुष्ठान के लिये उद्यत हुए और सनत्कुमार ने उन्हें प्राण से आगे जाने की साधना का क्रम बताना प्रारंभ किया **सद्गुरु की अत्यधिक करुणा अनुभव कर अपने सौभाग्य से प्रसन्न हुए नारद ने कहा 'हे गुरो! झूठी वस्तु को**

कारुण्यातिशयं दृष्ट्वा सन्तुष्टो नारदोऽब्रवीत्।
सत्येनैवातिवादी स्याम् अनृतस्यात्मतां त्यजन्।।३३।।
विचारणीयं तत् सत्यं विज्ञान-मननादिभिः।
ध्यानवद् नोक्तिमात्रेण बुद्ध्येतेत्यब्रवीद् गुरुः।।३४।।

आत्मा समझना छोड़कर सत्य से ही मैं अतिवादी बनने को उत्सुक हूँ।।३३।। सनत्कुमार ने उत्तर दियाविज्ञान-मनन आदि द्वारा उस सत्य का विचार करना चाहिये। सिर्फ बता देने से जैसे अब तक ध्यान कर सके थे वैसे मैंने कह दिया इतने भर से सत्य नहीं समझ सकोगे, उसके लिये विज्ञानादि आवश्यक हैं।।३४।। पूछने पर बताना भी गुरु की करुणा का द्योतक है क्योंकि स्वयं कृतार्थ होने से ऐसा कोई बंधन नहीं कि वह बताये ही, और बिना पूछे बताना करुणा के अतिशय का सूचक है। करुणा की अधिकता हो तब अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी दूसरे के दुःख को दूर करने में प्रवृत्ति होती है। सनत्कुमार के प्रयास से नारद समझ गये कि वे करुणा से पूर्ण हैं; यही शिष्य का सर्वोत्तम सौभाग्य है कि गुरु उस पर करुणा कर उसका कल्याण करने को उत्सुक हो जाये अतः नारद सन्तोष का अनुभव करने लगे कि अब आगे की साधना गुरु के सहारे से सरल हो जायेगी। नारद ने निवेदन किया 'यदि प्राणनिमित्तक अतिवादिता गौण है तो मैं इसे छोड़कर मुख्य अतिवादी बनना चाहता हूँ। सत्य के ही बल से, सत्य जो आत्मा उसके ज्ञान से ही मैं अतिवादी बन सकूँ वह उपाय बताइये। प्राण को सत्य मानकर ही मैं प्राणात्मवादी बना, यदि प्राण असत्य है तो मैं उसमें आत्ममति छोड़ता हूँ। अब तक जिसे तुच्छ समझा उस सबको छोड़ता रहा हूँ तो प्राण भी परम महान् नहीं अतः छोड़ने लायक है। जो परम सत्य है वह बताइये, उसीको आत्मा समझकर अतिवादी बनूँ, शोक से परे हो जाऊँ यह मेरी इच्छा है।' सनत्कुमार ने समझाया कि परम सत्य विचारपूर्वक समझा जा सकता है। ध्यान तो केवल उपदेशानुसार हो सकते हैं लेकिन सत्यका अनुभव बिना विचार के संभव नहीं। नाम से आशा तक गुरु जैसा कहते गये नारद वैसी उपासना करते गये पर सत्य के विज्ञान के लिये केवल गुरूपदेश पर्याप्त नहीं, नारद को स्वयं मननादि करना होगा। उज्ज्वल वैराग्य से उपाधिमात्र के परित्याग को तैयार रहने से ही परमार्थ ज्ञान हो पायेगा। 'सह वीर्यं करवावहै' से यही संकल्प किया जाता है कि श्रवणादि कराने का काम गुरु करें और उन्हें करने का काम शिष्य करे तभी अध्ययन तेजस्वी होकर द्वेषादि के मूल अज्ञान को जला डालेगा।

उपनिषत् में विज्ञान और मति को क्रमशः बताया हैः 'यदा वै विजानाति अथ सत्यं

संशयं च विपर्यासं निराकृत्य विशेषतः ।
यदा जानाति विज्ञानात् सत्यवादी भवेत् तदा ।।३५ ।।

वदति...विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ।।७.१७ ।। यदा वै मनुतेऽथ विजानाति...' ।।७.१८ ।। सनत्कुमार ने पहले कहा कि साधक सत्य तभी बोल सकता है जब सत्य को परमार्थतः समझ ले। मिथ्या विकारों को छोड़कर उनमें अनुगत जो परमार्थ सत्य उसे समझे बिना उसका कथन संभव नहीं। अज्ञानी जब अग्नि, जल आदि कहता है तो वह अग्नि आदि रूपसे ही उन्हें वास्तविक समझकर कहता है, पूर्वाध्यायोक्त लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपों से अतिरिक्त अग्नि आदि नहीं है इस सत्य को जानकर नहीं कहता अतः उसे सत्यवादी नहीं कह सकते। लोहितादिरूप भी जिस सत् पर कल्पित हैं उसे जाने बिना कोई सत्यवादी हो ही नहीं सकता। नारद ने पूछा 'विज्ञान कैसे हो?' तो गुरु ने कहा मति अर्थात् तर्कपूर्वक मनन करने से विज्ञान होगा। इन दोनों पर्यायों को श्लोक ३४ में एकत्र कर लिया है। बृहदारण्यक में भी आत्मविज्ञान के साधन श्रवण-मनन-निदिध्यासन कहे हैं। श्रवण के दो अंग हैं, उपनिषत् क्या कहती है यह गुरु बतायेगा, यह एक अंग है; जो तात्पर्य गुरु ने समझाया वही उपनिषत् का वास्तविक तात्पर्य है यह निश्चय शिष्य करेगा, यह दूसरा अंग है। ऐसे ही तर्क, उपपत्ति आदि बता गुरु देगा लेकिन उनसे प्रमेय का निश्चय शिष्य को करना पड़ेगा। यज्ञ, पूजा योग आदि क्रियोपदेश जैसे तभी सफल होता है जब तदनुसार क्रिया का अनुष्ठान साधक करे वैसे ज्ञानोपदेश भी सफल होने के लिये शिष्य के विचारादि प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। साधक को जो शंका उठे उसके निराकरण-पर्यन्त विचार करना उसकी साधना है। जब तक यह स्थिति न आ जाये कि शंका उठ ही नहीं सकती तब तक शिष्य विचार करता ही रहे। 'विज्ञान-मनन-आदिभिः' के 'आदि' से वैराग्य समझना चाहिये क्योंकि अनात्मपरित्याग में रुकावट राग ही डालता है।।३३-४ ।।

'वि-ज्ञान' का अर्थ बताते हैं **संदेह और विपरीत निश्चय हटाकर जब साधक सत्य का खास ज्ञान पाता है, जिसे विज्ञान कहते हैं, तब उस विज्ञान के कारण वह मुख्य सत्यवादी बन जाता है।।३५ ।।** श्रवण से ज्ञात वस्तु के बारे में 'ऐसा हो नहीं सकता। क्या ऐसा है या नहीं'यह संशय, संदेह होता है। शास्त्र ने कह दिया कि नाम-रूपके व्याकरण से पूर्व एकमात्र सत् था, वही संसार के रूप में बना; संशय होता है कि एक निर्विशेष निर्विकार तत्त्व से यह विचित्र प्रपंच बन नहीं सकता अतः शास्त्र ने जैसा कहा क्या वैसा ही था, या और कुछ था? गुरु व वेद के महत्त्व से

एकाएक यह तो नहीं लगता कि बात ग़लत है लेकिन वही एकमात्र सत्य है यह भी प्रतीत नहीं होता, वर्तमान अनुभव पर आधारित युक्तियों के विरोध से शास्त्रोक्त बात ही सच्ची है यह निश्चय नहीं हो पाता। संशय में अनेक कोटियाँ उपस्थित हो जाती हैं ऐसा है या वैसा है या और ही किसी तरह का है आदि। नैयायिक तो भाव-अभाव दो प्रकार अर्थात् कोटियाँ उपस्थित हों तो संशय कहते हैं, जो ग़लत नहीं है; लेकिन दो ही कोटियाँ आवश्यक नहीं और अभावकोटि भी ज़रूरी नहीं यह अन्य लोग मानते हैं। परमार्थ सत्य के बारे में भी अपने-अपने संस्कारों के अनुसार साधकों को संशय उठ जाते हैं। साध ान के बारे में भी संशय हो जाते हैं; एकमात्र ज्ञान सत्यप्राप्ति का साधन है लेकिन संसार की प्रतीति के कारण लगता है कि शायद और कोई साधन हो। प्रपंच-मिथ्यात्व के बल पर ही सर्वथा ब्रह्मसंस्थ होना-रूप साधना संभव है। कभी-कभी संसार की तरफ दृष्टि चली जाने से लगता है 'धर्मपालन की स्थिति खराब हो रही है, इसके लिये कुछ करना चाहिये;' यदि यह विचार न उठ पाये कि 'सुषुप्ति में सारा संसार रोज़ लुप्त होता है, इसके बारे में क्या चिंता करें!' तो साधक बहिर्मुख हो सकता है। मिथ्यात्व के बारे में थोड़ा भी संशय रह गया तो ऐसी ग़लती संभव है। अतः संशय को बड़ा दुश्मन समझकर इसे पूर्णतः नष्ट कर देना ही उचित है। सत्य नित्य ही होता है, यत्न-साध्य अनित्य ही होगा व अनित्य मिथ्या होता है। संसार में जो भी किया जाये वह मिथ्या है अतः सत्य-प्राप्ति के इच्छुक के लिये उसका कोई मूल्य नहीं यह असंदिग्ध होने पर ही समग्रता से आत्म-साधना की जा सकती है। संसार का वैचित्र्य देखकर, दुष्ट राक्षस असुर आदि देखकर चित्त विचलित होता है, ब्रह्मदृष्टि स्थिर नहीं होती वरन् उलटी बुद्धि हो जाती है कि भेद ही सच है, शास्त्रोक्त अभेद सच नहीं है। यह विपरीत निश्चय विपर्यय, विपर्यास, विपरीतभावना, विप्रतिपत्ति आदि शब्दों से कहा जाता है। इसे दूर करना निदिध्यासन से संभव है। बहिर्दृष्टि छोड़कर पुनः पुनः शास्त्रजन्म आत्मदृष्टि करते-करते जब उसका संस्कार अतिदृढ हो जाता है तब भेद प्रतीत होने पर भी सत्य नहीं लगता। मनन-निदिध्यासन से संशय-विपर्यय दूर हो जाने पर श्रवण से हुआ ज्ञान ही विशेष ज्ञान या विज्ञान बन जाता है जो अविद्या मिटाने में सक्षम होता है। ब्रह्म में सामान्य-विशेष का अंतर नहीं कि पहले सामान्यांश का ज्ञान हो और बाद में विशेषांश का, संशय-विपर्यय से ग्रस्त को ही सामान्य और इनके मिट जाने पर उसी ज्ञानको विशेष कहते हैं। विज्ञान में ब्रह्म के बारे में पूर्ण स्पष्टता होती है। इसीसे साधक सचमुच का अतिवादी होता है।।३५।।

विज्ञानहेतुर्मननम् अन्वयव्यतिरेकभाक्।
श्रद्धा मननहेतुः स्याद् आगमाचार्यवाक्ययोः।।३६।।

विज्ञान कैसे हो? इसका उत्तर देते हैं **विज्ञानमें कारण है मनन जिसका स्वरूप है अन्वय और व्यतिरेक। मनन में कारण शास्त्र-आचार्य के वचनों पर श्रद्धा है।।३६।।** अन्वय अर्थात् अनुगत को पहचानना और व्यतिरेक अर्थात् व्यावृत्तों को समझना। माला के मणकों में धागे की तरह नाम-रूपात्मक संसार की सब चीज़ों में एक जैसा पिरोया हुआ सच्चिदानंद ब्रह्म है यह समझना अन्वय है। चीज़ें आपस में विभिन्न हैं पर परमात्मा सबमें एक समान है। सभी चीज़ें 'हैं', ज्ञान से संबद्ध हैं और प्रिय हैं, इस तरह सच्चिदानंद परमात्मा सबमें अनुगत है। चीज़ें बदलती रहती हैं, कभी हैं तो कभी नहीं हैं अतः सभी चीज़ें व्यावृत्त हैं। सत्‌से नाम-रूप का व्यतिरेक है, नाम-रूपमें सत् का अनुगम है यह जागरूकतापूर्वक निश्चय करना मनन है। इसके लिये सावधानी चाहिये; घंटा-दो घंटा बैठकर की जाने वाली यह साधना नहीं वरन् प्रत्येक व्यवहार में इसे करते रहना पड़ता है तब संशय-विपर्यय मिटते हैं। जाग्रत् में ही नहीं, स्वप्न तक में यही विश्लेषण करना चलता रहे, हर अनुभव में अनुगत परमात्मा को देखें और नाम-रूप व्यावृत्त, आगमापायी अतः मिथ्या है यह देखें तब धीरे-धीरे विज्ञान हो पाता है। इस अभ्यासी को व्यवहार छोड़ना पड़ता तो नहीं लेकिन व्यवहार के लिये जो पटुता आवश्यक है वह इसमें न रह जाने से यह व्यवहार के लिये अनुपयोगी हो जाता है। नाम-रूप को ही महत्त्व देने से व्यवहार-कुशलता आती है, उन्हें उपेक्षित करने से कुशलता समाप्त हो जाती है तो व्यवहार स्वयमेव छूटता जाता है। वेदांत-साधना का यही रहस्य है कि साधक विवेकाभ्यास पर ही केंद्रित रहे तो शनैःशनैः नैष्कर्म्य तक पहुँच ही जाता है।

नारद जी ने पूछा कि मति कैसे हो? तो सनत्कुमार ने बताया 'यदा वै श्रद्दधाति अथ मनुते' (७.१९) कि जब श्रद्धा करे तभी मनन कर पाता है। मन्तव्य को जितना आदर देंगे, उसे जितना महत्त्वपूर्ण समझेंगे उतना ही उसका चिंतन करेंगे। उपनिषत् और गुरु द्वारा बतायी होने से अभेद की बात ही सत्य है ऐसा निश्चय हो तभी व्यक्ति आपात प्रतीतियों का विरोध होने पर भी अभेद के पक्ष में युक्ति-अनुसंधान कर पायेगा। शास्त्र के तो खींच-तानकर अर्थ करने वाले भी मिल जाते हैं इसलिये सांप्रदायिक आचार्य के वाक्य पर भी श्रद्धा चाहिये कि शास्त्र का जो तात्पर्य इन्होंने कहा वही ठीक है, वही शास्त्र का अभिप्राय है। दवा आदि सामान्य चीज़ें भी श्रद्धा होने पर ही सेवन की जा सकती हैं तो शास्त्र के अर्थ पर श्रद्धा के बिना शास्त्रोक्त साधना नहीं की जा सकती इसमें क्या

श्रद्धायाः कारणं निष्ठा सदा शुश्रूषणं हि सा।
चित्तैकाग्र्यकृतिर्याऽसौ निष्ठायाः कारणं भवेत्।।३७।।

कहना! श्रद्धालु तो उपदेश को उपपन्न करने के लिये तर्क का प्रयोग करता है, अश्रद्धा रहेगी तो उसे काटने के लिये युक्तियाँ खोजने का क्रम चल पड़ेगा। तर्क दुधारी तलवार जैसा होता है, सभी पक्षों को पुष्ट कर सकता है। अतः अकेले तर्क से कोई तथ्य निर्णीत नहीं हो सकता। इसीसे इसे 'अप्रतिष्ठ' कहते हैं, इसकी स्थिरता नहीं। आज के सारे तार्किक मिलकर कोई निर्णय कर भी लें तो कल आने वाले तार्किक उसे काट देंगे! केवल तर्क से कोई सिद्धांत स्थापित नहीं होता। इसलिये श्रद्धा से प्रेरित तर्क ही विज्ञान करा पाता है। सत्य का निर्धारण तर्क से नहीं, निर्धारित सत्य की सत्यता का पोषण तर्क से होता है। इसलिये मननका हेतु श्रद्धा को बताया।।३६।।

श्रद्धाप्राप्ति का उपाय सनत्कुमार ने निष्ठा को और उसका उपाय कृति को कहा है 'यदा वै निस्तिष्ठति अथ श्रद्दधाति।।७.२०।। यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति...' ।।७.२१।। भाष्य में ब्रह्मविज्ञानके प्रयोजन से गुरुसेवादि में तत्पर होना निष्ठा बताया है और इंद्रियाँ संयतकर चित्तको एकाग्र करना कृति बताया है। इसी संदर्भ को समझाते हैं **श्रद्धा का कारण है निष्ठा, हमेशा शुश्रूषा करना ही निष्ठा का स्वरूप है। चित्त की एकाग्रता के लिये प्रयत्नरूप जो कृति है वह निष्ठा का कारण बनती है।।३७।।** 'शुश्रूषा' - शब्द रूढ तो है सेवामें और व्याकरण-अनुसार इसका अर्थ है सुनने की इच्छा; यहाँ दोनों अर्थों का संग्रह समझना चाहिये। सुनना अर्थात् ध्यान देकर समझना, फिर उस पर अमल करना। गुरु की व शास्त्र की बातें सावधानी से समझकर उन्हें जीवन में लाने को शुश्रूषा कहते हैं। मन हमेशा कुछ-न-कुछ सोचता रहता है, यदि शास्त्र की बातें नहीं सोचेगा तो दुनियादारी की बातें सोचता रहेगा अतः साधक को चाहिये कि परमात्मचिंतन में ही मन लगाये रखे। बार-बार विचार दुहराने से संस्कार दृढ हो जाने पर निष्ठा होती है। बिना निष्ठा के यदि विपरीत बात युक्तियों से सजाकर कोई सुना दे तो व्यक्ति अपने निश्चय से डिग जाता है। निष्ठा वाले पर दूसरों की बात का असर नहीं पड़ता। संसार मिथ्या है अतः ज्ञानसे ही मोक्ष होगा यह निष्ठा हो गयी तब तो साधक ज्ञानप्राप्ति में ही लगा रहेगा और यदि निष्ठा नहीं हुई तो किसी ने साधनांतर सुझा दिये तो उन्हें भी आजमाने लग जायेगा व एकपरता छोड़ बैठेगा। इसलिये, गुरु जो शास्त्रका अर्थ समझाये उसीको बारंबार सुनने की उत्सुकता होनी आवश्यक है। शुश्रूषा का अर्थ सेवा भी है, गुरु की सेवा करते रहने से ही उसका सान्निध्य मिलेगा जिससे उसका उपदेश

सुनने का अधिकाधिक मौका मिलेगा, प्रश्नादि करने का भी अधिक अवसर प्राप्त होगा। गुरु की निजी स्थिति समझना भी तभी संभव है जब हर परिस्थिति में गुरु को, उसके व्यवहारों को ध्यान से देखे, और जब विषम परिस्थितियों में भी उसे विचलित नहीं पाता तब शिष्य की श्रद्धा पुष्ट होती है कि गुरु ब्रह्मनिष्ठ, स्थितप्रज्ञ है। कथनी-करनी की समानता का अनुभव होने पर गुरु की बात पर अत्यंत विश्वास हो पाता है; अन्यथा विश्वास आत्यंतिक नहीं हो पाता। सेवा करते हुए साथ बने रहने से ही मन-कर्म-वचन की एकरूपता का पता शिष्य को लग सकता है। अतः निष्ठा को श्रद्धाहेतु कहना सुसंगत है। बिना इस निष्ठा के किसी व्यक्ति या ग्रंथ पर अंधविश्वास तो हो सकता है, श्रद्धा नहीं होगी। श्रद्धा तभी होगी जब व्यक्ति या ग्रंथ को अच्छी तरह समझ कर निश्चय कर लिया हो कि वह समीचीन ही है।

निष्ठा की प्राप्ति चित्त से बतायी। इंद्रियों की विशृंखल प्रवृत्तियाँ नियंत्रित हों और मनको एकाग्र किया जा सके तभी निष्ठा, शुश्रूषा, सेवा होगी। सेवा कठिन धर्म बताया गया है, इसके लिये अपने व्यक्तित्व को नगण्य बनाने को तैयार रहना पड़ता है। जो स्वयं भोगेच्छुक होगा या मन ही मन अनर्गल विषय सोचता रहेगा वह सेवा नहीं कर पायेगा। बहुत ज़्यादा पढ़ डालने की कामना भी साधक को विक्षेप ही पहुँचाती है, श्रुति ने इसीलिये बहुत्व-प्रतिपादक शब्दों के ध्यान का निषेध किया है। तीर्थाटनादि धर्म-कार्यों में आसक्ति भी निष्ठाविरोधी है। श्रुति ने 'कृति' शब्द का प्रयोग किया। करना, जो किया जाये वह कृति होती है अतः एकाग्रतादि करने से निष्ठा बनेगी, केवल इन्हें समझ लेने से लाभ नहीं होगा। क्रिया के लिये चेष्टा को भी कृति कहते हैं; जब क्रिया व्यक्त नहीं हो रही तब भी उसके लिये चेष्टारूप मानस यत्न बनाये रखना यहाँ कृति से सूचित है। अर्थात् जब तक हो सके तब तक एकाग्रता लाने की क्रिया करे और बाकी समय यह प्रयास करता रहे कि एकाग्रता लायी जा सके। अपनी जीवन-चर्या आदि ऐसी बनानी चाहिये कि अधिकाधिक संभावना एकाग्रता की बने, बहिर्मुखता के अवसरों को न्यूनतम रखना चाहिये; इस सब व्यवस्था को करना एकाग्रता के प्रति चेष्टा समझना चाहिये। अन्तर्मुखता आये बिना ज्ञानोपयोगी एकाग्रता असंभव है, अनात्मविषयों की जानकारी के लिये उपयोगी एकाग्रता भले ही आये।।३७।।

'कृति' की प्राप्ति का हेतु बताते हुए सनत्कुमार ने 'यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति' (७.२२) कहा कि सुख मिलने पर ही व्यक्ति कुछ करता है। 'मिलने पर' अर्थात् मिलने की निश्चित आशा होने पर। यदि साधन करते समय भी कुछ सुख मिलने लगे तब तो

सुखमस्तीतिधीर्मुक्तौ कृतेस्तस्याः प्रयोजिका।
तद्विहीनो यमाद्यैर्नो चित्तैकाग्र्यं करोति हि।।३८।।

और भी ज़्यादा उत्साह से कृति होती है। 'लभते' से भविष्य में मिलने वाले सुखका ग्रहण भाष्य में कहा है 'भविष्यदपि फलं 'लब्ध्वा' इत्युच्यते'। अध्यात्म-प्रसंग होने से यहाँ सुख वैषयिक नहीं वरन् नित्य आत्मवस्तु का स्वरूपभूत सुख विवक्षित है जो विवेक-वैराग्य संपन्न को ही समझ आता है। इस तात्पर्य को समझाते हैं **मोक्षदशा में असीम सुख है यह निश्चय निष्ठाहेतुभूत कृति के प्रति कारण बनता है क्योंकि जिसे वह निश्चय नहीं है वह यम-नियम आदि साधनों द्वारा चित्तको एकाग्र नहीं करता।।३८।।** सभी चेष्टाओं में प्रेरित करने वाली है सुखेच्छा। यदि मोक्ष में सुख है यह निश्चय न हो तो विचारशील उस ओर प्रवृत्त ही क्यों होगा! तार्किकादि सुखहीन मोक्ष मानते हैं अत एव उन्हें मोक्षाधिकारी ही नहीं मिल पाते क्योंकि सुखराहित्य की अपेक्षा स्वल्प सुख भोगना ही सबको बेहतर लगता है। असीम सुख की आशा से ही साधक अथक यत्न करेगा। किं च ज्ञानसाधना भोजन करने की तरह है अर्थात् जितनी साधना होती है उतना आनंद मिलता जाता है जैसे हर कौर खाने से कुछ-न-कुछ भूख मिटती जाती है। श्रवणादि भी साधनसंपन्न साधक करता है तो उसको आनंद आने लगता है जिससे वह और ज़्यादा एकाग्र होकर श्रवणादि करता है। उप-निषद् इस शब्द का ही अर्थ बताते हुए कहा है कि यह उस ज्ञान का नाम है जो पहले बंधन ढीला करता है फिर आत्मज्ञान देता है और अंत में समग्र दुःख को समाप्त कर देता है। ढीला होना अर्थात् पहले संसार में जितना सुख लगता था उतना न लगने से संसार का आकर्षण कम होना। श्रवण से पूर्व तो संसार ही सत्य लगने से बंधन कसा रहता है, श्रवण से निश्चय हो जाता है कि है तो संसार क्षणिक, मिथ्या अतः सांसारिक सुख-दुःख में वह निमग्न नहीं हो पाता, सुख से स्वयं को धन्य व दुःख से स्वयं को बर्बाद हुआ नहीं समझ पाता क्योंकि श्रवणजन्य ज्ञान उपस्थित होता है कि वैषयिक सुख-दुःख मिथ्या हैं। ईमानदारी से, विवेकादिके अभ्यासपूर्वक जो साधक श्रवण कर लेता है उसे परमात्मसाक्षात्कार तत्काल न भी हो पर संसारमें पूर्ववत् मज़ा नहीं ही आता। संस्कारवश सांसारिक चेष्टाएँ कर लेने पर भी बार-बार ख्याल आता है कि 'समय व्यर्थ खो रहा हूँ, परमात्म-चिंतन ही करूँ तो बेहतर है'। अतः श्रवणादिमें लगे-लगे यदि बिना तत्त्वनिष्ठाके मर भी जाये तो ब्रह्मलोक जाकर ज्ञान पा लेता है या योगिकुल में पैदा होकर पूर्वाभ्यासानुसार साधना में प्रगति कर लेता है। और यदि तत्त्वनिष्ठा पा ही गया तो यहाँ जीवन्मुक्ति का अलौकिक आनंद लेकर

प्रारब्धसमाप्ति पर विदेहभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। हर हालत में, चित्त को एकाग्र करने का प्रयास तभी करेगा जब उसे आनंद मिले, आनंद मिलेगा ही यह निश्चय हो। गुरु ब्रह्मनिष्ठ होता है, उसकी सेवा से ही जब अलौकिक सुख मिलने लगे तब शिष्यको श्रद्धा होती है कि स्वयं ब्रह्मनिष्ठ होने से असीम सुख होगा इसमें क्या कहना! मोक्ष की सुखरूपता औपनिषद दर्शन की विशेष स्वीकृति है। मोक्ष तो और भी वादी मानते हैं पर या उसमें सुख मानते ही नहीं और या वैषयिक (विषय-विषयिभाव के रहते ही होने वाला) सुख ही उसमें होता है ऐसा मानते हैं। अनंत आनंद ही सुख है यह एकमात्र अद्वैती की ही घोषणा है। इसलिये कृतिके प्रति सुख को हेतु अद्वैती ही सिद्ध करता है, अन्य कोई नहीं। सुखज्ञानको मूलकार ने 'प्रयोजक' बताया; यों तो प्रयोजक का अर्थ कारण है ही पर कुछ विचारकों के अनुसार कारण बनने के लिये पूर्ववर्ती होना ज़रूरी है जबकि कार्य के समकालीन होते हुए जो उसका कारण बनाता है उसे प्रयोजक कहते हैं। उसकी कारणता अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध हो जाती है लेकिन वह पूर्ववर्ती नहीं होता अतः उसे कारण न कहकर प्रयोजक कहते हैं। प्रकृत में अभिप्राय है कि यदि कृतिसे पूर्व सुख-बोध न भी हो तो भी कृति करते हुए यदि सुख हो जाता है तो भी वह सुख कृति को बढ़ावा देता रहता है। वैज्ञानिकों के प्रयोगात्मक दृष्टिकोण के अनुसार, साधक को यदि भावी सुख का निश्चय न हो तो भी वह कृति करके अनुभव करे और यदि सुखलाभ हो जाये तो कृति बढाकर निष्ठा की ओर बढ़ जाये। कृति के बिना गुरुसेवा नहीं होती, उसके बिना श्रद्धा नहीं होती, श्रद्धा के अभाव में श्रवण-मनन न हो सकने से ज्ञानप्राप्ति नहीं होती। अतः शास्त्र सक्षम उपाय होने पर भी, अधिकारी को ज्ञानमात्र करा देने वाला होने पर भी ज्ञान की दृढता के लिये इन सब साधनों की ज़रूरत रहती है। मोक्षमें परम सुख तभी समझ आयेगा जब परमात्मासे अतिरिक्त सर्वत्र दुःख की दृष्टि बने। इसके बिना मुक्ति में भी सुख तो मान सकते हैं, *वही* सुख है यह नहीं लगता। जब तक संसार में किंचित् भी सुख लगता है तब तक आत्मज्ञान की निष्ठा नहीं बन सकती। सांसारिक सुखों में भी यही समझना चाहिये कि सुख परमात्माका है, विषयों का नहीं जैसे रसगुल्ले-गुलाब जामुन आदि में मिठास चीनीका ही होता है छैने-मावे आदि का नहीं। इस संस्कार को दृढ बनाते रहने से नाम-रूप का आकर्षण शिथिल होकर एकमात्र परमात्मा में ही सुखबुद्धि होगी जो कृति को प्रयुक्त कर सकेगी। इसके बिना 'भगवान् अपनी जगह हैं, संसार का सुख अपनी जगह है' यह भावना बनकर प्रयत्न बँटा ही रहता है, सर्वथा तत्परता नहीं हो पाती। संपूर्ण एकाग्रता के लिये एक जो ब्रह्म उसे ही

भूमतत्त्वम्

सुखं किमिति चेद् भूमा सुखमल्पे तु तद् न हि।
क्लिश्यत्यल्पधनोऽन्यस्मिन् धनबाहुल्यदर्शनात्।।३९।।

सुख समझकर अन्यत्र वैराग्य होना अनिवार्य है, तभी सर्वव्यापक आनंद का अनावरण होता है।।३८।।

कृति आदि परंपरा स्वयमेव सुखावबोध उत्पन्न कर देगी ऐसा समझकर संतुष्ट नहीं रहना चाहिये वरन् सुख को समझने का प्रयास करना चाहिये यह सूचित करने के लिये नारद का प्रश्न है 'सुखं भगवो विजिज्ञास इति' (७.२२) जिसका उत्तर सनत्कुमार का यह प्रसिद्ध रहस्यवाक्य है 'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (७.२३)। यह भूमा ही इस अध्याय का प्रतिपाद्य है अतः इस अध्याय का प्रचलित नाम 'भूमविद्या' है। इस प्रसंग का विवरण करते हैं **यदि पूछो कि सुख क्या है? तो सुनो : भूमा सुख है। अल्प में सुख है ही नहीं। किसी अन्य के पास धन की बहुतायत देखने से कम धन वाले को क्लेश होता है।।३९।।** भाष्यकार ने महत्, निरतिशय, बहु ये भूमा के पर्याय बताये हैं। वैसे, बहुत्व या बहुतायत को भूमा कहते हैं; बहु-शब्द से भावार्थक इमनिच्-प्रत्यय लगे तो बहु-को भू-आदेश और इमनिच् के इकार का लोप होकर भूमन्-शब्द वैयाकरण संपन्न करते हैं। भाव और जिसका भाव है, दोनों को एक मानकर भूमा का अर्थ बहु किया है ऐसा व्याख्याकारों ने बताया है। जो कुछ भी अल्प होता है वह अधिक की तृष्णा पैदा करता है, बहुत हो तो सुख देता है इसलिये बहुत्व-बोधक भूमा-शब्द श्रुति में रखा। किंतु निरपेक्ष निरवच्छिन्न, असीम जो बहुत है वह एक परमात्मा ही है, उसीको सुख कहा जा रहा है, अन्यत्र सुख-बुद्धि उसी के अंश-ग्रहण से होती है। व्यापक में ही सुख है, उससे अन्य में दुःख ही है अतः जो कुछ परमात्मा से अन्य है, परिच्छिन्न है वह वैराग्यके ही योग्य है, उपादेय नहीं। सर्वानुभव-सिद्ध उदाहरण है कि खुद के पास लाख रुपये हों फिर भी पड़ौसी के करोड़ देखकर अपने लाख रुपयों का सुख नहीं होता वरन् निन्यानबे लाख की कमी का दुःख ही होता है। होड़ करके धन व चीज़ें बटोरते जाना इसी दुःख को मिटाने का प्रयास होता है हालाँकि इससे कभी दुःख दूर नहीं होता वरन् अनेक चीज़ों की पराधीनता बढ़ जाने से दुःख की वृद्धि ही होती है। अविचारशील दूसरे के पास गाड़ी देखकर स्वयं भी गाड़ी खरीद लेता है, फिर चलना-फिरना बंद हो जाने से रोगी बन जाता है। विचारशील को लगता है कि 'जो चलने-फिरने में असमर्थ हैं उन बेचारों को गाड़ी के पराधीन रहना पड़ता है, मैं तो स्वस्थ हूँ, बिना वाहन

भूम्नः सुखत्वे भूमा कः किमल्पमिति चेच्छृणु।
ज्ञातृज्ञेयज्ञानहीनो भूमाऽविच्छेददर्शनात्।।४०।।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं मायाकार्यमिदं जगत्।
बहुविच्छेदयुक्तत्वाद् अल्पमित्यभिधीयते।।४१।।
अच्छेद्योऽयम् अदाह्योऽयम् अक्लेद्योऽशोष्य एव च।
भूमा तस्माद् अमर्त्योऽयम् अल्पं मर्त्यम् अतद्विधम्।।४२।।

के कहीं भी जा-आ सकता हूँ', और इससे प्रसन्न होता है। कमी महसूस होते ही दुःख और 'बहुत है' समझते ही सुख होता है यह किंचित् भी विचार रखने वाले को प्रत्यक्ष है। सांसारिक विषय चाहे जितने बड़े हो जायें, अधिक हो जायें, हमेशा उनमें कमी महसूस होगी ही। असीम धन हो तो इच्छा होती है कि 'कोई इसे चुराये नहीं, माँगे नहीं' अर्थात् चुराया या माँगा न जा सकना इसकी कमी महसूस होती है। ऐसे ही सब विषयों के बारे में है। अतः ये विषय हेय ही हैं, एकमात्र परमार्थ व्यापक परमेश्वर ही प्राप्तव्य है, वही सुख है। विषयों के प्रति यह निश्चय रखने से साधक उनकी प्राप्ति, सुरक्षा आदि में बिना उलझे उनका अनिवार्य उपयोग करते हुए भी आत्मज्ञानकी साधना में लगा रह सकता है।।३६।।

दुःख-बीज से रहित भूमा को सुख सुनकर नारद ने उसे समझने की इच्छा व्यक्त की जिसपर सनत्कुमार का उत्तर था 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा...यो वै भूमा तदमृतम्...' (७.२४)। द्रष्टा-दृश्य-दर्शन के विभाग से रहित निर्विशेष व्यापक चित्तत्त्व भूमा है। यह वस्तु पारमार्थिक है, संव्यवहार का विषय नहीं है। यह किसी अन्य पर आश्रित भी नहीं है, कहने को भले ही इसे 'अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित' कहते हैं। इस संदर्भ का संग्रह करते हैं **भूमा की सुखरूपता है तो बताइये कि भूमा कौन है और अल्प क्या है? सुनो : ज्ञाता, ज्ञेय और इनका संबंधरूप ज्ञानइन तीनों से रहित भूमा है क्योंकि किसी तरह की रुकावट, सीमा नहीं है।।४०।। माया का कार्य यह जगत् जिसका रूप ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इस विभाग वाला है अल्प कहा जाता है क्योंकि इसमें बहुत रुकावटें, सीमाएँ हैं।।४१।। यह भूमा काटा, जलाया, भिगाया और सुखाया न जा सकने से मरणधर्मा नहीं है। अल्प क्योंकि ऐसी विशेषताओं वाला नहीं होता इसलिये मरणधर्मा है।।४२।। अल्पता तभी तक है जब संसार है, मुक्ति में अल्पता नहीं है। मुक्तिकी दृष्टि में जगत् को मरणधर्मा इसलिये कहते हैं कि वह तत्त्वज्ञान से निवृत्त हो जाता**

संसारकाल एवाऽस्ति न मुक्तावल्पता ततः।
मुक्तौ ज्ञाननिवर्त्यत्वाद् मर्त्यं जगद् इतीर्यते।।४३।।
संसारमोक्षयोर्भूमा विद्यते सोऽमृतत्वतः।
अखण्डैकरसानन्दः सोऽयमात्मा स्वयम्प्रभः।।४४।।

है।।४३।। क्योंकि अमृतता इसका स्वभाव है इसलिये भूमा संसार व मोक्ष दोनों में एक-समान रहता है। वह भूमा अखंड, कमो-बेशरहित, अपरोक्ष, स्वप्रकाश आनंद है।।४४।। भूमा व अल्प दोनों को समझना ज़रूरी ताकि अल्प से बचा जा सके और भूमा को पहचाना जा सके। सांसारिक सारा ज्ञान ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के विभाजन वाला ही अनुभव में आता है। ज्ञाता-जानने वाला मैं। ज्ञेय जिसे जानता हूँ वह रसगुल्ला आदि। ज्ञान आँख, जीभ आदि द्वारा बनने वाली वृत्ति। सर्वत्र लौकिक अनुभवों में ये तीनों अवश्य मिलते हैं। इन तीनको इकट्ठे ही कहने के लिये त्रिपुटी-शब्द प्रचलित है। त्रिपुटी से परिच्छिन्न, सीमित ही जगत् है। सीमा ऐसे, कि जो ज्ञाता है वह ज्ञान और ज्ञेय नहीं, जो ज्ञान है वह ज्ञाता-ज्ञेय नहीं, जो ज्ञेय है वह ज्ञाता-ज्ञान नहीं। विषयों के बारे में होने वाले सभी ज्ञान वृत्तिरूप हैं अतः परिच्छिन्न हैं। आत्मरूप ज्ञान ही भूमा, अपरिच्छिन्न है। जानने वाला, जानने के साधन और जिसे जाना जाये यह भेद भूमा में नहीं है। सामान्यतः यह बात समझना मुश्किल है पर 'मैं हूँ' इस अनुभव पर विचार करें तो इस स्थिति का अंदाज़ लगता है क्योंकि इसमें जानने वाला मैं, जिसे जानता हूँ वह मैं तथा खुद ही जानता हूँ अर्थात् मुझसे अन्य कोई साधन भी नहीं जिससे जानता होऊँ। भूमा स्वप्रकाश आत्मा ही है अतः वह भी बिना किसी अन्य सहायता के स्वयमेव भासमान रहता है। सूर्य चमक रहा है दीख भी सूर्य रहा है, सूर्य की ही रोशनी से दीख रहा है; जैसे अपने ही प्रकाश से सूर्य दीखता है ऐसे आत्मा भी किसी अन्य प्रकाश से नहीं वरन् स्वयमेव दीखता है। जहाँ त्रिपुटी है वहाँ अल्पता है, त्रिपुटी न होने पर ही व्यापकता है। व्यापक का अर्थ है जो किसी सीमा से सीमित हो नहीं सकता; ऐसा तत्त्व परमार्थ आत्मा ही है। उससे अन्य सब त्रिपुटी वाले अतः अल्प, नश्वर हैं। आत्मासे अतिरिक्त जो कुछ है वह माया का कार्य ही है। माया-पर्यन्त त्रिपुटी है, परिच्छेद है। मायाकार्यों में देश-काल-वस्तु की सीमा अवश्य है। अतः दृश्य जगत् अनेक रुकावटों वाला होने से अल्प है। श्रुति ने कहा है 'यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पं यद् अल्पं तद् मर्त्यम्' (७.२४) अर्थात् त्रिपुटी के क्षेत्र वाला मर्त्य है, मरने वाला है। सभी परिच्छिन्नताओं को यहाँ मृत्यु में एकत्र किया है। भूमा असीम है, मरता नहीं।

मरने के छेदन दाह आदि जितने प्रसिद्ध निमित्त हैं उनका वह विषय नहीं बनता अतः मर नहीं सकता। गीता में भी आत्मा का यही वर्णन किया है

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।(२.२४)

कट नहीं सकता, जल नहीं सकता, गीला नहीं हो सकता, सूख नहीं सकता इसीलिये यह व्यापक निष्क्रिय अविकारी तत्त्व हमेशा एकरूप रहने वाला है। यही इसकी अमर्त्यता है, यह मरण का विषय ही नहीं है। मरणविषय जो माया-तत्कार्य वे संसार के अंतःपाती हैं, जब तक संसार है तभी तक त्रिपुटी वाले पदार्थ हैं, संसार न रहने पर मर्त्य जगत् भी नहीं रहता। परमात्मा ने जब सृष्टिसंकल्प किया तब से संसार शुरू हुआ और मोक्षपर्यन्त बना रहता है। इसका मतलब यह नहीं कि संसार किसी तिथि-वार को शुरू हुआ! कालकी दृष्टिसे तो संसार अनादि ही है फिर भी सृष्टिसंकल्प उसका प्रयोजक है। तत्त्वज्ञान से अविद्या हटने पर संसार न रह जाने से यह मर्त्य है, अल्प है। मुक्तिदशा में संसार ही नहीं तो त्रिपुटी-परिच्छिन्न वस्तुएँ कहाँ संभव हैं! अत एव ये चीज़ें वैराग्य के ही लायक हैं, हमेशा रहने वाली नहीं कि इन्हें प्रेम किया जाये। वास्तव में संसार न आज तक पैदा हुआ, न हो सकता है अतः इसे मिटना भी क्या है! अज्ञानसे इसकी प्रतीति है, तत्त्वबोधसे बाध हो जाता है, पता चल जाता है कि यह कभी नहीं है। इस बाध का विषय होना ही इसकी मर्त्यता है, नश्वरता है। इससे विपरीत, भूमा तत्त्व सदा है, संसार काल में भी है, इसके बाधकाल में अर्थात् मोक्ष में भी है। यद्यपि अभी विशेषों की प्रतीति है तथापि आत्मा निर्विशेष ही बना रहता है जैसे मलिन प्रतीत होते हुए भी आकाश निर्मल बना रहता है या राधेय प्रतीत होने पर भी कर्ण कौन्तेय बना रहता है। यही इसकी अमृतरूपता है। 'सोऽमृतस्ततः' (श्लो. ४४) मुत्तुशास्त्री का पाठ है, अर्थ एक ही है। लोक में घड़ा-सिकोरा आदि की दृष्टि से मिट्टी अमृत है क्योंकि वह घड़ा-आदि के काल में भी है व जब घड़े आदि फूट जाते हैं तब भी है। इसी प्रकार निर्विशेष सदा है, सविशेष काल में भी और उसका बाध होने पर भी। सनातन होने से ही यह अखंड अर्थात् त्रिपुटी के परिप्रेक्ष्य से रहित है, विद्यातारतम्य का आनंद ही इसका स्वरूप है। इसका भान भी इतर-निरपेक्ष होने से यह स्वप्रकाश है।।४१-४।।

भूमा स्वयम्प्रकाश है यही स्पष्ट करते हैं **अनन्त आनंदरूप होता हुआ यह आत्मा मूर्छा व सुषुप्ति अवस्थाओं में अज्ञान से ढँका रहने पर भी समाधि, सुषुप्ति व मूर्छा अवस्थाओं में बिना किसी साधन के ही चमकता रहता**

मूर्च्छासुप्त्योस्तादृशोऽयम् अज्ञानेन तिरोहितः।
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु भासते साधनं विना।।४५।।
मेघेनाऽऽच्छादितः सूर्यो यथा तद्वत् स्वयंप्रभः।
अज्ञानेनावृतो भूमा प्राणिभिर्न विभाव्यते।।४६।।

है।।४५।। बादलों से ढँका सूर्य जैसे लोगों को नहीं दीखता वैसे स्वप्रकाश भूमा भी अज्ञान से ढँका रहते प्राणियों को समझ नहीं आता।।४६।। समाधि में अज्ञान प्रतिबद्ध हो जाता है इतना अंतर समाधि व सुषुप्ति में है लेकिन बिना साधन के आत्मा का भान होना दोनों अवस्थाओं में समान है। 'मैं मूर्छित था', 'सो रहा था', 'समाहित था' आदि स्मृति से सिद्ध होता है कि उन अवस्थाओं में स्वयं का भान बना रहता है और उस भान के लिये कोई साधन भी अपेक्षित नहीं होता। बिना साधन के भासते रहना ही स्वप्रकाशता है। चादर ओढे कोई सो रहा हो तो इतना दीखने पर भी कि कोई सो रहा है, यह नहीं दीखता कि देवदत्त है या यज्ञदत्त, ऐसे ही सुषुप्ति आदि में आत्मा का भान तो रहता है पर वह अखंड एकरस आनंद है यह नहीं पता चलता। चादर की जगह यहाँ अज्ञान है। जैसे अँधेरा रस्सी को ढाँक देता है और सर्प-जलधारा आदि को पैदा कर देता है वैसे अज्ञान व्यापक स्वरूप को ढाँकता है और सारे जगत् को पैदा कर देता है। जाग्रत्-स्वप्न में सर्वत्र फैला दीखने वाला यह जगत् सुषुप्ति में उस अज्ञान में ही लीन हो जाता है और पुनः जाग्रदादि में उसी से व्यक्त हो जाता है। लीनावस्था में कारणरूप से और व्यक्तावस्था में कार्यरूप से रहने वाला जगत् अज्ञानरूप ही है। उस अज्ञान से ही आत्मा आवृत है। जैसे बादलों से आच्छादित सूर्य होता भासमान है फिर भी लोगों को लगता है कि 'आज धूप नहीं निकली'। बादल आदि दीखते सूर्य के प्रकाश से ही हैं, तभी पता चलता है कि रात नहीं दिन है, फिर भी लोगों को लगता वैसा है। इसी तरह हमारा सारा व्यवहार आत्मा के प्रकाश से ही चलता है फिर भी हमें लगता है कि हमें आत्मा नहीं भास रहा! सर्वत्र 'है' - का अनुभव सबको है, यह 'है' परमात्मा का ही स्वरूप है। कुम्हार, जुलाहा आदि घड़े-कपड़े बनाते हैं, 'है'- तो वे नहीं बनाते! यह नित्य व्यापक वस्तु है। इसी तरह मन-इन्द्रियादि भौतिक चीज़ें जड होने पर भी ज्ञान वाली जिससे बन जाती हैं वह चित्तत्त्व भी नित्य व्यापक भूमा ही है। अतः हमें भूमा का अनुभव सदा है किंतु इस तरह नहीं कि वह अखंड अद्वितीय परमार्थ वस्तु है, इसी से हमें लगता है कि हमें आत्मा का ज्ञान नहीं है। सुषुप्ति-मूर्छा की स्मृति से सिद्ध तात्कालिक अनुभव भी आत्मा की सदा भासमानता

स्वप्रकाशात्मचैतन्यम् अज्ञानस्य न बाधकम्।
भासकं प्रत्युतैतस्य स्वानन्दस्य यथा तथा।।४७।।
आनन्दाऽज्ञानयोः सुप्तौ चैतन्येनावभासनात्।
उत्थितः सुखमस्वाप्सं न जानेऽन्यद् इति स्मरेत्।।४८।।

में स्पष्ट प्रमाण है। व्यापकता का अपरोक्ष न होना ही उसका आच्छादित रहना है। इस प्रकार, संसरण-साधक आत्मा-अनवबोध तथा आत्मा की स्वप्रकाश सदा भासमान-स्वरूपता का परस्पर विरोध नहीं।।४५-६।।

आत्मा निरवधि ज्ञानस्वरूप है तो अज्ञानसे आवृत कैसे हो सकता है? इस शंका को दूर करते हैं **स्वयम्प्रकाश आत्मरूप चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं बल्कि उसका प्रकाशक है; आत्मा जैसे अपने आनंद का प्रकाश करता है वैसे अज्ञान का भी।।४७।। सुषुप्ति में क्योंकि चेतन द्वारा आनंद और अज्ञान का प्रकाश होता है इसीलिये जगकर व्यक्ति यह स्मरण कर पाता है कि 'मैं सुख से सोया, अन्य कुछ नहीं जाना'।।४८।।** वृत्तिपर आरूढ हुआ आत्मा अज्ञानका नाशक है, बिना वृत्ति के नहीं। जैसे सूर्यका प्रकाश घास का पोषक है, विरोधी नहीं, पर आतशी शीशे के माध्यम से वही प्रकाश घास को जला डालता है, ऐसे आत्मा तो अज्ञान को धारण किये है, उसे सत्ता-स्फूर्ति दे रहा है पर अखंडाकार वृत्ति का माध्यम बीच में आ जाये तो आत्मा ही अज्ञान को निवृत्त, बाधित कर देता है। अज्ञानका पोषक व नाशक आत्मा है। अज्ञान का पोषक बनता है कर्मफलदाता, जगद्-रचयिता के रूपमें और महावाक्यजन्य अद्वैत-निश्चय की उपाधि ओढ़कर वही अज्ञान का नाशक बन जाता है। वृत्तिज्ञान का भले ही अज्ञानसे विरोध है, ज्ञानरूप आत्माका अज्ञान से वैसा विरोध नहीं है। बिना वृत्ति पर चढे आत्मा अज्ञान को सत्ता देकर उसका पोषक ही रहता है, वृत्तिपर आरूढ होकर ही उसे बाधित करता है। अतः आत्मा अज्ञान से आवृत है यह उपपन्न है। सुषुप्ति में सर्वानुभव-सिद्ध है कि हम आनंद और अज्ञान को अनुभव करते हैं। वहाँ कोई साधन तो कार्यकारी होते नहीं अतः स्वयं अपने ही प्रकाश से उन्हें अनुभव करते हैं यह निश्चित है। इस प्रकार आनंदरूप स्वप्रकाश आत्मा अज्ञान से आवृत है यह स्पष्ट हुआ।।४७-८।।

ज्ञानरूप होने पर भी अज्ञान को नहीं मिटाता तथा वृत्ति के सहारे मिटाता है इसे सोदाहरण बताते हैं **जिस प्रकार अरणि में छिपी अग्नि अरणिको जला नहीं डालती पर जब मन्थन से अग्नि प्रकट हो जाती है तब पूरी अरणिको जला**

अरणिस्थो यथा वह्निर्न दहेदरणिं तथा।
पश्चाद् मथनजातोऽसौ साकल्येनाऽरणिं दहेत्।।४६।।
तथा वेदान्तवाक्योत्थधीवृत्तौ प्रतिबिम्बितम्।
स्वप्रकाशात्मचैतन्यं कृत्स्नाऽज्ञानस्य बाधकम्।।५०।।

सकती है।।४६।। उसी प्रकार उपनिषत् के महावाक्यके श्रवण से उत्पन्न अप्रतिबद्ध निश्चयरूप बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिंबित होने पर स्वयम्प्रकाश चैतन्यरूप आत्मा सारे अज्ञान का बाध कर देता है।।५०।। यज्ञ के लिये अग्नि प्रकट करने के लिये लकड़ी का यंत्र बनता है जिसके दो भाग होते हैं गहरी कड़छीनुमा बर्तन जिसे धरती पर स्थिर करके उस पर मूसलनुमा दण्ड रखकर दण्डको मथनी चलाने की तरह तेज़ी से चलाते हैं जिससे घर्षण होने पर चिन्गारी निकलती है जिसे कर्पूर लगी रूई में ग्रहण कर यज्ञकाष्ठ को जलाते हैं। कड़छीनुमे को अधरारणि व मूसलनुमे को उत्तरारणि कहते हैं। दोनों अरणियाँ होती लकड़ी की हैं अतः उनमें आग निहित ही रहती है पर उन्हें जलाती नहीं। मंथन करने से जो आग प्रकट हो चुकती है उसमें अवश्य अरणियों को जला डालने की सामर्थ्य है। यद्यपि चिन्गारी निकलते ही रूई में लेकर फिर उस रूई की आग को ही बढ़ाते हैं, अरणि नहीं जलाई जाती, तथापि प्रकट हो चुकी आग में यदि पड़ जाये तो अरणि भी जल ही जायेगी। अरणि न समझ आये तो दियासलाई समझ सकते हैं; सलाई में निहित अग्नि है पर मसाले पर रगड़े बिना वह उस सलाई को भी नहीं जलाती जब कि रगड़कर प्रकट हो जाये तो पूरा जंगल जला डालती है। लकड़ी या सलाई में आग छिपी है यह मानना इसलिये पड़ता है कि उसी में प्रकट होती है, अगर उसमें न होती तो उसमें से निकलती कैसे! पानी में घी नहीं तो उसे चाहे जितना मथो, कभी घी नहीं निकलता। इस दृष्टांत की तरह ही स्वप्रकाश आत्मा यद्यपि सहेतु संसार के बाध में पूर्णतः सक्षम है तथापि तभी जब अखंडाकार वृत्ति में प्रतिफलित हो। परमात्मा सदा सर्वत्र मौजूद है जैसे लकड़ी में आग, पर संसार को समाप्त नहीं करता। अज्ञान जलाने के लिये मंथन करना पड़ता है। उपनिषत् में कहा है 'आत्मानम् अरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्' (कैव.) आत्मा, जीवात्मा अर्थात् स्वयं को नीचे वाली अरणि और ओंकार को ऊपर वाली अरणि बनाकर ज्ञानरूप मंथन करने से पाप का सर्वथा नाश हो सकता है। ज्ञानरूप मंथन अर्थात् विचार। ओंकार महावाक्य के ही अर्थ का बोधक है। अतः महावाक्यार्थ का चिंतन करने से ही अखण्डबोध संभव है यह तात्पर्य है। जैसे अरणिमंथन तब तक करते रहना पड़ता है जब तक आग प्रकट न हो वैसे महावाक्यार्थ का विचार

तस्माद् विज्ञानसहितः समाधावनुभूय हि।
भूमाऽऽनन्दं यथाशास्त्रं स्मृत्वा व्युत्थाय वक्ति च।।५१।।

आत्मज्ञानपर्यन्त करते ही रहना पड़ता है। लकड़ी मौसम आदि सब अनुकूल हो तो आग जल्दी प्रकट हो जाती है अन्यथा देर से होती है, ऐसे ही श्रेष्ठ साधक को तुरंत ज्ञान हो जाता है जबकि सामान्य साधक को बहुत समय लगता है। दृष्ट फल होने से इसमें समयादि का नियम नहीं, इतना ही मान्य है कि साधनांतर नहीं चाहिये, विचार की ही आवृत्ति तब तक चाहिये जब तक साक्षात्कार न हो जाये। मंथन को निमित्त बनाकर प्रकट तो अग्निदेव अपनी कृपा से ही होते हैं, वृत्ति को निमित्त बनाकर प्रकट आत्मदेव भी अपनी कृपासे ही होते हैं। अतः ज्ञानसाधक भी परमेश्वर से प्रार्थना तो करता ही रहता है, उसे यह अभिमान नहीं हो सकता कि 'मैं श्रवणादि से ज्ञान प्राप्त कर लूँगा', क्योंकि उसे पता है कि परब्रह्म अपनी कृपा से ही दर्शन देते हैं 'आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठ. १.२. २३)। सद्यः प्रकट हुई अग्नि को पहले बढ़ाना पड़ता है तभी वह ईंधन को जला पाती है, तत्त्वबोध को भी मनन-निदिध्यासन से पुष्ट करें तभी वह कार्य-कारण रूप प्रपंच को समाप्त करता है। इसीलिये 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा' (गी.) आदि में निष्ठाप्राप्ति के साधन प्रतिपादित हैं। अज्ञान को निवृत्त आत्मा ही करेगा पर वेदांतजन्य बोध होने पर ही। अखण्डवृत्ति में आत्मप्रतिबिंब पड़ने की बात से यह नहीं मानना चाहिये कि यहाँ फलव्याप्ति स्वीकारी जा रही है; यहाँ इतना ही समझा रहे हैं कि वृत्ति की अज्ञाननिवर्तकता आत्माके कारण होती है। वृत्ति कभी भी बिना आत्मसंबंध के हो नहीं सकती क्योंकि आत्मा व्यापक है और वृत्ति हमेशा इस योग्य है कि आत्मसम्बद्ध हो। वृत्ति के आत्मसंबंध को ही आत्मा का उसमें प्रतिबिंबन कहते हैं। फलव्याप्ति के निषेध का अभिप्राय है कि वृत्ति-विषयभूत आत्मा को आत्मसंबंध नहीं चाहिये जैसे अनात्मा को चाहिये रहता है। इस प्रकार स्पष्ट किया कि आत्मा अज्ञाननिवर्तक किस तरह बनता है।।४६-५०।।

अविद्या-निवृत्ति को अनुभूति से भी सत्यापित करने के लिये विद्वान् का परामर्श करते हैं **क्योंकि वृत्तिसहकृत आत्मा अविद्या को नष्ट कर देता है इसलिये आत्मसाक्षात्कार वाला विद्वान् समाधिमें व्यापक आनंद का अनुभव कर व्युत्थानदशा में उसे याद कर उसका वैसा ही वर्णन करता है जैसा शास्त्र में है।।५१।।** मूलकार ने 'विज्ञान' - पद रखा है जो अपरोक्ष अनुभव का द्योतक है। महावाक्य के श्रवण से उत्पन्न ज्ञान जब वृत्त्यन्तरों से अभिभूत नहीं रहता तभी अज्ञाननिवर्तक लगता

है अतः आवश्यक होता है कि अन्य वृत्तियाँ उठने ही न दी जायें, जिसे समाधि कहा। दृढ होकर अविद्या मिटा चुकने के बाद तो वृत्त्यंतरों के होने-न होने का ज्ञान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु दृढता के लिये वृत्त्यन्तर हटाकर उसी वृत्तिको प्रबल बनाना आवश्यक है। विद्वान् जब समाधि में तत्त्वबोध को परिपक्व कर लेता है उसके बाद वह उसे जब शब्दों में व्यक्त करता है तब उसी प्रकार जिस प्रकार शास्त्र में प्रमाणित है। शास्त्रविरुद्ध हो तो विद्वान् की अभिव्यक्ति भी अप्रामाणिक समझी जाती है। अत एव, शास्त्र की उपेक्षा के फलस्वरूप तार्किकादि जड व निरानंद आत्मा स्वीकारते हैं तो शिष्टों द्वारा हेय ही माने जाते हैं। समाधि, चित्तकी एकाग्रता स्वयं कोई प्रमाण नहीं है कि समाहित अनुभव को सही ही माना जाये। प्रमाण से हुए अनुभव की अत्यंत सुस्पष्टता समाधि में होती है किंतु यदि अप्रामाणिक अनुभव पर ही चित्त एकाग्र कर लिया तो भी वैसी ही स्पष्टता हो जायेगी! अतः ज़रूरी है कि अनुभव प्रमाणहेतुक हो। समाधिका स्मरण आनंदात्मवादी और निरानंदात्मवादी दोनों को होगा। किंतु एक उसे आत्मा के आनंद के रूप में वर्णित करेगा व दूसरा कहेगा कि वहाँ दुःख नहीं था, यह नहीं कह सकेगा कि असीम आनंद था। जाग्रत् के संस्कारों के प्रकाश में ही समाधि के स्मरण को समझा और अभिव्यक्त किया जाता है। अतः यहाँ 'यथाशास्त्रं' कहा अर्थात् अनुभव को शास्त्र के प्रकाश में समझकर कहना विद्वान् के लिये उचित है। शास्त्र से समझी बात का ही समाधि में स्पष्ट अनुभव होने से दृढता आ जाती है कि 'शास्त्र में कही बात मेरे अनुभव से सिद्ध है'। बिना शास्त्र-संस्कार के समाधि में हुए अनुभव की भी सही पहचान नहीं हो सकती। प्रसिद्ध है कि रानी की बातों में आकर राजा ने एक अत्यंत वफ़ादार मंत्री से उसका सिर माँग लिया, उसने तुरंत काट कर राजा के पैरों पर गिरा दिया लेकिन रानी ने कहा 'अरे! गर्दन काटी भी तो टेढ़ी!' पूर्व से ही द्वेष के संस्कार हों तो भक्ति भी चापलूसी लगती है। इसलिये समाधि के अनुभव की सही व्याख्या के लिये शास्त्रसंस्कार जरूरी हैं। सही संस्कारों वाला समाधि में बोध की स्पष्टता पाकर शास्त्रानुसारी वर्णन द्वारा शिष्य को निश्चय करा देता है कि शास्त्रोक्त बात ही सही है, उसे महसूस कर अपना शोक-मोह मिटाया जा सकता है, व्यापक आनंदभावमें बना रहा जा सकता है।।५१।।

भूमारूप आनंद सनातन है तो केवल ब्रह्मवेत्ता ही उसे जानता है ऐसा क्यों? इसका जवाब देते हैं **स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटी भूमारूप आनंद को छिपा देती है जबकि तत्त्ववेत्ता उस त्रिपुटी को बेअसर बना**

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी स्वप्नजाग्रतोः ।
भूमानन्दं तिरोधत्ते विद्वांस्त्वभिभवत्यमुम् ।।५२।।
चिच्छायावान् अहङ्कारो ज्ञाता स्याच्चक्षुरादिजा ।
बुद्धिवृत्तिर्भवेज्ज्ञानं ज्ञेया रूपरसादयः ।।५३।।
त्रिपुटी मायिकी मिथ्येत्येवं विज्ञाय तत्त्ववित् ।
ताम् उपेक्ष्य करोत्येव भूमानन्दे भरं सदा ।।५४।।

देता है।।५२।। चेतन की छाया वाली अहंकारात्मिका वृत्ति ज्ञाता है, चक्षु आदि से उत्पन्न होने वाली अन्तःकरण की वृत्ति ज्ञान है तथा रूप रस आदि विषय ज्ञेय हैं।।५३।। यह त्रिपुटी मायाकार्य अतः मिथ्या है इस तरह अनुभवकर तत्त्ववेत्ता उसकी उपेक्षाकर हमेशा व्यापक आनंद में ही निष्ठा रखता है।।५४।।

आनंद सर्वदा होने पर भी अज्ञान और उसके कार्यों से छिपा रहता है तो किसी को उपलब्ध नहीं होता, ब्रह्मज्ञान से अज्ञान मिट जाने से विद्वान् को वह उपलब्ध बना रहता है। समाधि में तो त्रिपुटी कार्यकारी न रहने से आनंद प्रकट होता है और सुषुप्ति में त्रिपुटी न रहने पर भी अज्ञान से आनंद ढका रहता है; जाग्रत्-स्वप्न में अज्ञान-तत्कार्य से प्रतिबद्ध होने के कारण आनंद का भान नहीं होता। सुषुप्ति में आनंदानुभव तो होता है पर अज्ञानावृत होने से व्यापकता प्रकट नहीं होती। जाग्रत्-स्वप्न में अज्ञानावरण के साथ त्रिपुटी भी होने से भूमा का भान बिलकुल नहीं होता। त्रिपुटी ही अनुभवों को सखण्ड बनाये रखती है अतः अखंड आनंद प्रकट नहीं हो पाता। समाधि-सुषुप्तिमें त्रिपुटी अतः सखण्डता नहीं जबकि जाग्रत्-स्वप्न में है, यह इनमें अंतर है। जैसे सुषुप्ति में 'कुछ नहीं जान रहा' अनुभव होता है वैसा जाग्रत्-स्वप्न में नहीं और न ही समाधि की तरह 'सब जान रहा हूँ' यही अनुभव हो पाता है। जाग्रत्-स्वप्न में जानते तो हैं लेकिन टुकड़ों में बँटा हुआ ही अनुभव होता है। अत एव साधक ब्रह्मज्ञान की भी ऐसी ही आशा रखता है कि मैं जानने वाला रहूँ, ब्रह्म ज्ञेय बने और दोनों का संपर्क रूप कोई ज्ञान हो! किन्तु वह अखण्ड ज्ञान है, उसमें त्रिपुटी नहीं। त्रिपुटी अज्ञानकार्य तो है पर 'कुछ नहीं जानता' इस आकार की नहीं, बल्कि 'कुछ जानता हूँ' इस आकार की होती है। फिर भी अखण्डानंद की अभिव्यक्ति को तो त्रिपुटी भी रोकती ही है। तत्त्वज्ञ, ज्ञाता आदि में सर्वत्र एक सच्चिदानंद देख पाता है इसीलिये त्रिपुटी को अभिभूत, बेअसर कर देता है। जैसे सुनार गहनों के आकारों को नज़रन्दाज़ कर केवल सोने का भाव देता है वैसे ही विद्वान् त्रिपुटी को नज़रन्दाज़ कर केवल सच्चिदानंद को

आदर देता है। इसी से त्रिपुटी अभिभूत हो जाती है अर्थात् भासने पर भी भूमा को सखण्ड नहीं बनाती। अज्ञानी त्रिपुटी के प्रभाव में आकर खण्डों वाला ही अनुभव कर पाता है, व्यापक को अनुभव नहीं कर पाता। अत एव अज्ञानी राग-द्वेषादि में फँसकर शोक-मोह में ग्रस्त हो जाता है, तत्त्वज्ञ नहीं होता। त्रिपुटी को बेअसर बनाने का तरीका यही है कि नाम-रूपकी उपेक्षाकर केवल सच्चिदानंद की ओर दृष्टि रखी जाये। नाम-रूप में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तीनों समझ लेने चाहिये।

ज्ञाता मायने जानने वाला। अंतःकरण की अहंकारात्मिका वृत्ति और चेतन - इनका अविविक्त रूप ही ज्ञाता है। सुषुप्ति में वृत्ति न होने से चेतन रहने पर भी ज्ञाता नहीं होता, 'मैं जान रहा हूँ' यह प्रतीति नहीं होती। यद्यपि चेतन जानता है तथापि वह ज्ञाता नहीं! जहाँ ज्ञान पैदा हो वह ज्ञाता होता है, आत्मा नित्य ज्ञान है, उसे ज्ञान बना रहता है, ज्ञान 'होता' नहीं, इसलिये वह ज्ञाता या प्रमाता नहीं बनता। अत एव सूक्ष्म विचार करने वाले मानते हैं कि सुषुप्तिग विज्ञान की यह स्मृति नहीं है कि 'मैं नहीं जानता रहा', बल्कि अनुभव ही है। हर हालत में, जन्य ज्ञान वाला ज्ञाता है और वह तभी बनता है जब उक्त वृत्ति हो। वृत्ति अकेली जड होने से ज्ञान कर नहीं सकती अतः चेतन का संपर्क चाहिये। इस तरह चेतन-वृत्ति मिलकर ज्ञाता है। इनका मिलना मिथ्या ही हो सकता है अतः 'छाया' के रूपक से कहा जाता है।

ज्ञान-शब्द भी इस प्रसंग में इंद्रियद्वारक बुद्धिवृत्ति का बोधक है। इंद्रियाँ अर्थात् आँख कान आदि ज्ञानेंद्रियाँ। इंद्रियों की वृत्ति के साथ ही बुद्धिवृत्ति का विषयसंपर्क होने से ज्ञान होता है। रूपादि में से कौन-सा विषय ज्ञात होगा यह इंद्रियवृत्ति पर निर्भर है और उस विषय का ज्ञान होना बुद्धिवृत्ति पर निर्भर है। रहती दोनों साथ हैं अतः विवेक दुष्कर है पर अन्यमनस्क आदि स्थितियों में भेद पता चल जाता है। इस प्रसंग में 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' आदि के अनुसार मनको इंद्रिय मानना चाहिये, बहिरिंद्रियों से अपरोक्ष ज्ञान और मनकी वृत्तियों द्वारा परोक्ष ज्ञान होता है। बुद्धिवृत्तियों से जो जाना जाता है वह ज्ञेय है। रूप-रसादि ज्ञेय हैं। रूपादि वाले पदार्थ भी ज्ञेय हैं किंतु उन्हें पृथक् से कहना नहीं पड़ता क्योंकि वेदांत में गुण-गुणी का अत्यंत भेद नहीं माना जाता। यह जो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी है इसे माया का विलास जानना चाहिये। इसीलिये यह मिथ्या है। अखण्ड साक्षी के सामने ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आते जाते रहते हैं, वह एकरस रहता है। जन्य ज्ञान वाला ही ज्ञाता है, साक्षी का अखण्ड ज्ञान होने से वह ज्ञाता नहीं कहा जाता। ज्ञाता आदि तीनों आगमापायी होने से उनका मिथ्यात्व समझना सरल है क्योंकि सभी अनित्य चीज़ें मिथ्या

प्रतिष्ठा

अखण्डैकरसं भूमानन्दं श्रुत्वा स नारदः।
भूम्न्यसम्भावनां मत्वा पप्रच्छाऽऽधारम् अस्य हि।।५५।।
सत्याधारे परिच्छेदो निराधारो न बुद्ध्यते।
यद्यद् घटादिकं लोके तत् सर्वं क्वचिद् आश्रितम्।।५६।।

ही होती हैं। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर ही यह त्रिपुटी मिथ्या प्रतीत होती है। त्रिपुटी के खण्डों के कारण ही भूमा आनंद तिरोभूत है, त्रिपुटी बाधित होते ही उसका विशद अवभास निरर्गल हो जाता है। सर्प का बाध हो जाने पर भी यदि सादृश्यादिवश सर्प-सा दीखता रहे तो भी डर नहीं लगता, इसी प्रकार बाध के बाद त्रिपुटी है-जैसी दीखने पर भी भूमानंद को छिपा नहीं पाती, सांसारिक क्लेश नहीं दे पाती।।५२-४।।

भूमा का प्रसंग सुनकर नारद जी ने 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति' कि वह भूमा कहाँ प्रतिष्ठित है? जिसके जवाब में सनत्कुमार ने बताया 'स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति' (७.२४.१) कि अगर उसे कहीं प्रतिष्ठित समझना ही हो तो यही कह सकते हैं कि वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है, किन्तु वास्तव में वह अपनी महिमा पर भी प्रतिष्ठित नहीं है क्योंकि व्यापक वस्तु की कोई अन्य प्रतिष्ठा होना ही असंभव है। इस प्रसंग को समझाते हैं **हिस्सों और कमोबेश से रहित आनंद भूमा है यह सुनकर उन नारद जी ने विचार किया कि ऐसा सर्वथा व्यापक पदार्थ होना संभव नहीं अतः भूमा की व्यापकताकी सीमा जानने के लिये उन्होंने इस भूमाके आधार को पूछा।।५५।। उनका अभिप्राय था कि यदि उसका आधार है तब तो उससे भूमा की सीमा भी बँध जायेगी और यदि उसका कोई आधार है नहीं तब उसे समझा जा ही नहीं सकता क्योंकि संसार में घड़ा आदि जो कुछ मिलता है वह किसी-न-किसी पर आश्रित ही मिलता है।।५६।।** आज तक के सभी अनुभवों से सर्वथा विलक्षण होने के कारण भूमा को एकाएक समझ पाना संभव नहीं होता। हमें जो उपलब्ध होता है वह अपने से भिन्न किसी में अवश्य स्थित मिलता है अतः निरवच्छिन्न व्यापक नहीं होता। जो भी किसी से भी भिन्न है वह वस्तु-परिच्छिन्न होने से अव्यापक है। परमात्मा क्योंकि किसी से भिन्न नहीं है इसलिये वही संपूर्ण व्यापक है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से भी परमात्मा के बारे में समझना शुरू किया तो यही सवाल सामने आया कि वह किस में ओत-प्रोत है और याज्ञवल्क्य ने यही स्पष्ट किया कि निरपेक्ष व्यापक होने से वह किसी में ओत-प्रोत नहीं हो सकता

व्यवहारदशायां किम् आधारः पृच्छ्यतेऽथ वा।
वस्तुतो व्यवहारे तु महिम्न्येवाऽयम् आश्रितः।।५७।।
'पराऽस्य शक्तिर्विविधे' त्येवं श्रुत्यन्तरेरिता।
भूम्नः शक्तिर्भवेद् माया तदुत्थो महिमाऽखिलः।।५८।।

अतएव विषय-विषयिभाव से उसका ज्ञान न हो पाने के कारण वह विदित-अविदित दोनों से अतीत रहता है। यह कठिनता होने से ही नारद को भूमा की प्रतिष्ठा की जिज्ञासा हुई। उन्हें यही समस्या लगी कि होना किसी-न-किसी में प्रतिष्ठित ही चाहिये किन्तु तब वह भूमा, व्यापक नहीं रह पायेगा। सर्वथा आधारहीन वस्तु की संकल्पना भी दुष्कर है। उसके स्पष्टीकरण के लिये ही प्रश्न है।।५५-६।।

सनत्कुमार का समाधान समझाते हैं **नारद! क्या तुम यह पूछ रहे हो कि व्यवहारभूमि पर भूमा का आधार क्या है, या वास्तविकता के धरातल पर भूमा का आधार क्या है? व्यवहार भूमि पर तो वह अपनी महिमा पर ही आश्रित है।।५७।। अन्यत्र श्रुति ने बताया है कि इस व्यापक परमात्मा की नाना प्रकार की शक्ति है। भूमा की शक्ति माया ही है, उसी वस्तु को उसकी समस्त महिमा कहा जा रहा है।।५८।।** परमार्थ को समझने-समझाने की प्रक्रिया व्यवहार की ही भूमिका पर संभव है। वास्तविकता की दृष्टि से तो पूछने-बताने आदि का व्यवहार भी संभव नहीं। संसार व्यवहार-स्तर पर है, उसी स्तर पर इसके निरास का प्रयास करना पड़ता है। इसके लिये भेद का आरोप कर उसकी भाषा में उपदेश देते हैं ताकि अभेद समझ आये। अद्वैत के अवबोध के लिये द्वैतभाषा का ही सहारा लेना आवश्यक होता है। उपाधि-आत्मा के अविवेकपूर्वक उपाधि में तादात्म्याध्यास से, अभिमान से समस्त शोक है, उसके बाध से ही शोकनिवृत्ति हो सकती है। मकान जैसे स्पष्टतः अनात्म पदार्थ में भी यदि दृढ ममताभिमान हो जाये तो व्यक्ति मकान में कील ठोकी जाने पर भी स्वयं को पीडान्वित पाता है मानो उसकी छाती पर कील ठुक रही हो! अध्यास का बहुत महत्त्व है, उसीके बल पर संसारका नाटक जारी है। शरीर तो मरने के बाद भी पड़ा रहता है, उससे हमें कहाँ दुःख होता है! जब तक शरीर में अध्यास है तब तक सुई की नोक चुभे तो भी भीषण पीडा होती है। अहमाकारवृत्तिपर्यन्त अभिमानवश ही दुःखहेतुता है। विचार करें तो देखते हैं कि दुःख हमेशा किसी अनात्मवस्तु के निमित्त होता है। जिसके पास कुछ है उसी को दुःखी किया जा सकता है क्योंकि उसे छीन सकते हो, तोड़-फोड़ सकते हो; जिसके पास कुछ नहीं उसे दुःखी करने का कोई उपाय ही नहीं! अतः स्वयं यदि दुःखी

होने से बचना चाहो तो यही सीधा तरीका है कि अपना कुछ न रहने दो! पाँच कोशों के कारण ही दुःख है, पाँचों को उतार कर फैंक दो तो दुःख काहे का होगा? कोषों के बंधन से छूटते ही जीव भूमानंद में स्थित हो जाता है। 'तु महिम्न्येव' की जगह 'स्वे महिम्न्येव' पाठ श्रुति के ज्यादा अनुकूल होता। ऐसा मुत्तुशास्त्री को भी अभिमत प्रतीत होता है। व्यवहारभूमि पर व्यापक चित्तत्त्व की प्रतिष्ठा उसकी अपनी महिमा ही है। महिमा से यहाँ अनंत सामर्थ्य वाली माया और उसका विलास कहा जा रहा है। **'तदर्थो महिमा'** की जगह **'तदुत्थो महिमा'** मुत्तुशास्त्री का पाठ है। अभिनवनारायणेन्द्र सरस्वती ने छांदोग्यभाष्यटीका में 'स्वाज्ञानतत्कार्यरूपे जगति स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः' व्याख्या की है अतः यहाँ भी अखिल-के द्वारा यही सूचित समझना चाहिये कि अज्ञान व उसका सारा कार्य भूमा की महिमा बतायी जा रही है। 'तदर्थः' पाठ में 'तस्य मायापदस्य योऽर्थोऽसौ महिमा' ऐसा समझना चाहिये। 'तदुत्थः' पाठ में तत् और तदुत्थ दोनों का संग्रह समझना चाहिये।

माया-शक्ति वेदों में अनेक जगह सूचित है तथा उसकी असीम सामर्थ्य स्वीकार है, उस माया को महिमा समझना सरल है क्योंकि असंभव को संभव कर दिखाने की शक्ति लोक में भी महिमा कही जाती है। शक्ति कार्य से अनुमानसिद्ध होती है। संसाररूप कार्य मिल रहा है अतः इसके उत्पादन-संचालन-विलयन की शक्ति इसके कारण में स्वीकार्य है। माया शक्ति परमेश्वर में स्वाभाविक है, किसी हेतुसे नहीं है, अनादि है। इसका प्रभाव है 'अघटित-घटना-पटीयसी' जो कभी घट नहीं सकता, हो नहीं सकता, उसे घटा हुआ दिखा देना, ऐसा प्रतीत करा देना कि वह हो गया। लोक में भी माया का खेल उसी को कहते हैं जिसमें वह सब दीखे जो हो नहीं : लड़की को काट डालो तो जादूगर नहीं, खूनी कहलाओगे; लड़की के पेट पर आरी चलाओ, सबको दिखा दो कि उसे काट दिया, फिर भी उस लड़की को खरोंच भी न आये तब जादूगर कहलाओगे क्योंकि बिना काटे उसे कटी हुई दिखाया। ऐसे ही परमेश्वर महामायावी है क्योंकि जो कभी हुआ नहीं ऐसा संसार वह दिखा रहा है मानो संसार बना हो, चल रहा हो! अनंत आनंदरूप परमात्मा कभी दुःखी हो नहीं सकता फिर भी हम सब दुःखी मिल रहे हैं यह माया का प्रताप है। जैसे स्वप्नमें हम विभिन्न ऐसे अनुभव करते हैं जो सामान्यतः असंभव हैं वैसे यह संसारका अनुभव भी वास्तविकता के धरातल पर असंभव होता हुआ ही हमें उपलब्ध हो रहा है। जैसे स्वप्न के क्रियाकलाप से हम जगते ही अस्पृष्ट हो जाते हैं क्योंकि वास्तव में स्वप्नकाल में भी थे हम उससे अस्पृष्ट ही वैसे तत्त्वज्ञान होते ही हम संसार से अस्पृष्ट

महिमाऽऽख्ये जगत्यस्मिन् य आनन्दोऽवभासते।
स भूमाऽस्य परिच्छेदो व्यवहारे न दुष्यति।।५६।।
वस्तुतत्त्वविचारे तु न महिम्नि प्रतिष्ठितः।
महिमा स्याद् गवाश्वादिर्भूम्नो नाऽऽधार एव हि।।६०।।
अन्यस्मिन् हि महिम्न्यन्यो राजादिःप्रतितिष्ठति।
भूम्नो नाऽन्यद् वस्तु तस्मात् कुत्राऽसौ प्रतितिष्ठति।।६१।।

हो जाते हैं क्योंकि वास्तव में अभी भी हैं इससे परे ही। परब्रह्म को किंचित् भी प्रभावित बिना किये अनंत विस्तार से प्रतीत होता यह सारा संसार ही परब्रह्म की महिमा है। घासके तिनके से आकाश पर्यन्त हर कण और क्षण में परमात्मा प्रतिष्ठित है, हर वस्तु उसकी महिमा को प्रकट कर रही है। परमेश्वर किसी अन्य में नहीं वरन् स्वयं अपनी इस महिमा में प्रतिष्ठित है; हमें महिमारूप संसार उपलब्ध है इसीलिये हम इसमें प्रतिष्ठित परमात्मा को समझ सकते हैं। सामान्यतः गाय-घोड़े आदि धन-दौलत आदि से आदमी की प्रतिष्ठा हुआ करती है लेकिन पहलवान की प्रतिष्ठा खुद उसके शारीरिक बल से ही है, घर-मकान आदि होने-न-होने से उसकी प्रतिष्ठा में अंतर नहीं आता अतः कह सकते हैं कि पहलवान् अपने से अन्य किसी पर प्रतिष्ठित नहीं, खुद पर ही प्रतिष्ठित है। ऐसे ही परमेश्वर ने स्वयं जिस संसार का आकार ग्रहण किया, उसे चलाने वाले का आकार ग्रहण किया, उसी संसार पर वह प्रतिष्ठित होने से किसी अन्य पर प्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता, स्वयं की ही महिमा पर प्रतिष्ठित है। पहलवान् के देह की तरह अखिल ब्रह्माण्ड भूमा का देह है, उस अपने देह में ही वह प्रतिष्ठित है अतः अन्य किसी पर प्रतिष्ठित नहीं है।।५७-८।।

वास्तव में अप्रतिष्ठित की व्यावहारिक प्रतिष्ठा उसकी महिमा है इस विरोधाभास का परिहार करते हैं **महिमा कहलाने वाले इस जगत् में जिस आनंद की प्रतीति होती है वह भूमा है। व्यवहारभूमिमें उसका सीमित हो जाना उसे सदोष नहीं बनाता।।५६।। वस्तुमात्र के स्वरूप का विचार करने पर तो स्पष्ट है कि भूमा महिमा पर भी प्रतिष्ठित नहीं है क्योंकि गाय-घोड़ा आदि जो महिमा कहलाते हैं वे भूमा का आधार नहीं हैं।।६०।। महिमासे अन्य राजा आदि अपने से भिन्न महिमा पर प्रतिष्ठित होता है किन्तु भूमासे अन्य कोई वस्तु है ही नहीं अतः वह किसमें प्रतिष्ठित हो सकता है!।।६१।।** संसार में विषयादि से सीमित बनकर मिलने वाला आनंद भूमा ही है। जैसे घट शराव आदि से सीमित होकर मिलने

वाला आकाश है वास्तव में व्यापक महाकाश ही वैसे व्यापक आनंद ही सीमित होकर व्यवहार्य बनता है। क्योंकि यह परिसीमन मिथ्या है, पारमार्थिक नहीं है इसलिये आनंद की व्यापकता अक्षुण्ण बनी रहती है, उसमें किसी तरह का छोटापन नहीं आ जाता। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद में बँटा देखने से लगता है कि आनंद थोड़ा-सा है, आदि-अन्तवाला है, लेकिन वह त्रिपुटी अवास्तविक होने से वह छोटापन भी असत्य ही है। जो जगत्कारण असीम आनंद है वही हमें व्यवहार में उपलब्ध होता है, आनंद कोई दूसरा नहीं है केवल उसका सीमित प्रतीत होना कल्पित है क्योंकि ऐसी प्रतीति का हेतु उपाधियाँ कल्पित हैं। आनंद तो है इसीलिये मिलता है, जिसमें मिलता है वह सीमित होने से आनंद भी सीमित मिलता है। किन्तु जहाँ-कहीं आनंद मिलता है वहाँ हम उसे प्रतिष्ठित समझ सकते हैं क्योंकि वे उपाधियाँ ही उसकी महिमा है। संसार में ऐसा कुछ नहीं जो किसी-न-किसी को आनंद न दे! निकृष्ट मानी जाने वाली योनि में पैदा हुए जीव भी उसके उपयुक्त भोग पाकर वैसे ही सुखी होते हैं जैसे अमृतादि पाकर इंद्रादि देवता। अतः हर चीज़ में आनंद है, हर चीज़ उसी भूमा की महिमा है, अपने में उसे प्रतिष्ठित कर दिखाती है। जैसे ज्ञाताओं के वैलक्षण्य से वस्तुओं की आनंद प्रकट करने की क्षमता कार्य करती है अमृत देवता आदि को ही सुख देता है, विष्ठा सुअर आदि को ही सुख देती है वैसे ही ज्ञान-साधनों के वैलक्षण्य का भी प्रभाव पड़ता है : रसगुल्ला दीखने मात्र से नहीं वरन् खाने पर सुख देता है। ग्रहण करने वाले जीव, ग्रहण करने के साधन और जिस विषय के मार्फ़त ग्रहण करते हैं वे सीमित होने से सीमित आनंद ग्रहण होता है, आनंद की कमी से नहीं। इसलिये व्यावहारिक सीमितता से भूमा में कोई कमी की प्राप्ति नहीं होती। भूमा यदि कम हो तो दोष की बात है, वह कम होता ही नहीं, भले ही व्यवहार में ऐसा प्रतीत हो।

अज्ञानदशा में भूमा अज्ञानकार्यों में प्रतिष्ठित है ऐसा लगता है जैसे घड़े आदि में मिट्टी प्रतिष्ठित लगती है। कार्यों से ही कारण की प्रतिष्ठा होती है, व्यक्ति ने जो कार्य संपन्न किये उन्हीं से उसकी महिमा लोकसिद्ध है, पत्थर आदि से भी यदि कोई बारीक कारीगरी-युक्त आकार बन सके तो पत्थर की कीमत होती है अथवा मज़बूत मकान आदि बन सके तो पत्थर की महिमा होती है, अतः कार्य में कारण प्रतिष्ठित समझना सही है। होता कारण अवश्य कार्य से व्यापक ही है अतः समस्त जगत् का कारण सारे संसार से व्यापक है यह स्पष्ट हो जाता है। इस व्यापकता में निहित है कि प्रतीयमान प्रतिष्ठा अवास्तविक है। जैसे, लगने पर भी घड़े 'में' मिट्टी प्रतिष्ठित नहीं वैसे संसार में भूमा

प्रतिष्ठित नहीं। मिट्टी में ही घड़ा कल्पित है, भूमा में ही संसार कल्पित है। अतः कहा कि वस्तु अर्थात् वास्तविक जो तत्त्व है उसके स्वरूप का विचार करने पर स्पष्ट होता है कि महिमा पर भी भूमा प्रतिष्ठित नहीं है। वस्तु एकमात्र सत्-चिद्-आनंद है, नाम-रूप अवस्तु हैं, कल्पित हैं, मिथ्या हैं; मिथ्या में सत्य कभी भी प्रतिष्ठित हो नहीं सकता, सत्य में ही मिथ्या कल्पित होता है। सत्य को साफ-साफ न जानने पर ही लोक में भ्रम होता है, वैसे ही आत्मा को पूर्ण न जानने से ही महिमा-नामक संसार का भ्रम मौजूद है। भ्रम से 'साँप लंबा है' दीखने पर लगता है कि लंबाई साँप की है जबकि वास्तव में है वह रस्सी की और रस्सी लंबी होने से ही साँप लंबा दीख रहा है। इसी प्रकार सद्रूप ब्रह्म में समस्त ब्रह्माण्ड कल्पित है इसीलिये 'संसार है' यह प्रतीति होती है; लगता है कि संसार में है-पना है जबकि वस्तुस्थिति है कि 'है'-में संसार है। अतः वास्तविकता की दृष्टि से 'है'-रूप भूमा को संसाररूप महिमा में प्रतिष्ठित नहीं कहा जा सकता जैसे रस्सी को साँप में प्रतिष्ठित नहीं कह सकते। प्रतीति के स्तर पर भले ही संसार पर भूमा को प्रतिष्ठित कहें लेकिन वह व्यवहारमात्र है, परमार्थतः भूमा चीज़ ही ऐसी है जो किसी अन्य पर प्रतिष्ठित हो सकती ही नहीं। आधार-आधेय का वास्तविक भेद होने पर ही आधेय को आधार पर प्रतिष्ठित कह सकते हैं, क्योंकि वास्तविक भेद होने पर भूमा की भूमरूपता ही नहीं रहेगी अतः भेद सत्य हो नहीं सकता तो भूमा किसी पर प्रतिष्ठित हो भी नहीं सकता। वही घड़ा उसी घड़े में है यह कहना-समझना संभव ही नहीं; घड़े में घी, पानी तो हो सकता है पर उसी घड़े में वही घड़ा नहीं हो सकता। ऐसे ही भूमा से भिन्न कुछ न होने से यदि उसे प्रतिष्ठित कहेंगे तो खुद में ही प्रतिष्ठित कहना पड़ेगा जो असंभव है। प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठित से भिन्न ही बताना पड़ता है : किसी को बड़ा आदमी कहें तो उसके शरीर के बड़प्पन से उसका बड़प्पन नहीं समझाते वरन् उससे भिन्न जो उसकी धन-संपत्ति उससे बड़प्पन सिद्ध करते हैं। पृथक् पदार्थ को ही महिमा कहते हैं, स्वयं को नहीं। भूमा से वास्तव में पृथक् कुछ हो नहीं सकता इसलिये उसकी ऐसी कोई महिमा नहीं जिसमें वह प्रतिष्ठित हो। समझ आने से पहले तक तो संसार में भूमा है, समझ आने पर केवल भूमा ही है, संसाररूप में भी दीख वही रहा है अतः संसार 'में' वह नहीं है।

यह केवल विचारमात्र नहीं, स्वानुभव होता है। गाज़ीपुर में एक महात्मा रहते थे। भक्त आकर स्थान की साफ-सफाई आदि कर दिया करते थे, बाकी समय महात्मा अकेले भजन करते रहते थे। एक दिन सुबह भक्त आये तो देखा कि महात्मा को साँप ने डस लिया है, वे बेहोश पड़े थे। भक्त उन्हें अस्पताल ले गये, सुई लगवायी, किन्तु देर तक

यथा लोके निराधार आकाशोऽस्ति तथा कुतः।
भूमा न स्याद् अतो युक्त्या निराधारोऽपि बुद्ध्यताम्।।६२।।

जहर शरीर में रह चुकने से होश आने में तीन दिन लग गये। होश आने पर भक्त उनके मुँह में दूध की बूँदे डालने लगे, दूध पीने से कुछ सामर्थ्य आयेगी ऐसा वैद्य ने समझाया था। जब कुछ चेतना प्रकट हुई तो लोगों ने पूछा 'मुझे पहचाना? मुझे पहचाना?' महात्मा ने धीरे से 'हाँ' कह दिया। भक्तों ने आग्रह किया, 'बताओ कौन हूँ?' महात्मा ने कहा 'जो थोड़ी देर पहले डस गया था वही अब दूध पिला रहा है।' भक्त तो स्तब्ध रह गये लेकिन महात्मा की निष्ठा देखकर श्रद्धा और बढ़ गयी। इस प्रकार जब ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है तब व्यापकता यों प्रत्यक्ष हो जाती है, तब स्पष्ट होता है कि भूमा किसी पर न प्रतिष्ठित है, न हो सकता है, जो कुछ प्रतीयमान है वही भूमा पर प्रतिष्ठित है, अध्यस्त है।।५९-६१।।

श्लोक ५६ में नारद ने कहा था कि सर्वथा आधारहीन कुछ हो सकता है यह कैसे समझा जाये? उसका सोदाहरण समाधान करते हैं **जैसे यह लोक-सिद्ध है कि आकाश बिना किसी आधार के है, वैसे भूमा आधारहीन क्यों नहीं समझा जा सकता? इसलिये युक्ति के सहारे भूमा की वेदोक्त निराधारता समझ लेनी चाहिये।।६२।।** आकाश अर्थात् खाली जगह। लगता है कि बक्से में, घड़े में, कमरे में जगह है जबकि खुद बक्सा, घड़ा, कमरा आदि जगह में ही हैं! स्वयं जगह किसी 'में' नहीं है, उसका कोई आधार नहीं, वह पदार्थ ही अवृत्ति कहा जाता है अर्थात् कुण्ड में बेर की तरह वह किसी पर आश्रित नहीं रहता। संसार में जगह सबको प्रत्यक्ष है और जगह किसी अन्य पर स्थित है ऐसा भी किसी को नहीं लगता। अतः निराधार वस्तु के रूप में आकाश सुलभ दृष्टांत है। इसी के अनुसार भूमा को आधार के बिना मौजूद समझा जा सकता है। लौकिक दृष्टांत मिल जाने से अलौकिक वस्तु को हृदयंगम करना सरल होता है। पंचदशी में (२.४२) भी इसी रीति से समझाया है :

'अत्यंतं निर्जगद् व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम्।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम्।।'

अर्थात् मिलता आकाश जब भी है तब किसी-न-किसी अन्य वस्तु के साथ ही है किन्तु समझ आ जाता है कि अन्य वस्तुओं से अतिरिक्त ही आकाश पदार्थ है, ऐसे ही आकाश से भी रहित सत् है यह विवेक-बुद्धि से समझना संभव है। निराधारता की संकल्पना एक जगह स्पष्ट हो जाने पर अन्यत्र भी उसे समझना सरल हो जाता है। केवल इंद्रियों से यह सब नहीं दीखता, इसके लिये युक्ति का उपयोग करना ही पड़ता है। तत्त्व तो प्रमाण

व्यावहारिक आनन्दे व्युत्पत्तेः शून्यता न हि।
व्युत्पन्नो यौक्तिकश्चैष ऐकाग्र्ये भासते स्वयम्।।६३।।

से पता चल जाता है पर उसे बुद्धि में स्थित करने के लिये युक्ति की सहायता ज़रूरी होती है जैसा कि कहा है 'बृंहिणीमन्तरेण स्वार्थे युक्तिं वेदवाक्यं न पुष्टम्', वेदवाक्य प्रमाण भले ही है पर दृढ प्रमा के लिये वह युक्ति का उपयोग करता है। वेद प्रमोत्पादनार्थ किसी अन्य पर आश्रित नहीं लेकिन जैसे प्रमाता को भाषा आदि का ज्ञान होना ज़रूरी है वैसे ही युक्ति जानने वाला भी उसे होना आवश्यक है। सूक्ष्म तत्त्व बिना युक्ति के बुद्धि में ग्रहण नहीं किये जा पाते, भूमा सबसे सूक्ष्म वस्तु है अतः इसे बुद्धिग्राह्य बनाने में युक्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'युक्त्या बुध्यताम्' अर्थात् युक्ति के द्वारा निश्चय प्राप्त करना चाहिये; पता तो वेद से चल गया पर वह बात वैसी ही है इस निश्चितता के लिये युक्ति-चिंतन पर्याप्त सामग्री है। सबका हेतु होने से भूमा से अन्य कुछ हो ही नहीं सकताइस युक्ति से उसे निराधार समझना चाहिये।।६२।।

अनेक अविचारशीलों को लगता है कि आकाश 'कुछ नहीं' का ही नाम है, 'कुछ नहीं है' को ही 'जगह है' कहते हैं। नारद जी को भी प्रश्न उठा कि क्या इसी तरह भूमा भी 'कुछ नहीं' या शून्य ही है? निराधार का एक ही दृष्टांत मिला आकाश और वह शून्य प्रतीत होता है अतः शंका ठीक ही है कि निराधार होने से भूमा भी शून्य ही होगा। इसके उत्तर में कहते हैं **भूमा को शून्यरूप नहीं समझा जा सकता क्योंकि व्यवहारभूमि पर उपलब्ध आनंद भूमा का ही रूप है जिसके आधार पर भूमा शब्द का अर्थ आनंद है यह निश्चय हो जाता है। अनुभवों के तार्किक विश्लेषण से भी निर्विशेष आनंद प्रसिद्ध हो जाता है और चित्त की स्थिर एकाग्रता होने पर स्वयमेव यह भूमा तत्त्व प्रकाशमान होता है। अतः इसकी शून्यता का प्रसंग ही नहीं है।।६३।।** सर्वांश में अलौकिक होता तो संभव भी था भूमा के बारे में भ्रम होना कि वह शून्य है किंतु वह लोक में सोपाधिकरूप से उपलब्ध है अतः वह संभावना नहीं रह जाती है। उपपत्ति, युक्ति से भी भूमा संभावित है और समाहित चित्त में प्रकाशमान हो जाता है अतः जैसे वैज्ञानिकों की स्थापनाएँ पहले वैचारिक स्तर पर फिर प्रायोगिक स्तर पर सत्यापित होती हैं वैसे भूमा का भी सत्यापन होने से इसे शून्य मानना असंभव है। विचार करें तो आकाश भी शून्य नहीं वरन् भावरूप महाभूत है। सारा स्थूल व्यवहार आकाश पर निर्भर करता है, जगह हो तभी कोई काम कर सकते हो। विचार भी करने के लिये मन-बुद्धि में जगह चाहिये! ठसा-ठस भरी बुद्धि में नवीन विचार प्रवेश ही नहीं

बोधक्रमः

बोधक्रमो बुभुत्सूनां विस्पष्टम् अभिधीयते।
चतुर्दिक्ष्वध ऊर्ध्वं च भूमा बोद्धव्य आदितः।।६४।।

कर पाते। सांसारिक विषयों से पूरी तरह भरा मन परमात्मा को ग्रहण ही नहीं कर पाता। अतः बाह्य-आंतर सब व्यवहार संभव कराने वाला आकाश शून्य समझना असंगत है तो उसके दृष्टांत से भूमा को शून्य सिद्ध करना निराधार है इसमें क्या कहना! भूमा का सर्वसुलभ रूप है आनंद, सुख। विषय-सापेक्ष होकर जो लौकिक सुख बनता है वह निरपेक्ष स्थिति में भूमा है। सत्य, ज्ञान आदि शब्दों को जैसे लौकिक सत्यादि के संदर्भ में समझकर आवापोद्वाप से परमार्थ सत्यादि का बोध होता है वैसे आनंद को भी वैषयिक सुख समझकर विवेक द्वारा भूमा का बोध हो जाता है। हमारा सारा व्यवहार सुख के ही उद्देश्य से होता है, वह सुख ही वास्तव भूमिका पर आनंद है, भूमा है। ऐसे तत्त्व को शून्य नहीं माना जा सकता। व्युत्पत्ति अर्थात् शब्द का अर्थ क्या है यह समझ आना। भूमा शब्द का अर्थ आनंद है यह समझने का स्थल लौकिक सुख है। समझना परिच्छिन्न सुख में पड़ता है, पता अपरिच्छिन्न आनंद का लगता है। जैसे सन्मात्र को समझते हैं घड़ा है, कपड़ा है आदि सीमित सत्ताओं में या घटज्ञान-पटज्ञान आदि सीमित ज्ञानों में चिन्मात्र समझते हैं वैसे सीमित सुखों में आनंद को समझना पड़ता है। मिट्टी-तत्त्व को समझने का प्रारंभिक तरीका यही है कि घड़े-सिकोरे-परई आदि सब में जो है वह मिट्टी है, अर्थात् परिच्छिन्न में देखकर ही असीम का ज्ञान होता है। पूरा समुद्र अपनी आँखों से तो कोई नहीं देख सकता पर कुछ मीलों का समुद्र देखकर सागर का ज्ञान सभी को हो जाता है। जैसे समुद्र-शब्द की व्युत्पत्ति सागर में होती है जबकि समग्र सागर इंद्रियगोचर नहीं वैसे भूमा-शब्द की व्युत्पत्ति आनंदमात्र में होती है भले ही व्यवहार्य आनंद सीमित सुख ही हैं। इस प्रकार, भूमा को शून्य मानना असंभव है। शास्त्र-संस्कारों वाला चित्त अन्तर्मुख होकर सर्वथा एकाग्र हो जाये तब यह भूमा साक्षात् हो जाता है यह विद्वानों को प्रत्यक्ष है।

पच्चीसवें खण्ड में भूमा, अहंकार, आत्मातीनों को सर्वात्मा, सर्वरूप बताया। विभिन्न अनेक चीज़ें सर्वात्मा हो नहीं सकतीं अतः तीनों को सर्वात्मा कहने से समझा यह रहे हैं कि भूमा व आत्मा एक ही वस्तु है, वही अज्ञदशा में अहंकार से एक-मेक होकर मिलती है, तज्ज्ञदशामें संपूर्णता, का ही अपरोक्षावभास होता है। श्रुति ने पहले 'स एवाधस्तात्' आदि से भूमा को सर्वत्र कहा, 'स एवेदंसर्वम्' से उसे सर्वरूप कहा; फिर 'अहंकारादेश' से अहं को सर्वत्र और सर्वरूप कहाः फिर 'आत्मादेश' से आत्मा को सर्वत्र

सत्ता-भान-प्रीतयोऽत्र वीक्ष्यन्ते सर्ववस्तुषु।
सच्चिदानन्दरूपोऽतो भूमा सर्वत्र तिष्ठति।।६५।।
भूम्नो वियोगे वस्तूनि नैव सन्ति न भान्ति च।
प्रियत्वं दूरतस्तेषां भूमा सर्वात्मकस्ततः।।६६।।

और सर्वरूप कहा। तब बताया कि जो ऐसा देखकर, समझकर अनुभव कर लेता है वह आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मानंद, स्वराट् हो जाता है, सब लोकों में उसकी सब इच्छाएँ पूरी होती हैं। जो यों पूर्णता का अनुभव नहीं करते उन्हें क्षयिष्णु लोक ही मिलते हैं, उनकी इच्छाएँ अपूर्ण रहती हैं। इस प्रसंग का स्पष्टीकरण करते हैं **आत्मबोध के इच्छुकों को आत्मानुभव किस क्रम से होता है यह बताते हैं : सर्वप्रथम समझना चाहिये कि चारों दिशाओं में, ऊपर-नीचे सर्वत्र भूमा है।।६४।। संसार में सब वस्तुओं में सत्ता, भान और सुख (प्रेम) अनुभव में आते हैं अतः सत्-चिद्-आनंदरूप भूमा सभी में है यह स्पष्ट है।।६५।। भूमा से वियुक्त होने पर वस्तुएँ न हैं, न उनका भान होता है तो उनकी प्रियता दूरनिरस्त है! इसलिये भूमा सबका आत्मा है।।६६।।** अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होता है कि भूमरूप सच्चिदानंद पर ही नाम-रूपात्मक संसार कल्पित है, बिना भूमा के संसार की सिद्धि नहीं, अधिष्ठान का अध्यस्त में अनुवेध होता है इस नियम से सर्वत्र भूमा को स्थित समझना आवश्यक है जिससे भूमा व्यापक तत्त्व निर्धारित होता है। इस रहस्य को हृदयंगम करने के लिये ही यहाँ क्रमशः भूमा-अहम्-आत्मा की व्यापकता का उपदेश दिया है। सिद्धान्त बता देना मात्र सरल है, उसे जो अनुभव करना चाहे जिसे यहाँ बुभुत्सु कहा उसके लिये क्रमशः विचार करना आवश्यक है। जिसे गंतव्य जानने मात्र का कुतूहल है उसे केवल इतना कहना पर्याप्त है कि 'दिल्ली जाना है', किंतु जो वहाँ जाना चाहता है उसे मार्ग का उपदेश देना आवश्यक है। जिसे साधना नहीं करनी वह तो चरम तत्त्व का उल्लेख सुनकर संतुष्ट हो जाता है लेकिन उस तत्त्व को जीवन में उतारना चाहने वाले को सारे कदम जानने की छटपटाहट होती ही है। ऐसों के लिये उपनिषत् ने यहाँ क्रमशः वर्णन किया। इसलिये व्यापकता समझाने के उद्देश्य से उसे ऊपर, नीचे, दाँये, बाँये आदि सर्वत्र कहा; तर्क की कसौटी पर कसें तो यह वर्णन व्यापकता नहीं सिद्ध करेगा क्योंकि 'ऊपर' कुछ अलग रहेगा तभी उसमें भूमा मौजूद होगा! किन्तु वास्तविक व्यापकता को समझने के लिये पहला कदम यही है कि ऊपर-नीचे सर्वत्र वह है यह समझें।

जानी हुई बात को भी निश्चयरूपता तक पहुँचाने के लिये विचार का सहारा चाहिये। सामने बैठे व्यक्ति को विश्वस्त आदमी ने कह दिया 'यह भूरेलाल है' तो हमें पता चल गया कि वह भूरेलाल है। फिर भी, हम जिस भूरेलाल से मिलना चाहते हैं वही है यह निश्चय करने के लिये उससे दो-चार और प्रश्न करने पड़ते हैं, पता-ठिकाना, नाते-रिश्तेदार आदि की जानकारी प्राप्त करने से पूर्व ज्ञात बात निश्चय में परिपक्व हो जाती है। बिना विचारे वास्तविकता समझ न आकर भ्रम में ही व्यक्ति संतुष्ट हो जाता है : एक शिष्य को गुरु जीने बताया कि सारा संसार नारायणस्वरूप है। उसने भी श्रद्धाकर बात मान ली, विचार किया नहीं। रास्ते जा रहा था, सामने से एक मदमस्त हाथी बेकाबू दौड़ रहा था, महावत ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था 'बचो! बचो! सामने से हटो! हाथी पागल है!' उस अविचारी शिष्य ने हाथी आता देखा, सोचा कि 'यह भी नारायण है, नारायण से क्या डरना!' और सामने ही हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। हाथी ने सूँड में लपेट कर दूर फैंक दिया, बेचारे की हड्डी-पसली टूट गयी। जब कुछ ठीक हुआ तब गुरुजी के पास पहुँचा, शिकायत की 'आपके उपदेशानुसार सर्वत्र नारायण-दृष्टि की तो मेरी यह दुर्गति हुई।' गुरु जी ने कहा 'मैंने सर्वत्र नारायण-दृष्टि बतायी थी। तूने हाथी को तो नारायण माना लेकिन महावत भी तो नारायण था, उसकी बात क्यों नहीं मानी? नारायण की बात न मानने का ही नारायण ने तुम्हें दंड दिया।' विचारपूर्वक समझने पर यों ग़लती-से बचना सहज होता है।

भूमा व्यापक है इसे समझने के लिये सच्चिदानंद को दृष्टि में रखना पड़ता है, नाम-रूप तक ही देखते रहे तो वास्तविक व्यापक हाथ न आकर कोई ग़लत व्यापकता ही हमें फँसा लेगी। हमारे समस्त अनुभवों में सत्-चित् की उपस्थिति है; आनंद भी मौज़ूद है पर उसकी मौज़ूदगी ढकी हुई है, विचार करने पर लगता अवश्य है कि आनन्द भी व्यापक है पर थोड़ी-सी असावधानी होते ही पुनः वह बात धुँधली हो जाती है। सद्रूप की व्यापकता समझनी है; हाथी का जो सद्रूप वही नारायण है और सद्रूप कभी हमारी किसी समस्या का हेतु बन नहीं सकता क्योंकि नाम-रूपों का परस्पर संघर्ष होता है। अनुभव रहते ही विषय हमारे लिये हैं अतः सब विषय अनुभव से व्याप्त होने के कारण उनमें चित् व्यापक है। सत् की तरह चित् भी हमारे लिये समस्या नहीं खड़ी करता, नाम-रूपात्मक विषय ही समस्या पैदा करते हैं। इसी तरह आनंद, प्रियता व्यापक है। सभी चीज़ें किसी-न-किसी को किसी-न-किसी दृष्टि से प्रिय होती हैं, सुख देती हैं। सुख सबमें अनुस्यूत है, उसे अभिव्यक्त करने के लिये सामग्री न होने से हमें प्रतीत भले ही न हो।

जगद्भ्रान्तिं निवार्याऽस्य ताटस्थ्यविनिवृत्तये।
अहङ्कारेण भूमाऽनुसन्धेयः सर्वदिक्ष्वसौ।।६७।।

इस प्रकार सत्-चित्-आनन्द व्यापक है, वही भूमा है। वेद ने जिस तत्त्व को व्यापक कहा वह सच्चिदानंदमात्र है यह विचार से निर्णय होता है। विचार और आवृत्ति इन दोनों से संस्कार-दृढता होने पर मन स्वभावतः तत्त्व ग्रहण करने लगता है। केवल जान लेने मात्र से मन तदनुसार तब तक नहीं चलता जब तक संस्कार पुष्कल न हो जायें। विभिन्न परिस्थितियों में व्यापक तत्त्व पहचान सकें यह तभी संभव है जब गहन विचारपूर्वक साक्षात्कार दृढ किया जा चुका है। एकनाथ जी गधे में भी रामेश्वर देख पाये क्योंकि दृढता प्राप्त कर चुके थे, अन्य पण्डितों ने भी सुना भले ही था कि ईश्वर सर्वव्यापक है पर मनन-निदिध्यासन से उसे परिपक्व न किया होने से उन्हें गधे में नहीं, रामेश्वर में भी ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ, लिंगदर्शन से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा। नाम-रूप स्थूल वस्तु है, सच्चिदानंद सूक्ष्म होने से अतिशुद्ध बुद्धि से, विवेकपूर्ण मति से ही अनुभव किया जा सकता है। भूमा को अनुस्यूतरूप से ग्रहण करना साधक के लिये सरल है। जहाँ भूमा नहीं, जिसका भूमा से सम्बन्ध नहीं वहाँ सच्चिदानंदरूपता नहींयह व्यतिरेक समझना कठिन है क्योंकि भूमा तत्त्व ऐसा है नहीं जो कहीं न हो या किसी वस्तु से असम्बद्ध हो अतः कल्पना के आधार पर ही इस निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि भूमा से असंबद्ध नाम-रूप अलीक ही रह जायेंगे। इस काल्पनिक व्यतिरेक से भी भूमा सर्वात्मक ही सिद्ध होता है। 'है' से पृथक् होकर वस्तुओं की वर्तमानता असंभव है, ज्ञान से असंबद्ध भी उन्हें विद्यमान कहना नहीं बनता और जो न है, न प्रतीत हो वह प्रिय नहीं होगा इसमें क्या कहना? जैसे मिट्टी से वियुक्त होकर घटादि की कोई स्थिति नहीं वैसे भूमा से वियुक्त नाम-रूप की भी कोई स्थिति नहीं। व्यवहार-भेद नाम-रूपभेद पर निर्भर करता है किन्तु न व्यवहार और न नाम-रूप परमार्थ हैं, परमार्थ भूमा ही है। परमार्थ को समझने से शोकनिवृत्ति होती है, नाम-रूप को सत्य मानकर संसरण चलता रहता है। अतः नाम-रूप को नहीं वरन् सच्चिदानंद को सर्वात्मा, व्यापक समझना चाहिये यह सनत्कुमार का उपदेश है।।६४-६६।।

बोधक्रम में पहला कदम बताकर दूसरा कदम स्पष्ट करते हैं **जगद्रूप भ्रम मिटाकर भूमा वस्तु तटस्थ है इस भ्रम को दूर करने के लिये सभी दिशाओं में मैं-रूप से भूमा का अनुसन्धान करना चाहिये।।६७।।** प्रत्यक्ता का भान न होने को तटस्थ-शब्द से सूचित किया। वस्तु प्रत्यक् होने पर भी प्रत्यग्रूप से उसका ज्ञान

न होने तक वह परोक्ष की तरह ही अवभासित होती है अतः उसे मैं-से अभिन्न समझते हुए चिंतन करना चाहिये। जगत् का अधिष्ठान उसमें अनुगत सच्चिदानंद है यह समझ लेने से संसार के पदार्थ वास्तव में पृथक् हैं यह भ्रम मिट जाने पर भी संसार से मैं अलग हूँ यह भ्रम बना रह जाता है। बाह्य भेद औपाधिक है, वस्तुगत नहीं; व्यवहार उपाधि-प्रधान होता है अतः उपाधियों की उपेक्षा नहीं कर सकते लेकिन उन्हें वस्तु के तुल्य सत्य नहीं समझना चाहिये अन्यथा राग-द्वेष का बंधन कसा रह जायेगा, शिथिल नहीं पड़ेगा। दृश्य जगत् को ब्रह्ममय जानने पर भी स्वयं को जब तक ब्रह्म न समझा जाये तब तक कल्याण नहीं। समझी बात भी स्वयं पर लागू न करना रूप तटस्थता से उस समझ का लाभ नहीं मिलता। हम निर्लज्जता से कह देते हैं 'हिंदू-मंदिरों में बड़ी गंदगी रहती है' क्योंकि हम तटस्थता बनाये रखते हैं; जानते हैं कि मंदिर साफ रहना चाहिये पर उस बात को खुद पर लागू नहीं करते कि 'मुझे मंदिर साफ करना चाहिये' अतः खुद वहाँ गंदगी फैलाते हैं और उस गंदगी से परेशान भी होते हैं। मंदिर ही नहीं, सड़क की गंदगी, समाज की खराबियाँ भ्रष्टाचार आदि सभी विषयों में हमें ज्ञान तो ठीक है लेकिन तटस्थता के कारण सुधार न करके बिगाड़ ही करते जा रहे हैं।

होना चाहिये पर मैं क्यों करूँयह तटस्थता जैसे संसार में विकृति बढाती है वैसे सारा संसार परमात्मा है पर मैं नहींयह तटस्थता मोक्षमार्ग को अवरुद्ध कर देती है। वैष्णव आदि भेद-सत्यतावादी इसीलिये कैवल्य से वंचित रह जाते हैं। उपनिषदें बहुत स्पष्टतः इस तटस्थता को दूर करने के लिये त्वमर्थ की पूर्णता का प्रतिपादन करती हैं। यहाँ भी पहले सारे संसार को सच्चिदानंद समझने को कहकर फिर 'मैं भूमा हूँ' समझने के लिये कहा है। यह क्रम स्मर्तव्य है। प्रायः सर्वत्र उपनिषदें सृष्टि-रचयिता परमेश्वर के वर्णन से प्रारंभ कर जीव को भी उससे अभिन्न बताती हैं। संसार एक ब्रह्म से बना समझने पर संसार का भेद दूर होकर अभिन्न परमात्मा का पता चलता है, यह पहला कदम है; उसके बाद महावाक्य से निश्चय होता है कि वह परब्रह्म ही मेरा वास्तविक स्वरूप हैयह दूसरा कदम है। यद्यपि कहीं-कहीं त्वमर्थ से प्रारंभ कर फिर तदर्थ बताया जाता है अतः 'आदौ ब्रह्माऽहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चाद्' आदि शतश्लोकी में कहा है, तथापि प्रतिपादन की प्रक्रियाओं की अनेकता वेदांत सिद्धान्त में संमत होने से यहाँ की प्रक्रिया से विरोध नहीं समझना चाहिये। अत्यंत अभेद समझने के लिये कहीं से तो प्रारंभ करना ही है, जिस जगह जहाँ से प्रारंभकर उपदेश दिया है उस स्थल के विचार में वैसा ही करना चाहिये तभी वह

सन्त्येव सच्चिदानन्दा देहादिष्वपि बाह्यवत्।
भूमाऽहङ्कारयोग्योऽतोऽहं सर्वमिति वा श्रयेत्।।६८।।

प्रसंग समझ आयेगा। यहाँ छांदोग्य में यह क्रम बताया है अतः तदनुसार इस ग्रंथ में भी इसका अनुसरण किया है।।६७।।

मैं-की अनुभूति परिच्छिन्नता लिये हुए ही होती है, अतः मैं को व्यापक कैसे समझा जाये? इसका उत्तर देते हैं **बाह्य वस्तुओं की तरह देह आदि में भी सत्-चिद्- आनंदरूपता है इसलिये भूमा इस लायक है ही कि उसे मैं समझा जाये अतः 'मैं सब हूँ' इस चिंतन का सहारा लेना चाहिये।।६८।।** मैं की हमें अनुभूति शरीरादि के साथ होती है, उपाधियों से एकमेक होकर होती है। उपाधियों की सत्-चिद्- आनंदरूपता उसी तरह है जैसे घटादि बाहरी चीज़ों की। चाहे स्थूल शरीर हो या सूक्ष्म शरीर, हैं दोनों उपाधि और दोनों में सच्चिदानंदरूपता एक-समान है। अतः जैसे पूर्व में सारे संसार को भूमा समझा था। वैसे ही अध्यात्म-उपाधियों को भी भूमा समझना उचित है। मैं शरीरादि हूँ, शरीरादि सच्चिदानंद हैं, इसलिये मैं सच्चिदानंद हूँयह सीधा निर्णय हो जाता है। सच्चिदानंद भूमा होने से सर्वरूप है तो मैं भी सर्वरूप, व्यापक पूर्ण हूँ यह निश्चय कर लेना चाहिये। बर्फ़ के घड़े में पानी भरकर घड़ा तालाब में डाल दे तो जैसे भेद-प्रतीति के बावज़ूद वहाँ एकमात्र जल ही रहता है वैसे युष्मद्-अस्मत् के भेद की प्रतीति होते हुए भी एक अखण्ड भूमा ही वास्तविक है यह जानना चाहिये। उपाधियाँ भी सच्चिदानंद से पृथक् नहींयह समझना इस प्रक्रिया की विशेषता है। सारे भेद का बाधकर इसके अधिष्ठान को मैं समझनायह वेदांत का राजमार्ग है किन्तु यहाँ उपासना की पद्धति से चल रहे हैं अतः भेद को ब्रह्म का विलास समझते हुए सर्वव्यापक को मैं जाननाइस ढंग को अपनाया है। तथापि वल्लभाचार्यादि की रीति को यहाँ मान्यता नहीं मिलती क्योंकि भेद की भूमरूपता इसी से बतायी है कि वह भेद सच्चिदानंद पर कल्पित है, सच्चिदानंद से पृथक् भेद की सत्ता नहीं है। वल्लभादि के मतों में कल्पितता का विचार न होने से भेद की सत्यता बनी रहती है। अत एव वे जीव-ईश्वर का अत्यन्त अभेद नहीं स्वीकार पाते। यहाँ समझाया कि 'जो सर्वरूप सच्चिदानंद है वही मैं हूँ' इस निश्चय तक पहुँचना है।।६८।।

मैं-अनुभव सीमित को विषय करता है अतः प्रश्न होता है कि मैं को सर्वरूप

गृहैकदेशेऽवस्थाय सार्वभौमोऽहमित्यसौ।
राजाऽभिमन्यते तद्वद् भूमाऽहम् इति नो कुतः।।६९।।
आभिमानिकमेवेदं भूमात्मत्वम् इति भ्रमम्।
निराकर्तुं सर्वदिक्षु भूम्नो ज्ञेया चिदात्मता।।७०।।
अहंशब्दश्चिदात्मानं साऽहङ्कारं ब्रवीति हि।
अहङ्कारे बोधलीने चिदात्मैवाऽवशिष्यते।।७१।।

कैसे समझें? दृष्टांत से उत्तर देते हैं **घर के एक हिस्से में रहकर भी राजा समझता है 'मैं सार्वभौम हूँ', इसी तरह 'मैं भूमा हूँ' यह क्यों नहीं समझा जा सकता!।।६९।।** राजा को बुद्धि होती है 'मैं अपने देश में मौजूद हूँ' जब कि रहता वह एक राजधानी के एक महल के एक कमरे की एक कुर्सी पर ही है! जनक को सुलभाने यही समझाया था। इसी प्रकार हार्दाकाश में बैठकर भी 'सर्वरूप हूँ' यह समझना संभव है। सच्चिदानंद व्यापक है, मैं सच्चिदानंद हूँ तो व्यापक ही हूँ यह निश्चय श्रुति-युक्ति से होने पर परिच्छिन्नता की प्रतीति अकिंचित्कर रह जाती है, उस निश्चय को काट नहीं पाती। कुर्सी-मात्र पर राजा संयोग-संबंध से है और सारे देश में किसी अन्य ही तरह से है, उसी प्रकार हृदय में 'मैं' तथा सर्वत्र 'मैं' होने पर भी दोनों जगह रहने का ढंग अलग है; बुद्धि-छाया की दृष्टि से हृदय में मैं हूँ, जिसकी छाया बुद्धि में पड़ रही है उस रूप में सर्वत्र हूँ। इसलिये अपनी सीमितता प्रतीत होने से अपनी व्यापकता का विरोध नहीं।।६९।।

अहंकारादेश के बाद आत्मादेश आता है, उसका उपयोग बताते हैं **उक्त ढंग से 'मैं भूमा हूँ' यह समझना तत्त्वानुभूति न होकर मान्यतामात्र हैइस भ्रम को दूर करने के लिये आत्मादेश से समझाया कि चेतन आत्मारूप भूमा सब दिशाओं में है यह अनुभव करना चाहिये।।७०।। अहम् या मैं शब्द अहंकार-समेत आत्मा का बोधक है, ज्ञान से अहंकार का बाध हो जाने पर चिन्मात्ररूप आत्मा ही बचता है।।७१।।** अहम् को भूमा जानने में यदि अहंकाररूप वृत्त्यंश का बाध न हो पाया तो वह ज्ञान प्रमा न होकर उपासनारूप रह जायेगा। वैसा न हो इसलिये श्रुति ने अहं के परामर्श से बताकर फिर केवल आत्मशब्द के उल्लेख से तत्त्व का उपदेश दिया जिसे आत्मादेश कहा। साधक दहराकाश में स्वरूप का अनुभव पाकर फिर दहर के भी परामर्श के बिना स्वरूप में स्थिर रहे, अपनी असीम चिद्रूपता को महसूस करे, तभी पूर्णानंद की प्राप्ति होती है यह तात्पर्य है। इस पूर्णता में शरीर तक की भी अपेक्षा नहीं

रह जाती, तभी स्वराड्भाव आता है। यद्यपि परिष्कृत दृष्टि से तो अहम् को भूमा जानने पर भ्रम नहीं होगा तथापि वैसा परिष्कार हो सके इसके लिये अहं के बाद आत्मा का कथन आवश्यक है। अहं या मैं से वृत्ति-चिदात्मा के संमिश्रण का उल्लेख होता है, उसमें वृत्त्यंश छोड़कर चिदंश ग्रहण करना संभव तभी है जब अहं से पृथक्कर आत्मादेश मिल रहा है। सारे संसार की तरह, शरीरादि की तरह वृत्ति भी ब्रह्मकार्य होने से सच्चिदानंद से अलग नहीं है किंतु जब तक विवेकदृष्टि से अहम् को भी सच्चिदानंद समझ न लिया जाये तब तक परिच्छिन्नता ही भासती रहती है। जब सच्चिदानंदरूप से ग्रहण करने लगते हैं तब अहंवृत्ति स्वयं लीन होने लगती है। न समझने तक ही अहंकार आत्मा से अलग-जैसा मिलता है, आत्मस्वरूप दीखते ही अहंकार कोई स्वतंत्र चीज़ नहीं रह जाती। नाम-रूप देखने पर ही घड़ा स्वतंत्र लगता है, मिट्टी देखें तो घड़े का पार्थक्य विलीन हो जाता है, इसी प्रकार अहंवृत्ति के सच्चिदानंदांश को देखने पर उसका वृत्तिरूप विलीन हो जाने से अखंड भूमा ही रहता है। अवयव-विन्यासात्मक उपाधि से जैसे मिट्टी भिन्न होकर घड़ा प्रतीत होता है वैसे अज्ञान उपाधि से आत्मभिन्न होकर अहम् प्रतीत होता है। अज्ञान मिटने पर अहम् कोई पृथक् वस्तु न रहकर भूमा ही रहता है। लहरदृष्टि से भेद होने पर भी जल दृष्टि से जैसे समुद्र अखण्ड है वैसे सच्चिदानंद भूमा ही है, वृत्त्यंश की अपेक्षा से ही भेद है। सुषुप्ति में रोज़ सबको यह अपरोक्ष है, वहाँ वृत्ति न रहते ही सर्वथा अभिन्न आत्मा ही भासमान रहता है। सुषुप्ति में अपना अनुभव यह नहीं होता कि 'मैं परिच्छिन्न हूँ'। व्यापकता का भी अनुभव भले ही न हो पर सीमितता भी भासती नहीं है। इससे निश्चित है कि बिना अहंकार के परिच्छिन्नता का अनुभव नहीं अतः स्वभाव से आत्मा व्यापक ही है। सुषुप्ति में वृत्ति अज्ञान में छिपी रहती है अतः फिर प्रकट हो जाती है, बोध से जब वृत्ति लीन अर्थात् बाधित होती है तब पुनः प्रकट होना संभव नहीं। सर्वत्र अधिष्ठानानुभव से बाधित वस्तु का यही नियम मिलता है कि वह फिर कभी सत् बनकर सामने नहीं आती। जैसे घट का बोधपूर्वक लय मिट्टी में ही होता है वैसे अहंकार का बोध से लय उसके अधिष्ठान आत्मा में ही होता है अतः बोधपूर्वक वृत्तिलय से अखण्ड चित्तत्त्व का अस्तित्व ही रहता है। प्रमाण ज्ञान से होने के कारण यह अभिमानरूप अर्थात् मान्यतामात्र नहीं है वरन् वास्तविकता है।।७०-१।।

'भूमा मैं आत्मा हूँ' इस तत्त्वानुभूति का प्रयोजन बताते हैं **जो साधक पूर्वोक्त कदमों से ब्रह्मस्वरूप का दर्शन करते हुए शास्त्रविचार, युक्तिपूर्वक मनन, और बुद्धि से साक्षात्कार प्राप्त करता है वह जीवित रहते हुए भी सारे बंधनों से छूटा**

क्रमेणाऽनेन यस्तत्त्वं पश्यन् शास्त्रविचारतः ।
युक्त्या मत्वा धिया वेत्ति जीवन्मुक्तो भवेदसौ । ।७२ । ।

जीवन्मुक्तः

जीवन् मुक्तो रतिक्रीडामिथुनानन्दलक्षणान् ।
व्यवहारान् क्रमेणैति प्रारब्धस्याऽनुसारतः । ।७३ । ।

ही रहता है । ।७२ । । मोक्षरूप फल साधक को ही मिलता है, केवल कुतूहल से पढ़ने वाले को नहीं। क्रम में वैविध्य संभव होने से यहाँ शास्त्रविचार पृथक् से कहा अर्थात् यहाँ कहे क्रम से अथवा अन्यत्र विहित क्रम से आत्मव्यापकता समझने पर ही मोक्ष होगा। यहाँ के ढंग में भूमा-अहम्-आत्मा का अनुसंधान स्थिर होने पर श्रवणादि सद्यःफलक होता है यह विशेषता है। अनुसंधान इतना उत्कृष्ट होना चाहिये कि तत्त्व का दर्शन हो जाये; यद्यपि तत्त्वदर्शन अंतिम फल है तथापि पूर्वकथित चिंतन से तत्त्व का निश्चय तो हो ही सकता है भले ही कुछ प्रतिबंधक रह जाने से ज्ञानफल न सिद्ध हो। वस्तुतः यदि तात्पर्यानुसार विचारित चिंतन हो चुका है तब तो तत्त्वानुभव सिद्ध हो ही जायेगा पर यदि कुछ कमी है तब प्रतिबंध हटाने के लिये शास्त्रविचारादि चाहिये रहेंगे। पूर्वकल्प में 'अनेन क्रमेण' की व्याख्या 'शास्त्रविचारतः' आदि से की समझनी चाहिये, द्वितीय विकल्प में यथाश्रुत अन्वय है अर्थात् पहले 'पश्यन्' फिर 'वेत्ति', 'देखते हुए जानता है', तत्त्वज्ञान प्राप्तकर उसे अप्रतिबद्ध बनाता है, दृढ करता है। अथवा 'शास्त्रविचारतः पश्यन्' से श्रवणजन्य अपरोक्षानुभव कहकर 'मत्त्वा' और 'धिया' से मनन-निदिध्यासन बताये हैं यह सरल अर्थ जानना चाहिये। हर हालत में, जब तक दृढ ज्ञान न हो तब तक साधनाभ्यास करते ही रहना ज़रूरी है तभी जीवन्मुक्ति का आनंद लिया जा सकता है। युक्तियों से शंका की संभावनाओं का भी उन्मूलन करना चाहिये अन्यथा उपलब्ध ज्ञान भी प्रतिबद्ध हो जाता है। निश्चित प्रमाणजन्य अनुभव विरुद्ध प्रत्ययों से विचलित नहीं होता : स्पष्ट प्रकाश में हमें सामने आकर कोई ज्ञात व्यक्ति थप्पड़ मारे, हमें निश्चय हो कि इसने मारा है, फिर चाहे सर्वोच्च न्यायालय में भी सिद्ध हो जाये कि उसने नहीं मारा तो भी हमें इस बारे में शंका भी नहीं होती। ऐसे ही अखण्ड ज्ञान हो चुकने पर भेद-व्यवहार से कोई अंतर नहीं आता, अद्वैत निश्चय ही स्थिर रहता है। यही जीवन्मुक्त की अवस्था है। ।७२ । ।

तत्त्वज्ञ का वर्णन करते हुए श्रुति ने कहा 'एवं विजानन्नात्मरतिः, आत्मक्रीडः, आत्ममिथुनः, आत्मानन्दः स स्वराड् भवति'। इसका स्पष्टीकरण करते हैं **जीवित**

रहते हुए मुक्त पुरुष प्रारब्ध के अनुसार रति, क्रीडा, मिथुन और आनंद लक्षण वाले व्यवहार क्रमशः प्राप्त करता है।।७३।। रति आदि आनन्दाभिव्यक्ति के भेद हैं जो अनात्मौपाधिक ही प्रसिद्ध हैं पर विद्वान् के लिये ये सभी केवल आत्मा से संपन्न हो जाते हैं। जिस किसी नाम-रूप से रति आदि व्यक्त हो उस नाम-रूप में निज आत्मा का ही अपरोक्ष बना रहने से विद्वान् हमेशा आत्मा से ही रति आदि प्राप्त करता है यह स्पष्ट है। विषय-सम्बन्ध सबको प्रारब्ध से ही मिलता है किन्तु अज्ञानी उसमें अपने अहंकार को भी हेतु समझता है, ज्ञानी ऐसा नहीं समझता। पेड़ हिलने से पत्ते हिलते हैं, पेड़ हवा से हिलता है अतः वास्तव में तो पत्ते हवासे हिल रहे हैं पर क्योंकि उनका पेड़ से संबंध है इसलिये लगता है कि पेड़ हिलने के कारण पत्ते हिल रहे हैं, पत्ते हिलने का कारण पेड़ का हिलना है। जब पत्ता पेड़ से टूट चुकता है तब भी हवा से हिलता है पर तब यह नहीं लगता कि उसे पेड़ हिला रहा है। इसी प्रकार अज्ञदशा में भी विषयों का मिलना आदि हो प्रारब्ध से ही रहा है पर अध्यासरूप संबंध से हम स्वयं को कारण मान बैठते हैं जबकि ज्ञानी यों अध्यास करता नहीं अतः उसे जो रति आदि होते हैं वे केवल प्रारब्ध के अनुसार ही होते हैं। 'मैंने मन को प्रेरित किया या रोका' ये दोनों स्थितियाँ ज्ञानी की नहीं बनतीं क्योंकि उसका तादात्म्य सर्वथा निवृत्त हो चुकता है। जिस विषय के प्रति राग या द्वेष हो उसे देखने या न देखने की इच्छा होती है परंतु जिसके प्रति राग-द्वेष न हो उसे न देखने की और न नहीं देखने की इच्छा रहती है : रागविषय पास हो तो रोशनी जलाकर मुँह उस तरफ घुमाकर देखते हैं; किंतु द्वेषविषय हो तो रोशनी बुझा देते हैं या मुँह फेर लेते हैं; किंतु उपेक्ष्य विषय हो तो हम जस-के-तस रहते हैं, बिजली बुझी हो तो जलाते नहीं, जली हो तो बुझाते भी नहीं, मुँह भी इधर-उधर नहीं फेरते क्योंकि उसके दीखने-न दीखने से हमें फ़र्क़ नहीं पड़ता। विद्वान् के लिये सारा मायाकार्य उपेक्ष्य है, राग-द्वेष के अयोग्य है। क्योंकि उसे अविद्या नहीं इसलिये कामना नहीं, तत्प्रयुक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं। यथाप्रारब्ध प्रतीति आती-जाती रहती है, वह उन्हें लाने या भेजने के लिये कुछ नहीं करता। सांख्यादिवादी अप्रतीति के आग्रही हैं क्योंकि संसार सत्य मानते हैं, आत्मज्ञ प्रतीति-अप्रतीति के प्रति तटस्थ है क्योंकि विषयों को मिथ्या जानता है। अत एव विद्वान् के लिये जीवनकाल और विदेहकाल में मोक्ष में कोई विशेष नहीं। जीवनकाल में प्रपंच की प्रतीति है, विदेहकाल में अप्रतीति है और ज्ञानी के लिये प्रपंच की प्रतीति व अप्रतीति दोनों मिथ्या हैं। गहरी नींद में न यह लगता है कि 'मुझे अनुभव हो रहा है' न यह कि 'अनुभव नहीं हो रहा', ऐसे ही कैवल्य में विषयों के अनुभव-अननुभव दोनों

सुखदुःखप्रदाऽऽरब्ध-कर्मवेगश्चतुर्विधः ।
तीव्रो मध्यो मन्द-सुप्तौ चेति तस्य विधा मताः ।।७४ ।।
तीव्रवेगे स पश्वादितुल्यो नात्मानमीक्षते ।
आत्मनि प्रीतिरस्तीति भवेद् आत्मरतिस्तदा ।।७५ ।।
मध्यवेगे तु भोगानां प्राधान्यं स यदा तदा ।
कृत्वाऽवकाशमात्मानं वदन् क्रीडति बालवत् ।।७६ ।।
मन्दवेगे तिरस्कृत्य भोगान् प्रायेण चिन्तयन् ।
धियाऽऽत्मानं द्वन्द्वसुखं प्राप्नोति मिथुने यथा ।।७७ ।।
सुप्तवेगेऽतिनिर्विघ्नो निर्विकल्पसमाधिभाक् ।
आत्मानन्दावशेषः सन्नास्ते मुक्तवद् अद्वयः ।।७८ ।।

से परे की स्थिति होती है। किन्तु जीवन्मुक्ति दशा में प्रारब्ध-समर्पित रति-क्रीडा आदि का प्रकाशन होता रहता है पर उसमें भी आत्मा कभी छिपता नहीं, यही विद्वान् की विशेषता है।।७३।।

उक्त रति आदि प्रारब्धभेद से कैसे होते हैं यह बताते हैं **सुख और दुःख देने वाले प्रारब्ध नामक कर्म का वेग चार तरह का होता है। तीव्र, मध्यम, मंद और सुप्त ये वे चार प्रकार हैं।।७४।। वेग जब तीव्र होता है तब ज्ञानी भी पशु आदि के समान होकर आत्मा का ईक्षण नहीं करता फिर भी आत्मा में ही उसका प्रेम रहता ही है इसलिये तब आत्मरति कहा जाता है।।७५।। वेग जब मध्यम होता है तब भोगों की प्रधानता होती है, उस समय वह मौका निकालकर आत्मा का कथन करते हुए वैसे ही खेलता है जैसे बालक।।७६।। वेग जब मंद होता है तब ज्ञानी भोगों का तिरस्कार कर बुद्धि से प्रायशः आत्मा का ही चिंतन करते हुए उसी तरह जोड़े का सुख पाता है जैसे मिथुन में।।७७।। जब वेग सुप्त होता है तब सर्वथा किंचित् भी विघ्न नहीं रहता अतः ज्ञानी निर्विकल्प समाधि में स्थित होता है। उस दशा में आत्मा का अद्वय आनंद ही रहता है अतः जीवन्मुक्त भी वैसी ही स्थिति में होता है जैसे विदेहमुक्त।।७८।।** प्रारब्ध उस प्रवृत्तफल कर्म-समुदाय को कहते हैं जो इस जीवन में सुख या दुःख का हेतु बनता है। उसके वेग में कमोबेश होता है। वेग को चार भागों में बाँटे या तीन में, इसमें कोई आग्रह नहीं; पंचदशी में मंद-तीव्र-तीव्रतर ये तीन भेद बताये हैं; तात्पर्य इतना ही है कि वेग में अंतर रहता है जिसके अनुसार मुक्त की स्थिति में भी

फ़र्क़ आ जाता है। यद्यपि मुक्त के लिये ये सब स्थितियाँ एक-समान मिथ्या हैं तथापि उसके मानस की स्थितियों का भेद समझ लेने से श्रद्धालु को मुक्त के बारे में शंका नहीं होती, उसके व्यवहार को प्रारब्धानुसार समझकर आत्मस्तर पर उसकी व्यवहारातीतता पहचान लेता है। तीव्रवेग, जैसे दरवाज़ा टूटकर सिर पर आ गिरा; उस समय दर्द का ही भान प्रकट रहेगा। सुख का तीव्र प्रारब्ध होने पर केवल उत्कट सुख प्रकट रहेगा। यह स्थिति पशुतुल्य है, चोटादि लगने पर जैसे पशु को पीडामात्र का भान रहता है वैसे ज्ञानी को भी, उस समय बुद्धिवृत्ति अखण्ड एकरस आत्माकार नहीं बनती इतने अंश में पशु-सा होने पर भी ज्ञानी आत्मरति बना ही रहता है, दर्द का भान हो या सुखका, उसे हमेशा याद रहता है कि दर्द व सुख दोनों चिद्रूप ही हैं अतः जो चित् इन आकारों में व्यक्त है उस निज आत्मा के प्रति उसका प्रेम बना ही रहता है। बुद्धि आत्मा के आकार की भले ही न बने पर संस्कारों के अतिशय के कारण ज्ञानी की रति, प्रेम आत्मा से हटे यह संभव नहीं। लोकव्यवहार में भी अभ्यासातिशय हो जाने पर अनेक कार्य कर लिये जाते हैं जिन्हें करते समय यह ख़्याल भी नहीं रहता कि 'इस कार्य को अमुक ढंग से कर रहे हैं' पर कार्य सही तरीके से हो जाता है जिसका अर्थ है कि हम उसे करना जानते हैं। ऐसे ही तीव्रवेग के समय आत्मवृत्ति न बनने पर भी प्रेम, रति आत्मा में ही केन्द्रित रहना समझ सकते हैं। स्फुट महसूस न करने पर भी तज्ज्ञ जानता है कि प्रेम का विषय सिर्फ़ आत्मा ही है। बाहर से देखने पर पशुतुल्यता है पर भीतर से अंतर है, पशु की प्रीति अनात्मा में होती है, विद्वान् की प्रीति केवल आत्मा में रहती है।

जब प्रारब्ध का वेग मध्यम होता है तब भोग के बावजूद, भोग की प्रधानता होने पर भी जागरूकता के फलस्वरूप भोग के दौरान ही सिद्ध मौका निकालकर आत्मक्रीड बन जाता है। तीव्रवेग के समय तो सिर फूटने जैसी स्थिति होती है, मध्यमवेग में घुटनों के दर्द जैसी स्थिति होती है जिसमें सामान्य व्यवहार चलता रहे, बीच-बीच में घुटना-दर्द भी महसूस हो जाये। सिद्ध भी मध्यम प्रारब्ध के दौरान आत्म-क्रीडा करता रहता है, लेकिन तभी जब भोग में कुछ व्यवधान आये। सभी व्यवहारों में मध्य में ऐसे क्षण आते हैं जब मुख्य विषय छोड़कर अन्य विचार हो सकता है, अज्ञानी उन क्षणों में सांसारिक विविध विषयों का स्मरण कर लेते हैं, तत्त्वज्ञ उनका उपयोग आत्मक्रीडा के लिये कर लेता है। बालवत् विज्ञ राग-द्वेषरहित होने से सांसारिक चिंतन करता नहीं, स्वरसतः आत्मस्थिति में ही लौटता रहता है। बाह्य साधनों के बिना प्रसन्नता को रति तथा बाह्य साधनों से प्रसन्नता क्रीडा कही जाती है। तीव्रवेग में स्वयमेव आत्मचिंतन होता है,

मध्यम वेग में बाहरी वस्तुएँ आत्मचिंतन संभव कर देती हैं। शिष्यादि को उपदेश करने में, ग्रंथप्रणयनादि में आत्मदृष्टि ही बनने में सहयोग मिलता है यह आत्मक्रीडा है। अन्य भी विषय दीखकर लयप्रक्रियादि से उनके अधिष्ठान की ओर दृष्टि चली जाती है, कोई मंत्रादि याद आकर आत्मस्थिति बनती है इत्यादि आत्मक्रीडा के स्थल समझ सकते हैं। क्योंकि तत्त्वज्ञ का आत्मानुसंधान अनायास होता है इसलिये उसे क्रीडा या खेल कहना संगत है। मुत्तुशास्त्री के अनुसार श्लो. ७६ में 'कृत्वाऽप्रकाशम्' पाठ है अर्थात् उस समय क्रीडा के लिये वह आत्मस्वरूप की ओर से दृष्टि हटा लेता है।

जब प्रारब्ध का वेग और भी कम हो, मंद वेग हो तब भोग-संबंध अनिवार्य नहीं रहता अतः वैराग्य-संस्कारों के बल पर भोग का तिरस्कार किया जा सकता है, उन्हें नज़रन्दाज़ किया जा सकता है। भोगकाल में ही उसकी दोषपूर्णता, हेयता का विचार उपस्थित कर लेने से उस ओर से दृष्टि विमुख होकर आत्माकार बन जाती है। प्रारब्धवश भोग-संपर्क तो आवश्यक है पर वैराग्य की वृत्ति के फलस्वरूप भोग की तीव्रता समाप्त हो जाती है। दुःख की ओर भी 'यह आगम-अपायी, देखते-देखते मिट जाने वाली चीज़ है' यह दृष्टि करने से चित्त दुःख में नहीं उलझता, प्रधान जो आत्माकारता है उसी में रमण करता रहता है। जैसे सुख के लिये प्रवृत्ति वैसे ही दुःख से निवृत्ति बहिर्मुखता की आपादक है अतः वैराग्य के सहारे दोनों से बचकर आत्माकारता बनाये रखने की क्रीडा विद्वान् को सुख देती है। मूलकार ने 'तिरस्कार'-शब्द के प्रयोग से बता दिया कि प्रारब्ध का फल सुख-दुःख दूर नहीं हो जाता, रहता तो है, पर तत्त्वज्ञ उसे महत्त्व नहीं देता, उपेक्षा कर देता है क्योंकि अधिक मूल्यवान् आत्मनिष्ठा को ही सामने रखता है। तिरस् अर्थात् तिरछा; वस्तु को संमुख न रखकर तिरछी रख देने से जैसे उस ओर दृष्टि कम जाती है वैसे व्यवहार की ओर दृष्टि न जाने देना उसका तिरस्कार है। अत एव 'प्रायेण' कहा कि प्रायः अर्थात् ज़्यादातर तो आत्मचिंतन ही होता है, भले ही बीच-बीच में व्यवहार भी दृष्टि में आ जाये। इसे 'द्वन्द्व-सुख' बताया; जब दो का आपसी व्यवहार हो, मध्य में तीसरे का हस्तक्षेप न हो तब द्वन्द्व कहते हैं जैसे दो पहलवानों की कुश्ती। प्रारब्ध बुद्धि को अनात्माकार बनाने का प्रयत्न करें और बुद्धि के संस्कार उसे आत्माकार बनाने का प्रयत्न करें तब यह द्वन्द्व चलता है जिससे विद्वान् प्रसन्न होता है। पहलवान स्वयं कुश्ती से खुश होते हैं, भले ही हारें लेकिन ज़ोर करने का मौका मिलने से ही उन्हें खुशी होती है। विद्वान् भी हर बार आत्मवृत्ति बना ही ले यह ज़रूरी नहीं, कभी प्रारब्ध का दाव भी लगेगा, किंतु उसे उस द्वंद्व से सुख ही मिलता है। अतः मिथुन का दृष्टांत दिया; जोड़े को मिथुन कहते

स्वराट् स्यात् पतिते देहे नान्याधीनो विमूढवत्।
तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवेत् खलु।।७६।।

हैं, उन्हें जो सुख होता है वह दोनों से ही होता है, उस सुख में कारण भी वे दोनों और भोक्ता भी वे दोनों होते हैं। विद्वान् प्रारब्ध को भी अपना किया कर्म जानता है और संस्कारों को भी खुद के डाले ही जानता है अतः उनकी आपसी लड़ाई से उसे बराबर सुख मिल जाता है। संसार-मिथ्यात्व निश्चित होने के कारण यदि प्रारब्ध जीत गया तो भी विद्वान् को कोई हानि नहीं प्रतीत होती जैसी साधक या अज्ञानी को होती है। अज्ञ तो चाहता है कि चित्त आत्माकार ही बना रहे लेकिन तज्ज्ञ की यह रुचि होने पर भी यह आग्रह नहीं होता अतः उस रस्साकशी में चाहे जो पक्ष जीते, विद्वान् का तो विनोद ही होता है। आत्मरति, आत्मक्रीड और आत्ममिथुन के बाद आत्मानंद को बताया जब प्रारब्ध मानो सोया पड़ा है। 'मानो' इसलिये कि जाग्रदवस्था है; प्रारब्ध सर्वथा सो जाता तो सुषुप्ति आ जाती। यह उस स्थिति की बात है जब इंद्रिय-मन आदि जाग्रत् हैं लेकिन सुख-दुःख बिलकुल नहीं है, प्रारब्ध किसी अनात्मा की ओर आकृष्ट नहीं कर रहा। मोक्षमार्ग में अनात्मा की तरफ आकर्षण ही विघ्न है। राग-द्वेषकृत आकर्षण तो तत्त्ववेत्ता में रह नहीं जाता, केवल प्रारब्धवश आकर्षण रहता है, वह भी सुप्तवेग की दशा में समाप्त हो जाता है। स्वयं अपनी तरफ से विद्वान् कभी अनात्माकार वृत्ति नहीं बनाता, प्रारब्धभोग के लिये ही उसकी अनात्मदृष्टि होती है, जब भोगप्रद प्रारब्ध नहीं तब उसकी दृष्टि में अनात्मा रह नहीं जाता। अज्ञानी तो संस्कारवश अपनी ओर से अनात्मप्रवाह उठाता है, ज्ञानी ऐसा नहीं करता, अतः कोई विकल्प सामने न आने से उसकी स्थिति निर्विकल्प हो जाती है। उस समय विदेह कैवल्य का ही वह अनुभव प्राप्त कर लेता है। विदेहता-सदेहता का अंतर प्रारब्ध- प्रयुक्त ही है, जब प्रारब्ध सुप्तवेग है तब यह अंतर भी समाप्तप्राय हो जाता है। सर्वथा समाप्त इसलिये नहीं कि अभी प्रारब्ध बचा है जिससे शरीर-स्थिति है, जब प्रारब्ध पूर्णतः समाप्त हो जाता है तब तो सदेहमुक्त ही विदेहमुक्त हो जाता है।।७४-८।।

तत्त्वनिष्ठ के लिये श्रुति ने 'स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छां.७.२५.२) कहा है, उसे समझाते हैं **विद्वान् का देहपात हो जाने पर वह स्वराट् हो जाता है, विशेषतः मोहग्रस्त जीवों की तरह वह किसी अन्य के अधीन नहीं रहता। अवश्य ही वह सब लोकों में यथेच्छ आचरण कर सकता है।।७६।। लोक माया से कल्पित हैं, वे सभी लोक मुक्त के तत्त्वानुभव के**

मायया कल्पिता लोकास्ते सर्वे भूमरूपताम्।
मुक्तस्य प्राप्नुवन्त्येव सर्वलोकात्मकस्ततः।।८०।।
कामचारोऽतिविश्रम्भः प्रतिबन्धविवर्जितः।
सर्वस्य स्वस्वरूपेऽस्ति प्रतिबन्धो न कोऽपि हि।।८१।।

अनुसार उसकी ही व्यापकरूपता प्राप्त कर लेते हैं जिससे वह सभी लोकों का आत्मा हो जाता है।।८०।। कामचार (यथेच्छ आचरण कर सकना) अर्थात् अपनी सामर्थ्य का बेरोकटोक निश्चय; सभी को अपने स्वरूप के बारे में बिना रुकावट के ऐसा निश्चय है ही।।८१।। प्रारब्ध रहते जीवन्मुक्त की विभिन्न स्थितियाँ बताकर यहाँ विदेह मुक्त का वर्णन कर रहे हैं। प्रारब्ध रहते चाहे, न्यूनतम हो पर कुछ-न-कुछ दृश्य सामने आता रहता है, जब प्रारब्ध पूर्ण हो गया तब आत्मानन्द के छिपने का कोई बहाना भी नहीं बचता, सर्वथा आत्मा का ही अखण्ड शासन रहता है। मुक्त स्वराट् हो जाता है, किसी और के प्रति अधीनता की संभावना भी नहीं रहती। जीवन्मुक्त भी है स्वतंत्र लेकिन उसे साक्षी बनने की मज़बूरी है! हालाँकि साक्षित्व कल्पित ही रहता है, फिर भी जैसे खराब खिंची फोटो देखनी पड़े तो यह जानते हुए भी कि 'चित्र ही बेढब है मेरा मुख नहीं', व्यक्ति को यह लगता है कि फोटो न देखें, वैसे ही जीवन्मुक्त भी विदेहमुक्ति पाकर स्वयं को पूर्णतः स्वतंत्र महसूस करे यह स्वाभाविक है। स्वयं अकेले ही प्रकाशमान होने को भी स्वराट्-भाव कहते हैं, मुक्त अकेला चित्स्वरूप रहता है अतः स्वराट् है ही। जीवन्मुक्तिमें तो विषय, जीवांतर भी प्रकाशित होते हैं, विदेहदशा में आत्मा ही प्रकाशमान रहता है यह विशेषता है। अज्ञानी तो विशेषतः मोहग्रस्त रहने से सदा अन्यों के अधीन रहता है। विशेषतः अर्थात् विशेषों के प्रति; केवल मिट्टी के प्रति मोह न होकर घड़े शिकोरे के प्रति ही मोह होता है, तभी मोह की बंधन-शक्ति की तीव्रता प्रकट होती है। विद्वान् का मोहहेतु अज्ञान ही मिट चुकने से वह स्वतंत्र होता है, समस्त लोकों में जो चाहे वह करने में उसे रुकावट नहीं महसूस होती, ईश्वर भाव व्यक्त हो जाता है। तत्त्वज्ञ जिस अधिष्ठान से एक होता है उसी पर सारा संसार कल्पित है, सारे लोकों का अध्यास उसी व्यापक चित् पर है। प्रारब्ध-पर्यन्त भेद की उपलब्धि होती है, विदेहदशा में भेद का उपलम्भक न रह जाने से सर्वथा व्यापक स्वरूप की प्रकाशता रहती है। इस स्थिति में कामचार का मतलब यह नहीं कि इच्छा करके कुछ करे या कहीं जाये क्योंकि वैसा तो परिच्छिन्न में ही संभव है, वरन् सब कुछ, सारा देश-काल एक-साथ ही उस पर अध्यस्त निश्चित हो जाने से जो कुछ है,

भूमात्मानं न जानाति मूढः किन्त्वन्यथेक्षते।
जीवोऽहम् ईश्वराऽधीनो धर्माऽधर्मयुतस्त्विति।।८२।।

हुआ है, होगा वह उसकी स्वाभाविक स्वतंत्रता का विरोधी नहीं रहता। अतः यह नहीं कहा कि मुक्त सब लोकों तक पहुँचता है, बल्कि यही कहा कि सब लोक उसकी व्यापकता में सिमट जाते हैं, मुक्त का वह व्यापक स्वरूप प्रकट होता है जिसमें सब लोक समा जाते हैं। वह स्वयं अखण्ड सच्चिदानंद है, मायावश उसी में सारा चराचर ब्रह्माण्ड भास जाता है। जीवन्मुक्ति में विषय परोक्ष-अपरोक्ष भेद वाले रहते हैं, बहुतों का परोक्ष-अपरोक्ष कैसा भी ज्ञान नहीं रहता, विदेहदशा में यह भेद मिट जाता है क्योंकि इसके हेतुभूत इंद्रिय-मन आदि उपाधियाँ समाप्त हो चुकती हैं। अतः उसका कामचार असीम अकंप आत्मविश्वास है जिसकी रुकावट करने वाला कोई नहीं। कारण-सामग्री मौजूद हो पर कार्य न कर पाये तो उसे प्रतिबद्ध कहते हैं एवं यह संभव करने वाला प्रतिबंधक कहा जाता है। पानी नीचे की ओर बहता है। बाँध बनाकर उसका बहाव रुक जाता है तो बाँध को प्रतिबंधक समझना चाहिये। यदि बाँध टूट जाये तो पानी स्वयमेव बहने लगता है, उसे बहाने के लिये कोई कारण नहीं एकत्र करना पड़ता, अर्थात् बहने की सामग्री वहाँ मौजूद ही थी, उसे काम करने से बाँध रोके हुए था। तत्त्वज्ञ का जो आत्मविश्वास है उसे यों कुछ रोक नहीं सकता यह तात्पर्य है। निज स्वरूप के बारे में यह विश्वास सबको है, अज्ञानी परिच्छिन्न को ही स्वरूप समझता है तो उतने में उसे अतिविश्रम्भ, दृढ निश्चय है जबकि विदेह सर्वव्यापक तत्त्व को स्वस्वरूप जानता है तो उसे सर्वत्र वह निश्चय है। 'कामचारोऽतिविस्रब्धः' मुत्तुशास्त्री का पाठ है, अर्थ एक ही है।।७६-८१।।

विद्वान् का महत्त्व बताने के लिये श्रुति ने अज्ञानी की परतंत्रता बतायी है 'अथ येऽन्यथाऽतो विदुः, अन्यराजानः, ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति' अर्थात् पूर्वोक्त व्यापक आत्मा को व्यापक के बजाये परिच्छिन्न समझने वालों पर अन्य का शासन चलता है, उन्हें क्षयिष्णु विषयों की प्राप्ति होती है, सर्वत्र यथेष्ट व्यवहार नहीं हो पाता। इसका संग्रह करते हैं **मोहग्रस्त जीव व्यापक आत्मा को नहीं जानता; बल्कि आत्मा को व्यापक की अपेक्षा अन्य ही प्रकार का अर्थात् परिच्छिन्न समझता है। उसे लगता है 'पुण्य-पाप के बोझ से लदा मैं जीव हूँ, ईश्वर के अधीन हूँ'।।८२।। ऐसे अज्ञ पर ईश्वर का शासन चलता ही है। उसके कर्मों से अर्जित विषय क्षय होने वाले ही होते हैं। सब लोकों में उसका हर तरह का कामचार असंभव है।।८३।।** उपस्थित वस्तु भी अज्ञात हो तो उसका

तस्येश्वरो भवेद् राजा लोकः कर्मजितः क्षयी ।
कामचारस्तु लोकेषु सर्वथाऽस्य न सम्भवेत् ।।८३ ।।
जीवन् मुक्तस्तत्त्वविद्यः शास्त्रयुक्त्यनुभूतिभिः ।
तस्य प्राणादि-कर्मान्तं जगत् स्वात्मन उद्गतम् ।।८४ ।।
तस्मात् प्राणादिवस्तूनां ध्यानेनाऽस्य फलेन वा ।
जीवन्मुक्तस्य नाऽर्थोऽस्ति कृतकृत्यः सुखी ह्यसौ ।।८५ ।।
न मृत्युं पश्यति ज्ञानी न रोगं नाऽपि दुःखिताम् ।
सर्वं स्वात्मतया बुद्ध्वा सर्वमाप्नोति सर्वथा ।।८६ ।।

लाभ नहीं मिलता। घर की दीवाल सोने की ईटों से बनी हो पर मालूम न हो तो व्यक्ति गरीबी में ही गुजारा चलाता रहता है। ऐसे ही हम व्यापक पूर्ण ब्रह्म भले ही हैं पर यह जानते नहीं तो इसका लाभ जो मुक्ति वह हमें अनुपलब्ध है। अज्ञानवश जिस परिच्छिन्नता में हमें आत्मज्ञान होता है उतने ही शरीरादि-संघात में सीमित आत्मशक्ति हमारे उपयोग में आती है। बिजलीघर से चली तार में चाहे जितनी बिजली हो, हमें तो उतनी ही मिलती है जितने का हमारा फ्यूज़ है, ऐसे ही हमें आत्मा का वही लाभ मिलता है जितना हमारी उपाधि में प्रकट हो पाता है। जैसे बिना फ्यूज़ के सीधे ही तार जोड़ लें तो पूरी बिजली का लाभ मिल जाता है वैसे मुक्त को पूर्ण भूमा का समग्र लाभ मिल जाता है। अज्ञानी स्वयं को ब्रह्म नहीं जानता, उससे विपरीत स्वयं को जीव ही समझता है, जन्म-मरण वाला समझता है। इसके कारण उस पर ईश्वर का राज्य चलता रहता है क्योंकि ईश्वर जिन पुण्य-पाप को निमित्त बनाकर शासन करता है उन्हें जीव स्वयं पर ओढे रहता है, कर्तृत्व का अभिमान रखता है। इससे भोक्तृत्व मिलता है किंतु भोग के विषय क्षयिष्णु ही होते हैं क्योंकि कर्म से जो मिलता है वह क्षीण होने वाला ही हुआ करता है। जीव की रुकावट उसका अज्ञान ही है, वह उसे परिच्छिन्न बनाये रखे है। अत एव वह कामचार से वंचित है। इससे विपरीत, तत्त्वज्ञ सर्वथा स्वतंत्र रहता है।।८३-४।।

जो स्वराट् बन गया उसी से प्राणादि सारे संसार की अभिव्यक्ति श्रुति ने (छां. ७. २६.१) बतायी है, उसका संकेत करते हैं **शास्त्र, युक्ति और अनुभव से आत्मा की वास्तविकता समझ चुका जो जीवन्मुक्त उसीके स्वात्मा से प्राणसे लेकर कर्म पर्यन्त सारे जगत् का उद्गम होता है।।८४।। इसलिये जीवन्मुक्त को प्राण आदि वस्तुओं के ध्यान से और उस ध्यान के फल से कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह तो कृतकृत्य होने से सदा सुखी है।।८५।।** विदेहमुक्त की चर्चा चलते

जीवन्मुक्त का कथन कर स्पष्ट किया कि मोक्ष दो नहीं हैं, प्रारब्ध की अपेक्षा से उसी को जीवन्मोक्ष कहते हैं, उस अपेक्षा को छोड़ दें तो विदेहमोक्ष कहते हैं। जो जीवन्मुक्त हो चुका वही प्रारब्धपूर्ति पर विदेहभाव को प्राप्त करता है। अज्ञान रहते सत्-तत्त्व से संसार उत्पन्न हुआ यह समझ आता है। ज्ञान होने पर पता चलता है कि वह सत् मैं ही हूँ अतः निश्चय होता है कि मुझसे ही जगत् उत्पन्न हुआ, मुझमें ही लीन होता है, सारा ही लोकव्यवहार मुझसे ही संपन्न हो रहा है। शास्त्र व युक्ति से तो पहले भी मालूम चल जाता है लेकिन अनुभव से तो जीवन्मुक्त को ही पता चलता है। प्राण, आशा, स्मर, आकाश, तेज, जल, अविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मन्त्र और कर्म ये सब आत्मा से ही सत्तान्वित हैं यह कहकर श्रुति ने 'आत्मत एवेदं सर्वम्' से समझाया कि तत्तद् वस्तु ही नहीं सारा संसार उसी से सत्तावान् है। इस स्थिति में समस्त दृश्यवर्ग अपने ही वैभव का विलास लक्षित हो जाता है अतः राग-द्वेष आदि की संभावना ही मिट जाती है। जब तक माया-उपाधि वाला ईश्वर और अविद्या-उपाधि वाला जीव यह भेदबुद्धि है तब तक स्वयं को अधिष्ठान तत्त्व नहीं समझ पाने से कामना रोकने का प्रयास करना पड़ता है। जब दोनों उपाधियों वाला मैं अखण्ड हूँ यह समझ आ जाता है तब कामना उठे यही संभव नहीं लगता। उस व्यापक भाव में स्थित सिद्ध की सर्वविध पूर्णता प्रकट रहती है। अत एव ध्येय तत्त्व उसके लिये निष्प्रयोजन है, कोई चीज़ मिलकर उसके लिये फल बने यह संभव नहीं क्योंकि जो कुछ है वह सब उसी से सत्ता पाये है, उससे पृथक् है ही नहीं जो उसे मिल सके। जो कुछ किया जा सकता है वह सब उसने कर लिया है, उसके लिये करने लायक कुछ बचा ही नहीं है। सनातन निरतिशय सुख ही मुक्त का स्वरूप है।।८५-६।।

मुक्त के बारे में श्रुति ने एक श्लोक सुनाया है 'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः।।' (७.२६.२) अर्थात् आत्मदर्शन कर चुका विद्वान् मृत्यु-रोग-दुःख का दर्शन नहीं करता, सबका दर्शन करता है, सब तरह सब प्राप्त करता है। तात्पर्य है कि वह स्वरूपभूत समग्रता में प्रतिष्ठित रहता है, मृत्यु आदि परिच्छिन्न-निष्ठ हैं अतः परिच्छिन्नता से परे की ही दृष्टि रखने वाले को वे दीखते ही नहीं। मृत्यु आदि को भी विज्ञ सच्चिदानंदमात्र देख पाता है, उनकी मृत्यु-आदि-रूपता परिच्छेद के क्षेत्र में होने से मिथ्या है अतः ज्ञानी को दीखती नहीं। इस श्लोक का संग्रह करते हैं **ज्ञानी मृत्यु, रोग और सदुःखता नहीं देखता, सबको निज आत्मा रूप से अनुभवकर सब तरह सब प्राप्त कर लेता है।।८६।।** 'मैं नहीं रहा' तब मेरी

विदेहमुक्तः

विदेहमुक्तो ब्रह्मत्वात् सर्वं सृजति मायया।
येन यद् वीक्ष्यते तस्मै तद् रूपं स्वं प्रदर्शयेत्।।८७।।

मृत्यु है। तत्त्ववेत्ता को ऐसा कभी लग सकता नहीं। लगता अपरोक्ष अनुभवतो अज्ञानी को भी नहीं है क्योंकि वह अनुभूति ही असंभव है कि 'मैं नहीं हूँ', किन्तु अज्ञानी भ्रम से माने बैठा है कि 'मैं नहीं था, मैं नहीं रहूँगा' अर्थात् जन्मा हूँ - मरूँगा। विज्ञ को यह भ्रम नहीं होता अतः वह मृत्यु नहीं देख पाता। इसी प्रकार रोग रह सकता है शरीर में, मुक्त को शरीर में अहम्बुद्धि है नहीं अतः 'मुझे रोग हुआ' ऐसा वह नहीं देखता, उसे प्रतीत नहीं होता। रोग व उसका ज्ञान भी जिसके आधार पर है वह भूमा मैं हूँ यह मुक्त का अनुभव है, रोग का अधिष्ठान स्वयं को जान सकता है पर 'रोग और मैं समान सत्ता वाले होकर संबद्ध हैं' ऐसा नहीं समझता। दुःख मन की वृत्ति है अतः 'मैं दुःखी' ऐसा तत्त्वज्ञानी को नहीं लगता जैसे दागी प्रतिबिंब देखकर 'मेरे मुँह पर दाग है' ऐसा जानकार को नहीं लगता। मुक्त के लिये सारा संसार आत्मरूप है। पुत्र पैदा होना और पुत्र मर जाना दोनों एक-समान आत्मरूप हैं। परिच्छिन्न बुद्धि वाले को तो लगता है कि पुत्र पैदा हुआ तो भगवान् की कृपा है, पुत्र मर गया तो भगवान् नाराज़ है; व्यापक बुद्धि वाले के लिये यह भेदभाव नहीं है, उसके सामने स्पष्ट है कि परमार्थतः कोई दृश्य नहीं, जो कोई दृश्य है वह प्रतीतिमात्र-सिद्ध है अतः उसमें हेय-उपादेय का भाव नहीं होता। सब तरह सब कुछ प्राप्त करने का यही तरीका है। जब तक मैं अलग और चीज़ें अलग हैं तब तक सबकी प्राप्ति नहीं हो सकती; बहुत मिल सकता है पर सब नहीं। सब तो तभी मिल सकता है जब सब मुझसे अतिरिक्त न रहे, मैं ही सबका अधिष्ठान हो जाऊँ। सारे गहने जैसे सोने को नहीं छोड़ सकते, बर्तन लोटे को नहीं छोड़ सकते वैसे संसार आत्मा को छोड़ ही नहीं सकता, यह सब की आत्मा को प्राप्ति है।।८६।।

श्रुति ने समझाया है कि विद्वान् सृष्टि से पूर्व आत्मरूप से एकरस रहता है, सृष्टिकाल में अनेक प्रकार का उपलब्ध होकर संहारकाल में पुनः एकरस रह जाता है। इस बात का संकेत करते हैं **ब्रह्मस्वरूप होने के कारण विदेहमुक्त को माया से सब कुछ उत्पन्न करने वाला समझना चाहिये। जिसके द्वारा जो देखा जाता है उसे अपना वही रूप दिखा सकना मुक्त की अचिंत्य सामर्थ्य है।।८७।।** ब्रह्म ही जगज्जन्मादिहेतु है, मुक्त ब्रह्मरूप है अतः उसे जगत्कारण समझना उचित है। इतना अवश्य है कि जगत्कारण माया-सहित है और मुक्त ने माया का बाध कर लिया है अतः वह माया-रहित

विषयाहरणं शुद्धं रागद्वेषादिवर्जनात्।
ततः शुद्धधियाऽऽत्मानं भूमानं सर्वदा स्मरेत्।।८८।।

है। फिर भी, जिसे माया की प्रतीति है वह उस शक्ति वाला जिस ब्रह्म को समझता है उसी ब्रह्म से मुक्त अभिन्न है अतः अज्ञदृष्ट्या वह ईश्वर है। जो कोई जो कुछ अनुभव करता है उस सबका आकार माया-सामर्थ्य से ग्रहण करने वाला ब्रह्म है, मुक्त वह ब्रह्म ही है। घटरूप में मिट्टी की तरह समस्त भाव-अभाव रूपों में वही प्रकट है। जीवन्मुक्तिदशा में समस्त ऐश्वर्य अव्याहत रूप से उसमें प्रकट हो सकता है, निग्रह-अनुग्रह में वह सर्वसमर्थ होता है अतः मुमुक्षु को उसकी आराधना करनी चाहिये यह तात्पर्य है। विदेहदशा में वही ईश्वर है यह तो स्पष्ट है।।८७।।

जिस प्रकार निज मुख के स्फुट ज्ञान के लिये दर्पण को साफ करना उपाय है उसी प्रकार आत्मा के यथार्थ ज्ञान के लिये अंतःकरण को शुद्ध करना उपाय है। जिस मनःशुद्धि के बिना शास्त्रादि का ज्ञान भी अविद्या नहीं दूर कर पाता उस शुद्धि का तरीका श्रुति ने बताया 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः,' आहार शुद्ध होने पर सत्त्व की, चित्त की शुद्धि हो जाती है, तब ध्रुव स्मृति अर्थात् परमार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। आहार अर्थात् शब्दादि विषयों का विज्ञान, उसकी शुद्धि अर्थात् राग-द्वेष-मोह आदि दोषों से संसर्ग न होना, ऐसी शुद्धि से आत्मज्ञान के लिये उपयुक्त मानस तैयार होगा, अन्यथा नहीं। यह बताते हैं **राग-द्वेष आदि के परित्याग-पूर्वक किया जाने पर विषयभोग शुद्ध होता है। शुद्ध विषयभोग से बुद्धि शुद्ध होती है। शुद्ध बुद्धि से भूमा आत्मा का सनातन स्मरण किया जा सकता है।।८८।।** वेदवाक्य सुनकर, गुरु द्वारा समझाये जाने पर सामान्य साधक को भी पता तो चल ही जाता है कि वास्तविकता क्या है लेकिन मानस की तैयारी न होने से वह जानकारी स्थिर नहीं रहती, अपना कर्तृ-भोक्तृ रूप ही प्रकट रहता है। ऐसा ज्ञानमात्र साधना में प्रेरित कर सकता है पर मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं। अतः साधक को बुद्धि की शुद्धि के लिये उत्कट प्रयास करना चाहिये। गौडपादाचार्य ने भी स्पष्ट कहा है 'वीतरागभय-क्रोधैर्मुनिभिर्वेद-पारगैः। निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमः शिवः।।' (वैतथ्य.३५) कि जहाँ प्रपंच उपशांत है वह निर्विकल्प शिव उन्हीं मुनियों को दीख सकता है जो न केवल वेद में पारंगत हैं वरन् राग-भय-क्रोध को सर्वथा छोड़ चुके हैं। इसलिये आहार की शुद्धि अनिवार्य साधन है। प्रारब्ध-प्राप्त विषयों से व्यवहार करते हुए रागादि से बचे रहने का प्रयास ही आहार-शुद्धि है। जब इस अभ्यास से सत्त्व-नामक बुद्धि में रागादि दोषों के

नारदस्याऽज्ञाननिवृत्तिः

शोकादिसर्वग्रन्थीनां भूम्नः स्मृत्या विमोक्षणात्।
शुद्धधीर्नारदस्तस्मै तमः पारम् अदर्शयत्।।८९।।

संस्कार धूमिल हो चुकते हैं तब महावाक्यजन्य ज्ञान स्थायी रह पाता है। इसे श्रुति ने स्मृति-शब्द से इसलिये कहा कि ज्ञान तो वही है जो श्रवण से संपन्न हो चुका, कमी यही थी कि वह बात स्थिररूप से याद नहीं रहती थी, जब बुद्धि में संसार के प्रति कोई आकर्षण-विकर्षण का भाव नहीं रह गया तब वह ज्ञान हमेशा बना रहता है। ज्ञान कोई नवीन नहीं चाहिये, वह दृष्टि से ओझल न हो यही चाहिये और मन की निर्मलता से यह संभव हो जाता है। श्रुति ने मानस-नैर्मल्य का उपाय आहार-शुद्धि कहा। प्रायः आहार से भोजन ही समझा जाता है लेकिन इस प्रसंग में भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि सभी विषयों के भोग आहाररूप हैं, सभी की शुद्धि अपेक्षित है। जैसे जौ-चावल को मुँह से खाते हैं ऐसे रूप को आँखों से, नाम को कानों से खाते हैं अतः पाँचों इंद्रियों के विषय आहार ही हैं और सबकी शुद्धि ज़रूरी है। हमेशा सावधानी रखनी चाहिये कि रागादि का उद्भव न हो, उनसे प्रेरित होकर कोई आंतर बाह्य चेष्टा न करें। यथाप्रारब्ध जो विषय सामने आये वह जैसा है वैसा ग्रहण करें, संस्कारवश विकार उत्पन्न न होने दें, उस विषय पर भी कुछ आरोपित न करें। राग-द्वेष आदि छोड़ने से ही विषयों का आहार शुद्ध होता है और उसी से मन शुद्ध होने पर 'मैं ब्रह्म हूँ' की स्पष्टता स्थायी होती है। जैसे चाहे जैसी परिस्थिति में हम 'मैं मनुष्य हूँ' नहीं भूलते वैसे ब्रह्मरूपता की अविस्मरणीयता अभीष्ट है।।८८।।

उक्त स्मृति का फल बताया 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' (७.२६) कि स्मृति पाने से सारी गाँठें खुल जाती हैं। जिनका 'कषाय' समाप्त हो चुका था उन नारद जी को भगवान् सनत्कुमार ने उस तत्त्व का दर्शन कराया जो अज्ञानान्धकार से परे है। कषाय अर्थात् राग-द्वेष आदि दोष। इस फलवचन को समझाते हैं **भूमा की स्मृति से शोक आदि सारी गाँठें खुल जाने से जिनकी बुद्धि शुद्ध हो चुकी थी उन नारद जी को सनत्कुमार ने उस सत्य का दर्शन करा दिया जो अज्ञान से परे है।।८९।।** भूमा अर्थात् व्यापक आनंद का ज्ञान जब लगातार निःशंक कायम रहता है तब शोक, मोह इत्यादि गाँठें खुलती हैं। ये सभी गाँठें भूमा के स्वरूप के अज्ञान से ही मौजूद हैं, ज्ञान होने पर इनका समाप्त होना स्वाभाविक है। अज्ञानवश ही हम शरीरादि में अहन्ता-ममता रखते हैं और इन्हीं के सहारे

सनत्कुमारविद्यायास्तात्पर्यं स्पष्टमीरितम्।
तेन कुर्याद् मयि कृपां विद्यातीर्थमहेश्वरः।।९०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिकृतेऽनुभूतिप्रकाशे छान्दोग्ये
सनत्कुमारविद्याप्रकाशो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।

राग-द्वेष आदि गाँठें रहती हैं। जब अज्ञान नष्ट होता है तब क्योंकि शरीरादि में अभिमान निवृत्त हो जाता है इसलिये द्वार न मिलने से शोकादि का आत्मा में प्रवेश ही नहीं होता। रोज़ रेलों की, बसों की टक्करें होती हैं, लोग मरते हैं, अखबारों में पढ़ते हैं लेकिन रोते कब हैं? जब उन मरने वालों में अपना लड़का-पोता आदि हो। अतः किसी के मरने से नहीं रोते वरन् मेरापना होने से रोते हैं। जिसे अपनी व्यापकता ही भासती है उसे कहीं मेरापना नहीं प्रतीत होता अतः शोक आदि से वह परे रहता है। जो अनात्मा है उसे मैं समझें तभी उस अनात्मा के हानि-लाभ से स्वयं को फर्क़ पड़े, जब ऐसा भ्रम निवृत्त हो गया तब अनात्मा के कारण फ़र्क़ पड़ नहीं सकता और आत्मा निर्विकार स्वरूप वाला है अतः स्वतः उसमें फ़र्क़ पड़ता ही नहीं। इसलिये ज्ञान हो जाने पर शोकादि ग्रंथियाँ खुलना उचित है। नारद जी ने सारी साधना निर्विघ्न संपन्न कर ली अतः उनकी बुद्धि सर्वथा विशुद्ध हो गयी तो तम से, अविद्याक्षेत्र से परे जो परमार्थ वस्तु वह उन्हें हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट दीख गयी। अज्ञान के उरले किनारे है शोक जिससे पार होने की ही प्रार्थना नारद जी ने की थी 'शोकस्य पारं तारयतु' (छां.७.१.३), और परले किनारे शोकरहित मोक्ष है जिसकी गुरुकृपा से नारद को उपलब्धि हो गयी। अब तक नारद स्वयं को भक्त जानता था, अब मुक्त जान गया। अविद्या का पर्दा फाड़कर असीम तत्त्व का साक्षात्कार ही शोक-निवृत्ति का एकमात्र उपाय है।।८९।।

अध्याय समाप्त करते हैं **नारद को भगवान् सनत्कुमार ने जिस भूमा की विद्या का उपदेश दिया उसका अभिप्राय इस अध्याय में समझाकर बताया है। मेरे इस प्रयास से प्रसन्न होकर श्रीविद्यातीर्थरूप महादेव मुझ पर कृपा करें।।९०।।** 'अभिप्राय' या तात्पर्य ही समझने योग्य होता है। जिस बात में तात्पर्य नहीं उसे समझना-न समझना एक-सा है। जैसे पुराणादि में गुरुभक्ति, आज्ञा-पालन आदि धर्मों को बताने में तात्पर्य वाली अनेक कथाएँ आती हैं तो विद्वान् तात्पर्यविषय समझने का प्रयास करता है और मूर्ख उन कथाओं की घटनाओं में उलझा रह जाता है, अभिप्रेत विषय समझ ही नहीं पाता, ऐसे वेद में भी अखण्ड वस्तु तात्पर्य का विषय है, वही समझने योग्य है, उसे

समझाने के लिये और बहुत-सी बातें कही गयी हैं, उनका उपयोग विवक्षित तत्त्व समझने में है, उन बातों में उलझना निष्प्रयोजन है। विद्यारण्य स्वामी ने सभी उपनिषदों की इस व्याख्या में प्रयत्नपूर्वक उसी अंश को एकत्र किया है जिसमें वेद का तात्पर्य है, बाकी हिस्से छोड़ दिये हैं। वे हिस्से बेकार नहीं हैं, मुख्य को समझने में सहायक हैं किंतु जिज्ञासु को मुख्य-गौण का अंतर पता चले यह भी ज़रूरी होने से आचार्य का प्रयास प्रशंसनीय है तथा सामान्य साधक के लिये अत्यंत उपयोगी है क्योंकि सीधे ही उपनिषत् पढ़कर यह भेद स्पष्ट होना अत्यन्त कठिन है। आचार्य इस व्याख्या को गुरु-अर्पण कर उनका अनुमोदन और आशीर्वाद चाहते हैं जिससे सभी अध्येता इसके अनुशीलन से ज्ञान प्राप्त कर सकें।।९०।।

।। चतुर्थ अध्याय।।

ॐ

छान्दोग्योपनिषदि

प्रजापतिविद्याप्रकाशः

पञ्चमोध्यायः

प्रजापतिः स्वात्मविद्यां छान्दोग्ये बहुधाऽब्रवीत्।
विरोचनाय चेन्द्राय तां वक्ष्ये सुखबुद्धये।।१

छान्दोग्योपनिषत् की प्रजापतिविद्याका विवरण : पाँचवाँ अध्याय

छान्दोग्य उपनिषत् समग्रतासे ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करती है अतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। छठे अध्याय में ब्रह्मकी सद्रूपता स्पष्ट की गयी है, सातवें में आनन्दरूपता तथा आठवें में चिद्रूपता प्रतिपादित है। सद्रूपता समझने में विचार प्रधान रहता है किन्तु आनंद हृदयंगम हो इसके लिये चित्त की एकाग्रता भी चाहिये। विषय ग्रहण होते ही उसकी सद्रूपता पकड़ में आ जाती है किंतु विषय से आनंद मिलने के लिये तो उसके प्रति हमारी प्रीति के आकार की वृत्ति चाहिये रहती है, हमें प्रेम होगा तभी वह विषय हमें सुख देगा। अत एव सत् के बारे में मतभेद न्यूनतम होंगे, आनंद के बारे में ऐकमत्य दुर्लभ रहेगा। एक को जो पसंद है, दूसरे को नापसंद है, वह चीज़ सामने आये तो 'है'यह दोनों देखेंगे पर एक को सुख होगा, दूसरा दुःखी होगा। ब्रह्म को भी 'है' समझना विचार-साध्य है, उसे आनन्द समझने के लिये एकाग्रता, ब्रह्म के प्रति प्रेम चाहिये। इसीलिये भूमा को बताने से पूर्व नाम आदि व्यापक-व्यापकतर प्रतीकों पर चित्त केन्द्रित कराया और चित्त के परिशोधन का उपाय भी विहित किया। आत्ममात्र प्रिय रहे तो जीव को शोक नहीं हो सकता, अनात्मा में प्रियबुद्धि ही शोक का कारण है। अतः चित्त को केवल आत्मा में केन्द्रित करना आवश्यक है। इसके लिये उपनिषदों में अनेक आत्मोपासनाओं का भी विधान है। छांदोग्य अष्टमाध्याय में भी प्रारंभ दहर विद्या से किया जिसमें ज्ञेय विशेषताओं वाले परमात्मा का ध्यान बताया है। वेदांत-साधना में दहरविद्या का बहुत महत्त्व है, अनेक उपनिषदों में इसे बताया है अतः कुछ आचार्यों ने श्रुति-स्मृतिप्रोक्त

समस्त विशेषों को एकत्र कर इसके अनुष्ठान की पद्धति का निर्माण कर दिया है। इस ग्रंथ में ज्ञेय-प्रकरण प्रधानतः संगृहीत होने से उपासना-विस्तार छोड़ दिया है। दहरविद्या के बाद आठवें अध्याय में प्रधान विषय प्रजापतिप्रोक्त आत्मज्ञान है जिसे इस ग्रंथ में सुस्पष्ट कर रहे हैं। उपनिषत् में तो इसके बाद खिल के रूप में कुछ अन्य भी विषय आ गये हैं, उनका यहाँ संग्रह नहीं है। माण्डूक्य में जिस तरह अवस्थात्रय-साक्षी को आत्मा बताया है उसी तरह यहाँ समझाया जायेगा, किन्तु बताने का ढंग अलग है।

प्रतिपाद्य-प्रतिज्ञा से अध्यायारम्भ करते हैं **छान्दोग्योपनिषत् में वर्णित है कि विरोचन और इंद्र को प्रजापति ने स्वात्मा की विद्या का बहुत तरह से प्रतिपादन किया। वह विद्या आराम से समझ आये इस उद्देश्य से उसका कथन इस अध्याय में करेंगे।।१।।** हमारे वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये ज़रूरी बातें बताने वाली यह विद्या है अतः इसे 'स्वात्मविद्या' नाम दिया। विरोचन तो अविवेकी था अतः सर्वथा गलत समझ लेकर गया, उसने ब्रह्माजी का उपदेश भी पूरा नहीं सुना, इन्द्र विवेकशील था, उसने एक सौ एक सालों तक ब्रह्मचर्य-पालन किया तथा समग्र उपदेश युक्तिपूर्वक समझा। राजा होने के बावजूद विरोचन व इंद्र अपने अभिमान छोड़कर गुरु-चरणों में तपःपूर्वक विद्यार्जन के लिये यत्नशील रहे इस वर्णन से विद्या का महत्त्व और उसके लिये शिष्य का कर्तव्य, दोनों बातें द्योतित होती हैं। जिसे साक्षात् ब्रह्माजी घोषणापूर्वक समझाते हैं और विरोचन-इंद्र जैसे महाराजा राज-पाट छोड़कर कष्ट सहकर ग्रहण करते हैं उस विद्या का कितना महत्त्व है यह सहज ही कल्पनीय है। श्वेतकेतुविद्या पिता द्वारा उपदिष्ट है। पिता हमेशा असीम कल्याण की ही शिक्षा पुत्र को देता है अतः विद्या सर्वथा कल्याण-हेतु है यह उस कथा से निश्चित होता है। भूमविद्या के उपदेष्टा आजन्म राग-द्वेषवर्जित सनत्कुमार थे अतः उनकी प्रामाणिकता तथा सिर्फ़ कृपा से प्रेरित होना, इन दो के कारण विद्या का महत्त्व स्पष्ट है। सर्वथा रागादिहीन महात्मा कृपापूर्वक जो बात समझायेगा वह असीम हित की ही हो सकती है। प्रकृत विद्या का महत्त्व इससे है कि अत्यंत गौरवशील वक्ता-श्रोता इसे समझने-समझाने में संलग्न रहते हैं। अधिकारी विभिन्न भावनाओं वाले होते हैं, किसी को लगता है कि प्रेम से पिता जो कहे वह श्रेष्ठ; किसी को लगता है कि तटस्थ व्यक्ति की बात उत्तम होती है; कोई ऐश्वर्यवान् की बात को महत्त्व देता है; अतः श्रुति ने अनेक कथाओं द्वारा विद्या की प्रशंसा प्रकट की है। प्रत्यक्तत्त्व की व्यापकता का प्रतिपादन अत्यंत हृदयग्राही ढंग से इस उपदेश की विशेषता है।।१।।

प्रजापतिघोषणा

असंसार्ययमात्माऽसावन्वेष्टव्यो मुमुक्षुणा।
प्रजापतिरिति प्राह प्रसङ्गेन स्वसंसदि।।२।।
यो निष्पापोऽजरो मृत्युशोकक्षुत्तृड्विवर्जितः।
सत्योऽस्य कामः सङ्कल्पश्चाऽसंसारी स ईश्वरः।।३।।

छांदोग्य अष्टमाध्याय सप्तम खंड में प्रजापति की घोषणा है'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। स सर्वांश्च लोकान् आप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' अर्थात्पाप-जरा-मृत्यु-शोक-भूख-प्यास से रहित जिस आत्मा की इच्छाएँ और संकल्प सत्य होते हैं वही अन्वेषण-पूर्वक विज्ञान के योग्य है, उसे संपूर्णतः समझ चुके मुक्त को समस्त लोकों व कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। इस घोषणा का स्पष्टीकरण करते हैं **प्रजापति ने किसी मौके पर अपनी संसत् में गंभीरता से कहा कि यह आत्मा संसरणशील नहीं है, मोक्षेच्छुक को चाहिये कि इसे ढूँढे।।२।। जो पापरहित, बुढापे से वर्जित, मौत-शोक-भूख-प्यास से परे है, जिसकी कामनाएँ और संकल्प सत्य होते हैं, वह संसरण करने के स्वभाव वाला नहीं वरन् ईश्वर है।।३।।** समस्त जीवों के कल्याण के उपाय के प्रकाशन की अनुकम्पा से प्रजापति ब्रह्मा ने यह सार्वजनिक घोषणा अपने श्रीमुख से सभा में अपनी ओर से की, यही इस ज्ञान के महत्त्व का पुष्ट प्रमाण है। लोगों को कल्याण क्या है और उसका तरीका क्या है इस बात की ही जानकारी न हो तो बेचारे कल्याण के लिये यत्न भी कैसे करें! लोक में देखा जाता है कि बहुधा बालक, युवा आदि अनेक ग़लतियाँ सिर्फ़ इसलिये करते रहते हैं कि उन्हें किसी ने बताया ही नहीं कि वह ग़लती है और पता लगने पर छोड़ने की कोशिश भी करते हैं। ऐसे ही कई अच्छे कार्य वे करते नहीं क्योंकि जानते नहीं कि उन्हें करना चाहिये, जब समझ आती है तब करने भी लगते हैं। जैसे लौकिक, धार्मिक आदि कार्यों में वैसे ही आत्मस्वरूप विज्ञेय हैइस बात का पता ही जनसामान्य को है नहीं तो इस ओर प्रवृत्ति की संभावना भी नहीं रहती। अतः सब जनों के हित के लिये ही प्रजापति ने सार्वजनिक उद्घोषणा की। इस परंपरा का निर्वाह आज भी परमहंस करते हैं। आत्मा अन्वेषणीय वस्तु है। यद्यपि स्व-रूप होने से आत्मा भासमान है तथाऽपि उसका अनेक आवरणों से ढका रूप ही अनुभव में आ रहा है। खोजना उसका निरावरण वाला रूप है अर्थात् आवरण दूर करने का ही यहाँ नाम 'ढूँढना' है। संसरण के स्वभाव का न होना आत्मा का स्वभाव

है। संसरण से सभी परिवर्तन समझने चाहिये अतः अपरिवर्तित रहने वाली वस्तु ही आत्मा है। जो-जो परिवर्तन वाला मिले उसे छोड़ते जायें तो नित्य अपरिवर्तनीय आत्मा स्वतः प्रकट हो जायेगा। उसका वर्णन इसीलिये किया कि ग़लती से अनात्मा को ही आत्मा मान न बैठें।

प्रजापति ने आत्मा को पाप से रहित कहा। यहाँ पाप-शब्द पुण्य का भी उपलक्षण है अर्थात् किसी भी कर्म से और कर्मफल से वह असंबद्ध है। जरा, जीर्णता, पुरानापन भी आत्मा में नहीं है। स्थूल-सूक्ष्म शरीर जीर्णताग्रस्त होते देखे जाते हैं, वे आत्मा नहीं यह निश्चय करना चाहिये। यद्यपि सूक्ष्म शरीर स्वतः जीर्ण नहीं होता तथापि उसे जिस गोलक में कार्य करना है उसके जीर्ण होने से सूक्ष्मशरीर की भी कार्य-क्षमता घट जाती है, यही उसकी जरा समझनी चाहिये। अतः बुद्धि भले ही बूढ़ी न हो पर भेजा, दिमाग बूढ़ा हो जाने से बुद्धि काम नहीं कर पाती। अत एव प्रायः बुढ़ापे में लोग जल्दी झुंझला जाते हैं! समझा नहीं पाते तो डाँटकर चुप करा देते हैं। ये जीर्णता के चिह्न हैं। आत्मा कभी जरा महसूस नहीं करता, उसका 'कार्य' केवल सच्चिदानंदरूपता है जिसमें कोई अंतर नहीं आता, उपाधि के चाहे जो विकार सामने आयें या जायें, आत्मा सच्चिदानंदरूप से अविकृत रहता है। इसीका प्रभाव है कि हमें लगता है कि 'यदि शरीर ठीक हो जाये तो मैं वह सब कर सकता हूँ जो जवानी में कर लेता था!' निज को सदा समर्थ समझना आत्मा की निर्विकारता का द्योतक है। निर्विकार होने से ही वह मरणरहित है। कोई वस्तु पहले 'है' पता चले फिर 'नहीं है' पता चले तभी उसे मरा समझा जाता है। आत्मा तो सबको जानने वाला है, उसे 'नहीं है' समझे कौन? जो समझेगा वह है ही, अतः आत्मा मरता नहीं। आत्मा शोक से भी असंबद्ध है। शोकादि मनोधर्म हैं, आत्मा उनका साक्षी है, उनसे इसे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। जाग्रत्-स्वप्न में मन रहते ही शोकादि होते हैं, सुषुप्ति में मन न रहते ही सारे शोकादि स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। ऐसे ही भूख-प्यास प्राणधर्म हैं न कि आत्मधर्म, आत्मा इनसे दूर ही रहता है। अन्यत्र ये छह ऊर्मियाँ कही हैं प्राण के भूख-प्यास, मन के सुख-दुःख और शरीर के जरा-मरण और इनसे आत्मा सर्वथा असंबद्ध है।

आत्मा को सही-सही समझने के लिये वह क्या नहीं यह भी मालूम होना चाहिये और क्या है यह भी पता होना चाहिये। अतः यहाँ पहले निषेधमुख से बताकर कि आत्मा कैसा नहीं है, फिर विधिमुख से उसे समझाया : 'सत्यकामः, सत्यसङ्कल्पः'; जिसकी कामनाएँ और संकल्प सदा अवितथ रहते हैं वह आत्मा है। काम-संकल्प उपाधिधर्म होने पर भी आत्मा के सूचक हो जाते हैं। ईश्वर में यह विशेषता स्पष्ट है कि

पापं कर्तुरकर्तात्मा चिन्मात्रः पापवान् कथम् ।
जरामृत्यू देहधर्मौ विद्येते न चितस्ततः ।।४।।
शोकः स्याद् मनसो धर्मः क्षुत्-तृष्णे प्राणगे उभे ।
चिद्रूपस्याऽऽत्मनो नैव सन्ति शोकादयस्त्रयः ।।५।।

उसकी कामना व संकल्प हमेशा सत्य होते हैं। भाष्य में 'चित्रगुवत्' कहा; नाना रंगो की गायों का मालिक यों मालिक समझ आने पर भी जैसे वह नाना रंगों वाला नहीं होता, गायें ही नाना रंगों की होती हैं, इसी तरह काम-संकल्प उपाधि में ही रहकर ही आत्मा को समझने का उपाय बन जाते हैं। जीवात्मा को स्वयं में यह सामर्थ्य नहीं लगती कि उसकी कामना सत्य है या संकल्प सत्य है अतः कह दिया कि यहाँ जिस आत्मा की चर्चा है वह संसारी अर्थात् जीव नहीं है। उसे सत्यकामत्वादि के सहारे समझा जा सके इसलिये कहा कि यहाँ प्रतिपाद्य आत्मा वही है जिसे ईश्वर भी समझा जाता है। यद्यपि सविशेष का प्रसंग नहीं है तथापि दहरोपासना में इन्हीं विशेषताओं वाले ईश्वर का वर्णन है और यह सूचित करना है कि उपास्य का वास्तविक स्वरूप यहाँ ज्ञेय कहा जा रहा है इसलिये उस विद्या का परामर्श ईश्वर कहकर प्रकट किया। यहाँ काम और संकल्प शब्द आये हैं; काम-से निश्चित विशेषों वाली इच्छा समझनी चाहिये तथा इसके प्रति कारण बनने वाला प्रेरक निश्चय संकल्प समझना चाहिये। संकल्प का विषयमात्र, उद्देश्यमात्र निश्चित रहता है, अवान्तर-विशेषों के प्रति आग्रह नहीं होता। कामना अवांतर-विशेषों में उलझाने वाली, आग्रहवाली भावना है। जो सर्वज्ञ और सर्ववित् में अंतर है वही संकल्पवान् और कामनावान् में समझ सकते हैं। मूलकार तो जगदुत्पादन की इच्छा को काम तथा पूर्ववत् सृष्टि हो ऐसी इच्छा संकल्प बतायेंगे। वह भी उचित व्याख्या है। भाष्य में 'कामहेतवः सङ्कल्पाः' (छा. ८.१.५) कहा है अतः पूर्वोक्त अर्थ भी संगत ही है। ईश्वर के संकल्प व काम सत्य ही होते हैं, जीव के भले ही वितथ हों, आत्मा ईश्वर भी है अतः आत्मा को तो सत्यकाम आदि कहना संगत है ही।।२-३।।

पाप आदि से आत्मा रहित है इसे उपपन्न करते हैं **दुष्कर्म का आचरण करने वाले को ही पाप लगता है। सिर्फ़ ज्ञान जिसका स्वभाव है वह आत्मा कुछ भी करता है नहीं तो वह पाप वाला हो कैसे सकता है! बुढ़ापा और मौत भी स्थूल शरीर की विशेषताएँ हैं अतः ज्ञानरूप आत्मा बूढ़ा होने वाला और मरने वाला नहीं है।।४।। शोक मन में आने-जाने वाला भाव है तथा भूख-प्यास दोनों प्राण को प्रभावित करते हैं। इसलिये शोक, भूख, प्यास तीनों ज्ञानरूप आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं।।५।।**

चिन्मात्रस्याऽप्यस्ति माया कामसङ्कल्पकारिणी।
स्रक्ष्यामि जगद् इत्यादिकामो मायाविनोऽस्ति हि।।६।।
आकाशादिपदार्थास्तु यथापूर्वं भवन्त्विह।
सङ्कल्पोऽस्ति ततो ज्ञेया व्यावहारिकसत्यता।।७।।

सत्कर्म व दुष्कर्म जो करता है उसी को पुण्य व पाप की प्राप्ति होती है यही शास्त्रीय और उपपन्न व्यवस्था है। विचार करने पर समझ आता है कि स्वयं आत्मा कुछ करता नहीं; क्रिया परिच्छिन्न विकारी में होती है, आत्मा व्यापक व निर्विकार है अतः क्रिया का कर्ता न होने से पुण्य-पाप से सर्वथा असंबद्ध है। सब क्रियायें उपाधियुक्त रूपसे होती हैं, मन-इंद्रिय-शरीरादि से एकमेक हुआ आत्मा ही स्थूल-सूक्ष्म कोई भी क्रिया कर सकता है। कर्म होता उपाधि से है, हम उपाधिको मैं समझते हैं तो हमारा अभिमान होता है कि मैंने किया, अतएव हमें ही फल भी भोगना पड़ता है। खून चाहे जिसने किया हो पर यदि कोई झूठे ही अदालत में कहे कि 'मैंने ही खून किया है' तो उसे ही फाँसी हो जायेगी। 'मैंने किया' यह निश्चय फलभोग के प्रति कारण बन जाता है। वास्तव में आत्मा न कर्ता, न भोक्ता है, न किसी को मारता है, न किसी के द्वारा मारा जाता है 'नाऽयं हन्ति न हन्यते'। फिर भी अज्ञानवश कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वयं पर ओढ लेता है। स्वयं आत्मा का निरुपाधिक स्वरूप ज्ञान है, उसमें कर्तृत्वादि ही नहीं तो पाप-पुण्य की संभावना भी नहीं है। बुढ़ापा व मौत स्पष्ट ही शरीर के परिणाम हैं फिर भी हमें लगता है कि मैं बूढ़ा या मैं मरूँगा, ऐसे ही पापादि, शोकादि भी आत्मा में लगते हैं पर उसके हैं नहीं।।४-५।।

निषेधमुख से कथन का पर्यवसान वस्तुमात्र में होता है अतः उस प्रतिपादन में उपाधि को द्वार नहीं बनाते किंतु विधिमुख से वस्तुमात्र को उपस्थित करना हो तो उपाधि का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से सत्यकाम-सत्यसंकल्प शब्दों का विवरण करते हैं **केवल ज्ञान जिसका स्वरूप है उस आत्मा की भी माया है जो कामना व संकल्प उत्पन्न करती है। शास्त्र में प्रसिद्ध ही है कि मायाधीश को यह कामना होती है कि 'जगत् की सृष्टि करूँगा'।।६।। उसका यह संकल्प भी होता है कि 'आकाश आदि चीज़ें वैसे ही हो जायें जैसे पिछले सर्ग में थी'। क्योंकि पूर्वापर सर्गों में अर्थात् समस्त व्यवहारकाल में ये चीज़ें ईशसंकल्पानुसार एकरूप रहती हैं इसीलिये इनकी सत्यता व्यावहारिक समझना उचित है।।७।।** जीव के व्यवहार शरीर-मन-प्राणादि जिन उपाधियों से संभव हैं वे सभी ईश्वर में हैं नहीं वरन् इन सबका कारण माया नामक उपाधि ही ईश्वर के सब व्यवहार संभव करती है।

काम-संकल्प-सृष्टि-फलप्रदान आदि अनेक व्यवहार ईश्वर के हैं यह श्रुति-स्मृति में प्रसिद्ध है। तार्किक ऐसे ही व्यवहारों के सहारे ईश्वर को अनुमानों से सिद्ध करते हैं। अघटितघटनापटीयसी अर्थात् जो हो न सके उसे कर दिखाने में कुशलतर शक्ति माया है। अतएव ईश्वर सत्यकाम है! जीव कामना तो कर सकता है पर तदनुसार कार्य हो ही यह जीव के अधिकार-क्षेत्र के बाहर है। ईश्वर की कामना तो पूरी होनी ही है अतः वह सत्यकाम है इसमें क्या आश्चर्य! प्रलय में जीवों के कर्म विलीनावस्था में बने रहते हैं, उन्हीं को सफल करने के लिये 'जगत् पैदा करूँ' यह ईश्वर को कामना होती है। सुषुप्ति में जैसे हमारे कर्मादि लीन रहते हैं वैसे सभी जीवों के कर्मादि का लय होना प्रलय है। सृष्टि होती है इससे सिद्ध है कि प्रलय में सृष्टि के बीज पड़े रहते हैं। सृष्टि न हो, उसके बीज रहें यही प्रलयावस्था है। माया या कोई भी शक्ति कार्य से ही समझ आती है। जगद्रूप कार्य है इसी से सिद्ध होता है कि परमेश्वर की माया-शक्ति अवश्य है। माया को ही अव्यक्त, अव्याकृत, प्रकृति आदि अनेक नामों से बताया गया है। कार्य सामने आने पर ही कारण की शक्ति का निश्चय होता है। सौ साल पूर्व कोई कहता कि आकाश में ऐसी शक्ति है जिससे लन्दन की घटना तत्काल दिल्ली में दीख सकती है, तो लोग उसे नशेबाज या पागल कहते पर आज जब दूरदर्शन के माध्यम से यह प्रत्यक्ष हो रहा है तब आकाश की वह शक्ति सभी स्वीकारते हैं। इसी तरह समस्त संसार की उपलब्धि ही माया में प्रमाण है।

उसीकी विविध वृत्तियाँ काम, संकल्प, कृपा आदि सारे ईश्वर के व्यवहार हैं। जगत्सर्जन की इच्छा काम कही गयी और 'पूर्व सृष्टि के समान सृष्टि हो' यह इच्छा संकल्प कही गयी। हमारे संकल्प क्योंकि विकल्पों से ग्रस्त होते हैं इसलिये इनमें परिवर्तन होता रहता है, ईश्वर के संकल्प अटल होते हैं इसलिये उनमें बदलाव संभव न होने से प्रतिसृष्टि आकाशादि, धर्मादि का स्वरूप वही रहता है, उसमें हेर-फेर नहीं होती। जीव मनसे संकल्प करता है और मन चंचल है, मथनी जो हाल दही का करती है वही मन जीव का करता है, अतः जीव का संकल्प सर्वथा अदृढ रहता है। ईश्वर मन से तो संकल्प करता नहीं! वह सत्यसंकल्प है। हर सृष्टि में उसका संकल्प एकरूप रहता है। जीव को बेहतर विकल्प उपस्थित होते हैं तो वह संकल्प बदल लेता है, ईश्वर का संकल्प है ही वह जो सर्वोत्तम विकल्प है अतः उसे बदलने की गुजांइश ही नहीं है। अतएव ईश्वर-सृष्टि व्यावहारिक है। हम संकल्पमात्र से स्वप्न पैदा करते हैं तो वह प्रातिभासिक ही रहता है क्योंकि सोकर उठने पर वैसा नहीं मिलता, दुबारा सपना देखने पर भी वैसा

नहीं मिलता, अन्य जीवों को भी वैसा नहीं मिलता। ईश्वर की रचना हमेशा सबको वैसी ही मिलती है जैसी एक बार प्रमाण से समझ ली जाये, अतः उसे व्यावहारिक ही माना जाता है। संसार में जो होता है वह ईश्वरेच्छा के ही अनुसार होता है, जीव की इच्छा से कुछ नहीं होता। हमें जब लगता है कि हमारी इच्छा पूरी हुई तब भी हुआ इतना ही कि हमने वही इच्छा की जो तब ईश्वर की इच्छा थी। रेल रुकी हो तो छोटे बच्चे रेल के अंदर ही एक दीवाल को धक्का लगाते हैं कि रेल चल जाये; कभी ऐसा होता है कि धक्का लगने पर रेल चल भी पड़ती है! बच्चा समझता है कि धक्के से रेल चली; रेल तो चालक के संकल्प के फलस्वरूप चली न कि बालक के संकल्प के, किंतु उस क्षण बालक और चालक का संकल्प समान था तो बालक को भ्रम हो गया। ऐसे ही जीव को भ्रम हो जाता है कि मेरी इच्छा पूरी हुई; वास्तव में इच्छा शिव की ही पूरी होती है। इस रहस्य को न समझने से जीव अपने अभिमान को पुष्ट कर मोह में धँसता जाता है : संसार में जो कुछ अच्छा हो उस पर अपना ठप्पा लगा देता है कि 'मैंने किया' जबकि किया वह परमेश्वर ने ही। इसका पता चलता है जब कुछ बुरा हो जाये; बाढ़, भूकंप आये, सूखा पड़े तो कोई नहीं कहता कि 'मैंने किया', सब यहाँ तक कि ईश्वर को न मानने वाली सरकार भी उसे दैवी आपदा ही कहते हैं! हरित क्रांति, श्वेतक्रांति आदि के लिये 'दैवी कृपा' कहने में परहेज़ करते हैं क्योंकि उसका श्रेय खुद लेना चाहते हैं लेकिन बाढ़ आदि का ज़िम्मा ईश्वर पर डालकर पल्ला झाड़ते हैं। इसी से अभिमान बढ़कर ग़लतियाँ कराता है। सच यह है कि सुभिक्ष हो या दुर्भिक्ष, दोनों एकमात्र परमेश्वर की इच्छा से ही होते हैं। यह याद रखने से न अभिमान होता है और न चिंता, शोक आदि तथा न ग़लतियाँ करने में प्रवृत्ति। 'मेरे करने से होगा' इसी अभिमान से हम कुकर्म करते हैं, जब मालूम हो कि परमात्मा के ही करने से होगा तब कभी शास्त्र के उल्लंघन की प्रवृत्ति नहीं होगी।

इस निश्चय को कायम रखना चाहिये कि संसार ईश्वर-संकल्प की ही पूर्ति का नाम है। वे ही सत्यसंकल्प हैं। हम स्वभावतः असत्यसंकल्प हैं, भाष्यकार ने कहा है 'वितथा हि संसारिणां कामाः', संसारी जीव की कामनायें तथ्य से परे ही होती हैं। उनकी यथार्थता काकतालीय है, जब ईश्वरेच्छानुकूल हुई तब सत्य लगती हैं, वह सत्यता जीव की कामना की न होकर ईश्वरेच्छा की होती है। किन्तु ईश्वर की भी कामना-संकल्प की सत्यता व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। व्यवहारदशा में अबाध्य रहे वह व्यावहारिक होता है। जैसे जो नोट बाज़ार, बैंक आदि में चल जाये वह सत्य, और कहीं न चले वह झूठा माना

अन्वेष्यः परमात्माऽयं मायातत्कार्यलक्षितः।
गुरुशास्त्रकृतो बोधः तस्यान्वेषणमुच्यते।।८।।
ततोऽनुभूत्या विज्ञातुम् एष्टव्यो धीनिरोधतः।
ध्यायन् युक्त्या च मन्वानः स्वात्मानुभवमाप्नुयात्।।९।।

जाता है। जब सरकार निरस्त कर दे तब भी नोट व्यवहार के लायक नहीं रह जाता अतः नोट की सत्यता उसकी व्यवहार्यता पर ही निर्भर है, वह परमार्थ सत्य नहीं है। सोना-चाँदी लौकिक स्तर पर परमार्थ है, किसी की मान्यता की अपेक्षा नहीं रखता। अतः सोने का सिक्का पारमार्थिक, असली नोट व्यावहारिक और नकली नोट प्रातिभासिक समझ सकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर काम-संकल्पपूर्वक मायावृत्ति से जो करता है वह व्यावहारिक है, हम जो केवल अपनी कामनादि से स्वप्न मनोराज्य आदि बनाते हैं वह प्रातिभासिक है तथा सच्चिदानंदरूप निर्विकार परमात्मा ही पारमार्थिक है। सत्य होने वाली कामनाओं और संकल्पों वाला जो है जिस अधिष्ठान पर काम-संकल्प का अध्यास आता-जाता है वह परमार्थ आत्मा समझने से सारे बंधनों से छूटकर परमानंद-प्राप्ति होती है। इस प्रकार, जिसे निषेधमुख से निष्पाप आदि कहा उसी को विधिमुख से सत्यकाम आदि कहा, यह स्पष्ट होता है।।६-७।।

वेद ने परमार्थ आत्मा को ही जानने योग्य अनेक वचनों द्वारा द्योतित किया है, यहाँ भी उसे अन्वेषण और विज्ञान के योग्य कहा है। इसी को प्रकट करते हैं **माया और उसके कार्यों के सहारे जिसका पता चलता है वह अपरोक्ष परमात्मा अन्वेषण के योग्य है। उसका श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु से वेदानुसारी ज्ञान पाना अन्वेषण कहा जाता है।।८।। तदनन्तर बुद्धि का निरोध कर स्वानुभव से वह महसूस करने योग्य है। जो युक्तियों से उसका मनन करता रहता है और ध्यान करता रहता है उसे स्वात्मा का अनुभव प्राप्त होता है।।९।।** अन्वेषण का भाष्य में अर्थ यही कहा है 'शास्त्राचार्योपदेशैर्ज्ञातव्यः'। 'अनु' कहते हैं 'पश्चात्' को; वेदानुसार जिसने परमात्मा का स्वानुभव कर लिया उस तत्त्वनिष्ठ के ज्ञानके बाद उसका शिष्य आत्मदर्शन कर सकता है, तभी ज्ञान-परंपरा रहती है, अतः इसे अन्वेषण कहते हैं। बिना तत्त्वनिष्ठ को माध्यम बनाये आत्मबोध प्राप्त नहीं होता। किं च, वेदोक्त बहिरंग-अंतरंग साधनों के अनुष्ठान के बाद संभव होने से भी आत्मज्ञान अन्वेषण कहा जाता है। इतना ही नहीं, 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस श्रुति से निश्चित है कि अपने हर अनुभव के पीछे जो उसका साक्षी है उस पर एकाग्र होने से ही आत्मविद्या प्राप्त होती है इसलिये भी उसे अन्वेषण

य एवं वेत्यसौ सर्वाँल्लोकान् कामांश्च विन्दते।
लोकाऽधिष्ठानरूपत्वात् सर्वलोकात्मता भवेत्।।१०।।
कामास्तु विषयानन्दाः स्वात्मानन्दस्य तेऽखिलाः।
लेशास्ततः सर्वकामप्राप्तिरात्मविदोऽस्ति हि।।११।।

कहते हैं। प्रतिपादक शास्त्र तथा उसके जानकार द्वारा समझाया जाना ये तो सभी विद्याओं की प्राप्ति के साधारण कारण हैं अतः इनके पश्चात् दर्शन होता है इसलिये अन्वेषण है यह स्पष्ट है। लोक में, ढूँढने को अन्वेषण कहते हैं। जो चीज़ मौजूद है पर जानी नहीं जा रही उसे जान लेना ढूँढना है। अतः आत्मा को अन्वेषणीय कहकर सूचित किया कि उसमें कोई नवीनता या परिवर्तन नहीं लाना है, वह जैसा है वैसा उसे समझना है, उसके बारे में जो ग़लतफ़हमी है उसे दूर करना है। क्योंकि आत्मा वस्तु अपरोक्ष है इसलिये इसकी सचाई का अपरोक्ष ही आवश्यक है। प्रत्यग्रूप होने से हम आत्मा का 'मैं' ही समझ सकते हैं अतः उसका जो पारमार्थिक रूप है उसे भी 'मैं' समझने पर ही आत्मविषयक अज्ञान दूर हो सकता है। यह स्वानुभव, 'मैं' ऐसा अनुभव, तभी हो जब बुद्धि का निरोध हो। निश्चय के आधार पर नियंत्रण जब स्वाभाविक हो जाये तब निरोध कहते हैं। हमारी बुद्धि दृश्यों के सापेक्ष ही आत्मा को समझती है। शास्त्र से निश्चय हो जाये कि आत्मा दृश्य-निरपेक्ष स्वप्रकाश तत्त्व है और फिर बुद्धि अनात्मा की ओर ताके ही नहीं, केवल चिन्मात्राकार बनी रहे तो निरोध कहा जायेगा, तभी 'व्यापक वस्तु मैं हूँ' यह महसूस होगा। अतः युक्तिपूर्वक मनन चाहिये। बुद्धि को विचलित करने वाले होते हैं संशय, वे युक्ति-विचार से ही मिटेंगे, तभी बुद्धि स्थिर रहेगी। बुद्धि-चांचल्य का दूसरा हेतु राग-द्वेष हैं, उन्हें साधक पहले ही मिटा चुके यह ज़रूरी है, अन्यथा संशय के बिना भी रागादि से बुद्धि विचलित होती रहेगी। श्रवण-मनन-निदिध्यासन तीनों की पूर्णता पर ही स्वात्मानुभव होता है यह तात्पर्य है।।८-९।।

स्वात्मानुभव का प्रभाव प्रकट करते हैं **उक्त ढंग से जो स्वानुभव कर लेता है वह सारे लोक और काम पा जाता है। क्योंकि सभी लोकों के अधिष्ठान आत्मा से वह अभिन्न हो जाता है इसलिये वह सब लोकों का स्वरूप हो जाता है।।१०।। सारे ही काम अर्थात् विषयजन्य सुख स्वात्मरूप आनन्द के स्वल्पांश हैं अतः आत्मज्ञानी को सारे कामों की प्राप्ति होती ही है।।११।।** काम की प्राप्ति अर्थात् पूर्ति, कामना के विषय की उत्तम उपलब्धि होने पर जो सुख मिलता है वह आत्मसुख से स्वतः सिद्ध है। विद्वान् को कामना हो फिर पूरी हो, ऐसा नहीं होता,

सारे संसार की तीव्रतम कामना एक-साथ पूरी हो जाये तो जो सुख होगा उससे अनंत गुणा सुख उसके लिये सदा अनावृत रहता है। समस्त विषय क्योंकि स्वयं पर ही कल्पित जान लेता है इसलिये सभी की उसे प्राप्ति सहज है। संसार में सत्-चित् के आधार पर ही विषय टिके हैं, सत्-चित् विद्वान् का स्वरूप है अतः उसी पर सब आधारित हैं यह स्पष्ट है। अज्ञ तो क्रिया करके समझता है कि विषय मिले, तज्ज्ञ को मालूम रहता है कि सब विषय मुझ अखण्ड वस्तु पर ही कल्पनास्पद बनते हैं अतः उसे विषयों की प्राप्ति कर्मादि के व्यवधान से नहीं होती, एक-साथ होती रहती है जैसा तैत्तिरीय में 'सोऽश्नुते सकलान् कामान् सह' द्वारा कहा। जैसे सिकोरा, परई आदि सब मिट्टी को सदा, बिना प्रयत्न के प्राप्त हैं ऐसे सारा संसार आत्मा को प्राप्त ही है। काम-शब्द से यहाँ सभी विषयजन्य सुख कहे हैं जो कामना के विषय बनते ही हैं। दुःख कभी कामना का विषय नहीं बनता, यदि बनता भी है तो किसी ज़्यादा सुख के लिये ही, जैसे स्वादिष्ट दाल के हलुवे के सुख के लिये पीसने आदि का दुःख भी कामना का विषय बनता है या तनख्वाह के लिये नौकरी कामना का विषय बनती है। पदार्थ यदि सुखकर न लगे तो वह भी कामना का विषय नहीं बन पाता : स्वामी विवेकानंद जी राजस्थान में विचरण कर रहे थे। एक बार उन्हें दस्त लगे हुए थे, ऐसी हालत में एक आश्रम पर पहुँचे। वहाँ के महात्मा ने उनके स्वागत में बढ़िया हलुवा बनाना शुरू किया! बेचारे स्वामी जी ने बहुत कहा कि 'अत्यंत बीमार हूँ, खिचड़ी के अलावा कुछ नहीं खा सकता', लेकिन वह महात्मा माना ही नहीं, बोला 'आप अतिथि हैं, आपको खिचड़ी खिलाकर अपनी बदनामी कैसे कराऊँ? हलुवा ही खिलाऊँगा।' स्वामी जी शौच जाने के बहाने से निकले और लौटकर उस आश्रम में गये ही नहीं। अतः हलुवा भी सुख के ही लिये कामना का विषय बनता है। वह सुख वास्तव में आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द है, विषय से सीमित होकर अनुभव में आता है।

जैसे सत्ता व ज्ञान आत्मस्वरूप होने पर भी विषयों से सीमित प्रतीत होने से विषय-सत्ता और विषय-ज्ञान स्वल्प लगते हैं वैसे असीम आत्मानंद विषय-सीमा में बँधकर स्वल्प सुख लगता है। आनंद विषयों में नहीं है, आनंद परमात्मा का स्वरूप है। प्रिय-वृत्ति की एकाग्रता में आत्मानंद प्रकट होता है। हम विषयों को प्रिय समझते हैं तो उन्हीं के लाभ से वृत्ति एकाग्र होती है जिससे भ्रम हो जाता है कि आनंद विषय के कारण आया। आनंद आत्मरूप है, हमारे ही अंदर है, बाहर से आने वाली चीज़ नहीं है। अत एव एक ही विषय किसी को सुख देता है, किसी को नहीं, किसी को दुःख भी दे देता

है! विषय में रूप है तो सबको एक-सा दीखता है, रस है तो एक-सा चखने में आता है, ऐसे यदि सुख भी उसमें होता तो सबको समान प्रतीत होता, किंतु होता नहीं अतः समझ आ जाता है कि विषय में सुख नहीं वरन् हम जिस पर प्रियता का आपादन करते हैं वह हमें सुखद लगने लगता है। पंचदशी में प्रसंग है कि पुत्र को पिता चूम रहा है, पिता की दाढ़ी गड़ने से बच्चा रो रहा है फिर भी उसे चूमकर पिता खुश हो रहा है। अर्थात् बच्चे के रोने की उपेक्षा कर भी अपनी खुशी के लिये पिता चूमता है। इस तरह के अनुभव स्पष्ट करते हैं कि प्रियता का आपादन ही विषय को सुखप्रद बनाता है। यह तभी संभव है जब आनन्द आत्मा में निहित हो; विषय में जब आनंद नहीं यह अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित है तब उसमें आनंद अन्यत्र से ही आयेगा; विषय से अन्यत्र विषयी, आत्मा ही है, उसी से आनंद आ सकता है लेकिन तभी जब उसमें हो; अगर आत्मा में भी आनंद न हो तो आये कहाँ से? शास्त्र और युक्ति आत्मानंद के साधक हैं अतः आत्मा ही आनंदरूप है, वही प्रियवृत्ति के मार्फ़त विषयों को इस लायक बनाता है कि वे सुख प्रतीत हों। हमें सुख आता रहता है, विषय बदलते रहते हैं; मीठा खाकर मज़ा लेते-लेते थोड़ा खट्टा खायें तो सुख होता है, मिर्च खायें तो अच्छी लगती है, मुँह जलने लगे तो पानी पीना अच्छा लगता है; चीज़ें बदलती हैं पर हम उनसे सुख प्राप्त कर लेते हैं अतः सुखानुभवों में अनुगत हम ही सुखनिधान हैं। विषय-परिप्रेक्ष्य में जो हमारा सुख प्रकट हो रहा है वह मानो एक बूँद-सा है जबकि हम सुख के महासागर हैं या हम सुख के पूर्णचन्द्र हैं और विषयसुख जलबिंदु में पड़ा हमारा प्रतिबिम्ब है। हमें यह मालूम न होने से बाहर सुख है मानकर हम बहिर्मुख बने रहते हैं, निज स्वरूप जो अमित आनन्द है उसके आस्वादन से वंचित रहते हैं। क्योंकि तत्त्वज्ञ का अज्ञान मिट चुकता है इसलिये उसकी सभी कामनाएँ सदा पूर्ण रहती हैं।।१०-११।।

प्रजापति की उक्त घोषणा देवों और असुरों दोनों के कान में पड़ी। सब लोकों की व कामनाओं की पूर्ति होगी इस फल से लुब्ध हो उन्हें जिज्ञासा हुई कि वह कौन-सा आत्मा है जिसे जानने का यह फल है? जानकारी पाने के लिये देवों का प्रतिनिधि बनकर इन्द्र और असुरों का प्रतिनिधि बनकर विरोचन ब्रह्माजी के पास शिष्यभाव से विधिवत् पहुँचे। उपदेश के लिये प्रार्थना करने से पूर्व दोनों बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य के नियमों के अनुसार वहाँ रहे, तदनन्तर प्रजापति ने उनके आने का प्रयोजन पूछा, फिर उपदेश दिया। इस सन्दर्भ को व्यक्त करते हैं **प्रजापति की उक्त घोषणा सुनकर देव-असुर दोनों को तत्काल श्रद्धापूर्ण जिज्ञासा हुई कि वह परमात्मा क्या**

शिष्यौ देवासुरेशौ

एतत् प्रजापतेर्वाक्यं श्रुत्वा देवासुरास्तदा।
उभयेऽपि बुभुत्सन्तः परमात्मानमादरात्।।१२।।
देवराजोऽसुरेशश्च तौ द्वाविन्द्रविरोचनौ।
सत्यलोकं प्राप्य तस्मिन्नसेवेतां प्रजापतिम्।।१३।।
द्वात्रिंशद्वर्षसेवातः प्रसन्नोऽसौ प्रजापतिः।
अक्षिलक्षितमात्मानं ताभ्यां द्वाभ्यामवोचत।।१४।।

है।।१२।। देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन, दोनों सत्यलोक पहुँचकर प्रजापति की सेवा में संलग्न हो गये।।१३।। बत्तीस वर्षों की उनकी सेवा से प्रसन्न हुए उन प्रजापति ने उन्हें वह आत्मा समझाया जो आँख से द्योतित होता है।।१४।। जीवमात्र को जरा-मृत्यु-शोक-भूख-प्यास से छुटकारा तथा अपने काम-संकल्पों की बेरोकटोक पूर्ति की अदम्य अभिलाषा अवश्य होती है। चाहे देवराज हो या असुरराज, उक्त इच्छा से वर्जित कोई नहीं। अत एव फलवचन से तुरन्त प्रलोभित होकर इन्द्र-विरोचन एवं अन्य देवता-असुर जिज्ञासु बन गये। जैसे अमृत की आशा में आपसी वैर भुलाकर देव-असुरों ने मिलकर यत्न किया था वैसे आत्मज्ञान के भी महत्त्व से अभिभूत होकर वे परस्पर वैमनस्य छोड़कर साथी बनकर प्रजापति की शरण में गये। महान् उद्देश्य सामने हो तो तुच्छ विरोध तिरोहित हो ही जाते हैं। जानने को सभी देव-असुर उतावले थे लेकिन ब्रह्माजी से समझने के लिये उन्होंने अपने-अपने राजा को भेजा जो लौटकर बाकी सबको समझा सके। सर्वोत्तम आचार्य के पास सर्वोत्तम छात्रों का पहुँचना ही संगत भी है, साधारण व्यक्ति उनकी बात समझ भी नहीं पाता। दोनों राजा अपने-अपने देशों से चले, मार्ग में मिले तो एक-साथ ही ब्रह्मलोक की ओर बढ़े, उनका आपसी मतभेद मानो ख़त्म हो गया क्योंकि परमात्मा के बारे में सुनने मात्र की इतनी महत्ता है कि सांसारिक दुश्मनी विस्मृत हो जाती है। शास्त्र आत्मा को एक, व्यापक बताता है अतः श्रोता को पता चलता है कि सर्वत्र, सब अंतःकरणों का साक्षी मैं हूँ; इस स्थिति में विरोध कैसे हो? किसी को स्वयं से तो दुश्मनी होती नहीं! जिसे भिन्न समझें उसी से वैर-भाव संभव है, जहाँ अभेदबुद्धि हो वहाँ तो दूसरे का अपने से भी उत्कर्ष चाहते हैं जैसे पिता और गुरु अपने पुत्र और शिष्य का अपने से ज़्यादा उत्कर्ष हो यह कामना रखते हैं। जब भेद रहते भी अपना-पन होने से ही ऐसा भाव बन जाता है तब अत्यन्त अभेद समझ आने पर वैर का होना बिलकुल असंभव है। इंद्र-विरोचन सही मायने में आत्मा

को नहीं समझे थे लेकिन ब्रह्माजी की घोषणा के आपात ज्ञान से ही इतना अनुभव कर रहे थे कि आपसी विरोध व्यर्थ है। शास्त्रज्ञ होने से भी दोनों जानते थे कि आत्मज्ञान के लिये शिष्य में जो विशेषताएँ चाहिये उनमें द्वेषादि दुर्भावनाओं का अभाव भी आता है, इसलिये भी वैर को नियंत्रित कर ब्रह्मलोक की ओर गये। पौराणिक दृष्टि से, प्रह्लाद का पुत्र होने से विरोचन देवताओं के प्रति आदर रखता था यह भी कल्पना की जा सकती है।

दोनों शिष्य ब्रह्मा जी की सेवा के लिये प्रतिबद्ध होकर गये थे। कोई भी महत्त्वपूर्ण विद्या प्राप्त करनी हो तो गुरु को प्रसन्न करना पड़ता है। केवल धन दे देने मात्र से अध्यापक रहस्यविद्या प्रकट कर देगा यह आशा व्यर्थ है। सामान्य ज्ञान देने में धनलोभ से प्रवृत्ति हो जाये तो भी जो सारे ब्रह्माण्ड का अधिपति ब्रह्मा है वह पारमार्थिक ज्ञान देने में धनादि किसी लोभ से प्रवृत्त हो ही नहीं सकता, उसे सेवादि से खुश किये बिना विद्या मिलेगी यह संभव नहीं। लौकिक विद्या-ग्रहण के लिये भी जब-तक गुरु सेवा की जाती रही तब तक अध्यापक संपूर्ण लगन से छात्र तैयार करते थे, छात्र भी विद्या जज़्ब कर लेते थे। भले ही पढ़े-लिखों की संख्या कम रही हो पर विद्वत्ता का स्तर उच्च रहता था। जब से सेवा की जगह शुल्क के माध्यम से विद्यार्जन हो रहा है तबसे अध्यापकों की भी पढ़ाने में रुचि घटती जा रही है और छात्र भी विद्या हृदय में नहीं उतार रहे हैं। इंद्र-विरोचन राजा होकर भी इस घमंड में नहीं थे कि 'ज्ञान के लिये गुरुसेवा क्यों करें?' वरन् पहुँचते ही शिष्यभाव से सेवा में लग गये। गुरु के प्रति ऐसा सद्भावपूर्ण सम्मान न होने से ही मनस्वी विद्वान् शिक्षक नहीं बनते, शिक्षक भी शिक्षण को व्यवसायमात्र मानकर चलते हैं। लौकिक शिक्षा का स्तर भी तभी सुधरेगा जब गुरुजन समाज में आदर के पात्र बनेंगे। इन्द्र-विरोचन ने लगातार बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन किया तब ब्रह्माजी प्रसन्न हुए, पूछा 'तुम लोग क्या चाहते हुए यहाँ ब्रह्मचारियों के रूप में रह रहे हो?' उन दोनों ने जवाब दिया, 'जिस आत्मा के ज्ञान का महत्त्व आपने घोषित किया था उसे जानने की इच्छा से ही हम आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।' तब ब्रह्मा जी ने समझाया 'य एषो-ऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति' कि आँख में जो यह पुरुष दीखता है यही आत्मा है, यही अमृत, अभय, ब्रह्म है। वैसे तो आँख सभी इंद्रियों के उपलक्षण के लिये कही गयी है, फिर भी अन्यत्र बताया है कि जाग्रत् दशा में जीव का वास दाहिनी आँख में होता है अतः यहाँ भी 'आँख' से दाहिनी आँख समझ सकते हैं। ब्रह्मा जी का मतलब था कि जाग्रत् का अनुभव करने वालाइस

जाग्रत्साक्षी

पूर्णत्वात् पुरुषो योऽस्ति परमात्माऽयमक्षिणि।
जाग्रत्साक्षितया स्थित्वा विद्वद्भिः सुविभाव्यते।।१५।।
चिच्छायावानहङ्कारो मूढैरात्मेति भाव्यते।
कर्ता भोक्ता स जीवः स्यात् परब्रह्मैव साक्ष्यसौ।।१६।।
ब्रह्मणो मरणाऽभावाद् अमृतं तदितीर्यते।
अद्वितीयतया भीतिहेत्वभावाच्च निर्भयम्।।१७।।

रूप में आत्मा को समझो। जाग्रद्-द्रष्टा को माध्यम बनाकर जाग्रत्-साक्षी में स्थित होना है।।१२-४।।

प्रजापति के इस प्रथम उपदेश को ही स्पष्ट करते हैं **जो आँख में अपरोक्ष है वह पूर्ण होने से पुरुष है और जाग्रत् के साक्षी के रूप में रहकर विद्वानों द्वारा आराम से समझा जाता है।।१५।। मोहग्रस्त लोग चेतन की परछाँई वाले अहंकार को ही आत्मा मान बैठते हैं। चेतन से अविविक्त अहंवृत्ति तो कर्ता-भोक्ता जीव है जबकि यह साक्षी परम ब्रह्म ही है।।१६।। क्योंकि ब्रह्म अर्थात् व्यापक आत्मा मरता नहीं इसलिये वह अमृत कहा जाता है और उससे भिन्न कोई अन्य न होने से उसे डर लगे इसका कोई कारण नहीं अतः वह निर्भय कहा जाता है।।१७।।** हमेशा सर्वत्र एक ही रहे, जिसमें किसी तरह की कमी न हो, वह पुरुष कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वारा जिसकी ज्ञान-क्रियाशक्ति व्यक्त होती है, जो स्वयं बिना साधन के सदा भासमान है, वह सच्चिदानंद ही यहाँ आत्मा, पुरुष आदि शब्दों से कहा जा रहा है। जाग्रत् के अनुभवों वाला प्रमाता उस पुरुष का व्यावहारिक रूप है, वास्तव में आत्मा जाग्रत् के अनुभवों वाला नहीं वरन् उन अनुभवों का साक्षी ही है। जैसे चन्द्र देखने के लिये शाखा देखना आवश्यक होता है वैसे साक्षी को समझने के लिये प्रमाता को समझना आवश्यक होता है। अनुभव वाले पर एकाग्र होने से अनुभवस्वरूप अनावृत होता है। केवल 'आँख में होना' आत्मा की विशेषता नहीं, पूर्णता उसकी विशेषता है। आत्मवर्णन के समस्त निर्देशों पर ध्यान न दें तो बहुधा ग़लत-फ़हमी हो जाती है, और इंद्र-विरोचन को हुई भी, जैसा आगे बतायेंगे। इसलिये श्रवण एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, केवल शब्द कान में पड़ जाना श्रवण नहीं! पहले अधिकार अर्जित किया जाये फिर पद-पदार्थों की साफ़-साफ़ जानकारी हो तब सक्षम आचार्य से सावधानी पूर्वक समझने का प्रयास करें कि शास्त्र किस तात्पर्य को व्यक्त कर रहा हैइसका नाम श्रवण की क्रिया है। यहाँ भी 'अक्षि में पुरुष है' सुनकर समझना

पड़ेगा कि अक्षि व पुरुष का अभिप्रेतार्थ क्या है? अनेक बार शब्द कहा किसी प्रयोजन से जाता है और सुनने वाला उसका अन्य ही अर्थ समझ लेता है : बंगाली लोग जाने लगते हैं तो कहते हैं 'अभी आता हूँ', उनका अर्थ इतना ही है कि जा रहे हैं पर कोई झगड़ा करके नहीं जा रहे अतः संभव है फिर भी कभी आयें। किन्तु जिसे बंगला भाषा के लहज़े का ज्ञान नहीं वह समझ लेता है कि यहीं कहीं जा रहा होगा, थोड़ी देर में आ जायेगा! ऐसे ही 'अक्षि'-शब्द का अर्थ आँख होता ही है लेकिन प्रजापति ने सब इंद्रियों को सूचित करने के लिये इसे कहा। तथा पुरुष भी दाढ़ी-मूछों वाले मानव देह को कहते ही हैं लेकिन प्रजापति ने पूर्ण तत्त्व के लिये पुरुष-शब्द का प्रयोग किया।

अभिप्रेतार्थ समझने पर ही उनका उपदेश पता चल सकता है अन्यथा भ्रम स्वाभाविक है। पुरुष साक्षी है, न कि प्रमाता; प्रमाता वह है जो ज्ञानों से प्रभावित होता है क्योंकि वह राग-द्वेष वाला अर्थात् पक्षपात करने वाला होता है जबकि साक्षी पक्षपाती न होने से साक्ष्यों द्वारा अप्रभावित ही रहता है। अच्छे-बुरे अनुभवों से सुखी-दुःखी होने वाला प्रमाता है और सब स्थितियों में सर्वथा एक-समान रहने वाला साक्षी है। इसे पहचानना विद्वानों के लिये ही संभव है, विवेक की तीव्रता के बिना प्रमाता के आरपार देखकर साक्षी पर दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती। यदि अविवेकरूप मोह छोड़ा न जाये तो भी प्रमाता से अतिरिक्त आत्मा ग्रहण नहीं होता। प्रमाता कहते हैं अहमात्मिका वृत्ति से मिले-जुले चेतन को, चिदाभास को। आत्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में अंतःकरण समर्थ है अतः जब अंतःकरण की 'मैं'-ऐसी वृत्ति बनती है तब उसमें भी आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता ही है और वह स्थिति प्रमाता कही जाती है। कुछ भी सोचे-समझे बिना उस वृत्तियुक्त चेतन को आत्मा समझना स्वाभाविक है अतः अविवेक रहते व्यक्ति ऐसा ही समझता रहता है। मन के साथ जुड़ी चीज़ें ही पहचानने के हम आदी हैं, मन घट का आकार ले तभी हमें घट समझ आता है, अतः आत्मा के भी मनसे जुड़े रूपको ही हम पहचान पाते हैं। क्योंकि वृत्ति में कर्तृत्व-भोक्तृत्व है इसलिये हम आत्मा को कर्ता-भोक्ता समझते हैं। कर्ता-भोक्ता आत्मा को ही जीव-शब्द से कहा जाता है। जैसे मिट्टी को अवयवों के विन्यास-विशेषरूप उपाधि से घट समझा जाता है ऐसे वृत्तिरूप उपाधि से ब्रह्म को ही जीव कहते हैं। मिट्टी से अन्य जैसे घट कुछ नहीं वैसे ब्रह्म से अन्य जीव कोई वस्तु नहीं है। जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह साक्षी है, ब्रह्म है और पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब जीव है। ब्रह्माजी ने प्रतिबिंब की बात इसलिये की ताकि उसके सहारे बिम्ब को समझा जा सके क्योंकि सीधे ही बिम्ब ग्रहण के अयोग्य है। जैसे चंद्रमा पर चढ़े हुए ही राहु को देख सकते हैं, भले ही फिर

शिष्याऽनवबोधः

प्रजापत्युक्तितात्पर्यं नाबुद्ध्येताम् उभावपि।
राज्यवासनया चित्तं तदीयं राजसं खलु।।१८।।

समझ लें कि बिना चंद्र पर चढ़े भी राहु रहता है, वैसे आत्मा की उपलब्धि उपाधि-समेत ही होती है, वह निरुपाधि है यह केवल समझा जा सकता है। उस पुरुष को अमृत और अभय बताया गया। मरण शरीर का होता है, ब्रह्म अशरीर है अतः अमृत है। भय उसीसे लगता है जो अपने से अलग हो। ब्रह्म से अन्य कोई है नहीं तो ब्रह्म डरे किससे! इस प्रकार जाग्रत् का साक्षी वह आत्मा है जिसे मैं समझ लेने से मोक्ष सिद्ध हो जाता है, यह ब्रह्मा जी का उपदेश है।।१५-७।।

उक्त रहस्य सही न समझ पाकर इंद्र-विरोचन ने प्रश्न किया 'योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते, यश्चाऽयमादर्शे, कतम एष इति?' तो प्रजापति ने जवाब दिया 'एष उ एवैष सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायते' (छां.८.७.४)। 'हे भगवन्! आपने आँख में दीखने वाले पुरुष को आत्मा कहा पर जल और दर्पण में भी तो पुरुष दीखता है, इनमें से कौन-सा आत्मा है?' अर्थात् उन्होंने परछाँई को आत्मा समझा था! प्रजापति ने स्पष्ट किया कि जो सभी में उपलब्ध है वह आत्मा है। इस प्रसंग को व्यक्त करते हैं **क्योंकि निश्चित है कि राज्य की वासना के कारण उनके चित्त में रजोगुण उद्रिक्त था इसलिये प्रजापति के कथन का अभिप्राय वे दोनों ही नहीं समझ पाये।।१८।।** इन्द्र-विरोचन का मानस आत्मस्वरूप ग्रहण करने के लिये तैयार न होने से प्रजापति के उपदेश को वे सर्वथा ग़लत समझे थे। ब्रह्मा जी साक्षी को कह रहे थे और इन दोनों ने दूसरों की आँखों में जिसकी परछाँई पड़ती है उस शरीर को आत्मा समझ लिया। शब्द सुनकर भी वे अभिप्राय को नहीं जान पाये। इससे सूचित है कि ब्रह्मज्ञान जल्दबाजी का काम नहीं है, यह धीरे-धीरे स्थूणानिखनन-न्याय से ही हृदयंगम हो सकता है। जैसे स्थूणा या खूंटा गाड़ने के लिये उसे ठोकते हैं, हिलाकर ढीला करते हैं, फिर ठोकते हैं, फिर हिलाते हैं और ऐसा तब तक करते हैं जब तक कोशिश करने पर भी वह हिले नहीं; ऐसे ब्रह्म को समझ कर फिर सभी शंकाओं को उठने देकर उनका निवारण करे, पुनः और शंकाएँ उठने दे और उनका भी निवारण करे तथा ऐसा तब तक करे जब तक शंकाएँ ही असंभव हो जायें, किसी विपरीत प्रतीति से या विचार से इस बारे में संशय उठ ही न सके कि मैं ही ब्रह्म हूँ; तब ब्रह्मात्मबोध दृढ होता है। इसीलिये वेदान्तविचार में युक्ति-चिन्तन को इतना महत्त्व देते हैं। अत एव इस विद्या के लिये गुरु-शिष्य दोनों को परिश्रम करना पड़ता है, 'सह

अन्यदेहस्य या छाया सा चक्षुष्युपलभ्यते।
तामेवात्मतया प्राहेत्येषा बुद्धिरभूत् तयोः।।१९।।
छायाऽऽत्मानं दृढीकर्तुं पुनः पप्रच्छतुर्गुरुम्।
अप्स्वादर्शे च यो दृष्टश्छायाऽऽत्मा सोऽयमेव किम्।।२०।।

वीर्यं करवावहै'; शिष्य स्वानुभूति से मिलान कर उपदेश समझने का श्रम करे और गुरु उन प्रकारों को खोजकर समझाये जिनसे शिष्य स्पष्टतर अवगम प्राप्त कर सके। गुरु की बात सुनकर याद कर लेना, उसे दुहराते रहना अद्वैतावगम के लिये पर्याप्त नहीं बल्कि अपने अनुभव में वह बात उतरनी चाहिये, अपनी पूर्णता सदा महसूस होनी चाहिये। रजोगुण चित्त को चंचल करता है अतः वह बढ़ा रहे तो सूक्ष्म विषय समझ नहीं आ सकते, इसके लिये सत्त्व की बढ़ोतरी आवश्यक है। राज्य के बारे में संस्कार दृढ थे अतः वे ही बातें बार-बार मन में आती रहें यह स्वाभाविक है और जब मन अन्यत्र रुचि रखता है तब प्रस्तुत बात की तह में जाने के श्रम से बचता है जिससे आपात बोध ही हो पाता है। साधक के लिये इसीलिये विषयों से सर्वथा दूरी आवश्यक है, स्थूलतः भी विषय दूर रखने चाहिये और मन में भी उनके बारे में सोचने से बचना चाहिये, तभी उनकी वासना क्षीण होगी और चित्त एकाग्र होकर उपदेश ग्रहण कर सकेगा।।१८।।

इन्द्र-विरोचन की ग़लतफ़हमी बताते हैं **दूसरे के शरीर की जो छाया पड़ती है वह उसके सामने स्थित व्यक्ति की आँख में उपलब्ध हो जाती है, उसी को ब्रह्मा जी आत्मरूप बता रहे हैंऐसा इंद्र-विरोचन को निश्चय हुआ।।१९।। 'छायारूप आत्मा का ही उपदेश दिया गया'इस बात को सत्यापित करने के लिये उन्होंने गुरु ब्रह्मा से फिर पूछा 'जल, दर्पण आदि में जो छायास्वरूप देखा जाता है वह क्या यही आत्मा है?'।।२०।।** 'आँख में दीखता है' से इंद्र-विरोचन ने समझा कि आमने-सामने दो लोग खड़े हों तो एक की आँखों में दूसरे का जो प्रतिबिम्ब दीखता है उसे आत्मा बताया जा रहा है। किन्तु थोड़ा-सा विचार किया, कि परछाँई तो अपने से बाहर दीखती है, वह आत्मा नहीं हो सकती अतः ब्रह्मा जी का मतलब है कि जिसकी परछाँई पड़ती है वह शरीर आत्मा है! 'हम सही ही समझे हैं' यह निश्चय करने के लिये उन्होंने पूछा कि क्या सिर्फ़ आँख में दीखने वाला आत्मा है या जल, दर्पणादि में दीखने वाला भी आत्मा ही है? आँख में तो काला हिस्सा, सफेद हिस्सा, तारा आदि बहुत कुछ दीखता है, प्रजापति यदि उनमें से किसी को बता रहे होंगे तो साफ करेंगे कि परछाँईं आत्मा नहीं हैऐसा शिष्यों का विचार था।।१९-२०।।

स्पष्टीकरणम्

तदीयमन्यथाज्ञानं बुद्ध्वापि न निराकरोत्।
सभामध्ये मानभङ्गे बुद्धिभ्रंशो भवेदिति।।२१।।
स्वेनाऽक्षिण्युपदिष्टो यः स सर्वत्राऽपि तिष्ठति।
इत्युक्तोपायतस्तौ द्वौ बोधयामीत्यमन्यत।।२२।।

प्रजापति के उत्तर का तात्पर्य समझाते हैं **वे दोनों ग़लत समझे हैं यह जानकर भी प्रजापति ने साफ-साफ नहीं कहा कि 'तुम जो समझे वह ठीक नहीं' क्योंकि सभा में अपमान होने से बुद्धि की क्षमता और भी कुण्ठित हो जायेगीऐसी प्रजापति की भावना थी।।२१।। उन्होंने यही कहा कि 'मैंने आँख में जिसका उपदेश दिया वह सभी में रहता है'। उन्होंने विचार किया कि इन दोनों को किसी उपाय से समझाना चाहिये।।२२।।** इन्द्र-विरोचन के प्रश्न से स्पष्ट हो गया कि प्रजापति का उपदेश वे ग़लत समझे थे। फिर भी प्रजापति ने सीधे ही नहीं कहा कि 'तुम ग़लत समझे हो' क्योंकि अपमानित होकर वे और ज़्यादा अग्रहणशील हो जाते। भगवान् भाष्यकार ने बड़े मनोवैज्ञानिक रहस्य को यहाँ प्रकट किया है। वे कहते हैं 'यदि प्रजापतिना 'मूढो युवां विपरीतग्राहिणौ' इत्युक्तौ स्यातां ततस्तयोश्चित्ते दुःखं स्यात्, तज्जनिताच्च चित्तावसादात् पुनः प्रश्न-श्रवण-ग्रहणा-ऽवधारणं प्रति उत्साह-विघातः स्याद्, अतो रक्षणीयौ शिष्याविति मन्यते प्रजापतिः।' अगर प्रजापति कहते 'उलटा समझने वाले तुम दोनों मूर्ख हो' तो दोनों दुःखी हो जाते। किसी को भी मूर्ख, नासमझ कहा जाये तो वह दुःखी होता है पर राजा आदि अतिप्रतिष्ठित पद पर आसीन व्यक्ति को ऐसा कहा जाये तो उसे सामान्यरूप से अधिक ही दुःख होता है यह लोकसिद्ध है। उस दुःख से दोनों का चित्त अवसाद से ग्रस्त हो जाता; दुःखादि के कारण चित्त जब खुद को हारा हुआ महसूस करता है, 'मैं किसी लायक नहीं हूँ, मेरी नियति ही कष्ट की, नाकामयाबी की है' ऐसी भावना घर कर जाती है, तब मानस-स्थिति को अवसाद कहते हैं। उस दशा में व्यक्ति प्रयास ही छोड़ बैठता है। शिष्यों की रक्षा करनी चाहियेयह ज़िम्मेवारी समझते हुए ब्रह्माजी ने उन्हें अवसाद में डूबने से बचाते हुए और अधिक विचार के लिये प्रेरित करने के उपाय की ही खोज की। इससे सभी गुरुओं को शिक्षा दी गयी है कि छात्र के आत्मविश्वास को पुष्ट ही करना चाहिये, क्षीण नहीं करना चाहिये। शिष्य का मुँह बंद कर देने का मतलब यह नहीं कि उसने बात समझ ली; जब तक विषय निःसंदिग्ध न हो, जँच न जाये तब तक अलग-अलग तरीकों से समझाना गुरु का कार्य है। ब्रह्मा जी ने

साभिप्राय वचन कहा कि पूर्व में उपदिष्ट पुरुष सबमें रहता है। आत्मा वस्तु सर्वव्यापक है अतः काँच में, पानी में आदि कहीं भी उसकी सत्ता नकारी नहीं जा सकती। ब्रह्मा जी 'सर्वेषु अन्तेषु' के सर्व-पदसे शिष्यों को सावधान करना चाहते थे! अगर वे काँच आदि में वह नहीं है ऐसा कहते तो परिच्छिन्नता, सद्वितीयता का प्रसंग आ जाता। जैसे आकाशस्थित सूर्य ही चक्षु, जल, दर्पण आदि सर्वत्र दीखता है ऐसे सभी उपाधियों में आत्मा है। अतः 'सर्वव्यापक को आत्मा कह रहा हूँ'यह ब्रह्मा जी स्पष्ट करना चाहते थे।।२१-२।।

उपाय सोचकर ब्रह्माजी बोले 'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतम् इति' जल-भरे बर्तन में आत्मा को देखकर उसमें जो न दीखे वह मुझे बताओ। ब्रह्माजी का भाव था कि अपहतपाप्मत्वादि विशेषताएँ छाया मेंछाया वाले शरीर में न देखकर इन्हें समझ आयेगा कि मैं छाया को आत्मा नहीं कह रहा। किन्तु दोनों शिष्यों को इतना दृढ निश्चय था कि वे सही ही समझे हैं कि परछाँई देखकर उन्होंने ब्रह्माजी से कुछ नहीं कहा कि 'हमें अमुक बात नहीं दीखी'! प्रजापति ने ही पूछा 'क्या देखा?' तो वे बाले 'नख से केश तक जो हम हैं उसी का प्रतिरूप देखा'। यह उपाय नाकामयाब हुआ देख प्रजापति ने एक कोशिश और की, वे बोले 'अभी ब्रह्मचारी रहते हुए तुमने देखा, अब अच्छे अलंकारों से सजकर, बढिया कपड़े पहनकर, केश-नख आदि काटकर तब पानी-भरे बर्तन में देखो।' तात्पर्य था कि परछाँई में इतना बदलाव देखकर दोनों समझ जायेंगे कि वह आत्मा हो यह संभव नहीं, छाया की तरह ही जिसकी छाया है वह शरीर भी बदला हीयह समझकर वे शरीर को आत्मा मानने का भ्रम त्याग देंगे। शिष्यों ने उक्त ढंग से तैयार होकर फिर परछाँई देखी तो ब्रह्मा जी ने पूछा 'क्या देख रहे हो?' उन्होंने कहा 'जैसे हम सजे-धजे हैं वैसा अपने को देख रहे हैं।' ब्रह्मा जी ने उन्हें चेताने के लिये कहा 'यही अमृत, अभय, ब्रह्मरूप आत्मा है।' इन विशेषणों पर ध्यान देंगे तो तुरंत पता चलेगा कि शरीर या छाया आत्मा नहीं है ऐसा ब्रह्मा जी का मानना था। लेकिन उस समय दोनों राजा इस ओर दृष्टि दे ही न पाये और ग़लत समझकर ही ब्रह्मलोक से विदा हो लिये। इस संदर्भ को व्यक्त करते हैं **ब्रह्माजी ने सोचा कि ये दोनों अभी जैसे हैं वैसे अपनी छाया जलभरे बर्तन में देखें फिर गहने पहनकर भी छाया देखें तो स्वयमेव समझ जायेंगे कि छाया आत्मा नहीं है क्योंकि छाया में बदलाव आयेगा जबकि साक्षी वही होता है जो एक तरह का ही बना रहे। इस ढंग से यह समझना सरल है कि**

शरावे जलयुक्ते वा केवलौ वीक्ष्य तौ पुनः।
सालङ्कारावक्ष्याऽथ छायां नात्मेति बुध्यताम्।।२३।।
छायाया अन्यथात्वं स्यात् साक्षी चैकविधः स्थितः।
आत्मत्वं निर्विकारस्य शक्यते बोद्धुमञ्जसा।।२४।।

विकार-रहित वस्तु ही आत्मा है।।२३-४।। 'केवलौ' अर्थात् अकेले, बिना बताये शिष्य स्वयमेव विवेक से समझ पाये ऐसा तरीका शिक्षक को खोजना चाहिये। हर बात दूसरे से सुनकर ही समझे तो शिष्य हमेशा परावलंबी रहेगा। गुरु उसे स्वतंत्र बनाने का प्रयास करे ताकि परिस्थितियों पर ध्यान देकर वह खुद सही बात समझना सीखे। छाया का, छाया वाले शरीर को, आत्मा समझकर जब उसे परिवर्तनशील अतः अनित्य देखेंगे तो विजर-विमृत्यु लक्षण वहाँ न मिलने से सोचने को बाध्य होंगे कि इसे आत्मा कैसे कहा गया? तब प्रश्न करेंगे तो उन्हें अंतर्मुख कराया जा सकेगा। अंतर्मुखता ज़बरदस्ती नहीं लायी जा सकती! जब तक अपने अपरीक्षित अनुभव को शंका की दृष्टि से न देख पाये, अनुभव की परीक्षा न करे तब तक साधक हृदय गुफा के द्वार में प्रवेश नहीं कर सकता। किताबी ज्ञान तो कराया जा सकता है कि शरीरादि जड हैं उनमें उपलब्ध उनका साक्षी चेतन आत्मा है, लेकिन यह रटी बात जैसा ही रहेगा यदि साधक अंतर्मुख नहीं बन सका है। इसलिये प्रजापति ने छाया का निषेधकर स्वतः बताना नहीं शुरू कर दिया कि वे किसे आत्मा कह रहे हैं वरन् शिष्य ही अपनी समझ की परीक्षा करें इसके लिये उन्हें प्रेरित किया। आगे भी इंद्र के विकास में ब्रह्मा जी यही ढंग रखेंगे। शिष्य प्रश्न करे तब स्पष्ट उत्तर दिया जायेगा, अन्यथा उसे अपने समझे पर चिन्तन करने का मौका ही दिया जायेगा। हो सकता है कि इस तरीके में कुछ शिष्य ग़लत ही समझकर रह जायें जैसे विरोचन का हाल हुआ, किन्तु अध्यात्म विकास भीतर से ही हो सकता है, बाहर से लादा नहीं जा सकता इसलिये यह जोखिम लेना अनिवार्य है। इतना अंतर अवश्य है कि कभी गुरु अत्यंत कृपालु होकर शिष्य को बार-बार विचलित करेजैसा ऋभु-निदाघ की कथा में आता हैया ब्रह्मा जी की तरह ऐसा प्रयास न करे, लेकिन साधक की उन्नति तो तभी होगी जब वह स्वयं परीक्षा में प्रवृत्त होकर प्रत्यङ्मुख बने। परीक्षा के लिये सूत्र यहाँ स्पष्ट कर दिया कि जिसमें बदलाव आता है वह आत्मा नहीं हो सकता और जो नित्य एकरस रहे वही आत्मा है। सर्वत्र इसी आधार पर अनात्मांश का परित्याग करते हुए आत्मा पर एकाग्र रहा जा सकता है। नित्य निर्विकार प्रकाशमात्र को ही आत्मा समझें तो शोकादि से परे हो जायेंगे इसमें संदेह नहीं। आत्मा को 'स्थितः' कहकर स्पष्ट किया कि उसमें

छायात्मताभ्रमः

तथाऽपि पापबाहुल्यप्रतिबद्धधियावुभौ।
छायात्मतां शरावोक्त्या दृढां कृत्वात्यतुष्यताम्।।२५।।

किसी भी तरह की गति नहीं है, परिणाम नहीं है। परछाँई में परिवर्तन देखने से मालूम पड़ जाता है कि वह आत्मा नहीं; जिस शरीर की छाया पड़ती है वह भी बदलता है अतः आत्मा नहीं; सर्वत्र बाह्य-आंतर परिवर्तनों को जानने वाला, उनसे खुद न बदलने वाला प्रत्यक्तम तत्त्व ही आत्मा है।।२३-४।।

उक्त उपाय भी नाकामयाब हुआ यह बताते हैं **पाप की बहुतायत से बुद्धि की विवेकक्षमता में रुकावट के कारण प्रजापति द्वारा तरह-तरह से समझाने पर भी इन्द्र-विरोचन दोनों ने पानी-भरे बर्तन आदि के ढंग से इसी निश्चय को पक्का किया कि छाया आत्मा है और 'हमें आत्मज्ञान हो गया' ऐसा मानकर बहुत संतुष्ट हुए!।।२५।।** ब्रह्मारूप गुरु, वेदरूप प्रमाण, आत्मरूप प्रमेयइनमें कोई कमी नहीं, कमी प्रमाता में है कि वह सही बात नहीं समझ पाता। प्रमाता की कमी ही अध्यात्मशास्त्र में पाप कह दी जाती है; जिसके कारण साधक सिद्धि से वंचित रह जाता है वही तो पाप है। इन्द्र-विरोचन दोनों राजा थे और राजा को अनेक कार्य ऐसे करने पड़ते हैं जो उस पर पाप का बोझ बढ़ाते हैं। आचार्य शंकर ने तो एक जगह यहाँ तक कहा है कि मैं किसी भी जन्म में किसी गाँव का भी नेता न बनूँ! छोटी हो या बड़ी, सत्ता मिलने पर अकार्यों का अनुष्ठान हो जाना स्वाभाविक है। अबोध बालक भी यह चाहता है कि मुझे सत्ता मिले और मैं मनमानी करूँ। उसे डाँट पड़े तो बुरी लगती है पर सोचता है कि बड़ा होकर मैं भी डाँटूंगा! अर्थात् डाँटने को ग़लत समझते हुए भी वह डाँटने की इच्छा रखता है। आजकल के कॉलेज आदि में नये छात्रों को पुराने छात्र परेशान करते हैं; परेशान होते समय उस प्रक्रिया को बिलकुल ग़लत समझते हुए भी वे विचार करते हैं कि अगले-वर्ष हम भी ऐसा करेंगे! यह सत्ता की, प्रभुता की अविवेकप्रद प्रवृत्ति है। जब बालक, ग्रामणी का यह हाल है तब देवों व असुरों के राजाओं का क्या कहना! अतः उनकी बुद्धि में कालुष्य कोई आश्चर्य नहीं। यद्यपि उन पदों के योग्य क्षमता तो उनमें थी तथापि परमात्मा को समझने के लिये ज़रूरी स्वच्छता नहीं थी। बुद्धि में सामर्थ्य तो निहित है, पर उसके कारगर होने में रुकावट पड़ी रहे तो फल नहीं पैदा हो पाता। अत एव साधक को प्रारंभ में यही शिक्षा देते हैं कि शुद्ध कर्मों से वह अपना चित्त स्वच्छ बनाये, पापों से आयी रुकावट दूर करे। इसके बिना चाहे जितना पढ़ लें, याद कर लें,

आगे दूसरे को समझा भी दें पर अज्ञान दूर नहीं होगा, अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होगा। जैसे संगीत के संस्कारों से हीन व्यक्ति सुरीला संगीत सुनते हुए भी स्वर-सौष्ठव पहचानने में असमर्थ होने से उसका विशेष आनंद नहीं ले पाता, वैसे अशुद्धचेता मनुष्य उपनिषत् का रहस्य ग्रहण नहीं कर पाता, किताब में क्या लिखा है यह पता चलने पर भी 'यही सत्य है, यही मेरा अनुभव है, मेरी निष्ठा है'यह स्थिति नहीं आती। कारण इसमें रुकावट, प्रतिबंधक ही है। ढलान पर गाड़ी खड़ी करते हैं तो पहिये के आगे पत्थर रख देते हैं, वह पत्थर गाड़ी को ढलकने से रोकता है अतः वही प्रतिबंधक है। उस पत्थर को हटा दें तो गाड़ी को चलाने के लिये अन्य प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह स्वयं ढलकने लगती है क्योंकि ढलान पर थी। ऐसे ही पापरूप प्रतिबंधक हट जाने पर बुद्धि तत्त्वानुभव के लिये स्वतः तैयार हो जाती है, उस स्थिति में उसे विवेकादि साधनों में लगायें तो ज़ोर नहीं पड़ता। किंतु यह शुद्धि फलबलकल्प्य है अर्थात् जब सही दिशा में चल पड़े तब समझना चाहिये कि पाप क्षीण हो गया है।

इन्द्र-विरोचन ने बत्तीस वर्षों तक तप किया लेकिन पाप की अधिकता से वह पर्याप्त नहीं था अतः ब्रह्मा जी के उपदेश को ग़लत ही समझा। जिसे अनात्मा स्पष्ट करने की ब्रह्मा जी ने कोशिश की थी उसे ही आत्मा के रूप में उन्होंने और दृढ ग्रहण कर लिया! इसी दृष्टि से कह दिया जाता है कि अनधिकारी के लिये विद्या हानिकर हो जाती है। इन्द्र-विरोचन अपनी ग़लतफहमी से ही बड़े संतुष्ट हो गये, प्रसन्न हो गये कि शोक-भूख-प्यास-बुढापा-मौत से परे आत्मा जान लिया! ऐसा अपक्वावस्था का सन्तोष साधना-प्रवृत्ति को मंद और कदाचित् बन्द भी कर देता है। जब तक अपनी उपलब्धि को कम न आँकें तब तक अधिक के लाभ के लिये यत्नशील नहीं हो सकते। कई विचारक भी अपने चिन्तन से इतने मुग्ध हो जाते हैं कि उसकी कमी की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। आत्मवादियों में अनेक उसे ज्ञानरूप, आनंदरूप नहीं मानते, त्रिविध परिच्छेदों से रहित नहीं मानते; उन्हें उपनिषत् की जानकारी तो है पर वे अपनी मान्यता के बल पर वेद का ही अर्थान्तर सोचते हैं या वेद की उन बातों को मानने से इनकार भी कर देते हैं क्योंकि खुद की समझी बात उन्हें बहुत अच्छी लगती है। ऐसे ही छाया कोया जिसकी छाया पड़ती है उस शरीर कोआत्मा समझकर इन्द्र-विरोचन इतने संतुष्ट हो गये कि उस मत के दोष, असंगतियाँ उनकी-दृष्टि में ही नहीं आये।।२५।।

ब्रह्माजी ने उस समय और प्रयास बिना किये शिष्यों को जाने से रोका नहीं **गुरु प्रजापति ने सोचा कि समय बीतने पर जब रुकावट कम हो जायेगी तब ये**

गुरोरुपेक्षा

कालेन प्रतिबन्धस्य क्षये सत्यथ तं पुनः ।
उपदेशं शरावाख्योपायं चालोच्य मोक्ष्यते । ।२६ । ।
इत्युपेक्ष्य गुरुस्तस्थौ तौ राज्यत्यागतश्चिरम् ।
प्रयासं प्राप्य सहसा जग्मतुः स्वस्वलोकयोः । ।२७ । ।

दोनों मेरे उपदेश पर तथा जल-पात्र में देखनारूप उपाय पर विचारकर आत्मा का सत्य ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और संसारबन्धन से छूट जायेंगे। इस अभिप्राय से उन्हें पुनः समझाने में रुचि न दिखाकर चुप बैठ गये। बहुत समय से राज्य-सुख छोड़ा होने के कारण इन्द्र-विरोचन काफी थकान, परेशानी महसूस कर ही रहे थे, ब्रह्माजी को चुप देखकर तत्काल ही अपने-अपने लोकों की ओर चल पड़े। ।२६-७। । गुरु से, सहपाठियों से, स्वयं विचार करने से समझ आया विषय भी काल से और परिपक्व होता है यह लोकसिद्ध बात है। विभिन्न परिस्थितियाँ तथ्य को अलग-अलग पहलुओं से देखने का मौका देती हैं जिससे सर्वांगीण दृष्टि मिलती है जो उन सब अतिदेशों को स्पष्ट कर देती है जिनसे वह तथ्य हमारे सभी अनुभवों से समंजस हो जाता है। प्रतिबंधों की निवृत्ति यद्यपि अकेले काल से हटे यह संभव नहीं तथापि विक्षेप के हेतुभूत कर्म जब फल दे चुकते हैं तब प्रतिबंध स्वतः कम हो ही जाते हैं। प्रारब्ध को इसीलिये तत्त्वज्ञान के प्रति भी कारण मानते हैं। ईश्वर ने जो प्रारब्ध भोगने के लिये निर्धारित किया है उसके लिये आवश्यक विक्षेप भी सहना ही पड़ेगा अतः जब तक वह प्रारब्धांश फल देकर निवृत्त न हो जाये तब तक शम-दमादि कारगर हो नहीं पायेंगे। 'इन्द्र-विरोचन राजा हैं, उनके लिये बहुत कार्य ईश्वर द्वारा निर्धारित है अतः संभवतः अभी प्रतिकूल प्रारब्ध चल रहा है जिससे ये बहिर्मुखता छोड़ नहीं पा रहे हैं; जब कालक्रम से वह घोर प्रारब्ध कृतकार्य हो चुकेगा तब इन्हें अपने ज्ञान का पुनः आलोचन करने का मौका मिलेगा एवं उस समय ये समझ पायेंगे कि मैंने जो कहा और इन्होंने जो समझा उसमें कितना अंतर है तथा स्वयं विचारकर या कि मुझसे पूछकर विषय को स्पष्ट कर लेंगे। इस समय और कोशिश बेकार है।' यह ब्रह्माजी का अभिप्राय था। सूत्र उन्होंने दे ही दिया था कि परिवर्तनशील, विकारी अनात्मा होता है; दृश्य अनात्मा होता है; अविकारी साक्षी ही आत्मा है। यह सूत्र स्वयं ही आत्मानुभूति के लिये पर्याप्त है। फिर भी समझ न आये तो जानकार से सहायता लेकर आत्मा को समझा जा सकता है। इन्द्र-विरोचन तो अपनी 'समझ' से ही संतुष्ट

एतौ प्रजापतेः शिष्याविति भ्रान्त्या विपर्ययम्।
तदीयं प्राप्य नश्येयुरिति सोऽघोषयद् गुरुः।।२८।।

थे! ब्रह्माजी चुप हो गये तो दोनों ने सोचा कि 'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्', 'गुरु ने हमारी समझ को ही सत्यापित कर दिया है अतः हमारा शिक्षा-ग्रहण का कार्य पूरा हो गया', और बिना आज्ञा माँगे ही दोनों अपने राज्यों की तरफ चल दिये। उन्हें प्रजापति ने रोका भी नहीं क्योंकि उनकी विषय-वासना समझ गये थे और भोगाकर्षण रहते आत्मा समझ नहीं आ सकता। ब्रह्माजी को यह भी आशा थी कि उन्होंने जो उपदेश दिया उस पर वे दोनों विचार अवश्य करेंगे, तथा विचार में यह सामर्थ्य है कि सत्य को अनावृत कर देता है।।२६-७।।

ब्रह्मा जी ने विचार किया कि जैसे मेरी पूर्व घोषणा इन्द्र-विरोचन के कानों में पड़ी थी वैसे ही अब भी सर्वसाधारण घोषणा कर देता हूँ, यह भी वे कभी-न-कभी सुन ही लेंगे। उन्होंने कहा 'तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचअनुपलभ्य आत्मानम् अननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा, ते पराभविष्यन्तीति।' उन्हें तेज़ी से जाते हुए देखकर ब्रह्मा बोले 'जैसा मैंने कहा वैसा आत्मा को बिना समझे, आत्मयाथार्थ्य का साक्षात्कार बिना किये, बल्कि उलटा ही समझकर ये जा रहे हैं! देव या असुर जो भी इनकी आत्मविद्या के अनुसार निश्चय करेगा वह कल्याण के प्रयास में हार ही खायेगा।' इसे सूचित करते हैं **सर्वसमर्थ गुरु प्रजापति ने यह घोषणा कर दी कि 'ये दोनों प्रजापति से आत्मवस्तु सही समझकर आये हैं' इस भ्रम से जो इन्हीं वाले विपरीत ज्ञान को पाकर साधना करेगा वह नष्ट ही होगा।।२८।।** प्रजापति जानते थे कि दुनिया में प्रसिद्धि होगी कि इंद्र-विरोचन प्रजापति से आत्मविद्या प्राप्तकर आये हैं तो वे जो कुछ बतायेंगे उन पर लोग श्रद्धा कर लेंगे क्योंकि पहले तो इन्द्र-विरोचन स्वयं ही अपने-अपने समाज में बहुत श्रेष्ठ समझे जाते हैं, राजा हैं, फिर साक्षात् ब्रह्मा के पास बत्तीस साल रहकर सीखे हैं तो उनके ज्ञान की महत्ता और भी अधिक आँकी जायेगी। लोक में होता यही है कि प्रतिष्ठित व्यक्ति की बात पर शीघ्र ही भरोसा कर लिया जाता है। अतः सारी ही प्रजा को आत्मा के बारे में भ्रम में फँसने से बचाने के लिये ब्रह्मा जी ने तुरंत सार्वजनिक घोषणा करना ज़रूरी समझा। सावधान साधक अपने गुरु के माहात्म्य का ख्याल रखकर कभी किसी को कोई बात तब तक न बताये जब तक गुरु से उसे ऐसा निर्देश न मिले कि 'अमुक बात की शिक्षा दो', क्योंकि खुद ही निर्णय करने से यह ग़लती होना बहुत संभव है कि हम सांप्रदायिक ज्ञान के नाम पर अपने भ्रम का

आसुरोपनिषत्

विरोचनस्तामसत्वाच्छीघ्रं तानसुरान् प्रति ।
गत्वा देहात्मतां तेभ्य उपादिक्षन्निजेच्छया । ।२९ । ।
अक्षिच्छाया देहजन्या तया देहोपलक्षणात् ।
देह आत्मा स्वस्वदेहं सदा पूजयताऽसुराः । ।३० । ।

ही प्रचार करने लग जायें। सिद्ध गुरुओं के शिष्यों के प्रति समाज में आदर बहुत होता है इसीलिये शिष्यों को भी ज़रूरत से ज़्यादा सावधान होना चाहिये कि कहीं कोई ग़लत बात प्रचारित न हो जाये। इन्द्र-विरोचन से ब्रह्माजी को ऐसी सावधानी की आशा भी नहीं अतः उन्होंने सारी प्रजा को चेता दिया कि उन दोनों की बात न मानी जाये, उसे मानना नाश का उपाय बनेगा। ।२८ । ।

विरोचन ने असुरों को यह आत्मविद्या सिखाई 'विरोचनोऽसुराञ्जगाम, तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचआत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चाऽमुञ्चेति ।। तस्मादप्यद्येह, अददानम् अश्रद्दधानम् अयजमानम् आहुःआसुरो बत; इति। असुराणां ह्येषोपनिषत्। प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनाऽलङ्कारेणेति संस्कुर्वन्ति, एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते । ।' ८.८.४-५ ।। उसने कहा 'ब्रह्मा जी ने सिर्फ देह को आत्मा बताया है अतः संसार में शरीर की ही पूजा और सेवा करनी चाहिये, इसीसे इह-पर दोनों लोकों की सिद्धि हो जाती है।' इस उपदेश को आसुर उपनिषत् कहते हैं। अतः जो अश्रद्धालु दान-यज्ञादि सत्कर्म नहीं करते उन्हें आसुर प्रवृत्ति वाला ही समझा जाता है। असुरों की परिपाटी है कि शव को गंध-माल्य-वस्त्र-आभूषणों से सजाते हैं, उसके निकट अन्न भी रख देते हैं और मानते हैं कि शव के इस संस्कार से ही परलोक पर विजय हो जायेगी। आज भी पश्चिमी सभ्यताओं में ऐसा व्यवहार देखा जाता है। इस विरोचन-विद्या को प्रकट करते हैं **विरोचन में तमोगुण अधिक था अतः वह प्रजापति के उपदेश पर मनन न करते हुए जल्दी चलकर उन असुरों के पास पहुँच गया जो उसकी इन्तज़ार कर रहे थे। उसने अपनी इच्छानुसार असुरों को उपदेश दिया कि देह ही आत्मा है। ।२९ ।। आँख में पड़ने वाली छाया देह से उत्पन्न होती है अतः छाया के बारे में कही बात शरीर के बारे में समझना उचित है। उसने कहा, 'हे असुरो! देह आत्मा है। हमेशा अपने-अपने शरीरों की पूजा किया करो। ।३० ।। शरीर पुष्ट हो तभी संसार में भोग किया जा सकेगा। शव-पूजनरूप साधन से मोक्षप्राप्ति होगी।' असुरराज विरोचन द्वारा चलायी**

देहे दृढेऽत्र भोगोऽस्ति मुक्तिः स्याच्छवपूजया।
इत्यासुरः सम्प्रदायः प्रायेणाद्यापि दृश्यते।।३१।।

परंपरा आज भी लगभग इसी रूप में उपलब्ध है।।३१।। विरोचन असुर था, तामस प्रवृत्ति का था। जो अपने प्राणों के ही लालन-पालन में लगे रहना जीवन का प्रधान उद्देश्य समझे, खाना-पीना-मौज करनायही जिसे पुरुषार्थ लगे, वही असुर है। भोग-लोलुपता तमोगुणी प्रवृत्ति है अतः विचार को रोक देती है। ऐसा व्यक्ति भूखा-प्यासा हो तो बिना सोचे-समझे जो कुछ मिले उसे खाने-पीने में प्रवृत्त हो जाता है, स्वच्छता शुद्धता आदि का कोई विचार नहीं करता। इसके चलते कई बार धोखा भी खाता है : यात्रा में लोग लड्डू आदि खिलाकर बेहोश कर चोरी कर जाते हैं; धर्मशाला, घाट आदि में मालिश करने, पैर दबाने वाले पहुँच जाते हैं, कहते हैं 'हमें मज़दूरी नहीं चाहिये, सेवा करेंगे।' जब यात्री सो जाता है तब वे ही चोरी कर लेते हैं। यों कई बार भोगेच्छा के अनियंत्रण से नुकसान होता है लेकिन तमोगुणी पुनरपि वही ग़लती करता है! तमोगुण विचार में प्रवृत्त होने से रोकता है। विरोचन जब स्वदेश लौट रहा था तब चाहिये तो यह था कि सुने हुए उपदेश पर चिंतन करता, उसे दुहराकर पक्का करता, लेकिन वह इस तरफ प्रवृत्त नहीं हुआ, शीघ्रातिशीघ्र राजकार्य सँभालने की उतावल में उन्हीं, विषयों का चिन्तन करते हुए जल्दी ही असुरलोक पहुँच गया। उसे प्रजापति ने यह कहा नहीं था कि 'तुम समझ गये हो, आगे इस ज्ञान की परंपरा चलाते रहो', फिर भी स्वयं को सम्प्रदाय-प्रवर्तन में समर्थ मानकर उसने जाकर असुरों को उपदेश देना प्रारंभ कर दिया।

साधक स्वयं का अज्ञान मिटाने को ही महत्त्व देता है, जब बोध पक जाता है तब कृपा से प्रवृत्त होकर या गुरु के निर्देश से प्रचार में लगता है। जो केवल दूसरों को सुनाने के लिये अध्ययन करता है उसकी रुचि होती है 'कोई अमुक प्रश्न करे तो क्या उत्तर दिया जाये?' यह समझने में, न कि निज का अज्ञान मिटाने में, अपनी शंकाएँ दूर करने में। आधुनिक काल में संप्रदाय इसीलिये गड़बड़ा रहे हैं कि प्रचार में लगने वाले प्रधानतः वे लोग हैं जिनकी प्रचार में ही रुचि है, जिस तत्त्व का प्रचार करना है उसके साक्षात्कार में रुचि नहीं है। अतः जिसके प्रतिपादन में ज़्यादा लोग जुट जायें उसी का वे व्याख्यान करने लग जाते हैं! इसी से आजकल प्रायः गुरुपरंपरा वालों की अपेक्षा उनका प्रचार ज़्यादा हो जाता है जो स्वयंसिद्ध हैं, जो कहते हैं कि 'हमारे गुरु तो साक्षात् भगवान् हैं!' पारंपरीण तो गुरु के निर्देश में रहते हैं अतः जो साम्प्रदायिक परंपरा में मान्य तत्त्व है उसी का प्रतिपादन करते हैं और यदि उससे विरुद्ध बोलने लगें तो सांप्रदायिक

लोग उन्हें सावधान कर देते हैं, श्रोता भी संप्रदाय के अनेक जानकारों से सुन-समझकर तत्त्व के विषय में निश्चित हो सकते हैं। किंतु जो अपना ज्ञान सीधा परमात्मा से प्राप्त बताते हैं उनके उपदेश को यों नियंत्रित नहीं किया जा सकता क्योंकि परमेश्वर ने उन्हें क्या कहा, वे क्या समझे इसे और तो कोई जानता ही नहीं! परमात्मा से सुनते समय उनके कोई साथी भी नहीं होते जिनसे सलाह की जा सके। इसलिये ऐसों का उपदेश उन्हीं की इच्छानुसार चलता है। जिस प्रकार विवाह के पहले लड़के-लड़की के कुलों की परंपरा पता लगायी जाती है कि इसके बाप-दादे कौन व कैसे रहे हैं, भाई-बन्धुओं की कैसी प्रवृत्ति है इत्यादि, उसी प्रकार साधक उपदेश लेने से पूर्व अवश्य पता लगाये कि उपदेशक के गुरु, परमगुरु परात्परगुरु, परमेष्ठी गुरु आदि कौन-कैसे रहे हैं, उसके अन्य सहपाठियों की क्या प्रवृत्तियाँ हैं इत्यादि, तभी वह परंपरानुसारी ज्ञान पा सकेगा। अन्यथा जैसे परिवार की जानकारी न लेकर विवाह कर लेने के बाद विविध परेशानियाँ आती हैं वैसे गुरुपरंपरा समझे बिना उपदेश ग्रहण करने पर भी साधना का मार्ग अवरुद्ध रह जायेगा, कदाचित् गलत मार्ग पर भी चलना हो जायेगा जो हर तरह के नाश का कारण बनता है। आजकल जनता में यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि जिसका प्रचार ज़्यादा सुनाई दे, जहाँ भीड़ ज़्यादा दीखे, प्रसिद्ध लोग जहाँ ज़्यादा जाते हों, जहाँ ज़्यादा सुविधाएँ मिलें, वहाँ जाकर धर्म की या अध्यात्म की शिक्षा लेने को तैयार हो जाते हैं, उपदेशक की गुरुपरंपरा, उसका संप्रदाय, उसका दर्शन आदि के बारे में पता लगाने का प्रयास ही नहीं करते। बहुत बार तो लोग ऐसों का उपदेश मानने लगते हैं जिनसे व्यक्तिगत संपर्क कभी हुआ ही नहीं, होने की संभावना भी नहीं! जब तक गुरु-शिष्य की अंतरंगता नहीं होगी तब तक कोई महत्त्वपूर्ण साधना बताना-समझना असंभव है। अतः श्रेयोमार्ग के पथिक को यह अवश्य करना चाहिये कि साम्प्रदायिक ब्रह्मनिष्ठ से ही आत्मज्ञान का उपदेश ग्रहण करे।

विरोचन यद्यपि प्रामाणिक गुरु से सुनकर आया था तथापि सही समझा था नहीं इसलिये सर्वथा ग़लत ज्ञान का ही उपदेश देने लगा। इन्द्र उसका सहपाठी था, अगर इंद्र के उपदेशों से विरोचन की बातों का मिलान कर लेते तो असुर समझ जाते कि विरोचन की समझ में कोई भूल है या कम-से-कम ब्रह्मा के उपदेश की एक वैकल्पिक व्याख्या सामने आती तो और किसी से या स्वयं ब्रह्मा जी से स्पष्टीकरण कराते; किंतु उन्होंने विरोचन के बड़प्पन से अभिभूत होकर और उसके उपदेश को अपनी आसुर प्रवृत्तियों के अनुकूल पाकर उसकी शिक्षा यथावत् ग्रहण कर ली, उसके परीक्षण में प्रवृत्त नहीं हुए। ब्रह्मा ने कहा था 'आँख में जो यह पुरुष दीखता है', उन्होंने छाया या जिसकी छाया पड़ती

है वह शरीर ऐसा तो कहा नहीं था; पर विरोचन ने ब्रह्मा के उपदेश का यह अर्थ ग्रहण किया कि वे शरीर की बात कर रहे हैं! अतः ब्रह्मा जी तो 'आँख' से सब इंद्रियों की उपलक्षणाकर उनसे व्यवहार करने वाले जाग्रदभिमानी के साक्षी को आत्मा कह रहे थे जब कि विरोचन बहिर्मुख होने से आँख में दीखने वाली छाया से शरीर को समझ बैठा। सिर्फ आँख में दीखने वाली चीज़ को तो विरोचन ने भी छोड़ा, वह आत्मा नहीं है यह समझा, लेकिन विचार की दिशा ग़लत मुड़ गयी क्योंकि स्वभाव विषयों को सोचने का ही था। उसने इसका अभिप्राय निकाला कि आत्मा श्रेष्ठ वस्तु है अतः पूजनीय है, शरीर ही आत्मा है और उसकी पूजा यही है कि उसे इष्ट भोगों से तृप्त किया जाये। शरीर दृढ रहे तो भोग भी ज़्यादा भोगे जा सकते हैं अतः शरीर के पोषण को ही उसने साधना माना। शरीरात्मवाद का सीधा प्रभाव होता है कि दान-यज्ञादि पर से श्रद्धा हट जाती है क्योंकि परलोक-गामी कोई प्रतीत नहीं होता। ऐहिकता (सेक्युलरवाद) आसुर-संप्रदाय की ही एक शाखा समझी जा सकती है क्योंकि इसमें सारा हानि-लाभ शरीर के, इहलोक के ही संदर्भ में आँका जाता है, शरीर से अतिरिक्त जो परलोक-संबंधी आत्मा है उसके स्तर पर, उसके हित-अहित का कोई विचार रखा ही नहीं जाता। मरणोत्तर भी शव-पूजा, गड़े मुर्दों की कब्रों की पूजा, मरे लोगों के नाम पर मन्नत करना इत्यादि प्रक्रियाएँ ईश्वर-देवता आदि को न मानकर मनुष्यों को ही मान्य, पूज्य, सक्षम समझने का फल है। धार्मिक क्रियाओं को भी शरीरलाभार्थ मानकर करनाजैसे कान पर जनेऊ चढाकर पेशाब करने से पौरुषग्रंथि नीरोग रहती है या रुद्राक्ष पहनने से हृदय स्वस्थ रहता है इत्यादिवास्तव में देहात्मवाद ही है क्योंकि परलोक या ईश्वर-प्रसन्नता के लिये जिन क्रियाओं का विधान है उन्हें केवल अपने शरीर के लिये विनियुक्त समझा जाता है। इस भाव से सत्क्रियाएँ करना विचारशील को धार्मिकता के बजाय नास्तिकता ही लगती है। अतः शव-पूजन से केवल मृत देह संबंधी कर्मकाण्ड ही नहीं, स्थूल देह को ही केंद्र मानकर, उसी को प्रधान रखकर आचार-विचार का निर्धारण करना भी शवपूजा ही समझनी चाहिये।।३१।।

विरोचन अपनी आसुर प्रकृति के अनुरूप विपरीत ज्ञात में ही निष्ठा बनाकर उसी मत के प्रतिष्ठापन में संलग्न हुआ। दूसरी ओर, इन्द्र जब ब्रह्मलोक से लौट रहा था तब बार-बार गुरु वचनों पर ही मनन करता चल रहा था क्योंकि दैवी संपत्ति से संपन्न था जिसमें ज्ञानयोग-व्यवस्थिति भी आ जाती है। इन्द्र ने विचार किया कि छाया और स्थूल शरीर दोनों परिवर्तनशील और नश्वर हैं अतः प्रजापति ने आत्मा को जैसा कहा था

इन्द्रविवेकः

इन्द्रस्तु सात्त्विकत्वेन मननं कुरुतेऽध्वनि।
आन्ध्यादयोऽपि छायायाम् अलङ्कारादयो यथा।।३२।।
एवं सत्यभयं ब्रह्म देहच्छाया कथं भवेत्।
एवं मत्त्वा समागत्य गुरोरग्रे तथाऽवदत्।।३३।।
पापक्षयाय द्वात्रिंशद्वर्षाणि तपसेऽवसत्।
पूर्वोपदिष्टं भूयोऽपि ब्रवीमीत्याह तं गुरुः।।३४।।

वैसे ये दोनों हैं नहीं तो इन्हें आत्मा कैसे समझा जाये? वह जब इस समस्या का समाधान नहीं कर पाया तब देवलोक की तरफ न जाकर ब्रह्मलोक की ओर ही लौट पड़ा एवं पुनः शिष्यभाव से प्रजापति के संमुख उपस्थित हुआ। फिर से बत्तीस साल गुरुसेवा कर चुकने पर इंद्र को प्रजापति ने दूसरी बार आत्मा समझाया। इस सन्दर्भ का संग्रह करते हैं **इन्द्र तो सात्त्विक होने के कारण रास्ते चलते हुए भी ब्रह्मा के उपदेश पर मनन करता रहा। उसने सोचा कि जैसे गहने आदि आगमापायी धर्म छाया में मिलते हैं ऐसे अन्धापना आदि भी मिलते ही हैं तो देहछाया अभय ब्रह्म कैसे हो सकती है? ऐसा मनन कर वह गुरु के सामने पहुँचा और अपनी शंका प्रकट की।।३२-३।। सम्यग् ज्ञान के प्रतिबंधक पापों को निवृत्त करने के उद्देश्य से तप करने के लिये बत्तीस वर्षों तक इन्द्र वहाँ रहा, तब गुरु ने कहा 'जिसका पहली बार उपदेश दिया था उसे फिर से समझाता हूँ।' ।३४।।** देवभाव की यह विशेषता महत्त्वपूर्ण है कि आवेग के वश में रज-तम के अनुरूप प्रवृत्ति हो जाने पर भी जब वेग घटता है तब सात्त्विकता प्रकट हुए बिना रहती नहीं। इन्द्र राज्यभोग के आकर्षण से चल तो दिया था पर चलने के साथ ही वह वेग तो शांत हो गया; 'दिल्ली जाना है' यह निर्णय होने के बाद रेल में बैठने तक तो दिल्ली जाने के बारे में ही चिन्तन चलता है, तैयारी चलती है, पर रेल में बैठ जाने के बाद वह विचार-शृंखला रुक जाती है, अन्यान्य वस्तुओं की ओर मन जाता है; रजोगुण का वेग शांत होते ही स्वाभाविक सात्त्विकता से इन्द्र आत्मविचार में प्रवृत्त हुआ। दैवी संपत् से हीन व्यक्ति तो उस दशा में चिंतन भी फल्गु विषयों का करता, उपन्यास पढ़ता, या सो ही जाता, पर दैवी संपत् वाला होने से इन्द्र ने प्रजापति से प्राप्त उपदेश पर ही चिंतन किया। उसने सोचा कि छाया को आत्मा कहा पर छाया तो बदलती रहती है, अच्छे-बुरे दोनों बदलाव उसमें मिलते हैं, सज-धज जाती है तो अंधी लंगड़ी भी होती ही है अतः उसे सत्यकाम आदि विशेषताओं

वाला आत्मा समझना कैसे संभव है? विरोचन ने तो समझा था कि प्रजापति का उपदेश है कि हमेशा शरीर को हृष्ट-पुष्ट सजा-धजा रखो ताकि सुंदर छाया पड़ सके! इन्द्र की दृष्टि परिवर्तन पर गयी कि यदि सुंदरतादि बढ़ सकती है तो विकृति भी आ ही सकती है। यही मनन की विशेषता है कि पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों को समग्रता में सोचना। इकतरफा तर्क करना मनन नहीं है, विरोधी तर्क की भी भरसक कल्पना कर उसके निवारण का प्रयास करना और जो अनिर्वाय न हो तदनुरूप पक्ष में परिष्कार समझना यह मनन का ढंग है। सांसारिक विषयों में भी मनन का तरीका यही चाहिये, सिर्फ लाभ या सिर्फ हानि सोचने वाले का तद्विषयक आग्रह तो हो सकता है पर मननपूर्वक विचार नहीं हो पाता। विवेक के लिये दोनों पक्षों का सबल उपस्थापन आवश्यक है, अन्यथा किसी एक पक्ष में चाहे जितने तर्कों का ऊहन हो जाये, उसे अविवेक या आग्रह ही कहा जायेगा। राग-विषय की अच्छाई ही देखते रहे तो राग बढ़ेगा ही, द्वेष-विषय के दोष ही देखते रहे तो द्वेष ही बढ़ेगा; ऐसे चिंतन का लाभ कुछ नहीं। दोनों तरफ की बातें सोचें, फायदा-नुकसान दोनों की तुलना करें, तब तो राग-द्वेष दोनों घटेंगे, चिंतन का कुछ फल होगा, अन्यथा विचार-यत्न व्यर्थ ही रहेगा।

इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिये कि विरोचन ने प्रजापति-प्रोक्त आत्मा समझा था स्थूल शरीर को जबकि इंद्र ने समझा था छाया को। ब्रह्मा जी ने 'दृश्यते' अर्थात् 'दीखता है' कहा, इंद्र ने यथाश्रुत अर्थ ग्रहण किया तो छाया समझ आयी। विरोचन ने सोचा कि छाया को आत्मा मानने में बहुत दोष आते हैं अतः उसे छोड़कर शरीर को आत्मा समझ लिया। उपदेश एक ही था पर अपने मानस के अनुसार दोनों ने विभिन्न अर्थ ग्रहण किया। भगवन् भाष्यकार ने यहाँ एक आवश्यक तथ्य प्रकट किया है, 'स्वचित्तगुणदोषवशाद् एव हि शब्दार्थवधारणं ... निमित्तान्यपि तदनुगुणान्येव सहकारीणि भवन्ति' कि श्रोता के चित्त में जो गुण या दोष प्रकट होंगे उनके आधार पर ही वक्ता या ग्रंथ के शब्दों के अर्थों का स्फुरण होगा और संदर्भ, चिह्न, इशारे, स्वर (काकु) आदि भी तदनुकूल ही प्रतीत होंगे। इससे स्पष्ट होता है कि विविध विचारक एक ही ग्रंथ के परस्पर विपरीत व्याख्यान कैसे करते हैं; वे प्रतारक नहीं हैं किंतु अपनी-अपनी बुद्धि-स्थिति के अनुरूप ही उन्हें समझ आता है जिसे वे व्यक्त करते हैं। अत एव अधिकारी को शुद्धचेता होने के लिये कहा जाता है क्योंकि जितना ज्यादा चित्त शुद्ध होगा उतना ही ज्यादा सही अर्थ जँचेगा। जब उपनिषत् का सांप्रदायिक अर्थ न जँचे तब साधक को समझ लेना चाहिये कि बुद्धि में मलिनता है तथा उसके निवारणार्थ प्रयास करना चाहिये क्योंकि बुद्धि में दोष रहते विचार

विपरीत ही दिशा में चलेंगे, उस स्थिति में और विचार करना घातक ही होगा। दोष दूर हो जाने पर स्वतः सही बात ग्रहण होती है, तदनुकूल युक्ति प्रतिभात हो जाती है। विरोचन ने भी विचार तो किया, इसीलिये छायात्मता में दोष समझकर देहात्मता स्वीकारी, किन्तु ब्रह्माजी के संपूर्ण वाक्य पर विचार न करने से अविकारी-अंश को नज़रन्दाज़ कर गया।

इंद्र ने विचार किया, छायात्मवाद की परीक्षा की; उसमें विकार-रूप अनात्मताद्योतक चिह्न पाकर उस वाद से असंतुष्ट हो गुरु के पास लौटा, विरोचन की तरह स्वयमेव अनर्गल कल्पना में नहीं उलझा। अन्यथा, जैसे विरोचन ने छाया छोड़ काया पकड़ी वैसे इंद्र भी किसी और को आत्मा मान सकता था, किन्तु सात्त्विक अतः श्रद्धालु था, अत एव ब्रह्मा के उपदेश का मनमाना तात्पर्य निकालने के बजाये उन्हीं से उनके तात्पर्य का स्पष्टीकरण पूछने पहुँचा। यह श्रद्धा की विशेषता है कि श्रद्धेय के वचनों पर चिंतन कर उसके बारे में उठी शंकाओं का निवारण श्रद्धेय के सहारे ही करे, न केवल 'कह दिया है इसलिये मानता हूँ' के स्तर पर रहे और न मनमानी कल्पना से संतोष करे। विरोचन ने शरीरपोषण की शिक्षा ग्रहण की, यह नहीं देखा कि जो पुष्ट होगा वह एक-न-एक दिन कमज़ोर भी होगा! इन्द्र ने इस पर गौर किया तभी उसे देहात्मवाद खोखला, निष्फल लगा। अभय ही आत्मज्ञान का फल है, देह या छाया के ज्ञान से अभयलाभ होता नहीं अतः उन्हें आत्मा समझना निष्फल ही है। लक्षण के सहारे ही लक्ष्य का निर्णय करना चाहिये। ब्रह्म का लक्षण अभयादि स्वरूप बताया था, वह छाया व शरीर में नहीं, अतः ये ब्रह्म नहीं, आत्मा नहीं यह इन्द्र को निश्चय हुआ। वह श्रद्धालु था अतः उसके मन में यह नहीं आया कि 'प्रजापति भी अनजान हैं! एक तरफ कहते हैं कि आत्मा अभय है और दूसरी तरफ छाया या देह को आत्मा बतलाते हैं!' अश्रद्धालु 'मैं ग़लत समझा, जानकार से सही जानकारी पाऊँ' ऐसा न सोचकर वक्ता या ग्रंथ ही ग़लत हैं ऐसा अभिमान करता है अतः अज्ञानपंक में अधिकाधिक धँस जाता है। इतना ही नहीं, विषय को परिष्कृत रूप से उपस्थापित करने पर श्रद्धालु तो ग्रहण करता है जबकि अश्रद्धालु को लगता है कि मूल विषय ऐसा नहीं था, सवाल के अनुरूप कल्पनाकर जवाब दिया जा रहा है अर्थात् मूल बात ग़लत ही है, संशोधित बात भले ही ठीक हो। श्रद्धावान् को जँचता है कि 'मूल का अभिप्राय यह था, मैंने अन्यथा समझा था' न कि वह अभिप्राय को ही नया मानता है। अश्रद्धालु शास्त्र मानना चाहता नहीं अतः ग़लती ढूँढता है, श्रद्धालु शास्त्र को मानना चाहता है अतः अपना भ्रम मिटाता है। इन्द्र श्रद्धा से भरापूरा था अतः प्रजापति से उनके उपदेश का स्पष्टीकरण माँगने आया। ब्रह्माजी ने उसका प्रश्न वाजिब

स्वप्नसाक्षी

जाग्रति स्थूलदेहेन साङ्कर्यं शंक्यते ततः।
स्वप्ने यश्चरतीवाऽसौ साक्ष्यात्मेत्यवगम्यताम्।।३५।।

ठहराया लेकिन उत्तर देने से पूर्व उसके मानस को और शुद्ध करना ज़रूरी समझा। उपदेश को ग़लत ग्रहण करना इसका चिह्न है कि चित्त अभी पर्याप्त शुद्ध नहीं है। पुनः बत्तीस वर्षों तक इन्द्र ने ब्रह्मचर्य-नियमों का पालन करते हुए गुरु सेवा की। उसकी सात्त्विकता इससे भी प्रकट होती है; दस-बीस दिन के लिये भी राज्य सँभालने का अवकाश नहीं माँगा, तत्काल ही पुनः बत्तीस वर्षों के लिये नियमबद्ध हो गया। 'आत्मज्ञान प्राप्त करना है' इस मूल उद्देश्य के प्रति जागरूकता भंग न होना इंद्र को श्रेष्ठ अधिकारी सिद्ध करता है। ब्रह्माजी ने जब समझा कि काफी-तप हो चुका तब इन्द्र को आत्मवस्तु का फिर से उद्बोधन दिया। सर्वप्रथम उन्होंने स्पष्ट किया कि जो तत्त्व पहली बार बताया था उसे ही पुनः बताने जा रहे हैं। तात्पर्य है कि ऐसा नहीं कि पहले उन्होंने छाया या शरीर को बता दिया था और अब किसी और को आत्मा कहेंगे! पहले भी आत्मा का ही उपदेश दिया था, अब भी उसे ही समझायेंगे।।३२-४।।

प्रजापति बोले 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति एष आत्मा' कि जो सपने में स्त्री आदि द्वारा पूजित होता हुआ अनेकविध स्वाप्न भोगों का अनुभव करता है वह आत्मा है। इंद्र को यह बात जँची क्योंकि स्थूलदेह के विकारों से छाया तो विकृत होती है पर स्वाप्न देह पर असर नहीं आता! ब्रह्माजी तो स्वप्न के द्रष्टा का उल्लेख कर रहे थे पर इंद्र ने सपने में दीखने वाले शरीर को ही आत्मा समझा अतः उसने विचार किया कि स्थूल देह के परिवर्तनों से अपरिवर्तित रहने वाला स्वाप्न देह आत्मा हो यह ठीक है। वह फिर चल दिया, मार्ग में विचार करता रहा तो सोचा कि भले ही जाग्रद् देह के विकारों वाला न हो पर सपने में तो वह भी ऐसा ही विकारी है, उसे भी मारा-काटा जाता है, अच्छा-बुरा अनुभव कर सपने में भी वह हँसता-रोता है, ऐसे को निर्विकार भयहीन आत्मा कैसे मानें? वह लौट आया, फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पालन किया और अगला उपदेश पाया। ब्रह्माजी ने जो स्वप्न-साक्षी का उपदेश दिया उसका वर्णन करते हैं **क्योंकि जाग्रदवस्था में आत्मा स्थूल देह से मिला-जुला उपलब्ध होता है इसलिये 'कहीं देह तो आत्मा नहीं?' यह शंका संभव है। इस संभावना से बचने के लिये यों समझना चाहिये कि सपने में जो व्यवहार करता हुआ-सा मिलता है वह साक्षी आत्मा है।।३५।।**
प्रतिपाद्य है साक्षी; जाग्रत् में स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों से मिला-जुला रहने से साक्षी कौन

आन्ध्यरोगादयो दोषाश्छायायां देहबिम्बगाः ।
भान्ति स्वप्ने तु नैवेति तुष्टो वव्राज पूर्ववत् । ।३६ । ।
मन्वानः सन्नन्यदोषान् अपश्यत् स्वप्न आत्मनि ।
चोरव्याघ्रादयो घ्नन्तीत्यादीन् आगत्य चाऽब्रवीत् । ।३७ । ।

हैयह निर्धारण कठिन है अतः जहाँ उपाधियाँ कम हों वहाँ आत्मा को समझना सरलतर होगा ही। इसी दृष्टि से प्रजापति ने स्थूलोपाधि छोड़कर जहाँ केवल सूक्ष्म व कारण हैं उस सपने में साक्षी का ग्रहण करने को कहा। स्वप्न में बताने पर स्थूल देह या इसकी छाया तो आत्मा नहीं ही है यह निःसंदिग्ध हो जायेगा ऐसा प्रजापति का भाव है। जाग्रत् की अपेक्षा स्वप्न में व्यवहार कम सत्ता वाला है यह सभी को मान्य है इसलिये 'करता हुआ-सा' कहा कि वास्तव में नहीं करता, ऐसा लगता-मात्र है कि कर रहा है। जाग्रत् में यह समझना अतिकठिन है कि 'मैं कर नहीं रहा, सिर्फ़ लग रहा है कि कर रहा हूँ', पर सपने के बारे में प्रायः सबको जँचता है कि 'लग रहा था कि मैंने किया जबकि किया नहीं'। यद्यपि वास्तविकता जाग्रत् के व्यवहार की भी यही है तथापि यह बात झटिति ग्रहण जाग्रत् के बारे में नहीं हो पाती, सपने के बारे में हो जाती है। सपने में जो व्यवहार करता जैसा लगता है वह साक्षी आत्मा है, यह ब्रह्माजी ने समझाया। इससे पता चल सकता है कि जाग्रद्व्यवहार भी वैसा ही अवास्तविक है जैसा स्वप्नव्यवहार। अतः समस्त व्यवहारों से उपलक्षित जो उन व्यवहारों का प्रकाशक साक्षी, वही निर्विकार अभय ब्रह्म है, यह प्रजापति का तात्पर्य है। ।३५ । ।

किंतु इन्द्र अब भी उपाधि में उलझा रहा, गलत ही समझकर स्वर्ग की ओर लौटा **देहरूप में बिम्ब में होने वाले अंधापन रोग आदि दोष छाया में तो मिलते हैं पर स्वप्न में नहीं अतः (स्वप्न में होने वाला अविकारी आत्मा हो यह उचित हैइस ज्ञान से) संतुष्ट हुआ इंद्र पिछली बार की तरह स्वर्ग को चल दिया। ।३६ । । किंतु मार्ग में मनन करते हुए उसे स्वप्नगत आत्मा में अन्य दोष दीखे कि वहाँ भी चोर बाघ आदि उसे मारते ही हैं इत्यादि। इंद्र रास्ते से ही लौट आया और ब्रह्माजी से अपनी समस्या कही। ।३७ । ।** स्थूल देह के विकार छाया को प्रभावित करते हैं अतः छाया व स्थूल देह आत्मा नहीं पर स्थूल के विकार स्वप्नदृष्ट शरीर में नियमतः नहीं दीखते अतः वह इससे अप्रभावित सिद्ध होने से आत्मा हैयह इन्द्र ने समझा। ब्रह्माजी ने तो जैसे प्रतिबिंब के सहारे यह स्पष्ट करने की कोशिश की थी कि देह के विकारों से देह-साक्षी अविकृत है वैसे सपने के सहारे बता रहे हैं कि सूक्ष्मदेह के

सुषुप्तिसाक्षी

स्वप्नेऽपि वासनादेहः शंक्येतेति सुषुप्तिगम् ।
साक्षिणं प्रोक्तवांस्तस्मै द्वात्रिंशद्वर्षसेविने । ।३८ । ।

विकारों से भी वह निर्विकार है। सपने में अंधा-लूला आदि हो जाये तो जाग्रत् में वैसा नहीं उठता, जाग्रत् का अंधापन आदि स्वप्न में नहीं जाता, अतः दोनों अवस्थाओं के विकारों से इनका साक्षी आत्मा अस्पृष्ट है यह प्रजापति का अभिप्राय है। इंद्र केवल स्वप्नगत शरीर को समझ पाया! तत्काल उतने से सन्तुष्ट होकर चल दिया पर जब उस पर चिन्तन करते हुए स्वर्ग की ओर जा रहा था तब उसे स्वाप्न शरीर की आत्मता भी असंगत लगी। स्वप्न के निमित्तों से तो स्वाप्न शरीर भी विकृत होता ही है! वहाँ भी चोर, बाघ आदि का डर लगता ही है, दुःख, पीडा आदि और कदाचित् मौत भी हो जाती है। इतना ही नहीं, स्वप्न में अप्रिय अनुभव हो तो उसकी याद जाग्रत् में भी आती है और तब भी दुःख होता ही है। स्वप्न के विषय और घटनाएँ बाधित हो जाने पर भी हो चुका अनुभव 'नहीं हुआ' तो हो नहीं जाता! इसलिये स्वाप्न शरीर को आत्मा समझने से वह फल नहीं मिलता जिसकी प्रतिज्ञा प्रजापति की घोषणा में थी। यह विचार कर वह ब्रह्माजी के पास लौट आया। ।३६-७ । ।

ब्रह्माजी ने पुनः बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन कराकर उपदेश दिया, 'तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति एष आत्मा' (८.११.१) : जो आँख में द्रष्टा है, जो स्वप्न में व्यवहार करता है, उसीके सब करण उपसंहृत हो जाने पर वह सो जाता है, स्वप्न भी नहीं देखता; वह आत्मा है। अर्थात् सुषुप्ति-साक्षी को आत्मा बताया। यह पर्याय स्पष्ट करते हैं **स्वप्न में भी वासना-निर्मित शरीर रहता है जिससे शंका हो सकती है कि 'कहीं यही तो आत्मा नहीं?' इसलिये जब बत्तीस वर्ष पुनः गुरुसेवा कर चुका तब इन्द्रको प्रजापति ने सुषुप्तिमें होने वाले साक्षी का उपदेश दिया। ।३८ । ।** जाग्रत् में देहत्रय सहित आत्मा है, स्वप्न में सूक्ष्म व कारण देहों सहित आत्मा है, अतः जैसे जाग्रत् में भ्रमकी संभावना है वैसे ही स्वप्नमें क्योंकि वहाँ भी वासनामय देहको आत्मा समझा जा सकता है, जैसा इंद्रने समझा, अतः प्रजापति ने सुषुप्ति-साक्षी का वर्णन किया। जाग्रत् छोड़कर स्वप्न का जिक्र किया इसीलिये था कि वहाँ स्थूलोपाधि न रहने से साक्षी का ग्रहण हो जाये; स्वप्न में दृश्य शरीर को सामान्यतः सभी अनात्मा जानते ही हैं अतः वह आत्मा है ऐसा भ्रम किसी को नहीं होगा ऐसा प्रजापति का मानना था; स्वप्न में भी कार्यकारी जो सूक्ष्म शरीरप्रधानतः मनउसके

तुष्टोऽगच्छत् सुषुप्तिस्थे जाड्यं दोषमवैक्षत।
विनष्टसदृशः सुप्तावात्मेत्यागत्य चाऽब्रवीत्।।३६।।

बारे में अवश्य ग़लतफ़हमी हो सकती है क्योंकि 'स्वप्ने चरति' से कहा जाने वाला मन-समेत आत्मा ही है। इसलिये तीसरी बार के उपदेश में ब्रह्माजी ने स्वप्न भी छोड़कर सुषुप्ति का उल्लेख किया क्योंकि वहाँ स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर नहीं रहते।।३८।।

इन्द्र ने अब भी केवल प्राज्ञ को ग्रहण किया अतः विचार करने पर पुनः असंतुष्ट हुआ **पूर्वोक्त उपदेश से सन्तुष्ट होकर इन्द्र देवलोक की तरफ चल तो दिया पर रास्ते में विचार करते हुए उसने पाया कि जो सुषुप्ति में रहता है, जो सोया रहता है, प्राज्ञ, उसमें जडता, अज्ञान है जबकि आत्मा में जडता दोष है। सुषुप्ति में वर्तमान आत्मा तो अविद्यमान जैसा ही होता है। अतः उस आत्मज्ञान से भी अकृतार्थ रह जाने से वह फिर ब्रह्माजी के पास आकर अपनी समस्या बताने लगा।।३६।।** सुषुप्ति में स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर न रहने से दुःख का सर्वथा अभाव है। इसी से प्राज्ञ की आत्मता से इन्द्र को संतोष हुआ था। किंतु विचार करने पर उसे दोष दीखा 'नाह खल्वयमेवं संप्रति आत्मानं जानाति अयमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवापीतो भवति' (८.११.१) कि तब आत्मा न खुद को सही-सही समझता है न किसी और को, वह तो नष्ट हुआ जैसा हो जाता है। ज्ञान होने पर ही ज्ञाता का सद्भाव समझ आता है, ज्ञान के बिना नहीं, और सुषुप्त को ज्ञान कोई होता नहीं अतः वह नष्ट-सा ही है, आत्मा ऐसा जड, अज्ञानमय होना उचित नहीं। पत्थर की तरह जड जैसा होना आत्मा में दोष ही है, विशेषता नहीं। व्याधिवश भी ऐसी स्थिति आये तो उस मूर्छा, कोमा आदि को दोष ही माना जाता है। तब दुःख नहीं है यह ठीक है पर सर्वथा कोई भान न रहने से वह अभीष्ट दशा भी नहीं मानी जाती। ऐसे को अभय भले ही मान लें पर आनंद में सराबौर तो कथमपि नहीं मान सकते। क्योंकि यह मृत-प्राय है इसलिये यह अमृत कैसे? यह समस्या उसने प्रजापति से आकर कही।।३६।।

प्रजापति बोले 'इन्द्र! तुम सही कह रहे हो लेकिन आत्मा इससे अन्य भी नहीं है! और पाँच वर्ष रहो तब बतायेंगे।' इस प्रकार एक सौ एक वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद ही इन्द्र को परमार्थ आत्मा का सम्यग् बोध हुआ। यह सूचित करते हैं **'घड़े आदि की तरह व्यक्त रूपादि वाला न होने पर भी कारण शरीर को समझने में इन्द्र समर्थ हुआ अतः इसके पर्याप्त पाप निवृत्त हो चुके हैं' इस विचार से गुरु सन्तुष्ट होकर बोले 'बचे हुए पाप भी समाप्त करने के लिये पाँच साल**

अमूर्तं कारणं देहं बोद्धुं पापक्षयादसौ।
शक्तोऽभूद् इति सन्तुष्टः पुनः प्रोवाच तं गुरुः।।४०।।
पञ्च वर्षाणि सेवस्व पापशेषक्षयाय ते।
इत्युक्त्वा सेवते तस्मै गुरुः स्पष्टमुपादिशत्।।४१।।

और सेवा करो!' जब इन्द्र का सेवापूर्वक ब्रह्मचर्यवासका समय पूरा हुआ तब गुरु ने उसे और साफ कर आत्मवस्तु समझाई।।४०-४१।। यद्यपि इंद्र ने आत्मा को ग़लत ही समझा था तथापि स्थूल-सूक्ष्म से परे जो कारण है उस अज्ञान तक उसकी दृष्टि पहुँची, यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी जिससे ब्रह्माजी खुश हो गये। अध्यात्म दृष्टि से प्राज्ञ ईश्वर-स्तर का है अतः इन्द्र सोपाधिक ब्रह्म या ईश्वर को समझ पाया जो वास्तव में ही दुर्लभ अनुभूति है। कारण की कोई मूर्ति नहीं अर्थात् ऐसे नाम-रूप-कर्म नहीं जिनसे उसकी पहचान हो। मूर्ति तो स्थूल-सूक्ष्म की ही है, कारण को स्थूल-सूक्ष्म के सहारे ही समझना पड़ता है अतः उसकी संकल्पना अतिकठिन है। लोक में भी प्रायः गहनों का कारण सोना या बर्तनों का कारण मिट्टी कह तो देते हैं पर उस सोने या मिट्टी को समझते किसी-न-किसी कार्य के ही स्तर पर हैं, पासा आदि या भुरभुरा चूर्ण आदि कार्यविशेष ही सोना या मिट्टी शब्दार्थ लगता है, समस्त स्वर्णकार्यों में अनुगत या मृत्कार्यों में अनुगत तत्त्व स्वर्ण या मिट्टी है यह समझना बहुत ही मुश्किल होता है। मूर्त अर्थात् विशिष्ट नाम-रूप-कर्मों से युक्त जिसका अनुभव हो। स्थूल-सूक्ष्म दोनों ही मूर्त हैं, दोनों की ऐसी विशेषताएँ हैं जो जानी जा सकती हैं, लेकिन कारण शरीर को यों नहीं समझ सकते। उसे शरीर भी इसीसे कहते हैं कि वह शरीरों का कारण है, शरीर-शब्द के प्रसिद्ध अर्थ के अनुसार तो कारण को शरीर कहना भी नहीं बनता। ऐसे अमूर्त तत्त्व को वही समझेगा जिसका चित्त काफी निष्पाप हो चुकने से प्रत्यङ्मुख हो गया है।

इतना ही नहीं, इंद्र इस अज्ञानरूप कारणशरीर की आत्मता से असंतुष्ट रहा यह भी उसकी उत्तम साधकता का प्रमाण है। प्रायः लोग उस स्थिति से संतुष्ट हो जाते हैं जहाँ कोई दुःख न रहे। बड़े-बड़े अनेक दार्शनिकों ने तो मोक्ष का इतना ही रूप माना है कि वहाँ दुःख नहीं रह जाता; मोक्ष की परमानंदरूपता तो औपनिषद दर्शन की ही विशेषता है। किन्तु इंद्र इतने से स्वयं को कृतार्थ नहीं समझ पाया, अनंत ज्ञान की, भूमा आनंद की अभिव्यक्ति को उसने प्राप्तव्य समझा था यह स्पष्ट करता है कि वह उत्तम अधिकारी हो चुका था अतः प्रजापति की प्रसन्नता वाजिब है। दुःख न होना भले ही इष्ट दशा है, कुछ न पता चलना अनिष्ट भी है, यह निष्पाप के लिये स्पष्ट है। पाप-पूर्ण मानस तो

नशे आदि से या जड समाधि से भी दुःखानुभूति के रुक जाने को बड़ी अनुकूल उपलब्धि मानते हैं, प्रयासपूर्वक उसमें बने रहना चाहते हैं। एल्डस हक्सली जैसा प्रसिद्ध अमरीकी लेखक कह देता है कि गहन नशे की स्थिति वही है जिसे आत्मज्ञानी प्राप्त करते हैं! चित्त पाप से अशुद्ध हो तो ऐसी बातें जँचती हैं। सांसारिक 'सुख' भी प्रायः दुःखनिवृत्ति से अधिक कुछ नहीं होते। भूखका दुःख मिट गया तो समझते हैं सुख हो गया! ऐसे ही दार्शनिक भी कह देते हैं कि दुःखध्वंस ही मोक्ष है। क्षीणपाप साधक जब तक अनन्त आनन्द का स्फुरण न हो तब तक की स्थिति में दोष ही देखता है, उसे पर्याप्त नहीं स्वीकार पाता। आत्मा स्वभाव से अनंत है अतः अनंतता के निवारण पर्यन्त उसकी आकुलता समाप्त होना ही असंभव है। इस प्रकार बहुत से पाप तो निवृत्त हो चुके थे पर आत्मा का स्वरूप समझ नहीं आया था इसलिये ब्रह्माजी ने कहा कि 'अभी भी कुछ पाप रह गये लगते हैं, उन्हें भी दूर कर लो तो पूर्णज्ञान हो जायेगा।' श्रद्धा की प्रतिमूर्ति होने से इंद्र ने प्रजापति का आदेश तत्काल शिरोधार्य किया और गुरुसेवा में लग गया।।४०-१।।

प्रजापति ने तुरीय वस्तु के बारे में कहा 'मघवन्! मर्त्यं वा इदं शरीरम् आत्तं मृत्युना तद् अस्याऽमृतस्य अशरीरस्य आत्मनोऽधिष्ठानम् आत्तो वै सशरीरः प्रियाऽप्रियाभ्यां, न वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः' ।।८.१२.१।। दीखने वाला यह शरीर मरणधर्मा, नश्वर है। इसे मृत्यु ने ग्रस्त कर रखा है। कभी किसी समय में ही मरता हो ऐसा नहीं, प्रतिपल यह मृत्यु द्वारा चर्वित ही हो रहा है। स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म शरीर भी नाशवान् ही है। वास्तव में अविकारी जो अमृतादिधर्मा आत्मा है वह भोग करने के लिये जिसमें जीवरूप से घुसकर बैठता है वह उसका शरीर कहा जाता है अतः शरीर को आत्मा समझना सर्वथा नासमझी है, शरीर तो केवल अधिष्ठान है, घुसकर बैठने की जगह है। स्वभाव से शरीररहित होने पर भी 'शरीर ही मैं हूँ, मैं ही शरीर हूँ' ऐसा अविवेकमय आत्मभाव हो जाना सशरीर बनना है। सशरीर होने पर प्रिय-अप्रिय से घिरे रहना अनिवार्य है। 'बाहरी विषयों का संयोग-वियोग मुझसे होता है' यों समझने वाला प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःख से छूट नहीं पाता। जब अपने शरीरविहीन स्वरूप को समझ लेता है, शरीर से मैं-बुद्धि हटा लेता है तब आत्मा को प्रिय-अप्रिय छू भी नहीं पाते। सुख-दुःख पुण्य-पापरूप उपाधियों के प्रभाव होने से औपाधिक हैं न कि आत्मा में स्वरूपतः मौजूद, जबकि अशरीरता आत्मा का निरुपाधिक स्वभाव है। स्वरूपतः आत्मा आनंद है, सुख उसे कहते हैं जो पुण्य के फलस्वरूप वैषयिक अनुकूल अनुभव होता है, अतः सुख औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं। सुख-दुःख से

तुरीयः

मघवन्! यत् त्वया बुद्धं शरीरं तत् त्रिधा स्थितम्।
स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च तत्तु सर्वं विनश्वरम्।।४२।।
अनश्वरात्मतत्त्वस्य प्रवेष्टुर्जीवरूपतः।
भोगाधिष्ठानमेवैतद् वपुर्नास्याऽऽत्मताऽस्ति हि।।४३।।

उपलक्षित सारा संसार आत्मा पर अविद्या से अध्यस्त है, आत्मा वास्तव में संसारी नहीं। इस उपदेश की व्याख्या प्रारंभ करते हैं **हे महनीय गुणों से संपन्न इंद्र! जिसे तुमने आत्मा समझा वह शरीर स्थूल, सूक्ष्म व कारणइन तीन तरह से स्थित है किन्तु तीनों ही प्रकार का वह सारा शरीर विनाशशील है।।४२।। कभी नष्ट न हो सकने वाले तथा जीवरूप से प्रवेश करने वाले आत्मा के लिये यह त्रिविध शरीर भोग करने के उपयोग में आने वाला स्थान है। यह शरीर आत्मा नहीं है।।४३।।** इन्द्र का एक नाम 'मघवा' है क्योंकि उसमें ऐसे गुण हैं जो उसे पूज्य बनाते हैं। इस प्रसंग में उसकी तीव्र मुमुक्षा व वैराग्यपूर्ण विवेक इन गुणों की ओर संकेत है। ब्रह्माजी समझा रहे हैं कि तीनों ही बार के उपदेश से जिसे इंद्र ने आत्मा समझा वह अनात्मरूप स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर ही है, आत्मा है ही नहीं। यद्यपि पहली बार छाया समझी गयी थी तथापि थी तो वह स्थूल देह की ही छाया, जिस-किसी परछाँई को तो इंद्र ने आत्मा समझा नहीं था, इसलिये उसे यहाँ स्थूल शरीर के अंतर्गत ही मान लिया। जो बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य भोगायतन है वह स्थूल शरीर है। सूक्ष्मभूतों से बना, स्थूल शरीर का भी संचालन करने वाला, ज्ञान व क्रिया का साधन सूक्ष्म शरीर है तथा जिस अज्ञान के कारण ये दोनों शरीर किं वा सारे संसार के पदार्थ हैं वह कारण शरीर है। इंद्र ने क्रमशः इन्हीं को आत्मा समझा क्योंकि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में इनसे मिला-जुला ही आत्मा उपलब्ध होता है। क्योंकि आत्मा के बजाय अनात्म-शरीर को ग्रहण करता रहा इसलिये हर बार इंद्रको लगा कि रोगादिग्रस्त, चोर आदि से भयभीत एवं जड होने से उसका आत्मा होना असंगत है। जिसे उसने आत्मा समझा वह शरीर होने से नाशादिमान् है ही। शरीर का उपयोग है कि आत्मा का भोग संभव हो, बिना शरीर ग्रहण किये आत्मा भोग नहीं सकता। शरीर में घुसकर, इसमें बैठकर ही आत्मा भोग और क्रिया कर सकता है। पैर दबवाने का सुख या चाँटा खाने का दुःख तभी भोग सकते हैं जब स्थूल शरीर हो। लकवे आदि से सूक्ष्म शरीर प्रतिबद्ध हो जाये तो भी भोग संभव नहीं अतः उसकी भी अनिवार्यता है। परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का जानकार भी संसार का भोग नहीं कर

सकता अतः भोग के लिये कारण शरीर भी आवश्यक है। अतः स्वरूपतः अनश्वर आत्मा तीनों तरह के शरीर में घुसता है। अर्थात् इससे स्वयं को एकमेक समझता है तभी अच्छे-बुरे सब तरह के भोग कर पाता है। इनमें इतना विशेष है कि कारण शरीर में अनादि प्रवेश है, सूक्ष्म, शरीर में सृष्टि से प्रलय तक प्रवेश रहता है और स्थूल शरीर में जन्म से मरण तक प्रवेश रहता है। यह प्रवेश मिथ्या अभिमानरूप है अतः इससे आत्मा वस्तुतः अविकृत ही है। परिवर्तन आत्मा में कभी किंचित् भी नहीं होता क्योंकि परिवर्तनीय वस्तु नाशवान् अतः अनात्मा ही होती है। भोग परिवर्तन से ही संभव है, सर्वथा एकरसता से भोग संभव नहीं। आत्मा एकरस है, उसे भोग के लिये परिवर्तनशील शरीर में प्रवेश करना, शरीर से स्वयं को अभिन्न समझना ज़रूरी है। प्रवेश किये हुए आत्मा को ही जीव कहते हैं। भोग करना इसलिये पड़ता है कि कर्ता बनकर सदसत् कर्म किये हैं जो फल देने में समर्थ हैं। शरीरप्राप्ति का हेतु पूर्वार्जित कर्म ही है पर कर्म भी कर तभी सकते हैं जब शरीर में प्रवेश कर चुकें! यह चक्र है, अनादि प्रवाह है। ऐसा कोई काल नहीं जिससे पूर्व शरीर-प्रवेश न हो चुका हो यह अनादिका अभिप्राय है। कारण शरीर में प्रवेश तो हमेशा से है ही, सूक्ष्म व स्थूल शरीर भी बदलते भले ही रहें पर किसी-न-किसी स्थूल-सूक्ष्म शरीर में हम उससे पहले भी रह ही चुके होते हैं अर्थात् इनमें प्रवेश भी प्रवाह-अनादि है। स्थूल शरीरों का परिवर्तन तो स्पष्ट ही है, सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति आदि शास्त्रों में वर्णित है अतः उनका भी प्रतिकल्प व्यक्तिभेद मान्य है। जिस प्रक्रिया में सूक्ष्म शरीर को ही जीव की उपाधि माना जाता है उसमें वेद की तरह 'वही' सूक्ष्म शरीर कल्पादि में प्रकट होने से मोक्ष पर्यन्त सूक्ष्म शरीर एक ही रहता है अतः अज्ञान में प्रवेश की तरह सूक्ष्म में प्रवेश भी हमेशा से मौजूद मानना पड़ता है, प्रवाह-अनादि केवल स्थूल में प्रवेश को मानते हैं कि किसी भी स्थूल में प्रवेश से पहले भी किसी-न-किसी स्थूल में प्रवेश किया जा चुका है। यह चक्र चलता इसलिये रहता है कि भोग के लिये प्रवेश करने पर भी हम अच्छे-बुरे कर्म भी अवश्य कर लेते हैं जिनके फलस्वरूप आगे फिर भोग अनिवार्य हो जाता है। प्रवेश किया यह तो शास्त्र ने बताया, यदि मालूम होता तो हम शरीर को मैं न समझते जैसे घर में प्रवेश करते हैं तो घर को मैं नहीं समझ लेते! पर अज्ञानवश भ्रमरूप प्रवेश होने से हम शरीर को ही मैं समझे हुए हैं जबकि यह किसी भी दृष्टि से आत्मा है नहीं।।४२-३।।

शरीर नहीं तो आत्मा कौन है? **जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति - सभी अवस्थाओं में स्थूलादि तीनों शरीरों को जो प्रकाशित करता है वह साक्षी आत्मा है। क्योंकि**

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु भासयेद् यो वपुस्त्रयम्।
स साक्ष्यात्मा ब्रह्मताऽस्य सुखदुःखादिवर्जनात्।।४४।।
आत्मनः प्रतिबिम्बो यः सोऽयं देहे प्रविष्टवान्।
प्रतिरूपो बभूवेति श्रुत्यन्तरसमीरणात्।।४५।।
स भोक्ता त्रिषु देहेषु तादात्म्यमभिमन्यते।
सशरीरः स्वकर्मोत्थे भुङ्क्तेऽवश्यं प्रियाऽप्रिये।।४६।।

साक्षी सुख-दुःखादि विकारों से अस्पृश्य है इसलिये इसीको ब्रह्म समझना चाहिये।।४४।। प्रकाशित अर्थात् वे ज्ञायमान होते हैं एवं उनमें यह सामर्थ्य आती है जिससे विषयों का ज्ञान तथा विषय-व्यवहाररूप क्रिया संभव हो जाती है। शरीर पत्थर आदि से विलक्षण, चेतन समझे जाते हैं वह इसीलिये कि उन्हें आत्मा साभास बना रहा है। ब्रह्मा जी ने उसी साक्षी को अपहतपाप्मा आत्मा कहा था, न कि शरीरों को। साक्षी निर्विकार है, विकारी को साक्षी नहीं माना जाता है। सुखादि विकार उसे होते हैं जो शरीरों से स्वयं को एकमेक समझता है। साक्षी शरीरों को प्रकाशित तो करता है पर उनसे खुद एकमेक नहीं होता अतः सुखादि के प्रकाशन के बावजूद वह सुखादि से रहित ही रहता है। जैसे, प्रकाश में चोर चोरी करे, भक्त पूजा करे, इससे प्रकाश में अंतर नहीं आता ऐसे साक्ष्य के परिवर्तनों से साक्षी में अन्तर नहीं आता। सद्-असत् सभी कार्यों के लिये रोशनी चाहिये, बिना रोशनी कोई कार्य नहीं हो सकता, फिर भी अच्छे-बुरे के प्रति या करने न करने के प्रति दायित्व रोशनी का नहीं; ऐसे ही शरीर भी बिना आत्मा के कुछ भी नहीं कर सकते फिर भी शरीर जो कुछ करते हैं उसका दायित्व आत्मा का नहीं वरन् उसका है जो शरीरों से एकमेक हो रखा है। वही सुख-दुःख भी भोगता है, आत्मा अर्थात् साक्षी जैसे करता नहीं वैसे भोगता भी नहीं, करने-भोगने दोनों का प्रकाशकमात्र है। अतः आत्मा को पापादि से व जरादि से रहित बताया।।४४।।

आत्म नहीं तो करने-भोगने वाला कौन है? **आत्मा का जो प्रतिबिम्ब है वह शरीर में घुसा 'मैं' इस जीवरूप से उपलब्ध है। 'यथाशरीर हो गया' ऐसा अन्यत्र वेद ने बताया है जिससे आत्मप्रतिबिंब मान्य है।।४५।। तीनों शरीरों में अभेदाभिमान रखने वाला वही सशरीर, भोग करने वाला है क्योंकि अपने कर्मों के कारण उत्पन्न प्रिय-अप्रिय अनुभवों का वह अवश्य भोग करता है।।४६।।** प्रतिबिम्ब का रूपक आत्मा के अनात्मा में 'प्रवेश' को सुस्पष्ट करता है। मुख दर्पण में घुसा हुआ प्रतीत होता है जबकि रहता दर्पण से दूर ही है; दर्पण में घुसा लगने वाला मुख

दर्पण के गुण-दोषों से संबद्ध प्रतीत भी हो जाता है यद्यपि स्वयं मुख उनसे सर्वथा असंबद्ध रहता है; मुखमात्र जो कार्य नहीं कर सकता वे प्रतिबिम्ब से संभव हो जाते हैं; प्रतिबिम्ब 'वस्तु' नहीं है, लगता है मानो वस्तु हो। इसी प्रकार दर्पण-स्थानीय शरीरों में मुख-स्थानीय आत्मा 'घुसा' है फिर भी शरीरों से दूर ही है, शरीर-दोषों से अस्पृष्ट रहते हुए उनसे अनुगत मिलता है, व्यापक निर्विकार रहते हुए भी सपरिच्छेद व सविकारता संभव कर लेता है, वास्तविक रहते हुए ही अवास्तविक स्तर पर भी उपलब्ध हो जाता है। इन्हीं दृष्टियों से आचार्य प्रतिबिम्ब के सहारे शरीरों में आत्मा की उपलब्धि समझाते हैं। जैसे काँच के अंदर मुख घुस नहीं जाता वैसे शरीरों में आत्मा भी घुस नहीं जाता। अथवा घड़ा बनता है तो लगता है उसमें आकाश है, जगह है, पर जैसे घड़े में पानी भरना पड़ता है ऐसे उसमें जगह तो भरनी नहीं पड़ती! अतः घड़े 'में' जगहयह प्रतीति ही है, ऐसा नहीं कि जगह ने घड़े में प्रवेश किया हो। इसी तरह शरीरों में आत्मायह प्रतीति हो जाती है, इसके लिये आत्मा को शरीरों में घुसना नहीं पड़ता। वास्तव में आत्मा सर्वव्यापक ही बना रहता है। इसे बृहदारण्यक में (२.५.१९) 'प्रतिरूप'-शब्द से कहा है अर्थात् उपाधियों के अनुसार आत्मा तत्तद् रूपों वाला हो गया। जैसे घड़े सिकोरे आदि रूपों वाला वह आकाश हो जाता है जो उनमें घुसा मिलता है ऐसे जिन भी उच्चावच शरीरों में घुसा मिलता है उन रूपों वाला आत्मा हो गया है। यों जो आत्मा का घुसा हुआ रूप है, प्रतिबिंब-स्थानीय स्वरूप है, वही कर्ता-भोक्ता है। कारण-शरीर में वही आनंद का भोग करता है, सूक्ष्म-शरीर में वही वासनात्मक सूक्ष्मभोग करता है एवं स्थूल शरीर में स्थूल भोग करता है। स्वाप्न विषय भी सूक्ष्म ही हैं, वासनामय हैं, बहिरिन्द्रियग्राह्य स्थूल नहीं। सूक्ष्म भोग भी होते प्रारब्धानुसार हैं, पुण्य फलोन्मुख हो तो सपना, मनोराज्य आदि भी सुखप्रद होते हैं, पाप प्रभावी हो तो सपना आदि भी दुःख देता है। 'अवसाद' नामक रोग आजकल बहुत प्रचलित है जिसका यही रूप है कि बाह्य कारण के बिना ही व्यक्ति दुःखी रहता है, यह इसीलिये कि सूक्ष्मभोगप्रद पाप फलोन्मुख है। स्थूल शरीर में घुसकर स्थूल भोग तो होते ही हैं। शरीरों में रहकर आत्मा भोग इसीलिये करता है कि वह स्वयं को शरीरों से एकमेक समझता है, 'मैं शरीरों से पृथक् हूँ' यह भान ही नहीं रहता। स्थूल देह को थप्पड़ लगे तो आत्मा समझता है 'मुझे ही मारा गया', सूक्ष्म को गाली मिले तो समझता है 'मुझे ही गाली दी गयी', शरीरों से मैं अलग हूँ इसका अहसास ही नहीं होता। यही सशरीर हो जाना है जैसा भगवान् भाष्यकारने इसी प्रसंग में कहा है 'अशरीरस्वभावस्य आत्मनःतदेवाऽहं शरीरं शरीरमेव चाहम्इत्यविवेकाद् आत्मभावः

अशरीरं साक्षिणं तु स्पृशेते न प्रियाप्रिये।
संसारतदभावौ द्वौ सुस्थितौ कर्तृ-साक्षिणोः।।४७।।

सशरीरत्वम्'। शरीर से अभिन्न होकर अच्छे-बुरे कर्म करते ही हैं एवं किये कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है अतः श्रुति ने नियम कर दिया कि सशरीर रहते यह हो नहीं सकता कि सुख-दुःख के भोग से बच सकें।।४५-६।।

सुख-दुःख के बन्धन से छूटने के लिये शरीर-तादात्म्य का बाध करना ही एकमात्र उपाय है **त्रिविध शरीर में आत्मभाव न रखने वाले साक्षी को तो सुख-दुःख के अनुभव छूते तक नहीं। इस प्रकार यह निर्धारित हो जाता है कि कर्ता का संसरण होता है, साक्षी का संसरण नहीं होता।।४७।।** विषय-प्रभाव शरीरों पर ही होता है अतः शरीर को मैं समझे तभी उन प्रभावों का अनुभव कर सकता है, अगर यह भ्रम मिट जाये कि 'मैं शरीर हूँ' तो शरीरों के विकार से 'मैं विकारी' ऐसा अनुभव संभव नहीं रह जायेगा। अतः श्रुति ने कहा कि प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःख उसे छू भी नहीं सकते। श्लोक ४३ में जिसे जीवरूपवाला कहा था वह तो कर्मों का अनुष्ठान और उनके फलोंका उपभोगइस चक्र से बाहर नहीं निकल सकता लेकिन जिस अवस्थात्रय वाले अशरीर साक्षी का प्रजापति इंद्रको उपदेश दे रहे हैं वह हमेशा इस चक्र से बाहर ही है! जब तक सशरीर को मैं समझते हैं तब तक हमारा उक्त बंधन है, जब साक्षी को मैं समझ लेते हैं तब मोक्ष है, प्रिय-अप्रिय से छुटकारा है। इसमें समय, अवस्था आदि का भेद हेतु नहीं, ज्ञान-अज्ञान का ही भेद हेतु है; ऐसा नहीं कि किसी दशा में सर्प न रहकर रस्सी रहेगी! सर्प दीखते काल में भी रस्सी तो है ही, केवल हम उसे जान नहीं रहे, जानते ही पता लगता है कि हमेशा ही रस्सी रही। इसी प्रकार जब तक अपनी अशिक्षित बुद्धि से स्वयं को देखते रहते हैं तब तक हम जीव ही बने रहते हैं, प्रिय-अप्रिय के दंश सहते ही रहते हैं; जब उपनिषदों की शिक्षा से युक्त बुद्धिद्वारा वास्तविक आत्मदर्शन पाते हैं तब जानते हैं कि हम हमेशा साक्षी हैं, ब्रह्म हैं। शास्त्र यह नहीं कहता कि जीव ब्रह्म हो जायेगा, वरन् जब जीव सुखी-दुःखी है तभी उसे ब्रह्म कहता है। संसार और उसका अभाव दोनों एक-साथ हैं, संसार भ्रम से है व उसका अभाव वास्तविक है जैसे साँप और उसका अभाव एक-साथ रहते हैं। इन्हें सुस्थित कहा अर्थात् इनमें सांकर्य नहीं, खिचड़ी नहीं कि कभी कर्ता भी मुक्त या साक्षी भी बद्ध हो जाये! कर्ता का संसार ही रहता है, साक्षी का असंसार ही रहता है।।४७।।

जीवका भी प्रिय-अप्रिय से बंधन सत्य को न समझने से ही है यह स्पष्ट करते

एवं व्यवस्थितेऽप्यज्ञः कर्तृदेहेषु साक्षिणम् ।
अशरीरं प्रवेश्याशु सुखं दुखं च मन्यते । ।४८ । ।
विवेके सति साक्ष्येव शरीरेभ्यः समुत्थितः ।
स्वाभाविकेन ब्रह्मात्मरूपेण व्यवतिष्ठते । ।४९ । ।

है **आत्मा असंसारी ही है, संसरण अनात्मपक्षीय ही हैयह सुनिश्चित होने पर भी अज्ञान से अभिभूत आत्मा कर्तृभूत शरीरों में अशरीर साक्षी को सहसा घुसाकर सुख-दुःख को अपना मान लेता है । ।४८ । । विवेक कर लेने पर शरीरों से भली-भाँति ऊपर उठा साक्षी ही अनौपाधिक व्यापक प्रत्यक् चिद्रूप से बना रहता है । ।४९ । ।** आत्मा का यह अलौकिक स्वरूप विचार के बिना समझ आ नहीं सकता। अहमाकार वृत्ति से एकमेक हुआ ही कर्ता-भोक्ता है, वह मैं नहीं क्योंकि मैं उसे जानता हूँ, जो जाना जाता है वह जानने वाले से अलग होता है। इस तरह करने-भोगने वाले से आत्मा अलग है यह विचार से स्पष्ट हो जाता है। जो यह विचार नहीं करता, शास्त्र से व गुरु से आत्मा-अनात्मा के विविक्त स्वरूपों को नहीं समझता उसका अज्ञान कायम ही रहता है जिसके फलस्वरूप कर्ता-साक्षी का घालमेल ही बना रहता है। सहसा अर्थात् सोचे-विचारे बिना, अचानक; अविवेकपूर्ण मिथ्या निश्चय सोच-समझकर नहीं होता, अज्ञान के प्रभाव से बिना विचार के ही हो जाता है जैसा आचार्यों ने कहा है 'अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते' । कर्ता-भोक्ता सशरीर रूप है, आत्मा उसका साक्षी है लेकिन विचार न करने से अज्ञानी आत्मा को ही कर्ता-भोक्ता समझता है। रोशनी सफेद हो, उसके सामने काँच लाल हो तो सहसा यही लगता है कि रोशनी लाल है, इसी प्रकार आत्मा को देहधर्मों वाला समझना सहसा होता है। विचार से तो यही पता चलता है कि शरीरों से आत्मा पृथक् है। स्थूल शरीर तो सामने पैदा होता व मरता दीखता है अतः उसमें आया और उससे गया आत्मा उससे पृथक् है यह समझना ही उचित है। आत्मा आयायह मानना पड़ता ही है : सद्योजात बालक स्तनपान कर लेता है, स्तन पीना उसने कहाँ सीखा? इतनी जटिल प्रक्रिया है स्तन से दूध पीने की, कि बिना सीखे वह आ जाती है यह मानना अंधविश्वास ही हो सकता है। पूर्व जन्म में ही सीखा हो सकता है अतः पूर्व जन्म से इस जन्म में आने वाला कोई आत्मा अवश्य मानना पड़ता है। और भी अनेक व्यवहार सिद्ध करते हैं कि बालक अपने संस्कार पूर्व जन्मों से लाते हैं। जुड़वा बच्चे एक ही वातावरण में रहते हुए भी विभिन्न प्रवृत्तियों व रुचियों वाले मिलते हैं, यह स्पष्ट कर देता है कि अनुवंश और परिस्थिति से स्वतंत्र भी कोई हेतु स्वभावका, व्यक्तित्वका है; वह

हेतु पूर्वार्जित संस्कार ही हैं। इस प्रकार शरीरातिरिक्त आत्मा अवश्य मान्य होने पर भी अज्ञान की महिमा से हम शरीर को ही आत्मा मानने का हठ पाले रहते हैं।

सूक्ष्म व कारण से आत्मा का विवेक भले ही कठिन है पर स्थूल से विवेक तो बिना विशेष पाण्डित्य के संभव है, फिर भी हो नहीं पाता क्योंकि हम विचार में दृढता से प्रवृत्त होते ही नहीं। सूक्ष्म से विवेक सुषुप्ति के विचार से तथा कारण से विवेक अज्ञान व आनंद के साक्षी के विचारसे संभव है। क्योंकि शरीरों में आत्माका 'प्रवेश' अज्ञानसे है इसीलिये 'प्रवेश किया' यही मालूम नहीं है, तभी लगता है कि शरीरों से अतिरिक्त हम कुछ नहीं है! इसलिये सुखी-दुःखी हम स्वयं को, आत्मा को ही समझते रहते हैं। ऐसा नहीं कि हमें मालूम हो कि हम आत्मा हैं, फिर उस आत्मा को सुखी-दुःखी समझते हों; हमें मालूम ही नहीं कि हम अशरीर आत्मा हैं, जिसे आत्मा समझते हैं वह कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी है अतः हमें निःसंदेह अनुभव है कि हम ही सुख-दुःख भोग रहे हैं, अच्छे-बुरे कर्म कर रहे हैं। अज्ञानमूलक भ्रांति होने से ही यह संभव है कि हम करने-भोगने के बंधन से छूट सकते हैं। यदि वस्तुतः आत्मा कर्ता-भोक्ता होता तो मोक्ष असंभव था। शास्त्र ने मोक्ष का सोपाय वर्णन किया है तथा विद्वानों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव है इसलिये मोक्ष अवश्य मान्य है तथा वह भी सिद्ध करता है कि बंधन भ्रम है।

जब वेदादि शास्त्रों के अनुसार विचारपूर्वक कर्ता व साक्षी को अलग-अलग समझ लिया जाता है तब इन्हीं शरीरों से साक्षी मानो ऊपर उठ जाता है अर्थात् इनसे सर्वथा स्वतंत्र समझ आ जाता है जैसे दर्पण में दीखते हुए ही पता चल जाता है कि मुख दर्पण से बाहर है। अविवेकवश एकमेक समझे जाते आत्मा को विवेक द्वारा शरीरों से पृथक् जानना ही आत्मा का समुत्थान या भली-भाँति ऊपर आना है। विवेक का सीधा सूत्र है जानने वाला उससे अलग होता है जिसे जानता है। घटद्रष्टा घट से अलग होता है। स्थूल रूप से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि जिसे जानना है वह जानने वाले से एक हो जाये तो ज्ञान हो नहीं पाताआँख में एक तिनका पड़ जाये तो आँख उसे नहीं देख पाती, दूसरा ही देखकर निकालता है। यह समझने के लिये ही दृष्टांत है, क्योंकि त्वचा से चिपकने पर तो त्वक् को पता चलता ही है या कान में शब्द होने पर सुनाई देता ही है, लेकिन ज्ञाता-ज्ञेय में भेद होना ज़रूरी इसे उक्त आँख के अनुभव से समझ तो सकते ही है। इस सूत्र के आधार पर ज्ञेय, दृश्य से द्रष्टा साक्षी को विविक्त अनुभव कर लेना उसका समुत्थान है। विवेक के बाद शरीरों में 'मैं'-बुद्धि नहीं होती, पहले जो साक्षी-सशरीर को एकमेक समझ लेते थे वह भ्रम अब नहीं होता। शरीर कर्म और ज्ञान के लिये औजार

सम्प्रसादः

अस्मिन्नर्थे साक्षितुल्या दृष्टान्ता देहवर्जिताः ।
वाय्वभ्रविद्युतां नास्ति हस्तपादादिमद्वपुः । ।५० । ।
अदेहा वृष्टिसिद्ध्यर्थम् आकारान् कांश्चिद् आप्नुवन् ।
वृष्टिनिष्पादकस्तत्तदाकारो व्योम्नि दृश्यते । ।५१ । ।

है जो तभी काम करता है जब साक्षी इसे स्फूर्ति देता है। साक्षी का दायित्व तो इतना ही है कि अंतःकरणादि को स्फूर्ति दे, लेकिन मोहवश वह इन साक्ष्यों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, इन्हें 'मैं' समझ लेता है, इनके विकारों से स्वयं को विकारी मानता रहता है। मोहकी सामर्थ्य असीम है। अस्पतालों में सेविकाएँ, नर्सें होती हैं जिनका कार्य रोगी की परिचर्यामात्र है, फिर भी कभी-कभी सेवा करते-करते उन्हें किसी रोगी से मोह हो जाता है तो उसके कष्ट से स्वयं को ही दुःखी समझती हैं। जैसे नशा चढ़ जाने पर व्यक्ति को क्या जँच जाये इसका कोई ठिकाना नहीं वैसे मोह में पड़े व्यक्ति को कुछ भी जँच सकता है। व्यापक, निर्विकार, एकरस आत्मा कर्ता-भोक्ता बन सके यह अत्यंत असंभव है फिर भी महामोह इसे ऐसे स्पष्ट कर दिखा रहा है कि हमें इस बारे में संदेह तक नहीं होता। इस मोहका निवारण ही आत्मा का समुत्थान है। ।४८-९ । ।

शरीर से समुत्थित होकर अपने वास्तव रूप से तैयार होने को श्रुति ने दृष्टांतों से समझाया है 'अशरीरो वायुः, अभ्रं, विद्युत्, स्तनयित्नुः; अशरीराणि एतानि; तद् यथैतानि अमुष्मादाकाशात् समुत्थाय, परं ज्योतिरुपसम्पद्य, स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यन्ते, एवमेवैष सम्प्रसादः अस्माच्छरीरात् समुत्थाय स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः' (८.१२. २-३)। हवा, बादल, बिजली, गर्जना इनका कोई सिर-हाथ-पैर वाला शरीर नहीं है; बरसात के पहले और बाद में ये सूर्यरूप परम ज्योति से एकमेक हुए रहते हैं तथा बरसात के लिये अपना-अपना रूप धारण कर उसी आकाश से मानो प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा अभी शरीरों से एकमेक हुआ मौजूद है, गुरु से उपदेश पाकर यह समझ लेता है कि मैं शरीरादि नहीं हूँ तो अपने निरुपाधिक सच्चिदानंद रूप से अनावृत हो जाता है। वही स्वरूप उत्तम-पुरुष है। यह प्रसंग समझाते हैं **साक्षी की समानता वाले शरीर-रहित पदार्थ पूर्वोक्त अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं। हवा, बादल और बिजली के ऐसे शरीर नहीं होते जो हाथ-पैरों वाले हों। ।५० । । देहरहित होने पर भी वर्षा हो सके इसके लिये कुछ आकार ग्रहण कर लेते हैं। बरसात को संपन्न करने वाला वह-वह रूप आकाश में दीखता है। ।५१ । ।**

आकारा वृष्टिकालात् प्राग्व्योम्नि गूढा न तु स्फुटाः।
ततो व्योम्नः समुत्थाय निदाघे ज्योतिराप्नुवन्।।५२।।
सन्तापाख्यं परं ज्योतिः प्राप्य तेन दृढीकृताः।
वृष्टिकाले स्वस्वरूपं स्फोरयन्तीति दृश्यते।।५३।।

बरसात के समय से पहले वे रूप आकाश में छिपे रहते हैं, प्रकट नहीं रहते जिससे कह सकते हैं कि ग्रीष्म ऋतु में आकाश से उठकर वे आकार ज्योति (सामान्य गर्मी) भाव को प्राप्त करते हैं। फिर सन्ताप या तेज़ गर्मी नामक तीव्र ज्योति-भावको पाकर, उस तीव्र गर्मी से अपने आपको स्थूल बना लेते हैं एवं बरसात के समय अपने वर्षाप्रद रूप को स्पष्ट कर देते हैं। यह सभी को दीखने वाला घटनाक्रम है।।५२-३।। वस्तु का स्थूलरूप न दीखे फिर भी उसकी सूक्ष्मरूप में विद्यमानता माननी पड़े, इसके लिये उक्त श्रौत उदाहरण हैं। बादल आदि आसमान में यों ही प्रकट हो जाते हैं जिससे मानना पड़ता है कि प्राकट्य से पूर्व वे सूक्ष्मरूप से आसमान में मौजूद थे क्योंकि जो जहाँ सर्वथा न हो वह वहाँ से निकलकर प्रकट नहीं हो सकता; तिल में छिपा रहता है तभी उसमें से तेल प्रकट भी होता है। गेहूँ में छिपा नहीं तो उससे तेल निकलकर भी नहीं आता। बादल आदि आसमान में प्रकट होने से पूर्व अप्रकट अर्थात् बिना शरीर वाले हुए रहते हैं, साक्षी भी शरीरहीन तत्त्व है इसलिये इन्हें साक्षी के लिये दृष्टान्त माना है। बादल आदि वृष्टि के प्रयोजन को सम्पन्न करने के लिए प्रकट होते हैं, स्थूल इंद्रियों से गोचर आकार ग्रहण करते हैं। अर्थात् इनके आकार स्वाभाविक नहीं, वृष्टिरूप प्रयोजन की उपाधि से हैं, औपाधिक हैं। बरसात के समय बादल आदि के आकार उपलब्ध होते हैं, बरसात समाप्त होते ही वे आकार पुनः अनुपलब्ध हो जाते हैं, स्थूल आकार छोड़कर सूक्ष्मावस्था में ही बादल आदि रह जाते हैं तथा पुनः गर्मी से प्रकट होकर वर्षा का प्रयोजन पूरा करते हैं। तेज़ गर्मी हो तभी बादल आदि स्थूल आकार ग्रहण करते हैं। अतः तपा देने वाली गर्मी से ही बादल आदि दृढ अर्थात् साकार रूप में प्रकट होते हैं। उदाहरण इस अंश में है कि अस्पष्ट वस्तु हेतुविशेष से सुस्पष्ट हो जाती है।।५०-३।।

अब दार्ष्टान्तिक समझाते हैं **पूर्वोक्त दृष्टांतों की तरह, शरीर-रहित होता हुआ यह साक्षी अज्ञान से छिपा है, लगता है कि देह के अंदर है। शरीर से पृथक् समझा जाकर जब इसका समुत्थान होता है तब महावाक्य-जन्य अखण्ड साक्षात्कार से**

तथाऽयमशरीरः सन् साक्ष्यज्ञानतिरोहितः ।
देहेऽन्तर्भूय वपुषो विवेकेन समुत्थितः ।।५४।।
परं ज्योतिर्ब्रह्मरूपं प्राप्य वाक्योत्थबोधतः ।
स्वेन वास्तवरूपेण निर्द्वैतेनाऽवभासते ।।५५।।
स्वतः साक्षी सम्प्रसादः कालुष्येण विवर्जनात् ।
अविद्यया स्यात् कालुष्यं देहतादात्म्यविभ्रमात् ।।५६।।
जागरे स्थूलसूक्ष्माभ्यां तादात्म्याद् व्याधयोऽखिलाः ।
आधयश्चाऽस्य सन्तीदं महत् कालुष्यमिष्यते ।।५७।।

यही साक्षी परम ज्योति कहलाने वाले ब्रह्मका स्वरूप पा जाता है और अपने उसी पारमार्थिक अद्वैत रूपसे भासमान रहता है।।५४-५।। साक्षी मौजूद हमेशा है, इसका सच्चा रूप ब्रह्म ही है, फिर भी अज्ञान के कारण यह छिपा है, इसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं, शरीरों से घिरी कोई चेतन वस्तु है ऐसा ही इसका बोध होता है। स्वतः अशरीर रहते हुए ही अज्ञानवश साक्षी शरीर में प्रतीत हो रहा है। विवेक से यही समझना है कि साक्षी शरीर से सर्वथा स्वतंत्र, अस्पृष्ट अपरिच्छिन्न अपरिवर्तनीय है। यह त्वंपदार्थ का शोधन है। यह दृढ बोध ही साक्षी का शरीर से समुत्थान है। तभी उपनिषदुक्त महावाक्य का सही तात्पर्य समझ आता है कि जगत्कारण कहलाने वाला परब्रह्म और साक्षी पृथक् वस्तुएँ नहीं वरन् एक ही तत्त्व हैं। साक्षी का निरुपाधिक, सच्चा स्वरूप ब्रह्म ही है। दृष्टांत में बादलादि अशरीर थे, साक्षी भी अशरीर है; वे आकाश से एकमेक थे, साक्षी शरीर से एकमेक है; गर्मी से वे आकाश से पृथक् रूप वाले हुए, विवेक से साक्षी शरीरों से पृथक् स्वरूप वाला स्पष्ट हुआइस प्रकार दृष्टांत-दार्ष्टान्त उचित है।।५४-५।।

साक्षी को ही स्पष्ट करते हैं **उपाधि-परामर्शके बिना साक्षी सर्वथा शांत है क्योंकि उसमें किसी तरह का दोष नहीं है। अविद्या से क्योंकि यह भ्रम होता है कि आत्मा शरीर से एकमेक है इसलिये आत्मा में दोषों की प्रतीति भी (अविद्यावश ही) है।।५६।। जाग्रदवस्था में स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से एकमेकता की प्रतीति होने से सारी आधियाँ और व्याधियाँ होती हैं, यही बहुत बड़ा दोष स्वीकारा गया है।।५७।। स्वप्न में क्योंकि सिर्फ़ सूक्ष्म शरीर में आत्मबुद्धि रह जाती है इसलिये जाग्रत् की अपेक्षा स्वप्न में दोष कम है। सुषुप्ति में सूक्ष्माभिमान भी न रह जाने से यह आत्मा काफी प्रसन्न, शांत हो जाता**

ईषत् कलुषता स्वप्ने सूक्ष्ममात्राऽभिमानतः
सुप्तौ तेनाऽपि हीनत्वाद् अयमात्मा प्रसीदति।।५८।।
कालुष्यबीजमज्ञानम् अस्त्यत्राऽथ विवेचितः।
बीजेनाऽपि विहीनत्वात् सम्यगेव प्रसीदति।।५६।।
स्वतः साक्षी सम्प्रसादः तत्स्वरूपानुभूतये।
समुत्थानं भवेदस्य देहादिभ्यो विवेचने।।६०।।

है।।५८।। साक्षी में दोष, कालुष्य, अस्वाभाविक विशेषता अज्ञानवश ही है, खुद साक्षी कालुष्यहीन है। शरीर से अहंकार पर्यंत दोष हैं जिनका साक्षी पर आरोपमात्र होता है, साक्षी दोषों से रहता अस्पृष्ट ही है। निर्दोषता ही साक्षी की सम्यक् प्रसन्नता या परम शांति है। अपने स्वरूप को न जानने से शरीर में मैं-बुद्धि करता है अतः शरीरदोष स्वयं में समझता है, यही साक्षी का कलुष होना है। जाग्रत् में तीनों देहों को अपना समझता है। कारण शरीर तो स्वयं अज्ञान है, बाकी दोनों शरीरों से संबंध अज्ञानवश ही है। आधि अर्थात् मानस-कष्ट, व्याधि अर्थात् बीमारी आदि बाह्य कष्ट; ये दोनों होंगे शरीरों में किन्तु स्वयं को शरीरों से एक समझने के कारण साक्षी इन्हें अपने में मानता रहता है। दोनों शरीरों के दोष इस अवस्था में साक्षी पर रहते हैं अतः इसे बड़ा या ज़्यादा दोष कहा। स्वप्न में स्थूल शरीर का अभिमान नहीं रहता, सिर्फ़ सूक्ष्म के दोष रह जाते हैं। स्वप्न जाग्रत् से कम समय रहता है अतः उसका दोष भी कम है। वैसे, गाली आदि के सूक्ष्म दुःख कम समय रहते हैं जबकि सिर फट जाना आदि स्थूल दुःख लंबे समय रहते हैं, इससे भी सूक्ष्मकृत दोष ईषत् है। गहरी नींद में सूक्ष्म शरीर से भी संबंध विच्छिन्न हो जाता है अतः तब एक अज्ञान को छोड़कर और कोई दोष न रह जाने से साक्षी सर्वाधिक प्रसन्न, निर्दोष, शांत रहता है यह अनुभवसिद्ध है।।५६-८।।

सुषुप्ति में प्रसाद होने पर भी सम्-प्रसाद नहीं है, विवेक से निरावृत आत्मस्वरूप सम्प्रसादात्मक है यह स्पष्ट करते हैं **गहरी नींद में स्थूल-सूक्ष्म का अभिमान न रहने पर भी अज्ञानरूप कारण-शरीर रह ही जाता है किन्तु जिस साधक ने समग्रता से विवेक कर लिया वह उस संसार-बीज अज्ञान से भी रहित हो जाने से सम्यक्, पूरी तरह प्रसन्न, शांत हो जाता है।।५६।। साक्षी स्वयं ही, बिना किसी परिप्रेक्ष्य में रहे, सम्प्रसाद अर्थात् सम्पूर्ण रूप से शान्त है। उस वास्तविक स्वरूप की अनुभूति के लिये उसका समुत्थान तभी होता है जब शरीरादि से वह स्वयं को पृथक् कर निर्धारित कर लेता है।।६० समुत्थान हो जाने पर भी बच**

समुत्थितस्य जीवत्वनिवृत्त्यै ब्रह्मरूपताम् ।
महावाक्यानि सर्वाणि बोधयन्त्यतियत्नतः ।।६१।।

जाने वाले जीवभाव के निवारण के लिये सारे महावाक्य पूर्ण तात्पर्य से घोषित करते हैं कि साक्षी ब्रह्म ही है।।६१।। कारणदशा में अव्यक्त सही पर कार्य का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता क्योंकि उसीसे निकलकर कार्य व्यक्त होते जाते हैं। सुषुप्ति के दौरान आधि-व्याधि का दुःख न हो पर उठते ही यथावत् उपस्थित हो जाता है अतः सुषुप्ति सारे दुःखों की, दोषों की बीजदशा है। दोषों का बीज अज्ञान ही है। इससे भी जब पृथक् कर लिया जाये, अज्ञानरूप कारण-शरीर से भी मिलाजुला जब आत्मा न रह जाये, तभी दोषों की संभावना दूर होती है। यह विवेक से ही संभव है। (श्लोक ५८ में विवेचितः मुत्तुशास्त्री का पाठ है, अर्थ है 'विवेचनं कुर्वतः'। 'विवेचिनः' निर्णय-सागर में छपा है जो अशुद्ध प्रतीत होता है। 'विवेकिनः' भारतीय कला प्रकाशन में पाठ है।) बीजरूप अज्ञान भी जब मिट जाये तभी प्रसाद, प्रसन्नता, शांति समग्र होना संभव है। सम्प्रसाद के बाद संसारदोषों का पुनरुद्भव नहीं होता जैसे सुषुप्ति के बाद अवश्य होता है। यह स्थिति मिलती भले ही अविद्या मिटने पर है लेकिन है यह साक्षी की स्वाभाविक अवस्था। दोषयुक्तता तो उपाधि से है, निर्दोषता आत्मा का स्वरूप है। है वह अब भी परम शान्त, परम आनन्द किंतु उसका ज्ञान नहीं है, अज्ञान दूर होने पर उस असीम शांति की अबाध स्फूर्ति बनी रहती है। इसके लिये ही आत्मा के समुत्थान की ज़रूरत है, तीनों शरीरों से हटाकर आत्मा के स्वरूप को समझने की ज़रूरत है। शुद्ध होता हुआ ही अज्ञानवश भ्रम से स्वयं को अशुद्ध समझने वाला साक्षी विवेक के द्वारा, जब समझ लेता है कि अशुद्धि उपाधिगत है, आत्मा में नहीं, तब मानो आत्मा का शोधन हो जाता है जिसे उसका समुत्थान कहा। इस प्रकार के समुत्थान का नतीजा होता है कि शरीरों से फिर तादात्म्य नहीं होता, शरीरों को 'मैं' नहीं मानता। फिर भी अपनी परिच्छिन्नता का भ्रम रह जाता है; शरीरत्रय से मैं अलग हूँ इतना समझकर भी, जगत् और जगत्कारण मुझसे अन्य ही है यह भ्रम रहता है; इसे दूर करने के लिये उपनिषदें महावाक्य का उपदेश देती हैं। जब तक साक्षी का समुत्थान नहीं हो गया, त्वमर्थका शोधन नहीं हुआ, तब तक महावाक्य क्या कह रहा है यह समझ नहीं आता। क्योंकि महावाक्य के त्वम्-शब्द का अर्थ यह समुत्थित साक्षी ही है इसलिये इसे समझे बिना वाक्यार्थ पता नहीं चलेगा, वाक्यार्थज्ञान के प्रति पदार्थज्ञान कारण होता ही है; वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ मालूम न हो तो वाक्य का अर्थ पता नहीं चलता। महावाक्य से अपनी ब्रह्मरूपता, व्यापकता

उत्तमः पुरुषः

परं ज्योतिर्ब्रह्मरूपं प्राप्य वाक्यार्थबोधतः।
उत्तमः पुरुषः स स्याद् यः पुराऽक्षिणि वर्णितः।।६२।।
देहाद् अज्ञानतः कार्यात् कारणाच्चायमुत्तमः।
जीवत्वहानाद् ब्रह्मत्वभावाच्चोत्तमतोचिता।।६३।।

जानकर ही जीवभाव की, परिच्छिन्नता की निवृत्ति होती है। जीवकी ब्रह्मरूपता के प्रतिपादक ही महावाक्य हैं। महावाक्य सुनकर जब उसका आपात अर्थ अटपटा लगता है तब उसके अभिप्रेत अर्थ को समझने के लिये विवक्षित पदार्थों को उपस्थित करना पड़ता है, यही पदार्थ-शोधन है। तत्पद ईश्वर का और त्वम्पद जीव का कथन करता है, इनकी एकता महावाक्यका सीधा अर्थ है किंतु असंगत है इसलिये इस वाक्य के संगत अर्थ के लिये त्वम् और तत् पदों के विवक्षित अर्थ को खोजना ही इनका शोधन है। जब त्वम् का अर्थ समुत्थित साक्षी और तत् का अर्थ अधिष्ठान चेतन ग्रहण करते हैं तब निरुपाधिक सच्चिदानन्द का अभेद सुसंगत अर्थ समझ आ जाता है। यही क्रम है कि महावाक्य सुनकर पदार्थशोधन करे तब महावाक्य का सही अर्थ समझे। इसके लिये अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से विचार अपेक्षित है। जो पूर्ण शास्त्रश्रद्धा से विवेक नहीं करते वे अन्यथा-अन्यथा कल्पनाओं से संगति लगाते रहते हैं कि जीव परमेश्वर का अंश है, दास है आदि; शास्त्र तात्पर्यतः जिस अभेदको समझा रहा है उस तक पहुँचना अतियत्नसाध्य है। महावाक्यादि शास्त्रप्रसंगों का अतियत्न तो तात्पर्यद्योतक चिह्नों का पुनः पुनः प्रदर्शन है, गुरु का अतियत्न विविध प्रक्रियाओं से प्रबोधन है, शिष्यका अतियत्न वैराग्यपूर्वक तीव्र विवेक है। जीवभाव की निवृत्ति से ही मोक्ष है।।५९-६१।।

प्रबोध से पूर्व जिस स्वरूप के बारे में भ्रांति से साक्षी सशरीर बना रहता है वह सम्प्रसादात्मक निजी रूप ही उपनिषत् में 'उत्तम पुरुष' कहा गया है। यही अक्षि-पुरुष, स्वप्न-पुरुष और सुषुप्त-पुरुषइन रूपों में संसरण करता रहता है जबकि वास्तव में इन तीनों सोपाधि-पुरुषों से उत्तम ही रहता है। यही समझाते हैं **इन्द्र-विरोचन को पहली बार उपदेश देते हुए जिस आत्माका वर्णन किया था वही महावाक्य के अर्थ को समझने से ब्रह्मरूप परम ज्योतिर्भाव पाकर उत्तम पुरुष हो जाता है।।६२।। कार्यरूप देहद्वय से और कारणरूप अज्ञान से यह उत्तम है। क्योंकि यह जीवता छोड़ चुकता है और ब्रह्मता इसमें विद्यमान रहती है इसलिये इसका उत्तम होना संगत है।।६३।।** ब्रह्माजी ने चारों बार उपदेश अजर-अमर आत्मा का

ही दिया। इस बारे में ब्रह्मसूत्रों में (१.३.५) विचार किया है एवं साफ बताया है कि शुरू से अंत तक ब्रह्माजी आत्मा का ही वर्णन करते रहे, भले ही इन्द्र पहले न समझ पाया हो, अंत में ही समझा हो। वाक्यार्थ-बोध से निश्चय होता है कि जगज्जन्मादि के हेतु परमेश्वर से अन्य मैं कुछ नहीं हूँ, मुझसे पृथक् कोई जगत्कारण परमेश्वर नहीं है, मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ। जब तक साक्षी का अविर्भाव न हो तब तक सशरीर रहता आत्मा इस अनुभव को नहीं प्राप्त कर सकता, ब्रह्म से अभेद साक्षी ही समझ पाता है। प्रत्यग्रूप साक्षी को पर-ज्योति-रूप ब्रह्म समझना ही वाक्यार्थ का ज्ञान है। परज्योति अर्थात् जिसे तो कोई प्रकाशित न कर सके किंतु प्रकाश के लिये सब जिस पर निर्भर रहें। वही ज्ञानघन उत्तम पुरुष है। उपाधिमात्र से स्वतंत्र कर समझा आत्मा ही उत्तम एवं पूर्ण है। उसे ही पुरुषोत्तम भी कहते हैं। आत्मज्ञानी ही पुरुषोत्तम है। उत्तम इसलिये है कि कार्यरूप स्थूल-सूक्ष्म और कारणरूप अज्ञान दोनों तरह के शरीरों से समुत्थित है। उत्तमभाव प्राप्त होने से ही जीवभाव का बाध होता है। कर्ता-भोक्ता मैं हूँ यह जीवभाव है, इसकी निवृत्ति तभी है जब अपने अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व का निश्चय हो जाये। जीवभाव कर्म से नहीं वरन् अज्ञान से है, कर्म तो हो ही तब सकता है जब अज्ञान हो। अज्ञान से जीवभाव आदि सारा संसार है। इसीलिये इसकी निवृत्ति केवल ज्ञान से संभव है, कुछ करने से अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म किसी क्रिया से इस जीवभाव की निवृत्ति नहीं हो सकती। साक्षी की उत्तमता जानते ही आत्मा की सशरीरता समाप्त हो जाती है। कर्म का उपयोग चित्तभूमि को ज्ञान के लायक तैयार करने में है, इससे अधिक नहीं। ज्ञान-साधन बटोरना तो क्रिया-साध्य है लेकिन अज्ञान दूर करना केवल ज्ञान-साध्य है। नित्य ही संसारातीत परमार्थ सत्य होने से साक्षी की उत्तमता उचित कही। परिवर्तन से मिली होती तो 'उचित' कहना न बनता क्योंकि जो मिलता है वह छूट भी जाता है। यह इसी से उचित है कि बिना मिले ही है, केवल अज्ञान से तिरोहित है, ज्ञान से निरावृत होती है।।६२-३।।

अक्षिपुरुष, स्वप्न पुरुष और सुषुप्त पुरुषइन तीनों के रूप में प्रतीयमान फिर भी इनसे विलक्षण है तुरीय जिसे यहाँ उत्तम पुरुष कहा। जाग्रत्-स्वप्न दोनों पुरुष क्षर या व्याकृत, व्यक्त हैं; सुषुप्त पुरुष अक्षर या अव्याकृत है तथा इनकी अपेक्षा साक्षी उत्तम पुरुष है। 'उत्तम-पुरुष' कहकर श्रीकृष्ण ने गीता में (१५.१६-७) इस आत्मवस्तु का जिक्र किया है **'क्षर और अक्षरये लोक में दो पुरुष हैं। क्षर अर्थात् सारे भूत और अक्षर अर्थात् कूटस्थ। इनसे अन्य परमात्मा है जो उत्तम पुरुष बताया जाता है।' इस तरह भगवान् कृष्ण ने उस पुरुष को कार्य-कारण वर्गों की अपेक्षा**

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाऽक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणिभूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।६४।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'।
इत्याह भगवान् कार्यकारणाभ्यां तमुत्तमम्।।६५।।
उत्तमोऽयं पुमान् मूढप्राणिनामपि विद्यते।
तत्र तत्त्वविदः कोऽतिशयः स्यादिति चेच्छृणु।।६६।।

ज्ञानप्रभावः

स तूत्तमब्रह्मरूपं तत्त्ववित् स्वात्मवस्तुनि।
पर्येति स्वात्मबुध्यैतं सर्वदेहस्थमीक्षते।।६७।।

उत्तम कहा है।।६४-५।। नश्वरों को क्षर और उनके कारण को अक्षर कहा गया है। गीता में उपाधिप्राधान्येन उपन्यास है, यहाँ उपहित के अभिप्राय से समझा रहे हैं, यह थोड़ा-सा फ़र्क है पर अभिप्राय वही है। कार्योपाधिवाला व कारणोपाधिवाला दोनों का ही संसार-संबंध है जबकि परमात्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है अतः उत्तम है। अविद्या और अविद्याकृत शरीर से जुड़कर क्षर-अक्षर पुरुष हैं जबकि परमात्मा इनसे अत्यन्त विलक्षण है। वही वास्तव में अव्यय है। क्षर अर्थात् जिनमें बदलाव होता ही रहता है; उपाधि वाले सभी प्राणी बदलते ही रहते हैं। यद्यपि सुषुप्त पुरुष भी इस तरह क्षर कहा जा सकता है तथापि कारण क्योंकि कार्यों में अनुगत रहता है इसलिये कार्यापेक्षया स्थिर होता है अतः उसे अक्षरोपाधि वाला कह दिया है। अज्ञान की अक्षरता सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं है। सर्वथा क्षरणहीन तो सिर्फ़ परमात्मा है। कार्य-करण दोनों उपाधियों वाले से अतीत परमात्मा ही अव्यय उत्तम पुरुष है। वही संसारदशामें कार्य-कारणों से बद्ध प्रतीत हो रहा है, मोक्ष दशा में वह प्रतीति बाधित है, है हमेशा वह दोनों से निर्मुक्त ही। वह परम आत्मा है अतः जाग्रदादि पुरुष अपरम आत्मा हैं, व्यावहारिक आत्मा हैं न कि पारमार्थिक, यह स्पष्ट हो जाता है।।६४-५।।

विद्वान् सर्वात्मभाव पाने से सारे ही आनंद का स्वाद ले लेता है यह 'स तत्र पर्येति' आदि से श्रुति ने कहा है; उसी प्रसंग को शंका-समाधान से स्पष्ट करते हैं **यह उत्तम पुरुष मोहग्रस्त प्राणियों के लिये भी मौजूद ही है तो इसके संदर्भ में तत्त्वज्ञानी की क्या अधिकता है? यह प्रश्न हो, तो उत्तर सुनो :।।६६।।** **प्रत्यगात्मा में उत्तम ब्रह्म का जो रूप है उससे मूढ सर्वथा अनभिज्ञ है जबकि तत्त्वज्ञानी उसे सब ओर देखता है, सभी शरीरों में स्थित इस रूप को 'यह मेरा**

ही आत्मा है' यह अनुभव करता है।।६७।। मोक्ष को सनातन कहते ही, आत्मा को नित्यमुक्त कहते ही यह सहज प्रश्न है कि ऐसा है तो अज्ञानी से ज्ञानी में क्या विशेषता है? ज्ञानमात्र से लाभ क्या? व्यापक आत्मा की अनुभूति और उससे समस्त सुखों की प्राप्तियह प्रत्यक्ष लाभ ब्रह्मात्मज्ञान से है। स्वात्मा अर्थात् प्रत्यग्रूप से भासमान सच्चिदानंद वस्तु, उस रूप में उत्तम पुरुष तत्त्वज्ञको उपलब्ध हो जाता है। प्रत्यग्वस्तु सभी के लिये समान है, मूढ को अनुपलब्ध है, तत्त्वज्ञको समुपलब्ध है। प्रत्यक् के साथ उसका व्यापक भाव भी भासता है; 'पर्येति' इस शब्दका ही विवरण किया कि सब शरीरों में मौजूद आत्मा ज्ञानी को वैसा ही प्रत्यक् लगता है जैसे उसके शरीर में स्थित आत्मा! जैसे आकाश का जानकार एक घटाकाशको अन्य घटादि-आकाशों से पृथक् नहीं समझता वैसे आत्मा के जानकार के लिये उपाधिभेद आत्मभेद को सामने नहीं ला पाता। जो परमेश्वर वह अपने हृदय में पाता है उसी को सभी हृदयों में अनुभव करता है। मन में पड़ा प्रतिबिंब या सशरीररूप तो अनुत्तम पुरुष हैं, उनसे पृथक् किया उत्तम पुरुष अखण्ड एकरस है, अभिन्न, अद्वितीय है। जैसे 'मैं मनुष्य हूँ' जान लेने से सब मनुष्यों में वही मनुष्यता समझ आ जाती है जो अपने में है वैसे जो परमात्मा मुझमें है वही सबमें है यह स्पष्ट हो जाता है जब परमात्म-साक्षात्कार होता है। क्योंकि उत्तम पुरुष का प्रमा ज्ञान 'मैं'-रूप से ही होता है इसलिये सर्वत्र मैं-का ही दर्शन तत्त्ववेत्ताको हो यह उचित ही है। यही उसका अज्ञ से वैशिष्ट्य है। अज्ञ स्वयं को शरीर में बद्ध और परमात्मा से पृथक् सत्ता की चीज़ समझता है, विद्वान् का यह भ्रम मिट चुकता है, सारा ही जड-चेतन प्रपंच मैं और ग़ैर मैंअखण्ड परमात्मा के सत्-चित् रूपों को ग्रहण कर ही सत्ता-चेतनता वाला प्रतीत हो रहा हैयह उसे स्पष्ट रहता है। है वही परमात्मा अज्ञानी के भी हृदय में पर वह जानता नहीं जबकि ज्ञानी जानता है अतः परमात्मा का लाभ भी ज्ञानी ही उठा पाता है, अज्ञानी नहीं। अपने पास स्वर्ण हो लेकिन हमें मालूम न हो, हम उसे पीतल समझते हों तो हम उसका फ़ायदा उठा नहीं सकते, जानकारी हो तभी लाभ उठा सकते हैं, ऐसे ही अपनी परमात्मरूपता है तो सही पर उसका लाभशोक-मोह की निवृत्तितभी संभव है जब हमें सुस्पष्ट अपरोक्ष हो कि 'मैं परमात्मा हूँ'। अतः ज्ञानका महत्त्व प्रकट है।।६६-७।।

श्रुति ने सर्वात्मभाव बताया 'जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्' अर्थात् खाते हुए, खेलते हुए, स्त्री-यान-सजातीय मित्रादिकों से रमण करते हुए विद्वान् रहता है किंतु जिसमें आत्मभाव किया जाता उस शरीर को वह याद नहीं करता। शरीर मैं हूँ ऐसा याद रखकर दुःख ही होता है, ज्ञानी इसे न याद

इन्द्रराजादिदेहेषु नानाखाद्यानि भक्षयन्।
बालैः साकं हसन् स्त्रीभिः कदाचिद् रमते सह।।६८।।
यानैः क्वाऽपि ज्ञातिभिश्च सहितो मोदते खलु।
न कदाचित् स्मरत्येतद्वपुर्जनसमीपगम्।।६९।।

करने से दुःखों से परे रहता है। इस वाक्य को समझाते हैं **इन्द्र, राजा इत्यादि शरीरों में अनेक प्रकार के खाने योग्य पदार्थों को खाते हुए, बालकों से खेलते हुए प्रसन्न रहता है, कभी स्त्रियों के साथ रमण करता है, कभी वाहनों से आनंद करता है तो कभी सजातीय मित्रादिकों के साथ प्रसन्न रहता है, किन्तु कभी भी इस शरीर को याद नहीं करता जो लोगों के निकट उपस्थित है।।६८-९।।** सर्वात्मभाव की अनुभूति से स्पष्ट होता है कि स्वर्ग के राजा इन्द्र, धरती के सम्राट्, हाथी, मच्छर आदि समस्त शरीरों में विद्यमान चेतन मेरे अंदर स्फुरते चेतन से अलग नहीं है। इसलिये सभी भोगों की उस जानकार को तृप्ति महसूस होती है, कुछ भी न भोगा नहीं बच जाता। अतः नानाविध भोजनों का आनंद उठा पाता है' एक योनि में तो उसी के लायक भोजन खा सकेगा पर जब सब प्राणियों के शरीरों में वही खा रहा है तो स्वर्ग में अमृत और धरती पर गुड़ इकट्ठे ही खा लेता है। उसे यह नहीं लगता कि 'इंद्र अमृत पी रहा है' वरन् यह लगता है कि इन्द्रदेह में मैं ही अमृत पी रहा हूँ। अत एव राजोचित सुख और बालोचित सुख इकट्ठे ही भोग पाता है, बच्चे जो आपस में खेलते हैं वह मैं ही खेल रहा हूँऐसी ज्ञानी की प्रतीति है। इसी तरह जहाँ कहीं हो रहा है वह सारा स्त्रियों से रमण मैं ही कर रहा हूँयह समझने वाले के लिये न भोगी कोई स्त्री बच नहीं जाती। पशु, पक्षी, यंत्र आदि के सभी वाहनों में घूमने का आनंद भी उसे चलता रहता है तथा जाति-भाइयों से, मित्रादि से प्राप्त होने वाले सुख का भी वह उपभोग करता ही रहता है। किन्तु सारा आनंद लेकर भी उसे क्षणभर को यह नहीं याद आता कि 'इस एक ही शरीरमें मैं हूँ'। जिस शरीर में रहकर साधना की थी, अन्यों के सामने जो 'ब्रह्मवेत्ता का शरीर' कहलाकर व्यवहार कर रहा है, उसमें स्वयंको सीमित तत्त्वज्ञ नहीं महसूस करता, जैसे सब शरीरों में वैसे इसमें भी अपनी विद्यमानता देखता है, पत्थर मारने पर कुत्ता भागता है तब जैसे 'मैं भागता हूँ' वैसे कुत्ता काटने को आये तो सिद्ध शरीर भी भागता है, तब भी 'मैं भागता हूँ'यह व्यापक आत्मा के जानकार को स्थिर दृष्टि बनती है, बनी रहती है। 'उपजन' शब्द का अर्थ किया 'लोगों के समीप स्थित'। भाष्यकारने उपजनका एक अर्थ किया है कि स्त्री-पुरुष के परस्पर निकट आने से पैदा

एतद्देहेन तादात्म्यभ्रान्त्या दुःखमभूत् पुरा।
विवेकेन भ्रमेऽपेते तद् दुःखं नाद्य वीक्षते।।७०।।
इन्द्रराजादिदेहेषु न तादात्म्यं पुराऽपि च।
अतो न तद्देहदुःखशङ्काऽप्यस्य तु विद्यते।।७१।।

होता है, और दूसरा अर्थ किया है कि आत्मा की निकटता से पैदा होता है अर्थात् प्रत्यक् के अतिनिकट प्रतीत होता है। सभी अर्थ उचित हैं। शरीर में तादात्म्य नहीं रह जातायह निश्चित है।।६८-६९।।

सर्वत्र आत्मभाव होने पर जैसे सबका सुख मिलता है वैसे सबका दुःख भी मिलता होगा! और ज़्यादातर जीव सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक भोगते ही हैं तो तत्त्वज्ञको दुःख ही प्रभूत मिलता होगा। ऐसे में यह क्यों न माना जाये कि तत्त्वज्ञान पुरुषार्थविरोधी, अनिष्ट है? इसका उत्तर देते हैं **तत्त्वनिष्ठा से पूर्व दुःख इसलिये होता रहा कि भ्रमवश इस शरीर से आत्मा स्वयं को एकमेक समझे हुए था। विवेकपूर्वक जब वह भ्रम मिट गया, ज्ञानदशा में, शरीर के दुःखों को 'ये मेरे दुःख हैं' ऐसा नहीं समझता।।७०।। जिसने ज्ञान प्राप्त किया है उसे साधकावस्था में भी इंद्र, राजा आदि शरीरों में यह भ्रम नहीं था कि 'ये मैं हूँ' अतः उन शरीरों के दुःख तत्त्वज्ञको हों इसकी शंका भी नहीं की जा सकती।।७१।।** (निर्णयसागरसंस्करण में श्लोक ७१ में 'न विद्यते' अपमुद्रण है, **'तु विद्यते'** मुत्तुशास्त्री का पाठ ही ठीक है।) सर्वात्मभाव के बारे में पूर्वोक्त शंका यह भूलकर उठी कि दुःख का हेतु क्या है। दुःख अज्ञानी को भी तभी होता है जब उसका इस शरीर से तादात्म्य हो। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से तादात्म्य न रहने पर सुषुप्ति में ही दुःख नहीं रह जाता! मरने के बाद शव की कपालक्रियासे दुःख नहीं रह जाता, अपना गुर्दा दूसरे को प्रदान कर देने के बाद उस गुर्दे के रोगादि का दुःख खुदको नहीं होता, इत्यादि अनेक तरह से स्पष्ट है कि तादात्म्यभ्रम ही दुःख का हेतु है। तत्त्वज्ञ का यह भ्रम दूर हो चुका तो उसे दुःख होगा कैसे? जिस शरीर में तादात्म्य था उसके दुःख वह भोग रहा था, तादात्म्य मिट जाने से उसके ही दुःखों से छूट गया तो जिन शरीरों के दुःख अज्ञावस्था में ही नहीं भोग रहा था उनके दुःख ज्ञानी-अवस्था में भोगने की संभावना ही कहाँ है! इन्द्रादि शरीरों में इसे तादात्म्य तो हो नहीं गया, उनका साक्षी ही यह बना है अतः उन शरीरों (और शरीर वालों) के दुःख इसे नहीं भोगने पड़ते। 'मैं सर्वत्र हूँ' इस ज्ञान में तादात्म्य भ्रम नहीं है जो दुःख का कारण है। साधक-शरीर में तादात्म्य था इसलिये उससे साधक जीव दुःखी होता था, उससे भी

सुखानि तद्देहगानि साक्षी सर्वाण्यवेक्षते।
साक्ष्यात्मत्वाऽभिमानी सन् ज्ञानी तान्यभिमन्यते।।७२।।
दुःखान्यपीक्षते साक्षी तथाऽप्येतेषु तत्त्ववित्।
नाभिमानमुपादत्ते दुःखानां मायिकत्वतः।।७३।।

तादात्म्य मिट गया तो उसके शरीर से वह छूट भी गया, अन्य शरीरों से तादात्म्य न पहले था, न अब हुआ अतः उनके दुःख प्राप्त होने की बात ही बेतुकी हैं।।७०-१।।

शंका होगी कि बिना तादात्म्यके यदि इन्द्रादि के सुख मिल सकते हैं तो उनके दुःख भी क्यों नहीं मिलेंगे? समाधान करते हैं **इन्द्रादि के शरीरों के सभी सुखों को साक्षी देखता है; साक्षी को 'मैं' समझता हुआ ज्ञानी उन सुखों को अपना मान लेता है।।७२।। इन्द्रादि साक्षी उनके शरीरों के दुःख भी देखता है किन्तु तत्त्ववेत्ता उन दुःखों को अपना नहीं मानता क्योंकि जानता है कि दुःख मायिक हैं।।७३।।** साक्षी हमेशा निर्विकारभावसे सुख-दुःख दोनों का प्रकाशन करता है, सशरीर हुआ जीव सुखी-दुःखी होता रहता है। तत्त्वज्ञ सशरीर तो रह नहीं जाता, सबके अखण्ड साक्षी से एक हो जाता है। प्रकाशन वह सुख-दुःख दोनों का समान करता है पर क्योंकि जानता है कि सुख वास्तव में आत्मरूप है अतः उस पर ममत्व करता है और दुःखको मायिक जानने से उस पर ममत्व करता नहीं अतः सुखों को अपना मान लेता है, दुःखोंको अपना नहीं मानता। भक्षण, क्रीडा आदि से अभिव्यक्त सुख क्योंकि आत्माका ही परिच्छिन्न रूप है अतः उससे विद्वान् का संबंध संगत है जबकि दुःख मायिक होने से माया का बाध हो जाने पर दुःख से संबंध असंगत है। बाधित क्रीडादि भी हैं पर उनके संबंध का उल्लेख विद्याकी स्तुति के लिये है, दुःखसंबंध कहने से स्तुति नहीं होती अतः उसका मुखतः निषेध किया। परमार्थ भूमिका पर तो विद्वान् का किसी से कोई संबंध नहीं इसमें संदेह नहीं। भ्रम में प्रतीयमानता समान होने पर भी आधारांश सत्य और अध्यस्तांश मिथ्या होता है। इस नियम से परिच्छिन्न सत् परिच्छिन्न चित् और परिच्छिन्न आनंद में परिच्छेदांश मिथ्या किन्तु सच्चिदानंदांश सत्य हैं। दुःख स्वरूपतः ही अध्यस्त है जबकि परिच्छिन्न सुख का परिच्छेदांश ही अध्यस्त हैयह दुःख-सुख में आधारभूत फ़र्क़ है। जिसे सत्य का ज्ञान हो गया वह सुखको तो सत्य जानते हुए ग्रहण कर लेगा जबकि दुःखको मिथ्या जानते हुए छोड़ता जायेगायह संगत ही है। उपस्थित भले ही दोनों हों पर जानकार सत्य को स्वीकारता जाये व झूठ को छोड़ता जाये यही उचित है। इसलिये तत्त्ववेत्ता संसार-भर का सुख भोग ले फिर भी संसार के किसी भी दुःख का उसे भोग नहीं

ब्रह्मानन्दस्य लेशाः स्युरानन्दा विषयोत्थिताः।
अतस्तत्त्वविदः पक्षपातो ह्येतेषु विद्यते।।७४।।

होता। सुख आत्मस्वरूप होने से उसे 'यह मेरा स्वरूप है' ऐसा ज्ञानी समझता है दुःख मायिक होने से उसे 'यह मेरा रूप है' ऐसा नहीं समझता। स्वयं को आनंदस्वरूप जानने से जहाँ-कहीं आनंद हो वहाँ स्वयं को समझता है और खुद को दुःखरूप न जानने से जहाँ दुःख है वहाँ स्वयं को नहीं समझ लेता। कोई कहे 'सब ब्राह्मण ठग होते हैं' तो वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों को तो दुःख होगा, ग़ैरब्राह्मण को नहीं होगा अर्थात् ब्राह्मणत्व के अभिमान वाला ही उस बात को प्रतिकूल समझेगा, उस अभिमान से रहित को वह प्रतिकूल नहीं लगेगी। सुनना, अर्थबोध समान होने पर भी अभिमानभेद से फलभेद है। ऐसे ही तत्त्वज्ञ को आनंद में हमेशा स्वात्मबुद्धि होती है, दुःख में कभी नहीं होती, भले ही प्रकाशन दोनों का करता है। साक्षी अविकृत रहता है, सुख-दुःख दोनों से निर्विकार रहता है पर अज्ञदशा में आनंद भी आवृत ही रहता है; ज्ञानदशा में आनंद अनावृत हो जाता है अतः साक्षी अविकारी रहता है फिर भी उसके लिये असीम आनंद प्रकट है। तत्त्ववेत्ता ज्ञानदशा के साक्षी से अभिन्न है अतः उसके आनंद की सीमा नहीं।।७२-३।।

दुःखों को छोड़कर सुख को ही ग्रहण करने का औचित्य दिखाते हैं **जो आनंद लगते हैं मानो विषयों से उठे हों, वे भी हैं ब्रह्मरूप आनंद के प्रतिबिम्ब ही, इसलिये उन आनंदों पर तत्त्ववेत्ता का पक्षपात होता ही है।।७४।।** ब्रह्मस्वरूप आनंद ही जिस सात्त्विक वृत्ति में, इच्छापूर्ति की वृत्ति में प्रतिफलित होकर 'सुख' प्रतीत होता है उस वृत्ति के उत्पादक को प्राणी सुखहेतु समझता है। लगता है कि 'सुख उस विषय से उठकर मुझे मिला' जबकि सच यह है कि मेरे स्वरूपभूत सुख को प्रतिबिंबित करने वाली वृत्ति बनाने में विषय ने मदद दी; सुख विषय ने नहीं दिया। बृहदारण्यक में (४.३.२२) बताया है कि सब प्राणी जिन सुखों के सहारे जीवन गुज़ार देते हैं वे आत्मानंद की 'मात्रा' अर्थात् अंशमात्र ही हैं। तैत्तिरीयोपनिषत् में (२.७) भी बताया है कि जिसे जो भी सुख मिल रहा है वह परमात्मा ही दे रहा है, सुखी करने वाला एकमात्र परमेश्वर ही है। इसलिये आनंदसागर परमेश्वर की ही मानो बूँदें विषयसुख हैं अतः ज्ञानी सुखों को अपने ही अंश समझता है। समाधि में अनावृत, प्रकट आनंद का लेशमात्र, बिंदुमात्र, प्रतिबिम्बमात्र ही विषयानंद है लेकिन है उसी आनंदका अंश अतः जो परिपूर्ण आनंदका पक्षधर है उसका विषयानंदों पर पक्षपात होगा ही। जो असली स्वर्ण चाहता है वह असली तो बटोरता ही है, मिलावटी भी मिले तो ले ही लेता क्योंकि उसकी खोट हटाकर खरा

पुण्यमेवाऽमुमाप्नोति न देवान् पापमाप्नुयात्।
इति श्रुत्यन्तरं ब्रूते सुखं सर्वात्मदर्शिनः।।७५।।
प्रजाः शोचन्ति यत्किञ्चित्तासामेव भवेदिदम्।
न सर्वात्मदृशोऽस्तीति प्राहैतदपि सा श्रुतिः।।७६।।

सोना उपलब्ध हो जायेगा। इस प्रकार नाम-रूपवर्जित सच्चिदानंद से ही तृप्ति पाने वाला भी नाम-रूपसहित सच्चिदानंद को लेकर उसके नाम-रूपांश को छोड़कर सच्चिदानंद से तृप्ति पाने से क्यों चूकेगा? दुःखका वह ग्राहक है नहीं अतः उसे सर्वथा नहीं ग्रहण करेगा, दुःखी कभी नहीं होगा, सुखी सदा सर्वत्र होगा। अविचारशीलों की मान्यता है कि सुख हमारे प्रयासका फल है, दुःख हम पर परमात्मा डाल देता है! सुख के लिये कोई प्रश्न नहीं उठाता कि 'हमने ऐसा कोई पुण्य किया नहीं, इतना सुख हमें क्यों मिला?' लेकिन दुःख के लिये अवश्य प्रश्न उठता है कि 'हमने ऐसा तो कोई पाप किया नहीं था, भगवान् ने इतना दुःख क्यों दिया?' व्यक्तिगत की तरह सामाजिक चिंतन में भी सफलता का श्रेय नेता लेते हैं, विफलता दुर्दैव, अकाल-बाढ आदि देव-प्रकोपों के सिर मढ़ते हैं। भावना यही है कि दुःखांश परमात्माका है। शास्त्र समझाता है कि सच ठीक विपरीत है, परिच्छिन्न होकर, सशरीर होकर हम जो करेंगे उससे दुःख ही होगा, सुख अपरिच्छिन्न, अशरीर परमात्मा से ही होगा। आनंद केवल ब्रह्मका स्वभाव है, दुःख मायाका ही रूप है। इसके निश्चय के लिये गहरी नींदका सुख याद करना चाहिये, वह हमारी किसी कमायी का फल नहीं, हमारे करने से हमें मिलता नहीं, किसी चीज़ का वह सुख नहीं। इस अनुभव के यथाशास्त्र विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि आनंद विषयपक्षीय नहीं वरन् आत्मस्वरूप है। इसीलिये तत्त्वज्ञ का उस पर पक्षपात है। इसका यह मतलब नहींजैसा विरोचन ने समझा थाकि तत्त्वज्ञ खूब विषय-भोग करे! पक्षपातका इतना ही अर्थ है कि समष्टिभावमें स्थित रहते हुए वह दुःखादि मायांशों का बाध कर देता है तथा सुखादि आत्मांश ही सत्य-बुद्धिसे स्वीकार करता है। विषयभोग 'करता' नहीं, जहाँ कहीं जो कोई विषयभोग हो रहा है उसीसे यह तृप्त हो जाता है, यही उसका पक्षपात है।।७४।।

बृहदारण्यक वचन से इस बात को पुष्ट करते हैं **'क्योंकि देवताओं को पाप नहीं मिलता इसलिये सर्वदेवमय इस (हिरण्यगर्भ) को पुण्य ही मिलता है'यों अन्य श्रुति बताती है कि सर्वात्मा के दर्शन के स्वभाव वाले के लिये केवल सुख है।।७५।। उसी श्रुतिने यह भी साफ कहा है कि प्रजाएँ जो कुछ भी शोक करती हैं वह उन्हीं का रहता है, सर्वात्मदर्शी को वह शोक नहीं होता।।७६।।**

सर्वात्मत्वेऽपि देहादिदोषलेपो न मेऽस्ति हि।
अदुष्टा सूर्यभा यद्वच्चाण्डालादिस्पृगप्यसौ।।७७।।
ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये प्राणिनो मे वपुः स्मृताः।
कामक्रोधादयो दोषा जायेरन् मे कुतोऽन्यतः।।७८।।
इत्याचार्या ब्रह्मबोधकुशला अभवन् पुरा।
सुखमात्रग्राहिणोऽत्र दृष्टान्ताः सन्त्यनेकशः।।७९।।

सप्तान्न आदि विस्तार से उपासना करने वाला हिरण्यगर्भभाव प्राप्त करता है जिससे वह सब भूतों का आत्मा बन जाता है। उसके लिये कहा 'यदु किञ्चेमाः प्रजाः शोचन्ति अमैवासां तद् भवति, पुण्यमेवामुं गच्छति, न ह वै देवान् पापं गच्छति' (बृ. १.५.२) अर्थात् प्रजाएँ जो कुछ शोक करती हैं वह दुःख तो प्रजाओं के ही साथ रहता है, किन्तु जो कोई भी शुभ फल होता है वह हिरण्यगर्भरूप हुए सिद्ध को प्राप्त हो जाता है, पाप का फलभूत दुःख देवताओं को नहीं मिलता, हिरण्यगर्भ सर्वदेवमय है ही। इस श्रुति से भी पूर्वोक्त बात ही निश्चित होती है कि सर्वात्मभाव आ जाने पर भी परिच्छेद-निमित्तक दुःखों का संबंध नहीं होता। जब सविशेष सर्वात्मा से ही यह स्थिति है तब निर्विशेष सर्वात्मा होने पर दुःख-संबंध नहीं होता इसमें कहना क्या! ईशोपनिषत् भी कहती है 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'(ई. ७.) कि अखण्ड अद्वैतका स्थायी दर्शन करने वाले के लिये शोक मोह नहीं रह जाते। अतः इन्द्रादिका आत्मा होने पर भी उनके दुःखों की तत्त्वज्ञको प्राप्ति नहीं होती।।७५-६।।

विद्वान् तत्त्वदर्शी आचार्यों के श्रुत्यर्थ के अनुकूल वचन भी पूर्वोक्त तथ्य समर्थित करते हैं यह दिखाते हैं **'चाण्डाल आदि को छूने पर भी सूर्यप्रभा जैसे निर्दोष रहती है वैसे मेरी सर्वात्मता होने पर भी शरीरादि दोषों का मुझपर लेप (संबंध) नहीं होता'।।७७।। 'ब्रह्मा से प्रारंभ कर घासके तिनके तक जो भी प्राणधारी हैं वे मेरा शरीर बताये गये हैं अतः अन्यके कारण ही उपजने वाले काम-क्रोधादि दोष मुझमें क्योंकर पैदा होंगे?'।।७८।। इस प्रकार अपना अनुभव व्यक्त करने वाले आचार्य प्राचीन काल में हुए हैं जिन्होंने पूर्ण कुशलता से ब्रह्मज्ञान परिपक्व किया था। लोक में भी ऐसे बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं जो केवल सुख ग्रहण करते हैं।।७९।।** श्लोक ७७ किसी प्राचीन आचार्य का कथन है, श्लोक ७८ उपदेशसाहस्री में (९.५) आचार्य शंकर का कथन है। सूर्य के प्रकाश का युगपत् सर्वत्र स्पर्श होने पर भी जैसे उसकी पवित्रता में अंतर नहीं आता वैसे सर्वात्मा, सब शरीरों में

वृक्षे मधुकरः पुष्परसं गृह्णाति नेतरत्।
यतिर्भिक्षामुपादत्ते नाशौचं कस्यचिद् गृहे।।८०।।

एक-समान रहते हुए भी शरीरादिरूप दोषों का, शरीरादि के दोषों का आत्मा से कोई संबंध नहीं होता। जैसे परमेश्वर सबमें रहते हुए ही सब दोषों से रहित है वैसे तत्त्वज्ञ भी दोषों से वर्जित ही रहता है। दुःख दोष ही है क्योंकि आत्मा का स्वभाव न होकर आगंतुक है। सूर्य की रोशनी के सहारे खूनी खून करता है तो दोष जैसे सूर्य का नहीं वैसे प्रकाश्य के दोष प्रकाशक आत्मा के नहीं होते। अत एव साक्षी निर्विकार है। इस अभिव्यक्ति से ब्रह्मनिष्ठ ने यह स्पष्ट किया कि देहादि के निमित्त से होने वाला कोई दोष आत्मस्वरूपका स्पर्श नहीं करता। दुःख औपाधिक अतः दोष ही है, एवं च उसका निषेध हो गया। आचार्य-वचन आपस्तम्ब के 'पूः प्राणिनः' इत्यादि वाक्य के उल्लेख से तत्त्ववित् की सर्वात्मता प्रकट करते हुए उसमें कामादि दोषों की उत्पत्ति को असंभव बता रहा है। कामादि दोष अन्य की मांग करते हैं, कोई मुझसे अन्य हो तभी उसकी कामना या उस पर क्रोध हो सकता है। सर्वात्मा के लिये जब अन्य कोई है नहीं तब उसे किसकी कामना हो, किस पर क्रोध आये? इसी तरह, उसे किससे दुःख हो? स्वयमेव तो दुःख होता नहीं, होगा अन्य से, अन्य कोई रहा नहीं तो दुःख भी हो नहीं सकता। जैसे चाण्डाल व ब्राह्मण का स्पर्श करते हुए भी सूर्य किंचित् भी भेदका अनुभव नहीं करता'अमुक का स्पर्श अपवित्र है तो कम करूँ, अमुक का पवित्र है तो उससे ज़्यादा देर स्पर्श रखूँ' ऐसा कोई भाव सूर्य में नहीं आतावैसे सर्वात्मभाव वाले की भी भेदबुद्धि नहीं बनती। अत एव, सब प्राणियों के हृदय में रहते हुए भी क्योंकि भेददृष्टि नहीं है इसलिये उसे कोई दोष नहीं लगता। दुःख, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि दोष भेदबुद्धि रहते ही होते हैं, भेददृष्टि न रहे तो ये विकार असंभव हैं। मूल प्रश्न था कि ज्ञानी सबसे एक है तो क्या सबके दुःख भी उसे प्राप्त होंगे? उत्तर हुआ कि भेददृष्टि न रह जाने से ज्ञानी को दुःखादि दोषों की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार श्रुति, युक्ति व तत्त्वज्ञ-वचनों से सिद्ध हुआ कि व्यापकभाव पा लेने पर समस्त आनंद निरावृत होता है, दुःख की संभावना भी मिट जाती है।।७७-९।।

इष्ट-अनिष्ट दोनों उपलब्ध होने पर भी केवल इष्ट ग्रहण करने वाले लौकिक दृष्टान्त दिखाते हैं **वृक्ष में पत्ते, लकड़ी आदि और भी बहुत-कुछ होता है लेकिन भौंरा सिर्फ़ फूलों का रस ग्रहण करता है, बाकी सब छोड़ देता है। किसी के भी घर से संन्यासी भिक्षा तो ग्रहण करता है पर अशौच से संबद्ध नहीं होता।।८०।।**

मूर्खस्याऽपि सुखे पक्षपातोऽस्तीत्युच्यते यदि ।
तर्हि तस्य प्रसिद्ध्यर्थं तत्त्वं सोऽप्यवगच्छतु ।।८१।।
तत्त्वे बुद्धे स्वदेहेन तादात्म्यं न स्मरत्यसौ ।
तेन दुःखे विनष्टेऽथ सुखमेव सदेक्षते ।।८२।।

भौंरा पेड़ में उपस्थित अनेक पदार्थों में से चुनकर केवल रस ग्रहण करता है, इसी तरह सर्वत्र रहकर तत्त्ववेत्ता दुःखादि छोड़कर केवल सुख ग्रहण करता है। स्थूल-दृष्टि से दीखने वाला भौंरे का उदाहरण है, अन्य भी अनेक ऐसे स्थल मिलते ही हैं। सूक्ष्म या शास्त्रीय दृष्टि का उदाहरण संन्यासी का बताया; किं च, ग्रहण करने में दृष्टांत भ्रमर का दिया, न ग्रहण करने में यति का दृष्टांत है। शास्त्र कहता है 'नान्नदोषेण मस्करी'; गृहस्थों को जातक-मृतक आदि अशौच लगा करते हैं किन्तु संन्यासी जब भिक्षा लेता है तब गृहस्थ के अशौचका उससे कोई संबंध नहीं होता। दूसरा गृहस्थ तो अशौच वाले का भोजन खाये तो दोषका भागी होता है पर संन्यासी को ऐसा दोष नहीं लगता। इस प्रकार, भोजन व अशौच दोनों में से अशौच को संन्यासी छोड़ देता है, केवल भिक्षान्न ग्रहण करता है। आत्मवेत्ता अशौच की तरह दुःख छोड़ देता है और अन्न की तरह सुख ग्रहण कर लेता है। स्थूल शरीर अन्नमय है अतः उसका अन्न पर पक्षपात है इसलिये भौंरा अपने अन्न को, पुष्परस को ही ग्रहण करता है, यति भिक्षा ही ग्रहण करता है; इसी तरह आत्मा सुखस्वरूप होने से उसका सुख के प्रति पक्षपात है जिससे वह सुख ही ग्रहण करता है।।८०।।

सुख ग्रहण करना सभी चाहते हैं, तत्त्ववेत्ता की विशेषता है कि वह सुख ही ग्रहण करता है! बाकी लोग चाहते तो हैं पर ग्रहण दुःख भी करते ही रहते हैं। श्लोक ६६ में जिस ज्ञानप्रभाव की प्रतिज्ञा की थी उसका निगमन करते हुए अज्ञानी को सुखमात्र ग्रहण करने का उपाय सुझाते हैं **यदि कहो कि 'सुख पर पक्षपात तो मूर्ख (अज्ञानी) का भी है' तो बात सही है; उसे भी चाहिये कि हमेशा असीम सुख ही उपलब्ध हो इसके लिये वह परमात्मतत्त्व का अवबोध प्राप्त करे।।८१।। वास्तविकता समझने पर वह अपने देह से अभेद को याद नहीं करेगा जिससे दुःख नष्ट हो जायेगा और तब वह सदा सुख का ही आस्वादन करेगा।।८२।।** मूर्ख से यहाँ वे सब अभिप्रेत हैं जो ब्रह्मात्मानुभव से वंचित हैं, अज्ञानी हैं। मूर्ख, नासमझ, अज्ञ आदि शब्द संदर्भानुसार मतलब व्यक्त करते हैं। डूबने की नौबत आ पड़े तो तैरना न जानने वाला मूर्ख कहलायेगा भले ही न्याय व्याकरणादि सब शास्त्र पढ़ा हो!

खेती करना न जाने तो किसान मूर्ख कहलायेगा, भले ही 'ए बी सी डी' जानता हो। वर्तमान काल में एक असंगत धारणा फैल गयी है कि भाषा, विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल आदि रटा व्यक्ति ही विद्वान् होता है और सभी लोगों को ऐसा विद्वान् बनाने से सबका विकास होगा। यह ग़लत इसलिये है कि इससे व्यक्ति प्रायः किसी कार्य में सक्षम नहीं रहता, केवल 'बेरोजगारी मिटाओ' का आंदोलन कर पाता है। किसान, सुनार, लोहार, सुथार आदि को कभी ऐसा आंदोलन करते नहीं देखा जाता, वे नौकरी नहीं ढूँढते वरन् लोग ही उन्हें ढूँढते रहते हैं, क्योंकि वे जिस कार्यक्षेत्र के हैं उसमें मूर्ख नहीं, भले ही इथोपिया के शासक का नाम न जानते हों, जबकि पढ़े-लिखे जवान पचास देशों की राजधानियों के नाम तो फटा-फट सुना सकते हैं पर कार्यक्षेत्र में मूर्ख हैं, करना कुछ जानते नहीं अतः विकास के बजाय अपना, समाजका, देशका ह्रास ही करते हैं। एक कार्टून (व्यंग्यचित्र) देखा था साक्षरता-अभियान का अधिकारी एक किसान से कह रहा था कि वह अपने सब बच्चों को पढ़ाये। किसान वहाँ कुर्सी पर पतलून-कमीज-जूते पहने एक लड़के की ओर इशारा कर बोला, 'पढ़ा-लिखा घर में एक ही बहुत है! अगर बाकी बच्चे भी पढ़ गये तो हम सभी भूखे मरेंगे!' दसवी-बारहवीं उर्त्तीण कर जाये तो लड़का खेत के काम-लायक नहीं रहता यह प्रत्यक्ष ही है। अन्य भी श्रमापेक्ष कार्यों में वह हाथ नहीं देता, लिखा-पढ़ी का काम चाहता है और वह अत्यल्प ही मिलेगा तो बेरोजगारी बढ़ना स्वाभाविक है। कन्याओं को स्नातक कक्षा तक पढ़ा देते हैं, चाय तक बनाना नहीं सिखाते, अतः घरों में औरतें मूर्ख होती जा रही हैं। जिसे जिस क्षेत्र में विकास करना है उसकी शिक्षा मिले तब तो प्रगति हो सकती है लेकिन उसके बजाये जो शिक्षा आजकल दी जा रही है वह प्रायः हर क्षेत्र में मूर्खों को बढ़ा रही है। कारण है कि विद्वत्ता की संदर्भसापेक्षता की उपेक्षा कर शिक्षित बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

प्रस्तुत संदर्भ ब्रह्मविद्याका है अतः यहाँ मूर्ख से ब्रह्म को न समझने वाला विवक्षित है। सामने आने पर सुख ग्रहण कर ले, दुःख छोड़ देयह विद्या जो नहीं जानता वह मूर्ख है। ऐसा संसारी भी हमेशा सुख पाना चाहता है। शंका है कि ज्ञानी भी हमेशा सुख पर ही पक्षपात करता है तो उसमें मूर्ख से क्या विशेषता? समाधान दिया कि ज्ञानी सुख पाना *चाहता* नहीं वरन् सर्वत्र सुख लेता ही रहता है जबकि मूर्ख चाहता तो बहुत है कि सुख लूँ पर मजबूर है दुःख भोगने को, भले ही बीच-बीच में थोड़ा-बहुत सुख मिल जाये। मूर्ख इसमें स्वतंत्र नहीं कि दुःख छोड़कर सुखमात्र ग्रहण करे, उसे सुख-दुःख दोनों भोगने *पड़ते* हैं जबकि ज्ञानी सर्वथा स्वतंत्र रहकर दुःख छोड़कर सुख ग्रहण करता है। अतः दोनों में

महान् अंतर है। मूर्ख सुख चाहता है इसलिये उसे प्रयास करना चाहिये कि विद्वान् से वह कला सीखे जिससे वह भी सुखमात्र ग्रहण कर सके। जैसे पढ़ा-लिखा शिक्षित बेरोजगार अगर धन कमाना चाहे तो ऐसे बहुतेरे काम हैं जिन्हें सीख ले तो रहने-खाने जितना पर्याप्त धनार्जन कर सकता है, वैसे ही मूर्ख सदा सुख लेना चाहे तो ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ले, उसके लिये मनाही कहाँ है! मूर्ख जब इस ज्ञान में पारंगत होगा तब उसका अपने शरीर से 'मैं'भाव हटेगा, वह यह भूल जायेगा कि 'मैं शरीर से एकमेक हूँ'; दुःख हमेशा शरीर में ही होता है, शरीर-संदर्भ रहते ही दुःख होता है, दुःख देहोपाधिक ही है। देह से स्थूल-सूक्ष्म दोनों समझने चाहिये। मूर्ख का भी जिन शरीरों में तादात्म्य नहीं, 'मैं'-निश्चय नहीं, उन शरीरों के दुःखों से वह दुःखी नहीं ही होता; जब अपने शरीर से भी उसका तादात्म्य दूर हो जाता है तब वह इसके भी दुःखों से परे हो ही जायेगा।

शरीर-मन में दुःख होना हमें दुःखी करने के लिये पर्याप्त नहीं, हमें शरीर-मन में तादात्म्य होना ज़रूरी है। जहाँ तादात्म्य नहीं उन शरीर-मनों के दुःखों से हम दुःखी नहीं होते, जहाँ तादात्म्य है वहाँ अवश्य दुःखी होते हैं अतः तादात्म्य ही दुःखी होने के लिये आवश्यक है। तादात्म्य अर्थात् उसे 'मैं' समझना। थोड़ा-बहुत विचार करने पर समझ आये भी कि 'यह मैं नहीं मेरा है' फिर भी महसूस यही हो कि 'यह मैं हूँ'यह तादात्म्य जिसमें होगा उसके दुःखों से मैं अवश्य दुःखी होऊँगा, तादात्म्य न रहने पर कभी दुःखी नहीं हो सकता। सर्वात्मभाव आ जाने पर किसी भी देह में ऐसा तादात्म्य रह नहीं जाता, दृढता हो जाने पर तो देह से एकमेकता की याद भी नहीं आती। देह से तादात्म्य मिटते ही दुःख सर्वथा समाप्त हो जाता है। केवल आनंद बचा रहता है। हमेशा सुख का दर्शन, सुखी होने का अनुभव रहता है, दुःखी होने का अनुभव बिलकुल नहीं होता। लोकसिद्ध भी यह है कि दुःख कारण से होता है, स्वाभाविक सुख रहता है। कोई शांति से प्रसन्न बैठा हो, उससे पूछो 'आज इतने खुश क्यों हो?' तो कहेगा 'तुम्हें क्यों जलन हो रही है!' किंतु कोई दुःखी बैठा हो और पूछा 'दुःखी क्यों हो?' तो कभी नहीं कहेगा कि 'क्यों ईर्ष्या करते हो !' वरन् हमेशा कोई कारण बतायेगा जिससे वह दुःखी है। इससे सिद्ध होता है कि दुःख उपाधिवश ही होता है, स्वाभाविक तो सुख ही है। अत एव सब यह मानकर ही चलते हैं कि समस्त प्राणियों को सुखी रहना चाहिये, सबके दुःखों को दूर करना चाहिये; जैसे जल शीतल मिले तो सहज लगता है, गर्म मिले तो हेतुगवेषणा होती है अतः पता चलता है कि जल का स्वभाव शीतल है, गर्मी औपाधिक है, वैसे सुख सहज लगना ही सिद्ध कर देता है कि वह आत्मा का स्वभाव है। तादात्म्याध्यास रहते दुःखों का संपर्क

जीवन्मुक्तिः

तादात्म्यस्याऽस्मृतौ देहनिर्वाहो नेति चेच्छृणु।
अश्वादिनेव प्राणेन प्रेरितं रक्ष्यते वपुः।।८३।।
रथे प्रयोगयोग्योऽश्वः शिक्षितः सारथिं विना।
स्वयमेव सदाऽभ्यासाद् गन्तव्यं प्रापयेत् खलु।।८४।।
ईश्वरेणाऽस्य देहस्य प्रेरणाय नियोजितः।
प्राणस्तद्भोगदेशेषु देहं नयति कर्मणा।।८५।।

बना रहता है, जब अपने वास्तविक स्वरूप का पता लग गया तब शरीर से एकमेकता दूर हो जाने से कभी दुःख नहीं हो सकता, सहज स्वाभाविक सुख बना रहता है। इस प्रकार सदा सुखी रहने का उपाय स्वात्माका ज्ञान है; इससे अन्य सभी उपाय मिलकर भी सनातन सुख नहीं दे सकते, दुःख भले ही दें! आत्मविद्या के बजाये जो कुछ 'विद्या' के नाम पर पढ़ लेने से, उन विद्याओं में पारंगत होकर नवीनतर अनुसंधान भी कर लेने से यह नहीं हो सकता की सदा सुख बना रहे। इसके लिये आत्मज्ञान ही एकमात्र उपाय है। लोग प्रचार करते हैं 'शिक्षा से सुख बढ़ेगा' लेकिन जो शिक्षा देते हैं वह दुःख ही बढ़ाती है। सत्रह साल पढ़कर एम.ए. पास होते हैं, इतने लंबे पाठ्यक्रम में एक भी पाठ नहीं मिलता जहाँ पता चले 'मैं कौन हूँ?' जितना कुछ पढ़ाया जाता है वह दुःखकारण ही है क्योंकि वह सब पढ़कर कामनाएँ बढ़ती ही हैं और कामना सदा वर्धनशील हो तो हमेशा अपूर्ण रहकर दुःखी ही करती रहेगी। आत्मविद्या में यह अपूर्व सामर्थ्य है कि शरीर-तादात्म्य मिटा कर स्थायी सुख में प्रतिष्ठित कर देती है।।८१-२।।

श्रुति ने रथ खींचने वाले घोड़े का उदाहरण दिया है 'स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवाऽयम् अस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः' (८.१२.३), उसका अभिप्राय भाष्य की अपेक्षा अलग ढंग से समझाते हैं **यदि प्रश्न करो कि देहतादात्म्य भूल जाने पर शरीर का जीवन कैसे चलाया जा पायेगा? तो उत्तर सुनो : घोड़े आदि की तरह प्राण द्वारा प्रेरणा पाया शरीर सुरक्षित रहता है।।८३।। रथ में जुतने लायक घोड़ा जब सही तरह प्रशिक्षित होता है तब सारथि के इशारों के बिना भी हमेशा के अभ्यास से खुद ही रथको गंतव्य पर पहुँचा ही देता है।।८४।। ईश्वर द्वारा इस शरीर के संचालन के लिये नियुक्त प्राण भी कर्मों के अनुरूप शरीर को उन स्थानों पर पहुँचा देता है जहाँ उसके नियत भोग हैं।।८५। गर्भ में स्थित बच्चों के शरीरों का निर्वाह जैसे (उनके प्रयत्न के बिना ही) हो जाता है वैसे**

गर्भस्थानां च बालानां निर्वाहो वपुषो यथा।
जीवन्मुक्तस्य देहेऽपि निर्वाहः स्यात्तथा न किम्।।८६।।

जीवन्मुक्त के शरीर का भी निर्वाह क्यों नहीं हो जायेगा?।८६।। क्योंकि अज्ञानी को दृढ भ्रम है कि 'मैं शरीर से एकता रखता हूँ इसीलिये शरीर चलता-बैठता आदि सब चेष्टाएँ करता है' इसलिये ज्ञानी के बारे में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि वह तादात्म्य नहीं रखता तो उसकी देहयात्रा कैसे चलती है? सूर्य-चंद्र-पृथ्वी-नदी-वायु आदि सारे संसार को चलाने वाला परमेश्वर हमारी दो मन की लाश भी चला ही लेगायह भरोसा बिना किये ही यह प्रश्न उठता है। इसके उत्तर में जीवन्मुक्ति को प्रकट करते हैं : सीखा हुआ घोड़ा, बैल आदि घरकी ओर खुद चला जाता है, किसी इशारे की ज़रूरत नहीं पड़ती। प्राण भी ऐसा ही सुशिक्षित तत्त्व है; अज्ञानी के भी प्राण स्वयमेव चलते हैं, अज्ञानी उन्हें चलाता नहीं। जाग्रत् में यथाकथंचित् अभिमान करें भी कि हम चलाते हैं पर सोते समय, बेहोशी के समय तो स्पष्ट ही है कि ये बिना हमारे चलाये चलते हैं। जाग्रत् में भी वस्तुतः अन्य कार्यों की तरह 'प्राण चलानारूप कार्य मैं कर रहा हूँ' ऐसा नहीं लगता। प्राण से सिर्फ श्वास-प्रश्वास ही नहीं, शरीर की वे सभी क्रियाएँ समझनी चाहिये जो लगातार चल रही हैं जैसे हृदय चलना, फेफड़े चलना, यकृत-प्लीहा-आँत-गुर्दे आदि की क्रियाएँ, इत्यादि। ये सभी हमारे चलाये नहीं चल रही। शरीर जीवित रखने के सभी कार्य प्राण से हो रहे हैं। जैसे सीखा हुआ घोड़ा ही सही रास्ते से घर पहुँचता है वैसे ईश्वर ने प्राण को सिखा रखा है तभी वह सारी चेष्टाएँ अनुरूप करता रहता है। अतः 'जुतने लायक' घोड़ा दृष्टांत बनाया क्योंकि वह प्रशिक्षित हो चुका है। बुद्धि को हमने प्रशिक्षित कर लिया तब तो वह सही निर्णय लेती जायेगी, यदि उसे प्रशिक्षण दिया नहीं तो ग़लतियाँ दुहराती रहेगी, हम ठोकरें खाते रहेंगे। भक्ष्याभक्ष्य न सीखी बुद्धि मौके पर अभक्ष्य खाने में प्रवृत्त करेगी। अतः व्यवस्थित प्रवृत्ति के लिये समीचीन प्रशिक्षण चाहिये। ईश्वर प्राणको नियुक्त करता है अतः प्राण सर्वथा सही तरह सीखा हुआ है तभी कार्य-संचालन ऐसा करता है कि सामान्य व्यक्ति भूला ही रहता है कि ईश्वर-नियुक्त कोई प्राण-तत्त्व शरीर को जीवित रख रहा है, प्राण छूटते समय ही प्राणका महत्त्व स्पष्ट होता है!

और भी ज़ोर देने के लिये 'सदाभ्यासात्' कहा; घोड़ा सीखा भी हो पर लंबे समय तक उस रास्ते चलाया न जाता रहा हो तो भी वह ग़लती करेगा; ऐसे ही मन-बुद्धि को सिखाने मात्र से नहीं, लंबे समय तक अभ्यास भी कराते रहने से इस लायक बनाया जा सकता है कि वे अवसर प्राप्त होने पर सही निर्णय लें। प्राण तो हमेशा से इसी कार्य में लगा

है इसलिये उसका अभ्यास दृढतम है ही। प्रारब्ध कर्मों के फल का भोग हो सके इसलिये ईश्वर ने प्राण को देह रक्षा में नियुक्त किया है। जीव चाहे-न-चाहे, उसे वे सब अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं जो प्रारब्धानुसार आवश्यक हैं। भोग के लिये मन-इंद्रियाँ शरीरादि सब प्रेरणा कर हमें वहाँ पहुँचाते हैं जहाँ हमारे लिये नियत भोग उपस्थित है। यदि हम स्वयं निर्णय कर देहादि-संघात चलाते होते तो दुःख भोगने क्यों पहुँचते? पहुँचते इसीलिये हैं कि प्राणादि सर्वथा शिक्षित हैं, हमारी इच्छा के अधीन नहीं हैं, जहाँ हमारा पहुँचना प्रारब्ध-भोग के लिये ज़रूरी है वहाँ पहुँचा ही देते हैं। इसीको लोक में कहते हैं 'जब तक अन्न-जल है तब तक यहाँ रहेंगे, फिर जहाँ अन्न-जल होगा वहाँ जायेंगे'; अन्न-जल अर्थात् इस स्थान में जो कुछ भोगना है उसे भोगे बिना अन्यत्र चाहकर भी जा नहीं सकते तथा अन्यत्र भोगने लायक कर्म फलोन्मुख होंगे तब चाहकर भी यहाँ रुक नहीं सकते। हर-रोज़ ऐसे अनुभव होते हैं कि हमारे किसी आयास के बिना सुख मिल गयाजैसे किसी दोस्त को कोई खबर देने गये और उसने आलू के पराँठे खिला दियेएवं हमारे पूर्ण आयास के बावजूद हम सुख नहीं ले पातेजैसे परिश्रम कर दाल का हलुवा, कचौड़ी आदि पक्वान्न तैयार किये किंतु खाने बैठते इतने में खबर आयी कि 'चाचा जी का देहांत हो गया, शव ले चलने की तैयारी हो रही है!' तो वह सारा भोजन यों ही छोड़कर जाना पड़ता हैफिर भी हम अपना अभिमान नहीं छोड़ते, ईश्वर के संसार-संचालन पर भरोसा नहीं करते, यह दुर्भाग्य है। अपने अभिमान के प्रभाव से हम दुःख ही बढ़ा सकते हैं, सुख नहीं! दुःख बढ़ाना इस दृष्टि से कि ज़िम्मेवारी खुद लेकर उसके बोझ से स्वयं दबते हैं; मिलने वाले सुख-दुःख हमारे प्रयास से बढ़-घट नहीं सकते पर खुद कुछ मान लेने से होने वालों को घटा-बढ़ा या समाप्त भी कर सकते हैं। जीवन्मुक्त का जीवन उसके तादात्म्य के बिना ही उसी प्रकार संपन्न हो जाता है जैसे गर्भगत बच्चे का। गर्भका बालक तो शरीर-निर्वाह के लिये कुछ नहीं करता फिर भी नौ महीनों तक शरीर बकायदा बढ़ता विकसित पुष्ट होता रहता है, ऐसे ही ज्ञानी के किसी आयास के बिना ही उसका जीवन-निर्वाह होता रहता है।

भाष्यकार ने इस दृष्टान्त को यों समझाया है : प्रश्न उठता है कि अशरीर निष्पाप पुरुष को श्रुति ने आँख में दीखने वाला कैसे कहा? उत्तर में यह दृष्टांत हैजैसे रथ आदि चलाने के लिये घोड़े आदि जोते जाते हैं वैसे रथ-स्थानीय इस शरीर में प्राण नियुक्त है। प्राण से ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति दोनों से संपन्न सूक्ष्मांग विवक्षित है जिसमें पाँचों वृत्तियोंवाला प्राण, इंद्रियाँ, मन बुद्धि सभी का समावेश है। जैसे राजा अनेक कार्य संपन्न

समाधावात्मरूपेण व्युत्थाने भोग्यरूपतः।
सर्वानन्दान् सदा भुङ्क्ते मुक्तस्यातिशयो ह्ययम्।।८७।।

करने वाले अधिकारी को नियुक्त कर देता है वैसे ईश्वर ने देखना, सुनना, चेष्टा करना आदि सभी व्यवहारों के लिये उक्तविध प्राण को नियुक्त किया है। अतः चक्षु इंद्रिय उस प्राण का (सूक्ष्म शरीर का) एक हिस्सा है, उसके द्वारा श्रुति सभी करणों को सूचित कर रही है और वे करण जिसके सम्मुख विषय-ज्ञानादि उपस्थित करते हैं वह आत्मा है यह समझा रही है। टीकाकारों ने इससे ये अनुमान समझाये हैंजैसे रथाकर्षण में घोड़ा किसी रथी आदि चेतन द्वारा ही नियुक्त होता है वैसे शरीर-निर्वाह में प्राण किसी अन्य चेतन द्वारा ही नियुक्त है; इससे शरीर-संहत की अपेक्षा विलक्षण अशरीर आत्मा सिद्ध होता है। किं च, जैसे रथचेष्टा किसी चेतन के निमित्त से ही संपन्न होती है वैसे शरीर-चेष्टा भी शरीरातिरिक्त चेतन के ही निमित्त से संपन्न होती है; इससे भी अशरीर चेतन सिद्ध होता है। विद्यारण्य स्वामी ने पूर्वोक्त ढंग से यहाँ जीवन्मुक्ति का वर्णन माना है, वह भी उचित है, वैकल्पिक व्याख्या है।।८३-६।।

मुख्य प्रसंग चल रहा था (श्लोक.६६) कि उत्तम पुरुष तो ज्ञानी अज्ञानी के लिये समान है फिर ज्ञानी की क्या विशेषता? बीच में जीवन्मुक्ति को उपपन्न किया, अब मूल प्रसंग पर लौटते हैं **समाधि में आत्मरूप से और व्युत्थान दशा में भोग्य रूप सेयों हमेशा समग्र आनंद का भोग करता है, यह मुक्त का महत्त्व है।।८७।।** मुक्त ब्रह्मवित् जिस समय समाहित रहता है उस समय उसे व्यापक आनन्द का प्रत्यग्रूप से स्फुरण रहता ही है; तत्त्ववेत्ता की जड समाधि नहीं होती जैसी शून्यवादी आदि की होती है, उसने आत्मा अनावृत कर रखा है अतः आत्माका सम्पूर्ण स्फुरण रुक नहीं सकता। तथा जब व्युत्थान की स्थिति, जाग्रत्-स्वप्न की दशा होती है तब पूर्वोक्त ढंग से वह सारे संसार के सुखभोगों का आस्वादन कर लेता है। भोग्य रूप से भी ग्रहण वह परमात्मा के स्वरूपभूत आनंद को करता है : मिठाइयाँ खाते हुए मधुमेह का समझदार रोगी ध्यान रखता है कि चीनी कितनी खाई, जबकि नासमझ चीनी तो बिलकुल नहीं खाता, मिठाइयाँ पेट-भर के खाता है! उसे यह अहसास ही नहीं होता कि गुलाब-जामुन, इमरती, जलेबी सबमें मीठी एक चीनी ही खायी जा रही है। ऐसे ही अज्ञानी तत्तद् विषयों के आनंद लेता रहता है फिर भी यह कमी महसूस करता रहता है कि 'परमात्मा के अनुभव से वंचित हूँ'; ज्ञानी विषयसुखों में भी स्पष्टतः परमात्मसुख ही देखता है, जानता है कि जैसे जलेबी आदि चाहे जितने रूप धारण कर सामने आये, मीठी एकमात्र चीनी ही है, वैसे सब रूपों

चाक्षुषः पुरुषः

मुक्तेन बुद्धः साक्ष्येष सर्वाक्षेषु विभाव्यताम् ।
तत्तदिन्द्रियसंयुक्तः त्रिपुटीं भासयत्यसौ ।।८८ ।।

में मिलता सुख एकमात्र परमात्मा का ही स्वरूप है। अतः विषय-सुख से भी उसको पूर्ण संतोष ही होता है क्योंकि जानता है कि परमार्थतः जो सुख है वही व्यावहारिक जामे में मिल रहा है। संसारी तो समझता है कि सुख चीज़ों का है इसलिये वह उसे आत्मसुख के रूप में पहचानता नहीं अतः अतृप्त ही रहता है, ज्ञानी सदा तृप्त ही रहता है। उसे समाधि व व्युत्थान दोनों में समान आनंद की स्थिति रहती है, अंतर इतना है कि समाधि में भोग्य रूप बिना धारण किये निखालिस आनंद रहता है और व्युत्थान में भोग्याकार धारण कर आनंद सामने आता है, किंतु आनंद वही है। इस तरह तत्त्वज्ञ की हमेशा आनंदमय स्थिति उसका अत्यधिक वैशिष्ट्य है। ज्ञानी में अज्ञानी से ऐसा कोई फ़र्क़ नहीं आता कि वह रोटी न खाया करे या सर्दी में कपड़े न ओढ़ा करे! फ़र्क़ इतना ही है कि ज्ञानी सर्वत्र परमात्माको ही देखता है जबकि अज्ञानी कहीं भी परमात्माको नहीं देख पाता। विवरणाचार्य ने तत्त्ववेत्ता की समाधि और व्युत्थान दो दशाओं को स्वीकारा है। योगानंद प्रकरण में पंचदशीकार ने काकाक्षि के दृष्टांत से समझाया है कि जैसे कौवे की आँखें दो होने पर भी डोया (पुतली) एक ही होता है, वही जल्दी से दाँयी-बाँयी आँखों में आता-जाता रहकर दोनों से देख लेता है, वैसे तत्त्वज्ञ व्युत्थान दशा में विषयानंद लेते हुए भी आत्मानंद छोड़ता नहीं। यहाँ विवरणोक्त ढंग से वर्णन किया है।।८७।।

आगे श्रुति है 'अथ यत्रैतद् आकाशम् अनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः; अथ यो वेदइदं जिघ्राणीतिस आत्मा, गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि (८.१२.४) अर्थात् जहाँ आँख है वहाँ आत्मा आँख में होने वाला पुरुष बन जाता है, वह रूप देखे इसके लिये आँख करण बन जाती है। जो गंध सूँघना चाहता है वह आत्मा है, वह गंध सूँघे इसके लिये करण है घ्राण। ऐसे ही वाक्, श्रोत्र और मन के लिये भी कहा है। इंद्रियों से मिलकर वही प्रमाता बनता है तथा साक्षी रूप से प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय की त्रिपुटीका भासक रहता है, यह श्रुति बताना चाहती है। इस सन्दर्भ को विस्तार से समझाते हैं **जिसने मोक्ष पा लिया उसके द्वारा समझा गया यह साक्षी सभी इंद्रियों में है यह समझना चाहिये। उस-उस इन्द्रिय से जुड़कर वह साक्षी ही त्रिपुटी को प्रकाशित करता है।।८८।।** निरुपाधिक प्रत्यक्तत्व ही साक्षी है, तत्त्ववेत्ता ने उसीका सही साक्षात्कार प्राप्त किया है। जैसे साक्षी को आँख में बताया था वैसे उसे

भासमाने साक्षितत्त्वे तद्भासा भास्यमिन्द्रियम्।
चक्षुर्वियत्यभिव्याप्य रूपं सर्वं प्रकाशयेत्।।८९।।
द्रष्टाऽहङ्कृत्यवच्छिन्नो दर्शनं चक्षुषः क्रिया।
दृश्यं रूपमियं सर्वा त्रिपुटी भाति साक्षिणि।।९०।।

सब इंद्रियों में समझना चाहिये, यही प्रजापति 'आँख में' कहकर बताना चाहते थे। साक्षीका इंद्रियों से जुड़ना क्या है? वास्तव में यहाँ आत्मा के साक्षी व प्रमाता दोनों रूपों की दृष्टि से वर्णन है। इंद्रियों से जुड़ा रूप प्रमाता है और बिना जुड़े ही त्रिपुटी को प्रकाशित करने वाला साक्षी है। इंद्रियों से 'जुड़ना' भी तादात्म्याध्यास ही है, अन्य कोई सम्बन्ध नहीं। त्रिपुटी अर्थात् प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय का त्रिक। यद्यपि प्रमाता सोपाधिक आत्मा ही है फिर भी उसके उपाधि-बहिर्भूत रूप की दृष्टि से उसे प्रकाश्य-कोटि में रखा जाता है।।८८।।

त्रिपुटी-भासकता स्पष्ट करते हैं **साक्षिरूप सत्य वस्तु सदा प्रकाशमान है। इंद्रियाँ उसीसे प्रकाश ग्रहण कर विषय-प्रकाशन में समर्थ होती हैं। साक्षी से ज्ञानप्रकाश लेकर चक्षु सब जगह फैलकर जहाँ जो रूप है उसे प्रकाशित कर देती है।। ८९।। अहंकारात्मिका वृत्ति से परिसीमित आत्मा द्रष्टारूप प्रमाता है; चक्षु विषय-प्रकाशनार्थ जो क्रिया करती है, वृत्ति बनाती है, वह दर्शन-रूप प्रमाण है; रूप दृश्यात्मक प्रमेय है; यह सारी त्रिपुटी इसीलिये भासमान है कि साक्षी का अखण्ड भान विद्यमान है।।९०।।** चक्षु आदि रूपादि का प्रकाशन करती हैं, यही द्योतित करता है कि प्रत्यग्रूप साक्षी भासमान है अतः विषयानुभवों से आत्मानुसन्धान का संपादन हो जाता है। आपाततः इंद्रियाँ विषयों का प्रकाशन करने वाली लगती हैं, विचार करने से पता चलता है कि प्रकाशन करने वाला आत्मप्रकाश ही है, उसका एक हिस्सा अपने में समेट लेने से प्रतीत होता है कि प्रकाश इंद्रिय का है। जल रखा तो आकाश में ही जाता है पर आकाश के हिस्से को घड़ा समेट लेता है इसलिये लगता है कि घड़ा जल को धारण किये है, ऐसे ही इंद्रियाँ विषयप्रकाशन करने वाली लगती हैं। विवेकी यह रहस्य समझकर सदा आत्मभान का अनुभव करता है; आँख ने देखा, कान ने सुना इत्यादि न सोचते हुए आत्मा प्रकाशमान हैयही अनुभव करता है। आत्मा के प्रकाश्य के रूप में जो त्रिक भासित होता है वह इंद्रियों के सन्दर्भ से द्रष्टा-श्रोता आदि, दर्शन-श्रवण आदि, रूप-शब्द आदि यों नाना प्रकार का हो जाता है, सबको सामान्य रूप से प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय कह देते हैं। प्रमाता तभी प्रमिति प्राप्त कर

साक्षिणो भासकत्वेऽपि रूपगन्धादिभित्तये।
चक्षुर्घ्राणाद्यक्षजातं सर्वसाधारणं मनः।।९१।।
जिघ्राणीममहं गन्धमित्यादि त्रिपुटीमिमाम्।
सदा भासयते साक्षी स एवात्मोत्तमः पुमान्।।९२।।

पाता है जब वह स्वयं साक्षी से प्रकाश्य बना हो। प्रमाता होगा तभी जब बुद्धि अहमाकार वृत्ति बनाये, जब वह वृत्ति नहीं होती, जैसे सुषुप्ति में, तब प्रमाता भी नहीं रह जाता, साक्षी तब भी मौजूद रहता है। साक्षी की सर्वज्ञता रहते हुये ही प्रमाता अल्पज्ञ बना रहता है क्योंकि साक्षी का ज्ञान असीम है जबकि प्रमाता सीमित होकर ही जान सकता है, उसकी सीमा में जितना घिरेगा उतना ही वह जानेगा। साक्षी सर्वज्ञ है पर इससे प्रमाता, अहंकारावच्छिन्न सर्वज्ञ नहीं हो सकता, वह अल्पज्ञ ही रहेगा। सारी आँखों से देखने वाला साक्षी है, एक कार्यकरणसंघात की आँख से देखने वाला प्रमाता है, अतः प्रमाता सर्वज्ञ हो सकता ही नहीं। साक्षी से प्रकाश ग्रहण कर वह ज्ञान और क्रिया में समर्थ होता है। प्रमाता जिसके द्वारा जनता है वह प्रमाण और जिसे जानता है वह प्रमेय। द्रष्टा-रूप प्रमाता दृश्य-रूप प्रमेय को चक्षुर्वृत्तिरूप प्रमाण से जानता है, ऐसे ही श्रोता श्रोत्रवृत्ति से शब्दको, स्प्रष्टा त्वग्वृत्तिसे स्पर्शको जानता है, इसी तरह अन्य वृत्तियाँ समझनी चाहिये। वृत्ति अर्थात् व्यापार, बर्ताव; चक्षु आदि कुछ-न-कुछ बर्ताव करे तभी रूपादिका ज्ञान हो, वही बर्ताव उनकी वृत्ति कही जाती है। वेदांतपरिभाषा आदि में तालाब-नाली-खेत आदि दृष्टांत से त्रिपुटी का चित्रण किया है। सभी त्रिपुटियाँ स्वयं ज्ञानरूप नहीं हैं वरन् ज्ञानरूप आत्मा को घेरने से ही वे तत्तत् ज्ञानों को संभव करती हैं। जैसे घड़ा सिकोरा आदि जगहरूप नहीं, जगह को घेरने से ही वे जलादि-धारण को संभव करते हैं वैसे प्रमाता आदि में भी समझना चाहिये। अतः त्रिपुटी-व्यवहार साक्षी को सिद्ध करता है, साक्षी की ही उपस्थिति में यह सब संपन्न होता है, फिर भी साक्षी कोई प्रवृत्ति नहीं करता।।८९-९०।।

श्रुति ने चक्षु से अतिरिक्त घ्राण, वाक्, श्रोत्र और मन के उपन्यास से भी पूर्वोक्त बात व्यक्त की है यह बताते हैं **सभी को प्रकाशित करने वाला है तो एकमात्र साक्षी ही, फिर भी रूप, गंध आदि विषयों को अलग-अलग कर समझने के लिये चक्षु, घ्राण आदि इन्द्रियों का समूह है। सभी विषयों के प्रकाशन में साधारण रूप से साधन बनने वाला भीतरी करण है मन।।९१।। 'इस गंध को सूँघूँ' इत्यादि आकार से प्रकट होने वाली सर्वानुभवसिद्ध इस त्रिपुटी को जो साक्षी सदा प्रकाशित करता है वही उत्तम पुरुष है।।९२।।** साक्षी प्रकाश में स्वतंत्र है तो इंद्रियों

की अधीनता क्यों? इसका जवाब दिया कि रूपादि तत्तत् विषय के प्रकाशन के लिये चक्षु आदि तत्तत् इंद्रियों का उपयोग है। बिजली ही हवा, रोशनी, ठण्ड, गर्मी देती है पर पंखा, लट्टू, वातानुकूलन यंत्र आदि उपकरणों का प्रयोग करने पर ही; ऐसे ही प्रकाशन में स्वतंत्र साक्षी ही है, विषय-भेद के कारण विभिन्न उपकरणों का प्रयोग अपेक्षित रहता है। रूपादिके ज्ञान के प्रति चक्षु आदि तो असाधारण साधन हैं, मन सभी ज्ञानों के प्रति साधारण साधन है अर्थात् आँख तो रूप को ही देखने के लिये चाहिये, शब्दादि सुनने के लिय नहीं, किन्तु मन रूप-रस-गंध-शब्द-स्पर्श आदि सभी ज्ञानों के लिये चाहिये ही। किंच, चक्षु आदि तो वस्तु का आंशिक ज्ञान ही दे पाते हैं, उन सबको मिलाकर वस्तु का ज्ञान मन करता है। आँख से गोल, पीला पता लगेगा, जीभ से मीठा पता लगेगा, घ्राण से बेसन-घी की गंध आयेगी, स्पर्श से कोमल चिपके हुए दाने पता चलेंगे; इन सबको मिलाकर मन ज्ञान करायेगा कि 'यह लड्डू है।' चीज़ों के व्यवहारोपयोगी ज्ञान के लिये पहले हुए अनुभवों के संस्कारों को वर्तमान अनुभव से मिलाना पड़ता है जिसके लिये मन आवश्यक है क्योंकि उस अनुसंधान को वही कर सकता है। सामने पड़ी वस्तु के बारे में लोग पूछते हैं 'यह क्या है?' ऐसा नहीं कि वे अंधे हैं! दीख तो उन्हें रहा है लेकिन पहले देखी किसी चीज़ के सर्वथा समान न होने से वे उसके नाम, सामर्थ्य, उपयोग आदि को नहीं समझ पा रहे इसलिये उन्हीं जानकारियों के लिये प्रश्न कर रहे हैं। इससे पता चलता है कि व्यवहार-स्तर पर जिसे हम पदार्थ की जानकारी कहते हैं उसके लिये इंद्रियों से अतिरिक्त मन की भी आवश्यकता है। मन जानेगा प्रमाणों से और पूर्वार्जित संस्कारों का ताल-मेल बैठाने से।

बाह्य ही नहीं, आत्मवस्तु के बारे में भी यही बात है। आत्मा है, मैं हूँयह हमें मालूम ही है, इसके लिये शास्त्रादि कुछ नहीं चाहिये। पर मैं क्या हूँ?यह नहीं मालूम, इसीलिये कभी स्वयं को शरीर से एक करके 'मैं मोटा, मैं लंबा' समझते हैं, कभी इंदिय्रों से एक करके 'मैं अंधा, मैं लंगड़ा' समझते हैं, कभी प्राणों से एक करके 'मैं भूखा, मैं प्यासा' समझते हैं, कभी मन से एक कर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' समझते हैं। निश्चित कर नहीं जानते कि मैं क्या हूँ, मेरा वास्तव स्वरूप क्या है, इसी को जानने के लिये शास्त्र की शरण लेनी पड़ती है, वही महावाक्य से बताता है कि मैं वस्तुतः ब्रह्म हूँ; ब्रह्मसारे जगत् को सृष्टि-स्थिति-लय करने वाला! अपने बारे में हमारी अब तक की जानकारी से यह बात बिलकुल तालमेल नहीं खाती इसीलिये प्रश्न होता है कि मैं जगत्का कारण कैसे हो सकता हूँ? तब पदार्थ-शोधन की ज़रूरत पड़ती है कि शास्त्र उपाधियाँ छोड़कर जो चिदंश है

उसका अभेद बता रहा है। यह अकेले शास्त्र से नहीं समझ आयेगा, इसके लिये मन का प्रयास अनिवार्य है। इसलिये मनको साधारण साधन कहा। विषय-ग्रहण की इच्छा जिसे होती है, जो प्रयासपूर्वक विषय ग्रहण करता है वह ज्ञान-कर्त्ता अर्थात् प्रमाता है, जिस चीज़ को जानना चाहता है, यत्नपूर्वक जिसे जानता है वह प्रमेय है तथा इच्छा से प्रेरित होकर प्रमा पाने के लिये जो उसका इंद्रिय-व्यापार है वह प्रमाण हैयों सप्रयास प्राप्त ज्ञान-स्थल में त्रिपुटी स्पष्ट हो जाती है। सभी ज्ञान-स्थलों में त्रिपुटी होती है लेकिन जहाँ ज्ञान 'हो' जाता है वहाँ स्पष्टतः त्रिपुटी नहीं मिलती, जहाँ पहले इच्छा हो वहाँ स्पष्ट होती है क्योंकि इच्छा-पूर्वक प्रयत्न करने वाला कर्ता, उसका प्रयत्न करण तथा फलये क्रमशः मिलते हैं, इसलिये यहाँ इस तरह कहा। त्रिपुटी बताना इसलिये है कि यह समझ आये कि वह आत्मप्रकाश्य है, आत्मरूप प्रकाश से ही उसकी सत्ता-स्फूर्ति है। प्रमाण-प्रमेय की अपेक्षा भी प्रमाता की साक्षिभास्यता समझना ज़्यादा ज़रूरी है क्योंकि उसीसे त्वमर्थ-शोधन होता है। 'मैं गंध सूँघ रहा हूँ' इतना प्रमाता का अनुभव है पर इस तथ्य को जो जानता है वह साक्षी है। इसलिये प्रमाता के लिये तो अच्छी-बुरी गंधका फर्क़ है लेकिन साक्षी के लिये कोई अंतर नहीं है; प्रमाता चाहे सुगंधज्ञानवान् हो या दुर्गन्धज्ञानवान्, साक्षी के सम्मुख जो साक्ष्य रहता है वह प्रमाता का ज्ञानमात्र है, उसके विषयभूत दुर्गन्धि या सुगंधि साक्षी के सामने नहीं आते। यद्यपि त्रिपुटी को प्रकाशित करने से विषय भी साक्षी द्वारा प्रकाश्य है तथापि विषय और साक्षीके बीच प्रमाता का व्यवधान रहता है जिससे विषय का प्रभाव प्रमाता तक ही आता है, साक्षी तक नहीं पहुँचता। त्रिपुटी को इकट्ठे प्रकाशित करना साक्षीकी विशेषता है। जाग्रत् व स्वप्न में त्रिपुटी रहती है एवं साक्षी से प्रकाशित रहती है, सुषुप्ति में त्रिपुटी नहीं केवल अज्ञान रहता है तो साक्षी द्वारा वही प्रकाश्य होता है। जिस प्रकार रोशनी के सामने भीड़ हो तो उसे और न हो तो उसे रोशनी तो एक-समान प्रकाशित करती हैभीड़ नहीं यह बात भी रोशनी में ही दीखती हैवैसे साक्षी स्वयं सदा भासमान है, त्रिपुटी सामने आये तो उसे और त्रिपुटी न रहने पर अकेले अज्ञान को वह प्रकाशित कर देता है। यह साक्षी ही पूर्ववर्णित उत्तम पुरुष है जिसका स्वरूप प्रजापति इंद्र को समझा रहे हैं।।६१-२।।

गंध आदि का घ्राणादि से ग्रहण करता है किंतु मन से ऐसी भी चीजें विषय हो जाती हैं जो इंद्रियों से पता नहीं चल सकतीं इसलिये श्रुति ने मनको 'दैवं चक्षुः' (८.१२.५) कहा। इंद्रियाँ वर्तमान को ग्रहण करती हैं, मन त्रिकालके विषय उपलब्ध कर लेता है;

मनोऽस्य दैवं चक्षुः स्यात् कालत्रयविभासनात्।
तेन भुङ्क्ते ब्रह्मलोकस्थितान् कामान् निजात्मनि।।६३।।

इतना ही नहीं, जब मनमें आये सब दोष दूर हो जाते हैं तब वह सूक्ष्म और छिपी चीजों को भी समझ लेता है। मन की इस महत्ताको व्यक्त करते हैं **इस आत्मा का दैव चक्षु मन है जो तीनों कालों को, तीनों कालों की बातों को समझ लेता है। ब्रह्मवेत्ता उस मनके द्वारा ब्रह्मलोक में स्थित काम्य विषयों का अपने आत्मा में ही भोग कर लेता है!।।६३।।** मनकी दैवता स्पष्ट ही है। गणितादि के नियमों से छह महीने बाद के सूर्योदयका निश्चित समय मनसे ही जान लेते हैं, इंद्रियाँ तो उसे भविष्य में ही जान पायेंगी जब वह वर्तमान हो जायेगा। रत्नों के मूल्य, मर्यादाएँ, भावनाएँ, दायित्व आदि असंख्य ऐसे पदार्थ जो कभी इंद्रियग्राह्य नहीं वे सब मनसे ही जाने जाते हैं। स्वयं परमात्म-साक्षात्कार भी मनसे ही होता है। इसकी यह दिव्यता दोषवश सीमित हो जाती है। दोष न रहने पर मन से तत्त्वज्ञ सभी विषयों का भोग कर लेता है। ब्रह्मके ही आलोक से भूत-वर्तमान भावी सारा संसार प्रकाशित है तथा उस ब्रह्मको ही विद्वान् निज आत्मा जान रहा है अतः सारा संसार उसे अपने प्रकाश से ही प्रकाशित उपलब्ध होता है। उसे कहीं जाकर, लोकांतर पहुँचकर भोग नहीं करना पड़ता वरन् समस्त जगत् को स्वयं से ही प्रकाशित जानने से उसका स्वतः सर्वभोग सिद्ध हो जाता है। अज्ञानवश अपने से भिन्न विषय मानकर उनकी कामना के कारण ही वे विषय अनुपलब्ध रहते हैं, कामना ही उन्हें हमसे दूर करती है, जब कामना का मूल अज्ञान ही मिट गया तब संकल्पमात्र से सभी कुछ लभ्य हो जाता है। इसे अन्यत्र छांदोग्य में (८.१) इस प्रकार बताया : शरीरमें छोटे-से हृदयकमल में छोटे-से आकाश का अन्वेषण करो, उसका विज्ञान करोऐसा गुरु ने कहा तो शिष्य ने पूछा कि इतने छोटे आकाश में है क्या जिसे ढूँढें? गुरु ने उत्तर दिया कि जितनी जगह बाहर है उतनी ही जगह भीतर है, द्युलोक से भूलोक तक सभी कुछ अंदर ही स्थित है। वह भीतरी आकाश निर्विकार सत्य है, आत्मा है, उसे जानने वालों का सर्वत्र कामचार अर्थात् स्वातंत्र्य हो जाता है। वह यदि पितृलोक चाहे तो पितर उसके सामने उपस्थित होते हैं, ऐसे ही माता-भाई-बहन-मित्र-गंधमाल्य-अन्नपान आदि सभी उसकी कामना होते ही उपस्थित हो जाते हैं। परमात्मज्ञान का यह स्वाभाविक प्रभाव है क्योंकि सत्यकाम, सत्यसंकल्प परमात्मा से प्रत्यगात्मा का कोई भेद रह नहीं जाता।।६३।।

उपसंहारः

देवाः सर्वे तमात्मानम् उपास्य प्राप्नुवन्त्यमून् ।
कामाँल्लोकांश्चात्मतत्त्वं बुद्ध्वा सर्वात्मतां जगुः ।।६४ ।।
अन्योऽपि यस्तमात्मानम् अन्विष्य गुरुशास्त्रतः ।
स्वानुभूत्या विजानाति स तानाप्नोति देववत् ।।६५ ।।

द्वादश खण्ड की समाप्ति में श्रुति ने कहा है कि प्रजापति-प्रोक्त आत्मा की उपासना देवता करते हैं अत एव उनकी सारी कामनाएँ पूर्ण रहती हैं। अन्य भी जो इस परमार्थ तत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है वह भी सब लोक पा जाता है, उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। यह बताते हैं **सभी देवता उस आत्मा की उपासनाकर इन सभी काम्य पदार्थों को एवं लोकों को प्राप्त कर लेते हैं। वास्तविक आत्मा को समझकर देवता सर्वात्मा हो गये।।६४।। देवताओं से अन्य भी जो अधिकारी गुरु व शास्त्र से उस आत्मा का अन्वेषण कर स्वानुभूति से उसे जान लेता है वह देवताओं की तरह सब लोकों व काम्यों की प्राप्ति कर लेता है।।६५।।** प्रजापति से समझकर इंद्र देवलोक गया, वहाँ सब देवताओं को उसने उपदेश दिया जिससे आत्मज्ञान पाकर वे सभी कृतकृत्य हो गये। श्रुति ने 'तं वा एतं देवा आत्मानम् उपासते' यों उपासना शब्द का प्रयोग किया है किंतु शालग्राम को विष्णु समझने जैसा कोई ध्यान यहाँ नहीं बता रहे। 'उप' अर्थात् पास; अपने सबसे पास आत्मवस्तु ही है; उस ब्रह्मरूप आत्मासे एक होकर रहना यहाँ उपासना का अर्थ है। अज्ञानदशा में ब्रह्मसे खुद को भिन्न समझते हैं, वह नासमझी समाप्त होकर जो स्वाभाविक एकता है उसका स्फुरण रहना ही सर्वलोक-प्राप्ति का उपाय बताया जा रहा है। इस स्थिति को उपासना कहा क्यों? उपासना की समानता से कहा है : उपासना में उपास्य से प्रेम होने के कारण तदाकार वृत्ति बनायी जाती है। लोक में भी प्रिय व्यक्ति पर स्वतः ध्यान एकाग्र रहता है, वह मौज़ूद नहीं है तो उसके बारे में विचार आते रहते हैं और उपस्थित है तो अन्यों की तरफ न देखकर बेबस हो उसी पर नज़र जा टिकती है। ऐसे ही अपने परमार्थ आत्मासे असीम प्रेम होने के कारण तत्त्वज्ञ की दृष्टि निरंतर उसी पर रहती है। प्रारब्ध के वेग से क्षणभर को यदि डिगे भी तो तुरंत पुनः उसी पर स्थिर हो जाती है। इस प्रकार प्रेमवश एकाग्रता की समानता से उपासना शब्द का प्रयोग किया है।

शंका हो सकती है कि अत्यंत महत्त्वशाली देवता भले ही परमात्म-साक्षात्कार पा लें, मन्दप्रज्ञ अल्पायु मनुष्य इसे नहीं प्राप्त कर सकते होंगे? इसके समाधान में श्रुति ने

प्रजापतिरुवाचैवम् इन्द्रायेत्थं पुनः पुनः।
एकाधिकं वर्षशतं सेवित्वासौ च लब्धवान्।।६६।।

सामान्य रूप से कहा कि जो कोई भी आत्मसाक्षात्कार पाता है उसे यही फल मिल जाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि सभी को आत्मज्ञान और उसका फल मिलना संभव है। जैसे इंद्र ने गुरु से सीखा वैसे जो भी इसे समझेगा वह गुरु से सुनकर ही समझ पायेगा, शास्त्र के श्रवण से ही ज्ञान प्राप्त करेगा। आत्मा का 'अन्वेषण' इसलिये कहा कि आत्मा मौजूद किंतु छिपी चीज़ है, ऐसी वस्तु का ही अन्वेषण होता है, उसे ढूँढा जाता है। आत्मा जैसे है वैसा उसे समझना है, उसमें कोई हेर-फेर नहीं करनी है। अन्वेषण के लिये आवश्यक है तद्विषयक पूर्वार्जित ज्ञान ग्रहण कर प्रयोग में लाना, अतः शास्त्र तथा प्रयोग में लाने का तरीका बताने वाले गुरु की आवश्यकता पड़ती है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के विचार से प्रजापति ने इंद्र को समझाया, अन्य भी जो समझना चाहे उसे इसी ढंग से खुद विचार करना पड़ेगा। इस प्रकार यह विद्या सब जीवों के लिये उपलब्ध है, इसे पाकर सारे लोकों की प्राप्ति और सारी कामनाओं की पूर्ति की जा सकती है।।६४-५।।

कथा समाप्त करते हैं **इस प्रकार प्रजापति ने बार-बार इन्द्र को आत्मतत्त्व समझाया एवं एक-सौ-एक वर्ष तक गुरुसेवा कर इन्द्र ने आत्मज्ञान प्राप्त किया।।६६।।** शास्त्र की कथाएँ आधुनिक अकबर-जहाँगीर के युद्धों के वर्णनों की तरह निष्प्रोजन सूचनाएँ नहीं हैं वरन् पुरुषार्थ पाने के लिये प्रवृत्त करने वाली हैं। प्रजापति के उपदेश की कथा भी सब मुमुक्षुओं को आत्मबोध के लिये प्रेरित ही करती है। श्वेतकेतु को नौ बार, इंद्र को चार बार समझना पड़ा, इससे स्वयं धैर्य रखना चाहिये, दो-चार बार सुनकर न समझ आये तो प्रयास छोड़ नहीं देना चाहिये। विरोचन की तरह मनन न करने से ग़लत ज्ञान होता है अतः साधक को श्रवण से अतिरिक्त मनन भी करना चाहिये। मनन में जो विरोध सामने आयें उन्हें गुरु के सामने रखने में संकोच नहीं करना चाहिये जैसे इंद्र ने स्पष्ट कहा 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि'। प्रसिद्ध है कि सौ वर्ष पूर्ण आयु होती है। इंद्र ने एक सौ एक साल साधना में बितायेइसका अभिप्राय है कि यावज्जीवन इस कार्य में लगने को तैयार रहना चाहिये। गुरु की सेवा में तत्पर रहने से सुनने समझने का मौका ज़्यादा मिलता है अतः उसका महत्त्व भी कथा से प्रकट होता है।।६६।।

आख्यायिक का प्रयोजन ही स्पष्ट करते हैं **विद्या प्राप्ति में रुकावट डालने वाला पाप गुरु-शुश्रूषा से मिटता है तथा विद्या मिल जाती हैइस बात में इन्द्र**

आख्यायिकार्थः

गुरुशुश्रूषया पापं विद्यायाः प्रतिबन्धकम्।
अपैति विद्या लब्धा स्याद् इत्यत्रेन्द्रो निदर्शनम्।।६७।।
सर्वज्ञेनोपदिष्टाऽपि प्रतिबन्धक्षयं विना।
न लभ्यतेऽत्र दृष्टान्तो विरोचन उदीरितः।।६८ ।।
गुरुः कारुणिको भूत्वा सोढ्वाऽऽयासं पुनः पुनः।
प्रजापतिरिव प्राप्तान् अनुगृह्णीत सर्वथा।।६६।।

उदाहरण है।।६७।। यदि रुकावट दूर न की जाये तो सर्वज्ञ गुरु द्वारा उपदेश दिये जाने पर भी विद्या नहीं मिलतीइस बात में विरोचन दृष्टान्त है।।६८।। गुरु के लिये भी निर्देश है कि प्रजापतिकी तरह करुणावान् होकर, बारम्बार आयास सहन करके भी न्यायप्राप्त सच्छिष्य पर अनुग्रह कर उसे अविद्यासागर में डूबने से बचा ले।।६६।। पाप रहते आत्मवस्तु समझ नहीं आती, शब्द तो पता चलते हैं पर उनका अर्थ अनुभव में नहीं उतरता, दृढ निश्चय नहीं हो पाता। गुरुसेवा से पाप मिटते हैं यह शास्त्र-सिद्ध है। जिनके ज्ञान में रुकावट डालने वाले पाप हैं ही नहीं उन्हें तो एक ही बार के उपदेश से ज्ञान हो जाता है जैसे सनत्कुमारों को चिन्मुद्रा देखते ही हो गया था। अतः गुरुसेवा साक्षात् ज्ञान के लिये नहीं वरन् प्रतिबंधक पाप दूर करने के लिये चाहिये। कारण-सामग्री रहने पर भी जो कार्य को पैदा न होने दे वह प्रतिबंधक या रुकावट कहलाता है। आत्मा वस्तु प्राप्त है, शास्त्र निर्दुष्ट प्रमाण है, उसके श्रवण से जानकारी मिल भी जाती है, फिर भी अज्ञान नहीं मिटता इसमें हेतु पापरूप प्रतिबंधक है जो गुरुसेवा से दूर होता है। गुरुसेवा ज्ञान में सहायक है यह जैसे इंद्र के दृष्टांत में मिलता है वैसे गुरुसेवा की कमी ज्ञान न होने देने में हेतु है यह विरोचन के हाल से पता चलता है। गुरु एक ही थे, उपदेश एक ही दिया। विरोचन विपरीत ही समझकर पुरुषार्थ से वंचित रह गया क्योंकि पूरी सेवा कर उसने पाप दूर नहीं कर लिया था। जीवन्मुक्त गुरु करुणा से प्रेरित होकर शिष्य को उपदेश देता है, अन्य किसी हेतु से नहीं। अत एव वह बार-बार समझाने से पीछे नहीं हटता, वह टालता नहीं, थकान नहीं महसूस करता। निर्वृत्तिक समाधिदशा का आनंद छोड़कर शिष्यादि बाह्य विषयों की दृष्टि बनाना उसके लिये काफी आयास है, मेहनत है, फिर भी अनुग्रह करने के लिये वह उसे सहन करता ही है यह ब्रह्मा जी ने पुनः पुनः उपदेश द्वारा सूचित किया है। एक बार समझा दिया, शिष्य नहीं समझा तो सद्गुरु अन्य ढंग से समझाता है, उपेक्षा नहीं कर देता। ऐसा भी

प्रजापतेरियं विद्या कथिताऽनुग्रहाद् गुरोः ।
सच्छिष्यान् अनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ।।१०० ।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिकृतेऽनुभूतिप्रकाशे छान्दोग्ये प्रजापतिविद्याप्रकाशो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।।

नहीं कि नगर-नगर डगर-डगर घूमकर उपेदश दिया करे! वरन् जो मुमुक्षु उसके पास आये, साधना करे, उसे अवश्य ज्ञान कराना चाहिये। इस प्रकार इंद्र, विरोचन, प्रजापतितीनों के उदाहरणों का अभिप्राय स्पष्ट किया।।९७-९।।

इस अध्याय को पूरा करते हैं **गुरु के अनुग्रह का ही फल है कि प्रजापति-प्रोक्त इस विद्या का मैंने वर्णन किया। शिवस्वरूप श्रीविद्यातीर्थ-नामक गुरुवर सच्छिष्यों पर कृपा करते रहें।।१००।।** विद्यारण्य स्वामी मानते हैं कि उन्होंने विद्या गुरुकृपा से ही पायी और उसका समीचीन व्याख्यान करने में भी उसीसे समर्थ हुए। उनकी प्रार्थना है कि सभी यत्नशील आज्ञाकारी शिष्यों पर गुरुदेव का अनुग्रह हमेशा बना रहे।।१००।।

।। पाँचवाँ अध्याय ।।

ॐ

मुण्डकोपनिषद्विवरणम्

मुण्डकविद्याप्रकाशः

षष्ठोध्यायः

ब्रह्मविद्यां शौनकाय यामुवाचाङ्गिरा मुनिः।
अथर्वणे मुण्डकेऽसौ विशदीकृत्य वक्ष्यते।।१।।

मुण्डकोपनिषत् का विवरण : छठा अध्याय

ऐतरेय, तैत्तिरीय और छान्दोग्य उपनिषदों के व्याख्यान के बाद अब अथर्ववेद की मन्त्रोपनिषत् का विवरण 'चतुर्वेदविद्याप्रकाश' में किया जा रहा है। अथर्ववेदीय शौनक शाखा की इस उपनिषत् का नाम मुण्डकोपनिषत् है। इस नाम में हेतु है कि इसके अध्ययन में उसे ही अधिकारी कहा है जिसने विधिवत् 'शिरोव्रत' का पालन किया हो; शिर और मुण्ड तो पर्याय हैं। सिर पर अग्नि धारण करना शिरोव्रत है ऐसा भगवान् भाष्यकार ने कहा है। सारे शरीर में भस्म का उद्धूलन करनाइस पाशुपतव्रत को भी शिरोव्रत पुराणादि में बताया गया है। भस्म भी अग्नि का कार्य ही है अतः भस्म-धारण भी अग्निधारण ही है! इस व्रत का पालन करने वाला स्वाध्यायविधि से इस उपनिषत् को ग्रहण करने में अधिकारी है। शिरोव्रत ज्ञानांग नहीं है, इस उपनिषत् के विचार से अद्वैत साक्षात्कार पाने के लिये शिरोव्रत के पालन की आवश्यकता नहीं है यह ब्रह्मसूत्र-तृतीयाध्याय में निर्णीत है। इस उपनिषत् में स्पष्ट शब्दों से अपरविद्या अर्थात् कर्मकाण्ड को मोक्ष के लिये अपर्याप्त बताकर संन्याससहित ब्रह्मविद्या ही संसारकारण के उन्मूलन में सक्षम स्थापित की गयी है, इस बात को भाष्यकार ने उपोद्घात में ज़ोर देकर बताया है। वहीं उप-नि-षत् शब्द का भी व्याख्यान किया है कि आत्मज्ञान ही उपनिषत् है क्योंकि जो साधक तत्पर होकर श्रद्धापूर्वक इसका सहारा लेते हैं उनके सब अनर्थों को शिथिल करता है, परब्रह्मकी प्राप्ति कराता है और संसारहेतु अविद्या को नष्ट करता है। ग्रंथ उपचार से उपनिषत् कहलाता है। महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जिसे आयासपूर्वक

चतुर्मुखादिके सम्प्रदाये यो मुनिरङ्गिराः।
उपसद्य यथाशास्त्रम् एतं पप्रच्छ शौनकः।।२।।

सर्वविज्ञानप्रश्नः

एकस्मिन् विदिते सर्वं विज्ञातमिति वैदिकी।
प्रसिद्धिरस्ति तद्वस्तु किं स्याद् निश्चित्य मे वद।।३।।

प्राप्त करें, परमपुरुषार्थ का साधन समझें, उसकी ओर सभी का आकर्षण लोकसिद्ध है। इसलिये साधकों को उत्साह से प्रवृत्त करने के प्रयोजन से इस उपनिषत् में ज्ञानपरम्परा के महान् आचार्यों का उल्लेख किया है। वही संदर्भ उपस्थित करते हैं **अथर्ववेद की मुण्डक उपनिषत् में अंगिरा मुनि ने शौनक को जो ब्रह्मविद्या समझाई, उसे विस्तार से स्पष्ट करते हुए बतायेंगे।।१।।** उपनिषत् में कहा है कि सारे जगत् के रचयिता और पालक ब्रह्मा जी ने अपने बड़े लड़के अथर्व को ब्रह्मविद्या पढ़ाई जिसने अंगिर् को उसका उपदेश दिया। अंगिर् का शिष्य सत्यवह और उसका शिष्य अंगिरस् हुआ। शौनक ने इन अंगिरस् से ही आत्मज्ञान प्राप्त किया। इस महान् परंपरा में विकसित विद्या का व्याख्यान करने के लिये प्रवृत्त विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ 'विशदीकरण' की प्रतिज्ञा की है जिससे मुंडकोपनिषत् के गांभीर्य का परिचय मिलता है। इस अध्याय में प्रायः सारी उपनिषत् का वर्णन है, जैसा ऐतरेयविवरण में था; तैत्तिरीय, छान्दोग्य आदि की तरह कोई प्रसंग छोड़ा नहीं है।।१।।

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुं.१.१.३) इस प्रसिद्ध प्रश्न से यह उपनिषत् प्रारंभ हुई है। इसका उपन्यास करते हैं **चार मुँह वाले ब्रह्माजी से प्रारम्भ हुए संप्रदाय में आये अंगिरा मुनि के निकट जाकर शौनक ने शास्त्रोक्त शिष्योचित प्रकार से प्रश्न किया।।२।। 'वेदोक्त प्रसिद्धि है कि एक को जाननेसे सब पता चल जाता है। मुझे उस 'एक' वस्तु की पहचान कराने की कृपा करें'।।३।।** वेद और वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञान का यह आश्चर्यमय महत्त्व बताते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान सर्वज्ञता का हेतु है। ब्रह्म जान लिया जाये तो फिर कुछ ऐसा नहीं बचता जो जान न लिया गया हो! छांदोग्य में आरुणि ने श्वेतकेतु को इसी प्रश्न से चमत्कृत किया है। यहाँ शौनक उसी एक वस्तु के बारे में पूछ रहा है जिसे जानने पर सब कुछ विज्ञात हो जायेगा। 'निश्चित्य' इसलिये कहा कि वेद तो शौनक ने भी पढ़ा ही था किन्तु उन्हें ब्रह्म के जो वर्णन मिले उनमें प्राण, प्रज्ञा आदि विविध उपाधियों का उल्लेख भी किया था और वे उन उपाधियों से रहित जो ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है उसे समझना

चाहते थे। परमात्मा का उपदेश करने में यह कठिनाई अनिवार्य है कि वह साक्षात् तो मन-वाणी का अविषय है अतः उपाधि का सहारा लेकर ही उपदेश हो सकता है और तब उपाधि एवं उपधेय को पृथक्-पृथक् करना मुश्किल होता है। जो है तो मन-वाणी से परे, उसे समझना मन-वाणी से ही पड़ेगा अतः कठिनता होती ही है। द्वितीया को चंद्रदर्शन का विधान है, उस दिन चंदमा का अत्यंत सूक्ष्म आयाम और वह भी थोड़े ही समय तक दीखता है तथा अंगुली से चंद्र की ओर इशारा कर चंद्रदर्शन कराने की भी मनाही है। लोक में भी बड़ों की तरफ अंगुली से इशारा करना अभद्र माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में जिसने चाँद देख लिया वह जब दूसरे को दिखाने की कोशिश करता है तब किसी पेड़ की डालियों का, ध्वजा का, अट्टालिका का सहारा लेता है कि 'आम की दाँयी तरफ वाली नीचे झुकी डाली की नोक पर देखो' या 'मंदिर का झंडा जिस दिशा में लहरा रहा है वहाँ देखो' आदि। उधर नज़र टिकाने पर चंद्रदर्शन हो भी जाता है। अथवा अरुंधती तारा का दर्शन कराने के लिये स्थूल तारों पर दृष्टि स्थिर कराते हैं तब अरुंधती भी दीख जाती हैं। स्थूल वस्तु भी दूर से समझानी हो तो ऐसा करना पड़ता है : गली के मुहाने से बताना हो कि गली में अमुक मकान देवदत्त का है तो उस मकान के सामने खड़ी भैंस या गाड़ी आदि किसी अन्य चीज़ का सहारा लेते हैं कि जिस घर के सामने भैंस खड़ी है वह देवदत्त का मकान है। इसी तरह आत्मा को समझाने के लिये प्राण, दक्षिण नेत्र आदि अनेक सहारों का शास्त्र में उपयोग किया है। ये सहारे आत्मा नहीं है फिर भी इन्हें समझने पर ही आत्मा का पता चलता है जैसे डाली, झंडा, भैंस आदि देखने से ही चाँद या घर का पता चलता है। चाँद दीख जाने के बाद तो डाली आदि का उपयोग नहीं पर देखने-दिखाने के लिये उपयोग है ही। अतः डाली आदि का नियम नहीं कर सकते कि हमेशा डाली की नोक पर देखने से ही चंद्र दीखा करे या भैंस से ही देवदत्त का घर समझाया जा सके इत्यादि। जब जिसे जिस ढंग से समझ आये तब उसे उसी ढंग से बताना पड़ता है। इसलिये वेद ने बहुत-सी उपाधियों का तत्र-तत्र सहारा लिया, किसी एक उपाधिका आग्रह नहीं रखा, ताकि स्पष्ट रहे कि तात्पर्य उपाधि में नहीं वरन् उस परमात्मा में है जिसे समझाया जा रहा है। फिर भी साधक कई बार उपाधि में अटक जाता है, उसीको महत्त्वपूर्ण मान लेता है या उपाधि को उपधेय का अविभाज्य हिस्सा समझ लेता है। इस भ्रम से बचने के लिये ही शौनक ने कहा कि निश्चय कर, विविक्तकर, असंकीर्णरूप से मुझे उस एक चीज़ को समझाइये जिसे जानना सर्वज्ञ बनाता है।।२-३।।

परापरविद्ये

शृणु विद्ये उभे तावद् वेदितव्ये परापरे।
पृष्टं वस्तु तयोर्मध्ये गम्यते परविद्यया।।४।।
षडङ्गसहिता वेदा विज्ञायन्ते यया धिया।
सा धीरपरविद्या स्याद् ब्रह्मधीस्तु परा मता।।५।।

इस गंभीर प्रश्न का सीधे ही जवाब न देकर अंगिरा ने भूमिका बाँधी कि जानने योग्य दो विद्याएँ हैं, उनमें जो परा विद्या है वही उस 'अक्षर' को समझने का उपाय है जिसे जानने से सब ज्ञात होता है। नौवें श्लोक तक यह व्यक्त करते हैं **(अंगिरा मुनि ने उत्तर दिया)सुनोः परा और अपरा दो विद्यायें हैं और इन्हें समझना भी चाहिये लेकिन तुमने जिसके बारे में पूछा है वह परा विद्या से ही पता चल सकता है।।४।।** यद्यपि अपरा के उपन्यास की ज़रूरत नहीं थी तथापि परा की अधिगति के लिये त्याज्यरूप से तथा परा में अधिकार पाने के लिये अनुष्ठेयों के ज्ञान के लिये अपरा को जानना ज़रूरी है। पूर्वार्जित पुण्यवश यदि कोई निसर्गतः ही परा विद्या में प्रवृत्त होता है, उसे समझ लेता है, तो उसे अपरा से कोई सरोकार नहीं लेकिन जो परा में अधिकारी नहीं उसे वह अधिकार पाने के लिये अपरा का सहारा लेना ही पड़ेगा। परा भी वैदिक विद्या है अतः उसमें अधिकार के निश्चित साधन हैं जो वेदादि से मालूम चलते हैं। कुछ आधुनिक चिंतक औपनिषद दर्शन का आदर करने पर भी उसे समझने की योग्यता पाने के साधनों का आदर नहीं करते, उनमें मनमानी करते हैं; यह प्रवृत्ति ग़लत है। वेदोक्त साधनों से ही वह अधिकार मिलता है जिससे वेदांत हृदयंगम होता है। अतः हालाँकि भाष्यकार ने अपरा को अविद्या अतः निराकरणयोग्य कहा है तथापि जहाँ साधनोंका प्रसंग आता है वहाँ वे वैदिक कर्म-उपासना का ही विधान करते हैं। अतः श्रुति ने अपरा के वर्णन से प्रारंभ किया ताकि जो अधिकार पाना चाहे उसे उपाय भी पता चल जाये।।४।।

अपरा और परा विद्याओं का परिचय देते हैं **छहों अंगों सहित वेद जिससे समझे जाते हैं वह बुद्धि अपरा विद्या है जबकि ब्रह्माकार बुद्धि परा विद्या है।।५।।** वेद को सही तरह समझा जा सके इसके लिये आवश्यक जानकारी देने वाले छह शास्त्र वेद के अंग हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषये छह अंग हैं। इन छहों सहित चारों वेद पढ़ने पर वेद का अर्थ पता चलता है। जिस बुद्धि या अध्ययन द्वारा वेद और वेदार्थ समझा जाये वह अपरा विद्या है। जिस ज्ञान से ब्रह्मात्मता

समझी जाये वह परा विद्या है। ग्रंथों को उपचार से विद्या कहते हैं, अर्थात् उक्त ज्ञान देते हैं इसलिये उन ग्रंथों को भी विद्या कहते हैं। आजकल कुछ लोग ब्रह्मज्ञान को तो परा विद्या मान लेते हैं किन्तु अपरामें सांसारिक वार्ताओं को समेटना चाहते हैं पर स्वयं उपनिषत् ने अपरा का परिगणन कर दिया है अतः सांसारिक विषयों की जानकारी को अपरा विद्या नहीं कह सकते।।५।।

प्रश्न होता है कि वेद जब अपरा में गिन लिये तब उन्हीं के अंश होने से उपनिषदें भी गिन ही ली गयीं, फिर परा में क्या ग्रहण किया जायेगा? यदि वेद से बहिर्भूत कोई शास्त्र परा में गिनें तो मनु के अनुरोधसे परा को निष्फल मानना पड़ेगा! मनुस्मृति में कहा है

'या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः।।'

तम में, अज्ञानान्धकार में स्थित होने से वेदबाह्य विचार इहलोक में चाहे सफल लगें, परलोक में इनका कोई सत्प्रभाव नहीं होता। आधुनिक विज्ञान, तकनीक इत्यादि का चाहे जितना विकास हो, उसका फल इस जीवन तक ही सीमित है, मरकर जाते समय न तकनीक और न विज्ञान कोई लाभ देगा! सांसारिक प्रगति भले ही की जायेमनुष्य को सक्षम मानस मिला है तो उसका प्रयोग भी वह करेगा हीलेकिन यह भी याद रखना चाहिये कि आखिर मरना भी पड़ेगा ही, उसके बाद काम आये ऐसा भी उपाय करना चाहिये। लोग यहीं तक सोचते हैं कि 'ऐसा नहीं किया तो रोटी कहाँ से आयेगी', यहाँ तक नहीं पहुँचते कि 'ऐसा कर लिया तो मर कर किस नरक में जाऊँगा?' लौकिक विद्या के उपयोग के साथ उसकी सीमा को भी देखना चाहिये जिससे परलोक सुधारने में ढील न बरती जाये। सेवानिवृत्ति के बाद पैंतीस-चालीस साल का जीवन बचता है, उसके लिये नौकरी के समय से ही व्यवस्था शुरू कर देते हैं, किन्तु मरने के बाद न जाने कब फिर मानव जीवन मिलेगा, पर उस दीर्घकाल के लिये कोई व्यवस्था करने की नहीं सोचते बल्कि विविध पापों से मरकर दुःख भोगने की ही व्यवस्था करते हैं। मरकर स्वर्गादि जाने के लिये जैसे सत्कर्म वेद से पता चलते हैं वैसे संसार से छूटने का उपाय भी वेद से ही पता चलता है। प्रश्न यह है कि कर्मकाण्ड हो या ज्ञानकाण्ड, वेद में दोनों का ग्रहण हो गया तो अपरा अर्थात् वेद से अतिरिक्त परा क्या विद्या है और वह श्रद्धेय कैसे है? भाष्यकार ने इसका उत्तर दिया है कि अपरा में शब्दराशि कही गयी है जबकि परा है

उपनीतेन विज्ञेया वेदाः सर्वे न तावता।
ब्रह्मधीः किन्तु वैराग्ये स्याद् आचार्योपदेशतः।।६।।
वैदिक्यप्यधिकारस्य भेदाद् उक्ता पृथक् परा।
विप्राः परिव्राजकाश्च तिष्ठन्तीति यथा तथा।।७।।

वेद्य-विषयक विज्ञान। किंतु विद्यारण्य स्वामी उक्त प्रश्न का उत्तर यों देते हैं **यह ठीक है कि जिसका उपनयन-संस्कार हो गया उसे सारे वेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये लेकिन उपनीत हो जाने मात्र से परमात्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। वैराग्यादि साधनों से संपन्न होने पर ही श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के उपदेश से ब्रह्मज्ञान होता है।।६।। इसलिये, हालाँकि परा विद्या वैदिक ही है फिर भी अन्य वैदिक ज्ञान पाने की योग्यता की अपेक्षा इस ज्ञान को पाने की योग्यता अलग है इसलिये परा को अपरा से अलग गिना। इस प्रकार से कहने में प्रसिद्ध उदाहरण है 'ब्राह्मण और संन्यासी खड़े हैं'।।७।।** उपनयन, जनेऊ संस्कार का प्रयोजन है कि वेद पढ़ा जाये। जिसका उपनयन नहीं हुआ वह वेद पढ़ने के अयोग्य है। अगर पढ़ भी लेता है तो वेदाध्ययन के फल को नहीं प्राप्त कर सकता। फल मिलने में न केवल क्रिया वरन् अधिकार या योग्यता भी हेतु पड़ती है। दसवीं उत्तीर्ण बिना किये यदि हठात् बारहवीं की परीक्षा देकर उत्तीर्ण हो जाये तो भी छात्र को बारहवीं उत्तीर्ण करने का फल नहीं मिलेगा, न प्रमाणपत्र मिलेगा न आगे कहीं प्रवेश मिलेगा। ऐसे ही अनधिकारी वेद याद कर ले तो भी उसे वेदाध्ययन का फल नहीं मिलता। उपनयन के बाद गुरु के पास रहकर वेद-वेदांग पढ़कर फिर वेद के अर्थ को जानने का प्रयास करना पड़ता है। वेदभाग उपनिषदों को समझने के लिये वेद में ही खास प्रावधान कर दिया है कि उपनयन हो जाने मात्र से उपनिषदों की शब्दराशि और शाब्दिक ज्ञान भले ही पाया जा सके लेकिन उपनिषदों के तात्पर्य के अवगम के लिये विवेक, वैराग्य, शमादि षट्क और मुमुक्षा इन साधनों से संपन्न होना ज़रूरी है। इन साधनों के बिना बाकी वेद का अर्थ पता चल सकता है पर उपनिषदों का अभिप्रेतार्थ नहीं पता चलता। ऊहापोह में कुशल व्यक्ति उपनिषदों के बारे में काफी विचार कर ले तो भी उपनिषदों के अर्थ के ज्ञान का फल जो अविद्यानिवृत्ति, उससे वह तब तक वंचित ही रहता है जब तक साधन-संपन्न न हो जाये। शास्त्रवार्ता में कुशल होकर भोग-लाभ तो हो सकता है, मोक्षलाभ नहीं हो सकता। विद्यारण्य स्वामी ने साधनों का प्रतिनिधि वैराग्य रखा है, सभी साधन विवक्षित हैं। 'तपसो वाऽप्यलिङ्गात्' (३.२.४)

आदि में संन्यासका वैशिष्ट्य बताना है इसलिये यहाँ वैराग्य का ग्रहण है। वैराग्यादि योग्यता न होने से ही अध्ययन करने पर भी औपनिषद आत्मज्ञान नहीं हो पाता। अविरक्त को हमेशा यह प्रश्न दुःख देता है 'इससे मुझे क्या चीज़ मिलेगी?' ब्रह्मज्ञान से काम्य विषय तो मिलेंगे नहीं अतः उस पर मन जमता नहीं। किं च, अन्य विद्या समझकर उससे कुछ किया जाता है, यज्ञ करने का ढंग समझ लिया तो यज्ञ कर सकते हो; ब्रह्मविद्या केवल समझी ही जाती है, इससे केवल अज्ञान मिटाया जाता है, किया कुछ नहीं जाता; यह भी एक समस्या सामान्य व्यक्ति को रहती है क्योंकि उसकी आदत है कि समझकर उसको क्रिया में उतारने से फल मिलता है। ज्ञानकाण्ड का यह वैशिष्ट्य बिना वैराग्य के प्रकट नहीं होता। क्योंकि यहाँ करने को कुछ नहीं इसलिये ज्ञान का फल हुआ या नहीं इसे स्वयं ही महसूस करना पड़ता है। अन्य विद्याओं में तो समझे या नहीं इसका पता चल जाता है जब उस विद्या को कार्य में उतारते हो; अभियंता बन गये बिगड़ी मशीन सुधार कर देख लो, सुधार सके तो ठीक पढ़े हो, नहीं सुधार पाये तो ठीक नहीं पढ़े हो। डाक्टरी पढ़ ली तो रोगी का उपचार कर देख लो। यज्ञविधि सीख गये तो यज्ञानुष्ठान कर देख लो। इस प्रकार सभी ज्ञानों का परीक्षण क्रियाओं में हो जाता है किन्तु आत्मविद्या पायी या नहींयह केवल स्वानुभव से ही पता चलता है, यदि अविद्या नहीं प्रतीत हो रही, अविद्याकार्य कर्तृत्वादि नहीं प्रतीत हो रहे तब तो आत्मज्ञान हुआ, यदि अविद्यादि बने रह गये तो अभी आत्मज्ञान नहीं हुआ। क्योंकि स्वयं को ही अनुभव में आता है इसलिये इसे समझने में ही सारा प्रयत्न करना पड़ता है जिसके लिये सक्षम, धैर्यवान् आचार्य अपेक्षित है। अतः वैराग्य और आचार्योपदेश का यहाँ उल्लेख किया। इस प्रकार वेद का एक हिस्सा भले ही हैं फिर भी इनके अभिप्राय के साक्षात्कार के लिये खास योग्यता चाहिये इस दृष्टि से उपनिषदों को अपरा से अलग कर कहा। दण्डी संन्यासी ब्राह्मण ही हो सकते हैं। कहीं ब्राह्मण और दण्डी साधु खड़े हों तो 'ब्राह्मण खड़े हैं' कहना पर्याप्त है फिर भी संन्यासियों की आश्रम-श्रेष्ठता प्रकट करने के लिये जैसे उनका पृथक् उल्लेख कर देते हैं वैसे वेद में आ जाने पर भी विशेष योग्यता की अपेक्षा रखने वाली होने से औपनिषद विद्या को परा के रूप में अलग से कहा। लोक में भी इंजीनियर तो सब बराबर होते हैं फिर भी आई.आई.टी. से जो उत्तीर्ण हुआ हो उसका पृथक् से उल्लेख किया जाता है क्योंकि उसे विशेष योग्य समझा जाता है। ऐसे ही उपनिषदों का महत्त्व अन्य वेदभाग से बहुत ज़्यादा है यह बताने के लिये यहाँ परा को पृथक् कहा। अधिकार अर्थात् फल पाने की योग्यता। ब्रह्मज्ञान का फल

यस्यामपरविद्यायां कर्माण्युक्तानि साधकाः।
कुर्वन्ति कर्मभिः शुद्धिं परविद्यां करोति हि।।८।।

है सब कुछ जान लेना। बिना अधिकार के, ब्रह्म के बारे में चाहे जितनी बातें याद कर लें, सर्वविज्ञानरूप फल नहीं मिलता। जब तक साधन-संपन्न होकर दीर्घकाल तक निरंतर सद्गुरु से श्रवण न करें, स्वयं उस पर मनन न करें, उसी तथ्य पर एकाग्र न हों, तब तक ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, सर्वज्ञता नहीं आती, अविद्या नहीं मिटती, मोक्ष नहीं होता। अननुभूत बात का निश्चय नहीं हुआ करता और निश्चय के बिना अज्ञान दूर नहीं होता। इस प्रकार, समझने की योग्यताओं के अन्तर के कारण सारे वेद में से उपनिषत् को चुनकर परा नाम से अलग कर बताया। सारे वेद में उपनयन हो चुके सबका अधिकार है, उपनिषत् में साधन-चतुष्टयसंपन्न का ही अधिकार है।।६-७।।

शौनक के प्रश्न का उत्तर तो परा विद्या से प्राप्त होगा फिर यहाँ अंगिरा मुनि ने अपरा विद्या का उल्लेख ही क्यों किया? इसका समाधान करते हैं **जिस अपरा विद्या के उत्पादक ग्रंथों में कहे कर्मों का साधक अनुष्ठान करते और अपने चित्त को शुद्ध बनाते हैं, व अपरा विद्या ही शुद्धि के द्वारा परा विद्या को उत्पन्न करने में हेतु बनती है। (अतः उसे परा से पृथक् बताना उचित है)।।८।।** ('यस्याम्' के अनुरोध से 'सा' का अध्याहार करना चाहिये। अपराविद्या ही शुद्धिद्वारा परा विद्या को संभव बनाती है। मृत्तुशास्त्री 'शुद्धिः' ऐसा प्रथमान्त पाठ मानते हैं अर्थात् कर्मों से शुद्धि होती है जो परा विद्या को संभव करती है। किंतु तब 'यस्याम्' अनन्वित रह जाता है।) अपरा साधन है परा तक पहुँचने का अतः उसे बताना ज़रूरी है। बिना साधनों के मन में वह शुद्धि नहीं आती जो परा को धारण होने दे। आजकल भी अनेक लोग प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में स्नान कर सन्ध्या तक नहीं करना चाहते और ब्रह्मविद्या ग्रहण करने की बात करते हैं ! अपरा विद्या साक्षात् मोक्षप्रद नहीं लेकिन मुमुक्षु के लिये उपेक्षणीय भी नहीं यह स्पष्ट करने के लिये अंगिरा ने अपराका बोधन किया। शारीरिक तथा मानस सभी कर्मों को अपरा में बताया है। मानस कर्म उपासना कहे जाते हैं। इन कर्मों के तत्तत् फल भी हैं और ज्ञान पाने के लिये ही इनको किया जाये तो चित्तशुद्धि भी इन सबका फल है। मुमुक्षु इन्हें चित्तशुद्धि के लिये ही करता है। कर्म और ज्ञान का फ़र्क यह है कि जिसे करने से कोई फल मिले वह कर्म है और जिससे सब कुछ मिट जाये, खुद कर्ता-भोक्ता भी मिट जायेवह ब्रह्मज्ञान है। ध्यान करने से शांति मिलती है अतः ध्यान भी कर्म है। कर्म के विधान अपरा विद्या में हैं, ज्ञान पराविद्या में है। शास्त्रीय कर्म अगर

कामना से किये जायें तो भी मन को कुछ-न-कुछ शुद्ध करते ही हैं और जब कामना के बिना मुमुक्षा से प्रेरित होकर किये जायें तब तो चित्त को पूर्णतः निर्दोष बनाकर ज्ञान के योग्य तैयार कर देते हैं। शास्त्रीय कर्म का महत्त्व इसी से है कि वह परा विद्या में प्रवेश का द्वार है। कामना से करो तो भी नित्य नैमित्तिक कर्म करने ही पड़ेंगे, आचार शुद्ध रखना ही पड़ेगा। क्योंकि जो नित्यादि न करे, आचारहीन हो वह काम्यों में भी अधिकारी नहीं रह जाता। जिस प्रकार कहीं की नगरपालिका आदि की सुविधाएँ लेने के लिये वहाँ का वाशिन्दा होन पड़ता है वैसे काम्य कर्मों का लाभ लेने के लिये नित्यादि करते रहना पड़ता है। अतः कामना वाले को बलात् नित्यादि कर्म करने पड़ते हैं। नित्यादि से अन्य फल नहीं मिलता, काम्य में अधिकार बना रहता है। उन्हें काम्य में अधिकार के लिये ही करने पर भी वे स्वरूप से ऐसे हैं कि काफी हद तक चित्त की अशुद्धि दूर करते हैं। इसलिये कामना से भी शास्त्रीय कर्मों को ही करे, अशास्त्रीय कर्मों में ही न लिपटा रहे यह मनुष्य के हित में है क्योंकि अशास्त्रीय तरीकों से कामना तो पूरी हो सकती है पर चित्त की शुद्धि रूप जो अवांतर लाभ है उससे वंचित रहना पड़ता है। अतः परा विद्या के उपदेश में भी बीच-बीच में अपरा की बहुत-सी बातें आती रहती हैं। साधक कदम-कदम चलता है, ऐसा नहीं कि आज तक अपरा का ही अधिकारी था और अगले दिन एकाएक उसका अपरा से कोई सरोकार नहीं रह गया केवल परा का अधिकारी हो गया! प्रारंभ में ज्यादा काम्य करेगा, थोड़े निष्काम कर्म भी कर लेगा; धीरे-धीरे निष्काम बढाता जायेगा, काम्य कम करेगा; इस दशा में उसे परा का परिचय मिलना ज़रूरी क्योंकि जैसे-जैसे परमात्मा के आंनदका पता चलता है वैसे-वैसे संसार के सुखों का आकर्षण घटता है। परमात्माके आनंदका पता चले बिना संसार के सुखों का आकर्षण नहीं घट सकता। इसलिये यद्यपि परा में अधिकार नहीं है तथापि परा को समझने की कोशिश करने से ही साधक अपनी कामना घटाता जा सकता है। जिससे उसे चित्तशुद्धिके लिये ही कर्म करने का मौका अधिकाधिक मिलता जाता है। वेद ने इसीलिये प्रायः दोनों विद्याओं का साथ-साथ वर्णन किया है। जब सर्वथा चित्त शुद्ध हो चुका तबके लिये भी वेद में प्रसंग हैं जहाँ केवल परमात्मा का वर्णन है लेकिन ज़्यादातर प्रसंग इस तरह चलते हैं कि कोई कर्म कहा, फिर परमात्मा की बात आयी, कर्मों में आने वाले मंत्रों में भी परमात्मा की बातें आ जाती हैं, पुनः कर्म के बारे में बताया इत्यादि। ऐसा इसीलिये कि कर्म करते हुए भी व्यक्ति परमात्मा की तरफ़ उन्मुख होता रहे ताकि उसे सिर्फ़ परमात्मा को पाने की इच्छा हो सके। जब वह इच्छा हो गयी तब तो अपराविद्या के क्षेत्र

से बाहर आकर संन्यासी सिर्फ़ परा विद्या का अधिकारी बन जायेगा किन्तु जब तक यह शुद्धि नहीं आयी, जब तक 'परमात्मा तो चाहिये लेकिन अमुक-अमुक सांसारिक चीज़ें भी चाहिये' की स्थिति है तब तक अपरा का अनुसरण करना ही मुमुक्षु के लिये हितकर है, आवश्यक है। जैसे पेट का मल हटाकर जब वैद्य औषध देता है तब रोग मिटता है वैसे कर्म से चित्त शुद्ध होकर जब परा विद्या ग्रहण की जाती है तब अज्ञान मिटता है। आधुनिक डाक्टर मलशोधन के बिना औषध देते हैं तो तत्काल लाभ दीखने पर भी रोग दूर नहीं होता, दवाका प्रभाव कम होते ही फिर प्रकट हो जाता है। ऐसे ही अशुद्धचेता व्यक्ति हठात् परमात्मविषय समझने की कोशिश करे तो जब तक वह पूरी तरह सावधान होकर समझ रहा है उतनी देर उसे लगता है कि 'बात समझ आ गयी, संसार मिथ्या है, मैं ब्रह्म हूँ', किन्तु जैसे ही कथा पूरी होने का समय आता है वैसे ही नज़र घड़ी पर पहुँच जायेगी कि दुकान खोलनी है! इसलिये चित्त का शोधन हुए बिना ब्रह्मज्ञान फल नहीं दे पाता। अशुद्ध चित्त में ब्रह्म के बारे में संस्कार इसलिये चाहिये कि शनै-शनैः ब्रह्मकी ओर बढ़ा जा सके। ऐसा नहीं कि चित्त शुद्ध हुए बिना वेदांत सुनो मत! सुना ही नहीं तो आगे चित्त शुद्ध करने की प्रेरणा कैसे मिलेगी? लेकिन सुनने से अज्ञान दूर नहीं होगा, जब राग हटा लोगे तब ज्ञान प्राप्त होने से अज्ञान मिटेगा। परा विद्या की तरफ प्रवृत्त करने वाली होने से अपरा विद्या का महत्व है अतः अंगिरा ने प्रारम्भ में ही दोनों विद्याओं का उल्लेख किया। शारीरिक व मानस कर्मों से चित्त की शुद्धि का मतलब है राग-द्वेष चित्त में न रह जायें, क्योंकि ये ही चित्त का मैल है। इनके निकलने से चित्त प्रसन्न, शांत हो जाता है। अशांति राग-द्वेष से ही होती है तथा अशांत चित्त हमेशा बहिर्मुख रहने से प्रत्यग्ब्रह्म का कभी साक्षात्कार नहीं कर सकता। कर्मफलों की अनित्यता पर दृष्टि जाये तब उनमें विरसता लगती है, नित्य की खोज में प्रवृत्ति होती है। नित्य एकमात्र परमात्मा है अतः जिसे एक बार नित्य की कामना हो गयी वह बिना परमात्म-साक्षात्कार किये रुक नहीं सकेगा। ऐसे मुमुक्षु जिज्ञासु को ही अधिष्ठान-विषयक उपदेश सफल होगा। क्योंकि जिसे वह खोज रहा है वह मिलते ही वृत्ति उस पर स्थित हो जाती है, अन्य कोई आकर्षण न रहने से वृत्ति अन्यत्र नहीं जाती। यदि संसार भी सत्य हो तब तो चित्त-शुद्धि की विशेष ज़रूरत नहीं क्योंकि जैसा संसार वैसा परमात्मा, कुछ देर इसे देखा कुछ देर उसे देख लिया। किंतु संसार असत्य है, अध्यस्त है तथा अधिष्ठान-अध्यस्त परस्पर विरुद्ध होते हैं। अधिष्ठान की प्रमा हो गयी तो अध्यस्त है यह नहीं लगेगा, अध्यस्त में मन रमा रहा तो अधिष्ठान का पता नहीं लगेगा। अतः अधिष्ठानरूप होने

परया चाक्षरं ज्ञेयमेतस्मिन् विदिते सति।
सर्वं जगद् भवेद् बुद्धं तस्य सर्वात्मकत्वतः।।९।।

से परमात्मा के ज्ञान के लिये मन में अत्यंत शुद्धि चाहिये। बिना इस वैराग्यरूप शुद्धि के यदि अद्वैत का विचार समझ आ जाये तो भी बौद्धिक स्तर तक ही रहेगा, अनुभव के स्तर तक नहीं आ पायेगा। जिसे कहते हैं कि 'बात गले नहीं उतरेगी।' चित्त-शुद्धि अर्थात् वैराग्य का अभावात्मक रूप है कि अनात्मा से सर्वथा प्रेम न होना किंतु साथ ही भावात्मक रूप है कि परमात्मा से बहु ज़्यादा प्रेम होना। ये दोनों रूप प्रस्फुट हों यह चित्त की शुद्धि है, तभी साधक अपनी समस्त चेष्टाओं से परमात्मा की अर्चना करता रहकर सिद्धि पा सकता है। खाना-पीना जैसी स्वाभाविक क्रियायें भी परमेश्वर-सेवा बन जाती हैं जब वैराग्य प्रतिष्ठित होता है। अखाद्य खाने की हमारी प्रवृत्ति हमारे राग से होती है, विरक्त के सामने केवल परमेश्वराज्ञा है, 'जो उन्होंने खाने के लिये कहा है वही खाना है', अतः अभक्ष्यभक्षणादि कुकर्मों में प्रवृत्ति संभव नहीं रह जाती। देखना, सुनना आदि सभी में यही नियम लागू होता है। ऐसे शुद्ध चित्त वाला पराविद्या के मार्ग का पथिक बन जाता है।।८।।

जैसे अधिकार के फ़र्क़ से पराको पृथक् करना उचित है वैसे विषयके फ़र्क़ से भी उसे अपरा से अलग करना उचित है यह बताते हैं **(अपरा कर्मों को बताती है जबकि) परा विद्या से अक्षर तत्त्व की वास्तविकता समझ आती है। क्योंकि वह अक्षर ही सारे जड-चेतन जगत् का आत्मा है इसलिये अक्षर को जान लेने पर सारा जगत् समझ लिया जाता है।।९।।** श्रुति ने अपराका तो परिगणन कर दिया लेकिन परा की परिभाषा बतायी 'अथ परा यया तदक्षरम् अधिगम्यते' (१.१.५) कि जिससे अक्षर की अधिगति हो वह विद्या परा है। यद्यपि मूल रूप से उपनिषदें अर्थात् परमात्ममात्रपरक वेदप्रसंग ही अक्षर के अधिगम के उपाय हैं तथापि परिभाषा बताने से सूचित हो गया कि अन्य भी स्मृतिवचन, आचार्यवचन आदि जो इस फलको उत्पन्न करें वे परा में ग्रहण कर लिये जायेंगे। श्रुति निरपेक्ष प्रमाण है, वचनान्तर श्रुतिसापेक्ष हैंयह भेद भले ही रहे पर अश्रौत वचन भी परा में आ सकते हैं। यह भी अपरा से परा का महत्त्वपूर्ण भेद है। अपरा में तो उपनीत त्रैवर्णिक ही अधिकारी है जबकि परा में साधन-संपन्न सभी अधिकारी हैं। पराका जो वैदिक भाग है उसमें उपनीत तथा स्मृति-पुराण-आचार्यवचन-भाषाग्रंथ आदि में अनुपनीत अधिकारी हो जाते हैं, इसलिये किसी मर्यादाका उल्लंघन नहीं होता। अक्षर यहाँ परब्रह्मको कहा है

ऐसा ब्रह्मसूत्रों में (१.२.६.२१.२३) निर्णीत है। वेद में जहाँ कहीं भी परमात्मा के बारे में समझाया है कि वह क्या नहीं है, उन सब प्रसंगों में बतायी बातें इस अक्षर-प्रसंग को समझने में उपयोगी हैं यह भी सूत्रों में (३.३.२०.३३) निश्चित किया गया है। ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा ही अक्षर ब्रह्म ज्ञेय है, जाना जा सकता है। ब्रह्मको 'ज्ञेय' वृत्तिव्याप्ति के अभिप्राय से कहते हैं, फलव्याप्ति यहाँ असंभव है और इसीसे कई जगह उसे अज्ञेय भी कह देते हैं, दोनों में विरोध नहीं। अनात्मविषयों को जानने के लिये वृत्ति और आत्मप्रकाश अर्थात् फल दोनों चाहिये, आत्मा को जानने के लिये केवल वृत्ति चाहिये, प्रकाश तो वह खुद ही है। सेब घड़े से ढका हो तो उसे देखने के लिये न केवल घड़ा हटाना पड़ेगा वरन् सेब पर रोशनी भी डालनी पड़ेगी किन्तु दीपक घड़े से ढका हो तो केवल घड़ा हटाना पड़ेगा, रोशनी की ज़रूरत नहीं। ऐसे ही अनात्मस्थल पर वृत्ति और फल दोनों चाहिये, आत्मस्थल पर केवल वृत्ति चाहिये। वृत्ति चाहियेइससे लेकर आत्मा ज्ञेय कहलाता है, फल नहीं चाहिये, इससे वह अज्ञेय कहलाता है। घड़े की तरह ब्रह्मको नहीं जाना जाता, उसका अनुभव 'मैं ब्रह्म हूँ' इसी तरह होता है। यदि मैं उससे अलग रह गया तो ब्रह्म अद्वितीय कैसे रहेगा! अतः प्रत्यगात्मा से अभिन्नकर ही अक्षरका ज्ञान परा विद्या से होता है। वह अक्षर जगत् का अधिष्ठान है अतः सारे जगत् का वही आत्मा है, वास्तविकता है। इसलिये जैसे रस्सी को जान लेने से सर्प, जलधारा आदि सभी का ज्ञान हो जाता है वैसे अक्षरको जान लेने से समस्त संसार का ज्ञान हो जाता है। मिथ्या वस्तुका 'ज्ञान' यही है कि वह नहीं है! मिथ्या चीज़ें दीखना उनका 'ज्ञान' नहीं, भ्रम है। ज्ञान तो सही जानकारी को कहते हैं। इतना ही नहीं, जहाँ कहीं जो-कुछ जाना जा रहा है वह परमात्माके ही प्रकाश से प्रकाशित है। वह परमात्मा जब मैं हूँ तब सब कुछ मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित है अतः तब मेरे लिये कुछ भी अज्ञात नहीं रह सकता। पूर्वाध्याय में इस दृष्टि को विस्तार से स्पष्ट किया था। इस प्रकार, शौनक के प्रश्न का सूत्रभूत उत्तर दे दियाः उसने पूछा था कि कौन-सी एक चीज़ को जानने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है? जवाब है कि अक्षर वह एक (अद्वितीय) चीज़ है जिसे जान लेने से सब जान लिया जाता है।।६।।

अधिकार और विषय की तरह फलप्रद बनने के तरीके में भी अपरा और परा का अंतर है। यह बताते हैं **कर्म को समझना तब तक फलप्रद नहीं होता जब तक उस ज्ञानके अनुसार कर्मका अनुष्ठान न किया जाये जबकि ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाने मात्र से फलप्रद बन जाता है। इस प्रकार स्वयं समर्थ होने से ब्रह्मज्ञान**

न विनाऽनुष्ठितिं कर्मवेदनं पर्यवस्यति।
ब्रह्मधीस्तावतैव स्यात् फलदेति परा मता।।१०।।

अक्षरम्

तद् वेद्यमक्षरं कीदृगिति चेदभिधीयते।
ज्ञानेन्द्रियैर्न विज्ञेयं ग्राह्यं कर्मेन्द्रियैर्न वा।।११।।

को परा विद्या माना गया है।।१०।। परा कहने से श्रेष्ठता सूचित होती है। कर्मविद्या फल देने के लिये अनुष्ठानकी अपेक्षा रखती है जबकि ब्रह्मविद्या अन्य किसी की अपेक्षा के बिना स्वयमेव फल दे देती है। यही उसकी श्रेष्ठता है। कर्म के ज्ञान का फल तब तक नहीं जब तक कर्म करें नहीं। सत्य बोलना चाहियेइस ज्ञान से पुण्य नहीं वरन् सत्य बोलने से ही पुण्य होगा। ब्रह्मज्ञान को फल देने के लिये ऐसा कोई व्यवधान या माध्यम नहीं चाहिये। किन्तु ज्ञान से यहाँ दृढ अपरोक्ष साक्षात्कार समझना चाहिये। परोक्ष और अदृढ ज्ञान तो तभी मुख्य फल देगा जब अपरोक्ष और दृढ ज्ञान हो जाये। मोक्ष ही मुख्य फल है। परोक्ष ज्ञान से यत्किंचित् फल हो सकता है किंतु वह 'फल' नहीं अवांतर प्रभाव ही है। जैसे कर्मज्ञान से यह सामर्थ्य आ जाती है कि अन्यों द्वारा किये जाते कर्मों में ग़लती ढूँढ सके! लेकिन इसे कर्मज्ञानका फल नहीं कह सकते। फल तो पुण्य ही है और वह अनुष्ठान से ही होगा। इसी तरह ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष ही है और वह दृढ अपरोक्ष से ही होगा। इसके बिना 'अद्वितीय'यह शब्द भले ही बोल दें पर समझमें त्रिपुटी ही आती है, अखण्ड वस्तु नहीं। जब जानने वाला मैं, जिससे जान रहा हूँ वह मन और जिसे जान रहा हूँ वह ब्रह्मये तीन न रह जायें तभी अद्वितीय आत्मा बचता है, यही साक्षात्कार अज्ञान मिटाने में सक्षम है।।१०।।

उस अक्षर का परिचय श्रुति ने दिया 'यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम् अचक्षुःश्रोत्रं तद् अपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद् अव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।।' (१.१.६) श्लोक १८ तक इस वाक्य को समझायेंगे। अद्रेश्य अर्थात् अदृश्य और अग्राह्य का अर्थ बताते हैं **यदि प्रश्न हो कि परा विद्या से जिसे जानते हैं वह अक्षर कैसा है? तो उत्तर बताया जाता है : ज्ञानेन्द्रियों से उसका अनुभव नहीं किया जा सकता और न ही कर्मेन्द्रियों से उसे विषय कर सकते हैं।।११।।** ब्रह्म का परिचय भाव-अभाव दोनों तरह से दिया जाता है, वह क्या है और क्या नहीं है दोनों बातें साफ कर देने से उसका स्वरूप स्पष्ट पता चल जाता है। हमें संसार उपलब्ध हो रहा है जबकि वास्तविकता के स्तर पर केवल सच्चिदानन्द ही है अतः

न गोत्रं काश्यपाद्यस्ति वर्णः शुक्लादिकश्च न।
न ज्ञानेन्द्रियमस्त्यस्य नाऽपि कर्मेन्द्रियं तथा।।१२।।

संसार के निषेध से ब्रह्मको बताना पड़ता है। निषेध जिस निषेध्य की अपेक्षा रखता है वह भ्रमसिद्ध द्वैत है, क्योंकि हमें द्वैत-भ्रम है इसीलिये उसके निषेध से अधिष्ठान बताया जाता है। केवल निषेध करने से शंका होगी कि ब्रह्म अभाव तो नहीं है? इसलिये विधान भी करते हैं कि वह सत्य ज्ञान आनन्द प्रत्यक् व्यापक पूर्ण है। प्रकृत श्रुति में निषेध और विधि दोनों तरह से ब्रह्म का वर्णन किया है। अक्षर ज्ञानेंद्रियों से जाना जाये ऐसा नहीं क्योंकि इंद्रियाँ रूप रसादि को ग्रहण करती हैं जबकि अक्षर रूप रसादि सारे भूतगुणों से अत्यंत अस्पृष्ट है। वैकुण्ठादि लोकों में दीखने आदि वाला अक्षर नहीं है, वह तो लीला-विग्रह ही हो सकता है। कर्मेन्द्रियाँ हाथ, पैर, वाणी, उपस्थ, पायुये भी अक्षर को विषय नहीं करतीं क्योंकि आदान, गमन आदि जो इनके निश्चित कार्य हैं उनसे अक्षर का संबंध नहीं है। आदान मूर्त वस्तु का हो सकता है, अक्षर अमूर्त है। गमन परिच्छिन्न की ओर हो सकता है, अक्षर व्यापक है। कथन वाच्य का होता है, अक्षर वाक् से अतीत है। उपस्थ आनंदन क्रिया करता है, अक्षर सनातन आनंद है, किया जा सकने वाला आनंद नहीं है। पायु विसर्ग करता है जो परिच्छिन्न का और मूर्त का ही होता है, अक्षर अपरिच्छिन्न अमूर्त है। इसलिये वह अग्राह्य, कर्मेन्द्रियों का अविषय है।।११।।

'अगोत्रम्' आदि का अर्थ बताते हैं **न उसका काश्यपादि कोई गोत्र है और न सफेद आदि कोई वर्ण। न उसकी कोई ज्ञानेन्द्रिय है न कर्मेन्द्रिय।।१२।।** पारिवारिक मूल को गोत्र कहते हैं। कश्यप आदि ऋषियों से प्रारंभ हुए वंश काश्यप गोत्र वाले हैं, ऐसे ही भारद्वाज, कौशल आदि अनेक गोत्र हैं। अक्षरका कोई कारण ही नहीं तो उसके मूल की क्या संभावना! ब्राह्मणादि एवं सफेद आदि कोई वर्ण भी उसका नहीं है। वर्ण का रंग अर्थ ठीक तो है लेकिन ज्ञानेन्द्रियों का अविषय कहने से रंग का निषेध हो ही गया इसलिये ब्राह्मणादि अर्थ समझ सकते हैं। ब्राह्मण का रंग सफेद, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला, शूद्रका कालायों महाभारतादि में कहा है अतः शुक्लादि से ब्राह्मणादि समझना उचित है। अथवा शुक्लादि से सत्त्वादि तीन गुण समझने चाहिये, उनका भी सफेद आदि रंग माना गया है; इस प्रकार अक्षर में त्रैगुण्य का निषेध सिद्ध होता है। भाष्यकार ने 'वर्ण्यन्त इति वर्णा द्रव्यधर्माः' कहकर वर्ण-निषेध से सभी द्रव्यधर्मों का निषेध स्पष्ट किया है। इंद्रियों का अविषय है इतना ही नहीं, अक्षर की भी कोई इंद्रियाँ नहीं हैं, चक्षु श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय एवं पाणि पाद आदि कर्मेन्द्रियये अक्षर

नित्योऽक्षरपदार्थोऽयं तद्विनाशाऽनिरूपणात्।
विभुर्विविधभावित्वात् तच्च सर्वात्मकत्वतः।।१३।।

की नहीं हैं। अन्यत्र भी कहा है कि 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' परमात्मा के कोई करण नहीं है। इंद्रियों का वह न विषय है, न आश्रय। जीवभाव को प्राप्त होने पर हम स्वयं को इंद्रियों का आश्रय-विषय मान लेते हैं किन्तु यह भ्रम ही है, वास्तव में आत्मा इन्द्रियों का न आश्रय और न विषय है।।१२।।

नित्यादि भावरूप निर्देश स्पष्ट करते हैं **क्योंकि उसका विनाश जाना और बताया नहीं जा सकता इसलिये यह 'अक्षर' शब्द से सूचित वस्तु सनातन है। वह सर्वस्वरूप है अतः 'वि' अर्थात् विविध प्रकारों का 'भु' अर्थात् हो जाता है, इसलिये उसे विभु कहते हैं।।१३।।** वाणी से अतीत है फिर भी वाणी के सहारे सूचित हो जाता है इसलिये उसे पदका अर्थ कहा। वह नित्य अर्थात् सनातन है, बौद्धों को अभिमत शून्य नहीं है। हमारा मानना है कि जो कुछ है वह कहीं-न-कहीं अनुभव में आता है। अनुभव करने के साधनों का जब ब्रह्म विषय नहीं तब उसका अस्तित्व ही शंकित हो जाता है। नित्य कहकर बताया कि ब्रह्म नहीं है इसे कैसे और कौन जानेगा? सारा अनित्य जिस सत् के सहारे खेल कर रहा है उसकी अनित्यता कौन कहेगा? विचार करें तो समझ आता है कि इंद्रियों के आश्रय और विषय ही अनित्य होते हैंः हम स्वयं को इंद्रियों वाला मानते हैं किन्तु गहरी नींद में हम इंद्रियों वाले नहीं रह जाते, हम तो बचे रहते हैं लेकिन 'इन्द्रियों वाला' नहीं रह जाता; घट आदि इंद्रिय-विषय सामने ही पैदा और नष्ट होते हैं। अतः जो इंद्रियों से संबद्ध है वही अनित्य है, अक्षर इंद्रियों से असंबद्ध है इसलिये उसके नित्य होने में कठिनाई नहीं। ब्रह्मका नाश जाना ही नहीं जा सकता क्योंकि ब्रह्म ही ज्ञान है; यदि उसके नाशका 'ज्ञान' है तो उसका नाश हुआ ही नहीं, और यदि ज्ञान नहीं है तो यह कहना नहीं बनता कि उसका नाश हुआ! 'मैं' के स्थल पर यह और सरल है : 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव असंभव है अतः मैं को नश्वर कहना नहीं बनता। 'मैं' भी ब्रह्म ही है अतः इससे भी सिद्ध होता है कि अक्षर ब्रह्म नित्य है। बौद्धों की कल्पना कि निर्वाण में आत्मा नहीं रह जाता, भी इसीलिये ग़लत है कि उसमें कोई प्रमाण मिल ही नहीं सकता। ज्ञानरूप होने से तो नित्य है ही, सद्रूप होने से भी यह नित्य ही है। अन्य चीज़ों को तो 'नहीं है' कहा-समझा जा सकता है, स्वयं 'है' को मना नहीं किया जा सकता; घड़ा नहीं तो ठीकरा है, चूरा है, और बहुत सी चीज़ें हैं, घड़ा नहीं इसे जानने वाला है, अतः है का निषेध बनता नहीं। अक्षर को विभु

आकाशवत् सर्वगोऽतः परिच्छेदो न देशतः ।
न कालतोऽपि नित्यत्वाद् विभुत्वान्नापि वस्तुतः ।।१४।।

बताया जिसका भाष्य में अर्थ किया 'विविधं ब्रह्मादि स्थावरान्तप्राणिभेदैर्भवतीति' कि चतुर्मुख से तृण तक समस्त प्राणियों का रूप धारण करता है इसलिये नाना प्रकारों का बन जाने से विभु है। प्राणियों में जीवनरूप से तो प्रवेश कर विविध बनता ही है, प्राणियों के शरीर तथा शरीरव्यवहार के विषय समस्त महाभूतात्मक पदार्थ भी वही अक्षर बनता है क्योंकि आकाशादि जगत् का अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण वही है। जैसे मिट्टी के सब बर्तनों में मिट्टी व्यापक रहती है, स्वर्ण के सब गहनों में सोना व्यापक रहता है वैसे सभी कार्यों में कारण ब्रह्म व्यापक है तो विभु कहलाना उचित ही है। जैसे सोना हटा लें तो गहना कुछ नहीं रह जाता, मिट्टी हटा लें तो बर्तन कुछ नहीं रह जाते, वैसे सच्चिदानंद ब्रह्म से हटकर किसी कार्य का अस्तित्व नहीं हो सकता। इसीसे सब कार्य मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। उसे 'सर्वात्मक' कह कर स्पष्ट किया कि अनुभव में आती सभी चीजें अनात्मा हैं, उन सभीका आत्मा तो अक्षर ब्रह्म है। इस प्रकार विभु शब्द से अधिष्ठान को समझाया है।।१३।।

'सर्वगत' का अर्थ करते हैं **जैसे आकाश को सब जगह पहुँचा हुआ कह सकते हैं ऐसे अक्षर आत्मा भी सर्वत्र मौजूद होने से कोई देश, स्थान इसे सीमित नहीं बनाता। सनातन होने से अक्षर की कालगत सीमा नहीं तथा विभु है अतः कोई वस्तु भी इसे सीमित नहीं बनाती।।१४।।** जहाँ जायें वहाँ आकाश मिलता ही है अतः कह सकते हैं कि वह सर्वत्र गया हुआ, पहुँचा हुआ है। इसी प्रकार आत्मा सर्वत्र है। अमुक जगह आत्मा नहीं हैयह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता तथा कोई भी जगह है तो है-रूप आत्मा की वहाँ मौजूदगी कैसे नकारी जाये! आकाश से अन्य व्यवहार-सिद्ध पदार्थ किसी स्थान पर होते हैं, अन्यत्र नहीं होते अतः सब देशकृत सीमा वाले हैं। आकाश ही व्यवहारभूमि पर देशकृत सीमा से रहित वस्तु है अतः उसे दृष्टांत बनाया। चीज़ किसी काल में हो, दूसरे काल में न हो तो उसे काल से परिच्छिन्न, सीमित कहते हैं। अक्षर को नित्य बता चुके हैं अतः वह कालसीमा वाला भी नहीं। देश-काल की सीमा से रहित है इतना तो आत्मा के बारे में बहुत-से विचारक मान लेते हैं लेकिन उसे वस्तुओं से सीमित मानते हैं कि संसार में दृश्यमान ये चीज़ें तो आत्मा नहीं हैं। परमात्मा को व्यापक कहने वाले भी स्वयं अपने को परमात्मा नहीं मानते अतः सब जीव परमात्मा को सीमित बनाये हैं ऐसा उनका

सर्वगस्याऽपि सूक्ष्मत्वाद् अक्षाऽगोचरतोदिता।।
परिमाणाल्पता नाऽत्र सौक्ष्म्यं दुर्लक्षता तु तत्।।१५।।

सिद्धांत है। पूर्वश्लोक में विभु कहकर स्पष्ट किया था कि परमात्मा ने ही सब चीज़ों का रूप धारण किया है, प्राणियों के रूप में भी वही प्रविष्ट है; इसलिये कोई जड-चेतन वस्तु ऐसी नहीं जो आत्मा को सीमित रखे कि 'मुझसे बाहर ही परमात्मा है, मैं परमात्मा नहीं', अतः यह वस्तुकृत सीमा से भी वर्जित है। जैसे बर्तन मिट्टी को सीमित नहीं कर पाता ऐसे सारी चीज़ों का एकमात्र कारण होने से चीज़ें परमात्मा को सीमित नहीं कर सकतीं।१४-१५।।

तीनों प्रकार के परिच्छेदों से रहित अक्षर को 'सुसूक्ष्म' कहा, उसकी सूक्ष्मता समझाते हैं **सर्वत्र उपस्थित अक्षर को भी इंद्रियों का अविषय इसलिये कहा कि वह सूक्ष्म है। अक्षर के संदर्भ में सूक्ष्मका मतलब 'मापमें छोटा' नहीं है वरन् समझने में कठिनता उसकी सूक्ष्मता है।।१५।।** स्थूल बनाने वाले हैं शब्दादि गुण; प्रकृतिकी अपेक्षा आकाश स्थूल है क्योंकि उसमें शब्द है, आकाश से स्थूल है वायु क्योंकि उसमें शब्द-स्पर्श दो गुण हैं, इसी तरह पृथ्वी पर्यन्त गुण बढ़ने से स्थूलता बढ़ती है। अक्षर निर्गुण है अतः वह स्थूल हो ही नहीं सकता, इसी से श्रुति ने उसे सु-सूक्ष्म कहा। सर्वत्र हैइसमें लोग यही विरोध बताते हैं कि फिर दीखता क्यों नहीं? दीखेगा वही जो इंद्रियगोचर होगा, अक्षर अगोचर है अतः दीखता नहीं। बहुत-सी चीज़ें मौजूद होते हुए भी दीखती नहीं। छोटे-छोटे धूल आदि के कण कमरे में दीखते नहीं पर हैं ज़रूर क्योंकि जब किसी छोटे छेद से सूर्य की रोशनी अंधेरे कमरे में आती है तो उस प्रकाश-दण्ड में बहुत-से छोटे-छोटे कण साफ दीख जाते हैं। आजकल नाना प्रकार की तरंगें फैलती रहती हैं, वे भी दीखती नहीं पर हैं सही क्योंकि दूरभाषादि यन्त्र उन्हें ग्रहण कर लेता है। प्रायः सूक्ष्म चीज़ें बहुत छोटी होती हैं अतः स्पष्ट किया कि अक्षर छोटा नहीं, विभु, व्यापक, परम महान् है, फिर भी सूक्ष्म इसलिये है कि इसे लखना, इसका अनुभव करना अत्यंत कठिन कार्य है। जिसे समझना बहुत मुश्किल हो वह भी सूक्ष्म, बारीक कहा ही जाता है।।१५।।

केवल अतीन्द्रिय बताने के लिये सूक्ष्म नहीं कहा क्योंकि उतनी बात 'अद्रेश्य' से कह ही चुके हैं, वरन् यह स्पष्ट करना है कि अक्षरका स्वरूप ही सूक्ष्म है, यह बताते हैं **हाथ से पकड़ा जा सकने वाला घड़ा स्थूल है जबकि यों पकड़ी न जा सकने वाली ध्वनि सूक्ष्म है। हाथसे पकड़ा न जा सकना रूप सूक्ष्मता को ध्वनिका स्वरूप ही मान पड़ेगा न कि ध्वनिका धर्मविशेष, इसी प्रकार अतीन्द्रियतारूप सूक्ष्मता**

हस्तग्राह्यो घटः स्थूलो ध्वनिः सूक्ष्मस्तदग्रहात् ।
स्वरूपसौक्ष्म्यमेतत् स्याद् अक्षरेऽपि भवेदिदम् । ।१६ । ।
धनस्येव व्ययो नास्य विक्रियादेरसम्भवात् ।
स्थिरजङ्गमभूतानां हेतुं तं मन्वते बुधाः । ।१७ । ।

अक्षरका स्वरूप है । ।१६ । । माप में छोटा होने की तरह कर्मेन्द्रिय-अग्राह्यता को भी सूक्ष्मता माना जाता है यह तात्पर्य है। आवाज़ आदि को कर्मेन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते जैसे मिट्टी, पानी आदि को कर सकते हैं इसलिये आवाज़ आदि सूक्ष्म कही जाती हैं। इस प्रकार की सूक्ष्मता को आवाज़ आदि का स्वरूप ही मानना पड़ता है। आवाज़ भी कोई मोटी और कोई पतली होती है तो ऐसा नहीं कि इंच-फुट में उनकी मोटाई नाप सकें! पतलापन या मोटापन उस आवाज़का स्वरूप ही है। कर्मेन्द्रिय-ग्राह्य चीज़ों में सूक्ष्मता परिमाणकृत होती है। जो कर्मेन्द्रिय अग्राह्य होने से सूक्ष्म है वह भी ज्ञानेन्द्रिय-ग्राह्य है। उससे भी सूक्ष्म केवल मनोग्राह्य है, जो ज्ञानेन्द्रियों से भी ग्रहण नहीं होता जैसे प्रेम, दुःख आदि। अतः इस तरह की सूक्ष्मता में सापेक्षता है। किन्तु आवाज़ों का जो मोटापन (स्थूलता) व पतलापन (सूक्ष्मता) हैं वे दोनों समान सामग्री से ही सुने जा सकते हैं अतः वह सूक्ष्मता निरपेक्ष है। इस निरपेक्षता को ही यहाँ 'स्वरूप' कहा है। अक्षर में ऐसी निरपेक्ष अर्थात् स्वरूपगत सूक्ष्मता है ही। सापेक्ष सूक्ष्मता इस प्रकार है कि शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृत मन के अलावा और किसी से वह ग्रहण नहीं होता और ग्रहण होने पर उसकी स्वरूपभूत सूक्ष्मता पता चलती है। ।१६ । ।

वही अव्यय और भूतयोनि है यह व्यक्त करते हैं **अक्षर में विकार आदि असंभव होने से धनकी तरह इसका व्यय नहीं होता। विद्वान् इस अक्षरको चराचर भूतोंका कारण मानते हैं । ।१७ । ।** अक्षर निरवयव है अतः अव्यय है क्योंकि सावयव चीज़ के अवयव घट जायें तब उसका व्यय होता है, निरवयव का क्या घटेगा! ऐसे ही उसमें गुण भी नहीं है। जिनके घट जाने से उसका व्यय माना जाये। व्ययका मतलब ऐसा परिवर्तन होता है जिससे मात्रा, सामर्थ्य आदि की न्यूनता हो जाये। अक्षर परिवर्तनहीन है अतः इसकी अव्ययता स्थिर है। प्रलय के बाद जब सृष्टि करता है तब असंख्य रूप पैदा करता ही चला जाता है किन्तु इससे उसकी सामर्थ्य घटती नहीं, आगे भी असंख्य रूप बनाता ही रहेगा! धनके व्यय में एक विशेषता है : जिसे धन पर अभिमान है कि 'यह मेरा है, मैं लखपति हूँ', उसके पास कम धन रह जाये तो वह मानता है कि 'धन का व्यय हो गया, अब मैं लखपति नहीं हज़ारपति रह गया।' किंतु उसके पास से गया

यदुक्तं लक्षणं तत्तु कौटस्थ्याद् अक्षरं भवेत्।
तद् यया वेद्यते सेयं परा विद्येति कीर्तिता।।१८।।

धन नष्ट नहीं हुआ है, केवल इतना हुआ है कि अब किसी और ने उस पर अभिमान कर लिया है कि 'यह मेरा है।' कुल धन उतना ही बना रहे फिर भी अभिमानभेद से उसका व्यय हो जाता है, खर्च हो जाता है। क्या इसी प्रकार परमात्मा ज्यों का त्यों बना रहे फिर भी उसका व्यय हो सकता है? नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा किसी के प्रति गुणभूत नहीं जैसे धन अपने मालिक के प्रति गौण है। हस्तान्तरण हो सके, एकका हक हटकर दूसरे का हक स्थापित हो सके, या स्थूल रूप से हथियाया जा सके तभी इस प्रकार का भी व्यय होता है; अक्षर ब्रह्म न हस्तांतरित हो सकता है, न किसी के हक की चीज़ बन सकता है और न उस पर काबिज़ हुआ जा सकता है अतः धन की तरह का व्यय भी उसका संभव नहीं। किं च वह 'भूतयोनि' अर्थात् पहाड़ आदि स्थावरों का और मच्छर, मछली आदि जंगमों का कारण है। जंगम अर्थात् जो गतिशील हैं, सजीव हैं। चित्त दर्पण में अक्षर ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ने से ही सजीवता आती है अतः बिम्बरूप से वह उनका कारण है। स्थावरों का तो अधिष्ठान रूप से कारण है ही। अधिष्ठान की हैसियत से वह सबका समान कारण है किन्तु सजीवों का वह बिम्बतया *भी* कारण है। पंचदशी में कहा है कि सूर्य से प्रकाशित दीवाल पर जिस जगह सूर्य का अक्स पड़ता है वहाँ जैसे दोगुणा प्रकाश हो जाता है वैसे चित्त में चैतन्य दोगुणा हो जाता है। उसी दृष्टि से यहाँ समझ लेना चाहिये। अक्षरको भूतयोनि बुध अर्थात् शास्त्र के जानकार ही मानते हैं। अन्य लोग तो प्रकृति, परमाणु, ऊर्जा आदि को भूतयोनि कहते हैं जबकि वेदान्तवेत्ता बताते हैं कि एक सच्चिदानंद ही भूतयोनि है क्योंकि वही समस्त भूतों में व्याप्त मिल रहा है तथा कारण वही होता है जो कार्यों में व्याप्त रहे। इस प्रकार ग्यारहवें से सत्रहवें श्लोक तक छठे मंत्रकी व्याख्या की गयी।।१७।।

यही परविद्याका विषय है यह बताते हैं **पूर्वोक्त स्वरूप वाली वस्तु कूटस्थ होने से अक्षर है। जिसके द्वारा उसका अनुभव होता है उसे परा विद्या कहा गया है।।१८।।** कूटस्थ अर्थात् निर्विकार। कूट कहते हैं झूठ को। सारा संसार कूट है, मिथ्या है, फिर भी इसमें एक-जैसा स्थित रहने के काराण अक्षर को कूटस्थ कहा। जैसे-सर्प, जलधारा, माला आदि कूट चीज़ों में एक-समान रहने वाली कूटस्थ रस्सी सत्य होती है वैसे मिथ्या जगत् में रहने वाला कूटस्थ अक्षर सत्य है। क्षरण कूट में ही हो सकता है, वही परिवर्तनशील है, इसलिये कूट से अन्य कूटस्थ अक्षर है, अपरिवर्तनशील है, क्षरण

जगद्धेतुः

न युक्तं भूतयोनित्वं साधनान्तरवर्जनात् ।
एकस्माच्चेतनाद् भूरिजडानामप्यसम्भवात् । ।१६ । ।

वाला नहीं है। जिस एक के ज्ञानसे सब ज्ञात हो जाता है वह यही अक्षर तत्त्व है। जैसे घट वस्तु में घटज्ञान प्रमाण है, रूप में चक्षु प्रमाण है ऐसे ही इस अक्षर में वेद प्रमाण है। जैसे चक्षुर्जन्य वृत्ति ही रूप देख सकती है वैसे वेदके महावाक्य से जन्य अखण्ड वृत्ति ही अक्षरको समझ सकती है। जैसे रूप के लिये कान, नाक आदि साधनान्तर से प्रयास निरर्थक है वैसे अक्षर को समझने के लिये वेद से अन्य साधन खोजना निरर्थक है। जैसे यदि कोई आँख पर शंकालु हो जाये तो उसे रूप का कभी निश्चय नहीं हो पायेगा वैसे जो वेद पर शंकालु होगा उसे अक्षर का कभी निश्चय नहीं हो सकता। परा विद्या वही है जो अक्षर का ज्ञान कराती है। यद्यपि बुद्धिकी अखण्डाकार वृत्ति ही परा विद्या है क्योंकि उसीसे अक्षरका अज्ञान मिटता है, तथापि उस वृत्ति के उत्पादक उपनिषद्वाक्य भी परा विद्या कह दिये जाते हैं जैसे किसान हल को ही जीवन कह देता है क्योंकि हलके सहारे ही उसका जीवन चलता है। ।१८ । ।

अविकारी अद्वितीय अक्षर से सारा संसार बने यह असंगत लगता है यह प्रश्न उठाते हैं **तीन कारणों से यह तर्क संगत नहीं कि अक्षर समस्त भूतों का कारण हैपहली बात यह है कि भूतों को उत्पन्न करने के लिये उसके पास अन्य सहायक साधन नहीं थे; दूसरी बात, अक्षर एक है, उससे अनेक वस्तुएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं, और तीसरी बात, चेतन अक्षर से भूत-भौतिक जड प्रपंच पैदा होना संभव नहीं। ।१६ । ।** अद्वितीय होने से ही अक्षर साधनहीन था और बिना साधनों के, उपकारणों के इतना जटिल जगत् बनाया नहीं जा सकता। अनेक परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले कार्यों का एक एकरस कारण नहीं हो सकता। कार्यों के भेद का कोई निमित्त अवश्य चाहिये, बिना निमित्त के एक कारण के कार्य एकरूप ही होंगे जैसे मिट्टी के बर्तन मृन्मय ही हो सकते हैं, स्वर्णमय, रजतमय आदि नहीं। मिट्टी तो फिर सावयव है, थोड़े-थोड़े अवयवों से अनेक कार्य बन भी जायें, पर अक्षर तो निरवयव है, उससे अनेक कार्य बनेंगे ही कैसे? किं च अक्षर चेतन है तो उसका कार्य जगत् जड कैसे है? जैसे जड का कार्य जड ही मिलता है ऐसे मानना होगा कि चेतन का कार्य चेतन ही हो सकता है। इन तीन हेतुओं से अक्षर को भूतयोनि मानना मुश्किल लगता है। ।१६ । ।

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजते संहरत्यपि।
अन्यानपेक्षस्तद्वत् स्याद् अक्षरस्याऽपि हेतुता।।२०।।
बह्वोषध्यो यथैकस्या भूमेर्जाता यथा जडाः।
केशाश्चेतनतो जातास्तथा त्वक्षरतो जगत्।।२१।।

इसका उत्तर श्रुति ने दृष्टांतों से दिया है : 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति, यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।।' (१.१.७)।। इस मंत्र की व्याख्या करते हैं **जिस प्रकार अन्य सहायता के बिना ही मकड़ी जाले बुन लेती है और उन्हें लीन भी कर लेती है उसी प्रकार साधनहीन अक्षर जगत्कारण है (इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं)।।२०।। जैसे एक पृथ्वी से बहुत-से पेड़-पौधे पैदा हो जाते हैं तथा चेतन शरीर से जड केश पैदा हो जाते हैं वैसे अक्षर से नाना आकारों वाला और जड जगत् उत्पन्न हुआ है।।२१।।** तीन उदाहरणों से तीनों प्रश्नों के उत्तर दे दिये। (निर्णयसागर में छपे श्लोक २०-१ के क्रम को मुत्तुशास्त्री ने उपनिषत् के अनुसार बदला है जो उचित ही है।) मकड़ी जाला बनाने के लिये किसी साधन-विशेष को नहीं बटोरती, बिना किसी औजार के ही वह अत्यंत बारीक, लचीला, मच्छरादि चिपका लेने में समर्थ पुनः समेटा जा सकने वाला धागों का जाल रच लेती है। इसलिये साधनांतर के बिना सृष्टि नहीं हो सकती ऐसी बात नहीं है। जब मकड़ी ही बिना साधनों के जाला बना सकती है तब अक्षर जगत् बना सकता है इसमें क्या कहना! यह युक्ति की प्रवृत्ति है। प्रमाण के समर्थन में उपस्थित तर्क युक्ति है, प्रमाणविरुद्ध तर्क कुतर्क है। सृष्टि अक्षर ने कीयह वेद से पता चलता है। इस बात के अनुकूल तर्क भी मिलेंगे, प्रतिकूल भी। प्रतिकूल तर्कों से वेद की बात नहीं कटेगी क्योंकि तर्क कभी प्रमाण को काट नहीं सकता। बात तो वही सत्य है जो प्रमाण समर्थित है, हमें उसे बुद्धिसंगत करने के लिये अनुकूल तर्क सोचना चाहिये। इसे सिखाने के लिये श्रुति ने यहाँ इन दृष्टांतों को रखा है। अकेला दृष्टांत भी कोई तर्क नहीं लेकिन दृष्टांत उस बात को संभव दिखा देता है जो प्रमाण कह रहा है। मकड़ी को एक इकाई मानकर दृष्टांत है; उसके मुख, लार, पैर आदि जो अंग हैं वे मकड़ी से पृथक् नहीं हैं। इसी तरह जिस माया के प्रयोग से अक्षर जगत् पैदा करता है वह भी भूतयोनि से पृथक् नहीं है। दूसरा प्रश्न था कि एक से अनेक कैसे पैदा हुए? इसका उत्तर है कि एक पृथ्वी से अनंत वृक्ष-लताएँ पैदा होती दीख रही हैं तो अक्षर से विश्व के पैदा होने में क्या विरोध है! यदि इसमें बीजों

ब्रह्मणो जगदुत्पत्तेः क्रमोऽयमवगम्यताम्।
वक्ष्यमाणेन तपसा ब्रह्मादावुपचीयते।।२२।।
अङ्कुरोत्पादकं बीजमुच्छूनं स्याद् यथा जलात्।
सृज्यस्य बुद्ध्या संयुक्तं स्याद् ब्रह्मोपचितं तथा।।२३।।

के कारण भेद संभव है तो प्राणिकर्मों का वैविध्य जगद्वैचित्र्य को भी उपपन्न कर देता है। जैसे बीज भी पृथ्वी से पृथक् वस्तु नहीं हैं वैसे प्राणिकर्म भी भूतयोनि से पृथक् वस्तु नहीं हैं। तीसरा प्रश्न चेतन से जड की उत्पत्ति का था, उसमें चेतन शरीर से जड बालों की उत्पत्ति का दृष्टांत उत्तर है। शरीर को काटने से दूखाता है यह इसकी चेतनता है, बाल यों नहीं दूखते अतः जड हैं। और भी बहुत-सी जड चीज़ें जीवित शरीर से पैदा होती रहती हैं। इसी प्रकार चिन्मात्र अक्षर से भूत-भौतिक जड जगत् भी पैदा हो, इसमें कोई असंगति नहीं है।।२०-१।।

अक्षर से भूतों का जन्म संगत बताकर जन्म-प्रक्रिया का परिचय श्रुति ने दिया 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चाऽमृतम्।।'१.१.८।। इसे श्लोक २६ तक समझाते हैं **ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति इस क्रम से होती है यह समझना चाहियेअगले श्लोक में बताये जाने वाले तप से ब्रह्म फूल जाता है। यह प्रथम कदम है।।२२।। जिस प्रकार अपने अंदर ग्रहण कर लिये गये जल से वह बीज फूल जाता है जो अंकुर को उत्पन्न करने वाला है उसी प्रकार जिस जगत् को उत्पन्न करना है उसके ज्ञान वाला हुआ ब्रह्म भी फूल जाता है। (यह ज्ञान ही उसका तप है।)।।२३।।** सृष्टि-क्रम व्यवस्थित है। उपनिषदों में अनेक जगह क्रम समझाया गया है और सब स्थलों का तालमेल ब्रह्मसूत्रों में बैठाया गया है। क्रम समझने का उद्देश्य लय-चिन्तन कर सकना है, कार्य अपने कारण से पृथक् नहींइस नियम को क्रमशः लागू करते-करते अंतिम कारण तक पहुँचना इसका प्रयोजन है। यहाँ पहला कदम बताया कि ब्रह्म फूल जाता है। बीज अंकुर उत्पन्न करने से पूर्व फूल जाता है यह लोकदृष्ट है। ब्रह्म भी जब ईक्षण करता है तब मानो फूल जाता है। जिसे उत्पन्न करना है वह जगत् क्योंकि ब्रह्मके विचार में आ गया इसलिये ब्रह्म को फूला हुआ कह दिया, इससे पूर्व ब्रह्म जगत् का विचार नहीं कर रहा था, अब करने लगा अतः कुछ बढ़ गया यह भाव है। भाष्यकार ने पुत्रोत्पादन से पूर्व पिता का प्रसन्नता से फूल जाना भी यहाँ फूलने में दृष्टांत दिया है जिससे स्पष्ट है कि फूलना आकार बढ़ने के अभिप्राय से नहीं कहा है। पूर्व सृष्टि के क्रम आदि तथा सब

भोग्यवर्गाङ्कुराख्यं यद् अन्नं तज्जायते ततः।
अव्याकृतं व्याचिकीर्षावस्थमन्नमिहोच्यते।।२४।।
तस्मादन्नात् क्रियाशक्तिः प्राणो ज्ञानस्य साधनम्।
मनश्चाऽजायत स्थूलं सत्याख्यं भूतपञ्चकम्।।२५।।

जीवों के कर्मों का विचार ही अक्षर का ईक्षण रूप तप है। जिस जीव ने जो कर्म किये एवं उनका फल पूर्व सृष्टि के दौरान नहीं भोग पाया उन कर्मों का फल भोगने के लिये उपयुक्त परिवेश में उसे शरीरादि धारण कराना ईश्वरका अतिजटिल कार्य है, इसे निर्दोषरूप से संपन्न करने के लिये वह जो विचार करता है वही उसका तप कहा जाता है। बीज में अंकुरोत्पादन की सामर्थ्य होती है तभी फूलता है, भुँजा बीज फूलता नहीं। ब्रह्म भी जब तक माया शक्ति वाला है तभी तक यह फूलना और फूलकर आगे सृष्टि करने का क्रम चलता है, तत्त्वज्ञान से वह शक्ति समाप्त हो जाने के बाद फूलना आदि नहीं होता।।२२-३।।

श्रुतिके अन्न-शब्द का अर्थ बताते हैं **तदनन्तर अक्षर से वह अन्न पैदा होता है जो भोग्य वस्तुओं का अंकुर कहा गया है। व्यक्त होने की इच्छा वाली स्थिति में आया अव्यक्त इस प्रसंग में अन्न बताया जा रहा है।।२४।।** जीव जिन्हें स्वकर्मानुसार भोगेगा वे भूत-भौतिक पदार्थ भोग्यवर्ग है, उसके उत्पादन के संस्कारों वाली माया अन्न है। अव्यक्त ही जब विचारपूर्वक व्यक्त होने की इच्छा करता है तब अन्न कहा जाता है क्योंकि समस्त अन्न का वह कारण है। भूतयोनि अक्षर की ही उपाधि है अव्यक्त, उस उपाधि द्वारा ही अक्षर अभिव्यक्ति की इच्छा वाला बनता है अतः अक्षर ही अन्नदशा को प्राप्त हुआ यह अभिप्राय है।।२४।।

प्राण, मन और सत्त्य शब्दों का अर्थ करते हैं **अन्नके बाद उस अन्नावस्था को प्राप्त अक्षर से प्राण, मन और सत्त्य बने। प्राण का स्वरूप है क्रियाशक्ति, मन है ज्ञान का साधन और पाँचों महाभूतों को सत्त्य कहते हैं।।२५।।** सृष्टि-प्रक्रिया में पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तरोत्तर पदार्थ का कारण कहा जाये तो यह समझना चाहिये कि तात्पर्य उस पदार्थ को कारण कहने में नहीं वरन् उस पदार्थ का रूप धारण करने वाले ब्रह्म को ही कारण कहने में है। कारण सर्वत्र ब्रह्म को बताना है, उसकी कारणता जिन-जिन उपाधियों में व्यक्त होती है उन्हें उपचार से कारण कह दिया जाता है। अतः यहाँ अन्न से प्राण बना कहने का अर्थ है कि अन्नभाव को प्राप्त ब्रह्म से प्राण बना। प्राण का भाष्यकार ने अर्थ किया है हिरण्यगर्भ। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति वाले सूक्ष्म शरीरों

ततो भूम्यादयो लोका ज्योतिष्टोमादिकर्मसु।
अमृताख्यं स्वर्गफलम् इत्थं सर्वमजायत।।२६।।

की समष्टि जिसकी उपाधि है वह हिरण्यगर्भ है, उसीको क्रियाशक्ति वाले के रूप में प्राण और ज्ञानशक्ति वाले के रूप में मन कहा है। प्राण व मन यहाँ समष्टि को कहा गया है, विभिन्न जीवों के प्राणों व मनों को नहीं। पूर्व श्लोक में अन्न को भोग्यवर्ग का अंकुर कहा था अतः उस अंकुर से बने हैं तो प्राण व मन भोग्य वर्ग में समझने पड़ेंगे। बृहदारण्यक में वाक् और प्राण को अन्नों में गिना भी है (बृ.१.५.३)। भोग के अनिवार्य साधन होने से ये भोग्यवर्ग में गिने जा सकते हैं। अपनी क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति के अभिमान से सुखादि भी होता ही है, 'मैं बहुत कार्य कर सकता हूँ, बहुत जानता हूँ' इन अभिमानों से प्रसन्नता लोकसिद्ध है इसलिये भी इन्हें भोग्य कहना ठीक है। मन व प्राण के बाद सत्-त्य नामक पाँचों महाभूत पैदा हुए। पृथ्वी, जल और तेज इन तीन मूर्त, सरूप भूतों को सत् और वायु-आकाश इन दो अमूर्त भूतों को त्य कहते हैं यह भी बृहदारण्यक (२.३) में बताया है।।२५।।

लोक, कर्म और अमृतका अर्थ बताते हैं **उसके अनन्तर भूमि आदि लोक बने जहाँ ज्योतिष्टोम आदि कर्म कर लेने पर अमृत-नामक स्वर्गरूप फल मिलता है। इस तरह सभी कुछ अक्षर से उत्पन्न हुआ।।२६।।** जहाँ प्राणी रहकर विषयों का उपभोग कर सके वे यहाँ लोक कहे हैं अर्थात् भोगभूमियाँ। केवल भोग किया तो कुछ समय बाद वह समाप्त ही हो जायेगा! ऐसी परिस्थिति न आये इसलिये कर्म बनाये गये। जीव भोग के साथ अच्छे-बुरे कर्म भी करता है जिनके फलस्वरूप हमेशा कोई न-कोई भोग मिलते रहते हैं। कामनाओं की पूर्ति का साधन कर्म है। सुख की कामना पुण्य से पूरी होती है, पाप दुःख की इच्छा पूरी करता है। 'मैं दुःख चाहता हूँ' ऐसा लगता नहीं लेकिन जो निश्चित रूप से दुःखोपाय हैं उन्हें अपनाना एवं जिनसे अपना कोई मतलब नहीं ऐसी चिन्ताएँ पालना सूचित करता है कि दुःख की भी इच्छा छिपी है। ईश्वर ने कर्म बनाये अर्थात् निर्धारित किया कि अमुक क्रियाकलाप का फल सुख होगा, अमुक क्रियाओं का फल दुःख होगा। उन कर्मों के अनुष्ठान से उचित फल मिलता रहता है। बुद्धिमान् सुखद कर्म ही करते हैं अतः उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग को अमृत इसलिये कहते हैं कि इहलोक की अपेक्षा वहाँ दीर्घकाल तक और अत्यधिक मात्रा में सुख है। स्वर्ग सर्वथा अमृत नहीं है क्योंकि पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग छूट जाता है। इस प्रकार अन्नादि क्रम से कर्मफलपर्यन्त सारे संसारकी सृष्टि हुई।।२६।।

औपाधिकं कारणत्वम्

ब्रह्मैव जगदाकारं स्याच्चेत् तद् विकृतं भवेत्।
नो चेज्जगद् न जायेतेत्यत्र प्रतिविधीयते।।२७।।
निरुपाधि ब्रह्मतत्त्वं जगदाकारभाङ् न हि।
मायोपाधिक एवाऽयं सर्वज्ञः सृजते जगत्।।२८।।

अक्षर ब्रह्म की जगद्धेतुता को शंका समाधान से उपपन्न करते हैं **ब्रह्म ही यदि जगत् के आकार का हो जाये तो मानना पड़ेगा कि ब्रह्म परिवर्तनशील है (फिर वह अक्षर, अव्यय नहीं रह जायेगा)। यदि ब्रह्म जगत् का आकार न ले तो जगत् उत्पन्न ही नहीं हो पायेगा! इस प्रकार दोनों पक्षों में असंगतता प्रतीत होने पर (अगले मंत्र द्वारा) उपपत्ति बतायी जाती है।।२७।।** जैसे अंकुरादि क्रम से वृक्ष बन जाने पर बीज नहीं बच जाता वैसे ब्रह्म से संसार बन जाने पर ब्रह्म नहीं बचना चाहिये! ब्रह्म को जगत् का उपादान मानते ही उसमें विकारकी, परिणामकी, बदलावकी प्रसक्ति होती है। 'पहले ब्रह्म था, अब संसार हो गया' अर्थात् अब ब्रह्म नहीं रहा ऐसा समझ आता है। कुछ विचारक मानते भी हैं कि सृष्टि से पूर्व अद्वैत था, सृष्टि काल में द्वैत है, सृष्टि समाप्त हो जायेगी तब फिर अद्वैत हो जायेगा! कुछ अन्य मानते हैं बंधकाल में द्वैत है, मोक्ष में अद्वैत हो जायेगा किन्तु पुनः बंधन व द्वैत प्रकट हो जायेगा। इस प्रकार स्वीकारने से ब्रह्मको बदलने वाला मानना पड़ता है और बदलने वाली चीज़ नित्य निर्विकार ब्रह्म हो नहीं सकती। इससे बचने के लिये कहें कि ब्रह्म जगत् का आकार नहीं लेता, तो समस्या है कि फिर कौन है जिसने जगत् का आकार लिया? वह यदि ब्रह्म से अलग है तो ब्रह्म व्यापक नहीं रहा, वस्तुपरिच्छेद वाला हो गया और जो कुछ परिच्छिन्न होता है वह नश्वर होने से ब्रह्म नहीं हो सकता। अतः वह वास्तव में ब्रह्म भी है और जगत्कारण भीदोनों बातों का सामंजस्य कैसे? यह शंका है। इसके समाधान के लिये मंत्र है 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।।' (१.१.६)।। इसे समझाते हुए उक्त असंगति दूर की जायेगी।।२७।।

जैसे विकृत हुए बिना ही रस्सी सर्पादि बन जाती है वैसे ब्रह्मको बदलना भी नहीं पड़ता और जगत् भी बन जाता है। इस व्यवस्था को माया की संकल्पना के सहारे समझाया जाता है **बिना उपाधि का अक्षर ब्रह्म जगत् का आकार नहीं ग्रहण करता वरन् माया-उपाधि वाला होकर सर्वज्ञ हुआ वही अक्षर जगत् उत्पन्न करता है।।२८।।** जैसे मंदान्धकार रूप उपाधि वाली रस्सी ही साँप बनती है, उस

सामान्यवृत्त्या सर्वज्ञो विशेषेण च सर्ववित्।
ज्ञानमेव तपोऽस्याऽस्माज्जगद् वेदाद्यजायत।।२९।।

उपाधिके बिना नहीं, वैसे अज्ञानरूप माया-उपाधि वाला ब्रह्म ही जगत् बनता है, बिना उस उपाधि के नहीं। हमें साँप दीखते समय भी जैसे स्वयं रस्सी यथावत् है वैसे जगत् की प्रतीतिदशा में भी स्वयं अर्थात् उपाधिरहित ब्रह्म भी निर्विकार सच्चिदानंदमात्र ही है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, वह जो सर्वज्ञ बना, सब कुछ जानने वाला बना, उसके लिये उसे मायाकी उपाधि ओढ़नी पड़ी। सर्वज्ञ बनकर ही उसने जगत् की रचना की। अतः जगत्कारण बनने के लिये ब्रह्म उपाधिवाला होता है जिससे उसकी वास्तविक निर्विकारता सुरक्षित रहती है। 'यः सर्वज्ञः' आदि मंत्र से पूर्वोक्त शंकाका ऐसा समाधान निकालना विद्यारण्यस्वामी की विशेषता है, भाष्य में इस मंत्र को केवल उक्तार्थका उपसंहार करने वाला बताया है।।२८।।

श्रुति के सर्वज्ञ और सर्ववित् पदों का भाव बताते हैं **अक्षर ब्रह्म सामान्यतः सब जानने से सर्वज्ञ और विशेषतः सब जानने से सर्ववित् है। ज्ञान ही उसका तप है। उसीसे वेद आदि सारा जगत् उत्पन्न हुआ।।२९।।** यद्यपि सर्वज्ञ-सर्ववित् पर्याय हैं तथापि साथ-साथ प्रयोग है तो इनका अर्थभेद विवक्षित है। पदार्थों में जो समानता है उस स्तर पर पदार्थों को जानना उनका सामान्य ज्ञान है तथा हर-एक पदार्थ में अन्यों से जो विषमताएँ हैं उन्हें समझना भी पदार्थों को जानना है जिसे उनका विशेष ज्ञान कहते हैं। हमने अपना शहर देखा है। दुनिया में और बहुत-से शहर हैं। सब शहरों में कोई समानता है तभी सबको शहर कहा जाता है। वह समानता हमारे शहर में भी मौजूद है अन्यथा इसे शहर न कहा जाता। अपने शहर में जो सारी दुनिया के शहरों की समानता है उसे हम जानते हैं अतः कह सकते हैं कि हम सब शहरों को जानते हैं क्योंकि हमें पता है कि शहर क्या होता है।

यह हुआ समस्त शहरों का सामान्य ज्ञान। जिन शहरों में घूमकर हम उनकी खासियतें जानते हैं उनका हमें विशेष ज्ञान माना जायेगा। सुनार सोने की परीक्षा सीख जाता है तो उसे सारी दुनिया के स्वर्ण का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो गया किन्तु इससे अलग-अलग जगहों में सोनों की विशेषताओं का, मात्रा आदि का ज्ञान नहीं होगा। परमात्मा सामान्य और विशेष दोनों तरह से सब कुछ जानता है अतः उसे सर्वज्ञ-सर्ववित् दोनों कहा। हर जीवके प्रत्येक कर्म को न जाने तो संसार का संचालन ही असंभव है अतः सर्ववित् होना ज़रूरी है। किसे कब कहाँ किससे कितना क्या मिलना हैइसे

जगत्कारणमद्वैतं ज्ञातव्यं परविद्यया।
ज्ञातेऽस्मिन् सर्वजगतस्तत्त्वं यत्तद् विबुध्यते।।३०।।

निर्धारित करने के लिये विशेषतः जानकारी चाहिये ही। और सबको साधारण रूप से जो कुछ मिलता रहना है उसकी जानकारी भी ईश्वर को होना आवश्यक है अतः उसकी सर्वज्ञता भी ज़रूरी है। जिनकी उत्पत्ति करनी है उन सभी पदार्थों का ज्ञान ही अक्षर का तप है, अन्य कोई प्रयाससाध्य कृच्छ्र आदि परमात्मा का तप नहीं है। मायोपाधिक अक्षर इस ज्ञानरूप तप से सारे संसार को उत्पन्न करता है। जगत् को वेदादि कहा क्योंकि वेद-शब्दों से ही जगत् का प्रारंभ बताया है अर्थात् परमात्मा वेद के शब्द याद करते गये, बोलते गये और उन शब्दों के अर्थों को, पदार्थों को, चीज़ों को बनाते गये। वेदादि शास्त्र भी निःश्वास न्याय से अक्षर ने ही प्रकट किये हैं। सूत्रों में इसीलिये ब्रह्म को शास्त्रयोनि कहा। आस्तिक ही नहीं नास्तिकादि शास्त्रों का भी कारण अक्षर ही है क्योंकि अन्य तो कोई स्वतंत्र कारण है ही नहीं। वेद तथा सभी ज्ञानों का वही चरम उपदेष्टा है। मंत्रमें आये 'ब्रह्म' शब्द का यहाँ वेद अर्थ बताया। भाष्यकार ने कार्यब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ को यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ कहा है। दोनों अर्थों में ब्रह्म शब्द प्रचलित है अतः दोनों व्याख्यायें ठीक हैं। मंत्रके नाम-रूप-अन्न का मतलब है कि देवदत्त-यज्ञदत्तादि सब चीज़ों के अलग-अलग नाम, सफेद-काला आदि अलग-अलग रूप तथा चावल जौ आदि अन्नये सब भी उसी सर्वज्ञ सर्ववित् से पैदा हुए।।२६।।

प्रथम मुण्डकके प्रथम खण्ड की व्याख्या समाप्त करते हैं। **जगत् का कारण जो अद्वैत अक्षर, उसे परा विद्या द्वारा जान लेना चाहिये क्योंकि उसे जान लेने पर सारे जगत् की वास्तविकता समझ आ जाती है।।३०।।** माया को दृष्टि में लाकर समझाया यह कि अद्वितीय अक्षर ही जगत् का कारण है। जैसे साँप मंदांधकार से नहीं वरन् रस्सी से बनता है किन्तु तब जब मंदांधकार हो, उसी तरह जगत् बनता ब्रह्म है लेकिन जब अज्ञान हो तब। इस अद्वितीय ब्रह्म को ही परा विद्या बताती है। अक्षर के ज्ञान से ही संभव है कि सब कुछ जाना हुआ हो जाये। क्योंकि सारा जगत् वास्तव में है ही नहीं इसलिये इसका 'तत्त्व' समझना यही है कि पता चल जाये कि सत्य एक अक्षर है, बाकी सारा जगत् असत्य है, प्रतीतिमात्रसिद्ध है। इस समझके बाद ही उपरति प्रतिष्ठित होती है, वैराग्य की चरम सीमा आती है।

हीरा वास्तव में कोयला है। इस सत्य को जान चुकने पर हीरे की तरफ आकर्षण स्वतः समाप्त हो जाता है। ऐसे ही जगत् की वास्तविकता केवल अद्वितीय ब्रह्म है यह

अपरा विद्या

अपरा वेदविद्या तु कर्मानुष्ठानमार्गतः।
साधनं परविद्यायाः सत्यं तत् कर्मणः फलम्।।३१।।
काम्यकर्मफलं स्वर्गो नित्यकर्मफलं धियः।
शुद्धिस्तच्चोभयं कर्मकृत्वाऽवश्यमवाप्नुयात्।।३२।।

निश्चय हो जाने पर नाम-रूप का वैविध्य आकर्षक नहीं रह जाता। झूठ चाहे हज़ार तरह बोला जाये, सत्य के मुकाबले उसकी कीमत कुछ नहीं है; नाम-रूप मिथ्या होने से अनंत तरह के हैं लेकिन सत्य ब्रह्मके मुकाबले उनकी कोई कीमत नहीं है। काँच में अपना मुँह देखते हैं, उस प्रतिबिंब का कारण तो हमारा मुँह ही है किन्तु मुँह में किसी तरह का विकार नहीं आता प्रतिबिंब बन जाने पर भी; इसी तरह अव्यक्तरूप उपाधि से ब्रह्म सारा जगत् बन भी जाता है और स्वयं अविकृत ही बना रहता है। उपाधि तो काँच और अव्यक्त, माया दोनों हैं किन्तु एक फ़र्क हैकाँच मुख से अगल वस्तु है जबकि माया की ब्रह्म से अलग कोई सत्ता नहीं है। उपाधि का कार्य है बिना परिवर्तन के परिवर्तनकी प्रतीति कराना, यह कार्य जैसे काँच करता है वैसे अव्यक्त भी, लेकिन काँच मुखसे स्वतन्त्र है, अव्यक्त ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं है। किं च काँच बहुतरे हैं, एक टूट जाये तो दूसरा मिल जायेगा, किन्तु अव्यक्त अनादि एक ही है अतः उसका बाध हो जाने पर पुनः बंधन की संभावना नहीं रह जाती। अव्यक्त अज्ञानरूप है, ज्ञान से निवृत्त हो जाता है। क्योंकि अक्षर का ज्ञान सारे जगत् की वास्तविकता का ज्ञान बनते हुए मोक्ष का उपाय हो जाता है इसीलिये 'ज्ञातव्य' कहा, इसे अवश्य जानना चाहिये। यहाँ तक प्रथम मुण्डकके प्रथम खण्ड का व्याख्यान हुआ।।३०।।

द्वितीय खण्ड अपरा विद्याका विषय उपस्थापित करता है ताकि उससे निर्वेद सिद्ध हो। उपनिषत् का वाक्य है 'तदेतत् सत्यम्। मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।।'१.२.१।। तीन श्लोकों से इसे समझाते हैं **अंगों सहित वेदका ज्ञान अपरा विद्या है जो परा विद्या के लिये साधन बन जाती है यदि अपरा विद्या से ज्ञात कर्मों का विविदिषा में विनियोग-पूर्वक अनुष्ठान किया जाये। शास्त्रोक्त विनियोगानुसार कर्म अपना फल अवश्य देते हैं।।३१।। विषय-कामना से प्रेरित होकर किये शास्त्रीय कर्मों का फल स्वर्ग (सुख) है। जिन्हें कर्तव्य रूप से करना आवश्यक कहा गया है उन नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध**

हे सत्यकामाः कर्माणि मन्त्रब्राह्मणदर्शिनः।
कुरुध्वमेष वः पन्था भोगमोक्षप्रसिद्धये।।३३।।

होता है। यथाधिकार कर्मानुष्ठान से ये दोनों फल अवश्य मिलते हैं, यही कर्मों की सत्यता है।।३२।। हे सत्येच्छुको! मन्त्रों व ब्राह्मण वाक्यों के जानकारो! कर्म करो। तुम्हें भोग व मोक्ष मिले इसके लिये यह मार्ग है।।३३।। पूर्व खण्ड में अपरा विद्या बता चुके हैं, परमात्मज्ञानसे अतिरिक्त जो कुछ वेद ने बताया वह अपरा विद्या है। प्रधानतः कर्म और उपासनाएँ अपरा विद्या का विषय है। साधक उनका अनुष्ठान करे तो चित्तशुद्धि होकर उसे आत्मज्ञान के योग्य बना देती है तथा जिन कर्मों का उसने विविदिषार्थ अनुष्ठान किया है वे ही उस सामग्री को भी एकत्र कर देते हैं जो ज्ञानोत्पत्ति और ज्ञानपरिपाक के लिये चाहिये। इसलिये अपराको परा का साधन कहा। कर्मफल-व्यवस्था सत्य है अर्थात् अवश्य होती है। लौकिक कर्म तो फल देते भी हैं, नहीं भी देते, उलटा फल भी दे देते हैं, किन्तु शास्त्रीय कर्म सही तरह संपन्न किया जाये तो फल देता ही है। किंच वैदिक कर्म यदि विषय-भोगों के प्रयोजन से न कर परमात्मप्राप्ति के उद्देश्य से ही किया जाये तो परमार्थ सत्य के ज्ञान का उपाय बन जाता है इसलिये भी इसकी सत्यता है। धनार्जन के लिये लौकिक उपाय करने में अनेक कुकर्म अवर्जनीय हैं जिनसे चित्त में अशुद्धि और पाप होता है, यदि धनार्जन के लिये ही श्रीसूक्त का जप-होमादि किया जाये तो बिना किसी अशुद्धि के धन मिल जाता है बल्कि कुछ-न-कुछ शुद्धि भी हो जाती है। इसलिये कर्मफल को श्रुति ने सत्य कहा। शास्त्रोक्त कर्म दो प्रकार के हैंकुछ कर्म हैं जिन्हें स्वाधिकारानुसार करना अनिवार्य है, उन्हें न करना तो दोषावह है, करने से कोई विषयलाभात्मक फल नहीं मिलता। ऐसे कर्म नित्य कहे जाते हैं। हेतुविशेष से जो नित्य कर्म किये जाते हैं उन्हें नैमित्तिक कहते हैं, हैं वे नित्य का ही भेद। दूसरे प्रकार के कर्म वे हैं जो विभिन्न विषयरूप फल प्रदान करते हैं, जिसे उन फलों की इच्छा हो वह उन कर्मों को करे और फल पाये, जिसे उन फलों की कामना नहीं वह उन कर्मों को न करे तो कोई दोष नहीं लगता। इस तरह के कर्म काम्य कहे जाते हैं, कामना से प्रेरित होकर किये जाने वाले। नित्यकर्म विषयलाभ तो नहीं देते किन्तु उनका यह फल अवश्य होता है कि बुद्धि शुद्ध हो जाती है। वेद ने ही 'विविदिषन्ति' (बृ.४.४.२२) के द्वारा समस्त कर्मों का आत्मज्ञान में भी विनियोग बताया है अर्थात् 'मुझे परमात्मज्ञान प्राप्त हो' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी कर्म किये जा सकते हैं। जब ज्ञानार्थ किये जायेंगे तब वे विषयफल नहीं देंगे, विषयार्थ किये गये तो ज्ञानफल नहीं देंगे। नित्यों का विषयफल

अग्निहोत्रं जुहोत्यादौ कुर्याद् दर्शादिकान् अथ।
तदभावे जन्मसु स्यात् सप्तस्वेतस्य दुर्गतिः।।३४।।

है नहीं अतः वे प्रत्यवाय-निवृत्ति द्वारा चित्तशुद्धि करते हैं। यह शास्त्रीय अटल व्यवस्था है। श्रुति ने सत्य-प्राप्ति चाहने वालों को सम्बोधित कर कर्म करने में प्रेरित किया है। सत्यप्राप्ति के दोनों अर्थ हैंजो परमार्थ सत्य ब्रह्म को चाहते हैं वे विविदिषा से प्रेरित होकर कर्म करें। जो ब्रह्मके तो इच्छुक नहीं लेकिन ऐसा साधन चाहते हैं जो अवश्य सत्फल दे, वे काम्य कर्म करें। काम्य कर्म क्योंकि पापरहित है इसलिये सत्फल ही देगा और ज़रूर देगा। लौकिक उपायों की सफलता अनिश्चित है और उनमें पापका मिश्रण रहता है अतः असत्-फल, दुःख भी देते हैं। जो न ब्रह्म चाहे और न निश्चित साधन का सहारा लेना चाहे वह लौकिक कर्मों से ही जीवन गुज़ारे! आज अधिकतर ऐसे ही लोग हैं अतः वैदिक कर्मों की तरफ अत्यल्प प्रवृत्ति है। वैदिक मार्ग पर न चलने का एक कारण वेदप्रामाण्य पर अश्रद्धा भी है किन्तु श्रद्धालुओं में भी कई हैं जो 'सत्यकाम' न होने से कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते। 'सत्यकाम' बनने के लिये 'मन्त्रब्राह्मणदर्शी' होना पड़ता है। जिसने मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद का स्वाध्याय और उसकी मीमांसा की है, जो स्वभावसे वेदों को देखता रहता है, उनका विचार करता रहता है वही सत्यका कामुक बन पाता है। साधारण जीव तो मिथ्या की ही कामना कर सकते हैं। सत्यकाम यदि भोग चाहे तो भी कर्म करे और मोक्ष चाहे तो भी कर्म करे क्योंकि मार्ग यही है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी दृष्टि से अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के पालन पर ज़ोर दिया कि भोगका तो वही साक्षात् उपाय है और मोक्ष का भी वही प्रारंभिक उपाय है। जो स्वधर्म का ही पालन नहीं करता वह मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ ही नहीं सकता। इतना याद रखना चाहिये कि गीता दुनियादारी के, राजनीति, व्यापार आदि के कार्यों में उलझे रहने को नहीं कहती वरन् यथाशास्त्र कर्तव्य-पालन के लिये प्रेरित करती है। इस प्रकार अपरा विद्या की विशेषता प्रकट की कि भोग-मोक्ष दोनों की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग है।।३१-३।।

कर्तव्यों से विमुख बिना हुए जो विधिवत् धर्मपालन करता है उसे वह आचरित धर्म सद्गति प्रदान करता है यह सूचित करते हैं **कल्याणेच्छुक को चाहिये कि अधिकार प्राप्त होते ही अग्निहोत्र ग्रहण कर अग्निपरिचर्या प्रारंभ करे। तदनन्तर यथोचित समयों पर दर्श, पौर्णमास आदि का अनुष्ठान करता रहे। यह सब न किया तो सात जन्मों तक अधिकारी की दुर्गति होगी।।३४।। काली, कराली आदि नामक अग्निज्वालाओं में यथाविधि होम करने वाले को**

काल्यादिवह्निजिह्वासु होतारं तं यथाविधि।
आहुत्याख्या देवतास्ता इन्द्रलोके नयन्ति हि।।३५।।
प्रियं वदन्त्य एहीति वहन्त्यः सूर्यरश्मिभिः।
पुण्यार्जितो लोक एष इत्युक्त्वा प्रापयन्ति तम्।।३६।।

आहुति नामक देव इंद्रलोक ले जाते हैं यह निश्चित है।।३५।। सूर्य की रश्मियों द्वारा यजमान को ले जाते हुए, 'आइये, यह आपका पुण्य से अर्जित भोगस्थान है' यों प्रियवचन बोलकर वे देव कर्मानुष्ठाता को स्वर्ग पहुँचा देते हैं।।३६।। वेद ने गृहस्थ के नित्य कर्मों में अग्निहोत्र को गिना है। अन्य वैदिक कर्मों में प्रायः वही अधिकारी होता है जिसने अग्निहोत्र ग्रहण कर रखा है। अग्निहोत्री के लिये दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास, आग्रयण आदि कर्म समय-समय पर करना आवश्यक है, इन्हें न करना महान् दोष का हेतु बनता है। नित्य-नैमित्तिक का सावधानी से अनुष्ठान न करने वाले की सात जन्मों तक दुर्गति बतायी है, इसीसे इनकी अवश्यकर्तव्यता के प्रति श्रुति का आदर स्पष्ट हो जाता है। कर्म अत्यंत समर्थ है, निष्कामभावसे किया जाये तो मोक्ष पाने का सहायक है, सकामभाव से किया जाये तो असीम भोग देता है और यदि उसकी उपेक्षा की जाये तो अत्यन्त दुर्गति भी प्रदान कर देता है। जैसे लोक में समर्थ व्यक्ति की आज्ञा का पालन करने से पुरस्कार और उल्लंघन करने से दण्ड मिलता है, तभी उसका शासन चलता है, वैसे ईश्वर का शासन भी इसी न्याय से चलता है, श्रुति-स्मृति में उनकी आज्ञायें बतायी गयी हैं जिनके पालन से सद्गति और उल्लंघन से नरकादि-प्राप्ति होती है। कर्म के क्षेत्र में शास्त्रानुसार आचार करना चाहिये, मनमाने तरीके से याग पूजा आदि करना उचित फल नहीं दे सकता। अग्नि की सात जीभें कही गयी हैं, वे ज्वाला रूप हैं, उन्हीं में तत्तद् देवता के उद्देश्य से आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। उन समर्पित आहुतियों के अधिष्ठाता देवता ही यजमान को स्वर्गादि उचित लोकों तक पहुँचाते हैं। जैसे नरक ले जाते समय यमदूत अत्यन्त, क्रूर बातें सुनाते हैं वैसे स्वर्ग ले जाते हुए आहुति देव अत्यंत प्रिय बातें सुनाते हैं। दूसरे खण्ड के छठे मंत्र तक का विषय स्पष्ट किया।।३४-६।।

अपरा विद्या का साधारण प्रभाव भोगप्राप्ति बताकर उसका विशेष प्रभाव परा विद्या में अधिकारी बनाना है यह स्पष्ट करते हैं **पूर्वोक्त फल उन कर्मों का है जो विषय-कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं। विषयों के लिये नहीं वरन् ईश्वर को समर्पित, ईश्वरकी प्रसन्नता के लिये जो कर्म किया जाता है उसका फल यह निश्चय प्राप्त करना है कि संसार छोड़ने के ही लायक है। इस निश्चय का**

काम्यकर्मफलं प्रोक्तम् ईश्वरार्पितकर्मणः ।
फलं संसारहेयत्वबुद्धिः साऽथ विविच्यते ।।३७ ।।
क्षुद्रायास्तरणं नद्याः प्रसिद्ध्यत्यदृढैः प्लवैः ।
न समुद्रस्य यज्ञश्च तद्वच्छिथिलसाधनम् ।।३८ ।।
तेनाप्नोति स्वर्गमात्रं न तु मोक्षं तथा सति ।
कर्मनिष्ठा जरामृत्यू प्राप्नुवन्ति पुनः पुनः ।।३९ ।।

विश्लेषण अब किया जाता है ।।३७ ।। राग-द्वेष अंतःकरण के मल हैं, इन्हें वह कर्म दूर करता है जो विषयोद्देश्य से नहीं बल्कि परमेश्वर-प्रसन्नतार्थ किया जाता है। कर्म वे ही हैं, उन्हें करने का प्रयोजन बदल जाने से उनका प्रभाव बदल जाता है। शुद्ध मन में वैराग्य का आविर्भाव होता है। हम फलेच्छा छोड़कर थोड़े से कर्म ईश्वर को अपिर्त करते हैं तो प्रसन्न होकर वे हमारी सारी इच्छाओं को समाप्त कर देते हैं, यह उनकी परम दयालुता है। विषय-कामना मिटने पर संसार की अनित्यता, अस्थिरता स्पष्ट दीखती है और संसार ग्रहण करने योग्य नहीं लगता। स्वर्ग तक भी पहुँच जायें फिर भी पुण्य क्षीण होने पर नीचे गिरना ही पड़ता है, यह जब स्फुट हो तब शुद्धमना साधक वही प्राप्त करने का प्रयास करता है जो नित्य है, स्थिर है। संसार अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाह को छोड़ने के उपायका ही वह अन्वेषण करता है। संसार त्यागने योग्य है इस निश्चय को आगे के श्लोकों से स्पष्ट करेंगे।।३७।।

उपनिषत् ने नौकाके रूपक से कर्मों को मोक्ष के लिये अपर्याप्त बताया है 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।।'१.२.७।। अर्थात् उपासना-रहित कर्म कच्ची नौका हैं, उन्हीं को परम कल्याण का साधन मान बैठने वाले मूर्ख ही हैं क्योंकि उनसे मृत्यु-बंधन छूटता नहीं। इसे समझाते हैं **कमज़ोर नावों से छोटी नदी पार की जा सकती है, समुद्र नहीं। कमज़ोर नावों की तरह यज्ञ कमज़ोर साधन है (जबकि संसार अपार समुद्र है! उनसे इसे पार नहीं किया जा सकता)।।३८।। यज्ञों से स्वर्ग तो मिल सकता है, मोक्ष नहीं, अतः सिर्फ़ कर्मों में लगे रहने वाले बारंबार बूढ़े होकर मरते रहते हैं।।३९।।** नाव छोटी, थोड़े-बहुत छेदों वाली भी हो तो उस पर छोटी नदी पार की जा सकती है क्योंकि जब तक नाव में पानी भरे उससे पहले ही परले किनारे पहुँच जाते हैं, नदी का वेग भी कम होता है, गहराई भी ज्यादा नहीं होती। किन्तु समुद्र पार करना हो तो ऐसी नावें किसी काम नहीं आती! इसी प्रकार विषयकामनाओं की पूर्ति करने में तो

ज्ञानवद् वैदिकत्वेन कर्मणो मुक्तिहेतुता।
अस्तीति चेद् न संसारमूलहेत्वनिराकृतेः।।४०।।
अविद्या संसृतेर्मूलम् एतस्यामेव कर्मिणः।
वर्तन्ते न तु जानन्ति ब्रह्मात्मानं सदद्वयम्।।४१।।

यज्ञादि कर्म सक्षम हैं लेकिन जन्म-मृत्यु के अपार संसार की निवृत्ति कर पाने की इनमें सामर्थ्य नहीं है। विषयाभिलाषा पूरी होने पर सुख मिलता है, उतने ही सुख को कर्म दे सकता है। मोक्ष असीम सनातन सुख है, कर्म उसे नहीं दे सकता। मोक्ष के लिये परमेश्वर की शरण लेनी ही पड़ेगी। जो कर्मनिष्ठ हैं वे ईश्वर से सरोकार नहीं रखते, कर्म को ही पर्याप्त मानते हैं। कहते भी हैं 'हम ईमानदारी से अपना काम करते हैं, किसी से अन्याय नहीं करते, हमें मंदिरों में माथा टेकने की क्या ज़रूरत?' अनेक शास्त्रीय कर्म करने वाले भी इसी मानसिकता वाले होते हैं, वे यही मानते हैं कि 'देवता कर्मों के, मंत्रों के अधीन हैं, हम जैसा फल चाहें वैसा अनुष्ठान करेंगे तो देवताओं को बलात् हमें वह फल देना पड़ेगा।' इस प्रकार के लोग कर्म-फलव्यवस्था के अनुसार चलते रह सकते हैं लेकिन इसके बधंन से छूट नहीं सकते। कर्म की यह सीमा है, वह संसार के अंतर्गत ही फल दे सकता है, संसार से बाहर नहीं ले जा सकता, उसके लिये परमेश्वर का ही सहारा काम आता है।।३८-९।।

कर्म से नहीं तो ज्ञानसे भी मोक्ष क्यों हो सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **जैसे ज्ञान वेदप्रतिपादित है वैसे कर्म, तो ज्ञान की तरह कर्म भी मोक्षप्रद क्यों न माना जाये? इसलिये कि संसार का मूलकारण है अज्ञान और कर्म अज्ञान को नष्ट नहीं करता।।४०।। जन्म-मृत्यु आदि परिवर्तनों वाला बनते रहने का हेतु आत्मस्वरूप का अज्ञान है तथा कर्मानुष्ठाता इस अज्ञान के अंतर्गत ही रहते हैं, प्रत्यग्रूप अद्वितीय सद्वस्तु को वे जानते नहीं कि वह अज्ञान मिट सके।।४१।।** शास्त्र मानने वालों के सामने यह प्रश्न अवश्य आता है कि जब कर्म और ज्ञान दोनों शास्त्रोक्त साधन हैं तब एक को हेय, दूसरे को उपादेय मानने का क्या आधार? एक गंतव्य के अनेक मार्गों की तरह मोक्ष के अनेक उपाय क्यों नहीं हो सकते? प्रसिद्ध विद्वानों ने कर्म, भक्ति, योग आदि कई साधन माने हैं, उन्हें भी क्यों न स्वीकारा जाये अतः इन प्रश्नों का उत्तर समझना ज़रूरी। शास्त्रीय कर्मों के फल भी शास्त्र ने बताये हैं। मोक्ष को एक जगह भी वेद ने किसी कर्म का फल नहीं कहा। तब कर्म से मोक्ष मानना वेदानुसारी कैसे होगा? बल्कि यह वेद ने अनेक जगह कहा है कि कर्म से मोक्ष

नहीं होता, ज्ञान के अलावा मोक्ष का कोई उपाय नहीं, 'न कर्मणा न प्रजया', 'नान्यः पन्था विद्यते' इत्यादि। इसलिये कर्म शास्त्रोक्तसाधन अवश्य है पर जिस साध्य के लिये विनियुक्त है उसी के प्रति साधन है, मोक्ष के लिये विनियुक्त न होने से वह मोक्षका साधन भी नहीं है। किंच कर्म को मोक्षोपाय कहना असंगत भी है : संसार बंधन के मूल कारणको हटाने से ही मोक्ष होगा यह सर्वमान्य है। मूल कारण है आत्माकी यथार्थता का अज्ञान और कर्म का उससे कोई विरोध नहीं कि उसे हटाये, बल्कि कर्म रहता ही अज्ञानके सहारे है, हम अज्ञानवश स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानते रहें तभी कर्मों में लगे रह सकते हैं, इसलिये कर्म अज्ञान को हटाता नहीं। कर्म करते हुए लगातार अपने कर्तृत्व को दुहराना पड़ता है, भोक्तृत्व को सामने रखना पड़ता है, इससे यह कैसे संभव है कि कर्म करते-करते हम स्वयं को अकर्ता-अभोक्ता समझ जायें? गलत हिज्जे याद करते-करते सही हिज्जे मालूम नहीं चला करते। इसलिये कर्म से संसारबंधन का दूर होना न वेद-सिद्ध है, न युक्तिसिद्ध। क्योंकि संसार का कारण अज्ञान है इसलिये ज्ञान ही उसे दूर कर सकता है, लोक में भी ज्ञान ही अज्ञान को मिटाने वाला मिलता है। संसार या संसृति का मतलब है जन्म से मरण, मरण से जन्म इन परिवर्तनों में सरकते जाना। परिवर्तन तो प्रकृति में, प्रकृति के कार्य शरीर-मन में हो रहा है, आत्मा जो यह समझ रहा है कि 'मैं बदल रहा हूँ, मैं पैदा हुआ, बूढ़ा हुआ, मरूँगा' उसका कारण यही है कि उसे अपना स्वरूप पता नहीं है कि वह बदलने वाली वस्तु ही नहीं है! प्रतिदिन जाग्रत्-स्वप्न का संसार सुषुप्ति में अविद्या में लीन होकर उसीसे निकल आता है। एक शरीर छोड़ने पर सूक्ष्म शरीर भी अविद्या में ही लीन होकर किसी नये स्थूल शरीर में प्रकट हो जाता है; मरने पर सूक्ष्म देह कहाँ गया? पता नहीं, नवजात के शरीर में सूक्ष्म शरीर कहाँ से आया? पता नहीं, अतः 'पता नहीं', अज्ञान में ही गया था, वहीं से आया यह सिद्ध होता है। महाप्रलय में भी संसार अज्ञान में लीन होकर सृष्टिकाल में उत्पन्न होता है। इस प्रकार संसृति का मूल अज्ञान है यह बात विचारसिद्ध है। अज्ञान से होने वाली चीज़ें असत्य ही होती हैं जैसे रज्जू के अज्ञान से होने वाला सर्प। हमें पहला भ्रम तो यह है कि सारा भेदभिन्न जगत् सत्य है। दीखते समय तो साँप भी सच्चा लगता है, परीक्षा से पता चलता है कि असत्य है, ऐसे संसार भी दीखेगा सत्य ही, परीक्षा से पता चलाना पड़ेगा कि असत्य है। दूसरा भ्रम है कि संसार के परिवर्तनों से हम स्वयंको परिवर्तित होने वाला समझते हैं। शरीरपर्यन्त हम अहंकार से संबद्ध हो जाते हैं, उस तकको हम मैं समझते हैं, उससे आगे की चीज़ों को मेरा समझते हैं, फिर मैं

मेरा के परिवर्तनों से खुद को बदलता महसूस कर दुःखी होते रहते हैं, बंधन से जकड़ा हुआ समझते हैं। सारा संसरण मैं का है, जन्मा तो मैं, बूढ़ा हुआ तो मैं, स्वर्ग-नरक गया तो मैं। परीक्षा करनी पड़ेगी कि मैं है क्या जिसका संसरण हो रहा है? भगवान् ने कृपा कर हमें सुषुप्ति का अनुभव दे रखा है, वहाँ यह बदलने वाला मैं नहीं रह जाता, आत्मा फिर भी रहता है! उस अवस्था के चिंतन से स्पष्ट होता है कि यह मैं वास्तव में 'मैं' (आत्मा) नहीं हूँ। न केवल संसार झूठा है वरन् इसमें भटकता दीखने वाला मैं भी झूठा ही है। वास्तविक मैं तो चिन्मात्र है, सन्मात्र है, आनन्दमात्र है। इससे सिद्ध होता है कि संसार व इसमें भटकना केवल अज्ञानवश है। कर्म तो इस अज्ञान पर ही टिका है। स्वयं को ब्राह्मणादि मानो, स्वर्गादि को प्राप्तव्य मानो तभी कर्म कर सकते हो, यदि समझ आ गया कि स्वर्ग वास्तव में कुछ है ही नहीं, मैं वास्तव में ब्राह्मणादि हूँ ही नहीं, तो कर्म-प्रवृत्ति स्वयमेव लुप्त हो जायेगी। इसलिये संसारनिवृत्ति का साधन एकमात्र आत्मज्ञान ही है। कर्म को हेय साधन कहने का मतलब है कि वह मोक्षप्रद नहीं है। कर्म विषयसुख नहीं देताऐसा उसकी हेयता का अर्थ नहीं है, मुमुक्षु के लिये हेय है इतना ही कहा जा रहा है। एक गंतव्य के अनेक मार्ग हो सकते हैं किंतु अज्ञान मिटाने का तो एक ही उपाय है ज्ञान, अतः मोक्ष के अनेक उपाय संभव नहीं। विभिन्न विद्वानों ने साधन कहे तो उनके साध्य भी बताये हैं, वे साधन उन फलों में भले ही सक्षम हों किन्तु कैवल्य मोक्ष का कोई और साधन तो किसी ने बताया नहीं जो यह प्रश्न बने कि और साधनों को मान्यता क्यों न दी जाये। विभिन्न मत-मतांतर उन्हें अभिमत मोक्ष बताकर उस मोक्षका साधन भी बताते हैं। जो उन मोक्षों को चाहे वह उन साधनों का अनुष्ठान भी कर सकता है। उपनिषत् तो कैवल्य को मोक्ष कहती है और उसका साधन ज्ञान को बताती है तथा इसमें किसीका मतभेद नहीं है। कर्मकाण्डी क्योंकि अविद्या का विरोध ही नहीं करते इसलिये आत्मा वास्तव में अद्वितीय सन्मात्र है यह जान न पाने से संसृति के चक्र में ही चलते रहते हैं। ।४०-१।।

संसरण की परीक्षा में प्रवृत्त न होने वाले विवेक-विरोधी कर्मजडों को श्रुति ने कठोर शब्दों में धिक्कारा है 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।।'१.२.८।। अर्थात् जैसे अंधे को दूसरा अंधा रास्ता बताये तो कष्ट पाते हुए भटकना ही फल होता है वैसे ही कष्ट पाते रहकर संसार में वे मूर्ख भटकते हैं जो अज्ञानी होते हुए भी स्वयं को पंडित मान बैठते हैं, बुद्धिमान् समझ लेते हैं अर्थात् कर्म से ही परम पुरुषार्थ की सिद्धि की आशा में कर्म

पण्डितंमन्यतां प्राप्ताः कर्मकाण्डार्थवेदनात्।
गुरुश्च तादृगेवातो ह्यन्धनीतान्धवत् स्थिताः।।४२।।
अहं यज्वा वाजपेय-राजसूयादिभिर्मखैः।
कृतार्थ इति रागेण मत्वा भोगक्षये पतेत्।।४३।।

में ही संलग्न रहते हैं। इस मंत्र का अर्थ बताते हैं **जो लोग कर्मकाण्ड में कहे अर्थ को जानकर ही स्वयं को विद्वान् मान बैठते हैं उनके गुरु भी वैसे ही होते हैं अतः उनकी वही हालत होती है जो एक अंधे द्वारा रास्ता दिखाये जाते दूसरे अंधे की होती है।।४२।।** 'पण्डितंमन्य' का अर्थ होता है जो स्वयं को पंडित माने ('आत्ममाने खश्च' इस पाणिनि सूत्र से यह प्रयोग बनता है) किन्तु इसमें ध्वनि यह रहती है कि न वह पंडित है, न अन्य कोई उसे पण्डित मानता ही है। वेद के दो भाग हैं कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। केवल एक काण्ड जानकर ही जिसे लगे कि वेद समझ लिया वह वास्तव में पण्डित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आधा ही जानता है, तथा समूचे वेद के ज्ञाता भी उसे पंडित नहीं मानेंगे, वह भले ही स्वयं को विद्वान् समझता रहे। ऐसे लोगों की भी प्राचीनकाल से ही परंपरा चली आ रही है! आज के कर्मकाण्डी किसी गुरु से ही सीखे हैं, उन्होंने भी अपने गुरुओं से ही सीखा था, इस प्रकार वह गुरुपरंपरा भी लंबी है लेकिन हर स्तर पर अधूरे ज्ञान को ही पूरा माना जाता रहा है। अतः आधे ज्ञान वाले गुरुके चेले भी आधे ज्ञान वाले ही रहे। क्योंकि ऐसों पर ही उन्हें श्रद्धा होती है इसलिये कोई संपूर्ण ज्ञानी समझाये भी तो वे ग्रहण नहीं कर पाते, उसकी बात पर उन्हें विश्वास ही नहीं होता।।४२।।

विषयों के प्रति राग के कारण सत्य न समझने का फल बार-बार संसार गर्त में गिरना है यह मंत्र में कहा है 'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।।'१.२.९।। इसका अर्थ कहते हैं **'वाजपेय, राजसूय आदि यज्ञों का अनुष्ठान कर चुका हूँ अतः पुरुषार्थ-प्राप्ति के लिये सब आवश्यक कार्य पूरे हो गये' ऐसा मानकर जो मोक्षार्थ प्रयास नहीं करता वह पुण्य लोकों में जाकर सुख भोगता है किन्तु पुण्य क्षीण होते ही पुनः मानवादि लोकों में आ पड़ता है। कर्म को पर्याप्त मान इसलिये लेता है कि उसे विषयों में राग है, विषयलाभको ही चरम उपलब्धि मानता है।।४३।।** इस प्रसंग में उपनिषत् बार-बार बता रही है कि ये सारी गलतियाँ अविद्या के कारण होती हैं। अभिमान, कामना, कर्मशीलता, सभी में मूल कारण अविद्या है। कर्म से ही स्वयं को

वरिष्ठं कर्म मत्वाऽस्माच्छ्रेयोऽन्यद् नैव वेत्त्यसौ।
स्वर्गाद् आगत्य विप्रत्वं प्राप्नोति श्वादिजन्म वा।।४४।।

कृतार्थ समझने वाले को 'बाल' कहा। 'सर्वे क्षयान्ता निचयाः' आदि तथ्य प्रसिद्ध भी हैं, लोकदृष्ट भी हैं, उन्हें पूर्णतः उपेक्षित कर ही कोई मान सकता है कि कर्म अनन्त फल दे सकता है। विषयाभिलाषा ही प्रधान प्रतिबंधक है तत्त्वज्ञानकी ओर उन्मुख होने में।।४३।।

इसी बात को 'इष्टापूर्तम्' आदि दसवें मंत्र में स्पष्ट किया है, उसका संग्रह करते हैं **कर्मी मानता है कि कर्म ही सर्वश्रेष्ठ साधन है, उससे अन्य कोई कल्याणोपाय वह नहीं स्वीकारता अतः कर्ममात्र पर आश्रित रहता है जो उसे स्वर्ग ले तो जाता है लेकिन जल्दी ही क्षीण भी हो जाता है जिससे उस कर्मी को स्वर्ग से लौट आना पड़ता है। लौटकर वह ब्राह्मणादि या कुत्ता आदि योनि में पैदा होता है।।४४।।** 'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा' 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' आदि वाक्यों को प्रमाण उद्धृत करते हुए कर्मी लोग कर्म ही प्रधान है यह घोषित करते हैं। अन्य प्राणियों से मानव की विशेषता भी यही बताते हैं कि यह कर्मानुष्ठान कर सकता है। जो तो और भी गये-बीते हैं वे मनुष्य का महत्त्व अट्टालिकाओं, कल-कारखानों, संचारमाध्यमों से आंकते हैं! कर्मी इनसे बहुत अच्छा है, धर्म को महत्त्व का हेतु मानता है। किन्तु इसीलिये वह ज्ञानमार्ग पर चल नहीं पाता, उसे इच्छा ही नहीं होती। जैसे मकान-दुकान को ही महत्त्वपूर्ण मानने वाला पचास-सौ साल उन्हें भोग कर यम के ज़ोर से उन्हें छोड़ने को मज़बूर है वैसे कर्मी कुछ ज़्यादा समय तक स्वर्ग भोग कर उसे भी छोड़ने को मज़बूर है। स्वर्ग से लौटते हैं तो यदि पूर्व में सदाचारी रहे थे तो ब्राह्मणादि योनियों में और दुराचारी रहे थे तो कुत्ते आदि योनियों में जन्म पाते हैं। पुनः वे ही दुःख भोगने पड़ते हैं जो पिछली बार भोगे थे अर्थात् संसार में ही फँसे रह जाते हैं, कर्म का आयास कर भी कोई स्थायी फल नहीं प्राप्त कर सकते।।४४।।

स्वर्ग से लौटने पर ब्राह्मणादि या कुत्ता आदि योनियाँ पाने का निमित्त 'रमणीयचरणा ...रमणीयां योनिम्' (छा.५.१०.७) आदि श्रुति के अनुसार बताते हुए नित्य-नैमित्तिक कर्मों का प्रभाव भी सूचित करते हैं **स्वर्गादि में भोगे जा चुकों से अन्य फलदानोत्सुक कर्म यदि श्रेष्ठ हों तो पृथ्वी पर लौटकर जीव को ब्राह्मणादि उत्तम शरीर मिलता है और यदि वे कर्म खराब हैं तो कुत्ता आदि निकृष्ट शरीर मिलता है। ईश्वरार्पणबुद्धि से किये नित्य कर्मों द्वारा जिसकी बुद्धि शुद्ध हो वही संसार की**

कर्मान्तरं चेद् रम्यं स्याद् विप्रत्वं श्वादिताऽन्यथा।
असारतामिमां वेत्ति शुद्धधीर्नित्यकर्मभिः।।४५।।

यह असारता समझ पाता है।।४५।। योनिलाभ भी कर्मों पर ही आधारित है। जिन कर्मों का फल स्वर्ग में भोगना था वे तो पुण्यप्रधान ही थे, बिना अत्यधिक पुण्य लिये स्वर्ग नहीं जा सकते। जब स्वर्ग में भोग्य कर्म समाप्त हो गये तब अगले जन्म का निश्चय होगा। उस समय संचित कर्मों से कुछ कर्म निकाल कर फलोन्मुख बनाये जायेंगे। उनमें श्रेष्ठ कर्म फलप्रद हुए तो श्रेष्ठ योनि और घोर पाप कर्म फलप्रद हुए तो निकृष्ट योनि में जन्म होगा क्योंकि उन्हीं योनियों में वैसे कर्मों का फल भोगा जा सकता है। यदि मल खाना पड़े ऐसा पाप भोगना है तो सुअर ही बनना पड़ेगा। छांदोग्य में बताया है कि जिनका आचार शुद्ध होता है वे अच्छी योनि पाते हैं, दुराचारी बुरी योनि पाते हैं। इस विषय पर ब्रह्मसूत्रों में (३.१.८) काफी चर्चा है। अन्यत्र यह भी बताया है कि स्थूल कर्मों के अनुसार भोगे जाने वाले सुख-दुःखों का निर्णय होता है और उपासना, चिन्तन विचारके स्तर के कर्मों के अनुसार योनि का निर्णय होता है। कई लोग सचमुच सोचते हैं कि जानवर, पक्षी, वृक्ष बनना बड़ी अच्छी बात है, बड़े आनंद की, स्वतंत्रता की योनियाँ हैं, वहाँ मनुष्यों की तरह राजनीति आदि नहीं होती। ऐसे विचार वालों को कुत्ता सुअर आदि बनने का मौका मिल जायेगा। शास्त्र कहता है कि भारत में जन्मे लोग धन्य हैं, शुभकर्म और ब्रह्मज्ञान द्वारा स्वर्ग या मोक्ष पा सकते हैं। फिर भी आजकल अनेक भारतीय भी सोचते हैं कि अमेरिका के लोग धन्य है! ऐसों को मरने पर उन म्लेच्छ देशों में जन्म लेने का मौका मिल जायेगा। पुण्यातिशय से स्वर्ग तो गये लेकिन मन में संस्कार भी लेकर गये, जब स्वर्ग से लौटते हैं तब इन संस्कारों के अनुरूप, उपासनाके अनुरूप योनिका निर्धारण हो जाता है। वहाँ पैदा होकर सुख-दुःख पुनः कर्मानुसार मिलेगाकोई ब्राह्मण भी दुःख पाता है, किसी कुत्ते की भी खूब सेवा होती हैयह अंतर प्रारब्ध का है किन्तु ब्राह्मण बना यह बताता है कि उसका पूर्वका आचार-विचार श्रेष्ठ था और कुत्ता बना तो पता चल जाता है कि उसका आचार-विचार निकृष्ट था। संसार की यह चंचलता, इसमें सब चीज़ों की अस्थिरता, कष्टों से घिरा होनायह सब ही संसार की असारता है। इसे वही समझेगा जिसका मानस शुद्ध है, अशुद्ध मानस वाला तो इस सबको स्वाभाविक, अनिवार्य जानकर इसीको सर्वाधिक महत्त्वका मानता रहता है, संसार के व्यवहारों को ही जीवनका सार मानता है। चित्त का शोधन होगा लंबे समय तक ईश्वरार्पण दृष्टि से नित्य कर्म करते रहने से। श्लोक ३७ में ईश्वरार्पणता की आवश्यकता कह दी थी इसलिये यहाँ

उपासको ब्रह्मलोकं प्राप्नोत्यावृत्तिवर्जितम् ।
तथाऽपि भूयानायासो मुक्तिश्चाऽस्य विलम्बते ।।४६ ।।

दुहराया नहीं लेकिन उसकी ज़रूरत याद रखनी चाहिये क्योंकि बिना ईश्वरार्पण के यदि कर्मी बने रहे तो चित्त की वह शुद्धि नहीं होगी जो संसार को असार समझने दे। सार कहते हैं रस को। संसार में कोई रस नहीं है। रस हमारे स्वरूप में है। कामना से हम अपने रसकी परछाई विषयों पर डालते हैं और भ्रम में पड़ते हैं कि विषयों में रस है! जैसे सूखी हड्डी चूसने में कुत्ते को रस आता है तो वह रस हड्डीका नहीं खुद कुत्ते के मुँह का है, वैसे संसारभोग से आता रस संसार का नहीं खुद हमारे स्वरूप का है। यह बात समझ आ जाये तब मानना चाहिये कि बुद्धि शुद्ध हुई, श्रवणादि में अधिकार मिला।।४५।।

कर्मियों की अपेक्षा उपासकों की स्थिति बेहतर बतायी है 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।।'१.२.११।। अर्थात् जो वानप्रस्थ, गृहस्थ और संन्यासी स्वाश्रमविहित कर्म के साथ हिरण्यगर्भादि की उपासना भी करते रहते हैं उनके दोष अत्यल्प रह जाते हैं तथा वे हिरण्यगर्भ के लोक को प्राप्त करते हैं। ब्रह्मकी उपासना करने वाले क्रम-मोक्ष पाते हैं, पहले ब्रह्मलोक (हिरण्यगर्भ का लोक) जाते हैं फिर कल्पान्त में मुक्त होते हैं। अतः केवल कर्मियों से वे श्रेष्ठ हैं। फिर भी वह मार्ग कठिन और दीर्घ है अतः विवेकी ज्ञानसे तत्काल मोक्षका ही प्रयास करे यह सूचित करते हैं **यद्यपि ब्रह्मका उपासक उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है जहाँ से उसे लौटना नहीं पड़ता तथापि उस उपासना को परिपक्व करने में घोर परिश्रम अपेक्षित है और मोक्ष भी बहुत देर से होता है।।४६।।** उपासना के पाक से उपासक अपने उपास्य के लोक को जाता है, ब्रह्म का उपासक ब्रह्मलोक जाता है। उपासक के लिये नित्यादि आवश्यक कर्म करना ज़रूरी है, कर्म छोड़कर केवल उपासना प्रशंसनीय नहीं मानी गयी है। विरक्त उपासक ब्रह्मलोक में भी भोगसक्त न होकर या ब्रह्मा से ज्ञान पाकर वहाँ मुक्त हो सकते हैं या जब ब्रह्मा का कार्यकाल पूरा होता है तब विदेह कैवल्य प्राप्त कर सकते हैं। दोनों हालतों में यह स्थिर है कि उन्हें जन्म-मरण के चक्र में लौटना नहीं पड़ता। जो तो ब्रह्मोपासना के बिना ब्रह्मलोक गये हैं या वहाँ जाकर भी भोगासक्त हो गये हैं उनकी पुनरावृत्ति हो जाती है। इस प्रकार उपासना से अपुनरावृत्ति संभव है तो केवल ज्ञान के लिये कोशिश क्यों करें? यह प्रश्न है। उत्तर है कि उपासक भी आखिर मुक्त तो तभी होगा जब ब्रह्मा से ज्ञान पा ले। 'कार्यात्यये' आदि सूत्र में (४.३.१०) यह स्पष्ट किया गया है। जब वहाँ जाकर भी

गुरोरावश्यकता

परीक्ष्य कर्मजाँल्लोकान् कर्मणा मुक्त्यसम्भवात् ।
विरक्तो ब्रह्मबोधार्थं गुरुमेति यथाविधि ।।४७।।

मोक्ष ज्ञानसे ही होना है तब यहीं ज्ञान क्यों न पा लिया जाये। इससे अतिरिक्त यह भी बात है कि उपासना अतिकठिन है, मरण-पर्यंत मनोवृत्ति नियंत्रित रख सकना सरल नहीं, अनेक विषम परिस्थितियाँ जीवन में आती रहती हैं जिनसे वृत्ति विचलित होना सहज है। फिर ब्रह्मलोक पहुँचकर भी इष्टदेवकी सेवा आदि करते हुए दीर्घ काल तक रुकना पड़ेगा तब कहीं जाकर ज्ञान मिलेगा जिससे कैवल्य होगा। इतना सही है कि उपासक ब्रह्मलोक पहुँच गया तो मोक्ष हो अवश्य जायेगा लेकिन समय बहुत लगेगा ही। हो सकता है मध्य में कोई अधिकार मिल जाये तो उसे निभाना पड़े, कभी पृथ्वी पर भी आना पड़ सकता है क्योंकि भगवान् का अवतार होने पर उनके अनुचर भी सेवा के लिये अवतरित होते हैं। इस तरह काफी आयास का व्यवधान है। अतः विरक्त विवेकी के लिये मानव जीवन में ही श्रवणादि से ज्ञान द्वारा मोक्ष पा लेना उचित है। इसमें बहुत विलंब भी नहीं और ऐसा भी नहीं कि जीवन-भर सावधान रहना पड़े क्योंकि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते ही अज्ञान दूर कर देता है।।४६।।

इसलिये श्रुतिने विधान किया 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायाद् नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।'१. २.१२।। अर्थात् ब्राह्मण को चाहिये कि कर्मफलों की अनित्यता समझकर उनके प्रति विरक्त हो जाये। कर्म से नित्य मोक्ष पाना असंभव है, मोक्ष परमात्मज्ञान से ही होता है अतः मुमुक्षु विधिवत् वेदज्ञ ब्रह्मवेत्ता के पास जाकर तत्त्वज्ञान पानेका प्रयास करे। इसे स्पष्ट करते हैं **कर्म से प्राप्य लोकों की असारताका निश्चय कर, क्योंकि कर्म से मोक्ष असंभव है इसलिये वैराग्यवान् होकर ब्रह्मानुभव पानेके लिये शास्त्रोक्त ढंग से गुरु की शरण में जाना चाहिये।।४७।।** श्रुति ने कर्मफलों की परीक्षा करने को कहा है। परीक्षा अर्थात् यह जाँचना कि क्या वे सचमुच में सुख-साधन हैं या नहीं हैं? लोग अपार धन कमाते हैं पर उस धन से सुखके बजाये दुःख ज्यादा भोगते हैं! खानेकी न उनमें शक्ति है न समय, मित्रों के साथ गप मारने की फुर्सत नहीं, घर बैठकर बच्चों से हँसने-बोलने का मौका नहीं, समय पर सो नहीं पाते, लेटें तो नींद नहीं आती, चिन्ता, तनाव, डर इत्यादि दुःख तो ढेर-सारे हैं, सुख कितना है? जितना उनके पास धन है उससे कहीं कम होता तो जितना सुख भोगते उतना

वेदान्तानामनेकत्वात् संशयानां बहुत्वतः ।
वेद्यस्याऽप्यतिसूक्ष्मत्वाद् न जानाति गुरुं विना । ।४८ । ।

ही सुख अब भी भोग पा रहे हैं, बढ़ा तो उनका दुःख ही है। लोग अमेरिका की बड़ाई करते हैं कि बहुत आराम है पर वहाँ का हाल और भी गया बीता है। कोई कार्य करो, दस बारह घण्टे खटना ही पड़ेगा, थोड़ा ढीला काम किया तो निकाल-बाहर किये जाओगे, फिर घरका भी सारा काम खुद ही करना पड़ेगा, नौकर नहीं मिलेंगे, वक्त-ज़रूरत पर सेवा तो दूर हमदर्दी दिखाने वाले भी नहीं मिलेंगे, नितान्त अकेलापन रहेगा, छोटी गलती हो गयी तो लाखों रुपये का दण्ड भरना पड़ेगा, बच्चे सर्वथा उद्दण्ड, विनयहीन हो जायेंगे; कष्टों की सीमा नहीं, सुख क्या है? दाल-रोटी तो यहाँ भी खा ही लोगे! विषय सुखों की परीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि जितना विषय बढ़ेंगे उतना दुःख बढ़ेगा। यह निश्चय हो जाये तो विवेकी विषयों से राग का नाता तोड़े, 'विषय अच्छे हैं, मिलें तो अच्छा है' यह भाव मनमें न लाये वरन् वे व्यर्थ के हैं, न मिलें यही अच्छा है यह भाव रखे। जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक विषय प्रारब्धवश ही मिल जाते हैं, उनका ज़रूरी उपयोग कर ले अन्यथा साधना ही नहीं हो पायेगी, पर उनके प्रति भी 'ये मिलें ही, ऐसे ही मिलें, बने ही रहें' यह दृष्टि न रखे। कर्मजन्य सभी कुछ अनित्य होने से मुमुक्षु कर्म में प्रवृत्त न हो वरन् नित्य ब्रह्मको जानने का प्रयास करे। कश्यप आदि महर्षि की असीम सामर्थ्य है, संकल्पमात्र से चाहे जो विषय पैदा कर सकते हैं, फिर भी वे तपस्या करते हैं! इसीसे समझ लेना चाहिये कि विषयों में सुख कितना कम है। वास्तविक सुख ब्रह्म है, उसीका अपरोक्ष साक्षात्कार परमार्थ सुख दे सकता है। इस साक्षात्कार के लिये विधिवत् गुरु के पास जाये। जो वेदवेत्ता हो, जिसने स्वयं ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त किया हो, ऐसे गुरु के पास जाकर आत्मज्ञान पाना चाहिये। ।४७। ।

चाहे जैसा विद्वान् हो, साधक बिना गुरु-निर्देशनके साधना करे तो कभी परमात्म-बोध नहीं पा सकता यह समझाते हैं-**क्योंकि उपनिषदों ने अलग-अलग तरह से परमात्माको समझा है और क्योंकि प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता के बारे में बहुत तरहके बहुत-से संशय आते हैं, तथा क्योंकि जिसका अनुभव करना है वह भूमा वस्तु अत्यन्त दुर्लक्ष है, इसलिये बिना गुरुकी शरण लिये कोई भी ब्रह्मको नहीं जान सकता । ।४८ । ।** हमारे वर्तमान ज्ञानसे सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होने वाली बात होने से प्रमाणकी खोज ज़रूरी हो जाती है और प्रमाणभूत उपनिषदें अनेक हैं, औपनिषद

साहित्य अत्यंत विस्तृत है। सभीका अध्ययन करना आवश्यक है। क्रिया करने में तो जितना करना है उतना ही जानना ज़रूरी लेकिन अज्ञान दूर करने के लिये प्रमाणकी पुष्कलता चाहिये। उपनिषदों में प्रत्येक को समझना पड़ेगा फिर उनका आपस में मिलान कर देखना पड़ेगा कि कोई परस्पर विरुद्ध बात तो नहीं। सूत्रकार ने इसलिये पूरा पहला अध्याय ही ऐसा बनाया जिसमें उपनिषदों का समन्वय, एकवाक्यता प्रदर्शित है। एक-आध उपनिषत् पढ़कर 'इस उपनिषत् का यह अर्थ है' तो पता चलेगा पर समग्र उपनिषदों का यही अर्थ हैयह तो निश्चय होगा नहीं। अतः संभावना रहेगी कि 'हो सकता है अन्यत्र वेदान्त में कोई अन्य बात हो' और तब अज्ञान दूर नहीं होगा। किं च सारी बातें एकत्र मिलती भी नहीं, इसलिये भी सब उपनिषदें पढ़ना ज़रूरी । ब्रह्म वस्तु है, उसमें विकल्प नहीं हो सकता, उसे 'मान' तो चाहे जितनी तरह का लें लेकिन 'जानना' तो उसे वैसा ही पड़ेगा जैसा वह है अतः उसके स्वरूपका निर्धारण आवश्यक होने से उसके बारे में जहाँ भी जो कुछ कहा उस सबको बटोरकर समझना पड़ेगा। यह कार्य खुद नहीं हो सकता क्योंकि किन बिंदुओं को आपस में जोड़ना है, किन शब्दों का परस्पर व्याख्यान-व्याख्येयभाव संबंध है आदि स्वयं पता नहीं लगा सकते। एक जगह ब्रह्म को अनंत कहा, आनंद नहीं। दूसरी उपनिषत् में उसे आनंद कहा, अनन्त नहीं। तीसरी उपनिषत् में अनन्त को आनन्द कहा। गुरु ही यह रहस्य बता सकता है कि इन तीनों स्थलों को मिला लेने से समग्र अर्थ पता चलेगा, स्वयं यह खोजना असंभव है। फिर, इस बारे में संशयों की, प्रश्नों की भरमार है! जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है? मैं ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ? इन दो के अवान्तर प्रश्न असंख्य हैं, वेदांत के वाद ग्रंथों में सैंकड़ों प्रश्नों के उत्तर दिये हैं फिर भी आज तक लोग प्रश्न उठाते ही रहते हैं। उपनिषत् की बात सही हो तो क्या-क्या अनुपपत्तियाँ सामने आती हैं उनकी फहरिस्त भी बहुत लंबी है। यहाँ तक सवाल उठता है कि तत्त्वज्ञानी गुरु होना ही असंभव है! यदि ज्ञानसे उसने जगत् का बाध कर लिया तो वह उपदेश किसे देता है? यदि बाध नहीं कर पाया तो उसके उपदेश से हमें कैसे ज्ञान होगा? इत्यादि। फिर प्रत्येक साधक अपनी समझ के अनुसार नये-नये प्रश्न उठाता है जिनका यथावत् वर्णन ग्रंथों में नहीं मिलता। आधुनिक व्यक्ति विज्ञानको दृष्टि में रखकर पूछेगा, प्राचीन ग्रंथों में वैसे सवाल ही नहीं मिलेंगे। अतः संशयों को स्वयं कोई दूर नहीं कर सकता, गुरु ही इसमें समर्थ है। इतना ही नहीं, ज्ञेय ब्रह्म सर्वाधिक सूक्ष्म चीज़ है। साधारण सूक्ष्म बातें भी बिना सीखे नहीं समझ आतीं, रत्नों की कीमत आँकना खुद-ब-खुद किसी को नहीं आता, जौहरी से सीखना ही पड़ता है, ब्रह्म तो

अतीन्द्रिय, मनका भी अविषय है, उसे खुद कैसे समझा जा सकेगा! सूक्ष्म कहते ही उसे हैं जिसे तब तक समझना मुश्किल हो जब तक कोई सूचित न कर दे, 'सूच्' धातु से औणादिक 'स्मन्' प्रत्यय लगकर 'सूक्ष्म' शब्द बनता है। परमात्मा इंद्रियादि का अविषय है अतः इनसे उसका पता नहीं लगता। लोग कह देते हैं कि जैसे जल, नीर, वारि आदि पानी के अनेक नाम वैसे ईश्वर, अल्लाह, गोड, जहोवा आदि एकके ही नाम हैं; किंतु समस्या यह है कि पानी सामने दीखती चीज़ है, उसे अंगुली से निर्दिष्ट कर बता सकते हैं कि इसके ये सब नाम हैं। ऐसे परमात्मा तो सामने लाकर खड़ा किया नहीं जा सकता कि यह समझ आये कि ये सब नाम किसके हैं! जिसके ये सब नाम कहे जा रहे हैं उस एक तत्त्व का स्वरूप क्या हैयह कैसे पता लगे? और यह जाने बिना 'एक के ही नाम हैं' कहने का कोई मायने नहीं। सूक्ष्मतम होने से परमात्मा को गुरुके निर्देशसे ही समझा जा सकता है। क्योंकि गुरु स्वयं उसे जान चुका है इसलिये वह शिष्य समझे ऐसे ढंग से बता सकता है, दस तरह पूछकर देख सकता है कि शिष्य ठीक समझा या नहीं। खुद समझने वाला अपनी समझ की परीक्षा कैसे करेगा कि वह सही समझा या नहीं? अतः गुरु की अनिवार्यता है। आचार्य शंकर ने स्पष्ट लिखा है कि साम्प्रदायिक गुरु से जिसने ज्ञान न पाया हो उसकी वैसे ही उपेक्षा कर देनी चाहिये जैसे किसी मूर्खकी करते हैं। भले ही पढ़ा- लिखा हो पर पारंपरिक ज्ञान वाला नहीं तो भरोसेमंद नहीं होता। आधुनिक लोग परंपराहीन को महत्त्व देने की बात करते हैं लेकिन जिन विषयों को वे ज़रूरी समझते हैं उनमें सदा परंपरा वाले को ही महत्त्व देते हैं, डाक्टर वही खोजते हैं जो इंग्लैण्ड-अमेरिका से पढ़ा हो, इंजीनियर वही खोजते हैं जो खडगपुर आई.आई.टी से पढ़ा हो, ऐसे ही वकील, हिसाबवेत्ता आदि सभी के लिये उनकी गुरु परंपरा देखते हैं, केवल अध्यात्म के विषय में कहते हैं कि परंपरा के बंधन तोड़कर स्वयं स्फूर्त ज्ञानका महत्त्व है! यह इसलिये कि वे अध्यात्मको किसी गंभीर ज़रूरत की चीज़ नहीं मानते, इसमें ग़लती हो गयी तो कोई हानि है यह उन्हें नहीं लगता। किन्तु साधक के लिये यही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमें ग़लती हो गयी तो जीवन ही निरर्थक निकल जायेगा, अतः वह सांप्रदायिकता पर, पारंपरिकता पर अवश्य बल देगा। हम तो गुरु के बिना नहीं ही जान सकते, हमारे गुरु ने भी बिना गुरु के जाना हो यह संभव नहीं, इसलिये परंपरा के बिना यह ज्ञान मिल नहीं सकता। ४८।।

गुरु की शरण में जाकर शिष्य क्या करे यह बताते हैं **श्रवण-मनन-ध्यान से तथा गुरु द्वारा बताये अन्य उपायों से अज्ञान, संशय और विपरीतभावना को हटा**

श्रवणान्मननाद् ध्यानाद् अप्युपायाद् गुरूदितात्।
अज्ञानसंशयौ जह्याद् विपरीतां च भावनाम्।।४६।।

देना चाहिये।।४६।। उपक्रमादि छह लिंगों से उपनिषदों के तात्पर्य का निर्णय करना श्रवण है। उपनिषत् का अभिप्राय निश्चित हो जाने पर वह बात ठीक है या नहीं इसका विचार कर वही बात ठीक है इस निर्णय तक पहुँचना मनन है। अज्ञान श्रवण से दूर होता है, संशय मनन से दूर होते हैं। फिर भी पूर्व संस्कारों से विपरीत बातें प्रतीत होती हैं, संसार सत्य है, मैं कर्ता-भोक्ता हूँयह प्रतीति होती है। शास्त्र जो कह रहा है वह युक्ति-युक्त है ऐसा निश्चय होने पर भी जो विपरीत अनुभव बना रहता है वह उस अद्वैत स्थिति में रहने नहीं देता। इसके लिये आवश्यक है कि बार-बार अद्वैत को याद करते हुए रहा जाये, समझी बात से अन्य विचार ही मनमें न आने दिया जाये। जैसे शालग्राम में विष्णु का ध्यान करते हैं वैसे बाहरी सब चेष्टा छोड़कर अपनी प्रामाणिक ब्रह्मरूपता का ध्यान किया जाये। ध्यान मायने बुद्धिवृत्तियाँ भले ही बदलें पर उनका आकार एक ही हो, इसे 'एकतानता' कहते हैं। मैं ब्रह्म हूँ इसी आकार की बुद्धिवृत्ति बने, इससे अन्य आकार की न बने इसके लिये प्रयास ध्यान है। इसीसे संस्कार दृढ होता है और तभी यह संभव है कि हम संसार देखते हुए भी सदा महसूस करें कि वास्तव में ब्रह्म ही है, संसार मिथ्या ही दीख रहा है। कई मूर्तियाँ ऐसी सुंदर बनती हैं कि लगता है कि वह आदमी ही खड़ा है! जिसे तो संस्कार दृढ है कि वह मूर्ति है वह देखते ही उसे मूर्तिरूप में ग्रहण करता है लेकिन जिसे संस्कार नहीं, वह बार-बार उसे देखकर धोखा खाता है। अतः सच जान कर उसका संस्कार भी दृढ करना पड़ता है तभी हर परिस्थिति में उसे पहचाना जा सकता है। किं च, एकाग्रता को भी ध्यान कहते हैं, जैसे 'ध्यान से देखो' में। यहाँ भी तात्पर्य है कि विपरीत अनुभव होने पर एकाग्र होकर ग्रहण करें तो ब्रह्म ही है यह समझ आ जायेगा। काँच का सुंदर बिच्छू या केंकड़ा बना हो तो एकाएक डर लगता है, ध्यान से देखें तो पता चल जाता है कि वह बिच्छू या केंकड़ा नहीं काँच है। इसी तरह संसार दीखता है तो लगता है यही होगा किन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि संसार नहीं ब्रह्म ही है। यद्यपि प्रत्ययावृत्ति का महत्त्व है तथापि उपस्थित विषय की प्रमा के स्थल पर सावधानी वाला ध्यान रहे तो प्रत्ययावृत्ति स्वतः होती है, करनी नहीं पड़ती अतः यहाँ ध्यान से यह एकाग्रता समझनी चाहिये। ये तीन प्रधान उपाय हैं। इनसे अतिरिक्त अन्य भी उपाय गुरु ज़रूरी समझ सकता है, उनका भी अनुष्ठान शिष्य को करना पड़ेगा। जीवन्मुक्तिविवेक आदि में भूमिकारोहण आदि वर्णन इसी अभिप्राय से है।

गुरुश्च योग्यशिष्याय विद्यामक्षरबोधिनीम्।
ब्रूयात् स्वकीयविद्यायाः सम्प्रदायप्रवृत्तये।।५०।।

पहुँचना उस स्थिति में है जहाँ प्रत्यगद्वैत कभी दृष्टि से ओझल न हो सके। जैसे चित्र में सभी कुछ निहारते हुए भी सदा दीखता रहता है कि है यह कागज़ ही, वैसे चाहे जो नाम-रूप सामने आ जायेभावात्मक या अभावात्मकयह स्पष्ट रहना चाहिये कि है यह ब्रह्म ही, मैं ही। यद्यपि अविद्या-निवृत्ति के बाद दृश्य उपलब्ध होना संभव नहीं लगता तथापि शास्त्रवचन और विद्वदनुभवके अनुरोध से अनुपलब्धि के बजाये मिथ्यात्वनिश्चय को ही महत्त्व देना उचित है, अज्ञान मिटने के बाद दृश्य मिथ्या है यह निश्चय स्थिर रहता है, उसकी अप्रतीति ही हो ऐसा आग्रह नहीं कर सकते हैं।।४६।।

प्रथम मुंडक की समाप्ति में उपनिषत् ने आचार्य के लिये नियम किया 'तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।।' (१.२.१३।।) कि शुद्धचेता और शमादिसाधन-सम्पन्न शिष्य जब विधिवत् ब्रह्मविद्या का प्रार्थी बनकर आये तब ब्रह्मज्ञ आचार्य उसे वह ज्ञान अवश्य प्रदान करे जिससे अक्षर पुरुष की वास्तविकता जानी जाती है। इसका उल्लेख करते हैं **अपनी विद्या की परम्परा चलती रहे इसलिये गुरु भी अक्षर ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली परा विद्याका उपदेश योग्य शिष्यको अवश्य करे।।५०।।** गुरु सर्वथा कृतकृत्य है, उसके सामने अज्ञान, बंधन आदि है ही नहीं, शिष्यादि द्वैत भी प्रतीतिमात्र है, उसकी भी वास्तविकता नहीं है, ऐसी परिस्थिति में वह उपदेश क्यों करेगा? करुणा उसका प्रेरक है। वह जानता है कि बंधन नहीं पर शिष्य तो नहीं जानता; जिस उपाय से गुरु ने अपना बंधन खोला उसी से वह शिष्य का बंधन भी खुलवा देता है। आगे औरों के काम भी यह उपाय तभी आयेगा जब गुरु इसका उपदेश देगा। अतः करुणा से प्राप्त है कि वह उपदेश देगा लेकिन शिष्यके मिथ्यात्वको ध्यान में रखकर वह उपेक्षा भी कर ही सकता है, इसलिये वेद ने नियम कर दिया कि योग्य शिष्यको अवश्य समझाये। शिष्यकी योग्यता है विवेक, वैराग्य, शमादि और मुमुक्षा से संपन्न होना, सदाचारी, गुरु सेवा में तत्पर होना, काम-क्रोध-असूया-ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से रहित होना, शास्त्र सुनने-समझने को उत्सही होना, उस पर स्वयं चिंतन करना आदि। उपनिषत् ने स्पष्ट किया कि विद्वान् गुरु परा विद्या का उपदेश दे। यद्यपि वह इसी विद्या के संस्कारों वाला है अतः इसका ही उपदेश देगा तथापि मुखतः कहने का अभिप्राय है कि ऐसा न करे कि कम योग्यता वाले शिष्य की स्थिति देखकर करुणावश उसे कोई अल्पफलक साधन बताकर छोड़ दे। उसे

आत्मनः सर्वता

तदेतदक्षरं सत्यं मायाशक्तिसमन्वितम्।
तस्मात् सर्वे समुत्पन्ना विस्फुलिङ्गा यथाऽग्नितः।।५१।।

अधिक योग्य बनने के उपाय सिखाने चाहिये तथा हमेशा सावधान करना चाहिये कि मोक्ष परा विद्या से ही मिल सकता है अतः उसे पाये बिना साधना से विरत नहीं होना चाहिये। परा विद्या की संप्रदाय परंपरा बनाये रखना आचार्य का कार्य है, समझने वाले जो समझ सकें वह उन्हें समझाना उसका उद्‌देश्य नहीं वरन् परा विद्या समझाना उद्देश्य है, उसे समझने वाले तैयार करना उसका अंग है। साधनों का उपदेश अनिवार्य है पर इस तरह हो कि श्रोता को साध्य के बारे में भ्रम न हो जाये, कहीं वह साधनों को ही पर्याप्त न समझ ले। इसलिये कहा कि परा विद्याका उपदेश दे। यहाँ तक प्रथम मुण्डक का व्याख्यान हुआ।।५०।।

द्वितीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में अक्षर से सृष्टि बताने से प्रारंभ किया है 'तदेतत् सत्यम्। यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।' २.१.१।। अर्थात् आगसे चिनगारियों की तरह अक्षर से सब पदार्थ पैदा होते और उसीमें लीन हो जाते हैं। अक्षर ज्ञानसे सर्व-ज्ञान उपपन्न करने के लिये अक्षरकी सर्वकारणता बताना उचित है। इस मंत्र का अर्थ करते हैं **जिसे पूर्वमें समझाया और आगे भी समझायेंगे वह अक्षर परमार्थ सत्य है। वही माया-नामक शक्ति से युक्त है। आगसे चिनगारियों की तरह उस माया-युक्त अक्षर से ही सब पैदा हुए हैं।।५१।।** भाष्य में श्रुतिके 'भावाः' का अर्थ 'जीवाः' किया है। बृहदारण्यक में आया है 'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' (२.१.२०)। सभी कुछ आत्मा से उत्पन्न हुआ ही है। जीव की उपाधि भी उससे उत्पन्न हुई है यह भाष्य में यहाँ स्पष्ट किया, उसका यह मतलब नहीं कि अन्य चीज़ों की उत्पत्ति का निषेध कर रहे हैं। इस खण्ड के प्रारंभ में श्रुति ने कहा' तदेतत्सत्यम्'। तत् अर्थात् वह, एतत् अर्थात् यह। एतत् अपरोक्ष, निकटस्थ को कहते हैं अतः प्रत्यगात्मा को एतत् कहा और जगत्कारण ईश्वर तत् शब्द से कहा ही जाता है। अतः अर्थ है कि जो संसार को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर है वही मैं-रूप से उपस्थित है, वही अक्षर वस्तु सत्य है। जीव-ईश्वर की एकता का विरोध करने वाला है प्रपंच; प्रपंचैकदेश मन ही जीवों को ईश्वर से पृथक् दिखाता है; अतः प्रपंच भी वास्तव में अक्षर से अलग नहीं यह समझाना

ज़रूरी। वास्तव में न होकर भी अलग प्रतीत होता क्यों है? इसके उत्तर में अक्षर की अचिन्त्य शक्ति माया का उल्लेख किया जो वह सब कर दिखाने में चतुर है जो कभी हो नहीं सकता। लोक में ऐन्द्रजालिक एक खेल दिखाते हैं, लड़की का पेट आरे से चीर देते हैं फिर भी लड़की तत्काल भली-चंगी उठ खड़ी होती है। ऐसा सचमुच हो नहीं सकता पर दिखाते ज़रूर हैं, यह दिखाने की उनकी शक्ति माया कही जाती है। अक्षर भी अपनी माया से सारा चराचर जगत् ऐसे ही पैदा करता है! चीज़ें प्रतीति में आ जायें यही उनकी उत्पत्ति है। अत एव संसार में क्या कैसे होता है इसका कोई निश्चित ज्ञान असंभव है, जैसा कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति में स्पष्ट हैजो कोई नियम समझ आता है, शीघ्र ही उसके अपवाद भी उपस्थित हो जाते हैं! धीरे-धीरे वैज्ञानिक प्रतिशतों की, संभावनाओं की भाषा बोलने लगे हैं अर्थात् दृढ नियम पता नहीं चला यह कहने लगे हैं। मायिक होने से संसार में निर्वचनीयता है ही नहीं। चीज़ें अव्यक्त अर्थात् माया, अज्ञान से व्यक्त होकर कुछ समय व्यवहार में रहती हैं, फिर अव्यक्त में ही खो जाती हैंयही अनुभवानुसारी सिद्धांत है। सब चीज़ों की उस महामायावी से उत्पत्ति में श्रुति ने आग से चिनगारियों का दृष्टांत दिया। धधकती आग से किस जगह से कितनी बड़ी चिनगारी कब निकलेगीयह बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक मिल-बैठकर भी कभी नहीं निश्चयपूर्वक बता सकते! अतः यह सटीक दृष्टांत है यह बताने के लिये कि अक्षर से सृष्टि कब कहाँ कैसे क्यों हुई इसका एक ही उत्तर हैअज्ञान, पता नहीं। जैसे इतना ज़रूर है कि चिनगारी होती अग्नि-स्वभाव वाली है वैसे संसार की भी वास्तविकता अक्षर ही है। चिनगारियों की परिच्छिन्नता की तरह संसार के नाम रूप कल्पित हैं और उनकी अग्निता (उष्ण-प्रकाशरूपता) की तरह संसार के सच्चिदानंदांश अकल्पित हैं। श्रुति ने विलय भी अक्षर में कहा, चिनगारियों का विलय भी व्यापक अग्नितत्त्व में ही होता है। इस प्रकार इस दृष्टांत से जड-चेतन जगत् की अक्षरकार्यता स्पष्ट की।।५१।।

परा विद्या के विषयभूत अक्षर का वर्णन मंत्र में किया है 'दिव्यो ह्यमूर्तः। पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।।' २०१.२।। अर्थात् अक्षर स्वप्रकाश तथा नाम-रूप से वर्जित है, पूर्ण है, बाहर-भीतर होने वाले सबका अधिष्ठान है, जन्म-प्राण-मनसे रहित एवं शुद्ध है तथा अक्षर कह दी जाने वाली माया से परे है। इसे बताते हैं **स्वप्रकाश आत्मा ही अक्षर ब्रह्म है। माया भी सापेक्षदृष्टि से अक्षर कही जाती है किन्तु यहाँ जिस अक्षर की चर्चा है वह माया से परे है, निरपेक्ष अक्षर है। जिसका सत्-असत् आदि के रूप में चिन्तन करना अयुक्त है**

अक्षरात्मा स्वयंज्योतिर्मायारूपाऽक्षरात् परः।
अचिन्त्यशक्तिरनृता मायाऽस्मिन् कल्पयेज्जगत्।।५२।।

ऐसी पारमेश्वरी शक्ति माया है जो स्वयं मिथ्या है अतः अक्षर ब्रह्ममें मिथ्या ही जगत् की कल्पना कराती है।।५२।। लोकमें ज्योति या प्रकाश उसे कहते हैं जिससे अज्ञान मिटता हो। घड़े को अंधेरे ने ढाँक रखा हो, वहाँ दीपक जलाने से घड़े का अज्ञान मिटता है अतः दीपक को प्रकाश कहते हैं। किंतु ऐसे प्रकाश सापेक्ष होते हैं, उन्हें जानने वाला अन्य होता है जैसे दीपक की रोशनी को आँख जानती है। आगे, आँखरूप प्रकाश मन से जाना जाता है। किंतु मन भी जिससे जाना जाता है वह साक्षी आत्मा अन्य किसी से नहीं जाना जाता, वही निरपेक्ष अतः स्वयमेव प्रकाश है। अक्षर ब्रह्म इस आत्मा को ही कह रहे हैं। शास्त्र में कहीं-कहीं माया को भी अक्षर कहा गया है। जिसकी समाप्ति न हो वह अ-क्षर होता है; एक ब्रह्मज्ञान को छोड़कर और कोई नहीं जिससे माया समाप्त हो इसलिये संसार के अन्य पदार्थों से अधिक स्थायी होने से उसे अक्षर कहना बन जाता है। किं च जगत्-रूप कार्य में माया व्याप्त भी है, सारा संसार मायिक ही है, इससे भी यह अक्षर है। फिर भी परमात्म-साक्षात्कार से बाध्य होने के कारण यह मुख्य अक्षर नहीं। मुख्य तो ब्रह्म ही अक्षर है अतः स्पष्ट किया कि वह माया-नामक गौण अक्षर से परे है। चेतनका बाध कभी नहीं हो सकता! माया-शक्ति हमारे चिन्तन से सीमित नहीं होती, हम कल्पना न कर सकें ऐसे विचित्र कार्य कर दिखाती है। हम आग को पानी से बुझाते हैं, आग-पानी को विरोधी समझते हैं लेकिन माया शक्तिसे परमात्मा आग से ही पानी पैदा करता है! इसलिये माया की सामर्थ्य पता लगाने की कोशिश बेकार है, कभी समझ आयेगी नहीं, जब लगेगा कि 'समझे' तभी कोई ऐसा विलक्षण कार्य सामने आ जायेगा कि पता चलेगा कि कुछ नहीं समझे थे। इतना सब दिखाने में चतुर होने पर भी है माया अनृत, असत्य, मिथ्या। ब्रह्मसे अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं। इसीलिये यह जिस जगत् को बनाने में सहायक बनती है वह भी अनृत ही है, उसकी भी ब्रह्मसे अतिरिक्त सत्ता नहीं है। स्वयं माया अनृत है अतः वह जगत् की प्रतीति आत्मामें ही कराती है, आत्मा से अन्य कुछ 'है' ही नहीं जिसमें जगत् प्रतीत कराया जा सके। जैसे सपना हमें अपने ही अंदर दीखता है क्योंकि वहाँ हमसे अन्य कुछ नहीं जिसमें सपना दीख सके वैसे संसार परमात्मा में ही दीखता है। सपना दिखाने में जो मनका योगदान, संसार दिखाने में वह माया का योगदान। मन जैसे हमसे ही सत्ता पाता है वैसे माया परमात्मा से सत्ता पाती है। मन हमारे गुणभूत है, माया ब्रह्मके गुणभूत है। मनकी सपना दिखाने की क्षमता

मायाविनोऽस्मात् प्राणादि वियदादि च जायते।
ततो विराडभूत्तस्मिन्नवशिष्टमभूज्जगत्।।५३।।

कभी क्षीण नहीं होती तो माया की संसार दिखाने की क्षमता भी कम नहीं होती। इसलिये माया के लिये मन उपयुक्त दृष्टांत हो जाता है। जगत् कल्पना का अधिष्ठान स्वप्रकाश अक्षर है यह तात्पर्य है।।५२।।

सारी सृष्टि अक्षर ने माया द्वारा रची यह बताते हैं **इस मायोपेत अक्षर से प्राणादि और आकाशादि पैदा होते हैं, तदनंतर विराट् अर्थात् ब्रह्माण्ड और बाकी जगत् पैदा होकर बना रहता है।।५३।।** मायावी अर्थात् मायाका नियंता, मायाका मालिक। परमेश्वरका माया पर नियंत्रण है, माया कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं वरन् परमेश्वर की शक्ति है जिसका वह स्वेच्छा से उपयोग करता है। अक्षर पुरुष एक ही है, जब तक उसका अज्ञान है तब तक वही मायावी है, अज्ञान दूर होने पर वही मायावी निर्विशेष है। पर और अपर यों ब्रह्म दो नहीं हैं, एक ही है जिसे मायावी रहते अपर और माया-निवृत्ति की दृष्टि से पर कहते हैं। वास्तव में क्योंकि मायाकाल में भी माया नहीं है इसलिये पर ब्रह्म सनातन है। ऐसा नहीं कि अभी अपर है तो पर नहीं! जैसे सर्प-काल में भी रस्सी तो रहती है ही वैसे अपर-काल में भी पर तो है ही। उसमें माया शक्ति की प्रतीति की दृष्टि से उसे अपर, मायावी, ईश्वर आदि सोपाधिक- बोधक नामों से कहते हैं। उस मायावी परमेश्वर से जीव की उपाधि बनने वाले प्राणादि सूक्ष्मदेहांग तथा सारा प्रपंच बनने वाले महाभूत पैदा होते हैं। यद्यपि क्रमकी दृष्टि से आकाशादि पहले कहना चाहिये था तथापि प्राणादि को पहले इसलिये कहा कि संसार में द्रष्टा, दर्शन और दृश्यतीन वर्ग मिलते हैं, इनमें द्रष्टा तो आत्मा है, उत्पन्न नहीं होता, बाकी दो उत्पन्न होते हैं, दर्शन से दृश्य की सिद्धि है अतः दर्शन-वर्ग के प्राणादि को पहले कहकर तब दृश्य-वर्ग के आकाशादि को कहा। प्राणादि ही अनुभव करने का साधन हैं। अतः ये सूक्ष्म हैं। सूक्ष्म के बाद स्थूल ब्रह्माण्ड पैदा होता है। समष्टि स्थूल बनने के बाद उसमें व्यष्टि स्थूल बनते जाते हैं जिसे 'बाकी जगत्' कहा। दो बार 'अभूत्' कहने से बनना और बना रहना दोनों को बता दिया। संसार बना भी परमेश्वर से है और रहता भी उसी में हैं। अंत में लीन भी उसीमें होता है। जब तक माया है तब तक प्रलयादि में जगत् मायावी में ही लीन होता है, मायाका बाध होने पर जैसे साँप रस्सी में लीन होता है वैसे संसार अक्षर में लीन होता है। संसारदशा में सभी उपाधियों वाला बनकर वही सबका नियन्ता है, चलाने वाला अधिपति है।।५३।।

पुरुषो मायया सर्वजगद्रूपेण भासते।
सर्वं पुरुष एवाऽतो वस्तुतत्त्वावलोकने।।५४।।

द्वितीय मुंडकके प्रथम खण्ड की समाप्ति में अविद्याकी गाँठ खोलने का उपाय अक्षर पुरुषका ज्ञान ही बताया है। 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।।'२.१.१०।। इसे समझाते हैं **सारे जगत् के रूप में प्रतीत अक्षर पुरुष ही होता है किन्तु मायाके द्वारा, इसलिये वास्तविकता समझ आने पर सब कुछ अक्षर पुरुष ही है।।५४।।** जो सबको पूर्ण बनाये वह पुरुष है, उसके बिना सब अपूर्ण है। चेतन से ही संसार की पूर्णता है, चेतनकी पूर्णता किसी पर आश्रित नहीं, स्वाभाविक है। अपनी ही शक्ति से वह सारा जगत् बना दीख रहा है अतः जगत् की सचाई चेतन ही है। जैसे गहनों की सचाई सोना होता है ऐसे सारे नाम-रूप प्रपंच की सचाई सच्चिदानंद ही है। गहना टूटता है, गलता है पर सोना यथावत् बना रहता है, टूटे टुकड़े भी सोना ही हैं, गला घोल भी सोना ही है। आकार सभी नष्ट हो जाते हैं पर जिसके वे आकार हैं वह बना ही रहता है। स्थूल दृष्टि से आकार दीखते हैं, उनकी परीक्षा की ज़रूरत नहीं; चूड़ी दीख जाती है, परीक्षा नहीं करनी पड़ती कि यह यह कितने प्रतिशत चूड़ी है! किन्तु सोना यों नहीं दीखता इसलिये उसकी परीक्षा करानी पड़ती है कि चूड़ी में कितने टंचका सोना है, कितना सोना और कितनी खोट है। इसी तरह घड़े-कपड़े के व्यवहार के लिये उनकी परीक्षा नहीं करनी पड़ती, वे तो स्थूल दष्टि से दीख जाते हैं, किन्तु उनकी जो सचाई है, ब्रह्म है उसे समझने के लिये परीक्षा करनी पड़ती है, शास्त्र के सहारे अतिसूक्ष्म दृष्टि बनानी पड़ती है। सारे रूप बदलने पर भी जो समान बना रहता है वही सब रूपों की सचाई है। वह तो सब रूपों के बिना रह जाता है, रूप कोई भी उसके बिना नहीं रह सकते। क्योंकि वही इनकी सचाई है इसलिये वास्तव में ये सब वह ही है। संसार अक्षर ही है जैसे सब गहने सोना ही हैं। जैसे व्यवहार चूड़ी का कलाई में पहनने के लिये होगा, नूपुर का पैरों में पहनने के लिये होगा वैसे संसार के पदार्थों के व्यवहार विभिन्न रहेंगे किन्तु इससे इस बात का विरोध नहीं आयेगा कि ये सब पुरुष ही हैं। जाग्रत्-स्वप्न में सारी चीज़े हैं तो पुरुष है, सुषुप्ति में सारी चीज़ें नहीं रह जाती तो पुरुष है अतः उसकी वास्तविकता निर्विवाद है।।५४।।

दर्शन-दृश्य परमात्मरूप हैं यह बताकर द्रष्टा भी परमात्मरूप ही है यह स्पष्ट करते हैं **तीन शरीर रूप गुफामें जो साक्षी चेतन विद्यमान है वह सबका वास्तव**

ग्रन्थिभेदनम्

देहत्रयगुहायां यच्चैतन्यं साक्षि विद्यते।
एतत् सर्वात्मकं ब्रह्मेत्येवं बुद्ध्वा तमो नुदेत्।।५५।।

स्वरूप ब्रह्म हैऐसा अनुभवकर अज्ञान मिटा देना चाहिये।।५५।। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीर मानो गुफा हैं, इनमें साक्षी रहता है। स्थूल शरीर अन्नमय कोष है। इसके भीतर प्राणमय, उसके भीतर मनोमय और उसके भीतर विज्ञानमय कोश हैं, ये तीनों सूक्ष्म शरीर हैं। सबसे अंदर आनंदमय कोश है जो कारण शरीर है। चाहे पाँच कोश कहें या तीनों शरीर, एक ही बात है, इनके अंदर साक्षी है। जाग्रदवस्था में शरीर-इंद्रिय-मन वाला है, स्वप्न में शरीर-इंद्रियों से रहित किंतु मन वाला है, सुषुप्ति में मन से भी रहित है; जाग्रत् वाला स्वप्न में नहीं, स्वप्न वाला भी सुषुप्ति में नहीं लेकिन तीनों में रहने वाला एक है जो तीनों को याद करता है। अवस्थाएँ बदल गयीं पर जिसने तीनों को जाना वह वैसा-का-वैसा रह गया। वही निर्विकार चेतन है। जाग्रत् के सुख-दुःख यहीं रह जाते हैं, स्वप्न में अलग ही सुख-दुःख आ जाते हैं, सुषुप्ति में संसार का कोई भान नहीं रहता, न किसी चीज़ का सुख रहता है न दुःख, तीनों का अनुभव करने वाला तीनों दशाओं में एक समान बना रहता है। जाग्रत् के दुःख से दुःखी तो स्वप्न में, सुषुप्ति में नहीं रह जाता, स्वप्न का भोक्ता भी जाग्रत् व सुषुप्ति में नहीं रह जाता, सुषुप्ति में कुछ न जानकर आनंद लेने वाला भी जाग्रत् व स्वप्न में नहीं रह जाताये तीनों तो अपनी-अपनी अवस्थाओं में ही रहते हैं, लेकिन मैं तीनों में एक-जैसा रहता हूँ, जाग्रत् में सुखी-दुःखी था यह भी मैं जानता हूँ, स्वप्न में सुखी-दुःखी था यह भी मैं जानता हूँ, सुषुप्ति में कुछ नहीं जान रहा था यह भी मैं जानता हूँ, यह जो मैं हूँ वह एक समान रहा, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आया, वह मैं साक्षी हूँ। जो देखता है पर उससे प्रभावित नहीं होता उसे ही लोक में भी साक्षी कहते हैं। जो जाग्रत् में सुखी-दुःखी वह तो प्रभावित हुआ अतः साक्षी नहीं, स्वप्न में सुखी-दुःखी होने वाला भी प्रभावित हुआ अतः साक्षी नहीं, सुषुप्ति में सोनेवाला भी प्रभावित है क्योंकि सुषुप्ति में ही सोता है, हमेशा नहीं, अतः वह भी साक्षी नहीं; ये तीनों साक्षी नहीं, साक्षी वह है जिसने बिना प्रभावित हुए, बिना बदले, इन तीनों का आना-जाना, सुखी-दुःखी होना, सोता होना देखा है। वही चैतन्यमात्र, चिन्मात्र है, वही मैं हूँ। इतना तो विवेकी भी समझ सकता है किंतु इतने मात्र से अविद्या की गाँठ नहीं खुलती! उसके लिये यह अनुभव करना पड़ता है कि जो मैं देह गुफा में अवस्थाओं का साक्षी हूँ वही मैं अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के कण-कण का साक्षी हूँ। साक्षी की सर्वव्यापकता

अज्ञोऽहमिति तादात्म्यम् अज्ञानस्याऽत्मनाऽस्ति यत्।
अविद्याग्रन्थिरेव स्यात् स च बोधाद् विकीर्यते।।५६।।

जानने से ब्रह्म से उसका अभेद जानने से अविद्या की गाँठ खुल जाती है। केवल साक्षी को जानना त्वंपदार्थ का ज्ञान है, सारे संसार के कारण चेतन को जानना तत्पदार्थ का ज्ञान है, जिस चेतन से सारा संसार उत्पन्न हुआ वह मैं ही हूँयह जानना अखण्ड साक्षात्कार है जो अविद्या का नाश करता है।।५५।।

अविद्या की गाँठ क्या है यह बताते हैं **'मैं अज्ञानी'यों प्रतीत होने वाला आत्मासे अज्ञानका जो तादात्म्य वही अविद्या की गाँठ है, अद्वैत-साक्षात्कार से वही खुल जाती है।।५६।।** निर्णयसागर में 'तादात्म्यमज्ञानस्यात्मतास्ति' पाठ है, मृत्तुशास्त्री का 'तादात्म्यादज्ञानस्यात्मतास्ति' पाठ है किन्तु उचित पाठ यह लगता है **'तादात्म्यमज्ञानस्यात्मनाऽस्ति'** यद्यपि मुद्रित नहीं मिला है। 'आत्मता' पाठ में भी अर्थ तो तादात्म्य ही करना पड़ेगा। निर्णयसागर पाठ में 'मैं अज्ञानीयों प्रतीयमान तादात्म्य ही अज्ञान की आत्मता है' यह अनुवाद होगा। मुत्तुशास्त्री के पाठ में 'तादात्म्याध्यास के कारण अज्ञान की जो आत्मता (= आत्मीयता) है' यह अनुवाद होगा। पूर्वोक्त कल्पित पाठके अनुसार मूल में अनुवाद किया है।) जो अज्ञानी वही मैं, मैं ही अज्ञानीइस तरह अज्ञानी से अपना अभेद समझने से पता चलता है कि जैसे रूपका घट से तादात्म्य होता है ऐसे अज्ञानका हमसे तादात्म्य हो रखा है। घटके पराधीन होने से रूपका उससे अभेद मानना पड़ता है और घट में आश्रित प्रतीत होन से उसका घट से भेद भी मानना पड़ता है, ऐसे ही आत्माधीन होने से अज्ञान का आत्मा से अभेद और 'मुझमें अज्ञान है' इस प्रतीति से उसका आत्मासे भेदयों दोनों मानने पड़ते हैं। इसीको तादात्म्य कहते हैं। क्योंकि यह आत्मा और अज्ञान को जोड़े हुए है इसलिये इसे 'गाँठ' कहा। पक्की यह इतनी है कि शास्त्र कहता है आत्मा अज्ञानी नहीं; कोई प्रमाण नहीं सिद्ध करता कि आत्मा अज्ञानी है, फिर भी सब इस बारे में निश्चित हैं कि 'मैं अज्ञानी हूँ'! कोई कहे भी कि 'मैं अज्ञानी नहीं' तो लोग खिल्ली उड़ाते हैं! अज्ञानी होना ही सबको स्वाभाविक लगता है। अद्वैतका प्रबोध इस गाँठ को खोल देता है, 'मैं अज्ञानी' यह भ्रम तोड़ देता है। मैं के सिवाय तो कहीं अज्ञान कभी नहीं है, मुझमें ही था, जब पता चल गया कि मुझमें नहीं है तब अज्ञान स्वरूपतः ही निवृत्त हो जाता है। अविद्यानिवृत्ति ही आत्मलाभ है। इसीलिये आत्मलाभ कठिन परिश्रम-साध्य कार्य नहीं। दूसरे के लिये काम करके, दूसरे को माल बेचकर पाँच रुपये कमाने में परिश्रम है पर जो पाँच रुपये अपने पास हैं उनके लिये

आविर्भूतं स्वयं भानात् स्वत्वात् सन्निहितं च यत्।
ब्रह्माऽस्मिन् कल्पितं सर्वमिति धीर्बोध उच्यते।।५७।।

तो अब कोई परिश्रम नहीं चाहिये! ब्रह्मस्वरूप नित्य अपने पास है, उसे 'प्राप्त' करने में कैसा परिश्रम! उसका लाभ तो प्राप्त की ही प्राप्ति है। उसकी अप्राप्ति उक्त गाँठ ही है, उसे खोलते ही आत्मा सदा प्राप्त है।।५६।।

द्वितीय मुंडकका द्वितीय खण्ड भी उक्त आत्मतत्त्वके स्वरूपके ज्ञानके वर्णन से प्रारंभ होता है **स्वयम्प्रकाश होने से जो हमेशा भासमान है तथा निजरूप होने से जो हमसे सर्वाधिक निकट है, उसी व्यापक चिन्मात्रमें सारा संसार कल्पित हैयह अपरोक्ष निश्चय आत्माकी यथार्थताका ज्ञान कहा जाता है।।५७।।** अपने अपरोक्ष व्यवहार के लिये किसी पर, बुद्धि पर भी आश्रित न हो वह स्वयम्प्रकाश है। सुषुप्ति में बुद्धि भी नहीं रहती तब भी आत्मा प्रकाशमान रहता है। यह प्रकाश ही हमारा अव्यभिचारी स्वरूप है। नाम-रूप की अपेक्षा वाले स्वरूप तो बदलते रहते हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं बदलता। जाग्रत् का ब्राह्मण स्वप्न में बनिया बन जाता है, जाग्रत् का पंडित सुषुप्ति में अज्ञानी बन जाता है, जन्मान्तर में और भी परिवर्तन होते रहते हैं लेकिन जो कभी नहीं बदलता वह है ज्ञान। तथा वह ज्ञान हमसे किंचित् भी दूर नहीं है। हम अर्थात् साक्षी का तो यह स्वरूप ही है, लेकिन बाकी सारे प्रपंच से भी यह दूर नहीं है; जैसे साँप-जलधारा आदि से रस्सी किंचित् भी दूर नहीं होती वैसे सारे अध्यस्त प्रपंच से अधिष्ठान आत्मा दूर नहीं है। सन्निहित या पास तब कहा जाता है जब अनेक चीज़ें हों, परमात्मा से अन्य कुछ है नहीं फिर भी अन्य चीजों की प्रतीति हो रही है इसलिये उसे सबके पास कहा जाता है, वास्तव में वह सन्मात्र रूप है। ज्ञानरूप प्रत्यग्रूप ही ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापक पूर्ण है, वही सारे प्रपंच का अधिष्ठान हैयही परमार्थ ज्ञान है, मोक्षप्रद ज्ञान है।।५७।।

उक्त ब्रह्ममें मनको समाहित करने का उपाय रूपक द्वारा श्रुति ने बताया 'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाऽक्षरं सोम्य विद्धि।। प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्।।' २.२.३-४।। अर्थात् प्रणव, ओंकार मानो एक महान् धनुष है जिस पर चढाया जाने वाला बाण है बुद्धि, वह भी ऐसी जिसे उपासना से पैना किया जा चुका है। मन-इन्द्रियोंको विषयों से दूर करना उक्त धनुष की प्रत्यंचा खींचना है, लक्ष्य अक्षर ब्रह्म ही है, एकाग्र चित्त से उसे बींधना है। इस कार्य में प्रमाद को स्थान

प्रणवाश्रयणम्

सा धीश्चेन्न स्थिरा तर्हि प्रणवेन विचिन्तयेत्।
बाणेन विध्यते लक्ष्यं विध्येद् ब्रह्म तथा धिया।।५८।।
धीर्बाणो धनुरोङ्कारो ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं लग्ना ब्रह्मणि धीर्भवेत्।।५९।।

नहीं है। जैसे बाण लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है वैसे साधक इस उपासना से ब्रह्म से अभिन्न हो जाये। इन मंत्रों का संग्रह करते हैं **पूर्वोक्त ज्ञान कायम न रहे तो ओङ्कारके सहारे विचार व ध्यान करना चाहिये। बाण से लक्ष्य की तरह बुद्धिसे ब्रह्मको बींधना पड़ेगा।।५८।। बाणकी जगह साधककी बुद्धि है, धनुषकी जगह ओङ्कार है, लक्ष्य कहा जा रहा है ब्रह्मको। अप्रमादी साधक इस तरह बींधे कि बुद्धि ब्रह्ममें समा जाये।।५९।।** आत्मतत्त्व समझ आने पर भी बुद्धि उस पर टिकती नहीं। सनत्कुमार ने 'ध्रुवा स्मृति' शब्द से इस स्थिरताको बताया था, चाहे जैसी विषम परिस्थिति हो, 'मैं निर्विकार सच्चिदानन्द हूँ, दृश्य अजात है'यह स्पष्ट भान बना रहे तब ध्रुवा स्मृति है। स्थिर तो बुद्धिको ही करना पड़ेगा, ब्रह्म हमेशा ही स्थिर है! पता होने पर भी स्थिरता न होना लोकमें भी देखा जाता हैः हज़ारों पीढ़ियों से हमें निश्चय था 'हम ब्राह्मण हैं।' सौ साल पहले कुछ लोगों ने कहना शुरू किया 'हो तो तुम इन्सान, समाजने तुम्हें ब्राह्मण बना दिया।' हमारे दादा ने सुना, हँस दिये कि कैसी बेवकूफी की बात है। पर उस प्रचार को सुनते रहे अतः पिता सोचने लगे 'सब कह रहे हैं तो कहीं सचमुच में ही हम इन्सान तो नहीं?' लेकिन हमारी पीढ़ी में यह संशय आ गया, 'मैं इसान हूँ' और 'मैं ब्राह्मण हूँ' दोनों बातें बराबर वजन की लगने लगीं तथा अगली पीढ़ी में 'मैं इन्सान हूँ'प्रबल हो गया, 'ब्राह्मण हूँ', कभी-कभार प्रतीत होने लगा। ऐसा नहीं कि हमें या हमारे बच्चों को पता नहीं कि हम ब्राह्मण हैं, आज भी अपना परिचय दीक्षित, वाजपेयी ही कराते हैं, लेकिन उस पर बुद्धि स्थिर नहीं, तुरंत लगता है कि हूँ तो इन्सान। इसी प्रकार श्रुति से 'मैं ब्रह्म हूँ' पता लग जाता है, मननसे उसकी युक्तिसंगतता भी समझ में आ जाती है किन्तु अनादि काल से पड़े संस्कारों के कारण उस बात पर बुद्धि स्थिर नहीं रहती, क्षणभर को 'मैं ब्रह्म हूँ' वृत्ति बनते ही पुनः 'परन्तु हूँ तो जीव ही' इस स्थिति में लौट आती है। उत्तम अधिकारीका तो विवेक तीक्ष्ण होनेसे और समाधान का पक्व अभ्यास होने से तथा श्रुति पर अटल श्रद्धा होनेसे

श्रवण-मननसे हुआ निश्चय स्थिर हो जाता है, थोड़े-बहुत अभ्यास की ज़रूरत हुई भी तो श्रवण-मननकी आवृत्ति से ही काम हो जाता है। हर बार श्रवण-मनन में जो वृत्ति बनती है कि 'हाँ ऐसा ही है, मैं ब्रह्म ही हूँ' वही उसकी बुद्धिको उस निश्चय पर स्थिर कर देती है। उसके लिये ध्यानादि कोई कार्य नहीं रह जाता। किन्तु मंद-मध्यम अधिकरी की बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती अतः उनके लिये ओंकार के सहारे ध्यानका, चिंतनका विधान है। माण्डूक्योपनिषत् में यह विषय विस्तार से समझाया है कि प्रणवानुसार कैसे चिंतन किया जाये, कैसे ध्यान किया जाये। ॐ परमात्मा का निकटतम नाम माना गया है। इसके सहारे अपने साक्षी स्वरूपकी ब्रह्मसे एकता का चिंतन करने से वृत्ति में स्थिरता आ जाती है। बार-बार इसका आवर्तन करने से ही संस्कार दृढ होंगे। यदि समझने मात्र से दृढ निश्चय हो सकने लायक बुद्धि होती तो श्रवणादि से ही स्थिर ज्ञान हो जाता, उससे नहीं हुआ अतः बुद्धि में परिपक्वता नहीं यह स्पष्ट है, उस परिपाक के लिये ही प्रणवका अभ्यास करना आवश्यक है। बाणसे लक्ष्यको बींधने की क्षमता जैसे दीर्घ अभ्यास से ही आती है वैसे स्वयंको ब्रह्म जाननेकी क्षमता भी अभ्यास से ही आयेगी। श्रुति ने रूपक समझाते हुए कहा कि बाण आत्मा है। भाष्यकार ने जीव को यहाँ आत्मशब्दोक्त बाण माना है। विद्यारण्य स्वामी ने बुद्धिको ही बाण इस दृष्टि से बताया कि जीवका आत्मांश तो ब्रह्म ही है अतः उसका जो अंश बाण कहा जा रहा है, उपासना से जिसे पैना बनाया जायेगा, वह बुद्धि ही है। वेदान्त में अनेक स्थलों पर उपहित के अभिप्राय से उपाधिका और उपाधिके अभिप्रायसे उपहित का कथन किया जाता है। लोक में भी 'घट में जल' कह देते हैं जब मतलब है घटाकाश में जल है और 'घटाकाश नहीं रह गया' कह देते हैं जब मतलब है घट नहीं रह गया। अतः भाष्य के अभिप्राय से विरोध नहीं है। लक्ष्य ब्रह्म तक पहुँचने वाली होने से बुद्धि बाण है। बाणको उठाकर लक्ष्य पर रख देने से लक्ष्यवेध नहीं हो जाता, धनुष पर चढ़ाकर ज़ोर से छोड़ते हैं तभी लक्ष्य बींधा जाता है। इसी तरह ओंकार पर आरूढ बुद्धि ही ब्रह्म का वेधन करेगी अर्थात् बार-बार ओंकार के चिन्तन से बुद्धि में वही संस्कार प्रकट हो जाये, अन्यत्र से बुद्धि पूरी तरह हट जाये तभी उसमें ब्रह्मप्रकाश स्थिर हो पाता है। साधक को अप्रमादी होना पड़ेगा, सावधान होना पड़ेगा, जैसे अर्जुन को चिड़िया की आँख के सिवाय अन्य कुछ नहीं दीखा तभी वह श्रेष्ठ तीरन्दाज़ घोषित हुआ ऐसे सिवाय लक्ष्य ब्रह्मके और कुछ बुद्धिको न सूझे तब साधक अप्रमत्त माना जायेगा। जैसे चिड़िया का

दृढं लग्नं बाणशल्यम् आकृष्टमपि नाव्रजेत्।
मुक्तशल्यः समागच्छेद् बाण एव वृथा यथा।।६०।।
ब्रह्मसंलग्नधीरेवं स्वयं नायाति कुत्रचित्।
किन्त्वकिञ्चित्करं चक्षुराद्येवायाति बाह्यतः।।६१।।

सिर हिलता रहता था वैसे ब्रह्म निरन्तर अनेक रूप धारण कर सामने आता-जाता है। यदि रूपों पर दृष्टि गयी तो लक्ष्य नहीं बींधा जा सकेगा। रूपों को नहीं वरन् जो रूप ले रहा है उस सद् ब्रह्म पर ही दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ेगी। अप्रमादी जब लक्ष्यवेध करेगा तब बुद्धि ब्रह्ममें विलीन हो जायेगी, ब्रह्म ही रह जायेगा, उससे अलग बुद्धि नहीं रह जायेगी। अन्य सबका बाध करते हुए खुद बुद्धिका भी बाध हो जाता है। घटज्ञान में तो बुद्धि घटाकार रहती है, ऐसे ब्रह्मज्ञान में बुद्धि ब्रह्माकार बनती तो है पर रहती इसलिये नहीं कि ब्रह्माकार बनते ही बुद्धि ही बाधित हो जाती है। ब्रह्मरूप ज्ञान ही बचता है, ब्रह्म 'का' ज्ञान नहीं। अभ्यास का प्रभाव असीम है। दिन-रात सूत का कार्य करने वाला रास्ते चलते भी कोई कपड़ा देखता है तो बिना किसी प्रयास के उसे यही दीखता है कि कितने नम्बर के सूत से कपड़ा बना है! कपड़े के रंग, चित्रकारी की तरफ उसकी दृष्टि जाती ही नहीं, सूतकी तरफ स्वभाव से जाती है, रंग आदि देखने की कोशिश करनी पड़ती है। यह अभ्यास का फल है। ऐसे ही साधक अभ्यास से नाम-रूपों को देखे ही नहीं, सत् को ही देखे, तब अप्रमादी बनेगा, तभी लक्ष्यवेधन होगा।।५८-९।।

तन्मयता को ही स्पष्ट करते हैं **बाण की लोहमयी नोक लक्ष्यमें पक्की तरह गड़ जाये तो खींचने पर भी नोक नहीं निकलती, बाकी बाण भले ही आ जाये किंतु बिना नोकका वह बाण बेकार हो चुका है। इसी प्रकार ब्रह्म में भली-भाँति समायी बुद्धि खुद उसे छोड़कर कभी किसी विषयकी ओर नहीं जाती, बेकार जो चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं वे ही प्रारब्ध द्वारा खींचने पर बाहर की ओर आती हैं।।६०-१।।** लक्ष्यवेधन से पूर्व ही मन रागहीन बना लेना पड़ता है। वेधन के बाद राग न रहने से बुद्धिको चंचल करने वाला कोई नहीं रह जाता, वह एकनिष्ठ ब्रह्ममें विलीन हो जाती है। जीवन्मुक्त के भी कभी इस निश्चय में परिवर्तन नहीं आता कि 'मैं ब्रह्म हूँ', व्यवहार का निर्वाह आहार्य अभिमानसे हो जाता है। इसे दृष्टांत में भी घटा दियाबाण की नोक लोह से बनी होती है जिसे बाण पर ठोककर फँसा देते हैं। वह नोक शल्य कही गयी है। बाण जब लक्ष्य में मज़बूती से गड़ जाये तब उसे

खींचकर लक्ष्य से बाहर निकालते समय वह शल्य तो भीतर फँसा रह जाता है, लकड़ी वाला हिस्सा बाहर आ जाता है। इसी प्रकार ब्रह्ममें बुद्धि लीन हो चुकने पर प्रारब्ध जब व्यवहार के लिये उसे बहिर्मुख बनने को उकसाता है तब इन्द्रियाँ तो यथावश्यक बाहरी व्यवहार कर लेती हैं लेकिन बुद्धि अर्थात् निश्चय वहाँ से नहीं डिगता। इंद्रियों को अकिंचित्करकुछ न करने वाली, व्यर्थइसलिये कहा कि ब्रह्म को तो वे विषय करती
नहीं अतः ब्रह्मस्थिति के लिये बेकार हैं और बाहरी व्यवहार करने पर भी वे बुद्धिको विचलित करती नहीं, अन्य कुछ सोचते हुए भी जैसे रटा हुआ स्तोत्रपाठ कर लेते हैं ऐसे संस्कारवश व्यवहार होता रहता है, बुद्धि ब्रह्ममें समायी रहती है। पूर्वमें बाण कहा था बुद्धिको, उसमें इंद्रियों को नहीं जोड़ा था, अब कहा कि बुद्धि बाहर नहीं आती, इन्द्रियाँ आती हैं अतः विरोध प्रतीत होता है किंतु अभिप्राय है कि जब तक लक्ष्य को बींधना है तब तक सब इंद्रियों को पूरी तरह दमन कर रखना पड़ेगा, जैसे बुद्धि बहिर्मुखी नहीं हो रही वैसे इंद्रियों को भी बहिर्मुख नहीं होने दिया जायेगा, मानो इंद्रियाँ बुद्धि के साथ हैं। जब बुद्धि ब्रह्ममें सम्यक् तरह से लग्न हो चुकेगी, संस्कार दृढ हो चुकेंगे, तब दमन के आयास की ज़रूरत नहीं। स्वतः तो पूर्वाभ्यास से इंद्रियाँ अंतर्मुख ही रहेंगी, प्रारब्ध उन्हें आकृष्ट करेगा तो बाहर का व्यवहार कर लेंगी लेकिन अब उनकी उतनी-सी बहिर्मुखता बुद्धिको ब्रह्मसे हटा नहीं सकेगी। दृढता से पूर्व यदि इन्द्रियों को छूट दे दी तो बुद्धि कभी ब्रह्म में स्थिर नहीं हो पायेगी। किं च, जैसे लकड़ी पर चढ़ा लोहांश शल्य है वैसे यहाँ भी एक है बुद्धि और दूसरा है उसमें पड़ा चेतनका प्रतिबिम्ब अर्थात् अभिमान। निष्ठाके बाद 'मैं व्यवहार कर रहा हूँ' देख-सुन-बोल-चाल रहा हूँ, सुख-दुःख भोग रहा हूँ' ऐसा अभिमान कभी नहीं बनता। अतः बुद्धि भी करणविशेष होने से अन्य करणों की तरह बाह्य व्यवहार भले ही कर ले पर 'उन व्यवहारों को करने वाला मैं हूँ' ऐसा अभिमान नहीं बनने से शल्य-स्थानीय इस अभिमानको ब्रह्ममें रह जाने वाला कहा, मैं ब्रह्म हूँ यह व्यापक प्रत्यक् का प्रकाश तो रहता ही है। पूर्व में वृत्तियों से चेतन संलग्न हो जाता था, अब नहीं होता यह भाव है। इस तरह बुद्धि बाण-स्थानीय तो शल्य जीवस्थानीय है, सामान्यतः शल्य लगे हुए को ही शर, तीर, बाण कहते हैं इसलिये पहले सामान्य रूप से 'धीर्बाणः' कहा था और इसी दृष्टि से भाष्यकार ने उपहित आत्मा को बाण कहा है।।६०-१।।

इसी दशाको जीवन्मुक्ति बताते हैं **तत्त्वनिष्ठासे पूर्व इंद्रियों की देखने आदि की जैसी क्रियाएँ हो रही थीं वैसी अब भी करते हुए जो उनसे होने वाले**

दर्शनादिक्रियाः कुर्वन् यथापूर्वं य इन्द्रियैः ।
सिद्ध्यसिद्धी न जानाति जीवन्मुक्तः स उच्यते ।।६२ ।।
पञ्चीकृतोक्तमार्गेण प्रणवध्यानमाचरेत् ।
ततो जगदधिष्ठानमेकमेव सदीक्ष्यते ।।६३ ।।

लाभ-हानिको खुद से सम्बद्ध नहीं समझता वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ।।६२ ।। गीता में 'विद्वांस्तथा कुर्यात्' (३.२५) से कही बात यहाँ समझायी। मुक्त के व्यवहार में बाहर से कोई अंतर नहीं होता, देखेगा आँख से ही खायेगा मुख से ही! फ़र्क़ होता है उसकी अनुभूति का, 'यह कार्य संपन्न हुआ बहुत अच्छा है, यह नहीं पूरा हो पाया बुरा हुआ' या 'इससे मेरी खुशी है, इससे मेरा नुकसान है, मुझे कष्ट है'ये भाव उसके नहीं बनते। उन व्यवहारों को 'ये मेरे हैं इनके प्रभाव मुझपर हैं' ऐसा वह कभी नहीं महसूस करता। इन भावों का हेतु तादात्म्याध्यास है, ज्ञानीका वह अध्यास मिट चुका है अतः उसे ये भाव नहीं आते। अखबार में आता हैविजयवाड़ा में रेल दुर्घटना में पैंतीस मरे डेढ़ सौ घायल। पढ़ते हो, क्षणभर को सोचते हो 'बुरा हुआ', फिर मन में आता है कि 'रोज़ रेलें चलेंगी तो कभी-कभार टक्करें भी होंगी ही' और आगे दूसरी खबर बाँचते हो। किन्तु यहीं अपना तादात्म्य बीचमें आ जाये, उस रेल में तुम्हारा लड़का यात्रा कर रहा था और पैंतीस की सूची में उसका नाम छपा हो तो दहाड़ मार कर रोने लगोगे, छाती पीटोगे! खबर वही, पढ़ना एक जैसा, फ़र्क़ है तादात्म्याध्यास का। मुक्तको यह अध्यास न होने से इस प्रकारके तीव्र सुख-दुःखके अनुभव नहीं होते, हर्ष से वह फूल नहीं पाता, विषाद में डूब नहीं पाता। गीता में स्थितप्रज्ञकी इस समताको काफी व्यक्त किया है। सिद्धि-असिद्धि को न जानने का मतलब है उसे प्रभावी न गिनना। जिसकी कोई कीमत न हो उसका मिलना-बिछुड़ना जैसे एक-सा होता है वैसे मिथ्या जगत् की सिद्धि-असिद्धि एक-सी है।।६२ ।।

उक्त स्थिति जिस प्रणवध्यानसे आती है उसका वर्णन आचार्य शंकर ने किया है यह बताते हैं **मुमुक्षु को चाहिये कि 'पंचीकरण'नामक ग्रंथमें कहे तरीके से ओङ्काराश्रित ध्यान करे जिसके प्रभावसे संसारके अधिष्ठान अद्वितीय सत् का अवश्य दर्शन होता है।।६३।।** पंचीकरण भगवान् भाष्यकार द्वारा रचित प्रसिद्ध प्रकरण है, उस पर सुरेश्वराचार्य की कारिकाएँ भी हैं तथा दोनों ग्रंथों पर अनेक टीकाएँ हैं। पंचीकरण में अकार का अर्थ विराट् अर्थात् स्थूल शरीर, जाग्रदवस्था और इनका अभिमानी विश्व बताया; सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था, तैजसइन्हें उकार का अर्थ बताया;कारण शरीर, सुषुप्ति अवस्था, प्राज्ञइन्हें मकार का अर्थ बताया; फिर प्रविलापना का विधान

लौकिकीर्वैदिकीश्चान्याः सर्वा वाचः परित्यजेत्।
ध्यायेच्चेद् ब्रह्म तस्याऽत्र धीग्रन्थ्यादि विनश्यति।।६४।।

किया'अ' का 'उ' में, 'उ' का 'म' में, 'म' का 'ॐ' में और 'ॐ' का निज स्वरूप में विलय करना चाहिये। 'अ' से सारा स्थूल प्रपंच, जाग्रत् और विश्व तीनों समझकर उसका विलय करने से इन सबका विलय हो जाता है, ऐसे ही 'उ' से और 'म' से जो समझा वह सब विलीन हो जाता है। 'म' अर्थात् कारणका विलय ओंकार-लक्षित परिशुद्ध ब्रह्ममें होगा जिसमें कार्यकारण का विभाजन नहीं है। उसका निज में विलापन है यह जानना कि वह प्रत्यक् से अन्य नहीं है। इस प्रकार सारा स्थूल-सूक्ष्म-कारण जगत् अकरादि से अभिन्न है ऐसा ध्यान करने के बाद अकारादि उक्त क्रम से ओंकार से अभिन्न है ऐसा ध्यान करे तथा वह ओंकार मुझसे अभिन्नतर है ऐसा ध्यान करे। यह ध्यानका ढंग वहाँ समझाया है। प्रणव का सहारा लेकर अनेक तरह के ध्यान प्रचलित हैं इसलिये यहाँ स्पष्ट किया कि ब्रह्मनिष्ठा के लिये उपयोगी तरीका पंचीकरण में बताया है।

माण्डूक्योपनिषत् की प्रक्रिया पर ही यह ढंग आधारित है। कार्य को कारण से अभिन्न समझते हुए अधिष्ठान सत्तत्त्व तक पहुँचने का यह रास्ता है। जो कोई भी कार्य है उसका कारण अवश्य है जिसमें उसे लीन कर सकते हैं। जहाँ तक कार्य रहे उसे कारण में लीन करते जाना है अर्थात् वह वास्तव में अपने कारण से पृथक् नहीं यह ध्यान करना है। जो अंत में बचेगा वह कार्य नहीं है किंतु कारण होने पर भी सत्ता स्फुरत्ता के लिये अन्य पर निर्भर है, दृश्य है, अतः उसका साक्षी में विलय हो जायेगा जो स्वप्रकाश है। वेदान्त-विचार करने वाले साधकों को इस पद्धति से अवश्य ध्यान करना चाहिये ताकि बुद्धि ब्रह्ममें स्थिर हो।।६३।।

पाँचवें मंत्र में कहा 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः।।' २.२.५।। अर्थात् महाभूत इंद्रियाँ और मन जिस अक्षर पर अध्यस्त हैं उसी को आत्मा जानना चाहिये, भेदसंबंधी बातें छोड़ देनी चाहिये, यह मोक्ष का उपाय है। इसे सूचित करते हैं **यदि साधक अद्वितीय आत्मतत्त्व से अन्य सब लौकिक व वैदिक बातें छोड़ दे और केवल ब्रह्मध्यान करे तो जीवनकालमें ही उसकी बुद्धिकी गाँठ आदि नष्ट हो जाती है।।६४।।** बातें छोड़ना सभी बाह्य-आन्तर व्यवहारों का उपलक्षण है अर्थात् सभी व्यवहार छोड़ने को कहा है। बाहर से भी व्यवहार छोड़ना है और मन ही मन भी व्यवहार नहीं करना है, चिंतन-स्मरण आदि नहीं करना है। अनात्मा सम्बन्धी कुछ नहीं

करना है। बातें छोड़ने को कहने का अभिप्राय है कि बात करने से ही आगे व्यवहार बढ़ता है। कोई आये। उससे कोई बात न करो, कोई जवाब न दो, वह चला जायेगा, व्यवहार नहीं करना पड़ेगा। यदि बात की तो ठहराना पड़ेगा, भोजन कराना पड़ेगा और भी चार काम करने पड़ेंगे, आगे के लिये वह निमंत्रण भी दे जायेगा। वहाँ भी जाना पड़ेगाव्यवहार का चक्र चल जायेगा। अतः एक अद्वितीय सत् अन्य की बात छोड़ने से बहुतेरा सांसारिक व्यवहार छूट जाता है। सत् की बात प्रायः कोई नहीं सुनना चाहता! दुनिया भरकी बातें घण्टों कर लेंगे, सत् की बात शुरू होते ही कोई-न-कोई काम, बैठक याद आकर तुरंत चल देंगे। महात्माओं के पास आकर भी लोग संसार के दुःख सुनाते हैं, उनसे बचने के तरीके पूछते हैं। कहें कि 'संसार स्वयं दुःख है, इसी को छोड़ो तो बचोगे' तो जल्दी चले जायेंगे और कहीं कह दिया कि 'श्रीसूक्त की आहुति दो, धन मिलेगा' या 'मृत्युंजयमंत्र जपो, रोग मिटेगा' तो देर तक विधि-विधान पूछेंगे, करेंगे, बीच-बीच में आकर भी प्रगति बतायेंगे! सत्य तत्त्व को सुनना चाहने वाले को शास्त्र भी दुर्लभ कहता है। अतः साधक यदि यह नियम कर ले कि केवल सद्ब्रह्म की बात ही करनी है तो स्वतः अनेक व्यवहार छूट जायेंगे, व्यर्थका जनसंपर्क समाप्त हो जायेगा। आत्मप्रतिपादक बातें, चिंतन, पठन छोड़ने की ज़रूरत नहीं क्योंकि उससे तो एकाग्रता में मदद ही मिलेगी जिसे पंचदशीकारने एकपरता रूप ब्रह्माभ्यास कहा है और भगवान् ने तोष और रमणका उपाय बताया है। अनात्मविषयक चर्चा न करना, न सोचना, न पढ़ना, न सुनना, और चर्चा से उपलक्षित सभी अनात्म-व्यवहार से बचना यह अन्य वाणी छोड़ने का अर्थ है। इस पर दृढ रहे तो थोड़े ही समय में स्वयमेव कर्म और कर्मठ लोगों से पिण्ड छूट जाता है जैसा व्यास जी ने कहा 'नासौ त्यजति कर्माणि कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ!' कि इसे कर्म छोड़ने के लिये खास परिश्रम नहीं करना पड़ता, कर्म ही इसे छोड़ भागते हैं। यह स्थिति संन्यासी ही पा सकता है इस दृष्टि से प्रणवध्यान में वह मुख्याधिकारी है। अन्य साधक भी प्रयास करे तो उक्त प्रक्रिया से अपना सांसारिक व्यवहार काफी कम कर सकता है और उस समय को उक्त ध्यान में लगा सकता है, इससे संस्कार दृढ होंगे और जब भी वह समग्र त्याग करेगा तब अत्यंत सुविधा से ब्रह्मनिष्ठा सिद्ध हो जायेगी। अत्यंत बहिर्मुख जीवन जीते-जीते यदि एक दिन संन्यास ले भी लिया तो अंतर्मुख बनने के लिये घोर परिश्रम करना पड़ेगा। साधक जबसे मोक्ष को प्राप्तव्य निर्धारित करे तभी से बहिर्मुखता घटाता जाये, अपनी आवश्यकताएँ कम करता जाये, तितिक्षा का अभ्यास करता जाये तब यह संभव है कि वैराग्य के पकने पर संन्यास लेकर शीघ्र ही ज्ञान और निष्ठा प्राप्त कर लेगा।

ज्ञानप्रभावः

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।'६५ ।।

इसलिये अन्य वाणी छोड़ना सभी के लिये साधन बता रहे हैं, अपनी-अपनी सामर्थ्य से सभी प्रयास करें, संन्यासी विशेष प्रयास करे। बहिर्मुखता छोड़कर केवल प्रणवाश्रित ब्रह्मध्यान में संलग्न रहेगा तो पूर्व में श्रवण से प्राप्त ज्ञान दृढ हो जायेगा, बुद्धि की अस्थिरता मिट जायेगी, जीवन्मुक्ति पा जायेगा। मोक्ष अविद्या मिटने से होता है, अविद्या ज्ञान से मिटती है लेकिन दृढ ज्ञानसे अतः दृढता का अभ्यास अत्यंत अनिवार्य होने पर भी ज्ञानका कारण नहीं है वरन् ज्ञान जिस चांचल्य के कारण अविद्या निवृत्त नहीं कर पा रहा उस चांचल्य को दूर करने का उपाय है। दृढ होते ही ज्ञान अविद्याकी गाँठ खोल देता है। एक रस्सी में ही उलझी हुई गाँठ पड़ी हो तो लगता है दो रस्सियाँ हैं, गाँठ खुलने पर समझ आता है कि एक ही है। इसी प्रकार ब्रह्म अद्वितीय है, दूसरा कुछ है नहीं, किन्तु इस तथ्य को न जानने से हमें द्वैत प्रतीत होता है, पता चलते ही द्वैत नहीं रह जाता क्योंकि था पहले भी नहीं। अहमाकार में बँधा दीखने पर भी वास्तव में वह बँधा नहीं है, कोई दूसरा है नहीं जिससे बँधे। मैं ब्रह्म नहीं हूँऐसी हमारा निश्चय रूप गाँठ से ही काम-क्रोध आदि सारी उलझनें प्रतीत होती हैं। ध्यान के सहकार से दृढ हुआ ज्ञान उक्त मूल गाँठ को, धीग्रंथि को खोल देता है क्योंकि जब मैं और ब्रह्मका सही स्वरूप पता चल जाता है तब अज्ञान मिट जाने से द्वैतभ्रम निवृत्त हो जाता है। काम, शोक, मोह आदि भ्रम तुरंत दूर हो जाते हैं, प्रारब्ध-सफलता के लिये ज़रूरी शरीरादि भ्रम मिट तो तत्काल जाते हैं लेकिन विदेहता पर्यन्त प्रतीत होते रहते हैं। मैं निरुपाधि ब्रह्म नहीं जीव हूँ यह धीग्रन्थि ज्ञान के साथ ही समाप्त हो जाती है अतः प्रारब्धवश जीवन चलते रहने पर भी मोक्ष सिद्ध हो जाता है। आकाशादि प्रपंच दीखता रहे, व्यवहार उपलब्ध होता रहे, इससे प्रत्यगात्मा बँधा नहीं रहता क्योंकि अपनी नित्य मुक्तता जान जाता है और द्वैत प्रतीतियों को आभास मात्र समझ चुका है।।६४।।

तत्त्वानुभूति का प्रभाव श्रुतिके ही शब्दों में व्यक्त कर उसे तीन श्लोकों द्वारा समझाते हैं **अन्य सबसे पर (व्यापक) है माया किन्तु वह भी जिससे अवर (व्याप्त) है उस परमात्माका अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर हृदयकी गाँठ खुल जाती है, आत्मसंबंधी समस्त शंकाएँ दूर हो जाती हैं तथा जिसने वह ज्ञान पा लिया उसके सब कर्म समाप्त हो जाते हैं।।६५।।** द्वितीय मुंडक द्वितीय खंड का यह

परम् अव्याकृतं यस्मादवरं स्याच्चिदात्मनः ।
दृष्टे तस्मिन्नहङ्कारचितोर्ग्रन्थिर्विभिद्यते । ।६६ । ।
अहङ्कारस्य कर्तृत्वं चित्यध्यस्य तथा चितः ।
स्फूर्तिं चाऽहङ्कृतौ ग्रन्थिं कुर्याद् माया तयोर्दृढम् । ।६७ । ।

आठवाँ मंत्र है। एक अखण्ड सन्मात्र के रहते हुए ही सारा जड-चेतन, विषय-विषयी प्रपंच भ्रममात्र से उपलब्ध है क्योंकि उस प्रत्यग्रूप सत् का अज्ञान है। जैसे ही सारे जगत् का अधिष्ठान मैं ही हूँयह दृढ बोध हो जाता है वैसे ही अपना अभिमान, आत्मा के बारे में संशय और सारा कर्म का बोझ, सब एक ही बार में निवृत्त हो जाते हैं। मैं ब्रह्म हूँ या नहीं, जगत् ब्रह्म है या नहींये ही प्रधान संशय हैं, बाकी संशय इन्हीं का विस्तार हैं अतः ब्रह्मातिरिक्त न मैं हूँ न जगत् यह समझ लेने से ही सब संशय मिट जाते हैं। अभिमान हमें अनुभूयमान है, संशय भी अनुभव में आ रहे हैं, ज्ञानसे इन दोनों की समाप्ति भी अनुभव से पता चल जाती है। कर्म का बोझ हमें शास्त्रसे पता चलता है और फलभोग के आधार पर हमने समझा है। कर्म अर्थात् पूर्वकृत कर्मों का अपूर्व और अभी किये जाते कर्मों से जन्य अपूर्व। अपूर्व अर्थात् कर्म का स्थूल रूप न रह जाने पर बचने वाला सूक्ष्म रूप जो कालांतर में फल देता है। वह अपूर्व हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं, शास्त्र से ही पता चलता है। शास्त्र ही बता रहा है कि तत्त्वज्ञ के कर्म नहीं रह जाते। ज्ञानी का 'मैं कर्ता हूँ, मैंने कर्म किये, कर रहा हूँ' यही भ्रम मिट जाने से कर्मजन्य अपूर्व का सम्बन्ध बचना असंभव है। अहंकार, संशय और कर्म नष्ट होते तब हैं जब मायाका बाध हो। सारे भेदों का हेतु होने से सब भेदों की अपेक्षा माया व्यापक, अपने सब कार्यों पर नियंत्रण वाली है, बली है अतः 'पर' कही जाती है किन्तु मुझ ब्रह्मकी अपेक्षा वह अवर, बिलकुल निकृष्ट है क्योंकि ब्रह्मरूप मैं सदा अबाध्य हूँ जब कि माया बाध के ही योग्य है। बाध न होने तक ही मायाकी महिमा है, सचाई जानते ही माया कुछ नहीं रह जाती है। यही आत्मसाक्षात्कार का फल है। ।६५ । ।

उक्त मंत्रका अर्थ बताते हैं **संसारके सब भूत-भौतिकका मूल कारण होने से अव्याकृत परम है किन्तु ज्ञानरूप आत्मा से वह अवर, निकृष्ट, अव्यापक ही है। उस आत्माका साक्षात्कार हो जाने पर अहंकार और ज्ञानरूप आत्माकी आपसी गाँठ खुल जाती है। ।६६ । । अहंकार के कर्तापने को चेतन पर अध्यस्त कर और चेतनके ज्ञानको अहंकारमें अध्यस्तकर माया इन दोनों की मज़बूत गाँठ लगाये है। ।६७ । । आत्मा-अहंकार को अलग-अलग समझकर आत्मा की ब्रह्मरूपता के**

भिन्ने ग्रन्थौ विवेकेन संशया ब्रह्मतत्त्वगाः।
छिद्यन्ते स्याद् भाविजन्महेतुकर्मक्षयस्तथा।।६८।।

अनुभव से उक्त गाँठ खुल जाने पर ब्रह्मरूप परमार्थ के बारे में सब संशय मिट जाते हैं एवं भविष्य में जन्मका कारण बनने वाले सब कर्म समाप्त हो जाते हैं।।६८।। भाष्य मेंजो कारणरूप से पर और कार्यरूप से अवर हैऐसा परावर-शब्द को समझाया है। ब्रह्म ही कारण व कार्य दोनों रूप ग्रहण करता है, मायोपाधि से कारण और मायिकोपाधियों से कार्य रूपों वाला बन जाता है। विद्यारण्यस्वामी 'पर जिससे अवर है' इस विग्रह को मानकर अर्थ कर रहे हैं। दृश्य कारणों में अंतिम है माया अतः सांसारिक दृष्टि से पर है किन्तु दृश्य, मिथ्या होने से अधिष्ठान चिद्वस्तु की अपेक्षा अवर है यह तात्पर्य है। यों सर्वाधिक व्यापक आत्मा का दर्शन अहंकार और आत्मा की गाँठ, अन्योन्याध्यास मिटा देता है। उस गाँठ का रूप समझाया कि कर्तृत्व और ज्ञाान का परस्पर अध्यास ही गाँठ है। अंतःकरण की एक वृत्ति ही 'मैं' (अहंकार) है जो सुषुप्ति में नहीं रहता क्योंकि वहाँ अंतःकरण नहीं रहता। जैसे मनकी घटाकार वृत्ति हो तभी घटज्ञान होता है वैसे मनकी अहमाकार वृत्ति हो तभी मैं का ज्ञान होता है। मैं रूप ज्ञानको वृत्ति नहीं चाहिये, मैं के ज्ञानके लिये वृत्ति चाहिये। सुषुप्ति में वृत्ति न होने से ही यह स्पष्ट अनुभव नहीं होता कि 'मैं सो रहा हूँ'। जिस वृत्ति से मैं का अनुभव होता है उसीमें कर्तापना है, भोक्तापना है अर्थात् करने व भोगने वाला अहंकार है। अहंकार रहते ही करना और भोगना होता है, सुषुप्ति में अहंकार नहीं तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी नहीं। अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है कि अहंकार में ही कर्तृत्वादि है। चेतन स्वयं कर्ता-भोक्ता नहीं है। अज्ञान के प्रभाव से अहंकार का कर्तृत्व- भोक्तृत्व चेतन में समझ लिया जाता है। साथ ही चेतन का स्वरूप जो ज्ञान वह अहंकार में समझ लिया जाता है। अर्थात् जानना और करना एक में ही है यह भ्रम हो जाता है। हमें लगता है कि 'मैं जानता हूँ'; 'जानता' में दो हिस्से हैंएक है जानना, ज्ञान, और दूसरा है उस ज्ञान को करने वाला। 'जान'यह अंश तो ज्ञान को कहता है और 'ता' अंश कर्तृत्व को कहता है। इसी प्रकार हँस-ता, खा-ता, जा-ता आदि सर्वत्र एक क्रियांश होता है और दूसरा कर्तृत्वांश। 'जानता' में 'जान' ज्ञान को कह रहा है, वह ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, 'ता' कर्तृत्व को कह रहा है, वह कर्तृत्व अहंकारका है। यों हैं ये पृथक् लेकिन 'मैं जानता हूँ' में लगता है कि एक ही है जो जान-ता है। आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है, उसमें कर्तृत्व नहीं। जैसे सूर्य का स्वरूप ही प्रकाश है, पृथ्वी को वह प्रकाशित 'करता' नहीं, कुछ करता नहीं कि पृथ्वी प्रकाशित

हो, वह केवल अपने स्वभाव से है, पृथ्वी उसके सम्मुख आकर प्रकाशित हो जाती है इससे कह देते हैं कि वह प्रकाशित करता है। प्रत्यगात्मा भी ज्ञानरूप है, उसके संमुख आने पर पदार्थ ज्ञात होते हैं इससे कह देते हैं कि आत्मा ने ज्ञान किया, हालाँकि उसने किया कुछ नहीं, वह केवल है। किन्तु अंतःकरण वृत्ति बनाकर पदार्थों से सम्बंध करता है, क्रिया उसमें है, वह आत्माकी तरह निष्क्रिय निर्विकार नहीं। हमने कहा 'उधर देखो, वह पेड़ है', हमारी बात सुनकर उधर नज़र ले जाते हो, पेड़ देखते हो। आँख और अंतःकरण की वृत्ति को ले जानाये विक्रिया हैं जिन्हें अहंकार ने किया। विषय से सम्बन्ध कर विषयाकार वृत्ति बनानाइतना काम अहंकार करता है; यह होते ही विषय और चेतनके बीचका पर्दा हट जाता है अतः विषय ज्ञात हो जाता है क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्माके सम्मुख पड़ने पर वही स्वाभाविक है। इस दृष्टि से कहते हैं कि आत्माने विषयको ज्ञात बना दिया। आत्मा ने उसे ज्ञात बनाने के लिये किया कुछ नहीं, जो कुछ किया वह अहंकार ने, आत्मा जसका तस रहा। इस तरह कर्तृत्व अहंकार में है, आत्मा में नहीं, आत्मा पर उसे भ्रम से ही रखा जाता है। वृत्तिको ज्ञान वाला और आत्माको ज्ञान करने वाला समझनायह अन्योन्याध्यास ही गाँठ है। इसका कारण अज्ञानरूप माया ही है, और कुछ नहीं। सभी अध्यास, भ्रम अज्ञानसे ही उपजते हैं। अधिष्ठानको अज्ञान इस तरह छिपाता है कि उसका सही स्वरूप न पता चले और जो पता चले वह ऐसा हो जिसे अन्य ही चीज़ समझा जा सके। रस्सी को अज्ञान नहीं देखने देता लेकिन ऐसा नहीं कि बिलकुल ही न दीखे, दीखती वह है पर 'रस्सी है' यह नहीं दीखता, लम्बा गोल मोटा कुछ है यह दीखता है और यह ऐसा आयाम है जिसे साँप आदि समझा जा सकता है, अतः भ्रम हो जाता है। अधूरा अधिष्ठानज्ञान होने पर 'वह क्या है' इसे समझने के लिये क्योंकि प्रमाण कारगर नहीं हो रहे इसलिये हमारी कल्पना कार्य करती है, संस्कार उद्बुद्ध होते हैं। उनसे प्रेरित होकर वह अविद्या ही संस्कारानुकूल रूप ले लेती है, सर्पादि आकार ग्रहण कर लेती है और साथ ही, सामने जो पड़ा है उससे सर्पादि आकार का अभेद भी बना देती है तभी हमें दीखता है कि 'सामने जो पड़ा है वही साँप है'। अज्ञान से बना साँप सामने पड़ी रस्सी से अलग नहीं दीखता वरन् उससे एक हुआ दीखता है। साँप और एकतादोनों का कारण अज्ञान ही है। इसी तरह अज्ञान से अहंकार भी उत्पन्न होता है और उसकी आत्मा से एकता भी उत्पन्न होती है। आत्मा का अज्ञान होने से आत्मा का सच्चित्-प्रियांश तो भासता है, पूर्ण व्यापक अनन्त आनंद अंश नहीं भासते अतः आत्मा का सही ज्ञान नहीं होता तो अहंकार रूप ग़लतफ़हमी हो जाती है कि 'मैं

कर्त्ता-भोक्ता हूँ, ज्ञाता हूँ।' इसके संस्कार हैं ही क्योंकि संसार परंपरा अनादि है। इस प्रकार अन्योन्याध्यास समझने से पता चतला है कि यद्यपि 'मैंने जाना' यह भ्रम है तथापि इसमें जानना-अंश सत्य है जैसे 'लंबा साँप है' भ्रममें 'लंबा है' यह सत्य है अहंकार और उसका आत्मासे अभेदये कल्पित हैं, आत्मा सत्य है। अन्योन्याध्यास न समझने से अनात्मवाद, शून्यवाद प्रतीत होता है किन्तु भाष्यकार ने अत्यंत सूक्ष्म विवेचन से इस रहस्य को स्पष्ट किया कि आत्मा सत्य है, अनात्मा और उसका आत्मा से संबंध असत्य है। आत्माका ज्ञानरूप अहंकार में कल्पित इसी संबंध के कारण हो जाता है; क्योंकि आत्मा से अभेदेन अहंकार कल्पित हुआ इसीलिये आत्माके ज्ञानरूप का अहंकारमें अनुभव हो गया जैसे रस्सी से अभेदेन कल्पित साँप में रस्सी की लंबाई का अनुभव हो गया। आत्मा सत्य ही है, उसका अनात्मा से संबधं ही कल्पित है जबकि अनात्मा और उसका आत्मा से संबंध दोनों कल्पित हैं। क्योंकि अनात्मा की आत्मा से अभिन्नता का संबंध कल्पित हुआ इसलिये आत्मा के अनात्मा से संबंधका काम भी उसी से चल जाता है। घड़े का भूतल से जो संयोग है वही तो भूतलका भी घड़े से होगा, ऐसे ही यहाँ समझना चाहिये। चीज़ें हों तो पृथक्, उन्हें समझा एक जा रहा हो तो उसका हेतु होता है दोनों चीज़ों को, उनके स्वतंत्र स्वरूपों को न जानना। यदि जानकारी है पर उस स्थल पर स्वतंत्र स्वरूप नहीं जाने जा रहे तब भी दोनों को एक समझने का भ्रम हो जाता है। आत्मा का तो वास्तविक स्वरूप हमें अज्ञात है ही, अहंकार के अनात्म स्वरूप का भी हमें निश्चय नहीं इसलिये दोनों को एक समझना सहज हो जाता है। इस भ्रमको मिटाने के लिये सर्वप्रथम विवेक चाहिये, आत्मा और अहंकार के स्वरूपों का ज्ञान चाहिये। अहंकार आगमापायी, परिवर्तनशील है अतः अनात्मा है, आत्मा नित्य स्थायी निर्विकार ज्ञानस्वरूप है। यों दोनों का अपना-अपना स्वरूप जान लेने पर जब वे एकमेक हुए उपस्थित होते हैं तब आरामसे पहचान में आ जाते हैं कि एक लगते हुए भी हैं दो। आत्मस्वरूप की गवेषणा उसके व्यापक स्वरूप के ज्ञान के बिना अधूरी रहेगी अतः उसे जानने तक आत्मान्वेषण करना पड़ेगा। इसलिये विवेकपूर्वक आत्मबोध होने से पूर्वोक्त गाँठ खुल जाती है, अन्योन्याध्यास मिट जाता है, प्रतीति हो जाये तो भी भ्रम नहीं होता। 'मैंने कभी कुछ किया या करूँगा' ऐसा निश्चय फिर नहीं हो सकता। स्वयं को कर्ता-भोक्ता समझने से ही अपनी ब्रह्मरूपता पर शंका होती है, जब कर्तृ-भोक्तृभाव निवृत्त हो गया तब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बारे में कोई शंका नहीं रह जाती। आत्मा के अकर्तृस्वभावको समझने में सुषुप्तिका विचार उपयोगी है क्योंकि वहाँ हम हैं पर करते कुछ नहीं, कर

आनन्दरूपं हृत्कोशे यद् भाति प्राणिनां सदा।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिर्द्रष्टव्यं तद् मुमुक्षुभिः।।६९।।

सकते नहीं। जाग्रत्- स्वप्न में जब शरीर हैं तभी करते हैं। अतः करना हमारा स्वभाव नहीं औपाधिक है यह स्पष्ट हो जाता है। विवेकपूर्वक गाँठ खुल जाने पर ब्रह्मविषयक, आत्मविषयक संशय दूर हो जाते हैं। क्योंकि अपनी अकर्तृता निश्चित हो जाती है इसलिये अपने सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। जो कर्म फल देना शुरू हो चुके अर्थात् प्रारब्ध, वे तो फल देकर नष्ट होते हैं, अन्य जो संचित आगामी हैं वे आगे कभी फल नहीं दे पाते। प्रारब्ध फल देने पर भी 'आत्मरूप मैं भोग रहा हूँ' यह भ्रम तो नहीं ही होता, जीवन-व्यवहार काल में भी विवेक जाग्रत् रहता है कि भोग औपाधिक ही है, मिथ्या ही है। प्रारब्ध की स्वरूपतः निवृत्ति मानने पर जीवन्मुक्ति के प्रतिपादक शास्त्र, ब्रह्मनिष्ठ से उपदेश सुनने की विधि तथा विद्वानों के अनुभव से विरोध आता है अतः सारे कर्मों का क्षय कहा होने पर भी यह अंतर स्वीकारा जाता है कि प्रारब्ध फल देकर क्षीण होता है तथा बाकी स्वरूपतः ही निवृत्त हो जाते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये यहाँ कहा कि वे कर्म नष्ट होते हैं जो भविष्य में जन्मके हेतु हैं। प्रारब्ध तो भविष्य नहीं वर्तमान जन्मका हेतु है। इस प्रकार प्रणवध्यान से स्थिर की हुई बुद्धि में आत्मज्ञान होने का प्रभाव बताया।।६६-८।।

ज्ञेय ब्रह्मका परिचय श्रुतिने दिया 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यद् आत्मविदो विदुः।।' २.२.९।। बुद्धिके निमित्तसे होने वाला ज्ञान जहाँ होता है वह हार्दाकाश, हृदयाकाश कहा जाता है, वहीं निर्दोष निरवयव ब्रह्मका स्फुरण होता है। सभी लौकिक जड-अजड प्रकाश उस ब्रह्मरूप ज्ञानप्रकाश के विषय ही हैं, उसीसे प्रकाशित हुए वे प्रकाश लगते हैं, प्रकाशक बनते हैं। इस मंत्र का अर्थ बताते हुए ब्रह्मस्वरूपका कथन करते हैं **सभी प्राणियों को अपने हृदयरूप तिजोरी में जो आनंद स्वरूप प्रत्यगात्मा हमेशा भासता है वही शुद्ध प्रकाश है जिससे अन्य प्रकाश प्रकाशवान् बनते हैं। मोक्षेच्छुकों को चाहिये कि उसे अवश्य जानें।।६९।।** विज्ञान-आनंद परमात्माका रूप है। द्वैतवादी एक मूर्खतापूर्ण बात कहते हैं कि जैसे गुड़ बनने में मज़ा नहीं, गुड़ खाने में ही मज़ा है ऐसे परमात्मा हो जाने में आनंद नहीं, भक्त बने रहकर परमात्मा की सेवा करने में आनंद है। यह बात मूर्खतापूर्ण इसलिये कि गुड़ जड है, परमात्मा चेतन है। परमात्मा स्वयं आनंद है और उसका आनंद कभी आवृत नहीं है क्योंकि वह विज्ञान भी है। ऐसा नहीं कि परमात्मा को अपना आनंद

भासका अपि सूर्याद्यास्तद् भासयितुमक्षमाः।
तस्मिन्नादौ भासमाने तद्भासा भासतेऽखिलम्।।७०।।

न भासता हो! अतः जब जीव समझता है कि मैं परमात्मा ही हूँ तब वही असीम आनंद उसे भासता है क्योंकि अब वह परमात्मा से अन्य नहीं रह गया। उस विज्ञान आनंद ब्रह्मका साक्षात्कार हृदय में हो जाता है। जैसे सबसे महत्त्वपूर्ण धन तिजोरी में रखते हैं ऐसे परमात्म स्वरूप हृदय में निहित होने से हृदय को कोश कहा। अथवा जैसे म्यान में तलवार छिपी रहती है ऐसे हृदय में परमात्मा छिपा होने से उसे कोश कहा। अन्यत्र से हटकर हृदय में एकाग्र हो तब बुद्धि आत्माका दर्शन पाती है। कामना वाले, भोगेच्छुकों की बुद्धि विषयों में ही भटकती रहने से वहाँ एकाग्र होती नहीं इसीलिये वे आत्मदर्शन से वंचित रह जाते हैं। वस्तु पास हो भी पर उस तरफ देखें ही नहीं तो उसका ज्ञान क्यों होगा! मोक्ष चाहने वाला संसार से बुद्धिको समेटता है, जो कामनाएँ बुद्धिको बहिर्मुख बनाती हैं उन्हें वैराग्य से काटता है, तब उसकी बुद्धि हृदय में एकाग्र होकर परमात्मदर्शन पाती है। विषयों की तरफ जाना छोड़े तभी बुद्धि आत्मा पर एकाग्र हो सकती है। यह भ्रम नहीं पालना चाहिये कि कोई ऐसी साधना पद्धति हो सकती है जिससे भोग और मोक्ष दोनों मिल जायें! भोग छोड़ने पर ही मोक्ष मिल सकता है। हमेशा से मोक्ष छोड़ा हुआ है तो भोग मिलते जा रहे हैं, इन्हें छोड़ेंगे तो मोक्ष मिलेगा। बाहर से बुद्धि हृदय में ले आने तक यत्न चाहिये, आत्मा तो स्वयं वहाँ प्रकाशमान है। उसमें ज्ञान व आनंद स्वतः है, किसी दूसरे से मिला हुआ नहीं। बाकी सबको ज्ञान व आनंद आत्मासे मिलता है, आत्मा को किसी से नहीं मिलता। सूर्य, चक्षु, मन आदि प्रकाश हैं क्योंकि विषयों के ज्ञान को संपन्न करते हैं लेकिन वे कोई भी स्वतंत्र प्रकाश नहीं हैं, आत्मा से ही उन्हें प्रकाश मिलता है। इसलिये उसे ज्योतियों की ज्योति कहा अर्थात् अन्य सबको प्रकाशवान् वही बनाता है।।६९।।

इस सर्वप्रकाशहेतुता को मंत्र में कहा है 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।' २.२.१०।। अर्थात् आत्मतत्त्वको सूर्यादि कोई नहीं प्रकाशित करता वरन् आत्माके प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं। इसे बताते हैं **सूर्यादि लौकिक प्रकाश बहुत-सी चीज़ों को प्रकाशित करते हैं किन्तु उनमें यह सामर्थ्य नहीं कि आत्मा को, अक्षर पुरुष को प्रकाशित करें। पहले आत्मा भासमान रहता है तब उसके प्रकाश से सूर्यादि समेत सब कुछ प्रकाशित होता है।।७०।।** लोकमें प्रकाश के

सर्वविज्ञानम्

सर्वासु दिक्षु तद् भाति तस्मिन्नन्तर्भवत्यदः।
जगत् ततः पृथङ् नास्ति तरङ्गादिर्जलाद् यथा।।७१।।
जलतत्त्वं तरङ्गादौ ब्रह्मतत्त्वं तथाऽखिले।
ततो ब्रह्मणि विज्ञाते विज्ञातं सकलं भवेत्।।७२।।

रूप में प्रसिद्ध हैं सूर्यादि। याज्ञवल्क्य से जनक ने पूछा कि व्यक्ति किस प्रकाश से व्यवहार करता है? तो उन्होंने सबसे पहले आदित्य को ही प्रकाश, ज्योति बताया। फिर चंद्र, अग्नि, वाणीको ज्योति बताते हुए अंत में कहा कि आत्मा ही ज्योति है। निरपेक्ष ज्योति, स्वरूपभूत ज्ञान तो केवल आत्मा है, बाकी सबकी ज्योतिरूपता, प्रकाशरूपता आत्मा से प्रकाश पाकर है, स्वतंत्र नहीं। जड प्रकाश भी अपनी सत्ता-सफुरत्ता के लिये आत्मा पर ही निर्भर है। अतः सूर्यादि भौतिक प्रकाश तथा इंद्रियाँ आदि चेतन प्रकाश दोनों ही आत्माको प्रकाशित करने में अक्षम हैं। न सूर्य की रोशनी में आत्मा चमकता है न आँखों से दीखता है। आत्मा नित्य ज्ञान है, उसी से ये सब विषय बनते हैं तब अपने व्यवहार में समर्थ होते हैं।।७०।।

ब्रह्मकी व्यापकता बताकर स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्मविज्ञान से सर्वविज्ञान संगत है **सभी दिशाओं में जो कुछ भी भास रहा है वह यही अक्षर पुरुष है, आत्मा है। दूर-से-दूर तक जितना भी जगत् है वह इस आत्मा में ही समाया हुआ है। लहर बुद्बुदे आदि जैसे जलसे पृथक् नहीं होते ऐसे जगत् आत्मासे अलग कुछ नहीं है।।७१।। लहर आदि में जैसे सत्य वस्तु जल ही है वैसे सारे संसारमें सत्य वस्तु ब्रह्म ही है, इसीलिये ब्रह्म जान लिया जाये तो सब कुछ जान लिया जाता है।।७२।।** हृदय-कोश में वर्तमान होते हुए ही ब्रह्म व्यापक वस्तु ही है। आगे-पीछे-दाँये-बाँये ऊपर-नीचे सर्वत्र एक ब्रह्मका ही प्रकाश है क्योंकि संसार में दूसरा तो कोई प्रकाश है ही नहीं। सारा ब्रह्माण्ड उस अक्षरपुरुष में ही अध्यस्त है अतः पुरुष ही संसार से अत्यधिक व्यापक है। संसार में ब्रह्म नहीं फैला है वरन् ब्रह्म में ही संसार भास रहा है। अनादि-अनन्त सारा संसार उसी में कल्पित है। जल ही जैसे तरंगादि रूपों में दीखता है वैसे चराचर सब रूपों में दीखने वाला ब्रह्म ही है। संसार में जो विषयों को चाहता है उसे वे विषय ही मिलते हैं। लेकिन जो केवल ब्रह्मको ही चाहता है उसी को प्राप्त करता है उसे सारा संसार ही सुलभ हो जाता है क्योंकि संसार ब्रह्मके अंतर्गत ही है। अतएव ब्रह्मज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता हैयह बात संगत सिद्ध हो जाती है।।७१-२।।

चिद्-आभासौ

अखण्डैकरसं ब्रह्म समाधावेव भासते।
व्युत्थाने भोक्त्रभोक्तारौ भासेते पक्षिवत् पृथक्।।७३।।

तृतीय मुण्डक पक्षियोंके रूपक से प्रारंभ होता है 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।' ३.१.१।। एक पेड़ पर रहने वाले दो पक्षियों की तरह शरीर में साक्षी और अहंकार दोनों हैं पर इनमें अहंकार कर्मफल भोगता है जबकि साक्षी कोई भोग किये बिना केवल भासमान रहता है। यह मंत्र श्वेताश्वतरोपनिषत् में भी आया है एवं ब्रह्मसूत्रों में इस पर प्रभूत विचार है। इस रूपक के व्याख्यानों में भी थोड़ा-बहुत फ़र्क़ आचार्यों के विभिन्न वर्णनों में आया है। इसको ही समझाते हैं **सब भेदों से रहित, तारतम्यहीन ब्रह्म समाधि में ही प्रतीत होता है। समाधि से उठने पर व्यवहारदशा में भोक्ता और अभोक्ताये दो प्रतीत होते हैं जो विभिन्न पक्षियों की तरह अलग-अलग हैं।।७३।।** श्रवणादि कर चुके साधकको समाधि में ब्रह्मका अखण्ड और एकरस स्वरूप स्पष्ट होता है। खण्ड अर्थात् भेद; ब्रह्म में सजातीय-विजातीय-स्वगत कोई भेद नहीं है। एकरस अर्थात् कम-ज़्यादा से रहित, एकसमान; ब्रह्म में घटा-बढ़ी भी नहीं है। यद्यपि असमाहित दशा में भी ब्रह्म तो ऐसा ही है, उसमें अंतर नहीं, तथापि उस समय नाम-रूप कर्म भी प्रतीत होता है इतना अंतर है। प्रतीत होते हुए भी मालूम रहता है कि मिथ्या है फिर भी प्रतीति बनी रहती है जबकि समाधि में नामादि की प्रतीति ही नहीं रहती। योगी की तरह ज्ञानी, व्युत्थानदशा में स्वयं को भोक्ता समझ लेता हो या संसारको सत्य समझ लेता हो ऐसा नहीं है। फिर भी संसारोपलब्धि तो रहती ही है। लेकिन अज्ञानी के लिये व्युत्थान दशा में कर्ता-भोक्ताभाव सत्य रहता है, वह यदि समाहित होता है तो ये भाव छिप जाते हैं। पूर्व में समझा चुके हैं कि कर्ता-भोक्ता अहंकार है, चिच्छायावान् अहमात्मक अंतःकरण है और जिसकी छाया पड़ती है वह साक्षी अकर्ता अभोक्ता है। अज्ञानी के लिये ये दो पृथक् चीज़ें नहीं हैं, ज्ञानी विवेक से इन्हें पृथक् जान चुका है, उसके लिये अहंकार मिथ्या और साक्षी सत्य है, अहंकार भोक्ता और साक्षी अभोक्ता है।।७३।।

रूपक को ही स्पष्ट करते हैं **जिस प्रकार वृक्ष पर बैठा भूखा पक्षी फल खाता है जबकि दूसरा (जो भूखा नहीं है वह) केवल देखता रहता है उसी प्रकार चेतन का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया हुआ अहंकार कर्मफलों का भोग करता है**

वृक्षे पक्षी फलं भुङ्क्ते क्षुधितोऽन्यस्तु वीक्षते।
चिच्छायावानहङ्कारो भुंक्ते चिद् वीक्षते तथा।।७४।।

जबकि चेतन, साक्षी केवल जानता रहता है।।७४।। भूखा अर्थात् कामना से ग्रस्त जीव तो विषयों का उपभोग करता है, उन्हें पाने के लिये कर्म भी करता है। कर्म का हेतु कामना है, अविद्यावश कामना होने पर ही कर्म किया जाता है। मनु महाराज ने भी स्पष्ट किया है कि जन्तु जो-जो कर्म करता है, वह कामना का ही प्रभाव है। जीव कामना वाला होकर कर्म करता है और कर्मफल का भोग करता है। सही कर्म का फल सुख और ग़लत कर्म का फल दुःख मिलता है। कामनाओं से सर्वथा रहित दूसरा पक्षी है जिसे साक्षी कहते हैं। ईश्वर ही साक्षी है अतः उसे कोई कामना नहीं। वह प्रकाशरूप है अतः 'केवल जानता है' ऐसा कहते हैं किन्तु पूर्वोक्त 'जान-ता है' अर्थात् जानने का काम करता है इस अभिप्राय से साक्षी जानता हो ऐसा नहीं वरन् ज्ञानरूप ही है, साक्ष्य ज्ञात हो जाता है इस दृष्टि से साक्षी जानता है ऐसा कहते हैं। अंतःकरण में सुखवृत्ति बने या दुःखवृत्ति, सभी को साक्षी प्रकाशित कर देता है। उन वृत्तियों से 'मैं सुखी या दुःखी' यह अहंकार का अनुभव है, साक्षी को साक्ष्य किंचित् भी प्रभावित नहीं करता, उसे 'मैं सुखी-दुःखी नहीं लगता। भोग अहंकार की उपाधि से जुड़ने पर ही होता है, स्वयं चेतन नहीं भोगता अतः जब सुषुप्तिमें अहंकार नहीं रहता तब कोई भोग नहीं होता। वहाँ जो आनंद है वह कर्मफल नहीं, वैषयिक नहीं, आत्मा का स्वरूपभूत आनंद है। सिर्फ़ अहंकार जड है, वह भोग नहीं कर सकता लेकिन चेतन उससे एकमेक हो जाता है इसलिये भोग संभव हो जाता है। जैसे स्वयं दर्पण कुछ प्रकाशित नहीं करता लेकिन सूर्य उसमें प्रतिबिंबित हो जाये तो दर्पण भी नाली या गुफा को प्रकाशित कर देता है वैसे चेतनकी छाया पाया अहंकार भोग कर लेता है। जिस समय वह भोग करता है उस समय भी उसमें जिसका प्रतिबिंब है वह साक्षी कोई भोग नहीं करता। अतः जो विद्वान् स्वयं को साक्षी ही जानता है वह कर्ता-भोक्ता नहीं बनता, भले ही उसीका अहंकार कर्त्ता-भोक्ता बन रहा हो। अज्ञानी तो स्वयं को जानता ही अहंकार है अतः साक्षी के अभोक्तृत्व से वंचित रह जाता है, अहंकार के भोक्तृत्व को ही ढोता रहता है। सुषुप्ति में अहंकार न रहने पर भी मैं थायह अनुभव यद्यपि अज्ञानी को भी है अतः वह अपनी साक्षिरूपता से सर्वथा अपरिचित नहीं तथापि मैं सिर्फ साक्षी हूँ ऐसा वह नहीं जानता अतः साक्षी की अभोक्तृता का उसे लाभ नहीं मिलता, विद्वान्को लाभ मिल जाता है। लाभ है निर्विकार आनंदरूप रहना। साधक मध्यकी दशावाला होता है, सामान्यतः स्वयं को अहंकार समझता है, सावधानी से विचार

बोधात् पुरा तु चिद् भ्रान्त्या मग्ना भोक्तरि शोचति।
सा भ्रान्तिर्भोक्तृनिष्ठैव तद्विवेकोऽपि भोक्तृगः।।७५।।
भोगावान्तरभेदो हि भ्रान्ति-तद्बाधकावुभौ।
इतरारोपवत्तौ च चित्यध्यस्तौ न वास्तवौ।।७६।।

करे तब स्वयंको साक्षी समझता है। वह भोग से भोक्ता बनता है पर विचार करते ही 'मैं तो अभोक्ता हूँ' समझ लेता है। विद्वान्, ब्रह्मनिष्ठ क्योंकि सदा स्वयं को साक्षी ही जानता है, 'मैं अहंकार हूँ' ऐसी उसे कभी प्रतीति नहीं होती इसलिये उसे साधक की तरह भोक्ता बनने पर अपने भोक्तृत्व का बाध नहीं करना पड़ता वरन् उसे भोक्ता बनना ही नहीं पड़ता। यावत्-प्रारब्ध उसका अहंकार भोक्ता बनता है लेकिन अहंकार को वह मैं समझता ही नहीं अतः 'मैं भोक्ता' ऐसा उसे लगता नहीं। अहंकार भोक्ता बनने के लिये आत्मा की छाया पाता है पर विद्वान् यह जानता है कि अहंकार में मेरी छाया ही है, मैं नहीं, अतः छाया के विकार स्वयं पर ओढ़ता ही नहीं। इसीको कहते हैं कि जीवनकाल में कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अनुवर्तन बाधित ही रहता है अर्थात् प्रतीति होते समय ही स्पष्ट रहता है कि कर्तृत्वादि है नहीं, बाधित है। विदेह कैवल्य में अहंकार निवृत्त हो चुका है अतः वह अनुवृत्ति समाप्त हो जाती है इतना ही अंतर है, स्वयं ज्ञानी में जीवन और विदेह कालों में कोई अंतर नहीं।।७४।।

ज्ञान-अज्ञान से आने वाला अंतर मंत्र ने बताया 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम् अस्य महिमानम् इति वीतशोकः।।' ३.१.२।। अर्थात् यद्यपि साक्षी भी वहीं अभिव्यक्त है जहाँ जीव है किन्तु जीवका निश्चय ग़लत है, वह स्वयं को शरीर समझे हुए है जिससे 'मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ' आदि अभिमान पालकर अपनी असमर्थता से पीडित है। जब जीव समझ लेता है कि मैं अहंकार नहीं वरन् साक्षी ही हूँ तब शोक-मोह से छूट जाता है और अखण्ड आनंदरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। इसलिये जो स्वयं को भोक्ता समझ रहा है उसे ही उस भोक्तृभाव से छूटने के लिये ज्ञान चाहिये, आत्मा को वास्तव में कभी भ्रम हुआ नहीं अतः उसे भ्रम दूर भी नहीं करना है यह समझाते हैं **अखण्ड साक्षात्कार से पूर्व तो भ्रान्तिवश चेतन भोक्ता से एकमेक हुआ शोक करता है। वह भ्रान्ति और उसे मिटाने वाला विवेक उस भोक्ता में ही होते हैं जिसमें अहंकार और चेतन एकमेक हैं।।७५।। भ्रान्ति और उसका बाध करने वाला तत्त्वज्ञान दोनों भोग के ही रूप हैं तथा अन्य अध्यासों की तरह चेतन में वे कल्पित ही हैं, सच्चे नहीं।।७६।।**

अहंकार से तादात्म्याध्यास के कारण, 'अहंकार ही मैं हूँ' ऐसे भ्रांत निश्चय के कारण चेतन उन सब सुख-दुःखों को झेल रहा है जिनका अधिकारी अहंकार है, चेतन नहीं। जैसे पानी में डूबी चीज पानी से पृथक् नहीं दीखती ऐसे भोक्ता में मानो डूब जाने से चेतन उससे अलग पहचान खोये हुए है। लोक में भी कई लोग मकान में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उसमें कहीं कोई कील ठोके तो उन्हें लगता है उनकी छाती में कोई चोट कर रहा है! जब भी भेद को ग्रहण नहीं कर सककर अभेद की कल्पना हो जायेगी तब एक का असर दूसरे में प्रतीत होगा ही। अहंकार से तादात्म्य की भ्रान्ति कहाँ है? जो स्वयं को भोक्ता समझ रहा है उसी में भ्रांति है। इस 'जो' में चेतन-अहंकार दोनों आ जाते हैं। शुद्ध चेतन में भ्रांति है नहीं, अन्यथा वह शुद्ध ही न कहलाये। 'अज्ञान से अज्ञान ढँका है' आदि गीता से भी यह सूचित होता है। क्योंकि जिसे भ्रम होता है उसी को तत्त्वज्ञान होना पड़ता है तभी भ्रम मिटता है इसलिये जिसे वह भ्रम है उसी को विवेक भी होता है। शुद्ध चेतन को न भ्रम है न विवेक, वह नित्य विज्ञप्तिमात्रस्वरूप है। भ्रमवृत्ति में प्रतिबिम्बित चेतन जैसे भ्रान्त है वैसे विवेक में पड़ा हुआ विवेकी है। इसी लिये कहा जाता है कि चेतनका न बंध था, न मोक्ष हुआ, भ्रांति से विषयभोग होते हैं, विवेक से स्वरूप का 'भोग' हो जाता है, हैं दोनों भोग। स्वरूप का भोग अज्ञान मिटा कर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है यह उसकी विशेषता है। स्वयं चेतन में भोग-विवेक दोनों ही वास्तव में नहीं हैं, वह निर्विकार है। अविवेक के आरोप से बंधन है, विवेक के आरोप से मोक्ष है किन्तु हैं दोनों व्यवहार भूमि पर।।७५-६।।

तत्त्वज्ञानी की स्थिति मंत्र में बतायी 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।। प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।।'३.१.३-४।। अर्थात् परमात्मा का जानकार पुण्य-पाप से परे होकर पारमार्थिक अद्वैत में स्थित हो जाता है। आत्मवेत्ता के लिये 'अन्य' कोई नहीं रह जाते जिनसे अपनी श्रेष्ठता जताये। उसकी क्रीडा व प्रेम आत्मा में ही होता है, ज्ञान ध्यान आदि ही उसकी क्रिया रह जाती है। इन मंत्रों का सार बताते हैं **भोक्ता ही जब विवेकपूर्वक अखण्ड आत्मा का अप्रतिबद्ध साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है तब उसके समस्त पुण्य-पाप निवृत्त हो जाते हैं। मूर्ख लोग जैसे हमेशा जुआ आदि खेलते रहते हैं वैसे विद्वान् सदा आत्मा का ही ध्यान करता है मानो ध्यानसे**

ब्रह्मविद्वरिष्ठः

विविनक्ति यदा भोक्ता पुण्यपापे तदाऽस्य नो।
क्रीडत्यात्मन्यसौ ध्यानाद् द्यूतादौ मूढवत् सदा।।७७।।
आत्मन्येव रतिं कुर्यात् सर्वदा नित्यकर्मवत्।
वरिष्ठो ब्रह्मवित्स्वेष व्यर्थक्षणविवर्जनात्।।७८।

आत्मा में ही खेल रहा हो।।७७।। कर्मरसिक को जैसे नित्य कर्मों से प्रेम होता है वैसे ज्ञानी को आत्मा से ही प्रेम रहता है। इस प्रकार हमेशा ब्रह्ममयी वृत्ति रखने के कारण विद्वान् का एक भी क्षण निरर्थक नहीं जाता इसीलिये ब्रह्मवेत्ताओं में भी वही सर्वोत्तम होता है।।७८।। अध्यस्त होने पर भी विवेक का फल महान् है, उससे कर्मबंधन समाप्त होता है। रुपया होता है चाँदी का, रूपा नाम चाँदी का है। नोट को भ्रम से ही रुपया कहते हैं अतः नोट रुपया नहीं है। नकली नोट भी रुपया नहीं है। किन्तु नकली नोट रखने से जेल जाना पड़ता है और असली कहलाने वाले नोट से बाज़ार में सामान खरीद सकते हो। वास्तव में न असली नोट रुपया है, न नकली नोट रुपया है लेकिन दोनों के फल विभिन्न हैं। ऐसे ही भोक्तृभाव और विवेक दोनों अध्यस्त होन पर भी दोनों के फल विभिन्न हैं। विवेक जिसकी पहली सीढ़ी है वह तत्त्वज्ञान समस्त कर्म समाप्त कर देता है जिससे परमानन्द में कोई विक्षेप नहीं रह जाता जबकि भोक्तृभाव पुण्य-पाप देकर स्वर्ग-नरक में भटकाता रहता है। ज्ञानसे कर्म मिटने के बाद ज्ञानी स्वतः ही आत्मध्यान-परायण रहता है। जैसे जुआरी को जुआ न खेलने में ज़ोर पड़ता है, खेलना स्वाभाविक होता है या शराबी कोशिश यही करता है कि वह जहाँ तक हो सके नशे में डूबा ही रहे, वैसे तत्त्वज्ञ हमेशा ही आत्मध्यान में निमग्न रहता है, यही उसका खेल है। जैसे आवश्यक कार्यों के लिये जुआरी, शराबी थोड़ा-बहुत समय निकाल लेते हैं वैसे प्रारब्ध भोगने के लिये ज्ञानी की भी किंचिद् बहिर्मुख वृत्ति बन जाती है लेकिन उसमें वह टिकता नहीं, अनिवार्य भोग होते ही आत्मध्यान में लौट जाता है। वही उसका खेल होने से मज़ा उसे उसी में आता है। और वह आत्मरति होता है उसकी रति आत्मा में ही होती है। क्रीडा इच्छा-पूर्वक की जाती है जबकि रति उसमें होती है जो कार्य उचित है। कर्म को उचित समझने वाले को रति कर्म में होती है अतः बुखार आदि होने पर भी प्रातः स्नानादि कर सन्ध्या अग्निहोत्रादि नित्य कर्म कर ही लेता है, यथासंभव उन्हें छोड़ता नहीं। रति के विषय में कर्तव्य-बुद्धि होने से उस कार्य को करने से संतोष होता है, न कर सकना बुरा लगता है। तत्त्ववेत्ता सम्प्रदायरक्षा के लिये जो उपदेशादि

करता है वह रति से। बाह्य कर्मों में तो न उसे कोई मज़ा आता है न उन्हें उचित मानता है अतः उनसे तो छूट कर आत्मध्यान में जाता है लेकिन योग्य शिष्य को तत्त्वज्ञान प्रदान करने के लिये जो वह ध्यान से बाहर आता है वह रति के कारण, संप्रदाय रक्षा को उचित मानने के कारण। उपदेश केवल शारीर कर्म नहीं कि भोजन शौच आदि की तरह उपदेश न करे तो मर जायेगा! उपदेश आवश्यकता से प्रसूत नहीं वरन् रति से होता है। उसके लिये भी भेदबुद्धि बनानी पड़ती है, वैसा करना नापसंद होने पर भी औचित्य को समझकर वह उपदेशादि के उपयोगी बहिर्मुख व्यवहार का निर्वाह कर लेता है। प्रेम आत्मा में ही होने से उपदेश वह आत्मतत्त्वका ही करता है, उसी के लाभ के उपायों का करता है, लोकरंजन की ओर नहीं बढ़ता। भाष्य में बाह्य उपकरणों की ज़रूरत वाली को क्रीडा और उनके बिना ही बाह्य विषयों से प्रेम को रति कहा तथा विद्वान् न बाह्य उपकरणों से खेलकर सुख लेता है न बाह्य विषयों से प्रेम करता है यह समझाया है। ध्यान, वैराग्य आदि ही उसकी क्रियाएँ रह जाती हैं। किन्तु रति के लिये नित्यकर्म का दृष्टान्त देकर विद्यारण्य स्वामी ने रति का विशेष अर्थ प्रकट किया है। आत्मप्रेम तो इसमें भी समझना ही चाहिये अतः उपदेशादि अनात्मविषयों का करे यह वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ता के लिये संभव नहीं। उपदेशादि परंपरा-रक्षा का कार्य वही कर सकता है जिसकी निष्ठा पक चुकी है। जिसमें किंचित् भी कच्चापन होगा वह इन कार्यों की तरफ कदम बढ़ाने पर हमेशा इस खतरे में रहेगा कि द्वैत-बुद्धि बढ़कर उसकी अद्वैतक्रीडा पर हावी हो जाये। अदृढ ज्ञानी अनात्मबुद्धि रोककर, निरंतर केवल आत्मविचार में रहकर, स्वयं का तो कल्याण कर सकता है लेकिन अदृढ स्थिति में ही लोकसंग्रह की ओर बढ़ गया तो न स्वयं निष्ठा पा सकेगा न दूसरों को ही आत्मनिष्ठ बना पायेगा। यह कार्य श्रेष्ठ अर्थात् परिपक्व निष्ठा वाले ब्रह्मवेत्ता का ही है कि अपनी स्थिति बिगाड़े बिना अन्यों को आत्मोन्मुख बना दे। ऐसे ज्ञानी का कोई क्षण व्यर्थ नहीं जाता, अनात्माका पोषक नहीं बनता, प्रयोजनका विरोधी नहीं होता, न उसे खुद विचलित करने वाला होता है न किसी साधक को आत्मा से विमुख करने वाला होता है। लौकिक वार्ता से भी वह आत्मा की तरफ ही जाने को प्रेरित करता रहता है। यह तभी संभव है जब उनका ध्यान हमेशा आत्मा की ओर बना रहता है। जैसे व्यापारी की एक सूक्ष्म वृत्ति सदा व्यापार की होती है अतः चाहे जो बात चल रही हो, थोड़ा-सा मौका पाते ही वह व्यापार-विषयक बात पर आ जाता है वैसे ज्ञानी जब अन्य बातें कर रहा हो तब भी एक वृत्ति आत्मा की तरफ बनी रहती है अतः थोड़ा भी अवसर दीखते ही वह बात को आत्मा पर ले आता है। यद्यपि यथासंभव उसकी बातें

सत्यं तपो ब्रह्मचर्यं विद्याऽधिकृतिकारणम्।
मुख्याधिकारी विद्यायां वरिष्ठो ब्रह्मविद् भवेत्।।७६।।

भी होंगी आत्मविषयक ही तथापि श्रोता के अधिकारानुरूप उसे आत्मोन्मुख करने के लिये स्थूलारुन्धतीन्याय से अनेक ऐसे वार्तालाप भी हो सकते हैं जो लगें कि अनात्मविषयक हैं पर वे भी आत्मकेंद्रित ही होंगे, बात की दिशा आत्मा की ओर ही रहेगी। क्योंकि स्वयं का पूर्ण कल्याण कर चुका और संप्रदाय रक्षार्थ बहिर्मुख प्रतीत होने पर भी आत्मनिष्ठा से विचलित नहीं होता इसलिये इसे ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ, सबसे श्रेष्ठ कहा। ब्रह्मवित् स्वयं का कल्याण कर लेता है, ब्रह्मविद्वर उत्तम अधिकारी का कल्याण कर सकता है, ब्रह्मविद्वरिष्ठ सभी अधिकारियों का कल्याण कर सकता है। उत्तम अधिकारी को ही उपदेश देने में बाह्यवृत्ति न्यूनतम बनानी पड़ती है अतः वह कार्य सरल है। निकृष्ट अधिकारी को प्रोत्साहित कर ज्ञानाधिकारी बनाकर उपदेश से ज्ञानी बनाना अत्यंत कठिन कार्य है, इसमें बाह्य वृत्तियाँ बहुत ज़्यादा बनानी पड़ती हैं और उसके बावजूद अपनी निष्ठा कायम रखना ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ के ही बूते का है। इस प्रकार ज्ञानी रूप में समान होने पर भी बाह्य व्यवहार झेलने की सामर्थ्यका तारतम्य है। बाह्य व्यवहार की न्यूनता के तारतम्य से भी वरिष्ठताक्रम का निर्धारण भूमिकारोहण की दृष्टि से किया गया है किन्तु प्रकृत में वह विवक्षित नहीं लगता।।७७-८।।

पाँचवें मंत्र में आत्मदर्शनके प्रधान साधन गिनाये हैं 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।'३.१.५।। अर्थात् क्रोधादिरहित यत्नशील संन्यासी हृदय में जिस स्वप्रकाश आत्माका साक्षात्कार पाते हैं वह उस सम्यग् ज्ञानसे संभव है जिसके लिये साधक हमेशा सत्य परायण रहे, झूठका पक्ष कभी न ले, तप करेमन-इंद्रियों को एकाग्र रखे, और ब्रह्मचर्य का पालन करे। इसे सूचित करते हैं **ब्रह्मविद्या सफल उसी को हो सकती है जिसमें सत्य, तप और ब्रह्मचर्यये तीन गुण भरपूर हों। अधिकारी के समग्र गुणों की समग्रता से सम्पन्न साधक ही विद्यालाभ होने पर सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता बन सकता है।।७६।।** अधिकारी उसे कहते हैं जो उस कार्य को संपन्न कर उससे फल पा सके। विद्या पढ़ कोई भी सकता है, समझ भी लेगा, औरों को भी पढ़ा देगा लेकिन अधिकारी न हुआ तो उसे विद्याफल मोक्ष नहीं मिलेगा। ऐसे ही धार्मिक क्रियाकलाप कर तो कोई भी सकता है पर जो अधिकारी नहीं उसे उस धर्म का फल पुण्य व तज्जन्य सुख नहीं मिलेगा और कहीं उसके लिये वह क्रियाकलाप निषिद्ध हुआ

तो पाप अवश्य मिल जायेगा। अतः शास्त्रीय मार्ग पर उसे ही चलना उचित है जो शास्त्र पर श्रद्धा रखता है, उसमें अपनी मन-मानी करने से लाभ तो नहीं ही होता, हानि की संभावना अवश्य हो जाती है। वैदिक धर्म वर्ण आश्रम पुरुष स्त्री आदि के लिये अधिकारानुसार व्यवस्थित है, उसी ढंग से उसे स्वीकारकर अनुष्ठान करने से कल्याण है, उसमें स्वेच्छाचार करने से अकल्याण है। ब्रह्मविद्या में साधन- चतुष्टय सम्पन्न को अधिकारी कहा है, वही इस ज्ञानसे अविद्या मिटाकर मोक्ष पायेगा। जो साधनरहित है उसे यह फल नहीं होगा बल्कि इस ग़लतफ़हमीमें कि 'संसार तो ज्ञातैकसत् मिथ्या है, मैं नित्य शुद्ध हूँ' वह दुराचार आदि करने का साहसकर दुर्गति भले ही पा ले। विद्याधिकार के लिये साधन चतुष्टय की तरह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ बनने के लिये यहाँ तीन विशेष साधन और कहेसत्य, तप, ब्रह्मचर्य। साधनचतुष्टय तो चाहिये ही, ये और हों तो विद्वान् सर्वश्रेष्ठ हो सकता है अन्यथा विद्वान्मात्र, ब्रह्मवेत्तामात्र रह जायेगा, स्वयं मुक्त हो जायेगा औरों का विशेष हित नहीं कर पायेगा। सत्यका महत्त्व अनेक स्थलों पर प्रकट किया ही गया है, किसी भी हालत में, कोई भी नुकसान हो जाये फिर भी जो झूठ न बोले, सत्य ही बोले वह मुख्याधिकारी बन सकेगा। जिससे कह रहे हैं वह ग़लत समझे, अधूरा समझे इत्यादि मंशा से बोला गया सत्य भी यहाँ पर्याप्त नहीं; बोलने वाला निश्छल हृदय से जैसा जानता है वैसा ही श्रोता को समझाने के लिये बोले तब सत्य है। सुनने वाला अपने किसी दोष से भले ही ग़लत समझ ले लेकिन बोलने वाले ने इस भाव से न बोला हो कि वह ग़लत समझे। बोलने से लिखना इत्यादि सारा व्यवहार समझ लेना चाहिये। सच बोलने से कोई-न-कोई कष्ट, असुविधा होने के डर से ही लोग झूठ बोलते हैं इसलिये अगला गुण तप कहा। जो तपस्वी है, कष्ट सहने को सदा तैयार है वही सत्यपरायण रह सकता है। अपने धर्मका पालन करने में आने वाली तक़लीफ़ें सहन करना यहाँ तप है, केवल चांद्रायणादि ही नहीं। मन-इंद्रियों की एकाग्रतारूप तप तो समझना ही चाहिये क्योंकि उसी के बल पर व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों का सामना कर सकता है। जैसे लड़की का ब्याह पास हो तो दस कष्ट सह लेते हैं क्योंकि दृष्टि ब्याह के निर्विघ्न समापन पर रहती है, यदि ब्याह पास न होता तो दसों कष्टों को टालते, ऐसे ही जिसकी दृष्टि आत्मलाभ पर ही केंद्रित है वह उस तरफ बढ़ने पर आने वाली समस्याओं को यथासंभव रहते हुए आगे बढ़ेगा, समस्या सुलझाने में ही अपनी शक्ति नहीं चुका देगा। तीसरा गुण ब्रह्मचर्य है। आत्मज्ञान में मुख्याधिकारी संन्यासी ही है अतः उसके लिये स्त्री सम्बन्ध न करना रूप मुख्य ब्रह्मचर्य यहाँ कहा जा रहा है। गृहस्थ साधक भी विधिमात्रकी पूर्ति के लिये

न चक्षुषा नाऽपि वाचा नान्यैरक्षैश्च गृह्यते।
न कर्मणा न तपसा विनान्तर्मुखतां क्वचित्।।८०।।
ध्यानेनाऽन्तर्मुखो वाक्याद् ब्रह्मात्मानम् अवेक्षते।
विशुद्धबुद्धिरात्मज्ञो यथा वक्ति तथा भवेत्।।८१।।

स्त्री संबंध रखे, पितृ ऋण चुकाये, विलास के लिये नहीं। चर्या से सारे व्यवहार भी ग्रहण करने चाहिये, मुख्याधिकारी का सारा ही व्यवहार ब्रह्मकी ओर प्रगति करने के ही अनुकूल होता है। कर्मत्यागी ही, संन्यासी ही विद्याका परिपाक कर सकता है, कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा का साथ नहीं बैठता। संन्यासी का तो आश्रमधर्म ही ब्रह्मनिष्ठा है, भाष्य में आया है 'ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म' (ब्र.सू.३.४.२.२०)। इसलिये समग्रता से वही सत्यादि गुणों से भरपूर हो सकता है, आत्मक्रीडादि होने से व्यर्थक्षण रहित हो सकता है, सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवित् हो सकता है।।७६।।

साधनान्तर का निषेध करते हुए शुद्ध बुद्धिका महत्त्व मंत्र में बताया 'न चक्षुषा गृह्यते नाऽपि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।' ३.१.८।। अन्तर्बाह्य इंद्रियों का वह अविषय है, प्रवृत्ति धर्म या निवृत्ति धर्म भी उसके लाभ के लिये अपर्याप्त हैं। केवल आत्मा का दीर्घकाल तक ध्यान ही करता रहे, बहिर्मुखता सर्वथा छोड़ दे तब मानस निर्दोष होता है जिससे बुद्धि पूर्ण शांत होती है तभी निष्कल ब्रह्मतत्त्वका दर्शन प्राप्त होता है। इस मंत्रका संक्षेप करते हैं **चक्षु, वाणी व अन्य भी किसी इंद्रियसे परमात्मा ग्रहण नहीं किया जा सकता। कर्म व तप भी इसके लाभ के लिये पर्याप्त नहीं है। अन्तर्मुखता के बिना आत्म-बोध असंभव है। ध्यान से जो अंतर्मुख हो चुका है वही महावाक्य से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह साक्षात्कार पाता है। निर्दोष मति वाला साधक जब आत्मज्ञानी हो जाता है तब जैसा वह कह दे वैसा ही घटित हो जाता है।।८०-१।।** रूपादि से रहित होने से नेत्रादि से अग्राह्य है, प्रवृत्तिनिमित्तों से वर्जित होने के कारण वाणी का अविषय है तथा विषयतया कुछ भी ग्रहण करने के लिये मन क्योंकि साधनों पर निर्भर करता है इसलिये साधनों का जो गोचर नहीं वह मन के लिये भी दुर्लभ हो जाता है। ध्यानादि के गांभीर्य में जो रूप, नाद आदि का अनुभव होता है उसे ब्रह्मानुभूति नहीं समझना चाहिये क्योंकि ब्रह्म रूपादि वाला है ही नहीं। वाणी लक्षणा से भले ही ब्रह्मबोधन करा दे, शक्तिवृत्ति से उसे विषय नहीं कर पाती। शास्त्र में कोई कर्म ऐसा नहीं बताया जिसका सीधा फल ज्ञान या मोक्ष हो। तप भी दुर्धर्ष कहा गया है किंतु मोक्षमार्ग में वह अधिकारी

भूतिकामो विभूत्यर्थम् आत्मज्ञं सर्वदाऽर्चयेत्।
निष्कामस्तमुपासीनो वेत्ति ब्रह्मत्वमात्मनः।।८२।।

बनने के ही काम आता है, ज्ञान या मोक्ष का साक्षात् उपाय नहीं है। इंद्रियाँ, वाणी, कर्म, तप सब अनात्मा की तरफ बढ़ने के तो साधन हैं, आत्मा की ओर आने के नहीं क्योंकि आत्मप्राप्ति के लिये सारी बहिर्मुखता छोड़कर अंतर्मुखता की ही आवश्यकता रहती है। जहाँ तक बहिर्मुखता घटाने और हटाने में मददगार हो वहाँ तक उक्त सभी साधन उपयोगी हैं किन्तु इनमें से कोई भी साक्षात् आत्मप्राप्ति का साधन नहीं। यहाँ 'वाणी' से जीव की स्वतंत्र वाणी समझनी चाहिये अतः महावाक्यों की सीधी साधनता की मनाही नहीं की जा रही। आत्मलाभार्थ अन्तर्मुखता अनिवार्यतः अपेक्षित है। इसमें शम दम उपरति तितिक्षा एकाग्रता श्रद्धाये उपयोगी हैं, दहरविद्यादि ब्रह्मोपासनाएँ भी बहुत सहायक हैं। आत्मध्यान से अन्य शास्त्रप्रसिद्ध भी ध्यान उतने उपयोगी नहीं जितने दहराकाशादि में किये जाने वाले आत्मध्यान। इन सब साधनों से अंतर्मुख हो चुका साधक जब महावाक्य का श्रवण करता है तब 'मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ' यह उसे स्पष्ट दर्शन हो जाता है। श्रवण यहाँ 'तीसरा श्रवण' समझना चाहिये। पहला श्रवण होता है गुरु से सुनना, जो विचार में प्रवृत्त करता है। दूसरा श्रवण होता है। छह लिंगों से वेदान्तों के तात्पर्य का निश्चय करना। तीसरा श्रवण होता है एकाग्र दशा में यह बात याद आना कि जो गुरु ने बताया, जो शास्त्रविचार से निर्णय हुआ वह यही तथ्य है कि मैं ब्रह्म हूँ। मधुसूदन सरस्वती ने ऐसे तीन श्रवणों की व्यवस्था बतायी है। सीधे शब्दों में कहें तो अभिप्राय है कि अंतर्मुख साधक याद किये वाक्य से आत्मसाक्षात्कार पा लेता है। ऐसे सिद्ध का महत्त्व बताया कि वह जो बोलता है वह पूरा होता ही है। उसका ऐश्वर्य अव्याहत होता है।।८०-१।।

विद्वान् की अर्चना का विधान खण्ड के अंतिम मन्त्र में किया है 'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्माद् आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।।'३.१.१०।। क्योंकि आत्मवेत्ता सत्यकाम सत्यसंकल्प होता है इसलिये वैभव का इच्छुक आत्मज्ञ की अर्चना करे। यह विधि स्पष्ट करते हैं **वैभव का इच्छुक वैभव पाने के लिये हमेशा आत्मज्ञानी की अर्चना करे। आत्मवेत्ता की उपासना करता रहने वाला कामनाहीन साधक आत्मा की ब्रह्मरूपता का अवबोध पा जाता है।।८२।।** सांसारिक कामना की पूर्ति भी आत्मवेत्ता की अर्चना का फल है और विषयकामना-रहित के लिये आत्मलाभ भी उसका

कामश्रैष्ठ्यपरः कामैस्तत्र तत्र प्रजायते।

जीवन्नेवात्मवित् सर्वकामानां लयमाप्नुयात्।।८३।।

फल है। विषयेच्छुक के लिये अर्चना करने को कहा अर्थात् धन, वस्तुएँ आदि अर्पित करना उसके लिये प्रधान है। निष्काम को उपासना करने वाला कहा अर्थात् निकट रहकर शरीर से सेवा करना, प्रेमपूर्वक उसके निर्देशों का पालन करना तथा उसकी समझाई बातों पर श्रद्धा से चिंतन करते रहना यहाँ प्रधान है। धैर्यवान् और बुद्धिमान् साधक ही निष्काम हो सकता है। मन सांसारिक पदार्थों में सुख देखता ही है, बुद्धि ही विचार से निर्णय करती है कि ये पदार्थ अनित्य व दुःखरूप हैं और तभी उनके प्रति कामना मिट सकती है। आत्मज्ञ की उपासना चित्तशुद्धि का श्रेष्ठ उपाय है। चित्त अन्य साधनों से भी शुद्ध होता है लेकिन आत्मवेत्ता के पास बने रहने से चित्तशुद्धि के साथ शास्त्र के बहुत से संस्कार अनायास मिल जाते हैं तथा पुनः-पुनः श्रवण-मनन की असीम संभावना बन जाती है। इसलिये सकाम हो या निष्काम, आत्मज्ञकी अर्चना, उपासना अवश्य करे।।८२।।

तृतीय मुण्डकके द्वितीय खण्ड का प्रारंभिक मंत्र भी ज्ञानीका उक्त महत्त्व द्योतित करता है। प्रथम मंत्र में ज्ञानी का उपासक जन्मप्रबंध से विमुक्त हो जाता है यह कहा है। द्वितीय मंत्र है 'कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्याप्त-कामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।।'३.२.२।। अर्थात् विषयों को ही सम्माननीय मानने वाला उन्हीं की कामना करता है और उन्हें भोगने के लिये विभिन्न योनियों में जन्म लेता है। जिसने प्रयत्नपूर्वक कामनायें त्याग दी हैं और अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित है उसकी कामनायें कारण समेत निवृत्त हो जाती हैं। कामत्याग की प्रधानता बताने वाले इस मंत्र का संग्रह करते हैं **कमनीय विषयों की श्रेष्ठता के प्रति आदर वाला व्यक्ति कामनाओं के कारण विभिन्न योनियों में पैदा होता रहता है जबकि जीवित रहते हुए ही जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया उसकी सारी कामनाएँ सदा के लिये समाप्त हो जाती हैं।।८३।।** अज्ञानी को विषय मूल्यवान् ही नहीं अध्यात्म शांति से अधिक मूल्यवान् लगते हैं। वर्तमान समय में सर्वत्र इस मत का बोलबाला भी है कि अध्यात्म गुण पिछड़ापन है, वैषयिक बहुतायत उन्नतता है और विषयों के लिये ही परिश्रम करते रहना मनुष्य के लिये शोभा का कार्य है। संसार में कुछ हासिल करना, पद प्रतिष्ठा धन आदि पाना हर-एक का लक्ष्य होना ही चाहियेयह प्रचार किया ही जा रहा है। यही विषयश्रेष्ठता के प्रति आदर है, ऐसे लोग

मन-बुद्धि- इंद्रिय-शरीर-उपकरण-संबंध आदि सबका प्रयोग विषयोपलब्धि, विषयपालन, विषयवर्धन के लिये ही करते हैं इसलिये उन्हें कामश्रैष्ठ्य में परायण बताया। उन्हें कामनायें बनी ही रहती हैं जिन्हें पूरा करने के लिये यथाकर्म वे जन्म लेते रहते हैं। इहलोक, परलोक तथा कुत्ता, चिड़िया आदि जिस स्थान और जिस शरीर में कामनापूर्ति हो सकती है वहाँ जन्म मिल जाता है। जन्म लेकर सुख-दुःख तो कर्म के अधीन है किन्तु जन्म का स्थान, योनि इसमें भावना, उपासना, कामना का प्रधान योगदान है। जो साधक है वह विवेकपूर्वक वैराग्य से अपनी कामनाएँ दूर करता रहता है, विषयों में दोष-दर्शन का स्वभाव बनाकर उनकी कामना उठने से ही रोकने का प्रयास करता है अतः उसकी प्रगति की दिशा कामनापूर्ति की ओर न होकर कामनानिवृत्ति की ओर ही होती है। जब उसकी कामनाओं का वेग समाप्त हो जाता है, जीवननिर्वाह के लिये उठने वाली कामनाओं पर भी नियंत्रण रहता है तब उसकी बुद्धि कामनाओं से विचलित न होकर शांत रहती है तभी वह आत्माकार में स्थिर हो जाती है तो अज्ञान मिट जाने से कामनाओं का मूल ही समाप्त हो जाता है। कठोपनिषत् में अमर हो जाने का यही लक्षण दिया है कि हृदय की सारी कामनाएँ समाप्त हो जायें। तत्त्वनिष्ठासे पूर्व कामनाएँ बहुत कम की जा सकती हैं, जो हैं उन्हें भी नियंत्रण में रखा जा सकता है किंतु सर्वथा समाप्त नहीं हो सकती; सर्वथा अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त दोनों तरह से समस्त कामनाएँ तो तत्त्वनिष्ठा से ही नष्ट होती हैं अतः इनका ऐसा समापन ही तत्त्वनिष्ठाका, अमर होने का चिह्न बन जाता है। यह स्थिति जीवित रहते ही बन जाती है। अपनी व्यापक पूर्णता और समस्त नाम-रूप-कर्म का मिथ्यात्व जब सुस्पष्ट होता है तब कामनाका अवसर नहीं रह जाता। कुछ है और अप्राप्त है तभी काम्य बनता है, जो है भी नहीं तथा जैसा है वैसा मुझमें ही कल्पित होने से प्राप्त ही है उसकी कामना असंभव है। इतना ध्यान रखना चाहिये कि कामना मन में होती है, उसका न होना भी मन में इष्ट है अर्थात् आत्मस्वरूप कामनाहीन है इतना ही नहीं कह रहे वरन् यह भी बता रहे हैं कि उसका मन भी कामनाहीन हो जाता है जिसे आत्मस्वरूप का यथार्थ निश्चय है। मनमें होने पर भी कामना होती है शोभनाध्यास से, विषय शोभन है, शुभ है, सुखद है ऐसा समझने से। जिस चित्त में आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो गया उसमें जगत् के प्रति शोभनता का भाव नहीं आ सकता अतः कामना नहीं हो सकती। जीवन-निर्वाह, लोकसंग्रह के लिये जो कामनाएँ प्रतीत होती हैं वे भी कामना का आभास हैं, प्रतीत होने पर भी कामना नहीं है। जैसे स्तनन्धय बालक को डाँटते समय माता का क्रोध प्रतीत होता है। लेकिन वास्तव में है तब भी उसे पूर्ण

वरणम्

न वेदपाठबाहुल्याद् न बहुश्रुतितस्तथा।
आत्मा लभ्योऽथ देवोऽयं वृणुते तेन लभ्यते।।८४।।
ईश्वरानुग्रहादेव भवेदद्वैतवासना।
तस्माद् ब्रह्मार्पितं कर्म कुर्याद् ईश्वरतुष्टये।।८५।।

प्रेम ही; क्रोध होता है दूसरे को दण्डित, प्रताडित करने का भाव, यह भाव तब भी माता में नहीं होता पर ज़ोर से बोलने, घूरकर देखने इत्यादि से लगता है मानो क्रोध हो; वैसे ही मुक्त में कामना लगती है पर उसका मानस भी होता निष्काम ही है। मनसे अपने को भिन्न जानकर 'मन में कामना है, मैं उसका साक्षी हूँ'यह तो साधक की स्थिति है। जीवन्मुक्त की स्थिति में मन में भी कामना नहीं होती, व्यवहारार्थ आहार्य कामना अर्थात् कामनाभास ही होता है। अतएव यहाँ उसकी श्रेष्ठता, पूज्यता आदि बतायी। अर्चनादि तो शरीरादि की ही होगी, उसके शरीरादि में वैशिष्ट्य है तभी वह पूज्य है। जहाँ तक ज्ञानी के आत्मा की बात है, वह तो व्यापक है, पीपल में भी वैसा ही है जैसा उसके शरीर में और अध्यास उसे अपने शरीर में भी नहीं है! पीपल की अर्चना-उपासना ज्ञानीकी अर्चना-उपासना तो यहाँ कही नहीं जा रही अतः उसके शरीर-मन में वैशिष्ट्य मानकर ही पूज्यता कह रहे हैं। इसलिये उसका मानस भी परम शुद्ध होता है यह समझना चाहिये। कामनावान् जन्मान्तर पाता है तथा जिसने सब कामनाओं का उन्मूलन कर लिया उसे फिर कोई जन्म नहीं लेना पड़ता।।८३।।

सर्वोत्तम उपलब्धि होने पर भी इसके लिये बाह्य अनेक साधन नहीं चाहिये वरन् पूर्ण तत्परता तथा परमात्मप्रेम चाहिये यह तीसरे मंत्र में कहा 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।' ३.२.३।। बहुत वेदादि पढ़ने से, याद रखने से, सुनने-विचारने से यह आत्मा नहीं मिल जाता। जब साधक केवल आत्मलाभ ही चाहकर इसी के लिये समर्पित हो जाता है तब परमात्मा उसे अपना दर्शन देने के लिये चुन लेता है व दर्शन देकर कृतार्थ कर देता है। इसका अर्थ तीन श्लोकों से बताते हैं **अत्यधिक वेदपाठ करने से, बहुत-सी बातें सुन-समझ लेने से आत्मा नहीं मिल जाता। वरन् अपरोक्ष स्वप्रकाश आत्मा जिसे चुन लेता है उसी साधक को आत्मप्राप्ति होती है।।८४।। परमेश्वर की कृपासे ही अद्वैत के दृढसंस्कार होते हैं इसलिये ईश्वर-प्रसन्नता के लिये ब्रह्मको अर्पित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।।८५।। जिस पर ईश्वर की कृपा**

ईशानुग्रहयुक्तस्य सच्चिदानन्दलक्षणाम्।
तनुं विवृणुते स्वीयां परमात्मा ह्यशेषतः।।८६।।

होती है उसी के लिये वह अपना सारा शरीर उघाड़ देता है जिस शरीर का स्वरूप ही है सत्, चिद् आनन्द।।८६।। वेदादि पढ़ने मात्र से तब तक ज्ञान नहीं होता जब तक साधनसंपन्न होकर निरंतर मुमुक्षा व श्रद्धा से श्रवण-मनन-निदिध्यासन में ही परायण न रहा जाये। किंचित् भी बहिर्मुखता रहते ज्ञानप्राप्ति संभव नहीं। अहंकार व चेतन का मिला-जुला रूप जीव है, उसका चेतनांश वास्तव में ईश्वर है अतः जब चेतनांश निर्णय कर लेता है कि 'मुझे चिन्मात्र ही रहना है, अहंकार से संबंध नहीं रखना है' तब तत्त्व का बोध प्राप्त होता है। जीव से सर्वथा भिन्न कोई वैकुण्ठादि में बैठा ईश्वर चयन करता हो ऐसा नहीं। साक्षिभाव में स्थिर रहना यही चयन समझना चाहिये। अभी अहंकार का चयन किया हुआ है, उसीको अपना स्वरूप मानते हैं, अच्छा-बुरा हर प्रभाव उसीमें देखते हैं, उसी की खुशी में खुश व दुःख में दुःखी होते हैं। इस चयन को छोड़कर साक्षिरूप में ही रहने को पहले चुनें, कोशिश करें तब धीरे-धीरे स्वभावतः उसमें ही बने रह सकेंगे। ईश्वर का वास्तविक अनुग्रह यही है कि अद्वैत के संस्कार अत्यंत पुष्ट हो जायें। सांसारिक सफलताएँ उनकी सच्ची कृपा नहीं वरन् भगवान् ने तो स्पष्ट कहा है कि जिस पर वे अनुग्रह करते हैं, धीरे-धीरे उसका सारा धन हरण कर लेते हैं! धन रहते साधक का थोड़ा-बहुत उस तरफ मन जाता ही है, धन का हरण हो जाये तो वह और अधिक ध्यान-भजन करता रह सकता है। साधक अपनी न्यून-अधिक जो भी धनादि संपत्ति है उससे यत्किंचित् तो बहिर्मुख होती ही है अतः उसके पास कुछ न रह जाये यह ईश्वर की कृपा है। संसारी तो ऐसी दशा में पुनः धन कमाने लगेगा, और अधिक बहिर्मुख बनेगा, लेकिन मुमुक्षु उस स्थिति को ईश्वरकृपा जानकर उसका यही लाभ उठायेगा कि नित्य-निरन्तर आत्मानुसंधान करता रहे, अतः शीघ्र ही ज्ञान पा जायेगा। सकाम की प्रार्थना पर उसे विषय भी देते ईश्वर ही हैं लेकिन प्रसन्नता से नहीं खेद से कि 'यह नासमझ इस बेकार की चीज़ के लिये ज़िद कर रहा है।' प्रसन्नता से वे पूर्ण वैराग्य तथा बहिर्मुखताके मौकों का समापन ही प्रदान करते हैं। इस अनुग्रह के सहारे ही अद्वैतका संस्कार पक्का होता है। ज्ञानमात्र हो जाने पर भी उसका संस्कार दृढ तभी होता है जब पूर्ण अंतर्मुखता से अभ्यास किया जाये। ऐसे अनुग्रहकी प्राप्ति का उपाय है अपने समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण करना। गीता में समझाया है कि अर्पण, हवि, अग्नि, हुत, गंतव्यसभी में ब्रह्मदृष्टि बनाये रखना साधक का कर्तव्य है। 'मैं कर्म कर रहा हूँ इससे ईश्वर प्रसन्न

हो' यह तो साधन-प्राप्ति के लिये आवश्यक है। जिसे साधन मिल गये, ज्ञानमात्र भी मिल गया, वह जब अद्वैतवासना के लिये यत्नशील है तब ब्रह्मार्पण का मतलब है कि अपनी समस्त चेष्टा उपकरण आदि में ब्रह्म दृष्टि बनाये, 'मैं कर रहा हूँ' इस भावको छोड़े, ईश्वर ही कर रहा हैयह भाव कायम रखे। यदि मैं कर्म करता रहा तो मैं-भाव पुष्ट ही होगा, कर्ता-भोक्ताभाव दृढ ही होगा। अहंकार के करने भोगने को 'मैंने किया-भोगा' यह न समझना, उसे दृश्य ही जानना, मैं उसका साक्षी हूँयही याद रखना अत्यंत ज़रूरी है। अहंकार की प्रसन्नता से प्रसन्न होने का मोह त्यागे बिना आत्मनिष्ठा नहीं बनती। शरीर मन आदि से संबद्ध रूप को इष्ट लाभ हो तब मैं सुखीइसी भ्रमसे हमारा बंधन दृढतर हो जाता है। विवेकी साधक अपनी साक्षिरूपता में स्थिर रहे, शरीरादि से संबद्ध रूप, प्रमाता-रूप, अहंकार रूप के बारे में याद रखे कि वह मैं नहीं, मुझसे भिन्न है, उसके हित-अहित से मेरा कोई संबंध नहीं, तभी उसे अद्वैतवासना मिल सकेगी जिससे मोक्ष संभव होगा। अभी हम चेतन को अहंकार की कामनाओं को पूरा करने में जुताये रखते हैं, साधक को चाहिये कि अहंकार को इस काम में जुताये कि चेतन साक्षिभाव में बना रहे; इसके लिये अहंकार की बहिर्मुखता दूर कर उसे निर्मल शांत बनना पड़ेगा, अत्यधिक सात्त्विक चित्त में पड़ने वाला आत्मप्रतिबिम्ब भी शुद्ध ही होगा, साक्षी के इतना अनुरूप होगा कि साक्षी को साक्षिभाव छोड़ना ही नहीं पड़ेगा। अभी तो अहंकाररूप इतना विपरीत है कि साक्षिभाव भूले बिना अहंकारभाव में आ ही नहीं सकते, जब अहंकारभाव साक्षी के काफी सदृश हो जायेगा तब व्यवहारार्थ अहंकारभाव में आने पर भी साक्षिभाव छोड़ना नहीं पड़ेगा। तभी वासना पुष्ट होगी। अतः चित्तको संशुद्ध, कामनारहित, अंतर्मुख, आत्मैकाकार वृत्ति वाला रखना इस साधना के लिये आवश्यक है। यह अहंकार को ब्रह्मार्पित करना है। इससे संतुष्ट ईश्वर ही मोक्षप्रद निष्ठा प्रदान करेगा। अज्ञानरूप वस्त्र से सच्चिदानंदरूप आत्मा आवृत है। अज्ञानवस्त्र पर कार्यरूप मनोहर चित्र हैं। जीव चित्रों से मुग्ध है, वस्त्र के भीतर क्या है इस तरफ ध्यान ही नहीं देता। लड्डू-पेड़ा चित्र हैं उनसे ही आकृष्ट होकर हम सद्रूप की उपेक्षा करते हैं। घटज्ञान पटज्ञान आदि के आकर्षण से ज्ञानरूप की उपेक्षा करते हैं, विषयसुखों के राग से आनंदरूप की उपेक्षा करते हैं। ब्रह्मार्पित कर्म से प्रसन्न हुआ ईश्वर निरावृत सच्चिदानंद स्वरूप को प्रकट कर देता है। उक्त प्रक्रिया से बहिर्मुखता छूटने पर ही यह संभव है। आत्मा सत् है इतना नैयायिक भी बताता है, सच्चिद् है इतना सांख्यवादी भी बताता है पर वह सच्चिदानंद है यह केवल उपनिषत् बताती है। इस समग्र रूप का दर्शन ईश्वरकृपा से होता है। शरीरवृक्ष पर

ज्ञानानुत्पत्तिः

श्रवणं मननं ध्यानं यस्य न प्रबलं भवेत्।
प्रमादो वाऽस्ति विषयासक्त्यात्मा न स बुध्यते।।८७।।
तपो नास्त्याश्रमोपेतं यस्य शुद्धा न तस्य धीः।
सम्पत्त्या श्रवणादीनां नाऽसौ ज्ञानेन तृप्यति।।८८।।

साक्षिरूप चिड़िया है हमेशा, उसके अनुग्रह के बिना मोक्ष नहीं और अनुग्रह पाने के लिये ब्रह्मार्पित कर्म करना ही प्रधान उपाय है। उससे प्रसन्न हो वह अज्ञान मिटाने वाली दृढ अखण्डाकार वृत्ति प्रदानकर मोक्षका हेतु बन जाता है।।८४-६।।

ज्ञान क्यों नहीं होता, आपाततः होकर भी फलीभूत क्यों नहीं होता? इसका उत्तर मंत्र में दिया 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।।' ३.२.४।। अर्थात् बलरहित, प्रमादी और विविधत् संन्यास से हीन व्यक्ति को आत्मप्राप्ति नहीं होती। बल से श्रद्धा, वैराग्य तथा ज्ञानकी सामर्थ्य से विषयदृष्टिका तिरस्कार समझने चाहिये। बृहदारण्यक में 'बाल्य' की व्याख्या में 'बलं नाम आत्मविद्ययाऽशेषविषयदृष्टितिरस्करणम्' कहकर 'नायमात्मा' आदि इस श्रुतिको प्रमाणित कर भाष्यकार ने (बृ.३.५.१) दोनों जगह कहे बलको समान माना है। इसी दृष्टि से समझाते हैं **जिस साधक के श्रवण, मनन, निदिध्यासन प्रबल नहीं या जिसमें विषयों के प्रति आसक्तिरूप प्रमाद है वह परमात्मा का साक्षात्कार नहीं पाता।।८७।। आपात ज्ञान पाकर भी जिसने सर्वकर्मसंन्यास नहीं किया उसकी बुद्धि पूर्णतः शुद्ध नहीं होती। श्रवणादि संपन्न कर उसे ज्ञान तो हो गया पर ज्ञानफलरूप तृप्ति का वह अनुभव नहीं करता।।८८।।** बल से ज्ञानबल अभिप्रेत मानकर श्रवणादि की प्रबलता को निष्ठा में हेतु बताया। श्रवण का बल है श्रुतितात्पर्य का निश्चय, मननका बल है संशय-निवृत्ति और निदिध्यासनका बल है विपर्यय-निवृत्ति। जब तक यह निश्चय न हो कि वेदांतों का तात्पर्य अखण्ड वस्तु ही है तब तक श्रवण दुर्बल है। जब तक लगे कि वेदप्रतिपाद्य तो अद्वैत है पर असंगत है, तब तक मनन दुर्बल है। जब तक श्रवण-मनन किये तत्त्व पर टिका न रहा जा सके तब तक निदिध्यासन दुर्बल है। तीनों में से एक भी कमज़ोर रहते आत्मावबोध नहीं हो सकता। प्रमाद कहते हैं ध्यान न देने को। जिसके प्रति आकर्षण हो उस पर ध्यान दिये बिना रहा नहीं जाता। आत्मा पर हम ध्यान इसीलिये नहीं दे पाते कि आकर्षण हमारा विषयों की तरफ है। अतः विषयों के प्रति आसक्ति को ही प्रमाद कह दिया। लौकिक लोग तो

सांसारिक कार्यों पर ध्यान न देने को प्रमाद कहते हैं क्योंकि उनके लिये संसार ही सत्य है जबकि वेदांत में विषयाकर्षण को ही प्रमाद कहा! इसीलिये गीता में भगवान् ने कहा है कि ज्ञानी-अज्ञानी की सोच में रात-दिन का फ़र्क है। संसारी लोग तो पाठ-पूजा की भी अपेक्षा दूसरे कार्यों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। कोई छोटा-मोटा कार्य हो, कोई दोस्त मिलने आ जाये, इतने निमित्त से ही वे पाठ-पूजा टाल देते हैं, निर्लज्जता से कहते भी हैं कि कोई घर आया है तो उससे बात करनी ही पड़ती है, पूजा तो बाद में भी हो जायेगी! धार्मिक दृष्टि से यह प्रमाद है। पाठ-पूजा अपने नियत समय पर सर्वोपरि है, उस समय बाकी चीज़ों पर ध्यान न देना अप्रमादी बनना है। अध्यात्मदृष्टि से सभी विषयों की आरे से ध्यान हटाकर आत्मा का ही ध्यान रखना अप्रमादी बनना है। जब तक विषयासक्ति है तब तक जीव अपने अहंकार की तुष्टि के लिये ही यत्न करेगा जिससे बंधन ही बढ़ेगा। अतः प्रमादी को ज्ञान नहीं होता। प्रमाद छोड़ने के लिये विवेक वैराग्य बढ़ाना चाहिये और श्रवणादि को प्रबल करने के लिये उनकी आवृत्ति बढ़ानी चाहिये अर्थात् बार-बार श्रवणादि ही करता रहे, और किसी तरफ मन को जाने का मौका ही न दे तब उनका बल विकसित होता है। जैसे धनी लोग धन बढ़ाने में ही लगे रहते हैं, उन्हें यह नहीं लगता कि 'काफी हो गया अब और धन नहीं कमायेंगे', ऐसे श्रवणादि से कभी तृप्ति महसूस न करे वरन् उन्हें बढ़ाता ही रहे तब वे बलिष्ठ हो जाते हैं। तप अर्थात् ज्ञान; 'तपोऽत्र ज्ञानं, लिङ्गं संन्यासः' ऐसा इस मंत्र के भाष्य में कहा है। सर्वकर्म-परित्याग के बिना ज्ञान फलीभूत नहीं होता। संन्यास की दो विशेषताएँ हैं, एक तो यह कि कोई परिग्रह न रहे, दूसरा यह कि कोई कर्म न रहे। जीवन-निर्वाह प्रारब्ध के अधीन छोड़कर अन्य कोई प्रायस बिना किये केवल शम आदि का अभ्यास करते हुए श्रवणादि में लगा रहे यही संन्यासी की चर्या है। परमेश्वर पर अटल विश्वास के बिना यह स्थिति संभव नहीं क्योंकि देहरक्षार्थ प्रवृत्त तथा कुछ-न-कुछ बटोरकर रखनाइनसे तभी बचा जा सकता है जब यह अकंप निश्चय हो कि जब ज़रूरी होगा तब ईश्वर ही भोजन-वस्त्र-औषध उपस्थित कर देगा और जब वह हमें उन चीज़ों से वंचित करना उचित समझेगा तब हमारा बटोरा सामान भी हमारे काम नहीं आयेगा। इस बात को विभन्न अनुभवों से, शास्त्रवाक्यों से, विचार से दृढ करे तभी संन्यास धर्मका पालन कर सकेगा। अन्यथा बुद्धि में रागादि दोष बने रह जायेंगे जो ज्ञानको फल नहीं देने देंगे। मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँइस अनुभूति की अथाह तृप्ति के बिना स्वयं को आत्मवेत्ता मानकर नहीं बैठ जाना चाहिये, उक्त उपायों के अनुष्ठान में तत्पर रहना चाहिये।।८८।।

परान्तकालः

वेदान्तधीनिश्चितार्थाः संन्यासाच्छुद्धबुद्धयः।
ब्रह्मदृष्टौ स्थिराश्चान्ते मुच्यन्ते मूलकारणात्।।८९।।
संसारिणां देहपातोऽपरान्तः पुनरुद्भवात्।
परान्तो विदुषां देहपातः पुनरनुद्भवात्।।९०।।

वीतराग, प्रशान्त साधक ही ज्ञानसे तृप्ति पाता है, वही जीवन्मुक्ति का आनंद लेकर विदेह कैवल्य प्राप्त करता है यह मंत्र में कहा 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।' ३.२.६।। अर्थात् वेदान्तजन्य विज्ञान से जिन्होंने परमार्थ तत्त्वके बारे में निश्चय कर लिया, संन्यासपूर्वक ब्रह्मनिष्ठारूप योगका अभ्यास कर लिया ऐसे शुद्धचेता यति जीवित दशा में ही परम अमृतरूप ब्रह्म हो चुकते हैं और प्रारब्धसमाप्ति पर विदेह मुक्त हो जाते हैं। उनका मरण अंतिम है अर्थात् उसके बाद फिर जन्म न होने से उन्हें पुनः कभी मरना नहीं पड़ता। इसे समझाते हैं **वेदान्तजन्य ज्ञानसे जिन्होंने परमात्मरूपता का निश्चय कर लिया, संन्यासधर्म के पालन से जिनकी बुद्धि निर्मल है, जो अपनी दृष्टि हमेशा केवल ब्रह्माकार बनाये रखते हैं वे प्रारब्धसमाप्ति पर मूलाज्ञान के बंधन से छूट जाते हैं।।८९।। संसारी लोगों का शरीर छूटना अपर अन्त है क्योंकि वे पुनःपुनः उत्पन्न होकर फिर-फिर मरते रहते हैं। आत्मज्ञका देह छूटना परम अंत है क्योंकि उसका पुनर्जन्म न होने से फिर नहीं मरना पड़ता।।९०।।**

वेदांत श्रवणादि से अद्वैत का निश्चय होना अर्थात् प्रमाण प्रमेय के बारे में कोई संशय न रह जाना। न उन्हें संशय है कि वेद अद्वैतपरक है या नहीं और न उन्हें अद्वैत ही किसी युक्ति और अनुभव के विरुद्ध लगता है। विपर्यय का कारण विषयासक्ति वे संन्यास के बल से छोड़ चुके हैं अतः विपर्यय भी अब नहीं होता। ऐसे लोग ही जीवन्मुक्त कहे जाते हैं, उन्हें हमेशा अद्वैत का भान बना रहता है। जीवनपर्यन्त द्वैतका प्रतिभास होता है, प्रारब्ध-समाप्ति पर वह भी नहीं रह जाता, इसे ही विदेह कैवल्य कहते हैं। ज्ञानीका मरण कहना नहीं बनता क्योंकि प्राण शरीर छोड़कर बाहर जायें तब मरण कहा जाता है और ज्ञानी के प्राण यहीं लीन हो जाते हैं, निकलकर नहीं जाते, फिर भी शरीर कार्यकारी न रह जाने की समानता से उसका भी मरण कह दिया जाता है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं, आवरण और विक्षेप। आवरण से तो छूटकर जीवन्मुक्ति का आनंद लिया, जब विक्षेप

परान्तकाले मुक्ता ये ब्रह्मत्वात् ते परामृताः।
कलाः पञ्चदशैतेषां लीयन्ते स्वस्वकारणे।।९१।।
प्राणः श्रद्धा खादिभूतपञ्चकं चेन्द्रियं मनः।
अन्नवीर्यतपोमन्त्राः कर्म लोकाश्च ताः कलाः।।९२।।
वागादीननुगृह्णन्ति वह्न्यादेः शक्तयः पुरा।
ताश्च देवानेव यान्ति स्वानुग्राह्यविलोपनात्।।९३।।

से भी छूट जाते हैं तब विदेहमुक्त हो जाते हैं। शरीर का जीवन-समापन अज्ञानी का भी होता है लेकिन अज्ञानी संसरणशील है अतः जाकर नया जन्म ले लेता है, फिर मरता है, फिर जन्मता है। उसका सूक्ष्म व कारण शरीर तो वही बना रहता है, स्थूल शरीर बदलते रहते हैं अतः वास्तव में वह अशरीर होता ही नहीं। लोग दिन में दस बार घर से बाहर जाते हैं, कभी चार-छह दिनों के लिये दूसरे शहर भी चले जाते हैं लेकिन यह नहीं कहा जाता कि वे घर छोड़ गये क्योंकि उनका लौटना निश्चित है। जब न लौटने के लिये जाते हैं तभी कहते हैं कि घर छोड़ गये। ऐसे ही संसरणका मूल कारण जब तक है तब तक मरना वैसा ही है जैसे कपड़े बदलना अतः उसे अपर अंतकाल कहा। अज्ञान मिट जाने के बाद का मरना वास्तविक मरना है क्योंकि अनादि मरणप्रवाह में वही अंतिम मरण है, उसके बाद फिर मरण नहीं होगा।।८८-९०।।

मुक्त के सूक्ष्म शरीर की गति मंत्र में बतायी 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति।।' ३.२.७।। पंद्रहों कलाएँ अपने कारणों में लीन हो जाती हैं, इंद्रियाँ समष्टि देवों में लीन हो जाती हैं, कर्म और विज्ञानात्मा परम अविनाशी से एक हो जाते हैं। चार श्लोकों से इसे स्पष्ट करते हैं **परम अंतकाल में अविद्यासे सर्वथा मुक्त होने वाले क्योंकि ब्रह्म ही हैं इसलिये परम अमृत कहे जाते हैं। उनकी पन्द्रहों कलाएँ अपने-अपने कारणों में लीन हो जाती हैं।।९१।। प्राण, श्रद्धा, आकाशादि पाँचों महाभूत, इंद्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोकये पंद्रह कलाएँ हैं।।९२।। जीवनकाल में वाग् आदि इंद्रियों पर वह्नि आदि देवताओं की शक्तियों का अनुग्रह रहता है। मरने पर जिसपर अनुग्रह किया जाये वे इंद्रियाँ न रह जाने से वे कृपा करने वाली शक्तियाँ देवताओं के पास लौट जाती हैं।।९३।। जिन्होंने फल देना आरंभ नहीं किया वे कर्म और विज्ञानमय नामक कर्ता ये सब आत्मबोध से स्वात्मा में वैसे ही लीन हो जाते हैं जैसे घीका कड़ापन**

अनारब्धानि कर्माणि विज्ञानमयनामकः।
कर्ता च विद्यया लीनः स्वस्मिन् काठिन्यवद् घृते।।६४।।

पिघलने पर घी में लीन हो जाता है।।६४।। संसारी तो मरते समय अपनी कलाएँ लपेटकर साथ ले जाता है और नये शरीर में उन्हें फिर काम में ले लेता है। जो जीवनकाल में ही मुक्त हो गया उसकी कलाओं का क्या होता है यह बताया। पुरुष को सोलह कलाओं वाला कहा है (प्रश्नोप. ६.४)। इनमें से नाम को छोड़ देने से पंद्रह कलाएँ कहीं, नाम तो बाद तक बना रहता है, आज तक वामदेव आदि नाम प्रसिद्ध है। अथवा अन्तर्भाव मानकर पंद्रह में ही सोलहों कलाएँ समझ लेनी चाहिये। मरने पर उस मुक्त की सभी कलाएँ अपने-अपने कारण में लीन हो जाती हैं। महाभूतों के अंश और इंद्रियाँ आदि भौतिक चीज़ें समष्टि महाभूतों से एक हो जाते हैं, उनसे पृथक् व्यष्टिभाव नहीं रह जाता यह अर्थ है। कलारूप प्राणादि पदार्थ प्रसिद्ध ही हैं। वीर्य अर्थात् सभी कार्य करने की सामर्थ्य जो अन्न से मिलती है। कर्म से अग्निहोत्रादि समझने चाहिये। तप और कर्म भी वे समझने चाहिय जिनका उसने अनुष्ठान कर रखा है और लोक अर्थात् कर्मादि के फलस्वरूप जो भोग्यवर्ग मिलना है वह। यहाँ जो प्राणादि का क्रम कहा है वह भी महत्त्वपूर्ण है। स्थूल सृष्टि से पूर्व प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ की सृष्टि हुई। जैसे राज्यपाल नगर में है इसका पता लगाना हो तो उसके घर के बाहर देख सकते होः दिन में यदि झण्डा फहरा रहा है, रात में यदि लाल बत्ती जल रही है तो पता चल जाता है कि वह यहीं है। उसके चले जाने के बाद न दिन में झण्डा फहरेगा, न रात को लाल बत्ती जलेगी। इसी प्रकार परमात्मा जीवरूप से व्यष्टि शरीर में मौजूद है या नहीं इसका पता प्राण देता है, प्राण चल रहा है तो जीव है, जीव चला जायेगा तो प्राण नहीं चलेगा। अपने रहने का चिह्न प्राण आत्मा ने पहले बनाया। प्राण-आत्माके संबंध की जिसे श्रद्धा होगी वही प्राण से आत्मा की उपस्थिति का निश्चय कर पायेगा। अतः फिर श्रद्धा की ज़रूरत हुई। जीव बनकर व्यवहार करना है महाभूतों से तथा उनके ज्ञान के लिये चाहिये इंद्रियाँ। इंद्रियाँ जो न समझ पायें उस सबको समझने के लिये है मन। एक आदमी आया; आँख इतना ही देखेगी कि गोरा मोटा लंबा आदमी है। इससे आगे मन देखेगायह कलक्टर के दफ्तर में कार्य करता है, हमारा अमुक कार्य वहाँ होना है, इससे बात कर लेनी चाहिये। यह ज्ञान आँख-नाक से नहीं मनसे होता है। मन अन्नमय है, उसकी पुष्टि के लिये अन्न चाहिये। अन्न भी खाकर निकाल दिया तो व्यर्थ है जब तक वह बल न दे। बल तब आये जब शारीरिक परिश्रम अर्थात् तप हो। तपस्वी को उन्नति का रास्ता बतायेंगे मंत्र जिनके अनुसार करने पड़ेंगे अग्निहोत्रादि कर्म जिनसे स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होगी। इस प्रकार यहाँ कहे क्रम का भी अभिप्राय जानना चाहिये। कलायें लीन होती हैं तो उन पर जो

अब्धावस्तं यान्ति नद्यो नामरूपे विहाय हि।
तथा विद्वान् नामरूपाद् मुक्तो याति परं पदम्।।६५।।

समष्टि देवों का अनुग्रह था वह भी समाप्त हो जाता है। जिस पर अनुग्रह कर उसे कार्य करने की शक्ति देनी है वह आँख आदि ही जब नहीं रह गया तब अनुग्रह किया किस पर जाये! अतः वे शक्तियाँ देवताओं के पास लौट जाती हैं। बिना समष्टि की कृपा के कोई व्यष्टि अपना कार्य नहीं करता। सूर्यादि की कृपासे ही नेत्रादि देखने में समर्थ होते हैं। इसीसे परमेश्वर का हम पर सदा नियंत्रण रहता है। तत्त्वज्ञान के समय प्रारब्धातिरिक्त सब कर्म समाप्त हो जाते हैं, मरने पर प्रारब्ध भी पूरा हो जाता है अतः अब उसके कोई कर्म नहीं रह जाते। इसी प्रकार विज्ञानमय अर्थात् कर्ता-भोक्ता जीव भी तत्त्वज्ञानके साथ ही बाधित हो जाता है, प्रारब्धरूप उपाधि से उसका आभास प्रतीत होता रहता है, प्रारब्ध समाप्त होने पर वह प्रतीति भी ख़त्म हो जाती है। महाभूत, इंद्रियादि तो समष्टिरूपों में गये लेकिन कर्म और विज्ञानमय सर्वथा समाप्त हो गये अतः इनके विलय का दृष्टांत दिया घी का। जमा घी ठोस, दानेदार होता है, उसे गर्म करते ही उसका कड़ापन, ठोसपन, दाने कहाँ चले जाते हैं? यही कहना पड़ेगा कि घी में ही लीन हो जाते हैं। ठण्ड रूप उपाधि से कड़ापन था, ठण्डक गयी तो कड़ापन भी नहीं रहा। वह किसी समष्टि में नहीं चला गया! इसी प्रकार जीवभाव आत्मा में ही चला जाता है। प्रारब्धोपाधि से प्रतीत हो रहा था, प्रारब्ध समाप्त हो गया तो जीवभाव भी समाप्त हो गया। इस प्रकार विद्वान् के मरने पर उसकी कलाओं की गति स्पष्ट की।।६१-४।।

जीव के ब्रह्मभाव में श्रुति ने दृष्टान्त दिया है 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।' ३.२.८।। अर्थात् जैसे समुद्र में पहुँचकर नदियाँ अपने-अपने नाम रूप छोड़ देती हैं, केवल समुद्र रह जाता है, वैसे तत्त्वज्ञ सारे नाम-रूपों से छूट जाता है, केवल परम दिव्य पुरुष ही रह जाता है। ब्रह्मसे जीवका अंतर नाम-रूपका ही है, नाम-रूप बाधित हो गये तभी भेद मिट गया लेकिन जब तक उनकी प्रतीति थी तब तक भेद की भी प्रतीति थी, मरने पर वह प्रतीति भी निवृत्त हो जाती है। इसे बताते हैं **जैसे नदियाँ अपने-अपने नाम-रूप छोड़कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं वैसे नाम-रूपसे छूटा हुआ ब्रह्मज्ञ परम पद को प्राप्त करता है।।६५।।** नदियों के गंगा, कावेरी आदि नाम और सफेद, काला आदि रूप अलग-अलग हैं किंतु समुद्र में सब एक हो जाती हैं, उनके व्यक्तिगत नाम-रूप न रहकर एक ही जलराशि लहराती हैसमुद्र। नदियों का मूल

यः कोऽपि ब्रह्म वेत्त्येष ब्रह्मैव भवति स्वयम्।
अब्रह्मवित् तस्य कुले न स्यादेतद्विबोधतः।।६६।।

कारण समुद्र है, जीवका, प्रतिबिंबका मूल कारण ब्रह्म है, बिम्ब है। नाम-रूप से छूटने पर जीव भी केवल ब्रह्म हो जाता है, उसका अब्रह्मात्मक व्यक्तित्व बिलीन हो जाता है। यही परम पद की प्राप्ति है। अन्य जहाँ भी पहुँचा जाये वहाँ से हटना पड़ता है अतः बाकी सब अपरम पद हैं, ब्रह्मस्वरूप से कभी नहीं हटना पड़ा अतः वही परम पद है, उस पर पहुँचने के बाद कोई गंतव्य रह ही नहीं जाता। कलाओं में तादात्म्याध्यासवश ही अज्ञदशा में गमन-आगमन होता रहता है, स्वयं आत्मा में तो तब भी गमन-आगमन नहीं होता, जब कलाएँ ही नहीं रह गयीं तब गति-आगतिका प्रश्न ही नहीं उठता। एक शंका होगी कि पूर्व प्रसंग में कलाओं के नाश का ज़िक्र आने पर 'नाम' कला बच जाती है यह एक पक्ष रखा था, यहाँ विद्वान् को नाम से भी विमुक्त कहा जा रहा है, तो दोनों बातों का सामंजस्य कैसे? समाधान है कि स्वयं मुक्त की दृष्टि से तो नाम का बंधन भी समाप्त हो गया, उसका बचना तो अज्ञानियों की दृष्टि से कहा था। अज्ञानी भी जब मरता है तब उसका नाम बचता ही है, उसके लड़के-पोते उसका नाम लेते ही हैं, किंतु जो मरा वह तो उस नाम से छूट ही जाता है, अन्यत्र पैदा होकर नये नाम वाला हो जाता है। इसी तरह ज्ञानी का नाम बचना हमारे लिये है, स्वयं उसके लिये नहीं अतः दोनों बातें संगत हैं।।६५।।

तत्त्वज्ञ मरकर विदेह कैवल्य ही प्राप्त करता है, इसमें कोई रुकावट या अन्यथा गति की संभावना ही नहीं, क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार से वह सब प्रतिबंधक हटा चुका है; अविद्या ही एकमात्र रुकावट है जीवके ब्रह्म होने में, जब वह मिट गयी तब वह ब्रह्म ही है अतः मरकर और कुछ नहीं हो जा सकता! इसे मंत्र ने स्पष्ट किया है 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।।' ३.२.९।। अर्थात् संसार में जो कोई भी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्ष साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्म ही होता है। उसके कुल में कोई ऐसा नहीं होता जो ब्रह्म को न जाने। शोक, कर्म और हृदय की गाँठ से छूटा हुआ वह अमृत ही होता है। इसे दो श्लोकों से समझाते हैं **स्वयं को जो कोई भी ब्रह्म जान लेता है वह ब्रह्म ही होता है। इस ज्ञानके माहात्म्य से, ब्रह्म को न जाने ऐसा उस विद्वान् के कुल में कोई नहीं होता!।।६६।। शोक और पाप को यह पार कर चुकता है, हृदयकी गाँठ पूर्णतः समाप्त हो जाती है, वह गाँठ ही नहीं रह जाती**

शोकं तरति पाप्मानम् अपि धीग्रन्थितोऽखिलात्।
मुक्तो ब्रह्मात्मबोधेन भवत्येवाऽमृतोऽखिलः।।६७।।

जिससे विद्वान् बँधे। 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस बोध से वह अमृत और पूर्ण हो जाता है।।६७।। क्योंकि वास्तव में सब हैं ही ब्रह्म इसलिये इस तथ्य को सभी जान सकते हैं बशर्ते उनके पास जानने के साधन हों। वर्णादि के निमित्त से आत्मज्ञान में कोई रुकावट नहीं है। वेद से ज्ञान लेने में रुकावट है लेकिन ज्ञान लेने में रुकावट नहीं और पुराण, इतिहास, प्रकरण, आदि सर्वत्र आत्मज्ञान का विस्तृत खुलासा उपलब्ध है। मनुष्य ही नहीं अन्य योनि वाले भी साधन-संपन्न हों तो ज्ञान पा सकते हैं, कोई मनाही नहीं है। तत्त्वानुभव होते ही पता सबको एक ही बात चलनी है, 'अरे! मैं तो ब्रह्म हूँ!' अज्ञानसे स्वयं को मानव दानव देव आदि समझ रहे हैं, अज्ञान दूर होते ही जो हैं वही भासेगा। ऐसा नहीं कि पहले अब्रह्म हैं, ज्ञान हमें ब्रह्म बना देगा; हम हैं ही ब्रह्म, केवल जानते नहीं इसलिये ग़लत निश्चय वाले हुए हैं कि हम जीव हैं, जब ज्ञान से पता चल गया तब सारे ग़लत निश्चय दूर होकर हम ब्रह्म ही रह जाते हैं। ज्ञान 'हम अब्रह्म हैं' इस अभिमान को मिटा देता है, हमें ब्रह्म बनाता नहीं जैसे सोना शुद्ध नहीं बनाया जाता केवल उसकी खोट हटायी जाती है। सोना हमेशा सोना ही है। नशे में ब्राह्मण को जँच जाता है कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ फिर भी होता ब्राह्मण ही है, नशा उतरने पर ब्राह्मण 'बन' नहीं जाता केवल अब्राह्मणत्व का भ्रम हटता है। इसी प्रकार अविद्या के नशे में हमें जँचा हुआ है कि हम जीव, कर्ता, भोक्ता, शोक, चिन्ता में पड़े हैं; हैं अभी भी ब्रह्म ही, अविद्या दूर होने पर ये भ्रम हटेंगे, ब्रह्म बनना नहीं पड़ेगा। यहाँ ज्ञान का एक और महत्त्व बताया कि ज्ञानी के कुल में भी कोई ऐसा नहीं होता जो ब्रह्मवेत्ता न हो। जब यथाविधि पुत्र उत्पन्न कर बाल्यकाल से ही योग्य संस्कारों से संपन्न रखा जाता है तब यह संभव है कि वह पिता की तरह ही उत्तम कर्म, उपासना व ज्ञान वाला हो। ऐसे ही शिष्यपरंपरा भी कुल मानी गयी है, ब्रह्मज्ञ के शिष्य भी ब्रह्मज्ञ होते हैं। केवल जन्म या शिष्य बनने मात्र से नहीं, 'एतद्विबोधतः' का यहाँ भी संबंध समझना चाहिये, उपदेश पाकर ब्रह्मज्ञान से ही वे भी ब्रह्मवित् बनते हैं किंतु बनते अवश्य हैं यह विशेषता है। तत्त्वज्ञ को मिलने वाला और फल बताया कि वह शोक सागर से पार हो जाता है। नारद विद्यामें यह काफी स्पष्ट किया था। क्योंकि समस्त दृश्य को मिथ्या जानता है इसलिये उसे शोक-मोह नहीं होते। सिनेमा में पानी बरसने का चित्र देखकर जैसे किसी को चिंता नहीं होती कि 'घर कैसे जायेंगे, भीग जायेंगे', वैसे ज्ञानी को माया के पर्दे पर अनंत कोटि ब्रह्माण्ड देखकर कभी शोक,

अधिकारी

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ये सगुणब्रह्मचिन्तकाः।
तेषामेव ब्रह्मतत्त्वविद्यामेतां वदेद् बुधः।।९८।।

मोह नहीं होते। पाप और पाप से उपलक्षित पुण्य भी समाप्त हो जाते हैं। न तो पुण्य-पाप उसे फल दे पाते हैं और न अब वह पुण्य-पाप करता ही है। कर्म करने और उनका फल भोगने, दोनों से वह परे हो जाता है। हृदयकी गाँठ अर्थात् अहंकारको प्रत्यक्तम समझना यह भ्रम उसका सर्वथा समाप्त हो जाता है, कभी भी स्वयं को अहंकार नहीं समझता, अहंकार को आत्मा नहीं समझता। जीवनपर्यन्त प्रारब्ध रहता है, फिर वह भी नहीं रह जाता। 'खिल' कहते हैं बचे हिस्से को। अविद्याका 'खिल' है प्रारब्ध और उसके निर्वाह के लिये अविद्यालेश; जीवन पूरा होने पर यह खिल भी समाप्त हो जाता है तो ज्ञानी अखिल हो जाता है। अथवा पूर्णता को अखिलता से कहा, तत्त्ववेत्ता को अपनी पूर्णता का स्पष्ट भान रहता है। क्योंकि वह नाश से वर्जित है इसलिये अमृत है। देवता आदि तो सपेक्ष अमर हैं। हम जैसों की अपेक्षा बहुत लंबी आयु वाले हैं इसलिये अमर कहे जाते हैं, निरपेक्ष अमर एकमात्र आत्मा ही है अतः आत्मरूप ब्रह्मवेत्ता वास्तव में अमर है। न वह पहले कभी मरा था न आगे मरेगा। अज्ञानसे मरने की प्रतीति थी, अज्ञान मिटने से वह भ्रम दूर हो गया। इस प्रकार ब्रह्मविद्या और उसका फल एवं महत्त्व समझा दिया।।९६-७।।

विद्याधिकारी का वर्णन उपनिषद् में किया 'क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।।'३.२.१०।। जो अपने कर्तव्य कर्म अवश्य करते हों, वेद पढ़े हुए हों, अपर ब्रह्मके उपासक और परब्रह्म के जिज्ञासु हों, एकर्षि नामक अग्नि की स्वयं परिचर्या करते हों, श्रद्धालु हों तथा जिन्होंने शिरोव्रत का अनुष्ठान किया हो उन्हें ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश देना चाहिये। एकर्षि अग्नि की सेवा और शिरोव्रत अथर्ववेदियों के लिये ही आवश्यक है। शिरोव्रत स्वाध्याय-विधि से किये जाने वाले अध्ययन का अंग है यह सूत्रकार ने निर्णय दिया है (ब्र.सू.३.३.३)। अतः क्रियावान् श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठये तीन विशेषण सभी अधिकारियों के लिये आवश्यक हैं इस अभिप्राय से इस मंत्र का संग्रह करते हैं **जो क्रियावान्, श्रोत्रिय और सगुणब्रह्म के ध्याता हैं, विद्वान् को चाहिये कि ब्रह्मतत्त्व की इस विद्या का उन्हें ही उपदेश देवे।।९८।।** क्रिया अर्थात् अपने वर्णाश्रम धर्म, उनका जो निष्कामभावसे पालन करता रहेगा वही विवेक-वैराग्यादि से

संपन्न होकर तत्त्वविद्याका अधिकारी बनेगा। शास्त्र-आचार्य के आदेशों का ही जो पालन न करे उससे यह आशा नहीं रखी जा सकती कि वह मनको पूरी तरह नियंत्रित कर अंतर्मुख बनेगा और आत्मदर्शन पायेगा। सुना भले ही किसी को दें पर विद्या सफल उसी में होगी जो पहले क्रियावान् रह चुका है। अथर्ववेदी साधक की दृष्टि से विशेषतः एकर्षि-परिचर्या और शिरोव्रत को भी क्रिया में समझ लेना चाहिये अर्थात् उसने अन्य नित्य-नैमित्तिकों के साथ ये भी किये हों। बाकियों को इन दोनों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं। श्रोत्रिय अर्थात् विधिवत् जिसने वेद पढ़ा हो, वेद का अभ्यासी हो। वेद-वेदार्थ से अपरिचित व्यक्ति एकाएक उपनिषत् सुनता है तो अनेक बातें समझ ही नहीं आतीं और अर्थ करने के तरीके जँचते नहीं। जिसने वेद पढ़ा है, वेदार्थ पर विचार किया है उसके लिये उपनिषत् समझने में बहुत सुविधा होती है। सारा वेद या सारी शाखा न भी पढ़ी हो तो कम-से-कम उपनिषद् भाग तो पढ़ा ही हो, उसका आपात अर्थ समझा हो तथा निरंतर उपनिषदों के आवर्तन में, अनुसंधान में लगा हो, ऐसा व्यक्ति ब्रह्मनिष्ठ से अनुभवोत्पादक उपदेश सुनने का अधिकारी है। ब्रह्मनिष्ठ भी अक्षरार्थ बता सकता है किन्तु वह बताना उसकी विशेषता नहीं, विशेषता वह ज्ञान देना है जिससे शिष्य को साक्षात्कार हो और इसके लिये शिष्ठ श्रेष्ठ अधिकारी होना अनिवार्य है। बुद्धि से ही नहीं, मनसे भी जो साधक ब्रह्ममें ही सारे प्रेम वाला है वही ब्रह्मज्ञान पा सकता है। लोक-परलोक के उपास्यों को छोड़कर जो केवल सगुण ब्रह्म, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर की ही उपासना में निरत रहता है वह विविदिषु ही ब्रह्म के साक्षात्कार का उत्तम अधिकारी बनता है। ऐसा साधक शास्त्रोक्त ढंग से विद्या लेने आये तो विद्वान् उसे कभी मना न करे, उसे अवश्य उपदेश दे यह अभिप्राय है। विद्वान् के लिये विधि का यह मतलब नहीं कि यदि उसने उपदेश नहीं दिया तो पाप लगेगा वरन् इतना ही मतलब है कि ऐसे को उपदेश दे यही विद्वान् के लिये उचित है, शोभनीय है। ऐसे को ज़रूर बताये कहने का यह अर्थ नहीं कि अन्यों को न बताये, पर अन्यों में विद्या सद्यः फलेगी नहीं, उन्हें बताने से उनमें मुमुक्षा बढ़ सकती है जिससे प्रेरित हो वे साधन एकत्र करने में लग सकते हैं। श्रेष्ठ अधिकारी से अन्य को अथवा जो अभी अधिकार संपन्न नहीं है उसे यदि विद्या का परिचय ही न मिले तो वह मुमुक्षु ही नहीं बन पायेगा, विवेक या चित्तशोधन में ही प्रवृत्त नहीं होगा। अतः उसे मोक्ष की तरफ प्रेरित करने के लिये विद्या सुनानी आवश्यक है।

इतना अवश्य है कि ब्रह्मविद्वरिष्ठ इस प्रारंभिक कार्य में न उलझे वरन् जो अभी स्वयं

अङ्गिराः शौनकायैतत् सत्यं ब्रह्मोपदिष्टवान्।
नमस्कृत्य ब्रह्मविदो ब्रह्मविद्यामवाप्नुयात्।।९९।।
शौनकस्य ब्रह्मविद्या विस्पष्टमुपवर्णिता।
तुष्टोऽस्माननुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१००।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे मुण्डकोपनिषद्विवरणं नाम षष्ठोऽध्यायः।।

साधना में रत है वह 'तत्कथनं तत्प्रबोधनम्' आदि बोधाभ्यास के रूप में प्रारंभिक साधकों को परिचय कराये तथा जब वे अधिकार-संपन्न हो जायें तब ब्रह्मवेत्ता उन्हें उपदेश दे।।९८।।

अन्त में इस विद्याकी गुरुपरंपरा का स्मरण करते हैं, आचार्य परंपरा को याद करना भी चित्त की शुद्धिका उपाय है, उपनिषत् ने भी समाप्ति में 'तदेतत् सत्यम् ऋषिरङ्गिराः पुरोवाच। नैतद् अचीर्णव्रतोऽधीते। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः' कहा है। **महर्षि अंगिरा ने ऋषि शौनक को इस सत्य ब्रह्मका उपदेश दिया था। ब्रह्मवेत्ताओं को प्रणाम कर ब्रह्मविद्या ग्रहण करनी चाहिये।।९९।।** गुरुपरंपरा का स्मरण और ब्रह्मवेत्ताओं को नमनये दोनों चित्तशोधन के साधन हैं। नमस्कार स्वयं यज्ञ माना गया है। जिससे उपदेश ले रहें हों उसे प्रणाम करके तब उपदेश सुनेयह शिष्टाचार तो सूचित है ही।।९९।।

अध्याय समाप्त करते हैं **शौनक ऋषिको उपदिष्ट ब्रह्मविद्या का इस अध्याय में स्पष्ट वर्णन किया। इस प्रयास से श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर संतुष्ट होकर हम पर कृपा करें।।१००।** गुरु के चरणों में ग्रंथ को समर्पित कर बताया कि शिष्य सदा विनयी रहे, अपने गुण-दोषों के लिये गुरु से परीक्षा कराता रहे, गुरुकी कृपा चाहे तभी उत्तरोत्तर विकसित होता रहेगा।।१००।।

।। छठा अध्याय।।

ॐ

प्रश्नोपनिषद्विवरणम्

सप्तमोऽध्यायः

अथर्वणे पिप्पलादः षण्मुनिभ्यो यदब्रवीत्।
तत्सर्वं प्रविविच्याऽत्र प्रवक्ष्यामि पृथक् पृथक्।।१।।

प्रश्नोपनिषद् का विवरण : सातवाँ अध्याय

मन्त्रभाग की मुण्डकोपनिषत् का व्याख्यान कर ब्राह्मणभाग की प्रश्नोपनिषत् का व्याख्यान करेंगे। ये दोनों अथर्ववेद की उपनिषदें हैं एवं मुण्डकोक्त अर्थ का प्रश्न में स्पष्टीकरण है अतः चारों वेदों की प्रतिनिधि उपनिषदों के इस चयन में दोनों को स्थान मिला है। इसमें छह ऋषियों ने प्रश्न रखे हैं जिनका उत्तर महर्षि पिप्पलाद ने दिया है; प्रश्न-बाहुल्य से इसका नाम प्रश्नोपनिषत् पड़ गया है। उपनिषदें स्वतंत्र ग्रंथ न होकर वेद के भाग हैं अतः इनके पृथक्-पृथक् नाम केवल व्यवहारार्थ हैं। अतः अन्य उपनिषदों में भी प्रश्न बहुत हैं फिर भी उन्हें प्रश्नोपनिषत् क्यों नहीं कहा जाता? आदि प्रश्न व्यर्थ है; प्रकृत उपनिषत् का नाम प्रश्न प्रचलित है, उसकी उपपत्ति सोची जा सकती है, अन्य उपनिषदों पर कोई नाम लादा नहीं जा सकता। इस उपनिषत् में उपासना उसका फल तथा तत्त्वज्ञान का विषय अद्वैतइन बातों का विचार आया है। प्रश्नों में क्रमशः उपासना का फल, स्थूल से सूक्ष्म देह का भेद, प्राण का स्वरूप, अवस्थात्रय का साक्षी, प्रणव का ध्यान तथा जीव-ब्रह्म की एकता इन विषयों को समझाया है।

उपनिषत् ने प्रारंभ में बताया है 'ॐ। सुकेशा च भारद्वाजः, शैब्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः, कौसल्यश्चाश्वलायनो, भार्गवो वैदर्भिः, कबंधी कात्यायनः; ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा 'एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यति' इति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः।।'१.१।। कि सुकेशा आदि छह ऋषि वेद पर अटूट श्रद्धा वाले थे, उसका चरम तात्पर्य समझने में यत्नशील थे, अपर ब्रह्म के उपासक थे और पर ब्रह्म को जानने की तीव्र इच्छा वाले थे। उन्होंने निर्णय किया कि पिप्पलाद ऋषि सारी बात समझा सकेंगे अतः शिष्यभाव से उनके पास गये। पिप्पलाद ने उनसे साल

गुरूपसत्तिः

मुनयो वेदतात्पर्यात् सगुणब्रह्मचिन्तकाः ।
परं ब्रह्माऽपेक्षमाणाः समिद्धस्ता गुरुं ययुः ।।२।।

भर श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य के नियमों से तपस्या करते हुए वहीं रहने को कहा। साल भर के बाद एक-एक कर छहों ने अपने प्रश्न रखे और पिप्पलाद ने सबके विस्तृत उत्तर देकर उनकी जिज्ञासाएँ मिटाईं। इस प्रसंग को बताते हुए उपक्रम करते हैं **अथर्ववेद की प्रश्नोपनिषत् में आये वर्णनके अनुसार पिप्पलाद ने छह मुनियों को अलग-अलग जो उपदेश दिया उस सबका विवेचन कर इस अध्याय में बतायेंगे।।१।।** पिप्पलाद महान् ऋषि थे, अथर्ववेद की एक शाखा ही उनके नाम से प्रसिद्ध हैपैप्पलाद शाखा। पुराणों में भी पिप्पलाद का वर्णन है। शिवभक्तों में इन्हें आदर से गिना जाता है। इनके नाम के बारे में कुछ लोगों की कल्पना है कि 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस वैदिक प्रयोग में कर्मफल को पिप्पल कहा गया है, ये ऋषि कर्म-संपादन में निरत थे और उसका श्रेष्ठ फल भोगते थे इससे इन्हें पिप्पलाद, पिप्पल खाने वाला कहा गया। बाद में चित्त निर्मल होने पर ये ब्रह्मविद्वरिष्ठ बने। अत्यन्त श्रद्धास्पद होने के कारण ही छह विभिन्न मुनि जो स्वयं भी विद्वान् थे, इनके पास परब्रह्मका ज्ञान पाने आये और एक वर्ष तक सेवा करते रहे। यद्यपि कात्यायन और कौशल्य के प्रश्न (प्रथम और तृतीय प्रश्न) साक्षात् परब्रह्म-विषयक नहीं तथापि कर्म उपासना का चरम फल भी कैवल्य नहीं यह प्रथम प्रश्न में स्पष्ट होने से उन साधनों के प्रति वैराग्यपूर्वक सर्वतोभावेन तत्त्वनिष्ठा के लिये प्रयास में प्रेरित करने से वह पर विद्या से संबद्ध है। तृतीय प्रश्न में प्राण मिथ्या है क्योंकि परमात्मा से उत्पन्न होता है यह प्रकट होने से उसका भी पर विद्या से संबन्ध है। 'मुनि' छहों को कहा क्योंकि वे मनन करने में कुशल थे। सगुण के बारे में पारंगत होकर भी विचार के बल पर ही इन्हें निश्चय हुआ कि वह अंतिम सत्य नहीं हो सकता, द्वैत परमार्थ नहीं हो सकता। उपास्य-उपासक का द्वैत रहते अभयरूप मोक्ष दुर्लभ है। अतः उनकी जिज्ञासा परब्रह्म के बारे में हुई जिसके निवारणार्थ वे पिप्पलाद की शरण गये।।१।।

मुनियों का पिप्पलाद के पास आना बताते हैं **क्योंकि वेदका तात्पर्य परब्रह्म है इसलिये उसे समझने के लिसे सगुण ब्रह्मके उपासक वे मुनि हाथमें भेंट लेकर गुरु के पास गये।।२।।** मुनि वेदज्ञ थे, वेदार्थ-विचार कर चुके थे लेकिन वेद के तात्पर्य के रूप में ये सगुण ब्रह्म को ही समझ पाये जबकि स्वयं विचार से इन्हें

लगा कि वह अंतिम तात्पर्य नहीं हो सकता इसलिये निर्गुण ब्रह्म को जानने के लिये वे पिप्पलाद के पास आये थे। द्वैत सत्य नहींयहाँ तक युक्ति पहुँचा सकती है यह बौद्ध दर्शन के विकास से स्पष्ट है। बौद्ध नास्तिक होने से वहाँ पहुँचकर कुछ सत्य नहीं है इस शून्य में अटक गये, ये मुनि आस्तिक होने से परमार्थ सत्य है इस श्रद्धासे प्रेरित होकर उसे जानने पिप्पलाद के पास आये। उपनिषत् पर विचार करने वाले को यह अवश्य प्रतीत होता है कि किसी परमार्थ तत्त्व का उसमें प्रतिपादन है। वह तत्त्व क्या है, कैसा है इसे समझना चाहे जितना कठिन हो पर यह भ्रम नहीं होता कि उपनिषत् किसी वास्तविक सत्य को नहीं बता रही। इन मुनियों ने स्वयं प्रयास कर भी सविशेष तत्त्व समझा, निर्विशेष नहीं समझ पाये किंतु सविशेष में द्वैतप्रयुक्त मिथ्यात्व देखकर वह परमार्थ नहीं यह स्पष्ट था इसलिये उपनिषत् जिस परमार्थ सत्यको बताना चाहती है वह क्या हैऐसी इन्हें जिज्ञासा थी। सगुण-सम्बन्धी साधना भी ये कर चुके थे, उससे कैवल्य मिलता न पाकर ही ये मुमुक्षा से निर्गुण के जिज्ञासु बने थे। ब्रह्मको सृष्टि-स्थिति-लय करने वाले के रूप में ही बताया जाता है अतः स्वाभाविक है कि उसी रूप में वह अंतिम तत्त्व है यह प्रतीत हो। विद्वान् गरु ही यह रहस्य खोल सकता है कि सृष्टि आदि के प्रति कारणता मिथ्या ही है, अधिष्ठान सत्य है। सविशेष अंतिम नहींइतना अपनी मनीषा से पता चल सकने पर भी अधिष्ठान को अज्ञानी खुद नहीं समझ सकता, उसके लिये ज्ञानी से ही ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। अतः इस विद्या के लिये गुरुकृपा का असीम महत्त्व है। अज्ञानक्षेत्र में बुद्धि की अत्यधिक गति है फिर भी बिना शिक्षा के प्रगति नहीं होती, शिक्षा पाकर भले ही और भी आगे बढ़ा जा सके। अज्ञानक्षेत्र से परे तो बुद्धि की गति सर्वथा नहीं है अतः गुरु के बिना उस बारे में कोई प्रकाश नहीं प्राप्त हो सकता। शास्त्र में साफ-साफ शब्दों में बताया होने के बावजूद बुद्धि उसे तब तक नहीं पहचान पाती जब तक तत्त्वज्ञ बताये नहीं। उसके बताने पर भले ही लगे कि शास्त्र में स्पष्ट है, परन्तु बिना बताये वह बात पता ही नहीं चलती। पौधे लोकसिद्ध हैं, साफ दीखते हैं, उनमें औषधीय गुण भी हैं लेकिन उनका तभी पता चलता है जब कोई बताये। स्वयं प्रयोग से भी तभी कोई नया गुण पता कर पाते हैं जब पहले किसी-न-किसी गुण को जानकार ने बताया हो अर्थात् वह पौधा औषधीय गुण वाला है, अमुक रोग में कारगर हैइतना पता चले तभी उस पर और अनुसंधान करते हैं। ऐसा नहीं कि रास्ते चलते चाहे जिस पौधे का अनुसंधान करने लगते हों। अतः लौकिक चीज़ें भी उपदेश से ही पता चलती हैं

गुरूपसत्तिसम्पूर्त्यै वर्षं गुर्वन्तिकेऽवसन्।
सम्यक् फलति विद्यैषा वार्षिक्या गुरुसेवया।।३।।

तो अलौकिक ब्रह्म उपदेश से पता चले इसमें क्या आश्चर्य। अतः शास्त्र ने अनेक जगह स्पष्ट किया कि गुरु से ही यह विद्या ग्रहण करनी चाहिये। देवता, राजा और गुरु के पास खाली हाथ नहीं, भेंट लेकर जाना चाहिये यह शास्त्र का विधान है अतः ये मुनि समित् लेकर गये। यज्ञोपयोगी काष्ठ समित् होती है। इससे अन्य उपहार की उपलक्षणा भी समझ सकते हैं। यदि गुरु निरग्नि है तो उसके लिये समित् ले जाना अनुपयोगी होने से दातुन आदि अन्य वस्तु ले जानी चाहिये। शब्दतः तो समित्पाणि से समित् ले जाना ही कहा है।।२।।

गुरुसेवा विद्याप्राप्ति का उपाय है यह स्पष्ट करते हैं **पूरी तरह गुरु की उपासना हो सके इस प्रयोजन से वे मुनि एक वर्ष गुरु के निकट सेवा करते हुए रहे। यह विद्या तभी ठीक से फलीभूत होती है जब एक वर्ष गुरु की सम्यक् सेवा की जाये।।३।।** पूर्व में इंद्र-विरोचन के प्रसंग में पहली ही बार बत्तीस वर्षों तक शिष्यों को ब्रह्मचर्यपर्वूक रहना पड़ा, उसके बाद इंद्र को उनहत्तर बरस और गुरुसेवा करनी पड़ी तब सही ज्ञान हुआ। लेकिन ये मुनि उत्तम अधिकारी थे, वेदवेत्ता ही नहीं अपर ब्रह्म के उपासक थे अतः शुद्ध चेता, मनन में कुशल एवं पूर्णतः एकाग्र वृत्ति वाले थे इसलिये इन्हें एक ही वर्ष रहने के लिये कहा। अतएव मुंडक के अंत में क्रियावान्, श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठये तीन विशेषताएँ अधिकारी की बतायी थीं। जिसके आचरण, ज्ञान और भावना तीनों श्रेष्ठ हों, वेदानुकूल हों, उसे आत्मतत्त्व शीघ्र समझ आता है। आचार्य यहाँ सभी के लिये निर्देश कर रहे हैं कि कम-से-कम एक साल तक ब्रह्मचर्यादि नियमपूर्वक गुरु की सेवा करे तभी ब्रह्मज्ञान सफल होगा। वैसे, यहाँ 'एक' साल कहने में तात्पर्य नहीं, साल भर लगातार सेवा करेयह तात्पर्य है, सालों की गिनती तो गुरु निर्णय कर सकता है या स्वयं को जब फलानुभूति हो जाये तब पता चल सकता है। जब तक लगातार गुरु का नैकट्य न रहे तब तक उसकी बात समझना मुश्किल है। सेवा, निकट-निवास आदि से सन्तुष्ट गुरु जब ब्रह्म का उपदेश देता है तब स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।।३।।

एक वर्ष पूरा होने पर सबसे पहले कबन्धी कात्यायन ने अपना प्रश्न रखा 'भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति' (प्र. १.३)। इसे बताते हैं **सर्वप्रथम कात्यायन ने स्थूल शरीर की उत्पत्ति के क्रम के बारे में प्रश्न किया क्योंकि**

आद्योऽपरविद्याफलप्रश्नः

कात्यायनोऽपृच्छदादौ स्थूलदेहजनिक्रमम्।
फलं त्वपरविद्यायास्तत्र स्पष्टी भविष्यति।।४।।
कर्मोपास्तिश्चापरस्यां विद्यायां श्रूयते द्वयम्।
तत्फलं जन्म कष्टं तद् इत्यभिप्रेत्य वर्ण्यते।।५।।

इसके जवाब में यह स्पष्ट हो जायेगा कि अपर विद्या का फल क्या है।।४।। कर्म-उपासना का फल समझकर उससे वैराग्य करने पर ही तत्त्वज्ञान में अधिकार मिलता है। बिना जाने वस्तु से दृढ वैराग्य नहीं हो पाता। सामान्यतः अनिच्छा हो सकती है लेकिन वैराग्य का जो कुल्हाड़ी जैसा रूप है वह प्रकट नहीं हो सकता। कुल्हाड़ी जैसा अर्थात् मार्ग में रुकावट डालने वाली लकड़ी को कुल्हाड़ी से काटकर आगे बढ़ा जाता है, इसी प्रकार साधना में रुकावट डालने वाले काम-क्रोधादि को जो तुरंत दूर कर सके वह वैराग्य आवश्यक है। यह विवेकजन्य ही हो सकता है। अतः जिससे वैराग्य करना है उस कर्म-उपासना के फल को जानना ज़रूरी। इहलोक के विषयों के भोगों से कुछ-न-कुछ वैराग्य हुए बिना तो शास्त्रीय कर्म व उपासना में भी संलग्न नहीं हुआ जा सकता। ब्राह्म मुहूर्त में शय्या त्यागना, नदी कूप आदि में स्नान कर सन्ध्या अग्निहोत्र आदि करना इत्यादि प्राथमिक कर्म ही ऐसे हैं जो काफी हद तक विषय-परायणता छुड़ा देते हैं। किन्तु इन्हें छोड़ा जाता है पारलौकिक बेहतर भोगों के लिये। जब उन आमुष्मिक भोगों से भी वैराग्य हो तब निर्विषय आनंद की ओर उन्मुखता आती है। दिव्य भोगों से वैराग्य के लिये उनके अंतिम परिणाम का विचार करना चाहिये। जैसे अर्श के रोगी को मिर्च का पकौड़ा खाने में बेस्वाद नहीं लगता लेकिन परिणाम याद कर वह उसे खाता नहीं, वैसे उत्तम लोकों में जाने के बाद भी अंतिम फल तो जन्म ही है, किसी-न-किसी स्थूल देहकी प्राप्ति ही है, यह याद बना रहे तो उन भोगों में रुचि नहीं रह जायेगी। इस प्रकार यह प्रश्न वैराग्यफलक है।।४।।

उत्तर की भूमिका बाँधते हैं **अपरा विद्या में दो विषय सुने जाते हैंकर्म और उपासना। दोनों का अंतिम परिणाम जन्म ही है और जन्म महान् कष्ट है। यह स्पष्ट करने के अभिप्राय से जन्म का वर्णन किया जा रहा है।।५।।** श्रेष्ठ लोकों में उत्तम भोग अतिदीर्घ काल तक भोगने को मिलते रह सकते हैं लेकिन उनकी समाप्ति अवश्य होती है और फिर दुःख भी भोगना पड़ता है। इसलिये अंतिम फल जन्म कहा। स्वर्गादि से भूमि तक आने का क्रम शास्त्र में बताया है, भूमि पर आने

उत्तरे सृष्टिवर्णनम्

प्रजापतिः प्रजाकामो विराट्सृष्टेरनन्तरम्।
स्रष्टव्यालोचनाख्यं तत् तपः कृत्वाऽसृजत् प्रजाः।।६।।
भोग्यभोक्त्रात्मकं द्वन्द्वं रयि-प्राणाख्यम् आदितः।
सृष्ट्वाऽभिमानिनौ देवौ चन्द्राऽऽदित्यौ च सृष्टवान्।।७।।

के बाद भी काफी भटक कर गर्भ में प्रवेश करना पड़ता है जहाँ दुःख ही दुःख है। पैदा होकर भी कष्टों की कोई कमी नहीं। भगवान् ने विस्मृति और आशाये दो विशेषताएँ देकर मनुष्य को बहुत सुरक्षा दी है, यदि पूर्वानुभूत दुःख याद रहे और आगे की आशा न हो तो जीवन जीना ही असंभव जैसा हो जाये। पुराना दुःख भूलकर और भावि सुख की आशा रखकर ही मनुष्य खुशी-खुशी जी लेता है। कोई विचारशील ही इस परीक्षा में प्रवृत्त होता है कि वास्तव में खुश होने जैसा है क्या? पूर्व के सब दुःख याद करें और आगे के अनिश्चित सुखों की आशा का तनाव महसूस करें तो वर्तमान के अनुकूल विषय भी सुखी नहीं कर पायेंगे। इस लिये जन्म का वर्णन किया जा रहा है ताकि विवेकी हमेशा ध्यान रखे कि कर्म-उपासना से क्योंकि अंत में दुःख ही मिलना है इसलिये उनमें परिश्रम न कर तत्त्वज्ञान पाने का प्रयास किया जाये।।५।।

पिप्पलाद ने उत्तर दिया 'प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनम् उत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।।' १.४-५।। हिरण्यगर्भरूप प्रजापति को प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई। इस विषय पर श्रुत्युक्त बातों का उन्होंने विचार किया तथा रयि और प्राण का जोड़ा बनाया ताकि वे आगे बहुत तरह की प्रजाएँ उत्पन्न करें। आदित्य (अग्नि) ही प्राण अर्थात् अत्ता है और चंद्रमा रयि अर्थात् अन्न है। मूर्त-अमूर्त सभी कुछ रयि है, फिर भी मूर्त की अधिकता से मूर्त ही रयि है ऐसा कहते हैं। इसे व्यक्त करते हैं **प्रजाएँ उत्पन्न करने की इच्छा वाले प्रजापति हिरण्यगर्भ ने पहले विराट् को पैदा किया फिर तप करके प्रजाओं की सृष्टि की। जिन्हें पैदा करना था उनके बारे में विचार ही प्रजापति का तप था।।६।। प्रजापतिने सबसे पहले भोग्य और भोक्ता रूप जोड़ा बनाया। भोग्यका नाम रयि है, भोक्ताका नाम प्राण है। फिर भोग्यके अभिमानी देवता चंद्रमा एवं भोक्ता के अभिमानी देवता आदित्य को उत्पन्न किया।।७।।** व्यष्टि जीव अपने कर्मों के फल भोगें इसके लिये व्यष्टि उपाधियाँ तथा

मूर्तमोषध्यादि भोग्यं शब्दगन्धरसादिकम्।
अमूर्तम् अनयोर्वृद्धिं देवश्चन्द्रः करोति हि।।८।।

स्थूल भोग्य चाहिये इसीलिये हिरण्यगर्भ को इच्छा होती है कि प्रजा उत्पन्न की जाये। सबसे पहले वे समष्टि-स्थूलात्मक विराट् को पैदा करता है। उपाधि पैदा होने से उसमें प्रतिबिंबित होकर उपहित भी उपस्थित हो जाता है। ब्रह्माण्ड समष्टि स्थूल उपाधि है, उसका अधिष्ठाता समष्टि स्थूल का अभिमानी है। फिर प्रजापति ने तप अर्थात् विचार किया, समष्टि का कैसा व्यष्टीकरण आवश्यक है यह निर्धारण किया। तदनंतर प्रजोत्पादन किया। वेदका स्पष्ट कथन है कि सृष्टि एक सुविचारित व्यवस्था है, इसमें सब चीज़ें आपस में मधुभाव से सम्बद्ध हैं। पारमार्थिक स्तर से देखने पर इसमें संदेह नहीं कि यह मिथ्या है, इसकी कोई व्यवस्था आत्यंतिक नहीं है लेकिन व्यावहारिक स्तर पर इसकी व्यवस्था भी शंका से परे है। प्रजापति की सृष्टि में भोग्य व भोक्ता दोनों प्रजाएँ हैं। (**भोक्तृभोग्यात्मकं**ऐसा मुत्तुशास्त्री ने पाठ रखा है जो श्लो.१८ के अनुकूल भी है किंतु रयि-प्राण और चन्द्रादित्य इन क्रमों के अनुरूप निर्णयसागर का पाठ ठीक लगता है।) भोक्ता और भोग्य परस्पर सापेक्ष होते हैं। अतः इन्हें द्वन्द्व या जोड़ा कहा। भोग्य को रयि और भोक्ता को प्राण नाम से वेद में अनेक जगह बताया है। सारे भोग्य वर्ग का अभिमानी है चंद्र तथा भोक्ता-वर्ग का है आदित्य। ये समष्टि देवता हैं, किसी एक भोग्य या भोक्ता के नहीं वरन् समस्त भोग्यों व समस्त भोक्ताओं के। पहले द्वंद्व फिर अभिमानी कहकर स्पष्ट किया कि पहले उपाधि की सृष्टि होती है, उसी से उपाधिमान् भी उत्पन्न होने वाला कहा जाता है। घड़ा बनने से जैसे घटाकाश भी बन जाता है वैसे भोग्य और भोक्ता उपाधियाँ बनने से इनके अभिमानी देव भी बन गये। जैसे आकाश-दृष्टि से घटाकाश बना नहीं कह सकते वैसे चेतन-दृष्टि से इन्हें भी उत्पन्न होने वाला नहीं कह सकते।।६-७।।

इस प्रसंग में आये मूर्त-अमूर्त शब्दों का अर्थ बताते हैं **पौधे आदि भोग्य मूर्त एवं शब्द, गंध, रस आदि भोग्य अमूर्त हैं। भोग्यवर्ग का संवर्धन चन्द्रदेव करते हैं क्योंकि वे ही उसके अधिष्ठाता हैं।।८।।** गेहूँ, चावल आदि स्थूल भोग्य मूर्त हैं तथा शब्दादि सूक्ष्म भोग्य अमूर्त हैं। चावल खाया जाता है, उसकी सुगंध का भी आनंद लिया जाता है, मिठास भी सुख देती है अतः मूर्त-अमूर्त दोनों का भोग होता ही है। समष्टि में चंद्र इनका संवर्द्धक है। पौधों पर चंद्र का प्रभाव प्रसिद्ध ही है, अन्य भोग्यों पर भी प्रभाव शास्त्र बता रहा है। अध्यात्म में चंद्र-स्थानीय मन है, उसका असर सब भोग्यों पर पड़ता है यह प्रत्यक्ष है, मन से इच्छापूर्वक खाओ तो मज़ा ज़्यादा आता है, बेमन से खाओ तो

आदित्य उद्यन् भोक्तृणां तत्तद्दिग्वर्तिनाम् इमान्।
प्राणान् प्रवर्तयेद् भोक्तृन् एतेऽन्नं भुञ्जते ततः।।९।।

बहुत कम आता है, अतः भोग्य की योग्यता समान होने पर भी उसकी सुखप्रदता को मन बढ़ा देता है यह अनुभवसिद्ध है। भाष्यकार ने भोक्ता-उपाधि को अमूर्त से कहा माना है। श्रुति की सरल योजना के लिये विद्यारण्य स्वामी ने भोग्य के ही दो भेद मान लिये हैं।।८।।

भोग्यवर्ग बताकर भोक्तृवर्ग बताने के लिये श्रुति ने कहा 'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते, यद् दक्षिणां यत् प्रतीचीं यद् उदीचीं यद् अधो यद् ऊर्ध्वं यद् अन्तरा दिशो यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।।'१.६।। अर्थात् उगकर आदित्य सब दिशाओं में फैलकर सबको प्रकाशित करता है उससे वह सभी के प्राणों को अपनी किरणों में आत्मसात् कर लेता है। इसका अभिप्राय बताते हैं **सभी दिशाओं में स्थित भोक्ता प्राणियों में जो साक्षात् भोग करने वाले प्राण हैं उन्हें उदय होता हुआ आदित्य प्रवृत्त करता है जिससे ये अन्न का भोग कर लेते हैं।।९।।** सूर्य उदय होकर सभी इंद्रियों को प्रवृत्त करता है , अतः मनुष्य का कर्तृत्व-भोक्तृत्व दिन में ही अधिक प्रकट रहता है, रात प्रायः सोने में बीतती है यही स्वाभाविक माना भी जाता है। श्लोक के 'प्राण' से मुख्य पंचवृत्ति प्राण तथा इंद्रियाँ-रूप गौण प्राण दोनों समझने चाहिये। मुख्य प्राण की भूख-प्यास भी दिन में अधिक प्रकट होती है। सुबह से शाम तक के बारह घण्टों में तीन-चार बार नाश्ता भोजन आदि करते हैं, रात के बारह घण्टे बिना कुछ खाये बीत जाते हैं! इससे स्पष्ट है कि सूर्योदय के बाद प्राणों की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। ऐसे ही अन्य इंद्रियों के बारे में भी है। यहाँ श्रुति ने कहा कि सूर्य जिस दिशा में प्रवेश करता है वहाँ के लोगों के प्राणों को ग्रहण कर लेता है, इससे बताया कि सर्वत्र एक-साथ वह नहीं प्रवेश करता; भारत में दिन हो तब अमेरिका में रात होती है, ऐसे ही अन्य ग्रहों पर दिन-रात पृथ्वी के अनुसार नहीं होते। किन्तु जब जहाँ सूर्य है तब वहाँ के प्राणों को वही प्रेरित करता है यह भाव है। नक्तंचर आदि के प्राणों का प्रेरक भी सूर्य ही है। ऊष्मारूप से रात को भी सूर्य रहता ही है, उन प्राणियों को प्रेरित करने के लिये उतनी उपस्थिति ही पर्याप्त हो जाती है। इस प्रकार, आदित्य और चंद्र ही सारे भोक्ता और भोग्य होकर प्रजावर्द्धन कर रहे हैं, इसीलिये इन्हें प्रजापति ने पैदा किया था और इन्हीं के द्वारा प्रजापति भी सर्वरूप बना हुआ है, यह बताया।।९।।

चन्द्रस्तिथिम् अहोरात्रं सूर्यः सम्पादयत्यतः।
तत्समूहस्वरूपोऽसौ कालः संवत्सरोऽभवत्।।१०।।
यद्यद् उत्पद्यते तत्तत् स्यादुपाधिः प्रजापतेः।
प्रजापतिर्वत्सरात्मा स पुनर्द्विविधोऽभवत्।।११।।
अभूतां वत्सरांशौ द्वावयने दक्षिणोत्तरे।
चन्द्रादित्यौ तत्र देवौ दक्षिणोत्तरमार्गयोः।।१२।।

श्रुति ने 'संवत्सरो वै प्रजापतिः' (प्र.१.९) प्रजापति को संवत्सररूप बताया और आगे उसे मासरूप (१.१२) तथा अहोरात्ररूप (१.१३) भी कहा अतः व्यवहार में आता काल भी प्रजापति से अन्य नहीं है यह विवक्षित अर्थ व्यक्त करते हैं **तिथियों का निष्पादक है चंद्र तथा सूर्य बनाता है दिन और रात। इस प्रकार सूर्य-चंद्र के द्वारा तिथियों और दिन-रात का समूहरूप यह संवत्सरात्मक काल बना।।१०।।** भोग काल में ही होता है क्योंकि भोग के लिये किसी-न-किसी तरह का परिवर्तन चाहिये और परिवर्तन काल की अपेक्षा रखता है। अतः भोक्ता व भोग्य बनाकर काल बनाया गया। महाकाल भले ही ईश्वररूप हो, हमारा व्यवहार जिस काल से चलता है उसका तो पूर्णरूप संवत्सर ही है, मास आदि उसी के अवयव हो जाते हैं। संवत्सर तैयार होता है तिथियों से और अहोरात्र से, दिन-रात से। सूर्य का संवत्सर अहोरात्र से और चांद्र संवत्सर तिथियों से बनता है, इनमें कुछ दिनों का फ़र्क़ रहता है जिसे अधिक मास-क्षयमास की व्यवस्था से संतुलित किया जाता है। तिथि बनती है चंद्र की गति से। अमावास्या को सूर्य व चंद्र एक सीध में रहते हैं। बारह अंशों की दूरी दोनों में हो तब एक तिथि बीतती है अतः तीस तिथियों में तीन सौ साठ अंश पार होकर अगली अमावस्या को पुनः शून्य अंश की दूरी पर अर्थात् एक सीध में सूर्य-चंद्र आ जाते हैं। इस प्रकार तिथि को चंद्रमा बनाता है। एक सूर्योदय से अगले सूर्योदय का काल अहोरात्र कहलाता है अतः अहोरात्र का संपादक सूर्य है। तिथिसमूह और अहोरात्र-समूह ही संवत्सर है अतः तिथि व अहोरात्र बनाने से संवत्सर का निर्माण हो जाता है।।१०।।

प्रजापति की संवत्सर-रूपता स्पष्ट करते हैं **जो-जो उत्पन्न होता है वह सब प्रजापति की उपाधि बन ही जाता है अतः प्रजापति संवत्सररूप है। वह फिर दो प्रकार का हुआ।।११।। संवत्सर के दो हिस्से हुएदक्षिणायन और उत्तरायण जिनके अभिमानी देवता क्रमशः चंद्र और सूर्य ही हैं।।१२।।** जो भी पैदा होता

है वह ईश्वर की उपाधि बनता है जैसे जो भी बर्तन बनता है वह आकाश की उपाधि बन जाता है। इसीलिये पूर्वोक्त तरह से बना संवत्सर भी प्रजापति की उपाधि हो गया अतः प्रजापति को संवत्सररूप कहा गया है। संवत्सर, सूर्य और चंद्रये महान् उपाधियाँ हैं अतः उपास्य हैं। संवत्सर के दो हिस्से दोनों अयन हैं। धागों से कपड़ा बनता है लेकिन कपड़ा फाड़ें तो कपड़े के ही टुकड़े बनते हैं। ऐसे ही तिथि-अहोरात्र से संवत्सर बना लेकिन संवत्सर के अंश अयन हुए। अतः अयन जुड़कर संवत्सर बनायह नहीं कह रहे जैसे कपड़े जोड़कर थान नहीं बनता! थान बनेगा धागों से पर थान को फाड़ेंगे तो छोटे कपड़े बनेंगे। इसी प्रकार संवत्सर बनेगा तिथि-अहोरात्रों से, न कि अयनों को जोड़कर, लेकिन संवत्सर के टुकड़े होंगे दोनों अयन। उदाहरण के लिये परिवार को समझ सकते हैं। बच्चे पैदा होते जाते हैं तो परिवार तैयार होता है फिर यदि भाइयों में तालमेल न बैठा तो वे अपने-अपने पत्नी-बच्चे लेकर अलग घर बसा लेते हैं। ऐसा नहीं कि चार लड़के और उनके पत्नी-बच्चे मिलकर परिवार बनाते हों! आजकल अंग्रेज़ी की नकल में हिंदी वाले 'संयुक्त परिवार' शब्द का प्रयोग करते हैं मानो अलग-अलग इकाइयाँ जुड़कर संयुक्त परिवार बना हो जबकि होता यह है कि परिवार से अलग होने पर छोटी इकाई बन जाती है। शब्दप्रयोग का मन पर असर होता है। संयुक्त सुनते-सुनते लोगों को लगने भी लगा है कि 'हैं हम विभिन्न परिवार जो जुड़ जाने से संयुक्त हैं' और नतीज़ा है कि हर एक 'स्वतंत्र' होना चाहता है मानो अभी परतंत्र हो। जैसे परिवार ऐसे ही संवत्सर बना तिथि-अहोरात्र से और अंश उसके हैं दोनों अयन। दक्षिणायन का अधिष्ठाता देवता चंद्र है, उत्तरायण का अधिष्ठाता सूर्य है।।११-२।।

श्रुति ने जन्म बताने के उद्देश्य से कर्म व उपासना का फल भोगने के लिये जिन मार्गों से जीव जाता है उन्हें इस प्रश्न में बताया है। नौवें खण्ड में आया 'तद्ये ह वै तद् इष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एवं पुनरावर्तन्ते। तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः।।' अर्थात् इष्ट और आपूर्त के अनुष्ठाता पितृयाण द्वारा चंद्रलोक (स्वर्गलोक) जाकर सुख भोगते हैं। पितृयाण अर्थात् दक्षिण मार्ग और उससे प्राप्य चंद्रमा रयि अर्थात् अन्न ही है क्योंकि चंद्र को देवताओं का भक्ष्य छांदोग्य में (५.१०.४) कहा गया है। इस रास्ते चंद्रलोक जाने पर कर्मक्षय होने पर पुनः लौटकर भूमि पर जन्म लेना पड़ता है। इस प्रसंग का उल्लेख करते हैं **इष्ट और आपूर्त कर्म करने वाले दक्षिण-नामक मार्ग से चंद्रलोक (स्वर्ग) जाते हैं तथा कर्मभोग पूरा कर लौट आते हैं क्योंकि वहाँ**

दक्षिणोत्तरमार्गौ

इष्टापूर्तकृतश्चन्द्रं यान्ति दक्षिणमार्गतः ।
आवर्तन्ते पुनस्तत्र क्रममुक्तिर्न विद्यते ।।१३ ।।
योगिनः सगुणध्यानाद् रविमुत्तरमार्गतः ।
गत्वा तन्मण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोकं व्रजन्ति हि ।।१४ ।।

क्रममोक्ष की व्यवस्था नहीं है ।।१३ ।। वेदानुपालन अर्थात् वेदाज्ञाओं का पालन, तप, अतिथि-सत्कार, वैश्वदेवइन्हें इष्ट कहते हैं। बावड़ी, कुआ, तालाब, मंदिर अन्नक्षेत्र, बगीचा आदि बनाकर सार्वजनिक हित के लिये उपलब्ध कराना आपूर्त कर्म हैं। इष्ट में आये वेदानुपालन का यह भी अर्थ है कि वेदविद्या कायम रखी जाये। ब्राह्मण पढ़े-पढ़ाये, इसीको प्रधानरूप से अपने चिंतन का, अनुसन्धान का विषय बनाये। क्षत्रिय-वैश्य स्वयं यथाशक्ति वेद पढ़ें तथा वेदाध्येताओं की धनादि से मदद करें, रोजी-रोटी के अभाव में ब्राह्मण वेदाध्ययन में तत्पर रह नहीं सकेगा तो वेदविद्या कायम नहीं रहेगी। अन्य विघ्नों से क्षत्रिय रक्षा करे। आपूर्त कर्म वे हैं जो सारे समाज के हितार्थ किये जाते हैं। अतः निजी प्रयोग के लिये ही बनाया कुआ या धन कमाने के लिये बनाया भोजनालय आपूर्त में नहीं गिने जाते वरन् सबके उपयोगार्थ तथा धनादि का लाभ न लेते हुए जो सेवा की जाती है वह आपूर्त है। इष्ट कर्म में निजी कल्याण की दृष्टि प्रधान है, आपूर्त में सबके कल्याण की भावना है। इन कर्मों का फल भोगने स्वर्ग जाना पड़ता है जहाँ का रास्ता दक्षिणमार्ग, पितृयाण कहा गया है। चंद्र स्वयं ही क्षयिष्णु है! वहाँ जाने वालों के भी पुण्य क्षीण हो जाते हैं, फिर उन्हें वहाँ से अवश होकर लौट आना पड़ता है। स्वर्ग के रास्ते से क्रममुक्ति नहीं मिलती। यह तो संभव है कि किसी को वहाँ बृहस्पति इंद्र आदि के उपदेश से ज्ञान हो जाये लेकिन स्वर्ग गये इतने मात्र से यह निर्णीत नहीं कि अवश्य ज्ञान होगा जिससे मुक्ति हो ही जायेगी।।१३।।

दूसरा मार्ग बताया उत्तरायण का 'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानम् अन्विष्य आदित्यमभिजयन्ते। एतद् वै प्राणानाम् आयतनम् एतदमृतम् अभयम् एतत् परायणम् एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते;' (प्र. १.१०) अर्थात् तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और सूर्य की अहंग्रहोपासना करने से साधक उत्तर मार्ग द्वारा आदित्य को प्राप्त होते हैं। वह आदित्य प्राणों का आश्रय, अविनाशी, निर्भय और परम गति है। इसे पाकर पुनः नहीं लौटते। इसे बताते हैं **सगुण ब्रह्म का ध्यान करने के प्रभाव से योगी उत्तरमार्ग (देवयान) द्वारा सूर्य तक जाकर, उस मण्डल को लाँघकर ब्रह्मलोक अवश्य जाते हैं।।१४।।**

प्रजापतिः

आसीत् प्रजापतिर्मासः पक्षौ शुक्लेतराविह।
यौ तयोश्च रविश्चन्द्रोऽभिमन्तारावुभौ स्थितौ।।१५।।
रविध्यायी तु कृष्णेऽपि कुर्वन् शुक्लफलं व्रजेत्।
शुक्लपक्षे फलाधिक्यं शास्त्रोक्तं काम्यकर्मणाम्।।१६।।

सगुण ब्रह्म से यहाँ हिरण्यगर्भरूप सूर्य समझना चाहिये। अध्यात्म में इसका स्थान लेता है प्राण। यह उपासक कर्मका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। अतः श्रुति ने यहाँ तप का उल्लेख किया ही है। किंतु प्रधान उपासना है अतः विद्यारण्य स्वामी ने इस उपासक को योगी कहा। योग के भी संयम-रूप प्रधानांश का, धारणा-ध्यान-समाधि काअभ्यासी विवक्षित है। ऐसा साधक मरने पर देवयान नामक उत्तर मार्ग से जाकर सूर्य मण्डल से परे जो ब्रह्मलोक है वहाँ पहुँच जाता है। यदि वहाँ भी कोई कामना रह गयी तो अगली सृष्टि में बड़ा अधिकारी बनता है और यदि ऐसी तीव्र कामना नहीं रही तो सृष्टिसमाप्ति पर ब्रह्मा के उपदेश से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार उत्तर मार्ग ब्रह्मलोक अवश्य ले जाता है। जहाँ मोक्ष होता ही है जबकि दक्षिणमार्ग से स्वर्ग जाने पर मोक्ष निश्चित नहीं, यह इस मार्ग का वैशिष्ट्य है।।१४।।

श्रुति ने प्रजापति का मासरूप भी बताया 'मासो वै प्रजापतिः। तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणः। तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्।।' प्र. १.१२।। महीना भी प्रजापति का पूरा ही रूप है। महीने का कृष्णपक्ष रयि-अन्न-चंद्र है और शुक्ल पक्ष प्राण-अत्ता-आदित्य है। प्राणोपासक जब भी याग करें वह शुक्ल पक्ष में किया गिना जाता है, अनुपासक कभी भी करे उसे कृष्ण पक्ष में ही गिना जायेगा। यह संदर्भ प्रकट करते हैं **प्रजापति महीना था। महीने में जो शुक्ल और कृष्ण पक्ष हैं उनमें अभिमान कर स्थित हुए सूर्य और चंद्र।।१५।। सूर्य का ध्यान करने वाला कृष्ण पक्ष में कर्म करते हुए भी शुक्ल पक्ष में करने का फल पाता है। शास्त्र में कहा है कि काम्य कर्म शुक्ल पक्ष में करने से फल अधिक मिलता है।।१६।।** सभी कुछ प्रजापति की उपाधि होने से मास भी उसी की उपाधि है। महीने के दोनों पक्ष रयि व प्राण होने से प्रजापतिरूप ही हैं। शुक्ल पक्ष का अधिष्ठाता सूर्य और कृष्ण पक्ष का अधिष्ठाता चंद्र है तथा ये दोनों प्रजापति के रूप हैं ही। इस प्रकार प्रजापति की सर्वरूपता स्फुट है। सगुण ब्रह्म काअधिदैव में सूर्य रूप और अध्यात्म में प्राणरूप प्रजापति काध्यान करने वाला क्योंकि स्वयं को प्राण से और प्राण के द्वारा

प्रजापतिरहोरात्ररूपोऽभूद् अह्नि देवता।
रविश्चन्द्रो रात्रिदेवो रात्रावेव रतिस्ततः।।१७।।

शुक्ल पक्ष से एक समझता है इसलिये उसके लिये हमेशा शुक्ल पक्ष मौजूद रहता है अतः शुक्ल पक्ष में कर्म करने का फल उसे हमेशा मिलता रहता है। कामनापूर्ति के शास्त्रीय कर्म शुक्ल पक्ष में करने से अधिक फल देते हैं यह प्रसिद्ध है अतः उपासक हमेशा अधिक फल पाता है यह तात्पर्य है। वह कभी भी मरे, उसे उत्तर मार्ग ही प्राप्त होगा। मरने के काल का महत्त्व बताया है किन्तु वहाँ काल का अर्थ तत्तद् देवता हैं अतः उपासक चाहे जब मरे उसे दिन, शुक्ल पक्ष आदि देवताओं वाला ही मार्ग मिलेगा और अनुपासक कभी भी मरे उसे रात, कृष्णपक्ष आदि देवताओं वाला ही मार्ग मिलेगा।।१५-६।।

दिन-रात को भी प्रजापति की मूर्ति बताया 'अहोरात्रो वै प्रजापतिः तस्याहरेव प्राणो, रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।।'१.१३।। अहोरात्र ही प्रजापति है। दिनरूप भाग प्राण-अत्ता-सूर्य है, रात रयि-अन्न-चंद्र है। दिन में स्त्रीप्रसंग प्राण सुखाता है जबकि रात्रि में वह ब्रह्मचर्य है। इसका संग्रह करते हैं **प्रजापति दिन-रात के रूप वाला हो गया। दिन में अभिमानी देव सूर्य और रात का देव चंद्र है इसलिये रात में ही रति उचित है।।१७।।** संवत्सर में अयन, मासमें पक्ष की तरह यहाँ दिन और रात हैं। इन्हें मिलाकर अहोरात्र कहते हैं, उसके लिये पृथक् शब्द नहीं है जैसे पक्ष से अतिरिक्त मास शब्द है। दिन अत्ता का हिस्सा है, रात अन्न का हिस्सा है। सूर्य व चंद्र ही इनके देवता हैं। रात अन्न अर्थात् भोग्य के हिस्से वाली होने से स्त्रीसंपर्क-रूप रति रात में ही उचित है, दिन में अनुचित है। गृहस्थ सर्वथा नियमानुसार ही स्त्रीसंग करे तो उसके लिये वही ब्रह्मचर्य तक कह दिया गया है। यहाँ यह प्रासंगिक विधान है। मुख्य बात पूछी थी कि सारी प्रजाएँ किससे पैदा होती हैं, उसीको समझाने के लिये यह सारा विस्तार बताया कि भोक्ता भोग्य और काल रूप से प्रजापति ही व्यवस्थित है अतः उसी से सारी प्रजा उत्पन्न हुई है यह समझना सरल हो जाता है।।१७।।

रयि, प्राण, संवत्सर, मास, अहोरात्र बनते हुए प्रजापति अंत में अन्न बने यह श्रुति ने कहा 'अन्नं वै प्रजापतिः। ततो ह वै तद्रेतः। तस्माद् इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।। तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।।' १.१४-१५।। अर्थात् अन्न ही प्रजापति है, उसी से

भोक्तृभोग्यात्मकं द्वन्द्वं सृष्ट्वाऽथैष प्रजापतिः।
अन्नरूपोऽभवत् तस्मादन्नाद् रेतस्समुद्भवः।।१८।।
रेतसोऽमूः प्रजा जाता रेतःसेकं प्रजापतेः।
व्रतं चरन्ति चेत् पुत्रं पुत्रीं चोत्पादयन्ति हि।।१६।।

शुक्र-शोणित बनता है जिससे ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। प्रजापति व्रत का पालन करने वाले पुत्र-पुत्री के जोड़े पैदा करते हैं तथा तप ब्रह्मचर्य और सत्यपरायण रहें तो स्वर्ग लोक भी प्राप्त करते हैं इसे समझाते हैं **भोक्ता और भोग्यरूप जोड़ा उत्पन्न करने के बाद प्रजापति अन्नरूप हो गया। उस अन्न से रेतस् (शुक्र-शोणित) बनता है, रेतस् से ये प्रजाएँ पैदा होती हैं। प्रजापतिव्रत कहते हैं यथानियम रेतस् के सिंचन को, उस व्रत का यदि गृहस्थ आचरण करें तो अवश्य पुत्र-पुत्री का जोड़ा पैदा करेंगे।।१८-६।।** सृष्टिक्रम में पहले ही रयि की उत्पत्ति कही थी और रयि के मूर्त-अमूर्त भेद बताकर व्रीहि आदि को मूर्त में बताया था अतः यहाँ अन्न की स्वरूपतः उत्पत्ति नहीं कह रहे वरन् तत्तत् जीव के लिये प्रतिनियत खाने योग्य बनना कह रहे हैं। अथवा, समष्टि रूप से व्रीहि आदि पहले बन गये, व्यष्टि रूप से अब बँटे। तात्पर्य है कि जो भोजन खाया जाता है वह भी प्रजापति ही है। उस भोजन के पाक से ही पुरुष में वीर्यरूप और स्त्री में शोणितरूप रेतस् तैयार होता है जिनके मेलन से प्रजाएँ पैदा होती हैं अर्थात् नवीन स्थूल देह निर्मित होते हैं जिनमें जीवों के सूक्ष्म शरीर प्रवेश करते हैं। इसलिये उक्त क्रम से प्रजापति ही प्रजाएँ उत्पन्न करते हैं। क्योंकि उत्पादन का कार्य प्रजापति ने प्रारंभ किया और अभी भी कर रहे हैं इसलिये प्रजोत्पादन के लिये शुक्र-शोणित का मेल करना प्रजापतिव्रत है। पुत्रोत्पादन एक यज्ञ माना गया, पंचाग्निविद्या में उसे आलंबन बनाकर उपासना भी बतायी है। जो तो 'मैं अपनी कामनापूर्ति के लिये कर रहा हूँ' इस अभिमान से प्रजोत्पादन करता है उसे यज्ञफल नहीं मिलता किंतु जो यह समझकर कि 'यह प्रजापति का व्रत है, उत्पन्न वे ही कर रहे हैं, हम केवल माध्यम बन रहे हैं', नियमों का पालन करते हुए गर्भाधान करता है उसके लिये यहाँ फल बताया कि उसे पुत्र-पुत्री दोनों प्राप्त होते हैं। तथा ऐसा व्यक्ति यदि हमेशा सत्यपरायण रहे, तपस्या में रत रहे तथा गृहस्थोचित ब्रह्मचर्य रखे तो वह दक्षिणमार्ग के चरम लक्ष्य स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।।१८-६।।

उत्तरायण से जाने वाले अधिकारी और उन्हें प्राप्य फल अंतिम वाक्य में कहा 'तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।।'१.१६।। अर्थात्

उपासकगतिः

ब्रह्मचर्यरता ऊर्ध्वरेतसो ब्रह्मचिन्तकाः।
ब्रह्मलोकं व्रजन्त्यन्ये निस्तपस्का न यान्ति तम्।।२०।।

स्थूलसूक्ष्मदेहविवेकप्रश्नो द्वितीयः

कात्यायनेन यत् पृष्टं हेयं जन्म तदीरितम्।
भार्गवः सूक्ष्मदेहस्य स्थूलेऽप्राक्षीद् विवेचनम्।।२१।।

उपासनायुक्त कर्म करने वाले कुटिलता-झूठ-माया से दूर रहें, उन्हें शुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इसे बताते हैं **जो ब्रह्म के चिन्तक सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, रेतस् का स्राव न होने देकर उसकी ऊर्ध्व गति कर लेते हैं वे ब्रह्मलोक चले जाते हैं। तपोहीन लोग ब्रह्मलोक नहीं जा पाते।।२०।।** प्रजापतिव्रत के पालन-कर्ता भी ब्रह्मचारी कहे थे, उनसे अलग करने को यहाँ ऊर्ध्वरेतस्कता भी कह दी। गृहस्थ का ब्रह्मचर्य संयत रेतःस्राव से खंडित नहीं होता किन्तु यहाँ उन्हें कह रहे हैं जिनका रेतःस्राव होता ही नहीं। रेतस्त्याग से अतिरिक्त भी स्मरणादि सात तरह से ब्रह्मचर्यहानि बतायी गयी है, उससे भी ये अधिकारी दूर रहते हैं अर्थात् न इनके मन में भोगवासना होती है न ये ऐसा देखते कहते आदि हैं जो भोग में प्रेरित करे। ऊर्ध्व गति वाला रेतस् ओज में परिवर्तित हो जाता है। साथ ही, ये कुटिलता आदि नहीं करते क्योंकि कुटिल, झूठा और पाखण्डी ब्रह्मलोक नहीं जा सकता। आजकल बच्चों को झूठ बोलना सिखाया जाता है, खुद माँ-बाप प्रेरित करते हैं, इससे यहाँ कुछ धन आदि भले ही मिल जाये पर आगे नरक ही मिलेगा, सद्गति नहीं। किंच ये साधक तपस्वी हैं, स्वाश्रमोचित कर्म करते हैं। सर्वथा ब्रह्मचारी होने से ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या आश्रम संन्यासी ही हो सकते हैं तथा तीनों के धर्म तपःप्रधान हैं ही। ऐसे साधक ब्रह्म के चिन्तन अर्थात् ध्यान में, उपासना में संलग्न बने रहें तो मरने पर उत्तरायण द्वारा ब्रह्मलोक चले जाते हैं। इस प्रकार, प्रजोत्पत्ति प्रजापति से होती है यह प्रथम प्रश्न का विस्तृत उत्तर समझाया।।२०।।

द्वितीय प्रश्न की भूमिका रचते हैं **जो छूट जाये यही अच्छा है उस जन्म के बारे में कात्यायन ने जो पूछा वह पिप्पलाद ने बता दिया। तदनन्तर भार्गव वैदर्भि ने यह पूछा कि स्थूल देह में उससे अलग सूक्ष्म देह स्थित है यह कैसे समझा जाये। सूक्ष्मको स्थूलसे अलग समझ लेने पर यह सुस्पष्ट हो जायेगा कि स्थूल शरीर अनात्मा है।।२१-१/२।।** कात्यायन ने जन्म के बारे में इसलिये पूछा था

तस्मिन् विवेचिते स्थूलस्याऽनात्मत्वं स्फुटं भवेत्।
धारको द्योतकः श्रेष्ठ इत्यप्राक्षीद् असौ त्रयम्।।२२।।
देवाः कति स्थूलदेहं धारयन्त्यत्र धारणम्।
द्विविधं जननं तस्य प्रेरणं चेति तद् द्वयम्।।२३।।

कि जिससे बचना है उसका समग्र ज्ञान हो तो बचना सरल होता है। पर ब्रह्मका अन्वेषक जन्म के बारे में इसीलिये पूछ सकता है कि उसे पता चले कि जिस जन्म-प्रबंध से वह छूटना चाहता है उसका स्वरूप क्या है। विवेकी के लिये जन्म प्रसन्नता की बात नहीं है। पूर्व जन्म में भगवत्प्राप्ति कर पाने में असफलता ही जन्म से द्योतित होती है। अतः आगे जन्म न हो इसीका प्रयास करना चाहिये। प्रजापति से संसार का बनना पता चलने से स्पष्ट हुआ कि जन्म-प्रक्रिया औपाधिक है अतः इससे दूर होने के लिये उपाधियों से आत्मा को अलग कर जानना आवश्यक है। इसलिये द्वितीय प्रश्न में स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का विवेक पूछा गया है। लौकिक दृष्टि से सूक्ष्म शरीर आत्मा माना जाता है क्योंकि उसी के कार्यों को आत्मा का प्रभाव समझते हैं, जो खाता पीता चलता फिरता है उसे चेतन या आत्मा मानते हैं। जब समझ आता है कि ये कार्य स्थूल शरीर के नहीं हैं तब स्थूल अनात्मा है इतना निश्चय हो जाता है। यह अध्यात्म मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये सबसे बड़ा कदम है। जितनी आसानी से यह तर्क से पता चल जाता है उतना ही इसे महसूस करना मुश्किल है कि मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ। अतः इसके लिये विशेष प्रयास करना चाहिये।।।२१-१/२।।

भार्गव का प्रश्न है 'अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते? कतर एतत् प्रकाशयन्ते? कः पुनरेषां वरिष्ठ इति?'।।२.१।। अर्थात् प्रजा को धारण करने वाले देव कौन हैं? उसे प्रकाशित करने वाले कौन हैं? उनमें प्रधान कौन है? तीन भागों वाले इस प्रश्न को स्पष्ट करते हैं **भार्गव ने तीन के बारे में पूछाशरीर को धारण करने वाला कौन है? इसका प्रकाशन करने वाला कौन है? और धारकों व प्रकाशकों में श्रेष्ठ कौन है?।।२२।। उसका पहला प्रश्न था कि कितने देव स्थूल देह को धारण करते हैं? इस प्रश्न में धारण दो तरह का विवक्षित हैपैदा करना, और प्रेरित करना।।२३।। दूसरा प्रश्न था कि ज्ञानपक्षीय देव अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ (व मन) और क्रियापक्षीय देव अर्थात् कर्मेन्द्रियाँ और प्राण, इनमें से कौन हैं जो स्थूल शरीर को प्रकाशित करते हैं? तीसरा प्रश्न था कि शरीर को धारण करने अर्थात् प्रेरणा देने वाले देवों में**

ज्ञानवर्गे क्रियावर्गे स्थिताः के भासयन्ति तम्।
प्रेरणाख्ये धारणेऽस्मिन् श्रेष्ठो देवेषु को भवेत्।।२४।।

उत्तरम्

काठिन्यं च द्रवोष्णत्वे चलनं छिद्रमित्यमी।
दृश्यन्तेंऽशा पञ्चभूतजन्योऽतो देह इष्यते।।२५।।

श्रेष्ठ कौन है?।।२४।। समुचित रूप में कायम रखने को धारण करना कहते हैं अतः निर्माता और संचालक दोनों को धारणकर्त्ता कहना संगत है। कर्मेन्द्रियाँ प्रेरक तो हैं, प्रकाशक नहीं, ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशक हैं प्रेरक नहीं, मन प्रेरणा व प्रकाशन दोनों कर लेता है किंतु यह सब संभव बनाने वाला प्राण है। अतः सूक्ष्म शरीर के अवयवों के बारे में यह द्वितीय प्रश्न है।।२२-४।।

पिप्पलाद ने उत्तर दिया 'तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी। वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च, ते प्रकाश्याऽभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः।।'२.२।। अर्थात् आकाशादि भूत, कर्मेन्द्रियाँ, मन और ज्ञानेन्द्रियाँये सभी शरीर को धारण करने वाले देव हैं। इंद्रियों में से हर एक स्वयं को ही शरीर का धारणकर्त्ता समझने लगा तो प्राण ने उनका गर्व दूर किया। इसे समझाते हुए प्रश्न के प्रथम भाग का उत्तर देते हैं **स्थूल शरीर में कड़ापन, बहने वाले पदार्थ, गर्मी, चलना और खाली जगहये अंश दीखते हैं जिससे स्वीकार्य है कि स्थूल शरीर पाँचों महाभूतों का कार्य है। (अर्थात् जननरूप धारण करने वाले हैं महाभूत)।।२५।।** हड्डी आदि कड़ी चीज़ें, खून आदि बहने वाली चीज़ें, ऊष्मा, क्रिया और रिक्त स्थान शरीर में उपलब्ध हैं। ऊष्मा न रहने पर शरीर मृत समझा जाता है। रक्त का चाप आदि नापने से शरीर के भीतर का चलन मालूम पड़ता है, मरने पर ये सब गतियाँ बंद हो जाती हैं। भोजन आदि तभी कर सकते हैं जब भीतर जगह हो अतः आकाश भी शरीर में उपस्थित है। काठिन्य, कड़ापन पृथ्वी का अंश है, द्रवत्व (बहने वाले पदार्थ) जलका, गर्मी तेजका, चलन वायुका और खाली जगह आकाश का अंश है। इन पाँच भूतों से ही स्थूल शरीर बना है, वे ही इसके उत्पादकरूप धारक हैं।।२५।।

प्रश्न का द्वितीय भाग द्योतक अर्थात् प्रकाशक-विषयक था, उसका जवाब देते हैं **वाणी, हाथ आदि क्रियापक्षीय समूह है जो क्रिया तो करता है लेकिन प्रकाशित नहीं करता। मन, चक्षु आदि ज्ञानपक्षीय समूह है, वही शरीर को**

वाक्पाण्यादिः क्रियावर्गः क्रियां कुर्वन्न भासयेत्।
ज्ञानवर्गो मनश्चक्षुरादिको भासयेद् वपुः।।२६।।
प्रेरणाख्यां धारणां तु प्राण एव करोति हि।
भूतेन्द्रियाभिमानिन्यो देवता गर्वमाप्नुवन्।।२७।।

प्राणश्रेष्ठता

वयं देहमवष्टभ्य प्रेरयामो गृहादिषु।
प्राणदेवोऽन्यदेवानाम् एतं गर्वं न्यवारयत्।।२८।।

प्रकाशित करता है।।२६।। वाक्, हाथ, पैर, उपस्थ, पायुये पाँच कर्मेंद्रियाँ क्रियावर्ग है अर्थात् क्रिया करने वाला समूह है। यह प्रकाशन नहीं करता। क्रिया करते हुए जो जानकारी होती है वह मन से होती है, कर्मेंद्रियों से नहीं। अतः सोते समय कुछ लोग बड़बड़ाते हैं, हाथ-पैर पटकते हैं, वायु आदि का विसर्ग भी करते हैं लेकिन उन्हें पता नहीं चलता क्योंकि मन कार्यकारी नहीं होता। प्रेरणा अर्थात् सचेष्ट बनाने में तो इस वर्ग का योगदान है, द्योतन में नहीं। ज्ञानेन्द्रियाँ और मन शरीर को भासित करते हैं, ज्ञानवान् बनाते हैं। अनेक ज्ञान इंद्रियों से नहीं मन से ही हो सकते हैं। आधुनिक कुछ लोग केवल ऐंद्रिय ज्ञानों को प्रमा मानकर मानस ज्ञानों को कल्पना या भ्रम कहना चाहते हैं किन्तु विचार करने पर उनकी मान्यता अनुभव-विरुद्ध स्थित होती है क्योंकि व्यवहार-क्षेत्र का सर्वाधिक अबाधित ज्ञान मानस ही है। अतः मानस प्रमा नकारना अयुक्त है। मन और ज्ञानेंद्रियाँ ज्ञानवर्ग है, यही शरीर का प्रकाशक है।।२६।।

श्लोक २३ में धारण के दो भेद कहे थे उनमें, जननात्मक धारण महाभूत करते हैं यह बता चुके, प्रेरणारूप धारण कौन करता है यह अब बताते हैं **प्रेरणा नामक धारण तो प्राण ही करता है। किन्तु एक बार भूतों और इंद्रियों के अभिमानी देवताओं को गर्व हो गया था कि 'शरीर को सहारा देकर हम ही घर आदि के सब कार्यों में प्रेरित करते हैं।' उन देवताओं के इस मिथ्या अभिमान को प्राण-देव ने दूर किया।।२७-८।।** शरीर का जीवन प्राण पर निर्भर है। प्राण रहते शरीर मरता नहीं। अतः प्राण ही इसका मूल प्रेरक है। शरीर जीवित रहे, कुछ भी कर सके, इसे संभव बनाने वाला प्राण ही है। तत्तत् क्रिया में सक्षम तो कर्मेन्द्रियों से होता है लेकिन तभी जब प्राण से शरीर व इंद्रियाँ प्रेरणा पायें। जैसे बिजली के बिना यंत्र व उसके कल-पुर्जे कुछ काम नहीं कर सकते अतः बिजली ही यंत्र का मुख्य प्रेरक है वैसे शरीर का प्रेरक प्राण ही है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये तथा

यूयं मा प्राप्नुत भ्रान्तिम् अहमेवाऽत्र पञ्चधा।
प्राणापानादिभिर्भागैर्धारयामि ह्यदो वपुः।।२६।।

प्रेरकों में प्राण की श्रेष्ठता निर्धारित करने के लिये उपनिषत् ने कथा सुनायी कि अन्य देव खुद को ही मुख्य प्रेरक मानने लगे तो प्राण ने उन्हें कहा 'मैं ही मुख्य धारणकर्ता हूँ।' इस पर भी वे न माने तो प्राण शरीर छोड़कर जाने को उद्यत हुआ किंतु उसके उद्यत होते ही बाकी सब देव, इंद्रियादि भी शरीर में रहने में असमर्थ हो गये, शरीर को धारण नहीं कर पाये! जैसे ही प्राण ने शरीर छोड़ने की कोशिश छोड़ी पुनः शरीर में स्थित हुआ, वैसे ही बाकी देव भी प्रतिष्ठित हो गये, अपने कार्यों में समर्थ हो गये। तब उन्हें प्राण का महत्त्व समझ आया। इस प्रकार उनका गर्व प्राण ने मिटाया अतः वही श्रेष्ठ है।।२७-८।।

गर्वित देवों से प्राण ने कहा 'मा मोहमापद्यथ, अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणम् अवष्टभ्य विधारयामि' (२.३) कि तुम लोग इस भ्रम में मत पड़ो कि तुम शरीर को धारण करते हो। मैं ही स्वयं को पाँच तरह बाँटकर इसका धारण करता हूँ जिससे यह बिखर नहीं जाता।' इसे कहते हैं **प्राण ने कहा 'तुम लोग भ्रम में मत पड़ो। देह में प्राण, अपान आदि भागों से पाँच तरह बँटकर मैं ही शरीर को धारण करता हूँ।।२६।।** देवताओं का गर्व व्यर्थ था क्योंकि प्राण के बिना अंतर्बाह्य कोई इंद्रिय कुछ नहीं कर सकती, न ज्ञान कर सकती है न क्रिया। प्राण से ही सब कार्यकारी है। समष्टि में हिरण्यगर्भ और व्यष्टि में प्राण से ही ब्रह्माण्ड और पिण्ड का व्यवहार चलता है। महाभूत भी शरीर को धारण तभी कर पाते हैं जब प्राण हो। न केवल माता-पिता में प्राण चाहिये वरन् जो शुक्र-शोणित मिलें उनमें भी प्राण चाहिये। तभी वे विकसित होकर शरीर बनते हैं। गर्भस्थ शिशु के भी प्राण निकल जायें तो गर्भगत शरीर भी नष्ट हो जाता है। वहाँ से बाहर निकलकर भी अन्नादि से वह शरीर पुष्ट हो पाता है जिसमें प्राण है। अतः प्राण ही धारण करता है यह ठीक ही बात है। जैसे व्यष्टि देवों का गर्व व्यर्थ है वैसे समष्टि देवों को भी यदि गर्व हो कि वे ही ब्रह्माण्ड चला रहे हैं तो व्यर्थ ही होगा, यह बात केनोपनिषत् की यक्ष-कथा में स्पष्ट है। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पाँच तरह से स्थूल शरीर में विभिन्न कार्य करते हुए उपस्थित प्राण शरीर का धारण कर रहा है। छांदोग्य (५.१) और बृहदारण्यक (६.१) में भी इसी तरह प्राण की श्रेष्ठता स्थापित की गयी है।।२६।।

तानविश्वसतो देवान् विश्वासयितुमेष तु।
देहाद् निर्गन्तुमुद्युक्तो ह्यासन् देवाश्च विह्वलाः।।३०।।
स्थिते स्वराज्ञि तिष्ठन्ति निर्गच्छन्ति च निर्गते।
मधुकृन्मक्षिका देवाश्चासन् प्राणवशास्तथा।।३१।।

प्राण की बात पर देवों को श्रद्धा न हुई तो उसने व्यावहारिक प्रदर्शन से अपनी बात सिद्ध की यह बताते हैं **'प्राण ही धारणकर्ता है' इस पर विश्वास न करने वाले देवताओं को इस तथ्य पर विश्वास दिलाने के लिये प्राण शरीर से निकलने को तैयार हुआ, इतने मात्र से सब देवता विह्वल हो गये।।३०।। जैसे मधुमक्खियाँ अपने राजा के परवश होती हैं। राजा जब तक छत्ते में रहता है तभी तक मक्खियाँ उसमें रह सकती है। राजा जब छत्ता छोड़ देता है तब कोई मक्खी उसमें नहीं रह पातीउसी प्रकार सब देव प्राण के परवश हैं यह उन्हें समझ आ गया।।३१।** अन्यत्र ऐसा भी वर्णित है कि एक-एक देवता एक-एक वर्ष के लिये शरीर को छोड़कर गया ताकि पता चले किस देवता के बिना शरीर विधारित नहीं रहता किन्तु सभी के जाकर आने तक शरीर का कार्य चलता ही रहा। यहाँ तक कि सबसे घमण्डी मन के बिना भी शरीर चलता रहा, बल्कि और भी पुष्ट हो गया क्योंकि एक साल तक चिंता आदि मानसिक तनावों से मुक्ति मिल गयी! अंत में प्राण जाने को तैयार हुआ। प्राण निकल ही जाता तो शरीर मर जाता अतः वह निकला नहीं, निकलने को तैयार हुआ, उसने अपनी वृत्तियाँ समेटना प्रारंभ किया। किंतु इतना करने पर ही सब देवता खिंचने लग गये, वे कुछ भी करने में असमर्थ हो गये। चार खूँटियों से घोड़ा बँधा हो फिर भी अगर वह तगड़ा है और पूरा जोर लगाकर उछलता है तो खूँटियाँ उखड़ जाती हैं; ऐसे ही प्राण के सिमटने पर सब इंद्रियाँ अपने स्थानों से विचलित हो गयीं। लोक में देखते भी हैं कि जब कोई मरने लगता है तो इंद्रियाँ पहले शिथिल होती हैं। प्राण के अधीन इंद्रियाँ हैं इसमें मधुमक्खियों का दृष्टांत उपनिषत् ने दिया है। आधुनिक कुछ लोग शंका करते हैं कि रानी मक्खी के अधीन बाकी मक्खियाँ होती हैं फिर यहाँ मधुकर राजा के अधीन क्यों कहा? समाधान है कि यहाँ राजा शब्द शासक, नेता के अभिप्राय से है अतः पुंस्त्व विवक्षित नहीं है। तात्पर्य यही है कि जैसे प्रधान मक्खी के रहते ही बाकी मक्खियाँ रहती हैं, प्रधान के जाते ही बाकी भी छत्ता छोड़ जाती हैं वैसे प्राण रहते ही सब देव शरीर में रहते हैं, प्राण के जाते ही वे भी शरीर को छोड़ जाते हैं अतः धारण करने वालों में श्रेष्ठ प्राण ही है।।३०-१।।

उत्क्रान्तिं वारयन्तस्ते प्राणं तुष्टुवुरादरात्।
प्राणः सूत्रं तेन बद्धाः सर्वे तद्वशगा इमे।।३२।।
देहोऽकिञ्चित्करः प्राण एव संसारकारणम्।
भार्गवो निश्चिकायेत्थं पिप्पलादेन बोधितः।।३३।।

उक्त तथ्य अनुभवपूर्वक समझते ही सब देवों ने प्राण की लंबी स्तुति की और उसे शरीर छोड़कर न जाने के लिये कहने लगे यह सूचित करते हैं **प्राण को शरीर छोड़ कर निकलने से मना करते हुए देवताओं ने उसकी सादर स्तुति की। इसका सार है कि प्राण वह धागा है जिससे सब देव बँधे हैं, उसी के परवश हैं।।३२।। अकेला स्थूल शरीर कुछ कर नहीं सकता, संसरण का हेतु प्राण ही है। पिप्पलाद के समझाने पर भार्गव को यह निश्चय हो गया।।३३।।** श्रुति में अन्य-अन्य प्रकार से स्तुति की गयी है, उसका सार सूत्र के उदाहरण से यहाँ बता दिया। धागा टूटने पर उसमें पिरोये मोती जैसे बिखर जाते हैं वैसे प्राण निकल जाने पर शरीर बिखर जाता है। जैसे धागा खींचने से मोती स्वतः खिंच जाते हैं वैसे प्राण निकलने से इंद्रियादि भी निकल जाते हैं। अतः शरीर को धारण करने वाला और सब इंद्रियों से श्रेष्ठ प्राण है। स्थूल शरीर स्वयं कुछ भी करने में असमर्थ है, इसमें जो कुछ होता है वह सूक्ष्म शरीर करता है और सूक्ष्म शरीर में भी प्राण ही प्रधान है। अतः स्थूल शरीर बदलते रहते हैं, उससे जीव को अंतर नहीं पड़ता। कर्म करने और उसका फल भोगने में प्रधानता सूक्ष्म शरीर की है इसीलिये स्थूल के बदले जाने पर भी कर्मफल मिलता ही है। कर्म करने और फल भोगने के लिये स्थूल शरीर चाहिये अवश्य, किन्तु उसका उपयोग उतना ही है, उमसें बैठकर करे और भोगेगा सूक्ष्म शरीर। अतः गीता में स्थूल शरीर को वस्त्र की तरह बताया, पुराने वस्त्र उतारकर फैंक देते हैं, नये वस्त्र पहन लेते हैं, ऐसे ही स्थूल शरीर भी बदलते रहते हैं। सूक्ष्म शरीर में प्रधान है प्राण। इसलिये लोक में भी 'प्राण निकल गये' कहने के बाद अन्य इंद्रिय आदि के जाने का पृथक् उल्लेख नहीं करना पड़ता। अतः एक से दूसरे शरीर में जाना और हर शरीर में कर्म करना-फल भोगनाइस संसरण का प्रधान यंत्र प्राण निश्चित होता है। इस प्रकार भार्गव की सभी जिज्ञासाएँ शांत हो गयीं, सूक्ष्म का जो वह विवेक जानना चाह रहा था वह उसे समझ आ गया।।३२-३।।

तीसरा प्रश्न कौसल्य ने उठाया, उसका अवतरण करते हैं **पूर्वोक्त महिमा वाले प्राण का ध्यान क्रममोक्ष का हेतु है इसलिये उत्तम उपासक कौसल्य ने प्राणके बारे में साफ-साफ छह प्रश्न उठाये।।३४।।** प्राण को प्रतीक मानकर ध्यान करने

प्राणजिज्ञासा तृतीयः प्रश्नः

क्रममुक्तेर्हेतुरस्य प्राणस्य ध्यानमित्यसौ।
कौशल्यः प्राणविषयान् षट् प्रश्नानकरोत् स्फुटम्।।३४।।
प्राणोऽयं कुत उत्पन्नः कथमेष वपुर्व्रजेत्।
स्वरूपं प्रविभज्यैष कथं देहेऽवतिष्ठते।।३५।।
केन वृत्तिविशेषेण देहादुत्क्रान्तिमाप्नुयात्।
बाह्यं जगत् कथं धत्ते तस्याऽध्यात्मधृतिः कथम्।।३६।।

से क्रममुक्ति नहीं मिलती वरन् व्यष्टि प्राण की समष्टि हिरण्यगर्भ से एकता का ध्यान करने से ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति के क्रम से मोक्ष मिलता है। जिसे हम अपना प्राण मानते हैं वह वास्तव में हिरण्यगर्भ ही है, वही इस शरीर में संचरण करता है तो हम उस पर अपनी मिल्कियत समझ लेते हैं। ध्यान से इस परिच्छिन्न बुद्धि को छोड़ने का अभ्यास कर समष्टि-दृष्टि से उसे ग्रहण किया जाता है तो अपनी हिरण्यगर्भरूपता भी अर्थसिद्ध हो जाती है क्योंकि परिच्छिन्न प्राणमें अभिमान रखने से ही हम हिरण्यगर्भ से स्वयं को पृथक् समझते हैं, परिच्छिन्न बुद्धि छूटते ही हम भी हिरण्यगर्भ से अलग नहीं रह जाते। इस तरह व्यष्टि समष्टि की एकता का ही यहाँ प्राणोपाधि द्वारा ध्यान कहा जा रहा है जो क्रम-मुक्ति देता है। क्योंकि उपाधि के रूप में प्राण का उपयोग है इसलिये इसे समझने के लिये कौसल्य का प्रयत्न है। किंच, प्राण ही अंतिम तत्त्व है ऐसा भ्रम नारद की तरह अन्यों को भी हो सकता है, उसे दूर करने के लिये प्राण की भी उत्पत्ति आदि बतायी जा रही है। प्राण स्वयं कार्य है अतः चरम वस्तु नहीं।।३४।।

कौसल्य आश्वलायन के प्रश्न के छह भाग हैं१.'भगवन्! कुत एष प्राणो जायते? २. कथमायात्यस्मिञ्शरीरे? ३. आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? ४. केनोत्क्रमते? ५. कथं बाह्यमभिधत्ते? ६. कथमध्यात्ममिति?।।'३.१।। १. यह प्राण किससे उत्पन्न होता है? २. इस शरीर में किस कारण से आता है? ३. स्वयं को बाँटकर कैसे रहता है? ४. उत्क्रमण किसके द्वारा करता है? ५. बाह्य प्रपंच को कैसे धारण करता है? ६. शरीर को कैसे धारण करता है? इसी छह भागों वाले प्रश्न को उपस्थित करते हैं **यह प्राण किससे उत्पन्न हुआ है? यह शरीर में क्यों आता है? शरीर में अपना स्वरूप (पाँच तरह) बाँटकर कैसे रहता है? किस विशेष व्यापार से यह शरीर से निकलता है? बाह्य जगत् को यह कैसे धारण करता है? अध्यात्म अर्थात् शरीर को कैसे धारण करता है?।।३५-६।।** प्राण के जन्म का कारण जानने

उपास्तिश्रद्धया सर्वं विशेषं पृष्टवानिति।
तुष्टो गुरुरुवाचैषां प्रश्नानां स्पष्टमुत्तरम्।।३७।।

से स्पष्ट होगा कि प्राण नहीं वरन् उसका हेतु ही परम तत्त्व है। यह शरीर में किस कारण प्रवेश करता है यह पता लगाने से आगे प्रवेश से बचना संभव होगा। शरीर में प्राण की व्यवस्थिति समझने से अन्य इंद्रियादि की गौणता स्पष्ट होगी। कैसे निकलता है समझने से मरते समय सावधानी रखी जा सकेगी। मरते समय के अनेक नियम शास्त्र में बताये हैं जो तभी पालन किये जा सकते हैं जब मालूम हो कि अब मरने वाले हैं। समष्टि'-व्यष्टि स्थूल के धारण का ढंग मालूम पड़ने से प्राण की सर्वरूपता पता चलेगी। इस तरह छहों प्रश्न आवश्यक हैं।।३५-६।।

इन प्रश्नों को पिप्पलाद ने 'अतिप्रश्न' कहा अर्थात् इनका विषय अतिसूक्ष्म और तर्क से अगम्य, शास्त्रैकसमधिगम्य है। फिर भी कौसल्य की ब्रह्मनिष्ठा से प्रसन्न होने के कारण उन्होंने सबका उत्तर दिया यह बताते हैं **'उपासना के प्रति श्रद्धा के कारण कौसल्य ने सब गंभीर, दुर्बोध बातें पूछी हैं' यह समझते हुए सन्तोष-पूर्वक पिप्पलाद ने सभी प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर दिया।।३७।।** केवल बहुश्रुत होने के लिये, बहुत-सी जानकारी बटोरने के लिये पूछने वाले को उत्तर देना व्यर्थ होता है, खासकर सूक्ष्म विषयों के बारे में उसे बताने का कोई उपयोग नहीं क्योंकि वह उत्तर को रट-मात्र सकता है, समझ नहीं सकता, कारण कि वह साधक न होने से समझने के लिये आवश्यक यत्न ही नहीं करेगा। आजकल कई लोग शास्त्र की अनेक 'गलतियों' की सूची याद रखते हैं, कोई शास्त्रवेत्ता मिले तो उससे उन्हीं के बारे में पूछते हैं। उन्हें शास्त्रश्रद्धा नहीं है अतः ऐसा नहीं कि उन्हें कोई साधना करनी है और उस गलती को देखकर वे न कर पा रहे हों, उन्हें समझा दें कि वह ग़लती नहीं है तो साधना करें; उन्हें तो केवल शास्त्र ग़लत है यही बोलने का शौक है अतः एक शंका का समाधान कर भी दें तो दस की फ़हरिस्त तैयार है, जिन विषयों से उनका कोई संबंध नहीं, जिन ग्रंथों का उन्होंने कभी अध्ययन किया नहीं उनकी दो-चार बातों के बारे में शंका करते हैं। ऐसों को समझाने का प्रयास बुद्धिमान् नहीं करते, उनकी उपेक्षा ही करते हैं। किन्तु कौसल्य ऐसा नहीं था, उपासक था, विविदिषु था, साधनापूर्वक आत्मकल्याण के लिये यत्नशील था, इसलिये पिप्पलाद संतुष्ट हुए। सामान्य प्रश्नों का जवाब तो सामान्य विद्वान् भी दे सकते हैं, जब किसी विशेष बात को पूछा जाता है तब गुरु को अधिक प्रसन्नता होती है कि 'इसका जवाब साधारण व्यक्ति नहीं दे सकता, मैं दे पा रहा हूँ

प्राणषट्प्रश्नीसमाधानम्

परमात्मन उत्पन्नः प्राण आत्मा त्वविक्रियः।
अविकृत्यैव देहं स्वं देहच्छाया यथोदिता।।३८।।
छायाऽनृतैव दृष्टा चेत् प्राणोऽप्यात्मनि कल्पितः।
यथा दर्पणदीप्त्यादिर्मायोपाधिस्तथाऽऽत्मनः।।३९।।

और इसे समझने लायक शिष्य मिला तो इस ज्ञान की परंपरा रह जायेगी।' अनेक विद्याएँ इसीलिये लुप्त हो जाती हैं कि योग्य शिष्य उपलब्ध नहीं होते अतः श्रेष्ठ अध्येता से अध्यापक विशेष प्रसन्न होता है।।३७।।

प्राण किससे पैदा होता हैइसका उत्तर दिया 'आत्मन एष प्राणो जायते, यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततम्' (३.३) कि यह प्राण परमात्मा से उत्पन्न होता है। जैसे प्रकाश के आगे कोई पुरुष खड़ा हो तो उसकी परछायी पड़ती है वैसे परमात्मा पर प्राण निर्भर है। पुरुष पर छाया निर्भर है यह स्पष्ट ही है। इस उत्तर का वर्णन करते हैं **परमात्मा में कोई परिवर्तन न आने पर भी उसी से प्राण उत्पन्न हुआ। जैसे अपने शरीर में किसी विकार के बिना ही शरीर की छाया पैदा हो जाती है वैसे परमात्मा से प्राण की उत्पत्ति हुई है।।३८।। यदि कहा जाये कि छाया तो मिथ्या होती है अतः कारण अपरिवर्तित रहे यह उचित है, तो उत्तर है कि प्राण भी आत्मा पर कल्पित ही है। छाया पड़ने के लिये दर्पण, प्रकाश आदि उपाधियों की तरह आत्मा की उपाधि माया है जिससे प्राणरूप परछायी पड़ती है।।३९।।** परमात्मा अपने में से ही प्राण को पैदा करता है, वही प्राण का निमित्त और उपादान दोनों है। कारण विकारी ही हो यह नियम नहीं क्योंकि जहाँ कार्य मिथ्या होता है वहाँ कारण निर्विकार रहता है यह लोकसिद्ध है। उपादान और निमित्त दोनों में कुछ-न-कुछ परिवर्तन के बिना सत्य कार्य नहीं पैदा होता लेकिन असत्य कार्य पैदा हो इसके लिये कोई परिवर्तन नहीं चाहिये। इसके लिये अनुभवसिद्ध उदाहरण छाया का दिया। शरीर की छाया शरीर से ही पैदा होती है पर उसके पैदा होने से शरीर में कोई परिवर्तन नहीं होता। व्यावहारिकता को स्पष्ट करने के लिये छाया का दृष्टांत है। रज्जुसर्प की तरह छाया का बाध नहीं होता लेकिन उसकी सत्ता शरीर की सत्ता के अधीन ही होने से उसका मिथ्यात्व समझ आ जाता है। छाया कुछ नहीं हैयह नहीं कह सकते, वह कार्यकारी है जैसा कि ग्रहणादि में स्पष्ट है या प्रतिबिंबरूप छाया में रोज़ अनुभव में आता है। इसी प्रकार प्राण भी व्यावहारिक है, कार्यकारी है फिर भी मिथ्या ही है। प्राण सोपाधिक भ्रान्ति है, माया उपाधि के रहते

पूर्वकल्पे कृतं कर्म मनसा यत्तदेव हि।
प्राणस्य स्थूलदेहेषु समागमनकारणम्।।४०।।
ग्रामेष्वधिकृतान् सम्राड् विनियुङ्क्ते यथा पृथक्।
प्राणो वृत्तीः स्वकीयास्ता विनियुङ्क्ते यथायथम्।।४१।।

प्राणरूप भ्रम बना रहता है। अतः प्राण किससे पैदा होता है? इसका उत्तर है कि माया रूप उपाधि रहते परमात्मा से ही प्राण पैदा होता है किन्तु प्राण और उसका पैदा होना दोनों मिथ्या हैं क्योंकि जिस उपाधि से वह पैदा होता है वही मिथ्या है।।३८-९।।

तृतीय प्रश्न का दूसरा भाग था कि प्राण शरीर में क्यों आता है। इसका श्रुति में जवाब है 'मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे' (३.३) अर्थात् मन द्वारा संकल्पादिपूर्वक किये कर्म के कारण प्राण शरीर में आता है। इसे बताते हैं **मन द्वारा पूर्व कल्प में किया जो कर्म है उसी के कारण प्राण स्थूल शरीर में आता है।।४०।।** कल्पारंभ में प्राण स्थूल देह में आता है तो पिछले कल्प के कर्मों के ही कारण। तदनंतर तो इस कल्प के भी पूर्व जन्मों के कर्म अगले जन्मों के प्रति कारण बनते रहते हैं। किं च प्रथम शरीरी अर्थात् हिरण्यगर्भ का तो पूर्वकल्प के कर्मवश ही इस कल्प में जन्म होता है, उसकी दृष्टि से पूर्वकल्प का कथन किया। कर्म संकल्पादिपूर्वक किया जाता है अतः मन का नाम लिया। कर्म के दौरान भी मन की सावधानी चाहिये। जो कर्म बिना मनके, असावधानी से, अनजान में होते हैं, उनका फल भोगना तो पड़ता है लेकिन शरीर ग्रहण कराने की सामर्थ्य उनमें नहीं होती। शरीर ग्रहण तो समझ-बूझकर किया कर्म कराते हैं, तदनंतर अनजान में किये कर्म भी फल दे देते हैं। द्वितीय भाग का उत्तर स्पष्ट हो गया कि मनसे किये कर्म के कारण प्राण शरीर में आता है। कौन किस योनि में पैदा होगा इसके निर्णय में मानस कर्मरूप उपासना का प्राधान्य भी माना गया है, इसलिये भी मनका उल्लेख संगत है।।४०।।

तीसरा भाग था कि प्राण अपने को बाँट कर शरीर में कैसे रहता है? इसके उत्तर में पिप्पलाद ने कहा कि जैसे सम्राट् विभिन्न स्थानों पर अधिकारी नियुक्त कर देता है वैसे प्राण ने शरीर के विभिन्न स्थलों पर अलग-अलग कार्यों के लिये अपनी वृत्तियाँ नियुक्त कर दी हैं। यही उसका बँटकर रहना है। इस उत्तर को स्पष्ट करते हैं **जिस प्रकार सम्राट् अपने विभिन्न अधिकारियों को तत्तत् गाँवों में नियुक्त कर देता है उसी प्रकार जहाँ-जहाँ जिस कार्य की आवश्यकता है उसे करने के लिये वहाँ-वहाँ अपनी वृत्तियों को नियुक्त कर देता है।।४१।। मल-मूत्र को शरीर से**

मलमूत्रविसर्गार्थम् अपानं स्थापयेदधः ।
मुखनासिकयोः कुर्वन् स्वयं श्वासमवस्थितः ।।४२।।
समानः स्थापितो मध्ये भुक्तमन्नं समं नयेत् ।
अन्नाप्यायनतो मूर्द्धच्छिद्रैः सप्तविधोऽभवत् ।।४३।।

बाहर निकालने के लिये अपानवृत्ति को नीचे (गुदा में) स्थापित करता है। प्राण नामक वृत्ति साँस चलाते हुए मुँह व नासिका में स्थित है।।४२।। खाये हुए अन्न को सारे शरीर में समान रूप से फैला दे इस प्रयोजन से समान-नामक वृत्ति शरीर के बीच में (नाभि में) स्थापित है। सिर के सात छेदों को भी अन्न से पोषित करता है अतः उनके भेद से समान सात प्रकार का हो जाता है।।४३।। सारे राज्य पर शासन चलाने के लिये सर्वत्र राजशक्ति उपस्थित होनी आवश्यक है। अधिकारियों के माध्यम से राजा की ही शक्ति गाँव-गाँव में मौजूद होती है। ऐसे ही शरीर में सर्वत्र प्राण को उपस्थित रहना है अतः वह अपनी वृत्तियाँ नियुक्त कर देता है। राजा और अधिकारी व्यक्ति विभिन्न होते हैं, ऐसे पाँचों वृत्तियाँ प्राण से पृथक् नहीं हैंइतना दृष्टांत से अंतर है किंतु जैसे एक ही राजशक्ति सर्वत्र है वैसे एक ही प्राणशक्ति सर्वत्र है। अथवा जैसे एक हाथ से गेयर संभालते हैं, दूसरे से स्टियरिंग पकड़ते हैं, एक पैर क्लच पर रखते हैं, दूसरा एक्सिलरेटर पर रखते हैंयों अलग-अलग कार्यों के लिये अपने देहावयवों को काम में लेते हैं वैसे प्राण ने अपनी ही वृत्तियाँ तत्तत् कार्य में नियुक्त की हैं यह समझ सकते हैं। सभी वृत्तियों पर प्राण का नियंत्रण एक जैसा रहता है। श्वास चलाने वाली वृत्ति का नाम भी प्राण है किंतु है वह एक वृत्ति ही, उसे वृत्तिमान् प्राण जिसकी पाँचों वृत्तियाँ हैं वहनहीं समझ लेना चाहिये। श्वास कर्म अत्यंत प्रधान होने से उसकी संपादक वृत्ति प्राण कही जाती है। समान वृत्ति शरीर में आवश्यकतानुसार अन्नादि के पोषक तत्त्वों को फैलाती रहती है। होम में आहुति डालते हैं तो ज्वाला निकलती है, ऐसे ही जाठराग्नि में भोजनकी आहुति डालते हैं तो ज्वाला, लपटें निकलती हैं, वे ही सिर के सात छेदों में प्रकट हैं। अग्नि की सात लपटें मुंडक में भी कही हैं। सिर के सात छेद हैंदो कान, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र और मुख। इन्हें शीर्षण्य अर्थात् सिर में होने वाले प्राण भी कहते हैं। समान ही इनका पोषक है, वही सात ज्वालाओं का रूप लेकर इन तक आवश्यक आहार पहुँचाता है। गोलकभेद सात हैं, गोलकों की पुष्टि की दृष्टि से ही समान को सात भेदों वाला कहा है।।४१-३।।

व्यान नाडियों में व्याप्त रहता है अतः उपनिषत् ने यहाँ नाडी-संख्या बताकर उन

हृत्पुण्डरीके जीवात्मा स्थितस्तद्बहुभिर्वृतम्।
नाडीभेदैर्मूलनाडीसंख्या चैकाधिकं शतम्।।४४।।
प्रत्येकं शतसंख्याः स्युः शाखानाड्यस्तथा पुनः।
द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिशाखाः प्रकीर्तिताः।।४५।।
तासु सर्वास्ववस्थाय व्यानोऽयं कुरुते बलम्।
करोत्युदान उत्क्रान्तिं कण्ठस्थो ह्यन्यजन्मने।।४६।।
विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानमेवं देहे व्यवस्थितः।
उदानवायुनोत्क्रान्तिरुक्ता बहिरथोच्यते।।४७।।

नाडियों को व्यानका नियत स्थान कहा है, उसी को समझाते हैं **जीवात्मा हृदय रूप कमल में रहता है। हृदय अनेक नाडियों से घिरा है। एक सौ एक मूल नाडियाँ हैं जिनमें हर एक की सौ-सौ शाखा नाडियाँ हैं। प्रत्येक शाखा नाडी की बहत्तर हज़ार प्रतिशाखा नाडियाँ हैं। उन सबमें रहकर यह व्यान शरीर को बल देता है। पाँचवीं वृत्ति है उदान जो कण्ठ में रहती है तथा शरीर छोड़कर अगले जन्म में जाने के लिये उत्क्रमण करती है। इस प्रकार स्वयं को पाँच तरह बाँटकर प्राण सारे शरीर में रहता है। इससे यह भी व्यक्त हो गया कि उदान नामक विशेष व्यापार से प्राण शरीर से बाहर निकलता है।।४४-४७।।** जीवात्मा अर्थात् सूक्ष्मशरीरोपाधिक आत्मा हृदय में रहता है। अधिकारियों को सब गाँवों में नियुक्त कर जैसे राजा राजधानी में रहता है वैसे पाँचों वृत्तियों को नियुक्त कर स्वयं प्राण हृदय में रहता है। हृदय कमल के आकार का बताया गया है, नाभि से दस अंगुल ऊपर इसका स्थान है। ध्यान के लिये यह श्रेष्ठ स्थान है। हृदय नाडियों से घिरा है, नाडियाँ सारे शरीर में व्याप्त हैं और उन नाडियों में व्यानवृत्ति कार्य करती है। शरीर में कहीं भी कोई चेष्टा आवश्यक हो तो नाडी में स्थित व्यान द्वारा ही वह संभव होती है। सांख्यवादी मानते हैं कि संधियों में व मर्म स्थलों में ही व्यान रहकर कार्य करता है किन्तु वेदान्ती उसे नाड़ियों द्वारा सर्वत्र ही व्याप्त मानते हैं। छांदोग्यभाष्य में (१.३) यह स्पष्ट है। नाडियों की यहाँ कुल संख्या बतायी बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हज़ार दो सौ एक। हिसाब इस प्रकार है १०१+(१०१ ×१००) +(१०१× १००×७२०००)= ७२,७२,१०, २०१) फिर भी संख्या में उपनिषत् का आग्रह नहीं है।

व्यान इन सभी में रहता है। अंतिम वृत्ति है उदान जिसका नियत स्थान कण्ठ है और इसका खास कार्य है जीवको परलोकादि ले जाने के लिये शरीर से बाहर

रविभूमिवियद्वायुतेजसां येऽभिमानिनः।
देवास्तद्रूपतः प्राणो धत्ते बाह्यमिदं जगत्।।४८।।

निकालना। यों प्राण स्वयं को कैसे बाँटकर देह में रहता है इस प्रश्न का उत्तर पूरा हुआ।

साथ ही, प्रश्नका जो चौथा भाग था कि किस खास व्यापार से प्राण स्थूल शरीर छोड़कर जाता है, उसका भी उत्तर दे दिया कि उदान ही वह विशेष व्यापार (वृत्ति) है जिससे प्राण सहित सारा सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर छोड़कर जाता है।।४४-४७।।

तृतीय प्रश्न का पाँचवाँ भाग था कि प्राण बाह्य जगत् का धारण कैसे करता है और छठा था कि अध्यात्म अर्थात् शरीर का धारण कैसे करता है। श्रुति ने दोनों का एक-साथ उत्तर दिया है। आदित्य, पृथ्वी देवता (अर्थात् पृथ्वी का अभिमानी अग्नि देव), द्यु-पृथ्वी के बीच की वायु, सामान्य वायु और तेजइन रूपों में स्थित हुआ प्राण (हिरण्यगर्भ) बाह्य जगत् का धारण करता है। ये ही देवता शरीर में क्रमशः चक्षु, अपान, समान, व्यान और उदान पर अनुग्रह करते हैं जिससे ये अपने कार्य कर पाते हैं; इस अनुग्रह के द्वारा प्राण अध्यात्म अर्थात् शरीर का धारण करता है। पाँचवे भाग का उत्तर देते हैं **सूर्य, पृथ्वी, द्यु-पृथ्वीके मध्यके आकाशमें स्थित वायु, सामान्य वायु और तेज के जो अभिमानी देव हैं उनका रूप लेकर प्राण इस बाह्य जगत् को धारण करता है।।४८।।** यद्यपि निर्णयसागर और मुत्तुशास्त्री दोनों ने **'आपोभूमि'** पाठ छापा है तथापि श्रुति में जलका उल्लेख नहीं आदित्यका ही उल्लेख है तथा श्लोक ५० में रविका ही चक्षु पर अनुग्रह कहा भी है अतः यहाँ मूल में **'रविभूमि'** पाठ स्वीकारा है। 'आपोभूमिः' ही पाठ मानें तो 'आपो वा अर्कः' श्रुति के सहारे उसका अर्थ भी सूर्य ही कर लेना चाहिये। अथवा यह कल्पना करनी पड़ेगी कि विद्यारण्य स्वामी श्रुति में ही उपलक्षणा मानकर सभी समष्टि देवों के रूप में प्राण बाह्य जगत् को धारण करता है और उनके अनुग्रह से शरीर के तत्तद् अंगों के संचालन से शरीर का धारण करता हैऐसा इस प्रसंग में समझा रहे हैं। जैसे शरीर में हम अभिमानी हैं वैसे ब्रह्माण्ड के पृथ्वी वायु आदि सभी पदार्थों के अभिमानी देवता हैं जो जगत् को धारण करते हैं। उपाधियाँ सब जड हैं लेकिन अपने-अपने अभिमानी द्वारा नियंत्रित होकर कार्य करती हैं। सब देवताओं का समष्टि रूप हिरण्यगर्भ है, एक-एक उपाधि वाले अलग-अलग देवता हैं। प्राण ही सब देवताओं के रूप में मौजूद है। इन देवताओं के रूप में अवस्थित होना ही जगत् का धारण करना है। जगत् पांचभौतिक है अतः पाँचों भूतों के अधिष्ठाताओं के रूप से भी प्राण जगत् का धारण करता ही है। श्रुति ने 'अन्तरा यदाकाशः स समानः' (प्र. ३.८)

पुनस्तद्देवतारूपः शरीरांश्चक्षुरादिकान्।
प्राणादीननुगृह्णातीत्यध्यात्मं धारणं भवेत्।।४६।।
रवेरनुग्रहश्चक्षुष्यस्ति तद्वत् परेष्वपि।
अपानादिषु भूम्यादेरुपकारोऽस्ति शास्त्रतः।।५०।।

कहा, उसे भाष्यकारने 'यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुराकाश उच्यते' से समझाया है अतः यहाँ श्लोक के 'वियत्' पद का भाष्यानुसारी अर्थ किया है। यदि रवि-पाठ न स्वीकारें तो वियत् भी यथाश्रुतार्थ हो जायेगा और पाँच भूतों के ही अभिमानियों का यहाँ उल्लेख किया है यह समझना पड़ेगा। मूल तात्पर्य से दोनों व्याख्यायें ठीक हैं। प्राण सभी देवताओं का रूप धारण करता है अतः कोई भी पाँच गिनायें, समझने सभी पड़ेंगे। इस प्रकार पाँचवें भाग का उत्तर हुआ।।४८।।

शरीर का धारण बताते हुए छठे भाग का उत्तर देते हैं **उन देवताओं के रूप वाला हुआ प्राण आँख आदि देहवर्ती प्राणों पर कृपा करता है, इस प्रकार वही अध्यात्म अर्थात् शरीर को धारण करता है।।४६।। सूर्य का आँख पर अनुग्रह है, ऐसे ही अपान आदि अन्यों पर भी भूमि आदि की कृपा है यह शास्त्र से निश्चित है।।५०।।** शरीर की वागादि पाँच कर्मेन्द्रियों और चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों समेत मन को ग्यारह प्राण कहा जाता है। प्राण-शब्द का इंद्रियों के लिये भी प्रयोग है। श्लोक के 'शारीर प्राण' में प्राणशब्द इंद्रियों को भी कहता है और प्राणापानादि पाँच वृत्तियों को भी कहता है। इन सभी पर देवताओं की कृपा अपेक्षित है, उसी से ये अपने कार्यों में क्षम होते हैं। देवता समष्टि को तो अपना शरीर जानते हैं अतः उसके लिये जो वे करते हैं उसे उनकी कृपा नहीं कहा जाता। किन्तु व्यष्टि में तो उन्हें अभिमान है नहीं, उसमें तो हम अभिमानी हैं, अतः व्यष्टि के लिये वे जो करते हैं उसे उनकी कृपा कहना पड़ता है। उदाहरणार्थ सारे घर के लिये कमाकर लाने वाला स्वयं अपने भी लिये कमाता ही है किंतु अपने लिये कमाने को कृपा या सौजन्य नहीं कहा जाता, परिवार के अन्य सदस्यों के लिये कमाकर लाता है, भोजन-वस्त्रादि की व्यवस्था करता है उसीको कृपा या सौजन्य कहते हैं। ऐसे ही समष्टि के लिये देवता जो करते हैं वह वे स्वयं के लिये करते हैं जबकि व्यष्टि के लिये जो करते हैं वह कृपा है। इस प्रकार बाह्य धारण में कृपा नहीं चाहिये, अध्यात्म धारण में कृपा चाहियेयह भेद है किन्तु धारण करने वाला प्राण ही है। सूर्य की आँख पर कृपा प्रत्यक्षसिद्ध है, बिना प्रकाश के आँख नहीं देख पाती। सभी प्राकशों का मूल सूर्य है ऐसा समझना चाहिये अतः जिस अल्प प्रकाश से रात में नक्तंचर

तेजोदेवतयोदानोऽनुगृहीतो यतस्ततः ।
शारीरौष्ण्ये प्रशान्तेऽस्माद् देहाद् देहान्तरं व्रजेत् ।।५१।।

देहान्तरगमनम्

मनस्येकी भवन्त्यादाविन्द्रियाणि तदात्मनः ।
यं देहं भावयेत्तत्र याति प्राणः सजीवकः ।।५२।।

देख लेते हैं वह भी सूर्य का ही प्रकाश होने से वहाँ भी सूर्य के अनुग्रह से ही चक्षु देखती है। अपानादि पर पृथ्वी आदि की कृपा शास्त्र से पता चलती है। यह उपपत्ति भी है कि मलादि का निष्कासन तब संभव है जब पृथ्वी आकर्षण करती है अतः पृथ्वी का उपकार अवश्य है।।४९-५०।।

तेज का अनुग्रह उदान पर है यह श्रुति ने कहा 'तेजो ह वा उदानः, तस्माद् उपशान्ततेजाः पुनर्भवम् इन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।। यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति।।' ३.९.१० ।। तेज उदान पर अनुग्रह करता है अतः जब शरीर में तेज (गर्मी) उपशांत हो जाता है तब उदान भी शरीर को छोड़ देता है। मनसे मिली इंद्रियों सहित जीव तब देहान्तर ग्रहण करने चल देता है। उस समय जिस योनिका संस्कार उद्बुद्ध हो उसके संकल्प सहित वह जीव प्राणवृत्ति की शरण आकर उदानवृत्ति द्वारा इस शरीर को छोड़कर अगले शरीर में चला जाता है। इसे स्पष्ट करते हैं **क्योंकि तेजोरूप देवता की कृपा से उदान कार्यकारी होता है इसलिये शरीर की गर्मी शान्त हो जाने पर उदान इस शरीर से अन्य शरीर को चला जाता है।।५१।। मरते समय पहले इंद्रियाँ मनमें एक हो जाती हैं। उस समय अपने लिये जिस देह का संकल्प करता है उसी में जीव समेत प्राण पहुँच जाता है।।५२।।** मरते समय सबसे अंत में शरीर ठंडा पड़ता है। अन्यत्र श्रुति ने इसीलिये क्रम बताया है कि वाणी मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता में लीन होता है। (छां. ६.१५)। अतः सब चीज़ों को अपने में समेट तेज उदान पर कृपा करता है अन्यथा उदान को सबको बटोरना पड़ता! किं च इस शरीर में उदान बना रहे यह भी तभी तक संभव है जब तक शरीर में तेज हो, इसलिये भी तेज का उदान पर अनुग्रह है। इंद्रियों का मनमें एक होना वैसा नहीं जैसे घड़ा मिट्टी में एक हो जाता है वरन् इतना ही अर्थ है कि मन कार्य करता है, वाणी आदि सब इंद्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं। यह ब्रह्मसूत्रों में (४.२.१) विस्तार से बताया है। इंद्रियाँ काम नहीं करतीं अतः किसी देहादि का ग्रहण नहीं होता, उस समय दृढ संस्कार के अनुसार भावी शरीरका संकल्प

षट्सु प्रश्नेषु निर्णीतं प्राणं ध्यायति यः पुमान्।
सोपाधिकब्रह्मवेदी स क्रमेण विमुच्यते।।५३।।

परविद्याविषयःप्रश्नश्चतुर्थः

ब्रह्मलोकान्तसंसारोऽपरविद्याफलं ततः।
गार्ग्यस्तु परविद्यार्थं पञ्च प्रश्नानवोचत।।५४।।

बनता है। ज़्यादा और अधिक तल्लीनता से जिस तरह के शरीर का चिन्तन जीवन में किया होगा उसी का संकल्प बनेगा। केवल अंत समय में अच्छा संकल्प बनाया नहीं जा सकता, जीवन-भर अच्छा संकल्प बनाने के संस्कार बटोरेंगे तभी अंत में सही संकल्प बनेगा। फिर संकल्पानुसार स्थान के लिये जीव प्रयाण कर देता है।।५१-२।।

प्रश्नके छहो भागों का उत्तर देकर प्राणविज्ञान का महत्त्व बताते हैं **छह भागों वाले प्रश्न के उत्तर से जिसका निर्णय बताया उस प्राण का जो पुरुष ध्यान करता है वह सोपाधिक ब्रह्मका साक्षात्कार पाकर क्रमशः विमुक्त हो जाता है।।५३।।** यहाँ कहा विषय ध्यान के उपयोग का है। प्राण की हिरण्यगर्भ से एकता समझकर ध्यान करना पड़ता है, तभी बाह्य जगत् के धारण की बात स्पष्ट होगी। अतः प्राण-ध्यान ब्रह्म-ध्यान हो जाता है जिससे यह क्रममुक्ति प्रदान करता है, ब्रह्मलोक जाकर वहाँ ज्ञानपरिपाक से मोक्ष दिलाता है।।५३।।

स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म में प्रधान जो प्राणइनका विवेचन प्रथम तीन प्रश्नों में किया गया। अब जीव, प्रणव और अद्वैतइनका विवेचन बाकी तीन प्रश्नों में होगा। इस दृष्टि से पूर्वार्ध अपरा विद्या से संबद्ध और उत्तरार्ध परा विद्या से सम्बद्ध है। चौथे प्रश्न की भूमिका रचते हैं **ब्रह्मलोक पर्यन्त सारा संसार अपरा विद्याका फल है। जन्मरूप फल समेत अपरा विद्या के वर्णन के बाद गार्ग्य ने परा विद्या समझने के लिये पाँच प्रश्न पूछे।।५४।।** प्रथम प्रश्न में जन्म बताया था, वही कर्म-उपासना का अंतिम नतीजा है। सारी अपरा विद्या संसार में ही भटका सकती है, इससे परे ले जाने में अकेली समर्थ नहीं है, भले ही क्रममोक्ष का हेतु बने। यद्यपि कबंधी कात्यायन, भार्गव वैदर्भि और कौसल्य आश्वलायन भी पर ब्रह्मके ही अन्वेषक थे तथापि उनके प्रश्नों का साक्षात् विषय, अपरा विद्या के क्षेत्र का था अतः उनसे पृथक् कर ('तु') गार्ग्य के प्रश्न को परविद्या-विषयक बताया। 'परविद्यार्थं' अर्थात् परा विद्या को पाने के लिये। इसके भी पूछने में हेतु आत्मकल्याण ही था यह भाव है।।५४।।

चतुर्थ प्रश्न श्रुति में बताया है 'अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्! एतस्मिन् पुरुषे १. कानि स्वपन्ति? २. कान्यस्मिञ्जाग्रति? ३. कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति? ४. कस्यैतत् सुखं भवति? ५. कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भविन्त? इति।।' ४.१।। सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न के पाँच भाग हैं१. इस पुरुष में सोने वाले करण कौन-से हैं? २. कौन जगे रहते हैं? ३. शरीर प्राण मन आदि में कौन-सा देव सपने देखता है? ४. सुषुप्ति में अनुभूयमान सुख किसे होता है? ५. सोने पर सब करण किसमें लीन हुए रहते हैं? इनमें प्रथम प्रश्न के जवाब से पता चलेगा कि जाग्रदवस्था किसकी है क्योंकि जिनके सोने पर जाग्रदवस्था नहीं रह जाती उन्हीं के जगने पर वह अवस्था होगी अतः उन्हीं की वह अवस्था है, आत्मा की नहीं। दूसरा प्रश्न उस उपाधि के बारे में है जो हमेशा कार्यरत है अर्थात् प्राण। इसे समझने से यह भ्रम मिटेगा कि अहमभिमान के बिना शरीर नहीं रह सकता। अहमभिमान नहीं वरन् प्राण ही शरीर का रक्षक है। तीसरे से स्वप्नद्रष्टा पता चल जायेगा तो निश्चय होगा कि जाग्रत् की तरह स्वप्न भी आत्मा का नहीं। इसी प्रकार चौथे प्रश्न से सौषुप्त और आत्मा का विवेक हो जायेगा। पाँचवे प्रश्न के उत्तर से सर्वकारण परमात्मा समझ आयेगा जिसमें तीनों अवस्थाएँ कल्पित हैं। इस प्रकार त्वम्पदार्थ का शोधन इस प्रश्न से होगा यह गार्ग्य का अभिप्राय है। यद्यपि अपरा विद्या से भी परमात्मा के बारे में कुछ-न-कुछ पता चलता है तथापि इस तरह कि परमात्मा हमसे भिन्न है, वह कोई परोक्ष तत्त्व है, अमुक विशेषताओं वाला हैयों परमात्मा का ज्ञान होता है। परा विद्या से भी पता परमात्मा का ही लगता है लेकिन मैं के रूप में कि मैं ऐसा हूँ। यह दोनों विद्याओं की प्रवृत्ति का प्रधान भेद है। लोक में इंद्रियगम्य विषय अपरोक्ष माने जाते हैं किंतु विचारशील जानता है कि उन सब स्थलों पर ज्ञाता व ज्ञेय के बीच अनेक व्यवधान अवश्य रहते हैं अतः वास्तविक अपरोक्ष, निर्व्यवधान ज्ञान केवल स्वात्मा का ही संभव है, मैंयही अपरोक्ष है। इसलिये परमात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार होगा ही तब जब उसे मैं जानें। उसे चिद्रूप तब तक समझ ही नहीं सकते जब तक मैं से एक कर उसका अनुभव न हो। 'भगवान् कैसे हैं'इतना अपरा विद्या से पता लग सकता है, 'मैं ही ऐसा हूँ' यह परा विद्या से ही मालूम पड़ेगा। इसीलिये परा विद्या के प्रसंग में जीवका, मैं का, प्रत्यगात्मा का विचार आवश्यक हो जाता है। कई बार लोग शंका करते हैं कि वेदान्त में परमेश्वर की बातें कम और जीवकी बातें ज़्यादा क्यों होती हैं? इसका समाधान स्पष्ट हैपरमेश्वर के बारे में हमें शास्त्र जो बतायेगा उसे हम आराम से स्वीकार लेंगे; ठीक है, कुछ प्रश्न उठेंगे उनका उत्तर भी चाहेंगे, लेकिन

कानि स्वपन्ति कान्यत्र जाग्रति स्वप्नदृक् च कः।
सुप्तौ सुखं भवेत् कस्य जगत् कस्मिन् विलीयते।।५५।।

प्रधानरूप से परमेश्वर के बारे में हमारी जानकारी शास्त्र पर ही निर्भर है अतः शास्त्रका आधार छोड़कर हम उसके बारे में शंका भी नहीं उठा सकते। इसलिये परमेश्वर को समझना सरल है। किंतु जब शास्त्र हमें हमारे बारे में कुछ कहता है तब हमारा अनुभव उस बात का विरोध करता है; बिना शास्त्र के भी हम अपने बारे में बहुत कुछ जानते हैं अतः उन सब अनुभवों का विरोध रहते शास्त्र की बात जँचती नहीं। इसलिये सर्वाधिक परिश्रम यह समझने के लिये करना पड़ता है कि शास्त्र मेरे बारे में जो कह रहा है वह ठीक कैसे है, उसका विरोध करने वाले मेरे अनुभव ग़लत कैसे हैं। अर्थात् त्वम्पदार्थ का शोधन प्रधान कर्तव्य हो जाता है। अतः अपरोक्षरूप से परमेश्वर को जानने के लिये ही जीव के स्वरूप की परीक्षा की जाती है, वे जीव की बातें न होकर फलतः परमेश्वर की ही बातें हैं। इसीलिये वेदांत के सूत्रग्रंथका प्रारंभ ब्रह्मकी जिज्ञासा से हुआ, ब्रह्मको ही समझने का सारा प्रयास है, जीव को समझना उसका प्रधान अंग है। इसी दृष्टि से परा विद्या के प्रश्नों का प्रारंभ मैं के विचार से करते हुए गार्ग्य के प्रश्न को उपस्थित करते हैं **'हे भगवन्! इस शरीर संघात में कौन सोते हैं? कौन जागते हैं? सपना कौन देखता है? सुषुप्ति में सुख किसे होता है? जगत् किसमें विलीन होता है?।।५५।।** यह तो अनुभव सिद्ध है कि हम सोते हैं लेकिन 'हम' में जितना कुछ गिना जाता है उसमें से क्या सब सो जाते हैं या कुछ ही चीज़ें सोती हैं? यह अनुसंधान का विषय है। अगर सब नहीं सोते तो जगे हुए कौन रह जाते हैं? किसी-न-किसी हिस्से का जगे रहना इसलिये ज़रूरी है कि मुर्दे और सोये हुए में फ़र्क़ बना रहे, यदि सभी अंश सो जायें तो अंतर पहचानना संभव नहीं होगा। तीसरा सवाल है कि स्वप्न किसे दीखता है। जाग्रत् में जो बिना चश्मे के देख नहीं सकता, बिना मशीन कान में लगाये सुन नहीं सकता वह स्वप्न में इन सहायताओं के बिना ही देख सुन लेता है! यदि जगने वाला ही सपना देखता तो इन उपकरणों की वहाँ भी ज़रूरत पड़ती, अतः प्रश्न होता है कि कौन देखता है? वहाँ कौन-सी उपाधि कार्य करती है कि हमें सपना दीख जाता है। 'हमने' तो देखा, इसमें शंका नहीं, लेकिन बिना बाह्य साधनों के देख पाये यह संभव किस उपाधि ने किया यह प्रश्न है। चौथा प्रश्न सुषुप्ति के सुख का है। सुषुप्ति में न मन रहता है, न अहंकार, फिर भी उठकर याद आता है 'मैं बड़े सुख से सो रहा था', अतः मानना पड़ेगा कि तब सुख का अनुभव था लेकिन था किसे?

सुप्तासुप्तविवेकः

दशेन्द्रियाणि बाह्यानि स्वपन्त्यन्तर्धिया सह।
रश्मयोऽस्तं यथा यान्ति सन्ध्यायां रविणा सह।।५६।।

अंतिम प्रश्न है कि जब सुषुप्ति होती है तब यह सारा संसार चला कहाँ जाता है? नींद की तरह प्रलय में भी कहाँ चला जाता है? इस प्रकार, जीव के सोते समय के बारे में ही सब प्रश्न हैं।।५५।।

पिप्पलाद ने प्रश्न के पहले भाग का उत्तर दिया 'यथा गार्ग्य! मरीचयोऽर्कस्याऽस्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति, ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्या-चक्षते।।'४.२।। अर्थात् जिस प्रकार अस्त होते सूर्य में उसकी किरणें विलीन हो जाती हैं तथा सूर्योदय होने पर उससे निकल कर सब तरफ फैल जाती हैं उसी प्रकार सोते समय इन्द्रियसमूह मनरूप परम देव में मिल जाता है और जगने पर उसी से निकलकर अपने-अपने कार्य पर तैनात हो जाता है। अतः सोते समय दसों इंद्रियों के कार्य नहीं होते। इसे ही बताते हैं **जैसे शाम को किरणें सूर्य से एक होकर अस्त हो जाती हैं वैसे बाहरी दसों इंद्रियाँ भीतर रहने वाली बुद्धि से एक होकर सो जाती हैं। क्योंकि इंद्रियाँ सो जाती हैं इसलिये सुनना आदि कोई काम नहीं होता। इससे समझ आ जाता है कि सोने वाली चीज़ इंद्रियाँ हैं।।५६-१/२।।** बाह्य पदार्थों से सीधा संपर्क इंद्रियाँ करती हैं अतः इन्हें बाहरी कहते हैं। ये ही सोती हैं। स्वप्न-सुषुप्ति का भेद बिना किये यहाँ सोना कह रहे हैं। इंद्रियाँ स्वप्न व सुषुप्ति दोनों में ही सोयी रहती हैं, मन स्वप्न में तो नहीं पर सुषुप्ति में अवश्य सोता है। बुद्धि अर्थात् सारा ही अंतःकरण बिना इंद्रियों के बाहरी संपर्क न कर पाने से भीतरी कहा जाता है। इंद्रियाँ उस अंतःकरण के साथ एक होकर ही सोती हैं, मानो उसमें विलीन हो जाती हों। इसमें किरणों का दृष्टांत दिया; किरणें इंद्रियों की जगह और सूर्य अंतःकरण की जगह है। जैसे किरणें सूर्य से एक हो जाती हैं वैसे इंद्रियाँ मन से एक हो जाती हैं, फिर जैसे सूर्य चला जाता है वैसे मन स्वप्न में चला जाता है। अत एव सोये व्यक्ति की इंद्रियाँ कार्य नहीं करतीं, वह देख-सुन-चल नहीं पाता।।५६-१/२।।

उस समय भी जगा कौन रहता हैइस द्वितीय भाग का उत्तर श्रुति में है 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (४.३) कि प्राणरूप अग्नियाँ ही तब भी शरीर में जगी रहती हैं।

श्रवणादिक्रिया नैव सुप्तत्वाद् इति गम्यते।
तदापि जाग्रति प्राणाः श्वासादेरविलोपनात्।।५७।।
जाठराग्निः पटुर्भूत्वा भुक्तं जरयते तदा।
प्राणान् यागाग्निरूपेण ध्यात्वा यागफलं व्रजेत्।।५८।।

प्रसंगवश प्राण की अग्निरूप से उपासना का भी उल्लेख आया है। इस उत्तर का संग्रह करते हैं **जब इन्द्रियाँ सो जाती हैं तब भी साँस का चलना आदि नहीं रुकता अतः निश्चित है कि प्राण जगे रहते हैं।।५७।। उस समय प्राण द्वारा अधिक तेज़ हुई पेट की अग्नि खाये भोजन को पचा डालती है, यह भी प्राण के जगे होने का चिह्न है। याग की अग्नियों के रूप में प्राणों का ध्यान करने से यागानुष्ठान का फल मिलता है।।५८।।** जो सोया है उसे भले ही महसूस न हो लेकिन दूसरों को स्पष्ट पता चलता है कि सोये हुए व्यक्ति के शरीर में प्राण अपने कार्य में लगे हैं। श्वास-प्रश्वास स्पष्ट चलते हैं, नाडी आदि की गति भी बनी रहती है। पेट में पड़े अन्न को पचाने वाली अग्नि भी उस समय अधिक कार्य करती है, सोने से पाचन बेहतर होता है। यदि प्राण कार्य न करे तो उस अग्नि का जलना तेज़ नहीं हो सकता अतः वह अग्नि अधिक कार्य कर पाती है यह भी सूचित करता है कि प्राण उस वक्त भी जगा है। इतना तो प्रश्न का उत्तर है। प्रसंगवश प्राण की एक उपासना भी श्रुति ने कह दी है, उसका भी यहाँ संकेत कर दिया। यह उपासना तो जाग्रत् में करनी पड़ेगी लेकिन प्राण के हमेशा जगे रहने का प्रसंग आ जाने से उसकी महत्ता ध्यान में रखकर उसकी उपासना बता दी। अनेक लोग धन की कमी से यज्ञ न कर पाने की बात कहते हैं बल्कि आक्षेप करते हैं कि यागादि धर्म धनाढ्यों के लिये ही है, किन्तु शास्त्र में अनेक जगह ऐसी उपासनाओं का विधान किया है जिनका वही फल है जो उन-उन यज्ञों का फल है, अतः जो धनादि की असुविधा से यागादि न कर पाये उसके लिये शास्त्र ने विकल्प दे रखा है, वह उन उपासनाओं को कर सकता है। पौराणिक दृष्टि से भी मानस पूजाओं की प्रक्रियाएँ उपलब्ध हैं जिनसे देवार्चन संपन्न हो सकता है। अतः श्रद्धालु के लिये धन की कमी धर्म करने में रुकावट नहीं डाल सकती।।५८।।

स्वप्न कौन देखता हैइस तीसरे भाग का उत्तर है 'अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति' (४.५) अर्थात् श्रोत्रादि उपरत हो जाने पर स्वप्न में यह मन-रूप देव विषय-विषयिरूप से अपने विलास का अनुभव करता है। इसे स्पष्ट करते हैं **जब बाहरी इंद्रियाँ अपना व्यापार छोड़ देती हैं लेकिन मन अपना व्यापार नहीं छोड़ता तब उस मन-रूप**

स्वप्नद्रष्टा

बाह्याक्षाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदा।
जीवात्मा तदुपाधिः सन् तदा स्वप्नमवेक्षते।।५९।।
नाडीषु सञ्चरञ्जीवो नानाजन्मभिरर्जिताः।
वासना वीक्षते सोऽयं स्वप्न इत्यभिधीयते।।६०।।

उपाधि वाला जीवात्मा स्वप्न देखता है।।५९।। नाडियों में भ्रमण करते हुए जब जीव अनेक जन्मों में एकत्र किये संस्कार देखता है तब वह स्वप्न कहा जाता है।।६०।। बाहरी करण अर्थात् इंद्रियाँ अपने-अपने कार्यों से उपरत हो जायें और मन कार्यकारी बना रहे तब स्वप्न आते हैं। मन भी उपरत हो जाये तो गहरी नींद, सुषुप्ति हो जाती है। स्वप्न में देखने-सुनने-चलने आदि का सारा कार्य अकेला मन ही करता रहता है। सारी इंद्रियाँ जिसमें विलीन-सी हैं वह मन ही स्वप्न में जीवकी उपाधि है। सपना देखता तो जीव ही है, उस दशा में उसकी उपाधि मन बनता है। जाग्रत् में भी मन उपाधि अवश्य है लेकिन इंद्रियाँ भी उपाधि हैं जबकि स्वप्न में इंद्रियाँ नहीं हैं। उस समय मन विभिन्न नाडियों में भ्रमण करता है किंतु बाहर से नये ज्ञान आने के रास्ते बंद रहते हैं। जाग्रत् में इंद्रियों से नये अनुभव होते हैं और साथ ही मन पुराने अनुभवों से उनका ताल-मेल बैठाता रहता है जिससे हमें व्यवहारोपयोगी ज्ञान उत्पन्न होता है। हमें गुलाब-जामुन दीखा तो तुरंत पता लग जाता है कि वही मीठा है। आँख से मीठा तो दीख नहीं सकता! पुराने अनुभव से ताल-मेल बैठाने का ही नतीजा है कि हमें स्पष्ट ज्ञान होता है कि वह मीठा है। केवल नया ज्ञान, जिसका पुराने किसी अनुभव से कोई सम्बंध नहीं वह व्यवहार के बहुत कम उपयोगी होता है, उसे पुराने अनुभवों से सम्बद्ध करके ही उपयोगी बनाया जाता है। इस प्रकार जाग्रत् में भी मन कार्य करता रहता है लेकिन स्वप्न में अकेला वही कार्य करता है, इंद्रियाँ कोई कार्य नहीं करतीं। मन विभिन्न नाडियों में संचार करता है तो उससे तरह-तरह के अनुभव होते हैं। वासनाएँ मन में ही हैं, उन्हीं से वहाँ स्वप्न में विषय और उनके ज्ञान होते हैं लेकिन अलग-अलग नाडियों में जाना उन संस्कारों को उद्बुद्ध कर देता है। प्रधानतः इसी जन्म के संस्कारों से सपने बनते हैं लेकिन बहुत बार पूर्व जन्मों के संस्कार भी उद्बुद्ध हो जाते हैं। अत एव लगता है कि अमुक वस्तु कभी देखी-सुनी नहीं फिर भी सपने में दीख गयी। इस जन्म में देखी-सुनी न होने पर भी पूर्व जन्मों में अनुभूत हो सकती है। किं च, अवयवों के संस्कार हों तो मन उन्हें जोड़कर नया अवयवी बना लेता है; किसी के हाथ, किसी और के पैर, किसी

सुषुप्तः

हृच्छिद्राण्यावृतानि स्युः सुप्तौ पित्ताख्यतेजसा।
चित्तोपाधिकजीवोऽपि पित्तेनाऽत्राऽभिभूयते।।६१।।
दुःखवृत्त्युदयश्चित्ते नास्ति छिद्रनिरोधतः।
आत्मानन्दः स्वप्रकाशस्तदा जीवस्य तिष्ठति।।६२।।

तीसरे का सिर और चौथे का धड़ जोड़कर सपने में नया आदमी देख लेते हैं। लगता है कि यह आदमी कभी नहीं देखा था लेकिन उसके हर अंग देखे ही हुए थे। इस तरह वासनाओं से ही स्वप्न का निर्माण होता है। स्वप्नद्रष्टा मन-उपाधिक जीव हैयह तृतीय भाग का उत्तर हुआ।।५९-६०।।

सौषुप्त सुख-विषयक चौथे भाग का श्रुति में उत्तर है 'स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति, अथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत् सुखं भवति।।'४.६।। अर्थात् पित्तरूप तेज से जब मन अभिभूत हो जाता है तब वह स्वप्न नहीं देखता, उस समय शरीर में आत्मरूप सुख होता है। इसे व्यक्त करते हैं **सुषुप्ति अवस्था में हृदय के छिद्र पित्त नामक तेज से ढक जाते हैं, चित्त-उपाधि वाला जीव भी पित्त से ढक जाता है। छिद्र बंद होने से चित्त में दुःखाकार वृत्ति उत्पन्न नहीं होती, केवल जीवका स्वप्रकाश आनन्द बना रहता है।।६१-२।।** सोते समय भोजन का पाचन बेहतर होता है यह कह चुके हैं, पाचन में पित्त का उपयोग प्रधान है अतः उसका बढ़ना भी स्वाभाविक है। हृदय के छिद्रों का इंद्रियों से संबंध है। वे छिद्र उस दशा में पित्त से आवृत हो जाते हैं। हृदय से निकलकर नाडियों में संचार के लिये भी जिन द्वारों से मन जाता है वे भी पित्त से बंद हो जाते हैं। इसलिये वासनाओं के उद्बोधन का कोई तरीका नहीं बचता अतः अब कोई स्वप्न नहीं दीखता। उस स्थिति में दुःख असंभव है। दुःख या वर्तमान प्रतिकूल अनुभव से होता है या प्रतिकूल संस्कार के उद्बोधन से होता है, सुषुप्तिमें ये दोनों संभव नहीं अतः दुःख नहीं होता। ऐसे ही अन्य भी कोई घट-पटादि के अनुभव नहीं होते। कामना आदि वृत्तियाँ भी नहीं होती। तब आनंदरूप आत्मा ही भासमान रहता है। वह स्वप्रकाश है, वह किसी भी सहारे के बिना ही भासता है। है हमेशा भासमान लेकिन मन के साथ तादात्म्यवश मन की गतिविधियों के चलते हम विचलित रहते हैं जिससे वह मौजूद सुख भी हमारे लिये सर्वथा तिरोहित हो जाता है। किंतु सामान्य अनुभव यही है कि दुःख के लिये अवश्य कोई-न-कोई सच्चा-झूठा कारण चाहिये जबकि यदि कोई दुःख नहीं है तो बिना कारण ही सुख बना रहता है। जैसे पानी को गर्म होने के लिये कारण

जगल्लयाधारः

सुप्तौ च प्रलये मुक्तौ जगदात्मनि लीयते।
निवासवृक्षे लीयन्ते सन्ध्यायां पक्षिणो यथा।।६३।।

चाहिये, ठण्डा वह बिना कारण हो जाता है क्योंकि ठण्डक उसका स्वभाव है, वैसे हमारा स्वभाव आनंद होने से उसके लिये कोई कारण नहीं चाहिये। हमें विषय-सुख के प्रति ही सुख-बुद्धि है इसलिये सहज स्वाभाविक आनंद का हम तिरस्कार किये रहते हैं पर विवेक-वैराग्य से जन्य-सुख के प्रति लगाव हटने पर उस स्थायी सुख का आनंद स्वतः आता है। सुषुप्ति में दुःख का अवसर नहीं, विषय सुखों का या अन्य कैसे भी विचलन का अवसर नहीं है अतः आनंदरूप स्वप्रकाश आत्मा निर्विरोध भासता है। उस आनंद को जानने के लिये कोई माध्यम नहीं चाहिये जैसे स्वयं को, 'मैं हूँ' इस तथ्य को जानने के लिये कोई साधन नहीं चाहिये। जैसे जाग्रत् सारे संघातरूप उपाधि से और स्वप्न केवल मन रूप उपाधि से जीव अनुभव करता है वैसे सुषुप्ति का अनुभव अज्ञानरूप उपाधि के रहते ही करता है। इसलिये जगने पर स्मरण में आनंद के साथ अज्ञान का भी उल्लेख होता है कि सुख से सो रहा था, कुछ नहीं जान रहा था। अज्ञान रहने से ही सुषुप्ति और मोक्ष में अंतर है, मोक्ष में अज्ञान नहीं रहता। अतः जो कुछ आधुनिक लोग बिना अज्ञान माने वेदांत की प्रक्रिया बनाना चाहते हैं उसमें बहुत बड़ी समस्या सुषुप्तिको समझाने की है। अन्य भी विरोध हैं, लेकिन प्रधान विरोधों में सुषुप्ति की व्यवस्था है। यहाँ प्रश्न था कि सुषुप्ति में सुख किसे होता है? उसका उत्तर दिया कि वह सुख स्वयं भासता है, किसी 'को' नहीं होता वरन् जो वहाँ है वह आत्मा स्वयं ही सुखरूप से भासता रहता है। किंतु क्योंकि सुषुप्ति अवस्था के परिच्छेद में ही भासता है, उससे जगता भी है और जगते ही वह सुख की धारा टूट जाती है, इसलिये वह मोक्ष का अनुभव नहीं, अविद्यादशा का ही अनुभव है अतः अज्ञानोपाधि से ही आत्मा सुषुप्ति अवस्था वाला बनता है। इस प्रकार जाग्रत् स्थूलोपाधि से, स्वप्न सूक्ष्मोपाधि से और सुषुप्ति कारणोपाधि से होने वाली अवस्थाएँ हैं, स्वयं निरुपाधिक आत्मा इन अवस्थाओं वाला नहीं यह शुद्ध त्वंपदार्थ समझा दिया।।६१-२।।

सुषुप्ति में जगत् किसमें लीन होता हैइस पाँचवे भागका श्रुति में उत्तर है 'स यथा सोम्य! वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते' (४.७) कि जैसे शाम को पक्षी अपने निवास वृक्ष में पहुँचकर स्थित हो जाते हैं वैसे जगत् परमात्मा में जाकर स्थित हो जाता है। इसे समझाते हैं **जिस प्रकार शाम होने पर पक्षी अपने निवासार्थ निश्चित किये वृक्ष पर आश्रित हो जाते हैं उसी प्रकार**

तन्मात्राणि च भूतानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाण्यपि।
अन्तःकरणभेदाश्च शक्ती ज्ञानक्रियात्मिके।।६४।।
एतेषां विषयाः सर्वे द्रष्टृश्रोत्रादिनामकः।
जीवोऽन्तःकरणस्थोऽपि जगत् सर्वमिदं भवेत्।।६५।।

सुषुप्तिमें, प्रलयमें और मुक्तिमें सारा जगत् आत्मा में विलीन हो जाता है।।६३।। पक्षियों का निश्चित किये वृक्षों पर जाकर विश्राम करना लोकसिद्ध है, उसी दृष्टांत से जगत् का आत्मामें चले जाना बताया। हृदय के छिद्र खुलने पर नाडियों में भ्रमण करने वाला तथा इंद्रिय द्वारा खुलने पर बाहर भी भ्रमण करने वाला जीव उन सब द्वारों के बंद हो जाने पर जब सोता है तब उसीमें उसके संसार का लय होता है। जीवोपाधि के घटक तब जीवात्मा में ही लीन हो जाते हैं, वह जब जगता है तब उसी से प्रकट हो जाते हैं। एक जीव के सोने पर उसी का संसार लीन होता है, दूसरों का नहीं। सुषुप्ति में कारणोपाधि रहती ही है, उसी उपाधि वाले चेतन में जगत् लीन होता है। सुषुप्ति में सकल संसार का विलय भी अन्यत्र कहा है, वह दृष्टिसृष्टि के अभिप्राय से है, सामान्य प्रक्रिया से तत्तत् जीव का संसार ही लीन होता है। प्रलय में सभी जीवों की मानो एक साथ महासुषुप्ति है अतः तब सारा संसार इकट्ठे ही परमेश्वर में लीन हो जाता है। व्यष्टि कारणोपाधि वाला प्राज्ञ सुषुप्ति में जगत्-लयका आधार बनता है, समष्टि कारणोपाधि वाला ईश्वर प्रलय में जगत्-लय का आधार बनता है। सृष्टि काल में उसी से संसार प्रकट होता है। जीव से प्रकट होने में क्रमशः उत्पत्ति नहीं जबकि प्रलयानंतर ईश्वर से प्रकट होने में क्रमशः सृष्टि उत्पन्न होती है। पक्षी पेड़ पर हैं और तेज़ बिजली गिरकर पक्षियों समेत पेड़ भी जल गया तो जैसे पक्षियों का सर्वथा समापन हो जाता है, वे उस वृक्ष से पुनः उड़कर नहीं जा सकते, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से सारे संसारका और उसके कारण अज्ञान का बाध हो जाने पर जगत् का संपूर्ण लय हो जाता है, वह फिर प्रकट नहीं हो सकता। उस समय अर्थात् मुक्ति में जगत् को निरुपाधिक आत्मा में ही लीन कहना पड़ेगा। तीनों दशाओं में लयाधार तो आत्मा है लेकिन सुषुप्ति व प्रलय में व्यष्टि समष्टि उपाधियों सहित है जबकि मुक्ति में उपाधिरहित है।।६३।।

जो लीन होता है उस जगत् का परिचय कराते हैं **सूक्ष्म व स्थूल महाभूत, ज्ञानकी व कर्मकी इन्द्रियाँ, मन आदि चारों भेदों वाला अंतःकरण, ज्ञानकी व क्रिया की शक्तियाँ, इंद्रियादिके सब विषय, अंतःकरण में स्थित जीव जिसके द्रष्टा, श्रोता आदि नाम हैंयह सब लीन होने वाला जगत् है।।६४-५।।** यहाँ

प्रश्नोपनिषत् में पाँचों तन्मात्राओं का और पाँचों महाभूतों का नाम लिया है। सूक्ष्म महाभूतों को ही तन्मात्रा कहते हैं। अतः आकाश-वायु के भी सूक्ष्म-स्थूल भेद यहाँ मुखतः कहे गये हैं। इसी के आधार पर पंचीकरण को ही स्वीकारा गया है, त्रिवृत्करण उसीके उपलक्षणार्थ माना गया है। व्यवहार के साधन सूक्ष्म भूतों से और विषय स्थूल भूतों से बनते हैं। विषयों से व्यवहार हम इन्द्रियों द्वारा करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों से विषयों को समझते-बूझते हैं और कर्मेन्द्रियों से उन विषयों में परिवर्तन लाते हैं। ऐन्द्रिय व्यवहार भी मन की अपेक्षा रखता है। भूत-भविष्य को सोच सकना मनकी विशेषता है। संकल्प-विकल्प अर्थात् विचार करने वाला मन है, निश्चय करने वाली बुद्धि है, स्मरण करने वाला चित्त है और अभिमान करने वाला अहंकार हैये एक अंतःकरण के ही चार भेद हैं, चार विभिन्न व्यापार हैं, वृत्तियाँ हैं। सभी करणों से यथायोग्य कार्य लेने की शक्ति भी जीव में निहित है। शक्ति का स्वरूप तो अविद्या है किंतु जब चेतन अविद्योपाधि वाला होता है तब उस अनिर्वचनीय जीव में शक्ति उस रूप में उपस्थित होती है कि उसका प्रयोग किया जाये। जीव अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है। ये शक्तियाँ दो तरह की ही हैंजानने की और करने की। ये भी संसार ही हैं, सुषुप्ति आदि में ये भी लीन हो जाती हैं। अविद्या स्वयं तो सुषुप्ति व प्रलय में लीन नहीं होती लेकिन जीव की ये शक्तियाँ तब लीन हो जाती हैं अतः आत्मा और अविद्या दोनों से पृथक् जीव की तरह उसकी शक्तियाँ भी अविद्या से पृथक् माननी पड़ती हैं। मन-ज्ञानेन्द्रियों में उसकी ज्ञानशक्ति प्रकट होती है तथा प्राण-कर्मेन्द्रियों में क्रियाशक्ति प्रकट होती है। अंतर्बाह्य इंद्रियों के सभी विषय भी लीन होने वाले जगत् के अंग हैं। प्रलय में समष्टि महाभूत, समष्टि इंद्रिय-मन आदि सबका लय होता है, सुषुप्ति में व्यष्टि का लय होता है यह अंतर है। 'मैं देखने वाला, मैं सुनने वाला' आदि जिसका अनुभव है वह अंतःकरण में तादात्म्य रखने वाला जीव है, वह भी इस जगत् के अंतःपाती है क्योंकि सुषुप्ति में वह भी लीन हो जाता है। अज्ञानोपाधिक जीव बच जाने पर भी अंतःकरणोपाधिक जीव तो लीन होता ही है। उपाधिका लय होने पर उपहित का लय अर्थसिद्ध है किन्तु उपहित उपाधिमात्र तो नहीं है, उपधेय-उपाधि से अन्य उपहित की अनिर्वाच्य स्थिति है, उस उपहित का लय यहाँ कह रहे हैं।।६४-५।।

सुप्ति, प्रलय और मुक्ति में जगत् के विलय का अंतर बताते हैं **जैसे सोये व्यक्ति को नींद में कुछ भी प्रतीत नहीं होता इसलिये उसकी दृष्टि से सब कुछ विलीन है और प्रलय में किसी को कुछ नहीं प्रतीत होता है इसलिये सभी की दृष्टि**

न किञ्चिद् भाति निद्रायां लीनं स्यात्तदवेक्षया।
सर्वेषां प्रलये यद्वन्मुक्तौ तत्त्वविदस्तथा।।६६।।

से सब कुछ विलीन है, वैसे मुक्ति में तत्त्वज्ञ की दृष्टि से सारा जगत् विलीन है।।६६।। जिसका भान न हो उसे लीन कहा जाता है। सुषुप्ति में हमें जगत् का कोई भान नहीं रहता अतः हमारे लिये जगत् विलीन है। द्रष्टा के लिये दृश्यका लय होता है अतः लीन वस्तु नहीं है का इतना ही मतलब है कि वह हमारे भान का विषय नहीं। सूर्य डूब गया का मतलब यह नहीं कि त्रिलोकी में सूर्य नहीं रहा, वरन् इतना ही अर्थ है कि हमें नहीं दीख रहा। इसी तरह सुषुप्ति में संसार का लय होता है, उतनी देर उस अवस्था में हमें संसार का कोई अनुभव नहीं। इसका दार्शनिक निष्कर्ष स्वीकारना थोड़ा कठिन है : जगत् है यह इसी से सिद्ध होता है कि इसका पता चलता है। जिसका पता न चले जैसे गधे के सींग, उसे कहते हैं कि नहीं है। जब सुषुप्ति में जगत् का पता नहीं चलता तब उसे भी नहीं है ही मानना पड़ेगा। जगने के बाद अनुमान से, प्रत्यभिज्ञा से दूसरे के वचन से यदि पता भी चला कि जगत् था तो वह जाग्रत् में ही होने वाले ज्ञान से सिद्ध हुआ, सुषुप्ति में तो फिर भी सिद्ध नहीं होता। अतः सुषुप्त पुरुष के लिये लीन होना कहें, सुषुप्ति में जगत् नहीं होता कहें, एक ही बात है। किन्तु इस निष्कर्ष तक न भी जायें तो इतना समझ आता ही है कि सोये व्यक्ति की दृष्टि से तब संसार नहीं रहता। प्रलय में समष्टि की दृष्टि से नहीं रह जाता। हिरण्यगर्भ जब सो जायेगा तब व्यष्टि-जीव कुछ देख-सुन नहीं ही सकते क्योंकि समष्टि की कृपा से ही व्यष्टि करणादि कारगर होते हैं। प्रलय में जगत् का कोई भी ज्ञान किसी को नहीं होता अतः जगत् नहीं रह जाता। गार्ग्य का प्रश्न था कि सब किसमें संप्रतिष्ठित होते हैं, उसका उत्तर दिया कि आत्मा में ही संप्रतिष्ठित होते हैं अर्थात् लीन होते हैं। यह लय दो तरह कातत्तत् व्यक्ति की दृष्टि से और सब जीवों की दृष्टि से। सुषुप्ति और प्रलय में जगत् आत्मा में, सोपाधिक आत्मा में लीन होता है तथा जगने पर और सृष्टि होने पर पुनः व्यक्त हो जाता है। इस तरह लय और अभिव्यक्तिका क्रम चलता रहता है। ये दोनों लय एक ही तरह के हैं, दोनों सावशेष लय हैं, इनमें कार्यों की अप्रतीति होने से वे नहीं रहते किंतु कारण का निवारण नहीं होता। तीसरा लय है आत्यन्तिक लय जो तत्त्वज्ञान से ही होता है, मोक्ष में ही होता है। उसमें जगत् ही नहीं उसका कारण अज्ञान भी नहीं रह जाता। तब का अनुभव यह नहीं कि अभी जगत् प्रतीत नहीं हो रहा वरन् यह है कि जगत् कभी भी नहीं था, न अब है, न कभी होगा। मोक्ष में जगत् का लय अप्रतीति पर निर्भर नहीं, प्रतीति के बावजूद

स्थित्याधारः

परमात्मा लयाधारो यथा तद्वत् स्थितेरपि।
आधारस्तेन जगतः परमात्मोपलक्ष्यताम्।।६७।।

उसके असत्त्व का निश्चय होता है। इसलिये यह पूर्वोक्त लयों से सर्वथा विलक्षण है, इसमें कार्य और कार्य के संस्कारों सहित कारण का सनातन असत्त्व प्रतीत हो जाता है। जगत् का कारण अज्ञान है अतः जिसका अज्ञान निवृत्त होता है उस तत्त्ववेत्ता के लिये ही यह आत्यंतिक लय भी होता है। सांख्यवाद की दृष्टि से, मोक्ष में मुक्त को जगत् का अनुभव नहीं होता इतनी ही बात है, सकारण जगत् है ही नहीं यह मुक्त का अनुभव नहीं है। जबकि वेदान्त की दृष्टि से जब कहते हैं कि तत्त्ववेत्ता के लिये जगत् लीन हो जाता है तब मतलब है कि उसे यह निश्चय हो चुकता है कि कारण समेत जगत् हमेशा ही नहीं है। पूर्वोक्त दो लय सोपाधिक आत्मा में होते हैं और तीसरा लय निरुपाधिक आत्मा में होता है।।६६।।

श्रुति ने 'एष हि द्रष्टा' (४.९) आदि से कहा कि यही देखने आदि वाला है; इससे सूचित किया कि परमात्मा ही जगत् की स्थिति का भी आधार है अतः जगत् के रहने न रहने दोनों से परमात्मा को समझा जा सकता है। यह समझाते हैं **जैसे परमात्मा जगत् के लयका आधार है वैसे जगत् की स्थिति का भी वही आधार है। इसलिये जगत् से उपलक्षण-विधया परमात्मा समझ आ जाता है।।६७।।** लयाधार समझा ही चुके हैं, स्थिति का वही आधार है यह अन्यत्र से समझना चाहिये। अधिष्ठान ही अध्यस्त की स्थितिका आधार होता है यह रज्जुसर्पादि में देखा गया है अतः जगत्-स्थिति का वह आधार हो यह उचित है। जगत् सत्-सामानाधिकरण्येन ही उपलब्ध होता है अर्थात् 'जगत् है' यह प्रतीति होती है, इससे भी सिद्ध हो जाता है कि सद्रूप आधार पर ही जगत् स्थित है। 'येन जातानि जीवन्ति' आदि श्रुतियाँ भी इसी बात को बताती हैं। क्योंकि जगत् रहता भी और लीन भी परमात्मा में होता है इसलिये यह परमात्मा का उपलक्षण बन जाता है। स्फटिक में दीखती हुई लाली भी उस स्फटिक का परिचय कराती है और दीखना बंद हो जाने पर भी 'जो स्फटिक लाल दीखा था' इस प्रकार से उसका परिचय कराती है, इसी तरह जगत् जब है तब भी और लीन होकर भी परमात्मा का परिचय कराता है। क्योंकि जगत् व परमात्मा का कोई वास्तविक संबंध नहीं और स्वयं जगत् भी वास्तविक नहीं इसलिये वह परमात्मा का उपलक्षण ही हो सकता है। जगत् और उसका लय न परमात्मा का स्वरूप है और न हमेशा रहता है अतः दोनों को परमात्मा

उपलक्षयिता जीवो बुद्धौ चित्प्रतिबिम्बकः।
उपलक्ष्यं ब्रह्म तत्तु स्यादच्छायादिरूपकम्।।६८।।

का उपलक्षण समझा जाता है।।६७।।

केवल जगत् से उपलक्षणा द्वारा परमात्मा को समझने पर परमात्मा परोक्ष है यह भ्रम नहीं मिटता उसके लिये जीव द्वारा भी उसे उपलक्षित करना पड़ता है। अतः 'एष हि द्रष्टा' आदि वाक्य से बताया कि जगत् का आधार परमात्मा ही कर्ता-भोक्ता रूप से शरीर में उपलब्ध है। परमात्माका शरीर में प्रवेश उसी प्रकार है जैसे प्रतिबिम्ब द्वारा जल में सूर्य का प्रवेश होता है, भाष्य में कहा है 'जलसूर्यकादिवद् भोक्तृत्वकर्तृत्वेन इह अनुप्रविष्टम्।' अतः जल सूखने पर प्रतिबिंब का जैसे सूर्य में प्रवेश हो जाता है वैसे अविद्या मिटने पर जीवका परमात्मा में प्रवेश हो जाता है। यह श्रुति ने कहा 'स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते' (४.९)। किं च जगत् स्वयं को उपलक्षण बनाकर परमात्मा को नहीं समझ सकता क्योंकि जड है जीव ही जगत् को और स्वयं को उपलक्षण बनाकर परमात्मा को समझ सकता है। जगत् से समझने पर परमात्मा का सद्रूप स्पष्ट होता है, जीव से समझने पर चिद्रूप समझ आता है अतः पूर्व श्लोक से जगद्द्वारा परमात्मा बताकर जीवद्वारा उसे बताते हैं **बुद्धि में होने वाली चेतनकी प्रतिकृति जीव है जो परमात्माका उपलक्षण कराता है, उससे उपलक्षित होने वाला ब्रह्म 'अच्छाय' आदि रूप वाला है।।६८।।** जीव को 'मैं जड हूँ' ऐसा कभी नहीं लगता, 'चेतन हूँ' यही अनुभव होता है। बुद्धि तो भौतिक वस्तु है, वह चेतन नहीं है किंतु उसमें जिस परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ रहा है वह चेतन है अतः प्रतिबिम्ब में भी चेतनता का अनुभव है क्योंकि बिम्ब के अनुरूप प्रतिबिंब होता है जैसे अतेजस्वी घड़े का प्रतिबिम्ब भी अतेजस्वी होता है और तेजस्वी सूर्य का प्रतिबिम्ब भी तेजस्वी होता है। इसीलिये प्रतिबिंब से बिंब के ज्ञान ही तरह जीव से ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। जीव उपलक्षयिता है, उपलक्षण करा देता है, स्वयं को ही कराता है अर्थात् स्वयं को समझकर ही उसे चिद्रूप ब्रह्म का ज्ञान होता है। जिसका ज्ञान होता है वह चेतन परमात्मा है, उपाधि से परे है जैसे मुख दर्पण से परे होता है। ब्रह्म को 'अच्छाय' कहा, इसका अर्थ अगले श्लोक में बतायेंगे। सारे जगत् का आधार जो परमात्मा उसी का बुद्धि में प्रतिबिंब चेतन की तरह का पड़ता है। केवल जीवरूप प्रतिबिम्ब के माध्यम से परमात्मा को समझेंगे तो उसकी चेतना ही पता चलेगी, सारे जगत् का आधार अर्थात् व्यापक है यह नहीं पता चलेगा। केवल जगत् के माध्यम से उसे समझेंगे तो व्यापकता पता चलने पर भी वह चेतन है,

ब्रह्मधीफलम्

छाया तमस्तेन हीनं शरीरत्रयवर्जितम्।
लौहित्यादिगुणैर्हीनं शुभ्रं क्रोधाद्यभावतः।।६९।।
अक्षरं नाशहेतूनामभावाद् ब्रह्म तादृशम्।
यो जानाति स सर्वज्ञः सर्वात्मा च भवेत् खलु।।७०।।

प्रत्यक् है यह नहीं पता चलेगा। अतः उपनिषत् ने दोनों तरह परमात्मा को बताया ताकि व्यापकता और प्रत्यगात्मता दोनों का ज्ञान हो। अनंत और आनंद एक ही बात है यह नारदविद्या में बता चुके हैं। इस प्रकार जगत् के आधार के प्रसंग में जीव का भी वही आधार है यह समझा कर इस उपदेश को महावाक्य का रूप दे दियायह विद्यारण्य स्वामी की विशेषता है।।६८।।

तत्त्ववेत्ताकी मोक्षदशा बताते हुए श्रुति ने कहा है 'स यो ह वै तद् अच्छायम् अशरीरम् अलोहितं शुभ्रम् अक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति' (४.१०)। इसे स्वयं समझाते हैं **छाया अर्थात् अज्ञान, उससे रहित ब्रह्म तत्त्व अच्छाय है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों शरीरों से वह रहित है। लाल आदि कोई गुण उसका नहीं है। क्रोध आदि न होने से वह शुभ्र अर्थात् शुद्ध है।।६९।। कोई हेतु नहीं जो उसका नाश करे अतः ब्रह्म अक्षर है। ऐसे ब्रह्म को प्रमाण से इसी प्रकार का अनुभव कर लेने वाला अवश्य सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है।।७०।।** छाया परछाँई को कहते हैं जिसका स्वरूप अंधकार ही है। सबसे घना अँधेरा अज्ञानका है, उसे ही यहाँ छाया कहा। परमार्थ आत्मस्वरूप अज्ञान से अस्पृष्ट है। अत एव तीनों शरीरों से वह रहित है। अज्ञान कारणशरीर है, उसीसे असम्बद्ध है तो उसके कार्यभूत सूक्ष्म-स्थूल शरीरों से क्योंकर सम्बद्ध हो सकता है। लाल आदि शरीर के गुण हैं, उनका आत्मा से कोई सम्बंध नहीं। पौष्टिक भोजन करने वालों का चेहरा लाल या गुलाबी हो जाता है, कमज़ोरी आने पर पीला पड़ जाता है, ये सब देहधर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं। स्थूल शरीर के धर्मों का निषेध अलोहित से किया और सूक्ष्म शरीर के धर्मों का निषेध शुभ्र से किया। शुभ्र अर्थात् शुद्ध, उसी का अर्थ किया कि उसमें क्रोध आदि नहीं है। केवल दुर्गुण ही नहीं, सूक्ष्म में होने वाले सद्गुण भी आत्मा में नहीं हैं क्योंकि वह निर्गुण वस्तु है। द्वैत ही न होने से ब्रह्म का नाश कौन करे! और स्वरूप से वह सत् है, पूर्ण अपरिच्छिन्न है अतः उसे अक्षर बताया। ब्रह्मके इस वास्तविक स्वरूप को समझने से, उसके साक्षात्कार से सर्वज्ञता तथा सर्वात्मता प्राप्त होती है। इस प्रकार

प्रणवध्यानप्रश्नः पञ्चमः

सत्यकामस्तु पूर्वोक्तब्रह्मानुभवसाधनम्
प्रणवध्यानमप्राक्षीत् फलभेदेन संयुतम्।।७१।।

ब्रह्मज्ञान का फल बताकर चतुर्थ प्रश्न के पाँचों भागों का उत्तर पूरा हुआ।।६८-७०।।

उपनिषत् में वर्णित छह मुनियों द्वारा पूछे जाते प्रश्नों में पाँचवें प्रश्नका संदर्भ बताते हैं **प्रणव, ओंकार का ध्यान पूर्वोक्त ब्रह्मके अनुभवको प्राप्त करने का साधन तथा अन्य भी फल प्रदान करने वाला है। सत्यकाम ने उसी के बारे में प्रश्न किया।।७१।।** विवेक-वैराग्य से परिपूर्ण उत्तमाधिकारी श्रवण-मनन से ब्रह्मनिश्चय प्राप्त कर उसी में स्थिर रह जाता है, उसकी अविद्या दूर हो जाती है, वह मुक्त हो जाता है। मंदाधिकारी तत्त्व समझकर भी उसमें स्थिर नहीं रह पाता। पदार्थ का अनुभव हो तो हमें पदार्थ समझ में आता है लेकिन ब्रह्म स्वयं अनुभव है, उस 'का' अनुभव तो होता नहीं, अतः ऐसे तत्त्व को हृदयंगत करना कठिन पड़ता है। घटज्ञान-पटज्ञान आदि सर्वत्र जो ज्ञान भासता है वह ब्रह्मस्वरूप ज्ञान ही है किन्तु जब तक घट-पटादि के बिना ज्ञान न मिले तब तक साधारण साधक व्यापक ज्ञान को समझ नहीं पाता। लोक में भी तीव्र बुद्धि वाला तो विभिन्न गहने आदि आकारों में देखते हुए ही सोने को पहचान लेता है, मंदबुद्धि वाला उसके आकार तोड़कर, गला कर, उसके परमाणु को खुर्दबीन में देखकर, अन्य रसायनों से उसकी प्रतिक्रिया देखकर तब पहचान कर पाता है। इसी प्रकार नाम-रूप मिश्रित दशा में भी आत्मा को ही शास्त्र-चक्षु से पहचानकर उत्तम बुद्धि वाला केवल आत्मा पर एकाग्र हो जाता है। लेकिन मंद बुद्धि वाले की नाम रूप से वियुक्त कर आत्मबोध हुए बिना उस पर दृष्टि टिकती नहीं। ऐसे साधक के लिये सर्वोत्तम उपाय प्रणव-ध्यान है। प्रणव परमात्मा का सीधा नाम है। जैसे देवदत्त-नाम सुनकर देवदत्त ही याद आता है ऐसे प्रणव सुनकर परमात्मा ही याद आता है। अन्य सब उपाधियाँ छोड़कर केवल प्रणव से उपस्थापित ब्रह्मका ध्यान करने से ब्रह्मका विशुद्ध रूप पकड़ में आ जाता है। मुख्य फल यही है, कुछ अन्य भी फल प्रणवध्यान के हैं। ऐसे प्रणवध्यान को सत्यकाम ने जानना चाहा।।७१।।

श्रुति में पाँचवाँ प्रश्न है 'अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छस यो ह वै तद् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तम् ओङ्कारम् अभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।।'५.१।। शैब्य सत्यकाम ने पिप्पलाद से पूछाहे भगवन्! जो मनुष्य मरणपर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है वह उसके फलस्वरूप कौन-सा लोक पाता है? जिन उपासनाओं का

लोकेषु ज्ञानकर्मभ्यां साध्येषु कतमं व्रजेत्।
आमृति प्रणवध्यायी सविशेषमिदं वद।।७२।।

अपरब्रह्मध्यानम्

शृण्वोङ्कारः प्रतीकं स्यादपरस्य परस्य च।
ब्रह्मणोऽन्यतरद् ब्रह्म प्रणवेन विचिन्तयेत्।।७३।।

पारलौकिक फल होता है उन्हें आमरण करना पड़ता है यह ब्रह्मसूत्रों में (४.१.१२) निर्णीत है। श्रुति में अभिध्यान कहा जिसका भाष्य में अर्थ किया है कि वृत्तिका प्रवाह टूटे नहीं, अन्य कोई वृत्ति बीच में आये नहीं और दीपक की स्थिर लौ की तरह वृत्ति में भी तारतम्य न होऐसे ध्यान को अभिध्यान कहते हैं। इस प्रश्न को उपस्थित करते हैं **उपासना व कर्म द्वारा प्राप्य लोकों में से वह कौन-सा लोक है जिसकी उसे प्राप्ति होती है जिसने मरणपर्यन्त प्रणव का ध्यान किया है? इसके साथ ही प्रणवध्यान और उसके फल की अन्य विशेषताएँ भी बताइये।।७२।।** प्रणव अतिप्रबल साधन है। अन्य प्रतीकोपासनाएँ ब्रह्मलोक फलक नहीं बन पातीं लेकिन प्रणव का महत्त्व है कि इसकी प्रतीकोपासना भी ब्रह्मलोक प्रदान कर देती है। ब्रह्मसूत्रों में (१.३.१३) निर्णय दिया है कि यहाँ प्रधान विधान परब्रह्मके ध्यान का है। ध्यान से सीधे ही परब्रह्म की प्राप्ति होती नहीं इसलिये इस ध्यान के प्रभाव से ब्रह्मलोक जाकर वहाँ ज्ञानलाभ होकर मोक्ष होता है।।७२।।

पिप्पलाद ने उत्तर दिया 'तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम! पर चापरं च ब्रह्म यद् ओङ्कारः। तस्माद् विद्वान् एतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति।।'५.२।। अर्थात् पर और अपर ब्रह्म ओङ्कार ही है अतः इसी साधन से उपासक पर-अपर में से एक को प्राप्त कर लेता है। इसे समझाते हैं **पिप्पलाद बोलेसुनो : ओंकार अपरब्रह्मका और परब्रह्मका प्रतीक है। प्रणव के सहारे इनमें से एक का ध्यान करना चाहिये।।७३।।** जैसे विष्णु आदि की मूर्ति उनका प्रतीक है वैसे ब्रह्मका प्रतीक ॐ है। प्रतीक से तुरंत उसकी स्मृति आती है जिसका वह प्रतीक है। ब्रह्म एक ही है, सोपाधिक दृष्टि से वह अपर और निरुपाधिक दृष्टि से पर है। ॐ ब्रह्मका प्रतीक है अतः पर-अपर दोनों का प्रतीक बन जाता है, दोनों का ध्यान ॐ के सहारे किया जा सकता है। इस प्रसंग में पर ब्रह्म के ध्यानका महत्त्व ही बताना है लेकिन अपर ब्रह्म के ध्यानका फल भी समझायेंगे ताकि जो उतने का ही अधिकारी है वह उसी से अपना कल्याण करे।।७३।।

परापर ब्रह्मका स्वरूप बताते हुए अपर ब्रह्मके ध्यान का विस्तार करते हैं **विराड्**

विराडाद्यपरं तद्वत् सत्यज्ञानात्मकं परम् ।
मात्रात्रयविभक्तं तद् अपरं ब्रह्म चिन्तयेत् । ।७४ । ।

आदि अपर ब्रह्म है और सत्य-ज्ञानरूप है परब्रह्म। परब्रह्मका ध्यान न कर सकने वाला तीन मात्राओं में बँटे ओंकार का उस अपर ब्रह्मके रूपसे चिंतन करे। ।७४ । । समष्टि स्थूल ब्रह्माण्ड जिसका शरीर है वह विराट्, समष्टि सूक्ष्म शरीर वाला हिरण्यगर्भ और समष्टि कारण शरीर वाला ईश्वरये तीनों अपर ब्रह्मके रूप हैं, ॐ कार तीनों रूपों का प्रतीक है। परब्रह्म है सत्य ज्ञान आनन्द अनन्त पूर्ण स्वरूप वाला प्रत्यक्तत्त्व, इसका भी प्रतीक ॐ कार है। ॐ से विराट् आदि का भी ध्यान हो सकता है और सच्चिदानंद ब्रह्मका भी। उपाधि स्थूल, सूक्ष्म, कारणसमेत ध्यान करने से अपर की और उपाधि छोड़कर ध्यान करने से पर की उपासना सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ 'मैं' शब्द स्थूल शरीररूप उपाधि-सहित का भी बोधक है और उससे रहित का भी : 'मैं ज्योतिष्टोम कर स्वर्ग जाऊँगा' इस वाक्य में ज्योतिष्टोम करने वाले को जब मैं कहा तब स्थूलोपाधि विवक्षित है क्योंकि ब्राह्मणादि ही ज्योतिष्टोम करने में अधिकारी है और ब्राह्मणादि स्थूल शरीर ही होता है। किन्तु स्वर्ग जाने वाले को जब मैं कहा तब स्थूल शरीर-रहित की दृष्टि से ही क्योंकि स्थूल शरीर तो यहीं रह जायेगा, जल जायेगा, स्वर्ग जाने वाला मैं तो उससे अन्य ही है। जैसे एक ही मैं शब्द सशरीर व अशरीर दोनों को बताता है ऐसे प्रणव भी सोपाधि और निरुपाधि दोनों का प्रतीक बन जाता है। अपर ब्रह्म के प्रतीक की दृष्टि से ओंकार की तीन मात्राओं का सहारा लिया जाता है। अ, उ, म्ये ओंकार की तीन मात्राएँ बतायी गयी हैं। इनमें बँटे रूप से ध्यान करने पर वह अपर ब्रह्म की उपासना होगी। अ विराट् का, उ हिरण्यगर्भ का और म् ईश्वर का बोधक है। विराट् आदि तीन पृथक् हैं यह नहीं कह रहे। हम बोलते हैं 'मैं मोटा हूँ, क्रोधी हूँ, अज्ञानी हूँ' तो हम एक ही रहते हुए अपने तीन शरीरों की दृष्टि से तीन बातें बताते हैं। मोटा स्थूल शरीर ही होगा, क्रोधादि सूक्ष्म शरीर में ही होंगे, अज्ञान कारण शरीर ही है, शरीर तीन हैं पर हम तीन नहीं हो गये! इसी प्रकार विराट् आदि में उपाधियों का भेद है, वस्तु का भेद नहीं है। इसीलिये यहाँ विराट् को अपर ब्रह्म ही कहा। अपर ब्रह्मके तीन रूप हैं व ॐ की तीन मात्राएँ हैं, एक-एक मात्रा का एक-एक रूप से सम्बंध है यह स्वयं बतायेंगे। ।७४ । ।

अपर ब्रह्मका ॐकार से चिंतन कैसे किया जाये इसकी अनेक पद्धतियाँ हैं, यहाँ जो ढंग बताना है उसे स्पष्ट करते हैं **विराट् अ-कार है, सूत्रात्मा उ-कार है, और**

विराड् अकारः सूत्रात्मोकारो ह्यव्याकृतं पुनः।
मकार इति विज्ञेयो विभागोऽपरचिन्तने।।७५।।

अव्याकृत म-कार है; यह विभाजन अपर ब्रह्मके ध्यान में जानना चाहिये।।७५।।
जैसे शालग्राम में विष्णु-दृष्टि करते हैं वैसे 'अ' में विराट्-दृष्टि करनी चाहिये कि यह 'अ' ही स्थूल ब्रह्माण्ड शरीर वाला ब्रह्म है। इसमें स्वयं के भी स्थूल शरीर को ब्रह्माण्ड के ही हिस्से के रूप में समझना चाहिये कि यह शरीर विराट् का ही हिस्सा है। जैसे मैं शरीर में अभिमानी हूँ तो उसके हर हिस्से में भी मैं ही अभिमानी हूँ, वैसे सारे ब्रह्माण्ड में अभिमानी ही ब्रह्माण्डके सब हिस्से में भी अभिमानी है अतः मेरे स्थूल शरीर का भी अभिमानी विराट् ही है, फलतः मैं विराट् ही हूँयह दृष्टि बनानी पड़ेगी। इस तरह व्यष्टि-समष्टि की एकता का चिंतन हो जाता है। 'उ' में सूत्रात्मा अर्थात् समष्टि सूक्ष्मोपाधिक हिरण्यगर्भ की दृष्टि करनी चाहिये कि 'उ' ही सूत्रात्मा है। इसमें भी अपने सूक्ष्म शरीर को उसी का अंग समझते हुए मैं सूत्रात्मा हूँयह दृष्टि बनानी पड़ेगी। सूक्ष्म शरीर जाग्रत्-स्वप्न दो अवस्थाओं में कार्य करता है किंतु स्वप्न में वह अकेला ही काम करता है अतः स्वप्न से उसका विशेष सम्बन्ध है। जाग्रत् का विशेष संबंध स्थूल से है। अतः अन्यत्र एक-एक अवस्था को भी एक-एक मात्रा से जोड़ा है। 'म्' में अव्याकृत अर्थात् ईश्वरदृष्टि करनी चाहिये। बिना व्यक्त हुए कार्य जिसमें छिपा रहता है उस कारण को अव्याकृत कहते हैं। संसार का कारण माया अव्याकृत है, उस उपाधि वाला ईश्वर है। जैसे सोने में सभी गहने छिपे हैं अतः उसी से प्रकट होते हैं वैसे माया में संसार छिपा है अतः उसी से व्यक्त होता है। माया का ही एक हिस्सा हमारा अज्ञान है अतः यहाँ भी मैं ईश्वर हूँयह दृष्टि बनानी पड़ेगी। अज्ञानका सुषुप्ति से विशेष संबंध है क्योंकि वहाँ कुछ भी नहीं जाना जाता और जगने पर उसी से निकल आता है। व्यष्टि में अज्ञानोपाधिक प्राज्ञ कहा जाता है, वह मैं ईश्वर ही हूँ क्योंकि अज्ञान की समष्टि का अभिमानी ईश्वर ही अज्ञान की सभी व्यष्टियों का भी अभिमानी है। इस तरह अपने जीवभाव का अपरब्रह्म में समर्पण हो जाता है।।७५।।

यद्यपि उक्त तीनों मात्राओं के सहारे विराडादि तीनों रूपों का ध्यान करना ही श्रेष्ठ है तथापि यदि एक-एक का ही ध्यान किया जा सके तो भी सफल है यह बताते हुए श्रुति ने पहले अकाररूप एक मात्रा के ध्यान का फल बताया'स यद्येकमात्रम-भिध्यायीत स तेनैव सम्वेदितस्तूर्णमेव जगत्याम् अभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकम् उपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।।' ५.३।।

सूत्राऽव्याकृतविज्ञानहीनो यदि विचिन्तयेत्।
विराण्मात्रं तमोङ्कारं तदाऽपि व्यर्थता न हि।।७६।।
ऋगाख्यदेवाः सहसा भूर्लोकं प्रापयन्ति तम्।
पूर्ववासनया योगमभ्यस्यत्यधिकं पुनः।।७७।।

अर्थात् अकार-प्रधान ओंकार का ध्याता अकार से तादात्म्य पाकर शीघ्र ही पृथ्वी पर उत्पन्न होता है, ऋचाओं के अभिमानी देव उसे मनुष्य लोक प्राप्त करा देते हैं जहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से संपन्न हुआ वैभवका अनुभव करता है। इस श्रुति का व्याख्यान करते हैं **सूत्रात्मा और अव्याकृत की उपासना बिना किये यदि ओंकार का केवल विराट्-रूप से ध्यान करे तो भी सफल ही है।।७६।। मरने पर उस उपासक को ऋग्-अभिमानी देव जल्दी ही भूलोक में उत्तम जन्म दिला देते हैं जहाँ पूर्व जन्म के संस्कार से प्रेरित होकर और ज़्यादा तत्परता से पुनरपि योगाभ्यास में संलग्न हो जाता है।।७७।।** सूत्रात्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ सूक्ष्म होने से साधारण व्यक्ति को समझ ही नहीं आता तो उसका ध्यान कैसे करेगा! ब्रह्माण्ड तो प्रत्यक्ष दीखता है, अपना स्थूल देह भी स्पष्ट है अतः स्थूल व्यष्टि-समष्टि आराम से समझ आ जाते हैं, सूक्ष्म समझना कठिन है और कारण व ईश्वर को समझना अति कठिन है। ध्यान करने के लिये ध्येय की संकल्पना स्पष्ट होनी चाहिये। जो विष्णु श्याम वर्ण के चतुर्भुजी आदि हैं यह जानता नहीं वह शालग्राम में विष्णु का ध्यान भी नहीं कर सकता। ऐसा साधक ॐकार को केवल विराट् का प्रतीक मानकर ध्यान कर सकता है। प्रायः सभी प्रारंभिक साधक इसी स्तर के होते हैं। 'ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक है' यह कहने-सुनने पर भी प्रश्न उठता है कि ऐसा वह ईश्वर है कौन चतुर्मुखी है या पंचमुखी, चतुर्भुजी है या दशभुजी? अर्थात् स्थूल रूप से रहित ईश्वर की संकल्पना ही नहीं बनती। अतः विराट्-पर्यन्त ही जो समझता है वह ॐ को भी विराट् का ही प्रतीक समझ सकता है। उपासना पूर्ण ॐ की करनी चाहिये अर्थात् उसकी तीनों मात्राओं से विराड् आदि तीनों की एकता का ध्यान करना चाहिये, तो क्या केवल विराट् से एकता का ध्यान करने का कोई लाभ है? प्रश्न इसलिये उठता है कि कर्मों में प्रायः नियम है कि सांगोपांग कर्म का अनुष्ठान सफल होता है, आधा-अधूरा करने पर कर्म निष्फल हो जाता है। उपासना भी है मानस कर्म ही, तो क्या इसका उक्त ढंग से अधूरा अनुष्ठान सफल होगा? उत्तर है कि श्रुति ने एक-एक मात्रा के ध्यान का भी फल कहा है अतः उतने ध्यान का वही फल हो जायेगा। प्रणवध्यान का जो ब्रह्मलोक-प्राप्ति द्वारा मोक्ष फल

विराट्-सूत्रात्मकं मात्राद्वयं ध्यात्वा तु नीयते।
यजुर्वेदैः सोमलोकं पुनरावृत्तिसंयुतम्।।७८।।

है वह तो नहीं मिलेगा लेकिन उससे अन्य जो फल तत्तत् मात्रा के ध्यान का कहा है वह मिल जायेगा। ये अवान्तर फल हैं; मुख्य फल न मिलने से कभी यह भी कह सकते हैं अधूरी उपासना निष्फल है अर्थात् मुख्य फल नहीं देती और कभी उसे सफल भी कह सकते हैं अर्थात् अवान्तर फल दे देती है। आम बोते हैं फल के लिये। पेड़ बड़ा हो जाये, छाया खूब दे पर फल न दे तो फलों की दृष्टि से उसे निष्फल भी कह सकते हैं और छाया प्रदान कर गर्मी से राहत देता है इस दृष्टि से सफल भी कह सकते हैं। उसी प्रकार यहाँ है। शैब्य का प्रश्न ओंकार के ध्यान का था इसलिये संदर्भानुसार समग्र ओंकार के ध्यान को ही सफल माना जाता है, अंगों के ध्यान का फल बताना भी समग्र के ध्यान की स्तुति के लिये स्वीकारा जाता है, किन्तु असमर्थ अधिकारी पर कृपालु होकर विद्यारण्य स्वामी मात्राओं के ध्यान के फल-बोधक वाक्यों के आधार पर यह व्यवस्था दे रहे हैं कि जो साधक ध्यान तो ॐकार का ही कर रहा है पर समझ उसे केवल विराट् रहा है उसे एक मात्रा वाले ध्यान का उपनिषदुक्त फल मिल जायेगा। फल यह है कि उसे विभिन्न लोकों में अधिक भटके बिना शीघ्र साधक शरीर मिल जायेगा और साधना के संस्कार भी उद्बुद्ध हो जायेंगे तथा गुरु आदि अनुकूल परिस्थिति मिल जायेगी। इससे वह पूर्वापेक्षया अधिक तल्लीनता से अभ्यास कर सकेगा ताकि शीघ्र पूर्णता प्राप्त कर ले। 'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' (गी.६.४०) के आधार पर श्रद्धा से सामर्थ्यानुसार क्योंकि अपर ब्रह्मकी उपासना की है इसलिये सद्गति ही प्राप्त होती है यह निर्णय उचित है।।७६-७।।

तदनंतर द्विमात्र ओंकार के ध्यानका फल बताया 'अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्, स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते।।' ५.८।। अर्थात् दो मात्राओं वाले ओंकार का ध्याता यजुरभिमानी देवों द्वारा चंद्रलोक ले जाया जाता है जहाँ वैभव भोगकर पुनः पृथ्वी पर लौट आता है। इसका उल्लेख करते हैं **विराड् व सूत्रात्मारूप दो मात्राओं का ध्यान कर साधक यजुरभिमानी देवों द्वारा उस सोमलोक को ले जाया जाता है जहाँ से पुनः लौटना पड़ता है।।७८।।** पूर्व वाले से यह साधक बेहतर है क्योंकि सूक्ष्मको समझ पाता है, कारण को भले ही न समझ पाये।

अ-उये दो मात्राएँ हैं जिन्हें विराट् और हिरण्यगर्भ से एककर ध्यान करना है।

विराट् सूत्राऽव्याकृताख्यं त्रिमात्रं प्रणवं स्मरेत्।
सामवेदैर्ब्रह्मलोकं नीयते मुक्तिकारणम्।।७६।।
समस्तजीवसङ्घाख्यः सूत्रात्मा यः परोऽन्यतः।
तस्मादपि परं ब्रह्मतत्त्वं यत् तदवेक्षते।
क्रममुक्तिर्भवेदित्थम् अपरब्रह्मचिन्तनात्।।८०।।

ध्यान यहाँ भी ॐ का होगा लेकिन उसे अकाररूप से विराट् समझकर और उकाररूप से हिरण्यगर्भ समझकर उपासना की जायेगी। एक ही व्यक्ति दो पदों पर नियुक्त हो जाये तो दोनों पदों वाला समझा जाता है, इसी तरह ॐ को अ-विराट् तथा उ-हिरण्यगर्भये दोनों मानकर उपासना का यहाँ फल कह रहे हैं। इसमें विश्व-तैजस इन दोनों का समष्टि में समर्पण हो जायेगा। स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों की दृष्टि से स्वयं को अपर ब्रह्म समझा जायेगा। इस प्रसंग में विराट् और हिरण्यगर्भ को अपर ब्रह्मका ही रूप माना जा रहा है। इस उपासक को यजुर्वेद के अभिमानी देव सोमलोक ले जाते हैं। पूर्वोपासक को दिव्य लोक नहीं मिले थे, इसे सोमलोक मिलता है यह विशेषता है। तथापि उपासना एक कर्म ही है अतः इसका फल क्षीण होने पर फिर मुनष्य लोक में आना ही पड़ता है। अतः दो मात्राओं का ध्यान सोमलोक (स्वर्गलोक) तो देता है। पर क्रममोक्ष नहीं देता।।७८।।

सम्पूर्ण रूप से अपर ब्रह्मकी उपासना का फल कहा 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैव अक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषम् ईक्षते' (५.५) अर्थात् तीनों मात्राओं वाले ॐ का परम पुरुष (अपर ब्रह्म) के प्रतीक रूप से ध्यान करने वाला सूर्य से तादात्म्य पाता है। वह पापों से वैसे ही छूट जाता है जैसे केंचुली से साँप। वह सामाभिमानी देवों द्वारा ब्रह्मलोक ले जाया जाता है जहाँ वह परब्रह्मको जान जाता है। इस प्रसंग को समझाते हैं **विराट् सूत्रात्मा और अव्याकृत नामक तीन मात्राओं वाले प्रणव का ध्यान करे तो सामवेद के अभिमानी देवों द्वारा उस ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है जो मोक्ष का हेतु है।।७६।। 'समस्तजीवसंघ' नामक जो सूत्रात्मा है वह अन्यों की अपेक्षा परम है। उससे भी परम जो ब्रह्म तत्त्व है उसे साधक ब्रह्मलोक में समझ लेता है।।८०।। इस तरह अपर ब्रह्म के ध्यानसे क्रममोक्ष मिल जाता है।।१/२।।** अपर ब्रह्म की प्रणव से यह पूरी उपासना है। अपरब्रह्म के विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वरतीनों रूपों को ॐ के अ-उ-म् से एककर चिंतन करने पर विश्व-तैजस-प्राज्ञ

परध्यानम्

ओङ्कारेण परं ब्रह्म ध्यात्वेक्षित्वा च मुच्यते।।८१।।
शान्तं जरामृत्युहीनम् अभयं ब्रह्म यत् परम्।
तच्चोङ्कारेण विद्वान् यः सोऽन्वेतीति पृथक् श्रुतम्।।८२।।

तीनों व्यष्टिभावों का समर्पण हो जाता है। ध्यान इसमें भी ॐ का ही है। तीनों ही उपासक ध्यान ॐ का करते हैं लेकिन पहले वाला उसके अकाररूप वैशिष्ट्य को ही समझता है, दूसरा उसके अकार-उकाररूप वैशिष्ट्य को ही समझता है और अब जिसका फल बता रहे हैं वह तीनों को समझता है। इसे सामवेद के अभिमानी देव ब्रह्मलोक पहुँचा देते हैं। वहाँ कल्पांत में ब्रह्मके उपदेश से अपनी परब्रह्मरूपता का सुस्पष्ट ज्ञान पाकर वह मुक्त हो जाता है। अतः ब्रह्मलोक से पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं आना पड़ता। सारे जीवों की समष्टि होने से हिरण्यगर्भ समस्तजीवसंघ कहा गया है। संसार में वह सर्वश्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ तो पर ब्रह्म ही है। अपर ब्रह्म का ध्यान कर ब्रह्मलोक जाना पड़ता है, वहाँ पर ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष होता है। इसलिये इसे क्रममुक्ति कहा जाता है।।७६-८०-१/२।।

उत्तर की समाप्ति में मंत्र द्वारा कहा है कि जिस ॐकार से मनुष्य-स्वर्ग-आदि लोकों की प्राप्ति होती है उसी ॐकार रूप प्रतीक में अभिध्यान से शान्त, अजर, अमृत, अभय, परम ब्रह्म प्राप्त होता है। 'तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तम् अजरम् अमृतम् अभयं परं चेति' (५.७)। श्लोक ७३ में कहा था कि परब्रह्म के ध्यान के लिये भी ॐ प्रतीक है, उस ध्यान का यहाँ उल्लेख करते हुए पंचम प्रश्न के उत्तर का समापन करते हैं **ओङ्काररूप प्रतीक के सहारे परब्रह्मका ध्यान कर फिर उसका दर्शन पाकर साधक मुक्त हो जाता है।।८१।। जो भी उत्तम साधक ओंकार के सहारे परब्रह्मकी उपासना करता है वह उस परब्रह्मको पा जाता है जो शांत, बुढ़ापे व मौत से रहित और अभयस्वभाव है। अपर की उपासना के फल से अलग परब्रह्म की उपासना का यह फल वेदसिद्ध है।।८२।।** ॐ एक अखण्ड शब्द है जिसमें अ-उ-म् कल्पित हैं, ऐसे ही परब्रह्म में विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर तीनों कल्पित हैं। इस प्रकार समष्टि-व्यष्टि का जो अधिष्ठान तुरीय शिव उसका ओंकार रूप से ध्यान यहाँ कहा है। ध्येय सविशेष ही होता है इस नियम का यहाँ पालन इसी से हो जाता है कि ओंकाररूप विशेष यहाँ ध्येय कोटि में है। यह परिमल में (पृ.२८७) सूचित है। कुछ आचार्य निर्विशेषका भी ध्यान स्वीकारते ही हैं, अतः उक्त नियम मानना अनिवार्य नहीं।

पंचदशी के ध्यानदीपप्रकरण में (श्लोक.६३) नामतः शैब्य प्रश्न में निर्गुणोपासना का विधान माना गया है। ईक्षत्यधिकरण में कहा है कि इस प्रश्न में परब्रह्म ही ध्येय बताया है किन्तु ब्रह्मलोक-प्राप्ति द्वारा सम्यग्दर्शन से मोक्ष स्पष्ट किया है। ध्यानदीप में (श्लोक. १२३) उपासनाका परिपाक ज्ञानसमान माना है 'विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः'। एवं च यह निदिध्यासनरूप साधन है। उस रीति से, जिसकी निर्गुण उपासना परिपक्व नहीं होती वह ब्रह्मलोक जाकर मुक्त होता है और जिसकी परिपक्व हो जाती है उसे यहीं ज्ञानलाभ हो जाता है (ध्यानदीप. श्लोक १३६-४०) त्रिमात्र ओंकार की उपासना से ब्रह्मलोक अवश्य जाना सकाम उपासक के लिए कहा है यह भी ध्यानदीप में (श्लो. १४३) स्पष्ट कर दिया है। यद्यपि भाष्य से इस मत को समर्थित करना कठिन है तथापि विद्यारण्यस्वामी को यह स्वीकार है, ध्यानदीप में अनेक पुष्ट युक्तियों व प्रमाणों से इसका समर्थन है। यहाँ इसी दृष्टि से परब्रह्म की प्रणव से उपासना बतायी है अतः ध्यान के बाद दर्शन कहा होने से वह परब्रह्मका साक्षात्कार समझना चाहिये जो विज्ञानरूप से जीवित काल में अथवा मरते समय अथवा ब्रह्मलोक में मिल सकता है। यह साधक शास्त्र से श्रवण कर चुका है, विशेष मनन में असमर्थ होने पर भी आपाततः विचार कर चुका है, परब्रह्मकी उपासना निदिध्यासनरूप हो जाती है जिससे इसे विज्ञानलाभ हो यह संगत ही है। प्राप्तव्य ब्रह्मका वर्णन किया कि वह शांत है, निश्चल है, निर्मल है, रागादि से अविचलित है। जीर्णता व नाश ब्रह्मके नहीं होते। द्वैत न होने से ब्रह्म अभय है, कोई दूसरा हो तभी भय होता है। 'पृथक् श्रुतम्' से सूचित किया कि ग्रंथकार अपरब्रह्म की उपासना की विधि पंचम वाक्य के 'अभिध्यायीत' से मानते हैं और परब्रह्म की उपासना की विधि अंतिम मंत्र में आये 'ओंकारेण विद्वान् अन्वेति' इस वाक्य से मानते हैं। अतः प्रारंभ के 'एकतरम् अन्वेति' की व्यवस्था संगत हो जाती है कि अपर का उपासक अपर को अवश्य प्राप्त करता है और पर का उपासक पर को अवश्य प्राप्त करता है। अपर का उपासक भी पर को तो प्राप्त करता ही है और पर का उपासक भी पूर्ण पक्वता न होने की दशा में अपर को प्राप्त करता हैयह बात दूसरी है। इस प्रकार शैब्य सत्यकाम के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर हुआ।।८१-२।।

उपनिषदारंभ में जिस क्रम से मुनियों का नाम आया उससे उलटे क्रम से उनके प्रश्न उपस्थित हुए हैं अतः अब अंतिम प्रश्न वे सुकेशा भारद्वाज पूछते हैं जिनका वहाँ प्रथम उल्लेख है। इस प्रश्न का विषय सूचित करते हैं **मोक्ष में प्राप्त होने वाला जो परब्रह्म उसकी 'मैं' से अभिन्नता समझना चाहते हुए भारद्वाज पुरुष के बारे में**

जीवब्रह्मैक्यप्रश्नः षष्ठः

मुक्तौ प्राप्यं परं ब्रह्म यत् तस्य प्रत्यगात्मताम्।
बुभुत्सुः सन् भरद्वाजः पुरुषं प्रष्टुमिच्छति।।८३।।
राजपुत्रः षोडशभिः कलाभिः पुरुषं युतम्।
अपृच्छन्मां न वेदाऽहं वद तं पुरुषं मुने।।८४।।

पूछना चाहता है।।८३।। नित्य सत्य ज्ञान आनन्द अनन्त स्वरूप वाला ब्रह्म ही मोक्ष में प्राप्त होता है। शास्त्र कहता है कि वही प्रत्यगात्मा है, 'मैं' है। मैं नित्य हूँ, कभी मेरा अभाव नहीं होता क्योंकि ऐसा मुझे कभी ज्ञान नहीं हो सकता कि मैं नहीं हूँ। मैं हमेशा 'हूँ' अतः सत्य भी हूँ तथा सदा प्रकाशमान रहने से, बिना किसी सहायता के स्फुरमाण रहने से मैं ज्ञान भी हूँ, सदा प्रिय होने से आनंद हूँ तथा उपाधि-परामर्श के बिना असीम होने से अनन्त हूँ। अतः शास्त्रीय बात अनुभवविरुद्ध भी नहीं। परब्रह्म की प्रत्यग्रूपता ही उपनिषत् की सर्वप्रधान शिक्षा है, इसी के बारे में यह षष्ठ प्रश्न है।।८३।।

मुण्डक में कलाओं का परमात्मा में लय और नदी-समुद्र दृष्टांत से परमात्मप्राप्ति कही थी जिसे पूर्वाध्याय में श्लोक ६१ से ६५ तक समझाया था, उसीके संदर्भ में इस प्रश्न का प्रारंभ करते हुए भारद्वाज ने एक घटना का उल्लेख किया है : हिरण्यनाभ कौसल्य नामक राजपुत्र ने भारद्वाज से पूछा 'क्या आप सोलह कलाओं वाले पुरुष को जानते हैं?' भारद्वाज नहीं जानता था अतः सत्य कह दिया कि नहीं जानता क्योंकि झूठ बोलने वाले के इहलोक व परलोक दोनों बिगडते हैं तथा पूर्व में अर्जित शुभ कर्म भी निर्वीर्य हो जाते हैं। उसी को जानने भारद्वाज पिप्पलाद की शरण आया था अतः पूछा'तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति' (६.१) कि वह पुरुष कौन है, कहाँ है? यह प्रश्न रखते हैं **एक राजकुमार ने सोलह कलाओं वाले पुरुषके बारे में मुझसे पूछा था किन्तु मैं उस पुरुषको नहीं जानता। हे मुनिवर! आप मुझे उस पुरुष के विषय में उपदेश दीजिये।।८४।।** सारे जगत् का कारण जो अक्षर ब्रह्म उसे साक्षात् अपरोक्ष समझे बिना अद्वैत स्थिति नहीं होती यह सभी उपनिषदें स्पष्ट करती हैं। जब तक 'मैं' की परीक्षा कर उसका वास्तव स्वरूप परमात्मा है यह नहीं पता चले तब तक स्वयं को परिच्छिन्न मानते रहकर दुःख से छुटकारा संभव ही नहीं है। इसलिये अंतिम प्रश्न में सोलह कलाओं वाले पुरुष का विवेचन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।।८४।।

पिप्पलाद ने वह पुरुष कहाँ हैयह बताने से उत्तर प्रारंभ किया 'तस्मै स होवाचइहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति।।'

षोडशकलः पुरुषः

शृण्वसौ पुरुषो देहे हृन्मध्ये भासते सदा।

तस्मिन् प्राणादिनामान्ता माययोत्पादिताः कलाः।।८५।।

६.२।। अर्थात् जिसमें सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं वह पुरुष शरीर में ही उपलब्ध है। वास्तव में निष्फल होने पर भी उपाधिरूप कलाओं से वह सकल प्रतीत होता है। 'क' नाम ब्रह्म का, आत्मा की ब्रह्मरूपता जिनके कारण मानो लीन हो जाती है, तिरस्कृत हो जाती है, छिप जाती है, उन्हें 'क-ला' कहते हैं। तत्त्वज्ञान से वे कलाएँ बाधित होने पर पुरुष की पूर्णता व्यक्त होती है। इस उत्तर को स्पष्ट करते हैं **आचार्य पिप्पलाद बोलेसुनो; यह पुरुष शरीर में हृदयके अंदर हमेशा प्रकाशमान है, उसी में प्राण से नाम पर्यन्त सारी कलाएँ माया द्वारा पैदा कराई गयी हैं।।८५।।** व्यापक आत्मा की उपलब्धि शरीर में बुद्धिसाक्षी के रूप में सुलभ है और अविद्यादशा में संभव भी वहीं है। जब तक अविद्या मिटे नहीं तब तक शरीर से असीमित प्रत्यक्स्वरूप अपरोक्ष नहीं हो सकता। इसलिये उपदेशारंभ में शरीर में ही हैयही कहना उचित है। परमात्मा को बाहर ढूँढेंचाहे वैकुण्ठ, गोलोक में, चाहे पाँचवें-सातवें आसमान मेंतो वह कभी प्रत्यग्रूप से नहीं मिलेगा, अतः उसका पूर्ण स्वरूप पता नहीं चलेगा, परिच्छिन्न रूप ही पता चल पायेगा। इसीलिये वेद उसका परिचय शरीर में ही देता है क्योंकि यहीं वह प्रत्यग्रूप से अनुभव किया जा सकता है और तभी उसका व्यापक स्वरूप अनावृत होता है। हृदय में उसका अनुभव 'सदा भासमान' के रूप में बना रहता है। अज्ञदशा में भी हृदय में उसकी उपस्थिति ज्ञानरूप से, साक्षिरूप से बनी तो रहती है लेकिन हम स्वयं को प्रमाता से एकमेक समझकर उपस्थिति की उपेक्षा करते रहते हैं। साधना इसीलिये आवश्यक है कि प्रमाता-रूपता छोड़कर साक्षिरूप से स्थित पुरुष को ही मैं समझा जा सके। क्योंकि उस पूर्ण पुरुष का अज्ञान है इसीलिये उसे आवृत करने वाली कलाएँ उत्पन्न होती हैं। अज्ञान ही माया है, उसी के द्वारा पुरुष कलाएँ मानों अपने ऊपर ओढ लेता है जिससे वह कलाओं वाला प्रतीत होता है। इस प्रकार स्पष्ट किया कि वास्तव में कलाओं वाला न होते हुए भी कलाओं वाला लगने से पूर्ण आत्मा सोलह कलाओं वाला कहा-समझा जाता है और उसे बुद्धिसाक्षी रूप से ही समझा जा सकता है।।८५।।

सोलह कलाएँ गिना देते हैं **प्राण, श्रद्धा, आकाशादि पाँचों महाभूत, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नामये कलाएँ जिस पर अध्यस्त**

प्राणः श्रद्धा खादिभूतपञ्चकं चेन्द्रियं मनः।
अन्नं वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोकाश्च नाम च।।८६।।
आरोपिताः कला यस्मिन् पूर्णोऽसौ पुरुषस्ततः।
उपलब्धिस्तथाऽप्यस्य देहमध्ये प्रशस्यते।।८७।।
चिद्रूपताऽत्र विस्पष्टा दर्शनश्रवणादिभिः।
अपैति जीवता देहे स्थिते पूर्णत्वबोधनात्।।८८।।

हैं वह पूर्ण होने से पुरुष है। पूर्ण होने पर भी इसका बेहतर साक्षात्कार शरीर में ही होता है।।८६-७।। कलाओं का स्वरूप पूर्वाध्याय श्लोक ६२ की व्याख्या में समझा चुके हैं। मुण्डक में पंद्रह और प्रश्न में सोलह कलाएँ कही हैं किन्तु कलाएँ वे ही हैं; या नाम को पंद्रह में बिना गिने व्यवस्था बन जाती है, यहाँ अंतर्भाव की दृष्टि से व्यवस्था है। अंतर्भाव भी या प्राणका वायु में, या मनका इंद्रियों में किया जा सकता है। सोलह कलायें होने से वह पूर्ण हो यह बात नहीं वरन् वास्तव में वह सोलहों से रहित है इसीलिये पूर्ण है, वह कलाओं का अधिष्ठान है, उसी पर कलाएँ आरोपित हैं। पूर्ण, व्यापक होने पर भी चिद्रूप से इसकी उपलब्धि हृदय में ही होती है। उपलब्धि हो जाने के बाद तो हृदयका बंधन नहीं रहता किंतु उपलब्धि होने के लिये हृदय ही स्थान है। 'मैं' के सिवाय चेतन का अपरोक्ष कहीं नहीं होता। सद्रूप से तो परमात्मा सर्वत्र दीख सकता है लेकिन चिद्रूप से 'मैं' में ही समझ आता है इसीलिये हृदय में होने वाली उपलब्धि को 'बेहतर' कहा।।८६-७।।

बेहतर होना ही उपपन्न करते हैं **दर्शन, श्रवण आदि सब ज्ञान शरीर में ही होते हैं, इससे शरीर में पुरुष की चेतनता स्पष्ट हो जाती है। देह में स्थित चेतन में स्वरूपतः होने वाली व्यापकता के अनुभव से जीवरूपता, परिच्छिन्नता निरस्त हो जाती है।।८८।।** पुरुष-शब्द चेतनता और व्यापकता दोनों का बोधक है। चेतन रूप से पुरुष का पता चल ही हृदय में, बुद्धि में सकता है और उसकी पूर्णता, व्यापकता समझ लेना मोक्षफलक है, इसी से हृदय में होने वाला आत्मदर्शन बेहतर कहा गया। आँख-कान आदि से होने वाले सभी ज्ञान मुझे ही होते हैं अतः मेरी चेतनता असंदिग्ध है। सपने भी मैं ही देखता हूँ, सुषुप्ति का आनंद भी मैं ही लेता हूँ, अतः सभी अवस्थाओं में मुझे ज्ञान होता रहता है। क्योंकि ज्ञान से पृथक् मैं कभी नहीं मिलता इसलिये निश्चय हो जाता है कि मैं ज्ञानरूप हूँ। जो तो यह लगता है कि ज्ञान मुझे होने वाली कोई अन्य वस्तु है, उसका कारण है कि मैंने चित्त की अहमाकार वृत्ति से तादात्म्य

जीवत्वापादकोपाधिः प्राणस्तस्माज्जनैः सदा।
प्राणोत्क्रान्तिस्थिती स्वात्मन्यारोप्येते मुमुक्षुभिः।।८९।।

कर रखा है, यह वृत्ति ज्ञानरूप नहीं है, उसे तो ज्ञान कभी होता और कभी नहीं होता है किन्तु उस वृत्ति का भी साक्षी जो मैं वह सदा ज्ञानरूप ही हूँ। इस प्रकार शरीर में उपस्थित आत्मा की चेतनता समझना सुलभ है, उसी चेतन को पूर्ण, व्यापक समझना कठिन तो है पर उसी से मोक्षरूप फल मिलता है। स्वयं को अपूर्ण, सीमित समझना ही जीवरूपता है जो स्वयं को पूर्ण, व्यापक जानते ही बाधित हो जाता है, मोक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है।।८८।।

जीवभाव के बाध की उपपत्ति के लिये उसकी औपाधिकता स्पष्ट करते हैं **जीवभाव प्राप्त कराने वाली उपाधि है प्राण इसीलिये मोक्षेच्छुक हों या न हों, सभी लोग शरीर में प्राण रहना और शरीर से प्राण जानादोनों का आरोप आत्मा पर करते रहते हैं।।८९।।** स्थूल शरीर में प्राण हैं तो सभी मानते हैं कि उसमें आत्मा है, शरीर से प्राण निकल गये तो सभी मानते हैं कि अब उसमें आत्मा नहीं रहा, तभी उसे जला देते हैं, मरा घोषित कर देते हैं। रहता और निकलता तो प्राण है, उसके रहने-निकलने का अध्यारोप आत्मा पर कर देते हैं कि आत्मा है या गया। मोक्ष से पूर्व तक यह अध्यास बना ही रहता है अतः मुमुक्षु-अमुमुक्षु दोनों का संग्रह है। किं च जो मुमुक्षु नहीं अर्थात् मोक्ष होता है यही नहीं मानते ऐसे ईसाई तो केवल मनुष्य में आत्मा मानते हैं जबकि प्राण मनुष्यों व जानवरों दोनों में मानते हैं! अतः वे मनुष्य से अन्यत्र प्राण रहने पर भी वहाँ आत्मा है यह स्वीकार नहीं करते। इसलिये यहाँ आस्तिक जनों की मुमुक्षुओं की दृष्टि से ही प्राण के गमन-स्थिति का आत्मा पर आरोप कहा जा रहा है। क्योंकि जीवभाव प्राणरूप उपाधि के कारण है इसीलिये मिथ्या है, औपाधिक मिथ्या ही होता है, इसीलिये वह बाध के योग्य है।।८९।।

प्राण ऐसी उपाधि बन कैसे गया कि उसके रहने-न रहने से आत्मा का ही रहना न रहना समझा जाने लगा? इसका उत्तर श्रुति में बताया कि परमात्मा ने इसी प्रयोजन से प्राण की रचना की है 'स ईक्षांचक्रेकस्मिन्न्वहम् उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि? इति।। स प्राणमसृजत' (६.३-४) अर्थात् अक्षर पुरुष ने चिंतन किया कि शरीर से किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा और शरीर में किसके स्थित होने पर मैं स्थित रहूँगा? तब उसने इस कार्य के लिये सक्षम प्राणको उत्पन्न किया। प्राण ईश्वर ने बनाया ही इसलिये है कि उसके रहने-न रहने से शरीर में

कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तिमाप्स्यामीति विचारयन्।
परमात्माऽसृजत् प्राणान् जनारोपो भवेत्ततः।।९०।।
जीवत्वस्याऽऽरोपितस्य निवृत्त्यर्थं चिदात्मनि।
देहस्थे पूर्णरूपेण पुरुषत्वं विबुध्यताम्।।९१।।
जगत् प्राणादिनामान्तं सर्वमस्मिन् प्रकल्पितम्।
सर्वाधिष्ठानरूपत्वात् पूर्णत्वमुपपद्यते।।९२।।

आत्माका रहना-न रहना संभव हो। आत्मा स्वरूप से तो व्यापक है, वह शरीर छोड़कर जा ही नहीं सकता। प्राणोपाधिकरूप से ही आत्मा का गमन-आगमन संभव है। इसे सूचित करते हैं **'किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा?' ऐसा विचार करते हुए परमात्मा ने प्राणों को उत्पन्न किया, अतः लोगों को यह भ्रम होता है कि प्राण निकलने से आत्मा निकल गया।।९०।।** ईश्वरकृत विचार अर्थात् ईक्षण का उल्लेख आ जाने से भगवान् भाष्यकार ने यहाँ विस्तार से सांख्यमत की परीक्षाकर उनका खण्डन किया है। अनुभूतिप्रकाश में मूलके अर्थ का स्पष्टीकरण ही प्रधान होने से उन विचारों का संग्रह नहीं किया।।९०।।

शरीर में उपलब्ध प्रत्यगात्मा की पूर्णता जानना ही सफल ज्ञान है इसी को व्यक्त करते हैं **आरोपित जीवभाव हटाने के लिये यह समझना आवश्यक है कि देह में स्थित चेतन आत्मा में पूर्णता होने से वह पुरुष, व्यापक ब्रह्म, ही है।।९१।। प्राण से नाम तक सारा जगत् चेतन में ही कल्पित है अतः सबका अधिष्ठान होने से चेतन की पूर्णता संगत है।।९२।।** आत्मा में जीवरूपता प्राण उपाधि से आरोपित बतायी। मरणपर्यन्त प्राण उपाधि बनी ही रहेगी और मरने के बाद श्रवण-मननादि कर नहीं सकते, तो जीवभाव मिटे कैसे? इसका जवाब है कि विवेक वह उपाय है जो प्राण को आत्मा से दूर किये बिना ही आत्मा के स्वरूप को समझ सकता है। सोना हमेशा किसी आकार में ही मिलता है फिर भी सब आकारों से रहित सोना जैसे समझ आ जाता है वैसे सप्राण मिलने पर भी अप्राण आत्मा शास्त्रोपदेश से विवेकपूर्वक समझ आ जाता है। बाकी कलाएँ प्राण के बाद की हैं, पहले आत्मा सप्राण (जीव) बनता है तब श्रद्धादि उससे जुड़ती हैं, अतः प्राण से विवेक हो जाने पर बाकी कलाओं से स्वतः विवेक सिद्ध हो जाता है जैसे चुम्बक से चिपकी पहली कील चुम्बक से छुड़ा देने पर उस कील से लटकी बाकी सब कीलें स्वतः गिर जाती हैं। देह में अनुभूयमान चेतन को हम जीव (सप्राण) मानते हैं, जगत्कर्त्ता व्यापक चेतन को ईश्वर मानते हैं। जब समझ आता है कि

अकलः पुरुषः

नदीष्वब्धिं प्रविष्टासु लीयेते रूपनामनी।
कलास्वात्मनि बोधेन लीनास्वात्माऽब्धिवत् स्थितः।।६३।।
एषोऽकलोऽमृतः पूर्णश्चिदात्मा मुक्त उच्यते।
एवं बोधयितुं सर्वे वेदान्ताः संप्रवर्तिताः।।६४।।

देह में अनुभूयमान ही पूर्ण है, व्यापक है, उसकी परिच्छिन्नता औपाधिक है, मिथ्या है, तब वही चेतन पुरुष अर्थात् ईश्वर है यही उचित लगता है। जैसे घटके कारण परिच्छिन्न लगता आकाश वास्तव में व्यापक ही है वैसे प्राण के कारण परिच्छिन्न लगता चेतन वास्तव में ब्रह्म ही है। हमें सीमित संसारी बनाने वाला जगत् प्राणादि कलाएँ ही हैं तथा ये ज्ञानरूप चिदात्मा पर अध्यस्त हैं। अवस्थात्रय-विवेक से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुरीय तत्त्व पर ही सारा जगत् कल्पित है। यद्यपि प्राण की कल्पना भी अविद्यामूलक है अतः जीवकी मूल उपाधि अविद्या ही है तथापि जीवभाव प्रकट प्राण से ही होता है, जीवका लोकोपयोगी रूप तभी तैयार होता है जब आत्मा सप्राण हो जाये इसलिये यहाँ प्राण को जीवकी उपाधि कह रहे हैं। अगले अध्याय में प्रतर्दन को इन्द्र भी प्राण के सहारे ही आत्मविद्या का उपदेश देंगे, उसकी भी यहाँ सूचना देने के लिये प्राण का उल्लेख उचित है। बिना ज्ञान के ज्ञेय की सिद्धि नहीं, प्राणादि सब ज्ञेय ही हैं अतः ज्ञान पर ही निर्भर हैं तथा ज्ञेयकी ज्ञान पर निर्भरता यही है कि वह ज्ञान पर अध्यस्त होता है। इससे प्राणादि का अधिष्ठान ज्ञानरूप चेतन निश्चित होता है तथा उसे व्यापक जानना संभव होता है क्योंकि उसे सीमित बनाने वाला प्राण ही जब कल्पित है तब सीमायें तो कल्पित हैं ही इसमें कहना क्या! केवल कल्पित के बजाये प्रकल्पित कहकर द्योतित किया कि यह नैसर्गिक अध्यास है अतः सामान्य विवेक से दूर नहीं होगा, तीक्ष्ण विवेकपूर्वक शास्त्रोपदेश से अधिष्ठान का साक्षात्कार करने से ही मिटेगा।।६१-२।।

कलाओं के बाध से ही मोक्ष संभव है यह पिप्पलाद ने नदियों के समुद्र में मिलने के दृष्टांत से स्पष्ट किया है, उसीको समझाते हैं **जिस प्रकार नदियों का समुद्र में प्रवेश हो जाने पर नदियों के रूप व नाम विलीन हो जाते हैं, एक अखण्ड समुद्र ही बचता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से कलाओं का आत्मा में लय हो जाने पर अद्वैत आत्मा ही रहता है।।६३।। यह कलारहित, मरणरहित पूर्ण, चेतन आत्मा ही मुक्त कहा जाता है तथा इस प्रकार की वास्तविकता को समझाने के लिये ही सारी उपनिषदें प्रवृत्त हैं।।६४।।** समुद्र में मिलने से पूर्व तक हर नदी के

नाम रूप आदि पृथक्-पृथक् हैं किंतु समुद्र में मिल जाने पर सारे भेद समाप्त होकर एक जलराशि ही रह जाती है। नदियों में भेद जलका नहीं वरन् विभिन्न उपाधियों का है। जहाँ से उनका उद्‌गम हुआ, जहाँ बहीं, उन सब जगहों की मिट्टी, पौधों आदि के असर से ही नदियों के जल में अंतर महसूस होता है, उनके रंग, स्वाद, गुणधर्म आदि अलग-अलग हो जाते हैं। किन्तु असर डालने वाले तत्त्वरूप उपाधियों को हटा लें तो जल नदी दशा में भी सर्वथा एक ही है। परंतु जब नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती हैं तब तो बिना कोई विवेक किये स्पष्ट हो जाता है कि एक अथाह जलका आयतन है, वहाँ नदियों के नाम-रूप आदि कोई भेद रह नहीं जाते। इसी तरह कलाओं का जब बाध होता है तब वे आत्मा में लीन हो जाती हैं जैसे साँप रस्सी में लीन हो जाता है। कलाएँ ही आत्मा को परिच्छिन्न बनाये थीं; वे रह नहीं गयीं तो अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ही बना रहता है, यही मुक्ति है। स्वरूप से आत्मा सदा मुक्त है जैसे जल हमेशा जल है लेकिन जैसे उपाधिवश जल में भेद होता है वैसे उपाधिवश आत्मा बद्ध हो जाता है, उन कल्पित उपाधियों का बाध होने से आत्मा को मुक्त कहा जाता है जैसे समुद्र में पहुँच जाने पर उसे केवल जल कहा जाता है। दृष्टांत बात समझने के लिये होते हैं, सर्वांश में समानता नहीं होती अतः जल सावयव है या समुद्र में भी नाम-रूप हैं आदि विषमताओं का उल्लेख निष्प्रयोजन है। मुक्त आत्मा सब कलाओं के बाध की अवधि है अतः उसे अकल या कलाहीन कहा। आत्मा नाशरहित होने से अमृत है। उसका परिच्छेदक न होने से पूर्ण और स्वप्रकाश होने से चेतन है। यह प्रत्यग्वस्तु ही सनातन मोक्ष है जिसकी प्राप्ति अधिकारी को हो इसी उद्देश्य से उपनिषदों की तात्पर्यतः प्रवृत्ति है।।६३-४।। यहाँ तक छठे प्रश्न का उत्तर हुआ।

अन्त में पिप्पलाद ने सभी मुनियों को परमात्मज्ञान पाने के लिये प्रेरित किया 'अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति।।' ६.६।। अर्थात् रथ, साइकल आदि के पहियों में ताड़ियाँ होती हैं जो एक ओर चक्के के भीतरी हिस्से में और दूसरी तरफ नाभि में स्थित होती हैं। चक्का उन्हीं ताड़ियों के सहारे नाभि पर टिका रहता है। उस दृष्टांत से कहा कि कलाएँ ताड़ियों की जगह हैं और आत्मा नाभि की जगह है। आत्मा पर ही कलाएँ और उनके सहारे सारा जगत् आत्मा पर ही टिका है, आधारित है, अध्यस्त है। वह आत्मा ही ज्ञेय पूर्ण वस्तु है। उसे हम अभी परिच्छिन्न जानकर मृत्यु से पीडित हैं। उसे व्यापक पूर्ण समझ लें तो मृत्यु से मुक्त हो जायेंगे। इसे ही स्पष्ट करते हैं **रथचक्रकी नाभि में ताड़ियों की तरह जिस चेतन**

कलाः प्रतिष्ठिता यस्मिन् रथनाभावरा इव।
तं वेद्यं पुरुषं सर्वे जानीध्वं मृत्युहानये।।६५।।

में सब कलाएँ स्थित हैं उस जानने योग्य पुरुष को तुम सब जानो ताकि मृत्यु से छूट सको।।६५।। नदी-दृष्टांत लयकाल की दृष्टि से था, यह दृष्टांत व्यवहारकाल की दृष्टि से है। सारे ब्रह्माण्ड का नाभिस्थल परमात्मा है। उसीमें सब स्थित है, उसी के सहारे सत्ता पा रहा है। कलाओं में व्यष्टि-समष्टिभाव है किंतु जिस पर वे स्थित हैं उस आत्मा में कोई अंतर नहीं। ऐसा नहीं कि देवदत्त की कलाएँ उस आत्मा में और यज्ञदत्त की कलाएँ अन्य आत्मा में स्थित हैं तथा व्यापक कलाएँ किसी ईश्वरात्मा में स्थित हैं! आत्मा में भेद तो है ही कलाओं से, कलाओं को छोड़ दें तो आत्मा अखण्ड एकरस ही है, वही सब कलाओं का अधिष्ठान है। वह आत्मवस्तु ही सत्य होने से इस लायक है कि जानी जाये। झूठ को जानना बेकार होता है, सार्थक उसी को जानना होता है जो सनातन सत्य है। झूठी चीज़को सच समझना वास्तव में ज्ञान नहीं अज्ञान ही है अतः संसार के बारे में जिसे हम ज्ञान समझते हैं वह सब अज्ञान ही है। मृत्यु अर्थात् परिच्छेद, सीमा, उससे परे होने का एक ही उपाय है पूर्ण पुरुष का साक्षात्कार। छहों मुनि परब्रह्मका अन्वेषण करने आये थे; पूछे उन्होंने अलग-अलग सवाल लेकिन उद्देश्य सबका निष्कल आत्मा का ज्ञान ही था अतः पिप्पलाद महर्षि ने प्रत्येक के प्रश्नों का जवाब देकर अन्त में अपनी तरफ से निर्देश दिया कि उत्तम साधक होने से उन्हें सारी सामर्थ्य लगाकर तत्त्व का साक्षात्कार कर लेना चाहिये ताकि मोक्ष प्राप्त कर लें। अन्यत्र भी श्रुति ने अनेक जगह परमात्मवस्तु अवश्य विज्ञेय है यह कहा है, इससे पता चलता है कि इस ज्ञान के प्रति शास्त्र का असीम आदर है। यद्यपि पिप्पलाद के समाने छह मुनि थे तथापि उपनिषत् समस्त जीवों को सम्बोधित कर रही है कि जो भी मृत्यु की व्यथा से बचना चाहे वह परमात्म-साक्षात्कार के लिये ही यत्न करे।।६५।।

महर्षि ने, शिष्यों को यह शंका न रह जाये कि 'पिप्पलाद को यहाँ तक पता है, इससे आगे और कुछ भी ज्ञेय होगा, उसे पता लगाना चाहिये', इसलिये एक निर्भीक घोषणा की 'तान् होवाचएतावद् एवाऽहम् एतत् परं ब्रह्म वेद, नाऽतः परमस्तिइति।।' ६.७।। अर्थात् इतना ही मैं परब्रह्म को जानता हूँ, इससे परे और कुछ जानने योग्य है ही नहीं। निष्ठा की पूर्ण दृढता के बगैर कोई श्रेष्ठ विद्वान् सज्जन उत्तम साधक विद्वानों के समक्ष यह घोषणा कर नहीं सकता कि इससे अतिरिक्त कुछ ऐसा नहीं जो जानने लायक हो। इससे शिष्यों को निश्चय होता है कि और कुछ जानने की तरफ मनको न जाने देकर

आत्मबोधः सर्वोत्तमः

कात्यायनादयः सर्वे शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः।
एतावदेव ब्रह्माऽहं वेद्मि नाऽतोऽधिकं क्वचित्।।९६।।

केवल इसी पर एकाग्र करें क्योंकि जो कुछ जानकारी मिलने योग्य है वह मिल चुकी है। साधक को यह निश्चय ज़रूरी है तभी वह सारा यत्न साधना में लगायेगा। जब तक थोड़ी-सी भी संभावना रहे कि शायद कोई और उपाय होगा, कोई प्रबलतर सहायक होगा, कोई गुप्त रहस्य होगा, तब तक सम्पूर्ण तत्परता से साधना हो ही नहीं सकती। इसलिये पिप्पलाद के मुख से श्रुति ने यह कहलवा कर सभी मुमुक्षुओं को सचेत किया है कि कैवल्यका एक ही मार्ग है, उसी पर चलें, समय व सामर्थ्य व्यर्थ न खोयें अन्य मार्ग खोजने में। इसे प्रकट करते हैं **कात्यायनादि सब श्रेष्ठ मुनि सुन लेवेंइतना ही मैं ब्रह्म को जानता हूँ, इससे अधिक कहीं कुछ जानने को नहीं है।।९६।।** पिप्पलाद सबको मोक्ष मार्ग पर अग्रसर करना चाहते थे अतः कोई मुनि अपर ब्रह्मकी या विराट् आदि की ही उपासना में रुका न रहे, तत्त्वसाक्षात्कार-पर्यन्त आगे बढ़ता ही रहे इसके लिये उन्हें प्रेरित करते हुए बोले कि परम गंतव्य यह पूर्ण वस्तु है, इसे पाये बिना रुकना मत। अत्यंत शुद्धचेता, विनयादि-शिष्यगुणों से पूर्ण और परब्रह्मके जिज्ञासु होने से मुनियों को श्रेष्ठ कहा। परमार्थ की जिज्ञासा ही दुर्लभ है। अजातशत्रु के पास गार्ग्य ने ब्रह्मकी बात छेड़ी इतने से ही वह इतना प्रसन्न हुआ कि गार्ग्य को महती दक्षिणा दे दी। परमात्मा की बात कहना या सुनना चाहना ही साधककी बहुत बड़ी उपलब्धि है। प्रारंभिक स्तर पर कोशिश करके यह आदत बनानी चाहिये कि अधिकाधिक वार्तालाप परमात्मा के बारे में हो, अधिकाधिक अध्ययनादि परमात्मविषयक हो। अन्यथा पत्र-पत्रिकएँ पढ़ने में घण्टा-सवा घण्टा रोज़ लगाने वाले भी कह देते हैं कि अध्यात्म साहित्य पढ़ने का समय नहीं मिलता! जिसे पत्रादि पढ़ना अत्यावश्यक हो वह भले ही उसे भी पढ़ ले लेकिन ज्यादातर समय उन सूचनाओं और किस्सों को पढ़ने में जाता है जिन्हें जानने का कोई भी, लौकिक भी प्रयोजन नहीं है। साधक को इससे सावधान रहना चाहिये और वह समय अध्यात्म-अध्ययन आदि में विनियुक्त करना चाहिये। ऐसे ही गप्पें मारने के बजाये परमात्मा की बातें करे यह साधक की प्रगति का हेतु बनेगा। ये मुनि व्यर्थ चर्चाओं में नहीं पड़कर परब्रह्मके अन्वेषण में लगे थे इसी से इन्हें श्रेष्ठ कह दिया। पिप्पलाद ने यह स्पष्ट कर दिया कि न वे, न और कोई, कभी व किसी भी देश में ऐसा हुआ है, है या होगा जो इससे अधिक कुछ *जाने*। अज्ञान का विस्तार असीम प्रकारों का होता रहता है,

आचार्यः पिता

मुनयोऽप्यर्चयन्तस्तं पिप्पलादं वचोऽब्रुवन्।
संसारभयतोऽस्माकं पालनात् त्वं हि नः पिता।।६७।।
अविद्यायाः परं पारं यस्तारयति तस्य ते।
शुश्रूषामुचितां कर्तुं न शक्ताः प्रणतिं विना।६८।।

ज्ञान एक ही है, निष्प्रकारक अखण्ड अनुभूति ही है।।६६।।

पिप्पलाद से यह दिव्य उपदेश पाकर छहों मुनि कृतार्थ हुए और श्रद्धा से उन्हें प्रणाम करते हुए बोले 'ते तमर्चयन्तःत्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।।'६.८।। कि आप हमें अविद्यासमुद्र का परला किनारा दिखा रहे हैं अतः आप ही हमारे पिता हैं। श्रेष्ठ ऋषियों को पुनः पुनः प्रणाम है। भाष्यकार ने कहा है कि ब्रह्मविद्या-प्राप्ति का मूल्य चुकाया नहीं जा सकता, शिष्य हमेशा गुरु के अधमर्ण रहता है अतः केवल आदर व्यक्त करते हुए अर्चना कर ही मुनियों ने कृतज्ञता प्रकट की। स्मृतियों में पाँच पिता कहे हैंजनक, उपनयनकर्ता, विद्यादाता, अन्नदाता और भयत्राता। गुरु विद्यादाता होने से पिता है तथा संसारभय से त्राण करने के कारण भी पिता है। अन्य पिता जन्म-मरण वाला शरीर देता है जबकि ब्रह्मविद्याचार्य कभी न हटने वाला मोक्ष देता है अतः सर्वाधिक पूज्य है। ब्रह्मविद्या के संप्रदाय के सभी ऋषि सतत प्राणाम के योग्य हैंयह बताकर उपनिषत् समाप्त हुई। मुनियों की आचार्य के चरणों में प्रणति का वर्णन करते हैं **छहों मुनि भी पिप्पलाद की अर्चना करते हुए बोले'संसाररूप भय से बचा लेने वाले आप ही हमारे पिता हैं।।६७।। अविद्या के परले किनारे पहुँचाने वाले आप श्री की अन्य कोई उचित सेवा करने में हम अक्षम हैं, केवल प्रणाम कर सकते हैं।।६८।। गुरुओं को, उत्तम ऋषियों को बार-बार नमस्कार है।।'** मुनियों ने पिप्पलाद की विधिवत् अर्चना पूजा कर अपनी श्रद्धा प्रकट की और उन्हें पिता कहकर सर्वोत्तम सम्मान दिया। लौकिक पिता थोड़े दिनों तक पालन करता है फिर भी पूज्यतम माना जाता है। और वह भी सब भयों से, रोग-शोकादि से नहीं बचा पाता। ब्रह्मविद्या-प्रदाता तो सदा के लिये समस्त भयों से, शोकों से बचा लेता है अतः उसकी पूज्यता का क्या कहना! भेद रहते भय से पूर्णतः नहीं बच सकते, अभेद में ही संपूर्ण अभय है। ऐसा अभेद गुरु ही विद्या द्वारा प्रदान करते हैं। किं च, शास्त्र कहता है कि पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है; इस दृष्टि से मुनियों का तात्पर्य है कि हम जो अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व मान रहे थे वह अब नहीं मान रहे, हमें

गुरुभ्यः परमर्षिभ्यो भूयो भूयो नमो नमः।
इत्येवं पिप्पलादस्तान् मुनीननुगृहीतवान्।।९९।।

पता चल गया कि आप ही हम हैं, जो आप हैं वही हम हैं। इससे द्योतित किया कि पिप्पलाद का उपदेश सफल हुआ। संसार में जो ज्ञान कहे जाते हैं वे अविद्या के क्षेत्र में ही रखते हैं, उपासनाएँ भी अविद्या के दायरे से बाहर नहीं पहुँचाती। केवल परब्रह्मका ज्ञान ऐसा है जो अविद्या से परे ले जाता है, ब्रह्मरूप उस तट पर पहुँचा देता है जहाँ अविद्या का कोई अस्तित्व नहीं। उस ज्ञान का दाता ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही है। गुरुकी सेवा शिष्य का कर्तव्य है। सेवा का अभिप्राय है सेव्य के कष्ट दूर करना, उसकी आवश्यकता पूरी करना, इच्छाएँ पूरी करना; किन्तु ब्रह्मनिष्ठ को न कोई कष्ट है न इच्छा न उसकी कोई आवश्यकता ही है, तो उसकी क्या सेवा की जाये! जिस शरीर मनकी सेवा कर सकते हैं उसे तो वह अपना स्वरूप समझता ही नहीं अतः वह 'उसकी' सेवा नहीं कही जा सकती। इसलिये केवल प्रणाम ही कर सकते हैं, अहंकार आदि जिस किसी को हम मैं-मेरा समझते हैं उस सबका त्याग करना ही सद्गुरु के चरणों मे नमस्कार है। अहंकार बचाये रख कर तत्त्वज्ञान नहीं पाया जा सकता, उसे त्यागना ब्रह्मविद्या पाने के लिये अनिवार्य है। मुनियों ने कहा कि सभी गुरुओं को प्रणाम है ऋषियों को प्रणाम है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु भी निरहंकार होने से साधारण अर्थ में कोई 'व्यक्ति' नहीं है, साक्षात् ब्रह्म है अतः सारी परंपरा में जितने गुरु हुए हैं सब ब्रह्म से अभिन्न ही हैं, सभी की हम पर कृपा रही कि उत्तरोत्तर ज्ञानप्रवाह चलकर हमें मिला अतः सभी के प्रति प्रणाम कर्त्तव्य है। 'वन्दे गुरुपरम्पराम्' द्वारा यह प्रकट किया जाता है कि सदाशिव-पर्यन्त समस्त गुरु वंदनीय हैं। भगवान् दक्षिणामूर्ति से ज्ञान पाने वाले सनकादि ही परम ऋषि हैं, उनसे आगे अन्य ऋषियों को ज्ञान मिला। सभी ऋषियों को, ब्रह्मविद्याचार्यों को प्रणाम कर मुनियों ने सूचित किया कि वे जो कुछ जानने आये थे वह सब जान लिया।।९८-१/२।।

इस अध्याय को समाप्त करते हैं **इस प्रकार पिप्पलाद ने परापर विद्याओं का उपदेश देकर छहों मुनियों पर कृपा की।।९९।।** अनुग्रह ही हेतु है गुरु के उपदेश का। धन, सेवा आदि विद्याप्राप्ति के अन्य उपाय यहाँ कारगर नहीं क्योंकि विरक्त, देहातीत, सर्वज्ञ गुरु के प्रति वे उपाय निष्फल हैं। ब्रह्मवेत्ता स्वयं ही कृपा करे तो तत्त्वज्ञान देता है, शिष्य अपनी किसी सामर्थ्यवश तत्त्वविद्या ले नहीं सकता। इस अध्याय में प्रश्नोपनिषत् में आये पिप्पलाद के उपदेश का संश्लिष्ट वर्णन किया गया है।

विद्याप्रकाशसमापनम्

वेदैश्चतुर्भिरुत्पन्ना विद्येयं ब्रह्मगोचरा।
प्रकाशिताऽतः सन्तुष्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१००।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे
प्रश्नोपनिषद्विवरणं नाम सप्तमोऽध्यायः।।

चतुर्वेदविद्याप्रकाश नामक इस ग्रंथ-भाग का समापन करते हैं **चारों वेदों द्वारा प्रतिपादित परब्रह्म-विषयक विद्या इस ग्रंथ-भाग में प्रकाशित की है, इससे श्रीविद्यातीर्थ नामक महान् यतीश्वर सन्तुष्ट हों।।१००।।** प्रथम अध्याय में ऋग्वेदोक्त ब्रह्मविद्या का, दूसरे में यजुर्वेदोक्त का, तीसरे-चौथे-पाँचवें में सामवेदोक्त का तथा छठे सातवें में अथर्ववेदोक्त ब्रह्मविद्याओं का व्याख्यान किया गया। कर्म-उपासना की तरह ब्रह्मविद्या हर वेद वाले के लिये अलग-अलग नहीं है वरन् जहाँ कहीं भी वर्णित है, एक ही विद्या है क्योंकि वास्तविक तत्त्व एकरूप ही है। क्रिया में विकल्प होते हैं, ज्ञान में नहीं। जैसा ब्रह्म है वैसा उसे जानना है, ब्रह्म एकरूप है अतः उसे एकरूप ही जानना पड़ेगा अतः ब्रह्मविद्या में भेद नहीं। वेद की सभी शाखाओं में परमात्मा का वर्णन है अतः साधक को यह निर्णय करने के लिये कि समग्र वेद परमात्मा के बारे में क्या कहता है, सभी उपनिषदों का समन्वित अध्ययन करना पड़ता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस ग्रंथ में चारों वेदों की प्रधान उपनिषदों का संग्रह किया गया है। ‘अनुभूतिप्रकाश’ के इस सप्ताध्यायात्मक प्रथम भाग का नाम ‘चतुर्वेदविद्याप्रकाश’ है, इसे केवल ‘विद्याप्रकाश’ नाम से भी उद्धृत किया जाता है। गुरु के चरणों में इस ग्रंथरत्न को समर्पित कर आचार्य विद्यारण्य ने अपनी असीम श्रद्धा प्रकट की है।।१००।।

।। सातवाँ अध्याय।।

ॐ

कौषीतकीशाखाविवरणे

इन्द्र-प्रतर्दनसंवादः

अष्टमोऽध्यायः

ऐतरेये तैत्तिरीये छान्दोग्येऽथर्वणे च यत्।
तत्त्वं चतुर्वेदविद्याप्रकाशे तत् समीरितम्।।१।।

अथानुभूतिप्रकाशः

अनुभूतिप्रकाशेऽथ कौषीतक्यादिनामसु।
चतुर्वेदाङ्गशाखासु यत् तत्त्वं तद् उदीर्यते।।२।।

कौषीतकी उपनिषत् में इन्द्र-प्रतर्दन का संवाद : आठवाँ अध्याय

परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार का प्रकाशन करने के लिये प्रवृत्त आचार्य श्रीविद्यारण्य महामुनि ने उपनिषदों के प्रधान तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए चयनित स्थलों का अत्यन्त गम्भीर और सरल श्लोकबद्ध ऐसा व्याख्यान किया है जो एक स्वतन्त्र ग्रंथ के रूप में भी पढ़ा जाये तो औपनिषद आत्मज्ञान कराने के लिये पर्याप्त है। उस ग्रंथ के दो भाग हैं यह सूचित करते हुए अब दूसरा भाग प्रारंभ करते हैं **ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और अथर्ववेद में जो तत्त्व प्रतिपादित है वह चतुर्वेदविद्याप्रकाश में भली भाँति समझा दिया।।१।। चारों वेदों की कौषीतकी आदि नामक अंगशाखाओं में जो तत्त्व उपदिष्ट है उसे अब अनुभूतिप्रकाश में स्पष्ट किया जायेगा।।२।।** ऋग्वेद की ऐतरेयोपनिषत्, यजुर्वेद की तैत्तिरीयोपनिषत्, सामवेद की छान्दोग्योपनिषत् और अथर्ववेद की मुण्डक-प्रश्न उपनिषदों की व्याख्या सात अध्यायों में की, उस खण्ड का नाम चतुर्वेदविद्याप्रकाश है। उपनिषदों में विषय अनेक आये हैं लेकिन मन्दाधिकारी सबको समझने में असमर्थ होता है और कभी-कभी उसे यही नहीं पता चलता कि कौन-सा विषय कहाँ-कहाँ कहा है जिससे संपूर्ण उपनिषत् का एक तात्पर्य क्या है इसका ज्ञान अर्थात् श्रवण ही नहीं हो पाता। अतः अत्यन्त कृपालु होकर विद्यारण्य

अध्यायारम्भः

ऋग्वेदस्थितशाखा या कौषीतक्यभिधाङ्किता।
तस्यां प्रतर्दनायेन्द्रः प्राहात्मानुभवं स्फुटम्।।३।।

स्वामी ने उपनिषदों के वे स्थल छाँटकर समझाये हैं जो अद्वैतबोधक हैं। कैवल्येच्छुक को इन्हीं का विचार करना सार्थक है। इस ग्रंथ से उपनिषत् का तात्पर्य समझकर इच्छा व सामर्थ्य हो तो मूल उपनिषद् व भाष्यादि भी पढ़ सकता है, वे बेहतर समझ आयेंगे तथा उनका विषय-विभाजन उलझन नहीं पैदा करेगा। अद्वैत आत्मविद्या को यहाँ 'तत्त्व' कहा; वैसे, सारभूत वास्तविकता को तत्त्व कहते हैं किन्तु यहाँ यह भी सूचित है कि तत् और त्वम् का अभेद जो उपनिषदों में प्रतिपादित है उसी का इस ग्रंथ में वर्णन है। तत् अर्थात् ईश्वर और त्वम् अर्थात् जीवयह वेदान्त में प्रसिद्ध है क्योंकि 'तत्त्वमसि' वाक्य में इन्हीं अर्थों में ये शब्द आये हैं। चारों वेदों की अनेक शाखाएँ हैं, उनमें से एक-एक को चुनकर पहले भाग में क्रमशः चारों वेदों की उपनिषदों का व्याख्यान हुआ। द्वितीय भाग में पुनः वेदक्रम से अन्य शाखाओं में आयी उपनिषदें समझायेंगे। पहले दो अध्यायों में ऋग्वेद की कौषीतकी उपनिषत् का वर्णन करेंगे, फिर यजुर्वेद की मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर और बृहदारण्यक उपनिषदों का विस्तार से व्याख्यान होगा, तदनंतर सामवेद की केनोपनिषत् समझाकर अथर्ववेद की नृसिंहतापनीय की व्याख्या से ग्रंथ समाप्त करेंगे। कुछ लोग मैत्रायणी को सामवेद की उपनिषत् बताते हैं लेकिन क्योंकि इस ग्रंथ में वेदक्रम से विन्यास प्रतीत होता है इसलिये लगता है कि विद्यारण्य स्वामी उसे यजुर्वेद की ही स्वीकारते हैं। 'अंगशाखा' का मतलब है अंगभूत शाखा, जैसे वृक्ष की शाखाएँ उसका अंग होती हैं वैसे वेद की सब शाखाएँ वेद का अंग हैं। शाखाओं में परस्पर अंग-प्रधानभाव नहीं कहा जा रहा। सभी शाखाओं में प्रतिपादित तत्त्व सर्वथा एक है यह बताने के लिये दोनों श्लोकों में तत्त्व-शब्द रखा। ग्रंथ के इस द्वितीय खण्ड का नाम अनुभूतिप्रकाश है। फिर भी दोनों भागों को मिलाकर अनुभूतिप्रकाश कह दिया जाता है।।१-२।।

इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय की प्रतिज्ञा करते हैं **ऋग्वेद की कौषीतकी शाखा में इन्द्र ने प्रतर्दन को आत्मानुभव का स्पष्ट उपदेश दिया है। (उसका अब वर्णन करेंगे)।।३।।** कुषीतक महर्षि जिस शाखा में प्रधान ऋषि हुए हैं उस कौषीतकी शाखा का अध्ययन-अध्यापन काफी समय से बाधित रहा अतः आज उसका मंत्रभाग तो मिलता ही नहीं, ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् भाग मिलते हैं। किसी शापवश इस शाखा का प्रचार कम हुआ ऐसी प्रसिद्धि है। ऋग्वेद के अध्येताओं का क्षेत्र

पूर्व है ओर वहाँ बहुत पहले तन्त्रों का प्रचार हो गया था अतः वेद का पठन-पाठन क्षीण हुआ जिसके फलस्वरूप ऋग्वेद की नौ में से आज एक ही शाखा उपलब्ध है। कुषीतक ऋषि शिवभक्त थे और सोमनाथ में उन्होंने तपस्याकर शिवदर्शन पाये थे ऐसा वर्णन मिलता है। कौषीतकी शाखा के आरण्यक भाग की इस उपनिषत् में चार अध्याय हैं। प्रथम दो अध्याय उपासना-विषयक हैं, तीसरे-चौथे में ब्रह्मविद्या आयी है अतः इन्हीं दो का इस ग्रंथ में विचार करेंगे। कौषीतकी पर तो शांकरभाष्य नहीं है लेकिन ब्रह्म सूत्रों में (१.१.११.२८-३१; १.४.५.१६.१८) उक्त दोनों प्रसंगों का विशद विवेचन किया गया है अतः भाष्याभिमत व्याख्या वहाँ उपलब्ध है। आचार्य शंकरानंद ने शब्दार्थ-बोधन सहित विचारपूर्ण दीपिका इस उपनिषत् पर भी रची है। तीसरे अध्याय में उपनिषत् ने इंद्र के मुख से राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन को आत्मा का उपदेश दिलाया है। एक समय इन्द्र को युद्ध में सहायता की ज़रूरत पड़ी तो पृथ्वी से प्रतर्दन को स्वर्ग बुलाया गया जहाँ उसने अत्यन्त वीरता से लड़कर असुरों का नाश किया। उसके युद्धकौशल तथा बलिष्ठता से देवराज इन्द्र प्रसन्न हो गये और उन्होंने उससे कहा 'प्रतर्दन! मैं तुझे वर देना चाहता हूँ।' देवताओं के ही उद्देश्य से इतना घोर युद्ध प्रतर्दन ने किया अतः स्वार्थ के लिये न किये उस स्वधर्मानुष्ठान से उसके अनेक जन्मों के पाप कट गये, चित्त शुद्ध हो गया अतः उसने अत्यन्त विवेक से काम लिया। राजा ने सोचा कि इंद्र ने 'वर' देने के लिये कहा है। वर कहते हैं श्रेष्ठ को। मैं अल्पमति हूँ, श्रेष्ठ क्या है इसकी सही जानकारी मुझे है नहीं अतः जो भी माँगूँगा हो सकता है उससे श्रेष्ठ और भी कुछ हो जिससे मैं वंचित रह जाऊँगा। इन्द्र देवता हैं, सब जानते समझते हैं अतः इन्हीं के जिम्मे निर्णय छोड़ना चाहिये कि जो 'वर' हो वह ये देवें। किंच मैंने कुछ माँगा नहीं, अपनी तरफ से ही इंद्र ने देने की इच्छा व्यक्त की, इसलिये भी क्या दें इसका चुनाव इन्हीं पर छोड़ना चाहिये। उसने इन्द्र को जवाब दिया 'मनुष्य के लिये जिसे आप हिततम अर्थात् सर्वाधिक हित समझते हों वह दे दीजिये क्योंकि वही 'वर' होगा और वर ही आप देना चाहते हैं।' इन्द्र ने विचारपूर्वक आत्मज्ञान को ही मनुष्य के लिये हिततम समझा अतः उसी का उपदेश दिया। उसी उपदेश का स्पष्टीकरण विद्यारण्य स्वामी इस अध्याय में करने जा रहे हैं।।३।।

'वर' के बारे में प्रतर्दन का निर्णय बताकर इन्द्र द्वारा वर के निर्धारण का क्रम बताते हैं **मनुष्यों के लिये जो सर्वाधिक हित हो उसे वर-रूप से प्रतर्दन ने चुना। इन्द्र ने बुद्धि लगाकर विचार किया कि मनुष्यों के लिये हित क्या है,**

हित-हिततर-हिततमाः

मनुष्येभ्यो हिततमं वरं वव्रे प्रतर्दनः ।
हितं हिततरं चेन्द्रो मेने हिततमं धिया । ।४ । ।
हितं स्वर्गसुखं मर्त्त्यसुखादप्यधिकत्वतः ।
तद्वैराग्यं हिततरं यागाद्यायासवर्जनात् । ।५ । ।

अधिक हित क्या है और सर्वाधिक हित क्या है । ।४ । । अंतःकरण की शुद्धि का मतलब है संसार के प्रति दृढ वैराग्य। प्रतर्दन निर्मलमना था, उसने मौका मिलने पर कोई सांसारिक वस्तु चाही ही नहींयह उसके उत्कट वैराग्य को स्पष्ट करता है। मिल न रहा हो तब तो बहुत से लोग कह देते हैं, स्वयं भी महसूस कर लेते हैं कि 'हमें स्वर्ग, ब्रह्मलोकादि नहीं चाहिये, इस संसार के भी विषय-भोग नहीं चाहिये, जो मिल रहा है वह काफी है', लेकिन जब अत्यंत सुलभता से इहलोक-परलोक के सुख मिलने का अवसर मिलता है तब प्रायः सांसारिक विषयों की ही माँग स्वतः उठ जाती है, बिना विचारे ही व्यक्ति लौकिक पदार्थ माँग लेता है। जिसका वैराग्य अति तीव्र है वही स्वयं इन्द्र के देने को तैयार होने पर भी विषय सुख छोड़कर हित की इच्छा कर सकता है। प्रतर्दन की बात पर पहले तो इन्द्र ने कहा कि एक के लिये वर कोई दूसरा चुने यह नहीं हुआ करता इसलिये राजा को ही अपने लिये वर चुनना चाहिये, लेकिन जब प्रतर्दन अपनी बात पर टिका रहा तो इन्द्र ने भी अपनी बात पूरी करने के लिये 'वर' का निर्धारण किया। राजा ने कहा था कि मनुष्य के लिये जो 'हिततम' हो वह दिया जाये; 'तम'-प्रत्यय सर्वाधिक को कहता है, उससे कुछ कम को 'तर'-प्रत्यय कहता है, जैसे प्रियतर और प्रियतम; हिततम का निश्चय करने के लिये पहले हित और हिततर को समझना पड़ेगा तभी दृढता से कह सकते हैं कि सर्वाधिक हित क्या है। हित अर्थात् जो फायदा पहुँचाये, कल्याण करे, हिततर वह जो ज्यादा फायदेमन्द हो और जिससे अधिक कल्याण की और कोई बात न हो वह हिततम होगा। इस विचार से इन्द्र ने मनुष्य के लिये हिततम का चयन किया ताकि वरदान देकर अपनी बात सत्य कर सके । ।४ । ।

इन्द्र का विचारित निश्चय बताते हैं **नश्वर लौकिक सुखों से बेहतर होने के कारण स्वर्ग का सुख हित है। स्वर्ग-सुख के प्रति वैराग्य हिततर है क्योंकि वैराग्य रहते याग आदि का परिश्रम भी नहीं करना पड़ता । ।५ । । हिततम तो है प्रत्यगात्मा के वास्तव स्वरूप का ज्ञान जो सनातन आनंद का अनुभव कराता**

स्वात्मबोधो हिततमो नित्यानन्दानुभूतिदः।
इति मत्वेन्द्र आहैतं शिष्यं 'जानीहि माम्' इति।।६।।

है। यह विचारकर इन्द्र ने अपने इस उत्तम शिष्य से कहा 'मुझे जानो, इसे ही मैं मनुष्य के लिये हिततम समझता हूँ कि वह मुझे जाने'।।६।। इह लोक का सुख तो हित कहने योग्य भी नहीं क्योंकि उसकी प्राप्ति के लिये, रक्षा के लिये अत्यधिक दुःख उठाना पड़ता है फिर भी वह सुख अत्यन्त स्वल्प-कालिक होता है और उसका परिमाण भी बहुत थोड़ा होता है, जिसे 'मानुष आनंद' अर्थात् आनंद मापने की इकाई कहते हैं उतना भी सुख इहलोक में किसी को मिलता नहीं दीखता! पूर्वभाग के द्वितीयाध्याय में (श्लो. १३१ आदि) मानुष आनंद का वर्णन कर चुके हैं। हमारे सुख पर हर समय नाश की तलवार लटकी रहती है, न जाने वह किस क्षण नष्ट हो जाये! इतना ही नहीं, इहलोक का सुख हमारी रुचि पर निर्भर करने से यह नियम नहीं कि हमारे सुख भोगने का प्रकार पापोत्पादक न हो, यदि कोई अभक्ष्यभक्षण अपेयपान आदि से सुख लेता है तो उस प्रक्रिया में पाप बटोरकर आगे के लिये घोर दुःख की सामग्री एकत्र करता है, नरकादि तो होगा ही, यहीं रोगादि अनेक कष्ट आ पड़ते हैं। इसलिये भी ऐहिक सुख तो हित-कोटि के भी नहीं हैं। इनसे बेहतर हैं स्वर्ग के सुख, उन्हें हित मान सकते हैं क्योंकि काफी समय तक रहते हैं, उन्हें बचाने आदि में दुःख नहीं झेलना पड़ता और उन्हें भोगने से पाप आदि भी नहीं होते। इसलिये स्वर्ग सुख को हित कहा।

किंतु स्वर्ग-प्राप्ति अत्यन्त आयास से साध्य है, यज्ञ-दान-तप आदि घोर परिश्रम करने पर ही स्वर्ग प्राप्त होता है। अतः हिततर है वैराग्य, स्वर्ग के प्रति भी वैराग्य हो जाये यह हित से भी अधिक है। प्रायः लोग समझते हैं कि किसी वस्तु की इच्छा पूरी होने से ही सुख होता है। किन्तु विचारशील इच्छा-पूर्ति को केवल दुःखनिवृत्ति मानता है। इच्छा जब तक पूरी न हो तब तक दुःख देती है, पूरी होने पर वह दुःख ही मिटता है, उसी को लोग सुख मान लेते हैं। जिसे उस विषय की इच्छा नहीं उसे तो वह सुख पहले ही उपलब्ध है! बीमारी से ठीक होने का सुख उसे तो हमेशा उपलब्ध है जो स्वस्थ बना रहता है। इसी तरह एक को गुलाब जामुन खाने की इच्छा हुई, उसने धन कमाया, बाजार गया, मावा घी चीनी खरीद कर लाया, गुलाब जामुन बनाया, खाया, तब सुख हुआ। दूसरे को गुलाब जामुन खाने की इच्छा ही नहीं हुई तो उसे वह सुख पहले ही मिला रहा या नहीं? और धन कमाने से मिठाई बनाने तक

के परिश्रम से बच गया यह अधिक लाभ हुआ। किंतु रागवान् को यह समझ नहीं आता। कुछ विदेशी लोग उड़ीसा के देहात में गये। देखा कि एक अधेड़ उम्र का आदमी खटिया पर बैठा गुड़गुड़ी (छोटा हुक्का) पी रहा था। विदेशियों ने सुन रखा था कि उधर के लोग आलसी होते हैं अतः उससे पूछा 'तुम क्या काम करते हो?' वह बोला, 'लड़के बड़े हो गये हैं, वे ही खेत संभाल लेते हैं।।' विदेशियों ने कहा 'अगर तुम भी काम करो तो ज़्यादा फायदा हुआ करेगा।' उसने पूछा 'ज़्यादा फायदे का क्या करेंगे?' उन्होंने कहा 'अभी झोपड़ी में पड़े हो, पक्का मकान बना लेना।' उसने कहा 'चलो, पक्का मकान बन भी गया तो क्या होगा?' वे आश्चर्य से बोले 'उसमें मजे से रहना।' उड़िया ने कहा 'मजे से तो मैं अभी ही हूँ! इतना करने पर भी मजे से ही रहना है तो सब करना बेकार है क्योंकि मजे से मैं अभी ही हूँ।' विषय-अभिलाषा रहते यों मज़े से नहीं रहा जाता। लोग सोचते हैं ईंट पर ईंट रखकर मकान बना लेंगे तो सुख होगा। सुख ईंटों को तो होगा नहीं! सुख तो मनुष्य को होना है और एक कमरा जितना दुःख देता है उससे कई गुणा ज़्यादा दुःख दस तल्ले का मकान देने लगेगा जबकि रहना फिर भी एक कमरे में है अतः सुख एक ही कमरे का मिलेगा। इसलिये विषय बढ़ाने से सुख नहीं बढ़ता, दुःख ही बढ़ता है। सुख तभी बढ़ सकता है जब कामना घटे! अतः इन्द्र ने निश्चय किया कि वैराग्य हिततर है, इसमें बिना किसी आयासके संपूर्ण सुख उपलब्ध रहता है।

किन्तु वैराग्य का सुख तभी तक और उसी से है जब तक और जिससे राग न हो। वैराग्यमात्रका यह फल नहीं कि हमेशा आनंद प्रकट रहे बल्कि यदि आत्मा के आनंदबोध के रस से सिंचित नहीं हो तो वैराग्य की सुखरूपता भी स्फुट नहीं होती। इसलिये हिततम है निज स्वरूप की वास्तविक सच्चिदानंदता का अनुभव। इसी से सनातन आनंद निरावृत होता है। सुख का हमें अनुभव 'मैं सुखी' इसी तरह होता है, घड़े-कपड़े की तरह 'यह सुख' यों कभी नहीं होता। रसगुल्ला सुख तभी है जब मैं खाकर प्रसन्न होऊँ, अपने से अलग कहीं सुख का अनुभव नहीं होता। आग पूर्ण गर्म होती है, उसके कारण बर्तन गर्म होता है पर बर्तन आग की अपेक्षा कम गर्म होता है; इसी प्रकार सुख के कारण हम सुखी होते हैं तो हमें जो आनंद होता है उसकी अपेक्षा सुख में जो आनंद है वह अधिक ही होगा। अतः हमें यदि सुखरूपता की प्राप्ति हो जाये तभी पूर्ण हित होगा, उससे ज़्यादा सुख संभव नहीं है। वास्तव में आत्मा आनंदरूप ही है, इस तथ्य को न जानने से उसका कोई लाभ नहीं मिल रहा, उल्टे, दुःख ही हो रहा है। आत्मा का

इन्द्रोपदेशविश्लेषणम्

सहस्राक्षोऽहमित्युक्तेर्मद्देह इति चेरणात् ।
अस्मच्छब्दो वपुस्तस्य स्वामिनं च ब्रवीत्ययम् । ।७ । ।

यथार्थ ज्ञान होने पर नित्य आनंद की अनुभूति हो जाती है। जहाँ कहीं भी सुख है वह मैं ही हूँयह अनुभव होता है, अपरोक्ष भान होता है। वह आनंद के अनुभव की नहीं वरन् आनंदरूप अनुभव की स्थिति है। इसे प्रदान करने वाला होने से आत्मा का शास्त्रानुसारी प्रमा ज्ञान ही हिततम है। इस विचार के बाद इंद्र ने प्रतर्दन से कहा 'मुझे जानो।' 'मुझे' का क्या मतलब इस पर स्वयं विचार करेंगे। ब्रह्मसूत्रों में भी इसी बात का विचार है कि यहाँ 'मुझे' से किसे कह रहे हैं। गीता में भी जगह-जगह भगवान् ने 'मैं, मेरा' का कथन किया है, वहाँ भी क्या अर्थ है यह इस विचार से सूचित हो जायेगा। ब्रह्मसूत्र में निर्णय किया है कि यहाँ 'मुझे' अर्थात् ब्रह्म को; अपनी ब्रह्मरूपता के अभिप्राय से इंद्र ने कहा कि प्रत्यग्रूप से अवस्थित ब्रह्म को समझो यही हिततम है। फिर भी गलतफ़हमी हो जाती है। सिकंदर भारत की तरफ चला तो उसके गुरु अरस्तू ने कहा कि किसी महात्मा के दर्शन करते आना। यहाँ आकर सिकंदर ने पता लगाया तो मालूम चला कि नदी तट पर एक परमहंस महात्मा रहते हैं। सिकंदर उनके पास गया पर बादशाह होने का उसे घमण्ड था अतः सीधे ही बोला 'मुझे कुछ उपदेश दो।' महात्माओं से उपदेश ऐसे ही तो मिल नहीं जाता! उन्होंने झिड़क दिया, 'मेरे पास देने को कोई उपदेश नहीं है।' सिकंदर धन से गर्वित था, धनी लोगों को बहम रहता है कि धन से सब काम हो सकते हैं। उसने कहा 'मुझ से जो चाहो ले सकते हो, मैं शाहन्शाह हूँ।' महात्मा ने कहा 'तू क्या देगा! ज़रा एक तरफ हट जा, धूप आने दे।' सर्दी का मौसम था, महात्मा धूप सेक रहे थे। सिकंदर को गुस्सा आया, बोला 'मुझे उपदेश नहीं दिया तो तुझे काट डालूँगा!' महात्मा हँसे, कहा 'पहले मुझे जान तो सही, तब काटना।' सिकन्दर को समझ नहीं आया, महात्मा ने कहा 'जो तुझे दीख रहा है यह तो शरीर है, यह मैं तो हूँ नहीं। इसे काटने से मैं कैसे कट जाऊँगा?' तब सिकंदर स्तब्ध रह गया। साधारण व्यक्ति मैं या तू से शरीर शरीरी तक ही समझते हैं इसलिये इंद्र की बात भी शंकास्पद हो जाती है पर विचार करने से पता चलता है कि वह प्रत्यग्ब्रह्म को ही कह रहा है।।५-६।

'मुझे' से किसे कहा इसका विवेचन करते हैं **'मैं हज़ार आँखों वाला हूँ' कहने से लगता है कि 'मैं-शब्द का अर्थ है शरीर और 'मेरा देह है' यह कहन से लगता है कि 'मैं' शब्द का अर्थ है शरीर का मालिक ।।७।।** सभी लोग मैं शब्द

सहस्राक्षवपुस्तेन दृष्टं स्वामी तु तद्दृशा।
न द्रष्टुं शक्यते लिङ्गात् पुरैवानुमितः खलु।।८।।
सहस्राक्षवपुः स्वामियुक्तं स्याद् व्यवहर्तृतः।
मच्छरीरवद् इत्येवं बालेनाऽप्यवबुद्ध्यते।।९।।

कभी शरीर के लिये और कभी शरीरधारी के लिये बोलते हैं अतः दोनों ही उसके अर्थ संदर्भानुसार होते हैं। जब कहते हैं 'मेरा शरीर' तब मैं को शरीर से पृथक् मानकर ही कहते हैं क्योंकि मेरा उसे ही कहा जाता है जो मुझ से अलग हो। इसी प्रकार इंद्र ने कहा 'मुझे जानो' तो क्या वे अपने हज़ार आँखों वाले शरीर को जानने के लिये कह रहे हैं या शरीर के मालिक को, इंद्ररूप देवता को?।।७।।

उक्त दोनों ही अर्थ यहाँ ग्राह्य नहीं यह बताते हैं **हज़ार आँखों वाला शरीर तो प्रतर्दन देख ही रहा था अतः उसे जानने के लिये कहना बनता नहीं और उस शरीर के मालिक, देवतात्मा को प्रतर्दन अपनी इंद्रियों से विषय कर नहीं सकता तथा शरीरस्वामी का परोक्ष ज्ञान उसे पहले से है क्योंकि बोलना चालना आदि चिह्नों से उसका अनुमान होता ही है।।८।। अनुमान का प्रकार हैक्योंकि व्यवहारकर्ता बन रहा है इसलिये इन्द्र-शरीर मालिक से अधिष्ठित है, जैसे मेरा शरीर; ऐसा अनुमान बालक भी कर लेता है।।९।।** इन्द्र अपने शरीर को जानना हिततम बता रहे हों यह संगत नहीं। शरीर प्रतर्दन देख ही रहा है, उससे उसे कोई अपूर्व आनंदलाभ हुआ नहीं अतः शरीर देखना हित नहीं कहा जा सकता। इसी तरह गीता में भगवान् भी 'मुझे अर्पण कर' आदि कहते हैं तो उनका मतलब वासुदेव शरीर नहीं हो सकता। दूसरा अर्थ 'मैं' का है शरीर का मालिक, अधिष्ठाता जीव; उसे जानने को यदि इंद्र कहे तो क्या उसका अपरोक्ष करने को कह रहा है या परोक्ष ज्ञान करने को? दूसरे के जीवात्मा का किसी को अपरोक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता क्योंकि वह न इंद्रियों का विषय है और न अपने सुख-दुःख की तरह दूसरे के जीवात्मा को हम साक्षात् ही जान सकते हैं। अतः अपरोक्ष ज्ञान के लिये कहना असंगत है। और परोक्ष ज्ञान तो प्रतर्दन को इंद्र के जीव का है ही, बच्चा भी जड-चेतन का भेद जानता है कि गुड़िया निर्जीव है और बहन-भाई सजीव हैं। अनुमान के लिये चिह्न है व्यवहार। (मुत्तुशास्त्री का पाठ है स्याद् व्यवहारतः, यह भी उचित है।) शरीर व्यवहार करता है, यही चिह्न है कि उसमें जीव है। जहाँ जीव नहीं होता वह मुर्दा कोई व्यवहार नहीं करता और मैं जीव जिस शरीर में हूँ वह व्यवहार कर रहा है अतः व्यवहार करने वाला शरीर अवश्य सजीव

अतो बुद्धिमतो बोद्धुं योग्योऽस्मच्छब्दलक्षितः।
विवक्षितः कश्चिदर्थ इति शिष्येण निश्चितम्।।१०।।
अलौकिकात्मा ज्ञेयोऽस्तु तद्विज्ञानेन किं फलम्।
इति चेद् दुःखसम्बन्धराहित्यं तत्त्वधीफलम्।।११।।

हैऐसा अनुमान सहज है। प्रतर्दन भी इतना समझ ही रहा था। फिर भी उसे कोई अपूर्व आनंद-लाभ हो नहीं गया अतः इस ज्ञान को भी हित नहीं कह सकते।।८-९।।

इस विचार से प्रतर्दन समझ गया कि इंद्र 'मैं' से देह या जीव को नहीं कुछ और कहना चाहते हैं यह स्पष्ट करते हैं **क्योंकि 'मुझे' से शरीर और शरीरधारी कहना संगत नहीं इसलिये इन्द्र 'मैं' शब्द से लक्षित कोई ऐसा अर्थ कहना चाहते हैं जो बुद्धिमान् के लिये समझना योग्य होयह शिष्य प्रतर्दन ने निश्चय किया।।१०।।** 'मैं' के वाच्य शरीर-शरीरधारी प्रसिद्ध अर्थ हैं, इन्हीं से सम्बद्ध किन्तु इनसे अतिरिक्त कोई अर्थ बताने के लिये यहाँ 'मैं'-शब्द आया है जिसे विचारशील ही समझ सकता है। मूर्ख भी जो समझता है उसे इंद्र हिततम कह रहे हों यह संभव नहीं। इस प्रकार प्रतर्दन ने 'मुझे जानो' के आपात अर्थ को निरस्त कर तात्पर्यार्थ खोजना प्रारंभ किया। 'तत्त्वमसि' आदि में भी इसी तरह प्रसिद्ध अर्थ अग्राह्य समझने पर ही पदार्थशोधन में प्रवृत्ति होती है।।१०।।

सामान्यतः इतना समझकर कि कोई अन्य अर्थ मन में रखकर इन्द्र ने 'मुझे' कहा है, उसे विशेषतः जानने के लिये पहले प्रतर्दन ने उसके ज्ञान का प्रयोजन पूछा जिसका इन्द्र ने सोदाहरण उत्तर दिया यह बताते हैं **प्रतर्दन ने पूछा 'लोकप्रसिद्ध से अन्य ही कोई आत्मा जानने योग्य भले ही हो पर उसे जानने का फल क्या?' इन्द्र ने उत्तर दियाउस आत्मतत्त्व के ज्ञान का फल है अपने से दुःख का सम्बंध मिट जाना।।११।।** लौकिक उपायों से ज्ञात और लोक-व्यवहार में उपयोगी 'मैं' शब्दार्थ आत्मा तो देह-देही है। ये अविवक्षित हैं, इनसे अन्य अतः अलौकिक आत्मा ज्ञेय कहा जा रहा है तो उसका ज्ञान क्या फल देगा यह जिज्ञासा है। केवल गुरु-वेदान्त के उपदेश से ही समझ आने वाला होने से उपाधि-भिन्न आत्मा अलौकिक है। यद्यपि लौकिक आत्मा के रूप में भी वही उपलब्ध है तथापि मिले-जुले अर्थात् सोपाधिक रूप में, उपाधि से विविक्त उसका शुद्ध रूप अलौकिक है, शास्त्रैकसमधिगम्य है। जब तक साधक को देह-देही में दृढ तादात्म्य है तब तक लगता है कि शुद्ध को जानकर 'मुझे' क्या मिला! पता चल भी गया कि वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है, इससे 'मुझे' क्या लाभ हुआ,

मैं तो शोक मोह वाला बना ही रहा। विवेकपूर्वक निश्चय करना पड़ेगा कि देह-देही मैं नहीं हूँ, तभी मैं के शुद्ध रूप का ज्ञान मुझे (शोधित मैं को) फल दे सकता है। उससे पूर्व शुद्ध का ज्ञान केवल ढाढस देता है कि मेरी कोई शोकादिरहित स्थिति हो सकती है, जैसे 'दसवाँ है' इतने ज्ञान से ढाढस मिलता है। अतः पदार्थ-शोधन के बिना वेदान्त-साधना फलप्रद प्रतीत भी नहीं होती। प्रतर्दन के प्रश्न पर इंद्र ने कहा कि शुद्ध आत्मा को जान लेने से दुःखों का कोई संबंध नहीं रह जायेगायह फल है। असत्-जड-दुःख ये अनात्मा का स्वरूप हैं, भ्रम से प्रतीत होते हैं आत्मा में। अतः भ्रम मिटने पर ये आत्मा में प्रतीत नहीं होंगे यही फल है। आत्मा-अनात्मा धर्मियों के अन्योन्याध्यास के कारण धर्मों का परस्पर अध्यास होता है। पहले बिंब का प्रतिबिंबरूप से अध्यास होता है तब दर्पण-धर्मों का प्रतिबिंब के मार्फत बिंब पर अध्यास होता है। इसी प्रकार हम चिदाभास को (अहंकार को) मैं समझते हैं फिर उसके मार्फत अनात्म-धर्मों का आत्मा पर अध्यास करते रहते हैं। दुःख अनात्मधर्म है वह सीधे तो अहंकार तक ही आता है क्योंकि अहंकार स्वरूपतः अनात्मा ही है, आत्मा का उसमें आभासमात्र है। किन्तु अहंकार ही मैं हूँ इस दृढ भ्रम से अहंकार में आये दुःख को हम आत्मा पर आरोपित कर लेते हैं जैसे प्रतिबिंब में दीखने वाले काँच के दाग को मुँह पर समझ लेते हैं। अहंकार को ही आत्मा समझने के कारण ही हमें सुख भी तभी प्रतीत होता है जब अहंकार सुखी हो! मैं दुःखी और मैं सुखी इन अनुभवों में आधारभूत अंतर यह है कि दुःख अनात्मधर्म है जिसका आत्मा पर आरोप है और सुख आत्मा का स्वरूप है जिसका अनात्मा अहंकार पर आरोप हो रहा है। किन्तु अहंकार के स्तर पर ही बने रहने से हम यह विवेक नहीं कर पाते। इसके लिये अहंकार का विश्लेषण आवश्यक पड़ता है, उससे अन्य जो आत्मा, जिसके आभास से अहंकार चेतन लगता है, उसके स्वरूप को समझना ज़रूरी होता है। इस प्रकार वास्तविक आत्माका दुःख से संबंध अहंकार के मार्फत अर्थात् भ्रमवश ही होता है, अज्ञान से ही होता है। अतः अज्ञान नष्ट हो जाने से भ्रम मिटता है तभी आत्मा का दुःखसंबंध दूर होता है। दुःख का स्वसमानसत्ताक संबंध अज्ञान से ही है, आत्मा से केवल आरोपित मिथ्या संबंध है। आत्मा का सही ज्ञान होने से अज्ञान दूर होता है तो वह सम्बन्ध मिट जाता है। अत एव प्रारब्ध-पर्यन्त दुःख भले ही बना रहे, कोई विरोध नहीं क्योंकि फल है आत्मा का दुःख से संबंध न होना और तत्त्ववेत्ता को प्रारब्धभोग काल में भी यह प्रतीत नहीं होता कि अहंकार से स्वतंत्र जो मैं साक्षी हूँ वह दुःखी हूँ अर्थात् अपने से दुःख-सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। जैसे मुख निर्दोष है जानने के बाद भी दागी काँच में प्रतिबिंब

तस्माद्धिततमं ज्ञानं दुःखाऽभावोऽत्र वर्ण्यते।
सहस्राक्षे स्थूलदेहे दुःखं रोगादिजं भवेत्।।१२।।
स्वामिन्यस्मिन् सूक्ष्मदेहे पुण्यपापकृतं भयम्।
त्वाष्ट्रादीनां वधेऽप्यासीद् भयं नैव चिदात्मनः।।१३।।

भले ही दाग वाला दीखे, मुख में दाग है यह भ्रांत प्रतीति नहीं होती, वैसे आत्मज्ञको अहंकार में प्रारब्धभोगानुसार दुःख दीखने पर भी स्वयं का दुःख से संबंध प्रतीत नहीं होता। यहाँ आनंदप्राप्ति पृथक् से नहीं कही क्योंकि आनंद आत्मस्वरूप, सदा प्राप्त है, उसकी प्राप्ति औपचारिक ही है, प्रयास दुःखनिवृत्ति के लिये ही चाहिये, दुःख मिटने पर आनंद स्वतः सिद्ध है। अन्यत्र भी कहा है कि अज्ञाननिवृत्ति के लिये ही यत्न करना पड़ता है, ज्ञानप्राप्ति के लिये नहीं, उसका भी यही अभिप्राय है। इस प्रकार इंद्र ने अलौकिक आत्मा के ज्ञान का फल स्पष्ट किया।।११।।

आत्मज्ञान की हिततमरूपता सिद्ध करने के लिये बताते हैं कि आत्मा ही निर्दुःख है, अन्यत्र दुःख रहता ही है अतः आत्मा का ज्ञान ही दुःख-निवारण कर सकता है **पूर्वोक्त विचार से निर्णय हुआ कि आत्मतत्त्व का ज्ञान ही हिततम है। आत्मा ही दुःख-रहित है यह अब बताया जाता है। हज़ार आँखों वाले स्थूल शरीर में रोगादि-जन्य दुःख होना हमेशा संभव है।।१२।। स्थूल के मालिक इस सूक्ष्म शरीर में भी पुण्य-पाप के कारण भय बना ही रहता है। किन्तु त्वष्टा के पुत्र आदि का वध करने पर भी चिदात्मा को कोई भय नहीं हुआ। अतः वही भय और दुःख से रहित है।।१३।।** तत्त्वज्ञान क्योंकि आत्मा को अपने स्वाभाविक परमानंद पद पर प्रतिष्ठित कर देता है इसलिये वही सर्वाधिक हित है। चमत्कार कर सकना, सिद्धियाँ प्रकट होना आदि तत्त्वज्ञान का फल नहीं है। दुःख से सर्वथा असंबद्ध आनंदरूप से बने रहना ही तत्त्वज्ञान का फल है। यह तभी संभव है जब देह-देही को 'मैं' समझना छोड़कर शुद्ध चेतन ही मैं हूँ यह निश्चय हो। देह-देही में दुःख अवश्य रहता है। रोग, चोट आदि दुःख स्थूल शरीर में होते ही रहते हैं। देही, देहस्वामी है सूक्ष्मोपाधिक आत्मा। सूक्ष्म में भी मनोरोग आदि हो जाते हैं तो अत्यंत दुःख होता है। वैसे, सभी दुःखों का अनुभव मन में ही होता है। पाप फलता है तो दुःख देता है। पुण्य यद्यपि सुख देता है तथापि उसकी क्षयिष्णुता, सातिशयता देखकर दुःख होता ही रहता है। धनी डरता है कि कहीं पैसा चला न जाये! धन पुण्यवश मिला फिर भी आयकर विभाग, चोर-डकैत से डरा कर दुःख ही देता है। पाप-पुण्य दोनों ही भय द्वारा दुःखद बनते हैं। इस प्रकार स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर

अभीत आत्मा

त्वष्टुः पुत्रो विश्वरूप आसीद् देवपुरोहितः।
स्वामिद्रोहं चकाराऽसौ तं त्वाष्ट्रं हतवानहम्।।१४।।
कर्तर्यभूद् ब्रह्महत्या न त्वसङ्गे चिदात्मनि।
वेदान्तज्ञानहीनानां यतीनां हनने तथा।।१५।।
लोकत्रये बहुविधान् असुरान् हतवानहम्।
चिदात्मनोऽपि मे तत्र नैव लोमाऽपि हिंस्यते।।१६।।

दुःखग्रस्त हैं, उन्हें मैं समझते दुःख से बचा नहीं जा सकता। इनसे भिन्न चिद्रूप आत्मा कभी दुःख से, भय से, इनके हेतु पाप-पुण्य से संबंध वाला नहीं होता। इसे इंद्र ने अपने अनुभव से समर्थित किया। इन्द्र ने ब्राह्मण त्वष्टा-पुत्र को मार डाला था, और भी घोर कार्य किये पर उसके आत्मस्वरूप में किंचित् भी दुःख या भय नहीं हुआ। अतः चिन्मात्र सर्वथा निर्दुःख है।।१२-३।।

किये हुए घोर कर्म बताते हुए अपने चित्स्वरूप की निर्लेपता इन्द्र ने कही 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम्, अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं, बह्वीः सन्धा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयान् अतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान् पृथिव्यां कालखांजान्, तस्य मे तत्र न लोम च मामीयते' (कौ.३.१)। तीन सिरों वाले ब्राह्मण त्वष्टा-पुत्र को मारा, वेदान्त-विचार से रहित यतियों को मारकर सियारों को खिला दिया तथा तीनों लोकों में बहुविध असुरों की हत्या की पर 'मेरा' बाल भी बाँका नहीं हुआ! तत्त्वज्ञान के इस प्रभाव को प्रकट करते हैं **त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप देवताओं का पुरोहित था, उसने अपने यजमान का ही द्रोह किया अतः मैंने उसे मार डाला।।१४।। उस वध के प्रति जिसमें कर्तृत्वाभिमान था उस इंद्र-देवता को ब्रह्महत्या भले ही लगी परंतु 'मैं' जो सर्वसम्बन्धशून्य चिद्रूप आत्मा हूँ उसे कोई पाप नहीं हुआ। वेदान्तों द्वारा प्रतिपाद्य वस्तु के अवगम की साधना में न लगे संन्यासियों को मार डालने पर भी उसी तरह देवतारूप कर्ता को चाहे जो दोष लगा हो, मुझ चिद्वस्तु को कोई दोष नहीं लगा।।१५।।। त्रिलोकी में नाना प्रकार के असुरों की मैंने हत्या की, उसके बावजूद मुझ चिद्रूप आत्मा का एक रोयाँ भी बाँका नहीं होता!।।१६।।** तैत्तिरीय में कथा आयी है कि विश्वरूप असुरों की बहन का पुत्र था, त्वष्टा उसके पिता थे। वह पुरोहित देवताओं का था अतः जब इन्द्र यज्ञ करता तब विश्वरूप प्रकटरूप से देवताओं को हवि अर्पित करता लेकिन छिपकर असुरों को भी अर्पित कर देता था ताकि

वे भी पुष्ट हों क्योंकि उसे अपनी माँ से स्नेह था और वह हमेशा याद दिलाती थी कि 'अपने नाना, मामाओं का भी ख्याल रखना।' इंद्र द्वारा उसका वरण किया गया था अतः कर्तव्य उसका था कि पूर्णतः इन्द्र का ही हित साधे और उसका ही वह अहित करने लगा क्योंकि असुर पुष्ट होंगे तो इंद्र को ही मारेंगे। वरण के बाद याग-समाप्ति तक पुरोहित का यजामन से अनुबंध होता है, उस कर्म के लिये मानो यजमान ने पुरोहित को खरीद रखा हो, अतः यजमान तब तक उसका स्वामी हो जाता है। स्वामी का अहित करना स्वामिद्रोह है, नमकहरामी है। चित्त में राग-द्वेष रह जाये तो चाहे देवताओं के पुरोहित जैसा उत्तम पद मिल जाये, व्यक्ति ग़लती किये बिना नहीं रहता अतः साधक सदा सावधान रहे कि राग-द्वेष को पैर न जमाने दे। इंद्र को जब पता लगा तब उसने विश्वरूप का सिर काट डाला। इससे ब्रह्महत्या का पाप हुआ किंतु वह लगा इंद्र देवता को अर्थात् अंतःकरण से तादात्म्यापन्न को, इंद्ररूप जीव को। उस देवता के साक्षी को पाप नहीं लगा क्योंकि उस हत्या के प्रति 'मैंने हत्या की' ऐसा साक्षी को अभिमान ही नहीं था। जब साक्षी हत्या का कर्ता ही नहीं तब उसे पाप लगने का प्रसंग ही नहीं। साक्षी चिन्मात्र सर्वथा असंग है, न कर्तृत्व से उसका कोई संबंध है न भोक्तृत्व से। 'वह जो मेरा शुद्ध स्वरूप है उसे जानने के लिये कह रहा हूँ'यह इंद्र के कहने का अभिप्राय है। इससे यह साफ़ कर दिया कि पाप का असंबंध कहाँ ढूँढना है; चिद्वस्तु पाप से संबंधहीन है न कि प्रमाता, अहंकार, अतः यदि प्रमातृ-स्तर पर पुण्य-पाप होगा तो उस स्तर पर उसका प्रभाव भी अवश्य होगा। आत्मा पर प्रभाव इसलिये नहीं होता कि वह कुछ करता ही नहीं। ऐसा नहीं कि आत्मा पाप करे और फल से बच जाता हो वरन् क्योंकि वह करता नहीं इसलिये बचा रहता है। भगवान् ने इसे 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (१८.१७) से स्पष्ट किया है। प्रत्यक्षसिद्ध 'मैं' स्थूल शरीर है, वह ग़लती करने पर राज्य द्वारा दण्डित हो जाये, अनुमानसिद्ध 'मैं' सूक्ष्मशरीर भी पाप करने पर नरक भेज दिया जाये परंतु जो शास्त्रसिद्ध 'मैं' चिदात्मा है वह सदा अकर्ता है, अभोक्ता है। इस प्रकार ब्रह्महत्या से भी इन्द्र अर्थात् आत्मतत्त्व निर्विकार रहा।

ऐसे ही, इन्द्र ने साठ हज़ार संन्यासियों को मार डाला था। विश्वरूप ने स्वामिद्रोह किया जिसके दण्डस्वरूप उसे मारा, ये संन्यासी स्वयं अपनी हानि कर रहे थे इसलिये इन्हें समाप्त किया था। शास्त्र कहता है कि नित्य-निरन्तर उपनिषदों के श्रवणादि द्वारा आत्मशोधन में संलग्न रहने के लिये ही सर्वकर्मसंन्यास है। यदि त्वम्पदार्थ-विवेक में सर्वथा लगे न रहकर अन्य कुछ भी चाहे शुभ कर्म, तप आदि ही करना हो तो परमहंस

माहात्म्यं मम नैतत् स्यात् किन्तु ज्ञानस्य तद् भवेत्।
अन्योऽपि मां चिदात्मानं वेत्ति चेत्तत्फलं भवेत्।।१७।।
वाचा वा मनसा मातृवधादीन् कुरुते यदि।
तथाऽपि ज्ञानिनो मोक्षो न ह्येतैर्विनिवार्यते।।१८।।

बनने की आवश्यकता ही नहीं है, तब तो नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान करते हुए ही रहना चाहिये। ये संन्यासी थे तो परमहंस किन्तु वेदान्त-विचार से बिलकुल रहित थे, कर्मादि-अनुष्ठानों में लग्न थे। इंद्र ने उन्हें समझाया, फिर भी न माने तो उन्हें मार डाला ताकि वे न अपना और ज़्यादा नुकसान करें और न दूसरों के लिये गलत उदाहरण पेश करें। इस कार्य से भी इन्द्र के चित्स्वरूप में अंतर नहीं आया, न कर्तृभाव आया न पाप लगा। अन्य भी राक्षसवध आदि घोर कर्म इंद्र ने किये पर उसके वास्तविक आत्मा की उनसे कोई हानि नहीं हुई। क्योंकि आत्मा स्वरूप से निष्पाप और असंग है इसलिये जब तत्त्वज्ञान से समझ आता है कि 'मैं आत्मा ही हूँ, अहंकारादि नहीं हूँ' तब अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व का भ्रम मिट कर सदा आनंद की स्थिति हो जाती है अतः यही हिततम है।।१४-६।।

शंका होती है कि अपने पद के महत्त्व के कारण इन्द्र इन पापों से छूट गये होंगे, उन्हें जानकर हमें क्या लाभ? इन्द्र समाधान करते हैं 'स यो मां विजानीयाद् नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चकृषो मुखान्नीलं वेतीति' (कौ.३.१) अर्थात् जो कोई भी 'मुझे' अपरोक्षरूप से अनुभव कर लेता है, किसी कर्म से उसकी कोई हानि नहीं होती, माता-पिता का वध, चोरी, भ्रूणहत्या जैसे जघन्य पापों से भी उसके चेहरे पर शिकन नहीं आती। इस प्रकार स्पष्ट किया कि यह पद का प्रभाव नहीं वरन् विद्या का फल है जो सब मनुष्यों के लिये सुलभ है। इसे समझाते हैं **पाप न लगना यह मुझ देवता की महिमा नहीं है वरन् आत्मवस्तु के ज्ञान की ही महिमा है। अन्य जो भी कोई मुझ चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव कर लेता है उसे भी यही फल मिल जाता है।।१७।। वाणी या मन से भी माता का वध आदि पाप यदि कर ले तो भी इनके कारण आत्मतत्त्व के ज्ञानी का मोक्ष रोका नहीं जा सकता।।१८।। वह पाप कर ले तो भी उसके मुख की प्रसन्नता क्षीण नहीं होती, और न उसका मोक्ष ही नष्ट होता है। यह इसलिये संभव है क्योंकि उसने शास्त्ररूप प्रबलतम प्रमाण से अपने आत्मतत्त्व की असंगता व शुद्धता का निश्चय किया हुआ है। शास्त्र का ही यह भी निर्णय**

पापं कृतवतोऽप्यस्य मुखे हर्षक्षयो न हि।
न मुक्तिर्नश्यतीत्येवं शास्त्रैरस्य विनिश्चयात्।।१६।।

अज्ञाद् विशेषः

ननु मूढस्याऽपि नास्ति चिन्मात्रे पापलेपनम्।
ततः कोऽतिशयस्तत्त्वविदः स्यादिति चेच्छृणु।।२०।।

है कि तत्त्ववेत्ता का कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।।१६।। केवल एक इंद्र को या इन्द्र पद पाने वालों को ऐसी शक्ति मिल जाती हो जिससे वे पापों से बरी हो जाते हों यह बात नहीं है। आत्मज्ञान का ही यह फल है। इंद्र को भी यदि आत्मज्ञान न हो तो वह भी पापफल भोगता ही है, शोकग्रस्त होता ही है और मनुष्यों में भी जो आत्मवेत्ता है वह न कोई कर्मफल भोगता है, न शोक-संतप्त होता है अतः आत्मज्ञान का लाभ सर्वसुलभ है, मनुष्य वह लाभ ले सकता है इसीलिये ज्ञान उसके लिये हिततम है। माता का वध घोर कार्य है जो प्रायः शरीर से तो कोई शिष्ट कर नहीं पायेगा पर क्रोधादि के आवेश में मन से या वाणी से कर सकता है, उसका अत्यंत अपमान कर सकता है या उसका अहित-चिंतन कर सकता है, यह भी बहुत बड़ा पाप है; तत्त्वज्ञ को इस कार्य से भी दोष नहीं लगता। शरीर से कर ले तो भी उसे दोष नहीं लगता। कारण यही है कि करने वाले अहंकार से वह स्वयं को सर्वथा असंबद्ध जानता है अतः स्वयं उन कर्मों का कर्ता ही नहीं बनता और बिना कर्ता बने पुण्य-पाप होते नहीं। दूसरों को चाहे कुछ कहकर मूर्ख बना ले लेकिन जिसे मालूम है कि 'मैंने पाप किया' उसे स्वयं उसकी ग्लानि अवश्य रहती है जिसका प्रभाव उसके मुख पर भी आ जाता है। तत्त्वज्ञ तो वास्तव में अकर्ता है अतः न उसे कोई ग्लानि हो सकती है न उसके मुख पर कोई अंतर आ सकता है। 'मैं नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हूँ' इस अपने मुक्त स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ वह सदा प्रसन्न रहता है, प्रसन्न ही दीखता भी है। इस विषय में शास्त्रों का भी यह निर्णय है। अतः हर हितेच्छुक आत्मज्ञान प्राप्त करे यही उचित है।।१७-६।।

एक प्रश्न प्रायः सभी के मन में उठता है कि यदि आत्मा नित्य ही शुद्ध है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व से असंबद्ध है तो हम उसे जानें या न जानें उसकी शुद्धि में कोई अंतर आता नहीं, फिर उसे जानने से क्या फायदा, न जानने से क्या नुकसान? इसी दृष्टि से प्रश्न उठाते हैं **अज्ञानी के भी चिन्मात्र पारमार्थिक स्वरूप में पाप का कोई संबंध होता नहीं तो तत्त्ववेत्ता का ही क्या वैशिष्ट्य हुआ? इसका उत्तर आगे के तीन श्लोकों से बताते हैं, सुनो।।२०।।** अज्ञानी को दुःख स्थूल-सूक्ष्म के स्तर

अहङ्कर्तृगतं पापम् अज्ञात्वाऽऽरोप्यते चिति।
तेन ग्लानिर्मुखे भाति जन्माऽपि नरके भवेत्।।२१।।
ज्ञानेन कर्मणस्तस्य बीजभावो विनश्यति।
जन्मप्ररोहो नैवास्तीत्येवं निश्चित्य हृष्यति।।२२।।
दग्धबीजं यथा लोके न प्ररोहक्षमं तथा।
ज्ञानाग्निदग्धं यत् कर्म न तज्जन्मप्रदं भवेत्।।२३।।

पर है, चिन्मात्र के स्तर पर तो हो ही नहीं सकता। आत्मज्ञ के दुःख की निवृत्ति का भी तभी कोई मतलब होता अगर वह स्थूल-सूक्ष्म स्तरों पर होती। उसका चिद्रूप निर्दुःख है यह कोई ज्ञान का प्रभाव तो है नहीं, चिद्रूप स्वभाव से ही निर्दुःख है। अतः पूर्वोक्त रीति से तत्त्वज्ञ को पाप न लगना, दुःख न होना जो कहा, उससे यह नहीं समझ आता कि यह ज्ञान का महत्त्व किस प्रकार है, अज्ञानी और आत्मज्ञानी में अंतर क्या है?।।२०।।

अन्यत्र वेद ने कहा है 'अविदितो न भुनक्ति' (बृ.१.४.१५) कि सत्य जब तक समझा न जाये तब तक रक्षा, पालन नहीं करता। लोक में भी, मालूम न हो कि सामने उगा हुआ पौधा दवाई है तो व्यक्ति रोग से छूट नहीं पाता क्योंकि उस दवा का सेवन ही नहीं करता। इसी न्याय से उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं **आत्मस्वरूप के अज्ञानवश अज्ञानी अहंकार में होने वाले पाप का चेतन पर आरोप कर लेता है जिससे उसका मुख भी मलिन हो जाता है और नरक में जन्म भी लेना पड़ता है।।२१।। ज्ञान के फलस्वरूप उस कर्म की दुःखबीजता नष्ट हो जाती है जिससे ज्ञानी को निश्चय रहता है कि जैसे बीज अंकुररूप से उगता है वैसे कर्म जन्मरूप से उगेगा नहीं, अतः वह सदा प्रसन्न रहता है।।२२।। लोक में जैसे भूँज दिया गया बीज अंकुरोत्पादक नहीं होता वैसे जो कर्म ज्ञानरूप अग्नि से जल गया वह जन्म-प्रद नहीं होता।।२३।।** चित्स्वरूप निष्पाप, निर्दुःख होने पर भी क्योंकि सही तरह जाना नहीं गया इसलिये अहंकार के पाप आदि भ्रम से चेतन में प्रतीत होते हैं, 'मैं पापी, दुःखी हूँ' यह अनुभव होता है। अज्ञानी 'मैं' के स्तर तो जानता नहीं कि उसे पता चले कि वास्तव मैं पापी-दुःखी नहीं हूँ, झूठे मैं पापी दुःखी हैं, वह सच्चे-झूठे के सम्मिलित रूप को ही मैं समझता है और स्वयं को सचमुच दुःखी पाता है। पाप करने से उसे ग्लानि भी होती है और जब पापकर्ता अर्थात् व्यावहारिक मैं नरक जाता है तो अकर्ता अर्थात् पारमार्थिक मैं भी स्वयं को नरक में महसूस करता है। कोई धृष्ट या अश्रद्धालु पाप से

ग्लानि न महसूस करे तो भी उसे नरक जाना ही पड़ता है। तत्त्वज्ञ को ये सब नहीं होता क्योंकि वह जिस सत्य स्वरूप को मैं जानता है उस पर पाप, दुःख आदि का आरोप करता ही नहीं। कई बार मिलावटी सोने को लोग नकली मानकर फैंक देते हैं जबकि जानकारी रखने वाला उसमें स्वर्णांश जानते हुए उसे सुरक्षित रखता है, मौके पर शोधित कर लाभ भी ले लेता है। ऐसे ही अज्ञानी को निर्दुःख मैं का पता ही नहीं अतः सदुःख मैं से परेशान रहता है जबकि ज्ञानी सदुःख को मैं समझता ही नहीं अतः सदा प्रसन्न रहता है। यह तो वास्तविक स्तर पर ज्ञान का प्रभाव है।

व्यवहारिक स्तर पर भी उसका माहात्म्य है : क्रिया का दृष्ट फल तात्कालिक होता है, अदृष्ट फल शास्त्र-सिद्ध होता है। इंद्र ने गर्दन काटी, विश्वरूप मरा यह दृष्ट फल हुआ किन्तु इस ब्रह्महत्या से पाप लगता हैयह दृष्ट नहीं, लोकसिद्ध नहीं, शास्त्र को छोड़कर किसी प्रमाण से पता नहीं चलता। पुण्य-पाप पैदा करने की शक्ति कर्म में है यह केवल शास्त्रसिद्ध है। उसी शास्त्र ने यह भी स्पष्ट कहा है कि तत्त्ववेत्ता द्वारा किये कर्मों का अदृष्ट फल नहीं होता, 'मैं अकर्ता-अभोक्ता हूँ' इस ज्ञान के बल से कर्म की अदृष्टोत्पादक सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। चणा खाने के और बोने के काम आता है पर उसे भूँज दें तो खाने के ही काम आ सकता है, बोने के नहीं। इसी तरह तत्त्वज्ञान के प्रभाव से सद्-असत् कर्म दृष्ट प्रतिक्रिया तो करते रह सकते हैं किन्तु उनकी अदृष्ट फल देने की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसलिये तत्त्ववेत्ता के व्यावहारिक मैं (सूक्ष्मशरीर से उपहितरूप) का भी आगे जन्म नहीं होतायह ज्ञान का व्यावहारिक स्तर पर माहात्म्य है। न जल सकने वाला कपड़ा लपेटकर व्यक्ति जलती आग में जाकर भी फँसे लोगों को निकाल लाता है जबकि उस कपड़े के बिना कोई प्रवेश करे तो जलकर मर जायेगा, इसी तरह ज्ञान के कवच से तत्त्वज्ञ का व्यावहारिक मैं कर्म करके भी पुण्य-पाप से बच जाता है जब कि अज्ञानी उनसे विद्ध हो जाता है। तत्त्वधी आखिर होती तो मन की वृत्तिविशेष से ही है अतः जिस मन ने वह दिव्य वृत्ति बनाई उसमें वैशिष्ट्य होना संगत भी है। यह ठीक है कि मन और चरम वृत्ति दोनों व्यावहारिक अतः मिथ्या हैं, उससे हुआ मोक्ष ही आत्मरूप होने से सत्य है, किन्तु जिस वृत्ति ने मोक्ष संभव किया उसमें घटादि-वृत्तियों की अपेक्षा विशेषता है ही, जिसका प्रभाव उस सूक्ष्म शरीर पर पड़ना भी उचित है जिसने साधना के परिपाक से वह वृत्ति बनायी। अत एव ब्रह्मनिष्ठ को पूर्वतर अध्याय में,मुण्डक व्याख्या में, अर्चनीय बताया था। जब उसके अस्थि-मांसमय सर्वसाधारण स्थूल शरीर में अत्यंत पूज्यता आ जाती है, उसकी दृष्टि पड़ने से पवित्रता आ जाती है, तब उसके सूक्ष्मदेह में यह वैशिष्ट्य

अकार्यं पापम्

तर्हि तत्त्वविदः श्रेष्ठा मूढवद् नियमेन तत्।
कुतः पापं त्यजन्तीति चेद् रहस्यमिदं शृणु।।२४।।
यद्यप्यामुष्मिकी हानिर्नास्त्यथाऽप्यैहिकी तु सा।
महती विद्यते तेन पापं यत्नेन वर्जयेत्।।२५।।
शिष्टास्त्यजन्ति पापिष्ठं प्रत्यक्षो नरकः स हि।
तन्निन्दकस्तस्य पापं गृहीत्वा नरकं व्रजेत्।।२६।।

क्यों नहीं आ सकता कि वह उत्क्रमण न करे, पुनर्जन्म न ले! पुण्य-पाप शास्त्रीय हैं तो पुण्य-पाप न लगना भी शास्त्रीय ही है इसे जानकर आत्मज्ञ को प्रसन्नता न केवल भीतर रहती है वरन् प्रकट भी रहती है, उसके मुख पर दीखती है। 'एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा.४.१४.३), 'अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छां. ५.२४.३), 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मुं.२.२.८) 'उभे उ हैवैष एते तरति (बृ.४.४.२२) आदि श्रुतियाँ स्पष्ट ही इस विषय में प्रमाण हैं, ब्रह्मसूत्र के चौथे अध्याय में भी इस संदर्भ में स्पष्ट निर्णय है।।२१-३।।

सामान्य अज्ञानी ग़लत काम दण्डभय से ही छोड़ता है, वह काम ग़लत है इतने मात्र से उसे न करे ऐसा सदाशय व्यक्ति दुर्लभ होता है। तत्त्ववेत्ता साधनावस्था से ही ग़लत प्रवृत्तियाँ छोड़े हुए है, ज्ञान के बाद सभी प्रवृत्तियाँ छूट जाती हैं, ऐसे में वह स्वभावतः ही कोई पाप नहीं करता यह स्थिति है। फिर भी, अन्य हेतु बताते हैं जिससे साधारण साधक को समझ आये कि ज्ञानी पाप से क्यों दूर रहता है **यदि ज्ञानी को दोष लगता ही नहीं तो उत्तम तत्त्ववेत्ता अज्ञानियों की तरह नियमतः पाप करना छोड़ते क्यों हैं? उनके पापत्याग में यह रहस्य है, सुनो!।२४।। तत्त्वज्ञ को पाप करने से यद्यपि परलोक में कोई हानि नहीं होती तथापि इहलोक में महान् हानि होती है। इसलिये सावधानीपूर्वक पाप से बचना चाहिये।।२५।। १. पाप में अधिक संलग्न व्यक्ति का शिष्ट लोग बहिष्कार कर देते हैं। शिष्टों द्वारा बहिष्कृत होना साक्षात् नरक ही है। २. ज्ञानी यदि पाप करेगा तो लोग उसकी निंदा करेंगे और ज्ञानी की निंदा करने से नरक जाना पड़ता है अतः तत्त्वज्ञ पाप करके अन्यों के नरक जाने का निमित्त बनेगा।।२६।। ३. ज्ञानी के प्रशंसक कर्मनिष्ठ सज्जन उसके संसर्ग में रहने से उसे पाप करता देखकर खुद भी पाप करने लगेंगे जो उनके लिये हानिकारक होगा। इस तरह** इहलोक

स्तोता कर्मी तु संसर्गात् स्वयमप्याचरेत् तथा।
इत्थं दोषत्रयं दृष्ट्वा शिष्टाः पापं त्यजन्ति हि।।२७।।

में होने वाले तीन दोषों का विचार कर शिष्ट ज्ञानी पाप नहीं किया करते।।२७।।

गीता में भगवान् ने बताया है कि श्रेष्ठ के आचार का अनुकरण सामान्य जन करते हैं अतः तत्त्वज्ञ यह ध्यान में रखकर अपना आचार नियंत्रित रखता है कि कहीं अज्ञानी उससे कोई ग़लत प्रेरणा न पा लें, स्वयं उसे कोई हानि नहीं है। परोपकार की भावना से वह पाप से बचता है यही बात रहस्य है क्योंकि अश्रद्धालु इस हेतु को मिथ्याचार मानेगा कि उसका पाप से बचना दिखावटी है! किन्तु श्रद्धालु समझ लेता है कि यदि मन से पाप करना चाहकर बाहर से स्वयं को रोकता तब भले ही मिथ्याचार होता लेकिन ज्ञानी को मन में भी पाप करने की इच्छा नहीं होती अतः उसका पाप से दूर रहना कृपाप्रयुक्त है, दिखावटी नहीं है। मन में न आने पर भी असावधानीवश जो पाप संभव हैं उनसे वह यत्नपूर्वक दूर रहकर साधकों को शिक्षा देता है कि जब तत्त्वज्ञदशा में भी पाप से बचना चाहिये तब साधकदशा में पापों से सर्वथा दूर रहना अनिवार्य है इसमें क्या कहना! अनेक कार्य शिष्ट समाज में अस्वीकार्य होने से छोड़ने पड़ते हैं। एक सिन्धी छात्र किसी परमहंस से कुछ पढ़ने आता था। सिंधी लोग लहसुन-प्याज़ खाते हैं। दो-तीन दिन बाद महात्मा ने उससे कहा 'तेरे मुख से बहुत बदबू आती है, सहन नहीं होती, मुझ से पढ़ना है तो लहसुन-प्याज़ खाना छोड़ दे।' छात्र को विषय समझ आये इसमें यद्यपि लहसुन आड़े नहीं आया तथापि अध्यापक के सान्निध्य के लिये लहसुन छोड़ना ज़रूरी हो गया। तत्त्वज्ञ भी लहसुन खाये तो उसे नरक नहीं जाना पड़ेगा यह ठीक है पर उसके मुख से भी दुर्गन्ध आयेगी तो शिष्ट सज्जन उसे दूर ही रखेंगे। समाज में यों बहिष्कृत होना अशोभनीय होता ही है, विद्या का भी अपमान कराता है। विद्वान् को स्वयं के अपमान से ज़्यादा विद्या के अपमान की चिंता होती है अतः वह अपना आचार ऐसा रखता है कि साधारण व्यक्ति विद्या की ओर श्रद्धावान् बने। पंचदशी में भी बताया है कि ज्ञानी अभक्ष्यभक्षणादि पाप करने के बजाये देवतुल्य बनकर लोक में पूज्य हो जाता है। इन्द्र ने जो घोर कर्म गिनाये वे शिष्टों द्वारा गर्हित नहीं हैं क्योंकि जिन्हें उसने मारा वे सब सदोष थे और इंद्र राजा होने से यदि उन्हें न मारता तब निंदनीय होता, मारकर तो प्रशंसा का ही पात्र बना। श्री राम राजा थे, वे शम्बूक को नियंत्रित न करते तब दोषी माने जाते, उसे नियंत्रित करना ही उनका धर्म था। ऐसे ही इंद्र ने जो घोर कर्म किये वे व्यावहारिक स्तर पर भी पाप नहीं कहे

जा सकते। फिर भी अविचारशील आपात दृष्टि से ब्राह्मण, संन्यासी आदि की हत्या को पाप ही मानता है इसे ध्यान में रखकर इंद्र ने इन कर्मों का उल्लेख किया। जो शिष्ट हैं, शास्त्र-रहस्य समझते हैं वे इंद्र के कृत्यों को ग़लत नहीं ठहराते हैं। किंच अन्य लोग सामान्य ग़लती पर ब्राह्मणादिवध न करें इसे निश्चित करने के लिये इंद्र ने स्वीकारा ही कि हत्याकर्ता को दोष लगा ही, और अन्यत्र वर्णन भी है कि उसका वह पाप अन्यों ने बाँटकर ले लिया जिसके एवज में इंद्र ने उन्हें विशेष वरदान दिये। राम, कृष्ण आदि के आचार भी सर्वथा धर्मानुकूल थे, फिर भी अविचारशील विभिन्न आक्षेप करते ही हैं और यह जानते हुए ही उन्होंने अपने जीवन में प्रायश्चित्त करना, दुःख भोग लेना इत्यादि दिखा कर ऐसे अविचारशीलों की भी बोलती बंद की है। यदि भगवान् भी गलती करते हैं तो प्रायश्चित्त करना पड़ता है अन्यथा फल भोगना पड़ता हैयह इसीलिये दिखाया कि हम लोग ग़लतियों से दूर ही रहें। इस प्रकार, शिष्टों द्वारा बहिष्कार न किया जाये यह एक उपयोग है ज्ञानी के पाप न करने का।

दूसरा हेतु करुणा है। तत्त्वज्ञ जब तक अन्य जीवों का अनुभव करता है तब भी उन्हें स्वयं से सर्वथा भिन्न नहीं समझता, अपना ही, आत्मा का ही अन्य अंतःकरणों में पड़ा प्रतिबिंब जानता है अतः स्वभाव से ही उसे सबसे प्रेम होता है, मैत्री, करुणा रहती है। सबका कोई लाभ हो, किसी की कोई हानि न होयह ज्ञानी का सहज भाव और यथाशक्ति प्रयास रहता है। स्वयं भोजन करते हैं तो हमें श्रम नहीं लगता, दूसरे भी इससे हमें उदार नहीं मान लेते; जब सब भूतों को वह अपना ही रूप देखता है तब सबके लिये करते हुए भी वह अपने ही लिये कर रहा होता है अतः उसे कोई श्रम नहीं होता, न यही आशा होती है कि उदार माना जाये। वह स्वभाव से ही करुणावान् होता है। यदि आत्मज्ञ दुराचार करेगा तो लोग उसकी निंदाकर पाप के भागी बनेंगे, यों दूसरों के पाप में निमित्त ज्ञानी बनेगा जो करुणावश वह बनना नहीं चाहता इसलिये ऐसा मौका नहीं देता कि कोई उसकी निन्दा करे। यद्यपि जब साक्षात् भगवान् के भी निंदक हैं तब ज्ञानी के भी होंगे ही तथापि वह अपनी तरफ से कोई मौका नहीं देता निमित्त बनने का इसलिये पाप से दूर रहता है। तीसरा हेतु है कि उसके निकटस्थ साधक उसके दृष्टांत से स्वयं पाप न कर बैठें इसलिये वह दुष्कर्म से दूर रहता है। निंदक तो ज्ञानी को निकृष्ट मानेंगे अतः उसका अनुकरण नहीं करेंगे लेकिन उसके प्रशंसक उसे श्रेष्ठ मानते हैं अतः अनुकरण कर लेंगे इसलिये यह पृथक् हेतु है। जो अभी साधक है उससे गलती होगी तो वह साधनामार्ग से भी भ्रष्ट होगा तथा नरकादि भी जायेगा इसलिये उसे पाप से अत्यंत दूर

किंच पुण्यरतः पूर्वं ज्ञानमाप्नोति नान्यथा।
पश्चाच्च तद्वासनया पुण्यमेव करोत्यसौ।।२८।।

रहना ही चाहिये यह शिक्षा देने के लिये ज्ञानी स्वयं पाप से दूर रहकर दिखाता है कि इस ढंग से आचरण किया जाये। जो ज्ञानमार्गी नहीं कर्ममार्गी है वह भी ज्ञानी को श्रेष्ठ मानता है। उसके लिये भी वह आदर्श पेश करता है। अतः ज्ञानी अपने वर्णाश्रम के विरुद्ध भी कोई कार्य नहीं करता। जैसे पाप से बचना ज़रूरी वैसे यह भी ज़रूरी है कि अच्छा उदाहरण सामने रखने के लिये ऐसा न हो कि शिक्षा के नाम पर धर्म का उल्लंघन करें, गृहस्थ रहते हुए यतिधर्म या यति होकर गृहस्थधर्म पालन करने लग जायें! किन्तु यहाँ केवल पाप से बचने का प्रसंग है, पुण्य करने की बात नहीं कही है। उक्त तीन लौकिक कारण बताये जिनसे ज्ञानी पाप नहीं करते।।२४-७।।

प्रधान बात तो यह है कि दुश्चरित से जो विरत हो नहीं चुका उसे ज्ञान ही नहीं होता और ज्ञान के बाद पाप में प्रेरक कामना रह नहीं जाती अतः ज्ञानी से पाप की आशा ही व्यर्थ है यह बताते हैं **यह भी बात है कि साधनावस्था में ही जो सर्वथा पुण्य में लगा रहता है वही ज्ञान प्राप्त करता है, जिसने साधक होकर पाप किये हैं उसे तत्त्वसाक्षात्कार ही नहीं होता। ज्ञानलाभ के बाद भी पुण्यसंस्कारों के कारण विद्वान् पुण्य ही करता है, पाप नहीं करता है।।२८।।** गीता में कहा है कि बहुत जन्मों के प्रयास के फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति होती है अतः जो अनेक जन्मों से पाप से दूर रहकर पुण्य में संलग्न है वह ज्ञानी हो पाता है। इस प्रकार उसके संस्कारों में पाप रहता नहीं, पुण्य रहता है। ज्ञान के बाद का व्यवहार संस्कारानुसार चलता है क्योंकि कामना तो रहती नहीं। इसलिये तत्त्वज्ञ पाप कर नहीं सकता, पुण्य ही कर सकता है। जिस प्रकार ज्ञान से पूर्व हिंदी बोलने के संस्कार वाला ज्ञान के बाद भी हिंदी ही बोलेगा उसी प्रकार ज्ञान से पूर्व पाप न करने वाला ज्ञान के बाद भी पाप नहीं ही करेगा। साधक के लिये इसीलिये अभ्यास का, नियम का महत्त्व है, वह दृढ नियम पालन करता रहे तभी संस्कार स्थिर होंगे और बिना प्रयास सही कार्य करेगा। गाँधी जी को कार्य करते हुए चाहे रात के दो बज जायें, वे प्रातः चार बजे अवश्य उठकर स्नान के बाद जप करते थे, सवा पाँच बजे प्रार्थना-सभा के बाद अन्य कार्य करते थे। जीवन-भर ऐसा नियम पालने वाले से सुबह ब्राह्म मुहूर्त में सोया जाता ही नहीं, बिना बंधन के, बिना आवश्यकता के भी वह उठ ही जाता है। इसी तरह ज्ञानी से पाप हो सकता ही नहीं, पुण्य हो जाता है भले ही उससे भी उसे कोई अदृष्ट लाभ नहीं है।।२८।।

किं बहूक्त्या तत्त्वविदो न भयं पारलौकिकम्।
उपदेशसहस्र्यां च तथाऽऽचार्यैरुदीरितम्।।२९।।
'परलोकभयं यस्य नास्ति मृत्युभयं तथा।
तस्यात्मज्ञस्य शोच्याः स्युः सब्रह्मेन्द्रा अपीश्वराः'।।३०।।

शास्त्र व युक्ति से समझाकर कि तत्त्वज्ञ पाप नहीं करता, विद्वानों के अनुभव को भी इसमें प्रमाण बताने के लिये आचार्य शंकर का वचन उद्धृत करते हैं **इस विषय में अधिक ऊहापोह से क्या लाभ! उपदेशसहस्री में आचार्यपाद ने स्पष्ट बताया है कि तत्त्ववेत्ता को परलोक का कोई डर नहीं होता।।२९।। 'जिसे न मृत्यु का, न परलोक का भय है उस आत्मज्ञानी के लिये ब्रह्मा इन्द्र आदि देवता भी शोक के योग्य ही रहते हैं!'।।३०।।** विचारणीय वह है जिसका हमारे जीवन में प्रवेश हो; साधक के लिये पाप से दूर रहकर कर्तव्य-पालन करना ही आवश्यक है अतः ज्ञानी पाप करे, न करे, क्यों न करे इत्यादि विचार का कोई लाभ नहीं फिर भी प्रसंग समझने के लिये आवश्यक विचार किया जा चुका है। जब स्वयं ब्रह्मनिष्ठ आचार्य कह रहे हैं कि पारलौकिक भय नहीं है तब इसमें शंका का स्थान ही समाप्त हो जाता है। उपदेशसहस्री (१४.२७) में आचार्य ने साफ कहा है कि विद्वान् न मौत से और न परलोक से डरता है। इसका मतलब यह नहीं कि इहलोक से डरता हो! परलोक का भय प्रबल होता है, जब उसी का डर नहीं तब इहलोक के भय का तो प्रसंग ही नहीं यह अर्थ है। तत्त्वज्ञ स्वयं के वास्तव स्वरूप को जन्म-मरण से रहित जानता है अतः जब उसका मरण होना ही नहीं तब उससे डरे कैसे? बिना मरे परलोक जाया नहीं जाता अतः न मरने वाले आत्मा को परलोक जाना ही नहीं जो उससे डरे। अत्यंत प्रभावशाली इन्द्र, ब्रह्मा आदि तक के बारे में आत्मज्ञ को लगता है कि 'ये बेचारे दुःखी हैं!' अर्थात् वह इन पदों को भी नहीं चाहता। यद्यपि इंद्रादि तत्त्वज्ञ होने से शोचनीय नहीं तथापि अधिकारारूढ होने से उन्हें अतिदीर्घकाल तक विक्षेप के प्रारब्ध का सामना करना पड़ता है इस दृष्टि से विदेह कैवल्य से दूर होने के कारण वे शोचनीय बताये गये हैं। प्रसंग की बात इतनी ही है कि तत्त्वज्ञ को पाप से कोई भय नहीं होता।।२९-३०।।

इन्द्र द्वारा ज्ञान-प्रभाव बताने पर यह शंका उठी थी कि ज्ञानी पाप से क्यों बचता है? उसका समाधान श्लोक २४-३० तक किया। अब पुनः इन्द्र के उपदेश का वर्णन करते हैं **'मुझे जानो' इस कथन के द्वारा प्रतर्दन को स्वात्मा के ज्ञान की ओर**

प्राण-प्रज्ञाभ्याम् उपदेशः

'मां जानीही'-त्येवमिन्द्रः स्वात्मज्ञाने प्रवर्त्त्य तम् ।
'प्राणोऽस्मी' त्यादिवाक्येन तस्मै तत्त्वम् अवोचत ।।३१।।

प्रेरित कर उसे 'मैं प्राण हूँ' आदि वाक्य से तत्त्व सुनाया ।।३१।। पाप के फल से सभी डरते हैं अतः 'आत्मज्ञान के प्रभाव से पाप निष्फल हो जायेगा' सुनकर आत्मज्ञान के लिये प्रवृत्ति उत्साह से होती है जैसे तीर्थ, व्रत आदि का प्रभाव सुनकर तीर्थ जाने या व्रत करने में रुचि हो जाती है। वैराग्य, श्रवणादि में तत्परता आदि अतिकठिन साधनों के अभ्यास में लगेगा ही व्यक्ति तब जब ज्ञान के अत्यंत महत्त्वपूर्ण फल के प्रति आश्वस्त होगा। प्रतर्दन जब फलश्रवण द्वारा प्रेरित हो गया, उसकी जिज्ञासा तीव्र हो गयी तब इन्द्र ने बताया कि 'मैं' अर्थात् आत्मतत्त्व को कहाँ कैसे पाया जाये। इन्द्र ने कहा 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा, तं माम् आयुरमृतम् इत्युपास्व' (३.२) कि मैं प्राण हूँ, प्रज्ञारूप हूँ; आयु और अमृत विशेषताओं वाले के रूप में मेरी उपासना करो। पहले प्राण और प्रज्ञा उपाधियों से आत्मा का परिचय कराया फिर अंत में 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' (३.८) से आत्मा का निरुपाधिक स्वरूप बताया। इस प्रकार 'मां विजानीहि' से उपक्रम और 'आनंदः अजरः अमृतः' से उपसंहार है यह बताया। 'वक्तारं विद्यात् घ्रातारं विद्यात्' (३.८) इत्यादि अभ्यास है। 'स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवाऽसाधुना कनीयान्' (३.८) द्वारा कही कर्मबंधन से निवृत्ति फल है। प्राण-प्रज्ञा उपाधियों का वर्णन उपपत्ति है। जगने पर पुरुष से सबका पैदा होना (३.३), आत्मा लोकपाल, लोकाधिपति है (३.८) आदि अर्थवाद है। आत्मज्ञान हिततम है कहने के बाद इंद्र स्वयं समझाने लगे यह अपूर्वता का द्योतक है क्योंकि इससे पता चलता है कि इन्द्र को विवक्षित आत्मा न प्रतर्दन को पता है और न बिना उपदेश के उसे पता चलेगा। इस प्रकार इस प्रसंग का तात्पर्य प्रत्यगात्मा ही है यह निश्चित हो जाता है। आत्मा को समझने में प्राण व प्रज्ञा सहायक बनते हैं, प्राण-प्रज्ञा को समझने चलेंगे तो अंत में प्रत्यगात्मा तक पहुँच जायेंगे। हैं तो प्राण-प्रज्ञा अध्यस्त किन्तु उन्हीं के सहारे अधिष्ठान आत्मा तक पहुँचा जा सकता है। जैसे अन्यत्र कोश, अवस्था, शरीर आदि को उपाय बनाया जाता है वैसे यहाँ इंद्र ने प्राण-प्रज्ञा को उपाय बनाया है। आत्मा 'की' अनुभूति अहम्-प्रत्यय में ही होती है, प्राण-प्रज्ञा का भी अनुभव अहम्-प्रत्यय में ही है अतः प्राण-प्रज्ञा से अहं-प्रत्यय में एकाग्र होने पर वहाँ जिसकी अनुभूति है वह शुद्ध आत्मा समझ आ जाता है। रुपयों के नोट सब बैंकों में, गद्दियों में मिल सकते हैं लेकिन यदि बड़ी तादाद में सर्वथा नये नोट चाहिये तो

प्राण-प्रज्ञे क्रिया-ज्ञानशक्ती द्वे लिङ्गदेहगे।
तदधिष्ठानरूपत्वात् ताभ्यामात्मोपलक्षितः।।३२।।
प्रज्ञात्मा प्राणरूपोऽस्मीत्येवं तस्मा अवोचत।
'आनन्दोऽजर' इत्यादि निर्णयस्तस्य वक्ष्यते।।३३।।

रिजर्व बैंक से ही मिलेंगे, इसी तरह परमात्मा सर्वव्यापक है परन्तु उसके शुद्ध रूप की *प्राप्ति* 'मैं' में ही होगी। अपने इष्टदेव को परमात्मा समझ भी लें तो उससे हमारा मोक्ष नहीं हो सकता, हमें मुक्त होने के लिये स्वयं को ही परमात्मा जानना पड़ेगा। ब्रह्मसूत्रों में साफ किया है कि परमात्मा को मैं ही समझना चाहिये'आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः' (भाष्य. ४.१.३)उसे अपने से भिन्न समझना मोक्षप्रद नहीं होगा। इसीलिये इंद्र ने आत्मा का नाम भी 'मैं' लिया'मुझे जानो।'और परिचय भी प्राण-प्रज्ञा से दिया, प्राण-प्रज्ञा का अनुभव खुद अपने में ही होता है।।३१।।

प्राण-प्रज्ञा का रूप बताकर उनके उल्लेख का औचित्य सूचित करते हैं **क्रियाशक्तिरूप प्राण और ज्ञानशक्तिरूप प्रज्ञा, दोनों सूक्ष्म शरीर में होते हैं। आत्मा सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान है इसलिये प्राण-प्रज्ञा से उसे उपलक्षित किया गया।।३२।।** कर्मेन्द्रियाँ और प्राणये प्राणमय कोष है, इसी में क्रियाशक्ति होती है तथा ज्ञानेंद्रियाँ और अंतःकरणये मनोमय-विज्ञानमय कोष हैं, इन्हीं में ज्ञानशक्ति होती है। इस प्रकार ये दोनों शक्तियाँ सूक्ष्म शरीर में ही हैं। सूक्ष्म शरीर स्वयं भौतिक होने से जड है, स्वतः ज्ञान व क्रियावाला नहीं हो सकता। वह जिस पर अध्यस्त है उस चेतन के प्रभाव से ही सूक्ष्म शरीर में ये शक्तियाँ प्रकट होती हैं। वह चेतन ही लिंग शरीर का अधिष्ठान है अध्यस्त से अधिष्ठान को लक्षित करना लोकसिद्ध है, जैसे कहते हैं 'जो चाँदी दीख रही है उस सींप को ले आओ।' एक बार लक्ष्य का ज्ञान करा दे, फिर रहे या न रहे इससे कोई अंतर न पड़े, ऐसी तटस्थ वस्तु उपलक्षण होती है जैसे कौवा देवदत्त के घर का उपलक्षण हो जाता है। ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति आत्मा के अंग या स्वरूप नहीं हैं परन्तु इनसे आत्मा समझ में आ जाता है। यही इन्हें बताने का उपयोग है।।३२।।

केवल सोपाधिक आत्मा विवक्षित नहीं क्योंकि उपसंहार में निरुपाधिक का वर्णन है तथा उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता से ही अभिप्राय पता चलता है यह बताते हैं **'प्राण व प्रज्ञा मेरा स्वरूप है' इस प्रकार इन्द्र ने प्रतर्दन से कहा तथा 'मैं' का निष्कृष्ट स्वरूप 'आनंद, अजर' इत्यादि से बतायेंगे।।३३।।** (तस्य उच्यते निर्णय सागर और मुत्तुशास्त्री का मुद्रित पाठ है, किन्तु कावेल द्वारा संपादित

अत्रोपायो नास्ति कश्चिद् उपाधिमुपलक्षकम्।
विनात्मवाचकः शब्दो यस्माद् न क्वाऽपि वीक्ष्यते।।३४।।

कौषीतकीशंकरानंदी के परिशिष्ट में छपे अनुभूतिप्रकाश के इस अध्याय में 'वक्ष्यते' पाठ बेहतर है, संधिदोष भी नहीं होता।) उपक्रम बलवान् होने पर भी लिंगयुक्त उपसंहार अकेले उपक्रम से ज़्यादा बलवान् होता है यह दहराधिकरण में (१.३.५) निर्धारित है। सर्वकर्म-निवृत्ति यह निरुपाधिक का लिंग है। जैसा भाष्यकार ने कहा 'ब्रह्मविज्ञानेन हि सर्वकर्मक्षयः प्रसिद्धः' (ब्र.सू.१.१.११.२८) अतः उपसंहारगत आनन्दादि के अनुसार उपक्रम के 'माम्' का अर्थ भी निरुपाधिक आत्मा ही मानना अनिवार्य है। केवल प्राण-प्रज्ञावाला तो जीव है, उसके ज्ञान से सारे कर्मबंधन नहीं टूटते, हिततम का लाभ नहीं होता जैसा कि भाष्यकार ने कहा है 'न ह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततमप्राप्तिरस्ति' (ब्र.सू.१.१.११.२८)। आनन्द, अजर, अमृतयह आत्मा का स्वरूप है, औपाधिक रूप नहीं है। प्राण-प्रज्ञा सदा आनंदरूप नहीं है। दर्द के अनुभाव में प्रज्ञा है पर आनंद नहीं है। प्राण (क्रियाशक्ति) अजर नहीं है वरन् थक जाता है। आत्मा सदा आनंद और अजर है, कभी थकता नहीं। अनुभवसिद्ध है कि यही लगता है कि 'घुटना ठीक हो जाये, आँख ठीक हो जाये, थोड़ी ताकत आ जाये तो मैं आज भी (अस्सी साल की उम्र में भी) कैलास-मानसरोवर की यात्रा कर सकता हूँ' अर्थात् 'मैं' नहीं थका, बूढ़ा नहीं हुआ, शरीरादि ही जीर्ण हुए हैं। इस अजर, अमर, आनंदरूप मैं को समझने के लिये ही इन्द्र ने प्रतर्दन से कहा।।३३।।

सीधे ही निरुपाधिक को न कहकर प्राण-प्रज्ञा का उल्लेख क्यों किया? इसका उत्तर देते हैं **उपलक्षणभूत उपाधि का उपयोग किये बिना आत्मा के बारे में बताने का और कोई उपाय नहीं है क्योंकि आत्मा को शक्तिसम्बन्ध से बताने वाला कोई शब्द नहीं मिलता।।३४।।** उषस्त चाक्रायण ने कहा कि गाय-घोड़े की तरह आत्मा का वर्णन करो, तो याज्ञवल्क्य ने समझाया कि यह संभव नहीं क्योंकि वह विषयतया उपलब्ध होने वाली वस्तु ही नहीं है। मैत्रायणी उपनिषत् में भी बताया है कि परमार्थ वस्तु का उपदेश केवल मौन से हो सकता है। अन्यत्र भी उसे मन-वाणी का अविषय कहा गया है। अतः जैसे राहु को सूर्य-चंद्र पर आरूढ ही देखा जा सकता है, अपने मुख को दर्पण में ही देखा जा सकता है वैसे परमात्मा को उपाधि के द्वारा ही समझा-समझाया जा सकता है। जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध वाली चीज़ को तो शब्द शक्तिसंबंध से बता सकता है, इनसे रहित वस्तु को शक्ति से नहीं केवल लक्षणा से बता

लोके गुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते।।३५।।

सकता है। शब्द शक्ति से अपने निश्चित अर्थ का वाचक होता है किन्तु लक्षणा से वह अभिप्रेत अर्थ का बोधक हो जाता है। पण्डित-शब्द का निश्चित अर्थ विद्वान् है पर लक्षणा से वह मूर्ख का भी ज्ञान करा देता है, प्रसंगविशेष में स्वरविशेष से कहने पर पंडित-शब्द मूर्ख का बोधक हो जाता है। श्रोता की तात्पर्य-अवधारण-क्षमता पर लक्षणा की सटीकता निर्भर करती है अतः उचित संस्कारों वाला साधक ही आत्मा को लक्षणा से भी समझ सकता है। क्योंकि आत्मा का वाचक कोई शब्द नहीं इसलिये उपनिषदों में अनेक तरह से, विभिन्न उपाधियों के सहारे उसे समझाया है ताकि साधक की बुद्धि के भेद से कोई-न-कोई ढंग कारगर हो जायेगा। मुख्य उपदेश ही महावाक्य से है जिसमें अत्यंत विरुद्ध बात कही कि जीव ब्रह्म है! इसे समझने के लिये लक्षणा का सहारा अनिवार्य है। कुछ आचार्य बिना लक्षणा के भी उपदेश संभव मानते हैं किन्तु राजमार्ग लक्षणा के उपयोग का ही है, भाष्यकार को यही संमत है।।३४।।

शब्दशक्ति की अविषयता ही समझाते हैं **संसार में देखा जाता है कि शक्तिवृत्ति से शब्द अर्थबोध कराये इसमें हेतु बनते हैं गुण, क्रिया, जाति और रूढि। इनमें से एक भी आत्मा में नहीं है इसलिये वह शब्दशक्ति का विषय नहीं है।।३५।।** शब्दातिरिक्त प्रमाण से विषय किये जाने वाले पदार्थों को शब्द बताये इसके लिये उन पदार्थों में गुणादि होना अनिवार्य है। गुण से, जैसे नील; सफेद कपड़ों में विशेष झाँई लाने के लिये एक चूर्ण का प्रयोग करते हैं जो नीले रंग का होता है अतः उसे नील कहते हैं। क्रिया से, जैसे चिकित्सक; चिकित्सा की क्रिया करने वाले को चिकित्सक कहते हैं। जाति से, जैसे घड़ा, कपड़ा, आदि; घटत्व जाति वाली सब चीज़ें घड़ा कहलाती हैं या मनुष्यत्व जाति वाले सब मनुष्य कहलाते हैं। रूढि से, कोश आदि में नियम कर देने से कि अमुक वस्तु को यह नाम बतायेगा; इसमें गुणादि का महत्त्व नहीं रहता, जैसा कबीरदास जी ने कहा है 'चलती को गाड़ी कहें, कढ़े दूध को खोया। रंगी को नारंगी कहें, देख कबीरा रोया!' जो एक जगह गड़ी रहे उसे गाड़ी कहें तो गड़ना क्रिया के निमित्त से संगत है जैसे 'गाड़ी हुई कील' कहते हैं किंतु रूढि से चलने वाले वाहन को गाड़ी कहते हैं! दूध के जलांश को उड़ा देने से सार भाग प्राप्त होता है किन्तु कहते उसे हैं खोया जब कि खो कुछ नहीं गया है। रंगदार फल को नारंगी कहते हैं। इस प्रकार गुणादि का सहारा लिये बिना केवल नियमवश जहाँ शब्द अर्थ का कथन करे वहाँ रूढि कही जाती है। इनसे

उपाधिष्वपि सर्वेषु सामीप्यात् प्रत्यगात्मनः ।
प्राण-प्रज्ञाद्वयं योग्यम् अत्यन्तं तेन लक्ष्यते ।।३६ ।।

अतिरिक्त सम्बन्ध के सहारे भी शब्द अर्थ को बताता है जैसे पिता, पुत्र आदि। मूलकार ने इसे कहा नहीं किन्तु अन्यत्र प्रसिद्ध ही है अतः 'गुण...ढयः' इस बहुवचन से इसे भी समझ लेना चाहिये। गुण क्रिया आदि को प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं अर्थात् शक्तिवृत्ति से शब्द अर्थ को बताने में प्रवृत्त हो इसमें ये निमित्त बनते हैं।

आत्मा निर्गुण, निष्क्रिय, अद्वितीय, असंबद्ध और अप्रमेय है। अतः कोई प्रवृत्तिनिमित्त उसमें न होनेसे शब्दशक्ति का अविषय है। जाति होने के लिये अनेक व्यक्ति चाहिये, आत्मा एक अद्वितीय है अतः उसमें जाति नहीं। रूढि तब हो सकती है जब किसी प्रमाण से पदार्थ जाना जाये; सामने संतरा दिखा कर बताया जाये कि यह नारंगी है तभी रूढि प्रवृत्त होती है। आत्मा किसी प्रमाण का विषय न होने से यह बताया नहीं जा सकता कि इस शब्द का अर्थ आत्मा है। स्वयं 'आत्मा' शब्द भी शुद्ध आत्मा का वाचक नहीं वरन् किसी उपाधि को मानकर ही प्रवृत्त होता है इसीलिये आत्मस्वरूप के बारे में इतना मतभेद बना ही रहता है और स्वयं भी हम 'आत्मा' 'मैं' आदि शब्दों से उपाधि-विशिष्ट को ही कह-समझ पाते हैं, निरुपाधि को नहीं। इसलिये निरुपाधिक, शुद्ध आत्मा लक्षणावृत्ति के सहारे ही कहा समझा जा सकता है। जो आचार्य लक्षणा को अनावश्यक मानते हैं वे भी शुद्ध को वाच्य नहीं कहते; उनका कहना है कि वाच्य का एक हिस्सा शुद्ध भी है इसलिये वाच्य-उपस्थिति होने पर उसके अंशरूप से शुद्ध भी उपस्थित होता ही है अतः उपाधि-अंश को छोड़ना ही पर्याप्त है, शुद्ध को उपस्थित करने के लिये लक्षणा की आवश्यकता नहीं। फिर भी वे बिना उपाधि के शुद्ध मात्र को वाच्य नहीं बताते। इसलिये कहा कि आत्मा का अभिधान नहीं होता, अभिधा-वृत्ति से, शक्तिवृत्ति से उसे नहीं कहा जाता।।३५।।

उपायान्तर न होने से उपाधि का सहारा आवश्यक है तो कौन-सी उपाधि उपयोगी है यह बताते हैं **आत्मा की सभी उपाधियों में से प्राण और प्रज्ञा ये दोनों प्रत्यगात्मा के अत्यंत नज़दीक हैं अतः उसे समझने में उपाय बनने के ये सर्वाधिक योग्य हैं इसलिये यहाँ इसी जोड़े द्वारा आत्मा को लक्ष्य किया जा रहा है।।३६।।** सारा संसार आत्मा पर अध्यस्त है, आत्मा की उपाधि है, प्रत्यग्रूप की उपाधि बनने वाले भी स्थूल देह पर्यन्त अनेक पदार्थ हैं, लेकिन निकटता की दृष्टि से प्राण-प्रज्ञा अत्यंत योग्य हैं आत्मा को समझाने के लिये। राजा के अनेक कर्मचारी होते

प्राणशब्दोऽभिधावृत्त्या वायुं चेष्टकमाह हि।
प्रज्ञाशब्दो ज्ञानहेतुं बुद्धिं वक्ति स्वशक्तितः।।३७।।
तद्भ्रान्त्यधिष्ठानतया तद्धेतुत्वोपचारतः।
ताभ्यामात्मा लक्ष्यमाणो ज्ञेयः शाखाग्रचन्द्रवत्।।३८।।

हैं जिनके माध्यम से राजा से संपर्क किया जा सकता है किन्तु प्रधानमंत्री उसका निकटतम होता है, उसके मार्फत राजा से संपर्क बिना व्यवधान के होता है। इसी प्रकार प्राण-प्रज्ञा आत्मा के प्रधानमन्त्री-स्थानीय हैं, इनके बिना आत्मा कोई व्यवहार नहीं करता, यही इनकी निकटता है, इसलिये ये योग्यतम उपाधि हैं आत्मा को समझने के लिये। यद्यपि इनसे भी कम व्यवधान वाली उपाधि है अज्ञान तथापि केवल अज्ञान वाली दशा अर्थात् सुषुप्ति में हम श्रवणादि कोई विचार कर नहीं सकते इसलिये अज्ञान आत्मा को समझने के लिये पर्याप्त उपाधि नहीं बनता। स्वयं को हम कर्ता-भोक्ता के रूप में ही ज़्यादातर समझते हैं, केवल अज्ञ के रूप में नहीं, अपने बारे में कुछ कहते भी हैं तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व के संदर्भ में ही, अन्य प्रकार से भी स्वयं को अभिव्यक्त करें तो इन्हीं दोनों की दृष्टि से कर सकते हैं अतः इस जोड़े की विशेषता प्रत्यक्ष है इसीलिये इन्द्र ने इसी का उपयोग किया 'मैं' को समझाने के लिये।।३६।।

'मैं प्राण हूँ, प्रज्ञा हूँ' कहने से आत्मा कैसे समझा जाता है यह स्पष्ट करते हैं **प्राण-शब्द अभिधावृत्ति से (शक्तिवृत्ति से) उस वायु को कहता है जो हमें सचेष्ट बनाती है। प्रज्ञा-शब्द अपनी शक्ति से उस बुद्धि को कहता है जो हमारे ज्ञानों का हेतु बनती है।।३७।। प्राण-प्रज्ञा स्वयं भ्रान्तिरूप हैं, उनका अधिष्ठान आत्मा है। अधिष्ठान वास्तव में कारण न होने पर भी अध्यस्त का कारण कह दिया जाता है, अतः 'प्राण-प्रज्ञा का कारण है' इस तरह उनके द्वारा आत्मा लक्ष्य बनकर समझा जा सकता है। जैसे चंद्रमा से दूरतः भी असंबद्ध वृक्षशाखा चन्द्र पर दृष्टि एकाग्र कराने में सहायक बन जाती है वैसे प्राण-प्रज्ञा प्रत्यगात्मा का ज्ञान कराने में अत्यंत सहायक होते हैं।।३८।।** वाच्य अर्थ से संबद्ध वस्तु ही लक्षणा से समझी जा सकती है जैसे 'गंगा जी पर घर है' से गंगा-किनारे घर है यही समझ सकते हैं, गंगा-शब्द गंगातट को लक्ष्य कर सकता है, दिल्ली के चाँदनी चौक को नहीं! अतः लक्ष्य समझने के लिये वाच्य जानना पड़ता है, जो गंगा-शब्दार्थ ही नहीं जानता वह गंगा सुनकर गंगातट भी नहीं समझ सकेगा। इसलिये प्राण-प्रज्ञा के वाच्य स्पष्ट किये : स्थूल शरीर क्रिया करे इसके लिये सूक्ष्म जो चेष्टा, प्रयत्न, कोशिश करता

है उसे प्राण संभव बनाता है। प्राण यद्यपि पाँचों भूतों के राजसांश से बना है तथापि उसमें वायु की प्रधानता है ही और साधारणतः समझ आने वाला प्राण श्वास-प्रश्वासरूप है जो वायु की ही गति है अतः प्राण को अध्यात्म वायु कहा ही जाता है। प्राण-अपान आदि पाँचों वृत्तियों वाला प्राण ही यहाँ समझना चाहिये। जीव को कोई भी ज्ञान तब होता है जब उसके अन्तःकरण में वृत्ति बने। आत्मा ज्ञानरूप तो है पर होने वाला, जन्य ज्ञान वृत्ति पर निर्भर करता है। अविद्यावृत्ति भी जन्य अनुभव संभव करती है पर तभी जब अंतःकरण भी वृत्ति वाला हो, अंतःकरण सर्वथा निर्वृत्तिक रहे तो अविद्यावृत्ति कोई जन्य अनुभव नहीं दे पाती। इसलिये ज्ञान के लिये अनिवार्य उपाधि बुद्धि है। बाह्य विषयों को जानने के लिये इंद्रियाँ चाहिये लेकिन बिना बुद्धि के, अंतःकरण के सिर्फ इंद्रियों से ज्ञान नहीं होता। क्रिया के लिये प्राण की तरह ज्ञान के लिये बुद्धि आवश्यक है। प्रज्ञा-शब्द शक्तिवृत्ति से बुद्धि को ही कहता है। इसीलिये जिसकी बुद्धि बहुत-कुछ जानती है उसी को 'प्राज्ञ' कहते हैं, प्रज्ञावान् कहते हैं। प्राण व प्रज्ञा दोनों भौतिक हैं अतः भ्रमरूप हैं किन्तु उनका बाध ब्रह्मज्ञान से ही होता है इसलिये इनका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। उस ब्रह्मरूप आत्मा को ही प्राण-प्रज्ञा उपलक्षित करते हैं। क्रिया व जन्य ज्ञान होते प्राण व प्रज्ञा में हैं पर भ्रमवश आरोप उनका आत्मा पर होता है। वास्तव में न क्रिया है न जन्य ज्ञान अतः इनका वास्तविक कारण भी कोई नहीं हो सकता, फिर भी क्योंकि भ्रम से समझा जाता है कि आत्मा ही क्रिया और ज्ञान करता है अर्थात् क्रिया-ज्ञान का कारण आत्मा को कहा-समझा जाता है इसलिये प्राण-प्रज्ञा अपने कारणरूप से आत्मा का बोध करा देते हैं। 'आत्मा कारण है' यह बात सच्ची नहीं केवल मानी हुई है पर बता देती है सच्चे आत्मा को। इसमें प्रसिद्ध उदाहरण शाखा-चंद्र-न्याय है : दूज का चाँद बहुत बारीक होता है, आसानी से दीखता नहीं। किसी को दीख जाये और वह दूसरे को दिखाना चाहे तो जहाँ खड़ा है वहाँ से चंद्रमा की सीध में बीच में दीखने वाली कोई स्थूल चीज ढूँढता है जैसे किसी पेड़ की डाल और कहता है 'इस डाल को नोक की सीध में दूर आसमान में देखो।' यों देखने पर दूसरे व्यक्ति को भी चंद्र दीख जाता है। शाखा का चंद्र से सम्बन्ध तो कोई नहीं पर शाखा के सहारे ही वह दीख जाता है। इसी प्रकार प्राण-प्रज्ञा के सहारे आत्मा का पता चल जाता है। स्वयं प्राण-प्रज्ञा आत्मा नहीं है, बता भले ही आत्मा को देते हैं।।३७-८।।

अनात्मा होकर भी ये आत्मा का परिचय करा सकते हैं इसे वाक्यवृत्ति के दो श्लोकों से (वाक्य. श्लोक.१८,२०) प्रमाणित करते हैं **'जिसकी केवल सन्निधि से**

'देहेन्द्रियादयो भावा हानादिव्यापृतिक्षमाः ।
यस्य सन्निधिमात्रेण सोऽहमित्यवधारय । ।३९ । ।
अजडात्मवद् आभान्ति यत्सान्निध्याज्जडा अपि ।
देहेन्द्रियमनःप्राणाः सोऽहमित्यवधारय' । ।४० । ।

शरीर इंद्रिय आदि पदार्थ छोड़ना (पकड़ना) आदि कार्यों में समर्थ हो जाते हैं, वह मैं हूँ यह निश्चय करो । ।३९ । । जड देह-इंद्रिय-मन-प्राण जिसकी सन्निधि के प्रभाव से चेतन आत्मा की तरह प्रतीत होते हैं, वह मैं हूँ यह निश्चय करो ।' ४० । । (श्लोक ३९ में अनु. प्र. में 'ज्ञानादिव्यापृति' छपा है किन्तु वाक्यवृत्ति में 'हानादिव्यापृति' पाठ है और यहाँ क्रिया का ही प्रसंग है इसलिये हान-पाठ ही उचित है।) अत्यंत जड वस्तु स्वयं कोई व्यवस्थित क्रिया नहीं करती अतः शरीरादि भी जड होने से स्वयं कुछ कर नहीं सकते। किन्तु आत्मा की संनिधि से ये सब कुछ करने में सक्षम हो जाते हैं। संनिधि अर्थात् प्रतिबिंबन्याय से एकमेक हो जाना, अन्योन्याध्यासवश देहादि और आत्मा अलग के बजाये एक प्रतीत होना। जैसे चुम्बक की सन्निधि से लोहकण अत्यंत व्यवस्थित आकार ग्रहण कर लेते हैं, बिना उसकी संनिधि के नहीं कर पाते, वैसे आत्मसन्निधि से जड देहादि सब क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाते हैं। सन्निहित रूप, अध्यास वाला रूप, प्रतिबिंब रूप तो जीव है लेकिन जिसकी सन्निधि प्रतीत हो रही है वह बिम्बरूप आत्मा ही वास्तविक तत्त्व है, वही ज्ञेय कहा जा रहा है। पहले अपने प्राण-प्रज्ञा द्वारा, देहेंद्रियादि द्वारा आत्मा को समझना पड़ेगा, सारे जगत् का वही अधिष्ठान है यह बाद में पता चलेगा जब उसी आत्मा को परमेश्वर जाना जायेगा। व्यष्टि उपाधि को सचेतन बनाने वाला ही समष्टि ब्रह्माण्ड की भी सब व्यवस्थित क्रियाओं का हेतु है। ग्रह-नक्षत्रों के चलने से धनाणु-ऋणाणु की क्रिया पर्यन्त अत्यंत नियमित प्रक्रिया इसीलिये है कि सर्वत्र चेतन की सन्निधि है, उसके बिना जड में व्यवस्थित व्यवहार नहीं हो सकता। व्यष्टि-समष्टि उपाधियों में महान् अंतर है पर जिसकी सन्निधि है वह चेतन एक ही है। उपाधियों से एकमेक समझने तक व्यष्टि वाला जीव और समष्टि वाला ईश्वर यह भेद भासता है किन्तु उपाधियाँ छोड़ देने पर चिद्वस्तु में कोई भेद नहीं है। उस चिद्वस्तु को ही मैं समझने के लिये इन्द्र कह रहे हैं। जैसे आत्मसन्निधि से देहादि में क्रिया होती है वैसे ही ज्ञान भी होता है, देहादि जान पाते हैं, इनमें चेतना होती है। पत्थर की तरह शरीर जड नहीं लगता क्योंकि इसमें आत्मा की पूर्वोक्त विशेष सन्निधि है। हीरा-पन्ना-माणिक अत्यंत सुंदर ढंग से चमकते

उपासना

उपाधिलक्षितं तत्त्वं यदि बोद्धुं न शक्नुयाः ।
तर्ह्युपाधिद्वयोपेतम् उपास्व गुणसंयुतम् । ।४१ । ।

हैं लेकिन वह चमक उनकी नहीं वरन् प्रकाश की है, रोशनी बुझा दें तो घुप अंधेरे में हीरा आदि कोई नग नहीं चमकेगा। इसी प्रकार देहेन्द्रियादि चेतना वाले प्रतीत होते हैं, सब विषयों के ज्ञान इन्हें होते हैं, किन्तु चेतना इनकी नहीं है वरन् आत्मा की ही है। जिसकी संनिकटता देहादि को ज्ञानवान् बनाती है वही आत्मा मैं हूँ यह समझना कल्याणोपाय है। ।३९-४० । ।

उक्त ज्ञान की प्राप्ति के लिये सहायक साधन कहा 'तं माम् आयुरमृतम् इत्युपास्व' उसे बताते हैं **प्राण-प्रज्ञा उपाधियों से उपलक्षित आत्मवस्तु यदि न समझ सको तो दोनों उपाधियों वालाइस रूप से उसकी उपासना करो। उपासना के लिये कुछ और गुणों का भी निवेश करना चाहिये। ।४१ । ।** वशिष्ठ जी ने बताया है कि कोई साधक विचार-प्रधान होता है और कोई योग अर्थात् ध्यान-प्रधान होता है। बात समझ आ जाये तो दृष्टि से ओझल न हो यह विचार-मार्गी की साधना है। समझी हुई बात से अन्यथा प्रतीति न हो तब तक वह दृष्टि में रहे, अन्यथा प्रतीति न होते ही बात दृष्टि से ओझल हो जायेयह ध्यानमार्गी की स्थिति होने से वह अन्य अनुभवों को रोककर अभीष्ट अनुभव कायम रखे यह उसकी साधना है। छात्र भी दो तरह के होते हैं, विषय समझने वाले और रट लेने वाले। सवाल का जवाब दोनों सही निकाल लेते हैं लेकिन एक को दीर्घ प्रयास से रटना पड़ा है, दूसरे को नहीं। रटने वाला समझने की गहराई में ज़्यादा उतरता भी नहीं, उसे आवश्यकता ही नहीं लगती। रसायनशास्त्र में तत्त्वों की एक वर्गीकृत सूची है (पीरियॉडिक टेबल); अनेक छात्र उसे रट लेते हैं, उसी से सारा व्यवहार हो जाता है, वे इस विचार में जाते ही नहीं कि उसी क्रम में उन्हीं वर्गों में तत्त्व रखे क्यों हैं? जिसके लिये समझना प्रधान है वह इस दृष्टिसे अवश्य विचार कर रहस्य पता लगाता है। इसी प्रकार अध्यात्म-साधना के विचार मार्ग पर चलने वाला यह समझने का प्रयास करता है कि 'मैं वह हूँ जिसके कारण सारा लोकव्यवहार हो रहा है, पर करने वाला-भोगने वाला मैं नहीं हूँ,' और समझने के बाद यह तथ्य उसके लिये सदा स्पष्ट भासता रहता है, घोर दुःख या उत्कट सुख कोई भी दृश्य आये, चाहे युद्ध की क्रिया का मौका हो या केवल भोजन-स्नानादि क्रिया हो, उसे क्षणार्ध को भी यह नहीं महसूस होता कि मैं कर्ता-भोक्ता हूँ।

किन्तु जो योगमार्ग की योग्यता वाला है वह उक्त तथ्य का सामान्य बोध तो पा लेता है, उससे ज्यादा गहराई में उतर नहीं पाता; उसे वह बात स्वानुभव में नहीं आती और उसके विरोध में उसे कोई प्रमाण-तर्क भी नहीं सूझता, विपरीत अनुभवों के कारण वह उस तथ्य को स्वीकारे भी नहीं रह पाता। ऐसे साधक को उसी बात को मानो रटने के लिये ध्यान द्वारा उसकी दीर्घकाल तक आवृत्ति करते रहना पड़ता है। बात क्योंकि वास्तविक है इसलिये जब आवृत्ति से वह भाव दृढ हो जाता है तब उसे भी वही फल मिलता है जो विचारमार्गी को। किन्तु जो प्राण-प्रज्ञा से उपलक्षित को भी अर्थात् वास्तविक तत्त्व को भी नहीं समझ पाता उसके लिये सगुण-उपासना अत्यंत सहायक है। इसीलिये इंद्र ने यहाँ इसका विधान किया। जानना तो है कि प्राण-प्राज्ञ से परे आत्मा है, पर वह न जान सके तो साधक पहले यह ध्यान करे कि प्राण-प्रज्ञा वाला आत्मा है। शाखाचंद्र उदाहरण में भी कदाचित् सही डाल ही व्यक्ति नहीं देख पाता! उसे पहले तना दिखाकर एक-एक कर बड़ी डालें पार कराते हुए उस छोटी टहनी तक दृष्टि पहुँचानी पड़ती है। इसी प्रकार अनेक उपाधियों से विशिष्ट आत्मा ही जिसे प्रतीयमान है उसे पहले अन्य उपाधियाँ छोड़कर केवल प्राण-प्रज्ञा उपाधियों वाले आत्मा की प्रतीति करानी पड़ती है तभी संभव है कि वह उन उपाधियों को छोड़ भी सके और उनसे परे जो आत्मा है उसे समझ सके। इस उपासना में आयु और अमृत ये गुण भी जोड़ने चाहिये। आयु अर्थात् सब प्राणियों के जीवन का कारण जो प्राणापान से अलग उनका आश्रय है। तथा अमृत अर्थात् छहों भाव-विकारों से रहित। 'प्राण प्रज्ञा आयु अमृत मैं हूँ' यों उपासना करनी चाहिये। क्रिया-शक्ति व ज्ञानशक्ति मुझ आत्मा के गुण जैसे हैं, मेरे अभिन्न अंग नहीं हैं, औपाधिक धर्म हैं किंतु ध्याता उन्हें विशेषण मानकर ही ध्यान करता है ताकि आत्मा के अन्य बहुत से जो विशेषण उसे प्रतीत हो रहे हैं उन पर से दृष्टि हटे। इस उपासना से जब आत्मापर एकाग्रता बन जाये तब विवेकपूर्वक प्राणादि से परे जो आत्मा उसे समझने का प्रयास करना पड़ेगा, और वह सरलता से समझ आयेगा। यदि न समझ आया तो भी उपासना का लौकिक-अलौकिक फल मिल ही जायेगा।।४१।।

उपास्य गुणों का उल्लेख कर उक्त ध्यान का फल 'स यो मामायुरमृतमित्युपास्ते सर्वमायुरस्मिँल्लोक एत्याप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके' (कौ. ३.२) के अनुसार बताते हैं **इस उपासना में ध्येय प्राण के दो गुण हैंआयुष्य और अमृतत्व। उपासना के फलस्वरूप इहलोक में जीवित रहते हुए लंबी आयु प्राप्त होती है और स्वर्ग**

आयुष्यम् अमृतत्वं च गुणौ प्राणस्य सम्मतौ।
इहायुः प्राणतः स्वर्गे चाऽमृतत्वम् इति स्फुटम्।।४२।।
सत्यसङ्कल्पता प्रज्ञागुणो ध्यानानुसारतः।
फलमाप्नोति कामी चेद् निष्कामस्तत्त्वमीक्षते।।४३।।

में अमरता मिलती हैये फल स्पष्ट कहे गये हैं।।४२।। जीवन-कारणता आयुष्य है 'आयुः प्रयोजनमस्य', जो प्राण का गुण है। ऐसे ही अमृतता भी प्राण का गुण है, वह कभी मरता नहीं। लोक में भी 'प्राण मर गया' कोई नहीं कहता, 'प्राण चला गया' यही कहते हैं अतः यही समझते हैं कि स्थूल देह छोड़कर जाने वाला प्राण तो हमेशा रहता ही है, इसे छोड़कर अन्यत्र पहुँच जाता है। इन गुणों से युक्त प्राण की उपासना से दीर्घ आयु मिलना ऐहिक फल है और मरने के बाद मिलने वाला फल स्वर्ग है, स्वर्ग में अतिदीर्घ जीवन होने से वहाँ वाले देवताओं को अमर कहते हैं, उपासक भी अतिदीर्घ जीवनरूप अमरता वहाँ पा जाता है। यह मोक्षरूप अमरता नहीं है।।४२।।

उपनिषत् में 'यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः प्राणेन ह्यमुष्मिँल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति प्रज्ञया सत्यसङ्कल्पम्' यों (३.२) प्रज्ञा से सत्यसंकल्प कहा है, उसका अर्थ बताते हैं **प्रज्ञा का ध्येय गुण सत्यसंकल्पता है। कामनावान् उपासक ध्यान के अनुसार (सत्यसंकल्प बन जाना रूप) फल प्राप्त करता है और निष्काम उपासक उपासना के प्रभाव से आत्मा के वास्तव स्वरूप को समझ पाता है।।४३।।** जैसे प्राण के दो गुण कहे थे वैसे प्रज्ञा का एक गुण बताया। (मुत्तुशास्त्री ने 'गुणध्याना' ऐसा समस्त पाठ माना है, वह भी ठीक है।) जो चीज़ जैसी है उसे वैसे ही जानना यह बुद्धि की विशेषता है। यहाँ ध्येय गुण बताया कि बुद्धि का संकल्प सत्य होता है क्योंकि जब नियम है कि जैसा अर्थ होता है वैसा ही जानती है तब यह भी कह सकते हैं कि जैसा बुद्धि जानती है वैसा ही अर्थ होता है। इस उपासना का फल भी सत्यसंकल्प हो जाना है, ध्येय गुण ध्याता में आता ही है। असत्य संकल्प हो ही नहीं यह उपासक की विशेषता है। साधारण व्यक्ति के अधिकांश सङ्कल्प केवल मनोरथ होते हैं जो अनवरत उठते और लीन होते रहते हैं, तदनुसार क्रिया, उपलब्धि आदि कुछ नहीं होता। उपासक अपनी मनःशुद्धि और एकाग्रता के आधार पर यों मनोरथ तो दौड़ाता नहीं रहता, उसे वही संकल्प होता है जो सत्य है, जिसके अनुसार क्रियादि होनी ही है। यह सकाम उपासक के लिये फल है। लोक-परलोक के बारे में वह जो संकल्प करे वह पूरा होता ही है। जो साधक मुमुक्षु है, प्राण-प्रज्ञा के अधिष्ठान

उपास्त्यैकाग्र्यमाप्त्वाऽथ तत्त्वं वीक्षितुमादितः।
प्रज्ञाप्राणावुपाधी तौ विविच्येतां यथातथम्।।४४।।

को समझ न पाने से उसे समझने की सीढ़ी के रूप में इस उपासना में लगता है, उसे लौकिकादि विषयों में सत्यसंकल्पता चाहिये नहीं, उसे फल मिलता है कि उसकी बुद्धि के दोष क्षीण हो जाते हैं और वह प्राण-प्रज्ञा से परे जो आत्मा उसे सही-सही साक्षात् समझ लेता है।।४३।।

सही समझ पाने की प्रक्रिया ही स्पष्ट करते हैं **उपासना द्वारा एकाग्रता पाकर फिर तत्त्व का दर्शन करने के लिये सर्वप्रथम प्राण-प्रज्ञा उपाधियों का विवेकपूर्वक यथार्थ स्वरूप निर्धारित करना चाहिये।।४४।।** उपासना का उपयोग चित्त को आत्मा पर एकाग्र करना है। जिस प्रकार दीखता आँख से ही है पर उन्नतोदर काँच सहायता करता है पदार्थ को साफ-साफ देखने में, उसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान तो शास्त्रवाक्य से ही होता है, उपासना एकाग्रता देकर सहायता कर देती है। अन्य विषयों में मन न जाये तभी आत्मा का सही ज्ञान हो सकता है। मन विषयों में जाता है रागवश, पूर्ण वैराग्य हो तो मन इधर-उधर भटकता नहीं। इसी स्थिति को ध्यान से प्राप्त किया जाता है। जैसे अंधा उन्नतोदर काँच या खुर्दबीन से भी कुछ नहीं देख सकता वैसे बिना शास्त्रश्रवण किये केवल ध्यान से आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। अतः एकाग्र मन वाला बनकर फिर विचार में प्रवृत्ति आवश्यक है। सर्वप्रथम उपाधियों के स्वरूप को समझना चाहिये। क्योंकि आत्मा उपाधि से एकमेक हुआ उपलब्ध है, अन्य कोई तरह उसकी उपलब्धि की है नहीं इसलिये आत्मबोध का प्रारंभिक क़दम उपाधि की परीक्षा ही है। क्योंकि आत्मा पर ही प्राण-प्रज्ञा अध्यस्त हैं इसलिये उन पर दृष्टि केंद्रित करने पर वह फलतः आत्मा पर ही केन्द्रित हो जाती है। प्राण-प्रज्ञा के स्वरूप का और वे आत्मा से पृथक् कैसे हैं इस बात का विवेक करना आवश्यक है। सुषुप्ति-आदि के विचार से स्पष्ट होता है कि प्राण-प्रज्ञा सनातन नहीं हैं। आत्मा सनातन है अतः उपाधियों की अनात्मता स्पष्ट होती है। बिना प्राण-प्रज्ञा के जो मैं हूँ वह आत्मा यहाँ ज्ञेय कहा गया है। प्रारंभ किया जाता है कि प्राण-प्रज्ञा वाला आत्मा है किन्तु विवेक से पता चलता है कि उनसे रहित आत्मा है। वही आत्मा महावाक्य द्वारा ब्रह्म कहा जाता है।।४४।।

जिन कार्यों से प्राण-प्रज्ञा का पता चलता है उन्हें स्पष्ट करते हैं **श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जीभ और घ्राणये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थये**

प्राणप्रज्ञाविवेकः

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं धीन्द्रियपञ्चकम्।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियपञ्चकम्।।४५।।
इन्द्रियाणां प्रवृत्तिः स्यात् प्रज्ञालोचनपूर्विका।
प्राणवायुप्रेरिता चेत्येवं लोके व्यवस्थितिः।।४६।।
तत्र मूढाः केचिदाहुर्युगपच्चक्षुरादयः।
सर्वेऽपि स्वस्वविषये प्रवर्तन्त इतीदृशम्।।४७।।
तदसद् निपुणोऽप्यत्र न शक्तः सूक्ष्ममीक्षितुम्।
कालाल्पत्वेन संछाद्य क्रमं धूर्तो विडम्बयेत्।।४८।।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।।४५।। पहले प्रज्ञा आलोचन (विचार) करे और प्राण-वायु प्रेरणा करे तब इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है।।४६।। ज्ञान व क्रिया शक्तियाँ जीव की हैं पर प्रकट इंद्रियों द्वारा होती हैं। इन्द्रियाँ प्रवृत्ति करें इसके लिये पहले विचार और प्राण की प्रेरणा चाहिये। स्वयं विषय आकर इंद्रिय पर आघात करे तो भी इंद्रिय को ज्ञान हो जाता है या कर्मेन्द्रिय भी प्रतिक्रिया कर लेती है लेकिन इसे प्रवृत्ति नहीं कहते। इन्द्रिय अपनी तरफ से कोई व्यवस्थित ज्ञान या क्रिया का प्रयास करे तब प्रवृत्ति है और उसके लिये प्रज्ञा का विचार एवं प्राण की प्रेरणा चाहिये।।४५-६।।

उपनिषत् में यहाँ प्रसंगवश समझा दिया है कि इंद्रियों की प्रवृत्ति क्रमशः ही होती है, उसी का संग्रह करते हैं **इन्द्रिय-प्रवृत्ति के बारे में कुछ मूर्ख ऐसा कहते हैं कि चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर एक साथ प्रवृत्ति कर सकती हैं।।४७।। वह बात ग़लत है। इन्द्रियों की प्रवृत्तियों में एक सूक्ष्म क्रम रहता है अर्थात् एक-एक प्रवृत्ति के बीच स्वल्प समय का व्यवधान रहता है जो कुशल व्यक्ति भी देख नहीं सकता। उसी सूक्ष्म क्रम को छिपाकर उक्त वादी धूर्तता का परिचय देता है, लोगों को धोखा देता है कि युगपत् प्रवृत्तियाँ होती हैं।।४८।।** बिना विचारे लगता है कि एक साथ अनेक इंद्रियाँ प्रवृत्ति कर सकती हैं किन्तु स्थिति यह है कि प्रवृत्ति क्रम से होती है पर व्यवधान इतना कम रहता है कि लगता है मानो युगपत् कार्य हो रहा हो। आजकल कम्प्यूटर में खटका दबाते ही कई कार्रवाइयाँ संपन्न होती दीखती हैं, आपाततः लगता है कि खटका दबने और कार्रवाई पूरी होने में कोई काल-व्यवधान नहीं है लेकिन उस विज्ञान के जानकार बताते हैं कि सेकेंड के करोड़वें हिस्से के अंतराल से अनेक कदम एक-एक करके घटित होते हैं तब वह कार्रवाई संपन्न होती है। वहाँ क्रम तो है, हमें नहीं

प्रज्ञाप्राणसहायेन विना नैवेन्द्रियं क्वचित्।
प्रवर्तते सहायस्तु क्रमभावीति निश्चितः।।४९।।
अन्यथा निखिलं वेदं धूर्तो ह्येकक्षणे पठेत्।
या प्रज्ञाप्राणयोर्वृत्तिः सा स्याद् वाग्वृत्तिवत् क्रमात्।।५०।।

पता चलता। या कमरे में रोशनी जलाते हैं तो रोशनी के पास का स्थान और उससे दूसरी ओर की दीवाल एक साथ प्रकाशित हुए प्रतीत होते हैं जबकि रोशनी की गति जानने वाले बताते हैं कि निकट वाला स्थान पहले और दूर वाला स्थान बाद में प्रकाशित होता है भले ही दोनों के प्रकाशित होने में समय का फ़र्क बहुत ही कम है क्योंकि रोशनी एक लाख छियासी हज़ार मील प्रति सेकेण्ड की गति से चलती है। सुलभ दृष्टांत शतपत्रवेधन का है : कमल की सौ पंखुड़ियाँ एक पर एक रख दें और ज़ोर से ऊपर से एक सुआ घोपें तो क्षणभर में ही सब पंखुड़ियों में छेद हो जायेगा किन्तु निश्चित है कि सुए ने एक-एक कर ही पंखुड़ियों में छेद किया है अर्थात् क्रम है, स्थूल दृष्टि से पता नहीं लगता। इंद्रियों की युगपत् प्रवृत्ति मानने वाले को धूर्त, ठग इसलिये कहा कि वह उस युगपत् प्रवृत्ति से सिद्ध करता है इन्द्रियाँ स्वतन्त्र प्रवृत्ति करती हैं, किसी प्राण-प्रज्ञा के अधीन नहीं अतः प्राण-प्रज्ञा वाला आत्मा मानना व्यर्थ है! इस प्रकार, मौजूद क्रम को नज़रंदाज़कर आत्म-निरास का प्रयास धूर्तता का सूचक है।।४७-८।।

क्रम को ही सिद्ध करते हैं **प्राण और प्रज्ञा की सहायता के बिना इन्द्रियाँ कभी प्रवृत्ति नहीं करतीं और यह निश्चित है कि सहायता क्रमशः मिलती है।।४९।। यदि क्रम अनिवार्य न हो तो पूर्वोक्त धूर्त एक क्षण में सारा वेद पढ़ सके! जैसे इंद्रिय-प्रवृत्ति क्रमशः ही होती है वैसे प्रज्ञा व प्राण की भी इन्द्रियों को सहायता देने की प्रवृत्ति क्रम से ही होती है अतः सारी इंद्रियाँ एक साथ सहायता नहीं पा सकती।।५०।।** जिस प्रकार वाणी एक ही बार में सारे वदे का पाठ नहीं कर सकती, आँख एक ही बार में सारा ग्रंथ नहीं पढ़ सकती, इत्यादि कोई इंद्रिय क्रम से ही कार्य करती है उसी प्रकार प्राण-प्रज्ञा क्रम से ही सहायता देते हैं। चार आदमी एक ही क्षण में कोई शब्द इस तरह बोलें कि जब एक 'ह' कहे उसी समय दूसरा 'रि' कहे, तीसरा 'ह' और चौथा 'र', सब एक साथ ही चारों अक्षर बोले तो सुनने वाला कभी नहीं समझ सकता कि 'हरि-हर' शब्द बोला गया है, क्रमशः बोलने पर ही शब्द का भी ज्ञान होता है। अतः सभी प्रवृत्तियाँ क्रमानुसार होती हैं। इसी रीति से प्राण-प्रज्ञा भी क्रमशः इन्द्रियों को सहायता देते हैं। इतनी जल्दी वे अनेकों को क्रमशः सहायता पहुँचा

प्रज्ञाप्राणानुग्रहेण वाग् यदाऽऽह तदेतरे।
चक्षुराद्या उपरतास्तामनुब्रुवते खलु।।५१।।
स्वव्यापारे प्रवृत्ताश्चेत् प्रज्ञाप्राणानुकर्षणात्।
वाचो विघ्नो भवेद् विघ्नवारणं ह्यनुवादिता।।५२।।
एवमन्यत्राऽपि योज्यम् अतः सर्वेऽपि संहताः।
एकैकविषयो ह्युक्तो व्यवहारः क्रमाद् भवेत्।।५३।।

लेते हैं कि लगता है एक साथ ही दो-चार इंद्रियाँ प्रवृत्ति कर रही हैं जबकि वास्तव में वे एक-एक कर ही प्रवृत्ति करती हैं।।४६-५०।।

उपनिषत् ने एक-एक इंद्रिय का नाम लेकर बताया है कि जब एक काम करती है तब दूसरी इंद्रियाँ प्रवृत्त नहीं होतीं, उसी को समझाते हैं **प्राण-प्रज्ञा की सहायता से जब वाणी बोलती है तब चक्षु आदि अन्य इन्द्रियाँ अपने व्यापार छोड़ देती हैं मानो वाणी के ही अनुकरण में सब लग जाती हों।।५१।। यदि अन्य इंद्रियाँ भी उसी समय अपने व्यापारों में प्रवृत्त हों तो वे भी प्रज्ञा-प्राण को अपनी ओर खीचेंगी जिससे वाणी को अपनी प्रवृत्ति करने में विघ्न आयेगा, ऐसा विघ्न न करना ही 'अनुकरण करना' कह दिया है।।५२।। सभी इंद्रियों की प्रवृत्ति के बारे में ऐसे ही समझना चाहिये कि इन्द्रियाँ आपस में ताल-मेल बैठाकर एक-दूसरे की प्रवृत्ति में विघ्न न डालते हुए ही कार्य करती हैं। इससे यह सिद्ध बताया कि देखना-बोलना आदि प्रत्येक व्यवहार प्रत्येक इंद्रिय क्रम से ही करती है।।५३।।** (श्लोक ५२ में 'विघ्नवारणं' ही ठीक पाठ है, मुत्तुशास्त्री और कावेल दोनों ने वही माना है।) जिस प्रकार उपलब्ध बिजली को ज्यादा उपकरण खीचें तो हर एक को मिलने वाली बिजली की मात्रा घट जाती है, कोई उपकरण सही कार्य नहीं कर पाता अतः अन्य उपकरण बंद कर सारी बिजली एक को देनी पड़ती है तभी वह कार्य करता है, उसी प्रकार सब इंद्रियों में थोड़े-थोड़े प्राण-प्रज्ञा खर्च होंगे तो कोई इंद्रिय सही प्रवृत्ति नहीं कर पायेगी। अतः अन्य इंद्रियाँ बंद हों, प्राण-प्रज्ञा खर्च करना बंद करें तभी एक इंद्रिय को पूरे प्राण-प्रज्ञा मिलेंगे और वह अपनी प्रवृत्ति कर सकेगी। जब जिस इंद्रिय से प्रवृत्ति करानी होती है तब उसे ही प्राण-प्रज्ञा लेने देते हुए अन्य इंद्रियाँ अपनी प्रवृत्तियों से विरत हो जाती हैं, यही उनका उस इंद्रिय को सहायता देना है। सभी इंद्रियाँ एक सूक्ष्मदेहरूप संघात हैं इसीलिये यों परस्पर तालमेल से प्राण-प्रज्ञा का सब मिलकर उपयोग कर लेती हैं। श्रुति ने शब्द विचित्र रखे हैंजब वाणी बोलती है तब सारी इंद्रियाँ उसके पीछे-पीछे वही बात बोल

क्रमभावी विचित्रोऽयं व्यवहारश्चिदात्मना।
येनैकेनेक्ष्यते सोऽयम् अन्यः सर्वेभ्य इष्यताम्।।५४।।

प्राणश्रेष्ठता

प्राणा वागादयः सर्वे किं समा उत विद्यते।
श्रेष्ठस्तेष्विति चेत् प्राणः श्रेष्ठो जीवनकृत्त्वतः।।५५।।

देती हैं! 'वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति।' इसका अर्थ यही है कि वाणी को बोलने देते हैं, उसमें विघ्न नहीं डालते। केवल शास्त्रीय नहीं, अनुभवसिद्ध भी है कि गंभीर विषय का ग्रंथ पढ़ते या हिसाब करते समय आस-पास गप्पें नहीं सुनना चाहते और यदि मज़बूरी है तो भी या पढ़ ही लोगे या गप्पें सुन लोगो, दोनों एक साथ नहीं कर सकते। तात्पर्य है कि हर इंद्रिय की प्रवृत्ति भी क्रम से होती है, सभी इंद्रियाँ भी एक साथ नहीं क्रम से कार्य करती हैं तथा इंद्रियों को सामर्थ्य देने वाले प्राण-प्रज्ञा भी क्रम से ही इंद्रियों से सम्बन्ध बनाते हैं। युगपत् ज्ञान न उत्पन्न होने से ही तार्किक भी मन को सिद्ध करते हैं अर्थात् वे भी इंद्रियप्रवृत्ति को क्रमभावी मानने के पक्षधर हैं।।५१-३।।

क्रम सिद्ध करने से लाभ क्या? क्रम सिद्ध ही तब होता है जब उसका कोई स्थायी साक्षी हो अतः साक्षी को समझाने के लिये यहाँ क्रम को उपपन्न किया है यह बताते हैं **यह क्रमिक विचित्र व्यवहार जिस एक चेतन आत्मा द्वारा अनुभव किया जाता है उसे सभी उपाधियों से अन्य ही स्वीकारना पड़ता है।।५४।।** क्रम के अंगभूतों से क्रम नहीं सिद्ध होता। क्रम से बहिर्भूत होकर ही अंगों को जानने वाला क्रम को सिद्ध करता है। इसी न्याय से विज्ञानवादी बौद्ध के मत का निरास होता है। प्राण-प्रज्ञा क्रम से सहायता देते हैं यह जिसे पता चलता है वही आत्मा इंद्र द्वारा ज्ञेय बताया जा रहा है। वह प्राण-प्रज्ञा और बाकी भी सब उपाधियों से स्वतंत्र है, उन सबको सत्ता-स्फुर्ति देने वाला, उनका अधिष्ठान है।।५४।।

अन्य इंद्रियों के बजाये प्राण के सहारे आत्मोपदेश देने में एक हेतु है कि अन्यों की अपेक्षा प्राण प्रधान है। इंद्र ने इसे यों कहा 'अस्ति त्वेव प्राणानां निःश्रेयसम्' (३.२) कि शरीर का धारण, उत्थापन आदि करने वाला प्राण ही है, अन्य इंद्रियाँ नहीं। अत एव अंधा, गूंगा, लंगड़ा आदि जीवित मिलते हैं पर प्राणों के बिना कोई जीवित नहीं मिलता। इसे बताते हैं **प्रश्न उठता है कि प्राण तथा वाक् आदि सब इन्द्रियाँ समान हैं या उनमें कोई एक सर्वोत्तम है? उत्तर है कि सब समान नहीं हैं, उनमें प्राण ही श्रेष्ठ है, सर्वोत्तम है क्योंकि वही जीवन का कारण है।।५५।।**

तस्मादुपेक्ष्य वागादीन् प्राणोपाधिः समाश्रितः।
आत्मबोधाय किञ्चायं प्राण उत्थापयेद् वपुः।।५६।।
ननु सुप्तावयं प्राणो देहं नोत्थापयत्यमुम्।
किन्तु जागरणे तस्मात् प्रज्ञैवाऽत्र प्रयोजिका।।५७।।
चतुर्भिरुह्यते यत्तु सर्वशक्त्या शरीरकम्।
तूलायते तदेवाऽहंधियाऽऽघ्रातमितीक्ष्यते।।५८।।

इसीलिये वाक् आदि की उपेक्षा कर आत्मा का बोध कराने के लिये प्राणरूप उपाधि का ही सहारा लिया। प्राण शरीर को उठाये रखता है इसलिये भी वह अन्यों से श्रेष्ठ है।।५६।। उपनिषदों में अनेक जगह प्राण का वैशिष्ट्य प्रकट किया ही है तथा अनुभवानुसारी भी है अतः उसे श्रेष्ठ जानकर साधक को चाहिये कि उसी को प्रधान रखे, अन्य इंद्रियों को गौण रखे। जीवन में सबसे न्यून आवश्यकताएँ प्राण माँगता है; ज्यादातर चीज़ें हमें मन एवं अन्य इंद्रियों को तृप्त करने के लिय ही चाहिये, प्राण के लिये बहुत ही कम चाहिये। उसमें भी 'यह स्वादिष्ट है, यह बेस्वाद है, मीठा चाहिये, खट्टा चाहिये' इत्यादि कोई माँग प्राण की नहीं होती, ये सब मन-इंद्रियों की होती हैं। अत एव प्राण कभी पाप नहीं करता। इन सब हेतुओं से प्राण श्रेष्ठ है और इसे प्रधान कर अपना जीवन ढालें तो बहिर्मुखता स्वयमेव निवृत्त हो जायेगी।।५५-६।।

श्रुति ने कहा है 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत' (३.३) अर्थात् प्राण ही प्रज्ञारूप है, वही शरीर को अपना कर उठाये रखता है अतः इसे ही 'उक्थ' समझकर उपासना करनी चाहिये। काण्व आदि शाखाओं में उक्थ शब्द प्राणवाचक है। आगे प्राण-प्रज्ञा का साहचर्य भी कहा है'सह ह्येतावस्मिंच्छरीरे वसतः सह उत्क्रामतः' (३.४) कि प्राण-प्रज्ञा साथ ही इस शरीर में रहते हैं और साथ ही इससे निकलते हैं। इन दोनों के इस स्थायी साथ को प्रश्नोत्तर से स्पष्ट करते हैं **प्रश्न होता है कि यह प्राण सुषुप्तिकाल में इस स्थूल शरीर को उठाये नहीं रख पाता, केवल जाग्रद्दशा में ही रख पाता है इसलिये शरीर उठा रहे इसमें हेतु प्रज्ञा ही माननी चाहिये।।५७।। जिस तुच्छ शरीर को (शव को) चार लोग सारी ताकत लगाकर ढोते हैं वही जब मैं-बुद्धि से घेर लिया जाता है तब रुई-सा हल्का हो जाता है।।५८।। उत्तर है कि यह बात ठीक है, इसीलिये प्राण की तरह प्रज्ञा-उपाधि का भी इन्द्र ने सहारा लिया। प्रज्ञारूप उपाधि तथा**

प्राणप्रज्ञैक्यम्

सत्यमेव ततः प्रज्ञोपाधिः प्राणवदाश्रितः।
प्रज्ञात्मा प्राण एवैको मिलित्वोपाधिरिष्यते।।५६।।
द्वयोर्मृतौ जीवने च सहभावात्तदेकता।
उत्थापकत्वाद् उक्थं तद् इत्यैकाग्र्याय चिन्तयेत्।
तत्रैकाग्र्ये क्षमा बुद्धिर्बोद्धुं तत्साक्षिणं भवेत्।।६०।।

प्राणदोनों मिलकर एक ही उपाधि के रूप में यहाँ विवक्षित हैं।।५६।। जीवनकाल में दोनों साथ ही शरीर में रहते हैं और साथ ही निकलते हैं अतः इन्हें एक कहना संगत है। शरीर को उठाये रखने वाला होने से (प्रज्ञा से अभिन्न) प्राण उक्थ है ऐसा चिन्तन करना चाहिये ताकि मन एकाग्र हो सके।।६०।। नींद आते ही शरीर लुढ़क जाता है, सिर भी सीधा नहीं रखा जा सकता, बिना सहारे यदि खड़े हों तो गिर ही पड़ते हैं। प्राण निरंतर चलता रहता है। अतः प्रश्न होता है कि प्राण को उत्थापक, शरीर को उठाये रखने वाला, सीधे बैठाये या खड़ा रखने वाला कैसे मानें? बच्चा भी जब सो जाता है तब माताओं को उसे गोद में उठाना भारी लगता है जबकि प्राण चल ही रहा होता है। अतः प्राण नहीं वरन् प्रज्ञा को उत्थापक मानना चाहिये। मुर्दे में भी प्रज्ञा न रह जाने से वह स्वयं उठने में असमर्थ हो जाता है। जब तक प्रज्ञा रहती है तब तक आराम से चलता-फिरता रहता है। नैष्कर्म्यसिद्धि (२.२०) के ही श्लोक को किंचित् परिवर्तन से यहाँ श्लो. ५८ के रूप में रखा है। बेहोश व्यक्ति को उठाना भी मुर्दा उठाने जैसा ही मुश्किल है, उसी व्यक्ति को जब होश आ जाता है तब वह स्वयं ही चलने लगता है। अतः प्रज्ञा को कारण समझना संगत है, प्राण को उक्थ कैसे कहा? इसका उत्तर दिया कि यहाँ प्राण को प्रज्ञा से मिलाकर कहा जा रहा है अतः प्रज्ञा-प्राण का संमिलित रूप उक्थ कहा जा रहा है। अन्यत्र उदाहरण दिया है कि जैसे दर्पण के सामने का भाग चमकदार होता है, पीछे का भाग चमकदार नहीं होता, लेकिन दोनों भाग मिलकर ही दर्पण होते हैं उसी प्रकार प्राण और प्रज्ञा का साथ है। प्रज्ञा (ज्ञानशक्ति) तभी तक रहती है जब तक प्राण रहे, प्राण निकल जाने पर प्रज्ञा पीछे नहीं छूट जाती, यह जो इनका दृढ साथ है उसी को इनकी एकता कह दिया गया है। प्राण-प्रज्ञात्मक एक उपाधि की उक्थरूप से उपासना करने का फल चित्त की एकाग्रता है।।५७-६०।।

एकाग्रता का प्रयोजन बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि केवल शरीरोत्थापक ही नहीं,

प्राणो जगत्कारणम्

जगद्धेतुतयाऽप्येष प्राणः स्वात्मोपलक्षकः ।।६१।।
एकादशेन्द्रियाण्येषां विषयाश्च जगत् खलु ।
सुप्तौ सर्वं जगल्लीनं प्राणोपाधिक आत्मनि ।।६२।।

प्राण जगत् का हेतु भी है **प्रज्ञात्मक प्राण उपाधि वाले आत्मा में चित्त एकाग्र हो जाने पर बुद्धि उस साक्षी को समझने में समर्थ हो जाती है। जगत् का हेतु होने से भी यह प्राण स्वात्मा का उपलक्षक है।।६१।। ग्यारह इन्द्रियाँ और इनके विषय, इतना ही तो जगत् है। सुषुप्तिकाल में सारा जगत् प्राण-उपाधि वाले आत्मा में लीन होता है।।६२।।** साक्षी की छाया बुद्धि में हमेशा पड़ती है पर अनेकाग्रता के ही चलते बुद्धि साक्षी को समझ नहीं पाती। सर्वथा एकाग्र होने पर साक्षी को समझना बुद्धि के लिये सहज हो जाता है। इस एकाग्रता को संभव करना प्राण का एक उपयोग है। एकाग्र प्राणोपाधिक पर होने के बावजूद बुद्धि समझ पाती है निरुपाधिक को क्योंकि वस्तु यथार्थ में निरुपाधिक है और साधक ने शास्त्र से यह तथ्य समझा हुआ भी है। आत्मा की उपाधि होने से प्राण-प्रज्ञा उसके उपलक्षक हैं यह श्लोक ३२ इत्यादि से बताया। अब एक और हेतु देते हैं : जब कहते हैं 'दही को कौवों से बचाना' तब कौवा शब्द बिल्ली, कुत्ता आदि का भी उपलक्षक हो जाता है क्योंकि दही को बिगाड़ने वाले सभी से उसे बचाने के लिये कहा जा रहा है। अतः समान कार्य करने वाला उपलक्षक बनता है। आत्मा जगत् का कारण है। प्राण भी अध्यात्म-जगत् का कारण बनता है। इस समानता से प्राण आत्मा का उपलक्षक हो यह उचित है। किं च पूर्वोक्त प्रक्रिया से प्राण ने त्वम्पदार्थ को लक्षित किया, इस प्रक्रिया से वह तत्पदार्थ को लक्षित कर देता है यह विशेष लाभ है। दस बाह्य इंद्रियाँ और ग्यारहवाँ मनयह भोक्तृवर्ग का जगत् है तथा इनके विषय भोग्य वर्ग का जगत् है। भोक्ता-भोग्य दो ही वर्गों में सारा जगत् आ जाता है। सुषुप्ति काल में यह सारा ही जगत् प्राण में, प्राण-उपाधि वाले आत्मा में लीन हो जाता है। कारण में ही कार्य का लय होता है अतः प्राण ही इसका कारण निश्चित होता है। बाद में प्राण से ही यह सब पैदा भी होता है, इसलिये भी प्राण इसका कारण है। सारे जगत् का कारण ब्रह्म बताया गया है। इस प्रकार जगत्-कारण के रूप में ब्रह्म के समान होने से प्राण ब्रह्म का उपलक्षक हो जाता है।।६१-२।।

सुषुप्ति में जगत् का लीन होना ही उपपन्न करते हैं **ऐसा नहीं है कि सुषुप्ति में सिर्फ़ इंद्रियाँ ही लीन होती हों, विषय नहीं; क्योंकि विषय जगत् प्रतीतिमात्र-सिद्ध**

इन्द्रियाण्येव लीयन्ते विषया नेति चेद् न तत्।
प्रातीतिकस्य जगतो भानाभावो लयो मतः।।६३।।
प्रातीतिकत्वं वेदान्तसिद्धान्ते जगतः स्फुटम्।
अतः सुप्तौ जगल्लीनं प्रबोधे जायते पुनः।।६४।।

है, जब इसका भान नहीं होता तब यह लीन ही समझा जाता है।।६३।। वेदान्त सिद्धांत में यह बात साफ़ है कि जगत् प्रातीतिक है, प्रतीतिमात्रसिद्ध है। अतः यही मान्य है कि सुषुप्ति में जगत् लीन हो जाता है तथा जगने पर पुनः पैदा हो जाता है।।६४।। वेदान्त सिद्धांत स्पष्ट करता है कि बाह्य विषय है यह इसी पर निर्भर है कि उसका भान है। जिसका भान नहीं उसे है कहना अंधविश्वास है। मनुष्य के सिर पर सींग का भान नहीं होता इसीलिये उसके सिर पर सींग नहीं है यही स्वीकारा जाता है, ऐसा नहीं कि 'मनुष्य के सींग होते हैं क्योंकि वह एक स्तनन्धय प्राणी है जैसे भैंस' इस अनुमान से मनुष्य को सींग वाला मान लें, भले ही उसका अनुभव नहीं होता! इसलिये जिसका अनुभव नहीं उसे है समझना, मौजूद समझना हठधर्मिता ही है। सुषुप्ति में विषय जगत् का भान होता नहीं अतः तब जगत् को 'है' नहीं कह सकते, उसे लीन ही मानना पड़ेगा। जो अभी तो नहीं है लेकिन था और होगा उसे इस समय लीन कहा जाता है, जो कभी भी न हो उसे लीन नहीं कहते, जो था और अब नहीं है या अब न होते हुए भी आगे होगा उसी को अब लीन कहा जाता है। सुषुप्ति से पूर्व जगत् है, जगने पर फिर होगा इसलिये सुषुप्ति में वह लीन है, कारण से एकमेक हो गया है। वह कारण ही प्राण, या प्राणोपाधिक आत्मा है। इसलिये प्राण को जगत् का कारण समझना उचित है। सुषुप्ति से जगने पर संसार प्राण से ही उत्पन्न होता है, प्रकट हो जाता है क्योंकि जो जहाँ लीन है वहीं से प्रकट होता है। प्रारम्भ में यह रहस्य हृदय से स्वीकारना कठिन होता है किन्तु इतना अवश्य निश्चय करना चाहिये कि तत्तज्जीव-सम्बन्धी जगत् तो तत्तज्जीव के सोने पर लीन होता ही है। जब हम सोते हैं तब कम-से-कम हमारा जगत् तो लीन होता ही है, जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है वहाँ तक वह जगत् उतने समय तक नहीं रहता तथा उठने पर फिर हमारा जगत् उत्पन्न होता है। इस निश्चय से आगे बढ़ने पर समस्त जगत् का तब विलय भी समझ आ जायेगा। यह विचार वैराग्य बढ़ाने के लिये भी उपयोगी है अतः साधक को इसका अभ्यास करना चाहिये।।६३-४।।

जब सारा जगत् सुषुप्ति में विलीन हो जाता है तब प्राण ही कहाँ बचता है? फिर

प्राणप्रतीतिरप्यस्य सुप्तौ नास्तीति चेत्तदा।
प्राणोक्तिरन्यदृष्ट्यैव प्राणेनात्मोपलक्ष्यते।।६५।।

प्राण में विलय की बात कैसे कही? यह समझाते हैं **यदि यह प्रश्न उठे कि सोये व्यक्ति को प्राण भी प्रतीत नहीं होता तो उसे विलयाधार कैसे समझें? तो उत्तर है कि प्राण का तब अस्तित्व उनकी दृष्टि से कहा है जो जगे हुए हैं। वास्तव में तो आत्मा के उपलक्षणार्थ प्राण का कथन है।।६५।।** जगे लोगों की दृष्टि से जगत् भी रहता ही है। सोये व्यक्ति का प्राण भी चलता हुआ दीखता, सुनाई देता ही है। उनकी दृष्टि से तब प्राण है। उसी प्राण को सोये की दृष्टि से जगत् के विलय का आधार कहा है। वास्तव में तो आत्मा को विलयाधार कहना है, आत्मा को बताने के लिये कोई उपाधि सामने रखनी पड़ती है, यहाँ प्राण-उपाधि से ही सारा उपदेश है। अतः सुषुप्ति में विद्यमान आत्मा को सूचित करने के लिये भी प्राण का उपयोग किया। किंच सोकर उठे व्यक्ति को यह तो निश्चय होता है कि जब तक मैं सो रहा था तब तक मेरी आँख कान हाथ पैर आदि ने कुछ नहीं कियाऔर जब इंद्रियाँ कुछ नहीं करतीं तब उन्हें विलीन ही माना जाता है। मन ने कुछ नहीं किया, किन्तु प्राण भी नहीं चलता रहा ऐसा निश्चय नहीं होता। अन्यत्र कहा है कि शरीर के रक्षक रूप से प्राण को तैनात करके जीव सोने जाता है। इस तरह बाकी करणों से प्राण में अंतर मानना ही पड़ता है। किंतु वास्तव विवक्षा यह नहीं है कि तब प्राण था वरन् यही है कि तब आत्मा था। अतः प्राण का अस्तित्व अन्य दृष्टि से कहा है का मतलब है कि प्राण सुषुप्ति में किसी को दीखता है या प्रामाणिक है (अनुमान, रक्षकत्वोक्ति आदि से सिद्ध है) इस दृष्टि से प्राण का उल्लेख नहीं है वरन् आत्मा के अभिप्राय से प्राण का कथन है; कहा प्राण है, मतलब है उससे उपलक्षित आत्मा। अज्ञान से आवृत आत्मा में ही जगत् लीन होता है, उसी से प्रकट होता है। अतः इन्द्र ने प्रारंभ में 'प्राण एवैकधा भवति' कहकर उत्पत्ति बताते हुए 'यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्माद् आत्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते' (३.३) आत्मशब्द का ही प्रयोग किया है। इससे निश्चित है कि लयाधार भी वे प्राण से उपलक्षित आत्मा को ही कह रहे हैं, स्वयं प्राण को नहीं।।६५।।

सुषुप्ति से उठने पर आग से चिन्गारियों की तरह आत्मा से इंद्रियाँ, इन्द्रियों के अनुग्राहक देवता और विषय सब पैदा हो जाते हैं इस कथन का संग्रह करते हैं **जगने पर निज आत्मा से इन्द्रियादि वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे आग से चिन्गारियाँ।**

प्रबोधे स्वात्मनोऽक्षाणि जायन्ते विस्फुलिङ्गवत्।
तेभ्योऽभिमानिदेवाः स्युर्देवेभ्यो विषया इमे।।६६।।

इंद्रियों से देवता और देवताओं से ये विषय पैदा हो जाते हैं।।६६।। लकड़ी से स्वभावतः ही जलने पर चिन्गारियाँ निकलती हैं, लकड़ी को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। ऐसे ही अज्ञानवान् आत्मा बिना प्रयास के जगत् पैदा कर देता है। चिन्गारी भी आग-रूप ही है, इंद्रियादि भी कार्य करते समय चेतन ही प्रतीत होते हैं। लोग कह भी देते हैं 'आँख ने देखा नहीं, या कान ने सुना नहीं' मानो आँख-कान देखने-सुनने वाले हो! आँख से मैंने नहीं देखायह स्थिति है, आँख केवल साधन है, फिर भी प्रयोग होता है क्योंकि आँख आदि में चेतनता की आरोपित प्रतीति हो जाती है। आँख आदि गोलक भले ही बने रहें, वे देख सुन नहीं सकते जब तक उनमें इंद्रिय न हो, वही इंद्रिय सुषुप्ति में लीन हो जाती है, जगने पर अपने-अपने गोलक में पहुँच जाती है। जो जगा है उसी की इंद्रिय पैदा होकर उसी की गोलक तक पहुँचेगी। ऐसा नहीं कि सब जीवों की इंद्रियाँ एक प्राणोपाधिक आत्मा में लीन होकर पैदा हुआ करें! वस्तुतस्तु दृष्टिसृष्टि के विचार में जीवान्तर का प्रसंग ही नहीं लाना चाहिये, फिर भी प्रारंभ में समझने के लिये यहाँ अपनी-अपनी इंद्रियों का विलय और पुनरुत्पादन कहा जा रहा है। इंद्रिय का कार्यकारी हो जाना ही यहाँ उसका जन्म है। हर बार जगने पर नवीन इन्द्रिय नहीं आती, जो लीन थी, कार्यकारी नहीं थी, वही आती है, कार्यकारी हो जाती है। इंद्रियाँ प्रकट होते ही उनके अधिष्ठाता देवताओं का उनसे संबंध स्थापित हो जाता है। इतनी ही उन देवताओं की उत्पत्ति यहाँ कह रहे हैं। देवता समष्टि हैं, किसी व्यष्टि जीव के सोने से वे लीन और जगने से उत्पन्न नहीं होते। व्यष्टि जीव की इंद्रियाँ प्रकट होती हैं। देवता उनसे संपर्क कर लेते हैं, उन पर अनुग्रह कर देते हैं, इसी को कहा कि इंद्रियों से देवता पैदा होते हैं। उनकी कृपा मिलने पर ही ये बाह्य विषय पैदा होते हैं अर्थात् जगे जीव के व्यवहार में आते हैं। बाह्य संसार का भी विलय और जन्म यहाँ देवताओं की तरह ही समझना चाहिये कि विषय विश्रृंखल आदि होकर नष्ट होते हैं और पुनः पंचीकरण आदि द्वारा निर्मित होते हैं यह नहीं कह रहे वरन् इतना ही है कि बाह्य संसार सोये जीव के व्यवहार-योग्य नहीं रह जाता, जगने पर देवताओं की कृपा पाकर व्यवहार-योग्य हो जाता है। अतः कहा कि देवताओं से बाह्य विषय पैदा होते हैं। यही महाप्रलय से सुषुप्ति में अंतर है। महाप्रलय में सारा प्रपंच, देवता आदि सभी समष्टि-व्यष्टि परमात्मा में लीन होते हैं, सुषुप्ति में ऐसा नहीं होता।।६६।।

दृष्टिसृष्टिमिमां ब्रह्मानुभवी बहु मन्यते।
स्वप्रबोधात् स्वसंसारो लीयते स्वप्नवद् यतः।।६७।।

दृश्य सृष्टि तभी तक है जब तक उसकी दृष्टि है, दृष्टि न होने पर सृष्टि भी रह नहीं जातीयह वेदान्त प्रसिद्ध उत्तम प्रक्रिया ही यहाँ बतायी गयी है इसे व्यक्त करते हैं **इस दृष्टि-सृष्टि की प्रक्रिया को वह बहुत संमान देता है जिसने ब्रह्म का अनुभव कर लिया क्योंकि इसके अनुसार यह सरलता से स्वीकार हो जाता है कि जैसे सपने से जगते ही स्वप्न समाप्त हो जाता है वैसे स्वात्मतत्त्व का प्रबोध होने से अपना संसार लीन हो जाता है।।६७।। सुषुप्ति के ढंग से ही मरण, मूर्च्छा आदि में भी जगत् का लय समझ लेना चाहिये।।६८-१/२।।** अज्ञात सत्ताक वस्तुएँ न मानकर, आत्मा जब जो देख रहा है तभी उसे बना रहा है ऐसा स्वीकारना दृष्टिसृष्टि है। मधुसूदन स्वामी ने 'यदा यत् पश्यति तत्समकालं तत्सृजति' यही दृष्टिसृष्टि का तात्पर्य बताया है। ज्ञान रहते ही ज्ञेय है, बिना ज्ञान के ज्ञेय नहीं है यह भाव है। जगत्-मिथ्यात्व का पूर्ण आशय इसी प्रक्रिया में स्फुट होता है अतः तत्त्वज्ञ इसे मान देता है। साधारण व्यक्ति को तो यह प्रक्रिया जँच नहीं पाती अतः वह इसका वैशिष्ट्य भी नहीं पहचानता पर तत्त्वज्ञ के लिये यावत्प्रारब्ध प्रपंच की यही स्थिति होती है अतः वही इसे स्पष्ट समझता और इसका आनंद लेता है। स्वप्न से जगने के बाद जैसे स्वप्न का प्रपंच कहीं पड़ा नहीं रह जाता, स्वप्न में दीखे महल के खण्डहर तक नहीं रह जाते! वैसे ही जाग्रत् आदि अवस्थाओं में रहने तक जो यह अनादि-अनंत विशाल ब्रह्माण्ड दीख रहा है यह सर्वथा नहीं रह जाता जब आत्मा अवस्थात्रय से अतीत हो ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। स्वप्न की प्यास स्वप्न के ही पानी से बुझती है, जाग्रत्के पानी से नहीं, इसी तरह जाग्रदादि दशाओं का व्यवहार इन्हीं दशाओं के प्रपंच से चलता है, परमार्थ ब्रह्मरूपता से नहीं। आत्मा नित्य निरन्तर आनन्दघन है पर अहंकार में प्रवेश कर सपना देख रहा है 'मैं साढ़े तीन हाथ का देवदत्त हूँ, पूर्वजन्मों में पाप किये हैं अतः अब दुःख भोग रहा हूँ, कब ये कष्ट मिटेंगे!' जैसे ही तत्त्वमस्यादि का नाद सुनकर अपने ब्रह्म स्वरूप में जग जाता है वैसे ही यह जाग्रदादिरूप सपना सर्वथा समाप्त हो जाता है। यहाँ 'स्वसंसार', 'अपने' संसार का लय कहा क्योंकि जो अपने को अनुभूयमान है वही संसार है, उससे अन्य कोई संसार है ही नहीं, अनुभूयमान से अन्य अर्थात् अननुभूयमान संसार में कोई प्रमाण नहीं है। अतः यहाँ सांख्यादि की तरह मुक्त के लिये संसार नहीं है, बद्धों के लिये संसार हैऐसी बात नहीं कही जा रही वरन् संसार है ही नहींयही स्पष्ट कर

न्यायेनानेन मरणे मूर्छादौ चोह्यतां लयः ।
लीनस्य पुनरुत्पत्तौ व्यवहारक्रमं शृणु ।।६८ ।।
प्राणोपाधिकजीवात्मा यदा व्यवजिहीर्षति ।
तदा वाक् सृजते शब्दं जीवो वाचा ब्रवीति तम् ।।६६ ।।

रहे हैं। मूल विषय सुषुप्ति में लयका चल रहा है, बीच में दृष्टि-सृष्टि का उल्लेख उसी को स्पष्ट करने के लिये आया, पुनः मूल प्रसंग से जोड़ते हुए बताया कि मृत्यु, बेहोशी आदि में भी जगत् का आत्मा में लय वैसे ही होता है जैसे सुषुप्ति में क्योंकि युक्ति सर्वत्र एक ही है कि जब तक जिसका ज्ञान है तब तक उसकी विद्यमानता है, जिसका ज्ञान नहीं उसकी विद्यमानता भी नहीं। मरण-मूर्च्छा आदि में भी प्रपंच प्राण में, प्राणोपाधिक आत्मा में लीन होता है, उसी से फिर उत्पन्न होता है।।६७-१/२।।

प्राण में लय बताया, अब उससे उत्पत्ति बताते हैं **सुषुप्ति आदि में विलीन हुआ प्रपंच जिस व्यवहारसिद्ध क्रम से पुनः उत्पन्न होता है वह सुनो : ।।६८।। प्राण उपाधि वाला जीवात्मा जब व्यवहार करना चाहता है तब वाणी शब्द को पैदा कर देती है और जीव वाणी से उस शब्द को बोल देता है।।६६।। ऐसे ही सब इंद्रियों और विषयों के बारे में समझ लेना चाहिये। यहाँ तक बताया कि सारा प्रपंच प्राण में लीन होता है, उससे पैदा होता है अतः सारे प्रपंच के रूप में प्राण ही फैला हुआ है।।१/२।।**

क्रम को व्यवहारसिद्ध इसलिये कहा कि यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है पर प्रायः यही क्रम होता है। सर्वप्रथम व्यवहार करने की इच्छा होती है। वेदान्त सिद्धान्त में इच्छा, संकल्प, कामना, ईक्षण के बाद ही सृष्टि का होना बताया जाता है क्योंकि इसी से पता चलता है कि सृष्टि का कारण चेतन है। प्रारब्ध फलोन्मुख होने पर यह इच्छा होती है कि 'मैं व्यवहार करूँ।' यदि बोलने का व्यवहार करना चाहे तो वाक् शब्द उत्पन्न कर देती है जिसे जीव वाणी से बोल देता है। शब्द वाक् का विषय है अतः वाक् से पैदा होता है। पूर्वोक्त ढंग से यहाँ मध्य में देवताओं का अनुग्रह भी समझना चाहिये, वाणी पर अग्नि देव कृपा करते हैं तब शब्द पैदा होता है। जो शब्द यों पैदा हो चुका है उसी को जीव वाणी से ध्वनि उत्पन्न कर प्रकट कर देता है, बोल देता है। जीव उन्हीं शब्दों को बोलता है, ध्वनि द्वारा प्रकट करता है, जो पूर्व से उत्पन्न हैं। अन्य इंद्रियों के विषय भी इसी तरह इच्छापूर्वक पैदा हो जाते हैं और जीव उनसे व्यवहार कर लेता है। इच्छापूर्वक सृष्टि करता प्राणोपाधिक आत्मा ही है अतः प्राण ही सर्वत्र विभिन्न इंद्रिय-विषय आदि आकारों में

एवं सर्वत्र विज्ञेयं प्राणे सर्वाप्तिरीरिता।
प्रज्ञा प्राणादभिन्नाऽतस्तस्यां सर्वाप्तिरुच्यते।।७०।।

प्रज्ञायाः सर्वाप्तिः

वाक् प्रज्ञाया एकमंशम् अभिमानाख्यमाश्रिता।
प्रज्ञाभिमानवशतः शब्दोच्चारणशक्तियुक्।।७१।।

उपस्थित है, सृष्टि में व्याप्त है। उपासक यह ध्यान करेगा कि 'ऐसा प्राण मैं हूँ' और विचारक यह अनुभव करेगा कि एक प्राण का ही विस्तार होने से सारा भेद मिथ्या है, मुझ चिदात्मा पर ही अध्यस्त है।।६८-१/२।।

प्राण को सर्वात्मा बता कर श्रुति ने प्रज्ञा की भी सर्वात्मता बताते हुए कहा कि वाक् आदि इंद्रियाँ प्रज्ञा का एक हिस्सा ग्रहण कर उससे विषय बना लेती हैं। वाक्, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, रसना, हस्त, शरीर (त्वक्), उपस्थ, पाद और मनइन दस इंद्रियों का नाम लेकर यही बात बतायी है। पायु को उपलक्षणा से समझना चाहिये। इस विषय का वर्णन करते हैं **प्रज्ञा प्राण से अभिन्न है इसलिये सारा प्रपंच प्रज्ञा में एकमेक हो जाता है यह बताते हैं।।७०।। प्रज्ञा के अभिमान-नामक एक अंश का सहारा लिये हुए, प्रज्ञा के अभिमान के वशीभूत होकर वाक् शब्द उच्चारण करने की शक्ति वाली हो जाती है।।७१।।** इंद्र ने प्रारंभ में ही बता दिया था कि यहाँ प्राण-प्रज्ञा को मिलाकर बात चल रही है अतः जो प्राण के लिये कहा वह प्रज्ञा पर भी लागू होता है। प्रज्ञा में प्रपंच कैसे एकमेक है, प्रज्ञा ही कैसे प्रपंचरूप से फैली है, इसे यहाँ बता रहे हैं। प्रज्ञा या ज्ञानशक्ति का एक हिस्सा अभिमान अर्थात् अहंकार है, उसका सहारा लेने पर इंद्रियों से अभिमान का संबंध हो जाता है, उदाहरणार्थ वाक् जब सहारा लेती है तब 'मैं वाक् वाला हूँ' यों अभिमान का वाक् से सम्बन्ध हो जाता है और इसी से वाक् बोलने में सक्षम हो जाती है। यदि अभिमानरूप प्रज्ञाभाग न प्राप्त हो, यह अभिमान न हो कि 'मैं वाक् वाला हूँ' तो वाणी बोल नहीं सकती। श्रुति ने रूपक की दृष्टि से कहा कि प्रज्ञारूप गाय के अभिमानरूप दूध को इंद्रियरूप ग्वाले दुह लेते हैं! जब तक वाणी में जीव का अभिमान न हो तब तक बोला नहीं जा सकता। ऐसे ही सब इंद्रियों के बारे में जानना चाहिये। अतः सोते समय, मूर्छादि के समय इंद्रियाँ प्रवृत्ति नहीं कर पातीं। यत्किंचित् आवाज़ निकलना, करवट लेना, हाथ हिल जाना इत्यादि की यहाँ बात नहीं, प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्थित सार्थक क्रिया या ज्ञान इंद्रिय तभी कर सकती है जब उसमें अभिमान हो। इस प्रकार वाणी जो कुछ करती है वह प्रज्ञा से एकमेक होकर ही करती है अतः कह सकते हैं कि वाणी

शरीरगा त्वगप्येवं शक्ताऽभूत् स्पर्शजे सुखे।
रतौ प्रजातावानन्दे चोपस्थः शक्तिमानभूत्।।७२।।
क्रीडा चोत्पादनं वीर्यमोक्षश्चोक्तमिदं त्रयम्।
ध्याने ज्ञाने च कामादौ चित्तं शक्तमभूत् खलु।।७३।
सर्वेन्द्रियेषु प्रज्ञाया अभिमानोऽवधार्यताम्।
अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् उदाहार्योऽखिलेष्वसौ।।७४।।

के रूप में ढली हुई प्रज्ञा ही बोलने का कार्य करती है। ऐसे ही अन्य इंद्रियों का कार्य प्रज्ञा ही करती है।।७१।।

वाक् के लिये कही बात का सर्वत्र अतिदेश करते हैं **सर्वशरीरवर्ती त्वक् भी इसी प्रकार (प्रज्ञा के सहारे ही) स्पर्श-जन्य सुखादि-अनुभव में समर्थ होती है तथा उपस्थ-इंद्रिय रति, प्रजाति व आनंद में तभी समर्थ होती है जब प्रज्ञा का अंश दुह लेती है।।७२।। इस प्रसंग में रति अर्थात् स्त्री से क्रीडा करना, प्रजाति अर्थात् प्रजा उत्पन्न करना और आनंद अर्थात् शुक्रत्याग करना। ध्यान करने, ज्ञान करने, कामना आदि करने में चित्त भी प्रज्ञा के सहारे से ही समर्थ होता है।।७३।। सभी इन्द्रियों में प्रज्ञा का अभिमान समझ लेना चाहिये। अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित होता है कि सभी इंद्रियाँ अभिमान प्राप्त कर ही कार्यक्षम होती हैं।।७४।।** त्वगिन्द्रिय सारे शरीर में फैली हुई है। जीवविज्ञान के अनुसार मनुष्य के शरीर में त्वक् के ही विभिन्न विकसित रूप आँख आदि हैं अतः इसकी व्यापकता सर्वमान्य है। वह भी स्पर्श का अनुभव तभी करती है जब प्रज्ञा से अभिमान ग्रहण कर ले, उसके बिना नहीं करती। इसी प्रकार उपस्थ भी अपना कार्य तभी करता है जब प्रज्ञा का उसमें अभिमान हो। प्रायः उपस्थ का कार्य आनंद ही कहा जाता है। किन्तु यहाँ श्रुति ने 'आनन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा' (३.५) कहा है अतः रति व प्रजाति का भी उल्लेख कर दिया, वे भी बिना अभिमान के संभव नहीं। चित्त के कार्य ध्यान, ज्ञान और कामादि वृत्तियाँ हैं। (श्लोक.७३ में निर्णयसागर व कॉवेल का 'ध्येये ज्ञेये' पाठ है, मुत्तुशास्त्री का 'ध्याने ज्ञाने' पाठ बेहतर है। ध्येये आदि पाठ में ध्येय-विषयक चेष्टा और ज्ञेय-विषयक चेष्टा ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये।) चित्त भी प्रज्ञा से अभिमान पाकर ही ध्यानादि कर पाता है। चित्त क्रिया व अनुभव दोनों करता है, क्रियाओं का प्रतिनिधि ध्यान को कहा और ज्ञान से अनुभव को कहा। इससे अतिरिक्त कामना संकल्प, संशय, श्रद्धा, डर, लज्जा आदि असंख्य वृत्तियाँ भी चित्त बनाता है, उन्हें

प्रज्ञया वाचमारुह्य जीवो नामाभिवक्ति च।
अन्यचित्तोऽभवं तेन नावोचमिति चोच्यते।।७५।।
वक्ष्यामीत्यभिमानोऽयं वागारोह इतीर्यते।
ध्यास्यामीत्यभिमानात्तु चित्तारोहस्तथा भवेत्।।७६।।

कामादि से इकट्ठा कर लिया। वाक्, त्वक्, उपस्थ और चित्त के संदर्भ में जो कहा वह सभी इंद्रियों के बारे में जानना चाहिये। कोई भी इंद्रिय-प्रवृत्ति बिना प्रज्ञा से अभिमान लिये नहीं होती, अभिमान लेकर ही होती है, इस अन्वय-व्यतिरेक से उक्त नियम सिद्ध होता है। क्योंकि सर्वत्र प्रज्ञा के अभिमानांश के रहते ही प्रवृत्ति है इसलिये समझ सकते हैं कि प्रज्ञा ही तत्तत् आकार लेकर प्रवृत्ति करती है। इस तरह प्रज्ञा सर्वत्र व्याप्त है यह पता चल जाता है। प्राण की तरह ही प्रज्ञा भी प्रपंचरूप में फैली हुई है यह निश्चय करना चाहिये। आँख, कान आदि सब अलग-अलग प्रतीत होते हैं किन्तु पूर्वोक्त विचार से सिद्ध होता है कि प्राण-प्रज्ञा के ही वे विभिन्न रूप हैं। इन सब रूपों वाले प्राण-प्रज्ञा से उपलक्षित आत्मवस्तु को जानना ही मनुष्य के लिये सर्वाधिक हित है।।७२-४।।

जिस प्रकार धागों के बिना उपलब्ध न होने वाला कपड़ा धागारूप ही होता है या सीप के बिना न मिलने वाली चाँदी सीपरूप ही होती है उसी प्रकार सर्वत्र नियम है कि जो जिसके बिना न मिले वह तदात्मक होता है। प्रज्ञा के बिना इंद्रियाँ नहीं मिलतीं, इंद्रियों के बिना विषय नहीं मिलते अतः विषय इंद्रियरूप और इंद्रियाँ प्रज्ञारूप हैं। इस प्रकार प्रज्ञा से अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसे श्रुति ने 'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' (३.६) इत्यादि द्वारा व्यक्त किया। जीव प्रज्ञा द्वारा, अभिमान द्वारा वाणी पर चढ़कर सब नामों का व्यवहार करता है, इसी प्रकार सभी इंद्रियों पर चढ़कर व्यवहार कर लेता है। इस कथन का तात्पर्य समझाते हैं **जीव प्रज्ञा द्वारा वाक् पर चढ़कर नाम का अभिवदन करता है, इसमें यह कथन प्रमाण है कि 'अन्यमनस्क था इसलिये नहीं बोला' इत्यादि।।७५।। 'बोलूँ' ऐसा यह अभिमान ही वाक् पर 'चढ़ना' कहा जा रहा है। इसी तरह 'ध्यान करूँ' यह अभिमान चित्त पर चढ़ना है।।७६।।** प्रज्ञा का अंश अभिमान वाणी ग्रहण करती है यह पहले कहा था, उसी को अब जीव की ओर से कहते हैं कि जीव वाणी पर आरूढ हो जाता है, चढ़ जाता है अर्थात् वाणी में अभिमान कर लेता है, उससे तादात्म्यापन्न हो जाता है। दर्पण प्रतिबिंब ग्रहण करता है कहें या बिंब दर्पण में प्रवेश करता है कहें तो जैसे एक ही बात दो तरफ से कही गयी है, वैसे यहाँ पहले इंद्रियों की तरफ से बताया था अब जीव की तरफ से बताया।

गाड़ी पर चढ़ने से गाड़ी का चलना सवार का भी चलना हो जाता है, ऐसे ही इंद्रियों पर चढ़ने से इंद्रियों के कार्य जीव के भी हो जाते हैं, बोलती वाणी है उसी से 'जीव बोला' यह भी संभव हो जाता है; सभी इंद्रिय-व्यवहार इसीलिये जीव के कहे-समझे जाते हैं कि जीव उन पर आरूढ रहता है, अभिमानी रहता है। बिना अभिमान द्वारा आरूढ हुए इंद्रियाँ प्रवृत्त होती नहीं अतः यह ठीक भी है कि उनकी प्रवृत्ति का हेतु जीव समझा जाये। जब सोने आदि के समय अथवा जाग्रत् में भी इंद्रिय में अभिमान न हो तब इंद्रिय-प्रवृत्ति नहीं होती यह अनुभवसिद्ध है। गहन चिन्तन में लगे व्यक्ति के सामने से बारात गुज़र जाये, उसे न वह दीखती है न उसका हल्ला सुनाई ही देता है क्योंकि उस समय मन में ही अभिमन है, आँख-कान में नहीं। जब जीव 'बोलूँ' 'सुनूँ' 'देखूँ' 'चलूँ' आदि अभिमान करता है तभी इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं। 'बोलूँ' ऐसा तभी अभिमान होगा जब पहले वाणी से तादात्म्य है। जो कार्य कर सकता हूँ उसी का संकल्प होता है, बोलना कार्य वाणी का है, जीव यदि वाणी से तादात्म्य वाला न हो तो वह भी बोल नहीं सकता, वह वाणी से स्वयं को एकमेक समझे, तादात्म्यापन्न हो तभी बोल सकता है, तभी 'बोलूँ' ऐसा संकल्प उसे हो सकता है। अतः 'बोलूँ या बोलूँगा' संकल्प से अभिमान को सूचित किया। सीधे ही 'मैं वाणी हूँ' ऐसा किसी को अभिमान नहीं होता! 'मैं बोलता हूँ, बोलने वाला हूँ' यही अभिमान का रूप होता है किन्तु क्योंकि बोलती वाणी है इसलिये 'मैं बोलता हूँ' यह इस बात को मानकर ही होता है कि बोलने वाली वाणी से मैं अभिन्न हूँ। जीव इंद्रियों से एकमेक होकर व्यवहार करने के लिये प्रज्ञा का अर्थात् ज्ञानशक्ति के अभिमानांश का ही आश्रयण करता है अतः सारा व्यवहार प्रज्ञा के सहारे ही संपन्न होने से प्रज्ञा का ही विस्तार है।।७५-६।।

जैसे अन्य इंद्रियों पर जीव आरूढ होता है वैसे ही मन पर भी। अंतर इतना है कि इंद्रियों पर तो तब आरूढ होता है जब मन पर आरूढ हो चुके जबकि मन पर सीधे ही आरूढ होता है। जैसे घुड़सवार साक्षात् तो काठी पर बैठता है, उसके द्वारा घोड़े पर बैठता है वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। अंतःकरण से ध्यान ज्ञान कामादि काम लेने से पहले अंतःकरण में जीव आरूढ होता है जैसे वाक् से काम लेने से पूर्व उस पर आरूढ होता है। इस क्रम को स्पष्ट करते हैं **अभिमान (अहंकार) भी है बुद्धि की वृत्ति किन्तु अन्य वृत्तियों की प्रवृत्ति तभी होती है जब पहले अभिमानवृत्ति हो जाये। अहंकार-वृत्ति बनकर जीव अंतःकरण पर चढ़ चुके तभी ध्यानादि प्रवृत्तियाँ संभव होती हैं। इस प्रकार एक ही बुद्धि क्रम से दोनों**

अभिमानोऽपि धीवृत्तिः साऽपि पूर्वं भवेदथ।
धिया ध्यानादिरित्येका धीः क्रमात् कुरुते द्वयम्।।७७।।

कार्य कर लेती हैपहले अहंकार-वृत्ति से जीव का स्वयं पर आरोह संभव करती है फिर ध्यानादि प्रवृत्तियाँ करती है।।७७।। बुद्धि जीव की उपाधि है, उस पर आरूढ हुए बिना जीव अर्थात् साक्षिमात्र कुछ व्यवहार नहीं करता, प्रवृत्ति नहीं करता। यद्यपि चढ़ेगा जीव तथापि तभी जब बुद्धि की अहंकारवृत्ति हो जैसे दर्पण में घुसेगा बिंब ही लेकिन तभी जब दर्पण संमुख हो। एक प्रश्न होता है कि अन्य कार्य जब जीव के आरोहण-पूर्वक करती है तब अहंकार वृत्ति बनाने का कार्य बुद्धि स्वयं कैसे कर लेती है? इसके उत्तर को न समझने पर सांख्यवाद का प्रवेश अर्थात् बुद्धि की स्वतंत्रता का भ्रम हो सकता है। आत्मा की मूल उपाधि है अज्ञान। आत्मा अनादि काल से अज्ञानी है। अज्ञानी आत्मा में इच्छा-शक्ति रहती है। अज्ञानप्रयुक्त कामना से किये कर्मों के संस्कार भी अज्ञान में रहते हैं। उन कर्मों की प्रेरणा से अर्थात् कर्मों को फलीभूत करने के लिये अज्ञानी आत्मा अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग से अन्तःकरण को पहले अहमाकार बनाता है फिर उस पर आरूढ होता है। अंतःकरण पर तो आत्मा कभी चढ़ता है कभी नहीं चढ़ता, अज्ञान पर वह 'कभी' चढ़ता नहीं वरन् हमेशा से चढ़ा हुआ ही है, उससे उतर तो सकता है, चढ़ नहीं सकता। अज्ञान पर चढ़ा अर्थात् अज्ञानी आत्मा इच्छाशक्ति वाला है। अज्ञानी आत्मा को न आत्ममात्र कह सकते हैं न अज्ञानमात्र, अज्ञानी की अपनी अनिर्वचनीय सत्ता है जिससे उसमें चिन्मात्र का निरंकुश स्वातंत्र्य न होने पर भी स्वातंत्र्य है और उस स्वातंत्र्य के प्रयोग से ही वह अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा अंतःकरण में अहमाकार वृत्ति बनाता है। अतः बुद्धि स्वतंत्र रहकर वृत्ति नहीं बनाती, अज्ञानी आत्मा से नियंत्रित होकर ही बनाती है। इसका अभिप्राय है कि यदि अज्ञानी आत्मा इच्छा न करे तो वह निरहंकार रह सकता है किन्तु इस स्थिति में पहुँचने के लिये उसे अपने निरंकुश स्वातंत्र्य का अनुभव चाहिये अर्थात् अविद्या मिटाकर चिन्मात्र की स्थिति चाहिये। जब तक अज्ञानी रहेगा तब तक अज्ञानोपाधि में निहित जो अज्ञानी आत्मा के कर्म और कामनाएँ हैं उनसे वह बलात् इच्छा करेगा ही। जैसे खटर-पटर करने वाली गाड़ी में चढ़ा व्यक्ति उसे धीरे-तेज़ आदि तो चला सकता है पर सर्वथा खटर-पटर से नहीं बच सकता जब तक उससे उतर न जाये वैसे अज्ञानी हुआ आत्मा सर्वथा इच्छाशक्ति का प्रयोग न करे यह संभव नहीं, यह तभी होगा जब वह अज्ञानी न रह जाये। इस प्रकार सांख्यवाद का प्रवेश नहीं है। अनादि अज्ञानरूप उपाधि वाले आत्मा की इच्छा-शक्ति से आत्मा ही

प्रज्ञावैशिष्ट्यम्

यथा प्राणे जगत् सर्वं लयोत्पत्त्योरवस्थितम्।
प्रज्ञायां च तथा सर्वं स्थितिकाले व्यवस्थितम्।।७८।।
प्रज्ञाप्राणौ ततो मुख्योपाधी स्वात्मावबोधने।
तद्द्वारेणाऽवबोद्धव्यो जीवात्मादौ विवेकिना।।७६।।

अपना स्वातंत्र्य प्रकट करता है। अज्ञानी आत्मा ही व्यष्टि दृष्टि से जीव और समष्टि दृष्टि से ईश्वर है अतः प्रलय-सृष्टि की व्यवस्था भी इसी तरह संगत है। अहमाकार वृत्ति की प्रथमभाविता को विवेकचूडामणि में संसार-हेतुओं में मुख्य की दृष्टि से भी स्पष्ट किया है।।७७।।

उपनिषत् में तो प्राण-प्रज्ञा का एक-साथ विचार आया है पर विद्यारण्य स्वामी इनमें एक सूक्ष्म अंतर स्पष्ट करते हैं **जिस प्रकार सारा जगत् लयकाल में व उत्पन्न होते समय प्राण में अवस्थित रहता है उसी प्रकार स्थितिकाल में सब कुछ प्रज्ञा में व्यवस्थित रहता है।।७८।।** सुषुप्ति आदि में प्रज्ञा प्रकट नहीं रहती, केवल प्राण रहता है अतः लय-उत्पत्ति में प्राण ही प्रधान है जबकि स्थितिकाल में प्रज्ञा प्रधान है। उत्पन्न हुई चीज़ों की स्थिति प्रज्ञा के ही अधीन है, प्रज्ञा ही उनकी विद्यमानता में प्रमाण है। इसलिये संसार का हेतु प्राण-प्रज्ञा के मिले रूप को कहा! श्लोक ६१ में प्राण को जगद्-हेतु बताया था। जन्म-स्थिति-भंग तीनों के प्रति प्राण की कारणता है, स्थिति के प्रति प्रज्ञा की विशेष कारणता है अतः प्राण-प्रज्ञा की एकता के अभिप्राय से प्राण की कारणता बतायी जाती है। इस विशेषता की दृष्टि से ही उपनिषत् ने प्रज्ञा का उल्लेख किया; भले ही प्राण ही प्रज्ञा है, फिर भी उसका पृथक् कथन उसके वैशिष्ट्य के द्योतनार्थ है।।७८।।

जिस मैं को जानना हिततम है उसे समझने के लिये उक्त उपाधि का उपयोग है इस बात को श्लोक ३२ से प्रारंभ किया था, उसका उपसंहार करते हैं **पूर्वदर्शित महत्त्व वाले होने से प्रज्ञा व प्राण स्वात्मा को समझने के लिये मुख्य उपाधियाँ हैं। विवेकी को चाहिये कि प्रारंभ में इन्हीं के द्वारा जीव के आत्मस्वरूप को समझे।।७६।।** सारे ज्ञानों का और सारी क्रियाओं का आधार आत्मा है इसी तरह पहले आत्मा समझा जा सकता है फिर विवेक से पता चलता है कि वह इन ज्ञान-क्रियाओं का अधिष्ठान है, स्वप्रकाश वस्तु है। ज्ञान-क्रिया से विशिष्ट को ही आत्मा समझने की भूल न की जाये इसलिये कहा कि विवेकी इन उपाधियों से आत्मा को समझे। आत्मा के बिना

जीवविवेकः

वाचा नामाभिवदनं यत् तत् स्यात् कर्तृपूर्वकम्।
क्रियात्वात् कृषिवत् कर्ता चाऽहमित्यनुभूयते।।८०।।
शब्दादिविषयेऽहंधीः केनाऽपि न हि शक्यते।
देहेन्द्रियेष्वपि तथा मदीयत्वावभासनात्।।८१।।

प्राण-प्रज्ञा नहीं मिलते, जबकि प्राण-प्रज्ञा के बिना आत्मा मिलता है इसलिये वह अधिष्ठान है और वे दोनों अध्यस्त हैं। यह रहस्य तो बाद में पता चलता है, प्रारंभ में प्राण-प्रज्ञावान् के रूप में ही आत्मा को समझना पड़ता है।।७९।।

उक्त उपाधियों के सहारे आत्मावबोध का ढंग ही स्पष्ट करते हैं **कोइ स्वतंत्र कर्ता है तभी वाणी द्वारा नाम का अभिवदनरूप क्रिया होती है क्योंकि खेती आदि सभी क्रियाओं में ऐसा ही नियम देखा गया है। अभिवदन आदि का कर्ता मैं हूँ ऐसा अनुभव भी किया जाता है।।८०।। शब्दादि विषयों को जैसे कोई 'मैं' नहीं कह सकता वैसे देह व इंद्रियों को भी मैं नहीं समझना चाहिये क्योंकि वे 'मेरे हैं' इस प्रकार प्रतीत होते हैं।।८१।।** इन्द्र ने प्रतर्दन को आत्मोन्मुख करते हुए कहा 'न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्' (३.८) अर्थात् वागादि इन्द्रियों को नहीं वरन् उनके प्रेरक वक्ता आदि रूप से भासमान आत्मा को समझो। सारे करणों की वृत्तियों का साक्षी आत्मा ही अवगन्तव्य है, वही तत्तत् वृत्ति के संदर्भ में वक्ता, घ्राता, द्रष्टा आदि बना मिलता है। वाणी से सम्बद्ध रूप तो अभिमान है किन्तु उससे समझना उसे है जिस 'का' अभिमान है, जो बिम्ब-स्थानीय है। इसलिये वक्ता आदि कर्तृरूप, ज्ञातृरूप से आत्मा को जानने के लिये कहा। उसे ही यहाँ अनुमान-विधया सिद्ध कर रहे हैंवाणी द्वारा की जाने वाली अभिवदन क्रिया पक्ष है। उस क्रिया का कारणभूत कर्ता साध्य है। क्रिया होना ही हेतु है तथा खेती आदि क्रिया दृष्टांत है। हमारा प्रायः विचार 'क्या देखा कैसे देखा, क्या बोला कैसे बोला' इत्यादि के बारे में होता है, किसने देखा-बोला आदि कर्ता को समझने का प्रयास नहीं करते अतः यहाँ उसी को निर्धारित करने के लिये कह रहे हैं। हल से खेती तभी होती है जब कोई किसान करने वाला हो, उसी तरह कोई बोलने वाला हो तभी वाणी से शब्दोच्चारण की क्रिया हो सकती है। इस तरह जो कर्ता सिद्ध होता है वही 'मैं कर्ता हूँ' यों अनुभव में भी आता ही है। अनुमान का फ़ायदा है कि स्वयं को वाणी आदि करणों से सर्वथा पृथक् समझा जा सकता है। 'मैं वक्ता' अनुभव में तो वाणी से तादात्म्यापन्न मैं अर्थात् अभिमान भी प्रतीत होता है,

आनखाग्रमहङ्कारो वपुर्व्याप्यावतिष्ठते ।
चिद्बिम्बप्रतिबिम्बाभ्यां व्याप्तोऽसौ कर्तृतां व्रजेत् । ।८२ । ।
क्रियावांश्चेतनः कर्ताऽहङ्कारस्तादृशस्ततः ।
कर्ता भूत्वाऽखिलैरक्षैर्व्यापारान् कुरुतेऽखिलान् । ।८३ । ।

उससे पृथक् कर आत्मा को यहाँ बताना चाह रहे हैं। वाणी से तादात्म्य वाला तो करणकोटि में चला जाता है, केवल वाणी ने जो प्रज्ञांश दुह लिया उतना ही है, उसकी अपेक्षा यहाँ कर्ता वह कहा जा रहा है जो अहंकार वृत्ति से तादात्म्यापन्न है। साक्षी पहले उस कर्तृरूप को ग्रहण करता है तदनंतर तत्तद् इंद्रिय से जुड़ता है। अहंकार की दशा में कोई करण-विशेष का संबंध नहीं प्रतीत होता, वह सभी से सम्बद्ध होने की पूर्वावस्था है। उसी के आधार पर उसके बिम्बस्थानीय साक्षी को समझना संभव होता है। इसी दृष्टि से कर्ता के स्वरूप का विवेक बताया कि 'मैं कर्ता' यह अनुभव किसे हो रहा है यह समझा जाये। बाह्य रूपादि को हम 'मैं' नहीं समझते, 'मैं रूप, मैं गंध' ऐसा कोई नहीं समझता। शरीर से दृढ अध्यास के कारण 'मेरा रूप, मेरी गंध' ये अनुभव तो होते हैं पर 'मैं रूप, मैं गंध' ये नहीं होते। इससे नियम स्थिर होता है कि अपने से जिसका सम्बन्ध प्रतीत होता है, 'मेरा' यों जो प्रतीत होता है वह 'मैं' नहीं हूँ जैसे रंग मेरा प्रतीत होता है अतः मैं रंग नहीं हूँ। इसी नियम से देह-इंद्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। हमें 'मैं पेट, मैं हाथ' या 'मैं आँख, मैं कान' ये अनुभव कभी नहीं होते, हमेशा 'मेरा पेट मेरी आँख' ऐसा ही लगता है। यही बात मन-प्राण पर भी लागू होती है। अतः यहाँ भी यह अनुमान हैदेहादि मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे हैं, जो मेरा होता है वह मैं नहीं होता जैसे शब्दादि। यह विवेक मैं को शरीर आदि से पृथक् सिद्ध कर देता है। ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति मेरी प्रतीत होती हैं अतः वे मैं नहीं हूँ, मैं उनका अधिष्ठान नहीं हूँ। ।८०-१। ।

कर्तारूप में देहेन्द्रियादि नहीं तो कौन है? उत्तर देते हैं **नख के अग्रभागपर्यन्त शरीर को घेर कर अहंकार रहता है। चेतनरूप बिम्ब और उसके प्रतिबिम्ब दोनों से घिरा वह अहंकार ही कर्ता है। ।८२। । क्रिया करने वाले चेतन को कर्ता समझा जाता है। अहंकार इसी प्रकार का है अतः वही कर्ता होकर सब इंद्रियों से सकल व्यापार करता है। ।८३। ।** यद्यपि अंतःकरण का स्वाभाविक स्थान हृदय है और उसकी वृत्ति होने से अहंकार भी प्रधानतः वहीं व्यक्त होता है तथापि वह पूरे शरीर में फैल जाता है, नाखून के कोने तक अहंकार उपस्थित रहता है, वहीं तक हम स्वयं को मौजूद समझते हैं, उससे बाहर मैं-बुद्धि गौण ही होती है मिथ्या नहीं। इसे

भगवान् ने (गीता १३.६) चेतना कहा है। इस वृत्त्यात्मा अहंकार में साक्षिरूप चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही यह चेतन की तरह व्यवहार में सक्षम होता है। प्रतिबिंब तभी पड़ सकता है जब साक्षिरूप बिम्ब हो। इसलिये बिंब साक्षी और प्रतिबिम्ब चिदाभास दोनों से व्याप्त अहंकार कर्ता है, जब हम 'मैं कर्ता हूँ' कहते हैं तब हमारा मतलब इसी अहंकार से होता है। साक्षी बिंब से अहंकार व्याप्त (घिरा) इसलिये है कि साक्षी के अधीन ही अहंकार की सचेतनता है और प्रतिबिम्ब से व्याप्त इसलिये है कि जहाँ व जब तक अहंकार रहता है वहाँ व तब तक उसमें प्रतिबिम्ब भी रहता ही है। क्योंकि अहंकार कर्ता है इसलिये जिस अंतःकरण की वह वृत्ति है उसे निर्दोष बनाने का इतना महत्त्व है। अंतःकरण जितना स्वच्छ होगा उतना ही उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ेगा, जितना अंतःकरण समल होगा उतना प्रतिबिंब भी अस्पष्ट होगा। आत्मा सर्वथा निर्विशेष है, अहंकार में प्रतीयमान विशेषताएँ अंतःकरण की हैं। जब लोगों को ब्राह्मणत्वादि के दृढ संस्कार थे तब वैसा ही अहंकार होता था, 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस बारे में कोई विकल्प सह्य नहीं होता था, घोर कष्ट सहन करके भी ब्राह्मणोचित आचार ही रखते थे। आज वे संस्कार नहीं तो वह अभिमान भी नहीं, आचार भी नहीं। हमें मनुष्यता के संस्कार हैं तो कम-से-कम मानवोचित व्यवहार तो करते हैं, कुछ लोग स्वयं को कुत्ते-बिल्ली जैसा समझना चाहते हैं! उनका मानना है कि कुत्ते-बिल्ली को कर्तव्य औचित्य आदि का कोई बोझ नहीं होता अतः उन्हें कोई मानस समस्या नहीं होती, यदि मानव भी उन्हीं की तरह सहज-स्वाभाविक हो जाये तो 'यह नीचता है, गलत है, पाप है' आदि सब बोझ उतर जायेंगे! यदि वैसे संस्कार हो गये तो उनका अहंकार भी वैसा ही हो जायेगा। इसलिये अंतःकरण के संस्कारों का महत्त्व है। साधक को समुचित संस्कार ही बढ़ाने चाहिये ताकि चित्त वैसा स्वच्छ हो जाये कि उसमें आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो सके। तत्त्वनिष्ठापर्यन्त कर्ता का उपयोग है अतः तदनुकूल कर्ता का, अहंकार का विकास करना आवश्यक है। कर्ता वह होता है जो चेतन हो और क्रिया करे। जडवस्तु में क्रिया हो भी तो उसे कर्ता नहीं समझते, सचेतन ही कर्ता होता है। क्रियावान् वही होगा जहाँ प्राणोपाधि है, चेतन वही होगा जहाँ प्रज्ञोपाधि है अतः इन दोनों उपाधियों वाला अहंकार ही कर्ता है। यद्यपि कृति अर्थात् चेष्टा करने वाले को कर्ता कहते हैं तथापि जब तक कृति क्रिया को पैदा न करे तब तक केवल कृति वाला कर्ता नहीं कहा जाता इसलिये क्रियावान् को कर्ता बताया। क्रिया से परिस्पंद और परिणाम दोनों समझ लेने चाहिये। मैं में चेतनता का, प्रज्ञा का और क्रियावान् होने का, प्राण का, दोनों का ही अनुभव है। अतः इसे कर्ता कहना

जीवात्मानं विविच्येत्थं चेतनं प्राणधारिणम्।
विविञ्च्यात् परमात्मानम् आनन्दं शुद्धचेतनम्।।८४।।

परमात्मविवेकः

प्रतिबिम्बाऽहंकृतिभ्यां बिम्बं निष्कृष्य साक्षिणम्।
ब्रह्मेति विद्यात् सर्वस्य तस्मिन्नारोपितत्वतः।।८५।।

संगत है। इंद्रियों से सारे व्यवहार तभी होते हैं जब पहले अहंकार हो।।८२-३।।

इन्द्र समझाते हैं कि कर्ता या जीवका ही ज्ञान हिततम नहीं है, वह केवल मार्ग है, हिततम तो अकर्ता आत्मा का ज्ञान है **उक्त ढंग से प्राणधारी चेतन अर्थात् जीवात्मा को विवेकपूर्वक समझने के बाद आनंदरूप शुद्ध चेतन परमात्मा को विवेक से समझना चाहिये।।८४।। प्रतिबिम्ब और अहंकार से पृथक् जो बिम्बभूत साक्षी है उसी को ब्रह्म जानना चाहिये क्योंकि सभी कुछ उसी पर आरोपित है।।८५।।** पहले जीव को जानना आवश्यक ताकि त्वम्पद का वाच्य पता चले। अनेक उपाधियों वाले के रूप में उसका अस्पष्ट बोध ही रहता है अतः उसकी विशेष उपाधि पहचाननी पड़ती है। प्राण-प्रज्ञा उसकी विशेष उपाधि है, प्राण-प्रज्ञा से उसे समझना चाहिये किन्तु विवेक द्वारा पता लगाना चाहिये कि वह प्राण-प्रज्ञा से अन्य है। तदनन्तर जानना पड़ेगा कि जीव का जो वास्तव स्वरूप है वही परमात्मा है। परमात्मा का स्वरूप है आनंद। जिसे सब चाहते हैं वही परमात्मा है, सभी आनंद को चाहते हैं। और परमात्मा चिन्मात्र है, उसमें अशुद्धि कोई नहीं है अर्थात् सच्चिदानन्द से अन्य कुछ भी उससे जुड़ा हुआ नहीं है। जीव तो प्राण-प्रज्ञा से संबद्ध है, परमात्मा उनसे असंबद्ध है। उपनिषदों का विशेष उपदेश है कि परमात्मा आनंदरूप है। परमात्मा को स्वीकारने वाले उसे प्रायः सत् तो सब मानते हैं, चित् भी कई मानते हैं, आनंद मानने वाले औपनिषद हैं। श्लोक ८२ में कर्ता को चिद्बिम्ब-प्रतिबिम्ब दोनों से व्याप्त कहा था। जो अहंकारात्मिका वृत्ति प्रतिबिम्ब धारण करती है उस वृत्ति और उसमें पड़े प्रतिबिम्ब से पृथक्, उनसे स्वतंत्र जो बिम्ब-स्थानीय साक्षी है वही वास्तव में ब्रह्म है, परमात्मा है। हमें अहंदशा में वह बिम्ब के रूप में समझ आ रहा है। पर स्वयं वह बिंब भी नहीं है। उसे समझने का तरीका यही है कि वृत्ति व प्रतिबिम्ब के सहारे से उसे बिम्बरूप में ग्रहण किया जाये, बाद में भले ही पता चले कि वह बिम्ब भी नहीं है। जब तक हम उसे अहंकार के बिम्बरूप से ही जानेंगे तब तक वह केवल मेरा साक्षी है ऐसा लगेगा, उसकी व्यापक सर्वाधिष्ठानता पता नहीं चलेगी अतः पहले अहं के साक्षी के रूप में समझकर फिर यह

प्रज्ञामात्रा भूतमात्रा ग्राह्यग्राहकरूपतः।
संसारं निर्वहन्त्यस्मिन्नात्मतत्त्वे प्रकल्पिताः।।८६।।
चक्रस्यारेष्वाश्रिता स्यान्नेमिर्नाभावरास्तथा।
अक्षेषु विषयास्तानि चात्मनि प्राणलक्षिते।।८७।।

विवेक करना ज़रूरी कि प्रतिबिम्बों का भेद, अहंकारों का भेद, बिम्ब को, साक्षी को विभिन्न नहीं सिद्ध करता अतः प्रतिबिम्ब अनंत होने पर भी साक्षी एक ही है। इन्द्र ने किसी व्यष्टि प्राण-प्रज्ञा का उल्लेख नहीं किया अतः जहाँ कहीं भी प्राण-प्रज्ञा है वहाँ सर्वत्र प्रतिबिम्बित होने वाले को ही आत्मा बताया है। इसीलिये वृत्ति और प्रतिबिम्ब, अभिमान से पृथक् करने पर ही व्यापक साक्षी समझ आता है।

सारा जगत् प्राण-प्रज्ञा का ही विस्तार है यह पहले बताया, वे प्राण-प्रज्ञा जीव में निहित हैं और जीव साक्षी पर कल्पित हैइस प्रकार सारा जगत् साक्षी पर ही अध्यस्त निश्चित हो जाता है। इस प्रकार विवेकपूर्वक परमात्मा समझा जा सकता है। अतः जो हमें जीवस्वरूप प्रतीयमान है यही अपनी वास्तविकता में ब्रह्म है इस महावाक्यार्थ का ज्ञान ही हिततम है यह निश्चित होता है।।८४-५।।

सब कुछ परमात्मा पर आरोपित है इसे स्पष्ट करते हुए इन्द्र ने कहा है कि दसों इंद्रियाँ और इनके विषय परस्पर सापेक्ष, आपस में संबद्ध ही हैं, एक के बिना दूसरा कुछ नहीं कर सकता। अतः ये आपस में इतने दृढ संबद्ध हैं कि इन्हें अलग-अलग नहीं समझा जा सकता। जैसे रथ का पहिया ताड़ियों पर और ताड़ियाँ नाभि पर आश्रित रहती हैं वैसे विषय इंद्रियों पर और इंद्रियाँ प्राण पर आश्रित हैं। वह प्राण प्रज्ञारूप है। इंद्र के इस उपदेश का संग्रह करते हैं **ग्रहण की जाने वाली भूतमात्राएँ और ग्रहण करने वाली प्रज्ञामात्राएँ संसार का निर्वाह करती हैं एवं ये दोनों ही इस प्रत्यग्भूत आत्मवस्तु पर कल्पित हैं।।८६।। जैसे चक्के की ताड़ियों पर आश्रित होती है नेमि और नाभि पर आश्रित होती हैं ताड़ियाँ वैसे विषय इंद्रियों पर और इन्द्रियाँ प्राणोपलक्षित आत्मा पर आश्रित हैं।।८७।।** प्रज्ञामात्राएँ अर्थात् मन समेत सारी इन्द्रियाँ; क्योंकि प्रज्ञा की थोड़ी-सी मात्रा (अंश) लेकर ही इंद्रियाँ सक्षम बनती हैं यह बता चुके हैं। इस प्रसंग में श्रुति ने जब वागादि द्वारा प्रज्ञा का दोहन कहा तब (खंड ५ में) दस इंद्रियों का नाम लेकर हर एक से सम्बद्ध भूत-मात्रा बतायी

इंद्रिय	**भूतमात्रा**
वाक्	नाम
प्राण (घ्राण)	गंध
चक्षु	रूप
श्रोत्र	शब्द
जिह्वा	अन्नरस
हस्त	कर्म
शरीर (त्वक्)	सुख-दुःख
उपस्थ	आनंद, रति, प्रजाति
पाद	इत्या (गमन)
मन	धी, काम

फिर छठे खंड में जब आरोहण कहा कि जीव प्रज्ञा द्वारा किन पर चढ़कर क्या पाता है तब भी इन्हीं दस का नाम आया और इन्हीं भूतमात्राओं की प्राप्ति बतायी। सातवें खण्ड में कहा कि प्रज्ञा के बिना इंद्रियाँ कार्य नहीं कर पातीं, वहाँ भी इन्हीं दस का नाम आया। आठवें खण्ड में बताया कि वाणी आदि को नहीं, वक्ता आदि को जानो; वहाँ भी इन दसों की सूची है। इसलिये यहाँ प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा शब्द मुख्य-रूप से इन्हीं के लिये हैं, उपलक्षणा से सभी इंद्रियाँ और उनके सभी विषय विवक्षित हैं। कर्मेंद्रियाँ और उनके विषय भी विवक्षित हैं क्योंकि हाथ पैर वाक् उपस्थ ये चार कर्मेंद्रियाँ उक्त सूची में मुखतः आ गयी हैं। शरीर का उल्लेख भोगायतन के रूप में है किन्तु उसका त्वगिन्द्रिय भाग विवक्षित है। अतः जो कुछ व्याख्याकार कल्पना करते हैं कि प्रज्ञा मतलब शब्दादिविषयक पाँच ज्ञान और मात्रा मतलब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा भूत मतलब पृथ्वी आदि पाँच और मात्रा मतलब उनके गंधादि गुणयह अनावश्यक है, प्रकृत श्रुति के अनुकूल नहीं है। उपनिषत् में यद्यपि दस की बात है तथापि यहाँ ग्रंथकार ने उसमें बिना उलझे स्पष्ट किया कि सभी ग्राह्य भूतमात्रा हैं व सभी ग्राहक प्रज्ञामात्रा हैं। ग्राह्य दृश्य है और ग्राहक द्रष्टा के उपकरण हैं। इन्हीं से संसार-व्यवहार चलता है। बौद्ध ज्ञेय जगत् को नहीं मानना चाहते पर हमारा कहना है कि ज्ञेय और ज्ञाता का जोड़ा है, इनमें से एक को ही मानना पर्याप्त नहीं, दोनों ही आत्मा पर कल्पित हैं। इसी में चक्के का दृष्टांत दिया। चक्के का बाहरी घेरा, जो ज़मीन से स्पर्श करता है, नेमि कहा जाता है और मध्यभाग नाभि कहा जाता है जिसमें ताड़ियाँ स्थापित होती हैं। ग्राह्य विषय नेमि की जगह

चेष्टाकल्पनहेतुत्वात् प्राणो धीकल्पनस्य च।
हेतुत्वेन भवेत् प्रज्ञा ततस्त्वानन्द एव हि।।८८।।
परप्रेमास्पदतया सर्वेषां यो विभात्यसौ।
नित्यानन्दः परात्मा स्याज्जरामरणवर्जितः।।८९।।

हैं, इंद्रियाँ ताड़ियों की जगह हैं, प्राण नाभि की जगह है। नाभि, ताड़ियाँ, नेमिइनमें से एक भी न हो तो चक्का नहीं चलेगा, ऐसे ही प्राण, इंद्रियाँ, विषय इनमें से एक भी न हो तो संसारव्यवहार नहीं चलेगा। इन्द्रिय-गोचर हुए बिना बाह्य वस्तु व्यवहार में नहीं आती। हमेशा से लेकर करीब दो सौ साल पूर्व तक पानी में मिट्टी घास आदि ही अशुद्धियाँ दीखती थीं, उन्हीं को छानकर हटाते थे, पानी पेय हो जाता था। जब से खुर्दबीन (माइक्रोस्कोप) आयी तब से पानी में सूक्ष्म कीटाणु दीखने लगे तो उबालकर उन्हें दूर करने की ज़रूरत पड़ी। वे कीटाणु रहे पहले भी होंगे पर हमारी इद्रियों के विषय नहीं थे अतः हमारे व्यवहार के अंग नहीं बन रहे थे। इसलिये विषय-इंद्रिय के जोड़े का महत्त्व है। चक्के का एक और अंग होता है धुरी जो खुद नहीं घूमती पर उसी पर आश्रित होकर नाभि घूमती है। उसकी जगह यहाँ आत्मा को समझना चाहिये जो स्वयं निर्विकार है पर सारे विकारों का वही अधिष्ठान है। किन्तु नाभि-स्थानीय तो प्राण अर्थात् प्राण से उपलक्षित जीवात्मा है। नाभि स्वयं भी घूमकर चक्के को घुमाती है, ऐसे ही जीव स्वयं व्यवहार का अंग बनकर व्यवहार चलाता है। जीव का जो साक्षी है वह धुरी की जगह है क्योंकि वह व्यवहार का अंग बिना बने ही व्यवहार चलने का हेतु बनता है।।८६-७।।

श्लोक ३३ में सूचित किया था कि इंद्र जिस आत्मा को ज्ञेय कह रहे हैं उसका निर्णय उपसंहार में बतायेंगे। वही प्रसंग अब उपस्थित है। इन्द्र ने जिसमें प्रज्ञामात्राएँ प्रतिष्ठित कहीं उस प्राण का रूप बताया 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' (३.८)। प्राण को प्रज्ञारूप तो पहले से कहते आये हैं, यहाँ उसे आनंद, अजर, अमृत बताकर स्पष्ट किया कि तात्पर्य परमात्मा से है। यही समझाते हैं **(क्योंकि पूर्वोक्त विश्लेषण से जीवात्मा पर्यन्त सब कल्पित हैं और बिना किसी निरपेक्ष अधिष्ठान के कल्पितों की वर्तमानता असंभव है) इसलिये आनंदरूप परमात्मा ही चेष्टा की कल्पना का हेतु होने से प्राण और ज्ञानों की कल्पना का हेतु होने से प्रज्ञा है।।८८।। जो सबको परप्रेम के आस्पद के रूप में भासमान है वही सनातन, आनंदरूप, जरारहित, मरणरहित परमात्मा है।।८९।।** इच्छा के बाद क्रिया के लिये जो भीतरी प्रयास है वह चेष्टा कहा जाता है। कभी-कभी चेष्टा करने

पर भी क्रिया नहीं होती जैसे पैर सो जाये तो उसे उठा नहीं पाते, तब इच्छा व क्रिया से उसका भेद स्पष्ट हो जाता है। प्राण के द्वारा ही चेष्टा होती है किन्तु प्राण तो स्वयं चेष्टा में करण बनता है अतः वह उस प्रक्रिया के अंतर्गत रहता है यह तभी संभव है जब इस प्रक्रिया से बहिर्भूत, निरपेक्ष आत्मा विद्यमान है। उसी आत्मा को यहाँ प्राण-पद से सूचित कर रहे हैं क्योंकि वही चेष्टा की कल्पना का हेतु है। शक्तिरूप प्राण तो चेष्टा का हेतु है, उसकी और चेष्टा की समान सत्ता है अतः उसकी दृष्टि से चेष्टा को कल्पित नहीं कह सकते। यहाँ चेष्टा की कल्पना अर्थात् चेष्टा को कल्पित कहा अतः उसका वह हेतु विवक्षित है जो अधिकसत्ताक है, जिसकी दृष्टि से चेष्टा कल्पित कही जा सकती है। तात्पर्य है कि चेष्टा का अधिष्ठान कारण यहाँ प्राण कहा जा रहा है। इसे समझने के लिये ही चेष्टा के परिणामी कारण प्राण को पहले बताया था, उसे बताने में तात्पर्य नहीं था, उपाय-विधया बताया था, तात्पर्य इस परमात्मा को बताने में है। इसी प्रकार शक्तिरूप प्रज्ञा के मार्फत समझना इस आत्मा को ही है जो समस्त ज्ञानों की कल्पना का हेतु है, अधिष्ठान है। परमात्मा ही प्राण व प्रज्ञा शब्दों का अभिप्रेत अर्थ है। उस परमात्मा का सदा स्फुरण आनंदरूप से होता है। बिना किसी कारण के, प्रयोजन के जो हमेशा असीम प्रिय महसूस होता है वही आनन्द है, आत्मा है। अन्य सब तो आनंद के लिये अच्छा लगता है पर स्वयं आनंद बिना किसी कारण के अच्छा लगता है। यह आनंद आत्मरूप ही है क्योंकि आत्मा (मैं) स्वयं को हमेशा बिना कारण असीम प्रिय रहता ही है। आत्मा को प्राण-प्रज्ञा तो अध्यस्त चेष्टा-बुद्धि की अपेक्षा से कहा पर आनंद यह स्वयं है। इसी में आनंद का लक्षण घटता है। प्रत्यक् स्वरूप से अतिरिक्त कहीं परम प्रेम नहीं हो सकता। ईश्वर को भी जब तक अपने से भिन्न मानते हैं तब तक उससे चाहे जितना प्रेम हो जाये, परम प्रेम नहीं होगा, वह तो स्वयं से ही होता है। यह सर्वानुभव-सिद्ध है कि आत्मा ही परम प्रिय है। परप्रेमास्पद रूप से परमात्मा ही प्रकाशमान है। अज्ञानवश हम देहादि को आत्मा समझते हैं इसीलिये इनसे भी हमारा प्रेम अन्यों की अपेक्षा अधिक ही है। जब भ्रम से जिसे आत्मा समझते हैं उसी से इतना प्रेम है तब वास्तव में जो आत्मा है उसके प्रति प्रेम का क्या कहना! जरा-मृत्यु अनात्मा में, शरीरादि में होते हैं अतः अशरीर व्यापक नित्य आत्मा इन से रहित है। इसी का ज्ञान हिततम है। उपक्रम में कहे प्राण का तात्पर्यतः अभिप्रेत स्वरूप यहाँ स्पष्ट किया।।८८-९।।

इस आत्मा पर कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ता यह इंद्र ने कहा 'न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवाऽसाधुना कनीयान्' (३.८) कि न अच्छे कर्म से इसमें बढ़ोतरी है न खराब

आत्मा कर्मणःपरः

न पुण्येन भवेद् देवो न पापेन पशुर्भवेत्।
चिच्छायावानहङ्कार एव स्यात् पुण्यपापवान्।।९०।।
तदीये पुण्यपापे द्वे देहस्थे च जरामृती।
स्वात्मन्यारोपयेद् मूढस्ततो देवादिजन्मभाक्।।९१।।
आरोपे बाधिते बोधात् कर्म स्याद् दग्धबीजवत्।
ततो जन्माङ्कुरो नास्ति निर्लेपे परमात्मनि।।९२।।

कर्म से कमी है। यही बताते हैं **आत्मा न पुण्य से देवता बनता है न पाप से पशु बनता है। चेतन की छाया वाला अहंकार ही पुण्य-पाप वाला होता है।।९०।। अज्ञानी व्यक्ति उस अहंकार के पुण्य-पाप और स्थूल देह के जरा-मरण को स्वात्मा पर आरोपित करता है इसी से देवता आदि अच्छे-बुरे जन्म पाता है।।९१।। तत्त्वानुभव से आरोप (अध्यास) का बाध हो जाने पर कर्म जले बीज की तरह निष्फल हो जाता है अतः निर्लेप परमात्मा पर जन्मरूप अंकुर नहीं उगता!।।९२।।** कर्ता अहंकार है यह बता चुके हैं। कर्ता को ही कर्मफल मिलता है। आत्मा कर्ता ही नहीं तो उसे कर्मफल मिलने का प्रसंग ही नहीं। अज्ञान रहते अहंकार के कर्म और भोग को आत्मा स्वयं पर आरोपित कर दुःखी रहता है। आस्तिक को मालूम है कि वह स्थूल देह नहीं है फिर भी जैसे जरा-मरण को अपना समझता है वैसे देव-पशु आदि सदसद् योनियों में जन्म को, वहाँ के सुख-दुःख को भी अपना समझता है। आनंदरूप आत्मा सर्वत्र एक है, जैसा वह इंद्र का साक्षी है वैसा ही कुत्ते का साक्षी है, जैसा प्रेम इन्द्र को आत्मा से है वैसा ही कुत्ते को आत्मा से है। किन्तु जब तक इस आनंदात्मा का अज्ञान है तब तक स्वयं को अहंकार से एक समझकर अहंकार के ही सुख-दुःख से स्वयं का सुख-दुःख है। इस भ्रम को साक्षात्कार ही मिटा सकता है, केवल परोक्ष ज्ञान से यह तादात्म्य निवृत्त नहीं होता। जब तक भ्रम है तब तक के लिये कर्म-व्यवस्था भी है। आत्मा निर्मल है पर जब तक अहंकार से अपने को एक समझता है तब तक उसकी वह निर्मलता उसके काम नहीं आती, उसे अहंकार के मलों को ढोना पड़ता है, उसके किये कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं। भले ही यह भोगना अवास्तविक है पर उसकी अवास्तविकता अभी छिपी है, अभी तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व सत्य ही लगता है। जब आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तब पुण्य पाप से और उनके फलों से अपनी अतीतता प्रकट हो जाती है। ब्रह्माकारवृत्ति द्वारा अज्ञान की निवृत्ति से ही आरोप का बाध संभव है। 'वस्तु

कार्योपाधेरभावेऽपि कारणोपाधिमत्त्वतः ।
कर्मास्याऽस्त्विति चेद् ईशः कर्माऽध्यक्षो न कर्मकृत् । ।६३ । ।

थी, अब नहीं हैं'यह नाश कहा जाता है और 'जब प्रतीत हो रही थी तब भी नहीं थी, अब भी नहीं है, कभी नहीं हो सकती' यह निश्चय बाध कहा जाता है। जब तक 'कर्म हुए' यह प्रतीति है तब तक उनके फल भी 'हुए' लगेंगे, जब कर्मों का बाध होता है तभी फल निवृत्त होते हैं। बाध की अग्नि ही कर्मों को जलाती है जिससे निर्वीर्य हुए वे आगे जन्मादि कोई फल नहीं देते। लेप्य-लेपक समान-सत्ताक हों तभी लेप होता है। कर्म व्यावहारिक हैं अतः परमार्थ आत्मा पर इनका लेप होता नहीं, भ्रम से ही इन्हें आत्मा अपना समझता है। भ्रम मिटने पर कर्म-फल के चक्र की सम्पूर्ण समाप्ति हो जाती है, मुक्ति मिल जाती है। ।६०-२ । ।

कर्म-सम्बन्ध ही कर्तृता है, वह संबंध जैसे कार्योपाधि से वैसे कारणोपाधि से भी है तो कारणोपाधिवाला ईश्वर भी कर्मसंबंधी होने से भोक्ता होना चाहिये अतः संसारी जीव से उसमें क्या विशेषता? इस प्रश्न को उठाकर उत्तर देते हैं **अंतःकरणादि कार्य ईश्वर की उपाधि न होने पर भी वह अज्ञानरूप कारण-उपाधि वाला तो है अतः क्या उसका भी कर्म-संबंध है? नहीं है क्योंकि वह कर्म करता नहीं केवल उसका साक्षी रहता है। ।६३ । ।** वेदान्त की प्रसिद्ध प्रक्रिया है 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' (शुकरहस्योप.३.१२) अर्थात् जीव की उपाधि कार्याविद्या है, ईश्वर की उपाधि कारणाविद्या है। कार्याविद्या अर्थात् अविद्या का कार्य अंतःकरण और कारणाविद्या को ही माया कहते हैं, वही सबका कारण है। प्रश्न था कि कारणोपाधि, मायोपाधि वाले का भी कर्मसम्बन्ध है या नहीं? उत्तर दिया कि कारणोपाधि वाला अर्थात् ईश्वर कर्म का साक्षी है, कर्म का कर्ता नहीं अतः उसका कर्म से सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये उसके लिये कर्मफल का भोग भी नहीं है। अविद्योपाधि से साक्षी और अंतःकरणोपाधि से प्रमाता होता है इस ढंग से देखें तो भी स्पष्ट है कि हमारा प्रमाता-रूप, अहंकार-रूप तो कर्म करता व फल भोगता है जबकि साक्षिरूप न करता न भोगता है वह तो, जैसा अन्यत्र कहा 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु.३.१.१) केवल जानता रहता है। अतः ईश्वर का, साक्षी का कर्ता-भोक्ता जीव से महान् अंतर है। ।६३ । ।

अकर्ता रहते हुए ही ईश्वर जीवों के कर्मों का कारण बनता है यह इंद्र ने बताया 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष ह्येव असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते' (३.८) अर्थात् जिसे ऊर्ध्व लोकों में ले जाना चाहता है उससे

तटस्थोऽपि प्रेरकः

कारयित्वा पुण्यमेष कर्तारं स्वर्गमापयेत्।
पापं तु कारयित्वा तं नरकं प्रापयेद् असौ।।६४।।
पर्जन्यवत् प्रेरकत्वाद् नाऽस्य वैषम्यमापतेत्।
शाल्यादीन् बहुधा वृष्टिर्वर्धयेद् विषमाऽपि नो।।६५।।
उत्तमाधमभावोऽत्र तत्तद् बीजेन कारितः।
तारतम्यं च जीवेषु स्वस्ववासनया कृतम्।।६६।।

अच्छे कर्म और जिसे अधोगति दिलाना चाहता है उससे खराब कर्म यही प्राण-प्रज्ञोपाधिक आनंदात्मा करा लेता है। इसे समझाते हैं **यह आनंदरूप आत्मा ही पुण्य कराकर कर्ता को स्वर्ग पहुँचाता है तथा पाप कराकर उसे नरक पहुँचाता है।।६४। बादल की तरह प्रेरक होने से आत्मा में विषमता (भेदभाव) नहीं आती। बरसात धान आदि विभिन्न वनस्पतियों को बहुत तरह से पुष्ट करती है फिर भी भेदभाव वाली नहीं होती।।६५।। खेती की अच्छाई-बुराई उसके विभिन्न बीजों के कारण होती है, इसी तरह जीवों की उच्चता-नीचता उनकी अपनी-अपनी वासनाओं के कारण है।।६६।।** आजकल जैसे बिजली आने से ही उपकरण कार्य करते हैं। उपकरण सदोष हो तो झटका भी मारता है, वह झटका तो बिजली का ही लगता है किंतु उसमें दोष उपकरण का है, बिजली का नहीं। इसी तरह सत्ता-चित्ता परमात्मा ही सबको देता है तभी सब कुछ भी कर पाते हैं। कोई अच्छा भी तभी करेगा जब परमात्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाये, बुरा भी तभी करेगा जब सत्ता-स्फूर्ति पाये लेकिन अच्छे-बुरे का भेद परमात्मा के कारण नहीं वरन् अपने संस्कारों के कारण है। अत एव व्यक्ति (जीव, प्रमाता) अपने संस्कारों के परिष्कार से उत्तम भी बन सकता है। और उन्हें बिगाड़ कर नीच भी बन सकता है। सत्ता-चित्ता प्रदान करना ही परमेश्वर का 'करवाना' कहा जाता है, जीव के संस्कारों के, कामनाओं के, अभिमानों के विपरीत उससे हठात् कुछ कराता हो ऐसा नहीं। कदाचित् जो प्रतीति होती है कि 'न चाहकर भी हमसे ऐसा करा लिया गया' उसका कारण है कि हम अपने संस्कारों से बेखबर हैं, संस्कार छिपे रहते हैं तो हमें लगता है कि हममें वे संस्कार नहीं हैं किन्तु होते हैं, वे ही प्रकट होने पर हम तदनुसार चेष्टा कर लेते हैं। अंतःकरणोपाधि से जीव कर्म करता है तथा मायोपाधि से ईश्वर फल देता है।

पुण्य-पाप दोनों करने की सारी सामर्थ्य आत्मा से ही मिलती है अतः बिजली की

तरह कराने वाला वही है पर गुण-दोष अंतःकरणों का, उनमें अभिमानी का है। करता तो अहंकार ही है, जब वह करने लगता है तब आत्मा उसे शक्ति दे देता है। दर्पण सूर्य की रोशनी को प्रतिबिम्बित कर अंधेरे गड्ढे को प्रकाशित करता है किन्तु प्रकाशन का कार्य सूर्य का ही है, दर्पण का योगदान है सूर्यप्रकाश को दिशा देने का, चाहे मल की नाली में दिशा दे चाहे गुफा में स्थित देवमूर्ति की ओर दिशा दे। इसी प्रकार अंतःकरण की वासनाएँ ही दिशा देती हैं कि आत्मा से प्राप्त ऊर्जा को सत्कर्म में लगायें या दुष्कर्म में। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब न दर्पणमात्र है न बिम्बमात्र वैसे अंतःकरण में प्रतिबिंब जीव भी न उपाधिमात्र है न आत्ममात्र। उपाधि जड है अतः कर्ता नहीं, आत्मा निर्विकार है अतः कर्ता नहीं, किन्तु अंतःकरण-प्रतिबिम्बत आत्मा अर्थात् जीव (बिम्ब-प्रतिबिम्ब से व्याप्त अहंकार) कर्ता है। जीव परमार्थ नहीं है, उसका कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी परमार्थ नहीं है, व्यावहारिक ही है। दर्पण के गुण-दोष से प्रतिबिंब प्रभावित होता है, अंतःकरण के गुण-दोष से जीव प्रभावित होता है। आत्मा करवाता है इसमें बरसात का दृष्टांत स्पष्ट है। जैसा बीज होगा वैसा वह उगेगा अतः क्या उगा इसके भेद का हेतु बीज है पर कुछ भी उगेगा तब ही जब बरसात हो अतः सबको उगाने वाली बरसात है। ऐसे ही सब कराने वाला आत्मा है। हम क्या करते हैं इसका हेतु हमारे संस्कार हैं। अत एव लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में उन्नति का हेतु उचित संस्कार ही हैं।

मानव समाज में विकसित सारी शिक्षा-व्यवस्था इसी तथ्य पर आधारित है कि जीव को संस्कार दिये जा सकते हैं, नवीन संस्कारों से वह अपने सहज संस्कारों को प्रतिबद्ध कर सकता है। जैसे भाषा, गणित आदि सिखाना बच्चे पर 'थोपना' नहीं कहा जाता वैसे ही धर्म, आध्यात्मिक मूल्य सिखाना भी 'थोपना' नहीं है। नास्तिकों ने धर्म, नैतिकता आदि पर अश्रद्धा से प्रचार कर दिया है कि इहलोक में धन आदि कमाने वाली बातें पढ़ाना 'थोपना' नहीं है, धर्मादि सिखाना 'थोपना' है। उनके प्रचार के प्रभाव से समाज धर्मादि की शिक्षा नहीं देता तो उसका प्रभाव स्पष्ट ही हो रहा है, लोगों की सत्प्रवृत्ति की संभावनाएँ ही ख़त्म हो रही हैं, दुष्प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हो रही हैं जिससे सर्वत्र दुःख, क्लेश, अशान्ति ही फैल रही है। अतः संस्कारों का ही इसमें योगदान है कि जीव अच्छा करता है या बुरा, परमात्मा पर इसका दायित्व नहीं है। हर व्यवहार संस्कार छोड़ता ही है। देखना पढ़ना आदि जो भी करेंगे उसकी वासना बनेगी ही अतः सारे व्यवहारों को नियंत्रित रखने से ही संस्कार नियंत्रित रह सकते हैं। बालक अपने श्रेष्ठों को पाप करता देखे और स्वयं न करना चाहे यह नहीं हो सकता। चित्रों, पत्र-पत्रिकाओं आदि के द्वारा भी जो बिम्ब

मातृवत् पालयेल्लोकं शिक्षयेत् पितृवत् प्रभुः।
स्वामी स्याद् राजवत् सोऽयं ममात्मेत्यवगम्यताम्।।६७।।

प्रकट होते हैं उनके संस्कारों से व्यक्ति उस ओर प्रवृत्त होता ही है। प्राचीन रीति में इसलिये अपने समान आचार-विचार वालों से ही संपर्क रखा जाता था ताकि विषम संस्कार ही न पड़े। वशिष्ठ जी ने भी संस्कार पर ध्यान देने के लिये बहुत सावधान किया है।

'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।।'

वासना मानो एक बहती हुई नदी है। जिधर ढाल मिल जाये उधर ही नदी बहती है, वह दिशा शुभ हो या अशुभ इससे नदी को क्या! किंतु जो उस नदी का लाभ लेना चाहता है वह घोर परिश्रम कर नदी का रास्ता उधर को बनाता है जिधर वह जल ले जाना चाहता है। ऐसे ही जीव का पौरुष प्रयत्न इसी में होना चाहिये कि वासना नदी को शुभ मार्ग पर ले जाये, अशुभ पर न जाने दे अर्थात् अशुभ संस्कारों से बचे, शुभ संस्कार बटोरता जाये। अचानक यह संभव नहीं कि हमारी अशुभ प्रवृत्तियाँ एक-दम रुक जायें। धीरे-धीरे उन्हें छोड़ते हुए शुभ प्रवृत्तियाँ करनी पड़ेंगी तभी अशुभ संस्कार धूमिल होंगे, शुभ संस्कार प्रबल होकर स्वाभाविक प्रवृत्ति ही शुभ हो जायेगी। मनो-नियंत्रण के लिये इंद्रियनियंत्रण ज़रूरी है। बाह्य नियंत्रण में काफी हद तक ज़ोर-ज़बर्दस्ती चल जाती है, मन पर उतना ज़ोर नहीं चलता। बाह्य नियंत्रण का लाभ होता है कि कम-से-कम नये संस्कार नहीं पड़ते। केवल बाह्य नियंत्रण किया और मन पर नहीं किया तब तो मिथ्याचार होगा; यद्यपि सन्मार्ग का मिथ्याचार भी लाभ ही करेगा, हानि नहीं तथापि अध्यात्म साधना में प्रगति नहीं हो पायेगी, थोड़ी बहुत होगी भी तो अत्यंत धीरे। बाह्य के साथ मन के भी नियंत्रण का प्रयास तीव्र-तीव्रतर करे तभी साधनामार्ग पर आगे बढ़ सकता है। शुभ संस्कारों वाले से परमात्मा शुभ ही कर्म करायेगा, शुभ ही गति देगा। ब्रह्मसूत्र के परायत्ताधिकरण (२.३.१६.४६-२) में इस विषय को सुस्पष्ट किया है।।६५-६।।

इन्द्र ने उसी आत्मा को बताया 'एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः' (३.८); इन विशेषणों को समझाते हैं **जो प्रभु माता की तरह लोकों का पालन करता है, पिता की तरह सबको शिक्षा देता है, राजा की तरह सबका मालिक है, वही मेरा प्रत्यगात्मा हैयह निश्चय करना चाहिये।।६७।।** जैसे दुष्ट पुत्र को भी माता नहीं छोड़ती ऐसे घोरतम पापी को भी परमात्मा नहीं छोड़ता। पापी को दुःख तो

ईश्वरोऽसंसारी

मायोपाधौ स्थिते तस्य मिथ्यात्वं बुध्यते ततः।
संसारी जीववन्नेशः स्वानन्दैकरसो ह्ययम्।।६८।।

अवश्य भोगना पड़ता है पर उसे भोगने की सामर्थ्य परमात्मा ही देता है और आगे सुधरने की संभावना के रूप में क्रियाशक्ति भी वही देता है। पिता पुत्र की सर्वविध उन्नति चाहकर उसे बेहतर बनाने का प्रयास करता रहता है जिसमें सिखाना, दण्डित करना, अभ्यास कराना आदि सब आ जाते हैं। परमात्मा पिता की तरह सबको उत्कृष्ट बनाने के लिये शास्त्रादि से सीख देते हैं, उसे व्यवहार में लाने का मौका देते हैं, अत्यंत सहारा भी देते हैं तो ग़लतियों के लिये दण्ड भी देते हैं। मायाधीश होने से वह सारे संसार का निरंकुश मालिक तो है ही इसलिये संसार के हानि-लाभ के बारे में जागरूक रहकर इसकी सुव्यवस्था में संलग्न है। इस प्रकार आत्मा की तत्पदार्थरूपता, ईश्वररूपता बतायी। आनंद, अजर, अमृत से जिसे शुद्ध कहा उसी को लोकपाल, लोकाधिपति, सर्वेश्वर से ईश्वर कहा, उसी को अपना प्रत्यगात्मा समझने के लिये कहा। इस प्रकार यह महावाक्योपदेश हो गया। 'स म आत्मेति विद्यात्' (३.८) से इन्द्र ने विधान किया कि इस दृढ अपरोक्ष के लिये ही प्रयास करना चाहिये क्योंकि यही आत्मबोध हिततम है।।६७।।

शंका होती है कि शुद्ध आत्मा यदि जीव केवल भ्रम से बन सकता है तो ईश्वर भी भ्रम से ही बन सकेगा, तब क्या ईश्वर भी जीव की तरह भ्रान्त है? इसका समाधान करते हैं **ईश्वर माया उपाधि में स्थित होते हुए भी उस उपाधि को और उपाधि-सम्बद्ध रूप को मिथ्या ही जानता है अतः जीव की तरह वह संसारी, भ्रान्त नहीं है वरन् स्वरूपभूत तारतम्यहीन आनंद ही है।।६८।।** मिथ्या वस्तु को सत्य समझना भ्रम है, मिथ्या को मिथ्या समझना भ्रम नहीं है। सोपाधिक भ्रमों में अनेक बार यह होता है कि मिथ्या जानकर भी प्रतीति पूर्ववत् रहती है जैसे स्फटिक लाल दीखता ही है, आकाश नीला दीखता ही है किन्तु वह भ्रमदशा नहीं होती क्योंकि मालूम रहता है कि स्फटिक लाल नहीं है। इसी प्रकार यह ठीक है कि ईश्वर भी सोपाधिक दशा ही है लेकिन ईश्वर उस स्थिति में भी यह जानता है कि न यह उपाधि सत्य है न इससे आत्मा का उपहित होना सत्य है। अतः व्यावहारिक स्तर पर वह लोकपालादि बना रहते हुए भी अखण्ड आनंदरूप ही रहता है। जीव को तो अपनी उपाधि का मिथ्यात्व पता नहीं अतः वह अपने उपहित रूप को, अहंकार को, चिदाभास को सत्य मानकर संसरण करता है किन्तु ईश्वर क्योंकि अज्ञ नहीं है इसलिये वह

अखण्डैकरसानन्दो मुक्तोऽयं स्वात्मदृष्टितः।
संसारिदृष्ट्या सर्वेश इति विद्धि प्रतर्दन!।।६६।।

उपसंहारः

इन्द्रानुग्रहतः सोऽभूत् कृतकृत्यः प्रतर्दनः।
एतद्व्याख्यानतस्तुष्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१००।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे कौषीतकीशाखोपनिषद्विवरणे इन्द्रप्रतर्दनसंवादो नाम अष्टमोऽध्यायः।।

संसरण नहीं करता। संसारी अर्थात् संसार-सम्बन्धी तो दोनों हैं पर जीव 'मैं संसरण कर रहा हूँ, सुखी-दुःखी हूँ,' इस प्रकार संसार के अंतर्गत है जबकि ईश्वर संसार से तटस्थ उसका साक्षी है। अतः ईश्वर भ्रान्त नहीं है फिर भी लोकपाल आदि रूप से सृष्टि बनाता है चलाता एवं विलीन करता रहता है।।६८।।

ईश्वर को मैं समझने का मतलब उसके सविशेष भाव का प्रत्यग्रूप से अनुभव नहीं है वरन् शुद्ध भाव का ही अनुभव है क्योंकि ईश्वर की निजी स्थिति तो शुद्ध ही है, सविशेष भाव आरोपित है यह स्पष्ट करते हुए इंद्रोपदेश का उपसंहार करते हैं **प्रतर्दन! यह समझ लो कि निज दृष्टि से तो यह ईश्वर अखण्ड एकरस आनंद नित्यमुक्त ही बना रहता है, संसारियों की दृष्टि से वह सर्वेश्वर हो जाता है।।६६।।** जैसे प्रेक्षकों की दृष्टि से राम-रावण आदि हो जाने पर भी नटकी स्वदृष्टि से वह देवदत्तादि ही बना रहता है, सीता के लिये रोते हुए भी जानता है कि उसकी पत्नी निकट ही सुरक्षित बैठी है, वैसे अज्ञों की, जीवों की दृष्टि से सविशेष, लोकपालादि, कर्मफलदाता आदि बना होने पर भी, इन व्यवहारों को संपन्न करने पर भी स्वदृष्टि से ईश्वर अपने नित्यमुक्त निर्विशेष स्वभाव में ही प्रतिष्ठित रहता है। इसलिये जीव भी अविद्या मिटने पर निर्विशेष चित्स्वरूप ही रह जायेगा, ऐसा नहीं कि एक विशेष छूट कर कोई दूसरा विशेष जुड़ जाये। यहाँ तक इन्द्र ने समझाया।।६६।।

उपदेश की सफलता दिखाकर अध्याय पूरा करते हैं **इन्द्र के अनुग्रह से वह प्रतर्दन कृतकृत्य हो गया। कौषीतकी उपनिषत् के तृतीयाध्याय की इस व्याख्या से महेश्वरावतार श्री विद्यातीर्थ जी को सन्तोष हो यह प्रार्थना है।।१००।।** गुरुरूप इंद्र ने समझाया यही बड़ा अनुग्रह है। देवता होने से उसमें असीम शक्ति है अतः शिष्य के चित्त में विशेष सामर्थ्य का संचार भी कर सकता है। स्वयं तत्त्वनिष्ठ है

इसलिये भी उसका संकल्प बलवान् है, जैसा भाष्यकार ने कहा है 'प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वाद् मुक्तसङ्कल्पस्य' (ब्र.सू. ४.४.८), उसने शिष्य के कल्याण का संकल्प करके भी उसे सिद्धि प्रदान की। किंच इंद्र अर्थात् परमात्मा, उसका प्रमा के अनंतरभावी जो आविर्भाव हुआ उससे प्रतर्दन कृतार्थ हो गया, जो कुछ करने लायक था वह सब संपन्न हो गया, और कुछ करने योग्य, पाने योग्य, चाहने योग्य नहीं रह गया। यही सर्वाधिक हित का लाभ है। ब्रह्मतत्त्व के उपदेश की यही सफलता है कि साधक के लिये करने योग्य कुछ न रह जाये, सब कुछ करके जो मिलता है उस आनंदरूप से ही वह स्वयं रह जाये।

इस अध्याय में कौषीतकी के तीसरे अध्याय की ब्रह्मविद्या का स्पष्टीकरण किया। अपने सद्गुरु श्री विद्यातीर्थ जी से प्रार्थना करते हैं कि इस प्रयास से वे संतुष्ट हों। अर्थात् उनका उपदेश हमने ठीक समझ लिया यह उन्हें इस व्याख्या से पता चलेगा तो उन्हें संतोष होगा क्योंकि शिष्य सही समझा है और आगे समझाने में समर्थ है यह जानकर गुरु को सन्तोष होता है।।१००।।

कुछ पाण्डुलिपियों में यहाँ से अध्याय संख्या पुनः एक से प्रारंभ की है। पूर्वभाग को विद्याप्रकाश और इसे अनुभूतिप्रकाश यों दो ग्रंथ मानकर वह उचित ही है। फिर भी पूर्वांश को अनुभूतिप्रकाश का ही खण्ड मानकर प्रायः इसे आठवाँ अध्याय ही अंकित किया गया है। तथा आगे भी इसी क्रम से संख्या निर्धारित है।

।। आठवाँ अध्याय।।

ॐ

कौषीतकीशाखाविवरणे

बालाक्यजातशत्रुसंवादः

नवमोऽध्यायः

प्रतिज्ञा

राजा बालाकये प्राह विप्राय ब्रह्मवेदनम्।
कौषीतक्याख्यशाखायाम् अत्र स्पष्टीकरोमि तत्।।१।।

कौषीतकी उपनिषत् में बालाकि-अजातशत्रु संवाद : नौवाँ अध्याय

कौषीतकी उपनिषत् के चतुर्थ अध्याय की विद्या अब समझायी जायेगी। पूर्वाध्याय में प्राणोपाधि वाले आत्मा का उपन्यास किया था जिससे किसी को भ्रम सम्भव है कि कहीं चैतन्य-विशिष्ट प्राण ही चरम तत्त्व न हो! उपाधि के सहारे उपदेश देने में यह समस्या रहती ही है कि उपाधि प्रमुख प्रतीत होने लगती है। नारद जी भी प्राण को भूमा मानने को तैयार हो गये थे तो अन्यों का क्या कहना! अतः प्राण आत्मा नहीं इसे सुस्पष्ट करने के लिये अजातशत्रुविद्या प्रवृत्त हुई है। बृहदारण्यक में भी इस विद्या का वर्णन है किन्तु उपास्य-वर्णन में कुछ अंतर है अतः अनुभूतिप्रकाश में उस प्रसंग का चौदहवें अध्याय में वर्णन करेंगे, यहाँ कौषीतकी के ही अनुसार समझायेंगे। अध्याय के विषय की प्रतिज्ञा करते हैं**विप्र बालाकि को राजा ने जो ब्रह्मज्ञान बताया वह कौषीतकी नामक शाखा में वर्णित है, उसी को इस अध्याय में स्पष्ट करेंगे।** **।१।।** अपर ब्रह्म का जानकार तथा वेद के अन्य प्रसंगों का भी विद्वान् बालाकि विनयहीन था किन्तु अजातशत्रु के सामने अपना अज्ञान स्वीकारना पड़ा तो वह स्वयं विनयी हो गया अतः राजा ने उसे प्रायोगिक उपाय से समझाया कि प्राण नहीं वरन् प्राण का अधिष्ठान ब्रह्म है। उस उपदेश में ब्रह्म ही बताया गया है यह विस्तार से ब्रह्मसूत्र में (१.४.५.१६-८) विचारित है। गार्ग्य बालाकि तथा राजा के संवाद का व्याख्यान इस अध्याय का विषय है।।१।।

कथा

दृप्तो बालाकिरपरब्रह्मवित् स कदाचन।
अजातशत्रुं काशीशं बुबोधयिषुरागतः।।२।।
(अजातशत्रुर्ब्रह्मात्मवेदनाच्छौर्यतोऽपि च।
अन्तर्बहिश्च निःशत्रुः काश्यां राजा बभूव सः।
गर्गगोत्रजविप्रोऽयं बालाकिर्नैव तत्त्ववित्।
किन्तु प्राणोपासकोऽयं दर्पेण महतावृतः।।)
राजन्! बुभुत्सवे तुभ्यं परं ब्रह्म ब्रवाण्यहम्।
इत्युक्त्वाऽऽदित्यपुरुषं ब्रह्मोपास्वेत्यवोचत।।३।।

उपनिषत् में कथा आयी है 'गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस। सोऽवसद् उशीनरेषु संवसन् मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदेहेषु इति। स ह अजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति।' (कौ.४.१) अर्थात् गर्गगोत्रीय बालाकि प्रथितयशा विद्वान् विभिन्न देशों में भ्रमण करता था। एक बार काशिराज अजातशत्रु से उसने कहा 'तुम्हें ब्रह्म समझाता हूँ'। राजा जानता था कि बालाकि परब्रह्म का जानकार नहीं है फिर भी उसने ब्राह्मण का संमान किया उसे प्रभूत दक्षिणा दी। बालाकि उपास्य ब्रह्म के बारे में बताने लगा तो राजा ने कहा 'इसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ, इसका तुम से उपदेश लेने की मुझे ज़रूरत नहीं, इस बारे में मत बताओ।' इससे आगे तो बालाकि जानता था नहीं अतः लज्जित हो गया। तब उसकी प्रार्थना पर राजाने ही उसे आत्मज्ञान समझाया। इस घटना का संक्षेप में उल्लेख करते हैं **अपर ब्रह्म का जानकार दर्पयुक्त बालाकि किसी समय काशीनरेश अजातशत्रु को ब्रह्म के बारे में समझाने की इच्छा से राजा के पास आया।।२।। (आत्मज्ञान और शूरता के प्रभाव से जिसके भीतरी-बाहरी कोई शत्रु नहीं थे वह अजातशत्रु काशी में राजपद पर आसीन था। गर्ग-गोत्रीय वंश में उत्पन्न ब्राह्मण बालाकि परमार्थ तत्त्व का जानकार नहीं था किन्तु प्राण की उपासना में निरत था। उसे बहुत घमण्ड था अपनी विद्वत्ता का।) 'हे जिज्ञासु राजन्! तुम्हें परब्रह्म समझाता हूँ' यह कहकर गार्ग्य ने 'आदित्यगत पुरुष ब्रह्म है ऐसी उपासना करो' यह विधान किया।।३।।** शास्त्रवेत्ता और उपासक होने पर भी बालाकि में दर्प, घमण्ड था। अभिमानी को सफलता से दर्प हो जाता है जो उसे धर्म की भी अवहेलना के लिये उकसाता है। दर्प अहंकार को पुष्ट करता है अतः अहंकार से स्वयं को अलग समझने नहीं देता, अहंकार समेत अनात्ममात्र के प्रति वैराग्य नहीं आने देता।

इसी से दर्पवान् तत्त्वविद्या पाने में असमर्थ हो जाता है। भगवान् ने भी दर्प को असुरों के ही योग्य माना है। बालाकि इस दोष से परमात्म-मार्ग पर प्रगति नहीं कर पा रहा था, संसार में भले ही यशस्वी हो गया था। अजातशत्रु को न केवल अपरब्रह्म की उपासना सिद्ध थी वरन् उसने परब्रह्म को भी समझा था। अपने से महान् के सम्मुख ही दर्प को झटका लगता है। प्रायः मनुष्य उन्हीं का सामना करना चाहता है जो अपने से कनिष्ठ हों क्योंकि तब वह स्वयं को बड़ा समझता रह सकता है, उसका दर्प संतृप्त रहता है। प्रगति तब हो जब अपने से श्रेष्ठों के संमुख रहे, वे ही व्यक्ति की योग्यता पहचान कर उसकी कमी प्रकट करेंगे ताकि वह आगे बढ़े। मूल श्लोकों में कुण्डलित भाग अर्थात् 'अजातशत्रुर्ब्रह्मात्म...महतावृतः'ये दो श्लोक चौदहवें अध्याय के हैं। निर्णय सागर संस्करण में इस अध्याय में भी छापे गये हैं पर कावेल के संस्करण में यहाँ नहीं हैं अतः मुत्तुशास्त्री भी इन्हें यहाँ नहीं मानते। श्लोक २ की बात की ही उनमें पुनरुक्ति होने से इन्हें यहाँ न मानना संगत है। अजातशत्रु नाम ही बताता है कि उस राजा का कोई शत्रु नहीं था। बाह्य शत्रुओं पर विजय शूरवीर ही पा सकता है। क्षमा, मैत्री आदि से भी शत्रु को जीता तभी जाता है जब स्वयं में शूरता हो। दुर्बल मैत्री के प्रभाव से शत्रु के साथ शांति से भले ही रह जाये पर शत्रु जीता हुआ नहीं समझा जा सकता, जब भी शत्रु के स्वार्थ की हानि का प्रसंग आयेगा तब वह अपना हित प्रधान बना लेगा, मित्र को झुकने के लिये बाध्य करेगा। अतः लोक में, विशेषकर राजा को शूरता से ही बाह्य शत्रुओं पर विजय पाना अनिवार्य है। आन्तर शत्रु काम-क्रोध-लोभ हैं, इनमें भी कामना ही मुख्य है यह गीता में स्पष्ट किया है। कामना का मूल अज्ञान है अतः कामना पर पूर्ण विजय वही प्राप्त करता है जिसने अज्ञान मिटा लिया है। अजातशत्रु परब्रह्म का वेत्ता था अतः उसने आन्तर शत्रुओं को भी जीत रखा था।

बालाकि दर्पवश राजा का महत्त्व समझे बिना स्वयं उसे उद्बोधित करने को उतावला हुआ। यद्यपि मूल उपनिषत् में 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' यों ब्रह्म के बारे में बतलाने की इच्छा गार्ग्य ने व्यक्त की है तथापि क्योंकि राजा ने इससे यही समझा कि गार्ग्य परब्रह्म के बारे में बताना चाहता है और न बता सकने पर बालाकि ने भी अपनी असमर्थता स्वीकार की इसलिये विद्यारण्य स्वामी ने उसकी प्रतिज्ञा में ही 'परं' शब्द जोड़कर कहा कि 'परब्रह्म के बारे में समझाता हूँ' । निरुपपद ब्रह्म कहने पर पर-अपर दोनों का संग्रह होता है अतः दोनों बताये बिना ब्रह्म के बारे में बताना पूरा नहीं हो सकता। अत एव ब्रह्मविद्या अर्थात् उपनिषदों में दोनों का वर्णन है, ब्रह्मसूत्रों में भी दोनों की मीमांसा है। अतः यदि प्रतिज्ञा

उपास्यब्रह्म

राजा निवार्य तं प्राह फलं ध्येयगुणानपि।
एवं पञ्चदश ब्रह्माण्यप्यत्राऽसाववोचत।।४।।

के समय गार्ग्य के मन में न भी रहा हो तो भी यह उसकी अल्पज्ञता का ही द्योतक है क्योंकि इसका मतलब है कि वह परब्रह्म के बारे में इतना भी नहीं जानता कि उसे ब्रह्म कहते हैं! गार्ग्य अपर ब्रह्म को ही परब्रह्म समझे हुए था, उपास्य से परे निरुपाधिक तत्त्व है ऐसा उसे मालूम नहीं था। अतः वह स्वयं जिसे परब्रह्म मानता था उसी के बारे में बताने को उद्यत हुआ था इसलिये विद्यारण्य स्वामी ने यहाँ 'परं' विशेषण जोड़ दिया है। बालाकि ने राजा से कहा कि 'आदित्य में जो पुरुष है वह ब्रह्म है, उसकी मैं उपासना करता हूँ' स्वयं को उपासक बताने से उसका तात्पर्य था कि राजा भी ऐसी उपासना करे। आदित्यरूप उपाधि वाले चेतन की उपासना को गार्ग्य ने ब्रह्मोपासना बताया। आगे के प्रसंग से स्पष्ट होगा कि बालाकि जिस उपासना के बारे में कह रहा है उसका यह एक अंग ही है, अनेक उपाधियों वाले चेतन के रूप में वह ब्रह्मोपासना करता था। जैसे नख से शिख तक संपूर्ण देवमूर्ति का ध्यान किया जाता है वैसे विराट् शरीर का ध्यान करना पड़ता है, सभी अंगों वाले के रूप में ब्रह्म को समझकर उसकी उपासना होती है। एक-एक कदम बताने की दृष्टि से गार्ग्य ने पहले आदित्य-स्थित के रूप में उपासना करने को कहा।।२-३।।

राजा ने यह उपदेश ग्रहण करने से इनकार कर दिया क्योंकि वह स्वयं इस सारी उपासना का अनुष्ठान करता ही था। अज्ञात विषय सीखने के लिये ही गुरु किया जाता है, ज्ञात बातों के बारे में बराबरी के स्तर पर बात-चीत हो सकती है, गुरु-शिष्य के स्तर पर नहीं। आदित्यपुरुष के बारे में कहने से मना किया तो गार्ग्य ने सोचा राजा इस अंग को जानता होगा, अंगान्तर नहीं जानता होगा अतः उसने चंद्रगत पुरुष का उल्लेख किया पर राजा ने फिर मना कर दिया। यों आदित्य से बायीं आँख पर्यन्त कुल सोलह उपाधियाँ गार्ग्य ने कहीं, सब के लिये राजा ने मना कर दिया। यह प्रसंग संगृहीत करते हैं **अजातशत्रु ने आदित्यपुरुषरूप ब्रह्म के बारे में बताने के लिये गार्ग्य को मना कर दिया बल्कि अपनी तरफ से आदित्य में ध्येय गुणों का और उपासना के फल का निरूपण कर दिया। इस प्रकार आदित्य से अतिरिक्त भी पंद्रह उपाधियों में ब्रह्म का वर्णन गार्ग्य ने किया।।४।। चन्द्र, बिजली, बादल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, दिक्, गन्ता के पीछे होने वाली आवाज़**

चन्द्रे विद्युति मेघे खे वायावग्नौ जलेऽपि च।
आदर्शे श्रवणे गन्तृशब्दे छायाकृतावपि।।५।।
देहे स्वप्ने दक्षिणेऽक्षिण्यपि वामेऽब्रवीत् क्रमात्।
सर्वत्र राज्ञा प्रत्युक्तो विप्रस्तूष्णीमवस्थितः।।६।।

छायारूप आकृति, शरीर, स्वप्न, दायीं आँख और बायीं आँखइन पंद्रह उपाधियों में स्थित चेतन ब्रह्म को गार्ग्य ने उपास्य बताया किन्तु सभी के बारे में राजा द्वारा मना किये जाने पर बालाकि चुप हो गया।।५-६।। राजा ने फल और गुण इसलिये कहे कि कहीं गार्ग्य यह न समझ ले कि राजा बिना जाने ही अरुचि प्रकट कर रहा है। नासमझ की अरुचि से, जिज्ञासा न होने से, पण्डित का दर्प खंडित नहीं होता लेकिन जानकार जब उसके ज्ञान को महत्त्वपूर्ण नहीं मानता तभी उसे चोट लगती है। विद्वान् यदि दर्पवान् की बात में दोष बताये तो भी दृप्त व्यक्ति को सन्तोष होता है कि 'मेरी बात विचारने लायक समझी गयी', तथा वह अपने मत का परिष्कार खोजता है किंतु उसकी बात सुनने के काबिल भी न मानी जाये तब उसके अभिमान को ठेस पहुँचती है। चन्द्र आदि और पंद्रह उपाधियाँ गार्ग्य ने कहीं, हर एक को सुनने से राजा ने मना कर दिया। श्रुति में 'प्रतिश्रुत्कायाम्' कहा है जिसकी शंकरानंदीय व्याख्या है 'श्रुत् श्रवणं, श्रवणं प्रति अधितिष्ठति प्रतिश्रुत्का दिक्, तस्याम्' तथा राजा द्वारा कहे 'द्वितीय' और 'अनपग' गुण बृहदारण्यक में (२.१.११) दिक् के ही कहे हैं इसलिये 'प्रतिश्रुत्का' की व्याख्या में विद्यारण्य स्वामी द्वारा कहे 'श्रवण' का अर्थ दिक् करना ही उचित है। जब सब उपाधियों के बारे में राजा ने कह दिया कि 'इनके बारे में मत बताओ' तब बालाकि चुप हो गया क्योंकि इन उपाधियों वाले से अतिरिक्त ब्रह्म को वह जानता ही नहीं था।।५-६।।

तब राजा ने पूछा 'एतावन्नु बालाका३! इति' 'अरे बालाकि! क्या इतना ही जानते हो?', गार्ग्य बोला 'एतावद्धीति' 'इतना ही जानता हूँ।' राजा ने कहा 'मृषा वै किल मा समवादयिष्ठाब्रह्म ते ब्रवाणी-ति। स होवाच, यो वै बालाक! एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्य इति' 'तूने झूठ ही कहा कि मुझे ब्रह्म समझायेगा। जो इन पुरुषों का कर्ता है, यह सब जिसका कर्म है वही जानने लायक है।' 'पुरुषों का' अर्थात् 'आदित्य में पुरुष' आदि द्वारा कहे पूर्वोक्त सोपाधिक रूपों का; 'यह सब' अर्थात् प्रत्यक्षतः संनिहित सारा जगत्। 'जगद्वाचित्वात्' (१.४.१६) सूत्र में यह निर्णीत है। इस वार्तालाप का कथन करते हैं **परब्रह्म के जानकार राजा अजातशत्रु**

बालाकिरङ्गः

अजातशत्रू राजा तं परब्रह्मविदब्रवीत्।
परं ब्रह्म वदिष्यामीत्युक्तिस्तव मृषाऽभवत्।।
जगतः पुरुषाणां च कर्तृ ब्रह्मेति बुद्ध्यताम्।।७।।

ने बालाकि से कहा 'तुम्हारी बात कि 'पर ब्रह्म के बारे में बताऊँगा', झूठी हो गयी। जगत् और पुरुषों का कर्ता ब्रह्म है, उसे समझना चाहिये।।७।। ('अजात...ब्रवीत्' ये दो पाद निर्णयसागर में हैं तथा प्रवाह के अनुरूप भी हैं अतः इसे छह पादों का पद्य मान लेना ही उचित है। कावेल और मुत्तुशास्त्री इन दो पादों से रहित ही पाठ मानते हैं।) बालाकि की दृष्टि से तो उसकी बात झूठी नहीं हुई थी क्योंकि जब उसने 'ब्रह्म' कहा था तब उसका मतलब इसी से था, किन्तु तथ्य की दृष्टि से झूठी हो गयी थी। पीतल को सोना समझकर 'मैं सोना देता हूँ' यों घोषणापूर्वक पीतल देने वाला लोक में भी झूठा ही माना जाता है। बाद में पता लगने पर यदि वह शुद्ध सोना दे दे तब तो उसे झूठा नहीं, भ्रांत ही कहते हैं किंतु यदि असली सोना देने की हैसियत न हो और, चाहे भ्रम से ही, पीतल को सोना समझकर दिया हो तब वह झूठा ही कहलाता है। गार्ग्य ने परीक्षापूर्वक पता लगाये बिना कि वह जिसे जानता है वही ब्रह्म है या नहीं, ब्रह्म के बारे में बताने की घोषणा कर दी और वास्तविक ब्रह्म को बता पाया नहीं इसलिये उसकी बात झूठी साबित हुई। राजा ने अपनी ओर से संकेत दिया कि इन सोपाधिक रूपों का जो अधिष्ठान है, सब उपाधियों का भी जो अधिष्ठान है वही जानने लायक अर्थात् ब्रह्म है। 'जगत्' से सारी उपाधियाँ और 'पुरुषों' से सारे चिदाभास, जीव कहे, दोनों के प्रति अधिष्ठान एक ही सच्चिदानंद है। ब्रह्म-शब्द का मुख्य अर्थ वही है।।७।।

बालाकि का दर्प समाप्त हो गया। यह उसके चित्त की शुद्धिका चिह्न है। अशुद्धमना दृप्त व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में राजा पर ही अनर्गल लांछन लगाता, क्रोधादि का प्रदर्शन कर सभा छोड़ जाता, राजा की बात में दोषान्वेषण करता, वितण्डा खड़ा करता। गार्ग्य ने यह सब कुछ नहीं किया और राजा का विधिवत् शिष्य बनने को तैयार हो गया अतः उसका मानस पवित्र था यह स्पष्ट है। किन्तु राजा ने उसके ब्राह्मण्य का सम्मान करते हुए स्वयं गुरु बने बिना ही उसे आत्मतत्त्व समझाया। यह प्रसंग बताते हैं **परब्रह्म की विद्या पाने के लिये बालाकि राजा का विधिवत् शिष्य बनने को उद्यत हो गया किंतु अपनी जाति की अधमता का ख्याल करते हुए राजा ने उसे शिष्य रूप**

बालाकिः परविद्यार्थं राजानमुपसन्नवान् ।
राजा नाङ्गीचकारैतत् स्वजातेरधमत्वतः ।।८।।
गुरुत्वं नास्ति मे तुभ्यं ब्रह्म विज्ञापयाम्यहम् ।
इत्युक्त्वा पाणिना विप्रम् आदायान्तःपुरं गतः ।।९।।

सूत्रादात्मनो विवेकः

सूत्रात्मैव परं ब्रह्म प्राणो जीव इतीदृशः ।
बालाकेर्निश्चयस्तस्य व्यावृत्त्यै सुप्तमागतौ ।।१०।।

में स्वीकार नहीं किया।।८।। 'मैं आपका गुरु नहीं बन रहा हूँ फिर भी आपको ब्रह्मविज्ञान करा देता हूँ' यह कहकर बालाकि को हाथ से पकड़कर अंतःपुर की ओर ले चला।।९।। छांदोग्य में (५.११.७) भी अश्वपति ने औपमन्यव आदि को बिना शिष्य बनाये ही वैश्वानर विद्या सिखायी है। प्रवाहण जैवलि ने यद्यपि 'चिरं वस' (छां. ५.३.७) कहकर गौतम को पंचाग्निविद्या देने से पूर्व अपने पास रहने के लिये कहा तथापि न गौतम ने समित्पाणि होकर शिष्यत्व ग्रहण किया, न प्रवाहण ने उपनयन देकर गुरुत्व ग्रहण किया। इस प्रकार सर्वत्र इस आचार का पालन है कि हीनवर्ण वाला श्रेष्ठ वर्ण वाले का गुरु न बने। बालाकि, औपमन्यव आदि भी यह मर्यादा जानते थे किन्तु विद्या-प्राप्ति को इतना महत्त्व देते थे कि यदि राजा को गुरु बनाना पड़े तो उसके लिये भी तैयार थे अर्थात् उनकी जिज्ञासा और विनय को सूचित करने के लिये वे समित्पाणि होकर उपस्थित हुए थे। विद्या से वंचित रह जाने से बेहतर है कि हीन व्यक्ति से विद्या ग्रहण कर ली जाये। राजा ने शिष्य बनाये बिना विद्या दी इसे आत्मपुराण में 'दान' के रूप में संगत बनाया है। अन्य वस्तुओं की तरह विद्या का भी दान हो सकता है और राजा ब्राह्मण को दान दे ही सकता है अतः दान के रूप में अजातशत्रु ने बालाकि को ब्रह्मविज्ञान का उपदेश दिया। गार्ग्य की बात की ग़लती स्पष्ट दिखाने के लिये राजा उसे महल की ओर ले गया।।८-९।।

अंतःपुर के द्वार पर कोई प्रहरी गहरी नींद ले रहा था। गार्ग्य ने जिन ब्रह्मरूपों का वर्णन किया था उनका नाम लेकर राजा पुकारने लगा किंतु वह प्रहरी सोता ही रहा। फिर दण्डे से उसे उठाया तो एकदम उठ बैठा। इस प्रक्रिया से राजा ने गार्ग्य को समझाया कि जिसे वह ब्रह्म समझ रहा है वह ब्रह्म नहीं है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हैं **बालाकि का निश्चय था कि समष्टि में सूत्रात्मा कहलाने वाला और व्यष्टि में प्राण कहलाने वाला जीव ही ब्रह्म है। उसी ग़लत निश्चय को दूर करने के लिये गार्ग्य को लेकर राजा सोये व्यक्ति के पास पहुँचा।।१०।। पुरुष**

सुषुप्ते पुरुषे प्राणो न लीनश्चक्षुरादिवत्।
जीवश्चेत् प्रतिबुद्ध्येत समाहूतः स्वनामभिः।।११।।
इति मत्वाऽऽह्वयत् प्राणं शास्त्रीयैस्तस्य नामभिः।
नोत्तस्थौ स पुमान् किन्तु शिश्य एवाऽत्र पूर्ववत्।।१२।।
यष्ट्याऽसौ ताडितः सुप्तः समुत्तस्थौ त्वरान्वितः।
यथा भस्मावृतो वह्निर्वायुना ज्वाल्यते तथा।।१३।।
प्राणो नात्मा बोधहीनो घटवद् यस्तु बुध्यते।
इन्द्रियैः सहितो भोक्ता जीवोऽसौ चेतनत्वतः।।१४।।

के सो जाने पर चक्षु आदि की तरह प्राण लीन नहीं होता, वह प्राण ही यदि जीवात्मा हो तो अपने नामों से पुकारा जाने पर जग जाये।।११।। यह विचार कर प्राण के शास्त्रोक्त नामों से राजा ने उसे पुकारा किन्तु वह पुरुष जगा नहीं, पहले की तरह सोता ही रहा।।१२।। उसे लाठी से मारा तो हड़बड़ाकर उठ बैठा। भस्म से ढकी आग हवा से भड़क जाती है, इसी तरह वह व्यक्ति लाठी की मार से पूर्णतः सावचेत हो गया।।१३।। अतः यह निष्कर्ष निकला कि घट की तरह निर्बोध प्राण आत्मा नहीं है वरन् इन्द्रियों सहित जो जगता है वह भोक्ता जीवात्मा है क्योंकि वह चेतन है।।१४।। हिरण्यगर्भ अर्थात् सूक्ष्मोपाधिक को चरम तत्त्व मानकर गार्ग्य उपासना करता था, सूर्यादि स्थूलों में जो सूक्ष्मोपाधिक पुरुष है उसी को ब्रह्म मानता था। व्यष्टि में वही प्राण है। राजा उसे बताना चाहता था कि सूक्ष्मोपाधिक को ही आत्मा नहीं समझ सकते। सोये आदमी का प्राण तो चलता है, प्राण ही सूक्ष्मोपाधिक प्रधान अंश है अतः प्राण के चलते चेतना भी होनी चाहिये क्योंकि आत्मा की विशेषता चेतना ही है। राजा ने प्राण के नामों से पुकारा क्योंकि देवदत्त आदि नाम तो स्थूल-विशिष्ट के होते हैं और स्थूल आत्मा नहीं है अतः उन नामों से प्राण को पुकारना व्यर्थ होता। पुकारने पर भी न सुनने से प्रकट हुआ कि प्राण चलते हुए भी चेतन नहीं है। अतः गार्ग्य को अभिमत तत्त्व आत्मा, ब्रह्म नहीं हो सकता यह स्पष्ट हो गया। जैसे व्यष्टि प्राण वैसे समष्टि सूत्रात्मा भी ब्रह्म नहीं है। अब राजा दिखाना चाहता था कि प्राण से अन्य कोई चेतन है अतः लाठी से उस व्यक्ति को जगाया तो वह एकदम उठ बैठा। राजा ने बताया कि जो सो रहा था, वह जगा है, वही जीवात्मा है, उसी को भोक्ता कहते हैं। आगे बतायेंगे कि इसी जीव का अधिष्ठान ब्रह्म है। जो कुछ भी स्वयं ज्ञानहीन हो, जो कुछ भी ज्ञेय बने वह चाहे इहलोक की वस्तु हो या परलोक की, पार्थिव शरीर

'द्वा सुपर्णे' ति मन्त्रेण चेतनौ द्वावुदीरितौ।
तयोरन्यतरो भोक्ताऽनश्नन्नन्यः प्रकाशते।।१५।।
चिच्छायावानहङ्कारो व्याप्तो जागरणे पुमान्।
इन्द्रियैर्विषयान् भुंक्ते तं भोक्तारमबुध्यत।।१६।।

हो या दिव्य विग्रह, सभी अनात्मा ही हैं। आत्मा चेतन है, स्वयं ज्ञानरूप है, वही इंद्रियों से जुड़कर, भोक्ता बनता है, इंद्रियाँ लीन होने पर सो जाता है। जीव का चेतनरूप ब्रह्म है, उपाधिरूप ब्रह्म नहीं है। सोते समय भी जीव का चेतनरूप यथावत् है किन्तु इंद्रियाँ लीन रहने से विषय-संपर्क नहीं होता। इंद्रियों द्वारा व्यवहार करने पर ही अर्थात् जाग्रद् दशा में ही उसकी चेतना प्रकट होती है। दूसरों को भी तभी प्रकट होती है, स्वयं को भी तभी 'मैं' के रूप में अहंकार के रूप में अपनी चेतनता स्फुट होती है।।१०-४।।

भोक्ता की आत्मरूपता सप्रमाण बताते हैं **'दो पक्षी हैं' आदि मंत्र द्वारा दो चेतन कहे गये हैं, उनमें से एक है भोक्ता और दूसरा वह जो कोई भोग न करते हुए केवल प्रकाशमान रहता है।।१५।।** मुण्डकोपनिषत् समझाते हुए छठे अध्याय श्लोक ७३ आदि में इस मंत्र की चर्चा हो चुकी है। शरीररूप एक ही वृक्ष पर दो चिड़ियाँ हैं जिनमें एक तो कर्मफलरूप पीपल खाती है, दूसरी बिना खाये देखती रहती है। न खाने वाली चिड़िया ही साक्षी, ईश्वर है, खाने वाली चिड़िया ही जीव है। उपाधि से एकमेक हुआ चेतन जीव है, वही कर्ता-भोक्ता है। उपाधि से स्वतंत्र उसका साक्षी ही ईश्वर है। ईश्वर अपरिच्छिन्न ज्ञानरूप है, जीव परिच्छिन्न से तादात्म्यापन्न है अतः जीवका ज्ञान भी सीमित रहता है। इसलिये जो भोक्ता है वही चेतन माना जा सकता है, प्राण क्योंकि भोग नहीं करता इसलिये चेतन नहीं माना जा सकता। अभी बालाकि को इतना ही समझा रहे हैं कि प्राण (सूत्रात्मा) आत्मा ही नहीं तो उसे ब्रह्म कैसे समझा जाये? भोक्ता को आत्मा बताना अभिप्रेत नहीं, प्राण को अनात्मा बताना अभिप्रेत है।।१५।।

उक्त दो चेतनों में से अब गार्ग्य ने कौन-सा चेतन बुद्धिगत किया यह बताते हैं **चेतन की छाया वाला अहंकाररूप पुरुष जो जाग्रदवस्था में सारे शरीर में व्याप्त रहता है और इन्द्रियों से विषयों को भोगता है उस भोक्ता चेतन को गार्ग्य ने अब समझा।।१६।।** निर्णयसागर में बोद्धारमबुध्यत पाठ है अर्थात् सोकर जो जगता है उस पुरुष को समझा। यह पाठ उचित ही है क्योंकि जगाकर ही राजा ने समझाया था, किन्तु मुत्तुशास्त्री और कावेल दोनों 'भोक्तारम्' पाठ मानते हैं और अगले श्लोक में सभी 'भोक्तृबोधेन' पढ़ते हैं अतः यहाँ 'भोक्तारम्' मानना बेहतर है।) चेतन

प्राणात्मवाद्यसौ भोक्तृबोधेनैवाऽतिविस्मितः।
बुद्धं ब्रह्मेति सन्तुष्टो नान्यत् प्रष्टुमपेक्षत।।१७।।

सुषुप्तस्थानम्

ज्ञापयिष्येऽहमित्येवं राज्ञा तस्मै प्रतिश्रुतम्।
शिष्टं बोधयितुं तस्मात् स्वयं प्रश्नांश्चकार सः।।१८।।
मन्दधीरपि यः श्रोता श्रद्धालुर्विनयान्वितः।
अपृष्टेनाऽपि वक्तव्या तस्मै विद्येति शास्त्रगीः।।१९।।

नित्य ही प्रकाशरूप है, सोना-जगना अहंकार उपाधि वाले का ही होता है। चेतन की छाया वाला अर्थात् जिससे चेतन तादात्म्यापन्न है वह अहंकार जगता है, शरीर को व्याप्त कर लेता है अर्थात् पूरे शरीर में फैल जाता है, सारा शरीर हमें 'मैं' लगता है। स्थूल-शरीर में 'मैं' का भान प्रकट होना ही जगना कहा जाता है। वही अहंकार-पुरुष इन्द्रियों का प्रयोग कर विषय-भोग करता है। इस प्रकार फल खाने वाली चिड़िया के स्थानापन्न जीवात्मा को गार्ग्य ने अब तक समझा, सोये पुरुष को उठता देखकर यही उसे पता चला कि प्राण आत्मा नहीं वरन् भोक्ता, जो जगता है वह आत्मा है।।१६।।

किंतु राजा जीव नहीं ब्रह्म समझाने को उद्यत हुआ था इसलिये गार्ग्य द्वारा कुछ न पूछा जाने पर भी स्वयं उसे उद्वेलित करने लगा यह बताते हैं **प्राण को आत्मा मानने वाला वह गार्ग्य भोक्ता-आत्मा को समझने से ही अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गया, उसे लगा 'ब्रह्म समझ लिया' अतः सन्तोष पाकर उसने और कुछ पूछने की ज़रूरत नहीं समझी।।१७।। किन्तु अजातशत्रु ने उसे वचन दिया था कि 'मैं तुम्हें ब्रह्म का ज्ञान कराऊँगा' इसलिये बचा हुआ जो न खाने वाला साक्षिरूप आत्मा, उसे समझाने के लिये राजा ने अपनी ओर से प्रश्न उठाये।।१८।। श्रद्धालु और विनयी श्रोता कम समझदार भी हो तो न पूछे जाने पर भी गुरु उसे विद्या का उपदेश दे ऐसा शास्त्रों में घोषित है।।१९।।** बालाकि को अचंभा हुआ क्योंकि यह बात काफी स्पष्ट-सी है कि प्राण चेतन नहीं है फिर भी इतने समय से वह उसी को ब्रह्म समझे था। अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं जब समझदार लोग भी स्पष्ट बातों में भ्रान्त रह जाते हैं, फिर जब उन्हें सत्य का पता चलता है तब स्वयं को आश्चर्य होता है कि इतनी-सी बात पहले क्यों ध्यान में नहीं आयी! इतना ही नहीं, सोची-समझी बात से विपरीत तथ्य सामने आये तो सबको आश्चर्य होता है। नींबू का बीज बोकर दो-तीन साल में फल मिलता है यह सबको जँचा हुआ है। कोई बाजीगर

बीज डालकर तत्काल डुगडुगी बजते-बजते पेड़ और उस पर फल दिखा देता है तब आश्चर्य होता है। जिसे स्वाभाविक समझते हैं वह हमें चकित नहीं करता। एक मेले में एक व्यक्ति एक आने का टिकट बेचकर लोगों को सुअर की बोली सुनाता था। हू-ब-हू सुअर की आवाज़ निकाल लेता था तो सुनने वाले प्रसन्न हो जाते थे, उसके तंबू पर भीड़ रहती थी। किसी व्यक्ति ने उसी तरह पैसा कमाने की सोची। उसने पास ही सूचना टाँग दी कि 'एक पैसे के टिकट में यहाँ सुअर की बोली सुनाई जाती है।' स्वाभाविक था कि एक आने के बजाये एक पैसे में सुनना सब चाहें अतः उसके तंबू में भीड़ हो गयी। तंबू भर गया तो उस व्यक्ति ने वहाँ एक सुअर लाकर उसे ज़ोर से दण्डा मारा, वह सुअर ज़ोर-ज़ोर से आवाज़ करने लगा! किन्तु लोग सब चिल्लाए 'ठग है, ठग है!' उस व्यक्ति ने कहा 'ठग तो वह है जो नकली आवाज़ सुनाकर ज़्यादा पैसा भी लेता है, मैं तो कम पैसे में असली आवाज़ सुना रहा हूँ, मैं ठग कैसे?' किंतु सुअर के मुँह से सुअर की आवाज़ सुनने से न कोई आश्चर्य होता है न उसके लिये कोई धन खर्चेगा, आदमी के मुँह से सुअर की आवाज़ सुनकर आश्चर्य भी होता है और लोग एक आना खर्च भी सकते हैं। जिसे स्वाभाविक मानते हैं वह विस्मय नहीं कराता भले ही विचार करें तो वह भी होता एक आश्चर्य ही है। गार्ग्य ने दीर्घकाल तक अभ्यास से प्राण को आत्मा माना था, वही उसके लिये स्वाभाविक हो गया था अतः जब राजा ने स्पष्ट प्रदर्शित कर दिया कि प्राण नहीं भोक्ता आत्मा है तो गार्ग्य को आश्चर्य हुआ। वह पहले जिस प्राण को ब्रह्म माने हुए था उससे यह सूक्ष्म तत्त्व है अतः बालाकि को लगा कि अवश्य यही ब्रह्म है। दार्शनिकों में सांख्यवादी भोक्ता को वास्तविक आत्मा मानते ही हैं। क्योंकि वह भोक्ता के ज्ञान को ही परब्रह्म का ज्ञान मान बैठा इसलिये संतुष्ट हो गया, इस भोक्ता के बारे में उसे अब तक मालूम नहीं था, राजा से पता चल गया तो उसे संतोष हुआ। आश्चर्य व सन्तोष इन दोनों भावों के चलते वह इस पर कुछ विचार नहीं कर पाया, इस भोक्ता की ब्रह्मरूपता की असंगति की ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी।

जब बालाकि ने राजा द्वारा प्रदर्शित भोक्ता आत्मा को जानकर आगे कोई जिज्ञासा नहीं कि तब राजा समझ गया कि गार्ग्य भोक्ता के स्तर से आगे स्वयं नहीं बढ़ पायेगा। अतः उसके बारे में सोचने के लिये बाध्य करने के लिये राजा ने ही प्रश्न उठाये। राजा की प्रतिज्ञा थी कि 'ब्रह्मज्ञान कराऊँगा' इसलिये शिष्य शिथिल पड़े तो भी उसे चरम तत्त्व समझाना ही था। दो पक्षी रूप दो आत्माओं में से भोक्तारूप एक आत्मा ही अभी

योभोक्ताऽत्रोत्थितः सोऽयं क्वाऽशयिष्ट पुरा क्व वा।
अभूद्धीरहिता सुप्तिः कुतो वाऽऽगादयं पुमान्।।२०।।

तक बताया था, साक्षिरूप दूसरा आत्मा बाकी रह गया था, उस ओर दृष्टि ले जाने के लिये राजा ने प्रश्न किये। यद्यपि मनु आदि का निर्देश है कि जब कोई पूछे तभी उसे विद्या के बारे में बताना चाहिये तथापि श्रद्धालु शिष्य उसका अपवाद है। अपनी जाति का अभिमान भी छोड़ कर विद्या लेने को तत्पर हो गया, इसी से गार्ग्य का विनय और श्रद्धा स्पष्ट हैं। ऐसा शिष्य, सीखने के लिये आया व्यक्ति, अपनी प्रज्ञामंदता के कारण तत्त्व के बारे में न पूछ पाये तो भी गुरु उसे रहस्य का उपदेश अवश्य दे यह सिद्धान्त है। यदि तीक्ष्णमति होता तो गार्ग्य प्राण की अनात्मता स्वयं ही समझ गया होता! जब प्राण को ही वह ब्रह्म माने बैठा था तब भोक्ता की अब्रह्मता उसे प्राप्त होगी यह आशा ही नहीं की जा सकती। यदि गुरु उसे अपनी ओर से न बताये तो वह उसी स्थिति में अटका रहेगा यह निश्चित है। इसलिये शास्त्र ने ही बताया है कि श्रद्धादि से संपन्न होकर जो सीखने आ गया वह आगे और प्रश्न करे या न करे, गुरु उसे अंतिम सीमा तक सिखाये ही। (श्लोक १६ में निर्णयसागर और कावेल का **शास्त्रधीः** पाठ है अर्थात् शास्त्र का ऐसा निश्चय है। मुत्तुशास्त्री का 'शास्त्रगीः' पाठ है अर्थात् शास्त्र का ऐसा वचन है।) इसीलिए पूर्व में सनत्कुमार ने नारद को बिना पूछे ही प्राण से आगे का उपदेश दिया था, ऋभु-निदाघ के प्रसंग में भी यही बात प्रकट हुई है। योगवासिष्ठ में (निर्वाण. पूर्व. ६६. ३) कहा है 'बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा हि साधवः।' इस तरह मनु आदि का कथन साधारण श्रोता के बारे में है और श्रद्धालु शिष्य के लिये बलात् बोधन के वचन हैं।।१७-६।।

राजा ने पूछा 'क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट, क्वैतदभूत्, कुत एतदागाद्? इति' (४.१८) अर्थात् यह पुरुष कहाँ सो रहा था, इसका सोना कहाँ हो रहा था, जगने पर यह कहाँ से आया? ये प्रश्न बताते हैं **अभी जो भोक्ता इस शरीर में जगा है यह पहले किस अधिष्ठान में सोया था? चेतनाहीन सोना किस अधिकरण में था? यह पुरुष कहाँ से आया? ।।२०।।** प्रथम प्रश्न सोने वाले की दृष्टि से और द्वितीय प्रश्न तटस्थ की दृष्टि से है ऐसा श्लोक ३३-४ में बतायेंगे। शंकरानंददीपिका में 'एकः प्रश्नः पुरुषविषयेऽपरोऽवस्थाविषये' ऐसा बताया है। आत्मपुराण मेंसोने वाले का स्वरूप, सोने का स्वरूप, सोने वाले और सोने का आधार और सोकर आने का अपादानये पूछे गये हैं ऐसा समझाया है। वार्तिककार ने स्पष्ट किया है कि पुरुष जहाँ

बालाकिना न विज्ञातम् इदं सर्वमिति स्वयम् ।
निश्चित्य त्रितयस्याऽस्य निर्णयं स्पष्टमब्रवीत् ।।२१।।

सो रहा था वह स्वयं पुरुष से अलग है या नहीं?यह राजा पूछ रहा है। अलग नहीं है अतः सोना-जगना भ्रम से ही हैयह आगे समझायेंगे। जाग्रत् स्वप्न में उपाधियाँ कार्यकारी रहते उनमें प्रतिबिम्बित होकर आत्मा 'आ' जाता है, सुषुप्ति में उपाधियाँ न रहने पर पुनः अपने बिम्बभाव में 'चला' जाता है, इससे अतिरिक्त आत्मा का जाना-आना नहीं है। सुषुप्ति में इन उपाधियों से रहित होकर वह सोता है तथा उपाधियाँ प्रकट होने पर प्रतिबिम्बभाव से जग जाता है। भगवान् भाष्यकार ने बालाक्यधिकरण में (१.४.५.१८) कहा है 'सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति, परस्माच्च ब्रह्मणः प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा। तस्माद् यत्र अस्य जीवस्य निःसम्बोधता-स्वच्छतारूपः स्वाप उपाधिजनित विशेषविज्ञानरहितं स्वरूपं, यतस्तद्भ्रंशरूपम् आगमनं, सोऽत्र परमात्मा वेदितव्यतया श्रावितः।' उपाधिरहित आत्मस्वरूप बताने के लिये प्रश्न है, यह सार है। जब राजा ने ये प्रश्न पूछे कि सुषुप्ति-अवस्थावान् कहाँ था, सुषुप्ति-अवस्था (या सोने की क्रिया) कहाँ थी और जगने पर कहाँ से आया? तब बालाकि सोच में पड़ गया।।२०।।

शिष्य में जिज्ञासा उठाकर ही नहीं छोड़ना चाहिये, वह यदि स्वयं न पा सके तो गुरु उत्तर भी दे यह शिक्षा देते हुए राजा ने समझाया यह कहते हैं **बालाकि को चुप देखकर राजा ने खुद समझ लिया कि उसे यह सब मालूम नहीं है अतः इन तीनों प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर उसने खुद ही बताया।।२१।।** (निर्णयसागर और मुत्तुशास्त्री दोनों का 'अविज्ञातं' पाठ है जिसमें संधिदोष रहता है अतः कावेल का 'न विज्ञातं' पाठ ही ठीक है।)

शिष्य का मुख, हाव-भाव आदि बता देता है कि वह समझा या नहीं, गुरु को चाहिये कि उसी से पता लगाकर समझाता जाये। सोना-जगना अर्थात् अवस्थात्रय के विचार से आत्मा की समझ प्राप्त होती है यह उपनिषदों में अनेक जगह बताया है। सोना दो तरह का हैसपने देखना और 'घोड़े बेचकर' अर्थात् गहरी नींद में सोना। उपनिषत् इंद्रियों को घोड़ा बताती है, अंतर्बाह्य सब इंद्रियाँ लीन होने से सुषुप्ति को 'घोड़े बेचकर सोना' कहते हैं। स्वप्न में मन से व्यवहार होता है। जाग्रत् में मन इंद्रियों और शरीर से बाह्य विषयों का व्यवहार होता है। जाग्रत् स्वप्न से इसीलिये अलग है कि जाग्रत् में बाह्य विषयों से संपर्क है जबकि स्वप्न में ऐसा नहीं है। प्रकृत विचार में स्वप्न-

हृदयं कमलाकारं देहमध्येऽस्त्यधोमुखम्।
नाड्यस्तस्माद् विनिर्गम्य व्याप्नुवन्त्यखिलं वपुः।।२२।।
अहङ्कारोपाधिरात्मा जीवो भूत्वा हृदि स्थितः।
नाडीभिः प्रसृतः सोऽक्षैर्जानन् जागरणे स्थितः।।२३।।

सुषुप्ति को एक शयन में इकट्ठा कर 'सोते समय' और 'सोकर उठना' इन दो स्थितियों के आधार पर आत्मवस्तु समझा रहे हैं।।२१।।

भोक्ता जीव सुषुप्ति में हृदय-गुफा में घुसकर परमात्मा में लीन रहता है यह राजा के प्रथम प्रश्न का उत्तर है। इसे समझाने के लिये राजा अवस्थाओं का स्वरूप बताता है **शरीर के मध्य में नीचे की ओर मुँह किये हुए कमल के आकार का हृदय है। उसमें से निकल कर नाडियाँ सारे शरीर में फैली हैं।।२२।। जाग्रदवस्था में आत्मा अहंकार उपाधि वाला जीव बनकर हृदय में रहता है एवं नाडियों द्वारा फैलकर वही इन्द्रियों द्वारा विषयों को जानता रहता है।।२३।।** नाभि से एक बित्ता ऊपर नाडियों का मूल यहाँ हृदय है न कि खून का संचार कराने वाला यंत्र। 'लिफ्ट' तेज़ी से ऊपर को चढे तो जिस स्थान पर हल्का-सा झटका लगता है वही हृदय का स्थान है। वहीं जीव को 'मैं' भान प्रधान होता है। वह हृदय मुकुलित कमल के आकार का है, मानो शाम के समय का बंद पंखुड़ियों वाला कमल नीचे की ओर मुँह किये हो। देह का मध्यम भाग धड़ को देह मानकर कहते हैं, सिर और टाँगे छोड़कर जो धड़ है उसका यही मध्य है। अथवा देह के भीतर है इतना ही बताने के लिये उसे मध्य में कहते हैं। इस हृदय से निकल कर नाड़ियाँ सर्वत्र व्याप्त हैं। इन्हीं का उपयोग कर आत्मा जाग्रत् में शरीर को व्याप्त करता है। जाग्रत् में आत्मा अहंकार की उपाधि ग्रहण करता है और अन्तःकरण के द्वारा इंद्रियों पर, शरीर पर अधिकार कर लेता है। वस्तु एक रहने पर भी उपाधिकृत भेद से व्यवहारभेद हो जाता है। कोरिया-सोवियत संघ के विवाद के समय संयुक्त राष्ट्र-संघ में ग्रोम्योको रूस का प्रतिनिधि भी था और सुरक्षा परिषत् में अध्यक्ष होने की भी उसी की पारी थी। उसमें एक-एक महीने के लिये क्रमशः अध्यक्ष बनते हैं। रूस नहीं चाहता था कि परिषत् में कोरिया-विवाद पर कोई चर्चा हो। परिषत् में अध्यक्ष की अनुमति से ही प्रतिनिधि कुछ कह सकते हैं। ग्रोम्योको कुछ देर अध्यक्ष के नाते बोलता था फिर रूस के प्रतिनिधि के नाते बोलता था, पुनः अध्यक्ष के नाते बोलने लगता था! इस प्रकार बैठक के संपूर्ण समय एक महीने तक वही बोलता रहा तथा चर्चा नहीं होने दी। यद्यपि आदमी एक ही था तथापि अध्यक्ष और

बाह्यभोगप्रदं कर्म यदा क्षीणं तदा पुनः।
वासनाभोगदे कर्मण्युद्बुद्धे स्वप्नभाग्भवेत्।।२४।।

प्रतिनिधि इन दो उपाधियों के सहारे दो व्यक्तियों का व्यवहार हो गया। इसी प्रकार आत्मा एक ही है, अहंकार की उपाधि से जीव का और माया की उपाधि से ईश्वर का कार्य कर लेता है। जीव-ईश्वर का भेद उपाधि से ही है, वास्तव में परमात्मा एक ही है। अहंकार-उपाधि लेकर जीव बना आत्मा हृदय में मौजूद होता है। हृदय से नाडियों द्वारा अन्तःकरण सारे शरीर में फैलता है, जहाँ इंद्रियाँ हैं वहाँ भी पहुँच जाता है और अंतःकरण उपाधि वाला हुआ जीव भी सारे देह में उपस्थित हो जाता है। अहंकार अंतःकरण की वृत्ति है, अहंकार से एक होकर जीव सारे अंतःकरण पर अधिकार कर लेता है और अंतःकरण से सम्बद्ध इंद्रिय देह आदि पर भी अधिकार कर लेता है। आत्मा का सीधा संपर्क अहंकार से, फिर तद्द्वारा अंतःकरण से, तद्द्वारा देहेंद्रियादि से यह व्यवस्था है। शरीर से बाहर अहंकार नहीं जाता इसलिये बाहर गये अंतःकरणांश और उससे संबद्ध घटादि में जीव को 'मैं' बुद्धि भी नहीं होती, देह में अहंकार व्याप्त रहता है तो इस तक 'मैं' बुद्धि होती ही है। इंद्रियों पर अधिकार कर जीव उनसे बाह्य व्यवहार करता है, बाहर की चीज़ें जानता है और कर्मेन्द्रियों द्वारा उनमें हेर-फेर करता है। इंद्रियों द्वारा बाह्य विषयों से व्यवहार वाली अवस्था को जाग्रत् कहते हैं। जब राजा ने दण्डा मारकर सोये व्यक्ति को जगाया था तब यही हुआ था, सोते समय वह इंद्रियों से बाह्य विषय नहीं जान रहा था, जगते ही बाह्य विषयों से इंद्रियों द्वारा उसका संपर्क हो गया।।२२-३।।

स्वप्नावस्था बताते हैं **जब बाहरी भोग देने वाले कर्म फलोन्मुख नहीं होते और वासनात्मक भोग देने वाले कर्म फलदान के लिये प्रवृत्त होते हैं तब जीव स्वप्नावस्था का उपभोग करता है।।२४।।** बाह्य अर्थात् जो केवल हमारे मन की कल्पना नहीं है ऐसे विषयों का भोग तब होता है जब तदनुकूल कर्म फलप्रद हों। कर्म तदनुकूल न हो तो विषय मौज़ूद होकर भी जीव का भोग्य नहीं बन पाता। कर्मफलदाता परमेश्वर कर्मानुसार विषय देकर उसका भोग कराता है। जब स्थूल भोगों के लायक कर्म कुछ समय तक फलोन्मुख न हों और भ्रमसिद्ध भोग देने वाले कर्म कार्यकारी हो जायें तब सपना आता है। वासना अर्थात् संस्कार से कल्पित विषयों का भोग सपने में होता है। केवल सपने में ही नहीं, जाग्रत्काल में भी ऐसा हो जाता हैअनिष्ट की कल्पना से व्यक्ति अत्यंत भय-भीत हो जाता है जबकि बाह्य कोई अनिष्ट है नहीं जैसे बच्चे को विद्यालय से लौटने में देर हो जाये तो कई बार आशंका होती है 'कहीं टक्कर न लगी

स्वप्नं नाडीष्ववेक्ष्याऽथ कर्मणोऽस्याऽपि संक्षयात्।
हृदि सङ्कोचमाप्नोति सा सुषुप्तिरितीर्यते।।२५।।
नाडीमूलानि ह्यत्पद्मे पुरीतद्वेष्टितेऽवसन्।
यानि तेषु प्रविश्यान्तर्लीयते परमात्मनि।।२६।।

हो, कोई अगुआ न कर ले गया हो, कहीं भाग न गया हो' आदिइसलिये उतने अंश में उसे स्वप्न कह सकते हैं किन्तु अन्य बाह्य विषयों का भोग होता रहता है इसलिये अवस्था तो जाग्रत् कहलाती है। स्वप्नावस्था में केवल भ्रमात्मक विषयों का भोग होता है, किसी बाह्य विषयका नहीं। स्वप्न में भी सुखःदुःख होते ही हैं और वे भी कर्म के ही फल हैं।।२४।।

सुषुप्ति बताते हैं **नाडियों में स्वप्न देख लेने पर जब वह कर्म भी फलोन्मुख नहीं रह जाता तब जीव केवल हृदय में संकुचित रह जाता है, वह अवस्था सुषुप्ति कही जाती है।।२५।। तब पुरीतत् नामक वेष्टन से लिपटे हृदय कमल में जो नाडियों के मूल (श्लोक २२ में बताये) थे उनमें से हृदय में घुसकर परमात्मा में जीव लीन हो जाता है।।२६।।** (निर्णयसागर व मुत्तुशास्त्री 'स्वप्ननाडीषु' पढ़ते हैं किन्तु कावेल का 'स्वप्नं नाडीषु' पाठ बेहतर है।) बाह्य भोगों की दशा की तरह स्वप्न-भोग भी तभी होता है जब जीव नाडियों में संचार करे किंतु इन्द्रियाँ काम में न ले, उनके द्वारा चित्त को बाहर न भेजे। जब स्वप्नोचित प्रारब्ध क्षीण हो जाता है, जाग्रत्-प्रदान करने वाला प्रारब्ध कार्यकारी होता नहीं तब सुषुप्ति, गहरी नींद आती है। कर्मफल भोगने के लिये ही जीव नाडियों में जाता है, जब भोगने लायक कर्म नहीं रहते तब हृदय में ही रुका रहता है। नाड़ियाँ हृदय से निकली हैं अतः उनका मूलद्वार हृदय में खुलता है, उसी द्वार से जीव नाडी में घुसा था जाग्रत्-स्वप्न भोगने के लिये, जब जाग्रत्-स्वप्न समाप्त हो जाते हैं तब पुनः हृदय में पहुँचने के लिये उसी द्वार से गुजरना पड़ता है। पुरीतत् एक चर्ममय वेष्टन बताया गया है। वार्तिककार इस प्रसंग में पुरीतत् से सारा शरीर उपलक्षित मानते हैं (बृ.वा.५.१.३२८) अर्थात् शरीर के भीतर ही हृदय में जीव सोता है। उस अवस्था में अंतःकरण भी लीन हो जाता है, अहंकार नहीं रह जाता इसलिये चिदाभास नहीं पड़ता, चित् का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता तो केवल चिद्रूप परमात्मा रह जाता है अतः कहा कि जीव (अर्थात् आभास) परमात्मा में लीन हो जाता है। दर्पण टूट जाने पर प्रतिबिंब जैसे बिंब में लीन होता है या घड़ा फूट जाने पर घटाकाश जैसे आकाश में लीन होता है वैसे अहंकार के विलय से जीव परमात्मा में लीन हो जाता है।

जीवलयः परमात्मनि

परमात्मा स्वतः पूर्णः सच्चिदानन्दलक्षणः।
सोऽहङ्कारपरिच्छिन्नो जीवत्वारोपवान् भवेत्।।२७।।
अज्ञानकार्योऽहङ्कारोऽवस्थितः फलभुक्तये।
फलदे कर्मणि क्षीणे लीयतेऽसौ स्वकारणे।।२८।।
पूर्णेनैक्यमवाप्नोति परिच्छिन्नो यथा घटे।
नष्टे घटाकाश ऐक्यं वियता महता व्रजेत्।।२९।।

किन्तु क्योंकि यह विलय अज्ञान से है इसलिये इसका पूरा लाभ नहीं मिलता, इतना ही होता है कि कुछ देर के लिये निर्दुःख आनंद हो जाता है, शरीर-मन की थकान मिट जाती है, कार्यकरण-संघात में स्फूर्ति आ जाती है। किसी के खेत में पुरखों द्वारा गाड़ा गया असीम धन हो पर खेतिहर को मालूम न हो तो जैसे वह उस धन का उपयोग नहीं कर पाता है वैसे मालूम न होने के कारण ही अपनी परमात्मरूपता का उपयोग नहीं कर पा रहे। हृदय में घुसकर रोज़ परमात्मा से एक होते हैं किन्तु अज्ञान से वैसा होता है अतः बंधन बना ही रहता है, यही कार्य ज्ञान से हो जाये तो मोक्ष है। इस प्रकार 'कहाँ सो रहा था?'इस प्रश्न का समाधान बता दिया कि परमात्मा-रूप अधिष्ठान में सो रहा था।।२५-६।।

सुषुप्ति में क्योंकि जीव की उपाधि नहीं रह जाती इसलिये उसका परमात्मा में लय उपपन्न करते हैं **सत्-चिद्-आनंद ही जिसका लक्षण है वह परमात्मा स्वभाव से पूर्ण है। अहंकार से सीमित हो जाने पर उसी परमात्मा पर जीवभाव का अध्यास होता है।।२७।। कर्मफल का भोग हो सके इसीलिये अज्ञान का कार्य अहंकार प्रकट होता है अतः फलोन्मुख कर्म न रह जाने पर अहंकार अपने कारण अज्ञान में लीन हो जाता है।।२८।। जैसे घट फूट जाने पर घटाकाश महाकाश से एक हो जाता है वैसे अहंकार लीन हो जाने पर परिच्छिन्न जीव पूर्ण परमात्मा से एक हो जाता है।।२९।।** परमात्मा का प्रसिद्ध स्वरूपलक्षण सच्चिदानंद है। वह स्वरूप से ही अनन्त है, पूर्ण है। जड वस्तुओं में उसका सद्रूप व्याप्त है और जीवों में चिद्रूप व्याप्त है। जैसे जल भरना आदि व्यवहार घटपरिच्छिन्न आकाश में ही होता है ऐसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व का व्यवहार अहंकार-परिच्छिन्न आत्मा में ही होता है। जीवत्व अर्थात् कर्तृत्वादि का अध्यास आत्मा के उसी रूप पर होता है जो अहंकार से परिसीमित है। वास्तव में पूर्ण होने से इस परिच्छिन्नता का आत्मा पर

प्रभाव नहीं होता। घड़े में तो दुर्गंध रह सकती है, घटाकाश में वह केवल प्रतीत होती है, घड़ा एक जगह से दूसरी जगह ले जायें तो पीछे छूटे आकाश में कोई गंध नहीं रह जाती या पानी भरा घड़ा इधर से उधर ले जायें तो आकाश गीला नहीं होता। इसी तरह काम क्रोधादि अंतःकरण में तो रहते हैं पर आत्मा में केवल प्रतीत होते हैं, उसमें रहते नहीं, उसे किसी भी तरह प्रभावित नहीं करते। आत्मा को परिच्छिन्न, सीमित, अपूर्ण प्रतीत कराने वाला अहंकार अज्ञान का कार्य है, महाभूतादि क्रम से अंतःकरण, तब उसकी वृत्ति अहंकार बनता है, मूल कारण अज्ञान ही है। अहंकार की ज़रूरत है कर्म करने और फल भोगने के लिये। जब तक कोई भी कर्मफल भोगने के लिये बचा है तब तक अहंकार अवश्य सामने आता रहेगा। सुषुप्ति आदि में कुछ देर के लिये भले ही छिप जाये पर जैसे ही कर्म फलोन्मुख होगा वैसे ही अहंकार प्रकट हो जायेगा, सर्वथा वह तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक कर्म बचे हैं। सुषुप्ति उतनी देर रहती है जितनी देर कोई कर्म फल नहीं देता इसलिये तब अहंकार की आवश्यकता न होने से वह अपने कारणभूत अज्ञान में लीन हो जाता है अर्थात् छिप जाता है, तब अज्ञान ही रह जाता है, अहंकार की कोई प्रतीति नहीं बचती। पुनः प्रकट होता है इसीलिये सर्वथा नष्ट न मानकर छिपा हुआ मानना पड़ता है। अहंकार के कारण ही आत्मा परिच्छिन्न, अपूर्ण हुआ था, जब अहंकार नहीं रह गया तब उसकी स्वाभाविक पूर्णता यथावत् रह जाती है। अतः सुषुप्ति में जीव का परमात्मा में लय कहना संगत है।।२७-६।।

राजा ने कहा 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति अथ अस्मिन् प्राण एवैकधा भवति, तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति..' इत्यादि (४.१६) अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न से हटकर जब सोता है तब प्राण में एक प्रकार का होकर रह जाता है, सभी इंद्रियाँ और उनके विषय प्राण में ही लीन हो जाते हैं। जीव का 'प्राण' में एक प्रकार का होना अर्थात् प्राणोपाधिक, क्रियाशक्त्युपाधिक आनंदात्मा से एक हो जाना। घड़े में पानी की तरह परमात्मा में जीव नहीं रहता वरन् कमरे के आकाश में घड़े के आकाश की तरह रहता है अतः घड़ा फूटने पर जैसे घटाकाश कमरे के आकाश 'में' लीन हो जाता है वैसे अहंकार न रहने पर जीव परमात्मा में लीन होता है। क्योंकि अविद्या मिटी नहीं है इसलिये परमात्मा सोपाधिक ही है अतः उसे प्राण शब्द से कहा। वैसे, स्थूल शरीर के रक्षण में नियुक्त प्राण चलता ही रहता है, वह तो लीन हुआ नहीं अतः उसे तब भी आत्मा की उपाधि कहना उचित ही है। विषयों समेत इंद्रियाँ भी प्राण में लीन होती हैं पर वे

सविषयेन्द्रियाणां प्राणे लयः

यदा न कञ्चन स्वप्नं पश्येत् सुप्तस्तदाऽखिलम्।
विषयेन्द्रियजातं यत् तत् प्राणे प्रविलीयते।।३०।।
प्राणशब्दो वायुमाह परमात्मानमप्यसौ।
प्रकृष्टचेष्टाहेतुत्वम् उभयत्राऽपि विद्यते।।३१।।

उपाध्यंश में ही लीन होती हैं, उपधेयांश में नहीं। इस तरह यहाँ प्राण शब्द परमात्मा और उपाधि दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। इस विषय को स्पष्ट करते हैं **सोया व्यक्ति जब कोई स्वप्न भी नहीं देखता तब सारा विषय-इन्द्रियों का समूह प्राण में लीन हो जाता है।।३०।। प्राण-शब्द वायु और परमात्मा दोनों का बोधक है। (प्र-) खास (अन) चेष्टा का हेतु होनायह विशेषता वायु और परमात्मा दोनों में है।।३१।।** सुषुप्ति दशा में जीव तो परमात्मा से एक हो जाता है, उपाधियाँ प्राण अर्थात् क्रियाशक्ति वाले अज्ञान में लीन हो जाती हैं। इंद्रियों के साथ उनके विषय भी लीन हो जाते हैं क्योंकि पूर्वाध्याय में भूतमात्रा अर्थात् विषयों को प्रज्ञामात्रा अर्थात् इंद्रियों में प्रतिष्ठित कह चुके हैं तथा जिसमें प्रतिष्ठित है वह लीन हो जाये तो जो प्रतिष्ठित है उसे लीन होना ही पड़ता है। सीधे शब्दों मेंसुषुप्ति दशा के बारे में पूछा जाये कि विषय-इंद्रियाँ तब कहाँ चले जाते हैं? तो यही उत्तर देना होगा 'पता नहीं,' अर्थात् अज्ञान में ही लीन होते हैं। उस समय प्राण चलता रहता है इसलिये इसके उल्लेख से अज्ञान का परिचय करा दिया। घड़े के नाम-रूप की प्रतीति बंद होने के बाद चूर्णाकार मिट्टी की प्रतीति रहती है तब कहते हैं कि घड़ा इस मिट्टी में लीन हो गया अर्थात् जो बच गया उसी में लीन होना बताया जाता है। क्योंकि एक प्राण ही बचा रहता है इसलिये उसी में बाकी सबका लय कहना संगत है। तात्पर्य तो अज्ञान में लय बताने में है। 'क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट?' इसमें स्पष्ट ही पूछा था कि पुरुष कहाँ सोया था अतः जीव के शयनाधार का प्रश्न है। 'क्व वा एतदभूत्?' से प्रकटार्थकार ने 'क्व वा एतच्चक्षुरादिकं स्थितम्' अर्थात् उस समय चक्षु आदि कहाँ रहते हैंयह प्रश्न सूचित माना है। तदनुसार विद्यारण्यस्वामी बता रहे हैं कि चक्षु आदि का लय प्राण में कहा है। जीव और इंद्रियाँ दोनों का प्राण में लय कहा जबकि जड-चेतन का एक में लय संभव नहीं इसलिये प्राण-शब्द के दो अर्थ कर दियेवायु और परमात्मा। इंद्रियलय बताते समय वायु-अर्थ है, जीवलय बताते समय परमात्मा अर्थ है। आत्मा को किसी उपाधि के सहारे ही बताना पड़ता है अतः यहाँ प्राण उपाधि के सहारे ही उसे कह दिया। प्राण से वायुमात्र नहीं कही

वायौ श्वासक्रिया सर्वसृष्टिस्तु परमात्मनि।
दृष्टिभेदाद् द्वयोश्चाक्षलयो वक्तुं हि शक्यते।।३२।।

जाती, पंखा चले या लोहार की धौकनी चले तो 'प्राण चल रहा है, साँस चल रही है' ऐसा नहीं कहा समझा जाता, जब चेतन प्राणी के शरीर में वायु का आवागमन होकर वह शरीर को ज़िंदा रखता है तब शरीर में चलने वाली वायु को प्राण कहते हैं। अतः प्राण और आत्मा का सम्बन्ध है यह सभी को पता है, प्राण रहते व्यक्ति को मरा नहीं घोषित किया जाता। इसलिये प्राण अवश्य आत्मा की उपाधि है। यद्यपि उपाधि द्वारा ही इस शब्द को आत्मा के लिये प्रयुक्त किया है तथापि योगार्थ से इसे आत्मा व प्राण दोनों में घटा सकते हैं। प्राण-शब्द में प्र-उपसर्ग है, अन-धातु है। प्र कहते हैं प्रकृष्ट, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ, खास को। अन का अर्थ है चेष्टा करने वाला। अतः जो उत्कृष्ट चेष्टा का हेतु हो वह प्राण कहा जाता है। शरीर को जीवित रखना यह खास चेष्टा वायु की और जगद्रचना यह परमात्मा की प्रकृष्ट चेष्टा है यह अगले श्लोक में कहेंगे। (निर्णय सागर में **'प्रविष्टचेष्टाहेतुत्वात्'** पाठ है किन्तु कावेल और मुत्तुशास्त्री का 'प्रकृष्ट' पाठ ही उचित है। प्रविष्ट होने से और चेष्टाहेतु होने सेऐसा प्रविष्ट पाठ में अर्थ जानना चाहिये। शरीर में प्राण का भी प्रवेश बताया है और परमात्मा का भी तथा चेष्टा के प्रति दोनों की कारणता प्रसिद्ध ही है।) ।३०-१।।

प्राण-शब्द की वायु व परमात्मा दोनों में प्रवृत्ति स्पष्ट करते हैं **साँस की क्रिया वायु में और सभी कुछ पैदा करने की क्रिया परमात्मा में है अतः दृष्टिभेद से दोनों में इन्द्रियों का लय कह सकते हैं।।३२।।** यद्यपि 'अन' अर्थात् चेष्टाहेतुता पाँचों वृत्तियों में है इसलिये सभी के नाम में 'अन' हैअप-अन, वि-आ-अन, सम्-आ-अन, उद्-आ-अन तथापि साँस में खासियत होने से उसी वृत्ति को प्राण कहते हैं। अन्य वृत्तियाँ रोगादि से कुछ समय के लिये कार्य न करें तो भी जीवन चल जाता है पर प्राण के बिना नहीं चलता तथा बाकी सब तभी कार्य कर सकती हैं जब प्राण चले, इसलिये प्राणवृत्ति का महत्त्व स्पष्ट है। इस वृत्ति में वायु का ही शरीर में आना-जाना स्पष्ट होता है, बिना वायु के साँस लिया ही नहीं जा सकता अतः यह ठीक है कि वायु में साँस-की क्रिया चलती है, साँस के प्रति हेतु वायु है। तथा समग्र सृष्टि का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण परमात्मा है ही। (निर्णयसागर में **'श्वासक्रियाः सर्वाः सृष्टिस्तु'** पाठ है किन्तु कावेल व मुत्तुशास्त्री का पाठ बेहतर है।) परमात्मा उत्पत्ति का ही नहीं स्थिति का भी कारण है, संचालन भी वही कर रहा है। पाश्चात्य आधुनिक

सुप्तस्याऽक्षलयः प्राणवायाविति तटस्थधीः।
अद्वैते द्वैतविलयं मन्यते सुप्त उत्थितः।।३३।।

सभ्यता में तो पुत्र-पुत्री को बारह-पंद्रह साल तक पाल-पोसकर स्वतंत्र छोड़ देते हैं कि स्वयं कमाओ-खाओ, माता-पिता उन्हें आजीवन पालने का जिम्मा नहीं समझते और बच्चे भी उनकी सेवा करना अपना कर्तव्य नहीं समझते। अन्य संपर्क न होने से वहाँ चाल चली है कि साल में एक दिन पिता को, एक दिन माता को कोई पत्र, भेंट आदि देते हैं तथा बच्चों के जन्म दिन पर माता-पिता उन्हें पत्र भेंट आदि देते हैं। भारतीय परंपरा अभी कायम है कि सन्तान के प्रति दायित्व हमेशा है और संतान का हमेशा कर्तव्य है कि माता-पिता की प्रतिदिन सेवा करे अतः यहाँ ऐसे विशिष्ट दिनों पर पत्र, भेंट आदि देने का कोई प्रयोजन नहीं। नकल करके अब यहाँ भी प्रारंभ किया जा रहा है, इसका यही प्रभाव होगा कि रोज करना चाहियेयह संस्कार हट जायेगा, साल में एक बार करना ही काफी हैयही भाव प्रधान हो जायेगा। भारतीय पद्धति की तरह ही परमेश्वर सृष्टि बनाकर प्रतिक्षण इसकी देख-रेख करते हैं, पोषण करते हैं और जीव भी अपनी सब चेष्टाओं से परमेश्वर की आराधना करता है जैसा भगवान् ने (गी.९.२७) कहा कि 'जो कुछ करो, खाओ, होम करो, दान करो, तप करो, वह सब मुझे अर्पण करो।' हम थक कर सोते हैं तब परमात्मा ही हमारी थकान दूर कर हम में पुनः स्फूर्ति भर देता है। सृष्टि के बाद प्रलय में भी वह ऐसा ही करता है। वायु की चेष्टा तो जीवित प्राणियों के लिये ही महत्त्व की है जब कि परमेश्वर की चेष्टा जड-चेतन सारे संसार का हेतु है। अतः उसे भी प्राण कहना संगत है। विभिन्न दृष्टियों से दोनों ही प्राण हैं और दोनों में इंद्रियाँ लीन होती हैं यह कहना बन जाता है। प्राणरूप से वायु ही चल रही है, बाकी सबका लय होता है, इस दृष्टि से इंद्रियों का वायु में लय कहना बनता है। वायु स्वयं एक कार्य है और एक कार्य में दूसरे कार्यों का लय नहीं होता वरन् कारण में लय होता है, इस दृष्टि से परमात्मा में लय कहना उचित होता है। यदि प्राण को आत्मा की उपाधि की दृष्टि से देखें तो उसमें लय बताना ठीक है जैसे 'घड़े में पानी है' कहते हैं; और उपाधि अप्रधान होती है इसे ध्यान में रखें तो उपहित परमात्मा में लय कहना ठीक है जैसे 'घटाकाश में पानी है' कहते हैं।।३२।।

दृष्टिभेद को ही स्पष्ट करते हैं **पास में जो जगा व्यक्ति है उसे निश्चय होता है कि सोये व्यक्ति की इन्द्रियाँ उसकी प्राण-वायु में लीन हैं जब कि सोकर उठा व्यक्ति मानता है कि सारा द्वैत अद्वैत परमात्मा में लीन था।।३३।। अतः सोये**

सुप्ताऽभिप्रायमाश्रित्य परात्मनि जगल्लयः।
श्रुत्युक्तस्तेन पूर्वोक्तप्रश्नयोरुत्तरं भवेत्।।३४।।
क्वैषोऽशयिष्ट कुत्रेयं सुप्तिस्तत्रोत्तरं क्रमात्।
परात्मन्यशयिष्टाऽभूद् अज्ञाने सुप्तिरित्यदः।।३५।।
परिच्छिन्नस्य पूर्णात्मतादात्म्यं शयनं भवेत्।
साहंकारस्य जगतो विलयः सुप्तिरुच्यते।।३६।।

व्यक्ति के परामर्श के सहारे श्रुति ने जगत् का परमात्मा में लय कहा। इस तरह पूर्वोक्त दो प्रश्नों का उत्तर निर्धारित हो गया।।३४।। जो पास में स्थित जाग्रत् व्यक्ति है उसे तो वायु चलने के रूप में सुप्त का प्राण मौजूद लग रहा है और सोये की इंद्रियाँ मौजूद लग नहीं रहीं अतः वह यही कहेगा कि 'सब इंद्रियाँ इसके प्राण में ही लीन हैं, जगेगा तो प्राण से ही निकल आयेंगी।' किन्तु जो सो रहा है उसे तो प्राण वायु भी मौजूद लग नहीं रहा अतः उठ कर विचार करे कि सुप्ति दशा में इंद्रियादि कहाँ लीन थीं तो यही कहेगा कि 'अकेले मुझ आत्मा में ही थीं' क्योंकि और तो कुछ था नहीं जिसमें लीन होतीं। सोते हुए ऐसा नहीं लगता कि 'सब कुछ मुझ में लीन है' क्योंकि इस प्रतीति के लिये द्रष्टा-दृश्य का भेद चाहिये, किन्तु उठकर अर्थापत्ति से पता चलता है कि 'मुझ में ही लीन था।' अतः प्राण-शब्द जो पास में जगा व्यक्ति था उसकी दृष्टि से वायु परक और सोकर उठे व्यक्ति की दृष्टि से परमात्मपरक है यह स्पष्ट हो जाता है।।३३-४।।

दो प्रश्नों का उत्तर कैसे निर्धारित हो गया यह समझाते हैं **दो प्रश्न थे'यह कहाँ सोया था?' और 'सोना कहाँ था?' (श्लोक. २०)। इनका क्रमशः यह उत्तर हुआयह परमात्मा में सो रहा था और सोना अज्ञान में था।।३५।। पुरुष कहाँ सोया थामें 'सोया' का मतलब है सीमित का पूर्ण आत्मा से तादात्म्य हो जाना तथा द्वितीय प्रश्न के 'सोने' का मतलब है अहंकार समेत जगत् का लीन होना।।३६।।** श्रुति में प्रश्न थे 'कहाँ सोया था' और 'कहाँ था', उनका विद्यारण्य स्वामी ने अनुवाद शयन और सुप्ति दो शब्दों से कर दिया। यों तो दोनों शब्द सोने को ही कहते हैं किंतु 'सोया', 'अशयिष्ट' शब्द सोने वाले को बताता है और 'सोना', 'सुप्तिः' सोने की क्रिया को बताता है, अतः दोनों में अर्थभेद है जिससे दो शब्दों का प्रयोग किया। सोने वाले जीव की दृष्टि से यह निर्धारित हुआ कि परमात्मा में सोया था, सोने वाले का अधिष्ठान परमात्मा था। सोना-क्रिया की दृष्टि से बताया कि वह अज्ञान में था, उसका अधिकरण अज्ञान था। सुषुप्ति में 'मैं कुछ नहीं जान रहा था' इस स्मृति से अज्ञान सिद्ध

प्रबोधे सृष्टिः

कुत आगादिति प्रश्नस्योत्तरं दृश्यतामिदम्।
अज्ञानेनावृतात् पूर्णादागच्छति परात्मनः।।३७।।

होता है, उसी ने सोना-क्रिया को आश्रय दिया था। अवस्थाएँ आत्मा पर आरोपित हैं अतः अवस्था रहने के लिये उपाधि आवश्यक है, निरुपाधि की कोई अवस्था नहीं। सोना तभी हो सकता है जब कोई उपाधि हो और उपाधियों का मूल अज्ञान ही है, वही सब उपाधियों का रूप धारण करता है। इसलिये अवस्था, अवस्था-संभावक उपाधि का आधार अज्ञान को ही कहना उचित है।

जाग्रत्-स्वप्न में अहंकार से परिच्छिन्न रहने वाला जीव सुषुप्ति में अहंकार न रह जाने से उससे अपरिच्छिन्न आत्मा से एक हो जाता है। यह एकता आत्यन्तिक नहीं है इसलिये इसे 'तादात्म्य' कहा अर्थात् कुछ भेद रहते हुए ही वहाँ अभेद होता है। अत एव उठते ही भेद भी प्रकट हो जाता है, सर्वथा एकता हो गयी होती तो मोक्ष ही हो जाता! विचार से अभेद और व्यवहार में भेद हो वहाँ तादात्म्य कहा जाता है जैसे विचार करें तो कपड़ा धागे से अलग कुछ नहीं सिद्ध होता लेकिन व्यवहार धागे और कपड़े का अलग-अलग ही होता है अतः धागे-कपड़े का आपस में तादात्म्य कहा जाता है। प्रकृत में, सुषुप्ति में जब अहंकार नहीं रह गया तब जीव को परमात्मा से पृथक् कहा समझा नहीं जा सकता किन्तु जीव उठता है तो पार्थक्य का अनुभव करता है इसलिये मानना पड़ता है कि सुषुप्ति में भी पृथक्ता बनी हुई थी एवं इसमें यह भी उपपत्ति है कि सोते समय भी उसका स्थूल शरीर जीवित था; परमात्मा मात्र से शरीर जीवित नहीं होता, परमात्मा तो नित्य व्यापक है, वह शव में, पत्थर में भी वैसा ही है जैसा जीवित शरीर में अतः शरीर जीवित तभी तक रहता है जब तक उसमें परमात्मा से अलग हुआ जीव रहे अर्थात् अहंकार वाला जीव रहे। मरने पर यही जीव शरीर छोड़ता है तो शरीर निर्जीव शव हो जाता है। इस तरह सुषुप्तिकाल में भी शरीर का जीवित रहना तभी उपपन्न है जब उस अवस्था में भी जीव शरीर में मौजूद हो। इसलिये तब जीव-ईश्वर का भेद है यह भी स्वीकारना पड़ता है। यों भेद व अभेद दोनों मानना ज़रूरी होने से कहा कि परिच्छिन्न का पूर्ण आत्मा से तादात्म्य ही शयन है। अहंकार पर्यन्त सारे जगत् का प्राण में विलीन रहना सुप्ति, सोना, सोने की क्रिया या अवस्था है। इस तरह दो प्रश्नों के उत्तर दिये।।३५-६।।

अब तीसरे सवाल का जवाब देते हैं **'कहाँ से आया?' इस तृतीय प्रश्न (श्लोक. २०) का यह उत्तर हैअज्ञान से ढके पूर्ण परमात्मा से आया।।३७।।**

यदा प्रबुद्ध्यते सुप्तस्तदाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गवत्।
प्राणा यथायथं तस्माज्जायन्ते परमात्मनः।।३८।।
प्राणाभिमानिदेवानाम् अग्न्यादीनां जनिस्ततः।
लोक्यन्ते विषया अक्षैस्ते देवेभ्यः समुद्गताः।।३९।।

श्रुति में 'स यदा प्रतिबुद्ध्यते, यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते, प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः'यह उत्तर दिया है। जैसे आग से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे इस आत्मा से प्राणादि प्रकट हो जाते हैं, अर्थात् सोकर उठने पर कहाँ से आता है? का उत्तर है कि परमात्मा से आता है। उसी परमात्मा को समझाया कि अज्ञान वाले परमात्मा से आता है क्योंकि अज्ञान-रहित से तो आना संभव नहीं। सुषुप्ति में परमात्मा से एक होने पर भी 'मैं परमात्मा हूँ' ऐसा अनुभव न होने के कारण अज्ञान ही बना रहता है। यद्यपि श्रुति ने आत्मा से प्राणों का आगमन कहा है तथापि अहंकार भी उससे उद्गत होता है यह श्लोक. ४९ में स्पष्ट करेंगे अतः श्रुति में उपलक्षणा समझनी चाहिये। अहंकार आत्मा को परिच्छिन्न करते हुए ही प्रकट होता है अतः जीव भी अज्ञात परमात्मा से आता है यह कहना युक्त है।।३७।।

जगते समय का सृष्टिक्रम बताते हैं **सोया व्यक्ति जब जगता है तब आग से चिनगारियों की तरह परमात्मा से प्राण (इन्द्रियाँ) उत्पन्न होकर अपने-अपने स्थानों पर उपस्थित हो जाते हैं।।३८।। प्राणों से उनके अभिमानी अग्नि आदि देवों का जन्म होता है। देवों से वे विषय उत्पन्न होते हैं जो इंद्रियों से देखे सुने आदि जाते हैं।।३९।।** यद्यपि सुषुप्ति से स्वप्न में आने पर भी जीव प्रकट हो जाता है तथापि तब केवल मन उत्पन्न होता है अतः उसके बजाये जाग्रत् में आने का वर्णन किया जहाँ मन ही नहीं सभी कुछ उत्पन्न होता है। इसीलिये श्रुति में 'प्रतिबुद्ध्यते' या अनुभूतिप्रकाश में 'प्रबुद्ध्यते' कहा, केवल 'बुद्ध्यते' नहीं। सुषुप्तिकाल में परिच्छिन्न ज्ञान नहीं रहते, आँख-कान आदि से देखना-सुनना आदि नहीं होता है, उठते ही परिच्छिन्न ज्ञान होने लगते हैं, आँखादि से देखना आदि शुरू हो जाता है। यहाँ क्रमदृष्टि से अहंकार की उत्पत्ति के बाद प्राण अर्थात् इंद्रियों की उत्पत्ति समझनी चाहिये। प्राण पैदा होते परमात्मा से हैं लेकिन तब जब पहले परमात्मा अहंकार को प्रकट कर उससे परिच्छिन्न हो जाये। जैसे व्यापक अग्नि पाकादि तब तक नहीं करती जब तक परिच्छिन्न अग्नि के रूप में चूल्हे आदि में प्रकट न हो वैसे परमात्मा इंद्रियादि को अहंकार से परिच्छिन्न होकर प्रकट करता है, यह यहाँ की विचारसरणि है। आगे, इद्रियों से उनके देव उत्पन्न हुए।

इहोक्तप्रक्रियालाभः

सर्वसाधारणः सर्ग एकः प्रातिस्विकोऽपरः ।
आकाशादिक्रमादाद्यः प्राणादिक्रमतोऽपरः ।।४० ।।

जब कहते हैं 'देवदत्त पैदा हुआ' तब यही मतलब होता है कि स्थूल शरीर से देवदत्त का सूक्ष्म शरीर सम्बद्ध हो गया। स्थूल शरीर तो किसी-न-किसी रूप में पहले भी था और सूक्ष्म शरीर भी पहले था अतः उनका असत्ता से सत्ता में आनाऐसा जन्म तो कह नहीं सकते, इतना ही कह सकते हैं कि देवदत्त का, उसके सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से संबंध हो गया। इसी तरह अरणि-मंथन आदि से आग पैदा होती है तब भी व्यापक अग्नि का लकड़ी आदि से सम्बन्ध-विशेष ही होता है, अन्यथा आग और लकड़ी दोनों पहले से हैं ही। इसी प्रकार, समष्टि देवता का हमारी परिच्छिन्न आँख से सम्बन्ध होता है इसी को देवता का जन्म कहा जा रहा है। जन्म तब हो जब आँख पैदा हो इसलिये इंद्रियों से देवता पैदा होते हैं ऐसा कहा। प्राण (इंद्रियाँ) उत्पन्न होते ही देवता भी पैदा होते हैं अर्थात् इंद्रियों से यों सम्बद्ध हो जाते हैं कि इंद्रियाँ अपने कार्य करने लगें। फिर, देवताओं से शब्दादि विषय पैदा होते हैं। हमें कर्मफल देने के लिये देवता विषयों को उत्पन्न करते हैं। तत्तत् गुण-क्रिया-नामादि वाले परमेश्वर को ही तो विभिन्न देवता कहते हैं और परमेश्वर कर्मफलदाता है। वही सब लोकों की सृष्टि करता है। इस प्रकार जगते समय की सृष्टि-प्रक्रिया बतायी।।३८-६।।

प्रायः बतायी जाने वाली सृष्टि में तो परमात्मा से पहले महाभूत बनते हैं, उन्हीं से इंद्रियाँ और शरीर बनते हैं, समष्टि देवता पहले बनते हैं, व्यष्टि इंद्रियाँ बाद में बनती हैं; उसकी अपेक्षा प्रकृत में कही जा रही प्रक्रिया विपरीत प्रतीत होती है अतः समझाते हैं कि हैं ही ये विभिन्न प्रक्रियायें। श्लोक ५४ में बतायेंगे कि तत्त्वावबोध के उपयोगी होना प्रक्रिया का ठीकपना है अतः जब दोनों या जितनी भी प्रक्रियाएँ एक ही तत्त्व को समझा दें तब उन्हें परस्पर विरुद्ध कहा ही नहीं जा सकता। एक ही गंतव्य पर पहुँचाने वाले मार्ग लम्बे-छोटे, आसान-मुश्किल कुछ भी कहे जायें, विपरीत नहीं कहे जा सकते। इसलिये प्रकृत प्रक्रिया के बारे में यही कह सकते हैं कि प्रायः प्रसिद्ध प्रक्रिया से यह अलग है, यह स्पष्ट करते हैं **एक सृष्टि है जो सब जीवों के लिये समान रूप से होती है और दूसरी है जो एक-एक जीव के लिये होती है। पहली वाली आकाशादि की उत्पत्ति के क्रम से होती है एवं दूसरी (यहाँ बताये) प्राणादि के क्रम से होती है।।४०।।**

सर्वेषां प्राणिनां कर्मक्षये स्यात् प्रलयो महान्।
पुनः कर्मोद्भवे तेषां स्याद् महासृष्टिरीश्वरात्।।४१।।

ईश्वर द्वारा रची सृष्टि सब के लिये समान है अतः उसे सर्वसाधारण कहते हैं। वह शास्त्रोक्त ढंग से ही समझी जा सकती है। दूसरी सृष्टि है जो हमारी, हर जीव की प्रतीति के अनुसार है। हम जिसे पहले देखते हैं उसे कारण मानते हैं, जिसे बाद में देखते हैं उसे कार्य मानते हैं। इसलिये पहले हम जगते हैं, फिर इंद्रियाँ प्रतीत होती हैं तब विषयों का ज्ञान होता है अतः यही इनकी उत्पत्ति का क्रम मान लिया गया। इसलिये ईश्वर की तरफ से देखने पर और जीव की तरफ से देखने पर क्रम में फर्क़ स्वाभाविक है। क्रम में यह सापेक्षता सर्वत्र होती है। क्रम ही नहीं, अन्यत्र भी अपेक्षा का अन्तर पड़ता है : चिलचिलाती धूप में नौकर को भेज सकते हो, पुत्र को नहीं; कौन जा रहा है इस अपेक्षा से धूप सह्य या असह्य हो जाती है। सर्वसाधारण धूप तो एक-सी है पर प्रातिस्विकप्रत्येक की दृष्टि से, अपेक्षा से होने वालीधूप में अंतर आ
जाता है। प्रातिस्विक है जीव की दृष्टि से, साधारण है ईश्वर की दृष्टि से। साधारण सृष्टि वेद से ही समझी जा सकती है क्योंकि पौरुषेय दृष्टि तो साधारण होती नहीं है, उसमें कुछ-न-कुछ व्यक्तिसापेक्षता रहती ही है। परमाणु-वैज्ञानिक बताते हैं कि अणु की गति देखें तो यह नहीं पता चलता कि वह कहाँ है, और यह देखें कि वह कहाँ है तो उसकी गति का पता नहीं चलता। जीव एक साथ दोनों को नहीं जान सकता। अतः जीव जो कुछ कहेगा वह किसी एक के आधार पर कहना संभव है, समग्रता को केवल ईश्वर जानता है, वही बता सकता है। जीव का व्यवहार न केवल साधारण सृष्टि पर वरन् प्रातिस्विक सृष्टि पर भी उतना ही निर्भर करता है। पंचदशी में जीवसृष्टि और ईश्वरसृष्टि कहकर इसे विस्तार से समझाया है। आकाशादि की सृष्टि के समय जीव थे ही नहीं अतः सिर्फ ईश्वर को मालूम है कि उसने क्या किया, कैसे किया। जब जीवरूप से ईश्वर ने प्रवेश कर लिया उसके बाद जीव के अनुभव प्रारंभ हुए जिनके अनुसार उसकी सृष्टि है। प्रकृत में जो सुषुप्ति से प्राण-देवता-लोक क्रम से सृष्टि बताई वह जीव के अनुभव के अनुसार है।।४०।।

द्विविध सृष्टि को ही स्पष्ट करते हैं **सभी प्राणियों के कर्म जब एक साथ क्षीण हो जाते हैं तब महाप्रलय होता है तथा सभी के कर्म पुनः फलोन्मुख होने पर ईश्वर से महासृष्टि होती है।।४१।। जब केवल एक जीव का कर्म क्षीण होता है तब सुषुप्ति नामक प्रलय होता है और उसका कर्म पुनः फलोन्मुख होने पर**

एकस्य कर्मणः क्षीणे प्रलयः सुप्तिनामभृत्।
पुनः कर्मोद्भवे तस्य सृष्टिः स्याज्जागराभिधा।।४२।।
अद्वैततत्त्वबोधाय सृष्टिः सर्वत्र कथ्यते।
अल्पा वा महती वाऽस्तु सदद्वैतं विबुध्यते।।४३।।

जगना-नामक सृष्टि होती है।।४२।। महाप्रलय में सभी विषय, सभी देवता, सभी इंद्रियाँ, सभी अहंकार परमेश्वर में लीन हो जाते हैं। उस समय कोई भी कर्म फलोन्मुख नहीं होता। नींद अर्थात् नित्य प्रलय में जो सोया है उसी का संसार लीन होता है, उसीके कर्म फलोन्मुख नहीं होते। नैमित्तिक व खण्ड प्रलयों में भी एकदेश में व कुछ जीवों के लिये ही लय होता है, सर्वत्र सबके लिये नहीं। महाप्रलय के बाद ईश्वर सृष्टि करता है और वह सर्वसाधारण होती है। सुषुप्ति के बाद जीव सृष्टि करता है और वह उसी के लिये होती है क्योंकि एक के जगने पर बाकी भी जगें ऐसा नहीं होता।।४१-२।।

सृष्टि-प्रतिपादन का प्रयोजन परमात्मावबोध है। वेद निष्प्रयोजन उपदेश नहीं देता। व्यास जी तो सत्य के लक्षण में भी कहते हैं कि प्राणियों के हित के लिये कही बात सत्य होती है 'सत्यं भूतहिते प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्', यदि उसे कहने से किसी का हित नहीं सिद्ध हो तो यथार्थ कथन भी सत्य की श्रेणि में नहीं गिना जायेगा। सत्योपदेष्टा वेद भी अधिकारियों के हित के लिये ही सृष्टिप्रतिपादन करता है। ईश्वर को सृष्टि सिखाने के लिये तो वेद प्रवृत्त हुआ नहीं, जीवों को सृष्टि-प्रक्रिया बतायी जा रही है तो जीवों के किसी उपयोग के लिये ही होनी पड़गी। जो जीवसृष्टि का क्रम बताया वह भी इसलिये नहीं कि जीव इसी क्रम से सृष्टि करे, क्रमांतर से न करे; क्योंकि जीव समझ-बूझकर सृष्टि नहीं करता वरन् अज्ञान से करता है अतः उस क्रम में वह हेर-फेर कर ही नहीं सकता।

अतः सवाल होता है कि ये प्रक्रियाएँ बतायी क्यों? इसका जवाब देते हुए उक्त प्रक्रियाओं का महत्त्व सूचित करते हैं **अद्वैत आत्मवस्तु का बोध कराने के लिये ही वेद में सब प्रसंगों में सृष्टि कही गयी है। चाहे अल्प या प्रातिस्विक सृष्टि मानें या महासृष्टि मानें, समझना सद्रूप अद्वैत को ही है।।४३।।** विद्यारण्य स्वामी यहाँ विलक्षण रीति से सृष्टि प्रक्रियाओं के उक्त भेद को समंजस बना रहे हैं। सृष्टि-प्रतिपादन का प्रयोजन ध्यान में रखने से प्रक्रियाओं का भेद न केवल अपना विरोध खो देता है वरन् हर प्रक्रिया की विशेषता पहचानने का मौका देता है। वैसलीन, गैस, पैट्रोल, केरोसीनसभी विभिन्न वस्तुओं का व्यवहार करते हुए जैसे हम यह नहीं जानते कि ये सभी एक ही मूल वस्तु मिट्टी-तेल हैं वैसे संसार से व्यवहार करते हुए हम यह नहीं जानते हैं कि यह सब

मूलतः एक परमात्मा है। कोलतार, वैसलीन आदि सब को मिट्टीतेल से अभिन्न समझने के लिये जैसे उनके बनने की प्रक्रिया जाननी पड़ती है कि विभिन्न स्तरों के शोधन के फलस्वरूप अलग-अलग चीज़ें प्रतीत हो जाती हैं, वैसे संसार के भी बनने की प्रक्रिया जानने से समझ आता है कि सब एक परमात्मा में ही प्रतीत हो रहा है। स्पर्श से ही दाग लगाये ऐसा कोलतार और दाग छुड़ाने वाला पैट्रोल (गैसोलीन) जैसे मूलतः एक ही वस्तु है वैसे काटने वाला मच्छर और जिसे वह काटता है वह आदमी मूलतः एक परमात्मा ही है। सृष्टिक्रम समझे बिना सुनें कि हिरण्यकशिपु और रामचंद्र एक के ही रूप हैं तो बात जँचती नहीं पर जब क्रम जान लेते हैं तब यह बात सर्वथा उचित लगती है। उपाधियाँ अच्छी लगें या बुरी, हैं सब मिथ्या, उनका भेद भी मिथ्या तो उनसे उपाहित में प्रतीत होने वाला भेद मिथ्या है इसमें क्या कहना! क्योंकि सारा नाम-रूपात्मक जगत् एकमात्र परमात्मा से बना इसलिये परमात्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है यह सृष्टिप्रक्रिया जानने से ही निश्चय होता है। इसीलिये व्यवहार में कोई अड़चन नहीं आती। एक ही ऊन से टोपी व मौजा बनाते हैं, मालूम है कि दोनों एक ही ऊनके विभिन्न नाम-रूप हैं अतः मूलतः दोनों में फ़र्क़ नहीं, फिर भी टोपी सिर पर, मौजा पैर में ही पहनते हैं। ऐसे ही व्यवहार में कोई गड़बड़ी किये बिना ही यह पता रह जाता है कि एक परमात्मा ही अलग-अलग नाम-रूप-कर्म वाला उपलब्ध हो रहा है। जीव भी मूलतः उस परमात्मा से पृथक् कुछ नहीं है। जीव-जगत् का भेद प्रपंच मिथ्या है, एक सच्चिदानंद ही अखण्ड तत्त्व हैइस रहस्य को हृदयंगत कराने के लिये ही शास्त्र में सृष्टि की प्रक्रियाएँ बतायी हैं।
प्रक्रियाओं में तात्पर्य नहीं, उनसे जो समझाना है उसमें तात्पर्य है। महासृष्टि के, पंचीकरणादि के अनुसार जैसे अद्वैत समझ आता है वैसे ही अल्प, प्रातिस्विक सृष्टि के अनुसार भी आता है। सोकर उठते हैं तो हम से ही इंद्रियाँ और उनके द्वारा देवता व विषय उत्पन्न होते हैं अतः ये सब हम से अलग नहीं हैं यह समझना वैसे ही संभव है जैसे परमात्मा से आकाशादिक्रम से उत्पन्न जगत् को परमात्मा से अभिन्न समझना संभव है। भात पक गया यह पता लगाने के लिये चाहे एक दाना दबाकर देखें, चाहे सब दाने दबाकर देखें, पता दोनों तरह से एक ही बात लगती है, वैसे ही प्रकृत में भी है। जाग्रत् में कोई आँख-कान-जीभ को कहे कि सब एक ही हैं तो बात अटपटी लगती है किन्तु सुषुप्ति का विचार करें तो समझ आ जाता है कि मूलतः सब एक मैं ही हूँ, मेरा ही ये सब विस्तार हैं। आगे, देव व लोक भी इसी तरह मेरा ही विस्तार है। अतः अपनी अखण्ड अद्वितीयता स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रियों का भेद होने पर भी उपपाद्य

प्रौढस्य राजगेहस्य द्वारं स्यात् पुरतो महत्।
पृष्ठतोऽन्तःपुरद्वारं चोरद्वाराख्यमल्पकम्।।४४।।
महाद्वारेण सहसा दुर्लभं राजदर्शनम्।
जनसम्मर्दबाहुल्याद् द्वाराणां च बहुत्वतः।।४५।।
अल्पद्वारे स्वामिभक्तो हठाद् राजानमीक्षते।
दृष्टिसृष्ट्याऽनुभूत्यर्थी वेत्त्यात्मानं तथा हठात्।।४६।।
महासृष्ट्या तत्पदार्थमादौ ज्ञात्वा ततः पुनः।
त्वंपदार्थं शोधयित्वा वाक्याद् बोधो विलम्बते।।४७।।

प्रपंच और प्रतिपाद्य अद्वैत एक ही है अतः प्रक्रियाओं में विरोध नहीं है।।४३।।

प्रक्रियाँ विभिन्न हैं तो इनमें तारतम्य भी होना चाहिये जैसे मार्ग अनेक हों तो ऋजु-कुटिल आदि का भेद होता है, इसलिये उदाहरण द्वारा इनके उपयोग का अंतर प्रकट करते हैं **बड़े राजमहल में सामने मुख्य दरवाज़ा होता है और पीछे की तरफ अंतःपुर का छोटा द्वार भी होता है जिसे चोर-दरवाज़ा भी कहते हैं।।४४।। बड़े दरवाज़े से घुसकर अचानक राजा का दर्शन कर पाना मुश्किल होता है क्योंकि भीड़ भी बहुत होती है और मुख्य मार्ग में द्वार भी कई पड़ते हैं।।४५।। राजा का विशेष प्रियपात्र छोटे, चोर-दरवाज़े से प्रवेश कर अविलम्ब राजा से मुलाकात कर पाता है (क्योंकि उस रास्ते में औपचारिकता नहीं होती)। इसी प्रकार जिसे सिर्फ़ अखण्डानुभूति की तीव्र चाह है वह दृष्टिसृष्टि की (प्रातिस्विक सृष्टि की) प्रक्रिया से आत्मा को अतिशीघ्र समझ पाता है।।४६।। महासृष्टि की प्रक्रिया से विचार करना मुख्य द्वार से प्रवेश करने जैसा है अतः इस ढंग से समय लगता है; पहले तत्पद के अर्थ ईश्वर को समझना पड़ता है फिर त्वंपद के अर्थ जीव को जानना पड़ता है, दोनों पदार्थों के शोधित स्वरूपों का अनुभव करना पड़ता है तब महावाक्य से अखण्ड साक्षात्कार होता है।।४७।।** संसार की सारी व्यवस्थाएँ समझने की जिसे इच्छा नहीं ऐसा उत्कृष्ट विवेकी और परम वैराग्यवान् शास्त्रश्रद्धालु मुमुक्षु दृष्टिसृष्टि स्वीकार कर आत्मस्थिति में प्रतिष्ठित हो सकता है। इस उपाय का प्रयोक्ता स्वानुभवमात्र से सरोकार रखेगा, जो अनुभूयमान नहीं उसे यह तो 'है' भी नहीं समझेगा तो उसके आधार पर कोई शंका करे इसकी सम्भावना नहीं। यही इस प्रक्रिया की सरलता और कठिनता है; सरलता इसलिये कि व्यवस्थाओं का कोई झमेला नहीं और कठिनता इसलिये कि स्वानुभव से

अतिरिक्त सभी के प्रति इतनी दृढ निरपेक्षता तथा शास्त्र पर इतना स्थिर विश्वास जल्दी होता नहीं। 'मुझ अद्वितीय तत्त्व से ही सारी दृष्टिप्रयुक्त सृष्टि हुई है इसलिये मुझ से अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है' यह निश्चय प्राप्त करना है। जैसे चोरद्वार से जाने पर सजावट आदि देखने की आशा नहीं कर सकते वैसे प्रातिस्विक सृष्टि की प्रक्रिया से साधना करने पर जगत् की व्यवस्थाएँ समझने की आशा नहीं कर सकते, केवल राजा से मिलने की तरह केवल अद्वितीय प्रत्यक्स्वरूप में स्थित रह सकते हैं। जैसे चोरद्वार राजा के पक्के भक्त के लिये ही होता है, दूसरों को उस दिशा में भी फटकने नहीं दिया जाता, वैसे अल्पसृष्टि की प्रक्रिया उसी के लिये है जिसे श्रुति पर अटूट श्रद्धा है और अनात्ममात्र के प्रति पूर्ण वैराग्य है। 'ऐसा कैसे हो सकता है कि मुझे पता नहीं था तो दुनिया नहीं थी, मैं जगा तो पैदा हुई?'यह 'कैसे-क्यों?' आदि प्रश्न उठें तो इस प्रक्रिया का अधिकार जाता रहेगा। ये प्रश्न महासृष्टि के ढंग से ही उत्तरित हो सकते हैं। अल्पसृष्टिके ढंग में ये या ऐसे अन्य भी प्रश्न नहीं उठते, शास्त्र ने कहा है तो ऐसा ही है इस निश्चय से अनुभव प्राप्त हो जाता है। इसलिये पूर्वाध्याय में (श्लोक.६७) अनुभवी के लिये इस प्रक्रिया को बताया था। जब तक हमें यह अंधविश्वास है कि हमें जो ज्ञात नहीं वह भी होता है, तब तक हम अल्पसृष्टि की प्रक्रिया के अधिकारी नहीं। तब हमें महासृष्टि का मार्ग ही अपनाना होगा और अधिकांश, अत्यधिकांश साधकों के लिये वही राजमार्ग अपनाना संभव है।

उस मार्ग में पहले तत्पदार्थ ईश्वर के वाच्य-लक्ष्य अर्थात् सविशेष-निर्विशेष रूप समझने पड़ते हैं। सविशेष रूप में ईश्वर ही जगत् का, जगत् के हर कार्य का एकमात्र हेतु है। यह अतिकठिन निश्चय है; स्वयं की, संसार में अन्य किसी व्यक्ति, वस्तु, ग्रह, काल आदि की कोई कारणता नहीं है यह निर्णय हो तभी एकमात्र परमात्मा कारण है यह निश्चय हो सकता है। इस निश्चय वाले को ही श्रुति ने 'सन्त' कहा है। कारणरूप से समझकर फिर शोधन द्वारा ईश्वर का निर्विशेष रूप पता लगाना पड़ता है जिसमें कोई उपाधि, उपाधिधर्म नहीं है। उपाधि वाले रूप को ही जानने पर्यन्त अद्वैत नहीं पता चलेगा क्योंकि उपाधि स्तर पर द्वैत है। जब उपाधि-रहित पर दृष्टि जायेगी तभी अद्वैत स्पष्ट होना संभव है। इसी प्रकार त्वंपदार्थ, जीव का भी वाच्य-लक्ष्य अर्थात् सविशेष-निर्विशेष रूप समझना आवश्यक है। पहले निर्णय करना पड़ता है कि व्यावहारिक मैं कौन है? अभी हम पत्नी, पुत्र, शरीर, प्राण, इंद्रिय, मन आदि किसी को भी 'मैं' कह देते हैं, मान भी लेते हैं, पर कभी किसी को तो कभी किसी और को 'मैं' समझते हैं अथात् 'मैं' के

तस्मादिहाऽजातशत्रुर्बालाकेरविलम्बतः।
प्रत्यग्ब्रह्मत्वबोधार्थं दृष्टिसृष्टिमवोचत।।४८।।

निश्चित वाच्य का भी हमें पता नहीं! सर्वप्रथम यह पता लगाना पड़ेगा, तब उसका शोधन संभव है। शोधन अर्थात् वाच्यार्थ में जो अनात्मांश उसे हटाकर आत्मा को समझना। हम अहंकारात्मिका वृत्ति से मिले-जुले स्वयं को 'मैं' समझते हैं। वृत्ति अनात्मांश है, उसे छोड़कर जो हमारा रूप है वही शुद्ध त्वंपदार्थ है। साक्षी को त्वम्पद का लक्ष्य समझना चाहिये। वस्तुतस्तु 'मैं' एक व्यावहारिक वस्तु ही है, परमार्थतः यह केवल ब्रह्म है। ईश्वर ने स्वयं में से ही आकाशादि बनाये अतः आकाशादि ईश्वररूप ही हैं और उनसे बना अंतःकरण भी ईश्वररूप ही है। अतः अहंवृत्ति भी ईश्वररूप ही है; उसमें जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह ईश्वर है ही; प्रतिबिम्बित जो रूप वही 'मैं' है। बिंब और दर्पण से अन्य प्रतिबिम्ब कोई वास्तविक चीज़ नहीं होती, प्रातीतिक ही होती है। बिम्बभूत ईश्वर और दर्पणस्थानीय वृत्तिरूप ईश्वर से अतिरिक्त 'मैं' भी वास्तव में कुछ नहीं है, व्यवहार-निर्वाहमात्र के लिये प्रतीति है। अतः विवेकी को अहं ही कर्पूर-सा लगता है। देखते-देखते ही वह सर्वथा उड़ जाता है, समाप्त हो जाता है, उसका कोई अंश नहीं बचता। ओस की कणिका को सूर्य की रोशनी में देखने जाओ तो जैसे कुछ हाथ नहीं लगता, सिर्फ पत्ता मिलता है, ऐसे विवेक दृष्टि से मैं को खोजें तो कुछ नहीं मिलता, केवल ब्रह्म रह जाता है। महासृष्टि की प्रक्रिया में यों पदार्थबोध के बाद महावाक्य से इन पदार्थों का अभेद समझा जाता है। जीव-ईश्वर में भेद उपाधियों से है, उनके निरुपाधिक रूप में भेद नहीं, जैसे घटाकाश शालाकाश में घट-शाला का भेद है, आकाश का नहीं। इस प्रक्रिया में संसार की सारी व्यवस्थाएँ उपपन्न हैं, हमारी सारी शंकाओं के समाधान समझाये जा सकते हैं। राजमार्ग जैसे सजा संवरा रहता है वैसे इसमें दार्शनिक स्पष्टता है, मनन, ऊहापोह की खुली छूट है। वेदश्रद्धा तो इसमें भी चाहिये लेकिन साथ-ही-साथ क्यों-कैसे के उत्तर भी मिल जाते हैं जिनसे श्रद्धातीव्रता की कमी की भरपाई हो जाती है। इस प्रकार दोनों प्रक्रियायें समुचित तथा उपयोगी हैं इसीलिये वेद में दोनों के सहारे तत्त्व समझाया गया है।।४५-७।।

श्लोक ४० से ४७ तक प्रक्रियाओं का विचार आया, अब मूल प्रसंग पर लौटते हैं **क्योंकि प्रातिस्विक सृष्टि की प्रक्रिया में कोई जटिलता नहीं है इसलिये बालाकिको प्रत्यगात्माकी ब्रह्मरूपता तुरंत समझा देने के लिये दृष्टिसृष्टि के ढंग से बताया।।४८।।** अभिमान चूर्ण हो चुकने पर बालाकि ने कुतर्क का किंचित् भी

प्राणादुद्बोधक्रमः

सुप्तावासीद् यद् अज्ञानम् अहङ्कारलयोऽत्र हि।
सोऽहङ्कारः कर्मभोगकाले स्यात् पुनरुद्गतः।।४६।।
तेनाऽवच्छिन्न आत्माऽपि कर्ता भोक्ताऽपि पूर्ववत्।
भोक्तुरात्मन उत्पन्नं भोगसाधनमिन्द्रियम्।।५०।।
इन्द्रियप्रेरको देवाऽनुग्रहस्तत उद्गतः।
अक्षेभ्योऽनुगृहीतेभ्यो लोका भान्ति समुद्गताः।।५१।।
सेयं प्रातीतिकी सृष्टिस्तस्माज्जाता ततः स्वयम्।
जगत्कर्ता परात्मेति क्षणाद् बालोऽपि बुध्यते।।५२।।

सहारा नहीं लिया इसी से राजा ने उसे श्रद्धालु जानकर चोरमार्ग से प्रवेश करा दिया। इदं-रूप से न जाना जाये बल्कि इदं को जाने वह प्रत्यगात्मा है। इसमें भी क्रम समझ सकते हैंरूप से आँख प्रत्यक् है, आँख से मन और मन से भी अहं प्रत्यक् है, उस अहं को भी जानने वाला साक्षी अंतिम प्रत्यक् है, आगे उससे प्रत्यक् कुछ नहीं। वह साक्षी कहा-समझा जाने पर भी है निरपेक्ष, साक्ष्य पर किसी तरह भी निर्भर नहीं है। यह निरपेक्ष साक्षी ही ब्रह्म है, अद्वितीय पूर्ण व्यापक सच्चिदानंद है।।४८।।

राजा का उपदेश ही स्पष्ट करते हैं **सुषुप्ति में जो अज्ञान था उसी में अहंकार लीन होता है। कर्म के फल को भोगने का समय आने पर वह अहंकार फिर से निकल आता है।।४६।। उस अहंकार से परिसीमित हुआ आत्मा भी वैसे ही कर्ता-भोक्ता बन जाता है जैसे पिछली जाग्रत् अवस्थाओं में रहा। भोक्ता आत्मा से भोग की साधनभूत इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।।५०।। उन्हीं से देवताओं का अनुग्रह पैदा होता है जो इंद्रियों को प्रेरित करता है। देवानुग्रह पायी इंद्रियों से ये लोक उत्पन्न हुए जो प्रतीयमान हैं।।५१।। सुषुप्ति में जो अद्वैत आनंदरूप मैं आत्मा था उसी से यह प्रातीतिक सृष्टि उत्पन्न हुई है इसलिये मैं स्वयं ही जगत्कर्ता परमात्मा हूँ यह तथ्य बच्चा भी समझ सकता है!।।५२।।** सुषुप्ति की स्मृति सिद्ध करती है कि तब एक अज्ञान को छोड़कर और कुछ आत्मा के सामने नहीं था। 'सोते समय मुझे कुछ पता नहीं था' यह स्मृति अज्ञान को विषय करती है। उसी अज्ञान में अहंकार लीन होता है, उस दशा में अहंकार का भी ज्ञान नहीं रह जाता। जब कर्म फलोन्मुख होते हैं तब सर्वप्रथम अहंकार उत्पन्न होता है क्योंकि यही कर्ता-भोक्ता है। जब अहंकार नहीं है ऐसी सुषुप्ति या मूर्च्छा की स्थिति में कोई कर्मफल

नहीं भोगा जाता। इसीलिये बेंत भी बेहोश को नहीं मारते क्योंकि पता है उसे मारना बेकार है, उसे पीडा होगी ही नहीं! अच्छा-बुरा करता अहंकार है अतः सुख-दुःख उसे ही भोगना है। अहं भी वृत्तिमात्र तो जड है पर वह आत्मा को अपने में घेर लेता है जैसे घड़ा आकाश को घेर लेता है, अतः वह चेतन-समान होकर कर्ता-भोक्ता बने यह संगत हो जाता है। क्योंकि बिना साधनों के भोग नहीं किया जा सकता, भोक्ता नहीं बना जा सकता, इसलिये इंद्रियों की आवश्यकता है, मन समेत सभी इंद्रियाँ भोक्ता से पैदा होती हैं। इंद्रियों को, साधनों को प्रेरक चाहिये और वह है देवताओं की कृपा। वह इंद्रियों से पैदा होती है। पहले कह चुके हैं कि इंद्रियों से संबद्ध होना ही देवताओं का जन्म है। फिर देवताओं से लोक, बाह्य विषय पैदा हो जाते हैं। यह प्रातीतिक सृष्टि है अर्थात् प्रतीतिमात्र पर आधारित, प्रतीतिक्रमानुसार अनुभूयमान सृष्टि है। दुःख से छूटने का, परमानंद पाने का रास्ता है विषय से प्रत्यगात्मा की तरफ आना। विषयों में ही उलझे रहना, उनकी कार्यकारण-परंपराएँ खोजते रहना, जिसे वैज्ञानिक उन्नति कहते हैं, वह दुःख बढ़ाने का मार्ग है, बंधन का मार्ग है। सामान्यतः भी जब तक कारणता बाह्य अनात्मा में मानते हैं तब तक परतंत्र महसूस करते हैं, जब स्वयं को कारण समझते हैं तब स्वतंत्रता अनुभव करते हैं। 'विषय हमें बाँधे हुए हैं' मानते रहेंगे तो उस बंधन से बेबस रहेंगे, 'मैंने विषय पकड़ रखे हैं' समझने पर उन्हें छोड़ने का प्रयास कर सकते हैं। इसी प्रकार सारी सृष्टि के प्रति स्वयं को कारण समझते ही संसार की बंधकता समाप्त हो जाती है, अन्यथा बाह्य कारणों की शृंखला बढ़ती रहती है। क्योंकि सर्वकारण मैं हूँ इसलिये मैं ही परमेश्वर हूँ, जगत्कारण चेतन ही परमेश्वर है। इस तरह त्वम्-तत् की एकता इस प्रक्रिया में बिना वाक्य के ही निष्पन्न हो जाती है। तत्पदार्थ के ज्ञान, शोधन का भी पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता। त्वंपदार्थ का ही परिशोधन पर्याप्त हो जाता है। इसलिये इसमें लाघवातिशय है। विद्यारण्य स्वामी तो इसकी प्रशंसा में यहाँ तक कह रहे हैं कि यों समझाने पर बच्चा भी समझ सकता है! उनका अभिप्राय है कि जैसे बच्चा अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख से अतिरिक्त सांसारिक व्यवस्थाओं, दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने का कोई बोझ नहीं महसूस करता ऐसे जो साधक केवल अन्तर्मुख है वह इस प्रक्रिया से आराम से समझ लेता है। अथवा, 'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ.३.५) के अनुसार ज्ञान के बल वाले को यहाँ बाल कहा। अतः पूर्वाध्याय (श्लोक.६७) से भी संगति बैठ जाती है।।४९-५२।।

प्रक्रियाभेदहेतुः

ईश्वरो महिमोपेतः सोऽप्यन्य इति वासना।
धीमतां चिरमारूढा वियदादिक्रमस्ततः।।५३।।

यह प्रक्रिया इतनी उपयोगी और सरल है तो महासृष्टि की प्रक्रिया बतायी ही क्यों? इसका उत्तर देते हैं **'महान् महिमाशाली ईश्वर हम जीवों से भिन्न हैं'यह वासना बुद्धिमानों में भी चिरकाल से घर किये है अतः उन्हें समझाने के लिय महासृष्टि के आकाशादि क्रम को बताया गया है।।५३।।** सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगद्रचयिता संसारनायक सर्वसंहर्ता ईश्वर हम जीवों से पृथक्, महान्, हमारा हमेशा पूज्य हैयह दृढ संस्कार प्रायः सभी को है। विचारशील भी ईश्वर को इसी तरह समझ पाते हैं और अविचारकों को तो यही एक तरह का ईश्वर समझ आता है। स्वयं हम जीव जन्मने-मरने वाले, कामादि दोषों वाले, पापादि कर्मों वाले, परिच्छिन्न, कर्ता-भोक्ता, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति हैंयही अपना स्वरूप समझ आता है। जो विचारक जीव को महान् या व्यापक मानते भी हैं वे देश-काल में तो उसे व्यापक स्वीकार लेते हैं लेकिन वस्तु-परिच्छिन्न ही मानते हैं, सब जीवों को परस्पर, ईश्वर से और जगत् से अलग ही बताते हैं। पूर्वप्रक्रिया से बताने पर शंका होती है 'इतना बड़ा अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिसकी हम मन से भी कल्पना नहीं कर सकते उसे हमने कैसे बनाया?' इसका समाधान सृष्टिदृष्टि या महासृष्टि के ढंग से ही संभव है। जिसे तो स्वप्न की तरह जाग्रत् का हेतु स्वयं को समझने में कठिनाई नहीं है उसके लिये पूर्वप्रक्रिया पर्याप्त है किन्तु जिसे जाग्रत् की महत्ता अभिभूत किये है उसके लिये महासृष्टि की प्रक्रिया आवश्यक है। अतः साधक-भेद से दोनों प्रक्रियाओं का उपयोग है। सृष्टिकारण चेतन समझना आवश्यक, उस चेतन को प्रत्यक् समझना आवश्यक। महासृष्टि के ढंग से ईश्वर चेतन को कारण समझकर उसी चेतन को साक्षी समझा जायेगा। इस प्रकार दोनों प्रक्रियाओं का अंतिम नतीजा सर्वथा एक है। जड-कारणवादी तो एकमात्र ईश्वर को सृष्टिहेतु नहीं मानते अतः उन्हें भेद सत्य लगता है; पहले वह ग़लतफ़हमी दूर कर यह समझना ज़रूरी कि एकमात्र परमेश्वर ही चराचर संसार का कारण है। इससे भेदसत्यता का आग्रह समाप्त होता है। यदि भेद सत्य है तो कैवल्य मोक्ष असंभव है, जब तक कोई दूसरा है तब तक भय अवश्य रहता है यह श्रुति ने बताया है। अतः जड प्रकृति परमाणु आदि की कारणता मानना छोड़कर ईश्वरकारणता मानना पहला कदम होता है। जडकारणवादी स्वयं को जगत्कारण नहीं मान सकता क्योंकि 'मैं जड हूँ' यह अस्वीकार है। जो जगत् का कोई कारण नहीं

किं बहूक्त्याऽस्तु या काचित् सृष्टिः सा मायिकी ततः।
अद्वितीयानन्द आत्मा सुषुप्तावनुभूयते।।५४।।

मानता (चाहे इसलिये कि जगत् पैदा नहीं हुआ ऐसा स्वीकारता है जैसे मीमांसक, या इसलिये कि 'नहीं है' से ही उत्पत्ति मानता है जैसे असद्वादी) वह भी स्वयं को जगद्धेतु नहीं समझ सकता। उसे भी पहले समझना पड़ेगा कि ईश्वर ही जगत् का कारण है। ईश्वर ही कारण है यहाँ तक पहुँचकर ईश्वर के स्वरूप का विश्लेषण करने से पता चलता है कि वह सच्चिदानंद है। ऐसे ही स्वयं के स्वरूप की परीक्षा से पता चलता है कि हम (प्रत्यक्) सच्चिदानंद हैं। इससे निश्चित हो जाता है कि हम ईश्वर से अलग नहीं हैं। इसी अखण्डबोध से सारे द्वैत का बाध होकर अद्वैत परमानंद कैवल्य में प्रतिष्ठा हो जाती है। प्रायः लोग जीवभिन्न ईश्वर ही मानते हैं अतः प्रायः महासृष्टि की प्रक्रिया से ही सब साधना कर पाते हैं।।५३।।

श्लोक ४३ में कही बात का उपसंहार करते हैं **ज़्यादा कहने से क्या लाभ! प्रातिस्विक या सर्वसाधारण जो कोई भी सृष्टि हो, है वह मायिक ही और उसके सहारे अद्वितीय आनंदरूप आत्मा को समझना है जो सुषुप्ति में अनुभव किया जाता है।।५४।।** दोनों तरीकों के अपने-अपने लाभ हैं, समर्थक तर्क हैं अतः इनकी पैरवी की जा ही सकती है पर उससे फायदा कुछ नहीं क्योंकि हैं दोनों ही केवल उपाय, उनसे जिस तत्त्व को समझना है वही विचार के योग्य है। अखण्ड अद्वितीय वस्तु में वास्तविक भेद आ नहीं सकता इसलिये सृष्टि को मायिक ही मानना पड़ता है। सृष्टि वास्तविक मानें तो दो ढंग हो सकते हैंएक है तार्किकों का आरंभवाद कि जो चीज़ पहले नहीं थी वह कारण से पैदा होती है जैसे धागों से कपड़ा पैदा होता है। इस ढंग में अनेक कारणों की आवश्यकता पड़ती है जैसे ताने और बाने के विभिन्न धागे चाहिये। ईश्वर अनेक हैंऐसा तो कोई मानता नहीं! इसलिये तार्किकों को अनेक परमाणु स्वीकारने पड़ते हैं जो नित्य हैं, बनते-बिगड़ते नहीं। वे ताने-बाने की जगह हैं और ईश्वर जुलाहे की जगह है ऐसा तार्किकों का कहना है। इस मत के अन्य बहुतेरे दोष हैं, किन्तु सबसे बड़ी बात है कि श्रुति ने जो अनेक जगह कहा कि सारे जगत् का मूल कारण एकमात्र परमात्मा है उससे यह मत सर्वथा विरुद्ध है। अतः इससे विचार करने पर कैवल्य मोक्ष की कोई संभावना नहीं। अर्थात् यह मत न युक्ति व प्रमाण से समर्थित है और न फलवान् है। सृष्टि समझाने का दूसरा ढंग है सांख्यवादियों का परिणामवाद। वे कहते हैं कि कारण में कार्य छिपा रहता है और जब कारण अनुकूल तरह से बदलता है तब कार्य प्रकट हो

जाता है। जैसे दूध में दही मक्खन घी मावा छैनासभी छिपे हैं, जिसके अनुकूल तरीके से दूध बदल जायेगा वही चीज़ प्रकट हो जायेगी। प्रकट वही होगी जो छिपी है अतः पानी से घी नहीं प्रकट होगा। इस मत को स्वीकारने पर एक तो ईश्वर को निष्प्रपंच नहीं माना जा सकता क्योंकि सारे जड-चेतन प्रपंच को उसमें छिपा मानना ही पड़ेगा, और दूसरा प्रधान दोष है कि ईश्वर को बदलने वाला मानना पड़ेगा जबकि बदलने वाली सभी चीज़ें नश्वर होती हैं। यदि ईश्वर के बजाये प्रकृति को बदलने वाला माना तो तार्किक की तरह ही अद्वैत-श्रुति के विरोध का सामना करना पड़ेगा। इससे अतिरिक्त एक संघातवाद भी प्रसिद्ध है जिसमें कारण-सामग्री के अमुक ढंग से इकट्ठे हो जाने का ही नाम कार्य बन जाना है। इसमें भी अनेक कारण या सावयव कारण ही मानना आवश्यक होने से पूर्वोक्त दोष है ही। तीनों पक्षों में युक्ति से विचारने पर अन्य बहुत से अनुभव-विरोध, युक्ति-विरोध भी आते हैं।

इसलिये श्रुतिप्रोक्त अद्वैत, कैवल्य मोक्ष तथा 'नेह नाना' आदि भेदापह्नवइन सभी का सामंजस्य बैठाते हुए वेदान्ताचार्यों ने मायिक कारणवाद का समर्थन किया है। जैसे बाजीगर खेल दिखाता है, कहीं से कागज़-स्याही वगैरह लाये बिना अपनी ही शक्ति से नये करारे सौ-सौ रुपयों के नोट पैदा कर देता है, वैसे ईश्वर अपनी मायाशक्ति से सारा संसार पैदा कर देता है। इस ढंग की सृष्टि के लिये कारण अनेक नहीं चाहिये, एक ही बाजीगर विभिन्न खेल दिखा लेता है। अतः श्रुति ने जो कारण की एकता, अद्वितीयता कही उसका समादर हो गया। प्रातिस्विक सृष्टि भी इसी माया से है, मायिक ही है, जीव भी अपने अज्ञान से ही इंद्रियादि सब कुछ बनाता है। सर्वसाधारण सृष्टि में ईश्वर अपनी माया से आकाशादि बनाता है। माया और अज्ञान एक के ही दो नाम हैं। अतः दोनों तरीकों की सृष्टि रहती मायिक ही है। इसलिये यह द्वैतापादक नहीं, 'नेह नाना' से बाधित होने योग्य है तथा इसके बाध से कैवल्य ही स्वाभाविक है। इसी मायिक कारणवाद से अद्वितीय परमानंदरूप आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। सुषुप्ति में प्रपंचोपशम शान्त अद्वैत का भान सबको होता है किन्तु बिना समझे होने से वह टिका नहीं रहता, जब वेदोपदेशानुसार समझकर, अविद्या हटाकर वह भान होता है तब सनातन रहता है। उससे पूर्व, अज्ञान से आवृत आत्मा में ही जाग्रत्-स्वप्न प्रपंच का लय और उसी से आविर्भाव होता है। श्लोक ३५-३७ आदि में यह बता चुके हैं।।५४।।

राजा ने बालाकि को समझाया 'तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाय एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरम् आत्मानम् अनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ

जीवस्य देहव्यापनम्

अहङ्कारो मायिको यस्तदवच्छिन्नचेतनः।
आत्मा जागरणे कृत्स्नम् आनखं व्याप्नुयाद् वपुः।।५५।।
गूढोऽग्निररणौ व्यापी तथा सुप्तौ चितिर्वपुः।
व्याप्नोत्यविद्यया गूढा जागरे क्षुरवत् स्थिता।।५६।।
नापितस्य क्षुराः पात्रे स्पष्टा भान्ति पृथक् स्थिताः।
चक्षुरादिषु चिल्लेशाः स्पष्टा भान्ति पृथक् तथा।।५७।।

नखेभ्यः' (४.१८) अर्थात् जैसे उस्तरा रखने के खोल में उस्तरा रहता है या लकड़ी आदि ईंधन में आग रहती है वैसे इस शरीर में नख-लोम पर्यन्त प्राज्ञ आत्मा घुसा हुआ है। सुषुप्ति में आत्मा कैसे रहता है यह आग के दृष्टांत से कहा और जाग्रत् में कैसे रहता है यह उस्तरे के दृष्टान्त से कहा। सुषुप्ति में शरीर में आत्मा व्याप्त रहते हुए भी स्पष्ट नहीं, छिपा ही होता है जैसे आग लकड़ी में छिपी होती है। नाई के बक्से में जैसे उस्तरा, कैंची, नहनी आदि स्पष्ट होते हैं वैसे जाग्रत् में चक्षु आदि में चिदंश स्पष्ट हो जाते हैं। यह विषय प्रकट करते हैं **मायिक अहंकार से परिसीमित चेतन आत्मा जाग्रदवस्था में नखपर्यन्त सारे शरीर को व्याप्त किये रहता है।।५५।। जैसे अरणि में व्याप्त होते हुए भी अग्नि छिपी रहती है वैसे सुषुप्ति में चेतन शरीर में व्याप्त तो रहता है लेकिन अविद्या से छिपा हुआ। जाग्रत् में चेतन उस्तरे की तरह शरीर में प्रकट रहता है।।५६।। नाई के बक्से में जैसे अलग-अलग रखे उस्तरे आदि स्पष्ट पता चलते हैं वैसे जाग्रत् में चक्षु आदि में चेतन के लेश (अंश, आभास) स्पष्ट पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं।।५७।।** अहंकारात्मिका वृत्ति मायिक है। सृष्टिदृष्टि के अनुसार माया से ही पंचभूत बनते हैं, उन्हीं से अंतःकरण बनता है, अन्तःकरण की ही वृत्ति अहंकार है अतः अहंकार का मूल माया ही है। दृष्टिसृष्टि में सुषुप्ति से उठने पर अहंकार प्रथम विकार उपस्थित होता है, वह भी सौषुप्त अज्ञानरूप माया से ही। अहंकार से अवच्छिन्न (परिसीमित, तादात्म्यापन्न, अविविक्त) आत्मा ही कर्ता-भोक्ता होने से सृष्टिचक्र का वही केंद्र है, वही शुभाशुभ कर्म करता है, उन्हीं का फल भोगने के लिये सृष्टि है। प्रातिस्विक व सर्वसाधारण दोनों ही प्रक्रियाओं में यह बात एक-सी है कि कर्ता भोक्ता अहमात्मा है। अहंकार मायिक है अत एव सारे व्यवहार का संपादन उससे हो जाता है। मायिक होने से अहंकार विचार नहीं सहन करता : वृत्ति जड और आत्मा चेतन हैं, न जड कुछ कर-भोग सकता है न व्यापक निर्विकार चेतन कुछ कर-

भोग सकता है। फिर भी वृत्ति-आत्मा का सम्मिलित रूप सब कुछ कर-भोग रहा है! और इनका मिलना भी किसी भी प्रसिद्ध मिलने जैसा नहीं, संयोग-समवायादि नहीं है! इसलिये विचारने पर नहीं समझ सकते कि कर्ता-भोक्ता कौन है, अविचार से ही यह स्थित है क्योंकि मायिक है। अहमवच्छिन्न चेतन ही सारे शरीर में नख तक फैला रहता है, जाग्रत् में प्रकटरूप से और सोते समय या मूर्छा के समय छिपेरूप से। छिपा होने के कारण ही सुषुप्ति में शरीर के अंदर चेतना क्षीण हो जाती है, हलके स्पर्श आदि का पता नहीं चलता। लेकिन रहता तब भी अहमात्मा शरीर में ही है अतः राजा ने शरीर पर ही लाठी मारी तो उठा था, दीवार पर लाठी मारने से तो नहीं उठता! जैसे फूटा घड़ा मिट्टी में मिल जाता है, उस समय उससे घड़े का कार्य नहीं लिया जा सकता लेकिन फिर मिट्टी से जब घड़ा बन जाता है तब उससे कार्य लिया ही जा सकता है, वैसे सुषुप्ति में अविद्या में विलीन हुआ अहंकार शरीर में वैसी चेतना नहीं देता जैसी जाग्रत् में देता है, जब जाग्रत् में अहंकार पुनः प्रकट हो जाता है तब शरीर में पूरी चेतना ला देता है। अविद्या में लीन होकर अहंकार बना रहता है, समाप्त नहीं हो जाता और न ही शरीर छोड़कर कहीं जाता है।

समाप्त तो वह मुक्ति पर ही होगा और शरीर वह मरने पर ही छोड़ता है। इसमें अरणिगत गूढ अग्नि उदाहरण है। यज्ञार्थ अग्नि प्रकट करने के लिये लकड़ी के दो उपकरण कार्य में लिये जाते हैं एक ऊखल जैसा, दूसरा मूसल जैसा, ऊखल जैसे के ऊपर मूसल जैसे को रख कर मथनी की चरह चलाते हैं तो घर्षण से आग प्रकट हो जाती है। घर्षण के बिना लकड़ी ठण्डी ही रहती है, उसमें छिपी आग उसे गर्म नहीं बनाती, जलाती नहीं। यह नहीं कह सकते कि उसमें आग है नहीं क्योंकि नहीं होती तो घिसने से निकल नहीं सकती थी। इसी तरह सुषुप्ति में अहंकार शरीर में है पर अविद्या में छिपा हुआ इसलिये प्रकट नहीं है। जाग्रत् में वह प्रकट है जैसे नाई के बक्से में उसके औजार प्रकट रहते हैं। बक्सा भी खुला समझना चाहिये, क्योंकि बंद बक्से में तो वे भी अप्रकट ही हैं, पता नहीं चलता कि कौन-से औज़ार हैं, कौन-से नहीं हैं। खुले बक्से में जैसे सारे औज़ार अपनी-अपनी जगह उपस्थित दीखते हैं वैसे जाग्रत् में आत्मा के आभास आँख-कान आदि सब जगहों पर स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। सोते समय देखने-सुनने आदि की सब शक्तियाँ अविद्या में छिप जाती हैं अतः देखना-सुनना नहीं होता, जगने पर प्रकट होती हैं तो अपना-अपना कार्य कर लेती हैं। वे शक्तियाँ अर्थात् इंद्रियाँ देखने आदि में तभी समर्थ हैं जब उनसे आत्मा का तादात्म्य हो। जैसे बिजली रहने पर ही लट्टू जलता है

कर्ता मुख्यः

सर्वेऽपि करणात्मानः कर्त्रात्मानमिमं सदा।
अनुसृत्यैव तिष्ठन्ति श्रेष्ठिनं स्वजना इव।।५८।।

पंखा चलता है वैसे आत्मतादात्म्यवश ही आँख देखती है कान सुनता है। अत एव 'जिस मैंने सुना, उसी मैंने देखा' आदि देखने-करने आदि का सामानाधिकरण्य अनुभव में आता है। यदि आत्मा को अपने में समेटे बिना आँख देखती, कान सुनता तो आँख को ही रूपका और कान को ही शब्द का पता चलता, 'मैं' को नहीं पता चलता कि शंख (हॉर्न) बजाते हुए गाड़ी आ रही है या यह न लगता कि 'गड्ढा देखा इसलिये पैर बचाकर रख रहा हूँ।' इन अनुभवों से निश्चित है कि चेतन को ही इंद्रियादि से ज्ञान होते हैं व वही कर्मेंद्रियों से क्रिया करता है। इसलिये कहा कि आँख आदि में चेतन के ही लेश हैं। (निर्णयसागर का 'लेखाः' पाठ ग़लत है, कावेल व मुत्तुशास्त्री का 'लेशाः' ही ठीक है।) जैसे घट-कुल्हड़-परई आदि में आकाश के लेश होते हैं या दर्पण-जल-कृपाण आदि में सूर्य के (प्रतिबिम्बात्मक) लेश होते हैं वैसे इंद्रियों में चेतन के लेश समझने चाहिये। चेतन एक ही है, उसी की सामर्थ्य से आँख देखती है, कान सुनता है पर देखेगी आँख ही, सुनेगा कान ही, ऐसा नहीं कि आँख सुन ले और कान देख ले! इसलिये आत्मा-मात्र को नहीं वरन् आँख द्वारा समेटे गये आत्मा कोजिसे लेश कहाआँख में उपस्थित होकर देखने वाला मानना पड़ता है। ऐसे ही अन्य इंद्रियों के बारे में समझना चाहिये। ये लेश जाग्रत् में ही व्यक्त होते हैं, सोते समय इंद्रियाँ ही लीन हो जाती हैं तो लेश रहने का प्रश्न ही नहीं। इस प्रकार समझाया कि जाग्रत् आदि सभी अवस्थाओं में अहंकार से अवच्छिन्न आत्मा सारे शरीर में व्याप्त रहता है।।५५-७।।

राजा ने अहमात्मा की प्रधानता सोदाहरण समझायी : 'तमेतमात्मानम् एत आत्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वा भुञ्जत एवमेवैष प्राज्ञ आत्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते।' (कौ.४.२०) आत्मलेशरूप वागादि अहमात्मा का अनुसरण करते हैं जैसे कुटुम्ब के सदस्य धनी का अनुसरण करते हैं। धनी अपने स्वजनों के साथ अन्नादि का उपभोग करता है, स्वजन उसी के धनादि का उपभोग करते हैं, इसी प्रकार अहमात्मा इंद्रियों सहित कर्ता-भोक्ता बनता है, उसी की सामर्थ्य से इंद्रियाँ सक्षम होती हैं। इस खण्ड को समझाते हैं **सभी करणरूप आत्मा इस कर्तारूप आत्मा का हमेशा अनुसरण करते हुए ही रहते हैं जैसे कुटुम्ब के लोग धनाढ्य का अनुसरण करते हैं।।५८।। धनी सेठ हमेशा अपने पुत्र-मित्रादि के**

पुत्रमित्रादिभिः स्वीयैः सार्धं श्रेष्ठी धनी सदा।
भुङ्क्ते तेऽपि तदिष्टार्थं कुर्वन्तो भोजयन्ति तम्।।५९।।
एवं जीवः स्वकीयाक्षैः सार्धं शब्दादिकान् सदा।
भुङ्क्तेऽक्षाणि च शब्दादीन् गृह्णन्ति स्वामितुष्टये।।६०।।

साथ विषयों का भोग करता है तथापि पुत्रादि भी सेठ की इच्छा के अनुसार कार्य करते हुए उसे भोग कराते हैं।।५९।। इसी तरह जीव सदा अपनी इंद्रियों सहित शब्दादि का भोग करता है तथा इन्द्रियाँ जीव की ही संतुष्टि के लिये शब्दादि ग्रहण करती हैं।।६०।। चक्षु आदि में चित् के लेश रहते हैं यह श्लोक ५७ में कहा था। पहले चित् अहंकार द्वारा परिच्छिन्न होता है फिर अहंपरिच्छिन्न चेतन के ही लेशों को ही इंद्रियाँ अपने में ग्रहण करती हैं जैसे कारखाने से माल थोक-व्यापारी लेता है, उसी से खुदरा व्यापारी खरीदते हैं। इसलिये इंद्रियाँ तभी चित्-लेश प्राप्त करेंगी जब अहंकार हो। अहंकार लीन हो जाये और सीधे ही आत्मा का लेश इंद्रियाँ ले लें यह नहीं होता। इन्द्रियाँ काम करती रहें, मैं उनसे अस्पृष्ट रहूँयह हो नहीं सकता क्योंकि इंद्रियाँ कुछ करें इसके लिये 'मैं' को उनमें मौजूद होना पड़ता है। आदतन होने वाली क्रियादि में लगता अवश्य है कि बिना अभिमान के हो रही हैं जैसे गप्प हाँकते हुए रास्ते पर चलते हैं तो प्रतीत होता है कि अहंकार गप्पों से ही जुड़ा है, चलने रास्ता देखने आदि का कार्य स्वतः हो रहा है, उसमें अहंकार का संबंध नहीं; किंतु वहाँ भी सम्बन्ध है ही, अहंकार का सर्वथा सम्बन्ध न रहे तो जैसे सुन्न किये पैर नहीं चलते वैसे चलने का कार्य हो ही नहीं सकता। अहंकार का सहारा लिये बिना इंद्रियाँ कुछ नहीं करतीं। अन्तर होता है मन के ध्यान का, जिस इंद्रिय से कार्य करने में मन ज़्यादा सावधान है लगता है उसी से अहं का सम्बन्ध है, जिधर मन का ध्यान नहीं उससे अहं असम्बद्ध लगता है। किन्तु यह भेद मनःसम्बन्ध का है, अहं तो सबसे संबद्ध रहे तभी सब काम करती हैं। इसीलिये कहा कि अहंकार का ही अनुसरण इंद्रियाँ करती हैं।

अत एव नियमित प्रयास शिक्षण में उपयोगी होता है। मन न लगे फिर भी ध्यान करने की कोशिश करते ही रहो तो धीरे-धीरे मन ध्यान में लगने भी लगेगा। ऐसे ही पढ़ना एवं अन्य कार्यों को करने में है। अहंकार या बुद्धि के स्तर पर जो निश्चय दृढ होता है, मन इंद्रियाँ आदि उसी के अनुसार ढलती हैं। राजकुमारों को अत्यंत अल्पायु से 'मैं राजकुमार हूँ' का अभिमान दृढ कराया जाता है तो उनका सोचना विचारना ही नहीं चलना-फिरना भी विशेष अकड़ वाला हो जाता है। बाल्यकाल से ही अपने ब्राह्मणत्व के

अहंकार को जिसने पुष्ट किया है उसकी इंद्रियाँ, ब्राह्मण के उचित न हो ऐसे कार्यों की ओर प्रवृत्त नहीं होती। यदि अहंकार पुष्ट न कर मन-इंद्रियों का अनुसरण करने लग गये तो यह अनुभव होता है कि 'मन-इंद्रियाँ मुझे आकृष्ट कर रही हैं' अर्थात् मैं गौण हो जाता हूँ, वे प्रधान हो जाती हैं। मन ध्यान न करना चाहे तो मैं ध्यान के लिये न बैठूँयह प्रवृत्ति रखने से मैं कमज़ोर पड़ता जाता हूँ, मन प्रबल हो जाता है। कार्य में, व्यापार में सावधान न रहने वाले, अपने निर्णय का पालन न कराने वाले धनी को जैसे उसके मुनीम आदि अपने अनुसार नचाने लगते हैं या शासन में अक्षम राजा का फायदा मंत्री अफ़सर आदि उठाने लगते हैं, राजा खुद को मज़बूर समझता है जबकि वास्तव में मुनीमों की शक्ति तभी तक है जब तक सेठ उन्हें सामर्थ्य दिये है या मंत्री आदि की शक्ति तभी तक है जब तक राजा उन्हें नियुक्त किये हुए है, वैसे मन-इंद्रियों की सामर्थ्य है तो अहंकार द्वारा प्रदत्त ही पर कमज़ोर पड़ा अहंकार समझता है मानो वही इंद्रियों के अधीन हो। अतः चाहे बाह्य जगत् में और चाहे अध्यात्म मार्ग में, प्रगति के लिये अहंकार की पुष्टि चाहिये। 'मैं साधक हूँ, परमात्म-मार्गका पथिक हूँ' यह अभिमान दृढ हो तो मन-इंद्रियाँ बलात् इसी दिशा में कार्य करने लगेंगे।

इसमें सेठ का उदाहरण स्पष्ट ही है, उसकी पसंद-नापसंद के अनुसार ही उसके कुटुम्बियों को चलना पड़ता है, न चाहकर भी चलना पड़ता है। कुटुंबियों की जगह इंद्रियाँ और सेठ की जगह अहंकार है। दृष्टांत में भी, यदि सेठ अपने महत्त्व का प्रयोग न करे तो पुत्रादि उसके अनुसार नहीं करेंगे, मनमानी करेंगे, अतः यहाँ सेठ भी वही समझना चाहिये जो अपने महत्त्व के प्रति जागरूक है। ऐसा व्यक्ति अकेले ही भोग कर ले यह नहीं होता, वह सबका ख्याल रखकर सबके साथ मिलकर ही भोग करता है तभी सबका उससे संबंध दृढ होता है। आधुनिक प्रवृत्ति 'सेठों' की न होकर 'उद्योगपतियों' की है, वे स्वयं होटलों में, विदेशों में घूमते-खाते हैं, महँगे गहने-कपड़े पहनते हैं, अपने कुटुम्बीजनों के साथ भोग करके खुश नहीं होते। ऐसों के कुटुंबी भी उनका अनुसरण नहीं करते वरन् मौका मिले तो घात भी कर देते हैं! जब पुत्र-मित्र आदि के ही साथ मिलकर भोग नहीं कर पाते तो समाज के साथ मिलकर भोगने का प्रश्न ही नहीं। समाजोपयोगी कार्यों में, धर्मशाला अन्नक्षेत्रादि में वे धन नहीं लगाते। खुद लाखों रुपये का मनोरंजन कर लेंगे लेकिन गाँव-भर के लोगों का मनोरंजन हो जाये ऐसे एक कार्यक्रम का भी आयोजन नहीं करेंगे। जो कुछ करेंगे उसमें भी प्रवेश के लिये टिकट लगा देंगे! ऐसों के प्रति समाज में भी विद्वेष ही पनपता है। इस प्रकार के लोगों को यहाँ दृष्टांत में सेठ नहीं समझना चाहिये वरन् जो सबके साथ मिल बैठकर अपने धन का उपभोग करता है ऐसे सेठ को समझना

परमात्मोपदेशः

यत्र तिष्ठति भोक्ताऽसौ सुप्तौ जागरणे पुनः।
यस्मादुदेति सोऽद्वैतः परमात्मेति बुध्यताम्।।६१।।
इत्थमद्वैतबोधार्थम् अहङ्कारे परेश्वरः।
स्पष्टचित्प्रतिबिम्बोऽभूद् इति श्रुत्यन्तरे श्रुतम्।।६२।।

चाहिये। अहंकार सेठ है, उसने पुण्य का धन कमा रखा है जिससे वह इंद्रियों को विषय प्राप्त करा देता है और इंद्रियों के सहित भोग करता है, रसगुल्ला खाकर जीभ भी तृप्ति महसूस करती है और अहंकार भी सुखी होता है। जैसे कोई सेठ बिना पुत्र वाला, बिना पुत्री वाला, बिना भाई वाला आदि भी होता ही है वैसे किसी अहंकार को कई बार आँख, कान, हाथ, टाँग के बिना भी जीवन बिताना ही पड़ता है। जैसे कुटुंबीजन खोज-खोजकर नवीन सरस वस्तुएँ सेठ के लिये लाते हैं वैसे इंद्रियाँ अहंकार के लिये लाती हैं। जैसा धन सेठ के पास है वैसे ही पदार्थ उसके लिये लाये जा सकते हैं, इसी प्रकार पुण्य-धन से सुखद विषय और पाप-धन से दुःखद विषय अहंकार के लिये इंद्रियों द्वारा लाये जाते हैं। जैसे कई बार सेठ पुत्रादि द्वारा लायी चीज़ों से खुश नहीं होता वैसे इंद्रियों द्वारा लाये दुःखद विषयों से अहंकार प्रसन्न नहीं होता। इस प्रकार अहंकार की प्रधानता स्पष्ट की।।५८-६०।।

ब्रह्म क्या हैयह बताना राजा ने प्रारंभ किया था, उसी का निगमन बताते हैं **सुषुप्ति में यह भोक्ता जहाँ रहता है और जगने पर फिर जिससे प्रादुर्भूत होता है वह अद्वैत परमात्मा है यह समझना चाहिये।।६१।। इस तरह अद्वैत समझ आये इसीलिये परमेश्वर अहंकार में स्पष्टतः चित्का प्रतिबिंब बना यह अन्य श्रुतिवचन में सुना जाता है।।६२।।** अवस्थात्रय का अधिष्ठान, साक्षी, तुरीय परमात्मा है यह उपनिषदों ने बताया है। परमात्मा की पूर्णता तब तक नहीं हो सकती जब तक वह प्रत्यक् भी न हो, और प्रत्यग्रूप से उसे समझने के लिये द्वार बनता है अहंकार। हम अहंकार को ही प्रत्यक् समझते हैं, जब उसके साक्षी के रूप में ब्रह्म बताया जाता है तभी पता चलता है कि मैं ब्रह्म हूँ। जब तक यह तत्त्वबोध नहीं होता तब तक अज्ञान और उसमें कर्म बने रहते हैं अत एव पुनः पुनः सुषुप्ति से जगते रहना पड़ता है। अज्ञान मिटते ही एक अखण्ड स्वप्रकाश आनन्द ही रह जाता है, अवस्थाओं में, जन्म-जन्मान्तर में भटकना समाप्त हो जाता है। अहंकार में चिदाभास डाला ही इसलिये गया है कि उस आभास के बिम्ब के रूप में चित् समझा जा सके। बृहदारण्यक (२.५.१९) में कहा है

ज्ञानफलम्

यावदद्वैतमात्मानम् इन्द्रो नैव विजज्ञिवान् ।
असुरा बहिरन्तःस्थास्तावदभ्यभवन्निमम् । ।६३ । ।
बहिष्ठा असुराः स्वर्गे स्थितमेनं बबाधिरे ।
आन्तरा असुराश्चित्ते कामाद्या दुःखदायिनः । ।६४ । ।

'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय' कि आत्माका विभिन्न अहंकारों वाला रूप इसीलिये है कि आत्मस्वरूप का दर्शन हो सके। जीवरूप से ब्रह्म ने प्रवेश ही इसलिये किया कि अपनी पूर्णता को जाने। अनादि अज्ञान से वह पूर्णता आवृत है, उसे अनावृत करना ही प्रवेश का प्रयोजन है। दृष्टिसृष्टि के ढंग में भी सुषुप्ति में क्योंकि अज्ञान है इसीलिये अहंकार उद्बुद्ध होता है जिससे चेतन परिच्छिन्न होता है, उसमें भी प्रयोजन आत्मबोध ही है। प्रत्यग्रूप से पूर्ण चेतन का अनुभव अहंकार के साक्षी रूप से ही संभव है। बाह्य वस्तुओं में सच्चिदानंदरूपता पता चल भी जाये तो भी प्रत्यग्रूपता कभी पता नहीं चल सकती। ज्ञान के लिये ज्ञाता होना अनिवार्य है, पूर्ण का ज्ञान भी किसी ज्ञाता को ही होगा, यदि वह स्वयं को पूर्ण से अलग रखकर समझता है तो पूर्ण की पूर्णता खण्डित होती है अतः ज्ञाता को स्वयं को पूर्ण समझना ही पड़ेगा। पूर्ण कोई सांश वस्तु तो है नहीं कि खुद को ब्रह्म का अंश समझा जा सके! इसलिये प्रत्यगात्मा की पूर्णता जानना ही ब्रह्मज्ञान है और इसीलिये परमेश्वर ने चिदाभास के रूप में प्रवेश किया है। जानना ही चेतन की विशेषता है और यह अहंकार में ही प्रकट होती है 'मैं जानता हूँ' यहीं जानना अपरोक्ष है, अन्यत्र परोक्ष ही है कि 'वह जानता है।' अतः संसारकाल में भी आत्मा का सर्वाधिक स्पष्ट अनुभव मैं में ही है और मोक्ष के लिये भी जो ज्ञान चाहिये वह मैं-रूप से ही होगा। ।६१-२ । ।

उपदेश समाप्त करते हुए अजातशत्रु ने कहा कि देवराज इंद्र को भी जब तक इस आत्मा का ज्ञान नहीं था तब तक उसे असुर अभिभूत कर लेते थे, जब इंद्र ने आत्मा को जान लिया तब अुसरों को मारकर, हराकर वह सब देवताओं में श्रेष्ठ, स्वराट्, अधिपति बन गया। और भी जो आत्मज्ञान पा लेता है वह सब प्राणियों में श्रेष्ठ, स्वराट्, अधिपति हो जाता है। इस फलप्रकरण को समझाते हैं **इन्द्र ने जब तक अद्वैत आत्माका साक्षात्कार नहीं किया तब तक बाहरी व भीतरी असुर उस पर हावी रहे। ।६३ । । स्वर्ग में स्थित इंद्र को बाहरी असुर बाधा पहुँचाते ही थे और चित्त में स्थित इंद्र को कामना आदि आन्तर असुर दुःख देते थे। ।६४ । ।** असु अर्थात् प्राण, उन्हीं

यदा विजज्ञावात्मानम् असुरानखिलांस्तदा।
हत्वा जयेन देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाप्तवान्।।६५।।

में रमण करे वह असुर; खाना-पीना विषयोपभोग करना इसी में जो प्रसन्न रहे वह असुर है। ऐसे लोग धार्मिक कार्य भी नहीं सहन कर पाते तो देवताओं को बाधा पहुँचायेंगे इसमें कहना क्या! हज़ार लोगों को या बंदरों, कुत्तों को रोटी खिलायी जाये तब तो प्राणों की तृप्ति समझकर असुर राजी होते हैं लेकिन देवताओं को अन्न की हज़ार आहुतियाँ दी जायें तो असुरों का जी जलता है। असुर स्वर्ग ब्रह्मलोकादि की भी यही कल्पना समझते हैं कि खूब विषयोपभोग वहाँ होते हैं। ऐसे असुर अज्ञान रहते परेशान करेंगे ही। आसुरी भावों से दब जाना, अपने में आसुर संपत्ति पनपने देना ही असुरों की जीत है। बाहरी असुर तभी सफल वार कर पाते हैं जब भीतरी असुर मौजूद हों। भीतर काम-क्रोध आदि हैं तभी बाह्य असुर प्रभावी हो सकते हैं। जैसे अध्यात्म तेजोरूप चक्षु है तभी अधिभूत तेजआत्मक रूप आकृष्ट कर सकता है, अंधे को रूप आकृष्ट नहीं करता, वैसे अंदर आसुरी भावनाएँ हों तभी बाहरी असुर बाधा पहुँचा सकते हैं। स्थूल शरीर की दृष्टि से इंद्र स्वर्ग में स्थित है और अहंकार के स्तर पर चित्त में स्थित है, दोनों जगह उस पर असुर वार करते रहे जब तक उसने आत्मज्ञान नहीं पा लिया। आंतर असुरों में विद्यारण्य स्वामी ने काम को प्रथम गिना क्योंकि यही सब आसुर वृत्तियों का मूल है। खुद को परिच्छिन्न समझने पर कामना होती है, अपरिच्छिन्न जानकर तो हो नहीं सकती, कुछ भिन्न है तभी प्राप्य होता है। कामना पूरी हो जाये तो लोभ होता है और पूरी न हो तो क्रोध होता है। लोभ, जैसे सात दिन तक भिक्षा न मिले तो रोटी की तीव्र कामना होती है, सूखी रोटी ही अतीव तृप्ति देती है। किन्तु चार दिन रोटी मिलती रहे तो एक-आध रोटी बचाकर शाम के लिये रख लेते हैं! और फिर उसे यदि बिल्ली खा जाये तो उस पर क्रोध आता है। इस तरह कामना ही सब आसुर वृत्तियों का मूल है।।६३-४।।

अज्ञान रहते असुरों से इंद्र की हार बताकर ज्ञान से इंद्र की जीत बताते हैं **इंद्र ने जब आत्मा का विज्ञान प्राप्त कर लिया तब सब असुरों को मार डाला और इस विजय के कारण सब देवताओं में श्रेष्ठ हो गया। उसे स्वाराज्य मिल गया है।।६५।।** आत्मबोध होने से अज्ञान नष्ट हो गया तो तन्मूलक कामादि और उन्हीं का सहारा लेकर आक्रमण करने वाले बाह्य असुर सब स्वतः निवृत्त हो गये। तत्त्वज्ञान के कारण ही देवताओं में भी इंद्र सर्वश्रेष्ठ है। अज्ञदशा में भी वह देवराज तो था, ज्ञान होने पर वह स्वराट् बन गया। जब केवल स्वका, अपना ही राज्य रहे तब स्वाराज्य कहलाता

अजातशत्रुतामेमि जातब्रह्मात्मबोधतः।
अन्तर्बहिर्वा कः शत्रुर्मम सर्वात्मदर्शिनः।।६६।।
'ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये प्राणिनो मम ते वपुः।
कामक्रोधादयो दोषा जायेरन् मे कुतोऽन्यतः।।'६७।।

है। जब तक कोई दूसरा है तब तक केवल अपना राज्य नहीं हो सकता, किसी-न-किसी अंश में दूसरे का भी राज्य रहेगा। जब कोई दूसरा रह ही न जाये तभी स्वाराज्य हासिल होता है। कामना आदि असुर हैं तब तक तो उन्हीं का राज्य चलता है, वे भी सब नष्ट हों तभी स्वाराज्य साम्राज्य की प्राप्ति संभव है।।६५।।

राजा स्वयं अपने उदाहरण से इस स्थिति को प्रकट करता है **क्योंकि मुझे ब्रह्म की आत्मरूपता का अनुभव हो गया है इसीलिये मैं अजातशत्रुभाव को प्राप्त हूँ। मैं सबको आत्मा देखता हूँ अतः बाहर-भीतर मेरा शत्रु कौन हो!।।६६।।** (अजाशत्रुताम् एमि यह कावेल का ही पाठ ठीक है, निर्णयसागर व मुत्तुशास्त्रीका 'एति' पाठ उचित नहीं। 'जातब्रह्मात्मबोधनः' पाठ मिल सके तो बेहतर है, मुद्रित सभी संस्करणों में तो '...बोधतः' ही पाठ है। उसमें भावप्रधान निर्देश मानकर 'बोधत्वतः' व्याख्या करनी चाहिये।) कामना आदि का आत्यंतिक नाश उनकी अनुत्पत्ति ही है। तत्त्वबोध से पता चलता है कि कामनादि समेत सारा जगत् ही अनुत्पन्न है। अतः राजा ने कहा कि इस ज्ञान के बल से वह यथार्थ अजातशत्रु है, उसका कोई शत्रु पैदा ही नहीं हुआ। कोई दूसरा हो तभी शत्रुता होती है, स्वयं से शत्रुभाव नहीं होता। दूसरा चुटकी भी काटे तो उसे थप्पड़ मारते हैं, अपने दाँत अपनी जीभ रोज़ भी काटे तो कोई दाँत नहीं तोड़ डालता। जब पता चलता है कि मुझ से अतिरिक्त कहीं कुछ है नहीं तब शत्रुता की संभावना दूर हो जाती है। कामना और तन्मूलक अन्य आसुर भाव तभी संभव हैं जब स्वस्वरूप का अज्ञान हो, अपने से वास्तव में भिन्न कुछ है ऐसा निश्चय हो। जब अज्ञान नहीं रहता, भेद सत्य नहीं लगता तब कामनादि भी असंभव हो जाते हैं। इससे राजा ने बताया कि इंद्र ही नहीं, जो कोई भी अद्वैतज्ञान में प्रतिष्ठित होता है वह अजातशत्रु हो जाता है।।६६।।

इसी बात में आचार्य शङ्कर के उपदेशसाहस्री (६.४) के वचन को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं **'ब्रह्मा से प्रारंभ कर घास के तिनके तक जो प्राणी हैं वे मेरा शरीर हैं अतः काम क्रोधादि दोष मुझ में कैसे होंगे जबकि वे तभी पैदा होते हैं जब कोई अन्य हो।।' ।६७।।** सर्वात्मभाव का अपरोक्षानुभव हो जाने पर कामादि संभव नहीं। प्राणियों का उल्लेख इसलिये किया कि तत्त्वज्ञ की तृप्ति का पता चल जाये। इन्द्र के शरीर से अमृत पीना और सुअर के शरीर से मलरस पीना जिसे युगपत्

असुराणां स्वात्मताप्तावसुरत्वं हतं भवेत्।
अयमेव जयस्तस्य देवेभ्यः श्रेष्ठता ततः।।६८।।
अद्वैतमपराधीनं स्वराट् स्यात्तेन तत्त्ववित्।
आत्मानं बोधयित्वैषाम् अधिपोऽधिकपालनात्।।६९।।

उपलब्ध है उसे सभी भोग अपनी समग्रता में प्राप्त हैं अतः वह सर्वथा तृप्त रहता है। इसी प्रकार उसे स्पर्धा, ईर्ष्या, मात्सर्य, असूया आदि का भी कष्ट संभव नहीं। यही पूर्ण शांति है।।६७।।

इन्द्र ने असुर मार गिराये इस कथन का भाव स्पष्ट करते हैं **असुर जब हमारे आत्मा बन जाते हैं तब उनकी असुरता मर जाती है। यही इंद्र की जीत है, उसने उन्हें अपना आत्मा बना लिया। इसीलिये वह देवताओं से श्रेष्ठ भी है।।६८।।** असुरों में बैठकर मौज करने वाला मैं आत्मा ही हूँ यह जानने पर असुरता निवृत्त हो जाती है। जो सुर-शरीर में वही असुर-शरीर में, इस व्यापक के ज्ञान से सुरासुर का मिथ्या भेद निरस्त रह जाता है। शरीर-मन तक ही असुरता संभव है, वे मिथ्या हैं, सत्य आत्मा है, उसमें असुरता संभव नहीं। जय, जीतने का अर्थ है सबसे उत्कृष्ट होकर रहना। आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट है, तन्मात्ररूप से रहना ही वास्तविक जीत है। इसलिये इंद्र न केवल असुरों से वरन् देवों से भी श्रेष्ठ हो गया क्योंकि वास्तव में वह सभी से श्रेष्ठ जो आत्मा, तद्रूप हो गया था। उपाधियों में परस्पर एक-दूसरे का अभिभव ही जय नहीं वरन् सब उपाधियाँ छोड़कर व्यापक भाव में रहना ही जय है।।६८।।

इन्द्र को राजा ने स्वराट् और अधिपति भी कहा था (श्लो. ६३), उन शब्दों का अर्थ बताते हैं **अद्वैत ही स्वतन्त्र है। तत्त्वज्ञ उस अद्वैतरूप से विद्यमान होने के कारण स्वराट् है। सब अधिकारियों को आत्मा का बोध कराकर वह उनका अधिक पालन करने से अधिप है।।६९।।** पराधीनता में दुःख अवश्य है, वह पर चाहे जितना श्रेष्ठ हो, दयालु हो किन्तु उसके अधीन रहने में दुःख होता ही है। जब तक एक मच्छर, मक्खी या छोटा-सा अमीबा भी हम से अलग है तब तक कभी-न-कभी वह हमें अपने अधीन बना लेगा! इसलिये पूर्ण स्वतंत्रता अद्वैत में ही है। तभी स्वाराज्य है, उसी स्थिति में हम स्वराट् हैं, खुद अपने राजा हैं, किसी के अधीन हमारी सत्ता-स्फूर्ति नहीं है। यह है तो सनातन वास्तविकता पर अज्ञानावृत होने से हम पराधीन बने हैं अतः इस स्वाराज्य का लाभ केवल तत्त्वबोध से संभव है, अन्य कोई उपाय नहीं है। इसलिये आत्मज्ञ ही स्वराट् है। इंद्र आत्मवेत्ता होने से ही स्वराट् था, देवराज होने से नहीं। 'अधिपति' में

नैतदिन्द्रस्य माहात्म्यं किन्तु ज्ञानस्य तत्त्वतः ।
अन्योऽप्यद्वैतमात्मानं वेत्ति चेदिन्द्रवद्भवेत् । ।७० । ।

उपसंहारः

अजातशत्रुर्बालाकिं विप्रमित्थमबोधयत् ।
तथैवोत्तमतागर्वं त्यक्त्वा जानीत बुद्धिमान् । ।७१ । ।
विद्वानप्युपसन्नाय दद्याद् विद्यां महादरात् ।
देयात् ताभ्यां स्वभावं तं विद्यातीर्थमहेश्वरः । ।७२ । ।

। । इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे कौषीतकीशाखोपनिषद्विवरणे अजातशत्रुविद्या नाम नवमोऽध्यायः । ।

'अधि' का मतलब है अधिक और 'पति' अर्थात् पालनकर्ता। सामान्य पालन तो अन्न-वस्त्रादि देकर पिता राजा आदि करते हैं, सर्वाधिक पालन वह ब्रह्मनिष्ठ करता है जो आत्मज्ञान कराता है। इंद्र ने देवताओं को तथा अन्यों को आत्मतत्त्व का उपदेश दिया इसीलिये वह अधिपति है। भूख-प्यास का प्रवाह साधारण पालक रोकता है, गुरु जन्म-मृत्यु का प्रवाह रोक देता है, यही इसकी अधिकता है। ।६९ । ।

यह फल सर्वसुलभ है यह बताते हैं **यह माहात्म्य इन्द्र का नहीं वरन् ज्ञान का है। अन्य भी जो अधिकारी अद्वैत आत्मा को वास्तविक रूप से समझ लेता है वह इन्द्र की तरह हो जाता है। ।७० । ।** इन्द्र देव के देहेन्द्रिय-संघात की यह विशेषता नहीं कि वह निःशत्रु स्वराट् अधिप है वरन् उसे जो तत्त्वानुभव हुआ उसकी है। जो कोई वैसा ही दृढ स्पष्ट अखण्डानुभव प्राप्त करता है उसका भी यही महत्त्व प्रकट हो जाता है। भौतिक या लौकिक स्तर पर इस फल को नहीं खोजना चाहिये, आत्मस्तर पर यह महत्त्व प्रकट होता है। ।७० । ।

कथा का समापन करते हैं **अजातशत्रु ने बालाकि-नामक विप्र को इस तरह परब्रह्म का बोध कराया। बुद्धिमान् को चाहिये कि गार्ग्य की तरह ही अपनी उत्तमता का गर्व छोड़कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ की शरण ले और परमात्म-ज्ञान प्राप्त करे। ।७१। । ब्रह्मवेत्ता को भी संप्रदाय कायम रखने का महत्त्व समझते हुए चाहिये कि जो अधिकारी विधिवत् शरणागत हो उसे ससंमान विद्या प्रदान करे। महेश्वर के अपर अवतार श्री विद्यातीर्थ ब्रह्मविद्या के गुरु व शिष्य दोनों पर स्नेहपूर्ण कृपा करें। ।७२ । ।** अपने जीवभाव के गर्व से ही हम अहंकार छोड़कर

ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित नहीं होना चाहते। आचार्य शंकर ने भी उपदेशसाहस्री में (५.१) कहा है कि कर्म-नाश के भय से लोग आत्मज्ञान ग्रहण नहीं करते। आधुनिक भी कुछ लोग कहते हैं कि वेदान्त-संमत मोक्ष जीव के व्यक्तित्व को नष्ट करता है अतः अनिष्ट है। परिच्छिन्नता के प्रति राग ही प्रतिबंधक बनता है विवेकपूर्वक अहंकार त्यागने में। गार्ग्य को जब अपनी नासमझी पता चली तब उसने अपने वर्णाभिमान को छोड़कर राजा से शिक्षा ग्रहण की। इससे सूचित है कि लौकिक किसी भी अभिमान को छोड़कर यह मोक्षप्रद ज्ञान पाना ही मनुष्य के लिये परम पुरुषार्थ का साधन है। हम जिसे अपना व्यक्तित्व मान रहे हैं वह तो शरीर मन का व्यक्तित्व है, हमारा है ही नहीं! भ्रम से दूसरे की विशेषता को अपनी मानकर फिर उसके रक्षण के लिये अपने कल्याण से वंचित रहना अत्यंत मूर्खता है। अतः कहा कि बुद्धिमान् ही यह गर्व छोड़कर ज्ञानार्थ यत्न कर सकता है। गुरु भी सच्छिष्य को उपदेश दे क्योंकि जिस परंपरा से गुरु ने विद्या पायी है वह परंपरा बनी रहे ताकि आगे भी साधक मोक्ष प्राप्त करते रहें यह गुरु के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य है। गुरु यदि उपदेश नहीं देगा तो गुरु की कोई हानि नहीं अतः 'मेरा क्या बिगड़ेगा!' यह गर्व छोड़कर वह परंपरा को आदर देते हुए उपदेश दे यह उचित आचार का निर्देश है, अदृष्टार्थ विधि नहीं है। किंच शिष्य के प्रति भी आदरभाव रखे, उसे दुत्कारे नहीं क्योंकि वह भी वास्तव में ब्रह्म ही है और जब साधक बन गया तो शीघ्र ही मुक्त होकर ब्रह्मभाव में प्रतिष्ठित होने ही वाला है। हेयतापूर्ण व्यवहार से शिष्य कई बार विद्याग्रहण करने से विमुख भी हो जाता है, ऐसा न होने दे यह भी गुरु के लिये आचार सूचित है। अन्त में अपने सद्गुरु से प्रार्थना की कि सम्प्रदाय परंपरा में आने वाले सभी गुरु-शिष्यों के लिये अपना प्रेमपूर्ण आशीर्वाद दें कि गुरु कृपालु होकर उपदेश दिया करें और शिष्य गर्व त्याग कर श्रवणादि में तत्पर हुआ करें।।७१-२।।

इस प्रकार दो अध्यायों में ऋग्वेद की कौषतकी उपनिषत् के ब्रह्मविद्या-भाग की व्याख्या पूरी हुई।

।। नौवाँ अध्याय।।

ॐ

मैत्रायणीयशाखाविवरणे

मैत्रायण्युपनिषद्विवरणम्

दशमोऽध्यायः

कथा

मैत्रायणीयनाम्नी या शाखा सा याजुषी मता।
तस्यां शाकायन्यमुनिर्बोधयामास भूपतिम्।।१।।

मैत्रायणी उपनिषत् का विवरण : दसवाँ अध्याय

ऋग्वेद की उपनिषत् के बाद अब कृष्ण यजुर्वेद की विभिन्न शाखाओं की उपनिषदें तीन अध्यायों में समझायेंगे। इनमें कठ तो भगवान् भाष्यकार द्वारा ही समझायी गयी है, श्वेताश्वतर के प्रसंग सूत्रभाष्यादि में आ गये हैं तथा शंकरानन्द, नारायण आदि द्वारा उस पर दीपिका भी लिखी गयी है, मैत्रायणी पर एक रामतीर्थ की दीपिका का ही प्रकाश है जिसमें अक्षरार्थ और तात्पर्य दोनों पर विचार है। शांकर भाष्य में मैत्रायणी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उपनिषत् के सात प्रपाठक (अध्याय) हैं किन्तु छठा-सातवाँ प्रपाठक खिल-भाग है एवं उपासना-प्रधान है। यद्यपि शाकायन्य-बृहद्रथसंवाद छठे प्रपाठक की तीसवीं कण्डिका तक चलता है तथापि परा विद्या का प्रसंग पाँचवे प्रपाठक तक ही होने से विद्यारण्य स्वामी वहीं तक के ग्रंथ की इस अध्याय में विवेचना करेंगे। अध्यायान्त में बताया है कि वैराग्य, परमात्मा, जीवात्मा, ज्ञानोपाय, और जीवभाव की उपशान्ति के उपाययह सब इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। राजा को शिष्यरूप में उपस्थित कर विद्या की महत्ता प्रकट की है। ऐहिक संपन्नता तो बृहद्रथ की थी ही, कर्म-उपासना से दैववित्त भी प्रभूत एकत्र किया था फिर भी इहामुत्र-फलभोगविराग से उस सब को हेय समझकर वह तत्त्वज्ञान के लिये उत्सुक था। इससे साधकों को प्रेरणा मिलती है कि दृष्ट-अदृष्ट भोगों के चक्र में न पड़ आत्मबोध पाने के प्रयास में तत्पर हों। कथा प्रारंभ करते हैं **यजुर्वेद की मानी गयी मैत्रायणीय-नामक शाखा में प्रसंग आया है कि मुनि शाकायन्य ने राजा बृहद्रथ को आत्मतत्त्व समझाया था।१।।** यद्यपि मुक्तिकोपनिषत् मैत्रायणी

बृहद्रथः स्वस्य राज्ये पुत्रं संस्थाप्य निर्गतः।
वने महत्तपस्तप्त्वा विद्यार्थं मुनिमाययौ।।२।।

को सामवेद की उपनिषत् बताती है तथापि विद्यारण्यस्वामी उसे यजुर्वेद की मानते हैं। इस ग्रंथ में व्याख्येय उपनिषदें वेदों के ऋक्-यजु-साम-अथर्व क्रम से ही उपस्थापित हैं। विद्याप्रकाश नामक पूर्व भाग में भी यही क्रम था और इस भाग में वेदों की अंगशाखाओं की उपनिषदें भी उसी क्रम से रखी हैं। अतः यह यजुर्वेद की ही उपनिषत् है यह आचार्य को सम्मत है। कावेल ने इसे कृष्ण यजुर्वेद की शाखा कहा है तथा एशियाटिक सोसयटी से सन् १८७० में प्रकाशित (सन् १९३५ में पुनर्मुद्रित) मैत्रायणी उपनिषत् के रामतीर्थ दीपिकायुक्त संस्करण में अनुभूतिप्रकाश का यह अध्याय भी छपा है, उसमें भी 'याजुषी मता' ही पाठ है। वैदिक संशोधन मंडल पूना से लिमय और वाडेकर ने जो १८ उपनिषदें प्रकाशित की हैं उनमें भी इसे कृष्ण यजुर्वेद का ही बताया है। अतः मुत्तुशास्त्री का इसे सामवेदीय मानना ग्रंथप्रवाह के प्रतिकूल है। प्रतर्दन को इन्द्र ने, गार्ग्य को अजातशत्रु ने और बृहद्रथ को शाकायन्य ने ब्रह्मविद्या सिखायी यह कहकर सूचित किया कि वर्ण जाति आदि ब्रह्मज्ञान में प्रतिबंधक नहीं है, विवेकादि साधन होना ही आवश्यक है।।१।।

उपनिषत् के प्रथम प्रपाठक 'बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वा इदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेत्यारण्यं निर्जगाम' से प्रारंभ कर बताया है कि शरीरादि संसार की अनित्यता समझकर इसके प्रति राग छोड़कर राजा बृहद्रथ ने राज्य अपने पुत्र को सुपुर्द किया और स्वयं जंगल में तप करने चला गया। सूर्य की ओर देखते हुए हाथ ऊँचे किये हुए अतिदीर्घकाल तक जब राजा तप कर चुका तब उधर शाकायन्य मुनि आये और उससे वर माँगने को कहा। राजा ने आत्मज्ञान की याचना की। मुनि ने उसे दुःशक कहकर कामनाविषय माँगने को कहा तो राजा ने शरीर और विषयों के अनेक दोष गिनाये, बड़े-बड़ों को भी मृत्यु नहीं छोड़ती यह कहा और 'अन्धोदपानस्थो भेक इवाऽहमस्मिन् संसारे' स्वयं को गहरे कुएँ में पड़े मेंढ़क-सा बताकर मुनि से प्रार्थना की कि वे उसका संसार से अवश्य उद्धार करें। इस प्रकार सारा प्रथम प्रपाठक राजा के विवेकपूर्ण वैराग्य का वर्णन है। श्लोक २३ तक इसी का संग्रह किया जायेगा। कथानक प्रारंभ करते हैं **अपने राज्य पर अपने पुत्र को राजा के रूप में अभिषिक्त कर बृहद्रथ राज्य से निकल गया। जंगल में महान् तपस्या करने के बाद वह परमात्मज्ञान पाने के लिये मुनि के पास आया।।२।।** भारतीय

परंपरा रही है कि योग्य पुत्र को अपने कार्य सौंपकर व्यक्ति वानप्रस्थ हो जाये, वन में तपोमय जीवन व्यतीत करे। बृहद्रथ इक्ष्वाकुवंशीय था, शाकायन्य ने उसे 'ऐक्ष्वाक' संबोधित किया है। इक्ष्वाकुवंश वालों का यह सामान्य इतिहास बताया गया है 'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।' रघुवंश के प्रारंभ में कालिदास ने कहा है कि इस वंश के राजा शिशुकाल में विद्याभ्यास अवश्य करते रहे, जवानी में विषयव्यवहार में जागरूक रहे, बुढ़ापे में मुनिजीवन बिताकर योगबल से शरीर छोड़ते रहे।

चार आश्रमों का विधान वैदिक धर्म की विशेषता है, अन्य कोई धर्म इस तरह समग्र जीवन के लिये कार्यक्रम नहीं बताता, सभी को इसके लिये प्रेरित नहीं करता कि मध्यम उम्र के बाद इहलोक के व्यवहार छोड़कर परमात्मा में अवश्य केंद्रित हुआ जाये ताकि मृत्यु आने से पूर्व तक यथासंभव आत्मबोध हो जाये या कम-से-कम इतनी तपस्या-उपासना एकत्र हो जाये कि सद्गति के प्रति पूर्ण आश्वस्त होकर संतुष्ट मरा जा सके। मरणपर्यन्त तुच्छ विषयों व विषयिजनों में ही उलझे रहकर असंतुष्ट हुए मौत के मुँह में डरते हुए घुसना उदात्त जीवन की समाप्ति है ऐसा वैदिक दृष्टिकोण नहीं है। युवा प्रतिभा को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने देने से ही उसका व सारे समाज का विकास संभव है। अतः घर छोड़कर जाने का विधान है। घर में, काम-काज पर नियंत्रण रखते हुए जब तक वृद्ध रहता है तब तक न युवा पूर्ण स्वतंत्रता का प्रयोग कर सकते हैं और न वृद्ध ही चैन से भगवद्भजन कर सकता है। कार्य की प्रतिदिन की व्यवस्था छोड़कर भी यदि वृद्ध घर के उसी माहौल में रहता है तो भी राज्य, व्यापार, खेती आदि की रोज़ की ऊँच-नीच के प्रति उसका ध्यान अवश्य आकृष्ट होता है, चिन्ता आदि से वह ग्रस्त होता है और स्वयं कोई सहायता के लिये तैयार हो कर पुनः संसारोन्मुख हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन भी वृद्धों को असह्य होते हैं और वे युवाओं से उन विषयों में उलझकर अशांत ही होते हैं। इसलिये घर छोड़कर, युवा-समाज से दूर जंगल जाने का नियम स्वयं के और सारे समाज के लिये हितकर है। किन्तु वानप्रस्थ तपःप्रधान आश्रम है अतः प्रायः पचास वर्ष की आयु में इस ओर प्रवृत्त होना ज़रूरी है, अधिक वृद्ध होने पर शरीर तप को नहीं सह सकता। जब तक शरीर-मन आदि स्वस्थ व सक्षम हैं तभी तक तपस्यामय जीवन व्यतीत किया जा सकता है जिससे वह बल आ जाता है जो बड़ी उम्र में व्यक्ति को पराश्रित नहीं बनाता, अंत तक एकान्त-सेवन की सामर्थ्य देता है।

अशाश्वतं शरीरं मे कदा यायात्ततः पुरा।
ज्ञास्याम्यात्मानम् आत्मज्ञो मुनिर्मां बोधयिष्यति।।३।।
इत्यभिप्रेत्य साष्टाङ्गं प्रणिपत्य भुवि स्थितः।
वृणीष्व वरम् इत्युक्तो वृतवानात्मवेदनम्।।४।।

बृहद्रथ ने इस परंपरा का पालन किया। बाल्यकाल की शिक्षा और तप से शुद्धचेता होने के प्रभाव से उसे संसार की असारता समझ आयी, इह-पर लोकों का किंचित् भी आकर्षण नहीं रहा, केवल नित्य परमात्मस्वभाव से रहने की उत्कण्ठा हुई और इसके लिये विद्या ही एक उपाय होने से वह विद्या पाने मुनि की शरण गया। ब्रह्मज्ञान अपनी बुद्धि से नहीं हो सकता, इसके लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु का ही सहारा लेना अनिवार्य है यह वेद में स्पष्ट है। तप से ज्ञान की योग्यता आती है जिसका लक्षण वैराग्य है। नित्यानित्यका भेद समझने की विवेकशक्ति तप से ही प्राप्त होती है। वैराग्य के अभाव में यदि अनित्य अशुचि व दुःखरूप जान भी लिया जाये तो भी उसे छोड़ नहीं पाते जैसे झूठ, घूसखोरी, चोरी को गलत समझकर भी छोड़ नहीं पाते। तप वह बल देता है जिससे अनित्यादि को छोड़ना संभव हो जाता है। राजा ने तप से अपने विवेक को पुष्ट किया, वैराग्य को विकसित किया, इस प्रकार अधिकारी बनकर परमात्मा को समझने के लिये मुनि के पास गया।।२।।

अन्य कुछ न चाहते हुए ही राजा ने गुरु की उपसत्ति की **'मेरा नश्वर शरीर कभी भी छूट सकता है। मैं मरूँ उससे पहले आत्मा को जान लूँ तभी कल्याण है। आत्मवेत्ता मुनि मुझे अवश्य समझायेंगे।' इस तात्पर्य से राजा शाकायन्य को साष्टांग प्रणाम कर धरती पर बैठ गया। मुनि ने कहा 'वर माँगो' राजा ने आत्मज्ञान ही वररूप से चुना।।३-४।।** अपने सदा सन्निकट तथा प्रतिदिन नाश की ओर बढ़ने वाली सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ अपनी काया है। अधिकतम ग़लत कार्य शरीर के लिय ही किये जाते हैं और यही हमें साथ देने वाला नहीं! स्वस्थता के लिये लोग अण्डा आदि खाते हैं, फिर भी बीमारियाँ आती ही हैं और मरना पड़ता ही है। जो जानता है कि 'मरकर नरक जायेंगे तब ये अण्डे खिलाने वाले बचायेंगे नहीं, जिस शरीर के उद्देश्य से खा रहे हैं वह भी साथ नहीं रहेगा'वह तो सावधान रहकर ऐसे पापों से बचेगा अन्यथा तात्कालिक सुख की आशा से पापों में डूबता जायेगा। शरीर अनित्य और मैं नित्य हूँ, शरीर तो अण्डा खाकर यहीं रह जायेगा, यम के दण्डे खाने मैं जाऊँगा। इसलिये विवेकी शरीर के पीछे अपने लिये पाप का गट्ठर नहीं बाँधता।

देह नश्वर है इतना ही नहीं, यह कब समाप्त हो जाये इसका निश्चय भी नहीं। नीतिकारों ने इसलिये कहा कि 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' मृत्यु चोटी पकड़े खड़े हैं, ले जाने को तैयार हैंऐसा समझते हुए हमेशा धर्मतत्पर रहना चाहिये। बृहद्रथ ने इसीलिए समय गवाँना उचित न समझकर शीघ्र आत्मज्ञान पाने में ही कल्याण समझा। मनुष्य शरीर को हम मामूली चीज़ समझते हैं, भूल जाते हैं कि इसी में मोक्ष-प्राप्ति की साधना सुलभ है। जानवरों में साधना संभव नहीं और श्रेष्ठ योनियों में सुख-सामग्री की इतनी चकाचौंध होती है कि साधना में मन लगना असंभव-जैसा हो जाता है। मनुष्य भी भारत में वैदिक परंपरा में पैदा हो तो उसके लिये परमात्म-मार्ग सुव्यवस्थित है। कहीं म्लेच्छ यवन आदि देशों में पैदा होता तो कैवल्य का नाम भी सुनने को नहीं मिलता। जो भारत में ब्राह्मणादि शरीर पाकर भी तुच्छ सांसारिक भोगों में ही जीवन गवाँ देते हैं वे अपनी कितनी हानि करते हैं यह उन्हें मालूम नहीं। राजा ने विचार किया कि सत्कुल में जन्म, सद्विद्या की शिक्षा, सदाचार और सद्विचार के प्रभाव से मुमुक्षा हो गयी है तो समय बिताये बिना आत्मज्ञान पाने के प्रयास में लग जाना चाहिये। जैसे जलते दीपक से ही दूसरा दिया जलता है, धनी से ही धन मिलता है ऐसे विद्यावान् ही अज्ञानी को प्रबोधन प्रदान कर सकता है। मोक्ष के लिये रास्ता एक ही हैअखण्ड आत्मतत्त्व का साक्षात्कार। इसे सद्गुरु के उपदेश से ही पाया जा सकता है अतः बृहद्रथ शाकायन्य के पास पहुँचा। श्रुति में कहा है कि मुनि उसके पास आये; तात्पर्य है कि गुरु ही शिष्य की योग्यता परख सकता है अतः वही योग्य शिष्य के पास आता है। स्थूल दृष्टि से शिष्य गुरु के पास जाता है किन्तु 'मैं इसका गुरु हूँ, इसके अज्ञानांधकार को दूर करूँ' इस अभिमान वाला बनकर गुरु ही जब शिष्य को अपनाता है तब साधक की प्रगति प्रारंभ होती है। राजा ने दण्डवत् प्रणाम कर ज़मीन पर ही बैठकर अपना विनय स्पष्ट किया। पुर्यष्टक के आठों अंगों को अर्पण करना साष्टांग प्रणाम है। आठ अंग हैंज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरण, महाभूत, अविद्या, कामना और कर्म। प्रतीकरूप में स्थूल शरीर के आठ अंग धरती से छुआ कर प्रणाम किया जाता है। सभी अंगों पर से 'यह मेरा है' ऐसे अभिमान को हटा लेना प्रणाम है। राजा ने प्रणाम से अपनी निरभिमानता प्रकट की, हालाँकि अभी सर्वथा अभिमान गया नहीं, वह तो आत्मज्ञान से जायेगा, किन्तु यह दृढ संकल्प प्रकट किया कि वह अभिमान छोड़ने को तत्पर है। आत्मज्ञान का वर माँगकर यही तत्परता व्यक्त की।।३-४।।

राज्ञां भोगप्रधानानाम् आत्मज्ञानं सुदुःशकम्।
वृणीष्व कामान् इत्युक्तः स मुनेः पादमग्रहीत्।।५।।
पादं स्वमूर्ध्न्यवस्थाप्य स्ववैराग्यं प्रकाशयन्।
आधारे करणे दोषान् अवोचद् भोक्तृभोग्ययोः।।६।।

मुनि ने मुमुक्षा की तीव्रता की परीक्षा की जिसमें राजा उत्तीर्ण रहा **'राजा लोगों के लिये भोग प्रधान हुआ करता है, वे आत्मा को जान सकें यह बहुत मुश्किल है। तुम कामना-पूर्ति करने वाले विषय माँगो।' मुनि द्वारा ऐसा कहा जाने पर राजा ने मुनि के पैर पकड़ लिये।।५।। उनके चरण अपने सिर पर रखकर अपना वैराग्य प्रकाशित करते हुए भोगायतन शरीर, भोगसाधन मन, भोक्ता और भोग्य के दोष गिनाने लगा।।६।।** (निर्णयसागर में श्लोक. ६ में 'भोक्तृभोगयोः' पाठ है, कावेल व मुत्तुशास्त्री का 'भोक्तृभोग्य' पाठ है, दोनों ही ठीक हैं।) मुनि ने सामान्य मानस की दृष्टि से बताया कि जैसे शूद्र के लिये कामनाएँ पूरी करना ही प्रधान होता है, वैश्य के लिये धन कमाना ही प्रधान होता है, ब्राह्मण में त्याग की प्रधानता होती है वैसे ही क्षत्रिय के लिये भोग प्रधान होता है। जिन वर्णों में जन्म मिला है उनमें आनुवंशिक स्तर पर ही ये भावनाएँ उपलब्ध हो जाती हैं, उनमें ये ही स्वाभाविक हैं भले ही आयासपूर्वक कोई हेर-फेर कर ले। भोग-मोक्ष के रास्तों की दिशाएँ ही विरुद्ध हैं जैसे पटना से गंगोत्री और गंगासागर के रास्ते। अनात्मा का ऐश्वर्य और परमात्मा की महिमा दोनों बिलकुल अलग हैं, एक छोड़कर ही दूसरा ले सकते हैं। भोगाकर्षण ही अध्यात्म-साधना में रुकावट है। जैसे जिस पत्ती से (ब्लेड से) आलू छील लिये वह दाढ़ी बनाने लायक नहीं रहती, वैसे जो मन-बुद्धि भोगों में लग गयी वह परमात्मा को समझने लायक नहीं रहती। मुनि ने उसी राज-स्वभाव की ओर इशारा किया और भोगलाभ के लिये प्रलोभित किया। क्षत्रिय होने पर भी शिक्षा और संस्कारों के कारण बृहद्रथ विवेकी था एवं दीर्घकाल तक तपस्या करने से उसका वैराग्य भी पक गया था अतः वह विचलित न होकर यह बताने लगा कि वह भोग क्यों नहीं माँग सकता। भोग तभी हो सकता है जब जीव शरीर में हो, उसके करण कार्यकारी हों, उसमें भोक्तृत्व का अभिमान हो और भोग्य विषय उपलब्ध हों। इन सबमें जो दोष ही देखता है उसे भोग कैसे आकृष्ट करें! गंदे सामान से गंदी जगह गंदे लोगों द्वारा बनायी गंदी मिठायी देखकर कोई बुद्धिमान् उसे खाना नहीं चाहता इसी प्रकार दोषदर्शी भोग नहीं करना चाहता। गुणदर्शन ही राग का हेतु है,

राज्ञो वैराग्यम्

भोगाधिकरणं देहस्तस्य दोषा इमे स्फुटाः।
अस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रादयोऽखिलाः।।७।।
बीभत्साकारणान्येषु मज्जता भुज्यते कथम्।
विट्पूर्णखाते मग्नः सन् भुङ्क्ते कोऽपि न बुद्धिमान्।।८।।
पुरा त्वविद्ययाच्छन्नदोषोऽहं भुक्तवांस्ततः।
बालो विमूढो यत्किञ्चिद् अद्याद् विष्ठादिकं यथा।।९।।

दोषदर्शन वैराग्य प्रदान करता है। कबूतर की बीट घृणास्पद ही लगती है पर उसमें गुणदर्शन हो जायेवह मेरे लिये दवाई है यह पता चल जाये तो वही राग का विषय बन जाती है। अतः वस्तुओं में आकर्षकता नहीं वरन् हम उन्हें शोभन समझते हैं इसी समझ से आकर्षकता है। अतः राजा ने सभी में दोष बताये, ये सभी उसके लिये शोभन नहीं रह गये थे। चीज़ न मिलने पर उसके प्रति वैराग्य यह बुद्धिमान् को भी हो सकता है किन्तु इसका इतना ही उपयोग है कि अनुपलब्धि विचलित नहीं करती। अध्यात्मदिशा में गति देने वाला वैराग्य सही दृष्टि का फल है, भोग की उपलब्धि-अनुपलब्धि पर निर्भर नहीं रहता। अविचारकृत वैराग्य तो भोग उपलब्ध होने पर कर्पूर की तरह उड़ जाता है किन्तु विचारकृत वैराग्य भोगों की सुलभता पर भी वैसा ही बना रहता है। इस वर्णन से सूचित किया कि साधक बार-बार इन सब चीज़ों के सब तरह के दोषों का निर्धारण करता रहे ताकि इन्हें देखना स्वाभाविक हो जाये और भोगाकर्षण असंभव हो जाये।।५-६।।

राजा ने पहले स्थूल शरीर के दोष दिखाये 'भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जमांसशुक्रशोणित-श्लेष्माश्रुदूषिकाविण्मूत्रवातपित्तकफसङ्घाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः!' (१.२) शरीर का निर्माण ऐसी चीज़ों से हुआ है जो हमें कहीं दीखें तो हम उनसे घृणा ही करेंगे किन्तु 'मैं'-बुद्धि के चलते उन सबको हम सुंदर रमणीय माने हुए हैं। उक्त राजवचन का संग्रह करते हैं **जीव जिसमें रहकर भोग करता है वह है स्थूल शरीर, उसके ये स्पष्ट दोष हैंहड्डी, चमड़ी, स्नायु (नसें), मज्जा, मांस, शुक्र आदि सब घृणोत्पादक चीज़ें हैं। इनमें फँसा व्यक्ति भोग कैसे करे? टट्टी-भरे गड्ढे में धँसा कोई बुद्धिमान् भोग नहीं कर सकता।।७-८।। पहले तो अविद्या से ये दोष मेरे लिये ढके हुए थे इसीलिये मैं भोग कर सका जैसे बालक या विमूढ मल आदि जो कुछ भी खा लेता है (किंतु अब समझकर मुझसे भोग नहीं**

हो सकता)।।६।। शरीर के घटक ही इसके दोष हैं जैसे मलनिर्मित खिलौना चाहे जैसा लुभावना दीखे पर उसमें यही दोष है कि वह मल से बना है। हड्डी आदि सभी चीज़ें पृथक्-पृथक् रखी हों तो घृणा ही पैदा करती हैं। जिस चमड़ी से छिप जाने पर माँसादि अपने रूप में न दीखकर सुंदर आकारों में दीखते हैं वह चमड़ी भी शरीर से उधेड़कर सामने रखी जाये तो बीभत्स दीखती है। फिर भी इनके मिले-जुले रूप से हम मुग्ध हो जाते हैं क्योंकि इनकी दोषरूपता पर ध्यान नहीं देते। जिसे अत्यंत सुंदर स्त्री कहते हो उसे एक महीना लगातार दस्त लग जायें तो वह सुंदर नहीं रह जाती। उसका सारा सौंदर्य किस रूप में निकल गया? टट्टी ही निकली। अतः टट्टी को ही हम सौंदर्य माने हुए हैं। हवा से फूलने वाले सिरहाने मिलते हैं पर थोड़ा-सा छेद हो जाये तो वे बेकार हो जाते हैं। समझदार उनका प्रयोग नहीं करते क्योंकि न जाने कब वे धोखा देवें और रात की नींद खराब हो। यही स्थिति शरीर की है। सुंदर दीखता है, व्यवहार करता है पर कभी भी धोखा दे देता है, टुकड़ों में भी और संपूर्ण भी। टुकड़ों में जैसे कहीं गाँठ निकल आयेगी, कभी चणक पड़ जायेगी, नाभि खिसक जायेगी, लकवा हो जायेगा; ऊपर से ऐसा का ऐसा दीखने पर भी शरीर किसी काम का नहीं रहता बल्कि दुःख ही अधिक देने लगता है। और मौत हो जाये तो पूरा ही शरीर धोखा दे जाता है। ऐसे शरीर के भरोसे भोगों को क्या इकट्ठा करें, मुनि के आशीर्वाद को बेकार क्यों खोयें!

(श्लोक ८ में कावेल 'बीभत्साकारणेष्वेषु' और निर्णयसागर 'बीभत्सा करणेष्वेषु' पाठ बताते हैं। कावेल का यथाश्रुत ठीक है, निर्णयसागर में 'बीभत्साः' यों सविसर्ग पाठ हो तो '..अखिलाः' का विशेषण बन जायेगा और करण से स्थूल शरीर के उक्त अवयव समझने पड़ेंगे। मुत्तुशास्त्री का पाठ स्पष्टतर तथा मद्रास एवं पुणे संस्करणों में स्वीकृत है।) बीभत्सा अर्थात् घृणा, 'यह वस्तु दूर हो जाये, मुझे इसे जानना न पड़े' यह जिसके प्रति भाव हो और जब तक वस्तु निकट है तब तक वह अपनी गंदगी से दुःखी बनाये तो उस भाव को घृणा, बीभत्सा कहते हैं। शाब्दिक दृष्टि से बध् बन्धने (भ्वा.आ. से) धातु से 'बधेश्चित्तविकारे' वार्तिक के अनुसार चित्तविकारार्थ में सन् प्रत्यय होकर बीभत्सा शब्द बनता है। अतः जिससे संबंध होने पर मन खराब हो और खराब होने में इतनी तीव्रता हो मानो बाँधे रहे, अन्यत्र ध्यान न जाने दे, उस पदार्थ को बीभत्स कहते हैं जैसे घोर दुर्गन्ध या सड़ी लाश इत्यादि। शरीर के प्रति विवेकी को यह भाव होने पर ही वह भोगों से सर्वथा अनाकृष्ट रहता है। जब तक केवल सोचने-

भोगाधिकरणे दोषा आसतां भोगसाधने।
चित्तेऽपि बहवो दोषा वर्तन्ते हि निरन्तरम्।।१०।।
कामक्रोधौ लोभमोहौ विषादेर्ष्याभयादयः।
ये सन्त्येतैस्त्रस्तचित्ते भोगिनः किं सुखं भवेत्।।११।।

समझने पर शरीर के ये दोष दीखें तब तक भोगलिप्सा घट तो जाती है पर बनी रहती है, जब बीभत्सा की स्थिति बने अर्थात् और कुछ न सूझे, यही हो कि 'जैसे-तैसे तुरंत इस शरीर से छूटें' तब भोगों के प्रति सम्पूर्ण वितृष्णा होती है। अतः दृष्टांत दिया कि कोई समझदार व्यक्ति पैर फिसलने से मल भरे गड्ढे में गिर जाये, गले तक धँस जाये, उस समय क्या वह रसगुल्ला खाना चाहेगा या संगीत सुनना चाहेगा? शरीर भी मल-मूत्र से भरा है और हम भी उसमें पूरे डूबे हुए हैं फिर भी भोगों की इच्छा कर रहे हैं तो इसमें कारण केवल अज्ञान है। जब समझ आ जाती है तब भोगों के प्रति किंचित् भी आकर्षण संभव नहीं। बालक या नशे में पड़ा आदमी या पागल जैसे मल भी खा लेता है, नाली में गिरा रहता है और फिर भी भोजन माँगता है वैसे वास्तविकता से अनभिज्ञ रहने तक राजा ने भी भोग किये किन्तु समझ आने पर वैसा करना असंभव है। (श्लोक ६ में 'बालो विमूढः' कावेल का समुचित पाठ है, अन्यों ने 'बालोऽपि मूढः' पाठ रखा है उसमें भी दोष नहीं है।) विमूढ से नशे में धुत को कहकर मोह मदिरा पिये होने से भोगप्रवृत्ति होती है यह सूचित किया। इस प्रकार शरीर के दोषों के कारण भोग माँगना व्यर्थ है, इस शरीर से छूटने का उपाय ही माँगने योग्य है यह बताया।।७-६।।

सूक्ष्म शरीर के दोष राजा ने बताये 'कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्ट-सम्प्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिञ्शरीरे किं कामोपभोगैः!' (१.३) जरा-मृत्यु स्थूल के विकार हैं किंतु इनकी चिंता आदि सूक्ष्म के दोष हैं। कामना आदि से विक्षिप्त चित्त जितना दुःख देता है उसका सहस्रांश भी वह सुख नहीं देता अतः ऐसे चित्त से चिपका रहना भी बुद्धिमान् को सह्य नहीं और इससे चिपके बिना भोग होता नहीं इसलिये भोग ही हेय है यह तात्पर्य बताते हैं **भोगाधिष्ठान शरीर में दोष रहें, भोग के साधनभूत चित्त में भी बहुतेरे दोष लगातार बने रहते हैं।।१०।। काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषाद, ईर्ष्या, भय आदि जो दोष हैं उनसे त्रास पाते चित्त में स्थित भोगी को क्या सुख हो सकता है!।।११।।** 'दोष रहें' का मतलब है कि केवल स्थूल में ही दोष हों इतना ही नहीं, सूक्ष्म में भी दोष हैं। इंद्रियों की भी अपेक्षा

चित्त प्रधान है क्योंकि सुख-दुःख रूप भोग चित्त में होता है अतः उसके दोष गिना दिये। इनमें से कोई-न-कोई दोष चित्त में हमेशा रहता है। कामना की विशेषता है कि वह अन्य-अन्य कामनाएँ उत्पन्न करती है। मिठाई की कामना हो, दाल का हलुवा मिल जाये, चार-छह कौर खाने पर खट्टे की, मिर्च की कामना हो जाती है; धन की कामना हो, धन मिल जाये तो पुत्र की कामना हो जाती है फिर पुत्र लायक हो यह कामना होती है फिर उसे पत्नी योग्य मिले यह कामना हो जाती है अर्थात् हर कामना अनंत कामनाओं की शृंखला प्रारंभ करती जाती है। और पूरी न हो तो क्रोध आता है। कोई दस बातें माने और एक न माने तो उसने दस मानी इसका संतोष इतना सुख नहीं देता जितना एक न मानने का क्रोध दुःख देता है। क्रोध में व्यक्ति धर्म, औचित्य आदि का भी उल्लंघन कर जाता है, बाद में पछताता रह जाता है। लोभ भी महान् दोष है। कामनापूर्ति के सुख को फीका बनाने वाला है लोभ अर्थात् 'और हो' यह भावना। मोह अर्थात् वास्तविकता न पहचानना, यह दोष सुख-दुःख दोनों समयों में उद्रिक्त रहता है तथा एक ओर कर्तव्य से विमुख करता है, दूसरी ओर विद्यमान सुख का आस्वादन नहीं करने देता। विषाद अर्थात् विद्यमान या काल्पनिक कठिनाई को इतना बढ़ा-चढ़ा कर देखना कि जीवन के व्यवहार सही तरह करने का उत्साह न रह जाये। ईर्ष्या अर्थात् पराई उन्नति या सुख सहन न होना, 'वह सुख मुझे क्यों न मिला' ऐसी भावना, जिसके कारण स्वयं को मिले सुख को भी नगण्य कर दिया जाता है जैसे साथी को डेढ़ सौ रुपये तरक्की मिले और स्वयं को सौ रुपये तरक्की मिले तो अपने सौ रुपये सुख नहीं देते, उसके डेढ़ सौ दुःख अवश्य देते रहते हैं। भय, अनागत दुःख के प्रति 'कहीं यह दुःख मुझ पर आ न जाये' ऐसी आशंका, यह भी चित्त का स्थायी दोष है। मद, मात्सर्य आदि सारी आसुरी संपत्ति को दोषों में गिनने के लिये 'आदि' कहा। इनके कारण भोग के काल में भी व्यक्ति सुखी नहीं हो पाता। सामग्री, मौका आदि सब उपस्थित हों फिर भी भोग नहीं सकता जैसे संपन्न व्यक्ति घी, शक्कर, नमक, मिर्चये सभी नहीं खा पाता क्योंकि डाक्टर डर बैठा देते हैं कि इनसे वसा, मधुमेह, रक्तचाप, अम्लता बढ़ जायेंगे। चीज़ें हैं फिर भी भोग नहीं पाता तो सुखी कैसे होगा! चित्त में इन दोषों का त्रास, पीडा, चुभन रहने से जो भोग करता दीख भी रहा है वह भी भीतर से सुखी नहीं रहता, क्षणभर को सुख अनुभव करते ही इन दोषों का त्रास महसूस करने लगता है। चित्त में ये दोष अनिवार्य हैं और चित्त से तादात्म्य बिना किये भोगों का उपभोग हो नहीं सकता अतः बुद्धिमान् भोग ही नहीं चाहता वरन् चित्त

श्रूयन्तां भोक्तृदोषाश्च भोक्तारो बहवो मताः।
देहाभिमानिनो जीवा उत्तमाधममध्यमाः।।१२।।
दरिद्रा अधमा ज्ञेया मध्यमाश्चक्रवर्तिनः।
गन्धर्वाद्या उत्तमाः स्युस्ते सर्वेऽपि क्षयिष्णवः।।१३।।
उत्पन्नध्वंसिनो यद्वत् स्युर्दंशमशकादयः।
तथैव सर्वभोक्तारो म्रियन्ते स्वायुषःक्षये।।१४।।
भोक्ता न म्रियते किन्तु देह एवेति चेच्छृणु।
देहस्थस्यैव भोक्तृत्वं तन्नश्येद् वपुषा सह।।१५।।

से छूटने के लिये ही छटपटाता है। स्थूल के दोष भी स्थूल हैं, किंचित् विचार से पता चलते हैं, सूक्ष्म के दोष सूक्ष्म हैं, इन्हें दोष समझने के लिये विवेक ज़्यादा चाहिये, सामान्यतः तो ये व्यवहार के गुण मान लिये जाते हैं! राजा ने स्पष्ट किया कि वह चित्त-दोषों से त्रस्त है अतः मुनि से भोग माँग ही नहीं सकता, मोक्ष ही माँग सकता है।।१०-१।।

तदनन्तर संसार की क्षयोन्मुखता बताते हुए राजा ने डाँस, मच्छर से लेकर गंधर्वादि तक सभी भोक्ताओं के नाश का वर्णन किया और ऐसे अल्पकालिक भोक्ता बनने को व्यर्थ कहा। राजा की बातों का संग्रह करते हैं **भोक्ताओं के भी दोष सुन लीजिये : देह में अभिमान रखने वाले जीव भोक्ता कहे जाते हैं। वे नाना हैं, उन्हें तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैंअधम, मध्यम, उत्तम।।१२।। अधम भोक्ताओं में आते हैं दरिद्र। चक्रवर्ती राजा मध्यम श्रेणी के भोक्ता समझे जाते हैं। गंधर्व आदि उत्तम भोक्ता हैं। किंतु ये सभी क्षयिष्णु हैं।।।१३।। जैसे डाँस, मच्छर आदि उत्पन्न होकर शीघ्र ही मर जाते हैं वैसे सभी भोक्ता अपनी आयु क्षीण होने पर मरते ही हैं।।१४।। आप पूछ सकते हैं कि भोक्ता तो जीव है, वह मरता नहीं, शरीर ही मरता है; इसका उत्तर सुन लीजियेजीव का भोक्तापना तभी तक व्यक्त रहता है जब तक वह शरीर में है अतः शरीर के साथ ही उसका भोक्तापना नष्ट हो जाता है (जीव भले ही बना रहे।)।।१५।।** भोक्ताओं की श्रेणियाँ सभी तरह के भोक्ताओं को इकट्ठा करने के लिये हैं। मानुष आनंद की इकाई सार्वभौम का आनन्द पूर्व में (२.३२) कहा था, उसी को बीच में रखकर उससे कम और उससे ज़्यादायों तीन विभाग किये। स्वयं राजा था अतः यह विभाजन स्वाभाविक है क्योंकि प्रायः हम अपनी अपेक्षा से ही अन्यों को नापते हैं।

दरिद्राणां भोगहेतुः श्रीर्भृत्याश्च न सन्त्यथ।
सुद्युम्नप्रमुखानां ते विद्यन्ते चक्रवर्तिनाम्।।१६।।

जिसकी इच्छाएँ तो बहुत हों पर उन्हें पूरा करने के साधन न हों उसे दरिद्र कहते हैं। जिसे कोई इच्छा ही नहीं, उसके पास वस्तुएँ हों या न हों, उसे दरिद्र नहीं कह सकते। जिसके पास चीज़ें चाहे जितनी हों पर हमेशा कमी महसूस हो, इच्छाएँ अपूर्ण बनी रहें, उसे दरिद्र ही कहना पड़ता है। सच्चरित्र, विद्वान्, युवा, स्फूर्तियुक्त, पुष्ट, बलवान् राजा धन-धान्य से भरी पूरी सारी पृथ्वी का एकछत्र शासक हो तो उसको यहाँ मध्यम भोक्ता माना! अतः प्रायः सभी भूमण्डलवासी अधमों में ही गिने जायेंगे। हमें इहलोक की ही इतनी कामनाएँ रहती हैं जो अनेक जन्मों में भी पूरी नहीं हो सकतीं कि परलोक की कामनाओं के ज़िक्र की ज़रूरत नहीं। गंधर्वादि चक्रवर्ती राजा से उत्तम भोक्ता हैं क्योंकि उनको उपलब्ध आनंद अधिक है। हैं सभी भोक्ता नश्वर, मरने वाले, उम्र भले ही किसी की छोटी हो जैसे मच्छर आदि की, किसी की लंबी हो जैसे गंधर्व आदि की पर अपनी-अपनी उम्र पूरी कर मरते सभी हैं। और अपनी उम्र सभी को लगती कम ही है! जैसे हम मच्छरों को सोचते हैं कि आज पैदा हुए हैं चार दिन बाद मर जायेंगे वैसे ही स्वयं के भी सत्तर-अस्सी साल लगते हैं मानो कल की ही बात हो। अतः गिनती में ज़्यादा साल जीने पर भी स्वानुभूति की दृष्टि से गंधर्वादि और मच्छर आदि की उम्र में कोई खास फ़र्क नहीं। देहादि हमेशा 'है' नहीं रहते क्योंकि स्वभाव से ही मिथ्या हैं, ये थोड़े समय के लिये 'है' लगते हैं फिर 'नहीं है' हो जाते हैं। देहादिविशिष्ट ही भोक्ता होता है अतः भोक्ता भी इसी प्रकार 'नहीं है' के समुद्र में 'है' की लहर जैसा उठता-गिरता है। इसलिये जीव भले ही मोक्षपर्यन्त स्थायी रहता है, उसे नश्वर नहीं कह सकते, लेकिन उसे भोक्ता तभी कहा जाता है जब वह शरीर में स्थित हो, जब शरीर ही नश्वर है तब उसमें स्थिति स्थायी कैसे कही जाये? इस दृष्टि से भोक्ता को नश्वर कहना ठीक ही है। जीव भले ही न मरे, भोक्ता तो मरता ही रहता है।।१२-५।।

उत्तम-अधम भेद होने पर भी उत्तम भोक्ता बनना कमनीय नहीं क्योंकि नाश से ग्रस्त रहना ही पड़ता है यह राजा ने कहा **कोई कह सकता है कि भोगसाधन धन, नौकर आदि दरिद्रों के पास न होने पर भी सुद्युम्न आदि चक्रवर्तियों के पास होते ही हैं (अतः वैसा भोक्ता बनने की कामना क्यों न की जाये?)।।१६।। उत्तर है कि उनके पास धनबल, जनबल आदि सभी हों पर चक्रवर्ती को घेरे**

इति चेत् सन्तु सर्वेषां मिषतामेव मध्यगः।
म्रियते चक्रवर्ती तां सन्त्यज्य महतीं श्रियम्।।१७।।
अन्तर्धानादिशक्तिश्चेद् गन्धर्वादिषु विद्यते।
विद्यतां नाम मृत्युस्तु तेषां शास्त्रेषु कथ्यते।।१८।।
भोक्तॄणां नश्वराणां को भोगः स्याद् मृत्युचिन्तया।
शयानो भुवि नो कश्चिद् मुमूर्षुर्धनमिच्छति।।१९।।

उसके परिवारी जन देखते रह जाते हैं और वह बेचारा मर ही जाता है, उस महान् धन को हमेशा के लिये छोड़कर अकेला ही खाली हाथ चला जाता है। (अतः वह सब बल मरने से नहीं बचा सकता।)।।१७।। इसी प्रकार गंधर्वादिकों में अन्तर्धान आदि बहुतेरी शक्तियाँ होती हैं लेकिन शास्त्र स्पष्ट बताता है कि मरते वे भी हैं।।१८।। नश्वर भोक्ता मृत्यु की चिंता से तड़पता रहता है, वह क्या भोग कर सकता है! जिसे धरती पर उतार लिया गया ऐसा मरणासन्न व्यक्ति जैसे धन की इच्छा नहीं रखता वैसे जिसे सदा मौत सिर पर मँडराती दीख रही हो ऐसा विचारशील विषयभोगों की इच्छा नहीं रख सकता।।१९।। सुद्युम्न पुराणादि में प्रसिद्ध राजा हुआ है। ऐसे संपन्न राजा भी मरते ही हैं। फटी धोती छोड़नी पड़े तो ही काफी दुःख होता है, जब बड़ा राज्य छोड़कर जाना पड़ता होगा तब दुःख भी उतना ही अधिक होता ही होगा। इसलिये मध्यम भोक्ता बनना और भी खराब है क्योंकि वे भोग जब छूटेंगे तब अत्यधिक कष्ट होगा। गंधर्व आदि योनियों में छिप जाने की, उड़ने की आदि अनेक प्रकार की शक्तियाँ होती हैं तो भोग भी ज़्यादा होंगे लेकिन मरना उन्हें भी पड़ता है अतः वे योनियाँ भी प्राप्तव्य नहीं। कई बार तो जीवनकाल में ही वे शक्तियाँ धोखा दे जाती हैं। पुष्पदन्त-नामक गंधर्व की कथा प्रसिद्ध है। वे शिवपूजार्थ पुष्प किसी राजा के बगीचे से चुरा लाते थे, उनमें अंतर्धान की शक्ति थी अतः देख उन्हें कोई पाता नहीं था। सब तरह चौकसी रखने पर भी फूलों की चोरी नहीं रुकी तो राजा समझ गया कि कोई दिव्य शक्ति वाला ही चोरी करता होगा। उसने मार्ग पर शिवनिर्माल्य बिखरवा दिया। पुष्पदन्त ने ध्यान दिया नहीं, जैसे ही शिवनिर्माल्य को लाँघा उनकी शक्ति समाप्त हो गयी, वे सबके लिये दृश्य हो गये। अतः ये शक्तियाँ मरने पर तो छूटती ही हैं, जीवनकाल में भी छूट जाती हैं। बाद में पुष्पदन्त ने शिवमहिम्नःस्तोत्र की रचनाकर आशुतोष भगवान् शंकर को प्रसन्न कर अपनी शक्ति पुनः प्राप्त की। हर हालत में मृत्यु सब भोक्ताओं को घेरे

तिष्ठत्वसौ भोक्तृदोषो भोग्येऽपि श्रूयतामयम्।
अब्धिगिर्यादिकं सर्वं नश्वरं किमुतेतरत्।।२०।।
दोषान् सोढ्वा सकृद् भुक्तः संसारो नश्यतीति चेत्।
न भोगैराश्रितस्याऽस्य संसारावृत्तिदर्शनात्।
भोगकाले कृतं कर्म कुतो जन्म ददाति नो।।२१।।

है, ऐसे में भोग की ओर प्रवृत्ति संभव नहीं। यदि किसी को बता दें कि 'कल सवेरे तुम्हारी मौत निश्चित है' तो वह रात भर चिन्ता दुःख आदि में ही गुजारेगा, भोगों में प्रवृत्त नहीं होगा। विवेकी तो समझता है कि अगले ही क्षण मृत्यु आ सकती है, वह भोग कैसे करे! घोर अविवेकीजिसे श्लोक ६ में विमूढ कहा थातो ऐसी दशामें भी भोग की सोच सकता है पर समझदार से वैसा होना संभव नहीं। इस प्रकार, सब तरह के भोक्ता दोषग्रस्त हैं अतः कैसा भी भोक्ता बनना इष्ट नहीं यह राजा ने स्पष्ट किया।।१६-६।।

फिर बृहद्रथ ने भोग्य विषयों की नश्वरता व्यक्त करने के लिये स्थिर समझे जाने वाली चीज़ों के नाश का वर्णन किया। बड़े-बड़े समुद्र भी प्रलयादि में सूख जाते हैं, बड़े-बड़े पहाड़ गिर जाते हैं, ध्रुव तारा भी स्थानभ्रष्ट हो जाता है, पृथ्वी भी डूब जाती है, जब इनका यह हाल है तब हमें उपलब्ध होने वाले भोग्यों की क्षयिष्णुता का क्या कहना! यही बताते हैं **भोक्ता के दोष की बात का विस्तार रहने दें, भोग्य में भी यह नश्वरता का दोष है ही, सागर, पहाड़ आदि ही जब नाशवान् हैं तब अन्यों का क्या कहना!।।२०।।** अस्थायिता ही भोग्य का प्रधान दोष बताया। नौकरी तक व्यक्ति स्थायी चाहता है, तनख्वाह कम भी हो, स्थानान्तरण की परेशानी भी हो, फिर भी लोग सरकारी नौकरी इसी से पसंद करते हैं कि स्थायिता है। संसार के विषयों में स्थायिता है नहीं अतः विवेकी को वे पंसद नहीं आ सकते।।२०।।

शरीर, मन, भोक्ता, भोग्य के दोष बताकर राजा आत्मज्ञान की आवश्यकता स्पष्ट करता है **यही नहीं कह सकते कि दोषों को सहन कर एक बार भोग लेने पर संसार स्वयमेव हमेशा के लिये नष्ट हो जायेगा, क्योंकि भोगों पर आश्रित पुरुष का उन भोगों के कारण ही फिर-फिर संसरण होता है। भोग के दौरान किया कर्म पुनः जन्म अवश्य देता है।।२१।।** यदि ऐसा होता कि पूर्व के सकल कर्म इस एक ही जन्म में भोग लेने हैं और इस जन्म में कोई कर्म अपूर्वोत्पादक नहीं बनता तब तो ज्ञान की ज़रूरत नहीं थी, जैसे-तैसे प्रारब्ध भोग कर समाप्त कर लेने

अन्धकूपस्थितो भेक इवाहं संसृतिस्थितः।।२२।।
संसारकूपपतितम् अस्माद् उद्धर्तुमर्हसि।
त्वमेव गतिरस्माकम् अन्या काऽपि न विद्यते।।२३।।

से मोक्ष हो जाता। किन्तु प्रारब्ध से अन्य संचित कर्म भी हैं और यहाँ जो करेंगे उनसे भी पुण्य-पाप पैदा होंगे अतः पुनर्जन्मव्यवस्था चलती रहती है। इसलिये बिना तत्त्वज्ञान के इससे बच नहीं सकते। मछली खाने में कभी-कभी काँटा चुभता है पर इस भय से मछली खाना नहीं छोड़ते, काँटे साफ करने पर ध्यान देते हैं, ऐसे ही संसार दुःख देगा इस भय से संसार क्यों छोड़ें, दुःखों के प्रति सावधान होना चाहियेयह भोगी लोग तर्क दिया करते हैं। इसका जवाब है कि संसार से उपलब्ध सुख की मात्रा और स्तर इतना कम और घटिया है तथा दुःख की मात्रा भी अत्यधिक है और तीव्रता भी बहुत ज़्यादा है इसलिये इतने छोटे और कम सुख के लोभ में इतना बड़ा दुःख सहना संभव नहीं। किंच यदि बेहतर स्थायी सुख असंभव होता तो हो भी सकता था कि तुच्छ सुख से ही संतोष कर लेते किन्तु जब मोक्ष सुख संभव है तब संसार के जुगुप्सित सुखाभासों को किंचित् भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता। लोकानुभव है कि भोग से भोगेच्छा बढ़ कर पुनः भोग में प्रवृत्ति होती है अतः भोग करने से चक्र की समाप्ति होगी यह कल्पना ग़लत है। भोग को पाने के लिये और भोग के दौरान कर्म हो जाता है जो संसरण चलाता रहता है। यद्यपि हमें पूर्वार्जित कर्म के फलस्वरूप भोग मिलते हैं तथापि हमारा अभिमान यह स्वीकारने नहीं देता अतः भोग के प्रति निश्चिन्त न होकर हम सही-गलत तरीकों से भोग पाने का प्रयास करते हैं जिस प्रयास से ही पुण्य-पाप पैदा हो जाता है। विषय-रुचि में भी हम शास्त्राश्रित नहीं रहते अतः ऐसे विषयों से सुख लेते हैं जो निषिद्ध हैं तो उनके भोग से ही पाप हो जाता है। कदाचित् वैध विषय भोग ले तो पुण्य भी हो जाता है। अतः जन्म-प्रवाह चलता रहता है। (मुत्तुशास्त्री ने 'भोगान्' के अध्याहार से अन्वय बताया है'भोगान् सकृदाश्रितस्य पुरुषस्य तैरेव भोगैर्हेतुभूतैः संसारावृत्तिदर्शनात्'। यदि 'संसार' इतने अंश का विशेषण मान लें तो अर्थ होगा कि भोग जिसके सहारे रहते हैं उस संसार की पुनरावृत्ति देखी जाती है अतः एक बार भोग कर संसार नष्ट नहीं होता 'भोगैराश्रितस्यास्य संसारस्य आवृत्तिदर्शनात्'। अर्थात् तत्तत् भोग नष्ट होने पर भी उनका आश्रय संसार नष्ट न होने से पुनः नवीन भोग सामने आयेंगे ही)।।२१।।

संसार से वितृष्णा प्रकट कर राजा अपने उद्धार की प्रार्थना करता है **सूखे कुएँ**

राज्ञोऽधिकारप्रशंसा

राज्ञोऽस्य तीव्रवैराग्याद् दृष्ट्वा मुख्याधिकारिताम्।
तमाह कृतकृत्यस्त्वम् आत्मज्ञोऽसि न संशयः।।२४।।
यज्ञदानादिकृत्यं ते जातं विविदिषोदयात्।
सफलं न पुनः कर्म कर्तव्यं तेऽत्र विद्यते।।२५।।
विषयासक्तिरेवाऽस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धिका।
एषा तु नास्ति ते ज्ञानं हस्तप्राप्तमिव स्थितम्।।२६।।

में पड़े मेढक की तरह मैं संसार में कैद हूँ। संसार रूप कुएँ में पड़े मुझे आप इस दुःख से बचा लीजिये। आप ही हमारे रक्षक हैं, और कोई हमारा उद्धार करने वाला नहीं।।२२-३।। श्रुति में राजा ने 'अन्धोदपानस्थः' कहा जिसका रामतीर्थ ने 'अन्धोदपानं निरुदकः कूपः' अर्थ किया है। केवल कीचड़ जिसमें बच जाये ऐसा गहरा कुआ समझना चाहिये। उसमें से मेढक स्वयं तो निकल ही नहीं सकता, पानी के लिये भी लोग बाल्टी डालते नहीं कि उसके सहारे निकल सके अतः कोई कृपालु ही उसे निकाल सकता है। संसार में पड़े जीव को भी कृपालु गुरु ही इससे बाहर निकाल सकता है।।२२-३।।

द्वितीय प्रपाठक में शाकायन्य ने राजा को प्रोत्साहित कर त्वमर्थ के उपदेश से बोधन प्रारंभ किया है। उस प्रसंग का वर्णन करते हैं **तीव्र वैराग्य वाला होने से राजा ज्ञान का मुख्य अधिकारी है यह निर्णय कर मुनि ने कहा : तुम कृतकृत्य हो। इसमें संदेह नहीं कि तुम आत्मज्ञ हो।।२४।। क्योंकि तुम में विविदिषा उदय हो गयी इसलिये तुम्हारे द्वारा सम्पादित यज्ञदानादि कर्म सफल हो गये। इस स्थिति में पहुँचकर अब तुम्हारे लिये कोई कर्म करने योग्य नहीं है।।२५।। आत्मयाथात्म्य के ज्ञान में रुकावट केवल विषयों की आसक्ति डालती है, वह तो अब तुम में है नहीं अतः ज्ञान मानो तुम्हारे हाथ में ही है।।२६।।** (श्लोक २४ में कावेल का 'तीव्रवैराग्याद्' और अन्यों का तीव्रवैराग्यं पाठ है।) विवेक से जब दोष पहचान में आ जाते हैं तभी वैराग्य में तेज़ी आती है। केवल वस्तु को झूठा समझ लेने से उससे मन नहीं हटता जैसे सिनेमा या उपन्यास से नहीं हटता। ऐसे ही सिर्फ़ अनित्य जानने से मन विषयों को नहीं छोड़ता, सब जानते हैं कि रसगुल्ला अनित्य है, ज़्यादा से ज़्यादा दो-तीन दिन बच सकता है फिर खाने लायक नहीं रहेगा लेकिन इस ज्ञान से उसके प्रति वैराग्य नहीं होता। विषयभोग जो सुख दे रहा है इससे अधिक

हानि करेगाइसका निश्चय हो और याद बनी रहे तभी विषय को मन छोड़ता है। कंप्यूटर पर ज़्यादा देर काम करने वालों की आँखें, हाथों की अंगुलियाँ, गर्दन, कंधे सभी रुग्ण हो जाते हैं। इसका जिसे निश्चय हो और याद रखे वह तो लंबी देर कम्प्यूटर पर काम नहीं करेगा भले ही कम तनख्वाह की नौकरी करनी पड़े लेकिन जो इस तथ्य को स्वीकारता नहीं, याद नहीं रखता वह अधिक धन के लालच में या शौक से लगातार कंप्यूटर चलाता रहता है, भले ही जल्दी ही बीमार हो जाये। अतः दोषदर्शन का अर्थ है यह निश्चय और स्मरण बना रहना कि विषय फ़ायदे की अपेक्षा बहुत ज़्यादा नुकसान करते हैं, तभी तीव्र वैराग्य हो सकता है। तीव्र वैराग्यवाला ही अध्यात्मबोध का प्रधान अधिकारी है। बिना वैराग्य के आत्मज्ञान सुनने से विचार की प्रेरणा तो मिलती है, साधना में प्रगति तो होती है पर स्पष्ट बोध कायम नहीं रहता, पलकारे-सा हो जाने पर भी स्थिर नहीं रहता। वैराग्य को तीव्र बनाने में धैर्य और तितिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। तात्कालिक कष्ट सह न सके तो विषय जीतते रहेंगे, समझ-बूझकर भी विषयों के शिकंजे से छूटेंगे नहीं। विषयों को न्यूनतम रखकर जीने के लिये स्वयं को ढाले नहीं तो साधक वैराग्य के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ेगा। 'तटस्थभाव से भोग लूँगा' इस मुग़ालते में रहे तो वैराग्य कभी नहीं पकेगा। पकने के बाद भले ही उदासीनता संभव हो पर पहले नहीं। धैर्य इसलिये कि एकाएक सब विषयों के प्रति वैराग्य संभव नहीं, बहुत धीरे-धीरे विचारपूर्वक उनके दोष समझकर मन में संस्कार दृढ करने पर ही वैराग्य होता है। बूँद-बूँदकर पानी निकालते हुए समुद्र सुखा लूँगा! ऐसा धैर्य हो तभी वैराग्यमार्ग पर प्रगति होगी। केवल दुःख भोग कर जो वैराग्य होता है वह परमात्मा की ओर भेजता ज़रूर है लेकिन जैसे ही भगवान् की कृपा से दुःख दूर होता है, सुख-संपत्ति मिलती है वैसे ही व्यक्ति का वैराग्य दब जाता है, राग हावी हो जाता है। विवेक वाला तो सुख-प्राप्ति से लोभ में नहीं पड़ता क्योंकि जानता है कि ये तो मार्ग पर चलते समय छाया देने वाले पेड़ हैं, चलना मार्ग पर ही है, छाया के लालच में बैठना नहीं है। वह तो सुखों से राग नहीं करता, दुःखों की तरह अनिवार्य मानकर आवश्यक भोग कर भी लेता है पर याद रखता है कि इससे बचना ही है। अतः वह अध्यात्म-साधना में तत्पर रह सकता है।

वैराग्य कुल्हाड़ी-सा है, विरोधी वृत्ति को काटने के लिये है, स्वयं अपने में फल नहीं है। अतः पर्याप्त तीव्र हो जाने पर फिर मन को उसी पर एकाग्र नहीं छोड़ना चाहिये वरन् श्रवणादि में लगाना चाहिये। इसलिये मुनि ने राजा की प्रशंसा की ताकि वह

वैराग्य को ही और बढ़ाने में न लगा रहे, शांति से तत्त्वविचार समझे। उत्साह दिलाने से प्रयास में तेज बढ़ता है जैसे पहाड़ की यात्रा में गंतव्य को निकट बताने से यात्री तेज़ी से चलने लगता है। इसी प्रोत्साहन के लिये कहा कि ज्ञान मानो हाथ लग ही चुका है। अतिशीघ्र होने वाले कार्य को 'हुआ ही समझो' ऐसा कहा जाता है। इससे यह भी निश्चय होता है कि साधक का मार्ग सही है, इसका संतोष कि 'मैं ठीक रास्ते चल रहा हूँ' व्यक्ति के लिये बड़ा भारी संबल है। अज्ञान का बल राग है, उसकी काट वैराग्य से कर चुकने पर ही अज्ञान पर प्रहार किया जा सकता है। सीधे-सीदे अज्ञान की ओर कोई आकृष्ट नहीं होता, उसके कार्यों की तरफ ही आकर्षण हुआ करता है अतः मालूम ही नहीं चलता कि अज्ञान-कीचड़ में धँसते जा रहे हैं। कार्यों का आकर्षण सत्य की जिज्ञासा होने नहीं देता। आपाततः विचार से ही संभावना दीखने लगती है कि विषय जैसे सुखद दीख रहे हैं वैसे नहीं हैं, उसी स्थिति में राग और ज़्यादा विचार से विमुख कर देता है। जिसे किसी नशे की लत हो, उसे उसका कुप्रभाव बताने लगें कि 'तुम्हें कैसी पीडा दे सकता है', तो समझने पर भी वह सुनना नहीं चाहता क्योंकि यदि सुन लेगा तो नशा छोड़ने की प्रवृत्ति होगी और लत यही नहीं होने देना चाहती। इसी प्रकार संसार की तरफ राग न संसार की न भोक्ता की वास्तविकता को समझने देना चाहता है। राग का बल पहचानकर ही पहले कदम में राग को परमात्मोन्मुख किया जाता है। संसार को परमेश्वर की विभूति के रूप में ग्रहण करना सिखाया जाता है ताकि प्रधानता परमेश्वर की हो, संसार की प्रधानता में कमी आये। जब यह लगता है कि परमेश्वर से सब कुछ मिल सकता है तब जिज्ञासा होती है परमेश्वर की वास्तविकता की। इतने से ज्ञान मार्ग पर चलने का अधिकार मिल जाता है। चलकर गंतव्य पर पहुँचने के अधिकार के लिये तो तीव्र वैराग्य चाहिये लेकिन चलना शुरू इतने से ही कर सकते हैं कि हमारा शासक, कारण, इष्ट कौन है, कैसा है? इस जिज्ञासा की जब जीवन में प्रमुखता हो जाये अर्थात् अपना प्रधान लक्ष्य यही पता लगाना रह जाये, अन्य ओर वृत्ति न जाये, तब कर्म की अनिवार्यता खत्म हो जाती है, व्यक्ति संन्यास के लायक हो जाता है। मोक्ष मार्ग में कर्मों का यही योगदान है कि अन्यत्र सर्वत्र से मन हटाकर परमात्म-जिज्ञासा पैदा करें और ज्ञान दिलाने की सामग्री जुटाएँ। तीव्र जिज्ञासा करा कर वे घोषित कर देते हैं कि 'अब हमारा अनुष्ठान छोड़ो, श्रवणादि व्यंजक साधन पर ही एकाग्र हो जाओ।' जैसे-घड़ा भरने के बाद भी पानी डालना पानी की बर्बादी ही है वैसे जिज्ञासा संप्रवृत्त होने के बाद भी कर्म में लगे रहना

बेकार ही है बल्कि प्रगति में बाधक है क्योंकि उस स्थिति में जो श्रवणादिमात्र में एकाग्रता चाहिये उसे होने नहीं देता।

'यज्ञ दान आदि'इस आदि से तप समझना चाहिये। इन्हीं तीन को भगवान् ने गीता में पवित्रताकारक बताया है। मुमुक्षु के लिये यज्ञादि का फल परमात्मा की तीव्र जिज्ञासा ही है अतः वह मिल जाने पर कर्म सफल हो चुके यह स्पष्ट है। यही स्थिति है जब साधक विविदिषु संन्यासी बनता है अर्थात् शमादि सहित श्रवणादिमात्र करने के लिये बाकी सब लौकिक-शास्त्रीय प्रवृत्तियाँ त्यागता है। जिस कर्म ने यह जिज्ञासा पैदा की है वही इसे पूरा करने के गुरु आदि साधन भी जुटाएगा अतः अब और कर्म करना व्यर्थ है। कुछ लोगों को भ्रम है कि जिज्ञासा के बाद कर्म इसलिये करने चाहिये कि ज्ञान-पर्यन्त पहुँचने में सुविधा हो, साधन उपलब्ध हो जायें। किन्तु यदि कर्म केवल जिज्ञासोत्पादक हों, ज्ञानपर्यन्त पहुँचाने वाले न हों तो मानना होगा कि वे दुःखद हैं! जो इच्छा पैदा करा दे, उसे पूरा करने का उपाय न दे वह दुःखद ही होता है जैसे आज-कल का विज्ञापन जगत्। कर्म शास्त्रविहित है अतः दुःखद नहीं। वह इच्छा भी पैदा करता है और उसके पूरे होने तक के साधन भी देता है। उन साधनों को देने में सक्षम होने पर ही वह इच्छा पैदा करता है। अतः जब उत्कट जिज्ञासा हो जाये तब कर्म छोड़ना ही श्रेयस्कर है। ऐसा जिज्ञासु अनात्मा से सर्वथा अनासक्त रहने के कारण अपना पूरा ध्यान आत्मा पर केंद्रित कर पाता है। अत एव ज्ञान पाने के लायक हो जाता है। जैसे जो अभी भ्रांत ही है लेकिन दीखने वाले सर्प पर उसकी दृष्टि एकाग्र है, उसे बिजली चमकने जितनी रोशनी से भी रस्सी दीख जायेगी जब कि जो चारों तरफ देख रहा है उसे उतनी कम देर की रोशनी में रस्सी नहीं दीखेगी, वैसे ही संसारासक्त को महावाक्य अधिष्ठान का ज्ञान नहीं करा पायेगा लेकिन जो अपने इष्ट में, परमेश्वर में पूर्ण एकाग्र है उसे करा पायेगा क्योंकि परमेश्वर की ही वास्तविकता का महावाक्य बोधक है। जैसे रूप को जानते हम हैं लेकिन प्रकाश द्वारा ही वैसे परमात्मा का साक्षात्कार होता हमें है लेकिन वेदवाक्य द्वारा। व्यष्टि स्तर पर भी देहादि में भी जब तक आत्मबुद्धि होती रहती है तब तक आत्मोपदेश समझ नहीं आता, देहादि को अनात्मा जानकर उनसे वृत्ति हटकर चेतन पर ही केंद्रित होती है तब आत्मोपदेश समझ आ जाता है। राजा के विवेक के फलस्वरूप उसका सारा ध्यान अनात्मा से हट चुका था इसीलिये मुनि ने कहा कि अब ज्ञान में कोई विलम्ब नहीं है।।२४-६।।

उपदेशारम्भः

संसारहेयतां बुद्ध्वा त्यक्ते तस्मिन्नशेषतः।
योऽवशिष्टो भाति सोऽयमेवाऽऽत्मेत्यवगच्छ भोः।।२७।।

आत्मस्वरूप का सूत्रभूत उपदेश मुनि ने दिया 'अयं वाव खल्वात्मा ते' (२.१) फिर राजा ने पूछा 'यः कतमो भगवा इति' तब विस्तार से बताया। इसी उपदेश का प्रारंभ करते हैं **संसार की हेयता समझकर उसे पूर्णतः छोड़ देने पर जो बचा हुआ भासमान रहता है वही जिज्ञास्य परमार्थ आत्मा है, यह समझ लो।।२७।।** हेय अर्थात् छोड़ने लायक। 'नेह नाना' आदि श्रुतियों से निश्चित होता है कि सारा ही दृश्यवर्ग असत्य अतः हेय है अर्थात् इसी योग्य है कि उसे आत्मा समझना छोड़ा जाये। देहपर्यन्त तो स्पष्टतः हम ज्ञेय वस्तुओं को आत्मा समझते हैं, उससे बाह्य वस्तुओं को भी सद्रूप मानकर आत्मा ही समझते हैं। वैसा उन्हें न समझें यह उनका त्याग है। व्यवहार छोड़ना न ज़रूरी है न संभव, उनमें सत्यता का निश्चय, वे सुखरूप हैं यह निश्चय तथा 'देहादि मैं हूँ' यह निश्चय ही छोड़ना आवश्यक और संभव है। शरीर, चित्त और भोक्ता अर्थात् अहंकार इन तीनों को जो हेय समझता है वही इन्हें छोड़कर बचने वाला आत्मा है। विचार तो बुद्धि में होगा, हेयता की समझ बुद्धि में आयेगी लेकिन निश्चय जिस रूप से रहता है वह साक्षी है। निश्चय हो चुकने पर वृत्ति पर निर्भरता समाप्त हो जाती है। वह निश्चय यद्यपि जन्य है तथापि जन्यांश वृत्तिरूप होने से हेय कोटि में है, ज्ञानांश अजन्य है, साक्षिरूप है। भ्रमों में भी ज्ञानांश साक्षिरूप है लेकिन इस बात का पता नहीं रहता जबकि विवेक-वृत्ति स्वयं अपना भी विवेक करती है अतः अन्य हेयों की तरह अपने भी हेयांश को पहचानती है जिससे पता रहता है हान का, त्याग का साक्षी ही अवशिष्ट है जो सदा भासमान है। हेयों को त्यागने पर प्रत्यगात्मा साक्षी अवश्य बचता है क्योंकि वह स्वप्रकाश नित्य है। इसे अन्यत्र 'बाध की अवधि' कहा है, यह आत्मा ही वह सीमा है जहाँ तक बाध हो सकता है और इस सीमा में रहकर ही इससे बाहर वालों का बाध किया जा सकता है। इस ओर असावधान होने पर भ्रम हो जाता है कि यह ठीक है कि अहंकारादि सब हेय हैं लेकिन इनसे अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है अतः या साधक अनात्मवादी हो जाता है या आत्मा को विकारी समझता है। इसलिये इसके बारे में प्रमाद करना घातक हो जाता है। जैसे अर्जुन ने पेड़, चिड़िया आदि सबसे दृष्टि हटाकर केवल आँख पर दृष्टि गाड़ी अत एव पक्का निशानेबाज बना, वैसे उपाधियों से दृष्टि हटाकर इनके साक्षी पर

त्वमर्थविवेकः

अवशिष्टोऽयमात्माऽसावहमित्येव गम्यते।
मतभेदादहंबुद्धिर्बहुष्वस्त्यत्र को भवेत्।।२८।।
देहः कर्ता च साक्षीति त्रयो वादिभिरीरिताः।
आत्मानस्तेषु कतमो भवतोऽभिमतो वद।।२६।।

एकाग्र करने से ही आत्मबोध संभव है। सुषुप्ति में इस आत्मा का भान सबको होता है। वहाँ अहंकार पर्यन्त किसी उपाधि के बिना प्रत्यग्रूप प्रकाशमान रहता है किन्तु उस समय अज्ञान होता है और जगकर हम उस अनुभूति पर चिंतन नहीं करते इसलिये उसका निश्चय नहीं हो पाता। बृहदारण्यक में उषस्त चाक्रायण को भी ऐसे ही समझाया गया था 'एष त आत्मा सर्वान्तरः।' 'कतमो याज्ञवल्क्य! सर्वान्तरः?' 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः, योऽपानेन...' (३.४)। हेय के त्याग के साक्षी के रूप में स्फुरमाण ही आत्मा है यह शाकायन्य ने सूत्ररूप में आत्मतत्त्व का उपदेश दे दिया।।२७।।

बचे हुए के स्वरूप की जिज्ञासा से राजा ने प्रश्न किया **बचा हुआ यह आत्मा वही है जो 'मैं'इसी तरह समझा जाता है किन्तु 'मैं' ऐसा बहुत चीज़ों को समझा जाता है, 'मैं' के अर्थ के बारे में विभिन्न मत हैं। ऐसी स्थिति में वह कौन है जिसे आप बचा हुआ आत्मा कह रहे हैं?।।२८।।** 'मैं' के बारे में स्वयं भी निर्णय नहीं हो पाता क्योंकि अहंकार से शरीर पर्यन्त सभी को मैं समझते हैं और विभिन्न दार्शनिक भी उसके बारे में अलग-अलग बातें बताकर उलझन बढ़ा देते हैं। देह, प्राण, मन, बुद्धि, इंद्रियाँ और यहाँ तक कि शून्य तक को लोग आत्मा मान लेते हैं अत राजा स्पष्टीकरण चाहता है कि क्या इन्हीं में से कोई आत्मा है या इनसे अलग है।।२८।।

विवेकी होने से राजा आत्मा के निरुपाधिक रूप से भी अपरिचित नहीं है अतः वही आत्मा है यह भी संभावना व्यक्त कर अपना प्रश्न स्पष्ट करता है **वादियों द्वारा देह, कर्ता और साक्षी ये तीन आत्मा कहे जाते हैं। यह बताइये कि इनमें से आप किसे आत्मा स्वीकारते हैं।।२६।।** गौणात्मा, क्षणिकविज्ञान, शून्य आदि को तो राजा अनात्मा समझ चुका था अतः मिथ्यात्मा से ही प्रारंभकर विकल्प रखे। साधारणतः देह को मैं समझते ही हैं। किन्तु किंचित् भी व्यवहार द्योतित कर देता है कि मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, शरीर मेरा भले ही है, मैं इसके अंदर हूँ, इससे कार्य लेता हूँ पर

साक्ष्यात्माऽभिमतो नान्यौ तयोर्दोषास्त्वयेरिताः।
संसारान्तःपातिनौ तौ न तयोरात्मतोचिता।।३०।।

शरीर ही मैं नहीं हूँ। शरीर के परिवर्तन और अपनी अपरिवर्तितता सबको प्रत्यक्ष है, मरा शव सभी को प्रत्यक्ष है अतः देहमात्र मैं नहीं यह पता चल ही जाता है। किन्तु अपने कर्ता भोक्ता स्वरूप को आत्मा समझना बिना औपनिषद विज्ञान के समाप्त नहीं होता। न्याय-मीमांसा आदि भी इसी रूप को आत्मा बताते हैं। कुछ सूक्ष्म विचारक जैसे सांख्यवादी और योगी, इससे परे जो साक्षी उसे आत्मा बताते हैं। सामान्य व्यक्ति कई बार साक्षिरूप को भी महसूस करता ही है। समझदार व्यक्ति को गुस्सा आने लगता है तो वह अनुभव करता है कि 'मुझे पता चल रहा है कि मैं उत्तेजित हो रहा हूँ', जिसे पता चल रहा है वह साक्षी और जो उत्तेजित हो रहा है वह कर्ता-भोक्ता यह भेद व्यक्त होता है। गुस्सा पूरी तेज़ी पर पहुँच जाये तब तो उत्तेजित स्वरूप से पृथक् केवल जानने वाला रूप नहीं भासता लेकिन प्रांरभ में भासता ही है। इस तरह साक्षी भी 'मैं' का अर्थ है। क्रोध की स्मृति से भी साक्षी का पता चलता है : शाम को याद आता है कि 'सुबह मैं क्रुद्ध हो गया था', क्रुद्ध रूप तो अब नहीं रहा पर मैं रह गया तभी याद कर रहा हूँ; जो रह गया वह साक्षी और जो नहीं रहा वह कर्ता-भोक्ता यह भेद निर्णीत होता है। इस प्रकार प्रधान वादियों और विवेकशीलों के अनुभव के आधार पर राजा ने प्रश्न किया।।२९।।

मुनि ने उत्तर दिया **हमें स्वीकार है कि साक्षी ही आत्मा है। कर्ता व देह आत्मा नहीं है। उनके दोष तुम्ही कह चुके हो। वे दोनों संसार के भीतर उसके हिस्से के रूप में मौजूद हैं, यह उचित नहीं कि वे आत्मा हों।।३०।।** आत्मा नित्य, निर्दोष, ज्ञानस्वरूप है और उसको जानने का फल है सारे शोकों की निवृत्ति। कर्ता व देह अनित्य, सदोष, ज्ञेयस्वरूप हैं और इन्हें जानने पर कोई शोक दूर नहीं होता अतः इनका आत्मा होना मुमकिन नहीं। साक्षी नित्य, निर्दोष और ज्ञानस्वरूप है अतः वही आत्मा होना संगत है। साक्षी का यत्किंचित् ज्ञान होने पर भी जो शोकनिवृत्ति नहीं हो रही उसी से विचारणीय है कि क्या वही आत्मा है? विश्लेषण करने पर पाते हैं कि शोक तभी होता है जब कर्ता-रूप को मैं समझते हैं अर्थात् 'साक्षी रूप ही मैं हूँ' यह निश्चय नहीं है, यह बोध स्थायी नहीं है। जब समाधि में केवल साक्षी को मैं समझते हैं तब शोक भी नहीं होता। इसलिये निर्णय हो जाता है कि वही आत्मा है। त्वम्-पदार्थ का शोधित रूप साक्षी है। यद्यपि केवल साक्षी के ज्ञान से शोक

विषयज्ञाननिष्पत्तिः

चाक्षुषव्यवहारेऽस्य भासकत्वेन साक्षिता।
विवेक्तुं शक्यते तस्मादक्ष्युपाधौ स उच्यते।।३१।।
देहमध्येऽस्ति हृत्पद्मं नाडीयुतमधोमुखम्।
नाड्यस्तूर्ध्वमधश्चैतं देहं व्याप्य व्यवस्थिताः।।३२।।
अहङ्कारोऽत्र चिद्युक्तः कर्ता भोक्ता हृदि स्थितः।
मनोऽन्तःकरणं स्थित्वा हृदि वृत्या बहिर्व्रजेत्।।३३।।
रश्मिवत् प्रसृता वृत्तिर्नाड्याप्नोत्यक्षिगोलकम्।
अस्वतन्त्रा बहिश्चक्षुरिन्द्रियेण सह व्रजेत्।।३४।।
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं घटाकाशवदेतया।
वृत्त्या सह बहिर्गत्वा तत्राऽज्ञानं नुदेत् क्षणात्।।३५।।

निवृत्त नहीं होता, कुछ देर के लिये दूर भले ही हो जाये, तथापि जीव स्तर पर आत्मा साक्षी ही है। शोक पूरी तरह मिटाने के लिये तो परमात्मा का ज्ञान चाहिये, जब पता चले कि साक्षी परमेश्वर है तभी शोक सर्वथा समाप्त होगा। कर्ता व देह क्योंकि दृश्य और परिवर्तनशील हैं इसलिये संसार के ही अंग हैं, वे आत्मा नहीं है।।३०।। साक्षी का स्पष्टीकरण विद्यारण्य स्वामी करते हैं **आँख द्वारा दर्शन का व्यवहार होने पर उसके प्रकाशक के रूप में साक्षी को विवेकपूर्वक समझा जा सकता है। इसलिये आँखरूप उपाधि के सहारे साक्षी के बारे में समझाते हैं।।३१।। शरीर के बीचों-बीच नीचे की ओर मुख किये कमले के आकार का नाडी-समेत हृदय है। उससे निकली नाडियाँ ऊपर व नीचे सर्वत्र शरीर में फैलकर कार्यकारी हैं।।३२।। इसी हृदय में चेतन की छाया ग्रहण किया हुआ अहंकार है जो कर्ता-भोक्ता है। मन-रूप अन्तःकरण भी हृदय में रहता है और वृत्ति द्वारा हृदय से बाहर निकलता है।।३३।। किरण की तरह फैली वृत्ति नाडी द्वारा आँख के गोलक में पहुँचती है फिर इंद्रिय के साथ शरीर से बाहर दृश्य-स्थल पर जाती है क्योंकि इंद्रियों का सहारा लिये बिना मन शरीर से बाहर नहीं जा पाता।।३४।। घट से अवच्छिन्न (परिसीमित) आकाश की तरह वृत्ति से अवच्छिन्न चेतन भी उस वृत्ति के साथ बाहर जाकर विषय-स्थित अज्ञान को क्षणभर में नष्ट कर देता है।।३५।। दृश्य पर उस वृत्ति के पहुँचने से पहले वह वस्तु अज्ञान से ढकी रहती हैक्योंकि सारा जगत् जब तक जाना न जाये तब तक अज्ञान से ढका**

तद्वृत्यागमनात् पूर्वम् अज्ञानेन समावृतम्।
बाह्यं जगत् तदज्ञानं तया वृत्त्याऽपसार्यते।।३६।।
वर्तिनिष्ठो यथादीपस्तमो नाशयते तथा।
चैतन्यं वृत्तिनिष्ठं यत् तदज्ञानस्य नाशकम्।।३७।।

ही हैवह अज्ञान उस वृत्ति द्वारा हटा दिया जाता है।।३६।। बत्ती में स्थित दिया जैसे अँधेरा मिटा देता है वैसे वृत्ति में जो चेतन स्थित होता है वह अज्ञान को नष्ट करता है।।३७।। घट के चलने से घटाकाश चलता हुआ प्रतीत होता है, ऐसे ही वृत्ति के बहिर्गमन से चेतन का बहिर्गमन प्रतीत होता है अतः श्लोक ३५ में घटाकाश का उदाहरण दिया। अहंकार का स्वाभाविक स्थान हृदय है। दर्शनादि व्यवहार के लिये वहीं से वह तत्तद् गोलक पर पहुँचता है। सामान्य चेतना-वृत्ति से तो वह जाग्रत् के समय सारे ही शरीर में फैला रहता है पर जिस इंद्रिय से विशेष कार्य लेना होता है उससे विशेष सम्बन्ध भी स्थापित करना पड़ता है अतः वृत्तिविशेष द्वारा अन्तःकरण उस स्थान पर पहुँचता है जहाँ इंद्रिय कार्यकारी होती है। मन और चक्षु की वृत्तियाँ साथ-साथ ही बाहर जाती हैं, दोनों एक-दूसरे के बिना बाहर नहीं जाती। देह-पर्यन्त फैले अहंकार वाला चेतन द्रष्टा और आँख से विषय तक पहुँची वृत्ति वाला चेतन दर्शन या प्रमाण बन जाता है। जाना वृत्ति का ही होता है किन्तु जहाँ भी वह जाती है, आत्मा को अवच्छिन्न करती जाती है जैसे जहाँ भी घट जाता है आकाश को अवच्छिन्न करता जाता है। विषय से सम्बद्ध होकर वृत्ति विषय का आकार ग्रहण कर लेती है जिससे विषय पर स्थित अज्ञानावरण हट जाता है। विषय पर आवरण का मतलब है विषयावच्छिन्न चैतन्य पर आवरण। अखण्ड ब्रह्म ने ही सृष्टि का आकार लिया अतः आवश्यक था कि उसका वास्तविक स्वरूप आवृत रहे क्योंकि तभी नाम-रूप का भ्रम कायम रह सकता था। इसलिये जहाँ कहीं जगत् दीखता है वहाँ ब्रह्म आवृत है इसीलिये दीखता है अत एव कह देते हैं कि जगत्, जगत् के सब पदार्थ अज्ञान से आवृत हैं। जगत् तो अज्ञानरूप है, वह आवृत नहीं होता वरन् ब्रह्म आवृत रहकर जगत् के आकार का दीख जाता है। जिस आकार में दीखता है उसी से अवच्छिन्न ब्रह्म को आवृत मानकर आकार को ही आवृत कह देते हैं। इसमें हेतु है कि परिच्छिन्न प्रमा से उतना ही ब्रह्म अनावृत भी होगा। क्योंकि घटावच्छिन्न ब्रह्म के अनावरण से ही घट ज्ञात होता है इसलिये घटावच्छिन्न ब्रह्म के ही आवरण से घट को अज्ञात मानना पड़ता है। जब अंतःकरण घट-संबद्ध होकर घट का आकार लेता है

तब वह आवरण दूर हो जाता है। पंचदशी ७.९१ में भी ऐसा ही बताया है। विषय स्थल पर विषयाकार वृत्ति बनने पर वह चेतन को अवच्छिन्न करती ही है क्योंकि वृत्ति का स्वभाव ही ऐसा है कि जहाँ रहेगी वहाँ चैतन्य को अवच्छिन्न करेगी, उस स्वावच्छिन्न चैतन्य के बल से ही वृत्ति अज्ञान को दूर करती है अतः यह भी कह सकते हैं कि वृत्ति पर आरूढ चेतन अज्ञान को दूर करता है। बोधेद्ध बुद्धि या बुद्धीद्धबोधदोनों तरह से कहा ही गया है। विषय से प्रमाता का संबंध करने के लिये अंतःकरण विषय से सम्पर्क करता है और विषयचैतन्य पर पड़े आवरण को मिटाने के लिये विषयाकार ग्रहण करता है तभी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परोक्ष ज्ञान में अंतःकरण विषयदेश में पहुँचे बिना प्रमाण के प्रभाव से विषयाकार ग्रहण कर लेता है अतः परोक्ष ज्ञान से 'विषय' हैइतना ही पता चलता है, विषय भासमान हैऐसा नहीं होता। इसे ही कहते हैं कि असत्त्वापादक आवरण तो परोक्ष ज्ञान से भी दूर हो जाता है पर अभानापादक आवरण प्रत्यक्ष से ही दूर होता है। आवरण-निवृत्ति के रूप में कहने से स्पष्ट होता है कि विषय में 'ज्ञातता' रूप कोई वैशिष्ट्य नहीं आता, ज्ञान होने पर वह अज्ञात नहीं रह जाता बस इसी का नाम उसकी ज्ञातता है। यद्यपि चेतन व्यापक है, विषय का अधिष्ठान भी चेतन ही है। फिर भी अज्ञान को निवृत्त वह तभी करता है जब प्रमाणवृत्ति से संबद्ध हो, उसके बिना तो वह अज्ञान का आश्रय ही है निवर्तक नहीं।

लोग शंका करते हैं कि ईश्वर दयालु और सर्वसमर्थ है तो सभी को मुक्त क्यों नहीं कर देता? इसका ही समाधान है कि उसकी यह व्यवस्था है कि जब हम अखण्डाकार वृत्ति बनायें तब वह उस पर चढ़कर अज्ञान मिटा देता है, हमें मुक्त कर देता है। जैसे ईंधन में छिपी आग को प्रकट न करें तो कोई रोशनी, गर्मी आदि नहीं मिलती वैसे वृत्ति बनाना ही वह उपाय है जिससे परमेश्वर की अज्ञाननाशकता प्रकट होती है। दीपक के उदाहरण से यही समझाया; बत्ती, तेल, दियासलाई, दिवोटियाये सब जब तक तरतीब से मिलाकर लौ जलायी न जाये तब तक अंधेरा नहीं दूर होता भले ही इनमें अंधेरा मिटाने की सारी सामग्री आ गयी। बत्ती को कसकर बटना पड़ता है, ऐसे ही अंतःकरण को परमात्मा पर ही एकाग्र करना पड़ता है। बटी न जाये तो बत्ती के अवयव शिथिल होने से बीच में हवा रहती है, बत्ती लौ नहीं देती। अंतःकरण में हवा की जगह संसार के प्रति राग है। अत एव शास्त्र सुनकर भी मन अखंडज्ञान का आकार नहीं ग्रहण कर पाता। मन में एकाग्र होने कि सामर्थ्य तो है, व्यापारी जब आयकर विभाग को चिट्ठा सौंपता है तब सर्वथा एकाग्र हो जाता है, रसोइया जब छौंक

एष हृन्निष्ठचैतन्यपदार्थोऽक्ष्णा बहिर्गतः।
व्याप्नुवन्निखिलं तत्र व्यथां नाप्नोति काञ्चन।।३८।।

अव्यथमानः साक्षी

प्रतिकूलात् तु विषयाद् या व्यथा सा तु मानसी।
न चैतन्यगतेत्येवम् आचार्याः स्पष्टमब्रुवन्।।३९।।
'दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
दुःखिनः साक्षिता नैव साक्षिणो दुःखिता तथा।।४०।।

तैयार करता है तब एकाग्र हो जाता है, खिलाड़ियों को भी कई मौकों पर पूर्ण एकाग्रता चाहिये, अतः एकाग्र तो सब करते हैं अपने मन को परंतु संसार की चीज़ों पर ही एकाग्रता लाते हैं। उससे आत्मज्ञान नहीं होगा। आत्मा पर जब चित्त एकाग्र हो तभी श्रवण आत्मज्ञान उत्पन्न करेगा। प्रकृत बात यह है कि अंहकार-प्रमाणवृत्ति-प्रमेयाकारवृत्ति ये तीनों एक साथ बनें तब प्रमेय का अज्ञान नष्ट होता है यह ज्ञान की प्रक्रिया है।।३७।।

उक्त प्रक्रिया समझने से पता यह चलता है कि आत्मा अविकृत ही रहता है, विकार उपाधि में ही होते हैं यह बताते हैं **हृदय में नितराम् स्थित यह चैतन्यरूप वस्तु आँख से बाहर जाकर सारे दृश्य को घेर लेने पर भी इस प्रक्रिया में किसी व्यथा को नहीं प्राप्त होती।।३८।। प्रतिकूल विषय के कारण मन में तो व्यथा होती है, चैतन्य में नहीं। यह बात पूर्वाचार्यों ने स्पष्ट कही है।।३९।।** शाकायन्य मुनि ने आत्मा को अव्यथमान अर्थात् व्यथित न होने वाला कहा है। निष्क्रिय निर्विकार होने से न श्रम, थकावटरूप व्यथा होती है और न दुःखरूप क्योंकि दुःख मनोवृत्ति ही है व मन से पृथक् जो आत्मा वह उसमें संक्रांत नहीं हो सकता। मन में पड़े संस्कारों के आधार पर जिस अनुभव को प्रतिकूल समझा जाता है उसके फलस्वरूप ही मन में दुःख-वृत्ति उत्पन्न होती है अतः आत्मा से इसका संबंध नहीं, वह व्यथा से परे है। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास तथा साम्प्रदायिकों ने आत्मा का यह अव्यथमान स्वरूप अनेक स्थलों पर प्रतिपादित किया है।।३८-९।।

आचार्य सुरेश्वर ने आत्मा की निर्दुःखता बृहदारण्यकवार्तिक में (१.४.५६०-१) एवं नैष्कर्म्यसिद्धि में (२.७६-७) बतायी है। उन्हीं के वचनों को उद्धृत करते हैं **'आत्मा यदि दुःखी हो तो दुःखी का साक्षी कौन होगा? दुःखी की साक्षिरूपता और साक्षी की दुःखिरूपता संभव नहीं।।४०।। बिना परिवर्तन के दुःखी नहीं हुआ**

नर्ते स्याद् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः।
धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः'।।४१।।

जाता और परिवर्तित होने वाले की साक्षिता क्या कही जाये! बुद्धि के हज़ारों विकारों (परिवर्तनों) का साक्षी होने से मैं (आत्मा) अपरिवर्तनीय हूँ।।' ४१।।

वार्तिककार का सीधा तर्क है कि 'मैं दुःखी हूँ' इसे जो जानता है वह दुःखी से भिन्न ही हो सकता है और यदि इसे कोई जानता ही नहीं तब तो आत्मा दुःखी है ही नहीं क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं! अनुभव सबको है कि 'दुःखी हूँ' अतः सिद्ध होता है कि दुःखी का साक्षी आत्मा हमेशा निर्दुःख है। जो दुःखी है वही साक्षी हो यह संगत नहीं क्योंकि तब दुःखी को सनातन मानना पड़ेगा जबकि है वह आगमापायी, दुःखरूप उपाधि आने पर दुःखी होता है, दुःख चला जाने पर दुःखी भी नहीं रहता। आगमापायी का साक्षी स्थायी ही हो सकता है यह सर्वसम्मत है अतः साक्षी दुःखी से पृथक् नित्य एकरस ही है। साक्षी इसलिये दुःखी नहीं हो सकता कि वह परिवर्तनशील है नहीं और बिना परिवर्तित हुए दुःखी हुआ नहीं जाता अन्यथा दुःखी को ही हमेशा रहने वाला मानना पड़ेगा। लोक में भी बात बदलने वाला साक्षी नहीं स्वीकारा जाता तो अध्यात्म में परिवर्तनशील को साक्षी कैसे मान सकते हैं! दुःख हमेशा सकारण होता है, स्वाभाविक नहीं, अतः दुःखिता को एक विकार ही स्वीकारना पड़ता है। अंतःकरण ही विकृत होता है, उसी में दुःखवृत्ति आती है तो अहंकार दुःखी हो जाता है, साक्षी निर्विकार रहकर उसे प्रकाशित करता है। जैसे भला आदमी सामने आये या बुरा, दीपक दोनों को एक-सा प्रकाशित करता है, भले को प्रकाशित करने से दीपक बेहतर नहीं हो जाता, बुरे को प्रकाशित करने से बदतर नहीं हो जाता। वैसे अहंकार सुखी दुःखी कामी क्रोधी चाहे जैसा होता रहे, साक्षी उसे समान प्रकाश देता रहता है। बुद्धि वस्तु ही अत्यंत तीव्रता से परिवर्तित होने वाली है, गीता में भी 'चंचलं हि मनः' 'मनो दुर्निग्रहं चलम्' कहा है, और यह पता इसीलिये चलता है कि इसका साक्षी मैं प्रत्यगात्मा सर्वथा अपरिवर्तित रहता हूँ। इस प्रकार साक्षी आत्मा अव्यथमान है यह आचार्यवचन से प्रमाणित किया। हमारा जो रूप व्यथमान है वह अहंकार है; अहमात्मिका वृत्ति से तादात्म्य कर हम स्वयं को व्यथित समझते हैं। व्यथित होना औपाधिक है, बिना अहंकार के कभी स्वयं को दुःखी नहीं पाते। उपाधिजन्य तो मिथ्या ही होता है अतः आत्मा का वास्तविक रूप व्यथमान नहीं, दुःख से अस्पृष्ट ही है।।४०-१।।

जीवता भ्रमः

यःसाक्षी चित्पदार्थोऽसौ जीवात्मा तस्य जीवता।
अहङ्कारेण तादात्म्यभ्रान्त्यैव परिकल्पिता।।४२।।

जीवविवेकः

बोधयित्वा जीवतत्त्वं जीवस्य ब्रह्मरूपताम्।
बोधयामास सोऽप्यात्मा स्वेन रूपेण तिष्ठति।।४३।।
आत्माऽहङ्कारदेहाभ्यां युक्तः कलुषितः पुरा।
विवेचितः स्थूलदेहाद् ईषदेव प्रसीदति।।४४।।

दुःखी और साक्षी का भेद सुनकर लग सकता है कि मैं जीव दुःखी हूँ और मुझसे अन्य ही कोई साक्षी है; इस भ्रम को दूर करते हैं **जो ज्ञानरूप वस्तु साक्षी है वही जीवात्मा है। अहंकार से तादात्म्य के भ्रम द्वारा ही साक्षी की जीवरूपता अध्यस्त है।।४२।।** चेतन को ही जीव कहते हैं जब अहंकार से उसे एकमेक समझते हैं और विवेक से उसे पृथक् कर समझें तो वही चेतन साक्षी है। अनुभव होता है 'गर्म पानी से हाथ जल गया', किन्तु विवेक करें तो पता चलता है कि पानी में जो आग थी उससे जला, भ्रम से लगा था कि पानी ही जलाने वाला है क्योंकि आग और पानी को एकमेककर समझ रहे थे। इसी प्रकार 'मैं दुःखी' अनुभव मैं-रूप साक्षी और दुःखी-रूप अहंकार को भ्रमवश एक समझने से होता है।।४२।।

'बोधयामास' इत्यादि श्लोक निर्णयसागर में ४४वाँ और मुत्तुशास्त्री संस्करण में ४६वाँ है जबकि कावेल के एशियारिक सोसायटी संस्करण में ४३ वाँ है। सभी क्रम किसी दृष्टि से ठीक हैं। यहाँ कावेल का क्रम मानकर विचार करते हैं।

शाकायन्य मुनि ने आत्मोपदेश करते हुए कहा 'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वने रूपेणाभिनिष्पद्यता इति। एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति' (२.२)। छांदोग्य (८.३.४) में यह वाक्य आया है और इस ग्रंथ में अध्याय ५ श्लोक ५४ आदि द्वारा इसकी व्याख्या की जा चुकी है। यहाँ भी इसे स्पष्ट करते हैं **मुनि ने जीव का वास्तवरूप समझा कर फिर यह बोध कराया कि जीव ब्रह्मरूप ही है। उन्होंने कहा कि अहंकार से विविक्त आत्मा अपने स्वाभाविक अनध्यस्त स्वरूप से ही रहता है।।४३।। पहले, अज्ञान-दशा में आत्मा अहंकार और देह से जुड़कर मानो कलुषित रहता है। स्थूल शरीर से उसे पृथक् जान लेने पर वह कालुष्य थोड़ा ही निवृत्त होता है।।४४।। जब**

अहङ्कारा‌द् विविक्तश्चेत् तदा सम्यक् प्रसीदति।
आधिव्याध्याख्यकालुष्यं न चिन्मात्रेऽस्ति किञ्चन।।४५।।

जीवो ब्रह्म

एष साक्षी सम्प्रसादो देहद्वयसमुत्थितः।
शास्त्रसिद्धं परं ब्रह्म ज्योतिः प्राप्नोति वाक्यतः।।४६।।

अहंकार से भी आत्मा को अलग जान लिया जाता है तब कालुष्य दूर होता है मानो आत्मा भली भाँति साफ हो गया हो। आधि-व्याधि नामक कोई कलुषितता चेतनरूप आत्मा में नहीं है।।४५।। स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों से पृथक् कर समझा गया यह सर्वथा शुद्ध साक्षी ही महावाक्य के सहारे शास्त्रसिद्ध स्वप्रभ परब्रह्म को प्राप्त करता है।।४६।। पहले जीव का शोधन करना पड़ता है तब उसकी ब्रह्मरूपता समझ आती है। मटमैला पानी पीने लायक है लेकिन तभी जब उसमें से मिट्टी हटा दें। जब मटमैला दीख रहा है तब भी पानी के स्वरूप में कोई अंतर नहीं है, पानी व मिट्टी के परमाणु पास-पास होने से लगता है मटमैला पानी एक चीज़ है, किंतु उसी हालत में वह पेय भी नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानवश आत्मा देहद्वय से एकमेक हुआ देहदोषों से दूषित प्रतीत होता है, है वह ब्रह्म ही किन्तु ब्रह्म होने का प्रभाव नित्य निरतिशय आनंद का स्फुरण तभी होगा जब देहद्वय से पृथक् कर अकेला आत्मा समझ लिया जाये। अज्ञान रहते अहंकार उदय होगा ही और उससे अविवेक कर आत्मा कर्ता-भोक्ता बनेगा ही तथा करने भोगने के लिये शरीर मिलेगा भी और उससे भी अविवेक कर स्वयं को जन्म-व्याधि-जरा-मरण वाला समझेगा ही। खुद को शरीर न माने तो बाप की ही सेवा नहीं कर सकता क्योंकि बाप है ही वह जिसने शरीर पैदा किया। लौकिक व शास्त्रीय सभी व्यवहार देहद्वय के अविवेक को स्वीकारने पर ही संभव हैं। इस अविवेक से स्वयं को पाप-पुण्य से कलंकित मानना स्वाभाविक हो जाता है। सत्संग आदि से विवेक करने पर पहले समझ आता है कि मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ क्योंकि मैं पूर्व-पर जन्मों में रहने वाला हूँ जबकि यह स्थूल देह इसी जन्म में रहता है, इस जीवन में भी पैदा होने से मरने तक बदलता ही रहता है जबकि मैं बिना बदले रहता हूँ। इतना विवेक होने से थोड़ा कालुष्य हटता है, स्थूल के अभिमान और तत्प्रयुक्त व्यथाएँ दूर होती हैं। अविवेकी को कोई गंभीर रोग हो जाये, हाथ-पैर कट जाये तो वह सर्वथा हताश हो जाता है किन्तु जो स्वयं को देहातिरिक्त जानता है उसे भावी देह की आशा बनी रहने से यहाँ का कष्ट अल्पकालिक अतः सह्य ही लगता

मत्तोऽन्यद् ब्रह्म परमं स्वप्रकाशमिति भ्रमः।
पुराऽऽसीत् तत्त्वमस्यादिवाक्येनाऽसौ निवर्तते।।४७।।
अब्रह्मत्वभ्रमापायो ज्योतिःप्राप्तिरितीर्यते।
ततोऽयं ब्रह्मणा स्वेन रूपेण व्यवतिष्ठते।।४८।।

है। फिर भी अधिकतर कष्ट होते हैं सूक्ष्म शरीर के अभिमान से, वे तब तक बने रहते हैं जब तक अहंकार से भी विवेक न कर लिया जाये। जब स्वयं को अहंकार से, सूक्ष्म शरीर से अन्य उसका साक्षी जान लेते हैं तब कालुष्य पूरा निवृत्त होता है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व हट जाता है, कर्मबन्धन नहीं रह जाता। सूक्ष्म-प्रयुक्त कालुष्य को यहाँ आधि से और स्थूल-प्रयुक्त को व्याधि से कहा। मन के स्तर पर होने वाले शोक-मोह आधि और शरीर के रोगादि व्याधि कहे जाते हैं। जब तक देहद्वय से तादात्म्य है तब तक आधि-व्याधि का कष्ट मुझे होता है, विवेक हो जाने पर मैं आधि-व्याधिका साक्षी ही रहता हूँ, उससे मुझे कोई कष्ट नहीं होता। लोकमें भी मेरा-पन हो तभी दुःख होता है। काश्मीर में हज़ारों मरे हैं, अब भी दस-पाँच रोज़ मारे जाते हैं लेकिन उनमें मेरा-पन नहीं तो हमें दुःख भी नहीं होता। यदि उनमें कोई एक भी मेरा पुत्र हो तो मुझे अपार दुःख होगा। व्यक्ति का मरना दुःखद होता तो रोज़ दुःख हुआ करता जो होता नहीं अतः मेरा-पना होने से ही दुःख होता है यह मानना पड़ेगा। जब तादात्म्य-रूप सम्बन्ध नहीं रह गया तब देहद्वयप्रयुक्त दुःख की संभावना ही समाप्त हो गयी। अतः कोई कालुष्य नहीं रह जाता। यह जो निष्कलुष साक्षी आत्मा इसी को शास्त्र ने ब्रह्म कहा है। महावाक्य इसी की व्यापकता का प्रबोधन कराते हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह बोध ही ब्रह्मरूपता की प्राप्ति है।।४३-४६।।

वाक्य-कृत्य ही स्पष्ट करते हैं **ज्ञान से पूर्व जो यह भ्रम रहता है कि 'स्वप्रकाश परम ब्रह्म मुझ से अन्य है' वह 'तू ब्रह्म है' आदि महावाक्य से मिट जाता है।।४७।। 'मैं ग़ैरब्रह्म हूँ' इस भ्रम का हटना ही 'स्वप्रकाश तत्त्व की प्राप्ति' कही जाती है जिसके बाद आत्मा अपने स्वाभाविक ब्रह्मस्वरूप से ही बना रहता है।।४८।।** हम ब्रह्म को चेतन, स्वप्रकाश भी मानते हैं और स्वयं से अलग भी मानते हैं जो विचारदृष्टि से असंभव है। स्वयं से अलग की सिद्धि तभी हो जब मैं उसे जानूँ और यदि जान लिया तो वह ज्ञेय होगा, स्वप्रकाश नहीं होगा। इसलिये चेतन ब्रह्म प्रत्यक् से अभिन्न ही स्वीकारा जा सकता है फिर भी अज्ञानवश हम उसे भिन्न मानते हैं। महावाक्य का अर्थ समझने पर यह भ्रम मिटता है, स्वयं को

एवं व्यवस्थिते योऽसावात्माऽनुभवगोचरः।
स एव मृतिभीत्यादिरहितं ब्रह्म नेतरत्।।४६।।

ब्रह्म से अलग मानना ख़त्म होता है। अहंकार से दूर हुए बिना प्रत्यक्स्वरूप को व्यापक समझना असंभव है। सुषुप्ति में अहंकार न रहने पर स्वयं की कोई परिच्छिन्नता भी प्रतीत नहीं होती किन्तु अज्ञान रहने से व्यापकता प्रकट भी नहीं होती। तत्त्वज्ञान हो जाने पर पूर्णता भासमान रहती है। इससे पूर्व स्वयं को ब्रह्म से भिन्न देवदत्त कर्ता भोक्ता आदि मानते ही रहते हैं। यह मानना अर्थात् भ्रम दूर होना ही मोक्ष की प्राप्ति है। स्वरूप से आत्मा सदा मुक्त है, भ्रम से ही स्वयं को बद्ध समझ रहा है इसलिये भ्रम का बाध होने की ही ज़रूरत है, मोक्ष तो स्वतः सिद्ध है।।४७-८।।

ब्रह्म ही मुक्ति-अवस्था है यह सिद्धान्त बताते हैं **हमेशा प्रत्यग्रूप से भासमान जो आत्मा वही व्यापक आनंदरूप से जब प्रमाण की सहायता से निरावृत हो जाता है तब वह ही मौत, डर आदि से रहित ब्रह्म है, अन्य कुछ नहीं।।४६।।** 'व्यवस्थित' शब्द मैं 'वि' का अर्थ है जिस पर से अज्ञान विगत हो गया है। अर्थात् अविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित आत्मा को ही यहाँ मुक्त ब्रह्म कहा है। जैसे अनुभव का विषय बना घट आदि निरावृत हो जाता है ऐसे प्रमाण से आत्मा निरावृत हो जाता है इस समानता से ही उसे अनुभवगोचर कहा, विषय बनता हैयह बताने के लिये नहीं। मरणादि ब्रह्म में तो प्राप्त ही नहीं कि उनका निषेध सार्थक हो, जिस जीव में प्राप्त हैं उसी में उनका निषेध सार्थक है अतः जिसमें मरणादिका निषेध किया वह ब्रह्म जीव से भिन्न नहीं है, जीव ही अज्ञदशा में मरणादि से पीडित है, वही ज्ञानदशा में स्वयं को उन सब पीडाओं से सदा अतीत जान लेता है। शाकायन्य ने जो कहा था कि 'यही आत्मा है यही अमृत है, अभय है, यही ब्रह्म है' उसका यहाँ स्पष्टीकरण हुआ। 'मृति-भीति-आदि' के आदि से अज्ञान समझना चाहिये। मृतिनिषेध से स्थूल का, भीतिनिषेध से सूक्ष्म का और अज्ञाननिषेध से कारण का आत्मा में राहित्य बताया। ये तीनों ही जीव-ईश्वर आदि का भेद प्रतीत कराते हैं, जब तीनों निरस्त हो गये तब कोई भेद नहीं रह जाता है। प्रारब्धभोग पर्यन्त भेद का अवभास होने पर भी उसमें सत्यता प्रतीत नहीं होती। नाटक में पात्र मौजूद होते हैं तो दर्शक ताली भी पीटते हैं और कभी जूता भी फैंकते हैं! किन्तु सिनेमा में दीखता सर्वथा नाटक जैसा है पर पात्र कोई मौजूद नहीं होता अतः चलचित्र देखते हुए न ताली पीटते हैं न जूता फैंकते हैं। इसी तरह अज्ञानी संसार को नाटक-सा सत्य समझकर क्रिया-प्रतिक्रिया

ज्ञानसाधनम्

श्रवणं मननं ध्यानं विद्यायाः साधनं त्रयम्।
अज्ञानं संशयो भ्रान्तिरित्येतेषां निवर्तकम्।।५०।।
गुरूपदेशश्रवणाद् अज्ञानं विनिवर्तते।
उपपत्तिपरामर्शात् संशयानां निवर्तनम्।।५१।।
निरन्तरध्यानतस्तु नश्यति भ्रान्तिवासना।
राजन् ते श्रवणं जातं मननं कुरु यत्नतः।।५२।।

करता रहता है, ज्ञानी इसे चलचित्र-सा मिथ्या जानता है अतः देखता भले ही है, क्रिया-प्रतिक्रिया कुछ नहीं करता। जीवन्मुक्त के व्यवहार के आधार पर भेद की सत्यता नहीं सिद्ध होती क्योंकि वह भेद और भेदव्यवहार को असत्य ही जानता है। अतः तत्त्वज्ञान से होने वाली मुक्ति अवस्था ब्रह्मरूप ही है।।४६।।

वैराग्य, परमात्मा, जीवात्मा का वर्णन कर अब परमात्मा के स्वरूप को समझने के अंतरंग साधन बताते हैं **विद्या के तीन साधन हैं श्रवण, मनन और ध्यान जो क्रमशः अज्ञान, संशय और भ्रांति को निवृत्त करते हैं।।५०।।** जैसे रूप देखने के लिये स्वस्थ खुली आँख और उचित प्रकाश से प्रकाशित रूप का सामने होना ही आवश्यक है, इनका कोई विकल्प नहीं है, वैसे परमात्मा के ज्ञान के लिये श्रवणादि अनिवार्य हैं। आँख की जगह है श्रवण द्वारा वेदान्तों के तात्पर्य का निश्चय। प्रकाश की जगह है मनन से संशय दूर करना। रूप-आँख आमने-सामने होने की जगह है ध्यान से परमात्मा पर चित्त की एकाग्रता। इस प्रसंग में ध्यान का मतलब चित्त की एकाग्रता है, न कि केवल समान प्रत्ययों का प्रवाह। प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान एकाग्रता के लिये किया जाये यह तो ठीक है लेकिन विद्याप्राप्ति में उसका साक्षात् उपयोग नहीं, एकाग्रता का साक्षात् उपयोग है। ब्रह्मातिरिक्त किसी ओर चित्त न जाये यह आवश्यक है। देहादि भ्रांतियों से हटकर केवल साक्षी में एकाग्र रहे तभी बुद्धि आत्मैकाकार में स्थिर रह सकती है। तीन की गिनती का उल्लेख कर बता दिया कि इनसे अन्य किसी साधन की अनिवार्यता नहीं है और ये तीनों आवश्यक हैं, इनमें कोई विकल्प नहीं है। बृहदारण्यक की व्याख्या में (अनु. प्र. १५.२१ आदि) श्रवणादि के स्वरूप का खुलासा करेंगे।।५०।।

श्रवणादि का फल बताते हुए राजा को विचार में प्रवृत्त करते हैं **श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से उपनिषदों के तात्पर्य को समझने का फल अज्ञान की निवृत्ति**

है। शास्त्रप्रदर्शित रीति से युक्तियों का पुनःपुनः अनुसंधान करने का फल संशयों की निवृत्ति है।।५१।। लगातार ध्यान करने से भ्रान्ति की वासना नष्ट होती है। राजन्! तुम्हारा श्रवण सम्पन्न हो चुका। मनन करने की कोशिश करो।।५२।। सांप्रदायिक बोध गुरु से ही प्राप्त होता है, स्वमनीषा से व्यक्ति शास्त्र का हृदय नहीं समझ पाता। शब्द का रूढ या यौगिक अर्थ अत्यावश्यक है पर कई स्थलों पर उससे अन्य भी कोई निश्चित ध्वन्यर्थ अभिप्रेत होता है जो परंपरा से ही प्राप्त हो सकता है। कई युक्तियों के परस्पर संबंध भी इसी तरह परंपरा-प्राप्य ही हैं, उन्हें ग्रंथारूढ नहीं किया जा सकता। गुरु उपदेश श्रुति का ही करेगा पर गुरु का वैशिष्ट्य बताने के लिये 'गुरूपदेश' कहा। किंच वेद में अधिकारी न हो ऐसा साधन-संपत्ति वाला मुमुक्षु यदि ज्ञान लेने आयेगा तो बिना वेदवाक्यों का प्रयोग किये गुरु उसी तत्त्वका उपदेश दे देगा, वही उस साधक के लिये श्रवण होगा। श्रवण का फल अज्ञान हटाना है। इसीलिये तीनों साधनों में श्रवण को प्रधान कहते हैं।

किन्तु अज्ञान हटेगा तभी जब संशय विपर्यय न रहें अतः उन्हें हटाने वाले मनन-ध्यान चाहिये। वेद ने कह दिया कि जीव ब्रह्म है फिर भी इसमें अनेक युक्तिविरोधों के रहते यह महसूस नहीं होता। उन युक्तिविरोधों को दूर करने के लिये सत्तर्क, श्रुतिमत तर्क, प्रमाणानुसारी तर्क का अभ्यास आवश्यक है। बात ठीक है यह जानकर उसके बारे में प्रतीयमान विरोधों की परीक्षा कर उन विरोधों को दूर करना और बात ठीक है इस निर्णय को दृढ करना मनन का स्वरूप है। स्मरण को भी परामर्श कहते हैं; यहाँ उपपत्ति-परामर्श से सूचित किया कि श्रुतियों में जो युक्तियाँ दी हैं उन्हें याद करना आवश्यक है क्योंकि बहुतेरे संशय तो उन्हीं से मिट जाते हैं और अन्य संशयों को दूर करने के लिये युक्तियाँ खोजने की दिशा मिलती है। शास्त्रोक्त युक्तियों को बिना याद किये केवल तार्किक परिष्कार की दिशा में बढ़ने लग जाने पर मनन के मूल उद्देश्य से ही भटक जाते हैं और कई बार शास्त्रविरुद्ध स्थापनाओं में उलझ जाते हैं। वादिमतों की परीक्षा इसीलिये ज़रूरी है कि किसी साधक को उनसे भ्रम न हो जाये। साधक शास्त्रार्थ से विजय-पताका फहराने के लिये मनन नहीं करता वरन् अद्वैत के परिपुष्ट बोध के लिये मनन करता है। जो भी मत उसे अद्वैत-विरोधी लगता है वह उसका परीक्षणपूर्वक निराकरण करता है। इसी तरह संशय-संभावना दूर होती है।

संशय न रहने पर भी मन अन्यत्र भटकता रहे तो भी अविद्या नहीं मिटती अतः निरंतर ध्यान की आवश्यकता है। परिसंख्यान विधि की दृष्टि से कहें तो संशय न

रहने पर श्रवणजन्य ज्ञान से अन्य कोई वृत्ति न बनने देना यहाँ ध्यान का अभिप्राय है। इसे निदिध्यासन कहा गया है। भ्रांति तो श्रवण से दूर होती है पर भ्रांति की वासना, संस्कार दूर करने के लिये ध्यान चाहिये। ग़लत हिज्जे या पहाड़ा याद हो जाये तो जानकार द्वारा बताये जाने पर सही क्या है यह तो तत्काल पता चल जाता है लेकिन जब तक दीर्घ अभ्यास न करें तब तक ग़लत की वासना से ग़लत ही प्रयोग में आ जाता है। अनादि वासना स्थूल-सूक्ष्म में मैं-बुद्धि की है। श्रवण से पता तो चल जाता है कि यह बुद्धि ग़लत है पर जब तक निरंतर अभ्यास से सही का संस्कार न डले तब तक ग़लत वासना मुखरित होती रहती है। अज्ञान दूर तभी होगा जब ग़लत वासना मिट जाये। अखण्डाकार वृत्ति मन में ही बननी है अतः मन में संशय-विपर्यय न रखना ज़रूरी है जैसे प्रतिबिंब देखने के लिये दर्पण को स्वच्छ करना ज़रूरी होता है। सही वासना बनाने का इतना ही प्रयोजन है कि ग़लत वासना दूर हो; ऐसा नहीं कि सही वासना का मोक्ष में विनियोग हो, उसका ज्ञानोत्पत्ति में ही विनियोग है क्योंकि द्रष्टव्य के शेषरूप से ही श्रवणादि का विधान है। अतः उपासना या प्रसंख्यान से मोक्ष मानने की बात यहाँ नहीं है। सत्य के ज्ञान के लिये असत्य की वासना हटाना लोक में भी कई जगह ज़रूरी होता है जैसे जिसके बारे में दृढ भ्रम हो कि यह झूठा है उसकी सही बात से भी ज्ञान नहीं होता, यह नहीं लगता कि 'ऐसा ही है', इतना ही लगता है कि 'यह ऐसा कह रहा है'। जब भ्रम दूर भी हो जाता है, दो-तीन बार उसकी बात सही भी निकलती है तब भी उसकी बातों पर काफी समय तक भरोसा नहीं होता, दीर्घकाल में जब भ्रमवासना नहीं रहती तब उसके कहते ही तुरंत ज्ञान हो जाता है। इसी तरह विपरीतभावना, विपर्यय, भ्रांतिवासना के रहते श्रवण से मन में ज्ञान नहीं होता, एक उत्कट संभावना तो लगती है लेकिन 'ऐसा ही है' यह नहीं लगता अतः निरंतर ध्यान से उस वासना को दूर करना बहुत आवश्यक है अन्यथा वाणी और विचार के स्तर पर ही साधक रुका रहेगा, अनुभूति से वंचित रह जायेगा।

मुनि ने राजा को कहा कि जितनी बात मुनि ने बतायी उतनी समझने से ही राजा का श्रवणात्मक साधन पूरा हो चुका। तात्पर्य है कि जो साधक पूर्ण श्रद्धावान् है उसे गुरुवचन से यह निश्चय होता है कि यही उपनिषत् का तात्पर्य है अतः जो फल अन्य साधक को षड्लिंग-विचारपूर्वक प्राप्त होता है वह ऐसे साधक को गुरुवचन से ही हो जाता है। उसे आगे अपने संशय मिटाने में लगना ही उचित है, केवल बहुज्ञता के लिये ग्रन्थाध्ययन में ही न लगा रहे। यही न्याय मनन में समझना चाहिये; जो अपने संशय

प्रमाणे सम्प्रदाये वा तत्त्वे वा संशयो भवेत्।
उदितेऽनुदिते वेति होमः शास्त्राद् विकल्पितः।।५३।।
न तथा ब्रह्मविद्येयं सर्वोपनिषदीरणात्।
न प्रमाणे संशयोऽतः सम्प्रदायेऽपि नास्त्यसौ।।५४।।
शाखाप्रवर्तको मैत्रो मह्यमाह न चापरः।
सोऽपि किञ्चिद् उपाख्यानम् उदाहृत्य ममाब्रवीत्।।
तत्त्वस्य संशयोऽपैति तदाख्यानमिदं शृणु।।५५।।

हैं उन्हें मिटाना है, तत्तत् दर्शनादि की प्रक्रियाओं के अनुसार क्या-क्या प्रश्न हो सकते हैं, उनके उत्तर खोजना यह साधक के लिये निरर्थक है, पाण्डित्येच्छुक के लिये भले ही उपयोगी है।।५१-२।।

श्लोक ५१ में 'संशयानां' अर्थात् बहुत संशयों का निवर्तक मनन को कहा था अतः संशय के तीन विषय बताकर उन्हें दूर करने का रास्ता सुझाते हैं **प्रमाण के, सम्प्रदाय के या तत्त्व के बारे में संशय हो सकता है। जिन विषयों में शास्त्र विरुद्ध बात कहता है उनमें संशय संभव है जैसे 'सूर्योदय से पूर्व होम करे', 'सूर्योदय के पश्चात् होम करे' ये विरुद्ध विधियाँ मिलने पर संशय स्वाभाविक है तथा विस्तृत विचार से ही निर्णय करना पड़ता है कि शास्त्र का अभिप्राय विकल्प में है। किन्तु सभी उपनिषदों ने ब्रह्मविद्या को एकरूप ही बताया है अतः इसके बारे में संशय का आधार ही नहीं है। इसलिये यहाँ प्रमाण के बारे में संशय असंभव है। सम्प्रदाय के बारे में भी संशय नहीं क्योंकि शाखा के प्रवर्तक मैत्र ऋषि ने स्वयं मुझे यह उपदेश दिया, और किसी से सुनी-सुनायी बात नहीं है। उन्होंने भी किसी कथानक का उदाहरण देकर मुझे समझाया था। उसे सुनने से तत्त्वविषयक संशय भी दूर होता है अतः उसे सुनो।।।५३-५।।**

प्रमाण के बारे में संशय दो तरह का हो सकता है : क्या वेद प्रमाण है या नहीं, और वेद का यह तात्पर्य है या नहीं। वेद ही धर्म व ब्रह्म के बारे में निरपेक्ष प्रमाण है यह निश्चय पहले करना पड़ेगा तभी वेदानुसारी साधना में प्रवृत्ति होगी। अपौरुषेय, ईश्वरोपदेश होने से तथा प्रमाणान्तर के अविषय को बताने वाला होने से वेद प्रमाण है यह समझने पर पहला संशय दूर होता है। दूसरा अर्थात् तात्पर्यविषयक संशय सभी प्रसंगों की षड्विध लिंगों के अनुसार परीक्षा करने से, समन्वयाधिकरण न्याय से दूर होता है। कर्म में विकल्प संभव है अतः विरुद्ध विधियों का सामंजस्य विकल्प मानकर

हो जाता है जैसा उदित अनुदित होम के बारे में पूर्वमीमांसा (१०.८.३.६) में किया है। ब्रह्म सिद्ध वस्तु है, उसमें विकल्प नहीं अतः तद्विषयक विरुद्ध वाक्यों का सामंजस्य विचारपूर्वक तात्पर्य-निर्णय से होता है जैसा उत्तरमीमांसा प्रथमाध्याय में किया है। उपक्रमादि चिह्नों के आधार पर विश्लेषण करने पर समझ आता है कि सर्वत्र उपनिषदों ने ब्रह्म को एक स्वरूप वाला ही प्रतिपादित किया है अतः उनके तात्पर्य के बारे में संशय संभव नहीं। अगला संशय संप्रदाय के बारे में होता है कि जिस गुरु-परंपरा से हमें ज्ञान मिला, क्या वह परंपरा निर्दोष है या नहीं, शास्त्र का जो अर्थ हमें समझाया जा रहा है उससे अतिरिक्त भी व्याख्यायें की जाती ही हैं, क्या वे व्याख्यायें शास्त्र को अभिप्रेत हैं या नहीं? शाकायन्य मुनि इस संशय को स्थान न देने के लिये अपना विशेष सौभाग्य बताते हैं कि मैत्रायणी शाखा के प्रवर्तक ऋषि मैत्र ने स्वयं शाकायन्य को यह उपेदश दिया, मध्य में अन्य लोगों का व्यवधान आया ही नहीं, इसलिये संप्रदाय-विषयक संशय संभव नहीं। हम लोग इस संशय को इस तरह दूर करते हैं कि हमारी परंपरा में पूर्वतर आचार्यों ने वेदका जो अर्थ कहा वही अर्थ परवर्ती आचार्य बताते आये, यह उन आचार्यों की कृतियों से स्पष्ट होता है; तथा इससे अन्य कोई व्याख्या उपनिषदों की ऐसी नहीं जो इस तरह सनातन परंपरा में आयी हो कि संशय हो सके। औपनिषद दर्शन अद्वैत है इसकी परंपरा अनादि है, इससे अतिरिक्त जो द्वैतादिपरक व्याख्यायें हैं वे सभी किसी-न-किसी व्यक्तिविशेष ने अपने विचार के आधार पर की हैं और स्वयं इसे कहा है कि 'पुरातन व्याख्या अद्वैतपरक रही जिसका हम निराकरण करते हैं' अर्थात् उपनिषदें अद्वैतबोधक हैं यह हमेशा का संप्रदाय है। अतः अद्वैत संप्रदाय अनादि व एकरूप है जबकि अन्य सभी सादि और अनेकरूप अर्थात् परस्पर भी विरुद्ध हैं जिससे अद्वैत संप्रदाय के बारे में संशय संभव नहीं, अन्यों के बारे में ही संशय होता है क्योंकि अनादि वेद की अनादि व्याख्या से हटकर व्याख्या करने वाले पुरुषों की सामर्थ्य संशयित होती ही है। आज तक यह स्थिति है कि समग्र वेद की एकमात्र व्याख्या सायण भाष्य है और वह अद्वैत को ही वेदार्थ बताती है। अन्य दर्शनानुसारी कोई भी व्याख्या सारे वेद पर नहीं है। इसी प्रकार अद्वैताचार्यों ने सारी उपनिषदों की व्याख्या कर उनका तात्पर्य अद्वैत में समझाया है लेकिन और किसी दर्शन वाले ने सारी उपनिषदों की व्याख्या कर सबके तात्पर्य को नहीं बताया है, कुछ चुनींदा उपनिषदों पर ही लिख पाये हैं। इतना ही नहीं, अद्वैत संप्रदाय आज भी उपनिषद्विचार को ही साधना मानता है जबकि अन्य संप्रदाय

मुनयो बालखिल्या ये ते प्रजापतिमब्रुवन्।।५६।।

शरीरप्रेरकः

अचेतनं शरीरं तत् केन चेतनवत्कृतम्।
प्रेरको वाऽस्य को ब्रूहीत्युक्तः प्रत्यब्रवीदसौ।।५७।।
वेदानामुत्तरे भागे श्रूयते परमेश्वरः।
स करोत्युभयं तस्य तात्त्विकं रूपमुच्यते।।५८।।

रामायण, भागवत आदि के विचार को व तदनुसार आचार को साधना मानते हैं; इससे भी स्पष्ट होता है कि उनका संप्रदाय उपनिषदों पर ही आधारित नहीं है। किंच अद्वैती श्रुति को ही निरपेक्ष प्रमाण मानते हैं जबकि अन्य संप्रदाय अपने-अपने आगम-तन्त्र आदि को भी श्रुति के बराबर मानते हैं और अनेक संप्रदाय तो यहाँ तक स्पष्ट कहते हैं कि उनके आगमादि श्रुति से भी ज़्यादा प्रमाण हैं! भागवत संप्रदाय के परीक्षण में भगवान् शंकराचार्य ने बताया है कि ऐसे वेदनिंदकों की बातें प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं। इस सब से निश्चित होता है कि वेद की जो व्याख्या वसिष्ठ शंकरादि की परंपरा में उपलब्ध है वह संशय के योग्य नहीं। अतः शाकायन्य की तरह हम भी संप्रदाय-विषयक संशय मिटा सकते हैं। तीसरा है तत्त्व के बारे में संशय कि आत्मतत्त्व सच्चिदानन्द व्यापक है या नहीं? क्रिया की तरह इसमें विकल्प तो संभव नहीं जो कुछ लोग कह देते हैं कि अपनी-अपनी मान्यतानुसार मानना चाहिये, वे वास्तव में तत्त्व को कोई सत्य वस्तु समझते नहीं। जैसे घट को घट ही जानना पड़ेगा, अपनी मान्यता से उसे कपड़ा, लड्डू, पुस्तक नहीं मान सकते, वैसे आत्मा जैसा है वैसा ही उसे समझना पड़ेगा, मान्यतानुसार चाहे जैसा मानना ग़लत ही होगा। इस संशय की निवृत्ति के लिये इसके बारे में अन्य संभावनाओं की परीक्षा करनी पड़ती है और अपने अनुभव के विश्लेषण से निर्धारित करना पड़ता है कि शास्त्रोक्त स्वरूप अनुभव-विरुद्ध नहीं है। तत्त्व-विषयक संशय मिटाने के लिये आवश्यक विचार आख्यान के रूप में प्रकट किया जा रहा है।।५३-५।।

मैत्रोक्त कथानक शाकायन्य मुनि राजा बृहद्रथ को सुनाते हैं **बालखिल्य-नामक मुनियों ने प्रजापति से पूछा 'अचेतन शरीर किसके द्वारा चेतनवाला बनाया गया है? इसका प्रेरक कौन है? यह बताइये।' प्रजापति ने उत्तर दिया कि वेदान्तों में जिस परमेश्वर का श्रवण किया जाता है वही उक्त दोनों कार्य करता है। उसका सच्चा रूप आगे बताया जा रहा है।।५६-८।।** क्रतुनामक प्रजापति की

ही सन्तान साठ हज़ार मुनि हैं जिनका सामूहिक नाम बालखिल्य है। एक बार उन्होंने क्रतु से ही प्रश्न किया कि स्पष्ट ही जड जो शरीर इसे चेतनयुक्त कौन करता है, क्या कारण है कि शरीर चेतन लगता है? स्वतः चेतन होता तो शव भी चेतन मिलता, वैसा है नहीं अतः स्वतः शरीर चेतन नहीं, किसी कारण से ही चेतन-सा लगता है। शरीर भोक्ता है ऐसी प्रतीति किस कारण से होती है यह एक प्रश्न है। दूसरा प्रश्न है कि शरीर को चलाने वाला, इसको प्रेरणा देने वाला कौन है? शरीर कर्ता भी प्रतीत होता है, वह किस कारण से? कुछ जाने या कुछ करे, इसी से चेतन का पता चलता है, जो न कुछ जाने न करे वह पत्थर आदि जड ही होता है। शरीर जानता भी है करता भी है अतः चेतन लगता है पर स्वयं वैसा न होने से जिज्ञासा होती है कि किसके कारण शरीर चेतन बना हुआ है। केनोपनिषत् का प्रारंभ भी इसी जिज्ञासा से हुआ है। प्रजापति ने संक्षेप में बता दिया कि परमेश्वर ही शरीर को चेतन-सा बनाता है और वही उसे प्रेरित भी करता है। परमेश्वर कौन है यह पता लगता है वेदों के उत्तर भाग अर्थात् उपनिषदों से। वेद का प्रथम भाग कर्मबोधक, मध्य भाग उपासनाबोधक और अंतिम भाग परमात्मबोधक है। कर्म व उपासना से चित्तभूमि तैयार हो जाने पर ही परमात्मा समझ आ सकता है अतः वेद का क्रम साधना के क्रम के अनुसार है। कर्म-उपासना भाग में आत्मा की वास्तविकता स्पष्ट नहीं की जा सकती क्योंकि उन भागों की प्रवृत्ति ही आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानकर है जब कि वास्तव में आत्मा अकर्ता-अभोक्ता है। इसलिये वेदान्तों में ही साफ-साफ कहा गया कि आत्मा का स्वरूप क्या है। यह बात हृदय में उतरेगी तब जब पहले कर्म-उपासना से मन स्वच्छ बन गया है। अन्यथा व्यक्ति कामनाग्रस्त रहेगा और कर्म-उपासना में प्रवृत्ति करेगा नहीं, तो कष्ट भी पायेगा और भविष्य के लिये भी कोई पुण्य नहीं अर्जित कर पायेगा, मानव जीवन व्यर्थ ही गँवायेगा। इसलिये वेद ने अन्त में इस रहस्योपदेश को रखा है। शरीर भोक्ता, ज्ञान वाला भी परमेश्वर से बनता है और कर्ता, क्रियावाला भी। उस परमेश्वर के बारे में स्वयं क्रतु समझाने जा रहे हैं।।५६-८।।

श्रुति में प्रजापति ने आत्मस्वरूप कहा है 'स वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणो निरात्माऽनन्तोऽक्षय्यःस्थिरःशाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठति अजेनेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति' (मैत्रा. २.४)। 'निरात्मा' में आत्मा अर्थात् मन, परमेश्वर मनोरहित है। किन्तु विद्यारण्य स्वामी के पाठ में 'निरात्मा' की जगह 'अनीशात्मा' रहा होगा, तदनुसार ही वे व्याख्या करेंगे। प्रजापति के उक्त वाक्य

अज्ञानमिश्रणाऽभावाच्छुद्धः पापविवर्जनात्।
पूतो रूपेण नाम्ना च हीनत्वाच्छून्य उच्यते।।५९।।
शान्तः क्रोधादिराहित्याद् अप्राणोऽचेष्टकत्वतः।
ईशत्वोपाधिराहित्याद् अनीशात्मा स्वतो भवेत्।।६०।।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते।।६१।।

का स्पष्टीकरण करते हैं **वह परमेश्वर शुद्ध है क्योंकि अज्ञान उससे मिला हुआ नहीं है। पापों से रहित होने के कारण वह पूत (पवित्र) है और क्योंकि उसका कोई नाम-रूप नहीं इसलिये शून्य कहा जाता है।।५९।। क्रोध आदि से वर्जित होने से शांत और स्वयं निश्चेष्ट होने से अप्राण है। ईशता प्रकट करने वाली उपाधि से पृथक्, निज स्वरूप से वह ईश्वर भी नहीं, अनीशरूप आत्मा है।।६०।। यह आत्मा कार्यरूप उपाधि से जीव और कारणरूप उपाधि से ईश्वर बना हुआ है, कार्यभाव और कारणभाव दोनों छोड़ देने पर अखण्ड ज्ञान ही बच जाता है।।६१।।** क्योंकि अज्ञान स्वयं अज्ञान से ही कल्पित है'मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहः'इसलिये परमेश्वर के तात्त्विक स्वरूप में अज्ञान की कोई मिलावट नहीं है। तुल्यसत्ताक वस्तुओं का ही मिश्रण होता है, अज्ञान अपारमार्थिक है अतः यह पारमार्थिक परमात्मा से मिल ही नहीं सकता। पापरहित होने से आत्मा पूत अर्थात् पवित्र है। हमारे शरीरादि तो संस्कार आदि से पवित्र बनाये जाते हैं, स्वभाव से अपवित्र हैं, परमेश्वर स्वभाव से पवित्र है, भ्रम से ही उसे अपवित्र समझा जा सकता है। नाम-रूप न होने से परमेश्वर शून्य भी कहा जाता है क्योंकि लोक में नाम-रूप से रहित को वास्तविक चीज़ नहीं माना जाता। परमेश्वर के बारे में शब्द से कहते हैं अतः उसके नाम हैं और परमेश्वर का निरूपण भी किया जाता है अतः उसके रूप भी हैं लेकिन ये सभी नाम व रूप अज्ञान भूमि में ही हैं, वास्तव में उसके स्वरूप से इनका कोई संबंध नहीं जैसे चंद्र का बोध कराने वाले शाखाग्र का चंद्र से कुछ भी संबंध नहीं होता। हमें जहाँ नाम-रूप वाला कुछ न दीखे वहाँ लगता है कुछ है ही नहीं जैसे साफ कुए का कपड़े से छना पानी देखकर हमें लगता है इसमें कुछ नहीं है। यदि अणुवीक्षण यन्त्र से देखें तो उसमें बहुत कुछ दीख जाता है अतः उससे देखने वाले कहते हैं कि उस पानी में खनिज, कीटाणु आदि हैं। इससे स्थिर होता है कि नाम-रूप न प्रतीत होने पर 'कुछ नहीं है' यह समझा जाता है, 'कुछ है' यह तभी समझते हैं जब

नाम-रूप प्रतीत हों। इसीलिये परमात्मा को 'कुछ नहीं'- बोधक शून्य शब्द से कहते हैं। बौद्धों ने शून्य को एक पारिभाषिक अर्थ में प्रसिद्ध किया है। किन्तु सामान्य भाषा में तुच्छ, रिक्त, निर्जन आदि अर्थों में ही यह प्रचलित है, उसी दृष्टि से यहाँ परमेश्वर को शून्य कहा है। योगवासिष्ठ में भी अनेक जगह इस शब्द का आत्मा के लिये प्रयोग है। परमेश्वर क्रोध, कामना आदि से रहित होने से शांत है। उसमें कोई चेष्टा, क्रिया नहीं होती अतः अप्राण है। स्वयं वह अनीश है। ईश कहते हैं शासक को। जिस पर शासन किया जाये और जिसके द्वारा शासन संभव हो उन दोनों की अपेक्षा से ही शासक होता है। परमात्मा अखण्ड अद्वितीय है, कोई है नहीं जिस पर शासन करे, जिसके द्वारा शासन करे। अतः वास्तव भूमिका पर उसे ईश कहना नहीं बनता। अज्ञान के स्तर पर ही शासित होने वाले जीव हैं जिन पर अज्ञान के द्वारा ही वह शासन करता है अतः अज्ञानरूप उपाधि से परमेश्वर में ईशभाव कल्पित है, वास्तव नहीं है। शासित होने वाले जीव भी उपाधिवश ही शासित हैं, वास्तव में परमेश्वररूप ही हैं। कार्य अर्थात् अंतःकरणरूप उपाधि से वही परमेश्वर जीव और कारण अर्थात् माया उपाधि से ईश बना है। जैसे एक ही मिट्टी कपालाकार में कारण और घटाकार में कार्य बन जाती है वैसे एक ही अविद्या मायारूप से कारण और अंतःकरणरूप से कार्य बनी हुई है। कार्योपाधि वाला रूप जन्म-मरण के चक्र में पड़ा है, सुख-दुःख शोक-मोह से ग्रस्त है और कारणोपाधि वाला रूप कर्मफलदाता जगन्नियन्ता है। अज्ञान की आश्रयता प्रधान होकर जीवभाव है और विषयता प्रधान होकर ईश्वरभाव है हालाँकि आत्मवस्तु एक ही है और उपाधि भी अज्ञान ही है। 'मुझे अज्ञान है' यह जिसे लगता है वह जीव है और जिसके बारे में अज्ञान प्रतीत होता है वह ईश्वर है। किन्तु अज्ञान मिटने के साथ ही न आश्रयता बचती है न विषयता, क्योंकि दोनों अज्ञान के ही सहारे कल्पित हैं। तब पूर्ण बोध ही रह जाता है। जीव-ईश्वर दोनों भाव तो कल्पित हैं किंतु जिस पर कल्पित हैं वह आत्मा सत्य है। जीवत्व-ईश्वरत्व धर्मों का ही स्वरूपाध्यास है, धर्मी आत्मा का संसर्ग मात्र अध्यस्त है। कार्य-कारण उपाधियों का भेद यहाँ विवक्षित नहीं, अज्ञान ही दो आकारों से दो उपाधियों का कृत्य कर लेता है। अतः अज्ञान की निवृत्ति से ही दोनों उपाधियाँ व उनसे उपहित रूप समाप्त होकर अखण्डतत्त्व बना रहता है।।५९-६१।।

उक्त श्रुति के अन्य शब्दों का अर्थ बताते हैं **परमेश्वर अनन्त है क्योंकि देश-काल-वस्तु से उसका कोई परिसीमन नहीं है। क्योंकि उसमें किसी तरह की**

देशात् कालाद् वस्तुतश्च परिच्छेदविवर्जनात्।
अनन्तोऽपक्षयाऽभावाद् अक्षय्योऽचलनात् स्थिरः।।६२।।
नित्यस्फूर्त्या शाश्वतोऽयमजो जन्मादिवर्जनात्।
स्वतन्त्रो न पराधीनः स्वमहिम्न्येव तिष्ठति।।६३।।

कमी नहीं आ सकती इसलिये वह अक्षय्य है। चलन से रहित है अतः वह स्थिर है।।६२।। हमेशा स्फुरमाण होने से शाश्वत और जन्मादि विकार वाला न होने से अज है। वह स्वतन्त्र है, किसी अन्य के अधीन नहीं तथा अपनी महिमा में ही रहता है।।६३।। देश, काल और सभी वस्तुएँ क्योंकि परमेश्वर से ही बनी हैं, उसी से सत्ता पाये हैं इसलिये उसे सीमित नहीं बना सकतीं। इन तीन से अन्य कुछ संभव नहीं जो उसे सीमित करे। 'देशादि सभी 'है' लगते हैं अतः 'है' अर्थात् सद्रूप परमेश्वर ही उनसे व्यापक बना रहता है, उनसे परिच्छिन्न नहीं हो सकता। अध्यस्त कभी अपने अधिष्ठान को सीमित बना नहीं सकता। सत्स्वभाव होने से ही परमेश्वर का क्षय असंभव है। लोक में नाम-रूपों का ही वृद्धि-ह्रास देखा जाता है, सन्मात्र में नाम-रूप नहीं तो वृद्धि-ह्रास भी संभव नहीं, वह एकरस ही रह सकता है। व्यापक और अपरिणामी होने से परमेश्वर में कोई क्रिया नहीं अतः स्थिर है। गीता द्वितीयाध्याय में प्रारंभिक उपदेश से भगवान् ने आत्मा की यह स्थिरता कई तरह से स्पष्ट की ही है। वह शाश्वत, हमेशा रहने वाला है। स्वप्रकाश होने से वह कभी अप्रकाशमान नहीं होता अतः चिद्रूप से उसकी शाश्वतता स्पष्ट है। जैसे सत् का अभाव असंभव है वैसे ज्ञान का भी अभाव असंभव है। ज्ञान नहीं हैयह भी एक ज्ञान ही हो सकता है। पूर्व में न हो, फिर हो जायेइसे जन्म कहते हैं। परमेश्वर का जन्म नहीं क्योंकि यह संभव नहीं कि वह पहले नहीं था। अत एव उसका मरण भी नहीं, नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं। सबका शासक वह है, उसका कोई शासक नहीं। कर्म या भक्ति के भी परमेश्वर अधीन नहीं है, उसी के बनाये नियमों का वही पालन करता है अतः उसकी स्वतंत्रता बरकरार रहती है। परमेश्वर का निवास उसकी अपनी महिमा में है। अध्याय ४ श्लोक ५७ आदि में इसकी चर्चा कर चुके हैं। सारा संसार उसकी महिमा है इसमें वह आधार-रूप से रहता है। संसार के किसी भी पदार्थ में खोजें तो परमात्मा मिल जायेगा क्योंकि इसमें सर्वत्र है। स्वयं हमारे अंदर भी वही है और अपने में ही खोजकर उसका पता लगाने से मोक्ष होगा।।६२-३।।

अपनी महिमा में रहने को ही स्पष्ट करते हैं **अखण्ड एकरस स्वरूप आश्चर्य**

महिमाऽऽश्चर्यरूपत्वाद् अखण्डैकरसात्मता।
आधारान्तरराहित्यात् स्थितिरत्रोपचर्यते।।६४।।

है अतः महिमा कहा जाता है। अन्य कोई आधार न होने से उपचारवश कहते हैं कि परमेश्वर उस स्वरूप में रहता है।।६४।। जैसे सूर्य चंद्र आदि का कोई सहारा न दीखने से कहते हैं कि वे स्वयं पर ही टिके हैं ऐसे परमेश्वर का कोई आधार न होने से वह स्वयं पर स्थित है ऐसा कहा जाता है। 'स्वयं' के ही अर्थ में महिमा-शब्द का प्रयोग किया क्योंकि परमेश्वर स्वयं एक महान् आश्चर्य है और जो अचंभा करे उसे महिमा कहा ही जाता है। आश्चर्य इसलिये कि परमेश्वर में कोई खण्ड, टुकड़ा, अंश, हिस्सा नहीं फिर भी उसमें अनंत कोटि ब्रह्माण्ड दीख रहे हैं! सारे असंख्य दुःख जिसमें प्रतीत हो रहे हैं वह आनन्दघन है। देश-काल-वस्तु का जहाँ नामों-निशान नहीं वहीं वे सब अनुभव किये जा रहे हैं। ये सभी अत्यंत आश्चर्य है, परमेश्वर की महिमा है। बिना किंचित् भी परिवर्तन के, बिना किसी क्रिया के, सारे संसार को बना हुआ, संचालित होता हुआ, विलीन होता हुआ प्रतीत कराता है यह उस महामायावी की महिमा है। अपने इस सच्चिदानंदस्वरूप से बना रहने को ही महिमा में स्थिति कहा। उपचार इसलिये कि जहाँ चलन होकर बंद हो वहाँ स्थिति-शब्द का मुख्य प्रयोग है, परमेश्वर में चलन कभी नहीं हुआ अतः मुख्य स्थित तो संभव नहीं, उपचरित स्थित ही संभव है। लोक में भी 'खड़ा रहना' उसी का मुख्य होता है जो कभी चलता है, लेकिन कहते हैं 'पहाड़ खड़े हैं' अतः उपचार से ही यह प्रयोग है। ऐसे ही परमेश्वर अपनी महिमा में स्थित है यह औपचारिक प्रयोग है। इस प्रकार शरीर को चेतन बनाने वाला और प्रेरणा देने वाला परमेश्वर कैसा है यह समझाया।।६४।।

बालखिल्यों ने पूछा कि ऐसा अलौकिक परमेश्वर शरीर को सचेतन कैसे बना लेता है, प्रेरित कैसे कर लेता है? क्रतु प्रजापति ने जवाब दिया 'स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः पुरुषसंज्ञो बुद्धिपूर्वमिहैवावर्ततेंऽशेनेति, सुप्तस्येव बुद्धिपूर्वं विबोध एवमिति।' (२-५) काल्पनिक अंश के रूप में परमेश्वर शरीर में आकर व्यवहार कर लेता है। उक्त श्रुति में 'पुरुषसंज्ञोऽबुद्धिपूर्वं' और 'सुप्तस्येवाऽबुद्धिपूर्वं' यों उभयत्र 'अबुद्धिपूर्वं' रामतीर्थ का पाठ है, 'असंकल्पितम्' ऐसी व्याख्या है। आत्मा स्वरूप को मानो भूलकर अकस्मात् स्वयं को जीव समझने लगता है जैसे सोते समय सत्संपन्न होने पर भी अकस्मात् जगकर स्वयं को देवदत्तादि समझने लगते हैंऐसा रामतीर्थ ने समझाया है। विद्यारण्यस्वामी 'बुद्धिपूर्वं' पाठ के अनुसार व्याख्या करेंगे। उक्त प्रश्नोत्तर को उपस्थापित

अनिच्छस्येदृशस्यैतद्देहनिर्वहणं कथम्।
इति चेत् स्वांशरूपेण देहेऽवस्थाप्य निर्वहेत्।।६५।।
स एवोक्तो देहसाक्षी विद्वद्भिरनुभूयते।
नेतरैः सूक्ष्मरूपोऽयम् इन्द्रियाऽविषयत्वतः।।६६।।

करते हैं **यदि पूछो कि ऐसा इच्छादि सकल विशेषों से रहित आत्मा इस देह का निर्वाह कैसे करता है? तो उत्तर है कि अपने अंशरूप से शरीर में रहकर वह इसका निर्वाह कर लेता है।।६५।।** प्रेरक इच्छावान् देखा जाता है, परमेश्वर इच्छारहित है तो प्रेरक कैसेयह पूछने के लिये 'अनिच्छस्य' कहा। उत्तर में बताया कि अंश के प्रवेश से निर्वाहादि संगत है। व्यापक आकाश में जलाहरणादि नहीं हो सकता, वही आकाश जब अंशरूप से घड़े में घुस जाता है तब उसमें जल भरना आदि संभव हो जाता है। ऐसे ही शरीर में अंशरूप से परमेश्वर घुस जाने से शरीर सचेतन हो जाता है, प्रेरित हो जाता है। आकाश की ही तरह किसी तरह के परिवर्तन से रहित रहते हुए ही आत्मा का शरीर में आंशिक प्रवेश हो जाता है। इसी ग्रंथ में १.१३, २.१०३, ३.५३इन स्थलों पर प्रवेश की चर्चा हो चुकी है तथा १३.१०० आदि में और विस्तार आने वाला है। परमेश्वर शरीर में घुसा हुआ है इसीलिये शरीर चेतन-सा है और चेष्टाएँ करता है, अपने अंदर स्थित आत्मा से प्रेरित होकर सारा व्यवहार करता है। गीता में (१५.७), ब्रह्मसूत्र में (२.३.४३) तथा अन्यत्र वेदांत ग्रंथों में इसी अभिप्राय से जीव को परमेश्वर का अंश बताया जाता है, वास्तव में टुकड़ा नहीं है क्योंकि परमेश्वर वास्तव में टुकड़ों वाला हो तो नश्वर हो जायेगा! शरीर से जो कुछ किया जा रहा है वह करने-कराने वाला परमेश्वर ही है, अज्ञानवश स्वयं को ईश्वर से अलग मानकर जीव अपने को कर्ता-भोक्ता संसारी अनुभव करता है, जब अपने साक्षिस्वरूप को समझ लेता है, उसकी व्यापकता का ज्ञान पा जाता है तब वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है कि हमेशा एकमात्र परमेश्वर ही है। इस तरह बताया कि सच्चिदानंद परिपूर्ण रहते हुए ही परमेश्वर शरीर का निर्वाह कैसे कर लेता है।।६५।।

प्रजापति के उत्तरभूत वाक्य के शब्दों का अर्थ बताते हैं **पूर्वोक्त शरीर-साक्षी का अनुभव विद्वान् ही करते हैं, अन्य लोग नहीं। इंद्रियों का वह विषय नहीं अतः सूक्ष्म है।।६६।।** श्रुति के 'सः' का अर्थ है पूर्वोक्त और 'एषः' का अर्थ है विद्वत्प्रत्यक्ष। 'सूक्ष्मः' का अर्थ किया अतीन्द्रिय। अविद्वान् ऐंद्रिय वस्तुओं को ही समझते हैं और विषयतया उपलब्ध चीज़ों का ही अनुभव करते हैं इसीलिये इन्द्रियाऽविषय

पूर्णत्वात् पुरुषाऽऽख्योऽसौ देहे स्वांशेन वर्तते।
बुद्धिपूर्वं यथा सुप्तः स्वेच्छया प्रतिबुद्ध्यते।।६७।।
अध्यापकः प्रदोषेषु मध्यरात्रे प्रबुध्यते।
स्वेच्छया परमात्माऽपि तथाऽत्रांशेन वर्तताम्।।६८।।

और प्रत्यक् होने से उन्हें देहसाक्षी का अनुभव नहीं हो पाता। अनेक चमकते सफेद पत्थर, काँच आदि के साथ हीरा भी पड़ा हो तो जो उस ढेर को देखेगा उसकी आँख हीरे पर भी पड़ेगी लेकिन जो अनुभवी जौहरी नहीं है उसे वह हीरा-रूप से नहीं दीखेगा; इसी तरह अज्ञानदशा में भी साक्षी का स्फुरण तो है लेकिन यही अत्यन्त शुद्ध नित्यमुक्त वस्तु हैइस रूप से वह नहीं भासता। जीव, कर्ता-भोक्ता रूप से तो आत्मा को सब जानते हैं पर साक्षिरूप से विद्वान् ही जानते हैं। हीरा पहचानने के संस्कारों वाला ही जैसे उसे देख पाता है वैसे वेदान्तजन्य आत्मबोध के संस्कारों वाला ही ब्रह्मरूप साक्षी को समझ सकता है।।६६।।

क्योंकि वह परमेश्वर सभी को पूरा बनाता है इसलिये पुरुष कहा जाता है। शरीरों में वह अपने अंशों के रूप से रहता है। उठने के समय का संकल्प करके सोया व्यक्ति अपने इच्छित समय पर जग जाता है जैसे प्रदोषकाल बीतने पर सोया अध्यापक बीच रात में उठ जाता है। इसी तरह परमात्मा भी अपनी इच्छा से इन सब स्थूल देहों में अंशरूप से रह जाता है।।६७-८।। परमात्मा को वेद में अनेक जगह पुरुष कहा है। जो स्वयं पूर्ण हो, जिसमें किसी तरह की कोई कमी न हो और जिसके ही कारण अन्यत्र पूर्णता संभव हो अर्थात् बाकियों में जो कमी है उसे वह पूरा करे, ऐसे तत्त्व को पुरुष कहते हैं। राजसभा में बाकी सभी सभासद मौजूद होने पर भी राजा ही उसे पूरा बनाता है, राजा के पहुँचने से पूर्व वह सभा पूरी नहीं होती ऐसे ही शरीर में आत्मा के प्रवेश से ही यह पूरा होता है अन्यथा नहीं। आत्मा है तो दो-चार अंग न होने पर भी व्यक्ति पूर्ण है, आत्मा नहीं है तो सारे अंग होने पर भी वह सर्वथा खाली है। शरीरों में पूर्वोक्त अंश के रूप में ही घुसकर रहने वाला आत्मा पुरुष है। यह प्रवेश क्लेशकर है तो परमात्मा ने क्यों किया? इसका उत्तर देते हैं कि सुषुप्ति से जगना क्लेशकर होने पर भी जैसे प्रयोजन-विशेष से इच्छावश संकल्पपूर्वक लोग जगते हैं वैसे अज्ञाननिवृत्ति के प्रयोजन से परमेश्वर का भी प्रवेश संगत है। अनुभव है कि दृढ संकल्प कर लें कि 'इतने बजे जगना है' तो नींद उसी समय खुलती ही है। अध्यापकादिको विशेष तैयारी के लिये रात में ही उठना पड़ता

प्रतिदेहं तु चिन्मात्रो घटाकाश इव स्थितः।
देहं साक्षितया जानन् क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते।।६९।।
सङ्कल्पाऽध्यवसायाऽभिमानैरेषोऽनुमीयताम्।
सर्वैरक्षैरुपेतत्वात् सङ्कल्पाद्यस्य सम्भवेत्।।७०।।
तेनाऽवच्छिन्नचैतन्यरूपेणेदं वपुस्तथा।
चेतनीकृत्य कार्येषु प्रेर्यतेऽश्वैर्यथा रथः।।७१।।

है तो इसी तरह संकल्पकर सोते हैं। मध्यरात्रि से ब्राह्ममुर्हूत तक का समय उपासकों एवं समाधि के अभ्यासियों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी होता है, वे भी इसी तरह संकल्पपूर्वक सोकर उठ जाते हैं। आधी रात को उठना स्वयं में कोई आनंद नहीं देता लेकिन अध्ययन या ध्यानादि उत्तम कार्य के लिये उठते हैं। ऐसे ही प्रवेश से क्लेश भले ही हो लेकिन साधनापूर्वक महावाक्य-श्रवण से तत्त्वज्ञान पाने के लिये, जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनंद लेने के लिये परमात्मा का संकल्पपूर्वक प्रवेश हो जाता है। ऐतरेयोपनिषत् में ही इस बात पर विचार आ चुका है। प्रलय करते समय ही ईश्वर संकल्प करता है कि इतने काल बाद पुनः सृष्टि करनी है, तदनुसार ही प्राणिकर्म फलोन्मुख हो जाते हैं तथा प्रजापति आदि आधिकारिक देवादि तथा सामान्य जीव यथाक्रम शरीर धारण करते चले जाते हैं। प्रलय में सूर्य-चंद्र आदि से निर्धारित काल नहीं वरन् ईश्वर द्वारा संकल्पित काल व्यतीत होकर सृष्टि का समय उपस्थित होता है।।६७-६८।।

क्रतु ने और भी समझाया 'अथ यो ह खलु वावैतस्य सोंऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वाख्यः' प्रविष्ट अंश चेतनरूप है, हर जीव में क्षेत्ररूप से मौजूद है। संकल्प, निश्चय, अभिमान आदि इस अंश के चिह्न हैं। समष्टि स्थूल में प्रविष्ट अंश विराट् नामक प्रजापति है तथा व्यष्टि देहों में प्रविष्ट को विश्व कहते हैं। इसे स्पष्ट करते हैं **घड़ों में आकाश की तरह हर शरीर में चेतनरूप आत्मा स्थित है। क्योंकि वह साक्षिरूप से शरीर को जानता है इसलिये क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।।६९।। संकल्प, निश्चय और अभिमानइन चिह्नों से इस देहगत आत्मा का अनुमान किया जाता है। सब इन्द्रियों से सम्पन्न है अतः यही सङ्कल्पादि कर सकता है।।७०।। सीमित चैतन्य रूप वाले उस अंश से यह शरीर अचेतन न होने पर भी चेतन-सा बना दिया जाता है तथा कार्यों में प्रेरित कर दिया जाता है जैसे घोड़ों द्वारा रथ।।७१।।** यहाँ की

प्रक्रिया एक ही शरीर में चेतन है यह मानकर नहीं वरन् सभी शरीरों में चेतन की मौजूदगी मानकर है। शरीर में स्थित चेतन ही क्षेत्र है, शरीर को क्षेत्र और जानने वाले को ज्ञ कहते हैं अतः शरीर का साक्षी क्षेत्रज्ञ कहलाता है। गीता त्रयोदशाध्याय में इसे विस्तार से समझाया ही है। वहाँ भगवान् ने बता दिया है कि सभी शरीरों में एक ही परमेश्वर है। अपने शरीर के साक्षी रूप से उसी परमेश्वर का दर्शन सुलभ है तथा वही दर्शन मोक्षप्रद है। संकल्प आदि विविध वृत्तियाँ आती जाती हैं, जो उन सब में एक रहता है वही प्रविष्ट आत्मा है। जिस मैंने संकल्प किया था उसी मेरा निश्चय हैआदि प्रत्यभिज्ञा इसे प्रमाणित करती है कि वृत्तियाँ किसी एक मैं-पदार्थ की उपाधियाँ बनती हैं, वही पदार्थ आत्मा है। मन समेत सब इंद्रियों का मालिक वही है अत एव वह संकल्पादि तथा इंद्रियों से दर्शन-वदन आदि ज्ञान-क्रिया व्यवहार कर लेता है। निरुपाधि रूप से संकल्पादि कुछ न करने पर भी औपाधिक रूप वाला वही सब करता है जैसे बसूले आदि के बिना लकड़ी छीलना-काटना आदि न करने वाला बढ़ई ही बसूले आदि की मदद से सारा कार्य कर लेता है। देखने वाला होना यह हमारा स्वरूप तो नहीं क्योंकि बिना आँख के नहीं देख पाते लेकिन आँख द्वारा देखते हम ही हैं। जैसे पानी भरने आदि का काम घट द्वारा सीमित आकाश में ही होता है, असीमित आकाश में नहीं वैसे शरीर को सचेतन बनाने, सचेष्ट बनाने का कार्य देहद्वय से अवच्छिन्न आत्मा द्वारा ही होता है, व्यापक आत्मा से नहीं। जड वस्तु चेतन के सम्बन्ध से व्यवस्थित कार्य करती है इसमें रथ का दृष्टांत है : रथ स्वयं व्यवस्थित गति नहीं कर सकता लेकिन चेतन घोड़ों से जुड़ जाने पर कर लेता है। इसी तरह शरीर स्वतः जड होने पर भी चेतन के संबंध से ज्ञान व क्रिया में समर्थ हो जाता है। चेतन भी निर्विकार रहता है, उसके औपाधिक परिच्छिन्नांश से ही शरीर-निर्वाह हो जाता है। श्लोक ५७ से उठे प्रश्न का यहाँ तक उत्तर दिया।।६८-७१।।

बालखिल्यों ने पुनः शंका की कि आत्मस्वभाव और शरीरधारणादि जगत्कृत्य मेल नहीं खाते; तब क्रतु ने माया द्वारा होने वाली सृष्टि बताकर स्पष्ट किया कि माया से मेल बैठ जाता है। रामतीर्थ स्वामी ने कहा है 'नात्र विस्मयः कार्यः, यतः स्वयमेव स्वमायाशक्तिमधिष्ठाय निर्माय चराचरं तत्रानुप्रविष्ट इति सर्वोपनिषत्सु उद्घुष्यमाणत्वात्' कि सभी उपनिषदें बताती हैं कि अपनी माया-शक्ति को नियंत्रण में लेकर परमात्मा जगन्निर्माणादि सारा कृत्य कर लेते हैं अतः 'निर्विशेष से यह सब कैसे हो सकता है' यह आश्चर्य नहीं करना चाहिये। यही विषय समझाते हैं **अखण्ड और एकरस वस्तु**

मायया सृष्टिः

अखण्डैकरसस्यांशो नेति चेच्छ्रूयतामिदम्।
अखण्डैकरसात्मैव माययेश्वरतामगात्।।७२।।
मायाया अनृतत्वेन नाऽखण्डत्वं विरुद्ध्यते।
मायायां स्वच्छरूपायामात्माऽयं प्रतिबिम्बति।।७३।।
तदुपाधिक ईशोऽभूत् सृष्टेः प्रागेक एव सः।
अतो नारमतैकाकी राजाऽमात्यादिको यथा।।७४।।
द्यूतक्रीडामिवेशोऽसौ सृष्टिक्रीडामवैक्षत।
द्रव्यान्तरमुपादानम् अदृष्ट्वा स्वं व्यचारयत्।।७५।।

का अंश नहीं हो सकता किन्तु अघटितघटनापटीयसी माया क्योंकि मिथ्या है इसलिये उसके द्वारा अंश बन जाने पर भी वास्तविक अखण्डता का विरोध नहीं होता। अखण्ड आत्मा माया द्वारा ही ईश्वरभाव को प्राप्त होता है। स्वच्छ रूप वाली माया में प्रतिबिम्बित यह आत्मा उस उपाधि वाला हुआ ईश्वर बन गया। सृष्टि से पहले वह अकेला था अतः उसे रमण महसूस नहीं हुआ जैसे राजा, मंत्री आदि अकेले में रमण अनुभव नहीं करते।।७२-५।। आत्मा का अंशभाव समुद्र-बूँद की तरह वास्तविक नहीं, आकाश-घटाकाश की तरह या सूर्य-प्रतिबिम्ब की तरह प्रातीतिक ही है। आत्मा यथावत् रहते हुए ही मायिक अंश से शरीर का निर्वाह कर लेता है और ऐसे ही दूसरे अंश से समष्टि का निर्वाह कर लेता है। यहाँ की प्रक्रिया में, ईशोपाधिक माया में प्रतिबिम्बित ईश्वर सृष्ट्यादि करता है यह समझना चाहिये। जीव-ईश्वर दोनों भाव मायिक हैं वास्तव में आत्मा शुद्ध ही रहता है। काला चश्मा पहने नंगे सिर धूप में खड़े हो जायें तो चश्मे की उपाधि से निस्तेज दीखते हुए ही सिर की उपाधि में सूर्य पूर्ण तेजस्वी प्रतीत होगा अतः वस्तु एक ही रहे फिर भी उपाधि-भेद से सर्वथा विपरीत तरह की प्रतीत हो सकती है। ऐसे ही ईश्वर और जीव विपरीत लगते हैं पर आत्मा सर्वथा एक ही है। विपरीत प्रतीतियाँ भ्रमरूप हैं, मिथ्या माया के कारण होने वाले सभी भेदज्ञान मिथ्या ही हो सकते हैं। अत एव सत्य एकता के ये विरोधी नहीं होते। स्वयं माया भी सत्य को सद्वितीय नहीं बना सकती। सपने में कमाया लाख रुपया जाग्रत् के सौ रुपयों से जुड़कर डेढ़ सौ रुपये भी नहीं हो सकता, ऐसे ही माया द्वारा निर्मित अनंतकोटि ब्रह्माण्ड सच्चिदानंद में कोई अंतर नहीं लाते। माया की स्वच्छता अर्थात् यह योग्यता कि आत्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर

बहु स्यामहमेवाऽत्र प्रजारूपीति चिन्तयन्।
देहानसृजत स्थूलान् पाषाणप्रतिमा इव।।७६।।
स्वयमेव यथा स्वप्ने गिरिनद्यादिरूपतः।
कल्पितो भात्यसावात्मा भात्येवं बहुरूपतः।।७७।।

ईश्वर के रूप में दिखा दे। ऐसी स्वच्छ माया ईश्वरोपाधि बनती है। अत एव ईश्वर में सच्चिदानंद व्यापकता स्पष्ट है। जीव की उपाधि में वह स्वच्छता नहीं अतः है यह भी उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब लेकिन इसमें वह स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। एक ही आदमी का 'याशिका' कैमरे से निपुण फोटोग्राफर द्वारा खींचा चित्र और घटिया कैमरे से अनाड़ी द्वारा खींचा चित्र जैसे परस्पर विलक्षण होते हैं वैसे जीव व ईश्वर भी विलक्षण हैं किंतु दोनों का वास्तविक बिम्ब एक ही है। ईश्वर सच्चिदानंदानंत है यह आराम से जँच जाता है, मैं ऐसा हूँयह नहीं जँचता क्योंकि ईश्वर की उपाधि स्वच्छ और हमारी मलिन है। जब तक प्रपंच का विस्तार नहीं हुआ तब तक मायोपाधिक ईश्वर अकेला था किन्तु वह अकेलापन उसे रुचिकर नहीं हुआ। विस्तार के बीजों वाली महाशक्ति को अधिष्ठित कर लेने पर एकाकिता रुचिकर नहीं होती जैसे राजा आदि को।।७२-५।।

अकेलापन दूर करने के लिये परमेश्वर ने सृष्टि रची यह बताते हैं **जुए के खेल की तरह उस ईश्वर ने सृष्टि के खेल का विचार किया। सृष्टि बनाने के लिये और कोई उपादान द्रव्य न पाकर उसने खुद को ही उपादान के रूप में सोचा। 'मैं ही संसार में बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं के रूप वाला हो जाऊँ' ऐसा सोचते हुए उसने पत्थर की मूर्तियों की तरह स्थूल शरीर बनाये।।७५-६।। जैसे सपने में खुद जीव ही पहाड़ नदी आदि रूपों में कल्पित प्रतीत होता है वैसे ही ईश्वर बहुत रूपों में प्रतीत होता है।।७७।।** (श्लोक ७७ में 'भात्येवं' कावेल का उचित पाठ है। मुत्तुशास्त्री व निर्णय सागर में 'भात्वेवं' है।) राजा आदि मन बहलाने को जैसे जुआ खेलते हैं ऐसे ईश्वर ने सृष्टि का खेल रचा है। जैसे जुए में जीतने वाला अतिप्रसन्न और हारने वाला अतिदुःखी होता है वैसे सृष्टि में भी ब्रह्मा, विष्णु आदि अतिसुखी और मक्खी, मच्छर आदि अतिदुःखी होते हैं। सृष्टि जिससे बनायी जाये ऐसा कुछ उपलब्ध न होने से ईश्वर ने स्वयं से ही सब पदार्थ बनाये। ईश्वर ही प्रपंच का निमित्त और उपादान कारण है। यद्यपि इस प्रकार यह ईश्वर की रची सृष्टि का प्रसंग है अतः पूर्वोक्त अरति, रमण न होना असंगत है तथापि माया की अचिन्त्य

क्रिया-ज्ञानशक्तिप्रवेशः

ज्ञानक्रियाशक्तिहीना देहाः क्रीडार्थमक्षमाः।
इत्यालोच्य क्रियाशक्तिः प्राणो भूत्वाऽन्तराविशत्।।७८।।
श्वासाऽधोगत्यन्नसाम्योद्गारादिव्याप्तिसिद्धये।
पञ्चधा व्यभजत् प्राणं प्राणोपाधिक ईश्वरः।।७९।।

सामर्थ्य से ईश्वर में भी अरति हो जाये तो आश्चर्य नहीं किया जा सकता। एक बड़ी चट्टान से अनेक मूर्तियों की तरह एक स्वयं से ईश्वर ने सारे शरीर बना दिये क्योंकि उन्हीं को सजीव बनाकर संसार का खेल चलाना था। यहाँ सृष्टिक्रम विवक्षित नहीं है अतः पहले स्थूल की उत्पत्ति बता दी, सूक्ष्म की आगे बतायेंगे। एक से अनेक की, बिना किसी भिन्न उपादान से विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति में सर्वानुभवसिद्ध स्वर्ग का दृष्टान्त दिया। परमेश्वर सत्यसंकल्प है, जैसा वह संकल्प करता है वैसा सब ही बनता जाता है।।७६-७।।

क्रतु ने बताया कि शरीरों को पत्थर जैसा देखकर ईश्वर ने उनमें वायुरूप से प्रवेश किया 'सोऽमन्यत, एतासां प्रतिबोधनाय अभ्यन्तरं विविशामि। स वायुरिवात्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत्' (२.६) इसका संग्रह करते हैं **ज्ञान और क्रिया की शक्ति से रहित शरीर खेलने में असमर्थ हैंयह विचार कर ईश्वर ने क्रियाशक्तिरूप प्राण बनकर उन देहों में प्रवेश किया।।७८।। प्राण उपाधि वाले ईश्वर ने प्राण को पाँच तरह बाँट दिया ताकि ये पाँच कार्य संपन्न होंश्वास, (मल आदि की) अधोगति, अन्न का शरीर में समानरूप से फैलाव, डकार आदि तथा सारे शरीर की चेष्टाओं को संभव बनाने के लिये शरीर में सर्वत्र व्याप्त होना।।७९।।**
खेल के लिये दूसरा और वह भी चेतन चाहिये। यन्त्र आदि से कुछ देर तो खेला जा सकता है। लेकिन रमण तभी होता है जब साथी चेतन हो। विशिष्ट प्रक्रियाओं से संचालित होने वाले आधुकिन यंत्रों से लोग काफी समय तक खेल कर प्रसन्न होते हैं। किन्तु उसमें हेतु यंत्र नहीं वरन् उसमें निहित संचालन-प्रक्रिया है जो किसी चेतन ने ही रची है अतः वहाँ यद्यपि दूसरा चेतन साक्षात् मौजूद नहीं है तथापि प्रक्रिया द्वारा उसका सम्बन्ध है अत एव रमण-सा हो जाता है। ईश्वर ने जो शरीर बनाये उन्हें भी खेलने लायक बनाने के लिए उसने उनमें क्रियाशक्ति के रूप में प्रवेश किया। पहले, ईश्वर ही क्रियाशक्तिरूप प्राण बना फिर प्राण का शरीरों में प्रवेश कराया। ऐतरेय में वर्णन आया है कि पादतल से प्राण का प्रवेश हुआ। ज्ञानशक्ति की चर्चा श्लो. ८६ में

उपांश्वन्तर्यामसंज्ञौ ग्रहौ द्वौ सोमयाजिनः।
नियतौ तद्वदुच्छ्वासनिश्वासौ प्राणिनामपि।।८०।।
लोहकारः स्वहस्ताभ्यां पर्यायेण दृतिद्वयात्।
वह्निं ज्वालयते यद्वज्जाठरो ज्वाल्यतेऽनलः।।८१।।

आयेगी। यहाँ पहले अन्नमय फिर प्राणमय और तदनंतर मनोमय और विज्ञानमय का कथन किया जा रहा है। सर्वसंमत जीवताऽभिव्यक्ति अन्नमय में होती है, फिर विचार सूक्ष्मता के क्रम से विज्ञानमय जीवोपाधिक के रूप में समझ आता है। किंच अन्यत्र इन्हें अंदर-अंदर कहा गया है अतः पहले बाहर वाला बने तभी उसके अंदर कुछ भरा जा सकता है इसलिये यह क्रम रखा गया है। प्राण की पाँच प्रधान वृत्तियाँ पाँच मुख्य कार्यों के लिये हैं, उन पाँचों रूपों में ईश्वर ने प्राण को बाँट दिया ताकि शरीर चेष्टाक्षम हो जाये।।७८-६।।

शरीर में गर्मी रहती है तभी यह व्यवहार में सक्षम होता है। वह गर्मी जाठराग्नि की है जिसे प्राण-अपान जलाये रखते हैं। इसे श्रुति ने कहा 'अथ-उपांशुरन्तर्यामम् अभिभवति, अन्तर्याम उपांशुञ्चैतयोरन्तरा देवौष्ण्यं प्रासुवत्, यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरः' (२.६)। उपांशुसवन नामक पत्थर पर सोम का रस निकाला जाता है। उस पत्थर के एक तरफ उपांशु-नामक बर्तन और दूसरी तरफ अन्तर्याम-नामक बर्तन रखे जाते हैं जिनमें वह रस भरा जाता है। उपांशु का देवता अग्नि और अंतर्याम का सोम है। अध्यात्म में अग्नि प्राण और सोम अपान है अतः यहाँ उपांशु-अन्तर्याम से प्राण-अपान कहे गये हैं। जैसे वे दोनों बर्तन एक-दूसरे के आमने-सामने रहते हैं, उनके बीच में सोमरस निकाला जाता है वैसे प्राण-अपान शरीर में ऊपर व नीचे की ओर चलते हैं तथा इनके बीच गर्मी के रूप में आत्मा अभिव्यक्त होता है। प्राण-अपान की समुचित गति से ही उदर में अग्नि जलती रहती है जो शरीर को गर्म रखती है। वह गर्मी निकल जाने पर शरीर निर्जीव हो जाता है। इसे ही वैश्वानराग्नि कहते हैं। परमात्मा ने ही इस अग्नि का रूप धारण किया ताकि शरीर कार्यक्षम बना रहे। इस प्रसंग को रामतीर्थ स्वामी ने स्पष्ट किया है, यहाँ संग्रह करते हैं **जिस प्रकार सोमयाग करने वाले के लिऐ उपांशु और अन्तर्याम नामक दो पात्र निश्चित हैं उसी प्रकार सब प्राणियों के लिये उच्छ्वास और निश्वास निश्चित हैं।।८०।। जैसे लोहार दोनों हाथों से दो धौंकनियों द्वारा एक-एककर हवा देकर आग को तेज़ करता है। वैसे प्राण-अपान द्वारा पेट की अग्नि जलाये रखी जाती है।।८१।। निश्वास उच्छ्वास से**

निश्वासोच्छ्वाससन्दीप्तो भुक्तं पाचयतेऽनलः।
ईशस्य जाठराग्नित्वाकारो भगवतेरितः।।८२।।
'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणाऽपानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।'८३।।

तेज़ की आग खाये अन्नादि को पचाती है। ईश्वर ही इस जठरगत (उदरगत) अग्नि के रूप में है यह स्वयं भगवान् ने कहा है।।८२।। 'मैं वैश्वानर होकर प्राणधारियों के शरीर में रहता हूँ एवं प्राण-अपान के सहयोग से चारों प्रकार का अन्न पचा देता हूँ।'८३।। [श्लोक ८० में अनु. प्र. के सब संस्करण '...अन्तर्यामिसं...' मानते हैं किन्तु कावेल का '...र्यामसं...' पाठ श्रुतिके और रूपक के अनुकूल होने से समुचित है।] एक जगह श्रुति ने सांस लेने-छोड़ने को व्रत कहा है (बृ.१.५.२३)। साँस चलती ही है, उसमें हमेशा यह बोध बनाना पड़ेगा कि प्राणरूप ईश्वर इन वृत्तियों के प्रयोग से वायु-संचार द्वारा शरीर को जीवित रख रहा है। क्योंकि साँस हमेशा चलेगी इसलिये यह बोध भी हमेशा बनाना पड़ेगा, फलतः अन्यत्र मन को जाने का मौका ही नहीं मिलेगा अतः यह ईश्वरध्यान का महत्त्वपूर्ण व्रत है। यह साधना करने वाला मानो सोमयाजी के जैसा हो गया अतः जैसे सोमयाजी को उक्त पात्र रखने पड़ते हैं वैसे इस साधक के साँस लेना (उच्छ्वास) और छोड़ना (निश्वास) ये दो हैं। पात्रों के बीच में सोमका रस निकालने की जगह यहाँ जाठराग्नि की अभिव्यक्ति है। वह अग्नि है तो उसे उद्दीप्त करने के लिए हवा चाहिये अतः उच्छ्वास-निश्वास को वह हवा भी बताया जो जाठर अग्नि को तेज़ करती है। लोहार एक बार एक धौंकनी से, दूसरी बार दूसरी से फिर पुनः पहली सेयों लगातार हवा देकर आग तेज़ करता है, तेज़ हो जाने पर केवल एक धौंकनी से हवा देते रहना पर्याप्त होता है। प्रकृत में उच्छ्वास तो हवा देता है यह स्पष्ट है, निश्वास यद्यपि हवा निकालता है तथापि रूपक को संपन्न करने के लिये उसे भी हवा देने वाला कहा। लोहार-दृष्टांत श्रुति में नहीं, विद्यारण्य स्वामी ने दिया है। लोहार की जगह ईश्वर और दो धौंकनियों की जगह उपांशु-अन्तर्याम अर्थात् उच्छ्वास-निश्वास समझने चाहिये। प्राणायाम या व्यायामादि से जब प्राण ज़्यादा चलता है तब बेहतर पाचन होकर भूख ज़्यादा लगती है यह अनुभवसिद्ध है अतः श्वास जाठराग्नि का उत्तेजक कहना उचित है। जाठराग्नि, जठर अर्थात् उदर में स्थित गर्मी परमेश्वर का ही रूप है। इस रूप की भी उपासना अन्यत्र बतायी है। गीता (१५.१४) में स्वयं श्रीकृष्ण ने बताया है कि वैश्वानर नामक जाठर अग्नि का रूप वे

कर्णौ पिधाय यं घोषं शृणोत्यन्तः स जाठरात्।
वह्नेर्जातो मुमूर्षुस्तु नैनं घोषं शृणोति हि।।८४।।
औष्ण्योपेतं पञ्चविधप्राणलिङ्गाऽभिधं वपुः।
प्राणोपाधिकचिद्रूपो ज्ञानशक्त्याऽपि युज्यते।।८५।।

ही धारण करते हैं। चार प्रकार के अन्नों से भक्ष्य (चबाने योग्य), भोज्य (न चबाने योग्य, हलुवा आदि), लेह्य (चाटने योग्य, चटनी आदि), चोष्य (चूसने योग्य, गन्ना, आम आदि) इन्हें समझना चाहिये। भाष्यकार ने गीता के इस श्लोक की व्याख्या में बताया है कि भोजन करते समय यह ध्यान बनाये रखे कि भोक्ता मैं नहीं वरन् वैश्वानर अग्नि है तथा भोज्य (चारों प्रकार का अन्न) सोम है, भोक्ता-भोज्यरूप अर्थात् अग्नि-सोमरूप सारा जगत् है। यह अभ्यास करने से अन्नदोष नहीं लगेगा। सोम अर्थात् चंद्र, वह भोग्यों के रूप में उपस्थित है अतः भोग्यों के अवांतर भेद के प्रति दृष्टि न जाने दे तथा स्वयं को भोक्ता न समझे, अपने भीतर स्थित वैश्वानररूप परमेश्वर को भोक्ता समझे तब यह उपासना फलती है। सोम का प्रसंग प्रश्नोपनिषद् व्याख्या में अध्याय ७ श्लोक ७ इत्यादि में आ चुका है।।८०-३।।

उदरगत वह्नि स्पर्श से अतिरिक्त ध्वनि से भी पता चलती है यह बताते हैं **दोनों कान बन्द करने पर जो भीतरी घोष सुनाई देता है वह जाठर अग्नि से ही उत्पन्न होता है। मरणासन्न व्यक्ति वह घोष नहीं सुन पाता।।८४।।** इस घोष पर चित्त एकाग्र करने पर कई प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई देने लगती हैं ऐसा अन्यत्र (छा. ३.१३.७) विस्तार से वर्णन है। ध्यानार्थ यह श्रेष्ठ आलंबन है। वैश्वानर की ही यह आवाज़ है। मरणासन्न व्यक्ति की अग्नि ठण्डी पड़ने लगती है अतः ध्वनि मंद हो जाने से वह सुन नहीं पाता और यह एक चिह्न बन जाता है जो भावी मरण का सूचक होता है। प्राण शरीर में आया इसी से शरीर सजीव हुआ अतः प्राण के निकलने पर निर्जीव हो जाता है। पूर्व में (७.९०) प्रश्नोपनिषत् के प्रसंग में भी यह बता चुके हैं।।८४।।

प्राणमय का वर्णन कर श्रुति ने मनोमय-विज्ञानमय को कहा है 'स वा एष पञ्चधात्मानं विभज्य निहितो गुहायाम्। मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मेति' (२.६)। इसे बताते हैं **पाँच प्रकार के प्राण जिसमें प्रधान हैं उस सूक्ष्मदेह को लिंग शरीर भी कहते हैं, वह गर्मी से युक्त है। प्राणरूप उपाधि वाला चेतन ज्ञान-शक्ति से भी सम्पन्न होता है।।८५।।** (कावेल का पाठ है

ततो मनोमयो भूत्वा सत्यसङ्कल्पतां व्रजेत्।
यत् सङ्कल्पयते जीवस्तत्करोत्येव सर्वथा।।८६।।
हृदि स्थितः सन् शब्दादीन् भुञ्जेऽहं विषयानिति।
सङ्कल्प्याक्षाणि सृष्ट्वा तैर्भुङ्क्तेऽक्षैर्विषयान् सदा।।८७।।

'अक्ष्णोपेतः पञ्चविधः प्राणो लिङ्गाभिधं वपुः', आगे इंद्रियसम्बन्ध बताना है।) अन्नमय में प्राणमय और उसके भीतर मनोमयादि ज्ञानशक्ति-युक्त अंश है अतः कहा कि प्राणोपाधि वाले में ज्ञानशक्ति आती है। पाँचों प्राणों के कार्य ही उनके चिह्न हैं, उन्हीं से प्राणों का पता चलता है अतः लिंग या चिह्नों से जिस शरीर का निश्चय होता है वह लिंग शरीर कहा जाता है। स्थूल शरीर तो ऐन्द्रिय है जबकि सूक्ष्म अतीन्द्रिय है अतः चिह्नों से उसे समझना पड़ता है।।८५।।

ज्ञानशक्ति से संपन्न होना व्यक्त करते हैं **तदनंतर मनोमय बनकर सत्य संकल्प वाला हो जाता है। जीव जो संकल्प कर लेता है हर तरह उसे संपन्न करता ही है।।८६।। हृदय में स्थित हुए उस आत्मा ने 'मैं शब्दादि विषयों का भोग करूँ' यह संकल्प कर इन्द्रियाँ उत्पन्न कीं तथा उन इंद्रियों से हमेशा विषयों का भोग करता है।।८७।।** ज्ञानशक्ति की अभिव्यक्ति अंतःकरण में होती है जैसे क्रियाशक्ति की प्राण में होती है। मनःप्रधान होने पर आत्मा संकल्प करता है और स्वभावतः ही वह अपने संकल्प को पूरा करने को उद्यत होता है। संकल्प की सामर्थ्य को मनोदोष क्षीण करते हैं, मन शुद्ध रहे तो संकल्प पूरा होता ही है। मुक्त पुरुषों को भी सत्यसंकल्पता की प्राप्ति बतायी गयी है। प्राकृतों के संकल्प से मुक्त का संकल्प विलक्षण होता है ऐसा भाष्य में भी कहा है। सृष्टिक्रम में मनोदोष तो अभी आये नहीं हैं अतः मनोमय होने से आत्मा सत्यसंकल्प ही होता है। विषय भोगने का संकल्प कर अपने इस कार्य के लिये इंद्रियाँ बना लीं। बिना इंद्रियों के विषय-संपर्क हो नहीं सकता इसलिये इन्हें बनाना ज़रूरी। जीव के स्तर पर समझें तो इन्द्रियों से तादात्म्य करना, उन्हें अधिष्ठित करना, उन पर अभिमान करना ही उन्हें बनाना कहा गया है। संकल्प से मनोमय और इंद्रिय-द्वारक विषय-भोग से विज्ञानमय का कथन हो गया।।८६-७।।

क्रतु ने श्लोक ७१ में जो रूपक कहा था उसका खुलासा किया 'बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः, कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया, रथः शरीरं, मनो नियन्ता, प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदः' (२.६) अर्थात् शरीर रथ है, कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम हैं, मन सारथि है और कर्मज्ञानवासनारूप प्रकृति या स्वभाव चाबुक है। इस वाक्य का संग्रह करते

देहो रथः पञ्च हयास्तस्य कर्मेन्द्रियाणि हि।
ज्ञानेन्द्रियाणि यानि स्युस्तानि बन्धनरज्जवः।।८८।।
मनोऽत्र सारथिः सर्वैरवच्छिन्नेशतां व्रजन्।
चिदात्मा चेतनं देहं कृत्वा प्रेरयते सदा।।८९।।
तस्याऽपाये मृतो देहोऽचेतनो न प्रवर्तते।
चिदंशस्य प्रेरकत्वं ब्रवीति भगवान् स्फुटम्।।९०।।
'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।'९१।।

है **शरीर रथ है, कर्मेन्द्रियाँ इसके पाँच घोड़े हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ घोड़े बांधने वाली रस्सियाँ हैं, मन यहाँ सारथि है। चिद्रूप आत्मा सीमित संघात का स्वामी बनते हुए देह को चेतन-सा करके हमेशा इसे प्रेरित करता है।।८८-९।। प्राण-मन से उपहित आत्मा जब स्थूल शरीर को छोड़ जाता है तब यह देह अचेतन हो जाता है, कोई प्रवृत्ति नहीं करता। शरीर में स्थित चिदंश प्रेरक है यह भगवान् ने (गी. १५.७) स्पष्ट किया है।।९०।। 'जीवलोक में मेरा ही सनातन अंश जीव होकर अपने गोलकों में स्थित मन सहित इंद्रियों का आकर्षण करता है'।।९१।।** कठोपनिषत् के विवरण में (११-४३ आदि) भी रथ का रूपक आयेगा किन्तु दोनों स्थलों पर कुछ भेद है, तात्पर्य अविरुद्ध है। कर्मेन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नियंत्रित करना चाहिये अतः ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम या घोड़े बाँधने की रस्सी बतायीं। श्रुत्युक्त चाबुक यहाँ नहीं कहा, उसे भी याद रखना चाहिये क्योंकि वासनाएँ ही इस रथ को तेज़ करती हैं। दिशा का निर्णय तो मन कर लेगा लेकिन कितनी तेज़ी से घोड़े भागें यह निर्भर करता है वासनाओं पर। शरीररूप रथ के संचालन के कार्य में सारथि मन है। रथी से गंतव्य समझकर घोड़ों को उसी ओर मोड़कर ले चलना सारथि का कार्य होता है। जीव के निश्चयों के अनुसार कर्म में प्रवृत्ति हो इसे मन ही संभव बनाता है। किन्तु यह सब होगा तभी जब चेतन आत्मा स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों से एक ही जगह उपहित हो अर्थात् स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर रहे तभी दोनों से परिच्छिन्न हुआ आत्मा दोनों का अधिष्ठाता बनकर शरीर को प्रेरणा दे देता है, शरीर को सजीव बना देता है। वह अवच्छिन्न, शरीरादि का अधिष्ठाता ही रथी है। उसी से शरीर चेतन-सा बनकर क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। सूक्ष्म-स्थूल शरीर जब एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं तब क्योंकि एकत्र उभयावच्छिन्न चेतन नहीं होता इसलिये वह

आत्मनो वास्तवरूपम्

अवच्छिन्नश्चिदात्माऽसौ स्वतो नेच्छति किञ्चन।
न भुङ्क्ते सुखदुःखे च तस्मिन्नारोप्यतेऽखिलम्।।९२।।
सर्वेष्वपि शरीरेषु भाति तद्धर्मवानिव।
न तिष्ठति स्वतस्तेषु नाऽपि तद्धर्मसंयुतः।।९३।।
ज्ञानेन्द्रियैर्न दृश्योऽयं ग्राह्यः कर्मेन्द्रियैर्न च।
स्वरूपसौक्ष्म्याद् अव्यक्तो वेदान्तैरेव बुद्ध्यते।।९४।।

स्थूल शरीर को सचेतन भी नहीं बनाता, प्रेरित भी नहीं करता। आत्मा व्यापक ही बना रहता है किन्तु प्रेरक नहीं बनता क्योंकि इसके लिये दोनों शरीरों का जुड़ा होना भी आवश्यक है। गीता में चेतन का अंश प्रेरक है यह कहा भी है। जीव हमेशा से है, मोक्ष से इसका जीवभाव नष्ट होगा पर स्वयं फिर भी बना रहेगा। अतः इसे सनातन कहा। सुषुप्ति व प्रलय में उपाधियाँ अव्यक्त हो जाने पर भी नष्ट नहीं होती। अतः जीव तब भी बना रहता है। प्रकृति अर्थात् गोलकों में स्थित इन्द्रियों को 'कर्षति' अर्थात् खींचता है, प्रवृत्त करता है। अथवा समझ सकते हैं कि प्रकृति में, माया में स्थित इंद्रियों से जीव खेती करता है, कर्मरूप बीज बोता है व भोगरूप खेती काटता है। रथ-रूपक के अनुसार और गीताभाष्यानुसार खींचना अर्थ ही ठीक है। अगले श्लोक के 'अवच्छिन्नः' शब्द का यहीं सम्बन्ध समझना चाहिये कि अवच्छिन्न होकर ही वह कर्षण करता है, स्वतः नहीं।।८८-९१।।

शरीरसंघात का प्रेरक होने पर भी वास्तव में आत्मा देहादि सब बंधनों से मुक्त ही रहता है यह स्पष्ट करते हैं **देहादि से परिसीमित प्रतीत होने पर भी यह चेतन आत्मा अपने वास्तविक निरुपाधिक रूप में कोई इच्छा नहीं करता और न किसी सुख-दुःख का भोग ही करता है। यह सब उस पर केवल आरोप किया जाता है।।९२।। सभी शरीरों में लगता है मानो आत्मा उन शरीरों की विशेषता वाला हो जबकि उन विशेषताओं से उसका कोई सच्चा सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसका निरुपाधिक स्वरूप शरीरों में नहीं रहता।।९३।। न आत्मा ज्ञानेन्द्रियों का गोचर है, न इसे कर्मेन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं। उसका स्वरूप अकल्पनीय सूक्ष्म है अतः वह (मन के लिये भी) व्यक्त नहीं है। उसे वेदान्तों से ही समझा जा सकता है।।९४।। आत्मा की किसी पर ममता न होने से वह सर्वत्र एक समान है। वह कुछ करता नहीं फिर भी अज्ञानियों को लगता है कि**

निर्ममत्वात् सर्वगोऽपि शरीरेषु च तिष्ठति।
अकर्ताऽप्यनभिज्ञैस्तु कर्तेवाऽसौ विभाव्यते।।६५।।

वह शरीरों में रहता है व मानो सब क्रियायें करता है।।६५।। औपाधिक आरोपवश ही आत्मा में इच्छा, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अध्यस्त हैं, सचमुच में उसमें ये कोई विशेषताएँ नहीं हैं। शरीरसंघातों की क्रिया आदि के आधार पर ही आत्मा की समझ आने पर भी वह संघातों से अस्पृष्ट रहता है। साँप में रस्सी की तरह अधिष्ठान होने से ही आत्मा शरीरादि में रहता है अतः न संघातों से परिच्छिन्न होता है न उनकी विशेषताओं वाला बनता है। काँच में दीखने पर भी जैसे मुख काँच *में* होता नहीं वैसे शरीरादि में प्रतीत होने पर भी आत्मा उनमें होता नहीं। रूप रस आदि इंद्रियग्राह्य हैं, सच्चिदानंद इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। कर्मेन्द्रियाँ जिन पर प्रभावी होती हैं वे भी भूत-भौतिक ही हैं, सच्चिदानंद पर उनका भी कोई प्रभाव होता नहीं, न हाथ से सद् आदि को पकड़ सकते हैं, न पैर से उस तक पहुँच सकते हैं। अत्यंत सूक्ष्म होने पर भी सच्चिदानंद भास ज़रूर रहा है, हमें 'घड़ा है', 'घड़ा प्रतीयमान है', 'घड़ा प्रिय है' आदि अनुभवों में इनका पता अवश्य चलता है भले ही जिससे पता चलता है वह करण हमें मालूम नहीं। सच्चिदानंद के बिना कोई व्यवहार नहीं होता, सभी व्यवहारों का वही आधार है। उसका वास्तव स्वरूप शास्त्र के सहारे ही समझा जा सकता है। रूप में आँख या शब्द में कान की तरह व्यापक आत्मा के अपरोक्ष के लिये उपनिषद्-महावाक्य ही साधन है। अन्य किसी साधन से यह साक्षात्कार नहीं हो सकता। यह तो संभव है कि वेदानुसार कोई अन्य कह दे और उसे सुनकर ज्ञान हो जाये लेकिन मूल प्रमाण वेद है, उसी के आधार पर व्यक्तियों के वचन भी प्रमाण बन जाते हैं। व्यापक होने से ही उसका किसी पर ममत्व संभव नहीं। स्वयं से पृथक् कुछ हो तो उस पर ममत्व हो सकता है, जब आत्मा से अन्य कुछ है ही नहीं तब ममत्व किया किस पर जाये! अतः भ्रम से ही यह प्रतीति है कि वह शरीरों में रहता है। इसीलिये वह कर्ता-भोक्ता आदि भी नहीं है। अज्ञानवश समझ लिया जाता है कि वह शरीरी, कर्ता, भोक्ता है।।६२-६५।।

द्वितीय प्रपाठक की समाप्ति में आत्मस्वरूप का कथन किया है 'स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चाऽलेप्योऽव्यग्रो निस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थश्च। ऋतभुग् गुणमयेन पटेनात्मानमन्तर्धायावस्थिता इति।' इसका संग्रह करते हैं **'वेदान्तों में जिस परमेश्वर का' इत्यादि श्लोक ५८ से बताया गया ही आत्मा का वास्तविक रूप है, कर्तापना**

'वेदानामुत्तरे भाग' इत्यादिग्रन्थवर्णितम्।
आत्मनो वास्तवं रूपं कर्तृत्वं नास्य विद्यते।।६६।
स सर्वोपनिषत्सिद्ध एष हृद्युपलभ्यते।
शुद्धः स्थिरोऽचलो नाऽस्य कर्मलेपोऽस्ति कश्चन।।६७।।
अव्यग्रो निस्पृहस्तूष्णीम् उदासीन इव स्थितः।
स्वस्थो विक्षेपराहित्याद् इत्यात्मानं प्रपश्यत।।६८।।

आदि इसमें सच्चे नहीं हैं।।६६।। सभी उपनिषदों में प्रतिपादित वह वस्तु हृदय में अपरोक्ष मिल रही है। मिथ्याज्ञानरहित होने से वह शुद्ध है, एक ही स्वरूप वाली होने से स्थिर है, व्यापक होने से अचल है, इसका किसी कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं।।६७।। आत्मा का स्वरूप सारी उपनिषदों में सर्वथा एक वर्णित है, ऐसा नहीं कि कहीं कुछ तो कहीं कुछ और तरह का आत्मा बताया हो। वर्णन के तरीके में अंतर से संदेह संभव होने के कारण ब्रह्मसूत्र के पहले अध्याय में विस्तार से स्पष्ट किया है कि बताने का ढंग अलग होने पर भी बतायी बात एक ही है। शास्त्र-प्रोक्त आत्मा उपलब्ध हृदय में होता है। 'मैं'यह अनुभव जहाँ होता है वही हृदय है। 'मैं'अनुभव में आत्मा उपलब्ध है। अन्य सब चीज़ें कभी हैं, कभी नहीं हैं, यही उनकी अस्थिरता है। आत्मा सत्स्वभाव है, वह कभी 'नहीं है' नहीं होता अतः स्थिर है। एकमात्र सत् ब्रह्म ही ऐसा है जिसके बारे में 'नहीं है', कभी किसी भी देश काल परिस्थिति में नहीं कह सकते। 'नहीं है' इस तरह आत्मा का अनुभव कभी नहीं होता। जगत्-काल में अध्यस्त वस्तुओं के रूप में भी प्रतीत होने वाला आत्मा ही है, मोक्ष-काल में अधिष्ठान के रूप में भासने वाला भी आत्मा ही है। आत्मा अलेप्य है क्योंकि लेप सब मिथ्या हैं अतः सत्य आत्मा पर कोई अन्तर नहीं डाल सकते। मृगमरीचिका का जल जैसे बालू के एक कण को भी गीला नहीं कर सकता वैसे अनंत संसार आत्मा पर लेप नहीं चढ़ा सकता। क्रिया व उसके प्रभाव आदि सब उपलब्ध आत्मा में ही होते हैं, सत् से विलग कुछ उपलब्ध नहीं होता, फिर भी आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता जैसे कल्पित साँप से अधिष्ठान रस्सी जहरीली नहीं हो जाती।।६६-७।।

अव्यग्र आदि विशेषणों का अर्थ बतलाते हैं **व्यग्रता और स्पृहा से रहित आत्मा उदासीन की तरह चुप रहता है। क्योंकि सभी विक्षेपों से वह परे है इसलिये वह स्वस्थ है। हे बालखिल्यो! आत्मा को इस तरह का समझिये।।६८।।** आशा पूरी न होने तक मन में व्यग्रता होती है। नौ रोज़ बजते हैं, कोई व्यग्रता नहीं होती, लेकिन

कोई सात बजे आने वाला है और नौ बजे तक न पहुँचे तो व्यग्रता होती है अतः आशा रहने पर ही व्यग्रता होती है, आशा न हो तो व्यग्रता भी नहीं होती। शास्त्र में आशा को सबसे बड़ा दुःख इसलिये कहा है। रोगी के ठीक होने की आशा रहने पर व्यग्रता होती है किन्तु जब निश्चय हो जाता है कि उसे ठीक होना ही नहीं तब व्यग्रता भी निवृत्त हो जाती है, स्थिरभाव से अनिवार्य परिस्थिति का सामना हो पाता है। परमात्मा को कोई आशा नहीं अतः वह व्यग्र भी नहीं। जिसे सच्चा समझते हैं उसी की आशा होती है। अधिष्ठान की दृष्टि से सारे अध्यस्त मिथ्या हैं अतः उसे उनकी आशा नहीं हो सकती। व्यग्रता वालों को अव्यग्र पर गुस्सा आया करता है : कहीं जाने के लिये रेल का टिकट मँगाया हो तो व्यग्र-प्रकृति वाला जब तक टिकट हाथ में न आ जाये तब तक परेशान रहता है, अव्यग्र प्रकृति वाला सोचता है 'टिकट आ गया तो जायेंगे अन्यथा नहीं जायेंगे' अतः शांत रहता है। ऐसी परिस्थिति में व्यग्रता वाले को शांत व्यक्ति पर झल्लाहट होती है यह लोकसिद्ध है। इसीलिये लोग परमात्मा पर बहुत गुस्सा करते हैं। दुनिया के दुःख, धर्म की हानि आदि देखकर जीव व्यग्र होते हैं कि परमात्मा इन सबका प्रतिकार क्यों नहीं कर रहा किंतु स्वयं परमेश्वर अव्यग्र बने रहते हैं। सारा प्रपंच सर्वथा मिथ्या देखते हुए उसे कोई स्पृहा न होने से अव्यग्रता बनी रहती है। प्रपंच की प्रातीतिक क्रियाओं के प्रभाव से उसमें कोई प्रतिक्रिया नहीं होती यही उसका तूष्णींभाव या चुप रहना है। आत्मा उदासीन की तरह रहता है अर्थात् किसी विशेष के प्रति उसका आग्रह नहीं होता। ममत्व आने पर उदासीनता हटती है, आत्मा का ममत्व है नहीं अतः उदासीनता स्वाभाविक है। लोक में तो उदासीन अपने सामने होने वाले कार्यों के प्रति कारण नहीं होता जबकि आत्मा सभी कार्यों के प्रति कारण है इसलिये आत्मा को उदासीन नहीं वरन् उदासीन की तरह कहा। अन्य किसी के सहारे स्थित न होने से उसे स्वस्थ, स्वमें ही स्थित कहा। अधिष्ठान किसी अन्य में स्थित नहीं होता अत एव याज्ञवल्क्य ने गार्गी के यह पूछने पर कि 'वह आकाश (आत्मा) किसमें ओत-प्रोत है?' उसे अतिप्रश्न अर्थात् न पूछने लायक प्रश्न कहा था। सब कुछ जिसमें है उसके भी आधार को पूछना बेवकूफ़ी का सवाल है। अपनी स्वाभाविक स्थिति से विचलित न होने को स्वस्थता कहते हैं। आत्मा को विचलित करने वाला कुछ है नहीं क्योंकि आत्मा से अन्य कुछ हो तो उसे विचलित करे! क्योंकि सारा द्वैत मिथ्या है। इसलिये आत्मा के विक्षेप या विचलन का हेतु बन नहीं सकता जिससे आत्मा स्वस्थ ही रहता है।।९८।।

ईदृशोऽप्यज्ञदृष्ट्याऽसौ सत्त्वादिगुणधारिणा।
मायापटेन संछन्नो भुञ्जान इव लक्ष्यते।।६६।।

'ऋतभुक्' आदि वाक्य का अर्थ करते हैं **उक्त स्वरूप वाला होते हुए भी अज्ञानियों की दृष्टि से वह सत्त्व आदि गुण धारण करने वाली माया रूप कपड़े से भलीभाँति छिपा होकर लगता है मानो भोग कर रहा हो।।६६।।** आत्मा का वास्तविक स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध शान्त अकर्ता अभोक्ता है किंतु इस सत्य को न जानने से अज्ञानी उसे भोक्ता समझते हैं। अज्ञान एक कपड़े की तरह है जो आत्मा को ढाँक लेता है। कपड़े से मेज, तकिया आदि ढाँक दें तो ढँकी चीज़ का आकार कुछ-कुछ तो पता चलता है लेकिन उसके बारे में ज़्यादातर बातें मालूम नहीं चलती। ऐसे ही अज्ञान से आवृत आत्मा के बारे में थोड़ा-बहुत तो मालूम है ही लेकिन उसका समूचा स्वरूप अज्ञात रहता है। जैसे कपड़े को सूत, रेशम, नायलानयों तीन तरह के धागों से बना सकते हैं वैसे माया-पट सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों का संमिलित रूप है। माया से बनी बुद्धि इसीलिये तीनों गुणों वाली है और इन्हीं के सन्दर्भ में सोच-समझ पाती है। अपने मन-बुद्धि से सोचने पर परमेश्वर सत्त्वादि गुण वाला ही प्रतीत होता है। उसका गुणों से परे जो स्वरूप वह शास्त्र से ही प्रकट हो सकता है। अनेक ऐसे तथ्य लोक में भी हैं जो केवल बुद्धि के भरोसे स्वीकारे नहीं जा सकते लेकिन मानने पड़ते हैं क्योंकि तभी अनेक प्रभाव, फल, संगत होते हैं। गणितशास्त्री 'ऋण एक का वर्गमूल' ($\sqrt{-1}$) ऐसी कल्पित संख्या मानते हैं जबकि इसे बुद्धि से नहीं समझ सकते लेकिन इसे मानने से अनेक समस्याएँ हल होती हैं अतः मानना पड़ता है। ऐसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार से शोक-मोह की निवृत्ति हो जाती है अतः उसके संसारातीत स्वरूप को सच्चा मानना पड़ता है भले ही अपनी बुद्धि से यह निर्णय अशक्य लगे। शोक-मोह की आत्यंतिक निवृत्ति और किसी भी तरह होती नहीं। इस प्रकार शुद्ध आत्मा अवश्य स्वीकार्य सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञानी तो स्वानुभूति से उसे समझते ही हैं, साधक सफलता के सहारे उसे समझ सकता है। वेदांतरूप प्रमाण और सफलतारूप तर्क इन दोनों के सहारे शुद्ध आत्मा समझा जा सकता है। ज्ञानी को प्रमाण व तर्क नहीं चाहिये पर अज्ञ को दोनों की ज़रूरत रहती ही है। त्रिगुणात्मक माया या अज्ञान से ढँका आत्मा भोक्ता प्रतीत हो ही रहा है जिसे श्रुति में ऋतभुक्, कर्मफलों का भोक्ता कहा। वास्तव में अभोक्ता ही रहते हुए अज्ञानवश भोक्ता प्रतीत हो रहा है। सत्त्व से छनकर दीखने पर वह भोक्ता, रज से छनकर दीखने पर कर्त्ता और

संसारिवर्णनम्

इत्थं बोधितवानेष बालखिल्यान् प्रजापतिः।

तत्त्वं बुद्ध्वाऽथ पप्रच्छुः कः संसारीति ते गुरुम्।।१००।।

तम से छनकर दीखने पर वह मुग्ध प्रतीत होता है। तीनों लगने पर भी सत्य यही है कि वह तीनों नहीं है, ज्ञानस्वरूप, अकर्ता, अभोक्ता ही है।।६६।।

तृतीय प्रपाठक में बालखिल्यों ने प्रश्न उठाया 'ते होचुर्भगवन्! यद्येवमस्यात्मनो महिमानं सूचयतीति अन्यो वा परः कोऽयमात्माख्यो योऽयं सिताऽसितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यता इति अवाञ्चोद्ध्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमति,' (३.१) यदि आत्मा शुद्ध अविकारी है तो संसारी कौन है? उस आत्मा से अलग ही संसारी का होना उचित है क्योंकि संसारी उससे सर्वथा विपरीत स्वभाव का है। शुभ-अशुभ कर्मफल भोगने के लिये अच्छी-बुरी योनियों में ऊँचे-नीच लोकों में सर्दी-गर्मी आदि से परेशान होते हुए भटकने वाला जीव कौन है? इस प्रश्न का ही उपन्यास करते हैं **क्रतु-नामा प्रजापति ने पूर्वोक्त उद्बोधन से बालखिल्यों को समझाया तो उन्हें परमात्मा वास्तव में कैसा है यह पता चल गया किन्तु वही प्रत्यगात्मा है यह न पता चलने से उन्होंने गुरु प्रजापति से पूछा कि संसरणशील आत्मा कौन है?।।१००।।** साधक की मुख्य जिज्ञासा 'मैं कौन हूँ?' होती है अतः प्रत्यग्रूपता के उल्लेख के बिना ब्रह्मतत्त्व का स्वरूप समझ आने पर भी अर्थात् 'ब्रह्म नित्य शुद्धादि है' यह पता चल जाने पर भी मूल प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है जब तक ब्रह्म ही प्रत्यक् है इसका ज्ञान न हो। हमें अपना बोध संसार में सुख-दुःख पाते हुए भटकने वाले रूप से ही होता है, वह मैं-वस्तु ब्रह्म नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म को सदा मुक्त बताया, इसलिये मैं-वस्तु के स्वरूप का प्रश्न किया जा रहा है। अनेक आत्मा, अनेक चेतन होना 'अद्वितीयम्' आदि श्रुति से भी विरुद्ध है और युक्ति से भी विरुद्ध है। चेतन का मतलब है जानने वाला, यदि अनेक जानने वाले हों तो एक-दूसरे को जान लेंगे अतः वे ज्ञेय बन जायेंगे तो चेतन नहीं रहेंगे! और यदि एक-दूसरे को न जान पाये तो अनेक चेतन हैं यह पता ही कैसे चलेगा? इसलिये ब्रह्म से अलग जीव हो तो जीव आत्मा नहीं हो सकता किन्तु मैं स्वयं प्रकाशमान हूँ अतः मैं आत्मा ही हूँ, और तब ब्रह्म आत्मा नहीं हो सकता! यों ब्रह्म-जीव को एक ही स्वीकारना आवश्यक है लेकिन दोनों के स्वरूप विपरीत लगते हैं तो उन्हें एक भी कैसे समझें? यह बालखिल्यों का भाव है।।१००।।

प्रजापति ने जीव को 'भूतात्मा' नाम देकर उसका संसरण उपपन्न करते हुए

श्रूयतां परमात्मोक्तस्तस्मादन्योऽस्ति कश्चन।
भूतात्माख्यो निकृष्टोऽयं पुण्यपापफलैर्युतः।।१०१।।
विप्रक्षत्रादिसद्योनिं श्ववराहादिकामपि।
असद्योनिमवाप्नोति भूलोके जन्म चेत्तदा।।१०२
अन्यत्र जन्म चेत्तर्हि पुण्येन स्वर्गमश्नुते।
पापेन नरकं द्वन्द्वैरभिभूतः परिभ्रमेत्।
मानावमानौ शीतोष्णे द्वन्द्वानीत्यादिकानि हि।।१०३।।
यो भूतात्मोदितः सोऽथ विस्पष्टमभिधीयते।।१०४।।

उसकी ब्रह्मरूपता भी प्रतिपादित की। पहले प्रश्न का अनुवाद करते हुए उन्होंने स्वीकारा कि जीव संसारी है। इस भाग का वर्णन करते हैं **(गुरु प्रजापति ने कहा) सुनिये : परमात्मा के बारे में तो बता चुके, उससे अन्य, उससे निकृष्ट कोई भूतात्मा-नामक वस्तु है जो पुण्य-पाप के फलों से सम्बद्ध है।।१०१।। उसका जन्म यदि पृथ्वी पर होता है तो वह ब्राह्मण क्षत्रियादि अच्छी या कुत्ता सुअर आदि बुरी योनियाँ पाता है।।१०२।। अन्य लोकों में जन्म हो तो पुण्य से स्वर्ग एवं पाप से नरक जाता है। मान-अपमान, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से परेशान होता हुआ वह भटकता रहता है। इस तरह के भूतात्मा के स्वरूप को अब स्पष्ट कर समझाते हैं।।१०३-४।।** परमात्मा से जीवात्मा अलग है जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब अलग होता है। विपरीत धर्मों वाला प्रतीत होने पर भी वास्तव में जैसे प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब से पृथक् नहीं होता, बिम्बसत्ता से स्वतंत्र कोई सत्ता प्रतिबिम्ब की नहीं होती, वैसे वास्तव में जीव परमात्मा से पृथक् नहीं है। जैसे काँच के कारण बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भेद प्रतीत होता है वैसे उपाधिवश ही जीव-परमात्मा का भेद प्रतीत होता है। पाँच भूतों के विकार स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के अंदर वह चेतन ही संसारी, कर्ता, भोक्ता प्रतीत होता है। काँच बिम्ब को बदले बिना ही प्रतिबिंबरूप में उसे बदला हुआ दिखला देता है, इसी तरह शरीर आत्मा को बदलते नहीं पर ऐसी प्रतीति करा देते हैं कि वह बदला हुआ है, वह परमात्मरूप नहीं है। भूतों के साथ मिला परमात्मा ही संसारी है, जिसे भूतात्मा कहा। कमज़ोर आदमी पर भूत चढ़ जाये तो उसमें अत्यधिक बल आ जाता है ऐसा लोक में देखा जाता है; निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय आत्मा पर पाँच भूतों के विकार चढ़ गये जिससे वह सगुण, साकार, सक्रिय, कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी हो गया। भूतात्मा परमात्मा से निकृष्ट है। जैसे जिस पर भूत

चढ़ जाता है उसकी ताकत भले ही बढ़ जाये पर सब लोग मिलकर उसे मार-पीट कर नियंत्रण में लाते हैं, साधारण आदमियों की अपेक्षा वह निकृष्ट समझा जाता है, वैसे भूतात्मा निकृष्ट है, संसार-क्लेशों की मार ही झेलता है। वास्तव में निरतिशय आनंद, वाणी से परे है लेकिन भूतात्मा बन गया तो दो अक्षर भी इसे महादुःखी कर देते हैं, कोई 'साला' कह दे तो भूतात्मा अत्यंत दुःख महसूस करने लगता है। अनंत कोटि ब्रह्माण्ड के नाश से भी जिसमें कोई अंतर नहीं आता वह दो पैसे के नुकसान से दुःखी हो जाता है। यही भूतात्मा की निकृष्टता है कि स्वयं को उपाधि-परिच्छिन्न मानकर कामना, दुःख आदि से विकृत होना। मिथ्या ही कर्त्ता बनकर पुण्य-पाप बटोर लेता है फिर उनका फल भोगने के लिये जन्म लेता है। बाह्य विषय, शरीर और भोगसाधन सभी कर्मानुसार मिलते हैं, पुण्य के फलस्वरूप देहादि स्वस्थ दृढ मिलते हैं तो पाप के फलस्वरूप रुग्णादि मिलते हैं तथा भोग्य भी इष्ट या अनिष्ट मिलते हैं। पृथ्वी पर पैदा होने पर जन्तु उत्तम ब्राह्मणादि योनि पा सकता है, पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि निकृष्ट योनियाँ पा सकता है और अत्यधिक पाप के फलस्वरूप वृक्ष लतादि स्थावर योनियाँ भी पा सकता है। जिस योनि में वेदादि पढ़कर धर्मानुष्ठान और मोक्षसाधनों का अनुष्ठान किया जा सके वह सद् योनि, अच्छी योनि है और जहाँ न धर्म किया जा सके न आत्मज्ञान पाया जा सके वह असद्, खराब योनि है। दो पैरों पर चलने वाले ब्राह्मणादि नामधारी भी यदि धर्म और ज्ञान के मार्ग पर चलने का प्रयास नहीं करते तो उन्हें सद् योनि वाला नहीं कहा जायेगा। मनु ने स्पष्ट कहा है कि क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति करने के लिये ब्राह्मण शरीर नहीं मिलता है किन्तु मोक्ष पाने के लिये मिलता है। मोक्षोपाय के अनुष्ठान में न लगकर अन्यत्र श्रम करने से चाहे जितनी सांसारिक उपलब्धि हो जाये, उसे ब्राह्मण शरीर का दुरुपयोग ही माना जायेगा। मनु तो कहते हैं (मनु स्मृ. २.१६८) कि वेद बिना पढ़े अन्यत्र परिश्रम करने वाला द्विज स्वयंको व अपने कुल को शूद्र बना डालता है! अतः सद् योनि इसी से श्रेष्ठ है कि उसमें धर्म व ज्ञान संपन्न किये जा सकते हैं।

पुण्य-फल से ही सद् योनियाँ मिलती हैं, असद् योनियों की प्राप्ति पाप का फल है। स्वर्ग, नरक आदि जहाँ भी भूतात्मा जाये वह द्वन्द्वों से पीडित अवश्य होता है। एक ही कार्य के लिये कोई संमान देता है तो अन्य उसी के लिये अपमानित भी करता है। रामजी ने सीता जी को वनवास दिया, धर्मज्ञों ने प्रशंसा की कि राजधर्म पालन करने के लिये पत्नी तक का त्याग किया, लेकिन धर्म से अनभिज्ञ भोगलोलुप

अपञ्चीकृतभूतैर्यज्जातं सूक्ष्मं वपुर्हि तत्।
भूतैः पञ्चीकृतैर्जातं यत् तत् स्थूलमिदं वपुः।।१०५।।
ज्ञानाक्षाणां क्रियाक्षाणां वायूनां पञ्चकत्रयम्।
मनोऽहङ्कार इत्येवं लिङ्गं सप्तदशात्मकम्।।१०६।।
अहङ्कारे भौतिके यच्चैतन्यं प्रतिबिम्बितम्।
स भूतात्माऽत्र चिद्बिम्बं निर्लेपं ब्रह्म कथ्यते।।१०७।।

इसी कृत्य को लेकर राम जी की आज तक निंदा करते हैं। सर्दी-गर्मी भी सभी को भोगनी ही पड़ती है, सुख-दुःख भोगते ही रहना पड़ता है। सुख के प्रति पुण्य तथा दुःख के प्रति पाप ही हेतु है अतः एक ही वस्तु युगपत् सुख-दुःख देती है जैसे सौत का सौंदर्य दूसरी सौत को दुःख और पति को सुख देता है। यदि सौंदर्य हेतु होता तो दोनों को सुख या दुःख देता अतः वह हेतु नहीं है वरन् पति का पुण्य उसके सुख का और दूसरी सौत का पाप उसके दुःखका हेतु है। क्योंकि अनंत जन्मों में अनंत कर्म बटोरे हुए हैं इसलिये उन्हें भोगते हुए और साथ ही नये कर्म करते हुए प्राणी त्रिलोकी में हमेशा भटकता रहता है। यह भूतात्मा, भूतकार्य शरीरों से उपहित आत्मा की परिस्थिति है। इसी जीव के बारे में आगे और स्पष्ट वर्णन किया जा रहा है।।१०१-४।।

भूतात्मा का खुलासा करते हैं **सूक्ष्म शरीर अपंचीकृत महाभूतों से तथा स्थूल शरीर पंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न होता है।।१०५।। ज्ञानेंद्रिय-पंचक, कर्मेन्द्रिय-पंचक, प्राणपंचक, मन और अहंकार इस प्रकार लिंग या सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों वाला है।।१०६।। इस भूतकार्यात्मक शरीर के अन्तर्गत जो अहंकार है उसमें प्रतिबिम्बित चेतन भूतात्मा है और उसका बिम्बरूप चेतन निर्लेप ब्रह्म है यह वेदान्तों में बताया जाता है।।१०७।।** विशिष्ट अनुपात में मिले हुए भूत पंचीकृत या स्थूल होते हैं एवं उस तरह न मिले हुए भूत अपंचीकृत या सूक्ष्म होते हैं। इंद्रियादि सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म भूतों से और अन्नमय स्थूल शरीर स्थूल भूतों से बनता है। जो इंद्रियों का विषय न हो, उसे सूक्ष्म कहते हैं। जीव के सूक्ष्म शरीर के सत्रह अंग हैंघ्राण, रसना, नेत्र, त्वक्, श्रोत्र, वाक्, पाणि, पाद उपस्थ, पायु, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, मन और अहंकार। जैसे धुआँ आग का लिंग या चिह्न होता है वैसे सूक्ष्म शरीर आत्मा का चिह्न है। कोई देख-सुन रहा है, चल रहा है, साँस ले रहा है, सोच रहा है, अभिमान कर रहा हैइन्हें देखने से निश्चय होता है कि वह चेतन है, आत्मा है। इस लिंग शरीर में ही अहंकार भी है, उस उपाधि वाला चेतन भूतात्मा कहा जाता है। यह भूतात्मा ही लोक-लोकान्तर में परिभ्रमण करता रहता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है

भूतात्मा प्रकृतेर्जातैर्गुणैरेषोऽभिभूयते।
तमोगुणाभिभूतत्वात् स्वात्मस्थं ब्रह्म नेक्षते।।१०८।।
अधिष्ठानतया ब्रह्म भूतात्मन्यपि तिष्ठति।
पद्मपत्रे नीरबिन्दुरश्लिष्टो वर्तते यथा।१०९।।

लेकिन अहंकार में प्रतिबिम्बित होने पर वह 'जानने वाला, ज्ञानवान्' इस रूप में प्रतीत होता है। भूतात्मा बना हुआ स्वयं को जन्मने-मरने वाला समझता है, सुख-दुःख भोगता रहता है। प्रतिबिम्ब का यह हाल होने पर भी बिम्ब इस सबसे असम्बद्ध ही है, ब्रह्म में किसी तरह का कोई अन्तर नहीं आने पाता। उपाधि का प्रभाव उपहित में मिलते समय ही उपधेय अप्रभावित बना रहता है यह वेदान्त दर्शन स्पष्ट करता है।।१०५-७।।

उपनिषत् में बताया 'अथाऽमृतोऽस्यात्मा बिन्दुरिव पुष्करा इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरिति। अथोऽभिभूतत्वात् सम्मूढत्वं प्रयातः सम्मूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद् गुणौघैरुह्यमानः कलुषीकृतश्च अस्थिरश्चञ्चलो लुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिमानित्वं प्रयाता इति 'अहं सो ममेदम्' इत्येवं मन्यमानो निबध्नाति आत्मनात्मानं जालेनेव खचरः' (३.२) आत्मा का स्वभाव अमृत और ऐसा निर्लेप है जैसे पद्मपत्र पर जल की बूँद। फिर भी प्रकृति के गुणों से वह प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। गुणों के प्रभाव से मोहग्रस्त हुआ आत्मा प्रत्यग्रूप प्रभु के दर्शन से वंचति रह जाता है। सब कुछ कराने वाला प्रभु है यह न समझकर भूतात्मा खुद को स्वतंत्रतापूर्वक करने वाला मान बैठता है तो गुण उसे संसारसरिता में बहा ले जाते हैं। वह संसारदोषों से कलुषित हो जाता है, वासनाओं से हमेशा प्रेरित होने के कारण शुभविषयक प्रवृत्ति की निष्ठा में स्थिर नहीं रहता, विवेकहीन बना रहने से कामनाओं के कारण व्यग्र हो जाता है। अहंकार में तादात्म्य करना ही वह मूल ग्रंथि है जिससे भूतात्मभाव आता है और यह प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। अभिमान अर्थात् अहंकार आते ही ममकार भी प्रकट हो जाता है और इस प्रकार भूतात्मा स्वयं ही अपने को बाँधता चला जाता है। जैसे चिड़िया जाल में फँसती है ऐसे भूतात्मा संसार में फँसा है। श्लोक ११३ तक इस प्रसंग को स्पष्ट करेंगे। आवरणपूर्वक विक्षेप का वर्णन करते हैं **प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा यह भूतात्मा अभिभूत हो जाता है। तमोगुण से अभिभूत होने के कारण यह प्रत्यग्रूप से स्थित ब्रह्म को नहीं समझ पाता।।१०८।। भूतात्मा में भी अधिष्ठानरूप से ब्रह्म रहता है किंतु उससे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है जिस प्रकार कमल के पत्ते पर जल की बूँद।।१०९।। यों निर्लेप होने पर भी माया**

ईदृशोऽपीश्वरो मायायुक्तः सन् प्रेरयत्यमुम्।
भूतात्मानं स भूतात्मा विविनक्तीश्वरं न तम्।।११०।।

से जुड़ा हुआ ईश्वर इस भूतात्मा को प्रेरणा देता रहता है पर वह भूतात्मा विवेकदृष्टि से ईश्वर का अवलोकन नहीं करता ।।११०।। (श्लोक १०९ में कावेल का पाठ उचित है, अन्यत्र 'नीरबिन्दुरसंश्लिष्टो यथा तथा' पाठ है।) बिम्ब चेतन एकरूप है, उसका प्रतिबिम्ब भी चिदाभास के स्तर पर एकरूप है किन्तु उपाधिरूप शरीर के भेद से चिदाभास विभिन्न आकार के बनते हैं, हालाँकि सब लगते चित् की तरह हैं, 'मैं चेतन हूँ' यह प्रतीति समान है, फिर भी कामी, क्रोधी, शान्त, विरक्त आदि विशेषों में अंतर आता है क्योंकि शरीरों में, मनों में अंतर है। शरीर भी पांच-भौतिक के स्तर पर समान हैं लेकिन अभ्यास, संस्कारों के भेद से उनमें व्यक्त होने वाले सत्त्वादि गुण अगल-अलग हो जाते हैं। गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है अतः जब वे विषम होते हैं तभी उनका भेद प्रतीत होता है इसलिये विषमावस्थ गुणों को प्रकृति से उत्पन्न होने वाला कह देते हैं। गुण तीन हैं लेकिन इनके कमो-बेश से होने वाले क्रमचय अनंत हो जाते हैं जैसे पानी में नमक व चीनी का घोल बनायें तो तीनों चीज़ें वही रहने पर भी तीनों की मात्रा में फेर बदल करने से अनंत तरह के घोल तैयार हो जाते हैं। इसी से अहंकार अनंत प्रकार के होना संभव बन जाता है। प्रकट हुए गुणों से भूतात्मा अभिभूत अर्थात् प्रभावित हो जाता है, वह चिदाभास-मात्र न रहकर गुणकार्य काम-क्रोधादि से संयुक्त हो जाता है। हैं ये गुण अतः उचित है कि ये ही अभिभूत हों लेकिन मोह, अविवेक के प्रभाव से ये प्रधान बनकर भूतात्मा को ही दबा लेते हैं, उसकी चिदाभासता को गौणकर कामिता क्रोधिता आदि को ही मुख्य बना देते हैं। तमोगुण मोह पैदा करता है, अज्ञान को बढ़ावा देता है अतः जीव अपने अंतर्यामी को जानता ही नहीं, जानने की कोशिश ही नहीं करता है। जीव के अधिष्ठानरूप से ब्रह्म सदा सर्वत्र मौजूद है फिर भी जीव उससे बेखबर रहता है। प्रकृति भी ब्रह्म पर ही अध्यस्त है लेकिन प्रकृति व उसके कार्यों से व्यवहार करते रहने पर भी उसके अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता, यह तम का माहात्म्य है। अहंकार में अधिष्ठानरूप से और अध्यस्तरूप से यों दो तरह चेतन स्थित है। गड्ढे में आकाश होता ही है, उसमें जल भर जाये तो जल में नभ का प्रतिबिंब भी पड़ता है अतः वहाँ दो तरह आकाश हो जाता है एक व्यावहारिक आकाश जिसमें जल है और दूसरा प्रातिभासिक आकाश जो जल में प्रतिबिम्बित है। दोनों आकाशों को पृथक् कर न जानने पर लगता है कि

गड्ढा गहरा है किन्तु यह भ्रम है क्योंकि गड्ढे में व्यावहारिक आकाश थोड़ा ही है, प्रतिबिंबित आकाश के कारण जितनी गहराई दीखती है उतनी उस गड्ढे की होती नहीं। ऐसे ही अहंकार के कारण के रूप में चेतन है और अहंकार में प्रतिबिंबित चेतन भी है किंतु इन्हें पृथक् न करने से हम अधिष्ठान चेतन को न समझ कर केवल अध्यस्त चेतन से ही परिचित रहते हैं। प्रतिबिंबित चेतन अर्थात् चिदाभास वास्तव में चेतन नहीं, वास्तविक चेतन तो उसका अधिष्ठान है। भूतात्मा या जीव में ब्रह्म हैइसका अर्थ है कि उसका अधिष्ठान बना हुआ ब्रह्म ही है, चिदाभास को ब्रह्म नहीं कह रहे। चिदाभास तो गुणों से अभिभूत हुआ सुखी-दुःखी आदि होता है, अधिष्ठान निर्विकार रहता है। कमल के पत्ते पर जल जैसे बिलकुल नहीं चिपकता ऐसे ही साक्षी पर शोकादि का कोई ठहराव नहीं है, ये उसके संमुख आकर निकल जाते हैं, वह एक-स्वरूप ही बना रहता है। चिदाभास और साक्षी का अंतर न जानने से प्रतीति होती है कि चिद्वस्तु ही शोक-मोह से ग्रस्त है जबकि सच यह है कि वास्तव में अचित् जो चिदाभास वही शोकादि वाला है, चिद्वस्तु अर्थात् साक्षी उससे असंबद्ध है। सूर्य से प्रकाशित दीवाल पर काँच द्वारा प्रतिबिम्बित कर सूर्यप्रकाश को एकत्र डाला जाये तो दीवाल पर एक चमकदार गोल प्रकाश विशेषतः दीखता है। वहाँ प्रतिबिम्बित प्रकाश के साथ ही सीधे सूर्य से आता प्रकाश भी उपस्थित है किंतु दोनों प्रकाशों को पृथक् कर पाना अत्यंत कठिन है, समझ ही सकते हैं, अपरोक्ष तभी होगा जब प्रतिबिम्ब प्रकाश वहाँ से हटाया जाये। इसी प्रकार साक्षी-चिदाभास एक-साथ उपलब्ध होते समय इनका भेद जानना अत्यंत कठिन है, शास्त्रानुसारी युक्ति से समझ ही सकते हैं। सुषुप्ति में चिदाभास नहीं रहता लेकिन तब समझने की प्रक्रिया भी बंद रहती है, उठकर याद तो आती है लेकिन जगी दशा में पुनः दोनों साथ रहते हैं, इसलिये यह विवेक बहुत ही मुश्किल है, शास्त्र पर अटूट श्रद्धा हो तभी संभव है। जीव में (अर्थात् उसके अधिष्ठानरूप से) मौजूद ईश्वर निर्विकार रहते हुए ही माया द्वारा प्रेरक भी है! माया मिथ्या होने से निर्विकारता कायम रह जाती है। अहंकार जैसे जीव की उपाधि वैसे माया ईश्वर की उपाधि है उसी में प्रतिबिम्बित होकर ईश्वर प्रेरणादि जगद्रचना करता है। प्रेरक और प्रेरित का भेद उपाधिभेद से है, अधिष्ठान (उपधेय) एक अखंड चिन्मात्र ही है। जीव के कर्म माया में अंकित हैं, तदनुरूप ईश्वर जीव को प्रेरणा देता रहता है। गीता में इसे बताया कि माया से ईश्वर सब भूतों को घुमाये जा रहा है मानो वे यन्त्र पर (बड़े चक्के-नुमा झूले पर) आरूढ हों! अनेक

सुखैर्वैषयिकैः सत्त्वगुणोद्भूतैः प्रतृप्यति।
उद्रेके रजसः सोऽयं कलुषी क्रियते भृशम्।।१११।।
तदानीमतिचाञ्चल्याल्लुप्यते ह्यखिलात् फलात्।
कृषिं प्रक्रम्य तां त्यक्त्वा तपः कुर्वंस्त्यजेददः।।११२।।

बार इस प्रेरकरूप का पता चलता ही है, अचानक कुछ करने या भोगने की प्रेरणा मिलती है जिसके बारे में यह नहीं लगता कि 'मैंने सोच समझकर यह संस्कार उद्बोधित किया।' यह ठीक है कि प्रेरणा भी संस्कार के उद्बोधन से ही मिलती है किंतु वह संस्कार तभी क्यों उद्बुद्ध हुआइसके उत्तर के रूप में प्रेरक ईश्वर का पता चलता है। जहाँ हम स्वयं को प्रेरक भी समझते हैं वहाँ भले ही ईश्वर को प्रेरणास्रोत न मानें लेकिन जहाँ स्वयं को प्रेरक नहीं महसूस करते वहाँ तो उसे ही मानना पड़ेगा। किन्तु ईश्वर स्वयं छिपा रहता है इसलिये हमें लगता यही है कि 'मेरी इच्छा है'; यह सत्य है कि इच्छा हमारी होती है पर उसी समय वह इच्छा पैदा हुई इसे संभव बनाने वाला ईश्वर है, यों वह हम में इच्छा पैदा कर प्रेरक बनता है। भूतात्मा इस प्रेरक को स्पष्ट नहीं समझता, वह स्वयं के कर्तृत्व का अभिमान कायम रखकर परेशान रहता है। विवेकी शरणागत हो जाता है, समझ लेता है कि ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार ही संस्कारों का उद्बोधन होना है व तदनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति होनी है अतः इस प्रक्रिया में भूतात्मा तटस्थ बना रहे, प्रवाह को अपनी गति से चलने दे यही शांति का उपाय है क्योंकि प्रतिरोध निष्फल होगा, ईश्वरेच्छा का विरोध कर सफल हो सके ऐसा जीव का प्रयास संभव नहीं। इस प्रकार की शरणागति के लिये भूतात्मा और प्रेरक ईश्वर के विवेक की ज़रूरत है। पर अज्ञान का आवरण यह विवेक नहीं होने देता। १०८-१०।।

तमोगुण का प्रभाव स्वात्मस्थ ब्रह्म का अदर्शन बताकर अब अन्य गुणों का प्रभाव कहते हैं **(भूतात्मा सत्त्वगुण से अभिभूत होने पर) सत्त्वगुण से प्रकट हुए सुखों से तृप्त होता है, जो सुख विषयों से उत्पन्न होते हैं। रजोगुण की अधिकता होने पर वही भूतात्मा अत्यधिक कलुषित हो जाता है।।१११।। तब अत्यंत अस्थिरता के कारण वह सब तरह के फलों से वंचित हो जाता है। खेती करना प्रारंभ कर उसे अध-बीच ही छोड़कर तपस्या करने लगता है फिर उसे भी बिना पूरा किये त्याग देता है। क्योंकि विभिन्न फलों की इच्छा वाला होता है किन्तु साधन पूरा न करने से पाता कोई फल नहीं है इसलिये सदा व्यग्र, परेशान,**

तत्तत् फले सस्पृहत्वाद् व्यग्रो नाप्नोत्यसौ फलम्।
अहङ्कारेण बद्धः स्याज्जालेन विहगो यथा।।११३।।

दुःखी रहता है। जैसे जाल में पक्षी बँध जाता है ऐसे भूतात्मा अहंकार से बँधा रहकर दुर्गति प्राप्त करता है।।११२-३।। (श्लोक १११ में 'सत्त्वगुणोद्भूतौ' पाठ मिले तो ज़्यादा स्पष्ट होगा। श्लोक ११२ में कावेल का पाठ है 'तदानीं मतिचाञ्चल्यात्'। श्लोक. ११३ में निर्णयसागर व मुत्तुशास्त्री का पाठ है 'नाप्नोत्यसौ सुखम्'।) सुख सत्त्वगुण का ही फल है। विषय भी सुख तभी दे सकता है जब चित्त में सत्त्व प्रकट हो, अन्यथा वही विषय उद्वेजक बन जाता है। अपना बच्चा किलकारी मारता है तो बहुत सुख होता है लेकिन आयकर-विभाग को भेजने के लिये हिसाब व्यवस्थित करते समय वही किलकारी झल्लाहट पैदा करती है। विषय एक ही है पर मन में रजोगुण बढ़ा है तो वह दुःख दे देता है। भूतात्मा में सत्त्व प्रधान हो, उस समय विषय-जन्य सुख होगा जिससे वह तृप्ति का अनुभव करेगा। सुख से तृप्ति सत्त्व की अधिकता का परिचायक है। यदि सत्त्व की कमी हो तो सुख होने पर भी तृप्ति नहीं होती। किन्तु यह सत्त्वप्रधान दशा होती क्षणिक है, अतिशीघ्र रज या तम उसे दबा लेता है। तम दबाये तो प्रमाद आलस्य नींद आदि आने लगते हैं और रज सत्त्व को दबाकर खुद प्रधान बने तो चंचलता आती है, कामनादि सब दोष जीव को अस्थिर बना देते हैं। अस्थिर व्यक्ति फललाभ-पर्यन्त साधन के अनुष्ठान में लगा न रह पाने से किसी भी प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर पाता। जिसे तो विषयों से पूरा वैराग्य हो और वह सभी चेष्टाएँ छोड़ दे, उसे शांति का सुख मिलता है लेकिन मन में कामनाएँ भरी हों और स्थिर प्रयास के अभाव में वे पूरी हो न पायें, वह केवल दुःख से ही त्रस्त रहता है। रजोगुण का फल दुःख बताया ही गया है। सात्त्विक तो उपस्थित का सुख लेता है जबकि राजस उसका रस न लेकर अनुपस्थित की आशा से हमेशा दुःखी बना रहता है। सुख ऐसी चीज़ है जो अपने में कम लगती है, दूसरे में ज़्यादा लगती है! अन्य व्यक्ति हमेशा हमसे ज़्यादा सुखी लगता है, अपने दुःख ही अधिक प्रतीत होते हैं, सुख नगण्य लगते हैं। यह रजोगुण का प्रभाव है, इससे उपस्थित परिस्थिति सुखद नहीं बन पाती, व्यक्ति अवसादग्रस्त रहता है। अहंकार मानो एक जाल है जिसमें आत्मा फँस गया है। अहंकार मायाकार्य है, माया के गुण अहंकार में प्रकट होते रहते हैं, उनसे आत्मा, भूतात्मा प्रभावित होकर उक्त प्रकार से बेबस बना रहता है।।१११-३।

संसारभ्रमणं तस्य प्रोक्तं शाखान्तरेष्वपि।
करणप्रेरकः कर्ता भूतात्मा संसरत्ययम्।।११४।।

अन्तर्यामी त्वसंसारी

चैतन्येन हि पूर्णेन सोऽन्तर्व्याप्तस्ततश्चिति।
भ्रान्त्यारोपेण संसारस्तत्राऽसौ न तु वास्तवः।।११५।।
दृष्टान्तोऽत्राऽग्निना व्याप्तो लोहपिण्डोऽभिधीयते।
तप्तलोहं मुद्गरेण हतं बहुविधं भवेत्।।११६।।
अहङ्कारे चिदाभासो भूतात्मा साक्षिभासितः।
हन्यमानो गुणैः सत्त्वादिभिर्बहुविधो भवेत्।।११७।।

उपनिषत् में कहा है 'अथान्यत्राप्युक्तम् यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयितान्तः पुरुषः। अथ यथाऽग्निनाऽयस्पिण्डो वाऽभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्वम् उपैति एवं वाव खल्वसौ भूतात्माऽन्तःपुरुषेणाऽभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपैति' (३.३) अर्थात् शाखांतर में भी स्पष्ट किया है कि भूतात्मा कर्ता बनता है और अन्तःपुरुष अर्थात् साक्षी अपनी सत्तामात्र से कारयिता, कराने वाला बनता है, करणों द्वारा जो कुछ किया जाता है उसका प्रेरक बन जाता है। आग से तपे लोहपिण्ड को लोहार पीटे तो लोहा नाना आकारों का हो जाता है, इसी तरह अन्तःपुरुष से एकमेक हुआ भूतात्मा गुणों के प्रहारों से अनेकविध हो जाता है। गर्म लोहे के विभिन्न आकारों से आग भी विभिन्न आकारों वाली हो गयी ऐसा लगता है पर वास्तव में आग उन आकारों वाली नहीं होती, लोहा ही होता है, ऐसे ही भूतात्मा ही अनेकविध होता है, अन्तःपुरुष अर्थात् साक्षी या मुख्यात्मा नहीं, वह निर्विकार एकस्वरूप ही रहता है। इस विषय को स्पष्ट करते हैं **अहंकार से बँधा आत्मा संसार में भटक रहा है यह वेद की अन्य शाखाओं में भी बताया है। करणों को मिलने वाली प्रेरणा का स्वयं को दाता समझकर कर्त्ता बना यह भूतात्मा संसरण कर रहा है।।११४।। पूर्ण चेतन ने भूतात्मा को भीतर से भरा हुआ है अतः पूर्ण चेतन और भूतात्मा के परस्पर अध्यास से भ्रान्ति द्वारा चेतन पर संसरण का आरोप है जबकि वास्तव में चेतन में संसरण नहीं है।।११५।। इस बात में उदाहरण बताया गया है : आग से पूरी तरह तपा लोहे का पिण्ड अर्थात् तपा लोहा मुद्गर से पीटा जाये तो अनेक आकारों का हो जाता है।।११६।। अहंकार में पड़ा चेतन का प्रतिबिम्ब ही भूतात्मा है जो साक्षी द्वारा प्रकाशित है, वही सत्त्वादि गुणों द्वारा पीटा जाने पर**

यज्जन्म योनिलक्षाणां भवेच्चतुरशीतिषु।
सोऽयं बहुविधो भावो लोहे दात्रकुठारवत्।।११८।।
कुलालेन यथा चक्रं तथा मायाविना गुणाः।
सत्त्वादयः प्रेरिताः स्युस्तैश्च जन्मान्यनेकधा।।११९।।
लोहे मुद्गरघातेन नाग्नेर्बाधस्तथा गुणैः।
भूतात्मोपद्रवेणाऽस्य साक्षिणो नास्त्युपद्रवः।।१२०।।

बहुत तरह का हो जाता है।।११७।। जैसे लोहा दराँति, कुल्हाड़ी आदि आकार लेता है वैसे चौरासी लाख योनियों में जो जन्म वही भूतात्मा का विभिन्न तरहका हो जाना है।।११८।। कुम्हार जैसे चाक को घुमाता है वैसे मायावी ईश्वर द्वारा सत्त्वादि गुण प्रेरित होते हैं और उनसे भूतात्मा के नाना प्रकार के जन्म होते हैं।।११९।। लोहे पर मुद्गरके आघात से जैसे आगको कोई बाधा नहीं पहुँचती वैसे भूतात्मा में होने वाले उपद्रवों से इस साक्षी में कोई उपद्रव नहीं होता।।१२०।। स्वसत्ता मात्र से प्रेरक तो है आत्मा किंतु भूतात्मा को यह अभिमान है कि 'मैं प्रेरक हूँ', इसी से वह कर्ता-भोक्ता बना बैठा है, संसरण कर रहा है। जैसे आकाश घड़े में भरा रहता है ऐसे चेतन भूतात्मा में भरा हुआ है जिससे भूतात्मा और चेतन का आपसी तादात्म्य अध्यास संभव हो गया है फलतः चेतन की सच्चिदानंदरूपता भूतात्मा में प्रतीत होती है एवं भूतात्मा का संसरण चेतन में प्रतीत होता है। चेतन सर्वव्यापक है लेकिन प्रतिबिंबविधया भूतात्मा के भीतर घुसा हुआ लगता है, वहाँ 'दोगुना चेतन' हो जाता है। कूटस्थदीप प्रकरण में भारती तीर्थ मुनिवर ने इस सन्दर्भ को सुव्यक्त किया है। भूतात्मा और उसमें प्रविष्ट चेतन अत्यंत संनिकट हैं और पूर्ण चेतन का वास्तविक स्वरूप अज्ञात है इसलिये इन दोनों का विवेक न होकर इन्हें एक समझ लिया जाता है जिससे 'चेतन संसरण कर रहा है' ऐसी मिथ्या अनुभूति होती है। वास्तव में अपरिवर्तनीय तत्त्व भी भ्रमवश परिवर्तनशील प्रतीत होता है इसे लोहे के उदाहरण से समझाया। ठंडा लोहा इच्छित आकारों का नहीं बनाया जा सकता अतः उसे तपाकर मुलायम बना लिया जाता है तब घन से पीट-पीट कर उसे इष्ट आकारों का बनाया जाता है। गर्म दशा में लोहा और आग एक-मेक हुए दीखते हैं, लोहा लाल चमचमाता है। इस एक-मेक होने का लोहे पर फल है कि वह मोड़ा जा सकता है किन्तु आग पर कोई फल है नहीं, भले ही लगे कि आग भी नाना आकारों की हो गयी। अहंकार भूतकार्य अतः जड है, स्वयं वह कुछ नहीं कर सकता

देहदोषाः

एकैकदेहो नरको भवेद् भूतात्मनो महान्।
मैथुनोद्भूत्यादिदोषाः प्रसिद्धा एव देहिनाम्।।१२१।।

लेकिन उसमें जब चित् का आभास व्याप्त हो जाता है तब वह अहंकार कर्ता-भोक्ता बन जाता है। तपे लोहे की जगह चिदाभास से व्याप्त अहंकार है और घन की जगह गुण हैं जिनकी मार से अहंकार कामी, क्रोधी, लोभी आदि आकार लेता है और प्रतीत यह होता है कि चेतन ने वे आकार लिये हैं। जैसे कामी-क्रोधी आदि वैसे ही मक्खी मच्छर देवता गन्धर्व राक्षस आदि सभी आकार भूतात्मा यथाकर्म ग्रहण करता रहता है। श्रुति ने यहाँ कुम्हार द्वारा चाक घुमाने का उदाहरण दिया है 'तानि ह वा एतानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव मृत्पचेनेति' (३.३)। गुणन अर्थात् आवर्तन की जाने वाली होने से योनियों को यहाँ 'गुण' कहा। मृत्पच कहते हैं कुम्हार को। वह चाक चलाता है तभी चाक घूमता रहता है। ऐसे ही मायावी ईश्वर की प्रेरणा से सत्त्वादि कार्यकारी होकर भूतात्मा को विविध जन्म दिला पाते हैं। भूतात्मा के जन्म होने पर भी चिदात्मा अजन्मा रहता है जैसे घन की मार लोह पर पड़ने के बावजूद अग्नि उस मार से बची रहती है। गर्म होने पर ही लोहा बर्तन आदि आकार लेता है लेकिन आग बर्तन नहीं बनती, लोहा ही बर्तन बनता है। इसी प्रकार गुणों से भूतात्मा प्रभावित होता है, सुखी-दुःखी होता है किंतु बिम्बभूत साक्षी चेतन सर्वथा अप्रभावित रहता है। अहंकार गुणों से प्रभावित इसीलिये होता है कि उसमें चित् का आभास है क्योंकि उसके बिना तो वह ईंट-पत्थर की तरह जड ही है, लेकिन प्रभावित अहंकार ही होता है, चेतन नहीं जैसे लोहा मुड़ता इसीलिये है कि उसमें आग है लेकिन मुड़ता लोहा ही है, आग नहीं। इस प्रकार सारे विकारों की प्रतीति के बावजूद आत्मा की सदा निर्विकारता स्पष्ट हुई।।११४-२०।।

चूँकि देहाभिमान से ही संसरण होता है इसलिये देह के स्वभाव को समझकर इसमें अभिमान त्यागना चाहिये ताकि संसरण का चक्र रुक जाये। इस प्रयोजन से उपनिषत् में स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के दोषों के बारे में बताते हुए तीसरा प्रपाठक समाप्त किया है। उस प्रसंग का संग्रह करते हैं **भूतात्मा को मिलने वाला प्रत्येक शरीर बहुत बड़ा नरक है। सब देहधारी शरीर के दोषों से परिचित हैं। मैथुन से उत्पन्न होना आदि बहुतेरे दोष स्पष्ट हैं।।१२१।। स्थूल शरीर की तरह सूक्ष्म शरीर में प्रधान जो चित्त उसमें भी दोषों की बहुतायत है। संमोह आदि तामस एवं**

देहे दोषा यथा चित्ते दोषास्तद्वदनेकशः।
सम्मोहाद्यास्तामसाः स्युस्तृष्णाद्या राजसा मताः।।१२२।।
भूतात्मा तैः प्रेरितः संस्तैस्तैस्तामसराजसैः।
कर्मभिर्बहुधा देहान् अवाप्नोति पुनः पुनः।।१२३।।

तृष्णा आदि राजस दोष माने गये हैं।।१२२।। उन-उन तामस व राजस दोषों से एवं सात्त्विक विकारों से भी प्रेरित हुआ विभिन्न कर्म करता है जिनके फलस्वरूप बारम्बार बहुत तरह के शरीर पाता रहता है।।१२३।। (श्लोक. १२३ में कावेल का 'भूतात्मा तैः पूरितः' पाठ है।) रेतस् शोणित घृणित पदार्थ हैं उन्हीं से शरीर बना है और इसकी उत्पत्ति भी योनि आदि घृणित स्थान में होती है। शरीर से सदा घृणित स्राव निकलते रहते हैं और भीतर भी रुधिर पीप लार मल मूत्रादि घृणित वस्तुएँ भरी हैं जिनके सहारे यह कायम है। मरने के साथ ही शरीर सड़ना शुरु हो जाता है, जीवन काल में भी रोगादि से सड़ जाता है। इस प्रकार थोड़ा भी विचार करें तो शरीर अतीव सदोष घृणास्पद वस्तु समझ आ जाती है। स्थूल की तरह चित्तप्रधान सूक्ष्म शरीर भी काम क्रोध आदि दोषों से भरा है। सत्त्व से तो चित्त बना है, रज-तम उसमें दोष हैं। सात्त्विक भाव भी सुख संग आदि से बाँधने वाले होने से दोषों के साथ गिने जा सकते हैं। श्लोक १२३ में अतः तीन 'तैः' पद हैं। स्वर्ण में स्वर्ण मिलायें तो दोष नहीं कहा जाता, ग़ैर स्वर्ण मिलायें तभी दोष है, इसी तरह सत्त्व में सात्त्विक विकार दोष नहीं भी कहे जा सकते और यदि बंधकमात्र की दृष्टि से कहें तो कहे भी जा सकते हैं। यहाँ उपनिषत् में संमोह (भ्रम, विपरीत निश्चय) भय, विषाद, निद्रा, तन्द्रा, प्रमाद, जरा, शोक, भूख, प्यास, कृपणता, क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, मात्सर्य, निष्करुणता, मूढता, निर्लज्जता, चंचलता, ढिठाई, भेदभावये तामस दोष कहे हैं। तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ, हिंसा, रति, द्वेष, धोखा देना, ईर्ष्या, असन्तोष, अस्थिरता, छिछलापन, व्यग्रता, धनादि से दूसरों को हराने की इच्छा, जिस किसी तरह से धन बटोरना, मित्रों पर अनुग्रह, गार्ह्यस्थ्य के प्रति उत्साह, द्वेष, अतिशय प्रीति, गद्गदता, ख्याति आदिके उद्देश्य से अन्नदान में तत्परता इन्हें वहाँ राजस दोष कहा है। यहाँ संमोह का तामसों के ग्रहणार्थ और तृष्णा का राजसों के ग्रहणार्थ उल्लेख है। इनमें अनेकों को 'स्वाभाविक' माना जाता है फिर भी हैं वे दोष ही क्योंकि कर्मों में प्रेरित कर बंधनहेतु ही हैं। नींद भी यदि ब्राह्ममुहूर्त में उठने की बाधक है तो दोष है, पापहेतु है; राजस चेष्टाएँ भी जब सन्ध्यादि काल में जप-ध्यान आदि की बाधक हैं तब दोष

संसारोपशमः

श्रुत्वा संसारिणं बालखिल्या विस्मयमाययुः।
संसारस्य प्रतीकारं पप्रच्छुर्मुनयः पुनः।।१२४।।

ही हैं। ये दोष पूर्वार्जित संस्कारों के सहारे कर्मों में प्रेरित करते हैं। संस्कारों को जगाने वाला मायावी ईश्वर है यह श्लोक. ११८ में बता चुके हैं। कर्म कर लेने पर उनका फल भोगना जीव के लिये अनिवार्य हो जाता है। भोगार्थ शरीर मिलने पर पुनः कर्म कर लेता है, इस प्रकार यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। इसीलिये इस अनवरत दुःख से छूटने में ही बुद्धिमानी है।।१२१-३।।

चतुर्थ प्रपाठक में बालखिल्यों ने मोक्षोपाय की जिज्ञासा की तो प्रजापति ने वेदाधिगम, स्वधर्मानुष्ठान और तप का विधान किया क्योंकि तभी श्रेष्ठ अधिकार मिलकर श्रवणादि से तत्त्वबोध संभव है। इस प्रसंग का उपन्यास करते हैं **संसारी के बारे में सुनकर मुनि बालखिल्यों को अचम्भा हुआ एवं उन्होंने पुनः पूछा कि संसार से बचने का उपाय क्या है?।।१२४।।** चेतन अद्वितीय है फिर भी परमात्मा निर्विकार और जीवात्मा संसारी है यह अत्यन्त आश्चर्य की बात ही है। न परमात्मा और न जीवात्मा अचेतन है, जीव का संसार प्रत्यक्ष भी है तथापि परमात्मा संसारातीत है यह समझने में अत्यंत कठिन व्यवस्था है। भ्रम का महत्त्व है कि असंभव को संभव बना दिखा देता है। भ्रम का बल होता है कि उसे काटने वाली बात पर ही भरोसा नहीं होता! किसी की बात हमने भ्रम से ग़लत समझ ली; फिर वह चाहे दस बार कहे कि उसका मतलब वह नहीं था जो हम समझे तो हमें भरोसा नहीं होता, सोचते हैं कि अब बात बदल रहा है! सही बात को स्वीकारने में रुकावट डालने से ही भ्रम कायम रहने में समर्थ हो जाता है। यदि बात टेप कर ली हो और वह सुना दे तब निश्चय हो जाता है कि हमारे सुनने में ही भूल हुई। ऐसे ही जब तक अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो जाता तब तक शास्त्र व गुरु चाहे लाख बार 'तत्त्वमसि' कहें, जँचता नहीं। साधना से ब्रह्म हो जायेंगेयह तो मान सकते हैं पर अभी ही ब्रह्म हैं यह नहीं समझ आता। अत एव तप योग आदि उपाय बतायेंगे जिनसे तत्त्व समझने की योग्यता आ जायेगी और तब पता चलेगा कि यह सनातन वास्तविकता है, पहले इसे न स्वीकारना हमारा हठ ही रहा। बालखिल्यों ने शास्त्र व युक्ति से तो समझ लिया कि आत्मा अद्वितीय है, उसे स्वानुभव में उतारने का उपाय जानना चाहते थे। अभी तो संसार में आ ही गये हैं, पुनः न आना पड़े इसके उपाय की जिज्ञासा है।।१२४।।

शाम्येद् भूतात्मता येन चिदात्मत्वं तु शिष्यते।
तमुपायं गुरो ब्रूहीत्युक्तः सन् गुरुरुक्तवान्।।१२५।।
नद्यूर्म्यादिकदृष्टान्तैः संसारस्याऽप्यनिष्टताम्।
मिथ्यात्वं च विनिश्चित्य व्रजेज्ज्ञानाधिकारिताम्।।१२६।।

बालखिल्यों का प्रश्न ही बताते हैं **'हे गुरो! वह उपाय बताइये जिससे भूतात्मता उपशान्त हो जाये और चिदात्मता ही बची रहे।' यों पूछे जाने पर गुरु प्रजापति ने उत्तर दिया।।१२५।।** भूतों से, भूतकार्य शरीरों से तादात्म्य अध्यास ही भूतात्मता है। जैसे भूतावेश जब शांत होता है तब स्वाभाविकता स्पष्ट होती है वैसे भूतात्मता अर्थात् उक्त अध्यास बाधित होने पर चिद्रूपता ही बचती है क्योंकि वही सत्य है। उपाधि से पृथक् कर जो आत्मस्वरूप है उसे बालखिल्य जानना चाहते हैं।।१२५।।

गुरु का उत्तर व्यक्त करते हैं **नदी लहर आदि उदाहरणों से यह समझ कर कि संसार अनिष्ट और मिथ्या है, ज्ञान में अधिकार प्राप्त होता है।।१२६।।** अधिकार अर्थात् साधनद्वारा फल पाने की योग्यता। इसके बिना साधन का अनुष्ठान भी निष्फल रहता है। साधन के अनुष्ठान की असामर्थ्य को अनधिकार नहीं कहते वरन् फलप्राप्ति की असामर्थ्य को अनधिकार कहते हैं। विवेक वैराग्यादि साधन-संपत्ति के अभाव में महावाक्यार्थ का स्फुरण होकर अज्ञान मिटेगा नहीं अतः मुमुक्षु को अधिकारी बनने का प्रयास पहले करना आवश्यक है। वाक्य का शाब्दिक अर्थ भले ही पता चल जाये पर अज्ञान मिटाने लायक ज्ञान तभी हो सकता है जब अधिकार हो। संसार, नाम-रूप के प्रति आकर्षण को सर्वथा समाप्त किये बिना आत्मबोध नहीं होता। संसार को अनिष्ट और मिथ्या जानने पर ही इससे वितृष्णा होगी। इष्ट, इच्छा के योग्य लगने तक संसार के प्रति वैराग्य संभव नहीं। इष्ट या संसार होगा या परमात्मा, दोनों एक-साथ इष्ट नहीं हो सकते! प्रजापति ने यहाँ संसार के लिये नदी-लहर का दृष्टांत दिया है : नदी में लहरें उठती रहती हैं, तत्काल लीन हो जाती हैं और जो लहर एक बार लीन हो जाती है वह दोबारा कभी नहीं उठती। हमारे सब अनुभव लहर हैं, क्षणिक हैं एवं कोई भी सर्वथा पुनरावृत्त नहीं होता। संसार के किसी व्यक्ति-वस्तु-परिस्थिति को इष्ट समझना सदा दुःखी रहने का उपाय है क्योंकि वह तो क्षणभर में विलीन होकर फिर कभी सामने नहीं आयेगा। उसके जैसा भले ही आये, वह तो दोबारा आने वाला नहीं। सामान्य-सी रोज़मर्रे की चीज़ है भोजन; कोई भी व्यंजन जैसा आज बना सर्वथा वैसा कल नहीं बनेगा, कुछ-न-कुछ अंतर आ जायेगा।

साथ ही, खाने वाले में भी फ़र्क़ पड़ जायेगा, मुँह का जायका, मनःस्थिति आदि में किंचिद् भेद होगा अतः स्वाद भी सर्वथा वैसा नहीं लिया जा सकेगा। इसलिये संसार की किसी चीज़ को इच्छा का केन्द्र बनाना दुःखी रहने का मूल है। अनित्यता पर लगातार ग़ौर करता रहे तभी साधक सांसारिक विषयों में आग्रह छोड़कर जो कुछ उपस्थित हो उसे साक्षिरूप से स्वीकारने से शोक-मोह में नहीं फँसेगा। लोग संसार को, संसार के पदार्थों को अपने शरीर को स्थायी, अजर-अमर बनाने के उपाय खोजने का विफल प्रयास कर परेशान होते हैं क्योंकि यह समझ नहीं पाते कि संसार है ही दृष्ट-नष्ट स्वभाव, दीखने के साथ ही नष्ट होना इसका स्वभाव है। इसलिये विवेकी जानता है कि संसार में यह योग्यता ही नहीं कि इष्ट हो सके; जो वस्तु है या हो सकती है वही इष्ट बन सकती है, संसार के पदार्थ मिथ्या अर्थात् न हैं न हो सकते हैं तो इष्ट क्यों कर होंगे! अनित्य होने से भी यही स्थिति है : जब हैं तब उन्हें भोग कर सुख मिलेगा तभी उनमें इष्टबुद्धि बनेगी लेकिन तब तक वे नष्ट (विकृत) हो चुकेंगे और लहर की तरह दोबरा उन्हें आना नहीं तो उन्हें इष्ट कैसे कहें? भ्रमवश ही संसार में इष्टता रहती है। जैसे नकली नोट बटोरना मूर्खता है वैसे संसार के पदार्थ भी मिथ्या होने से इन्हें सुखोपाय मानना मूर्खता ही है। संसार अनिष्ट है इसमें इसकी अनित्यता प्रधान हेतु है, अन्य भी बहुतेरे कारण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि संसार चाहने लायक चीज़ नहीं। केवल मिथ्या समझने से आकर्षण नहीं मिटता जैसे बायोस्कोप के दृश्य मिथ्या जानते हुए भी उनसे आकृष्ट होते हैं। अतः संसार को न केवल मिथ्या वरन् अनिष्ट भी समझना साधक के लिये ज़रूरी है। विवेकपूर्वक जब संसार का आकर्षण निवृत्त हो तभी आत्मज्ञान में अधिकार मिलता है।।१२६।।

प्रजापति ने जीव की स्थिति बतायी कि जैसे समुद्र में ज्वार को रोका नहीं जा सकता ऐसे संसार में मृत्यु को रोक नहीं सकते; अच्छे-बुरे फलों की वासनाओं से जकड़ा जीव मानो लंगड़ा हो गया है, जेल के कैदी-सा परतंत्र हुआ हमेशा डरता है जैसे न्यायाधीश के सामने खड़ा अपराधी। शराबी की तरह मोह के नशे में चूर जीव पर मानो पाप का भूत चढ़ा है। विषधर नाग की तरह विषय इसे डसते हैं। राग से यह ऐसा अंधा हो जाता है जैसे अमावस की रात! स्वप्न जैसे इस मायिक संसार को जीव महत्त्वपूर्ण मानता है जबकि केले के खम्भे-सा यह निःसार है। जैसे नट क्षण-क्षण में भेष बदलता है ऐसे संसार भी प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है, इसकी मनोरमता एक मनोरथ ही है, वास्तविकता नहीं। ऐसे संसार से छूटने के उपाय बताते हैं **वेद द्वारा**

या वेदेनोदिता विद्या सा भूतात्मप्रतिक्रिया।
तपो योगः स्तुतिर्बोधश्चोक्तं वेदे चतुष्टयम्।।१२७।।
स्वाश्रमोचितधर्मो यः स एवाऽस्य तपो भवेत्।
शान्ताः स्युर्मोहतृष्णाद्यास्तेन तामसराजसाः।।१२८।।
तच्छान्तौ सत्त्ववृद्धिः स्यात् सत्त्वेनैकाग्रता धियः।।
तयाऽऽत्मतत्त्वाऽनुभवस्ततो मुक्तो न संसरेत्।।१२६।।

प्रतिपादित अद्वैत-विद्या ही भूतात्मता (जीवभाव) की निवृत्ति का उपाय है। तप, योग, स्तुति और बोधये चार साधन वेद में बताये गये हैं।।१२७।। अपने आश्रम के लिये उचित धर्म का अनुष्ठान मुमुक्षु के लिये तप है, उसीसे तामस मोहादि और राजस तृष्णादि दोष समाप्त होते हैं।।१२८।। उनकी शांति होने पर सत्त्व बढ़ जाता है, बढ़े हुए सत्त्व के कारण बुद्धि एकाग्र होती है, एकाग्र हुई बुद्धि से तत्त्व का अनुभव होता है, तत्त्वानुभव का फल है कि जीव मोक्ष पा जाता है, उसका फिर संसरण नहीं होता।।१२६।।

अद्वैत आत्मा केवल वेद में प्रतिपादित है, उसमें कोई अन्य प्रमाण नहीं है। उस आत्मा का साक्षात् ज्ञान होने पर ही भूतकार्य शरीरों से तादात्म्य निवृत्त होता है। मोक्ष का साक्षात् साधन बोध है, बोधप्राप्ति के उपाय तप आदि हैं। 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा' आदि आचार्योक्ति से पता चलता है कि मुमुक्षु के लिये आवश्यक तप अपने वर्ण-आश्रम धर्म का पालन करना है। धर्मपालन में कष्ट अवश्य आते हैं उनका सामना करना, कष्ट से बचने के लिये धर्म न छोड़ना, तप हो जाता है। व्रत, उपवास आदि, इन्द्रिय मन का नियंत्रण आदि भी तप हैं। पूर्वोक्त (श्लोक. १२२) दोषों का वेग तप से थम जाता है। दोष प्रेरित तो करते हैं किन्तु तपस्वी उनकी प्रेरणा की उपेक्षाकर शास्त्राज्ञा के पालन को ही महत्त्व देता है अतः कुचेष्टाओं से बच जाता है। शनैः शनैः जब शास्त्र-संस्कार दृढ हो जाते हैं तब दोष प्रेरणा देना भी छोड़ देते हैं, शास्त्रोचित कार्य ही स्वाभाविक हो जाते हैं। सत्त्वादि तीनों गुण जीवन चलाने के लिये चाहिये लेकिन उनका शास्त्रोचित विनियोग करना ही श्रेयस्कर है। सत्कर्म करने में रजोगुण का और हेय विषयों के प्रति उपेक्षा करने में तमोगुण का विनियोग करना पड़ता है। उपलब्ध भोग से व्यवहार करने के लिये जो रजोगुण चाहिये वह वैसा विक्षेपक नहीं जैसा अनुपलब्ध विषयों की कामना का उद्रेक करने वाला रजोगुण। साधक गुणों पर नियंत्रण करे तभी तप सिद्ध होगा। ज्ञान के लिये सत्त्व की अधिकता चाहिये लेकिन

निरिन्धनाग्निवच्चित्तं शाम्येद् योगेन कारणे।
संस्कारमात्रशेषत्वान्न धीः संसर्तुमर्हति।।१३०।।

स्वतः शांत होने से सत्त्व खुद नहीं बढ़ता जैसे रजस खुद बढ़ जाता है। सत्त्व को बढ़ाना पड़ता है जिसका उपाय रजस्-तमस् को घटाना है। ध्यान में मन इसीलिये नहीं लगता कि रजस्-तमस् घटाकर सत्त्व बढ़ा नहीं रखा है, सत्त्व अधिक हो तो अवश्य ध्यान में एकाग्रता मिलती है। अतएव कर्मशुद्धि अतीव आवश्यक है, उसके बिना मन एकाग्र होकर आत्मबोध में सक्षम नहीं हो सकता। साधनों का क्रम होता है, पूर्व कदमों की उपेक्षाकर उत्तर कदम लेना सफल नहीं हो सकता, नीव की मज़बूती के बिना मकान मज़बूत नहीं बन सकता। कर्म से शुद्धि होकर जब ध्यान में एकाग्रता हासिल हो तब भी कर्मशुद्धि के प्रति सावधान रहना ही पड़ता है अन्यथा पुनः रजआदि बढ़ सकते हैं, अतएव कर्म-उपासना का सहसमुच्चय माना गया है। यों एकाग्र चिंतन से ही आत्मा की वास्तविकता का सुस्पष्ट पता चलता है जो मोक्ष प्रदान करता है। इस क्रम में एकाग्रता को विविदिषा-स्थानीय मान सकते हैं। आत्मातिरिक्त किसी को जानने की इच्छा न रहकर आत्मा को ही जानने की उत्कट इच्छा विविदिषा है। इसके बाद वैराग्य अर्थसिद्ध है, जब तीव्र इच्छा आत्मबोध की ही होगी तब सभी अनात्मा अप्रिय हो जायेगा। लोक में भी, तीव्रतम जिज्ञासा के समय अन्य विषय आकृष्ट नहीं कर पाते, अनेक असुविधायें, कष्ट, खतरे लेकर भी लोग जिज्ञासापूर्ति का यत्न करते हैं। वैराग्य-लाभ के बाद बहिरंग यज्ञादि साधन छोड़कर अंतरंग श्रवणादि साधनों का अनुष्ठान ही आवश्यक हो जाता है। उस स्थिति में तो विधिवत् कर्म करना आत्मज्ञान के प्रतिकूल बन जाता है क्योंकि कर्म में कर्तृत्वभाव दृढ होता है जबकि आत्मा के ज्ञान के लिये वही भाव मिटाना ज़रूरी है। यहीं संन्यास का उपयोग है। अकर्तृत्व का दृढ निश्चय वास्तविक संन्यास है। संन्यास-पूर्वक आत्मबोध होते ही मोक्ष उपलब्ध हो जाता है क्योंकि अद्वैत ज्ञान ही संसार का प्रतीकार है।।१२७-९।।

प्रसंगवश षष्ठ प्रपाठक के चौतीसवें खण्ड में आये तीन श्लोकों का यहाँ परामर्श करते हैं। श्लोक हैं'यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यते। तथा वृत्तिक्षयात् चित्तं स्वयोनावुपशाम्यते।।' और 'स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामतः। इन्द्रियार्थ-विमूढस्यानृता कर्मवशानुगाः।।' तथा 'अपामापोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्। एवमन्तर्गतं यस्य मनः स परिमुच्यते।।' इन्हें दो श्लोकों में संगृहीत करते हैं **जिसका ईंधन समाप्त हो गया उस आग की तरह योगाभ्यास से चित्त अपने कारण में**

तदानीं जीवचैतन्यं ब्रह्मण्येकी भवेद् यथा।
जले जलं वह्निरग्नौ व्योम्नि व्योम स्थितं यथा।।१३१।।

लीन हो जाता है, उसकी सारी बहिर्मुखता ख़त्म हो जाती है। व्यक्ताकार छोड़कर बुद्धि जब केवल संस्काररूप से बच जाती है तब वह संसरण के योग्य नहीं रह जाती।।१३०।। जल में जल, आग में आग, आकाश में आकाश जैसे सर्वथा अभेदेन स्थित हो जाते हैं वैसे जब चित्त कारण में लीन हो चुकता है तब जीव चैतन्य ब्रह्म में एक हो जाता है।।१३१।। अग्नि तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, ईंधन जलने पर आग व्यक्त होती है, ईंधन समाप्त होने पर व्यक्तभाव छोड़कर अव्यक्त अग्नि में विलीन हो जाती है। आत्मा भी व्यापक तत्त्व है, चित्त में उसका व्यक्त रूप ही जीव है, चित्त जब योगाभ्यास से उपशांत हो जाता है तब जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। चित्त का कारण है साभास अज्ञान से उपलक्षित चेतन, वही अधिष्ठान है, उसी में चित्त का लय होगा। उसमें विलय के बाद जीवनकाल तक बुद्धिसंस्कार तो रहेगा पर संसरण अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं रहेगा। भ्रमों का सामान्य कारण अज्ञान है, भ्रमों के भेद में कारण पड़ता है भ्रान्त होने वाले के संस्कारों का भेद। एक ही रस्सी उसी समय एक को साँप तो दूसरे को माला दीखती है; दोनों को रस्सी का अज्ञान है किंतु उनके विभिन्न संस्कार उद्बुद्ध हुए, इसी से भ्रम अलग-अलग हुए। योगाभ्यास से संसारविषयक संस्कार अत्यन्त क्षीण हो चुकने से वे उद्बुद्ध नहीं होते, केवल प्रारब्धवश अनिवार्य संस्कार प्रकट होकर जीवन-निर्वाह करा देते हैं, संसरण हो सके ऐसी परिस्थिति नहीं बनाते। भूमिकारोहण के अभ्यासी का तो खान-पान तक बंद हो जाता है। यहाँ बुद्धि के संसरण के निषेध का तात्पर्य है कि संसरण के लिये बुद्धि ही प्रधान उपाधि है, वह संसरण के अयोग्य हो जाये तो जीव का संसरण असंभव हो ही जायेगा जैसे घट गमन के अयोग्य हो जाये तो घटाकाश का गमन असंभव हो ही जायेगा। मोक्षदशा में जीव ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न हो जाता है, दोनों में कोई अंतर नहीं रहता। झील में लोटा भर पानी डाल दें तो जैसे दोनों जल सर्वथा एक हो जाते हैं वैसे यहाँ भी जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं। वस्तुतः तो जल हमेशा एक है, लोटे व झील की उपाधियों से भिन्न प्रतीत होता है, उन उपाधियों को हटा देने पर उनके कारण प्रतीयमान भेद प्रतीत नहीं होता इसी से कह देते हैं कि अभेद स्थापित हो गया। जीव ब्रह्म भी सदा एक हैं, उपाधिवश भेद प्रतीत होता है, उपाधि बाधित होते ही भेद-बाध हो जाने से अभेद स्थापित हो जाता है। जल की तरह ही आग व आकाश में

अद्वैतमनुभूयाऽस्मिन् समाधौ व्युत्थितः पुनः।
स्तुवन् सर्वात्मतां तस्य ब्रह्मणोऽनुस्मरेत् सदा।।१३२।।
कुत्सो मुनिर्यथाऽस्तौषीत् त्वं ब्रह्मेत्यादिना तथा।
स्तुवन्नपनुदेद् द्वैतवासनां चिरमाश्रिताम्।।१३३।।
योगादद्वैतविज्ञाने वासनायाश्च संक्षये।
सन्त्यज्य जीवताभ्रान्तिं परमात्मत्वमाप्नुयात्।।१३४।।

भेद-प्रतीति औपाधिक होती है व उपाधि हटने पर अभेद स्पष्ट हो जाता है।।१३०-१।।

तप और योग बताकर स्तुति-रूप साधन को बताने के लिये पंचम प्रपाठक में आयी कौत्सायनी स्तुति को निमित्त मानकर कहते हैं कि विद्वान् भी जब स्तुति करने से नहीं चूकता तब साधक के लिये वह अवश्य कर्तव्य है इसमें क्या कहना! **श्रवणादि की फलभूत इस समाधि में अद्वैत का साक्षात्कार कर जब विद्वान् फिर व्युत्थान दशा में आता है तब उस ब्रह्म की सर्वरूपता की स्तुति करते हुए उसका हमेशा स्मरण करता है।।१३२।। 'तुम ब्रह्मा हो' इत्यादि वचनों से जैसे कुत्स मुनि ने स्तवन किया वैसे स्तुति करते हुए दीर्घकाल से स्थित द्वैत की वासना को उखाड़ फैंकना चाहिये।।१३३।। योग की सहायता से अद्वैत साक्षात्कार और वासनाओं का क्षय हो जाने पर जीवभाव के भ्रम को पूर्णतः छोड़कर परमात्म भाव पा लेना ही साधक के लिये उचित है।।१३४।।** तप से चित्तभूमि तैयार होने पर श्रवण से तत्त्वबोध होता है जिसे योग से दृढ करने के लिये निर्विकल्प समाधि में स्थित रहा जाता है। द्वैताकार वृत्ति का अनुदय और अद्वैताकार वृत्ति की स्थिरता यहाँ समाधि है जिससे तत्त्वज्ञान अप्रतिबद्ध हो जाता है, अज्ञान मिटा देता है। फिर प्रारब्धवश जब व्युत्थान होता है अर्थात् समाधि टूटती है, द्वैताकार वृत्ति बनती है तब भी विद्वान् को अद्वैत की याद हरदम कायम रहती है। द्वैत को मिथ्या जानने से उसकी प्रतीति के बावजूद वह याद रखता है कि सत्य अद्वैत ब्रह्म ही है। इसका चिह्न है कि वह ब्रह्म की स्तुति करता रहता है, जो कुछ कहता है वह परमात्मा की प्रशंसा ही है। तैत्तिरीय में भी तत्त्वज्ञान के बाद अपनी सर्वरूपता का गान करते हुए विद्वान् रहता है यह बताया था। गान या स्तवन यह द्योतित करता है कि उसे सर्वात्मा का स्मरण बना हुआ है, भेदानुभूति ने अभेदानुभव को अभिभूत नहीं कर लिया। परमात्मा को सर्वरूप कहना स्तुति है, यथावत् स्थिति नहीं क्योंकि सर्व कुछ है यह मानकर परमात्मा को तद्रूप कहा जा रहा है। वास्तव में तो सर्व अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों व वस्तुओं का

समुदाय है ही नहीं कि परमात्मा को सर्वरूप कहा जाये। व्युत्थान दशा में सर्व प्रतीत होता है तो उसे परमात्मा पर ही आरोपित जानते हुए विद्वान् कहता है कि वही इन सब रूपों में है अतः यह स्तुति है। हर चीज़ को परमात्म दृष्टिसे देखें तो परमात्मा को कभी भूल नहीं पायेंगे। गाली को भी दुर्वचन के रूप में न ग्रहण कर उसके प्रत्येक अक्षर की परमात्मबोधकता के आधार पर परमात्मा के ज्ञापक के रूप में ग्रहण करने की आदत पड़ जाये तब सदा शिवदृष्टि कायम रहेगी। गाली को दुर्वचन मानने से बहिर्मुखी विचार-प्रवाह प्रारंभ होकर दुःख, द्वेष आदि बढ़ेगा। पुराणों में यही स्पष्ट करने के लिये ऋषियों के वर्णन आये हैं कि दीर्घ समाधि के बाद भी यदि क्षणभर को भी वे ब्रह्म को भूले तो शाप-कोप आदि से अपना तप क्षीण कर गये। संसार को सत्य समझने वाला संसार में ही फ़ायदा-नुकसान देखता है जबकि उसे मिथ्या जानने वाला आत्मस्थिति को ही फ़ायदा और उससे विचलन को ही नुकसान देखता है। इसीलिये अध्यात्म साधक में वैराग्य की अत्यधिक आवश्यकता है। विद्वान् स्वभावतः स्तुति करता है, मुमुक्षु यत्नतः ऐसा करे। सर्वरूप परमात्मा है इसे द्योतित करने वाले अनेक स्तोत्रादि वेद, पुराण आदि में उपलब्ध हैं, उनका सतत अर्थ-चिन्तन सहित आवर्तन भी अत्यंत सहायक हो जाता है क्योंकि विचार को दिशा-निर्देश देता है। प्रकृत उपनिषत् में कुत्स मुनिकृत स्तुति आयी है जिसमें ब्रह्मा, विष्णु आदि सब रूपों वाला परमेश्वर को कहा है। स्वयं में जब रचयितृत्व, पालकत्व, नाशकत्व प्रतीत हो तब विचार करना चाहिये कि ये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के ही कार्य हैं, परमेश्वर ही उन रूपों से ये कार्य संपन्न कर रहा है, मैं इसमें उपकरण-मात्र हूँ। इस तरह दृश्य और द्रष्टा दोनों परमात्मरूप हैं यह अनुसन्धान बनाये रखना साधक के लिये उपयोगी है। इससे कर्तृत्व भोक्तृत्व शिथिल पड़ता जाता है। द्वैत के संस्कार अनादि काल से पड़े हैं, अतिगहन हैं, अतः उन्हें दूर करने के लिये प्रयत्न अत्यधिक चाहिये। कपड़ा जितना ज़्यादा गंदा हो उसे साफ करने के लिये उतनी ही ज़्यादा मेहनत करनी पड़ती है। अभ्यास की अत एव आवश्यकता है, केवल समझ लेना पर्याप्त नहीं, उसे प्रतिक्षण दोहराते रहना, समाधि में वही बोध रखना, व्युत्थान में वैसी ही दृष्टि बनाते रहना पड़ता है तभी धीरे-धीरे द्वैतवासना दूर होकर ज्ञान दृढ हो सकता है। उपदेशसाहस्री के परिसंख्यान प्रकरण आदि में इसके लिये स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। योग अर्थात् निर्विकल्प समाधि में अद्वैत का सुस्पष्ट अनुभव हो जाये, व्युत्थान काल में दीर्घ अभ्यास से द्वैत-वासनाओं का क्षय हो जाये तो 'मैं जीव हूँ' यह भ्रम सदा के लिये

समाप्त हो जाता है। भूतकार्य शरीरों में मैं-बुद्धि ही जीवभाव है, अपनी पूर्ण व्यापकता के अनुभव से वह परिच्छिन्न अभिमान निवृत्त हो जाता है। स्वयं परमेश्वर ही जब भूत-भौतिक आकारों में प्रतीयमान है तथा वही देहों में प्रविष्टरूप से प्रतीयमान है तब भेद की कोई संभावना रह नहीं जाती। दृश्य-द्रष्टा दोनों मिथ्या हैं, दोनों का अधिष्ठान चिन्मात्र ही सत्य है, वही प्रत्यक्तम वस्तु है। सत्य के साक्षात्कार से जब जीवभाव मिट जाता है तब वास्तविक सत्य ही बचेगा इसमें क्या संदेह! बौद्धों के विज्ञानवाद का इतना ही संदेश हो कि प्रमाता मिथ्या है तो बात ग़लत नहीं है किन्तु वे सत्य चिद्रूप अधिष्ठान को नकारते हैं इसलिये उनका मत ग़लत हो जाता है। किसी सत्य के सहारे ही दूसरे को असत्य समझ सकते हैं, यदि कुछ सत्य है ही नहीं तो 'सब सत्य है' व 'सब असत्य है' का कोई अंतर ही नहीं रह जाता। निरधिष्ठान भ्रम मानने के अंधविश्वास से ही बौद्धों का मत खोखला बन पड़ा है। सांख्यवाद यद्यपि आत्मा को अनात्मा से पृथक् कर दिखा देता है तथापि प्रकृति को, जड प्रपंच को सत्य मानकर द्वैतरूप भयहेतु को कायम रखकर मोक्ष को असंभव कर देता है। अतः वेदान्त स्पष्ट करता है कि द्वैतबुद्धि का उपमर्दन कर, जीवताभ्रम छोड़कर, परमात्मभाव में स्थित रहना ही परम पुरुषार्थ है।।१३२-४।।

स्तुति के बाद उपनिषत् में समझाया है कि एक ही चिदात्मा सर्वाकारों में है, तत्त्व का कोई भेद नहीं है'तमो वा इदमग्र आसीद् एकम्। तत् परे स्यात्। तत् परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति। एतद्रूपं वै रजः। तद् रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति। एतद्वै सत्त्वस्य रूपम्। तत् सत्त्वमेवेरितं रसः सम्प्रास्रवत्। सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाऽध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनवः।' जो कुछ भी इदं-बुद्धिगम्य है वह उत्पत्ति से पूर्व तम अर्थात् मायारूप कारणात्मा ही था, उस स्थिति में अकेला तम था, अभिव्यक्त हुए नाम-रूप नहीं थे। वह तम पर अर्थात् परब्रह्म पर अध्यस्त था, अचेतन सदा चित्पराधीन ही होता है। वह परमात्मा ही तम, माया को प्रेरित करता है। जैसे जल बीज में प्रवेश कर बीज को अंकुरित करता है ऐसे चैतन्य आभासरूप से माया में प्रवेश कर उसे जगदाकार में अंकुरित करता है। परमात्मा से प्रेरित हुआ तम साम्यावस्था छोड़कर कार्योन्मुख हो जाता है, यही रजआधिक्य की अवस्था है। पुनः परमात्मप्रेरणा से जब उस दशा में भी विषमता आती है तब सत्त्वाधिक्य की अवस्था होती है। परमेश्वर-प्रेरित सत्त्व के आधिक्य में रस अर्थात् चिदानंदरूप प्रकाश प्रकट होता है। सत्त्व में प्रकट हुआ चेतन ही पुरुष की प्रतिकृति

आज्ञानिकं गुणत्रयम्

सा भ्रान्तिस्तमसा जन्या तमस्त्वाश्रितमात्मनि।
परमात्मत्वमावृत्य कल्पयेज्जीवताभ्रमम्।।१३५।।
यदावरकमज्ञानम् आत्माऽस्मिन् प्रतिबिम्बति।
ईश्वरः प्रतिबिम्बोऽसौ सृष्ट्यादीनां प्रवर्तकः।।१३६।।

है, उसे ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं। संकल्प, निश्चय, अभिमान आदि उस क्षेत्रज्ञ के चिह्न हैं। संकल्पादि ही व्यावहारिक चेतन का अनुमान कराते हैं, जड शरीर से अन्य चेतन को युक्तियुक्त सिद्ध करते हैं। सत्त्व में पड़ा चित्प्रतिबिंब ही विश्व-विराट् आदि व्यष्टि-समष्टि शरीर ग्रहण करता है। प्रतिबिम्ब सत्त्व के कारण ही ग्रहण होने पर भी रजस्-तमस् के साहचर्यवश उपाधि में विशेषताएँ आ जाती हैं जैसे तम आधिक्य से रुद्र-उपाधि, रजआधिक्य से ब्रह्मा-उपाधि, एवं सत्त्वाधिक्य से विष्णु-उपाधि बन जाने से इनमें प्रतिबिम्बित रुद्रादि देव हो जाते हैं। जितने भी विविध चेतन प्रतीयमान हैं सब इसी तरह विभिन्न हुए हैं, बिंब चेतन अखण्ड ही है। इस विषय को स्पष्ट कर पाँचवाँ प्रपाठक पूरा हुआ है। यहीं तक के भाग की इस अध्याय में व्याख्या है। जीवता के भ्रम के त्याग को उपपन्न करने के लिये उसकी अज्ञानमूलता याद दिलाते हैं **जीवभाव का भ्रम तम अर्थात् आवरण-प्रधान अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। तम तो आत्मा पर आश्रित है। आत्मा की परमात्मता, व्यापकता को ढाँक कर वह तम जीवभाव के भ्रम की कल्पना करा देता है।।१३५।।** जिसे कोई सहारा नहीं चाहिये ऐसा स्वतंत्र तो आत्मा ही है। अज्ञान हमेशा आश्रय चाहता है, किसी को ही अज्ञान हो सकता है अतः अज्ञान आत्मा पर ही आश्रित है। अज्ञान स्वभावतः ढाँकता है अतः वह आत्मा पर आश्रित होकर उसे ही ढाँकता है, हम आत्मा की भूमरूपता नहीं जानते और इसीलिये हमें कल्पना हो जाती है कि हम परिच्छिन्न हैं, भूतात्मा हैं। ये ही अज्ञान की दो सामर्थ्य हैंढाँकना, आवरण तथा ग़लत ज्ञान पैदा करना, विक्षेप। क्योंकि अज्ञानफल है इसलिये जीवभाव भ्रम है, दूर हो सकता है। जीवभाव अनादि है फिर भी 'उत्पन्न' हुआ इसलिये कहा कि अज्ञानवश ही जीवभाव संभव है अर्थात् अज्ञान को कारक हेतु नहीं, प्रयोजक हेतु समझना चाहिये।।१३५।।

माया में आभासरूप से प्रवेश कर उसे विभिन्न कार्याकार ग्रहण कराने वाला ईश्वर भी वास्तव में वही परमात्मा है यह स्पष्ट करते हैं **व्यापक आनन्द को ढाँकने वाला जो अज्ञान उसमें आत्मा प्रतिफलित होता है, वह प्रतिबिम्ब ईश्वर है जो सृष्टि**

आदि को प्रवृत्त करता है।।१३६।। (मुत्तुशास्त्री 'यदावारकम्' पाठ मानते हैं, अर्थ एक ही है।) तम या आवरण प्रधान रहते अज्ञान जीवभाव के भ्रमका हेतु है और आवरण के बजाय विक्षेप प्रधान हुआ वही अज्ञान ईश्वरता के भ्रम का हेतु है। ईश्वर भी उसी अज्ञान से उपहित चेतन है लेकिन उसे 'मैं अज्ञ हूँ' यह नहीं लगता, 'सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वकारण हूँ' यही लगता है। ईश्वरता क्योंकि संसार की अपेक्षा से है, जिस पर शासन किया जाये उसकी अपेक्षा से ही शासक हो सकता है, इसलिये वह भी जीवभाव की तरह भ्रम ही है। वास्तव में चेतन होने से जीव व ईश्वर सत्य हैं किंतु जीवभाव और ईश्वरभाव औपाधिक होने से मिथ्या हैं। 'यदावरकम्' में 'यत्' से अज्ञान समझ सकते हैं। अथवा एक तत्-पद का अध्याहार कर 'यस्य आवरकं स आत्मा' यह योजना कर 'यत्' आत्मा का बोधक मान सकते हैं। अज्ञान जिसको ढाँकता है उसी आत्मा का समष्टि माया में प्रतिबिम्ब ईश्वर है यह अर्थ है। ईश्वर की उपाधि मूल अज्ञान है जो अद्वैतदर्शन से ही निवृत्त होती है। अन्य ज्ञानों से दूर होने वाले तूल अज्ञान कहलाते हैं, तूल अर्थात् रुई के रेशे जैसा हल्का, दुर्बल। सामान्य ज्ञानों से नष्ट हो सकते हैं अतः वे अज्ञान तूल हैं। उनकी भी स्थिति जिस पर निर्भर करती है वह अज्ञान मूल है जो तत्त्वमस्यादि से जन्य परमात्म साक्षात्कार से ही मिटता है। मूलाज्ञान हटने पर यावत्प्रारब्ध प्रतीत भले ही हों पर तूलाज्ञान भी रह नहीं जाते क्योंकि आत्मा की वास्तविकता कभी दृष्टि से ओझल नहीं होती। ज्ञानी को बंद बक्से में पड़ी चीज़ों का ज्ञान नहीं हो जाता इसलिये तूलाज्ञान की प्रतीति स्वीकार सकते हैं लेकिन विचार करें तो अज्ञान उसे कहते हैं जो सचाई को ढाँके और सचाई एक परमात्मा है जिसे उस दशा में तूलाज्ञान भी ढाँकते नहीं अतः आत्मा के लिये मूल-तूल कोई भी अज्ञान नहीं रहता यही मानना पड़ता है। जो हैं ही असत्य उन नाम-रूपों का आवरण प्रतीत हो तो भी उसे अज्ञान कहना नहीं बनता, अज्ञान जैसा लगने से उसे अज्ञान का आभास या अज्ञान की छाया कह देते हैं। मूलाज्ञान ईश्वरोपाधि है। वही जीवोपाधि भी है लेकिन आवरणप्रधान होकर, आवरण-प्राधान्य छोड़कर वह ईश्वर की उपाधि है। जैसे अंतःकरण अपने सभी कार्य तभी कर सकता है जब उसमें चिदाभास हो अतः चिदाभास को अंतःकरण का प्रेरक, संचालक कहते हैं वैसे ईश्वर-रूप चिदाभास ही माया का प्रेरक, संचालक, नियामक है। सृष्टि-स्थिति-संहार आदि सभी कार्य माया सम्पन्न करती है लेकिन तभी जब ईश्वर उसे इन कार्यों में प्रयुक्त करता है। जीव ईश्वर की व्यवस्था कई तरह समझाई गयी है, उन प्रक्रियाओं का आपस में समन्वय करने की कोशिश नहीं करनी चाहिये, वे सभी ढंग उपयोगी हैं पर एक संदर्भ

यदज्ञानं विक्रियते भवत्येष तमोगुणः।
दृश्यमानं जगदिदं तम एवाऽभवत् पुरा।।१३७।।
ईशेन प्रेरितं तत् स्याद् रजो जलतरङ्गवत्।
रजोऽपि प्रेरितं तद्वत् सत्त्वमेवं गुणत्रयम्।।१३८।।

में एक ही ढंग से विचार करना उचित रहता है। यहाँ माया में प्रतिबिंबित ईश्वर और उसी के तम-प्रधान रूप में प्रतिबिंबित जीव को मानकर समझाया जा रहा है।।१३६।।

क्योंकि आवरणपूर्वक ही विक्षेप होना समझ आता है और जगह-जगह 'प्रारंभ में तम ही था' इत्यादि वर्णन मिलता है इसलिये मैत्रायणी में गुणों का तमस्-रजस्-सत्त्व यह क्रम पूर्वोदाहृत वाक्य में बताया, उसे व्यक्त करते हैं **अज्ञान में जो प्राथमिक विक्रिया होती है वह तमोगुण हो जाता है। दीखता हुआ यह जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व तम ही था।।१३७।। ईश्वर द्वारा प्रेरित वह तम ही रजोगुण बन जाता है जैसे हवा से जल ही तरंग बन जाता है। रजोगुण भी ईश्वर से प्रेरित होकर जल-तरंगन्याय से ही सत्त्वगुण बनता है। इस प्रकार अज्ञान से ही तीन गुण व्यक्त होते हैं।।१३८।।** तीनों गुण अज्ञान की ही विभिन्न वृत्तियाँ हैं। तरंगों वाले जल की जगह अज्ञान और लहरों की जगह गुण हैं। इसलिये 'यद् विक्रियते' अर्थात् विकृत होने की क्रिया को गुण बताया, गुण अज्ञान से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। श्रुतियाँ 'सृष्टि से पूर्व तम था' के द्वारा अज्ञान था बताती हैं पर अज्ञान के लिये तमः शब्द के प्रयोग से सूचित करती हैं कि तब आवरण ही प्रधान था अतः तमोगुण की स्थिति थी यह पता चलता है। सत्त्वादि गुण एवं तदात्मक प्रकृति कोई सत्य स्वतंत्र चीज़ नहीं है, इसी अभिप्राय से ब्रह्मसूत्रादि में गुण-प्रक्रिया का खण्डन है, व्यावहारिक व्यवस्थाओं में गुणों का उपयोग न ही किया जाये ऐसा आचार्यों का आग्रह नहीं, गीता आदि में स्पष्ट ही गुणव्यवस्था को अनुमति दी गयी है। तमोगुण ही और विकृत होकर रजोगुण बनता है। बनता तो अज्ञान है पर तम अवस्था वाला होकर तब रजोवस्था वाला बनता है। ईश्वर की प्रेरणा, संकल्प इसमें भी चाहिये। पुनः रजोवस्थ अज्ञान ही सत्त्वाकार ग्रहण करता है। सत्त्व के पूर्ण विकास में परमात्मसाक्षात्कार होकर संसार समाप्त होता है इसलिये इसे अंत में होने वाला बताया। संसार का उत्पादन व संचालन रजोगुण से होता है अतः वह मध्य में रखा और अव्यक्त दशा प्रारंभिक होने से तमोगुण को पहले रखा।।१३७-८।।

उक्त ढंग में गुण अज्ञान का ही पूर्वापरीभाव है अतः वे कारणोपाधिक ईश्वर से ही

सूत्रात्मवर्णनम्

समष्टिरूपोऽहङ्कारः सत्त्वात् सारः समुद्धृतः।
चिद्बिम्बप्रतिबिम्बाभ्यां युक्तोऽसौ चेतनो भवेत्।।१३९।।
प्रतिदेहं व्यष्टिरूपः क्षेत्रज्ञत्वेन तिष्ठति।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च देहे तत्सत्त्वसाधकः।।१४०।।
हिरण्यगर्भो वेदेषु समष्टिव्यष्टिरूपधृक्।
श्रूयते यः स सूत्रात्मा प्रजापतिरिहोदितः।।१४१।।

प्रेरित, नियंत्रित हैं। अब कार्य उपाधि का कथन करने के लिये पहले समष्टि फिर व्यष्टि का वर्णन करते हैं **सत्त्व से निकाला गया सार है समष्टिरूप वाला अहंकार। चिद्रूप बिंब और चिदाभास, दोनों से सम्बद्ध वह अहंकार व्यवहारसिद्ध चेतन है।।१३९।। हर शरीर में व्यष्टि बना वह क्षेत्रज्ञ के रूप से रहता है। संकल्प और निश्चय सिद्ध करते हैं कि शरीर में क्षेत्रज्ञ मौजूद है।।१४०।। समष्टि और व्यष्टि रूप धारण करने वाला जो हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, प्रजापति वेदों में सुना जाता है वही यहाँ बताया गया है।।१४१।।** सारे ब्रह्माण्ड को मैं समझने वाला अहंकार सत्त्व का सार है। सभी को व्याप्त करे वह समष्टि और विभिन्नों को, परिच्छिन्नों को ही व्याप्त करे वह व्यष्टि कहा जाता है। पंचदशी (१.२५) में कहा है कि सर्वत्र तादात्म्यानुभव वाला समष्टि और सबमें न होकर किसी एक में ही तादात्म्य समझे वह व्यष्टि होता है। मोडक जी ने वहाँ 'व्यस्तोपाधिविशिष्टो व्यष्टिः, समस्तोपाधिविशिष्टः समष्टिः' कहकर समझा दिया है। सृष्टि होते समय सत्त्व का जो सार निकलता है वह समष्टि अहंकार है, उस अहंकार वाला चेतन हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ को प्रथम जीव भी कहते हैं। इसकी जीवरूपता सृष्टि के आदिकाल में ही है क्योंकि तुरन्त ही इसे अद्वैतबोध हो जाने से यह ईश्वर से अभिन्न हो जाता है। यह बात बृहदारण्यक में विस्तार से स्पष्ट की गयी है। अध्याय १३ श्लोक ४५ आदि में इस विषय पर विचार करेंगे। अहंकार स्वयं चिद्रूप बिंब पर अध्यस्त है अतः उससे सम्बद्ध है और अहंकार में चित् का प्रतिबिम्ब पड़ा है अतः प्रतिबिम्ब से भी सम्बद्ध है। चित् पर अहंकार का स्वरूपाध्यास है, अहंकार पर चित् का संसर्गाध्यास है। अधिष्ठानानुवेध और प्रतिबिम्ब, दो तरह से अहंकार में चित् की स्थिति है। चिद्बिम्ब से अहंकार का संबंध अध्यासमात्र है जबकि प्रतिबिम्ब के प्रति अहंकार विशेषण है, यह अन्तर है। सच्चिदानंदघन वास्तविक चेतन होने पर भी सामान्य बुद्धि से समझ

नहीं आता। हम व्यवहारभूमि पर जिसे चेतन समझते हैं वह चित्सम्बद्ध यह अहंकार ही है। सोपाधिक आत्मा ही लोकबुद्धिगम्य है, निरुपाधिक नहीं। समस्त संसार में मैं-बुद्धिरूप अहंकार ही हर-एक शरीर में भी मैं-बुद्धिरूप से मौजूद है किंतु शरीर में ही उसकी मैं बुद्धि सीमित है, बाकी संसार से व्यावृत्त है अतः उसे व्यष्टि कहते हैं। यद्यपि व्यष्टि अहंकार समष्टि का अंश है तथापि व्यष्टि को यह मालूम नहीं, वह स्वयं को स्वतंत्र इकाई माने हुए है। कमरे में रखे घड़े के भीतर का आकाश कमरे के आकाश से अभिन्न होने पर भी भिन्न की तरह व्यवहृत होता है, उसी तरह समष्टि अहंकार से व्यष्टि अहंकार अभिन्न होने पर भी भिन्न समझ लिया जाता है। व्यष्टि अहंकार क्षेत्रज्ञ है, शरीर क्षेत्र है तथा उसे वह मैंरूप से जानता है। रामतीर्थानुसारी मैत्रायणीपाठ 'प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः' है एवं उन्होंने प्रतिपुरुष का अर्थ प्रतिबिम्ब किया है। किंतु प्रकृत व्याख्या को दृष्टि में रखकर मुत्तुशास्त्री ने 'सोंशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः' पाठ माना है, 'प्रतिपूरुषं' का ही श्लोक में 'प्रतिदेहं' व्याख्यान है। (कावेल ने इस श्लोक में 'व्यष्टिरूपः क्षेत्रज्ञत्वेन' पाठ रखा है। जबकि निर्णय सागर और मुत्तु शास्त्री 'व्यष्टिरूपक्षेत्रज्ञत्वेन' ऐसा एक पद मानते हैं।) शरीरों में चेतन की अर्थात् अहंकार वाले आत्मा की स्थिति संकल्पादि चिह्नों से ज्ञात है। ईंट-पत्थर में संकल्पादि न प्रतीत होने से उनमें चेतन भी नहीं माना जाता। संकल्पादि होते अहंकार में हैं, वह अहंकार समष्टिका ही अंश है अतः समष्टि में अभिमानी हिरण्यगर्भ ही संकल्पादि करता है लेकिन भ्रमवश व्यष्टि मान लेता है कि वह स्वतंत्र होते हुए ही संकल्पादि कर रहा है इसी से क्लेश का अनुभव करता है। वेदों में अनेक जगह हिरण्यगर्भ को सूत्रात्मा कहकर स्पष्ट किया है कि माला के फूलों में धागे की तरह सर्वत्र अहंकार वाला आत्मा वही है, फिर भी नासमझी से इससे बेखबर रहकर प्रमाता दुःख पाते रहते हैं। व्यष्टिरूप से भी वही मौजूद है जो समष्टिरूप से वर्तमान है जैसे घटाकाशरूप से शालाकाश स्थित है, वही प्रजापति है, हिरण्यगर्भ है। अतः तैजस-रूप व्यष्टि को हिरण्यगर्भ-रूप समष्टि से एक समझना चाहिये इत्यादि समझाया जाता है। वेदान्त की समष्टि-व्यष्टि के अभेद की दृष्टि सभी स्तरों पर अभिप्रेत है और इसी से सब तरह की व्यावहारिक शांति भी संभव है यह मान्य है, भले ही इसे जीवन में लाना, कायम रखना मुश्किल लगे।।१३८-४१।।

एक हिरण्यगर्भ ही सब देवताओं के रूप में स्थित है इस वैदिक सिद्धान्त को स्पष्ट करते हैं **तीन गुणों से उत्पादित एवं सर्जन, समापन व संरक्षण के प्रति हेतुभूत**

तस्य श्रेष्ठास्त्रयो देहाः सृष्ट्यन्तस्थितिहेतवः।
ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरिति गुणत्रयसमुद्भताः।।१४२।।
यो यत् सृजति लोकेऽस्मिन् ब्रह्मा तत्राभिमन्यते।
नाशाभिमानी रुद्रोऽयं विष्णुः स्थित्यभिमानवान्।।१४३।।
प्रजापतिस्त्रिधा भूत्वा भूयोऽपि बहुधाऽभवत्।
वसुरुद्राऽऽदित्यभेदैर्गिरिनद्यादिभेदतः।।१४४।।

तीन श्रेष्ठ शरीर उस हिरण्यगर्भ के ही हैं जिन्हें ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु कहते हैं।।१४२।। इस संसार में जो कोई भी कुछ उत्पन्न करता है उस उत्पादन क्रिया में ब्रह्मा अभिमान रखता है। इसी तरह यह रुद्र नाशक्रिया में एवं विष्णु स्थिति या संरक्षण की क्रिया में अभिमानी है।।१४३।। उक्त तीन तरह का होकर पुनरपि प्रजापति बहुत तरह का हो गया। वसु, रुद्र, आदित्य, पर्वत, नदी आदि विभिन्न प्रकार का वही बना हुआ है।।१४४।। सभी शरीरों वाला होने पर भी जिन शरीरों में अतिशय सामर्थ्य व्यक्त होती है उनकी श्रेष्ठता स्पष्ट है। जगत् के जन्म-स्थिति-भंग जिन शरीरों से होते हैं वे ब्रह्मा आदि शरीर ही सर्वोत्तम हैं। केवल जगत् के आद्यकाल की क्रिया में ही ब्रह्मा हेतु हों ऐसा नहीं वरन् जब भी कोई उत्पादान-क्रिया होती है उसमें वे ही हेतु हैं। कुम्हार घड़ा बनाये तो भी ब्रह्मा जी जानते हैं 'मैंने घड़ा बनाया'। ऐसे ही सर्वत्र रक्षाके प्रति विष्णुका कर्तृत्व है और नाशके प्रति रुद्रका। हम लोग अर्थात् व्यष्टि अहंकार वाले स्वयं को जिस किसी के प्रति कर्ता मानें उस सबके प्रति ब्रह्मा आदि कर्ता हैं ही, उन्हीं के अंग के रूप में हमारा कर्तृत्व है। व्यष्टि सीमित में कर्तृबुद्धि रखकर रागादि से ग्रस्त और शोकादि से त्रस्त रहता है जबकि ब्रह्मा आदि सर्वत्र जन्मादि क्रियाओं में कर्तृत्व रखने से अविचलित रहते हैं। मकानों पर बम फैंकने वाले और उन जहाजों पर गोले दागने वाले दोनों नाश कर रहे हैं, रुद्र को दोनों क्रियाओं में एक-साथ कर्तृत्व है अतः रागादि, शोकादि को स्थान नहीं है जबकि व्यष्टिओं को रागादि भी होते हैं, शोकादि भी। जहाँ-कहीं जो कुछ हो रहा है उसमें परमेश्वर की कारणता अक्षुण्ण है। इस तथ्य के प्रति जागरूकता से जीव के अभिमान, आग्रह शिथिल पड़ते हैं, शांति-सन्तोष कायम रहते हैं। ये तीन ही नहीं, सारे चराचर शरीर वही हिरण्यगर्भ धारण करता है। उपनिषत् में आठ, ग्यारह और बारह शरीरों का निदर्शन कर अनंत शरीरों का कथन कर दिया 'स वा एष एकस्त्रिधा भूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधावोद्भूतः' (मै. ५.२)। वसु-शरीर आठ हैं, रुद्र

उपसंहारः

आत्मन्यध्यारोप एवं प्रोक्तो मायाविनिर्मितः।
आत्माऽधिष्ठानरूपेण प्रविष्टः सर्ववस्तुषु।।१४५।।
इत्थं विवेचितश्चात्मा भात्याधिक्येन पालकः।
नाधिष्ठानं विना किञ्चिदारोप्यं बाध्यते क्वचित्।।१४६।।

देह ग्यारह हैं तथा आदित्यवपु बारह हैं। तात्पर्य है कि सभी देवता उपाधिभेद से हिरण्यगर्भ का ही विस्तार हैं। देवता ही नहीं, पर्वत नदी आदि सारे जड पदार्थ भी उसी का स्थूल शरीर है। पर्वतादि के अधिष्ठाता देवता भी हिरण्यगर्भ के ही तत्तद् उपाधि वाले रूप हैं। इस तरह सूत्रात्मा को समझकर हमेशा उस पर दृष्टि रखने से जीव का अभिमान क्षीण होकर परमेश्वर की शरणागति स्वाभाविक हो जाती है तथा अकर्ता आत्मा की समझ दृढ हो जाती है क्योंकि कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपाधिपक्षीय समझ आ जाता है।।१४२-४।।

पंचम प्रपाठक का समाप्तिवाक्य है 'उद्भूतत्वाद् भूतं भूतेषु चरति प्रविष्टः स भूतानामधिपतिर्भूत्वा इत्यसावात्मान्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च।।' उद्भूत अर्थात् सबका अवभासक होने से प्रकट है अत एव आत्मा को 'महद् भूतम्' (बृ. २.४.१२) आदि श्रुति में भूत-शब्द से कहते हैं। सब भूतों में, स्थावर-जंगमों में प्रवेश कर यह व्याप्त है, सबका अधिपति है अर्थात् अधिष्ठाता और पालयिता है। अन्दर-बाहर जो कुछ है वह यह आत्मा ही है। साक्षी, प्रमाता, कर्ता आदि अंदर के रूप हैं, ईश्वर, काल, देवता आदि बाहर के रूप हैं, इन सब रूपों में एकमात्र आत्मा ही भास रहा है। इस वाक्य की व्याख्या करके अध्याय समाप्त करेंगे, आगे के प्रपाठकों का विषय परा विद्या में अतीव उपयोगी न समझकर उसका संग्रह नहीं करेंगे। उपसंहार का प्रसंग स्पष्ट करते हैं **माया से विविधतया निर्मित अध्यारोप इस प्रकार स्पष्ट कर बताया। सभी वस्तुओं में आत्मा अधिष्ठान के रूप में अनुगत अपने ही रूप में है।।१४५।। पूर्वोक्त ढंग से आत्मा के बारे में विवेक कर लेने पर वह अत्यधिक स्पष्ट भास जाता है। अधिष्ठान होने से वही सबका अंतिम, निरपेक्ष पालनकर्ता है। ऐसा कोई आरोप्य नहीं जिसका कोई अधिष्ठान न हो और बिना अधिष्ठान वाली वस्तु सत्य होती है, उसका कभी बाध नहीं होता। आरोप्य का बाध अधिष्ठान में ही होता है, अन्यत्र कहीं नहीं।।१४६।। सारे आरोपित प्रपंच का अधिष्ठान आत्मतत्त्व ही समझ आता है इसलिये सभी वस्तुओं में बाहर-भीतर एकमात्र**

आरोपितस्य सर्वस्याऽधिष्ठानं तत्त्वमीक्ष्यते।
तस्मादन्तर्बहिश्चात्मा स्थितः सर्वेषु वस्तुषु।।१४७।।

आत्मा ही स्थित है।।१४७।। अज्ञानवश हुए भ्रम को अध्यास या अध्यारोप कहते हैं। तरतीब बिना समझे केवल प्रतीतिसिद्ध भ्रम को अध्यास तथा व्यवस्था समझ लेने पर उसी को अध्यारोप कहते हैं अध्यास सब को हो ही रहा है, अध्यारोप के लिये वेदान्त-विचार आवश्यक है। अध्यारोप समझने से ही सर्वव्यापक आत्मा का पता चलता है। रस्सी जैसे सर्प, जलधारा, मालादि सब में अनुगत है वैसे आत्मा समस्त प्रपंच में अनुगत है। साधक हमेशा यह चिंतन करे, सभी नाम-रूपों में उनके अधिष्ठान को सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दरूप से देखे, स्वयं में कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्रतीत होने पर उसे पहले समष्टि हिरण्यगर्भ पर समर्पित करे फिर औपाधिक समझते हुए अपनी अकर्तृ-अभोक्तृरूपता की दृढता बनाये। लहरों का भेद दीखते हुए जैसे जलबुद्धि नहीं हटती वैसे प्रपंच दीखते हुए ब्रह्मबुद्धि नहीं हटनी चाहिये। विवेकपूर्वक समझ लेने पर आत्मा 'अधिक' पालक हो जाता है, पालक तो वह अभी भी है किंतु हमें अज्ञात है, ज्ञात हो जाना ही अधिकता है। अज्ञान के कारण हमें शांति, धैर्य नहीं कि सर्वज्ञ सर्वशक्ति पालक है, ज्ञान के बाद वह शांति स्वतः सिद्ध हो जाती है। हम कर्ता-भोक्ता बनकर नाहक ज़िम्मेवार हो जान से परेशान रहते हैं, यह प्रक्रिया ज्ञान से समाप्त हो जाती है। किं च, आत्मा की अधिकता इसलिये है कि वह तो सबका अधिष्ठान है, आगे उसका कोई अधिष्ठान नहीं है। बिना अधिष्ठान की वस्तु सत्य ही होती है, अधिष्ठान-सापेक्ष मिथ्या ही होता है। मिथ्या टिकता अधिष्ठान पर है और निवृत्त भी अधिष्ठान के ज्ञान से होता है। मिथ्या का निषेधकर अधिष्ठान का विधान समझ आने पर ही बाध की प्रक्रिया पूरी होती है, अधिष्ठान-ज्ञान के बिना निषेधमात्र से बाध नहीं हो जाता। मैं 'कर्त्ता-भोक्ता नहीं'यह सोचते रहने से कर्तृत्वादि दूर नहीं होगा, अधिष्ठान भूमा आत्मा के साक्षात्कार से ही दूर होगा। जब तक यह दृढ निश्चय न हो कि एकमात्र परमात्मा ही सत्य है तब तक शरणागति संभव नहीं। यदि तदतिरिक्ति कुछ है और कारगर है तो अवश्य उसका भी सहारा लिया जायेगा, बाकी सहारे छोड़कर एक परमेश्वर का ही सहारा तब लेंगे जब बाकी सब मिथ्या है, एक परमेश्वर ही सत्य है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपाधिपक्षीय अतः मिथ्या, दृश्य है, मैं निर्विकार साक्षी ही हूँइस निश्चय पर स्थिर रहने से ही संसार के शोक मोह से बचाव होता है। आरोपित मिथ्या है, तद्रूप में प्रतीत होने वाला अधिष्ठान ही सत्य है और वही व्यापक है, केवल मिथ्या

प्रजापतिर्बालखिल्यान् मुनीनेवम् अबूबुधत्।
शाकायन्यः कथामेतां राज्ञे प्रोवाच धीमते।।१४८।
वैराग्यं परमात्माऽत्र जीवात्मा साधनानि च।
तपो योगः स्तुतिर्बोध इति सर्वं व्यवस्थितम्।।१४६।।

रूप में ही प्रतीत नहीं हो रहा, उससे अतिरिक्त सनातन सत्य रूप में भी वही भासमान है जैसे समुद्र में न केवल तरंग रूप में वरन् सभी रूपों में और उन रूपों में अनुगत के ढंग से भी जल ही प्रतीत होता है। यह व्यापक आत्मबोध ही परमपुरुषार्थ प्रदान करता है।।१४५-७।।

कथा का समापन करते हुए इस अध्याय की और व्याख्येय उपनिषत् की विषय-सूची उपस्थित करते हैं **प्रजापति क्रतु ने बालखिल्य मुनियों को इस प्रकार (श्लो. ५६ से प्रारंभ हुए ढंग से) समझाया। बुद्धिमान् राजा बृहद्रथ को मुनि शाकायन्य ने यह कथा सुनाई।।१४८।। इस उपदेश में वैराग्य, परमात्मा, जीवात्मा और साधनयह संपूर्ण विषय स्पष्ट किया। साधन हैं तप, योग, स्तुति और बोध ।।१४६।।** वैदिक स्वयं को पारंपरीण जानकर सबल महसूस करते हैं। अनादि परंपरा से प्राप्त ज्ञान की यथार्थता के प्रति हमें आश्वास रहता है। चाहे हम वही जानते हैं जो पूर्वजों ने जाना फिर भी हमें यह बताकर संतोष होता है कि यह पूर्वजों का ज्ञान है, उनका उपदेश है उसे अपना ज्ञान या संदेश कहना हमें रुचिकर नहीं। प्रत्यक्ष व तन्मूलक प्रमाणों से पता लगी बात को तो अपना ज्ञान कहना ठीक है पर शब्द से पता लगी बात अपना ज्ञान होने पर भी केवल अपना नहीं वरन् उस सारी परंपरा का है जिसने उसका साक्षात्कार किया और हमें उपदेश उपलब्ध कराया। अत एव शाकायन्य ने प्रजापति के उपदेश का ज़िक्र किया। इसका मतलब यह नहीं कि शाकायन्य का यह निश्चय नहीं था! निश्चय उनका भी यही था लेकिन उस ज्ञान की साम्प्रदायिकता व्यक्त करने के लिये बताया कि यह प्रजापति का उपदेश है। इस अध्याय में वेदान्त का सम्पूर्ण विषय इकट्ठा हो गया है। राजा ने पहले वैराग्य का वर्णन किया और शाकायन्य ने योग्य साधक देख उसे परमात्मा का स्वरूप समझाया (श्लो. २७) तब प्रश्न उठा कि (श्लो. १००) संसारी कौन है? इसके उत्तर में जीवात्मा बताया गया और जीव परमात्मभाव की प्राप्ति कैसे करे (श्लोक १२५) इसके साधन स्पष्ट किये। पूर्वमें (श्लोक. ५०) श्रवणादि प्रधान साधन बात ही दिये थे, तप-योग-स्तुति उन्हीं के सहायक हैं और इन सभी से संपन्न होने वाला बोध अविद्यानिवृत्ति का एकमात्र साधन है।।१४८-६।।

समर्पणम्

शाकायन्याय भगवान् मैत्रोऽखिलमुवाच ह।
तत् सर्वं मेऽनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१५०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे मैत्रायणीयशाखाविवरणे मैत्रायण्युपनिषद्विवरणं नाम दशमोऽध्यायः।।

अध्याय पूरा करते हैं **भगवान् मैत्र ने शाकायन्य को सारा प्रसंग सुनाया था। श्री विद्यातीर्थ नामक महेश्वर ऐसा अनुग्रह करें कि वह सारा ज्ञान मुझमें प्रतिष्ठित हो।।१५०।।** श्लोक ५५ में स्वयं शाकायन्य ने सूचित किया था कि शाखा के प्रवर्तक मैत्र ने उन्हें यह ज्ञान दिया था। ग्रन्थकार निज गुरु से प्रार्थना करते हैं कि इस पारमार्थिक ज्ञान की हृदय में दृढता हो ऐसी वे कृपा करें। गुरुकृपा से ही ज्ञान की दृढता संभव है।।१५०।।

इस प्रकार मैत्रायणी शाखा की उपनिषत् के पराविद्याप्रसंग का व्याख्यान पूरा हुआ।

।। दसवाँ अध्याय।।

ॐ

याजुषीकठशाखाविवरणे

कठवल्लीविवरणम्

एकादशोध्यायः

याजुष्यां कठशाखायां विद्यां यां नचिकेतसे।
यमः प्रोवाच तां सर्वां सङ्ग्रहेण ब्रवीम्यहम्।।१।।

प्रसङ्गः

नचिकेताः कुमारः सन् स्वपित्रा प्रेषितो यमम्।
गत्वा तं तोषयित्वाऽऽत्मज्ञानं वरमयाचत।।२।।

कठोपनिषद् का विवरण : ग्यारहवाँ अध्याय

कृष्ण यजुर्वेद की कठ-नामक शाखा की प्रसिद्ध उपनिषत् कठोपनिषत्, काठकोपनिषत् नामों से प्रचलित है। तीन-तीन वल्लियों के दो अध्यायों वाली इस उपनिषत् में मुनिकुमार नचिकेता को स्वयं यमराज द्वारा दत्त उपदेश एकत्र है। इस पर भगवान् शंकराचार्य की व्याख्या उपलब्ध है तथा शारीरकमीमांसा में इस का विशद विवेचन है १.२.२; १.२.३; १.३.७; १.३.१०; १.४.१; ३.३.७ अधिकरण विशेषतः इसी के प्रसंगों को स्पष्ट करते हैं। इसकी व्याख्या का उपोद्घात करते हैं **ब्रह्मविद्याचार्य यम ने मुनिबालक नचिकेता को जिस विद्या का उपदेश दिया वह यजुर्वेद की कठ-नामक शाखा में वर्णित है, उस सारी विद्या का संक्षेप इस अध्याय में बतायेंगे।।१।।** स्वर्गफलक अग्निविद्या, जीवस्वरूप और परमात्मस्वरूपये तीन विषय इस उपनिषत् में प्रतिपादित हैं, इनमें अग्निविद्या पर विशेष चर्चा यहाँ नहीं करेंगे क्योंकि इस ग्रंथ का उद्देश्य परा विद्या के प्रसंगों का ही स्पष्टीकरण है। अन्य दोनों विषयों पर स्पष्ट प्रकाश डालेंगे।।१।।

उपनिषत् कथा से प्रारंभ होती है : वाजश्रवस ऋषि ने सर्वस्व-दान का उपक्रम किया। उनका एक पुत्र था नचिकेता। जब दक्षिणा-स्वरूप गायें ले जायी जा रही थीं तब उस कुमार में श्रद्धा का उद्रेक हुआ। अत्यन्त दुर्बल गायें ब्राह्मणों को दी जाती

पारलौकिकात्मप्रश्नः

प्रेते मनुष्ये सन्देहो भूयान् मतविभेदतः।
पारलौकिक आत्माऽस्ति नास्ति वा निर्णयं वद।।३।।
चार्वाका देहमेवाहुः कर्मिणः स्वर्गगामिनम्
मुमुक्षवो मुच्यमानम् इत्युक्तो गुरुराह तम्।।४।।

देखकर तथा पुष्ट गायें 'ये इस बालक के हिस्से की हैं' कहकर रखी जाती देखकर उसने सोचा कि ऐसे छलमय दान का पिता को दुष्फल होगा अतः मानो उन्हें चेताते हुए उसने बार-बार पूछा 'मुझे किसे देंगे?' पिता ने क्रोध से झिड़क दिया 'तुझे मृत्यु को देता हूँ'। पिता की आज्ञा स्वीकार कर नचिकेता यमलोक पहुँचा। यम वहाँ थे नहीं। उनके इन्तज़ार में बिना कुछ खाये-पिये वह तीन रात रुका रहा। जब यम लौटे तब तीन रात इन्तज़ार के एवज़ में नचिकेता को तीन वर माँगने के लिये कहा। उसने पहला वर माँगा कि पिता शान्त, निश्चिन्त हो जायें व लौटने पर नचिकेता को पूर्ववत् पहचान लें। दूसरा वर उस अग्नि का ज्ञान माँगा जो स्वर्ग प्रदान करती है। तीसरे वर में उसने आत्मविद्या की जिज्ञासा की। यम ने उसे अनेक लालच दिये पर वह पूर्ण वैराग्यवश प्रलोभनों में फँसे बिना विद्या की माँग पर ही स्थिर रहा। तब यमराज ने प्रशंसापूर्वक उसे आत्मविद्या का उपदेश दिया। इस कथा का संक्षेप करते हैं **नचिकेता पाँच वर्ष का बालक ही था कि अपने पिता द्वारा वह यम के पास भेज दिया गया। वहाँ जाकर यमराज को सन्तुष्टकर उसने वर-रूप से आत्मज्ञान की याचना की।।२।।** श्रुति में नचिकेता को 'कुमार' कहा है जिसका अर्थ है पाँच वर्ष का बालक। 'मार' कामना को कहते हैं, उसे जिसने कुत्सित या निर्वीय कर डाला हो वह भी कुमार है। नचिकेता दोनों दृष्टियों से कुमार था। धैर्य, श्रद्धा, विवेक और वैराग्य इन गुणों की उसमें बहुतायत देखकर ही यम सन्तुष्ट हुए थे। प्रसन्न होकर दिये वर के रूप में नचिकेता ने आत्मज्ञान माँगा। अनेक लौकिक-अलौकिक विषय मिल सकने की स्थिति में भी नचिकेता अपने उद्देश्य से अडिग रहा, यह साधक के लिये उदाहरण है, उसे सुख-दुःख की सभी परिस्थितियों में सावधानीपूर्वक सांसारिकता में न उलझकर इस बात को ही ध्यान में रखना चाहिये कि उसे केवल परमार्थ आत्मा ही चाहिये, अन्य कुछ नहीं। यही मुमुक्षा है।।२।।

नचिकेता का प्रश्न है 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विद्याम् अनुशिष्ट स्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।(१.१.२०) जीव के मर जाने

के बाद वह रहता है या नहीं? यही प्रश्न व्यक्त करते हैं **'मर चुके मनुष्य के बारे में अत्यधिक संदेह रहता है क्योंकि इस विषय में विभिन्न मत हैं। परलोक-सम्बन्धी आत्मा है या नहीं इस बारे में आप निर्णीत सिद्धान्त बताइये।।३।। चार्वाक शरीर को ही आत्मा कहते हैं, कर्मकाण्डी स्वर्गादि लोकों को जाने वाले को आत्मा बताते हैं जबकि मोक्षेच्छुकों का कहना है कि बन्धन से छूटने पर बचने वाला आत्मा है। (और भी अनेक मान्यतायें हैं अतः संदेह सहज है)।' नचिकेता द्वारा यों पूछने पर गुरु यमराज ने उससे कहा ।।४।।** मनुष्य अर्थात् जीव के स्वरूप के बारे में लौकिक एवं शास्त्रीय अनेक मत हैं। मरने के साथ ही जीव ख़त्म हो जाता है, स्वर्ग-नरक एवं देहान्तर में जाने वाला कोई आत्मा नहींऐसा चार्वाक आदि नास्तिक मानते हैं। कुछ नास्तिक तो लोकान्तरगामी जीव स्वीकारते हैं लेकिन प्रत्यक्ष और तन्मूलक अनुमान को ही मानने वाले चार्वाकों को वैसा आत्मा समझ नहीं आता, वे शरीर को छोड़कर और किसी आत्मा को नहीं स्वीकारते। स्थूल शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर को आत्मा माना जाये, इसमें चार्वाकों में मतभेद हो सकता है पर मरणोत्तरवर्ती आत्मा उन्हें अस्वीकार है। जो यह मानते हैं कि किये हुए कर्मों का फल अवश्य होता है वे मरणोत्तर आत्मा स्वीकारकर उसका इहलोक या परलोक में जन्म भी अंगीकार करते हैं। जो कर्मव्यवस्था के बजाये विश्वास-व्यवस्था के पक्षधर हैं कि कर्म नहीं वरन् विश्वास फल देता है, वे भी परलोक-सम्बन्धी आत्मा स्वीकारते ही हैं। कैवल्य मोक्ष को स्वीकारने वाले नित्यमुक्त तत्त्व को आत्मा बताते हैं। इस प्रकार मतभेद रहते निर्णय कठिन है कि मरने के बाद आत्मा रहता है या नहीं। चार्वाकों का प्रायः यह तर्क ही रहता है कि 'आगे किसने देखा है!' आगे अर्थात् भविष्य और वह किसी को दीख ही नहीं सकता क्योंकि दीखता वही है जो वर्तमान हो! संसार में परिस्थिति तो यह है कि अगले क्षण जीवन रहेगायह भी किसी ने नहीं देखा अतः किसी भी योजना के कोई मायने नहीं, यहाँ तक कि अनाज के दाने भी बटोरकर रखना बेकार है क्योंकि दो-चार घण्टों बाद उन्हें पीसकर रोटी बनाकर खायेंगे यह किसने देखा है! इहलोक में निकट व दूर भविष्य की सारी व्यवस्थाएँ करते हुए 'आगे किसने देखा है' के तर्क से लोकान्तर-सम्बन्धी जीवस्वरूप का अपलाप करना स्वयं को धोखा देना ही है। फिर भी संसार में इस मत का काफ़ी प्रभाव है अतः विचारक के सामने यह भी एक विकल्प उपस्थित तो होता ही है। कर्मकाण्डी कर्ता-भोक्ता, देहान्तर-लोकान्तर-सम्बन्धी स्वरूप वाले को आत्मा मानते हैं जो व्यावहारिक

दुर्ज्ञेय आत्मा

दुर्विज्ञयेमणुत्वात्तद् देवैश्च विचिकित्सितम्।
त्यक्त्वैतत् पुत्रवित्तादीन् वृणीष्वेत्युक्त आह तम्।।५।।
पुत्राद्या नश्वराः क्लेशहेतवश्चाऽथ दुर्गमम्।
तत्त्वं वक्तुं त्वादृशोऽन्यो नेत्यात्मैव त्वयोच्यताम्।।६।।

युक्तियों से एवं शास्त्रीय व्यवस्थाओं से संगत भी है। दार्शनिकों में से भी अधिकतर की ऐसी ही मान्यता है तथा अवैदिक धर्मों के अनुसार भी जीव ऐसा ही है। अनेक जन्म न मानने वाले भी जीव को स्वर्ग-नरक जाने वाला स्वीकारते ही हैं। तीसरा सिद्धांत उपनिषद्वादियों का है जो आत्मा को वास्तव में अकर्ता अभोक्ता व्यापक ज्ञानरूप सत् बताते हैं। कर्तृत्त्वादि की उपपत्ति उपाधियों से हो जाने के कारण मोक्ष की सनातनता व बंधन की मायिकता स्वीकार है। यह मत मूलतः केवल वेद के प्रामाण्य पर अंगीकार है किन्तु स्वानुभव पर आधारित युक्तियाँ भी इसे पोषित करती हैं इसलिये नचिकेता ने इसे भी एक विकल्प के रूप में रखा। जीवित दशा में तो जीव को जैसा-तैसा मानकर व्यवस्थाओं की संगति लग सकती है किन्तु जीवन से आगे-पीछे के संदर्भ समझने के लिये जीव के स्वरूप का निर्धारण आवश्यक हो जाता है अतः मरणोत्तर जीव के अस्तित्वादि के संदेह को उठाया। इस समस्या के समाधान से पूर्व यम नचिकेता की जिज्ञासा की दृढता की परीक्षा करेंगे।।३-४।।

यमराज ने पहले विषय की कठिनता व्यक्त की **'क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिये उस आत्मतत्त्व को समझना बहुत मुश्किल है, यहाँ तक कि देवताओं को भी इस बारे में संशय रहा! इसलिये इसे समझाने की माँग छोड़कर पुत्र, धन आदि की प्राप्ति का वर माँग ले।' यम द्वारा यों कहा जाने पर नचिकेता बोला ।।५।। पुत्रादि विषय न केवल नश्वर वरन् क्लेश-प्रद भी हैं (अतः उन्हें नहीं पाना चाहता)। मुश्किल से समझ आने वाले तत्त्व के बारे में बताने वाला आप से बेहतर और कोई है नहीं अतः आप आत्मा के बारे में ही बताने की कृपा करें।'।।६।।** नचिकेता का प्रश्न वास्तव आत्मा के बारे में ही है यह यम को स्पष्ट था। स्थूल देह से अन्य आत्मा तो इसी से प्रकट था कि नचिकेता पृथ्वी छोड़कर यमलोक पहुँचा हुआ था! अतः केवल कर्ता-भोक्ता रूप को वह पूछ रहा हो यह संभव नहीं। उतना ही बताना होता तो यम सद्यः कह देते पर क्योंकि निरुपाधिक वस्तु बताना ज़रूरी था इसलिये उन्होंने दुर्ज्ञेयता कही। आत्मा को वेद में 'अणु'

कहा क्योंकि वह सूक्ष्मतम है। परिमाणविशेष के तात्पर्य से आत्मा को अणु नहीं कहते क्योंकि उसे महान् भी कहते हैं और ये दोनों परिमाण परस्पर विरुद्ध हैं। आत्मा को सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से ही अणु कहा जाता है। अत्यन्त एकाग्र चित्त से ही समझा जा सके ऐसा सूक्ष्म स्वरूप आत्मा का है। इसे समझने की कठिनता स्पष्ट करने के लिये यम ने कहा कि देवताओं को भी यह वस्तु समझना मुश्किल था, उन्हें भी इस बारे में संदेह रहा, बाद में भले ही वे ब्रह्मा आदि के उपदेश से इसे बुद्धिगत कर पाये। देवताओं का यह हाल रहा तो विभिन्न दार्शनिक आत्मा के बारे में मतभेद रखें इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यद्यपि इस विषय में असुर भी एकमत नहीं तथापि देवताओं का उल्लेख यह द्योतित करने के लिये है कि आत्मा के बारे में गंभीर चिंतन और प्रामाणिक निश्चय वही कर सकता है जिसमें दैवी संपत्ति हो। आसुर संपत्ति वाला विषय-भोगों में मस्त रहेगा, आत्मा की उसे जिज्ञासा ही नहीं होगी तो जान सके इसकी क्या संभावना! असुर सींग-पूँछ वाले ही नहीं समझने चाहिये, प्राणों के रमण में ही संलग्न रहने वाले सभी असुर हैं जिनके लिये शरीर-इंद्रिय-मन की खुशी ही पुरुषार्थ है। दैवी संपत्ति वालों में सत्त्वगुण अधिक होने से वे ही विचार में सक्षम होते हैं, अनित्य असारता पहचान कर नित्य से आकृष्ट होते हैं। आत्मचर्चा सुनना भी जो सात्त्विक नहीं उसके लिये बड़ा भारी बोझा है! जिन बातों से कोई फ़ायदा-नुकसान नहीं ऐसी अमरीका, इंग्लैंड की हज़ारों बातें करते रहें, सबको फुसर्त रहती है पर आत्मा की बात शुरू होते ही सबको काम याद आ जाते हैं! जब तक दैवी संपत्ति न अर्जित की जाये तब तक यह विषय सुना नहीं जा सकता। अजिज्ञासु को जिज्ञासोदय का साधन बताया जा सकता है पर तत्त्वोपदेश देना निरर्थक है। नचिकेता जिज्ञासु तो था परंतु इच्छा की तीव्रता की परीक्षा के लिये यमने उससे पुत्र धन आदि माँगने को कहा, तब नचिकेताने विवेकपूर्ण वैराग्य व्यक्त किया। मर्त्यलोक में दुर्लभ सब विषय, दीर्घ आयु आदि अनेक फलों का प्रलोभन पाकर भी मुनिकुमार ने अपना लक्ष्य नहीं बदला। सारे विषय स्वल्प समय टिकने वाले हैं, इंद्रियों का तेज जीर्ण करने वाले हैं, लम्बे से लंबे समय भोग लेने पर भी तृप्ति प्रदान नहीं करते क्योंकि धन में यह सामर्थ्य ही नहीं कि मनुष्य को तृप्त कर सके; इस निश्चय से नचिकेता ने घोषणा की 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' (१.१.२९) कि आत्मविद्या से अतिरिक्त कुछ भी वह वररूप से नहीं लेगा। विचार दृष्टि से यमराज ने जो विकल्प दिये वे बेतुके थे! एक नगीना और एक कंकड़ी में से किसी एक को चुनने को कहना जैसे अनुचित है ऐसे विषय और आत्मा में से

श्रेयःप्रेयोमार्गौ

शृणु प्रियं हितं चेति पुरुषैरर्थ्यते द्वयम्।
प्रियाः पुत्रादयस्त्वात्मा हितो दुःखविवर्जितः।।७।।

एक को चुनने के लिये कहना भी ठीक नहीं। लगभग बराबर की चीज़ों में से एक को चुनने को कहा जाये तब बात समझ आती है, असमान वस्तुओं में से एकका चुनाव करने के लिये कहना नहीं बनता। विषय क्लेशप्रद हैं, आत्मबोध क्लेशों का उन्मूलन कर डालता है, दोनों सर्वथा असमान हैं। विषय क्षणभर भी नहीं टिकते, आत्मा नित्य है, दोनों की बराबरी कैसे की जाये! पुत्र पैदा होते हुए माँ को असह्य पीडा देता है, बाल्यावस्था में लगातार दुःख देता है और बड़ा होकर पुनः पत्नी आदि के व्यूह में फँसकर माता-पिता की उपेक्षा करता है, ऐसे पुत्र को और निरतिशय आनंदरूप आत्मा को एक तराज़ू पर रखा नहीं जा सकता। नचिकेता ने इस असंगति को दिखाकर विषय ग्रहण करने से इनकार कर दिया। किं च यम से श्रेष्ठ ब्रह्मोपदेशक दुर्लभ होने से भी यह मौका गँवाने जैसा नहींयह जानते हुए भी उसने आत्मप्रश्न के उत्तर की ही माँग की। यहाँ तक प्रथम वल्ली की व्याख्या हुई।।५-६।।

द्वितीय वल्ली के प्रारंभ में यमराज का प्रसिद्ध उपदेश है कि कल्याण और वैषयिक सुख परस्पर पृथक् उद्देश्य हैं तथा सुखार्थी को स्थायी पुरुषार्थ से वंचित रहना पड़ता है। बुद्धिमान् धैर्यपूर्वक कल्याण का चयन कर उसके साधन-पथपर चलता है जबकि मन्दमति सुखों के चक्र में ही घूमता रह जाता है। सुखभोग अविद्या के क्षेत्र में ही है, कल्याण विद्या के क्षेत्र की वस्तु है। अन्धा अन्य अन्धों का मार्गदर्शक बने ऐसी हालत उनकी है जो खुद भी सुख में रमण करते हैं व अन्यों को भी उसी की प्रेरणा देते हैं। परलोक को भी स्वीकारना मूढ के बलबूते का नहीं तो वह कल्याण को समझ सके इसकी क्या संभावना! वह तो जीने-मरने की प्रक्रिया में ही अटका रहता है। इस विषय का संग्रह करते हैं **(यमराज बोले) सुनो; सभी लोग जिन्हें चाहते हैं वे ये दो ही हैंप्रिय और हित। पुत्र आदि प्रिय हैं एवं समस्त दुःखों से सर्वथा रहित आत्मा हित है।।७।।** जो अच्छा लगता है, सुख देता है, जिसकी उपयोगिता का ज्ञान विशेष विचार या शास्त्रादि पर श्रद्धा की ज़रूरत नहीं रखता वह प्रिय है। लौकिक हित के लिये भी श्रद्धा, धैर्य, विवेक की ज़रूरत रहती है, वैद्यद्वारा कहे पथ्य का ही सेवन करना, कुपथ्य से दूर रहना यह भी प्रियपरक व्यक्ति से संभव नहीं होता, वह तात्कालिक स्वाद के लालच में अपथ्याहार कर ही बैठता है। संसार में सभी

अविवेकविवेकौ द्वौ मार्गौ तत्राऽविवेकिनः।
प्रियार्थिनस्त्वं तु नैवं मत्तो ज्ञानं हितं भज।।८।।

लोग किसी विषय में हित तो किसी में प्रिय को चुनते रहते हैं किंतु हमेशा हित का ही चयन करने का नियम अत्यन्त विवेकशील ही पाल सकता है। न केवल प्रिय और न केवल हित को चुनकर सामान्य लौकिक जीवन चलता है पर संसार-सम्बंधी विवेकी भी हित को ही अधिक चुनता है, प्रिय को कम ही महत्त्व देता है। वास्तव में निज का हित चाहने वाला ही हमेशा हित तत्पर होकर मोक्ष मार्ग का पथिक बनता है। लौकिक हित भी वस्तुतः प्रिय श्रेणी के ही हैं अतः यहाँ स्पष्ट किया कि पुत्रादि सब विषय प्रिय तथा अकेला आत्मा ही हित है। हित से यहाँ आत्यन्तिक, पारमार्थिक हित ही विवक्षित है, वही दुःखमात्र से परे है। लोकसिद्ध हित यत्किंचित् परेशानी मिटा सकते हैं लेकिन समस्त दुःखों से अस्पृष्ट नहीं बना सकते। सब विशेषों से रहित अद्वितीय आत्मवस्तु ही सच्चा हित है।।७।।

उक्त अभीष्टों के मार्ग बताते हैं **अविवेक और विवेक दो मार्ग हैं। प्रिय को ही अपना प्रधान उद्देश्य बनाने वाले, उक्त मार्गों में से अविवेक का ही पथ अपनाते हैं। हे नचिकेता! तुम ऐसे प्रियपरायण नहीं हो इसलिये हित के साधनभूत ज्ञान का मार्ग मुझसे समझ कर उसी पर चलो।।८।।** प्रिय का मार्ग अविवेक का है। भले ही लोकदृष्टि से उसमें समझदारी चाहिये हो पर मूल अविवेक, आत्मा-अनात्मा के अविवेक को कायम रखकर, उसे पुष्ट करते हुए ही प्रियमार्ग पर आगे बढ़ा जा सकता है। विवेक के रास्ते से हित ही मिलेगा, प्रिय नहीं। ये रास्ते सर्वथा अलग हैं। इन पर चलने वालों को स्वभावतः ही अपना मार्ग अनुकूल पड़ता है, दूसरा रास्ता पसन्द नहीं आता। दूरगामी फल का विचार ही प्रेयोमार्गी को निरर्थक लगता है, वह तात्कालिकता में ही जीना जानता है, उसी से सन्तुष्ट रहता है। दूसरी ओर, श्रेयःपरक की हमेशा अंतिम प्रभाव पर पहले दृष्टि जाती है, तत्काल के लाभ-हानि को वह फल ही नहीं समझता, एक अतिरिक्त सुविधा या असुविधा ही देखता है। नचिकेता श्रेयःस्वभाव का होने से यम के प्रलोभनों से डिग नहीं पाया अतः उन्होंने उसे वास्तविक हित का समर्पण किया।।८।।

इस प्रसंग में अविवेकी विषय-परायण को कह रहे हैं, वह चाहे इस लोक के विषयों से आकृष्ट होता हो या परलोक के। इहलोक से परलोक कुछ ज़्यादा स्थायी है इतने मात्र से इहपरायण से अमुत्रपरायण को बेहतर या थोड़ा विवेक करने वाला समझा

मूढातिमूढौ न समौ त्वयाऽत्यन्तविवेकिना।
मूढस्त्वीषद्विवेकी सन् स्वर्गमिच्छति नैहिकम्।।९।।
तद्गुरुश्च तथैतौ द्वावन्धनीतान्धवत् स्थितौ।
आत्मतत्त्वाऽनभिज्ञत्वाद् अविद्याभ्यन्तरे स्थितौ।।१०।।
अतिमूढो धनार्थी सन् ब्रह्महत्यादिकान्यपि।
करोति परलोकस्तु न तस्य प्रतिभासते।।११।।

जाता है पर वस्तुतः वह भी है अविवेकी ही, यह सूचित करते हैं **तुम अत्यन्त विवेकी हो, तुम्हारी बराबरी न मूढ कर सकते हैं न अतिमूढ। मूढ वह है जो थोड़ा विवेक रखते हुए इहलोक पर तो मुग्ध नहीं होता किन्तु स्वर्ग को चाहता ही है।।९।। ऐसों को गुरु भी मूढ ही मिलते हैं! इन गुरु-शिष्यों की हालत वही है जो रास्ता बताने और उसके पीछे चलने वाले अंधों की होती है। आत्मा की सचाई से अपरिचित होने के कारण मूढ गुरु-शिष्य अविद्या के भीतर ही मौजूद हैं।।१०।। अतिमूढ वह है जिसे परलोक की तो कोई समझ नहीं आती, वह धन को ही पुरुषार्थ समझते हुए ब्रह्महत्यादि पाप भी कर डालता है।।११।।** लौकिक विघ्न दूर किये बिना धर्म भी नहीं किया जा सकता। सकाम कर्मों में अधिकार कायम रखने के लिये नित्य-नैमित्तिक कर्म करना और आचार का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा जीवन व्यतीत करने के लिये परलोक व शास्त्र पर श्रद्धा तथा सामान्य से काफी अधिक विवेक चाहिये अतः मूढ को भी गुरु की ज़रूरत रहती है, बिना गुरु के इस स्तर का विवेक भी संभव नहीं। किंतु परमार्थ न जानने से ऐसे गुरु भी मूढ रह जाते हैं तो उनके शिष्यों का मूढ होना कोई आश्चर्य नहीं। विषयमार्ग पर अंधा नेता जैसे अनर्थकारी होता है ऐसे कल्याण-पथ पर चलने के लिये उसका सहारा लेना अनर्थप्रद है जो स्वयं ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् नहीं है। मूढ से अधिक जडमति है अतिमूढ जो अतिसीमित दृष्टि वाला है, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक आदि के बारे में कुछ समझ नहीं पाता। थोड़े से पैसे बचाने के लिये झूठ बोलने में उसे कोई हिचक नहीं होती, धर्म तो दूर, सामाजिक नैतिकता का भी पालन वह नहीं कर पाता। सर्वस्व को तो मूढ भी नहीं छोड़ता लेकिन जो कर्म भविष्य में अधिक दुःख देने वाला समझ आये उसे कम सुख के लिये न करे यह सम्भव हो जाता है। परलोक में विषय-सुख चाहने वाला इहलोक के विषयों से विरक्त नहीं है, विषय-रूप से यहाँ की चीज़ें उतनी ही आकर्षक हैं जितनी स्वर्ग की, लेकिन वहाँ की चीज़ों का स्तर और स्थायित्व ज़्यादा

है इसे समझकर उन्हें पाने के लिये ज़रूरी होने पर यहाँ के विषयों से विमुख होना मूढ के लिये संभव हो जाता है जबकि अतिमूढ के सामने स्वर्गादि हैं ही नहीं अतः उसके लिये उनके उद्देश्य से भी ऐहिक पर नियंत्रण करना संभव नहीं होता। मूढ को गुरु चाहिये परंतु अपनी दृष्टि को वह इतना महत्त्व देता है कि गुरु भी ऐसा ही ढूँढता है जो मूढ हो। जो सचाई बताने वाला हो उसकी बात वह सुनना ही नहीं चाहता। सांसारिक विषयों का जब विश्लेषण कर उनकी असारता, दुःखदता व्यक्त करते हैं तब अनेक लोगों को सुनना बुरा लगता है, जगत् की चीज़ों, सम्बन्धों के क्लेश-प्रद पहलू को वे देखना ही नहीं चाहते। अंधा भी जब काफी समय किसी रास्ते पर जाता-आता रहता है तब उस रास्ते को पहचान लेता है, उसमें कहाँ मुड़ना आदि उसे याद हो जाते हैं जिसके सहारे वह उस मार्ग पर चलने वाले नये अंधों को रास्ता बता भी देता है, उसके पीछे-पीछे चलकर वे उस रास्ते को तय भी कर लेते हैं, लेकिन उसी रास्ते में कोई नया गड्ढा खुद जाये, कोई जानवर बैठा हो तो पुराना अंधा भी ठोकर खाता है, गिर जाता है और उसके पिछलग्गू अंधों का भी वही हाल होता है। इसी तरह धर्म, स्वर्गोपाय जानने वाला जितना जानता है उसके भरोसे औरों को रास्ता बता देता है लेकिन परम सत्य से वह भी बेखबर है अतः उसके पीछे चलने वाले बाकी मूढ भी वास्तव कल्याण से वंचित ही रह जाते हैं। भगवान् ने गीता में (२.४२-४) स्पष्ट किया है कि वेद पढ़कर भी ऐसे लोग सत्य को स्वीकारते तक नहीं। इन्हें जो बेहतर कहते हैं उसमें कारण है कि ऐसों को शास्त्र में श्रद्धा होती है, और शास्त्र में जगह-जगह परमात्मा का वर्णन है, संसार की असारता का वर्णन है तो यह संभावना रहती है कि कभी-न-कभी उन्हें ये बातें भी जँचेंगी, इन पर भी गौर करेंगे। जो शास्त्र से ही दूर बने रहते हैं उनसे तो यह आशा भी नहीं कर सकते कि उन्हें संसार की असत्यता या परमात्मा के स्वरूप की कोई संकल्पना भी कभी होगी। ऐसे अतिमूढों का तो जीवनकेंद्र रहता है धन, धनलाभ का कोई भी उपाय हो वही उन्हें सही लगता है, धनहानि ही उन्हें ग़लती लगती है; इससे पृथक् अच्छे-बुरे का कोई मापदण्ड वे नहीं समझते। धर्म के लिये युद्ध हो तो उसे बुरा बतायेंगे, धन के लिये युद्ध में स्वयं प्रवृत्त हो जायेंगे, धार्मिक संपत्ति को नाजायज़ कब्ज़े से छुड़ाने में ज़ोर-ज़बरदस्ती का विरोध करेंगे पर खुद की संपत्ति छुड़ाने के लिये गुण्डों का प्रयोग कर लेंगे, इत्यादि रोज़-मर्रे के व्यवहार में धन-प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। मूढ-अतिमूढ दोनों ही श्रेयोमार्ग के पथिक नहीं हैं इसलिये कहा कि नचिकेता की उनसे तुलना नहीं हो सकती।।६-११।।

श्रेयसि विघ्नाः

चार्वाकैः कर्मिभिश्चात्मा श्रवणायाऽपि दुर्लभः।
मुमुक्षवोऽपि बहवः शृण्वन्तोऽपि न जानते।।१२।।

यमराज ने मोक्ष-साधना की महत्ता बतायी 'श्रवणायाऽपि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।(१.२.७) कि अधिकतम लोगों को तो आत्मा के बारे में सुनने को ही नहीं मिलता, जो सुनते हैं उनमें भी प्रायः को वह तत्त्व समझ नहीं आता। आत्मवस्तु को कुशलता से समझा सके ऐसा गुरु और उससे सुनकर आत्मा को समझ ले ऐसा शिष्यये संसार में एक आश्चर्य ही हैं। इस बात को स्पष्ट करते हैं **शास्त्र-विमुख विषयैक-परायण चार्वाकों तथा कर्म को ही सर्वसमर्थ समझने वाले आस्तिकों को भी आत्मा के बारे में सुनने को मिलना बहुत मुश्किल है। मोक्ष चाहने वालों में भी बहुतायत उनकी है जो आत्मविषयक श्रवण करते हुए भी आत्मा को समझ नहीं पाते।।१२।।** अतिमूढों का प्रतिनिधि चार्वाक और मूढ या ईषद्विवेकियों का प्रतिनिधि कर्मकाण्डी है। चार्वाक एक दर्शन है जो प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण नहीं मानता, देहातिरिक्त आत्मा नहीं मानता, अदृष्टफलक कर्म नहीं मानता; किंतु जो सर्वथा इस दर्शन का अनुसरण न भी करे पर इहलोकमात्र के संदर्भ में ही सोचे-समझे, उसे भी चार्वाक कह देते हैं। कर्मी प्रायः उन्हें ही कहते हैं जो शास्त्रीय कर्म-फलव्यवस्था पर श्रद्धा रखते हैं, तदतिरिक्त किसी साधन को नहीं मानते जो वास्तविक कल्याण करे। अनेक लोग शास्त्रश्रद्धा वाले नहीं होते पर अपनी बुद्धि से या अन्य सज्जनों से प्रेरणा पाकर नैतिक, राष्ट्रभक्त, समाजसेवी आदि बन जाते हैं और उन कर्मों को अत्यधिक महत्त्व देते हैं, धन-मान आदि की परवाह छोड़कर, विवाहादि से भी विमुख रहकर, स्वसंमत आदर्शों के लिये जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं। उन्हें भी यहाँ कर्मियों में गिन लेना चाहिये, वे मूढ या अल्पविवेकी ही हैं क्योंकि जन्य, मर्त्य, अज्ञान क्षेत्र को ही सर्वस्व समझते हैं। ऐसे सब लोग परमार्थ सत्य के श्रोता नहीं बनते क्योंकि उसके लिये ज़रूरी जो वैराग्य वह उनमें पनप नहीं पाता। अनित्य दृश्य को महत्त्व देने से वे इससे निरपेक्ष नहीं होते। यदि प्राचीनता के प्रति आदर से वे अध्यात्म-चर्चा को सर्वथा निरर्थक, प्रगतिविरोधी आदि न घोषित करें तो भी वे इसे 'विशिष्ट अत्युच्च साधकों के काम की' कहकर स्वयं इस दिशा में विचार से दूर ही रहते हैं। गुण-क्रियादि सब विशेषताओं से रहित, कार्यकारणादि सब व्यवस्थाओं से बहिर्भूत, एकरस तत्त्व को

हविर्भुजां हि देवानाम् अप्रियं मर्त्यवेदनम्।
मर्त्यास्तत्त्वं न जानन्ति विघ्नैर्देवकृतैर्हताः।।१३।।
आचार्यशिष्ययोर्दोषान् देवा उत्पादयन्ति हि।
वाग्दोषाद् बुद्धिदोषाद्वा वक्तुं शक्नोति नो गुरुः।।१४।।

महत्त्वपूर्ण स्वीकारना उनके लिये संभव नहीं जो वैराग्य से परिपूर्ण नहीं अतः वे इस बारे में श्रोता बनते नहीं। कर्मकाण्डी तो यहाँ तक मान बैठे हैं कि मंत्रों का 'अर्थ' द्रव्य-देवतादि को याद दिलाना ही है, मन्त्र के वाक्यों का जो मतलब है उसे वे मंत्रों का अर्थ ही नहीं मानते! प्रायः मंत्र परमात्मा का वर्णन करते हैं, यदि उन वर्णनों पर दृष्टि जाये तो संभव है कि वास्तविकता का कोई विचार भी उठे, पर जब उन वर्णनों को ही अनभिप्रेत मान लिया तब उन पर ग़ौर करने की संभावना ही नहीं रहती। अतः 'पुरुष एवेदं सर्वम्' आदि मंत्र का रोज़ पाठ करते हुए भी कर्मकाण्डी इस पर कोई चिंतन नहीं करता कि 'इदं सर्वं' पुरुष कैसे है? इस प्रकार मंत्रादि का अध्ययन-अध्यापन करते हुए भी वस्तु का श्रवण नहीं होता। जो मोक्ष की इच्छा रखकर सत्य जानना चाहते हैं वे प्रयास-पूर्वक श्रवण तो करते हैं लेकिन उनमें भी बहुत कम होते हैं जो समझ पायें, पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्यार्थज्ञान पा सकें। उपाधिसहित रूप तो समझ आता है लेकिन उपाधि हटाते ही सर्वथा शून्यता छा जाती है, निरुपाधिक तत्त्व का स्फुरण बहुत अधिक विवेक एवं सावधानी (समाहितता) की ज़रूरत रखता है। इसलिये समझने वाला साधक एक महान् आश्चर्य है।।१२।।

बृहदारण्यक में (१.४.१०) बताया है कि जैसे ग्वालों के लिये गायों की कीमत है वैसे देवताओं के लिये अज्ञानी पुरुषों की कीमत है अतः जैसे गाय उसके झुण्ड से निकल कर स्वतंत्र विचरण करे यह कोई ग्वाला नहीं चाहता ऐसे जीव मुक्त हो जाये यह कोई देवता नहीं चाहता! इसलिये वे यथाशक्ति ऐसे विघ्न उत्पन्न करते रहते हैं जिनसे साधक सफल न हो पाये। दुर्लभ दृढता वाला मुमुक्षु ही विघ्न लाँघकर चरम साक्षात्कार तक पहुँच सकता है। यह प्रकट करते हैं **हवि का उपभोग करने वाले देवताओं को यह पसन्द नहीं कि मरणधर्मा जीव परमार्थ आत्मवस्तु का ज्ञान पाये इसलिये देवता ज्ञानमार्ग पर चलने में विघ्न डालते हैं जिनके कारण मरणशील साधक तत्त्व को नहीं समझ पाते।।१३।। देवता विघ्न के रूप में आचार्य और शिष्य में दोष उत्पन्न कर देते हैं। वाणी या बुद्धि में आये दोष के कारण गुरु आत्मा का समीचीन कथन नहीं कर पाता।।१४।। अविश्वास**

अविश्वासात् कुतर्काद् वा शिष्यो बोद्धुं न शक्नुयात्।
ईश्वरानुग्रहाद् देवा विहन्तुं शक्नुवन्ति नो।।१५।।
'सह ना' वित्यादिशान्तिजपेनेशप्रसादतः।
निर्विघ्नौ गुरुशिष्यौ स्तस्तादृशौ दुर्लभौ खलु।।१६।।

और कुतर्क शिष्य में आने वाले दोष हैं जिनके कारण वह आचार्य की बात सही-सही समझ नहीं पाता। साधक पर यदि परमेश्वर की कृपा हो तभी यह संभव है कि देवता उसकी प्रगति में विघ्न न डाल पायें।।१५।। 'सह नौ' आदि शान्तिमंत्र के जप से प्रसन्न हुए ईश्वर की कृपा से ही गुरु-शिष्य विघ्नहीन हो पाते हैं और ईश्वर के कृपापात्र ऐसे वक्ता-श्रोता मिलना अत्यन्त कठिन है।।१६।। अज्ञानी देवों का सेवक है, वह ज्ञान पा ले तो स्वयं परमेश्वर हो जायेगा, तब वह नहीं बल्कि देव ही उसकी सेवा करेंगे! अपने नौकर की इतनी उन्नति कौन चाहता है कि वही मालिक बन जाये! इसलिये देवताओं को यह पसंद ही न आना स्वाभाविक है कि मनुष्य ब्रह्मज्ञान पायें। देवता क्योंकि जीव के इंद्रियादि-संघात को कार्यकारी बनाने के लिये अंशतः इंद्रियादि में मौजूद रहते हैं इसलिये जीव के रास्ते में विघ्न पैदा करना उनके लिये अतिसरल है। जिन इंद्रिय मन आदि से साधना करनी है वे चलते ही देवताओं के बल पर हैं, जब देवता ही विरोधी हो जायें तब सही मार्ग पर इंद्रियादि चलेंगी नहीं, ग़लत की ओर फिसलती रहेंगी। आँख में रूप देखने की इच्छा पैदा करनायह सूर्य द्वारा कृत विघ्न है, ऐसे सब देवता कामनादि विघ्न करते रहते हैं जिससे प्रत्यङ्मुखता संभव नहीं हो पाती। देवता तत्त्व के वक्ता में दोष भी पैदा करते हैं, वह सही तरह से अपने विचार व्यक्त नहीं कर पाता, शिष्य के प्रश्न को समझ नहीं पाता, या शिष्य पर क्रोधादि करता है ताकि शिष्य उससे ज़्यादा स्पष्टीकरण नहीं पूछकर नासमझ रह जाता है। इसी तरह शिष्य में आने वाले दोष हैं अश्रद्धा, कुतर्क, अनेकाग्रता आदि। शास्त्र और गुरु के स्वानुभव पर अत्यन्त विश्वास न हो तो शिष्य अपने सारे अनुभवों से विलक्षण अद्वितीय सत्तत्त्व को स्वीकार ही नहीं कर सकता, उस पर विचारपूर्वक उसे समझना दूर की बात है। ऐसे ही कुतर्क में रस आने लगे तो भी सचाई समझ नहीं आती। बतायी बात काटनी ही है इस भाव से जब प्रमाण को नज़रन्दाज़ कर तर्क का प्रयोग करते हैं तब उसे कुतर्क या शुष्कतर्क कहा जाता है। वह अपने अनुभव का भी विरोधी होता है पर क्योंकि किसी स्थापना को असंगति के रूप में पेश करता है इसलिये कुतर्की को वह महत्त्व का लगता है और कुतर्क के रस

के लोभ में वह वास्तविक महत्त्व के सत्य के ज्ञान से वंचित रह जाता है। सत्य को समझने में उपयोगी तर्क ऐसे व्यक्ति की बुद्धि में ही नहीं आते, उसके विरोधी तर्क लगातार आते हैं। यह देवताओं द्वारा किया विघ्न ही है। तर्कविरुद्ध होने से सत्य पर कोई आँच नहीं आती, विवेकी सत्यविरुद्ध तर्क को सदोष जानकर शोधित करता है, कुतर्की तर्क-विरोध से सत्य नकारने की कोशिश करता है। अविश्वास व कुतर्क शिष्य में होने वाले प्रधान दोष हैं जिनसे वह परमात्मा को नहीं समझ पाता। इन विघ्नों से पार होने के लिये परमेश्वरकृपा चाहिये, वे ही मनुष्यों के और देवताओं के अंतिम मालिक हैं। परमेश्वर से प्रार्थना करने पर वे दयालु होने से अनुग्रह कर देते हैं जिससे साधक के लिये पुरुषार्थ-सिद्धि संभव हो जाती है। उपनिषदादि के पठन-पाठन के पहले-पीछे शांतिमंत्रों के उच्चारण का इसीलिये विधान है कि उन प्रार्थनाओं से परमेश्वर प्रसन्न होकर साधनामार्ग निर्विघ्न रखें। कठ, तैत्तिरीय, कैवल्य, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों के लिये 'सह नौ' आदि शांतिमंत्र विहित है। उसमें प्रार्थना है कि गुरु-शिष्य दोनों की रक्षा परमेश्वर साथ-साथ करें, दोनों का पालने करें। विद्या का स्वरूप प्रकाशित हो और उसका फल प्रकाशित हो तभी रक्षा, पालन संभव है। गुरु-शिष्य इसके लिये परिश्रम कर पायें, उनके द्वारा संपादित अध्ययन अविद्यानिवर्तन में समर्थ हो एवं परस्पर कोई विद्वेष, मतभेदादि न हो यह उस मंत्र में प्रार्थना है। इससे प्रसन्न होकर ईश्वर कृपा करें तभी गुरु का बताना और शिष्य का समझना संभव होगा। ऐसे सच्चे हृदय से प्रार्थना करने वाले ही विरले होते हैं अतः ईश्वर के कृपापात्र दुर्लभ ही हैं जो आत्मबोध पा सकें।।१३-६।।

यम ने बताया है कि प्राकृत बुद्धि वाला यदि आत्मा के बारे में बताये तो श्रोता को सही ज्ञान संभव नहीं, जो परमात्मा से सर्वथा अनन्य हो गया है वही जब बताये तब अज्ञान दूर होता है। इस आधार पर, दो प्रकार के गुरु होते हैं जिनमें एक सुलभ होने पर भी तत्त्वज्ञानोदय के लिये पर्याप्त नहीं तथा जो ज्ञानहेतु बनता है वह दुर्लभ है यह स्पष्ट करते हैं **गुरु दो तरह के होते हैंएक वह जो शास्त्र शब्दों को जानता है और उनके अर्थों का परोक्ष ज्ञान रखता है तथा दूसरा वह जिसे स्वात्मरूप तत्त्व का प्रामाणिक साक्षात्कार है। प्रथम प्रकार का गुरु केवल नर है, वह ब्रह्म नहीं क्योंकि उसका 'मैं नर हूँ' यह भ्रम मिटा नहीं है। उसके द्वारा परमात्मवर्णन किया जाने पर श्रोता को निश्चय के बजाय संशय ही होंगे क्योंकि वह अपनी वाणी से वेदवाक्यों की नाना प्रकार की व्याख्या कर देगा।**

गुरुः

शब्दार्थज्ञः स्वात्मतत्त्वानुभवी च गुरुर्द्विधा।
आद्यो नरो न तु ब्रह्म नरत्वभ्रान्त्यनाशनात्।।१७।।
तेनोक्ते संशया एव स्युर्वाचा बहुयोजनात्।
ब्रह्मैवाऽनुभवी तेन ब्रह्म प्रोक्तं विबुद्ध्यते।।१८।।
कुतर्काद् नाश्यते विद्या तार्किको न गुरुस्ततः।
आगमे चाऽनुभूतौ च कुशलोऽत्र गुरुर्भवेत्।।१९।।

दूसरे प्रकार का गुरु अर्थात् तत्त्व का जिसे अनुभव है वह स्वयं ब्रह्म ही है, उसके द्वारा समझाये जाने पर ब्रह्म अवश्य समझ आ जाता है।।१७-८।। कुतर्क से विद्या नष्ट होती है इसलिये तर्कप्रधान विचारक परमात्मविद्या का गुरु नहीं हो सकता। परा विद्या का गुरु वही होना उचित है जो वेद और अनुभव दोनों में कुशल अर्थात् श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो।।१९।। कोई भी ज्ञान दे वह गुरु है परंतु परमात्मज्ञान के प्रसंग में गुरु वही कहलाता है जो मूलाज्ञान-निवारक ज्ञान प्रदान कर सके। अतः उपनिषत् के शब्द और शब्दों के अर्थ जानने वाला यहाँ गुरु नहीं वरन् जो उपनिषत् के तात्पर्य का साक्षात्कार पा चुका है वही गुरु है। शब्दार्थमात्र का जानकार अपरोक्षरूप से भूमा को नहीं समझता अतः परोक्षज्ञानी ही है, वह स्वयं ही जीवभाव से नहीं छूटा तो शिष्य को क्या छुड़ायेगा! जिसे परोक्षज्ञान भी नहीं उसकी तो गुरुरूप से प्राप्ति ही नहीं है, अतः शब्दों के लिये प्रतिशब्द रटे हुए व्यक्ति की यहाँ चर्चा नहीं, परोक्ष ज्ञान वाले की ही बात है और उसे भी उपयुक्त गुरु नहीं माना जा रहा। स्वात्मा की ब्रह्मरूपता का जिसे दृढ साक्षात्कार है वही शिष्य के अज्ञान को दूर कर सकता है अतः वही यहाँ गुरु कहलाता है। उपाधियुक्त आत्मा सबको अपरोक्ष है, उपाधि-अंश का विवेककर आत्ममात्र को समझना त्वम्पदार्थ का शोधन है, शोधित त्वमर्थ को ब्रह्म समझा जा सकता है, ऐसा जिसने समझ लिया उसका 'मैं नर हूँ' यह अभिमान मिट जाता है, वही अध्यात्मविद्या का गुरु हो सकता है। समाधि आदि में शुद्ध त्वमर्थ का अनुभव भी पर्याप्त नहीं क्योंकि उसमें ईश्वर से अभेद प्रकट न होने से परिच्छिन्नता जाती नहीं। जीव-ईश्वर के भेद का बाध होने पर ही पूर्ण आत्मज्ञान समझा जा सकता है। जिसे ऐसा बोध नहीं वह शास्त्र की पंक्तियाँ लगा लेता है लेकिन प्रतिक्षण के अनुभवों के विरोध का परिहार नहीं कर पाता अतः उसका उपदेश 'शास्त्र यह कहता है' तो बता देगा पर 'यही सत्य है' यह निश्चय नहीं करा सकेगा। जिसने

भोजन बनाना किसी से सीखा नहीं वह केवल पुस्तकों के आधार पर स्वादिष्ट भोजन नहीं बना सकता, इसी तरह जिसे परब्रह्म का अपरोक्ष नहीं वह उपनिषदों का तात्पर्य सुस्पष्ट नहीं कर सकता। जैसा लिखा है वैसा बता देने पर भी अनुभव में उतरे इस ढंग से बताने के लिये स्वयं अनुभव प्राप्त होना ज़रूरी है। स्पष्ट साक्षात्कार के अभाव में शास्त्रादि का जानकार शास्त्र-वचनों को अलग-अलग तरह से उपपन्न कर सकता है, एक ही वाक्य की सौ व्याख्यायें कर सकता है, सभी व्याख्याओं को युक्तियों से मंडित कर सकता है लेकिन 'एकमात्र अमुक अर्थ ही है' यह निश्चय नहीं कर सकता।

विभिन्न दर्शनों के विद्वान् शास्त्र की पृथक्-पृथक् व्याख्या इसी से करते हैं कि सब उसे अपने स्वानुभव से मिलाकर देखते हैं, जिसे जिस तत्त्व का अनुभव नहीं होता वह उस बारे में कल्पना का सहारा ले लेता है। अनुभवियों में तत्त्व विषयक मतभेद संभव नहीं, मतभेद उन्हीं विषयों में होता है जिनका अनुभव तो है नहीं, शास्त्रबलपर माने जाते हैं। विवेकी तो साधना से अनुभव पाने के प्रयास में लगता है, अविवेकी अपनी स्थिति में आग्रही बनकर प्रगति से वंचित रह जाता है तथा अपनी मान्यता को तर्कानुसारी बनाने के प्रयास में उलझकर शास्त्र व युक्ति से दूर हो जाता है। कई लोग सीधे कह देते हैं 'शंकराचार्य तत्त्वज्ञ नहीं थे, हम उनकी बात प्रमाण नहीं मानते' पर साधक की दृष्टि होती है कि शंकराचार्य के बताये साधनों के अभ्यास से उस स्थिति पर पहुँचा जाये जहाँ वह अनुभव हो सकता है जिसकी शंकराचार्य बात करते हैं, तब भले ही निर्णय करे कि वह बात प्रमाणानुरूप है या नहीं। प्रमा पाने के योग्य बने बिना उसे नकारना पुरुषार्थ-सिद्धि में ही बाधक बनता है, कोई लाभ नहीं देता। विचार से सत्य अनावृत होता है, इसमें भावना के उद्रेक को आड़े नहीं आने देना चाहिये; हमें अच्छा लगे तभी सत्य है ऐसी आशा नहीं की जा सकती, यही किया जा सकता है कि जिसके बारे में निर्णय हो कि सत्य है उसकी अच्छाई का चिंतन करते-करते वह अच्छा लगने लगे ऐसा स्वयं को ढाल लें। बुद्धि-चतुरता से शास्त्र के वैकल्पिक अर्थ सोचना या आधुनिक खोजों के अनुसार प्राचीन वचनों के अभिप्रायों की कल्पना कर लेना इत्यादि प्रयास साधक के लिये व्यर्थ हैं। जो कुछ बिना वेद पढ़े समझ आ सकता है उसके बारे में बताना वेद का कार्य ही नहीं है। जिसे जानने का और कोई साधन नहीं वही वेद का प्रतिपाद्य विषय है। परमात्मा और उसकी प्राप्ति का उपाय, धर्म, ये दो ही वेदादि सच्छास्त्रों के द्वारा बताये जाते हैं। जिसे परमात्मबोध है वह शास्त्रवचनों

का तात्पर्यानुसारी ही अर्थ बतायेगा, काल्पनिक व्याख्याओं की प्रदर्शनी नहीं लगायेगा। विद्वान् स्वयं ब्रह्म है, उसमें जीवताभ्रम नहीं रह गया है, वह ब्रह्म के बारे में जो कहता है वह खुद के बारे में कहता है इसलिये उसमें स्वानुभूति का समर्थन बना रहता है तभी उसके उपदेश से अत्यंत सरलता से ब्रह्म समझ आ जाता है। जो विद्वान् प्रमाण पर आश्रित न होकर तर्क के सहारे विचार में प्रवृत्त होते हैं वे किसी स्थिर निश्चय पर दृढ न रह सकने से पुरुषार्थ नहीं पा सकते। बिना प्रमाण के केवल तर्क से कोई सत्य विद्या मिलती नहीं बल्कि ऐसा तर्क विद्या की काट में ही लगा रहने से उसमें निष्ठा नहीं बनने देता। कुतर्क विद्या का नाशक है। इसलिये तर्कशील गुरु नहीं बन सकता। जो खुद किसी निर्णय पर टिक नहीं पाता वह किसी सिद्धांत का प्रतिपादन कर ही नहीं सकता कि शिष्य कुछ समझ पाये! आधुनिक काल में ऐसे प्रवक्ता, प्रचारक मिलते हैं जिनका स्वयं का कोई सिद्धांत नहीं, परस्पर विरुद्ध बातें सुनाते हैं, अपनी कही बातें काटते रहते हैं; उनके श्रोता भी ऐसी ही मनोदशा वाले बन जाते हैं, किसी निश्चय पर पहुँचकर साधना की परिपूर्ति नहीं करते। भगवान् भाष्यकारने कहा है 'एवमेवैषोऽर्थ इति निश्चितं यत् तदेव वक्तव्यम्, ततोऽन्यदुच्यमानं बहुप्रलापित्वमेवात्मनः प्रख्यापयेत।' (ब्र.सू.२.२.२५) कि 'यह ऐसा ही है' यों जो निश्चित हो जाये वही गुरु को बोलना चाहिये, अनिश्चित बातें कहते रहने से तो यही प्रकट होता है कि हम लबड़िया (बहुत बोलने वाले) हैं! ऐसा व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता। जिसकी बात पर शिष्य पूर्ण एकाग्र हो और उसे अटल स्वीकार कर खुद के आचार-विचार-मान्यताएँ बदले, वही गुरु हो सकता है। ढुल-मुल बातें करने वाले पर यह श्रद्धा ही नहीं होती कि उसके निर्देशों पर हम चलें, तो वह गुरु कैसे बन पायेगा?

उपनिषत् ने कहा है कि आत्मज्ञान उसी से पाना चाहिये जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो (मुं.१.२.१२)। जिसने विधिवत् वेद का अध्ययन किया है और पुनरावृत्ति द्वारा याद रखा है वह श्रोत्रिय कहलाता है एवं ब्रह्म से अतिरिक्त किसी में तात्पर्य न रखकर ब्रह्म में ही निश्चयपूर्ण स्थिति वाला ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है। अब्रह्म से सरोकार ही न रखने वाला ब्रह्मनिष्ठ है यह बताने के लिये भाष्यकार ने सर्वकर्मत्यागी की ही ब्रह्मनिष्ठा स्वीकारी है। यहाँ, 'आगम में कुशल' से श्रोत्रिय और 'अनुभूति में कुशल' से ब्रह्मनिष्ठ कहे गये हैं। जप, तप आदि में निष्ठा रखते हुए ब्रह्मनिष्ठ नहीं हुआ जा सकता; निष्ठा अनेकों पर नहीं होती, न आंशिक होती है। गुरु वही होगा जो पूर्णतः ब्रह्म में ही निष्ठा वाला है। कुशल कहते हैं जो कुश-नामक घास को इस तरह काट

सके कि अपना हाथ न कटे। कुश के पत्ते में दोनों किनारे धारदार होते हैं, पकड़ते ही काट देते हैं। सीखा-समझा धैर्यवान् इस ढंग से उन्हें पकड़ता है कि वे काट नहीं पाते, अतः उसे कुशल कहते हैं। इसी आधार पर, जो अन्य भी किसी कार्य को, विचार को इस तरह कर सके कि बिना नुकसान हुए लाभ हो जाये वह कुशल कहा जाता है। इस प्रसंग में दो के बारे में कुशलता कही पहली है आगम में; आगम अर्थात् वेद और उसकी सम्प्रदाय-आगत व्याख्या। जो व्यक्ति स्वयं को घायल करना चाहे इसके लिये सुई भी काफी है लेकिन दूसरों को मारने के लिये तो तलवार आवश्यक है, ऐसे ही केवल स्वयं का अज्ञान मिटाने के लिये तो थोड़ा-सा अध्ययन पर्याप्त है एक माण्डूक्योपनिषत् भी पढ़ ली जाये तो मुमुक्षु का काम बन सकता है लेकिन गुरु बनकर शिष्यों को ज्ञान देने के लिये वेदादि का विस्तृत, नाना दृष्टिकोणों से समझा-बूझा ज्ञान और उसे विरोधी युक्तियों से बचाकर अनुकूल युक्तियों से मंडित करने की प्रज्ञा अत्यंत आवश्यक है। शास्त्र वचनों का अद्वैतानुसार ही अर्थ है, इससे अन्य कोई अर्थ असंगत है इस बात को शास्त्र-संदर्भों से तथा युक्तियों से स्थापित करने की क्षमता आगम में कुशलता है। शिष्यों के मानस स्तर और बौद्धिक स्तर विभिन्न होते हैं, उनकी शंकाएँ संगत-असंगत दोनों होती हैं, अनेक प्रश्न दार्शनिक परिपाटी में ढले हुए नहीं होते, इस सब तरह की समस्याओं का हृदयग्राही समाधान दे सके वही गुरु है। दूसरी कुशलता है अनुभूति में : व्यवहारकाल की द्वैत-प्रतीति विचार-प्राप्त अद्वैतानुभव को विचलित न कर सके यह सामर्थ्य अनुभूति में कुशलता है। निरुपाधिक तत्त्व जब सोपाधिक होकर संमुख आये तब भी उसकी सच्ची उपाधि-निरपेक्षता पहचानने में विलम्ब न करे, ऐसा विद्वान् अनुभव में कुशल कहा जाता है। मन-बुद्धि की वृत्तियों के निरन्तर विषय-व्यवहार के रहते हुए भी साक्षी की अविचलता कायम रहे तभी वह ब्रह्मनिष्ठ उपदेशक हो सकता है। ऐसा अनुभवी गुरु हो तभी योग्य शिष्य का अज्ञान मिटा सकेगा।।१८-६।।

बारहवें मंत्र में कहा 'तं दुर्दर्शं गूढम् अनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।' विषयों से विमुखकर आत्मा में ही चित्त समाहित करना अध्यात्मयोग है जिसके अभ्यासपूर्वक परमात्मा की आत्मरूपता समझा हुआ बुद्धिमान् साधक हर्ष-शोकादि उत्तेजनाओं से परे हो जाता है। आत्मा अतिसूक्ष्म, गहन, बहिर्मुखों के लिये छिपा हुआ, बुद्धिरूप गुफा में निहित, अनेक अनर्थों से घिरने पर भी निर्विकार, सनातन तत्त्व है। इसका साक्षात्कार योग्य

शिष्यः

शिष्यो बहिर्मुखो न स्याद् अध्यात्मं योगमाचरन्।
दुर्दर्शत्वादिसंयुक्तम् अप्यात्मानं प्रपश्यति।।२०।।

अधिकारी ही पाता है। पूर्व में गुरु का वर्णन कर अब अधिकारी अर्थात् शिष्य का वर्णन करते हैं **दुर्दर्शता आदि विशेषताओं वाले आत्मा का साक्षात्कार वही शिष्य करता है जो अनात्मा की ओर उन्मुख नहीं रहता और अध्यात्मसंबंधी योग का आचरण करता रहता है।।२०।।** शिष्य अर्थात् जो शिक्षार्थी है। स्वयं शिक्षा ग्रहण करने की दृढ आकांक्षा न हो तो व्यक्ति शिष्य नहीं बन सकता। पढ़ ले, यत्किंचित् साधन भी कर ले, लेकिन सीख ग्रहण करने के लिये निज में प्रेरणा, उत्कण्ठा होनी अनिवार्य है। सभी क्षेत्रों में शिष्य के लिये सीखने की इच्छा वाला होना ज़रूरी है पर अध्यात्म मार्ग में यह और ज़्यादा आवश्यक है क्योंकि यहाँ कोई दृश्य प्रलोभन, लाभ आदि नहीं, न ही कोई दण्ड-व्यवस्था है क्योंकि गुरु भी निस्पृह निराग्रही होता है एवं प्रतिपादन दिशानिर्देश के रूप में ही हो सकता है क्योंकि वस्तु अतींद्रिय, मन-वाणी का अविषय है। जब 'मुझे यही तत्त्व अवश्य सीखना है' यह शिष्यभाव रहता है तभी बहिर्मुखता छूटती है। बहिः अर्थात् आत्मा से अन्यत्र मन-इंद्रियों का लगना बहिर्मुखता है जिसका न होना अध्यात्मविज्ञान के शिष्य की सबसे बड़ी योग्यता है। शिष्य के सामने देहेन्द्रियादि और विषय-प्रपंच सत्य हैं अतः स्वाभाविक रूप से तो बहिर्मुखता उसमें भी वैसी ही है जैसे किसी भी अज्ञानी में, लेकिन विवेक-वैराग्य के संस्कार बढ़ाकर वह उस बाह्य आकर्षण को निस्तेज बनाता है, आकर्षण का विरोधी मानस रखता है। साधक के लिये लोकसंग्रह के नाम पर बाह्य व्यवहार वर्जित है क्योंकि उतना मौका पाकर भी माया हावी होकर बहिर्मुखता को स्थापित कर देती है। सिद्ध ही लोकसंग्रह का अधिकारी है, साधक नहीं। यों कछुए की तरह सब ओर से इंद्रिय-मन को रोककर ही अध्यात्मयोग का अभ्यास होता है। परमेश्वर की शरणागति के बगैर ऐसा योगाभ्यास संभव नहीं। जब तक अपने योगक्षम के लिये स्वयं को ज़िम्मेदार समझते हैं तब तक कर्तृत्व ही दृढतर होगा, ईश्वर-शरण से ही यह कर्तृताभिमान छोड़ा जा सकता है। ईश्वरेच्छारूप प्रारब्ध के भरोसे रह जाये तभी शिष्य सारी सामर्थ्य से अध्यात्मयोग का अभ्यासी बनेगा। पाँचों कोशों के भीतर जो साक्षी उसी के स्वरूप का स्फुरण रहे, अन्य कोई आकार मन न ग्रहण करे इसका प्रयास ही अध्यात्मयोग है। इस योग की आवश्यकता इसलिये है कि तत्त्व है ही दुर्दर्श अर्थात्

बाह्येन्द्रियैर्न दृश्योऽयं गूढस्थानप्रवेशतः।
पञ्चकोशगुहान्तःस्थो गह्वरे तमसि स्थितः।।२१।।
योगेनान्तर्मुखा बुद्धिस्तमो नाशयते ततः।
देवं ज्ञात्वा हर्षशोकौ त्यजेत् तद्योग्यताऽस्ति ते।।२२।।

उसका दर्शन बहुत मुश्किल से होता है। तिल में छिपा तेल जैसे प्रक्रिया-विशेष से ही पता लगता है वैसे अध्यात्मयोग के अभ्यास से ही आत्मसाक्षात्कार होता है, अन्य किसी तरह नहीं। आत्मा का प्रमाज्ञान 'मैं' अर्थात् प्रत्यक्-रूप से ही संभव है, अन्य ज्ञानों की तरह 'यह'-रूप से, पराक्-रूप से नहीं, यही इस ज्ञान की कठिनाई का कारण है। इसे सूचित करने के लिये श्लोक में 'प्र-पश्यति' यों 'प्र' जोड़कर कहा। ब्रह्म से एक हुए बिना उसका प्र-दर्शन नहीं होता जो अज्ञान मिटाने के लिये अनिवार्य है।।२०।।

पूर्वोक्त मंत्र का ही व्याख्यान करते हैं **यह आत्मा बाहरी इंद्रियों का विषय नहीं क्योंकि यह बहुत गहन स्थान में प्रवेश किये हुए है। पाँच कोश-रूप गुफा के अंदर तो स्थित है ही, वहाँ भी गह्वर अर्थात् अविद्यान्धकार में छिपा हुआ है।।२१।। योग से अन्तर्मुख हुई बुद्धि जब अविद्या को नष्ट करती है तब स्वप्रकाश आत्मा का साक्षात्कार होता है जिससे साधक हर्ष-शोक छोड़ सकता है। हे नचिकेता! तुझ में इस कार्य को संपन्न करने की पूरी योग्यता है।।२२।।** हम नवीन ज्ञान के लिये सर्वाधिक निर्भर करते हैं आँख कान आदि बाहरी इंद्रियों पर। स्वयं अपना मुँह भी काँच द्वारा आँख से देखे बिना पता नहीं लगता कि भस्म आदि ठीक लगा या नहीं, गहना ठीक पहना या नहीं आदि। चाहे जितनी कठिनाई से, चाहे जितने उपकरणों की सहायता से हो पर जब इन्द्रियज्ञान होता है तभी 'मैंने यह वस्तु जान ली' ऐसा संतोष होता है, इन्द्रिययोग्य विषय को दुर्दर्श नहीं मानते। किन्तु जो इंद्रियों से ग्रहण करने के ही अयोग्य, वह दुर्दर्श है क्योंकि हमारी प्रमुख आदत ही इंद्रिय से ग्रहण करने की है। इंद्रियों का अगोचर इसलिये है कि आत्मा हमसे अलग नहीं है, शरीर में ही छिपकर बैठा है। एक किस्सा है कि रुपये लेकर रेल से जाते हुए एक सेठ को अपने सहयात्री पर कुछ शक हुआ तो उसने अपने रुपयों की थैली उसी के सामान में रख दी! वह यात्री चोर ही था, उसने सेठ के सारे सामान को ढूँढ लिया पर पैसे नहीं मिले क्योंकि अपना सामान तो वह देखता ही नहीं था! जीव भी निज स्वरूप को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र परमात्मा को, आनंद को ढूँढता रहता है जबकि है

वह निज स्वरूप में ही स्थित, वहीं ढूँढने पर मिलेगा। शरीर में अर्थात् तीनों शरीरों के, पाँचों कोशों के साक्षी रूप से मौजूद है किन्तु अज्ञान का आवरण ओढे है जिससे उसे पहचानना और भी कठिन है। बुद्धिसाक्षी-रूप से देखने पर ही आत्मा की समझ आ सकती है। 'क्या हो रहा है?' इसका विचार छोड़कर 'कौन है जिसके लिये हो रहा है?' इस पर एकाग्र हों तभी अंतर्मुखता आयेगी क्योंकि अंततः सब हो मेरे लिये, चेतन के लिये ही रहा है। पृथ्वी, देश, प्रान्त, गाँव, जाति, घर, शरीर, मन की तरफ दृष्टि न जाने देकर हर जगह ध्यान दें कि यह सब किसके लिये है; इन सबसे मुझे फ़र्क़ पड़ता है तो इन्हें बदलने के बजाये में ऐसा बनूँ कि इनसे मुझे फ़र्क़ न पड़े। दुनिया की कोई भी चीज़ मुझे दुःख दे तभी बुरी लगती है, जब मैं इस स्थिति में पहुँचूँगा कि मुझे दुःख नहीं होगा तब संसार की कोई चीज़ बुरी नहीं रहेगी। संस्कृत में कहावत है कि जिसने जूते पहन लिये उसके लिये सारी पृथ्वी पर चमड़ा बिछ गया! काँटों से, कंकड़ों से बचने के लिये कोई सड़क पर चमड़ा बिछाना चाहे तो असंभव है पर खुद जूता पहने यह संभव है। इसी प्रकार संसार में सब कुछ सुधर जायेयह संभव नहीं लेकिन ब्रह्मज्ञान से स्वयं दुःख से परे हो जाना संभव है। देहादि-संघात में मैं-बुद्धि रहते ही दुःख हो सकता है, इस बुद्धि को छोड़कर व्यापक, निर्विकार वस्तु को ही मैं जानने पर दुःख संभव नहीं। किसे दुःख हो रहा है इसकी परीक्षा से ही संभव है यह पता चलना कि वह वास्तव में दुःख से अस्पृष्ट है, भ्रम से ही दुःखी है। क्योंकि दुःखनिवृत्ति बिना अज्ञान मिटे असंभव है इसलिये यहाँ योग का मतलब केवल प्राणायाम प्रत्याहार आदि ही नहीं वरन् इन सबकी सहायता से सारा चिंतन यथाशास्त्र निर्विशेष चिन्मात्र आत्मा पर केन्द्रित करना है। अष्टांग योग सहायक है परंतु वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर उस पर निःशंक हो स्थित रहना मुख्य साधन है। आत्मा पर जो अज्ञान का आवरण है उसे यह ज्ञान ही दूर करेगा। अत एव श्रुति में स्पष्ट कहा कि देव का मननपूर्वक निश्चय प्राप्त कर ही हर्ष-शोक छूटते हैं। नचिकेता के वैराग्य से संतुष्ट हुए यमराज ने उसे प्रोत्साहित किया कि उसमें परा विद्या ग्रहण करने की योग्यता है अतः वह अवश्य इसे प्राप्त करे।।२१-२।।

केवल हर्ष-शोक की निवृत्ति ही नहीं, परमानंद की प्राप्ति भी तत्त्ववेत्ता को होती है यह 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' (१.२.१३) से कहकर जब यम ने बताया कि मोक्ष-प्रासाद का द्वार नचिकेता के लिये खुला हुआ है तब नचिकेता ने प्रार्थना की **'यदि मैं योग्य हूँ तो संसार-सम्बन्धी सारे गुणों से परे जिस रहस्यभूत**

निर्गुणात्मजिज्ञासा

योग्योऽहं चेत्तर्हि तत्त्वं रहस्यं यत् त्वमीक्षसे।
तद् ब्रूहि सर्वसंसारगुणातीतं विमुक्तये।।२३।।
धर्माऽधर्मौ कार्यहेतू तथा भूतभविष्यती।
अन्यच्च सर्वं नो यत्र तदेवाऽपेक्षितं मम।।२४।।

वास्तविकता का आपको साक्षात्कार है वह मुझे बताइये ताकि मेरा मोक्ष होवे।।२३।। धर्म-अधर्म, कार्य-कारण, भूत-भविष्य तथा अन्य भी सब जहाँ नहीं है वही सत्य मुझे चाहिये।।२४।। शिष्य स्वयं की योग्यता का पारखी नहीं हो सकता, गुरु ही उसकी सामर्थ्य पहचानता है इसलिये नचिकेता ने 'यदि' कहा। सर्वथा अकेले में होने वाले को रहस्य कहते हैं। संसार की सब चीज़ें द्वैत में ही होती हैं, ज्ञाता-ज्ञेय का द्वैत रहते ही उनकी स्थिति है, एकमात्र परब्रह्म ऐसा है जो अद्वैत है अतः वही परम रहस्य है। उसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भी भेद नहीं, वह स्वप्रभ वस्तु है। ब्रह्म में संसार का कोई गुण, वैशिष्ट्य भी नहीं है, न माया और न उसके कार्य का कोई संपर्क उससे है। ऐसा निरुपाधि आत्मा ही जब जाना जाये तब मोक्ष होता है। श्लोक में वि-मुक्ति इसलिये कहा कि लोकान्तर-प्राप्ति आदि भी मुक्ति कह दी जाती है, उनसे पृथक् यह कैवल्यरूप अनादि-अनंत मोक्ष है। ज्ञेय वस्तु का उल्लेख मंत्र में किया 'अन्यत्र धर्माद् अन्यत्राऽधर्माद् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।।' (२.१.१४)। सुखफलक एवं कर्तव्य पूर्ति कराने वाले शास्त्रीय अनुष्ठान धर्म हैं तथा दुःखफलक चेष्टाएँ अधर्म हैं; इन दोनों से, इनके कारकों से व इनके फलों से जो अस्पृष्ट है वही वास्तव में आत्मा है। कृत-अकृत से कार्य-कारण कहे, परमात्मा न कार्य है, न कारण; उसमें जगत्कारणता का अध्यास ही है, सचमुच में वह कारण नहीं। भूत-वर्तमान-भविष्य अर्थात् कालपरिच्छिन्न से वह परे है, उसे समय सीमित नहीं करता। धर्मादिका परिगणन विवक्षित नहीं वरन् जो कुछ भी 'अन्य' है, भेदग्रस्त है, उस सबसे रहित वस्तु आत्मा है, वही ज्ञातव्य है क्योंकि वही मुक्त है। सुख-दुःख तथा इनके दृष्ट-अदृष्ट हेतु बंधन हैं, उनसे रहित मुक्त है। पिंजरा सोने का हो या लोहे का, है बंधन ही, ऐसे ही दुःख ही नहीं सुख भी बंधन ही है। दुःख भी है सान्त और मिटने पर सुख देता है, सुख भी सान्त ही होता है एवं समाप्त होने पर दुःख देता है अतः ये दोनों सर्वथा अलग चीज़ें नहीं हैं, एक-जैसी बंधन ही हैं। नित्य, निर्विकार आत्मा कार्यकारण-प्रक्रिया में बँधा हुआ नहीं है। न वह किसी से होता है

उपदेशः

सर्ववेदेषु यद् वेद्यं तपांसि यदवाप्तये।
ब्रह्मचर्यं च तद् वस्तु प्रणवेनाऽभिधीयते।।२५।।
प्रणवो वाचकस्तस्य स्यात् प्रतीकमुपास्तये।
तेन बोद्धुर्भवेद् मुक्तिर्ब्रह्मलोकोऽप्युपासितुः।।२६।।

और न उससे कुछ होता है। धर्मादि ही संसार-गुण हैं क्योंकि संसार में जो भी है वह या धर्म-अधर्म है, या कार्य-कारण है या काल से सीमित है; आत्मा इनसे अतीत है अतः संसार-धर्मों से परे है। यद्यपि कालपरिच्छिन्न न हो ऐसा कुछ संसार में नहीं तथापि स्पष्टता के लिये 'अन्यच्च सर्वं' कह दिया है। नचिकेता ने कहा कि यही तत्त्व उसे अपेक्षित है, उसे चाहिये। संसार की सब चीज़ों की उसे अपेक्षा, ज़रूरत, चाहना नहीं है। वस्तु की उपलब्धि में उसे प्रयोग कर लेना उसकी 'अपेक्षा' नहीं कही जाती वरन् अनुपलब्धि में जिसके बारे में लगे कि 'वह हो तो बेहतर है', उसकी अपेक्षा कही जाती है। संसार-विषय मुमुक्षु को अपेक्षित नहीं होने चाहिये, भले ही वह उनसे व्यवहार कर ले। इनसे निरपेक्ष साधक ही संसारातीत परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।।२३-४।।

यम ने अनेक मंत्रों द्वारा नचिकेता को जो उपदेश दिया उसे क्रमशः व्यक्त करते हैं **सारे वेदों में जिस एक तत्त्व को ही जानने योग्य बताया गया है, जिसकी प्राप्ति के लिये सारी तपस्यायें की जाती हैं एवं ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, वही वास्तविक आत्मा प्रणव द्वारा बताया जाता है।।२५।। प्रणव आत्मा का वाचक भी है और आत्मा की उपासना के लिये उसका प्रतीक भी है। प्रणव के सहारे आत्मोपासना करने वाले को ब्रह्मलोक मिल जाता है तथा प्रणव का अर्थ जो समझ लेता है उसे मोक्ष मिल जाता है।।२६।।** वेद में आत्मा को ही जानने योग्य कहा है, और कोई चीज़ इस लायक नहीं बताई कि मनुष्य उसे अवश्य जाने, जिसे जानना अतिशय हितकर हो। कर्म उपासना का भी विनियोग इस योग्य बनने में है कि आत्मा जाना जा सके। वेद का तात्पर्य तो यही है कि जीव आत्मसाक्षात्कार पाये। वर्णाश्रम धर्मों का पालन, महाव्रतों का पालन, कृच्छ्र आदि का अनुष्ठान, योग का अभ्यास आदि सभी तप इसीलिये किये जा सकते हैं कि परमात्मदर्शन मिले। इनके अन्यान्य फल बताये हैं परंतु उन फलों के लिये इतनी तपस्या करना बेवकूफी है; नाम-रूप वाले फल तो यों ही उपलब्ध हैं, उनके लिये तप क्या करना! तपसे तो इस

परम कल्याण को पाना चाहिये, तभी तप की सफलता है। वेदग्रहण आदि अनेक कठोर नियमों में बँधकर रहना ब्रह्मचर्या है, उसकी भी सफलता तब है जब आत्मज्ञान प्राप्त हो। लोक में कहते हैं कि तेल ही बेचना हो तो फ़ारसी पढ़ने से क्या फ़ायदा! इसी तरह संसार-बंधन में ही रहकर इधर-उधर भटकना हो तो ब्रह्मचर्याश्रम में घोर परिश्रम से वेदाध्ययन करने का क्या लाभ! ठीक है, उससे ऊँचे लोक मिल जायेंगे, धर्मज्ञान होने से धर्मानुष्ठान संपन्न होकर स्वर्गादि मिल जायेंगे, लेकिन ये सब बंधनरूप ही हैं और बंधन में जीव पहले ही है तो इन्हें 'फल' कहना नहीं बनता क्योंकि जो अभी न हो और साधन करके मिले वह उस साधन का फल कहा जाता है, बंधन इन साधनों के बिना ही सिद्ध है, यदि इन्हें करके भी वह बना ही रहा तो फल क्या हुआ? बंधन खुल जाये तभी साधनों को सफल कहा जा सकता है। प्रथम आश्रम से अतिरिक्त भी लोग साधना के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं; कुछ तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनते हैं कि यावज्जीवन विवाह न कर विभिन्न तपों का अनुष्ठान करें, और कुछ विवाह करके भी कठोर नियंत्रण से रहते हैं कि केवल धर्म-प्रयोजन से सन्तानोत्पत्ति करें, अन्यथा ब्रह्मचर्य का पालन करें। स्त्री-संपर्क ही नहीं, दर्शन-स्मरण आदि अन्य स्तरों के भोग से भी वे दूर रहकर अपनी सामर्थ्य अध्यात्म साधना में लगाते हैं। उनका प्रयास भी परमात्म-दर्शन से ही सार्थक है, अन्यथा नहीं। ब्रह्मचर्य भी एक तप है पर इसकी विशेषता द्योतित करने के लिये इसे अनेक जगह तप से पृथक् कर कहते हैं जैसे मुंडक (३.१.५) में 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्', प्रश्न (१.२.१०) में 'तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया' तथा योगशास्त्र में ब्रह्मचर्य को यमों में व तप को नियमों में गिना।

इस प्रकार, जो तत्त्व वेदप्रतिपाद्य, तप व ब्रह्मचर्य से प्राप्य है उसका बोध प्रणव, ॐ कराता है। सविशेष ब्रह्म का तो ॐ नाम ही है अतः शक्तिवृत्ति से उसका बोधक है एवं लक्षणा से निर्विशेष का बोधक है क्योंकि ॐ अपने में पूरा एक वाक्य भी है। जब तब अर्थ न समझ आये तब तक ॐ ब्रह्म का प्रतीक भी है जिसके सहारे ब्रह्म की उपासना की जा सकती है। उपासना के लिये अर्थ जानना अनिवार्य नहीं, प्रतीकता के सहारे भी उपासना संभव है। जिसका वह प्रतीक है उसके बारे में जानकारी तो आवश्यक है लेकिन प्रतीकभूत शब्द किस तरह उसे बताता है, प्रवृत्तिनिमित्त क्या है, लक्षणा के लिये अपेक्षित वाच्य क्या है आदि जानना ज़रूरी नहीं है। ॐ इस शब्द में जब ब्रह्म-बुद्धि की जाती है तब उपासना हो जाती है जैसे

न जायते न म्रियते प्रणवार्थश्चिदात्मकः।
पुराणोऽसावजत्वेन नित्यः स्याद् अमृतत्वतः।।२७।।
कारणं नाऽस्य कार्यं वा देहघातेऽपि नो हतिः।
देहो देहान्तरं हन्ति न चिद्धन्ति न हन्यते।।२८।।

शालग्राम में विष्णुबुद्धि; तथा ॐ से जब ब्रह्म समझ आता है तब वह वाचक बन जाता है जैसे विष्णु-शब्द चतुर्भुज श्यामगात्र लक्ष्मीपति का वाचक है। शास्त्र में आये वर्णनों से अर्थ पता चलने पर उस अर्थ के लिये अमुक शब्द निश्चित है यह जान लेने पर जब वह शब्द सुनते हैं तब वही समझा हुआ अर्थ भास जाता है। हमने विष्णु को देखा नहीं पर वर्णन से समझकर जान लिया है कि विष्णु शब्द से किसे कहते हैं इसलिये जब भी विष्णु सुनते हैं तब वही अर्थ उपस्थित होता है। प्रणव से ब्रह्म को समझना संभव है अतः वह उसका वाचक है। ब्रह्म का वर्णन शास्त्र में है, उस वर्णन से उसे समझना पड़ेगा तब ॐ उसका नाम है यह निश्चय होगा और सुनकर ब्रह्म की उपस्थिति होगी। उपास्य और वाच्य अपर ब्रह्म है तथा लक्ष्य परब्रह्म है। सोपाधिक को ही समझने वाले साधक के लिये प्रणव प्रतीक तथा वाचक हो जाता है, निरुपाधिक को समझने के योग्य साधक के लिये लक्षक हो जाता है। ब्रह्म का उपासक भी ब्रह्मलोक पाकर वहाँ तत्त्वज्ञानोदयपूर्वक मुक्त होता है। प्रणव को प्रतीक मानकर भी ध्यान करने से ब्रह्मलोक मिलता है यह प्रतीकांतर से इसमें विशेष है ऐसा आचार्यों ने ऊहापोह से निर्णीत किया ही है। और जो विवेकी यहीं ॐ का प्रतिपाद्य तत्त्व समझ लेता है वह सद्योमुक्ति पा जाता है। इस प्रकार प्रणव मोक्ष का अचूक साधन है।।२५-६।।

आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए यमराज ने कहा 'न जायते म्रियते वा विपश्चिद् नायं कुतश्चिद् न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।' (१.२.१८) अपरिलुप्त ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अतः इसमें कोई विकार नहीं होता, इसके प्रति कोई हेतु नहीं, न यही किसी के प्रति हेतु है। शरीरों में चाहे जो परिवर्तन हो, आत्मा में कोई अंतर नहीं आता। इसे समझाते हैं **प्रणव का अर्थ जो चेतन आत्मा वह न उत्पन्न होता है न मरता है। जन्मरहित होने से वह सबसे पुराना है व मृत्युहीन होने से नित्य है।।२७।। आत्मा का न कोई कारण है न कार्य। देह की हत्या होने पर भी इसकी मौत नहीं होती, एक शरीर दूसरे शरीर को मारता है पर चेतन न मारता है न मारा जाता है।।२८।।** ओंकार का वास्तविक

अर्थ केवल चेतन, ज्ञानमात्र है। चेतन की अनुभूयमान तीन अवस्थाएँ हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् में स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीन उपाधियाँ रहती हैं, स्वप्न में स्थूल छूट जाती है सूक्ष्म व कारण दो रहती हैं तथा सुषुप्ति में सूक्ष्म भी छूटकर केवल कारण रहती है। अवस्थाएँ परस्पर भिन्न हैं पर इन्हें अनुभव करने वाला एक ही है। ओंकार के अवयव अ-उ-म् इन तीन अवस्थाओं वाले रूपों को कहकर अवयवी ओम् इनके अभेद का बोधक होकर अखण्ड आत्मा का ज्ञान कराता है। इस प्रकार वह परमार्थ वस्तु ही प्रणव का अर्थ है। अवस्थाएँ जिसमें आती-जाती हैं वह चिन्मात्र ही आत्मा है। उत्पत्ति-नाश आदि विकार अवस्थाओं के होते हैं, आत्मा के नहीं। पूर्व में न हो, फिर हो जाये तो जन्म कहा जाता है, आत्मा हमेशा है इसलिये इसका जन्म नहीं होता। स्थूल उपाधि का जन्म-नाश प्रत्यक्षसिद्ध है, सूक्ष्म का जन्म सृष्टि के आदि काल में और नाश प्रलय में होता है, कारण का जन्म तो नहीं पर तत्त्व-ज्ञान से नाश हो जाता है, इस प्रकार उपाधियाँ ही विकारी हैं, आत्मा नहीं। अनुभूयमान विकार उपाधियों के हैं न कि आत्मा के। लौकिक वस्तुओं को पुराना कहते हैं तो मतलब होता है कि कभी भूतकाल में वे नयी थीं अब पुरानी हो गयी हैं किन्तु आत्मा को पुराना कहने का अर्थ है कि वह हमेशा ही पुराना है या जितना नया आज है उतना ही कभी भी था और रहेगा अर्थात् काल का कोई प्रभाव उस पर नहीं आता। अजन्मा निर्विकार होने से कार्य-कारण के चक्र से यह बहिर्भूत है। विकार, शरीरों में ही होते हैं आत्मा में नहीं। मरना उपलक्षणार्थ है, आत्मा न कोई क्रिया करता है न किसी क्रिया का विषय बनता है। घट के जन्मादि विकारों से जैसे आकाश जन्मादि वाला दीखते हुए भी उनसे वर्जित है वैसे आत्मा सब विकारों से वर्जित है। शरीरों में मरने व मारने की प्रतीति आत्मा की अपेक्षा से ही है, मुर्दा किसी को मारता नहीं और मुर्दे की गर्दन काटने से यह नहीं समझा जाता कि उसे मारा गया, फिर भी मरने-मारने वाला आत्मा नहीं है भले ही भ्रम रहे कि वह मारता-मरता है। आकाश के बिना कोई क्रिया संभव नहीं पर वह जैसे कोई क्रिया नहीं करता, उस पर किसी क्रिया का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे आत्मा के बिना कुछ नहीं होने पर भी वह कुछ नहीं करता न उसे किसी तरह प्रभावित किया जा सकता है। भगवान् ने कठ के इस मंत्र का अनुवाद गीता द्वितीयाध्याय श्लोक २० से किया है।।२७-८।।

आत्मा को कर्ता-कारयिता समझने वाले अज्ञानी हैं यह बताकर ज्ञानी उसे क्या समझते हैं यह मंत्र द्वारा कहा 'अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो

श्यामाकादेरणोरेषोऽणीयांस्तत्राणुकल्पनात्।
महीयान् महतः खादेस्तत्राकाशादिकल्पनात्।।२९।।
स्थितो जन्तोर्हृद्गुहायां तं निष्कामस्तु पश्यति।
इन्द्रियाणां प्रसन्नत्वाद् वीतशोकस्तदा भवेत्।।३०।।

गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादाद् महिमानमात्मनः।।' (१.२.२०)।। अतिशय सूक्ष्म होने के साथ ही आत्मा सर्वाधिक महान् है फिर भी सब जन्तुओं की हृदय-गुफा में छिपा है पर निष्काम साधक ही उसे देख पाता है। उसके दर्शन से मनआदि सारे करण प्रशांत हो जाते हैं, आत्मा की वास्तविक महिमा का प्रत्यग्रूप से प्रकाश होता है तथा शोकादि संसारधर्म बाधित हो जाते हैं। इस मंत्र को दो श्लोकों से समझाते हैं **सामक आदि अत्यंत छोटी वस्तु से भी यह आत्मा ज़्यादा सूक्ष्म है क्योंकि इसी में छोटी-से-छोटी चीज़ों की कल्पना होती है। आकाशादि महान् पदार्थों से भी यह ज़्यादा महान् है तभी इसमें आकाश आदि की कल्पना बनी हुई है।।२९।। जन्तुमात्र की हृदयगुफा में मौजूद इस आत्मा को निष्काम तो सुस्पष्ट देखता है, (सकाम नहीं देख पाता) और देखते ही उसकी इंद्रियाँ पूरी तरह शांत हो जाने से वह शोक से सर्वथा रहित हो जाता है।।३०।।** फलाहारी अनाज सामक प्रसिद्ध है, उसके दाने काफी छोटे होते हैं, राई आदि छोटी चीज़ें भी समझ सकते हैं; जो कुछ छोटा हमें समझ आता है उसका भी कारण आत्मा ही है। कारण अपने कार्यों से सूक्ष्म ही होता है अतः आत्मा सर्वाधिक सूक्ष्म है। आकार में छोटी चीज़ का ज्ञान मुश्किल से होता है इसलिये अणु से सूक्ष्म को कहते हैं। तार्किक अणु, मध्यम, महत् तीन परिमाण मानते हैं; जिससे ज़्यादा छोटा न हो सके वह अणु, जिससे बड़ा न हो वह महान् और बाकी मध्यम परिमाण हैं। आत्मा को परिमाण की दृष्टि से वे महान् कहते हैं। वेदांत में आत्मा को परिमाण वाले के रूप में महान् नहीं कहते यह इस मंत्र में स्पष्ट है क्योंकि इसमें एक-साथ ही उसे अणुतम व महत्तम कह दिया है। वेदान्ती तो सूक्ष्मता के अभिप्राय से आत्मा को अणु और व्यापकता के अभिप्राय से महान् कहता है। आकार में महान् आकाशादि भी आत्मा में ही कल्पित हैं, आत्मा से वे भी व्याप्त हैं, कार्य अपने कारण से व्याप्त ही रहता है, अतः आत्मा उनसे भी महान् है। आत्मा से अधिक न कुछ सूक्ष्म है, न व्यापक। आकार की अणुता-महत्ता युगपत् एक वस्तु में संभव नहीं पर आत्मा आकारवान्, परिमाणवान् है ही नहीं अतः उक्त अर्थ में एक साथ ही अणु व महान् है। सूक्ष्म है अतः छोटे से

अन्तर्मुखोऽहं पश्यामि मत्तोऽन्यो बाह्यधीः पुमान्।
ज्ञातुमर्हति को वा तं विरुद्धात्मत्वभासिनम्।।३१।।

हृदय के छोटे से छिद्र में रह जाता है, वहाँ इसका साक्षात्कार संभव है। छोटी चीज़ अणुवीक्षणयंत्र, खुर्दबीन से दीखती है क्योंकि वह यंत्र नेत्र-रश्मियों को अन्यत्र बिखरने से रोककर उसी वस्तु पर एकाग्र करता है, ऐसे ही आत्मदर्शन के लिये मन को विषयों में बिखरने से रोककर आत्मा पर एकाग्र करना ही उपाय है अतः निष्काम ही देखता है। मन को इधर-उधर आकृष्ट करने वाली कामना ही होती है, उसके हटने पर ही आत्मा पर एकाग्रता संभव है। निष्कामता अणुवीक्षणयंत्र-स्थानीय है, बुद्धि नेत्रस्थानीय है, आत्मा सूक्ष्म विषय-स्थानीय है। कामना ही बुद्धि व इंद्रियों को अशान्त करती है अतः कामना निवृत्त होने पर बुद्धि एवं इंद्रियाँ शांत हो जाती हैं। कामग्रस्त इंद्रियाँ तो ज़बर्दस्ती मन को विषयों में ले जाती हैं, निष्काम हो जाने से बहिर्मुखता के मार्ग बंद हो जाते हैं। शोकका हेतु कामना का आघात ही है अतः कामहीन को शोक नहीं हो सकता। इस प्रकार सारी कामनाओं को छोड़कर हृदय-गुहा में आत्मवस्तु को देख लेने से समस्त शोक निवृत्त हो जाते हैं।।२९-३०।।

आत्मा की अलौकिकता मंत्र में कही 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।' (१.२.२१) छह श्लोकों से इसका अर्थ कहते हैं **हे नचिकेता! मैं (यम) अन्तर्मुख हूँ इसलिये उसे देख रहा हूँ, मुझसे अन्य ऐसा कौन पुरुष हो सकता है जिसकी बुद्धि अनात्मा में निमग्न हो और वह स्वयं को विरुद्ध स्वरूपों वाला प्रकट करने वाले उस आत्मा को जान सके!।।३१।।** मुत्तुशास्त्री पहले 'दूरं गच्छेद्' आदि श्लोक पढ़ते हैं क्योंकि मंत्र में वह क्रम है लेकिन यहाँ यही क्रम ठीक है क्योंकि आगे के श्लोकों द्वारा विरुद्ध स्वभावता ही स्पष्ट की है। सूक्ष्मबुद्धि पण्डित अंतर्मुखता की सहायता से ही लोकातीत परमार्थ वस्तु का साक्षात्कार करते हैं। जिनमें मतिकी सूक्ष्मता नहीं, शास्त्र के तात्पर्य का अनुभव नहीं और बुद्धि की अनात्मोन्मुखता है वे कदापि परमात्मदर्शन नहीं प्राप्त करते। यम का यह मतलब नहीं कि केवल धर्मराजोपाधि वाला ही आत्मज्ञान पा सकता है वरन् यह अर्थ है कि आत्मा को समझकर मुझे पता है कि मैं आत्मा हूँ, जो भी आत्मा को जानेगा वह स्वयं को आत्मा ही पायेगा अतः मुझसे अभिन्न ही रहेगा, जो बाह्यधी अर्थात् अनात्माभिमानी होगा वह खुद को आत्मा से (= मुझसे) अन्य जानेगा तो कभी आत्मदर्शन नहीं कर पायेगा, आत्मा से अभिन्न होकर ही आत्मदर्शन होता है। अतः

दूरं गच्छेदिहासीनः शयानो याति सर्वतः।
समदो विमदश्चातो दुर्लक्ष्यो ह्यविवेकिभिः।।३२।।

'मुझसे' का मतलब 'आत्मा से' है, वेदादि में अनेक जगह 'मैं' शब्द से आत्मा कहा जाता है यह ब्रह्मसूत्र (१.१.३०) में स्थिर किया ही है। 'मैं अन्य हूँ, परमात्मा अन्य है ऐसा जानने वाला नासमझ है' (बृ.१.४.१०) आदि अन्यत्र भी श्रुति बताती है। आत्मा का भान इस तरह होता है मानो उसमें परस्पर विरुद्ध स्वभाव हों इसलिये उससे पृथक् रहकर उसे समग्रतः नहीं जान सकते। अपने से अन्य व्यक्ति में यदि विरुद्ध स्वभाव मिलें एक-साथ ही दयालु और क्रूर दीखेतो यही लगता है कि 'इसके बारे में कुछ समझ नहीं आता, क्या यह दयालु है और क्रूरता का दिखावा कर रहा है या विपरीत ही है या दोनों ही दिखावे हैं?' आदि। किन्तु स्वयं के परस्पर विरुद्ध स्वभाव हमें सुस्पष्ट समझ आते हैं! हम दयापूर्वक क्रूर या स्नेहवश क्रुद्ध हो सकते हैं, बिना कंजूस हुए पैसा बचा सकते हैंये विपरीत भाव अपने बारे में साफ-साफ प्रतीत होते हैं और इनका युगपत् रहना खटकता नहीं जबकि दूसरे में इन्हें साथ-साथ रहने वाला मानना जँचता नहीं। आत्मा में क्योंकि ऐसे स्वभाव हैं जो आपाततः विपरीत लगते हैं इसलिये उसे भी पूर्णतः हृदयंगत तभी कर सकते हैं जब उसे मैं समझें। मैं न समझकर अपने से अन्य समझा तो उसके विपरीत स्वभावों के कारण यही लगेगा कि आत्मा का सही स्वभाव, सच्चा स्वरूप पता नहीं चल रहा। इसलिये आत्मा की प्रत्यग्रूप से ही प्रमा उचित है।।३१।।

परस्पर-विरुद्ध स्वभावों की प्रतीति ही स्पष्ट करते हैं **यहीं बैठा रहते वह दूर जा सकता है! सोता रहते हुए ही सब ओर चला जाता है! वह मद वाला और मद-रहित दोनों है! इसलिये अविवेकी उसे देख सकें यह असंभव है।।३२।।** इन विरुद्ध स्वभावों को स्वयं आगे के श्लोकों से समझायेंगे। बैठा भी रहे और दूर भी चला जाये या सोया रहे व सर्वत्र घूम ले यह संगत न होने पर भी आत्मा में संगत हो जाता है क्योंकि वह अधिष्ठान है जबकि ये सब अध्यास हैं, कल्पनाएँ हैं। जाग्रत् व स्वप्न दोनों अवस्थाओं में ऐसी विरुद्ध कल्पनाएँ होती रहती हैं जिनका एक ही अधिष्ठान है। 'मद' से भाष्यकार हर्ष समझते हैं पर यहाँ घमण्ड के रूप में वर्णन करेंगे। हर्षयुक्त व्यक्ति को ही घमण्ड होता है अतः भाष्योक्त अर्थ का ही इसे विस्तार समझना चाहिये। विवक्षित बात यह है कि अविवेक रहते परमात्मा का दर्शन असंभव है क्योंकि प्रतीयमान इस तरह के विरोधों में उलझना ही अविवेकी के लिये सहज है, इनके स्तर से ऊँचा उठकर

वने ध्यातुं समासीनो देहं सङ्कल्प्य मानसम्।
तेनैव नगरं गत्वा करोति क्रयविक्रयौ।।३३।।
शयानो मञ्चकेऽक्षेषु विलीनेषु निराकृतिः।
आकाशवत् सर्वगत एकः सुप्तोऽवतिष्ठते।।३४।।

वह इनका समाधान देख ही नहीं सकता। वह इनमें से एक स्वभाव सत्य, दूसरा झूठाइसी तरह सोचता रहेगा, सबको एक-समान कैसे समझेंइस दिशा में सोच नहीं पायेगा। विरुद्ध स्वभाव बताये ही इसलिये हैं कि किसी एक को ही सत्य न मान लिया जाये; प्रतीयमान ये सभी स्वभाव कल्पित हैं, एकरस निर्विकार वस्तु ही सत्य हैयह समझाने के लिये विपरीत धर्मों का उसमें कथन किया जाता है। विवेकी उपाधियाँ छोड़कर निरुपाधिक को ग्रहण कर लेता है, अविवेकी उपाधि छोड़ते ही स्वयं को महाशून्य में पाता है अतः किसी-न-किसी उपाधि को पकड़े ही रखता है जिसके कारण वह परमात्मस्वरूप को नहीं समझता। सर्प-माला-भूछिद्र-जलधारा आदि युगपत् रस्सी पर जैसे कल्पित हो सकते हैं वैसे आत्मा पर विरुद्ध धर्मों की कल्पना संगत है।।३२।।

'बैठा हुआ ही दूर चला जाता है'इसे समझाते हैं **जंगल में ध्यान करने के लिये संकल्पपूर्वक बैठा व्यक्ति मन से ही एक शरीर की कल्पना कर उससे नगर जाकर खरीद-फ़रोख़्त करता है!।।३३।।** ध्यान के समय ऐसा प्रायः होता है कि मनोराज्य में कुछ अन्य ही कार्यों में उलझ जाते हैं, समय बीत जाने पर ही ख़्याल आता है कि क्या करने बैठे थे और क्या करते रह गये! पुराणों में ऋषियों के भी ऐसे वर्णन हैं कि ध्यान में उन्हें जो संकल्प हुआ तदनुरूप ही सृष्टि खड़ी हो गयी! वे तपोबल से बाहर भी व्यवहार कर लेते थे। सामान्य आदमी अपने भीतर ही सोचता रहता है किन्तु मुख्य जो परमात्मध्यान उससे विमुखता उभयत्र समान है। दूसरों की दृष्टि में वह जंगल में बैठा है जबकि अपने मन की दृष्टि में वह बाज़ार में व्यापार कर रहा है, इस तरह बैठे हुए दूर चले जाना संगत हो जाता है। साक्षिरूप से स्थिर और प्रमातारूप से चंचल होता है यह हमेशा स्पष्ट है। इससे वे सभी विरोध समझ लेने चाहिये जो जाग्रत् व स्वप्न में उपलब्ध होते हैं।।३३।।

सोये हुए सब तरफ जाना स्पष्ट करते हैं **जब व्यक्ति मंजे पर (खटिया पर) सो रहा होता है तब उसकी इंद्रियाँ विलीन हो जाती हैं; उस समय उसका जो अद्वितीय आकार-रहित (उपाधि-रहित) स्वरूप है वह आकाश की तरह सब ओर फैला हुआ ही है। इस प्रकार, सोया व्यक्ति सर्वत्र पहुँच जाता है।।३४।।**

धनविद्यादिभिर्मत्तः पाण्डित्यं सदसि ब्रुवन्।
वैराग्यनटनेनाऽसौ लक्ष्यते मदहीनवत्।।३५।।

परिच्छिन्नता औपाधिक है, उपाधियाँ लीन हो जाने पर अपरिच्छिन्न अद्वैत आत्मा ही रहता है जो व्यापक है। आत्मा सदा व्यापक है किंतु उपाधि रहते भ्रम होता है कि परिच्छिन्न है, उपाधियाँ लीन होने पर वह भ्रम प्रतीत न होने से वास्तविक व्यापकता तो कायम ही रहती है। सुषुप्ति में ऐसा अनुभव नहीं होता कि 'मैं परिच्छिन्न हूँ' या 'बिस्तर पर ही हूँ', अतः उस दशा में जब परिच्छेद का अनुभव नहीं तब परिच्छिन्नता मानी नहीं जा सकती जिससे सर्वगतता ही माननी पड़ती है। घड़ा आकाश को सीमित दिखाता है, घड़ा फूटने पर आकाश की स्वाभाविक व्यापकता ही मानी जाती है, प्रातीतिक या व्यावहारिक सीमितता औपाधिक होने से उपाधि के न रहने पर बचती नहीं। इसी प्रकार इंद्रियादि उपाधियों के लय के समय आत्मा की स्वाभाविक व्यापकता ही मान्य है। आत्मा के द्रष्टा-श्रोता-बैठा-लेटा आदि आकार औपाधिक ही हैं और इन्हें प्रतीत कराने वाली उपाधियाँ सुषुप्ति में नहीं रह जातीं तो आत्मा तब निराकार ही रहता है। इस तरह, दूसरों की दृष्टि में मंजे पर सोया है जबकि अपनी दृष्टि से वह व्यापक है। ये विरुद्ध स्वभाव एक-साथ उसमें संगत हैं लेकिन अविवेकी इन्हें समझ नहीं सकता।।३४।।

आत्मा मदवाला और मदरहित इकट्ठे ही कैसे है यह बताते हैं **धन, विद्या आदि के निमित्त से मदवान् हुआ व्यक्ति सभा में अपने पाण्डित्य का कथन करते हुए ही वैराग्य का प्रदर्शन करके ऐसी प्रतीति कराता है मानो वह मदरहित हो ।।३५।।** धन, विद्या, रूप, बल, यौवन पद आदि का बहुत घमंड होता है। लोगों को प्रभावित करने के लिये घमण्ड प्रकट करना पड़ता है, बोल-चाल हाव-भाव से 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मुझ-सा दूसरा नहीं' यह ख्यापित करने पर ही घमण्डी को प्रसन्नता होती है। ऐसे घमंडी में अत्यधिक राग है यह स्पष्ट है किन्तु जिस सभा में घमण्ड व्यक्त कर रहा हो वहीं उसे इच्छा हो जाये तो अपने में वैराग्य का भी प्रदर्शन कर देता है, धन मिल रहा हो तो उसे वहीं छोड़ देता है, किसी सार्वजनिक हित के कार्य के लिये त्याग कर देता है या अपमान को हँसकर टाल देता है मानो उसके अभिमान पर चोट ही न पड़ी हो! एक-साथ ही ऐसी विरुद्ध अभिव्यक्ति होने पर अन्य व्यक्ति निर्णय नहीं कर सकता कि उसका स्वभाव क्या है। वास्तव में, दोनों अभिव्यक्तियाँ वृत्ति-उपाधि से हैं, वह स्वयं चिद्रूप है अतः विभिन्न वृत्तियों से विभिन्नता उपलब्ध होना संगत ही है। यहाँ वैराग्य

अन्तर्मुखतावश्यकता

एवं विरुद्धधर्मत्वात् स्वभावः कोऽस्य वास्तवः।
इति ज्ञातुमशक्यत्वाद् अन्तर्दृष्ट्यैव वीक्ष्यताम्।।३६।।

का नटन (नाटक) कहा अर्थात् घमण्ड की अपेक्षा वैराग्य में बनावटीपन जहाँ हो उस स्थल को उदाहरण बनाया है। वह स्वयं तो जानता है कि वह रागी है पर सभा में रुतबा जमाने के लिये अपने को विरक्त दिखाता है किन्तु अन्यों के लिये निर्णय करना मुश्किल हो जाता है कि वह रागवान् है या रागरहित। यह विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों से सूचित विभिन्न स्वभावों का अस्तित्व जाग्रत् की दृष्टि से बताया क्योंकि ये सोच-समझकर प्रकट किये जाते हैं। मनोराज्यादि से जो श्लोक ३३ में कहा था वह स्वप्न-प्रधान था क्योंकि विचारपूर्वक नहीं था, श्लो. ३४ में सुषुप्ति के समय विरुद्ध स्वभाव कहे थे और इस श्लोक में जाग्रत् के विरुद्ध स्वभाव बताये हैं। भाष्य में समद से सहर्ष और अमद से हर्षहीन कहा है; वहाँ भी, भीतर से हर्षित पर बाहर से सामान्य लगने वाला व्यक्ति समझना चाहिये या भीतर से हर्ष न होने पर भी हर्ष प्रकट करने वाला व्यक्ति समझ सकते हैं। जो स्वभाव युगपत् एकत्र संभव नहीं उनकी प्रतीतियही विवक्षित है।।३५।।

उक्त विषय का तात्पर्य कहते हैं **यों परस्पर विरुद्ध विशेषताओं वाला होने से सामान्य व्यक्ति द्वारा यह नहीं जाना जा सकता कि इस आत्मा का सच्चा स्वभाव क्या है अतः अन्तर्मुख होकर विवेकदृष्टि से ही इसे देखा जाये यही उचित है।।३६।।** गिरगिट जैसे पत्तों में, घास में, फूलों में हो वैसे रंग वाली हो जाती है अतः उसका अपना रंग क्या है यह निर्धारण करना मुश्किल हो जाता है। इसी प्रकार उपाधिवश विपरीत विशेषताओं वाला प्रतीत होने से आत्मा की उपाधि-निरपेक्ष विशेषता क्या है, यह अत्यंत विवेकी ही शास्त्र दृष्टि से समझ सकता है, अन्यथा यह समझ नहीं आयेगा। इसके लिये अपनी दृष्टि भीतर करनी पड़ेगी। दूसरे के बारे में तो निर्णय नहीं कर सकते लेकिन अपने बारे में अवश्य कर सकते हैं। अपनी अखण्डता, सच्चिदानंदता सब हालतों में स्फुरती है, बाकी विशेषताएँ औपाधिक समझ आती हैं अतः अंतर्दृष्टि अर्थात् सबसे भीतर जो आत्मा उस पर केन्द्रित दृष्टि से ही आत्मा का वास्तव स्वभाव निर्णीत हो जाता है। शरीर द्वारा जंगल में बैठा हूँ, मनद्वारा बाज़ार में खरीद-फरोख़्त कर रहा हूँयह अपने बारे में स्पष्ट हो जाने पर विवेक से पता चल जाता है कि मैं शरीर व मन दोनों से अलग हूँ। जाग्रदादि जो अवस्था सामने आये उससे रंगा हुआ

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्वेष्ववस्थितम्।
सर्वगं बहुभावाधिष्ठानं मत्वा न शोचति।।३७।।

प्रतीत होने पर भी अवस्था जाते ही वह रंग भी चला जाता है अतः वह रंग वास्तव में मेरा नहीं, औपाधिक ही है यह निश्चय कठिन नहीं रहता। [निर्णयसागर में द्वितीय पाद में **'स भावः'** और चतुर्थ पाद में **'दृष्ट्वैवमीक्षताम्'** छपा है किन्तु मुत्तुशास्त्री का पाठ ही ठीक है।] ।३६।।

बाइसवाँ मंत्र है 'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।' इसका लगभग अनुवाद करते हैं **सभी शरीरों में होते हुए भी जो स्वयं अशरीर है, अस्थिरों में मौजूद रहकर भी जो स्वयं स्थिर है, वही सर्वव्यापक और सारे बहुत्व का, द्वैत का अधिष्ठान है, उसके बारे में प्रामाणिक मति प्राप्त हो जाने पर साधक शोक नहीं करता।।३७।।** मंत्र के महान् की व्याख्या सर्वग से और विभु की बहुभावाधिष्ठान से की गयी है। सब शरीरों में आत्मा है पर कोई शरीर उसका नहीं है अतः वह शरीर से वन में बैठकर ध्यान भी कर लेता है और उसी समय शरीर वाला न होने से बाज़ार पहुँचकर व्यापार भी कर लेता है। ऐसे ही शरीर पलंग पर पड़ा रहे फिर भी वह व्यापक हो जाता है क्योंकि अशरीर है। अनवस्थ अर्थात् जो स्थिर नहीं, एक स्वरूप वाले नहीं। संसार के सब पदार्थ और सब अवस्थाएँ अनवस्थ ही हैं, उन सबमें अनुस्यूत है आत्मा किंतु स्वयं यह अवस्थित है, स्थिर, एकस्वरूप, एकरस, अचल, निर्विकार है। जाग्रदादि अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं, आत्मा एक-सा बना रहता है। जैसे उपन्यास में, सिनेमा में या सपने में आगे क्या होगाइसकी कोई व्यवस्था नहीं, किसी निश्चित नियम से घटनाएँ नहीं होती, वैसे ही जाग्रत् में भी सर्वथा निश्चय कर पाना असंभव है क्योंकि जिसे भी नियमरूप से स्थापित करते हैं उसके अपवाद अवश्य निकल आते हैं। इसलिये संसार अनवस्थित है किन्तु इसका साक्षी सर्वथा अवस्थित है। शरीर-मन आदि सभी कुछ परिवर्तनशील है, एक मैं ही अपरिवर्तित रहता हूँ। इसमें कारण है कि मैं इस सारे बहुभवन का अधिष्ठान हूँ, आत्मा में ही संसारभ्रम उपलब्ध है। अध्यस्तों से अधिष्ठान में कोई अंतर नहीं आता पर अध्यस्तों की सत्ता निर्भर उसी पर करती है। बालू में तालाब दीखे तो वह गीली नहीं हो जाती, तालाब दीखना बंद होने से वहाँ दलदल नहीं रहती क्योंकि वहाँ पानी भ्रममात्र ही है, ऐसे ही संपत्ति-विपत्ति उन्नति-अवनति आदि जो कुछ आये-जाये, आत्मा निर्विकार रहता है। अविवेकी जब जो भाव सामने आये उसे ही

नायमात्मा बहोः पाठाद् बहुश्रुत्या च मेधया।
लभ्यो बहिर्मुखस्याऽस्य नेश्वरानुग्रहो यतः।।३८।।
यमन्तर्मुखमीशोऽनुगृह्णीते तेन लभ्यते।
तस्येशः स्वात्मनो रूपं भासयत्यखिलं स्फुटम्।।३९।।

सच्चा मानकर चल देता है, आगे-पीछे के भावों को भूल जाता है। विवेकी बदलते भावों को ध्यान में रखता है अतः उन सबको एक-सा मिथ्या समझता है, सच्चा वह स्वयं के सच्चिदानंदरूप को ही जानता है। अतएव उसे कोई शोक नहीं रह सकता। मंत्र के 'मत्वा' का गोपालयतीन्द्र ने 'साक्षात्कृत्य' व्याख्यान किया है; शोकनिवृत्ति तभी होती है जब आत्मा के वास्तव स्वरूप का अपरोक्ष हो, केवल परोक्ष ज्ञान से यह फल नहीं होता। जिस पक्ष में आत्मा का अपरोक्ष ही मानते हैं उसमें भी जब तक चित्त विपर्यय-संस्कारों वाला एवं अनेकाग्र है तब तक आत्मा की वास्तविकता का परोक्ष की तरह अवभास होता है (विवरण पृ. २८६) तथा वह शोकनिवर्तन में सक्षम नहीं। वेदान्त-जन्य आत्मज्ञान की यह निर्णीत पहचान है कि उससे समस्त शोक दूर हो जाते हैं।।३७।।

आत्मलाभ कैसे नहीं होता और कैसे होता है इन दोनों बातों को मंत्र में कहा 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।।' (१.२.२३)। इसे दो श्लोकों से समझाते हैं **बहिर्मुख व्यक्ति को यह आत्मा न बहुत पढ़ने से मिल सकता है, न बहुत सुनने से और न मेधा, याददाश्त के बल पर ही मिल सकता है क्योंकि ऐसे व्यक्ति पर ईश्वर का अनुग्रह नहीं है।।३८।। जिस अन्तर्मुख साधक पर ईश्वर कृपा करता है उसे आत्मा मिल जाता है, ईश्वर अपना संपूर्ण स्वरूप उसे स्पष्ट दिखा देता है।।३९।।** बहुतेरे वेदमंत्र या न्यायादि अनेक शास्त्र पढ़ लेने से, विभिन्न वेदशाखायें तथा अन्यान्य मत-मतान्तरों को सुन-समझ लेने से परमात्मलाभ अर्थात् वास्तव आत्मस्वरूप का निःशंक प्रामाणिक अनुभव हो जायेगा इस भ्रम में नहीं रहना चाहिये। केवल उपनिषत् के तात्पर्य को स्वयं पर घटा कर जो उसका क्रमशः अनुभव करता चलता है उसी को आत्मलाभ की आशा है। आत्मा सच्चिदानंद निर्विकार हैयों तटस्थ की भाँति नहीं जानना वरन् मैं सच्चिदानंद निर्विकार हूँयों प्रत्यगुल्लेख से जानना ही सफल है। स्वयं से पृथक् कर 'कोई आत्मा-परमात्मा है' यह तो ग़लत ज्ञान है, इससे तत्त्वबोध नहीं होता। मेधा कहते हैं स्मरण-शक्ति को; चाहे वेद-वेदांग सब कण्ठ हो जायें, उससे

परमात्मदर्शन नहीं हो जायेगा। इसके लिये सम्पूर्ण अन्तर्मुखता और ईश्वरकृपा ही अनिवार्य कारण है। उपनिषत् में बताया स्वरूप मेरा किस तरह है यह समझने का प्रयास ही यहाँ मुख्य साधना है। पढ़ना, सुनना, याद रखना आदि सबका इसी साधना में विनियोग हो जाये तब ये भी अत्यंत उपयोगी हैं, अन्यथा नहीं। ईश्वर उसी को मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ाता है जो अंतर्मुख होकर स्वयं उस पर चलने के प्रयास में रत हो। जो है ही बहिर्मुख उस पर कृपाकर भी ईश्वर बाह्य प्रगति ही कराता है। जो जिस ओर जाने को उत्सुक है उसे उसी तरफ जाकर सफलता मिले यही ईश्वरकृपा का प्रभाव है। मुमुक्षु-कर्तव्य है कि सारी अनात्मोन्मुखताएँ त्यागकर आत्मोन्मुख हो जाये, तब कृपा कर ईश्वर उसे अपना रहस्यमय स्वरूप भी दिखा देंगे जिससे अविद्या मिटकर मोक्ष मिल जायेगा। बहिर्मुखी पर ईश्वरानुग्रह नहीं होतायह कहने का मतलब है कि अध्यात्म प्रगति कराने वाला अनुग्रह नहीं होता, बाह्य प्रगति कराने वाला तो होता ही है। किन्तु वास्तविक दृष्टि से क्योंकि कृपा उसे कहते हैं जो कल्याण करे, और बाह्य प्रगति से कल्याण संभव नहीं इसलिये उसके अनुकूल जो कृपा है उसे अनुग्रह ही न कहा जाये, इस अभिप्राय से कह सकते हैं कि बहिर्मुखी पर ईश्वरानुग्रह नहीं होता। आर्त, दुःखी ईश्वर से चाहता ही दुःखनिवृत्ति है, बहिर्मुखी जिज्ञासु चाहता है अनात्म-विद्याएँ, अर्थार्थी की अभिलाषा धन की है, इन पर कृपा कर भी भगवान् इन्हीं की कामना पूरी करते हैं, तभी इन्हें लगता है कि भगवान् ने कृपा की। अनात्म-वस्तुएँ आगमापायी ही होती हैं अतः उनका लाभ अस्थाई ही है। स्थायी एकमात्र आत्मा है, उसे अंतर्मुख ही चाहता है क्योंकि उसके लाभ में जो आनंद है वह बहिर्मुखी को आकृष्ट ही नहीं करता, निर्विषय सुख पूर्ण विरक्त को ही अभीष्ट होता है। सभी भक्त 'उदार' अर्थात् अच्छे हैं, उत्कृष्ट हैं किन्तु परमार्थ लाभ अंतर्मुख ही पा सकता है, वही वास्तविक ज्ञान चाहता है जिससे वह परमात्मरूप हो जाता है। अंतर्मुखी साधक पर जब ईश्वर का अनुग्रह होता है तब उसमें परमात्म तत्त्व निरावृत हो जाता है। बाह्य लाभ परमेश्वर के मायिक रूपों की प्राप्ति है, आत्मलाभ उसके सत्य स्वरूप की प्राप्ति है। मायिक रूपों में वह परिच्छिन्न ही मिलता है, भले ही परिच्छेद बहुत बड़े हों, अखिल अर्थात् अपनी समग्रता में वह तभी मिलता है जब सारे मायिक परिच्छेद छोड़कर केवल सच्चिदानंद रूप से भासता है। उस रूप का स्पष्ट भान शुद्ध स्थिर चित्त में शास्त्र श्रवण से होता है। उस अनुभव में ज्ञाता-ज्ञेय का भी भेद नहीं रह जाता। भेद रहते ज्ञान में पूरी स्पष्टता नहीं होती, उसके लिये भेद सर्वथा मिटना ज़रूरी है।

पापं क्रोधमनैकाग्र्यं योगसिद्धिं च नैति यः।
तमीश्वरोऽनुगृह्णाति स ज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।४०।।

स्पष्टता के लिये हाथ में रखे आँवले का उदाहरण प्रसिद्ध है पर उसमें करण एवं प्रकाश आदि सहायकों पर निर्भरता होती है जो आत्मज्ञान में नहीं। 'मैं कामी-क्रोधी' आदि अनुभव भी स्पष्ट अपरोक्ष के लिये दृष्टांत हैं पर इनमें कामादि मनोवृत्ति और अनुभव करने वाला मैंइनका भेद रहता ही है। अतः आत्मबोध का सर्वथा समीचीन कोई दृष्टांत नहीं मिलता पर उक्त दृष्टांतों से पता चल जाता है कि कैसी अपरोक्ष स्पष्टता होने पर ही समझना चाहिये कि मुझे आत्मज्ञान हुआ। हृदय-गुहा में परमेश्वर मौजूद तो है ही पर आवृत है, जब वह कृपाकर आवरण छोड़ देता है तब उसका साक्षात्कार होने में कोई रुकावट नहीं रहती। 'साधक जान लेता है' कहने के बजाय 'परमात्मा अपना स्वरूप प्रकाशित कर देता है' इसलिये कहा कि इस दर्शन में साधक और परमात्मा दो नहीं रह जाते, प्रकाशित करने वाला और जिसके लिये प्रकाशित होता है वह एक अखंड ही तत्त्व है। किंच, साधक में अभिमान, कर्तृत्व सर्वथा नहीं रह जाये तभी यह बोध होता है इसलिये भी ऐसा कहा। जानना उत्पन्न नहीं होता, अज्ञान मिटता-भर है अतः 'मैंने जाना' की जगह 'वह प्रकट हुआ' ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार स्पष्ट किया कि पढ़ना आदि नहीं वरन् अन्तर्मुखता ही परमात्मसाक्षात्कार का साधन है।।३८-९।।

यमराज ने और त्याज्य दोष बताये 'नाविरतो दुश्चरिताद् नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्त-मानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।' (१.२.२४)।। दुश्चरित्र, लोलुपता, अनेकाग्रता और मन की अशांति छोड़े बिना वह प्रज्ञान नहीं होता जिससे आत्मलाभ हो। इसे समझाते हैं **पाप, क्रोध, अनेकाग्रता और योगसिद्धिइनमें जो निमग्न नहीं होता उस पर ही ईश्वर अनुग्रह करता है और वही ज्ञानद्वारा इस तत्त्व को प्राप्त करता है।।४०।।** दुश्चरित अर्थात् पाप का आचरण छोड़े बिना अध्यात्म साधना असंभव है। स्वर्गादि सल्लोक-प्राप्ति के लिये भी दुराचार तो छोड़ना ही पड़ता है पर मोक्षमार्ग पर चलने के लिये वह और भी ज़्यादा ज़रूरी है। मन्त्र के 'अशान्त' को यहाँ क्रोध बताया है क्योंकि क्रोध ही मन को अतिशय तीव्र और असह्य अशांति देता है। अशांत दशा में सच ग्रहण नहीं किया जा सकता। कामना भी उत्तेजक है लेकिन क्रोध उससे ज़्यादा परेशान करता है और तत्काल प्रतिक्रियाएँ चाहता है अतः यहाँ काम के बजाय क्रोध कहा। भाष्य में इन्द्रियों की लोलुपता से होने वाली अशांति का

ब्राह्मणादि जगद् मृत्युसहितं यस्तु संहरेत्।
सोऽयम् उग्रः कथं बोद्धुं शक्यः स्याद् नियतिं विना।।४१।।

ग्रहण किया है। अतः सभी प्रकार की अशांतियाँ समझ लेनी चाहिये पर क्रोध की अशांति सर्वाधिक होने से उसे कहा। कामना होने पर तो व्यक्ति उपाय, प्रकार आदि सोच-समझकर मौका खोजने जितना धैर्य रख सकता है लेकिन क्रोधी कुछ भी सोच-विचार नहीं कर पाता, अपनी सामर्थ्य का भी आकलन नहीं कर पाता अतः उसकी अशांति अधिक है यह निर्विवाद है। दुश्चरित से सब शारीरिक पाप और क्रोध से सब मानस पाप उपलक्षित हैं अतः लोभ मात्सर्य शाठ्य आदि सभी दोष समझ लेने चाहिये, सभी त्यागने योग्य हैं। दोष हटाने मात्र से नहीं, चित्त को ब्रह्म पर केंद्रित किये बिना ज्ञान नहीं होता। संयम-पूर्वक एकाग्रता आने पर योगजसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें आजमाने लग गया तो भी साधक पथभ्रष्ट हो जायेगा, आत्मबोध से वंचित रह जायेगा। [मुत्तुशास्त्री ने **योगासिद्धिं** पाठ माना है। तब अर्थ है कि चित्तवृत्ति का निरोध बिना पाये आत्मज्ञान नहीं होता।] ऐसे साधक पर ईश्वर कृपा करते हैं, वही प्रज्ञान पाकर मुक्त होता है।।४०।।

द्वितीयवल्ली का अंतिम मंत्र है 'यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्त्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।।' ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सारा चराचर जगत् जिसके लिये मानो अन्न है, सबको नष्ट करने वाली मृत्त्यु मानो सब्ज़ी है, उस आत्मा की अचिन्त्य महिमा दुर्लभ साधक ही जान सकता है। इसे बताते हैं **मृत्त्यु समेत ब्राह्मण आदि जगत् का जो संहार करता है उस उग्र आत्मा को पूर्वोक्त नियमों का पालन किये बिना कैसे जाना जा सकता है!।।४१।।** प्रलय में सारा संसार परमात्मा में ही लीन होता है, तत्त्वज्ञान से भी उसी में संसार का निषेध होता है अतः उसकी महिमा अपार है। जैसे बालक सब्ज़ी से भात खाता है ऐसे परमात्मा मृत्त्यु-सहित जड-चेतन जगत् का उपसंहार कर लेता है। अतएव वह उग्र है। उच समवाये (दि.प.से.) धातु है, उसका मतलब है इकट्ठा करना अतः इकट्ठा करने वाले को उग्र कहते हैं। स्थिति काल में चीज़ें बिखरी रहती हैं, संहारकाल में उन्हें अपने में बटोर लेता है इसलिये वह उग्र है। क्रूर को भी उग्र कहते हैं क्योंकि वह हिंस्र होता है और हिंसा का फल नाश है जहाँ वस्तु अपने कार्यकारी रूप में व्यवस्थित न रहकर एक पिण्ड के रूप में इकट्ठी हो जाती है। जब सौ-पचास लोगों को मारने वाले ही उग्रवादी कहे जाते हैं तब अखिल ब्रह्माण्डों के संहारक की उग्रता

का क्या कहना! यह उग्र दयालु भी है, सच्चरित्रों पर यह दया करता है। दया से अपना स्वरूप दिखाकर उन्हें मुक्त कर देता है जो शास्त्रोक्त नियमों से साधनातत्पर हैं। लोक में भी राजा आदि सज्जनों पर कृपालु और दुर्जनों पर उग्र होते ही हैं। ऐसे परमात्मा को प्रसन्न करना सरल इसलिये है कि इसकी प्रक्रिया नियमबद्ध है, नियत है, जो भी उस ढंग से प्रयास करेगा उसे परमात्मा की कृपा अवश्य मिलेगी। संसार में तो उग्र-प्रकृति के लोगों से व्यवहार में कठिनाई रहती है क्योंकि उनकी प्रसन्नता कैसे हो इसका कोई निश्चित तरीका नहीं होता लेकिन परमात्मा को प्रसन्न करने में यह मुश्किल नहीं क्योंकि शास्त्र में उन्होंने स्वयं अपनी पसंद प्रकट कर दी है, जीव क्या-कैसे करे तो परमात्मा प्रसन्न होता है यह साफ-साफ बता दिया है। नियति भाग्य को भी कहते हैं; अनेक जन्मों के पुण्य-पुंज फलीभूत होने पर ही परमात्मदर्शन होता है, उसके बिना नहीं। इस मंत्र पर ब्रह्मसूत्र १.२.६ में विचार कर निर्णय किया है कि सब के संहारक परमात्मा का ही यहाँ वर्णन है।।४१।।

तृतीय वल्ली प्रारंभ होती है दो आत्माओं के वर्णन से 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।' शरीर के अंदर बुद्धिगुफारूप श्रेष्ठ ब्रह्मस्थान में घुसे हुए दो रहते हैं जो परस्पर धूप-छाया की तरह विलक्षण होते हुए भी स्वयं किये कर्म के फलरूप ऋत के पान से संबद्ध हैं। उनके बारे में ब्रह्मवेत्ता तो बताते ही हैं, पाँच अग्नियों की सेवा करने वाले एवं तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले सद्गृहस्थ भी उनकी चर्चा करते हैं।यह मंत्रार्थ है। पाँच अग्नियाँ हैंगार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य; अग्निहोत्री इनका विधिवत् सेवन करते हैं। पंचाग्निविद्या के उपासक भी यहाँ समझे जा सकते हैं। नाचिकेताग्नि वह कर्मविशेष है जिसका उपदेश यमने नचिकेता को दिया था जिसका विस्तार तैत्तिरीय ब्राह्मण के अंतर्गत काठक द्वितीय प्रश्न में उपलब्ध है। यहाँ किन 'दो' की चर्चा है इस पर भी ब्रह्मसूत्र १.२.११ में विचार है। विज्ञानात्मा अर्थात् जीव और परमात्मा, ईश्वरये दो यहाँ कहे गये हैं ऐसा वहाँ निर्णय है। जीव कर्मफल भोगता है, ईश्वर उसे भुगवाता है, यों दोनों का कर्मफल से संबंध होता ही है। व्यापक होने से बुद्धिगुफा में भी परमेश्वर का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता और उपलब्धि के लिये स्थानविशेष होना भी संगत है अर्थात् व्यापक होने पर भी उसकी उपलब्धि हृदय में ही होती है, वहीं उसका साक्षात्कार होता है। इसका संक्षेप में अर्थ कहते हैं **यदि प्रश्न करो कि परमात्मा को समझने वाला कौन है**

को बोद्धा कश्च बोद्धव्यः इति चेत्तावुभौ शृणु।
बुद्धिप्रविष्टौ जीवेशौ बोद्धृबोद्धव्यतां गतौ।।४२।।

रथरूपकम्

अवच्छिन्नो भवेज्जीवोऽनवच्छिन्नो महेश्वरः।
रथस्वामी च गन्तव्यदेशो यद्वदुभौ तथा।४३।।

और वह जिसे समझता है वह कौन है? तो उत्तर सुनो : बुद्धि में घुसे हुए जीव-ईश्वर ही ज्ञाता-ज्ञेयभाव को प्राप्त होते हैं।।४२।। पूर्वोक्त उग्र ईश्वर और उसे प्राप्त करने वाला साधक जीव कौन हैं? यह जिज्ञासा होती है। प्रायः ज्ञाता-ज्ञेय परस्पर पृथक् ही होते हैं, ऐसे ही क्या जीव-ईश्वर विभिन्न हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ही अद्वैत का रहस्य स्पष्ट होता है। आत्मा एक अखंड है, उपाधि-परिच्छेद से उसी में जीवभाव की कल्पना है, उस परिच्छेद को सत्ता-स्फूर्ति देने वाले के रूप में ईश्वरभाव की कल्पना है। आत्मा ही जीव-ईश्वर दोनों तरह प्रकट है अतः जीव-ईश्वर वास्तव में अलग नहीं पर उपाधिवश ही अलग हैं। अधिष्ठान का अनुवेध अध्यस्तों में रहता है अतः महाभूतादि-क्रम से बने अंतःकरण में ईश्वर अनुविद्ध है और अवच्छिन्न या प्रतिबिम्बित या आभास रूप से जीव भी उसी अंतःकरण में है। जीव साधक है, जानने वाला है, अधिष्ठान ईश्वर ज्ञेय है। अंतःकरण में तादात्म्याध्यास किये हुए जो जीव वह जानेगा किन्तु जिसे जानेगा उसमें यह अध्यास नहीं है। जीव-ईश्वर दोनों बुद्धि में हैं ईश्वर का अधिष्ठानरूप से प्रवेश है,जीव का अध्यस्तरूप से प्रवेश है। एक ही आत्मा इन दो रूपों को प्राप्त हुआ है इसलिये ज्ञातृ-ज्ञेयभाव भी संभव है, अद्वैत भी खंडित नहीं होता।।४२।।

इसे और स्पष्ट करने के लिये उपनिषत् ने रथ का रूपक बताया है : 'आत्मान ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।' १.३.३। शरीर रथ है, जीव रथी है, बुद्धि सारथि और मन लगाम है। 'इद्रियाणि हयान् आहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।'४।। इंद्रियाँ घोड़े हैं, विषय वह रास्ता हैं जिस पर घोड़े चलते हैं। शरीर-इंद्रिय-मन समेत आत्मा भोक्ता संसारी है। इस प्रसंग का संग्रह करते हैं **पूर्वोक्त जीव वह आत्मा है जो बुद्धि से परिसीमित है एवं महेश्वर वह आत्मा है जो असीम है। रथ के मालिक की जगह जीव है और उसे जहाँ पहुँचना है उस स्थान की जगह महेश्वर है।।४३।। जीव को रथ का मालिक समझो, शरीर को तो रथ समझो, जीव की उपाधि जो अहंकार उसे सारथि और मन को लगाम**

जीवं तं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
जीवोपाधिमहङ्कारं सारथिं प्रग्रहं मनः।।४४।।
इन्द्रियाणि हया ज्ञेया विषया गम्यभूमयः।
सारथ्यधीना सर्वत्र रथिनः सदसद्गतिः।।४५।।

समझो।।४४।। इन्द्रियों को घोड़ों की जगह समझना चाहिये और विषयों को वह मार्ग जिस पर घोड़े दौड़ते हैं। रथी की सद्गति हो या असद्गति, यह सर्वत्र सारथि पर ही निर्भर करता है।।४५।। बुद्धि जीव को परिच्छिन्न, सीमित कर देती है, उसकी दृष्टि संकुचित कर देती है, वह खुद को साढ़े तीन हाथ के शरीर में बँधा अनुभव करता है, उससे बाहर अपनी सत्ता स्वीकार ही नहीं पाता। किन्तु बुद्धि का कारण जो महेश्वर उसे बुद्धि सीमित नहीं कर पाती। कार्य अपने कारण की सामर्थ्य व्यक्त ही करता है, कारण को ढाँकता नहीं, सीमित नहीं करता, घड़े से मिट्टी सीमित नहीं होती बल्कि घड़ा बनने की सामर्थ्य मिट्टी में है यह तथ्य प्रकट ही होता है। संसार भी महेश्वर की महिमा को प्रकट करता है। फिर भी जीव अपनी दृष्टि संकुचित रखने से संसार को ही देखता है, जिसकी महिमा प्रकट हो रही है उसे नहीं देखता, यही उसके शोक-मोह का हेतु बनता है। इस स्थिति से निकलकर परमार्थ स्थिति में कैसे पहुँचेइसी को रथ-रूपक से कहा गया है।

गन्ता-गन्तव्य का भेद वैसा ही है जैसे एक स्थान की मिट्टी दूसरी जगह डाल देते हैं : मिट्टीइतने ही रूप में देखें, तो वह सारे भूतल पर है ही लेकिन कणों की दृष्टि से देखें तो यह मिट्टी वहाँ नहीं, वह मिट्टी यहाँ नहीं; ऐसे ही आत्मा सर्वव्यापक है लेकिन बुद्धि में तादात्म्याध्यास से हम स्वयं को एकत्र सीमित समझते हैं और मानते हैं कि साधनाभ्यास से महेश्वरभाव को प्राप्त होंगे। अतः साधक या जीव रथी और ईश्वर गन्तव्य हो जाता है। जैसे ही वास्तविक एकता पता चलती है वैसे ही गंतव्य-प्राप्ति भी हो जाती है क्योंकि वस्तुतः तो गंतव्य सदा प्राप्त ही है। यात्रा के लिये रथ की तरह साधना के लिये शरीर ज़रूरी है। रथ चलाने वाले सारथि की जगह है अहंकाररूप बुद्धि। अहंकार ही शरीर को चलाता है। अहंकार जीव नहीं, अहंकार जिसके लिये शरीर चला रहा है वह मालिक जीव है। प्रतीति यही होती है कि 'मैं शरीर चलाता हूँ' किन्तु यहाँ 'मैं' उपाधि-प्रधान रूप का बोधक है। अहंकार की प्रधानता होने पर ही शरीर का संचालन संभव है, अतः नींद आदि में अहंकार अव्यक्त हो जाने पर मैं रहता हुआ भी शरीर का संचालन नहीं कर पाता। गंतव्य पर पहुँचना है रथी को, उपाधि छोड़कर ही

कर्ता सारथिरक्षाणि नियम्य मनसा क्रमात्।
गच्छन्नन्तर्मुखो मार्गपारं विष्णुपदं व्रजेत्।।४६।।

जीव को विष्णु के परम पद की, परमात्मरूपता की प्राप्ति होगी, अहंकार रखते हुए उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। साधना करने तक तो अहंकार ज़रूरी है पर साधन की पूर्ति पर अहंकार का बाध अनिवार्य है। सारथि की जगह होने से ही अहंकार का प्रशिक्षण ज़रूरी है, संशुद्धि की आवश्यकता है। बिना इस शुद्धि के वह शरीर-संचालन ऐसा नहीं कर सकेगा कि मोक्ष मिले वरन् संसार-गड्ढे में गिराने वाला संचालन ही कर पायेगा। एक ही अंतःकरण की कर्तृवृत्ति को बुद्धि और करणवृत्ति को मन कहते हैं। 'मैं कर रहा हूँ', 'मन से सोच-समझ आदि रहा हूँ'ये दोनों अनुभव होते हैं। एक में कर्तृभाव प्रकट है, दूसरे में करणभाव। करणरूप मन लगाम-स्थानीय है, इसी के द्वारा बुद्धि शरीर का नियंत्रण करती है। जीव का कर्तृत्व जिस वृत्ति के द्वारा प्रकट होता है वह अहंकाररूप बुद्धि है, इस दृष्टि से वह भी करण ही है अतः अंतःकरण के अन्तर्गत अहंकार भी आ जाता है किन्तु प्रकट करती है कर्तृत्व को इस दृष्टि से उसे मन से पृथक् कर कर्ता की उपाधि भी कहा जाता है। रथ को घोड़ों की तरह शरीर को इंद्रियाँ चलाती हैं। बुद्धि मन द्वारा इंद्रियों को प्रेरित करती है तब वे शरीर को चलाती हैं। मार्ग की जगह विषय हैं। रथ की गति सही रहे, गड्ढे में न जा गिरे, यह निर्भर करता है सारथि पर, ऐसे ही बुद्धि यदि अविवेकी हो तो न उससे मन नियंत्रित रहेगा न इंद्रियाँ और फलतः शरीर साधना नहीं कर पायेगा जबकि विवेकादि-संपन्न बुद्धि सब पर नियंत्रण रखकर साधना करा लेगी जिससे जीव उस पद पर पहुँच जायेगा जहाँ जन्म-मरण का बंधन निवृत्त हो जाता है।।४३-५।।

मंत्र में बताया 'विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्।।'१.३.९।। जिसकी बुद्धि विवेकपूर्ण है, मन समाहित है ऐसा शुद्ध आत्मज्ञ ही संसाररूप रास्ता पार कर उस गन्तव्य पर पहुँचता है जो विष्णु का परम पद है। विष्णु अर्थात् जिसका स्वभाव ही व्यापकता है, उस भूमा की परम अर्थात् श्रेष्ठ पद अर्थात् वास्तविकता उसे प्राप्त हो जाती है जो ईश्वर का कृपापात्र साधक है। इस मंत्र का अर्थ कहते हैं **अन्तर्मुख कर्ता अर्थात् सारथि मन से इंद्रियों को नियन्त्रित कर शास्त्रोक्त क्रमानुसार साधनारूप गति करते हुए मार्ग की समाप्ति पर जो विष्णु-पद है उस पर पहुँच जाता है।।४६।।** इन्द्रिय-नियंत्रण के बिना साधना संभव नहीं, मन के नियंत्रण के बिना इंद्रियाँ संयत रखना संभव नहीं और बुद्धि

में जब तक मोक्षलाभ का निश्चय न हो, 'मुझे अवश्य कैवल्य ही पाना है' ऐसा एकनिष्ठ उद्दाम उत्साह न हो तब तक मन विषयोपरत हो यह संभव नहीं। अतः साधना प्रारंभ बुद्धि के, अभिमान के स्तर पर ही होगी, 'मैं परमात्ममार्ग का साधक हूँ' यह अभिमान रहे तभी आगे का क्रम चल सकता है अत एव यहाँ कर्ता को सबसे पहले कहा। इसी क्रम से नियमन अपेक्षित है, पहले कर्ता का फिर मन का, तब इंद्रियों का। इंद्रिय-मन का नियंत्रण साथ-साथ करना पड़ता है क्योंकि यदि इंद्रियाँ भोग करती रहें तो मन नियंत्रण में नहीं लाया जा सकता और यदि मन विषयचिंतन करता रहे तो इंद्रियों को संयत रखना मिथ्याचार हो जाता है। इसलिये इन दोनों को नियंत्रित करने का अभ्यास साथ-साथ करना पड़ता है। किन्तु समझने की दृष्टि से, मन का नियंत्रण पहले है, इंद्रियों का बाद में। सारथि के अधीन रथ की गति की तरह अहंकार के अधीन शरीर अतः शरीरस्वामी की गति है। अहंकार शुद्ध होने पर ही सद्गति संभव है। अपना अभिमान हमेशा शुद्ध रखना चाहिये। ग़लती भले ही हो पर ग़लती करना अपना स्वभाव नहीं मान लेना चाहिये। मैं सही ही करूँगा इस निश्चय को कायम रखे तभी ग़लती करने से बचने के प्रति सावधानी रहेगी अन्यथा नहीं। इसी अभिमान या क्रतु को अन्यत्र व्यक्तित्व के रूप में बताया है क्योंकि इसी के अनुरूप व्यक्ति स्वयं का विकास करता है। कर्ता, बुद्धि की अंतर्मुखता, आत्मप्रवणता के बिना अध्यात्म साधना संभव नहीं। अन्तर्मुख की साधना समाप्त होती है परमात्मरूपता पाने पर, वही संसारमार्ग की समाप्ति है, वहाँ तक पहुँचे बिना संसारमार्ग कभी ख़त्म नहीं हो सकता, चलता ही रहता है। विष्णु-पद से यह नहीं समझना चाहिये कि विष्णु से उनका पद अलग है! मायवी-रूप को विष्णु और अधिष्ठानरूप को पद कहा है, वस्तु एक ही है। उसी वस्तु के साक्षात्कार से मोक्ष है।।४६।।

गन्तव्य पद सबसे परे है इसे दो मंत्रों से कहा 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।। महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषाद् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।।'१.३.१०-११।। इंद्रियों से परे (= सूक्ष्म, महान् प्रत्यक्) हैं अर्थ (= महाभूत), उनसे परे मन (= मन के उत्पादक भूतसूक्ष्म) है, मन से परे बुद्धि है और उससे परे महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) है। महान् आत्मा से परे अव्यक्त और उससे परे पुरुष (= आत्मा) है। पुरुष से परे कुछ नहीं है, वही पर्यवसान है, सब की अंतिम गति वही है। ब्रह्मसूत्र में (१.४.१;३.३.१४) इस श्रुति पर काफी चर्चा है। यहाँ छह श्लोकों से इसे स्पष्ट करते हैं **क्या किससे भीतरी**

इन्द्रियादिपरम्परा

इन्द्रियादिर्विष्णुतत्त्वपर्यन्तो ह्यान्तरक्रमः।
इन्द्रियेभ्यो भौतिकेभ्यो भूतेष्वान्तरता स्थिता।।४७।।
तद्भूतेभ्यः सूक्ष्मभूतकार्यत्वाद् मन आन्तरम्।
ततोऽतिसूक्ष्मकार्यत्वात् कर्तृत्वोपाधिरान्तरः।।४८।।
समष्टिकर्तृतोपाधिरान्तरो व्यष्टिकर्तृतः।
समष्ट्याख्यमहत्तत्त्वात् तद्धेत्वव्यक्तमान्तरम्।।४९।।
मायाऽऽख्याऽव्यक्ततोऽप्यस्याऽऽधारः पुरुष आन्तरः।
पुरुषाद् न परं किञ्चित् सर्वं तेनैव पूरितम्।।५०।।
सद्रूपः पुरुषस्तस्य सत्त्वेनान्यस्य पूरणात्।
अस्तीति निखिलं भाति पूरकः पुरुषो मतः।।५१।।
वस्तुतत्त्वविचारोऽन्तःपुरुषेऽस्मिन् समाप्यते।
गन्तव्यतत्त्वसीमत्वाद् रथी गच्छति तं क्रमात्।।५२।।

हैयह श्रुति ने इंद्रियों से प्रारंभ कर विष्णु तत्त्व तक पदार्थों के क्रमशः उल्लेख से बताया है। महाभूतों की कार्य हैं इंद्रियाँ अतः उनकी अपेक्षा भीतरी हैं महाभूत, यह बात निश्चित है।।४७।। उन भूतों से भीतरी है मन क्योंकि वह सूक्ष्म भूतों से बना है। मन से भी भीतरी है कर्तृता की उपाधि बुद्धि क्योंकि वह अतिसूक्ष्म कार्य है।।४८।। व्यष्टि कर्ता से (बुद्धि से) भीतरी है समष्टि कर्तृत्वोपाधि (हिरण्यगर्भ)। समष्टि नामक उस महान् तत्त्व से भीतरी उसका कारण अव्यक्त है।।४९।। माया नामक अव्यक्त से भी भीतरी है उसका आधार पुरुष। पुरुष से परे कुछ नहीं है, वही सबको पूरा बनाता है।।५०।। पुरुष का स्वरूप है सत् (= है) और बाकी सब की पूर्णता सत्ता से (= है-पने से) ही होती है। सभी चीज़ें 'है' इसी तरह प्रतीत होती हैं अतः सबको पूरा करने वाला पुरुष ही माना जाता है।।५१।। सबसे भीतरी इस पुरुष में ही वस्तुओं की तात्त्विकता का विचार समाप्त होता है। गन्तव्य तत्त्वों की यही सीमा है। साधना के क्रम के फलस्वरूप पूर्वोक्त रथी इस पुरुष को ही प्राप्त करता है।।५२।। साधक की अंतर्मुखता आवश्यक होने से बताना ज़रूरी है कि अंदर है क्या। सबसे अंदर तो पुरुष, आत्मा है पर एकाएक वह समझ नहीं आता अतः कदम-कदम कर भीतरी वस्तुएँ बताते हैं ताकि धीरे-धीरे सूक्ष्म पर दृष्टि केंद्रित होकर

आत्मा भी समझ आ जाये। भाष्य में स्पष्ट किया है कि सूक्ष्म, महान् और प्रत्यक्तीन दृष्टियों से भीतरीपन है अर्थात् जो ज़्यादा भीतर है वह ज़्यादा सूक्ष्म, ज़्यादा महान् और ज़्यादा प्रत्यक् है। कार्य से भीतरी उसका कारण है जैसे बर्तनों से मिट्टी या गहनों से सोना भीतरी है। भीतरी होने से ही मिट्टी या सोना व्यापक भी है। परमात्मा सबसे भीतर है और सभी परमात्मा पर कल्पित हैं अतः वही सबसे व्यापक है। सामान्य दृष्टि से बाहर वाले की अपेक्षा भीतर वाला छोटा होता है जैसे कमरे के भीतर जो आदमी वह कमरे से छोटा होता है किन्तु यहाँ क्योंकि कारण को भीतरी कह रहे हैं इसलिये सबका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण परमात्मा सबसे व्यापक है यही निर्णय होता है। इसे सूचित करने के लिये 'विष्णु'शब्द का प्रयोग किया, व्यापक को विष्णु कहते हैं।

प्रारंभ किया इंद्रियों से। २.३.७ में भी इंद्रियों से ही प्रारंभ किया है जिसका संकेत श्लो. १०२ में आयेगा। स्थूल शरीर से इंद्रियाँ भीतरी हैं यह प्रायः सभी को स्पष्ट है इसलिये शरीर को छोड़ दिया, इंद्रियों से भीतरता बताना प्रारंभ किया। तैत्तिरीय में अन्नमय की अपेक्षा प्राणमय को भीतरी बताने से प्रारंभ किया है, वह भी इसीलिये कि अन्नमय की बाह्यता स्पष्ट ही है। इंद्रियाँ भूतों से उत्पन्न हैं अतः उनसे भीतर भूत हैं इसमें किसी को संदेह नहीं। पूर्वोक्त रूपक में घोड़े-स्थानीय इंद्रियाँ जिन मार्ग-स्थानीय विषयों से व्यवहार करती हैं उन्हें यहाँ इन्द्रियों से परे कहा। वे विषय महाभूतरूप ही हैं, महाभूत ही अपने आपको ग्रहण कराने के लिये इंद्रियाँ बनाते हैं। यद्यपि इंद्रियाँ सूक्ष्म भूतों से बनती हैं जबकि विषय स्थूल भूत होते हैं तथापि भूत-रूप से एकता मानकर यहाँ कहा गया है। सूत्रभाष्य में बृहदारण्यक के आधार पर बताया है कि क्योंकि इंद्रियों को ग्रह और विषयों को अतिग्रह कहा है (बृ.३.२) इसलिये विषयों में अतिशय स्वीकारना उचित है। अतः इंद्रियों से भीतर हैं भूत। उपनिषद्भाष्यटीका में प्रत्यग्रूपता को यों उपपन्न किया है कि जैसे आत्मा की प्रत्यक्स्वरूपता कभी हटती नहीं वैसे इंद्रियों में से विषय हट नहीं सकते अतः उन्हें प्रत्यक् या भीतरी कहा। भूतों से मन भीतरी है इसके लिये सूत्रभाष्य में हेतु दिया है कि विषय-इंद्रिय व्यवहार मनोमूलक होता है। यहाँ जो मन को सूक्ष्मभूतों का कार्य होने से भूतों की अपेक्षा आंतर कहा, वह केवल यह समझाने के लिये कि मन भी एक भौतिक पदार्थ है, आन्तरता में हेतु तो यही है कि विषयेन्द्रियव्यवहार मन के अधीन होता है। उपनिषद्भाष्यटीका में यह स्पष्ट है। इंद्रिय, अर्थ (विषय) और मनसब में भौतिकता एक-सी है फिर भी परापर-भाव उक्त ढंग से संगत है। इंद्रियों की अपेक्षा मन का विषयक्षेत्र व्यापक भी है, सूक्ष्म भी, इससे भी

मन इंद्रियों से परे है। इंद्रियाँ मन को विषय नहीं करतीं जबकि मन उन्हें विषय कर लेता है अतः भी वह उनसे परे है। मन से भी आंतर कर्तृत्व की उपाधि अर्थात् बुद्धि है जो मन को चलाती है, नियंत्रित करती है। बुद्धि अतिसूक्ष्म है क्योंकि अतिसूक्ष्म धर्म और ब्रह्म को समझती है और सूक्ष्म मन को संचालित भी करती है। 'अतिसूक्ष्मकार्य' का अर्थ है कि वह अतिसूक्ष्म है एवं कार्य है। ऐसा नहीं कि सूक्ष्म की अपेक्षा किसी अतिसूक्ष्म वस्तु का वह कार्य हो! पंचकोश क्रम में भी मन से कर्ता (बुद्धि) को आभ्यंतर ही बताया है। यहाँ तक व्यष्टि-स्तर का भीतरीपन बताया। इन्द्रियों से भूतों की जो आंतरता कही थी वह यद्यपि समष्टि-स्तर की बात थी तथापि क्योंकि कारण के रूप में भूतों का उल्लेख था इसलिये व्यष्टि के दायरे की ही बात रही।

व्यष्टि से परे, आन्तर, सूक्ष्म, व्यापक होता है समष्टि। कर्तृता की जो व्यष्टि उपाधि बुद्धि, उससे आंतर है कर्तृता की समष्टि उपाधि अर्थात् समष्टि बुद्धि जो हिरण्यगर्भ की उपाधि के रूप में प्रसिद्ध है। सभी बुद्धियों का वही प्रेरक है अतः व्यष्टि बुद्धियों से भीतरी है, प्रेरक भीतर से ही प्रेरित करता है। इंद्रियों का नियामक मन इंद्रियों से आन्तर, मन का नियामक कर्ता उससे आंतर, इसी तरह व्यष्टि का नियामक समष्टि उससे आन्तर है। इसी समष्टि को महत्तत्त्व कहा है। इस नामको सांख्यों ने अपने पारिभाषिक पदार्थ के लिये प्रचलित कर लिया है किंतु वेद में इसका वह अर्थ नहीं। यहाँ 'महान् आत्मा' से रथी कहा गया भोक्ता जीव भी समझा जा सकता है, वह बुद्धि का स्वामी होने से उससे महान् है और हिरण्यगर्भ की बुद्धि भी समझी जा सकती है ऐसा सूत्रभाष्य में समझाया है; पर इस ग्रंथ में हिरण्यगर्भ की अर्थात् समष्टि बुद्धि को ही महान् आत्मा या महत्तत्त्व बता रहे हैं। उससे आन्तर अव्यक्त अर्थात् माया है जिससे हिरण्यगर्भ भी उत्पन्न हुआ है। अज्ञानपूर्वक ही कर्तृभाव आता है यह शास्त्र व अनुभव दोनों से सिद्ध है। माया, अज्ञान अपने आश्रय-विषय के रूप में आत्मा की अपेक्षा रखता है, आत्मरूप आधार पर, अधिष्ठान पर ही माया का अनादि अध्यास है। ज्ञान में ही अज्ञान रहता है। मैं जर्मन भाषा नहीं जानता, यह मेरा जर्मन-विषयक अज्ञान मेरे इस ज्ञान में ही रहता है कि मुझे जर्मन नहीं आती; यदि मुझे यह ज्ञान न हो कि जर्मन नहीं आती तो जर्मनविषयक अज्ञान है इसमें कोई प्रमाण ही नहीं रहेगा। अतः ज्ञान के बिना अज्ञान अप्रसिद्ध है। अव्यक्त व्यक्त बनने में तभी समर्थ होगा जब कोई चेतन इसके लिये यत्न करे और जो व्यक्त बन ही न सके ऐसा अव्यक्त ही अप्रसिद्ध है क्योंकि व्यक्त की अपेक्षा से ही अव्यक्त कहा-समझा जाता है। मिट्टी में बर्तन अव्यक्त

हैं यह तभी निश्चय होता है जब उससे बर्तन बन जायें अर्थात् अव्यक्तदशा कार्यानुमेय है। इस प्रकार माया अवश्य पुरुषाश्रित है अतः पुरुष ही सबसे आन्तर है। उससे परे, भीतरी और कुछ नहीं है। [निर्णयसागर में श्लो. ५१ में **अन्यत्र पूरणात्** पाठ है, मुत्तुशास्त्री का **अन्यस्य पूरणात्** है, अर्थ एक ही है।] पुरुष कहते हैं जो स्वयं पूर्ण हो और बाकियों को पूरा बनाये। तैत्तिरीय में भी बताया था कि जो भीतरी है उससे बाहरी पूर्ण होता है, उसी न्याय से समझना चाहिये कि सबसे आंतर पुरुष से ही सब कुछ पूर्ण होता है। माया से इंद्रियों पर्यन्त जितने तत्त्व कहे वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति तो आत्मा से पाते ही हैं, उनकी अर्थक्रिया-कारिता भी आत्मा पर ही निर्भर है अत एव आत्मा को मन का मन, प्राण का प्राण (केन.१.२), 'इसी में ये सब एकत्र होते हैं' (बृ. १.४.७) आदि कहा गया है। स्थूल देह भी शरीर तभी तक है जब तक इसमें पुरुष है अन्यथा शव रह जायेगा, मन भी तभी मन कहलाता है जब उसमें ज्ञानशक्ति कार्य करे, प्राण भी क्रियाशक्ति रहते ही प्राण है, इसलिये सब कुछ आत्मा से ही सस्वरूप है इसमें संदेह नहीं। विषय भी ज्ञेय रहते ही 'विषय' हैं अतः उनकी पूर्णता भी आत्मा से ही है। बाकी सब मिलकर भी तब तक पूर्ण नहीं होते जब तक उनमें आत्मा न हो, इसे ऐतरेय में (अनुभूतिप्रकाश अध्याय १ श्लो. १२) भी समझा चुके हैं। शरीरादि में चेतन है तो वे अपनी तरह के अन्य शरीरादि भी पैदा करते हैं, चेतन के बिना यह प्रक्रिया भी घटती नहीं। सब कुछ चेतन से सिद्ध है, वह किसी अन्य से सिद्ध नहीं। जैसे ज्ञानरूप से वही पूरक है वैसे सद्रूप से भी; पुरुष ही सत् है, वह भरा है इसीलिये अन्य चीज़ें सत् कही जाती हैं अन्यथा वे असत् रहेंगी अर्थात् रहेंगी ही नहीं। जब तक वस्तु 'है' न हो जाये, सत्ता में न आ जाये, तब तक वह पूरी नहीं होती। मिठास से जैसे चीनी की मौजूदगी पता चलती है वैसे चीज़ें हैंइसी से पता चल जाता है कि उनमें आत्मा भरा है। चित् और सत् की तरह ही आनंद भी आत्मा ही है, अन्यत्र आनंद इसीलिये मिलता है कि उनमें आत्मा भरा हुआ है। कौन किससे भीतर हैइस विचार की परिसमाप्ति आत्मा में पहुँचकर हो जाती है, वह सबसे भीतर है, उससे भीतर कुछ नहीं। अन्य सबकी वास्तविकता क्या हैयह खोजने चलें तो भी आत्मा पर पहुँचकर ही खोज समाप्त होगी। शाल-स्वेटर की वास्तविकता क्या? ऊन। ऊनकी वास्तविकता भेड़, उसकी वास्तविकता उसने जो अन्न, घास आदि खाया वह, अन्नादि की वास्तविकता पृथ्वी, उसकी वास्तविकता जल, उसकी वास्तविकता तेज, तेज की वास्तविकता वायु, वायु की आकाश, आकाश की माया और माया की वास्तविकता आत्मा, आगे आत्मा की अन्य कोई वास्तविकता नहीं क्योंकि वह स्वयं ही वास्तविक

अपरिच्छिन्न आत्मा

रथिनो वास्तवं रूपं पूर्णत्वं तदबोधतः।
अवच्छिन्नत्वम् एतच्च तद्बोधेन निवर्तते।।५३।।
आत्मा सर्वेषु देहेषु भ्रान्त्या गूढो न भासते।
एकाग्रया सूक्ष्मयैतं पश्येत् ताच्छील्यवान् धिया।।५४।।

है। गंतव्य, प्राप्तव्य की सीमा यही आत्मा है, इसे पा लेने पर कुछ अन्य पाने योग्य नहीं रहता। इसी की प्राप्ति जीव का चरम उद्देश्य है, मोक्ष है।।४६-५२।।

रथ-रूपक और क्रमशः परत्व के बोधन का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं **रथी (जीव) का सच्चा स्वरूप पूर्णता (भूमरूपता) है। पूर्णता के अज्ञान से ही रथी सीमित है, पूर्णता के ज्ञान से ही वह सीमा समाप्त होती है।।५३।।** आत्मा की स्वाभाविक पूर्णता समझाने के लिये ही रथ-रूपक और भीतरीपन की चर्चा हुई। अपनी पूर्णता के अज्ञान से हम खुद को परिच्छिन्न, सीमित समझकर दुःखी होते हैं। वास्तव में कुन्तीपुत्र होने पर भी इस बात को न जानने से कर्ण खुद को सूतपुत्र समझकर जैसे अपमानित आदि होता रहा वैसे हम अपनी पूर्णता के अज्ञान से ही शोकमग्न हैं। सचमुच में जैसे वह हमेशा कुन्तीपुत्र ही था, भले ही जानता न रहा हो और अज्ञानवश अपमान सहता रहा हो, वैसे हम भी पूर्ण ही हैं भले ही न जानें और शोक सहते रहें। परमात्मस्वरूप होने पर भी अज्ञानवश हमें अभिमान है कि 'मैं देवदत्त, ब्राह्मण, संयासी आदि हूँ', यही हमारी परिच्छिन्नता है, सीमितता है। इसकी निवृत्ति का एक ही अचूक उपाय है कि अपनी पूर्णता समझ लें, उसका साक्षात् अनुभव कर लें। पूर्वोक्त भीतरी वस्तुओं पर क्रमशः दृष्टि एकाग्र करते चलें तो शनैः शनैः सर्वान्तर पूर्ण पुरुष का साक्षात्कार अवश्य होगा।।५३।।

इस प्रकार नित्यसिद्ध पूर्णता का ही ज्ञान से लाभ होने के कारण यह पायी हुई पूर्णता हाथ से निकलती नहीं। यह सुस्पष्ट करने के मंत्र ने कहा 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।' ।१.३.१२।। सब प्राणियों में छिपा यह आत्मा 'यही मैं हूँ' यों हमें भास नहीं रहा किन्तु सूक्ष्मदर्शियों को एकाग्र की हुई सूक्ष्म बुद्धि से यह साफ दीख जाता है। इसका संग्रह करते हैं **आत्मा सभी देहो में मौजूद होने पर भी भ्रान्ति से छिपा है अतः अपने समग्र रूप में भासमान नहीं है। जिसने अपना स्वभाव बना लिया है सूक्ष्म को देखने का वह एकाग्र की गयी अपनी सूक्ष्म बुद्धि से इस आत्मा को अवश्य देख**

योगः

धियस्तथात्वं योगात् स्याद् योगो भूमिचतुष्कवान्।
वाग्-धी-कर्तृ-समष्टीनां निरोधाद् भूमयोऽभवन्।।५५।।
वागादिकं बाह्यमक्षं निरुन्धन् शेषयेद् मनः।
मनो निरुन्धन् कर्तारं शेषयेद् व्यष्टिरूपिणम्।।५६।।

सकता है।।५४।। अज्ञान से जन्य सभी भ्रमरूप उपाधियाँ आत्मा को ढाँके हैं, इसी से उसका स्फुट अवभास नहीं है। सारे शरीरों में सच्चाई एकमात्र आत्मा है किन्तु उसका संपूर्ण भान न होने से हम खुद को पूर्ण सत्य तत्त्व न समझकर उपाधियों से सीमित ही जानते हैं कि मैं मनुष्य कर्ता भोक्ता आदि हूँ। मैं-रूप से आत्मा भास तो रहा है लेकिन अपनी समग्रता में नहीं भास रहा। इस समग्र भान के लिये साधक पहले अपना स्वभाव बनाये सूक्ष्म को देखने का, इसीलिये पूर्व में क्रम बताया था; स्थूलतम से एकाएक सूक्ष्मतम पर दृष्टि नहीं पहुँच सकती पर धीरे-धीरे अधिकाधिक सूक्ष्म को देखते चलें तो सूक्ष्मतम भी दीख सकता है। इस अभ्यास से ही बुद्धि में सूक्ष्मता आयेगी। इसके लिये वैराग्य अपेक्षित है, स्थूल में राग रहे तो सूक्ष्म देखने की प्रवृत्ति नहीं होती। स्थूल इतनी सरलता से सुख दे देता है कि व्यक्ति उससे विरक्त होकर सूक्ष्म की तरफ बढ़ना ही नहीं चाहता। सूक्ष्म यद्यपि सुख ज़्यादा देता है तथापि उस सुख को ग्रहण करने के लिये अपेक्षित योग्यता पाने के लिये काफी मेहनत करनी पड़ती है। इसलिये सूक्ष्मदर्शी वही होगा जो वैराग्यवान् है, अधिक सुख की इच्छा से कम सुख को छोड़ने की हिम्मत रखता है। ऐसे व्यक्ति की ही बुद्धि एकाग्र होती है, एक जो ब्रह्म उसी पर केन्द्रित होती है। तभी आत्मदर्शन होकर शोक दूर होता है।।५४।।

आत्मदर्शन का उपाय बताया 'यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि।।' (१.३.१३)।। साधक को चाहिये कि इंद्रियों का मन में उपसंहार करे, मन का बुद्धि में, व्यष्टि बुद्धि का समष्टि बुद्धि में और उसका निरुपाधि आत्मा में उपसंहार करे। इसे चार श्लोकों से समझाते हैं **बुद्धि की सूक्ष्मता व एकाग्रता योग से होगी। यहाँ प्रतिपाद्य योग की चार भूमिकाएँ हैं। वाक् आदि इंद्रियों का निरोध, मन का निरोध, कर्तृ अर्थात् बुद्धि का निरोध और समष्टि का निरोधये चार भूमिकाएँ या स्तर हैं।।५५।। पहली भूमिकामें वाग् आदि बाह्य इंद्रियों का निरोध करते हुए सिर्फ मन को बचाये रखना चाहिये। दूसरी भूमिका में मन का निरोधकर व्यष्टि कर्तृत्व को,**

सविकल्पकमेतच्च निरुन्धन् निर्विकल्पकम्।
अस्मीत्येतन्मात्ररूपं महान्तमवशेषयेत्।।५७।।
तमप्यन्ते निरुद्ध्याऽथ शान्तात्मा शिष्यते स्वयम्।
क्षुरधारेव विषमो योगो मन्दमतेरयम्।।५८।।

बुद्धि को बचाये रखना चाहिये।।५६।। तीसरी भूमिका में इस सविकल्प बुद्धि का निरोध करते हुए निर्विकल्प महान् को बचाना चाहिये जिसका रूप 'हूँ' इतना ही है।।५७।। अंतिम भूमिका में इस महान् का भी निरोध करने पर शान्त (निरुपाधिक) आत्मा खुद ही बच जाता है। मंदमति के लिये इस योग का अभ्यास ऐसा विषम (कठिन) है मानो छुरे की धार का प्रयोग करना हो!।।५८।। उपनिषदों में अनेक जगह योग का, ध्यानात्मक अभ्यास का उपयोग प्रतिपादित है। शम, दम और समाधान रूप अंतरंग साधन योग के ही आयाम हैं। निदिध्यासन को समाधिरूप माना जाये तो वह भी योग की ही परिपक्वता है। योग का पातंजल क्रम भले ही कैवल्य के लिये आवश्यक न हो पर श्रौत क्रम तो ज़रूरी है ही। विवेकाभ्यासी के लिये योग की ज़रूरत नहीं ऐसा कहीं-कहीं जो कहा जाता है वह पातंजल क्रम के अभिप्राय से है, श्रुतिप्रोक्त योग की तो ज़रूरत है ही। यहाँ कहे योग के चार कदम हैं, एक-एककर इन्हें पार करने से तत्त्वनिष्ठा होगी। उपाधियों का निरोध इन चारों क़दमों में समान है, उपाधियों का ही अंतर है। कारणाकार में रोके रखना, कार्याकार में प्रकट न होने देना निरोध है। अज्ञान का कार्य हिरण्यगर्भ, उसी का व्यष्टि कार्य बुद्धि, बुद्धि की कार्यावस्था मन और उसकी इंद्रियाँइस बात को ध्यान में रखकर विपरीतक्रम से निरोध करने को कहा है। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृ.१.५.३) आदि दृष्टि से मन की कार्यावस्था इंद्रियाँ समझना संगत है। मंत्र में वाक् का उल्लेख सभी बाह्येंद्रियों के उपलक्षणार्थ है, सब इंद्रिय-व्यापार रोक ले, मन को अपने व्यापार करते रहने देयह पहला कदम है। कर्मेन्द्रियों को तो हठात् भी रोक सकते हैं, ज्ञानेन्द्रियों को रोकना बहुत कठिन है। आँखों की तो पलकें बंद भी कर लें पर अन्य ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार रोकने के लिये घोर परिश्रम चाहिये। हमें इंद्रियव्यापार की इतनी आदत हो गयी है कि लगता है इंद्रिय स्वयमेव विषय ग्रहण कर लेती है अतः यह समझ ही नहीं आता कि उसे रोकें कैसे। यदि पटाखा बजता है तो कान उस आवाज़ को सुनता ही है, हम न चाहें तो भी सुनता है अर्थात् हम नियंत्रणपूर्वक कान का प्रयोग नहीं कर पाते। ऐसे ही गंध स्पर्श और स्वाद का ग्रहण हमारे नियंत्रण के

बिना ही होता है। प्रत्याहार आदि के अभ्यास से शनैः शनैः इंद्रिय-व्यापार पर नियंत्रण लाना पड़ेगा तभी समस्त बहिरिन्द्रियों का निरोध कर पायेंगे। इसके लिये मन को अत्यधिक सक्रिय बनाना पड़ता है; जब मन किसी विचार में अत्यधिक संलग्न होता है तब बाह्य इंद्रियाँ अपने विषय ग्रहण नहीं कर पातीं क्योंकि उसके लिये उन्हें जो मन का सहयोग चाहिये वह नहीं मिल पाता। अत एव इंद्रियों का मन में निरोध कहा। मन को छूट देकर चाहे जो सोचने देने से यह निरोध सिद्ध नहीं होगा वरन् किसी खास विचार में सक्रिय करने से ही हो सकेगा। अगले क़दम में मनोव्यापार का निरोध करना पड़ेगा जो बुद्धि के सहारे ही होगा। अपने कर्तृत्व का, स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने का अहसास रहे, मन को कुछ करने न दिया जाये तब मन निरुद्ध होता है। मन का उपसंहार व्यष्टि बुद्धि में होता है, वह बुद्धि सविकल्प है अर्थात् इसमें स्वयं को विशेषताओं वाला समझा जाता है, कर्ता-भोक्ता आदि समझा जाता है। इन विशेषताओं का विलय निर्विकल्पक बुद्धि में करना पड़ता है जिसमें 'हूँ' यह भान ही रहे, 'कौन हूँ'यह विशेषांश न रहे। जब विशेष नहीं बचते तब बुद्धि सर्वथा अपरिच्छिन्न हो जाने से समष्टि हो जाती है। विकल्प अर्थात् विशेष ही बुद्धि को व्यष्टि बनाते हैं, उनके बिना वह समष्टि ही है। [निर्णयसागर में श्लो. ५७ में **अस्मीत्येतन्मातृरूपं** छपा है पर मुत्तुशास्त्री का °न्मात्ररू° पाठ ही ठीक है।] इस स्थिति में कर्तृभाव लीन हो जाता है। अंतिम क़दम समष्टि बुद्धि का लय है। शान्तात्मा सब बुद्धिवृत्तियों का साक्षी सर्वान्तर अविकार आत्मा है जिसमें सारे ही विशेष निरस्त हैं। समष्टि बुद्धि में ज्ञान-क्रिया की सामर्थ्य रहती है, उसे छोड़कर अखण्ड सच्चिदानन्द के स्फुरण को ही रहने देने से यह स्तर सिद्ध होता है। यही शान्त आत्मा हम स्वयं हैं, यही हमारा निरुपाधिक रूप है। इसे कायम रखना नहीं पड़ता क्योंकि यह नित्य स्फुरमाण है। चार क़दमों वाला यह योग अतिकठिन है। उपाधियों का भान हटा भी लें, आत्मा का भान बना भी रहे यह संतुलन रखना पड़ता है अन्यथा या उपाधि रह जाती है या आत्मा भी तिरोहित हो जाता है। अध्यस्त को काटना भी ज़रूरी, अधिष्ठान को बचाये रखना भी ज़रूरी है। समष्टि और कारण उपाधियाँ छोड़ने पर भी निरात्मवादी नहीं बनना है, यही इस मार्ग की कठिनाई है। विकसित बुद्धि वाले विवेकी के लिये तो यह यत्नपूर्वक संभव है लेकिन मंदमति वाले के लिये नहीं। भाष्य में 'दुरत्यया, दुर्गं पथः' के अनुरोध से छुरे की धार पर चलने जैसा कठिन है यह व्याख्या की है (कठ.१.३.१४) किन्तु विद्यारण्य स्वामी नाईद्वारा उस्तरे के प्रयोग जैसा कठिन है यह व्याख्या कर रहे हैं।।५५-८।।

क्षुरोऽतिलग्नो देहघ्नो न लग्नश्चेद् वपेत नो।
समाहितं मनोऽप्येवं निद्रां कुर्याद् बहिर्व्रजेत्।।५९।।
कौशलं योगिनोऽपेक्ष्यं नापितस्य यथा क्षुरे।
निवार्य लयविक्षेपौ समादध्यात् परात्मनि।।६०।।

यम ने सभी को संबोधित किया है 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'।। १.३.१४।। उठोआत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त होवो; जागोअज्ञान-निद्रा को छोड़ो; श्रेष्ठ आचार्यों के पास जाकर सर्वान्तर आत्मतत्त्व को समझो। कवि इस रास्ते को वैसा दुर्गम बताते हैं जैसी छुरे की पैनी की गयी धार दुरत्यय होती है। दुरत्यय अर्थात् जिस पर चलना मुश्किल हो या जिसका प्रयोग करना मुश्किल हो। उस्तरे को भी छुरा कहते हैं इस अभिप्राय से मंत्र समझाते हैं **छुरा यदि ज़्यादा ज़ोर से शरीर पर लगे तो घाव कर देता है, बिलकुल ज़ोरसे न लगे तो केश भी नहीं काटता। इसी प्रकार मन भी जब शांत करके एकाग्र किया जाता है तब नींद में चला जाता है और जगाने की कोशिश करें तो अनात्मविषयों की तरफ चला जाता है।।५९।। जैसे उस्तरा चलाने के लिये नाई में कुशलता ज़रूरी है वैसे योग के अभ्यासी में भी कुशलता चाहिये कि वह लय (नींद) और विक्षेप (चंचलता) को दूर रखकर परात्मा में मन को समाहित करे।।६०।।** स्वभावतः मन निष्क्रिय होते ही नींद में जाता है अतः ध्यान के प्रयास में प्रायः नींद आ जाती है और इससे बचने के लिये उसे सक्रिय रखें तो वह बहिर्मुख हो जाता है क्योंकि उसे आदत ही विषयचिन्तन की है। जब तक तो रूप, शब्द आदि अनात्मा का सहारा रहता है तब तक मन से ध्यान करना सरल है क्योंकि दृश्य में (विषय में) उसकी रुचि है लेकिन जब अनात्म सहारे छोड़कर उसे केवल निरुद्ध करने का प्रयास करते हैं तब लय में, नींद में जाना सहज है। प्रकृत योग में मन को निरुद्ध ही करना बताया है, किसी अन्य वृत्ति में संलग्न करना नहीं अतः यह कार्य अतिदुष्कर है। कुछ न सोचे इस स्थिति में मन रह नहीं पाता, या सो जाता है या बाहर की चीज़ों को सोचने लगता है। संस्कारों का कितना महत्त्व है यह ध्यान का अभ्यास करने पर ही स्पष्ट होता है; सामान्य मूर्तिका ही ध्यान करने बैठो, भगवान् पीताम्बर पहने हैंयह सोचने के साथ ही याद आ जायेगा 'अरे! पत्नी ने बसन्ती साड़ी मँगाई थी, भूल गया, आज लेनी है'; फिर पीताम्बर पर दृष्टि ले जाओ तो ख्याल आयेगा 'लड़की का ब्याह आ रहा है, कुछ मर्दाना धोतियाँ भी ले रखनी चाहिये'! यों

आत्मसौक्ष्म्यम्

शब्दस्पर्शादिहीनात्मा सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मधियेक्षते।
खवाय्वग्निजलोर्वीणां स्थौल्यं शब्दादिमत्त्वतः।।६१।।
शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चगुणा व्योमादयः क्रमात्।।६२।।

मन उस तरफ कुचालें भरता रहता है जिधर के उसमें संस्कार हैं। जब सविषय ध्यान में यह हाल है तब मन को सर्वथा रोकना कितना मुश्किल है इसकी कल्पना सरल ही है। इसीलिये कुशलता चाहिये। गौडपादाचार्य ने अद्वैत प्रकरण में निग्रह और उसको संपन्न करने के तरीके पर (श्लो. ४० आदि) प्रकाश डाला है। कषाय अर्थात् राग के बीज रहते मन का विक्षेप नहीं रोका जा सकता इसलिये वैराग्य की दृढता लाना ज़रूरी होता है जैसा योगसूत्रकार भी बताते हैं कि न केवल अभ्यास वरन् वैराग्य भी साथ हो तभी मनोनिरोध संभव है। अभ्यास भी अतिदीर्घ काल तक कर्त्तव्य है जिसके लिये असीम धैर्य चाहिये, बूँद-बूँद कर पानी निकालने से समुद्र सुखा डालने की हिम्मत करने जैसा यह कार्य है। लय-विक्षेप से बचाकर परमात्मा में समाहित होने पर मन निरुद्ध होगा, परमात्मा के बारे में कुछ सोचे नहीं, केवल परमात्मा पर एकाग्र रहे, परमात्माकार ग्रहण किये रहे, तब यह स्थिति बनती है।।५९-६०।।

ज्ञेय आत्मा की अतिसूक्ष्मता मंत्र में कही 'अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययं तथाऽरसं नित्यम् अगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तद् मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।।' (१.३.१५) शब्दादिरहित अतः सुतराम् सूक्ष्म आत्मा के निश्चय से ही मृत्यु के मुख में पड़ने से बचा जा सकता है। इस मंत्र को समझाते हैं **शब्द स्पर्श आदि से रहित आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से समझा जाता है क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी में स्थूलता इसीलिये है कि इनमें शब्दादि गुण हैं।।६१।। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धये महाभूतों के गुण हैं। आकाश में शब्द केवल एक गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं, तेज में शब्द-स्पर्श-रूप तीन गुण हैं, जल में शब्द-स्पर्श-रूप और रस चार गुण तथा पृथ्वी में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध पाँच गुण हैं।।६२।। जिसमें जितने ज़्यादा गुण हैं वह उतना ज़्यादा स्थूल है, गुणों की कमी से सूक्ष्मता बढ़ती है। आत्मा में गुण शून्य हैं तो सूक्ष्मता अनंत है इसलिये वह अतिसूक्ष्म बुद्धि से ही ग्रहण किया जा पाता है।।६३।।** (निर्णयसागर में श्लो. ६१ में **सौक्ष्म्यधियेक्ष्यते** छपा है

गुणाधिक्ये स्थौल्यवृद्धिः सौक्ष्म्यवृद्धिर्गुणक्षयात्।
निर्गुणं चातिसूक्ष्मत्वाद् अतिसूक्ष्मधियेक्ष्यते।।६३।।

पर मुत्तुशास्त्री का 'सूक्ष्मधिया' पाठ बेहतर है। श्लो. ६३ में भी निर्णयसागर में **'ईक्षते'** छपा है जो 'ईक्ष्यते' ही होना चाहिये जैसा मुत्तुशास्त्री का है।) हमारा चित्त शब्दादि गुणों के सहारे ही स्थिर होता है, जो चीज़ इनसे रहित है उसके बारे में समझना ही बहुत मुश्किल हो जाता है तो उस पर एकाग्र होना दूर की बात है। काम क्रोध आदि भावों में क्योंकि रूप-रसादि नहीं इसलिये इनके बारे में समझ कठिन हो जाती है, गणित, विज्ञान-सिद्धान्त आदि जिन विषयों में रूपादिवान् चीज़ों के बजाय विचारों को समझना पड़ता है वे भी इसीलिये कठिन हैं। पंचगुणा भूमि की अपेक्षा चतुर्गुण जल समझना भी मुश्किल है, इसी प्रकार भूतों को जानना भी कठिन होता जाता है, एक गुण वाला होने पर भी आकाश को समझना मुश्किल है, यहाँ तक कि अनेक विचारक आकाश को स्वीकार ही नहीं पाते! आत्मा में तो शब्द भी नहीं है, कोई गुण नहीं है, अतः उसे समझना अत्यंत कठिन होना उचित ही है। ऐसा नहीं कि परमात्मा में इहलोक के गुणों के बजाये दिव्य गुण हों! शास्त्र स्पष्ट कहता है कि उसमें कोई गुण, दिव्य-अदिव्य कैसा भी गुण नहीं है। जब भी जहाँ भी वह गुणों से युक्त मिलता है तब वे गुण औपाधिक ही होते हैं। स्वयं भगवान् ने नारद जी को दर्शन दिया और फिर बताया कि जो रूप नारद को दीखा वह माया ही थी, भगवान् का वास्तव रूप देखा नहीं जा सकता। केवल रूप ही नहीं, शब्द भी परमात्मा में नहीं है; धारणा-ध्यान के लिये जो विविध ध्वनियों पर एकाग्रता लायी जाती है वह भी परमात्मा के वास्तव स्वरूप का ध्यान नहीं है, उधर जाने का एक रास्ता ही है। ध्यान में जो शब्द सुनाई दे जाये या रूप दिखायी दे जाये या गंध-स्वाद-स्पर्श आदि प्रतीत हो जाये उसे परमात्मा का शब्दादि नहीं समझ लेना चाहिये क्योंकि परमात्मा तो शब्दादि सबसे रहित है। इस तथ्य की अनभिज्ञतावश प्रायः किसी शब्द और रूप का परमात्मा से सम्बंध मान लिया जाता है। अनेक लोग उसे प्रकाशपुंज के रूप में समझते हैं, हाथ-पैर आदि वाला रूप न मानकर भी प्रकाश को उसका रूप मान लेते हैं। मानव मानस शब्द और रूप के संदर्भ में जितना ज़्यादा और आसानी से कार्य करता है उतना इनके बिना नहीं कर पाता। लौकिक वस्तुओं की स्मृति भी नाम और रूप के आकार की ही अंकित रहती है, स्पर्श गंध आदि को याद रखना बहुत मुश्किल होता है। अपने मित्र का नाम और चेहरा जितनी सहजता से याद आ जाता है उसके गंध-स्पर्शादि उतनी स्वाभाविकता

से याद नहीं आते। जैसे कुत्तों को गंध ज़्यादा याद रहती है ऐसे मानवों को नहीं, हो सकता है अन्य योनियों में और गुणों के संस्कार दृढ होते हों पर मानवों में शब्द और रूप के ही संस्कार ज़्यादा टिकते हैं। कुछ लोगों को नाम ज़्यादा याद रहते हैं रूप भूल जाते हैं; सामने आये व्यक्ति को पहचान नहीं पाते पर जब उसका नाम पता चल जाये तब उसके बारे में सब कुछ याद आ जाता है। कुछ लोग रूप तो याद रखते हैं, पर नाम भूल जाते हैं। यह वैयक्तिक अंतर है किन्तु मनुष्यों में याद ये दो ही गुण अधिक रहते हैं यह निर्विवाद है। इसीलिये परमात्मा के बारे में समझते समय मनुष्य इन गुणों के संदर्भ को छोड़ना नहीं चाहता, किसी न किसी तरह इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में उसकी संकल्पना बनाता है। किन्तु परमार्थ स्तर पर ये गुण परमात्मा में हैं नहीं, यही उसकी सूक्ष्मता है। प्रारंभ में उपाय के रूप में इनका प्रयोग भले ही किया जाये जैसे बच्चों को अंक समझाने के लिये कंचे आदि को उपयोग में लेते हैं, लेकिन बाद में गुणों को छोड़ना पड़ेगा अन्यथा परमात्मा के बारे में धारणा भ्रांत ही रह जायेगी। गुणप्रयुक्त स्थूल-सूक्ष्मभाव पाँचों भूतों में ही प्रत्यक्ष है, सर्वाधिक गुणों वाली पृथ्वी सबसे ज़्यादा स्थूल है, सबसे कम गुणों वाला आकाश सबसे ज़्यादा सूक्ष्म है अतः सिद्धांत हुआ कि गुण घटते जाने से सूक्ष्मता बढ़ती जाती है तो निर्णय निकला कि गुण शून्य होने से सूक्ष्मता असीम हो जाती है। स्थूलमति वाले को तो उस चीज़ की सच्चाई ज़्यादा लगती है जिसमें ज़्यादा गुण हों, जैसे सामने मिट्टी का लौंदा पड़ा है तो अधिकतर लोगों को जँचेगा कि वह सत्य है जबकि वहाँ यदि ज्वाला न जल रही हो, केवल सामान्य गर्मी हो तो अनेकों को नहीं लगेगा कि तेजस्तत्त्व भी है; किन्तु विवेकी जानता है कि स्थूल के प्रति कारण सूक्ष्म होता है और कार्य से कारण की सचाई अधिक होती है अतः वह सूक्ष्म को अधिक सत्य स्वीकारता है। परमात्मा के बारे में भी सामान्य व्यक्ति उनका दृश्य रूप देखना चाहता है, कुछ अजूबा दीख जाये, सुनाई दे जाये तो उसे भरोसा होता है कि परमात्मा है किन्तु विचारशील समझता है कि रूपादि तो भूतगुण हैं, इनसे परमात्मा का अस्तित्व मानना हो तो घड़ा देखकर ही मान सकते हैं, अजूबे अनुभव की क्या ज़रूरत! अतः वह गुणों से परे जो सच्चिदानंद स्वरूप है उसी के भान को महत्त्व देता है। परमात्मा को शब्दादिरहित बताने से स्पष्ट किया कि पूर्वोक्त निरोध-प्रक्रिया वाला योग विवेकी के ही काम का है, गुणों तक ही रुकने वाले के लिये नहीं है।।६१-३।।

उपनिषत् के प्रथमाध्याय के विषय का संक्षेप करते हुए यहाँ तक के विषय का उपसंहार करते हैं **यह नाचिकेत उपाख्यान शुभ है, इसमें खुद नचिकेता ने**

विद्यायोगौ यमेनोक्तौ वैराग्यं नचिकेतसा।
स्वत एवास्त्युपाख्यानं नाचिकेतमिदं शुभम्।।६४।।

विद्याप्रतिबंधक-निवृत्ती

एतदेवातिविस्पष्टं पुनश्चाऽत्र प्रपञ्च्यते।
श्रूयतां नचिकेतोऽत्र विद्यायाः प्रतिबन्धकम्।।६५।।
इन्द्रियाणि बहिर्द्रष्टुं ससृजे परमेश्वरः।
अतस्तैः प्रत्यगात्मानं न कश्चिदपि वीक्षते।।६६।।

वैराग्य का और यम ने विद्या एवं योग का वर्णन किया है।।६४।। नचिकेता इस कथा का नायक है अतः उसके नाम पर इस अध्याय में आयी कथा का उपनिषत् ने ही नाचिकेत उपाख्यान नाम रखा है। यह प्रसंग शुभ अर्थात् कल्याणकारी है क्योंकि कल्याण-प्राप्ति के समग्र साधन इसमें स्पष्ट कर दिये हैं। मंत्र में यह भी बताया है कि इसका कथन और श्रवण करने से मेधावी साधक ब्रह्मलोक में महत्ता पाता है एवं शुचिता-पूर्वक इसे ब्राह्मणों की संसत् में या श्राद्धनिमित्तक भोजन करते हुए ब्राह्मणों को सुनाये तो अनन्त फल होता है। इस प्रकार उपनिषदों में यह अत्यंत प्रशंसित प्रसंग है। यहाँ तक उपनिषद् के प्रथमाध्याय को समझाया।।६४।।

द्वितीयाध्याय का प्रारंभ यह बताने से होता है कि परमात्मदर्शन इतना मुश्किल क्यों है, उसे प्राप्त करने के लिये साधक क्या करे 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्।।' (२.१.१)।। स्वयं सर्वथा स्वतंत्र रहने वाले परमेश्वर ने इंद्रियाँ बहिर्मुखी बनाकर मानो उनकी हिंसा कर रखी है क्योंकि इसीलिये जीव अनात्मा को ही देखता रहता है, अंतरात्मा को नहीं। अमरता चाहने वाला कोई विरला विवेकी ही इंद्रियों की बहिर्मुखता रोककर प्रत्यगात्मा को देखता है। इस मंत्रार्थ को व्यक्त करते हैं **हे नचिकेता! इसी बात को मैं यहाँ और साफ करने के लिये विस्तार से बताता हूँः पहले यह सुनो कि आत्मज्ञान होने में रुकावट क्या है।।६५।। परमेश्वर ने इन्द्रियाँ बनाईं ताकि इनसे बाह्य अर्थात् अनात्म वस्तुएँ देखी जायें अतः कोई भी व्यक्ति इंद्रियों से प्रत्यगात्मा को नहीं देखता।।६६।। मन यद्यपि आत्मज्ञान के लिये समर्थ बनाया है तथापि कामना-युक्त मन आत्मा को नहीं अनात्मा को ही समझ पाता है, कामनारहित मन ही आत्मज्ञान के लिये सक्षम है। दोनों तरह के मनों में से निष्काम मन को जब योग से जोड़ दिया जाता है तब उससे आत्मा**

सकामं च मनस्तद्वद् निष्कामं चात्मबुद्धये।
सृष्टं तयोर्योगयुक्तमनसाऽऽत्मावलोक्यते।।६७।।

का साक्षात्कार होता है।।६७।। कठ-द्वितीयाध्याय में उसी तथ्य का स्पष्टीकरण है जो प्रथम अध्याय में प्रतिपादित है क्योंकि पहले संक्षेप, फिर विस्तार से बताने पर वस्तु का ज्ञान सरलता से अधिक स्पष्ट हो जाता है। ज्ञानोत्पत्ति में रुकावट समझ आये तो उसे दूर किया जा सकता है इसलिये साधक को उस की जानकारी पाना ज़रूरी है। सबसे बड़ी रुकावट है कि हम अपना अधिकतम व्यवहार इन्द्रियों से करते हैं और वे नियमतः अनात्मदर्शी ही हैं, उनकी रचना ही भूत-भौतिक को ग्रहण करने के लिये हुई है। हम ऐन्द्रिय विषय को परीक्षा के भी बिना यथाप्रतीति सत्य ही मानते हैं और अतीन्द्रिय को सत्य मानने में हिचकिचाते ही हैं। आत्मा अतीन्द्रिय है, कभी भी ऐंद्रिय हो नहीं सकता, इसलिये हम पहले तो उसके बारे में निश्चय ही नहीं कर पाते और कथंचित् कुछ समझने की कोशिश करते हैं तो इंद्रियों की बहिर्मुखता के चलते बार-बार अनात्मज्ञानों में ही उलझते जाते हैं। इंद्रियाँ किसी भी तरह प्रत्यक् चैतन्य को ग्रहण नहीं कर सकतीं। भगवान् ने आत्मज्ञान के लिये हमें मन दिया। अन्य भी अनेक सूक्ष्म चीज़ों को मन से ही समझा जाता है, प्रेम, अन्याय, सौजन्य आदि बाह्य इंद्रियों के विषय नहीं, मन से ही समझे जाते हैं। आत्मा व अनात्मा दोनों को जानने में मन सहायक बनता है। स्थूल वस्तुओं को भी जानने के लिये मन की तो आवश्यकता है ही लेकिन इसकी विशेषता है कि यह सूक्ष्म वस्तुओं को जान सकता है। किंतु मन जब तक कामना वाला रहता है तब तक वह आत्मा को नहीं जान पाता, अनात्मविषयों को ही जानता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म बातें समझ लेगा लेकिन वे ही जो अनात्मा हैं। कामना रहते रूप-रसादि से रहित वस्तु फालतू की ही लगती है। शास्त्र में ब्रह्म को रस कहा है, सकाम व्यक्ति रस-शब्द से भी स्वाद या करुण-शृंगार आदि ही समझ पाता है! कुछ लोग परमेश्वर के विग्रहों की लीलाओं के चिंतन को ही ईश्वरोपासना मानते हैं क्योंकि लीला की उन्हें संकल्पना बन जाती है, लीला-रहित तत्त्व को वे नहीं समझ पाते। वैष्णवाचार्य 'अशब्द' आदि शास्त्रवचनों का भी अर्थ करते हैं कि लौकिक, अकल्याणमय शब्दादि परमात्मा में नहीं हैं, दिव्य कल्याण गुणों की तो उसमें परिपूर्णता है! कामनावान् शास्त्र के भी तात्पर्य में ग़लती कर जाता है क्योंकि परमार्थ तत्त्व है ही ऐसा कि बिना निष्काम हुए उसके बारे में कुछ समझ नहीं आता। निष्काम मन ही आत्मज्ञान में उपयोगी है। प्रारंभ में कामनाएँ घटानी पड़ेंगी और कर्म-उपासना का

ब्रह्म

यच्चैतन्याऽनुग्रहेण रूपादीन् इन्द्रियैः पुमान्।
जानाति येन स्वप्नादि दृश्यते तद् विविच्यताम्।।६८।।
चैतन्येन जडं ज्ञेयम् इत्युक्ते शिष्यतेऽत्र किम्।
अज्ञानं निखिलं प्रज्ञं चैतन्यं ब्रह्म वस्तु हि।।६९।।
यद् देवैरपि सन्दिग्धं यत् पृष्टं नचिकेतसा।
धर्माधर्माद्यतीतं यत् तद् इदं ब्रह्म वर्णितम्।।७०।।

अनुष्ठान कामनापूर्ति के लिये न कर आत्मजिज्ञासा-प्राप्ति के लिये करना पड़ेगा, तब शनैः शनैः चित्त से कामना का दोष दूर होने पर वह चित्त श्रवण द्वारा आत्माकार ग्रहण करने लायक और योग के अभ्यास से आत्मनिष्ठा के लायक बनेगा। शास्त्र में जहाँ कहा कि मन से आत्मा नहीं जाना जाता वहाँ सकाम मन की बात है और जहाँ मन को आत्मज्ञान का उपाय बताया है वहाँ निष्काम मन की बात है। मन से कामना हटाकर उसे योग अर्थात् सूक्ष्म-दर्शन के प्रयास में लगाना चाहिये। कार्य की उपेक्षा कर कारण की ओर ही दृष्टि एकाग्र करने का अभ्यास करते जाने से अन्ततः परमकारण परमात्मा का बोध हो जाता है। इस प्रकार, आत्मज्ञान में प्रतिबंधक है बहिर्मुखता जिसमें हेतु है कामना, कामना छोड़कर निरोध करने से ही प्रतिबंधक हटेगा और मन आत्मा को समझ सकेगा।।६५-७।।

तृतीय-चतुर्थ मंत्रों में बताया कि जाग्रत् व स्वप्न में रूप रस आदि जो कुछ जाना जाता है वह आत्मा से ही जाना जाता है, उस महान् विभु आत्मा का जानकार शोक से परे हो जाता है। इसे व्यक्त करते हैं **पुरुष जिस चैतन्य (ज्ञानरूप आत्मा) के अनुग्रह से इंद्रियों द्वारा रूपादि को जानता है, स्वप्न आदि जिसके प्रकाश से देखे जाते हैं, उसका विवेकपूर्वक निश्चय करना चाहिये।।६८।। 'चैतन्य (ज्ञान) द्वारा जड जाना जाता है' यह कहने पर संसार में क्या है जो बच गया! क्योंकि दो ही चीज़ें हैंएक अवस्तुभूत सारा प्रपंच जो अज्ञान का विस्तार है और दूसरा वस्तुभूत ब्रह्म जो प्रकृष्ट ज्ञानरूप चेतन है।।६९।। जिसके बारे में देवताओं को भी संदेह हुआ था, जिसे नचिकेता ने पूछा था, जिसे पहले धर्म-अधर्म आदि से अतीत बताया था, वही यह ब्रह्म है (जिसकी कृपा से रूपादि का अनुभव होता है)।।७०।।** (श्लोक ६९ में मुत्तुशास्त्री **प्राज्ञं** पाठ मानते हैं किन्तु निर्णयसागर का **प्रज्ञं** इसलिये बेहतर है कि इससे सुषुप्त्यभिमानी की व्यावृत्ति

स्पष्ट हो जाती है।) जीव इन्द्रियों से विषयों को इसलिये जान पाता है कि आत्मा की कृपा है, वृत्तियों में वह अपना प्रकाश डाल रहा है, उनमें प्रतिफलित हो रहा है, उनसे परिच्छिन्न बन रहा है। स्थूलमति को लगता है कि रसगुल्ले के कारण स्वाद आया पर विवेकी जानता है कि मैं ज्ञान वाला हूँ इसलिये स्वाद आया। दुकान की अलमारी में पड़ा रसगुल्ला स्वाद नहीं देता, मुझ चेतन से सम्बद्ध होकर ही स्वाद दे पाता है। आधुनिक विज्ञान भी इस बारे में सहमत है कि अनुभव के प्रति विषय ही नहीं ज्ञाता का संपर्क भी हेतु है। बौद्ध तो ज्ञानातिरिक्त ज्ञेय मानता ही नहीं, पर वैज्ञानिक बाह्य विषय स्वीकारते हुए मानता है कि रूप-रस आदि अनुभव तभी हैं जब ज्ञाता का सम्बन्ध हो। हर हालत में, वस्तुसिद्धि के लिये ज्ञान अनिवार्य है। वह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। मुर्दे की जीभ पर रसगुल्ला रखो तो क्या कोई स्वाद आयेगा! अतः स्वाद आदि में प्रधानता चेतन की है। बहिर्मुख लोग विषयों के बारे में खूब चिंतन करते हैं पर जिस चेतन मैं के अनुग्रह से अनुभव हो रहा है उसकी तरफ बिलकुल ध्यान नहीं देते। विवेकी उसी के बारे में समझना चाहता है क्योंकि वही प्रधान है, सदा उपलब्ध है। लट्टू, पंखा, तापक, शीतक इत्यादि सब तभी किसी काम के हैं जब बिजली हो; लोग उपकरणों की तो तारीफ करते हैं पर बिजली की नहीं जो है इन सबका मूल कारण। इसी तरह संसारी लोगों की दृष्टि विषयों पर ही रहती है, ज्ञान पर, ज्ञान जिसे हो रहा है उस पर नहीं जाती। अध्यात्म साधक विवेकपूर्वक समझ पाता है कि विचारणीय वस्तु ज्ञान है न कि ज्ञेय। तभी वह अन्तर्मुख बनता है। जाग्रत्- स्वप्न के विषयों का और सुषुप्ति के प्रभाव का ही विचार सामान्य लोग करते हैं जबकि करना चाहिये उसका जो इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव करता है, जिस पर ये अवस्थाएँ जाती-आती रहती हैं। कामना रहते यह संभव नहीं, तब तक तो कार्य ही प्रधान रहेगा, कारण की उपेक्षा ही की जायेगी। कामुक यदि कारण को खोजता है तो भी इसलिये कि चाहे जब कार्य पैदा कर सके! कारण की सूक्ष्मता स्थायिता व्यापकता के प्रति सद्भाव निष्काम में ही हो पाता है। वही धीरे-धीरे परम कारण तक भी पहुँच सकता है। उपलब्ध तो द्रष्टा-दृश्य का संमिलित रूप होता है, उसमें से विवेककर द्रष्टा को पृथक् समझना पड़ता है। संसार में चीज़ें दो ही हैं, द्रष्टा और दृश्य, चेतन और जड। विभिन्न दार्शनिक विभिन्न पदार्थों का वर्णन करते हैं। पर वेदान्ती दो ही पदार्थ मानता हैदृग् और दृश्य। दृग्जो जानता है, दृश्यजो जाना जाता है।
अतः 'चेतन जड को जानता है' कह देने पर संसार में जो कुछ है सब कह दिया गया

ज्ञानान्मोक्षः

यः कर्मफलभोक्ताऽस्ति जीवः प्राणादिधारकः।
उपाधितो विविच्यैतं ज्ञात्वेशं न जुगुप्सते।।७१।।
जुगुप्सा योनिसम्प्राप्तिर्नाऽसावेतस्य विद्यते।
जगत्कर्तृतया लक्ष्य ईशोऽयं तस्य का जनिः।।७२।।

क्योंकि चीज़ें ही दो हैं, चेतन और जड। इनमें से जड को अलगकर चेतन को समझ लिया तो और कुछ समझने की ज़रूरत नहीं बच जायेगी। वह चेतन ही ब्रह्म है, बाकी सब अज्ञान का ही फैलाव है। क्योंकि अज्ञान कोई अभाव नहीं है, भाव-अभाव से विलक्षण है, इसलिये उसका विलास सारा दृश्य प्रपंच भी भाव-अभाव से विलक्षण मिथ्या ही है, अवास्तविक ही है। चेतन स्वतंत्र है, वास्तविक है, निरपेक्ष है, अपनी सिद्धि के लिये किसी पर निर्भर नहीं है। इसी का ज्ञान मोक्षप्रद है अतः देवता आदि इसे ही विचारणीय मानते हैं। जिसमें दैवी संपत्ति नहीं होगी उसे तो आत्मा के बारे में संदेह भी नहीं होगा क्योंकि संदेह के लिये सामान्य ज्ञान ज़रूरी होता है और उसके लिये मन की किंचिद् दिव्यता चाहिये। नचिकेता द्वारा प्रारंभ में पूछा गया आत्मा यही ज्ञान है।।६८-७०।।

उक्त ब्रह्मज्ञान का फल बताया 'य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।।' २.१.५। प्रत्यग्रूप से भासमान कर्मफल का भोक्ता जीव और भूत-भावी का शासक ईश्वरये दो नहीं वरन् एक आत्मा ही है, यह जानने वाला निर्भय हो जाता है, उसे किसी से कुछ छिपाने की, बचाने की इच्छा नहीं रहती। यही आत्मा पूर्वोक्त ज्ञानरूप ब्रह्म है। इसे समझाते हैं **कर्मफल का भोग और प्राणादि को धारण करने वाला जो जीव उसे उपाधि से पृथक्कर ईश्वर से अभिन्न जान लेने पर जुगुप्सा नहीं रह जाती।।७१।। जुगुप्सा अर्थात् योनि की प्राप्ति; जीव की ईश्वर से अभिन्नता जानने वाले को किसी योनि की प्राप्ति नहीं होती। जगत् के कर्तारूप से जिसे लक्षित किया जाता है उसका क्या जन्म होगा!।।७२।।** हमें जो अपना स्वरूप भासमान है वह कर्म करता है, उनका फल भोगता है और प्राण, इंद्रिय-मन आदि में अध्यास कर इनका संचालन करता है। यही जीव का व्यावहारिक रूप है। जीव में ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति प्रकट हैं किंतु परिच्छिन्न रूप में। इसका कारण है कि जीव स्वयं को उपाधि से एकमेक जानता है। परिच्छिन्नता उपाधि की है, उसे आत्मा स्वयं पर आरोपित कर लेता है। जैसे घटाकाश

की परिच्छिन्नता उपाधिनिमित्तक है। जब उपाधि से अलग कर जीव का आत्मस्वरूप समझ लिया जाता है तब वह असीम परिपूर्ण चिन्मात्र ही निश्चित होता है। मूल उपाधि अज्ञान ही है, तत्त्वज्ञान से उसे नष्ट करने पर ही आत्मा की पूर्णता निरावृत होती है। तब समझ आता है कि जैसा अब तक समझता रहा वैसा मैं ईश्वर से भिन्न नहीं हूँ, ईश्वर से मेरा भेद उपाधिकृत ही था, तत्त्वभूत आत्मा एक ही है। भूत-भावी का शासकयह भी औपाधिक रूप है, कर्मफलभोक्ता भी औपाधिक रूप है, इन दोनों में भेद है, उपाधि का बाध कर दें तो अखण्ड चिन्मात्र रहता है, उसमें कोई भेद नहीं है। तब जुगुप्सा मिट जाती है। जुगुप्सा कहते हैं घृणा को। उस स्थान में पहुँचना जहाँ पेशाब आदि मल का स्राव होता है, स्वयं टट्टी-पेशाब के थैले में आनायह सब घृणास्पद है, योनिप्राप्ति अर्थात् जन्म ग्रहण करना घृणा की बात है। इससे छूट जाने की तो खुशी मनायी जा सकती है पर इसमें आना कोई प्रसन्नता की बात नहीं है। अज्ञानी तो एक शरीर छोड़ भी दे तो दूसरा शरीर फिर ग्रहण कर लेता है, पुनः योनि में पहुँच जाता है अतः उसका तो जैसे जन्म लेना घृणित वैसे मरना घृणित, लेकिन ज्ञानी जब शरीर छोड़ता है तब किसी अन्य योनि को ग्रहण करने नहीं जाता अतः उसका मरण भी मंगल होता है। इसीलिये महात्माओं के मरने पर लोग गाजे-बाजे से जुलूस निकालते हैं, भण्डारा करते हैं क्योंकि जानते हैं कि पूर्व में अज्ञानवश जिस मलभाण्डरूप शरीर में आ फँसे थे अब उससे छूट गये तथा अन्य किसी शरीर में नहीं जायेंगे। योनिप्राप्ति, शरीरधारण करना ही सबसे घृणित है, तत्त्वज्ञान होने पर यह नहीं होता, इस घृणास्पद अवस्था से व्यक्ति छूट जाता है। सारी उत्पत्ति का जो कर्ता है उसकी उत्पत्ति कैसे हो! वह है तभी तो कोई भी उत्पत्ति होती है, अतः यह संभव नहीं कि उसकी उत्पत्ति हो। परमात्मा को समझते ही इस रूप में हैं कि वह सारी उत्पत्ति का हेतु है, यदि उसकी भी उत्पत्ति हो तो उस उत्पत्ति का वह हेतु नहीं होगा, तब उसे सारी उत्पत्ति का हेतु कैसे समझा जायेगा? इसलिये जो समस्त उत्पत्ति का कारण है वह उत्पन्न नहीं होता यही स्वीकार है। उसी वस्तु को जो अपना स्वरूप जान रहा है उसका भी अत एव जन्म संभव नहीं। इसी से आत्मा अज है। जो स्वयं पैदा न हो वह अज है। जिससे कुछ पैदा न हो वह भी अज है! यद्यपि सब को पैदा करने वाले के रूप में परमात्मा का परिचय दिया जाता है तथापि क्योंकि पैदा करना माया के क्षेत्र में ही है इसलिये वास्तव में वह पैदा करने वाला भी नहीं है। उस तत्त्व से स्वयं को एक जानने वाला भी अजभाव में ही स्थित रहता है।।७१-२।।

अद्वैतम्

यद् देहेऽस्ति तदेवैषु वेदेषु ब्रह्म गीयते।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति योऽत्र नानेव पश्यति।।७३।।
मनसैवेदमाप्तव्यम् एकाग्रेणेशजीवयोः।
तत्त्वम् अद्वैतम् एतस्मिन् योगी भेदं न पश्यति।।७४।।

जगत्कारणता की उपाधि वाले में और शरीरादि कार्योपाधि वाले में भासमान एक ही चेतन है यह अद्वैत मंत्र में स्पष्ट किया 'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।' २.१.१०।। इसका अर्थ कहते हैं **जो शरीर में है उसी को इन वेदों में ब्रह्म कहा गया है। जो समझता है कि इस ब्रह्म में मानो भेद है वह एक के बाद दूसरी मृत्यु पाता रहता है।।७३।।** [मुत्तुशास्त्री का 'वेदेषु' की जगह **देवेषु** पाठ है। मद्रासंस्करण में वेदेषु ही है।] जो आत्मा शरीर में है वही ब्रह्म है। केवल एक-दो शरीर ही नहीं, ब्रह्मा-विष्णु पर्यन्त सभी शरीरों में वही एक है, ब्रह्म में, चेतन में, आत्मा में अनेकता है ही नहीं। देव दानव यक्ष किन्नर आदि जो कोई भी अच्छे-बुरे शरीर हैं उनमें आत्मा एक ही है। तैत्तिरीय में भी बताया है कि सूर्यमण्डल और हमारे शरीर में चेतन एक ही है। वही चेतन ब्रह्म बताया गया है; वेद में जहाँ कहीं ब्रह्मका वर्णन है वहाँ उसे अभिन्न चेतन ही कहा है, इस बारे में सारे वेदवचनों की एकवाक्यता है। कारणोपाधि ईश्वर और कार्योपाधि जीव, दोनों तरह चेतन एक ही मौजूद है। इस सत्य को न जानकर जो चेतन में भेद समझता है वही बारंबार पैदा होकर मरता रहता है। आत्मा में भेद है नहीं कि प्रमाण से उसे समझते हों, भ्रम से ही लगता है कि उसमें भेद है अतः कहा 'मानो भेद है'। जैसे कहते हैं कि जो रस्सी को साँप की तरह देखता है वह उससे डरता है, वैसे ही यहाँ कहा कि जो ब्रह्म को अनेक की तरह समझता है उसे पुनः पुनः मरना पड़ता है।।७३।।

नाना अर्थात् सभेद कुछ भी नहीं जो ब्रह्म में हो, यह तथ्य परिशुद्ध मन से समझना आवश्यक है यह मंत्र में कहा 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।' ।२.१.११।। इसका संग्रह करते हैं **ईश्वर और जीव के अद्वैतरूप तत्त्व की प्राप्ति एकाग्र मन से ही करनी चाहिये। योगी इस तत्त्व में भेद नहीं देखता।।७४।।** भेद, द्वैत कोई तत्त्व नहीं है, मन से ही प्रतीत हो रहा है, इसलिये अभेद की स्थिति भी मन से ही प्राप्त करनी है। भेद वास्तविक होता तो अभेद के लिये कोई उपाय करना पड़ता, भेद काल्पनिक है इसलिये अभेद के लिये

यही चाहिये कि सचाई जानकर मन वह मिथ्या कल्पना छोड़ दे। आबू में हैं और दिल्ली जाना है तो रेल, गाड़ी आदि से यात्रा करनी ही पड़ेगी, ज्ञान से, मन से समझने मात्र से दिल्ली नहीं पहुँच जायेंगे। किंतु दिल्ली में हैं और भ्रम हो जाये कि कहीं और हैं यात्रा करते समय कई बार ऐसा होता है कि जहाँ पहुँच चुके हैं वहीं का रास्ता, वहीं की दूरी पूछते हैं तो केवल ज्ञान की ज़रूरत है, कोई बता दे कि यही दिल्ली है तो हम दिल्ली 'पहुँच' जाते हैं। इसी तरह अज्ञानवश हम स्वयं को ईश्वर से पृथक् जीव समझ रहे हैं। कोई सच्चा भेद तो है नहीं कि किसी उपाय से हमारा जीवभाव छूटे, मिथ्या ही भेद है अतः उसे दूर करने के लिये सत्य ज्ञान ही चाहिये। यह तभी होगा जब मन एकाग्र हो, संशुद्ध हो। अनेकाग्र चित्त अनेक को ही देखता है, उसे भेद, द्वैत ही समझ आता है। एक, अभेद, अद्वैत को देखने के लिये एकाग्र चित्त ही कारगर होता है। एकाग्र चित्त भेद को नहीं पहचानेगा जैसे अनेकाग्र चित्त अभेद को नहीं स्वीकारता। अत एव कहा है कि बंधन-मोक्ष मन पर निर्भर हैं, विषयासक्त अर्थात् अनेकाग्र मन बंधन का और निर्विषय अर्थात् एकाग्र मन मुक्ति का हेतु है। मन सामने न रहे इतने मात्र से मोक्ष नहीं, अन्यथा सुषुप्ति में ही मोक्ष-लाभ हो जाये! मन अज्ञानरूप किले में छिप जाता है, कुछ देर के लिये उसका पता नहीं रहता पर पुनः मौका पाकर वार कर देता है। अतः आवश्यक है उस किले को तोड़ना जहाँ वह छिप न पाये, तभी मन को पूर्ण एकाग्र कर सकते हैं। मोक्ष के अनुभव के लिये मन को ही काम में लेना है, इसका विकल्प नहीं, इसे नष्ट करना उद्देश्य नहीं, इसे काबू करना ही उद्देश्य है। अज्ञान में छिपा मन दुःख तो नहीं दे पाता लेकिन मोक्ष का अनुभव भी नहीं दे पाता। एक बार मोक्ष का अनुभव हो जाये उसके बाद तो मन की परवाह नहीं क्योंकि फिर मोक्षरूप अनुभव के लिये मन नहीं चाहिये, लेकिन इस स्थिति में पहुँचने के लिये जो मोक्ष का अनुभव चाहिये उसमें मन का उपयोग है। अज्ञान का किला तत्त्वमस्यादि वाक्य के अर्थ के साक्षात्कार से टूटता है, तभी मन निर्विषय बनकर मोक्ष का अनुभव संपन्न करता है। योगी का उल्लेख पूर्वोक्त (श्लो. ५५ आदि) निरोध के स्मारणार्थ है क्योंकि उसी के सहारे भेददर्शन-निवृत्ति पूर्वक अभेद-दर्शन संभव है।।७४।।

व्यापक परमेश्वर की प्रत्यग्रूप से उपलब्धि मंत्र में कही 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।।'२.१.१२।। शरीर के बीच में, हृदय-देश में अंगूठे जितना पुरुष है, वही भूत-भावी का ईश्वर है, उसे जानने से जुगुप्सा (= जन्मप्राप्ति) निवृत्त हो जाती है। इस मंत्र का ब्रह्मसूत्र १.३.२४ में विचार

हृन्निष्ठबुद्ध्यवच्छिन्नो जीवो ह्यङ्गुष्ठमात्रकः ।
उपाध्यपगमे सोऽयम् ईशानो भूतभव्ययोः ।।७५।।

है। एक श्लोक से इसका अर्थ बताते हैं **हृदय में स्थित बुद्धि से परिसीमित जीव अंगूठे जितना है, उपाधि हट जाने पर वही भूत-भावी का शासक है।।७५।।** [निर्णयसागर में **हृन्निष्ठो बुद्ध्य** पाठ है, मुत्तुशास्त्री का समस्त पाठ अधिक स्पष्ट है।] नाभि से दस अंगुल या अपने हाथ से एक बित्ता ऊपर हृदय का स्थान है जहाँ 'मैं'-अनुभव होता है। इन प्रसंगों में खून-संचालक अंग को हृदय नहीं कहा जाता वरन् मैं-अनुभूति के स्थल को कहा जाता है। विशेषकर ध्यान, धारणा के लिये इस स्थान का महत्त्व है। जीव की यहाँ स्फुट उपलब्धि होती है। यह हृदय उतना बड़ा है जितना अपने हाथ के अंगूठे का पहला पोर। बुद्धि के सामान्यतः रहने का यही स्थान है अतः बुद्धि से सीमित हुआ जीव यहीं हमेशा स्फुट रहता है। वास्तव में व्यापक आत्मस्वरूप है पर बुद्धि में अध्यासवश खुद को वहीं फँसा अनुभव करता है। बंधन कोई वास्तविकता नहीं, मिथ्या कल्पना ही है। भर्तृहरि की कथा प्रसिद्ध है : वे राजा थे और अपनी रानी से बेहद प्रेम करते थे। गोरखनाथ जी ने उन्हें एक अमर फल दिया जिसे खाने से वे अमर हो जाते। उन्होंने सोचा कि रानी के बिना जीना बेकार है, उसे ही अमर बनाना चाहिये; तो फल उसे दे दिया। रानी का दिल सेनापति पर था सो उसने वह फल उसे दे दिया। सेनापति किसी दासी पर आसक्त था तो उसने वह दासी को दिया। दासी राजा को चाहती थी अतः उसने लाकर राजा को भेंट किया। तब राजा चकित हो गया और सारे चक्र का पता लगा तो उसे तीव्र वैराग्य हो गया, वह तत्काल राज-पाट घर-बार छोड़कर गोरखनाथ जी का शिष्य, साधु बनने चल दिया। राजा का बंधन राजा की कल्पना ही था, सच्चाई तो कुछ और ही थी। ऐसे ही हम सबका बंधन है, हमारे मिथ्या अभिमान से अहंता-ममता से ही हम बँधे हैं। जैसे भर्तृहरि को अपनी पत्नी के मोहबंधन से छूटने के लिये केवल वास्तविकता के ज्ञान की ज़रूरत पड़ी, और कोई साधन नहीं अपनाना पड़ा, ऐसे ही हम भी सत्य के ज्ञान से ही बंधन से मुक्त हो सकते हैं, और किसी तरह नहीं। अत एव अज्ञानमूलक तादात्म्याध्यास ही उपाधि है, उसी से जीव परिच्छिन्न, सीमित, बद्ध है, वह उपाधि समूल हट जाये तो स्वरूप से जीव वही परमात्मा है जो सारे संसार का एकछत्र शासक है। अज्ञान दूर होने पर स्पष्ट होता है कि जो कुछ हुआ, हो रहा है, होगा, उस सबका एकमात्र कारण मैं हूँ, मुझमें ही ये सारी कल्पनायें हैं। इस प्रकार जीवभाव हटने पर

वृष्टं जलं पर्वताग्रे बहुधाऽधोगतिं व्रजेत्।
जीवेशभेददृक् चैवं बहुयोनिषु जायते।।७६।।
वृष्टं तु निर्मले कूपे सुस्थितं पीयतेऽमृतम्।
तथैव ब्रह्मतां स्वस्य विजानन् मुच्यते सुधीः।।७७।।

स्वतःसिद्ध मोक्ष प्रकट हो जाता है।।७५।।

भेददर्शी अज्ञानी की गति मंत्र में कही 'यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति।।' २.१.१४।। दुर्गम चोटियों पर बरसा जल जैसे पहाड़ों पर इधर-उधर बह जाता है वैसे जो हर शरीर में विभिन्न जीव हैं ऐसा समझता है वह बार-बार विभिन्न शरीरों में ही जाता रहता है, जन्म-मरण के चक्र में ही फँसा रहता है। यही बताते हैं **जैसे पहाड़ की चोटी पर बरसा जल बहुत तरह से नीचे की ओर बह जाता है वैसे जीव-ईश्वर में भेद देखने वाला बहुत योनियों में पैदा होता है।।७६।।** बादल में इकट्ठा रहते पानी सारी अपवित्रताओं से दूर, ऊँचा बना रहता है पर गिरने पर बूँदें बिखरते ही उसी जल की सब दिशाओं में अधोगति भी हो जाती है, मिट्टी आदि से वह मलिन भी हो जाता है। इसी प्रकार जीव-ईश्वर का भेद न रहे तो आत्मा निर्मल है उसकी कोई अधोगति नहीं पर बूँदभाव अर्थात् अहंकार आते ही बिखराव हो जाता है, जीव-ईश्वर का और परस्पर जीवों का भेद आ जाता है तो जीव विभिन्न योनियों में गिरते-पड़ते संसार-दोषों से मलिन हुआ नाना कष्ट पाता है। अहम् के आने से ही कर्मफल भोगने वाला खड़ा हो जाता है तो उसे भुगवाने वाला ईश्वर भी तैयार हो जाता है। मुझे संसार में भटकना है तो वह संसार बना देता है। भेददर्शन ही संसरण का कारण है।।७६।।

वर्षा के उदाहरण से ही मोक्ष भी समझाया है 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।।'२.१.१५।। शुद्ध जलाशय पर बरसा पानी जैसे शुद्ध ही होता है वैसे जानकार मुनिका आत्मा शुद्ध होता है; स्वयं को उसने जिस ईश्वर से अभिन्न जाना वह जैसे पूर्णतः शुद्ध है वैसे ही मुनि का आत्मा, उपाधिविविक्त स्वरूप शुद्ध होता है। इसे व्यक्त करते हैं **मलहीन कुए में बरसा जल स्वच्छ रहता है मानो अमृत हो तथा सब उसे पीते हैं। इसी तरह जो शुद्धचेता अपनी ब्रह्मरूपता समझता है वह मुक्त हो जाता है।।७७।।** बूँदभाव में तो जल आया पर मलिन स्थानों में न पड़ने से शुद्ध रहा और शुद्ध जलराशि पर ही पड़ा तो उसकी अमृतरूपता बनी रही। इसी प्रकार जो अंतःकरण शुद्ध रहता है उसी

मुक्तिः

पुरमेकादशद्वारं नाभिमूर्धन्यसंयुतम्।
देहाख्यं यस्य तं दृष्ट्वा विमुक्तः सन् विमुच्यते।।७८।।
जीवन्नविद्याकामादिबन्धैर्मुक्तो मृतः पुनः।
शरीरग्रहणाऽभावाद् विदेहः सन् विमुच्यते।।७९।।

में महावाक्य से अभेदबोध होता है और ईश्वर से अपना अभेद पता चलता है तो जीव अपने नित्यमुक्त रूप में बना रहता है। अशुद्ध अन्तःकरण से सम्बद्ध हुआ आत्मा तो समल बना संसार में भटकता है पर जब अपना अंतःकरण सर्वथा संशुद्ध कर लेता है तब उसमें एक ही दोष रहता है परिच्छिन्नता का जिसकी निवृत्ति अद्वैतानुभव से हो जाने पर उसका सनातन मोक्ष प्रकट हो जाता है। अपनी व्यापक-चेतनरूपता समझ वही सकता है जो सुधी है, जिसकी बुद्धि संशय-विपर्यय से ग्रस्त नहीं है। जगत् सत्य समझने वाले योगी निर्विकल्प समाधि में अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं, तब किसी द्वैत का, सीमितता का भान नहीं होता लेकिन व्युत्थान होने पर पुनः सीमाएँ प्रकट हो जाती हैं क्योंकि बाह्य-आभ्यन्तर जगत् सामने आ जाता है। वेद पर अगाध श्रद्धा, तीव्र विवेक तथा पूरी एकाग्रता से जिसने समझ लिया कि नित्य तत्त्व आत्मा ही सत्य है, बाकी सारा संसार मिथ्या है वह जब पूर्वोक्त निरोध-प्रक्रिया से आत्मनिष्ठ बन जाता है तब समाधि और व्युत्थान दोनों दशाओं में उसकी व्यापकता समान रहती है, जगत्-प्रतिभास से उसे स्वयं में परिच्छिन्नता महसूस नहीं होती। 'विजानन् मुच्यते' अर्थात् अनुभव करते हुए ही मुक्त हो जाता है, अनुभव के बाद मुक्त होने में कोई समय नहीं लगता, कोई और साधन ज़रूरी नहीं रह जाता।।७७।।

दूसरे अध्याय की दूसरी वल्ली जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन करते हुए प्रारंभ होती है 'पुरमेकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत्।।'२.२.१।। यह शरीररूप ग्यारह दरवाज़ों वाला पुर जिस एकरस विज्ञानात्मक परमात्मा का है उसे समझकर जो उसका ध्यान करता है वह निःशोक होता है, जीवित रहते हुए भी अविद्याकृत काम-कर्मबन्धनों से छूट जाता है तथा प्रारब्ध-समाप्ति पर इस शरीर से छूटकर पुनः शरीरधारण भी नहीं करता। दो श्लोकों से इसे समझाते हैं **(नेत्र के दो छिद्र, कान के दो छिद्र, नाक के दो छिद्र, मुख-मूत्रद्वार-मलद्वार के एक-एक छिद्र) तथा इनके साथ नाभि-छिद्र और मूर्धा में होने वाला छिद्र जोड़ लेने पर ग्यारह दरवाज़ों वाला शरीर-नामक पुर जिस परमात्मा का है उसे**

देखकर विमुक्त रहते हुए विमुक्त हो जाता है अर्थात् जीवित रहते हुए अविद्या कामना आदि बन्धनों से छूट जाता है और मरने पर क्योंकि अन्य शरीर नहीं ग्रहण करता इसलिये शरीररहित रहते हुए मुक्त बना रहता है।।७८-६।। मनुष्य के स्थूल शरीर में ग्यारह द्वार प्रसिद्ध हैं। गर्भावस्था में नाभिद्वार से ही पोषण मिलता है। सिर की तीनों हड्डियों के जोड़ पर ग्यारहवाँ द्वार है जहाँ शिखा रखी जाती है। मरकर ऊर्ध्व लोकों को जाने वाले योगियों के प्राण इसी द्वार से निकलते हैं। जैसे अनेक दरवाज़ों वाले पुर, नगर होते हैं वैसे शरीर भी मानो एक नगर है और नगर के राजा की जगह शरीर-पुर का स्वामी परमात्मा है। जीव स्वयं को इसका मालिक मानता भले ही है पर प्रतिक्षण स्पष्ट होता है कि जीव का इस पर थोड़ा भी नियंत्रण नहीं, जीव के शासन में यह देहपुर नहीं चल रहा। देह के वास्तविक स्वामी का, ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने से साधक अविद्यादि-संसारबंधन से छूट जाता है। शरीर बना रहने से कोई बाधा नहीं होती, साधक को अपना अपरिच्छिन्न स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यही जीवन्-मुक्ति की अवस्था है। इस दशा में मुक्त द्वैतदर्शन और अद्वैतस्थिति दोनों का साथ-साथ अनुभव करता है जैसा कि सूत्रभाष्य ४.१.१५ में कहा है '…स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं च…'। अज्ञानियों की दृष्टि में भले ही जीवन्मुक्त पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व का आरोप हो पर स्वयं वह इनसे परे रहता है। अहं-पर्यन्त कर्तृत्वादि होंगे और मुक्त साक्षिरूप है अतः उसका इनसे सम्बंध नहीं। 'मैं कर्ता' यह अज्ञान से ही प्रतीति संभव है तो ज्ञान से अज्ञान मिट जाने पर कर्तृत्वानुभव हो कैसे सकता है! लेशमात्र जो अविद्या बची है वह प्रतीति भले ही कराये, अध्यास नहीं करा पाती जैसे 'रबर का साँप है' जान लेने पर भी दीखता सर्वथा साँप है पर 'साँप है' ऐसा लगता नहीं, उससे भय आदि नहीं होता। जीवनकाल में यह दशा पाने के बाद जब प्रारब्ध समाप्त होने पर शरीर में जीवन निवृत्त होता है तब उसे विदेह मुक्त कहते हैं, तब देह और बाह्य जगत् के प्रतिभास का भी नाश हो जाता है। ज्ञानफल मोक्ष मरणोत्तर प्राप्य वस्तु नहीं वरन् ज्ञान होते ही प्राप्त हो जाती है अतः जीवन्मुक्त ही प्रारब्धपूर्ति पर विदेह मुक्त बनता है। श्लोक में 'विमुक्तः सन्' का अर्थ है जो जीवन्मुक्त बन चुका वह 'विमुच्यते' विदेहमुक्त हो जाता है। यहाँ साथ-साथ आये दो 'वि-मुच्' शब्द जीवन्मुक्ति के समर्थन में प्रबल प्रमाण हैं। स्वयं मुक्त के लिये सदेह-अदेह का भेद अकिंचित्कर है पर प्रतीतिसिद्ध होने से इसे उपपन्न कर दिया जाता है। मरने पर अज्ञानी 'विदेह' नहीं होता क्योंकि सूक्ष्म शरीर तो साथ रहता ही है तथा नये स्थूल शरीर भी मिलने ही वाले

जीवात्मा

प्राणमूर्ध्वं नयत्यात्माऽपानवायुं नयत्यधः।
तत्सेवकाश्चक्षुराद्या लिङ्गेनात्माऽनुमीयताम्।।८०।।
सकर्तृकाः प्राणचक्षुराद्याः स्युः साधनत्वतः।
कुठारवत् ततो 'नायमस्ती' त्येतद् निराकृतम्।।८१।।

होते हैं। तत्त्वज्ञ का तो किसी भी शरीर से कैसा भी संबंध न रह जाने से वही विदेह होता है। मोक्ष एकरूप है, फ़र्क सदेह-विदेह का है, जीवनकाल में देहसंबंध का प्रतिभास है, जीवन-समाप्ति के बाद वह प्रतिभास नहीं है। अज्ञों की तरह उसका मरण भी नहीं; अज्ञ तो शरीर छोड़कर जाता है, लोकांतर या देहान्तर में पहुँचता है, किन्तु ब्रह्मवेता कहीं जाता नहीं, उसके प्राणादि यहीं लीन हो जाते हैं। इस पर १८ वे अध्याय श्लो २५५ में चर्चा आयेगी।।७८-६।।

सभी शरीरों में व्याप्त आत्मा एक ही है यह 'हंसः शुचिषत्' इत्यादि प्रसिद्ध मंत्र से बताकर वल्ली के तृतीय मंत्र में आत्मा को समझने के चिह्न दिखाये हैं 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नय-त्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।' जो प्राण को ऊपर की ओर और अपान को नीचे की ओर चलाता है वही मुमुक्षुओं द्वारा संभजनीय आत्मा देहमध्य में विद्यमान है, चक्षु आदि सब अध्यात्मदेव उसे रूपादि-विज्ञानात्मक भेंट अर्पित करते हैं। जो सब करणों को कार्य में लगाता है व जिसके लिये वे सब कार्य करते हैं वह उन सब से विलक्षण आत्मा है यह तात्पर्य है। इस तरह आत्मा को अनुमान से भी जानना चाहिये यह कहते हैं **आत्मा प्राण को ऊपर ले जाता है, अपानवायु को नीचे ले जाता है, चक्षु आदि उसके सेवक हैंइन चिह्नों से आत्मा का अनुमान हो जाता है।।८०।। प्राण, चक्षु आदि क्योंकि (क्रिया और ज्ञान के) साधन हैं इसलिये इन्हें काम में लेने वाला कोई कर्त्ता अवश्य है जैसे (लकड़ी काटने का साधन) कुल्हाड़ी किसी कर्त्ता द्वारा ही चलायी जाने पर लकड़ी काटती है। इस अनुमान से 'आत्मा नहीं है' इस संभावना का निरास हो गया।।८१।।** नचिकेता ने १.१.२० में कहा था कि कुछ लोग मानते हैं कि आत्मा है ही नहीं, उस पक्ष का निषेध करने के लिये यमराज ने सर्वानुभवसिद्ध चिह्नों से अनुमान द्वारा आत्मा सिद्ध कर दिखाया। प्राण तो वायु है, उसकी सर्वथा व्यवस्थित गति संपन्न करने वाला आत्मा है। प्राण की जो वृत्ति जिस स्थान पर जिस कार्य के लिये नियत है वहीं उसी कार्य पर नियत रहती है, इससे पता चलता है कि चेतन उसे

नियंत्रित रखे है क्योंकि जड में ऐसी व्यवस्थित प्रवृत्ति तभी देखी जाती है जब उस पर चेतन का नियंत्रण हो। आँख आदि करण भी आत्मा के ही सेवक हैं, रूप आदि का ज्ञान आत्मा को ही कराते हैं। गड्ढा आँख से दीखता है, उस में पड़ने से बचता पैर है! यह तभी संभव है जब एक आत्मा है जिसके नियंत्रण में आँख व पैर दोनों हैं, वही आँख से देखकर पैर को बचने का निर्देश देता है। जडवादी भेजे की प्रक्रियाओं के भरोसे इन व्यवहारों को समझना चाहते हैं पर भेजा भी तभी तक काम करता है जब तक वहाँ आत्मा सत्ता-स्फूर्ति दे रहा है, जब सत्ता-स्फूर्ति नहीं मिलती अर्थात् भेजा मर जाता है तब वह इन प्रक्रियाओं को नहीं करता। जिससे भेजा भी जी रहा है वह आत्मा है। लोक में साँस चलने से, अन्य इंद्रिय-चेष्टाओं से ही पता चलता है कि अभी शरीर में आत्मा है या नहीं अतः इन्हें उसकी सिद्धि का चिह्न यम ने बताया। अनुमान स्पष्ट हैप्राण, चक्षु आदि पक्ष हैं। वे किसी कर्त्ता द्वारा प्रयुक्त हैंयह साध्य है। साधन होनाहेतु है। जो-जो साधन होता है वह अवश्य कर्ता द्वारा प्रयुक्त होता हैयह व्याप्ति है। कुल्हाड़ी दृष्टांत है। जब तक कर्त्ता कुल्हाड़ी चलाता नहीं तब तक वह स्वयं जाकर लकड़ी काटने नहीं लगती! इससे निश्चित होता है कि साधन का प्रयोग करने वाला कर्ता अवश्य होता है तभी साधन अपना साध्य संपन्न करता है। इस अनुमान से प्राणादि को प्रयुक्त करने वाला जो कर्त्ता सिद्ध होता है वह आत्मा है। चक्षु आदि की करणरूपता सबको अनुभवसिद्ध है, सभी को लगता है कि 'मैं आँखों से देखता हूँ' अर्थात् मैं कर्त्ता और आँखें करण हैं। इस अनुमान से स्पष्ट होता है कि 'आत्मा है ही नहीं' यह चार्वाकादि का पक्ष सर्वथा ग़लत है, अनुभवविरुद्ध, तर्कविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है।।८०-१।।

चौथे मंत्र में कहा है कि जब आत्मा शरीर से हट जाता है तब प्राणादि कुछ नहीं रह जाता जो शरीर को संचालित करे अतः जिसके बिना शरीरसंघात ठहर नहीं पाता वह इससे अतिरिक्त अवश्य मानना चाहिये, वही आत्मा है। इस पर शंका होती है कि शरीर का चलना-न चलना तो प्राणादि के ही रहने-न रहने से नियमित होता है, प्राणादि से पृथक् आत्मा को क्यों मानना? इसका समाधान पाँचवें मन्त्र में दिया 'न प्राणेन नाऽपानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।।' केवल प्राण, अपान, इंद्रियादि से कोई नहीं जीवित रहता वरन् जिसके लिये ये सब कार्य करते हैं उसी से जीवन कायम रहता है। इसे समझाते हैं **जो यह कहा जाता है कि प्राण-अपान के भरोसे ही शरीर जीवित रहता है, वह ग़लत है; प्राणादि**

प्राणापानवशाद् देहो जीवतीति यदुच्यते।
तन्न प्राणाद्याश्रयो यः कर्त्ता तेनैव जीवति।।८२।।

का आश्रय जो कर्त्ता उसी से शरीर जीवित रहता है।।८२।। आत्मा शरीर में है यह प्राणादि के सद्भाव से ही पता लगाया जाता है। घड़े में आकाश है यह कैसे पता लगाते हैं? यदि उसमें पानी आदि समाता है तो पता चलता है कि उसमें जगह है। आकाश का रूप तो है नहीं कि आँख से दीखे, अतः इसी तरह उसका पता लगता है। पानी नहीं तो अपना हाथ ही डालकर देखते हैं, यदि नहीं जाता तो जानते हैं कि जगह नहीं है। अतः 'भरा जाना'यह चिह्न है आकाश का पता लगाने का। आत्मा भी रूपादिरहित है अतः उसे भी चिह्न से जाना जाता है। सबसे प्रधान चिह्न प्राण है, अन्य इंद्रियादि न भी काम करें पर शरीर में प्राण चल रहा हो तो निश्चय होता है कि उसमें आत्मा है। और प्राण न मिले तो पता चल जाता है कि आत्मा चला गया। क्योंकि प्राण ऐसा निश्चित चिह्न है इसलिये किसी को शंका हो जाती है कि कहीं प्राण ही तो आत्मा नहीं है? इसका समाधान किया कि प्राणादि चिह्नों को आत्मा नहीं समझ लेना चाहिये। ये परस्पर पृथक् पदार्थ मिल-जुलकर, आपस में ताल-मेल बैठाकर कार्य करते हैं तब शरीर जीता है। विभिन्न चीज़ें ताल-मेल से तभी कार्यकारी बनी रहती हैं जब उन चीज़ों से पृथक्, उनसे स्वतंत्र कोई वस्तु हो जिसका इनके चलने से प्रयोजन सिद्ध होता है। अर्थात् अपने से भिन्न किसी के लिये ही ये सब मिलकर कार्य कर सकते हैं। अतः प्राणादि से भिन्न आत्मा न हो तो इनका ताल-मेलपूर्ण संचालन असंभव है। इस युक्ति से प्राणादि से पृथक् आत्मा सिद्ध होता है। वही प्राणादि का आश्रय है। उसी के सहारे, उसी के लिये, उसी से सत्ता-स्फूर्ति पाकर प्राणादि कार्यरत रहते हैं।।८२।।

किन्तु यह आत्मा कर्ता-भोक्ता अर्थात् उपाधि परिच्छिन्न ही है, शरीर को ज़िन्दा रखने वाला आत्मा है इतना समझने से आत्मा का परमार्थ स्वरूप नहीं समझ लिया जाता। इसलिये इस आत्मा का देहान्तरधारण यम ने बताया। मरने के बाद आत्मा है या नहीं? यह नचिकेता का प्रश्न था (श्लो ३)। आत्मा है यह ज़िंदा दशा में उक्त युक्तियों से बताया। वही मरकर जन्मान्तर ग्रहण करता है यह कहने से मरने के बाद आत्मा रहता है यह उस प्रश्न का उत्तर हो जाता है। यम ने कहा 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।'२.२.७।। अज्ञानी देहधारी पूर्वकृत कर्म और उपासना के अनुसार शरीर ग्रहण करने के लिये योनिद्वार में प्रवेश करते हैं। अत्यंत पापी वृक्षादि स्थावरों के रूप में जन्म लेते हैं। इसे बताते

स कर्त्ताऽस्मिन् मृते देहे स्वकर्मवशतः पुनः।
विप्रादियोनिमाप्नोति लतावृक्षादिकामपि।।८३।।
देहौ नीचोत्तमौ तादृक्कर्मकर्तृपुरःसरौ।
नीचोत्तमत्वात् प्रासाद-पर्णशाले यथा तथा।।८४।।

है **इस शरीर के मर जाने पर वह कर्त्ता अपने कर्मों के अनुसार पुनः जन्म लेकर ब्राह्मणादि या लता, वृक्ष आदि योनि पाता है।।८३।। नीच-उत्तम भोगायतन अपेक्षा रखते हैं कि उनके प्रति कारण नीच-उत्तम कर्म करने वाले बने हों क्योंकि नीच-उत्तम कार्यों के प्रति नीच-उत्तम कर्त्ता हेतु होते हैं जैसे महल और झोपड़ी के प्रति।।८४।।** [श्लो. ८३ में **लतावृक्षादिनामुत** निर्णयसागर का पाठ ठीक नहीं, मुत्तुशास्त्री का '**दिकामपि** ठीक है।] पुर्यष्टक अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, अंतःकरण, महाभूत, अविद्या, कामना और कर्म; इन्हें लेकर जीवात्मा जब एक स्थूल शरीर छोड़ता है तब उस शरीर की मृत्यु हो जाती है और अपने कायिक-मानस कार्यों के अनुसार जीव नवीन देह धारण कर लेता है। जिस शरीर में वह प्रवेश करता है वहाँ वह पुर्यष्टक पुनः यथोचित कार्यों में संलग्न हो जाता है। प्राणादि कार्य तभी करते हैं जब किसी स्थूल शरीर में उपस्थित हो जायें। पूर्वोक्त कर्त्ता, देह-मनसे होने वाले कर्मों को 'मैंने किया' ऐसा समझने वाला जीव ही कर्मों का फल भोगता है जिसके लिये उसे देहधारण करना अनिवार्य हो जाता है। अत्युत्तम कर्म फलोन्मुख हों तो देवादि योनियाँ मिलती हैं, अतिनीच कर्मों के फलस्वरूप नरकादि जाना पड़ता है, उतने श्रेष्ठ-नीच कर्मों के फल का उदय न हो तो इसी लोक में जन्म मिलता है; यहाँ भी सत्कर्म अधिक हों तो मानव योनि मिलती है, दुष्कर्म अधिक हों तो पशु-पक्षियों की, कीट-पतंगों की योनि मिलती है, और ज़्यादा पाप हों तो लता वृक्ष आदि स्थावर योनियों में जन्म होता है। पृथ्वी पर मानव का महत्त्व इसलिये है कि वह सत्कर्म, उपासना और तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है, यह मौका जानवरों या पेड़ पौधों को नहीं। खाना-पीना-प्रजनन करना आदि भोग तो पशु आदि भी कर लेते हैं, उस सब में मनुष्य और वे समान हैं, विशेषता यही है कि मनुष्य अपने कर्म और ज्ञान के अधिकार का प्रयोग कर सकता है। अतएव मनुष्यों में भी विप्रादि योनियाँ श्रेष्ठ हैं। जो ब्राह्मण विधिवत् वेद पढ़ता है उसे विप्र कहते हैं। उत्तम-अधमभाव आत्मा में नहीं है, आत्मा सर्वथा एकरस है, भेद है स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का; जो स्थूल शरीर धर्म या ब्रह्मलाभ के लिये चेष्टा करते हैं, जो सूक्ष्म शरीर उसी प्रयत्न में रहते हैं, गलत प्रयासों

और कुसंस्कारों से दूर रहते हैं वे उत्तम हैं और इनसे विपरीत अधम हैं। यह भेद इन उपाधियों में है न कि आत्मा में।

शरीरों में भेद का कारण है कर्म। कर्ता ने जैसे कर्म किये हैं तदनुरूप उसे स्थूल शरीर मिलता है। कर्म उत्तम हों तो शरीर उत्तम मिलता है। कर्म दोनों समझने चाहिये बाह्य और आंतर अर्थात् मानस। अन्यत्र समझाया है कि 'श्रुत' अर्थात् उपासना, विज्ञान, मानस कर्म के अनुसार योनि मिलती है और बाह्य कर्मों के अनुसार वहाँ सुख-दुःख मिलते हैं। अतः कोई-कोई पालतू जानवर अधिक सुख-सुविधा से रहते हैं बजाये मनुष्यों के; उनका श्रुत नीच था जिससे योनि तो निकृष्ट ही मिली पर कर्म अच्छे थे अतः सुख मिला जबकि जिनका श्रुत ठीक था वे पैदा मनुष्य हो गये पर उनका कर्म खराब था इसलिये दुःखी हैं। संसार में जीवों को उपलब्ध सुख-दुःख का भेद इसी कर्म-व्यवस्था से संगत होता है कि जिस कर्ता ने जैसा कर्म किया उसका फल भोगने के लिये वह वैसे शरीर में ही पैदा होता है। इस बात को अनुमान से व्यक्त किया : नीच-उत्तम शरीर पक्ष हैं। साध्य है कि उनके प्रति कारण ऐसा कर्त्ता है जिसने अच्छे-बुरे कर्म किये हैं। हेतु है शरीरों में उच्च-नीचभाव। व्याप्ति है कि जो कुछ ऊँच-नीचभाव वाला अर्थात् अच्छा-बुरा होता है उसके प्रति कारण ऐसे कर्त्ता होते हैं जो अच्छा-बुरा कर्म करते हैं। दृष्टांत है महल और झोपड़ी। महल बनाने वाला मिस्त्री बेहतर कार्य करता है इसलिये महल बेहतर मकान होता है, झोपड़ी बनाने वाला उतना अच्छा काम नहीं करता इसलिये वह घटिया रहने की जगह होती है। इस प्रकार देह के कारण रूप से सिद्ध कर्ता ही जन्मान्तर सम्बन्धी आत्मा है। बुद्धिविशिष्ट चेतन कर्मों के प्रति कर्त्ता होता है। अहंकारात्मिका वृत्ति में पड़ा चिदाभासयों बुद्धि और आत्मा मिले रहकर कर्म करते हैं। जैसे कपड़े सीता तो दर्जी है पर सिलाई की मशीन से ही, लकड़ी छीलता बढई है पर बसूले से ही, लड़ता योद्धा है पर हथियारों से ही, ऐसे ही कर्म करता तो यह कर्ता है पर इंद्रियादि साधनों से। अकेला चित् क्रिया नहीं करता, अकेली बुद्धि में भी कर्तृत्व नहीं मान सकते क्योंकि वह जड है, भौतिक है। किन्तु जब चित् और बुद्धि मिल जाते हैं, उनमें परस्पर अध्यास हो जाता है तब वह अध्यस्त स्वरूप ही कर्त्ता बनता है। पंचपादिका में 'अहंकारटीका' नामक प्रसंग में इस विषय पर प्रभूत चर्चा है। यह कर्ता अपने कर्मों के आधार पर अनेक प्रकार का होता है। गीता में भी सात्त्विकादि भेद से त्रिविध कर्ता कहे हैं। मूल रूप से तो सब बुद्धियाँ समान हैंपंचभूतों के सात्त्विकांश से निर्मित हैंलेकिन अनादि भवपरंपरा में एकत्र

संस्कारों के भेद से बुद्धियों की प्रकृतियाँ विभिन्न हो जाती हैं जिससे कर्त्ता भी अनंत प्रकार के हो गये हैं। कर्ता के भेद से कार्य में भेद के लिये महल-झोपड़ी का उदाहरण स्पष्ट है। बनाने वाले मिस्त्री के स्तर के अनुसार मकान का स्तर हो जाता है। महल-झोपड़ी में अंतर अतिस्फुट है अतः इनका उल्लेख किया किंतु सर्वथा समान सामग्री से बने आवासों में भी मिस्त्री की अच्छाई-बुराई से अंतर मिलता ही है। रहने वाले की दृष्टि से तो बहुधा झोपड़ी में श्रेष्ठ व्यक्ति रहता है अतः उनकी उच्च-नीचता को मकान के उच्च-नीचभाव में हेतु नहीं कह सकते, कर्ता अर्थात् बनाने वाले की ही कुशलता-अकुशलता को कारण कहना पड़ेगा। कभी ऐसा भी होता है कि मिस्त्री अपने लिये मकान बनाता है, उस स्थल में बनाने वाला और रहने वाला एक ही है। प्रकृत में भी यही स्थिति है, हम ही अपने कर्मों से शरीर बनाते हैं और हम ही उसमें प्रवेश कर रहने लगते हैं। हर हालत में, अनुमान से इतना ही व्यक्त करना है कि देहातिरिक्त, जन्मान्तर-सम्बन्धी आत्मा है अवश्य। प्रायः इस आत्मा को शास्त्र से ही समझाया जाता है किन्तु यहाँ विद्यारण्य स्वामी ने श्रौत संकेत पर ऐसा अनुमान बनाया है जो सभी को इस आत्मा के अस्तित्व को जँचा देता है। कर्ता और उसके कर्मों का उच्च-नीचत्व जब संसार में सब कार्यों के उच्च-नीचत्व में हेतु बन रहा है तब शरीर के प्रति उसे हेतु न मानना असंगत है। शरीर की उच्च-नीचता के प्रति और कोई कारण बताया जा भी नहीं सकता अर्थात् कोई प्रत्यनुमान भी उपस्थित नहीं होता। और उसे अकारण ही मान लें यह भी जँचता नहीं क्योंकि सब कुछ सकारण है तो इसी एक कार्य कोऔर वह भी इतने महत्त्वपूर्ण कार्य कोअकारण मानना ग़लत है।
निर्निमित्त ईश्वरेच्छा को इसमें हेतु मानना ईसाई-मुसलमानों को स्वीकार है पर तब ईश्वर पर भेदभाव बरतने का दोष लगता है जो ईश्वरता का विरोधी है। इसलिये कर्म-फलव्यवस्था ही सुसंगत है, इसके आधार पर मरणोत्तर आत्मा की स्थिति निश्चित हो जाती है।।८३-४।।

जीव को सिद्ध कर उसकी ब्रह्मरूपता मंत्र में बतायी 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।' ।२.२.८।। जब इंद्रियाँ सो जाती हैं तब अपनी कामनाओं के अनुसार विषयों का निर्माण कर जीव स्वप्न देखता है। वही जीव उपाधि से विविक्त होने पर शुद्ध, व्यापक, अविनाशी है। भूरादि सब लोक उसी पर आश्रित हैं, उससे हटकर कुछ भी रह नहीं सकता। इसे दो श्लोकों से समझाते हैं

सुप्तेष्वक्षेषु यः स्वप्ने कामं कामं सृजत्ययम्।
देहातिरिक्तस्तं को वा निराकर्तुं प्रभुर्भवेत्।।८५।।

आत्मैक्यम्

जीवात्मानं प्रसाध्यैवं तस्यैवोपाध्यपायतः।
ब्रह्मतां वेत्ति जगत आधारत्वेन लक्षिताम्।।८६।।

इंद्रियों के सो जाने पर सपने में जो यथेच्छ काम्य विषय उत्पन्न कर लेता है वह देह से अतिरिक्त है इसे कौन मना कर सकता है?।।८५।। इस प्रकार विचार से यह निर्धारित कर कि जीवात्मा है, साधक जब विवेकपूर्वक उसे उपाधि से पृथक् करता है तब समझ लेता है कि यह वही ब्रह्म है जिसे जगत् का आधार समझा जाता है।।८६।। [निर्णयसागर में श्लो. ८६ में **तस्यैवो-पाध्युपायतः** पाठ है। तदनुसार अर्थ है कि जीव की सिद्धि उपाधि के सहारे होती है। मुत्तुशास्त्री का "°पाध्यपा°" पाठ है अर्थात् उपाधि हटाने से जीव की ब्रह्मरूपता पता चलती है। यह पाठ बेहतर है।] मरण, पुनर्जन्म के सहारे जीवात्मा सिद्ध कर स्वप्न के सहारे भी उसे सिद्ध कर रहे हैं। स्थूल शरीर को आत्मा मानने से स्वप्न, स्वाप्न पदार्थ और उनका अनुभव इनकी उपपत्ति नहीं होती अतः स्वप्न के विचार से स्थूलातिरिक्त आत्मा सिद्ध हो जाता है। स्वप्न में इंद्रियाँ भी कार्य नहीं करतीं फिर भी स्वाप्न जगत् का निर्माण हो जाता है। जो-जो कामना उद्बुद्ध हो उसके अनुरूप विषयों को जीव सपने में बना लेता है। (अथवा एक 'कामं'-पद 'सृजति' क्रिया का विशेषण है, दूसरे 'कामं' का अर्थ है काम्य विषय।) मन ही वहाँ सब विषय बनाने में साधन हो जाता है। स्वप्न की चीज़ें बनाने में स्थूल शरीर का योगदान नहीं, जैसा कि जाग्रत् की चीज़ें बनाने में है। इसलिये स्वप्न-निर्माता के रूप में देहातिरिक्त आत्मा की सिद्धि स्पष्ट है।

आत्मस्वरूप को समझने के लिये पहला कदम जीव को समझने का है। त्वम्पद के वाच्य को पहले निर्धारित करे तभी उसके लक्ष्य पर दृष्टि एकाग्र होगी। वस्तुतस्तु त्वम्पदार्थ का पूर्ण विवेक ही ज्ञानसाधन का सबसे कठिन एवं महत्त्वपूर्ण अंग है, इसी के उद्देश्य से सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास का विधान है। ब्रह्म अत्यंत सूक्ष्म है, उस तक पहुँचने के लिये किंचित् स्थूल जो जीव उसे समझना आवश्यक है। उदाहरणार्थ गणित में रेखा का लक्षण है जिसमें चौड़ाई व ऊँचाई न हो केवल लंबाई हो। इसे समझाने के लिये अध्यापक खड़िया से पाँच सूत मोटी 'रेखा' खींचता है! क्या वह रेखा है? लेकिन उसी के सहारे वास्तव में रेखा क्या है यह समझा जा सकता है। पतली भी रेखा

खींचें तो उसमें थोड़ी-सी मोटाई रहेगी ही अतः परिभाषा के अनुरूप रेखा व्यवहार में कभी नहीं मिलेगी फिर भी इन रेखाओं के सहारे उस पारिभाषिक रेखा को बुद्धि से समझा जा ही सकता है। इसी प्रकार कर्ता-भोक्तारूप जीवात्मा ब्रह्म है नहीं परंतु इसे आत्मा समझने पर ही वास्तव में आत्मा क्या है यह बोध संभव है। बिना जीव को आत्मा समझे ब्रह्म समझ नहीं आ सकता। ब्रह्म है सच्चिदानंद; चित् हमें सिवाय अपने जीवरूप में और तो कहीं मिलेगा नहीं। आनंद का भी हमें (जीवरूप में) ही अनुभव हो सकता है। विषय, उनकी उपलब्धि को सुख नहीं मान सकते क्योंकि रोज़ अनुभव होता है कि अत्यधिक विषय-संपन्न लोग दुःखी हैं और जिनके पास बहुत कम है वे भी सुखी हैं। व्यक्ति को खुद ही पता चलता है कि वह सुखी है या दुःखी, उसकी धन-दौलत नौकर-चाकर आदि सुविधा देखकर दूसरा कल्पना भले ही कर ले पर सही-सही पता नहीं चल सकता। इस तरह क्योंकि चित्, आनन्द और प्रत्यक् ये तीन रूप हमें केवल जीव में ही पता चल सकते हैं इसलिये ब्रह्म को समझने के लिये जीव को समझना अनिवार्य हो जाता है। जैसे ग़ैर-रेखा से ही रेखा समझते हैं वैसे ग़ैर-ब्रह्म जो कर्ता-भोक्ता जीवरूप उसी से ब्रह्म समझा जायेगा। परिच्छिन्न सत्-चित्-आनंद को देखकर ही अपरिच्छिन्न सच्चिदानंद का ज्ञान होगा। इसलिये यम ने पहले जीव को बताया। जब कहते हैं कि जीव ब्रह्म है तब मतलब यही होता है कि जीवरूप से अर्थात् परिच्छिन्न रूप से जो भासमान है वह वास्तव में ब्रह्म है। परिच्छिन्नता को वास्तविक मानता रहे और उसी हालत में उसे ब्रह्मरूपता का स्फुरण हो जायेयह संभव नहीं, परिच्छिन्नता का बाध करने पर ही व्यापकता का स्फुरण होगा। है व्यापकता सनातन लेकिन उसका भान तभी होगा जब परिच्छिन्नता हटा दी गयी है और भान हुए बिना व्यापकता कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध करती, मोक्ष नहीं देती। इसलिये कहा कि जीव की उपाधि का अपाय कर अर्थात् उसे हटाकर जब समझते हैं जब उसकी वास्तविक ब्रह्मरूपता पता चल जाती है।

ब्रह्म कोई अन्य नहीं है, जीव ही ब्रह्म है लेकिन उपाधि हटने पर ही उसका ब्रह्मभाव स्फुट होता है। आचार्य सुन्दर पाण्ड्यने इसीलिये कहा कि ज्ञेय आत्मतत्त्व के विज्ञान से पूर्व आत्मा ही प्रमाता (जीव) है और प्रमाता का ही जब अन्वेषण करते हैं तब वही सब दोषों से रहित ब्रह्म समझ आता है। संसार के अन्य सब मतों में पराक् को ही मानना प्रधान है, उसी के लिये कर्म, भक्ति आदि करने का विधान है; किन्तु वेदान्त में प्रत्यक् के वास्तव स्वरूप को जानना ही प्रधान है, इसी से मोक्ष है। 'मैं हूँ'

अग्निर्यथैकः काष्ठेषु प्रविश्य बहुधा भवेत्।
तथाऽऽत्मा त्वेक एवैषु देहेषु बहुधोच्यते।।८७।।

यों स्वयं को सब जानते हैं, उसे मानना नहीं पड़ता, उसी का विवेक-दृष्टि से परीक्षण करके जो-जो उसमें अनात्मांश है उसे छोड़ते जाने पर बचा हुआ जो आत्ममात्र वही भूमा ब्रह्मतत्त्व है, उसी के प्रकाश से अज्ञान का अँधेरा दूर हो जाता है। अभी हम ब्रह्म को इसी तरह समझते हैं कि वह जगत् का आधार है। जैसे मिट्टी बर्तनों का कारण होने से उनका आधार होती है या रस्सी सर्पादि का कारण होने से उनका आधार होती है ऐसे ब्रह्म जगत्कारण होने से उसका आधार है। अधिष्ठान का जो भाग अध्यास में भी प्रतीत हो वह आधार कहा जाता है, ब्रह्म का सच्चिदानंद-भाग जगत् में अस्ति-भाति-प्रिय के रूप में प्रतीत होने से यह आधार है, इस स्वरूप में हम ब्रह्म का अनुभव कर रहे हैं और इसके सहारे ब्रह्म की पूर्णता को समझते हैं। पूर्णता हमें अपरोक्ष नहीं किन्तु जो अपरोक्ष आधारांश है उसका सहारा लेकर हम पूर्णता का ज्ञान करते हैं। अतः ब्रह्मता या पूर्णता को 'लक्षित' कहा; साक्षात् के बजाये किसी माध्यम से प्रतीत होने वाले को लक्षित कहते हैं जैसे किनारा-अर्थ जब नदी के माध्यम से प्रतीत होता है ('नदी पर घर है' आदि वाक्यों में) तब उसे लक्षित कहते हैं। आधार के माध्यम से प्रतीत होने के कारण ब्रह्मता को लक्षित कहा। किन्तु अभी जो पूर्ण समझा जाता है वह पराक् ही लगता है, जब जीव को उपाधि से पृथक् कर लेते हैं तब, जो प्रत्यक् वही पूर्ण हैयह पता चलता है, यही चरम साक्षात्कार है जिससे मोक्ष हो जाता है।।८५-६।।

ब्रह्म एक है, जीव अनेक हैं तो जीवों का स्वरूप ब्रह्म कैसे? इस समस्या का श्रुति ने अग्नि और वायु के दृष्टान्त से समाधान दिया है 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।। वायुर्यथैको...।।'२.२.९-१०।। जैसे एक ही अग्नितत्त्व सारे संसार में प्रविष्ट हुआ विभिन्न दाह्य रूपों के अनुरूप हो गया है वैसे शरीरों के अनुरूप विभिन्न प्रतीत होता हुआ भी सब भूतों का अंतरात्मा एक ही चेतन है जो वास्तव में सब शरीरों से परे है। वायु भी प्राणिशरीरों में घुसकर विभिन्न कार्यों को करने से अलग-अलग नाम-रूपों वाली हो जाने पर भी जैसे एक तत्त्व ही है वैसे आत्मा की अद्वितीयता बनी रहते हुए ही अनंत जीवों का प्रतिभास उपलब्ध है। यही व्यक्त करते हैं **जैसे एक आग लकड़ियों में घुसकर बहुत प्रकार की हो जाती है वैसे आत्मा तो एक ही है, इन शरीरों में बहुत तरह का कहा जाता है।।८७।।**

वायुश्चैकोऽपि देहेषु प्रविश्य प्राणरूपतः।
बहुधा भात्येवमात्मा प्रत्युपाधि पृथग्भवेत्।।८८।।

वायु भी एक है, फिर भी शरीरों में घुसकर प्राणों के रूप से बहुत प्रकार का हो जाता है, इसी तरह आत्मा हर उपाधि में अलग-अलग हो जाता है।।८८।।

ईंधन का उल्लेख बिना किये अग्नि में कोई भेद कहा-समझा नहीं जा सकता अतः उसे स्वरूप से एक और उपाधिवश ही अनेक मानना पड़ता है। ईंधन जलने पर उसी के आकार की आग भी दीखती है जब कि सब जानते हैं कि आग लंबी, गोल, त्रिकोण आदि नहीं होती। ऐसे ही आत्मा एक ही है पर जिन शरीरों में घुसा हुआ है उनके भेद से उसमें भी भेद का व्यवहार है। मक्खी, मच्छर, आदमी, औरत, गन्धर्व, देवता, भूत, प्रेत आदि अनन्त तरह के शरीर हैं, उनमें घुसा आत्मा अनंत तरह का समझा जा रहा है पर वास्तव में वह है एक ही क्योंकि भेद केवल उपाधियों का है। आत्मा का शरीरों में प्रवेश ऐतरेयादि के व्याख्यान में बता चुके हैं। शरीरों का उल्लेख बिना किये सच्चिदानंदरूप आत्मा में कोई अंतर कहा-समझा नहीं जा सकता। 'मैं हूँ' यह प्राणिमात्र का एकरूप अनुभव है, अंतर है 'मैं देवदत्त हूँ' 'मैं यज्ञदत्त हूँ' आदि अनुभवों में क्योंकि उनमें शरीर का उल्लेख आ जाता है। स्थूल व सूक्ष्म दोनों ही शरीर आत्मा में अनेकता की प्रतीति करा देते हैं जबकि अनेकता शरीरों की ही है। अग्नि-दृष्टांत से स्पष्टता होने पर भी यह नहीं लगता कि वह चेतन के लिये दृष्टांत है, लकड़ी और आग दोनों जड लगते हैं। इसलिये श्रुति ने वायु का दृष्टांत दिया क्योंकि वायु जब प्राण बन जाता है, शरीर में घुसकर शरीर को ज़िंदा बनाता है तब वह चेतन-जैसा ही लगता है। प्राण के पाँच या दस प्रसिद्ध विभाजन हैं, यदि शरीर की असीम चेष्टाओं के प्रति हेतुरूप से समझना चाहें तो प्राण के भी असीम विभाजन हो सकते हैं। जैसे पाँच में दस का अंतर्भाव मानते हैं वैसे तो सबका दस या पाँच में अंतर्भाव माना ही जाता है लेकिन वृत्तिविधया उनके सूक्ष्म अन्तर रहेंगे ही। इस तरह हर शरीर में प्राण असंख्य रूपों वाला है। सब शरीरों में समझें तब तो स्पष्टतः ही अनंत रूपों वाला है। वायु एक ही है; कमरे में अनेक वायु किसी को नहीं प्रतीत होते पर वहीं चार आदमियों में कार्य करने वाले प्राणादि अनेक और परस्पर विभिन्न ही प्रतीत होते हैं! वही हवा देवदत्त के शरीर में जाकर निकलती है और यज्ञदत्त के शरीर में घुस जाती है; घुसी दशा में लगता है कि 'यह यज्ञदत्त का प्राण है', 'यह देवदत्त का प्राण है' किन्तु कमरे की वायु तो एक ही रहती है।

अलेपः

सर्वचक्षुःस्वरूपोऽपि न रविर्नेत्ररोगभाक्।
सर्वात्मत्वेऽपि तद् ब्रह्म तथा दुःखैर्न लिप्यते।।८९।।

बाह्य वायु जड लगने पर भी शरीर में घुसने पर चेतन समझी जाती है अतः अग्नि की अपेक्षा यह दृष्टांत चेतन के लिये बेहतर है।

जल, अन्न आदि भी दृष्टांत बन सकते हैं वही जल, वही अन्न हिंदू, मुसलमान, ईसाई, मेंढक, मछली पीते-खाते हैं; पी-खा लेने पर वह उन-उन शरीरों के आकार का बन जाता है तो अलग-अलग प्रतीत होता है पर यदि शरीर-संबंध को नज़रंदाज़ करें तो उसकी एकरूपता बनी ही है अत एव जब उन शरीरों से निकल आता है तब पुनः एकरूप ही प्रतीत होता है। सभी शरीरों से निकला जल अंततः समुद्र में पहुँचकर फिर बादलों से बरसता है, उस समय नहीं कह सकते कि कौन-सी बूँद हिंदू शरीर से निकली थी और कौन-सी मुस्लिम शरीर से; ऐसे ही शरीरों से निकला अन्न भी अन्ततः गेहूँ-चावल आदि रूप धारण कर पुनः अन्नाकार में सामने आता है, तब भी दानों में वैसा विभाजन नहीं कर सकते। इसलिये अन्न-जल को स्वतः एकरूप, उपाधितः अनेकरूप मानना पड़ता है। किसी भी उदाहरण से समझ सकते हैं, समझना यह है कि स्थूल-सूक्ष्म शरीररूप उपाधियों के कारण आत्मा अलग-अलग प्रतीत हो रहा है, वास्तव में वह एक ही है। अतः अनंत जीवों के प्रतिभास से ब्रह्म की अद्वितीयता खंडित नहीं होती।।८७-८।।

प्राण, जल आदि जैसे शरीरों में घुसकर विकृत हो जाते हैं, क्या ऐसे आत्मा भी शरीर- संबंध से प्रभावित होता है? इसका उत्तर मंत्र से दिया कि आत्मा प्रभावित नहीं होता 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।'२.२.११।। सब आँखों का अधिष्ठाता होने पर भी आँखों के दोषों से जैसे सूर्य अप्रभावित रहता है वैसे सब भूतों का इकलौता अन्तरात्मा होने पर भी किसी के भी दुःख से वह सम्बद्ध नहीं होता, सबसे परे ही रहता है। इसे बताते हैं **सभी चक्षुओं का समष्टिरूप सूर्य है पर चक्षुओं के रोगों से सूर्य पीडित नहीं होता। इसी तरह वह ब्रह्म सबका आत्मा है पर किसी के दुःखों से वह सम्बद्ध नहीं होता ।।८९।।** [निर्णयसागर में **सर्वचक्षुःस्थरूपोऽपि** छपा है, अर्थ वही है जो मुत्तुशास्त्री के पाठ का °क्षुःस्वरूपै॰] सारे संसार की आँख सूर्य है। ऐतरेय में (१.२.४) कहा है कि आदित्य चक्षु बनकर आँखों में घुस गया। जो

ईश्वरः

सर्वभूतान्तरात्मैकः स्वतन्त्रो मायया वृतः।
रूपं स्वं बहुधा कुर्याद् बहुरूपो यथा नटः।।९०।।

समष्टिभाव में सूर्य है वही व्यष्टिभाव में चक्षु है। सूर्य ही आँखों का अधिपति है, अधिष्ठाता देवता है। अतः सूर्य की रोशनी में आँखें काम करती हैं, सूर्य के अनुग्रह से नेत्र रूपदर्शन में समर्थ होते हैं। फिर भी आँखों के रोग का सूर्य पर प्रभाव नहीं पड़ता। पीलिया का असर हमारी आँख में आ सकता है पर उससे सूर्य के प्रकाश में पीतिमा नहीं आयेगी! अंधापन आदि भी आँखों में आता है, सूर्य अंधा नहीं हो जाता। ऐसे ही ब्रह्म सब जीवों का आत्मा है पर जीवों के दुःखों से वह दुःखी नहीं होता, जीवों में जो कोई भी परिवर्तन हो उनसे आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता। चेतन की वजह से ही अहंकार गुण-दोष वाले बनते हैं क्योंकि चेतन का आभास न पड़े तो अहंकार घड़े-कपड़े-सा जड ही होगा, फिर भी अहंकारों के गुण-दोषों से चेतन का सम्बन्ध नहीं, जैसे प्रतिबिम्ब के विकार बिम्ब का स्पर्श नहीं करते। ब्रह्मसूत्र २.३.४६ में यही स्थापित किया गया है। अध्यास से होने वाले विकार अध्यास-स्तर पर रहने पर भी सत्य-स्तर पर नहीं रहते। सूत्रकार ने प्रकाश का दृष्टांत दियाप्रकाश्य अंगुली आदि का सीधा-टेढा आकार लेने पर भी जैसे प्रकाश सीधा-टेढा आदि नहीं हो जाता वैसे बुद्धि से उपहित जीव के दुःखी होने पर भी वास्तव में अर्थात् अनुपहित रूप में आत्मा दुःखी नहीं होता। वहाँ (सू. ४७) भाष्यकार ने प्रकृत कठवाक्य को भी उद्धृत किया है। इस प्रकार सर्वभूतों का एक अविकृत अन्तरात्मा ब्रह्म है यह निर्दोष है।।८९।।

इसी आत्मा का साक्षात्कार शाश्वत सुख, शाश्वत शान्ति देता है यह दो मंत्रों से यम ने कहा 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।। नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।' ।२.२.१२-१३।। सब का अंतरात्मा और शासक एक ही है, वह अपने एक ही रूप को बहुत तरह का बना लेता है। जो विवेकी शास्त्रानुसार इस बात का साक्षात्कार कर लेते हैं कि वही बुद्धि में चैतन्याकार से व्यक्त है, उन्हीं का सुख नित्य होता है, अन्यों का नहीं। लोक में जो नित्य और चेतन समझे जाते हैं उन्हें नित्यता और चेतनता देने वाला वास्तव में उनका अधिष्ठान आत्मा ही है। वही सबको

मायोपाधिक ईशोऽयं बुद्ध्युपाधिमतां नृणाम्।
कर्मानुसारिणः कामान् विदधात्युपभुक्तये।।६१।।

शान्तिः

स्वचित्तस्थं साक्षिरूपम् ईशं पश्यन्ति ये नराः।
तेषां नित्या दुःखशान्तिर्ब्रह्मानन्दश्च शाश्वतः।।६२।।

कर्मफल भी दे देता है। उसे प्रत्यगात्मा जानकर ही नित्य शांति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। यह तात्पर्य व्यक्त करते हैं **सब भूतों का अंतरात्मा एक और स्वतंत्र है। माया से ढका होकर वह अपने अद्वितीय स्वरूप को उसी तरह बहुत प्रकार का बना देता है जैसे नट।।६०।। यही माया-उपाधि वाला ईश्वर है जो बुद्धि-उपाधि वाले जीवों के कर्मों के अनुसार उन्हें कामित विषय प्रदान करता है ताकि वे कर्मफल भोगें।।६१।। जो नर अपने चित्त में स्थित साक्षिरूप ईश्वर का साक्षात्कार कर लेते हैं उन्हें ही दुःखों से हमेशा का छुटकारा मिलता है और उन्हें ही सनातन आनंद होता है।।६२।।** समस्त अंतःकरणों में प्रतिबिम्बित होने वाला चेतन एक ही है। वह किसी के अधीन नहीं, सभी उसके अधीन हैं। माया से ढका रहकर वह स्वयं को अनेक रूपों वाला प्रकट करता है। अज्ञान से ढकी रस्सी जैसे खुद को साँप, माला, जलधारा आदि अनेक रूपों वाली बना लेती है ऐसे ही आत्मा सारा संसार बन जाता है। स्वप्न में हम भी स्वयं को ही गिरि-नदी-मार्ग-वाहन आदि सब रूपों वाला बना देते हैं। नट, अभिनेता अपने रूप को छिपाकर पृथ्वीराज, राणा प्रताप, शिवाजी आदि अनेक रूपों वाला बनता है यह भी सब देखते ही हैं। नट आवाज़, चाल-चलन आदि सभी कुछ बदल लेते हैं, कोई-कोई तो स्त्री का भी रूप धारण कर लेते हैं! इसी प्रकार परमात्मा अपनी माया शक्ति से इकट्ठे ही अनंत रूप धारण करता हुआ प्रतीत हो रहा है। जैसे नट जिन रूपों में दीखता है उन रूपों वाला *हो* नहीं जाता वैसे आत्मा भी इन रूपों वाला होता नहीं, दीखता ही है। कल्पतरुकार ने भाष्यकार का सिद्धान्त स्पष्ट कहा है 'स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्' उसी नट-दृष्टांत का यहाँ उल्लेख है। जगत् और जीव दोनों रूप ब्रह्म ही धारण करता है। कुछ आचार्य, जैसे भामतीकार, इस बात को इस ढंग से समझाते हैं : मैं हूँ और मैं अज्ञानी हूँ यह सर्वसंमत है। न हमें अपने बारे में कुछ विशेष पता है न संसार के बारे में। अपने इस स्वाभाविक अज्ञान से मुझे ही संसार-भ्रम है। उसी भ्रम से मैं समझ रहा हूँ कि मुझ से अन्य कोई ईश्वर है जिसने जगत् बनाया। जब सही ज्ञान

होता है तब पता चलता है कि वह ईश्वर मैं ही हूँ, मैंने ही अपने अज्ञान से सारा संसार-भ्रम खड़ा कर रखा था। मैं अखण्ड ही रहा, भ्रम से जीव-ईश्वर के भेद की कल्पना में उलझ गया। जगत्कारण कौन इस तरफ सोचें तो पूर्वोक्त नट दृष्टांतानुसार बात समझ आती है और किसका अज्ञान मिटाना है इस तरफ सोचें तो वाचस्पति का ढंग समझ आता है। बात एक ही है, समझाने के तरीके अलग हैं। भगवान् भाष्यकार की प्रक्रिया नट-दृष्टांत वाली ही है, अधिकतर उपनिषत् प्रसंग, गीता, ब्रह्मसूत्र आदि भी भाष्य-प्रक्रिया के अनुसार ही संगत होते हैं। यहाँ भी विद्यारण्यस्वामी इसी को समर्थन दे रहे हैं। जब अपने को बहुत रूपों वाला बनाता है तब उसे बहुत उपाधियाँ चाहिये इसलिये बुद्धियों की रचना करता है।

इस प्रकार कारण जो अविद्या वह एक ही है, उस एक उपाधि वाला आत्मा एक ईश्वर है और अनन्त बुद्धियों से उपहित होकर आत्मा अनन्त जीव है। जीव कर्म करते हैं, उनका वे फल भोगें इसके लिये ईश्वर उन्हें सारी सामग्री उपलब्ध कराता रहता है। आत्मरूप से सर्वथा एकता बनी रहते हुए ही अविद्या के कारणाकार अर्थात् मायारूप उपाधि से ईश्वर एवं उसी अविद्या के कार्याकार अर्थात् बुद्धियों से जीव यह भेद भी उपलब्ध हो रहा है। जीव कर्म करता है, इसमें वह स्वतंत्र है, फल ईश्वर देता है, उसमें वह स्वतंत्र है। कर्म करने में स्वातंत्र्य का यह अर्थ नहीं कि साधनादि की ज़रूरत न हो या असंभव कार्य किये जा सकें, वरन् करने-न-करने अन्य तरह से करने के विकल्पों का चुनाव करने में स्वातन्त्र्य अभिप्रेत है। स्वतंत्रता से करता है इसीलिये इसे अपने किये का फल भोगना पड़ता है। किन्तु कब-कहाँ-कैसे फल मिलेगा इसमें जीव स्वतंत्र नहीं। पुण्य से सुख और पाप से दुःख मिलेगा अवश्य पर कब कहाँ आदि का निर्णय ईश्वर के ही हाथ में है। अतः जीव कर्तव्य का ही विचार करे, फल का नहीं यही उचित है। अपने स्वातंत्र्य का प्रयोग करना होगा। सर्वथा स्वतंत्रता तो असंभव है; मानव शरीर में रहकर रोज़ ढाई मन भोजन नहीं कर सकते जैसे हाथी करता है, न एक दाना चीनी खाकर रह सकते हो जैसे चींटी रहती है! ऐसे स्वातंत्र्य की कल्पना से परेशान होना मूर्खता है। जैसे दस गज की रस्सी से बँधी गाय दस गज के घेरे में घूमने में स्वतंत्र है, उससे अधिक दूर नहीं जा सकती, ऐसे जीव भी अपनी सीमा में स्वतंत्र है, उससे अधिक नहीं। जितनी स्वतंत्रता है उसी के प्रयोग के लिये शास्त्र आदि विधान करते हैं। उस स्वातंत्र्य के सही प्रयोग से अपना स्वातंत्र्य-क्षेत्र बढ़ा सकते हैं, दुरुपयोग से घटा सकते हैं। जो पशु स्वतः ही संयत रहे,

परमप्रकाशः

अनिर्देश्यं तमानन्दं प्रत्यक्षं मन्वते बुधाः।
स दृश्यो वा स्वप्रकाश इति चेद् न स दृश्यते।।६३।।

दूसरे के खेत आदि की तरफ जाये ही नहीं, उसे बाँधना भी नहीं पड़ता; इसी तरह हम निष्काम हो जायें तो हमारे बंधन भी खुल जायेंगे जैसा श्लोक १११ में कहेंगे। कर्म करने से इह-परलोकों में उपभोग्य फल मिल सकते हैं और ईश्वरार्पण-बुद्धि से करें तो चित्त विशुद्ध होकर ज्ञान के योग्य हो सकता है। योग्य मन वाला ही विवेकपूर्वक अपने चित्त में स्थित परमब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर पाता है। परमेश्वर ही साक्षी के रूप में हमारी बुद्धि के प्रकाशक बने मौजूद हैं, उन्हीं से बुद्धि में स्फूर्ति आती है जिससे वह सभी चेष्टाएँ कर पाती है। अहंकार वृत्ति में उसी साक्षी की परछाईं है, हम इस परछाई को ही देखते रह जाते हैं, जिसकी परछाई है उस साक्षी को, परमेश्वर को नहीं देख पाते। बुद्धि से, अहंकार से अपना पूर्ण विवेक कर लें तभी हमें साक्षी का साक्षात्कार हो सकता है। उसी के फलस्वरूप जो दुःखनिवृत्ति होती है वही नित्य है, हमेशा रहने वाली है, अनादि-अनन्त है। शरीर-मन में क्रिया-प्रतिक्रियायें रहने के बावजूद साक्षी में दुःख का नाम-ओ-निशां नहीं रहता। एक महात्मा को विषधर साँपने डस लिया, वे बेहोश हो गये, बहुत चिकित्सा के बाद उन्हें होश आया तो उन्हें दूध पिलाते हुए भक्त ने पूछा 'कैसे हैं? मुझे पहचाना?' उन्होंने जवाब दिया 'पहचान लिया, थोड़ी देर पहले जो डस गया था वही अब दूध पिला रहा है'! नित्य दुःखशान्ति की यह स्थिति है जिसमें किसी तरह का उद्वेग, अस्थिरता नहीं। यह अभावात्मक दशा नहीं है वरन् आनन्द की पूर्णता का इसमें समग्र विकास है। कामनाओं के रहने से ही हमें यह आनंद उपलब्ध नहीं होता, जब सारी कामनाएँ दूर हो जाती हैं तब यह सुस्पष्ट प्रकट हो जाता है। सांसारिक सुख कामना पर ही निर्भर करता है जबकि सनातन आनंद कामना-निवृत्ति पर ही निर्भर करता है। यह स्थिति तभी आती है जब स्वात्मा का सम्यग् दर्शन हो जाये।।६०-२।।

इस विशेष आत्मा की स्वप्रकाशता दो मंत्रो से बताते हुए वल्ली समाप्त होती है, उन मंत्रों का अर्थ कहते हैं **उस परमानन्द का विज्ञों को प्रत्यक्ष तो होता है पर वह निर्देश के, शब्दादि द्वारा विषयतया उल्लेख के अयोग्य है। यदि प्रश्न हो कि वह ज्ञान-विषय है या स्वप्रकाश है? तो उत्तर है कि वह ज्ञान-विषय नहीं है।।६३।। उस स्वप्रकाश आत्मानंद को न सूर्यादि और न बुद्ध्यादि ही**

न भासयन्ति सूर्याद्या बुद्ध्याद्याश्च स्वयम्प्रभम्।
किन्तु भान्तं तमन्वेते भान्ति भासा तदीयया।।६४।।

प्रकाशित करते हैं बल्कि स्वयं भासमान उसी आत्मा का प्रकाश पाकर सूर्य-बुद्धि आदि भासित होते हैं, उसी के स्वरूपभूत भान के पीछे इन सबकी चमक है, भासमानता है।।६४।। [श्लो. ६३ में निर्णयसागर का **सदृशो** ग़लत है, मुत्तुशास्त्री का **स दृश्यो** ही ठीक है।] जिसने कलकत्ता के बाग बाज़ार का रसगुल्ला नहीं खा रखा है उसे चाहे जितनी तरह से समझा लें, वह ठीक-ठीक समझ ही नहीं सकता कि उसका स्वाद कैसा होता है। न बता सकना बताने वाले का दोष नहीं वरन् समझने वाले का दोष है। गुलाब-जामुन जैसा गोल, लड्डू जैसा मीठा, कलाकंद जैसा सफेद इत्यादि बताने के कई ढंग होंगे पर इनसे उसका पूरा स्वरूप कभी समझ नहीं आयेगा! जिसने खाया हुआ है उसे जब कहते हैं तो वह तुरंत सही-सही समझ लेता है। इसी तरह ब्रह्मानंद का अनुभवी तो शब्दों से भी उसे समझ लेगा पर जिसे अनुभव नहीं है वह नहीं समझ पायेगा। अत एव कहा कि आत्मा के बारे में कहना और समझना दोनों ही आश्चर्य हैं (कठ.१.२.७; इस अध्याय में श्लो. ११)। वार्तिककार ने इसे शब्द-शक्ति की अचिन्त्य महिमा के रूप में व्यक्त किया है (बृ. वा. ४.४.६९८)। तीव्र विवेकी सुषुप्ति के अनुभव के विचार से एवं योगाभ्यासी समाधि के अनुभव के सहारे आत्मा का बोध पा लेता है तभी उसे शब्द आत्मा का सही ज्ञान करा पाता है। वह आत्मरूप आनंद क्योंकि ज्ञानरूप है इसलिये इस लायक ही नहीं कि उसे ज्ञान से विषय किया जा सके, ज्ञेय बनाया जा सके। दृश्य हो तो अनित्य मिथ्या आदि सभी दोषों वाला हो जायेगा। फिर भी स्वप्रकाशता को न समझकर अनेक दर्शन उस आनंद को दृश्य मानते हैं। प्रायः भक्तिवादी भी परमेश्वर से अलग रहकर उसे विषय बनाकर उसका सुख लेना चाहते हैं, उससे प्रेम करना चाहते हैं! विषय बनकर वह जड, अनित्य आदि कैसे नहीं हो जायेगा! यह समस्या उन्हें समझ नहीं आती। उपनिषत् तो स्पष्ट कहती है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ.२.२.१५)। मुण्डक में भी यह बताया था (अनु. प्र. अध्याय ६ श्लो. ७०), इस पर ब्रह्मसूत्र के अनुकृत्याधिकरण में (१.३.६.२२) काफी विचार है और प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका आदि प्रकरणों में ऊहापोह से इसे स्थापित किया है। आत्मा स्वप्रकाश है, ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है। हमारा सामान्य अनुभव है कि हर चीज़ किसी रोशनी से दीखती है लेकिन खुद रोशनी चाहे ढिबरी की हो या सूर्य की, वह बिना किसी रोशनी के दीख

जाती है। बाकी सब देखने के लिये रोशनी चाहिये पर रोशनी देखने के लिये रोशनी नहीं चाहिये। इसी तरह हमें सब कुछ ज्ञान से दीखता है, उस ज्ञान को किसी ज्ञान से नहीं देखा जाता। विषय बुद्धिवृत्ति से पता चलते हैं, बुद्धिवृत्ति साक्षी से प्रकाशित होती है किन्तु वह साक्षी किसी से ज्ञात नहीं है, वह स्वयं ज्ञान है, उसके बारे में ज्ञान नहीं होता, वह किसी ज्ञान का विषय नहीं बनता। सूर्य आदि बाह्य विषय हमें ज्ञात होते हैं, हमारे ज्ञान का विषय बनते हैं, हम उनके ज्ञान का विषय नहीं बनते। आत्मरूप ज्ञान के बिना सूर्यादि भी ज्ञात नहीं होते, ज्ञानरूप आत्मा से ही ज्ञात होते हैं। बुद्धि को भी आत्मा जानता है। 'कल भूल गया था, आज याद आया' यह उसे ही पता चलता है जो बुद्धि को विषय करता है, बुद्धि और उसके परिवर्तनों को जानता है।

वह आत्मा खुद ज्ञान है, उसे कोई ज्ञान विषय नहीं करता। बाकी सबका, अनात्ममात्र का भान निर्भर करता है आत्मा के भान पर, आत्मा का भान किसी पर निर्भर नहीं करता। आत्मभान पर निर्भर भान वाले को ही 'अनुभान' वाला कहते हैं। जैसे सूर्य के सामने दर्पण रखें तो वह भी सप्रकाश होकर अँधेरे कमरे को प्रकाशित करता है लेकिन दर्पण अनुभान ही करता है, सूर्य के भान को, प्रकाश को ग्रहण कर उसी से कमरा प्रकाशित करता है, ऐसा नहीं कि रात को भी दर्पण से रोशनी मिल सके! सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होकर अन्यों को प्रकाशित करना यह दर्पण का अनुभान है। इसी तरह बुद्धि आदि आत्मा का ज्ञान ग्रहणकर उससे विषयों को ज्ञात बनाते हैं, स्वयं अपने में ज्ञान रखते हों जिससे विषयों को ज्ञात बनाते हों ऐसा नहीं है। आनंद भी परमात्मा का स्वरूप है, संसार में कहीं भी आनंद है तो परमात्मा के आनंद का ही प्रतिबिम्ब है, औपाधिक रूप है। हम मानते हैं विषय से आनंद आता है पर यदि हम न हों, हम विषय को अपना गोचर न बनायें तो क्या वह आनंद देता है? स्वादिष्ट रसगुल्ला मुर्दे के मुँह में डालो तो क्या वह आनंद देता है? अतः वास्तविकता है कि मैं हूँ तब सुख है; स्वयं विषयों में कोई सुख नहीं, हम अपनी इच्छावृत्ति से जब विषय को लपेटते हैं तब वह इस लायक बनता है कि हमारे आनंदस्वरूप का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर ले, उस प्रतिबिम्ब को हम देखकर सोचते हैं कि विषय में सुख है, यह नहीं समझते कि हमारे ही सुख का वह प्रतिबिम्बमात्र है। 'मैं' से यहाँ साक्षी समझना चाहिये। अहंकार-रूप में तो उपाधि-परवश होने से दुःखी भी होता हूँ! पर साक्षिरूप मैं सदा आनंद हूँ। उसी के प्रतिबिंबों से, लवांशों से दुनिया के

वृक्षरूपकम्

सर्वोत्तमत्वाद् ऊर्ध्वं तद् मूलं संसारशाखिनः।
देवमानुषपश्वाद्याः शाखास्तस्याऽधमा मताः।।९५।।
यद् मूलं तत् स्वयंज्योतिस्तदेवाऽमृतम् उच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तच्च नात्येति कश्चन।।९६।।

सारे आनंद हैं। तैत्तिरीय को समझाते हुए दूसरे अध्याय के श्लोक १२२ आदि में इस बात को विस्तार से बता चुके हैं। हमेशा अकारण प्रिय रहना और इसके बिना कहीं कभी कोई आनंद न मिल सकना इन दो कारणों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि एकमात्र आत्मा ही आनंद है।।९३-४।।

द्वितीयाऽध्याय की तृतीय वल्ली प्रसिद्ध वृक्षरूपक से प्रारंभ होती है जिससे संसाररूप कार्य को समझने से इसके हेतुभूत परमात्मा का निश्चय कराया गया है। इस रूपक को भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में भी ग्रहण किया है। मंत्र है 'ऊर्ध्वमूलो-ऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।।'२.३.१।। चिरकाल से प्रवृत्त संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष ऊर्ध्व मूलवाला और नीचे की ओर शाखाओं वाला है। अविनाशी शुद्ध ब्रह्म इसका मूल है। सब लोक उसी पर आश्रित हैं, कोई उसे लाँघ नहीं सकता। पत्ते, शाखा, अंकुर आदि अन्य अवयवों के उल्लेख पूर्वक रूपक का विस्तार-गीता के पंद्रहवें अध्याय में मिलता है। भगवान् भाष्यकार ने कठ और गीता दोनों स्थलों पर इस विषय को मार्मिक ढंग से रुचिपूर्वक विस्तार से समझाया है। दो श्लोकों से इस मंत्र का अर्थ करते हैं **क्योंकि सबसे उत्तम है, इसलिये वह ब्रह्म ही संसार-वृक्ष का मूल है। देव, मनुष्य, पशु आदि इसकी शाखाएँ हैं और ये अधम हैं।।९५।। जो इसका मूल है वही स्वप्रकाश अमृत कहा जाता है। सब लोक उस पर आश्रित हैं। उस अधिष्ठान को कोई नहीं लाँघ सकता।।९६।।** ऊर्ध्व ऊँचे को कहते हैं, यह अभिप्राय उत्तम से है अतः 'अवाक्' (या गीता के 'अधः') का मतलब अधम है। संसार मानो एक वृक्ष है। भारतीय साहित्य में कहीं जंगल, कहीं समुद्र तो कहीं वृक्ष के रूप में संसार का वर्णन है। मूल या जड़ से वृक्ष बढ़ता है, जड़ सूख जाये तो वृक्ष नष्ट हो जाता है। लगता तो है कि डालियाँ पेड़ की महिमा हैं पर सच्ची महिमा उसका मूल है। संसारवृक्ष का मूल है परब्रह्म परमात्मा। सारे जीव शाखायें हैं। शाखाएँ मूल की अपेक्षा अधम हैं, निकृष्ट हैं। ऊर्ध्व, उत्कृष्ट सर्वोत्तम यही तत्त्व परब्रह्म है। वह

स्वप्रकाश है, उसका सनातन भान है जिसके प्रति कोई कारण नहीं है। पेड़ों की जड़ें बाहर से पानी तथा पोषक तत्त्व ग्रहण करके ही स्वयं पुष्ट होती हैं और सारे वृक्ष को पुष्ट करती हैं किंतु संसार के मूल इस ऊर्ध्व तत्त्व को किसी अन्य से कोई सहायता नहीं चाहिये, यह स्वयं ही परिपुष्ट है और संसार का पोषण करने में सक्षम है। इसकी अपनी माया शक्ति है जिससे यह सब संपन्न कर लेता है। जैसे सारे वृक्ष में रस पहुँचाना जड़ का कार्य है वैसे संसार में आनंदरूप रस पहुँचाना इस ऊर्ध्व मूल का कार्य है। संसार का आनंद और कहीं से नहीं आया, इसी परब्रह्म से आया है। वेद स्पष्ट कहता है कि आनंद ही सृष्टि का मूल है। परमात्मा ने ही कामना-पूर्वक सृष्टि रची है; परमात्मा खुद आनंदघन है, उसने जब चाहकर संसार बनाया तब इसमें आनंदरस भी डाला है। अतः संसार में आनंद स्वाभाविक है, दुःख के प्रति आगंतुक कारण होता है, प्रधानतः पाप दुःख का हेतु बनता है और दुःख देने के लिये वह कामना को माध्यम बनाता है अर्थात् पाप को जब फल देना होता है तब वह हमारे मन में ऐसी कामना उद्बुद्ध कराता है कि जो है उसे हम न चाहें व जो नहीं है उसके लिये तड़पें! अतः दुःख औपाधिक है, आनंद स्वाभाविक है। हर जीव जाग्रत्-स्वप्न में अपनी सामर्थ्य व्यय कर जब सोता है तब गहरी नींद में परमात्मा ही उसे आनंद रस से भरकर पुनः समर्थ बनाते हैं यह प्रतिदिन का अनुभव है। यदि लगातार दस दिन तक कोई गहरी नींद से वंचित रहे तो सर्वथा निर्वीर्य, मरणासन्न हो जायेगा। जाग्रत्-स्वप्न में कर्मानुसार सुख-दुःख मिलता है, सुषुप्ति में कर्म का प्रतिबंध नहीं रहता, असीम आनन्द प्राप्त होता जाता है। इसी से घोर दुःखों से भरपूर जीवन भी व्यतीत हो जाता है, सुषुप्ति में जाते ही दुःखादि सारी परेशानी दूर होकर परमानंद-रस पाकर पुष्टि मिलती रहती है अतः जीवन के कष्ट सहने की सामर्थ्य बनी रहती है। उस आत्मरूप आनंद के लिये कोई हेतु, सहायक नहीं चाहिये, वह स्वयम्प्रकाश है। जैसे एक ही खाद-पानी फूलों में सुगन्ध, फलों में मिठास और काँटों में चुभने की सामर्थ्य देता है वैसे एक ही परमात्मा सब जीवों को सर्वसमर्थ बनाता है। हमारी दृष्टि में फल-फूल अच्छे और काँटे खराब हैं पर वृक्ष के तो वे सभी अंग हैं और जड़ उन सभी को रस पहुँचायेगी ही, जो हिस्सा जिस प्रयोजन का है उसी के अनुरूप वह कार्य करेगा। इसी प्रकार शुभकर्मी और दुष्कर्मी में अंतर दीखता है लेकिन सामर्थ्य दोनों उस एक ही आनंदरूप चेतन से पा रहे हैं। परमेश्वर कोई भेदभाव नहीं करता, अपने-अपने संस्कारों, कर्मों व प्रकृतियों के अनुरूप सब जीव विभिन्न तरह से विकसित होते हैं पर रस, सामर्थ्य उसी अखण्ड

नियन्ता

मायाशक्तियुजा तेन जगत् सर्वं नियम्यते।
अग्निसूर्यादयस्तस्माद् भीताः सन्तश्चरन्ति हि।।९७।।

अद्वितीय आत्मा से लेते हैं। संसार-वृक्ष को यों हमेशा ज़िंदा रखने वाला होने से उसे अमृत कहते हैं। सभी कुछ उस पर आश्रित है, उससे हटकर कुछ नहीं रह सकता। सद्रूप वह परमात्मा ही है, उससे असम्बद्ध तो असत् ही रह जायेगा। उसके शासन से बाहर कोई नहीं जा सकता। चिड़िया पालने वाले उसे लम्बी डोरी से बाँध देते हैं अतः वह काफी स्वतंत्रता से उड़ती रहती है लेकिन उसे लौटकर अपने घर ही आना पड़ता है। ऐसे ही जीव ईश्वर से बँधा है, जाग्रत्-स्वप्न में इधर-उधर भटकता है, लगता है मानो ईश्वर से असंबद्ध हो, पर रहता तब भी उसी पर आश्रित है; जाग्रत्-स्वप्न का प्रारब्ध समाप्त होते ही थककर वह सुषुप्ति में पुनः ईश्वर में, आश्रय में पहुँच ही जाता है। अतः उस परमात्मा का अतिलंघन संभव नहीं, उससे हटकर कोई रह नहीं सकता।।९५-६।।

द्वितीय मंत्र में कहा है कि सारा जगत् परमात्मा से उत्पन्न होकर उसी के नियंत्रणवश नियमतः चल रहा है मानो वह परमेश्वर वज्र की तरह भयंकर हो! उसके तत्त्व के जानकार तो अमृत हो जाते हैं (पर जो नहीं जानते वे भयभीत बने रहते हैं)। तीसरे मंत्र में अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु और मृत्यु उस परमात्मा के डर से ही अपने कार्यों में रत हैं, यह बताया। इन दोनों मंत्रों का एक श्लोक से संग्रह करते हैं **माया नामक शक्ति से सम्पन्न उस परमेश्वर द्वारा सारा जगत् नियमित (प्रशासित) रखा जाता है। उससे ही डरे रहकर अग्नि, सूर्य आदि अपने कर्तव्य निभाते रहते हैं।।९७।।** जगत् की नियमित प्रवृत्ति कराने वाला परमेश्वर ही है। प्रकृति के नियम परमेश्वर ने ही बनाये हैं और उसी के अलंघ्य शासन के कारण उन नियमों का पूरी बारीकी से पालन होता है। मूर्ख लोग छोटे-मोटे कारखाने को व्यवस्थित चलता देखकर तो तुरंत उसके मालिक और व्यवस्थापक की प्रशंसा करते हैं पर अखिल ब्रह्माण्ड की अत्यंत सूक्ष्म व्यवस्था देखकर भी इसके प्रशासक, संचालक को नकारते हुए जड प्रकृति के जड नियमों से इसे नियंत्रित हुआ मानते हैं! यह अत्यंत आश्चर्य है, उनका अंधविश्वास है। संसार के हर कण पर परमेश्वर का नियंत्रण है, प्रत्येक जीव उसके शासन में है। कब किस कर्म का फल देना, कब कौन-सा संस्कार उद्बुद्ध करना यह ईश्वर के नियंत्रण में है अतः हमारे सब भोग व प्रवृत्तियाँ उसके शासन में रहते

मानवेन ज्ञेयमेव

नरदेहस्य पातात् प्राक् तद् बोद्धुं शक्नुयाद् न चेत्।
जन्मान्तरेषु तद्बोधः प्रायेणात्यन्तदुर्लभः।।६८।।
पितृलोके यथा स्वप्ने स्वातन्त्र्यं नास्ति किञ्चन।
गन्धर्वलोके भोगेच्छावशाद् धीरतिचञ्चला।।६९।।

हुए ही संपन्न होते हैं। उसके द्वारा स्थापित सीमाओं में तो हमारी स्वतंत्रता है लेकिन सीमाओं द्वारा शासित वही रखता है। इस कार्य के लिये उसकी अचिन्त्य सामर्थ्य है माया। उसका शासन इतना दृढ है कि बड़े-बड़े देवता भी सर्वथा नियमित प्रवृत्ति करते रहते हैं। सूर्य कभी अवकाश पर नहीं जाता! हमेशा चमकता रहकर यथासमय उगता-डूबता है; आग जलती ही है, ऐसा नहीं कि कुछ दिनों के लिये दुनिया में आग जलना ही बंद कर दे! सामान्य बालक से भी यावज्जीवन नियत कार्य कराना कितना मुश्किल है, परमात्मा अत्यंत शक्तिशाली देवादि से इतना व्यवस्थित कार्य करा रहा है तो कल्पना कर सकते हैं कि उसकी सामर्थ्य, उसका भय कितना अधिक है। जड-चेतन सारा जगत् परमात्मा के नियंत्रण में ही प्रवृत्त हो रहा है।।६७।।

चौथे - पाँचवें मंत्रों में आत्मज्ञान अवश्य प्राप्तव्य है यह बताया 'इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।।४।। यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके।।५।।' मरने से पूर्व ही यदि परमात्मज्ञान नहीं हुआ तो जीव जहाँ प्राणी जन्म लेते हैं उन लोकों में शरीर पाने लायक ही बना रहेगा। दर्पण में जैसा मुख का स्पष्ट ज्ञान होता है वैसा मानव को अपनी बुद्धि में परमात्मा का बोध होता है। पितृलोक में होने वाला ज्ञान सपने के ज्ञान की तरह है। जल में देखी परछाई जैसा ज्ञान गंधर्वलोक में होता है। ब्रह्मलोक में तो धूप-छाया की तरह बिलकुल सुस्पष्ट आत्मदर्शन होता है। यह भाव तीन श्लोकों में व्यक्त करते हैं **नर-शरीर नष्ट होने से पूर्व साधक यदि उस आत्मतत्त्व को समझ नहीं सकता तो अन्य योनियों में उसे जान पाना प्रायः अत्यंत मुश्किल है।।६८।। जैसे सपने में वैसे पितृलोक में कोई स्वतंत्रता नहीं रहती। गंधर्वलोक में भोगों की इच्छा के वशीभूत होकर बुद्धि अत्यन्त चंचल रहती है।।६९।। ब्रह्मलोक में यह परमात्मबोध होता है पर वह लोक पाना सरल नहीं है। शुद्ध चित्त में नर द्वारा यह आत्मा वैसा ही स्पष्ट देख लिया जाता है जैसा अपना मुख साफ दर्पण में**

ब्रह्मलोकेऽस्त्येष बोधः स लोकः सुलभो न हि।
आदर्शवच्छुद्धचित्ते नरेणात्मेक्ष्यते स्फुटम्।।१००।।

देखा जाता है।।१००।। [निर्णयसागर में श्लो ९९ का प्रारंभ है **स्वप्नवत् पितृलोकस्य**, इसकी अपेक्षा मुत्तुशास्त्री का पाठ ही अधिक स्पष्ट है।] क्योंकि सारे दुःख, भय आदि से बचकर परमानंद में मग्न रहने का एक ही उपाय है परमात्म-ज्ञान अतः जीव के लिये ज़रूरी है कि वह इसे पाने में विलंब न करे। राजा से सब डरते हैं पर जो स्वयं राजा बन जाये वह किससे डरे! इसी प्रकार सब डरते हैं परमात्मा से, तत्त्वबोध से हम परमात्मा ही हो जायेंगे तो डरने का कोई हेतु ही नहीं रहेगा। आत्मदर्शन नरदेह में ही कर लेना चाहिये, जन्मांतर में करेंगेइस भरोसे नहीं रहना चाहिये। नरदेह की विशेषता है बुद्धि से सोचना, अनुचित व उचित को पहचानना! औचित्य, धर्म का विचार पशुओं में नहीं मनुष्यों में ही है। मनुष्य आदि के बजाय 'नर'-शब्द का प्रयोग यह सूचित करने के लिये है कि आत्मबोध वही पा सकता है जो विषयों में रमण न करे। 'नर'-शब्द के 'न' का मतलब है नहीं और 'र' का मतलब है रमण। विषय-सुखों में रमण तो पशु भी कर सकता है, उनसे मुँह फेरकर परब्रह्म परमात्मा में रमण करे यही मनुष्य की विशेषता है। इस दिशा में पहला क़दम यह समझना है कि हमें विषय मिल क्यों रहे हैं? रसगुल्ला मिल गया, खाकर मज़ा आया। यहाँ तक तो पशु-मनुष्य की स्थिति समान है। किंतु मनुष्य सोचे कि उसे रसगुल्ला मिला क्यों? इससे कर्मफलव्यवस्था समझ आयेगी फिर फलदाता ईश्वर भी समझ आ जायेगा तब उसमें रमण करने का मौका मिल सकेगा। यह विचार पशु नहीं कर सकता, यदि मनुष्य भी यह विचार न करे तो पशुतुल्य ही रह जायेगा। प्राप्त वस्तु का प्रयोगमात्र महत्त्व का नहीं, उसका योग्य उपयोग करना महत्त्वपूर्ण है। रेफ्रिजरेटर का एक सामान्य अलमारी के रूप में भी प्रयोग किया ही जा सकता है किन्तु वह उसका सही उपयोग नहीं माना जाता, ऐसे ही मानव देह में विषय-भोगादि पशुतुल्य व्यवहार किया तो जा ही सकता है पर यह उसका योग्य उपयोग नहीं है। परमात्मविचार करने के लिये मनुष्य शरीर मिला है, उसका प्रयत्न करें तभी इसका सही उपयोग माना जा सकता है। यह शरीर हाथ से निकल जाये इससे पहले ही परमात्मदर्शन पा लेना चाहिये। इसे टालना बहुत नुकसान का हेतु होगा। कई लोग सोचते हैं कि मरणकाल से पूर्व ही परमात्म-संबंधी विचार करना चाहिये किन्तु प्रायः तब शरीर-मन इस लायक नहीं रह जाते कि स्थिरता से चिंतन हो सके। अतः जैसे ही चेतना आये कि परमेश्वर दर्शनीय है वैसे ही उसके

दर्शन के लिये प्रयास प्रारंभ कर देना चाहिये। यद्यपि यहाँ 'शरीरपात से पूर्व' कहा तथापि मतलब यही है कि शरीर न जाने कब छूट जायेगा अतः तत्काल प्रयास शुरू किया जाये। अथवा जब शरीर में जीर्णता का प्रारंभ हो तभी से मरने की प्रक्रिया प्रारंभ मानी जा सकती है। जैसे कपड़ा फटता बहुत बाद में है पर जीर्ण होना बहुत पहले शुरू हो जाता है वैसे शरीर जब जीर्ण होना शुरू हो गया तब उसके मरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी। अतः सामर्थ्य रहते ही आत्मज्ञान का प्रयास करना चाहिये।

मानव योनि के बजाये अन्य योनियों में तत्त्वबोध बहुत ज़्यादा मुश्किल है। होता तो है जैसा ब्रह्मसूत्र १.३.२६ में कहा लेकिन कठिनता से ही सफल होता है। शुभकर्मों के फलस्वरूप पितृलोक मिलता है, वहाँ सुख तो खूब है पर कर कुछ नहीं सकते क्योंकि है ही वह भोग-भूमि, कर्मभूमि तो है नहीं। वे विचार कर तो सकते हैं, अधिकार है, किंतु वहाँ गये इसीलिये कि यहाँ उन्होंने सुखफलक अनेक सत्कर्म किये हैं, उनका फल भोगना है, उसी में इतने मशगूल रहेंगे कि विचार का मौका नहीं रहेगा। यदि यहाँ कर्म के साथ तप, श्रवणादि अभ्यास भी कर रखा है तब तो वहाँ जाकर भी विचार संभव है लेकिन यदि केवल पुण्य करके गये हैं तब विचार में प्रवृत्त हों यह बहुत मुश्किल है। किंच क्योंकि बहुत अधिक पुण्य से पितृलोक मिलता है इसलिये वहाँ बहुत ज़्यादा सुखभोग भी रहता है जिसके फलस्वरूप आत्मज्ञान में उतनी ही स्पष्टता हो पाती है जितनी हमें स्वाप्न ज्ञान में होती है। मानव को भी भोगप्राप्ति होती है लेकिन उतनी लगातार नहीं होती अतः मौका आसानी से मिलता है। अतः थोड़े से प्रयत्न से यहाँ योगादि-अभ्यास संभव हो जाता है। फुर्सत की स्वतंत्रता का बहुत महत्त्व है। उच्च पदों पर आसीन लोगों के सामने इतने ज़्यादा दायित्व रहते हैं और पद की गरिमानुसार इतना भोगों का भी फटाटोप (आडंबर) रहता है कि चाहकर भी वे उतना अवकाश नहीं निकाल पाते विचारादि का जितना सामान्य व्यक्ति आराम से निकाल लेता है। ऐसे ही पितृलोक वालों को स्वतंत्र समय उपलब्ध होना कठिन हो जाता है। भाष्यकार ने कर्मफल-भोग में आसक्ति को पितृलोक वालों की कमी बताया है जिससे वे स्पष्टतर ज्ञान नहीं प्राप्त करते। स्वप्न-उदाहरण से यह भी सूचित है कि जैसे जो विशेष आसक्ति होती है तदनुसार ही स्वप्न दीखता है, वैसे ही फलासक्ति वश ही पितृलोक गये हैं तो वहाँ भी आसक्ति ही रहती है अतः उस लोक वालों का प्रधान दोष आसक्ति ही है। भोग तो गंधर्वादि लोकों में भी अत्यधिक है अतः भोगाधिक्य उन लोकों का दोष है। इससे यह भी संकेत है कि मानव भी यदि आसक्ति-प्रधान या

भोगप्रधान हो जायेगा तो उसे आत्मानुभव पाना संभव नहीं रहेगा।

गंधर्वलोक में भोगों को पाने की इच्छा की तेज़ी के रहते चित्तचांचल्य होने से तत्त्वावगति मुश्किल है। पितृलोक की अपेक्षा गंधर्व लोक के भोग ज़्यादा सूक्ष्म होते हैं अतः उन्हें भोगने में मन भी ज़्यादा लगाना पड़ता है। रसगुल्ले का सुख भोगने से भूपाली राग सुनने का सुख भोगने में मन को ज़्यादा एकाग्र करना ही पड़ता है या साहित्यरस के आस्वादन में ज़्यादा एकाग्र होना ही पड़ता है। जिसका आनंद लेना शिक्षा, एकाग्रता, मनःशांति आदि की ज़रूरत नहीं रखता वह स्थूल भोग और जो ज़रूरत रखता है वह सूक्ष्म भोग होता है। यहाँ जो चित्तचांचल्य कहा है उसका अभिप्राय है कि विषयभोग का सुख लेने के अत्यधिक संस्कारों वाला होने से वहाँ चित्त आत्मवस्तु पर नहीं टिकता, झट से विषयों में जाता है। विषय पर तो स्थिर होता है पर आत्मा पर नहीं। यह चांचल्य है। मनुष्यों में भी ऐसा देखने में आता ही है कि अपने-अपने कार्यक्षेत्र या शौक के क्षेत्र की चर्चा में चित्त एकाग्र हो जाता है, लगातार देर तक उस पर चिंतन, ऊहापोह कर लेता है, सटीक विचार-पूर्वक निर्णय पर भी पहुँचता है लेकिन आत्मा का प्रसंग आने पर चित्त उस पर स्थिर नहीं रहता, यत्नतः कुछ प्रयास करें तो भी चंचल होकर विषयांतर उपस्थित कर देता है। अतः चांचल्य का यह भाव नहीं कि किसी पर न टिके वरन् यह कि आत्मा पर नहीं टिकता। अनेक उपासक भी नाम-रूप की उपासना तो आराम से करते रह सकते हैं पर नाम-रूप हटाने का प्रयास करते ही चित्त आत्मा पर न स्थिर होकर शून्य में अथवा लय में जाने लगता है। ऐसी चंचलता गंधर्वलोक में भी है अतः वहाँ जो आत्म-बोध होता है वह मानो पानी में दीखी परछाई-सा होता है; पानी में लहरें हिलती रहती हैं अतः परछाई दीखने पर भी हिलती हुई दीखती है। वहाँ आत्मज्ञान, धुँधला, किंचित् अस्पष्ट रहता है। जैसे पानी में परछाई देखकर मुखाकृति को सर्वथा सही समझना अतिकठिन है वैसे गंधर्वलोक में आत्मज्ञान अतिकठिन है यह अर्थ है; कठिनाई के बावजूद यदि किसी को हो जाये तब तो अज्ञान मिट ही जायेगा लेकिन होना है मुश्किल।

इन सब लोकों की अपेक्षा ब्रह्मलोक में ज्ञान होना सरल भी है और बहुत ज़्यादा स्पष्ट, मनुष्य लोक की अपेक्षा भी अधिक स्पष्ट होता है किन्तु समस्या है कि ब्रह्मलोक पहुँच पाना इतने अधिक पुण्य कर्म तथा उपासना-दृढता से संभव होता है कि सामान्य साधक के लिये वह लोक अतिदुर्लभ ही है। सूर्य का प्रकाश और छाया या अँधेरा जैसे सर्वथा पृथक् देखने में आ जाते हैं, कोई शंका नहीं रह जाती, ऐसा

साफ ज्ञान ब्रह्मलोक में होता है। चित्तशुद्धि ही ज्ञान-स्पष्टता का हेतु है, ब्रह्मलोक पहुँचे साधक का चित्त इतना ज़्यादा शुद्ध हो चुकता है कि वहाँ ज्ञान में पूर्ण स्पष्टता, निःशंकता और दृढता प्राप्त होती है। अन्यत्र कहीं इतनी स्पष्टता संभव नहीं। यद्यपि ज्ञाननिष्ठा जहाँ भी होगी वहीं मोक्ष का हेतु बनेगी और मोक्ष एकरूप ही होगा तथापि ज्ञान की स्पष्टता का फ़र्क़ जीवन-काल में रहेगा ही, जिसका ज्ञान जितना ज़्यादा सुस्पष्ट होगा उसे जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द उतना ही अधिक मिलता रहेगा। विदेह कैवल्य तो एकरूप ही है। इह लोक में भी जिस साधक का मानस परिपक्व है वह ज्ञान-प्राप्ति के बाद भूमिकाएँ चढ़ता जाता है जिससे प्रारब्ध भी उसे विक्षेप, दुःख दे पाने में असमर्थ होता जाता है। किन्तु इस स्थिति की प्राप्ति के लिये चित्त अत्यंत शुद्ध होना चाहिये जो सबके लिये संभव नहीं। इससे कम योग्यता रहते भी ज्ञान तो हो ही सकता है अतः मुमुक्षु का कर्तव्य है कि अनिवार्य साधन-सम्पत्ति जुटाकर सारा प्रयत्न ज्ञानप्राप्ति के लिये करे ताकि मोक्ष निश्चित हो जाये। नर-लोक में भी साफ ज्ञान होता ही है। जैसे दर्पण में अपने चेहरे का स्पष्ट ज्ञान होता है वैसा ज्ञान आत्मा का मनुष्य को हो सकता है यदि वह अपना चित्त शुद्ध कर ले, ज्ञान के लायक बना ले। आसक्ति न रहे, भोगेच्छा अर्थात् लोलुपता न रहे, कर्म आदि के कर्तव्यों में व्यस्तता न रहे, विषयों संबंधियों आदि के प्रति आकर्षण न रहे, विचार से नित्य-अनित्य का अंतर समझ आने लगे, इंद्रियाँ व मन नियंत्रित हों, सहजरूप से आने वाली परेशानियों को सहना सरल हो, शास्त्र व गुरु की बात में अत्यंत विश्वास हो, मुक्त होने की तीव्र इच्छा हो तो मनुष्य के लिये उपनिषदों का श्रवण उनके प्रतिपाद्य पर मनन और निश्चित किये अर्थ पर निदिध्यासन करने से आत्मज्ञान पाना ज़्यादा कठिन नहीं होता। साधक यह आशा न करे कि जब मन से इच्छा सर्वथा हट जायेगी तब श्रवणादि करेगा; भूख लगने पर दो रोटी की इच्छा, ठंड लगने पर ओढने की इच्छा इत्यादि अनिवार्य आवश्यकताओं की इच्छा तो साधकावस्था में रहेगी ही, इनकी निवृत्ति ज्ञाननिष्ठा के बाद ही होगी। अतः जब अपनी इच्छाएँ न्यूनतम हो जायें, इच्छाओं की पूर्ति के लिये मन में तड़पन न हो, प्रारब्धवश प्राप्त होने वाली वस्तुओं से संतोष बना रहे तब श्रवणादि प्रारंभ करने के लिये ज़रूरी वैराग्य प्राप्त हो गया यह समझकर श्रवणादि में लगना चाहिये। तीव्र प्रारब्ध के वेग में किंचित् काल के लिये विक्षेप भी होते रहेंगे पर इसका मतलब यह नहीं कि साधना छोड़ दे, वेग निकल जाने पर पुनः शांति से श्रवणादि में तत्पर हो जाना चाहिये। प्रतिबंधक दोष न रहे इतनी

इन्द्रियाणामनात्मत्वम् आगमापायदर्शनात्।
बुद्ध्वा तत्साक्षिणि स्वस्मिन् ब्रह्मत्वं बुद्ध्यते सुखात्।।१०१।।

चित्त-शुद्धि ही प्रारंभ में साधक के लिये पर्याप्त है। ब्रह्मलोक जितना स्पष्ट ज्ञान मनुष्य को नहीं होगा लेकिन साफ काँच में मुँह के ज्ञान जितनी स्पष्टता अवश्य होगी। जैसे प्रतिबिंब में दर्पण का संबंध रहता ही है ऐसे यहाँ भी बुद्धिवृत्ति का संबंध रहेगा ही। प्रकाश-अँधेरा तो सर्वथा अलग होते हैं, अँधेरे से असंबद्ध प्रकाश दीखता है, ऐसा आत्मज्ञान ब्रह्मलोक में होता है। मानव को अखण्डाकारवृत्ति के सहारे से ही आत्मज्ञान होता है। तात्पर्य यही है कि मोक्ष की इच्छा होते ही उसे पाने के उपायों में संलग्न होना चाहिये, किसी और योनि में पहुँचकर कोशिश करेंगे ऐसा सोचकर टालना नहीं चाहिये।।९८-१००।।

छठे मंत्र में बताया है कि इंद्रियाँ अनात्मा हैं, उत्पत्ति-नाश वाली हैं, उन्हें विवेक से जब सर्वथा अलग कर अकेले आत्मा का ज्ञान होता है तब शोक मिट जाता है। यही कहते हैं **इन्द्रियों का आना-जाना अनुभव में आने से निश्चय है कि वे आत्मा नहीं हैं। यह तथ्य समझकर आराम से यह साक्षात्कार हो सकता है कि इंद्रियों का साक्षी जो मैं, वह ब्रह्म हूँ।।१०१।।** इंद्रियों वाला जो मैं उसे ब्रह्म समझने में ही सारी कठिनाई है, इंद्रियाँ हटा देने पर साक्षिरूप मैं को ब्रह्म समझने में किसी युक्ति या प्रमाण का कोई विरोध नहीं है। हमें अपना भान द्रष्टा श्रोता मन्ता आदि रूप से होता है अर्थात् इंद्रियाँ हमारे व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग के रूप में प्रतीत होती हैं। स्वयं को आँख से एक करके ही हमें 'मैं द्रष्टा' यह अनुभव होता है। विचार करें तो समझ आयेगा कि आँख मेरी है, मैं नहीं। आँख आती-जाती है; कोई बालक अंधा पैदा होता है और शल्यादि चिकित्सा से उसे आँख प्राप्त हो जाती है, ऐसे ही चेचक, चोट आदि से आँख चली भी जाती है; आँख आती-जाती है पर मैं तो बना ही रहता हूँ, आँख फूटने से मैं तो समाप्त नहीं हो जाता! अतः आँख मेरा अविभाज्य अंग नहीं हो सकता। ऐसे ही सभी इंद्रियाँ, स्थूल-सूक्ष्म सारे शरीर मैं नहीं हैं। ये सब ग़ैर-मैं अर्थात् अनात्मा हैं। मैं इन सबका साक्षी हूँ। साक्षी की ब्रह्मरूपता स्वीकारने में कोई मुश्किल नहीं। मैं परिच्छिन्न हूँ क्योंकि शरीरों को स्वयं का रूप मान रहा हूँ, परिच्छेद शरीरों में है उसे अपने पर ओढ रहा हूँ। जब शरीर मैं नहीं रहा तब मेरा परिच्छेद भी कुछ नहीं अतः व्यापक ब्रह्म मैं हूँ इसमें कोई विरोध नहीं। उपाधियों से ही आत्मा में सीमा, भेद है; उपाधि छोड़ देने पर साक्षी में, आत्मा में कोई सीमा नहीं, कोई भेद नहीं। जिस

क्रमशश्चिन्तनम्

मन्दश्चेद् अक्ष-धी-कर्तृ-समष्ट्यव्यक्तरूपतः।
क्रमाद् विविच्य गूढं स्वं वीक्षते सूक्ष्मया धिया।।१०२।।

अधिष्ठान के होने पर देखना-सुनना आदि सब व्यवहार हो रहा है वह अभिन्न चित्तत्त्व है। इस निश्चय के लिये बुद्धि की दृढता चाहिये। अदृढमति व्यक्ति को समझा भी दें कि पृथ्वी गोल है पर उसे वह निश्चय नहीं होता; उस बात की काट न भी कर सके, पर 'ऐसा ही है' यह वृत्ति नहीं बनती। अथवा पृथ्वी चल रही है, सूर्य स्थिर हैयह निश्चय नहीं होता। इसी प्रकार अपनी साक्षिरूपता का, व्यापकरूपता का निश्चय दृढमति की अपेक्षा रखता है, अन्यथा तर्क-प्रमाण दोनों स्तरों पर स्वीकारने पर भी निश्चय नहीं हो पाता, अनुभव नहीं होता। यहीं योग का उपयोग है, समाधि में शुद्ध आत्मा का प्रकाश हो जाने पर वह अनुभव प्राप्त होता है, फिर व्युत्थान दशा में भी वह बना रहे यह संभव हो जाता है। जिस साधक की बुद्धि दृढ होती है उसे योग का सहारा नहीं चाहिये, वह प्रमाण से ही निश्चय पर पहुँच जाता है और विपरीत प्रतीति को बाधित करने से सत्य का अनुभव पा लेता है।।१०१।।

आत्मा को प्रत्यग्रूप से ही समझना है, इसके लिये इंद्रिय-मन-बुद्धि-महत्-अव्यक्त के क्रम से परम पुरुष के दर्शन का विधान किया है जिसे १.३.१०-११ में (पूर्व में श्लो. ४६-५२) बता चुके हैं। यह उपाय उसके लिये उपयोगी है जो केवल श्रवण अर्थात् प्रमाण से आत्मा का स्वरूप नहीं समझ पाता यह सूचित करते हैं **साधक यदि मन्दमति हो तो क्रमशः इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, हिरण्यगर्भ और अव्यक्तइन उपाधियों से आत्मा को पृथक् समझ कर सूक्ष्म बुद्धि से अपना वह (व्यापक) स्वरूप देखे जो अभी छिपा हुआ है।।१०२।।** [निर्णयसागर में **मूढः स्वं वीक्ष्यते** छपा है पर मुत्तुशास्त्री का पाठ ही ठीक है।] भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ गिना न होने पर भी पूर्व प्रसंग से एकवाक्यता स्थापित करते हुए अर्थों को भी समझ लेना चाहिये क्योंकि अर्थ भी वैसे ही भौतिक हैं जैसे इंद्रियाँ'अर्थानाम् इह इन्द्रिय-समानजातीयत्वाद् इन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम्'। श्लोक में 'धी' शब्द से मन और 'कर्तृ' शब्द से बुद्धि कही है एवं समष्टि का अर्थ महत्, हिरण्यगर्भ है। जिस से निरूपण किया जाये वह रूप है इस तात्पर्य से उपाधि के लिये रूप-शब्द रखा है। धीरे-धीरे इंद्रियादि उपाधियों से अपने को अलग कर समझने का प्रयास करना चाहिये। इन उपाधियों को क्रमशः एक-दूसरे से परे बताने में यहाँ तात्पर्य ही नहीं है, इन सब से परे आत्मा है यही बताने में तात्पर्य है,

बाह्याक्षविषयेष्वात्मस्वरूपं न हि तिष्ठति।
निवृत्ताक्षो निरुद्धेन सूक्ष्मेण मनसेक्षते।।१०३।।

यह 'आध्यानाय प्रयोजनाभावात्' (ब्र.सू.३.३.७.१४) में निर्णीत है। आत्मा स्वरूप से स्वतंत्र है किन्तु उपाधियों में अध्यास से यह परतंत्र बन जाता है। हमें रोज़ दोनों अनुभव होते रहते हैं क्योंकि स्वाभाविक स्वातंत्र्य भी है और आध्यासिक परतन्त्रता भी है। ज्ञान में हम स्वतंत्र हैं, ज्ञान के विषयों के बारे में परतंत्र हैं क्योंकि विषय-सम्पर्क औपाधिक है जबकि ज्ञान स्वरूप है। उपाधियों पर नियंत्रण करने वाला हिरण्यगर्भ है; समष्टि का वह अधिष्ठाता है अतः प्रत्येक व्यष्टि उसी के नियन्त्रण में है। वह भी प्रलय में अव्यक्त में लीन होता है, उस अव्यक्त का साक्षी आत्मा है। श्रुति में कहा क्रम अनुभवानुसारी है, इन्हीं कदमों से प्रत्यक् की ओर दृष्टि एकाग्र होती जाती है तथा आत्मा का उपाधि से विवेक होता जाता है। एक-साथ सारी उपाधियों से स्वयं को अलग समझना संभव नहीं होता, एक-एक कर संभव हो जाता है। अक्ष-धी-कर्तृ यहाँ तक त्वमर्थ का और समष्टि-अव्यक्त में तत्पदार्थ का शोधन हो जाता है तो अखण्ड वस्तु का स्फुरण स्वतः होता है। इस क्रमशः विवेक से बुद्धि में वह सूक्ष्मता आती है जिससे वह आत्मा स्पष्ट हो पाता है जो अभी पाँचों कोशों से, तीनों शरीरों से छिपा हुआ है। ज्ञान के लिये ज्ञान-साधन सही होना चाहिये। पीलियाग्रस्त आँख से शंख पीला दीखता है, पिता आदि के वचन से हम मान तो सकते हैं कि वह सफेद है किन्तु जब तक पीलिया है तब तक उसे सफेद देख नहीं पाते। सफेद देखने के लिये पीलिया दूर करना ही पड़ेगा। अर्थात् ज्ञान-साधन में दोष दूर किये बिना सही ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। आत्मज्ञान में साधन बनेगा मन क्योंकि इसी में वृत्ति बनेगी, अतः मन का दोष दूर करना पड़ेगा जिसका उपाय यहाँ बताया अभ्यास है। विवेक का बार-बार अभ्यास करते रहने से मन सूक्ष्मतम आत्मा के दर्शन में समर्थ हो जायेगा।।१०२।।

नौवें मंत्र में बताया है कि इस आत्मा का रूप दर्शन के क्षेत्र में नहीं रहता, चक्षुरादि इंद्रियों से यह विषय नहीं किया जाता। मन पर नियन्त्रण रखने वाली हृदयस्थ बुद्धि से मनन द्वारा यह स्पष्ट प्रकाशित होता है। इसे जानने से ही मर्त्यभाव निवृत्त होता है। इसका संग्रह करते हैं **आत्मा का स्वरूप ऐसा नहीं कि बाह्य इंद्रियों के विषयों में से एक हो। जो इंद्रियाँ बाहर जाने से रोक ले वह निरोध से सूक्ष्म बनाये मन के द्वारा आत्मदर्शन पा सकता है।।१०३।।** इन्द्रियों से आत्मा ग्रहण

हो सके यह संभव नहीं, वह ऐसी वस्तु ही नहीं कि विषयतया ग्रहण हो, बल्कि विषय हो जाये तो वह आत्मा ही नहीं रहेगा! जो जाना जाता है वह कभी जानने वाला नहीं होता, द्रष्टा-दृश्य का सांकर्य संभव नहीं, भ्रम से भले ही मान लिया जाये। जब इंद्रियाँ ही इंद्रियों से विषय नहीं होतीं तब उन्हें भी विषय करने वाला आत्मा उनसे कैसे विषय किया जा सकता है! जैसे गाय-भैंस दीखती है ऐसे परमात्मा दीख जाये यह कभी संभव नहीं। इसे अनुभव करने के लिये तो बाहर देखना छोड़ना ही पड़ेगा, अनात्मा की तरफ से दृष्टि हटानी ही पड़ेगी। ज्ञानशक्ति को विषयज्ञानों में खर्च करते रहे तो आत्मज्ञान में वह काम नहीं आ पायेगी। जब पाकिस्तान बना उस समय एक हिंदू वहाँ थे जिनके पास कई ट्रक थे। उन्हें निश्चय था कि हिंदुओं को पाकिस्तान से भागना नहीं पड़ेगा। अन्य बहुत से हिंदुओं ने समझ लिया था कि भागना पड़ेगा ही अतः वे अपना घर का, व्यापार का सारा सामान भारत भेजने लगे तो जिनके ट्रक थे उन्होंने सब ट्रक उन लोगों को भाड़े पर दे दिये। नतीजा यह हुआ कि जब उन्हें स्वयं भागने की नौबत आयी तो ट्रक वहाँ मौजूद ही नहीं थे! बेचारों को सामान वगैरह छोड़कर आना पड़ा। अतः वस्तु अपनी है इतना ही काफी नहीं, अपने काम आये इसके लिये उसे बचाये भी रखना ज़रूरी। ज्ञानशक्ति भी यदि बाह्य विषयों के ग्रहण में खर्च करते रहे तो आत्मबोध की सामर्थ्य नहीं रह जायेगी, इसलिये साधक के लिये निवृत्ताक्ष अर्थात् शांत-दान्त होना अत्यावश्यक है। लगातार विषय-व्यवहार में लगे रहने पर 'मैं स्वयं कौन हूँ' यह प्रश्न नहीं उठता, इस ओर विचार ही नहीं हो पाता। जैसे बहिरिन्द्रियों से विषय-व्यवहार रोकना ज़रूरी वैसे अंतरिंद्रिय से, मन से भी उसे रोकना ज़रूरी अन्यथा मिथ्याचार, दिवास्वप्न में जीवन बर्बाद होगा। अतः मनोनिरोध आवश्यक है। यह बात पहले श्लोक २२, ३६ आदि में कही थी, रथरूपक से श्लो. ४३ आदि में समझाई थी, और श्लोक ५५ आदि में इसके उपाय का वर्णन किया था। विवेकाभ्यासी और निरुद्ध मन ही इस सूक्ष्मता वाला होता है कि निरुपाधि आत्मा को ग्रहण करे। स्थूल विषयों में ग्रस्त रहना, उन्हीं के बारे में सोचने-समझने में लगे रहनायही मन की स्थूलता है। इसके विपरीत, सूक्ष्म विषयों की तरफ ही ध्यान रखना मन की सूक्ष्मता है। सूक्ष्मता का क्रम श्लो १०२ में सूचित किया ही है, जो जितना प्रत्यक् है वह उतना सूक्ष्म है। अणु-परमाणु की खोज-बीन यहाँ सूक्ष्मता नहीं वरन् प्रत्यक्ता ही सूक्ष्मता है। किन्तु एकाएक सूक्ष्म वस्तु पहचानना संभव नहीं होता। बच्चों को संख्या सिखाने के लिये गेंद, कंचे आदि स्थूल चीज़ों का सहारा लेना पड़ता है तब धीरे-धीरे

अप्रमत्तोऽखिलाक्षाणि सकर्तॄणि यदा पुमान्।
निरुणद्धि तदा योगं तामवस्थां प्रचक्षते।।१०४।।

संख्या की संकल्पना स्पष्ट होती है। वैसे, संख्या क्या हैयह शब्दों में व्यक्त कर समझाना बड़ों के लिये भी सरल नहीं है! पर स्वयं तो समझ आती है कि संख्येय से संख्या पृथक् है। इसी तरह घटज्ञान, पटज्ञान, लड्डूका सुख, गीत का सुख, काग़ज है, कलम है इत्यादि सविषय ज्ञान-सुख-सत्ता सब के अनुभव में है पर विषयों को छोड़कर केवल, ज्ञान, केवल सुख, केवल सत्ये अतिसूक्ष्म हैं, एकाएक नहीं वरन् बहुत विचार से ही पहचान में आ सकते हैं। श्रुति में जो कहा 'हृदा', उससे तात्पर्य निकला कि इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता अतः अक्षों को निवृत्त करना आवश्यक है। 'मनीषा' से सूक्ष्मग्रहण-योग्यता बतायी जाती है और 'मनसा' का मतलब है निरुद्ध मन के द्वारा; क्योंकि अनिरुद्ध मन तो अभी ही है, उससे आत्मा ग्रहण नहीं हो रहा। इस प्रकार शम, दम और समाधानइनकी साधनता व्यक्त की।।१०३।।

दसवें मंत्र में उक्त निरुद्ध स्थिति को परा गति और ग्यारहवें में उसे योग बताया। उसी को कहते हैं **प्रमादरहित पुरुष जब बुद्धि-सहित सारी इंद्रियों का निरोध कर लेता है तब उस अवस्था को योग कहते हैं।।१०४।।** निरोध का प्रसंग है अतः यह शांति से बैठकर करने का अभ्यास है, केवल वैचारिक साधन नहीं है। एकान्त स्थल में ही ये अभ्यास हो सकते हैं क्योंकि इन्द्रियों पर नियंत्रण के लिये आवश्यक है कि प्रारंभ में विषयों से दूरी रखी जाये। विक्षेप की अनुपस्थिति में पहले नियंत्रण का अभ्यास हो तभी संभव है कि विक्षेप-हेतु आने पर भी नियंत्रण बना रहे। जैसे पहले नीरव स्थान पर स्वर पहचानना सीखना पड़ता है तभी बाद में हल्ले में भी पहचान बनी रह पाती है वैसे एकांत निर्विषय स्थान में इंद्रियाँ नियंत्रित हों तभी सविषय स्थानों में भी नियंत्रण में रहेंगी। शुरूआती साधक विषयों के मध्य रहकर नियंत्रण करना चाहे तो सफल नहीं होगा। इंद्रियाँ विषय-व्यवहार की अभ्यस्त हैं, जितना और व्यवहार करेंगे उतना वही संस्कार दृढतर होगा जबकि नया व्यवहार छोड़ें तो जितना है उतना ही संस्कार रहेगा, नवीन संस्कार नहीं पड़ेगा एवं धीरे-धीरे पूर्व में पड़ा संस्कार भी धूमिल होता जायेगा। बहुत दिनों तक कोई यंत्र न चलायें तो उसे चलाने की प्रक्रिया भूल जाते हैं, फिर वह यंत्र पास पड़ा रहे तो भी हाथ स्वतः उसके खटकों पर नहीं पड़ता जबकि अभ्यास रहते बिना विचारे भी हाथ यंत्र को चलाता रहता है। मन में इच्छा होने पर भी बाह्य व्यवहार नहीं हो पाता अर्थात् बाह्य इंद्रिय का निरोध कायम रहता है। इस तरह सभी इंद्रियों को अपने-अपने विषयों से व्यवहार

करने की आदत छुड़ाना योगी के लिये अतीव हितकर होता है। ऐसे समझ लें कि दूरभाष अपने पास नहीं है तो यह उपस्थित भी नहीं होता कि आबू से कलकत्ता बात करें, किंतु यदि दूरभाष है तो बात करना स्वभावतः प्राप्त हो जायेगा। यदि यंत्र है पर चलाना नहीं आता तो भी बात करने की प्राप्ति नहीं होगी। मन में इच्छा हो तो भी यंत्र चलाने वाले को ढूँढने आदि के प्रयास के दौरान विचार आ जायेगा कि बात करना व्यर्थ है और प्रवृत्ति रुक जायेगी। अतः साधक के लिये उत्तम है कि दूरभाष पास रखे ही नहीं और यदि है भी तो उसे चलाना न सीखे। इसी प्रकार यथासंभव सभी विषयों के बारे में समझकर प्रयास करना चाहिये। जैसे अक्षों का अर्थात् इंद्रियों का निरोध वैसे कर्त्ता का अर्थात् अहम्बुद्धि का, अहंकार का भी निरोध आवश्यक है। अहंकार की वृत्तियाँ उठने पर यह विचार करना चाहिये कि समष्टि हिरण्यगर्भ ही इन वृत्तियों को उठा रहा है, मैं इन्हें उठाने वाला नहीं वरन् इनका सिर्फ साक्षी हूँ। यों, स्वयं को वृत्ति से जोड़कर न देखे बल्कि उनसे हटा हुआ देखे तो शनैः शनैः कर्तृत्व का ('मैं करने वाला' भाव का) निरोध हो जाता है। इस अभ्यास के लिये ज़रूरी है कि प्रमाद न करें, सदा सावधानी रखें कि स्वयं को अहंवृत्ति से न जोड़ें और इंद्रियों को विषय-प्रसंग में पड़ने से रोके रहें। बलात् इंद्रिय बाहर जायेगी पर सावधान साधक को जैसे ही इसकी चेतना होगी वह तत्काल उसे हठात् रोकेगा, उस समय व्यवहार आदि अन्य बातों की चिंता नहीं करनी चाहिये वरन् तुरंत इंद्रिय को विषय से निवृत्त कर लेना चाहिये। बार-बार ऐसा करते रहने से ही इंद्रिय प्रशिक्षित होगी कि विषय-प्रसंग से दूर रहना चाहिये। यह अभ्यास पुरुष करे अर्थात् पुरुषार्थ करने वाला ही इसमें सफल होगा। मोक्ष की तीव्र इच्छा से जो इस साधन में अतिशय प्रयत्न करता रहेगा वही इस योग, सम्पूर्ण निरोध की अवस्था में पहुँचेगा।।१०४।।

अविषय होने पर भी आत्मा है अवश्य, यह दो मंत्रों में कहा 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते।।१२।। अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्व-भावेन चोभयोः। अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।।'१३।। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरणये आत्मा को विषय नहीं करते। 'है' ऐसा कहने वाले से अन्य में वह आत्मा कैसे मिल सकता है। आत्मा को 'है' जानना चाहिये, वह जैसा है वैसा ही उसे समझना उचित है। जो आत्मा को 'है' जान गया उसे आत्मा की वास्तविकता स्पष्ट है। इसे छह श्लोकों से समझाते हैं **तत्त्व का जानकार कहता है कि सब इन्द्रियों का अविषय होने पर भी निज आत्मा है अवश्य। कारणभूत**

तत्त्वभावप्रसादः

सर्वाक्षाऽगोचरत्वेऽपि स्वात्माऽस्तीत्याह तत्त्ववित्।
कारणस्यात्मनोऽसत्त्वे शून्यं कार्यं जगद्भवेत्।।१०५।।
अस्तीत्येवोपलब्धव्यो नाऽयमस्तीति न त्वया।
सर्वत्रानुगतं यत्तत्तन्नास्तीत्युच्यते कथम्।।१०६।।

आत्मा यदि न हो तो जगद्रूप कार्य भी शून्य हो जाये।।१०५।। तुम्हें चाहिये कि (आत्मा को) 'है' इसी तरह समझो, न कि 'नहीं है'इस तरह। जो सब में अनुस्यूत है उसे 'वह नहीं है' यों क्यों कहा जा रहा है?।।१०६।। [श्लो. १०६ में 'सर्वत्रानुगतं यत् सत् तन्नास्तीत्युच्यते' यदि पाठ मिले तो और स्पष्ट होगा।] अनुभव के विषयों को ही 'है' मानना और जो कभी किसी भी तरह अनुभव का विषय न बन सके उसे 'नहीं है' मानना हमें उचित लगता है। आत्मा विषय नहीं अतः प्राप्त होता है कि वही नहीं होगा; इसके निषेधार्थ यहाँ बताया कि विषय न होने पर भी वह है। उदाहरणार्थ हम चाहे जितनी कोशिश करें हमें अपनी आँख दीखती नहीं फिर भी हम देखते हैं, इसी से सिद्ध है कि हमारी आँख है। ऐसे ही संसार में सर्वत्र 'है' उपलब्ध हो रहा है जो बता देता है कि संसार का कारण है ही, न कि नहीं है। सत्, चित्, आनन्द - तीनों संसार में मिल रहे हैं जिससे पता चल जाता है कि संसार का कारण सच्चिदानंद ही है जैसे बर्तनों में मिट्टी उपलब्ध हो तो पता चलता है कि उन बर्तनों का कारण मिट्टी है। विषय के रूप में अनुभव न होने पर भी जगत्कारण के रूप में परमात्मा सत् ही स्वीकार्य है क्योंकि जगत् में वह सद्रूप से विषय भी हो रहा है। सत् कार्य के प्रति सत् ही कारण होता है यह लोकसिद्ध बात है। हमें कार्य उत्पन्न करने के लिये सत् कारण ही बटोरना पड़ता है, कुछ नहीं से हम घड़ा कपड़ा नहीं तैयार कर सकते तो इतना बड़ा संसार 'कुछ नहीं' से बन गया, ऐसा कोई बुद्धिमान् नहीं कह सकता। यम नचिकेता को सम्बोधित कर सावधान कर रहे हैं कि आत्मा को 'है' ही समझने के प्रति जागरूक रहे, उसके बारे में कभी 'नहीं है' ऐसा न समझने लगे। उपनिषदें ब्रह्म को इसीलिये जगत् के कारण के रूप में उपस्थित करती हैं जिससे उसकी अस्तिता निःशंक रहे। कारण से ही कार्य होता है इस लोकसिद्ध मर्यादा के सहारे पहले कारण के अस्तित्व का निश्चय हो जाये तब उसकी अविषयरूपता भी विचारपूर्वक समझ आ जायेगी। केवल निषेधमुख से समझने का प्रयास किया तो उसकी सद्रूपता ग्रहण करना कठिन रहेगा। बौद्ध क्योंकि कारण की सद्रूपता के लोकसिद्ध अनुभव को नकार गये इसलिये आत्मा को उन्होंने असत् ही माना, उनके

सोपाधिकं तावदादौ दृष्ट्वाऽस्तीति ततः पुनः।
उपाधीन् सम्परित्यज्य तत्त्वभावेन पश्यति।।१०७।।
उपाधीनां माययैषां कल्पितत्वेन तैर्विना।
निरुपाधिकसन्मात्रं वस्तु तच्च तथेक्ष्यताम्।।१०८।।

विचार का शून्यवाद में ही पर्यवसान हुआ। 'है' संसार में सर्वत्र अनुस्यूत है, हर चीज में उपलब्ध है। यदि कारण असत् (= नहीं है) हो तो हर चीज़ 'नहीं है' लगनी चाहिये! लगता सब कुछ है, अतः सबका कारण है ही मानना उचित है।।१०५-६।।

आत्मा की उपलब्धि का क्रम सूचित करते हैं **पहले उपाधियुक्त आत्मा को 'है' ऐसा देखकर तदनंतर उपाधियाँ विवेक से हटाकर साधक आत्मा को उस तरह समझ पाता है जैसा वह वास्तव में है।।१०७।। क्योंकि ये उपाधियाँ माया से कल्पित हैं इसलिये वह पारमार्थिक आत्मवस्तु इन उपाधियों से रहित है। उस उपाधिहीन केवल 'है' को इस तरह समझा जा सकता है।।१०८।।** कपड़ा हमेशा किसी रंग का मिलता है लेकिन अनेक कपड़े देख लेने के बाद समझ आ जाता है कि कपड़ा पृथक् है, रंग पृथक् है; इससे कोई बिना रंग का कपड़ा नहीं दीख जायेगा! किंतु समझ आ जायेगा। ऐसे ही आत्मा उपाधि-सहित मिल रहा है, बाहर घटादि उपाधियों सहित और अपने में अहंकारादि उपाधियों सहित। उपाधियाँ आगमापायी, अनित्य, विकारी, दृश्य अतः मिथ्या, अज्ञानकल्पित हैं यह स्पष्ट है। मिथ्या और सत्य न एक हो सकते हैं न उनका कोई वास्तव संबंध हो सकता है। इससे पता चल जाता है कि उपाधियाँ अलग हैं, आत्मा अलग है। उपाधियों से स्वतंत्र जो सच्चिदानंद वही आत्मा का परमार्थ स्वरूप है। इसका स्वयं में अपरोक्ष हो जाता है और बाह्य जगत् में भी प्रत्यक्ष हो जाता है लेकिन विवेक की सहायता से ही, जैसे कपड़ा विवेकपूर्वक प्रत्यक्ष हो जाता है। उपाधियों की कल्पितता इसी से स्पष्ट है कि अनुभव में आने से पूर्व और अनुभव समाप्त होने के पश्चात् ये अव्यक्त हो जाती हैं, अज्ञान में लीन हो जाती हैं अतः अज्ञान ही इनका कारण है और जो अज्ञानमात्र से होता है वह मिथ्या होता है जैसे रज्जुसर्प। आत्मा सत्य होने से इन सब उपाधियों से रहित है। जैसे रंगीन ही मिलते हुए रंगहीन कपड़ा विवेकदृष्टि से समझ आता है ऐसे सोपाधिक मिलते हुए निरुपाधिक आत्मा समझना पड़ता है। बाह्य व आन्तर समस्त उपाधियों से असम्बद्ध आत्मा का स्वरूप केवल सत् 'है' ही समझ आता है। इसी तरह वह ज्ञानमात्र और आनंदमात्र समझ आ जाता है। बिना किसी अन्य की अपेक्षा रखे आत्मा सच्चिदानन्द ही है।।१०७-८।।

कलुषं जलमानीय ततोऽस्मिन् कातकं रजः।
यदा क्षिपेत्तदा नीरं प्रसीदति यथा तथा।।१०६।।
सोपाधिकज्ञानवतो निरुपाधिः प्रसीदति।
रजःप्रक्षेपसदृशी योगाद् निष्कामता धियः।।११०।।

उपाधियुक्त के सहारे निरुपाधिक को समझना उदाहरण से स्पष्ट करते हैं **कलुषित जल लाकर फिर उसमें जब कतक का चूर्ण डालते हैं तब जैसे जल साफ हो जाता है वैसे सोपाधिक आत्मा को जानने वाले का ही आत्मा उपाधिरूप मैल से रहित होकर स्वच्छ भासता है। पानी में उक्त चूर्ण डालने जैसे है योग से बुद्धि की निष्कामता।।१०६-१०।।** निरुपाधि को समझने के लिये उपाधि की ज़रूरत पड़ती है जैसे जल को साफ करने के लिये उसमें कतकरज डालनी पड़ती है। फिटकरी डालने से जैसे पानी साफ होता है वैसी ही कोई वनस्पति कतक है जिसका चूरा डालने पर वह पानी के सारे मैल को लेकर खुद भी नीचे बैठ जाता है, ऊपर का सारा पानी पूरी तरह साफ हो जाता है। कतक चूर्ण पानी में रह जाये तो वही एक अशुद्धि हो जायेगी अतः वह खुद भी नहीं रह जाता, नीचे बैठ जाता है। जब उससे भी पानी को रहित बनाना है तब पहले वह चूर्ण डालें ही क्यों? यह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि उसे डाले बगैर दूसरा मल भी हटेगा नहीं। इसी प्रकार अंत में उपाधिहीन को समझना है पर इसके लिये पहले उपाधि का प्रयोग करना पड़ेगा। सोपाधिक तत्त्व की पूजा उपासना आदि का इसी तरह विनियोग संगत है। वर्तमान में हमें सोपाधिक ही आत्मा उपलब्ध है। इन उपाधियों को हटाने के लिये किसी विशेष उपाधि का उपयोग करना पड़ता है जिसके बिना ये सब उपाधियाँ दूर नहीं होंगी। सर्वथा शुद्ध जल में कतक रज नहीं डाला जाता! ऐसे ही यदि उपाधिहीन आत्मा भास रहा होता तो कोई उपाधि नहीं जोड़नी पड़ती लेकिन स्थिति वह नहीं है, अनिच्छित उपाधियाँ मौजूद हैं, उन्हें हटाने वाली उपाधि इसीलिये आवश्यक है। यहाँ आत्मा को समझने के लिये काम में आने वाली उपाधियाँ दो तरह की हैंएक तो अध्यारोप-अपवाद न्याय से विचार और दूसरा उपासना या योग। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ आदि भी उपाधिवर्णन ही है, उसका फल यही है कि सारी उपाधियाँ बाधित हो जायें। जो उस विचार के योग्य नहीं उसके लिये योग का सहारा है। कल्पतरुकार ने बताया ही है कि मंद साधकों के हितार्थ सविशेष का निरूपण है, उस पर मन एकाग्र कर ले तो साधक को उपाधिरहित तत्त्व स्पष्ट भास जाता है। प्रसंगानुसार प्रकृत में योग का

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
तदैव मर्त्यतां हित्वा स जीवन् ब्रह्मतां व्रजेत्।।१११।।

ही उल्लेख किया। योग पूर्व में कह ही आये हैं, उसके अभ्यास से बुद्धि पूरी तरह शुद्ध होगी तो आत्मदर्शन होगा। बुद्धि की शुद्धता उसकी निष्कामता से प्रकट हो जाती है, कामना ही अशुद्धि का चिह्न है। सर्वथा कामना न रहे तो बुद्धि शुद्धतम है, उसमें परमात्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है। इस प्रकार उपाधि की सहायता से सब उपाधियाँ काट दी जाती हैं।।१०६-१०।।

चौदहवें मंत्र में बताया है कि साधक की बुद्धि में आश्रित सारी कामनाएँ विशीर्ण हो जाने पर उसे अमरता मिल जाती है, जीवित रहते हुए ही वह ब्रह्म हो जाता है। इसे ही व्यक्त करते हैं **साधक के हृदय में स्थित सब कामनाएँ जब सर्वथा छूट जाती हैं तभी वह मरणशीलता छोड़कर जीवित रहते हुए ही ब्रह्मरूपता पा जाता है।।१११।।** उक्त योग का फल कामना-उन्मूलन है। तीव्र विवेकी विचारपूर्ण वैराग्य से इस स्थिति पर पहुँचता है लेकिन उतना उद्दीप्त विवेक और घोर वैराग्य बहुत दुर्लभ है अतः उस तरह जो कामोन्मूलन नहीं कर पाये उसके लिये यहाँ योग का उपाय बता दिया जिसके अभ्यास से वह भी निष्काम मनःस्थिति वाला बन सके। बिना मन काम-हीन हुए परमात्म-साक्षात्कार असंभव है। अखंड वृत्ति अन्तःकरण में ही बननी है अतः उसके कामरूप दोष को दूर करना अनिवार्य है अन्यथा वह उस चरम वृत्ति का आकार ग्रहण ही नहीं कर सकेगा। गीताभाष्य (१८-५०) में समझाया है कि जैसा आत्मा है वैसी बुद्धि हो तभी उसे आत्माकार कहा जायेगा। आत्मा अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, सूक्ष्म है अतः बुद्धि भी ऐसी बने तभी वह आत्माकार होगी, तभी आत्मज्ञान होगा। ज्ञान से पूर्व कामनाएँ बहुत कम और क्षीणवेग होती हैं, सर्वथा तो तभी दूर होती हैं जब आत्मसाक्षात्कार हो जाये, इसलिये कह दिया कि सारी कामनाओं का मिटना ही इस बात का चिह्न है कि जीव मुक्त हो चुका है, उसकी मरणधर्मता मिट गयी है, वह अमृत हो गया है। मरना उपाधि में रहता है, आत्मा नित्यमुक्त है, अज्ञानवश अविवेक से वह मानता है कि उसका मरण होता है, ज्ञान से वह भ्रम दूर होने पर उसके मरण का प्रसंग ही नहीं रह जाता। यदि कभी शंका हो कि कैसे पता चले कि मैं मुक्त हो गया या नहीं? तो यहाँ स्पष्ट समाधान दे दिया है यदि मन में कोई कामना न उठे तो मुक्त हूँ और यदि कोई भी कामना उठती है तो मुक्त नहीं हूँ। साधक को अपनी स्थिति मापने का यह स्पष्ट पैमाना है।।१११।।

ग्रन्थिभेदः

अहङ्कारेण चैतन्यं ग्रथित्वेच्छति चेत्तदा।
हृदये ग्रन्थयः कामास्ते भिद्यन्ते विवेकिनः।।११२।।

पन्द्रहवाँ मंत्र है 'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनु-शासनम्।' अर्थात् जीवित अवस्था में ही बुद्धि की सब गाँठें खुल जाने पर मरणधर्मा अमृत हो जाता है, इतना ही उपदेश है। इसे चार श्लोकों से समझाते हैं **आत्मा यदि अहंकार से चैतन्य को ग्रथित कर लेता है (दोनों को एकमेक समझता है) तब हृदय में कामनाएँ होती हैं जिन्हें ग्रंथियाँ या गाँठें कहते हैं। विवेकी की वे गाँठें खुल जाती हैं।।११२।।** सभी कामनाएँ शरीर-मन के लिये होती हैं, विशुद्ध चेतन के लिये कभी कुछ नहीं चाहिये। अतः इच्छा संभव ही तब है जब शरीर-मन को स्वयं से अभिन्न समझा जाये, इनका तादात्म्याध्यास हो। अहंकारात्मिका वृत्ति के द्वारा यही संपन्न होता है, उसमें एक ओर शरीर-मन का संबंध है और दूसरी ओर प्रतिबिंब के रूप में आत्मा का संबंध है, अतः वहाँ दोनों एकमेक हो जाते हैं। चित्प्रकाश पाकर वृत्ति चित् की तरह हो जाती है अतः उसे कामना संगत है। केवल जड और केवल चेतन, दोनों में ही कामना नहीं होती पर जड-चेतन के सम्बद्ध रूप में ही कामना होती है। सभी जडों से सम्बद्ध रूपों में नहीं, माया और अंतःकरणये दो ऐसे जड हैं जिनसे सम्बद्ध चेतन में कामना होती है। माया-संबद्ध है ईश्वर और अंतःकरण-संबद्ध है जीव, ये दोनों ही कामना करते हैं। विषयों का आत्मा से सम्बन्ध ही बुद्धि के, अहंकार के मार्फ़त हो पाता है, अन्यथा नहीं। इसलिये सोपाधिक आत्मा में ही इच्छा रहती है। इसे चित्-जड की ग्रंथि या गाँठ कहते हैं क्योंकि जैसे दो डोरियाँ गाँठ लगने पर एक के समान प्रतीत होती हैं वैसे चेतन और जड अध्यासरूप गाँठ से एक के समान प्रतीत होते हैं। जड-चेतन का सच्चा सम्बंध होता नहीं, केवल अज्ञान से अध्यासवश इन्हें सम्बद्ध समझा जा सकता है। अहंवृत्ति के सहारे ही यह भ्रम संभव होता है। इस तादात्म्यानुभव से, एकमेकभाव से ही इच्छा करना हो पाता है, सारे ही व्यवहार संपन्न हो पाते हैं। विवेकी जड-चेतन को अलग-अलग समझ लेता है तो यह गाँठ खुल जाने से उसे कामना नहीं हो पाती। मन से आत्मा को स्वतन्त्र जान लेने के बाद जीवन-पर्यन्त मन में यथासंस्कार वृत्तियाँ भले ही बनें पर क्योंकि उन्हें आत्मा अपना नहीं समझता, 'मेरी इच्छा, मेरा क्रोध' आदि नहीं समझता इसलिये उनसे उसका बंधन नहीं होता।।११२।।

अहङ्कारचितोरैक्यभ्रान्तेरपगमे सति।
कामाभासाः सन्तु चित्ते क्रमाद् नश्यन्ति तेऽपि च।।११३।।
जीवन्मुक्तस्तु निष्कामो न मृतिं प्रतिपद्यते।
प्राणोत्क्रान्तिर्मृतिः सा तु ज्ञानिनो न हि विद्यते।।११४।।

तत्त्वज्ञान के बाद जीवन-व्यवहार की उपपत्ति करते हैं **अहंकार और चेतन की एकता का भ्रम मिट जाने पर चित्त में कामना के आभास रह सकते हैं पर वे भी धीरे-धीरे घटते ही जाते हैं।।११३।।** सोपाधिक भ्रम के स्थलों में अधिष्ठान-ज्ञान से भ्रम का बाध होने के बावजूद भ्रम की प्रतीति तब तक रहती है जब तक उपाधि हो जैसे प्रतिबिम्ब, रक्तस्फटिक, नील गगन इत्यादि। ऐसे ही प्रारब्धरूप उपाधि के रहते व्यवहार-भ्रम की प्रतीति हो जाती है लेकिन वह भ्रम नहीं है क्योंकि प्रतीतिकाल में भी मालूम है कि वह अवास्तविक है। अभी काम-क्रोध आदि 'मेरी वृत्ति है' ऐसा अनुभव होता है, तत्त्वानुभव के बाद 'मेरी नहीं है' यह मालूम रहते उन वृत्तियों की प्रतीति होती है। यद्यपि अध्यासरूप ग्रंथि खुल चुकी है तथापि अनुभवसिद्ध अभेदप्रतीति मान्य ही है, उसे ग्रंथि नहीं कह सकते, ग्रंथि के समान भले ही कहें। अतः तब जो काम-क्रोधादि होते हैं वे भी कामाभास, क्रोधाभास आदि कहे जाते हैं कि काम की तरह लगते हैं, काम हैं नहीं। अतः अनिवार्य-मात्र कामनाएँ होती हैं और वे भी क्षीण होती जाती हैं जबकि कामना की विशेषता है कि वह बढ़ती जाती है जैसा गीता में कहा है (३.३९) कि कामना को न कभी पूरा किया जा सकता है व न वह कभी 'बस' करती है। कामना और कामनाभास का यह फ़र्क़ स्वयं को आसानी से पता चलता है प्रथमतः तो 'मेरी कामना' यह प्रतीति न हो और दूसरी बात कि उत्तरोत्तर उसका वेग, क्षेत्र और आवृत्ति घटे तो कामाभास है, अन्यथा कामना है। बृहदारण्यक-वार्तिक (१.४.१५३९) में इसी दृष्टि से कह दिया है कि आत्मप्रमा से मोक्ष हो जाने पर रागादि रह भी जायें तो हर्ज़ नहीं, किन्तु वहीं स्पष्ट किया है कि वास्तव में वे रागादि नहीं, आभासरूप ही हैं।।११३।।

जीवन्मुक्त का प्रारब्ध समाप्त होने पर उसका जीवन समाप्त हो जाता है पर वह मरता नहीं! यह अश्चर्य बताते हैं **जो जीवित रहते हुए ही मोक्ष पा चुका वह तो कामनाओं से अस्पृष्ट रहता है, वह मरण को प्राप्त नहीं करता। प्राणों का उत्क्रमण मरण होता है किन्तु ज्ञानी के प्राणों का उत्क्रमण होता नहीं।।११४।। तपे पत्थर पर फैंकी जलबूँदों की तरह तत्त्वज्ञ के प्राण भीतर ही विलीन हो**

प्राणा अन्तर्विलीयन्ते तप्ताश्मक्षिप्तनीरवत्।
ज्ञानी पुराऽपि ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति तल्लये।।११५।।

जाते हैं। ज्ञानी प्राणविलय से पूर्व ही ब्रह्म होते हुए प्राणों का विलय होने पर ब्रह्म को प्राप्त होता है।।११५।। पुनर्जन्म में प्रधान निमित्त कामना है। कर्मफल भोगने के लिये जहाँ जाना है वहाँ पहुँचाने के लिये अपेक्षित शक्ति कामना है। जीवन्मुक्त में कामना रह नहीं जाती तो उसे कहीं जाना भी नहीं पड़ता। अत एव उसे मरना नहीं पड़ता। स्थूल-शरीर से निकलकर प्राण जायेंइसे मृत्यु कहते हैं। बृहदारण्यक में कामयमान (सकाम) का मरण-पुनर्जन्म बताकर कहा है 'अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम अप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (४.४.६) अर्थात् कामना-रहित के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। आर्तभाग प्रश्न में (३.२.११) भी 'उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति? नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते' तत्त्वज्ञ के प्राणों का यहीं विलय बताया है। अतः ब्रह्मसूत्रों में (४.२.६.१२-१४) यही निर्णय दिया है कि आत्यंतिक अमृतत्व में न उत्क्रमण है गमन। प्राणों का चलना बंद तो होता है अतः शरीर तो निष्प्राण होकर शव बन जाता है लेकिन प्राण निकलकर कहीं जाते नहीं अतः प्राण निकलना रूप मृत्यु नहीं होती। प्राणों के सहारे ही बाकी सूक्ष्म शरीर भी जाता है, जब प्राण ही नहीं जाते तो सूक्ष्म देह के अन्य अवयवों के जाने की भी संभावना नहीं होती। जैसे जब दीपक बुझ जाता है तब ऐसा नहीं कि कहीं चला गया हो, वैसे प्राण चलना बंद हो जाते हैं, कहीं जाते नहीं, तपे पत्थर पर पानी की बूँद पड़ते ही उड़ जाती है, कहाँ गयी यह पता ही नहीं चलता, इसी प्रकार प्राणों का भी क्या हुआयह पता ही नहीं चलता। प्रायः लय का मतलब कारणभाव की प्राप्ति होता है। प्राण का कारण अज्ञान है। ज्ञानी का अज्ञान तो पहले ही नष्ट हो चुका! अतः प्राणों के विलय का मतलब यही है कि अब तक उनकी प्रतीति, उनका व्यवहार था, अब उनका व्यवहार नहीं है, उसका उच्छेद हो गया। ज्ञान प्राप्त होते ही जीवभाव बाधित होकर ब्रह्म ही रह जाता है, प्रारब्ध के निमित्त शरीर का व्यवहार बचा रहता है, प्रारब्ध ख़त्म होने पर वह भी समाप्त हो जाता है। मरने पर विदेह कैवल्य की प्राप्ति का मतलब इतना ही है कि जीवन पूर्ण हो गया, इससे अतिरिक्त प्राप्ति-पद का कोई अर्थ नहीं है। अज्ञदशा में भी वास्तव में तो जीव ब्रह्म ही है पर उसे यह मालूम नहीं, तज्ज्ञदशा में उसे यह रहस्य मालूम रहता है इतना ही मूल अंतर है। जीवन् और विदेह का अंतर अज्ञों की दृष्टि से है : जब तक तत्त्वज्ञ किसी शरीर में

क्रममोक्षः

ब्रह्म बोद्धुमशक्तः सन्नुपास्ते चेत्तदा पुमान्।
नाड्या मूर्धन्यया ब्रह्मलोकं गत्वा विमुच्यते।।११६।।
अत्रैवोपासकस्याऽस्य धीशुद्धिश्चेत्तदा त्वसौ।
देहाद् विविच्य हृन्निष्ठं ब्रह्मत्वेनावगच्छति।।११७।।

व्यवहार करता प्रतीत होता है तब तक अज्ञ उसे जीवन्मुक्त समझते हैं और वह प्रतीति न रहने पर विदेहमुक्त समझते हैं। स्वयं ज्ञानी की दृष्टि से अंतर नहीं क्योंकि वह जीवन-मरण दोनों को समानरूप से मिथ्या जान चुका है।।११४-५।।

सोलहवें मंत्र में नाडियों का उल्लेख कर मूर्धा से निकलने वाली नाडी द्वारा जाने वाले जीव को अमृतता की प्राप्ति एवं अन्य नाडियों से जाने पर संसारप्राप्ति कही है। यह गतिव्यवस्था अज्ञों के लिये है यह स्पष्ट करते हैं **पुरुष यदि ब्रह्म को समझने में असमर्थ है तो उसकी उपासना करे। उसके प्रभाव से वह मूर्धा-सम्बद्ध नाडी से ब्रह्मलोक जाकर विमुक्त हो जायेगा।।११६।।** विवेक न कर पाना, वैराग्य की कमी, इंद्रियों पर व मन पर पूरा नियंत्रण न होना, सारे कर्म न छोड़ पाना, उपनिषत्तात्पर्य का निश्चय न कर सकना, शास्त्र के अर्थ के बारे में संदेह दूर न कर सकना इत्यादि विविध असमर्थताएँ साधक में होती हैं। निश्चय पाने के बाद भी उस पर स्थिर रहने में असमर्थता होती है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म की उपासना का विकल्प अपनाया जाता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह भावना करनी चाहिये। यह अनुभव नहीं है पर सोची-समझी बात की भावना है जैसे मूर्ति में देवभावना करते हैं। इस उपासना को करने वाला मरने पर मूर्धा-सम्बद्ध सुषुम्णा नाडी से उत्क्रमण कर ब्रह्मलोक जाता है और वहाँ ज्ञान पाकर मुक्त होता है। यह क्रममुक्ति का रास्ता है।।११६।।

सत्रहवें मंत्र में सारी उपनिषत् का तात्पर्य बताया 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेद् मुञ्जाद् इवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतम्।।' अंगूठे जितना अंतरात्मा ही पूर्ण चेतन है जो हमेशा लोगों के हृदय में घुसा हुआ है। मूँज से इषीका की तरह धैर्यपूर्वक उस अन्तरात्मा को अपने शरीर से पृथक् कर उसे शुक्र, अमृत समझना चाहिये। इस मंत्रार्थ की ओर संकेत करते हैं **यदि पूर्वोक्त उपासना करने वाले की बुद्धि यहीं शुद्ध हो जाती है तब तो वह हृदय में निहित आत्मा को शरीर से पृथक् समझकर यह साक्षात्कार पा लेता है कि वही ब्रह्म है।।११७।।** पूर्वोक्त उपासना

उपसंहारः

मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतो विद्यां योगं तथाऽखिलम्।
लब्ध्वा ब्रह्माप्तवानेवं लब्ध्वाऽन्योऽपि विमुच्यते।।११८।।
विद्या-तत्फलयोर्विघ्नशान्त्यर्थं 'सह ना' विति।
मन्त्रं जपेत् तेन विघ्नाः शाम्यन्त्येव न संशयः।।११९।।

अतिशक्त है अतः बहुधा वह चित्त को इतना शुद्ध कर देती है कि मरकर ब्रह्मलोक जाने की इन्तज़ार नहीं करनी पड़ती, यहीं विवेकपूर्वक त्वमर्थ का संशोधन कर उसकी व्यापकता का अपरोक्ष हो जाता है। अधिक बुद्धिदोष हो तब तो क्रम-मोक्ष का ही उपाय है पर दोष अल्प हो तो यहाँ भी तत्त्वावगम संभव होता है। शमादि-पूर्वक श्रवणादि से जो तत्त्व में स्थिर न रह पाये उसके लिये यह अहंग्रहोपासना ही श्रेष्ठ उपाय है, अन्य भेदोपासनाओं का वह अभ्यास न करे। शरीरतीनों शरीरोंसे आत्मा का विवेक कर उसे ब्रह्म जानने से ही मोक्ष होता है।।११७।।

अंतिम मंत्र में कहा है कि यमद्वारा उपदिष्ट ब्रह्मविद्या और योगविधि को पाकर नचिकेता विरज और विमृत्यु हो गया, ब्रह्म को पा गया। अन्य साधक भी इसी तरह ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। इसे कहते हैं **मृत्यु द्वारा समझाई विद्या और सारे योग को पाकर नचिकेता ने ब्रह्म को पा लिया। इसी प्रकार अन्य साधक भी योग व विद्या पाकर विमुक्त हो जाता है।।११८।।** 'नाचिकेता' भी नचिकेता को ही कहते हैं। योग-विधि से मानस-भूमि तैयार कर विद्या के पूर्ण विकास से अज्ञान मिटा देने से नचिकेता ने तो ब्रह्मभाव पाया ही, अन्य मुमुक्षुओं के लिये भी एक उदाहरण पेश कर दिया। सभी अधिकारी यहाँ बताये तरीके से मोक्ष पा सकते हैं।।११८।।

इस उपनिषत् का शांतिमंत्र है 'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।' इसमें प्रार्थना है कि परमेश्वर हम दोनों को (= गुरु-शिष्य को) साथ-साथ सुरक्षित रखे, साथ ही हमारा पालन करे। हम साथ-साथ श्रम करें और हमारा अध्ययन समीचीन हो, हम तेजस्वी हों। हमें द्वेष न हो। इस मंत्र का विनियोग बताते हैं **आत्मज्ञान और उसके फल में होने वाले विघ्नों के निवारण के लिये 'सह नौ' इत्यादि मंत्र का जप करना चाहिये, उससे विघ्न अवश्य दूर होते हैं।।११९।।** उपनिषत् के अध्ययन से पूर्व और समाप्ति पर शांति-पाठ किया जाता है। इसका जप विघ्न-निवारक है। विद्या-प्राप्ति में अनेक विघ्न

वैराग्यं नाचिकेतस्य यथा तीव्रं तथा पुमान्।
प्राप्नोति सेवमानः सन् विद्यातीर्थमहेश्वरम्।।१२०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे याजुषीकठशाखाविवरणे कठवल्लीविवरणं नाम एकादशोऽध्यायः।।

आते हैं तथा ज्ञान मिलने के बाद उसमें निष्ठा न हो पाने से फल में विघ्न आते हैं। असंभावना-विपरीतभावना ये प्रधान विघ्न हैं जिनसे ज्ञान अपना फल नहीं दे पाता। शांति मंत्र के जप से इन विघ्नों को दूर करने में मदद मिलती है। अध्ययन से पूर्व जो शांतिपाठ करते हैं वह विद्या के विघ्न को हटाता है और समाप्ति पर जो पाठ करते हैं वह फल के विघ्न को हटाता है। सभी शांतिमंत्रों का इस प्रयोजन से जप किया जाता है।।११९।। काठकव्याख्यारूप इस अध्याय को पूरा करते हैं **जो पुरुष श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर की सेवा में तत्पर रहता है उसे नचिकेता-जैसा तीव्र वैराग्य प्राप्त होता है।।१२०।।** [निर्णयसागर में 'सेव्यमानः' ग़लत छपा है, 'सेवमानः' ही ठीक पाठ है।] आत्मज्ञान के लिये सबसे ज़रूरी और मुश्किल है वैराग्य अतः उसकी प्राप्ति का उपाय बताया सद्गुरु की सेवा। ग्रंथकार के गुरु थे श्रीविद्यातीर्थ, उनकी शिवभाव से सेवा कर ग्रंथकार ने उद्दीप्त वैराग्य पाया था और निर्विघ्न विद्या एवं उसका फल प्राप्त किया था। सभी साधक अपने सद्गुरु की ऐसे ही सेवा करें तो ज्ञानगर्भ वैराग्य पाकर अवश्य मुक्त होंगे यह आचार्य विद्यारण्य का आश्वासन है।।१२०।।

।। ग्यारहवाँ अध्याय ।।

ॐ

याजुषीश्वेताश्वतरशाखाविवरणे

श्वेताश्वतरोपनिषद्विवरणम्

द्वादशोऽध्यायः

श्वेताश्वतरनामा यो यजुःशाखाप्रवर्तकः ।
सोऽत्याश्रमिभ्यः प्रोवाच विद्यां व्याचक्ष्महेऽत्र ताम् ।।१।।

श्वेताश्वतरोपनिषत् का विवरण : बारहवाँ अध्याय

कृष्ण यजुर्वेद की ही एक शाखा है श्वेताश्वतर जिसकी उपनिषत् ही उपलब्ध है। ब्रह्मसूत्रों में इसके अनेक मंत्रों पर विचार है पर आचार्य शंकर ने इस पर भाष्य नहीं लिखा। यद्यपि एक शांकर भाष्य इस पर मिलता है तथापि वह प्रस्थानत्रयी-भाष्यकार द्वारा लिखा नहीं लगता, अनेक विचारक ऐसा ही समझते हैं। श्री शंकरानन्द और नारायण की दीपिकाएँ इस उपनिषत् पर उपलब्ध हैं, उपनिषद्ब्रह्मयोगी तथा श्री विज्ञानभगवत् की भी व्याख्याएँ हैं। आत्मपुराण में भी शंकरानंद स्वामी ने इसे विस्तार से समझाया है। श्वेताश्वतर-नामक ऋषि इस शाखा में देदीप्यमान रत्न हो गये हैं, उन्हीं के नाम से इसकी प्रसिद्धि है। उपनिषत्-समाप्ति में कहा है कि तप के प्रभाव और देव के प्रसाद से श्वेताश्वतर ने तत्त्व समझा और यह परम पवित्र उपदेश अत्याश्रमियों को दिया। ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के चतुर्विध भेद हैं। संन्यासियों के भेदों में अंतिम है परमहंस, उन्हीं को अन्त्याश्रमी, अत्याश्रमी भी कहते हैं। परमहंसों के भी दो भेद हैं ज्ञान की इच्छा से गुरुसेवा, शम-दम आदि पूर्वक श्रवणादि साधना करने वाला विविदिषु, और जिसे तत्त्वसाक्षात्कार हो चुका ऐसा जीवन्मुक्त विद्वत्संन्यासी। विविदिषु परमहंस ही श्वेताश्वतर के उपदेश के मुख्य अधिकारी हैं।

उपनिषत् के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करते हैं **यजुर्वेद की एक शाखा के प्रवर्तक जो श्वेताश्वतर नाम के ऋषि थे उन्होंने अत्याश्रमियों को परा विद्या का उपदेश दिया। इस अध्याय में उसी उपदेश का व्याख्यान करेंगे।।१।।** वेद

अनादिसिद्ध है, उसकी शाखाएँ भी सनातन हैं पर तत्तत्काल में विशेष ऋषि उन्हें प्रवृत्त करते हैं अर्थात् तपोबल से परमेश्वर को प्रसन्न कर मंत्रों का दर्शन पाकर शिष्यादि को उपदेश देते हैं। जो मन्त्रद्रष्टा नहीं भी होते वे तपआदि से परमेश्वर या देवादि को प्रसन्न कर उनसे या अन्य किसी माध्यम से शाखा ग्रहणकर उसका इहलोक में प्रवर्तन करते हैं जैसे याज्ञवल्क्य ने सूर्य से वाजसनेयी-शाखा प्राप्त की थी। श्वेताश्वतर महर्षि भी यजुर्वेद की एक शाखा के इसी प्रकार प्रवर्तक थे। कर्म-उपासना मंत्र-ब्राह्मण द्वारा समझा चुके थे, उपनिषत् से ब्रह्मविद्या समझायी। इस अध्याय में अपरा विद्या अर्थात् मंत्र-ब्राह्मण की विद्या का विचार नहीं किया जायेगा वरन् उपनिषत् में जो उन्होंने परा विद्या समझाई उसी की व्याख्या होगी।।१।।

उपनिषत्का प्रारम्भ है 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' से। ब्रह्म के स्वरूप का निर्णय करने के लिये ऋषि-मुनि विचार में प्रवृत्त हुए। उन्होंने जगत्कारण के रूप में ब्रह्म को पहचानने का प्रयास किया 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।'१.१।। सारे चराचर जगत् का कारण क्या है? हम किससे पैदा हुए हैं? किसके अधीन होकर सुख-दुःख में हमारी प्रवृत्ति होती है? इन प्रश्नों का उत्तर ही 'ब्रह्म' है। ब्रह्म को यों विचारपूर्वक ही समझना पड़ता है। कर्म-उपासना से चित्त शुद्ध हो चुकने पर ही मन में यह गंभीर जिज्ञासा उठती है कि मैं कौन हूँ, क्यों हूँ, संसार क्यों है? इत्यादि। अशुद्ध मन में कदाचित् कुतूहल भले ही हो पर इसका उत्तर पाने की छटपटाहट नहीं होती, अपनी सारी सामर्थ्य इस उत्तर की प्राप्ति के लिये समर्पित करने की प्रेरणा नहीं मिलती। विचार के लिये अनेक चिन्तकों का साथ बैठकर प्रयास ज़रूरी है तभी अन्यान्य पक्षों के गुण-दोष प्रकट हो पाते हैं। धर्म के विचार में श्रवण को ही स्थान है क्योंकि शास्त्र का क्या विधान है इतना ही वहाँ समझा जा सकता है। किन्तु ब्रह्म के विचार में मनन की भी श्रवण जितनी ही प्रधानता है क्योंकि यह अपरोक्ष वस्तु है, इसके बारे में स्वानुभव और युक्ति के विरोधों का परिहार आवश्यक होता है। धर्म से ब्रह्म में यह अंतर सूत्रभाष्य में (२.१. सूत्र ४) स्पष्ट किया है। ब्रह्म परिनिष्पन्न स्वरूप की वस्तु है अतः पृथ्वी आदि की तरह उसमें शास्त्रेतर प्रमाणों को भी अवकाश मिल जाता है। जैसे विभिन्न श्रुतिवचनों में किसी एक के अनुसार अन्यों को समझना पड़ता है वैसे प्रमाणान्तरका विरोध हो तो श्रुति के अर्थ के बारे में सोचना ज़रूरी हो जाता है। प्रमाणान्तरों की संगति बैठाते हुए ही श्रुति के अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है।

ब्रह्मवादः

ये वेदवादिनस्ते तु मीमांसन्ते मुमुक्षवः।
जगतः कारणं ब्रह्मेत्येवं वेदेषु घुष्यते।।२।।
उत्पत्तिस्थितिनाशाः स्युर्यतस्तत्कारणं त्विति।
सामान्यमेव विज्ञातं विशेषस्तु न बुद्ध्यते।।३।।
कस्माद् वस्तुविशेषाद् नो जन्म केन च जीवनम्।
लयः कस्मिन् व्यवहृतौ सुखादौ को नियच्छति।।४।।

दृष्ट अनुभवों का अनुसरण करने वाली युक्ति से जितनी सरलता से तथ्य-निश्चय होता है उतनी सरलता से केवल शब्द-समर्पण द्वारा नहीं हो पाता। विद्वानों के अनुभव को भी आदर देना आवश्यक है अत एव ब्रह्मनिष्ठ ही ब्रह्मविषयक उपदेश देने में सक्षम माना गया है। वेद अंतिम, अकाट्य प्रमाण अवश्य है पर वह किस तरह के प्रमेय का समर्पण कर रहा है यह निश्चय करने के लिये आवश्यक विचार में प्रमाणान्तर, विद्वदनुभव आदि का सामंजस्य बैठाना अनिवार्य होता है। अतः विचार के बिना ब्रह्म का स्वरूप नहीं समझा जा सकता। चित्त-भूमि तैयार करने के बाद सद्गुरु से उपदेश ग्रहण कर उस पर विचार करने से ही ज्ञान होता है। गुरु या शास्त्र की बात भी केवल 'मान' लेने से अविद्या नहीं दूर होगी, उस बात को समझना पड़ेगा, वह कैसे ठीक है, उससे अन्य बातें कैसे ग़लत हैं यह जानना पड़ेगा तभी अविद्या दूर होगी। यह विचार वाद-रूप अर्थात् जिज्ञासापूर्वक सत्यनिश्चयार्थ होता है, किसी भी पक्ष के समर्थन या खण्डन मात्र के लिये नहीं होता। यह साधकों का प्रयास है, जीतने-हराने की इच्छा वालों का या अपने आग्रह सत्यापित करने वालों का नहीं।

ब्रह्मवादियों के विचार को प्रस्तुत करते हैं **जो स्वीकारते हैं कि वेद-प्रतिपाद्य ही सत्य है वे तो संसार-बंधन से छूटना चाहते हुए सादर विचार करते हैं : जगत्कारण ब्रह्म है यों वेदों में घोषित है।।२।। 'जिससे जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-नाश होते हैं वह कारण है' इस तरह कारण का सामान्य ज्ञान तो है पर 'जगत्कारण अमुक है' यों विशेषरूप से वह समझ नहीं आ रहा।।३।। वह कौन-सी विशेष वस्तु है जिससे हमारा जन्म हुआ है, हमारा जीवन किससे चल रहा है, किसमें विलय होता है, सुखादि-विषयक व्यवहार का नियामक कौन है? (इसके बारे में विचार किया जाये।)।।४।।** श्रुति में 'ब्रह्मवादी' कहा; ब्रह्म-शब्द का एक अर्थ वेद भी है अतः यहाँ उसकी व्याख्या 'वेदवादी' से की। जो अपने विचार का

मुख्य क्षेत्र वेद को बनाये, उसी की स्थापनाओं से अपना जीवन चलाये, पुरुषार्थ की प्राप्ति उसी से कहे साधनों से करे वह वेदवादी है। कुतूहल आदि से वेदविषयक विद्वान् हो जाने से वेदवादी नहीं हो जाता, वेदार्थ ही सत्य है, उससे विरुद्ध झूठ है इस निश्चय से वेदाज्ञाओं के पालन में तत्पर को वेदवादी कहते हैं। वेदवादी भी इह-पर लोकों में अभ्युदय चाहने तक कर्म-उपासना के बारे में ही विचार कर सकते हैं, जब वे मोक्ष के इच्छुक होते हैं तभी जगत्कारण ब्रह्म के विचार में प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि सालोक्यादि अनेकविध मोक्ष हैं तथापि वे कर्मोपासना से ही लभ्य हैं, आत्मयाथात्म्य के ज्ञान से तो कैवल्य मोक्ष ही प्राप्त होता है जो सर्व-द्वैत-निवृत्तिरूप है। द्वैतरूप बंधन से अवश्य छूटने के इच्छुक ही मीमांसा करेंगे, पूज्य-बुद्धि से विचार करेंगे। विचार्य विषय, विचार के प्रयोग में आने वाले प्रमाण-तर्कादि और विचार का प्रयोजन इन सभी के प्रति पूज्यता का भाव रखते हुए विचार करने का नाम मीमांसा है। अपूज्य-बुद्धि से विचारने पर दोषों का ही उद्भावन होता है, शास्त्रादि में क्या ग़लती है यही खोज होती है, पुरुषार्थसाधक कोई ज्ञान हासिल नहीं होता। ऐसे लोग पूरी किताब भी नहीं पढ़ते! उसकी किसी आलोचना के भरोसे ही मान लेते हैं कि किताब में अमुक ग़लत बातें हैं। मीमांसा से ही वेद-तात्पर्य सही-सही समझ आ सकता है। मोक्षप्रद विचार का विषय है जगत्कारण परमात्मा। उसी के ज्ञान से मोक्ष होता है। कार्य का आकार ग्रहण करने वाला उपादान कारण कहलाता है और जो उस आकार को ग्रहण कराता है वह निमित्त कारण कहा जाता है। गहने का उपादान कारण सोना और निमित्त कारण सुनार है। बनाने वाला निमित्त और बनने वाला उपादान होता है। संसार का दोनों तरह का कारण एक परमात्मा ही है। वही जगत्को बनाता है, वही जगत् बनता है। अतः परमात्मा को जगत् का अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण कहते हैं। इसके दृष्टान्त मकड़ी का जाला, केश आदि हैं यह मुण्डक के प्रसंग में अ. ६ श्लो. १६-२१ में कह आये हैं। स्वप्न भी उत्तम दृष्टांत है, वहाँ हम ही बनते हैं, हम ही बनाते हैं। ऐसे ही ब्रह्म ही जगत् बनता-बनाता है। जगत् का इकलौता कारण ब्रह्म है यह सारे वेद में जगह-जगह प्रतिपादित है अतः इसे 'घोषित' तथ्य कहा। जैसे घोषणाएँ बार-बार दुहराकर प्रचारित की जाती हैं वैसे यह बात वेद में अनेकत्र कही है। 'जगत्कारण ब्रह्म है' सुनकर सिर्फ़ इतना मालूम चले कि कोई अज्ञात वस्तु है जिससे जगत् के जन्म-स्थिति-भंग होते हैं तो इसे कारण का सामान्य ज्ञान कहेंगे। कारण वस्तु कौन है, कैसी है इसकी सही जानकारी हो तो उसका विशेष ज्ञान कहा जायेगा।

विशेष ज्ञान न हो तो भ्रम सुलभ है। लोग कह देते हैं कि 'ब्रह्म, अल्लाह, गॉड सब एक के ही नाम हैं' क्योंकि वे इनके विशेष ज्ञान से रहित हैं, सामान्यतः जानते हैं कि अलौकिक सामर्थ्य-संपन्न कोई है। जब विशेषतः समझें तब पता चलेगा कि एक के ही ये नामभेद नहीं हैं वरन् इन शब्दों के अर्थ परस्पर विलक्षण ही हैं। जैसे काली मिर्च और हरी मिर्च, मिर्च तो कहलाती हैं पर इनके सभी गुणधर्म अलग हैं, पौधे मौसम आदि सब विलक्षण हैं, वैसे ही ब्रह्म, गॉड आदि में अंतर ही है। वस्तु के स्वरूप की समग्र जानकारी के बाद ही निर्णय हो सकता है कि विभिन्न शब्द उसी के बोधक हैं या नहीं। यह विशेष ज्ञान विचार आदि साधनों की अपेक्षा रखता है। तैत्तिरीयोपनिषत् में कथा आयी है कि वरुण ने भृगु को ब्रह्म का उपदेश इतना ही दिया 'अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् (अन्न अर्थात् स्थूल शरीर, प्राणभोक्ता, चक्षु-श्रोत्रबाह्येंद्रियाँ, मनअंतरिंद्रिय, और वाक् ये सब द्वार हैं ब्रह्म की उपलब्धि के लिये।) जिससे ये भूत पैदा होते हैं, जिससे जीवित रहते हैं, जिसमें लीन होते हैं, उसे जानने की कोशिश करो, वह ब्रह्म है।' भृगु ने तप से क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनंद को ब्रह्म समझा। विज्ञान को जानने तक वह अपने ज्ञान की परीक्षा पिता से कराता रहा और हर बार वे उसे और तप करने को कहते रहे। आनंद को जानकर भृगु स्वयं संतुष्ट हो गया, उसने किसी से पूछने की ज़रूरत नहीं समझी। द्वार और लक्षणइतने से सामान्य ज्ञान हो गया, तप से विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ। सामान्य ज्ञान के बाद विचाररूप तप करने से विशेष ज्ञान होता है। यहाँ भी विचारक ऋषियों को सामान्य ज्ञान है कि जगत्कारण ब्रह्म है पर विशेष ज्ञान नहीं कि वह ब्रह्म कौन, किस स्वरूप वाला है।

जिन प्रश्नों के उत्तररूप से ब्रह्म पता चलेगा उनमें प्रथम है कि हम किससे उत्पन्न हुए? सारे जगत् की समस्या अन्य किसी को नहीं, हमें है, जीव को है। अतः आकाशादि भूतों के कारण को जानने से ज़्यादा ज़रूरी स्वयं अपने कारण को जानना है। हम भी इस जगत् के अंतःपाती हैं, सारे जगत्का कारण हमारा भी कारण होगा, फिर भी अध्यात्म-साधक की जिज्ञासा आत्मसम्बन्धी ही होती है अतः अपने कारण के रूप में ब्रह्म को खोजना प्रारम्भ किया जा रहा है। बाह्य वस्तुओं की कारण-परंपरा कुछ कोटियों तक प्रत्यक्षादि से पता लगायी जा सकती है जैसे गहना सोने से बना, सोना खान से आया, खान ज़मीन में थी इत्यादि। लेकिन हमारा जन्म कैसे हुआ इस बारे में प्रत्यक्षादि कुछ पता नहीं लगता। स्थूल शरीर के कारणों का तो पता लग

पितृभ्यामन्नतो रोगाद् अपि जन्मादयस्त्रयः।
नियामकश्च राजेति वचनं बालभाषितम्।।५।।
पितृराजाद्यशेषस्य जगतश्चिन्त्यतेऽधुना।
कारणं तच्च शास्त्रैकगम्यं शास्त्रं तु नैकधा।६।।

जायेगा लेकिन सुख-दुःख भोगने वाले हमारे कारण का कोई ज्ञान नहीं हो पाता। विचारपूर्वक श्रुति के चिंतन से ही इसका पता चल सकता है। हमें सुख हो या दुःख इसका नियंत्रण किसके हाथ में हैयह समझने से ही परमेश्वर का पता चलेगा। वही हमारे जीवन का हेतु है, उसकी इच्छा के बगैर एक क्षण हम जी नहीं सकते। हमारा ही नहीं संसार की हर वस्तु के जन्म-स्थिति-नाश का वही निरंकुश कारण है। हमारे सारे प्रयासों की समाप्ति उस परमात्मा में ही है, वहाँ पहुँचकर ही हम निरायास होंगे। उस परम तत्त्व की जिज्ञासा में ऋषिगण प्रवृत्त थे।।२-४।।

उक्त प्रश्नों का गांभीर्य न समझकर इनका सामान्य उत्तर संभावित कर उसका निषेध करते हैं **हमारा जन्म माता-पिता से होता है, स्थिति अन्न से रहती है, नाश रोगादि निमित्तों से होता है और हमारी प्रवृत्तियों का नियमन करने वाला राजा होता है। (उक्त प्रश्नों के) ये उत्तर तो बच्चों की बातों जैसे अग्राह्य हैं।।५।। अभी जिसका विचार कर रहे हैं वह माता-पिता, (अन्न, रोग, राजा) इत्यादि सारे जगत् का कारण है (न कि किसी एक शरीर का कि उक्त उत्तर संगत हों)। समस्त-चराचर संसार का कारण केवल शास्त्र से ही समझा जा सकता है। किन्तु शास्त्र एक ही प्रकार के कारण का वर्णन नहीं करता (विभिन्न चीज़ों का कारणरूप से उल्लेख कर देता है)।।६।।** [श्लो. ५ में निर्णयसागर का **रेतादपि** ग़लत पाठ है, मुत्तुशास्त्री का ही पाठ ठीक है।] माता-पिता से जन्म, अन्न-जल आदि से जीवन, रोग आघात आदि से मृत्यु तथा राजा से प्रशासन ये लोकदृष्ट हैं, चार्वाक, लोकायत इसी तरह के हेतुओं को पर्याप्त मानते हैं। किंतु ये उत्तर असार हैं। वही भोजन चार भाई खाते हैं, दो हृष्ट-पुष्ट रहते हैं, दो दुबले-पतले कमज़ोर रहते हैं; वही रोग दस लोगों को लगता है, दो मर जाते हैं बाकी बच जाते हैं; वे ही माता-पिता हैं, कभी गर्भ धारण नहीं होता, कभी गिर जाता है, कभी बच्चे पैदा होते हैं; अर्थात् इन चीज़ों के होने पर भी हमारा होना, रहना, मरना निश्चित नहीं अतः इन्हें कारण नहीं कह सकते। जिसके होने पर कार्य अवश्य हो उसे कारण कहते हैं। खाते-पीते नीरोग लोग मरते देखे जाते हैं अतः उक्त 'कारणों' के बिना भी कार्य

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतपञ्चकम्।
प्रधानं जीव एतानि मतान्युक्तानि शास्त्रिभिः।।७।।

मिलने से उन्हें कारण कहना ही नहीं बनता। राजा का नियम भी कोई मानता है, कोई नहीं भी मानता; स्वयं राजा भी सुखादि के प्रति प्रवृत्त होता है, उसका नियामक कौन? राजा भी दुःख पाता है, वह कौन देता है? इस तरह उक्त उत्तर बचकानी बाते ही हैं। किसी एक व्यष्टि का कारण ढूँढते तो कथंचित् संसार में मिलता भी, पर यहाँ विचार हो रहा है कि एक-दो चीज़ों का नहीं वरन् सारे संसार की सब चीज़ों का क्या कारण है, समष्टि ब्रह्माण्ड का कारण क्या है। माता-पिता अर्थात् अनादि काल से अनंत काल तक जितने माता-पिता हुए हैं, होंगे उन सबका कारण कौन है? समस्त अन्नों का कारण कौन है? सब रोगों का कारण कौन है? सारे राजाओं का कारण कौन है? ये चार तो प्रस्तुत होने से कहे, संसार की हर चीज़ का कारण क्या हैयह जिज्ञासा का विषय है। कारण अवश्य ही कार्य से पूर्व रहता है, कार्योत्पादन के बारे में जानकारी रखता है, आवश्यक साधनों से सम्पन्न होता है। अतः संसार के अन्तःपाती कोई व्यक्ति व वस्तु संसार का कारण नहीं हो सकती। इसीलिये कोई जीव उस कारण के बारे में प्रमाण नहीं है; जब कारण था तब हममें से कोई मौजूद था नहीं यह देखने वाला कि वह कारण है और संसार को कैसे बना रहा है। जीवात्मा को नित्य मानें तो भी उसे इन सब ज्ञानों के लिये शरीरादि चाहिये जो तब थे नहीं अतः उसे कारणविषयक ज्ञान संभव नहीं। अनुमान भी तभी प्रवृत्त हो जब व्याप्तिग्रहण आदि हो चुके, सर्वथा अगोचर वस्तु के बारे में अनुमान के लिये भी कोई आधार नहीं है अतः जगत् के कारण की अनुमान से जानकारी नहीं मिल सकती। इसे केवल शास्त्र से पता लगा सकते हैं। ब्रह्मसूत्र में स्पष्ट किया कि जगज्जन्मादिकारण ब्रह्म शास्त्रयोनि अर्थात् शास्त्रैक-समधिगम्य है। किन्तु शास्त्र में कारणरूप से अनेक तत्त्व प्रतिपादित लगते हैं। जिससे सहसा यह निर्णय संभव नहीं कि जगत्कारण का स्वरूप क्या है। यह तो ठीक है कि शास्त्र-तात्पर्य किसी एक को ही जगत्कारण बताने में है किन्तु तात्पर्य का निर्धारण एकाएक नहीं होता इसलिये विचार किया जा रहा है।।५-६।।

प्रथम मंत्र में प्रश्न उपस्थित कर द्वितीय मंत्र में उत्तरों का संग्रह है 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावाद् आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः'।।१.२।। इसे बताते हैं **काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पाँचों**

महाभूत, प्रधान (प्रकृति) और जीवकारण के बारे में ये मत शास्त्रज्ञों द्वारा कहे गये हैं।।७।। सबका कारण काल, समय है यह एक मत है। समय से ही सब कुछ होता है यह इस मत की स्थापना है। ज्योतिषी लोग प्रायः यही मानते हैं। दूसरा मत है कि वस्तुओं का स्वभाव ही उनका कारण है। एक ही समय में कोई फूल खिलता है कोई मुरझाता है, समय कारण होता तो यह भेद न होता अतः समय नहीं स्वभाव कारण है। अपने स्वभावों के अनुसार ही सारी प्रवृत्तियाँ होती हैं। चार भाई होते हैं, दो शान्त तो दो बदमाश, अतः माता-पिता, खान-पान, रहन-सहन समान होने पर भी यह फ़र्क़ स्वभाव से ही उपपन्न होता है। तीसरा मत कहता है कि स्वभाव भी बदलते देखे जाते हैं, पपीता पीला हुआ करता था, अब लाल होता है; घोर नास्तिक पुरुष अत्यंत धार्मिक हो जाते हैं, क्रोधी शांत हो जाते हैं; अतः अंतिम कारण स्वभाव नहीं वरन् नियति है जिसे भाग्य कहते हैं। अन्यों को इसके बजाये यदृच्छा हेतु जँचती है। कोई निश्चित कार्य-कारणता न हो तो कार्य क्यों हुआ? इसके उत्तर में कहते हैं 'यदृच्छा से'। यदृच्छा अर्थात् अनियतता, अचानक होना, अंग्रेज़ी में जिसे 'बाई चांस' (by chance) कहते हैं। घुणाक्षर-न्याय, काकतालीय-न्याय आदि से यदृच्छा व्यक्त होती है : घुन लकड़ी खाते हैं तो कभी क-कारादि कोई अक्षर अंकित हो जाता है, घुनने समझबूझकर वैसा नहीं किया, दुबारा वैसा कर नहीं सकता अतः उस अक्षर के अंकन का हेतु यदृच्छा ही है। कौवा बैठा और ताल-वृक्ष गिर गया। कौवा तो उसके गिरने में हेतु संभव नहीं, यदृच्छा ही कारण है। डार्विन का विकासवाद यदृच्छा के ही सहारे खड़ा है क्योंकि उसी प्रजाति में उसी तरह के परिवर्तनों की शृंखला के प्रति वे अन्य कोई कारण नहीं बताते, यदृच्छा को ही कहते हैं। कुछ अन्य लोग यदृच्छा की जगह पाँचों महाभूतों को कारण बताते हैं। सारी सृष्टि पाँच भूतों से बनी है अतः वे ही इसके कारण हैं। दूसरों का मानना है कि प्रधान अर्थात् प्रकृति नामक तत्त्व जगत्का कारण है। सांख्यवादी सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रधान कहते हैं और उसी से संसार की उत्पत्ति मानते हैं, कारणभूत उस प्रकृति में ही स्थिति और उसी में लय स्वीकारते हैं। प्रकृति से विकृति बने इसके लिये किसी चेतन की चेष्टा को वे नहीं स्वीकारते। कर्मकाण्डियों के मत में अपने कर्मों के द्वारा जीव जगत् बने रहने का कारण है। जीव के कर्मों के फल के भोग के लिये जगत् चलता हैयह उनका कथन है। सारा जगत् बना ऐसा वे मानते ही नहीं, प्रलयपूर्वक सृष्टि होती है यह उन्हें स्वीकार नहीं, बल्कि संसार हमेशा-से ऐसा ही है ऐसा वे समझते हैं। संसार

ऋतुकाले भवेद् गर्भो वर्षर्तौ सस्यसम्भवः।
उदाह्रियत इत्यादि बहुधा कालवादिना।।८।।
स्वभाववाद्यग्निमुष्णं जलं द्रवमुदाहरत्।
रूपज्ञानं चक्षुषैवेत्याहुर्नियतिवादिनः।।६।।
धनिकत्वादिव्यवस्था यदृच्छावादिनोच्यते।
भूतवादी देहगतकाठिन्यादीन् उदाहरत्।।१०।।
प्रधानवादी पुरुषान् सात्त्विकादीन् उदाहरत्।
जीववादी कर्मवशाज्जन्म देवाद्युदाहरत्।।११।।

के अंतर्गत जो वस्तुओं का बनना-बिगड़ना है वह प्राणिकर्मवशात् होता है यही कारणता उन्हें अंगीकार है। कारण-सम्बन्धी ये ही मुख्य विचार हैं, इनका उल्लेख कर दिया।।७।। चार श्लोकों में इन्हीं मतों का उपपादन करते हैं **काल को कारण मानने वाला ऐसे बहुत तरह के उदाहरण देता है ऋतुकाल में गर्भ होता है, वर्षा ऋतु में चावल पैदा होता है इत्यादि।।८।। स्वभावकारणवादी उदाहरण देता है कि अग्नि गर्म होती है, जल द्रव (प्रवाही) होता है इत्यादि। नियति-वादी कहते हैं कि रूप का ज्ञान चक्षु से ही होता है (इत्यादि नियम देखने में आते हैं)।।६।। यदृच्छा की कारणता बताने वाले इस व्यवस्था का दृष्टांत देते हैं कि कोई धनी है कोई ग़रीब है इत्यादि। महाभूतों को कारण मानने वाला देह में कठोरता है इत्यादि उदाहरण देता है।।१०।। प्रधान को कारण मानने वाला सात्त्विक आदि पुरुषों को दृष्टान्त बनाता है तथा कर्मवादी कर्म के फलस्वरूप देवादि जन्मों की प्राप्ति का उदाहरण देता है।।११।।** स्त्री का ऋतुकाल हो तभी गर्भ धारण होता है अन्य समय में नहीं, खेती भी निश्चित समय पर होती है, बेसमय नहीं इत्यादि अनुभव काल को कारण स्थापित करते हैं। आग स्वभाव से ही गर्म है, जल स्वभाव से ही बहता है इत्यादि अनुभवों से लगता है कि स्वभाव ही कारण है। रूप को आँख से ही देख सकते हैं कान से नहीं, आँख से रूप को ही देख सकते हैं शब्द को नहीं इत्यादि नियम देखकर नियति ही कारण प्रतीत होती है। स्वभाव तो प्रत्येक वस्तु की सामर्थ्य है जबकि एकाधिक वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध में नियम को नियति कहते हैं, यह स्वभाव और नियति में भेद है। स्वभाव अन्य-निरपेक्ष होता है, नियति में इतरापेक्षा रहती है। कोई धनाढ्य के घर पैदा होता है, कोई कंगले के घर पैदा होता है, इसमें यदृच्छा ही हेतु समझ आती है। सब चीज़ों में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-

सर्वत्र युक्तेर्दृष्टत्वात् किं तत्त्वमिति चिन्त्यते।
सर्वेषामनिवार्यत्वात् तत्सङ्घोऽस्त्विति चेद् न तत्।।१२।।
स्वतन्त्रे चेतने जीवे सति कालाद्यचेतनाः।
समप्रधानभावेन कथं सङ्घी भवन्ति ते।।१३।।

गंध ये ही गुण मिलते हैं, इससे लगता है कि सब चीज़ें आकाशादि महाभूतों से ही बनी हैं। लोगों में कोई सात्त्विक, कोई राजस तो कोई तामस मिलता है अतः सत्त्वादि गुणों को कारण मानना उचित लगने से सत्त्वादि के संमिलितरूप प्रधान को कारण कहा जाता है। कर्मों के फलस्वरूप उत्तम-अधम जन्म मिलते हैं यह संगत व्यवस्था प्रतीत होती है जिसके अनुसार कर्मों को ही कारण मानना जँचता है। इस प्रकार सभी पक्षों में कुछ अनुकूल युक्तियाँ मिलती हैं इसलिये विचार की आवश्यकता पड़ती है यह निश्चय करने के लिये कि वास्तव में क्या है जो सारे जगत्का कारण है।।८-११।।

मंत्र में एक पक्ष था 'संयोग एषाम्' कि उक्त सब मिलकर कारण हैं, उसे भी उपस्थापित कर इन पक्षों का निराकरण भी करते हैं **पूर्वोक्त सब पक्षों की समर्थक युक्तियाँ देखी जाने से यह चिन्तन किया जाता है कि वास्तविकता क्या है। कहे गये सभी की कारणता आवश्यक है तो इनके संघ को ही कारण मान लिया जाये यह पक्ष ठीक नहीं।।१२।। जीव चेतन अतः स्वतंत्र है, काल आदि जड (अतः परतंत्र हैं)। एक जैसी प्रधानता वालों का ही संघ बनता है, ग़ैर-समानों का संघ नहीं होता। अतः उक्त सबका संघ ही संभव नहीं तो संघ की कारणता दूरनिरस्त है।।१३।।** सभी कारणवादी अपने-अपने पक्ष पुष्ट करते रहते हैं। कुछ भक्त ईश्वर-कृपा की बात करते हैं पर कारणवादियों को कृपा जँचती नहीं, उसमें भी कोई-न-कोई कारण ढूँढते हैं। ऐसे कारणवादियों की बातों में कुछ दम देखकर कोई मानना चाहे कि ये सभी मिलकर जगत्कारण हैं, तो वह भी संगत नहीं है। संघ में सब सदस्य समान होने चाहिये। यदि कोई प्रधान है तो कारण वही होगा, बाकी सहायक कोटि में आ जायेंगे। जैसे भात पकाने के लिये चावल, पानी, तपेली, ढक्कन, चूल्हा, लकड़ी, दियासलाई ये सभी चाहिये परंतु भात का कारण है चावल, न कि उन सबका संघ। खिचड़ी के प्रति दाल-चावल का संघ कारण है क्योंकि दोनों की बराबर आवश्यकता है। फ़र्क़ यह पड़ता है कि सहायकों में फेरबदल संभव है, कारण में नहीं। जैसे पानी की जगह दूध में भी भात पक जायेगा, तपेली न हो तो कढ़ाई में पक जायेगा, चूल्हा आदि के बिना

तर्हि जीवो हेतुरस्तु तन्न दुःखादिदर्शनात्।
स्वतन्त्रः स्वात्मनो दुःखं कुर्वन् दृष्टो न हि क्वचित्।।१४।।

यमुनोत्तरी में गर्म पानी के कुण्ड में ही पक जाता है, अर्थात् सहायक बदले जा सकते हैं पर चावल को नहीं बदल सकते, भात उसी से बनेगा, अतः वही कारण है न कि संघ। ऐसे ही खिचड़ी में दाल-चावल दोनों चाहिये, विकल्प नहीं है अतः उनका संघ कारण है। बराबरी की प्रधानता वालों का ही संघ होता है। उक्त कालादि की प्रधानता एक-सी है नहीं अतः इनका संघ ही संभव नहीं है। सर्वत्र प्रेरक कारण चेतन ही देखा जाता है, इच्छादि-पूर्वक वही सामग्री का विनियोग करता है और कार्य को सत्ता में लाता है। चूल्हा जलाना, तपेली में पानी-चावल डालना आदि कार्य चेतन करता है। जड चीज़ें चेतन को प्रयुक्त नहीं करतीं। स्वतंत्र चेतन ही होता है, जड नहीं। स्वतंत्र ही प्रधान हो सकता है अतः उक्त वस्तुओं में आत्मा या जीव ही सर्वप्रमुख होगा, सबको एक-सा प्रमुख नहीं मान सकते कि इनका संघ स्वीकार किया जाये।।१२-३।।

मंत्र में कालादि को उपस्थापित कर उनका निषेध किया 'न तु' से। संघ की कारणता के निषेध में हेतु दिया 'आत्मभावात्' अर्थात् उक्त प्रत्येक वस्तु कारण नहीं और संघ इसलिये कारण नहीं कि उक्त समूह में आत्मा भी मौजूद है और आत्मा-अनात्मा का संघ बन नहीं सकता। फिर, आत्मा (जीव) भी कारण नहीं इसमें हेतु दिया 'आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः'। इस भाग की व्याख्या करते हैं **यदि कालादि प्रत्येक या उक्त सभी का संघ कारण नहीं हो सकते तो क्या जीव जगत्कारण माना जाये? वह भी जगत्कारण नहीं है क्योंकि दुःखादि का अनुभव होता है। स्वतंत्र व्यक्ति अपने लिये दुःख पैदा करता हुआ कभी नहीं देखा गया।।१४।।** मीमांसक जीव को हेतु मानता है पर क्योंकि जीव बलात् दुःख भोगता है इसलिये उसे कारण स्वीकारना संभव नहीं। दुःखादि के 'आदि' से चिंता, भयादि समझने चाहिये। चेतन स्वतंत्र है, वह अपने लिये दुःखादि क्यों तैयार करेगा! इससे स्पष्ट है कि जीव जगत्कारण नहीं। किं च जीव को कर्मद्वारा कारण मानने पर कर्म-फलव्यवस्था किसके अधीन स्वीकारी जायेयह समस्या रहती है। अमुक कर्म का अमुक फल हैयह नियमन कौन करता है? क्या इसे कर्म का स्वभाव मानें या ऐसी नियति ही मानें? जीव को यह व्यवस्था ज्ञात ही नहीं तो वह इसका नियामक हो नहीं सकता, ईश्वर मीमांसक को स्वीकार नहीं और स्वभावादि मानने पर पूर्वोक्त दोष होते हैं तथा स्वभाव को कर्म-फल में नियामक मानने पर सर्वत्र ही स्वभाव को ही हेतु मान सकने से कर्म और

मायादर्शनम्

दोषान् सर्वेषु पक्षेषु पश्यन्तो बहुधा तदा।
मायाशक्तिमनिर्वाच्याम् अपश्यन् ध्यानयोगतः।।१५।।

तद्द्वारा जीव को हेतु ही न मानने की आपत्ति आती है। इस प्रकार निश्चय हुआ कि उक्त कोई वस्तु या सब मिलकर जगत्कारण नहीं है।।१४।।

तीसरा मंत्र है 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।' उन ऋषियों ने ध्यान-प्रयोग से परमात्मा की शक्ति को समझा जो अपने ही गुणों से छिपी थी। जिसकी वह सामर्थ्य है वह परमात्मा स्वयं अद्वितीय है एवं पूर्वोक्त समस्त कारणों का अधिष्ठान है। छह श्लोकों से इसे स्पष्ट करेंगे **कारण-सम्बन्धी सभी संभावनाओं में बहुत तरह के दोष देखते हुए उन ब्रह्मवादियों ने तब ध्यानात्मक योग का अभ्यास किया जिससे उन्होंने अनिर्वचनीय माया-शक्ति देखी।।१५।।** परस्पर विचार से कोई एक कारण निर्धारित न हो पाने पर वे ऋषि-मुनि इसी विषय पर एकाग्र होकर ध्यान करने लगे। श्रद्धापूर्वक विचार कुण्ठित हो जाने पर उस विचारणीय तत्त्व पर ही चित्त एकाग्र किया जाये तो कोई नया प्रकाश मिलता ही है। केनोपनिषत् में कथा आई है कि यक्षरूप ब्रह्म के निकट इंद्र पहुँचा तो यक्ष तिरोहित हो गया, तब इन्द्र श्रद्धा से सोचने लगा कि 'यह क्या था?' उस समय भगवती उमा ने उसे समझाया कि यह ब्रह्म था। ऐसे ही ऊहापोह से समझ न आने पर ब्रह्मवादी जगत्के कारण तत्त्व पर ध्यानमग्न हो गये ताकि कोई अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो। तब उन्हें परमात्मा की माया-शक्ति की समझ आयी जो है ही ऐसी कि 'है-नहीं है' आदि पक्षों में उसे नहीं बाँध सकते। अपनी उस शक्ति से ब्रह्म ही जगत्कारण है। उसके सिवाय और कोई नहीं जो जगत्कारण हो। हम जिन्हें लोकसिद्ध कारण मानते हैं वे भी वास्तव में कार्य की ही क्रमिक दशाएँ हैं, वास्तव में तो सर्वत्र कारण ब्रह्म ही है, जैसा वार्तिक है 'आऽन्त्यकार्यात् तदेव स्याद् यदाद्यं प्रति कारणम्'। सारे जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति वाला परमेश्वर ही जगत्कारण है यह उन्हें समझ आया। काल आदि प्रतीयमान कारणों को वही अधिष्ठित किये है, वही इन्हें बनाता है और कभी किसी को तो कभी किसी और को कारण के रूप में दिखा देता है।।१५।।

परमेश्वर की अनिर्वचनीय माया के अतिरिक्त यद्यपि लोकदृष्टि से कुछ-न-कुछ कारणरूपसे प्रतीत होता रहता है तथापि मायासे अन्य कुछ भी इसलिये वस्तुतः कारण

द्वित्रिकक्षासु युक्तीनां सत्त्वेऽप्यन्ते न सन्ति ताः।
न जानामीत्येवमन्ते विषीदन्ति हि वादिनः।।१६।।
यद् अन्ते शरणं सर्ववादिनाम् अविवादतः।
तद् अज्ञानम् अनिर्वाच्या मायेत्याहुर्विपश्चितः।।१७।।

कहना नहीं बनता कि किसी भी पक्ष को युक्तिसे पूरा समर्थन उपलब्ध नहीं। यह व्यक्त करते हैं **दो-तीन कोटियों तक युक्तियाँ (अनुकूल तर्क) होने पर भी आगे नहीं मिलतीं क्योंकि आखिर में वादीगण यही खेद व्यक्त करते हैं कि 'पता नहीं'।।१६।।** यद्यपि आपाततः कारण-व्यवस्था में संगति है तथापि सूक्ष्म विचार इस संभावना को खोखला सिद्ध करता ही है। आधुनिक भौतिकी भी अपेक्षाओं को दृष्टि में रखकर संभावनाओं से सन्तोष की शिक्षा दे रही है, निश्चित सार्वत्रिक कारणता का बन्धन अमान्य कह रही है। युक्ति यदि लगातार लागू न हो सके तो उसे युक्ति ही नहीं कह सकते। मौके के अनुसार दी गयी व्यवस्था युक्ति होती नहीं वरन् स्थिर नियम को युक्ति स्वीकारा जाता है। क्योंकि दो-चार स्तरों से आगे युक्ति लगने पर अज्ञान ही नतीजा निकलता है इसलिये जहाँ कार्यकारणभाव यौक्तिक लग भी रहा है वहाँ उसे अवसरानुकूल चिंतनसे अधिक नहीं मान सकते। शंकरानंद स्वामी ने आत्मपुराण (१.३७२ आदि) में यह विचार सुस्पष्ट किया है। 'नहीं मालूम'यह माया को ही अभिव्यक्त करने वाले शब्द हैं। प्रपंच की उत्पत्ति है ही अतर्क्य क्योंकि निर्विकार अद्वय से द्वयरूप विकार कैसे भी उपपन्न नहीं है। वादियों को शीघ्र ही इस अज्ञान की शरण लेनी ही पड़ती है। क्यों एवं कैसेइन प्रश्नों का दो-चार कड़ियों के बाद उत्तर दुर्लभ हो जाता है। क्योंकि वादी इस अभिमान से प्रवृत्त है कि तर्क से कारण व्यवस्थित करेंगे इसीलिये जब उन्हें अपना अज्ञान प्रकट करना पड़ता है तब खेद महसूस करते हैं। बुद्धिमानों को तो अज्ञान स्वीकारना उचित लगता है क्योंकि उन्हें मालूम है कि कारण है ही अज्ञान लेकिन अन्यों को आग्रह रहता है कि अज्ञानातिरिक्त ही कारण होना चाहिये अतः वैसा कारण समर्थित न कर सकने से उन्हें विषाद हो यही स्वाभाविक है।।१६।।

वेदान्ती सब वादियों को आदर देता है अतः कहता है कि सभी विचारक जिसके बारे में एकमत हैं उस अज्ञान को ही कारण कोटि में गिन लेना उचित है। यही बताते हैं **आखिर में जो सब वादियों की निर्विवाद शरण है उस अज्ञान को विद्वान् अनिर्वचनीय माया कहते हैं।।१७।।** सब वादी किसी स्तर पर 'पता नहीं' अवश्य

अनिर्वाच्येऽपि युक्तिं चेद् अन्विच्छति स मूढधीः।
न रूपं चक्षुषा द्रष्टुमिच्छत्येवाऽतिमोहितः।।१८।।
सर्वकार्येषु शक्तत्वाद् मायाऽऽक्षेपं न साऽर्हति।
दुर्घटस्यैव घटने स्वभावः सर्वसम्मतः।।१६।।

मानते हैं। 'पता नहीं' इस उत्तर पर कोई प्रतिप्रश्न बनता भी नहीं अतः वादियों का यही अंतिम उत्तर है और क्योंकि सभी का अन्तिम उत्तर यह है इसलिये अवश्य इस बारे में सब निर्विवाद भी हैं। जिसके विषय में सभी समझदार एकमत हैं उसे स्वीकारने में ही बुद्धिमानी होने से वेदान्ती अंगीकार करता है कि जगत् का कारण अज्ञान है। उसी का माया भी नाम है और सत्-असत् आदि स्वभावों में न बँध सकना उसका स्वरूप है जिसे अनिर्वचनीय-शब्द से कहा जाता है।। १७।।

सभी को मान्य होने पर भी हठी वादी कहते हैं कि माया कारण हो कैसे सकती है! अर्थात् वे इस अविद्याकारणता को स्वानुभव से नहीं वरन् किसी तर्क से समझना चाहते हैं। तर्क की नाकामयाबीरूप अज्ञान पर भी तर्क लागू करना अत्यन्त अतर्कसंगत है यह समझाते हैं **अनिर्वचनीय के बारे में भी अगर युक्ति ढूँढे तो वह मोहग्रस्त बुद्धि वाला समझा जायेगा जैसे कोई अतिमुग्ध चाहे कि रूप देखूँ तो सही पर आँखों से नहीं!।।१८।।** जब पूर्वोक्त क्रम में सभी विचारक अज्ञान-पर्यन्त ही समझ पाते हैं तब उस अनुभवानुसारी के बारे में तर्क की जिज्ञासा निष्फल है। रूप दीख आँखों से ही सकता है, अन्य उपाय से उसका प्रत्यक्ष अशक्य है। आँख से अतिरिक्त किसी इंद्रिय से दीखे तब रूप को मानूँऐसा हठ रखने वाला विचारशील नहीं वरन् मूर्ख ही समझा जायेगा। इसी प्रकार तर्क की सीमा व्यक्त हो चुकने पर अनुभूयमान अज्ञान में पुनः तर्क-संमति की संभावना भी मूर्ख को ही उपस्थित होगी न कि विचारशील को।।१६।।

अज्ञान की अतर्क्यता व्यक्त करते हैं **वह माया सब कार्यों में समर्थ होने से आक्षेप के योग्य नहीं। उसका सर्वसम्मत स्वभाव ही है कि दुर्घट को घटा देती है।।१६।।** आक्षेप अर्थात् 'माया ने क्यों या कैसे कर दिया?' यह प्रश्न या लांछन। जो कुछ होना संगत नहीं, कोई और कर सके यह संभव नहीं, वही कर देने वाली ही माया है। असंभव जब घट जाता है तब उसके कारणरूप से जो समझ आये उसी का नाम माया है और उसी की हमें अनुभूति 'पता नहीं' के आकार में होती है। जादूगर कैसे कर दिखाता है इसका हमें पता न होना ही तो जादूगर की माया है। इसी प्रकार

तथाविधायां मायायां परात्मा प्रतिबिम्बितः।
अवान्तराणि वस्तूनि कालादीन्यधितिष्ठति।।२०।।

चक्रनद्यौ

मायाविशिष्टमीशानं जगदाकारतां गतम्।
संसारचक्रमित्याहुः संसाराख्यनदीति च।।२१।।

जीव की दृष्टि से अज्ञान को ही ईश्वर की ओर से माया कहते हैं। क्योंकि सभी कार्य करने वाली है इसलिये किसी भी कार्य से आश्चर्यचकित होना व्यर्थ है, माया है ही वह जो ऐसे अचंभे रचने में सक्षम है। 'अघटितघटनापटीयसी' आदि में माया की यह विशेषता स्पष्ट है। जब कार्य से ही शक्ति समझी जा सकती है और अतर्क्य कार्य से समझी जाने वाली शक्ति माया है तब उसके लिये वह कार्य अशक्य हो ही नहीं सकताइस साधारण-सी बात को न समझने वाले द्वैतादिवादी घोर तामस हैं इसमें क्या संदेह!।।१६।।

जड होने से इकलौती माया कारण न हो सकने से वह परमात्मनियंत्रण से ही इस योग्य है यह समझाते हैं **उस प्रकार की माया में परमात्मा प्रतिबिम्बित हो जाता है फिर काल आदि अवान्तर वस्तुओं का भी अध्यक्ष बन जाता है।।२०।।** बिना सचमुच सम्बद्ध हुए अतिघनिष्ठ सम्बन्ध वाला प्रतीत होना 'प्रतिबिम्बित होना' कहा जाता है। माया से परमात्मा यों ही संबद्ध है जिसके फलस्वरूप वह लगती है मानो चेतन हो! तथा परमेश्वर लगता है मानो परिवर्तनशील हो! इस प्रकार कार्योत्पादन संभव हो जाता है क्योंकि प्रतिबिम्बयुक्त माया जड भी नहीं रही और चेतन आत्मा निर्विकार भी नहीं रहा। क्योंकि परमात्मा-माया का सम्बन्ध है नहीं, केवल प्रतीयमान है इसलिये परमेश्वर की निर्विकारता अक्षुण्ण रहती है। 'अवान्तर' अर्थात् माया के अलावा जो कुछ कारणकोटि का समझा जाता है वह माया का विलास ही है अतः जो माया को सचेतन-सा बनाता है वही परमेश्वर उन काल आदि वस्तुओं का भी अधिष्ठाता बनता जाता है जिससे वे भी कारण प्रतीत होते रहते हैं। क्योंकि इतनी ज़्यादा अवान्तर वस्तुएँ हैं इसीलिये मायामात्र ही कारण है यह सरलता से जँचता नहीं।।२०।।

चौथा मंत्र ब्रह्म तत्त्व का चक्र के रूप में और पाँचवाँ नदी रूप में वर्णन करता है। उनका संग्रह करते हैं **माया-समेत परमेश्वर जगत् के आकार को प्राप्त है। उसी को संसारचक्र तथा संसार-नामक नदी कहते हैं।।२१।। फिर-फिर पैदा होता**

पुनः पुनर्जायमानश्चक्रवत् परिवर्तते।
अविच्छेदेन संसारो नदीवत् प्रवहेत् सदा।।२२।।

जीव ईशो ब्रह्म

जीवोऽहङ्कारोपहितश्चक्रवद् भ्राम्यते सदा।
मायोपहित ईशानो जन्मसु प्रेरयेदमुम्।।२३।।
उपाधिद्वयहीनं तु ब्रह्म वेदेषु बोध्यते।
इत्थं वेदरहस्यज्ञा भवेयुर्ब्रह्मतत्पराः।।२४।।

हुआ चक्र की तरह चलता रहता है और बिना रुके नदी की तरह हमेशा बहता भी रहता है।।२२।। अधिभूत-प्रधानता से चक्र का रूपक एवं अध्यात्म दृष्टि से नदी का रूपक सुगम है। बाहरी पदार्थ बनते-बिगड़ते रहते हैं जबकि भीतरी द्रष्टा या कर्त्ता-भोक्ता लगातार बना रहता है। क्रिया-भोग बदलते रहने पर भी कर्त्ता-भोक्ता कायम रहता है जैसे जलबिंदु बदलने पर भी प्रवाह चलता रहता है।।२१-२।।

उपाधिभेद से जीव-ईश्वर की व्यवस्था अखण्ड ब्रह्म में संगत करते हैं **अहंकाररूप उपाधिवाला जीव हमेशा चक्के की तरह घुमाया जाता है। माया उपाधि वाला ईशान जीव को जन्मों में प्रेरित (नियंत्रित) करता है।।२३।। दोनों उपाधियों से रहित ब्रह्म वेदों में समझाया गया है। इस तरह वेद के रहस्य के जानकारों को ब्रह्म के तत्पर होना उचित है।।२४।।** ब्रह्म ही अविद्यामूलक अनात्माभिमानरूप अहंकार की उपाधिवश जीवभाव को प्राप्त है एवं मायारूप उपाधि से ईश्वरभाव को प्राप्त है। जैसे चक्रात्मक झूले पर चढ़ा व्यक्ति घूमता रहता है, मध्य में उसे चलाने वाला यान्त्रिक चक्र चलाता रहता है वैसे जीव संसार में भटकता है और ईश्वर इस संसार का ऐसा संचालन करता है कि जीव भटकता रहे। इस व्यवहार की पूर्णता, समाप्ति, उपाधिनिर्मुक्त परमार्थ वस्तु के निश्चित प्रामाणिक साक्षात्कार से ही है। वेद तात्पर्यतः उसी तत्त्व के प्रतिपादक हैं अतः वेद का हृदय समझने वाले श्रद्धालु अन्यत्र मन न लगाकर उस सत्त्य ब्रह्म का ही अवगम पाने में संलग्न रहें यही मानव का मुख्य कर्त्तव्य है। इस प्रकार मंत्र ६ और ७ का भाव व्यक्त किया।।२३-४।।

व्यवहार दशा में जीव-ईश्वर का औपाधिक विभाग होने पर भी परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार उस मिथ्या विभाजन का बाधक बनता है यह बताने वाले आठवें मंत्र का संग्रह करते हैं **सृष्टि और संहार में जगत् क्रमशः व्यक्त और अव्यक्त हो जाता है। दोनों को धारण करने वाला ईश्वर है, चिद्रूप आत्मा तो विमुक्त है।।२५।।**

जगत् स्याद् व्यक्तमव्यक्तं सृष्टिसंहारयोः क्रमात्।
बिभर्ति द्वयमीशानश्चिदात्मा तु विमुक्तिभाक्।।२५।।
ईशानीशावज्ञतज्ज्ञौ भोक्ता भोजयिता च तौ।
तयोर्निर्वाहिका माया ब्रह्मण्यारोपितं त्रयम्।।२६।।
जगद्भ्रमं जीवभेदं वासना देहधारणम्।
चतुष्टयं निराकुर्याद् अभिध्यानादिभिः क्रमात्।।२७।।

'विश्वम् ईशः भरते' से श्रुति ने स्पष्ट किया है कि चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त, संसार है केवल परमेश्वर के सहारे, उन्हीं द्वारा धारण किया हुआ है। आत्मा स्वभाव से केवल चेतनरूप है और नित्यमुक्त ही है। अविद्यावश स्वयं को संसारी समझने पर भी जैसे ही महादेव का निर्विकार स्वरूप समझता है वैसे ही सब पाशों से छूटा हुआ मुक्तस्वरूप ही रहता है।।२५।।

एक 'अजा' से दो 'अजों' की व्यवस्था बताते नौवे मंत्र का भाव सूचित करते हैं **अज्ञानी अनीश (जीव) और तत्त्व समझता हुआ ईश क्रमशः भोक्ता और भोजयिता (भोग कराने वाला) हैं। इन दोनों का निर्वाह करने वाली माया है जिससे तीनों (माया-भोक्ता-भोजयिता) ब्रह्मपर अध्यस्त हैं।।२६।।** ईश्वर उपाधियुक्त होने पर भी वास्तविकता से बेखबर नहीं है। माया की आवरणशक्ति का ईश्वर पर प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् 'मुझे सत्त्य नहीं पता' यों ईश्वर का अनुभव नहीं। जीव पर आवरणशक्ति कारगर है अतः वह अज्ञानी है। जीव भोग करने वाला है एवं ईश्वर उसे भोग करवाने वाले हैं। होते दोनों कार्य मायाद्वारा ही हैं क्योंकि व्यवहार मात्र मायिक, असत्य ही है। माया स्वयं भी परमात्मा पर अध्यस्त है और आगे जीवभाव-ईश्वरभाव का भी अध्यास कराती है। दूसरों के अध्यास की तरह स्वयं अपने भी अध्यास में माया सक्षम है।।२६।।

दसवें मंत्र में अभिध्यान-योजन-तत्त्वभाव इन उपायों से माया की समग्र निवृत्ति बतायी है यह सूचित करते हैं **जगत्का भ्रम, जीवों के परस्परभेद, वासनाएँ और देह को धारण करनाइन चारों का अभिध्यानादि से क्रमशः निराकरण करना चाहिये।।२७।।** जगत् तो स्वरूप से कल्पित अतः भ्रम है जबकि जीव स्वरूप से सत्य केवल परिच्छिन्नरूप से कल्पित अतः भ्रम है। नाम-रूप स्वयं असत्य हैं किंतु हमें भ्रम होता है कि वे सत्य हैं। यही जगत् का भ्रम है। सद्रूप परमेश्वर ही जगत्कारण होने से 'है' या सत् ही सर्वत्र एकरूप से व्याप्त है।।२७।।

भ्रमनिवृत्त्युपायः

अभितो ब्रह्मरूपत्वध्यानाद् याति जगद्भ्रमः।
ब्रह्मत्वे योजिते स्वस्य जीवभावोऽपि गच्छति।।२८।।
अद्वये भाविते तत्त्वे वासना विनिवर्तते।
आरब्धान्ते देहहानिर्मायैवं क्षीयतेऽखिला।।२९।।

अतः गहनों में स्वर्णबुद्धि की तरह सर्वत्र है-बुद्धि करना अभिध्यान है। है का व्यवहार करने पर भी हम उसे समझते नहीं, उसका स्वरूप बता नहीं सकते। **वेदान्त-श्रवणादि से है का स्वरूप समझकर जब निश्चय हो जाये कि वास्तविक है ही है, नाम-रूप कल्पित हैं, तब जगद्भ्रम हट जाता है। जीवभेद दूर करने के लिये अहंवृत्ति छोड़कर अपने व्यापक स्वभाव को पहचानना ज़रूरी है, त्वंपदार्थ का शोधन आवश्यक है।।२८।।** सुषुप्ति में अहंकार न होने पर कोई परिच्छेद प्रतीत नहीं होता और समाधि में पूर्णता का भान रहता है इसलिये सुषुप्ति के अनुसंधान और समाधि के अभ्यास से जीवभेद को दूर करना संभव होता है। अहंकार से रहित होने पर जो रह जाता है वह ब्रह्मस्वरूप है, वही हमारी वास्तविकता है। सभी भेदप्रतीतियाँ उपाधियुक्त हैं, उपाधि की ओर दृष्टि न डालें तो कोई भेद प्रतीत नहीं हो सकता। चार दर्पण हों तभी चार सूर्य दीखेंगे, अन्यथा एक ही सूर्य उपलब्ध रहेगा। इसी तरह शरीर मन आदि उपाधियों के कारण ही जीव अनेक दीख रहे हैं, इन उपाधियों का ज़िक्र न करें तो जीवभेद कहा ही नहीं जा सकता। जैसे दर्पणों में विभिन्न दीखने पर भी आकाशस्थित सच्चा सूर्य अभिन्न ही रहता है वैसे विभिन्न शरीर-मनों में अनेक दीखने पर भी वास्तविक चेतन अभिन्न ही रहता है। इस विचार पर एकाग्र हो जाने से जब निश्चय दृढ होता है कि भेद औपाधिक है तब जीवभेद निवृत्त हो जाता है। **इस तरह जगत् और जीवभेद का भ्रम हटने पर अद्वय ब्रह्म ही बचा रहता है। उसी की भावना का प्रचय प्राचीन भ्रमसंस्कारों को निरस्त करता है।** बंधन असत्य है यह जानकर भी उसकी प्रतीति बुद्धि में होती है तो बुद्धि से ही उस प्रतीति को हटाना भी पड़ता है। वह बंधप्रतीति पुराने संस्कारों से होती है, उनका निरास नये संस्कारों से ही संभव है। धीरे-धीरे जगत् सत्य है या जीवभाव सत्य है ऐसा सपने में भी नहीं प्रतीत होता, तब समझना चाहिये कि दृढता आ रही है। प्रारंभ में प्रमाण से अद्वयवृत्ति बनती है, संस्कारों-सहित इंद्रियादि से सद्वयवृत्ति बनती है, पुनः प्रयास कर अद्वयवृत्ति बनायी जाती है, यह क्रम चलता है। शनैः शनैः जगद्-आदि-रूपता

पाशहानिः

ब्रह्मज्ञानात् पाशहानौ क्षीणक्लेशो न जन्मभाक्।
पाशाश्चतुर्विधाश्चैव[1] शास्त्रेषु प्रतिपादिताः।।३०।।

की सत्यता प्रतीत होना घटता जाता है लेकिन होता रहता है और अंत में वह प्रतीति सर्वथा समाप्त हो जाती है, तब ज्ञान की परा निष्ठा है। अंतिम वस्तु जो हटेगी वह शरीर है। जीवन-काल में मुक्त को शरीर-प्रतीति होती रहेगी। योगादि का अभ्यासी है तो कम होगी अन्यथा ज़्यादा होगी पर रहेगी सही। योगाभ्यासी को भी स्थूल देह की प्रतीति अतिन्यून होने पर भी मन की प्रतीति तो होती ही रहेगी तभी वह उसके निरोध के लिये सचेष्ट रहेगा। विदेहमुक्ति में तो समाधि दशा भी नहीं है क्योंकि मन स्वरूपतः - प्रतिभासतः दोनों ही तरह से समाप्त हो चुकता है। शरीरों का जीवित रहना प्रारब्ध की पूर्ति-पर्यन्त अनिवार्य है। उसके अनुरूप संस्कार भी कार्य करेंगे। रोटी मुँह में आयेगी तो निगलेगा, कंकड़ आयेगा तो निगलने के बजाये उगल देगा, यह भेदव्यवहार संस्कारों पर ही निर्भर है। यह तो सत्य है कि सर्वकर्मसंन्यासी होने से उसका शारीर कर्म निवृत्तिप्रधान होगा लेकिन जो कोई भी चेष्टा होगी वह संस्कारों की ज़रूरत रखेगी ही, उतने संस्कार कार्यकारी बने ही रहेंगे। वे शरीर के साथ ही समाप्त होंगे। **शरीर प्रारब्ध के साथ ही समाप्त होगा। जीवन्मुक्त के पर-अंतकाल के बाद अर्थात् देहावसान के बाद उसका सूक्ष्म शरीर भी कार्यकारी या प्रतीयमान रह नहीं जाता। इसलिये तब अखिल माया का क्षय होता है** यह कहा।।२६।। उससे पूर्व माया का लेश बचा रहता है। इस स्थिति को विविध आचार्यों ने नाना प्रकारों से उपपन्न किया है, सभी ढंग स्वीकार हैं क्योंकि यह है एक शास्त्रसंमत अनुभूयमान दशा जिसे नकारना व्यर्थ है, बुद्धिसंगत जैसे हो सके वैसे कर लेना चाहिये।।२७-२६।।

मोक्ष होने पर पुनः जन्म की प्राप्ति नहीं हो सकती यह ग्यारहवें मंत्र में कहा 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याऽभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः।।' कि देव को जानकर सारे पाश नष्ट हो जाते हैं, क्लेश क्षीण हो जाने से जन्म-मृत्यु समाप्त हो जाते हैं, उस देव का अभिध्यान करने से वर्तमान शरीर समाप्त होने पर अद्वितीय पूर्णकाम तीसरे समग्र ऐश्वर्य को पा लेता है। चार श्लोकों द्वारा इसका भाव बताते हैं **ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने**

---

१. चतुर्विधाः शैवशास्त्रेषुइति पाठान्तरम्।

मलो माया कर्म तत्त्वतिरोधानं च ते मताः।
मलो ज्ञानक्रियाशक्त्योश्छादको दोष इष्यते।।३१।।
रागादिहेतुर्मायोक्ता कर्म पुण्यं च पातकम्।
मूढैस्तत्त्वतिरोधानं सर्वैरप्यनुभूयते।।३२।।

पर पाश मिट जाने पर जिस के क्लेश समाप्त हो जाते हैं वह जन्मधारी नहीं रहता। शास्त्रों में चार प्रकार के पाश बताये गये हैं।।३०।। मल, माया, कर्म और तत्त्व का छिप जाना ये पाश हैं। ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति को ढाँकने वाला दोष मल माना गया है।।३१।। रागादि के कारण को माया कहा गया है व पुण्य-पाप को कर्म बताया है। तत्त्व का छिपना सभी मूढों को अनुभव हो ही रहा है।।३२।। मोक्ष ससीम नहीं अतः मोक्ष हो जाने पर पुनः जन्म की संभावना नहीं। आर्य समाजी मानते हैं कि तत्त्वज्ञान से संसार में स्वतंत्र होकर रहना रूप मोक्ष मिल जायेगा पर महाप्रलय के बाद सृष्टि होने पर पुनः बंधनयुक्त जन्म लेना पड़ेगा! अर्थात् हमेशा के लिये मोक्ष नहीं मानते। संसार को सत्य एवं जीवों को संख्यात मानने से उन्हें लगता है कि मुक्त जीव संसार से छूट जायेगा तो धीरे-धीरे सब जीव मुक्त होने पर संसारी कौन रहेगा? और यदि यों जीव मुक्त हो सकते तो अनादि काल से आज तक हो ही गये होते! अतः वे ऐसा सीमित मोक्ष मानते हैं। किंतु संसार मिथ्या है, आत्मा एक है, कल्पित उपाधियों से जीव अनन्त हैं अतः ज्ञान से नित्य मोक्ष समझने में कोई कठिनाई नहीं आती। ब्रह्मज्ञान से नष्ट होने वाले पाश शास्त्रकारों ने विभिन्न ढंग से समझाये हैं। अथर्ववेद में 'उत्तम, अधम और विमध्यम' यों तीन पाश कहे हैं। यहाँ शैव शास्त्रों के अनुसार चार पाश कहे हैं। (कहीं इस श्लोक को उद्धृत करते हुए 'चतुर्विधाः शैवशास्त्रेषु' ऐसा पाठ है। द्र. आत्मार्पणस्तुतिटीका बालबोधिनी श्लो २४।) मलों के आणव, कार्मिक व मायीय भेद शैवों ने माने हैं, उनका यहाँ संग्रह हो गया। ब्रह्म है तो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् पर जीवरूप में स्वयं को अल्पज्ञ अल्पशक्ति अनुभव कर रहा है अतः स्पष्ट है कि किसी दोष से उसकी शक्ति ढँकी है। वह दोष मल है।

माया नामक पाश राग-द्वेष को उत्पन्न करता है। अपना सर्वभाव न जानने पर ही परिच्छिन्न दृष्टि अपनाने पर किसी के प्रति राग व किसी के प्रति द्वेष होता है। शरीर पूरा ही मैं हूँ, मुख भी मैं हूँ व मलद्वार भी मैं हूँ; दोनों के नाम-रूप-कर्म सर्वथा अलग हैं पर मुझे एक से राग व दूसरे से द्वेष नहीं होता। क्यों? क्योंकि उन दोनों को ही स्वयं से पृथक् नहीं मानते। इसी प्रकार राम व रावण दोनों एक परमात्मा के औपाधिक

रूप हैं, उनके नाम-रूप-कर्म अत्यन्त विपरीत भी हैं, पर जो परमात्मा की दृष्टि रखेगा उसे एक से राग व दूसरे से द्वेष नहीं होगा जबकि उस अभेद को भूलने पर राम से राग व रावण से द्वेष स्वाभाविक है। जिसे अपना रूप नहीं समझते उसी से राग या द्वेष संभव है। मल से आवृत होकर परिच्छिन्न हो जाने पर ही प्रिय लगने वाली चीज़ों से राग व बुरी लगने वाली चीज़ों से द्वेष होता है। राग-द्वेष का प्रभाव है कि हम प्रवृत्ति, कर्म करते हैं। राग-द्वेष के बिना कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति पुण्य है व शास्त्रविरुद्ध, प्रवृत्ति पाप है। हम अत्यन्त अल्पज्ञ हैं, अल्पदृष्टि हैं, लौकिक नुकसान भी अगर कुछ समय बाद होने वाला हो और तत्काल कोई स्वल्प भी सुख नज़र आये तो हम नुकसान की परवाह न कर सुख के लिये प्रवृत्त हो जाते हैं। पारलौकिक लाभ-हानि हमें स्वयं मालूम नहीं पर शास्त्र से पता चल जाती है फिर भी राग-द्वेष से हम ग़लत प्रवृत्ति कर ही लेते हैं। झूठ बोलना बुरा है यह जानते हुए भी तत्काल के किसी लाभ के लिये हम झूठ बोल देते हैं। श्रद्धालु हैं, वैशाखी पर गंगास्नान इसीलिये करते हैं कि पाप धुल जायें, पाप से नरक भोगना पड़ेगा यह निश्चय है, फिर भी पाप करते ही हैं। राग-द्वेष रहते ऐसी प्रवृत्ति से बच नहीं सकते। राग की तरह द्वेष भी प्रवृत्ति कराता है : तपस्वी लोग दस साल के तपोबल को शाप देकर खर्च कर देते हैं क्रोध के वेग में। पाप की तरह पुण्य भी रागादि से ही होगा।

कर्म, राग-द्वेष और शक्ति का आच्छादन तभी संभव है जब तत्त्व अर्थात् परमार्थ सत्य तिरोहित अर्थात् छिपा रहे। मूढ अर्थात् अविचारशील यह अनुभव करते ही हैं कि वास्तविकता अज्ञात है, अद्वितीय अनन्त आनन्द आवृत ही है। विचारशील तो शास्त्रानुसार चिन्तन कर इस आवरण को मिटा लेता है अतः यहाँ कहा कि मूढों को इसका अनुभव बना ही रहता है।।३०-२।।

मन्त्र में क्लेशक्षय भी कहा, अब पतंजलि के अनुसार क्लेशों का परिचय कराते हैं **पतंजलि ने क्लेश बताये हैंक्लेशों में पहला है अविद्या, दूसरी है अस्मिता, तीसरा द्वेष, चौथा राग और पाँचवाँ अभिनिवेश है।।३३।।** हिरण्यगर्भ-सम्प्रदाय के सूत्रकार पतंजलि ने पाँच क्लेश गिनाये हैं। सांख्यवाद में भी क्लेशों को ऐसा ही स्वीकारा है। यहाँ इन्हें उपनिषद् पर आरूढ किया है अतः इनके स्वरूप में समझ लेना चाहिये कि क्लेशरूप अविद्या हमारी मूलाविद्या नहीं वरन् अविवेक का नाम है। मन से हम अलग होने पर भी यह अलगाव न समझकर अपने को मन से एक समझते हैं, यह अविवेक है। जिस प्रकार दाल और कंकड़ में विवेक न कर पाओगे तो

खाने पर दाँत टूटेंगे ही, इसी प्रकार मन से आत्मा को अलग न समझा तो व्यवहार में दुःखी होना पड़ेगा ही! दुःख होता तो मन में है पर अविवेकवश हम उसे अपने में महसूस करते हैं। मन के दुःख से भ्रम हो जाता है कि 'मैं दुःखी हूँ'। इसी मन-आत्मा की एकता के भ्रम से अस्मिता अर्थात् अहंकार या मैं की वृत्ति दूसरा क्लेश है। बुद्धि की जैसी मैं-वृत्ति बनती है वैसा ही हम स्वयं को समझते हैं क्योंकि बुद्धि से अपने को अलग नहीं जानते। वेदानुसार सुषुप्ति का विचार करें तो यह विवेक सुकर है क्योंकि वहाँ बुद्धि के बिना हम रहते ही हैं, परंतु इस विचार के बिना सामान्य दृष्टि से खुद को अहंकार से पृथक् समझ पाना अतिकठिन है। अभिमान होने पर मन को जो नापसन्द होगा उसके प्रति द्वेष होता है। नापसन्द होगी चीज़ मन को, पर खुद को मन से एकमेक समझकर लगेगा कि मुझे ही नापसन्द है अतः मुझे ही उससे द्वेष हो जाता है। यद्यपि पतंजलि ने राग-द्वेष क्रम रखा है तथापि राग की क्लेशरूपता इतनी स्पष्ट नहीं जितनी द्वेष की इसलिये यहाँ द्वेष को पहले गिना। अथवा छन्दोनुरोध से क्रम में परिवर्तन किया है। जो वस्तु मन को अच्छी लगे उसके प्रति 'यह बार-बार मिले या मिली हुई बनी ही रहे,' ऐसी वृत्ति बनती है जो राग है। विचारशील तो देखता है कि हर अनुभव में पचीसों कारण होते हैं अतः ठीक उसी प्रकार का अनुभव पुनः होना संभव नहीं, इन्द्रियाँ मन देश काल आदि में परिवर्तन हो ही जायेगा, अतः वह राग-द्वेष से बचता है। राग-द्वेष तभी होंगे जब पुनः वैसे ही अनुभव की आशा हो प्रियानुभव की आशा से राग व अप्रियानुभव की आशंका से द्वेषअतः जो जानता है कि पुनः एक-सा अनुभव हो नहीं सकता वह राग-द्वेष से बच जाता है। राग-द्वेष प्रवृत्ति-निवृत्ति के हेतु बनते हैं जिनसे पुण्य-पाप एकत्र होकर बन्धन-चक्र चलता रहता है। पाँचवाँ क्लेश है अभिनिवेश। मैं कभी न मरूँयह दृढ इच्छा अभिनिवेश है। मैं मरूँगायह सोचना लोगों को पसन्द नहीं, किसी के मरने की अफवाह फैल जाये तो भी वह स्वयं दुःखी होता है कि क्यों लोगों ने मेरे बारे में ऐसा सोचा। मृत्यु को न स्वीकारने का आग्रह अभिनिवेश-रूप क्लेश है। इस प्रकार मंत्र के पाश और क्लेश यहाँ स्पष्ट किये।।३३।।

तत्त्वतिरोधान नामक मल दूर होगा तत्त्व के आविर्भाव से अतः अब तत्त्वज्ञान का कथन करते हैं। बारहवाँ मंत्र है 'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं, नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।।' अर्थात् आत्मा में संस्थित इस तत्त्व से परे अनुभवयोग्य कुछ न होने से सदा इसे ही समझना

क्लेशान् पतञ्जलिः प्राह तेष्वविद्यादिरस्मिता।
द्वितीया द्वेषरागौ चाभिनिवेशस्तु पञ्चमः।।३३।।

ब्रह्मधीसाधनम्

भोक्ता भोग्यं प्रेरकश्च त्रयं ब्रह्मेति तत्त्वधीः।
उपायेन ब्रह्मधीः स्याद् अरणिस्थाऽग्निलाभवत्।।३४।।
उपायः प्रणवेनात्मध्यानं तेनैष लभ्यते।
तिलात्तैलादयो यद्वल्लभ्यास्तत्तदुपायतः।।३५।।
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोभ्यां तम् उपलभ्य विमुच्यते।।३६।

चाहिये। भोक्ता, भोग्य व प्रेरयिता इनका मनन कर लेने पर कुछ ज्ञेय नहीं बचता। भोक्तादि तीन प्रकार में उपस्थित इस ब्रह्म के कथन से ही सब कुछ कह दिया गया, और कुछ कथनीय नहीं है। तेरहवें मंत्र में अग्नि के उदाहरण से प्रणव की आत्मबोधोपायता बताकर चौदहवें में अरणि के दृष्टांत से ध्यान का विधान कर पंद्रहवें - सोलहवें में आत्मदर्शन बताते हुए पहला अध्याय पूरा हुआ है। इस प्रसंग को तीन श्लोकों में एकत्र करते हैं **भोक्ता, भोग्य और प्रेरक तीनों ब्रह्म है यह तत्त्वज्ञान है। अरणि में स्थित अग्नि जैसे उपाय द्वारा ही मिलती है वैसे ब्रह्मज्ञान भी उपाय से ही होता है।।३४।। यहाँ उपाय है ओंकार से आत्मा का ध्यान करना, इसी से आत्मबोध मिलता है। जैसे तिल से तेल इत्यादि विभिन्न विशिष्ट उपायों से मिलते हैं वैसे प्रणव के विशेष प्रयोग से आत्मदर्शन हो जाता है।।३५।। दूध में घी की तरह आत्मा सर्वत्र व्यापक है, आत्मविद्या और तप के द्वारा उसे प्राप्त कर मोक्ष पाया जाता है।।३६।।** भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला मैं, भोग्य वह जिसका भोग करता हूँ अर्थात् भोग का विषय और प्रेरक अर्थात् भोग के समय विषय भोक्ता को प्राप्त कराने वाला ईश्वर। ये तीनों वास्तव में केवल ब्रह्म है। जैसे जासूसी उपन्यास में, सिनेमा में विभिन्न पात्र विभिन्न खेल करते हैं इसी तरह हम अनादि काल से माया के पर्दे पर दुनिया का खेल देख रहे हैं। तत्त्व केवल परमात्मा है, बाकी कुछ नहीं। भोक्ता, भोग्य व प्रेरक वास्तविक नहीं हैं। भेदभिन्न जगत् वस्तुतः नहीं है, एकमात्र परमात्मा है यही तत्त्वधी है, तत्त्वज्ञान है। इसके लिये उपाय का सहारा लेना पड़ता है। जिसे घिसकर यज्ञादि के लिये अग्नि प्राप्त करते हैं उसे अरणि कहते

हैं। लकड़ी की बनी अरणि से वही आग निकाल सकता है जो तरीका जाने अन्यथा उससे थोड़ी भी अग्नि नहीं मिलेगी। पर तथ्य है कि अरणि में है सही आग, निकालना जानो तो निकाल लोगे, अन्यथा नहीं, पर उसमें आग तो है ही। इसी प्रकार वेदान्त कहता है ब्रह्म सर्वव्यापक है; बात सही है पर समझेगा वही जो उपाय का अनुष्ठान करेगा। जैसे देख-छूकर अरणि में आग नहीं मिलती ऐसे देख-छूकर संसार में परमात्मा नहीं मिलता। जानें-न-जानें पर आग अरणि में है, ऐसे हमें पता चले या न चले, परमात्मा तो निर्विकार भाव से व्यापक है, उसमें कोई फ़र्क़ नहीं आता। फ़र्क़ हमें पड़ेगा, अज्ञान रहते संसरण चलता रहेगा, ज्ञान होने से संसरण से छूटकर परमानंद में प्रतिष्ठित हो जायेंगे। छिपी वस्तु प्रकट करने के उपाय विभिन्न होते हैं। लकड़ी से आग घिसकर निकाली जाती है, तिलों से तेल पेर कर निकाला जाता है, दूध से घी दही बनाकर उसे मथने से निकाला जाता है। एक तरीका दूसरी जगह काम नहीं आता।

ब्रह्म को प्रकट करने का उपाय है प्रणव के (ॐ) द्वारा आत्मा का ध्यान करना। ओंकार में तीन अक्षर मिले हुए हैंअ, उ और म। जाग्रदवस्था, उसका अभिमानी विश्व और उनका समष्टि वैश्वानरये तीनों 'अ' के अर्थ हैं। जाग्रत् में भोग करने वाला भोक्ता (विश्व) है, स्थूल पदार्थ भोग्य हैं और भोक्ता-भोग्य का सम्बन्ध कराने वाला वैश्वानर प्रेरयिता है। 'उ' का अर्थ है स्वप्न, स्वप्नद्रष्टा तैजस, और उनका समष्टि हिरण्यगर्भ। वहाँ भी तैजस भोक्ता, स्वाप्न पदार्थ भोग्य और हिरण्यगर्भ प्रेरयिता है। 'म'-का अर्थ है सुषुप्ति, सुषुप्त प्राज्ञ और समष्टि ईश्वर। सुषुप्ति में आनन्द का भोग है। भोग करने वाला प्राज्ञ है तथा प्रेरयिता ईश्वर है ही। इन तीन अवस्थाओं के सिवाय संसार का कोई अनुभव है नहीं। मूर्छा-मुमूर्षा को अलग गिनते हैं पर उनका भी अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। तीन अवस्थाएँ हैं १) जहाँ केवल मन से दीखे, २) जहाँ मन-इंद्रियाँ मिलकर देखें और ३) जहाँ न मन से, न इंद्रियों से दीखे। अतः सारा ब्रह्माण्ड ये तीन अवस्थाएँ हैं और ये सारी मेरा आत्मा है। अ - उ - म का मिलित रूप ॐ है जो आत्मा का बोधक है : अ का उ में विलय होता है, उ का म में और म का ओम् में तब ॐ बनता है अर्थात् अ का अर्थ उ के अर्थ से अभिन्न हो जाता है, उ का अर्थ म के अर्थ से अभिन्न हो जाता है और म-का अर्थ ॐ के अर्थ से अभिन्न हो जाता है। ॐ का अर्थ आत्मा ही है, उसी से सब अभिन्न हैयह ॐ का तात्पर्य पता चलता है। इसे समझते हुए 'ओंकाररूप मैं हूँ' यही प्रत्यय

(वृत्ति) चलाते रहना प्रणवद्वारा आत्मा का ध्यान है। ध्यान अत्यंत धीरे-धीरे जमता है, इसमें दीर्घ काल लगता है व रोज़ अभ्यास करते रहना पड़ता है। ऐसा श्रद्धापूर्वक करने से ब्रह्मधी प्राप्त होती है, इसमें अन्य उपाय नहीं है। जैसे अरणि को मथना ही पड़ता है, तिलों को पेरना ही पड़ता है वैसे प्रणव से आत्मध्यान करना ही पड़ता है, तभी आत्मबोध होता है।

उपनिषत् ने 'दधनीव सर्पिः' (१.१५) और 'क्षीरे सर्पिः' (१.१६) दोनों कहा : घी निकालने के लिये पहले दूध को जमाना पड़ता है, दही बनाना पड़ता है। यद्यपि आजकल दूध से ही 'क्रीम' (चिकनाई) निकालकर उसे तपाने से जो प्राप्त होता है उसे भी घी कहते हैं तथापि शास्त्रों में जिसे घी कहा है, अयुर्वेदादि में भी जिसे लाभप्रद कहा है, वह दही मथकर निकले का ही नाम है। तरल, बहने वाले दूध को पहले ठोस, न बहने वाला दही बनाया जाता है। फिर उस दही को पानी मिलाकर पतला करते हैं ताकि मथा जा सके। तरल को ठोस बनाते हैं, ठोस को फिर तरल बनाते हैं, तब उसे मथते हैं तो मक्खन निकलता है जिसे तपाने पर घी बनता है। इसी प्रकार चित्त अभी विषयों की ओर बहने के शील वाला है। उसे पापादि प्रवृत्तियों से रहितकर उसका बहना बन्द करना पड़ेगा, उसे जमाना पड़ेगा। जमने पर श्रवण-मनन में उसे बहाना भी पड़ेगा; संसार की प्रवृत्तियों से हटाकर वेदान्त की प्रवृत्ति में लगाना पड़ेगा। उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र आदि के श्रवणादि का बार-बार अभ्यास ही वेदान्त की प्रवृत्ति है। समझी बात पर नानाविध शंकाएँ उठाकर उनका समाधान करना यह मन्थन है। श्रवणपूर्वक समझ लेने के बाद ही ऊहापोह का मन्थन संभव है। मंथन बारम्बार करना पड़ता है तभी मक्खन निकलता है, ऐसे ही विचार बार-बार करना पड़ता है तभी बोध मिलता है। मक्खन तपाने की जगह है विचार से प्राप्त बोध को ध्यान की गर्मी में तपाना, निदिध्यासन करना। जैसे मक्खन का खट्टा अंश, छाछ का अंश तपने से दूर हो जाता है वैसे ध्यान स्थिर होने पर शास्त्रवासना दूर होती है। छाछ की तरह यहाँ शास्त्रवासना है। उसके हटने पर एकमात्र ब्रह्मधी बचती है। जैसे सारे प्रयास से घी 'पैदा' नहीं होता, दूध में था ही, अब प्रकट होता है वैसे आत्मा की कोई नयी उपलब्धि नहीं होनी। दूध की हर बूँद में घी की तरह संसार में सर्वत्र सर्वदा ब्रह्म व्याप्त है, उसे प्रकट करने के लिये यह सारा प्रयास है।

आत्म-ज्ञान और तपइनके द्वारा आत्मबोध होने पर मोक्ष होता है। श्रुति ने ब्रह्म को 'आत्मविद्यातपोमूलम्' (१.१६) कहा। तैत्तिरीय में वरुण ने भृगु को तप से ही ब्रह्म

योगः

यदुक्तं प्रणवध्यानं स योगस्तत्र यत्नवान्।
मनो ब्रह्मणि युञ्जानस्तत् साक्षात्कुरते धिया।।३७।।

जानने को कहा। भृगु को ब्रह्म का लक्षण बता दिया कि जगत् के जन्म-स्थिति-भंग का हेतु ब्रह्म है; फिर भृगु आलोचना, विचार करता गया और क्रमशः अन्न-प्राण आदि समझते-समझते आनंद को ब्रह्म समझ गया। इसी प्रकार यहाँ सारे ब्रह्मवादियों के सामने इतना स्पष्ट था कि जो जगत्का कारण है वह ब्रह्म है। कारण है क्याइसके लिये पहले उन्होंने सब पक्षों पर विचार किया, जब उससे निर्णय नहीं हुआ, बुद्धिविलास से अवबोध नहीं हुआ, तब ध्यान किया। चित्त एकाग्र होगा तभी सही ज्ञान सम्भव है। ध्यान स्वयं कभी ज्ञान पैदा नहीं करता, ज्ञान प्रमाण से ही होता है पर उसकी स्पष्टता के लिये ध्यान चाहिये रहता है। जिसे ज्ञान प्राप्त ही नहीं उसे ध्यान से कुछ नया मालूम नहीं चलेगा। प्रारंभ में ध्यान इसलिये चाहिये कि ज्ञान के लिये आवश्यक एकाग्रता बने, ज्ञान के बाद फिर ध्यान इसलिये चाहिये कि बिना इधर-उधर मन गये ज्ञान में स्थिर रहकर उसका गांभीर्य स्पष्ट हो। अतः आत्मविद्या और तप दोनों की सर्वथा आवश्यकता है। यहाँ तक उपनिषत्के प्रथम अध्याय की व्याख्या हुई।।३४-३६।।

दूसरे अध्याय का ग्यारह श्लोकों में संग्रह करेंगे। इस अध्याय में ध्यान-योग का निरूपण है। प्रथम सात मंत्रों का संक्षेप करते हैं **प्रणव के सहारे जो ध्यान बताया वह योग है। उस योग में जो प्रयत्नशील है वह ब्रह्म में मन को लगाते हुए उस ब्रह्म को बुद्धि से साक्षात् कर लेता है।।३७।।** आत्मसाक्षात्कार के लिये उपयोगी योग प्रणव-आलम्बनक ध्यान ही है। इसके लिये बार-बार यत्न चाहिये, बार-बार विचार करना पड़ेगा कि जगत्का कारण क्या है। विचारपूर्वक ध्यान से स्पष्ट होगा कि सच्चिदानन्द परमेश्वर ही जगत् का अन्तिम कारण है। भोक्ता, भोग्य, प्रेरयितातीनों परमेश्वर से अलग नहीं हैं, एकमात्र उस सच्चिदानंद में ही ये सब कल्पनायें हैं। जैसे एकमात्र तुम में ही स्वप्न के सारे भेद कल्पित हो जाते हैं ऐसे ही एकमात्र परमब्रह्म में सारा संसार कल्पित है। जैसे सपने में नहीं वरन् जगने पर यह तथ्य पता चलता है वैसे अविद्या में नहीं, इसे हटाने पर ही यह भी तथ्य स्पष्ट होता है। लम्बे समय तक शास्त्र-गुरु के बताये ढंग से जगत् के कारण पर चिन्तन करते रहने से ही यह साक्षात्कार प्राप्त होता है।।३७।।

उरोऽसमूर्धस्थानेषु त्रिषु देहं समुन्नतम्।
अवस्थाप्यासनं जित्वा प्रत्याहारं समाचरेत्।।३८।।
हृद्यक्षाणां निरोधो यः प्रत्याहारः स उच्यते।
जयेत्प्राबल्यमक्षाणां प्राणायामेन धैर्यवान्।।३६।।
प्राणाधीनव्यापृतीनाम् अक्षाणां प्राणरोधनात्।
निरोधः स्यात् ततश्चित्तं धारयेताऽप्रमादतः।।४०।।

ध्यान के लिये आवश्यक बाह्य साधन आठवें व नौवें मंत्र के आधार पर बताते हैं **छाती, कन्धा और सिर - तीनों स्थानों पर शरीर को ऊँचा (अर्थात् उठा हुआ, सीधा तना हुआ) रखकर एवं आसन पर विजय पाकर प्रत्याहार का सम्यग् आचरण करना चाहिये।।३८।। हृदय में इन्द्रियों का जो निरोध है वह प्रत्याहार कहा जाता है। धैर्यवान् को चाहिये कि प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों की प्रबलता पर विजय हासिल करे।।३६।। इन्द्रियों का व्यापार प्राणों के अधीन है। अतः प्राणों को रोकने से इंद्रियों का निरोध होता है। प्रत्याहार के बाद चित्त को धारणा में सावधानी से लगाना चाहिये।।४०।।** योग के लिये अपना आचार-विचार (यम-नियम) शुद्ध बनाकर पहले आसन का अभ्यास कर्तव्य है। स्थिरता से बिना परेशान हुए जो तीन घंटे तक बैठ न सके वह ध्यान नहीं कर सकता। ध्यान के लिये आवश्यक आसन में सीधा बैठना प्रधान है। रीढ़ की हड्डी सीधी रखेंगे तो छाती, कंधे व सिर उठे रहेंगे, एक सीध में रहेंगे। यह बैठक ज़रूरी है, इसकी उपेक्षा से ध्यान संपन्न नहीं होगा। शरीर को स्थिर रहना सिखाना पड़ेगा। शरीर में स्पंद होगा तो मन में भी स्पंद होगा ही, अस्थिरता आयेगी ही। शरीर को प्रारंभ में कष्ट लगेगा लेकिन धीरे-धीरे आसन-स्थिरता का अभ्यास आवश्यक है अन्यथा साधना नहीं बनेगी। बैठने में अधिक सुविधा रखोगे तो ध्यान करने में नींद आ जायेगी! दूसरी ओर, अगर खड़े रहे या किसी ऐसी स्थिति में रहे जिसमें रहने के लिये प्रयत्न चाहिये, तो या विक्षेप रहेगा और या ध्यान लगा तो गिर ही पड़ोगे। अतः शरीर न इतना शिथिल रहे कि नींद आये और न ऐसी स्थिति में हो जिसमें उसे रखना यत्नसाध्य हो, तब ध्यान का अभ्यास संभव है। ध्यान के लिये एक बैठक में लंबा समय देना ज़रूरी है। केवल पंद्रह मिनट बैठो और सोचो कि ध्यान लग जायेगा, यह संभव नहीं। अतः तीन घंटे के आसन की आवश्यकता बतायी जाती है।

समे शुचौ शर्करादिमशकादिविवर्जिते।
मनोनुकूलेऽवस्थाय देशे ध्यानं समाचरेत्।।४१।।

आसनजय के अनंतर प्रत्याहार का अभ्यास चाहिये। इंद्रियप्रवर्तक वासनाएँ न जगने देते हुए आत्मवासनाओं को ही जगाने से यह संभव होता है। आत्मवासना अर्थात् शास्त्रोक्त आत्मस्वरूप के संस्कार। इसके लिये अप्रमाद अर्थात् सावधानी कायम रखनी पड़ती है। विषय-चिन्तन में संलग्न हो जाना इस सन्दर्भ में प्रमाद है। एक बार शुरू हो गया तो वासनाप्रवाह अनियंत्रित बहता चला जाता है अतः इसे शुरू न होने देना बहुत ज़रूरी है। वेदान्त का इतना दीर्घ साहित्य इसीलिये है कि साधक इसी के विचार में लगा रह सके, बाह्य विषयों के विचार में जाये ही नहीं। मन में ही जब विषय की ओर गति रोक ली जायेगी तब इंद्रियों की बहिर्मुखता रुक पायेगी। यही इंद्रियों को हृदय में रोकना है अर्थात् हृदय में स्थित आत्मा के स्फुरण में विक्षेप डालने की कोई प्रवृत्ति वे न करें ऐसा उन्हें नियंत्रित करना है। इंद्रियों में साधनोपयोगी बल तो चाहिये, अतः 'स्थिरैः अंगैः तुष्टुवांसः' आदि प्रार्थना करते हैं, पर जो उनमें विक्षेपहेतुभूत बल है उसे तोड़ना भी आवश्यक है। प्राणायाम का अभ्यास इंद्रियों को निरुद्ध करने में कारगर होता है। निरोध का मतलब यह नहीं कि उन्हें कार्यकारी न रहने दें वरन् यह है कि वे विषयोन्मुखता छोड़कर आत्मानुसन्धान में सहायक बनें। अतः प्रत्याहार के बाद धारणा का अभ्यास कर्तव्य है। यद्यपि पतंजलि ने बाहरी या भीतरी किसी स्थान पर चित्त स्थिर करना धारणा कहा है तथापि यहाँ तात्पर्य मन को श्रवणादि-सिद्ध अर्थ में स्थिर रखने से है। श्रुति ने 'दुष्टाश्वयुक्तम् इव वाहम् एनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः' (२.९) से बताया कि जैसे बदमाश घोड़ों से जुते रथ को चलाते समय ज़्यादा सावधानी तथा कुशलता चाहिये वैसे विद्वान् को चाहिये कि प्रमाद किये बिना मन को धारणा में लगाये।।३८-४०।।

दसवें मंत्र में योगानुष्ठान के योग्य स्थान का वर्णन है 'समे शुचौ शर्करा-वह्नि-बालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले, न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्।।' इसका अर्थ कहते हैं **समतल, शुद्ध, कंकड़ आदि व मच्छर आदि से रहित तथा मन को अनुकूल लगने वाले स्थान में रहकर ध्यान का भलीभाँति अभ्यास करना चाहिये।।४१।।** ऊबड़-खाबड़ जगह पर बैठने पर न सीधा बैठा जा सकता है और लुढ़कने का भय भी बना रहता है। ध्यान के लिये जहाँ बैठें वह स्थान समतल होना ही चाहिये। स्थान शुद्ध भी हो, गोबर से लीप कर, गंगाजलादि छिड़क

नाडीरूपाणि नीहारधूमान्यत्र विभान्ति चेत्।
ब्रह्मसन्निधिमाप्ता धीरिति निश्चीयतां तदा।।४२।।

कर पवित्र किया जाना चाहिये। संभव हो तो जो स्वभाव से ही पवित्र हैं ऐसे तीर्थ आदि स्थानों में ध्यानाभ्यासार्थ रहना चाहिये। उस स्थान पर कंकड़ आदि चुभने वाली या धूलादि ऊड़कर तंग करने वाली चीज़ें नहीं होनी चाहिये। एकांत होने पर भी वहाँ शेर चीते आदि का भय नहीं होना चाहिये, बाजे घण्टे आदि का हल्ला नहीं होना चाहिये। कल्पतरुकार ने 'चक्षुःपीडनो मशकः' कहा है, तदनुसार यहाँ 'मशकादि से रहित' कहा। मच्छर कान के पास शब्द करके भी विक्षेप करता है, डँसकर भी विक्षेप करता है अतः इसका नाम लिया; आदि से मक्खी, खटमल आदि सभी जन्तु समझ लेने चाहिये जो ध्यान में विक्षेप करें। किसी ने श्रुति के 'न तु चक्षु-पीडने' का अर्थ किया है कि आँखों को पीडा देने वाला स्थान न हो अर्थात् रमणीक दृश्य वाला स्थान हो। ऐसी जगह मन शांत होता है ऐसा अभ्यासियों का अनुभव है। इससे यह भी समझ सकते हैं कि किसी इंद्रिय को पीडा न देने वाला स्थान हो, अत्यन्त घृणित दुर्गन्ध आती रहे तो भी ध्यान में मन नहीं लगता! स्थान मन के भी अनुकूल होना चाहिये। मन से ही ध्यान करना है, यदि मन ही उचाट रहेगा तो ध्यान सम्भव नहीं। यदि आस-पास के लोगों के प्रति मन में राग या द्वेष अधिक होगा तो बेबस उनके ही बारे में कोई-न-कोई इष्ट या अनिष्ट का चिन्तन चलता रहेगा। उत्तम पक्ष में तो ध्याता पर कोई विशेष ज़िम्मेवारी भी नहीं होनी चाहिये क्योंकि वह भी विक्षेप का हेतु बनती है। यह तो सत्य है कि शत-प्रतिशत योग्य स्थान दुर्लभ है अतः प्रयासपूर्वक जो अच्छे-से-अच्छा स्थान मिल जाये वहीं अभ्यास शुरू कर देना चाहिये, स्थान ढूँढने में ही आयु नहीं गँवा देनी चाहिये।।४१।।

ब्रह्मानुभव से पूर्व अभ्यासी को कुछ स्फुरण होते हैं जो सूचक हैं कि साधना ठीक चल रही है, इनका उल्लेख ग्यारहवें मंत्र में है 'नीहार-धूमार्काऽनिलाऽनलानां खद्योतविद्युत्-स्फटिक-शशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे।।' अर्थात् ब्रह्म की अभिव्यक्ति करने वाले योग में ये रूप पहले दीखते हैं तुषार, धुँआ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक और चन्द्रमा। इस मंत्र का तात्पर्य बताते हैं **तुषार, धुँआ आदि नाडियों के रूप यदि प्रतीत हों तो निश्चय कर लेना चाहिये कि बुद्धि ब्रह्म की सन्निधि में पहुँच गयी है।।४२।।** श्रुति में कहे रूप दीखने का कारण है कि नाडियों में ये रूप हैं जो प्रकट हो जाते हैं अर्थात् बाह्य रूपों का यहाँ

निर्जरत्ववितृष्णत्वशुभगन्धादि चेद्भवेत्।
योगसिद्धिः प्रवृत्तेति ज्ञात्वा योगे स्थिरो भवेत्।।४३।।

प्रसंग नहीं है। साथ ही, इन रूपों को कोई विशेष महत्त्व का भी नहीं समझना चाहिये, ये नाडी में हैं ही, इनका दीखना केवल सही मार्ग का सूचक है। कुछ लोग भ्रूमध्य में दबाव आदि देने से दीखने वाले लाल रंग को ही परमात्मा मान लेते हैं, उसी का ध्यान करते हैं! ऐसे भ्रमों से बचना चाहिये इसलिये स्पष्ट किया कि ये परमात्मा के नहीं, नाडियों के रूप हैं। नीहार अर्थात् तुषार; शिशिर-हेमन्त ऋतुओं में सफेद रंग का जमा हुआ जल के बिंदुओं का समूह गिरता है, वह तुषार है। उस समय धुँधली चादर-सी दीखती है। फिर धुँआ दीखता है, जंगल जलने पर जैसे नीला गुब्बार उठता है वैसा दर्शन होता है। फिर सूर्य की प्रतीति होती है। नीहार-धूम में तो अँधेरे का अंश है, सूर्य में प्रकाश पूर्ण स्पष्ट है। फिर अनल अर्थात् अग्नि दीखती है। (उपनिषत् में 'अनिलानल' पाठक्रम है पर अर्थक्रम विपरीत है।) सूर्यदर्शन में प्रकाशमात्र दीखता है, अग्निदर्शन में कुछ ऊष्मा का भी अनुभव होता है। तदनंतर अनिल या वायु का दर्शन होता है अर्थात् ठण्डी हवा का अनुभव होने लगता है। अथवा पत्ते हिलना आदि दीखता है जिससे पता लगता है कि हवा चल रही है। ये अनुभव इतना ही सूचित करते हैं कि बुद्धि परमात्मा की दिशा में प्रगति कर रही है।।४२।।

बारहवें मन्त्र में बताया है कि योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाने पर रोग जरा व मृत्यु नहीं होते। तेरहवें में कहा है कि योग के सिद्ध होने की पहली प्रवृत्तियाँ हैं 'लघुत्वम् आरोग्यम् अलोलुपत्वं, वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभः मूत्रपुरीषम् अल्पं, योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।' इसे समझाते हैं **जरा-राहित्य, वितृष्णा, सुगंध आदि यदि हों तो यह समझकर कि योग की सिद्धि प्रारंभ हो रही है अभ्यासी योग में स्थिर बना रहे।।४३।।** योग एक तरह की अग्नि है। जैसे आग में तप कर सोना शुद्ध हो जाता है वैसे योग से शरीर के पापहेतुक विकार दूर हो जाते हैं। पाप हटने पर चित्त का स्वाभाविक सत्त्व रहता है तो स्थिरता सहज हो जाती है। मन में रज-तम आगंतुक हैं, पाप से आते हैं, वे हट जायें तो क्योंकि मन बना ही सत्त्वांश से है इसलिये उसमें सात्त्विकता ही स्फुट रहती है। स्थूल देह में भी जीर्णता नहीं आती अर्थात् स्वाभाविक वयःप्रभाव से अधिक जो विभिन्न प्रकारों से पुरानापन प्रकट होता है वह नहीं होता। मनोविकारों से ही शरीर में विशेष वार्द्धक्य दीखने लगता है। योगी में वे विकार न होने से उसमें ऐसा वार्द्धक्य नहीं दीखता। एक स्फूर्ति भी कायम रहती

मेघच्छन्नं चन्द्रबिम्बं मेघापायेऽतिनिर्मलम्।
तथैव बुद्धिचाञ्चल्यशान्तावात्मा प्रसीदति।।४४।।

है, थकावट जल्दी नहीं आती। मन में भी जीर्णता नहीं आती अर्थात् सावधानी बनी रहती है। किं च, नवीन बात समझने की योग्यता भी रहती है, ऐसा नहीं होता कि 'अब कोई नयी बात नहीं समझ सकता'। श्रुति में लघुत्व और आरोग्य भी कहे हैं जो मुख्यतः स्थूल शरीर में मिलते हैं। आरोग्य अर्थात् बीमारी को पछाड़कर स्वस्थ होने की शारीरिक क्षमता। श्रुति के 'अलोलुपत्व' को यहाँ वितृष्णा कहा। बुद्धिपूर्वक जिस कार्य में व्यक्ति लगा हो उससे विचलित कर देने वाली कामना तृष्णा कही जाती है। योगी में तृष्णा नहीं होगी अन्यथा योगाभ्यास संभव नहीं होगा। लोक में प्यास को तृष्णा कहते हैं; प्यास भी जब लगती है तब तड़पा देती है, कार्यान्तर करने नहीं देती, चाहे जैसे पेय को पीने में प्रवृत्त करती है। ऐसे ही विषयों की तीव्र इच्छारूप तृष्णा अभ्यास न करने देकर बहिर्मुख बना ही डालती है। योग का एक फल यह भी है कि योगी से दुर्गन्ध नहीं आती, सुगन्ध आती है। गीता में कहा है कि पुण्य गंध भगवान् की विभूति है अतः शुभ गंध होना परमेश्वर की निकटता का द्योतक ठीक ही है। उसका मूत्र व मल मात्रा में भी कम होता है और उसमें दुर्गन्ध भी कम होती है। इस प्रकार के चिह्नों से 'सही मार्ग पर चल रहा हूँ' यह निश्चयकर साधक को और ज़्यादा सावधानी से अभ्यास करना चाहिये। जितना सिद्धि के निकट पहुँचता है उतना ही अधिक सावधान होना पड़ता है, उतना ही अधिक प्रयास करना पड़ता है और चूकने पर उतना ही गहरा धक्का भी लगता है! अतः यद्यपि जो स्थिरतापूर्वक अभ्यासी है उसी में ये लक्षण मिलेंगे तथापि कहा कि इन लक्षणों को देखने पर 'स्थिरो भवेत्' अर्थात् किसी तरह की ढील न करे।।४३।।

चौदहवें मंत्र में कहा है कि मिट्टी से लिपा बिंब ही माँज दिया जाये तो चमक जाता है, इसी तरह देही आत्मसाक्षात्कार करने से कृतार्थ व शोकरहित हो जाता है। इसे उदाहरणान्तर से स्पष्ट करते हैं **मेघों से ढँका चन्द्र का बिम्ब (ही) मेघ हटने पर अत्यन्त निर्मल (दीखता है) इसी तरह बुद्धि की चंचलता शांत हो जाने पर आत्मा सुस्पष्ट हो जाता है।।४४।।** बादलों से ढँका होने पर धुँधला दीखने वाला चंद्र ही बादल हटने पर साफ़ दीखता है। बादलों की जगह है बुद्धि की चंचलता। महावाक्य सुनकर अधिकारी को बोध तो होता है पर अन्यान्य वृत्तियाँ बनती चली जाने से वह बोध स्थिर न होने से आत्मा सुस्पष्ट नहीं होता। यही स्वरूप की धुँधली

स्वात्मतत्त्वप्रसादेन ब्रह्मतत्त्वं प्रसीदति।
शास्त्राद् बुद्धं ब्रह्मतत्त्वम् आत्मत्वेनानुभूयताम्।।४५।।
अजं ध्रुवं मायिकैस्तैः कार्यैः सर्वैर्विवर्जितम्।
ज्ञात्वा देवं परात्मानं सर्वपापैर्विमुच्यते।।४६।।

प्रतीति है। योग के अभ्यास से बुद्धि की चंचलता शांत हो जाने पर अखण्ड वृत्ति स्थिर होती है तो आत्मा का सुस्पष्ट प्रकाश हो जाता है।।४४।।

पन्द्रहवाँ मंत्र है 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वै-र्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।' अर्थात् जब इस देह में दीपक की उपमा द्वारा आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को एक समझ लेता है तब सब तत्त्वों से रहित होकर शुद्ध अज अपरिणामी महादेव को जानकर सब पाशों से छूट जाता है। इसका संग्रह करते हैं **स्वात्मरूप तत्त्व स्पष्ट होने से ब्रह्मरूप तत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है। शास्त्र से समझे ब्रह्मतत्त्व का आत्मरूप से, प्रत्यग्रूप से अनुभव किया जाना चाहिये।।४५।। जन्मरहित, अपरिवर्तनीय, सभी विभिन्न मायिक कार्यों से रहित परमात्मदेव को जानकर साधक सब पापोंसे छूट जाता है।।४६।।** पहले त्वम्पदार्थ का शुद्ध रूप समझना पड़ेगा तभी तत्पदार्थ का शुद्ध रूप समझ आयेगा। आत्मा एक है। मैं के रूप में वह अपरोक्ष है अतः उसे समझना संभव है। ईश्वर के रूप में वह परोक्ष है अतः समझना कठिन है। किन्तु अपरोक्ष स्थल में समझ लेने पर परोक्ष रूप की समझ स्पष्ट हो सकती है। अतः जिसने आत्मतत्त्व का स्पष्ट भान नहीं प्राप्त किया उसे ब्रह्मतत्त्व का बोध नहीं होगा। ब्रह्म के लक्षण सत्य ज्ञान व आनंद प्रत्यगात्मा में मिल जाते हैं जब बुद्धि सर्वथा शुद्ध होकर परमात्मा का आकार ग्रहण करे। उन लक्षणों वाले आत्मा को देखकर पता चल जाता है कि वह ब्रह्म का ही प्रतिबिंब है क्योंकि तभी ब्रह्म के लक्षणों का उसमें मिलना संगत है। क्योंकि केवल आत्मतत्त्व दीखते समय बुद्धि के सापेक्ष ही दीखता है इसलिये वह वास्तविक आत्मा का नहीं वरन् उसके बुद्धि में पड़े प्रतिबिम्ब का ही ज्ञान है। किंतु प्रतिबिम्ब को देखकर समझ बिम्ब आ जाता है, इसी तरह आत्मतत्त्व की स्पष्टता के आधार पर ब्रह्मतत्त्व को समझा जा सकता है। शास्त्र का सहारा अनिवार्य है पर मन में शुद्धि व स्थिरता चाहिये एवं आत्मतत्त्व स्पष्ट हो चुकना चाहिये। परमात्मदेव जन्मरहित है, न वह पैदा हुआ न उससे कुछ पैदा हुआ। वह ध्रुव है, किसी भी विकार से, परिणाम से रहित है। काल्पनिक तो उसमें सारे परिवर्तन हैं पर वास्तव में वह निर्विकार है। कुछ लोग मानते

एष देवः सर्वदिक्षु वह्न्यादिष्वखिलेषु च।
वर्तते तं विचिन्त्याथ प्रणमेत् सर्वदैव तम्।।४७।।

हैं कि शिव में सविशेषता-निर्विशेषता आती-जाती रहती हैं! किन्तु ऐसा परिवर्तनशील तत्त्व ब्रह्म नहीं है। कार्य सब माया के विस्तार हैं, उन सब से ब्रह्म अस्पृष्ट है। वादी लोग अलग-अलग तत्त्व मानते हैं, अधिकाधिक छत्तीस तत्त्व मानने वाले दार्शनिक भारत में हुए हैं। उन सबसे परमात्मा असंबद्ध है। वे सभी उसपर कल्पित ज़रूर हैं पर उसका उनसे कोई सम्बन्ध है नहीं। वादिसम्मत सभी तत्त्व मायारूप या माया के कार्यरूप हैं। ब्रह्म की सचाई न समझने तक इन तत्त्वों में कुछ सत्यता लगती है पर ब्रह्म की वास्तविकता समझ आते ही इन सबका मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है। परमेश्वर का सच्चिदानंद स्वरूप जान लेने से सारे पाप समाप्त हो जाते हैं। यह फल सत्य के ज्ञान का है। बाकी वादी सत्ता, चित्ता, आनंदता के विचार को व्यर्थ मानते हैं, द्रव्य गुणादि भेदों को या सत्त्व-रजआदि भेदों को या प्रमाण-प्रमेयादि भेदों को ही विचारणीय समझते हैं! वेदांती उन भेदों की पूर्ण उपेक्षा कर सच्चिदानंद को ही विचारणीय मानते हैं क्योंकि यही विचार पापों की निवृत्ति का उपाय है। जन्म-मरणचाहे स्वर्गादि में हो या वैकुण्ठादि मेंके मार्ग पर चलना हो तो ब्रह्मात्मतत्त्व समझना बेकार है पर जन्म-मरण के चक्र से छूटना हो तो वही एकमात्र तत्त्व उपयोगी है। अतः यहाँ देवज्ञान का फल बता दिया।।४५-६।।

सोलहवें मंत्र में बताया है कि सब दिशाएँ परमात्मरूप हैं, वही प्रथमज है, हिरण्यगर्भ में है तथा पैदा होने वाला सब भी वही है। सब तरफ मुख वाला वह प्रत्यग्-रूप से रहता है। अंतिम सत्रहवें मंत्र में अग्नि, जल, ओषधि, वनस्पति आदि सारे संसार में प्रविष्ट महादेव को प्रणाम किया गया है। इस संदर्भ को व्यक्त करते हैं

यह स्वप्रकाश तत्त्व सारी दिशाओं में एवं अग्नि आदि समस्त वस्तुओं में वर्तमान है। उसका विचिन्तनकर तब हमेशा उसे ही प्रणाम करना चाहिये।।४७।।

व्यापकता का वर्णन ऐसे ही किया जाता है कि वह वस्तु सब जगह और हर चीज़ में है। तात्पर्य है कि किसी भी पदार्थ की वास्तविकता उस देव से अतिरिक्त नहीं है। हमारे सामने जब जो है वह परमात्मदेव ही है यह निश्चित है। सर्वत्र उपाधि हटाकर उपहित को ब्रह्म जानने से हमेशा उसे प्रणाम हो पाता है। हर अनुभव में यह विचार चलाते रहना चाहिये कि यह विषय वस्तुतः क्या है? वास्तविकता सिर्फ परमात्मा है, अज्ञान से विभिन्न नाम-रूप-कर्मों के आकार में प्रतीत हो रहा है। नमः का अर्थ त्याग

सोपाधि वस्तु

तत्त्वयोगौ समुद्दिष्टावुत्तमस्याधिकारिणः।
अथ सोपाधिकं वस्तु मन्दं प्रत्यभिधीयते।।४८।।

है यह पद्मपादाचार्य ने पंचाक्षरी-व्याख्या में बताया है। 'त्यागो हि नमसो वाच्यः' त्याग ही नमः शब्द का अर्थ है। जो भी नाम-रूप प्रतीत हो उसे त्यागना है और जो सच्चिदानंद बचा वह मैं हूँ ऐसा अनुसंधान करना है। संसार में सच्चिदानंद नाम व रूप ये पाँच ही चीज़ें हैं, नाम-रूप त्याग देने पर सच्चिदानंद ही बचेगा। उपाधियाँ छोड़ने में जैसे विषय का अर्थात् बाह्यों का त्याग करना है वैसे ही विषयी का अर्थात् आन्तर उपाधियों का भी त्याग करना है, दोनों के त्याग से अभेद ही रह जायेगा। यही यहाँ प्रणाम अभिप्रेत है। मंत्र में 'तस्मै देवाय नमो नमः' यों दो बार नमः है : पहले नमन में जिसका अनुभव हो रहा है उसकी उपाधि को छोड़ना है और दूसरे नमन में भेदप्रतीति को छोड़ना है। इस प्रकार द्वितीयाध्याय का विवरण हुआ।।४७।।

अगले अध्याय का प्रयोजन बताते हैं **उत्तम अधिकारी के लिये तत्त्व और योग का भली भाँति कथन किया, अब मन्दाधिकारी के लिये उपाधियुक्त तत्त्व का कथन किया जा रहा है।।४८।।** प्रथमाध्याय में आत्मतत्त्व का प्रधानतः कथन है। सर्वोत्तम अधिकारी उसी उपदेश से कृतार्थ हो जायेगा। जिसके चित्त में चांचल्यादि पापप्रभाव है उसका काम श्रवणमात्र से संभव नहीं, उसे योगद्वारा मन स्थिर करना पड़ेगा। उसी के लिये द्वितीयाध्याय में साधनों का विस्तार किया। वेदान्त के साधक के उपयोगी योग का यहाँ स्पष्टीकरण हो गया, उसे पातंजल योग, हठयोग आदि अन्य योगपद्धतियों में उलझना नहीं चाहिये। सर्वोत्तम एवं उत्तम दो प्रकार के अधिकारियों के उपयोग की बात बताकर तीसरे अध्याय में मंदाधिकारियों के उपयोग की बात बतायी है। मंदबुद्धि उपाधि को छोड़ नहीं सकता, उपाधि के साथ ही उसे तत्त्व समझ आता है, उपाधि के बिना तत्त्व का क्या स्वरूप हैयह उसकी बुद्धि में बैठता नहीं। अतः अब उपाधिसहित रूप के वर्णन से उन अधिकारियों को सम्बोधित करेंगे।।४८।।

तृतीयाध्याय का प्रारंभ करते हुए उपनिषत् कहती है कि अपनी ईश्वरी शक्तियों द्वारा वह एक जालवान् (इंद्रजाल का खेल करने वाला) ही शासन करता है। उसे जानने वाले अमर हो जाते हैं। वह रुद्र अद्वितीय है, प्रत्यगात्मरूप से रहता है, सृष्टि का उत्पादन, रक्षण व प्रलय करता है। इन दो मंत्रों का अर्थ बताते हैं **मायारूप**

ऐन्द्रजालिकवद् मायाजालवान् एक ईश्वरः ।
नियच्छन् शक्तिभिर्लोकान् सृजते संहरत्यपि ।।४९।।
एक एवेश्वरस्तादृक् द्वितीयो नैव विद्यते।
जनानां प्रत्यगात्माऽसौ जगत्सृष्ट्यादिकार्यपि ।।५०।।

जालवाला एक ईश्वर अपनी शक्तियों द्वारा ऐन्द्रजालिक की तरह लोकों को उत्पन्न करता है, नियमित रखता है और नष्ट करता है ।।४९।। वैसा ईश्वर एक ही है, दूसरा है ही नहीं। जगत् की सृष्टि आदि करने वाला होने पर भी वह जीवों का प्रत्यगात्मा है ।।५०।। शुद्ध तत्त्व को अज कहा था, न वह पैदा होता है न पैदा करता है। इस तथ्य के रहते उससे उत्पत्ति कही जाये तो मायिक ही संभव है। वास्तविक उत्पत्ति कहीं नहीं है। मंदमति एकाएक अज को समझ नहीं सकता अतः उसे समझाया जाता है कि संसार को बनाने वाला मायाशक्ति वाला ईश्वर है। ईश्वर एक ही है, अनेक शक्तियों का रूप धरे माया उसकी सहायक है। ईश्वरेतर कुछ भी जगत्का स्वतंत्र कारण नहीं यह शास्त्र व तदनुसारी युक्ति से समझ आ जाता है तभी एकमात्र परमेश्वर जगत्का कारण है यह बुद्धि में बैठता है। अतः यहाँ जिसे मंद अधिकारी कहा उसे सर्वथा नासमझ अविचारशील व्यक्ति नहीं मान लेना चाहिये! शास्त्रादि का जिसे ज्ञान है, मन में परमेश्वर से प्रेम है व साधनाभ्यास में संलग्न है किंतु प्रपंच का भेद देखते हुए ही 'यह असत्य है, सत्य अकेला सच्चिदानंद है' इस बात को जो नहीं स्वीकार पाता, वही यहाँ मंद कहा गया है। काल स्वभाव आदि पूर्वोक्त एवं अन्य भी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध तत्त्वों को जगत्कारण न मानकर एक परमेश्वर को जगत्कारण मानने वाला ही धीरे-धीरे उसे अज भी समझ लेगा। हमें लोक में काल, यदृच्छा आदि की जो हेतुता मिलती है वह वैसी ही है जैसे जादूगर के खेल में विभिन्न हेतु-फल मिल जाते हैं। जादू में भी पौर्वापर्य रहता है, पूर्व में हेतुबुद्धि व परमें फलबुद्धि होती है, फिर भी स्थिति यह है कि वहाँ सारा ही खेल जादूगर का कौशल है, खेल के हिस्सों में परस्पर कार्यकारणभाव नहीं है। संसार का खेल ईश्वर अपनी माया शक्ति से दिखा रहा है, इसके अंतर्गत ही वह काल आदि विभिन्न हेतु-फल दिखाता रहता है पर वास्तव में वे हेतु-फल नहीं हैं, वास्तव में अकेला परमेश्वर ही कारण है। जादूगर की माया का खेल देखते समय न माया को समझ सकते हैं न उसे काट सकते हैं, ऐसे ही संसार का खेल देखते हुए इसे समझ नहीं सकते व काट नहीं सकते। खेल न देखकर इसे दिखाने वाले पर दृष्टि एकाग्र करें तभी माया का प्रभाव टूटेगा। जाल में

फँसे पक्षी जाल को ढीला कर उससे निकल नहीं सकते। जाल ढीला करने के लिये एक विशेष धागा ही खींचना पड़ता है, कोई बड़ी मेहनत का काम नहीं होता! इसी प्रकार एक छोटा-सा धागा है अविद्या का, बस उसी से यह जाल कसा है जिसमें हम फँसे हैं। फँसे होने से ही समझ नहीं आता कि यह अज्ञान से है, इसे हम समझते हैं कि ज्ञान से है! इसीलिये हमें कार्य-कारणभाव पर दृढ आग्रह है जिससे हमारा बंधन अधिक कसा है। हम संसार का स्वरूप समझने को स्वतंत्रता का उपाय मानते हैं; यह वैसा है जैसे पक्षी चाहे कि फड़फड़ाकर वह जाल से छूट सकता है! जितना सांसारिक ज्ञान से हेतुफल का आवेश चढ़ेगा उतनी परतंत्रता ही बढ़ेगी। इसी से माया को जाल कहा और मायाधीश को जालवान् कहा। जैसे विशेष धागा खींचते ही जाल ढीला हो जाता है ऐसे ही जगत् अज्ञान से है, इसे चलाने वाला इसका अधिपति एक ईश्वर ही हैयह समझ लेने पर माया का जाल ढीला पड़ता है। जगत् के सृष्टि स्थिति संहार का हेतु परमेश्वर ही सोपाधिक ब्रह्म कहा जाता है। निरुपाधिक न समझ पाने वाले के लिये सोपाधिक को ही पहले समझना पड़ता है। इसी से यहाँ उस ऐंद्रजालिक ईश्वर का वर्णन किया जा रहा है।।४९।।

ईश्वर एक ही है उससे दूसरा कोई ईश्वर नहीं हैयों विधि-निषेध दोनों तरहों से कहने पर उसकी अद्वितीयता में कोई संशय नहीं रह जाता। इसी अद्वैत को सिद्ध करने के लिये कहा कि जीवों का प्रत्यगात्मा भी वही है अर्थात् इतना ही नहीं कि दूसरा ईश्वर नहीं है, जीव भी वस्तुतः उससे अलग कुछ नहीं है। जिसे 'मैं' समझा जाता है वह प्रत्यग्रूप आत्मा ईश्वर ही है। जैसे उसने सारा जगत् बनाया वैसे ही वह जीवरूप से प्रविष्ट हुआ। संसार भोग्य बना और जीव भोक्ता बना। अतः वास्तव में एक परमेश्वर के सिवाय कुछ नहीं है। अपनी माया शक्ति से ही वह सारा खेल कर लेता है। लोक में भी शक्ति का शक्तिमान् से अलग उल्लेख नहीं करते; किसी को भोजन का निमंत्रण देते हो तो 'खाने की शक्ति साथ लाना' यह नहीं कहते! यद्यपि शक्तिमान् शक्ति के बिना भी रह जाता है अतः दोनों में कुछ भेद है तथापि शक्तिमान् का उल्लेख होने पर पृथक् से शक्तिका उल्लेख अनावश्यक होता है। शक्ति तो शक्तिमान् से अलग नहीं रह सकती अतः शक्तिमान् के कथन से उसका भी कथन गतार्थ हो जाता है। इसीलिये यहाँ ईश्वर का ही उल्लेख कर उसे एक, अद्वितीय कहा क्योंकि शक्ति के कारण परमेश्वर में सद्वितीयता संभव नहीं।।५०।।

तीसरे मंत्र में उस रुद्र को सब ओर आँख, मुँह, बाहु व पैर वाला कहकर उसके

स विराड्रूपतां प्राप्य विश्वतश्चक्षुरादिमान्।
सर्वेषां चक्षुराद्या ये तदीया एव तेऽखिलाः।।५१।
'यो देवानाम्' इति प्रोक्तैस्त्रिभिर्मन्त्रैस्तमीश्वरम्।
मुमुक्षुः प्रार्थयेतैव सदा बुद्धिविशुद्धये।।५२।।

विराड्रूप का वर्णन किया है। उसका संकेत करते हैं **वह रुद्र ही विराट् का रूप धारण कर सब ओर आँखों आदि वाला हो गया। सभी जीवों की जो आँखें आदि हैं वे सब उसी रुद्र की हैं।।५१।।** ईश्वर ही विराट् बनता है। कारण उपाधि से वही ईश्वर है, सूक्ष्म उपाधि से वही हिरण्यगर्भ है तथा स्थूल उपाधि से वही विराट् है। यहाँ हिरण्यगर्भ-भाव का स्पष्ट कथन नहीं किया पर सब इंद्रियों वाले के रूप में बताकर हिरण्यगर्भ की सूचना दे दी है। विराट् में सभी के गोलक आ जाते हैं, हिरण्यगर्भ में सभी इंद्रियाँ आ जाती हैं। स्थूल बनने से पूर्व सूक्ष्म बनाना आवश्यक है। अतः विराट् के कथन से भी हिरण्यगर्भ का कथन अर्थसिद्ध है। सारा ही स्थूल प्रपंच विराट् का शरीर है। हम अपने शरीर-इन्द्रिय-मन को अपना माने हैं पर वास्तव में ये सब विराट् के ही हैं। जीवित रहते हम देह को मैं मानते हैं पर मरते ही इसके पृथ्वी आदि तत्त्व यहीं मिट्टी आदि में विलीन होने लगते हैं तो स्पष्ट होता है कि शरीर वस्तुतः मैं नहीं वरन् महाभूतरूप ही है। महाभूत विराट् का शरीर हैं अतः हम जिसे अपना शरीर माने बैठे हैं वह सचमुच में विराट् के शरीर का ही एक हिस्सा है। जैसे शरीर विराट् से अलग नहीं परन्तु 'मैं'-रूप से देखा जा रहा है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी हिरण्यगर्भ से अलग नहीं फिर भी हम इन्हें अपना समझ रहे हैं। प्रारब्ध के फलस्वरूप हमें भोगायतन के रूप में शरीर और भोगोपकरणों के रूप में इंद्रिय-मन मिलते हैं पर सच बात तो यही है कि ये हैं विराट् के ही। विराट् ही सूक्ष्माभिमानी रहते हिरण्यगर्भ है। अतः सभी जीव जिन्हें अपना मानते हैं वे देह-इन्द्रियादि वास्तव में विराट् के हैं।।५१।।

चौथे मंत्र में प्रार्थना है कि जो महर्षि रुद्र विश्व से अधिक है, देवों का प्रभव (उत्पादक) एवं उद्भव (सामर्थ्यदाता) है, जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया, वह हमें शुद्ध बुद्धि से संयुक्त करे। पाँचवें में कल्याणकारी पापनाशक रूप वाले रुद्र के साक्षात्कार की प्रार्थना है। छठे में 'गिरिशन्त' महादेव से प्रार्थना है कि वे प्राणियों को मारें मत, अपने बाण को कल्याणकारी बनायें। इन तीन मंत्रों का प्रार्थना में विनियोग बताते हैं **'यो देवानाम्' इत्यादि बताये तीन मन्त्रों द्वारा मोक्षेच्छुक साधक उस ईश्वर की सदा प्रार्थना करे ताकि बुद्धि की विशुद्धि संभव हो।।५२।।** मोक्ष

चाहने वाला साधक ईश्वर के शरणागत हो यह उचित है। किसी देवता के (अर्थात् परिच्छिन्न उपाधि वाले के) शरणागत होना मोक्ष मार्ग के लिये व्यर्थ है, समष्टि उपाधि वाले की ही शरण लेना सार्थक है। उसी ईश्वर की प्रार्थना करने को कहा जिसे पूर्व में ऐन्द्रिजालिक व विराट् कह आये हैं। ईश्वर से प्रार्थना करने से बुद्धि विशुद्ध होती है।

प्रार्थना का पहला मंत्र है 'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः। हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।' इसमें कहा कि वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे। वह कौन? जो इन्द्रादि देवताओं को भी उत्पन्न करने वाला है तथा उन्हें विविध ऐश्वर्य प्रदान करता है। 'उद्भव' अर्थात् देवताओं के उत्कर्ष को संभव बनाने वाला। हमारा उत्कर्ष परमेश्वर की ही कृपा से होता है, हम उसमें अभिमान करते हैं यही हमारी भूल है। संसार का पूरी तरह पालन करने वाला वही परमेश्वर है। केवल गुज़ारे लायक ही नहीं देता, उससे कहीं अधिक देता है। एक आम के बीज से न-जाने कितने आम पैदा होते हैं और उन आमों से पुनः न-जाने कितने वृक्ष पैदा हो जाते हैं! इसी तरह वर्षा में केवल कुएँ-तालाब भरने जितना ही नहीं, उससे कहीं अधिक पानी बरसता है। जितना आवश्यक है उससे करोड़ों गुणा पानी हर वर्ष बरस जाता है। श्रुति में 'विश्वाधिकः' की जगह 'विश्वाधिपः' भी पाठ मिलता है। वह विश्व से अधिक अर्थात् अतीत है इतना ही नहीं, विश्व का अधिकता से पालन करता है। फिर भी कुबुद्धिवश हम 'उसने कितना दिया' के बजाये 'हमारे पास क्या नहीं है' की तरफ ही देखते व दुःखी होते रहते हैं! जो यह देखता है कि 'भगवान् ने मुझे क्या दिया' वह सुखी रहता है, भगवान् से प्रेम कर पाता है, साधना में प्रगति कर जाता है। दुःख आते हैं पर सोचें, तो यदि सिर में रोग आया तो हृदय उदर पैर आदि सब स्वस्थ भी हैं। उनके स्वास्थ्य का सुख है ही। प्रायः प्रवृत्ति होती है कि जो मिले उसके लिये स्वयं को शाबाशी देते हैं व जो नहीं मिला उसके लिये भगवान् को दोष देते हैं। यह ग़लत सोच है, इसे छोड़ना चाहिये। भगवान् रुद्र हैं : रुद् नाम दुःख का है, सारे दुःखों को वे नष्ट करते हैं इसलिये रुद्र हैं। दुःखरूप संसार में फँसे प्राणियों की एकमात्र गति रुद्र ही हैं। उनसे अतिरिक्त सब हिसाब के अनुसार देते हैं, समस्त दुःख हटाने वाले एक रुद्र ही हैं। विष्णु भगवान् तो मोहिनी आदि अवतारों में भेदभाव का व्यवहार कर लेते हैं पर भगवान् शंकर की ऐसी कोई लीला नहीं है। वे तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर सबका सदा कल्याण करते ही हैं। उनकी सर्वज्ञता बताने के लिये ही उन्हें महर्षि कहा। भूत व वर्तमान तो साधारण व्यक्ति भी जानता है, इनके साथ

भविष्य को भी ऋषि जानते हैं। इंद्रियातीत, तर्कातीत को भी पूर्णतः जानने वाला महर्षि है। ईश्वर ने सर्वप्रथम समष्टि सूक्ष्म के अभिमानी हिरण्यगर्भ को पैदा किया। जो हितकारी और रमणीय हो उसे हिरण्य कहते हैं। लोक में ऐसा होने से स्वर्ण को हिरण्य कहा जाता है। संसार भी हिरण्य ही है। ईशावास्य उपनिषत् में बताया है कि सत्यरूप परब्रह्म परमात्मा का हिरण्मय पात्र से आच्छान किया गया है। संसार ही वह हिरण्मय पात्र है। यह रमणीय है इसमें तो कहना ही क्या! शास्त्र ने संसार के पदार्थों को प्रिय मानने को कहीं नहीं कहा, इनके प्रति वैराग्य करने को ही कहा, फिर भी इनमें प्रेम सहज हो जाता है, वैराग्य प्रयास से भी दुष्कर रहता है। और यह हितकारी भी है यदि इसका सदुपयोग किया जाये। शास्त्रीय कर्म करें तो स्वर्गादि लाभरूप हित होता है और वैराग्य-सम्पन्न होकर संसार में परमेश्वर की आराधना करें तो परमानंद का लाभरूप हित होता है। क्षणिक सुख भी हैं पुण्य का फल। परमानंद की प्राप्ति भी तभी होगी जब संसार से वैराग्य कर श्रवणादि में तत्पर हों। अतः संसार हितकारी व रमणीय दोनों है पर रमणीयता के कारण ही हम इसका दुरुपयोग कर इसे अहितकर बना देते हैं। संसार का दुरुपयोग ही दुःखों का कारण है। रमणीय संसार को जल्दी से समूचा ही पा लेने की उत्कण्ठा से ही हम सारे पाप कर डालते हैं जो हमें दुःख देते रहते हैं। संसार के सदुपयोग से भोग व मोक्ष दोनों मिल जाते हैं। यह हिरण्य कहलाने वाला नाम-रूपात्मक जगत् जिसके गर्भ में है वह हिरण्यगर्भ कहा जाता है। सूक्ष्म से ही स्थूल की उत्पत्ति होती है। आँखें हैं तभी रूप प्रकट होता है। गर्भ में जो है वही प्रकट होगा। सामने रूप है तभी आँखें खुलने पर प्रकट होगा, कान खुले हों तो शब्द सुनने में आयेगा। स्थूल का प्राकट्य सूक्ष्म से ही होता है। अतः परमेश्वर ने पहले सूक्ष्म बनाया।

प्रार्थना का दूसरा मंत्र है 'या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताऽभिचाकशीः।।' घोर और अघोरये दो रूप परमेश्वर के प्रसिद्ध हैं। अग्नि, बिजली आदि के भी ऐसे दो रूप स्पष्ट हैं, अग्नि से ही हमारा भोजनादि बनता है, जीवन चलता है और अग्नि ही घर जला डालती है। बिजली से हज़ारों कार्य होते हैं और बड़ी-बड़ी दुर्घटनाएँ भी बिजली से ही हो जाती हैं। आग या बिजली अलग नहीं, उनके रूप विभिन्न हैं। इसी तरह, दुष्कर्मियों के लिये भगवान् का घोर रूप है, पाप का दण्ड पाते समय में वे उस रूप के सामने काँपते हैं। परमेश्वर का अज्ञान से ढका रूप ही घोर है। 'आगे क्या होगा, पता नहीं'इस तरह के अज्ञान के रहते ही

भय होता है। परमेश्वर का जाना हुआ रूप अघोर है। जिसने परमेश्वर को जान लिया, उसे भय नहीं हो पाता। वह मरता भी शांति से, परमेश्वर का चिन्तन करते हुए ही है। परमेश्वर का अज्ञान से अनावृत रूप ही अघोर है। विराट् का सही ज्ञान हो जाये तो स्थूल का भय दूर हो जाता है, हिरण्यगर्भ का सही ज्ञान हो तो सूक्ष्म का भय हटता है, ईश्वर का ज्ञान होने पर कारण का भी भय नहीं रह जाता। निर्विशेष सच्चिदानन्द स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाये तो भय की सकारण निवृत्ति हो जाती है। रुद्र का अघोर रूप अपाप से प्रकट होता है। ईश्वरपर्यन्त रूप तो पुण्य से प्रकट होगा पर शुद्ध निर्विकार रूप पुण्य-पाप दोनों से परे है। अतः यहाँ 'अपाप' से 'अपुण्य' भी समझना चाहिये। दोनों के परित्याग पर ही सर्वथा अघोर रूप का प्रकाश होता है। वह रूप 'शन्तम' अर्थात् सर्वाधिक कल्याण है। यहाँ भगवान् को 'गिरिशन्त' अर्थात् पर्वतवासी कहा जिससे उनका कैलास में वास प्रसिद्ध है। मनुष्य-शरीर में मूर्धा भी पर्वत-सी है, वहाँ शिव रहकर हमारा कल्याण कर रहे हैं। हर साँस के साथ मूर्धा से अमृत बिंदु रीढ़ की हड्डी द्वारा मूलाधार स्थित अग्नि में पड़ रहा है, इसी से हम जीवित हैं। जिस क्षण वह अमृत-स्राव बंद होगा, हम मर जायेंगे। मूर्धारूप गिरि पर रहकर भगवान् इस प्रस्राव से हमारा कल्याण कर रहे हैं।

प्रार्थना का तीसरा मन्त्र है 'याम् इषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्।।' यहाँ कहा कि भगवान् बाण हाथ में लिये हैं अर्थात् परमात्मा हर क्षण हमें कोई-न-कोई भोग देते हैं। हम उस भोग में ही लिप्त रहते हैं, किसने दियाइसकी तरफ ध्यान ही नहीं देते। यहाँ प्रार्थन है कि आप हमें ऐसा फल दें कि हम आपकी ही तरफ आयें, भोगों द्वारा हमारी बुद्धि आपका स्मरण करे। परमात्मा ही विषय के रूप में सामने आया हैयह स्मरण रहे तो विषय कभी बंधक नहीं बन सकेगा किंतु हम यह भूले रहकर स्वयं अपनी हिंसा कर लेते हैं। भगवान् की कृपा से यह सावधानी बनी रहे तो इस हिंसा से हम पीडित नहीं होंगे। प्रार्थना है कि सारा संसार भगवान् की ओर प्रवृत्ति करे। वैदिकों की प्रार्थनायें प्रायः सबके हित के लिये होती हैं। गायत्री मंत्र में भी 'मेरी बुद्धि' न कहकर 'हमारी बुद्धियों को प्रवृत्त करें' ऐसी प्रार्थना है। जैसे कोई बच्चा पिता से कहे 'चाकलेट दीजिये, हम चारों भाई खायेंगे', तो पिता प्रसन्न होता है जब कि 'मैं खाऊँगा, मुझे दीजिये' सुनकर उतना प्रसन्न नहीं होता, उसे स्वार्थी समझता है व जल्दी चाकलेट देता भी नहीं, ऐसे ही सबके लिये प्रार्थना सुनकर परमेश्वर भी प्रसन्न होकर जल्दी उसे पूरा करते हैं। अज्ञान

ततः शुद्धमतिर्ब्रह्म सर्वभूतेष्ववस्थितम्।
अन्तर्बहिश्च संव्याप्तं ज्ञात्वा स्यान्मृतिवर्जितः।।५३।।

रहते स्वार्थ रहेगा तो सही, पर विवेक से उस पर काबू रखकर सबके हित का ही प्रयास करना चाहिये। सबके हित में अपना हित तो हो ही जायेगा। इस प्रकार ये तीन मन्त्र बताये जिनसे बुद्धिशुद्धि के लिये परमेश्वर से प्रार्थना करना मुमुक्षु का कर्तव्य है।।५२।।

सातवें मंत्र में बताया है कि हर शरीर में सब प्राणियों में छिपे एवं समग्र विश्व को लपेटे रखने वाले व्यापक ईश को जानकर अमृत हो जाते हैं। इसका अर्थ बताते हैं **प्रार्थना से शुद्ध बुद्धि वाला होकर सब भूतों में रहने वाले, भीतर-बाहर सर्वत्र भली भाँति व्यापक ब्रह्म को जानकर साधक मरण से रहित हो जाता है।।५३।।** प्रार्थना से बुद्धि में शुद्धि आने से परमेश्वर को समझा जा सकता है। वह सब भूतों में है तो मुझ में भी है ही अतः मुझे उसका साक्षात् अपरोक्ष हो सकता है। वह भूतों में, प्राणियों में ही नहीं, सर्वत्र व्यापक है, प्राणियों के भीतर-बाहर जो कुछ है वह परमेश्वर से व्याप्त है। पहले-पहल दीखता है कि घड़े में जगह (आकाश) है; कुछ विचार करने से पता चलता है कि घड़े में तो है पर घड़े के बाहर भी आकाश ही है; और विचार करने से समझ आता है कि घड़ा भी मिट्टी-जल-तेज-वायु के क्रम से आकाशमात्र ही तो है। इस प्रकार आकाश की सर्वत्र व्याप्ति पता चलती है। या, बर्फ की कटोरी में पानी भरकर उसे तलैया में डाल दें तो भीतर, कटोरी रूप में और बाहर सर्वत्र पानी ही होगा। ऐसे ही सविशेषभाव में वह परमेश्वर सब प्राणियों में है, प्राणियों से बाहर समग्र जगत् में है और बाहर भीतर का भेद करने वाला अध्यास भी अवास्तविक होने से उसका अधिष्ठान भी वही परमेश्वर है। परमेश्वर की यह संपूर्णता जान लेने पर भय सर्वथा दूर हो जाता है, मृत्यु होती ही नहीं। निर्विशेष-साक्षात्कार हो गया तो यहीं मृत्यु से छूट जायेंगे और सोपाधिक रूप को जान लिया तो ब्रह्मलोक जाकर वहाँ मृत्यु के क्षेत्र से परे हो जायेंगे। इस प्रकार परमेश्वर के ज्ञान से मृत्युरहित होना निश्चित है।।५३।।

आठवें मंत्र में ऋषि ने अपना अनुभव प्रकट किया है कि अज्ञान से परे प्रकाशमान ब्रह्म को मैं जानता हूँ। उसे जानकर ही मृत्यु को कोई भी लाँघ सकता है, इसका कोई दूसरा उपाय नहीं। पुरुषसूक्त में भी यह मंत्र प्रसिद्ध है। इसका संग्रह करते हैं **श्वेताश्वतर नाम वाला मैं उस प्रभु पुरुष को जानता हूँ। और भी कोई**

श्वेताश्वतरनामाऽहं पुरुषं वेद्मि तं प्रभुम्।
अन्योऽपि तं विदित्वैव मृत्युमत्येति नान्यथा।।५४।।

अधिकारी उसे जानकर ही मृत्यु से परे जाता है, अन्य किसी उपाय से नहीं।।५४।। यद्यपि शास्त्र प्रमाण है, उसी से निश्चय हो सकता है, तथापि जब सम्मुख उपस्थित प्राप्त व्यक्ति स्वानुभव के बल पर कुछ कहता है तब निश्चय करने में सुविधा होती है अतः वेद में जगह-जगह ऋषि अपने अनुभव का भी हवाला देते ही हैं एवं उपदेशक गुरु लोग भी अपने अनुभव से शास्त्र को उपोद्बलित करते रहते हैं। जब कोई कह दे 'मैंने शास्त्र से सत्य समझ लिया है' तब यह भावना दृढतर होती है कि हम भी समझ सकते हैं। 'श्वेताश्वतर नाम वाला' से कहा कि स्थूल-सूक्ष्म शरीरों वाला जो मैं अर्थात् लोकप्रसिद्ध जीव हूँ उस मैंने ही उस प्रभु का, सबके अधीश्वर का अनुभव किया है। अतः स्पष्ट है कि अन्य भी जो अभी देहाद्यभिमानी है वह भी उस तत्त्व को समझ सकता है। वह प्रभु पुरुष है, पूर्ण है, पुरी में अर्थात् शरीरों में प्रत्यग्रूप से रहता भी है। प्रत्यगात्मा-परमात्मा का अभेद ही समझने लायक तत्त्व है। अभी हम जिसे शरीर में ही समझते हैं वह वस्तुतः सर्वत्र परिपूर्ण है। पुरुष से चेतनता भी बतायी कि जगत्प्रभु चेतन है, न कि जड। अतः कर्मफल की व्यवस्था का पालन करने पर भी वह कृपा करने में स्वतन्त्र रहता है। ऐसे ईश्वर को प्रत्यग्रूप से जान लेने पर मृत्यु के क्षेत्र से परे हो जाते हैं। यह ज्ञान जैसा ऋषियों को हुआ वैसा अन्य किसी को भी हो सकता है, बहुतों को हुआ है। ईसाई-मुसलमान मानते हैं कि ईसा या मुहम्मद को ईश्वर-साक्षात्कार हुआ पर हमें या और किसी को नहीं हो सकता अतः सबको इन्हीं की बात मान लेनी चाहिये। वैदिकों का कहना है कि ईश्वर-साक्षात्कार सभी अधिकारियों को स्वयं करना होगा तभी उनका मोक्ष होगा, किसी पूर्वाचार्य को हो गया, औरों को नहीं हो सकता ऐसी बात नहीं। पूर्वाचार्यों की बात माननी-मात्र नहीं है, मानकर वही अनुभव खुद करना है, तभी कल्याण संभव है। अतः श्वेताश्वतर ऋषि ने कहा कि मैंने जो ज्ञान पाया उसे कोई भी पा सकता है। सब में रहने वाला ईश्वर एक ही है अतः सभी उसे देख सकते हैं। वेदान्त से अन्य दर्शन-धर्म इस प्रकार परमेश्वर-दर्शन सर्वसुलभ नहीं मानते बल्कि 'किसी एक को ही हुआ' इसी का महत्त्व मानते हैं, कि ईश्वर का एक ही पुत्र हुआ या एक ही पैगम्बर है इत्यादि। वैदिक कहते हैं कि प्रभु का अपरोक्ष साक्षात्कार सभी को हो सकता है और मोक्ष के लिये स्वयं को हुआ ब्रह्म-साक्षात्कार ही काम का है, दूसरे किसी को हुए साक्षात्कार से हमें मोक्ष नहीं मिल सकता। इतना

यस्मात् परं नापरं वा किञ्चिदस्ति तदद्वयम्।
वृक्षवद् निश्चलं तेन पूर्णं सर्वमिदं जगत्।।५५।।
एतद्विदुर्मृत्युहीनास्ते स्युर्ये तु न तद् विदुः।
ते दुःखमेव गच्छन्ति न तत् सोपाधिकेक्षणे।।५६।।

ही नहीं, इस साक्षात्कार के अलावा मोक्ष का कोई उपाय है भी नहीं। मायाधीश को जानकर क्रममोक्ष तथा माया के अधिष्ठान को जानकर सद्योमोक्ष होता है; हर हालत में मोक्ष के लिये जानना परमेश्वर को ही पड़ता है। यह निर्णय केवल श्वेताश्वतर ऋषि का ही नहीं, सब ब्रह्मवेत्ताओं का है। यही मंत्र पुरुषसूक्त में आया है, वहाँ उसके द्रष्टा ऋषि नारायण हैं, उनका भी यही अनुभव है। इससे स्पष्ट है कि सभी तत्त्वज्ञों का यह अनुभव है कि प्रभु पुरुष को जानकर अमरता-प्राप्ति होती है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।।५४।।

नौवें मंत्र में बताया है कि परमात्मा से परे अर्थात् उत्कृष्ट और कुछ नहीं है एवं उससे छोटा अर्थात् सूक्ष्म भी और कुछ नहीं है तथा उससे बड़ा भी कुछ नहीं है। उस अकेले पुरुष से ही यह सारा विश्व भरा हुआ है। दसवें में कहा है कि उस सर्वश्रेष्ठ को, रूप व आमय से रहित तत्त्व को जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं, जो नहीं जानते वे दुःख ही पाते रहते हैं। इन मंत्रों की व्याख्या करते हैं **जिससे श्रेष्ठ या कनिष्ठ कुछ नहीं है वह अद्वय वस्तु वृक्ष की तरह निश्चल है। यह सारा जगत् उससे पूर्ण है।।५५।। जो इसे जानते हैं वे मृत्यु से रहित हो जाते हैं। जो तो इसे नहीं जानते वे दुःख ही पाते हैं। उपाधियुक्त वस्तु भी देख ली जाये तो दुःख नहीं होता।।५६।।** 'पर' शब्द का अर्थ हैअलग, दूसरा। 'यस्मात् परम्' अर्थात् उससे अलग कहीं कुछ नहीं है। 'पर-अपर' का अर्थ श्रेष्ठ-कनिष्ठ भी होता है अतः तात्पर्य है कि उस परमेश्वर से अलग कुछ नहीं है जो उससे श्रेष्ठ या कनिष्ठ हो। अतः उसे अद्वय कहा। द्वैत के निषेध का भाव है कि दो से अधिक भी कुछ नहीं है, ऐसा नहीं कि दो का निषेध हो और तीन हैं ऐसे माना जाये! ऐसे तत्त्व के लिये वृक्ष का दृष्टांत दिया। वृक्ष की तरह वह स्थिर रहता है। वृक्ष हरे-भरे भी होते हैं, और सूखे ठूँठ भी होते हैं। पत्ते गिरकर ठूँठ ही बचता है। परमेश्वर का माया उपाधि वाला रूप हरे वृक्ष की जगह है और निर्विकार शुद्ध रूप ठूँठ की जगह है। माया के जल से ही उसमें हरियाली दीखती है। उस दशा में भी उसमें कोई वास्तविक चलन नहीं होता। निश्चल रहते हुए ही वह सारे जगत् को पूर्ण करता है, उसी आधार पर माया का खेल दीख

दुर्लक्ष्यो निरुपाध्यात्मा सूक्ष्मधीवर्जितैर्नरैः।
सुलक्ष्य एव सोपाधिस्तस्मादेवं स्मरेदमुम्।।५७।।
सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।५८।।

रहा है। जैसे लोक में हरा-भरा पेड़ ही पसन्द आता है वैसे ब्रह्म माया से सृष्टि करता हैइसी तरह भगवान् समझ (और पंसद) आते हैं। कुछ लोग यहाँ तक कहते हैं कि माया शक्ति से रहित शिव व्यर्थ है। क्योंकि बिना माया के वह कुछ कर नहीं सकता इसलिये शास्त्र प्रारंभ में ईश्वर के मायावी रूप का, जगत्कारण एवं फलदाता रूप का वर्णन करता है। इससे एक बार ईश्वर समझ आ जाये तब धीरे-धीरे पता चल जायेगा कि शिव ही परमार्थ सत्य है जिस पर मिथ्या ही माया चित्र उकेर रही है। शिव शक्ति के बिना भी है, शक्ति तो शिव के बिना है ही नहींयह रहस्य प्रारंभ में समझ नहीं आ पाता। किंतु जो परमात्मा के इस वास्तविक रूप को समझ लेते हैं वे मृत्यु से रहित हो जाते हैं जबकि इसे न समझने तक दुःख में ही पड़े रहना पड़ता है। परमेश्वर के सोपाधिक रूप को भी समझ लें तो दुःखों से छूट जाते हैं। परमेश्वर ही सारी सृष्टि का एकमात्र आधार है। माया शक्ति का सारा विलास उसी पर अधिष्ठित हैइतना समझना, निश्चय करना भी दुःख को मिटा देता है।।५५-६।।

ग्यारहवें मंत्र से सोपाधिक रूप का वर्णन है, उसका संकेत करते हैं **जिन नरों की बुद्धि सूक्ष्म नहीं है उन्हें निरुपाधिक आत्मा दीखना मुश्किल है पर सोपाधिक आत्मा देखना उनके लिये सुकर है। इसलिये यों उसका स्मरण करना चाहिये :।।५७।। वह सब मुँह सिर और ग्रीवा वाला है, सब प्राणियों की हृदय-गुफा में रहता है, चर-अचर सारे लोक को वह वश में रखता है।।५८।।** उपाधियों से स्वतंत्र आत्मा को समझना बहुत कठिन है। उसको समझने के लिये बुद्धि की अत्यन्त सूक्ष्मता चाहिये। न ईश्वर का शुद्ध रूप पता चलता है और न जीव का शुद्ध रूप पता चलता है। जैसे बैंगन-अदरक के व्यापारी हीरे-पन्ने की बारीकी नहीं समझ पाते वैसे अनात्मप्रवण व्यक्ति आत्मा को नहीं समझ पाते। अधिकतर लोग सूक्ष्म बुद्धि वाले नहीं होते अतः उनके लिये शुद्ध तत्त्व का दर्शन अतिकठिन है। पर ऐसों के लिये भी सोपाधिक रूप का दर्शन संभव है। स्वयं अपने बारे में भी यही बात है'मैं देवदत्त हूँ, गोरा हूँ' इत्यादि उपाधियुक्त रूप तो झट समझ आता है लेकिन शरीर इन्द्रिय मन प्राण बुद्धि से रहित मैं क्या हूँ?यह समझना बहुत मुश्किल हो

विश्वाकारजनेः प्राक् च सर्वव्यवहृतिक्षमः।
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता सर्वशक्तियुक्।।५६।।

जाता है। 'जानने वाला मैं' तक तो पता चलता है पर बुद्धि से भिन्न साक्षी का पता नहीं चल पाता। सुषुप्ति के विचार से अवश्य मालूम पड़ता है कि बुद्धि से रहित भी मेरी स्थिति है। इसी तरह समस्त सृष्टि करने वाला, स्थिति रखने वाला, संहार करने वाला, कण-कण क्षण-क्षण में प्रकट होने वालायों सोपाधिक परमात्मा तो सुविधा से समझ आता है पर बिना उपाधि वाला सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र समझ में नहीं आता। अतः शास्त्र में प्रभूत वर्णन सोपाधिक का है, साधक को उसका चिन्तन करना चाहिये। मंत्र में भगवान् शिव को 'सर्वाननशिरोग्रीवः' कहा है। संसार में जितने भी मुख हैं, सारे उस महादेव के ही हैं। सारे सिर हमें दीख नहीं सकते, इतना समझ सकते हैं कि हमारा सिर वास्तव में उसका है। जैसे सब शरीरादि शिव के हैं वैसे शरीर वालों के अंदर भी शिव ही है जिसके कारण सब प्रवृत्त हो रहे हैं। प्राणियों का अहम् मानो गुफा है जिसमें शिव उपस्थित है। सब को वह अपने पूर्ण नियंत्रण में रखता है। इस प्रकार, द्रष्टा व दृश्य दोनों शिव हैं यह बताया। जड-चेतन छोटे-बड़े सभी उसके पूर्ण नियंत्रण में रहते हैं। परमेश्वर के इस रूप के स्मरण से सांसारिक विक्षेप मिट जाते हैं क्योंकि सबका प्रेरक और सब रूप धारण किया महादेव ही है यह बोध बना रहता है तथा महादेव से कोई विक्षेप हो यह संभव नहीं!।।५८-९।।

उन्नीसवें मंत्र में बताया है कि हाथ, पैर, चक्षु, कर्ण से रहित रहकर भी वह पकड़ लेता है, दौड़ता है, देखता-सुनता है! वह सब ज्ञेय को जानता है, उसे जानने वाला कोई नहीं है। उसी को महान् अग्र्य (प्रथम) पुरुष कहते हैं। इसका भाव व्यक्त करते हैं **विश्व के आकार के जन्म से पहले भी वह सारे व्यवहारों में सक्षम रहता है। हाथ-पैर से रहित होने पर भी वह तेज़ दौड़ता है और पकड़ता है। वह सारी शक्ति से संपन्न है।।५६।।** संसार का आकार जन्म ले इसके लिये जो कुछ करना है वह परमेश्वर ही करता है अतः उसे सारे व्यवहारों में सक्षम होने के लिये विश्व के आकारों पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। उसकी यह क्षमता अर्थात् शक्ति ही माया है। सृष्टि आदि न करते समय भी उसमें शक्ति थी ही। जैसे, हम न चल रहे हों तब भी चलने की शक्ति हममें रहती है, वैसे परमेश्वर की शक्ति तब भी रहती है जब वह उसे प्रकट नहीं करता। इसे कहने का तरीका है कि हाथ आदि के बिना वह पकड़ आदि लेता है। सृष्टिकाल में यह समझना कठिन पड़ने से यहाँ बताया कि विश्व के जन्म

अणोरणीयान् दुर्लक्ष्यो महीयान् महतः स्फुटः।
इत्यात्मानं शास्त्रदृष्ट्या पश्यतो नास्ति दुःखिता।।६०।।

से पूर्व जब कोई हाथ-पैर बने ही नहीं थे तब वह हाथ-पैरों से रहित था ही, पर तब भी उसकी पकड़ने-चलने आदि की सामर्थ्य में कोई कमी नहीं थी। वही शक्ति हाथ आदि में प्रकट हो जाती है। अतः हमेशा ही सर्वत्र उसी की शक्ति से सब कुछ हो रहा है और वह स्वयं हाथ आदि से परे ही है, पर यह समझ आये इसके लिये सृष्टि से पूर्व की दशा को सोच लेना चाहिये।।५९।।

बीसवें में बताया है कि अणु से भी अधिक सूक्ष्म एवं महत् तत्त्व से भी बड़ा जो आत्मा है वह हर प्राणी के हृदय कमल में छिपा है। उसी की कृपा से जो उस संकल्परहित महान् ईश का दर्शन कर पाता है वह शोकरहित हो जाता है। इसे बताते हैं **जो शास्त्र की दृष्टि से आत्मा को यों समझता है कि 'वह अणु से अणुतर है अर्थात् मुश्किल से देखा जा सकता है एवं महान् से महत्तर है अर्थात् स्पष्ट है,' वह दुःखी नहीं रहता।।६०।।** स्थूल पदार्थ को तोड़ते जाने पर जब आगे नहीं टूट सके तब उस दशा को अणु कहते हैं। यह परिमाण, माप कितना हैयह लौकिक दृष्टि से समझ नहीं आता, शास्त्र से पता चलता है कि ऐसा एक अत्यल्प माप होता है। परमात्मा उस अणु से भी अधिक-अणुतर कहा गया है! श्वेताश्वतर में ही (५.९) जीवात्मा के बारे में बताया है कि एक बाल के खड़े अर्थात् मोटाई या गोलाई में सौ टुकड़े करो, उनमें से एक टुकड़े के फिर सौ टुकड़े करो, उनमें से एक के फिर टुकड़े करो, ऐसा सौ बार करो तो जितना बारीक बाल रह जायेगा, उतना जीवात्मा का माप समझ सकते हैं! कहा तो है पर इससे कोई कल्पना नहीं हो सकती कि कितना छोटा है। किंतु तात्पर्य छोटेपन में नहीं वरन् सूक्ष्मता में है। ऐसा नहीं कि जीव का माप यहाँ कहा जा रहा हो! आत्मा तो विभु ही है पर सूक्ष्म होने से अणु कहते हैं। और जीव से भी परमात्मा अधिक सूक्ष्म है अतः उसे अणीयान् अर्थात् अणुतर कहते हैं। इसीलिये यहाँ व्याख्या कर दी कि तात्पर्य यह बताने में है कि वह दुर्लक्ष्य है, अतिकठिनता से समझ आ सकता है। अणीयान् से कहीं अत्यंत छोटा ही न समझ लिया जाये इसलिये उसे महत् से महान् भी साथ ही कहा। पुराणों में बताया है कि सारा आकाश परमेश्वर की माया के दसवें अंश में ही कल्पित है। अनंत कोटि ब्रह्माण्ड जिसके कार्य हैं वह माया स्वयं भी ब्रह्म के दसवें ही हिस्से में अध्यस्त है। हम लोग तो ब्रह्माण्ड को ही नहीं समझ पाते, उससे भी असंख्य गुणा बड़ा परमेश्वर है अतः

स्थूलदर्शी तु साकारे सार्वात्म्ये वासिते सति।
निराकारं ततो बोद्धुं प्रार्थयेतैश्वरं वपुः।।६१।।

उसे स्वयं समझ सकें यह संभव नहीं। फिर भी 'शास्त्रदृष्ट्या स्फुटः' शास्त्र में बताई दृष्टि से देखने पर वह बिलकुल साफ दीख जाता है। शास्त्र ने यह भी बताया है कि उसे देखने के लिये अपनी बुद्धि कैसी बना लेनी चाहिये और यह भी समझाया है कि तटस्थ लक्षणों से परिचय पाकर स्वरूप को अन्वय-व्यतिरेक से कैसे बुद्धि पर आरूढ करना चाहिये। शास्त्रदत्त दृष्टि से प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा को जानने वाला कभी दुःखी नहीं होता। जब आनंदरूप परमात्मा मैं हूँ यह समझ लिया तब दुःख की संभावना ही नहीं रहती। जब तक हमसे भिन्न कुछ या कोई है तभी तक दुःख संभव है, जब अन्य कुछ है नहीं तब दुःख किससे होगा? लोक में भी आत्मीयता होने पर दुःखकारणता घट जाती है : पड़ौसी के छह महीने के बच्चे की ठोकर भी लगे तो पीडा होती है, अपना पोता लात मारे तो भी मज़ा आता है! अपनत्व से ही जब इतना फ़र्क़ है तो सर्वत्र मैं हूँ यह अनुभव होने पर दुःख कहाँ रहेगा! कण-कण क्षण-क्षण में परमेश्वर का साकार रूप ही मौजूद है, तदतिरिक्त कुछ है ही नहीं ऐसा जानने वाला भी दुःखी नहीं होगा। उसे सर्वत्र अपना प्रियतम परमात्मा ही भासेगा, इसका उल्लास ही बना रहेगा। निश्चय के बिना, केवल 'पुस्तक में लिखा है' इतना जानने से यह फल नहीं हो सकता। श्रद्धापूर्ण व्यक्ति ही शास्त्र से निश्चय तक पहुँचता है, अश्रद्धालु को शास्त्र का अर्थ मालूम पड़ने पर भी 'वही तथ्य है' यह निश्चय न होने से दुःखनिवारण नहीं होता। 'नास्ति दुःखिता' से सूचित किया कि मन में प्रारब्धवश दुःख की वृत्ति बनने पर भी 'मैं दुःखी' ऐसा उसे अभिमान नहीं होता क्योंकि मन से अपना अन्तर जानता है।।६०।।

तृतीयाध्याय के विवरण को पूरा करते हैं   **साकार में सर्वात्मता हैयह संस्कार दृढ हो जाने पर स्थूल प्रपंचको परमात्मरूप देखने वाले को चाहिये कि फिर निराकार तत्त्व को समझने के लिये ईश्वर के शरीर से प्रार्थना करे।।६१।।** 'स्थूलदर्शी' अर्थात् परमेश्वर के स्थूल शरीर, विराट् शरीर को अपना इष्ट देखने वाला, वही साकार ईश्वर है ऐसा समझने वाला। उसे धीरे-धीरे दृढ संस्कार पड़ता है कि साकार ही सर्वरूप है। सब का आत्मा, सबकी वास्तविकता साकार ईश्वर ही हैयह जब तक मन में स्थिर न हो तब तक तो उपासना में तत्पर रहना चाहिये। जब यह संस्कार स्थिर हो जाये तब निराकार के दर्शन के लिये प्रयास करना चाहिये। साकार-

आत्मविचारः

'य एकोऽवर्ण' इत्यादि स्तुवन् मन्त्रचतुष्टयात्।
प्रार्थ्याथ मायाजीवौ च बुद्धसुप्तौ विचारयेत्।।६२।।

दर्शन से ही तृप्त होकर नहीं रह जाना चाहिये क्योंकि साकार का उपदेश दिया ही इसलिये गया है कि उससे मन नियंत्रित होकर निराकार को ग्रहण कर सके। साकार-दर्शन अत्यधिक सुख देता है और वह अनुभूत-जातीय होने से उसमें मन शीघ्र रमता भी है, इसलिये प्रायः साकार में भक्ति हो जाने पर उसे छोड़ने में त्रास होता है, निराकार की तरफ प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं कि साकार-दर्शन के बाद निराकार-दर्शन के लिये सयत्न होना चाहिये। प्रयत्न का पहला कदम यही है कि अपने इष्ट से ही प्रार्थना करे कि वे अपना सत्य स्वरूप निरावृत करें।।६१।।

चौथा अध्याय प्रार्थना-प्रधान है। यहाँ वस्तुओं की याचना नहीं वरन् जीव-ईश्वर के स्वरूप का विभिन्न प्रकारों से निर्णय करते हुए यह समझने की प्रार्थना है कि १) ईश्वर ही माया-बल से जगत् का कारण है, २) जीव ही मायाधीन होकर बद्ध है, ३) स्वरूप से दोनों एक हैं, ४) द्वैत की प्रकृति अज्ञान है, ५) अज्ञान मिथ्या अतः बाध के योग्य है, ६) अद्वितीय शिव ही वरणीय है। इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए पहले चार मंत्रों का उद्देश्य बताते हैं **'य एकोऽवर्णः' इत्यादि चार मंत्रों से स्तुति करते हुए प्रार्थना करे, फिर माया का, जीव का, जगे हुए और सोये हुए का विचार करे।।६२।।** प्रार्थना का पहला मंत्र है 'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति। वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।' वह परमात्मा एक अद्वितीय है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। चाहे जितनी बड़ी संख्या एकत्र हो, एक कभी हटता नहीं। पचीस आदमी बैठे हों तो भी हर आदमी एक तो है ही। ऐसा तो नहीं कि पचीस हो गये तो कोई एक नहीं रहा! इसीलिये परमात्मा अद्वितीय है, वह कभी दो होता ही नहीं। वह बिना दो हुए ही सारे द्वैत का अधिष्ठान है। और वह अवर्ण है, उसका निरूपण असंभव है। वर्णन करने के लिये शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है और शब्द जाति, गुण, क्रिया या सम्बंध को ही बतलाते हैं जबकि परमेश्वर में ये चारों हैं नहीं। ऐसा होने पर भी वह बहुत प्रकार की शक्तियों से युक्त है। उन शक्तियों के उल्लेख से परमेश्वर का कथन किया जा सकता है। उदाहरण के लियेहम देखने वाले, छूने वाले, बोलने वाले हैं। देखने-छूने-बोलने की हमारी शक्तियों के उल्लेख से हमारे बारे में कहा-समझा जा

सकता है। किंतु इससे हमारा निरूपण नहीं हो जाता, क्योंकि देखना तो हमारी एक शक्ति का ही कार्य है, हम वह शक्ति नहीं वरन् उसका प्रयोग करने वाले हैं। फिर भी हमारे बारे में कहना- समझना होगा तो तरीका यही है। ऐसे ही परमेश्वर का वर्णन संभव नहीं, उनकी शक्तियों के सहारे उनके बारे में कहा-समझा जा सकता है। इसीलिये वह अनन्त नाम-रूप धारण करता है। उसका और कोई प्रयोजन नहीं, यही उद्देश्य है कि हम उसे समझ सकें। जगत् की उत्पत्ति आदि सब परमेश्वर इसीलिये करता है ताकि जीव को परमात्मसाक्षात्कार हो जाये। उसी में संसार का लय भी होता है क्योंकि वही इसका उपादान कारण है। स्वयं जीव बनकर उनके कर्मों के फल देने के लिये वह संसार-रचना करता है और ब्रह्माकारवृत्ति में अपने आप को प्रतिबिम्बित कराकर वही जीव को मोक्ष भी दे देता है। उसी से प्रार्थना है कि वह हमें ब्रह्मसाक्षात्कार कराने वाली बुद्धि दे। वही बुद्धि शुभ है। बाकी सब चाहे जितना शुभ लगे पर स्वरूप से मिथ्या होने के कारण अशुभ ही है। एकमात्र परमात्मा के सिवाय शुभ कुछ नहीं है।

दूसरा मन्त्र है 'तदेवाग्निस्तदादित्य-स्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः।।' आग, सूर्य, वायु, चन्द्र, शुक्रतारा, हिरण्यगर्भ, जल, विराट्सभी रूपों में वही परमेश्वर है। इस तरह उसकी सर्वरूपता बतायी है।

तीसरा मंत्र है 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।।' स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वृद्ध आदि सभी रूप वही धारण करता है। वही पैदा होकर अनन्त मुखों वाला होता है। 'रुद्रहृदय' में इसी प्रकार का विस्तृत वर्णन है।

चौथा मंत्र है 'नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षः तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः। अनादिमत् त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा।।' जिससे सारे भुवन उत्पन्न हुए हैं वह कारणरहित विभु ही नीले आदि सब रूपों में फैला है। नीले रंग का भौंरा होता है। हरे रंग का लाल आँखों वाला तोता होता है। जिसके गर्भ में बिजली होती है वह बादल प्रसिद्ध ही है। ऋतु अर्थात् मौसम; भारत में छह ऋतुएँ होती हैं, यह भारत की ही विशेषता है, अन्यत्र दो, तीन, चार ही ऋतुएँ हो पाती हैं, छह स्पष्ट ऋतुएँ भारत में ही होती हैं। नीले आदि सब चीज़ें परमेश्वर के ही रूप हैं। परमेश्वर को यहाँ 'अनादिमत्' कहा अर्थात् न उसका कोई आदि अर्थात् कारण है और न वह किसी का आदि अर्थात् कारण है। क्योंकि संसार उसमें विवर्तरूप है, भ्रम से है, इसलिये जगज्जन्मादिहेतु होने पर भी वह किसी का कारण नहीं है। संसार भगवान् की विभूति

अजा

लोके काचिदजा वर्णत्रयोपेता बहुप्रजाः।
सृजते तामजः कश्चित् सेवतेऽन्यस्तु तां त्यजेत्।।६३।।
तेजोऽबन्नात्मिका तद्वद् माया वर्णैस्त्रिभिर्युता।
आसक्तो भजते मायां विरक्तस्तु विमुञ्चति।।६४।।

है, विभूति होने से ही उनसे अलग नहीं, उनसे एक होकर ही है। इसी को स्पष्ट करने के लिये यहाँ नील आदि सब को भगवद्रूप कह दिया। इतना ही उसका वैभव नहीं है, उसके असीम वैभव का दिग्दर्शन यहाँ किया है।

इन चार मंत्रों से प्रार्थना करने के बाद माया के और जीव के रूप का विचार कर्तव्य है एवं ज्ञानी तथा नित्यज्ञानी ईश्वर और सुप्त अर्थात् सोया पड़ा अज्ञानीइन के स्वरूप का विचार भी कर्तव्य है। इस प्रकार के विचार से पूर्व परमात्मा सर्वरूप है यह मन-बुद्धि से निश्चय कर लेना चाहिये अन्यथा बौद्धों की तरह अनात्मवाद के गड्ढे में गिरना पड़ सकता है। परमेश्वर की शक्ति के रूप में माया को समझना ज़रूरी है अन्यथा सांख्यादि की तरह प्रकृतिवादी बनना कठिन नहीं है। केवल माया के विचार से सभी कुछ मायिक सिद्ध होगा, कुछ सत्य है यह लगेगा ही नहीं। सत्य तो श्रुति से, श्रुतिमत तर्क से ही प्रकट हो सकता है। अत एव यहाँ स्पष्ट किया कि पहले प्रार्थना करे, क्योंकि प्रार्थना तभी होगी जब निश्चय हो कि परमात्मा है।।६२।।

माया व जीव का वर्णन करने वाला पाँचवाँ मंत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाम् अजोऽन्यः।।' इसमें बकरा-बकरी के रूपक से माया व जीव का वर्णन है। बकरी को अजा कहते हैं। अजा का योगार्थ जन्म-रहित भी होता है। अजा एक ही है, उसमें लाल सफेद और काला तीन रंग हैं एवं वह अपने जैसी बहुत संतति पैदा करती है। कोई बकरा उससे प्रसन्न होते हुए उसके साथ शयन करता है जब कि कोई बकरा भोगी जा चुकी इस बकरी को छोड़ देता है। इस मंत्रार्थ को स्पष्ट करते हैं **संसार में तीन रंगों वाली कोई बकरी हो व बहुत सन्तति पैदा करती हो तो कोई बकरा उसका सेवन (उपभोग) करता है और कोई उसे छोड़ देता है।।६३।। इसी प्रकार तेज, जल और अन्न रूप माया तीन रंगों से युक्त है। आसक्त जीव उसका सेवन करता है जबकि वैराग्यवान् उस माया का परित्याग कर देता है।।६४।।** बकरी लोकप्रसिद्ध जानवर है। काला-सफेद दोनों रंगों वाली

सुलभ हैं, किसी-किसी में लाल (भूरा) रंग भी होता ही है। बकरी सन्तति भी बहुत पैदा करती है, छह-छह महीने में छह-छह बच्चे दे देती है। ऐसी बकरी माया का प्रतीक है। भगवान् ने इस अजा से सारी सृष्टि रच ली। जैसे बकरी बच्चे देती रहती है ऐसे माया के कार्य अनवरत अनावृत होते ही रहते हैं। जैसे लोक में बकरा बकरी का सेवन करता है ऐसे जीव माया का सेवन करने लगता है। वास्तव में तो सेवन कर नहीं सकता क्योंकि खुद निर्विकार है और माया स्वयं मिथ्या है, पर भ्रम से खुद को उसका सेवन करने वाला समझता है। जो तो शास्त्र-आचार्य की शिक्षा पा लेता है, नाम-रूप-कर्म से विराग उपजा लेता है, वह माया का परित्याग कर देता है, उससे अस्पृष्ट अपना स्वरूप पहचान लेता है। माया में भी तीन रंग हैं : माया के तीन सरूप कार्य हैं लाल रंग का तेज (आग), सफेद रंग का जल और काले रंग की पृथ्वी। पृथ्वी के लिये अन्न-शब्द का प्रयोग है। छांदोग्य उपनिषत् (अध्याय ६ खंड २-३) में ऐसा ही वर्णन है। इस प्रकार माया तीन वर्णों वाली हो गयी है। आसक्ति से जीव इसे पकड़ता है और विरक्ति से इसे छोड़ता है। वैराग्यपूर्वक छोड़ने के लिये भी माया चाहिये! प्रलय या सुषुप्ति में न वैराग्य होगा न ज्ञान से मोक्ष। जाग्रदवस्था में ही शास्त्र के विचार से ये संभव हैं, अतः माया के विलास का इसके छोड़ने के लिये भी उपयोग करना पड़ता है। शास्त्र का चरम तात्पर्य इसे छुड़वाने में है, इसका भोग कराने में नहीं। अविवेकी सोचते हैं कि संसार हमारे भोग के लिये बनाया गया है जबकि शास्त्र स्पष्ट करता है कि इसे त्यागा जाये इसलिये संसार बनाया है। आसक्त जीव इस माया के भोग में फँसकर बँधा रहता है जबकि वैराग्यवान् इसे त्याग देता है, इससे सत्ता ही खींच लेता है, इसका बाध कर देता है। माया के बाध से ही मोक्ष संभव है। इस प्रकार माया तथा आसक्त और विरक्त दो तरह के जीवों का वर्णन हुआ।।६३-४।।

भोग करने वाला और भोग न करने वाला इन दो के भेद को ही छठे मंत्र में स्पष्ट किया है 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।' सुंदर पंख वाले दो साथी मित्र परस्पर आलिंगन किये एक ही वृक्ष पर रहते हैं पर उनमें एक तो पीपल के फल को स्वाद लेकर खाता है जबकि दूसरा बिना खाये केवल देखता है। इसे दो श्लोकों से समझाते हैं **वैराग्यवान् को चाहिये कि अपने शरीर में कर्त्ता और अकर्त्ता का विवेकपूर्ण चिन्तन करे। चेतन के प्रतिबिम्ब से युक्त अहंकार कर्ता है, केवलचैतन्य सिर्फ प्रकाशमान रहता है (कर्ता नहीं है)**

सुपर्णौ

विरक्तः कर्त्रकर्तारौ विचिन्त्यात् स्वस्य विग्रहे।
चिच्छायावानहङ्कारः कर्ता चिद् भाति केवला।।६५।।
पादपे क्षुधितः पक्षी फलमत्तीतरः पुनः।
पश्यन्नास्ते तथा विद्याद् भोक्तृ-तत्साक्षिणावुभौ।।६६।।

।।६५।। पेड़ पर बैठा भूखा पक्षी फल खाता है, उससे अन्य, जो भूखा नहीं है, वह (बिना खाये) देखते हुए ही रहता है। इसी प्रकार भोग करने वाला और उसका साक्षीइन दोनों को समझना चाहिये।।६६।। यहाँ वैराग्यवान् अधिकारी है क्योंकि कर्मफल में आसक्त व्यक्ति अकर्त्ता का विचार कर ही नहीं सकता। ऐसे व्यक्ति को अकर्ता का स्वरूप समझाओ तो उसका प्रश्न होता है कि 'तो फिर कर्ता कौन है?' अर्थात् 'मैं अकर्ता हूँ' यह उसे अत्यंत असंभव बात लगती है। कारण है कि आसक्तिवश वह मानता है कि कोई तो कर्त्ता है ही। हज़ारों पेड़-पौधे देखते हैं, 'किसने बोये?' यह प्रश्न नहीं उठता पर कोई एक पौधा बहुत आकर्षक हो, उसमें आसक्ति हो जाये, तो अवश्य प्रश्न उठता है कि उसे किसने बोया, कैसे तैयार किया, कौन सँभालता है इत्यादि। अतः आसक्ति रहते अकर्ता को स्वीकारना असंभव होता है। दुकान चलाने में हमें आसक्ति है अतः हमें लगता है कि हम नहीं चलायेंगे तो कौन चलायेगा? सिर के बाल उगाने में आसक्ति नहीं तो कभी नहीं सोचते कि कौन उगायेगा? उगें भी तो हमें मुण्डन ही कराना है! इसलिये अकर्ता के चिन्तन में विरक्त ही प्रवृत्त हो सकता है। जैसे चावल के चार दानों से पता लगा लेते हैं कि पके या नहीं वैसे अपने शरीर में ही इन दोनों को समझ लेना है। भले ही विश्व में सर्वत्र कर्ता-अकर्ता का यही स्वरूप है पर हमें अपने शरीर में इनकी परख करनी है, यहीं इनका अपरोक्ष है। कर्ता तो हमें प्रतीत हो ही रहा है, उससे विवेक कर अकर्ता को समझेंगे तो मोक्ष का लाभ मिलेगा। कर्त्ता कौन है? चिच्छाया वाली बुद्धि जिसे अहंकार कहते हैं। अकेली बुद्धि जड होने से स्वातन्त्र्यप्रयुक्त कर्ता हो नहीं सकती लेकिन उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से चेतन की कुछ समानता आ जाती है, वह चेतन जैसी लगने लगती है अतः उसमें चेतन का स्वातंत्र्य भी प्रतीत होकर उसे कर्ता बनने देता है। सूर्य बिना खिड़की वाले भीतरी कमरे को प्रकाशित नहीं कर पाता, काँच भी प्रकाशित नहीं करता, लेकिन काँच में प्रतिबिम्बित सूर्य उस कमरे को प्रकाशित कर लेता है; अथवा सूर्य सूखी घास को नहीं जलाता, आतशी शीशा भी घास को नहीं जलाता लेकिन आतशी शीशे द्वारा केन्द्रीकृत

वीतशोकः

चिच्छायागतभोक्तृत्वं साक्षिण्यारोप्यते भ्रमात्।
अनीश्वरोऽयं साक्षीति शोको भवति मोहतः।।६७।।

सूर्य घास को जला देता है; ऐसे ही अहंकार जड होने से अकर्ता है, चेतन निर्विकार होने से अकर्ता है पर चेतन में अहंकार का अध्यास होने से जो दोनों का एकमेक हुआ रूप है वह कर्ता बना हुआ है। केवल चित्, उपाधि-अध्यास से अस्पृष्ट चेतन केवल भासमान है, कर्ता नहीं है। कर्तृत्व की तरह ही भोक्तृत्व भी चिच्छायावान् अहंकार में ही है। जैसे पक्षी स्वभाव से ही फल नहीं खाता, भूखा होने पर ही खाता है, भूख न लगी हो तो फल देखते हुए भी, दूसरे पक्षियों को खाता देखते हुए भी स्वयं नहीं खाता। इसी प्रकार आसक्तिवश ही कर्ता-भोक्ता बना जाता है, स्वभाव से नहीं। पूर्ववासनाओं से आसक्ति प्रकट होने पर ही आसक्ति के विषय के लाभ के लिये अहंकार कर्ता बनता है, लाभ से भोक्ता बनता है। अतः अनासक्त, जिसे फलेच्छा नहीं है वह कर्ता भी नहीं बनता। बुद्धि अर्थात् चिच्छायावान् अहंकार कर्ता-भोक्ता बनता रहता है जबकि जिस चित् की उसमें छाया पड़ रही है वह स्वयं साक्षी ही रहता है, जानता रहता है, न करता है, न भोगता है। यद्यपि साक्षी ईश्वर का रूप है तथापि उसमें अनासक्ति होने से ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है इस दृष्टि से यहाँ बताया कि जिस जीव में भी आसक्ति नहीं रह जाती वह अकर्ता-अभोक्ता साक्षी ही हो जाता है। अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सकारण निवृत्ति होने पर जीव ईश्वर से भिन्न नहीं रह जाता। इस प्रकार अपने शरीर में ही समझ आ जाता है कि कर्ता-अकर्ता और भोक्ता-अभोक्ता कौन-कौन हैं एवं अकर्ता-अभोक्ता ही मैं हूँ यह निश्चय हो जाने पर मोक्ष हो जाता है।।६५-६।।

सातवें मंत्र में अज्ञान से बन्धन व ज्ञान से मोक्ष कहा गया है 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यम् ईशम् अस्य महिमानम् इति वीतशोकः।।' ज्ञानी-अज्ञानी दोनों पुरुष हैं इस संसाररूप एक ही वृक्ष पर। अज्ञानी तो अनीशा अर्थात् असामर्थ्य से मोह में पड़ा हुआ शोक करता है। जब वही अज्ञानी उस ईश्वर को देख लेता है जो सदा माया से अन्य, अस्पृष्ट ही रहा तथा आनन्दस्वरूप से पुष्ट ही रहा, तब वह इसकी महिमा पाकर, स्वयं मायातीत अर्थात् अज्ञानरहित होकर शोक से सर्वथा परे हो जाता है। इसे समझाते हैं **अहंकार में पड़ी चेतन की छाया में होने वाले भोक्तृत्व का भ्रम से साक्षी पर आरोप हो जाता है जिस मोह से यह शोक होता है कि यह साक्षी असमर्थ है।।६७।।** जो

नित्यतृप्तेश्वरत्वं यत् साक्षितत्त्वं तद् ईक्षते।
यदा तदा वीतशोको महिमानमवाप्नुयात्।।६८।।

सदा तृप्त रहने वाले ईश्वर का स्वभाव है वही साक्षी की वास्तविकता है, उसे जब अधिकारी देख लेता है तब शोक से पूर्णतः छूटकर महिमा पा जाता है।।६८।। कामना, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उसी में प्रतीत होते हैं जो चेतन की परछाँई बुद्धि में, अहंकार में पड़ी है। जैसे गंदे या हिलते काँच में दीखता प्रतिबिम्ब गंदा या हिलता ही लगता है ऐसे अहंकार के ये दोष उसमें प्रतिबिम्बित चेतन में ही लगते हैं। सचमुच में मैं साक्षी हूँ पर अपने प्रतिबिम्ब को ही मैं मानकर मुझे लगता है कि मैं कर्ता, भोक्ता, कामी आदि हूँ। इसी से अपने में असमर्थता, अशक्ति प्रतीत होती है। चेतन में नहीं, चिच्छाया में अशक्ति है। कर्तृत्वादि वस्तुतः चेतन में नहीं हैं। कर्तृत्वादि निरंतर बदल रहे हैं जबकि चेतन वह है जो सब परिवर्तनों में एक और अपरिवर्तित है। वह भी यदि परिवर्तित हो तो पूर्वापर का अनुसन्धान कौन करेगा! बचपन से बुढ़ापे तक शरीर तो बदलता जाता है अतः शरीर की दृष्टि से यह नहीं कह सकते कि जो बच्चा था वह अब बूढ़ा है कारण कि बचपने वाला तो शरीर ही अब नहीं रह गया जिससे 'वही यह है' ऐसा कहना बने, लेकिन कोई एक निरंतर रहने वाला है जिसने बचपन से बुढ़ापे तक सब शरीर देखे हैं, वही कहता है 'जो मैं बच्चा था वही मैं अब बूढ़ा हूँ'। उसे वस्तुतः अपरिवर्तनीय मानना पड़ेगा तभी वह अनुसंधान करेगा। ऐसे ही 'जो मैं दस मिनट पूर्व कामी था वही अब क्रोधी हूँ' इत्यादि अनुसन्धान करने वाला स्वयं कामी-क्रोधी नहीं हो सकता। जैसे स्थूल शरीर से वैसे सूक्ष्म शरीर से वह अलग ही है। यद्यपि कामी व क्रोधी अलग-अलग हैं तथापि क्योंकि दोनों का साक्षी पर आरोप है इसलिये साक्षी की एकता का इन पर आरोप हो जाता है। अहंकारात्मिका वृत्ति बदलती जाती है, साक्षिरूप मैं बिना बदले रहता है। किंतु इस सत्य से अपरिचय के कारण हम स्वयं को कर्ता-भोक्ता आदि ही समझ रहे हैं और इसी से हमारी अशक्ति है क्योंकि अशक्ति, असमर्थता यही है कि मनचाहा कर्म या भोग नहीं कर सकते। असामर्थ्य है तो अहंकार में, पर भ्रम से उसे स्वयं में, चेतन में मान रहे हैं। इसी मोह से, अविवेकपूर्ण मिथ्या निश्चय से हम शोकमग्न हैं। हमारा सत्य स्वरूप साक्षी नित्य ही तृप्त है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं, कोई असामर्थ्य नहीं, कोई कामना नहीं। कामना से ही दुःख होता है, कामना न हो तो दुःख का प्रश्न ही नहीं रहता। इसीलिये आनंद-मीमांसा में बताया है कि जो कामना से पीडित नहीं ऐसे श्रोत्रिय को ब्रह्मा के आनंद

ऋचो देवाश्च शब्दार्था यस्मिन्नात्मनि कल्पिताः।
यस्तं न वेद तस्यर्चा किं स्याद्यो वेत्यसौ कृती।।६६।।

पर्यन्त सब आनंद सुलभ हैं। जो सर्वत्र विरक्त है वह हमेशा ही ईश्वर है अर्थात् सारी असमर्थता से रहित है क्योंकि ऐसा कुछ नहीं है जो वह करना या भोगना चाहे और कर या भोग न सके। अकाम होने से ही वह नित्य तृप्त है। नित्य तृप्ति ही साक्षी का स्वभाव है। ईश्वर में यह तृप्ति और मायासंचालन दोनों हैं, उनमें से नित्य तृप्ति स्वाभाविक है, माया का संचालन औपाधिक है। औपाधिक ईश्वरता को छोड़कर जो स्वाभाविक ईश्वरता है वही साक्षी का स्वभाव है। इस स्वभाव को जान लेने पर, 'यही मैं हूँ' ऐसा साक्षी को समझने पर शोक समाप्त हो जाता है। यही आत्मा की वास्तविक महत्ता है कि उसमें शोक का स्पर्श भी नहीं है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व की गन्ध भी नहीं है।

आठवाँ मंत्र है 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते।।' ऋचाओं द्वारा प्रतिपाद्य परम व्योम (आकाश) कहलाने वाले अक्षर में ही सारे देवता अधिष्ठित हैं, उस अक्षर को जो नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा! जो उसे जानते हैं वे ही कृतार्थ हुए रहते हैं। इसका भाव व्यक्त करते हैं **ऋचाएँ, देवता एवं सभी शब्द और अर्थ जिस आत्मा में कल्पित हैं, जो उसे नहीं जानता उसे ऋचाओं से क्या लाभ होगा! जो उसे जानता है वही चतुर, कृतार्थ, सन्तुष्ट है।।६६।।** शास्त्रयोनि-अधिकरण में सारे वेद का कारण परमेश्वर बताया गया है अतः ऋचाएँ आदि समस्त वेद उसी में कल्पित हैं। वेद इष्ट-प्राप्ति, अनिष्ट-परिहार और मोक्षइनके उपायों का प्रतिपादन करता है। धर्मबोधक भाग पुण्य-पाप का ज्ञान कराता है तथा उपनिषद्भाग आत्मतत्त्व का ज्ञान कराता है। आत्मा में ही कामना, कर्तृत्व-भोक्तृत्व कल्पित होने से कामनापूर्ति के उपाय भी उसी में कल्पित होना उचित हैं। उन उपायों का बोधक शास्त्र भी वहीं कल्पित है। मंत्रादि द्वारा बोधित देवता भी आत्मा में ही कल्पित हैं। वैदिक ही नहीं सारे ही शब्द और उनके अर्थ परमात्मा में ही कल्पित हैं। उस परमात्मा को जानना ही मानव का लक्ष्य है, वेद का मुख्य प्रयोजन है। उसे जो नहीं जान सका उसने वेद से पूरा लाभ नहीं उठाया। जिसने जगत् के अधिष्ठान को जान लिया वही कृतकृत्य है।।६६।।

नौवें मंत्र में बताया कि सारे संसार को और हमें भी वही मायावी सृजता है, इस विश्व में माया से वह बँधता है जो परमेश्वर से अन्य बना रहता है। इसे बताते हैं

प्रविष्ट आत्मा

छन्दांसि यज्ञानन्यच्च मायावी सृजतेऽखिलम्।
जीवात्मना प्रविश्यास्ते सन्निरुद्धो वपुष्ययम्।।७०।।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।७१।।

छंद (वेद), यज्ञ, और भी सब कुछ मायावी उत्पन्न करता है। जीवरूप से शरीर में प्रवेश कर वही उसमें कैद हुआ रहता है।।७०।। शिव ही माया का नियन्त्रण करने वाला मायावी है, उसी की यह अविद्यालक्षण माया सारे संसार के आकार में परिणत होती है। श्रुति में जो कहा कि 'हमें भी उत्पन्न करता है' उसका अभिप्राय स्पष्ट किया कि वह जीवरूप से शरीर में प्रवेश करता है, इतनी ही हमारी उत्पत्ति है, स्वरूप से हम नित्य हैं अतः जैसे आकाशादि की उत्पत्ति होती है वैसे जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। सारे संसार में छन्द अर्थात् वेद और उनमें विहित यज्ञ भी आ जाते हैं। आत्मज्ञान की योग्यता पाने के लिये यज्ञादि धर्मों का अनुष्ठान आवश्यक होने से उनका वेद में विस्तृत विधान है। सारी रचना उसने किसी अन्य के लिये नहीं की, अपने ही लिये की; वही उस जीवरूप से देह में प्रविष्ट है जिसके भोग-मोक्ष के लिये सृष्टि है। वस्तुतस्तु परमेश्वर का सृष्टि बनाने में कोई प्रयोजन नहीं वरन् उसका स्वभाव ही है कि अज्ञात रहते सृष्टि के रूप में प्रतीत होता है। सृष्टि में जीवरूप से स्वयं प्रतीत होता है और उस रूप वाले अपने लिये संसार का उपयोग करता है। अतः खुद के लिये ही उसकी यह जगद्रचना है। स्वप्न में हम भी अपने ही लिये सारा खेल फैलाते हैं, ऐसे ही परमेश्वर ने अपने ही लिये सृष्टि का खेल फैलाया है। शरीर में प्रविष्ट होकर वही इसमें कैद हो गया है! साक्षी-रूप से सदा मुक्त रहते हुए ही वह चिदाभास, प्रमातारूप से बँधा ही रहता है। जब तक महावाक्य के अर्थ का दृढ साक्षात्कार न कर ले तब तक वह इस बंधन में बद्ध ही रहेगा। स्थूल देह का बंधन तो मरने पर टूट भी जाता है पर सूक्ष्म शरीर का बंधन तो तब तक कायम रहता है जब तक कारण शरीर अर्थात् अज्ञान से आवृत है। इस आवरण की निवृत्ति ही परम प्रयोजन है।।७०।।

उक्त मायावी के परिचयार्थ दसवाँ मंत्र ही उद्धृत करते हैं **माया को तो प्रकृति समझो, मायी (मायावी) को तो महेश्वर समझो। उस महेश्वर के अवयवों द्वारा यह सारा जगत् व्याप्त है।।७१।।** माया क्या है? प्रकृति। वह सब कुछ प्रकर्ष

से करती है, हमेशा कुछ-न-कुछ नया बनाती है ताकि मनुष्य पदार्थों में ही उलझा रहे, परमात्म-चिन्तन न कर सके। जब तक लोग ईश्वर-परायण रहे तब तक प्रकृति पर कुछ नियंत्रण रखते भी थे, विस्तार में रुकावट करने का प्रयत्न करते थे और इसीलिये बहिर्मुखता के मौके कम रहने से अन्तर्मुख हो पाते थे। जब लोगों ने ईश्वर की प्रधानता छोड़ी तब प्रकृति ही मुख्य हो गयी अतः उसी का इतना विस्तार होता जा रहा है कि बहिर्मुखता के ही मौके सुलभतम हैं अतः अन्तर्मुखता अतिदुर्लभ हो गयी है। क्योंकि प्रकृति माया है, झूठी है, इसीलिये इतने विभिन्न कार्य संभव हैं। उपन्यास रोज़ नये लिखे जा सकते हैं, किसी की जीवनी को ज़्यादा विभिन्न तरह से नहीं रचा जा सकता। प्रकृति मिथ्या माया होने से अनन्त प्रकार की है। और उस माया का अधीश्वर महेश्वर है। उस महेश्वर के अवयव-भूतों से संसार व्याप्त है। प्रश्न होता है कि महेश्वर निरवयव है, उसके अवयव कैसे कहे? जैसे घटाकाश, मठाकाश आदि निरवयव आकाश के अवयव समझे जाते हैं वैसे सभी सोपाधिक रूप महेश्वर के अवयव कहे गये हैं। कुछ लोगों की कल्पना है कि जैसे हमारे हाथ-पैर आदि अंग हैं वैसे जीव भी ईश्वर के अंग हैं! किन्तु ऐसा अंगी होगा तो हमारे शरीर की तरह नश्वर भी होगा, अतः यह कल्पना अति-असंगत है। माया ही संसार के सब अवयवों के रूप में फैली है और हर अवयव आत्मा की उपाधि बनता है तभी वह अवयव है, प्रतीत होता है और प्रिय लगता है। इस तरह सब औपाधिक रूप महेश्वर के अवयव हो जाते हैं जिनसे संसार व्याप्त है अर्थात् जब भी, जहाँ भी संसार है वहाँ उपहित महेश्वर अवश्य है जिससे संसार की सत्ता-स्फूर्ति है। वस्तुतस्तु महेश्वर में कल्पित होने से संसार में सर्वत्र महेश्वर के अवयव हैं इसलिये कहा कि अवयवों से संसार व्याप्त है। चेतन एकरस अनंत अद्वितीय है, भेद केवल मायिक अवयवों में है अतः सत्त्वगुण की अधिकता वाले अवयवों में विष्णु प्रतीत होते हैं और तम की अधिकता वाले अवयवों में पेड़-पौधे प्रतीत होते हैं। सर्वथाऽपि व्याप्त तो संसार महेश्वर से ही है।।७१।।

अत्यन्त शांति की प्राप्ति का उपाय बताने वाला ग्यारहवाँ मंत्र है 'यो योनिं योनिम् अधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सञ्च वि चैति सर्वम्। तम् ईशानं वरदं देवम् ईड्यं निचाय्येमां शान्तिम् अत्यन्तम् एति।।' वही एक महेश्वर हर कारण में अधिष्ठित है और हर तरह प्राणिनिकायों में प्रविष्ट है। उसी में यह सारा विश्व वैविध्य पाया हुआ है और उसी में संहत होता है। वर देने वाले, स्तुति के योग्य उस नियामक महादेव को अपरोक्ष देखकर इस (प्रत्यक्षसिद्ध) अत्यंत शांति को पा जाता है।

ईशो यः स्वत एकः सन् जीवाकारैरनेकशः।
योनिं योनिं व्रजत्येतम् ईशं ज्ञात्वा न संसरेत्।।७२।।

इसका निर्देश देते हैं **जो ईश खुद एक रहते हुए जीवों के रूपों द्वारा अनेक-अनेक करके हर योनि में घूमता है, उस ईश को जानकर संसरण नहीं रह जाता।।७२।।** माया का अधिपति महेश्वर अकेला ही है लेकिन विभिन्न उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर जीवों के रूप में प्रतीयमान है। अपने सामने बीस काँच रख लो तो हर-एक में प्रतिबिम्ब पड़ेगा, बीस प्रतिमुख दीखेंगे जब कि मुख एक ही रहेगा, एक रहते हुए ही इतने दीख जायेंगे, ऐसे ही परब्रह्म परमात्मा अकेला रहते हुए ही अनन्त अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित हुआ अनन्त जीव दीख रहा है। वे जीव पुण्य-पाप करके असंख्य योनियों में भटक रहे हैं। चाहे स्वर्गादि की देवादि योनियाँ हों या नारकीय योनियाँ, सब में असंख्य भेद वाले प्राणी हैं और सभी में जीव के रूप में वह ईश भटक रहा है, एक-साथ अनंत जीवों के रूप में अनंत शरीरों में प्रतीत हो रहा है। फिर भी स्वयं वह एक सम निर्विकार ही बना हुआ है। उस एक ईश की सचाई समझ लेने से ही संसार में भटकना बंद होगा। स्वयं को जीव समझने तक ही जन्म-मरण का चक्र है, अनेकता की प्रतीति है। यह पता चल जाये कि 'मैं तो वह बिम्ब हूँ जिसके मिथ्या प्रतिभास सारे जीव हैं,' तो परिच्छिन्न उपाधियों से परे हो जाने के कारण गमनागमन का प्रसंग समाप्त हो जाता है। सारी हृदय-गुफाओं में उस एक का ही प्रवेश है, फिर भी उसकी वास्तविक अद्वितीयता कायम ही रहती है। जैसे काँचों के रंग आदि के भेद से प्रतिबिम्ब विभिन्न दीखने पर भी बिम्ब एकरूप ही रहता है वैसे शरीरों के पुण्य-पाप आदि भेदों के कारण जीवों में भेद दीखते हुए ईश में कोई भेद नहीं है। उस अभिन्न ईश का ज्ञान ही आत्यन्तिक शान्ति अर्थात् मोक्ष प्रदान करता है।।७२।।

किंतु इस ज्ञान में रुकावटें बहुत आती हैं! संस्कृत में कहावत है 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' कल्याण के कार्यों में अनेक विघ्न आते हैं। एक रुकावट देवता डालते हैं क्योंकि मनुष्य संसरण से छूटे यह उन्हें बिलकुल नापसंद है। एक आदमी के पास हज़ार पशु हों, उनमें एक भी खो जाये तो वह उसे ढूँढ-ढाँढ कर ले आता है, एक की हानि भी बर्दाश्त नहीं करता। इसी प्रकार जीव देवताओं के पशु-सा है! जैसे पशु मालिक की सेवा करते हैं ऐसे जीव देवताओं की सेवा करते हैं। यदि जीव मुक्त हो जाये तो वह देवताओं की सेवा करेगा नहीं उल्टा देवताओं को ही उसके लिये भेंट लानी पड़ेगी! कौन मालिक चाहेगा कि उसका नौकर उसका ही मालिक बन बैठे!

विघ्नहानिः

प्रतिबन्धस्य बाहुल्याद् 'यो देवे'त्यादिमन्त्रतः।
पुनः पुनर्भजेतेशं प्रतिबन्धनिवृत्तये।।७३।।

अतः मोक्षमार्ग पर चलने वाले के लिये देवता विघ्न उपस्थित करते हैं। जैसे आधिदैविक देवता इन्द्रादि वैसे ही अध्यात्म-देवता इंद्रियाँ भी इस मार्ग में विघ्न ही उपस्थित करती हैं। अभी हम इंद्रियों की फर्माइशें ही पूरी करते रहते हैं, इन्हीं के गुलाम हैं। आत्मज्ञान हो गया तो इनकी बात सुनना छूट जायेगा, इन्हीं को हमारा गुलाम बनना पड़ेगा। अतः इंद्रियाँ नहीं चाह सकतीं कि हम मोक्ष पायें। बहिर्मुखता जब तक दूर न हो तब तक ज्ञान होता नहीं। अतः इन रुकावटों की, प्रतिबंधकों की समाप्ति हो इसके लिये परमेश्वर की कृपा चाहिये क्योंकि अपने बल पर इन प्रबल विरोधियों को हराना संभव नहीं। परमेश्वर-कृपा पाने के लिये वेद में जगह-जगह प्रार्थनाएँ हैं, यहाँ भी बारहवें और तेरहवें मंत्रों में ऐसी ही प्रार्थना है। उसी की सूचना देते हैं **रुकावटों की बहुतायत होने से 'यो देवानाम्' आदि मन्त्रों के सहारे पुनः पुनः ईश का भजन करना चाहिये ताकि रुकावटें दूर हों।।७३।।** अनादि जन्म-प्रवाह में एकत्र कर्मों का बोझ सारे प्रतिबंधों का उद्भावक बना रहता है। देवता विघ्न तभी कर पाते हैं जब हमारे ऐसे कर्म फलोन्मुख हैं। कर्मफलदाता परमेश्वर ही है, वही निश्चित करता है कि कौन-से कर्म फलीभूत कब होने हैं। अतः उसी से प्रार्थना की जाती है कि वह हमारे मोक्षमार्ग के विघ्न दूर करे। वह क्योंकि हमारा ही सत्य स्वरूप है इसलिये उसे इसमें किंचित् भी रुचि नहीं कि हम संसार में भटकें अतः वह शीघ्र कृपाकर विघ्न मिटा देता है। यहाँ प्रार्थना के दो मंत्र बताये हैं। इनमें पहला मंत्र प्रायः वही है जो तीसरे अध्याय का चौथा मंत्र था जिसका श्लोक बावन में विस्तार कर चुके हैं। दूसरा (अर्थात् तेरहवाँ) मंत्र है 'यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।' अर्थात् हम उस आनन्दरूप महादेव की हवि द्वारा सेवा करते हैं जो सब देवताओं का अधिपति है, जिसमें जगत् अध्यस्त है, जो सब दोपायों-चौपायों पर शासन करता है। परमेश्वर ही वह मूल है जिसके सहारे सब देवता अपने कार्य कर पाते हैं। हम देवताओं को स्वतंत्र मान लेते हैं इसीलिये उनके अधीन हो जाते हैं, परमेश्वर की ओर दृष्टि नहीं डालते। जब समझ आता है कि एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही सब देवों का उत्पादक, उन्हें सामर्थ्य देने वाला है, तब देवताओं की अधीनता छोड़कर परमेश्वर की ही शरण में रह पाते हैं।

अदृष्टप्रतिबन्धो यो निवर्त्य भजनेन तम्।
दृष्टो यः प्रतिबन्धस्तं विचारेण जयेत् पुनः।।७४।।

अध्यात्म देवता अर्थात् इन्द्रियाँ भी स्वतंत्र नहीं, चेतन आत्मा के ही अधीन हैं, उसी से सत्तान्वित हैं। इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान और आनंद वस्तुतः आत्मतत्त्व से ही संभव हो रहे हैं, उसी के ज्ञान व आनंद को इंद्रियाँ परिच्छिन्न कर उपस्थित करती हैं तो लगता है कि इनका ज्ञान या आनंद है। आत्मा का ही आनंद हैयह समझ लिया तो विषयों का आकर्षण समाप्त हो जायेगा। हूँ मैं आत्मा आनन्दरूप, पर भ्रम से मानता हूँ कि मन से, इंद्रियों से सुखी होऊँगा! इसी से बहिर्मुखता है और इंद्रियाधीनता है। यह भ्रम मिटने पर इंद्रियाधीनता मिट जाती है, बाह्य प्रवृत्तियाँ ख़त्म हो जाती हैं। देवों का अधिपति ही संसार का आश्रय एवं सब प्राणियों का प्रशासक है। उसे अहंकार की हवि अर्पित करना ही उसकी प्रधान सेवा है। अपने सारे कर्म उसी को अर्पण करने हैं ताकि हमारी सारी कामना निवृत्त हो जाये। इन मंत्रों का बार-बार अर्थ-विचारसहित जप करने से प्रतिबंधक दूर होते हैं।।७३।।

प्रतिबन्धक दो प्रकार के होते हैं अतः उनकी निवृत्ति के भी द्विविध उपाय हैं यह समझाते हैं **जो अदृष्ट प्रतिबन्धक है उसे भजन द्वारा निवृत्त कर जो दृष्ट प्रतिबन्ध है उसे फिर विचार द्वारा जीतना चाहिये।।७४।।** एक है 'अदृष्ट प्रतिबंध' जो रुकावट तो है पर दीखता नहीं, लौकिक बुद्धि से मालूम नहीं पड़ता कि क्या है, कैसा है। प्राचीन कर्म व उनके संस्कार अपना प्रभाव डालकर ज्ञान होने में रुकावट तो डालते हैं पर वे कर्म और संस्कार रहते अदृष्ट हैं, अज्ञात हैं, रुकावट पड़ने पर ही अनुमान होता है कि कोई-न-कोई पाप होगा जिससे यह रुकावट पड़ रही है। ऐसे प्रतिबंधक भगवान् से प्रार्थना करने पर दूर हो जाते हैं। प्रार्थना केवल वाणी से नहीं, अहंकार का समर्पण करना आवश्यक है। दूसरी तरह का प्रतिबंधक दृष्ट अर्थात् अनुभूयमान है और उसका स्वरूप यह सोच है कि 'मैं परमात्मा हो ही नहीं सकता, ज़रूर उससे कुछ अलग हूँ'। इस सोच के समर्थन में तर्क भी मन में आते रहते हैं, तरह-तरह के विरोधों का उद्भावन होता रहता है। क्योंकि यह ग़लत ढंग का विचार ही है इसलिये इसकी काट के लिये सही विचार करना ही उपाय है। इसे मनन कहते हैं जो श्रवण के बाद कर्तव्य है। श्रवण में तो शास्त्र के तात्पर्य का निर्णय करना पड़ता है, मनन में उस निर्णय के विरोधी तर्कों को उखाड़ फैंकना पड़ता है। मानव मन तर्कविरुद्ध तथ्य को स्वीकार नहीं पाता अतः तर्क-सम्मत तरीके से तथ्य मन के सामने

ईशचर्चा

सूक्ष्मेभ्यः परमाणुभ्योऽप्यतिसूक्ष्मो न लक्ष्यते।
बहिर्मुखैः स्वतः सोऽयं विश्वं व्याप्यावतिष्ठते।।७५।।
जगतः पालनेनाऽयम् अस्तीत्यादौ विबुद्ध्यताम्।
ब्रह्मर्षयो देवताश्च योगेनैतं विजानते।।७६।।

रखना पड़ता है।।७४।। विचार का ही प्रतिपादन करने वाले मंत्रों का ही संग्रह करते हैं **सूक्ष्म परमाणुओं से भी अत्यधिक सूक्ष्म यह आत्मा बहिर्मुख व्यक्तियों द्वारा समझा नहीं जा सकता। वही आत्मा खुद विश्व को घेर कर अवस्थित है।।७५।।** जो बाहर अर्थात् विषयों को, अनात्मा को ही देख सकता है वह कभी आत्मा को नहीं समझ सकता। इसीलिये आधुनिक विज्ञान कभी आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। आत्मा भीतर है, प्रत्यक् है, उसे 'मैं' से भिन्नकर नहीं समझा जा सकता। बहिर्मुखता से विषयज्ञान बढ़ता रहता है जिससे अशांति ही बढ़ती है। यद्यपि बहिर्मुख व्यक्ति विषयों की सुविधाओं को ही महत्त्व देता है तथापि सर्वानुभव-सिद्ध है कि विषयाधिक्य से अशांति और दुःख ही बढ़ते हैं। अधिभूत की प्रगति जितनी होगी उतनी अध्यात्म की अवनति होगी। बाहरी चीज़ों में अणु सबसे सूक्ष्म है, उससे भी अतिसूक्ष्म आत्मा है। अतः उसे इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते। बहिर्मुखी लोग मानते हैं कि जो बाहर नहीं देखा जा सकता वह होता ही नहीं! अतः कोई परमात्मा को साकेत में बताता है, कोई गोलोक में। वेदान्त स्पष्ट कहता है कि परमात्मा तुम हो! अतः 'परमात्मा नहीं है' का मतलब होगा 'मैं नहीं हूँ'। यह असम्भव बात है। जब तक परमात्मा को बाहर की तरफ ढूँढते हो तब तक यही निर्णय नहीं हो सकता कि परमात्मा है या नहीं। जब परमात्मा को 'मैं' देखते हो तब उसका स्वरूप स्वतः अपरोक्ष हो जाता है, उसके बारे में कोई संशय नहीं रहता। अतः विचारणीय यही है कि मेरा स्वरूप क्या है। उसके विचार से परमात्मा का पता चल जाता है। वही परमात्मा सारे विश्व को व्याप्त किये हुए हैं। बाह्य जगत् में सद्रूप से और आन्तर अर्थात् मन में चिद्रूप से व्याप्त है। वह घेरे हुए है इसीलिये संसार है, जाना जाता है, प्रिय है; इसी से उसकी व्याप्ति स्पष्ट है।।७५।।

परमात्माके अस्तित्व को युक्ति से समर्थित करते हैं **जगत् का पालन हो रहा है इसी से समझ लेना चाहिये कि परमात्मा है। ब्रह्मर्षि और देवता योगद्वारा उसका अनुभव करते हैं।।७६।।** चीज़ बनी रहे इसे संभव बनाना उसका पालन

क्षीरे घृतनिमित्तं यत् सारं तद्धीमतेक्ष्यते।
तथा वृत्तिनिरोधिन्या सूक्ष्मं वस्तुधियेक्ष्यताम्।।७७।।

करना कहा जाता है। संसार बना रहे इसे परमेश्वर ही संभव बनाता है। हवा, पानी, गर्मी, ठण्ड आदि सारी व्यवस्था करके जगत् का वही पालन कर रहा है। एक आम के बीज से प्रतिवर्ष ढाई सौ फल निकलते रहें यह भगवान् की ही व्यवस्था है। पशु, पक्षी, देव, दानव, मानव, वृक्ष, वनस्पति आदि सभी का वह समुचित पालन कर रहा है। इस व्यवस्था से ही स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा है। अन्यत्र भी परमेश्वर को 'सेतु' अर्थात् सब को मर्यादित रखने वाला बताया है। जैसे बालू जब तक पानी से पिण्डित है तब तक बँधी रहती है, पानी न रहे तो बिखर जाती है, वैसे ही परमात्मा से सारी सृष्टि बँधी हुई है, नियम से चल रही है, उसके बिना कुछ नियमित नहीं रह सकता। इसलिये संसार की नियमितता परमेश्वर को सिद्ध करती है। उसे समझने के लिये योग अर्थात् सर्वथा अन्तर्मुख चित्त चाहिये, उसी से ब्रह्मर्षि व देवता उसे जानते हैं। ब्राह्मण ऋषि ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। ब्राह्मण में शम-दम आदि स्वाभाविक होते हैं तथा स्वार्थप्रवृत्ति न्यूनतम होती है अत एव वे विद्या-क्षेत्र में विकास कर पाते हैं। बहिर्मुखी स्वार्थी व्यक्ति अधिकाधिक धन तो कमा सकता है पर ज्ञान की गम्भीरता में नहीं उतर सकता। देवता समष्टि-दृष्टि वाले होते हैं अतः उन्हें व्यापक परमात्मा समझना सरल पड़ता है। ब्रह्मर्षि व देवता जानते हैं कहने का भाव है कि अधिकारी को इनके गुणों वाला बनना चाहिये तभी योग से परमात्मबोध पा सकेगा। यह अर्थ नहीं कि मनुष्यादि उसे समझ नहीं सकते!।।७६।।

सोलहवें मन्त्र में घी के मण्ड (मलाई) के उदाहरण से सूक्ष्म शिव के ज्ञान का वर्णन है। पूर्वोक्त योग का उपयोग स्पष्ट करते हुए उस मंत्र का अर्थ बताते हैं **दूध में जो घी का निमित्तभूत सार होता है वह बुद्धिमान् को ही दीखता है, इसी तरह जिसकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो चुकी हैं उस बुद्धि से सूक्ष्म वस्तु समझ लेनी चाहिये।।७७।।** दूध में घी है अवश्य पर दूध को आँखों से देखो, सूँघो, चखो, छूकर देखो तो घी का पता नहीं लगेगा। दूध जमाकर मक्खन निकालकर गरम करने पर ही घी उपलब्ध होगा। इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है पर यों ही लौकिक बुद्धि से नहीं दीख सकता। विचार की मथनी से आत्ममंथन किये बगैर व्यापक आत्मस्वरूप कभी पता नहीं लगेगा। विचार तभी संभव है जब बुद्धि में बिखराव न हो अर्थात् वृत्तियाँ इधर-उधर न जायें एक आत्मतत्त्व के बारे में ही सोचें। योगशास्त्र में

दिवा रात्रिस्तमश्चाऽन्यद् यस्मिन्नास्ति न किञ्चन।
नोर्ध्वं न तिर्यक् तद्वस्तु न दृष्टान्तोऽस्य विद्यते।।७८।।

वृत्तिनिरोध होने पर कोई वृत्ति नहीं रहती किंतु यहाँ तात्पर्य है कि अनपेक्षित वृत्तियाँ न रहें, अपेक्षित दिशा में वृत्ति-प्रवाह चले। व्याख्येय मंत्र में घी की मंड या मलाई को दृष्टांत बनाया जिसे सरल करने के लिये यहाँ दूध में घी को दृष्टांत कहा है। प्रथमाध्याय मंत्र सोलह में दूध में घी के दृष्टान्त से ही आत्मा की सर्वव्यापकता कही थी (श्लो. ३६)। ब्रह्मर्षि व देवता योग अर्थात् एकाग्रतापूर्वक आत्म-विचार से ही सर्वत्र स्थित परमात्मा का दर्शन कर पाते हैं। सत्रहवें मंत्र में 'हृदा मनीषा मनसा अभिक्लृप्तः' कहा है कि यह हृदय, बुद्धि और मन तीनों से जाना जाता है। 'नेति' आदि निषेधों द्वारा हृदय जब संसार से विमुख होता है तभी परमात्मा से हार्दिक सम्बन्ध हो पाता है। जिससे ऐसा प्रेम होता है उसी के बारे में बुद्धि विचार कर पाती है, विवेकपूर्वक सोच-समझ पाती है। जिसे बुद्धि गंभीरता से सोचती है उसी में मन रम जाता है, उसी की वासनाएँ दृढ हो जाती हैं। प्रेम, बुद्धि और मन के संकल्प-विकल्पों का एकमात्र विषय परमेश्वर को बनाये बिना उसका व्यापक स्वरूप नहीं दीखता। इसलिये यहाँ वृत्तिनिरोध से समाधि अभिप्रेत नहीं प्रतीत होती वरन् जिसको अत्यन्त नियन्त्रित किया जा चुका है ऐसी बुद्धि ही कही गयी है।।७७।।

अठारहवें मंत्र में बताया है कि परमात्म-सम्बन्धी अविद्या निवृत्त होने पर दिन-रात आदि नहीं रह जाते केवल शिव ही रहता है। उन्नीसवें में कहा है कि परमात्मा ऊपर, नीचे या बीच से पकड़ा जा सके ऐसा नहीं है और न उसकी कोई प्रतिमा ही है। प्रतिमा का यहाँ अर्थ उदाहरण है। इन मंत्रों का संग्रह करते हैं **दिन, रात, अँधेरा, और कुछ, कुछ नहीं, ऊपर, तिरछे में ये सब जिसमें नहीं हैं; न इसका उपयुक्त उदाहरण है (उसे भजना चाहिये)।।७८।।** ('यस्मिन्नस्ति न किञ्चन' पाठ सीधा लग सकता था।) तत्त्वज्ञान से अविद्या मिट चुकने पर जिस परमात्मवस्तु का प्रकाश होता है वहाँ दिन आदि नहीं हैं। दिन-रात द्वन्द्व या जोड़े हैं, एक के होने पर ही दूसरे की प्रतीति होती है। हमारे दो हाथ हैं तो हमें यह कमी नहीं खलती कि हमारे चार हाथ क्यों नहीं हैं! ऐसे ही जब दिन नहीं रहा तब रात स्वतः ही नहीं रही। अँधेरा नहीं रहा तो रोशनी भी नहीं रही। सुषुप्ति में यह स्पष्ट है वहाँ दिन-रात, रोशनी-अँधेरा ये विभाजन प्रतीत ही नहीं होते। ऐसे ही आत्मा में कार्य-कारण दोनों नहीं हैं। ये भी सापेक्ष भाव हैं, एक के निषेध से दूसरे का भी निषेध हो जाता है। 'न

दृग्गोचरे तस्य रूपं नास्त्यतः कोऽपि नेक्षते।
'अजात' इति मन्त्राभ्याम् अन्तर्दृष्ट्या भजेत तम्।।७९।।

किञ्चन नास्ति' अर्थात् उसमें कोई अभाव भी नहीं है। अभाव की प्रतीति प्रतियोगिप्रतीति के सापेक्ष है, प्रतियोगी याद आये तभी मालूम पड़ता है कि वह नहीं है। जब प्रतियोगी की उपस्थिति नहीं तब उसके अभाव का निषेध स्वतः हो जाता है। अत एव ऐसा नहीं कि आत्मा में केवल कोई भाव वस्तु या धर्म नहीं वरन् उसमें अभाव वस्तु या धर्म भी नहीं है। उसमें अज्ञान भी नहीं है। बंधनकाल में भ्रम से अज्ञान का अनुभव होता है, सृष्टि-प्रलय के क्रम से भी कारणभूत अज्ञान का अनुमान होता है लेकिन वास्तव में आत्मा से अज्ञान का कुछ भी सम्बन्ध नहीं। परमात्मा से न ऊपर कुछ है अतः नीचे भी नहीं और तिरछी तरफों में भी कुछ नहीं अर्थात् उससे अन्य न स्थान है न स्थान में रहने वाला कुछ है। अत्यन्त अद्वितीय होने से उसे समझ सकें ऐसा कोई दृष्टांत भी नहीं है। दूसरा कुछ होता तो उस जैसा हो सकता था, दूसरा ही नहीं तो सदृश-विसदृश होने की संभावना ही नहीं है। यह स्वयं में प्रत्यक्ष है मैं का जैसा ज्ञान होता है वैसा किसी चीज़ का ज्ञान नहीं होता। सभी विषयरूप से भासते हैं, एक मैं ही विषयी के रूप में भासमान रहता हूँ। मैं की अपेक्षा ग़ैर-मैं के ज्ञान में स्पष्टता भी कम रहती है। मैं को उदाहरण बनाकर दूसरों को समझ भी लें जैसे मुझे प्रिय लगने वाला व्यवहार दूसरों से करूँ, इत्यादि पर मैं को समझने के लिये कोई अन्य दृष्टान्त नहीं मिलता। जैसे मैं आत्मा के लिये अनुकूल उदाहरण नहीं वैसे परमात्मा के लिये भी कोई ठीक-ठीक दृष्टांत नहीं है। इस श्लोक का अन्वय अगले श्लोक के साथ है।।७८।।

बीसवें मंत्र में बताया है कि परमात्मा दीखता नहीं पर प्रेम के द्वारा शुद्ध मन से हृदय में स्थितरूप से जान लिया जाये तो अमरता प्राप्त हो जाती है। इक्कीसवें में कहा है कि संसरण से त्रस्त साधक दक्षिणामूर्ति की शरण लेता है। बाइसवें में रुद्र से प्रार्थना है कि किसी का नाश न हो। इन मंत्रों का संकेत करते हुए चतुर्थ अध्याय की व्याख्या पूरी करते हैं **दृष्टि का जहाँ तक विषय है वहाँ उस परमात्मा का रूप नहीं है अतः उसे कोई नहीं देखता। 'अजात' इत्यादि दो मंत्रों द्वारा अन्तर्मुखता से उसका भजन करना चाहिये।।७९।।** दृष्टि से सभी इंद्रियाँ समझनी चाहिये। प्रत्यक्ष के विषय के रूप में परमात्मा दर्शनीय नहीं है। उसका ऐसा कोई रूप नहीं जो इन्द्रियों का गोचर बने। जिससे निरूपण होता है उसे रूप कहते हैं अतः शब्द गन्धादि

भी रूप कह दिये जाते हैं क्योंकि उनसे भी वस्तु का निरूपण हो जाता है। अतः तात्पर्य है कि परमात्मा रूप रस आदि धर्मों वाला है नहीं कि उसे इंद्रियाँ विषय कर सकें। ऐसा नहीं कि इंद्रियातीत किसी रूप-रसादि वाला हो! कुछ लोग कल्पना करते हैं कि परमात्मा के रूप आदि तो हैं पर हमारी इंद्रियाँ उन्हें देख नहीं सकतीं। प्रश्न होता है कि क्या किसी की इंद्रिय उन्हें देख सकती है? अगर हाँ, तो वह दृग्गोचर ही हुआ जब कि श्रुति यह नहीं कह रही कि वह *मनुष्य* की इंद्रियों का विषय नहीं वरन् स्पष्ट कह रही है कि 'कश्चन' अर्थात् कोई भी 'एवम्' इसे 'चक्षुषा' आँख से 'न पश्यति' नहीं देखता। और यदि कहें कि किसी की इंद्रियाँ उसे नहीं देखतीं तो फिर उसका रूप है यही निरर्थक बात होगी क्योंकि पहले तो श्रुति उसे स्पष्ट ही अरूप अस्पर्श अशब्द आदि कहती है और दूसरा, रूप होता ही वह है जो इंद्रिय का विषय बने, इंद्रिय का विषय नहीं तो वह रूप ही नहीं। इसलिये यहाँ वेद का अर्थ परमेश्वर के रूप-विशेषों को बताना नहीं वरन् उसे रूपादि-रहित बताना ही है। अतः उसका भजन अन्तर्दृष्टि से करने को कहा, क्योंकि बाहर की दृष्टि से उसका अनुभव हो ही नहीं सकता।

भजन के तरीके को बताने वाले दो मंत्रों में पहला है 'अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते। रुद्र! यत् ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।।' माया का सारा कार्य जात, उत्पन्न है। जात है तो 'अस्ति वर्धते' आदि बाकी भाव-विकारों वाला है ही। माया के कार्य पैदा होंगे, फिर सत्ता वाले रहेंगे, बढ़ेंगे, क्षीण होंगे, नष्ट होंगे। ये सभी विकार परमात्मा में नहीं अतः वह अजात है। वह माया के कार्यों में नहीं गिना जा सकता। हम जन्म से प्रारंभ होने वाले संसरण से ही भयभीत हैं अतः अजात से ही प्रार्थना करनी होगी कि हमारी रक्षा करे। पैसे चाहिये तो धनी सेठ से ही माँगते हैं, किसी गरीब कंगाल से नहीं। जो स्वयं जात हैं उनसे जन्म से रक्षा करने को कहना मूर्खता है, जो अजात है उसी से आशा कर सकते हैं कि वह जन्म से बचायेगा। अतः यहाँ परमेश्वर के अजात स्वरूप का स्मरण किया। भगवान् शंकर के पाँच मुख हैं, उनमें दक्षिण की तरफ वाला मुख ज्ञान देता है, ज्ञान देकर मुक्त करता है। बाकी मुख संसार की वस्तुएँ प्रदान करते हैं, संसार की निवृत्ति दक्षिण मुख ही देता है। उसी से निवेदन है कि मेरी सदा रक्षा करे।

दूसरा मंत्र है 'मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान् मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे।।' प्रसंगानुसार यहाँ

'नष्ट न करें, वध न करें' से लौकिक नाश या वध न समझकर यह तात्पर्य जानना चाहिये कि पुत्रादि को भी परमार्थ दर्शन देकर नाश से परे करें, मृत्त्यु से दूर करें। तोक अर्थात् पुत्र और तनय अर्थात् पौत्र, इनके कल्याण की प्रार्थना है। मुमुक्षु चाहता है कि उसके कुल में सभी परमात्मज्ञान पाकर मुक्त हों। 'कुल' से पुत्रादि और शिष्यादि दोनों कुल समझने चाहिये। अतः अपने सभी सम्बन्धियों की ऐसी रक्षा हो यह प्रार्थना है। 'आयुषि' श्रवण - मननादि साधना करने के लिये दीर्घ जीवन चाहिये क्योंकि ये कदम समय से स्थिर होते हैं। अतः प्रार्थना है कि आत्मज्ञान दृढ होने से पहले हमारी (और हमारे सम्बंधियों की) उम्र पूरी न हो जाये। समय कम रह जाये तो ज्ञान पक नहीं पाने से जन्मान्तर लेना पड़ जाता है। इसीलिये इंद्रियादि की सामर्थ्य की प्रार्थना भी की जाती है। 'गोषु' से ज्ञानेन्द्रियों की और 'अश्वेषु' से कर्मेन्द्रियों की रक्षा की प्रार्थना है। 'वीरान्' अर्थात् हमारी रक्षा में तत्पर रहने वालों की भी भगवान् रक्षा करें। अनेक लोग बुद्धि से हमारी रक्षा करते हैं। वेदों के ग़लत अर्थों में ग़लती बताकर सही अर्थ को युक्तियुक्त समझाने वाले हमारी रक्षा बुद्धि द्वारा करते हैं। भोजन, औषधि आदि द्वारा भी लोग रक्षा करते हैं। कदाचित् बदमाशों से हमारी शारीरिक बल द्वारा भी रक्षा की जाती है। ऐसे सब को यहाँ वीर कहा, उन सभी वीरों पर भगवत्कृपा बनी रहे यह प्रार्थना है। साथ ही हमारी साधना संभव बनाने वाले हमारे शरीर प्राण मन बुद्धि भी हैं, ये स्वस्थ, पुष्ट, एकाग्र, विवेकपूर्ण रहें तभी अभ्यास सम्पन्न हो सकता है। 'भामितः' तेजस्वियों की भगवान् हिंसा न करें। शिष्य, सहपाठी आदि तेजस्वी हों तो विचार-विमर्श आदि से विद्या में निखार आता है जो अप्रगल्भ लोगों में रहने से नहीं आ पाता। 'सदम्' सदा 'इत्' इस तरह 'त्वा' आपको 'हवामहे' भेंट देते रहें।

गीता में भगवान् ने कहा है कि जो करो, जो खाओ, जो होम करो, जो दान करो, जो तप करो, उस सब को मुझ परमात्मा के अर्पण करो। इस तरह से ही सदा भेंट देना बनता है। किसी भी कार्य को 'मुझे फल मिले' इसलिये न करके 'परमात्मा का कार्य कर रहा हूँ' इस दृष्टि से ही करना चाहिये। भोजनादि में भी भावना रखनी चाहिये कि खा-पीकर शरीर स्वस्थ रखकर भगवान् का भजन करना है इसीलिये खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना है, न कि मुझे सुख-सुविधा मिले इसके लिये। इसीलिये सनातन धर्म में भोजन आदि सभी चीज़ों में इतने ज़्यादा नियम हैं। अन्य संस्कृतियों में ऐसे नियम नहीं क्योंकि वहाँ खाना-पीना अपनी खुशी के लिये है जबकि हमारे यहाँ खाना आदि कार्य भी परमेश्वर की ही खुशी के लिये हैं, परमेश्वर के कार्य करने में

जीवेशविवेकः

पुनश्चैवं विवेक्तव्यं विद्याविद्ये निजात्मगे।
अविद्यया बद्ध्यतेऽसौ विद्यया तु विमुच्यते।।८०।।

समर्थ होने के लिये हैं अतः इनमें नियमों की अपेक्षा रह जाती है। उन नियमों के अनुसार खान-पान आदि करेंगे तो भगवद्भजन होगा, मोक्षोपयोगी जीवन होगा, अन्यथा नहीं होगा। इह लोक के लाभ-हानि के बारे में तो प्रत्यक्ष-अनुमान से पता लग जाता है लेकिन परलोक और मोक्ष के लिये क्या हित है, क्या अहित है इसे बताने में प्रत्यक्षादि अक्षम हैं, शास्त्र ही एकमात्र मार्गदर्शक है। वैसे तो इहलोक के लाभ भी मनुष्य की बुद्धि से ठीक-ठीक पता नहीं चलते अतः अनेक वस्तुओं के सेवन का डाक्टर विधान करते हैं, बीस-पचीस साल बाद उनका नुकसान प्रकट होता है तो वर्जन करते हैं। जब पचीस साल बाद का ही नुकसान अनुमान से मालूम नहीं चलता तब परलोक का नुकसान उससे कैसे पता चलेगा! अतः ऋषियों के बताये रास्ते पर ही चलना बुद्धिमानी है। उन्होंने खान-पान, कब क्या करना-नहीं करना आदि सब बता रखा है, तदनुसार चलते रहने से इहलोक-परलोक और मोक्षमार्ग सर्वत्र उपकार ही होता है। अपने जीवन के सब कार्य परमेश्वर-सेवा की दृष्टि से करने पर ही यह नियमबद्धता संभव है और तभी सदा आराधना होगी। दूसरों से व्यवहार करते समय भी ध्यान रखो कि परमेश्वर से व्यवहार कर रहे हो, नारायण ही जिन रूपों को धारण कर सामने आ रहे हैं उन रूपों में उन्हीं से व्यवहार कर रहा हूँ। ऐसा करने से पाप न्यूनतम होंगे, शरीर-वाणी-मन से सदाचार ही प्रधानतः होगा। अपने वर्णाश्रम धर्म का भगवत्सेवा की दृष्टि से पालन करना मोक्षोपयोगी चित्तशुद्धि का उपाय हो जाता है। इसे ही श्रुति ने यहाँ 'हवामहे' से कहा है। इस प्रकार अन्दर स्थित परमात्मा पर दृष्टि एकाग्रकर इन मंत्रों में सूचित प्रकारों से भजन करना चाहिये।।७९।।

अब उपनिषत् के पाँचवें अध्याय की व्याख्या करते हैं। इस अध्याय में भी परमेश्वर का वर्णन प्रधान है। पहले मंत्र में कहा है कि हिरण्यगर्भ से भी परे जो ब्रह्म उसमें विद्या और अविद्या दोनों निहित हैं। अविद्या क्षरणहेतु और विद्या अमरताहेतु है। इन दोनों का नियामक इनसे अन्य ही है। इसका भाव बताते हैं **पुनः पुनः यों विवेक करना चाहियेनिजात्मा में आश्रित और इसे ही विषय करने वाली विद्या और अविद्या दोनों हैं। आत्मा अविद्या से बँधता है और विद्या से मुक्त होता है।।८०।।** 'मुझे अज्ञान है, मुझे ज्ञान है' यों ही अविद्या व विद्या का भान होता

अविद्याकल्पितोपाधिभेदाद् ईशत्वजीवते।
चैतन्यस्य भवेतां ये कथ्येते ते क्रमाद् इह।।८१।।

है अतः ये निजात्मा में ही हैं। यहाँ जिन विद्या-अविद्या की बात है उनका विषय भी निजात्मा ही है जिसके अज्ञान से जन्म-मरण का बंधन है और जिसके ज्ञान से इस बंधन से छुटकारा है। इनका यह विवेक करते रहने से सब बंधकों से बचते रहेंगे और मोचक-मार्ग पर आगे बढ़ेंगे। जिन तरीकों से निजात्मा का अज्ञान दूर हो, ज्ञान स्पष्ट हो उन्हीं को अपनाते जाने के लिये विवेक करने को कहा है। विद्या तो बुद्धिवृत्ति है उसे निजात्मा में क्यों कहा? क्योंकि बुद्धि से हमें तादात्म्य है इसलिये जो बुद्धि में है वह हम अपने में मानते हैं इसीलिये विद्या को निजात्मा में कहा। किं च, वृत्तिमात्र विद्या नहीं है, उससे अविद्या हटने पर निरावृत चेतन विद्या है, इसलिये भी उसे निजात्मा में कहा। आत्मरूप होने पर भी अनावरण-सापेक्ष होने से किंचिद् भेद मानकर विद्या को 'आत्मा' न कह कर 'आत्मा में' कहा। यदि वृत्ति-प्रतिबिम्बित चेतन को विद्या समझें तो स्पष्ट ही वह चेतन में है क्योंकि वृत्ति चेतन में अध्यस्त है।।८०।।

आगे के मंत्रों में जीव-ईश्वर का वर्णन है, उसकी भूमिका रचते हैं **अज्ञान और कल्पित उपाधियों के भेद से चैतन्य में जो ईशता और जीवता हो जाती हैं वे यहाँ क्रम से बतायी जाती हैं।।८१।।** मुख्यतः तो अविद्या ही उपाधि है अतः 'अविद्याकृतमीशत्वम्' (श्लो ८५) 'अविद्याकृतजीवत्वम्' (श्लो ८६) कहेंगे। पर किसी ढंग से उपाधि बनकर वह आत्मा में ईश्वरता प्रतीत कराती है तथा किसी अन्य ढंग से उपाधि बनकर आत्मा में जीवता प्रतीत कराती है। इसलिये यहाँ अविद्याकल्पि-तोपाधि-भेद का भाव है अविद्या से कल्पित विभिन्न उपाधिरूपताओं से ईशता व जीवता होती हैं। ईश व जीव स्वरूप से तो आत्मा हैं पर उनकी ईशता और जीवता उपाधिकल्पित हैं। उपाधियाँ वास्तविक नहीं, अविद्या से कल्पित होती हैं। उन उपाधियों के कारण ही सारा भेद उपलब्ध है। औपाधिक भेद अपने में ही मिल जाता है सारे शरीर में हम एक हैं पर पैर की उपाधि से चलने वाले और हाथ की उपाधि से पकड़ने वाले हैं, यह भेद भी है। कभी-कभी अपना ही बाल अपने गाल पर आ जाये तो लगता है कि मक्खी बैठी होगी! बाल और गाल मैं ही हूँ पर उपाधिभेद है और बाल की उपाधि का अज्ञान होने से मक्खी का भ्रम हो जाता है। ऐसे ही सारे ब्रह्माण्ड का हर कण, हर क्षण एक परमात्मा में ही विद्यमान है, सभी उसी एक की

हिरण्यगर्भमुत्पन्नमादौ ज्ञानैर्बिभर्ति यः।
एकैकमन्तःकरणं बहुधा विकरोत्ययम्।।८२।।

उपाधि हैं, लेकिन उपाधियाँ विभिन्न होने से प्रतीति होती है कि अनेक आत्मा हैं! मेरा शरीर-मन, दूसरों के शरीर-मन ये भेद अज्ञान से कल्पित उपाधियों के ही प्रभाव से हैं। शरीर-मन से सीमित आत्मा को हम जीव समझते हैं और सारे ब्रह्माण्ड को चलाने वाले को अपने से वस्तुतः पृथक् ईश्वर समझते हैं जबकि सचमुच में एक आत्मा अर्थात् मैं ही दोनों तरह की उपाधियों से दो तरह का प्रतीत हो रहा हूँ, वास्तव में जीव-ईश्वर अलग-अलग नहीं हैं। जो सारे संसार का संचालक है वही इस देह-मन में बैठकर इसे चला रहा है। हम अज्ञानवश मानते हैं कि संसार तो ईश्वर चला रहा है पर अपने शरीर-मन आदि को मैं ही चला रहा हूँ! चेतन स्वप्रकाश तत्त्व है। वह किसी से प्रकाशित नहीं हो सकता, किसी का विषय नहीं बन सकता। अतः एक से अधिक चेतनों में कोई प्रमाण भी नहीं और उनका होना है भी असंभव। जानने वाला चेतन होता है, जाना जाने वाला अचेतन होता है। मैं जानता हूँ यही चेतन का अनुभव है। वह चेतन है यों कभी चेतन का प्रत्यक्ष नहीं होता। मैं से अन्यत्र चेतन-व्यवहार अनुमानादि पर निर्भर है और क्योंकि अनुमान से सिर्फ चेतन सिद्ध होता है, अलग चेतन नहीं, अलगाव केवल शरीरादि का प्रमाणसिद्ध है, इसलिये अनेक चेतन अनुमान से भी सिद्ध नहीं होते। अविद्या-कल्पित उपाधियों से ही भ्रम होता है कि सभी देहादियों में विभिन्न चेतन हैं। शास्त्र-संस्कार वालों को अपने से भिन्न समष्टि उपाधि वाला या किसी महान् उपाधि वाला ईश्वर चेतन भी समझ आता है। ये सभी भ्रम इस भूल से हैं कि अनुभव में उपाधियों का भेद आता है और हम वह भेद आत्मा (चेतन) पर आरोपित कर देते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि नाना जीव और उनसे भिन्न ईश्वर ये प्रतीतियाँ औपाधिक हैं। अब उन उपाधियों को सूचित करते हुए इस बात को समझायेंगे।।८१।।

दूसरे से पाँचवें मंत्र तक उपनिषत् में ईश्वर का वर्णन है, उसका संग्रह चार श्लोकों द्वारा करते हैं **प्रारंभ में उत्पन्न हिरण्यगर्भ को जो ज्ञानों द्वारा धारण करता है, यही एक-एक अन्तःकरण को बहुत प्रकार से विशेष आकारों का बना देता है।।८२।।** ईश्वर सर्वप्रथम उत्पन्न करते हैं हिरण्यगर्भ को, फिर उसे ज्ञान से भर देते हैं अर्थात् उसे वेद का उपदेश देकर उसे समर्थ बनाते हैं जिससे कहा जाता है कि ईश्वर ही उसे धारण किये हुए हैं, क्योंकि उसकी सारी सामर्थ्य परमेश्वर की ही दी हुई

अधश्चोर्ध्वं दिशः सर्वा भ्राजतेऽसौ प्रकाशयन्।
भारं वहेद्यथाऽनड्वान् जगद्भारं वहेत् तथा।।८३।।

है। जैसे प्रशासन के अधिकारी को धारण सरकार करती है, वही उसे ज्ञान दिलाती है और कार्य करने का अधिकार देती है, वैसे ही ईश्वर हिरण्यगर्भ तथा देवता आदि को धारण करता है। यहाँ 'ज्ञानैः' से ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य का संग्रह उपनिषद्व्याख्या में कुछ आचार्यों ने किया है। हिरण्यगर्भ ज्ञानादि से सम्पन्न हैं और ईश्वर ने उन्हें ऐसा बनाया है, बनाये रखते हैं, यह भाव है। हिरण्यगर्भ की उपाधि में समष्टि अन्तःकरण आता है, उसी के व्यष्टि भेद हम लोगों के अंतःकरण हो जाते हैं। परमेश्वर ही सारे व्यष्टि अंतःकरणों को पृथक्-पृथक् करते हैं और हर-एक में गुणों के तारतम्य का भेद करके उनमें वैविध्य ला देते हैं। पूर्व कल्प में बटोरे कर्मों और संस्कारों के अनुरूप ही अन्तःकरणों में अलग-अलग प्रवृत्तियाँ हुआ करती हैं। प्रवृत्त ईश्वर करता है पर पूर्व के कर्म-संस्कारों को निमित्त बनाकर। क्योंकि संस्कारादि से परिवर्तन आ जाता है इसलिये कहते हैं कि अन्तःकरण में विकृति आती है। यहाँ विकृति से अच्छे-बुरे सभी परिवर्तन समझ लेने चाहिये। क्योंकि भगवान् भी संस्कारों को निमित्त बनाकर ही अंतःकरणों को विविध ढंग का बनाते हैं इसलिये कर्म-संस्कारों में परिवर्तन करने से अंतःकरण का अभीष्ट विकास किया जा सकता है। इस श्लोक में ईश्वर का उपदेशकरूप तथा अंतःकरणों का निर्माण करने वाला रूप बताया है। दूसरे मंत्र में उपदेशकरूप तथा तीसरे ('एकैकं जालम्' आदि) मंत्र में व्यष्टिसर्जक रूप बताया है।।८२।।

चौथे मन्त्र का अर्थ कहते हैं **नीचे, ऊपर तथा सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए यह दीप्त रहता है। जैसे बैल बोझ ढोता है वैसे यह जगत् का भार ढोता है।।८३।।** श्रुति ने 'अनड्वान्' शब्द का प्रयोग किया है जिसका प्रसिद्ध अर्थ है साँड। उपनिषद्व्याख्याओं में इसका अर्थ सूर्य बताया है। यहाँ दोनों अर्थ समेट लिये हैंसूर्य की तरह सर्वप्रकाशक प्रकाश है और साँड या बैल की तरह जगद्-भार वहन करता है। जैसे हिरण्यगर्भ में ज्ञानादि परमेश्वर का दिया ही है वैसे सूर्य का प्रकाश भी परमेश्वर का ही दिया हुआ है। सब को प्रकाशित करने वाला उसे ईश्वर ही बनाता है। इसी रीति से सारे संसार का वह वजन लिये हुए है। हमें लगता है कि अलग-अलग लोग या चीज़ें अलग-अलग बोझ ढो रहे हैं, तत्तत् कार्य करने वाले तत्तत् देवता आदि या प्राकृतिक प्रक्रियायें हैं, जबकि सत्य है कि परमेश्वर ही सारा बोझ ढो रहा है, जो

योो भावान् क्षीरबीजादीन् दधिवृक्षादिरूपतः।
परिणामं नयेत् सोऽयं गुणांस्त्रीन् विनियोजयेत्।।८४।।
अविद्याकृतमीशत्वं तदिदं स्पष्टमीरितम्।
वेदगुह्योपनिषदा तस्य तत्त्वम् उदीरितम्।।८५।।

दूसरे बोझ ढोते दीख रहे हैं उनमें भी वही सामर्थ्य दे रहा है जिससे वैसा कर पा रहे हैं। माया उपाधिवाला आत्मा ही संसार का समग्र भार वहन कर रहा है।।८३।।

पाँचवें मन्त्र में परमेश्वर को स्वभाव का निष्पादक एवं सर्वत्र परिवर्तन लाने वाला कहकर सारे विश्व का अधिष्ठाता और सारे गुणों का विनियोजक बताया है। उसी का अर्थ कहते हैं **दूध, बीज आदि वस्तुओं को जो दही, वृक्ष आदि रूप बदली स्थिति में लाता है, वही तीन गुणों को तत्तत् कार्य में लगाता है।।८४।।** बीज ही वृक्ष बनता है। उसे वृक्ष बनाता कौन है? परमेश्वर ही उसे वृक्ष बनाता है। हर कारण को कार्य के रूप में वही प्रकट करता है। जैसे संसार का बोझ ढोने वाला वह, हम नाहक परेशान होते हैं इस भ्रम से कि हमें बोझ ढोना है, वैसे सर्वत्र कारणों को कार्यरूप में परिणत करने वाला वही है, हम भी यदि कुछ कर पाते हैं तो उसी की सामर्थ्य से। किस गुण का क्या प्रभाव होना है, किसमें कब कौन गुण प्रकट होना है इत्यादि सारा नियमन करना परमेश्वर का ही कार्य है। इस तरह से वही सर्वत्र सम्पूर्ण नियन्ता है।।८४।।

छठे मंत्र में परमात्मा को वेद में छिपा बताकर कहा है कि उसे जान लेने से अमरता मिल जाती है। उसका अर्थ कहते हुए ईश्वर का प्रसंग पूरा करते हैं **अविद्या द्वारा की गयी वह यह ईशता स्पष्ट बता दी। वेद के गोपनीय भाग उपनिषद् द्वारा उसकी वास्तविकता कही गयी है।।८५।।** चेतन में ईश्वरता की प्रतीति में हेतु अविद्या ही है। यहाँ 'अविद्या' नाम लेकर माया-अविद्या के भेद की संभावना समाप्त की गयी है। माया अविद्या का ही नामान्तर है, उसकी मिथ्या सामर्थ्य का सूचक है। अविद्या से ईश्वरता है यह अनुभव से स्पष्ट हो जाता है क्योंकि 'सबका प्रवर्तक कौन?' इसके उत्तर में यही समझ आता है कि कोई अज्ञात चेतन ही प्रवर्तक है। 'अज्ञात चेतन' अर्थात् अज्ञान उपाधि वाला चेतन। 'वह यह ईशता' अर्थात् जिसे पूर्व के श्लोकों में व्यक्त किया और जो यों अनुभूयमान है ऐसी ईश्वरता। केवल ईश्वर न कहकर ईशता कहा ताकि स्मरण रहे कि ईश्वर स्वरूप से तो आत्मा ही है, अविद्या से उसमें ईश्वरता प्रतीत होती है। ईश्वरता अर्थात् वे विशेषतायें जिनसे वह ईश्वर

अविद्याकृतजीवत्वम् अथ स्पष्टमुदीर्यते।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणैर्जीवः समन्वितः।।८६।।

कहा-समझा जाता है। वे सब विशेषतायें जगत्-सापेक्ष होने से स्वाभाविक नहीं हैं, अविद्याप्रयुक्त हैं। वह परमेश्वर पता चलता है उपनिषदों से जो वेद के गुह्य रहस्य को बतलाती हैं। कामना वाले को परमात्मा समझ नहीं आता, उसे इसका उपदेश व्यर्थ है अतः यह गुह्य, कामनावालों से छिपाये रखने योग्य है। उनके लिये कर्म व उपासना का ही उपदेश है। उन्हें अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्व पर आग्रह है। रोज़ लाखों कार्य हो रहे हैं जो हम नहीं कर रहे, फिर भी हमें आग्रह रहता है कि करने वाला तो मैं ही हूँ! सबको नियंत्रित रखने वाला, सब करने वाला परमेश्वर है यह तब तक नहीं जँचता जब तक पदार्थों में आसक्ति है, कामना है। वैराग्य होने पर, अपने कर्तृत्वादि-अभिमान शिथिल होने पर ही परमेश्वर समझ आ सकता है। ऐसे अधिकारियों के लिये वह उपनिषदों में स्पष्ट प्रतिपादित भी है। इस प्रकार ईश्वर का वर्णन हुआ।।८५।।

सातवें से दसवें मंत्र तक जीव का वर्णन है। सातवाँ मंत्र है 'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता। स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः।।' अर्थात् जो गुणों से युक्त है, फल वाले कर्म करता है और उनके फल भोगता है वही विश्व के अर्थात् जाग्रदभिमानी के रूप वाला है, तीन गुणों वाला है, देवयानादि तीन मार्गों वाला है, प्राणों का मालिक है और अपने कर्मों के अनुसार संसार में भ्रमण करता है। इसे समझाते हैं **अब अविद्या से की गयी जीवता स्पष्ट बतायी जाती है। सत्त्व, रज, और तमइन गुणों से जीव सम्बद्ध है।।८६।।** पूज्य, उपास्य एवं परोक्ष होने से दुर्बोध होने के कारण ईश्वर का प्रसंग पहले आया, उसे समझाने के बाद अब जीवता का वर्णन करते हैं। जीव तो स्वरूप से आत्मा है, उसकी जीवता ही अविद्या से कल्पित है। जैसे संसार कल्पित है ऐसे जीव-ईश्वर कल्पित नहीं, उनकी जीवता-ईश्वरता ही कल्पित है। अत एव 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि में बाध-सामानाधिकरण्य मानना पड़ता है जबकि 'तत्त्वमसि' आदि में मुख्य सामानाधिकरण्य हो जाता है। जीव की यहाँ पहली विशेषता गुण-सम्बन्ध बतायी। ईश्वर गुणों का प्रेरक अवश्य है, गुणों से सम्यक् बद्ध नहीं है। जैसे ईश्वर स्वयं कभी माया से ढकता नहीं पर माया का प्रयोग कर लेता है वैसे गुणों को प्रेरणा देता है, खुद उनसे बँधता नहीं। जीव सत्त्वादि गुणों से पूरी तरह

स फलार्थं कर्म कुर्याद् भुङ्क्ते तस्यैव तत्फलम्।
दक्षिणोदगधोमार्गैः संसरत्येष कर्मभिः।।८७।।

बँधा है। उसे अभिमान रहता है 'मैं सत्त्वगुणी हूँ या रजोगुणी या तमोगुणी हूँ'। इससे सूचित किया ईश्वर गुणोपाधिक नहीं है। गुणोपाधिक देवता जीवकोटि के हैं। कुछ लोग कहते हैं कि विष्णु सत्त्वगुणी होने से श्रेष्ठ हैं। श्रेष्ठ जीव तो हो जायेंगे पर परमेश्वर नहीं रहेंगे! परमेश्वर सत्त्वगुणी आदि नहीं होता, तीनों का प्रवर्तक होता है। यद्यपि कहीं-कहीं गुणों के अवच्छेद के भेद से ईश्वर त्रिविध भी बताया गया है तथापि जिस ईश्वर की वे तीन विधाएँ कही हैं वह तो अज्ञानोपहित ही माना गया है अतः वह गुणों से समन्वित या सर्वथा सम्बद्ध नहीं सिद्ध होता तथा किसी एक गुण के अवच्छेद से उसमें श्रेष्ठता की सम्भावना नहीं। गुणों का प्रवर्तक होने से जीव के बंधक गुणों को नियन्त्रित कर वह उसका मोक्ष सम्भव बना देता है। जीव के तो आवश्यक परिचय में गुणों का उल्लेख है।।८६।।

जीव जैसे गुण-सम्बद्ध है वैसे ही यह कर्त्ता-भोक्ता भी है। शास्त्र में विधि-निषेध कहे गये हैं जिनकी सार्थकता तभी है जब जीव कर्त्ता-भोक्ता हो। कर्मानुसार अच्छी-बुरी भोगयोनियों में वह भटक भी रहा है। इस पहलू को पूर्वोक्त सातवें मंत्र के अनुसार व्यक्त करते हैं **वह जीव फल भोगने के लिये कर्म करता है और उसी कर्म का गुणानुरूप फल भोगता है। यह जीव कर्मों के कारण दक्षिण, उत्तर और अधः मार्गों से संसरण कर रहा है।।८७।।** जीव में विषय-भोग के संस्कार हैं, उनसे प्रेरित हो वह विषय चाहता है तो उसे पाने के लिये कर्म करता है। सत्त्वगुणी संस्कार उदय होने पर सात्त्विक ही कर्म करेगा, राजस - तामस संस्कार उदय होने पर वैसे कर्म करेगा। कुछ जातियाँ हैं जो कुछ दिन पहले तक लूटना अपना धर्म मानती थी। यदि औरतें अपने गहने उतारकर उन्हें देतीं तो कहते 'हम कोई ब्राह्मण हैं जो तुमसे यों लेंगे! पहनो। हम छीनकर ही लेंगे।' तामस होने से उन्हें वही कर्म कर्तव्य लगता था। गीता में तप यज्ञ आदि के सात्त्विक आदि भेद बताये ही हैं, उस-उस तरह के लोग फलप्राप्ति के लिये वैसे-वैसे तप आदि साधन ही अपनाते हैं। जैसा कर्म करते हैं वैसे ही गुणों वाले वे फल पाते हैं। तमोगुणी साधन से तमोगुणी ही फल मिलेगा। अतः कहा जाता है कि पाप से अर्जित धन दुःख का कारण अवश्य बनता है। धन मिलेगा, उससे विषय भी मिलेंगे, लेकिन दुःख भी साथ ही मिलेगा। कर्मानुसार ही मरने के बाद की गति होती है। केवल शास्त्रीय कर्म करने वाला मरकर दक्षिणमार्ग से

अङ्गुष्ठमात्रहृन्निष्ठः स्वप्रकाशः स सूर्यवत्।
अहङ्कारोपाधिकः सन् सङ्कल्पान् कुरुते बहून्।।८८।।
बुद्धिवृत्त्यात्मचैतन्यसंयोगाद् एष चेतनः।
स सङ्कोचविकासाभ्यां तैस्तैर्देहैः समो भवेत्।।८९।।

जायेगा, कर्म के साथ जो शास्त्रीय उपासना भी करता है वह मरकर उत्तर मार्ग से जायेगा और जो शास्त्रोक्त कर्म व उपासना न कर मनमाना आचरण करता है वह अधः अर्थात् निम्न, हेय मार्ग से जाता है। हेय मार्ग से जाकर बार-बार जन्मना-मरना पड़ता है। यद्यपि बाकी दोनों मार्गों से गये जीव भी पुनः उत्पन्न होते ही हैं तथापि उन्हें उत्तम लोकों में दीर्घ काल तक निवास मिल जाता है जबकि अधोमार्ग वालों को अल्प काल के जीवनों वाली योनियों में भटकते रहना पड़ता है, अतः उनके लिये कहते हैं कि वे जन्मते-मरते रहते हैं। कर्म और उपासना या भक्ति जन्म-मरण के चक्र से नहीं छुड़ा सकते, दीर्घ काल के लिये उत्तम भोग दे सकते हैं। दक्षिणादि मार्गों का छांदोग्य (५.१०.८; ४.१५.५) गीता (८.२४-५) आदि में विस्तार है। यहाँ तो मंत्र में 'त्रिवर्त्मा' जीव का विशेषण देकर ही इन्हें सूचित किया है।।८७।।

आठवाँ मंत्र है 'अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः।।' अर्थात् सूर्य जैसे रूप वाला जीव अंगूठे जितना है, संकल्प और अहंकार से युक्त है, बुद्धि और आत्मा के गुणों से सज्जित प्रतीत होता है तथा आरे के दाँत की नोक जितना है! इसे समझाते हैं **अंगूठे जितने हृदय में स्थित सूर्यसमान स्वप्रकाश वह जीव अहंकार उपाधिवाला हुआ बहुत संकल्प करता है।।८८।। बुद्धिवृत्ति और आत्मरूप चैतन्य के सम्बन्ध से यह चेतन है। वही सिमटने और फैलने से उन-उन शरीरों जितना हो जाता है।।८९।।** आत्मा को श्रुति ने कई जगह अंगुष्ठमात्र कहा है। महाभारत में भी जहाँ सत्यवान् की मृत्यु का वर्णन है वहाँ कहा है कि अंगुष्ठमात्र पुरुष को यम ने पाश से खींचकर निकाला। आत्मा अंगूठे जितना नहीं वरन् उसका निवास हृदय-सुषिर इतना बड़ा होने से उसे अंगुष्ठमात्र कहते हैं। इस सन्दर्भ में ब्रह्मसूत्रों में समझाया है कि क्योंकि शास्त्र में मनुष्य ही अधिकारी है इसलिये उसका हृदय इतना बड़ा होने से आत्मा को अंगूठे जितना कह देते हैं। मानव शरीर में नाभि से दस अंगुल ऊपर अंगूठे के परिमाण का वह स्थल है जहाँ अहंकार की प्रतीति होती है, वहीं आत्मा रहता है। है वह स्वप्रकाश, किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता के बिना वह स्वयं

भासमान रहते हुए अहंकार को प्रकाशित करता है। आत्मा रहते हुए भी वह अहंकार से तादात्म्य बनाये होने से जीव कहलाता है। यह तादात्म्य ही बुद्धिवृत्ति और आत्मा का सम्बन्ध कहा गया है, इसे अन्यत्र चित् और जड की ग्रंथि भी कहते हैं। इस तादात्म्य के कारण अहंकार ही स्वयंप्रकाश प्रतीत हो जाता है। उसकी अनित्य-प्रकाशता तो तब स्पष्ट होती है जब सुषुप्ति का विचार करते हैं कि वहाँ अहंकार नहीं रहता फिर भी ज्ञान (प्रकाश) रहता है अतः अहंकार नहीं वरन् सुषुप्ति का भी जो साक्षी है वही सर्वदा स्वयम्प्रकाश वस्तु है। अहंकार-रूप उपाधि धारण कर लेने पर जीव बना आत्मा अनेक तरह के संकल्प-विकल्प उठाता रहता है। संकल्प होते तो अहंकार में अर्थात् अंतःकरण में हैं, आत्मा उनसे अस्पृष्ट है, पर तादात्म्यवश उन्हें अपने में मानकर 'मेरे संकल्प हैं, मैं संकल्पवान् हूँ' ऐसा समझता है। अहंकार से सम्बद्ध विषयों के बारे में ही संकल्प होते हैं, चाहे मन या शरीर के बारे में हों, पत्नी या पुत्र या धन के बारे में अथवा देश के बारे में, सर्वत्र अहंकार के सम्बंध को सामने रखकर ही संकल्प होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अहंकार-उपाधि से संकल्प होते हैं। संकल्प क्योंकि बिना सोचे-समझे करने की हमें आदत है इसलिये बहुत करते रहते हैं, एक मिनट में इतने संकल्प कर लेते हैं जिन्हें दस जन्मों में भी पूरा न कर पायें! संयमी संकल्प की शक्ति बढ़ाता है, न्यूनतम संकल्प करता है पर किया संकल्प पूरा करता ही है।

अहंकार की चेतनता इसीलिये प्रतीत होती है कि उससे आत्मा का तादात्म्य है। इस अध्यास को, तादात्म्य को ही यहाँ बुद्धिवृत्ति और आत्मचैतन्य का संयोग कहा। लोकप्रसिद्ध संयोग तो इनमें संभव नहीं, अज्ञान से इन्हें एक समझ लेना ही यहाँ संयोग है जिसे शास्त्रीय भाषा में अध्यास या तादात्म्य कहते हैं। संकल्पानुसार कर्म करने पर उनके फल भोगने के लिये जीव नाना योनियों में भटकता है। जिस भी शरीर में जाता है वहाँ वैसा ही हो जाता है, जैसे हमें अपने शरीर के बारे में लगता है कि यह मैं हूँ वैसा ही अगर हम गधा बन जायें तो गधा-शरीर मैं लगेगा। पुराण में कथा आती हैः व्यास जी रास्ते पर चल रहे थे, देखा एक मकोड़ा बहुत तेज़ी से सड़क पार कर रहा है! उन्होंने पूछा 'इतनी क्या जल्दी है?' वह बोला 'अभी रुको, सड़क से नीचे उतर कर बताऊँगा।' नीचे उतरने के बाद उसने कहा 'मेरे कान बहुत सूक्ष्म हैं अतः मुझे मालूम चल गया कि इस रास्ते पर अभी एक रथ आ रहा है। दीखेगा तो पास आने पर लेकिन सड़क पर घरघराहट दूर से सुनाई देती है। अतः उसके आने से पहले सड़क से उतरने के लिये जल्दी कर रहा था।' व्यास जी समझ गये कि जैसे हमें अपने देह

नैव स्त्री न पुमान् एष नैव चाऽयं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स कथ्यते।।९०।।

से प्रेम है वैसे सबको अपने-अपने शरीर प्रिय ही हैं। हमें लगता है कि बेचारे चींटे का देह किस काम का! पर ऐसे ही हाथी हमारे बारे में सोचता होगा! अंतःकरण जिस स्थूल शरीर में जाता है उसे पूरा घेर लेता है जिससे पूरे शरीर में चेतना रहती है। अंतःकरण संकोच-विकासशील वस्तु है जैसे प्रकाश : प्रकाश थोड़ी जगह हो तो उतने में फैलेगा, ज़्यादा हो तो उतने में भी फैल जायेगा, ऐसे अंतःकरण छोटे शरीर में भी भर जाता है, बड़े शरीर में भी भर जाता है। अतएव अंतःकरण उपाधि वाला जीव भी संकोच-विकास वाला कह दिया जाता है। जैसे बर्तन के आकार से उसमें भरा आकाश छोटा-बड़ा कह देते हैं वैसे उपाधि के संकोच से जीव का संकोच कह देते हैं, ऐसे ही विकास भी कह देते हैं। जैन लोग तो आत्मा को ही बढ़ने-घटने वाला मानते हैं पर वैसा हो तो आत्मा नश्वर हो जायेगा। अतः आत्मा में तो घटा-बढ़ी की औपाधिक प्रतीति ही है जैसे आकाश में। जैसे स्थूल शरीर के अनुरूप विस्तार हो जाता है ऐसे ही सूक्ष्म शरीर की योग्यताओं में भी अनुरूप परिवर्तन हो जाता है जैसे बिल्ली दिन-रात दोनों समय देख सकती है, उल्लू केवल रात में देख सकता है, कुत्ते वह आवाज़ सुन सकते हैं जो मनुष्य नहीं सुन पाता, वे सूँघकर पहचान भी सकते हैं, देवता आदि हम लोगों से बहुत ज़्यादा विचार कर पाते हैं इत्यादि। सभी शरीरों में अहंकार बना रहता है, मैं-के अनुभव में फ़र्क़ नहीं आता।।८८-८९।।

पूर्व मंत्र में जो 'आराग्रमात्रः' कहा उसी को उदाहरणान्तर से कहकर नौवें मन्त्र में बताया कि इतना छोटा भी जीव तत्त्वज्ञान से अनन्त होने में समर्थ है। दसवें में कहा कि जीव स्त्री-पुरुष आदि नहीं, शरीरों के अनुरूप उसमें वैसा व्यवहार होता है। ग्यारहवें में शरीर ग्रहण करने के प्रति क्या कारण बनते हैं यह समझाया है। बारहवें में स्पष्ट किया कि स्थूल-सूक्ष्म जो बहुत-से रूप जीव धारण करता है इसे संभव बनाने वाला अर्थात् कर्मफलदाता ईश्वर ही है। तेरहवें में कहा कि उसी विश्वस्रष्टा के ज्ञान से सब पाशों से छूटा जा सकता है और चौदहवें में उसे भाव अर्थात् प्रेम से ग्राह्य बताया और निर्णय दिया कि उसी को जानने से शरीर-बन्धन समाप्त होता है। इस तरह पंचम अध्याय पूरा होता है। इस प्रसंग को एक ही श्लोक से सूचित करते हैं **यह जीव स्त्री, पुरुष या नपुंसक नहीं है, जो-जो शरीर ग्रहण करता है उस-उस के द्वारा वह कहा जाता है।।९०।।** स्त्री-पुरुष आदि भेद केवल स्थूल शरीर के हैं।

देवमहिमा

अविद्याऽधीनजीवेशावुक्तौ यत्तत्त्वमेतयोः।
तद्विद्यासिद्धये कालस्वभावादीन् विचारयेत्।।६१।।

सूक्ष्म शरीर या अहंकार में ही ये भेद नहीं तो आत्मा में इनकी संभावना ही कहाँ! जिस शरीर को जीव ग्रहण करता है, जिसमें तादात्म्य अभिमान करता है, उस शरीर के लिंग को स्वयं में आरोपित कर लेता है तो खुद को स्त्री या पुरुष समझता है और दूसरे भी शरीर को देखकर उसे स्त्री, पुरुष या नपुंसक कहते हैं, तदनुरूप सारा व्यवहार करते हैं। केवल पुत्रोत्पादकत्वादि से स्त्रीत्वादि ही विवक्षित नहीं, स्वातन्त्र्यबोध पुंस्त्व, पारतन्त्र्यबोध स्त्रीत्व और कभी स्वातन्त्र्यका व कभी पारतन्त्र्य का बोध नपुंसकत्व है। शास्त्रसंस्कारों वाले खुद को कर्म करने में स्वतंत्र अर्थात् पुरुष समझते हैं और जिनमें कभी शास्त्रसंस्कार उद्बुद्ध हों व कभी विपरीत संस्कार उद्बुद्ध हों वे कभी कुछ, कभी कुछ और समझने वाले नपुंसक हैं। हर हालत में, यहाँ यह बता रहे हैं कि आत्मा इनमें से कुछ नहीं है, ये उपाधियों की विशेषताएँ हैं, उपाधिके अध्यास से इस तरह के व्यवहार आत्मा से किये जाते हैं। ग्यारहवें से चौदहवें मंत्र तक का विषय ईश्वर के प्रसंग का है अतः जीव के प्रसंग में उसकी चर्चा अनुभूतिप्रकाश में छोड़ दी है। उपनिषत् के पाँचवें अध्याय की यहाँ तक व्याख्या हुई।।६०।।

छठे अध्याय में उपसंहाररूप से पूर्वोक्त बातों का संग्रह करते हुए साधना-पक्ष को स्पष्ट किया गया है। ग्रंथारंभ में जगत्के मूल कारण क्या-क्या नहीं हो सकते यह समझाया था। अब उन्हीं का स्मरण दिलाते हुए बताते हैं कि महादेव ही एकमात्र कारण हैं; मंत्र है 'स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः। देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।।' अर्थात् हर तरह से जो मोह में पड़े हैं वे स्वभाव या काल को जगत्कारण कहते हैं जब कि जिससे यह ब्रह्म-प्रवर्तित संसारचक्र चल रहा है वह देव की महिमा ही है। इसे समझाते हैं **अविद्या के अधीन जीव और ईश बताये गये। इन दोनों का जो तत्त्व है उसके ज्ञान की सिद्धि (प्राप्ति) के लिये काल स्वभाव आदि का विचार करना चाहिये।।६१।।** अविद्या रहते ही जीव-ईश्वर का व्यवहार है, अविद्या मिटते ही इनका भेद समाप्त हो जाता है अतः इन्हें अविद्या के अधीन बताया। अविद्यारूप उपाधि से ही चित्तत्त्व में जीवरूपता और ईश्वररूपता प्रतीत होती है। इनकी वास्तविकता वह है जो अविद्या से रहित सत्य है, उसे समझने पर ही मोक्ष होता है। उस सच्चिदानन्द की व्यापकता के बोध के लिये

मूलकारणतैतेषां न युक्ता जनिमत्त्वतः।
देवस्य महिमा योऽसौ मायाख्यस्तस्य युज्यते।।६२।।

उसे जगत् के कारणरूप से समझना पड़ता है लेकिन मोहवश लोग जगत् के कारण के बारे में ही भ्रम में पड़कर काल स्वभाव आदि को जगत्कारण मान बैठते हैं, इसलिये काल आदि का विचार करने को कहा। ग्रंथ के प्रारंभ में इनका विस्तार आ चुका है। इनमें से कोई भी संसार का मूल कारण नहीं है यह समझकर परमेश्वर ही सबका मूल है यह पता चलता है। उससे अन्य अवान्तर कारण तो हो सकते हैं पर मूल कारण नहीं। स्वयं कार्य होते हुए अन्य के प्रति कारणरूप से प्रतीत होने वाले को अवान्तर कारण कहते हैं और जो स्वयं किसी का कार्य नहीं वह स्वतंत्र वस्तु ही उसके कार्यों के रूप में प्रतीत होने वालों का कारण कही जाती है। काल आदि समेत सारे जगत् का मूल कारण चेतन परमात्मा ही है। अवांतर कारण बदल सकते हैं, मूल कारण वही रहता है। मूल कारण ही व्यापक सच्चिदानंद है जो जीव-ईश्वर का तत्त्व है।।६१।।

काल आदि के बारे में क्या विचार करना चाहिये यह बताते हैं **क्योंकि ये काल आदि जन्म वाले हैं इसलिये यह संगत नहीं कि ये मूल कारण हों। देव की जो यह माया नामक महिमा है वह मूल कारण हो यह बात विचारसह है।।६२।।** रोटी का मूल कारण गेहूँ है; आटा, लोई आदि अवान्तर कारण हैं। ऐसे ही काल आदि यद्यपि व्यवहार में कारण दीखते हैं तथापि हैं अवान्तर कारण ही, मूल तो परमात्मा की महिमा ही है। काल आदि सब जगत् होने पर ही उत्पन्न होते हैं अतः स्पष्ट है कि मूल नहीं हो सकते। मूल क्या है? देवकी, स्वप्रकाश सच्चिदानन्द की महिमा! महिमा का नाम है माया। अज्ञान क्योंकि मिथ्या विलास उत्पन्न कर देता है इसलिये माया कहा जाता है। अज्ञात आत्मा से अतिरिक्त कोई अज्ञान नहीं है अतः माया को मूल कारण कहने का मतलब यह नहीं कि परमात्मा मूल कारण न हो! इतना ही अर्थ है कि अज्ञात रहकर परमात्मा मूल कारण है। इसे युक्त या विचारसह कहा क्योंकि ब्रह्मसूत्रों आदि में हर तरह से परीक्षाकर इस बात को स्थापित किया गया है और स्वप्न के अनुभव से इसे समझना भी संभव हो जाता है।।६२।।

दूसरे मन्त्र में बताया है कि यह सब परमेश्वर से आवृत है। उसका भाव बताते हैं **सभी कुछ उस परमेश्वर की महिमा से ढका हुआ है। वह परमेश्वर ही काल को भी (गिनता या) उत्पन्न करता है। क्योंकि यह काल भूत-भविष्य**

तन्महिम्नाऽऽवृतं सर्वं कालं च कलयत्यसौ।
भूतभव्यादिरूपेण भिन्नोऽसौ जायते ततः।।६३।।
जलाग्न्यादिसमुत्पत्तौ स्वभावः सह जायते।
यदृच्छा पञ्चभूतानि प्रधानं चेति मायिकम्।।६४।।

आदि रूप से बँटा हुआ है इसलिये निश्चित है कि यह ईश्वर से पैदा होता है।।६३।। महिमा का नाम पूर्व श्लोक में माया बताया था, उससे सब आवृत है, परिच्छिन्न है, घिरा है। कारण से कार्य परिच्छिन्न होता ही है जैसे घड़े सिकोरे आदि को मिट्टी परिच्छिन्न करती है। कारण व्यापक और कार्य व्याप्य होता है। क्योंकि काल आदि सब उस देव की महिमा से आवृत हैं इसलिये वे कोई भी सारे संसार का मूल कारण नहीं हो सकते। प्रसिद्ध है कि सभी कुछ किसी-न-किसी काल में उत्पन्न होता है किंतु विचार करें तो पता चलता है कि काल स्वयं जन्म वाला पदार्थ है। स्वयं बादरायणाचार्य ने सूत्र बताया है 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' (२.३.७) अर्थात् जो कुछ किसी से भी विभक्त है, अलग है, वह विकार अर्थात् कार्य ही है। उसकी व्याख्या में आचार्य शंकर ने कहा है 'एतेन दिक्कालमनःपरमाण्वादीनां कार्यत्वं व्याख्यातम्'। अतः यहाँ काल के भूत-भविष्यादि विभागों को उसकी जन्यता को सिद्ध करने वाला बताया। वैशेषिक एक अखण्ड काल की भी कल्पना करते हैं पर वह अप्रामाणिक है और युक्तिविरुद्ध भी, यह पूर्वाचार्यों ने काल-वस्तु की परीक्षा में स्पष्ट किया है। यदि कोई पारिभाषिक वैसा काल मानना ही हो तो वेदान्त मत में अविद्या को ही वह काल कह सकते हैं जैसे मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु में लिखा है 'कालस्तु अविद्यैव, तस्या एव सर्वाधारत्वाद् इति' (श्लो. ८)। न्यायरत्नावली में वैशेषिक-संमत महाकाल को प्रमाणहीन कहा है। भूत-भविष्य आदि भेद वाला जो काल है वह परमेश्वर से ही उत्पन्न है। चेतन ही जान सकता है कि यह बीत गया और यह अभी आना बाकी है। अतः 'कलयति' कहा, परमेश्वर ही यह गणना कर सकता है कि क्या बीता और क्या बाकी है, उसकी गणना पर ही काल की स्थिति निर्भर है। इसलिये काल भी अवान्तर कारण ही सिद्ध होता है।।६३।।

उपनिषत्प्रारंभ में काल से अतिरिक्त स्वभाव आदि का भी उल्लेख था। वे भी सब विचारणीय हैं अतः उनका उल्लेख भी कर देते हैं **जल अग्नि आदि की उत्पत्ति होने पर स्वभाव साथ ही पैदा होता है। यदृच्छा, पाँचों महाभूत और प्रधान- ये सभी माया के ही कार्य हैं।।६४।।** जल आदि ही जन्य हैं तो उनके स्वभाव जन्य

मूलकारणताऽस्त्येव मायाया जन्यभावतः।।
अवान्तरं कारणत्वं कालादीनां भवत्विदम्।।६५।।

हैं ही अतः वे मूल कारण होना संभव नहीं। ऐसे ही यदृच्छा भी मूल कारण नहीं। जिसका कोई हेतु समझ न आये उसके हेतु को यदृच्छा कहते हैं जिसे अंग्रेज़ी में 'चांस' बोलते हैं। किंतु यदृच्छा अकेली किसी का कारण नहीं बनती, अन्य सारी सामग्री होने पर उनका अचानक मेल हो जाये तो ही उसे यदृच्छा का प्रभाव कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि वह मूल नहीं क्योंकि मूल तो सबके प्रति कारण होगा। किं च यदृच्छा स्वयं मायिक है, माया का कार्य है अत एव न समझ पाने तक जिसे यदृच्छा कहते हैं, कारण समझ आते ही वह यदृच्छा समाप्त हो जाती है। वस्तुतस्तु 'पता नहीं क्यों' इसी को यदृच्छा कह सकते हैं और यह माया का ही नामान्तर है अतः कार्यविशेष के परिप्रेक्ष्य में माया को यदृच्छा समझा जाने से वह मायिक है इसमें संदेह नहीं। महाभूत तो श्रुति ने जन्य कहे ही हैं अतः उनका मूल कारण होना असंभव है। प्रधान सांख्यवादियों द्वारा माना गया एक तत्त्व है जो सत्त्वादि गुणों का साम्यावस्थारूप प्रकृति है। वे उसी को जगत् का मूलकारण कहते हैं। उनकी मान्यता में असंख्य ग़लतियाँ हैं यह ब्रह्मसूत्रों के सम्पूर्ण प्रथम अध्याय में तथा द्वितीय अध्याय में कई जगह स्पष्ट किया गया है। सत्त्वादि गुण पदार्थों में ही समझ आते हैं अतः जब पदार्थ जन्य हैं तब गुण भी जन्य ही हो सकते हैं अतः वे मायाकार्य हैं और जब गुण ही मायाकार्य हैं तब उनकी साम्यावस्थारूप प्रधान मायिक हैं इसमें कहना ही क्या! किसमें क्या गुण है यह समझना भी दुष्कर है : एक ही भोजन किसी में सत्त्व का हेतु बनता है किसी में तम का या एक ही व्यक्ति में कभी सत्त्व का तो कभी तम का। इसी तरह मनुष्य एक ही समय में जान भी रहा है और दुःखी भी है अर्थात् सत्त्व और रज दोनों प्रकट हैं तो उसे या उसके मन को सात्त्विक कहें या राजस, यह समझ नहीं आता। यों कहना-समझना सम्भव न होने से गुण मायिक ही हैं। मायिक इंद्रजाल आदि ऐसे ही दुर्बोध होते हैं। गुण मायिक हैं तो प्रधान मायिक है ही। इस प्रकार काल, स्वभाव आदि सभी मायिक हैं, इनमें से कोई नहीं जो जगत् का मूल कारण माना जा सके।।६४।।

विचार का निगमन करते हैं **क्योंकि माया का जन्म नहीं होता इसलिये उसी में मूलकारणता है। काल आदि में लोकप्रसिद्ध कारणता को अवान्तर कारणता के रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है।।६५।।** माया ब्रह्म की शक्ति

एकं प्रधानं द्वे पुण्यपापे सत्त्वादिकास्त्रयः।
अष्टौ प्रकृतयो भूमिमुख्यास्तैर्जायते वपुः।।९६।।

है, ब्रह्म से अलग उसका उल्लेख तो हो सकता है पर ब्रह्म से अलग उसकी सत्ता नहीं है। 'माया कारण है' कहने का मतलब ही है कि ब्रह्म अपनी मायाशक्ति से जगत् रचता है। लोक में कारणरूप से जो कुछ भी प्रतीत होता है वह स्वयं जन्मवाला होने से अवांतर कारण ही है, मूल कारण नहीं। रोगों के अवांतर कारण धातुओं का कोप हो सकता है, कीटाणु हो सकते हैं पर मूल कारण शरीर है! कोई भी रोग शरीर से अलग होकर नहीं रहता। श्रुति ब्रह्म को मूल कारण कहती है। कोई भी वादी अवान्तर कारण किसे माने इससे श्रुति का विरोध नहीं, मूल कारण अज्ञात ब्रह्म से अन्य कोई नहीं यही श्रुति का कहना है। यदि उससे अन्य किसी को मूल कारण माना जाये तब श्रुति का विरोध होता है। अवांतर कारण अनेक होते हैं अतः उनके बारे में मतभेद स्वाभाविक है, मूल कारण एक है, उसके बारे में अनेक मत नहीं हो सकते। बाकी सब के कारण के बारे में पूछें तो किसी सीमा के बाद सबका एक ही जवाब होता है पता नहीं। यही अज्ञान है। इसके भी कारण को पूछें तो यही जवाब है पता नहीं! अतः 'पता नहीं' या अज्ञान से आगे कोई हेतु न होने से वही मूल कारण है यह सहज में समझ आ जाता है। आत्मपुराण में यह और स्पष्ट किया गया है।।९५।।

तीसरे मंत्र में संख्योल्लेख से बताया है कि मोक्ष होने पर किस-किस से छूटता है। उन्हीं को शरीर के हेतुरूप में बताते हैं, क्योंकि हेतुओं से छूटने पर कार्यभूत शरीर से छूटना अर्थसिद्ध है। **एक अर्थात् प्रधान, दो अर्थात् पुण्य और पाप, तीन अर्थात् सत्त्व आदि गुण, आठ अर्थात् भूमि आदि आठ प्रकृतियाँ; इनसे शरीर उत्पन्न होता है।।९६।।** ये अवान्तर कारण बताये गये हैं। प्रधान अर्थात् प्रकृति जो गुणों की साम्यावस्था कही जाती है। उसे सभी के प्रति कारण के रूप में सांख्यादिवादी मानते हैं। पुण्य-पाप शरीर के प्रति निमित्त बनते हैं, उनके अनुरूप ही शरीर का निर्माण होता है, पुण्य के फलस्वरूप पुण्य योनियाँ मिलती हैं, पाप के फलस्वरूप पाप योनियाँ मिलती हैं। कर्मकाण्डी पुण्य-पाप को ही मुख्य कारण मानते हैं। सत्त्व, रज और तमइन तीनों गुणों से विभिन्न कार्य बनते हैं अतः ये भी हेतु हैं। ब्राह्मण का कारण सत्त्वगुण, क्षत्रिय का सत्त्वोपसर्जन रज अर्थात् किंचित् सत्त्व और अधिक रजइनका मिश्रण, वैश्य का तमउपसर्जन रज और शूद्र का रजउपसर्जन तम कारण है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। भूमि आदि आठ प्रकृतियाँ गीता में (७.४) प्रसिद्ध हैं।

यो मायावी स सर्वेषामादिः कालत्रयात्परः।
विश्वरूपं स्वचित्तस्थं तमुपास्य प्रसादयेत्।।६७।।

पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ भगवान् ने अपनी प्रकृतियाँ कही हैं। ये सभी शरीर के प्रति कारण हैं। विभिन्न दृष्टियों से सभी ठीक हैं पर हैं ये सब अवान्तर कारण, मूलकारण तो अज्ञात परमात्मा ही है।।६६।।

चौथे मंत्र में बताया कि जो साधक सारे कर्म परमेश्वर को अर्पण कर देता है उसके कर्म नष्ट होकर वह परमेश्वर को पा जाता है। पाँचवें मंत्र में परमेश्वर का वर्णन है 'आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः। तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्।।' जिसे मूल कारण बताया उसी का इस मंत्रानुसार वर्णन करते हैं **जो माया का अधिपति है वही सब का प्रथम कारण है, काल के तीनों भेदों से असम्बद्ध है, अपने चित्त में स्थित सर्वरूप उस ईश्वर को उपासना करके प्रसन्न करना चाहिये।।६७।।** माया उपाधिवाला, उससे अवच्छिन्न चेतन ही माया का अधिपति परमेश्वर है। वही मूल कारण है, बाकी सब अवान्तर कारण ही हो सकते हैं। कालका भी वही जनक है अतः स्वयं काल से परे है, अछूता है। वह नित्य है अतः काल के तीनों भेद उसे घेर नहीं पाते। 'था' मतलब अब नहीं है, 'होगा' भी मतलब अब नहीं है, अतः जो सनातन है उसे न 'था' कह सकते हैं न 'होगा' कह सकते हैं। इसलिये त्रिकाल से वह अतीत रहता है। वह विश्वरूप, सर्वरूप है, सारा ब्रह्माण्ड उसी का रूप है। वही हमारे चित्त में मन के साक्षी के रूप में स्थित है। अहंकार का साक्षी चेतन ही माया शक्ति द्वारा सारे ब्रह्माण्ड का रूप धारण किये है। इसलिये जगद्-हेतु मायावी अपने चित्त में उपस्थित है। बार-बार विचारपूर्वक यही निश्चय करना है कि जो मेरे चित्त के साक्षीरूप से स्थित है उसी ने अपनी माया शक्ति से सारी सृष्टि पैदा की है, वही इसे संचालित कर रहा है, उसी में यह लीन होगी। इस निश्चय-रूप उपासना से वह परमेश्वर पूर्ण प्रसन्न होता है। मुमुक्षुका कर्तव्य उसे इस उपासना से प्रसन्न करना है।।६७।।

छठा मंत्र भी परमेश्वर की महत्ता बताता है 'स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्। धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थम् अमृतं विश्वधाम।।' उक्त परमेश्वर को जानकर ही विश्व के धाम अर्थात् अधिष्ठान की प्राप्ति हो सकती है। इसे बताते हैं **काल आदि शाखाओं से युक्त संसाररूप वृक्ष से यह ईश्वर परे ही है। धर्म का वह प्रवर्तक है, पाप को दूर करता है। अपने चित्त में स्थित**

संसारवृक्षात् कालादिशाखायुक्तात् परो ह्ययम्।
धर्मावहं पापनुदं स्वचित्तस्थं तमीक्ष्यताम्।।६८।।
विष्ण्वादीनामीश्वराणां परमं तं महेश्वरम्।
देवानां परमं देवं विदामोऽस्य प्रसादतः।।६६।।

उसे अवश्य जान लेना चाहिये।।६८।। काल, स्वभाव, नियति आदि जो बताये थे वे सब संसार-वृक्ष की शाखाएँ हैं। शाखाओं की तरह कालादि पृथक्-पृथक् दीखते हैं पर हैं संसार-वृक्ष से एक ही। पृथक्ता देखकर लोग इनके प्राधान्य के बारे में आग्रही हो जाते हैं, यदि वृक्षरूप से इनका अभेद देखें तो विवाद को स्थान न रहे। स्वयं परेश्वर तो इन सब शाखाओं वाले इस वृक्ष से परे ही है, उत्कृष्ट ही है। तथा वह धर्मावह, धर्म का ही प्रवर्तक है क्योंकि धर्मद्वारा ही मनुष्य उसे पाने के योग्य होता है। पाप का वह विरोधी है, नाशक है। अतः अधर्म के नाश और धर्म की रक्षा के लिये ही उसका अवतार भी होता रहता है। सर्वत्र उपस्थित होने पर भी उसका स्पष्ट, अपरोक्ष ज्ञान अपने चित्त में उसे देखने से होता है। सूर्य की रोशनी सर्वत्र समानरूप से फैली होने पर भी सूर्य का रूप देखने के लिये स्थिर साफ काँच में उसका प्रतिबिम्ब ही देखना पड़ता है। ऐसे ही पापरहित एकाग्र चित्त में ही परमेश्वर की प्रतीति होती है अतः उसे चित्त में देखने को कहा जाता है। वहीं उसका दर्शन मोक्ष प्रदान करता है।।६८।।

सातवें मंत्र में उसे सर्वोत्तम, सबसे परे बताया है, उसका अर्थ करते हैं **विष्णु आदि ईश्वरों के उस परम महान् ईश्वर को, देवताओं के परम देवों को उसी की कृपा से हम जानते हैं।।६६।।** अत्यन्त सामर्थ्यवान् विष्णु आदि भी ईश्वर कहलाते हैं, जैसे राजा आदि भी लोक में ईश्वर कह दिये जाते हैं। किन्तु ऐसे सब ईश्वरों का भी शासक वह परमेश्वर है, उसी के बल पर इन सबकी ईश्वरता है। देवताओं से भी वह परे है। इन्द्रादि देवता प्रसिद्ध हैं, उनके द्वारा भी परमेश्वर ही पूज्य है, उसी के द्वारा नियुक्त हुए सब देवता कार्यरत हैं। उसी की महिमा से देवता भी महिमा वाले हैं जैसा केनोपनिषत् में कहा है 'ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्'। देव से इंद्रियाँ भी समझ लेनी चाहिये। इंद्रियों से परमेश्वर परे ही हैं। उस परमेश्वर को हम उसी की कृपा से जान सकते हैं। वही स्वयं को हमारे सामने निरावृत करे तभी उसे जानेंगे, हम किसी प्रमाण का उसे विषय बनाकर जान लें यह संभव नहीं। उपनिषदों में तत्त्वमस्यादि वाक्यों द्वारा वही बताता है कि वह

न तस्य वपुरक्षं च विद्यते तत्समोऽपि न।
पराऽस्य शक्तिर्विविधा बलज्ञानक्रियादिका।।१००।।

कौन है, कैसा है। पूर्वोक्त प्रकार से उसे प्रसन्न कर उसकी कृपा से उसे जान लें यही हमारा पुरुषार्थ है।।६६।।

आठवें मंत्र में पुनः ईश्वर का स्वरूप जैसा बताया है वैसा व्यक्त करते हैं **न उस ईश्वर का शरीर है न इन्द्रियाँ, उसके समान भी कोई नहीं है। बल, ज्ञान, क्रिया इत्यादि उसकी विविध श्रेष्ठ शक्ति है।।१००।।** श्रुति में कहा कि उसका 'कार्य' नहीं, उसी का अर्थ किया कि शरीर नहीं और श्रुति के 'करण' का अर्थ किया कि उसकी इन्द्रियाँ नहीं हैं। उसके लिये कुछ साध्य नहीं होने से उसे किसी साधन की ज़रूरत ही नहीं है। शरीर, बुद्धि आदि कल्पनाओं में उलझने से परमेश्वर समझ नहीं आ सकता। प्रारंभ में भावना बनाने के लिये भले ही रूप व नाम का सहारा चाहिये और इसीलिये ईश्वर ने इतने नाम-रूप धारण किये भी हैं लेकिन उसकी वास्तविकता समझने के लिये नाम-रूप से परे दृष्टि ले जानी पड़ेगी। ईश्वर को समझ सकें इसके लिये सर्वथा अनुरूप कोई उदाहरण भी नहीं क्योंकि उसके जैसा कोई दूसरा है ही नहीं। उसकी परम शक्ति बहुत तरह की बतायी गयी है। बल अर्थात् इच्छा शक्ति जिससे वह सबको वश में रखता है। अन्तर्यामी और बहिर्यामी दोनों तरह से वह शासन करता है। जड-चेतन सभी पर उसका शासन है। चेतन को लगता है कि मैं अपनी इच्छा से प्रवृत्ति कर रहा हूँ लेकिन वास्तव में जब ईश्वर हमें पुण्य का फल देना चाहता है तो वैसी प्रवृत्ति करा लेता है जो सफल हो और पाप का फल देना चाहता है तो वैसी प्रवृत्ति कराता है जो विफल रहे। शासन उसी का है, हमें मालूम नहीं पड़ता। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा कुछ स्वातन्त्र्य नहीं! एक स्वातन्त्र्य तो है कि हम अपनी रुचि क्या बनायें, क्योंकि रुचि के अनुसार ही सुख-दुःख मिलेगा; सुख-दुःख मिलना बहिर्यामी के अधीन, उसके लिये प्रयास की प्रेरणा अन्तर्यामी के अधीन, लेकिन सुख किस विषय से लें इसके निर्धारण में हम स्वतन्त्र हैं। और दूसरी स्वतन्त्रता है कि हम राग-द्वेष के वश में न आयें। ज्ञान भी परमेश्वर की शक्ति है। ईश्वर ही हमारे अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होता है तो हमें कुछ भी ज्ञान हो पाता है। लगता तो है कि हम ही जानते हैं जब कि सत्य है कि परमेश्वर हमारे चित्त में उपस्थित हुआ इसलिये हम जानते हैं। क्रिया भी परमेश्वर की ही प्राणशक्ति है। सभी क्रिया ईश्वर की शक्ति से ही हो रही है, उसमें हमारापन हमारा अभिमान ही है। ये तीन

सोऽधिष्ठानतया सर्वकारणं करणाधिपाः।
ये जीवा अधिपस्तेषां नान्योऽस्याधिपतिर्भवेत्।।१०१।।

प्रधान हैं, उसकी शक्ति अनंत है, जहाँ कहीं जो कुछ हो रहा है उसी की शक्ति का प्रभाव है।।१००।।

नौवें मंत्र में बताया है कि ईश्वर पर किसी का शासन नहीं, वही सबका शासक है। इसे कहते हैं **अधिष्ठानरूप से वही सबका कारण है। करणों के (इन्द्रियों के) मालिक जो जीव हैं, उनका वह अधिपति है, उस ईश्वर का कोई अन्य अधिपति नहीं है।।१०१।।** (निर्णयसागर संस्करण में द्वितीय पाद का अंतिम शब्द 'कारणाधिपः' है जो श्लोकार्थ की दृष्टि से ग़लत नहीं पर व्याख्येय मंत्र के अनुरूप मुत्तुशास्त्री का पाठ यहाँ स्वीकारा गया है।) ईश्वर जगत् का अधिष्ठान है अर्थात् ईश्वर का अज्ञान रहते जगत् के बंधन की प्रतीति है, उसका ज्ञान होने से इसकी निवृत्ति है। अज्ञानदशा में ईश्वर की शक्तियाँ बंधन का अनुभव कराती हैं, परिच्छिन्नता प्रतीत कराती हैं लेकिन ईश्वर की वास्तविकता स्पष्ट होते ही बंधन का, परिच्छिन्नता का कोई कारण ही नहीं रह जाता। अज्ञान से ही परमेश्वर में उपादानता व निमित्तता है, स्वरूप से नहीं। वार्तिककार ने भी बताया है कि अधिष्ठानतामात्र से ब्रह्म कारण कहलाता है। उस सर्वेश्वर के आधिपत्य में ही जीव भी व्यवहार कर रहे हैं। जीव करणों केइंद्रियों व मन केअधिप हैं अर्थात् उनमें अभिमानी हैं, उनकी चेष्टा आदि को स्वयं में मानते हैं। वास्तव में वे इंद्रियादि के मालिक नहीं, इंद्रियादि जीवों के निर्देश में चलती हों ऐसी बात नहीं, पर जीव अभिमान यही रखते हैं कि वे करणों के मालिक हैं। इसीलिये जीव का परिचय यही है देखने वाला, सुनने वाला, चलने वाला, सोचने वाला इत्यादि। ऐसे जीवों का वास्तविक अधिपति परमेश्वर है। वह दृश्य का ही नहीं, द्रष्टा जगत् का भी अध्यक्ष और पालक है। आगे उसका कोई मालिक नहीं, अध्यक्ष नहीं, पालयिता नहीं। मालिकों की वह अंतिम सीमा है। यहाँ तक ईश्वर का वर्णन किया।।१०१।।

दसवें मन्त्र का उक्त परमेश्वर की प्रार्थना में विनियोग बताते हैं **फिर 'यस्तन्तुनाभः' इत्यादि मंत्र से प्रार्थना करनी चाहिये।** मन्त्र में 'दधातु' पद इस बात का सूचक है कि यहाँ प्रार्थना की गयी है। मंत्र है 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधातु ब्रह्माप्ययम्।।' (शंकरानंद व नारायण का 'दधातु' पाठ है, भाष्य का 'दधात्' पाठ है।) तन्तुनाभ नाम है मकड़ी

अद्वैतम्

'यस्तन्तुनाभ' इत्यादिमन्त्रेण प्रार्थयेत्ततः।
एको देवः सर्वदेहे गूढो व्यापी च सर्वतः।।१०२।।
सर्वप्राण्यन्तरात्माऽसावध्यक्षः सर्वकर्मणाम्।
सर्वभूताश्रयः साक्षी निर्गुणः शुद्धचिद्वपुः।।१०३।।

का। परमात्मा मकड़ी की तरह है : मकड़ी अपने चारों ओर जाला बुन लेती है; इसी तरह अपनी शक्ति से परमात्मा नाम-रूप-कर्म का जाल बुनकर उसके बीच छिपा रहता है। नामादि से वह खुद को ढाँक लेता है। अतः लगता है 'मैं देवदत्त नाम वाला, मानव रूप वाला, यज्ञादि कर्म वाला हूँ'। वही देव यह जाल बुनकर उससे घिरा हुआ सब जड-चेतन रूपों में अवस्थित है। मकड़ी देखो तो पता नहीं लगता कि उसमें किस प्रकार के कितने जाले हैं क्योंकि बनने से पूर्व वे उसमें अव्यक्त हैं। ऐसे ही परमेश्वर में संसार-विस्तार अव्यक्त रहता है और जब प्रकट होता है तब उसे आवृत कर देता है। यह खेल 'स्वभावतः' अर्थात् स्वतन्त्रता से परमेश्वर चला रहा है, न उस पर कोई बंधन है, न उसका कोई अपना प्रयोजन है। उसी से मंत्र में प्रार्थना है कि वह हमें अपने स्वरूप में लीन कर ले, उससे हममें कोई भेद न रहे।

अब ग्यारहवाँ मंत्र समझाते हैं : मन्त्र है 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।' **सभी शरीरों में एक ही देव छिपा है। वही सब तरफ व्यापक है। सब प्राणियों का प्रत्यक्तम आत्मा वही है। सभी के पुण्य-पापादि कर्मों को वह जानता है। सब प्राणियों को सत्ता-स्फूर्ति देने वाला उनका आश्रय है, सबका साक्षी, सब गुणों से रहित और शुद्ध चेतनस्वरूप है।।१०२-३।।** वह परमेश्वर केवल किसी एक शरीर में ही नहीं वरन् जितने भी शरीर हैं सब में हैं, समष्टि शरीर में भी तथा व्यष्टि शरीरों में भी। किंतु शरीरों में रहने पर भी हर तरफ व्यापक भी है! जैसे मकड़ी ही जाले के रूप में भी है और जाले से घिरी हुई भी है, वैसे ही विस्तृत संसार और उसमें गूढ एक ही परमेश्वर है। जिस प्रकार मकड़ी जब चाहती है तब जाल अपने में लीन कर लेती है उसी प्रकार परमेश्वर प्रलय के समय सारे संसार को अपने में लीन कर लेता है। ऐसा परमेश्वर जड-चेतन जगत् में ऐसे नहीं छिपा जैसे घड़े में चावल छिपता है! घड़े व चावल की अपनी-अपनी सत्ता है जब कि संसार की अपनी कोई सत्ता है नहीं। अतः जैसे अंगूठी में सोना छिप जाता है वैसे जगत् में परमेश्वर छिपा है। अंगूठी

फलम्

ये तु पश्यन्ति तं धीरास्तेषां स्याच्छाश्वतं सुखम्।
नित्यं तं चेतनं बुद्ध्वा प्राप्नुयाच्छान्तिमक्षयाम्।।१०४।।

सोने से अलग कुछ नहीं पर अकस्मात् किसी अंगूठी पहने व्यक्ति से कहो 'ज़रा सोना तो देना', तो वह कहेगा, 'मेरे पास सोना कहाँ है!' बताने पर समझ जाता है लेकिन साधारण दृष्टि से नहीं दीखता कि सोना है। ऐसे ही संसार के कण-कण क्षण-क्षण में परमात्मा है पर हमें अंगूठी की तरह संसार तो दीखता है, परमात्मा के बारे में हम पूछते हैं कि कहाँ है! व्यापक कहने पर प्रतीत हो सकता है कि आकाश जैसी कोई जड चीज़ होगी या कोई परोक्ष वस्तु होगी, इसलिये उसे सब प्राणियों का अन्तरात्मा भी कहा। परमेश्वर अनात्मा नहीं, आत्मा है। फिर भी वह सुख-दुःख का भोग करने वाला नहीं वरन् सब कर्मों का और उनके फलों का अध्यक्ष अर्थात् साक्षी ही है। 'कर्माध्यक्ष' से कर्मसाक्षी और 'साक्षी' से फलसाक्षी को समझ लेना चाहिये। जैसे किसी घटना के साक्षी का उस घटना के प्रति दायित्व नहीं होता वैसे साक्षी का कर्म-फल से बंधन नहीं होता। अंतःकरण में अध्यास वाला तो कर्त्ता-भोक्ता है पर वहीं उपस्थित साक्षी न कर्त्ता है न भोक्ता है। वह सबका एकमात्र आश्रय या सहारा है। सभी को सत्ता और स्फुरत्ता (ज्ञान) परमात्मा से ही मिलती है। अध्यक्ष से अतिरिक्त साक्षी कहकर सूचित किया कि कर्मों व भोगों का ही नहीं, कर्ता-भोक्ता अर्थात् जीव का भी वह साक्षी है। कर्मज्ञ होने से वही कर्मफलों का प्रदाता है। स्वरूप से वह सब गुणों से रहित केवल चिद्रूप है। जीव उपाधिवाला चेतन है, परमात्मा बिना किसी उपाधि के चेतन है। हमें अपना अनुभव उपाधि के साथ ही हो पाता है, उसके बिना नहीं; परमात्मा का ऐसा अनुभव नहीं। वह स्फुरमाण ज्ञानस्वरूप है। यहाँ परमात्मस्वरूप का स्पष्ट वर्णन किया।।१०२-३।।

बारहवाँ मंत्र कहता है कि बीजभूत अव्यक्त को बहुत प्रकार से व्यक्त करने वाले सर्वशासक को जो धीर आत्मस्थरूप से देख लेते हैं उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है। तेरहवें में बताया कि परमार्थ नित्य, परमार्थ चेतन वह कारणवस्तु सांख्य व योग से अधिगत होती है, उसे जानकर सब पाशों से छुटकारा मिलता है। इनका भाव बताते हैं **जो धीर तो उसे देख लेते हैं उन्हें शाश्वत सुख प्राप्त होता है। उस नित्य चेतन का अनुभव कर अक्षय शांति पाई जा सकती है।।१०४।।** धीर अर्थात् धैर्यवाला भी, बुद्धिमान् भी। भगवद्दर्शन पाने के लिये धैर्य चाहिये, दस-बीस

अशक्यं यत् सुखं वक्तुं तदेतदनुभूयते।
इति तत्त्वविदः प्राहुरुपायः श्रूयतामिह।।१०५।।

साल साधना करके ही दर्शन न मिलने से साधना में ढील देने वाले अधीर को सफलता नहीं मिलती। धी-र का यह भी अर्थ है धी में, विचार में रमण करने वाला। प्रायः लोग इंद्रियाराम होते हैं, ध्यान के लिये भी नाम-रूप को ही चाहते हैं, उन्हें परमात्मबोध दुर्लभ है। विचार में ही जो रमण कर सकेगा वही तत्त्व को समझ पायेगा। जैसे साधारण व्यक्ति को देख-सुनकर सन्तोष होता है वैसे धीर को विचार करके सन्तोष होता है। कई लोगों को लगता है कि बैठकर 'राम-राम' किया तो साधना हुई, केवल विचार किया तो साधना नहीं है! इस प्रकार के साधक के लिये ज्ञान मार्ग नहीं, बुद्धि की साधना का महत्त्व समझकर इसमें तत्पर होने वाले के लिये ही यह मार्ग है। उन्हीं को आत्मतत्त्व का स्पष्ट बोध होता है जिससे नित्य सुख पा लेते हैं, आनन्दस्वरूप आत्मा में स्थित हो जाते हैं। उस आनन्दघन चेतन को जान लेने पर किसी प्रकार की अशांति नहीं रहती। कामना से ही अशांति होती है, परमात्मा के जानकार की कामना रह नहीं जाती तो अशांति की सम्भावना ही नहीं। अदृढ ज्ञान के रहते किंचित् अशांति हो भी जाये पर ज्ञान की वासना दृढ हो जाने पर निश्चय डिगता नहीं अतः कभी अशांति नहीं होती। इसके अलावा सनातन शांति व आनंद का कोई उपाय नहीं।।१०४।।

उपनिषत् के किसी - किसी पाठ में यहाँ 'तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कथं नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा।।' इतना अधिक है। कठोपनिषत् (२.२.१२-१५) में ऐसे ही प्रसंग में यह श्लोक आता है। इसका संग्रह करते हैं **जिस सुख का शब्दों द्वारा वर्णन किया नहीं जा सकता वह अपरोक्ष अनुभव में आ जाता है! - ऐसा तत्त्वज्ञ बताते हैं। इसका उपाय सुनो :।।१०५।।** समुद्र की लहरों से जो पानी की बौछार किनारे खड़े अंधे के मुँह पर पड़ती है उससे जैसे उस अंधे को समुद्र नहीं समझ आ सकता चाहे है समुद्र भी वही जल जो उसके मुँह पर पड़ा! वैसे ही अज्ञानी सारे सुख भोगकर भी परमानन्दरूप परमात्मा को नहीं समझ सकता चाहे संसारसुख भी उसी की 'मात्रा' या लवलेश हैं। शब्द-अर्थ अज्ञानदशा में समझे जाते हैं, सांसारिक सन्दर्भों को ही शब्द विषय करते हैं, उनके प्रवृत्तिनिमित्त दृश्य जगत् के ही मिलते हैं, जाति-गुण-क्रिया-सम्बन्ध छोड़कर अदृश्य के बारे में शब्द बता सके यह मुमकिन नहीं। अतः आत्मरूप परमानन्द का वर्णन संभव नहीं; पहले तो

उपायः

विवेकयोगस्तद्बोधहेतुस्तत्त्वविवेकतः।
यथाशास्त्रं विविच्यानुभवन्ति दृढयोगतः।।१०६।।

उचित शब्द नहीं मिलते, और कथंचित् प्रयास हो तो श्रोता समझ नहीं सकता। सांसारिक सुखों में भी ऐसी स्थिति बन जाती है कि जिसने अनुभव नहीं किया वह उसके वर्णन से भी कुछ नहीं समझता, 'कुमारी स्त्रीसुखं यथा' आदि प्रसिद्ध है, तो संसारातीत सुख अवर्णनीय है इसमें क्या कहना! फिर भी विद्वानों ने इसके बारे में कहा है ताकि हमें निश्चय रहे कि यह सुख है व मिल जाता है। वह स्वरूप से ही ज्ञान है अतः केवल उसका अनावरण ज़रूरी है जिसके उपायों का अब वर्णन करेंगे।।१०५।।

मंत्र १३ में परम तत्त्व को 'सांख्ययोगाधिगम्यम्' कहा है, उसी से उपाय पता चलता है यह समझाते हैं **विवेकयोग उस आनन्द का उपाय है। शास्त्रानुसार क्या कैसा है, क्या कैसा नहीं है यह पहचानकर तत्-त्वम् के विवेक से, इस दृढ योग से उस आनंद का अनुभव करते हैं।।१०६।।** यहाँ विवेक ही योग है। श्रुति के 'सांख्ययोग' का अर्थ करते हुए सांख्य से विज्ञान और योग से ज्ञानोपाय या अष्टांगयोग या निष्कामकर्मानुष्ठान को बताया गया है। तदनुसार यहाँ भी विवेकयोग एवं दृढयोग इनका भेद समझ सकते हैं। प्रमुख साधन विवेक है, अन्य उपाय अर्थात् आक्षिप्त हैं इस दृष्टि से विवेकरूप योग का कथन समझना चाहिये। तत्त्वविवेक से पदार्थद्वय-शोधन विवक्षित है। बिना पदार्थ-ज्ञान के वाक्यार्थ ज्ञान की संभावना ही नहीं। पूर्व में अतएव ईश्वर व जीव का विस्तार से स्वरूप बता आये हैं। इनके स्वरूप का विचार ही परमात्मज्ञान का एकमात्र उपाय है जिससे परमानन्द का अनुभव होता है। विचार के लिये पूर्ण एकाग्रता चाहिये और विचार से हुए निश्चय को कायम रखने के लिये मन की वृत्तियों पर पूर्ण नियंत्रण चाहिये इसलिये समाधि का उपयोग तो रहता ही है। विचार, विवेक करने के लिये मार्ग शास्त्रोक्त ही अपनाना चाहिये अन्यथा अवश्य ग़लत ज्ञान होगा। अद्वैत उपनिषदेक-समधिगम्य है, उसे 'औपनिषद' कहा गया है। गणित के सवाल हल करने के लिये गणितशास्त्रीय पद्धति ही अपनानी पड़ेगी, मनमाने तरीके से सही हल नहीं निकल सकता। अनेक समीकरण हल करने के लिये कोई संख्या जोड़कर पूर्ण वर्ग बना लेना पड़ता है और अंत में वही संख्या घटा देनी पड़ती है। इस तरीके को अपनाये बिना हल हो ही नहीं सकता। ऐसे ही प्रतीयमान भेद और वास्तविक अभेद के समीकरण के हल के लिये अध्यारोप और

सूर्यचन्द्रादयः सर्वभासका अपि तत्सुखम्।
नैव भासयितुं शक्ता भास्यन्ते किन्तु तेन ते।।१०७।।
चित्सुखात्मा स्वप्रकाशो भासते प्रथमं स्वयम्।।
सूर्यादयस्तस्य चिता भासन्ते न चितान्यया।।१०८।।

अपवाद करने पड़ते हैं, इस शास्त्रीय प्रक्रिया के अलावा कोई तरीका नहीं कि भेद में रहते हुए अभेद में प्रतिष्ठित हो सकें। अतः 'यथाशास्त्रं' कहा, शास्त्र के अनुसार ही विचार करना उपाय है।।१०६।।

चौदहवें मंत्र में बताया कि सूर्यादि तेज परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर पाते बल्कि उसी के भासने के पीछे जगत् में सब कुछ भासता है। इससे आत्मा की स्वप्रकाशता समझायी, यह व्यक्त करते हैं **सब को प्रकाशित करने वाले सूर्य-चन्द्र आदि भी उस परमानन्द को प्रकाशित नहीं कर सकते, बल्कि वे ही उससे प्रकाशित होते हैं। चेतन व आनन्दरूप स्वप्रभ आत्मा पहले से स्वयं भासमान है, उसके चैतन्य से सूर्यादि प्रतीत होते हैं, अन्य किसी चैतन्य से नहीं।।१०७-८।।** ज्ञान को ज्ञेय ज्ञात (ज्ञानविषय) नहीं बना सकता। सूर्यादि ज्ञेय होने से ज्ञानरूप आत्मा को विषय करें यह संभव नहीं। सूर्यादि का नाम इसलिये लिया जाता है कि संसार की सब चीज़ें इन्हीं से प्रकाशित होती हैं अतः इन्हें प्रकाशित नहीं करतीं, जब ये ही परमात्मा को प्रकाशित नहीं करते तब अन्य कुछ तो उसे प्रकाशित नहीं ही करेगा। किं च, जैसे सूर्यादिका प्रकाश्य सूर्यादि को प्रकाशित नहीं करता वैसे आत्मा का प्रकाश्य आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता यह समझाने के लिये भी सूर्यादि का उल्लेख किया जाता है। सूर्य से सूर्य नाडी व चंद्र से चंद्र नाडी भी ध्वनित हैं, इनके सहारे विशेष अभ्यास करने से दूरदर्शन इत्यादि सिद्धियाँ मिलती हैं; इनसे भी आत्मज्ञान संभव नहीं, यह भाव है। आत्मा स्वप्रकाश है, स्वयं भासमान है; वह अहंकार में आता है तो उसे भी प्रकाश-जैसा बनाता है, फिर इंद्रियों में आकर उन्हें भी प्रकाश-जैसा बनाता है। विषय तो इंद्रियों द्वारा प्रकाशित हैं, सूर्यादि भी इंद्रियों से ही प्रकाशित हैं। जब वे इंद्रियों से प्रकाशित हैं तब इन्द्रियों के प्रकाशक अहंकार के भी प्रकाशक आत्मा को कैसे प्रकाशित कर सकते हैं! इसलिये कहा कि आत्मा के भासमान होने के पीछे, उसकी बदौलत ही संसार में सब भासते हैं, प्रतीत होते हैं। न सूर्यादि में कोई स्वतंत्र ज्ञान है और न आत्मा का ही प्रकाशक कोई अन्य ज्ञान है, आत्मा से अन्य कोई ज्ञान है ही नहीं, वही एकमात्र स्वप्रकाश तत्त्व है।।१०७-८।।

एकाकी सूर्यवद् योऽयं सर्वं व्याप्नोति भासयन्।
तं यो वेत्ति स एवेशो नास्त्यन्यो हेतुरीशने।।१०६।।
ज्ञान्येव विश्वकृत् कालकालः सत्त्वादिभासकः।
प्रधानजीवयोः स्वामी हेतुः संसारमोक्षयोः।।११०।।

पन्द्रहवें मंत्र में बताया कि एक ही हंस (परमात्मा) इस संसार में है, वही जल में आग भी है, उसी को जानना मोक्ष का ईश्वर से अभेद का इकलौता उपाय है। इसका अर्थ कहते हैं **जो यह अकेला सूर्य की तरह सबका भासन (प्रकाशन) करते हुए सब को व्याप्त किये है, उसे जो जानता है वही ईश्वर है, ईशन (शासन) का और कोई कारण नहीं है।।१०६।।** सूर्य प्रत्यक्ष ही सबको प्रकाशित करके व्याप्त कर लेता है, घेर लेता है। इसी प्रकार परमात्मा सबको ज्ञान द्वारा प्रकाशित करते हुए व्याप्त कर लेता है। उस चिद्रूप परमात्मा को जानने वाला उससे किंचित् भी भिन्न नहीं रह जाता, तत्-त्वम् का भेद मिट जाता है। वही परमात्मा सबका वास्तविक शासक है, उससे अन्य कोई नहीं जिससे संसार शासित रह सके। सत्ता व स्फूर्ति (चित्ता, ज्ञान) प्रतीत करा देना यही ईश्वरता है। संसार की न सत्ता अपनी है न स्फूर्ति, ईश्वर ही इसमें इनकी प्रतीति कराता है, यही उसकी ईश्वरता है।।१०६।।

सोलहवें मंत्र में कहा है कि जो अनादि ज्ञानरूप सर्वज्ञ विश्वविधाता काल का भी कारण व गुणों का स्वामी है वह प्रकृति और जीव का पति है तथा संसार, मोक्ष, स्थिति और बंध का कारण है। ईश्वररूप हुए ज्ञानी का इसे वर्णन बताते हैं **ज्ञानी ही संसार बनाने वाला है, काल का कलयिता है, सत्त्वादि गुणों का प्रकाशक है, प्रधान व जीव का मालिक है तथा संसार और मोक्ष का हेतु है।।११०।।** ज्ञानी जिस परमात्मा से अभिन्न है उससे अन्य कोई नहीं जिसने दुनिया बनाई हो। अधिष्ठान से अतिरिक्त अध्यस्त का कोई कारण नहीं और परमात्मा से अन्य कोई अधिष्ठान नहीं। काल सर्वजनक कहा जाता है, उसे भी गिनने वाला परमात्मा ही उसका कारण है। श्लो. ६७ में इसे बता चुके हैं। किं च सबको समाप्त करने वाला है काल, उसे भी परमात्मा समाप्त करता है। कारण में ही कार्य लीन होता है अतः काल अपने कारण परमात्मा में लीन होता है तथा ज्ञात परमात्मा काल का बाध कर देता है इससे भी उसका समापक है। सत्त्वादि गुणों के खेल को परमात्मा ही प्रकाशित करता है क्योंकि गुण जड हैं। प्रधान, प्रकृति, माया का वह अधीश्वर है, उसी द्वारा प्रदत्त

विद्याफलमिदं बाह्यधियो न स्यात् कदाचन।
तद्धीशान्त्यै प्रार्थयेत तं यो ब्रह्माणमीश्वरम्।।१११।।

प्रार्थना

हिरण्यगर्भं सृष्ट्वादौ वेदांस्तस्मै ददाति यः।
तं भासकं स्वात्मधियो मुमुक्षुः शरणं भजे।।११२।।

सामर्थ्य से प्रधान सारे कार्य करता रहता है। जीवरूप प्रतिबिम्ब का तो वह बिम्ब होने से स्पष्ट ही स्वामी है। उसी की सच्चिदानंदरूपता अंतःकरण में प्रतिबिम्बित होकर जीव में भास रही है। संसार अर्थात् जीवों का जो जन्म-जन्मान्तर में संसरण हो रहा है उसका परमेश्वर ही नियामक और हेतु है। वही स्थायी तत्त्व है जिससे ये सारे परिवर्तन संभव हैं। अज्ञात रहकर वही संसरण का एवं ज्ञात होने पर वही मोक्ष का हेतु है। उसी परमेश्वर से अभिन्न ज्ञानी के बारे में ये सारी बातें कही जा सकती हैं क्योंकि दोनों में कोई फ़र्क़ है ही नहीं।।११०।।

जड-चेतन सारे संसार की मिलकियतरूप फल सुनकर संसारी लोग इस तत्त्वज्ञान के लिये बिना साधन-सम्पत्ति बटोरे न प्रवृत्त हो जायें अतः सावधान करते हैं **यह विद्या का फल उसे कभी नहीं मिलता जिसकी बुद्धि बहिर्मुखी है। ऐसी बुद्धि को शमयुक्त करने के लिये उस ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये जो ब्रह्मा को (बनाकर उसे विद्या देता है)।।१११।।** 'बाहर' से ऐसे प्रसंगों में तात्पर्य होता है अनात्मा। जो अनात्मा को सत्य समझता है, उसे महत्त्व देता है, उसी के हेर-फेर में तत्पर है, ऐसे व्यक्ति को तत्त्वानुभूति से ईश्वराभेद मिले इसकी कोई संभावना ही नहीं। बहिर्मुखता, अनात्मप्रवणता को शांत, शम से नियंत्रित किये बिना साधन-संपत्ति नहीं आयेगी और उसके बिना आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा। बुद्धि को आत्मोन्मुख बनाने में परमेश्वर-प्रार्थना का बहुत महत्त्व है अत एव रोज़ शांतिपाठ पढ़ा जाता है। यहाँ भी प्रार्थना के लिये कह रहे हैं। श्रुति में 'यो ब्रह्माणम्' आदि मंत्र आया है जिसमें कहा है कि 'मैं मुमुक्षु आत्मबुद्धिप्रकाश उस देव की शरण लेता हूँ जो पहले ब्रह्मा को पैदा करता है, फिर उसे वेद प्रदान करता है'। इस चिह्न से यह मंत्र प्रार्थना में विनियुक्त है। श्लोक में 'यो ब्रह्माणम्' उसी मंत्र का (मं. १८) प्रतीक है।।१११।।

मंत्रार्थ बताते हैं **प्रारम्भ में हिरण्यगर्भ को पैदा कर जो उसे वेद प्रदान करता है, स्वात्मबुद्धि के उस प्रकाशक की मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ।।११२।।**

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
भजे स्वयं भासमानं तं दग्धेन्धनवह्निवत्।।११३।।
निष्कलोऽवयवैर्हीनो हेतुहीनो निरञ्जनः।
निरिन्धनाग्निसाम्यन्तु मायातत्कार्यवर्जनात्।।११४।।

स्वात्मबुद्धि अर्थात् हर-एक की बुद्धि का वह भासक है। सक्ष्यों में ही भेद है, साक्षी अभिन्न, अखण्ड वस्तु है। उसका प्रकाश पाकर ही बुद्धि, इंद्रियाँ आदि ज्ञान व क्रिया करने में समर्थ होते हैं। वही हमारा मुख्य शरण है, रक्षक है, वास है। उससे अन्य को अपना वास मानना बेवकूफी है। एक बार जनक से एक महात्मा ने पूछा 'क्या यह महल तुम्हारा है?' जनक ने कहा 'हाँ'। 'तुमने बनवाया?' 'नहीं, दस पीढ़ी से हमारा है।' 'तुमसे पहले इसमें कोई रहा क्या?' 'सभी पुरखे रहे।' 'वे सब इसे यों ही छोड़ गये?' 'हाँ।' 'तुम मरोगे तो इसे साथ ले जाओगे?' 'नहीं, यहीं छोड़ जाऊँगा।' 'फिर यहाँ कौन रहेगा?' 'मेरे वारिस रहेंगे।' 'तब तो यह मकान तुम्हारा कहाँ हुआ! यह कहो कि यह धर्मशाला है। जो आये वह कुछ दिन रहकर चला जाये ऐसी तो धर्मशाला हुआ करती है।' जनक समझ गया। हमारा वास्तविक घर वह चिन्मात्र है जिससे हम कभी निकलते नहीं, हटते नहीं। उससे अन्य अहंसे देह और बाहरी वस्तुओं पर्यन्त कोई हमारा शरण नहीं, घर या रक्षक नहीं। इस निश्चय पर कायम रहना ही उसे शरणरूप में चुनना है। वह चिन्मात्र ही निरंतर है, अन्य सब, हमारी सभी वृत्तियाँ भी और मन-शरीरादि भी नश्वर है। आत्मा के बारे में प्रत्यभिज्ञा उस चित्तत्त्व को ही विषय करती है। उसकी शरण लेने से अर्थात् उक्त तथ्य पर पूर्ण श्रद्धा से तदतिरिक्त सर्वत्र विरक्त होकर उसके अनुसन्धान में तत्पर होने से ही बुद्धि की बहिर्मुखता निवृत्त होकर बुद्धि शान्त होती है, तभी ईश्वरात्मता निरावृत होती है।।११२।।

उन्नीसवें मंत्र में उस परमेश्वर का स्वरूप समझाया है जिसके भजन का विधान किया। उस मंत्र को किंचित् भेद से बताकर स्वयं समझाते हैं **कला-क्रिया-दोष-कालिख से रहित, ईंधन जला चुकी आग की तरह शांत स्वप्रकाश उस परमेश्वर का भजन करता हूँ।।११३।। कलाओं से अर्थात् अवयवों से वह रहित है, कारणरहित है यह निरंजन (कालिखरहित) शब्द से कहा जाता है। माया व उसके कार्यों से रहित होने के कारण उसमें ईंधनरहित आग से समानता है।।११४।।** कलाशब्द का अर्थ अवयव प्रसिद्ध है। परमेश्वर के कोई

ज्ञानादेव मोक्षः

तादृशं परमात्मानं विदित्वैव विमुच्यते।
विना ज्ञानं न मुक्तिः स्याद् इतरैः कोटिसाधनैः।।११५।।
यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय मुक्तिर्न त्वस्ति तद् द्वयम्।।११६।।

अवयव, टुकड़े, हिस्से नहीं हैं। वह क्रिया से भी असम्बद्ध है, न खुद क्रिया करता है, न उस पर कोई क्रिया की जा सकती है अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। जब आग अपना उपलब्ध ईंधन जला चुकती है तब जैसे शांत हो जाती है ऐसे परमेश्वर हमेशा शांत है। जीव की तो अज्ञानरूप ईंधन रहते होने वाली शांति है, परमेश्वर की शांति में अज्ञान का कुछ संबंध है ही नहीं। अज्ञान ही उसमें नहीं तो अज्ञानकार्यरूप कालिख की संभावना कहाँ! निरंजन को निष्कारण से इसलिये समझाया कि कई चीज़ें खुद स्वच्छ होने पर भी उनका कारण अशुद्ध होने से उन्हें अशुद्ध माना जाता है; परमात्मा स्वरूप से तो शुद्ध है ही, कारणहीन होने से उस तरह भी उसमें अशुद्धि नहीं हो सकती। अथवा हेतु अर्थात् आवरण क्योंकि वही संसारभ्रम का हेतु है। परमात्मा कभी स्वयं के लिये आवृत नहीं होता अतः हेतुहीन या निरंजन है। इस प्रकार सर्वथा शुद्ध वह स्वयं भासमान परमात्मा भजनीय है।।११३-४।।

बीसवें मंत्र को अवतरित कर उसे प्रायः उद्धृत करते हैं **वैसे परमात्मा को जानकर ही बंधन से छूटा जाता है। ज्ञान के बिना अन्य करोड़ों उपायों से मुक्ति होना संभव नहीं।।११५।। मानव जब आकाश को चमड़े की तरह लपेट देंगे तब महादेव को जाने बिना मुक्ति भी होगी! वस्तुतः ये दोनों होने नहीं, (न आकाश लिपटेगा, न बिना ज्ञान के मोक्ष होगा)।।११६।।** परमात्मा के अपरोक्ष साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है, उसके बिना नहीं। वेद का यह स्पष्ट घोष है अतः किसी विज्ञापन आदि से भ्रमित नहीं होना चाहिये। इस बात में शास्त्र का तात्पर्य है यह बताने के लिये दृष्टांत भी दे दिया : जैसे निरवयव आकाश को चमड़े या चटाई जैसे लपेट नहीं सकते ऐसे ज्ञान के बिना मोक्ष पा नहीं सकते।।११५-६।।

इक्कीसवें मन्त्र में बताया है कि तप के प्रभाव से व देव के प्रसाद से श्वेताश्वतर ने ब्रह्म को समझते हुए ऋषिसेवित, परम पवित्र यह ज्ञान अत्याश्रमियों (संन्यासियों) को दिया। इसका संग्रह करते हैं **श्वेताश्वतर नाम के ऋषि ने तप से देव की आराधना कर ऋषियों को प्रिय ब्रह्मविद्या आश्रमों का अतिक्रमण किये हुओं**

उपसंहारः

तपसा देवमाराध्य श्वेताश्वतरनामकः ।
अत्याश्रमिभ्यः प्रोवाच ब्रह्मविद्यामृषिप्रियाम् । ।११७ । ।

को सुनाई । ।११७ । । श्वेत अर्थात् शुद्ध अश्व अर्थात् इंद्रियों वालों में बेहतर होने से इन ऋषि का यह अन्वर्थ नाम था। उन्होंने तपस्या से महादेव को प्रसन्नकर स्वयं तत्त्वज्ञान पाया व अन्यों को भी दिया। इस प्रसंग में विचार ही प्रधान तप है। सृष्टि के कारण के बारे में शास्त्रानुसारी विचारजैसा उपनिषदारंभ में आया थातत्त्वज्ञान का हेतु है। ऐसे विचार को तैत्तिरीय में भी तप कहा है और किसी धातुपाठ में 'तप आलोचने' धातु भी प्रसिद्ध है। वेदांतविचार शिव की वास्तविक आराधना है। इससे वे सर्वाधिक प्रसन्न होते हैं, अपने से उन्हें अभिन्न जानने वाले पर वे पूर्ण प्रसन्न रहते हैं। गीता में भगवान् ने ज्ञानी को अत्यन्त प्रिय कहा ही है। सभी अनात्मा को आत्मा से पृथक् करना इस तप में श्रम है। रागी के लिये यह घोर तप है क्योंकि राग के विषय अनात्मा होते हैं जिन्हें छोड़ने में अर्थात् जिनसे अहं-मम बुद्धि हटाने में पीडा होती है। किन्तु वस्तुतः यह मोक्षप्रद होने से सर्वथा अघोर है। इस तप से महादेव प्रसन्न हों तभी आत्मज्ञान प्राप्त होता है। महर्षि ने भी तप व ईश्वरकृपा से ही आत्मसाक्षात्कार किया था। यह ज्ञान ऋषियों को प्रिय है। व्यक्ति खाता सब कुछ है पर प्रिय कोई विशेष ही व्यंजन होता है, ऐसे ही ऋषि जानते-बताते सब कुछ हैं पर प्रिय उन्हें यह परमार्थज्ञान ही है। इससे अन्य कर्म-उपासना भी वे जानते, करते, बताते हैं, पर वे उन्हें प्रिय नहीं। ऐसी विद्या का श्वेताश्वतर ऋषि ने अत्याश्रमिओं को उपदेश दिया। सारे आश्रम लाँघ चुके संन्यासियों को अत्याश्रमी कहते हैं। चार आश्रमों में अंतिम संन्यास और उसके कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस इन चार भेदों में अंतिम परमहंस। इसलिये इसे अन्त्याश्रम भी कहते हैं। आश्रम-चिह्न लिंग आदि भी इसमें छूट जाते हैं और ब्रह्मसंस्थता से अन्य इसमें कोई आश्रमधर्म भी नहीं रहता इसलिये इसे आश्रमों से अतीत भी माना जाता है। क्योंकि यह शास्त्रोक्त आश्रम है इसलिये संन्यासी को अत्याश्रमी तो कहते हैं, अनाश्रमी नहीं! शास्त्रोक्त नियम न पालनकर किसी आश्रम में न रहे तभी अनाश्रमी कहलाता है। परमहंस संन्यासी तो शास्त्रतात्पर्य के साक्षात्कार में स्थित है अतः अनाश्रमी नहीं। वह कोई ग़लत आचार नहीं करता; या तो कोई कर्म नहीं करता, और अगर करता है तो शास्त्रविरुद्ध नहीं करता। ऐसे परमहंस को ही परमात्मनिष्ठा संभव है अतः उन्हें ही श्वेताश्वतर ने उपदेश दिया। ।११७ । ।

वेदान्ते परमं गुह्यं नानोपाख्यानवर्णितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं देयं शिष्याय धीमते।।११८।।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।११६।।

बाइसवें मंत्र में अधिकार-निरूपण है, उसका भी प्रायः अनुवाद कर देते हैं **वेदान्तों में सर्वाधिक गोपनीय, अनेक कथाओं द्वारा जिसका वर्णन किया गया है, ऐसा यह ज्ञान अप्रशांत व्यक्ति को देने योग्य नहीं, बुद्धिमान् शिष्य को ही देने योग्य है।।११८।।** यह अद्वैत ज्ञान वेदान्तों अर्थात् उपनिषदों में अत्यधिक गोपनीय ढंग से कहा गया है। यद्यपि बताया इसे तात्पर्यपूर्वक है तथापि ढंग ऐसा है कि प्रायः लोग इसे नहीं समझ पाते, भ्रमवश उपनिषदों का भी तात्पर्य कर्म या उपासना में लगा लेते हैं। वेदांतों का उपदेश ब्रह्मस्वरूप के ज्ञापन के लिये है, किसी विधि या निषेध के लिये नहीं। कर्म-उपासना को जानने के बाद अनुष्ठान करने से ही फल मिलता है जबकि ब्रह्मज्ञानमात्र से मोक्ष है, ज्ञान के बाद कोई कर्तव्य नहीं होता। उपनिषदों में कथा-कहानी, तर्क आदि सभी का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मात्मता-प्रतिपादन में है, उसी के साधनों का विधान एवं उसमें रुकावट डालने वालों का निषेध भी है। क्योंकि इस विद्या को पाकर कर्तव्य नहीं बचते इसलिये जिसका मन सर्वथा नियंत्रित नहीं हो चुका उसे इसका उपदेश नहीं दिया जाना चाहिये क्योंकि वह इसका ठीक अभिप्राय समझ ही नहीं सकेगा, ग़लत अभिप्राय समझेगा और अपना अहित ही करेगा। जितना आवश्यक अप्रशांत से इसे बचाना है उतना ही आवश्यक है कि योग्य शिष्य को यह दी जाये। धीमान्, तत्त्व ग्रहण करने में समर्थ बुद्धि से सम्पन्न तथा शिष्य अर्थात् सीखने में निरभिमान होकर तत्पर को इस विद्या का उपदेश दे यह आचार्य के लिये उचित है, यह दिखाने के लिये ही श्वेताश्वतर महर्षि ने इसका प्रवचन किया।।११८।।

तेइसवाँ मंत्र ही पढ़ते हैं **जिसे देव में परा भक्ति है, जैसी देव के प्रति वैसी गुरु के प्रति है, उस महात्मा को यहाँ वर्णित ये अर्थ स्पष्ट प्रतीत होते हैं।।११६।।** परा अर्थात् पूर्ण; अन्यत्र कहीं प्रेम न रहकर परमेश्वर में ही रहे तब वह परम प्रेम कहलायेगा जिसे भक्ति कहते हैं। जब तक परमात्मा से अतिरिक्त भी कहीं प्रेम है तब तक भक्ति तो है, परा भक्ति नहीं। परा भक्ति वाले का ही आत्मविद्या में अधिकार है। क्योंकि गुरु ईश्वर का ही प्रकटरूप है इसलिये वही परा भक्ति गुरु के

अन्तः प्रविष्टः शास्तेति योन्तर्यामी श्रुतीरितः।
सोऽस्मान् मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१२०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे याजुषीश्वेताश्वतरशाखाविवरणे श्वेताश्वतरोपनिषद्विवरणं नाम द्वादशोऽध्यायः।।

प्रति हो यह ज़रूरी है और इससे भक्ति की एकनिष्ठता में अंतर नहीं आता। ऐसे भक्त को ही शास्त्रोक्त अद्वैत का अकम्प स्वानुभव होता है। इसी मंत्र में श्वेताश्वतर उपनिषत् पूरी होती है।।११६।।

अध्याय-समाप्ति का मंगल करते हैं **'अन्दर प्रवेश किया हुआ प्रशासक है' इस प्रकार जो अन्तर्यामी वेद में बताया गया है वही विद्यातीर्थ नामक महेश्वररूप मुख्य गुरु हमारी रक्षा करे।।१२०।।** बृहदारण्यक आदि में अन्तर्यामी का वर्णन है। वह सबके अंदर बुद्धिसाक्षी के रूप में प्रविष्ट है तथा भीतर से सबको शासन में रखता है। वही ईश्वररूप से बाहर से सबको शासन में रखता है। उसी ने विद्यातीर्थ नामक आचार्य का रूप लेकर प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता विद्यारण्यस्वामी को शिष्य बनाकर उनका शासन किया। गु अर्थात् अज्ञान को रु अर्थात् मिटाने वाले आचार्य ही मुख्य गुरु हैं। बाकी गुरु तो एक अज्ञान की जगह दूसरा अज्ञान ही सिखाते हैं! अज्ञान मिटाना तो केवल ईश्वर से अभिन्न ब्रह्मनिष्ठ का ही प्रताप है। उन्हीं से रक्षा की प्रार्थना करते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् का विवरण करने वाला बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।१२०।।

।। बारहवाँ अध्याय।।

ॐ

बृहदारण्यकविवरणे

कण्वविद्याप्रकाशः

त्रयोदशोध्यायः

प्रतिज्ञा

काण्वो[1] याजुषशाखायां नानाऽऽख्यानोपबृंहिताम्।
ब्रह्मविद्याम् उवाचेमां सङ्ग्रहेण ब्रवीम्यहम्।।१।।

कण्वविद्याप्रकाश : तेरहवाँ अध्याय

नत्वा शङ्करमम्बिकां गजमुखं श्रीयाज्ञवल्क्यं मुनिं
सम्प्रक्षालितवादिकल्पनमलं श्रीशङ्करार्यं प्रभुम्।
संसारानलतापशामकपदं कारुण्यमूर्तिं गुरुं
व्याकुर्वेऽनुभवप्रकाशनिहितां श्रीकाण्वविद्याप्रभाम्।।

वेद में आत्मतत्त्व का विशद सयुक्ति प्रतिपादन शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक के उपनिषद्भाग में किया गया है। उस प्रसंग का विस्तृत विचार छह अध्यायों में किया जायेगा। आरण्यक-क्रम से तीसरे अध्याय अर्थात् उपनिषत्क्रम से प्रथम अध्याय के विचार से प्रारम्भ करते हैं। सर्वप्रथम अध्याय के विषय की प्रतिज्ञा करते हैं **यजुर्वेद की शाखा में अनेक कथाओं से पोषित कर कण्व ऋषि ने यह ब्रह्मविद्या कही, इसी का मैं संक्षेप से वर्णन करता हूँ।।१।।** यजुर्वेद के शुक्ल व कृष्ण दो भेद हैं। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाएँ हैं। कण्व-नामक ऋषि जिसके प्रधान उपदेशक थे वह काण्व शाखा है। आचार्य श्रीशंकर ने इसी शाखा की बृहदारण्यकोपनिषत् की व्याख्या की है। यद्यपि विद्यारण्यस्वामी ने माध्यन्दिन शाखा पर भाष्य रचा तथापि अनुभूतिप्रकाश में वे काण्व शाखा का वर्णन कर रहे हैं। भाष्यवार्तिक के साररूप अपने 'वार्तिकसार'-नामक ग्रन्थरत्न में से प्रसंगों का संग्रह कर इस षडध्यायी का महत्त्व बढायेंगे। कण्व के उपदेश में कथाओं का अस्तित्व उसकी आकर्षकता बढाता है। कथा

---

१. कण्व इति तु सुवचं, 'कण्वः प्रोवाच' इत्युपसंहारात् श्लोक २८६।

उपासनोपन्यासः

बृहदारण्यकप्रोक्तैर्विराट्सूत्राद्युपासनैः।
स्याद् विराडादिरूपत्वं स विराड् इह कथ्यते।।२।।
उपास्तेर्महिमा तेन भात्युपासनम् इच्छतः।
मुमुक्षुस्तु विराडादिदोषान् दृष्ट्वा विरज्यते।।३।।

का पूर्ण सौन्दर्य तो आचार्य श्रीशंकरानन्द के 'आत्मपुराण' में ही खिलता है, अनुभूतिप्रकाश में प्रधानता तत्त्व के स्पष्टीकरण की है।।१।।

बृहदारण्यक उपनिषत् में छह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय अनेक विभागों में बँटा है जिन्हें 'ब्राह्मण' कहते हैं। प्रथमाध्याय का पहला ब्राह्मण 'अश्वोपास्ति-ब्राह्मण' है। अश्वमेध यज्ञ सबसे महत्त्वपूर्ण बाह्य कर्म है। उसे संपन्न न कर पाने वाला भी उसके जिस मानस रूप का सम्पादन कर सकता है उस उपासना का इस ब्राह्मण में वर्णन है। द्वितीय ब्राह्मण में चयनाग्नि का ध्यान बताया गया है। अग्निचयन के लिये निर्मित स्थण्डिल में विराट् पुरुष की दृष्टि करना वहाँ विहित है। दोनों ब्राह्मणों में विहित अंगों वाली उपासना एक है। तीसरा है 'उद्गीथब्राह्मण'। अग्नि आदि देवताओं की समष्टि हिरण्यगर्भ की उपासना का इसमें विधान है। इस प्रसंग में बतायी उपासनाएँ करना प्रधान है, समझने को विशेष नहीं है अतः इनका संकेतमात्र करते हैं **बृहदारण्यक में विहित विराट्, सूत्र आदि की उपासनाओं से विराड् आदि भाव की प्राप्ति होती है। वह विराट् यहाँ (चतुर्थ ब्राह्मण के विवरण में) बताया जाता है।।२।।** स्थूल-समष्टि विराट् और सूक्ष्म-समष्टि सूत्र, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ आदि नामों से कहा जाता है। 'सूत्र आदि' में आदि-से उपासनाओं के अंगादि विशेष समझने चाहिये और 'विराड् आदि' में आदि-से ऐहिकादि भेद से बताये विभिन्न फल समझने चाहिये। उपासना के परिपाक के फलस्वरूप उपास्य से अभेद होता है, अत एव ये उपासनाएँ अहंग्रहेण की जाती हैं अर्थात् उपास्य को अपने से एक समझकर तदाकार वृत्तिप्रवाह रखा जाता है। चौथे ब्राह्मण में विराट् का वर्णन है जिसका विस्तृत व्याख्यान अनुभूतिप्रकाश के इस अध्याय में कर रहे हैं।।२।।

विराड् आदि वर्णन का प्रयोजन बताते हैं **उपासना के इच्छुक को इस वर्णन से उपासना की महिमा पता चलती है। मोक्ष की इच्छा वाला तो विराड् आदि के दोष समझकर वैराग्यवान् बन जाता है।।३।।** वर्णन में विराट् की व्यापकता बतायी है जो उपासक के लिये अतिमहत्त्व की बात है, उस स्थिति को पाने के लिये वह

अध्यायस्य तृतीयस्य चतुर्थब्राह्मणे श्रुतम् ।
वैराजं वपुरेतच्च शरीरान्तरकारणम् । ।४ । ।

उत्साहित होकर उपासना में तत्पर होता है। मोक्षेच्छुक उसी वर्णन में जो भय, अरति आदि बताये हैं उन पर दृष्टि स्थिर करता है जिससे उसे इन महान् फलों के प्रति भी वैराग्य हो जाता है अतः इनके साधनभूत कर्म-उपासना के प्रति आकर्षण नहीं रहता। हैलीकाप्टर से उड़कर जल्दी पहुँचा जाता हैयह भी ठीक है; हैलीकाप्टर की दुर्घटना हो जाये तो बचना प्रायः असंभव होता हैयह भी ठीक है। वर्णन दोनों का मिलता है। सांसारिक फलों में आसक्त 'जल्दी पहुँचने' वाले हिस्से से आकृष्ट होता है और विरक्त दुर्घटना के प्रभाव वाले हिस्से को यादकर हैलीकाप्टर से दूर ही रहना चाहता है। इसी तरह विराड्भाव में दोनों तरह की स्थितियाँ हैं, अधिकारी अपने अनुसार उनकी प्रधानता समझकर उस भाव की प्राप्ति के लिये साधन करता या साधनत्याग, संन्यास करता है। कर्म-उपासना के चरम फल के प्रति भी वैराग्य होने पर तत्त्वज्ञान का अधिकार आता है। ।३ । ।

विराट् के वर्णन का ही संक्षेप करते हैं **तीसरे अध्याय के चौथे ब्राह्मण में विराट् का शरीर श्रुतिद्वारा बताया गया है और यह शरीर पुनः अन्य शरीरों के प्रति कारण है । ।४ । ।** आरण्य के क्रम से तीसरा अध्याय ही उपनिषत्-क्रम से पहला है। विराट् की उपासना के फलस्वरूप विराट् बना जाता है। विराट् ही समष्टि स्थूल है। उसी से व्यष्टि स्थूल शरीर बनते हैं अर्थात् व्यष्टि शरीरों के बनने से पूर्व ब्रह्माण्ड शरीर बनता है, उसी से यथाक्रम मनुष्य, गाय, घोड़े, गधे, आदि सभी व्यष्टि शरीर बनते हैं। ये व्यष्टि शरीर ही ब्रह्माण्ड शरीर की अपेक्षा शरीरान्तर हैं। इस प्रकार उपासना से जो विराड्भाव मिलना है उसी का फल यह भी है कि घोड़ा - गधा आदि सभी बनना पड़ेगा! विराट् क्योंकि समष्टि है अतः व्यष्टि बनायेगा तो स्वयं में से ही। इसलिये व्यापकता की दृष्टि से फल महान् होने पर भी निकृष्ट आदि शरीरों की दृष्टि से हेय भी है। अधिकारी अपनी योग्यतानुसार इनको प्रधानता देकर उपासना में या संन्यासपूर्वक श्रवणादि में प्रवृत्त हो सकता है। ।४ । ।

सत्रहवें श्लोक तक प्रथम कण्डिका समझायेंगे। उसमें कहा है 'आत्मैवेदम् अग्र आसीत् पुरुषविधः' कि ये जो विविध शरीर अभी प्रकट हैं, ये पहले प्रजापति ही थे। प्रजापति पुरुष की तरह था। उसने विचार किया तो अपने से अलग कुछ नहीं पाया और 'अहम् अस्मि' ('मैं हूँ') ऐसा पहले पहल बोला। अतः अब तक व्यक्ति पहले अपना

'आत्मैवेदम्' आदेर्व्याख्या

इदं नरगवाश्वादि वपुस्तत्सृष्टितः पुरा।
आत्माऽऽसीत् पुरुषाकारो ब्रह्माण्डाख्यशरीरभृत्।।५।।
प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद् व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः।
प्रथते यः स आत्मेति प्राहुरात्मविदो बुधाः।।६।।

परिचय 'अहम्' (मैं) से देकर तब अपना देवदत्तादि अन्य नाम बताता है। पूर्वभव में सब से पहले अपने सब पाप जला दिये थे इसीलिये प्रजापति पुरुष कहलाता है। इस संदर्भ का व्याख्यान करते हैं **यह मनुष्य, गाय, घोड़ा आदि शरीर अपनी उत्पत्तिसे पूर्व ब्रह्माण्ड नामक शरीर धारण करने वाला पुरुष के आकार का आत्मा था।।५।।** मानवादि अच्छे-बुरे सभी परिच्छिन्न शरीर अपनी सृष्टि, अभिव्यक्ति से पूर्व जिस व्यापक समष्टि के रूप में उपस्थित थे वही ब्रह्माण्ड कहलाने वाला शरीर है। वह ब्रह्माण्ड भी था पुरुष के आकार का, जैसे मानव शरीर सिर-हाथ आदि वाला है ऐसे ही ब्रह्माण्ड शरीर भी था, जिसे श्रुति ने यहाँ 'आत्मा' कहा है। व्यष्टि शरीरों का उसे कारण बताना उसके महत्त्व को सूचित करते हुए उससे वैराग्य की भी संभावना व्यक्त करता है क्योंकि यह प्रतीत होता है कि कर्म-उपासना का चरम फल मिलने पर घोड़े-गधे बनना पड़ेगा!।।५।।

भगवान् भाष्यकार ने श्रुति के 'आत्म'-शब्द का विराट् अर्थ ही बताया है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने समझाया है कि ज्ञानरूप मुख्य आत्मा भी यहाँ समझा जाये तो कोई हर्ज़ नहीं। इस मत का भी संग्रह करते हैं **पराक् रूप वाले से अलग जो अनुभवस्वरूप प्रत्यक् रूप भासता है उसे आत्मा के जानकार विद्वान् आत्मा कहते हैं।।६।।** अपने से भिन्न प्रतीत होने वाला पराक् एवं कभी भी अपने से भिन्न न प्रतीत होते हुए प्रतीत होने वाला प्रत्यक् कहा जाता है। हमेशा 'मैं' यों जिसका अनुभव है वह प्रत्यक् है। यह स्वयं ज्ञानात्मक है। पराक् चीज़ें ज्ञान से संबद्ध होती हैं जबकि प्रत्यग् वस्तु ज्ञान ही है। ज्ञान से सम्बद्ध होने के लिये पराक् चीज़ों को 'बाहर' अर्थात् आत्मा से पृथक् होकर उसका विषय बनकर रहना पड़ता है। आत्मा कभी बाहर प्रकाशित नहीं होता, हमेशा प्रकाश करने वाले रूप में ही बना रहता है। बाकी सब आत्मा के द्वारा जाना जाता है परन्तु आत्मा किसी के द्वारा नहीं जाना जाता। जैसे घट आदि का ज्ञान आत्मा को होता है ऐसे आत्मा का ज्ञान किसी 'को' नहीं होता। ऐसा होने पर भी अविद्यादशा में अहंकार से शरीरपर्यन्त पराक् रूपों से मिला-जुला ही आत्मा प्रतीत हो रहा है। ब्राह्मण, गोरा आदि शरीर है, प्रतीति है 'मैं ब्राह्मण, मैं गोरा' आदि। काणापना आदि इंद्रियों में है, लगता है

बहिर्मुखेन न ज्ञातं प्रत्यक्तत्त्वमतिं विना[1] ।
यद् अज्ञातं परं तत्त्वं तद् भवेत् सर्वकारणम् ।।७।।

'मैं काणा' आदि। बलिष्ठता - दुर्बलता प्राण के धर्म हैं, हमें लगता है 'मैं बलवान्, मैं कमज़ोर' आदि। बुद्धिमानी, मूर्खता आदि बुद्धि की होने पर भी 'मैं विद्वान्, मैं मूर्ख' आदि हमें प्रतीति होती है। इस क्रम में आत्मा से निकटतम अहंकार है, पराक् वह भी है क्योंकि परिवर्तनशील एवं सुषुप्ति आदि में न रहने वाला है, पर हमें वह भी अपने से एक हुआ लगता है। परिच्छिन्न अपना स्वरूप मैं-अभिमान का अनुभव है। अर्थात् 'मैं हूँ' यह अविचारित अनुभव जिस परिच्छिन्नता को, देश-काल-वस्तु की सीमा को ग्रहण करता है वह अहंकार का स्वरूप है, उससे मुख्य आत्मा के भेद को न जानने से हम स्वयं को सीमित समझ लेते हैं। वस्तुतः अहंकार से देहपर्यन्त सब पराक् हैं। इन्हें हटाकर जो अनुभव है वही प्रत्यक् है। वह अद्वितीय है क्योंकि स्वप्रकाश होने से ज्ञान अनेक होना स्वीकार्य नहीं। अनेक वे ही माने जाते हैं जो पृथक्-पृथक् पता चलें। ज्ञान तो कभी किसी ज्ञान का विषय बन नहीं सकता। अतः ज्ञान ज्ञेय नहीं होता तो अनेक ज्ञानों को कोई जान ही न सकने से ज्ञान अनेक हैं यह मानना संभव नहीं। ज्ञेय होते ही वस्तु जड अर्थात् अज्ञान हो जाती है। अतः प्रत्यक्तत्त्व अद्वितीय है। किंतु पराक् पदार्थों से, अहंकार से देहपर्यन्त वस्तुओं से एकमेक हो जाने के कारण, तादात्म्य वाला हो जाने के कारण वह परिच्छिन्न, परस्पर व्यावृत्त, अलग-अलग प्रतीत हो रहा है। एक अहंकार से मिल जाने पर अन्य अहंकारों से युक्त रूपों से वह पृथक् प्रतीत होने लगता है। जैसे घट से मिल जाने पर आकाश अन्य घटाकाशों से पृथक् हो जाता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। जब तक पराक् रूपों को व्यावृत्त न किया जाये तब तक अनुभवमात्र-रूपता प्रकट होगी नहीं। है वह अभी भी अद्वितीय पर अज्ञानवश हमें सद्वितीय लग रहा है। वेदान्तों के अनुसार अनुभवी आचार्य के उपदेश से विवेक करने पर वह प्रत्यग्रूप निरावृत होता है।।६।।

प्रत्यग्वस्तु क्यों अज्ञात है यह समझाते हैं **बहिर्मुख व्यक्ति प्रत्यक्-तत्त्व के आकार की वृत्ति से वंचित रहता है अतः उसे यह तत्त्व अज्ञात है। अज्ञात परमात्मतत्त्व ही सब का कारण है।।७।।** (वार्तिकसार का पाठ स्पष्टतर है। मिति अर्थात् प्रमिति से वंचित रहने के कारण बहिर्मुख व्यक्ति के लिये आत्मा अज्ञात है।) बहिर्मुख वह है जो पराक् को ही समझ पाता है, उसी को सत्य जानता है। सारा पराक् प्रपंच हटाने पर उसे लगता है कि कुछ नहीं रह गया। मैं-मात्र का स्फुरण उसे 'है' यों

१. 'तत्त्वं विना मितिम्।' सारे पाठः।

विराडपि ततो जज्ञे त्रैलोक्यात्मकदेहवान्।
यथोक्तज्ञानकर्मभ्याम् एवं प्रत्यग् विराडभूत।।८।।
स एष परमोऽप्यात्मा कोशपञ्चकधारणात्।
संवृत्तः[1] पुरुषाकारः कामाऽविद्याद्युपप्लुतः।।९।।

स्वीकार नहीं होता। पराक् को व्यावृत्त करने का प्रधान उपाय विवेक है। राई और बारीक पत्थर वही अलग कर सकता है जिसमें राई और पत्थर का विवेक है। इसी प्रकार आत्मा-अनात्मा का विवेक स्पष्ट हो तभी पराक् अर्थात् अनात्मा से स्वतंत्र प्रत्यक् अर्थात् आत्मा को समझा जा सकता है। बहिर्मुखता रहते प्रत्यक् तत्त्व अज्ञात रहना ही है और अज्ञान से उपहित रहते वही वस्तु सारे जगत् का एकमात्र कारण है। माया का और माया के उन सब आकारों का जो कारणरूप से प्रतीत होते हैं, अधिष्ठाता वही अज्ञात चिन्मात्र है। माया-तत्कार्यों का अधिष्ठान आत्मा ही है। अतः चाहे संसार के अन्तर्वर्ती किसी कारण से कुछ उत्पन्न होता लगे और चाहे स्वयं माया, प्रकृति सभी चीज़ों का कारण लगे, मूलभूत कारण तो वह अधिष्ठान चित्तत्त्व ही है।।७।।

सर्वकारण होने से विराट् का भी वही कारण है यह बताते हैं **वेद में बतायी उपासना और कर्म के सफल अनुष्ठान से त्रिलोकीरूप शरीर वाला विराट् भी उसी अज्ञात परतत्त्व से पैदा हुआ। इस प्रकार प्रत्यक् ही विराट् हुआ।।८।।** विराट् बनने के लिये जो कर्म विहित हैं वे करने से और पूर्व में आये अश्वमेध ब्राह्मण के अनुसार उपासना करने से अगले कल्प में यथावसर विराट् बना जाता है। त्रिलोकी उसका शरीर होता है। जितने भी लोक समझे जा सकते हैं उनका त्रिलोकी में अंतर्भाव हो जाता है। भूर्लोक को मध्य मानकर ऊपर के और नीचे के सब लोक मिलाकर त्रिलोकी कही जाती है। वह सारी पैदा सदाशिव से ही होती है। अतः विराट् का कारण होने से वह प्रत्यगात्मा ही सर्वकारण निश्चित होता है।।८।।

आत्मा से सच्चिदानंद समझने पर उसे 'पुरुषविध' कैसे कहा यह बताते हैं **वह यह परमात्मा भी कामना अविद्या आदि से प्रभावित हुआ पाँचों कोशों को धारण करने के कारण पुरुष के आकार का हो गया।।९।।** 'वह' अर्थात् जो विराट् बना; 'यह' जो हृदयगुहा में प्रत्यग्रूप से विद्यमान अति नज़दीक है; ऐसा परम अर्थात् पारमार्थिक आत्मा भी कामनादि से अत्यधिक प्रभावित होने पर कोशों को अपने ऊपर ओढ़ लेने से कोश पुरुषाकार होने से स्वयं पुरुषाकार बन गया। कामना,

१. संवृत इति पाठान्तरम्।

सोऽनुवीक्ष्याऽऽत्ममोहोत्थं वैराजं रूपमात्मनः।
नाऽपश्यदपरं किञ्चित् सोऽहमस्मीत्यथाऽभ्यधात्।।१०।।

अविद्या के साथ आये 'आदि' शब्द से कर्म समझने चाहिये। अविद्या-कामना-कर्म यह प्रसिद्ध क्रम होने पर भी संसरण में कामना की विशेष निमित्तता व्यक्त करने के लिये उसे पहले कह दिया। स्वयं वार्तिककार ने यहाँ (१.४. श्लो. ३२) यही क्रम कहा है। वहाँ आनंदगिरिस्वामी ने 'प्रत्यगाश्रयविषयाऽज्ञानाद् अविद्याऽस्मिताद्युपद्रवात्' व्याख्या की है। उसके अनुरोध से यहाँ भी अविद्या से कार्याऽविद्या का ग्रहण कर सकते हैं और कामना की कारणभूत मूलाविद्या पूर्व में सातवें श्लोक में कही जा चुकी होने से यहाँ मुखतः नहीं कही ऐसा भी मान सकते हैं। उपप्लुत अर्थात् अतिप्रभावित, मानो उसमें डूब गया हो या राहु द्वारा सूर्य की तरह ढक गया हो। यों आवृत होने पर ही उसने पाँचों कोश धारण किये अर्थात् वास्तव में धारण नहीं किये, अविद्यावश स्वयं को उन्हें धारण करने वाला समझ रहा है। पाँच कोश तैत्तिरीयोपनिषत् में प्रसिद्ध हैं अन्नमय अर्थात् स्थूल शरीर, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय। इन्हें भी श्रुति ने 'पुरुष' (तै.२.१), 'पुरुषविध' (तै.२.२ आदि) कहा है। वर्णन अन्नमय से प्रारंभ किया, वह स्पष्ट पुरुष (= मनुष्याकार) है, उसी में प्राणमय आदि भरे हैं अतः वे भी उसी आकार के हैं। उनसे तादात्म्य को प्राप्त है अतः आत्मा इन आकारों वाला प्रतीत होता है, भ्रम से समझा जाता है। अविद्या रहते कामना होने से किये कर्मों के फलस्वरूप स्थूल शरीर, अन्नमय कोष प्राप्त होता है। सूक्ष्म शरीर अर्थात् प्राण-मन-विज्ञानमय कोश सृष्टि के दौरान मोक्षपर्यंत बने रहते हैं। कारण शरीर, जिसे आनंदमय से एक भी समझा जाता है, अनादि मूलाविद्यारूप है और तत्त्वज्ञान से ही समाप्त होता है। विराट् यद्यपि व्यष्टि शरीरों को धारण नहीं कर रहा अर्थात् व्यष्टि में अभिमानी नहीं है, तथापि समष्टि शरीर जो उसे प्राप्त है वह भी उपासना-कर्मानुसार ही है और सभी पुरुषशरीरों का कारण होने से पुरुषविध है। इस प्रकार आत्मा विराट् अवस्था में पुरुषाकार है अतः श्रुति ने 'आत्मैव पुरुषविधः' कहा, यह वार्तिकानुसारी व्याख्यान का भाव है।।९।।

जगत्कारण की अद्वितीयता समझाने के उद्देश्य से श्रुति ने बताया है कि विराट् ने अनुवीक्षण, आलोचन, विचार किया कि 'मेरा क्या स्वरूप है, मेरे क्या गुण हैं?' विचार करने पर, अपने उस सर्वात्मक रूप से अतिरिक्त उसने और कुछ नहीं पाया, यही समझा कि 'मैं ही सर्वात्मा हूँ'। पूर्व जन्म में वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन किया ही

अहमित्येव नामास्य सम्पन्नं तेन लौकिकाः।
तत्सृष्टाः[1] स्वं स्वमात्मानम् अहम् इत्यभिचक्षते।।११।।
कोशपञ्चकयुक्तस्य प्रत्यक्तत्त्वस्य नाम तत्।
विराजा कृतम् इत्येतत् सर्वसाधारणं मतम्।।१२।।
असाधारणदेहस्य तत्तत् पित्रादिना कृतम्।
देवदत्तादिकं नाम जघन्यं पूर्वनामतः।।१३।।
कस्त्वम् इत्येष पृष्टः सन्नादावहम् इति ब्रुवन्।
पश्चाज्जघन्यं नामेदं वक्ति जिज्ञासवे जनः।।१४।।

हुआ था, सत्कर्म-उपासना से चित्त अत्यन्त निर्मल था अतः अपने से अन्य कुछ न पाने पर विराट् को स्वतः यह बोध हुआ कि 'मैं ही सर्वात्मा हूँ' और उसने इसे 'अहमस्मि' ('मैं हूँ') कहकर व्यक्त किया। यों उसने अपना नाम 'अहम्' ('मैं') रख लिया जो फिर सभी व्यष्टि-अभिमानियों का भी साधारण नाम हो गया। इस बात को श्लोकों द्वारा समझाते हैं **आत्मा के अज्ञान से उत्पन्न अपने विराट्-आकार के रूप का आलोचन कर उसने अपने से अन्य और कुछ नहीं देखा। तब उसने 'अहम् अस्मि' ('मैं हूँ') ऐसा कहा।।१०।। उसका 'अहम्' यही नाम पड़ गया। इसलिये उसके द्वारा उत्पादित संसारी लोग अपने आपको 'अहम्' ऐसा कहते हैं।।११।। पाँचों कोशों से परिच्छिन्न प्रत्यगात्मा का वह नाम विराट् ने रख दिया है यह सबकी समान मान्यता है।।१२।। अपने-अपने विशेष शरीर का उस-उस शरीर के पिता आदि द्वारा रखा देवदत्त आदि नाम पहले कहे 'अहम्'-नाम की अपेक्षा पश्चाद्भावी है।।१३।। 'तुम कौन?' ऐसा पूछा गया यह व्यष्टि-अभिमानी जीव पहले 'अहम्' ('मैं') कहते हुए बाद में इस पश्चाद्भावी नाम को उसे बताता है जो वह नाम जानना चाहता है।।१४।।** सब की अलग-अलग अभिव्यक्ति होने से पूर्व समष्टिरूप विराट् ही था, उससे अलग था ही कुछ नहीं तो विचार करने पर उसे अन्य कुछ प्रतीत भी नहीं हुआ। अतः उसने अपनी अद्वितीयता व्यक्त करने के लिये 'अहम्' कहा। इस प्रकार विराट् का नाम 'अहम्' पड़ गया। हम सब भी उससे उत्पन्न होने के कारण खुद को 'अहम्' कहते हैं, इसे अपना सहजसिद्ध नाम समझते हैं। पंचकोशों से युक्त प्रत्यगात्मा का 'अहम्' नाम है, समष्टि

१. तत् पृष्टाः इति मद्रपाठः।

चिदेकरस आत्मैव कश्मले कोशपञ्चके।
एकतामभिसम्पन्नोऽहङ्कारोत्पत्तिमात्रतः[1] ।।१५।।

कोशों से युक्त विराट् का और व्यष्टि कोशों से युक्त विश्व का, दोनों का यह नाम साधारण है। विराट् ने स्वयं यह अपना नाम रखा और विराट् का यह नाम होने से, पंचकोषयुक्त प्रत्यगात्मा का यह नाम विराट् द्वारा ही रखा होने से यह सबका एक जैसा नाम है। अहं का मतलब हो गया पंचकोषों से युक्त प्रत्यगात्मा। मनुष्य, कौवा आदि प्राणिमात्र का 'अहम्' नाम साधारण है। हर व्यष्टि शरीर का अपना-अपना भी नाम होता है। मनुष्यों में वह नाम पिता आदि रखते हैं। मुख्य पक्ष है कि ग्यारहवें दिन पिता बच्चे का नाम रखे। पिता ही क्यों? शुरू में 'अहम्' नाम भी पैदा करने वाले विराट् ने ही रखा इसलिये आगे के लिये यही परिपाटी स्थापित हो गयी। पिता उपस्थित न हो या ऐसी अन्य परिस्थितियों में माता आदि नाम रख देते हैं। किंतु ये विशेष नाम, जैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि, जघन्य अर्थात् बाद में पड़े नाम हैं क्योंकि इनसे पूर्व ही 'अहम्' यह नाम तो विराट् ने रख ही दिया है। बाद का इसलिये भी है कि किसी से पूछें 'तुम कौन हो?' तो वह पहले कहता है 'मैं', फिर बताता है 'देवदत्त' आदि। कई बार तो कोई दरवाज़ा खटखटाये और पूछो 'कौन?' तो केवल कहता है 'मैं'! ध्वनि से न समझने पर विशेष की जिज्ञासा करो 'मैं कौन?' तब अपना देवदत्त आदि नाम कहता है। अतः ये विशेष नाम जघन्य कहे गये हैं।।१०-१४।।

इस प्रसंग का अभिप्राय व्यक्त करते हैं **तारतम्यरहित ज्ञानरूप आत्मा ही केवल अहंकार की उत्पत्ति से दोषपूर्ण पाँचों कोशों से एकता को प्राप्त हो जाता है।।१५।।** (पाठान्तर में अर्थ है 'अभिमान के कारण सदोष कोशपंचक को मैं समझता है।) आत्मा का स्वरूप तो ज्ञान है, वह भी एकरस, एक-सा, घटा-बढ़ी से रहित ज्ञान, जिसे प्रायः ज्ञानघन या चिद्घन कहते हैं। पाँचों कोश कश्मल अर्थात् दोषपूर्ण हैं, अपवित्र हैं। फिर भी उनमें तादात्म्याध्यास करके आत्मा स्वयं को उनसे एक ही समझता है। उनसे एक हो तो सकता नहीं पर अध्यास से अभिमान कर लेता है। विराट् पैदा होकर कोशपंचक में अभिमान कर 'अहम्' भाव ले आता है। अहंकार की उत्पत्ति से ही यह एकता का अभिमान व्यक्त हो जाता है। श्रुति का अभिप्राय स्थिति की कष्टता व्यक्त करना है कि शुद्ध तत्त्व भी अभिमान से अशुद्धि वाला बना है यह कितनी दुर्भाग्य की बात है, जीव को इस अभिमान से छूटना चाहिये।।१५।।

---
१. ...ऽहङ्करोत्यभिमानतः इति पाठान्तरम्।

बहवोऽतीतकल्पेऽन्य आसन् यद्यप्युपासकाः ।
तथापि भावनाधिक्याद् एक एव विराड् अभूत् ।।१६ ।।
निःशेषेणासुरं पापं[1] दग्धवान् बहुजन्मभिः ।
ततो विराडभूद् अन्योऽप्येवं दग्ध्वा भवेद् विराट् ।।१७ ।।

इतने वर्णन के बाद श्रुति ने बताया है 'स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुषः । ओषति ह वै स तं योऽस्मात् पूर्वो बुभूषति य एवं वेद' अर्थात् पूर्व भव में साधना करने वालों में से जिसने सबसे पहले अपने पाप जला डाले थे वही साधना की सफलता पर विराट् बनकर 'पुरुष' कहलाया। विराट् की इस पुरुषता का उपासक उन सबको जला डालता है जो उससे पहले विराट् बनना चाहते हैं। इसका विवरण करते हैं **यद्यपि बीते कल्प में और भी बहुत-से उपासक थे तथापि भावना के प्राचुर्य के कारण उनमें से एक ही इस कल्प में विराट् बना।।१६।। अनेक जन्मों में की साधना से आसुर पाप को पूरी तरह जला चुका, तब विराट् बना। अन्य भी साधक इसी तरह पाप जलाकर विराट् बन सकता है।।१७।।** बीते कल्प अर्थात् पूर्व में हुए अनंत कल्प, उनमें विराट् बनने की इच्छा से कर्म व उपासना करने वाले भी असंख्य हुए किंतु हर बार सृष्टि होने पर विराट् तो कोई एक ही बनेगा! अतः जिसकी भावना, उपासना सबसे ज़्यादा अधिक होती है, जो विराट् बनने में प्रतिबंधक पापों को सबसे पहले जला डालता है उसे ही यह पद मिल पाता है। लोक में भी सर्वश्रेष्ठ अभ्यर्थी ही पद पाता देखा जाता है, यही न्याय यहाँ है। एक कल्प में विराट् एक ही होता है अतः कोशिश करने वालों में से जिसकी सबसे ज़्यादा भावना होती है, उसे ही परमेश्वर विराट् पद दे देते हैं। साधक भावना बढ़ाने का ही प्रयास करेयह सावधान करने का तात्पर्य है। स्वर्गादि में तो देवतादि अनेक होते हैं अतः वहाँ तो बड़े-छोटे देवता बनाकर अनेकों को स्थान दिया जा सकता है परंतु विराट् तो एक ही होता है अतः एक ही साधक उस स्थिति को पा सकता है। पाप 'आसुर' हैं, असुर-सम्बन्धी हैं। अतः भगवान् ने इन्हें आसुरी सम्पत् में गिना है। पापशीलता ही असुरता है। विराट् बनने के लिये पहले पाप जलाने पड़ेंगे। विराट् जैसा सर्वसमर्थ पद परमेश्वर आसुरी वृत्ति वालों को नहीं देते। लोक में भी प्रयास रहता है कि विस्तृत अधिकारों वाले पद पर पापकारी को नियुक्त न किया जाये। पाप एकत्र

---

१. भावम् इति पाठान्तरम्।

'सोऽबिभेद्'

दग्धपापोऽप्यनात्मज्ञो देहादावभ्यमन्यत।
ततः स्वनाशमाशङ्क्य सोऽबिभेद् अस्मदादिवत्।।१८।।
स्रग्यहिं कल्पयित्वाऽऽस्ते तद्भयाद् आकुलेन्द्रियः।
एवं नश्वरदेहादि प्रतीच्यारोप्य कम्पते।।१६।।

भी अनेक जन्मों में हुए हैं अतः इन्हें दूर करने के लिये भी अनेक जन्मों का प्रयास चाहिये। सभी पाप तो केवल परमार्थबोध से जलेंगे किन्तु विराट् बनने में रुकावट डालने वाले पाप अनेक जन्मों तक की साधना से जलाये जा सकते हैं और उनके जलने पर ही विराट् बना जा सकता है। यह केवल जो विराट् बन चुका उसी की बात नहीं, आगे भी जो विराट् बनना चाहे उसके लिये भी यही नियम है।।१६-७।।

द्वितीय कण्डिका में कहा है 'सोऽबिभेत्। तस्माद् एकाकी बिभेति। स हाऽयमीक्षांचक्रे यद् मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि? इति। तत एवाऽस्य भयं वीयाय। कस्माद्ध्यभेष्यद्! द्वितीयाद् वै भयं भवति।' अर्थात् वह विराट् डर गया! इसीलिये आज भी व्यक्ति अकेला होने पर डर जाता है। उसने विचार किया 'मुझसे भिन्न कुछ है नहीं तो किससे डर रहा हूँ?' इस यथार्थ बोध से उसका डर मिट गया। वह किससे डरता! उसका डरना युक्तिसंगत नहीं था। कोई दूसरा हो तो ही उससे डर लगता है, जब कोई दूसरा था नहीं तब डर अनुपपन्न था। इकतीसवें श्लोक तक इसकी व्याख्या करेंगे।

विराट् का वर्णन वैराग्योत्पादनार्थ है यह स्पष्ट करते हुए विराट् में पहले भय फिर अरति का वर्णन करते हैं **पाप जला चुकने पर भी आत्मा की यथार्थता नहीं जानता था अतः शरीरादि (कोशों) में अभिमान कर बैठा फिर अपने नाश की आशंका कर वह हमारी तरह ही डर गया।।१८।। माला में साँप कल्पित कर व्यक्ति उसके डर से व्याकुल इंद्रियों वाला हो जाता है। इसी तरह विनाशशील शरीरादि को प्रत्यगात्मा पर आरोपित कर (नाश के भय से) काँपने लगता है।।१६।।** विराट् बनने की कोशिश वाले उपासक ने पाप तो जला लिये पर परमात्म-साक्षात्कार पाया नहीं अतः उस अज्ञान के रहते जैसे ही उसे समष्टि स्थूलादि शरीर मिले, उसने उनमें अभिमान कर लिया कि ये ही मैं हूँ! पाप समाप्त होने मात्र से देहाध्यास नहीं छूटता। शरीरादि में अभिमान होने पर विराट् को नाश का भय हुआ क्योंकि शरीरादि नश्वर हैं, उन्हें अपना रूप समझने वाला उनके नाश को अपना नाश

आलोचयेत् स्रजस्तत्त्वं भीतिध्वस्त्यै यथा नरः।
विराडालोचयत् तद्वत् प्रतीचस्तत्त्वमादरात्।।२०।

समझता है। हम लोग भी शरीरादि के नाश पीडा आदि से ही डरते हैं, ऐसे ही विराट् डरा। भ्रमवश भय में दृष्टांत प्रसिद्ध है : मंदान्धकार में पड़ी माला को हमने साँप समझ लिया तो उससे हमें डर लगता है। वह साँप हमारे द्वारा कल्पित ही है, वहाँ वास्तव में साँप है ही नहीं, केवल माला है, फिर भी हम उससे डरते हैं, हमारी सब इंद्रियाँ आकुल-व्याकुल हो जाती हैं। ऐसे ही विराट् है तो प्रत्यगात्मस्वरूप, एकमात्र चेतन के सिवाय कुछ नहीं है, लेकिन त्रिलोकीरूप शरीर को स्वयं पर आरोपित कर लेने से उनके नाश की संभावना से स्वयं त्रस्त हो गया। समष्टि शरीर कल्पपर्यन्त रहने से हमें भले ही अजर-अमर लगें पर हैं तो नाशवान् ही। कई कीट-पतंगों की कुछ घंटों की ही आयु है। मानव के सौ वर्षों में तो उन कीटादि की असंख्य पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। उनकी दृष्टि से मानव शरीर ही अमर लगेगा, पर है नहीं। ऐसे ही हमें स्थायी लगने पर भी विराट् शरीर स्थायी है नहीं। विराट् तो अपनी दृष्टि से देख रहा था अतः उसे नाश की संभावना हुई और भय लगा। भय से काँपना हम लोगों में प्रत्यक्ष है, उससे विराट् में भी भय होने पर कम्प हुआ होगा यह कल्पना होती है।।१८-९।।

विराट् का भय कैसे मिटा यह बताते हैं **जैसे मनुष्य भय मिटाने के लिये (अधिष्ठानभूत) माला की वास्तविकता को जानता है (तभी भय दूर होता है) उसी प्रकार विराट् ने प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का गंभीरता से विचार किया।।२०।।** भयनिवृत्ति का उपाय तत्त्वज्ञान है क्योंकि भयहेतु अज्ञान व उसके कारण हुआ भ्रम है। वास्तविक भयहेतु होता तो उसकी निवृत्ति उपायान्तर से भी होती पर क्योंकि भय का कारण भ्रमसिद्ध है इसलिये इसको दूर करने का एक ही उपाय है अधिष्ठान की प्रमा। यह माला है इसके बारे में जो अज्ञान है, जब वह दूर हो जाता है तब उससे पैदा हुए सर्पका भय भी हट जाता है। इसी प्रकार विराट् ने भय का अनुभव करने पर विचार किया क्योंकि उसकी उपाधि अतिसात्त्विक है और सत्त्वगुण स्वभावतः ज्ञान में प्रेरित करता है। अपने से अन्य और कुछ नहीं है यह तो वह पहले ही समझ चुका था। भय होने पर विचार जगना ही उचित था कि 'किससे डर रहा हूँ?' अन्य कुछ न होने से अपने ही बारे में उसने विचार किया तो पूर्व जन्मों के संस्कारों के अनुसार उसे प्रत्यगात्मा का पता चल गया।।२०।।

आलोचन अर्थात् विचार ही तत्त्वज्ञान का उपाय है। जगह-जगह भाष्यकारादि

[१]**आलोचयन् यथातत्त्वम् अपास्तध्वान्ततद्भयम्।**
अनन्यानुभवं साक्षाद् ददर्शैकात्म्यम् आत्मनि।।२१।।

आचार्यों ने क्या-कैसे विचारना चाहिये यह साफ़ समझाया है। 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' आदि श्रुतियों में यह निर्देश है ही। विराट् के भी विचार का फल ज्ञान हुआ यह व्यक्त करते हैं **प्रत्यक् तत्त्व जैसा है वैसा ही उसे समझने के लिये विचार करते हुए विराट् ने अपने आत्मा में अद्वितीय-स्वरूपता का अपरोक्ष अनुभव प्राप्त किया। उस स्वरूप में अज्ञान और उसके फलस्वरूप होने वाला भय, दोनों नहीं हैं और वह स्वप्रकाश है, खुद ही भासमान है, उसकी जानकारी किसी अन्य पर निर्भर नहीं।।२१।।** (पाठान्तर में भाव है कि विचार किया गया आत्मतत्त्व अज्ञानरहित अर्थात् निरावृत हो जाता है। इस विषय में 'अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव' आदि सुन्दरपाण्ड्य-कारिका अनुकूल है। वार्तिक में (१.४.६१) 'आलोचयन् यथातत्त्वम् अपास्तध्वान्ततद्भवम्' पाठ है। 'तद्भव' अर्थात् उसका, अज्ञान का कार्य; अज्ञान व उसका कार्य जिससे हट चुका है उसका दर्शन किया यह अर्थ है।)

यथातत्त्व आलोचन ही कर्तव्य है। जैसा वह तत्त्व नहीं है वैसा तो उसे अभी ही समझ रहे हैं! सारा सांसारिक विचार, अनुसन्धान आत्मा के अयथावत् रूप को ही विषय कर रहा है जो भय आदि का ही हेतु बनता जा रहा है। इससे कभी कल्याण, भयनिवृत्ति नहीं हो सकती। ग़लत ज्ञान से स्थायी हित संभव नहीं। विराट् ने आत्मा का विचार उसकी यथार्थता समझने के लिये किया। इसके लिये विषयविरक्ति चाहिये। हम प्रायः विषयसुख पाने के लिये ही विचार में प्रवृत्त होते हैं अतः या स्पष्ट ही अनात्मा के बारे में सोचते हैं या आत्मा के भी कर्त्ता-भोक्ता रूप को ही सोचते हैं जिससे अज्ञान-तत्कार्य भयादि की वृद्धि ही होती है, निवृत्ति नहीं। विराट् के सामने विषय तो थे नहीं, सात्त्विक उपाधि होने से विषयासक्ति भी नहीं थी, अतः सचाई जानने के लिये ही उसने यथाशास्त्र विचार किया। 'यथातत्त्व' अर्थात् जैसी वस्तु है वैसा उसे समझना यही ज्ञान है। ज्ञान विषयाधीन बताया गया है। क्रिया तो कर्ता के अधीन है, उसमें कर्ता स्वतंत्र है, पर ज्ञान विषय के परतंत्र है क्योंकि विषयानुसारी न होने पर वह अज्ञान ही रह जाता है, ज्ञान हो ही नहीं पाता। लौकिक ज्ञान भी विषयानुरूप होने पर ही ज्ञान माने जाते हैं, अन्यथा भ्रम कहलाते हैं। बहिर्मुख

---

१. आलोचितं यथा तत्त्वमपास्तध्वान्तवद्भवेत्-इति पाठान्तरम्।

व्यक्ति तो डर का हेतु बाहर ही कल्पित करता चला जाता, उसे ही विचार मान लेता जबकि होता वह दिवास्वप्न ही, किंतु विराट् ने अंतर्मुख होने के कारण भीतर की ओर ही दृष्टि की। बाहर तो अन्य कुछ है नहीं यह पहले ही वह समझ चुका था अतः डर का हेतु अपने में ही देखना संगत भी था और सात्त्विक होने से उसके लिये स्वाभाविक भी था। इससे अन्य साधकों को भी निर्देश है कि भयादि विक्षोभों को दूर करने के लिये आत्मालोचन ही करें। सांसारिक प्रगति के लिये बाहरी वस्तु- व्यक्ति-परिस्थितियों का आलोचन आवश्यक है पर साधक क्योंकि बाहरी प्रगति के प्रति रुचि नहीं रखता इसलिये उसे उस ओर सोचने में नहीं जाकर अपने ही बारे में सचाई पता लगानी चाहिये, तभी क्षोभ का निवारण होगा। विराट् ने आत्मा में एकात्मता देखी। एकात्मता का अभिप्राय है अद्वितीयता। आत्मा अद्वितीय है अर्थात् स्वगत, सजातीय, विजातीय तीनों तरह के भेदों से रहित है। अज्ञानदशा में उसे हम सद्वितीय समझकर भयादि से त्रस्त हैं, उसकी स्वरूपभूत अद्वितीयता समझने पर वे भयादि निवृत्त हो जाते हैं। वह एकात्मता ही अज्ञान-तत्कार्य से रहित व स्वप्रकाश है और आत्मा का स्वरूप है। अतः जो एकात्मता, अद्वितीयता देखी वह आत्मा से पृथक् नहीं, उसका स्वरूप ही है। फिर 'आत्मा में' देखी ऐसा क्यों कहा? यह समझाने के लिये कि आत्मा के बारे में ही उसे ज्ञान हुआ कि वह अद्वितीय है। यह ज्ञान अन्य किसी के बारे में नहीं था, अपने ही बारे में था, इसे व्यक्त करने के लिये 'आत्मा में' ऐसा कहा। जैसे सर्पादि भ्रमसिद्ध पदार्थ रस्सी आदि अधिष्ठान में तादात्म्येन कभी भी नहीं होते, ऐसे अज्ञान-तत्कार्य प्रत्यगात्मा में सचमुच कभी भी नहीं है। उनकी प्रतीतिमात्र है जो आत्मा की सही समझ होने पर दूर हो जाती है। अद्वितीय आत्मस्वरूप स्वप्रकाश है, उसका किसी अन्य को अनुभव नहीं, क्योंकि कोई अन्य है ही नहीं! और जो कल्पित अन्य हैं वे जड होने से अनुभव में अक्षम हैं। अपने अपरोक्ष व्यवहार के योग्य किंतु अविषय वस्तु स्वप्रकाश कही जाती है। आत्मा की निरुपाधिक स्थिति ऐसी ही है। सोपाधिक दशा में तो बुद्धिवृत्ति आदि की ज़रूरत रहती है पर उपाधिरहित परमार्थ में कुछ नहीं चाहिये रहता। इस स्थिति को विराट् ने पा लिया।।२१।।

आलोचना से होने वाला तत्त्वज्ञान अभिलषित स्थिति का हेतु है अतः जीव के लिये योग्य है कि वह उसे प्राप्त करे यह समझाते हैं **प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का साक्षात्कार मानो वह आग है जिससे संसारहेतुभूत महत्त्वपूर्ण अज्ञानान्धकार जल जाता, नष्ट हो जाता है। विराट् को उसी ज्ञान से सारे पुरुषार्थ प्राप्त हो**

प्रत्यग्याथात्म्यविज्ञानशिखिप्लुष्टमहातमाः[1] ।।
आप्ताऽशेषपुमर्थोऽयं[2] सोऽमन्यत ततो विराट् ।।२२।।
देहेन्द्रियमनोबुद्धि-भावाऽभावादिसाक्षिणः ।
प्रतीचोऽन्यत् किमप्यत्र नास्ति कस्माद् बिभेम्यहम् ।।२३।।

गये। तदनंतर उसने विचार किया।।२२।। आत्मतत्त्व के प्रमाभूत अनुभव से जिसका अज्ञान मिट चुका था उस विराट् को सकल पुरुषार्थ मिल गये क्योंकि उस ज्ञान का प्रभाव ही ऐसा है। (पाठांतर में अर्थ है कि सकल पुरुषार्थ अर्थात् परम पुरुषार्थ वह आत्मा ही है जिसका अज्ञान दूर हो चुका। अविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित चेतन ही मोक्ष का स्वरूप बताया गया है।) अज्ञान को भी तम कहते हैं, अँधेरे को भी तम कहते हैं। अँधेरा आग से मिटता है, अज्ञान ज्ञान से मिटता है अतः ज्ञान को आग से उपमित किया जाता है। गीता में (४.३७) भी ऐसा वर्णन है। अज्ञान महान् एक तो इसलिये है कि दृढ बंधन का हेतु है और दूसरा इसलिये कि वह महान् आत्मवस्तु से सम्बद्ध है, उसी को व उसी के बारे में है। अपनी, आत्मा की महान्-ता का, व्यापकता का अज्ञान ही महान् तम या अज्ञान है जिसे अपने अखण्ड स्वरूप के साक्षात्कार से निरस्त करना है। इससे जो निरज्ञान आत्मा रह जाता है वह मोक्षरूप है। पुरुष जिसे चाहे वह पुरुषार्थ है। धर्म-अर्थ-काम भी पुरुषार्थ हैं लेकिन सशेष हैं, इन्हें पाकर भी कुछ-न-कुछ पाने लायक, चाहने लायक रहता ही है। मोक्ष ही अशेष पुरुषार्थ है, उसे पाकर कुछ भी पाने लायक रह नहीं जाता। पूरी कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता, धन्यता मोक्ष में सिद्ध हो जाती है।।२२।।

उसने क्या विचार किया, यह बताते हैं **शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के होने-न होने के साक्षी प्रत्यगात्मा से अन्य यहाँ कुछ भी नहीं है तो मैं किससे डर रहा हूँ!।।२३।।** भय शरीरादि के तादात्म्य से ही लगता है क्योंकि इन्हीं की हानि संभव है। जब स्वयं को इनसे सर्वथा अलग समझ लिया तब डर संभव नहीं रहता। इनसे अलग समझने का तरीका यह पहचानना ही है कि इनके होने को भी मैं जानता हूँ और इनके न होने को भी मैं जानता हूँ। यदि मैं देहादिरूप होता तो न इन्हें जानता और इनके न होने पर तो मैं होता ही नहीं कि इनके न होने को जान सकता। साक्षी उससे अलग होता है जिसका वह साक्षी है। देहादि और उनका न होना, दोनों का मैं साक्षी हूँ अतः दोनों से

१. शिखाप्लुष्ट इति पाठान्तरम्।
२. आत्माऽशेष इति पाठान्तरम्।

अहं ब्रह्मास्मि

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्वमात्मानं यदा पुमान्।
प्रतीच्येवानुसन्धत्ते ब्रह्मास्मीति तदेक्षते।।२४।।
प्रत्यग्दृष्ट्या तदज्ञानं न तज्जं चेक्षते स्वतः।
ब्रह्मप्रतीचोरैकात्म्यात् तद् ऊरीकृत्य[1] गर्जति।।२५।।

पृथक् हूँ। देहादि का अभाव सुषुप्ति में साक्ष्यकोटि का रहता है अतः उसका भी साक्षी मैं ही निर्णीत होता हूँ। 'अत्र', 'यहाँ' अर्थात् तत्त्वज्ञान की स्थिति में। अथवा विराट् की दशा में; विराट् सर्वरूप होने से उस दशा में उससे भिन्न कुछ नहीं तो भयहेतु की संभावना ही नहीं। अपने आप से डर नहीं लग सकता। भ्रम से भले ही लगे; अपनी ही छाया से कदाचित् भय हो जाता है पर तभी तक जब तक उसे कोई स्वतंत्र वस्तु समझें। जैसे ही वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है कि छाया मुझसे स्वतंत्र कुछ नहीं, वैसे ही भय समाप्त हो जाता है। साक्षी को भी जब अपनी अद्वितीयता एवं देहादिसाक्षिता पता चल गयी वैसे ही उसे समझ आ गया कि उसे डराने वाला कुछ नहीं, कोई कारण नहीं कि वह डरे।।२३।।

विराट् का अनुभव सभी ब्रह्मवेत्ताओं के लिये एक-सा है यह बताते हैं **जब पुरुष प्रत्यगात्मा के बारे में अनुसन्धान करता है तब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा अपने आपको 'मैं ब्रह्म हूँ' समझ लेता है।।२४।। प्रत्यग्रूप दृष्टि ही रह जाने पर प्रत्यक्सम्बन्धी अज्ञान और उस अज्ञान का कार्य विद्वान् नहीं देखता क्योंकि वह स्वयं ही बचा है, अज्ञानादि कुछ रहा नहीं। क्योंकि ब्रह्म व प्रत्यक्, स्वरूपतः एक हैं इसलिये उस एकता को स्वीकार कर विद्वान् गर्जना करता है (कि 'किससे डरूँ!')।।२५।।** अपने स्वरूप के निर्धारण के लिये विचार का तरीका अन्वय-व्यतिरेक का है। अन्वय अर्थात् एक जैसा बने रहना और व्यतिरेक अर्थात् आते-जाते रहना। जो हमेशा एक-सा रहे उसका अन्वय कहा जाता है, जो कभी हो, कभी न हो उसका व्यतिरेक कहा जाता है। लोक में भी तत्त्वनिर्धारण का यही प्रकार है : सर्वत्र, सब अवस्थाओं में जल में जो समान रहे उसे जल का स्वरूप मानते हैं, बाकी खनिजादि जो किसी जल में मिलें, किसी में न मिलें अर्थात् जिनका व्यतिरेक मिले उन्हें जल का स्वरूप नहीं मानते। देहेन्द्रियादि सभी का व्यतिरेक होता है। जाग्रत् में सब हैं, स्वप्न में

---

१. दूरी कृत्येति पाठान्तरम्।

शरीर-इंद्रियाँ नहीं, सुषुप्ति में मन-बुद्धि भी नहीं, अतः ये सब व्यतिरेकी हैं। ज्ञानरूप प्रत्यगात्मा साक्षी सर्वदा समान रहता है अतः उसका अन्वय है। मैं अपने को देहादि से एकमेक कर जानता हूँ पर अन्वय-व्यतिरेक से समझ आ जाता है कि मैं देहादिरूप सर्वथा नहीं हूँ, केवल ज्ञानरूप हूँ। अनुसंधान, विचार प्रत्यगात्मा के बारे में ही करना है, बाहरी, पराक् वस्तुओं के विचार से यह मोक्षप्रद बोध होगा नहीं। अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक अनुसंधान ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह तत्त्वज्ञान देता है। सपने से उठकर जैसे पता चलता है कि 'मैं अकेला ही हूँ, बाकी जो कुछ दीख रहा था वह था ही नहीं', वैसे ही आत्मज्ञान होने पर संसार के बारे में निश्चय हो जाता है कि यह है ही नहीं। अविचारशील तो सपने की भी कुछ-न-कुछ सत्यता मानता है! विचारशील को ऐसा भ्रम नहीं होता। आत्मा के बारे में भी विचार न करने तक संसार सत्य ही लगता है पर आत्मज्ञान होने पर यह सर्वथा असत्य निश्चित हो जाता है। सपने से उठकर विचार तो फिर सरल है पर संसार की असत्यता का विचार कठिन है जब तक इस स्वप्न से उठते नहीं अर्थात् आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त करते। मुझ प्रत्यगात्मा के रहते ही देहादि सब आते-जाते हैं यह विचार ही जगने का तरीका है। यह जगना विराट् के लिये सरल था क्योंकि वहाँ उससे अन्य कुछ प्रतीयमान था ही नहीं। हमारे लिये यह विचार कठिन है क्योंकि हम परिच्छिन्न हैं, अपने से अलग संसार देख रहे हैं। उसे जैसे 'मुझसे अन्य कुछ नहीं है' पता चल गया, वैसे हमें पता चले यह कठिन साधना से ही संभव है। उसने वैसी कठिन साधना पूर्वभव में कर ली थी अतः उसके लिये वह सरल था। किंतु तत्त्वज्ञान एक ही है 'मैं ब्रह्म हूँ', विराट् को हो या शुकादि को, ज्ञान समान ही होता है।।२४।।

(प्रत्यग्दृष्ट्या आदि श्लोक वार्तिक में (१.४.६५) भी है 'प्रत्यग्दृष्ट्या तदज्ञानतज्जं नैवेक्षते स्वतः। ब्रह्मप्रतीचोरैकात्म्यात्तदूरीकृत्य गर्जति।।' वार्तिकसार में भी 'तदूरीकृत्य' पाठ है। अनुभूतिप्रकाश की पुस्तकों में 'तद्दूरीकृत्य' ही पाठ उपलब्ध है जिसका अर्थ है 'उस अज्ञान को हटा कर', किन्तु वार्तिक और सार दोनों पाठों के अनुरोध से यहाँ अनुभूतिप्रकाश में भी 'ऊरीकृत्य' ऐसा पाठ रख दिया है।) बहिर्दृष्टि से अज्ञान और उसका कार्य जगत् हैं ही, लेकिन प्रत्यग्दृष्टि से अर्थात् जो दृष्टि प्रत्यगात्मा के यथार्थ को देख रही है उस दृष्टि से न अज्ञान है न उसका कार्य। जैसे माला देखने वाली दृष्टि से साँप नहीं वैसे प्रत्यग्दृष्टि से अविद्या नहीं। प्रत्यग् और ब्रह्म अर्थात् साक्षी और भूमा एक ही हैं। ऐसा नहीं कि कुछ करके एक होंगे, वरन् हैं ही एक। साक्षी में चिदाभास द्वारा देहादि से तादात्म्य दीखने पर भी वस्तुतः कोई अंतर नहीं

प्रत्यक्ता ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मता चात्मनः स्वतः ।
एवं सति कुतो मे भीरिति विद्वांस्त्रपायते । ।२६ । ।

आता, वास्तव में वह परब्रह्मरूप ही है। इस स्वाभाविक एकता को निःसंदिग्ध हो हृदय से स्वीकार लेने पर विद्वान् की गर्जना होती है कि दूसरा है ही नहीं तो डरना किससे! ।२५ । ।

तत्त्वज्ञान होने पर ही भयनिवृत्ति होती हो, ऐसा नहीं क्योंकि तब पता यह चलता है कि जब भय लग रहा था तब भी वस्तुतः वह था नहीं! अतः सत्य को जानने पर पूर्वस्थिति लज्जास्पद ही लगती है कि मैंने कैसी ग़लती की! यह बताते हैं **प्रत्यक्ता ब्रह्म का रूप है और प्रत्यगात्मा की ब्रह्मता स्वाभाविक है। यह परिस्थिति होने पर मुझे भय क्यों हुआ! इस तरह विद्वान् को लज्जा आती है। ।२६ । ।** प्रत्यक्ता अर्थात् बिना विषय हुए भासना, यह ब्रह्म का ही स्वरूप है। अभी हमें परिच्छिन्न आत्मा में ही प्रत्यकृता लगती है, ब्रह्म को परोक्ष (मैं से अलग) समझते हैं। अन्वय-व्यतिरेक से और शास्त्र के अनुसंधान से समझ आता है कि प्रत्यकृता परमात्मा का स्वरूप ही है, ब्रह्म भासमान भी है, अविषय भी है। इसी प्रकार प्रत्यक् अर्थात् साक्षी स्वभाव से ही ब्रह्म अर्थात् व्यापक, अपरिच्छिन्न, भूमा है। साक्षी को परिच्छिन्न तो साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जाता है, स्वतः उसे ससीम नहीं समझ सकते जैसे आकाश को उपाधि-परामर्श के बिना सीमित नहीं समझ सकते। घट, कमरा आदि उपाधियों की दृष्टि से तो आकाश सीमित है लेकिन स्वतः, उपाधियों के बिना वह असीम ही है। देहादि उपाधियों के कारण इसी तरह प्रत्यक् तत्त्व भी अब्रह्म, अव्यापक प्रतीत हो रहा है, उपाधिदृष्टि छूट जाने पर वह अव्यापकता निरस्त हो जाती है, स्वाभाविक पूर्णता, ब्रह्मता ही रह जाती है। इस प्रकार ब्रह्म की प्रत्यक्ता व प्रत्यक् की ब्रह्मता को जानता हुआ विद्वान् लज्जित ही हो सकता है कि ऐसी स्पष्ट सत्यता को न पहचानकर मैं भयभीत रहा! यह केवल समझाने का तरीका है, क्योंकि लज्जा दूसरा संमुख हो तभी आती है, कोई और है ही नहीं तो जैसे भय संभव नहीं वैसे लज्जा भी संभव नहीं। फिर भी ऐसा इसलिये कहा कि साधक को पता चले कि द्वैत में आग्रह रखते हुए वह कैसा लज्जास्पद कार्य कर रहा है। ।२६ । ।

आत्मा-परमात्मा के अभेद का निश्चय जो व्यापक प्रत्यगात्मा का ज्ञान वही भय आदि संसारबंधन का निवर्तक है, उसी से विराट् की भी निर्भयता संपन्न हुई यह कहते हैं **ब्रह्मविद्या से अन्य कुछ नहीं है जो हेतुसहित भय का विनाश करे। इसलिये इस**

ब्रह्मविद्याम् ऋते नान्यद् भयहेतुविनाशकृत् ।
अतोऽवबोधाद् एवाऽस्य भयं वीयाय सर्वतः ।।२७।।
कस्माद् अभेष्यद् ईशोऽयं द्वितीयात् खलु तद् भयम् ।
द्वितीयो नेश्वरस्याऽस्ति ततो निर्भय एव सः ।।२८।।

विराट् का भय आत्मा की अवगति से ही पूरी तरह दूर हुआ।।२७।। यह प्रभु किससे डरता! वह भय दूसरे से ही होता है। ईश्वर से दूसरा कोई है नहीं अतः वह निर्भय ही है।।२८।। भय का तो समय-समय पर निवारण होता रहता है लेकिन उसका कारण द्वैतबुद्धि बनी रहने से पुनरपि भय उत्पन्न होता रहता है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार भय के उस कारण को ही हटा देता है अतः फिर भय संभव नहीं रह जाता। 'मुझसे अन्य कोई या कुछ है' यह प्रतीति रहते ही उस अन्य से भय हो सकता है। जब 'अन्य कोई है ही नहीं' यह पता रहता है तब भय असंभव होता है। द्वैतदर्शन ही भय का मूल कारण है। देश-काल-वस्तु, कुछ भी परमात्मा से भिन्न नहीं यह समझ आते ही विराट् का भय पूर्णतः निवृत्त हो गया। अन्य भी जो ऐसा जान जाता है उसका भय भी समाप्त हो जाता है। विराट् वस्तुतः ईश्वर ही था क्योंकि स्थूल उपाधि वाले ईश्वर को ही विराट् कहते हैं फिर भी 'ईश्वर से भिन्न कुछ है' यह जो द्वितीयता का ग़लत ज्ञान था उसी के कारण उसे भय हुआ। अपनी व्यापकता का ज्ञान जब नहीं रहता तभी अपने से दूसरा कुछ दीखता है। दूसरा-पन ही व्यवहार में भी महान् अंतर ला देता है। मारवाड़ का एक व्यापारी बर्मा जाकर वाणिज्य करने लगा। पुराने समय की बात है, यातायात अत्यंत धीमा था, अतः व्यापार को छोड़कर घर नहीं जा पाता था। उसकी पत्नी बार-बार उसे घर आने को लिखती थी तो वह उसे उत्तर देता कि वही बर्मा चली आये क्योंकि कारोबार छोड़ना संभव नहीं। यों होते-होते ग्यारह-बारह वर्ष बीत गये। एक बार उसे जँचा कि मुनीम के भरोसे काम छोड़कर घर होकर आये। उसी समय उसकी पत्नी को जँचा कि बच्चा ग्यारह साल का हो गया है, उसे साथ लेकर वही बर्मा चली जाये! भगवान् की ऐसी लीला हुई कि दोनों साथ ही कलकत्ता पहुँचे और एक ही धर्मशाला में ठहरे। यात्रादि के कारण वह बालक अत्यंत बीमार हो गया, उदरविकार से पीडित हो गया। उसे दस्त व उल्टी होने लगे। कमरे से पैखाने तक जाने में भी अक्षम हो गया, कमरे में ही मल त्यागने लगा, माँ साफ करती थी, यथासंभव उपचार का प्रयास कर रही थी। बगल के कमरे में व्यापारी ने यह देखा तो सोचा कि वह कोई हैजाग्रस्त रोगी है और हैजा संक्रामक रोग है ही। पहले उसने उन माँ-बेटे को धमकाया कि कमरा न गंदा करें फिर धर्मशाला

के व्यवस्थापक से शिकायत की। व्यवस्थापक ने समझाया कि छोटे बच्चे के साथ अकेली औरत है, मुसीबत में है, उसे धर्मशाला से कैसे निकाला जाये; पर व्यापारी ने उसे उस ज़माने में पचास रुपये का लालच देकर रात को ही उन्हें धर्मशाला से बलात् निकलवा दिया। सुबह होते-होते बच्चा सड़क पर, फुटपाथ पर ही मर गया! मारवाड़ में रिवाज़ है कि किसी के मरने पर उसकी वंशपरंपरा का नाम लेकर ऊँची आवाज़ में रोते हैं। वह औरत भी बालक के पिता दादा आदि का उल्लेखकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। धर्मशाला में वह व्यापारी तब तक जग चुका था, उसने आवाज़ सुनी। गाँव का नाम, पिता-भाई आदि का नाम सुनकर वह घबराकर नीचे आया। ग्यारह-बारह साल बीत चुके थे, औरत के मुँह पर घूँघट भी था अतः पहचान तो सकता नहीं था, उसने औरत से पूछा 'तू कौन है?' अपने देश की भाषा में प्रश्न सुनकर वह भी परिचय देने लगी। व्यापारी ने हतप्रभ होकर औरत का नाम लेकर पूछा 'तू अमुक है?' औरत ने हामी भरी, घूँघट के कोने से आदमी का मुँह देखकर उसे पहचाना और पैड़ पर गयी। जिस व्यापारी ने रात में पचास रुपये देकर उन्हें धर्मशाला से निकलवाया था क्योंकि वह उन्हें अपने से भिन्न समझ रहा था, उसे ही जब पता चला कि वे उसी के पत्नी-पुत्र हैं, कोई और नहीं हैं, तब वह भयंकर दुःख से पीडित हो गया। रात में यही ज्ञान हो जाता तो सारा धन उसके इलाज में ही लगाता, उसको बचाने की ही कोशिश करता। दोनों व्यवहारों में फ़र्क़ का कारण क्या है? भेदबुद्धि और अभेदबुद्धि ही फ़र्क़ का कारण है। अपना होने पर भी दूसरा समझ लेने से व्यवहार बदल जाता है। वास्तव में संसार का कण-कण व क्षण-क्षण सिवाय परमात्मा के कुछ नहीं है। इन्हें परमात्मा से भिन्न समझने से ही इनसे भय लगता है। जब समझ आ जाता है कि ये परमात्मरूप हैं तब भय का प्रश्न ही नहीं रह जाता। ग़ैरपना आने पर ही भय है व उसके जाते ही अभय है। जैसे अपना नाम सुनते ही उस व्यापारी का ग़ैरपने का भाव तुरन्त दूर हो गया वैसे ही श्रुति के 'तत्त्वमसि' का श्रवण करते ही ब्रह्माण्ड का ग़ैरपना मिट जाता है। भ्रमरूप होने से जैसे सही ज्ञान होते ही व्यापारी का भेदज्ञान दूर हो गया वैसे संसार का भेदज्ञान भी भ्रम है अतः शास्त्रीय अखण्ड बोध से ही निवृत्त हो जाता है। विराट् की भी यह अभय स्थिति तत्त्वज्ञान का ही प्रभाव थी, अन्य भी जो इस तत्त्वज्ञान को पा जाता है वह अभय हो जाता है।।२७-२८।।

विराट् को तत्त्वज्ञान हुआ यह संगत नहीं लगता क्योंकि तत्त्वज्ञान के प्रसिद्ध उपाय उसे उपलब्ध थे नहीं और उनके बिना उसे हो गया तो अन्यों के लिये भी उपायानुष्ठान व्यर्थ होगा। इस समस्या को उठाकर समाधान करते हैं **प्रश्न होता है कि प्रजापति**

ननु प्रजापतेरैक्यदर्शनं कुत उद्बभौ।
शास्त्राचार्यादितद्धेतोरसत्त्वात् तदसम्भवः।।२९।।
उच्यते, महता पुण्यपुञ्जपाकेन तत्पदम्।
वैराजं लब्धवांस्तेन ज्ञानम् अस्योद्बभौ स्वतः।।३०।।
'ज्ञानम् अप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धम्' इति स्मृतिः।।३१।।
एवं सति स्वयम्भातवेदत्वाद् बुद्धवान् स्वयम्।।

को अभेददर्शन कैसे उत्पन्न हुआ? ज्ञान के हेतु शास्त्र, आचार्य आदि प्रसिद्ध हैं, वे उसे उपलब्ध थे नहीं तो ज्ञान भी असम्भव है।।२९।। उत्तर देते हैंपुण्यों के समूहों के महान् परिणामस्वरूप उसे वह विराट् पद मिला अतः उसे स्वतः ज्ञान उत्पन्न हो गया।।३०।। स्मृति में बताया है कि जगत्पति (प्रजापति, विराट्) को जन्म के साथ ही ये उपलब्ध होते हैंअकुण्ठित ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म।।३१।। ऐसा होने से क्योंकि वेद उसे स्वयं ही पता था इसलिये उसने स्वयं ही तत्त्व को जान लिया।।१/२।। प्रश्न स्पष्ट ही है कि शास्त्रादि में तत्त्वज्ञान के जो प्रसिद्ध हेतु हैं उनके बिना विराट् को आत्मज्ञान कैसे हुआ? 'शास्त्र, आचार्य, आदि' इस आदि में चित्तशोधनहेतु कर्म, शमादिपूर्वक श्रवणादि सभी का संग्रह हो जाता है। उत्तर का तात्पर्य है कि अत्यंत पुण्यवश प्राप्त उपाधि की विशेषता से उसे उन कारणों की ज़रूरत नहीं पड़ी जो साधारण जीवों के लिये अनिवार्य होते हैं। पूर्व कल्प में सर्वाधिक कर्म-उपासना वाला ही विराट् होकर उत्पन्न होता है। उसकी वह व्यापक उपाधि इतनी परिशुद्ध होती है कि उसे स्वयमेव वेद का भान हो जाता है, किसी आचार्य से उसे वेद-वेदार्थ सीखना-समझना नहीं पड़ता। तत्त्व-निरावरण के लिये प्रमाण अनिवार्य है और वह उसे वेद के रूप में स्वतः मिला था जिससे उसने आत्मा के अद्वैत को तुरन्त समझ कर भय को उन्मूलित कर दिया। शास्त्र में विराट् की सामर्थ्य बतायी गयी है कि उसका ज्ञान निरंकुश होता है। यह स्मृति वचन आचार्य शंकर द्वारा बृहदारण्यकभाष्य १.४.२ में उद्धृत है। हर सृष्टि में विराट्पद पर अलग-अलग अधिकारी पहुँचेंगे किंतु वहाँ प्रत्येक का ज्ञान पूरा ही होगा। बाकी जीवों का ज्ञान अत्यन्त सीमित है, दीवाल के ही पीछे क्या है यही हमें मालूम नहीं चल पाता! किंतु विराट् का ज्ञान यों किसी से भी रुकता नहीं। ऐसे ही उसमें वैराग्य भी पूर्ण ही प्रकट होता है। उसमें ऐश्वर्य भी पूरा है, वह सारे संसार का अधिपति है। संसारी प्राणी की सामर्थ्य (ईश्वरता) बहुत ही सीमित होती है। एक

आयकर अधिकारी ही किसी को परेशान करने के लिये पर्याप्त है! विराट् पूर्ण ऐश्वर्य वाला है, उसकी सामर्थ्य निरंकुश है। निरंकुश ज्ञान वाला होने से विराट् को गुरु की ज़रूरत नहीं पड़ी, बाकी लोगों को ऐसा स्वतः वेदज्ञान है नहीं अतः गुरु की ज़रूरत पड़ती ही है। शास्त्र पढ़कर भी, जब तक गुरु हमारी शंकाओं का समाधान न कर दे तब तक हमें शास्त्ररहस्य प्रकट नहीं होता, ग्रहण नहीं होता। विराट् का पूर्व जन्म में ही पर्याप्त अध्ययनादि हो चुका था, इस उच्च पद पर उसकी उपाधि अत्यंत सात्त्विक थी ही अतः वेद-तात्पर्य अद्वितीय आत्मा उसे स्वयं समझ आ गया। कोई पूछ सकता है कि यदि विराट् को वेदज्ञान जन्मजात था तो डर क्यों लगा? उत्तर है कि स्मृति में 'सहसिद्ध' कहने का मतलब है कि उसे ज्ञानादि के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। जन्मजात मानने पर भय-बोधक श्रुति का विरोध होगा अतः वैसा नहीं मान सकते। विराट् पद क्योंकि कर्म-उपासना का फल है इसलिये प्राप्त होते समय जीवभाव प्रधान होगा यह स्पष्ट करने के लिये भयवर्णन उचित है। इतने-मात्र से बाकी सबको गुरु आदि नहीं चाहिये यह शंका बेकार की है। बिल्ली अँधेरे में देख पाती है तो इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य भी देख सके! ऐसे ही विराट् को गुरु की ज़रूरत नहीं पर हम सबको है ही। विद्यारण्यस्वामी ने वार्तिकसार में यहाँ साधारण नियम बता दिया है 'एवं यत्साधनफलं सिद्धं यस्यान्यसाधनात्। तस्य तत्साधनं व्यर्थम् इतरस्य च सार्थकम्।।' अर्थात् जिसे जिस साधन का फल प्राप्त ही है उसे उस फल के लिये कोई साधन नहीं करना पड़ता लेकिन दूसरों के लिये साधनानुष्ठान ज़रूरी रहता है।।३०-३२।।

तृतीय कण्डिका में श्रुति ने बताया है कि भय हटने पर भी विराट् को रति का अनुभव नहीं हुआ; अतः अब भी कोई अकेला रमण नहीं कर पाता। विराट् ने इच्छा की कि अरति नष्ट करने में समर्थ दूसरा हो। इच्छा होने पर वह विराट् उतना हो गया जितना परस्पर आलिंगित स्त्री-पुरुष होते हैं। उसने अपने इसी शरीर को दो टुकड़ों में बाँटकर अलग कर दिया। यों टुकड़े गिरा देने से (लोक प्रसिद्ध) पति व पत्नी हो गये। इसलिये याज्ञवल्क्य ने बताया है कि स्त्री-शरीर आत्मा के आधे टुकड़े जैसा है। विवाह से पूर्व पुरुष को वह खाली जगह महसूस होती है जो स्त्री मिल जाने पर पूरी हो जाती है। विराट् ने यों उत्पन्न उस अर्धभागरूप स्त्री से संपर्क किया जिससे मनुष्य पैदा हुए। श्लोक ४१ तक इस प्रसंग को उपस्थित करते हैं।

कर्म-उपासना के फलस्वरूप उत्पन्न प्रारब्ध इतना प्रबल होता है कि तत्त्वज्ञान को भी प्रतिबद्ध कर सकता है इसे सूचित करते हुए विराट् की अरति बताते हैं **अपनी**

अरतिः

बोधध्वस्तात्ममोहस्याऽप्यरतिः समजायत।।३२।।
स्वाऽभीष्टवस्त्वलाभेन चेतसो याऽनवस्थितिः।
अरतिः सा, सिसृक्षोः सा वस्त्वलाभादजायत[1]।।३३।।
ननु विज्ञानविध्वस्ताऽवविद्यायाः कुतोऽरतिः।
ध्वस्तान्ध्यस्याऽपि सा चेत् स्याद् अनिर्मोक्षः प्रसज्यते।।३४।।

अद्वितीयता के बोध से आत्मविषयक मोह जिसका नष्ट हो चुका था उस विराट् को भी अरति का अनुभव हुआ।। ३२।। स्वयं को अभीष्ट वस्तु न मिलने पर चित्त को जो बेचैनी होती है वह अरति है और विराट् को वह इसलिये हुई कि उसे (द्वितीय) वस्तु अर्थात् पत्नी नहीं उपलब्ध थी।।३३।। विराट् को अकेलापन अच्छा नहीं लगा। इसलिये आज भी आदमी अकेला हो तो उसका मन नहीं लगता। काशी में एक महात्मा थे। पढ़ते थे नहीं। साथियों ने ज़ोर दिया तो उन्होंने पढ़ना प्रारंभ किया। लघुकौमुदी की पुस्तक लेकर बैठे बराम्दे में और लगे ऊँघने। एक गाय आयी और उनकी किताब चबा गयी! उन्होंने और साथियों ने भी मान लिया कि वे पढ़ नहीं सकते। बाकी समय तो बातचीत आदि होती रहती थी पर परीक्षा के दिनों में पढ़ने वाले साधु सारा समय पढ़ने में बिताने की कोशिश करते थे तो वे महात्मा अकेले पड़ जाते थे, किससे बोलें! मौका पाकर जिसका कमरा खुला मिल जाये उसी के पास बैठकर गप्पें हाँकने लगते थे। उनसे कहें कि क्यों सबको परेशान करते हो? तो कहते थे 'विराट् को भी अकेले अच्छा नहीं लगा तभी हम सब को पैदा कर सबके लिये परेशानी खड़ी कर दी तो मैं अकेला कैसे प्रसन्न रहूँ!' यह सभी का अनुभव है कि अकेला रहना पसंद नहीं आता। पसंद न आने के लिये यहाँ 'अरति' शब्द का प्रयोग किया है। इष्ट चीज़ न मिलने पर मन की अस्थिरता अरति है। आगे सृष्टि करनी है अतः यहाँ द्वितीय वस्तु स्त्रीरूप समझनी चाहिये।।३३।।

एक महत्त्वपूर्ण शंका उठती है **आत्मज्ञान से जिसकी अविद्या नष्ट हो चुकी उसे अरति क्यों हुई? निवृत्त-अविद्या वाले को भी अरति हो तो (ज्ञान से) मोक्ष होने की व्यवस्था ही भंग हो जायेगी!।।३४।।** सर्वत्र प्रसिद्ध है कि तत्त्वज्ञान अज्ञान मिटाता है तो सारा दुःख दूर होकर परमानन्द प्रकट हो जाता है। उस परमात्मरूप 'रस' को पाकर विद्वान् आनन्दी हो जाता है इत्यादि आत्मवेत्ता के

---
१. वध्वलाभादजायत इति वार्तिकसारे पाठः, प्रसङ्गानुकूलश्च।

अप्युत्पन्नात्मबोधानाम् आऽधिकारसमाप्तितः ।।[1]
अरत्यादि यथा दृष्टं तथैव स्यात् प्रजापतेः ।।३५ ।।

बारे में बताया गया है। द्वितीय का सद्भाव तो दुःख का हेतु ही समझाया जाता है अतः द्वितीय कोई है ही नहीं यह जानने पर विराट् को परम प्रसन्न रहना चाहिये था, बेचैन कैसे हो गया? और यदि ज्ञान के बाद भी यों बेचैनी बनी रही तो यह बात ही अमान्य है कि ज्ञान से मोक्ष होता है क्योंकि मोक्ष और अरति साथ नहीं रह सकते।।३४।।

मीमांसा की मर्यादा है कि तात्पर्य के अनुसार अर्थवाद को समझना चाहिये। क्योंकि प्रकरण-तात्पर्य मोक्षप्रद ज्ञान का ही है अतः विराट् को तत्त्वज्ञान नहीं हुआ यह तो यहाँ विवक्षित नहीं हो सकता, अरति की उपपत्ति की जा सकती है यह स्पष्ट करते हैं **जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है उन्हें भी अधिकार-समाप्त होने तक जैसे अरति आदि देखे जाते हैं वैसे ही प्रजापति विराट् के भी अरति आदि संगत हैं। ।३५ ।।** शास्त्र में स्पष्ट समझाया है कि तत्त्वज्ञान से संचित-आगामी कर्म नष्ट होने पर भी प्रारब्ध कर्म भोग से क्षीण होते हैं। प्रारब्ध तत्त्वबोध में हेतु बना अतः तत्त्वबोध उसका विरोध न करे यह उचित भी है! वसिष्ठ, सनत्कुमार आदि का जीवन व्यवहार इसीलिये संगत है। इसी तरह अधिकार-सम्पन्न सूर्य, यम आदि हैं जिनका प्रारब्ध सृष्टिपर्यंत उन पदों को भोगने का है अतः वे तत्त्वनिष्ठ होने के बावजूद कार्य का निर्वाह करते हैं। इसे यावदधिकाराधिकरण में ब्रह्मसूत्र ३.३.१९ में स्पष्ट स्थापित किया गया है। इसी तरह पूर्व कल्प में विशिष्ट कर्म-उपासना के फलस्वरूप विराट् पद मिलता है। पद पर पहुँचने के बाद आत्मज्ञान हो जाता है किन्तु जिस प्रारब्ध से वह विराट् बना उसे भोगना ही पड़ता है। विराट् को सारी स्थूल सृष्टि करनी है जो प्रारंभ होती है अरति से अतः उसे अरति होना भी संगत है। अधिकार समाप्त होने पर उसका वैसे ही विदेह कैवल्य है जैसे प्रारब्ध समाप्त होने पर अन्य जीवन्मुक्तों का। तत्त्वज्ञान से मोक्ष अवश्य है पर उस मोक्ष का प्रारब्धानुसार भोगे जाते दुःखों से विरोध नहीं क्योंकि दोनों का धरातल ही अलग-अलग है।।३५।।

विराट् की जीवन्मुक्ति बताकर उसकी विदेह मुक्ति भी समझाते हैं **जिसका जितना अधिकार है उतने भोग का अनुभव कर लेने पर मोक्ष की रुकावट हट**

१. यद्यप्यनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु 'अधिकारसमाप्तित' इति पठ्यते तथापि वार्तिकसारे आ-घटितपाठदर्शनात् तस्यैवात्र युक्तत्वात् सोऽत्र स्थापितः। वार्तिके तु 'अधिकाराऽसमाप्तितः' (१.४.१०३) इति पठ्यते।

अधिकारो यस्य यावान् भुङ्क्ते भोगे स तावति।
कुतो न मुच्यते मुक्तिप्रतिबन्धस्य संक्षयात्।।३६।।
सत्यामप्यात्मविद्यायां यो दोषो न निवर्तते।
तेन दोषेणानुमेयोऽधिकारो विदुषाम् असौ।।३७।।

चुकने से वह क्यों न मुक्त होगा!।।३६।। जैसे किसी तत्त्वज्ञ का प्रारब्ध पचीस-पचास सालों में दो-चार शिष्यों को उपदेश दिलाने लायक है तो उतना प्रारब्ध भोग समाप्त कर वह विदेह मुक्त हो जाता है वैसे प्रजापति का कल्पपर्यन्त का प्रारब्ध है तो वह उतने समय बाद विदेह मुक्त हो जायेगा। अधिकार पाना ज्ञान का फल नहीं है, पूर्वकृत कर्म-उपासना का फल है। सूर्य, यम आदि पद मिलना भी कर्म-उपासना का फल है, उनका भी इसी तरह विदेह मोक्ष संगत है। तत्त्वज्ञान इन सबको समान है, वसिष्ठ याज्ञवल्क्यादि को भी वैसा ही तत्त्वज्ञान हुआ, अन्तर प्रारब्ध में है। लोक में भी कोई कार्यविशेष मात्र के लिये स्वल्पकालिक नियुक्ति पाया अधिकारी होता है, कोई उससे दीर्घकाल की नियुक्ति पाता है, कोई सेवानिवृत्ति पर्यंत स्थायी नियुक्ति पाता है; ऐसे ही जीवों के प्रारब्ध विभिन्न होते हैं, अपने-अपने प्रारब्ध के अनुसार सब जीवन बिताकर, यदि ज्ञानी हैं तो विदेह मुक्ति पा जाते हैं। ज्ञान से मोक्ष अवश्य है, प्रारब्ध उस विदेह मोक्ष में रुकावट है, प्रतिबंधक है; प्रारब्ध समाप्त होते ही मोक्ष अनायाससिद्ध है। यह स्मरण रखना चाहिये कि विदेह कैवल्य के लिये प्रारब्ध प्रतिबंधक, रुकावट है। जीवन्मुक्ति तो ज्ञाननिष्ठा के साथ ही हो जाती है, विक्षेप की प्रतीति भी न होना यह जो विदेह स्थिति है इसको रोकने वाला प्रारब्ध है जो पूरा होते ही 'विमुक्तश्च विमुच्यते' के अनुसार विदेह कैवल्य अनिवार्य है। इस ज्ञानकालिक प्रारब्ध और उसकी सफलता को उपपन्न करने के लिये तत्त्वज्ञान से अविद्यानिवृत्ति मानकर भी लेशाविद्या, अविद्यासंस्कार, अविद्याछाया आदि की कल्पना आचार्यों ने की है। 'स्वाऽविद्यायाः बाधितायाः प्रतीतिः' अर्थात् अपनी बाधित अविद्या की प्रतीति - यही लेशाविद्या आदि शब्दों से कही जाती है। यह प्रतीति प्रारब्धवश चलती है, प्रारब्ध पूर्ण होने पर प्रतीति समाप्त होते ही पूर्व में हो चुका तत्त्वज्ञान विदेह मुक्ति प्रदान कर देता है।।३६।।

शास्त्र प्रमाण से यह व्यवस्था स्वीकार्य है यह बताते हैं **आत्मविज्ञान हो चुकने पर भी जो दोष निवृत्त नहीं होता उस दोष से विद्वान् के उस अधिकार का अनुमान हो जाता है।।३७।।** जिसे आत्मज्ञान हो गया, अपने स्वरूप के बारे में उसे कोई संशय-विपर्यय नहीं है, अपने स्वरूप का स्पष्ट भान है, फिर भी यदि कोई दोष

अथ सृष्टिः

प्रबलाऽऽरब्धवेगेन कामुकः सन् प्रजापतिः ।
एकं देहं स्वभोगार्थम् असृजद् मिथुनात्मकम् ।।३८ ।।

उपलब्ध है तो समझ आ जाता है कि प्रारब्धानुसार उतने अधिकार का पालन करना अनिवार्य है। अरति दोष है, अकेले में शांति से प्रसन्न न रह पाकर बेचैन होना कामनारूप दोष का ही प्रभाव है। संसार उत्पन्न करने की कामना विराट् में थी, उसी से अरतिरूप दोष प्रकट हुआ। जिन आत्मज्ञों का विक्षेपबहुल प्रारब्ध नहीं होता वरन् क्षयोन्मुख प्रारब्ध होता है वे उत्तरोत्तर भूमिकाओं पर आरूढ होते जाते हैं। अन्त में उन्हें खाना, पीना आदि किसी भी चीज़ का भान नहीं रहता। अन्यों को प्रारब्धपर्यंत जीवन व्यतीत करना पड़ता है और जिनकी पूर्व में विशेष तपस्या रही है उन्हें अतिदीर्घकाल के आधिकारिक पद मिल जाते हैं जिन पर आरूढ हो वे सृष्टिसंचालन करते रहते हैं। मुक्त तो वे हैं लेकिन विदेहभाव में उनकी वह नियुक्ति ही प्रतिबंधक है, रुकावट है जो दूर होने पर वे विमुक्त हो जाते हैं। आत्मज्ञान से मुक्ति उसी क्षण हो जाती है किंतु मोक्ष में जो अरति आदि दोषों का अभाव भी होना चाहिये वह प्रारब्धपर्यंत रुका रहता है। शास्त्र में ज्ञान से मोक्ष कहा है, विराट् को ज्ञान हुआ यह भी बता दिया, फिर भी अरति का कथन है तो पता चलता है कि अधिकार (प्रारब्ध) के कारण अरति है। 'अनुमान' से यहाँ अर्थापत्ति समझनी चाहिये कि ज्ञान के बाद अरति प्रारब्ध के बिना अनुपपन्न होने से प्रारब्ध को सिद्ध करती है।।३७।।

अरति मिटाने के लिये विराट् ने प्रपंच का विस्तार शुरू किया यह वर्णन करते हैं **बलवान् प्रारब्ध के प्रवाह से प्रेरित प्रजापति विराट् कामनावान् हुए और उन्होंने अपने भोग के लिये जोड़ा-रूप एक शरीर बनाया।।३८।।** दुर्बल प्रारब्ध का समाधि आदि के विशेष अभ्यास से प्रतीकार हो भी जाये पर प्रबल प्रारब्ध का भोग अनिवार्य है। इतने बड़े ब्रह्माण्ड को, इसमें सारे प्राणियों को बनाना, संसार-व्यवस्था चलाना अत्यंत महत्त्व का कार्य है, इसके लिये ईश्वर जिसे नियुक्त करता है उसका प्रारब्ध सर्वाधिक बलवान् ही होगा, उससे ज़्यादा बल वाला किसी का प्रारब्ध संभव नहीं। हम लोग दस-बीस मकान, पानी का टाँका बनाकर सोचते हैं कि बहुत काम किया और विराट् को तो हिमालय, विन्ध्य, महासागर आदि समेत पृथ्वी और ऐसे अनन्त लोकों वाली सारी दुनिया बनानी है! अतः विराट् का प्रारब्ध सबसे प्रबल होने के कारण उसे अपने अधिकार का उपयोग करना ही था,

तद् द्वेधाऽपातयद् देहम् अभूतां दम्पती उभौ।
मनुः पुमान् वधूर्ज्ञेया शतरूपाऽत्र नामतः।।३६।।
तयोः सम्भोगतो जाता मनुष्या दम्पती पुनः।
नानादेहान् अगृह्णीतां ताभ्यां द्वन्द्वानि जज्ञिरे।।४०।।

वह भूमिकारूढ आदि हो नहीं सकता अतः उसे आगे जो कुछ करना है उसकी कामना हुई यह उचित था। सृष्टि के लिये स्त्री-पुरुष होना ज़रूरी हैं अतः विराट् को वैसे शरीर की कामना हुई। उन्होंने अपने भोग के लिये ही वह शरीर बनाया जिसमें आदमी-औरत के शरीर जुड़े हुए थे अतः वह जोड़ा-रूप शरीर था। जैसे सारा दूध दही बन जाता है ऐसे विराट् से वह शरीर नहीं बना वरन् विराट् वैसा ही बना रहा, उस रूप से पृथक् जोड़ा-रूप शरीर पैदा हो गया।।३८।।

जैसे घड़ा गिराने से फूटकर दो ठीकरे (कपाल) हो जाते हैं या नारियल फोड़ते हैं तो दो टुकड़े हो जाते हैं ऐसे विराट् ने उस जोड़ा-शरीर को गिराकर दोनों टुकड़े अलग-अलग कर दिये, ऐसा जो श्रुतिवर्णन है उसे व्यक्त करते हैं **वह शरीर दो टुकड़ों में बँट जाये इस तरह विराट् ने उसे गिराया। वे दोनों टुकड़े दम्पती हुए। उनमें पुरुष मनु नाम से और वधू (स्त्री) शतरूपा नाम से संसार में जाने गये।।३६।।** मिथुनात्मक अर्थात् जोड़ारूप शरीर विराट् ने गिराया तो वह दो हिस्सों में बँट गया। आदमी वाला हिस्सा मनु और औरत वाला हिस्सा शतरूपा नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्य देशों के पुराणों में मानते हैं कि पहले सब चार हाथों - चार पैरों वाले थे, किसी कारण वे दो टुकड़ों में बँट गये, वे दोनों हिस्से एक-दूसरे को खोजते रहते हैं और दोनों आपस में मिल जायें तो उनका कार्य पूरा हो जाता है। जब तक परस्पर मिलें नहीं तब तक अपूर्ण रहते हैं। इसमें ध्वनि है कि भोक्ता-भोग्य अलग हो गये हैं, एक-दूसरे को ढूँढ रहे हैं। यहाँ श्रुति ने आदि दम्पती की उत्पत्ति बतायी। जाया अर्थात् पत्नी और पति इन्हें मिलाकर दम्पती कहते हैं। मनु से आगे सारी सृष्टि हुई। हम उन्हीं की सन्तान होने से मानव कहे जाते हैं। आदि माता का नाम शतरूपा था यह भी वेद बता रहा है।।३६।।

मनुष्यादि सब प्राणी मनु-शतरूपा से बने यह चौथी कंडिका के संग्रह से बताते हैं **उन दोनों के सम्भोग से मनुष्य पैदा हुए। फिर दम्पती ने अलग-अलग देह धारण किये और उन्हीं दोनों (मनु-शतरूपा) से सारे जोड़े पैदा हुए।।४०।। गाय, घोड़ा, गधा, बकरा, भेड़ आदि चींटी पर्यन्त जोड़ों में होने वाले सब**

गवाश्वरासभाजाविप्रमुखा आपिपीलिकम्।
प्राणिनो मिथुनात्मानो जाताः कर्मानुसारतः।।४१।।
मुखबाहूरुपादेभ्यो वह्नीन्द्रवसुभूमिकाः।[1]
देवता असृजद् ब्रह्मा चातुर्वर्ण्यनियामिकाः।।४२।।

प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार (मनु-शतरूपा से ही) पैदा हुए।।४१।। जो शरीर उस जोड़ा-शरीर को गिराने से बने थे उन्होंने सम्भोग किया तो मनुष्य पैदा हुए। फिर मनु-शतरूपा ने संकल्प से गाय आदि सब प्राणियों के शरीर क्रमशः धारण कर उन-उन प्रजातियों को पैदा किया। सभी के आदि तो वे ही दोनों हैं। शतरूपा गाय-घोड़ी आदि बनती गयी, मनु साँड-घोड़ा आदि बनते गये और उस योनि के शरीर पैदा करते गये। पैदा होने वाले प्राणी तो अपने कर्मों के अनुसार उन योनियों में जन्म लेते गये लेकिन वे पैदा हो सकें इसके लिये माता-पिता का कार्य मनु-शतरूपा ने किया। उन्होंने स्वातन्त्र्यपूर्वक किया, जन्म लेने वाले कर्मवशवर्ती होकर पैदा हुए। यों उत्पन्न सभी प्राणी मिथुनात्मक हैं, सब में नर-मादा होते हैं। जिन प्रजातियों में शारीरिक संरचना से भेद नहीं दीखता उनमें भी दोनों सामर्थ्य होती हैं जिससे आगे प्रजनन होता है। इस प्रकार विराट् से सब प्राणी उत्पन्न हुए यह बताया।।४०-१।।

पाँचवीं कण्डिका में बताया कि प्रजापति ने विचार किया 'मेरा रचा जगत् मुझसे भिन्न नहीं है। मैं ही सृष्टि हूँ।' इससे यह विधान किया कि अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैव सारा जगत् मैं हूँ यह उपासना कर्तव्य है। छठी कण्डिका में अग्नि देवता की उत्पत्ति बतायी है। १.४.११-१३ में क्षत्रियादि की सृष्टि उपनिषत् में बतायी ही है अतः भाष्यकार ने उसका यहाँ उपसंहार कर लिया है। वर्णों के साथ उनके देवता भी समझने चाहिये। इस प्रसंग को संक्षेप में कहते हैं **ब्रह्मा ने (प्रजापति विराट् ने) चारों वर्णों को नियम में रखने वाले अग्नि, इंद्र, वसु और पृथ्वी देवताओं को मुख, बाहु, ऊरु और पैरों से उत्पन्न किया।।४२।।** अग्नि आदि की सृष्टि संभोग से नहीं वरन् मुख आदि से हुई यह श्रुति ने स्पष्ट किया है। अतः इनमें वैशिष्ट्य है। पुरुषसूक्त में भी यह आशय वर्णित है। ऊरु अर्थात् जाँघों से वैश्य और उनके देवता वसु पैदा किये। इससे यह भी इंगित है कि वर्णी मनुष्यमात्र से अधिक हैं, तत्तत् देवता के नियंत्रण में रहने से ही ये ब्राह्मणादि रहेंगे अन्यथा मनुष्यमात्र रह जायेंगे। देवताओं की सृष्टि ब्राह्मणादि को नियंत्रित रखने के लिये ही की।।४२।।

१...वसुभूमयः इति सारे पाठः

तत्रेन्द्रादीन् भिन्नदेवान् मन्यन्ते यागभूमिषु।
कर्मिणस्तद् असज्ज्ञेयं विराडेवाऽखिला इमे।।४३।।

छठी कण्डिकामें ही यह भी बताया है कि अग्नि, इन्द्र आदि को पृथक्-पृथक् देवता समझना उचित नहीं। क्योंकि सभी देवता एक विराट् की ही सृष्टि हैं इसलिये वही सर्वदेवस्वरूप है। उसी के भोक्ता-भोग्य भी रूप हैं। इसे समझाते हैं **कर्मी लोग याग-प्रसंगों में देवताओं के बारे में मानते हैं कि इन्द्रादि विभिन्न देवता हैं। वह मान्यता ग़लत समझनी चाहिये। ये सभी विराट् ही हैं।।४३।।** कर्मी अर्थात् कर्म ही जिनके लिये सर्वस्व है, उसी के सहारे अभ्युदय-निःश्रेयस चाहने वाले। वे यागविधियों में विभिन्न देवताओं के लिये अलग-अलग आहुतियों का विधान सुनकर मानते हैं कि इन्द्रादि सब देवता पृथक्-पृथक् हैं। 'इन्द्राय स्वाहा' से आहुति दी तो इन्द्र को मिलेगी, वसु आदि को नहीं: 'वसवे स्वाहा' से दी आहुति वसु को मिलेगी, इंद्र को नहीं; इस तरह देवता, उनके मन्त्र, द्रव्य आदि सब व्यवस्थित हैं, सबकी अलग-अलग विधि है। 'यागभूमिषु' अर्थात् यज्ञों के स्तर पर, उनके संदर्भ में प्रसंग में, परिप्रेक्ष्य में। या, याग करते हुए यज्ञवेदी पर बैठे हुए कर्मी इन देवताओं को विभिन्न मानते हैं। यह मान्यता ग़लत है क्योंकि ये सब देवता विराट्-रूप ही हैं। सुनने वाला मैं, बोलने वाला मैं, देखने वाला मैं आदि जैसे अलग-अलग नहीं हैं वैसे इंद्रादिरूपों वाला विराट् अभिन्न ही है। आँख से ही देखता हूँ, कान से नहीं; कान से ही सुनता हूँ, आँख से नहीं; लेकिन देखने-सुनने वाला हूँ मैं एक ही। ऐसे ही विराट् अग्निरूप से ब्राह्मणों पर नियंत्रण करता है, इंद्ररूप से क्षत्रियों पर नियमन रखता है, वसुरूप से वैश्यों पर तथा पृथ्वीरूप से शूद्रों पर नियमन करता है; लेकिन नियमन करने वाला तो एक विराट् ही है। सभी देवता विराट् के रूपमात्र हैं, अंशमात्र हैं, अवयवमात्र हैं। कर्म में ही लगे रहने वाले इस एकता को नहीं समझ सकते, इसके लिये उपनिषदों का चिंतन ही आवश्यक है, वहीं यह एकता प्रकट की गयी है। कर्मी से मनुष्य ही नहीं, उन देवताओं को भी समझ लेना चाहिये जो कर्मफलभोग में ही संलग्न हैं। उन्हीं के लिये यमराज ने भी कहा है कि इस एकता के बारे में देवताओं को भी निश्चय नहीं हुआ! विवेकी ही उपनिषत्-विचार से अभेद समझ पाता है।।४३।।

'एक सत् को ही इन्द्र, मित्र, वरुण आदि कहा है' (ऋ.१.१६४.४६) इत्यादि कहने वाला वेद ही यज्ञविधियों में देवताओं को पृथक्-पृथक् क्यों बताता है यह स्पष्ट करते हैं **क्योंकि आत्मविषयक अज्ञानी ही कर्मों में अधिकारी होते हैं इसलिये कर्मकाण्ड**

अविद्वदधिकारित्वात् कर्मणां भिन्नदेवताः।
उच्यन्तां कर्मकाण्डेन वस्तुतस्तु न तत्तथा।।४४।।
विराजो जीवतामाहुः केचिद् अन्ये परात्मताम्।
उभयं युक्तमेवैतद् विवक्षाया विशेषतः।।४५।।

द्वारा विभिन्न देवता भले ही कहे जायें, वस्तुतः वैसा नहीं है।।४४।। अधिकारी के अनुरूप वेद उपदेश देता है। कर्म में वह अधिकारी है जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनजान है, स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता जानता है। उसे विराट् की एकता समझाने का प्रयोजन नहीं क्योंकि उसे यह बात जँचेगी नहीं। उसके चित्त के शोधन के लिये कर्मों का विधान ही उसे समझ आये और वह कर्म करेइतना ही ज़रूरी है। अतः कर्मकाण्ड में वेद देवताओं का ऐसा उल्लेख करता है कि अविचारशील को वे भिन्न प्रतीत होते हैं। उस स्तर की समझ वालों को वैसा समझने देते हुए कर्म में लगे रहने देना ही उचित है, उनसे विवाद करना व्यर्थ है। अनेक लोग लौकिक विषयों में भी विचारपूर्वक निश्चय नहीं कर पाते, फिर भी किसी की आज्ञा मानकर कार्य कर सकते हैं। पृथ्वी गोल है, अपनी धुरी पर और सूर्य के चारों ओर भी घूम रही हैइसे विचारपूर्वक न समझ पाने पर भी 'ऐसा ही मानकर गणनायें कर जहाज आदि चलाओ' इस नियम का पालन चालक आदि करते रह सकते हैं। कर्मी भी समझने में असमर्थ होते हैं, विधि-निषेध का पालन ही कर सकते हैं। अतः उन्हें देवताओं का विराट् से अभेद बताने का उपयोग नहीं, भले ही वह बात सत्य है। शुद्धचेता विवेकी विचारशील ही अभेद समझने में अधिकृत है। कर्मी से उपासक भी समझने चाहिये, वे भी उपासना तो कर सकते हैं, उपास्य तत्त्व का अभेद नहीं समझ सकते। भगवान् ने गीता में बता दिया कि विभिन्न समझकर भी आराधना एक परमेश्वर की ही की जाती है, करने वाले भले ही उस एक तत्त्व को न समझें।।४४।।

इस सन्दर्भ में आचार्य श्री शंकर ने विचार किया है कि यह हिरण्यगर्भ (विराट्) परमात्मा है या संसारी है? निर्णय दिया है कि उसकी औपाधिक संसारिता है, वास्तविक परमात्मता है। यद्यपि सभी जीवों के बारे में यही बात है तथापि विराट् की उपाधि अत्यधिक शुद्ध होने से वह प्रायशः परमेश्वर बताया गया है, कहीं-कहीं उसका जीवरूप भी कहा गया है जैसे यहीं उसे भयभीत बताया था। इस तरह उसके बारे में आयी सब बातें संगत हो जाती हैं। इस विचार का संक्षेप करते हैं **कुछ लोग विराट् को जीव कहते हैं, अन्य लोग उसे परमात्मा कहते हैं। ये दोनों बातें विवक्षाभेद से संगत हैं। ।४५।। सोपाधिक को बताना अभिप्रेत होने पर विराट् जीव ही होगा,**

सोपाधिकविवक्षायां जीव एव विराड् भवेत्।
निरुपाधिविवक्षायां परमात्मैव नेतरः।।४६।।

निरुपाधिक बताना अभिप्रेत होने पर वह परमात्मा ही है, जीव नहीं।।४६।। अगर कहो, 'हम भी ऐसे ही हैं', तो वह बात ठीक ही है।।१/२।। शास्त्र में विराट् का वर्णन ऐसा है कि कहीं लगता है वह ईश्वर है, कहीं लगता है जीव है! पुराणों में भी यही बात है : कहीं लगता है कि विष्णु-शंकर आदि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर हैं तो कहीं इनकी लीला जीवोचित ही लगती है। कहीं शिवजी को मुसीबत से विष्णु बचाते हैं जैसे भस्मासुर से मोहिनी अवतार ने बचाया और कहीं विष्णु का उद्धार शिव करते हैं जैसे वराहावतार में किया! प्रश्न होता है कि सच क्या है? इसी का यहाँ उत्तर है कि सच में तो निरुपाधिक सच्चिदानंद है। उपाधियों में भेद है। उपाधि-तादात्म्य से भेदानुभव संगत है, विवेक से वास्तव अभेद संगत है। जहाँ तात्पर्य यह बताने में है कि उपाधि-अनुसार क्या व्यवहार है, वहाँ वर्णन वैसा हो जायेगा जैसा जीवों का होता है जबकि जहाँ तात्पर्य स्वरूप बताने में है वहाँ परमात्मरूपता व्यक्त होगी। विराट् का भी दोनों तरह से वर्णन मिलता है अतः दोनों बातें सोपाधिक-निरुपाधिक दृष्टि से संगत हो जाती हैं। विवक्षा अर्थात् बताने की इच्छा; प्रसंग का जिसमें तात्पर्य होता है उसी की मानी जाती है। पुराणों में जहाँ शंकर के रूप की प्रशंसा का प्रसंग होगा वहाँ उन्हें विष्णु का उद्धारक कह देंगे, जहाँ विष्णु के रूप की प्रशंसा करनी होगी वहाँ उन्हें शंकर का रक्षक बता देंगे। दोनों बातें ठीक इसलिये हैं कि वास्तव में दोनों औपाधिक रूप एक ही तत्त्व के हैं जिसकी ओर उन्मुख करने के लिये उपाधि-प्राधान्य से वर्णन किया जा रहा है। आत्मवस्तु को गुणवाला कहने पर उसका जीवरूप से वर्णन होता है, गुणातीत कहने पर परमात्मरूप से वर्णन होता है। यह बात जैसे विराट् के बारे में वैसे हम सब के बारे में भी है। फिर भी अन्तर है कि हम तो जन्म-जन्मान्तर तक स्वयं को जीव ही समझते रहते हैं जबकि विराट् सृष्टि के आदिकाल में ही तत्त्वसाक्षात्कार पा लेता है। अतः उसका अधिकतर वर्णन ईश्वरोचित होता है, हमारा जीवोचित होता है।।४६।।

कण्डिका ६ में संसार को अग्नीषोमात्मक, अग्नि-सोमरूप, अत्ता-अन्नरूप बताया और दोनों ही विराट् से उत्पन्न होने के कारण विराट् ही सर्वरूप है यह बताया। फिर कहा 'सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिः। यच्छ्रेयसो देवान् असृजत। अथ यद् मर्त्यः सन्नमृतान् असृजत तस्माद् अतिसृष्टिः।' अपने से श्रेष्ठ देवताओं का उत्पादन विराट् की अतिसृष्टि है। कर्म-ज्ञानरूप अग्नि से अपने सब पाप जलाकर अमरणधर्मा देवताओं की सृष्टि की, यह विराट् की

वयमप्येवमेवेति यद्युच्येत तथाऽस्तु तत्।
सृष्ट्वा विराड् भोक्तृवर्गं भोग्यम् अन्नम् अचीक्लृपत्।।४७।।

विराड्वर्णनप्रयोजनम्

पूर्वजन्मनि मर्त्यः सन् कृत्वाऽसौ ज्ञानकर्मणी[1]।
अमृतान् असृजद् देवान् यद्यप्येतद् महाद्भुतम्।।४८।।
सृष्ट्वाऽखिलम् अवेत् सृष्टम्[2] अहमस्म्यखिलं जगत्।
ईदृशो महिमा ज्ञेयः कृतयोर्ज्ञानकर्मणोः।।४९।।

अद्भुत विशेषता है। इसे श्लोकों द्वारा व्यक्त करते हैं **विराट् ने भोक्ताओं का वर्ग उत्पन्नकर भोग्य अन्न बनाया।।४७।। पूर्व जन्म में यद्यपि मरणधर्मा रहते हुए उसने कर्म-उपासना करके अमरणधर्मा देवताओं को पैदा कियायह अत्यंत अद्भुत बात है!।।४८।। सारा जगत् उत्पन्न कर 'मुझसे रचा गया सारा जगत् मैं ही हूँ' इस प्रकार विराट् ने जाना। अनुष्ठित उपासना व कर्म की ऐसी महिमा है (कि सबको अपने से अभिन्न जाना जाता है)।।४९।।** विराट् ने मनुष्य, पशु, देवता, वर्ण आदि वह वर्ग पैदा किया जो भोक्ता है। उसे भोग्य अन्न की आवश्यकता होने से विराट् ने अन्नसृष्टि भी की। आधुनिक मान्यता में भोग्य पहले आता है, भोक्ता बाद में आता है जबकि हमारे सिद्धांत में भोक्ता पहले है तब भोग्य है। केवल सृष्टिप्रक्रिया में ही नहीं, अन्यत्र भी दृष्टिभेद बना रहता है अतः आधुनिकों को लगता है कि भोक्ता अधिक हो गये तो अन्न कम पड़ जायेगा! हमारा मानना है कि भोक्ता के प्रारब्ध से अन्न अवश्य उपलब्ध होगा। ऐसा जो सर्वकारण, सर्वरूप विराट् उसने 'अतिसृष्टि' की, अतिशय विस्मय कराने वाली सृष्टि की क्योंकि उसने ऐसे देवता बना दिये जो अमृत हैं! विराट् पूर्व कल्प में मरणधर्मा था तथा यहाँ भी उत्पन्न तो अज्ञानी अतः मर्त्य हुआ था पर उसने जिन देवताओं को उत्पन्न किया वे अमृत हैं। देवता अमर कहे ही जाते हैं। उसकी ऐसी सृष्टि चकित कर देती है। सारा व्यक्त जगत् विराट् ने अपने में से ही बना दिया अतः 'यह सब मैं ही हूँ' ऐसा उसे ज्ञान रहा। उपासना और कर्म का यह महत्त्व है कि इन्हें सही तरह किया जाये तो सारे जगत् को अपने से अभिन्न देखने की सामर्थ्य आ जाती है। यह केवल समझने से नहीं, उपासना व कर्म के दीर्घकालिक सही अनुष्ठान से ही होगा।।४८-९।।

---

१. कृत्वा सोऽज्ञानकर्मणी इति पाठान्तरम्। तत्राज्ञानं बहिःकर्म, कर्म तूपासनारूपमिति ज्ञेयम्।
२. ऽखिलमयं देवम् इति मातृकादौ पाठः। अत्र स्थापितः पाठः सारे दृश्यते, तदनुरोधात् मद्रपुरीप्रकाशितेऽनुभूतिप्रकाशे निवेशितः।

वर्णितोऽयं प्रयत्नेन ज्ञानकर्मफलोर्जितः ।।[1]
उपासितुः प्रवृत्त्यर्थं निवृत्त्यर्थं मुमुक्षतः ।।५० ।।
सृष्ट्यैश्वर्ये[2] **स्वतन्त्रत्वं तत्कामी बहु मन्यते ।**
दोषान् एव विवेक्यत्र बहून् उत्प्रेक्षते धिया ।।५१ ।।

इस प्रसंग का उपयोग समझाते हैं **उपासना व कर्म के फल से तेजस्वी इस रूप का वर्णन किया ताकि उपासक (उपासना में) प्रवृत्त हो एवं मुमुक्षु (कर्म-उपासना से) निवृत्त हो ।।५० ।।** (सारानुसारी पाठ में'उपासना व कर्म के उत्कर्ष का वर्णन किया...' अर्थ है।) वर्णन का प्रयोजन है कि फलेच्छुक साधन के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो एवं विवेकी विराट् की भी भय-अरति आदि समझकर उस पद के प्रति भी विरक्त होकर निवृत्ति में निष्ठा रखे। प्रवृत्तिमार्गी के लिये संसार का रचयिता बनना, देवताओं का भी उत्पादक बनना महत्तम फल है जबकि भवबंध से छूटना चाहने वाले के लिये वह विराट् पद भी अत्यंत झंझटका है, भयादि से ग्रस्त है अतः वह उसके लिये कोई प्रयास करे यह संभव नहीं। कर्म-उपासना से अधिकाधिक विराट्-भाव की प्राप्ति हो सकती है, इससे ज़्यादा नहीं क्योंकि संसारभूमि में यह सबसे बड़ा फल है। यह विषय-रागी को इष्ट है, आत्माराम को अर्थात् विषयों में जिसे राग नहीं उसे अनिष्ट है। वह निवृत्ति में निष्ठा वाला बना रहे यही इस वर्णन का मुख्य प्रयोजन है।।५०।।

उक्त प्रयोजन को उपपन्न करते हैं **सृष्टि के ऐश्वर्य में स्वतंत्र हो जाने को वह बहुत महत्त्व देता है जो उसे चाहता है जबकि विवेकी उस स्वातन्त्र्य में विचार से बहुत दोष ही समझता है।।५१।।** विराट् सारी सृष्टि करता है, इसके हर तरह के शासन में वह स्वतन्त्र है। इस स्वातंत्र्य को चाहने वाले के लिये यह बहुत बड़ा फल है अतः वह इसके लिये प्रवृत्त होता है, साधन करता है। वैकुण्ठादि के भी दिव्य सुखों में आसक्त को उन्हें पाना अत्यंत पसंद आता है और उसके लिये वह साधना करता है। वहाँ भी सांसारिक व्यवहार ही है, गर्व आदि हो जाते हैं जिनके फलस्वरूप शापादि मिलते हैं तो रावणादि बनना पड़ता हैयह सब विचार करने वाला उससे विरक्त हो जाता है। विवेकी स्वयं को नित्य एवं संसार को अनित्य समझता है अतः अनित्य के प्रति उसे आकर्षण कम होता है। विराट् का ऐश्वर्य भी कल्पपर्यन्त ही होने से अनित्य है अतः

१. हिरण्यगर्भस्य विराड्रूप इति शेषः। वार्तिकसारे 'वर्णितेत्थं प्रयत्नेन ज्ञानकर्मफलोर्जितिः' इति पठ्यते।

२. अयं सारे पाठः। प्रकाशपुस्तकेषु 'सृष्ट्वैश्वर्ये' इत्येव दृश्यते।

अविद्यापटसंवीतचक्षुषाम् इयद् एव हि।
वैदिकं साधनं ज्ञेयं ज्ञानकर्मस्वभावकम्।।५२।।

विवेकी को आकृष्ट नहीं करता। वह नित्य परमेश्वर को ही पाना चाहता है। 'स्वाराज्यसिद्धि' नामक ग्रंथ में बताया है कि विद्वान् स्वयं को धन्य समझता है कि उसे ब्रह्मा-विष्णु आदि नहीं बनना पड़ा जिन पदों में अत्यन्त झंझटें हैं! दोष स्वतः दीख जायें यह ज़रूरी नहीं, उनकी उत्प्रेक्षा करनी पड़ती है ('उत्प्रेक्षते') अर्थात् विश्लेषणपूर्वक उन्हें समझना पड़ता है। विवेकी ही यों सोच-विचारकर समझ सकता है, अविवेकी तो आपात सुख से आकृष्ट हो उधर प्रवृत्त ही बना रहता है।।५१।।

सर्वातिशय ऐश्वर्य में भी दोष देखने के तरीके को स्पष्ट करते हैं **अविद्यारूप कपड़े से ढकी आँखों वालों के लिये क्योंकि उपासनारूप व कर्मरूप इतना ही कल्याण का वेदोक्त उपाय समझा जा सकता है (इसलिये मुमुक्षु को इसके फल के प्रति वैराग्य उपजाना चाहिये)।।५२।।** कोई आँखों से न देख सके इसके लिये उसकी आँखों पर काला कपड़ा बाँध दिया जाता है। ऐसे ही हमारी विवेकरूप आँख पर अविद्या का कपड़ा है ताकि हम अविवेकग्रस्त रहकर संसरण करते रहें। अविद्या रहते हम कर्त्ता-भोक्ता ही बने रहते हैं। इस दशा में अपने हित का उपाय भी शरीर-मन की क्रियाओं को मानते हैं। लौकिक उपायों से हित न मिलने पर वेद में उपाय ढूँढते हैं। भाष्यकार ने बृहदारण्यक के उपोद्घात में लिखा है 'सर्वोऽप्ययं वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अनवगतेष्टाऽनिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः ... जन्मान्तरेष्टाऽनिष्ट-प्राप्तिपरिहारोपायविशेषे च शास्त्रं प्रवर्तते।' वेद में बाह्य और मानस दोनों कर्मों का विधान है अतः कल्याण के वेदोक्त ये ही उपाय अज्ञानभूमि में समझ आते हैं। याग-दानादि शरीर-व्यवहार और ध्यान-धारणादि मानस व्यवहार शास्त्रीय साधन हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ अनुष्ठान से सर्वोत्तम फल विराट्-भाव की प्राप्ति है। स्वतन्त्रतापूर्वक संसार का विस्तार करना, लोक-देव-मनुष्यादि बनाना, इनका संचालन करना ऐसे ऐश्वर्य वाला बनना, यही कर्म-उपासना का अंतिम फल है। इस पद के भयादि दोष देखकर इससे मुमुक्षु को विरक्त होना चाहिये। (वार्तिक में (१.४.१६५) भी यह श्लोक है, वहाँ 'हि' की जगह 'तु' पाठ है।)।।५२।।

कर्म-उपासना रूप साधन के स्वभाव की परीक्षा करते हैं **और वह उपाय कर्त्ता-कर्म आदि पर निर्भर करता है, ब्रह्मा (विराट्) के पद पर्यन्त का फल दे सकता है, उत्पत्ति आदि छह विकारों वाला है, कमी-बेशी वाला और जड**

तच्च कर्त्रादिसापेक्षं विरिञ्च्यन्तफलप्रदम्।
जन्मादिविक्रियाषट्कयुतं सातिशयं जडम्।।५३।।
दुःखानि च विचित्राणि सन्त्येव बहुजन्मसु।
अनेकक्लेशयुक्तेन दुर्लभं तपसा विना।।५४।।

है।।५३।। करने वाला, करने का उद्देश्य, करने के सहायक (करण) आदि की अपेक्षा रखने वाले हैं कर्म-उपासना। यह सापेक्षता, निर्भरता आवश्यक कर देता है कि इनका अनुष्ठाता परतंत्र रहे। अनेकों के परतंत्र रहकर ही कर्म-उपासना संभव हैं। इनका सर्वांगपूर्ण संपादन हो भी जाये तो ज़्यादा से ज़्यादा विराट् बना जा सकता है। ये साधन भी जन्मादि वाले हैं और इनका फल भी जन्मादि वाला है। उत्पत्ति, उत्पन्न होकर रहना, बढ़ना, बदलना, क्षीण होना और नष्ट होनाये छह सब भावों में होने वाले विकार यास्क मुनि ने निरुक्त में (२.२) बताये हैं। साधनों में तो ये हैं ही, विराट् पर्यंत इनके फलों में भी ये सब मौजूद हैं। जो निर्विकार को चाहेगा उसे ऐसे विकारी फल दोष वाले दीखेंगे। मानकर तो यह चलते हैं कि कर्म-उपासना का फल पाकर कृतार्थ हो जायेंगे लेकिन फल मिलने पर पता चलता है कि कृतार्थता की कोई संभावना नहीं, जैसी अभी हालत है वैसी ही तब है बल्कि फल जितना बड़ा है, उतनी ही उसके साथ परेशानी भी बड़ी ही है। इसी प्रकार साधनों में न्यूनाधिकभाव होता है अतः फल में भी सातिशयता रह जाती है अर्थात् जो मिले उससे अधिक भी कहीं-न-कहीं उपस्थित पता चल जाता है जिससे मिले हुए का पूरा आनंद नहीं आ पाता। विराट् से अधिक कोई फल नहीं फिर भी तत्त्वनिष्ठ विरक्त का आनंद उससे अधिक है यह शास्त्र से समझ आ ही जाता है। किं च कर्म-उपासना क्रियारूप होने से जड हैं एवं इनका फल भी उपाधिपक्षीय होने से जड है। विराट् की भी उपाधि ही कर्मफल है और उपाधि जड ही है। जड का चेतन से कोई वास्तविक संबंध नहीं अतः चेतन की पूर्ण सन्तुष्टि उससे संभव नहीं। इसलिये ये साधन एवं फल हेय हैं।।५३।।

ऐसे फल के सम्पादन के लिये अपेक्षित साधनों की और भी कठिनाई बताते हैं

किं च बहुत जन्मों में तरह-तरह के दुःख होते ही हैं। अनेक क्लेशों वाले तप के बिना इन साधनों को कर पाना और इनका फल प्राप्त करना दुर्लभ है।।५४।। विराट्-पद के उपयुक्त साधन सम्पन्न करना एक जन्म में संभव ही नहीं, उसके लिये अनेक जन्मों का अथक प्रयास चाहिये और हर जन्म में नाना प्रकार के दुःख होते हैं यह प्रत्यक्षसिद्ध है। तपस्या के बिना, कष्ट सहे बिना न इन साधनों को कर सकते

कथंचित् साधितेऽप्यस्मिन् परानन्दघनं प्रभुम्।
अन्तर्भाव्य विराट्पिण्डे स्थातव्यं हि जुगुप्सिते।।५५।।

हैं, न विशेष फल पा सकते हैं। इसलिये ये साधन अभीष्ट नहीं और न इनके फल ही सुखरूप हैं।।५४।।

फलावस्था की हेयता व्यक्त करते हैं **किसी तरह साधना कर यह विराट् पद पा लें तो भी अनन्त आनन्दघन प्रभु को घृणित विराट् शरीर के भीतर बटोरकर रहना पड़ता है!।।५५।।** 'किसी तरह' इसलिये कि ऐसा कर्म-उपासना करने वाला युग-युगांतर में कोई एक ही हो सकेगा, ये साधन कर सकना सरल नहीं, अतिकठिन है। कर लेने पर विराट् बनेंगे तो आत्मदेव को समष्टि पिंड के भीतर समझना पड़ेगा जो अपने-आप में हेय स्थिति है क्योंकि जो आत्मा परम आनंदरूप है उसे स्थूल पिंड में बँधा, सीमित समझना अनुचित है। उस आनंदरूप प्रभु को, स्वतंत्र तत्त्व को शरीर के अंतर्भूत (भीतर) सीमित रखना बुद्धिमानी नहीं है। रखना पड़ेगा, अन्यथा विराट् का प्रारब्धभोग बनेगा नहीं। जैसे जीवन्मुक्ति में भी प्रारब्ध भोगने के लिये बहिर्मुखी वृत्ति बनानी ही पड़ती है वैसे विराट् को बनानी पड़ेगी। मनुष्यों की तो जीवन्मुक्ति पचीस-पचास साल में खत्म हो जायेगी पर विराट् को वह स्थिति कल्पांत तक कायम रखनी पड़ेगी जो कोई रुचिकर बात नहीं है। यद्यपि विराट् उस परिस्थिति में दुःखी नहीं तथापि मुमुक्षु की दृष्टि से विचार करें तो वह स्थिति आकर्षक नहीं। बड़े उद्योग के प्रधान व्यवस्थापक को यद्यपि उद्योग के नफे-नुकसान का साक्षात् फल न होने से मालिक की तरह परेशानी नहीं होती तथापि छोटे उद्योग का मालिक तो यह समझता है कि जब छोटे उद्योग को चलाने में वह इतना परेशान है तो बड़े उद्योग को चलाने में वह और ज़्यादा परेशान ही होता होगा! इसी प्रकार मुमुक्षु विराट् के बारे में विचार करता है तो उसे यही लगता है कि उसका पद कठिनाइयों से भरा ही है। इसी प्रकार मोक्षेच्छुक विराट् की मुश्किलें समझकर उससे विरक्त हो यह इस प्रसंग का प्रयोजन है। यद्यपि विराट् या किसी भी जीवन्मुक्त की अपनी दृष्टि से उसके अंतःकरणादि उपाधि में जो कुछ होता है उससे उस मुक्त का कोई लेना-देना नहीं रहता, वह केवल अधिष्ठान बना उस-उस प्रतीति को प्रकाशित करता है, सभी क्लेशों से परे है, पर औरों की दृष्टि में वह सुखी-दुःखी होता ही है। इसलिये कहा कि व्यवहार के लिये उसे अपना आनंदघन स्वरूप दबा कर, छिपाकर रखना पड़ता है। विराट् का भी पिण्ड है जुगुप्सित अर्थात् घृणास्पद ही। यद्यपि व्यष्टि के दोषों से समष्टि दूषित नहीं होता तथापि जडता, नश्वरता आदि दोष समष्टि स्थूल में भी हैं ही।

न केवलं पिण्डवासस्तादात्म्यं चाभिमानतः।।[1]
ततो भयं भक्षणाय पितुर्मुखविदारणात्।।५६।।
चाण्डालानां तु नेयं भीः किन्तु पन्नगजन्मनः।
को भेदः स्याद् विराड्जन्मन्युरगात् पुत्रभक्षिणः।।५७।।

प्रलयपर्यंत ऐसे शरीर में बँधे रहना मुमुक्षु के लिये आकर्षक नहीं।।५५।।

उपनिषत् में (१.२.४) पहले वर्णन आया है कि हिरण्यगर्भ ने जब विराट् को उत्पन्न किया तब उसे भूख लगी तो वह विराट् को ही खाने लगा जिससे डरकर विराट् 'भाण्' आवाज़ कर रोने लगा। इस सन्दर्भ का यहाँ संग्रह करते हैं **पिण्ड में केवल रहना ही नहीं पड़ता, वरन् उस घृणित शरीर से एकमेक होना पड़ता है और उसे 'मैं' समझना पड़ता है। फिर जब पिता (हिरण्यगर्भ) खाने के लिये मुँह फाड़ता है तब विराट् को डर भी लगता है।।५६।। चाण्डालों को भी यह डर नहीं होता (कि पिता खा जायेगा!) साँप अवश्य यों डरते हैं (क्योंकि सर्पिणी अपनी औलाद को खाती देखी जाती है)। पुत्र खाने वाले साँपों से विराट्-जन्म में क्या विशेषता रही!।।५७।।** जैसे हम शरीर से एकमेक हुए इसे 'मैं' समझते हैं ऐसे ही विराट् भी समष्टि में अभिमानी है। भय के बाद तो तादात्म्याध्यास निवृत्त होकर आहार्य अभिमान रह जायेगा लेकिन प्रारंभ में, जन्म के साथ तो तादात्म्यपूर्वक अभिमान होता है। अनात्मा को मैं, आत्मा समझना यह भी एक दोष है। मनु ने बताया है कि जैसा आत्मा नहीं वैसा उसे जानना महान् दोष है। विराट् से भी यह दोष हो जाता है। फिर उसे डर लगता है। पहले तो अकेलेपन का डर बताया था, अब डर का कारण है कि विराट् को उत्पन्न करने वाला हिरण्यगर्भ, जिसे श्रुति ने मृत्यु नाम से कहा है, वही विराट् को खा जाने को उद्यत हो जाता है! नवजात शिशु को उसका पिता खाने लगे तो बच्चा डरेगा ही। ऐसे ही विराट् भी डरता है। यह परिस्थिति कि पिता ही पुत्र को खाने लगे, मनुष्यों को भी नहीं सहनी पड़ती, केवल सर्पादि जानवरों में प्रसिद्ध है। जाति की दृष्टि से चाण्डाल को निकृष्ट मानते हैं पर उनमें भी ऐसा नहीं होता कि पिता पुत्र को खाने लगे! बच्चे अपने माता-पिता से तो निडर ही रहते हैं। सर्पों में ज़रूर देखा गया है कि अंडों से बच्चे निकलते हैं तो सर्पिणी उन्हें अपनी पूँछ के घेरे में ले लेती है और उन्हें खाने लगती है, जो थोड़े-बहुत बच जाते हैं वे ही आगे बड़े हो जाते हैं। यह भी भगवान् की एक

---

१. चाभिमानिता इति पाठान्तरम्।

कृच्छ्राद् भये प्रशान्तेऽपि जग्राहाऽथाऽरतिग्रहः।
क्रियमाणे प्रतीकारे गर्दभादिशरीरता।।५८।।
एकयोनौ सकृज्जातः क्लेशं सोढुं न शक्नुयात्
अनन्तयोनिष्वसकृद् जायमानस्य का कथा।।५६।।

सुनियोजित व्यवस्था है! जितने साँप ज़िंदा रह जाते हैं वे ही गाँव आदि में काफी समस्या कर देते हैं तो अगर जितने अण्डे होते हैं उतने साँप जीवित रहने लगें तो न जाने कितनी परेशानी हो! पूर्व जन्मों में मनुष्य रहकर साधना करने वाला ही अब विराट् बना। मानव योनि में भी जो भय नहीं था, कर्मोपासना के फलस्वरूप विराट् बनने पर वह भय झेलना पड़ता है, यह कोई श्रेष्ठ स्थिति नहीं है। मुमुक्षु तो देखता है कि भले ही क्षणभर को डरना पड़ा, उसके बाद तो सारे संसार का असीम ऐश्वर्य मिल गया, पर मोक्षेच्छुक उस साँपों-जैसी हालत को उपादेय नहीं स्वीकार पाता।।५६-७।।

भय की तरह ही १.४.३ में विराट् की अरति बतायी थी, उसके विचार से भी वह पद हेय है यह दिखाते हैं **कठिनायी से भय मिट जाने पर भी तदनंतर अरतिरूप ग्रह ने विराट् को जकड़ लिया। उसको दूर करने पर विराट् को गधे आदि शरीर धारण करने पड़े!।।५८।। एक योनि में एक बार पैदा हुआ जीव वहाँ मिलने वाले क्लेश सह नहीं पाता तो अनंत योनियों में बारम्बार पैदा होने वाले के असह्य क्लेशों का क्या कहना!।।५६।।** भय कठिनाई से मिटा क्योंकि भयकाल में सत्त्वगुण प्रधान था नहीं फिर भी विचार करना पड़ा। सत्त्वदशा में विचार कठिन नहीं होता, सत्त्व दबा हो और सूक्ष्मतम वस्तु का विचार करना पड़े तो मुश्किल होती है। विराट् ने वह कठिनाई भी सहकर भय मिटाया लेकिन स्थायी शांति नहीं मिली, तुरंत अरति हो गयी, अकेलापन अच्छा नहीं लगा। अरति मानो कोई ग्रह था जिसने विराट् को अभिभूत कर लिया। ग्रह से ग्राह (घड़ियाल) भी समझ सकते हैं तथा ज्योतिषप्रसिद्ध क्रूरादि ग्रह भी समझ सकते हैं, दोनों की पकड़ दुःखद होती ही है। उससे बेबस हो विराट् ने अरति मिटाने के लिये अनेक शरीर बनाये। हम तो अरति मिटाने के लिये दूसरे लोगों के पास जाकर बात-चीत, खेल-कूद से मन बहला लेते हैं, विराट् अकेला था, किसके पास जाता! अतः उसे अन्य शरीर ही तैयार करने पड़े। अन्य सामग्री थी नहीं अतः अपने ही शरीर से उसने सब पिण्ड बनाये। अतः गधा-घोड़ा आदि सब उसे ही बनना पड़ा! यों अनंत शरीर धारण किये हुए विराट् की दुर्गति स्पष्ट है। हमें अपना वर्तमान जन्म ही मालूम रहता है, इसी के क्लेश असह्य पीडा देते हैं। एक शरीर के क्लेश जब इतने दुःखद हैं

निस्तरेद् विद्यया चेत् किं बकबन्धप्रयासतः।
अथ[1] विद्याम् उपेक्ष्योर्ध्वं किं विद्यां प्रार्थयिष्यति।।६०।।
क्लेशेन महतोपास्य बहुयोनीः प्रविश्य च।
विद्यान्वेषणतः श्रेय इदानीमेव वेदनम्।।६१।।

तब अनंत शरीरों के क्लेश कितना दुःख देते होंगे इसका क्या ठिकाना! और ये शरीर उसे एक ही बार नहीं, कल्पान्त तक ग्रहण करते ही रहना है। अतः उसके कष्ट अवर्णनीय हैं। मुमुक्षु इस रीति से विचार करे ताकि उपासना-कर्म के फल से विरक्त हो शमादिपूर्वक श्रवणादि से तत्त्वज्ञान पाकर मुक्त हो सके यह प्रसंगतात्पर्य है।।५८-९।।

विराट् को गुरु आदि के बिना तत्त्वावगति हुई यह भी बताया था; ब्रह्मलोक में धूप-छाया की तरह सुविस्पष्ट परमात्मबोध होता है यह भी वेद में कहा है; ऐसे में मोक्ष चाहने वाला भी विराट् बनकर स्वातन्त्र्य से ज्ञान पाने को क्यों न प्रवृत्त हो? यह शंका उठाकर इसका समाधान करते हैं **यदि कहो कि विराट् को अवश्य होने वाले तत्त्वज्ञान से सारे क्लेशों से छुटकारा मिल जायेगा; तो भी सोचो कि बगुला बाँधने की इस कोशिश से क्या फ़ायदा! वर्तमान मानव जन्म में विद्या की उपेक्षा कर उपासना क्यों करना चाहते हो?।।६०।। अत्यन्त कष्ट से उपासना करके, बहुत-सी योनियों में भ्रमण कर तब तत्त्वज्ञान के लिये अन्वेषण करने से बेहतर है कि अभी ही परमात्म-साक्षात्कार कर लो।।६१।।** 'बगुला बाँधना' एक संस्कृत का मुहावरा है : कोई कहे कि बगुले के सिर पर मक्खन रखकर उसे धूप में खड़ा कर दो, मक्खन पिघलकर उसकी आँखों में जायेगा तो वह आँखें मीच लेगा, तब उसे बाँध लेना! तो बात बेकार की है क्योंकि जो उसके सिर पर मक्खन रख सकेगा वह उसे बाँध भी सकेगा ही। इस प्रकार अत्यन्त परिश्रम करके विराट् बनो, फिर तत्त्वज्ञान से मोक्ष पाओ यह बेकार का तरीका है क्योंकि बिना विराट् बने भी तत्त्वज्ञान से मोक्ष सुलभ ही है। मानव शरीर में, अधिकारी देह में रहते हुए ही हम वेद व गुरु द्वारा उसी विद्या की प्राप्ति कर सकते हैं जो विराट् बनकर मिलनी है तो कर्म-उपासना के टण्टे में पड़कर इतना दीर्घकालिक प्रारब्ध क्यों पैदा करें। जो तो विराट् का ऐश्वर्यादि सुख है, वह भी अभिलषणीय नहीं क्योंकि ब्रह्मानन्द का ही वह भी एक छोटा-सा अंश है। तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिल जाने पर वह सुख उस मोक्ष के आनंद में अंतर्भुक्त हो ही जायेगा। इसलिये विराट् बनने के लिये महान् क्लेश उठाना बेकार है, अभी ही आत्मज्ञान पाने के प्रयास

---

१. अद्य इति मुत्तुशास्त्रीपाठः श्रेयान्।

एवं विचार्य बहुशस्तूर्णमेव मुमुक्षति।
निवृत्तः सर्वबाह्यार्थात् प्रमेयं मातुमर्हति।।६२।।
अधिकारी साधितः स्याद् एवं फलविचारतः।
तेन प्रमातुं यद् योग्यं तद् इदानीं निरूप्यते।।६३।।

में जुट जाना चाहिये। विवेकी ही यों विचारकर कर्मत्यागपूर्वक ज्ञानाभ्यास में लगेगा।अविवेकी तो समझ-बूझकर भी विराट् की सविशेष महत्ता से आकृष्ट हुआ कर्म-उपासना में संलग्न हो ही जायेगा। जनमेजय ने एक बार व्यास जी से शिकायत की 'आप सब ने दुर्योधन को सही तरह समझाया नहीं इसी से हमारे कुल का नाश हुआ।' व्यास जी ने कहा 'समझाने पर भी सब बातें जँचती नहीं।' वह न माना तो उन्होंने उसे कहा 'तू दक्षिण मत जाना, जाये तो वहाँ की लड़की से ब्याह न करना, करे तो उसे पटरानी न बनाना, बनाये तो अश्वमेध यज्ञ न करना, करे तो जवान पुरोहित न बुलाना, बुलाये तो उन पर क्रोध न करना। किंतु तू ये सब कार्य करेगा और उन ब्राह्मणों के शाप से कोढी हो जायेगा! समझा मैंने दिया। इतने कदमों तक तू कोशिश कर ले फिर भी तुझसे चूक होगी और कोढ हो जायेगा।' ऐसा ही हुआ तब जनमेजय को विश्वास हुआ कि भवितव्यता प्रबल होती है। ऐसे ही जो ऐश्वर्य की कामना वाला है वह सर्वकर्मत्याग के रास्ते जा नहीं सकता।।६०-१।।

विराट्-प्रसंग का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार बहुतेरा विचार कर जब साधक तीव्र मुमुक्षा वाला हो जाता है तब सारे अनात्म पदार्थों से छूटकर जो वस्तुतः जानने योग्य आत्मवस्तु है उसे समझने में समर्थ हो जाता है।।६२।। इस प्रकार, फल के विचार से अधिकारी की सिद्धि हुई। अब वह बतायेंगे जो अधिकारी द्वारा जानने योग्य है।।६३।।** विवेकी ही अनेक तरह से विचार करेगा तभी मुमुक्षा तीव्र होगी। साधारण व्यक्ति, अविवेकी, इतना सब समझाने पर भी यथापूर्व विषयाभिलाषा और विषय पाने के प्रयास नहीं छोड़ पायेगा। अनादि काल के बाह्य संस्कार बिना घोर विचार के दबते नहीं और उनके दबे बिना विषयाकर्षण कम नहीं होता। जब तक बाहर के समस्त विषयों के प्रति निवृत्ति का भाव न आ जाये तब तक संसार की असारता का विचार करते ही रहना चाहिये। आत्मा के लिये जो प्रवृत्ति की जाती है वह भी निवृत्ति है और अनात्मा के लिये जो निवृत्ति की जाती है वह भी प्रवृत्ति है। क्या करते हो इससे प्रवृत्ति-निवृत्ति का निर्णय नहीं होता। प्रवृ त्ति-निवृत्ति का निर्णय इससे होता है कि तुम्हारा उद्देश्य परमात्मा है या और कुछ। इस प्रकार जो सर्वथा

अव्याकृतम्

उपादेयस्य मेयस्य वाच्या सम्भावना यथा।
हेयसंसारहेतुश्च वक्तव्यो यत्नतस्तथा।।६४।।
संसाराख्यमहाव्याधेः किं मूलमिति चिन्तिते।
तद्ध्वस्तये चिकित्सेयं तदा फलवती भवेत्।।६५।।

निवृत्तिनिष्ठ है वह आत्मा को समझने का अधिकारी है, समझ सकता है। विराट्-भाव का अर्थात् कर्म-उपासना के चरम फल का यहाँ जो ब्रह्मविद्यारंभ में वर्णन है वह इसलिये कि इसके प्रति विरक्त ही तत्त्वज्ञान में अधिकारी है। उस आत्मा की प्रमा विरक्त को ही संभव है। प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान। जैसी चीज़ है वैसा उसे जानना प्रमा है। सच्चा एक परमात्मा ही है, बाकी सब मिथ्या है। अतः परमात्मा का ज्ञान ही वास्तव में प्रमा है। लौकिक सही ज्ञान व्यावहारिक प्रमा ही हैं, वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं है। ऐसा सत्य परमात्मा ही जानने योग्य है, आगे उसका वर्णन करेंगे।।६२-३।।

सातवीं कण्डिका में कहा है कि जो अब व्यक्त रूप से उपलब्ध जगत् है वही अभिव्यक्ति से पूर्व अव्याकृत, अव्यक्त था। विभिन्न नाम-रूपों से सम्बंध ही अभिव्यक्ति है। जिस अव्यक्तोपाधि वाले ने संसार अभिव्यक्त किया उसी ने शरीरों में जीवरूप से प्रवेश भी किया। सामान्यतः सारे शरीर में चैतन्य स्थित है ही, विशेषरूप से भी उसकी शरीर में तत्र-तत्र स्थिति प्रत्यक्ष है। जहाँ ज्ञान व क्रिया है वहाँ उसकी विशेष स्थिति समझ आती है। पेटी में छुरी की तरह उसकी विशेष उपलब्धि तथा लकड़ी में आग की तरह सामान्य उपलब्धि समझनी चाहिये। किंतु ऐसा आत्मा अज्ञानावृत जीवों को अज्ञात ही रहता है। उसके अपूर्ण रूपों को जानते हुए उसे साकल्येन नहीं जान पाते। जानना चाहिये समग्र आत्मा को, वही सबके लिये विज्ञेय है। श्लोक १८६ तक इसे समझायेंगे।

अव्याकृत-प्रक्रिया की भूमिका रचते हैं **जैसे ग्राह्य प्रमेय संभव है यह बताना आवश्यक वैसे ही हेय (त्याज्य) संसार का हेतु भी प्रयासपूर्वक बताना आवश्यक है।।६४।। संसार-नामक महान् बीमारी का मूल क्या है इसे समझ लेने पर तब उस बीमारी को दूर करने के लिये की गयी यह चिकित्सा सफल होगी।।६५।।** प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान का विषय प्रमेय परमात्मा है, वही अपना स्वरूप होने से ग्राह्य है, बाकी सारा संसार त्यागने के ही लायक है। उस आत्मा की संभवता समझाना ज़रूरी। बिना शास्त्रोक्त विचार के नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप परमात्मा है यह प्रतीत हो नहीं सकता तो उसे जानने की इच्छा भी नहीं होती। पहले शास्त्र से समझ आये

कि ऐसा परमात्मा है, तभी उसे जानने की इच्छापूर्वक अन्य साधन किये जायें। जैसे आत्मवर्णन शास्त्रकृत्य है वैसे संसार का कारण क्या है यह बताना भी शास्त्र का काम है। स्वयं अपनी बुद्धि से संसार-कारण को समझना जीव के लिये संभव नहीं, जो संसार बनने के बाद अस्तित्व में आया वह इसके कारण को जान ही नहीं सकता। अतः जगत्कारण भी शास्त्र से ही समझा जा सकता है। शास्त्र से जानकर तो लगता है यह सीधी बात है किंतु बिना शास्त्रदृष्टि के स्वतन्त्र विचार द्वारा जीव जगत्कारण को समझ नहीं सकता। शास्त्र बताता है कि अज्ञान जगत्कारण है। तदनुरूप विचार करें तो स्पष्ट होता है कि कारणों की खोज करने लगते हैं तो चार-छह कदमों बाद अज्ञान ही कारण मानना पड़ता है! बुखार क्यों हुआ? संक्रमण से। संक्रमण क्यों हुआ? रोगी के पास बैठने से। उसके पास बैठे क्यों? यों प्रश्न उठाते जाने पर अंतिम उत्तर यही होता है 'पता नहीं।' बड़े-से-बड़ा विद्वान् अंत में यही उत्तर देता है। इससे निश्चय हो जाता है कि जगत्का कारण 'पता नहीं' रूप अज्ञान ही है। अज्ञान और वर्तमान में उपलब्ध कार्य, इनके बीच में आने वाली परंपरा के बारे में चाहे जो मतभेद होते रहें, मूल कारण अज्ञान है यह सभी को मानना पड़ता है। बीच की परंपरा के बारे में मतभेद रहेगा ही, डॉक्टर संक्रमणादि को कारण कहेगा, वैद्य धातुकोप आदि को कहेगा, ज्योतिषी मीन-मेष देखकर कहेगा कि चन्द्रमा चतुर्थ भाव में आया यह रोग का कारण है; अपनी चिंतन-रीति के अनुसार ये मध्यवर्ती कारण प्रतीत होंगे, जँचेंगे भी, पर इनके भी 'क्यों?' के प्रश्न का उत्तर 'पता नहीं' ही निकलेगा। मनुष्य का स्वभाव है कारणों की परम्परा में उलझ जाना। यद्यपि वे मूल कारण नहीं तथापि उनमें से किसी- न-किसी में आग्रही होकर लोग विवाद करते रहते हैं। अतः शास्त्र प्रयासपूर्वक स्पष्ट करता है कि परमात्मा से अतिरिक्त यदि संसार का कोई एक कारण है तो वह अज्ञान है। मध्यवर्ती वस्तुओं की, उनके क्रम की, उनके योगदान की मनाही नहीं है, पर वे मूल कारण नहीं हैं यह तात्पर्य है। मूल हटे बिना संसरण से छुटकारा संभव नहीं। अवांतर कारणों में से किन्हीं को हटा भी लें पर मूल बना रहेगा तो वह पुनः किसी-न-किसी को माध्यम बनाकर कार्य संपन्न कर ही लेगा। अतः आवश्यक मूल को समाप्त करना है। संसार महान् रोग है, व्याधि है। जन्म-जन्मांतर एवं अवस्था-अवस्थान्तर में चलते ही रहना संसार है। सरकने वाला होने से इसे संसार कहते हैं। कठिनाई इसलिये है कि चीज़ें सभी सरकने वाली हैं पर इनमें हम न सरकने वाले हैं! इसीलिये हमारी निरंतर कोशिश है कि चीज़ों को भी न सरकने दें। उनका स्वभाव सरकने का है अतः हम सफल हो नहीं पाते, अतः दुःखी रहते हैं। यह ऐसा रोग है

**[१]अविज्ञातनिदानेन भिषजा यच्चिकित्सितम्।
तद् अनर्थकरं यद्वत् प्रकृतेऽप्यवगम्यताम्।।क।।
मायामूलं द्वैतमेतद् इत्यज्ञाते कथं त्विदम्।
अद्वैतं बुद्धिमारोहेत् स्यादतोऽन्या तु नैव धीः।।ख।।
देहाऽदृष्टक्रियाकर्तृरागाऽध्यासार्थ-सप्तकात्।
द्वारा संसारहेतुः स्याद् आत्माऽज्ञानं तु लोकवत्।।ग।।
आत्माऽज्ञानम् अनर्थानां मूलं लोकेऽपि नेतरत्।
स्वपराक्रमम् अज्ञात्वा युध्यन् म्रियत एव हि।।घ।।
एवं स्वात्मानम् अज्ञात्वा संसाराऽनर्थम् आप्नुयात्।
अनर्थाऽज्ञानयोः कार्यकारणत्वं प्रपञ्च्यते।।ङ।।**

जो चल भी अनादि काल से रहा है और अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञान के बिना मिट भी कभी नहीं सकता। इसे दूर करने के लिये इसके मूल कारण को समझना होगा क्योंकि यदि कारण दूर कर सकेंगे तो कार्यभूत यह संसार रोग स्वतः मिट जायेगा। चिकित्सा कारगर तभी हो जब पहले रोग का निदान हो, कारण पता लगे।

भाण्डारकर संस्थान पुणे में स्थित हस्तलेख के अनुसार मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित अनुभूतिप्रकाश में यहाँ तेरह श्लोक हैं जो अन्य लेखों में नहीं। वार्तिकसार में ये श्लोक हैं ही अतः प्रकरण-स्पष्टता के लिये इनका संग्रह अनुचित नहीं रोग का कारण जाने बिना की चिकित्सा की निरर्थकता की तरह संसारकारण समझे बिना मोक्षप्रयास फलप्रद नहीं हो सकता।।क।। जब तक यह न पता चले कि द्वैत का मूल माया है तब तक अद्वैत बुद्धि में जम नहीं सकता, तब तक बुद्धि द्वैताकार ही बनी रहेगी।।ख।। जैसे लोक में अज्ञान किन्हीं माध्यमों से (मध्यवर्ती हेतुओं से) कार्यकारी बनता है वैसे आत्मा का अज्ञान इन सात के द्वारा संसार का हेतु बनता है शरीर, धर्माधर्म, क्रिया, कर्त्ता, राग (-द्वेष), अध्यास और बाह्य पदार्थ।।ग।। क्योंकि अपनी ताकत बिना जाने लड़ने वाला मारा जाता है इसलिये लोक में भी निश्चित है कि आत्मा का अज्ञान अनर्थों का मूल है, और कुछ नहीं।।घ।। इस तरह, स्वात्मा को न जानकर व्यक्ति संसाररूप अनर्थ पाता है। अनर्थ कार्य और अज्ञान कारण है।।ङ।। जिसे छोड़ना चाहते हैं उस अनर्थ का हेतु है शरीर धारण करना क्योंकि कोई शरीरधारी प्रिय-अप्रिय

१. एते श्लोकाः क्वचिदेव मातृकासु विद्यन्ते। सारे तु सन्ति। प्रसङ्गोपयोगात्समावेष एषामत्र प्रशस्त इति मद्रपुरीविश्वविद्यालयात्प्रकाशितेऽनुभूतिप्रकाशे मूलगततयैषां मुद्रणम्।

जिहासितस्याऽनर्थस्य हेतुः स्यात् सशरीरता।
न प्रियाऽप्रियविच्छेदः सशरीरस्य कस्यचित्।।च।।
धर्माऽधर्मौ च देहस्य योनिरित्यागमोऽब्रवीत्।
विहितं प्रतिषिद्धं च कर्म मूलं तयोरपि।।छ।।
कर्त्तुरेव भवेत् कर्म रागद्वेषाच्च कर्तृता।
शोभनाऽशोभनाऽध्यासौ रागद्वेषप्रयोजकौ।।ज।।
उक्ताऽध्यासोऽप्यन्यवस्तुसद्भावात् स्याद् न चान्यथा।
वस्त्वन्तरस्य सद्भाव आत्माऽज्ञानेन कल्पितः।।झ।।
एवं देहादिवस्त्वन्तसप्तकव्यवधानतः।
संसाराऽनर्थहेतुः स्याद् आत्माऽज्ञानं जगत् सृजेत्।।ञ।।
प्रत्यग्याथात्म्यसम्मोहात् जगत् सदिव भासते।
प्रत्यग्याथात्म्यसम्बुद्धौ न सत् तद् नाऽसद् उच्यते।।ट।।
अशेषाऽनर्थरूपस्य प्रत्यगज्ञानरूपिणः।
ध्वस्तौ ध्वस्तिरनर्थानाम् आनन्दश्च समाप्यते।।ठ।।
निरस्ताऽतिशयानन्दरूपता प्रत्यगात्मनि।
यो वै भूमा तत् सुखं स्याद् इत्यादिश्रुतिसम्मतम्।।ड।।

से छूटा नहीं रह सकता।।च।। शास्त्र ने कहा है कि शरीर का कारण धर्म-अधर्म हैं। विहित कर्म करने से धर्म तथा निषिद्ध कर्म करने से अधर्म उत्पन्न होता है।।छ।। कर्म वही करेगा जो स्वयं को कर्त्ता जानता है। राग-द्वेष होने पर ही अपनी कर्तृता स्फुट होती है। राग-द्वेष तभी होंगे जब 'यह अच्छा है, वह बुरा है' ये अध्यास हों।।ज।। मुझसे अन्य कोई वस्तु है ऐसा समझने पर ही उस वस्तु को अच्छा या बुरा जाना जा सकता है। आत्मातिरिक्त कोई वस्तु है यह आत्मा के अज्ञान से ही कल्पित है।।झ।। इस तरह, शरीर से लेकर बाह्य वस्तु के अस्तित्व तक जो सात हैं इन्हीं के माध्यम से जगत् उत्पन्न करता आत्मा का अज्ञान संसाररूप अनर्थ का कारण बनता है।।ञ।। प्रत्यगात्मा की वास्तविकता के बारे में संमोह से, अयथार्थ ज्ञान से, जगत् लगता है मानो सत् (सत्य) हो, प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का सही ज्ञान होने पर जगत् सत्-असत् से विलक्षण समझ आ जाता है।।ट।। सब अनर्थों के मूल अज्ञान के नष्ट होने पर सब अनर्थ मिट जाते हैं और आनंद प्राप्त हो जाता है।।ठ।। 'भूमा ही सुख है' आदि वेदवचनों की इसमें संमति है कि प्रत्यगात्मा अनन्त आनंद है।।ड।।)

स्वत आनन्दयाथात्म्येऽप्यबोधाद् दुःखसम्प्लुतिः।
सोऽबोधोऽनर्थहेतुत्वाद्[1] निर्देष्टव्यश्चिकित्सितुम्।।६६।।

अव्याकृत प्रक्रिया में (सप्तम कण्डिका में) आत्मवर्णन का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं **जिसकी वास्तविकता स्वाभाविक आनंद है उस आत्मा का भी अज्ञान के कारण दुःख से सम्बन्ध हो गया है! अनर्थ का हेतु होने से उस अज्ञान को समझाना ज़रूरी है ताकि चिकित्सा की जा सके।।६६।।** आत्मा का स्वभाव आनंद कैसे समझें? हम दाल, साग, समोसा खाते हैं, तीनों नमकीन हैं। ऐसा नहीं समझते कि दाल से मिलकर नमक नमकीन हो गया या साग-समोसे से मिलकर नमक नमकीन हो गया! तीनों चीज़ों में नमक है अतः उसी के कारण अन्यों में नमकीनपन आता है यही माना जाता है। इसी प्रकार रूप-रस आदि के भोग से हमें सुख होता है। रूप-रस आदि विषय तो बदलते जाते हैं, एक-समान रहता हूँ मैं, जिसे सुख होता है। अतः असल में सुख का कारण मैं हूँ। मेरी सुखरूपता रूप-रस आदि विषयों से नहीं आती वरन् मेरे सम्बंध से विषय सुखभरा हो जाता है! इसलिये सुखरूप मैं आत्मा ही हूँ। इसका विशेष अनुभव सुषुप्ति में, गहरी नींद में होता है, वहाँ असीम आनंद है पर विषय कुछ भी नहीं है, सिर्फ़ मैं हूँ। यों आत्मा सुखरूप होने पर भी भ्रम हो गया है कि अमुक चीज़ मिलेगी तो सुख होगा! यदि किसी को जँचा दो कि पत्नी कभी सुख नहीं दे पाती तो वह अपनी सुंदर सुशील पत्नी की भी उपेक्षा कर वेश्याओं के ही पास सुख ढूँढता रहता है, वैसे अपने हृदय में उपस्थित आनंदरूप आत्मा के अज्ञान से हमें भ्रम है कि सुख तो बाह्य विषयों से ही मिलता है, अपने-आप में कहाँ सुख है! अतः दुनिया-भर के विषयों के लिये प्रयत्न करते हैं, प्रत्यगात्मा को देखने के लिये कोई कोशिश नहीं करते। हमारी इस कुमति का अनुसरण कर ही शास्त्र परमात्मा को ज्ञेय, ध्येय आदि रूप में बताता है ताकि कम-से-कम हम उसकी ओर प्रवृत्त तो हों। एक बार उसे समझना शुरू करेंगे तो धीरे-धीरे पता चल जायेगा कि वही हमारी बुद्धि-गुहा में उपस्थित हमारा निज स्वरूप है। हमें जिस नित्य सुख की अभिलाषा है वह हमारा प्रत्यगात्मा ही है। भ्रममात्र से हम अनित्य असुखरूप विषयों को नित्य और सुखरूप बनाने के प्रयास में लगे हैं। इसी से हम दुःख में डूबे रहते हैं। हम जितने भी पाप करते हैं उनका उद्देश्य क्या है? कि हमें सुख मिले। जैसे ही पता चलता है कि सुख हमारा अयत्नसिद्ध स्वभाव है, वैसे ही अनर्थ-

१. स बोधोऽन इति सारे पाठः। दुःखबोध इति तद्व्याख्या।

अबुद्धमात्मनस्तत्त्वं प्रमातुं योग्यमागमैः।
निर्देष्टव्यं तदप्यत्र सम्भावयितुम् अञ्जसा।।६७।।

प्रवृत्ति स्वयमेव छूट जाती है। अनर्थ का, अधर्म का कारण अज्ञान है। उसे हटाने पर ही संसार-रोग का उन्मूलन होगा। इसीलिये शास्त्र अज्ञान बताता है। ऐसा नहीं कि शास्त्र ने बताया, इसलिये अज्ञान कोई वस्तु है! है वह अवस्तु ही पर उसे दूर करना ज़रूरी होने से उसके बारे में समझाना पड़ता है, अन्यथा जीव अन्यान्य प्रयास करता रहेगा, संसार रोग का मूल कारण उखाड़कर नहीं फैंकेगा तो दुःखी ही बना रहेगा। इसी प्रयोजन से अज्ञान का वर्णन शास्त्र करता है। अज्ञान अनुभवसिद्ध होने से स्वरूपतः शास्त्र द्वारा बोध्य नहीं किंतु वही संसारकारण है यह अनुभवसिद्ध नहीं, इसे शास्त्र समझाता है। यह तो याद रखना ही चाहिये कि शास्त्र परमात्मा को जगत्कारण बताने में प्रवृत्त है; परमात्मा जिस उपाधि से, द्वार से, सहायता से कारण बनता है वह अज्ञान है यह भी शास्त्र समझाता है ताकि इस द्वार को हम बंद कर सकें तो हमारा संसरण समाप्त हो।।६६।।

अज्ञान स्वतन्त्र पदार्थ नहीं, आत्मा पर आश्रित हुआ ही रहता है, प्रतीत होता है अतः आत्मपरतंत्र मिथ्यावस्तु ही है। अत एव अज्ञात आत्मा को ही अज्ञान बताया गया है। वही आत्मा जान लिया जाने पर अज्ञान निवृत्त हो जाता है। इस अभिप्राय से समझाते हैं **आत्मा की न समझी गयी वास्तविकता ही आगमों द्वारा ठीक-ठीक समझी जाने योग्य है। उसका भी यहाँ निर्देश आवश्यक है ताकि उसकी समीचीनता प्रमाण-युक्ति के अनुकूल समझ आये।।६७।।** आत्मा की वास्तविकता एकमात्र शास्त्र प्रमाण से पता चलती है। आत्मा को 'मैं'-रूप से जानते सब हैं लेकिन किसी-न-किसी उपाधि से जुड़ा ही समझते हैं। जैसे गिरगिट जहाँ हो वहाँ के अनुसार अपना रंग बदल लेता है जिससे यह समझना अतिकठिन है कि उसका अपना रंग क्या है, ऐसे आत्मा उपाधिधर्म ग्रहण करता जाता है जिससे उसकी भी वास्तविकता समझना अतिकठिन है। इसे शास्त्र से ही समझ सकते हैं। शास्त्र आत्मस्वरूप इस तरह उपस्थित करता है कि लौकिक एवं शास्त्रीय प्रमाणों से तथा विचार के मान्य तर्कों से वह विरुद्ध न लगे, अनुकूल लगे। वेद की यह युक्ति-अविरुद्धता उसकी अन्यों की अपेक्षा अधिक प्रमा-जनकता को दृढ रखती है।।६७।।

सप्तम कण्डिका के व्याख्यान के प्रारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **'अव्याकृत'-शब्द से श्रुति ने उस अज्ञान का तथा उस प्रमेय का निर्देश दिया है। उसी श्रुतिका**

तम् अबोधं तच्च मेयम् अव्याकृतगिरा श्रुतिः ।
निरदिक्षच्छ्रुतिः, सा तु न्यायेनाऽत्र विचार्यते।।६८।।
'तद्धेदं' तर्ह्यविस्पष्टम् आसीद् अव्याकृताऽभिधम् ।
इत्येतस्मिन् श्रौतवाक्ये पदार्थस्तावद् ईर्यते।।६९।।

यहाँ युक्तिपूर्वक विचार किया जा रहा है।।६८।। जिसे मिटाने के लिये सारी साधना है उस अज्ञान को भी समझना ज़रूरी है। अज्ञान को 'जानना' उस तरह नहीं हो सकता जैसे घड़ा जानते हैं! क्योंकि प्रकाश से अंधेरे की तरह प्रमा से अज्ञान को विषय करते ही वह समाप्त हो जाता है। फिर भी विविध तरहों से उसे समझा तो जा ही सकता है और इसीलिये शास्त्र विविध शब्दों से उसे बताता है। पद्मपादाचार्य ने नाम-रूप, अव्याकृत, अविद्या, माया, प्रकृति, अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण, लय, शक्ति, महासुप्ति, निद्रा, अक्षर, आकाशइतने उसके बोधक शब्द एकत्र (पंचपा. पृ. १७३) किये हैं। अज्ञान को अन्य वादी ज्ञान का अभाव मानते हैं जबकि वेदान्त में उसे अभावविलक्षण स्वीकारते हैं जिसे हृदयंगम करने के लिये, इन सब शब्दों में जिसे विषय करते हैं वह अज्ञान है यह बताना पड़ता है। अज्ञान वास्तविकता को ढक तो सकता है परंतु स्वयं अज्ञान की असलियत का पता नहीं लगता, वह 'है' भी कहते नहीं बनता, 'नहीं है' भी कहा नहीं जा सकता, अतः उसे अनिर्वचनीय बताया गया है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस अनुभव से वह सिद्ध अवश्य है पर उसके स्वरूप के विश्लेषण का कोई ठोस नतीजा नहीं निकलता। अज्ञान के अनुभव से अलग अज्ञान का स्वतंत्र स्वरूप है ही नहीं कि उपलब्ध हो! जैसे ओस की बूँद चाहे जितनी रमणीय लगे पर उसे पकड़ने जाओ तो कुछ हाथ नहीं लगता वैसे लगता है कि सारे संसार का कारण बनने वाला अज्ञान कोई बड़ी भारी चीज़ होगी पर उसकी परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि वह है ही नहीं! इसलिये अज्ञान को यहाँ मेय (प्रमेय) से अलगकर बताया। अज्ञान को समझना पड़ता है पर वह किसी प्रमाण का विषय नहीं बनता। अज्ञान और प्रमेय परमात्मा इन दोनों के बारे में श्रुति अव्याकृत कण्डिका में निर्देश दे रही है जिस पर विद्यारण्यस्वामी यहाँ विचार करने जा रहे हैं।।६८।।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इस श्रुतिवाक्य का उल्लेख करते हैं **बहिर्मुख प्रमाणों का विषय यह जगत् अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व अव्याकृत-नामक अस्पष्टावस्था में था यह प्रसिद्ध है। इस वेदवाक्य में आये पदों का अर्थ पहले बताते हैं।।६९।।** नाम-रूप के विभाजन वाला होने से पूर्व कार्य अपने कारण में यों छिपा

अज्ञानात्मन्यशेषेण लीनं बीजस्वरूपधृक् ।।[१]
तच्छब्देन जगत् प्रोक्तं परोक्षार्थाऽभिधायिना ।।७० ।।
अव्याकृतस्य जगतो भूतकालाऽभिसङ्गतेः ।
बुभुत्सुं प्रति पारोक्ष्यात् तच्छब्दस्तत्र युज्यते ।।७१ ।।

रहता है कि वह है, कैसा है इत्यादि कुछ स्पष्ट नहीं होता। उसी अस्पष्ट स्थिति को अव्याकृत कहा गया है। व्याकृत अर्थात् स्पष्ट अतः अव्याकृत अर्थात् अव्यक्त, अस्पष्ट। इसे और समझायेंगे; यहाँ तो पूरे वाक्य का अभिप्राय बताया, आगे एक-एक शब्द का अर्थ कहेंगे। लोक में भी ज़रूरी है कि वाक्य में आये शब्दों का सही अर्थ समझा जाये अन्यथा बड़ी-बड़ी भूलें हो जाती हैं। संविधान में लिखा गया 'हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होगी'; यह नहीं कि वह राष्ट्रभाषा है! अतः हिंदी-विरोधियों को मौका मिलता गया और आजतक 'हिंदी कब राष्ट्रभाषा होगी' इसका हिंदी-पक्षीय लोग इन्तज़ार ही कर रहे हैं। तभी यदि 'होगी' के बजाये 'है' लिखा गया होता तो हिन्दी की यह दुर्दशा न होती, विदेशी भाषा का इतना प्रभाव न पड़ता। लोक में ही ऐसा हो जाता है तो शास्त्र में पद-पदार्थ समझना और ज़्यादा ज़रूरी है इसमें क्या कहना! वेद केवल ध्वनि से ही कल्याण नहीं करता, इस के प्रत्येक अक्षर का अभिप्राय समझने लायक है, उसे समझने से ही पुरुषार्थ-प्राप्ति संभव है। विद्यारण्यस्वामी ने प्रायः इस ग्रंथ में यही तरीका रखा है कि विवेचनीय वाक्यों के शब्दों का अर्थ सुस्पष्ट समझाते हैं।।६९ ।।

वाक्य में जिस क्रम से शब्द हैं उसी क्रम से उन्हें समझाना प्रारंभ करते हुए 'तत्' शब्द का अर्थ बताते हैं **परोक्ष चीज़ बताने वाले 'तत्' (वह) शब्द द्वारा बीजरूप धारण किया हुआ एवं अज्ञानरूप वस्तु में पूरी तरह छिपा हुआ जगत् कहा गया है।।७०।। क्योंकि अव्यक्त जगत् का भूतकाल से सम्बन्ध जिज्ञासु के लिये परोक्ष है इसलिये उस अर्थ में 'तत्' शब्द का प्रयोग ठीक है।।७१।।** 'तत्' अर्थात् हिंदी में 'वह'। जो चीज़ सामने नहीं उसी को 'वह'-शब्द से कहते हैं। सामने की चीज़ 'यह' कही जाती है, दूर की, देश या काल की दृष्टि से दूर, 'वह' कही जाती है अर्थात् जो साक्षात् या प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष हो, इंद्रियों से ग्रहण न हो रही हो। अव्याकृत अनुमानगम्य ही रहता है अतः 'वह' कहा जाये यह ठीक ही है। जगत् अव्यक्त में बीजरूप से रहता है। अव्यक्त को 'अज्ञानात्मनि' पाठ में अज्ञानरूप कहा है, 'अज्ञातात्मनि' पाठ

१. अज्ञातात्मावशेषेण लीनं ब्रह्मस्वरूपधृक् इति वार्तिकसारे पाठः मुत्तुशास्त्री तु 'अज्ञातात्मन्यशेषेण' इति पठति।

ऐतिह्यार्थे ह-शब्दः स्यात् सुखेनार्थावबुद्धये।
तर्केणोक्ते धियः क्लेशः परमाण्वनुमानवत्।।७२।।

में अज्ञात आत्मरूप कहा है तथा 'अज्ञातात्मावशेषेण' आदि वार्तिकसार के पाठ में कहा है कि जगत् अज्ञात आत्मरूप से लीन होकर 'ब्रह्मस्वरूपधृक्' ब्रह्मस्वरूप हो गया है। पहले भी बता चुके हैं कि अज्ञात आत्मा से अतिरिक्त अज्ञान कुछ नहीं है। बीज वह होता है जिसके बारे में, जब तक उससे पौधा प्रकट न होवे तब तक कुछ निश्चित कहा न जा सके। कौन-सा बीज फलेगा, कितने व कैसे फल देगा आदि कुछ भी पहले से नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही अज्ञात आत्मा के रूप में जो बीजभूत जगत् है वह ऐसा नहीं जैसा हम आज (व्यक्तावस्था में) देख रहे हैं। जैसे बीज में तना-जड़-पत्ते-फूल-फल नहीं दीख सकते ऐसे अव्यक्त में जगत् दीखे यह संभव नहीं। किंतु जैसा छान्दोग्योपनिषत् में बताया 'यं वै सोम्य! एतम् अणिमानं न निभालयसे, एतस्य वै सोम्य! एषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्व सोम्य! इति।' (६.१२.२) जिस अत्यंत छोटे वटबीज को देखना भी मुश्किल होता है उसी में बड़ा भारी बरगद का पेड़ मौजूद है! इस बात में श्रद्धा रखना ही बुद्धिमानी है। सृष्टि होने से पहले यह पता नहीं चल सकता कि क्या पैदा होगा। इसी दृष्टि से 'तत्' कहना बन जाता है। आज क्योंकि व्यक्त जगत् हमारे सामने है इसलिये हम अव्यक्त को 'था' ही समझ सकते हैं, भूतकाल-सम्बन्धी ही समझ सकते हैं। कार्य से ही अव्यक्त का अनुमान होता है अतः वह पूर्वकालिक के रूप में ही समझा जा सकता है। जैसे घड़ा-कपड़ा दीख जाता है ऐसे 'यह अव्यक्त है' यों उसे अनुभव नहीं कर सकते। बुभुत्सु, बोध का इच्छुक, जिज्ञासु, व्यक्त जगत् से व्यवहार कर रहा है। वह जगत्-कारण को समझना चाहता है, उसके लिये कारण परोक्ष ही होगा अतः उसे तत्-शब्द से ही कहा जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट किया कि तत्-पद अव्याकृत अवस्था वाले जगत् का विशेषण है।।७०-१।।

'तद्धेदम्' में दूसरा शब्द 'ह' है। भाष्यकार ने माना है 'ऐतिह्यप्रयोगो ह-शब्दः' अर्थात् ह-शब्द से पता चलता है कि किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य का वर्णन है। यों कहने से समझने में सुभीता होता है ऐसा मानकर ह-शब्द रखा गया, यह समझाते हैं **यहाँ 'ह'-शब्द इस अर्थ में है कि बतायी जा रही बात ऐतिहासिक है। इस तरह इसलिये कहा ताकि अभिप्राय आराम से समझ आये। तर्क से बताने पर बुद्धि को कठिनाई होती है जैसे परमाणु-बोधक अनुमान समझने में होती है।।७२।।** उपनिषदों ने प्रायः कहानी के रूप में तत्त्व समझाया है, वह इसलिये कि उपदेश ग्रहण

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
नाऽप्रतिष्ठिततर्केण गम्भीरार्थस्य निश्चयः।।७३।।[1]

हो जाये। प्राचीन घटना का वर्णन सुनते समय चित्त पहले उसे ग्रहण करने को उन्मुख होता है जबकि वही बात तर्क के रूप में व्यक्त करें तो चित्त पहले ही सावधान हो जाता है कि कहीं कोई तार्किक त्रुटि तो नहीं। वस्तु की सिद्धि तर्क पर निर्भर नहीं किंतु जब तर्कपूर्वक समझाते हैं तब व्यक्ति से यह भूल हो जाती है कि वह तर्क की कमज़ोरी देखकर मान बैठता है कि वस्तु ही वैसी नहीं है! अतः शास्त्र पहले उपदेशप्रधान होकर तत्त्व बता देता है, फिर उसके उपपादन में तर्क भी सुझाता है। इसमें उदाहरण तार्किक के वे अनुमान-प्रयोग हैं जिनसे परमाणु सिद्ध किये जाते हैं। यदि इतिहास की तरह कह दिया जाये कि दुनिया बनने से पूर्व अत्यन्त छोटे सूक्ष्म कण थे परमाणु, जो जुड़कर सारी दुनिया बन गये या जिन्हें जोड़कर भगवान् ने दुनिया बना दी, तो बात ग्रहण हो जाती है। किन्तु तार्किक परमाणु हैं इसे यों व्यक्त करते हैं छोटी खिड़की से कमरे में आती सूर्य की किरण में जो सूक्ष्म रजःकण उपलब्ध होते हैं वे भी टुकड़ों वाले हैं क्योंकि आँखों से दीखते हैं, आँखों से टुकड़े वाली चीज़ ही दीखती है जैसे कपड़ा। यों वे ऐसे परमाणु सिद्ध करने की कोशिश करते हैं जो आँखों से नहीं दीख सकते। इस प्रकार कहने पर श्रोता को समझ में आना कठिन हो जाता है यह अनुभवसिद्ध है। वेद का उद्देश्य जीवों का कल्याण करना है अतः जिस तरह से जीव विषय को ग्रहण करे उस तरह बताना उचित है। किसी तार्किक दर्शन (फिलोसोफी) की स्थापना करना वेद का प्रयोजन नहीं। वेद तो परमेश्वर की अहैतुकी कृपा से व्यक्त उनका ज्ञान ही है। ईश्वर हमारे उद्धार में ही प्रवृत्त है अतः जब इतिहास की तरह बताना उचित है तब वैसा ही कथन कर देता है।।७२।।

प्रश्न उठ सकता है कि इतिहास के रूप में उल्लेख तो बात को अर्थवाद बना देगा, क्या उसका महत्त्व घट नहीं जायेगा? इसका उत्तर देने के लिये महाभारत (भीष्म. ५.१२) का अनुसरण करते हुए समझाते हैं कि इस ढंग से उल्लेख इस प्रयोजन से है कि शुष्क तर्क का इस विषय में प्रवेश अनिष्ट है यह स्पष्ट हो **जो भाव सांसारिक विचार-प्रक्रियाओं से परे ही हों उन्हें तर्क से निर्णीत करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। तर्क प्रतिरुद्ध होकर रुकता नहीं अतः उससे किसी गंभीर अर्थ का निर्णय सम्भव नहीं।।७३।।** 'अचिन्त्य' उसे कहते हैं जिसके स्वरूप का, सामर्थ्य का निर्धारण अन्य वस्तुओं के अनुसार न हो सके। जो चीज़ें सर्वसाधारण नियमों का पालन

---
१. द्रष्टव्य महाभा. भीष्म. ५.१२।।

करती हैं उन्हें चिन्तन के योग्य ही माना जाता है लेकिन जिस पर वे नियम लागू न हों उसका चिंतन संभव ही नहीं। उसके स्वयं के ही नियम होते हैं, उन्हें पता लगाया जा सकता है लेकिन अन्य चीज़ों के नियमों के आधार पर अचिन्त्य वस्तुओं के नियमों का निगमन नहीं होता। या उसी चीज़ के परीक्षण से होता है, या अनुभवी के उपदेश से होता है। परमात्मा एवं उसका जगत्कारण रूप ऐसा ही अचिन्त्य होने से शास्त्र से ही समधिगम्य है अतः उस पर लोकसिद्ध तर्कों से विचार संभव नहीं। यहाँ 'भाव'-शब्द का प्रयोग 'होने वाली वस्तु' के लिये है। यह भी ध्वनि है कि जो वस्तुएँ स्थूल नहीं वे प्रत्यक्ष का विषय न बनने से प्रत्यक्षाधारित तर्क से न समझी जायें यह उचित ही है। मन की काम-क्रोधादि वृत्तियाँ भी भाव कही जाती हैं, उन्हें भी तर्क से उपपन्न नहीं किया जा सकता। जैसे उन भावों को समझा जा सकता है वैसे अव्याकृत आदि तत्त्व समझे तो जा सकते हैं लेकिन तर्क से उन्हें निर्धारित नहीं कर सकते। 'खलु' से कहा कि कुछ चीज़ें साधारण न सही, विशेष तर्क से विषय होती हैं। गणित, भौतिकी आदि में ऐसा विभाजन प्रसिद्ध है कि कोई नियम कितनी सीमा तक लागू होता है। किंतु परमात्मा तो तर्क से सर्वथा अगोचर है, उसे कैसा भी तर्क विषय नहीं करता। तर्क को 'अप्रतिष्ठित' कहा। प्रतिष्ठा अर्थात् रुक जाना, स्थिर हो जाना। तर्क रुकता नहीं, हर तर्कित मत पर पुनः तर्क लागू होता ही रहता है अतः निश्चय पर पहुँचना संभव नहीं होता। हर निर्णय पुनः तर्क का सामना करेगा और तर्क असंख्य है तो तर्क को रुकने का मौका ही कहाँ मिलेगा! उसका प्रतिरोध, विरोध संभव नहीं क्योंकि प्रतिरोधी भी तो तर्क ही होगा! इसी से भगवान् बादरायण ने सूत्र बना दिया 'तर्काऽप्रतिष्ठानाद्' (२.१.११) कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। नये-नये तार्किक पूर्व-पूर्व तार्किकों के मत काटते रहते हैं। न यह संभव है कि भूत-भावी सारे तार्किक एकत्र होकर निर्णय करें और न यह कि बाद में उन्हीं तार्किकों को कोई नया तर्क नहीं सूझ जायेगा। अतः यहाँ आचार्य ने कहा कि 'गंभीर' अर्थ का निश्चय तर्कों से नहीं होता। गंभीर अर्थात् जिनका महत्त्व है। साधारण बातों को तर्कित कर एक हद पर रुका जा सकता है क्योंकि वहाँ काम चलाना, व्यवहार-सिद्धि ही प्रयोजन है; जितने से काम चले उतना ही तर्क लगा कर छोड़ा जा सकता है। लेकिन जो गम्भीर अर्थ है, जिसका निर्णय बंध-मोक्ष का भेद करने वाला है, संसारचक्र को रोकने वाला है, उसका किसी व्यवहार में प्रयोग है नहीं कि अंतिम नतीजे तक पहुँचे बिना रुकना संभव हो। इसीलिये धर्म को भी केवल तर्क से समझने को मना किया जाता है। परलोक-सम्बन्धी होने से इस लोक के तर्क उसे समझने-समझाने में अक्षम हैं। जहाँ तक

नामरूपाऽदिविकृतं पराङ्मानेन भासितम्।
इदं-शब्देन निखिलं जगद् 'एतद्' उदीर्यते।।७४।।

शास्त्रानुसारी तर्क मिले वहाँ तक उसका उपयोग तो अवश्य करना चाहिये ताकि निश्चय दृढ रहे लेकिन तर्क पर निर्भर नहीं होना चाहिये, तर्क-विरोध से शास्त्र को अन्यथा नहीं करना चाहिये। धर्म और ब्रह्म ये ही वस्तुतः गंभीर अर्थ हैं। वैसे, लोक में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें होती हैं जो अनुभव और प्रेरणा के आधार पर निश्चित हो सकती हैं, तर्क के आधार पर नहीं। उनके लिये भी यहाँ कही बात याद रखनी चाहिये। 'तद्ध' में 'ह' के प्रयोग से वेद ने यही चेतावनी दी है।।७३।।

श्रुति के 'इदं' शब्द का अर्थ कहते हैं **नाम, रूप आदि विकारों वाला, अनात्मविषयक प्रमाणों से प्रतीत होने वाला यह सारा जगत् 'इदं' शब्द से कहा जा रहा है।।७४।।** 'इदं' कहते हैं 'यह' को, जो संमुख हो ऐसी चीज़ को। सारा संसार इदम्बुद्धि का विषय बनता है, 'यह' यों उसका भान होता है। वह नाम, रूप और कर्म, इन विकारों वाला ही है। विकार मतलब कार्य, परिवर्तन, विविध आकार। नाम-रूप-कर्म तीनों में विविधता है, विभक्तता है, अलगाव है और ब्रह्मसूत्रों में निर्णय किया है 'यावद् विकारं तु विभागः' (२.३.७) कि विभाग वाली, भेद वाली, सद्वय वस्तु विकार अर्थात् कार्य होती ही है। अतः इन विकारों वाला जगत् स्वयं कार्य ही है। इसे उन्हीं प्रमाणों से जान सकते हैं जो अनात्मा को विषय करते हैं। आत्मविषयक प्रमाण तो एक तत्त्वमस्यादि-वाक्यजन्य अखण्ड वृत्ति ही है, उससे ही आत्म-प्रमा होती है। लौकिक आत्मप्रमायें भी उपाधियुक्त रूप को विषय करने से 'पराङ्मान' ही हैं, पराक् अर्थात् अप्रत्यक्, अनात्मा को गोचर करने वाली प्रमायें ही हैं। स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच को जिनसे ठीक-ठीक समझा जाता है वे पराक् प्रमाण हैं, उनसे प्रतीत होता समग्र संसार यहाँ 'इदम्' कहा गया है। इससे वे चीज़ें हटा दीं जो प्रमाणगम्य नहीं हैं। भ्रम से, कल्पनामात्र से जो प्रतीत हो उसे यहाँ 'इदम्' में ग्रहण नहीं करना है वरन् लौकिक प्रमाणों से जो कुछ अनुभव किया एवं समझा जा सकता है उसे 'इदम्' कहा जा रहा है।।७४।।

'तत्' और 'इदम्' अर्थात् 'वह' 'यह' यों श्रुति ने क्यों कहा इस पर भाष्यकार ने लिखा है 'तद्-इदं-शब्दयोः परोक्ष-प्रत्यक्षावस्थ-जगद्वाचकयोः सामानाधिकरण्याद् एकत्वमेव परोक्ष-प्रत्यक्षावस्थस्य जगतोऽवगम्यते' अर्थात् एक ही को 'वह' और 'यह' दोनों कहने से बताया कि जो परोक्ष अवस्था वाला था वही प्रत्यक्ष अवस्था वाला है, अवस्थाओं का भेद होने पर भी जिसकी अवस्थायें हैं उसमें भेद नहीं। इससे सूचित हुआ कि न असत् की

सामानाधिकरण्येन तदिदम्पदयोः श्रुतम् ।
कार्यकारणयोरैक्यं व्याकृताऽव्याकृतात्मनोः ।।७५।।
एकस्य जगतोऽवस्थे व्याकृताऽव्याकृतात्मिके ।
अवस्थयोर्विभेदेऽपि तद्धर्मी न हि भिद्यते ।।७६।।
बाल्ययौवनभेदेऽपि देवदत्तो न भिद्यते ।
ततो जगदभेदेन सामानाधिकरण्यगीः ।।७७।।

उत्पत्ति होती है और न सत् का नाश होता है। यही अभिप्राय श्लोक से बताते हैं **वह और यह शब्दों के सामानाधिकरण्य से यह समझ आता है कि व्यक्त स्वरूप वाले कार्य एवं अव्यक्त स्वरूप वाले कारण की एकता है।।७५।।** सामाना-धिकरण्य अर्थात् ऐसा प्रयोग जिसमें एक विभक्ति वाले अलग-अलग शब्द एक अर्थ का बोध करायें। 'नीला कमल' सुनकर पता चलता है कि एक ही चीज़ को नीला भी कहा जा रहा है और कमल भी, शब्द अलग हैं, उनके अभिप्राय अलग हैं लेकिन दोनों बताते एक ही वस्तु को हैं जो नीली भी है, फूल भी है। इसी तरह यहाँ 'वह' 'यह' ये शब्द परोक्षता व प्रत्यक्षता इन स्वतंत्र अभिप्रायों वाले होते हुए भी बात एक जगत् की ही कर रहे हैं। अतः मतलब है कि जो 'वह' वही 'यह' है; जो अभी व्यक्त है वही पहले अव्यक्त था।।७५।।

उक्त बात को और स्पष्ट करते हैं **एक जगत् की दो अवस्थायें हैं व्यक्त एवं अव्यक्त। अवस्थाएँ परस्पर विभिन्न होने पर भी उन अवस्थाओं वाला जगत् विभिन्न नहीं, एक ही है।।७६।। बालकपन व जवानी का भेद होने पर भी देवदत्त अलग-अलग हो जाये ऐसा नहीं! इस तरह जगत् अभिन्न होने से यहाँ सामानाधिकरण्य वचन है।।७७।।** व्यक्त अर्थात् जब विविध नाम-रूप-कर्म प्रकट हैं। इसे ही व्याकृत अवस्था कहते हैं। अव्यक्त अर्थात् जब वे नामादि प्रकट नहीं हैं, जिसे अव्याकृत अवस्था कहते हैं। घड़ा, सिकोरा आदि बर्तन बनने से पूर्व कुम्हार के पास जो तैयार मिट्टी है वही घड़े आदि सब बर्तनों की अव्यक्त अवस्था है और कुम्हार के प्रयास से बन जाने के बाद जब घड़ा आदि दीखने लगें, उन्हें घड़ा आदि कहा जा सके, उनसे घड़े आदि का काम लिया जा सके तब उन्हीं घड़े आदि की व्यक्त, व्याकृत अवस्था है। एक चीज़ की दो या ज़्यादा अवस्थायें होने से उस चीज़ को ही दो या ज़्यादा तो नहीं मान सकते जैसे क्रमशः स्तनन्धय, बाल, कुमार, युवा, प्रौढ, वृद्ध आदि अवस्थाओं वाला कोई देवदत्त नामक व्यक्ति हो तो उसे एक ही स्वीकारा जायेगा, अवस्थाओं की अनेकता से

नामरूपाद्यभिव्यक्तेः प्राक्तनः काल उच्यते।
'तर्हि' त्यनेन शब्देन स कालो लोककल्पितः।।७८।।
यद्यप्यव्याकृते कालव्यक्तिर्नास्ति तथाऽप्यमी।
लोकाः प्रलयकालत्वव्यवहारं प्रकुर्वते।।७९।।

अनेक नहीं माना जायेगा। ऐसे ही व्यक्त व अव्यक्त ये अवस्थाएँ तो दो हैं, परस्पर भिन्न हैं, लेकिन जिसकी ये अवस्थाएँ हैं वह जगत् एक है अतः इसे 'वह' और 'यह' कहा जैसे 'वही यह वृद्ध देवदत्त है जो पहले बालक था' ऐसा कहा जाता है। यहाँ व्यक्त-अव्यक्त अवस्थाओं वाले को 'तद्धर्मी' कहा अर्थात् अवस्थायें जगत् का धर्म हैं। धर्म पराश्रित होता है जैसे गुण, क्रिया आदि। व्यक्त अवस्था है पर होगी किसी की, अव्यक्त भी अवस्था है जो होगी किसी की। बुढ़ापा होगा किसी का, जवानी होगी किसी की। जिसका बुढ़ापा है वह धर्मी या धर्मवाला है तथा बुढ़ापा उसका धर्म है। ऐसे ही जगत् धर्मी है एवं उक्त अवस्थाएँ उसके धर्म हैं। जगत् तो अवस्थाओं से स्वतंत्र है पर अवस्थाएँ जगत् से स्वतंत्र नहीं। आगमापायी धर्म वाला बताकर जगत् को मिथ्या समझाना इष्ट है।।७६-७।।

आगे श्रुति में 'तर्हि' ('तब') शब्द है, उसका अर्थ बताते हैं **'तर्हि' ('तब') इस शब्द से नाम-रूप आदि की अभिव्यक्ति से पहले होने वाला समय कहा जा रहा है। वह समय लोगों द्वारा कल्पित है।।७८।। यद्यपि अव्याकृत में काल की अभिव्यक्ति नहीं है तथापि ये (व्यक्त जगत् में वर्त्तमान) लोग उसे 'प्रलयका काल' ऐसा कहते-समझते हैं।।७९।।** इतिहास की तरह कहने के लिये श्रुति ने 'तब' शब्द से कोई सुदूर भूत का काल सूचित किया। जिस समय जगत् व्यक्त नहीं था उसे 'तब' कहा है। समय भी क्या तब व्यक्त था, व्यवहार-योग्य था? नहीं। यदि काल तब व्यक्त होता तो वह अवस्था अव्यक्त नहीं रह जाती! काल भी जगत् के अन्तः-पाती होने से काल की व्यक्तता उस अवस्था को अव्यक्त कहलाने योग्य नहीं रखती। अतः हालाँकि काल तब व्यक्त न होने से उस अवस्था को 'तब' अर्थात् 'पूर्ववर्ती काल में' कहना नहीं बनता, काल व्यक्त होता तभी अव्यक्त को अपने में रख पाता, फिर भी व्यक्त दशा में विद्यमान लोग वर्तमान की अपेक्षा से कल्पना करते हैं कि अव्याकृत भी किसी समय में था। मानव चिंतन देश-काल-कार्यकारणभाव इन तीन आयामों को सर्वथा छोड़ पाये यह सरल नहीं। कुछ भी है तो अवश्य जिज्ञासा होगी कहाँ है? कब है? कैसे अर्थात् किससे पैदा होकर है एवं क्यों है अर्थात् उसका कार्य क्या है? ये स्वाभाविक जिज्ञासायें होती हैं जिनका उत्तर समझने तक वह है यह पूर्णतः समझ में नहीं आता एवं इन्हीं

जगतोऽस्याऽनभिव्यक्तिरव्याकृतगिरोच्यते।
न जगत् प्रागवस्थायां व्यक्तं गर्भस्थपुत्रवत्।।८०।।

प्रश्नों का उत्तर जानने का प्रयास सारी विज्ञान आदि की प्रगति है। अतः जगत् की अव्यक्तावस्था इसके बोध के लिये, वह कब है यह भी बताना ज़रूरी हो जाता है। इसी को 'तब' से कह दिया। 'तब' बताने में श्रुति का अभिप्राय नहीं लेकिन लोग कालवासना से युक्त हैं अतः उनके सन्तोष के लिये श्रुति ने 'तब' कह दिया। 'प्रलय काल' यह हम स्थितिकाल में व्यवहार करते हैं, कहते-समझते हैं ; हमें लगता है कि जैसे अभी काल है संवत्सर, मास, पक्ष आदि व्यतीत होते हैं वैसे ही प्रलय में भी होगा! है यह असंभव क्योंकि संवत्सरादि के बीतने के लिये सूर्यादि अनेकों की आवश्यकता है। प्रलय में ये सब हैं नहीं तो ऐसा काल हो कैसे सकता है? लेकिन जगत्काल की वासना से प्रलय के भी काल की कल्पना कर वैसा व्यवहार कर लेते हैं। जो तो मायारूप या मायात्मसंबंधरूप, या ईश्वररूप काल है वह सनातन होने से 'तब' - 'अब' के भेद वाला नहीं। उसे 'तर्हि' से कहने का प्रयोजन नहीं। उससे लौकिक व्यक्ति की 'कब' की जिज्ञासा भी दूर नहीं होती। अतः यहाँ 'तर्हि' से लोक-कल्पित काल को ही कहा है।।७८-९।।

श्रुति में अगला शब्द 'अव्याकृतम्' है, उसका भाव बताते हैं **'अव्याकृत' शब्द से इस जगत् का अभिव्यक्त न होना कहा जा रहा है। जैसे गर्भ में स्थित पुत्र व्यक्त नहीं होता वैसे व्यक्त की अपेक्षा पहले की अवस्था में जगत् व्यक्त नहीं था।।८०।।** अव्याकृत को अवस्था या धर्म कहा था, उसी को यहाँ स्पष्ट किया। जगत् अभिव्यक्त नहीं इसे अव्याकृत कह रहे हैं अर्थात् जगत् के अस्तित्व को मना नहीं कर रहे। जैसे कमरे के भीतर देवदत्त बैठा है, वही फिर बाहर आता है तो भीतर होना और बाहर होना ये दोनों धर्म हैं एक स्थिर देवदत्त के, वैसे अव्याकृत भी है तो जगत् ही जैसे व्याकृत भी जगत् ही है। इसी बात को गर्भस्थ शिशु के दृष्टांत से बताया। जो गर्भ में है वही बाहर निकलेगा। जब तक गर्भ में है तब तक बालक को ही अव्यक्त कहते हैं, जब बाहर आ गया तब उसी को व्यक्त कहते हैं। बालक से अतिरिक्त, उससे स्वतंत्र अव्यक्त या व्यक्त कही जाने वाली कोई चीज़ नहीं। ऐसे ही, अभिव्यक्त न होते जगत् को ही अव्याकृत कहा गया है। 'प्रागवस्था' अर्थात् व्यक्त से अन्य अवस्था; व्यक्त से पूर्व को ही प्राक् कहना संगत है लेकिन व्यक्त की समाप्ति में भी तो अव्यक्त ही रहना है! यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया कह रहे हैं इसलिये प्राक् या पहले की अवस्था का

'आसीद्' इति च सत् तत्त्वम् अधिष्ठानतयोदितम्।
तथा च भावरूपत्वाज्जगद् व्याकृतिमर्हति।।८१।।
अव्याकृतवचस्त्वेवम् अवतार्याऽस्य वर्णिताः।
पदार्था अथ वाक्यार्थो न्यायेनैव निरूप्यते।।८२।।

उल्लेख है जिसे व्यक्त के कारणरूप से समझा जाता है। व्यक्त के बाद की भी वही अवस्था है क्योंकि लय भी कारण में ही होता है, किंतु संदर्भ के अनुसार यहाँ पहले की अवस्था कहना उचित होने से प्राक् शब्द का प्रयोग किया।।८०।।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतम् आसीत्' इस वाक्य का आखरी शब्द है 'आसीत्' 'था', उसका अर्थ कहते हैं **'आसीत्' इस शब्द से सद्रूप परमार्थ का अधिष्ठान रूप में कथन किया गया है। इस तरह, भावरूप होने से जगत् व्यक्त होने योग्य है।।८१।।** 'आसीत्' का हिंदी अनुवाद होगा 'था'। 'था' मतलब भूतकालिक है। है यह सद्रूप परमात्मा का ही नाम है। वह नित्य है, उसे सत् या अस्ति भी कह सकते थे, फिर भी था कहा क्योंकि सूचित करना है कि उसे अधिष्ठान बताया जा रहा है। यद्यपि अध्यास स्वकाल में भी अधिष्ठान में ही है तथापि उस सत्तत्त्व को जगत्का कारण कहने के लिये था कहना ज़रूरी हुआ जिससे यह भी स्पष्ट हो गया कि सद् वस्तु अधिष्ठान कारण है, विकारी कारण नहीं है। भाववस्तु होने से ही सत् अधिष्ठान हो सकता है, कारण बन सकता है और जगत् भी क्योंकि भाव वस्तु है इसलिये व्यक्त हो सकता है। जो है, जैसे गर्भस्थ शिशु, वही व्यक्त हो सकता है; जो है ही नहीं, जैसे बालू में तेल, वह व्यक्त भी नहीं हो सकता। व्यक्त होने से ही व्यक्त होने वाले की अर्थात् जो अभी तक अव्यक्त था उसकी भावरूपता सिद्ध हो जाती है। भावरूप अर्थात् 'है' इस प्रतीति का विषय। जो 'है' ऐसा लगे उसे भावरूप कहते हैं जैसे 'घड़ा है' लगता है तो भावरूप है। अव्यक्तावस्था में भी जगत् है अतः भावरूप है और इसी से उसका अभिव्यक्त होना संगत है।।८१।।

उक्त श्रुतिवाक्य पर श्लोक ८८ तक और विचार करते हैं **इस प्रकार अव्याकृत-वाक्य की भूमिका बताकर उसमें आये शब्दों के अर्थ कहे। अब युक्तियों से ही उस वाक्य का अर्थ समझायेंगे।।८२।।** पूर्वोक्त 'तद्धेदम्' इत्यादि को अव्याकृत-वाक्य कहते हैं। श्लोक ६४ से ६८ तक भूमिका बनाकर ६९ से पदों की व्याख्या की। पद आपस में संबद्ध हों तो वाक्य होता है जिसका अर्थ प्रत्येक पद के अर्थ से पृथक् होता है। चाहे पदार्थ-संबंध, चाहे सम्बद्ध पदार्थ वाक्य से पता चलें अथवा इनसे विलक्षण

यस्य वेदान्तमेयत्वं कारणं जगतश्च यत्।
अव्याकृतं तदेवाऽत्र वाक्यार्थो द्विविधं हि तत्।।८३।।

अखण्ड वस्तु पता चले, वाक्यार्थ पदार्थ से कुछ अलग होता ही है तभी पदमात्र के बजाये वाक्य कहा जाता है। तद्, ह इत्यादि हर-एक शब्द का अर्थ तो बता चुके, अब वाक्य का अर्थ समझायेंगे। तद्-इदम् के सामानाधिकरण्य से व्यक्त-अव्यक्त की एकता आदि वाक्यार्थ भी यद्यपि श्लोक ७५ आदि में कह चुके हैं तथापि वाक्यार्थ को युक्तियों से समझाने में अब प्रवृत्त होंगे।।८२।।

संसाररूप वृक्ष को जड़ से उखाड़ देने के लिये ज़रूरी परमात्मदर्शन को संभव बनाने के लिये अव्याकृत वाक्य प्रारंभ हुआ यह श्लोक ६५ में कह आये हैं। अज्ञात आत्मा ही संसार का मूल है। आत्मा स्थायी सत्य है, उसका अज्ञान ही समाप्त किया जा सकता है जिससे फिर आत्मा अज्ञात न रह जाने से संसार का मूल समाप्त हो जाता है। जब तक अज्ञात है तभी तक आत्मा प्रमाणों से विषय किया जाये यह योग्य है, अज्ञात वस्तु ही प्रमाण का विषय बनती है। श्लोक ६७ में यह सूचित किया था। उस अज्ञात आत्मा को ही अव्याकृत के रूप में व्यक्त किया। इस तरह, जिसे समझाने में श्रुति प्रवृत्त है वह जगत्कारण परमेश्वर ही है। अत एव ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर जन्मादि के कारण को ही व्यासजी ने ब्रह्म बताया है। अनेक लोग प्रश्न करते हैं कि निर्विशेष की जिज्ञासा होने पर सविशेष कारण ब्रह्म क्यों उपस्थापित किया? उत्तर यहाँ स्पष्ट है कि जिज्ञासा का विषय तो ब्रह्म है जो तभी विषय है जब अज्ञात है और अज्ञात रहते जगत् का कारण है। अत एव पर-अपर दो ब्रह्म नहीं! वही सच्चित्तत्त्व अज्ञात रहते प्रमेय है, 'अपर' है तथा ज्ञात होने पर वही 'पर' है। इसी बात को व्यक्त करते हैं **प्रकृत प्रसंग में (अव्याकृत-वाक्य में) वाक्य का अर्थ वही अव्याकृत है जो वेदान्तों द्वारा प्रमेय है तथा जगत् का कारण है। वह अव्याकृत दो तरह का है।।८३।।** वेदांतों द्वारा प्रमेय होने से अर्थसिद्ध है कि वह अज्ञात है क्योंकि प्रमाण का कार्य ही है अज्ञान मिटाना। अगर अज्ञात अर्थात् अज्ञान से ढका न हो तो प्रमाण के लिये करने को ही कुछ नहीं रह जायेगा जिससे वह प्रमाण का विषय अर्थात् प्रमेय नहीं होगा। अज्ञान स्वानुभवसिद्ध होने से, तर्क से सिद्ध न होने पर भी स्वीकार्य है। अज्ञान का स्वभाव ढाकना है और व्यापक पूर्ण परमात्मा हमारे लिये ढका ही है अतः अज्ञान आत्मा पर अपना प्रभाव दिखा ही रहा है तो उसके बारे में विवाद का क्या प्रयोजन! आत्मा स्वरूप से निर्विकार चित्स्वभाव, ज्ञानरूप है। वही प्रमाणादि सब वृत्तियों को प्रकाशित करता है। अत एव ज्ञानमात्ररूप

चित्प्राधान्याद् अविद्यायाः प्राधान्याच्च द्विधाऽद्वयम्।
यच्चिद्वस्तु प्रमेयं तद् अविद्या तु विकारकृत्।।८४।।

साक्षिचैतन्य को प्रमाण नहीं विषय करते क्योंकि स्वयं उससे विषय किये जा रहे हैं। अज्ञान भी प्रमाण-गोचर नहीं, उसकी प्रमाणों से सिद्धि नहीं, वह भी साक्षिभास्य ही है। इस तरह स्वतः सिद्ध आत्मा पर आश्रित हुआ ही सकल विश्व उपलब्ध है। आत्मा का ज्ञानस्वरूप नित्य है। जगत् का वह कारण बने यह तभी संभव है जब वह अज्ञात है। अज्ञात आत्मा ही कारण-कार्य रूपों से प्रतीत होता है जिसे श्रीकृष्ण ने 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते' (गी. ९.१०) से व्यक्त किया है। तमःप्रधान होकर जड प्रपंच का एवं चित्प्रधान होकर चेतन प्रपंच का कारण वह एक ही अज्ञात आत्मा है। चेतनों में भेद उनकी वासनाओं, उपासनाओं और कर्मों के भेद के अनुसार होता है। आचार्य सुरेश्वर ने (बृ.वा.१.४.३४२) यह समझाया है।।८३।।

अव्याकृत किस तरह दो प्रकार का है यह बताते हैं **चेतन की प्रधानता से और अविद्या की प्रधानता से अव्याकृत दो प्रकार का है। जो द्वैत-रहित ज्ञानरूप वास्तविक तत्त्व है वह प्रमेय है। अविद्या तो सारे कार्य रचने वाली है।।८४।।** अव्याकृत अज्ञात आत्मा है अतः वह आत्मा है इस दृष्टि से एक तरह का है एवं अज्ञात है इस दृष्टि से दूसरी तरह का है, यों अव्याकृत दो तरह का संगत है। गर्म पानी एक तरह से आग है तभी उससे भोजन गर्म कर लिया जाता है, दूसरी दृष्टि से पानी है तभी उसे पीकर प्यास बुझती है या धधकती लकड़ी पर डालने से ज्वाला बुझती है। इसी तरह अव्याकृत दो तरह का है। वेदांतसम्मत अभिन्न-निमित्तोपादानता इसीलिये उपपन्न है। चेतन की प्रधानता से वही निमित्त है एवं अविद्या की प्रधानता से वही उपादान है। शुद्ध चेतन तो निमित्त भी नहीं। निमित्त होने के लिये भी उपाधि चाहिये किंतु प्राधान्य उपाधिका नहीं चेतन का रहेगा। मनुष्य कुल्हाड़ी चलाता है, इसके लिये हाथ तो चाहिये लेकिन प्रधानता चेतन की है। शरीर में बाल, नाखून उगते हैं, इसके लिये भी शरीर ज़िंदा तो चाहिये लेकिन प्रधानता शरीर की है। इसी तरह अव्याकृत में दोनों की उपस्थिति रहते प्रधानता का अन्तर है। अज्ञात आत्मा वेदांतों द्वारा प्रमेय भी है लेकिन इसमें प्रधानता आत्मा की है तथा जगत् भी वही अज्ञात आत्मा बनता है लेकिन इसमें प्रधानता अज्ञान की है। यों प्रधानता में अंतर होने पर भी अव्याकृत एक ही है।।८४।।

अव्याकृत के बारे में प्रमाण पूछना बेकार है! चेतन स्वतः प्रसिद्ध है, प्रमाणों का

न चिद्वस्तु विवादार्हं तेन सर्वार्थसिद्धितः।
अज्ञोऽहम् इत्यविद्याऽपि प्रसिद्धैवाऽनुभूतितः।।८५।।
'नाऽसद् आसीन्नो सद् आसीत् तम आसीद्' इति श्रुतिः।
'आसीद् इदं तमोभूतम् अप्रज्ञातम्' इति स्मृतिः।।८६।।

साधक है, उनसे सिद्ध होने वाला नहीं। अज्ञान भी स्वानुभवगम्य है, प्रमाण से मिट तो जायेगा पर जाना नहीं जायेगा। अज्ञात वस्तु, अज्ञान, भ्रम और संशयये प्रमाणसिद्ध संभव नहीं। वार्तिकसार (१.४.२७३) में इसे स्पष्ट किया गया है। अतः वेदोक्त इस अव्याकृत को जैसा बताया वैसा समझने का ही प्रयास करना चाहिये, इस अभिप्राय से कहते हैं **चेतन वस्तु विवाद के योग्य नहीं है क्योंकि सभी अर्थ उस चेतन से ही सिद्ध होते हैं। अविद्या, अज्ञान भी 'मैं अज्ञानी हूँ' इस अनुभूति से सब को पता ही है।।८५।।** 'सभी अर्थ' का मतलब सारा अनात्म जगत् है। ज्ञानस्वरूप आत्मा से ही प्रकाशित होने पर किसी भी अनात्मा की सिद्धि है, खुद तो आत्मा ही सिद्ध है, अनात्मा स्वयमेव सिद्ध नहीं यही उसकी अनात्मता या जडता है। अविद्या का सबको 'नहीं जानता' इस तरह अनुभव है ही। सभी को किसी-न-किसी चीज़ के बारे में लगता ही है कि 'नहीं जानता'। कारण की खोज करने चलें तो चार-छह कोटियों बाद सभी को लगता है कि 'इसके कारण का तो पता नहीं।' पता न होना ही अज्ञान है। इसलिये अज्ञान भी विवाद-योग्य नहीं, सबको मान्य है।।८५।।

केवल लोकप्रसिद्ध ही नहीं, शास्त्र भी अविद्या का अस्तित्व स्वीकारता है **वेद में (ऋ.१०.१२९.१) कहा है 'न असत् था, न सत् था, तम था'। स्मृति में (मनु. १.४) कहा है 'यह तमोरूप था, प्रज्ञात नहीं था'।।८६।।** 'तम' शब्द से अज्ञान को ही कहा गया है। पंचपादिका में (पृ.१३५ म.अ.सं.) श्रुति एवं अर्थापत्ति से अविद्या की नैसर्गिकता बतायी है जिस पर विवरण में स्पष्ट किया है कि ऐसे स्थलों पर अविद्या को प्रमाणगम्य नहीं कहा जाता, केवल इतना बताया जाता है कि वह कोई अभाव नहीं है। बृहदारण्यक-सम्बन्धभाष्यवार्तिक (श्लोक ८०-८१) में घोषित है 'वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृतिर्न हि युज्यते। अविद्या च न वस्त्विष्टं मानाघातासहिष्णुतः।। अविद्याया अविद्यात्व इदमेव तु लक्षणम्। मानाघाताऽसहिष्णुत्वम् असाधारणम् इष्यते।।' अविद्या सर्वानुभवसिद्ध है, उसका अनादित्व, मिथ्यात्व, बन्धकरत्व, ज्ञान-निवर्त्त्यत्व आदि शास्त्रों में स्थापित है। अतः अनुभवगम्य अज्ञान प्रामाणिक नहीं कि वह कोई वास्तविक चीज़ हो ताकि द्वैतापत्ति हो। इस तरह अव्याकृत को शास्त्र-समर्थित किन्तु व्यावहारिक समझाया।।८६।।

अज्ञातत्वात् प्रमाणेन ज्ञातव्यम् इति मेयता।
अज्ञानस्य विकारित्वात् कारणत्वं च सम्भवेत्।।८७।।
मायां तु प्रकृतिं विद्याद् ईशो मायीति हि श्रुतिः।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम मायेति च स्मृतिः।।८८।।

श्लोक ८३ में जो अव्याकृत को वेदान्तों द्वारा प्रमेय एवं जगत् का कारण कहा था उसमें हेतु सूचित करते हैं **क्योंकि (अव्याकृतरूप) ब्रह्म अज्ञात है इसलिये वह प्रमाण से (वेद से) प्रमित किया जाने योग्य है एवं क्योंकि (अव्याकृतरूप) अज्ञान परिवर्त्तनशील है इसलिये यह सम्भव है कि वह जगत् का कारण बने।।८७।।** अव्याकृत में अज्ञान और ब्रह्म दोनों आ गये। इनमें ब्रह्म वाला हिस्सा वेदान्त-प्रमेय है क्योंकि वह अज्ञात है। अज्ञात का ज्ञापक ही प्रमाण होता है। अज्ञान क्योंकि परिणामशील है, बदलने वाली चीज़ है इसलिये जगत् के आकार में परिणत हो, यह उचित है। इसलिये अव्याकृत को प्रमेय एवं कारण कहना ठीक है। अज्ञान को परिवर्तित होने वाला कैसे मानें? जब हमें रस्सी की वास्तविकता का अज्ञान होता है तब वहाँ साँप आदि जो दीखते हैं उनके रूप में बनकर दीखने वाला रस्सी-विषयक अज्ञान ही तो है! जादूगर जितनी चीज़ें दिखाता है उन सब आकारों को अज्ञान ही ग्रहण करता है। हमारा वह अज्ञान ही जादूगर की माया है। अज्ञान और माया एक के ही नाम हैं। दर्शकों की दृष्टि से उसे अज्ञान और जादूगर की दृष्टि से माया कहते हैं। इसलिये अज्ञान को परिवर्तनशील मानना संगत है।।८७।।

अनुभवसिद्ध एवं युक्तियुक्त इस अज्ञानरूप माया को शास्त्र का भी समर्थन प्राप्त है यह दिखाते हैं **'माया को तो प्रकृति जानो, ईश्वर मायावी है ऐसा जानो' यह प्रसिद्ध वेदवचन है। स्मृति भी बताती है 'यह गुणात्मिका प्रकृति मेरी देवसम्बन्धिनी माया है'।।८८।।** श्रुति श्वेताश्वतर उपनिषत् में आयी है (४.१०)। अनुभूतिप्रकाश अ. १२ श्लो ७१ में इसे समझा चुके हैं। प्रकृति कहकर माया को जगत् का कारण बताया। माया जगत्कारण है इस बात में यह श्रुति प्रमाण है। मायी, मायावी अर्थात् माया का शासक परमेश्वर है। सांख्यों की प्रकृति की तरह माया कोई स्वतंत्र चीज़ नहीं, ईश्वराश्रित उनकी शक्ति ही है। स्मृति गीता अ. ७.१४ में उपलब्ध है। सत्त्वादि गुणों का संमिलित रूप होने से प्रकृति गुणमयी है। है वह 'मम' मुझ ईश्वर की यह श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया। अतः ईश्वर से स्वतंत्र प्रकृति कुछ नहीं है। उसे 'दैवी' कहा, इससे भी देवाश्रितता बतायी। किं च 'मम' से स्वातंत्र्य का निषेध कर 'दैवी' से बताया

इत्यव्याकृतवाक्यार्थो न्यायेन सुनिरूपितः।
अथ व्याकृतवाक्यार्थः क्रमात् प्राप्तो निरूप्यते।।८९।।

कि उसी के द्वारा परमेश्वर जगत्क्रीडा करते हैं, उनकी वह सामर्थ्य है। इस तरह पूर्वोक्त विषय श्रुति-स्मृति के प्रमाण से निर्णीत हुआ।।८८।।

श्लोक ६९ से प्रारंभ किये प्रसंग को पूरा कर श्रुति के अगले अंश के व्याख्यान की प्रतिज्ञा करते हैं **इस प्रकार अव्याकृत-वाक्य के अर्थ का युक्तिपूर्वक भली-भाँति वर्णन किया। श्रुति में इसके बाद आया है व्याकृत-वाक्य, अब उसका अर्थ समझाया जाता है।।८९।।** उपनिषत् में आया है 'तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्। तद् नामरूपाभ्याम् एव व्याक्रियत' अर्थात् यह सब पहले अव्याकृत था और वह अव्याकृत ही नाम-रूप द्वारा, नाम-रूप धारण कर व्याकृत अर्थात् व्यक्त हुआ। 'आसीत्' तक अव्याकृत-वाक्य एवं उसके बाद व्याकृत-वाक्य है। व्याकृति अर्थात् व्यक्ती भवन बताने वाले को व्याकृत-वाक्य है। श्रुति में आये क्रम से तो यहाँ क्रम रखना ठीक ही है, सामान्य दृष्टि से भी कारण के वर्णन के बाद कार्य का वर्णन करना संगत होता ही है। अभिव्यक्ति का ढंग ही अब समझायेंगे।।८९।।

अव्यक्त अर्थात् अज्ञान से व्यक्त अर्थात् संसाररूप अनर्थ की सृष्टि बताने में श्रुति का करुणामय प्रयोजन है कि साधक जो इस भयावह संसार से त्रस्त है, उसके बारे में आश्वस्त हो जाये कि यह कोई वास्तविक चीज़ नहीं, केवल माया का विलास है। ग्रंथकार ने वार्तिकसार (१.४.३४९,५०) में कहा है 'आगता बहवश्चोरा इति श्रुत्वाऽतिविह्वलः। स्वप्नप्रलापं तं ज्ञात्वा भवेत् स्वस्थो यथा तथा।। महासम्भ्रमसंसारं दुरुच्छेदत्वशंकया। विह्वलो मूलशैथिल्यं ज्ञात्वोच्छेदे प्रवर्तते।।' अचानक कोई चिल्लाया 'अरे! बहुत-से चोर आ गये!' जिसने सुना वह घबरा गया, लाठी आदि लेकर उस ओर गया तो देखता है कि वह तो खाट पर सोता हुआ चिल्ला रहा है, सपना देखकर बोल रहा है। यह समझते ही कि वह बात सपने की थी, इस व्यक्ति की घबराहट दूर हो जाती है। ऐसे ही, 'इतना स्थिर, विचित्र, व्यवस्थित, किसी के बस में न आने वाला संसार तो मेरा पिण्ड नहीं ही छोड़ेगा, इससे कैसे बचूँ?' इस बात से विह्वल हुआ साधक जब प्रमाणभूत वेद से समझता है कि यह संसार अज्ञानात्मक, मायामय है, इसका मूल केवल अविद्या है जो ज्ञान से निवृत्त हो जाती है, उससे अतिरिक्त इसका कोई मज़बूत मूल नहीं है; वैसे ही उसे तसल्ली मिलती है कि मायिक मिथ्या वस्तु को तो अवश्य उच्छिन्न किया जा सकता है और वह इसे जड़मूल से उखाड़ने के लिये तत्पर हो जाता है। इस अभयतापूर्वक प्रवृत्ति के लिये

व्याकृतम्

व्याकृतं द्विविधं देहसृष्टिर्जीवप्रवेशनम्।
देहादिर्विषयत्वेन प्रवेशात् पूर्वम् उच्यते।।६०।।
अव्याकृतं यत् पूर्वोक्तम् अरूपकम् अनामकम्।
तद् इदं नामरूपाभ्याम् एव व्याक्रियते स्वयम्।।६१।।

यहाँ व्याकृत को अव्याकृत से निःसृत कहा जा रहा है **व्याकृत (व्यक्त) दो तरह का है एक है शरीर की उत्पत्ति और दूसरा है जीव का प्रवेश। क्योंकि देह आदि प्रवेश का विषय है इसीलिये प्रवेश से पहले देहादि का कथन किया जाता है।।६०।।** अव्यक्त से व्यक्त होने वाला तो आकाशादि सारा ब्रह्माण्ड है लेकिन जो संसार हमें बाँधे है, जिससे हमें छूटना है वह प्रधानतः देह-द्वयरूप है अतः यहाँ शरीर की उत्पत्ति का उल्लेख किया। श्रुति ने तो सामान्यतः कह दिया कि विभिन्न नाम-रूप धारण कर अव्याकृत व्यक्त हो गया किंतु उसके बाद बताया 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' (बृ.१.४.७) कि नाखून की नोक तक परमेश्वर घुस गया, जिससे स्पष्ट होता है कि जिसमें प्रवेश हुआ उस शरीर की ही अभिव्यक्ति को व्याकृत मुख्य रूप से कह रहा है। उपाधि-निर्माण एक तरह की अभिव्यक्ति है एवं उसमें परमेश्वर का जीवरूप से प्रवेश दूसरी तरह की अभिव्यक्ति है। परमेश्वर ने प्रवेश किया यह कहने से पूर्व बताना चाहिये कि किसमें प्रवेश किया अतः पहले शरीर की अभिव्यक्ति कह दी।।६०।।

अव्याकृत और व्याकृत को समझाकर व्याकृत-वाक्य के शब्दार्थ स्पष्ट करते हैं **पहले वर्णित जो नाम-रूपरहित अव्याकृत वह यह खुद नाम-रूप के आकार में व्यक्त हो गया।।६१।।** श्रुति में कहा 'तत् नामरूपाभ्यां', उस 'तत्' (वह) का अर्थ है अव्याकृत। उसे 'वह यह' यों कहने से बताया कि जो व्यक्त है वह कोई और नहीं अव्यक्त की ही अवस्था है। अभिव्यक्ति का मतलब स्पष्ट किया कि विभिन्न नामों और रूपों के विभाग वाला हो जाना ही व्यक्त होना कहा जाता है। स्वर्णपिण्ड में अव्यक्त अनेक गहने हैं किंतु जब मुकुट-नाम एवं उसी रूप वाला उसे कहा-देखा जाये तब मुकुट व्यक्त कहा जाता है। यही सर्वत्र अभिव्यक्ति है। ऐसी अभिव्यक्ति स्वयमेव हुई, अनायास हुई यह श्रुति के प्रयोग से प्रकट है। भाष्य में कहा है 'व्याक्रियत इति कर्मकर्तृप्रयोगात् स्वयमेव आत्मैव.... व्यक्तीभावमापद्यत'। अत्यन्त सुकरता (अनायास) द्योतित करने के लिये कर्त्ता की चेष्टा न बतानी हो तो अन्य

सुषुप्ताद् उत्थिती राज्ञः स्वयमेव यथा तथा।
जग्धाऽशेषजगन्मूर्तेरव्यक्ताद् व्याकृतिर्मुहुः।।६२।।

कारक भी कर्त्ता मान लिये जाते हैं क्योंकि कर्त्ता का उन पर नियंत्रण नहीं जैसा है, तथा तब धातु-उत्तरवर्ती लकार (प्रत्यय) कर्त्ता अर्थ कहता है। जैसे कहते हैं कि 'यह तलवार अच्छा काटती है'; तलवार तो काटती नहीं, उसके द्वारा कोई आदमी ही काटता है लेकिन अच्छी तलवार से काटने पर आदमी को ज़ोर नहीं पड़ता, अनायास काट पाता है इस बात को कहने का ढंग है कि तलवार खुद काट लेती है। ऐसे कहना 'कर्मकर्तृप्रयोग' नाम से व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध है। श्रुति के इस अभिप्राय को भगवान् वार्तिककार ने स्पष्ट किया है 'हेत्वन्तराऽनपेक्षं सत् तद् अव्याकृतरूपकम्। व्यक्ततां स्वयम् एवैति निमित्तं नास्त्यसंहृतम्।।' बृ.वा.१.४.३८७।। खुद से अतिरिक्त किसी कारण के बिना अव्यक्त व्यक्त हो गया। यद्यपि कर्म आदि निमित्त हैं तथापि वे अव्याकृत में उपसंहृत ही थे, उससे अलग नहीं। 'देवदत्त ने बिना किसी सहायता के बक्सा उठाया' कहने पर उसके स्वरूपभूत हाथ-पैर की सहायता का निषेध नहीं, उससे पृथक् यज्ञदत्तादि की सहायता का ही निषेध होता है। ऐसे ही कर्मादि तो अव्याकृतरूप ही थे अतः उनकी सहायता को 'अन्य की सहायता' नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अव्याकृत व्यक्त हुआ यह बताया।।६१।।

अज्ञात प्रत्यगात्मा अपने से अन्य किसी निमित्त के बिना स्रष्टा कैसे बना यह उदाहरण से समझाते हैं **जैसे राजा सुषुप्ति से खुद ही जग जाता है वैसे सारे जगत् को खा जाने वाले अव्याकृत से बार-बार अभिव्यक्ति हो जाती है।।६२।।** प्रायः राजा को स्तुति-गीत आदि सुनाकर जगाया जाता है, वैसा जगना यहाँ दृष्टांत नहीं किंतु जब बिना किसी के जगाये वह जगता है, वह दृष्टांत है। यद्यपि सभी यों जगते हैं तथापि बाकी लोग तो संकल्पादिपूर्वक सोते हैं कि 'अमुक समय उठूँ', क्योंकि किसी उठाने वाले के भरोसे नहीं रह सकते, अतः उनके उठने में उतना प्रयास माना भी जा सकता है, किंतु राजा निश्चिन्त सोता है अतः उसका निर्निमित्त उठना सर्वथा निमित्तरहित है। अतः राजा के जगने को दृष्टांत बनाया। अव्याकृत को 'सारा जगत् खाने वाला' कहा यह बताने को कि जिसमें व्यक्त का विलय है उसी से फिर अभिव्यक्ति है एवं 'मुहुः', यह क्रम अनवरत है, अनादि है।।६२।।

सारे जगत्की न कहकर वेद ने नाम-रूप की ही अभिव्यक्ति क्यों कही? इसका उत्तर देते हैं **शब्द और अर्थ को नाम और रूप कहते हैं। इन दो से अतिरिक्त तो**

नामरूपे तु शब्दार्थौ न ताभ्याम् अतिरिच्यते।
जगत् किञ्चिद् घटादौ हि द्वयमेव समीक्ष्यते।।६३।।
प्रक्रियानियमो नात्र पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः।
अतः श्रुतिषु सृष्ट्यादिविगानं बहुधेक्ष्यते।।६४।।

जगत् कुछ है नहीं। घड़े आदि में ये दो ही देखे जाते हैं।।६३।। जगत् में नाम व नामी (जिसे प्रायः ऐसे प्रसंग में रूप कहते हैं) से अन्य कुछ नहीं मिलता। यद्यपि कहीं-कहीं क्रिया को अलग से कहते हैं तथापि क्रिया नामी के ही अंतःपाती है, उससे स्वतंत्र कुछ नहीं। घड़ा इस नाम, मोटा पेट-लम्बी गर्दन इस रूप से अतिरिक्त घड़ा क्या है? ऐसे ही हर चीज़ की परीक्षा करें तो नाम-रूप ही मिलते हैं, अन्य कुछ 'जगत्' नहीं मिलता। इसलिये व्याकृत होने का अर्थ ही श्रुति ने बता दिया नाम व रूप से युक्त हो जाना। अव्याकृत तत्त्व जब नाम-रूप धारण करता है तब उसे व्यक्त होना कहते हैं।।६३।।

अनेकत्र श्रुति-स्मृति में बताया है कि प्रलय के बाद सृष्टि कैसे-कैसे होती है अतः यहाँ भी अव्याकृत से व्याकृत होने के सभी कदम बताने चाहिये या कम-से-कम अन्यत्र से यहाँ जोड़ लेने चाहिये इस संभावना को हटाते हैं **वेदान्तों में प्रक्रिया का नियम नहीं है क्योंकि यही प्रधान तात्पर्य है कि साधक को परमात्मा समझ आये। इसलिये वेदों में सृष्टि के बारे में अनेक विविध प्रकार का वर्णन है।।६४।।** 'ढंग' या 'तरीका' प्रक्रिया है। रोटी बनाने के कई ढंग हो सकते हैं, खेती करने के कई तरीके हो सकते हैं; सब तरीकों में फायदे-नुकसान होंगे, सरलता-कठिनाई होगी; किसी को तथा किसी समय कोई बेहतर लगेगा, दूसरों को कोई और बेहतर लगेगा। प्रधान उद्देश्य रोटी तैयार होना या अनाज तैयार होना सम्पन्न हो जाना चाहिये, किसी तरीके का आग्रह मायने नहीं रखता। ऐसे ही उपनिषत् समझाना चाहती है अद्वैत आत्मा को। इसी के लिये तरीका अपनाया यह बताने का कि आकाशादि सृष्टि परमात्मा से हुई। यदि आकाशादि के ढंग से न समझकर इस तरीके से समझें कि एक ही अज्ञात परमात्मा सारे नाम-रूप धारण कर लेता है इसलिये एकमात्र वही तत्त्व है, उससे अन्य कुछ है नहीं, तो भी अद्वैत की समझ उपलब्ध हो जायेगी। अतः वेदांत-दर्शन में यह आग्रह नहीं रखा जाता कि एक ही ढंग से समझा जाये; जो समझना है वह तो निश्चित है लेकिन जैसे समझना है उसमें कई विकल्प संभव हैं। अनेक विकल्प तो श्रुतियों में ही प्रकट हैं, कुछ और स्मृतियों में

‘यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चाऽनवस्थिता ।।६५ ।।

बोधित हैं, बहुत-से विकल्प आचार्यों ने सुझाये हैं एवं विचारक स्वयं भी अन्य प्रक्रियायें खोज सकते हैं। प्रक्रिया में दोष हो तो भी कोई हर्ज नहीं, अगर वह प्रक्रिया अद्वैतबोध कराने में सक्षम है तो वह निर्दोष है क्योंकि प्रक्रिया का काम तो इतना ही है कि अद्वैतबोध हो जाये। वैष्णवादि दार्शनिक वेदान्त की प्रक्रियाओं में ही दोषानुसंधान करते रहते हैं, उसी से मानते हैं कि सिद्धांत खण्डित कर दिया! जबकि प्रक्रिया में तो तात्पर्य ही नहीं है, वह सदोष है यह सिद्धांती को स्वीकार ही है। ‘प्रक्रियानियम’ अर्थात् अमुक ही प्रक्रिया से प्रतिपादन होना चाहिये ऐसा नियम। किसी-न-किसी प्रक्रिया को तो अपनाना होगा लेकिन ऐसी कोई खास प्रक्रिया नहीं जिसे अपनाना अनिवार्य हो। ‘पुंव्युत्पत्ति’ अर्थात् अधिकारी को पूर्ण तत्त्व का ज्ञान। प्रक्रिया के अनियमको ही व्यक्त करने के लिये स्वयं वेद ने विविध प्रक्रियाएँ स्वीकार कर तत्त्व व्यक्त किया है। आचार्य गौडपाद ने अद्वैतप्रकरण श्लोक १५ में यह रहस्य प्रकट किया है।।६४।।

क्यों प्रक्रिया-बंधन नहीं, प्रक्रिया का कार्य क्या हैइसे समझाते हैं **जिस-जिस तरीके से लोगों को प्रत्यगात्मा की समझ आ जाये वह-वह तरीका ही इस संदर्भ में समुचित है इसलिये कोई एक तरीका निश्चित नहीं है।।६५।।** साधकों की सोच के ढंग अलग-अलग होते हैं इसलिये उनकी समझ में आये इसके लिये समझाने के तरीके भी अलग-अलग अपनाये जाते हैं। जिसे जैसे समझ आ गया उसके लिये वही तरीका ठीक है। अतः ‘अनवस्थित’ अर्थात् अनिश्चित है कि कौन-सी प्रक्रिया किसके लिये ठीक होगी। गुरु एवं साधक मिलकर यह निर्धारित कर सकते हैं कि साधक किस तरीके से समझे। कोई-न-कोई तरीका अपनाना पड़ेगा इतना अवश्य है, बिना प्रक्रिया के समझ नहीं आयेगी, लेकिन साधक की योग्यतानुसार वह प्रक्रिया अपनाये यही ठीक है, ज़बर्दस्ती उस पर प्रक्रिया लादी जाये यह अनुचित व निरुपयोग है।।६५।।

गर्भ से बालक का बाहर आना, अंधेरा मिटने पर पेड़-पौधों का दीखना, मनोभावों को शब्दों में प्रकट करना आदि अनेक तरह की अभिव्यक्तियाँ प्रसिद्ध हैं; प्रकृत में अव्याकृत की कैसी अभिव्यक्ति, व्यक्तता, व्याकृतता श्रुति ‘व्याक्रियत’ से कह रही है इसे उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं **साफ-साफ प्रतीत होने का नाम अभिव्यक्ति है। सीप जब साफ-साफ चाँदी दीखती है तब कह सकते हैं कि चाँदी व्यक्त**

विस्पष्टत्वं व्याकृतत्वं शुक्तिकारजतादिवत्।
स्पष्टम् अव्याकृताद् मोहाद् मिथ्या ज्ञानमिदं जगत्।।६६।।

जीवप्रवेशः

नामरूपाऽध्यास एवं व्याकृतः प्रतिपादितः।
प्रवेश्यः, तत्र[1] जीवस्य प्रवेशः प्रतिपाद्यते।।६७।।

(व्याकृत) है। अव्याकृत अज्ञान से स्पष्ट हुआ यह जगत् मिथ्याज्ञान है।।६६।। नाम-रूप से युक्त होकर प्रतीत होना जो अभिव्यक्ति कही थी उसी को यहाँ 'विस्पष्टता' या 'साफ-साफ प्रतीत होना' बताया। नामविशेष और रूपविशेष जाना जाये तभी वस्तु स्पष्ट कही जाती है। 'रूप' से केवल तेजोगुण या चक्षुर्ग्राह्य आकार नहीं वरन् सभी निरूपक समझने चाहिये। 'सामने कुछ पड़ा है' यह अव्यक्त हुआ, 'वह साँप है' यह व्यक्त हुआ। सींप अव्यक्त रहेगी, साफ प्रतीत नहीं होगी, तभी उससे चाँदी व्यक्त होगी, साफ लगेगा कि वहाँ चाँदी है, चाँदी यह नाम उसे विषय करेगा व चाँदी का रूप दीखेगा। अतः अव्यक्त से अभिव्यक्ति के लिये सींप से चाँदी या रस्सी से साँप उचित दृष्टान्त हैं। चाँदी दीखती तो सींप ही है, और तो कुछ है नहीं जो वहाँ दीखे, और साफ दीखता है कि चाँदी है; अतः यह मानना ठीक है कि अव्यक्त सींप चाँदी रूप में व्यक्त हुई। ऐसे ही अव्याकृत ही जगद्-रूप में व्यक्त है। 'अव्याकृत' का ही व्याख्यान 'अज्ञान' है। अथवा अव्याकृत आवरण शक्ति की प्रधानता से कहा जो 'मोहात्' अर्थात् विक्षेपशक्ति से जगत् रूप में व्यक्त है। विक्षेपशक्ति-प्रधान उसी अव्याकृत को मोह कह दिया। यों स्पष्ट हुआ यह जगत् मिथ्या ज्ञान अर्थात् सर्प की या चाँदी की तरह भ्रम ही है। अनुभव से अन्य अर्थाध्यास भी कुछ है नहीं अतः जगत् को मिथ्या ज्ञान कहना संगत हो जाता है। कुछ लोग 'मिथ्याज्ञान के विषय को यहाँ मिथ्याज्ञान कहा है' ऐसा मानते हैं; उसका तात्पर्य भी अर्थाध्यास से ही है; घटज्ञान का जैसे घट विषय है वैसे तो भ्रम का विषय होता नहीं है!।।६६।।

श्लोक ६० में दो तरह की अभिव्यक्ति का प्रसंग उठाकर उनमें से उपाधि की अभिव्यक्ति बता चुके, अब दूसरी तरह की अभिव्यक्ति बताना प्रारंभ करेंगे। यही बात व्यक्त करते हैं **इस प्रकार, नाम-रूप का अध्यास ही जिसका स्वरूप है वह व्याकृत समझाया, जो आत्मा के प्रवेश के योग्य स्थान है। अब वहाँ जीव का प्रवेश समझाया जाता है।।६७।।** अभिव्यक्ति एक भ्रम

१. प्रवेश्यस्यात्र इति अनुभूतिप्रकाशग्रन्थेषु, परं 'प्रवेश्यस्तत्र' इति वार्तिकसारपाठः साधीयान्।

सर्वशास्त्रारम्भ एव यदर्थस्तद्विबुद्धये।
स एष इह देहेषु प्रविष्ट इति गीयते।।६८।।

है; विभिन्न नाम-रूपों के भ्रम का ही नाम अभिव्यक्ति या व्याकृत है। व्याकृत जगत्, सारी ही उपाधियाँ कोई 'वस्तु' नहीं, एक भ्रम ही है। उसमें प्रवेश तो सुतरां भ्रम है इसमें क्या कहना! 'जीव का प्रवेश' अर्थात् जीवरूप से ब्रह्म का प्रवेश। प्रवेश के कारण जीव-ऐसा व्यवहार होता है। प्रवेश के बारे में ही और खुलासा करने जा रहे हैं।।६ ७।।

इस प्रसंग में आचार्य श्रीशंकर ने लिखा है 'यदर्थः सर्वशास्त्रारम्भो यस्मिन्नविद्यया स्वाभाविक्या कर्तृक्रियाफलाध्यारोपणा कृता, यः कारणं सर्वस्य जगतः, यदात्मके नामरूपे सलिलादिव स्वच्छाद् मलमिव फेनम् अव्याकृते व्याक्रियेते, यश्च ताभ्यां नामरूपाभ्यां विलक्षणः, स्वतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः, स एषोऽव्याकृते आत्मभूते नामरूपे व्याकुर्वन् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देहेष्विह कर्मफलाश्रयेषु अशनायादिमत्सु प्रविष्टः।' (१.४.७ पृ. ६८ म.अ.सं.) अर्थात् प्रवेश करने वाला वही है जिसके अनावरण के लिये सारा शास्त्र प्रारम्भ हुआ है। उसी में स्वभावसिद्ध अविद्या है जिससे कर्ता-क्रिया-फल का भ्रम उपलब्ध है। सारे जगत् का कारण वही तत्त्व है। साफ जल से भी जैसे मैल-सा फेन पैदा होता है वैसे जो अव्यक्त नाम-रूप व्यक्त होते हैं उनकी वास्तविकता वही तत्त्व है जो जगत्कारण एवं प्रवेश करने वाला है। स्वयं वह तत्त्व नाम-रूप से सर्वथा स्वतन्त्र है, खुद उसका स्वभाव नित्य, शुद्ध, ज्ञान और मुक्त है। कर्म-फल के आश्रय भूख आदि वाले सभी प्राणिशरीरों में वही प्रविष्ट हुआ है। अपने से भिन्न नहीं ऐसे अव्यक्त नाम-रूपों को व्यक्त करते हुए वह शरीरों में भी प्रवेश कर लेता है। इस भाष्यपंक्ति का स्मरण कर प्रवेश-प्रसंग प्रारंभ करते हैं **जिसके ही लिये सारे शास्त्र का प्रारम्भ है, उसी के बारे में यहाँ कहा जाता है कि वही यह परमात्मा सब शरीरों में घुसा है।।६८।।** शास्त्र अर्थात् समस्त प्राणियों के हित का प्रकाशक वेद। वेद का 'प्रारम्भ' अर्थात् प्रवृत्ति इसीलिये है कि जगत्कारण परमेश्वर का साक्षात्कार हो। मनुष्य उस साक्षात्कार के योग्य बने इसके लिये धर्म बताया और योग्य अधिकारी को परमात्मदर्शन हो इसके लिये ब्रह्म बताया। वही ब्रह्म सब शरीरों में घुसकर जीव बना बैठा है यह इस प्रसंग में श्रुति ने कहा।।६८।।

व्याख्येय वाक्य उद्धृत कर समझाने का क्रम बताते हैं **'वह यह यहाँ नखों की नोंक तक घुसा' यह वेद का वचन है। पहले एक-एक शब्द का अर्थ बताते**

स एषोऽत्रानखाग्रेभ्यः प्रविष्ट इति वेदगीः।
व्याख्यायतेऽसौ पदश आदौ मीमांस्यते त्वथ।।९९।।
स इत्यनेन शब्देन प्रकृतार्थावमर्शिना।
अव्याकृताऽध्यक्ष आत्मा यः पुरोक्तः स उच्यते।।१००।।

हुए इसे समझाते हैं फिर इसके बारे में विचार करेंगे।।९९।। श्रुति में 'इह' है, उसकी जगह 'अत्र' लिखा, बाकी वाक्य वही है। 'यहाँ' अर्थात् शरीर में। वाक्य के प्रत्येक शब्द का अर्थ पहले बता देंगे फिर उसमें निहित विचार स्पष्ट करेंगे। जो कहा है वह ठीक ही है यह स्वीकार कर किया जाने वाला विचार 'मीमांसा' कहा जाता है। प्रवेश हुआयह ठीक है मानकर 'कैसे हुआ?' इसे समझना यहाँ मीमांसा है।।९९।।

'सः' (वह) शब्द किसे विषय कर रहा है यह पहले कहते हैं **जिसका प्रसंग चल रहा है उसे सूचित करने वाले 'सः' इस शब्द से अव्याकृत का साक्षी जो पूर्वोक्त आत्मा वह कहा जा रहा है।।१००।।** 'तद्धेदं' आदि वाक्य में कहा अव्याकृत अज्ञानमात्र नहीं, अज्ञात आत्मा है यह बता चुके हैं, उसी आत्मा को 'सः' शब्द बता रहा है। अव्याकृत रूप से प्रसंग आत्मा का चल ही रहा है। अव्याकृत से आत्मा को समझने के लिये सीधा तरीका बताया कि अव्याकृत भी असाक्षिक तो सम्भव नहीं, उसका साक्षी आत्मा ही है जिसे मुखतः न कहा होने पर भी समझना ठीक है। अव्याकृत खुद ही व्यक्त हुआ ऐसा जो कहा था उसमें भी चेतन की स्थिति नकारकर अभिव्यक्ति नहीं कही थी, सुकरता में ही तात्पर्य था। भाष्य में कहा है 'सामर्थ्याद्, आक्षिप्त-नियन्तृकर्तृ-साधनक्रियानिमित्तम् (व्यक्तीभावमापद्यत)।' अर्थात् नियंता अर्थसिद्ध है, वही परमात्मा यहाँ 'सः' शब्द से कहा जा रहा है। जिस परमेश्वर ने अव्याकृत को व्यक्तरूप धारण कराया उसी ने शरीर में प्रवेश किया यह अर्थ है।।१००।।

यदि आग्रह हो कि पुल्लिँग 'सः' शब्द नपुंसकलिंग वाले अव्याकृत-शब्द से सम्बद्ध होना ठीक नहीं एवं अव्याकृत से अर्थसिद्ध उसका साक्षी शब्दतः प्रकृत न होने से 'सः' से समझा जाना ठीक नहीं; तो इस चतुर्थ ब्राह्मण के प्रारंभ में उक्त आत्मा का 'सः' से परामर्श समझना चाहिये। प्रारंभ वाक्य है 'आत्मैवेदम् अग्र आसीत्', वहीं से आत्मा का प्रकरण प्रारंभ हो गया है। यह विकल्प वार्तिक में (१.४.५२८) बताया है, इसका भी संग्रह करते हैं **अथवा, ब्राह्मण के प्रारंभ में 'आत्मा' शब्द से विराट् का जो अधिष्ठान कहा गया है उसको यहाँ 'सः' शब्द से समझा**

यद्वा विराडधिष्ठानं ब्राह्मणादावुदीरितम् ।
आत्मशब्देन तस्याऽत्र परामर्शो भविष्यति ।।१०१।।
तच्छब्देन परामृष्टः साक्ष्यव्याकृतभासकः ।
एतच्छब्देन कार्यस्थः प्रत्यक्ष उपदिश्यते ।।१०२।।
अद्वितीयम् अधिष्ठानं कार्यस्थः सद्वयस्तयोः ।
'स एष' इत्यभेदोक्तिर्दुष्करेति न चोद्यताम् ।।१०३।।

जायेगा ।।१०१।। अनुभूति-प्रकाश अध्याय १३ श्लोक ५ में इस आत्मा का उल्लेख आया था। वह परम प्रकृत है ही अतः बुद्धिस्थ-परामर्शक सर्वनाम उसका ग्रहण कराये यह ठीक है। वाक्यार्थ में कोई अन्तर नहीं, केवल कहाँ कहे आत्मा को 'सः' बता रहा है इसका भेद है ।।१०१।।

श्रुति में 'स एषः' अर्थात् 'वह यह' प्रविष्ट हुआ ऐसा कहा। वह परोक्ष को बताता है, यह अपरोक्ष को बताता है तो दोनों को कैसे कह दिया? इस सहज प्रश्न को उपस्थापित कर उत्तर देते हैं **'सः' शब्द से सूचित साक्षी अव्याकृत को प्रकाशित करने वाला है। 'एषः' शब्द से उसका उपदेश है जो कार्य में (शरीर में) स्थित हुआ प्रत्यक्ष है। (अव्याकृत का साक्षी) अधिष्ठान समस्त द्वैत से रहित है जबकि कार्य में स्थित आत्मा द्वैत-सहित है। अतः 'वह यह' यों इनका अभेद कहना ठीक नहीं? ऐसा नहीं कहना चाहिये ।।१०२-३।।** परमेश्वर और शरीर में स्थित आत्मा एक ही है यह कहना विरुद्ध लगता ही है। यद्यपि साक्ष्य अलग होने पर भी साक्षी एक रह सकता है तथापि प्रश्नकर्त्ता की दृष्टि से साक्ष्य-सापेक्ष ही साक्षी है अतः अव्याकृत या माया का साक्षी और व्याकृत या मन का साक्षी एक नहीं हो सकते, इसलिये प्रश्न है। किं च अव्याकृत से अज्ञात आत्मा के ग्रहण से परोक्ष आत्मा का कथन था और प्रविष्ट जीव ज्ञायमान अतः अपरोक्ष है, इसलिये भी दोनों में भेद लगता है। 'सः' से कहा आत्मा अव्याकृत का नियन्ता है जबकि 'एषः' से कहा नियम्य है, व्यक्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में सीमित हुआ सुख-दुःखादि बन्धनों में जकड़ा है। इसलिये दोनों का अभेद अस्वीकार होना स्वाभाविक है। सद्वय और अद्वय दोनों भाव कालभेद से संभव होने पर भी युगपत् संभव नहीं। वेद ने यह नहीं कहा कि पहले अद्वय था, अब सद्वय है वरन् 'स एषः' से सद्वय-अद्वय को हमेशा ही अभिन्न कहा जो समझ नहीं आता इसलिये प्रश्न उठता है। क्योंकि यह प्रश्न अभेद के स्वरूप को न समझने से है इसलिये कहा कि 'ऐसा नहीं कहना चाहिये' ।।१०२-३।।

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य दुष्करं नास्ति किञ्चन।
नीलीकृतं नभः पश्येच्चक्षुषा नीलवस्त्रवत्।।१०४।।
योग्याऽयोग्यव्यवस्थेयं मानव्यवहृतौ भवेत्।
कल्पनामात्रनिष्पत्तेर्नाऽपेक्षाऽज्ञानभूमिषु।।१०५।।
इहेत्यनेन सूत्रादिस्थाणुपर्यन्तविग्रहाः।
उच्यन्ते तेषु जीवोऽयं विस्पष्टम् उपलभ्यते।।१०६।।

क्यों नहीं कहना चाहिये यह बताते हैं **वस्तु की सचाई न जानने वाला न कर सके ऐसा कुछ भी नहीं है! (आकाश का स्वरूप न जानने वाला व्यक्ति) आँख से जैसे नीला कपड़ा देखता है वैसे नीला किया आसमान देख लेता है!।।१०४।।** सर्वज्ञात्ममहामुनि ने लिखा है 'भ्रमादलभ्यं न हि किञ्चिदस्ति' (३.१६५) ऐसा कुछ नहीं है जो भ्रम से न समझा जा सके। प्रकृत एवं अगला श्लोक वार्तिक के (१.४.४६६-५००) हैं। आकाश नीरूप है, आँख से दीख नहीं सकता, फिर भी लोगों को नीला आकाश आँखों से स्पष्ट दीखता है! भ्रम की अचिन्त्य सामर्थ्य है अतः अखण्ड आत्मवस्तु में प्रतीयमान सर्वशक्ति-अल्पशक्ति आदि भेद कोई महत्त्व नहीं रखते क्योंकि अखण्डता शास्त्रों द्वारा सत्यापित और युक्तियुक्त है।।१०४।।

जैसे आकाश इस लायक नहीं कि आँखों से दीखे, फिर भी दीखता है, ऐसे ही जगत्कारण का शरीर में सीमितरूप से अनुभव होना भी संगत है क्योंकि भ्रम से ऐसा लग रहा है, यह स्पष्ट करते हैं **प्रमाणों से व्यवहार होने पर योग्य-अयोग्य की यह व्यवस्था हो सकती है। अज्ञान की भित्ति पर केवल कल्पना से निष्पन्न होने के लिये योग्यता की कोई ज़रूरत नहीं होती।।१०५।।** आँख से दीखने के अयोग्य आकाश जैसे भ्रम से नीला दीखता है ऐसे भ्रम से जीव परमेश्वर से भिन्न अनुभव में आ रहा है भले ही अखण्ड आत्मा इस योग्य नहीं कि यों प्रतीत होवे। 'स एषः' का अभिप्रेतार्थ तो अखण्ड है पर आपात अर्थ विरुद्ध है। वह विरुद्ध अर्थ भी भ्रम से संभव ही है, यह भाव है।।१०५।।

'स एष' के बाद उपनिषत् में शब्द है 'इह', उसका अर्थ निर्धारित करते हैं **'इह' ('यहाँ') इस शब्द से सूत्रात्मा से स्थावर पर्यन्त शरीर कहे जा रहे हैं। उनमें यह जीव विशेषतः साफ-साफ मिलता है।।१०६।।** 'वह यह यहाँ घुसा' ऐसा जो श्रुतिकथन है उसमें 'यहाँ' मायने सभी शरीरों में। शरीर चाहे सूत्रात्मा का हो, ब्रह्मा का हो, या पेड़-पौधे का हो, उसमें जीवरूप से घुसा वही है जो जगत्कारण है। समष्टि सूक्ष्म

प्रविष्ट इति शब्देन चिदाभासतमोऽन्विता।
जीवत्वेनोपलब्धिर्या चितः सैषाऽभिधीयते।।१०७।।
चिदाभासप्रवेशस्तु प्रत्यङ्मोहे स्वतोऽभवत्।
तत्कार्येष्वनुवृत्तः स उपाधिश्चित्प्रवेशने।।१०८।।

शरीर वाला सूत्रात्मा कहा जाता है। वहाँ भी अभिमान होने से जीवभाव है, भले ही आदिमुक्त होने से प्रधानतः ईश्वरभाव रहे। शरीर उन्हें कहते हैं जहाँ साफ़-साफ़ लगे कि यहाँ जीव की विशेष स्थिति है। जहाँ यों न लगे उन वायु, नदी आदि को शरीर मानें या न भी मानें पर जहाँ यों लगता है उन्हें तो शरीर सभी स्वीकारते हैं। 'जीव है' ऐसी उपलब्धि साफ़ होती है, भले ही हम इसमें कोई प्रमाण न दे पायें! प्रमाण से परीक्षा करने पर आत्मा व्यापक ही निकलेगा, परिच्छेद उपाधियों में ही मिलेगा, 'जीव' कोई प्रमाणसिद्ध वस्तु नहीं है, फिर भी जब उपलब्ध होता है तब लगता है कि साफ़ पता चल रहा है, संशय का कोई अवसर नहीं। ऐसा जहाँ भी प्रतीत हो वे सभी शरीर समष्टि-व्यष्टि दोनों तरह के शरीर 'इह' कहे गये हैं।।१०६।।

'इह' के बाद शब्द है 'प्रविष्टः', उसका अर्थ कहते हैं **चिद्-आभास और अज्ञान से युक्त जो जीवरूप से चेतन की अपरोक्ष अनुभूति है वह 'प्रविष्ट' इस शब्द से कही जा रही है।।१०७।। प्रत्यगात्मा के अज्ञान में चेतन के अभास का प्रवेश खुद हुआ, अज्ञान के कार्य बुद्धि आदि में अनुगत वह साभास अज्ञान ही चेतन के प्रवेश में उपाधि है।।१०८।।** प्रविष्ट मायने घुसा हुआ। घड़े में पानी, जैसे तो व्यापक अमूर्त चैतन्य का शरीर में प्रवेश संभव नहीं, शरीर में सीमित रूप से जो अपनी अनुभूति है उसी को प्रवेश के रूप में शास्त्र ने कहा है जैसे घड़े में आकाश का या दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप से मुखादि का प्रवेश कहा जाता है। जीव अर्थात् कर्ता, भोक्ता, प्राणों को धारण करने वाला इस तरह जो चेतन की, आत्मा की, मेरी, प्रत्यक्ष अनुभूति है उसे 'प्रविष्ट' कहा गया है। जीवरूप में चित् अर्थात् चेतन का आभास भी है, जीव चेतन जैसा लगता है; वह चेतन *ही* नहीं लगता, अचेतन के परिच्छिन्नत्वादि भी उसमें प्रतीत होते ही हैं; एवं वह अज्ञान से सम्बद्ध, अज्ञान वाला, अज्ञानी प्रतीत होता है। यह जो प्रत्यक्सम्बन्धी अज्ञान है, इसमें प्रवेश अर्थात् 'मैं अज्ञानी' ऐसी अनुभूति, यह खुद ही है, बिना निमित्त के नैसर्गिक है, निरुपाधिक भ्रम है। चेतन का अज्ञान में यह प्रवेश भी आभास-विधया है अर्थात् जैसे मुख दर्पण 'में' प्रतीत-मात्र होता है वैसे चेतन अज्ञान 'में', अज्ञान से ढका हुआ, अज्ञानसमुद्र में डूबा हुआ प्रतीत ही होता है, वास्तव में चेतन में

जपाकुसुमरक्तत्वं स्फटिके कल्प्यते यथा।
चिदाऽऽभासप्रवेशोऽयं चित्यध्यारोप्यते तथा।।१०६।।

कोई फ़र्क़ आया हुआ नहीं है। अज्ञान आगे अनेक कार्यों के आकार लेता है जैसे अंतःकरण, इन्द्रिय, शरीर आदि। उनमें भी आत्मा प्रविष्ट लगता ही है लेकिन वह प्रवेश सोपाधिक भ्रम है तथा उपाधि है साभास अज्ञान ही। अर्थात् साभास अज्ञान क्योंकि उन आकारों में है इसलिये उनमें प्रविष्टता का भान है। अज्ञान तो आत्मा का आभास ग्रहण करने में सक्षम है, शरीरादि में वह क्षमता अज्ञान के कारण है। अतः अज्ञान में जो प्रवेश है उसकी निवृत्ति हो जाने पर मनआदि से 'निकलने' के लिये अन्य कोई प्रयास नहीं चाहिये। किं च, शरीर में प्रविष्टता तो केवल जाग्रत् में अनुभव में आती है, मन में प्रविष्टता जाग्रत्-स्वप्न में ही अनुभव में आती है, लेकिन अज्ञान में प्रविष्टता तीनों अवस्थाओं में अनुभव में आती रहती है, मोक्ष-पर्यन्त वह प्रवेश स्थायी है। 'अनुवृत्तः सः' का अर्थ वार्त्तिकसार टीका में है 'मोहकार्येषु बुद्ध्यादिषु चित्प्रतिबिम्बे उपाधिभूतो यः साभासमोहः सोऽप्युपादानत्वात् तेषु अन्वेति इति बुद्धिस्थजीवस्य तमःसाहित्यम् उपपन्नम्'। कुछ व्याख्याता 'सः' से चिदाभास का ही परामर्श करते हैं किन्तु आभास तो प्रवेशरूप है, उसे ही प्रवेश की उपाधि समझना कठिन है। अथवा उनका भाव है कि बुद्धिआदि में आभास के प्रति अविद्या में आभास उपाधि है, तब साभास-अविद्या वाले पक्ष से कोई फ़र्क़ नहीं रह जाता। अज्ञानकर्मों में प्रवेश अर्थात् तादात्म्य हट भी जाये तो भी अज्ञान में प्रवेश हटे बिना मोक्ष संभव नहीं।।१०७-८।।

प्रविष्ट कौन हुआ? चेतन व्यापक होने से प्रविष्ट कहना नहीं बनता इसलिये पूर्वश्लोक में कहा कि 'आभास का प्रवेश खुद हुआ'। इसका मतलब निकला कि चेतन का प्रवेश हुआ नहीं, केवल आभास का प्रवेश हुआ, फिर श्रुति जो जगह-जगह चेतन का प्रवेश कहती है वह कैसे संगत होगा? इसका उत्तर देते हैं **जिस प्रकार जपा-फूल की लालिमा के बारे में कल्पना होती है कि वह स्फटिक पर है उसी प्रकार चिदाभास के इस प्रवेश का चेतन पर आरोप हो जाता है।।१०६।।** लाल रंग का जपा-नामक फूल प्रसिद्ध है। वह पास पड़ा हो तो स्फटिक लाल दीखता है। लाली है फूल में पर भ्रम से लगती स्फटिक में है। इसी तरह प्रवेश हुआ तो चेतन के आभास का फिर भी व्यवहार होता है कि चेतन ने प्रवेश किया। श्रुति तो संगत ही है क्योंकि प्रवेश चेतन का है लेकिन है आभासरूप से। जैसे मुख दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से घुसता है ऐसे आभासरूप से चेतन अविद्या में घुसता है। स्मरण रखना चाहिये कि आभास, प्रवेश आदि

सूत्रादिस्थाणुपर्यन्तं जगत् सृष्ट्वाऽऽत्ममायया।
स्वाभासैकसहायेन स एव प्राविशत् परः ।११० ।।
'आनखाग्रेभ्य' इत्युक्त्या मर्यादाऽस्य प्रवेशने।
उक्ता स्पर्शेन चैतन्यं नखाग्रावधि लक्ष्यते।।१११।।

विचार यह समझाने के लिये हैं कि उपाधिस्थरूप से मिथ्या प्रतीति है, इससे अतिरिक्त इन रूपकों का प्रयोजन नहीं। आभास कोई 'वस्तु' नहीं जिसका सच्चा प्रवेश हुआ हो और उस प्रवेश का आत्मा पर आरोप कहा जा रहा हो! आत्मा प्रविष्ट है ऐसी अनुभूति और श्रुति को समझने का यह ढंग है कि आत्मा असम्बद्ध रहते हुए ही आभास के रूप में उपाधिस्थ है एवं आभास की उपाधिस्थता को ही आत्मा की उपाधिस्थता समझा व श्रुति द्वारा कहा जा रहा है।।१०६।।

प्रवेश किसमें व कहाँ तक हुआ इसे श्रुतिवाक्य में 'आ नखाग्रेभ्यः' से कहा, उसे समझाते हैं **सूत्रात्मा से स्थावर तक जगत् को अपनी माया से उत्पन्न कर उसी परमेश्वर ने केवल अपने आभास की सहायता से (उस जगत् में) प्रवेश किया ।।११०।। 'नाखून की नोक तक' यह कहने से उसके प्रवेश की सीमा बतायी। नख की नोक तक छूने पर (शरीर में) चेतनता प्रतीत होती है।।१११।।** सूत्रात्मा का शरीर वह है जिसमें समष्टि ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति प्रकट होती है। स्थावर वे शरीर हैं जहाँ इन दोनों शक्तियों की सर्वाधिक कुण्ठित स्थिति प्रकट होती है। समष्टि-व्यष्टि दोनों ही शरीरों में प्रवेश हुआ। इससे बता दिया कि किसमें प्रवेश हुआ। अगला प्रश्न है कि इन शरीरों में क्या किसी खास जगह प्रवेश हुआ या सारे शरीरों में प्रवेश हुआ? क्या हृदय आदि किसी विशिष्ट स्थान में आत्मा आकर बैठा या पूरे शरीर में आ गया? इसके जवाब में कहा कि 'नाखून की नोक तक' अर्थात् सारे ही शरीर में आ गया। पूरा ही शरीर सचेतन लगता है, कोई एक ही अंग चेतन लगे, बाकी हिस्सा अचेतन लगे ऐसा नहीं है। इसमें अनुभव ही प्रमाण है : किसी के शरीर के बाहरी हिस्से को छूते हैं तो उसे पता लगता है कि 'मुझे छुआ', नाखून की नोक छूने से भी पता लगता है, इसलिये वहाँ तक शरीर में चेतन भरा हुआ है यह निश्चित हो जाता है। अथवा अपने ही शरीर की दृष्टि से चेतना की अनुभूति नखाग्र-पर्यंत होती है, वहाँ तक स्पर्शेन्द्रिय कार्यकारी रहती है, अतः वहाँ तक प्रवेश निश्चित है। 'नखाग्र-पर्यन्त' व्यष्टि देह की दृष्टि से कहा है, सूत्रात्मा की दृष्टि से सीमा वहाँ तक समझनी चाहिये जहाँ तक ज्ञान-क्रियाशक्ति का विस्तार है।।११०-१।।

सामान्येन विशेषाच्च चिद् देहं व्याप्य वर्तते।
दृष्टान्ताभ्यां द्वयी वृत्तिर्द्विविधाभ्याम् इहोच्यते।।११२।।
दारु कृत्स्नम् अभिव्याप्य यथाऽग्निर्दारुणि स्थितः।
संव्याप्य तद्वदखिलं देहम् आत्मा व्यवस्थितः।।११३।।

प्रवेश समझाने के लिये उपनिषत् ने उदाहरण दिये हैं, 'यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्, विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये (बृ.१.४.७)। क्षुर अर्थात् उस्तरा, क्षुरधान अर्थात् उस्तरा आदि रखने की पेटी। क्षुरधान में जैसे अंदर स्थित क्षुर मिलता है वैसे शरीर में आत्मा मिलता है अतः पेटी में उस्तरे की तरह उसे प्रविष्ट समझ सकते हैं। यह एक उदाहरण है। विश्वम्भर अग्नि को कहते हैं। 'कुलाय' अर्थात् रहने का स्थान। आग का रहने का स्थान लकड़ी आदि ईंधन है। आग जैसे लकड़ी में रहती है वैसे शरीर में आत्मा रहता है। यह दूसरा उदाहरण है। इन उदाहरणों का तात्पर्य व्यक्त करते हैं **चेतन सामान्यतः भी शरीर को व्याप्त कर रहता है और विशेषतः भी देह में स्थित है। इस दो तरह से रहने को यहाँ दो प्रकार के दृष्टान्तों से कहा जा रहा है।।११२।।** 'मैं' की अनुभूति प्रायः हृदय में स्फुट होती है। 'मैं' कहते हुए छाती का स्पर्श किया भी जाता है। यह उसकी विशेष स्थिति और उसका स्थल हुआ। साधारणतः 'सारा शरीर मैं हूँ' यह अनुभव होता ही, यह सामान्य दृष्टि से शरीर को व्याप्त करना हुआ। 'इस कमरे में रहता हूँ' यों पूरे कमरे को अपने द्वारा प्रयुक्त, अधिष्ठित मानते हैं तथा 'इस पलंग पर सोता हूँ, इस कुर्सी पर बैठता हूँ' यों पलंग-कुर्सी को खासकर अपने द्वारा प्रयोग में लाया गया, अधिष्ठित मानते हैं। इसी तरह पूरे शरीर में तथा शरीर के खास स्थान पर, दोनों तरह अपनी अनुभूति होती है जिसे समझाने के लिये श्रुति ने उस्तरा व उसकी पेटी तथा आग और ईंधन (लकड़ी) ये दो दृष्टान्त दिये।।११२।।

श्रुति में क्षुर-विश्वम्भर (उस्तरा-अग्नि) यह क्रम है किंतु उन दृष्टांतों से सामान्य और विशेष अवस्थिति विवक्षित है यह मानकर पहले सामान्यतः रहने में दृष्टान्तभूत अग्नि वाले उदाहरण को समझाते हैं **जैसे सारी लकड़ी को घेर कर उसमें आग रहती है वैसे सारा शरीर घेरकर उसमें आत्मा भलीभाँति रहता है।।११३।।** लकड़ी पूरी ही जल जाती है, इससे पता चलता है कि पूरी में ही आग थी, तभी उसमें प्रकट हुई। ऐसे, शरीर में आत्मा है, जहाँ भी शरीर को छुआ जाये, पता लगता है; कहीं भी पीडा हो तो पता लगती है; शरीर के हर कोषा का जीवन-संचालन इसमें प्रमाण है कि सर्वत्र चेतना

तस्थावसंव्याप्य यथा क्षुरपात्रं क्षुरस्तथा।
श्रोत्रादिनाडीमध्यस्थः तनुम् अव्याप्य संस्थितः।।११४।।
क्षुरपात्रे स्थानभेदाद् विभिद्यन्ते यथा क्षुराः।
चैतन्यानि विभिद्यन्ते तथा नाडीविभेदतः।।११५।।

है, उसके न रहने पर पूरा देह सड़ना शुरू हो जाता है। इस तरह, लकड़ी में आग जैसे शरीर में आत्मा है।।११३।।

दूसरे दृष्टान्त से विशेषतः अवस्थिति बतायी है यह समझाते हैं **जैसे उस्तरे की पेटी में उसे पूरा बिना घेरे उस्तरा रहता है वैसे कान आदि की नाडियों में आत्मा विशेषतः रहता है तथा उस तरह वह सारे शरीर को व्याप्तकर नहीं रहता।।११४।।** कान आदि की नाडियों में आत्मा की खास अवस्थिति है। ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ शरीर में जहाँ कार्य करती हैं वहाँ विशेष नाडियाँ हैं, उनमें आत्मा की ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति व्यक्त होती है, जो शक्तियाँ शरीर में वहाँ व्यक्त नहीं जहाँ वे नाडियाँ नहीं। उस्तरा पेटी में तो होता है लेकिन उसमें किसी खास जगह में ही होता है, पूरी पेटी में उस्तरा हो ऐसा नहीं जैसे पूरी लकड़ी में आग होती है। इसलिये आत्मा की जहाँ ज्ञान-क्रियाशक्तियाँ अधिक स्पष्ट होती हैं उन स्थानों पर उपस्थिति भी विशेष है यह उस्तरे के उदाहरण से बताया।।११४।।

अवस्थिति का वैशिष्ट्य इसी से है कि अलग-अलग तरह से उपलब्धि हो रही है। चेतन एकरस होने पर भी आँख में उसकी जैसी उपलब्धि है उसकी अपेक्षा कान में उपलब्धि अलग है, हाथ में अलग है। इन अलगावों को ही 'विशेष' कहा जाता है, अन्यथा चेतन तो सारे शरीर में समान है। इस बात को भी उस्तरे के दृष्टांत से व्यक्त करते हैं **उस्तरे की पेटी में अलग-अलग जगह रखे होने से जैसे उस्तरे अलग-अलग होते हैं वैसे ही (शरीर में) नाडियाँ अलग-अलग होने से उनमें प्रकट चेतन अलग-अलग लगते हैं।।११५।।** पेटी में विभिन्न आकारों के उस्तरों के लिये नियत स्थान होते हैं। 'उस्तरे' से नाई के उपयोग में आने वाले सभी उपकरण समझ सकते हैं। अलग जगहों पर रखे रहते हैं इसी से वे परस्पर अलग हैं यह निश्चित है, उनके उपयोग भी अलग-अलग होते हैं। इसी तरह शरीर में अलग-अलग नाडियों में जो चेतन प्रकट होता है वह विभिन्न उपयोगों वाला होने से लगता है मानो परस्पर विभिन्न हों। चेतन का स्वरूप ज्ञान होने पर भी द्रष्टा व श्रोता परस्पर विलक्षण ही लगते हैं, पकड़ने वाला व चलने वाला अलग-अलग ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि सबको अपने से एक करने वाला

प्राप्नोति वृत्ती द्वे जीवः स्वप्नजाग्रदवस्थयोः।
सामान्यवृत्तिमेवैकां सुषुप्ते प्रतिपद्यते।।११६।।
सामान्यवृत्तिर्या साऽत्र जीवनायोपपद्यते।।[1]
विशेषवृत्तयो देहे शब्दाद्यालोचनोद्यताः।।११७।।

अहंकार एक ही अनुभव में आता है तथापि आँख में प्रकट चेतन (ज्ञान) और कान में प्रकट चेतन तो अलग लगते ही हैं। क्रिया की इंद्रियों में प्रकट चेतन भी ऐसे ही विभिन्न लगते हैं। उन नाडियों में चेतन की क्रियाशक्ति व्यक्त होती है, वह भी प्रकटीकरण है चेतन का ही। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के मानसोल्लास में कुछ नाडियों का इंद्रियसंबंध बताया है गान्धारी व हस्तिजिह्वा का नेत्रों से, पूषा व अलम्बुषाका कानों से, सरस्वती का वाक् से, विश्वोदरी का रसना से, राका का जननेन्द्रिय से, सिनीवाली व कुहू का विसर्गेन्द्रिय से संबंध वहाँ चौथे उल्लास में कहा है। आत्मपुराण अध्याय ११ श्लोक १५० आदि में भी नाडी-गोलक सम्बन्ध बताया है। वर्णनों में यत्किंचिद् भेद मिलता है जो परंपरा-भेद से संगत समझना चाहिये।।११५।।

चेतन की सामान्य-विशेष द्विविध उपस्थिति को अवस्थाओं के अनुसार भी समझाते हैं **स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओं में जीव (सामान्यतः एवं विशेषतः) दोनों तरह वर्तमान रहता है जबकि सुषुप्ति में एक सामान्य तरह से ही वर्तमान रहता है।।११६।। यहाँ कही द्विविध वर्तमानता में जो सामान्यतः वर्तमानता है वह जीवन के लिये उपयोगी है एवं विशेष तरह से शरीर में रहना शब्दादि विषयों के व्यवहार के लिये उपयोगी है।।११७।।** सुषुप्ति में भी शरीर जीवित रहता है, वह जिस तरह से चेतना रहने पर सम्भव है उसे सामान्य वृत्ति (सामान्य तरह से रहना) कहा। जिस तरह से रहने पर विषय-व्यवहार होता है वह विशेष वृत्ति (विशेष तरह से रहना) कही जाती है। विशेष वृत्ति अनेक तरह की है क्योंकि व्यवहार अनेक तरह के हैं। वे वृत्तियाँ विषय-व्यवहार में संलग्न होती हैं, व्यवहार रहते ही उनकी स्थिति है। जाग्रत् व स्वप्न में ये विशेष वृत्तियाँ होती हैं, सुषुप्ति में नहीं। स्वप्न में बाह्य विषयों से न सही, अन्दर ही उत्पादित विषयों से मानो व्यवहार चलता रहता है इसलिये स्वप्न में भी केवल सामान्य नहीं विशेष वृत्ति को स्वीकारना पड़ता है। इंद्रियाँ वहाँ नहीं काम करतीं किंतु विभिन्न अर्थाध्यास व ज्ञानाध्यास होते रहते हैं जो तब तक संभव नहीं जब तक जीव की

---

१. जीवनायोपयुज्यते इति सारे पाठः।

प्रवेशवाक्यं पदशस्तात्पर्याच्च स्फुटीकृतम्।
तदनुग्राहको न्याय इदानीं प्रविचार्यते।।११८।।

प्रवेशोपपादनम्

देवदत्तः परिच्छिन्नः सांशश्चाऽतो गृहं विशेत्।
निरंशः सर्वगश्चात्मा कथं देहे विशेद् असौ।।११९।।

शरीर में विशेष अवस्थिति न हो। इस प्रकार चित् का आभास-विधया प्रवेश एवं सामान्य-विशेष दो तरह से व्यवस्थित अवस्थान बताया।।११६-७।।

शास्त्र-श्रवणानन्तर मनन का प्रसंग आता है और मनन से ही बोध में दृढता भी आती है इसलिये वेद में जो परमेश्वर का व्यष्टिभाव बताया उस पर और चिंतन व्यक्त करने की प्रतिज्ञा करते हैं **प्रवेश-बोधक वाक्य का (उसमें आये) शब्दों के अनुसार और अभिप्राय के अनुसार स्पष्टीकरण किया। अब उसे उपपन्न करने वाली युक्तियों का विस्तृत विचार किया जाता है।।११८।।** 'स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः' यह यहाँ प्रवेश-वाक्य है। अन्यत्र भी उपनिषदों में अनेक जगह परमेश्वर का जीवरूप से प्रवेश कहा गया है। आगे बताये जाने वाली युक्तियाँ सर्वत्र लगेंगी, जहाँ-कहीं परमेश्वर का प्रवेश कहा है उसे इसी तरह संगत समझ लेना चाहिये। भोक्त्रापत्त्यधिकरण (२.१.५), इतरव्यपदेशाधिकरण (२.१.७), आत्माधिकरण (२.३.११) अंशाधिकरण (२.३.१७) आदि ब्रह्मसूत्र-प्रसंगों में इस सन्दर्भ में काफी विचार है तथा तैत्तिरीय (ब्रह्म.६) ऐतरेय (१.३) और यहीं बृहदारण्यक में प्रवेश का काफी खुलासा मिलता है।।११८।।

आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया यह मान लेने में क्या कठिनाई है, यह बताते हैं **देवदत्त सीमित और सावयव होता है इसलिये घर में घुस सकता है, आत्मा तो निरवयव एवं सर्वव्यापक है, वह शरीर में घुस कैसे सकता है?।।११९।।** आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया यह इस तरह हो सकता है जैसे देवदत्त आदि कोई व्यक्ति घर में प्रवेश करता है। लेकिन ऐसा संगत नहीं क्योंकि देवदत्त का शरीर ही घर में घुसता है और शरीर अवयवों वाला तथा सीमित आयाम (परिमाण) का है जबकि आत्मा इससे विपरीत बिना अवयवों का एवं असीम है। व्यावृत्त व अनुवृत्त दोनों ही न होने से आत्मा की कोई सीमा संभव नहीं। व्यापक आत्मा का कहीं से विभाग होकर कहीं अन्यत्र संयोग हो यह भी असंभव है जैसा देवदत्त का होता है, बाहर-देश से विभाग होकर घर के भीतर-देश से संयोग हो जाता है। प्रवेश क्योंकि

अप्रविष्टस्वभावोऽयं दिग्देशाऽद्यनभिप्लुतेः।
कल्पितोऽस्य प्रवेशः स्याज्जलपात्राऽर्कबिम्बवत्।।१२०।।

परमेश्वर का ही बताया है इसलिये यह भी कल्पना नहीं कर सकते कि किसी परिच्छिन्न जीवात्मा ने ही शरीर में प्रवेश कर लिया होगा! एवं च आत्मा का प्रवेश कैसे समझा जाये यह विचारणीय है।।११९।।

उक्त समस्या का समाधान करते हैं **दिशा, स्थान आदि से असीमित होने के कारण जिसका स्वभाव ही ऐसा नहीं कि वस्तुतः किसी सीमित जगह में घुस सके, उसका भी कल्पना से प्रवेश हो सकता है जैसे जल-भरे बर्तन में सूर्य-बिम्ब का 'प्रवेश' हो जाता है।।१२०।।** इस प्रसंग में श्रीसुरेश्वराचार्य ने कहा है कि राग-द्वेष आदि मलों से रहित बुद्धि वाले ब्रह्मनिष्ठ भाष्यकार ने जो युक्तियुक्त वचन कहे हैं तदनुसार अप्रविष्ट स्वभाव का कल्पना से प्रवेश स्वीकार है। भाष्य में कहा है 'जलसूर्यादिप्रतिबिम्बवद् आत्मप्रवेशः' तथा 'न तु सर्वगतस्य निरवयवस्य दिग्देशकालान्तरापक्रमणप्राप्तिलक्षणः प्रवेशः' (पृ ७३, म.अ.सं.)। इसी बात को वार्तिक में 'अप्रविष्टस्वभावस्य दिग्देशाद्यनभिप्लुतेः। प्रवेशो व्याकृते क्लृप्तो जलपात्रार्कबिम्बवत्।।' १.४.६०८।। से कहा है जिसका सार में अनुवाद है। आत्मा को पूर्वादि दिशाओं से सीमित नहीं समझ सकते, किन्हीं खास स्थानों में सीमित नहीं समझ सकते, वस्तु और काल से सीमित नहीं समझ सकते। 'प्रवेश' लोक में यों सीमित होने को ही कहते हैं जैसे सूर्यादि ग्रहों का पूर्वादि दिशाओं में प्रवेश होता है या लोगों का गृह आदि स्थानों में प्रवेश होता है या दिन का सन्ध्यादि काल में प्रवेश होता है अर्थात् दिशा, स्थान, काल से सीमित हो जाना यही लोकसिद्ध प्रवेश है। जो स्वरूपतः इनसे अपरिच्छेद्य है उसका ऐसा प्रवेश संभव नहीं। इसलिये कहा कि आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि कहीं वास्तव में घुस नहीं सकता। फिर भी शास्त्र ने प्रवेश कहा है तो कल्पना से प्रवेश ही संभव है जिसे प्रतिबिम्बन के दृष्टांत से समझ सकते हैं। सूर्यादि का बिम्ब वस्तुतः तो दर्पण में नहीं घुसता पर लगता है मानो घुसा हो। या आकाश लगता है मानो घड़े में घुसा हो। ऐसे ही लगता ही है कि आत्मा शरीर में घुसा है, वास्तव में घुसा हो ऐसी बात नहीं।।१२०।।

प्रतिबिम्बन भी कैसे संभव है? सूर्यमंडल और दर्पण परस्पर अलग, दूर-दूर स्थित हैं तब सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जबकि आत्मा व्यापक है, किसी उपाधि से अलग, दूर है नहीं; तब उसका प्रतिबिम्ब-जैसा प्रवेश कैसे? इसका समाधान करते हैं **यद्यपि दृष्टान्त में 'अलग-अलग स्थित होना' आदि अंश दार्ष्टान्त आत्मा में नहीं है**

विभागाद्यंशवैषम्येऽप्यस्ति साम्यं विवक्षितम्।
उपाधिस्थोपलब्ध्यादि साम्यं केन निवार्यते।।१२१।।
उपाधावुपलभ्यत्वम् अन्यथात्वेन भासनम्।
बहुत्वभानम् इत्येतद् दृष्टदार्ष्टान्तयोः समम्।।१२२।।

तथापि जो बताना चाहते हैं वह समानता है ही। 'उपाधि में स्थित रूप से प्रतीति' इत्यादि समानता प्रतिबिम्ब और प्रविष्ट आत्मा में है इसे नहीं नकार सकते।।१२१।। दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में समग्र समानता तो होती ही नहीं है, जो प्रधान प्रतिपाद्य हो उतनी बात समान होने से दृष्टांतरूपता संगत समझी जाती है। आत्मा उपाधि से दूर, अलग है यह प्रतिपाद्य ही नहीं कि इस अंश में समानता मिले। प्रतिपाद्य इतना ही है कि वास्तव में जैसा है वैसा ही रहते हुए उपाधि में प्रविष्ट प्रतीत हो। यह समानता प्रतिबिम्बन व आत्मप्रवेश में है ही। अव्यापक बिम्ब का ही प्रतिबिम्ब पड़ सके यह नियम नहीं क्योंकि आकाश का भी प्रतिबिम्ब दीखता ही है। किं च, प्रतिबिम्बन अर्थात् बिम्ब पर पड़ी प्रकाशरश्मियों का उपाधि से प्रतिफलित हो आँख में पड़कर बिम्ब को स्वस्थान से अन्यत्र प्रतीत कराना यह आत्मप्रसंग में न संभव है न बताया जा रहा है क्योंकि आत्मा न चाक्षुष है, न उसपर प्रकाशरश्मियाँ पड़कर अन्यत्र टकराती हैं! प्रतिबिम्बन के रूपक के अनुसार आत्मा का प्रवेश समझाना है, यह नहीं कि आत्मा का प्रतिबिम्ब ही पड़ता हो! अनुभूतिस्वरूप आचार्य ने माण्डूक्य टीका (३.३) में स्पष्ट किया है कि निरुपाधिक पूर्णता कायम रहते ऐसी मिथ्या प्रतीति कि वस्तु उपाधि में है इसे ही प्रतिबिम्बन कहते हैं। अतः प्रतिबिम्ब इस शब्द का प्रयोग उदाहरण की दृष्टि से है, अन्य उदाहरण की दृष्टि से अन्य भी शब्द का प्रयोग संभव है पर चाहे जिस उदाहरण से हो, प्रतिपाद्य वही बात है। इस तरह समझ आता है कि पूर्ण आत्मा का वेदोक्त देह-प्रवेश संगत है।।१२१।।

'उपाधिस्थोपलब्ध्यादिसाम्यम्' यों जो 'आदि' शब्द रखा था उसका खुलासा करते हैं **'उपाधि में है' ऐसा लगना, जैसी वस्तु सचमुच में है उससे अन्य तरह का प्रतीत होना, और (वस्तु एक रहते हुए भी) अनेक लगना ये तीनों बातें दृष्टांत व दार्ष्टान्त में समान हैं।।१२२।।** सूर्यमंडल आकाश में रहते हुए ही लगता है मानो दर्पण में हो। आत्मा भी व्यापक रहते हुए ही 'शरीर में है' ऐसा लगता है। सूर्य वास्तव में जैसा है, दर्पण में पड़कर वैसा नहीं, अन्य तरह का लगता है। पूर्व में उदित सूर्य का मुख पश्चिम की ओर हो तो दर्पणस्थ सूर्य पूर्व की ओर मुख

तेजोऽधिकं रवेर्बिम्बम् अशक्यं द्रष्टुमञ्जसा।
तथाऽपि जलमध्ये तद् बिम्बं सम्यगवेक्ष्यते।।१२३।।
स्वयम्प्रकाश आत्मैवं नोपलभ्योऽनुपाधिकः।
जडदेहाद्युपाधौ तु विस्पष्टम् उपलभ्यते।।१२४।।

करता है। और भी अनेक तरह से प्रतिबिम्ब वास्तविक सूर्य से अन्य प्रकार का होता है। इसी तरह शरीर में प्रविष्ट हुआ आत्मा वास्तविक आत्मा से अन्यथा ही मिलता है। वास्तव में अपरिच्छिन्न आत्मा शरीर में परिच्छिन्न प्रतीत होता है। वास्तव में सनातन आत्मा शरीर में कादाचित्क (आगमापायी) प्रतीत होता है। किं च सूर्य बिम्ब एक है पर हज़ारों दर्पणों में प्रतिबिम्बित होने पर हज़ारों प्रतिबिंब दीखते हैं। ऐसे ही असंख्य उपाधियों में अनन्त जीव प्रतीत होते हैं जबकि आत्मा एक ही है। इस तरह प्रतिबिम्ब की समानता स्पष्ट है।।१२२।।

प्रवेश के पीछे प्रयोजन भी है अतः सप्रयोजन होने से भी यह स्वीकारना उचित है कि आत्मा का प्रवेश हुआ यह समझाने के लिये आत्मा उपाधि में उपलब्ध होता है इस पूर्वसूचित बात को स्पष्ट करते हैं **सूर्य का बिंब अत्यधिक तेजस्वी होता है अतः सीधे ही साफ-साफ नहीं देखा जा सकता, फिर भी जल में पड़ा उसका प्रतिबिम्ब भलीभाँति दीख जाता है।।१२३।। इसी तरह स्वयम्प्रकाश आत्मा उपाधि से असम्बद्ध रूप में समझ नहीं आता किंतु देहादि जड उपाधियों में एकदम साफ समझ आ जाता है।।१२४।।** आत्मा का निरुपाधिक स्वरूप समझने के लिये उसे पहले उपाधि में समझना अनिवार्य है। जैसे संख्येय वस्तुओं के माध्यम से ही संख्या समझी जा सकती है या व्यक्तियों के माध्यम से ही जाति समझी जा सकती है या रोशनी-हवा आदि कार्यों के माध्यम से ही बिजली समझी जा सकती है, ऐसे ही सोपाधि आत्मा के माध्यम से ही निरुपाधि आत्मा समझा जा सकता है। आत्मा है इतना भी सजीव शरीरों को, उनके व्यवहारों को, जन्मने-मरने को देखने से ही पता लगता है, अन्यथा ईंट-पत्थरों को देखकर आत्मा है यह भी पता नहीं लगता। किं च आत्मा का यथार्थ स्वरूप बुद्धिवृत्ति जब श्रवणादि से अखण्डाकार बने तभी पता चल सकता है; इसलिये भी प्रवेश आवश्यक है। प्रविष्ट आत्मा ही साधनाभ्यास से तत्त्वसाक्षात्कार कर सकता है। आधुनिक तर्कशास्त्र की मान्यता है कि उपयोगिता भी वस्तु की सत्यता सिद्ध करती है। इस दृष्टि से यहाँ, प्रवेश हुआ - इसमें प्रमाण के रूप में प्रवेश का उपयोग बताया है कि आत्मज्ञान के लिये प्रवेश आवश्यक है। 'तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'

जीवत्वभ्रान्तिरेषैवं प्रत्यग्बोधोपयोगतः ।
जलपात्राऽर्कसाम्येन प्रवेश इति[1] कल्प्यते । ।१२५ । ।

(बृ.२.५.१६) 'जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्म' आदि श्रुति-स्मृति इस तरह उक्त विषय व्यक्त करती हैं । ।१२३-४ । ।

यह समझाया कि जैसे दर्पण में बिम्ब विपरीत दिशा की ओर उन्मुख दीखता है वैसे ही देहोपहित आत्मा को ग्रहण करती बुद्धि उसे विक्रियादि वाला समझती है जब कि वस्तुतः वह अविक्रियादि है। ऐसे ही एक अद्वितीय रहते ही उपाधि-भेद से आत्मा अनेक लगता है। शरीरों में प्रवेश के भ्रम से ही ऐसा विपरीत ग्रहण हो रहा है। नाम-रूप की सृष्टि होते ही उनका सम्बंध आत्मा से प्रतीत होने पर वह द्रष्टा कर्त्ता भोक्ता आदि प्रतीत होने लगता है। उसी की अपेक्षा से फिर, जो द्रष्टा आदि नहीं वह असंसारी ईश्वर माना जाता है। यों जीव-ईश्वर दोनों उपाधि-सापेक्ष हैं पर स्वयं आत्मा उससे निरपेक्ष चिन्मात्ररूप है। यद्यपि इस तरह चिन्मात्र को ईश्वर से पृथक् समझा जाये यह उचित है तथापि उसका बोध तभी होगा जब पहले ईश्वर को समझा जाये जैसे शाखाग्र पर दृष्टि एकाग्र होने पर ही आकाश में द्वितीया की चंद्रकला अभिलक्षित होती है। इसी तरह प्रत्यङ्मात्र के बोध के लिये प्रमाता का बोध आवश्यक है। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये श्रुति ने प्रवेश का उल्लेख किया। अब प्रवेश-वाक्य की व्याख्या का उपसंहार करते हैं **उक्त तरीके से प्रत्यगात्मा के ज्ञान में उपयोगी होने से इस प्रसंग में इस जीवरूपता के भ्रम को प्रवेश के रूप में कल्पित किया गया है क्योंकि जलपात्र में 'प्रविष्ट' सूर्य की समानता उपाधि में प्रविष्ट आत्मा में सुलभ है । ।१२५ । ।** संसारभ्रम हमें स्वतः उपलब्ध है, उसके निवर्तन के लिये ही शास्त्र की प्रवृत्ति है अतः हमें जैसे आत्मा की नित्य-शुद्ध-मुक्तरूपता स्पष्ट समझ आये वैसे ही शास्त्र उपदेश देता है। हमें समझाने के लिये प्रवेश का रूपक उपयोगी होने से वेद ने जगह-जगह प्रवेश का वर्णन किया है। जिस तरह प्रतिबिम्ब का उपाधि में घड़े में बेर जैसा प्रवेश नहीं, केवल प्रवेश-जैसा है, उसी तरह आत्मा का यह प्रवेश भी प्रवेश-जैसा है, यह तात्पर्य है । ।१२५ । ।

जिसका स्वभाव ही ऐसा है कि परिच्छिन्न में प्रवेश न कर सके ऐसे आत्मा का प्रवेश वास्तविक नहीं मिथ्या ही संभव है जैसे घड़े-जितने जल में प्रविष्ट न हो सकने वाले सूर्य

---

१. इह इति निर्णयसागरपाठः।

यथा सृष्ट्यादयः क्लृप्ताः प्रवेशोऽपि तथेक्ष्यताम्।
युक्त्या नैवोपपद्यन्ते सृष्ट्याद्याः कल्पितास्ततः।।१२६।।

प्रविष्टोऽज्ञातः

नन्वेवं पर एवाऽत्र प्रविष्टश्चेत् तदा जनाः।
पश्यन्त्येतं[1] विना शास्त्रम् इति शास्त्रं वृथा भवेत्।।१२७।।
अहं प्राणिम्यहं वच्मि पश्याम्येतच्छृणोमि तत्।
मन्येऽहम् इत्यहंबुद्ध्या दृष्ट एवाऽखिलैः परः।।१२८।।

का उसमें प्रतीयमान प्रवेश मिथ्या ही होता है। सत्य के वर्णन के लिये मिथ्या का उपयोग प्रसिद्ध ही है। इसी को स्पष्ट करते हैं **जैसे सृष्टि आदि कल्पित हैं, वैसे ही प्रवेश भी कल्पित ही समझना चाहिये। युक्ति से समर्थनीय न होने से सृष्टि आदि सभी कल्पित (मिथ्या) ही हैं।।१२६।।** सृष्टि आदि अर्थात् स्थिति, लय, फलदान आदि ईश्वरकृत्य। इसी तरह प्रवेश से कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समझने चाहिये। इन सभी का शास्त्र अनुवाद इसीलिये करता है कि अद्वितीय तत्त्व समझा जा सके।।१२६।।

श्रुति ने सोदाहरण प्रवेश कहकर 'तं न पश्यन्ति' से संसारदशा में आत्मयाथार्थ्य को अज्ञात बताया है। इस श्रुतिभाग का श्लोक १३५ तक व्याख्यान करेंगे। आत्मा का अज्ञान है यह वेद को बताना ही क्यों पड़ा यह समझाते हैं **यदि इस प्रकार परमेश्वर ही शरीर में प्रविष्ट है तो शास्त्र समझे बिना ही लोग इसे जान ही रहे हैं अतः प्रश्न उठता है कि क्या शास्त्र व्यर्थ नहीं हो गया?।।१२७।। 'मैं साँस ले रहा हूँ, मैं बोलता हूँ, इसे देख रहा हूँ, उसे सुन रहा हूँ, विचार करता हूँ' यों मैं-के आकार वाले ज्ञान से परमेश्वर ही सब द्वारा जाना जा रहा है (तो शास्त्र का क्या प्रयोजन?)।।१२८।।** घर में देवदत्त घुसा हो तो उसे वहाँ जिसने देख लिया उसे देवदत्त को देखने के लिये अन्य प्रयास नहीं करना पड़ता। इसी तरह परमेश्वर शरीर में घुसा तथा हम 'मैं' के रूप में उसी का अनुभव कर रहे हैं तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि श्रुतियाँ क्यों कहती हैं कि आत्मा को देखो? शास्त्र पढ़े बिना ही सभी जीव खुद को जान रहे हैं और जिसे जान रहे हैं वह शरीर में प्रविष्ट परमात्मा है तो परमात्मा को ही जान रहे हैं, फिर शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ? आत्मज्ञान ही शास्त्र से उपलभ्य है, वह यदि

---

१. पश्यन्ति तम् इति सारे पाठः।

उच्यते, तन्न पश्यन्ति प्रविविक्तं[1] स्वतो जनाः ।
नो श्वासभाषणे दृष्टिश्रुती वा स्तोऽस्य नो मतिः ।।१२९।।

शास्त्र के बिना ही प्राप्त है तो शास्त्र क्यों पढ़ा जाये? जैसे जीव के ज्ञान से परमेश्वर के ज्ञान की गतार्थता लगती है ऐसे ही 'तद् नाम-रूपाभ्यां व्याक्रियत' आदि श्रुति से यदि परमेश्वर ही संसार के आकार में उपलब्ध है तो संसार का ज्ञान हो ही रहा है, यह परमात्मा का ज्ञान है, पुनरपि शास्त्र से लभ्य कोई ज्ञान नहीं रह जाता। जो वल्लभादि दर्शन ईश्वर का विकार (परिणाम) जगत् को मानते हैं उन पर यह आक्षेप उचित भी है एवं कुछ लोग इसीलिये सांसारिक व्यवहार से अन्य ईश्वराराधना मानते नहीं। ऐसी सब शंकाओं को यहाँ उपलक्षणया समझ लेना चाहिये।।१२७-८।।

इस शंका के समाधानार्थ ही श्रुति ने बताया कि 'तं न पश्यन्ति' अर्थात् परमेश्वर को लोग नहीं जानते, उसका याथात्म्य नहीं समझते। इस श्रुति का तात्पर्य बताते हैं **(उक्त प्रश्न का उत्तर) बताते हैं : लोग खुद अर्थात् बिना शास्त्रानुसन्धान किये, अनात्मा से अलग उस परमेश्वर को नहीं जानते। साँस लेना, बोलना, देखना, सुनना, विचार करना ये सब परमेश्वर के नहीं हैं।।१२९।।** यद्यपि प्रविष्ट के रूप में परमेश्वर जाना जा रहा है तथापि उसका उपाधिविशिष्ट रूप ही अनुभव में आ रहा है, उपाधि अर्थात् अनात्मा से स्वतंत्र उसका सच्चा रूप अनुभव में नहीं आ रहा। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के धर्मों वाला इसी रूप में हम आत्मा को समझ पा रहे हैं जबकि वास्तव में वह इन धर्मों वाला नहीं है। साँस लेना प्राण का धर्म है, बोलना आदि इंद्रियों के धर्म हैं, विचार करना मनका धर्म है, आत्मा के ये धर्म ही नहीं कि इन के ज्ञान को आत्मा का ज्ञान माना जाये। ('प्रविविक्तं' की जगह 'प्रविविक्षुं' वार्तिकसार का पाठ है। प्रविविक्षु अर्थात् घुसना चाहने वाला। श्रीमहेश्वरतीर्थ ने लघुसंग्रह-नामक वार्तिकसार-टीका में लिखा है 'प्रवेष्टुम् इच्छन्तं बिम्बात्मानम् इत्यर्थः'। प्रवेश के पूर्व ही प्रवेश की इच्छा होने से अप्रविष्ट को ही प्रविविक्षु कह सकते हैं अतः परमेश्वर का जो प्रवेश से पूर्व का अर्थात् उपाधितादात्म्य-रहित स्वरूप है उसे हम लोग बिना शास्त्र के नहीं जानते यह श्लोकार्थ है। अनुभूति प्रकाश की पुस्तकों में प्रविविक्तम् ही पाठ है।)।।१२९।।

प्रश्न होगा कि साँस लेना आदि धर्म हैं तो शरीरादि में घुसे हुए आत्मा के ही अतः उन धर्मों वाले के रूप में जान तो उसी को रहे हैं? इसका उत्तर देते हैं **साँस लेना,**

---

१. प्रविविक्षुम् इति सारे पाठः प्रवेष्टुमिच्छन्तं बिम्बात्मानमिति तद्व्याख्या।

प्रविष्टस्याऽस्ति चेच्छ्वासभाषणाद्यस्तु तावता।
प्रवेष्टरि किमाऽऽयातं शास्त्रबोध्यः स एव हि।।१३०।।
प्रविष्टस्य प्रवेष्टुश्च रूपाऽभेदेऽपि भिन्नताम्।
प्रविष्टत्वाऽप्रविष्टत्वधर्माभ्यां को निवारयेत्।।१३१।।

बोलना आदि घुसे हुए के धर्म भले ही हों, उससे घुसने वाले में क्या विशेषता आयी! शास्त्र-द्वारा बोध्य तो घुसने वाला है।।१३०।। 'घुसने वाला' अर्थात् घुसने से निरपेक्ष जिसका स्वरूप है। शास्त्र-प्रतिपाद्य निरुपाधि आत्मस्वरूप है। सोपाधि आत्मा तो बिना शास्त्रोपदेश के भी सभी को पता है अतः उसे बताने से शास्त्र प्रमाण नहीं बनता। जो उसका सच्चा स्वरूप है, उपाधियों पर निर्भर नहीं, उनसे असम्बद्ध है, वही बताने से शास्त्र अज्ञातज्ञापकरूप प्रमाण होगा। घुसा आत्मा भले ही कर्त्ता-भोक्ता हो लेकिन जो घुसा है वह तो कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। आत्मा अलग-अलग हों ऐसा नहीं, एक ही आत्मा स्वरूप से अकर्ता-अभोक्ता एवं उपाधि से कर्त्ता-भोक्ता है। तक्षाधिकरण में (२.३.१५.सू.४०) यह स्पष्ट किया गया है।।१३०।।

उक्त समाधान के बारे में शंका होगी कि 'स एष इह प्रविष्टः' से कहा था कि घुसने वाला और घुसा हुआ एक ही है; लोकानुसारी भी यही बात है; फिर घुसे हुए को जानना ही घुसने वाले को जानना क्यों न माना जाये? कमरे के बाहर देखें या भीतर, देखा तो देवदत्त को ही जाता है। इस शंका का समाधान करते हैं **घुसे हुए और घुसने वाले का स्वरूप अभिन्न होने पर भी 'घुसा होना' और 'न घुसा होना' इन विशेषताओं के कारण उनमें फ़र्क़ को कौन मना कर सकता है!।।१३१।।** जैसे कमरे की रोशनी आदि में देवदत्त का सही वर्ण नहीं भी दीखता जो बाहर सूर्य की रोशनी में दीख जाता है, वैसे ही 'घुसा होना' इस विशेषता के रहते आत्मा का निर्विकार व्यापक स्वरूप पता नहीं चलता जो 'न घुसा होना' इस विशेषता के रहते पता चल जाता है। स्वरूप से आत्मा एक ही है पर उक्त विशेषताओं के रहते जो उसके बारे में ज्ञान होता है वह अलग-अलग है। 'घुसा होना' विशेषता रहते हुआ ज्ञान बन्धन कायम रखता है जबकि 'न घुसा होना' विशेषता रहते हुआ ज्ञान बन्धन से छुड़ा देता है। अतः अप्रविष्ट का ज्ञान ही सफल है।।१३१।।

जीवरूप से आत्मदर्शन परमात्मदर्शन नहीं हो जाता यह सोदाहरण बताते हैं **अविद्यादशा में जो लोग आत्मा को शरीर में घुसा हुआ ही समझते हैं वे वस्तुतः न घुसे हुए आत्मा को नहीं जानते जैसे किसी को 'यह व्याधा है' इस**

प्रविष्टं येऽत्र पश्यन्ति नाऽप्रविष्टम् अमी विदुः ।
व्याधत्वेन प्रपश्यन्तो न विदू राजपुत्रताम् ।।१३२ ।।
व्याधोऽयम् इत्यसावुक्तिर्योजयेत् प्राणसङ्कटे ।
राजदेवादिकोक्तिस्तु भवेद् बहुफलप्रदा ।।१३३ ।।
तद्वत् प्रविष्टदृष्टिर्या सा संसारे नियोजयेत् ।
अप्रविष्टात्मदृष्टिस्तु मोचयेत् सर्वसङ्कटात् ।।१३४ ।।

तरह अच्छी तरह जानते हुए भी यह नहीं जानते कि वह राजकुमार है ।।१३२ ।। किसी राजा के असमय मर जाने पर उसके शत्रुओं से शिशु राजकुमार को बचाने के लिये उसे जंगल में किसी व्याधे के घर छिपा दिया। वह स्वयं को एवं अन्य लोग भी उसे व्याधे का बच्चा ही समझते रहे। जान सभी उसे रहे थे लेकिन वह राजकुमार है यह उन्हें नहीं मालूम था। ऐसे ही कर्त्ता-भोक्ता आत्मा हमें पता होने पर भी वह सच्चिदानन्द अद्वय वस्तु है यह हमें नहीं पता।।१३२ ।।

दोनों ज्ञानों का प्रभाव भी विभिन्न है यह समझाते हैं **'यह व्याधा है' यह कथन प्राणों को संकट में डाल देता है जबकि 'यह राजा है, देव है' इत्यादि कथन बहुत फल प्रदान करता है।।१३३।। इसी तरह जो प्रविष्ट का दर्शन है वह संसार-चक्र में घुमाता है तथा अप्रविष्ट आत्मा का दर्शन सभी संकटों से छुड़ा देता है।।१३४।।** जब तक उस बालक को व्याधा कहा जाता है तब तक वह भी व्याधे जैसा व्यवहार करते हुए जंगलों में भटक कर जानवरों का शिकार करता है जिस कार्य में प्राण हमेशा संकट में पड़े रहते हैं। उसे समझा दें कि 'तू राजा है, नृदेव है' तो वह अपने पिता-पितामहादि का राज्य पुनः हासिल कर महान् लाभ पा लेगा। ऐसे ही आत्मा को प्रविष्ट अर्थात् उपाधिवशीभूत देखने पर वह कर्त्ता-भोक्ता सुखी-दुःखी आदि संसारधर्मों वाला, संसार चक्र में भटकता रहता है। हम स्वयं को कर्त्तादि मानते हैं तो तदनुसार कर्म करते-फल भोगते रहते हैं। जब समझ लेते हैं कि हम वस्तुतः अप्रविष्ट अर्थात् उपाधि से स्वतंत्र ही हैं, कर्तृत्वादि हमारा स्वभाव ही नहीं है, तब स्वतः ही संसार-चक्र से हम बहिर्भूत हो जाते हैं। संसरण ही सारे संकट हैं, इससे पृथक् हो जाना ही संकटों से छूटना है।।१३३-४ ।।

श्रुति ने 'तं न पश्यन्ति' अर्थात् 'उसे नहीं देखते' यह बताने के लिये ही कहा कि आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता समझना ग़लत ज्ञान है, यह कहते हुए श्लोक १२८ से शुरू हुई बात पूरी करते हैं **इसलिये अप्रविष्ट आत्मा का दर्शन किया जाये इसलिये ही**

अतोऽप्रविष्टदृष्ट्यर्थं निन्द्यते हि[1] प्रविष्टदृक्।
प्रविष्टदर्शनं यत् स्यान्न तद् दर्शनमात्मनः।।१३५।।
स्वतः परोऽपि देहादौ प्रविष्टोऽकात्स्न्र्यदोषतः।
दूषितो दर्शनं तस्य न भवेत् परदर्शनम्।।१३६।।

प्रविष्ट आत्मा के दर्शन की निंदा की जा रही है। जो प्रविष्ट का दर्शन है वह आत्मा का (सही) दर्शन नहीं है।।१३५।। 'इसलिये' अर्थात् आत्मा का अप्रविष्ट स्वरूप देखना ही सफल होने के कारण वैसा दर्शन पाने का यत्न किया जाये यह शास्त्र विधान कर रहा है। अभी जो हमारी आत्मा के बारे में समझ है वह भ्रम ही है अतः उसके लिये श्रुति ने कह दिया कि वह 'न देखना' ही है! इस तरह उस दर्शन की निंदा की ताकि हम उसे छोड़ने को उद्यत हों। शास्त्र जिसकी निंदा करता है वह हेय है ऐसा श्रोता को बोध होता है। सही ज्ञान पाने की कोशिश ही ग़लत ज्ञान को छोड़ने का प्रयास है। इस तरह समझाया कि 'उसे नहीं देखते' से श्रुति अप्रविष्ट आत्मा अर्थात् आत्मा की वास्तविक परमात्मरूपता के अज्ञान का कथन कर रही है।।१३५।।

प्रविष्ट भी आखिर है तो आत्मा ही तो उसके दर्शन को आत्मा का अदर्शन ही कह देना कैसे संगत है? इसका उत्तर देते हैं **स्वरूप से परमात्मा होता हुआ भी शरीर आदि उपाधि में प्रवेश पाकर अपूर्णतारूप दोष से सदोष हो चुका है इसलिये उस प्रविष्ट को देखना परमेश्वर देखना नहीं है।।१३६।।** जैसे कुत्ते के चमड़े की थैली में रखे गंगाजल को 'यह गंगा जल नहीं है' कहना उचित है क्योंकि उसमें रख देने पर जल में गंगाजल वाली पवित्रता नहीं रह जाती अथवा जैसे अशुद्ध दशा वाले ब्राह्मण का आशीर्वादादि फलीभूत न हो सकने से उसे 'यह ब्राह्मण नहीं, यह नमस्कार्य नहीं' कहना उचित है, वैसे ही स्वभाव से पूर्ण आत्मा भी क्योंकि प्रवेशवश अपूर्ण हो गया है इसलिये उसका दर्शन पूर्णात्मा का दर्शन नहीं है यह ठीक ही कहा है।।१३६।।

श्रुति ने स्वयं प्रविष्ट आत्मा की अपूर्णता व्यक्त की है 'अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यँश्चक्षुः, शृण्वञ्श्रोत्रं, मन्वानो मनः तानि अस्य एतानि कर्मनामानि एव' अर्थात् वह प्रविष्ट आत्मा अपूर्ण है। साँस लेते हुए वह प्राण नाम वाला होता है, बोलते हुए वाक्, देखते हुए चक्षु, सुनते हुए श्रोत्र, सोचते हुए मन नाम वाला होता है। प्राण आदि नाम एक-एक क्रिया के परिप्रेक्ष्य को ही कहने से पूर्ण के उपस्थापक नहीं।

---

१. 'हि' इत्यस्य स्थाने अत्र इति सारे पाठः।

अकृत्स्नत्वं यथाऽस्य स्याद् व्यवहारे तथोच्यते।
श्वासयोगात् प्राणिता स्याद् वक्ता वदनयोगतः।।१३७।।
द्रष्टा दर्शनयोगेन श्रोता श्रवणयोगतः।
मन्ता मननयोगेन स्प्रष्ट्रादौ योजयेत् तथा।।१३८।।
एवं चाऽहं प्राणितेति ज्ञाते वक्त्राद्यसङ्ग्रहः।
वक्ताऽहम् इत्यपि ज्ञाते प्राणित्रादेरसङ्ग्रहः।।१३९।।

चक्षु-श्रोत्र कहकर विज्ञानशक्ति का उद्भव दिखाया। क्रिया प्राण में रहती है जिस की अभिव्यक्ति के करण वाक् आदि इंद्रियाँ हैं। मन ज्ञान व क्रिया दोनों कार्यों के लिये चाहिये, उसका उपयोग करने वाला इस रूप से आत्मा को समझना भी उसका पूर्ण ज्ञान नहीं है। अतः वाक् आदि को 'कर्मनाम' कहा गया है अर्थात् ये कर्म-निमित्तक नाम हैं, वस्तुमात्र को विषय नहीं करते। इस श्रुतिभाग को श्लोक १४० तक समझाते हैं **व्यवहार में इस प्रविष्ट आत्मा की अपूर्णता जैसे व्यक्त होती है वैसे बताते हैं साँस लेने की क्रिया के सम्बंध से आत्मा 'प्राणिता' (साँस लेने वाला) होता है, बोलने की क्रिया के सम्बन्ध से वक्ता होता है,।।१३७।। देखने के सम्बन्ध से द्रष्टा, सुनने के सम्बन्ध से श्रोता, मनन करने अर्थात् सोचने के सम्बन्ध से मन्ता होता है। इसी तरह वह स्प्रष्टा (छूने वाला) आदि होता है यह समझ लेना चाहिये।।१३८।। इस प्रकार 'मैं प्राणिता हूँ' यह जानने पर वक्ता आदि का संग्रह नहीं होता, 'वक्ता हूँ' यह जानने पर भी प्राणिता आदि का संग्रह नहीं होता।।१३९।।** चार्वाक जैसे देह को आत्मा मानने वाले हुए हैं ऐसे ही इंद्रियों को आत्मा मानने वाले भी हुए हैं। वे सभी आत्मा को अकृत्स्न, अपूर्ण, परिच्छिन्न ही जानते हैं। आत्मा को द्रष्टा समझते समय वह श्रोता आदि नहीं समझा जाता, श्रोता समझते समय वह द्रष्टा आदि नहीं समझा जाता, इसलिये उसे श्रोता आदि समझना उसे परिच्छिन्न, अपूर्ण समझना ही है यह भाव है। कोई कहे कि द्रष्टा-श्रोता-प्राणिता आदि सभी एक-साथ समझ लें तो क्या पूर्ण का ज्ञान हो जायेगा? तो उत्तर है कि तब भी 'पूर्ण' का ज्ञान नहीं होगा क्योंकि पहले तो प्रत्येक शरीर में ही आत्मा असंख्य तरह से व्यक्त है एवं उन सब तरहों को एक साथ उपस्थित ही नहीं किया जा सकता, और दूसरा असंख्य शरीरों में उसकी अभिव्यक्ति तो फिर भी अज्ञात ही रह जाती है! आत्मा ने प्रवेश किया तो किसी एक देवदत्तादि शरीर में ही नहीं वरन् समस्त शरीरों में किया अतः उन समस्त शरीरों में वह जैसे-जैसे व्यक्त है वैसे उसे समझे बिना

यतिदीक्षितचोरादिभूमिकां[1] धारयेन्नटः।
तत्र दृष्टे दीक्षितेऽन्ये दृष्टा यत्यादयो न हि।।१४०।।
प्राणनादिकृतां मध्य एकैकं यः समीक्षते।
न स जानात्यकृत्स्नत्वाद् एतदीक्षितवस्तुनः।।१४१।।

उसका पूर्ण रूप ज्ञात नहीं मान सकते। इसलिये द्रष्टा वक्ता आदि आत्मा के अपूर्णरूप का ही ज्ञान है।।१३७-९।।

यों अपूर्ण को जानने की श्रुति ने ही निंदा की है 'स योऽत एकैकम् उपास्ते न स वेद, अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति'। एक परिच्छिन्न रूप को जानने से दूसरे परिच्छिन्न रूप ही नहीं जाने जाते तो वास्तविक रूप नहीं पता चलता इसमें क्या कहना! यह उदाहरण से स्पष्ट करते हैं **नट (अभिनेता) संन्यासी, याज्ञिक, चोर आदि अनेक स्वाँग (क्रमशः) धारण करता है। उनमें से याज्ञिका का स्वाँग देखने पर संन्यासी आदि अन्य स्वाँग नहीं दीखते।।१४०।। (इसी तरह) साँस लेना आदि करने वालों में एक-एक को जो देखता है वह पूर्ण को नहीं जानता क्योंकि उसको दीखी वस्तु ही अकृत्स्न, अपूर्ण, परिच्छिन्न है।।१४१।।** जब तक नट से व्यक्तिगत परिचय नहीं होता तब तक बहुधा यह पहचानना ही संभव नहीं होता कि संन्यासी और चोर एक ही है! अमेरिका में एक युवक ने अपने दादा से किसी अभिनेत्री का नाम लेकर कहा कि वह उसी से विवाह करना चाहता है। दादा हँसकर बोला 'तेरी ग़लती नहीं, मैं भी तेरी उम्र का था तो उसी से ब्याह करना चाहता था!' सजी-धजी अभिनेत्री के चित्र देखकर युवक उसकी उम्र ही नहीं पहचान पाया था। ऐसे ही संन्यासी, याज्ञिक आदि को विभिन्न लोग ही समझ लिया जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः संन्यासी आदि रूप वाले को जानना वस्तुतः उस नट को जानना नहीं हो जाता। सब स्वाँगों से रहित जो उसका देवदत्तादि रूप है उसे जानना ही वास्तव में उसे जानना है। ऐसे ही प्राण आदि रूपों का ज्ञान वस्तुतः आत्मा का ज्ञान नहीं, इन सब रूपों से स्वतंत्र जो उसका निरुपाधिक रूप है उसे जानना ही आत्मा का ज्ञान है। प्राण आदि प्रत्येक क्योंकि आत्मा का अपूर्ण ही रूप है अतः उसका ज्ञान अपूर्ण का ही ज्ञान है, पूर्ण का नहीं।।१४०-१।।

श्लोक १२७ से चले प्रसंग का उपसंहार कर आगे के सन्दर्भ का सूत्रपात करते हैं

---

१. भूमिकाः इति सारे पाठ।

इत्युक्तं व्याकृतं सर्वं जडाऽजडविभागवत्।
आरोपोऽयं तन्निवृत्त्यै विद्यासूत्रम् इहोच्यते।।१४२।।

जड-चेतन के विभाजन वाले सारे व्यक्त प्रपंच का इस प्रकार कथन किया। यह अध्यारोप हुआ। इसकी निवृत्ति के लिये इसी प्रसंग में विद्यासूत्र कहा जा रहा है।।१४२।। उपनिषत् के अनुसार पहले अव्याकृत बताया, फिर नाम-रूप की अभिव्यक्ति अर्थात् व्याकृत समझाकर शरीर में आत्मा का प्रवेश उपपन्न किया। नाम-रूप आदि उपाधियाँ जड प्रपंच है एवं चेतन प्रपंच है प्रविष्ट आत्मा। अव्यक्त और उसका व्यक्तीभावये दोनों परमार्थ चेतन पर आरोपित हैं। जो चीज़ जहाँ हो नहीं उसे वहाँ मानकर कहना अध्यारोप कहलाता है। जैसे किसी समीकरण को हल करने के लिये उसमें कोई संख्या जोड़ देते हैं; वस्तुतः उस समीकरण में वह संख्या है तो नहीं, हल करने के लिये जोड़ी गयी है। अतः हल होने पर उस संख्या को पुनः घटा देना पड़ता है तभी वास्तविक नतीजा मिलता है। इसी प्रकार सृष्टि, स्थिति, लय, प्रवेश, नियमन ये सब चेतन पर आरोपित हैं ताकि उसका अद्वैत स्वरूप अनावृत हो सके। द्वैत दीखते परमात्मा अद्वैत है यह समझ नहीं आता किंतु जब पूर्वोक्त आरोपदृष्टि से बताया जाता है कि एक ही परमात्मा ने सारे जड रूप धारण किये फिर प्रवेश कर चेतन रूप धारण किये इसलिये द्वैत के रूप में विस्तृत सारा प्रपंच परमात्मा से अतिरिक्त कुछ न होने से वह अद्वैत है, तब समझना संभव होता है। यों उसकी अद्वैत-रूपता संगत हो जाने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा की वास्तविकता इस व्यक्त-अव्यक्त प्रपंच से अस्पृष्ट है। यह अपवाद है अर्थात् अध्यारोप को हटा देना। अब तक श्रुति ने अध्यारोप का वर्णन किया, आगे अपवाद का वर्णन करेगी। निष्प्रपंच आत्मा को समझाने का तरीका यही है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि पूर्व में जो प्राण आदि प्रत्येक के ज्ञान को अज्ञान कहा वह इसलिये नहीं कि सारी उपाधियों से युक्त आत्मा का ज्ञान उचित समझा जाये! हर-एक का ज्ञान अपूर्ण है तो सबको मिलकर जानना पूर्ण ज्ञान होगा ऐसी बात नहीं। नानात्वदर्शन की तो श्रुति ने स्वयं निंदा की है। अतः सब उपाधियाँ हटाकर स्वरूपमात्र का ज्ञान पूर्ण का ज्ञान कहा जा रहा है इसलिये अपवाद का वर्णन प्रसंगानुरूप है। ब्रह्म के बोध के लिये द्वार के रूप में ही आत्मा का प्रवेश कहा गया है, वास्तव में प्रवेश हुआ यह बताने के लिये नहीं विद्यासूत्र अर्थात् उक्त प्रसंग में आया यह श्रुति वाक्य 'आत्मेत्येवोपासीत' अर्थात् 'आत्मा' की इसी प्रकार उपासना कर्तव्य है।।१४२।।

विद्यासूत्रम्

आत्मेत्येवम् उपासीतेत्येतत् सूत्रमुदाहृतम् ।
उक्त्वा पदार्थं सूत्रानुग्राहको न्याय उच्यते ।।१४३ ।।
यच्चाप्नोति यदाऽऽदत्ते यच्चाऽत्ति विषयान् इह ।
यच्चाऽस्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति कथ्यते ।।१४४ ।।

उक्त सूत्र का उदाहरण देकर व्याख्या के क्रम की प्रतिज्ञा करते हैं **'आत्मा'बस यों उपासना करो;इस वाक्य को विद्या का सूत्र कहा गया है। इसके शब्दों का अर्थ बताकर वे युक्तियाँ समझायेंगे जिनसे इस सूत्र का अभिप्राय सुसंगत समझ आये ।।१४३ ।।** श्रुति में 'एव'-कार है, यहाँ 'एवम्' कहा है। क्योंकि आगे (श्लो १५७ में) स्वयं एवकार का व्याख्यान करना ही है अतः यहाँ यत्किंचिद् अंतर से फ़र्क नहीं पड़ता। छन्दोनुरोध से ऐसा परिवर्तन किया ही जाता है। बृहदारण्यक में इस वाक्य का बड़ा महत्त्व है। आनंदगिरिस्वामी, विद्यारण्यस्वामी जैसे आचार्यों ने इसे 'विद्यासूत्र' कहा है। इस सन्दर्भ में 'उपासीत' पद पर भाष्यादि में काफी विचार है। क्या यह उपासना की विधि है? जो जैसा हो नहीं उसे वैसा मानना उपासना है जैसे शालग्राम को विष्णु मानना उपासना है। यदि आत्मा की भी उपासना विहित हो तो मतलब होगा कि सारा संसार आत्मा पर ही कल्पित हैऐसी बात है तो नहीं पर यों मानना चाहिये, बारंबार ऐसी भावना करनी चाहिये। भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि यहाँ विधि नहीं है। इससे पूर्व श्रुति है 'स योऽत एकैकम् उपास्ते, न स वेद' अर्थात् जो प्राण, वाक्, चक्षु आदि एक-एक को ही आत्मा समझता है वह आत्मा को नहीं जानता। भाष्य में 'उपास्ते' का अर्थ 'चिन्तयति' किया है। अतः 'आत्मेत्येवोपासीत' का भी अर्थ है कि प्राणादि को व्याप्त कर रहने वाले को ही आत्मा समझना उचित है क्योंकि वही आत्मा का सही ज्ञान है।।१४३।।

आत्मा - इस शब्द की लिंगपुराण (१.७०.९६) में प्रसिद्ध व्याख्या का उल्लेख कर विस्तार से उसे समझायेंगे। पहले पुराणोक्ति बताते हैं **क्योंकि विषयों को व्याप्त करता है, क्योंकि ग्रहण करता है, क्योंकि यहाँ विषयों को खाता है, क्योंकि इसकी सत्ता सदा है, इसलिये 'आत्मा' कहा जाता है।।१४४।।** कठभाष्य में (२.१.१) यह श्लोक उद्धृत है। रस्सी जैसे सर्पादि को व्याप्त करती है ऐसे अधिष्ठान आत्मा सब विषयों को व्याप्त किये है। अतः 'आप्नोति' इस व्युत्पत्ति से आत्मा कहलाता है। सुषुप्ति में सारे विषयों को ग्रहण कर लेता है, अपने में समेट लेता है इसलिये 'आदत्ते' इस व्युत्पत्ति से आत्मा है। सभी धीवृत्तियों का साक्षात्कार करना यहाँ 'खाना' कहा है,

व्याप्नोत्यनवशेषेण सर्पादीन् स्रग् इवाऽखिलान् ।
कल्पनाऽधिष्ठानतया प्रत्यङ्ङात्मा भवेत् ततः ।।१४५ ।।
सर्वाधिष्ठानसन्मात्र इत्यशेषजगत्प्रति ।
अधिष्ठानतया व्याप्तिं श्रुतिर्ब्रूते सदात्मनः ।।१४६ ।।
स्वचिदाऽऽभासमोहेन तदुत्थान् अखिलान् यतः ।
आदत्तेऽनात्मनः प्राज्ञस्तत आत्मेति तं विदुः ।।१४७ ।।

यों खाने वाला होने से 'अत्ति' व्युत्पत्ति से आत्मा है। निरन्तर सत्स्वभाव होने से 'अतति' व्युत्पत्ति से आत्मा है। बृहद्वार्तिक १.४.७३७-४६ में इस श्लोक की व्याख्या है।।१४४।।

'आप्लृ' धातु से निष्पत्ति का प्रकार दो श्लोकों से समझाते हैं **जैसे माला (स्वयं पर अध्यस्त) सर्पादि सभी को व्याप्त करती है वैसे सारी कल्पना का अधिष्ठान होने से प्रत्यग्वस्तु सारे संसार को व्याप्त करने के कारण आत्मा है।।१४५।। 'सन्मात्र सबका अधिष्ठान है' यह श्रुति बताती है कि सद्रूप आत्मा सारे जगत् का अधिष्ठान होने से सबको व्याप्त किये है।।१४६।।** अधिष्ठान अध्यस्तों को व्याप्त किये रहता है अर्थात् अध्यस्त अपने अधिष्ठान से हटकर रह ही नहीं सकता। अधिष्ठानभूत माला हट जाये तो अध्यस्त सर्पादि सब स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। प्रकृत में प्रत्यग्रूप से स्फुरित होता चेतन अधिष्ठान है, उसके बिना द्रष्टा-दृश्य कुछ भी नहीं रह सकता। बिना ज्ञान के द्रष्टा-दृश्य किसी की सिद्धि नहीं। इस तरह ज्ञानरूप प्रत्यक् क्योंकि सबको व्याप्त किये है इसलिये 'आप्नोति' व्युत्पत्ति से आत्मा कहलाता है। 'सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः' नृसिंहोत्तरतापनीय के द्वितीयखंड के अन्त में श्रुति ने कहा है। सभी नाम-रूप कर्मों का अधिष्ठान वही है जिसका स्वरूप सत् है। सत् अर्थात् है। पहले कुछ है, तभी वह घड़ा-सिकोरा आदि कहलायेगा, दीखेगा, प्रयोग में आयेगा। पहले ही यदि 'नहीं है' तो घड़ा आदि कहोगे किसे, देखोगे किसे, प्रयोग में कौन आयेगा? क्योंकि 'है' ही सब नाम-रूपों वाला उपलब्ध हो रहा है इसलिये जो कुछ हमें उपलब्ध है उसके ज़र्रे-ज़र्रे में 'है' मौजूद है। अतः सन्मात्र सर्वका अधिष्ठान है। इसीलिये वह सर्वत्र व्याप्त है। ऐसा उसे समझना ही ठीक समझ है।।१४५-६।।

'आ-दा' (आङ्पूर्वक डुदाञ्) धातु से निष्पत्ति का प्रकार भी दो श्लोकों से व्यक्त करते हैं **क्योंकि प्राज्ञ अपने स्वरूपभूत चैतन्य के आभास से युक्त अज्ञान द्वारा उन सब अनात्माओं को ग्रहण कर लेता है जो उसी अज्ञान से उत्पन्न हैं अतः उसे आत्मा-शब्द से समझते हैं।।१४७।। अथर्ववेद में यह वचन भी है कि पृथ्वी**

पर आत्मनि सर्वेऽपि सम्प्रतिष्ठन्त एकले।
पृथिव्याद्या अनात्मान इति चाऽऽथर्वणे वचः।।१४८।।
आत्माऽऽभासाः पराचीना धीवृत्तीर्विषयोन्मुखाः।
प्रत्यङ्ङत्ति यतोऽतोऽसावात्मेत्युक्तो मनीषिभिः।।१४९।।

आदि सभी अनात्मा अकेले परमात्मा में भलीभाँति प्रतिष्ठित होते हैं (प्रश्नो. ४.७)।।१४८।। सब नाम-रूप का 'आदान', ग्रहण होता है सुषुप्ति में। वहाँ अज्ञान और उसमें चिदाभास ये दो ही रह जाते हैं, बाकी सारा संसार उस साभास अज्ञान में ही विलीन हुआ रहता है। चेतन के आभास से युक्त अज्ञान इसीलिये अव्यक्त भी कहा जाता है। उसी में से फिर संसार बाहर आकर जाग्रत्-स्वप्न के रूप में फैल जाता है। रोज़ प्राज्ञदशा में हमें यह अनुभव होता है, प्रलय में यह ईश्वर का अनुभव है। सुषुप्ति में हमारे स्थूल-सूक्ष्म शरीर केवल साभास-अज्ञान के रूप में रह जाते हैं एवं प्रलय में समष्टि स्थूल-सूक्ष्म साभास-अज्ञान के रूप में रह जाते हैं। यों सबको ग्रहण करने से सच्चिदानन्द 'आत्मा' कहा जाता है। यह बात अथर्ववेद की प्रश्न उपनिषत् में 'स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते' द्वारा कही गयी है। पक्षी रहने के लिये (रात बिताने के लिये) जैसे वृक्ष पर स्थित होते हैं वैसे सब महाभूत और उनके कार्य अक्षररूप परमात्मा में स्थित होते हैं। वहाँ सुषुप्ति के प्रसंग में यह कहा है। जब हम गहरी नींद में जाते हैं तब सब कुछ आत्मा में ही लीन हो जाता है। जैसे ही जगते हैं वैसे ही सब उसी से प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार प्रलय में सब लीन रहकर सृष्टिकाल में पुनः प्रकट हो जाता है। सृष्टि होते ही ऐसा नहीं कि नरक-स्वर्ग खाली रहें, जब कोई पाप-पुण्य करे तब वहाँ पहुँचे। वरन् सृष्टि होने पर जिनके पुण्य हैं वे स्वर्ग में ही प्रकट होते हैं, जिनके पाप हैं वे नरक में ही प्रकट होते हैं। जो जहाँ के योग्य है वह वहीं उत्पन्न होगा, अपने योग्य वासियों सहित लोक प्रकट होते हैं। इस तरह इस प्रश्न-वाक्य से आदान करने वाले के रूप में आत्मा का वर्णन प्रसिद्ध है।।१४७-८।।

'अद भक्षणे' धातु से बने आत्मशब्द का अर्थ बताते हैं **क्योंकि विषयों की ओर जाती बहिर्मुख बुद्धिवृत्तियों को जो कि वृत्तियाँ चेतन के आभास से युक्त रहती हैं प्रत्यग्रूप आत्मा खा लेता है इसलिये मनीषी उसे आत्मा कहते हैं।।१४९।। आगमशास्त्र (माण्डूक्य कारिका १.४) का ऐसा निर्देश भी है कि विश्व-नामक आत्मा हमेशा स्थूल को खाता है, तैजस नामक आत्मा प्रविविक्त**

'विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक् तथा प्राज्ञ' इति चागमशासनम् । ।१५० । ।
अव्यावृत्ताऽननुगतः पूर्णः स्वात्मन्यवस्थितः ।
यतोऽस्य सन्ततो भावस्तस्माद् आत्मेति शब्द्यते । ।१५१ । ।
'तद्विष्णो'रिति मन्त्रोऽपि तद्विष्णोः परमं पदम् ।
चक्षुर्वद् आततं व्योम्नि व्याचष्टे प्रत्यगात्मनि । ।१५२ । ।

अर्थात् सूक्ष्म को खाता है और प्राज्ञ नामक आत्मा आनन्द को खाता है । ।१५० । । यहाँ खाना अर्थात् साक्षात्कार करना। बुद्धिवृत्तियाँ स्वभाव से बहिर्मुख अर्थात् अनात्मग्रहण के लिये उतावली रहती हैं। अनादि संस्कारवश सभी की बुद्धि ऐसी होती है कि उसकी वृत्ति अनात्माकार बन जाती है। भगवद्विग्रह के भी दर्शनार्थ जाने पर दृष्टि शृंगार, साज-सज्जा पर ही पड़ती है, विग्रह का अवलोकन गौण हो जाता है। स्वयं जड होने पर भी सत्त्वकार्य होने से बुद्धि चैतन्य का आभास ग्रहण कर 'ज्ञान' कहलाती है। उस बुद्धिवृत्ति को खाने वाला आत्मा है अर्थात् वृत्ति का साक्षात् दर्शन आत्मा ही करता है। आत्मा का वृत्ति में जब प्रतिफलन होगा तब वृत्ति को आत्मा के सामने रहना ही पड़ेगा जिससे उसका आत्मा को साक्षात् ग्रहण हो जायेगा। इसे ही कहते हैं कि आत्मा भोग करता है। अतएव गौडपादाचार्य ने जाग्रत् के अभिमानी आत्मा को 'स्थूलभुक्', स्थूल विषयों का भोग करने वाला कहा है। जाग्रत् अवस्था में प्रधानतः भोग स्थूल अर्थात् पंचीकृत महाभूतों के कार्यों का होता है। यद्यपि विचारकों ने माना है कि 'आशामोदक' (मन के लड्डू) से भी तृप्ति आदि वैसी ही होती है जैसी स्थूल लड्डू से, तथापि वह द्विविध सत्ता स्वीकारने पर ही समझना सरल होता है। स्वप्न में प्रविविक्त अर्थात् स्थूल से पृथक् सूक्ष्म, संस्कारजन्य, कल्पनारूप, भ्रमात्मक भोग है। सुषुप्ति में विषय और उनकी कल्पना दोनों का नहीं, केवल आनन्द का ही भोग है। वहाँ आनंद है पर किसी चीज़ का नहीं। किंतु तीनों अवस्थाओं में खाने वाला, उपभोग करने वाला प्रत्यग्रूप ही है अतः उसे आत्मा कहा जाता है। ।१४९-५० । ।

'अत सातत्यगमने' से निष्पन्न आत्मशब्द समझाते हैं **व्यावृत्त और अनुवृत्त न होने से, पूर्ण एवं अपने ही स्वरूप में स्थित होने से तथा सर्वत्र विद्यमान होने से इसे 'आत्मा' इस शब्द से कहते हैं। ।१५१ । । 'तद् विष्णोः' आदि मंत्र भी कहता है कि वह विष्णु का परम पद है। जैसे आँख सारे आकाश में व्याप्त हो जाती है वैसे वह विष्णु अपने आत्मा में व्याप्त है। ।१५२ । ।** आत्मा पूर्ण है अर्थात्

उससे अलग कुछ भी है नहीं। वह व्यावृत्त अर्थात् किसी से अलग नहीं अतः कोई दूसरा नहीं जिसमें वह अनुवृत्त, अनुगत हो। इसी को गीता में कहा कि 'सब भूत मुझ में हैं पर मैं किसी में नहीं'। ऐसे को ही पूर्ण माना जाता है। वह पूर्ण परमात्मा अपने स्वरूप में ही स्थित है। क्योंकि वह किसी अन्य में स्थित नहीं इसी से कहते हैं कि अपने ही स्वरूप में स्थित है। छांदोग्य में नारद ने पूछा कि परमात्मा कहाँ प्रतिष्ठित है? सनत्कुमार ने जवाब दिया कि वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं। सब-कुछ उसमें है, वह किसी में नहीं। लौकिक दृष्टि से सारे ग्रह-नक्षत्र आकाश में पर वह आकाश किसमें कहा जाये! वह किसी में स्थित नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही आत्मतत्त्व किसी में स्थित नहीं है। फिर भी यदि जिज्ञासा रहे ही कि उसे कहीं तो स्थित होना चाहिये, तो सनत्कुमार ने कहा कि ऐसा समझ लो कि वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। बात में अंतर नहीं, अर्थ एक ही है, कहने के ढंग का फ़र्क़ है। 'अपनी महिमा में' सुनकर लगता है मानो उसकी प्रतिष्ठा का पता चल गया। वास्तव में तो वह प्रतिष्ठा भी कहाँ स्थित कही जा सकती है! अतः तात्पर्य में नहीं, कहने के तरीके में ही भेद है। इसलिये यहाँ 'स्वात्मा में अवस्थित' कहा। यह उसका हमेशा एक-सा रहने वाला भाव, स्वरूप है। जाग्रत् में वह स्थूल विषय-भोग करता लगता है, स्वप्न में सूक्ष्म का भोग करता लगता है, सुषुप्ति में आनंद का भोग करता लगता है पर इन सब रूपों में प्रतीत होते हुए भी वह आत्मवस्तु निर्विकार रहती है। अधिष्ठान तत्त्व अपरिवर्तित रहते हुए ही उसमें सारे परिवर्तन प्रतीत होते ही हैं। अतः आत्मा सतत, लगातार एकरूप है। उसका भाव, सद्भाव कूटस्थ है, सनातन है जिससे आत्म-शब्द का वह अर्थ है। अधिष्ठान नित्य सत् है, बाकी सारे भाव, रूप अध्यस्त हैं। आत्मा के आभास तो विश्वादि तीन हैं, वह स्वयं तुरीय है। इस बारे में प्रमाणरूप से ऋचा का उद्धरण दिया। मन्त्र है 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।।' नृसिंहपूर्वतापनीय की समाप्ति में भी यह मंत्र है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के सूक्त २२ में यह बीसवाँ मंत्र है। विष्णु के कार्य-कारण रूप तो व्यक्त और अव्यक्त हैं। चिदाभास भी क्योंकि इन्हीं उपाधियों वाला है अतः वह भी विष्णु के अपर रूपों में आ गया। ये उसके सीमित रूप हैं। कार्य-कारणभाव से अस्पृष्ट उसका स्वरूप ही परमपद है। इसे सूरि अर्थात् विद्वान् सदा देखते हैं, जानते हैं। जैसे आँख से आकाश स्पष्ट 'दीखता' है वैसे वे विष्णु के अपरिच्छिन्न स्वरूप को 'देखते' हैं। आकाश की तरह वह सदा सर्वत्र फैला है, यही उसका सततभाव है।।१५१-२।।

चतुर्विधनिरुक्त्याऽत्र चत्वारोऽर्थाः प्रकीर्तिताः।
अधिष्ठानं कारणत्वं जीवभावो विमुक्तता।।१५३।।
यन्मुक्तरूपं साक्षित्वाद् व्याकृतेऽव्याकृतेऽपि तत्।
अतिरोहितम् अत्रात्मशब्देनैतद्धि सूत्रितम्।।१५४।।
आत्मशब्दधियोरात्मा विषयो नेति भाषितुम्।
सूत्रेऽस्मिन्निति शब्दोऽयं यथैतत् स्यात् तथोच्यते।।१५५।।
यत्रेतिपरशब्दः स्यात् तत्रोपचरितं वचः।
ज्येष्ठं पितेति पश्यन्तीत्यादावेवम् अवेक्षणात्।।१५६।।

पूर्वोक्त चारों अर्थों का संग्रह करते हैं **आत्मशब्द के चार प्रकार के निर्वचन से ये चार अर्थ प्रकट किये गये - १) आत्मा अधिष्ठान है, २) उसमें कारणता, ३) जीवरूपता और ४) विमुक्तरूपता है।।१५३।।** 'आत्मेत्येवोपासीत' इस विद्यासूत्र में आये आत्मशब्द का अभिप्राय चार तरह समझना चाहिये। 'आत्मा' सुनने पर ये चार भाव प्रकट होते हैं। जीवभाव अर्थात् विषयोपभोग। विमुक्तरूपता वास्तविक है, बाकी अवास्तविक हैं।।१५३।।

विद्यासूत्र में आये आत्मशब्द से कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है यह बताते हैं **आत्मा का जो मुक्तस्वरूप है वह साक्षिरूप होने से व्यक्त-अव्यक्त दोनों दशाओं में प्रकट रहता है और वही 'आत्म'-शब्द से विद्यासूत्र में कहा गया है।।१५४।।** संसार व्यक्त हो या अव्यक्त, उसकी सिद्धि जिससे होती है वह साक्षिरूप आत्मा सदा अ-तिरोहित अर्थात् प्रकट रहता है। कमरे में लोग हों या कमरा खाली हो, दीपक तो प्रकाशरूप से बना ही रहता है, लोग नहीं तो दीपक भी बुझ जाये ऐसा नहीं। ऐसे ही साक्षी सदा भासमान बना रहता है। बन्ध-मोक्ष दोनों से वस्तुतः असम्बद्ध साक्षिरूप आत्मा सदा मुक्त ही है। बन्ध-मोक्ष का सम्बन्ध चिदाभास से ही है, चित् से नहीं। चिदाभास के निमित्त से इनका आत्मा पर आरोप है। स्वयं वह चिन्मात्र है।।१५४।।

विद्यासूत्र में 'आत्मा इति एव' यों 'इति' शब्द का उद्देश्य व्यक्त करते हैं **इस सूत्र में यह 'इति'-शब्द यह सूचित करने के लिये है कि आत्मा न आत्मा-शब्द का और न आत्मा-ज्ञान का विषय है। जैसे यह बात है वैसा (अगले श्लोक से) समझाते हैं।।१५५।। जहाँ किसी शब्द के आगे 'इति' ('ऐसा') लगा हो वहाँ वचन गौण होता है क्योंकि 'बड़े भाई को 'पिता'-ऐसा समझते हैं' इत्यादि कथन में इसी तरह का अभिप्राय समझा जाता है।।१५६।।** भाष्य में इति शब्द

व्याकृताऽव्याकृते ये द्वे कल्पिते तेऽविचारतः[१]।
एते वारयितुं सूत्र एवकारम् असूत्रयत्।।१५७।।

के प्रयोग का ऐसा ही भाव कहा है 'यस्तु आत्मशब्दस्य इतिपरः प्रयोगः, आत्मशब्द-प्रत्यययोः आत्म-तत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्' (पृ ८३ म.अ.सं.)। अतएव, वार्तिककार ने कहा है 'अभिधा-ज्ञानगम्यत्वनिषेधायेति-शब्दनम्' (१.४.७१८)। इसलिये 'आत्मेति' कहकर श्रुति बता रही है कि वस्तुतः उसे आत्मा कहना-समझना भी बनता नहीं। इसी में दृष्टांत दिया कि यदि कहें 'देवदत्त अपने बड़े भाई को पिता-ऐसा मानता है' तो स्पष्ट है कि बड़ा भाई वास्तव में देवदत्त का पिता नहीं है अर्थात् उसमें पितापने का उपचार ही है।

इति-शब्द का यहाँ महत्त्व है क्योंकि इसे ठीक न समझने से इस वाक्य को उपासना-विधि के रूप में ग्रहण करना सहज है। इति-से भाव है कि आत्मा ऐसा यद्यपि कहते-समझते हैं फिर भी वह यों कहने-समझने का विषय नहीं बनता। आत्मवस्तु शब्द और बुद्धि से अगम्य है। आत्मा-शब्द व ज्ञान अनात्मा की व्यावृत्ति कर देते हैं, इसी से उनका उपयोग है। इसमें ऐसा उदाहरण समझना चाहिये : वनवास के दौरान एक बार सीता जी से ऋषिपत्नियों ने पूछा 'इन दोनों आदमियों में से तुम्हारा पति कौन-सा है?' सीता जी ने जवाब दिया 'गोरा वाला मेरा देवर है।' ऋषिपत्नियाँ समझ गयीं कि सीता जी के पति राम कौन से हैं। 'गोरा वाला मेरा देवर है' इस वचन का और इससे जन्य ज्ञान का विषय तो राम नहीं बने लेकिन इसी वचन से उन्हें समझा जा सका। अथवा दो व्यक्ति हों और कहा जाये 'बड़े वाले को पिता ऐसा समझते हैं' तो छोटा वाला उसका पुत्र है यह स्वतः समझ लिया जाता है। इसी प्रकार मैं - अनुभूति में चेतन और वृत्ति दोनों हैं, उनमें वृत्ति को पृथक् करने के लिये अहम्-शब्द का प्रयोग कर देने से चेतनमात्र स्पष्ट हो जाता है। इस तरह, 'आत्मा इति' सुनने से स्पष्ट हुआ कि आत्मा-शब्द-वृत्ति के विषय को छोड़कर जो वास्तव में आत्मा है उसकी उपासना कही जा रही है।।१५५-६।।

'आत्मा' और 'इति' के बाद पद है 'एव', उसका अर्थ बताते हैं **अविचार से कल्पित जो व्यक्त-अव्यक्त दोनों हैं, इनका कारण कहने के लिये विद्यासूत्र में एव-शब्द का प्रयोग है।।१५७।।** अविचार अर्थात् अज्ञान से परमात्मा में व्यक्त और अव्यक्त की कल्पना है, इन दोनों का आरोप है। व्यक्त अर्थात् कार्य, अव्यक्त अर्थात्

---

१. व्याकृताव्याकृते इत्थं कल्पिते हि विचारतः। इति सारे दृश्यते।

उपेति सामीप्यवाची तन्निष्ठा प्रत्यगात्मनि।
कार्यकारणरूपाभ्यां प्रत्यङ् नेदीय ईक्ष्यते[1]।।१५८।।

कारण। 'एव', 'ही' शब्द से बताया कि कार्य-कारण दोनों भावों से रहित केवल आत्मा का अवबोध प्राप्तव्य है। व्यक्त-अव्यक्त दोनों जिसमें कल्पित हैं वह ब्रह्म है। न वह वस्तुतः कारण है, न कार्य ही है। लौकिक दृष्टि से जो स्वर्ण-तत्त्व है उसमें सारे गहनों के आकार एवं पासा, बिस्किट आदि आकार एक-समान कल्पित हैं जबकि साधारण व्यक्ति को पासा आदि कारण लगता है, चूड़ी हार आदि कार्य लगते हैं। विचार करें तो स्पष्ट होगा कि स्वर्णनामक रसायन में दोनों ही कल्पित हैं। इसी तरह ब्रह्मतत्त्व में, आत्मवस्तु में, कारणता भी कल्पित है और सारे कार्य भी कल्पित हैं, न वह यह सारा व्यक्त जगत् है, और न वह इसका कारण ही है! है वह अद्वितीय कूटस्थ, हमें संसार उपलब्ध है अतः इसके कारणरूप में हम उस ब्रह्म को स्वीकार लेते हैं। अद्वितीयता न जानने के कारण ही आत्मा में कारणता की, अव्यक्तता की और प्रपंच में कार्यता की कल्पना है। यहाँ जिसकी उपासना करने को, जिसे समझने को कहा जा रहा है वह शुद्ध आत्मा है, न कारणरूप से कल्पित और न कार्यरूप से कल्पित। इन दोनों कल्पित, औपाधिक रूपों की व्यावृत्ति के लिये एव-कार का, 'ही'-शब्द का प्रयोग है।।१५७।।

'आत्मेत्येव' के बाद श्रुति में कहा 'उपासीत'। इसमें दो हिस्से हैं 'उप' और 'आसीत'। इनमें 'उप' का भाव बताते हैं **'उप'-शब्द समीपता का कथन करता है। समीपता की समाप्ति प्रत्यग्भूत आत्मा में है। कार्य और कारण की अपेक्षा प्रत्यक्स्वरूप अधिक निकट स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है।।१५८।।** 'उप'-शब्द समीपता के लिये हिंदी में भी प्रचलित है जैसे राष्ट्रपति के बिलकुल समीप का अधिकारी उपराष्ट्रपति कहलाता है। भक्ति की दृष्टि से उपासना मायने इष्ट को बिलकुल नज़दीक देखना। मन हमारे सबसे नज़दीक है, मन में बार-बार कृष्ण के आकार की वृत्ति बनाते हैं तो उपासना हो जाती है। किन्तु यों वृत्ति बनाकर देखने पर भी देखने वाला और दीखने वाला ये तो विभिन्न रह ही जाते हैं। समीपता तो होती है पर थोड़ी-सी दूरी भी रह जाती है; हमारे और इष्ट के बीच और तो कुछ नहीं, पर हम दोनों अलग रहते ही हैं। किंतु यहाँ जब उप-आसीत कहा तब ऐसी किसी सीमा को बाँधने की ज़रूरत नहीं क्योंकि परमेश्वर ही हमारे भी भीतर है। इस तरह समीपता की पूर्णता 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध में

---

१. प्रत्यङ् हृदि य ईक्ष्यते इति निर्णयसागरपाठः।

एतस्य ब्रह्मसामीप्यं तत्त्वमस्याऽदिनोच्यते।
आसीतेति तु शब्देन कूटस्थत्वम् असूत्रयत्।।१५६।।
व्युत्थाय कारणात् कार्यात् तत्तत्त्वज्ञानवर्त्मना।
उपेत्य कूटस्थम् अजम् आसीताऽपरिणामवान्।।१६०।।

हो जाती है। अद्वितीयता में ही असली समीपता है। अतः कहा कि सामीप्य की अंतिम स्थिति प्रत्यगात्मा में है। शरीर-मन आदि कार्य भी कुछ समीप तो हैं, अज्ञानरूप कारण उससे कुछ और समीप है, परंतु जिसके ये सब समीप हैं वह प्रत्यगात्मा तो मैं ही हूँ, उससे ज़्यादा तो मेरे समीप कुछ हो ही नहीं सकता! यह तत्त्व हृदय में स्पष्ट अपरोक्ष होने से 'हृदि ईक्ष्यते' भी इस श्लोक में कहीं पाठ है। 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह अपना कार्य-तादात्म्य वाला रूप है। 'मैं अज्ञानी हूँ' यह कारणतादात्म्य वाला रूप है। इन दोनों को छोड़ सिर्फ़ 'मैं' प्रत्यगात्मा है। यह सबसे निकट है।।१५८।।

उक्त प्रकार की ही समीपता वास्तविक है यह प्रमाण से सिद्ध करते हैं **'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से बताया जाता है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्म से ऐसी समीपता है।** 'आत्मा इति एव उप' के बाद आये 'आसीत' शब्द का अर्थ बताते हैं **'आसीत' (बैठे) - इस शब्द से तो कूटस्थता को सूत्ररूप में कहा है।।१५९।।** कूटस्थ अर्थात् अविकृत। विकार अर्थात् कार्यभाव की प्राप्ति, वह कल्पनामात्र है, मिथ्या है। वास्तविकता इसीलिये कूटस्थ है। कार्य-कारणभाव से निर्मुक्त कूटस्थता को यहाँ 'आसीत' कह दिया। लोक में 'आसीत' मायने बैठना किंतु निर्विशेष आत्मप्रसंग में स्थूल बैठना तो संभव नहीं अतः जैसे बैठने में हम कोई क्रिया नहीं करते, विकृत नहीं होते वैसे प्रत्यक्तत्त्व निर्विकार है, यह यहाँ अभिप्राय है। यथावस्तु ज्ञापन यहाँ समझना चाहिये, ऐसा नहीं कि कुछ करने को कहा जा रहा हो।।१५९।।

'उप-आसीत' को जोड़ने पर व्यक्त अर्थ कहते हैं **कार्य और कारण से हटकर आत्मा की वास्तविकता के ज्ञानरूप उपाय से अजात कूटस्थ को प्राप्त कर परिवर्तनरहित हुआ स्थित होवे।।१६०।।** तत्त्व के सही ज्ञान के बल पर कार्य अर्थात् जगत् और इसके कारण अर्थात् अज्ञान से हटा जा सकता है। तत् अर्थात् कारण उपाधि वाला ईश्वर और त्वम् अर्थात् कार्य-उपाधि वाला जीव, इन दोनों में समान रूप से स्थित ज्ञान ही तत्त्व है जिसकी प्रमा मोक्षप्रद है। वही कूटस्थ है अर्थात् सारे परिवर्तनों के अधिष्ठानरूप से हमेशा मौजूद है। 'अधिष्ठान' इसलिये कि परिवर्तन भी वास्तव में है नहीं। ऐसा नहीं कि किसी सच्चे परिवर्तन के होते आत्मवस्तु अपरिवर्तन वाली रहती

इत्यात्मसूत्रे शब्दार्थो वाक्यार्थश्चोपवर्णितः।
तदनुग्राहको न्याय आशंकापूर्वम् उच्यते।।१६१।।
व्याकृताऽव्याकृताभ्यां तद् वस्तुतत्त्वं तिरोहितम्।
इति यच्छङ्कितं तन्न स्वरूपस्याऽतिरोहितेः।।१६२।।

हो वरन् वह तो स्वरूप से ही अपरिवर्तनशील है, फिर भी हमें प्रतीत होते परिवर्तनों की अपेक्षा से उसे अधिष्ठानरूप से कूटस्थ कहा जाता है। इसी सनातन कूटस्थता को 'उपासीत' से बताया।।१६०।।

उक्त विषय का युक्तियों से समर्थन प्रारम्भ करते हैं **'आत्मसूत्र' में आये शब्दों के अर्थ तथा सारे वाक्य का अर्थ इस तरह समझाकर बता दिया। इस बात को युक्तियुक्त समझाने वाले तर्क अब शंका-समाधान करते हुए बताये जाते हैं।।१६१।।** शब्दों को अलग-अलगकर बताना, शब्दों का अर्थ बताना, शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बताना, समूचे वाक्य का अभिप्राय बताना, अभिप्राय के बारे में उठे आक्षेप और उनका समाधान बताना ये सभी काम 'व्याख्यान' के हैं। आत्मसूत्र (विद्यासूत्र) के व्याख्यान में प्रवृत्त आचार्य ने बाकी सब बता दिये, अब आखिरी बात बची आक्षेप-समाधान, उसका वर्णन आगे करेंगे।।१६१।।

आत्मसूत्र का उपन्यास होने पर शंका होती है कि जाग्रदादि में उस आत्मा का स्फुरण होता नहीं जिसका शास्त्र प्रतिपादन करता है तो उस वस्तु की सिद्धि कैसे? वार्तिकसार में इसे कहा 'व्याकृते हेतुकार्याभ्याम्, अव्यक्ते कारणेन तत्। तिरोहितं वस्तुतत्त्वं, कथं तत्त्वं विबुध्यताम्?।।' (१.४.५७३)।। स्वयं वार्तिककारने यों कहा है 'अव्याकृतेऽनभिव्यक्तेर्न चेत् तत् तत्त्वम् ईक्ष्यते। व्यक्तौ च हेतुकार्याभ्यां, कथं तर्हीक्ष्यतां परम्?।।' १.४.७११।। इसी शंका को उपस्थित कर समाधान करते हैं **यह जो शंका की जाती है कि व्यक्त और अव्यक्त के द्वारा वह सच्चा तत्त्व छिपा है, वह शंका ठीक नहीं क्योंकि आत्मस्वरूप छिपा है ही नहीं।।१६२।। आत्मा की अपनी वास्तविकता किसी के द्वारा भी छिपायी नहीं जा सकती।।१/२।।** शंका तो स्पष्ट है कि हमें या व्यक्त जगत् मिलता है या सुषुप्ति में अव्यक्त जगत् मिलता है, जैसा आत्मा उपनिषत् ने बताया वैसा तो कभी मिलता नहीं अतः आत्मा सचमुच वैसा है यह कैसे माना जाये? इसीलिये योगी कहते हैं कि समाधि में दुनिया न दीखने पर ही आत्मा का सही रूप पता चलेगा। किंतु वेदसिद्धांत है कि आत्मा के सच्चे रूप को न व्यक्त जगत् ढाँक सकता है, न अव्यक्त जगत् ढाँक सकता है। जो जिसका स्वकीय रूप होता है वह कभी ढँकता नहीं

स्वस्वरूपं तिरोधातुं न हि केनाऽपि शक्यते।
विस्फार्यन्ताम् इहाऽक्षाणि किमक्षैरपराध्यते।।१६३।।
आपादयेयुः शब्दादीन् यद्यक्षाणि तथापि ते।
का हानिस्तस्य शब्दादेरेव तत्त्वं विबुद्ध्यताम्।।१६४।।

है। गहनों से सोना ढँक नहीं जाता क्योंकि गहनों का वास्तविक रूप है ही सोना। सोने का स्वरूप ढँकने पर गहना दीखेऐसा नहीं है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द आत्मा व्यक्त या अव्यक्त से ढँकता नहीं। फिर भी हमें नहीं दीखता क्योंकि हमने उसे देखना सीखा नहीं। जिसने सोना देखना सीखा नहीं वह गहने खरीदते समय धोखा खा जाता है क्योंकि गहना ही देखता है, गहना जिससे बना है वह सोना कैसा हैयह नहीं देखता। ऐसा नहीं कि वह सोना कोई अदृश्य हो! लेकिन देखने वाला अशिक्षित है इसलिये उसे दीखता नहीं। इसी तरह हम पूछते हैं 'हमें तो व्यक्त या अव्यक्त दीखता है, परमात्मा है कहाँ?' और जानकार आश्चर्य से जवाब देता है 'परमात्मा कहाँ नहीं है!' सुनार से पूछें 'हमें गहना दीख रहा है, सोना कहाँ है?' तो जैसे उसे आश्चर्य होगा, वैसे तत्त्ववेत्ता को होता है। कारण हो या नाम-रूपात्मक कार्य, वह आत्मस्वरूप को छिपाये यह सम्भव नहीं।

वार्तिकसार में (१.४. ५७६) प्रश्न उठाया है कि मुक्तस्वरूप तुरीय आत्मा को कब जाना जाये? जाग्रत् में तो 'विस्फारिताक्षो जानाति शब्दाद्येव न तत् परम्। आपीत करणैरेभिः शब्दाद्यपि न वेत्ति हि।।' आँखें फाड़ने पर भी विषय ही दीखते हैं, वह परतत्त्व तो दीखता नहीं और सारी इन्द्रियाँ विलीन कर देने पर (सुषुप्ति और समाधि में) शब्दादि भी नहीं दीखते! आत्मा तो हर हालत में पता नहीं चलता। इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **इन्द्रियों का पूरी तरह उपयोग कीजिये, इन्द्रियों का क्या कसूर है?।।१६३।। यदि इन्द्रियाँ शब्दादिका ही ग्रहण करती हैं तो भी आपका क्या नुकसान है! उस शब्दादि की जो वास्तविकता है उसे समझिये।।१६४।।** वेदान्त-उपदिष्ट आत्मा समझने के लिये इंद्रियों को अपना व्यापार रोकना पड़े यह ज़रूरी नहीं। यद्यपि इन्द्रिय-नियन्त्रण चाहिये तथापि उनका व्यवहार सर्वथा रोका जाये अर्थात् योग मार्ग का आश्रयण किया जाये यह ज़रूरी नहीं। गीतागूढार्थदीपिका में भगवत्पाद के अनुयायियों के लिये पातंजल-प्रक्रिया अनावश्यक है यह स्पष्ट किया है। अतः यहाँ कहा कि इन्द्रियाँ शब्दादि ग्रहण करें तो करती रहें, उससे तत्त्व समझने में रुकावट नहीं। इसी से किसी हिंदी के कवि ने कहा है 'आँख न मूँदूँ, कान न रूँदूँ, हँस-हँस रूप निहारूँ'। कौड़ी जितनी

आँख बँद करें तो आत्मबोध और खोलें तो बोध चला जायेऐसा कमज़ोर औपनिषद आत्मा नहीं है!

इन्द्रियों को कार्य करने दें तो विषयज्ञान ही होता है, आत्मा का तो ज्ञान होता नहीं, यही क्या बड़ा नुकसान नहीं? आखिर निर्गुण परब्रह्म जो शब्दादि विषयों के रूप में अवभासित हो रहा है वह इंद्रियों के ही कारण, अतः इन्हें उपयोग में लेने से लाभ नहीं हानि ही है। पुराणकारने कहा ही है

'ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा।।'

इसपर आचार्य ने उत्तर दिया कि ग़लती इंद्रियों की नहीं आपकी है जो विचार नहीं करते, इंद्रियों द्वारा प्राप्त पूरे ज्ञान का परीक्षण नहीं करते। कान से सिर्फ शब्द नहीं, 'शब्द है' इतना पता चलता है। आप शब्द में ही रुक जाते हैं, है का विचार नहीं करते जो वास्तव में सद्रूप परमेश्वर है। वही शब्द की भी वास्तविकता है। पहले है, तब शब्दादि सब हैं; यदि है न हो तो शब्दादि कुछ न हो सकें। ऐसे ही शब्द का भान भी है। यों चिद्रूप परमात्मा भी प्रकट होता है। इसी तरह शब्द अच्छा लगता है तो आनंदरूप परमात्मा स्फुट होता है। अतः इंद्रियाँ शब्दादि ग्रहण करती हैं तो हमें आत्मचिंतन का ही मौका देती हैं, कोई नुकसान नहीं करतीं। बल्कि इंद्रियों से कोई ज्ञान न हों तो भगवच्चिंतन कठिन हो जाये! ये तो विषयों के ज्ञान होते रहते हैं तभी उनमें अनुस्यूत सच्चिदानंद का भान होता रह सकता है। जैसे बिना हाथ में माला लिये जप करो तो मन जल्दी भटक जाता है और पता भी नहीं चलता जबकि माला फेरो तो जाता भी कम है और जाने पर माला रुक जाती है तो पता भी लग जाता है कि मन भटक गया, ऐसे ही विषयग्रहण होता रहे तो सच्चिदानंद समझने का मौका मिलता रहता है, बिना विषयज्ञान के केवल सच्चिदानंद का भान कायम रखना कठिन है। माला का मनका चलने पर मंत्र दुहराने की स्मृति जैसे कायम रहती है वैसे विषयबोध होने पर उसकी सच्चिदानंदरूपता का अनुसंधान करना सहज हो जाता है। इस प्रकार, इंद्रियाँ जो शब्दादिका ज्ञान कराती हैं वह वास्तविकता के बोध के लिये अनुकूल ही है, विरोधी नहीं। ग़लती यह होती है कि उनसे उत्पन्न ज्ञान के बारे में जो विचार करना चाहिये वह नहीं किया जाता। कहा भी है कि विषय-इंद्रियसम्बंध विवेकी-अविवेकी का एक-सा होता है पर विवेकी सावधान रहता है तो उसी सम्बंध से सत्य का अनुसंधान करता रह पाता है, अविवेकी असावधान रहकर नाम-रूप में ही उलझकर दुःख पाता है।।१६४।।

तैः शब्दादितया भाति तत्त्वरूपतया न तु।
इति चेद् अत एवैतद् वेदवाक्येन बुद्ध्यताम्।।१६५।।
न परोक्षत्वमाशङ्क्यं स्वस्वरूपत्वहेतुतः।
शब्दादितत्त्वं यद् बोद्धुः स्वरूपं तन्न चेतरत्।।१६६।।

इन्द्रियों का अपराध नहीं यह सिद्ध किया लेकिन उनसे उत्पादित अनुभव का विचार कैसे किया जाये यह पता न होने तक उक्त लाभ नहीं उठाया जा सकता अतः विचार-शिक्षा का उपाय बताते हैं **यदि कहो कि इन्द्रियों द्वारा शब्दादिरूप से ही भान होता है, शब्दादि की वास्तविकता के रूप से तो भान होता नहीं, तो हमारा कहना है कि इसीलिये वास्तविकता को वेदवाक्य से समझा जाये।।१६५।।** यह ठीक है कि इंद्रियों द्वारा भान होगा तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनका भान होगा, इनकी वास्तविकता सच्चिदानंद है ऐसा तो भान होगा नहीं, लेकिन यदि वेद-विचार से तत्त्व समझ चुके हैं तो शब्दादि के भान में ही मौजूद सच्चिदानंद के भान को पहचान सकेंगे जैसे स्वर्ण-परीक्षा सीखा व्यक्ति गहने को देखते हुए ही स्वर्ण को पहचान पाता है। शिक्षित के लिये सुबोध भी अशिक्षित के लिये अबूझ रह जाता है, ऐसे ही वेदशिक्षा पाये को परमेश्वर स्पष्ट उपलब्ध होता है जबकि अन्यों को उसका पता ही नहीं लगता।।१६५।।

केवल वेद से वास्तविक तत्त्व कैसे पहचानें, वेद से तो उसका परोक्ष ही बोध होगा जबकि शब्दादि से मिले उसके रूप को समझने के लिये उसकी अपरोक्ष पहचान ज़रूरी है? इस शंका को मिटाते हैं **यह शंका नहीं करनी चाहिये कि शब्दादि की वास्तविकता कोई परोक्ष वस्तु है, क्योंकि वह स्व का स्वरूप ही है। शब्दादि को जानने वाले का जो निजी रूप है वही शब्दादि की वास्तविकता है, अन्य कुछ नहीं।।१६६।।** शब्द से परोक्ष ही ज्ञान हो सके ऐसी बात नहीं, यदि विषय अपरोक्ष है तो शब्द से भी उसका अपरोक्ष हो सकता है। सामने नीम का पेड़ है, हम तुम्हें उसे दिखाकर कहें 'यह नीम है' तो तुम्हें अपरोक्ष ही तो होगा, हमने कहा इसलिये परोक्ष होवे ऐसा तो नहीं। यहाँ अनुक्रम सिंह बैठे हैं, तुम उनसे अपरिचित हो, आकर पूछते हो 'क्या यहाँ अनुक्रम सिंह हैं?' हम कहें 'हैं', तो तुम्हें अनुक्रम सिंह का क्या परोक्ष ज्ञान होगा, या अपरोक्ष ही होगा? क्योंकि वे मौजूद हैं इसलिये अपरोक्ष ही होगा। इसी तरह सच्चिदानंद परमेश्वर क्योंकि वस्तु अपरोक्ष है इसलिये वेद से उसका अपरोक्ष ही होगा, फिर इंद्रियों से उसे

एकस्याऽप्यत्र चित्तस्य सहकारिविभेदतः ।
क्रमेण ग्रहणं तत्त्वे शब्दादौ च कुतो न हि ।।१६७ ।।

शब्दादि से मिला-जुला देखकर भी पहचान सकना संभव होगा। क्योंकि सच्चिदानंद हमारा खुद का स्वरूप है इसलिये वह नित्य अपरोक्ष है। शब्दादि को हम ही जानते हैं और हमारा ही स्वरूप सच्चिदानंद है अतः शब्दादि की वास्तविकता हमारा स्वरूप ही होने से उसका हमें अपरोक्ष ज्ञान हो इसमें कोई रुकावट नहीं। हमारे स्वरूप से अन्य कुछ हो जो शब्दादि की वास्तविकता हो ऐसी बात नहीं। हमारे स्वरूप से अन्य जो कुछ होगा वह अवास्तविक, मिथ्या, मायारूप ही होगा। वास्तविक तो हमारा सच्चिदानंद स्वरूप ही है।।१६६ ।।

प्रश्न उठता है कि मन इंद्रियों से लाये शब्दादि को ग्रहण करते हुए सच्चिदानंद कैसे ग्रहण करेगा? इंद्रियाँ तो सच्चिदानंद को ग्रहण कर नहीं सकतीं क्योंकि वे रूप-रसादि ही ग्रहण करने में समर्थ हैं जबकि सच्चिदानंद रूप-रसादि से रहित है। इसलिये यह कैसे संभव है कि इंद्रिय-व्यापार रहते परमात्मस्वरूप भी भासे? उत्तर देते हैं **सहकारी हेतु के भेद के अनुसार एक चित्त भी क्रमशः तत्त्वविषयक और शब्दादिविषयक ग्रहण क्यों नहीं कर सकता!।।१६७ ।।** मन इंद्रियरूप सहकारी से शब्दादि का और वेदरूप सहकारी से सच्चिदानंद का ग्रहण कर सकता है अतः इन्द्रियव्यापार और तत्त्वबोध दोनों का समन्वय संभव है। सहकारी की कमी से बोध न हो पाना भी लोकसिद्ध है। जिन्हें सुनने के लिये कान में यंत्र लगाना, पड़ता है वे यदि बिना यंत्र लगाये नाटक देखने पहुँचें तो नटों की क्रिया, हाव-भाव देख सकते हैं पर उनका वार्त्तालाप सुन नहीं सकते। जब यंत्र लगा लें तो देखने के साथ सुन भी पाते हैं। ऐसे ही वेदशिक्षाहीन केवल शब्दादि का अनुभव करता है जबकि वेद से शिक्षित को सच्चिदानंद भी भासता है। आँख से फूल दीखता है, नाक से सुगंध आती है इत्यादि सर्वानुभवसिद्ध है। ऐसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। 'क्रमशः' इसलिये कहा कि प्रायः माना जाता है कि मन एक बार में एक ही वृत्ति बनाता है। सुगंधि सूँघते हुए फूल देखना या नाटक देखते हुए वार्त्तालाप सुनना इत्यादि में भी सूक्ष्म क्रम है ही यह प्रायः मान्यता है, तदनुसार ही यहाँ क्रम कहा है। विवक्षित इतना ही है कि अकेली इंद्रियाँ शब्दादि का भले ही ज्ञान करायें पर वेदरूप सहकारी से युक्त चित्त सच्चिदानंद को भी ग्रहण कर लेता है। लोक में भी 'यह देवदत्त' तो सबको दीख जायेगा, जिसे पूर्वकालिक देवदत्त के स्पष्ट स्फुट संस्कार हैं उसे 'वही यह देवदत्त है'

इति शङ्कोत्तरं प्रोक्तम् एतत्सूत्रेण सूचितम् ।
स्वरूपवाच्यात्मशब्दाद् अतिरोधानभासनात् । ।१६८ । ।

शुद्ध आत्मा

ननु प्राणादियुक्ताऽऽत्मबोधोऽकात्स्न्र्येन दूषितः ।
सोऽकात्स्न्र्यदोषः शुद्धात्मबोधे कस्मान्न सम्भवेत् । ।१६९ । ।

यों अखण्ड देवदत्त भी दीखता है। इसी तरह वेदसंस्कार वालों को सच्चिदानंद भी दीखे इसमें कोई विरोध नहीं । ।१६७ । ।

उक्त व्यवस्था का आधार बताते हैं **श्लोक १६२ में इंगित शंका का यह जो उत्तर दिया वह 'आत्मेत्येवोपासीत' सूत्र में सूचित है। स्वरूप का कथन करने वाले 'आत्मा' इस शब्द से क्योंकि 'कभी न छिपने' का भान होता है (इसलिये व्यक्त-अव्यक्त से वस्तुतत्त्व छिपता नहींयह समझाया।) । ।१६८ । ।** सूत्र अनेक अभिप्राय सूचित करता ही है। आत्मा-शब्द से सूचित जो सदा भासमान प्रत्यक् स्वरूप उसी को ध्यान में रख पूर्वोक्त शंका का समाधान हो पाया। अनात्मा को देखना तो स्वभाव से चल ही रहा है, उसके लिये वेद-विधान नहीं चाहिये, वेद ने इसीलिये 'आत्मा' बस यही देखने को कहा अर्थात् जब शब्दादि दीखें तब भी उनकी वास्तविकता जो सच्चिदानन्द उसे देखने, समझने का प्रयास करना चाहिये यह तात्पर्य है। वह दीख तभी सकता है जब वह छिपा न रहे अतः उसका व्यक्त-अव्यक्त से न छिपना भी उक्त वेदवाक्य से ज्ञात हो गया । ।१६८ । ।

सूत्र के अनन्तर श्रुति में वचन है 'अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति' । इसके व्याख्यान से शुद्धात्मा का वर्णन प्रारंभ करते हैं **आत्मा को प्राणादि से सम्बद्ध समझना सदोष है क्योंकि इस ज्ञान में असमग्रता है तो शुद्ध आत्मा के ज्ञान में वह असमग्रता-दोष कैसे नहीं है? । ।१६९ । ।** श्रुति में कहा कि प्राणनादि क्रिया से विशिष्ट रूप अपूर्ण ही है। श्लोक १३७ के संदर्भ में इस वेदवाक्य का संग्रह कर आये हैं। प्राण आत्मा है, आँख आत्मा है इत्यादि आत्मा के एक-एक रूप को जानना अपूर्ण ज्ञान है। अतः वैसा ज्ञान मोक्ष नहीं दे पाता। यहाँ प्रश्न उठाया जा रहा है कि इसी प्रकार क्या शुद्ध आत्माका ज्ञान भी उसका अपूर्ण ज्ञान नहीं है? उसे शुद्ध जाना तो उसके प्राण-आँख आदि रूप बिना जाने रह गये अतः ज्ञान में वैसी ही असमग्रता क्यों न मानी जाये? शुद्ध के ज्ञान से भी मोक्ष होता है यह क्यों माना जाये? । ।१६९ । ।

श्रुति से ही समाधान बताते हैं **उक्त शंका के निवारण के लिये ही इसी क्रम**

इत्याशङ्कापनुत्त्यर्थम् अत्रेदं श्रूयते स्फुटम्।
'अत्र ह्येते सर्व एकीभवन्ती'ति श्रुतेर्वचः।।१७०।।
प्राणाद्युपाद्ध्युपहिताः सर्वेऽप्यात्मान ईश्वरे।
शुद्धात्मन्येकतां यान्ति पुत्रभ्रात्रादयो यथा।।१७१।।
पुत्रो भ्राता पितेत्येको भिद्यते प्रतियोगिभिः।
पुत्रादयस्त एकस्मिंस्तस्मिन् यान्त्येकतां ततः।।१७२।।

में श्रुति का यह स्पष्ट वचन सुना जाता है 'आत्मा में ही ये सब एक हो जाते हैं'।।१७०।। अपूर्ण ज्ञानों की पूर्णता आत्ममात्र के ज्ञान में है। शुद्ध आत्मा से अतिरिक्त उसके वे अपूर्ण रूप नहीं हो सकते। जैसे रस्सी में सर्पादि सब एक हो जाते हैं, सर्प-माला-आदि का ज्ञान पूर्ण नहीं पर रस्सी का ज्ञान पूर्ण है, वैसे आत्मा में द्रष्टा-श्रोता आदि सब एक हो जाते हैं, द्रष्टा समझना या श्रोता समझना अपूर्ण समझ है किन्तु आत्मा समझना पूर्ण समझ है। अत एव श्रुति ने बताया है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने से सब कुछ जान लिया जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि प्राण आदि से विशिष्ट के ज्ञानों को जोड़कर आत्मा की पूर्ण जानकारी नहीं होगी वरन् आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझना ही उसकी पूर्ण जानकारी है।।१७०।।

एक हो जाने को सोदाहरण समझाते हैं **प्राण आदि उपाधियों से सम्बद्ध सभी आत्मा ईश्वररूप शुद्ध आत्मा में वैसे ही एक हो जाते हैं जैसे पुत्र-भाई आदि मनुष्य में एक हो जाते हैं।।१७१।।** 'सभी आत्मा' अर्थात् आत्मा के सब विशिष्ट रूप। प्राणन करता हुआ वह प्राण कहलाता है, बोलता हुआ वाक् कहलाता है अतः प्राण, वाक् आदि उपाधि-सम्बद्ध आत्मा हैं। ऐसे सभी आत्मा, शुद्ध में एक हैं। 'ईश्वररूप' कहकर सूचित किया कि जैसे सब प्रतिबिम्ब बिम्ब में एक होते हैं वैसे औपाधिक रूप निरुपाधि में एक हैं। सुषुप्ति में आत्मा का ईश्वररूप रहता है और उसमें बाकी सारे रूप एकमेक हो जाते हैं तभी जगने पर उससे निकल कर प्रकट होते हैं। जब ईश्वर में ही वे एक हो जाते हैं तब शुद्ध में एक होते हैं इसमें क्या कहना! अथवा शुद्ध निरुपाधि को ही ईश्वर कहा है।।१७१।।

उक्त दृष्टांत स्पष्ट करते हैं **सम्बन्धियों की दृष्टि से एक ही व्यक्ति पुत्र, भाई, पिता आदि रूपों में विभिन्न हो जाता है इसलिये उस एक में ही वे पुत्रादि अभिन्न हो जाते हैं।।१७२।।** व्यक्ति अखण्ड है, पिता की अपेक्षा पुत्र, बहन की अपेक्षा भाई, पुत्र की अपेक्षा पिता इत्यादि अलग-अलग तरह से व्यवहृत होता है। क्योंकि व्यक्ति

आत्मनोऽनवशेषेण सम्बन्धोऽनात्मवस्तुनः।
रज्जुसर्पादिवन्नातः प्रतीचः शिष्यते पराक्।।१७३।।

में भेद नहीं, केवल सम्बंधियों की दृष्टि का भेद है इसलिये पुत्रादि सबकी एकता उस व्यक्ति में है ही। माँ ने कहा 'बेटे को भोजन करा देना।' बहन ने कहा 'भाई को भोजन करा देना।' बेटे ने कहा 'पिताजी को भोजन करा देना।' जिसने उस देवदत्त को भोजन करा दिया उसने एक-साथ ही तीनों की बात मान ली। अतः एक देवदत्त में तीनों एक हो गये यह कहा जा सकता है। इसी प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व जान लिया तो द्रष्टा-श्रोता आदि सभी जान लिये अतः कोई अपूर्णता नहीं रही। सिर्फ द्रष्टा जाना तो अपूर्ण ज्ञान रहा जैसे किसी को केवल पुत्र जाना तो अपूर्ण जाना क्योंकि वह भाई, पिता आदि भी है लेकिन उस व्यक्ति को जान लिया तो यह नहीं कह सकते कि उसे अमुक का जेठ नहीं जाना, अमुक का मामा नहीं जाना, अमुक का भतीजा नहीं जाना तो व्यक्ति के बारे में ज्ञान अपूर्ण रह गया, कारण कि जेठ-मामा-भतीजा आदि सब उस व्यक्ति में एक हो जाते हैं।।१७२।।

अनात्मा से अलग समझा आत्मा अपूर्ण कैसे नहीं समझा गया, इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **अनात्म वस्तुओं का आत्मा से ऐसा सम्बन्ध है कि वे आत्मा से अवशिष्ट कुछ नहीं रहतीं जैसे रज्जु से अवशिष्ट सर्पादि कुछ नहीं रहते। अतः प्रत्यग्रूप आत्मा से पृथक् पराग्रूप अनात्मा रहता ही नहीं कि आत्मज्ञान में उसकी कमी रह जाये।।१७३।।** रस्सी में भ्रम से साँप, माला, जलधारा आदि देखने वाले आखिर देख किसे रहे हैं? रस्सी को ही। जिसने उसे रस्सी जान लिया उसने, उन सबको जिसके बारे में ज्ञान हो रहा है, उसे जान लिया। इसलिये अधिष्ठान जान लेने पर अध्यस्त भी जान लिये गये यह व्यवहार हो जाता है। इसी तरह जिसने प्रत्यगात्मा की सही जानकारी पा ली उसके लिये पराक्, अनात्मा कुछ रहा नहीं जिसका ज्ञान उसे नहीं हुआ, जिससे उसका आत्मज्ञान अधूरा रह जाये। अज्ञान दशा में हम जिन सबको अलग-अलग समझ रहे हैं, अज्ञान मिटने पर पता चलता है कि वह सब हम खुद ही हैं, हमसे अन्य संसार कुछ है ही नहीं।

एक राजकुमार ने जवान होने पर अपने पिता के कागज़ात में एक अतिसुन्दर लड़की का चित्र देख ठान लिया कि उसी से ब्याह करेगा। मंत्री आदि को चित्र देकर उस लड़की को खोजना शुरू किया किंतु वह कहीं मिली नहीं। अन्त में एक वृद्ध पुरोहित ने चित्र ध्यान से देखकर याद किया कि जब राजकुमार छोटा बालक था तब किसी नाटक

सर्वम् अज्ञात एव स्याद् यस्मिन्नज्ञात आत्मनि।
ज्ञाते ज्ञातं च कृत्स्नोऽसौ तावत्त्वात् सर्ववस्तुनः।।१७४।।

के प्रसंग में उसे लड़की जैसा सजाया गया था और वह उसी समय का चित्र था! धीरे-धीरे अन्यों को भी वह घटना याद आ गयी, राजकुमार ने भी चेहरे में पूर्ण समानता पहचान कर हठ छोड़ा। ऐसे ही हम स्वयं आनंदरूप हैं पर ढूँढते उसे बाहर हैं जहाँ न वह कभी है, न मिल सकता है। वेदरूप पुरोहित ही हमें यह रहस्य बताता है कि वह तो हमारा स्वरूप है। प्रत्यक्तत्त्व ही जड जगत् बना, उसी ने इसमें प्रवेश किया अतः जीव- जगत् कुछ भी प्रत्यग्वस्तु से अलग है नहीं कि प्रत्यक् का ज्ञान अपूर्ण माना जाये।।१७३।।

परमेश्वर को, प्रत्यगात्मा को जानने से सब कुछ जाना गया हो जाता है आदि बताती श्रुति से इसे समर्थित करते हैं **जिस आत्मा को न जानने पर सभी कुछ न जाना रह जाता है और जिस आत्मा को जान लेने पर सब जाना गया हो जाता है, वह परिपूर्ण है क्योंकि सभी वस्तुएँ आत्ममात्र हैं।।१७४।।** सच्चिदानंद परमात्मा को न जाना तो सब अज्ञात है। जो कुछ हमें संसार का विस्तार दीख रहा है यह अज्ञान का ही कार्य है। अतः अनादि काल से लोग चीज़ों की सचाई खोजने में लगे हैं पर आज तक कुछ पता नहीं लगा पाये। जितना समझकर सोचते हैं 'जान लिया', उसे सूचीबद्ध करते-करते ही नयी जानकारी उपलब्ध होकर पहले की समझ को नासमझी घोषित कर देती है। यही क्रम चलता है, इसी को सांसारिक लोग ज्ञान का विकास मान लेते हैं! विज्ञान के गंभीर अध्येता तो मानवीय समझ का यह छिछलापन कुछ-कुछ पहचानते-स्वीकारते हैं पर साधारण जन तकनीक के करिश्मों से प्रभावित हो सोचते हैं कि विज्ञान ने कुछ वास्तविकता पता लगायी होगी जबकि सच यह है कि विज्ञान इसी ओर बढ़ रहा है कि वास्तविकता पता लग नहीं सकती। जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति चमत्कार देखकर चमत्कार दिखाने वाले में आध्यात्मिक उत्कर्ष स्वीकारता है जबकि वस्तुतः अध्यात्ममार्ग में आगे बढ़ा साधक भी चमत्कार-प्रदर्शन से दूर रहता है तो सिद्ध का क्या कहना! उसी प्रकार तकनीकी उपयोगों को अतिमहत्त्व देने वाले विज्ञान पर अंधश्रद्धालु हो आशा रखते हैं कि कुछ सत्य पता चलेगा। किन्तु क्योंकि संसार अज्ञान का फैलाव है इसलिये एक प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त इसमें कोई सत्य है ही नहीं जो मिल सके। आधुनिक विज्ञान क्योंकि पराक् को ही ढूँढता है, विषय को ही खोजता है, इसलिये इसे कभी सत्य पता चले यह संभव ही नहीं। अतः आचार्य ने कहा कि जब तक प्रत्यगात्मा को नहीं जाना

प्रमाभासत्वम् एतेन वाक्येनाऽस्य निवारितम्।
मात्वं सम्भाव्यते तस्य पदनीयत्ववाक्यतः।।१७५।।
अस्य सर्वस्य जगत आत्मेति यदुदीरितम्।
तदेतत् पदनीयं स्याद् इति वाक्यस्य योजना।।१७६।।
पदनीयेति शब्देन प्रमातुं योग्यतोच्यते।
अज्ञातत्वात् पुमर्थत्वात् प्रमातुं योग्यताऽऽत्मनः।।१७७।।

तब तक सभी कुछ अज्ञात ही रहना है। इसी तरह उसे ठीक-ठीक जान लिया तो सभी कुछ जान लिया क्योंकि उसके सिवाय 'सब कुछ' कहलाने वाला कुछ है ही नहीं। आत्मज्ञान से जब अज्ञान ही दूर हो गया तब अज्ञानकार्य रहा कहाँ जिसे ज्ञात-अज्ञात कहा जाये? अतः द्रष्टा-श्रोता आदि समझना तो आत्मा को अपूर्ण समझना है पर प्रत्यङ्मात्र समझना अपूर्ण नहीं, परिपूर्ण समझ है।।१७४।।

सबकी आत्मा में एकता बताकर श्रुति में वाक्य है 'तदेतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य यद् अयम् आत्मा' अर्थात् जो यह अन्तरतर (सर्वाधिक भीतरी) आत्मा है वह सबका पदनीय, प्राप्तव्य है। इसे अवतरित करते हैं **'अत्र ह्येते सर्वे एकं भवन्ति' इस वाक्य से यह शंका हटायी कि प्रत्यक् का ज्ञान भी अपूर्ण है। अगले 'पदनीयत्व' वाक्य से उस बोध को प्रमाण सिद्ध किया है।।१७५।।** प्रत्यङ्मात्र के ज्ञान को कुछ विचारक इस दृष्टि से भ्रम कह देते हैं कि उस-मात्र का तो ज्ञान संभव नहीं, जब होगा तब उसके आकार की बुद्धिवृत्ति से सम्बद्ध उसके स्वरूप का ज्ञान होगा। किंतु यह तर्क ऐसा है जैसे यह कहना कि सूर्यमात्र का ज्ञान नहीं होता, आँख से बनी वृत्ति-युक्त सूर्य का ज्ञान ही होता है! जैसा प्रत्यक्तत्त्व है वैसी वृत्ति रहते उसका ज्ञान ही प्रत्यङ्मात्र का व्यवहारोपयोगी ज्ञान है। उस अकेले की भासमानता पारमार्थिक है, व्यवहारान्तर्गत नहीं। जैसे घोड़े के पदचिह्नों से घोड़ा मिल जाता है वैसे द्रष्टा श्रोता मन्ता आदि के परीक्षण से आत्मस्वरूप उपलब्ध हो जाता है। उस आत्मस्वरूप का बोध इसीलिये पूर्ण है कि उसका बाध संभव नहीं।।१७५।।

पदनीय-वाक्य समझाते हैं **जिसे इस सारे जगत् का आत्मा कहा, उसी को कहा कि वह यह पदनीय है।।१७६।। 'पदनीय' अर्थात् वह इस योग्य है कि उसकी प्रमा हो। अज्ञात और पुरुषार्थ होने से आत्मा इस लायक है कि उसकी प्रमा हो।।१७७।।** जगत् को 'इस' कहा क्योंकि यह हम सभी को स्पष्ट उपलब्ध है।

इसका वास्तविक स्वरूप परमात्मा है। इसीलिये सारा संसार हमें परमात्मा को दिखाने का साधन बन जाता है। सबसे बड़ा साधन अपने अंदर बैठा अहम्-तत्त्व है। उसे जानने के बाद ही हम अन्य कुछ जान पाते हैं, सबसे पहले 'मैं' को ही जानते हैं। उस मैं के अंदर सच्चिदानंद की छाप मिल जाती है। 'मैं नहीं हूँ' यह बोध तो क्या, कल्पना भी असम्भव है। कल्पना करने वाला रहते, वह नहीं है यों कैसे कल्पना भी हो? शरीर-प्राण-मन आदि का न होना तो समझा जा सकता है, मैं का न होना समझना संभव नहीं है। इसी तरह मैं का ज्ञानहीन अर्थात् जड होना भी समझा नहीं जा सकता। मैं का अप्रिय होना भी समझना संभव नहीं। अतः आत्मा की सच्चिदानंदरूपता हमेशा भासमान रहती है। मैं की अनुभूति में उपलब्ध सच्चिदानंदरूपता आत्मा की छाप है जिससे आत्मा की वास्तविकता पहचान में आ जाती है। श्रुति के 'पदनीय' शब्द का अर्थ है कि आत्मा इस योग्य है कि उसकी प्रमा हो। अहम् में दीखने से आत्मा के बारे में पता चल जाता है जैसे पदचिह्न से घोड़े का पता चल जाता है। प्रमा के योग्य वही होता है जो प्रमा से पूर्व अज्ञात हो, अज्ञात-ज्ञापकता प्रमाण में हुआ करती है, अनधिगत का ज्ञान ही प्रमा हो सकता है। जिसका पता नहीं है उसी को प्रमाण से जानेंगे, जिसका पता ही है उसे जानने के लिये प्रमाण-व्यापार काहे को करेंगे? इसी तरह प्रमा के योग्य को 'पुरुषार्थ' भी होना चाहिये, उससे फल उपलब्ध होना चाहिये, प्रमाता का कोई प्रयोजन वह सिद्ध करे ऐसी वस्तु होनी चाहिये। जिसका कोई फल, प्रभाव नहीं उसका ज्ञान सच्चा हुआ यह पता कैसे चलेगा? आईंस्टाइन ने सापेक्षता-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो सारा वैज्ञानिक जगत् उसको समझ-बूझकर स्वीकारने, उसे और परिष्कृत तो करने लगा लेकिन आईंस्टाइन को उस सिद्धांत का पता लगाने के लिये नोबल पुरस्कार नहीं दिया जा सका क्योंकि उसके सिद्धांत का फल देखा नहीं जा पाया था। करीब नौ साल बाद पड़ने वाले सूर्यग्रहण के दौरान उस सिद्धान्त का फल दीखा और सिद्धांत को विधिवत् सत्यापित माना गया। अतः आईंस्टाईन को नोबल पुरस्कार 'क्वाण्टम थ्योरी' पता लगाने के लिये दे दिया गया यद्यपि सापेक्षता की अपेक्षा वह कम महत्त्व की खोज थी। इस प्रकार, लोक में भी मान्य है कि सही ज्ञान सफल होता है। अनुभवमात्र को यथार्थ कहना नहीं बनता क्योंकि भ्रम का भी अनुभव होता ही है, अज्ञातविषयक और पुरुषार्थ-साधक हो तभी उसे यथार्थ कहना बनता है। आत्मा अज्ञात है ही तथा उसका अनुभव भवबन्ध से छुड़ाता है ही अतः वह प्रमा के योग्य है इसमें सन्देह नहीं।।१७६-७।।

अव्याकृतव्याकृतयोरज्ञानात्मकता यतः ।
अत आत्माऽतिरेकेण नाऽज्ञातार्थोऽस्ति कश्चन ।।१७८ ।।
ज्ञेयार्थानन्दयोर्यस्मात् समाप्तिः प्रत्यगात्मनि ।
परमः पुरुषार्थोऽत आत्मा भवति नेतरः ।।१७९ ।।

प्रमा-योग्यता सम्पन्न करने वाले उक्त हेतुद्वय आत्मा में प्रदर्शित करते हैं **क्योंकि अव्यक्त और व्यक्त दोनों अज्ञानरूप हैं इसीलिये आत्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है जो अज्ञात विषय हो।।१७८।। क्योंकि ज्ञेयार्थता तथा आनंदरूपता की पूर्णता प्रत्यगात्मा में ही है इसलिये आत्मा ही परम पुरुषार्थ है, अन्य कुछ नहीं।।१७९।।** अज्ञात अर्थात् अज्ञान का विषय। अज्ञान स्वयं अपना तो विषय हो नहीं सकता। व्यक्त-अव्यक्त जगत् अज्ञानरूप है अतः अज्ञानविषय हो नहीं सकता। फलतः एक आत्मा ही अज्ञात हो सकता है। अव्यक्त अर्थात् कारणभूत प्रकृति की वह स्थिति जिसमें विभिन्न कार्यों के नाम-रूप-कर्म विभाजित नहीं थे। कार्यों के नामादि विभाजित हुए प्रतीत हों यही व्यक्त कहा जाता है। परमात्मस्वरूप का अज्ञान ही अव्यक्त है, वही क्योंकि व्यक्त आकार में प्रकट होता है इसलिये स्वरूप से भी, व्यक्त भी, अज्ञान ही है। भ्रमहेतु अधिष्ठान-अज्ञान प्रसिद्ध ही है, रस्सी सही न समझने पर ही सर्पादि का भ्रम होता है। हमें प्रत्यगात्मा के वास्तविक अपरिच्छिन्न स्वरूप का अज्ञान है, वह हमें इस रूप में प्रतीत हो रहा है 'मैं जन्मने-मरने वाला, कर्त्ता-भोक्ता हूँ' तथा 'यह सारा भूत-भौतिक प्रपंच वस्तुभूत है'। क्यों मानें कि आत्मा का अज्ञान है? क्योंकि वेद आत्मा का स्वरूप व्यापक, निष्क्रिय, असंग, निर्विकार बता रहा है। एवं तत्त्ववेत्ता आत्मा का ऐसा साक्षात्कार करते और उससे मोक्ष पा जाते हैं इसलिये मानना पड़ता है कि आत्मा का सच्चा रूप हमें अज्ञात है। विचार से भी सिद्ध हो जाता है कि विकार उपाधि में ही हैं, हम तो उनके साक्षी ही रहते हैं, केवल अध्यास से उपाधि के विकारों को अपना समझते हैं। बड़े नेता-अभिनेता का अपमान हो जाये तो अनेक उनके अनुयायी-प्रशंसक आत्मदाह कर लेते हैं! वे नेता आदि उन व्यक्तियों को जानते तक नहीं, उनका परस्पर कोई पारिवारिकादि सम्बंध नहीं, कभी मिले नहीं, फिर भी अध्यासवश अपने नेता आदि का अपमान असह्य हो जाता है। ऐसे ही शरीर-मन आदि से हमारा तादात्म्याध्यास ऐसा दृढ है कि इनके किसी भी विकार को हम अपना ही महसूस करते हैं। परमेश्वर के स्वरूप का अज्ञान रहते अध्यात्म-अधिभूत जगत् सर्वथा सत्य प्रतीत होने से हम प्रत्यक्स्वरूप पर पूर्ण एकाग्रता से निष्ठा नहीं रख सकते। अज्ञान मिटते ही वह निष्ठा स्वतः रहती है। अतः

भी निश्चय हो जाता है कि व्यक्त प्रपंच का कारण परमात्मा का अज्ञान ही है। इस तरह सारा अनात्मप्रपंच कार्य-कारणभेद से है अज्ञान ही अतः अनात्मा तो अज्ञान का विषय अर्थात् अज्ञात हो सके यह संभव नहीं क्योंकि अज्ञान खुद को ही विषय करे यह असंगत और अनुभवविरुद्ध है। अनात्मा से भिन्न तो केवल आत्मा ही है अतः वही अज्ञात हो यही संगत है और हमें लगता भी है कि परमात्मा की सचाई हमें पता नहीं। वास्तविकता है परमात्मा, हमें वही अज्ञात हुआ कारण और कार्य लग रहा है, ज्ञात होने पर कार्य-कारण प्रपंच बाधित हो जाता है। इसलिये आत्मा ही अज्ञात होने से वही प्रमाण के द्वारा समझा भी जा सकता है, अनात्मा कल्पित होने से प्रमाण से परीक्षा के अयोग्य है, प्रमाण-प्रयोग होते ही वह निवृत्त हो जाता है।

प्रमा-योग्य को पुरुषार्थ (सफल) होना चाहिये। पुरुष-अर्थ मायने जीव जिसे चाहे। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, सुख के लिये ही सुख-साधन भी चाह लेते हैं लेकिन चाहना सुख की है, वह जैसे मिले वे उपाय गौणरूप से चाहे जाते हैं अतः उनमें फेर-बदल होती रहती है किंतु सुख चाहिये इस बात में कभी परिवर्तन नहीं होता। सभी कुछ सुख के लिये चाहते हैं तथा सभी कुछ, सुख भी अपने लिये चाहते हैं। कहने को आधुनिक नेता बोलते हैं कि सर्वहरा-वर्ग के लिये चाहते हैं लेकिन नेताओं की गतिविधि देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक भी ऐसा नहीं होता जो नेता बना रहते सर्वहरा वर्ग में रह जाये, वरन् सभी का वैयक्तिक धन बढ़ा ही मिलता है, जीवन शैली धनाढ्यों वाली ही मिलती है, उनके बच्चों की शिक्षा महँगे संस्थानों में ही होती दीखती है। पीलू मोदी नामक एक मज़ाकिया नेता ने एक बार कहा था कि इक्कीस साल की उम्र में जो कम्युनिस्ट न हो वह हृदयहीन है तथा इकतालीस की उम्र में जो कैपिटलिस्ट (पूँजीवादी) न हो वह बुद्धिहीन है! तात्पर्य यही है कि शुरू भले ही दूसरों के लाभ से करो लेकिन अंत में पहुँचोगे अपने लाभ पर ही। यदि कोई सर्वहरापन कायम रखता भी है तो इसीलिये कि उसे वैसा रहना सुखद लगता है अर्थात् अपने लिये, अपने सुख-संतोष के लिये ही वह ग़रीब भी बना रह सकता है। इस तरह हम जो चाहते हैं वह जैसे सुख के लिये, वैसे अपने लिये। अतः सनातनी जब किसी सिद्धांत को ठीक समझता है तब उसे स्वयं पर लागू करता है। इसमें ज्वलन्त उदाहरण गाँधीजी का है, उन्होंने न्यूनतम वस्त्र वह भी खादी का पहनना ठीक समझा तो खुद भी वही पहनते रहे, साफ-सफाई होनी चाहिये यह माना तो खुद भी सफाई करते रहे। जो ठीक समझूँ वह खुद करूँ यह भारतीय विचार है, दूसरों को मूर्ख बनाकर लाभ

अज्ञातत्वं पुरा प्रोक्तम् अव्याकृतगिरा यथा।
ज्ञेयार्थस्य समाप्तिं तां वक्त्यनेनेति वाक्यतः।।१८०।।
अनेनैतद् वेद सर्वम् इत्यात्मज्ञानमात्रतः।
सार्वज्ञ्यम् उक्तम् आनन्दसमाप्तिस्तु प्रवक्ष्यते।।१८१।।

उठाऊँयह अभारतीय पद्धति है। क्योंकि सब कुछ हम अपने लिये चाहते हैं इसी से संभव है कि हम सब कुछ वास्तव में उत्तम कर और रख सकते हैं। भारत के विकास का बीज ही रहा कि भारतीयों को यह बोध था कि जो कुछ करेंगे उसका फल हमें ही मिलेगा, ग़लत किया तो हमें ही कष्ट मिलेंगे। अहिंदू संस्कृति ने इस सत्य को छिपाया कि हमें सब अपने ही लिये चाहिये तो मिथ्याचार पनपा, जैसा धीरे-धीरे 'आगे किसने देखा है' के रूप में भारत में भी देखने में आ रहा है। प्रत्यगात्मा ही पुरुषार्थ की सीमा है, हर वस्तु किसके लिये चाहिये इस प्रश्न की समाप्ति 'मैं' में होती है अर्थात् बाकी सब मैं के लिये चाहिये, आगे मैं किसी के लिये या किसी प्रयोजन से नहीं चाहिये। इस चरमता को ही श्लोक में 'समाप्ति' शब्द से कहा। है आत्मा नित्य ही आनन्दरूप पर अभी यह तथ्य अज्ञात है, शास्त्रीय प्रमा से वह निरावृत हो जाता है। इस प्रकार, प्रमेय होने के लिये आवश्यक पुरुषार्थता आत्मा में ही है, अन्यत्र वह गौण ही है, अतः आत्मा ही अज्ञात है, वही प्रमेय है।।१७८-९।।

उपनिषत् में अगला वाक्य है 'अनेन हि एतत् सर्वं वेद' अर्थात् 'इसी से यह सब जान लेता है'। 'इसी से' अर्थात् इस आत्मा के ज्ञान से। आत्मज्ञान से ही सब कुछ जान लिया जाता है। इसका अर्थ संगृहीत करते हैं **पहले जैसे अव्याकृत-वाक्य द्वारा अज्ञातता बतायी वैसे 'अनेन' आदि वाक्य से ज्ञेय अर्थ की वह समाप्ति बता रहे हैं।।१८०।। 'इसी से यह सब जान लेता है'यों केवल आत्मज्ञान से सर्वज्ञता कही। आनन्द-समाप्ति (श्लो. १८७ से) आगे बतायेंगे।।१८१।।** पूर्व में विचार आया था कि वह सारा नाम-रूपात्मक जगत् पहले 'अव्याकृत' था जिसे समझाया था कि आत्मा अज्ञात है (श्लो ६८, ८३ आदि)। जैसे वह अज्ञातता कोई पारमार्थिक विवक्षित नहीं वैसे यहाँ जो बताया कि आत्म-ज्ञान से सर्वज्ञान हो जाता है उसका यह मतलब नहीं कि जैसे हम घट-मठ-पट आदि चीज़ें देखते हैं ऐसे परमेश्वर-साक्षात्कार से हम सारी चीज़ें जान जायेंगे, किसी की खोयी हुई भैंस का हमें पता लग जायेगा! यहाँ तात्पर्य है कि परमात्मा से अन्य कुछ है यह भ्रम मिट जाने से और कुछ ज्ञेय रह नहीं जायेगा। सत्य के ज्ञान का ही महत्त्व है, मिथ्या के बारे में जानकारी को कहीं महत्त्वपूर्ण ज्ञान नहीं माना

अन्यज्ञानेन नान्यस्य क्वचिदप्यवबुद्धता।
आत्मज्ञानेन सर्वस्य ज्ञानं कथम् उदीर्यते।।१८२।।

जाता। संसार मिथ्या होने से इसकी चीज़ों का ज्ञान वस्तुतः ज्ञान कहलाने ही लायक नहीं है। है ही एकमात्र परमात्मा अतः उसी के ज्ञान से सर्वज्ञता कही। सारे ब्रह्माण्ड की वास्तविकता परमात्मा है, वही सच्चिदानंदरूप से सर्वत्र अनुस्यूत उपलब्ध है। पाश्चात्य विचारकों ने द्रव्य और आकार ('मैटर' एवं 'फार्म') के भेद पर चिंतन किया ही है। तदनुसार सोचो तो भी द्रव्य वास्तविक और आकार काल्पनिक है। सोना द्रव्य है, गहना आकार है, सोना सत्य है, गहना कल्पित है। जानने लायक सोना है, गहना जानते तो हो लेकिन जानने के वह 'लायक' नहीं क्योंकि महत्त्वहीन है। व्यवहार तो गहने से ही चलेगा, अनघड़ सोने का लोंदा खरीदने-बेचने-रखने मात्र के तो काम का है, पहनने आदि किसी काम का नहीं। व्यवहार स्वयं अवास्तविक होने से उसके लिये वैसा ही आकार प्रधान है फिर भी महत्त्व सोने का ही है यह लोक में भी मान्य है। स्वर्णका ज्ञाता सही जानकार होता है, ऐसे ही सच्चिदानंद का ज्ञाता ही वास्तविक जानकार है। अव्यक्तावस्था में अज्ञान को जानने वाला, व्यक्तावस्था में अज्ञानकार्यों को जानने वाला, मोक्षावस्था में परमात्मा को जानने वाला एक ही है। जाग्रत् में जो है उसे हम देखते हैं, स्वप्न में जो नहीं है उसे देखते हैं, सुषुप्ति में कुछ देखते ही नहीं, कुछ न देखने वाले हम रहते हैं, पर तीनों में हम तो एकरस मौजूद ही हैं। इसी प्रकार अव्यक्त-व्यक्त-मुक्त तीनों वाला आत्मा एक ही है।

'ज्ञेय अर्थ की वह समाप्ति' अर्थात् जो यह विवक्षित था कि एकमात्र परमात्मा ही ज्ञेय है, जिसे समझाने के लिये कहा था कि वही अज्ञात है, उसी विवक्षित ज्ञेयता को यहाँ कहा है। वेद ने किस वाक्य से कहा? 'अनेन एतत् सर्वं वेद' इस वाक्य से कहा कि केवल आत्मज्ञान से सर्वज्ञता सम्पन्न हो जाती है जिसका अभिप्राय है कि आत्मा ही ज्ञेय अर्थ की समाप्ति अर्थात् पूर्णता, समग्रता है। वही आनंद की भी पूर्णता है इसे श्लोक १८७ आदि से बतायेंगे।।१८०-८१।।

एक-विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा पर आक्षेप उठता है **एक वस्तु जानने से अन्य वस्तु समझ आ जाये यह कहीं नहीं देखा गया तो यह कैसे कहा जा रहा है कि आत्मा के ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है?।।१८२।।** प्रश्न स्पष्ट है कि घड़ा जानने से कपड़ा समझ आये ऐसा नहीं होता तो आत्मज्ञान से सर्वका जिसमें अनात्मा भी आ जाता है ज्ञान होना कैसे संगत है? वस्तुतः विभिन्न विषयों में

सत्यम् एवं भवेद् एतद् यद्यात्माऽप्यन्य इष्यते।
आत्माऽसावन्य इति च नाऽनुन्मत्तस्य गीरियम्।।१८३।।

यह देखा गया है कि एक का ज्ञान दूसरे के बारे में कुछ नहीं प्रकाशित करता किंतु यही स्थिति वहाँ नहीं जहाँ एक विषय सत्य एवं बाकी विषय उस पर आरोपित हों। इस अंतर को बिना समझे यह प्रश्न उठा है।।१८२।।

उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं **उक्त नियम उक्त ढंग से लागू होता यदि आत्मा भी अन्य माना जाता परन्तु जो उन्माद-ग्रस्त नहीं वह ऐसा कह नहीं सकता कि यह आत्मा है, और अन्य भी है!।।१८३।।** एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान तो नहीं हो सकता लेकिन घट से पट की तरह आत्मा से अन्य तो कुछ है नहीं, आत्मा ही सर्वरूप है, इसलिये आत्मज्ञान से सर्वज्ञान ठीक ही कहा गया है। अध्यस्त चाहे जितने हों, अधिष्ठान के ज्ञान से ही सबका 'ज्ञान' गतार्थ है क्योंकि वास्तव में ज्ञान है ही अधिष्ठान का, अध्यस्तों के तो भ्रम ही हैं। जिसने रस्सी समझ ली उसने साँप की भी वास्तविकता जान ली, माला-जलधारा-भूछिद्र आदि सभी की वास्तविकता का ज्ञान पा लिया। यदि घट से पट की तरह रस्सी से अलग सर्पादि होते तब यह कहना नहीं बनता कि रस्सी के ज्ञान से सबका अर्थात् सबके यथार्थ का ज्ञान हो गया। चूँकि सर्पादि का भान वस्तुतः रस्सी का ही ग़लत भान है इसलिये रस्सी के स्वरूप की प्रमा होने से सभी कुछ अपने यथार्थरूप में जान लिया गया। अतः आत्मा क्योंकि किसी से 'अन्य' नहीं है इसलिये पूर्वोक्त प्रश्न उठता नहीं। आत्मा कहते ही स्वरूप को हैं, सबका स्वरूप सबसे एक ही होता है, अतः आत्मा सब से एक है। उन्माद-ग्रस्त अर्थात् नशे में धुत या पागल; वह तो बिना समझे शब्द-व्यवहार कर सकता है लेकिन समझदार यों नहीं बोला करते। वादी को सचेत कर रहे हैं कि आत्म-शब्द का अभिप्रेत अर्थ बिना समझे उसके ज्ञान से सर्वज्ञान को असंगत कहना अशोभनीय है।।१८३।।

श्रुति में अगला वाक्य है 'यथा ह वै पदेनानुविन्देद् एवं कीर्तिं श्लोकं विन्दते य एवं वेद'।।७।। अर्थात् जैसे पदचिह्नों से पशुआदि मिल जाते हैं वैसे ही आत्मलाभ से सर्वलाभ हो जाता है। आत्मा नाम-रूप में प्रवेश करने से ख्याति और प्राणादि संहति रूप श्लोक को प्राप्त हुआ उसी प्रकार जानकार को कीर्ति एवं मुक्ति मिलती है। इस श्रुति का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **प्रत्यगात्मा की वास्तविकता का पूर्णतः ज्ञान होने पर जगत् की वास्तविकता समझ आ जाती है इस विषय में पद का (पैर या पैर**

प्रत्यक्तत्त्वे परिज्ञाते जगत्तत्त्वं प्रबुद्ध्यते।
इत्यत्र पददृष्टान्तो यथावत् स विविच्यते।।१८४।।
एकं पादं यथाऽश्वस्य दृष्ट्वाऽश्वत्वम् अशेषतः।
दृष्टवान् एव भवति 'दृष्टोऽश्व' इति वर्णनात्।।१८५।।
एवं स्वदेहमात्रस्थे साक्षितत्त्वेऽवलोकिते।
अशेषजगतस्तत्त्वं लभ्येतैव न संशयः।।१८६।।
आनन्दस्य समाप्तिर्या प्रत्यगात्मनि साऽधुना।
प्रदर्श्यतेऽनुभूत्याऽत्र स्पष्टं सार्वजनीनया।।१८७।।

की छाप का) उदाहरण है, जिसका यथार्थ विवेचन किया जा रहा है।।१८४।। जैसे घोड़े का एक पैर देखकर घोड़ा-पना पूरी तरह देखा हुआ ही हो जाता है क्योंकि 'घोड़ा दीख गया' ऐसा ही कहा जाता है, वैसे केवल अपने शरीर में स्थित साक्षिरूप तत्त्व का अवलोकन हो जाने पर सारे जगत् की सचाई प्राप्त होती ही है, इसमें संदेह नहीं।।१८५-६।। घोड़े के पदचिह्न के सहारे घोड़ा मिल जाता है इस तरह भी दृष्टांत युक्त है एवं कहीं घोड़ा झाड़ियों में छिपा हो तो उसका पैर ही दीखने पर 'घोड़ा दीख गया' व्यवहार होता है इस तरह भी दृष्टान्त संगत है। मनुष्य का भी मुख ही देखने से 'देवदत्त दीख गया' व्यवहार लोकसंमत है, सारा शरीर भीतर-बाहर से देखना पड़े यह कोई ज़रूरी नहीं समझता तथा असंभव भी है! इसी प्रकार आत्मदर्शन से सर्वदर्शन हो जाता है। सारे जगत् की वास्तविकता सच्चिदानन्द है, वही अपने शरीर में उपलब्ध साक्षी की वास्तविकता है अतः साक्षी को जान लिया तो सचमुच ही संसार की वास्तविकता को जान लिया। घोड़े के पैर और शरीर में फिर कुछ भेद भी है, पदचिह्न से घोड़ा मिलनाइस व्याख्या में पदचिह्न और घोड़े के ज्ञान में, भेद है भी; किन्तु साक्षी और जगद्-अधिष्ठान में किंचित् भी अंतर नहीं है अतः साक्षी समझना जगदधिष्ठान समझना ही है। वेदान्त-प्रक्रियाओं में बिम्बचैतन्य, शुद्धचैतन्य, अविद्या में पड़ा चिदाभासइन तीन तरह से साक्षी को प्रायः समझाया गया है। ईश-जीव में अनुगत मायोपाधिक चैतन्य साक्षी है ऐसा भी वर्णन है। सर्वथाऽपि जो साक्षी है वह अखण्ड एकरूप है अतः कहीं भी उसे जाना तो पूरा ही ज्ञान होता है।।१८४-६।।

श्लोक १८१ में प्रतिज्ञात विषय-वर्णन प्रारम्भ करते हैं **आनन्द की जो सम्-आप्ति (समग्रता, सम्पूर्णता) प्रत्यगात्मा कही थी उसे अब जनसामान्य के अनुभव के सहारे स्पष्ट कर दिखाया जाता है।।१८७।।** उपनिषत् की आठवीं

वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात् तथेन्द्रियम् ।
इन्द्रियेभ्यः प्रियः प्राणः आत्मा प्रियतमस्ततः ।।१८८ ।।

कण्डिका के अर्थ का वर्णन प्रारंभ किया जा रहा है। इस प्रसंग में साफ किया गया है कि क्योंकि प्रत्यग्भूत आत्मा ही निरुपाधि निरतिशय प्रिय है इसलिये वही आनंद की आखिरी सीमा है, सम्पूर्ण आनंद वही है। आत्मा की प्रमाणसिद्धता के लिये उसकी अज्ञातता की तरह पुरुषार्थता भी ज़रूरी कही थी (श्लो १७६), उसी का अब उल्लेख आ रहा है कि परमानंदरूप होने से आत्मा ही परम पुरुषार्थ है।।१८७।।

अष्टम कण्डिका का प्रारंभ है 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरतरं यद् अयमात्मा।' अर्थात् पुत्र, धन इत्यादि सबसे आत्मा अधिक प्रिय है क्योंकि सर्वाधिक भीतरी है। इसका उपन्यास करते हैं **धन से अधिक प्रिय होता है पुत्र। पुत्र से अधिक अपना शरीर प्रिय होता है। उससे अधिक प्रिय इंद्रियाँ एवं उनसे अधिक प्रिय होते हैं प्राण! किंतु आत्मा प्राणों से भी अधिक प्रिय होने से प्रियतम है।।१८८।।** श्रुति में पुत्रादि का कथन विवक्षित क्रमानुसार नहीं यह सूचित करने के लिये बताया कि धन से पुत्र अधिक प्रिय है। धन से मानुष वित्त गाय-स्वर्ण आदि भी जानने चाहिये और दैववित्त उपासना भी जाननी चाहिये। देवलोक की प्राप्ति का साधन होने से उपासना दैव वित्त कही जाती है। दोनों वित्त प्रिय हैं क्योंकि सुख-प्राप्ति के उपाय हैं। आधुनिक काल में दैव वित्त से कम भी प्रेम होता है लेकिन मानुष वित्त से तो अत्यधिक प्रेम प्रत्यक्ष है। संभवतः कलिकाल की यह विडम्बना सूचित करने के लिये श्रुति ने पुत्र के बाद वित्त कहा हो! किंतु अभी भी प्रायः धन से अधिक प्रिय होता है पुत्र। पुत्र के सुख के लिये लोग धन व्यय कर देते हैं, पुत्र की शिक्षा आदि के लिये धन कमाकर खर्च करते हैं, पुत्र का अपहरण आदि हो जाये तो धन देकर उसे छुड़ाते हैं। अतः धन से पुत्र ज़्यादा प्रिय है। दैव वित्त अर्थात् उपासना में भी कटौती पुत्र के निमित्त देखी जाती है, पुत्र न होने तक उपासना में ज़्यादा समय दिया जाता है, पुत्र होने पर उसकी साक्षात् या परंपरा से सेवा के लिये समय लगने से उपासना में कम समय दिया जाता है। उपासनापूर्वक पुत्र के निमित्त प्रार्थना की जाती है अर्थात् उपासना से दैववित्त संचय न कर उतना व्यय पुत्रार्थ किया जाता है। इस तरह वित्त से पुत्र अधिक प्रिय स्पष्ट है। पुत्र से अधिक प्रिय अपना शरीर है। धन-पुत्र गौण आत्मा है पर शरीर मिथ्या-आत्मा है अतः उनसे अधिक इसमें तादात्म्य स्वाभाविक होने से उनसे यह ज़्यादा प्रिय है। कभी-कभी लोग अपने शरीर को पुत्र के लिये कष्ट देते

स्वात्मभोगस्य हेतुत्वात् प्राणादौ प्रीतिरिष्यते।
न स्वतोऽतो न सा मुख्या वेश्याप्रीतिर्यथा तथा।।१८९।।

दीखते हैं या शरीर के अवयव पुत्र को प्रदान करते दीखते हैं जिससे किसी को लग सकता है कि पिण्ड से पुत्र ज़्यादा प्रिय होगा, लेकिन ऐसा व्यवहार एक सीमा तक ही होता है अतः इस व्यवहार के पीछे भी पिण्डप्रेम ही हेतु है। कदाचित् प्रियता की भ्रान्ति भी ऐसा करा देती है, पिण्ड से ज़्यादा कुछ और प्रिय है ऐसा भ्रम होने पर उसके निमित्त देह का उत्सर्ग भी हो सकता है। अतः प्रकृत क्रम में पुत्रातिरिक्त सम्बंधी न कहे होने पर भी यद्यपि उनका उपलक्षण इष्ट है तथापि पिण्ड से अधिक पुत्र की तरह पत्नी आदि को भी प्रिय समझकर तदर्थ देहका नुकसान झेलने आदि की प्रवृत्ति समझ आ जाती है। हर हालत में, प्रायशः तो धन-पुत्र-पिण्ड यही प्रियता-वृद्धि का क्रम दीखता है। शरीर से ज़्यादा इंद्रियों से और उनसे भी ज़्यादा प्राणों से प्रेम होता है यह भी सर्वानुभवसिद्ध है। शरीर की हानि से इंद्रिय की कार्यकारिता कायम रह सके तो सभी लोग शारीरिक हानि सह लेंगे और प्राण-रक्षार्थ देह-इंद्रिय का नुकसान भी स्वीकार लेंगे। प्राणों से भी प्रिय आत्मा है, प्राण भी आत्मा के लिये चाहिये, अनात्मा के लिये नहीं! अतः जिसे हम स्वयं से सर्वथा अन्य समझें उसके प्राणों से हमें कोई सुख नहीं मिलता, जहाँ अपनत्व हो उसी के प्राण बचने से सुख होता है तथा निज के प्राणों से और अधिक प्रेम होता है। इसलिये प्राणों से ज़्यादा प्रिय निज स्वरूप है, आत्मतत्त्व है। श्रुति में 'प्रेयः' अर्थात् प्रियतर कहा है लेकिन वार्तिककार ने उसका अभिप्राय प्रियतम बताना माना है। दो में से एक कहने के लिये 'तर' का प्रयोग एवं अनेकों में से एक कहने के लिये 'तम' का प्रयोग व्याकरणादि-संमत है। अथवा हर कदम पर दो में से एक को ज़्यादा प्रिय कहा होने से 'तर' कहना भी उचित ही है।।१८८।।

प्राणादि प्रिय हैं, आत्मा अधिक प्रिय है यह मानकर व्याख्या की। अब समझाते हैं कि प्राणादि के प्रति प्रेम वास्तव में 'प्रेम' कहलाने योग्य नहीं क्योंकि अपने मतलब से ही होता है जबकि प्रेम उस वृत्ति को कहते हैं जो मतलब से न हो। **अपने आत्मा के भोग का हेतु होने से प्राणादि में प्रेम माना जाता है, खुद प्राणादि के लिये प्रेम नहीं हुआ करता। अतः जैसे वेश्या के प्रति आकर्षण वास्तविक प्रेम नहीं वैसे प्राणादि के प्रति होने वाली वृत्ति प्रेम-शब्द का मुख्य (वास्तविक) अर्थ नहीं है।।१८९।।** यह सत्य है कि धन, पुत्र, पिण्ड, प्राण आदि सब प्रिय हैं लेकिन हैं इसीलिये प्रिय कि उनका हमसे संबंध है। अन्यथा जहाँ-कहीं जिस-किसी के

प्रतीचि निर्निमित्तैव सर्वावस्थास्वपीष्यते।
प्रीतिरग्न्युष्णवत् तस्माद् मुख्याऽसाविति गम्यताम्।।१६०।।

धन-पुत्र-पिण्डादि से तो प्रेम होता नहीं! इसलिये धनादि से प्रेम अपने लिये है, हमें अच्छे लगते हैं, इसलिये उनसे प्रेम है। हमसे विपरीत हो जायें, हमें पसंद न रहें तो धन-पुत्र-पिण्डादि सभी त्याग दिये जाते हैं। अतः सिद्ध होता है कि उनसे जो प्रेम है वह निष्कारण नहीं, कारणविशेष से है। इसलिये उसे प्रेम कहना नहीं बनता। वेश्या के प्रति आकर्षण उसके रूप-लावण्यादि के निमित्त होता है, दुर्घटना-रोगादि से वह कुरूप अपाहिज आदि हो जाये तो उससे प्रेम समाप्त हो जाता है। ऐसी वृत्ति प्रेम नहीं कही जाती। पत्नी आदि से प्रेम इसीलिये कहा जाता है कि उसके रूप-लावण्य की समाप्ति आदि के पश्चात् भी उससे प्रेम बना रहता है। अथवा, वेश्या जो जारों के प्रति प्रदर्शित करती है वह प्रेम दृष्टान्त है। जब तक जार धन-यौवन सम्पन्न होता है तभी तक उसके प्रति वह प्रेम दिखाती है, धनादि समाप्त होने के बाद नहीं। वार्तिक में 'पण्यस्त्री-संगत' को अस्थिरता में उदाहृत किया ही है। वार्तिकसार में यहाँ 'ह्यात्मप्रीतिर्यथा तथा' (श्लो. ८६०) यों व्यतिरेकी दृष्टांत दिया है। वार्तिक में (१.४.१०३३) 'प्रीतिसाधनहेतुत्वात् प्राणादौ प्रीतिरिष्यते। बन्धकीप्रीतिवद्, मुख्या नैवाऽनात्मसु युज्यते।।' यों बन्धकी अर्थात् वारवनिता के प्रेम का ही उदाहरण है। प्रीति अर्थात् मानसिक प्रसन्नता का हेतु रहते ही प्राणादि प्रिय होते हैं, अन्यथा व्यक्ति प्राण-बंधन से छूटना चाहने लगता है जैसा वहीं वार्तिक है 'व्याध्याद्युपप्लुतो यस्माद् वक्ति निर्विण्णमानसः। अद्यैव मरणं श्रेयो मम दुःखार्दितात्मनः।।' इस तरह यही मान्य है कि प्राणादि सर्वत्र गौण प्रेम है, मुख्य प्रियता है ही आत्मा की। अतः 'प्रेय' का तात्पर्य है कि अन्यत्र गौण एवं आत्मा में ही मुख्य-प्रियता है।।१८६।।

बिना किसी प्रयोजन के हमेशा प्रिय होने से आत्मा ही प्रिय कहलाने के सचमुच योग्य है इसे व्यक्त करते हैं **क्योंकि सभी अवस्थाओं में बना रहता है इसलिये प्रत्यगात्मा के प्रति प्रेम बिना कारण है। जैसे आग में गर्मी स्वाभाविक है वैसे आत्मा की प्रियता स्वाभाविक है। अतः आत्मा के प्रति होने वाला ही मुख्य प्रेम है।।१६०।।** यहाँ यह अनुमान सूचित है : आत्मा बिना कारण प्रिय है, हर हालत में प्रिय होने से, जो हर हालत में बना रहे वह बिना कारण होता है जैसे आग की गर्मी आग स्वभाव से गर्म है, उसमें गर्मी किसी कारण से तो आती नहीं। अतः आग कैसी भी अवस्था में हो, उसमें गर्मी बनी रहती है। आत्मा भी हमेशा प्रिय है अतः उसकी प्रियता

सर्वान्तरतरत्वेन युज्यते निर्निमित्तता।
बाह्येषु सनिमित्तत्वं प्रीतेः स्पष्टं गवादिषु।।१६१।।

बिना कारण किं वा स्वाभाविक है। 'सभी अवस्था' अर्थात् बाल्यादि, जाग्रद् आदि, सुखी-दुःखी-मोही आदि जो कोई भी स्थिति हो उसमें आत्मा अर्थात् स्वयं अपने प्रति हमारे प्रेम में अंतर नहीं आता जो उस प्रेम को स्वाभाविक सिद्ध करता है। इससे निश्चय हो जाता है कि आत्मा आनंदरूप है।।१६०।।

सदा रहना जैसे एक हेतु है वैसे और भी हेतु है जिससे आत्मा की बिना कारण प्रियता है यह बताते हैं **भीतरी वस्तुओं में सर्वाधिक निकट होने से संगत है कि आत्मा के प्रति प्रेम बिना कारण हो। बाहरी गाय आदि वस्तुओं में प्रेम हेतु-विशेष से होता है यह सर्वानुभवसिद्ध है।।१६१।।** भीतरी अर्थात् हमें जिनसे भिन्नता कम प्रतीत होती है। साधारण दृष्टि से 'भीतरी' अर्थात् शरीर के भीतर होने वाली जो प्राण-इंद्रियाँ-मन-अविद्या हैं उनसे भी भीतर आत्मा है जैसा कोश-वर्णन आदि में प्रसिद्ध है। जिससे भेद ज़्यादा व्यक्त हो उतना वह बाहरी कहा जाता है, इस लोकसिद्ध रीति से आत्मा सर्वाधिक भीतरी है ऐसा कहना बनता है, न कि वास्तव में भीतर-बाहर का विभाजन मानकर। यहाँ यह अनुमान है आत्मा से प्रेम बिना हेतु के है क्योंकि आत्मा सबसे ज़्यादा भीतरी है, जो भीतरी नहीं होता उसी से प्रेम हेतुवश होता है जैसे गाय आदि से प्रेम इसीलिये होता है कि वह हमें दूध आदि देती है। बाह्य से प्रेम हेतुवश होता है इस तथ्य को याद रखना चाहिये। यदि हम गाय के ताज़े शुद्ध दूध को पीकर पुष्ट-स्वस्थ होते रहें तो उसके प्रति प्रेम होगा, गोसेवा स्वाभाविक-सी हो जायेगी। इससे विपरीत यदि हमें न ताज़े, न शुद्ध और न वास्तविक दूध की ही आवश्यकता रह गयी तो न गाय से प्रेम होगा और न उसकी सेवा के प्रति कोई सद्भाव जगेगा। जीवन में प्रतिदिन गाय का सम्पर्क रहे तभी गोसेवा को महत्त्व दें यह संभव है। गाय की धार्मिक महत्ता भी तभी समझ आये जब उसकी सेवा से हमें पुण्य होता है यह जँचे। पुण्य भी एक निमित्त है प्रीति का। यदि धर्म के प्रति भी संशय दृष्टि रहे, उपयोग भी भैंस-बकरी के समान हो जाये, तो गाय के प्रति प्रेम भी रहता नहीं यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः ग्रंथकार ने 'गवादिषु' लिखा जबकि आज का शहरी लेखक दृष्टांत देता तो संभवतः कुत्ते-बिल्ली का उल्लेख करता! आधुनिक नगर-वासी कुत्ते आदि पालते हैं उनसे प्रेम करते हैं, गाय के प्रति उनकी कोई प्रेम-भावना नहीं होती। कुत्ते से खेल लेते हैं, उसके साथ समय व्यतीत कर लेते हैं, कुछ सुरक्षा भी महसूस करते हैं अतः उनसे प्रेम करते हैं। इस तरह,

व्याध्याद्युपद्रुतो लोको मृतिमप्यभिवाञ्छति।
निर्निमित्तप्रियत्वे तु देहादेस्तद् न युज्यते।।१६२।।
अनात्मा प्रिय इत्येवं यो मुह्यति स पामरः।
विनाशित्वम् उदाहृत्य मूढं तं बोधयेद् बुधः।।१६३।।

बाहरी चीज़ों से प्रेम सनिमित्त होता है, निमित्त न रहे तो प्रेम भी नहीं रहता। आत्मा से प्रेम बिना निमित्त है अतः वह बाह्य नहीं हो सकता। जितना ज़्यादा भीतरी होगा उतना उससे प्रेम अधिक होगा। आत्मा से सर्वाधिक प्रेम है ही इसलिये कि वह सबसे ज़्यादा भीतरी है।।१६१।।

आत्मा से अन्यत्र प्रेम निमित्तवश ही होता है अतः चाहे जितना प्रिय हो, दुःखद होने पर अप्रिय हो जाता है यह दिखाते हैं **बीमारी आदि से परेशान व्यक्ति मरने की भी इच्छा कर लेता है। अगर शरीरादि से प्रेम निष्कारण होता तो यह संगत नहीं था कि कोई शरीर से वियोग चाहता।।१६२।।** बीमारी दुश्चिकित्स्य हो तो व्यक्ति चाहने लगता है कि मर जाये ताकि शरीरदुःख से वह स्वयं छूट जाये। साधारणतः जीवन-काल में लगता है मानो शरीर से प्रेम निष्कारण है परंतु ऐसा होता तो किसी हालत में यह इच्छा नहीं होती कि शरीर छूट जाये। इसी प्रकार अपना अहंकार हमें अतिप्रिय है लेकिन वह भी दुःखदायी हो जाये तो लोग नशा आदि करके उससे भी छूटना चाहते हैं। मृत्यु से भी अहंकार में आमूल परिवर्तन हो जाता है इसलिये अहंकार से परेशान होकर भी लोग मरने की इच्छा करते देखे जाते हैं। विचार करें तो रोज़ जो गहरी नींद में जाने की इच्छा है वही बता देती है कि अहंकार-पर्यन्त सभी से प्रेम आत्यंतिक नहीं है। नींद में धन-पुत्र-पिंड-मन आदि सभी तो छूट जाते हैं! यदि उनसे स्थायी प्रेम होता तो नींद की इच्छा ही न होती! इसलिये उपाधियों से प्रेम सकारण ही है यह निश्चित है।।१६२।।

आगे श्रुति वाक्य है 'स योऽन्यम् आत्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् - प्रियं रोत्स्यतीति। ईश्वरो ह, तथैव स्यात्' अर्थात् आत्मा से अन्य को प्रिय बताने वाले से आत्मप्रियवादी कहे 'तुम्हारा वह प्रिय नष्ट हो जायेगा।' क्योंकि वह यों कहने में समर्थ है इसलिये ऐसा ही होता भी है। इसे समझाते हैं **'अनात्मा प्रिय है' ऐसा जिसे मोह (विपरीत निश्चय) है वह पामर (अज्ञ) है। आत्मज्ञ को चाहिये कि अनात्मा की नश्वरता का उल्लेख कर उस मूर्ख को वास्तविकता समझाये।।१६३।।** साधारण लोग पत्नी-पुत्र आदि ग़ैर-मैं (अनात्मा) को ही प्रिय कहते-समझते हैं। कुछ दार्शनिकंमन्य भी ऐसा मानते हैं कि भगवान् से प्रेम तभी रहेगा जब भगवान् ग़ैर-मैं हों! अर्थात् वे भी

अनात्मा भोगकालेऽस्य सुखं यावत् प्रयच्छति ।
तत्सहस्रगुणं दुःखं नाशकाले प्रयच्छति । ।१६४ । ।

अनात्मा ही प्रिय होता है ऐसा समझते हैं। आचार्य ऐसे सभी को पामर कह रहे हैं। घृणास्पद को पामर कहा जाता है। अत्यन्त बदतमीज़ से भी शिष्टों को घृणा होती है। परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रत्यग्रूप से उपस्थित रहते जो अप्रत्यक् को प्रिय कहे वह अतिबदतमीज़ है ही अतः पामर है। अथवा अत्यंत अज्ञानी भी पामर है। अज्ञानवश ही मोह अर्थात् ग़लत निश्चय होता है। असत् को सत् समझना, अशुद्ध को शुद्ध समझना, अनात्मा को मैं समझना एवं महान् दुःख को भी सुख मान बैठना यह अविद्याविलास प्रसिद्ध है। ऐसे पामर को प्रबोधित करने के लिये शास्त्रनिर्देश है। पंचदशी में (१२. ६३-६६) इस श्रुति का व्याख्यान किया गया है। आचार्य जब शिष्य को समझाता है कि जिस अनात्मा को वह प्रिय समझ रहा है वह अनित्य होने से वास्तव में दुःख का ही हेतु है, तब शिष्य इस विषय-अनित्यता को समझने का प्रयास करता है। पंचदशी-टीकाकार ने 'रोत्स्यति रोदयिष्यति' ऐसी व्याख्या की है। अनात्मा प्रिय होगा तो दुःख देकर रुलायेगा ही, यह भाव है। पुत्र से प्रेम हो तो जब तक वह गर्भ में न आये तब तक क्लेश रहता है कि न जाने पुत्र होगा या नहीं; गर्भ में आ गया तो भी चिन्ता लगी रहती है कि गर्भ टिकेगा या नहीं; प्रसव के समय तो माता को क्लेश देता ही है; फिर रोग दुर्व्यसन आदि से दुःख देता रहता है और मर गया तब तो दुःख का क्या ठिकाना! इस प्रकार विचारकर शिष्य अनात्मा से प्रेम हटा सकता है। पंचदशीकार ने माना है कि यदि कोई वादी हठ करे कि अनात्मा ही प्रिय होता है, तो जो विद्वान् का 'प्रियंत्वा रोत्स्यति' वाक्य है वह शाप का काम करता है : अनात्मभूत प्रिय, सद्गति के द्वारों का रोधक हो जायेगा यह उस वाक्य का तात्पर्य निकलता है। ईश्वराभिन्न होने से तत्त्वज्ञ का वचन सफल ही होगा अतः वादी को नरक और अनेक जन्मों तक दुःख भोगना पड़ेगा। तात्पर्य है कि तत्त्ववेत्ता से वादी को भी हठ नहीं करना चाहिये, समझने का प्रयास करना चाहिये। ।१६३। ।

अनात्मा की निश्चित दुःखदता व्यक्त करते हैं **भोग के समय अनात्मा भोक्ता को जितना सुख देता है, नाश के समय वह उससे हज़ार गुणा अधिक दुःख प्रदान करता है। ।१६४। ।** अनात्मा का भोग तो अवश्यम्भावी है, उससे प्रेम करना-न करना हमारे हाथ में है। प्रेम किया तो वह दुःख का हेतु बनेगा ही। अनात्मा से मिलने वाला सुख कम और दुःख ज़्यादा होता है। दाल का सीरा (हलुवा) खाने पर सुख होता है लेकिन बढ़िया सीरा बनाने में कम-से-कम तीन घंटे का परिश्रम लगता है और उसे

'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी'।
व्युत्थाप्य विषयेभ्यस्तां प्रतीच्येव निवेशयेत्।।१६५।।
विषया इव न प्रत्यक् कदाचिदपि नश्यति।
अतो दुःखप्रदत्वं तु शङ्कितुं न च शक्यते।।१६६।।

खाने में मुश्किल से आधा घंटा भी नहीं लगता! उसके बाद सुख तो ख़त्म हो जाता है, संस्कार पड़कर आगे के लिये दुःख तैयार हो जाता है : स्वतंत्रता आने के पश्चात् धीरे-धीरे हालत यह हो गयी है कि शुद्ध गाय ही नहीं रही तो शुद्ध घी कहाँ मिले और बिना बढ़िया ताज़े घी के सीरे में स्वाद कैसे आये! जिन्होंने अच्छा घी चखकर उसका मज़ा लिया उन्हें यह स्थायी परेशानी भी झेलनी पड़ेगी कि आजकल घी नहीं मिलता। इस दुःख में हेतु पूर्व भोग से पड़े संस्कार ही हैं। अतः कहा कि भोग से सुख की अपेक्षा, मिटकर दुःख हज़ार गुणा देना यह अनात्मा का स्वभाव है।।१६४।।

अतः श्रुति ने निर्देश दिया 'आत्मानम् एव प्रियम् उपासीत' अर्थात् आत्मा को ही प्रिय समझना उचित है। इसका भाव स्पष्ट करते हैं **अज्ञानियों का जो विषयों में कभी न हटने वाला प्रेम है उसे विषयों से हटाकर प्रत्यगात्मा में ही लगाना चाहिये ।।१६५।।** ('व्युत्थाय' ऐसा अनुभूति प्रकाश-पुस्तकों में प्रायः छपा है पर वार्तिकसारानुसार मुत्तुकृष्णशास्त्री ने 'व्युत्थाप्य' यह सही पाठ छापा है। 'व्युत्थाय' ही पाठ मानें तो अर्थ है कि अधिकारी स्वयं विषयप्रीति से व्युत्थान करे और 'तां' प्रीति को प्रत्यगात्मा में लगावे। अभिप्राय एक ही है किंतु 'तां व्युत्थाप्य निवेशयेत्' यों अन्वय लघुभूत पड़ता है।) विष्णुपुराण १.२०.१६ में 'या प्रीतिः' आदि इसी प्रथमार्ध के बाद उत्तरार्ध है 'त्वाम् अनुस्मरतः सा मे हृदयाद् माऽपसर्पतु' अर्थात् भगवान् का अनुस्मरण करने वाले मुझ भक्त के हृदय से वह प्रेम न हटे। प्रह्लाद-विष्णु संवाद में यह वचन है। तात्पर्य है कि वैषयिकों के विषयप्रेम की तरह भक्त का परमात्मा में स्थिर प्रेम रहे। प्रेम कोई नया नहीं चाहिये, उसे अभी हम विषयों पर उडेल रहे हैं, वहाँ व्यर्थ न गँवाकर प्रत्यग्रूप परमात्मा पर ही अर्पित करें तो सनातन आनंद मिल जायेगा।।१६५।।

श्रुति ने सामान्यतः सभी प्रियों को दुःखद कहा तो आत्मा भी प्रिय होकर दुःख क्यों नहीं देगा? इसका उत्तर देते हैं **विषयों की तरह प्रत्यगात्मा कभी भी नष्ट नहीं होता इसलिये यह शंका भी नहीं की जा सकती कि वह दुःखदायी होगा।।१६६।।** दुनिया की सभी चीज़ें नश्वर होने से उनसे प्रेम करने पर वे नष्ट होकर दुःख देंगी लेकिन प्रत्यग्रूप आत्मा स्वरूप से नित्य है अतः नष्ट होता ही नहीं कि उसका वियोग हो सके

जिससे दुःख की संभावना हो अतः उसे प्रिय समझने का विधान संगत है। 'न नश्यति' कहा क्योंकि नाश का प्रधान अर्थ है न दीखना। वस्तु का दर्शन न होना ही उसका नाश है। विषयों का दर्शन अर्थात् प्रतीति तो सदा रह नहीं सकती, घट की प्रतीति के बाद जैसे ही पट देखा वैसे ही घट-प्रतीति बंद हो जाती है। परन्तु जिसे सब प्रतीतियाँ हो रही हैं वह मैं तो लगातार एक-सा भासमान रहता ही हूँ। अतः दर्शनस्वरूप होने से इसका अदर्शन कभी नहीं होता। विषय-दर्शन तो निर्भर करता है विषय-विषयी के संबंध पर लेकिन प्रत्यगात्मा का भान किसी संबंधादि पर निर्भर न करने से सनातन है। सर्वथा नाश-रहित होने से आत्मा कभी दुःख नहीं दे सकता। आत्मा से भिन्न वस्तु ही रुलायेगी, आत्मा कभी रुला नहीं सकता। यदि परमेश्वर के भी सोपाधिक, सविशेष, साकार रूप से प्रेम करेंगे तो रोना पड़ेगा! राधा के सामने से भगवान् लुप्त हुए, नारद को दर्शन देकर भगवान् लुप्त हुए, और भी अनेक भक्तों को दर्शन देकर जब अन्तर्धान हुए तब राधा नारद आदि सभी भक्त दुःखी हुए, रोये। अतः यहाँ केवल आत्मा से प्रेम करने को कहा, उसकी उपाधियों से नहीं। आत्मा दर्शन करने वाला है, उसके कारण ही अन्य चीज़ें दीखती, ज्ञात होती हैं। जैसे प्रकाश देखे बगैर हम रूप नहीं देख सकते ऐसे आत्मा का भान न हो और विषयज्ञान हो जाये यह संभव नहीं। परमात्मा क्योंकि प्रत्यक्स्वरूप है इसीलिये उससे वास्तविक विरह संभव नहीं। परमेश्वर को स्वयं से भिन्न समझने पर उसे परिच्छिन्न, विषय आदि मानकर उससे हमें विरह प्रतीत होता है। इसीलिये केवल आत्मा को प्रिय समझने का निर्देश देकर श्रुति ने स्पष्ट फल कहा 'स य आत्मानम् एव प्रियम् उपास्ते न ह अस्य प्रियम् प्रमायुकं भवति।।' आत्मानम् एव अर्थात् सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त आत्मा के प्रेमी का प्रिय 'प्रमायुक' अर्थात् मरणशील नहीं है। इस श्रुति वाक्य का ही प्रकृत श्लोक में तात्पर्य प्रदर्शित किया है।।१९६।।

आत्मा ही वस्तुतः प्रेमयोग्य है यह समझाकर उस आत्मा की पूर्णता समझाना शुरू करते हुए उपनिषत् में वाक्य है 'तदाहुः यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते; किमु तद् ब्रह्म अवेद्, यस्मात् तत् सर्वम् अभवत्?' (१.४.९) अर्थात् जिज्ञासुओं का प्रश्न है कि लोग मानते हैं कि ब्रह्मविद्या से हम सर्वरूप हो जायेंगे, लेकिन उस ब्रह्म ने क्या जाना जिससे वह सर्वरूप हो गया? तात्पर्य है कि यदि उसने कुछ जाने बिना सर्वरूपता पायी तो हम भी वैसे क्यों न पा लें और यदि उसने किसी को जानकर पायी तो उस दूसरे ने क्या जानकर पायी यों अनवस्थावश ब्रह्म की ही सर्वरूपता असिद्ध हो जायेगी। इस प्रश्न को उठाकर श्रुति ने आत्मबोध का वर्णन किया है। यहाँ भी

आत्मबोधः

सूत्रार्थज्ञमनुष्याणां मतिं विज्ञाय केचन।
मुमुक्षवो गुरुं प्राप्य चोदयन्त्यतिसम्भ्रमात्।।१९७।।
यद् ब्रह्मविद्यया सर्वभावाप्तिं मन्वते नराः।
तद् ब्रह्म किं विदित्वाऽभूत् सर्वम् इत्येतद् ईर्यताम्।।१९८।।
एवं मुमुक्षुभिश्चोद्ये कृते करुणया गुरुः।
अनायासेन तच्चोद्यं परिहर्तुं वचोऽब्रवीत्।।१९९।।
ब्रह्मैव बोधात् प्राग् जीवो भूत्वाऽऽत्मानम् अवेत् पुनः।
अहं ब्रह्मेति तद्बोधात् सर्वात्मकमभूत् तदा।।२००।।

पहले प्रश्न रखते हैं **विद्यासूत्र के अभिप्राय के जानकार मनुष्यों की भावना समझकर कुछ मोक्षेच्छु गुरु के पास जाकर अति-आश्चर्य से पूछते हैं 'लोग जिस ब्रह्म के ज्ञान से मानते हैं कि सर्वभाव मिल जाता है, वह ब्रह्म क्या जानकर सब कुछ हुआ? यह बताइये।' ।१९७-८।।** 'आत्मेत्येवोपासीत' यह विद्यासूत्र था जिसका श्लो. १४३ में उल्लेख आया था। उसका अभिप्राय परमेश्वर ही है जिसको जानने वालों की भावना है कि ब्रह्मज्ञान से सर्वरूपता प्राप्त होती है। आत्मज्ञता से सर्वज्ञता का कथन इसीलिये है कि सर्वरूपता सिद्ध हो जाने पर ज्ञरूप आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है। इस भाव को समझकर यहाँ प्रश्न है अर्थात् शास्त्रश्रद्धालुओं की जिज्ञासा है। इसका उद्देश्य यह स्थिर करना है कि ब्रह्म की सर्वरूपता कैसी है? जन्य हो तो अस्थायी होगी, नित्य हो तो दूसरों को दुष्प्राप होगी। असर्व यदि सर्व बने तो सर्वता अनित्य होगी ही और बिना बने ही सर्व हुआ जा सके तो असर्व जीव कभी सर्व हो ही नहीं सकेगा। इस प्रकार आत्मज्ञान से मोक्ष के बारे में ही यह विचार है।।१९७-८।।

उक्त प्रश्न के उत्तर में श्रुति ने कहा है 'ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीत् तद् आत्मानम् एव अवेद् - अहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्।' (१.४.१०) अर्थात् जिसके बारे में पूछा जा रहा है वह ब्रह्म पहले भी ब्रह्म ही था, उसने खुद को ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उस जानने से ही वह सर्वरूप हुआ। इसी की व्याख्या से पूछे सवाल का जवाब देते हैं **मोक्षेच्छुकों द्वारा यों प्रश्न करने पर करुणा से गुरु ने बिना प्रयास उस शंका के समाधानार्थ ये वचन कहे : ।।१९९।। ज्ञान से पूर्व भी यह जीव ब्रह्म ही था। उस आत्मा ने स्वयं को जब 'मैं ब्रह्म हूँ' जाना तब वह उस ज्ञान से सर्व हो गया।।२००।।** मुमुक्षु के प्रति गुरु में स्वाभाविक करुणा होती है। बिना मुमुक्षा के

कोई पूछे तब तो उपेक्षाभाव हो भी सकता है लेकिन मोक्ष की चाह वाले की उपेक्षा गुरु से नहीं होती। ब्रह्मवेत्ता का उपदेश-व्यवहार करुणा से ही होता है, हेत्वन्तर से नहीं। उन्हें आत्मसंबंधी बोध इतना सुस्पष्ट होता है कि उस बारे में चाहे जैसी शंका हो वे बिना किसी आयास या श्रम के उसका परिहार कर देते हैं। उन्होंने जवाब दिया संसार चक्र में पड़ा हुआ और उससे निकला हुआ यों दो ब्रह्म नहीं हैं! शैवों ने भी मोक्ष में जीव-शिव की एकता मानी लेकिन फिर भी उनमें यह भेद स्वीकारा कि शिव तो आदिमुक्त या नित्यमुक्त है और जीव साधना से मुक्त होता है। जैसे जो न्यास (ट्रस्ट) स्थापित करता है वह तो उसका सदस्य स्वयं बन सकता है जबकि औरों को सदस्य वह बनाता है। सदस्य तो सभी हैं पर एक स्वयं बना और दूसरे बनाये गये हैं। ऐसे ही एक स्वयं शिव है, बाकी मोक्ष में ही शिव हैं। किन्तु औपनिषदों का ऐसा मानना नहीं। हमारा मन्तव्य है कि शिव-जीव में वास्तव में कोई अंतर नहीं। ब्रह्म ही जीवरूप से प्रविष्ट हुआ, वही अपने ब्रह्मरूप को जानता है। ज्ञान से पूर्व ब्रह्म ही जीव हुआ और उसने अपने आप को जाना। जानने से पहले तक संसरण करने वाला भी है ब्रह्म ही और जानकर मुक्त होने वाला भी है ब्रह्म ही। श्लोक के 'पुनः' का अर्थ 'फिर से' नहीं वरन् 'जब' है। मेदिनी कोष में पुनः का एक अर्थ 'पक्षांतर' कहा है। उसी भाव से यहाँ प्रयोग है अतः मूलकार ने 'तदा' तो लिखा, 'यदा' नहीं लिखा क्योंकि पुनः से यदा का अर्थ प्रकट हो जाता है। 'फिर से' इसलिये अर्थ नहीं कि ज्ञान होने के बाद फिर अज्ञान हो नहीं सकता कि उसकी निवृत्ति के लिये फिर से ज्ञान उत्पन्न होवे। अज्ञान अनादि है, हमेशा से है जैसे हमारा जर्मन भाषा का अज्ञान हमेशा से है। हम जर्मन कब से नहीं जानते? हमेशा से नहीं जानते। ज्ञान कब हुआ यह तो कहा जा सकता है पर अज्ञान कब हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म ने जैसे ही स्वयं को ब्रह्म जाना, वह सर्वरूप 'हो गया'; था वह हमेशा ही सर्वरूप, जाना नहीं था अतः परिच्छेद का भ्रम था, जानने से भ्रम दूर हो गया। सारा प्रपंच-विस्तार उसका खुद का था, किसी और उपादान से तो कुछ बनाया था नहीं, अतः खुद के ज्ञान से ही सर्वरूपता हासिल हो गयी।।१९९-२००।।

जानने वाला जिसे जानता है उससे अलग होता है यह लोकसिद्ध है अतः जानने वाले जीव और जिसे जाना उस ब्रह्म में कोई अंतर होना चाहिये। इस व्यवस्था को उपपन्न करते हुए पूर्वोक्त प्रतिज्ञा का विस्तार करते हैं **उपाधियुक्त आत्मा ने उस आत्मा को जाना जो उपाधि से असंबद्ध है। इस तरह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का अन्तर कायम रह जाने से 'आत्मा ने स्वयं को जाना' इस बात में थोड़ा भी दोष नहीं**

अवेत् सोपाधिरात्माऽयम् आत्मानं निरुपाधिकम् ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदाद् न दोषोऽत्र मनागपि ।।२०१।।
अविविक्तस्तु देहाद्यैरात्मा भवति वेदिता ।
विविक्तात्मा वेदितव्यो धीवृत्तिर्वेदनं भवेत् ।।२०२।।

है ।।२०१।। उपाधि अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर, इनसे युक्त अर्थात् तादात्म्याध्यास वाला आत्मा अर्थात् जीव। उसने जाना स्वयं को, आत्मा को ही लेकिन यों कि वह सभी उपाधियों से सर्वथा असम्बद्ध है। काँच में अपना ही मुख दीखता हैइसमें कोई विरोध नहीं क्योंकि देखने वाला ग्रीवास्थ मुख और दीखने वाला दर्पणस्थ मुख, यों एक ही मुख में दर्पणरूप उपाधि के सम्बंध-असंबंध से द्रष्टा-दृश्यभाव संगत हो जाता है। ऐसे ही उपाधि में प्रविष्ट चेतन जान रहा है उसे जो उपाधि से बाहर है। जैसे प्रतिबिंब में दीखने वाला वास्तव में ग्रीवास्थ मुख ही है वैसे जीव जिसे देखता है वह वस्तुतः निरुपाधि ब्रह्म ही है। जीव देखता है यह वैसे ही है जैसे बच्चे को लगता है कि 'प्रतिबिम्ब मुझे घूर रहा है'। सोपाधिक आत्मा जीव है, निरुपाधि आत्मा ब्रह्म है। द्रष्टा-दृश्य में अंतर भले ही चाहिये हो, वह अंतर वास्तविक होना आवश्यक नहीं, काल्पनिक अंतर से भी यह व्यवहार चल जाता है जैसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब का। प्रतिबिंब में दीखता है कि मुँह पर दाग है तो बिम्ब खुद पर से दाग पौंछ देता है। इसी तरह ब्रह्म देखता है कि जीवरूप में अज्ञानादि दोष हैं तो खुद उन्हें दूर कर देता है।।२०१।।

ब्रह्म ने स्वयं को जाना तो एक जानने वाला, एक जिसे जाना वह और एक जानना ये तीन होने चाहिये अतः इन तीनों का प्रदर्शन करते हैं **शरीरादि से एक-मेक हुआ आत्मा तो जानने वाला है, शरीरादि से अलग समझा आत्मा वह है जिसे जानता है और बुद्धि की वृत्ति 'जानना' है ।।२०२।।** 'शरीरादि' में 'आदि'-से अहंकार-पर्यन्त समझना चाहिये। जीव की उपाधिरूप से अभिमत जो कुछ भी, उससे पृथक् न समझा आत्मा अर्थात् जीव ही ज्ञाता है। ज्ञेय है आत्मा का वह सच्चिदानन्द परिपूर्ण स्वरूप जिसका उपाधि से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। वस्तु एक ही है। जैसे मुख एक ही है, वही बिम्ब भी है, वही प्रतिबिम्ब भी है, वैसे आत्मा एक ही है। इसीलिये शास्त्र में जहाँ आता है कि ईश्वर जीव का उद्धार कर देता है, वहाँ भी यही न्याय है; ऐसा नहीं कि जीव से सर्वथा अन्य कोई ईश्वर हो जो उद्धार करे। जो अविविक्त है उसी का विवेक करके उसका निरुपाधिक स्वरूप समझना है। ज्ञान अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध होता है वह है बुद्धि की अखण्डाकार वृत्ति। आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान तो अनादि-अनंत

अविद्यारूपनिह्नुत्यै तद् आत्मानम् अवेद् इति।
आत्माऽभिमुखधीवृत्तिरात्मवेदनम् उच्यते।।२०३।।

है, अविद्या का अधिष्ठान है न कि निवर्त्तक। अविद्यानिवृत्ति का हेतु बनने वाला है उक्त वृत्ति से निरूपित ज्ञान। अकेली वृत्ति यद्यपि ज्ञान नहीं तथापि क्योंकि प्रमाणजन्य बुद्धिवृत्ति ज्ञान को निरूपित करती हुई ही बनती है इसलिये उसे ज्ञान कहा जाता है। जैसे कहते हैं कि घड़े में पानी भरा जाता है। पानी तो घड़े में जो जगह है उसमें भरा जाता है! फिर भी क्योंकि घड़ा बनते हुए ही अपने में जगह घेरे रहता है इसलिये कह दिया जाता है कि घड़े में पानी भरा जाता है। आगन्तुक कारण वृत्ति होने से उसी में कारण - ऐसा व्यवहार हो जाता है। वह वृत्ति ही यहाँ ज्ञान कही गयी है।।२०२।।

बुद्धिवृत्ति का कृत्य दिखाते हैं **अविद्यारूप आरोप के बाध के लिये ब्रह्म ने आत्मा को जाना अतः आत्मा को विषय करती बुद्धिवृत्ति आत्मज्ञान कही जाती है।।२०३।।** श्रुति ने सृष्टि का वर्णन ऐसा ही किया कि प्रकट होने से पूर्व सब ब्रह्म था जिसने आत्मस्वरूप को जाना तो वह सर्वरूप हो गया; इससे समझ आता है कि नाम-रूप विभाजनात्मक सृष्टि अविद्या से हुआ विवर्त्त है क्योंकि अन्यथा कोई तरीका नहीं कि सर्वविशेषशून्य एक अद्वितीय तत्त्व से यह सारी विशेषों में बँटी द्वैतात्मक सृष्टि हो सके। अतः आत्मा अविद्या से शरीरादि सब कल्पित कर उनसे तादात्म्य सम्बंध भी कल्पित कर लेता है। यह आरोप हटता भी एकमात्र उपाय ज्ञान से है, आत्मा की सचाई जानने से ही अविद्या दूर होती है। आत्मा की वास्तविकता का ज्ञान जिस बुद्धिव्यापार से होता है उसी को आत्मज्ञान कहते हैं। आत्मा उस वृत्ति का विषय बन जाता है यह इसलिये कहा जाता है कि वृत्ति द्वारा वही अज्ञान हटता देखा गया है जो वृत्ति-विषय का आवरक हो, ऐसा नहीं कि जो वृत्तिविषय नहीं उसका निरावरण वृत्ति कर दे, घटविषयक वृत्ति पटावरणनिवर्तक नहीं देखी जाती। आत्मावरण निवृत्त होता है अतः उसे वृत्ति-विषय भी कहा जाता है। किंतु घटादि की तरह आत्मा में कोई विषयता आती हो, ऐसा नहीं। जहाँ भाष्य में 'अस्मत्प्रययविषयत्वात्' कहा है अर्थात् मैं-अनुभव में आत्मस्फुरण बताया है वहाँ प्रकटार्थ-कार ने व्याख्या की है 'स्वरूपेण अविषयत्वेऽपि अध्यस्ताहं-कर्तृत्वादिविशिष्टरूपेण विषयो भवति, अधिष्ठानत्वयोग्यो भवति इत्यर्थः' (पृ. २२ म.अ. सं.)। इसी रीति से समझ सकते हैं कि वृत्तिविषयता के व्यवहार के योग्य बनने से उसे वृत्तिविषय कहा जाता है। अतएव वाचस्पति शुद्ध ब्रह्म को वृत्तिविषय नहीं मानते किंतु उसका यह तो मतलब नहीं कि वे शुद्धब्रह्म का ज्ञान ही न मानते हों क्योंकि तब तो

आत्मानमेव तद् अवेद् इत्युक्ताद् एवकारतः ।
निर्माल्यवत् परित्याज्यं देहादीत्यवगम्यते ।।२०४।।
त्यज्यमाने तु देहादावात्मैवैकोऽवशिष्यते ।
परित्यक्तुम् अशक्यत्वाद् आत्मानं निह्नुतेऽत्र कः ।।२०५।।

अखण्डसाक्षात्कार के कोई मायने नहीं रहेंगे। इसलिये वृत्ति का वास्तविक विषय नहीं बनता, वृत्तिविषय बनने पर जैसे अविद्यानिवृत्ति होती है वैसे अविद्यानिवृत्ति होने के कारण वृत्तिविषय बना कहा जाता है यही तात्पर्य है। इस वेदन का, वृत्ति का प्रयोजन अविद्यारूप आवरण को मिटाना ही है। जड वस्तुओं को जब जानते हैं तब उन वस्तुओं से परिसीमित आत्मा का आवरण दूर होकर वृत्ति में गृहीत प्रकाश से जड वस्तुओं का स्फुरण होता है किन्तु चेतन स्वयं ज्ञानस्वरूप है अतः आवरण मिटना ही पर्याप्त है, वृत्ति-से सीमित प्रकाश से कोई स्फुरण नहीं चाहिये। इसी से कहा जाता है कि आत्मा में वृत्तिव्याप्ति होती है, फलव्याप्ति नहीं। फल अर्थात् वृत्ति में ग्रहण किया ज्ञान, उसकी व्याप्ति अर्थात् विषयता। सेव घड़े से ढका हो तो उसे देखने के लिये घड़ा हटाना तथा रोशनी डालना दो काम करने पड़ते हैं पर जलता दिया ढका हो तो केवल घड़ा हटाना पड़ता है, रोशनी नहीं डालनी पड़ती क्योंकि दिया खुद प्रकाशरूप है। ऐसे ही अनात्मज्ञान में फलव्याप्ति चाहिये, आत्मज्ञान में नहीं। इसमें केवल बुद्धिवृत्ति का उपयोग है।।२०३।।

आत्मज्ञान में ज्ञाता आदि की व्यवस्था बतायी। अब विचार्यमाण 'आत्मानम् एव अवेत्' वाक्य में आये एवकार का अभिप्राय व्यक्त करते हैं **'उसने आत्मा को ही जाना' इस वाक्य में कहे 'ही' शब्द से समझा जाता है कि देहादि को वैसे ही छोड़ देना चाहिये जैसे निर्माल्य छोड़ा जाता है।।२०४।। देहादि छोड़ने पर एक आत्मा ही बचता है क्योंकि उसे छोड़ा जा ही नहीं सकता। स्वयं का निषेध कौन करता है!।।२०५।।** 'ही' अर्थात् आत्मातिरिक्त को छोड़कर। देहादि जो कुछ अनात्मा है उसे हटाकर अकेले आत्मा का ज्ञान विवक्षित है। 'छोड़ना' भी स्थूलतः तो हो नहीं सकता क्योंकि आत्मा व्यापक है, उससे कुछ दूर किया नहीं जा सकता, अतः विवेक से यह निश्चय करना विवक्षित है कि शरीरादि आत्मा नहीं हैं। दृष्टांत दिया निर्माल्य का : पूजनादि के अनन्तर दर्शनीय रूप से उपलब्ध रहते जो पुष्पादि श्रृंगार मूर्ति आदि पर रहता है वही शयन काल में मूर्ति से हटाया जाता है जो निर्माल्य कहलाता है। इसी प्रकार अध्यारोप में जो कुछ कल्पित हुआ उसका अपवाद करने पर ही पुनः स्वरूपदर्शन

अहं ब्रह्माऽस्मि नो जीव इत्यवेद् ब्रह्मरूपताम्।
शोधितस्याऽहमर्थस्य युज्यते ब्रह्मरूपता।।२०६।।

होगा। अज्ञानकार्य जगत् परमात्मा पर किया शृंगार है। इसे हटाना ही पदार्थ-शोधन है। शरीर से अहंकार पर्यंत उपाधियाँ हटाने से त्वमर्थ का और विराट् से कारणपर्यंत उपाधियाँ हटाने से तदर्थ का शोधन सम्पन्न हो जाता है। क्या-क्या हटाया जाये? जो कुछ हटाया जा सके, सभी हटाना पड़ेगा। जो हटाया जा ही न सके, वही परमात्मस्वरूप है। जैसे मूर्ति से अतिरिक्त सभी शृंगार हटाकर शयन कराते हैं, मूर्ति तो प्रतिष्ठित होने से हटायी नहीं जा सकती, ऐसे सभी उपाधियाँ हटानी हैं, उन्हें हटाने वाला जो प्रत्यक्स्वरूप वही आत्मा है जो विज्ञेय है। इसे समझाने के लिये दक्षिण में चिदम्बर में 'आकाश लिंग' का दर्शन कराते हैं, नृत्य करती नटराज मूर्ति के बगल में एक झरोखा-सा है, पर्दा हटाकर कहते हैं 'दर्शन करो।' वहाँ दीखे ऐसा कुछ नहीं! केवल खाली जगह, आकाश है। नाम-रूप हटने पर जो रहे वही परमेश्वर है यह बताने में तात्पर्य है।।२०४-२०५।।

आगे श्रुतिवचन है 'अहं ब्रह्मास्मीति' अर्थात् उसने आत्मा को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। इसे समझाते हैं **'मैं जीव नहीं ब्रह्म हूँ' यों उसने आत्मा की ब्रह्मरूपता समझी। अहम्पदार्थ का शोधन हो चुकने पर उसकी ब्रह्मरूपता संगत है।।२०६।।** अहम्पदार्थ या त्वम्पदार्थ अर्थात् जीव, उसका शोधन अर्थात् उसका उपाधियों से विविक्त रूप समझ लेना। एक बार सब उपाधियाँ हटा दीं तो जो आत्मा रह जाता है वह ब्रह्म अर्थात् व्यापक हो इसमें कोई असंगति नहीं। खान से निकलते समय सोने के साथ बहुत-सी चीज़ें रहती हैं, उन्हें साफ कर देने पर बचा पदार्थ शुद्ध सोना है। है तो वह पहले भी शुद्ध लेकिन अशुद्धि से मिला-जुला होने से अशुद्ध कहा-समझा जाता है, अशुद्धि दूर करने से यद्यपि सोने में कोई फर्क आया हो ऐसा नहीं पर व्यवहार यही होता है कि सोना शुद्ध हो गया। इसी प्रकार उपाधियाँ अशुद्धि हैं जिनके साथ मिला-जुला हम स्वयं को जान रहे हैं इसलिये अभी हमें अशुद्ध कहा जाता है, उपाधियों से पृथक् स्वयं को जानने पर हमें शुद्ध कहा जाता है। हममें कोई परिवर्तन नहीं आता, हमारी अपने बारे में समझ में ही परिवर्तन आता है जिसे शोधन कहते हैं। यों जो सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त आत्मा उसे ब्रह्म ही कहना उचित है। आत्मा में उपाधि-अध्यास ही परिच्छिन्नता है, उसकी निवृत्ति हो जाये तो व्यापकता स्वाभाविक है, व्यापक आत्मा ही ब्रह्म है।।२०६।।

ब्रह्मता नात्मनोऽन्यत्र नात्मता ब्रह्मणोऽन्यतः।
तद्याथात्म्याऽप्रबोधात्तु तयोरेष विपर्ययः।।२०७।।
अब्रह्माऽनात्मताहेतौ प्रत्यग्ध्वान्ते निवर्तिते।
आत्मानमेव ब्रह्मेति निर्विघ्नं प्रतिपद्यते।।२०८।।

शुद्ध त्वमर्थ ब्रह्म है यही उपपन्न करते हैं **आत्मा से अन्य में ब्रह्मरूपता नहीं हो सकती और न ब्रह्म से अन्य में आत्मरूपता ही होना संभव है। इनकी वास्तविकता न समझने से ही इनके बारे में यह विपरीत बोध है (कि दोनों में अन्तर है)।।२०७।।** आत्मा से अन्य अनात्मा होता है, वह ब्रह्म होना संगत नहीं क्योंकि ब्रह्म चेतन का ही नाम है। ब्रह्म से अन्य परिच्छिन्न होगा और वह आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि परिच्छिन्न घट आदि सब जड, अनात्मा होते हैं। इस तरह निश्चित है कि आत्मा व ब्रह्म परस्पर विभिन्न वस्तुओं के नाम संभव नहीं। किन्तु क्योंकि हम आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है यह सही तरह नहीं समझ पाये हैं इसलिये हमें लग रहा है कि ये दोनों परस्पर स्वतंत्र, विभिन्न पदार्थ हैं। आत्मा से हम चेतन तो समझते भी हैं पर यह नहीं कि वह व्यापक है। ब्रह्म से हम व्यापक तो समझते भी हैं पर यह नहीं कि वह प्रत्यक् है। इसी से हमारा विपरीत निश्चय है कि मैं ब्रह्म नहीं, ब्रह्म मैं नहीं! जो श्रद्धालु यह भी कह देते हैं कि कण-कण क्षण-क्षण में परमात्मा है, वे भी 'मुझ में भी वही परमात्मा है' यह नहीं स्वीकार पाते क्योंकि आत्मा व ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप क्या है यह नहीं समझते।।२०७।।

इस विपरीत बोध के समूल निवारण का तरीका बताते हैं **आत्मा की ग़ैर-ब्रह्मता और ब्रह्म की ग़ैर-आत्मता इनका हेतु है प्रत्यगात्म-सम्बन्धी अज्ञान। वह अज्ञान जब मिट जाता है तब बिना विघ्न के यह समझ आ जाता है कि आत्मा ही ब्रह्म है।।२०८।।** प्रत्यग् अर्थात् जो कभी विषय बने बगैर हमेशा भासता रहे। वाचस्पति मिश्र 'प्रत्यगात्मनि अविषये' इस अध्यासभाष्य के प्रयोग का अर्थ बताते हुए लिखते हैं 'अशक्यनिर्वचनीयेभ्यो देहेन्द्रियादिभ्यः आत्मानं प्रतीपं निर्वचनीयम् अंचति जानाति इति प्रत्यङ्, स चात्मेति प्रत्यगात्मा' (पृ.३७ कल्प.परि.संस्करण) अर्थात् देहादि उपाधियों का सदसत्त्वादिरूप से निर्वचन अशक्य है, उनसे विपरीत है आत्मा जो सच्चिदानन्दरूप से निर्वचन के योग्य है, उसे जो यों अर्थात् उपाधियों से विपरीत स्वभाव वाला जानता है वह प्रत्यक् है, वही आत्मा है। जिसे हम हमेशा सिर्फ मैं समझते ही हैं वही प्रत्यगात्मा है। उपाधियों को तो बहुधा 'यह' (ग़ैर-मैं, मेरा)

निवर्त्यभेदाद् भिन्नोऽर्थो ब्रह्माऽहम्पदयोर्भवेत् ।
अब्रह्माऽनात्मते वार्ये एकस्मिन्नेव वस्तुनि ।।२०९।।
स्वानुभूत्यवसेयेऽस्मिन् प्रतीच्यब्रह्मतां जनाः ।
आरोप्य शास्त्रगम्येऽस्मिन्ननात्मत्वमकल्पयन् ।।२१०।।

समझते ही हैं अतः वे मिथ्यात्मा ही हैं जबकि प्रत्यक् है मुख्यात्मा। उसके बारे में जो हमारा अज्ञान है उसी के चलते हमें आत्मा लगता है कि ब्रह्म नहीं हो सकता और ब्रह्म लगता है कि आत्मा अर्थात् मैं नहीं हो सकता। अतः अज्ञाननिवृत्ति होने पर आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्मातिरिक्त आत्मा कुछ नहीं यह समझने में कोई रुकावट नहीं रह जाती।।२०८।।

यद्यपि आत्मज्ञान ही अज्ञाननिवर्तक है तथापि आत्मा की सम्पूर्ण जानकारी मिले बिना उसकी वह प्रमा होगी नहीं जो तत्सम्बद्ध समस्त अज्ञान-निवर्तक हो। आचार्य बादरायण ने निर्णय बताया है कि सत् चिद् आनन्द अनन्त और प्रत्यक् ये पाँच बातें आत्मा के बारे में मालूम हों तो जानकारी पूरी होती है। हमें स्वयं के बारे में सत् चित् प्रत्यक् लगभग मालूम है, शास्त्रानुसार विचार करने से प्रियता के रास्ते आनंद का भी कथंचिद् बोध हो जायेगा किन्तु अनन्त का ज्ञान तभी हो जब शास्त्र जिसे अनन्त, व्यापक कहता है, उसे आत्मरूप जानें अर्थात् परमेश्वर से आत्मा का अभेद पता चले। उसके लिये शास्त्र महावाक्य का उपदेश देता है जिसमें परमेश्वर और जीव की एकता कही है। उन महावाक्यों में जीव-ईश्वर दोनों का उल्लेख कर अभेद बताया जाता है ताकि जीव के बारे में जो हमें परिच्छिन्नता का भ्रम है और ईश्वर के बारे में परोक्षता का भ्रम है वे दोनों भ्रम दूर हों। वस्तु आत्मा एक ही होने पर भी उसके बारे में भ्रम दो तरह के हैं अतः महावाक्य में दोनों पदार्थ कहकर उनका अभेद व्यक्त करते हैं। इसी उपयोग को स्पष्ट करते हैं **महावाक्य में आये ब्रह्म-शब्द और अहं-शब्द के अर्थ परस्पर अलग हैं क्योंकि इनके अर्थ समझकर जिन भ्रमों को दूर करना है वे भ्रम अलग-अलग हैं। एक ही आत्मवस्तु के बारे में यह भ्रम दूर करना है कि वह अब्रह्म अर्थात् अव्यापक है और दूसरा भ्रम यह मिटाना है कि वह व्यापक वस्तु अनात्मा अर्थात् अप्रत्यक् है।।२०९।। लोग अपने स्वाभाविक अनुभव से सिद्ध इस प्रत्यगात्मा में यह आरोप करके कि यह ब्रह्म (व्यापक) नहीं है, यह भी आरोप करते हैं कि शास्त्र से समझा जाने वाला परमेश्वर अनात्मा (= अप्रत्यक्, परोक्ष) है।।२१०।।** चेहरा एक ही है, काँच में दीखने पर उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं और

अनुभूत्यवसेयोऽहं ब्रह्म शास्त्रसमर्पितम्।
अस्मीति बोधाद् आरोपद्वयम् अत्र निवर्तते।।२११।।

तभी गर्दन पर स्थित को बिम्ब कहते हैं; बिम्ब-प्रतिबिम्ब दो वस्तुएँ नहीं हैं, एक चेहरे के ही दो सापेक्ष व्यवहार्यरूप हैं। चेहरा हम स्वयं अपनी आँखों से देख नहीं सकते, दृश्य नहीं, पर प्रतिबिम्ब उसकी अदृश्यता को हटाकर हमें अपना चेहरा देखने देता है। इस तरह, हमारा चेहरा हमें परोक्ष (आँखों से न दीखने वाला) है यह भ्रम प्रतिबिम्ब मिटाता है। इसी तरह यदि हमें बीस प्रतिबिम्ब दीख रहे हैं तो वस्तुतः मुख एक है यह पता चलता है बिम्ब की एकता समझने पर, अन्यथा दीखते तो बीस ही हैं। ऐसे ही ब्रह्म की परोक्षता का भ्रम जीवरूप के ज्ञान से और आत्मा की परिच्छिन्नता का भ्रम ईश्वर के ज्ञान से यह प्रक्रिया मान्य है। ब्रह्म अहं से भिन्न नहीं, अहं भी ब्रह्म से भिन्न नहीं यों समझने पर अद्वैत परमार्थ निरावृत होता है। आत्मा हमें अपने निजी अनुभव से ही प्रकाशमान है, इसकी व्यापक परिपूर्णता भी अनुभव में ही समाप्त होती है अर्थात् व्यापकता भी अनुभवरूप ही रहती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य समझने का नतीजा शुद्ध ब्रह्म में स्थिति है। पता इसका चलता है शास्त्र से ही, उसके बिना यह रहस्य अज्ञात ही बना रहता है। जो जिस प्रमाण के योग्य है उसे उसी प्रमाण से समझा जा सकता है, अन्य प्रमाण से भी नहीं व बिना प्रमाण के भी नहीं। शास्त्र को छोड़ दें तो आत्मा के बारे में कोई-न-कोई ग़लत ही भावना बनती है जैसे सांख्यवादी प्रत्यगात्मा तक पहुँचे भी तो उसे अनेक मान बैठे! शास्त्र-प्रतिपाद्य आत्मा वही है जो अभी कर्त्ता-भोक्ता लग रहा है, यही सत्य महावाक्य से अवगम्य है।।२०६-१०।।

अज्ञावस्था में ब्रह्म परोक्ष और जीव परिच्छिन्न लगता है यह बताकर अब समझाते हैं कि महावाक्य से उस भ्रम का निवारण हो जाता है **अनुभव की चरम सीमा मैं ही शास्त्रतात्पर्य-विषय ब्रह्म हूँइस ज्ञान से पूर्वोक्त दोनों भ्रम मिट जाते हैं।।२११।।** वेदोक्त परमेश्वर मैं-रूप अनुभूति से ही सिद्ध है, उसे मैं न मानें तो उसका वेदोक्त वर्णन घटता ही नहीं है। मैं ही अनुभव की चरम सीमा हूँ अर्थात् अनुभूति क्या हैइसका परीक्षण करते जायें तो मैं में जाकर समाप्त होगा, मैं ही अनुभूति हूँ, अन्य कुछ अनुभूति नहीं है।।२११।।

इस अविद्या निवृत्ति की स्वानुभवरूपता प्रकट करते हैं **('अहं ब्रह्म अस्मि' इस वाक्य में आये) 'अस्मि' ('हूँ') - शब्द से वर्त्तमानता कही जाने से सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान के समय ही मोक्ष-उपलब्धि है अतः अग्निहोत्रादिकर्मों के फल**

अस्मीति वर्तमानोक्तेर्विद्याकालैव मुक्तता।
सिद्धाऽतोऽसौ न साध्या स्याद् अग्निहोत्रादिकार्यवत्।।२१२।।

सर्वभावः

तस्मात् तत् सर्वमभवद् इति वाक्येन वेदनात्।
उच्यते सर्वभावाप्तिरसर्वत्वापवादतः[1]।।२१३।।
स्वतः सर्वात्मकं ब्रह्म भात्यसर्वमिव भ्रमात्।
विद्यया भ्रान्तिबाधेऽस्य सर्वत्वम् अवशिष्यते।।२१४।।

स्वर्गादि की तरह मोक्ष साधनों से प्राप्तव्य नहीं है।।२१२।। 'अस्मि', 'हूँ' से पता चलता है कि बात वर्त्तमान काल की हो रही है। इससे निर्णय हो जाता है कि जैसे ही आत्मबोध होता है वैसे ही अपनी वास्तविक ब्रह्मता प्रकट होने से मोक्ष अनावृत हो जाता है, कोई विलम्ब नहीं रहता। अन्यथा 'मैं ब्रह्म हो जाऊँगा' ऐसा कथन संगत होता। यदि केवल सृष्टि-प्राक्कालिक आत्माऽद्वैत कहना होता तो 'अहं ब्रह्म बभूव' आदि कहते कि मैं ब्रह्म था। अहं ब्रह्मास्मि और तत्त्वमसि इन दो महावाक्यों में क्रियापदका प्रयोग है तथा दोनों जगह वर्त्तमान का प्रयोग किया गया है जिससे श्रुति स्पष्ट कहती है कि आत्मा की ब्रह्मरूपता सनातन है। अतएव वह अज्ञानावृतमात्र है और तत्त्वबोधमात्र से अनावृत होना ही उसकी उपलब्धि है, किसी क्रिया के फलस्वरूप उसकी प्राप्ति होती हो ऐसा नहीं। ज्ञान तो श्रवण से होगा लेकिन हमारी ब्रह्मरूपता उससे हो ऐसा नहीं, वह स्वभावसिद्ध है।।२१२।।

प्रश्न उठाया था (श्लो. १९८) कि जिसे जानकर सब मुमुक्षु सर्वरूप होने को उत्सुक हैं, उस ब्रह्म ने क्या जाना था कि वह सर्वरूप है? उत्तर दिया कि उसने स्वयं को ही जाना। इसी ज्ञान का प्रभाव है कि 'तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्' वह सर्वरूप है। इस वाक्य को व्यक्त करते हैं **'उस ज्ञान से ही वह सर्वरूप हो गया' इस वाक्य से कहा गया है कि आत्मज्ञान से सर्वरूपता मिल जाती है क्योंकि आत्मा की असर्वता का इस ज्ञान से अपवाद हो जाता है।।२१३।। ब्रह्म स्वयं सर्वरूप है पर भ्रम से लगता है मानो सर्वरूप न हो। तत्त्वज्ञान से भ्रम का बाध हो जाने पर ब्रह्म की स्वाभाविक सर्वता रह जाती है।।२१४।।** ज्ञान से ही प्राप्ति उसी की होती है जो

१. उच्यते सर्वभावाप्तिः सर्वज्ञत्वापवादतः इत्यन्यत्र पाठः। तत्र, सर्वविषयं ज्ञातृत्वमेवापोद्यते, न सर्वत्वम् इति व्याचष्टे गोदावरीशमिश्रः (आंग्लभाषानुवादकः)। परं वार्तिकसारमनुसृत्यपाठोऽत्र मूले स्थापितः, अयमेवोत्तरश्लोकानुरोधेनापि संगतः।

नन्वसौ सर्वभावाप्तिर्न विद्यामात्रतो भवेत्।
विनोत्तमत्वाऽनुष्ठानकालदेवाद्यनुग्रहम्।।२१५।।

वस्तुतः प्राप्त ही हो, केवल भ्रम हो जाये कि अप्राप्त है। श्रुति ने केवल ज्ञान से सर्वता का लाभ कहकर बता दिया कि असर्वता मात्र भ्रम है, सचमुच तो आत्मा सदा सर्व ही है। जैसे अप्राप्त स्वर्गादि अग्निहोत्रादि क्रिया से उपलब्ध होता है ऐसे मोक्ष की, सर्वरूप आत्मा की उपलब्धि नहीं। ज्ञान तो साध्य है, शमादिपूर्वक श्रवणादि से अखण्डवृत्तिरूप ज्ञान प्राप्य है, लेकिन उसके प्रभावरूप से मानी गयी सर्वरूपता प्राप्य या साध्य (साधन का फल) नहीं है। कर्मों का तो ज्ञान भी चाहिये और ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान भी चाहिये जबकि आत्मा का ज्ञान ही चाहिये, ज्ञानपूर्वक कोई बाह्य-आभ्यंतर अनुष्ठान नहीं चाहिये। इसीलिये अपवाद से अर्थात् आरोप-बाध से ही सर्वभाव-प्राप्ति कही। ब्रह्म सर्वरूप तो खुद-ब-खुद है ही, उसे सर्व होना नहीं कि कोई उपाय ज़रूरी हो। भ्रम से प्रतीत असर्वता का बाधमात्र अपेक्षित है। सर्प के बाध से ही निश्चय हो जाता है कि हमेशा रस्सी ही रही, ऐसे ही असर्वता के, परिच्छिन्नता के बाध से ही सर्वता निरावृत हो जाती है।।२१३-४।।

सर्वभावप्राप्ति बताकर श्रुति में वचन है 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत, स एव तद् अभवत्। तथर्षीणां, तथा मनुष्याणाम्। तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदम् अप्येतर्हि य एवं वेदाहम्ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति।' अर्थात् देवताओं में जिस-जिस ने उस ब्रह्म को समझा वही ब्रह्म हो गया। इसी तरह ऋषियों और मनुष्यों में जिसने समझा वह ब्रह्म हो गया। इसी ब्रह्म को देखते हुए वामदेव ऋषि ने समझा 'मैं मनु था, सूर्य भी था'। आज भी जो 'मैं ब्रह्म हूँ' यों समझता है वह सर्वरूप होता है। देवता भी उसकी सर्वरूपतारूप वैभव को नहीं हटाते क्योंकि वह देवताओं का भी आत्मा होता है। इस श्रुति का व्याख्यान करने के लिये पहले दिखाते हैं कि किन प्रश्नों के उत्तर के रूप में यह वाक्य आया है। संक्षेप में चार संभावनाएँ बताते हैं जिनसे ब्रह्मविद्या ही सर्वभाव के प्रति पर्याप्त नहीं **प्रश्न होता है कि उक्त सर्वता का लाभ केवल विद्या से होना संभव नहीं जब तक १) उत्तमता, २) अनुष्ठान, ३) काल एवं ४) देवादि की कृपा न हो।।२१५।।** उत्तमता अर्थात् जन्मादिकृत श्रेष्ठता। काल अर्थात् सत्त्यादि युग अथवा योग्य समय। इन्हीं विकल्पों को श्लोक २२० तक स्पष्ट करेंगे।।२१५।।

विप्रस्य फलदो वेदो न शूद्रस्याऽधमत्वतः।
देवादेरुत्तमस्यैव तथा विद्या फलप्रदा।।२१६।।
यागज्ञानम् अनुष्ठानाद् विना न स्वर्गदं यथा।
ब्रह्मज्ञानम् अनुष्ठानाद् विना सर्वाप्तिदं कथम्।।२१७।।

उत्तमता की अपेक्षा से सर्वभाव होगा, न कि केवल विद्या से, यह उक्त प्रश्न का प्रथम विकल्प उपस्थित करते हैं **वेद ब्राह्मण के लिये फलप्रद होता है न कि शूद्र के लिये क्योंकि वह अधम है। इसी तरह देवता आदि उत्तम योनि हो तभी ब्रह्मज्ञान सर्वभाव दे यह उचित लगता है।।२१६।।** अधिकार में जन्म का भी उपयोग है। राजा का पुत्र राजपुरुष को आज्ञा दे तो तुरन्त मानी जाती है, वही शब्दावलि कोई रास्ते चलता वणिक्पुत्र प्रयोग करे तो आज्ञा मानी नहीं जाती इतना ही नहीं, उस वणिक्पुत्र को भी दण्डित किया जा सकता है। इसी तर्क से शंका है कि देवादि उत्तम जन्म वालों को भले ही तत्त्वसाक्षात्कार एवं उससे सर्वभावप्राप्ति हो जाये पर मनुष्यादि अधम योनि वाले, अशुद्ध भोजनादि वाले बहिर्मुख लोग ब्रह्मज्ञान में अधिकारी कैसे? श्रुति ने 'ब्रह्म ने स्वयं को जाना' कहकर भी यही सूचित किया कि ब्रह्मा जी जैसों को ही ज्ञान हो सकता है। केनोपनिषत् में भी इंद्र को ज्ञान बताया। कठ-प्रश्न-मुण्डक में ऋषियों को या ऋषिपुत्र को ज्ञान बताया, छान्दोग्य में इन्द्र को ब्रह्मा के उपदेश से ज्ञान बताया। इन सब से इस बात को बल मिलता है कि मनुष्य ज्ञान नहीं पा सकते यह इस प्रश्न का भाव है।।२१६।।

अनुष्ठान-सापेक्षता का पक्ष व्यक्त करते हैं **बिना अनुष्ठान किये, केवल याग का ज्ञान जैसे स्वर्गप्रद नहीं होता वैसे बिना किसी अनुष्ठान के ब्रह्मज्ञान सर्वभाव की प्राप्ति कराने वाला कैसे हो जाता है?।।२१७।।** यागादि का सारा ढंग चाहे-जितनी अच्छी तरह से समझा हो, उस जानकारी से ही स्वर्गादि फल नहीं मिलता, उस जानकारी से जब यथाविधि यागादि का अनुष्ठान करते हैं तभी फल मिलता है। ऐसे ही शास्त्रीय ज्ञान होने से ब्रह्मावबोध को किसी अनुष्ठान की अपेक्षा से ही फलप्रद होना उचित है, उसके बिना नहीं। यदि संन्यासी यागादि करने में अधिकारी नहीं तो भी ध्यानादि कर ही सकता है। हर हालत में, किसी-न-किसी क्रिया को माध्यम बनाकर ही ज्ञान फलदायी होना चाहिये, उसके बिना नहीं यह इस विकल्प का तात्पर्य है।।२१७।।

गर्भाधानम् ऋतावेव नान्यकाले तथोत्तमे।
विद्या कृतयुगे सर्वभावं यच्छति नान्यदा।।२१८।।
राज्ञा कृषिफलं यद्वत् करार्थं प्रतिबध्यते।
सर्वभावस्तथा देवैर्यागभुग्भिर्निवार्यते।।२१६।।
तस्माद् अनुत्तमे जन्मन्यननुष्ठायिनः कलौ।
युगे देवाद्यृणवतो न विद्या सर्वभावदा।।२२०।।

श्लोक २१५ में आये तीसरे पक्ष को प्रस्तुत करते हैं **ऋतुकाल में ही गर्भाधान सफल होता है, अन्य समय में नहीं, इसी तरह श्रेष्ठ सत्य युग में ही ब्रह्मविद्या सर्वरूपता प्रदान करती है, अन्य युगों में नहीं।।२१८।।** स्त्री रजोवती हो चुकने के अनन्तर कुछ दिनों का समय उसका ऋतुकाल कहा जाता है जिसमें वह गर्भ धारण कर पाती है, अन्यकाल में वह गर्भ नहीं धारण कर सकती। ऐसी ही बात पशुओं के प्रजनन में, पौधों के अंकुरित होने आदि में है। इसी दृष्टांत से शंका है कि सत्यादि उत्तम युगों में भले ही ज्ञान व सर्वलाभ हो जाये, कलि आदि में वैसा कैसे हो सकता है?।।२१८।।

देवादि की कृपा के बिना ज्ञान सर्वभाव नहीं दे सकता इस अंतिम विकल्प को बताकर प्रश्न का उपसंहार करते हैं **जैसे राजा कर वसूलने के लिये खेती की उपज अपने लिये सुरक्षित रख लेता है वैसे याग पर निर्भर भोग वाले देवताओं द्वारा सर्वभाव मनुष्यों को मिलने से रोक दिया जाता है।।२१६।। इसलिये जो उत्तम जन्म वाला नहीं, यज्ञादि-अनुष्ठान नहीं करता, देवादि के प्रति ऋणी है, उसे कलियुग में विद्या सर्वभाव नहीं दे सकती।।२२०।।** राज्य को कर (लगान) लेना हो और कृषक के पास रुपये न हों तो उसकी खेती की उपज का सरकार अधिग्रहण कर लेती है। खेती का फायदा सरकार ले जाती है खेतिहर को नहीं मिलता। ऐसे ही देवताओं के प्रति मनुष्य ऋणी है जो ऋण यज्ञों द्वारा वह चुकाता है। यज्ञों से ही देवताओं का पोषण होता है। यदि मनुष्य को सर्वभाव मिल गया तो वह यज्ञ करेगा नहीं, यज्ञ में अधिकारी ही नहीं रहेगा। अतः देवता, उसे वह फल न मिलेऐसा विधान बनाते हैं ताकि वह यज्ञादि करता रहे, ऋण चुकाता रहे। इस तरह देवकृपा के बिना सर्वभाव होगा नहीं और देव क्योंकि निर्भर हैं मनुष्यकृत यागपर इसलिये वे मनुष्यों के सर्वभावलाभ को होने नहीं दे सकते अन्यथा उनका भोजन ही बंद हो जाये। इस सारे विचार का नतीजा निकला कि आज के ज़माने में तत्त्वज्ञान

इति चोदयितुर्येऽत्र चत्वारश्चोद्यहेतवः।
'तद्यो य' इत्यादि वाक्यैश्चतुर्भिस्तान्निरस्यति।।२२१।।
न तावद् उत्तमं जन्म सर्वभावप्रयोजकम्।
उत्तमस्याऽपि देवादेः सर्वत्वं ब्रह्मबोधतः।।२२२।।
यो देवानाम् ऋषीणां वा मध्ये ब्रह्म व्यबुद्ध्यत।
असावसावेव सर्वम् अभून्नान्यस्तु कश्चन।।२२३।।

से सर्वभाव हो नहीं सकता! न हम देवता हैं, न सत्य युग में पैदा ही हुए हैं, न इस युग में यागादि अनुष्ठान कर ही सकते हैं क्योंकि उचित सामग्री योग्य ऋत्विक् आदि ही अनुपलब्ध हैं; अतः हम देवताओं का ऋण चुका नहीं सकते कि उनकी कृपा मिले और हमारी विद्या हमें सर्वभाव दे। इसलिये श्रवणादि का परिश्रम बेकार है, कर्म-उपासना से ही यथासंभव कल्याण प्राप्त कर लेना चाहिये। श्लोक २१५ से शुरू हुआ प्रश्न यहाँ पूरा हुआ।।२१६-२०।।

इन विकल्पों का निरास करने के लिये ही श्रुति ने 'तद् यो यः' आदि कहा। वाक्य श्लोक २१५ में दिखा चुके हैं। 'तथा मनुष्याणाम्' पर्यन्त वाक्य से प्रश्नोक्त प्रथम विकल्प का परिहार किया यह दिखाते हैं **उक्त ढंग से पूछने वाले द्वारा कहे जो चार कारण, उनका निरास 'तद् यो यः' इत्यादि वाक्यों से करते हैं।।२२१।।** यद्यपि यों व्यवस्थित शंका सामने रख न पायें तथापि अनेकों के मन में ये बातें रहती हैं कि देव-ऋषि आदि, अत्यंत कर्मकुशल, ध्यानकुशल, एकान्तवासी, उत्तम आचार्यों से शिक्षा पाने वाले तपस्वी ही ज्ञानी हो सकते होंगे, हम लोग नहीं। अतः वेद में इन संभावनाओं को हटाकर हमेशा के लिये स्पष्टता कर दी। आचार्य शंकर ने 'चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु' आदि मनीषापंचक में भी इसी तरह की शंका दूर की यह दिखाकर कि तत्त्वनिष्ठा चाहे-जिस वर्णाश्रम में संभव है। इससे आचार की उच्छृंखलता की अनुमति नहीं मिलती क्योंकि व्यवहार उपाधि-अनुरूप ही श्रेयस्कर संभव है।।२२१।।

देवताओं में जिसने जाना वह सर्वात्मा हो गया इससे जन्म की कारणता का निरास स्पष्ट करते हैं **उत्तम जन्म सर्वरूपता का हेतु नहीं क्योंकि जन्मतः उत्तम देवतादि को जो सर्वात्मता मिली वह भी (जन्म से नहीं वरन्) ब्रह्मज्ञान से ही।।२२२।। देवताओं व ऋषिओं में जिस-जिसने ब्रह्मानुभव पाया वह-वह ही सर्वरूप हुआ, अन्य देव-ऋषि आदि सर्वात्मा नहीं हो पाये।।२२३।। इसी प्रकार मनुष्यों में जो भी ब्रह्मवेत्ता होता है वही सर्वरूप हो जाता है। अतः विद्या ही**

मनुष्याणां तथा मध्ये ब्रह्मवित् सर्वभावभाक्
विद्याऽविद्ये एव तस्मात् सर्वत्वाऽल्पत्वकारणे।।२२४।।
ब्रह्म वा इदमग्रेऽभूद् इति विद्याऽधिकारिता।
श्रूयते ब्रह्मणो ब्रह्म सर्वजातिषु तत् समम्।।२२५।।
न पश्वादेः सर्वभावप्रसङ्गो बोधवर्जनात्।
शूद्रजातिश्च विदुरः सति बोधे व्यमुच्यत।।२२६।।

सर्वभाव का तथा अविद्या ही अल्पता का कारण है।।२२४।। 'यह सब पहले ब्रह्म था' आदि से कथित ब्रह्म को विद्या में अधिकारी बताया और सारी योनियों में ब्रह्म एक-सा है।।२२५।। फिर भी जानवर आदि को सर्वभाव मिलना संभव नहीं क्योंकि उन्हें बोध नहीं होता लेकिन शूद्र जाति वाले विदुर बोध होने पर मुक्त ही थे।।२२६।। यदि जन्म से सर्वता मिलती तो देवताओं को ज्ञान न चाहिये रहता जबकि केन, छांदोग्य आदि से स्पष्ट है कि उन्हें भी ज्ञान से ही वह मिली। प्रकृत बृहदारण्यक में भी कहा है कि ब्रह्म भी जानकर ही सर्व हुआ। यही बात ऋषियों के बारे में है, उन्हें भी बोधलाभार्थ यत्न करने वाला बताया गया है। ऐसे ही मनुष्यों में अज्ञान रहते असर्वता, और ज्ञान से सर्वता स्वीकार है तथा प्रतर्दन आदि की कथा से शास्त्र में यह वर्णित है। विचाराधीन प्रसंग तो स्वयं ब्रह्म को ज्ञान-अधिकारी कहकर व्यक्त कर रहा है कि चाहे जो जीव सर्वभाव पा सकता है क्योंकि सब जीवों के रूप में मौजूद ब्रह्म ही है! यद्यपि इस तर्क से, पशु योनियों में भी ब्रह्म ही उपस्थित रहने से वहाँ भी सर्वभाव लाभ संभव है तथापि प्रकृत श्रुति में देव-ऋषि-मनुष्य ही कहे हैं, जानवरादि कहे नहीं हैं, अतः यही सीधा मार्ग है कि पशु आदि को ज्ञान होना मुमकिन न होने से उन्हें सर्वभाव भी दुर्लभ है, ऐसा नहीं कि उनकी पशुता इसमें कारण हो। इससे पुराणादि में प्रसिद्ध पश्वादि योनि वालों की विद्वत्ता भी उपपन्न हो जाती है। मनुष्यों में तो सभी को तत्त्वानुभव संभव होने से श्रुति ने 'तथा मनुष्याणाम्' कहा। शूद्र होने पर भी विदुर तत्त्ववेत्ता प्रसिद्ध हैं। अन्य भी पुराणों में ऐसे लोग परमात्म-बोध से संपन्न बताये हैं जो अन्य दृष्टियों से हीन माने जाते हैं। गीता में (९.३२) भी परा गति की सर्वसुलभता कही है। ज्ञान के साधन में भले ही फ़र्क़ हो किन्तु तत्त्वानुभव और उससे सर्वता-लाभ एक-सा है। इस प्रकार, प्रश्न के प्रथम विकल्प का परिहार हुआ कि देवादि खास योनि की अपेक्षा से सर्वभाव नहीं, ज्ञान से ही है।।२२२-६।।

सर्वभाव अनुष्ठान-विशेष से मिलता होगा, ज्ञानमात्र से नहींइस द्वितीय विकल्प के

यागविद्येवात्मविद्या नानुष्ठानम् अपेक्षते।
फलदान इति ज्ञेयं वामदेवनिदर्शनात्।।२२७।।
ब्रह्मात्मत्वं वामदेवः पश्यन् मन्वादिरूपताम्।
प्रतिपेदे ह्यनुष्ठानावसरस्तत्र को वद।।२२८।।
न चितो वामदेवे वा मनौ वाऽन्येषु वा भिदा।
तेन मन्वादिचिद् वामदेवेन प्रत्यपद्यत।।२२९।।

निषेधार्थ वामदेव का दृष्टांत वेद ने सुनाया यह बताते हैं **याग-ज्ञान जैसे सफल होने के लिये अनुष्ठान पर निर्भर रहता है वैसे आत्मज्ञान नहीं, यह वामदेव के दृष्टान्त से सिद्ध है :।।२२७।। वामदेव ने (गर्भ में ही) ब्रह्म की आत्मरूपता का दर्शन करते हुए समझ लिया कि वही मनु आदि (सभी) रूपों वाला हुआ। बताओ, वहाँ (गर्भ में) अनुष्ठान का कौन-सा मौका था?।।२२८।। वामदेव, मनु या अन्यों में चैतन्य का कोई भेद नहीं अतः वामदेव ने उसी चैतन्य को समझ लिया जो मनु आदि से भी निरूपित है।।२२९।।** ऐतरेय में (२/५) 'गर्भे नु सन्नन्वेषाम् अवेदम् अहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जरसा निरदीयम्'। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवम् उवाच'यों वामदेव की कथा वर्णित है, अनुभूतिप्रकाश अध्याय १ के श्लोक ५८ में यह प्रसंग आ भी चुका है। एषाम् अर्थात् देवताओं के विश्वा अर्थात् सब जनिमानि अर्थात् जन्मों को मैंने जाना। लोहे की साँकलों जैसे मुझे सैकड़ों शरीर मानो बाँधे हुए थे, बाज की तरह मैं उन साँकलों को तोड़कर मुक्त हुआ। प्रकृत बृहदारण्यक में 'गर्भ में' ऐसा नहीं कहा, इतना ऐतरेय से जोड़ लेना चाहिये। गर्भ में अनुष्ठान का तो मौका था नहीं! अतः सर्वभाव के लिये अनुष्ठान नहीं चाहिये यह सिद्ध होता है। भाष्यकार ने गर्भस्थता के परामर्श के बिना ही 'पश्यन्' इस शतृ-प्रयोग से यही भाव समझाया है 'पश्यन् सर्वात्मभावं फलं प्रतिपेद इत्यस्मात् प्रयोगात्, ब्रह्मविद्याऽसहाय-साधनसाध्यं मोक्षं दर्शयति, भुंजानस्तृप्यतीति यद्वत्'। जैसे भोजन करते हुए भूख मिटती है, मध्य में कोई और अनुष्ठान नहीं चाहिये, वैसे ब्रह्मज्ञान और सर्वभाव के मध्य में कोई अनुष्ठान नहीं चाहिये। यद्यपि वामदेव ने मनु व सूर्य का नाम लिया तथापि तात्पर्य सर्वभाव से है क्योंकि यह अर्थ नहीं कि मनु या सूर्य के रूप में वामदेव ने अवतार लिया था वरन् यह कि वामदेव ने स्वयं को वह चेतन जाना जो सूर्य, मनु आदि के रूप में माना जाता है। इस प्रकार यहाँ 'वामदेव ने ब्रह्मदर्शन करते हुए सर्वभाव पाया' यों बताकर वेद ने स्पष्ट किया कि अनुष्ठान की अपेक्षा के बिना ही विद्या फलप्रद है।।२२७-९।।

यत्तु पुण्ययुगे सर्वभावो न तु कलाविति।
तदसद् बोधसाध्यस्य पुण्यकालाऽनपेक्षणात्।।२३०।।
न सूर्यग्रहणापेक्षो बोधान्निद्राक्षयः क्वचित्।
तथा न सर्वभावोऽयं कालभेदम् अपेक्षते।।२३१।।
य एतर्ह्यपि वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मीति तदैव सः।
इदं सर्वं भवत्येव यदिदं जगद् ईक्ष्यते।।२३२।।
अविचारितरम्यस्य नामरूपात्मकस्य यत्।
जगतो वास्तवं रूपं सत्तत्त्वं ब्रह्मतद् भवेत्।।२३३।।

प्रश्न में तीसरा विकल्प काल की महत्ता को लेकर था, उसके लिये 'य एतर्हि अपि वेद' से बताया कि जो अब भी जानता है वह भी सर्व ही होता है अतः सभी कालों में विद्या सफल है, यह समझाते हैं **जो तो यह विकल्प था कि पुण्यबहुल युग में ही सर्वता सुलभ है, कलियुग में नहीं; वह ग़लत है क्योंकि बोध का फल पुण्यबहुल काल पर निर्भर नहीं है।।२३०।। जैसे जगने से नींद टूटना, सूर्यग्रहणादि कालविशेष पर निर्भर नहीं वैसे ब्रह्मज्ञान से सर्वभाव काल-विशेष पर निर्भर नहीं।।२३१।। जो इस समय भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझ लेता है वह तत्काल वह सब हो जाता है जो कुछ यह जगत् दीख रहा है।।२३२।। जिसके बारे में विचार न करने तक ही जो रमणीय है ऐसे इस नाम-रूपात्मक जगत् का वास्तविक स्वरूप जो ब्रह्मरूप तत्त्व, वही वह हो जाता है (जो 'मैं ब्रह्म हूँ' जान लेता है)।।२३३।।** सत्यादि युग में ही ज्ञान सफल हो ऐसा इसलिये नहीं कह सकते क्योंकि शास्त्र में कहीं ज्ञान को यों कालप्रतिबद्ध फल वाला नहीं कहा गया है। ज्ञान का फल दृष्ट है जैसे नींद से जगना, हल्ला होने पर व्यक्ति जैसे सत्य युग में जगता था वैसे आज जगता है, इसी प्रकार ज्ञान से सर्वभाव भी हो जाये, इसमें रुकावट डालने वाला कुछ नहीं। यद्यपि प्रतिबन्धकवश ज्ञान की सफलता में विलम्ब संभव है तथापि ऐसे स्थल में फलदानक्षम ज्ञान की उत्पत्ति में ही विलम्ब होता है न कि फलोत्पत्ति में। इस बारे में ऐहिकाधिकरण (३.४.१६.५१) द्रष्टव्य है। पंचदशी (६.३६) में भी यह समझाया गया है। केवल ज्ञान की उत्पत्ति से अविद्यानिवृत्ति हो जाती है, कालविशेष की उसके लिये ज़रूरत नहीं। श्रुति में 'एतर्हि' अर्थात् 'इस समय' कहकर इसे व्यक्त कर दिया है। सर्वता स्वाभाविक होने से अज्ञानहानि से अन्य उसके लाभ में अनपेक्षित है। जो कोई ऐसा वचन मिले कि

नराणाम् अधमर्णत्वात् सर्वभावं दिवौकसः।
वारयन्ति हविर्भोक्तुं तैर्दत्तम् इति चेन्न तत्।।२३४।।
तस्य ज्ञातात्मतत्त्वस्य प्रध्वस्ततमसो यतेः।
इन्द्रादयोऽपि नैवालं सर्वभावाप्तिवारणे।।२३५।।
यद्यपीशा नृणां देवास्तथापि ब्रह्मवेदिनः।
अनीशाः प्रत्युतैतेषाम् आत्मा भवति तत्त्ववित्।।२३६।।

कलियुग में ज्ञान संभव नहीं आदि, वह दुर्लभता में अर्थवाद ही है, अन्यथा 'एतर्हि'-श्रुति से विरुद्ध होने पर अप्रमाण होगा।।२३०-३।।

देवकृपा पर निर्भरता रूप चौथे विकल्प का परिहार करते हैं **यह जो शंका की थी कि क्योंकि मनुष्य ऋणी हैं इसलिये देवता उनके सर्वभाव को रोके रखते हैं ताकि मनुष्यों द्वारा दी हवि का भोग करते रहें, वह शंका अनुचित है।।२३४।। जिस संन्यासी ने आत्मा की वास्तवता समझ ली, जिसका अज्ञान नष्ट हो गया, उसे सर्वभाव का लाभ रोकने में इन्द्र आदि भी समर्थ नहीं हैं।।२३५।। यद्यपि देवता मनुष्यों के शासक हैं तथापि वे ब्रह्मवेत्ता पर शासन नहीं कर सकते बल्कि तत्त्वज्ञ ही उनका आत्मा हो जाता है।।२३६।।** श्लोक २१९ में शंका बतायी थी। जैसे देवताओं के प्रति, वैसे ऋषियों व पितरों के प्रति भी ऋणी होने से उनके ऋण चुकाये बिना मोक्षमार्ग पर नहीं चलना चाहिये आदि शंका का भी यहाँ संग्रह समझ लेना चाहिये। समाधान का भाव है कि ज्ञान से पूर्व देवकृपा भले ही चाहिये हो पर ज्ञान होने पर उसकी ज़रूरत नहीं। जहाँ फल अनात्मा हो वहाँ विघ्नादि संभव है, आत्मरूप फल में नहीं। ज्ञान से पूर्व तो मुमुक्षु को देवताओं को प्रसन्न करना ही चाहिये ताकि उनकी कृपा से निर्विघ्न ज्ञानलाभ हो सके। देवता जिस अधिकारी पर प्रसन्न होंगे उसे ज्ञानयोग्य बना देंगे। भाष्यकार ने (बृ.१.४.१०) इसी प्रसंग में कहा है 'यं तु मुमोचयिषन्ति तं श्रद्धादिभिर्योक्ष्यन्ति, विपरीतम् अश्रद्धादिभिः। तस्माद् मुमुक्षुः देवाराधनपरः, श्रद्धाभक्तिपरः, प्रणेयः, अप्रमादी स्याद्'। श्रद्धादिपूर्वक देवताओं को प्रसन्नकर उनकी कृपा से वैराग्य पाते ही सर्वकर्म-त्याग कर देना चाहिये। गृहस्थ ही ऋणी संभव है। संन्यासी पर कोई ऋण नहीं रहता। अतः यहाँ भी आचार्य विद्यारण्य ने 'यतेः' कहा। वैराग्य-लाभ तक देवार्चनादि अवश्य करे, विरक्त होने पर सारी बहिर्मुखता छोड़ दे। तब देवकृपा बनी रहती है। बहिर्मुखता रखने पर तो देवताओं की कृपा नहीं रहने से वे विघ्न कर ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होने देते। व्यास जी ने इसीलिये बताया है कि 'कषायों'

अविद्या

इत्थमादेयविद्यायाः सूत्रवृत्ती उदाहृते।
हेयाऽविद्या स्वकार्येण युक्ता सूत्रयति श्रुतिः।।२३७।।

का निवारण होने पर मोक्ष-साधना निर्विघ्न होती है। कषाय अर्थात् बहिर्मुखता के संस्कार। ऐसा यति ही आत्मानुभव पायेगा और उसके बाद उसके फल को कोई रोक नहीं सकता। लोक में भी देखा गया है कि जानकारी तो छिपायी जा सकती है पर जानकारी उपलब्ध हो जाने पर भी व्यक्ति को अज्ञान बना रहे यह नहीं किया जा सकता! अनेक वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को, व्यापारिक योजनाओं को अत एव गुप्त रखते हैं किन्तु यदि जाहिर हो जायें तो उनसे सभी लाभ उठा लेते हैं। देवता भले ही शासक हैं लेकिन तत्त्ववेत्ता क्योंकि देवताओं का भी प्रत्यगात्मा हो चुकता है इसलिये वे उस पर शासन नहीं कर सकते। प्रथमतः तो अपने प्रत्यक्स्वरूप की मुक्ति में कोई भी क्यों विघ्न करेगा! दूसरी बात, देवता अनात्मा पर नियंत्रण द्वारा ही शासन करते हैं सूक्ष्मादि शरीर पर उनका नियंत्रण रहता है जबकि तत्त्वज्ञ के मोक्ष में किसी अनात्मा का विनियोग नहीं। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि तत्त्वज्ञान कैवल्यप्रदान में सक्षम है।।२३४-६।।

उपनिषत् ने जैसे विद्यासूत्र व्यक्त किया, वैसे अविद्या को भी सूत्ररूप में उपस्थित किया 'अथ योऽन्यां देवताम् उपास्ते, 'अन्योऽसावन्योऽहम् अस्मि' इति, न स वेद, यथा पशुरेवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः एवम् एकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति। एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति, किमुत बहुषु! तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।।' (१.४.१०) अर्थात् जो देवता को स्वयं से पृथक् समझकर उसकी उपासना करता है, वह सत्य को नहीं जानता। वह देवताओं का मानो पशु है। मनुष्य बहुत-से पशु पालता है, सभी उसके उपभोग में, उपयोग में आते हैं; ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य देवताओं के उपयोग में आता है अतः मानो अनेक पशुओं का प्रतिनिधि प्रत्येक मनुष्य है। हम लोगों का कोई एक पशु चुरा ले तो हमें पसंद नहीं, यदि अनेक पशु चोरी हो जाये तो अप्रसन्नता का क्या कहना! इस तरह बहुपशुस्थानीय मनुष्य परमार्थ समझकर मुक्त हो जायें यह देवताओं को प्रिय नहीं है। इस श्रुतिप्रसंग को उपस्थापित करते हैं **ग्रहण करने योग्य विद्या के सूत्र और व्याख्यान को इस तरह उद्धृत किया। अब श्रुति अपने कार्यों समेत उस अविद्या का सूत्र व्यक्त करती है जो अविद्या त्यागने योग्य है।।२३७।। जो देवता को अपने से भिन्न समझकर उसकी उपासना करता है वह स्वयं को नहीं जानता**

स्वस्माद् अन्यं देवतां य उपास्ते स्वं न वेद सः।
इति सूत्रम् अविद्यायाः सकार्यायाः श्रुतीरितम्।।२३८।।
अचिन्त्यशक्तिश्चिन्निष्ठा स्वाश्रयं मोहयेत् क्वचित्।
अविद्या साऽबोधनात् स्याज्जीवत्वभ्रान्तिकारिणी।।२३९।।

यह कार्य-समेत अविद्या का सूत्र वेद में बताया गया है।।२३८।। उपादेय की तरह हेय भी शास्त्र द्वारा समझाया जाता है। उपादेय विद्या है, हेय अविद्या और उसका कार्य है। भेदबुद्धि अविद्या है, वही हेय है। परमेश्वर को स्वयं से अलग समझना अविद्या है, चाहे उसे मालिक समझें, पिता-सखा-पुत्र आदि समझें; भिन्न समझते हैं तो निश्चित है कि ग़लत समझ रहे हैं। परमेश्वर को स्वयं से अभिन्न मानकर ही उपासना भी कर्त्तव्य है तभी क्रम-मोक्ष मिल सकता है। भेद- उपासना से केवल सद्गति प्राप्त होगी। परा देवता अर्थात् परमात्मा को भिन्न इसीलिये मानते हैं कि हम स्वयं को ठीक-ठीक नहीं जानते। जैसे स्वर्ण से भिन्न गहना नहीं हो सकता ऐसे आत्मा अर्थात् प्रत्यक्तत्त्व से भिन्न परमेश्वर नहीं हो सकता क्योंकि तब वह अनात्मा (जड) हो जायेगा। अतः भेदबुद्धि अज्ञान है।।२३७-८।।

सूत्रोक्त हेय अविद्या का वर्णन प्रारम्भ करते हैं **चेतन में स्थित एवं सद्-असद् आदि रूपों में अनिर्धारणीय शक्ति अविद्या है जो कहीं अपने आश्रय को मोह में डाल सकती है। क्योंकि वह अज्ञानरूप है इसलिये जीवता का भ्रम पैदा करती है।।२३९।।** अविद्या चेतन पर आश्रित है, उसकी शक्ति है। अविद्या को है-नहीं है आदि कोटियो में बाँटकर नहीं समझा जा सकता। वह क्या-क्या कर सकती है, यह भी विचार से परे है। सोने पर सपना देखते हैं तो चंद मिनटों में कितनी बड़ी दुनिया खड़ी कर लेते हैं! चेतन अपनी उसी अविद्या-शक्ति से यह कर पाता है। अपनी अविद्याशक्ति का अचिन्तनीय, कल्पनातीत महत्त्व स्वप्नादि में पहचानने से परमेश्वर की माया की अपार महिमा समझना सरल हो जाता है। हम संसार में अकस्मात् कुछ होता देखकर हतप्रभ हो जाते हैं क्योंकि भूल जाते हैं कि परमेश्वर की वह शक्ति है ही ऐसी कि जो कुछ हो सकने जैसा न लगे, उसे हुआ जैसा दिखा दे। कार्य-कारण के बंधन से वह शक्ति सर्वथा उन्मुक्त है। केवल मन के मानदण्डों से सोचने पर यह तथ्य ग्रहण नहीं होता क्योंकि मन देश-काल-कार्यकारणभाव में बँधकर ही सोच-समझ सकता है। मन से ज़्यादा व्यापक, कारणशरीर-रूप अज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही कार्यकारणता से छुटकारा मिलता है। तभी परमेश्वर की माया की

नाश्रयं मोहयेद् याऽसावीश्वरत्वस्य कल्पिका।।
वस्तुत्वभ्रान्तिरेवाऽस्या हेया सा त्ववतिष्ठते।।२४०।।

कुछ संकल्पना स्पष्ट होती है। अविद्यारूप वह शक्ति अपने आश्रय को मोहग्रस्त करती है। 'क्वचित्' अर्थात् कहीं, कभी, किसी परिस्थिति में। कहीं अर्थात् जहाँ जीवभाव व्यक्त होता है, कभी अर्थात् तत्त्वज्ञान से पूर्व, किसी परिस्थिति में अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न में। सुषुप्ति में कार्यभूत मोह अव्यक्त रहता है। मोहवश हम न केवल स्वयं से अनभिज्ञ हैं वरन् यह तक नहीं समझते कि खुद को जान नहीं रहे! कौन हूँ, कहाँ से आया, क्यों आया, कहाँ जाना है यह तक जो न जाने उसे अत्यन्त मूर्ख ही कहा जायेगा। सेवाल जिस जल पर आश्रित होती है उसी को ढाँकती है ऐसे ही अविद्या आत्मा पर रहकर उसी को ढाँकती है। अत एव आत्मा स्वयं का ठीक स्वरूप नहीं जानता एवं खुद को जीव समझता रहता है।।२३९।।

जीवता के भ्रम की तरह ही अविद्या परब्रह्म में ईश्वरता का व्यवहार कराती है किंतु वैसा करती हुई वह आत्मा को मोह में नहीं डालती अर्थात् ईश्वर को किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहता यह बताते हैं **ईश्वरता की कल्पना करने वाली वही अविद्या अपने आश्रय को मोह में नहीं डालती। उस माया के बारे में 'यह वस्तु है' यह भ्रम ही हटाने योग्य है, वह तो बनी रहती है।।२४०।।** एक ही काँच एक ही मुख में बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों व्यवहार करा देता है; काँच से प्रभावित को प्रतिबिम्ब तथा अप्रभावित को बिम्ब कह देते हैं। इसी प्रकार अविद्या से प्रभावित को जीव तथा अप्रभावित को ईश्वर कह देते हैं। जिस अविद्या से ऐसा होता है उसे वस्तु अर्थात् सत्य नहीं समझना चाहिये। उसके बाध से जीव का आवरण तो निवृत्त हो जाता है किन्तु ईश्वर में आवरण तो है नहीं जो निवृत्त हो अतः मुक्त को यही समझ आ जाता है कि ईश्वर का वैभव माया का विस्तार है। इसके बावजूद ईश्वर में वैभव उपलब्ध होता रहे इसमें कोई विरोध नहीं। अचिन्त्य, अनिर्वचनीय होने से उसकी अनुभूति निवृत्त हो या न हो, इसका महत्त्व नहीं, उसे सच्चा समझना अवश्य समाप्त होना चाहिये। 'अवतिष्ठते' अर्थात् जैसी मिथ्या अभी है वैसी ही बनी रहती है, सच में तो न अब है, न रह सकती है। 'माया बनी रहती है' का यह मतलब नहीं कि वह कोई वस्तु हो जो रहे वरन् इतना ही अर्थ है कि अवमत अर्थात् बाधित हुई रह जाती है।।२४०।।

अव्याकृत, अविद्या एक ही अज्ञान के ये विभिन्न आकार हैं यह स्पष्ट करते हैं **प्रारंभ में, सृष्टि के प्रसंग में अज्ञान का माया-आकार अव्याकृत-शब्द से बताया**

सृष्टिप्रकरणे तत्र मायाकारः पुरोदितः।
अव्याकृतगिरा तस्य कार्यं व्याकृतम् ईरितम्।।२४१।।
कर्मिप्रकरणे[1] त्वस्मिन्नविद्याकार ईर्यते।
स्वस्माद् भिन्ना देवतेति धीरविद्याविजृम्भिता।।२४२।।
स्वस्य तत्त्वम् अविज्ञाय यागदानादिकर्मभिः।
स्वतोऽन्या देवताः पाति ह्यनड्वान् वणिजं यथा।।२४३।।

था, उसी का कार्य व्याकृत कहा था।।२४१।। इस कर्म (या कर्मी) के प्रकरण में तो अज्ञान का अविद्या-आकार कहा जा रहा है। 'देवता मुझसे भिन्न है' ऐसा निश्चय अविद्या का फैलाव है।।२४२।। अज्ञान को ही जगत्कारण के रूप में देखने पर माया या अव्याकृत कहते हैं तथा जीव को होते परिच्छेदादि भेदभ्रम के हेतुरूप से अविद्या कहते हैं। अज्ञान का कार्य व्यक्त है जैसे अविद्या का कार्य प्रातिभासिक सर्पादि के रूप में व्यक्त होता है। जैसे रस्सी की अविद्या से व्यक्त होने वाले सर्पादि सचमुच में रस्सी ही हैं वैसे अज्ञान से उत्पन्न होने वाला नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म ही है। अविद्याकार्य कर्म से व्याप्त होता है; जहाँ नाम-रूप है वहाँ कुछ-न-कुछ कर्म भी होगा। अतः अविद्याकार्य के प्रसंग को कर्म-प्रकरण समझा जाता है। देवता अर्थात् आराध्य चेतन को स्वयं अर्थात् आराधक चेतन से भिन्न मानना यह अविद्या का विस्तार है, परमेश्वर को एवं स्वयं को सही तरह से न जानने का नतीजा है। जैसे मुँह में मौजूद दाँत-जीभ आदि जँभाई लेने पर दीख जाते हैं वैसे भेदबुद्धि अज्ञान में निहित है जो व्यक्तावस्था में प्रकट हो जाती है। जैसे जँभाई स्वभावतः आ जाती है ऐसे अविद्या का भेदरूप में व्यक्त होना स्वाभाविक है। भेदबुद्धि से ही कर्तृत्व-अध्यास संगत होता है।।२४१-२।।

भेदबुद्धि से कर्मप्रवृत्ति प्रकट करते हैं **अपनी वास्तविकता न जानकर मनुष्य याग-दान आदि कर्मों द्वारा देवताओं का वैसे ही पालन करता है जैसे बैल बनिये का पालन करता है।।२४३।।** खेत जोतना, सामान ढोना आदि द्वारा बनिये का पालन बैल करता है, यज्ञादि-अनुष्ठान से अधिकारी देवताओं का पालन करता है। यह इसीलिये संभव है कि मनुष्य को यह पता नहीं कि वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। अतएव वह खुद को शरीरादि समझकर इनसे प्रतिबद्ध कर्त्तव्यों के निर्वाह में उलझा रहता है तथा इनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता को स्वयं का सुख-दुःख समझता रहता है। खुद को

---
१. कर्मप्रकरणे-इति सारानुसारी मुत्तुशास्त्रीपाठः।

अपि भूरिपशोः पुंसः एकस्मिन्नपि तस्करैः।
ह्रियमाणे पशौ दुःखं किमु सर्वापहारतः।।२४४।।
सर्वस्वतुल्ये नृपशौ ब्रह्मधीपरिमोषिणा।
ह्रियमाणे महद्दुःखं सर्वेषां च दिवौकसाम्।।२४५।।
तस्मादेषां न प्रियं तद् यन्मनुष्या विजानते।
ब्रह्मात्मत्वम् अतो देवाः प्रतिबध्नन्ति वेदनम्।।२४६।।

सीमित-सामर्थ्य का एवं देवताओं को अतिसमर्थ मानकर ही मनुष्य अपनी समझी जाने वाली कामनायें पूरी करने के लिये देवताओं को पूजता है। जैसे मालिक अपने बैल को खिलाता-पिलाता है ताकि उससे काम लिया जा सके ऐसे देवता भी फल देते रहते हैं ताकि मनुष्य उनकी सेवा करता रहे।।२४३।।

देवताओं का सेवक होने से ही मनुष्य देवताओं द्वारा ब्रह्मज्ञान से दूर रखा जाता है, वे नहीं चाहते कि मनुष्य को ब्रह्मज्ञान हो यह श्रुतिबोधित अर्थ बताते हैं **जिसके पास अनेक पशु हों, उसके किसी एक पशु को भी यदि चोर चुरा लें तो दुःखी होता ही है, तो यदि सारे ही पशु चोरी हो जायें तो दुःख का क्या ठिकाना!।।२४४।। देवताओं का पशुभूत मनुष्य उनके सर्वस्व जैसा है, इसे ब्रह्मज्ञानरूप चोर चुरा ले तो सभी देवता अत्यंत दुःखी होते हैं।।२४५।। इसलिये देवताओं को यह पसंद नहीं कि मनुष्य ब्रह्म की आत्मरूपता समझें अतः वे ज्ञान में रुकावट डालते हैं।।२४६।।** दृष्टांत स्पष्ट है कि अनेक पशु वाले का एक पशु चोरी होने पर जो दुःख होता है, उसके सब पशु चोरी हों तो उससे अत्यधिक दुःख होता है। दार्ष्टांत में देवताओं के लिये मनुष्य ही सब पशुओं के बराबर है : बनिये की सेवा तो बैल, गाय, भैंस, घोड़ा आदि अनेक पशु करेंगे लेकिन देवताओं की सेवा एक मनुष्य ही करेगा, बाकी प्राणी तो शास्त्राधिकारी नहीं कि उनकी सेवा कर भी सकें। अतः बनिये के सब जानवरों की जगह देवताओं के लिये मनुष्य है। यद्यपि आज पृथ्वी पर छह अरब मनुष्य हैं तो लग सकता है कि एक-दो के मुक्त होने में देवताओं का क्या हर्जा तथापि छह अरब देवताओं के सेवक नहीं हैं। उनकी सेवा करने वाले तो हैं ही गिने-चुने, उन्हीं की चित्तशुद्धि संभव होने से मोक्ष संभव है, अतः उनमें से एक का जाना भी देवताओं को असह्य हो यह उपपन्न ही है। बनिये के पशु चुराने वाले चोर होते हैं, उसी तरह देवपशुओं का अपहर्त्ता है परमात्मज्ञान। चोर पशुओं को चुरा न सके इसकी व्यवस्था जैसे बनिया करता है ऐसे देवता कोशिश करते हैं कि मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान न

स्पष्टीकृतं पारतन्त्र्यं पशुदृष्टान्ततो नृणाम्।
वर्णाश्रमादितद्धर्मसृष्टिः कर्मार्थमीरिता।।२४७।।

मिले, मिले भी तो प्रतिष्ठित न हो सके। देवताओं को तो सभी जीवों की देख-रेख करनी पड़ती है; मक्खी-मच्छर की भी आँखें देखें यह तभी संभव है जब आदित्य की उन पर कृपा रहे; ऐसे ही विभिन्न देवताओं को व्यवस्था करते रहना पड़ता है; किन्तु उन देवताओं की सेवा करने वाले बहुत कम ही होते हैं अतः प्रत्येक मनुष्य क्योंकि अनेक देवताओं का सेवक हुआ करता है इसलिये उसे ब्रह्मज्ञान न हो सके इसके लिये भी एक ही नहीं, सभी देवता सावधान रहते हैं! सभी का प्रयास ऐसे विघ्न पैदा करना होता है जो ज्ञान और निष्ठा न हो सके। वार्त्तिककार ने इसी प्रसंग में कहा है कि देवताओं की अनुकूलता न रहने से ही संन्यासी लोग भी प्रमादी, बहिर्मुख एवं कलहोन्मुख होकर पुरुषार्थ से च्युत हो जाते हैं। इंद्रिय-मन की रुग्णता, विषय-सेवा-परायणता आदि अनेक तरीके हैं जिनसे जीव मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।।२४४-६।।

कर्माधिकारी जीव को होने वाले भ्रम के हेतु अज्ञान के बाध से जीव की देवता-परतंत्रता हट जाती है। इस बाध से पूर्व परतंत्रता रहती ही है यह पूर्व प्रकरण में बताया। इसी संदर्भ में ब्राह्मणादि वर्णों अग्नि आदि देवताओं और धर्म की सृष्टि का वर्णन किया गया है (१.४.११-१४)। इस ग्रंथभाग का परिचय देते हैं **पशुओं के उदाहरण से मनुष्यों की परतंत्रता स्पष्ट की तथा वर्ण-आश्रम आदि और उनके धर्मों की सृष्टि बतायी ताकि अधिकारी कर्म करे।।२४७।।** जैसे पालतू पशु-पक्षी को भोजन आदि की सुविधा रहती है लेकिन परवशता बनी रहती है वैसे देवताओं के सेवकों को भोगादि की उपलब्धि भले ही रहे, परतंत्रता रहती ही है। फिर भी, जो स्वतंत्रता की जोखिम उठाने में सक्षम नहीं, वे कम-से-कम देवाराधन से उपलब्ध सुख-सुविधा का तो लाभ ले ही सकते हैं। इस उद्देश्य से वेद ने वर्णादि और धर्म की उत्पत्ति कही जिसे समझ कर लोग धर्माचरण करें। जो जिसके लिये विहित है वही उसका धर्म है, न कि जो जिस कार्य को अच्छी तरह कर सके वह उसके लिये धर्म हो जाये! धर्म यथाविधि ही संमत है। श्रुति में आश्रमों का नाम न लिया होने पर भी धर्म की उत्पत्ति कही है और धर्म वर्णों की तरह आश्रमों के अनुसार होता है अतः यहाँ आश्रम भी कह दिये। भाष्य में 'किं पुनर्देवादिकर्मकर्त्तव्यत्वे निमित्तम्? वर्णा आश्रमाश्च। तत्र के वर्णा इत्यत इदमारभ्यते' (पृ. १०४ म.अ.सं.) यों इस प्रसंग में आश्रमों का संकेत है हालाँकि सृष्टि उनकी नहीं कही है।।२४७।।

नन्वेवं तस्य मुक्तिश्च स्यादेवात्मधियं विना।
अज्ञानकर्मणोः श्रुत्या सादरेणोपवर्णनात्।।२४८।।
मैवम् आत्मा किमज्ञातो मुक्तिदः कर्म वा महत्।
आम्नायकृषिवद् नाऽयम् अज्ञातात्मा फलप्रदः।।२४९।।

उक्त सृष्टि बताकर उपनिषत् कहती है 'अथ यो ह वा अस्माल्लोकात् स्वं लोकम् अदृष्ट्वा प्रैति, स एनम् अविदितो न भुनक्ति, यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद् वा कर्माऽकृतम्।' अर्थात् स्वात्म-दर्शन किये बिना मर जायें तो यह आत्मा की नित्यमुक्तता कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करती क्योंकि जानी नहीं गयी है। जैसे पढ़ा न हो तो वेद, या किया न हो तो कर्म कोई लाभ नहीं देता वैसे समझा न हो तो आत्मा से कोई लाभ नहीं। यों आत्मज्ञान की आवश्यकता बतायी है, इसी को स्पष्ट करते हैं **क्योंकि श्रुति ने आदर से (विस्तार से) अज्ञान और कर्म का वर्णन किया है तो क्या आत्मज्ञान के बिना ही मोक्ष हो जाता है?।।२४८।।** वेद के अतिविस्तृत कर्मकाण्ड को देखकर यह स्वाभाविक शंका होती है कि कर्म ही मोक्ष के लिये भी पर्याप्त होगा। इसका परिहार यहाँ श्रुति ने किया है। कर्म-विधान तो इसलिये कि कर्म से देवताओं को अनुकूल कर आत्मबोध निर्विघ्न पा सकें। मनुष्य जानेगा तभी कर्म करेगा और तभी चित्त-शुद्धिपूर्वक आचार्य की शरण लेकर ज्ञान से मुक्त होगा।।२४८।।

नित्य मुक्त होने पर भी अज्ञात आत्मा हमारे मोक्ष को सम्भव नहीं करता यह समझाते हैं **आत्मज्ञान के बिना मोक्ष संभव नहीं। प्रश्न होगा कि क्या न समझा गया आत्मा मोक्ष देता है? अथवा क्या कोई महान् कर्म मोक्ष देता है? अज्ञात आत्मा वैसे ही फल नहीं देता जैसे न पढ़ा वेद या न की गयी खेती।।२४९।।** पूर्वश्लोकोक्त प्रश्न का उत्तर दिया कि मोक्ष ज्ञानैकलभ्य है, साधनान्तरलभ्य नहीं। आत्मा स्वतः (स्वरूपसत्) मोक्षहेतु नहीं, अन्यथा बंधन होता ही नहीं! आत्मा का यथार्थ ज्ञान ही मोक्षप्रद है। द्वितीय प्रश्न है कि क्या अश्वमेधादि कोई महान् कर्म ऐसा है जिससे मोक्ष हो? इसका भी निषेधात्मक उत्तर श्लोक २५३ आदि में दिया जायेगा। प्रथम प्रश्न का उत्तर यहाँ से शुरू किया कि आत्मज्ञान मोक्षप्रद है। वेद का हमें तभी लाभ होता है जब हम उसे विधिवत् ग्रहण करें जैसे खेती करें तभी लाभ है, केवल खेत व बीज पड़े रहें तो कोई फ़ायदा नहीं।।२४९।।

उक्त दृष्टान्त स्वयं व्यक्त करते हैं **अपने अर्थ के ज्ञान द्वारा अधिकारी का पालन करने वाला वेद (यदि) पढ़ा ही न गया हो (तो) पालन नहीं कर सकता।**

अनधीतो यथा वेदो नाऽर्थज्ञानेन पालयेत्।
अकृता वा कृषिः पाति नाऽकर्तारं फलार्थिनम्।।२५०।।
तथा स्वात्माऽप्यविज्ञातो मुमुक्षुं मोक्षदानतः।
न पालयत्यतो मुक्तिरज्ञस्य न हि कस्यचित्।।२५१।।
स्वात्माख्यलोकमज्ञात्वा यो देहाख्यस्वलोकतः[1]।
प्रैत्यसौ पुनरप्यन्यं देहलोकं व्रजेद् दृढम्।।२५२।।

जिसने खेती की नहीं ऐसे फलेच्छु का पालन न की गयी खेती नहीं करती।।२५०।। इसी प्रकार सही तरह से अपरोक्ष न समझा गया निज आत्मा भी मोक्ष देकर पालन नहीं करता। इसलिये किसी अज्ञानी को मुक्ति नहीं मिलती।।२५१।। स्वात्मा-नामक लोक बिना जाने जो शरीर-नामक लोक से चला जाता है वह फिर किसी और शरीर-रूप लोक को ही प्राप्त करता है, यह ध्रुव है।।२५२।।

वेद हमारा असीम हित कर सकता है पर तभी जब हम उसे पढ़ें! यूरोप में प्रसिद्धि है कि वहाँ कोई घर ऐसा नहीं जहाँ बाइबल न हो लेकिन घर में कोई ऐसी पुस्तक नहीं होती जिस पर बाइबल जितनी धूल न जमी हो! बाइबल रखते तो हैं, पढ़ते नहीं। इसी प्रकार हमारी धरोहर तो वेद है लेकिन हम उसे पढ़ते नहीं तो उससे लाभ भी नहीं उठा पाते। वेद के अर्थ को जानें, उसके अनुसार कर्म-उपासना करें, चित्त स्वच्छ बनायें जिससे वेदानुसार परमात्मदर्शन पायें तब कल्याण हो। वेद निज अर्थ के बोध द्वारा ही कल्याण कर सकता है। यद्यपि वेद के अक्षरों को भी सीखकर रोज़ स्वाध्याय करने से पुण्य है तथापि वह अत्यल्प लाभ है, उसकी अपेक्षा असीम लाभ हम वेद का उठा सकते हैं यदि उसका अर्थ समझें तो। इसी तरह खेती करें तो वह हमें फ़ायदा देती है। लोग जैसे वेद-लभ्य स्वर्गादि तो चाहते हैं पर वेदाध्ययन का श्रम नहीं करते, ऐसे कृषि का फल चाहते हैं पर कृषि का श्रम नहीं करते तो लाभ से वंचित रहते हैं। अज्ञात वेद, अकृत खेती की तरह अविज्ञात आत्मा कल्याण नहीं करता। भले ही हम मोक्षार्थी हों, आत्मा मोक्ष दे तभी सकता है जब उसका यथार्थ अपरोक्ष करें। वह आत्मा स्वयं 'लोक' है क्योंकि ज्ञानरूप है। उसे न जानने तक यह शरीर ही 'लोक' है क्योंकि सारे संसार से हमारा सम्बन्ध इस शरीर को ही लेकर है। यहाँ तक कि सामान्य लोग 'मरने के बाद कुछ नहीं रहता' ऐसा मानते हैं। हर हालत में, चाहे राज-पाट हो, चाहे भस्म-कौपीन हो, शरीर रहते ही उनसे संबंध है, शरीर छूटने पर नहीं। आत्मरूप लोक के यथार्थ के साक्षात्कार

१. यो देहादस्वलोकतः इति सारे पाठ।

अनात्मविद् महत् पुण्यम् अश्वमेधादिकं यदि।
कुर्याद् नित्यफलायैतद् अथाऽप्यन्ते विनश्यति।।२५३।।
कृतस्य हि क्षयोऽवश्यं कोष्ठागारादिवद् भवेत्।
न मोक्षायादरस्तस्मात् श्रुतावज्ञानकर्मणोः।।२५४।।

के बिना केवल शरीररूप लोक के ज्ञान तक सीमित रहकर मर गये तो पुनः शरीरान्तर को अपना रूप मानकर पैदा हो जायेंगे। मिस्र में तो यहाँ तक मान्यता थी कि मृत देह ही पुनः सजीव हो जायेगा! ईसाई आदि मानते हैं कि कयामत के दिन सब गड़े मुर्दे उठ खड़े होंगे, जिन्हें ईसा आदि 'अपने जानवर' कह देगा वे स्वर्ग और बाकी सब नरक भेज दिये जायेंगे। भारत में ऐसी नासमझी प्रायः नहीं है। बौद्ध-जैन भी इतना समझते ही हैं कि मृत शरीर पुनरुज्जीवित नहीं होता। मोक्षपर्यन्त शरीर अवश्य मिलता है और चौरासी लाख योनियों में से यथाकर्म - यथासंस्कार कोई-न-कोई शरीर मिलता है। जो स्वयं को चिन्मात्र समझ लेता है, उसे वर्तमान शरीर में अहंभाव नहीं रह जाता तो भावी शरीर मिलने का प्रसंग ही नहीं।।२५०-२।।

श्लोक २४६ में प्रश्न उठा था कि क्या कर्म से मोक्ष होगा? कर्म की सफलता पर हमें इतना अधिक भरोसा है कि मोक्ष भी उसी से होगा ऐसा मानना सहज लगता है। कर्म-वादी यहाँ तक स्वीकारने को तैयार हो जाते हैं कि ईश्वर है ही नहीं, कर्म स्वयं ही फल दे देता है! कर्म-वादी यदि ईश्वर मानते भी हैं तो एक यंत्र जैसा, जो कर्म का फल ही दे सकता है, अपनी ओर से कुछ और नहीं कर सकता। अतः यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, इसका उत्तर देने के लिये प्रकृत श्रुति में कहा 'यदि ह वा अप्यनेवंविद् महत् पुण्यं कर्म करोति, तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव' (१.४.१५) कि आत्मा को न जानने वाला चाहे जितना महान् कर्म कर ले उसका वह अर्जित पुण्य आखिर ख़त्म होता ही है। इसी वेदवचन का भाव समझाते हैं **आत्म-याथार्थ्य से अनभिज्ञ व्यक्ति अगर अश्वमेध आदि महान् पुण्य नित्य फल के उद्देश्य से करे तो भी वह पुण्य आखिर समाप्त ही होता है।।२५३।। जैसे कोठार आदि का क्षय ज़रूर होता है ऐसे जो कुछ भी क्रिया से निर्वृत्त होता है उसका अवश्य क्षय (समापन) होता है, इसलिये श्रुति में मोक्ष के उपयोगार्थ अज्ञान व कर्म को महत्त्व नहीं दिया है।।२५४।।** जैसे पापों में सबसे बड़ा ब्रह्महत्या वैसे पुण्यों में सबसे बड़ा अश्वमेध; उसका भी यदि नित्य फल के लिये अनुष्ठान, किया जाये तो बेकार है क्योंकि कर्म नित्य का साधन है ही नहीं। कर्म से जो भी मिलता है वह सातिशय होता है, इसलिये भी निरतिशय मोक्ष में कर्म का

किन्तु जीवन्मुक्तिकाले बोधहेयं विवेचितम् ।
मुक्तिस्तु विद्यासूत्रेण सूचिता स्याद् विचारतः ।।२५५ ।।

विनियोग नहीं। कर्म से पुण्य अर्जित होगा, पुण्य का फल मिलने पर वह पुण्य व्यय होने लगेगा अतः पुण्य पूरा व्यय होने पर फल समाप्त भी हो जायेगा। इसलिये कर्म से मोक्ष नहीं होता। उपासना भी मानस कर्म ही है, उससे भी मोक्ष संभव नहीं। जो लोकविशेष की प्राप्ति मोक्ष कही जाती है, वह तो कर्म से ही होगी लेकिन कर्मफलभूत होने से क्षयिष्णु होगी यह भाव है। नित्य मोक्ष अर्थात् कैवल्य कर्म से दुर्लभ है। कोठार में सामान भरते हैं तो धीरे-धीरे खर्च होकर कोठार खाली भी होता है। कहीं 'गोष्ठ' पाठ है, अर्थ है कि जैसे जानवर घटने से गोष्ठ (गौशाला) खाली होता है क्योंकि जानवर लानारूप क्रिया से ही वह भरता है, ऐसे सभी क्रिया-साध्य समाप्त भी होते ही हैं। ज्ञान क्रिया नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से कुछ लोग उसे भले ही क्रिया कहें पर 'कर्त्ता के अधीन होना'यह क्रिया की विशेषता ज्ञान में नहीं, वह प्रमाण-प्रमेय के अधीन होता है अतः दार्शनिक उसे क्रिया नहीं मानते हैं। परमात्मा जैसा है वैसा उसे प्रकट करना यही ज्ञान का प्रयोजन है, कुछ 'करना' अर्थात् जो नहीं है उसे है बनाना यह ज्ञान का उद्देश्य नहीं। परमात्मा नित्य मुक्त है, ज्ञान से यही प्रकट होता है। क्योंकि कर्म-फल नित्य संभव नहीं इसलिये नित्य मोक्ष के संदर्भ में वेद ने कर्म को कोई महत्त्व नहीं दिया, तत्त्वसाक्षात्कार को ही मुख्य बताया। जहाँ तो सांसारिक फलों का, कामनायुक्त लोगों का प्रसंग है वहाँ शास्त्र ने भूरिशः कर्म-उपासना का विस्तार किया। ज़्यादा लोग ऐसे हैं अतः वेद का ज़्यादा हिस्सा कर्म-विधायक है भी। जो अभी केवल मोक्ष नहीं चाहता, इतनी ही अभिलाषा रखता है कि मोक्ष हो जाये तो अच्छा है, उसकी मोक्षेच्छा तीव्र हो ताकि वह मोक्षाधिकारी, मोक्षसाधनभूत ज्ञान का अधिकारी बने इसके लिये भी कर्मादिका विधान उपलब्ध है किंतु साक्षात् मोक्ष के हेतुभूत किसी कर्म का उल्लेख नहीं क्योंकि मोक्ष कर्मकार्य है ही नहीं।।२५३-४।।

तथापि विद्या के प्रसंग में 'अथ योऽन्याम्' आदि से (१.४.१०) अविद्या का सूत्रण और फिर विस्तार किया ही क्यों? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **(मोक्षोपयोगी के रूप में कर्म-उपासना को आदर नहीं दिया) किन्तु जीवन्मुक्ति-काल में ज्ञान से जो त्याज्य है उसका विवेचन मात्र (अविद्यासूत्रादि से) किया। मोक्ष तो विद्यासूत्र के विचार से ही होता है।।२५५।।** विद्यासूत्र के बाद अविद्या का उल्लेख उसकी हेयता बताने के लिये है। मुक्त को जो पता चलता है कि वह किस-किस से छूटा, इसी का वर्णन अविद्यासूत्र में है। अज्ञानी भी इस वर्णन से समझ सकता है कि मोक्ष पाने पर वह

आत्मानमेव निर्द्वैतं स्वप्रभं प्रविचारयेत्।
विचारयति यस्तस्य फलं न क्षीयते क्वचित्।।२५६।।

किस-किस से छूट जायेगा। कर्म से ही मोक्ष भी मिल जायेगा यह भ्रम भी अविद्या-कार्य की हेयता जानने से मिट जाता है, अतः भी अविद्यासूत्रण उपादेय है।।२५५।।

आगे श्रुति है 'आत्मानम् एव लोकम् उपासीत। स य आत्मानमेव लोकम् उपास्ते, न हाऽस्य कर्म क्षीयते। अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत् कामयते तत्तत् सृजते।' (१.४.१५) अर्थात् आत्मरूप लोक की ही उपासना करनी चाहिये। ऐसा करने वाले का कर्म क्षीण नहीं होता। आत्मोपासक जो चाहे वह आत्मा से ही बना लेता है। इस श्रुतिभाग का संग्रह करते हैं **अद्वैत स्वप्रकाश आत्मा का ही विशेषतः विचार करना चाहिये। जो उसी का विचार करता है उसका फल कभी कम नहीं होता।।२५६।। कामुक पुरुष स्वर्गादि जो-जो सुख चाहता है उस-उसका उत्पादन कर्म-आराधित इस आत्मा से ही कर लेता है।।२५७।।** अज्ञान से द्वैत उपलब्ध है जिसका वास्तविक असत्त्व परमात्मा में होने से वह अद्वैत है। फिर भी स्वयं ज्ञानरूप होने से उसकी प्रकाशमानता किसी पर निर्भर नहीं। अस्वप्रकाश होता तो अद्वैत रहते उसका भान न होता क्योंकि अस्वप्रकाश वस्तुओं का भान मन आदि द्वैत रहते ही हुआ करता है। अतएव मोक्ष अवस्था में कोई ज्ञान नहीं रह जाता ऐसा मानने वाले भी दार्शनिक हैं क्योंकि वे आत्मा को स्वप्रकाश, चिद्रूप नहीं समझ पाते। घड़ा आदि देखने के लिये रोशनी भले ही चाहिये रहे, रोशनी देखने के लिये कोई रोशनी नहीं चाहिये रहती; ऐसे ही परमात्म-प्रकाश अन्तःकरणादि पर निर्भर नहीं। ऐसे अद्वितीय चिन्मात्र का 'उपासीत' अर्थात् 'प्रविचारयेत्' बारम्बार यथाशास्त्र चिंतन कर्तव्य है। यही यहाँ 'उपासना' कही जा रही है। जैसे तत्तद् देवता को तत्तद् उपचार पसंद होते हैं ऐसे अद्वैत शिव को विचार पसंद है। विचार से प्रसन्न हुआ प्रत्यगात्मा अपना स्वरूप स्पष्टतः प्रकट करता है। विचारक को प्राप्य फल जो प्रत्यगभेद वह सत्त्य होने से कभी क्षीण नहीं होता। श्रुति में 'कर्म' कहा है जिसका अर्थ है फल अर्थात् अद्वैतभाव की प्राप्ति। यहाँ यह भी द्योतित है कि आत्मविचारक को उपलब्ध फल अक्षय होने से यदि एक जीवन में संपूर्ण सफलता न मिले तो भी जो हासिल होता है वह कायम रहकर अगले जन्म में वहीं से आगे बढ़ने का मौका मिलता है और ऐसा तब तक होता है जब तक परमात्मभाव उपलब्ध न हो जाये। इस बारे में गीता (६.४०-५), ब्रह्मसूत्र (३.४.अधि.१६) आदि में विस्तार उपलब्ध है। अद्वैत स्थिति पुरुषार्थ है, कमनीय है, यह समझाने के लिये श्रुति ने कहा कि साधारण लोगों को जो कामनायोग्य लग सकता है

कामी कामयते यद्यत् सुखं स्वर्गादिजं पुमान्।
अस्मादेवात्मनस्तत्तत् सृजते कर्मपूजितात्।।२५७।।
अविनाशोऽखिलानन्दहेतुत्वं चेत्यदो द्वयम्।
न कर्मणां फले युक्तं युक्तं विद्याफले तु तत्।।२५८।।
सिद्धस्य व्यंजिका विद्या व्यक्तात्मा फलमुच्यते।
न ह्यात्मनो विनाशोऽस्ति नित्यं विद्याफलं ततः।।२५९।।

वह स्वर्गादि सभी कुछ मुक्त के लिये सुलभ है क्योंकि वह आत्मा से ही उस सबकी रचना कर लेता है। तात्पर्य इतना ही है कि विषय-सुखों की समग्रता से भी कहीं अधिक सुखस्वरूप आत्मा है। ऐसा नहीं कि मुक्त को कोई कामना होवे तथा वह तदनुसार विषय बनाये! उसे असीम आनंद सुलभ होने से विषयाभिलाषा संभव ही नहीं। विषय-सुख भी आत्मा का ही परिच्छिन्न सुख है जैसे घड़े का पानी भी कुएँ के पानी का सीमित अंश है; जैसे कुँए को प्राप्त व्यक्ति घड़े के जल का अभिलाषी नहीं होता क्योंकि उतना या उससे कहीं ज़्यादा पानी वह कुएँ से पा सकता है, ऐसे आत्मस्वरूप को प्राप्त मुक्त सारा ही सुख आत्मा से ही पा लेता है अतः निराकांक्ष रहता है, यह अर्थ है। 'कर्मपूजितात्' का एक भाव है कि 'कामी कर्मपूजिताद् आत्मनः (=परमात्मनः) यत् कामयते' अर्थात् कामुक कर्म से पूजित परमात्मा से जो चाहता है वह उसी परमात्मा से उत्पन्न कर लेता है। कामनापूर्वक कर्म करने से जो मिलता है वह परमात्मा से ही मिलता है। दूसरा भाव है कि कर्म-पूजित परमात्मा से कामी जो चाहता है वह सब तत्त्वज्ञ इसी स्वरूपभूत आत्मा से उत्पन्न कर लेता है। कामी को तो कर्म के हिसाब से मिलता है, इसे यों सीमित नहीं वरन् असीमित मिल जाता है।।२५६-७।।

श्रुति में 'न क्षीयते' कहा वह मोक्षाभिप्राय से ही है यह उपपन्न करते हैं **विनाश न होना और समस्त आनंद का हेतु होना ये दोनों विशेषताएँ कर्मों के फल में संगत नहीं, ज्ञान के फल में तो संगत हैं।।२५८।।** कर्मफल क्षयी एवं परिच्छिन्न होता है अतः 'न क्षीयते' और 'यद्यत् कामयते' ये बातें मोक्ष के संदर्भ में ही हैं यह स्पष्ट है।।२५८।।

उक्त उपपत्ति ही व्यक्त करते हैं **स्थित वस्तु को ही विद्या व्यक्त करती है तथा विद्या से व्यक्त आत्मा ही (ज्ञान का) फल कहा जाता है। क्योंकि आत्मा का विनाश नहीं होता इसलिये विद्या का फल नित्य (सनातन) है।।२५९।।** चीज़ जैसी है वैसी अनावृत हो जाये, प्रकाशित हो जाये इतना ही विद्या करती है।

सार्वभौमादिकाः प्रोक्ता उत्तरोत्तरवृद्धितः।
हिरण्यगर्भपर्यन्ता आनन्दा आत्मबिन्दवः।।२६०।।
ब्रह्मानन्दस्य भूतानि मात्रां यान्तीत्युदीरणात्।
तत्तत्कर्मानुसारेण ब्रह्मानन्दः स्फुरेन्नृणाम्।।२६१।।
तत्तद्विषयकामेन चित्तेऽस्मिन् व्याकुलीकृते।
आनन्द आत्मभूतोऽपि स तिरोधीयते नृणाम्।।२६२।।
पुण्येन विषये लब्धे चित्ते स्वास्थ्यम् उपागते।
आत्मानन्दः स्फुरेत् तावद् यावद् व्याकुलतान्तरम्[1]।।२६३।।
एवं च विषयानन्दा ब्रह्मानन्दस्य बिन्दवः।
सर्वानन्दनिधिर्विद्याफलम् इत्येतद् ईरितम्।।२६४।।

विद्यासूत्रोक्त विद्या जिसे यों व्यक्त करती है वही उस विद्या का फल कहा जाता है। कहा ही जाता है, सचमुच फल नहीं क्योंकि सदा स्वरूप होने से प्राप्त है, इसलिये 'उच्यते' कहा। नित्य शुद्धादि आत्मा विद्या से प्रकट होता है, आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता। क्योंकि आत्मा अनश्वर है इसलिये विद्याफल अव्यय कहा जाये यही उचित है।।२५९।।

आत्मरूप आनन्द में सारे वैषयिक आनंदों का अन्तर्भाव समझाते हैं **सार्वभौम के सुख से शुरू कर सौ-सौ गुणा अधिक होते-होते हिरण्यगर्भ के सुख तक जो आनंद हैं वे सब आत्मरूप आनंदसागर की बूँदें हैं।।२६०।। 'सभी प्राणी ब्रह्मरूप आनंद के हिस्से ही पाते हैं' ऐसा श्रुति में कहा होने से पता चलता है कि विभिन्न कर्मों के अनुसार ब्रह्मानंद ही लोगों को (विषय-सुख के रूप में) प्रतीत होता है।।२६१।। विभिन्न विषयों की कामना से प्राणियों का यह चित्त व्याकुल होने पर स्वरूपभूत भी आनंद लोगों के लिये छिप जाता है।।२६२।। पुण्य से विषय प्राप्त होने पर चित्त स्वात्मा में ही स्थिति पाता है तब आत्मरूप आनंद का ही स्फुरण होता है। किंतु यह दशा तभी तक रहती है जब तक विषयकामनारूप अन्य व्याकुलता उत्पन्न नहीं हो जाती।।२६३।। इस तरह निश्चित होता है कि विषय-सम्बद्ध प्रतीत होते सुख भी हैं ब्रह्मरूप आनंद की ही बूँदें, अतः समग्र आनन्द का समुद्र-स्थानीय आत्मा विद्या का फल कहा गया है।।२६४।। आनंद की बूँद-से विषय-सुखों के प्राकट्य का कारण है कर्म**

---

१. यावन्न व्याकुलान्तरम् इति मुद्रितपुस्तकेषु। सारीयपाठ इह मूले स्थापितो मुत्तुशास्त्रिणा। आन्तरं चित्तं यावन्न व्याकुलं तावदित्यर्थः।

आनन्दबिन्द्वभिव्यक्तिहेतुकर्मप्रसिद्धये।
ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानां सृष्टिर्यत्नेन वर्णिता।।२६५।।

जिनका स्वरूप समझाने के लिये ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि वर्णों की उत्पत्ति का सप्रयत्न वर्णन किया गया।।२६५।। मानुष आनंद अर्थात् मनुष्यों को मिल सकने वाला सर्वाधिक वैषयिक सुख सार्वभौम का आनंद कहा गया है। सारी भूमि पर निष्कण्टक राज्य करने वाला सार्वभौम होता है। उससे सौ गुणा अधिक सुख पितृलोक वालों का होता है। इस प्रकार गंधर्वों का, कर्मदेवों का, आजानदेवों का, प्रजापति का और ब्रह्मा का ये आनंद सौ-सौ गुणा बढ़ते जाते हैं। बृ.४.३.३३ में यह वर्णन है। किन्तु ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ का भी आनंद परमात्मानंद का अत्यल्प हिस्सा है; परमात्मा का आनंद यदि सुमद्र है तो ब्रह्मा का आनंद एक बूँद है! या अधिकाधिक अगर मानुषानंद को एक बूँद मानें तो ब्रह्मा का आनंद उक्त हिसाब से दस खरब बूँदें ही तो होगा (१ के आगे १२ शून्य जितनी हो तो संख्या होगी); समुद्र की तुलना में इतनी बूँदें जैसे महत्त्वहीन हैं वैसे परमात्मानंद के समक्ष सारे सांसारिक सुख निःसार हैं यह भाव है। अतः सभी जीवों को जो सुख मिलते हैं वे परमात्मरूप सुख की बूँदों के भी अत्यल्प अंश, मानो फुहारमात्र हों। क्योंकि जीव पुण्यानुसार ही सुख पाता है अतः जैसे बर्तनानुसार ही सागर से भी जल मिलता है वैसे जीव को परमात्मा से भी थोड़ा-सा ही सुख मिल पाता है। परमात्मा नित्य व्यापक होने पर भी जीव उसका अंशांशभूत भी आनंद कदाचित् ही ले पाता है क्योंकि जीव का चित्त कामना से व्याकुल रहता है! चित्त शान्त हो तभी सुख का स्फुरण हो, हमारा चित्त एक-के-बाद एक यों लगातार कामनाओं से व्याकुल रहता है अतः जो बीच में क्षण-दो क्षण शांति आती है बस, उतनी ही देर सुख लेता है, वह भी पूरा ले सके इसके पूर्व ही अन्य कोई कामना पुनः व्याकुल कर सुख लेने नहीं देती! व्याकुलता रहते मौजूद आनंद भी छिप जाता है, अनुभव में नहीं आता। हमें लगता है कि कामना करें, वह पूरी हो तब सुख हो; इसी सोच से हम अधिकाधिक कामना करते जाते हैं। शास्त्र कहता है कि कामना न रहे तो सुख प्रकट हो। कामना पूरी करने के बजाये उसे उठने ही न दें तो सुख बना ही रहेगा। उठाकर पूरी करना तो कभी-कभार ही संभव होगा, उठने न दें यह हमारे हाथ में है, अतः सदा सुखी रहने के लिये 'अकामहत' बनने का निर्देश दिया कि जो कामना से पीडित नहीं, वह पूर्ण सुखी है। विषयभोग से सुख नहीं, उससे जो क्षणभर को कामना-उपशान्त होती है वह उपशान्ति ही सुख प्रकट होने देती है। कामना करें ही नहीं तो शांति स्वभाव से बनी रहेगी। आत्मा तो स्वरूप से ही पूर्ण आनंद है। किन्तु

इसका हमें अज्ञान होने से कामना होती है। शास्त्र जानता है कि एकाएक हम निष्काम होंगे नहीं अतः हम सही तरीके से कामनापूर्ति कर सकें इसके लिये कर्मों का एवं उपासनाओं का विधान किया और उसमें अधिकार बताने के लिये ब्राह्मणादि वर्णों का कथन किया। श्लोक २४८ में प्रश्न उठा था कि अज्ञान व कर्म के वर्णन का प्रयोजन क्या? श्लो. २५४ तक स्पष्ट किया कि कर्म साक्षात् मोक्षोपाय नहीं। जीवन्मुक्तिकाल में क्या हेय है यह बताने के लिये अज्ञान-कर्म का कथन है यह श्लोक २५५ में उत्तर दिया। एक और उपयोग कर्मों का यहाँ बताया कि अज्ञानदशा में मिल सकने वाली सुख-बूँदों को पाने का सही तरीका बताना भी कर्मोपदेश का प्रयोजन है। किं च यदि विविदिषा-श्रुति से प्रेरित हो कर्म करें, गीतोक्त निष्काम कर्म करें, तो कर्म मोक्षोपयोगी ज्ञान में अधिकार दिलाने वाले भी बन जाते हैं, यह भी इनके वर्णन का, उपनिषत् में उल्लेख का उद्देश्य है। श्रुति तो आनंदप्राप्ति का तरीका बता रही है, जब तक पूरा आनंद न ले सकें तब तक थोड़ा कैसे लें यह कर्मविधान से बताया है यह भाव है। इस तरह श्रुति का आदर आनंद में ही है। उसकी पूर्णता ज्ञान से ही सुलभ है इसलिये श्रुति ज्ञान को आदर देती है। कर्म भी थोड़ा-बहुत आनंद दे देता है इसलिये आदर से तो नहीं पर श्रुति उसका भी विधान कर देती है, यह तात्पर्य है।।२६०-५।।

सोलहवीं कण्डिका में 'अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः' इत्यादि से विस्तार से बताया है कि जीव कैसे सबका उपभोग्य है अधिकारी मानव होमादि से देवों का उपभोग्य बनता है, वेदानुवचन से ऋषियों का, श्राद्ध-तर्पणादि से एवं प्रजोत्पादन से पितरों का, रहने की जगह और भोजन प्रदान करने से मनुष्यों का, घास-पानी आदि देने से पशुओं का, तथा कुत्ते पक्षी आदि को पालने से उनका एवं जो दाने बिखेरता है, जूठन फैंकता है आदि उस सबसे चींटी-पर्यन्त सभी प्राणियों का उपभोग्य बनता है। अतः जैसे किसी भी अपने उपभोग्य की लोग सुरक्षा-व्यवस्था करते हैं वैसे देवादि-चींटी-पर्यन्त सारे प्राणी इस प्रयास में रहते हैं कि ऐसे सर्वोपकारक गृहस्थ की सुरक्षा हो। इसी से पहले कहा था कि कोई नहीं चाहता कि ऐसा व्यक्ति मुक्त हो जाये। इस प्रसंग का श्लो. २७३ तक वर्णन करेंगे। मुमुक्षा-वर्धन तो इसका प्रधान प्रयोजन है किन्तु संसारोन्मुख लोगों को दिग्दर्शन देना भी अभीष्ट है कि समर्थ को यथाशक्ति सभी की सेवा करनी चाहिये। वैदिक संस्कृति की इस समग्रता की दृष्टि का सनातन महत्त्व है। पहले, तीन श्लोकों से जीव की सबके प्रति उपभोग्यता व्यक्त करते हैं **आत्मतत्त्व से अनभिज्ञ जीव वर्ण और आश्रम में अभिमान रखते हुए बहिर्मुख हो चींटी-पर्यंत देवता आदि का आश्रय**

वर्णाश्रमाऽभिमानी सन्नतत्त्वज्ञः पराङ्मतिः ।
देवादीनाम् आश्रयः स्यात् सर्वेषाम् आपिपीलिकम् । ।२६६ । ।
देवानां यागहोमाभ्याम् ऋषीणां वेदपाठतः ।
पितृणां श्राद्धतो नृणां वस्त्रान्नगृहदानतः । ।२६७ । ।
पशूनां तृणनीराभ्याम् उच्छिष्टकणधान्यतः ।
स्वाखुटिट्टिभमुख्यानाम् एवं सर्वाश्रयो गृही । ।२६८ । ।

(= सेवक) बना हुआ है । ।२६६ । । याग व होम कर यह देवताओं का आश्रय बनता है, वेद पढ़ते रहने से ऋषियों का, श्राद्ध से पितरों का, वस्त्रदान गृहदान अन्नदान से मनुष्यों का, घास-पानी देने से पशुओं का, जूठन तथा दाने बिखेरने से कुत्ता-चूहा-टिटहरी आदि का, यों गृहस्थ सभी का आश्रय बनता है । ।२६७-८ । ।

अज्ञानी भी वर्णाश्रमाभिमानी होगा तभी देवादि का आश्रय बनेगा। जिसे वर्णादि में अभिमान नहीं उसे देवादि की भी परवाह नहीं होगी, वह उनकी सेवा करे इसकी संभावना नहीं। दूसरे मनुष्य भी वहीं सहायता आदि लेने जाते हैं जहाँ उन्हें कुछ मिलने की संभावना हो। वर्णादि में अभिमानी धार्मिक ही लोकोपकार में भी प्रवृत्त होता है। सर्वथा चार्वाक सिद्धांत मानने वाले खुद के भोग में ही संलग्न रहते हैं, उससे परे उन्हें कुछ महत्त्व का नहीं लगता क्योंकि उसका उन्हें कोई फल नहीं जँचता। वर्णाद्यभिमानी भी अगर प्रत्यङ्मति, अन्तर्मुख हुआ तो ब्रह्मनिष्ठा में प्रवृत्त होने से देवादि की सेवा में लगेगा नहीं। जो बाह्य जगत् को सत्य, प्राप्य समझता है वही 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा' आदि से प्रेरित हो उन सबका उपकार करेगा। देवसेवा का तरीका याग-होमादि हैं। देव-पूजा को याग कहते हैं। अग्नि में समर्पण को होम कहते हैं। देवता के उद्देश्य से हवि का त्याग याग एवं त्यक्त वस्तु का वह्नि में प्रक्षेप होम होता है ऐसा प्रसिद्ध है। याग-होम से देवताओं को मिलने से वे पुष्ट प्रसन्न हो जाते हैं तथा न मिलने पर दुर्बलादि हो जाते हैं। पुराणों में यह सब विभिन्न कथानकों द्वारा प्रदर्शित है। विधिवत् अध्ययन कर नियमानुसार वेदपाठ करने से ऋषियों को तृप्ति मिलती है। विविध श्राद्धों से एवं योग्य सन्तानोत्पत्ति से पितर तृप्त होते हैं। तृप्त हुए देवादि ही हम लोगों का कल्याण भी करते हैं। ज़रूरतमंद मनुष्यों को अन्न-वस्त्र-गृह (रोटी-कपड़ा-मकान) प्रदान करने से वे सन्तुष्ट होते हैं। धनाढ्य व्यक्ति आवश्यकता वालों की यों सेवा करे तो वे भी उसका उत्कर्ष चाहते हुए उसकी प्रगति में सहयोगी बनते हैं और यदि कोई सिर्फ़ अपना ही भोग चाहे, अन्यों की उपेक्षा ही करे, तो लोग उसकी संपन्नताके प्रति ईर्ष्यालु होकर उसका अहित चाहते हैं,

कर्मणा नार्जितो यस्माद् न कश्चिद् उपकारकृत्।
गृही देवादिभिस्तस्माद् अर्जितोऽभूत् स्वकर्मभिः।।२६९।।
स्वस्वकर्मार्जितत्वेन देवाद्याः स्वस्वदेहवत्।
अविनाशं सदेच्छन्ति गृहिणः स्वोपकारिणः।।२७०।।
तत्त्वं बुद्ध्वाऽननुष्ठानं नाशोऽयं गृहिणो महान्।
एष देवादिभिः सर्वैर्न हि शक्यश्चिकित्सितुम्।।२७१।।
कर्मणाम् अननुष्ठानं मृतिरोगादिना तु यत्।
नाऽसावात्यन्तिको नाशो यस्मात् पश्चात् करिष्यति।।२७२।।

उसकी प्रगति में रुकावटें डालते हैं। धार्मिक मनुष्य जानवरों को घास-चारा आदि देता-दिलाता है, भूमि को गोचर के रूप में विकसित करता है, पशु पी सके इसके लिये तालाब आदि खुदवाता है, यों वह उनका भी पोषण करता रहता है। केवल अपने ही पालतू पशुओं की नहीं, जो अन्यों के पशु हैं या आवारा पशु हैं उनकी भी यथाशक्ति सेवा धर्मशील लोग किया करते हैं। चूहा चिड़िया आदि को मिले इस तरह जूठन आदि फैंकना भी धार्मिक की दृष्टि है। अधार्मिक तो जूठनादि भी यों फैंकेगा कि किसी को मिले नहीं! नाली में बहा देगा, प्लास्टिक आदि में बाँधकर डालेगा, जलाने आदि के लिये देगा किन्तु चूहे आदि का गुजारा चले इस तरह उसका विनियोग नहीं करेगा। धार्मिक ऐसा करके चूहे आदि का भी आश्रय बनता है। इस तरह बताया कि गृहस्थ अधिकारी देवादि सभी का आश्रय, सेवक, उपभोग्य है।।२६६-८।।

देवादि का आश्रय बनकर मनुष्य उन पर कोई अहसान नहीं करता वरन् उनका हक ही उन्हें देता है यह बताते हुए निगमन करते हैं कि देवादि मोक्षमार्ग में प्रतिबंधक बनें यह कोई आश्चर्य नहीं **क्योंकि कर्मद्वारा जो न मिला हो वह उपकारक भी नहीं होता इसलिये यह मान्य है कि देवादि द्वारा अपने-अपने कर्मों से गृहस्थ प्राप्त किया गया है (तभी वह उनका उपकारक बनता है)।।२६९।। अपने-अपने कर्मों से प्राप्त होने के कारण देवादि अपने उपकारक गृहस्थ का सदा अविनाश चाहते हैं जैसे स्वकर्मार्जित शरीर का सभी अविनाश चाहते हैं।।२७०।। (देवादि की दृष्टि से) गृहस्थ का महान् नाश यही है कि वह आत्मतत्त्व जानकर (अकर्तृरूप में प्रतिष्ठित हुआ) अनुष्ठान न करे। यह नाश 'महान्' इसलिये कि देवादि इसका उपाय से निवारण नहीं कर सकते।।२७१।। मौत, बीमारी आदि के कारण जो कर्मानुष्ठान से विराम होता है वह हमेशा के लिये नहीं, क्योंकि**

मा भूत् सर्वस्वहानिर्नो ब्रह्मयाथात्म्यविद्यया।
इति देवादयो विद्यां प्रतिबध्नन्ति यत्नतः।।२७३।।

जन्मांतर में या स्वस्थ होकर वह जीव पुनः अनुष्ठान करेगा (अतः देवादि के लिये वह जीव सर्वथा नष्ट हो गया ऐसी बात नहीं)।।२७२।। 'ब्रह्म की वास्तविकता के साक्षात्कार से हमारे सर्वस्व की हानि न हो' यह समझकर देवादि कोशिश कर इस विद्या में रुकावट डालते हैं।।२७३।। कर्मानुरूप ही फलप्राप्ति होती है इस नियम से गृहस्थ देवादि की सेवा करता है तो निश्चित है कि गृहस्थ के अस्तित्व में देवादि के कर्मों का भी विनियोग है। जैसे घड़ा बनाने में भले ही कुम्हार की चेष्टा कारण है लेकिन जो उसे खरीदकर लाकर उसमें पानी आदि भरता है उसका जो उस घड़े पर स्वत्व है वह उसके क्रय आदि कर्म का फल है, वैसे ही गृहस्थ स्वयं भले ही अपने कर्मों से पैदा हुआ हो लेकिन जो वह सबका उपकारक बनता है यह इसीलिये कि सबके किसी कर्म का गृहस्थ से सम्बंध है। इसी से गृही को श्लो. २७३ में 'सर्वस्व' कहा अर्थात् सबका उसपर स्वत्व है। कोई पूछ सकता है कि यदि कोई गृही देवादि का उपकार नहीं कर रहा तो यही क्यों न मान लें कि उस पर देवादि का स्वत्व है ही नहीं, अतः उसका दायित्व ही नहीं कि वह सबकी सेवा करे? इसका जवाब उपनिषत् मधुविद्या में देगी, जिसे अनुभूति प्रकाश के सोलहवें अध्याय में समझायेंगे। गृही क्योंकि देवादि सभी 'का' है, सभी की उसपर मिलकियत है, इसीलिये सभी कोशिश करते हैं कि गृही ऐसा बना रहे कि सभी का उपकार करता रहे। जैसे वे अपने शरीरों की रक्षा करते हैं ऐसे ही गृहस्थ की भी रक्षा करते हैं। रक्षा की जाती है उससे जो नाश कर सके। रोग-मृत्यु आदि किंचित् काल का ही नाश करते हैं क्योंकि कुछ समय बाद नये शरीर में या स्वस्थ होकर उसी शरीर में रहता हुआ गृही पुनः सेवाकार्य प्रारंभ करता है। अतः इन स्वल्प नाशों से रक्षा करना देवादि को अधिक ज़रूरी नहीं लगता। किन्तु तत्त्वसाक्षात्कार हो जाये तो क्योंकि कर्तृताभिमान ही बाधित हो जाता है इसलिये सेवाकार्य की संभावना ही मिट जाती है, अतः इसी महान् नाश से गृही को सुरक्षित रखने का प्रयास देवादि करते हैं। अतः यह प्रश्न नहीं बनता कि गृही के रोगादि को भी देवादि क्यों प्रतिबद्ध नहीं करते; क्योंकि देवादि की दृष्टि में वह कोई बड़ा नाश है नहीं। बड़ा नाश तत्त्वज्ञान है अतः उसी में रुकावट डालते हैं। उन्हें लगता है कि 'वर्णाद्यभिमानी यदि अपने अध्यासरूप अभिमान से बाहर निकल गया तो हमारा सब कुछ डूब जायेगा!' इसी से वे उसे ज्ञान होने देना नहीं चाहते।।२६९-७३।।

कामना

नन्वनर्थकरे केन गृही त्वेवं[१] प्रवर्तितः।
पारतन्त्र्यम् ऋते नैव[२] धीमानत्र प्रवर्तते।।२७४।।
देवादिपारतन्त्र्यं तु गृहिणाम् अधिकारिणाम्।
मिथ्याधीमात्रहेतुत्वाद् नाऽप्यविद्या प्रवर्तिका।।२७५।।

सत्रहवीं कण्डिका में बताया है : यह पहले अकेला आत्मा ही था। उसने कामना की 'मेरी पत्नी होवे ताकि मैं प्रजनन करूँ। फिर मेरे पास धन हो ताकि मैं कर्म करूँ।' बस, इतना ही कमनीय होता है, चाहकर भी कोई इससे अतिरिक्त नहीं पा सकता। अतः आज तक अकेला मानव पत्नी-प्रजा-धन-कर्म ही चाहता है। इन सबको पाये बिना व्यक्ति स्वयं को अपूर्ण ही मानता है। जो बाह्य उपलब्धि से ऐसी पूर्ति न कर सके, उसे मन, वाक्, प्राण, चक्षु श्रोत्र और शरीर में क्रमशः आत्मा, पत्नी, प्रजा, धन और कर्म की दृष्टि करनी चाहिये। इस प्रसंग का संग्रह करते हैं मनुष्य सर्वोपकार में प्रवृत्त होता क्यों है इसे यथाश्रुति बताने के लिये प्रश्न उठाते हैं **अनर्थकारी ऐसी प्रक्रिया में गृहस्थ किस कारण मानो बलात् प्रवृत्त किया जाता है? परतंत्रता के बिना बुद्धिमान् ऐसे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता।।२७४।।** सभी की सेवा करते रहना कोई सुखद स्थिति नहीं। सेवा ऐसा कार्य है जिससे सेव्य को संतुष्टि मिलना दुर्लभ ही होता है, चाहे-जैसा प्रयास करें, कुछ-न-कुछ कमी रह ही जाती है। एक व्यक्ति की सेवा कठिन तो जिसे देव-ऋषि- पितर्-मनुष्य-पशु सबकी सेवा करनी पड़े उसका क्या हाल होता होगा! ऐसे सदा मुश्किल के काम में गृहस्थ लगा ही क्यों? कौन उसे बलपूर्वक इस में संलग्न रखे है? खुद तो क्यों कोई बुद्धिमान् ऐसी मुसीबत मोल लेगा!।।२७४।।

सारे संसार का कारण अविद्या ही जीव की इस प्रवृत्ति में भी पर्याप्त हेतु होगी इस संभावना को दूर करते हैं **गृहस्थ अधिकारी, देवताआदि के परतंत्र हैं इसमें कारण अज्ञानहेतुक मिथ्या अभिमान है यह तो ठीक लेकिन अविद्या (आवरणात्मिका होने से) प्रवृत्त नहीं कर सकती।** स्वस्वरूप नहीं समझा अतः खुद

१. गृहीत्वाऽयं प्र...इत्यनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु पाठ। गृहीत्वा हस्तग्रहणमिव कृत्वा, बलाद् इत्यर्थः। इह मूले सारपाठो निवेशितः।

२. पारतन्त्र्येऽमृतेनैव इत्यनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु। तदार्थोऽस्पष्टः। अत्र वार्तिकसारीयः पाठः समादृतः।

तर्हि प्रवर्तकं ब्रूमः काम एव प्रवर्तकः।
'काम एष क्रोध एष' इत्यादिस्मृतिवाक्यतः।।२७६।।

को परिच्छिन्न मानकर देवादि के हम परतंत्र रह गये यहाँ तक तो अविद्या से संभव है लेकिन बिना किसी और हेतु के स्वयं अविद्या कहीं प्रवर्त्तक नहीं देखी जाती। प्रवर्त्तक का वह बीज तो होती है : अंधेरे में न दीखे और हम गड्ढे में गिर पड़ें यह होता है पर इसमें कारण है हमारा चलना; केवल न दीखने से हम गिर नहीं पड़ते। इसी तरह देवोपभोग्य बनाने वाला कुछ अविद्यातिरिक्त विशेष होगा तभी संभव है कि मनुष्य यों सबकी सेवा में संलग्न है। यह भी कहना नहीं बनता कि देवादि के परतंत्र होने से वे ही इसे प्रवृत्त करते होंगे; क्योंकि देवादि भी उसी को प्रवृत्त कर सकते हैं जो स्वयं को कर्माधिकारी मानकर उनके संमुख सेवा पूछने पहुँचे। यदि ऐसा न होता तब सभी मानव देवादि के विधिवत् सेवक होते जबकि लोक में दीखता है कि यों सबकी सेवा में तत्पर गृही कम-से-कम आज तो दुर्लभ होते जा रहे हैं! वर्त्तमान लोग वर्णादि के अभिमानी नहीं तो देव-ऋषि आदि उन्हें यज्ञ-वेदाध्ययन आदि में प्रवृत्त भी नहीं कर पा रहे। इस प्रकार अज्ञान को सर्वसेवक बनाने वाला कहना या देवादि ही हमें यों जोत देते हैं कहना, दोनों ही ग़लत है।।२७५।।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं **उक्त प्रश्न होने पर बताते हैं कि प्रवर्त्तक कौन है : कामना ही गृही को उपभोग्य बनने में प्रवृत्त करती है। (किससे प्रयुक्त हुआ पुरुष न चाहकर भी मानो बलात् पाप करता है? इस प्रश्न के उत्तर में आये) 'यह कामना, यह क्रोध' आदि स्मृतिवाक्य से उक्त निर्णय मिलता है।।२७६।।** श्रुति ने 'सोऽकामयत' से प्रवर्त्तक कहा कि आत्मा ने कामना की। श्लोक २७४ के परिचय में श्रुत्यर्थ बता आये हैं। गीता (३.३७) से भी यही निर्णय होता है कि कामना ही प्रवर्त्तक है। यद्यपि वहाँ प्रश्न में पाप का कथन है तथापि संसार में बाँधे रखने वाले कर्म भी वास्तविक सुखरूप फल न देने वाले होने से पाप ही हैं! स्वर्गादि फलों की कामना है तभी गृही उक्त सेवा कार्यों में लगा रहता है, अन्यथा नहीं लगता। यजुर्वेद में (७.४८) कहा है 'कोऽदात्? कस्मा अदात्? कामोऽदात्, कामायादात्। कामो दाता, कामः प्रतिग्रहीता' अर्थात् 'किसने दिया? किसे दिया? कामना ने दिया, कामना को दिया। कामना ही देती है, वही लेती है'। ब्राह्मण दक्षिणा लेते समय इसी बात को कहता है कि उसे कामना है इसीलिये उसने यजमान के लिये कर्म किया और दक्षिणा ले रहा है। इस तरह वेद व गीता दोनों के अनुसार कामना ही प्रवर्त्तक है।।२७६।।

'अकामतः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचित्।
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्।।२७७।।
तस्मात् कामयते पूर्वं ब्रह्मचारी चतुष्टयम्।
जाया मे स्याद्, अथाऽपत्यम्, अथ वित्तम्, अथ क्रिया।।२७८।।

यही मनु महाराज ने (मनुस्मृ. २.४) कहा है **संसार में किसी की कोई क्रिया नहीं देखी जाती जो बिना कामना के हो। जन्तु जो कुछ करता है वह कामना का ही प्रभाव है।।२७७-७८।।** यद्यपि बहुधा परोपकार किया जाता दीखता है तथापि मनु का भाव है कि 'दूसरे का उपकार करूँ' इस कामना से ही वह प्रवृत्ति भी है। कभी तो ऐसी मनःस्थिति होती है कि यदि परोपकार न करें तो खिन्नता रहती है जिससे बचने के लिये परोपकार आवश्यक होता है। अमेरिका के एक पुराने राष्ट्रपति के जीवन की एक घटना प्रसद्धि है : दफ्तर जाते हुए उन्हें दलदल में फँसा एक सुअर दीखा, वे अपनी गाड़ी से उतरे, कीचड़ में जाकर किसी तरह सुअर को खींचकर बाहर निकाला, फिर दफ्तर चले गये। पत्रकारों को घटना मालूम पड़ी तो उनसे साक्षात्कार लेने पहुँचे, पूछा 'आपको जानवरों पर ऐसी करुणा आती है इसका स्रोत क्या है?' उन्होंने जवाब दिया 'अरे उस पर करुणा की क्या बात! उसे उस हालत में छोड़कर दफ्तर आ जाता तो दिनभर उसी की चिंता करता, कोई काम सावधानी से, उत्साह से नहीं कर पाता, ऐसा न हो इसलिये थोड़ा समय लगाकर, थोड़ा श्रम करके उसे निकाल आया ताकि तसल्ली से काम कर सकूँ।' इस तरह परोपकार भी कामचेष्टित है यह स्पष्ट होता है। धर्म, यश आदि सूक्ष्म विषयों की ही सही पर कामना हो तभी व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होता है अतः सर्वोपभोग्य बनने में भी वही प्रवर्त्तक है।।२७७।।

कामना के विषयों को श्रुति ने गिन कर रख दिया 'एतवान् वै कामः' कि इतनी ही चीज़ें चाही जाती हैं; उन्हीं का उल्लेख करते हैं **इसलिये ब्रह्मचारी इन चारों की कामना करता है पहले मेरी पत्नी हो, फिर औलाद हो, फिर धन हो, फिर कोई कार्य (रोजगार आदि) हो। संसार में इतनी ही कामना होती है, इससे ज़्यादा कहीं नहीं होती। कर्मफल के रूप में जो लोकांतर चाहे जाते हैं वे भी 'कार्य' कहने से कह ही दिये गये।।२७८।।** ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता ही इसलिये है कि उक्त चार कामनायें उसे होती हैं। यदि ये कामनायें न होतीं तो गार्हस्थ्य में प्रवेश ही न करता। अतः 'पूर्वं' अर्थात् पहले कामना करता है तदनंतर गृही बनता है यह अर्थ है। अथवा पहले पत्नी चाहता है इत्यादि सम्बन्ध है। श्रुति ने कहा है कि इतनी

एतावान् एव संसारे कामो नाऽतोऽधिकः क्वचित्।
लोकान्तरं कर्मफलं कर्मोक्त्यैवेरितं भवेत्।।२७९।।
असम्भवे तु जायादेर्मनोवागादिषु क्रमात्।
आत्मा जायादि[1] सङ्कल्प्य ध्यायेज्जायादिसिद्धये।।२८०।।

ही चीज़ें कोई चाहता है। यद्यपि आधुनिक काल में कोई पहले क्रिया (रोजगार) तो कोई धन चाह लेता है तथापि चाहते चार ही चीज़ें हैं इस श्रुति की बात में फ़रक नहीं आया है। अथवा आधुनिक काल की दृष्टि से श्रुति का क्रम इस अभिप्राय से है पत्नी हो ताकि प्रजा हो; पत्नी मिले व प्रजा पले इसके लिये धन हो; क्रिया करूँ तो धन मिले; इस तरह क्रिया-धन-पत्नी-प्रजा यह अर्थक्रम है। सर्वथापि, संसार, संसार में चाहने लायक इतना ही है। सारे पदार्थों का इन्हीं में अन्तर्भाव मान लेना चाहिये। लोकांतर भी कर्मफल होने से कर्म में ही उसका अन्तर्भाव है।।२७८-९।।

प्रसंगवश श्रुति ने एक उपासना बता दी है कि जिसे बाह्य जाया आदि न मिलें वह यों अध्यात्म में जाया आदि दृष्टि करके स्वयं की पूर्णता महसूस करे। इसका भी यहाँ संग्रह कर लेते हैं **बाह्य पत्न्यादि मिलना सम्भव न हो तो आत्मा को (अधिकारी जीव को) चाहिये कि (मन आदि के बारे में 'ये ही मेरे) आत्मा पत्नी आदि हैं' ऐसा संकल्प कर ध्यान करे ताकि उसे (संकल्परूप) पत्नी आदि उपलब्ध हो जायें।।२८०।।** ('आत्मजायादि' पाठ में आत्मा का, जाया का, ऐसे ही बाकी का मन आदि पर आरोप करके ध्यान करे यह अर्थ है।) श्रुतिवाक्य है 'मन एवास्यात्मा, वाग् जाया, प्राणः प्रजा, चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद् विन्दते श्रोत्रं दैवं, श्रोत्रेण हि तच्छृणोति, आत्मैवास्य कर्म' (१.४.१७)। इसे यहाँ सूचित किया : मन में आत्मदृष्टि करनी है, वाक् में पत्नीदृष्टि, प्राणों में औलाद दृष्टि, चक्षु और श्रोत्र में धन दृष्टि तथा शरीर में कर्म दृष्टि करनी है। पत्नी आदि के अभाव में खुद में जो कमी महसूस होती है उसकी पूर्ति के लिये यह उपासना है। यों उपासना ही एक यज्ञ हो जाती है जिसका फल बताया है सारे जगत् की आत्मरूप से प्राप्ति। क्योंकि ब्रह्मविद्या के संदर्भ में इस उपासना का विशेष महत्त्व नहीं इसलिये अनुभूतिप्रकाश में इसका कोई विस्तार नहीं कर रहे।।२८०।।

---

१. आत्मजायादीति अनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु पाठः। अत्र सारपाठः स्थापितः।

एवं कामप्रेरितः सन् याति कर्माधिकारिताम्।
अवरुन्धन्ति गृहिणं देवाद्या अधिकारिणम्।।२८१।।
इत्यविद्यासूत्र उक्तोऽनर्थो यत्नेन विस्तृतः।
अयं निवर्त्यो विदुषा जीवतेति श्रुतेर्मतिः।।२८२।।

उपसंहारः

कर्मोपास्तिफलं कण्वः प्राहात्मब्राह्मणे तथा।
अव्याकृतं व्याकृतं च विद्याऽविद्ये ह्यतिस्फुटम्।।२८३।।

श्लोक २७४ में उठाये प्रश्न के उत्तर का समापन करते हैं **इस प्रकार श्रुति ने निश्चित किया कि कामना से प्रेरित हुआ गृहस्थ ही कर्मों में अधिकार पाता है तथा वैसे अधिकारी गृही के ही मोक्षमार्ग में देवता अवरोध डालते हैं।।२८१।।** ऐसा नहीं कि अनधिकारी का मार्ग निष्कण्टक हो! जो कर्माधिकारी ही नहीं बन पाया वह मोक्षाधिकारी तो बन ही नहीं सकता अतः मोक्ष-मार्ग का पथिक ही नहीं कि देवताओं को रुकावट डालनी पड़े। कर्माधिकारी ही कर्म द्वारा चित्त शुद्ध करके ज्ञानाधिकारी बनता है। यह तो हो सकता है कि पूर्व जन्म में कर्म कर चुकने से इस जन्म में शुद्ध मन वाला हो गया अतः यहाँ कर्म बिना किये ज्ञानमार्ग पर चल पड़ा, लेकिन कर्मानुष्ठान से रहित का ज्ञान के रास्ते चलना संभव नहीं। इसलिये वे थोड़े-से ही लोग संभव हैं जो कर्माधिकारी बनें और उनमें से ही कोई दुर्लभ ज्ञानाधिकारी होगा; क्योंकि कर्माधिकारी ही कम हैं अतः उनमें से एक-आध भी ज्ञानाधिकारी न बने यह देवताओं का अभिप्राय है।।२८१।।

श्लोक २३७ से प्रारंभ किये अविद्यासूत्र के प्रसंग का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार 'अविद्यासूत्र' में विस्तृत अनर्थभूत विषय बताया। वेद का मत है कि विद्वान् को जीवित रहते ही इसे निवृत्त कर लेना चाहिये।।२८२।।** इस प्रसंग में बताया संसार त्यागने लायक है, उसकी त्याग-योग्यता ही श्रुति को अभिप्रेत है।।२८२।।

बृहदारण्यक प्रथमाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण को 'आत्मब्राह्मण' भी कहते हैं। इसमें वर्णित विषयों का स्मरण दिलाते हैं **आत्मब्राह्मण में कण्व ऋषि ने कर्म-उपासना का फल, अव्याकृत, व्याकृत, विद्या और अविद्या इनका अतिस्पष्ट वर्णन किया।।२८३।।** श्लोक ६३ तक कर्म-उपासना का फल, श्लो. ६४-८६ तक अव्याकृत, श्लोक ९०-१४२ तक व्याकृत, श्लोक १४३-२३६ तक विद्या और तदनन्तर अविद्या का वर्णन किया गया।।२८३।।

अथाऽध्याये चतुर्थे च कण्वः पञ्चमषष्ठयोः।
उपाख्यानानि बहुधा वक्ष्यत्यात्माऽवबुद्धये।।२८४।।
अजातशत्रुर्मैत्रेयी दध्यङ्ङित्युक्तनामभिः।
आख्यानान्यङ्कितानि स्युश्चतुर्थाध्यायगानि हि।।२८५।।
आश्वलश्चार्तभागश्च भुज्यूषस्तकहोलकाः।
गार्ग्युद्दालकशाकल्याः पञ्चमाध्यायगा इमे।।२८६।।
आख्यानान्येतदीयानि स्युः षष्ठाध्याय ईरितम्।
जनकस्य ह्युपाख्यानं संग्रहाद् विस्तरादपि।।२८७।।
उपाख्यानेषु सर्वेषु प्रत्येकं ब्रह्म वर्णितम्।
श्रुतैरेतैरुपाख्यानैर्ब्रह्मविद्या दृढा भवेत्।।२८८।।

उपनिषत् के प्रथम अध्याय के प्रधान वर्णनीय विषय का व्याख्यान कर चुकने पर आगे के अध्यायों का संकेत देते हैं **कण्व ऋषि इसके अनंतर चौथे-पाँचवें-छठे अध्यायों में आत्मा के अवगम के लिये बहुत तरह से कथायें सुनायेंगे।।२८४।। चौथे अध्याय की कथाएँ अजातशत्रु, मैत्रेयी और दध्यङ्ङाथर्वण के नामों से चिह्नित हैं।।२८५।। पाँचवें अध्याय में उल्लिखित ऋषि हैं आश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त, कहोल, गार्गी, उद्दालक और शाकल्य। इनसे सम्बद्ध कथायें पंचमाध्याय में हैं। छठे अध्याय में संक्षेप और विस्तार से जनक-संबंधी कथा उपलब्ध है।।२८६-७।। इन सब कथाओं में हर-एक में ब्रह्म का ही वर्णन है। इन कथाओं का श्रवण करने से ब्रह्मविद्या दृढ होती है।।२८८।।** 'चौथा' आदि आरण्यक-क्रम से कहा है, उपनिषत्-क्रम से इन्हें दूसरा-तीसरा-चौथा अध्याय समझना चाहिये। बताने के तरीके विभिन्न होने पर भी बताया सब में एक ही अखण्ड तत्त्व है। क्योंकि अतिसूक्ष्म दुर्बोध तत्त्व तभी हृदयंगत हो सकता है जब उसे अनेक दृष्टियों से समझने का प्रयास किया जाये इसीलिये मुख्य बात की पुनः पुनः आवृत्ति वेदान्तशास्त्र में साहित्य की तरह दोष नहीं वरन् तात्पर्यग्राहक आवश्यक गुण है। अनुभूतिप्रकाश के अध्याय १४ में अजातशत्रु का, १५ में मैत्रेयी का, १६ में दध्यङ्ङाथर्वण का, १७ में आश्वलायनादि का तथा १८ में जनक का उपाख्यान वर्णित किया जायेगा। इन सभी प्रसंगों का बारम्बार श्रवण-मनन आत्मबोध की दृढता का हेतु बनता है।।२८४-८८।।

सद्गुरु को समर्पित करते हुए त्रयोदशाध्याय पूरा करते हैं **ऋषि कण्व ने 'आत्मब्राह्मण' में जो विद्या सुनाई वह स्पष्ट कर समझा दी। हमारे इस प्रयास**

याम् आत्मब्राह्मणे विद्यां कण्वः प्रोवाच सा स्फुटम्।
व्याख्याता प्रीयतां तेन विद्यातीर्थमहेश्वरः।।२८६।।

।।इति श्रीविद्यारण्यविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यके काण्वविद्याप्रकाशो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।

से महेश्वररूप श्रीविद्यातीर्थ-नामक आचार्य प्रसन्न हों।।२८६।। कण्व ने भी स्पष्ट ही उपदेश दिया था, फिर भी हमने उसे और अधिक विस्तार से समझाया है यह तात्पर्य है। हर अध्याय की तरह आचार्य विद्यारण्य ने इसे भी अपने गुरु की प्रसन्नतार्थ समर्पित किया है।।२८६।।

।। तेरहवाँ अध्याय ।।

ॐ

अनुभूतिप्रकाशे

अजातशत्रुविद्याप्रकाशः

चतुर्दशोऽध्यायः

सन्दर्भः

अजातशत्रुरध्याये चतुर्थे ब्राह्मणैस्त्रिभिः।
विद्यां बालाकये प्राह तां विस्पष्टम् इतो ब्रुवे।।१।।
अजातशत्रुर्ब्रह्मात्मवेदनाच्छौर्यतोऽपि च।
अन्तर्बहिश्च निःशत्रुः काश्यां राजा बभूव ह।।२।।
गर्गगोत्रजविप्रोऽयं बालाकिर्नैव तत्त्ववित्।
किन्तु प्राणोपासकोऽयं दर्पेण महता वृतः।।३।।

अजातशत्रुविद्याप्रकाश : चौदहवाँ अध्याय

बृहदारण्यक उपनिषत् के पहले अध्याय का विवरण अनुभूतिप्रकाश के तेरहवें अध्याय में किया। उसे अध्यारोपस्थानीय मानें तो उपनिषत् का दूसरा अध्याय अपवाद-स्थानीय है, जिसके तीन ब्राह्मण इस चौदहवें अध्याय में समझाये गये हैं। इसके प्रथम तीन ब्राह्मण अपवाद-प्रधान हैं, तदनन्तर आत्मविद्या का साक्षाद् वर्णन है जो पंद्रहवें अध्याय में आयेगा। प्राणादि मुख्य आत्मा नहींयह पहले सिद्धकर तभी आत्मा क्या हैयह बता सकते हैं, इस दृष्टि से पहले अजातशत्रु - बालाकि के संवाद का संग्रह कर रहे हैं। अनुभूतिप्रकाश के नौवें अध्याय में भी कौषीतकी के अनुसार इसी प्रसंग पर विचार किया था। बृहदारण्यक में वाक्य है 'दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस। स होवाचाजातशत्रुं काश्यं 'ब्रह्म ते ब्रवाणी' ति'। इसका अनुवाद करते हुए कथारम्भ करते हैं **चौथे अध्याय में तीन ब्राह्मणों द्वारा अजातशत्रु ने बालाकि को जो विद्या सुनाई उसे विशेषतः स्पष्ट करते हुए यहाँ से बताते हैं।।१।। परमेश्वर को स्वात्मा जानने से और अपनी शूरवीरता से भीतरी-बाहरी शत्रुओं से रहित अजातशत्रु काशी में प्रसिद्ध राजा था।।२।। गर्ग गोत्र में उत्पन्न यह बालाकि नामक वेदज्ञ, तत्त्वज्ञ नहीं ही था पर प्राण का उपासक था और बहुत घमण्ड से भरा हुआ था।।३।।**

अध्यात्मम् अधिदैवं च ब्रह्म स्यात् प्राणदेवता।
समष्टिव्यष्टिरूपाऽसाविति गार्ग्यस्य निश्चयः।।४।।

'चौथा अध्याय' अर्थात् उपनिषत्क्रम में दूसरा अध्याय, उसके प्रारंभिक तीन ब्राह्मण जिनके प्रचलित नाम हैं १) अजातशत्रु ब्राह्मण, २) शिशुब्राह्मण और ३) मूर्तामूर्त ब्राह्मण; इनमें आये उपदेश का इस चौदहवें अध्याय में संग्रह है। श्लोक ६६ से शिशुब्राह्मण का तथा ८१ से मूर्तामूर्त ब्राह्मण का प्रसंग आयेगा। 'विशेषतः' इसलिये स्पष्ट करेंगे क्योंकि जब ऋग्वेद में आयी विद्या यजुर्वेद में भी आयी है तो श्रुति स्वयं इसकी महत्ता द्योतित कर रही है अतः इसका पुनः वर्णन संगत है जिसमें कुछ ऐसी बातें स्पष्ट होंगी जो कौषीतकी में न हुई हों। इस प्रसंग में तत्त्वोपदेष्टा अजातशत्रु है। पैदा ही नहीं हुए शत्रु जिसके उसे अजातशत्रु कहते हैं। शूर-वीर था अतः बाहरी दुश्मन कोई नहीं था, उससे दुश्मनी करने को कोई तैयार नहीं होता था। आत्मज्ञ था अतः काम-क्रोध आदि भीतरी शत्रु भी सिर उठा सकें यह संभव नहीं था। इस तरह निःशत्रु अर्थात् निर्विरोध जो काशीराज वह यहाँ गुरुस्थानीय है। वह उपदेश देगा बालाकि को जो परमार्थ का जानकार न होने पर भी 'प्राण' का श्रेष्ठ भक्त था। प्राण अर्थात् समष्टि सविशेष, हिरण्यगर्भ उपास्यों में सर्वोत्कृष्ट है हिरण्यगर्भ, उसका इसे साक्षात्कार था इसलिये इसमें दर्प, अभिमान आ गया कि 'अहो! मैं इतने बड़े देवता का भक्त हूँ, उपासक हूँ।' उपासक में, भक्त में देवता को लेकर तथा अपनी भक्ति को लेकर दर्प देखा ही जाता है अतः उससे सावधान करने के लिये श्रुति ने इस कथा में गार्ग्य की निंदा में उसे दृप्त, दर्पयुक्त कहा है।।१-३।।

बालाकि ने घोषणा की 'राजन्! आपको ब्रह्मोपदेश देता हूँ।' राजा सुनने को उत्सुक हुआ तो बालाकि ने आदित्य, चन्द्र, विद्युत् आदि बारह उपाधियों का उल्लेख किया कि इन्हें ब्रह्म समझना चाहिये। राजा परतत्त्वज्ञ था अतः उसने हर-एक उपाधि के बारे में बालाकि की जानकारी की कमी उजागर की तथा अन्त में कहा कि इन उपाधियों में बँधे को जानने से ब्रह्म नहीं जान लिया जाता। बालाकि विनयी होकर राजा से ज्ञान लेने को तैयार हुआ तो जिस प्राण-वस्तु की इन उपाधियों में गार्ग्य ने उपासना की थी उस की अनात्मरूपता स्पष्ट कर आत्मतत्त्व का उपदेश राजा ने दिया। गार्ग्यावगत ब्रह्म का यहाँ विस्तार अनावश्यक समझकर अजातशत्रु के उपदेश का ही खुलासा करेंगे। तथापि बालाकि की समझ और राजा ने किस स्तर से उसे ग़लत बताया यह स्पष्ट करना ज़रूरी होने से प्रारंभिक वार्त्तालापका सार बताते हैं **गार्ग्य को निश्चय था कि प्राण-नामक देवता ही ब्रह्म है, वही अध्यात्म में (शरीर में) व्यष्टिरूप से और**

रव्याद्या व्यष्टयः प्रोक्ताः समष्टिस्तु विराड् भवेत्।
न मुख्यब्रह्मतैतेषाम् इति राज्ञो विनिर्णयः।।५।।

अधिदैव में (देवताओं में) समष्टिरूप से विद्यमान है।।४।। राजा का विवेकपूर्ण शास्त्रानुसारी निर्णय था कि सूर्यादि भी व्यष्टि ही हैं, समष्टि तो विराट् है। ये वह वस्तु नहीं हैं जो 'ब्रह्म'-शब्द का प्रधान अर्थ है।।५।। प्राण-सूत्रात्मा का बहुत महत्त्व शास्त्रों में व्यक्त है जिससे गार्ग्य को भ्रम हुआ जो आश्चर्य नहीं है। ब्रह्म कहते हैं व्यापक को किंतु ऐसे व्यापक को जो चेतन हो तथा चेतन हम समझते हैं क्रिया करने वाले को अतः सर्वत्र क्रियाहेतु प्राण को बालाकि ने ब्रह्म समझा। अध्यात्म में, हम सभी के शरीरों में प्राण की मौजूदगी प्रत्यक्ष है ही, यह उसका व्यष्टि रूप है, परिच्छेद में उपलब्ध रूप है जबकि जो उसका समष्टि अर्थात् अपरिच्छिन्न रूप है वह मिलता है सूर्यादि देवताओं में, उन सब उपाधियों में जिन्हें गार्ग्य ने गिनाया। समष्टि रूप को 'वायु' भी कहा जाता है, उसका भी गार्ग्य ने कथन किया है, किंतु सूर्यादि भी प्राण के ही समष्टि रूप होने से उसने सभी का उल्लेख किया। इसके विरुद्ध, राजा का मानना था कि सूर्यादि तो पुनः व्यष्टि-विशेष ही हैं! यद्यपि हम लोगों की अपेक्षा सूर्यादि की उपाधि अतिमहान् है तथापि है तो परिच्छिन्न ही अतः व्यष्टि ही कहला सकती है, अत एव उसे चंद्रादि अन्यान्य उपाधियों से पृथक् कहा-समझा भी जाता ही है। इसलिये राजा की समझ से गार्ग्य ने जिन्हें समष्टि समझा वे तो सब विभिन्न व्यष्टि ही हैं! समष्टि तो विराट् है। यद्यपि प्राण के स्तर पर समष्टि हिरण्यगर्भ होना चाहिये तथापि गार्ग्य ने क्योंकि स्थूल उपाधियाँ ही कहीं इसलिये राजा समझ गया कि गार्ग्य को विराट् के व्यष्टिरूपों का ही बोध है। आत्मा का अज्ञान रहते हमें स्थूल-सूक्ष्म जगत् की ही उपलब्धि है जिसमें सूक्ष्म ही व्यवहार में अमृत और स्थूल ही मर्त्त्य कह दिया जाता है। अमृत को ही शास्त्र 'प्राण' कहते हैं और उसकी स्थूल अभिव्यक्तियाँ नाना स्थलों पर मिलती है जिन्हें मिलाकर विराट् कहते हैं। विराट्-हिरण्यगर्भ सर्वथा पृथक् हों ऐसा नहीं किंतु उक्त प्रकार से उनका बाहरी-भीतरी भाव है जैसे ईंट और प्लास्टर ये दीवार के ही बाहरी-भीतरी रूप हैं। प्रकृत ब्राह्मण के परिचय में आचार्य श्रीभगवान् भाष्यकार ने ऐसा ही दृष्टांत देकर यह तथ्य व्यक्त किया है '...अविद्याविषयः सर्व एव द्विप्रकारः i) अन्तः प्राणः, उपष्टम्भकः; गृहस्येव स्तम्भादिलक्षणः प्रकाशकोऽमृतः ii) बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशकः, उपजनाऽपाय-धर्मकः; तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येव; सत्त्यशब्दवाच्यो मर्त्त्यः। तेन अमृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्न इति चोपसंहतम्। स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेषु अनेकधा विस्तृतः प्राण एको

तस्माद् उपासको गार्ग्यो न मुख्यं ब्रह्म वेत्त्यतः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बोधयामास तं नृपः ।।६ ।।

विवेकस्थानम्

स्याद् विज्ञानमयो भोक्ता न प्राण इति जागरे ।
विवेको दुःशको यस्माद् अत्र द्वावपि सुस्थितौ ।।७ ।।

देव इत्युच्यते। तस्यैव बाह्यः पिण्ड एकः साधारणो विराड्, वैश्वानर, आत्मा, पुरुषविधः, प्रजापतिः, को, हिरण्यगर्भःइत्यादिभिः पिण्डप्रधानैः शब्दैः आख्यायते सूर्यादिप्रविभक्तकरणः।' इसी दृष्टि से राजा ने सूर्यादि के रूप में प्रविभक्त को विराट् कहा जो गार्ग्य के हिसाब से हिरण्यगर्भ है। हर हालत में, राजा का मतलब इतना ही है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते... तद् ब्रह्म' आदि शास्त्रसन्दर्भों में ब्रह्म-शब्द का अभिप्रेत अर्थ यह समष्टि-व्यष्ट्यात्मक तत्त्व नहीं, अविद्याविषय नहीं, वरन् विद्याविषय अखण्डतत्त्व है।।४-५ ।।

राजा ने गार्ग्य को कैसे समझाया इसका वर्णन करते हैं **पूर्वोक्त विचार से निश्चित है कि गार्ग्य उपासक ही था, मुख्य ब्रह्म का वेत्ता नहीं था। अतः राजा ने उसे अन्वय-व्यतिरेक के सहारे ब्रह्म समझाया।।६ ।।** उपास्य के वर्णन से गार्ग्य को जानकारी मिल गयी, उसने स्वयं भी 'उपासे' कहा कि 'मैं यों इसकी उपासना करता हूँ', तथा उपासना के प्रभाव से उसका चित्त इतना शुद्ध भी हो चुका था कि ब्राह्मण होते हुए भी, लोकप्रसिद्ध एवं साधना से पर्याप्त सन्तुष्ट होते हुए भी, उसे जैसे ही समझ आया कि परमेश्वर को वह नहीं जान सका है और राजा से वह उसे जान सकता है, वैसे ही वह निरभिमान होकर तत्त्वज्ञान ग्रहण करने को उपस्थित हो गया। राजा ने उसे समझाया कि प्राण क्योंकि स्वयं चेतन नहीं इसलिये वह ब्रह्म नहीं हो सकता। इसी को स्पष्ट करने के लिये राजा ने अन्वय-व्यतिरेक का सहारा लिया। निश्चित साथ वालों का सम्बन्ध अन्वय कहा जाता है एवं जिनका वैसा सम्बन्ध नहीं उनमें परस्पर व्यतिरेक कहा जाता है। प्राण रहते भी ज्ञान नहीं मिलता अतः प्राण - ज्ञान का निश्चित सम्बन्ध नहीं, जिससे निश्चित सम्बन्ध है वही ब्रह्म है - यह समझाना राजा का उद्देश्य है।।६ ।।

उपनिषत् में कहा है 'तौ ह पुरुषं सुप्तम् आजग्मतुः। तम् एतैर्नामभिः आमन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन् इति। स नोत्तस्थौ। तं पाणिनाऽऽपेषं बोधयांचकार। स होत्तस्थौ।' (२.१.१५) गार्ग्य को लेकर राजा चला तो किसी सोते व्यक्ति के पास पहुँचने पर राजा ने प्राण के प्रसिद्ध नामों से पुकारा पर वह व्यक्ति उठा नहीं जबकि हाथ हिलाकर

यो विज्ञानमयः सुप्तावसावुपरतिं गतः।
वर्त्तते पूर्ववत् प्राणो विवेकः सुशकस्तदा।।८।।
तस्मात् सुषुप्तं पुरुषम् आमन्त्र्य प्राणनामभिः।
अप्रबोधाद् अभोक्तृत्वं प्राणस्याऽस्पष्टयद् नृपः।।९।।

अन्वय-व्यतिरेकौ

यदि भोक्ता भवेत् प्राणो जाग्रद्वच्छब्दम् आगतम्।
अश्रोष्यद्, नाऽशृणोत्, तस्माद् न स्याद् भोक्तोपलादिवत्।।१०।।

जगाते ही उठ बैठा। इससे राजा ने स्पष्ट किया कि गहरी नींद में भी उपस्थित जो प्राण वह ज्ञानवान् नहीं अतः वस्तुतः ब्रह्म नहीं। इस प्रसंग का कथन करते हैं **विज्ञानमय ही भोक्ता हो सकता है, न कि प्राण यह विवेक जाग्रत् में कर पाना कठिन है क्योंकि जाग्रत् में प्राण व विज्ञानमय दोनों कार्यकारी होकर मौजूद रहते हैं।।७।। सुषुप्ति में विज्ञानमय उपरत हो जाता है जबकि प्राण जाग्रत् की तरह कार्यकारी रहता है, इसलिये सुषुप्ति के बारे में विचार करने पर उक्त विवेक कर पाना सरल है।।८।। इसलिये सोये पुरुष को प्राण के नामों से पुकारकर उसके न उठने से राजा ने स्पष्ट कर दिया कि प्राण भोक्ता (जानने वाला) नहीं है।।९।। यदि प्राण भोक्ता होता तो जैसे जाग्रत् में वैसे सुषुप्ति में भी आये शब्दों को सुनता लेकिन क्योंकि सुन नहीं पाया इसलिये पत्थर आदि की तरह वह भोक्ता नहीं (जड ही) है।।१०।।** जिस चित्तत्त्व को ब्रह्म जानना है उसे समझने के लिये वैसा औपाधिक रूप चाहिये जिसमें चित् का परिचय हो। जैसे मुख का चित्र देखकर तो व्यक्ति पहचाना जा सकता है, पीठ आदि के चित्र से वैसी पहचान संभव नहीं, वैसे विज्ञानमय के द्वारा तो साक्षी को समझ सकते हैं, प्राणमय के द्वारा नहीं। भले ही प्राण भी उसी की उपाधि है लेकिन क्योंकि प्राण में ज्ञान नहीं मिलता इसलिये प्राण के माध्यम से ज्ञानरूप परमेश्वर का अधिगम नहीं होता। जाग्रत् में मन-प्राण आदि इतनी ज़्यादा उपाधियाँ कार्यकारी रहती हैं कि किसका ज्ञान में (भोक्तृत्व में) विनियोग है यह समझ नहीं आता। सुषुप्ति में मन-इंद्रियाँ विलीन हो जाते हैं, प्राण कार्यकारी रहता है अतः वहाँ परीक्षा हो जाती है कि प्राण का ज्ञान में (भोक्तृत्व में) उपयोग है या नहीं। इसी से अवस्थात्रय का सहारा लेने की शास्त्रीय पद्धति है। दर्शनान्तर जाग्रत्-मात्र पर निर्भर रहने से ही अधूरी जानकारी पर चिंतन कर पाते हैं, जीव के समग्र अनुभवों का सामरस्य नहीं बैठा पाते। जाग्रत् में हम जैसे मन को वैसे ही प्राण

श्रोत्रादीनाम् उपाधीनां सुप्तावुपरतत्वतः।
यथा जीवो न वेत्त्येवं प्राणोऽपीत्यसद् उच्यते।।११।।
नेन्द्रियाणां भवेत् स्वापो यदि प्राणप्रधानता।
नाऽमात्याः शेरते यस्माद् राज्ञि स्वामिनि जाग्रति।।१२।।

को 'मैं' समझते हैं अतः 'मैंने जाना' में 'मैं' मतलब मन या प्राण? यह भेद नहीं कर पाते। किंतु गहरी नींद में विज्ञानमय नहीं रहता। जिसे हम 'मैं' कहते हैं वह साहंकार मन वहाँ नहीं रहता। जबकि प्राण तो चलते ही रहते हैं। वहाँ क्योंकि भोग नहीं होता चंदन लगाओ तो सोते को सुख नहीं होता, गाली दो तो दुःख नहीं होता इसलिये स्पष्ट हो जाता है कि प्राण भोक्ता, जानने वाला नहीं है। गार्ग्य ने प्राण के जो नाम जाने थे, जिन्हें राजा भी जानता था, जो उपासना के अंगरूप से कहे गये थे, उन्हीं से पुकार कर राजा ने समझाया कि यदि प्राण 'देवता' होता तो इन अपने नामों को तो सुनता। जो अपने नाम भी न सुन सके वह अन्य क्या भोग करेगा! जैसे पत्थर को पुकारो तो वह सुनता नहीं ऐसे न सुनने वाले प्राण की जडता स्फुट है।।७-१०।।

प्रश्न होगा कि आखिर सो तो जीव भी रहा था, उसी ने क्यों नहीं सुन लिया? यही सवाल उठाकर विचार करते हैं **कान आदि उपाधियाँ सुषुप्ति में कार्यकारी न रहने से जैसे जीव नहीं जानता वैसे प्राण नहीं जान पाता यह कहना ठीक नहीं।।११।। अगर प्राण सर्वाधिक प्रधान (अर्थात् भोक्ता) होता तो (उसके जगे रहते) इन्द्रियाँ सो न पातीं। राजारूप मालिक के जगे रहते मंत्री सोते नहीं।।१२।।** जीव इंद्रियों के द्वारा ही जानता है अतः इंद्रियों के उपरत अर्थात् निश्चेष्ट हो जाने से जीव नहीं जान पाता यह कथन जीव को भोक्ता मानने वाला कर सकता है। इसी तर्क को प्राणवादी ग्रहण करे तो संगत नहीं। इंद्रियाँ जीव के प्रति गौण हैं अतः जीव के सोने पर वे भी उपरत हो जायें यह ठीक है लेकिन सुषुप्ति में भी प्राण तो जगा रहता है, यदि इंद्रियाँ उसके प्रति गौण होतीं तो वे भी तब जगतीं जैसे मालिक कार्य पर डटा रहते सब कर्मचारी एक-साथ विरत नहीं होते। इस तरह, सुषुप्ति में भोक्ताभाव की अनुपलब्धि तथा प्राण की सक्रियता से यही पता चलता है कि प्राण नहीं वरन् विज्ञानात्मा भोक्ता है, मन-रूप उपाधि के सम्पर्क से ही चेतना व्यक्त होती है न कि सिर्फ प्राण-संपर्क से।।११-२।।

राजा ने 'बृहन्!' आदि नामों से क्यों पुकारा? इसका जवाब देते हैं **प्राण देवता है इस मान्यता का निषेध करने के लिये चन्द्र-नामों से प्रबोधन का प्रयास**

देवता प्रतिषेधार्थं बोध्यते चन्द्रनामभिः ।
तदबोधाद् अभोक्तृत्वं देवतायाः सुनिश्चितम् । ।१३ । ।

अथ विज्ञानमयः

प्राणस्याऽभोक्तृतां गार्ग्यो व्यबुद्ध्यत ततो नृपः ।
विज्ञानमयबोधाय चक्रे यत्नम् उपायतः । ।१४ । ।

किया क्योंकि जब प्राण को कोई बोध नहीं हुआ तब सुनिश्चित हो गया कि देवता समझे गये प्राण में भोक्तृभाव नहीं है । ।१३ । । उपास्यमान प्राण देवता होने से चेतन है इसलिये उसे ब्रह्म क्यों न समझें? इसके उत्तर में राजा ने समझाया कि प्राण में जानना-रूप चेतनधर्म न मिलने से, चेतनरूपता जिसकी विशेषता है ऐसा ब्रह्म उसे समझना असंगत है। उपास्य होने से भले ही वह देवता है लेकिन वह ब्रह्म अर्थात् चिद्रूप नहीं है यह अभिप्राय है। यद्यपि प्राण में भी प्राणवान् जीव अर्थात् जो देवदत्तादि सो रहा है उसका अभिमान रहा करता है, 'मेरे प्राण' यों वह प्राणों को समझता है, तथापि जीव अर्थात् उसकी चेतनाऽभिव्यंजक उपाधि तब लीन होने से वह पुकार न सुने यह संगत है। किं च उसे तो केवल प्राण में नहीं, सारे संघात में अभिमान है इसलिये प्राण को पुकारने पर 'मुझे पुकारा' ऐसा उसी तरह नहीं लगता जिस तरह 'हाथ' पुकारा जाये तो सारे शरीर वाले को नहीं लगता कि 'मुझे पुकारा'। विशेषतः प्राण के शास्त्रीय नामों का प्रयोग किया, लौकिक नामों का नहीं क्योंकि राजा समझाना चाहता था कि जो देवता हमारे शरीर में प्राणरूप से मौजूद है वह भोक्ता नहीं। हमारे शरीर में आँखरूप से मौजूद सूर्य जैसे हमें होते दृश्यानुभवों का भोक्ता नहीं वरन् संघाताभिमानी जीव ही भोक्ता है, वैसे प्राणदेवता नहीं वरन् विज्ञानात्मा भोक्ता है। 'चन्द्रनाम' इसलिये कि उपासनावर्णन में (२.१.३) जिसे 'चंद्रमा में पुरुष' कहा था उसी के ये नाम राजा ने बताये थे। प्राण ही अन्नाद होने से भोक्ता समझा जाये यह उचित लग सकता है, उसके अधिदैवरूपों में चंद्रमा मुख्य है क्योंकि प्राण के पोषक ओषधियों में पोषक तत्त्व चंद्र ही डालता है जैसा भगवान् ने कहा 'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' (गी.१५.१३)।।१३।।

प्राणमात्र तो भोक्ता नहीं यह समझाकर भोक्ता का स्पष्टीकरण प्रारंभ करते हैं

प्राण में भोक्ता-भाव नहीं है यह गार्ग्य ने समझ लिया। फिर राजा ने तरीके से विज्ञानमय के बारे में समझाने के लिये यत्न किया । ।१४ । । बहुत बार उस सोये व्यक्ति को हिलाया, झकझोरा, यों राजा ने उसे जगाया। हिलाये जाने से हुई परेशानी के बाद वह उठा । ।१५ । । 'तरीके से' इसलिये कि विज्ञानमय इंद्रियगम्य तो

आपिष्यापिष्य बहुशः सुप्तं राजा व्यबोधयत्।
आपेषणोत्थसंक्षोभात् ततोऽसौ प्रत्यबुध्यत।।१५।।
मृतकल्पमिमं देहं स्वचिताऽऽवेशयन्निव।
ज्वलन्निव समुत्तस्थौ यः स भोक्तेति गम्यताम्।।१६।।

है नहीं, उसे किन्हीं कार्यों के आधार पर ही समझा जा सकता है। व्यतिरेक तो सुषुप्ति में दिखा दिया, अन्वय जाग्रत् में दिखाना है, यही उसके अधिगम का 'तरीका', उपाय है। प्रत्यक्ष के अयोग्य को भी प्रत्यक्ष के सहारे समझाने के लिये किया प्रयास यहाँ उपाय है। हिला-डुलाकर राजा ने सुप्त व्यक्ति को जगाया।।१४-५।।

सोते को यों जगता देखकर क्या समझा जाये यह स्वयं बताते हैं : **मरे जैसे इस शरीर को अपने ज्ञानरूप से मानो भरते हुए, जलता हुआ-सा जो जग गया, वह भोक्ता है यह समझा जाये।।१६।।** सुषुप्ति में गये जीव का स्थूल देह जो दूसरों को उपलब्ध होता है वह क्योंकि कुछ अनुभव नहीं करता इसलिये मुर्दे जैसा लगता है। यद्यपि प्राणों के चलते मुर्दा तो नहीं तथापि उसकी तरह दीखता है। जैसे ही जीव, विज्ञानमय, मन सुषुप्ति से बाहर आता है वैसे ही सारे शरीर में चेतना फैल जाती है। सोये को हल्के हाथ से छुएँ तो उसे पता नहीं लगता पर जगने पर छूएँ तो तुरंत पता चलता है। रोशनी हो गयी यह सोये को पता नहीं चलता, जगते ही चलता है। अतः जगने पर शरीर में जो चेतना, ज्ञानसामर्थ्य मिलती है वह विज्ञानमय ने उसमें भरी हो ऐसा लगता है। इसे आग के दृष्टांत से भी कहा : आग को राख में दबा देते हैं तो पता नहीं लगता कि 'यहाँ आग है', राख हटा देते हैं तो तुरंत दीख जाती है। इसी तरह गहरी नींद में राख से ढके-सी स्थिति होती है, अज्ञान से सारी सामर्थ्य ढक जाती है। जगने पर अज्ञान की राख इधर-उधर होती है, मन आदि प्रकट होते हैं तो उनमें प्रतिबिम्बित होने से सामर्थ्य स्फुट हो जाती है। अग्नि-उदाहरण से यह भी समझाया कि भोक्तृभाव, ज्ञानशक्ति सर्वथा न रह गयी हो यह सुषुप्ति की स्थिति नहीं; आग हो ही नहीं तो राख हटाने से कैसे प्रकट हो! मौजूद आग ही छिपी व उघाड़ी रह सकती है। अतः मृत्यु से कोई उसी शरीर में नहीं जगता, सुषुप्ति से जगता है यह व्यवस्था संगत है क्योंकि मृत्यु में उस शरीर के परिच्छेद में आग नहीं रह गयी है जबकि सुषुप्ति में मौजूद किंतु छिपी है। सोते से जगे को देखकर निश्चय यह करना है कि भोक्ता वह है जो सोया था, न कि प्राण। प्रश्नोपनिषत् के चतुर्थ प्रश्न में (अनु.प्र.७.श्लो ५४ आदि) सौर्यायणी गार्ग्य को इसी संदर्भ में समझाया गया है।।१६।।

विज्ञानमन्तःकरणं तस्मिन्नात्मोपलभ्यते।
राहुश्चन्द्रे यथा तद्वद् विज्ञानमयता ततः।।१७।।
स्वाभासवदविद्योत्थ-बुद्ध्यादिव्याप्तिविभ्रमात्।
तदात्मत्वाभिमानी सन्नहम् इत्युपलभ्यते।।१८।।

सोते को उठाने के बाद राजा ने बालाकि से पूछा 'यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः, क्व एष तदाऽभूत? कुत एतद् आगाद्? इति' कि जब यह सो रहा था तब यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था? जगने पर कहाँ से आया? यहाँ प्रयुक्त 'विज्ञानमय' शब्द के तीन अर्थ हैं। पहला अर्थ बताते हैं **विज्ञान मायने अन्तःकरण, उसमें आत्मा मिलता है जैसे चंद्र में राहु मिलता है अतः आत्मा विज्ञानमय है।।१७।।** 'विज्ञानमय' में आये विज्ञान-शब्द का अर्थ है अंतःकरण क्योंकि आत्मा का स्फुट अनुभव वहीं होता। ज्ञानस्वरूप आत्मा की उपलब्धि अन्यत्र नहीं अंतःकरण में ही होती है। जहाँ 'मैं' की अनुभूति होती है उस हृदय में ही प्रधानतः विज्ञान रहता है। व्यापक होने पर भी उपलब्धि उसकी बुद्धि में, अंतःकरण में होती है। और कहीं न मिलने वाली वस्तु भी कहीं मिलती है इसमें प्रसिद्ध दृष्टांत राहु का है जो आकाश में और कहीं दीखता नहीं, सिर्फ़ तब दीखता है जब चन्द्र या सूर्य का ग्रास करता है। यद्यपि राहु का वास्तविक सम्बन्ध चन्द्र सूर्य से कुछ नहीं तथापि दीखता वह वहीं है, ऐसे ही वास्तव में आत्मा का विज्ञान से कोई संबंध न होने पर भी मिलता वह वहीं है। इसलिये 'विज्ञानमय' शब्द में मयट्-प्रत्यय का अर्थ प्राचुर्य समझाया गया है अर्थात् जहाँ आत्मा का प्रचुर बोध हो वह विज्ञानमय है। 'विज्ञायतेऽनेनेत्यन्तःकरणं बुद्धिरुच्यते, तन्मयः तत्प्रायो विज्ञानमयः' यह इस श्रुति में भाष्य है। वहीं प्रायस्ता के तीन रूप दिखाये हैं 'तस्मिन्नुपलभ्यत्वं, तेन चोपलभ्यत्वम्, उपलब्धृत्वं च।' इनमें प्रथम अर्थ का इस श्लोक में ग्रहण है।।१७।।

बुद्धि में उपलब्धि कुण्ड में बेर आदि की तरह तो संभव नहीं अतः विवक्षित ढंग स्पष्ट करते हैं **अपने आभास से युक्त अविद्या से जन्य बुद्धि आदि में व्याप्ति के विभ्रम से उसमें आत्मता का अभिमान रखने वाला होता हुआ 'मैं' यों आत्मा मिलता है।।१८।।** 'अपने' अर्थात् आत्मा के। अविद्या क्योंकि आत्मच्छाया-युक्त है इसलिये उसके सारे कार्यों में आत्मा की अनुगति प्रतीत होती है। आभास, छाया आदि का अर्थ तो अध्यास ही है। 'बुद्धि आदि' में आदि से मनआदि एवं इन्द्रियादि भी समझने चाहिये। 'व्याप्ति का विभ्रम' अर्थात् जो व्याप्ति प्रतीत होती है वह विभ्रमरूप है। वि-भ्रम

यद्वोपलब्धिमात्रोऽपि विज्ञानाध्यस्तकर्तृताम् ।
प्राप्योपलब्ध्या स्यात् तेन विज्ञानमय उच्यते ।।१६ ।।

इसलिये कि उसकी निवृत्ति केवल परमेश्वरबोध से संभव है। ऐसे अध्यास से बुद्धि आदि को ही मैं समझ लेना यही बुद्धि आदि में आत्मा की उपलब्धि है। अविद्या और बुद्धि में यहाँ जो दो भ्रम बताये एक आभास-शब्द से और दूसरा विभ्रम-शब्द से वे इसलिये कि अविद्या से हमारा तादात्म्य सुषुप्ति में भी रहता है लेकिन हमें तब उसका भान स्पष्ट नहीं होता तथा यों भी, अविद्या अर्थात् अखण्डतत्त्व का अज्ञान हमें है ऐसा हमें प्रतीत नहीं होता, यहाँ तक कि कोई अखण्ड तत्त्व है भी यह बहुतेरों की संकल्पना में नहीं है! इससे विलक्षण बुद्धि की प्रतीति सभी को स्पष्ट है, जाग्रत् में हमें भी, सदा इसका भान रहता है तथा बुद्धि के स्वरूप में मतभेद भले ही हो पर वह है इतना सभी को प्रतीत है। 'तदात्मत्वाभिमान' अर्थात् उसे ही मैं समझना यह तो बुद्धि के साथ ही होता है न कि अज्ञान के साथ। बुद्धि अर्थात् अहंकारात्मिका वृत्ति हमें मैं ही लगती है, अज्ञान कभी भी मैं नहीं लगता। 'मैं अज्ञानी' तो लगता है, 'मुझे अज्ञान है' भी अनुभव होता है, पर 'अज्ञान मैं हूँ' यह प्रतीति नहीं होती। अतः यहाँ आभास, विभ्रम से अतिरिक्त अभिमान बताया। है ये सब अध्यास के ही स्फुटतर रूप।।१८।।

'विज्ञानमय' कहने का एक तात्पर्य बताया। भाष्य में जो 'उपलब्धृत्वम्' से अन्य अभिप्राय कहा है, उसे स्पष्ट करते हैं **अथवा, वस्तुतः उपलब्धिमात्र, विज्ञानमात्र रहता हुआ भी आत्मा, विज्ञान अर्थात् अंतःकरण में अध्यस्त कर्तृत्व पाकर उपलब्धा अर्थात् अनुभवकर्त्ता हो जाता है इसलिये विज्ञानमय कहा जाता है।।१६।।** आत्मा में सीधे ही कर्तृता (ज्ञानकर्तृता, ज्ञातृता) अध्यस्त नहीं, वरन् अंतःकरण में वह पहले अध्यस्त है क्योंकि कर्तृत्व लिये हुए ही अन्तःकरण अध्यस्त है; उस कर्तृत्व वाले अंतःकरण में तादात्म्य से आत्मा स्वयं पर उसी कर्तृत्व को ओढता है। जो आत्मा में कर्तृत्व है वह तो अध्यस्त है लेकिन जिस कर्तृत्व को स्वयं पर आत्मा अध्यस्त कर रहा है वह अंतःकरणगत कर्तृत्व भी अध्यस्त ही है क्योंकि अंतःकरण ही अध्यस्त है, यह तात्पर्य है। अंतःकरण में कर्तृता का स्वरूपाध्यास है और आत्मा का उसमें संसर्गाध्यास है यों अन्योन्याध्यास का यह प्रदर्शन किया गया है। स्वयं तो आत्मा उपलब्धि, जानना, ज्ञानरूप ही है; जानने 'वाला' वह तादात्म्यवश ही बनता है। ज्ञानरूप होते हुए भी वह ज्ञाता हो गया है। यद्यपि हमें विवेकदशा में ज्ञाता-रूप से ही आत्मा को समझना पड़ता है तथापि अंत में पहुँचना ज्ञानरूप में होगा।।१६।।

स्फटिको रक्ततां प्राप्य जपाकुसुमकल्पिताम् ।
पद्मरागायते तद्वद् उपलब्धृत्वम् आत्मनः ।।२०।।
यद्वोपलभ्यो देहादेर्विज्ञानेन विवेचितः ।
स्याद् विज्ञानमयस्तेन पुरुषः परिपूरणात् ।।२१।।

उक्त उपलब्धा-पन आत्मा में कैसे आता है यह उदाहरण से स्पष्ट करते हैं **जपा-पुष्प से प्रतिफलित ललाई पाकर जैसे स्फटिक माणिक्य-सा बन जाता है, वैसे आत्मा का उपलब्धा-पन है।।२०।।** जपा एक पुष्प है जो प्रायः लाल रंग का होता है। उस पर रोशनी पड़कर जब निकटस्थ स्फटिक पर पड़ती है तब वह लाल दीखता है मानो माणिक्य हो। यद्यपि स्फटिक न लाल हुआ, न माणिक्य बना, तथापि पहले लाली का भ्रम होता है फिर वह माणिक्य है ऐसा भ्रम होता है। 'जपाकुसुमकल्पिताम्' में भाव है कि जपा उपाधि बनकर स्फटिक में लाली की कल्पना का हेतु होता है। 'पद्मरागायते' अर्थात् पद्मराग (माणिक्य) की तरह आचरण करता है, प्रतीत होता है। जैसे स्फटिक शुद्ध ही रहा फिर भी लाली के आरोपवश पद्मराग 'बन' गया वैसे आत्मा उपलब्धा, उपलब्धिकर्त्ता, विज्ञाता, प्रमाता बना हुआ है यह तात्पर्य है। जपा की लालिमा भी स्फटिक में नहीं आती! बुद्धि में भी वास्तविक कर्तृत्व नहीं है, प्रातीतिक ही है, उसी से तादात्म्य वाला लगता आत्मा स्वयं को विज्ञाता जानता है। विज्ञानमय रहते ही यह लीला होती है इसलिये आत्मा को विज्ञानमय कहना बन जाता है। 'उपलब्धृत्व' को सुरेश्वराचार्य ने 'साक्षित्वेनोपलभ्यत्वात् साक्ष्यबुद्ध्यादिसंश्रयात्' (२.१.१८८) से समझाया है। क्योंकि साक्षित्व निर्भर करता है साक्ष्य पर इसलिये वह सोपाधिक स्थिति है। उसी रूप में आत्मा अर्थात् जीव प्रतीति-सिद्ध है, यह तात्पर्य है। इस प्रकार प्रथम विकल्प प्रमातृरूप का व द्वितीय विकल्प साक्षी का उपस्थापक समझा जा सकता है।।२०।।

भाष्योक्त 'तेन चोपलभ्यत्वम्' का संग्रह करते हैं **अथवा, विज्ञानद्वारा शरीरादि से विविक्तरूप में समझने पर ही आत्मा की सही उपलब्धि होती है इसलिये उसे 'विज्ञानमय' कहते हैं। उसे 'पुरुष' इसलिये कहा क्योंकि वह सभी को परिपूर्ण करता है।।२१।।** आत्मा वस्तुतः जैसा है वैसा उसे समझना ही 'उपलब्धि' कहलाने योग्य है। आत्मा अभी शरीरादि से एकमेक प्रतीत हो रहा है जबकि सचमुच में इनसे एकमेक है नहीं। इनसे उसे पृथक् करें तभी उसका असली रूप दीखे। अलग करें कैसे? इसका उपाय यही है कि बुद्धि से विवेक करें। दाल-चावल की तरह तो

अशेषान् कल्पितान् एष विज्ञानादीन् अनात्मनः ।
आत्मा पूरयति प्रत्यक् सर्पादीन् रशना यथा ।।२२।।

शरीर-आत्मा को पृथक् नहीं कर सकते, समझमात्र से पृथक् कर सकते हैं। वह समझ अर्थात् विवेक ही यहाँ विज्ञान है, विवेकरूप ज्ञान है। उसी से पता चलने के कारण आत्मा विज्ञानमय कहा गया। जैसे आधुनिक भौतिकी गणित से ही समझ आती है तो कह देते हैं कि वर्तमान भौतिकी गणितमय है अथवा नव्यव्याकरणादि को न्यायमय कह देते हैं, वैसे आत्मा को विज्ञानमय कहा, यह भाव है। श्लोक में 'तेन' पर्यन्त 'विज्ञानमय'-पद का अर्थ बताया। आगे श्रुति में आया है 'पुरुषः', उसकी व्याख्या प्रारंभ की 'पूरणात्' से। अगले श्लोक में इस पूरण का स्पष्टीकरण है। परमात्मा से ही संसार पूरा है इसलिये परमात्मा पुरुष है। अध्यात्म-अधिभूत कहीं भी बिना आत्मतादात्म्य के सत्-चित्-आनंद असंभव होने से तथा इनके बिना नाम-रूप अपूर्ण रह जाने से, आत्मा ही सबको पूरा बनाने वाला बताया। जैसे पंखा, लट्टू आदि उपकरण बिजली से ही 'पूरे' होते हैं वैसे सब कुछ आत्मा से ही पूरा होता है। अकेली बिजली कुछ 'करती' नहीं लेकिन उसके बिना पंखे आदि भी चलते नहीं, ऐसे ही आत्मा खुद कुछ नहीं करता, उसकी उपस्थिति में ही सारी उपाधियाँ सत्ता-स्फूर्ति वाली हो जाती हैं, कार्यकारी हो जाती है।।२१।।

'परिपूरणात्' इस सूत्र को ही समझाते हैं **विज्ञान आदि सभी कल्पित अनात्माओं को प्रत्यगात्मा उसी तरह पूरा करता है जिस तरह सर्पादि को रस्सी!।।२२।।** यद्यपि भाष्य में 'पुरि शयनात्' इस प्रसिद्ध प्रकार से पुरुष-शब्द को समझा दिया है तथापि उपक्रम-उपसंहार का विचार कर वार्तिककार ने (२.१.१६२-३) 'पूरयन् पुरुषः' व्युत्पत्ति को ही यहाँ अभिप्रेत माना है जिसका अनुभूतिप्रकाशकार ग्रहण कर रहे हैं। अहंकार, बुद्धि, शरीर आदि सभी अनात्मा हैं जिन्हें पूरा करने वाला आत्मा है, उसकी ही तादात्म्यापत्ति से इनमें सचेतनता, सात्मता, सजीवता आती है। इसमें दृष्टांत सर्पादि भ्रमों की अधिष्ठानभूत रस्सी है। जितने भी पदार्थ भ्रम से दीखते हैं उन्हें भ्रमवश ही सही, सत्ता देने वाली रस्सी ही है। रस्सी हटते ही सर्पादि सभी भ्रमसिद्ध वस्तुएँ निवृत्त हो जाती हैं। प्रत्यगात्मा का तादात्म्य हटते ही बुद्धि आदि की अनुपलब्धि हो जाती है जैसे सुषुप्ति में। इस प्रकार बताया कि राजा ने 'विज्ञानमयः पुरुषः' से आत्मवस्तु का उल्लेख किया।।२२।।

श्लोक १७ के अवतरण में आये श्रुतिवाक्य में विज्ञानमय पुरुष के बारे में पूछा गया कि विज्ञानमय के सोते समय पुरुष कहाँ था और जगने पर कहाँ से आया? इस प्रश्न के उत्तर द्वारा आत्मा का स्वभाव ही पूछा जा रहा है यह समझाना शुरू करते हैं **स्वप्न**

यो विज्ञानमयस्तस्य द्वैतधीः स्वप्नजाग्रतोः।
अस्ति सुप्तौ तु सा नास्ति स्वभावोऽस्याऽत्र को भवेत्।।२३।।
तस्य स्वभावं निर्णेतुं सुप्तौ क्वाऽभूद् अयं पुनः।
कुत आगाद् इमं देहम् इत्येतद् इह चिन्त्यते।।२४।।

और जाग्रत् में विज्ञानमय को द्वैत का ज्ञान होता है, सुषुप्ति में तो होता नहीं अतः प्रश्न उठता है कि इन दोनों में से विज्ञानमय का स्वभाव कौन-सा है?।।२३।। उसके स्वभाव का निर्णय करने के लिये यहाँ यह विचार किया गया है कि सुषुप्ति में यह कहाँ था तथा फिर जाग्रत् में शरीर में कहाँ से आया।।२४।। विज्ञानमय अर्थात् अहंकारयुक्त चेतन जिसे 'मैं' कहते हैं। मैं जाग्रत् और स्वप्न में रहता है। सुषुप्ति में तो मैं का भान है नहीं। जाग्रत्-स्वप्न में द्वैतबुद्धि रहती है, गहरी नींद में रहती नहीं। अहं के रहते द्वैत-बुद्धि, अहं न रहने पर द्वैत-बुद्धि भी नहीं यह स्थिति है। साधारण लोग मानते हैं कि द्वैत का ज्ञान करने वाला जीव है, थका-माँदा होने से सुषुप्ति में भले ही दबा रह जाता है। किंतु प्रश्न है कि द्वैतज्ञान छोड़कर सुषुप्ति में जाना क्यों चाहता है? अचानक जगने पर भी फिर सो जाता है। ऐसा भी मान सकते हैं कि आत्मा का स्वभाव सुषुप्ति में प्रकट होता है और प्रारब्ध कर्म जबर्दस्ती धक्के मारकर उसे जगा देता है! प्रारब्ध का प्रभाव खत्म होते ही फिर स्वाभाविक स्थिति अर्थात् सुषुप्ति में पहुँच जाता है। अतः विचारणीय है कि क्या स्वाभाविक है और क्या कारणविशेष से है, उपाधि से है। इसे राजा ने इस ढंग से व्यक्त किया कि सोते समय कहाँ था तथा जगने पर कहाँ से आया।।२३-२४।।

उक्त प्रश्न का श्रुति में उत्तर प्रारंभ हुआ 'स होवाचाऽजातशत्रुः यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिञ्छेते।' अर्थात् जब विज्ञानमय सोता है तब हृदय के अंदर जो आकाश है उस में सोता है। 'विज्ञान से' प्राणों का 'विज्ञान' लेकर सोने जाता है। 'विज्ञान से' अर्थात् चिदाभास से, 'प्राणों का' अर्थात् वाक् आदि करणों का जो 'विज्ञान' अर्थात् विषय-प्रकाशन-सामर्थ्य उसे साथ ले जाता है। करण जब तक साभास हैं तभी तक कार्यकारी हैं, आभास वहाँ से हटता है तो वे निर्वीर्य हो जाते हैं। सुषुप्ति में जाते समय 'आत्मा' क्योंकि करणों से तादात्म्यरूप अध्यास छोड़ देता है इसलिये उनमें पड़ा आभास मानो ले जाता है। इस भाग का निरूपण करते हैं **यह ज्ञानरूप आत्मा बुद्धि में और इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित होता है। सप्रतिबिम्ब बुद्धि व इंद्रियाँ रूप उपाधि वाला**

बुद्धावक्षेषु चात्माऽयं चिद्रूपः प्रतिबिम्बति।
तादृग्बुद्धीन्द्रियोपाधिर्जागर्त्यात्मेति भण्यते।।२५।।
कर्मक्षये बुद्धिरक्षैः सहाऽज्ञाने विलीयते।
चैतन्यप्रतिबिम्बाश्च लीयन्ते स्वाश्रयान् अनु।।२६।।
तदेन्द्रियाणां विज्ञानं धीविज्ञानेन संयुतम्।
विज्ञानमय आदत्ते इति श्रुत्योपवर्ण्यते।।२७।।

आत्मा 'जग रहा है' ऐसा कहा जाता है।।२५।। (जाग्रत् - स्वप्न में फल देने वाले) कर्म समाप्त होने पर इन्द्रियों समेत बुद्धि अज्ञान में विलीन होती है तथा उनमें पड़े चेतन के प्रतिबिम्ब भी अपने आश्रयभूत बुद्धि व इंद्रियों के लय के अनन्तर विलीन हो जाते हैं।।२६।। तब बुद्धि-विज्ञान सहित इंद्रिय-विज्ञान को विज्ञानमय ग्रहण कर लेता हैऐसा श्रुति द्वारा वर्णन किया जा रहा है।।२७।।

बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है इससे यह भी विवक्षित है कि बुद्धि की ही वृत्ति जो अहंकार उसमें चेतन प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् बुद्धि से यहाँ प्रधानतः अहंकार समझना चाहिये। आगे इंद्रियों में भी आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्ब एक रूपक है यह समझाने के लिये वस्तुतः असम्बद्ध रहते भी आत्मा बुद्धि-इंद्रियों से एकमेक हुआ लगता है। इस एकमेकता के रहते ही बुद्धि आदि कार्य करती हैं, अन्यथा नहीं जैसे बिजली रहते ही उपकरण कार्य करते हैं अन्यथा नहीं। जीव की उपाधि जो बुद्धि-इंद्रियाँ वे आत्मा से एकमेक हुई लगें तभी जीव जगा हुआ कहा जाता है। उपाधि को ही जीव या आत्मा कह देते हैं, भले ही वह है अनात्मा। आँख देखती है ऐसा कहते-समझते हैं जबकि वास्तव में आँख से देखता आत्मा है, चेतन है। ऐसे प्रयोगों से ही चार्वाक आदि को भ्रम हो जाता है कि शरीरादि ही आत्मा है। गार्ग्य भी प्राण की ब्रह्मता कहकर इसी तरह का भ्रम व्यक्त कर रहा था। इंद्रिय, मन, अहम् आदि को आत्मा यों ही समझा जाता है। किंतु सुषुप्ति का अनुभव उपाधि-भिन्न आत्मा को सिद्ध करता है। प्रारब्ध शेष रहते कुछ काल के लिये फलदान के योग्य न रहे तब सुषुप्ति होती है। बिजली का कनेक्शन कटना अलग है, फ्यूज़ उड़ जाना अलग है; ऐसे ही प्रारब्ध समाप्त होने पर तो मृत्यु होती है जबकि यहाँ जिस क्षय को कह रहे हैं उसके होने पर सुषुप्ति होती है। सुषुप्ति के दौरान आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं रह जाता, उसके उपकरण इंद्रियाँ व अंतःकरण अपने परम कारण अज्ञान में लीन हो जाते हैं अर्थात् इंद्रियादि भेद न रहकर एक अज्ञान ही बचा रहता है। इंद्रियादि तब लीन इसलिये माननी पड़ती हैं कि उठने पर पुनः व्यक्त होती हैं, जो

आत्मवर्णनम्

धीविज्ञानोपसंहारे विज्ञानमयताक्षतौ।
निर्विकारात्मचैतन्यं केवलं परिशिष्यते।।२८।।
एतद् एव विवक्षित्वा प्रतिपादयति श्रुतिः।
य एषोऽन्तर्हृदयाकाशस्तस्मिन् शेत इतीदृशी।।२९।।

अव्यक्त न रह जाये वह पुनः व्यक्त भी होता नहीं। जब बुद्धि-इन्द्रियाँ लीन हो गयीं तब उनमें पड़ते प्रतिबिम्ब भी लीन ही माने जायेंगे, उपलब्ध तो होंगे नहीं क्योंकि जिनमें उपलब्ध हो रहे थे वे उपाधियाँ ही उपलब्ध नहीं हैं। प्रतिबिम्ब का आश्रय जो बुद्धिवृत्ति, वही न रहने पर प्रतिबिम्ब नहीं ही रहेगा। घड़े में भरे पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, पानी निकल जाये तो प्रतिबिम्ब कहाँ जायेगा? यही कहना पड़ेगा कि विलीन हो गया। बिम्ब में लौट गया ऐसा कह भले ही दें लेकिन प्रतिबिम्ब ऐसी कोई चीज़ तो है नहीं जो चलकर सूर्य तक जाये! अतः, नहीं रह गया इतना ही अभिप्राय है। ऐसे ही जाग्रत् आदि में बुद्धि व इंद्रियों में चित्प्रतिबिम्ब रहता है; वह जिसका प्रतिबिम्ब है वही विज्ञानमय जीव कहा गया है; सुषुप्ति में जब बुद्धि-इंद्रियाँ नहीं रहीं तब उनमें पड़े प्रतिबिम्ब के लिये कह दिया गया है कि विज्ञानमय ने उसे ग्रहण कर लिया। श्रुति ने जो 'विज्ञानम् आदाय' कहा उसका तात्पर्य इतना ही है कि उपाधि-विलय के बाद उपहित अनुपलब्ध होने से आत्मा को उपहित नहीं माना जा सकता। इससे निश्चित हो जाता है कि आत्मा स्वरूप से सोपाधिक नहीं है।।२५-७।।

राजा ने सुषुप्ति में आत्मा के बारे में जो विचार करने के लिये प्रेरित किया उसका फल बताते हैं **बुद्धि और उससे होने वाला विषय-विज्ञान, इन दोनों का उपसंहार होने पर आत्मा की विज्ञानमयरूपता नहीं रह जाती अतः केवल ऐसा आत्मरूप चैतन्य बचता है जिसका कार्यप्रपंच से कोई सम्बन्ध नहीं।।२८।। यही बताने के तात्पर्य से उक्त श्रुति ने प्रतिपादन किया है कि यह आत्मा उसमें सोता है जो हृदय में आकाश (ब्रह्म) है।।२९।।** आत्मा विज्ञानमय तभी तक कहा-समझा जा सकता है जब तक बुद्धि-इंद्रियाँ मौजूद हैं, उनके न रहने पर नहीं, जैसे नौकरी रहते अफसर होता है, नौकरी छूटने पर नहीं। लेकिन जैसे नौकरी छूटने पर भी व्यक्ति रह ही जाता है वैसे विज्ञानमयता हटने पर भी आत्मा रह ही जाता है। वह उसकी स्वाभाविक स्थिति है, किसी विकार (बिगाड़) से युक्त नहीं है। सुषुप्ति में जो आत्मा की स्थिति उसे प्रत्यगात्मा का स्वभाव कहा जाता है। वहाँ अज्ञान भी है किंतु कार्यभूत कोई

बुद्धिर्हृदयशब्देन हृन्निष्ठत्वाद् विवक्ष्यते।।
आ समन्तात् काशतेऽयम् इत्याकाशोऽत्र चिद्वपुः।।३०।।
बुद्धेरन्तः प्रतीचोऽन्यो नार्थः सम्भाव्यते यतः।
तस्माद् आकाशशब्देन प्रत्यगात्मेह गृह्यते।।३१।।
प्राणादीनां यतो जन्म वक्ष्यते प्रत्यगात्मनः।
तस्माद् आकाशशब्देन ब्रह्मैवाऽत्राऽभिधीयते।।३२।।

उपाधि नहीं, परमार्थतः आत्मस्वभाव अत्यन्त अद्वैतात्मक है जिसका अज्ञान से भी सम्बंध नहीं। किंतु व्यक्त उपाधि से स्वतंत्र आत्मा को समझाने के लिये सुषुप्ति की स्थिति को स्वाभाविक कहना बन जाता है। हृदयस्थ आकाश अर्थात् परमेश्वर से अभेद बताने के लिये श्रुति ने 'य एषः' ये दो शब्द रखे; 'यः' अर्थात् तत्पदार्थ से 'एषः' अर्थात् त्वम्पदार्थ का अभेद यहाँ श्रुति ने कहा। प्रायः आत्मा हृदय में उपलब्ध माना गया है, जीवभाव वहीं व्यक्त है और दहरविद्यादि में वही ब्रह्म का भी स्थान बताया गया है। इस प्रकार स्वरूप और स्थान दोनों दृष्टियों से एकता है यह भाव है।।२८-९।।

उद्धृत श्रुतिवचन की स्वयं व्याख्या करते हैं **हृदय में स्थित होने के कारण 'हृदय' इस शब्द से बुद्धि बताने में तात्पर्य है तथा यहाँ कहा 'आकाश' चेतनस्वरूप है क्योंकि 'आ' अर्थात् पूर्णतः वह प्रकाशमान है।।३०।। बुद्धि के अन्दर क्योंकि प्रत्यगात्मा से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु होना संभव नहीं इसलिये यहाँ आकाश-शब्द से प्रत्यग्रूप आत्मा का ग्रहण है।।३१।। किं च क्योंकि प्रत्यग्भूत आत्मा से प्राणादि की उत्पत्ति कही जायेगी इसलिये यहाँ आकाश-शब्द से ब्रह्म ही कहा गया है।।३२।।** श्रुति ने 'हृदय के भीतर' कहकर सूचित किया कि बुद्धि से प्रत्यग्भूत आत्मा की बात चल रही है। शब्द 'हृदय' रखा पर तात्पर्य है बुद्धि से। हृदय में रहने वाली होने से बुद्धि हृदय कह दी जाती है। आकाश भी प्रायः महाभूत-विशेष को कहते हैं लेकिन यहाँ यौगिक अर्थ में तात्पर्य है। पूरी तरह ज्ञानरूप से मानो चमकता है, सब तरफ ज्ञान से भरा हुआ है इस भाव से चिन्मात्र वस्तु को आकाश कहा। मैं के अंदर ज्ञान ही भरा हुआ है। मैं में ऐसा कुछ नहीं जो ज्ञान वाला न हो। मैं स्वयं अनुभवात्मक है इसमें किसी को संदेह नहीं। इसीलिये ब्रह्मसूत्र में (१.१.२२) माना है कि आकाश और उसके पर्याय ब्रह्म के लिये कई जगह प्रयुक्त होने से ब्रह्म को आकाश-शब्द कहे यह संगत है। आकाश का ध्यान इसका मतलब 'कुछ नहीं' का ध्यान समझना ग़लत है वरन् परमात्मा का ध्यान अर्थ है। ऐसे ही

अधिष्ठानत्वम् अन्तस्त्वम् अपरिच्छिन्नवस्तुनः।
अन्तर्बहिर्विभागोऽयं न मुख्य उपपद्यते।।३३।।

भूताकाश का भी ध्यान अभिप्रेत नहीं है, परमात्मा का ही ध्यान कर्त्तव्य है। हृदय-शब्दित बुद्धि के अन्दर हो भी प्रत्यगात्मा ही सकता है। उपाधि-परम्परा में सबसे भीतर बुद्धि (अहं) ही है, उसके अंदर कहा है तो आत्मा ही अभिप्राय होना ठीक है। इंद्रियों व बुद्धि के अंदर 'मैं' ही हूँ, आगे उस 'मैं' के अंदर प्रत्यक्स्वरूप के अलावा कुछ नहीं है। यह भी हेतु है कि आकाश-शब्द आत्मा के लिये आया है। वह आत्मा परमात्मस्वरूप है यह भी इस प्रसंग में स्वीकार्य है क्योंकि उसी से प्राणादि का जन्म आगे बताया जायेगा, 'अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' यह वाक्य (२.१.२०) आयेगा। सोते समय प्राणादि सब इसी में लीन होते हैं अतः जगने पर इसी से निकलते हैं। जैसे स्वर्णरूप कारण से ही गहना-रूप कार्य पैदा होते हैं वैसे आत्मा से प्राणादि पैदा होते हैं। अतः जागते ही व्यक्ति देखने सुनने लग जाता है। इस तरह हृदयस्थ आकाश में जगत्कारणता-रूप ईश्वर-लक्षण भी उपलब्ध है। अतः प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता का यहाँ प्रतिपादन स्पष्ट हुआ।।३०-२।।

प्रकृत आकाश-पद ब्रह्मपरक है इसका निगमन करते हैं **त्रिविध अन्त से रहित वास्तविक तत्त्व से प्राणादि आन्तर विकार तथा लोकादि बाह्य विकार अलग-अलग व्यक्त हों यह वास्तविक कार्य-कारण-भाव में संभव नहीं अतः यहाँ जो आकाश का भीतरीपन कहा है वह इसी अभिप्राय से कि वह अधिष्ठान है। किं च 'हृदय के अंदर' का भी मतलब है कि वह हृदय (बुद्धि) का अधिष्ठान है क्योंकि व्यापक वस्तु में भीतर-बाहर का सच्चा विभाजन असंगत है।।३३।।** जैसे 'सर्प में रस्सी है' कहने का मतलब यह नहीं कि सर्प के मुख में या पेट में रस्सी है वरन् यह है कि सर्प का अधिष्ठान रस्सी है, वैसे यहाँ आत्मा को सभी के, बुद्धि के भी भीतर कहने से उसे सबका अधिष्ठान कहा। अत एव उसकी जो प्राणादि व लोकादि के प्रति कारणता कहनी है वह विवर्त्तरूप ही संभव है। उदाहरणार्थ भूताकाश व्यापक है, उसमें भीतर-बाहर का कोई स्वाभाविक विभाजन नहीं, औपाधिक ही विभाजन है, कमरा आदि उपाधि की अपेक्षा से भीतर की जगह और बाहर की जगह ऐसा भेद कर सकते हैं, केवल आकाश में कोई भेद नहीं कर सकते। इसी तरह परमात्मा व्यापक होने से बाहर-भीतर के विभाग वाला नहीं, बुद्धि, शरीर आदि उपाधि की अपेक्षा से ऐसा व्यवहार हो जाता है। अधिष्ठान होना भी ब्रह्म में सचमुच असंभव है : अधिष्ठान अध्यस्त से भिन्न होता है जबकि ब्रह्म

पराक्प्रमेयभूमिभ्यो मनसि व्युत्थिते सति।
अनन्यबोधप्रात्यक्ष्याद् य एष इह भण्यते।।३४।।
स्वतोऽवगमरूपेऽस्मिन् कूटस्थे निर्द्वयात्मनि।
कात्स्न्येनाऽवस्थितिर्भोक्तुः शेत इत्यभिधीयते।।३५।।

किसी से सचमुच भिन्न हो नहीं सकता अन्यथा परिच्छिन्न हो जायेगा! अतः उसकी अधिष्ठानता भी एक व्यवहार ही है। इसीलिये यहाँ जो हृदयस्थ आकाश को बाह्य-आन्तर जगत् का हेतु कहा वह समझने के लिये ही है, उसे वस्तुतः कैसा भी कारण बताने के लिये नहीं। ऐसा निर्विकार सत्य तत्त्व ब्रह्म ही है अतः आकाशपद उसी का उपस्थापक है।।३३।।

श्रुति के 'य एषः' (जो यह) पदों का भाव बताते हैं **अनात्मरूप प्रमेय विषयों से जब मन विपरीत ओर उन्मुख हो जाता है तभी स्वप्रकाश अनुभवस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होने से यहाँ 'य एषः' ऐसा कहा गया है।।३४।।** स्वभाव से मन बहिर्मुख है अतः जब बहिर्मुखता छोड़ता है तब लीन हो जाता है, सुषुप्ति आ जाती है, इसीलिये आत्मा जैसा है वैसा उसे समझ नहीं पाते। उसे समझने के लिये मनको पराक् अर्थात् अनात्मा जो प्रमा के विषय, उनसे मोड़कर आत्मा पर, उत्तम पुरुष पर एकाग्र करना पड़ेगा, तभी जो किसी अन्य पर निर्भर नहीं ऐसे बोध के स्वरूप वाला वह आत्मा प्रत्यक्ष होगा, उसका साक्षात्कार होगा। सुषुप्ति में आत्मा भले ही अनन्यबोधरूप ही है लेकिन तब मन उसे ग्रहण नहीं करता अतः तब 'आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया' ऐसा नहीं कह सकते। यद्यपि यहाँ प्रकरण सुषुप्ति का है तथापि आचार्य 'व्युत्थित' पद के प्रयोग से उक्त अभिप्राय सूचित कर रहे हैं। वार्तिककार ने यह स्पष्ट किया है 'पराक्प्रमेयभूमिभ्यो व्युत्थाप्य मन आदरात्। प्रत्यक्प्रवणया दृष्ट्या पश्यात्मानं त्वमंजसा।।' २.१.२३५।। श्रुति में 'यः' से स्वप्रकाश तत्पदार्थ को तथा उसे ही 'एषः' यों प्रत्यग्रूप वाला कहकर आत्मा के साक्षात्कार की प्रेरणा दी गयी है यह भाव अनुभूतिप्रकाशकार का है। 'जो यह हृदय के अंदर आकाश है' इससे सूचित है कि व्यापक परमेश्वर का प्रत्यग्रूप से साक्षात्कार करना उचित है।।३४।।

आगे वेदवाक्य में शब्द आया है 'तस्मिन् शेते' अर्थात् उस आकाश में सोता है। इस शयन को समझाते हैं **स्वयम्प्रकाश अवगतिस्वरूप इस अपरिवर्त्तनीय अद्वितीय आत्मा में सर्वात्मरूप से भोक्ता जीव का अवस्थान 'शयन' कहा जाता है।।३५।। घड़ा फूटने पर घटाकाश महाकाश से अलग नहीं रहता, ऐसे विज्ञान (उपाधि) की निवृत्ति होने पर विज्ञानमय (जीव) की परमात्मरूपता रह जाती**

घटभङ्गे घटाकाशो महाकाशाद् न भिद्यते।
विज्ञानलोपे विज्ञानमयस्यैवं परात्मता।।३६।।
देहाद्यध्यक्षतां हित्वा सुप्तौ स्वात्मनि वर्तते।
इत्येतत् साध्यते श्रुत्या समाख्यायाश्च युक्तितः।।३७।।

है।।३६।। देहादि में अभिमान छोड़कर सुषुप्ति में स्वात्मा में रहता हैयह बात नाम और तर्क से श्रुति द्वारा सिद्ध की जा रही है।।३७।। भोक्ता की स्थितिविशेष को 'सो रहा है' ('शेते') कहते हैं। जाग्रत् - स्वप्न भी उसी की स्थिति हैं, सुषुप्ति भी उसी की स्थिति है किंतु जाग्रत्-स्वप्न में भोक्तृभाव रहता है जबकि सुषुप्ति में सत् से सम्पन्नता, परमात्मा से अभेद होने से भोक्तृभाव नहीं रहता। अज्ञान रहने से भोक्तृता के बीज बचे रहते हैं अतः वह मोक्षदशा नहीं है। उस समय आत्मा कूटस्थ है, किसी अनात्मा से कैसे भी सम्बन्ध वाला नहीं है। यद्यपि कूटस्थ होने से अनात्मसंबंध की प्रतीति के समय भी वह वस्तुतः असम्बद्ध ही रहता है, तथापि सुषुप्ति में तो सम्बंध-प्रतीति भी नहींयह विशेषता है। जैसे सर्पादि दीखने पर भी रस्सी अप्रभावित रहती है ऐसे प्रपंच-सम्बन्ध की अनुभूति हो या न हो, परमात्मा निर्विकार रहता है। इस तथ्य को समझना सुषुप्ति की स्थिति के चिंतन से सरल होने के कारण 'निर्द्वयात्मनि' कहा अर्थात् तब तो कूटस्थ आत्मा सब द्वय अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत् से अस्पृष्ट है। अन्यदा भी है असंबद्ध लेकिन कम-से-कम लगता सम्बद्ध है अतः काम-क्रोध, सुख-दुःख आदि विकारों वाला लगता है पर सुषुप्ति में वैसा लगता भी नहीं। ज्ञानमात्र ही उसका स्वरूप है। इसी स्वरूप से रहने का नाम शयन है। वहाँ सभी प्रकार के जीवभेद एवं जगद्भेद बेमानी हैं।।३५।। सोनेमात्र से जीव परमात्मा से एक कैसे हो जाता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि जैसे घड़ा न रहे तो घटाकाश महाकाश से एक होता है वैसे जिस कार्यरूप उपाधि से जीवभाव था, उस उपाधि के न रहने पर यह जीवभाव भी रह नहीं जाता तो परमात्मा ही रहेगा। सुषुप्ति में अहंकार न रहने से जिसे अन्यदा विज्ञानमय समझते हैं वह परमात्मा हो जाता है। मोक्ष फिर भी इसलिये नहीं कि अहंकार का संस्कार बचा रहता है।।३६।। जाग्रत् आदि में आत्मा देहादि का अध्यक्ष बना रहता है, उन्हें अपना स्वरूप मानता है, उनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता से सुखी-दुःखी होता है। 'अध्यक्ष' शब्द आजकल की दृष्टि से भी सार्थक है। बड़ी कम्पनी के मालिक सचमुच तो उसके भागीदार (शेयरधारक) होते हैं परंतु कम्पनी का अध्यक्ष (चेयरमैन) उसे अपनी कंपनी मानता है, उसके अच्छे-बुरे से प्रभावित होता है, संमानित-अपमानित होता है। भले ही वास्तव में उसके पास सात-आठ प्रतिशत से

सुप्तस्य स्वपितीत्येषा समाख्या सर्वसंमता।
निरुक्तिमाहुश्छन्दोगाः स्वमपीत इतीदृशीम्।।३८।।
अतः समाख्यया सुप्तौ स्वाभाविक्यात्मनि स्थितिः।
युक्तिश्चोपाधिसंहारः संसारित्वनिवृत्तये।।३९।।
वागाद्युपाधिसम्बन्धात् संसारित्वमिवेक्ष्यते।
ते तूपसंहृताः सर्वे ततोऽसंसारितात्मनः।।४०।।

ज़्यादा भागीदारी न हो, फिर भी उसे अभिमान होता है 'मैं मालिक हूँ'। ऐसे ही हम लोग शरीरादि के अध्यक्ष हैं, उसमें अभिमानी हैं, वास्तव में हमारा उस पर स्वामित्व नहीं है, वह हमारे निर्देशानुसार चलता नहीं, हम उसके चलने की प्रक्रिया जानते भी नहीं। शरीरादि हमारे अनुसार नहीं चलते, हम ही उनके पीछे सुखी- दुःखी होते रहते हैं! कंपनी-अध्यक्ष भी कंपनी के नुकसान से ऐसे ही दुःखी होता है। सुषुप्ति के समय हमारी अध्यक्षता छूट जाती है। तब मच्छर काटे या गुलाब की खुशबू हो, कुछ पता नहीं चलता। अध्यक्षता छूटने पर भी आत्मा तो रहता ही है, वह उसका स्वाभाविक रूप है। अहंकार हटने पर चिन्मात्र ही रहता है। श्रुति इसे दो तरह समझाती है एक तो सोये आत्मा के नाम से, दूसरा तर्क से। इन दोनों का अगले श्लोकों में वर्णन है।।३७।।

सत्रहवीं कण्डिका का शेषभाग है 'तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम, तद् गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग्गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः।।१७।।' अर्थात् जब वाग्-आदि विज्ञानों को खींच लेता है तब यह पुरुष 'स्वपिति' नाम वाला होता है। तब प्राण-वाक्-श्रोत्र-मन सब गृहीत होते हैं, उपसंहृत होते हैं। यहाँ जो 'स्वपिति' नाम कहा उसपर छांदोग्य-विवरण में अर्थात् अनुभूतिप्रकाश अध्याय ३ श्लोक ७९ आदि में विचार कर चुके हैं। अतः यहाँ उल्लेखमात्र करके युक्ति का विस्तार करते हैं **यह सभी को स्वीकार है कि 'स्वपिति' यह सोये हुए का नाम है। छान्दोग्य-शाखा वाले इस शब्द का ऐसा निर्वचन करते हैं'खुद की ओर आता है, खुद में विलीन होता है'।।३८।। इसलिये स्वीकार्य है कि उक्त नाम के अनुसार सुषुप्ति में जीव की आत्मा में स्वाभाविक स्थिति होती है। सुषुप्ति में संसारिता निवृत्त होती है यह सिद्ध करने के लिये उपाधियों का उपसंहाररूप युक्ति भी है।।३९।। आत्मा में जो संसारिता जैसी लगती है वह वाग् आदि उपाधियों के संबंध से। सुषुप्ति में वे तो सब उपसंहृत हो चुकते हैं इसलिये तब आत्मा की असंसारिता निश्चित है।।४०।।** समाख्या

सर्वेन्द्रियवियोगेऽपि सुखिदुःखित्वम् आत्मनः।
स्वप्ने दृष्टम् अतः सङ्ग आत्मनस्तात्त्विको भवेत्।।४१।।
मैवं मृषात्वात् स्वप्नस्य मनोमात्रविजृम्भणात्।
बाह्येन्द्रियविलोपेऽपि न मनो लुप्यते तदा।।४२।।
महाराजादयस्तस्य स्वप्नानुभवगोचराः।
न वास्तवा इति ज्ञेयाः शयानेभ्यः पृथक्त्वतः।।४३।।

अर्थात् नाम, वह भी अर्थ का स्वरूप बताता ही है। यद्यपि हमेशा नाम अर्थानुसारी हो यह नियम नहीं तथापि समझ-बूझकर विद्वानों द्वारा रखा हो तो नाम अर्थबोधक होता ही है जैसे योगिहृदयों में रमण करने वाले होने से वसिष्ठादि ने भगवान् का 'राम' नाम रखा। सोते समय के आत्मा का नाम श्रुति ने ही रखा है अतः अर्थानुसारी ही है। 'अपीत', 'अप्यय' कहते हैं विलय को। 'स्व' अर्थात् स्वयम् में। स्वयं में ही बाकी सब विलीन हो जाते हैं इसलिये तब स्वपिति नाम पड़ता है। यद्यपि प्रायः 'स्वपिति' से 'सोता है' समझते हैं लेकिन श्रुति उसे संज्ञा मान रही है। पूर्व में (३.७६) यह सब कह चुके हैं। नाम से अतिरिक्त युक्ति भी है कि जिन उपाधियों के रहते संसारिता है वे तब रहती नहीं अतः संसारिता न होना ही उचित है। अंधे को चाहे जितनी बदसूरत किन्तु मीठा बोलने वाली सेवा करने वाली पत्नी मिले तो उसकी बदसूरती से अंधे को कोई दिक्कत नहीं, रूप उसे बाँधता नहीं, क्योंकि रूपग्राहक उपाधि उसकी कार्यकारी नहीं। संसारिता उपाधियों पर ही निर्भर है, सुषुप्ति में वे हैं नहीं तो संसारिता नहीं ही होनी है। संसारिता प्रतीत होते हुए भी वास्तविक नहीं यह बताने के लिये 'संसारित्वम् इव' कहा जैसे अन्यत्र श्रुति ने 'लेलायतीव' कहा है।।३८-४०।।

सुषुप्ति का ही यहाँ उल्लेख क्यों, स्वप्न में क्या कमी है कि तब जीव 'स्वपिति' नाम वाला नहीं होता? इसका उत्तर देते हुए पूर्वोक्त युक्ति का ही विस्तार करते हैं **सारी इंद्रियों का वियोग होने पर भी सपने में आत्मा सुखी-दुःखी देखा जाता है अतः आत्मा का संग अर्थात् संसरण तात्त्विक होगा?।।४१।। ऐसी बात नहीं है क्योंकि सिर्फ मन का फैलाव होने से सपना मिथ्या होता है। किंच स्वप्न में बाह्य इन्द्रियों का वियोग होने पर भी मन तब लुप्त नहीं होता।।४२।। जीव को स्वप्न में जिन महाराज आदि का अनुभव होता है वे सच्चे नहीं हैं यह समझना ही पड़ता है क्योंकि सोये पड़े शरीर से वे अलग होते हैं।।४३।।**

दृश्यं मिथ्याऽस्तु तद्द्रष्टुर्द्रष्टृता वास्तवी ततः।
दृश्यं साऽपेक्षतेऽप्येषा[1] शंकाऽत्र विनिवार्यते।।४४।।
न किञ्चन यदा वेद तदा सुप्त इतीरणात्।
आत्मनो ज्ञानकर्तृत्वं सुप्तौ नास्तीति गम्यते।।४५।।

सुषुप्ति में उपाधि-असम्बद्ध रूप सच्चा है सुनकर प्रश्न होता है कि स्वप्न में भी उपाधियाँ नहीं होती लेकिन आत्मा को सुख-दुःख होते रहते हैं, विषयों का चिंतन चलता रहता है अतः आत्मा का संग, अनात्म-पदार्थों से सम्बन्ध सच्चा क्यों न माना जाये? उत्तर है कि स्वप्न क्योंकि मिथ्या है यह सर्वसंमत है इसलिये उससे कथंचित् यदि संग सिद्ध होगा भी तो मिथ्या होगा; अर्थात् आत्मा में संग मिथ्या ही है इतना ही सिद्ध होगा। वस्तुतस्तु स्वप्न में आत्मा मन-रूप उपाधि से सम्बद्ध ही है अतः तब जो संग आदि है वह औपाधिक होने से उसका सत्य स्वरूप नहीं है। स्वप्न के अनुभव इसलिये मिथ्या हैं कि उनके विषयरूप से जो प्रतीत होते हैं वे वास्तविक नहीं। देवदत्त सपने में देखता है 'मैं महाराजा हूँ'। देवदत्त तो दरिद्र ब्राह्मण खाट पर सोया पड़ा है, उसके मित्र उसे वैसा ही देख रहे हैं, उस अपने व्यावहारिक शरीर से भिन्न ही वह जो महाराजा का शरीर देख रहा है वह मिथ्या ही है अतः खुद को उससे संबद्ध समझना भी मिथ्या ही अनुभव है, सत्य नहीं। इस प्रकार स्वप्नगत आत्मा का ससंगरूप वास्तविक नहीं है यह स्पष्ट किया।।४१-३।।

सर्पभ्रम होने पर सर्प मिथ्या होते हुए ही उसे देख डरना आदि सत्य होता है, ऐसे ही भ्रमजन्य सुख-दुःख सत्य मिलते हैं, फिर स्वप्न के पदार्थ मिथ्या होने पर आत्मा का संग भी अवास्तविक क्यों माना जाये? इस प्रश्न को उठाकर उत्तर देते हैं **दृश्य भले ही मिथ्या हो पर उसे देखने (अनुभव करने) वाले की द्रष्टृता (अनुभव-कर्त्तृत्व अर्थात् भोक्तृत्व) वास्तव हो सकती है और इसलिये वह दृश्य पर निर्भर भी रहेगी? इस शंका को यहाँ हटा रहे हैं।।४४।। 'जब कुछ नहीं जानता तब सोया होता है' ऐसा कहने से समझ आता है कि सुषुप्ति में अनुभव-कर्तृत्व (भोक्तृत्व) नहीं होता (अतः वह आत्मा की वास्तविकता नहीं है)।।४५।।** सांख्यवादी आत्मा को सचमुच भोक्ता मानते हैं। उस संस्कार से प्रश्न होता है कि दृश्य

---

१. अयं सारपाठः। 'दृश्यसापेक्ष्यतेत्येषा' इति नि.सा. अनुभूतिप्रकाशपाठः। 'दृश्यं सापेक्षतेत्येषा' इति मुत्तुशास्त्रि-मद्रसंस्करणयोः पाठः।

मिथ्या हो पर आत्मा उसका भोग कर ही रहा है तो आत्मा में भोक्तृत्व सत्य मानने में क्या हर्ज है? द्रष्टा होने के लिये दृश्य चाहिये, वह दृश्य सत्य ही हो ऐसा तो नियम है नहीं। इसलिये आत्मा स्वरूपतः भोक्ता क्यों न हो? इस शंका का समाधान दिया कि भले ही जाग्रत्-स्वप्न में भोक्तृता मिलती है लेकिन सुषुप्ति में न मिलने से पता चलता है कि वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। यही समझाने के लिये सुषुप्ति-पर्यन्त विचार करना पड़ता है। समझाने के लिये जब आत्मा को द्रष्टा, साक्षी के रूप में बताते हैं तब यह शंका होती ही है कि चाहे दृश्य, साक्ष्य अलग हैं, बदल रहे हैं, पर मैं उन्हें जान तो रहा ही हूँ और जानने का मुझपर प्रभाव भी होता है, मैं सुखी-दुःखी होता हूँ, तो आत्मा दृश्य से अलग होने पर भी निर्विकार कैसे? इसीलिये श्रुति सुषुप्ति का विचार कराती है जहाँ आत्मस्फुरण तो है लेकिन किसी दृश्य का अनुभव नहीं ताकि समझ आ जाये कि द्रष्टृता अर्थात् दर्शनकर्तृत्व या आगन्तुकज्ञानवत्त्व आत्मा का स्वभाव नहीं, औपाधिक ही है। आत्मा का जो स्वरूपभूत ज्ञान है वह दृश्य-सापेक्ष नहीं अतः सुषुप्ति में दृश्य न रहने पर भी ज्ञान रहता ही है। 'सोया हुआ' कहते ही तब हैं जब व्यक्ति सुषुप्ति में हो तथा उस समय वह द्रष्टा नहीं रहता जिससे समझ आता है कि ज्ञानस्वरूप होने पर भी आत्मा द्रष्टा नहीं है। अन्य अवस्था में मन आदि रहते वह द्रष्टा (सविषयज्ञान वाला) बन जाता है। इस अन्वय-व्यतिरेक का बार-बार चिंतन करना चाहिये कि मनआदि से ही द्रष्टा-पना है, इनके बिना स्वरूप से केवल ज्ञान है, स्फुरण है। वेदांतों में इसीलिये सुषुप्ति का महत्त्व बताते हैं।।४४-५।।

श्रुति में अठारहवीं कण्डिका में स्वप्न का वर्णन कर उन्नीसवीं में सुषुप्ति कही है। उसे समझाने के लिये 'हिता' कहलाने वाली बहत्तर हज़ार नाडियों का उल्लेख आया है जो हृदय से निकलकर सारे शरीर में फैली हैं। सोते समय बुद्धि को नाडियों द्वारा विषयों से हटाकर केवल शरीर में जीव स्थित होता है अर्थात् बाह्य जगत् से कोई संपर्क नहीं रखता तभी नींद आती है। स्तनन्धय बालक, योग्य सफल सम्राट्, परिपक्व विद्वान् जैसे स्वभावतः प्रसन्न रहते हैं वैसी प्रसन्नता सभी को सुषुप्ति में मिलती है। श्रुतिवचन है 'अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद' (-इतने का व्याख्यान श्लो. ४५ में हो चुका) 'हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततम् अभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीम् आनन्दस्य गत्वा शयीत, एवम् एवैष एतच्छेते'।।१९।। (अतिशेयन दुःखं हन्तीति अतिघ्नी तादृशीमवस्थां गत्वा)। इस प्रसंग को पाँच श्लोकों द्वारा कहते हैं **सुषुप्ति होने पर**

सुप्तौ केन क्रमेणाऽयम् उपाधिः प्रविलीयते।
तत्क्रमस्यावबोधाय हृदयादि विविच्यते।।४६।।
आनाभितस्तथाऽऽकण्ठाद्धृदयं मध्यतः स्थितम्।
सनालं पद्मकोशाऽऽभं पञ्चच्छिद्रम् अधोमुखम्।।४७।।
कदम्बकुसुमोद्भूतकेसरा इव सर्वतः।
प्रसृता हृदयाद् नाड्यो बह्वन्नरसपूरिताः।।४८।।
निर्गत्य हृदयाद् बुद्धिस्तासु स्वप्नं प्रपश्यति।
ताभिर्देहाद् बहिर्गत्वा जागर्तीत्यभिधीयते।।४९।।
पुनः प्रत्यवसृप्यैषा पुरीतद्वेष्टिते हृदि।
प्रविश्य लीयते देहं व्याप्य सामान्यवृत्तितः।।५०।।

किस क्रम से यह उपाधि प्रविलीन होती है? इस प्रश्न के उठने पर, उसका क्रम समझाने के लिये हृदयादि का विवेचन किया गया है।।४६।। नाभि और कण्ठ के बीच हृदय स्थित है। नाल अर्थात् डण्डी सहित कमल के भीतर के कोश के समान वह प्रतीत होता है। उसमें पाँच छेद हैं एवं उसका मुख नीचे की ओर है।।४७।। कदम्ब-पुष्प के किंजल्क अर्थात् केसर जैसे चारों ओर होते हैं वैसे बहुतेरे अन्नरस से भरी नाडियाँ हृदय से निकलकर शरीर में सब ओर फैली हैं।।४८।। बुद्धि हृदय से निकलकर उन नाडियों में सपने देखती है। उन्हीं के द्वारा जब देह के बाहर जाती है तब कहते हैं कि 'जग रहा है'।।४९।। यह बुद्धि फिर लौटकर पुरीतत्-नामक झिल्ली से घिरे हृदय में घुसकर विलीन हो जाती है फिर भी सामान्यवृत्ति से शरीर को घेरे रहती है।।५०।। यद्यपि मूल प्रसंग जीव-स्वरूप का है तथापि प्रसंगवश उपाधिलय का क्रम बताया है। हृदय का स्थान कण्ठ व नाभि के ठीक बीच में है। कमल-पुष्प जैसा उसका रूप है किंतु साधारण व्यक्ति का हृदय ऐसा लगता है मानो कमलपुष्प नीचे की ओर झुका हो। बुद्धि हृदय से निकलकर नाडियों द्वारा चलकर इंद्रियों तक पहुँच जाती है। जब तक इंद्रियों में पहुँचकर विषयों से सम्पर्क करती है, तब तक जाग्रद् अवस्था कही जाती है एवं जब केवल नाडियों में विचरती है तब स्वप्नावस्था कही जाती है तथा जब लौटकर हृदय में घुसकर विलीन हो जाती है तब सुषुप्ति कही जाती है। किन्तु तब भी बुद्धि 'सामान्यवृत्ति' से देह घेरे रहती है, वैसी न रहे तो शरीर मर जाये! अज्ञान में यों लीन रहना कि जाग्रदादि के उचित प्रारब्ध के उदय होते ही प्रकट हो जाये, 'सामान्यवृत्ति' का भाव है। इसी को कारण-शरीर

सर्वसंसारदुःखानाम् अत्यन्तोपरमात् तदा।
आनन्दस्य परा निष्ठा दृष्टान्तैः सोपमीयते।।५१।।
इन्द्रियस्याप्ररूढत्वात् स्वेष्टप्राप्तेर्विवेकतः।
नीरागाणां बालराजब्राह्मणानां क्रमात् सुखम्।।५२।।

कहते हैं। जैसे तिल में तेल होता है पर यों नहीं दीखता, पेरने पर निकलता है वैसे अज्ञान में बुद्धि जब रहती है तब उसे अज्ञान में बुद्धि की सामान्य वृत्ति (साधारण वर्त्तमानता) कहते हैं। उस स्थिति में वह सारे शरीर में फैली रहती है जैसे पूरे तिल में तेल रहता है। मरने पर तो बुद्धि शरीर छोड़कर चली जाती है इसलिये शरीर में, कारण में विलीन नहीं है।।४६-५०।।

श्रुतिप्रोक्त बालकादि दृष्टांतों का भाव समझाते हैं **सुषुप्ति में संसार के सारे दुःख सर्वथा निवृत्त रहने से आनन्द की सर्वोत्तम स्थिति होती है जिसके लिये यहाँ दृष्टान्त दिये हैं।।५१।। उनका क्रमशः अभिप्राय है कि बालक का सुख इसलिये है कि उसकी इंद्रियाँ विषयभोग की ओर लोलुप नहीं होती; राजा का सुख इसलिये है कि उसे अपना इच्छित सब मिल चुका है; ब्राह्मण का सुख इसलिये है कि वह विवेकी है।।५२।।** स्तनन्धय बालक को सांसारिक रागादि से परेशानी नहीं, इंद्रियाँ विषयों की ओर आकृष्ट नहीं, अतः दैहिक आवश्यकता परिपूर्ण होने पर वह प्रसन्न रहता है। चक्रवर्ती सामर्थ्यवान् राजा जो कुछ चाहता है वह सब जब पा चुकता है तब प्रसन्न होता है, निश्चिन्त सुखी होता है। विवेकी ब्राह्मण सब अनित्यों से विरक्त हुआ आत्मनिष्ठ होने से प्रसन्न होता है। जैसे मंगली लड़की का गैरमंगली लड़के से ब्याह नहीं करते क्योंकि मानते हैं कि लड़का जल्दी मर जायेगा तो लड़की विधवा रह जायेगी, वैसे हमारे साथ स्थायी रहने वाली बुद्धि अस्थायी विषयों में संलग्न न कर स्थायी आत्मा में ही जोड़ने वाला ब्राह्मण प्रसन्न रहता है। सुषुप्ति में इंद्रिय-लोलुपता, इच्छाओं का उद्रेक एवं अनात्म-प्रावण्य नहीं रहते यों तीनों दृष्टान्तों की समानता है। विषय-सुख की समानता न दिखाकर इन सुखों की समानता दिखायी ताकि सुषुप्ति-सुख की निर्विषयता स्पष्ट हो।।५२।।

श्रुति ने अनेक दृष्टान्त क्यों दिये इसे स्पष्ट करते हैं **दुःख राग-द्वेष से उत्पन्न होता है, राग-द्वेष न होने पर स्वतः आत्मा सुख की स्थिति में ही रहता है। इस व्याप्ति के ग्रहण के लिये बहुत दृष्टान्तों का वर्णन किया है।।५३।।** व्याप्ति अर्थात् यह नियम कि राग-द्वेष हों तो दुःख होगा ही, वे न हों तो खुद-ब-खुद

दुःखं रागद्वेषजन्यं तदभावे सुखं स्वतः।
इति व्याप्तिगृहीत्यर्थं बहुदृष्टान्तवर्णनम्।।५३।।
अद्वयानन्दरूपत्वम् इत्थं सुप्तौ प्रदर्शितम्।
एतावता स्वभावोऽस्य निर्णीतः प्रत्यगात्मनः।।५४।।

सृष्टिः

क्वाऽभूद् एष इति प्रश्नं निर्णीय, कुत आगतः।
इति प्रश्नं विनिर्णेतुम् ऊर्णनाभ्यादिका श्रुतिः।।५५।।

सुख ही रहेगा। नियम तब समझ आता है जब साहचर्य कई जगह मिले। बालकादि अनेकों में देखने में आता है कि रागादिरहित रहते ही वे सुखी हैं एवं यह भी प्रत्यक्ष है कि रागादि होते ही दुःख होता है। यदि एक ही दृष्टान्त होता तो शंका हो सकती थी कि आकस्मिक साहचर्य भी हो सकता है, किन्तु अनेक जगह जब दिखा दिया कि वही सुखी है जिसमें रागादि नहीं, तब उक्त नियम स्पष्ट हो गया। यद्यपि महाराजा में रागादि संभावित हैं तथापि यहाँ उसकी वैसी अवस्था विवक्षित है जब उसे जो चाहिये वह उपलब्ध है तथा उसके द्वेष के योग्य कोई रह नहीं गया है। इस तरह वह भी दृष्टांत रागादि व दुःख के सम्बंध के स्पष्टीकरण के लिये ही है।।५३।।

अब तक बताये प्रसंग का निष्कर्ष बताकर आगे का विषय प्रारंभ करते हैं **इस प्रकार बताया कि सुषुप्ति में अद्वैत एवं आनन्दस्वरूप का अवस्थान है तथा इस प्रत्यगात्मा के स्वभाव का निर्णय किया।।५४।। 'सोते समय कहाँ था?' इस प्रश्न का उत्तर बताकर, 'कहाँ से आया?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये ऊर्णनाभि (मकड़ी) के उदाहरण से प्रारंभ होने वाला श्रुतिवाक्य है।।५५।।** सुषुप्ति में आत्मा उपाधि-रहित है अतः अद्वैत, अकेला तथा आनंदरूप है। सोते समय उसी रूप से रहता है। जाग्रदादि में उसका सोपाधिक ही रूप मिलता है अतः सद्वय, सशोक स्थिति अस्वाभाविक ही है। सोते समय कहाँ था? जवाब हुआ कि ब्रह्म में था, ब्रह्मरूप से था। दूसरा प्रश्ना था कि जगने पर कहाँ से आया? इसके जवाब में कहा है 'स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति एवम् एवाऽस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।' अर्थात् जैसे मकड़ी अपने से अभिन्न तन्तु के साथ चलती है, जैसे आग से छोटी चिन्गारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस आत्मस्वरूप से वागादि सब प्राण, पृथ्वी आदि सब लोक, सब देवता, सब प्राणी प्रकट होते हैं।।५४-५।।

यः सुप्तौ निश्चितः स्वात्मा तस्य ब्रह्मत्वसिद्धये।
जगत्सृष्टिर्वर्ण्यतेऽस्मात् सृष्टौ दृष्टान्त उच्यते।।५६।।
अचेतनो यथा तन्तुरूर्णनाभेः सचेतनात्।
जातश्चिदात्मनस्तद्वत् प्राणलोकाद्यचेतनम्।।५७।।
विस्फुलिङ्गा यथा चाग्नेर्जायन्तेऽग्निस्वभावतः।
तथा सुप्तात्मनो जीवा विज्ञानमयनामकाः।।५८।।
स्वरूपतो जन्मतश्च प्राणादिर्भ्रान्तिकल्पितः।
जीवस्य कल्पितं जन्म स्वरूपं तु न कल्पितम्।।५९।।
उद्भूतिस्थितिनाशाः स्युर्जगतोऽस्य प्रतिक्षणम्।
अविद्यामात्रहेतुत्वाद् नाऽमीषां विद्यते क्रमः।।६०।।

उक्त श्रुति समझाते हैं **सुषुप्ति में जिस स्वरूप वाला निजात्मा निर्धारित हुआ, उसे ब्रह्मस्वरूप समझाने के लिये जगत् की सृष्टि का वर्णन किया है। इस आत्मा से सृष्टि के बारे में दृष्टान्त बताते हैं।।५६।। सचेतन मकड़ी से जैसे अचेतन तन्तु (जाल) पैदा होता है वैसे चेतन आत्मा से प्राण, लोक आदि अचेतन जगत् उत्पन्न होता है।।५७।। जैसे आग से अग्नि-स्वभाव वाली चिन्गारियाँ पैदा होती हैं वैसे सोये (अर्थात् अज्ञात) आत्मा से विज्ञानमय-नामक जीव पैदा होते हैं।।५८।। प्राणादि का स्वरूप और जन्म दोनों भ्रांतिरूप कल्पना है जबकि जीव का जन्म ही भ्रांति है, स्वरूप भ्रममात्र नहीं है।।५९।। इस जगत् के जन्म-स्थिति-नाश हर क्षण होते रहते हैं। क्योंकि इनमें अविद्या ही कारण है इसलिये इनका कोई वास्तविक क्रम नहीं है।।६०।।** गहरी नींद में जीव अज्ञात ब्रह्म से एक हुआ रहता है, अज्ञात ब्रह्म ही जगत्कारण है अतः उसी से फिर निकलकर भी आता है। सुषुप्ति में अज्ञान तो कारणता की उपाधि होती है, बाकी जो आत्मा है वह निर्विकार परमात्मा ही है अतः जीव का सत्य स्वरूप ब्रह्म निश्चित हो जाता है। वही कारण-उपाधि रहते कर्मफलवश कार्योपाधि वाला अर्थात् विज्ञानमय बनता रहता है। जब कारणोपाधि का बाध कर देता है तब मुक्त हो जाता है। सुषुप्ति में जो अव्यक्तरूप उपाधि थी उसी से नाम-रूप की सृष्टि हो गयी जिसमें अध्यास के द्वारा आत्मा का 'प्रवेश' हो गया। यों 'कहाँ से आया' का जवाब समझाया। सुप्त आत्मा से विश्वोत्पत्ति को वेद ने मकड़ी व आग के उदाहरणों से बताया। परमेश्वर चेतन है तो उससे जड दुनिया कैसे बनी? इसके लिये मकड़ी का उदाहरण है। मकड़ी का शरीर सजीव होता

है। लेकिन उससे बनने वाला जाला निर्जीव होता है। ऐसे ही ईश्वर से जड जगत् बन गया। इस तरह जड का हेतु जड ही होगा यह सांख्यादिवादियों की मान्यता निरस्त हो गयी तथा जो कुछ लोग सभी कुछ चेतन है ऐसा मानते हैं उनका भी निराकरण हो गया। वेद के अनुसार पैदा एक चेतन से ही हुए, लेकिन जड अलग हैं, चेतन अलग है। मनुष्य-देह से भी बाल नख आदि जड पैदा होते देखे जाते हैं। मुर्दा मकड़ी से जाल नहीं बनता अतः सचेतन से ही जाल भी बना लेकिन है जड। अध्यात्म-अधिभूत सारा जड प्रपंच ईश्वर से ऐसे ही बना। दूसरा दृष्टांत आग से चिन्गारियों का है जहाँ चिन्गारी भी होती आग ही है। मकड़ी स्वयं चेतन और जाल स्वयं जड है अर्थात् स्वभाव में अंतर है लेकिन आग-चिन्गारी का स्वभाव एक ही होता है। चिन्गारी परिच्छिन्न, अत्यल्प भले ही हो पर है आग ही, रूई, भूसे आदि पर पड़ जाये तो सारी ढेरी जला देती है! ऐसे ही चेतन से चेतन ही जीव भी पैदा होते हैं। जिससे होते हैं वह अपरिच्छिन्न चेतन है, जो जीव पैदा होते हैं वे परिच्छिन्न हैं, जिस उपाधि से तादात्म्य वाले होते हैं उसी से सीमित बने रहते हैं। उपाधि चाहे समष्टि की हो अर्थात् अत्यन्त बड़ी हो या व्यष्टि अर्थात् छोटी हो पर है उपाधि अर्थात् सीमा ही। समष्टि में जीव (हिरण्यगर्भ) सर्वज्ञ-सर्वशक्ति प्रतीत होगा, व्यष्टि अर्थात् हम जैसों के अंतःकरणों में अल्पज्ञ अल्पशक्ति प्रतीत होगा। इन सब भेदों वाले जीवों को ही विज्ञानमय कहते हैं और ये सोये आत्मा से ही अर्थात् कारणभूत अज्ञान उपाधि वाले आत्मा से ही पैदा होते हैं ।।५७-८।। यद्यपि जड-चेतन दोनों आत्मा से उत्पन्न होते हैं तथापि इतना भेद है कि जड जगत् का स्वरूप और जन्म दोनों भ्रम हैं जबकि जीवों का जन्म ही भ्रम है, स्वरूप तो चेतन सत्य ही है। रस्सी में साँप दीखा तो साँप भी भ्रम और वह पैदा हुआ यह भी भ्रम। काँच में मुँह देखते हैं तो उसका 'काँच में होना' तो भ्रम है लेकिन मुँह भ्रम नहीं, सत्य है। ऐसे ही उपाधियाँ स्वयं कल्पित हैं पर उनमें अध्यास किया हुआ चेतन कल्पित नहीं केवल उसका उनमें अध्यास कल्पित है। प्रकृत श्रुति ने आत्मा से सृष्टि तो कही लेकिन किस क्रम से सृष्टि होती है यह नहीं कहा। इसमें एक कारण तो है कि सुषुप्ति से उठते समय जो सृष्टि प्रतीत होती है उसमें कोई क्रम नहीं मिलता। दूसरा कारण यहाँ बताया कि जगत् के जन्मादि हर क्षण हो रहे हैं, इनमें क्रम मानना निरर्थक है! यद्यपि अन्यत्र क्रम स्वीकारा भी गया है तथापि श्रुति का भाव है कि मिथ्या में क्रम आदि व्यवस्था को स्वीकारने का कोई प्रयोजन नहीं। जैसे रस्सी में साँप न किसी क्रम से पैदा होता है, न किसी कर्मफल से स्थित रहता है, न किसी क्रम से मरता है, वैसे सर्वत्र समझना चाहिये। आत्मपुराण में शंकरानंद स्वामी ने इसीलिये

सत्यस्य सत्यम्

यस्माद् अविद्ययैवात्मा प्राणक्षेत्रज्ञरूपभाक् ।
स्वतोऽतः स परं ब्रह्म तस्योपनिषद् उच्यते । ।६१ । ।
यद् गुह्यं ब्रह्मणो नाम बोधायोपासनाय वा ।
तत् स्याद् उपनिषच्छब्दवाच्यं तच्चात्र बुद्ध्यते[1] । ।६२ । ।
सत्यस्य सत्यम् इत्येतद् नाम ब्रह्मावबोधकम् ।
प्राणा आपाततः सत्याः सत्यं ब्रह्मैव वस्तुतः । ।६३ । ।

कहा है कि जो दृष्टि से ओझल हो उसे नष्ट जानना चाहिये, प्रतीत हो तो पुनरुत्पन्न जानना चाहिये! अज्ञायमान की सत्ता स्वीकारने से ही चिंता, आशा आदि होती हैं, मिथ्यात्व की दृढ भावना होने पर उनके लिये स्थान नहीं रहता। अन्यत्र जो क्रमव्यवस्था कही है वह बाध के उपयोग से, लयप्रक्रिया के अनुरोध से है, स्वयं क्रम में तात्पर्य नहीं, यह माण्डूक्य कारिका आदि में व्यक्त है। इस प्रकार समझाया कि अज्ञात चेतन से ही जड-चेतनात्मक सारी सृष्टि उत्पन्न होती है अतः 'कहाँ से आया?' यह जो राजा ने प्रश्न किया था, उसका उत्तर हो गया। ।५९-६० । ।

द्वितीयाध्याय प्रथम ब्राह्मण की अंतिम कण्डिका का समापन इस वाक्य से हुआ है 'तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यम् इति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।' (२०)। । अर्थात् पूर्ववर्णित आत्मा की उपनिषत् (रहस्य-नाम) है 'सत्य का सत्य'। इन दोनों को आगे के ब्राह्मणों में श्रुति को बताना है लेकिन संक्षेप में यहीं कह दिया कि प्राण अर्थात् उपाधिभूत जगत् आपाततः या व्यावहारिक सत्य है जबकि उनकी भी वास्तविकता अर्थात् उनसे भी अधिक सत्य उक्त आत्मा है। इस वाक्य का अभिप्राय चार श्लोकों से कहते हैं **क्योंकि आत्मा अविद्या से ही प्राणादि क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञात्मक जीव इन रूपों वाला बनता है अतः स्वयं वह परम ब्रह्म ही रहता है। उसकी 'उपनिषत्' यहाँ कही गयी है। ।६१। । ब्रह्म को समझने या उसकी उपासना के लिये जो उसका गुप्त नाम है उसे यहाँ उपनिषत् - शब्द का अर्थ जानना चाहिये जो यहाँ समझा जा रहा है। ।६२। । 'सत्य का सत्य' यह नाम ब्रह्म का उपस्थापक है। प्राण आपाततः, अविचारतः सत्य हैं, वस्तुतः सत्य ब्रह्म ही है। ।६३। । शरीर तो एक ही जन्म में समाप्त हो जाता है अतः उसे असत्य माना गया। उसकी**

---

१. 'बुद्ध्ये' - इति सारे पाठः।

असत्यो देह उदित एकजन्मन्युपक्षयात्।
सत्याः प्राणा लिङ्गरूपा आमोक्षम् अनपक्षयात्।।६४।।
मोक्षेऽप्यक्षीण आत्मा तु सत्यसत्य[1] उदाहृतः।
सत्यस्य सत्यं प्रोवाच ब्रह्म बालाकये नृपः।।६५।।

अपेक्षा प्राण अर्थात् लिंगशरीर को सत्य कहा क्योंकि मोक्ष तक लिंग देह बना रहता है।।६४।। मोक्ष में भी समाप्त न होने वाला आत्मा तो सत्य से भी सत्य कहा गया है। इस प्रकार बालाकि को राजा अजातशत्रु ने सत्य के सत्य ब्रह्म का उपदेश दिया।।६५।। यहाँ जो 'प्राणाः' कहा उससे गीतोक्त क्षेत्र समझ सकते हैं, सभी उपाधियाँ समझी जा सकती हैं। प्राणों के रूप में प्रतीत होने वाला आत्मा ही है तथा प्राणियों के (क्षेत्रज्ञों के, जीवों के) रूप में प्रतीत होने वाला भी वही है। किन्तु इन रूपों वाला वह बनता है अविद्या से ही अतः वास्तव में वह परब्रह्म ही रहता है जैसे अविद्या से सर्पादि बनने वाली रस्सी वस्तुतः रस्सी ही बनी रहती है। उस परब्रह्म को यहाँ 'सत्य का सत्य' कहा। यह परब्रह्म का 'नाम' है अर्थात् इसका अर्थ परब्रह्म है। इसका उपयोग ब्रह्म को समझने के लिये भी है और ब्रह्म की उपासना के लिये भी है। ज्ञेय ब्रह्म की उपासना भी संभव मानी ही गयी है। यह ज़रूर है कि वह उपासना विद्या के उदय में ही फलीभूत होती है, तत्त्वनिष्ठा का विरोधी (अर्थात् सांसारिक) उसका फल अमान्य है। प्रकृत नाम की व्याख्या में वार्तिक में (२.१.४२१) यह स्पष्ट है। इसे 'गुह्य' इस दृष्टि से कहा कि अयोग्य व्यक्ति 'सत्यस्य' सुनकर मान लेगा कि वेद ने प्राणादि प्रपंच को सत्य कहा है अतः इसे मिथ्या स्वीकारना ग़लत है! इसलिये जो तात्पर्य समझ सके उसे ही बताने योग्य होने से यह गुह्य है। जैसे छांदोग्य में क्रमशः अनेक 'रस' या सार बताकर अंतिम रस परमेश्वर समझाया है वैसे यहाँ जो हमें सत्य प्रतीत हो रहा है उस प्रपंच की अपेक्षा जो उसका अधिष्ठान है उसे परमात्मरूप सत्य बताया जा रहा है। यद्यपि अनात्ममात्र कह सकते थे तथापि बालाकि को जहाँ तक की समझ थी वहाँ तक की दृष्टि रखकर प्राण का ही कथन किया। प्राण अर्थात् सूक्ष्म शरीर मोक्षपर्यन्त कायम रहने से सत्य लगता ही है। तत्त्वबोधपर्यन्त बना रहने से इसे आपातदृष्टि से अर्थात् परमार्थ का निश्चय न प्राप्त करने तक सत्य समझा जाता है। सर्वथा सत्य तो परब्रह्म ही है। इस तरह प्रथम 'सत्य' से प्राण कहने पर स्थूल शरीर असत्य कह दिया गया क्योंकि उसकी

---

१. 'सत्यात् सत्य' इति सारे।

प्राणोपासना

प्राणा वै सत्यम् इत्युक्तं यत् सत्यं व्यावहारिकम्।
बालाक्यभिमतं तत्तु द्वितीयब्राह्मणे स्फुटम्।।६६।।

अस्थिरता सर्वलोकप्रसिद्ध है। जल स्थिर अतः सत्य जबकि लहर अस्थिर अतः असत्य कही ही जाती है। शरीर की असत्यता समझकर इसे सत्य की उपलब्धि में लगाना चाहिये, शरीर के कष्टों के पीछे सत्य-प्राप्ति से वंचित नहीं रहना चाहिये। यमराज ने कठोपनिषत् में बताया ही है कि अनित्यों के उपयोग से नित्य की प्राप्ति हो जाती है। अति-अनित्य दूध-आटा आदि का होम करने से कम-अनित्य स्वर्गादि की प्राप्ति भी प्रसिद्ध ही है। उपासना, तपस्या आदि से ब्रह्मलोक आदि की प्राप्ति शास्त्रोक्त है। ऐसे ही शमादिपूर्वक श्रवणादि से कैवल्य-लाभ कर लेना चाहिये। ब्रह्मलोकादि फल वस्तुगत्या असत्य होने पर भी कुछ स्थायी होने से सत्य कहे जाते हैं, ऐसे ही प्राणों को सत्य कहा है। उनका भी सत्य, उन्हें भी सत्यता प्रदान करने वाला आत्मा 'सत्य का सत्य' कहा गया है। मोक्ष में प्राण तो क्षीण हो जाते हैं, आत्मा क्षीण नहीं होता। (वार्तिकसार में 'सत्यात्' पाठ है अर्थात् प्राणरूप सत्यों की अपेक्षा अधिक सत्य आत्मा है।) इस प्रकार प्रथम ब्राह्मण का वर्णन हुआ।।६१-५।।

प्राणों से अर्थात् व्यावहारिक से आत्मा अन्य है, पारमार्थिक है यह विविध तरीकों से एवं 'सत्य का सत्य' इस नाम से समझाया। संक्षेप में बताया कि 'सत्य का' अर्थात् प्राणों का और 'सत्य' अर्थात् आत्मा। इन्हीं अभिप्रायों का स्पष्टीकरण अगले दो ब्राह्मणों में किया गया है। प्राण क्योंकि आत्मा के जन्म-मरणादि की उपाधि है इसीलिये बालाकि को भ्रम हुआ था कि वही आत्मा है। प्राण वस्तुतः आत्मा नहीं इसे द्वितीय ब्राह्मण में समझाया है। यही प्रतिज्ञा व्यक्त करते हैं **जिसे 'प्राण ही सत्य हैं' ऐसा कहा वह बालाकि को ज्ञात व्यावहारिक सत्य है, उसे द्वितीय ब्राह्मण में स्पष्ट वर्णित किया गया है।।६६।।** व्यावहारिक के अंतर्गत सविशेष, सगुण ब्रह्म समझ लेना चाहिये क्योंकि उसकी भी सत्यता है निर्विशेष से ही।।६६।।

द्वितीय ब्राह्मण का सार श्लोक ७७ तक कहेंगे। वहाँ का प्रथम वाक्य है 'यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद, सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यान् अवरुणद्धि। अयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणः, तस्येदमेवाधानम्, इदं प्रत्याधानं, प्राणः स्थूणाऽन्नं दाम।।१।।' अर्थात् आधानादि-सहित शिशुशब्दित प्राण का उपासक अपने सात शत्रुओं पर विजय पा जाता है। आधान से शरीर कहा, प्रत्याधान से सिर कहा, स्थूणा उस शक्ति को कहा जो

शिशुवद् विषयासङ्गरहितः प्राण इष्यते।
वागादीनामिव यतो विषयोऽस्य न दृश्यते।।६७।।
शरीरमस्याधानं स्याद् देहम् आ पादमस्तकम्।
सामान्यवृत्त्या संव्याप्य चेष्टयत्यनिशं यतः।।६८।।

अन्न-पान से पैदा होती है, दाम अर्थात् रस्सी अन्न को कहा। शत्रु हैं सिर में स्थित चक्षु आदि जिन पर प्राणोपासक विजय प्राप्त कर लेता है। इसका व्याख्यान करते हैं **जैसे वाग् आदि के विषय होते हैं वैसे प्राण का कोई विषय न दीखने से उसे शिशु की तरह विषयासक्ति से रहित स्वीकारा गया है।।६७।।** शिशु-रूपक से शुरू होने के कारण इस ब्राह्मण को 'शिशु ब्राह्मण' कहा जाता है। शिशु में विषयासक्ति नहीं होती। भूख, ठण्ड आदि आवश्यकता पड़ने पर उपलब्ध विषय से पूर्ति करना आसक्ति नहीं है वरन् पदार्थ-विशेष का आग्रह रखकर अनावश्यक भी भोग या संग्रह करना आसक्ति है। शिशु दूध पीता है, ठण्ड लगे तो रोता है, कंबल आदि उस पर डाल दें तो चुप होता है, इत्यादि भोग तो करता है लेकिन उसे आसक्ति नहीं होती। यही प्राण में विशेषता है। वाक् आदि इंद्रियों में तो आसक्ति है, प्राण में नहीं। इंद्रियाँ अपने-अपने कार्य ही करती हैं यही उनकी आसक्ति समझ सकते हैं। प्राण यों एक ही कार्य में नहीं रुकता, सभी कार्य करता है, सारे शरीर को, सब इंद्रियों को सामर्थ्य देता रहता है। अथवा वाग् आदि जो असत्यादि का भाषण आदि करती हैं वह उनकी आसक्ति है, प्राण यों कोई ग़लती नहीं करता अतः अनासक्त है। अन्यत्र, इंद्रियों ने असुरों के प्रलोभन में आकर आसक्ति का आश्रयण किया ऐसी विस्तृत आख्यायिका उपनिषदों में प्रसिद्ध है। (द्रष्टव्य छान्दो० १. २ ब्राह्मण)। वहीं कहा है कि जब असुरों ने प्राण को प्रलोभन दिया तब प्राण उनके प्रलोभन में नहीं आया, उल्टा असुर ही नष्ट हो गये! इससे भी समझाया कि प्राण में आसक्ति नहीं। अतः यहाँ उसे शिशु के दृष्टांत से कहा।।६७।।

असंग प्राण की जिन विशेषताओं से युक्त रूप में उपासना कर्त्तव्य है, उन्हें बताते हैं **पैर से माथे तक शरीर को सामान्य वृत्ति से भरकर लगातार क्योंकि यह सचेष्ट बनाता है इसलिये शरीर इसका आधान है।।६८।।** आधान अर्थात् रहने की जगह। सारे शरीर में प्राण रहता है तभी शरीर जिन्दा है। शरीर की जीवितमात्र संभव करना ही प्राण की 'सामान्य वृत्ति' है।।६८।।

दूसरी विशेषता है **'प्रत्याधान' सिर समझना चाहिये क्योंकि वह सिर में खास स्थलों पर विशेष रूप से रहते हुए नेत्रादि इंद्रियों को उनके विषयों-पर्यन्त**

प्रत्याधानं शिरो ज्ञेयं प्रतिच्छिद्रं व्यवस्थितः ।
प्रसारयति नेत्रादीन् प्राणो मूर्ध्नि व्यवस्थितः[1] । ।६९ । ।
प्राणस्य बन्धनस्तम्भः शरीरबलम् इष्यते ।
दौर्बल्ये सति देहस्य प्राणोत्क्रान्तिर्हि दृश्यते । ।७० । ।
बन्धनायाऽस्य दामान्नं वत्सबन्धनरज्जुवत् ।
अन्ने त्रिधा विभक्तेऽस्मिन् भागाभ्यां बद्ध्यते द्वयम्[2] । ।७१ । ।

फैलाता है । ।६९ । । सर्वाधिक विशेष कार्य जीव सिर में स्थित साधनों से करता है तथा यह तभी संभव होता है जब वहाँ खास तरह से सामर्थ्य देते हुए प्राण कार्यरत रहे। नेत्रादि जो अपने विषय ग्रहण करने के कार्य को कर पाते हैं वह इसीलिये कि प्राण उन्हें शक्ति दे रहा है। यह सामान्य जीवन-मात्र की शक्ति से अधिक है। जीवनमात्र से कोई थकता नहीं जबकि नेत्रादि के दीर्घ प्रयोग से थक जाता है! अतः उन कार्यों के लिये विशेष शक्ति का क्षय होता है जो प्राण से मिलती है। इसके लिये प्राण को जो प्रयास करना पड़ता है वही उसकी विशेषतः सिर के तत्तत् स्थान में उपस्थिति है। (सारगृहीत 'विशेषतः' पाठ ही अच्छा है।) । ।६९ । ।

तीसरी विशेषता है कि प्राण स्थूणा-सहित है, खूँटे-सहित है। इसे समझाते हैं **शरीर का बल प्राण के लिये खूँटे की जगह समझा जाता है। देह दुर्बल होने पर क्योंकि प्राण-पखेरु उड़ जाते हैं इसलिये (मानना पड़ता है कि बल खूँटा है)। ।७० । ।** जैसे खूँटा टूट जाये तो गाय भाग जाती है वैसे शरीर में बल न रहे तो प्राण शरीर से निकल जाते हैं। रोग न होने पर भी दुर्बलता असीम हो जाये तो व्यक्ति मर ही जाता है। इसलिये शरीर-बल में स्थूणा-दृष्टि कर्त्तव्य है। ।७० । ।

चौथी विशेषता है कि उक्त खूँटे से इसे बाँधने वाली रस्सी भी है। इसे बताते हैं **जैसे बछड़ा बाँधने की रस्सी होती है वैसे इस प्राण को बाँधने की रस्सी है अन्न। रस्सी-सा यह अन्न जब तीन तरह बँट जाता है तब दो भागों से शरीर और प्राण परस्पर बँधे रहते हैं। ।७१ । । खाये अन्न का स्थूलतम भाग मल बन जाता है, मध्यमभाग स्थूल शरीर को पुष्ट करता है एवं सूक्ष्म अंश प्राण को तृप्त करता है। इस प्रकार स्थूल - सूक्ष्म दोनों शरीर अन्न से बँधे हैं। ।७२ । ।** अन्न

---

१. व्यवस्थित इत्यस्य स्थाने 'विशेषतः' इति सारे पाठः।

२. स्वयम् इति नि.सा. पाठः।

स्थूलो भागः पुरीषः स्याद् मध्यमो देहपोषकः ।
प्राणं तर्पयते सूक्ष्म इति बद्धं वपुर्द्वयम् । ।७२ । ।
एवं विवेचितं प्राणं य उपास्ते रुणद्धि सः ।
भ्रातृव्यान् द्विषतः सप्त मूर्ध्नि छिद्रव्यवस्थितान् । ।७३ । ।
भ्रातृव्याः स्युः सहोत्पत्तेः शब्दाद्यासङ्गवृत्तयः ।
द्विषन्ति च मुमुक्षुं ताः प्रत्यग्दृष्ट्यपहारतः । ।७४ । ।

खाना - पचाना चलता रहे तो प्रायः मृत्यु नहीं होती, इनमें रुकावट आने पर ही मृत्यु होती है। अन्न वह रस्सी है जो प्राण को शरीर में बलरूप खूँटे से बाँधे रखती है। यहाँ बछड़ा इसलिये कहा कि वही भागता है, गाय प्रायः यों भागती नहीं! पूर्व में शिशु कहा था, उसी प्रवाह में होने से भी बछड़ा कहा है। खाया अन्न तीन तरह बँटता है यह छांदोग्य में बताया है। उनमें स्थूल हिस्सा मल बनकर निकल जाता है। मल आवश्यक तो है क्योंकि इसी में से रसका आकर्षण शरीर करेगा लेकिन वह आकृष्ट रसांश ही शरीर-पोषण के काम का है, मल तो बाहर ही किया जायेगा। आधुनिक शरीर विज्ञानी यहाँ तक कहते हैं कि कण्ठ से गुदा-पर्यन्त का पाचन-तन्त्र देह से बाहर है यह भी समझ सकते हैं! तात्पर्य है कि इस मार्ग में पड़ी वस्तु का जब तक रसांश ग्रहण न हो तब तक उसका शरीर को लाभ नहीं मिलता। सूक्ष्म बालों जैसे तंतु आँत आदि में होते हैं जो रसाकर्षण कर शरीर में पहुँचाते हैं। अन्न का मध्यम भाग स्थूल शरीर का पोषक है एवं सूक्ष्म भाग प्राण का पोषक है, सूक्ष्म शरीर का पोषक है। इस तरह स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर अन्नरूप रस्सी से बलरूप खूँटे से शरीर में बँधे हैं। (श्लोक ७१ में 'बद्ध्यते स्वयम्' भी पाठ मिलता है जिसका अर्थ है कि स्वयं अर्थात् प्राण इन दो अंशरूप रस्सी द्वारा खूँटे से बँधता है।)७१-२।।

उक्त विशेषताओं वाले प्राण की उपासना का फल कहते हैं **इस प्रकार के निश्चित रूप वाले प्राण की जो उपासना करता है वह खोपड़ी में तत्तत् छिद्रों में बँटकर स्थित सात द्वेषी भतीजों को नियंत्रित कर लेता है। ।७३। । शब्दादि के प्रति आसक्ति की वृत्तियाँ मानो भतीजे हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति के साथ ही हमारा उनसे सम्बंध है तथा वे वृत्तियाँ मुमुक्षु से द्वेष भी रखती हैं क्योंकि उसकी अन्तरुन्मुख दृष्टि को बहिर्मुख कर देती हैं। ।७४। ।** परमात्म-प्रतिपादनार्थ आया होने पर भी यहाँ उपासना का विधान मान्य है फिर भी मुख्य तात्पर्य में अंतर नहीं आता। उपासना का फल है कि इंद्रियाँ जो विषयासक्ति से प्रवृत्ति होती हैं, वे नियंत्रण में

सेवन्तेऽक्षिस्थितं प्राणं सप्त रुद्रादिदेवताः ।
अक्षीणा इत्युपास्ते यः सोऽन्नमक्षयम् अश्नुते ।।७५ ।।

आ जाती हैं। भ्रातृव्य भतीजा और शत्रु दो अर्थों में प्रसिद्ध है। 'भ्रातुर्व्यच्च' सूत्र से बनायें तो भतीजा अर्थ है, 'व्यन् सपत्ने' से बनायें तो शत्रु अर्थ है। यहाँ 'द्वेषी शत्रु' भी व्याख्या हो सकती है लेकिन शत्रु द्वेषी होगा ही अतः भतीजा अर्थ किया। भतीजे द्वेषी और प्रेमी दोनों हो सकते हैं। तात्पर्य तो आसक्ति-युक्त इंद्रियों से है लेकिन भतीजा इसलिये कहा 'तत्प्रभवविषयरागाः सहजत्वाद् भ्रातृव्याः' (भाष्य)। इंद्रियों के कारण होने वाले विषय-रागों की सहजता बताने को उन्हें भतीजा कहा। जन्म से ही सम्बद्धता यहाँ सहजता है; न हम भतीजे के साथ ही उत्पन्न होते हैं, न इंद्रियाँ जीव के साथ उत्पन्न हुई हैं क्योंकि जीव तो अनादि है! सात छिद्र होने से सात की गिनती कह दी, इंद्रियों की अपेक्षा से नहीं। आँखों से ही उपनिषदादि पढेंगे, उन्हीं से संसारवर्णन पढ़ेंगे, संसारवर्णन पढ़ने में प्रवृत्त आँख दुश्मन है, उपनिषत् पढ़ती आँख प्रेमी भतीजा है। ऐसे ही बोलने आदि में भी समझ लेना चाहिये। शब्दादि सभी विषयों के प्रति जो आसक्ति होती है वही वस्तुतः दुश्मन है, स्वयं इंद्रियाँ नहीं, किन्तु वह आसक्ति इंद्रियों में ही कार्यकारी होती है अतः उन्हें भी दुश्मन मानना पड़ता है। 'शीर्षण्यप्राणसंस्था ये शब्दाद्यासंगलक्षणाः। भ्रातृव्यास्ते सहोत्पत्तेः प्रत्यग्दृष्ट्यपहारतः।।' यह वार्तिक में (२.२.१०) कहा है। आसक्ति सहज अर्थात् स्वाभाविक है, सीखनी तो अनासक्ति पड़ती है। आसक्तिवश इंद्रियाँ बहिर्मुख होती ही हैं जिससे हमारी प्रत्यग्दृष्टि बन नहीं पाती, बने भी तो टिक नहीं पाती।।७३-४।।

प्रसंगवश एक और विशेषता कही है जिसकी उपासना का फल अक्षय अन्नलाभ है यह सूचित करते हैं **रुद्र आदि सात देवता नेत्र-स्थित प्राण की सेवा करते हैं। वे अक्षिति (अक्षीण) हैं ऐसा समझने वाला अक्षय अन्न पाता है।।७५।।** सातों इंद्रियाँ सतत प्राण की उपासना करती हैं ऐसी भावना से प्राण की उपासना का यह फल है। रुद्र, पर्जन्य, आदित्य, अग्नि, इंद्र, पृथ्वी और द्यौः ये सात देवता आँखों के तत्तद् अंश की सेवा द्वारा प्राण की ही सेवा करते हैं यह इसी प्रसंग में कण्डिका २ में कहा है।।७५।।

उपनिषत् में तृतीय कण्डिका में सिर को नीचे छेद वाले चमस (सोमरस का आधारभूत पात्रविशेष) जैसा कहा है क्योंकि मुखरूप छिद्र सिर से (पेंदे से) नीचे है! उसमें विश्वरूप यश रखा है। यहाँ प्राणों को ही यश कहा। सिर के किनारे सात ऋषि हैं। प्राणों को ही यहाँ ऋषि भी कहा। सिर के सात छिद्रों में स्थित प्राण ऋषि हैं। ब्रह्मप्रतिपादक

कर्णादिसप्तच्छिद्रेषु गौतमाद्यृषिनामकाः।
स्थिताः प्राणा इति ध्यायेद् वाचं च ब्रह्मवादिनीम्।।७६।।
हिरण्यगर्भरूपेण सर्वभुक् स्याद् उपासकः।
इति गार्ग्यमतं ब्रह्म ब्राह्मणेऽस्मिन् प्रपञ्चितम्।।७७।।

शब्दराशि से सम्बद्ध वाणी को आठवाँ ऋषि गिनना चाहिये। ऋषियों के नाम दिये हैं गोतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि। (जीभ में वाक् और रसना दोनों काम करती हैं अतः सात में आठ का अंतर्भाव है।) इस तरह से जो उपासना करता है वह सबके प्रति प्रधान बना रहता है। इस प्रसंग का संक्षेप करते हैं **कान आदि सात छिद्रों में गोतमादि सात ऋषि रहते हैं, वे प्राणरूप ही हैं ऐसा ध्यान करना चाहिये। ब्रह्म का कथन करने वाली वाणी का भी ध्यान करना चाहिये।।७६।।** दोनों कान, दोनों आँखें, दोनों नासिकाएँ और मुख ये सात छिद्र हैं। इनमें पूर्वोक्त ऋषि क्रमशः विराजमान हैं। आठवीं ब्रह्मप्रतिपादक वाणी भी ध्येय है, स्थान उसका मुख-छिद्र ही है।।७६।।

इस खास उपासना का प्रभाव बताते हुए शिशु ब्राह्मण के तात्पर्य का उपसंहार करते हैं **उक्त प्रकार से उपासना करने वाला हिरण्यगर्भ-स्वरूप होकर सब का उपभोग कर लेता है। इस तरह इस ब्राह्मण में बालाकि को समझ आये ब्रह्म का वर्णन हुआ।।७७।।** श्रुति में फल कहा है 'सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति' अर्थात् उपासक सब कुछ खा जाता है, सब उसका अन्न हो जाता है। मुख्य वृत्ति से यदि खाना समझें तो कोई उपासक मानुष आदि विशिष्ट शरीर में ही होगा अतः विशिष्ट व्रीहि आदि ही उसका अन्न होगा, सारी दुनिया उसका अन्न भी नहीं होगी और वह सब कुछ खायेगा भी नहीं। इसलिये तात्पर्य बताया कि उपासक समझ लेता है कि वह हिरण्यगर्भ से एक है। हिरण्यगर्भ तो सब का भोक्ता है ही क्योंकि वह समष्टि है। उक्त उपासना से हिरण्यगर्भभाव प्राप्त होता है यह अभिप्राय है। इस प्रकार गार्ग्य बालाकि जिसे ब्रह्म जानता था वह यहीं तक था, परब्रह्म उसे अज्ञात था। शिशु ब्राह्मण में गार्ग्य की जानकारी तक का विषय बताया।।७७।।

बृहदारण्यक द्वितीयाध्याय का तीसरा ब्राह्मण है 'मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण' जिसमें ब्रह्म के दो रूपों का विस्तार कर सभी के निषेधपूर्वक सत्य के सत्य का निगमन किया है। इस प्रसंग को प्रारंभ करते हैं **बालाकि द्वारा समझे ब्रह्म का रूप समझाकर अब उसकी अब्रह्मता बताने के लिये तीसरे ब्राह्मण में राजाद्वारा समझाये ब्रह्म को विस्तार**

मूर्तामूर्तविवृतिः -i

गार्ग्योक्तं ब्रह्म विस्तृत्य तन्निरासाय साम्प्रतम् ।
तृतीयब्राह्मणे प्राह राज्ञोक्तं ब्रह्म विस्तृतम् ।।७८ ।।
प्रथमब्राह्मणे राजा ब्रह्म यद्यप्यशेषतः ।
उवाचाऽथाऽपि सत्यस्य सत्यता नैव विस्तृता ।।७९ ।।
सत्यसत्यत्वविस्तारमुखेन प्रतिपाद्यते ।
निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वं तृतीयब्राह्मणे स्फुटम् ।।८० ।।
द्वे एव ब्रह्मणो रूपे प्रपञ्चत्वम् उपागते ।
मूर्तामूर्तात्मके याभ्याम् अरूपं ब्रह्म रूप्यते ।।८१ ।।

से कहा गया है।।७८।। प्रथम ब्राह्मण में यद्यपि राजा ने ब्रह्म का पूर्ण कथन कर दिया था तथापि वह सत्य का सत्य है इसका विस्तार से वर्णन नहीं किया था।।७९।। सत्य का सत्य इसके स्पष्टीकरण द्वारा तीसरे ब्राह्मण में प्रपंचरहित ब्रह्म तत्त्व साफ-साफ प्रतिपादित किया जा रहा है।।८०।। सूत्ररूप में पूर्वोक्त विषय का यहाँ और समझाकर वर्णन करना है, सर्वथा नया तत्त्व कहना हो यह बात नहीं।।७८-८०।।

श्रुति है 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवाऽमूर्तं च, मर्त्यं चाऽमृतं च, स्थितं च यच्च, सच्च त्यच्च।।'१।। अर्थात् मूर्त और अमूर्त ये दो ही ब्रह्म के रूप हैं। मूर्त मरणशील, (स्थित=) परिच्छिन्न और (सत्=) प्रत्यक्षोपलब्ध है जबकि अमूर्त अमरणशील, व्यापी और परोक्ष है। इसे बताते हैं **मूर्त और अमूर्त ये दो ही ब्रह्म के 'रूप' हैं जो प्रपंचभाव (संसारभाव) को प्राप्त हुए हैं तथा इन्हीं के द्वारा ब्रह्म का निरूपण, बोधन हो पाता है।।८१।।** अरूप ब्रह्म भी इसलिये कल्पना से सरूप है कि उसे समझा जा सके। बालक को अमूर्त संख्या समझ नहीं आती तो कंचे आदि मूर्त को संख्या बताकर समझाना पड़ता है। ऐसे ही वस्तुओं के चित्रों द्वारा अक्षरों का उच्चारण सिखाना पड़ता है। ऐसे ही ब्रह्म अतिसूक्ष्म है अतः उसे समझा जा सके इसके लिये 'रूपों' का सहारा ज़रूरी है। जिनसे ब्रह्म समझाया जाता है, जो उसका निरूपण करते हैं उन्हें ब्रह्म के रूप कहा। ये दो रूप हैं तथा ये ही सारा प्रपंच हैं। नीरूप रहते हुए ही ब्रह्म इन आरोपित रूपों वाला उपलब्ध है ताकि हम उसकी नीरूपता समझ सकें।।८१।।

मूर्त से पृथ्वी, जल, तेज तथा अमूर्त से वायु और आकाश कहे जाते हैं, इन्हीं का फैलाव संसार है। इससे अन्य भी मूर्ताऽमूर्त का भाव है यह बताते हैं **मूर्त एवं अमूर्त**

मूर्तामूर्तं प्रपञ्चश्च वासना चेति वा द्वयम्।
सवासनम् इदंरूपम् अनिदं चेति वा द्वयम्।।८२।।
संनिवेशो नेत्रदृश्यो यस्य तद् मूर्तम् उच्यते।
क्षित्यम्ब्वग्नित्रयं मूर्तम् अमूर्तम् इतरद् द्वयम्।।८३।।
मूर्तं मर्त्यं शीघ्रनाशात् परिच्छेदात् स्थितं तथा।
प्रत्यक्षत्वात् सद् इत्युक्तम् अमूर्ते तु विपर्ययः।।८४।।

प्रपंच यह एक राशि, तथा प्रपंच की वासना यों भी ब्रह्म के दो रूप समझ सकते हैं। अथवा वासना समेत 'यह' (जड) तथा (वासनासमेत) 'गैर यह' (चेतन) ये दो रूप हैं।।८२।। दो रूप हैं इसे उक्त तीन तरह समझाया १) भूतत्रय - भूतद्वय; २) प्रपंच और वासना; ३) (वासनासमेत) जड और चेतन। यहाँ प्रतिपाद्य तो ब्रह्मतत्त्व है जिसका प्रकाशन करने के लिये उस पर अध्यस्त सारी उपाधियों का निषेध 'नेति नेति' से करना है अतः सभी सम्भव उपाधियों का दो में अंतर्भाव आवश्यक ही है। अमूर्त से वासना समझें तो मूर्त से सारा ही व्यक्त प्रपंच समझ आ सकता है। वासना अव्यक्त होने से अमूर्त कही जाये यह संगत भी है। नेत्यादि वीप्सा से कहना है ही कि 'यद्यत् प्राप्तं तत्तद् निषिध्यते' (भाष्य) जो भी 'रूप' समझ आये उस सबको हटाकर आत्मा का अवगम करना है, इसलिये यदि वासनाओं का संग्रह उचित है तो किया ही जाना चाहिये लेकिन स्वयं श्रुति ने जो मूर्त्त-अमूर्त्त की व्याख्या की है वह भूतत्रय-भूतद्वय के अनुसार है। फिर भी विचारकों में प्रसिद्ध होने से अन्य पक्ष भी ग्राह्य हैं।।८२।।

मूर्त्त-अमूर्त्त की यथाश्रुति व्याख्या करते हैं **जिसका सन्निवेश अर्थात् अवयवों का गठन आँखों से दीखता है वह मूर्त्त कहा गया है। पृथ्वी, जल, तेज ये तीन मूर्त्त हैं। बाकी दो महाभूत अमूर्त हैं।।८३।। जल्दी नष्ट होने वाला होने से मूर्त्त मर्त्य (मरणशील) है, परिच्छिन्न (सीमित) होने के कारण स्थित (गतिपूर्वक रुकने वाला) है एवं प्रत्यक्ष (इंद्रियगोचर) होने से 'सत्' (है) ऐसा कहा गया है। अमूर्त्त में तो उक्त विशेषताओं से विपरीतता मिलती है।।८४।। अमूर्त्त देर से नष्ट होता है इसलिये अमृत है, व्यापक होने से 'यत्' (स्थित से विपरीत) है एवं परोक्ष (इंद्रियाविषय) होने से 'त्यत्' (वह) है। इस प्रकार यह जगत् ही मूर्त्त-अमूर्त्तरूप है, (इसी को ब्रह्म का 'रूप' कहा है)।।८५।।** 'सन्निवेश' अर्थात् व्यवस्थित रूप से मिले हुए हिस्सों वाला, जिसे प्रायः शरीर कहते हैं। भूतत्रय

तद् नश्यति विलम्बेनेत्यमृतं व्याप्तिमत्त्वतः।
यत् परोक्षम् अतस्त्यत् स्याद्[1] मूर्ताऽमूर्तात्मकं जगत्।।८५।।

आँखों से ही दीख जाते हैं और इनके टुकड़े भी स्पष्ट हैं। आकाश - वायु न दीखते हैं, न उनके टुकड़े पता लगते हैं इसलिये वे इन तीन से अलग तरह के हैं। वायु में टुकड़े हों तो भी दीखते नहीं, स्पष्ट पता नहीं चलते। मरणधर्मा, नश्वर तो सारा संसार है पर मूर्त्त कुछ जल्दी नष्ट हो जाता है इसलिये इसे मर्त्य कहा। अन्तमें तो अमूर्त भी नष्ट होता है लेकिन मर्त्य अर्थात् इसके संनिवेश शीघ्र नष्ट होते हैं। पृथ्वी भले ही बनी रहे पर उसके जो तत्तद् आकार मकान, घड़ा आदि हैं वे जल्दी समाप्त हो जाते हैं, ऐसे ही नदी-तालाब आदि जल के सन्निवेश सूखते देखे जाते हैं, आग की लपटें शांत होती अनुभव में आती हैं परंतु आकाश-वायु का क्योंकि ऐसा कोई संनिवेश नहीं इसलिये वे नष्ट होते भी दीखते नहीं। 'स्थित' अर्थात् रुका हुआ। जो चलकर रुके, उसे ही रुका हुआ कहना बनता है। मर्त्य रुका है अतः स्पष्ट है कि चल सकता है अर्थात् परिच्छिन्न है क्योंकि चल वही सकता है जो व्यापक न हो। 'सत्' या है उसे कहते हैं जो प्रत्यक्ष दीख जाये क्योंकि उसके बारे में 'है या नहीं' ऐसा कोई संशय आदि नहीं उठता। इसीलिये मूर्त सत् है। अमूर्त इनसे विपरीत है, अमर्त्य, यत् (व्यापी), त्यत् (परोक्ष) है। अमर्त्य से नित्य न समझ लें इसलिये आचार्य ने कह दिया कि विलंब से नष्ट होता है इतने मात्र को यहाँ श्रुति ने अमर्त्य कहा है। इसी तरह वे यत् अर्थात् व्यापक हैं। आधुनिक लोग अंतरिक्ष में वायु नहीं मानते लेकिन जहाँ क्रिया होती है वहाँ वायु अवश्य है क्योंकि वायु ही क्रिया को संभव करती है। अंतरिक्ष में ग्रह नक्षत्र आदि सब चल रहे हैं तो वायु का अस्तित्व अवश्य है। यद्यपि वायु में गति भी है तथापि ऐसा नहीं कि सर्वथा जहाँ वायु नहीं वहीं वायु जाती हो वरन् जहाँ वायु कम है वहाँ ज़्यादा की तरफ से वायु आ जाती है और जहाँ से आती है वहाँ भी कुछ वायु रह ही जाती है। इसलिये उसे व्यापक कहना ठीक है। परोक्ष तो ये दोनों भूत हैं ही अतः त्यत् अर्थात् 'वह', ('यह' से विपरीत) कहे जायें यह उचित है।।८३-५।।

द्वितीय आदि कण्डिका में मूर्त्त-अमूर्त्त का परिचय देकर मूर्त्त का रस (=कार्य) इस तपने वाले सूर्यमण्डल को कहा है तथा अमूर्त्त का रस उस हिरण्यगर्भ को कहा है जो आदित्यमण्डल में करणात्मक (सूक्ष्म) पुरुष है। जैसे प्रपंच में फैले हुए ये मूर्त्तामूर्त्त हैं

---

१. 'तत् स्याद्' इत्येवान्यत्र मुद्रितं परं मुत्तुशास्त्री 'त्यद्' इति पठति, तथैव साधीयान् पाठः।

अध्यात्ममधिदेवं च द्विधा सत्यं व्यवस्थितम्।
प्रसिद्धम् उभयत्राऽपि स्थूलसूक्ष्मवपुर्द्वयम्।।८६।।
स्थूलसारतया ज्ञेये चक्षुरादित्यमण्डले।
मूर्त्त-मर्त्त्य-परिच्छिन्न-प्रत्यक्षत्वविशेषिते।।८७।।
अमूर्त्ता-ऽमृत-संव्याप्त-परोक्षत्वैस्तु संयुतम्।
उभयत्र स्थितं लिङ्गम् अमूर्त्तरस उच्यते।।८८।।

वैसे शरीर में भी जो प्राण वायु और खाली जगह है वह अमूर्त तथा बाकी भूतों से बना शरीर मूर्त है। अध्यात्म में मूर्त का रस चक्षु है एवं अमूर्त का रस दायीं आँख में स्थित पुरुष (लिंगाभिमानी जीव) है। इस संदर्भ की सूचना देते हैं **सत्-त्य दो तरह मौजूद हैं अध्यात्म (शरीर में) और अधिदैव (अर्थात् समष्टि से अधिष्ठित)। दोनों दृष्टियों से स्थूल व सूक्ष्म दोनों शरीर प्रसिद्ध (स्वीकृत) हैं।।८६।। स्थूल के साररूप में चक्षु और सूर्यमण्डल समझने चाहिये क्योंकि उनमें मूर्त्तता, मर्त्त्यता परिच्छिन्नता और प्रत्यक्षता स्पष्ट हैं।।८७।। अध्यात्म व अधिदैव में स्थित जो लिंग (सूक्ष्म शरीर) वह अमूर्त का रस है, वह लिंग अमूर्त, अमृत, व्यापक और परोक्ष है।।८८।।** 'सत्य' अर्थात् व्यावहारिक सत्य कहलाने वाला कार्य प्रपंच। इसमें सत् (भूतद्वय) और त्यत् (भूतत्रय) हैं अतः भी यह सत्त्य है। यह अध्यात्म अर्थात् व्यष्टि-अभिमानी से अधिष्ठित एवं अधिदैव अर्थात् समष्टि अभिमानी से अधिष्ठित यों दो रूपों में मिलता है। यह 'व्यवस्थित' है अर्थात् व्यवस्थामात्र से समझ आता है। वस्तुतस्तु जो व्यष्टि है वह भी समष्टि के अंतर्गत है ही तथा जो समष्टि है वह सब व्यष्टिओं से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है! अध्यात्म स्थूल का सार चक्षु एवं अधिदैव स्थूल का सार सूर्यमंडल है। अध्यात्म सूक्ष्म का सार लिंगदेह और अधिदैव सूक्ष्म का सार हिरण्यगर्भ है। यद्यपि लिंग पांचभौतिक है, दो ही भूतों से बना नहीं है, तथापि उसमें अमूर्ततादि होने से उसे त्यत्-सम्बद्ध कहना बन जाता है। ब्रह्मज्ञान पर्यंत अनश्वर होने से लिंग को अमर्त्त्य मानना उचित है। व्यष्टि लिंग भी पूरे व्यष्टि स्थूल में भरा होने से 'संव्याप्त' कहा गया है। साक्षिभास्य होने पर ऐंद्रिय प्रत्यक्ष का अविषय होने से लिंग परोक्ष कहलाता है। इस तरह मूर्त्तामूर्त का विस्तार बताया।।८६-८।।

उक्त वर्णन का प्रकृत में उपयोग बताते हैं **सार और असार से युक्त मूर्त्त और अमूर्त्त बताये (क्योंकि) रूपहीन ब्रह्म व्यवहारभूमि में इन रूपों के द्वारा समझाया जाता है।।८९।।** ब्रह्म वस्तुतः अरूप है, उसका निरूपण बिना उपाधि-परामर्श के हो

साराऽसारयुते रूपे मूर्त्ताऽमूर्त्ते उदीरिते।
अरूपं ब्रह्म रूपाभ्यां व्यवहारे निरूप्यते।।८६।।
मूर्त्ताऽमूर्त्ते ब्रह्मरूपे इति पक्षो निरूपितः।
प्रपञ्च-तद्वासने द्वे रूपे इत्येष वर्ण्यते।।६०।।

ii तत्रैव द्वितीयविवृतिः

प्रपञ्चो नाम पूर्वोक्तं मूर्त्तामूर्तं द्वयं भवेत्।
तद्वासना विचित्राः स्युरनन्ता लिङ्गम् आश्रिताः।।६१।।

नहीं सकता, इसीलिये उसके निरूपणार्थ जो व्यष्टि-समष्टिरूप प्रपंचोपाधि है उसका मूर्त्त-अमूर्त्त के विभाजन से वर्णन किया। मूर्त्त का सार आदित्य कहा तो आदित्य से अतिरिक्त जो मूर्त बचा वह असार सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अमूर्त्त का सार लिंग हुआ तो बचा सारा अमूर्त्त असार रह गया। अथवा स्थायी होने से अमूर्त्त ही सार एवं अस्थायी होने से मूर्त ही असार है। हर हालत में, जो यों बताया प्रपंच उसे माध्यम बनाकर समझना ब्रह्म को है।।८६।।

श्लो. ८२ में कहे प्रकार का विस्तार प्रारंभ करते हैं **मूर्त्त और अमूर्त्त ब्रह्म के रूप हैं यह पक्ष बता दिया। प्रपंच और उसकी वासना ब्रह्म के दो रूप हैं इस पक्ष का अब वर्णन करते हैं।।६०।।** आकाश-वायु दृश्य न हों तो भी उनका स्पष्ट पता लगता ही है अतः उन्हें भी मूर्त्त-कोटि में रखा जा सकता है। वासना तो कार्यैकानुमेया है अतः उसका कैसा भी प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये वह स्पष्ट ही अमूर्त है। इस दृष्टि से पूर्व में वह विकल्प कहा था, अब श्रुति-अनुसार इसे समझाते हैं।।६०।।

करणात्मक लिंग का वासनामय रूप श्रुति ने इस तरह बताया है 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् यथा माहारजनं वासो, यथा पाण्ड्वाविकं, यथेन्द्रगोपो, यथाऽग्न्यर्चिः, यथा पुण्डरीकं, यथा सकृद् विद्युत्तं; सकृद् विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेद।' अर्थात् जैसे हल्दी से रंगा कपड़ा हो या भेड़ की ऊन हो, या इन्द्रगोप-नामक कीटविशेष हो, या आग की लपट हो, या सफेद कमल हो या जैसे एक-बार हो जाने वाली बिजली की चमक हो ऐसे उस लिंग के रूप होते हैं। हिरण्यगर्भ की (समष्टि लिंग की) इस उपासना का श्रीलाभरूप अवान्तर फल भी यहाँ कहा है। विभिन्न हेतुओं से विभिन्न वासनाएँ पड़ती हैं इसे समझाने के लिये अनेक उदाहरण दिये। इसका संकेत करते हैं **पूर्वोक्त मूर्त्त और अमूर्त्त - ये दोनों प्रपंच हैं। प्रपंच की विचित्र अनंत वासनाएँ लिंग पर पड़ती हैं।।६१।। जैसे कपड़े या दीवाल पर चित्र आँका**

अनेकवासनाचित्रं तल्लिङ्गं पटभित्तिवत् ।
मायेन्द्रजालसदृशं व्यामोहास्पदमात्मनः ।।६२।।
एतावन्मात्र आत्मेति तत्र भ्रान्ता निरागमाः ।
बौद्ध-काणाद-साङ्ख्याद्यास्तर्कमात्रोपजीविनः ।।६३।।

जाता है वैसे पूर्वोक्त लिंग अनेक वासनाओं से चित्रित है। माया, इन्द्रजाल की तरह मिथ्या लिंग से आत्मा को व्यामोह (अभेदाध्यास) हो रखा है।।६२।। इस व्याख्या में मूर्त से सारा प्रपंच तथा अमूर्त से उसकी वासनाओं का कथन है। प्रायः वासना चित्त में कही जाती है लेकिन मन, बुद्धि, इंद्रियाँ भी वासना का आश्रय बनती हैं इसीलिये भगवान् ने इंद्रिय-मन-बुद्धि को कामना का स्थान माना। कामना वहीं होगी जहाँ वासना है। क्योंकि कब कौन वासना उद्बुद्ध हो यह कहा नहीं जा सकता इसलिये उन्हें 'विचित्र' कहा। इन वासनाओं से लिंग पर मानो चित्र बने हैं! अर्थात् वासना जिस अनुभवसे पड़ती है, केवल उतना ही उसका प्रभाव नहीं रहता वरन् अन्य वासनाओं से मिल-जुलकर नया-सा ही उसका रूप प्रकट होता है। रंग तो गिने-चुने होते हैं पर चित्र उनसे असंख्य बन जाते हैं, ऐसे ही वासनाओं से अनेक चित्र तैयार होते रहते हैं। अतएव सोचकर भी पता नहीं चलता कि यह वासना कब-कहाँ-कैसे पड़ी! इसलिये यह माया या बाजीगर के खेल-जैसी स्थिति है जिसका कोई भी निर्वचन असंभव है। 'माया' से कारणरूपता एवं 'इन्द्रजाल' से कार्यरूपता कही। जादूगर की भी माया अर्थात् सामर्थ्य तो बीसियों खेल दिखाने की है लेकिन एक बार में तो एक ही खेल दिखायेगा, ऐसे ही लिंग पर पड़ी असीम वासनाएँ हैं पर प्रकट एक-एक चित्र ही होगा। ऐसे लिंग से हम सभी खुद को एकमेक समझते हैं, हमें व्यामोह, भ्रम हो रखा है। हमारा यह भ्रम इसीलिये संभव है कि यह लिंग हमारे सामने मौजूद है। सुषुप्ति में यह नहीं रहता तो हमें व्यामोह भी नहीं रहता! जैसे जादूगर का खेल देख लोग मुग्ध हो जाते हैं, सच-झूठ का भेद नहीं समझ पाते, वैसे इस लिंग से जीव मुग्ध है अतः संसार में भटक रहा है।।६१-६२।।

लिंग को आत्मा समझ लेने से ही विभिन्न वादी आत्मा के बारे में विभिन्न मत रखते हैं। यदि लिंग-साक्षी पर एकाग्र हों तो उसे अखण्ड सच्चिदानंद ही पहचानें। यह रहस्य बताते हैं **बौद्ध, वैशेषिक, सांख्य आदि केवल तर्क का सहारा लेने वाले, वेदों को न समझ पाने वाले, आत्मा के बारे में भ्रमित हुए 'इतना ही आत्मा है' ऐसा मानते हैं।।६३।।** आत्मा वेदैकसमधिगम्य है, उसे स्वतंत्र तर्क से विषय करना ही ग़लत है। अतः वैसा करने पर वादी आत्मा को न समझकर लिंग को ही आत्मा मान बैठते हैं।

एकैकां वासनां तत्र प्रतिक्षणविनश्वरीम्।
आहुः क्षणिकमात्मानं बौद्धा विज्ञानवादिनः।।९४।।

लिंग अनेकरूप है ही अतः वे अलग-अलग उसका वर्णन करते रहते हैं। 'इतना ही' अर्थात् जो-जैसा-जितना उन्होंने लिंग को, लिंग के रूपों को समझा है, उतना ही। बौद्ध नास्तिक होने से निरागम हैं और वैशेषिक-सांख्य इसलिये कि वे तर्कसिद्ध अर्थ को ही मानते हैं, तर्कित बात का ही वेद भी कथन करता है यों वेद को तर्कानुसार लगाते हैं। बुद्धिमानी है तर्क को वेदानुसार प्रयोग करने में, जैसा कि कहा है 'श्रुतिमतस्तर्कोनु-सन्धीयताम्'। वैसा न करने पर तो स्पष्ट बताया है 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' कि आत्मबोध तर्क से संभव नहीं।।९३।।

सर्वप्रथम बौद्धमत दिखाते हैं **उक्तवादियों में से विज्ञानवादी बौद्ध हर क्षण नष्ट होने वाली एक-एक वासना को क्षणिक आत्मा कहते हैं।।९४।।** शून्यवादी तो कैसा भी आत्मा समझाने की कोशिश नहीं करता किन्तु विज्ञानवादी (योगाचार-मतवाला) कहता है कि क्षणिक विज्ञान ही आत्म-शब्दार्थ हैं। क्षणिक अर्थात् हर क्षण नष्ट होने वाला। नैयायिक चीज़ों को कम से कम रहने वाला मानेगा तो भी एक क्षण में उत्पत्ति, अगले क्षण में स्थिति, तब तीसरे क्षण में नाश मानेगा। बौद्ध कहते हैं कि उत्पत्ति के क्षण में ही वस्तु का नाश भी हो जाता है! यह असंभव है, अबोध्य है, इसमें उदाहरण भी नहीं, फिर भी बौद्ध ऐसा स्वीकारते ही हैं और आश्चर्य है कि आज भी ऐसे लोग दीख रहे हैं जो बौद्धों की ऐसी बातों से प्रभावित होते हैं। जो लोग 'ऊर्जा या द्रव्य उत्पन्न या नष्ट नहीं किया जा सकता, केवल उनके रूप परिवर्तित हो सकते हैं' इत्यादि स्थिरता की मान्यताओं के अनुसार जीवन चलाते हैं, वे भी अध्यात्मविचार में बौद्धों की ऐसी निरर्थक बातों का आदर करते हैं यह एक आश्चर्य ही है। यहाँ भाष्य में 'एतावन्मात्रम्' ही कहा है जिसकी आनंदगिरिव्याख्या है 'बुद्धिमात्रम् एव अहंवृत्ति-विशिष्टं स्वरसभङ्गुरं रागादिकलुषितम् आत्मा, नान्यः स्थायी क्षणिको वा' अर्थात् अहंवृत्तियुक्त बुद्धि को वे आत्मा कहते हैं। वह बुद्धि स्वरसभंगुर अर्थात् प्रतिक्षण विनाशी, जिसका भंग या नाश बिना किसी हेतु के होता है अतः हेतु की इन्तज़ार की ज़रूरत के बिना उत्पन्न होते ही जो नष्ट हो जाती है। तथा बुद्धि रागादि से कलुषीकृत है ही। ऐसी बुद्धि से अन्य कोई स्थायी या अस्थायी चीज़ नहीं जिसे आत्मा कहा जा सके। संस्कार, वासनाओं से युक्त क्षणिकविज्ञान की संतति (धारा) को वे आत्मा बताते हैं यही भाव है। क्योंकि बौद्ध क्षणिक विज्ञान या क्षणिक बुद्धि शब्द का ज़्यादा

आत्मनो द्रव्यभूतस्य गुणा बुद्ध्यादयो नव।
वासनात्वेन वेदोक्ता इति वैशेषिकादयः।।९५।।
त्रिगुणं यत् प्रधानं तत् पुरुषार्थेन हेतुना।
प्रवर्त्तते वासनात्वक्लृप्तिस्तत्रेति कापिलाः।।९६।।

प्रयोग करते हैं इसलिये यहाँ मूल में आये 'वासना' शब्द से क्षणिकविज्ञान ही समझना चाहिये। यदि वेदान्तदृष्टि से समझना हो तो जिसे हम बुद्धिवृत्ति कहते हैं उसे यहाँ वासना कह दिया है। कहा इसलिये है कि प्रकृत श्रुति ने लिंग में भेद वासनात्मक ही कहे हैं अतः श्रुति का मत लगता है कि बौद्धों को जो विभिन्न वासनाएँ प्रतीत होती हैं उन्हीं को वे आत्मा मान बैठे हैं। हर हालत में, आत्मा बिना समझे लिंग को ही आत्मा मानने से वे भ्रांत हैं, यह भाव है।।९४।।

वैशेषिक (काणाद), नैयायिक आदि तार्किक यहाँ आये वर्णन से स्वसंमत आत्मा का समर्थन समझते हैं! यह बताते हैं **द्रव्यरूप आत्मा के ज्ञान आदि नौ गुणों को वासना-रूप से वेद में कहा गया है ऐसा वैशेषिकादि मानते हैं।।९५।।** गुणवान् को द्रव्य कहते हैं। आत्मा में बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये नौ खास गुण हैं, सिर्फ आत्मा में रहते हैं और द्रव्यों में नहीं। इससे अतिरिक्त संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच गुण भी आत्मा में रहते हैं लेकिन ये अन्यत्र भी रहने से उसके खास गुण नहीं हैं। प्रकृत श्रुति में कही वासनाओं के रूपों से वैशेषिकों को लगता है कि बुद्धि आदि नौ को ही सूचित किया है! इससे उनकी तर्काश्रितता तो स्पष्ट ही है, साथ ही यह भी व्यक्त हो जाता है कि जिसे श्रुति लिंग शरीर कह रही है उसी को वे आत्मा माने हुए हैं।।९५।।

सांख्यों को यह वर्णन क्या ज्ञान कराता है यह दिखाते हैं **जो गुणत्रय वाली प्रकृति है वही पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होती है, उसी में वासनाएँ हैं ऐसा कपिलानुयायी मानते हैं।।९६।।** इनकी मान्यता है कि जड प्रकृति ही चेतन आत्मा के भोग या मोक्षार्थ चेष्टा करती है! विचार्यमाण श्रुति की व्याख्या में वार्तिक है 'त्रिगुणं सत् प्रधानस्थं पुरुषार्थेन हेतुना। प्रवर्त्तते स्वतंत्रं सद् इदमित्यपि कापिलाः।।' (२.३.८९)।। यद्यपि सांख्य अंतःकरण ही आत्मा है यह नहीं मानते तथापि आत्मा के लिये सब करने वाली प्रकृति को सत्य, स्वतंत्र, त्रिगुणात्मिका मानते हैं। यहाँ जो श्रुति ने 'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम्' कहकर वर्णन किया है उसे सांख्यवादी उसी प्रकृति का वर्णन समझते हैं। उसमें जो गुणकृत वैषम्य है उसी को

अनन्तकल्पोपचिता अनन्ता एव वासनाः।
उदाहरणमात्रं तु दृष्टान्तैरिह वर्ण्यते।।६७।।
हारिद्रं वसनं यद्वत् संसर्गात् पीततां व्रजेत्।
तद्वद् नार्यादिसंसर्गाल्लिङ्गं रागादिमद् भवेत्।।६८।।

विभिन्न रूपों द्वारा व्यक्त किया है। यद्यपि क्षेत्र का, लिंगोपाधि का वर्णन सिद्धांती भी कह रहा है तथापि सांख्य जो उस क्षेत्र को सत्य, स्वतंत्र मानते हैं, उसको ग़लत बताने के लिये भ्रान्त मतों में इसकी गणना की।।६६।।

चार श्लोकों से ग़लत तात्पर्य बताये। इन के दोषों का स्पष्टीकरण अन्यत्र प्रसिद्ध होने से यहाँ छोड़ दिया। भाष्यकार ने भी भ्रान्तियों का उल्लेख कर सबका इसी से निरास किया है कि कल्पना-बल से श्रुति का अर्थ बदलना अनुचित है 'न चासां श्रुतीनां श्रुतादर्थान्तरकल्पना न्याय्या'। उक्त मतों के परीक्षण में न पड़कर, जिस बारे में वे मत भ्रांत हैं उस वस्तु का वर्णन श्रुति ने किया ऐसा इस श्रुति का तात्पर्य समझाना प्रारंभ करते हैं **असंख्य कल्पों में एकत्र की गयी होने से वासनायें अनंत ही हैं, यहाँ दृष्टान्तों से वासनाओं के कुछ नमूनों का ही वर्णन है।।६७।। हल्दी से रंगा कपड़ा जैसे हल्दी-संपर्क से पीला होता है ऐसे लिंग (मन) नारी-आदि के संसर्ग से रागादि वाला हो जाता है।।६८।।** ब्रह्मा की आयु पूरी हो तब एक कल्प समाप्त होता है। ऐसे अनंत कल्प बीत ही चुके हैं। हर कल्प में हमने अच्छी-बुरी वासनाएँ बटोरी हैं। वासना या संस्कार नष्ट नहीं होती, दबे-उभरे यह बात अलग है। सभी वासनाएँ कही जा सकें यह तो संभव नहीं पर उनमें से कुछेक प्रकार की वासनाओं का वर्णन हो ही सकता है जिससे अन्यों के बारे में समझना संभव है। सांख्यों ने तीन गुणों के अंतर्गत सभी को मानने का प्रयास किया लेकिन अनन्त प्रकार की चीज़ों को तीन-मात्र में सीमित करना सर्वथा अस्वाभाविक है। श्रुति ने भी ऐसा कोई प्रयास नहीं किया। अतः आचार्य ने यहाँ यही माना कि कुछ नमूने बताये गये हैं। प्रथम दृष्टांत हल्दी से पीले हुए कपड़े का है। नारी, धन आदि के संबंध से जो उनके प्रति राग हो जाता है, उसमें यह उदाहरण है। विषयध्यान से उनमें संग होता है यह श्रीकृष्ण ने भी बताया है। बचपन से कड़वी चीज़ खाते हैं तो बंगाली उसके शौकीन हो जाते हैं, अन्यत्र के लोग न खाने से उसमें रुचि वाले नहीं बनते। इसी तरह प्रायः विषय-सम्पर्क राग का उत्पादक होता ही है।।६७-८।। द्वितीय दृष्टान्त दिखाते हैं **स्वतः सफेद भी कम्बल (धूल आदि के सम्पर्क से) थोड़ा पीला और कड़ा हो जाता है वैसे स्वयं रागादि वाला भी मन थोड़ी श्रद्धा**

ईषत्पाण्डुश्च परुषः स्यात् स्वच्छः श्वेतकम्बलः ।
तथेषच्छ्रद्धया युक्तं स्वतो रागादिभागपि[1] । ।९९ । ।
इन्द्रगोपोऽतिरक्तः स्यात् स्वत एव तथा मनः ।
विविक्तदेशस्थस्यापि विषयप्रवणं क्वचित् । ।१०० । ।
अग्नेरर्चिर्यथा भास्वद् दहत्यपि यथा क्वचित् ।
वेदशास्त्रविदप्यन्यान् बाधेतेर्ष्याद्युपद्रवैः । ।१०१ । ।

से संपन्न हो जाता है । ।९९ । । सफेद भेड़ की ऊन से बना कम्बल सफेद ही होगा लेकिन धूलादि से युक्त होने पर लगेगा मानो पीला पड़ गया हो जबकि उसकी स्वाभाविक सफेदी गयी नहीं है। ऐसे हमारा मन राग आदि वाला रहते भी शास्त्रादि पर थोड़ी-बहुत श्रद्धा वाला हो तो लगता है कि कुछ परिवर्तित है। इस स्थिति में जानने पर भी कि रागादि बुरे हैं, 'थोड़ा तो कर ही लें' ऐसा उनके प्रति आकर्षण बना रहता है। ।९९ । ।

तृतीय दृष्टांत बताते हैं **जैसे इन्द्रगोप खुद ही बहुत लाल होता है वैसे एकान्त स्थान में स्थित व्यक्ति का भी मन कभी विषयों की ओर झुक जाता है । ।१०० । ।** इन्द्रगोप को 'वीरबधूटी' हिंदी में कहते हैं, गहरा लाल बरसाती कीड़ा होता है। पूर्वोक्त उदाहरण में पीलापन धूलादि से था, यहाँ लाली स्वाभाविक है। हमारे मन ऐसे भी हैं; बिना उद्दीपक के भी मन में कामना उद्बुद्ध हो जाती है क्योंकि मन खुद विषय के प्रति रुचि वाला है। जहाँ तो हेतुविशेष से मनोविकार (अच्छा या बुरा) हो वहाँ पूर्व दृष्टांत तथा जहाँ बिना कारण हो वहाँ यह दृष्टांत समझना चाहिये। ।१०० । ।

चौथा दृष्टांत समझाते हैं **जैसे अग्नि की ज्वाला प्रकाशमान होने पर भी कभी जलाती भी है, वैसे वेद-शास्त्रों का जानकार भी ईर्ष्या आदि विक्षेपकों द्वारा अन्यों को पीडित करता है । ।१०१ । ।** आग प्रकाश करती है लेकिन जला भी देती है। वैसे कदाचित् जीव शास्त्रादि समझता है लेकिन अन्यों को जला भी देता है! यदि ज्ञान ही उसमें ईर्ष्या आदि का उत्पादक हो जाये तो उससे अन्यों को पीडा होनी ही है। कई बार विद्वान् अपने से ज़्यादा विद्वान् को सहन नहीं कर पाता तो अपने ज्ञान के दुरुपयोगकुतर्क, चालबाजी आदिसे अन्यों को पीडा देता है। इसी दृष्टि से विद्यारण्य स्वामी ने पंचदशी में कहा है 'वेदाभ्यासात् पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता। पश्चात्त्वभ्यास-विस्मार-भंगगर्वैश्च शोकिता। ।'११.१९ । । कि पढ़ाई से पूर्व तो आध्यात्मिकादि तीन ही

---

१. 'रोषादिभाग्' इति अनु. प्र.; 'रागादिभाग्' इति सारे।

सिताम्भोजं यथा सौम्यं सुगन्धि मृदु च स्वतः।
जन्मनैव तथा चित्तं युक्तं शमदमादिभिः।।१०२।।
तीव्रविद्युद् यथाऽत्यन्तं घनध्वान्ताऽपनोदकृत्।
तथा हिरण्यगर्भस्य सर्वज्ञा वासना भवेत्।।१०३।।
ताम् उपासीन आप्नोति श्रियम् अत्यन्तम् ऊर्जिताम्।
रजःसत्त्वतमोयोगाद् वासनानां विचित्रता।।१०४।।

ताप थे, पढ़ने पर तीन और जुड़ गये अभ्यास करते रहने का कष्ट, भूलने पर कष्ट और अपने से अधिक द्वारा तिरस्कार का कष्ट; किं च अपने से कम जानकार को देखकर गर्व भी हो जाता है जो अनेक शोकों का मूल है। ऐसे ही मन में रहता है कि कोई शास्त्र न रह जाये जिसे मैंने पढ़ा न हो, क्योंकि कोई पूछे और कहना पड़े 'नहीं जानता हूँ' तो लज्जा आती है। बे-पढ़े-लिखे को ये कष्ट नहीं होते। इस प्रकार के मन को आग के दृष्टांत से कहा।।१०१।।

पाँचवाँ उदाहरण क्या दिखाता है यह बताते हैं **सफेद कमल जैसे देखने में रमणीय, सुगंधित और स्वभाव से ही कोमल होता है वैसे कोई चित्त जन्म से ही शम-दम आदि से युक्त होता है।।१०२।।** पैदा हुए बच्चों के स्वभावों में भेद प्रत्यक्ष है। जो जन्म से ही शांत आदि हो उसके लिये श्वेत कमल का उदाहरण है। इससे विपरीत के लिये इंद्रगोप का उदाहरण था, वह भी जन्म से ही लाल होता है।।१०२।।

छठे दृष्टांत का कथन करते हैं **तेज़ बिजली जैसे अत्यंत घने अँधेरे को मिटा देती है वैसे हिरण्यगर्भ की सब कुछ जानने वाली वासना (सर्वविषयक अज्ञान दूर करती) है।।१०३।।** बिजली चमके भले ही थोड़ी देर के लिये लेकिन उसमें रोशनी इतनी ज़्यादा होती है कि सारा अँधेरा एक ही बार में मिट जाता है। इसी तरह हिरण्यगर्भ की वासना में सर्वज्ञता होती है, सभी विषयों के बारे में सारी जानकारी उसमें निहित रहती है, तभी वह यथापूर्व सब कुछ उत्पन्न कर पाता है।।१०३।।

इस अंतिम दृष्टांत के आधार पर प्रसंगवश उपासना की विधि भी कर देते हैं **हिरण्यगर्भ की ऐसी वासना की उपासना करने वाले को ऊर्जस्वी धन की प्राप्ति होती है। रजोगुण, सत्त्वगुण, तमोगुण के सम्बंधों से वासनाओं में विविधता संगत है।।१०४।।** हिरण्यगर्भ की उक्त तरह की वासना वाले के रूप में उपासना का यह फल है। केवल वासना की नहीं वरन् उपासना हिरण्यगर्भ की करनी है किंतु उसे इस

प्रपञ्च-वासने ब्रह्मरूपे इत्येतद् ईरितम् ।
तथेदम्-अनिदंरूपे इति पक्षोऽधुनोच्यते । ।१०५ । ।

iii तत्रैव तृतीया विवृतिः

सवासनं जगत् सर्वं तत्रेदंरूपम् ईरितम् ।
सच्च त्यच्चेति सत्त्यं तत् प्रोच्यते पाञ्चभौतिकम् । ।१०६ । ।
सत्यस्य सत्यम् अनिदं वक्तव्यं शिष्यते ततः ।
आदेशोऽनन्तरं तस्य क्रियतेऽनन्यमानिनः । ।१०७ । ।

विशेषता वाला समझते हुए कि उसकी वासना में एक-साथ सबको प्रकाशित करने की सामर्थ्य है। फलरूप में कही 'श्रीः' से भाष्यकार ने 'ख्याति' समझी है। तथापि प्रसिद्ध होने से धन भी फल समझा जाये तो ग़लत नहीं। उसमें भी ऊर्जस्वी धन को फल कहा। ऊर्जा अर्थात् निहित शक्ति, सामर्थ्य। किसी का धन चाहे जितना हो उसमें कोई प्रभाव उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती जबकि किसी के पास थोड़ा भी धन हो तो प्रभावी होता है, कार्यकारी होता है, असरदार अनुभवमें आता है। ऐसे को ऊर्जस्वी कह रहे हैं। ख्याति का भी इसी तरह का वैशिष्ट्य अभिप्रेत है। वासनाओं का भेद गुणसम्बंध-निमित्तक है यह तो स्पष्ट ही है। ।१०४ । ।

श्लोक ८२ में बताये विभाजन का अनुसंधान करते हुए यह प्रसंग पूरा कर अगला आरंभ करते हैं **प्रपंच और वासना - ये ब्रह्म के दो रूप हैं, इस पक्ष का कथन किया। अब इस पक्ष को समझाते हैं कि इदं ('यह') और अनिदं ('गैर यह') ये दो रूप ब्रह्म के हैं ऐसा प्रकृत श्रुति में सूचित है। ।१०५ । ।** पूर्वोक्त विस्तार वासना (संस्कार) और प्रपंच (व्यक्त जगत्) परमेश्वर के दो रूप हैं इस मान्यतानुसार था। अब समझायेंगे कि इदम् अर्थात् जो 'यह' यों समझा जाये वह परमात्मा का एक रूप है और जो कभी इदं न समझा जाये वह दूसरा रूप है। ।१०५ । ।

उक्त पक्ष का विस्तार करते हैं **उक्त दोनों रूपों में से इदं-रूप है वासनाओं समेत सारा जगत्। उस पंचभूतात्मक जगत् को सत् और त्यत् होने से सत्त्य कहा जाता है। ।१०६ । । इसके बाद बताना बचा अनिदं-रूप जो पूर्वोक्त सत्त्य का भी सत्य है। अन्य किसी प्रमाण के अविषय उस अनिदं-रूप का उपदेश अब (आगे) किया जाता है। ।१०७ । ।** वासनाएँ भी चित्त में रहने से भौतिक हैं। हिरण्यगर्भ भी सूक्ष्मोपाधिक होने से उसकी वासना भी भूताश्रित अतः भौतिक है। भूत-संबंधी होने से भी (अर्थात् भूत-भौतिक जगत् को विषय करने वाली होने से भी)

नेति नेति

आदेशो नेति नेतीति ब्रह्मतत्त्वाऽवबोधकः।
यथाऽयम् उपपद्येत तथा सम्यङ् निरूप्यते।।१०८।।
इतिशब्देन चिद्भास्यम् अनूद्य प्रतिषिध्यते।
नकारेण, द्विरुक्तिस्तु वीप्सा कृत्स्ननिषिद्धये।।१०६।।
मूर्तं वा यदि वाऽमूर्तम् अज्ञानं वासनाऽथ वा।
अध्यात्मम् अधिदैवं वा तत् सर्वं प्रतिषिध्यते।।११०।।

वासनाओं को पंचभूतात्मक कहना ठीक है। भूतों के विभाजन के अनुसार सत्-त्यत् को मिलाकर सत्त्य कहा, फिर 'सत्त्य का सत्य' यों दूसरे सत्य का कथन किया। वह जो दूसरा सत्य है उसे 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' में द्वितीय रूप बताया है। वही अनिदम् (गैर-यह) से विवक्षित है। उसमें वेदातिरिक्त कोई प्रमाण न होने से उसे वेदोपदेश से ही बताया जा सकता है।।१०६-१०७।।

श्रुति में आया वह आदेश (उपदेश) है 'अथात आदेशो नेति नेति, न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति।' अर्थात् अब उपदेश देते हैं 'यह नहीं, यह नहीं'। इससे अतिरिक्त कोई अन्य उपदेश नहीं। इससे परे कोई (तत्त्व या उपदेश) नहीं। 'नेति' में 'इति' से जो कुछ भी इदंरूप में संभावित है उस सबका संग्रह कर परमेश्वर को उससे विलक्षण अनिदंरूप कहा है। इस वाक्य का स्पष्टीकरण करते हैं **'नेति नेति' यह आदेश ब्रह्म की वास्तविकता का प्रकाशक है। जैसे कि यह संगत है वैसा भलीभाँति बताया जाता है।।१०८।। 'इति'-शब्द से चेतन के विषयभूत अनात्मा का अनुवाद (उपस्थापन) कर न-कार से उसका निषेध किया गया है। दो बार इसलिये कहा ताकि यह नियम व्यक्त हो कि जो कुछ भी 'इति' है वह परमेश्वर नहीं। इस प्रकार, समस्त अनात्मा के निषेध की सिद्धि के लिये दो बार कहा है।।१०६।। मूर्त्त हो या अमूर्त, अज्ञान हो या वासना, अध्यात्म हो या अधिदैव इस सबका निषेध किया जा रहा है।।११०।।** 'नेति नेति' अत्यंत प्रसिद्ध वेदोपदेश है। इसका भाव समझाया कि इसमें सारे अनात्मा से अन्य आत्मा का वर्णन है जिसके स्तर पर अनात्म है ही नहीं। इस तरह यद्यपि सुनाई केवल निषेध देता है तथापि इससे बोध सच्चिदानन्द अखण्ड वस्तु का हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक है इसलिये सारे धर्मों के निषेध से ही उसका उपदेश पूरा हो जाता है। स्वयंसिद्ध प्रत्यग्रूप होने से उसका साक्षात् उल्लेख अनिवार्य नहीं, फिर भी किसी ग़लत फ़हमी की संभावना न रखने

के लिये आगे (३.६.२६,४.२.४,४.४.२२ बृहदारण्यक) 'नेति नेतीत्यात्मा' यों आत्म-पद भी श्रुति रखेगी। 'नेति' में 'न' और 'इति' दो शब्द हैं।

'इति हेतु-प्रकार-स्वरूप-समाप्ति-विवक्षाऽनियम-शब्दप्रादुर्भाव-एवमर्थेषु' यह अव्ययकोश में कहा है। इससे अतिरिक्त 'वक्ष्यमाणपरामर्श' भी इति का अर्थ वहाँ सूचित है। इसी दृष्टि से यहाँ इति-शब्द है कि जो कुछ भी कहा-समझा जा सके उस सबको बटोर ले। इति अव्यय-पद है लेकिन इसका एक प्रयोग ऐसा है जैसा सर्वनामों का होता है : सर्वनाम हालाँकि उपस्थित का परामर्श (बोधन) करता है फिर भी किसी खास उपस्थित से ही उसका संबंध नहीं, जो कोई भी उपस्थित हो उसका परामर्श सर्वनाम कर सकता है यदि तात्पर्य संगत हो। इसी तरह यहाँ 'इति' उन सब चीज़ों को स्थूल-सूक्ष्म आदि सभी संभव विभाजनों वाले प्रपंचको सूचित करता है जो परमेश्वर नहीं, अनात्मा हैं। यही स्पष्ट करने के लिये इति का द्योत्य 'चिद्भास्य' (श्लो १०६) कहा अर्थात् चेतन का जो कुछ विषय हो वह सब यहाँ 'इति' अर्थात् अनात्मा विवक्षित है। न-कार तो निषेध में प्रसिद्ध ही है। चूँकि शास्त्राभिप्राय निषेध में है इसलिये इति को अनुवाद-कोटि में रखा। वाक्य में विधेय (बोध्य) एक ही होगा, बाकी सब उद्देश्य रहेंगे। जिसके बारे में बताया जाये वह उद्देश्य एवं उसके बारे में जो बताया जाये वह विधेय होता है। यहाँ इति-से कहे अनात्मा के बारे में बताया जा रहा है कि वह (आत्मा) नहीं है। अतः इति उद्देश्यभाग होने से अनुवादक है अर्थात् वाक्यतात्पर्य-विषय नहीं है वरन् अन्य प्रमाणों से पता जो अनात्मा उसका उल्लेख कर रहा है। वीप्सा अर्थात् दो बार या बार-बार कहकर हमेशा का नियम बताना जैसे 'जो-जो धुएँ वाला स्थान होता है वह-वह आग वाला होता है' में 'जो-जो' से भाव है कि नियमतः धुएँ-आगका संबंध है। ऐसे ही 'गाँव-गाँव में प्रसिद्ध है' अर्थात् हर गाँव में प्रसिद्ध है। इसी तरह यहाँ दो इति-शब्द रखकर सारे अनात्मा को कहा तथा दो नकारों से निषेध किया। दो बार मना करने पर मनाही पक्की समझी जाती है। दो गाँठें लग जायें तो गाँठ भी पक्की हो जाती है। दो निषेधों से स्पष्ट होता है कि वेद इस बारे में कोई ढील नहीं देता कि परमात्मा विषय नहीं है। किं च यह भी सूचित है कि साधक को जो-कुछ भी विषयतया उपस्थित हो, उसका वह निषेध करे। 'यद्यत् प्राप्तं तत्तद् निषिध्यते' ऐसा भाष्य है। इसका वार्तिककार यहाँ तक भाव बताते हैं कि यह निषेध भी क्योंकि ज्ञेय है इसलिये 'इति'-कोटि का है अतः यह भी निवृत्त हो जाता है (२.३.१९५ आदि)। सर्वापहार व्यक्त करने के लिये यहाँ (श्लो. ११०) मूर्त्तादि सब विभाजन याद दिलाये, इन्हीं में प्रपंच बँटा

ii तत्रैव व्याख्यान्तरम्

अथवाऽत्रेति-शब्दौ द्वौ जीवेशोपाधिवाचिनौ।
नकाराभ्याम् उपाधी द्वौ निषिध्य ब्रह्म लक्ष्यते।।१११।।

है, इनके निषेध से सभी निषिद्ध हो गया। क्योंकि इसे 'आदेश' (उपदेश) कहा है इसलिये स्पष्ट है कि इससे परमात्मा का ज्ञान कराया जा रहा है; केवल मना नहीं कर रहे, सब-कुछ मना करने पर जो (मना करने वाला, मनाही को जानने वाला) बचा रहता है, जिसे मना किया ही नहीं जा सकता, उसे समझाया जा रहा है। अतः 'नेति' का मतलब यह नहीं कि 'परमात्मा के विषय में कुछ नहीं कह सकते' वरन् यह है कि जो अनात्मा नहीं वह परमात्मा है।।१०८-१०।।

'नेति नेति' के प्रसिद्ध अर्थ का वर्णन किया, अब एक वैकल्पिक अर्थ कहते हैं **अथवा इस वाक्य में इति-शब्द जीव और ईश्वर की उपाधियों के बोधक हैं एवं दोनों नकारों से दोनों उपाधियों का निषेधकर लक्षणा से परमेश्वर सूचित है।।१११।।** परब्रह्म में जीवभाव-ईश्वरभाव दोनों कल्पित हैं जिन्हें यहाँ निवृत्त किया। अहंकार (या अंतःकरण) जीव की उपाधि और माया ईश्वर की उपाधि है। ईश्वर माया से सृष्टि करता है तथा जीव अहम् के द्वारा उस संसार का भोग करता है। वस्तुएँ जीव नहीं बना सकता, ईश्वर ही बनाता है। ईश्वर की बनाई चीज़ों को ऊपर-नीचे करके भले ही जीव खुश हो ले कि कुछ बना लिया, लेकिन बनाया कुछ नहीं है। जीव वस्तुओं का भोग करता है अर्थात् राग-द्वेष के अनुसार उनसे सुख-दुःख पाता है क्योंकि तदनुकूल कर्म करता रहता है। भोग कराना ईश्वरता तथा भोग करना जीवरूपता हैं और ये दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं, सापेक्ष हैं अतएव सत्य नहीं, व्यावहारिकमात्र हैं। पिता, पुत्र आदि सापेक्ष धर्म हैं, व्यवहारसाधक हैं लेकिन ऐसा नहीं कि एक व्यक्ति किसी का बाप भी है, दूसरे का बेटा भी है, तीसरे का पति भी है, चौथे का भाई भी है तो उसे चार व्यक्ति ही मान लें, चौगुणा भोजन खिलायें! निरपेक्ष ही सत्य होता है और वह शुद्ध चेतन ही है। नेति में न-कार से उपाधियों का निषेध है और दोनों न-कारों की ब्रह्म में लक्षणा है अर्थात् न-कार शक्ति से निषेध करके लक्षणा से निषेध की अवधिरूप ब्रह्म को बताता है।।१११।।

निषेध-द्वारा लक्षणा उपपन्न करते हैं **जैसे प्रमाता आदि की इस (प्रसिद्ध) सत्ता में प्रत्यक् संवित् ही साक्षी है वैसे प्रमाता आदि के अभाव में वही साक्षी है अतः अभाव से उस संवित् की लक्षणा संगत है।।११२।।** साधारणतः भावात्मक

यथा मात्रादिसत्तेयं प्रत्यक्संवित्तिसाक्षिका।
प्रमात्रादेरभावोऽपि तथाऽतस्तेन लक्ष्यते।।११२।।

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों में लक्षणा का प्रयोग होने से वह प्रचलित है तो उसे दृष्टांत बनाकर समझा रहे हैं। तत् पद की शक्ति ईश्वर में, शुद्ध ब्रह्म ईश्वर का भासक, अतः तत्-पद की लक्षणा शुद्ध में; त्वं-पद की शक्ति प्रमाता में, शुद्ध ब्रह्म प्रमातृत्व का भासक, अतः त्वं-पद की लक्षणा शुद्ध में यही प्रसिद्ध ढंग है। वाच्य का लक्ष्य से भास्य-भासकभाव सम्बन्ध है जिससे लक्षणा संभव है। इसी प्रकार न-कार से लक्षणा हो जायेगी : 'न' ने प्रमाता आदि का अभाव बताया, वह अभाव प्रत्यक् संवित् से ही प्रकाशित है, उसी के साक्षी रहते अभाव की सिद्धि है। इसलिये भास्य-भासकभाव तुल्य होने से लक्षणा संभव है। लक्षणाबीज भी है : 'आदेश' से प्रारंभ किया अतः निषेधमात्र में पर्यवसान अनुपपन्न है, शून्यता भी अनुपपन्न है, मुच्यमान न रहने पर पुरुषार्थता भी अनुपपन्न है इत्यादि। कुछ वेदान्तविचारक, अभाव से चेतन का कोई संबंध नहीं क्योंकि भाववस्तुएँ परस्पर ही सम्बद्ध हो सकती हैं ऐसा मानते हैं अतः अभाव रहने पर भी द्वैतापादक नहीं यों भावाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। लेकिन भाष्यादिकार साफ समझाते हैं कि भाव की तरह अभाव भी साक्षी से प्रकाशित होने पर ही सिद्ध है अन्यथा अभाव है यही अमान्य होगा! अतः ब्रह्म से जैसा सम्बन्ध भाव का वैसा अभाव का; सच्चा संबंध तो दोनों का नहीं क्योंकि ब्रह्म से अन्य तो न भाव है, न अभाव है, किन्तु मिथ्या सम्बन्ध दोनों का है। अतः यदि अभाव को भी है मानें तो द्वैत होगा ही, इसलिये परमात्मा से अतिरिक्त भाव-अभाव कुछ नहीं है यही अद्वैत का सिद्धान्त है। सत् चिद् आदि शब्द भी वास्तव में लक्षणा से ही ब्रह्म को बताते हैं क्योंकि शक्ति से तो ये सविशेष सत्ता, ज्ञान आदि के वाचक हैं जबकि ब्रह्म ऐसी सत्ता या ऐसा ज्ञान है नहीं। सविशेष सत्ता अर्थात् घड़ा है, कपड़ा है आदि में प्रतीत होता है-पना। हम लोक में ऐसा ही है-पना पाते हैं, केवल 'है' तो लक्षणा से ही समझेंगे। ऐसे ही घटज्ञान, पटज्ञान आदि ही लोकसिद्ध हैं, केवल ज्ञान तो लक्षणा से ही समझ आयेगा। इसी प्रकार न-कार शक्ति से भले ही निषेध या अभाव बताये पर उसके प्रकाशक को, साक्षी को लक्षणा से कह देगा। अभाव का प्रकाशक साक्षी है, यह हमें स्वयं अनुभव भी होता है : सपने के पदार्थ जाग्रत् में नहीं हैं, जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में नहीं थे, दोनों तरह के पदार्थ सुषुप्ति में नहीं थे, सुषुप्ति का आनंद दोनों अवस्थाओं में नहीं है यह सब साक्षी के आधार पर ही कहा-समझा जाता है, यदि अभाव उसी साक्षी का भास्य न हो जिसका साक्ष्य भाव होता है तो उक्त अनुभव

अतिरोहितसंवित्को दृष्टिमात्रात्मकत्वतः ।
विनैव वाचकं शब्दं बोध्यो लक्षणयाऽप्यतः ।।११३ ।।

ही संभव न रहें! इसलिये आचार्य ने यह यथानुभव बताया कि अभाव भी प्रत्यक् संवित् से प्रकाशित होने के कारण न-कार उस संवित् का लक्षणा से बोधक बन जाता है।।११२।।

प्रश्न होता है कि आत्मा है आखिर यही तो इसलिये मानते हैं कि प्रमाता को उसका पता है, अहं का भान है तभी आत्मा को है समझते हैं, अतः आत्मा से प्रमाता को भासित, प्रकाशित कहना कैसे ठीक होगा? और तब पूर्वोक्त संबंध भी सिद्ध न होने से लक्षणा कैसे होगी? किं च वाच्य ही तट आदि लक्ष्य भी बनता देखा जाता है, आत्मा वाच्य नहीं तो लक्ष्य कैसे? इन दोनों का उत्तर देते हैं **कभी न छिपने वाला जिसका ज्ञान ऐसी केवल दृष्टि जिसका स्वभाव है वह ब्रह्म, वाचक शब्द के बिना ही लक्षणा से पता चलता है। क्योंकि उसका कोई वाचक नहीं इसलिये भी उसे लक्षणा से ही समझ सकते हैं।।११३।।** यह जो प्रश्न था कि प्रमाता से आत्मा सिद्ध है, उसका जवाब दिया कि आत्मा है ही वह जिसका स्वभाव वह दृष्टि, अनुभूति है जिसका स्वरूप है कभी न छिपने वाला ज्ञान। तात्पर्य है कि वह स्वयंप्रकाश है अतः प्रमाता से भास्य नहीं हो सकता। अथवा, क्योंकि दृष्टिमात्रात्मक है इसलिये अतिरोहित-संवित्क है ऐसा अन्वय समझ सकते हैं, तात्पर्य एक ही है। कोई ऐसी स्थिति नहीं जब ज्ञानरूप ब्रह्म छिप जाये, क्योंकि उसी के प्रकाश से तो अन्य सब भाव-अभाव जाना जायेगा। जाग्रत्-स्वप्न में भावों को एवं सुषुप्ति में सबके अभाव को वही प्रकाशित कर रहा है। प्रमाता तो सुषुप्ति में नहीं रहता, यदि उसी से आत्मसिद्धि होती तो सुषुप्ति का अनुभव ही न होता! अतः आत्मा को प्रमातृभास्य मानना ग़लत है। इससे आत्मा को प्रमेय मानने वाले तार्किकों का भी निरास हो गया। 'एतदप्रमयम्' आदि श्रुति उसे अप्रमेय कह ही रही है। अतः प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संबंध से ही त्वं आदि शब्द उसे लक्षित करते हैं तथा उसी संबंध से न-कार भी लक्षित करता है।

दूसरा भ्रम है कि दुनिया में सब वाच्य है, जो वाच्य नहीं उसे नैयायिक प्रामाणिक ही नहीं मानना चाहता! किन्तु लोक में ही ऐसी चीज़ें बहुतायत में मिलती हैं जो वाच्य नहीं, जिनका वाचक शब्द नहीं। उदाहरण प्रसिद्ध है कि घृत-दूध-द्राक्षा-शहद सभी मीठे तो हैं लेकिन सबका मिठास अलग-अलग है अतः सिर्फ 'मीठा' शब्द का अर्थ क्या, अर्थात् मीठा-शब्द किसका वाचक है, उसका वाच्य क्या है? घृत का मिठास ही वाच्य है यह

अनन्यानुभवेनैव भावाभावात्मभूमिषु।
प्रत्यक्कूटस्थमात्मानं पश्यन्नास्ते फलात्मना[1] ।।११४।।

नहीं कह सकते; ऐसे ही अन्य मिठासों में से भी किसी को नहीं कह सकते और इन सबसे अतिरिक्त कोई केवल मिठास कहीं मिलती नहीं, तब मीठा-का वाच्य क्या माना जाये? फिर भी मीठा-सुनकर समझ तो आती है कि क्या कहा जा रहा है अतः वह समझ लक्षणा से ही संभव है। अथवा, घी का मिठास इसका कोई वाचक शब्द नहीं, वाक्य से ही कह सकते हैं, लेकिन घी के मिठास को लक्षणा से समझते ही हैं, जब कहते हैं 'यह घी जैसा है' तो पता चलता है कि उसका कैसा स्वाद है, उस घृतस्वाद को लक्षणा से ही समझ पाते हैं। दोनों ही तरह से भाव है कि जिस अर्थ का वाचक न हो उसे भी लक्षणा से समझा जाता है। बल्कि यह एक बड़ा कारण है कि उसे लक्षणा से समझा जाये, अन्यथा वह समझा ही न जा पायेगा! 'अपि' से बताया कि एक तो यह हेतु है कि वह वाच्य बिना हुए लक्ष्य होता है क्योंकि वह स्वप्रकाश है। वाच्य इसीलिये होना पड़ता है कि उसका पता चल सके। जिसका पता हमेशा है, उसे वाच्य होने की क्या ज़रूरत! जो चीज़ हमेशा हमारे पास है, जिसे कभी किसी से मँगाना नहीं, ठीक कराना नहीं, किसी से उसके बारे में कहना-सुनना नहीं, उसका कोई नाम (वाचक) हो इसकी आवश्यकता ही कहाँ है! और पता वह सदा है, इसलिये उसमें लक्षणा संभव है। दूसरा हेतु हुआ कि अवाच्य होने से ही लक्ष्य है अन्यथा उसे समझा नहीं जा सकता। वस्तुतस्तु नैयायिक की शंकाओं का यहाँ समाधान है अतः साधारण दृष्टि से प्रश्न-उत्तर दोनों समझने कुछ कठिन हैं।।११३।।

स्वप्रकाशता ही स्पष्ट करते हैं क्योंकि यह न मानें तो अनन्त प्रकाशकों की कल्पना रूप अनवस्था होगी **जहाँ भावभूत वस्तुएँ विषय हैं ऐसी आत्मभूमिकाओं में अर्थात् जाग्रत् व स्वप्न में तथा जहाँ अभाव विषय है उस आत्मभूमिका में अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में 'अनन्यानुभव' के रूपमें उपस्थित प्रत्यग्भूत कूटस्थ आत्मा को वह स्वयं ही चिद्-एकरस रूप से देखते हुए रहता है।।११४।।** (वार्तिक (२.१.२२७) में 'प्रत्यक्कूटस्थ आत्मानं' पाठ है जिससे 'पश्यन्नास्ते' ठीक से अन्वित होता है।) 'भावाभावात्मभूमिषु' से सामान्य भावविषय और अभावविषय भी समझ सकते हैं, भावों के भेद से बहुवचन भी संगत है। लेकिन 'आत्म'-शब्द के स्वारस्य

१. 'फलात्मतः' इति सारे पाठः 'चिदेकरसरूपेण' इति तद्व्याख्या।

अतो मात्रादि सम्भेदो यत्र यत्र निवर्तते।
तत्र तत्रैकलः[1] प्रत्यक् स्वमहिम्नैव सिद्ध्यति।।११५।।

से अवस्थाओं का उल्लेख स्वरसतर प्रतीत होता है। स्वप्रकाश में ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद नहीं इसलिये '(स्वयं) फलात्मना पश्यन्' कहा। देखने वाला, दीखने वाला और देखना सब एक ही है। उसी को 'अनन्यानुभव' कहा अर्थात् उसका अनुभव उसके निज स्वरूप से अतिरिक्त कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि मन भी जानता है, आत्मा भी जानता है। लेकिन मन का जानना अर्थात् मन में होने वाला ज्ञान, मन से अलग है, जबकि आत्मा का जानना अर्थात् आत्मा को जो ज्ञान है वह आत्मा से अलग नहीं है। जैसे दर्पण की रोशनी दर्पण से अलग है, सूर्य की रोशनी सूर्य से अलग नहीं या भुजिया की नमकीनता उससे अलग है पर नमक की नमकीनता नमक से अलग नहीं वैसे मन में होने वाला अनुभव मन से अलग है पर आत्मा से अनुभव अलग नहीं है। इसी अनन्यानुभव को फल शब्द से भी बताया। सिद्धान्तबिंदु प्रथमश्लोक व्याख्या में मधुसूदन स्वामी ने 'प्रमेयं तु विषयगतं ब्रह्मचैतन्यमेव अज्ञातं, तदेव ज्ञातं सत् फलम्' यों अभिव्यक्त आत्मा को ही फल कहा है। स्वयं पंचपादिक में (पृ.२०१) भी 'विषयानुभवसंशब्दितो विषयस्थाऽपरोक्षैकरसः फलम्' कहा है। 'फलात्मना' से सूचित किया कि 'पश्यन्' अर्थात् देखने से जो होता है वह भी आत्मा ही है। गीताभाष्य (१३.१७) में यह बताया है 'ज्ञेयमेव ज्ञातं सज्ज्ञानफलम् इति ज्ञानगम्यम् उच्यते। ज्ञायमानं तु ज्ञेयम्।' ।।११४।।

यद्यपि आत्मा सदा स्वप्रकाश से ही प्रकाशमान है तथापि उसकी स्वप्रकाशता अकेले में स्पष्ट होती है यह बताते हैं **इसलिये जहाँ-जहाँ प्रमाता आदि का सम्बन्ध हट जाता है वहाँ-वहाँ अकेला रहा प्रत्यगात्मा अपनी महिमा से ही सिद्ध होता है।।११५।।** प्रमाता एवं 'आदि' अर्थात् प्रमाण, इनके रहते लगता है मानो आत्मा इनके कारण पता चल रहा होगा। जब सुषुप्ति - समाधि में प्रमाता आदि रह नहीं जाते तब भी क्योंकि आत्मभान कायम रहता है इसलिये समझ आता है कि उसका पता किसी और से नहीं चलता, खुद वही इसके लिये पर्याप्त है कि उसका भी पता चले। वर्तमान में हमें उसका पता नहीं इसका कारण अज्ञान है, न कि ब्रह्म की अस्वप्रकाशता। इसी दृष्टि से 'अविद्यानिवृत्ति के लिये ही प्रयास कर्त्तव्य है, विद्यालाभ के लिये नहीं' इत्यादि आचार्यों का कथन प्रसिद्ध है।।११५।।

---

१. 'तत्रैककः' इति प्रायो मुद्रितम्। एकल इति सारे।

एतद् वस्तु स्वतः सिद्धं प्रमात्राद्यनपेक्षतः।
सर्वस्यैव ततः सिद्धेः कथं सिद्ध्येत् तदन्यतः।।११६।।

उपसंहारः

तदित्थं नेति नेतीति वाक्यं ब्रह्मात्मबोधकम्।
जीवेशोपाधिनिह्नुत्या लक्ष्याऽखण्डावसानतः।।११७।।
इत्येवमनिदंरूपं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्।
निर्नाम्नस्तस्य नामैतत् सत्यसत्यम् इति श्रुतम्।।११८।।
सच्च त्यच्चेति सत्याख्याः प्राणास्ते ब्रह्मणात्मना।
आत्मवन्तस्ततो ब्रह्म सत्यसत्यम् इतीरितम्।।११६।।

उक्त वक्तव्य का समापन करते हैं **प्रमाता आदि की ज़रूरत के बिना यह आत्मवस्तु खुद ही भासमान है। सभी कुछ उस आत्मा से प्रकाशित है अतः अन्य किसी से वह प्रकाशित हो यह कैसे संभव है!।।११६।।** जैसे अन्य चीज़ें चीनी से मीठी होती हैं, वह चीनी किसी और से मीठी नहीं, खुद ही मीठी है, वैसे आत्मा अन्य से नहीं स्वयं ही ज्ञान है, बल्कि अन्यों को ज्ञान से वही संपन्न करता है।।११६।।

'नेति नेति' की श्लो.१११ से शुरू की गयी व्याख्या का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार 'नेति नेति' यह वाक्य जीव और ईश्वर की उपाधियों का बाध कर लक्ष्यभूत अखण्ड वस्तु में पर्यवसित होने से ब्रह्मरूप प्रत्यगात्मा का बोध कराता है।।११७।।** इति-शब्दों से उपाधियों को कहकर 'न' से उनका निषेध करता है किंतु 'आदेश' से उपक्रम के अनुरोध से निषेधमात्र में न रुककर स्वप्रकाश को लक्षणा से बताया है यह नेति नेति वाक्य के बोधन का ढंग इस विकल्प में समझाया।।११७।।

ब्राह्मण-समाप्ति में श्रुति कहती है 'अथ नामधेयं सत्त्यस्य सत्यम् इति। प्राणा वै सत्त्यं, तेषामेष सत्यम्' कि अब परमात्मा का नाम बताते हैं 'सत्त्य का सत्य' यह उसका नाम है। प्राण ही (व्यावहारिक) सत्य हैं, उनका यह (ब्रह्म) सत्य है। इस हिस्से का संग्रह करते हैं **इस प्रकार ब्रह्म के अनिदं (गैर-यह अर्थात् प्रत्यक्) रूप का प्रतिपादन हुआ। बिना नाम वाले उस ब्रह्म का 'सत्त्यसत्य' यह नाम श्रुतिसिद्ध है।।११८।। सत् और त्यत् के मिले-जुले रूप वाले होने से प्राणों का नाम है सत्त्य। उन प्राणों को सात्मक (सस्वरूप) बनाने वाला ब्रह्मरूप आत्मा ही है अतः उसे 'सत्यसत्य' ऐसा कहा गया है।।११६।।** इदम्बुद्धिविषय को मूर्त्त अतः प्रत्यग्वस्तु

अजातशत्रुर्यां विद्यां ब्राह्मणैस्त्रिभिरुक्तवान्।
तद्व्याख्यानेन सन्तुष्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१२०।।

।।इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशेऽजातशत्रुविद्याप्रकाशो नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।

को अमूर्त्त मानकर 'आदेश' द्वारा अमूर्त का कथन है ऐसा श्लो १०७ में कह आये हैं। वह ब्रह्म सचमुच किसी नाम से सम्बद्ध नहीं कि कोई शब्द उससे शक्ति-संबंध से जुड़ा हो क्योंकि वह शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तों से रहित है एवं अतीन्द्रिय, अव्यवहार्य है। फिर भी कथंचित् उसका बोध कराने वाला होने से 'सत्य का सत्य' इस (समास) को उसका नाम समझा जाये यह श्रुति ने बताया। इस पर विचार करने से परमात्मा समझ आता है, इसी से 'नाम' कह दिया। विचार का तरीका स्वयं श्रुति ने बताया कि पहले वाले सत्त्य-शब्द से प्राणों को समझना है क्योंकि प्राण (इंद्रियाँ) सत् (पृथ्वी-जल-तेज) और त्यत् (वायु-आकाश) के सम्मिश्रित रूप हैं। उन प्राणों की भी वास्तविकता परमात्मा ही है, उसी से सत्ता-स्फूर्ति पाने के कारण वे प्रतीयमान, सत्तावान् हैं। 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' से छांदोग्यादि में यह समझा भी चुके हैं। क्योंकि सत्त्यभूत प्राणों को सत्यता प्रदान करने वाला है इसलिये परमेश्वर सत्य-सत्य इस समास से अथवा 'सत्यस्य सत्यम्' इस वाक्य के कहा जाता है। कहा लेकिन लक्षणा से जाता है यह पूर्वोक्त विचार में स्पष्ट हो चुका है अतः उसे वाच्य यहाँ नहीं बता रहे। वार्तिक में इस ब्राह्मण का अंतिम श्लोक है 'लक्षयेद्, नाञ्जसा वक्ति परं ब्रह्म कथंचन। शब्दप्रवृत्तिहेतूनां साक्षाद् ब्रह्मण्यसम्भवात्।।'।।११८-१६।।

चौदहवाँ अध्याय समाप्त करते हैं **अजातशत्रु ने तीन ब्राह्मणों से जिस विद्या का उपदेश दिया, उसके इस व्याख्यान से श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर संतुष्ट हों।।१२०।।** बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय के तीन ब्राह्मणों में आई इस विद्या का इस अध्याय में स्पष्टीकरण किया गया। आगे उपनिषत् के द्वितीयाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण का विचार चलेगा। आचार्य अपने इस व्याख्या-प्रयास को शिवरूप गुरु को ही अर्पित करते हैं क्योंकि शिव का संतोष ही जीव का उद्देश्य है, 'यत् कर्माचरितं मया च भवतः प्रीत्यै भवत्येव तत्' (शिवानंदलहरी ६६) ऐसा आचार्यवचन प्रसिद्ध है।।१२०।।

।। चौदहवाँ अध्याय ।।

ॐ

अनुभूतिप्रकाशे

मैत्रेयीविद्याप्रकाशः

पञ्चदशोऽध्यायः

मैत्रेयीविद्याप्रकाश : पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रौत साहित्य में ऋषिवर याज्ञवल्क्य का अप्रतिम स्थान है। तपोबल से साक्षात् भगवान् सूर्यनारायण से उन्होंने सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेद का ग्रहण किया। यद्यपि पूर्व में पिप्पलाद से वे अध्ययन कर चुके थे तथापि एकदा पिप्पलाद को निमित्त-विशेष से ब्रह्महत्या का दोष प्राप्त हुआ जिसे उन्होंने अनेक शिष्यों में बाँटना चाहा ताकि सब मिल-जुलकर उसका प्रायश्चित्त कर लें किन्तु याज्ञवल्क्य ने अकेले ही उस दोष को ग्रहण करने की हिम्मत दिखाई तो गुरु को लगा कि याज्ञवल्क्य उनका अपमान कर रहे हैं कि 'जो प्रायश्चित्त आप नहीं कर सकते, इतनों का सहारा माँग रहे हैं, वह मैं अकेला कर सकता हूँ'! और इससे क्रुद्ध हो उन्होंने याज्ञवल्क्य से पढ़ी हुई विद्या लौटाने को कहा जिसे याज्ञवल्क्य ने वमन कर बाहर कर दिया! तदनंतर मानव को गुरु न बनाने का संकल्प कर तपस्या से याज्ञवल्क्य ने सूर्य को प्रसन्न किया तथा उनसे पढ़ने की इच्छा व्यक्त की। आदित्य ने कहा कि निरन्तर भ्रमणशील होने से उनसे पढ़ पाना दुष्कर है, लेकिन याज्ञवल्क्य सूर्य के सामने, सूर्य की ओर ही मुख किये रहते, सूर्य की गति की दिशा में (अर्थात् अपनी पीठ की ओर) चलते हुए पढ़ने को तैयार हो गये! इतने घोर तप से विद्या ग्रहण करने वाले अत्यंत योग्य याज्ञवल्क्य पर सूर्य अतिशय प्रसन्न हुए एवं उन्होंने वरदान दिया कि याज्ञवल्क्य का अपमान करने वाले को वे स्वयं दण्ड देंगे। याज्ञवल्क्य विद्यार्जन के तत्काल बाद परमात्मनिष्ठा के यत्न में संलग्न रहना चाहते थे किंतु सूर्य की इच्छा थी कि वे ग्रहण की विद्या की परंपरा स्थापित करें अतः उनके निर्देशानुसार याज्ञवल्क्य ने कर्म एवं उपासना का भी मार्ग स्थापित करने के लिये पहले गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किया तथा विस्तृत गुरुकुल स्थापित कर असंख्य शिष्य तैयार किये एवं सूर्य से प्राप्त विद्या का प्रचय-गमन सुनिश्चित किया। समस्त उत्तर भारत में वर्तमान सारा कर्मकाण्ड प्रधानतः उन्हीं परंपराओं से चल रहा है जो याज्ञवल्क्य द्वारा स्थापित हैं। दीर्घकाल तक यों प्रवृत्ति

भूमिका

मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्यो यां चतुर्थब्राह्मणेऽब्रवीत्।
ससाधनां ब्रह्मविद्यां विस्पष्टं व्याकरोमि ताम्।।१।।
वित्तस्य कर्महेतुत्वात् तत्त्यागो ज्ञानसाधनम्।
इति दर्शयितुं प्राह श्रुतिराख्यायिकां शुभाम्।।२।।

मार्ग को प्रशस्त करने के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि अब संन्यास ग्रहण कर परमात्मनिष्ठा में प्रतिष्ठित होना चाहिये। उनकी दो पत्नियाँ थीं कात्यायनी और मैत्रेयी। उन्होंने अपनी सम्पत्ति दोनों में बाँटनी चाही। कात्यायनी ने तो स्वीकार कर लिया लेकिन मैत्रेयी विदुषी थी अतः उसने कहा कि 'इस धन में कोई सार होता तो आप ही क्यों इसे छोड़कर जाते? आप जो धन साथ ले जा रहे हैं, जिसे आप सारिष्ठ जानते हैं, वह मुझे दीजिये। जिससे मैं अमर न हो पाऊँ उस लौकिक धन से मैं क्या करूँगी?' इस प्रकार ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा सुनकर प्रसन्न हुए याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो उपदेश दिया उसे इस पंद्रहवें अध्याय में समझायेंगे।

अध्याय-प्रतिपाद्य की प्रतिज्ञा करते हैं **बृहदारण्यकोपनिषत् के द्वितीयाध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने साधनों के उपदेश सहित जो ब्रह्मविद्या सुनाई, उसे साफ-साफ समझायेंगे।।१।।** बृहदारण्यक में २.४ एवं ४.५ यों दो जगह याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है जिनमें तत्त्वतः अंतर नहीं, यत्किंचित् शब्दभेद है। प्रथम २.४ का प्रसंग आने से यहाँ 'चतुर्थ ब्राह्मणे' कहा लेकिन ४.५ का भी वक्तव्य इस व्याख्यान में संगृहीत ही है।।१।।

कथोपन्यास का प्रयोजन दिखाते हैं **धन कर्म का साधन है अतः उसका त्याग ज्ञान का साधन है यह व्यक्त करने के लिये श्रुति ने शुभ कथा सुनायी।।२।।** निष्फल उपदेश वेद में नहीं होता अतः उसमें आयी कहानी भी कोई सफल बोध कराती है। इस कथा का संदेश है कि धन तो कर्म का ही साधन है जिससे लोक-परलोक ही मिलेंगे, मोक्ष के लिये आवश्यक ज्ञान के प्रति धनत्याग ही उपाय है! धन से कर्म करके चित्तशुद्ध होने पर धन त्यागकर ज्ञान-साधनों के अनुष्ठान से ही ज्ञानलाभ होता है, यह भाव है। 'तत्त्यागः' से धन और कर्म दोनों ग्रहण करने चाहिये अर्थात् क्योंकि कर्मत्याग करना है इसलिये धनत्याग कर्त्तव्य है। 'धन' से दैव-मानुष दोनों समझने चाहिये क्योंकि उपासना व कर्म दोनों का त्याग ज़रूरी होता है। उपासनात्मक विद्या जैसे धन है वैसे लौकिक भी नाना विद्याएँ विविध ख्याति-लाभादि का हेतु होने से धन ही हैं अतः

एषणात्रयसंन्यासो वित्तत्यागेन लक्ष्यते।
ज्ञानस्य हेतुः संन्यास इति शास्त्रेषु डिण्डिमः।।३।।
द्विविधः कर्मसन्न्यासः फलसाधनभेदतः।
फलाय ज्ञानिनस्त्यागो जिज्ञासोर्ज्ञानसिद्धये।।४।।
ज्ञानित्वाद् याज्ञवल्क्योऽयं जीवन्मुक्तिफलेच्छया।
चित्तविक्षेपबहुलं गार्हस्थ्यं त्यक्तुमिच्छति।।५।।

त्याज्य हैं। पत्नी भी कर्मादिसाधन होने से धन अतः ज्ञाननिष्ठा के लिये त्याज्य है। यही बात पुत्र पर लागू होती है। वित्त से कर्म, कर्म से वित्तयह चक्र-सा है, इस चक्र से निकलने के लिये वित्तत्याग चाहिये। अत एव जब मैत्रेयी ने पूछा 'क्या मैं धन से अमर हो जाऊँगी?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा 'धनसे तो उसकी आशा भी नहीं!' इस सब विषय को सरस ढंग से बताने के कारण यह कथा शुभ है।।२।।

धनत्याग का भी पर्यवसित अर्थ बताते हैं **धनत्याग कहकर लक्षणा द्वारा तीनों एषणाओं का संन्यास बताया जा रहा है। शास्त्रों में यह डुगडुगी पीटी हुई है कि ज्ञान का हेतु संन्यास है।।३।।** बृ.३.५.१ में 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय' कहा है, ये तीन प्रधान एषणा, कामनाएँ हैं, सारी बाकी कामनाओं को इन्हीं कोटियों में कहीं-न-कहीं रखा जा सकता है। इहलोक की इच्छाएँ पुत्र से, परलोक की इच्छाएँ लोक से तथा साधनों की इच्छाएँ वित्त से उपलक्षित हैं। प्रकृत स्थल में वित्त से तीनों एषणाएँ उपलक्षित हैं। इन सभी दिशाओं में बिखरी अपनी कामनाओं को समेटे बिना मुमुक्षा स्थिर नहीं होती। ज्ञान यद्यपि प्रमाण से होगा तथापि संन्यास साधनचतुष्टय में ही परिगणित होने से अधिकारिविशेषण बनकर ज्ञान का हेतु बनता है। निष्ठा का तो वह अवश्य हेतु है ही।।३।।

याज्ञवल्क्य संन्यास से पूर्व ही मैत्रेयी को उपदेश देने वाले हैं जिसकी सार्थकता उन्हें तत्त्वज्ञ स्वीकारने पर है, यदि संन्यास ज्ञान का हेतु है तो याज्ञवल्क्य को ज्ञानी कैसे मानें, और तब उनका उपदेश कैसे संगत है? इस समस्या के समाधानार्थ संन्यास-द्वैविध्य बताकर याज्ञवल्क्य का संन्यास उपपन्न करते हैं **फलभूत और साधनरूप इस भेद से कर्मों का संन्यास दो तरह का है। ज्ञानी का संन्यास फल के लिये एवं जिज्ञासु का संन्यास ज्ञान-प्राप्ति के लिये होता है।।४।। क्योंकि ज्ञानी हैं इसलिये ये याज्ञवल्क्य जीवन्मुक्तिरूप फल की इच्छा से, जहाँ मन में बिखराव बहुतायत में होता है उस गृहस्थाश्रम को छोड़ना चाहते हैं।।५।।** ज्ञान का फल

निदिध्यासस्वेति शब्दात् सर्वत्यागफलं जगौ।
न ह्यन्यचिन्ताम् अत्यक्त्वा निदिध्यासितुम् अर्हति।।६।।

है जीवन्मुक्ति का सुख लेना। कर्म में संलग्न रहते आत्मचिंतन का आनंद लिया नहीं जा सकता क्योंकि कर्म ध्यान आकृष्ट करता है और आत्मानन्द बिना उसपर एकाग्र हुए ग्रहण नहीं होता। अतः तत्त्ववेत्ता विद्वत्संन्यास इसीलिये करते हैं ताकि जीवन्मुक्ति का आनंद लें। दूसरा संन्यास है उस अज्ञानी का जो अन्य कुछ नहीं केवल आत्मज्ञान चाहता है। उसे उन साधनों का ही अनुष्ठान करना है जो ज्ञान के साधन हैं अतः ज्ञानविरोधी, विक्षेपक कर्मों का परित्याग उसके लिये भी ज़रूरी है। इसे विविदिषा-संन्यास कहते हैं। याज्ञवल्क्य ज्ञानी थे ही फिर भी संन्यास चाहते हैं तो फल के लिये ही। गृहस्थ रहते चित्त बिखरा ही रहेगा क्योंकि नाना आवश्यक कार्य उसे व्यस्त रखेंगे। पत्नी, बच्चे, पड़ौसी आदि सभी बहिर्मुखता के लिये दबाव बनाते हैं अतः तत्त्वज्ञान के लिये आवश्यक श्रवण-मनन में संलग्नता बनी नहीं रह पाती। अतः जिज्ञासा स्थित होने पर भी बहुतायत नहीं हो पाती। संन्यासी को श्रवणादि में तत्पर रहना सुकर है क्योंकि केवल अपनी ही आवश्यकता पूरी करनी पड़ती है, अन्य कोई दायित्व नहीं रह जाता। हालाँकि जनकादि गृहस्थ रहते ज्ञाननिष्ठ प्रसिद्ध हैं तथापि वे अपवाद ही हैं, साधारण नियम यही है कि जीवन्मुक्ति का सुख संन्यास की अपेक्षा रखता है। किं च, अपने लिये अनिवार्य न होने पर भी विद्वत्संन्यास की शास्त्रीय परंपरा उचित अधिकारियों के लिये स्थापित करने के लिये भी याज्ञवल्क्य का संन्यास उचित है।।४-५।।

याज्ञवल्क्य ने उपदेश प्रारंभ करते हुए कहा है 'व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' अर्थात् 'मेरे व्याख्यान पर ध्यान दो'। इसका भाव समझाते हैं **'निदिध्यासस्व' ('ध्यान दो') इस शब्द से सब छोड़ने का फल कहा क्योंकि अन्य चिन्ताएँ छोड़े बिना कोई निदिध्यासन नहीं कर सकता (ध्यान नहीं दे सकता)।।६।।** ध्यान देने के लिये, ध्यान से सुनने-समझने के लिये मन में चिन्ता न रहना ज़रूरी है। किसी भी बाह्य कार्य की चिंता रहते या आंतरिक राग-द्वेषादिप्रयुक्त चिंताएँ रहते ध्यान नहीं रखा जा सकता। छोटा-सा भी काम हो 'दूध चूल्हे पर चढा है, कहीं उफन न जाये', या छोटी-सी चिन्ता हो - 'बेटे को बुखार है, कहीं बड़ी बीमारी न हो', तो भी श्रुत-मत पर ध्यान नहीं टिक पाता। संन्यासी के सामने ये समस्याएँ होंगी नहीं अतः वह ध्यान दे लेगा। इससे सूचित है कि यदि संन्यासी भी अपना जीवन बहिर्मुखी बनाकर कार्यव्यस्त और चिंताग्रस्त रहेगा तो पुरुषार्थ से वंचित होगा ही। कर्मत्याग अपने-आप में ज्ञान नहीं पैदा करेगा, ध्यान देने की व्यवस्था द्वारा उपकार करेगा। सर्वथा एकाग्रता ही संन्यास का

निरन्तरं विचारो यः श्रुतार्थस्य गुरोर्मुखात्।
तद् निदिध्यासनं प्रोक्तं तच्चैकाग्र्येण लभ्यते।।७।।
अनात्मन्यरुचिश्चित्ते रुचिश्चात्मनि चेद् भवेत्।
पुण्यपुञ्जेन शुद्धं तच्चित्तम् ऐकाग्र्यम् अर्हति।।८।।

फल है। याज्ञवल्क्य ने उपदेश के प्रारंभ में ही 'निदिध्यासन करो' कहकर उसके लिये आवश्यक संन्यास का विधान कर दिया यह भाव है।।६।।

'ध्यै'-चिन्तार्थक धातु से बना होने के कारण निदिध्यासन शब्द ध्यान का भी बोधक है लेकिन उपदेशारंभ में याज्ञवल्क्य यों प्रसिद्ध ध्यान का विधान नहीं कर रहे वरन् तत्त्व हृदयंगम करने के लिये आवश्यक प्रमाण-प्रमेय सम्बंधी ऊहापोह को एकाग्रता से करने को कह रहे हैं यह समझाते हैं **गुरुमुख से सुने वेदान्त-तात्पर्य का जो लगातार विचार है वह निदिध्यासन कहा गया है और उसकी उपलब्धि का उपाय है एकाग्रता।।७।।** 'सुनना' अर्थात् निश्चय-पर्यन्त समझना। समझ पर निरंतर, अर्थात् विरोधी चिन्तन मध्य में न आने देकर, विचार अर्थात् युक्ति और अनुभूति से समर्थन को यहाँ निदिध्यासन कहा है। अनेकाग्रता अर्थात् अनात्मचिन्ता यों निरन्तर विचार नहीं रहने देती। लगातार एक बात का चिंतन चलता रहे तब बोध में दृढता आती है, जैसे लगातार जो बालक एक ही भाषा बोलता-सुनता-लिखता-पढ़ता है वह भाषा उसे दृढतापूर्वक आ जाती है जबकि जो अनेक भाषाओं का व्यवहार करता है उसे उनका वैसा दृढ बोध नहीं हो पाता। इसके लिये एकाग्रता ज़रूरी कही। 'एक' यह परमात्मा का नाम है। केवल परमात्मा ही हमारे 'आगे' अर्थात् उद्देश्य हो तब हम एकाग्र होंगे। जैसे धन पर एकाग्र व्यापारी करता चाहे बहुत-कुछ है, खाता-पीता आदि भी है, लेकिन उसका मन धनलाभ पर ही टिका रहता है, हानि की कीमत पर वह कोई भोग-कर्म आदि नहीं करता, भोजन भी टालकर धनलाभ के कार्य को प्राथमिकता देता है, वैसे परमात्मा ही इकलौता प्रधान रहे यह एकाग्रता यहाँ अभिप्रेत है।।७।।

उक्त एकाग्रता का उपाय बताते हैं **यदि अनेक पुण्य फलित होने से चित्त में अनात्मा के प्रति अरुचि एवं आत्मा में रुचि हो तभी वह शुद्ध चित्त एकाग्रता के योग्य होता है।।८।।** वैराग्य ही चित्तशुद्धि है। अनात्मा आकृष्ट न करे, अच्छा न लगे और साथ ही साथ आत्मा आकृष्ट करे, अच्छा लगे, तभी चित्त शुद्ध कहलाता है और तभी वह एकाग्र हो पाता है। आत्मरुचि होने से मुमुक्षु को 'निराशावादी' आदि नहीं कहा जा सकता, वह तो मोक्षरूप परमपुरुषार्थ के प्रति आशान्वित है। ऐसी शुद्धि जिस

मुख्याऽमुख्यप्रेम

शुद्ध्यङ्कुरितम्[1] **ऐकाग्र्यं विवेकेनाभिवर्धयेत् ।**

प्रियाऽप्रियविवेकोऽतो मैत्रेय्या उपदिश्यते ।।९ ।।

विवेक से मिलती है उसके योग्य मानस एवं सारा माहौल मिलता है जब अनेक पुण्य इकट्ठे फलने लगते हैं। पुण्य के बिना वास्तविक वैराग्य न होकर, झूठा ही वैराग्य होता है अर्थात् दुःख से ही बचना चाहते हैं, सुख के प्रति यत्किंचित् सद्भाव रहता है तथा आलस्य के प्रति भी रुझान हो जाता है। जैसे, अति परिश्रमी व्यक्ति कार्यपूर्णता पर पुनः कार्यलग्न होने की अभिलाषा नहीं रखता क्योंकि करने से तृप्त हो चुकता है, वैसे वास्तविक वैराग्य के लिये पुण्य एकत्र करने वाला भी पुनः विषयाकर्षण के लिये तैयार नहीं होता क्योंकि विषय-स्वभाव से पूर्णतः परिचित हो चुकता है। अनात्मा चाहे आपाततः सुख लगे तो भी उसकी ओर आकृष्ट न होना यह स्थिति पुण्यों के प्रभाव से ही मिलती है। साथ ही पुण्य का ही फल है कि तामसता में आकर्षण न होकर परमात्मा में आकर्षण होता है कि 'मुझे परमात्मा ही चाहिये' ।।८ ।।

मैत्रेयी को ध्यान से सुनने को कहकर याज्ञवल्क्य ने एकाएक महावाक्य तो सुनाया नहीं, किसके लिये सब प्रिय होता है इसका वर्णन किया; इसमें उनका अभिप्राय बताते हैं **अन्तःकरणशुद्धि से जो एकाग्रता अंकुरावस्था को प्राप्त होती है उसे विवेकद्वारा बढाना चाहिये यह स्पष्ट करने के लिये क्या प्रिय है, क्या अप्रिय है इसे पृथक् कर समझने के लिये कहा जा रहा है ।।९ ।।** चित्तशुद्धि बीज है, एकाग्रता अंकुर है। यह अंकुर ही विविदिषा, मुमुक्षा आदि के रूप में भी समझा जाता है। यद्यपि लगता है कि यह भी एक इच्छा है तथापि यह लाभकारी इच्छा है! जो इच्छा न होना नुकसानदेह नहीं उसे पैदा करने की कोशिश नहीं की जाती लेकिन जो इच्छा फ़ायदेमन्द हो, जैसे भोजन की इच्छा, भूख वह न हो तो उसे पैदा करने की कोशिश भी की जाती है जैसे चूर्ण आदि का सेवन करते हैं। परमात्मा में रुचि न होना नुकसानदेह है क्योंकि तब प्राणी संसारचक्र में भटकता रहता है। अज्ञान व बहिर्मुखता रहते परमात्मरुचि नहीं होती, इसीलिये इसके उद्देश्य से पुण्यानुष्ठान चाहिये क्योंकि शास्त्र ने वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप आदि से विविदिषा-लाभ की संभावना बतायी है। रुचि होने पर ही परमात्मा पर चित्त एकाग्र होगा अन्यथा श्रवणादि में भी लगने पर मन में बिखराव

---

१. शुद्ध्याङ्कुरितम् - इति सारे।

बना रहने से निश्चय होगा नहीं, क्षणिक हुआ भी तो टिकेगा नहीं। पुण्यवश एकाग्र होना यह अंकुरावस्था है। जैसे अंकुर को जल-हवा-धूप-आदि मिले तो वृक्षाकार में पनपेगा, अन्यथा सूख भी सकता है, वैसे परमात्मरुचि को विवेक का सहयोग मिले तो ज्ञानरूप में विकास होगा अन्यथा एकाग्रता पुनः हाथ से निकल जायेगी। विवेक अर्थात् वस्तु-स्वरूप की ठीक जानकारी। यदि मिला-जुला रूप ही पता है तो उन्हें अलग-अलग करके समझना विवेक है। शास्त्र कहीं कार्य-अकार्य का विवेक बताता है, कहीं ज्ञेय-अज्ञेय का, सत्य-असत्य का, ज्ञान-अज्ञान का अंतर समझाता है; यहाँ याज्ञवल्क्य प्रिय-अप्रिय का विवेक बतायेंगे ताकि आनन्द-अनानन्द का अंतर स्पष्ट होकर आत्मा का आनन्दस्वरूप समझ आये। मैत्रेयी ने जो दीर्घकाल तक पतिसेवा कर उन्हें संतुष्ट किया था जिस कारण उन्होंने कहा 'तू मुझे पहले ही प्रिय थी, आत्मजिज्ञासा-व्यक्त करने से और अधिक प्रिय हो गयी' उस अपने पत्नी-धर्मरूप पुण्य से उसका चित्त शुद्ध होने से ही उसे धन से आकर्षण नहीं हुआ। तभी उसकी चित्तवृत्ति आत्मरूप धन की ओर गयी। इस दशा में उसे विवेक बढाने की आवश्यकता है। अभी आत्मा प्रिय तो हुआ लेकिन अनात्मा भी प्रिय है, पति आदि के प्रति भी कुछ आकर्षण है ही। विवेक से अनात्म-प्रेम घटाते जाने पर आत्मा से ही पूर्ण प्रेम रह जायेगा। जिसमें रुचि नहीं, उसमें रुचि पैदा करने-बढाने के लिये यह किया जाता है कि जिस में रुचि है उससे उसे जोड़ दें। जैसे खिलौनों से जोड़ देने पर बच्चे गणित में रुचि ले लेते हैं या कड़वी दवा गुड़ में लपेट देने पर शौक से खायी जाती है। हमें वास्तव प्रेम आत्मा से है, जहाँ आत्मसंबंध हो वहाँ इसीलिये प्रेम हो जाता है अर्थात् अनात्मा से प्रेम इसीलिये है कि वहाँ थोड़ा-बहुत आत्मा है। न पहचानने से हमें लगता है कि अनात्मा प्रिय है अर्थात् प्रिय-अप्रिय में हमारा विवेक गड़बड़ा गया है, इसे ठीक करने के लिये याज्ञवल्क्य यहाँ मैत्रेयी को उपदेश दे रहे हैं। सचमुच आत्मा ही प्रिय है यह समझ आना इस विवेक का फल है। जो बिना किसी कारण अच्छा लगे वही प्रिय होता है। बिना कारण हमें सिर्फ़ खुद से प्रेम है, बाकी किसी से प्रेम इसलिये अर्थात् इस कारण से होता है कि उसका हमसे संबंध है। जैसे लगता है कि हमें रसगुल्ला प्रिय है। किंतु हमें दिखा-छुआ-सुँघाकर अगर रसगुल्ला हमारे विरोधी को खिलाते जाओ तो हमें उससे प्रेम नहीं वरन् उस से द्वेष ही होता है! रसगुल्ला प्रिय हो, तो जहाँ-कहीं हो प्रिय रहेगा, परंतु रहता नहीं। अतः वह प्रिय इसलिये है कि मुझसे सम्बद्ध है, वह मुझे खिलाया जाये तो प्रिय है। जैसे जिसमें चीनी डालें वह मीठा हो जाता है ऐसे जिससे आत्मा जुड़ जाता है वह प्रिय हो जाता है। यों आत्मा किसी के

पतिजायादिभोग्येषु भोक्तर्यात्मनि चेक्ष्यते।
प्रीतिस्तत्र क्व मुख्येयं कुत्राऽमुख्येति चिन्त्यताम्।।१०।।

लिये अर्थात् किसी अनात्मसम्बंध से प्रिय नहीं, स्वरूप से ही प्रिय है। अंकुर-दशा में इस ओर तो दृष्टि गयी कि आत्मा प्रिय है लेकिन अभी यह नहीं समझ आने से कि अनात्मा अप्रिय है, अनात्मा से सर्वथा विमुखता नहीं आयी। विवेक से पोषण मिलने पर बहिर्मुखता निवृत्त होकर आत्मैक-प्रवणता स्थिर होगी।।९।।

याज्ञवल्क्यने प्रवचन प्रारंभ किया 'न वा अरे! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति'; उसमें कहा कि पति, पत्नी, पुत्र, धन, ब्रह्म (ब्राह्मणता), क्षत्र, लोक, देव, भूत (प्राणी) आदि सभी इनके लिये प्रिय नहीं होते वरन् आत्मा के लिये (अर्थात् अपने लिये) प्रिय होते हैं। इस भाग को समझाना शुरू करते हैं **पति, पत्नी आदि भोग्यों में तथा भोक्ता आत्मा में, दोनों में प्रेम होता है। विचारकर निर्णय यह किया जाये कि किसमें मुख्य (निष्कारण) प्रेम है, किसमें अमुख्य (सकारण, गौण) प्रेम है।।१०।।** अनुभवसिद्ध है कि भोग्य जड-चेतन विषय एवं जो हमारा भोक्ता-रूप, ये दोनों प्रिय हैं। रसगुल्ला प्रिय है तो जीभ भी प्रिय है! अब परीक्षा यह करनी है कि दोनों के प्रति जो प्रेम है उसमें से कौन-सा मुख्य (अकारण) और कौन-सा अमुख्य (सकारण, 'सशर्त', सापेक्ष) है। जैसे, रसगुल्ला और जीभ में से जीभ मुख्य है क्योंकि रसगुल्ला जीभ के लिये चाहिये, सिर्फ अल्मारी में रखने को नहीं। आगे जीभ भी अमुख्य हो जाती है क्योंकि मन के लिये जीभ प्रिय है, यदि मन खराब हो काम, क्रोध, शोक आदि से खिन्न हो और जीभ को रसगुल्ला याद आये तो और बुरी लगती है! शरीर रुग्ण हो पर जीभ चटोरी हो तो भी बुरी लगती है। फिर मन भी जब दुःखदायी हो जाता है तो बुरा लगता है, चाहते हैं कि किसी तरह वह नष्ट (अदर्शन-ग्रस्त) हो जाये ताकि 'मैं' चैन की नींद सोऊँ! यह जो 'मैं' है इससे कभी प्रेम कम नहीं होता अतः इसी से वस्तुतः मुख्य है और बाकी मन से लेकर रसगुल्ले तक सभी से इसी के लिये प्रेम है, उनसे प्रेम है बशर्ते वे इस 'मैं' को खुश करते हों, अन्यथा नहीं है। इससे पता चल जाता है कि मैं अर्थात् आत्मा ही वस्तुतः प्रिय है, अनात्मा नहीं।।१०।।

मुख्य प्रिय आत्मा ही है यह समझाते हैं **मैं हमेशा रहूँ ही, कभी ऐसा न हो कि मैं न रहूँ यों अकारण प्रेम आत्मा के प्रति सब प्राणियों में मिलता है।।११।।** 'अनौपाधिकी' अर्थात् उपाधि के बिना। उपाधि अर्थात् वस्तु-स्वरूप से अन्य

सदा भूयासमेवाऽहं मा न भूवं कदाचन।
इत्यनौपाधिकी प्रीतिः प्राणिनाम् आत्मनीक्ष्यते।।११।।
स्वसम्बन्धोपाधिनैव भोग्ये प्रीतिर्न तु स्वतः।
अन्यथा वैरिभोग्येऽपि भोग्यत्वात् प्रीतिरापतेत्।।१२।।

कोई विशेषता। आत्मा से प्रेम इसलिये नहीं कि उसमें कोई खासियत हो, बस इसलिये है कि वह आत्मा है! इसी को अकारण, अनौपाधिक प्रेम कहते हैं। प्रेम का रूप भी बता दिया - हमेशा रहने की अभिलाषा। रसगुल्ले तो ज़्यादा खाने पर लगता है 'अब और न खायें' और ज़बर्दस्ती खाने पड़ें तो बुरे लगते हैं, लेकिन 'अब 'मैं' न रहूँ' यह कभी नहीं लगता, शरीर मन आदि न रहें ऐसा लगने पर भी 'मैं' तो यही लगता है कि रहूँ ही। एक वृद्धा सदा कहती थी 'भगवान् मुझे उठा ले तो अच्छा'। एक दिन वह एक नन्हें बच्चे को गोद में लिये बैठी थी और खाट पर साँप आ गया। वह उस बच्चे को खाट पर ही छोड़कर उठ भागी! पूछने पर बोली 'तब वह सब कुछ न सूझा, बच्चा उठाने की सामर्थ्य है नहीं, अतः स्वयं को ही बचाने के लिये भागी।' अर्थात् 'मैं रहूँ ही' यह स्वाभाविक है। यही निरुपाधिक या मुख्य प्रेम है। देश-काल-मात्रा आदि किसी उपाधि के बिना स्वयं से प्रीति हमेशा रहती है। मनुष्य ही नहीं, कीट-पतंग तक में यह आत्मप्रेम है, वे भी स्वयं को कायम रखने में सचेष्ट रहते हैं। आत्मा से अन्य मन-इंद्रिय-शरीर भी तभी तक प्रिय रहते हैं जब तक आत्मा के सुख के हेतु बनें, जब वे आत्मा को दुःख देनें लगें तब उनसे भी प्रेम नहीं रह जाता। इस प्रकार मुख्य प्रेम कहाँ यह बताया।।११।।

आत्मा से अतिरिक्त में अमुख्य ही प्रेम है यह उपपन्न करते हैं **आत्म-सम्बन्धरूप उपाधि (कारण) से ही भोग्यों के प्रति प्रेम होता है, उक्त उपाधि के परामर्श के बिना भोग्यमात्र के प्रति नहीं। अन्यथा दुश्मन के भोग्य से भी प्रेम होना चाहिये!।।१२।।** आत्मा से अन्य जो भोग-विषय, भोग्य, अनात्मा, उनसे प्रेम होता तो है लेकिन तभी जब वे आत्मा से सम्बद्ध हों। आत्मसम्बन्धरूप उपाधि न हो, मैं से असम्बद्ध हो, तो भोग्य प्रिय नहीं लगता। अत एव दुश्मन का भोग्य, भले ही भोग्य बहुत अच्छा हो, फिर भी हमें प्रिय नहीं वरन् अप्रिय ही होता है। 'आत्म-सम्बन्ध' से वैसा सम्बंध विवक्षित है जो भोग्य को अनुकूल प्रतीत कराता है। प्रतिकूल लगता आत्मसम्बद्ध भी भोग्य अप्रिय है। अत एव जिसकी सौत हो उसे ही दुःख देती है, अन्यों को तो नहीं! पति को प्रिय भी लगती है, और लोग भी उससे खुश रह सकते हैं, केवल सौत को अप्रिय लगती है। वहाँ सम्बंध तो है लेकिन प्रातिकूल्य का है। अनुकूलता भी हमें स्वयं को लगे

अविचारेण पुत्रादौ या प्रीतिस्तां विचारतः।
आत्मन्येवोपसंहृत्य चित्तैकाग्र्यं विवर्धयेत्।।१३।।

तभी प्रेम होगा, किसी अन्य के अनुकूल भोग्य से हमें प्रेम नहीं होगा। इसलिये, मुख्य प्रिय आत्मा के सम्बन्ध-विशेष से ही अनात्मा से भी प्रेम अनुभव में आता है जो अमुख्य है। आगे विवेक करते जाना है कि जिस 'मैं' से मुख्य प्रेम है वह कौन है, क्या संघातरूप है या इसका साक्षी ही है। विचार से पता लगेगा कि साक्षी परमात्मा ही वास्तव में प्रिय है।।१२।।

प्रेमविषयक विवेक मुख्य-अमुख्य प्रेम का भेद समझना क्या प्रयोजन सिद्ध करता है, यह बताते हैं **बिना विचार किये जो पुत्रादि से प्रेम है, उसे विचार द्वारा आत्मा में ही केंद्रित कर चित्त की एकाग्रता बढ़ानी चाहिये।।१३।।** पुत्रादि भोग्य, अनात्मा से हमें प्रेम बिना विचारे ही होता है। लौकिक प्रेम होता ही बिना विचारे है, सोच-विचार कर किया जाये तो 'देने-लेने का सम्बंध' जैसी कोई व्यवस्था लगती है, प्रेम नहीं। विचार से उसी प्रेम को आत्मकेन्द्रित करना है। अभी प्रेम आत्मा पर ही स्थिर करना है। पुत्र से प्रेम पर विचार कर निर्णय करना है कि यह प्रेम वास्तव में पुत्र से नहीं, आत्मा से है। जैसे सब मिठाइयों में मिठास चीनी का ही है ऐसे कहीं लगे, प्रियता आत्मा की ही है। यह सावधानी रहने पर नाम-रूप-कर्म का महत्त्व समाप्त हो जाता है जिससे विक्षेपहेतु न रह जाने से चित्त एकाग्र हो जा सकता है। इस तरह के प्रसंगों में 'आत्मा' से देहादि नहीं समझने चाहिये, इनका साक्षी परमात्मा ही समझना चाहिये यह तो स्पष्ट ही है, पूर्वोत्तर प्रसंगों से भी निर्णीत है। यों विचार से समझ लेने पर ऐसा नहीं कि पुत्रादि को लगेगा कि हमें उनसे द्वेष है! फ़र्क हमारी समझ में रहेगा कि हम तब हमेशा जानेंगे कि हम पुत्रादि से नहीं वरन् आत्मा से प्रेम कर रहे हैं। इसलिये क्योंकि रहेगा प्रेम ही इसलिये उन्हें ग़लतफहमी बनी भी रह सकती है कि उन्हीं से प्रेम कर रहे हैं! परमात्मवेत्ता के व्यवहार से सभी को लगता है कि 'इन विद्वान् का हमसे प्रेम है' जबकि वस्तुतः उनका परमात्मा से ही प्रेम है। साधक जब तक प्रयासशील है तब तक तो पुत्रादि को लग भी सकता है कि उसका उनके प्रति प्रेम कम हो गया या नहीं रह गया, लेकिन जब सिद्धि-प्राप्ति हो जाती है तब ऐसा लगना प्रायः संभव नहीं यद्यपि किसी-किसी सिद्ध की अन्तर्मुखता से ऐसा अन्यों को प्रतीत हो तो भी कोई हानि नहीं।।१३।।

उक्त प्रकार से मुख्य प्रिय बताकर याज्ञवल्क्य बोले 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' कि आत्मा ही दर्शनयोग्य है, उसे ही सुनना-सोचना चाहिये,

आत्मा द्रष्टव्यः

ऐकाग्र्यम् अचलं कृत्वा निदिध्यासनकारणम्।
आत्मा द्रष्टव्य इत्येतत् सूत्रं व्याख्यातुम् आददे।।१४।।

उसी पर ध्यान स्थिर करना चाहिये। इस प्रसंग का व्याख्यान प्रारंभ करते हैं **निदिध्यासन तभी हो सकता है जब एकाग्रता होइस ध्रुव सत्य का प्रतिपादन कर याज्ञवल्क्य ने 'आत्मा द्रष्टव्य है' इस सूत्र का उल्लेख किया ताकि इसे समझायें।।१४।।** मैत्रेयी से कहा था 'निदिध्यासस्व' तू निदिध्यासन कर। निदिध्यासन कैसे होता है? चित्त की एकाग्रता से। एकाग्रता कैसे होती है? हर चीज़ परमात्मा के लिये प्रिय है इस बात को समझने से जब सारा प्रेम परमात्मा की तरफ ही प्रवहित होने लगता है तभी उस पर एकाग्रता होती है। जितना प्रिय-विषयक विवेक बढ़ेगा उतनी परमात्मा में रुचि बढ़ेगी, उन्हीं में चित्त ज़्यादा लगेगा। जैसे धनप्रेमी अन्य भी व्यवहार करता है पर चित्त धन पर ही टिका रहता है, धनार्जन-अविरोधी ही कार्य करता है, तद्विरोधी कार्य नहीं, वैसे विवेकी भी व्यवहार कर सकता है पर चित्त मुख्य प्रिय परमात्मा पर ही टिकाये रखेगा, परमात्मनिष्ठा से अविरुद्ध व्यवहार उससे हो पायेंगे, विरुद्ध नहीं। काहे से प्रेम है इस बारे में विवेकी भूल नहीं करता। तभी गुरुमुख से सुने वेदान्तोपदेश पर निरंतर विचाररूप निदिध्यासन संभव होता है। 'अचलं कृत्वा' अर्थात् यह निर्विवाद स्थापित करके कि एकाग्रता निदिध्यासन-कारण है। अथवा 'निदिध्यासनकारणभूत एकाग्रता को स्थिर करके आत्मा का दर्शन करना चाहिये' इतना भाव सूत्र का विवक्षित है। पूर्वोक्त विवेक से बहिर्मुखता निवृत्त होने पर श्रवणादि संभव होंगे अन्यथा नहीं। आत्मप्रेम के बिना आत्मा पर ध्यान न टिकने से उसका स्वरूप समझ ही नहीं आयेगा। याज्ञवल्क्य ने आत्मदर्शन के लिये कहने से ही सूचित कर दिया कि अब तक जो समझ रहे हैं वह आत्मा का रूप नहीं है। अर्थात् उसके बारे में समग्रता से बोध होने से पूर्व ही उस पर एकाग्रता और प्रेम स्थिर करना ज़रूरी है। उपासनामार्ग में तो ध्येय समझकर ध्यान हो पाता है जबकि ज्ञानमार्ग में ध्यान होने पर समझ आती है। उपासना के लिये पहले समझो कि विष्णु चतुर्भुजादि कैसे-कैसे हैं तब ध्यान करो और यहाँ पहले ध्यान करके चित्त एकाग्र करो तब समझना शुरू होगा। समझ आने से पूर्व तक ही सब 'करना' है, समझ आते ही 'करना' छूट जाता है। आत्मा समझ आते ही बंधन समाप्त हो जाता है। यद्यपि श्रवण-मननोत्तर भी निदिध्यासन का स्थान है क्योंकि तीनों के संवलन से ही दृढ साक्षात्कार संभव है तथापि यहाँ भाव है कि परोक्ष बोध के लिये भी ज़रूरी है कि आत्मा

आहात्मशब्दः प्रत्यञ्चं तथा लोकेऽनुभूतितः।
अनेनाऽत्राऽऽत्मशब्देन प्रमेयं निर्दिदिक्षितम्।।१५।।
द्रष्टव्य इति निर्दिष्टा प्रमितिर्दृशिधातुना।
अज्ञातज्ञापनं तव्यप्रत्ययेनाऽभिधीयते।।१६।।

पर चित्त स्थिर हो। 'परोक्ष बोध' का मतलब है कि जिसमें व्यापकता का भान नहीं। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने समझाया कि विवेकपूर्वक प्रियरूप आत्मा पर चित्त स्थिर कर उसके स्वरूप को समझने का प्रयास कर्त्तव्य है। इस प्रसंग का यह 'विद्यासूत्र' है, इसी में निहित भावों का आगे उपनिषत् विस्तार करेगी।।१४।।

आत्मा दर्शनयोग्य है इस श्रुतिवाक्य का अर्थ करते हैं **आत्मा-शब्द प्रत्यग् वस्तु का बोधक है क्योंकि लोक में यही अनुभव होता है (कि 'आत्मा' सुनकर हम 'मैं' को समझते हैं।) यहाँ आये इस आत्मा-शब्द से प्रमेय का निर्देश इष्ट है।।१५।।** जो कभी विषय न बन सके, स्वयं से भेदेन जिसे न समझा जा सके वह प्रत्यक् कहलाता है। उसी को 'आत्मा'-शब्द कहता है। सनातन परंपरा ही विश्व में एकमात्र ऐसी है जो परमेश्वर को प्रत्यग्रूप बताती है। यहाँ 'द्रष्टव्य' से जिसके बारे में सही ज्ञान पाने के लिये कहा अर्थात् प्रमेय-रूप में जिसे अभिप्रेत किया वही आत्मा कहा गया।।१५।।

'आत्मा'-शब्दार्थ बताकर 'द्रष्टव्य'-शब्दार्थ बताते हैं **'द्रष्टव्य' - इस शब्द में दृश-धातु से प्रमिति (प्रमा), तथा 'तव्य'-प्रत्यय से 'अज्ञात का ज्ञान कराना' कहा गया है।।१६।।** द्रष्टव्य अर्थात् देखने योग्य, जिसे देखना चाहिये। अतः इसमें दो हिस्से हुए 'देखना' और 'चाहिये'। देखने से तात्पर्य है सही ज्ञान, भ्रम-संशय के रूप में जो देखना वह वास्तव में न देखना ही है। अतः दृश-धातु अर्थात् 'देखना' का अर्थ प्रमा है, ठीक ज्ञान है। हमें दूर से खम्भा पेड़ दीखता है तो जानकार कहता है 'पास जाकर देखने योग्य है, अभी नहीं दीख रहा' अर्थात् भ्रम को दीखना नहीं मानते। जब तक भ्रम है तब तक सच का अज्ञान ही है। उस अज्ञात को निरावृत करो यही यहाँ 'चाहिये' का तात्पर्य है। जैसे 'तुम्हें पेड़ देखना चाहिये' का अर्थ है कि पेड़ के बारे में (जिसे पेड़ समझ रहे हो उसके बारे में) जो तुम्हें अज्ञान है उसे दूर करो। अज्ञात वस्तु के विषय में जो अज्ञान, उसे हटाना यह 'चाहिये' का तात्पर्य हुआ। अभी हम आत्मा को ग़लत ढंग से जान रहे हैं जिसे हटाकर सही ढंग से जानने के लिये 'द्रष्टव्य' कहा है। कर्त्ता-भोक्ता समझ रहे हैं, यह ग़लत समझ है, सच्चिदानन्द समझना है।।१६।।

अज्ञात आत्मा वेदान्तजन्यज्ञानेन मीयते।
इत्येष एव वाक्यार्थो नाऽप्रवृत्तप्रवर्तनम्।।१७।।
नन्वहम्प्रत्ययेनाऽऽत्मा वेदान्तश्रवणात् पुरा।
विज्ञात इति चेन्मैवं सार्वात्म्याऽनवबोधनात्।।१८।।
लिङ्गदेहपरिच्छिन्नरूपग्राहिण्यहंमतिः।
सार्वात्म्यम् आत्मनस्तत्त्वं तदज्ञातम् अहंधिया।।१९।।

'आत्मा द्रष्टव्यः' इन दोनों शब्दों का अर्थ बताकर पूरे वाक्य का भाव व्यक्त करते हैं **वेदान्तों से उत्पाद्य ज्ञान के द्वारा अज्ञात आत्मा ठीक-ठीक समझा जाता है यह इस वाक्य का अर्थ है। जो प्रवृत्त नहीं उसे प्रेरित करना प्रकृत वाक्य का अर्थ नहीं।।१७।।** 'चाहिये' से प्रायः कुछ करने में प्रेरित किया जाता है अतः स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रकृत वाक्य ऐसा प्रेरक नहीं वरन् इस तथ्य का बोधक ही है कि वेदांतों से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। रूपादिहीन होने से इंद्रियों से अगम्य, अतः प्रत्यक्ष के अयोग्य आत्मा अनुमान के भी अयोग्य है, कारण कि प्रत्यक्षगृहीत व्याप्ति आदि के बल पर ही अनुमान हो पाता है। इसलिये वह केवल वेदान्तों से ही समझा जा सकता है, शब्दैकसमधिगम्य है। लोक में भी ऐसे तथ्य होते हैं : अमुक वृक्ष नीम का है यह पहली बार हम किसी के शब्द से, कहने से ही समझ पाते हैं, अन्य कोई साधन इस ज्ञान का है नहीं। वेदांतों से ही आत्मा की यथार्थता समझी जा सकती है इतना इस विद्यासूत्र ने कहा। इसके लिये करना हमें यही है कि चित्त को आत्मा पर केन्द्रित कर वेदांतों का श्रवण-मनन करें, इससे जो ज्ञान होगा वह स्वयमेव आत्मसम्बन्धी अज्ञान को निवृत्त करेगा, वह हमारे करने का कार्य नहीं, उसमें कर्त्ता स्वतंत्र होता भी नहीं, प्रमा (अज्ञाननिवृत्ति) प्रमाण पर निर्भर होती है।।१७।।

आत्मा अज्ञात है अतः द्रष्टव्य है यह कहा। किंतु आत्मा तो हमें मालूम ही है, अज्ञात कहाँ? यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं **वेदान्तों का श्रवण करने से पूर्व ही 'मैं'-अनुभव से आत्मा अनुभूत ही है तो अज्ञात कैसे? यह कथन ठीक नहीं क्योंकि आत्मवस्तु की सर्वात्मता का अनुभव नहीं है।।१८।। सूक्ष्म (तथा स्थूल) शरीर से सीमित रूप को ही 'मैं'-अनुभव ग्रहण करता है जबकि आत्मा की वास्तविकता सर्वात्मता है तथा वह 'मैं'-अनुभव से भी अज्ञात ही है।।१९।।** मैं-अनुभव आत्मविषयक होने पर भी उसके अवास्तविक रूप का ग्राहक है जैसे पेड़-अनुभव खंभे के अवास्तविक रूप का ग्राहक है। अतः मैं अनुभव अर्थात् परिच्छिन्न

सर्वासूपनिषत्स्वेतत् सार्वात्म्यं प्रतिपाद्यते।
कार्यज्ञेयसमाप्तिः स्यात् सार्वात्म्यस्याऽवबोधतः।।२०।।

आत्मा का ज्ञान ही वह भ्रम है जो सिद्ध करता है कि आत्मा वास्तव में अज्ञात है। सर्वात्मता अर्थात् व्यापक परिपूर्णता आत्मा का सच्चा रूप है। वह वेदांतजन्यबोध से पूर्व अज्ञात ही है। अभी हम आत्मा को देहपरिच्छिन्न ही समझते हैं, 'मैं'-से देवदत्त, काला, लम्बा आदि ही समझते हैं। कुछ विवेक हो तो सूक्ष्म से परिच्छिन्नपरलोक सम्बंधी समझ पाते हैं। किंतु अपरिच्छिन्न व्यापक वस्तु वह है, यह बोध नहीं होता। सुषुप्ति ही एक स्थान है जहाँ अज्ञानी को भी बिना देहद्वय के आत्मा अनुभव में आता है लेकिन मैं-अनुभूति उसी रूप को ग्रहण नहीं करती वरन् देहविशिष्ट (अहंकारविशिष्ट) को ग्रहण करती है। वैसे सुषुप्ति में भी सर्वात्मता नहीं पता चलती, अज्ञानवैशिष्ट्य ही रहता है, अतः उसका विचार कर लें तो भी आत्मा की सचाई अज्ञात ही रह जाती है। जैसे कुएँ के मेढक को कुएँ जितना ही सारा संसार लगता है ऐसे हमें मन-जितना ही आत्मा लगता है! समझ ही नहीं पाते कि मनुष्य ही नहीं कीट-पतंग-घास-झाड़ी तक सभी का आत्मा एक अखण्ड ही है! आत्मा तो सर्वात्मा है, एक-दो-लाख-करोड़ का ही तो आत्मा नहीं है, सभी का आत्मा है। अकृतश्रवण को 'मैं'-अनुभव से कभी ऐसा आत्मा नहीं समझ आता अतः उसे अज्ञात मानकर द्रष्टव्य कहना उचित है।।१८-१९।।

अज्ञात होने से ही इसका प्रतिपादन करने पर शास्त्र प्रमाण होता है यह बताते हैं **यह सर्वात्मता सभी उपनिषदों में समझायी गयी है। सर्वात्मता के साक्षात्कार से कार्य और ज्ञेय रह नहीं जाते।।२०।।** प्रमाण अज्ञात को ही विषय करता है। तात्पर्य भी इसलिये उसी में मान्य है जो अपूर्व अर्थात् अज्ञात है। उपनिषदें आत्मा की सर्वरूपता कहती हैं। यदि यह ज्ञात होता तो उपनिषदें कहती ही नहीं, कहीं एक-आध जगह प्रसंगवश अनुवाद करतीं भी तो सर्वत्र उपक्रमादिलिंगों समेत प्रतिपादित न करतीं, जबकि किया है, एक-दो उपनिषदों में ही नहीं, सभी उपनिषदों में इसी का खुलासा किया गया है। अतः इसे अज्ञात मानना ही ठीक है। ऐसा भी नहीं कि इसका ज्ञान निष्फल है। इस सर्वात्मता को जान लेने पर कुछ जानने लायक और करने लायक नहीं बचता। अभी तो हमें बहुत-कुछ जानने-करने लायक दीखता है अतः निश्चित है कि हम सर्वात्मता से बेखबर हैं। श्रवणादि से यह बोध हो जाने पर क्योंकि हम सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त हो जाते हैं इसलिये करने-जानने लायक न हम रहते हैं, न कोई कार्य या ज्ञेय रहता है! करने का

आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्त्या तत्त्वधीरुपदर्शिता।
श्रोतव्य इत्यादिना तु विचार उपदर्श्यते।।२१।।
श्रुत्यर्थाविष्कृतेर्हेतुः शब्दशक्तिविवेककृत्।
श्रुतिलिङ्गादिको न्यायः[1] प्रोक्तः श्रोतव्य इत्यतः।।२२।।

उत्पाद्य आदि चतुर्विध फल आत्मा से असंबद्ध है, जानने का विषय समझा जाता संसार मिथ्या है, अतः कार्य व ज्ञेय की समाप्ति संगत है। काशी में एक महात्मा थे। उनके पैर में घाव हो गया, कीड़े पड़ गये। वे इलाज कराते नहीं थे। कोई कीड़ा घाव से निकल कर बाहर गिर जाये तो 'बेचारा भूखा मरेगा' सोचकर पुनः घाव पर उसे रख देते थे! कीड़े का भी आत्मा वही जो मेरा आत्मा ऐसा समझने पर कार्य या ज्ञेय बचना संभव नहीं। एक ही देह-मन से संबद्ध स्वयं को जानने तक कार्य-ज्ञेय रहते हैं, सर्वात्मता के अनुभव के बाद नहीं। इस प्रकार अज्ञात होने से आत्मप्रतिपादन शास्त्र में है और सफल होने से भी है यह भाव है। शास्त्र-प्रामाण्य के लिये ये दोनों परिस्थितियाँ चाहिये।।२०।।

सूत्रव्याख्या पूरी कर 'श्रोतव्यः' का अर्थ बताते हैं **'आत्मा द्रष्टव्य है' इस कथन से तत्त्वज्ञान दिखाया। वह श्रोतव्य है इत्यादि से तो विचार दिखाया जा रहा है।।२१।।** 'द्रष्टव्यः' विधि नहीं यह बताया। 'श्रोतव्यः' आदि विधियाँ हैं अतः इनसे ज्ञान न कहकर ज्ञानोपायभूत विचार कहा जा रहा है। श्रवण-मनन तो विचार है ही, निदिध्यासन भी तर्क-विशेष होने से विचार कहा जाये तो ग़लत नहीं। संक्षेपशारीरक १.४८१ एवं सिद्धांतबिंदु श्लो. ८ में इस बारे में स्पष्टीकरण मिलता है। विचार करने का फल होगा कि हमें सर्वात्मता का साक्षात्कार हो जायेगा।।२१।।

साधारण 'श्रोतव्य' का अर्थ 'सुनना चाहिये' ही लगता है लेकिन यहाँ वही भाव नहीं, विचार का विधान है यह समझाते हैं **'श्रोतव्य' इस शब्द से वह विचार का तरीका कहा है जिसमें श्रुति-लिंग आदि का उपयोग किया जाता है ताकि वेदांतों में आये शब्दों का सही अर्थ पता चले एवं जिस (तरीके) से श्रुति के तात्पर्य अर्थ का प्रकाश होता है।।२२।।** 'श्रुतिलिंगादिको न्यायः शब्दशक्तिविवेककृत्' यह वार्तिक में (२.४.२१४) श्रवणका रूप कहा है जिसका शास्त्रप्रकाशिक (आनंदगिरीय) में अर्थ किया है 'श्रुत्यादिभिः शक्तितात्पर्यनिश्चायकैः न्यायैः ब्रह्मात्मनि वेदान्ततात्पर्यनिरूपणं श्रवणम् इत्यर्थः' अतः यहाँ 'न्यायः' का अभिप्राय उक्त निश्चयलाभार्थ किये विचार से

---

१. न्यायः = तर्कः द्र. विवरण २८६।

ही है। श्रुति का अखण्ड तात्पर्य समझ जैसे आये वह विचार का तरीका न्याय है। वाक्यार्थ समझने के लिये पदार्थ जानने जरूरी अतः वेदांतों में आये शब्दों की शक्ति किन अर्थों में है इसे समझना पड़ेगा। 'शक्ति' अर्थात् उन शब्दो में किन अर्थों को उपस्थापित करने की सामर्थ्य है, वह चाहे शक्तिरूप हो या लक्षणारूप हो। अत एव 'शक्तिविवेक' कहा; केवल शक्ति या रूढि से लब्ध अर्थ विवक्षित हो यह जरूरी नहीं अतः विवेकपूर्वक समझना पड़ेगा कि कहाँ क्या अर्थ अभिप्रेत है। इस कार्य में सहायतार्थ कुछ नियम निर्धारित हैं जिनके अनुसार वेदोक्त शब्दों के भाव समझ आते हैं। जैमिनि सूत्र ३.३.१४ में 'श्रुति' आदि छह का वर्णन है जिनसे पता चलता है कि वेदवाक्य का क्या भाव है। जैसे बारीक अक्षर पढ़ने हों तो रोशनी भी तेज़ चाहिये। तेज़ रोशनी अक्षरों में कोई विशेषता नहीं लाती लेकिन तेज़ रोशनी से उनका सही रूप प्रतीत हो जाता है, वैसे ही उक्त नियमों से निर्धारण करने पर वेदार्थ ठीक से प्रतीत हो जाता है, अन्यथा या प्रतीत नहीं होता, या ग़लत प्रतीत होता है। यद्यपि श्रुत्यादि जो मीमांसा में कहे वे अंगता के बोधनार्थ उपयुक्त हैं, शब्दार्थ निर्धारण में नहीं, तथापि तात्पर्य है कि जैसे सांगोपांग विधि के अर्थ को समझने में श्रुत्यादि सहायक हैं वैसे वेदान्तार्थ समझने में भी हैं। अत एव प्रथमा विभक्ति में ही तत्- त्वम का कथन अभेदार्थ पता चलता है। अजर-अमर आदि कहा होने से अर्थात् इस लिंग से समझ आता है कि शरीर आत्मा नहीं। 'बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यः' आदि वाक्य से पता चलता है कि ज्ञान ही कृतकृत्यता का हेतु है। यमराज का उपदेश किसके बारे में है इस निर्णय के लिये प्रकरण-प्रमाण का प्रयोग करना पड़ता है यह ब्रह्मसूत्र (१.४.६) आदि से स्पष्ट है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः...श्रवणेन मत्या विज्ञानेन (बृ.२.४.५) इस वाक्य में स्थान-प्रमाण से निदिध्यासन का स्वरूप विज्ञान है यह निश्चित होता है। 'औपनिषदम्' समाख्या (नाम) से निर्धारित होता है कि अन्य किसी प्रमाण का अविषय परमात्मा ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य है। इस प्रकार उक्त न्याय के उपयोग से वेदान्तों में आये शब्दों के अभिप्रेत अर्थ समझना यह श्रवण कहा जा रहा है। 'श्रुत्यर्थाविष्कृतेः' में श्रुति मतलब वेद। 'श्रुतिलिंगादिकः' में श्रुति मतलब जो मीमांसकों द्वारा स्पष्टीकृत विधात्री (लिङादि), अभिधात्री (व्रीहि आदि) और विनियोक्त्री (विभक्त्यादि) भेद वाली अंगताबोधक है। अथवा 'श्रुतिलिङ्गादिकः' का अभिप्राय श्रुत्यर्थनिर्धारक उपक्रमादिलिंगों के विचारानुसार समझनायह श्रवण का अर्थ है। पंचदशी (७.१०१) में यही कहा है 'वेदान्तानाम् अशेषाणाम् आदिमध्यावसानतः। ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यम् इति धीः श्रवणं भवेत्।।' इसकी व्याख्या में 'उपक्रमोपसंहारादि-

अर्थाऽसम्भावनोच्छेदी तर्को मननमीरितम्।
वेदशास्त्राऽविरोध्यत्र तर्को ग्राह्यो न चेतरः।।२३।।
अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते।
ध्यानशङ्कानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेत्युदीरणात्।।२४।।

पर्यालोचनायां निश्चयः श्रवणम्' यह बताया है। पंचपादिका (वर्णक ६, पृ. ६५२) में 'श्रवणं नाम-आत्मावगतये वेदान्तवाक्यविचारः, शारीरकश्रवणं च' यह स्वरूप कहा है। विवरण में (वर्णक ८, पृ. ५७३ आदि) उपक्रमादि छह का कथन और तत्त्वदीपन में श्लोकात्मक संग्रह है।।२२।।

मनन-शब्द का तात्पर्य बताते हैं **वेदान्तों का अर्थ असम्भव हैइस भावना का उन्मूलन करने वाला तर्क मनन कहा गया है। इस प्रसंग में वेद-शास्त्र का अविरोधी ही तर्क समझना चाहिये, विरोधी नहीं।।२३।।** वेद का अद्वैतरूप अर्थ पता चलने पर भी हमारी अभी जो समझने-बूझने की पद्धति है उससे वह बेमेल लगने के कारण प्रतीत होता है कि वह अर्थ होना संभव नहीं। सर्वत्र एक आत्मा हैयह साधारण बुद्धि स्वीकारती नहीं। कपिल, कणाद आदि भी अनेक आत्मा ही मानते हैं। अतः तर्क के प्रयोग से समझना पड़ता है कि वेदोक्त अर्थ कैसे सम्भव है। हमें जो विरोध लगता है वह उपाधियों के बारे में है, न कि आत्मा के बारे मेंयह तर्क से, युक्ति-विचार से निर्धारित होता है। तर्क तो दुधारी तलवार-सा होने से वेदार्थ-विरोध भी कर सकता है अतः वैसे तर्क से बचने को कहा, वेदार्थ-उपपादक तर्क का ही अनुसन्धान करने को कहा। भाष्यादि एवं विविध प्रकरणों में यही तर्क समझाया गया है।।२३।।

निदिध्यासन-पद का अर्थ बताते हैं **यहाँ निदिध्यासन वह बोध कहा गया है जो किसी के पराधीन नहीं, क्योंकि 'यहाँ ध्यान कहा जा रहा होगा' यह शंका मिटाने के लिये श्रुति ने ही 'विज्ञान' शब्द से निदिध्यासन की व्याख्या कर दी है।।२४।।** श्रवण-मनन करके स्थिर ज्ञान होना यह निदिध्यासन है। श्रवण करने पर, मनन करने पर अद्वैत का निश्चययह परायत्त बोध है, श्रवण-मनन पर निर्भर बोध है। जब दृढता हो गयी तब श्रवण-मनन करें न करें, बोध कायम रहता है तब अपरायत्त, स्वतंत्र बोध है। यही विज्ञान शब्द से कहा जाता है। यहाँ ध्यानरूप निदिध्यासन विवक्षित नहीं यह सूचित करने के लिये इस वाक्य में श्रुति ने निदिध्यासन के लिये विज्ञान शब्द रखा। निदिध्यासन से तो ध्यान समझा जा भी सकता था लेकिन विज्ञान से ध्यान समझने की संभावना नहीं। प्रायः अविद्यमान, अननुभूयमान का चिंतन

द्रष्टव्य इति विज्ञानम् उद्दिश्य श्रवणं तथा ।
मननं च विधायाऽथ विज्ञानमवधिं जगौ ।।२५ ।।

आत्मधिया सर्वज्ञता

नन्वनात्मा न विज्ञात आत्मदर्शनमात्रतः ।
ततोऽकृत्स्नत्वदोषश्चेद्, मैवं सर्वस्य वेदनात् ।।२६ ।।
आत्मनो दर्शनेनेदं दृष्टं स्याद् अखिलं जगत् ।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यात् कार्यकारणवस्तुनः ।।२७ ।।

ध्यान कहलाता है। आत्मा विद्यमान, अनुभूयमान है तो इसका चिंतन, 'ऐसा ही है' यह निश्चय, ध्यान नहीं कहा जायेगा। ध्यान तो 'करने' के अधीन रहेगा लेकिन ज्ञान हो जाने पर स्वयं बना रहेगा, उसे रखने के लिये 'करना' कुछ नहीं पड़ेगा। वेदान्तों से इस विज्ञान की प्राप्ति हो सके इसके लिये ध्यान चाहिये, जिसे प्रारंभ में 'निदिध्यासस्व' कहा था।।२४।।

शंका होगी कि याज्ञवल्क्य ने आत्मा को पहले द्रष्टव्य तब श्रोतव्यादि कहा; द्रष्टव्य से उक्त दर्शन ही तो विज्ञान होगा; तब निदिध्यासन से कौन-सा विज्ञान बताया जा रहा है? इसका समाधान बताते हैं **'द्रष्टव्य' से विज्ञान को उद्देश्य बताकर उसके साधनभूत श्रवण और मनन की (श्रोतव्य-मन्तव्य से) विधिकर तब 'विज्ञान' से वह सीमा बतायी जब तक श्रवण-मनन करना है।।२५।।** जिसके लिये साधन करने हैं वही उद्देश्य और अवधि (सीमा) होगा अतः दर्शन और विज्ञान (अतः निदिध्यासन) एक ही हैं जो उचित है। जैसे ध्यान ध्येयभावप्राप्ति पर्यन्त कर्त्तव्य है, परलोक में फलने वाली उपासना आजीवन कर्त्तव्य है, वैसे श्रवणादि विज्ञानलाभ-पर्यन्त कर्त्तव्य है यह भाव है, अतः श्रवण-मनन की आवृत्ति तब तक करते ही रहना चाहिये जब तक साक्षात्कार न स्थिर हो जाये।।२५।।

याज्ञवल्क्य ने कहा 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' कि आत्मा के ही विज्ञान से यह सब कुछ जान लिया जाता है। इस पर प्रश्नोत्तर व्यक्त करते हैं **केवल आत्मा के विज्ञान से अनात्मा को जान नहीं लिया जायेगा, अतः 'इस सबकी' जानकारी तो नहीं हो पायेगी, फिर याज्ञवल्क्य ने 'सब जान लिया जाता है' कैसे कहा? उक्त प्रश्न ठीक नहीं क्योंकि सबका ज्ञान हो जाता है।।२६।। आत्मा के दर्शन से यह सारा जगत् देख लिया जाता है क्योंकि व्यक्त-अव्यक्त सभी वस्तुओं की यथार्थता सिर्फ प्रत्यगात्मा ही है।।२७।।**

कार्यात्मा कारणात्मा च द्वावात्मानौ परात्मनः ।
प्रत्यग्याथात्म्यमोहोत्थौ मोहे नष्टे विनश्यतः ।।२८।।
मोहतत्कार्ययोर्बाधे प्रत्यक् सर्वमितीर्यते ।
अतः प्रतीचि विज्ञाते सुलभं सर्ववेदनम् ।।२६।।

परात्मा (प्रत्यगात्मा) के दो रूप हैंकार्यरूप और कारणरूप। दोनों प्रत्यगात्मा की वास्तविकता के अज्ञान से उपजे हैं, अज्ञान मिटते ही समाप्त हो जाते हैं।।२८।। अज्ञान व उसके कार्यों का बाध हो चुकने पर प्रत्यगात्मा को ही 'सब कुछ' कहा जाता है अतः उसे जान लेने पर सब कुछ का ज्ञान सुलभ है।।२६।। साधारण लोग सर्वज्ञता से समझते हैं कि संसार की सब चीज़ों का ज्ञान हो जाये! अतः ब्रह्मज्ञ से आशा करते हैं कि उनकी खोयी भैंस की जानकारी देगा! अतः स्पष्ट किया कि जो वास्तव में है उसे जानना ही सर्वज्ञता है, संसार-भेद हैं नहीं तो उन्हें जानना सर्वज्ञ के लिये कैसे संभव है? उनके बारे में तो यही जानना है कि वे हैं ही नहीं। ब्रह्मज्ञान से सर्वज्ञता उपनिषदों में सर्वत्र कही है और सर्वत्र उसका यही भाव है। अज्ञात रस्सी भ्रम से क्या-क्या दीख सकती हैयह जानकारी वास्तविक रस्सी की जानकारी नहीं कहलाती है! आत्मदर्शन होने पर संसार का कोई भी टुकड़ा (खिल) ऐसा नहीं रह जाता जो हो और बिना जाना रह जाये; संसार का ऐसा कोई अंश रहता ही नहीं। जगत् की दो ही अवस्थाएँ हैंअव्यक्त या कारणावस्था और व्यक्त या कार्यावस्था। मूल अविद्या निवृत्त होने पर दोनों न रह जाने से कोई अनात्मा नहीं रहता जो जाना जा भी सके। संसार की सचाई ही परमात्मा है, उसकी जानकारी सर्वज्ञता है। अधिष्ठानभूत परमात्मा, जिसे यहाँ प्रत्यगात्मा शब्द से प्रायः कह रहे हैं, उसे जब तक नहीं जानते तब तक वही कारण और कार्य रूपों वाला लगता है। कारणोपाधिक को ही ईश्वर तथा कार्योपाधिक को ही जीव (और जगत्) समझा जाता है। प्रत्यगात्मा को सही-सही समझने पर ये दोनों रूप निवृत्त हो जाने से 'सब कुछ' रह ही परमात्मा जाता है अतः मात्र उसी का ज्ञान सर्वज्ञता है।।२६-२६।।

आगे याज्ञवल्क्य ने कहा 'ब्रह्म तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादि अर्थात् जो ब्राह्मण-क्षत्रिय जाति को, लोक-देव-भूत-सर्व को आत्मा से अन्य समझता है उसे वे जाति आदि कैवल्य से वंचित रखते हैं। वस्तुतस्तु 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानि इदं सर्वम् यदयमात्मा' ब्राह्मणादि जाति सब कुछ यह आत्मा ही है। यह प्रसंग समझाते हैं **उक्त वास्तविकता के रहते जो मूढ समझता है कि संसार की**

तत्रैवं सति यो मूढः समस्तव्यस्तरूपताम्।
ज्ञातव्यां मनुते तां तु वेद एव निषेधति।।३०।।
यो विप्रजातिश्चैतन्याद् अन्यद् वस्त्विति मन्यते।
कैवल्यात् तं पराकुर्याद् विप्रजातिः पराङ्मुखम्।।३१।।
ब्राह्मणोऽहमिति भ्रान्त्या बृहस्पतिसवादिषु।
प्रवृत्तो लभते जन्मेत्येषैवाऽस्य पराक्रिया।।३२।।

एक-एक चीज़ भी ज्ञेय है और समूचा भी ज्ञेय है (या कार्य-कारण दोनों रूप ज्ञेय हैं), उसे संमत ज्ञेयता का तो वेद ही निषेध कर रहा है।।३०।। 'समस्त' से समष्टि और कारण दोनों समझने चाहिये तथा 'व्यस्त' से व्यष्टि व कार्य दोनों समझने चाहिये। संसार के स्तर पर सर्वज्ञता यही होगी कि उक्त दोनों के बारे में ज्ञान हो। केवल समष्टि जानने से, कारण जानने से सर्वज्ञता नहीं जैसे स्वर्ण जानने पर भी गहने अज्ञात रह जाते हैं; और व्यष्टि, कार्य जानने पर कारण, समष्टि अज्ञात रह जाता है। इसलिये 'सर्वज्ञः सर्ववित्' से दोनों के बारे में समूची जानकारी ईश्वर को है यह बताया ही गया है। किंतु परमार्थ के स्तर पर संसार न रह जाने से ऐसे ज्ञान की संभावना नहीं यह समझाने के लिये श्रुति ने कहा कि यदि यों कुछ भी अलग समझा गया तो वही अखण्ड अद्वैत में बाधा डालकर कैवल्य से वंचित कर देगा! इसी को कहते हैं कि यदि 'दूसरी' कही जा सके ऐसी कोई चीज़ सचमुच हो तो ब्रह्म-शब्द का अर्थ ही असंभव हो जाये! ब्रह्म अत्यंत पूर्ण का बोधक शब्द है, दूसरा हुआ तो उतनी कमी ब्रह्म में रह जायेगी।।३०।।

ब्राह्मणजाति आदि को आत्मा से अन्य मानने का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **'विप्र जाति चैतन्य से अन्य वस्तु है' ऐसा जो समझता है उस अनात्मदर्शी को विप्र जाति मोक्ष से दूर कर देती है।।३१।। 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस भ्रांति से बृहस्पति सव आदि कर्म-उपासना में प्रवृत्त होकर जन्म पाता हैयही उसे कैवल्य से दूर करना विवक्षित है।।३२।।** ब्राह्मण जाति को चैतन्य से अन्य अर्थात् स्वतन्त्र सत्ता वाला समझा तो उस अनात्मा में दृष्टि उलझने से बहिर्मुखता, अनात्मोन्मुखता आयेगी। उधर, विप्रजाति की यह मानो तौहीन हुई कि उसे परमात्मा से सत्ता पाने वाला नहीं समझा गया! इस अपमान से मानो क्रुद्ध हो वह ऐसे पराङ्मुख को मोक्ष से दूर कर देती है। यह करने का तरीका सीधा हैउस व्यक्ति को 'मैं परमात्मा हूँ' न लगकर 'मैं ब्राह्मण हूँ' लगता है और वह तदनुसार कर्मादि कर संसारचक्र में घूमता रहता है।।३१-२।।

ब्राह्मण जाति के बारे में कही बात ही सर्वत्र लागू होती है **जो व्यक्ति क्षत्रिय**

विप्रत्ववत् क्षत्र-लोक-देव-भूतादिकं जगत् ।
स्वस्माद्भेदेन पश्यन्तं क्लेशयेद् अपराधिनम् । ।३३ । ।
यदस्ति तन्न जानाति यन्नेहास्ति तदीक्षते ।
इत्येवमपराधोऽस्य विद्यते भेददर्शिनः । ।३४ । ।
योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा । ।३५ । ।

जाति-लोक-देव-भूत आदि जगत् को खुद से (आत्मा से) अलग देखता है उस अपराधी को जगत् वैसे ही क्लेश देता है जैसे ब्राह्मण जाति देती है । ।३३ । । 'मैं क्षत्रिय हूँ' समझने पर राजसूयादि में प्रवृत्ति से जन्मदि होंगे। ऐसे ही इह-पर लोकों को सत्य समझने से तदर्थ किये कर्मादि फल देंगे। अनात्मा समझे देवों की आराधना भी सांसारिक ही फल देगी। भूत (महाभूत, प्राणी) भी सत्य समझे गये तो उनके लिये कुछ करना बंधनकारी ही होगा। भूतों में आसक्ति भी उन्हें सत्य समझने पर ही होती है तथा आसक्ति निश्चय ही बंधनकारी है। अतः भेददर्शन अपराध है। भेददृष्टि ही दुःख का कारण है। ।३३ । ।

जगत् सत्य समझना ग़लत कैसे? यह समझाते हैं **आत्मा में जो सच्चिदानन्द अद्वयता है उसे नहीं जानता तथा जो आत्मा में नहीं वह कर्तृत्वादि उसमें देखता है यही इस भेददर्शीका दोष है । ।३४ । । आत्मा अन्य प्रकार का रहते जो उसे अन्य प्रकार का समझता है उस आत्मा के अपहर्त्ता चोर ने कौन-सा पाप नहीं कर लिया! । ।३५ । ।**

वेदान्तों से अन्य दर्शन एवं आधुनिक सभी विज्ञान भेददर्शी हैं। सभी आत्मा के बारे में भ्रान्त हैं क्योंकि उसे परिपूर्ण अद्वितीय न स्वीकार कर कर्ता-भोक्ता-ब्राह्मण आदि मानते-मनवाते हैं तथा बाह्य प्रपंच में लोक देव आदि मानते-मनवाते हैं। श्रुति-सिद्ध आत्मस्वरूप को नकारकर उससे विरुद्ध आत्मा का अंगीकार स्पष्ट ही अपराध है। श्लोक. ३५ महाभारत में १.६८.२६ मिलता है, क्रम अवश्य विपरीत है। आत्मा है एक तरहका और उसे समझते हैं दूसरी तरहकायही आत्मा का अपहरण है। इसे ईशोपनिषत् (मंत्र ३), गीता (१३.२८) आदि में आत्मा की हिंसा भी कहा गया है। यही अन्य सब पापों का मूल होने से जिसने स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता स्वीकारा, उसने मानो सभी पाप कर डाले! संसार को सत्त्य समझना भी ऐसा ही है; आत्मा अद्वितीय है, उससे पृथक् नाम-रूप-कर्म है नहीं, भेददर्शी उन्हें स्वतंत्र सत् समझकर आत्मा को ही उनका शेष

अपोदितत्वाज्जात्यादिदर्शनस्येह किं पुनः ।
द्रष्टव्यम्? इत्यतो वक्ति सर्वाऽखण्डत्वदर्शनम् । ।३६ । ।
प्रत्यक्त्वेन य आभाति प्रत्यग्बुद्धिप्रमाणकः ।
तावन्मात्रैकयाथात्म्यम् उक्तजात्यादि दृश्यताम् । ।३७ । ।
एवं श्रोतव्य आत्माऽयं समाप्तः श्रवणे विधिः ।
कथं मन्तव्य इत्यत्र दुन्दुभ्यादि निदर्शनम् । ।३८ । ।

बनाता रहता है अतः निश्चित अपराधी है । ।३४-५ । ।

'इदं ब्रह्म...इदं सर्वं यदयमात्मा' वाक्य का भाव व्यक्त करते हैं **जाति आदि देखने का निषेध हो चुका तो यहाँ क्या बचा जो देखने योग्य है? इसके उत्तर में श्रुति ने सबकी अखण्डता के दर्शन का प्रतिपादन किया । ।३६ । । जो प्रत्यग्रूप से भासमान है, प्रत्यगाकार बुद्धि से जो प्रमाणित है, पूर्वोक्त जाति आदि बाह्य-आभ्यन्तर जगत् की यथार्थता उतनी ही (प्रत्यग्रूप ही) हैयह देखना योग्य है । ।३७ । ।** पहले जाति आदि को पृथक् देखने से मना किया, फिर उन्हें ब्रह्मरूप देखने को कहा तो श्रुति का मतलब उनका बाध कर ब्रह्म को सत्य समझाने में है। आत्मा का दर्शन करो यह कहा। हम आत्मा को कर्ता-भोक्त-ब्राह्मणादि ही समझते थे अतः उतना ही हम 'दर्शन' करने लगे तो श्रुति ने कहा 'आत्मा को यह सब मत समझो' अतः प्रश्न हुआ कि उसे क्या समझें? तब बताया कि आत्मा वह अखण्ड वस्तु है जिसमें सब अध्यस्त है। जो कुछ अभी आत्मा में दीख रहा है, उस सबका बाधकर उसे अद्वितीय जानना है। सत्य अखण्ड है, खण्ड उस पर आरोपित हैं। 'द्रष्टव्यः' से अखण्ड आत्मा का साक्षात्कार विवक्षित है। उसी आत्मा की उपलब्धि प्रत्यक्-रूप से सदा है। जो कभी विषयतया न भासे किंतु भासे अवश्य, वह प्रत्यक् है। उसे बुद्धि 'मैं' अनुभव से ग्रहण करती है अतः यह बुद्धि उसमें प्रमाण है। यद्यपि प्रमाण ही उससे प्रकाशित है तो उसे कैसे प्रमाणित करेगा, तथापि लोकदृष्ट्या ऐसा कहा जाता है। जाति आदि अध्यात्म-अधिभूत जगत् की सचाई वह प्रत्यगात्मा ही है, उससे हटकर जगत् कुछ है ही नहीं। यह अद्वैत दर्शन ही याज्ञवल्क्य का उपदेश है। ।३६-७ । ।

आगे का प्रसंग प्रस्तावित करते हैं **श्रवण के बारे में की गयी विधि यह बताकर पूरी होती है कि यह आत्मा इस प्रकार वेद से समझने योग्य है। उस पर मनन कैसे करना चाहिये? इस बारे में दुन्दुभि आदि का दृष्टान्त दिया जा रहा है । ।३८ । ।** 'श्रोतव्यः' के बारे में विचार पूरा हुआ। 'एवं' अर्थात् द्वैत-अपह्नवकर

स्थितौ जनौ लयेऽप्येतज्जगदात्मातिरेकतः।
नास्तीत्येतत् क्रमेणाऽत्र दृष्टान्तैः प्रतिपाद्यते।।३६।।

अखण्ड को ही समझना है और 'अयं' अर्थात् प्रत्यग्भूत 'आत्मा' को ही समझना है तथा 'श्रोतव्यः' अर्थात् वेदान्त विचार से ही समझना है। अगली विधि है 'मन्तव्यः', आत्मा पर मनन करो। कैसे करें यह याज्ञवल्क्य ने बताया 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय, दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन, दुन्दुभ्याघातस्य वा, शब्दो गृहीतः।' जैसे जब दुन्दुभि (नगाड़ा) बज रही हो तब उसकी आवाज़ सुने बगैर उस आवाज़ की विशेषताएँ नहीं सुनी जा सकती हैं, वैसे प्रज्ञानरूप आत्मा के ग्रहण के बगैर जगत् का ग्रहण संभव नहीं अतः जगत् आत्मरूप ही है। शंख और वीणा की ध्वनियों से भी याज्ञवल्क्य ने यही समझाया। आघात, तार और हवा से बजने वाले यों तीन ही तरह के वाद्य प्रसिद्ध होने से तीनों का उल्लेख है। आवाज़ के विशेष वास्तव में आवाज़ से स्वतंत्र कुछ नहीं इसी तरह प्रत्यगात्मा से स्वतंत्र कोई नाम-रूप-कर्म नहीं यह उपपन्न करना मनन है। इन तीन के अनंतर याज्ञवल्क्य ने (कण्डिका १०) कहा कि जैसे गीले ईधन को जलाने पर चिनगारी धुआँ आदि निकलते हैं ऐसे परमेश्वर से ऋग्वेदादि सब वैसे ही अनायास निकले जैसे हम साँस छोड़ते हैं। तदनन्तर कण्डिका ११-२ में बताया कि जैसे सब जल समुद्र में लीन होता है वैसे सब स्पर्श-गंधादि त्वक्-घ्राणादि में लीन होते हैं। नमक की डली जल में जैसे विलीन हो जाती है वैसे जगत् विज्ञानघन में लीन हो जाता है। इस प्रकार मनन का श्रुत्युक्त प्रसंग है।।३८।।

उक्त कण्डिकाओं का वर्ण्य बताते हैं **स्थितिदशा में, जन्मदशा में और लयदशा में भी यह जगत् आत्मा से अतिरिक्त नहीं हैयह क्रमशः तीन उदाहरणों से प्रतिपादित किया जा रहा है।।३६।।** सर्पादि रस्सी से अलग नहीं यह तभी सिद्ध हो जब पता चले कि वह रस्सी से उत्पन्न, रस्सी रहते ही स्थित और रस्सी में विलीन होता है। इसी तरह जगत् जब जन्म-स्थिति-लय तीनों दशाओं में आत्मा पर ही आश्रित पता चले तब वह आत्मा से अनन्य है यह समझ आये। चेतन, प्रज्ञान रहते ही जन्मादि हैं, उसके बिना नहीं, अतः जन्मादि प्रज्ञानमात्र हैं यह समझना मनन है। मानसिक चिंता मन से ही पैदा होती है, मन रहते ही चलती है (मन न रहे जैसे सुषुप्ति में तब चिंता भी नहीं रहती), और अंत में समाप्त भी मन में ही होती है अतः वह मनोरूप ही है, इसी तरह जगत् ब्रह्मरूप ही है। क्योंकि विचार स्थितिकाल में किया जाता है इसलिये श्रुति ने वहीं से प्रारंभ किया।।३६।।

यथा दुन्दुभिशब्दत्वसामान्याद् उत्थितान् पृथक् ।
नादातुं शक्नुयात् कश्चिद् विशेषान् असिकोशवत् । ।४० । ।
तद्वद् आत्मातिरेकेण नात्मीयोऽर्थो मनागपि ।
यतः समीक्षितुं शक्यस्तेनाऽसौ रज्जुसर्पवत् । ।४१ । ।
सामान्यं तद्विशेषश्च तद्विशेषा इति त्रयः ।
दुन्दुभिस्तस्य चाऽऽघातः शब्दश्चेत्येभिरीरिताः । ।४२ । ।
सामान्यं दौन्दुभः शब्दो वीरादिरससंयुतः ।
विशेषस्तद्विशेषास्तु नीचोच्चादिविभेदिनः । ।४३ । ।

स्थितिकाल में आत्मा से अलग न रहने में दुन्दुभि आदि दृष्टांत हैं, उन्हें समझाते हैं **जैसे तलवार और म्यान को अलग-अलग समझ सकते हैं वैसे दुन्दुभि-शब्दत्व-सामान्य से पृथक् कर उठे हुए विशेषों को कोई नहीं ग्रहण कर सकता । ।४० । । इसी प्रकार आत्मा से अलग कर आत्मसम्बन्धी नामादि विशेष को किंचित् भी समझा नहीं जा सकता अतः वे विशेष रस्सी में साँप से मिथ्या ही हो सकते हैं । ।४१ । ।** ये दोनों श्लोक वार्तिक में (२.४.२६६-८) हैं। दुन्दुभिशब्दत्व-सामान्य का मतलब है दुन्दुभि की आवाज़। क्योंकि कभी जोर से कभी धीरे से बजेगी तो अगल-अलग आवाजें आयेंगी इसलिये उन सब में अनुगत समझी गयी आवाज़ को 'सामान्य' कहना पड़ा और उसी को व्यक्त करने के लिये 'शब्दत्व' कहना पड़ा। तात्पर्य है कि दुन्दुभि की आवाज़ सुने बगैर उसके विशेषों का ग्रहण संभव नहीं। तलवार-म्यान को अन्वयी दृष्टांत भी समझ सकते हैं : म्यान में रखी तलवार बिना म्यान देखे नहीं दीख सकती ऐसे ही सामान्य सुने बिना विशेष नहीं सुन सकते। दार्ष्टान्त स्पष्ट है कि मैं से सम्बद्ध जाति-लोक आदि आन्तर-बाह्य जो भी ग्रहण होता है वह मैं के ग्रहण के बगैर नहीं होता। जो जिसके ग्रहण के बगैर न ग्रहण हो वह तद्रूप होता है 'यत्स्वरूपव्यतिरेकेण अग्रहणं यस्य, तस्य तदात्मत्वम् एव लोके दृष्टम्' ऐसा यहाँ भाष्य है (पृ. १६४)। अतः आत्म-सम्बन्धी अर्थ (अर्थात् सभी उपाधियाँ) आत्मा से अतिरिक्त वैसे ही कुछ नहीं है जैसे सर्प रस्सी से अतिरिक्त नहीं है। ।४०-१। ।

श्रुति में दुन्दुभि, दुन्दुभ्याघात और शब्द ये तीन कहे; इन तीनों का भाव व्यक्त करते हैं **दुन्दुभि, उसका आघात और शब्द इन तीन के द्वारा सामान्य, उसके विशेष और उसके विशेष ये तीन कहे गये हैं। ।४२। । सामान्य हुआ दुन्दुभि का शब्द। उसके विशेष हुए वीर आदि रसों वाली आवाज़। उसके भी विशेष**

नीचादिभेदिनः शब्दा वीरादिरससंयुते।
अन्तर्भवन्ति सोऽप्यन्तर्भूतः स्याद् दौन्दुभध्वनौ।।४४।।
एवं शङ्खेऽपि वीणायां योजयित्वा ततः पुनः।
शङ्खदुन्दुभिवीणाख्यध्वनीन् अन्यत्र योजयेत्।।४५।।
ध्वनित्रयं महाशब्दसामान्येऽन्तर्भवेद् इति।
विवक्षया शङ्खभेरीवीणास्तिस्र उदीरिताः।।४६।।

हुए नीची-ऊँची आवाजें।।४३।। ऊँच-नीच आदि भेद वाले शब्द उसके अंतर्गत हैं जो वीरादि रस वाली आवाज़ है और वह पुनः दुन्दुभि की आवाज़ के अंतर्गत है।।४४।। नगाड़ा सुनते हैं तो पहले इतना ही पता चलता है कि नगाड़ा बज रहा है। फिर उसके आघातों के क्रम से पता चलता है कि वीर रस के अनुसार बज रहा है या होली आदि के नृत्यों के लिये शृंगारादि रसों के अनुसार बज रहा है। यह पहला विशेष है। फिर ध्यान जाता है कि उसके स्वर कैसे हैंयह दूसरा विशेष है। द्वितीय विशेष प्रथम विशेष के अंतर्गत है क्योंकि उसके बिना सुनाई नहीं देगा, आघात के बिना स्वर नहीं पता चलेगा और प्रथम विशेष दुन्दुभिध्वनि के अंतर्गत है ही। यों विशेष का सामान्य से अभेद समझना है।।४२-४।।

अनेक दृष्टान्तों का प्रयोजन समझाते हैं **इसी प्रकार शंख और वीणा में भी बार-बार समझकर शंखादि ध्वनियों का शब्दसामान्य में अन्तर्भाव समझना चाहिये।।४५।। तीनों (तरह की) ध्वनियाँ महाशब्दरूप सामान्य के अन्तर्भूत हैंयह समझाने के लिये शंख-भेरी-वीणा ये तीन कहे गये।।४६।।** नगाड़े की तरह ही शंख और वीणा में भी उनकी आवाज़, उसकी विशेषता और स्वरादि विशेष ये तीन हैं जिनमें उत्तरोत्तर का पूर्व-पूर्व में अंतर्भाव है। तीन का ग्रहण इसलिये तो है ही कि त्रिविध ही वाद्य उपलब्ध हैं, इसलिये भी है कि यह न्याय सभी आवाज़ों पर लागू किया जाये ताकि सभी विशेषों को सामान्य पर कल्पित जान लिया जाये। तीनों या पृथक्-पृथक् सभी ध्वनियाँ फिर ध्वनिमात्र रूप 'महाशब्द' में अन्तर्भूत हैं; पहले 'शब्द' इतना पता चलता है, तब देवदत्त का शब्द, घोड़े का शब्द, बादल गरजने का शब्द इत्यादि पता चलता है। अतः ये सब विशेष उस महाशब्द में ही कल्पित हैं। शंखादि तीनों साथ बजेंजैसे आर्केस्ट्रा आदि में अनेक वाद्य बजते हैंतो स्पष्ट ही घोषरूप शब्द-सामान्य सुनाई देता है, फिर पहचान होती है 'यह शंख की आवाज़ है, यह नगाड़े की' इत्यादि, तब समझ आती है 'शंख बेसुरा है या वीणा बेसुरी है' इत्यादि। अगर शब्दसामान्य न

यथा विशेषसामान्यतत्सामान्यपरम्परा।
शब्दे स्थिता तथा सर्वमुपलब्धिस्थमीक्ष्यते।।४७।।
उपलब्धोऽस्ति सन् कुम्भो लम्बोष्ठो देशकालवान्।
पूर्वाऽपूर्वाऽतिरेकेण नोत्तरोऽर्थोऽनुभूयते।।४८।।
एवं चिदन्वयात् सर्वं चित्यध्यस्तं तथा सति।
चिदात्मैवास्य सर्वस्य तात्त्विकं रूपमीक्ष्यताम्।।४९।।

सुनाई दे तो शंखादिकी ध्वनियाँ नहीं ही सुनाई देंगी। इस तरह तीन दृष्टांतों से शब्द के सभी विशेषों को कल्पित सिद्ध किया।।४५-६।।

अब दार्ष्टान्त व्यक्त करते हैं **जैसे शब्द में यह क्रम निश्चित हुआविशेष, सामान्य, उनका (मध्यस्थ सामान्यों का भी) सामान्य; वैसे सारा संसार 'उपलब्धियों में' स्थित पता चलता है।।४७।। उपलब्ध (ज्ञात) है, विद्यमान घट, लम्बे ओठ वाला, देश-काल वालाइनमें पूर्व-पूर्व के बिना अगला-अगला अर्थ अनुभव में नहीं आता।।४८।।** शब्द-दृष्टान्त से समझना है कि उपलब्धि, ज्ञान, चैतन्य में सारे नाम-रूप-कर्म का अन्तर्भाव है। जैसे सारे भेद शब्दनिष्ठ थे, वैसे सारे भेद ज्ञाननिष्ठ समझने हैं। यही बताने के लिये कहा 'उपलब्ध है' इत्यादि। सर्वप्रथम उपलब्धि का महत्त्व है। अभी हम 'क्या' उपलब्ध है पर ध्यान देते हैं, उसके बजाये उपलब्धि पर ध्यान देना है। फिर सत्ता पर, 'है'इस पर ध्यान देना है। तब जाकर 'क्या' को देखना है कि उपलब्ध होता घड़ा; उसके बाद उसकी विशेषताएँ। घड़े के मुँह पर जो गोलाई में मुड़ा हुआ गोल घेरा होता है उसे घड़े का ओठ कहते हैं क्योंकि जैसे हमारे मुँह पर ओठ हैं वैसे वह घेरा होता है। इस क्रम से ही इसलिये ध्यान देना है ताकि ओठ को घड़े से अभिन्न, घड़े को सत् से एवं उसे उपलब्धि से अभिन्न समझा जा सके। ओठ की तरह ही देश-कालवैशिष्ट्य घट पर कल्पित अतः घट से अभिन्न है। इसी में उपयोग भी समझना चाहिये। इस प्रकार सभी नाम-रूपात्मक जगत् को ज्ञान में कल्पित बताने के लिये और ऐसी अनुभूति पाने के लिये पूर्वोक्त दृष्टांत थे।।४७-८।।

आत्मा की उक्त सर्वरूपता का उपसंहार करते हैं **इस तरह चेतन की अनुगति (व्याप्ति) होने से सब कुछ चेतन पर अध्यस्त (कल्पित) है एवं ऐसा निश्चित होने पर यह समझा जाना चाहिये कि इस सब का वास्तविक स्वरूप चिद्रूप आत्मा ही है।।४९।।** स्थितिकाल में, भेद प्रतीति-काल में भेद को ज्ञान पर कल्पित समझने का तरीका स्पष्ट किया। जिस पर जिसकी सत्ता-स्फूर्ति निर्भर हो वह उसी पर

जगदुत्पत्तिः

स्थितिकाले यथैकात्म्यं शक्यते ज्ञातुमञ्जसा।
यथोक्तन्यायतस्तद्वद् उत्पत्तावपि शक्यते।।५०।।
धूमार्चिर्विस्फुलिङ्गादि विभागजननात् पुरा।
अग्निरेव न धूमाद्यास्तथैकात्म्यं जनेः पुरा।।५१।।

कल्पित होता है यह रज्जुसर्पादि स्थलों में निश्चित है। ज्ञान पर ही जगत् की सत्ता स्फूर्ति (अनुभूति) निर्भर होने से जगत् ज्ञान में कल्पित है। यद्यपि धागे-कपड़े आदि दृष्टांतों से यह समझा सकते थे तथापि वहाँ धागों से कपड़ा कुछ अलग प्रतीत होता है जबकि शब्द-स्थल में उसके विशेष शब्दमात्र से अलग बिलकुल प्रतीत नहीं होते अतः समझना सरल हो जाता है। इसलिये शब्द का उदाहरण श्रुति ने खोजा।।४६।।

जलते ईधन से धुएँ आदि उदाहरण का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **पूर्वप्रदर्शित रीति से जैसे स्थितिकाल में एकात्मता ठीक-ठीक समझी जा सकती है वैसे उत्पत्ति-दशा में भी समझी जा सकती है।।५०।। धुआँ, लपट, चिनगारी आदि विभाग पैदा होने से पूर्व आग ही होती है, न कि धुआँ आदि, वैसे जगद्-उत्पत्ति से पूर्व एकात्मता ही होती है।।५१।।** ईधन में आग छिपी होती है, उसे जब प्रकट करते हैं तब धुआँ आदि बँटी चीज़ें उपलब्ध होती हैं। इसलिये ये सब पहले अग्निरूप (लकड़ी में छिपी अग्निरूप एवं प्रकट हुई अग्निरूप) ही है। इसी प्रकार सृष्टिविभाजन अर्थात् विभक्त सृष्टि, नानारूप जगत्, उत्पत्ति से पूर्व आत्मा ही हो यह संगत है। उसी आत्मा में यह सारा संसार प्रकट हुआ। एक में स्थिति की तरह एक से उत्पत्ति बताने के लिये श्रुति ने जलते ईंधन का दृष्टांत दिया। यद्यपि अकेली आग नहीं, गीलापन आदि अन्य अंश भी ईंधन में हों तभी धुमादि प्रकट होते हैं तथापि उन सबका संपिण्डित रूप ही ईधन कहलाता है एवं दार्ष्टान्त में भी कारणभूत आत्मा अव्यक्तोपाधिक विवक्षित होने से उसमें भेद-संस्कार निहित हैं अतः उदाहरण उचित है। मुण्डकोपनिषत् २.१.१ में भी पावक को उदाहरण बनाकर जगत्सृष्टि कही है। श्लोक ५० में 'उत्पतौ' (उत्पत्तिदशा में) कहा, श्लोक. ५१ में 'जनेः पुरा' (उत्पत्ति से पूर्व) कहा; इससे बताया कि क्योंकि जन्म से पूर्व एकात्मता है इसलिये जन्मकाल में, पैदा होते हुए भीभेदप्रतीति प्रारंभ होते समय भीएकात्मता ही होना उचित है और स्थितिदशा में तो एकात्मता बता ही चुके हैं।। वार्तिक में (२.४.३००-१५) उक्त उदाहरण के अन्य भी तात्पर्य बताये हैं।।५०-१।।

स्वार्थ-साधन-यत्नादीन् अनपेक्ष्य यथा सृजेत्।
धूमादीन् हुतभुक् तद्वद् ऋगादीन् प्रत्यगीश्वरः।।५२।।
नार्थं बुध्वा वेदसृष्टिः कालिदासादिवाक्यवत्।
किन्तु श्वास इवाऽयत्नात् स्याद् अतोऽपौरुषेयता।।५३।।

अग्नि-दृष्टांत की कंडिका में (२.४.१०) श्रुति को यद्यपि सारे जगत् की सृष्टि विवक्षित है तथापि नाम इनका लिया हैऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान। इन सबको 'उस महान् भूत' के निःश्वास-सा बताया है! इस भाग का संग्रह करते हैं **जैसे आग किसी निजी स्वार्थ, किन्हीं साधनों तथा यत्न आदि के सहारे के बिना ही धुएँ आदि को उत्पन्न करती है, वैसे प्रत्यग्रूप ईश्वर ऋग् आदि को स्वार्थादि के बिना ही उत्पन्न करता है।।५२।।** धुआँ उत्पन्न करने में आग का कोई प्रयोजन नहीं, उसे किन्हीं साधनों की ज़रूरत नहीं, उसे कोई प्रयत्न नहीं करना, उसका तो स्वभाव ही है कि गीले ईंधन में प्रकट होते हुए इन सबको उत्पन्न करती है। इसी तरह ईश्वर के सामने भी कोई निजी प्रयोजन नहीं, उसे कोई उपकरण नहीं चाहिये, उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, स्वभाववश ही वह सृष्टि करता है। माण्डूक्यकारिका (१.९) में भी यह प्रकाशित है। श्रुति ने 'अस्य महतो भूतस्य' कहा, 'अस्य' से प्रत्यग्रूपता सूचित है। प्रत्यक् ही सर्वाधिक संनिहित है। 'महान्' विशेषण से ईश्वरता सूचित है। 'भूत' से उसकी सद्रूपता कथित है। कारणता में प्रत्यक्ता का महत्त्व न होने पर भी वस्तुभूत प्रत्यक्ता बताकर आत्यंतिक एकता उपपादित है क्योंकि यों कह देने पर कारण से अन्य जीव होंगेयह संभावना भी निरस्त हो जाती है।।५२।।

निःश्वासतुल्य कहने का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं **कालिदास आदि द्वारा रचित वाक्य जैसे अर्थ समझने के उपरांत बनाये गये वैसे ईश्वर ने पहले अर्थ समझा तब वेद-वाक्य बनाये ऐसा नहीं किन्तु जैसे श्वास बिना यत्न के चलता है ऐसे बिना यत्न के वेदवाक्य बनाये। इसलिये वेद की अपौरुषेयता है।।५३।।** पुरुष (जीव) के प्रयत्न पर निर्भर को पौरुषेय कहते हैं। कवि आदि कुछ कहेगा तो अपनी कही बात से पूर्व, अन्यान्य शब्दों में, बिम्बों में कुछ समझेगा, तब उसे व्यक्त करने के लिये कहेगा। अतः कविकृत वाक्य कवि के मनोभाव पर निर्भर है, उस वाक्य पर कवि के मनोभाव निर्भर नहीं। किंतु ईश्वर यों वेद से निरपेक्ष किसी ज्ञान वाला होकर वेद प्रकट नहीं करता। ईश्वर का ज्ञान वेदात्मक ही है। अतः वेद को ईश्वर के ज्ञान पर निर्भर नहीं

मन्त्राश्चतुर्विधा ज्ञेया ऋग्वेदादिगिरोदिताः ।
ब्राह्मणं चेतिहासादिरूपम् अष्टविधं भवेत् । ।५४ । ।

कहा जा सकता। यही वेद की अपौरुषेयता सनातन धर्म में स्वीकृत है। अन्य कोई ग्रन्थ इस तरह अपौरुषेय किसी के द्वारा स्वीकृत नहीं। अन्य लोग तो रचयिता, वक्ता के महत्त्व से ग्रंथ का महत्त्व मानते हैं जबकि सनातनी लोग वेद का रचयिता ही नहीं मानते। ईश्वर भी क्योंकि वेदनिरपेक्ष किसी ज्ञान वाला होकर कोई अपूर्व आनुपूर्वी नहीं प्रकट करता इसलिये उसे सही मायने में वेद का रचयिता कहना बनता नहीं। इस दृष्टि से वेद को नित्य ही स्वीकारा गया है। अन्य मत तो प्रवक्ता, रचयिता की आप्तता, समर्थता, स्वतंत्रता के बल पर ग्रंथ को प्रमाण मानते हैं। एकमात्र सनातन धर्म कहता है कि किसी पुरुष के कहने से कोई बात प्रमाण नहीं हो जाती! जैसे वैज्ञानिक नियम अपौरुषेय हैं, उन्हें जिसने खोजा उसका महत्त्व इसलिये कि उसने इन्हें खोजा, न कि नियमों का महत्त्व इसलिये कि इन्हें खोजने वाला न्यूटन आदि कोई महान् व्यक्ति था, इसी प्रकार महत्त्व स्वयं वेद का है, प्रमाण स्वयं वेद है। कालिदासादि किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण पर भी निर्भर होकर लिखते हैं, यों भी ईश्वर वेदेतर किसी प्रमाण पर निर्भर नहींयह भी ईश्वर और वेद की विशेषता अभिप्रेत है। ।५३ । ।

कण्डिकोक्त ऋग्वेद आदि शब्दों का अर्थ बताते हैं **चार प्रकार के मंत्र ऋग्वेद आदि शब्दों से कहे गये हैं। इतिहास आदि आठ प्रकार का ब्राह्मण-नामक वेदभाग होता है। ।५४ । ।** 'इतिहास' से 'व्याख्यान' पर्यन्त जिन आठ का कथन है वे यहाँ विवक्षित हैं। होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा के उपयोगी होने से मंत्रों के चार प्रकार हैं जो ऋग्वेदादि में सगृहीत हैं। (१) पुराणी घटना बताने वाले वाक्य इतिहास; (२) सृष्टि आदि बताने वाले वाक्य पुराण; (३) रहस्योद्बोधक वाक्य उपनिषत्; (४) नाच-गाना आदि, साम-दाम आदि, यज्ञकुण्ड-निर्माणादि बताने वाले वेदवाक्य विद्या; (५) ब्राह्मणभाग में आये मंत्र श्लोक; (६) संग्रहवाक्य सूत्र; (७) सूत्रों का अर्थकथन अनुव्याख्यान एवं (८) मंत्रविवरण व्याख्यान है। (अर्थवादों का व्याख्यान में अन्तर्भाव है।) ये आठ प्रकार हैं ब्राह्मण भाग के। मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद परमेश्वर से ही प्रकट हुआ अतः वास्तविकता परमेश्वर ही है यह तात्पर्य है। जैसे जन्मादि-सूत्र से पृथक् शास्त्रयोनि-सूत्र सार्थक है वैसे अग्निदृष्टांत से जगन्मात्रहेतु और निःश्वास दृष्टांत से वेदादिहेतु कहा समझ सकते हैं।

इतिहासादि-शब्दों से वेदभागों की तरह लोकप्रसिद्ध इतिहासादि भी समझ सकते हैं **शब्द-उत्पत्ति से ऋग्वेदादि के अर्थविस्तारक प्रसिद्ध इतिहासादि की एवं सारे**

प्रसिद्धाश्चेतिहासाद्या ऋग्वेदाद्युपबृंहकाः।
निखिलाऽपि जगत्सृष्टिः शब्दसृष्ट्योपलक्ष्यते।।५५।।
प्रज्ञानव्यतिरेकेण यथैव स्थितिसर्गयोः।
वस्त्वन्तरं न सम्भाव्यं प्रलयेऽपि तथोच्यते।।५६।।

जगत् की सृष्टि उपलक्षण-विधया अभिप्रेत है।।५५।। यद्यपि मुखतः ऋगादि की उत्पत्ति कही है तथापि समस्त जगत् उसी परमेश्वर से उत्पन्न होता है यह अभिप्राय है। इतिहासादि शब्द महाभारतादि का कथन करने वाले लोक में प्रसिद्ध हैं, उनके भी रचयिता परमेश्वर हैं। साक्षात् वे वेद उत्पन्न करते हैं, महाभारतादि को वे व्यासादि के माध्यम से उत्पन्न करते हैं, साक्षात् आकाशादि को तथा कुम्हारादि के माध्यम से घटादि को उत्पन्न करते हैं। प्रकट होने वाला परमेश्वर ही है, देवदत्तादि रूप धारण कर प्रकट करने वाला भी वही है। वही सृष्टि का निमित्त-उपादान दोनों है। शब्द की ही नहीं, अर्थ की भी सृष्टि उसी से है। सृष्टि है विवर्त्तरूप, मिथ्या आरोपरूप, यह जगह-जगह स्पष्ट किया जा चुका है।।५५।।

आगे (कण्डिका११) श्रुति ने 'स यथा सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम्' से प्रारंभ कर प्रलयदशा के अद्वैत का वर्णन किया है, उस प्रसंग का संग्रह करते हैं **जैसे स्थिति और उत्पत्ति दशाओं में प्रज्ञान से अतिरिक्त कोई वस्तु होना संभव नहीं, वैसे ही प्रलय में भी नहीं। यह जिस तरह स्पष्ट हो उस तरह समझाया जाता है।।५६।।** जिसे 'आत्मा' और 'महान् भूत' कहा था उसी को 'प्रज्ञान' कहा। विभिन्न वस्तुए प्रतीत होते हुए भी वास्तविकता प्रज्ञान, उपलब्धि, चिद्रूप ही है। उत्पत्ति व स्थिति में ही नहीं, प्रलय में भी प्रज्ञान ही अद्वितीय है, विलीयमान वस्तुओं का भेद नहीं रहता है। प्रज्ञान-शब्द भगवान् भाष्यकार ने यहाँ रखा है 'न केवलं स्थित्युत्पत्तिकालयोरेव प्रज्ञानव्यतिरेकेण अभावात् जगतो ब्रह्मत्वं, प्रलयकाले च जलबुद्बुदफेनादीनामिव सलिलव्यतिरेकेणाभावः।' (पृ. १९६)। दुन्दुभ्यादि दृष्टांत के प्रसंग में भी भाष्य है 'चिन्मात्रानुगमात् सर्वत्र चित्स्वरूपतैवेति गम्यते' (पृ. १९४)। प्रियता अर्थात् आनंदरूप लक्षण से निर्धारित चित्स्वरूप की अखण्ड सत्ता यहाँ प्रतिपाद्य है।।५६।।

ग्यारहवीं कण्डिका में समुद्र तथा बारहवीं में नमक की डली का उदाहरण है, इनका अभिप्राय समझाते हैं **जगत् का एक तो स्वाभाविक प्रलय होता है कल्पान्त में और दूसरा आत्यन्तिक प्रलय होता है तत्त्वज्ञान से।।५७।। दोनों प्रलयों के लिये क्रमशः आये दोनों दृष्टांत हैं, समुद्र स्वाभाविक के लिये एवं नमक वाला**

प्रलयः

स्वाभाविका-ऽऽयन्तिकौ द्वौ प्रलयौ जगतस्तयोः ।
स्वाभाविकः स्यात् कल्पान्ते बोधाद् आत्यन्तिको मतः ।।५७ ।।
समुद्र - खिल्यौ दृष्टान्तौ क्रमात् प्रलययोर्मतौ ।
लीयतेऽब्धौ जलं यद्वत् तथा ब्रह्मणि तज्जगत् ।।५८ ।।
साक्षाद् वाऽथ प्रणाड्या वा जलमब्धौ विलीयते ।
साक्षाद् गङ्गादिका नद्यस्तत्प्रणाड्या जलान्तरम् ।।५९ ।।
तथैव कारणं वस्तु साक्षाद् ब्रह्मणि लीयते ।
कार्यं तु कारणद्वारेत्येतद् अत्र विवक्षितम् ।।६० ।।
विषयप्रलयेनाक्षप्रलयस्योदितत्वतः ।
लयः सर्वस्य जगतो ब्रह्मणीत्यत्र सुस्थितम् ।।६१ ।।

आत्यंतिक के लिये। समुद्र में जल की तरह ब्रह्म में जगत् विलीन होता है।।५८।। साक्षात् हो या परंपरा से, जल लीन समुद्र में ही होता है। गंगादि नदियाँ सीधे समुद्र में मिलती हैं, अन्य जल किसी समुद्रगामी नदी आदि से मिलकर तब समुद्र में मिलता है।५९।। इसी प्रकार कारण वस्तु साक्षात् तथा कार्य वस्तु कारणभावापत्ति द्वारा ब्रह्म में लीन होती है, यह यहाँ अभिप्राय है।।६०।। विषयों के प्रलय के कथन से इंद्रियों का प्रलय भी कह ही दिया। इस तरह सारा जगत् ब्रह्म में लीन होता है यह लयदशा का अद्वैत संगत हो गया।।६१।। स्वभावभूत माया से युक्त परमेश्वर में विलय ही स्वाभाविक विलय है। क्योंकि इस स्वभाव में ही सृष्टि भी निहित है इसलिये इस प्रलय के बाद पुनः सृष्टि हो जाती है। आत्यंतिक प्रलय बाध है जहाँ माया भी निरस्त है। अतः फिर सृष्टि आदि बंधन असंभव है। इसीलिये उसे 'अति-अन्त' अर्थात् आखिरी अंत कहा। सुषुप्ति आने पर जो हमारी चिंतादि मिटती हैं वह स्वाभाविक लय है, विचार से जो चिन्तादि दूर होती है वह आत्यंतिक है इत्यादि अनुभवानुसार भी इस भेद को समझ लेना चाहिये।

श्रुति का दृष्टांत इस तरह है 'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकम् एवानुविलीयते, न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेव; एवं वा अर इदं महद् भूतम् अनन्तम् अपारं विज्ञानघन एव। एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमिइति होवाच याज्ञवल्क्यः' अर्थात् जैसे नमक की डली जल में डालने पर उसमें घुल जाती है, घुलने पर पुनः उस डली को निकाल नहीं सकते, जहाँ-कहीं

एवं मन्तव्य आत्माऽयम् अर्थाऽसम्भवनुत्तये।
दुन्दुभ्याद्युक्तदृष्टान्तन्यायमार्गेण यत्नतः।।६२।।

से उस जल को चखें, खारापन लगेगा ही। इसी तरह यह महान् भूत अनंत, अपार, विज्ञानघन (विज्ञप्तिमात्र) ही है, उपाधियों के अनुसार प्रकट लगता है किन्तु उनका बाध होते ही विज्ञानेतर-रूपता समाप्त हो जाती है, फिर नाम भी नहीं रह जाता!

इससे पूर्व जो समुद्र का दृष्टांत दिया वह स्वाभाविक प्रलय का एवं यह नमक घुलने वाला आत्यंतिक प्रलय का बोधक है। समुद्र से जल का तो पुनर्ग्रहण संभव है पर उसी नमक की डली का नहीं, इसी प्रकार मुक्त का पुनर्बन्धन सम्भव नहीं यह दृष्टान्त का भाव है। स्वाभाविक प्रलय में कारण तो सीधे ही ईश्वर में लीन होता है। कार्य अपने-अपने कारणों में लीन होते-होते अंत में जब कारण ही रह जाता है तब वह लीन होता है तो कार्य भी परमात्मा में लीन समझे जाते हैं। यहाँ 'कारण' शब्द ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति (हिरण्यगर्भ) को कहा है जिसका मायोपाधिक (ईश्वर) में साक्षात् लय होता है। वार्तिक २.४. ३८३-८६ में यह सूचित है एवं वार्तिकसार २.४.१३६ में स्पष्ट कहा है 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्योर्लयो ब्रह्मणि मायिनि'। भाष्य में भी बताया है 'विज्ञानमात्रं भूत्वा परस्मिन् प्रज्ञानघने प्रलीयते।। प्राणश्च प्रज्ञानमात्रमेव' (पृ. १६७)। यहाँ 'कारण' से मूलाज्ञान नहीं समझना है क्योंकि उसका केवल ज्ञान से विलय होगा, स्वाभाविक प्रलय में विलय नहीं होगा। श्रुति ने विषय-प्रलय से ही इन्द्रिय-प्रलय बता दिया क्योंकि श्रुति दोनों को वास्तव में अलग नहीं मानती 'विषयसमानजातीयं करणं मन्यते श्रुतिर्न तु जात्यन्तरम्। विषस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम'ऐसा भाष्य में (पृ. १६८) समझाया है। इस तरह सारे संसार का (व्यक्त प्रपंच का) स्वाभाविक लय समुद्र दृष्टांत से भली भाँति समझाया।।५७-६१।।

यहाँ तक मनन का प्रकरण है यह विभाजन व्यक्त करते हैं **वेदोक्त अखण्ड अर्थ असंभव हैइस शंका के अपनोदन (निवारण) के लिये दुन्दुभि आदि दर्शित दृष्टान्तों की रीति के अनुसरण से सायास विचार करना चाहिये।।६२।।** स्थिति, जन्म, प्रलय तीनों दशाओं में केवल चित्तत्व हैइसे उक्त उदाहरणों के ढंग से बारम्बार मन में बैठा लेना चाहिए ताकि शास्त्र में कहा अद्वैत असंभव न लगे। ये ही दृष्टांत नहीं, और भी विचार-प्रकार शास्त्रादि से समझ सकते हैं, खुद सोच सकते हैं लेकिन विचार-फल यही होना चाहिये कि श्रवण-निर्धारित अर्थ ही एकमात्र सत्य है, प्रतीति के स्तर पर चाहे जो प्रतीत हो।।६२।।

चिन्तनम्

अपरायत्तबोधाख्य-निदिध्यासनसिद्धये।
आत्यन्तिकलयं वक्तुं खिल्यदृष्टान्त उच्यते।।६३।।
सामुद्रमम्भो लवणक्षेत्रे भानुविपाकतः।
लवणोपलतां प्राप्य सैन्धवः खिल्य उच्यते।।६४।।
स खिल्य उदधौ क्षिप्तस्तापशान्तौ विलीयते।
अशक्यः पुनरुद्धर्तुं खिल्यरूपेण पूर्ववत्।।६५।।
खिल्योद्धृत्यै नीरमब्धावाददीत यतो यतः।
तत्र तत्र रसो लभ्यः खिल्यस्त्वेष न कुत्रचित्।।६६।।

नमक की डली का दृष्टान्त निदिध्यासन के अभिप्राय से है ऐसा समझाते हैं **'स्वतन्त्र ज्ञान' नामक निदिध्यासन सम्पन्न करने का ढंग बताने के प्रयोजन से आत्यन्तिक लय बताने के लिये नमक की डली का दृष्टान्त कहा गया है।।६३।।** श्लोक २४ में स्वतंत्र ज्ञान का भाव स्पष्ट कर चुके हैं। निरायास ब्रह्मस्थिति किस तरह हृदयग्राही हो यह सोचकर याज्ञवल्क्य ने यह दृष्टांत दिया। जैसे दीर्घाभ्यास से विवाहिता को ससुराल ही 'मेरा घर' निश्चित होता है, उसे 'मेरा' समझने के लिये 'क्योंकि यहाँ विवाहित हूँ' आदि हेतुओं का चिंतन नहीं चाहिये रहता, वैसे बोध जब निरपेक्ष हो तब स्वतंत्र समझा जाता है। अतएव सोने तक और मरने तक आत्मविचार करते ही रहने का शास्त्रनिर्देश है। अहंकार, प्राण-देह आदि उपाधियों में आत्मबुद्धि होवे ही नहींजब तक यह स्थिति स्वाभाविक न हो जाये तब तक साधनाभ्यास कर्त्तव्य ही है। जैसे नमक घुल जाने पर पुनः उसी डली को निकालना असंभव, वैसे जब परमात्मभाव से पृथक् कर देहिभाव असंभव हो तब बोध अपरायत्त होता है, किसी पर निर्भर नहीं रहता।।६३।।

दृष्टांत स्पष्ट करते हैं **समुद्र का जल, नमक बनाने के मैदान में सूर्य से तपकर नमक की डली-रूपता पाकर 'सैंधव खिल्य' (सैंधे की डली) कहा जाता है।।६४।। वह डली समुद्र में डाली जाने पर तब घुल जाती है जब उसे ठोस रखने वाला तापप्रभाव (सूर्य की गर्मी का असर) समाप्त हो जाता है। तदनन्तर उसे उसी डली के रूप में जल से नहीं निकाल सकते जो डली घुलने से पूर्व थी।।६५।। डली निकालने के लिये समुद्र में जहाँ-जहाँ से जल ग्रहण करें वहाँ-वहाँ नमकीन स्वाद तो मिलता है लेकिन वह डली कहीं नहीं मिलती।।६६।।** नमक जो ठोसावस्था प्राप्त करता है उसमें सूर्य-ताप का विनियोग है। जब तक ताप-

जीवभावः

सामुद्रस्याऽम्भसस्तापात् खिल्यतैवं परात्मनः ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जीवता स्याद् अविद्यया ।।६७।।
महद् भूतम् अनन्तं स्याद् अपारं चिद्घनं स्वतः ।
देहेन्द्रियाख्यभूतेभ्यो जीवत्वेन समुत्थितिः ।।६८।।
महत्त्वं सर्वगत्वं स्याद् भूतत्वं नित्यसिद्धता ।
अनन्ताऽपारशब्दाभ्यां व्याप्ति-नित्यत्वसाधनम् ।।६९।।
कार्यकारणराहित्यं यदि वेहोपलक्ष्यताम् ।
अनन्तत्वम् अकार्यत्वम् अपारत्वम् अहेतुता ।।७०।।
विज्ञानघन एवेति जात्यन्तरनिषेधनम् ।
तदिदं वस्तुनस्तत्त्वं मायिकी सा समुत्थितिः ।।७१।।

प्रभाव रहता है तभी तक वह अवस्था रहती है, ताप का विरोधी है जल अतः जल के संपर्क से जब ताप शांत हो जाता है तब वह ठोस (रवा, क्रिस्टल) रूप समाप्त होता है। नमक स्वरूप से नष्ट नहीं होता तभी सर्वत्र पानी नमकीन मिलता है लेकिन वह रूप सर्वथा नहीं रहता। अब उसी डली को पुनः नहीं निकाल सकते। दूसरी डली भले ही बने, वही दुबारा नहीं बनेगी यह दृष्टांत में संभव है, दार्ष्टान्त में इस भाग की विवक्षा नहीं, यह भी ध्येय है।।६५-६।।

दार्ष्टान्त में घटाते हैं **समुद्री जल गर्मी से डली बनता है, इसी तरह परमात्मा अविद्या से ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त जीवभाव प्राप्त करता है।।६७।। 'महान् भूत' अनन्त व अपार है, स्वरूप उसका चैतन्यमात्र है, फिर भी देह-इंद्रिय नामक भूतों से (सम्बन्ध के कारण) जीवरूप से प्रकट हुआ है।।६८।। सर्वगत होना 'महानुता' है, हमेशा प्रकाशमान रहना 'भूतता' है। 'अनन्त' और 'अपार' शब्दों से व्यापकता और नित्यता बतायी गयी है।।६९।। अथवा अनन्त अर्थात् वह किसी का कार्य नहीं और अपार अर्थात् वह किसी का कारण नहीं है। यह अर्थ उपलक्षणा से समझना चाहिये (अर्थात् व्यापक-नित्य है यह भी समझना ही चाहिये)।।७०।। 'चैतन्यमात्र' (विज्ञानघन) ही हैइससे बताया कि उससे अन्य जाति का कुछ नहीं है। यह आत्मवस्तु का सच्चा स्वरूप है। जीवरूप से प्राकट्य मायिक है।।७१।।** यद्यपि जीवभाव का मूल हेतु अविद्या है तथापि जीव की 'ठोसावस्था' अर्थात् जब जीवरूप से पहचान हो सके, तब होती है जब शरीर-इंद्रिय-मन-प्राण

से सम्बन्ध हो, तादात्म्य हो। शरीरादि उपाधि श्रेष्ठ या कनिष्ठ कैसी भी हो, जीवभाव के लिये अविद्यापूर्वक उपाधि-सम्बन्ध अनिवार्य है। बिना अविद्या के यदि सम्बन्ध हैजैसे राम-कृष्णादि अवतारों कातो वहाँ ईश्वरता ही है, जीवभाव नहीं। प्रजापति में भी इसीलिये प्रारंभ में जीवभाव, तत्त्वसाक्षात्कारके पश्चात् ईश्वरभाव माना गया है। जिसमें अविद्यामूलक जीवभाव प्रकट है और जिसमें ही इसका विलय होगा उसे उपनिषत् ने महान् भूत आदि कहा। 'भूत' से उसकी सद्रूपता, 'महान्' से आनंदरूपता और विज्ञानघन से चिद्रूपता कही। देश-काल-वस्तु से वह अपरिच्छिन्न है। न वह किसी का कार्य है, न उसका कुछ कार्य है। वह पूर्ण होने से व्यापक है (न कि व्याप्त की अपेक्षा से)। वह सदा सिद्ध है, कभी साध्य नहीं, किसी क्रिया का फल नहीं, क्रिया-निरपेक्ष है। श्लोक. ६८ में 'व्याप्ति' अर्थात् व्यापकता। किं च यह इस व्याप्ति (सम्बन्ध) की भी नित्यता है कि जो अनंत होता है वह महान् होता है एवं अपार अवश्य भूत (नित्यसिद्ध) होता है। साथ ही, कारण तब ख़त्म हो जाता है जब उसका कार्य बन जाये जैसे फुलके बन जायें तो आटा समाप्त; अतः आत्मा का यदि कार्य हो तो आत्मा भी समाप्त हो जाये! किंतु वह समाप्त होता नहीं इसलिये उसका कोई कार्य नहीं। क्योंकि उत्पत्ति तभी हो जब पहले से वस्तु हो नहीं, आत्मा नहीं है ऐसा कभी संभव नहीं, इसलिये उसकी उत्पत्ति नहीं अर्थात् उसका कोई कारण नहीं। 'घन' शब्द के प्रयोग से वस्तुकृत परिच्छेद का निषेध है। क्योंकि विज्ञान से अन्य कुछ नहीं अतः वह वस्तु-परिच्छेद वाला नहीं हो सकता। इस प्रकार देश-काल-वस्तु तीनों सीमाओं से वह रहित है।।६७-७१।।

नमक की डली के उदाहरण के हिस्से दार्ष्टान्त से कैसे मेल खाते हैं यह बताते हैं **समुद्र की जगह है अद्वितीय आत्मा, उसका जो जल मैदान में डाला जाता है उसकी जगह है साक्षी चैतन्य, मैदान की जगह है शरीरादि, गर्मी की जगह है भ्रान्ति।।७२।। डली की जगह है चिदाभास के सम्बन्धवश होने वाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं उनके बाद होने वाले द्रष्टा, श्रोता, द्विज, गोरा, धनी, गायवाला आदि अभिमान।।७३।।** तत्त्वज्ञान से पूर्व जो अनादिसिद्ध अद्वैतरूप आत्मा वह समुद्र की जगह समझना है। परमार्थतः निर्माय होने से अद्वैतता है, व्यवहारतः समाय होने पर भी क्योंकि शक्ति-शक्तिमान् सर्वथा भिन्न नहीं होते इसलिये अद्वैत ही है। साक्षिता आने पर ही प्रमातृत्व आता है, 'साक्षित्वम् आत्मतमसा मतिकंचुकेन मातृत्वम्' ऐसा संक्षेपशारीरक में स्पष्ट है, अतः जितने जल से नमक बनता है उतने जल की जगह साक्षी कहा। भ्रम, कार्याऽविद्या, अहंकार (प्रथम विकार) को ताप-स्थानीय बताया, भ्रम

अब्धिस्थानीयम् ऐकात्म्यं जलस्थानं तु साक्षिचित्।
क्षेत्रस्थानं शरीरादि तापस्थानं तु विभ्रमः।।७२।।
खिल्यस्थानं चिदाभासयोगात् कर्तृत्वभोक्तृते।
द्रष्टा श्रोता द्विजो गौरो धनी गोमान् भवेत् ततः।।७३।।
प्रत्यगात्मैव सद् ब्रह्म परोक्षम् अभवत् तदा।
ब्रह्मैव सन्नयं चात्मा संसारित्वम् अवाप्तवान्।।७४।।
इत्येवं परवस्त्वेव पञ्चभूताख्यमायया।
जीवत्वेन समुत्थाय ततः शास्त्रेण बुद्ध्यते।।७५।।

तपाता है ही। अब जो कर्त्रादि रूप निष्पन्न होते हैं उनमें जीव क्योंकि स्पष्ट पहचाना जाता है इसलिये वह डली-स्थानीय है। जिसे 'भ्रान्ति' कहा उसी को 'चिदाभास' कहा।।७२-३।।

यों जीव बनने की स्थिति का वर्णन करते हैं **तब ब्रह्म परोक्ष हो गया हालाँकि रहा वह प्रत्यगात्मा (साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य) ही। यह आत्मा ब्रह्म ही रहते हुए तब संसारीपन पा गया।।७४।।** जीवरूपता आने पर लगता है ब्रह्म हम से अन्य कोई अज्ञात वस्तु है। वह हमारा वास्तविक स्वरूप हैइससे हम बेखबर बने रहते हैं। लगातार अन्यथा अभिमान रखने पर अपनी वास्तविक स्थिति भुला जाती है। वाज़िद अली शाह के बारे में प्रसिद्ध है कि बेगमों से हमेशा घिरे रहने से वह कदाचित् यही भूल गया था कि वह मर्द है! अनेक हिंदू अन्यान्य सम्प्रदायों के उपपादन में संलग्न रहते-रहते भूल जाते हैं कि वे हिंदू हैं। रामकृष्ण परमहंस के अनुयायी एक महात्मा करांची केन्द्र चलाते थे, कहते थे 'हम सब धर्मों को मानते हैं।' किन्तु विभाजन के समय उन्हें भी भागकर आना पड़ा, उनका वह 'मानना' उन्हें मुसलमानों को ग्राह्य नहीं बना सका! वास्तव में हिंदू होने पर भी भूलकर खुद को अहिंदू समझने की तरह ब्रह्म का जीवभाव है। आत्मवस्तु परोक्ष कभी हो नहीं सकती फिर भी हमें लगता ऐसा ही है क्योंकि जीवभाव का आग्रह हो रखा है। जो संसारिता मैं जन्मा, मैं मरा योंप्रतीत होती है वह मात्र भ्रम है क्योंकि वास्तव में आत्मा अनादि-अनन्त ब्रह्म ही है।।७४।।

श्रुति ने कहा 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय' कि इन भूतों से उठकर। इसे समझाते हैं **पंचभूत नामक माया के कारण परमात्मा ही पूर्वोक्त ढंग से जीवरूप से उठ खड़ा होकर फिर शास्त्र से वास्तविकता समझता है।।७५।।** यद्यपि श्रुति ने 'भूत' शब्द का प्रयोग किया है तथापि क्योंकि भूत स्वयं सादि है इसलिये अनादि जीवभाव के

प्रबोधः

सर्वमात्मेति सम्यग्धीजन्मनैवाऽखिले भ्रमे।
नष्टे नश्यति जीवत्वं जले प्रक्षिप्तखिल्यवत्।।७६।।
क्षेत्रज्ञेश्वरभेदेन पुनः संज्ञा न विद्यते।
तद्धेतोस्तमसो ध्वंसात् खिल्याऽनुद्धरणं यथा।।७७।।
दृष्टिमात्रात्मयाथात्म्यात् कार्यकारणवस्तुनः।
नाऽज्ञातं किञ्चिदप्यस्ति नानपास्तं तथा तमः।।७८।।

लिये पर्याप्त उपाधि नहीं हो सकते, अतः उनसे उनके कारण अर्थात् माया को समझना चाहिये। शास्त्रानुसार समझने पर ही सत्य अद्वैत का अवबोध प्राप्त होता है कि मैं जीव नहीं, परमेश्वर हूँ। मैं कर्ता-भोक्ता नहीं वरन् कर्ता-भोक्तापने को प्रकाशित करने वाला हूँयह दृढ निश्चय ही अविद्या की निवृत्ति है।।७५।।

उक्त समझ को ही स्पष्ट करते हैं **'सभी आत्मा ही है' इस सही ज्ञान के जन्म से ही अशेष भ्रम मिट जाने पर जीवभाव की प्रतीति समाप्त हो जाती है जैसे जल में घुल जाने पर डली की प्रतीति असंभव हो जाती है।।७६।। 'क्षेत्रज्ञ' (जीव) और 'ईश्वर' ये विभिन्न नाम तब नहीं रहते क्योंकि उनके हेतुभूत अविद्या का बाध हो चुका। जैसे घुल चुकी डली फिर नहीं निकाली जा सकती ऐसे समाप्त हुआ भेद फिर अनुभव नहीं किया जा सकता।।७७।।** 'सही ज्ञान' अर्थात् संशय-विपर्यय से रहित प्रमा। उससे अज्ञान निवृत्त होने पर सभी भ्रम एक-साथ दूर हो जाते हैं, एक-एक को मिटाने के लिये अलग-अलग प्रयास नहीं करना पड़ता। जीव-ईश्वर ये नाम भी औपाधिक भेद पर निर्भर होने से उपाधि ही न रह जाने पर प्रवृत्त नहीं हो पाते अर्थात् चिन्मात्र आत्मवस्तु को तब न जीव कह सकते हैं, न ईश्वर। अत एव याज्ञवल्क्य ने कहा 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति'जीवादिभाव छोड़ चुके आत्मा का कोई नाम नहीं है। जैसे घुली डली का पुनः प्राकट्य नहीं ऐसे निवृत्त भेद की भी पुनः उपस्थिति नहीं।।७६-७।।

सर्पादि भ्रम निवृत्त होने पर तो रज्जु रहते पुनः मंदान्धकार आदि में सर्पभ्रम संभव है लेकिन आत्मज्ञान होने पर पुनः अनात्म भ्रम संभव नहीं यह कहते हैं **कार्य-वस्तु और कारण-वस्तु की वास्तविकता ज्ञानैकस्वरूप आत्मा है। ऐसा कुछ भी वस्तुतः है नहीं जो अज्ञात हो एवं ऐसा कोई अज्ञान नहीं है जो हट न गया हो।।७८।।** 'कार्य' से तदुपाधिक जीव तथा 'कारण' से तदुपाधिक ईश्वर समझ लेने चाहिये।

आत्यन्तिकोऽयं प्रलयः पुनर्जन्मविवर्जनात्।
स्वाभाविके लये शक्तिशेषाद् अस्ति पुनर्जनिः।।७६।।
विज्ञानैकघनस्याऽस्य संज्ञा नास्तीति यद्वचः।
तद्व्याहतिर्न शक्याऽत्र तयोर्विषयभेदतः।।८०।।
विज्ञानैकघनोक्त्याऽस्य कृत्स्नैकात्म्यं पुरोदितम्।
संज्ञा नास्तीति चाऽविद्याजन्या बुद्धिर्निषिद्ध्यते।।८१।।

उपाधि-उपहित सभी की वास्तविकता जो इकलौता चिद्धन उसके बारे में जो अज्ञान अभी प्रतीत है वह पूर्वोक्त सही ज्ञान से समाप्त हो चुका। न समाप्त हुआ तो कोई अज्ञान बचा नहीं जिसके भरोसे पुनः भ्रम हो सके और चिन्मात्ररूप आत्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं जिसके बारे में कोई अज्ञान मिटने से रह गया हो। अतः पुनः भ्रम असंभव है। रज्जुज्ञान से तो देशांतर-कालांतरविशिष्ट रज्जु के असंख्य अज्ञान (तूलाज्ञान) नष्ट होते नहीं, देशांतरादिविशिष्ट रज्जु अज्ञात रहती ही है, इसलिये पुनः भ्रम संगत है। अखण्ड साक्षात्कार इसीलिये 'पर-अन्तकाल' हो जाता है, उसके बाद कुछ समापनीय नहीं बचता।।७८।।

श्लोक ५७ में कही दूसरी प्रलय का वर्णन (श्लोक. ६३-७८) पूरा करते हैं **यह आत्यन्तिक प्रलय है क्योंकि इसके बाद फिर जन्म नहीं होता। स्वाभाविक प्रलय होने पर शक्ति बची रहने से फिर जन्म हो जाता है।।७६।।** अविद्या रहते जो प्रलय होगा वह स्वाभाविक है अतः पुनः सृष्टि होगी ही, जब अविद्या निवृत्त हो गयी तब पुनः जन्म का प्रसंग ही न होने से प्रलय की अति-अंतिमता है।।७६।।

याज्ञवल्क्य के उक्त उपदेश पर मैत्रेयी ने कहा 'अत्रैव मा भगवान् अमूमुहत्, 'न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्ती' ति।' कि आपने मुझे नासमझी की स्थिति में ला दिया यह कहकर कि 'मरने पर नाम नहीं रह जाता।' विज्ञानघन आत्मा का सनातन होना ही उचित है, उसका नाम तक न रह जाये, यह विरुद्ध बात लगती है। महर्षि ने इस पर इतना ही उत्तर दिया 'न वा आरे अहं मोहं ब्रवीमि। अलं वा अरे इंद विज्ञानाय।' अर्थात् मैंने जो कहा उससे नासमझी हो यह संभव नहीं, जो कहा उसी को ढंग से समझने पर सही विज्ञान हो सकता है। इस प्रसंग का संग्रह करते हैं **'सिर्फ़ विज्ञानरूप इस आत्मा का नाम नहीं रहता' यह जो कथन है इसमें किसी विरोध की शंका नहीं की जा सकती क्योंकि दोनों कथनों का अभिप्राय परस्पर भिन्न है।।८०।। 'सिर्फ विज्ञान का मानो घनीभूत रूप है' इसके द्वारा पहले बताया कि सारे संसार का वही**

अद्वैतम्

कार्यकारणनाशेऽपि[1] स्वतः सिद्धम् अनन्यमम्[2] ।
यद्वस्तु तदलं स्वात्मसंवित्त्यै निरपेक्षतः ।।८२ ।।

एकमात्र वास्तविक स्वरूप है। 'संज्ञा (नाम) नहीं रहती' इससे कहा कि (आत्यंतिक प्रलय होने पर) अविद्या से होने वाले अनुभव नहीं होते।।८१।। कार्य व कारण न रह जाने पर भी जो खुद ही प्रकाशमान, किसी अन्य से प्रकाशित न होने वाली आत्मवस्तु है वह ज्ञान के लिये पर्याप्त है क्योंकि इसके लिये उसे किसी की ज़रूरत नहीं।।८२।। 'नाम नहीं रहता' से मैत्रेयी को लगा कि प्रतीति भी नहीं रहती। 'सं-ज्ञा' शब्द से प्रतीति भी कही जाती है। इसीलिये कथन में विरोध लगा कि ज्ञानरूप है और उसका ज्ञान नहीं होता। अतः उसने कहा 'मुझे घपले में डाल दिया!' याज्ञवल्क्य ने 'विज्ञान' का अस्तित्व और 'संज्ञा' का निषेध किया, दो विभिन्न शब्द रखने से ही सूचित किया कि जो है वह अलग वस्तु और जो नहीं है वह अलग वस्तु। स्वरूपज्ञान है, वृत्तिज्ञान नहीं है; अतः विरोध नहीं है। जो स्वरूपभूत ज्ञान है वह तो सारे संसार की वास्तविकता है 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' । ज्ञान से स्वतंत्र संसार में कुछ उपलब्ध नहीं। इसलिये अधिष्ठान के सत्त्व का विधान 'विज्ञानघन' से किया। वृत्तिज्ञान अविद्याजन्य होते हैं, उनका निषेध किया। आरोपित के क्षेत्र में ही वृत्ति ज्ञान हैं, सत्य सिर्फ स्वरूप है। जब कारण समेत कार्य का बाध हो गया तब वृत्ति की संभावना ही समाप्त हो गयी। भेद रहते वृत्ति होती है, भेदनिवृत्ति हो चुकने पर वृत्ति को मौका नहीं रह जाता। 'कार्यकारणताशेषि' का अनुवाद 'कार्य-कारण को लाँघकर रहने वाली वस्तु' मद्रास वि. विद्या. के आंग्लानुवादक ने किया है। कार्य-कारणता अर्थात् कार्यकारणभाव स्वयं शेष अर्थात् परार्थ है क्योंकि किसी ज्ञान (अनुभव) की व्याख्या के रूप में ही इनकी कल्पना है। हमें बीज दीखा, फिर छह दिनों बाद अंकुर दीखा; इन दो अनुभवों के आपसी तालमेल के लिये ही हम बीज को कारण और अंकुर को कार्य समझते हैं। अतः ये शेष हैं। जिसके ये शेष हैं, वह इनका शेषी हुआ; वही विज्ञानमात्र है। यों इसका अर्थ संगततर है। वह आत्मा स्वतः सिद्ध या स्वप्रकाश है। अतः वह 'अनन्यम' है अर्थात् उसकी 'मा'= प्रमा किसी अन्य से नहीं होती। पण्डित हरिहर कृपालु ने 'अनन्यगम्' पाठ मानकर

---

१. कार्यकारणताशेषि इति प्रायः पाठः। नाशेपीति तु सारे, तदनुरोधेन मुत्तुशास्त्रिणः।
२. अनन्यगमिति नि.सा. मद्रसंस्करणयोः।

ऐकात्म्यं यद् अविज्ञातं तद् द्वैतमिव विभ्रमात्।
स्याद् यत्र तत्र पुंसोऽसौ कर्तृकर्मादिभेदधीः।।८३।।
ननु द्वैतम् इवेत्येतद् उपमानं कथं तव।
उपमेयद्वैतवस्तुराहित्याद् इति चेच्छृणु।।८४।।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।
इत्यादावुपमा दृष्टा स्वस्य स्वेन तथेष्यताम्।।८५।।

'अननुगत' अर्थ किया है। द्वितीय न रह जाने से विज्ञान किस अन्य में अनुगत हो! इस पाठ में स्वतः सिद्ध से पुनरुक्ति बची रहती है। किंतु स्वयं वार्तिक में (२.४.४.५२) 'कार्यकारणनाशेऽपि स्वतःसिद्धम् अनन्यमम्' पाठ है एवं आनंदगिरीय में 'स्वतः सिद्ध-त्वसिद्ध्यर्थम् अनन्यमम् इत्युक्तम्' व्याख्या है। अतः यही पाठ श्रद्धेय है। जैसे सब कुछ ज़मीन पर है लेकिन यह प्रश्न व्यर्थ है कि ज़मीन किस पर है; ऐसे ही सबकी सिद्धि ज्ञान से अतः उसकी सिद्धि किससेयह प्रश्न ही व्यर्थ है।।८०-२।।

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा 'यत्र हि द्वैतम् इव भवति तद् इतर इतरं जिघ्रति...यत्र वा अस्य सर्वम् आत्मैवाऽभूत् तत् केन कं जिघ्रेत्...येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्!' (१४)। जहाँ द्वैत जैसा हो वहीं अन्य रहा ज्ञाता अन्य किसी ज्ञेय को जानता है; जहाँ सब इसका आत्मा ही है वहाँ कौन किसे जाने? जिससे सब कुछ जानते हैं उसे किससे जानें! यों बतायी स्वप्रकाशता को श्लोकों में समझाते हैं **जो न समझी गयी एकात्मता है वह भ्रम से द्वैत जैसी है, वहाँ कर्त्ता-कर्म आदि की ये प्रसिद्ध भेदबुद्धियाँ होती हैं।।८३।।** एकात्मता अर्थात् अद्वितीय आत्मा को न जानने पर ही भ्रमवश आश्रय-विषय आदि द्वैत (भेद) की उपस्थिति है जिसमें हम कर्त्ता (ज्ञाता) बनकर घटादि कर्मों (ज्ञेयों) को जानते हैं। इसी से हमें आशा होती है कि 'मैं शिव को जानूँगा' अर्थात् आत्मा के बोध में भी यह आश्रय-विषय भाव रहेगा। लेकिन वह रहना नहीं क्योंकि अज्ञान ही नष्ट हो जायेगा। श्रुति ने 'द्वैतमिव' (द्वैत जैसा) इसलिये कहा कि द्वैत वास्तव में तो होता नहीं, भ्रम से प्रतीत ही हो जाता है।।८३।।

'द्वैत जैसा' सुनकर मिथ्यात्व न समझ पाने वाला प्रश्न करता है **'द्वैत जैसा' में कहा गया उपमान (दृष्टान्त) तुम वेदान्ती के मत में कैसे मिलेगा क्योंकि जिससे उपमा दी जा सके ऐसी कोई द्वैत वस्तु तुम्हारे मत में है ही नहीं? इस प्रश्न का उत्तर सुनोः।।८४।। 'राम-रावण का युद्ध वैसा ही हुआ जैसा राम-रावण का युद्ध हुआ' इत्यादि स्थलों में जैसे खुद से खुद की उपमा दी**

यद्वल्लोके चन्द्रभेदः कल्पितत्वेन सम्मतः।
जगद्भेदोपमा सा स्याद् मिथ्यात्वं तेन सिद्ध्यति।।८६।।

जाती है वैसे यहाँ समझना संगत है।।८५।। श्रुति ने जब द्वैत-जैसा कहा तब प्रश्न उठा कि जैसा अर्थात् उपमा वहीं होना संगत है जहाँ उपमान और उपमेय अलग-अलग हों। द्वैत की तरह की कौन-सी वस्तु श्रुति कह रही है? इसके समाधान में बताया कि कभी-कभी स्वयं को ही स्वयं में दृष्टांत दिया जाता है। राम-रावण के युद्ध के समान कोई युद्ध हुआ ही नहीं अतः उसे स्वयं से ही उपमित कर सकते हैं। लोक में भी 'आप तो आप जैसे ही हैं' आदि कहा जाता है। इसी प्रकार द्वैत जैसा द्वैत को ही बताया है। वस्तुतस्तु इस तरह के प्रसंगों में इव (जैसा) का तात्पर्य मिथ्यात्व-सूचन हुआ करता है। अध्यासभाष्य में 'शुक्तिका हि रजतवद् अवभासते' कहा; वहाँ प्रकटार्थविवरण में 'वत्करणेन चाऽनिर्वाच्यताम् आचचक्षे' समझाया है। परिमल में 'मिथ्यात्वमपि तदर्थः' (इव-वत्कारयोरर्थः) कहा है।।८४-५।।

राम रावण युद्ध-प्रसंग में उपमा है ही नहीं वरन् युद्ध को अनुपम बताया है! अतः स्व से स्व की उपमा मानना असंगत ही ठहरा। अतः दूसरे ढंग से उपमान का समर्थन करते हैं **जैसे लोक में मान्य है कि चन्द्रभेद (अनेक चन्द्रमा) कल्पित है (वैसे) कल्पित जगद्भेद से उपमा हो सकती है। उससे जगत् का (द्वैतका) मिथ्यात्व निर्धारित हो जाता है।।८६।।** धरती के लिये चन्द्र एक ही है किन्तु दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होकर अनेक दीख जाते हैं, उनमें से एक की तरह का दूसरे को बताया जा सकता है। इसी तरह द्वैतरूप जगत् के भेद की कल्पना कर उस कल्पित द्वैत से इस द्वैत की उपमा दी जाये यह ठीक है। इससे द्वैत का मिथ्यात्व भी सुसंगत हो जाता है; कल्पित द्वैत जैसा यह द्वैत हैइससे इस द्वैत की भी कल्पितता पता चल जाती है। दर्पणादि के बिना भी मोतियाबिन्द वाले को दो चंद्रमा दीख ही जाते हैं। दोनों में एक ही सच्चा होगा, दूसरा झूठा होगा, फिर भी एक के जैसा दूसरा हैयह लगता ही है। इसी तरह 'द्वैत जैसा' में कल्पित अनेक द्वैतों से व्यवस्था बन सकती है। अथवा, स्वप्न में उपलब्ध द्वैत की तरह का जाग्रत् में उपलब्ध द्वैत हैयह सरल योजना वार्तिक में (२.४.४.६२)कही है।।८६।।

इस प्रकार द्वैत के मिथ्यात्व का यहाँ उल्लेख ही क्यों? इसका उत्तर देते हैं **श्रुतिवचनों की संगति बैठाते हुए जो ऐसा कहते हैं कि आत्मा का समस्त रूप भी है और व्यस्त रूप भी है; उनके पक्षका निषेध करने के लिये यहाँ द्वैत के मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है।।८७।।** (श्लोकस्थ 'इह' का अर्थ आनन्दगिरीय में (२.४.४६५)

समस्तव्यस्तरूपत्वं यो वक्तीहात्मनः श्रुतेः।
तत्पक्षस्य निषेधाय द्वैतमिथ्यात्ववर्णनम्।।८७।।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपं प्राप्य स्वप्ने यथा मृषा।
एको व्यवहरत्येवम् अज्ञो व्यवहरेद् मृषा।।८८।।

'परीक्षकनिर्धारणार्थम् इहेत्युक्तम्' बताया है।) श्रुति में 'यही द्रष्टा है' एवं 'जो कुछ है वह सब यह आत्मा है'यों दो तरह की बातें मिलती हैं। एक से लगता है कि आत्मा जगत् से परे है, दूसरी से लगता है कि जगद्रूप है। दोनों की संगति बैठाने के लिये विचारपूर्वक कुछ चिंतकों ने माना कि आत्मा को उभयरूप ही स्वीकार लिया जाये। किन्तु दोनों रूपों को सत्य मानना असम्भव होने से यहाँ वर्णन किया कि जगद्रूप मिथ्या है; रूप दोनों आत्मा के हैं पर एक वास्तविक, दूसरा मिथ्या। अथवा, 'व्यस्त' अर्थात् व्यष्टि, 'समस्त' अर्थात् समष्टि; इन दो रूपों वाला आत्मा को मानते हैं। किन्तु 'द्वैतमिव' से सारे द्वैत को मिथ्या बताने से समझाया कि ये दोनों आत्मा के अवास्तविक ही रूप हैं। कुछ दार्शनिक सारा जगत् परमात्मा का शरीर है और खुद परमात्मा शरीर वाला अर्थात् उससे अन्य हैऐसी कल्पना करते हैं। उनको भी 'द्वैतमिव' से समझाया कि शरीररूप जगत् को परमात्मा का मिथ्यारूप ही मान सकते हैं, वस्तुतः नहीं। भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत आदि कल्पनाओं का यहाँ निरास समझना चाहिये।।८७।।

द्वैत जैसी अर्थात् मिथ्या द्वैत की स्थिति में व्यवहार उपपन्न करते हैं **स्वप्न में जैसे मिथ्या ही ज्ञातारूप, ज्ञानरूप और ज्ञेयरूप पाकर एक ही आत्मा व्यवहार कर लेता है वैसे अज्ञानी मिथ्या ही सारा व्यवहार कर लेता है।।८८।।** सपने में यद्यपि इन्द्रियाँ कार्यकारी नहीं होती तथापि अनुभव होता है 'मैं सूँघ रहा हूँ' आदि, ज्ञेय विषय न होने पर भी प्रतीत होते हैं तथा वहाँ जो जानने वाला मैं लगता हूँ वह भी जाग्रत् के जानने वाले से अलग ही होता है। अतः स्वप्न में आत्मा ही इन तीन रूपों का बनकर व्यवहार करता है। जैसे वह मिथ्या व्यवहार वैसे सारा ही व्यवहार मिथ्या है यह याज्ञवल्क्य का भाव है। सपने में तो व्यवहार सच्चा ही लगता है, जगने पर उसका मिथ्यात्व समझ आता है। इसी तरह जाग्रत् का मिथ्यात्व आत्मबोध होने पर समझ आता है। जैसे स्वप्नरूप दोष से व्यवहार मिथ्या वैसे अविद्यारूप दोष से जाग्रत् व्यवहार भी मिथ्या। जैसे स्वप्न से जाग्रत् प्रभावित नहीं होता, वैसे जाग्रत् से (व्यावहारिक से) परमार्थ प्रभावित नहीं होता। श्रुति में 'तदितर इतरं जिघ्रति' इत्यादि जो कहा उसका यही भाव है कि जैसे स्वप्न में मिथ्या द्वैत रहते व्यवहार है वैसे जाग्रत् में भी मिथ्या ही द्वैत रहते व्यवहार है।।८८।।

यस्याम् अविद्याऽवस्थायां भेदभ्रान्तिस्तदा पुमान्।
घ्रतृघ्रेयघ्राणसञ्ज्ञाम् आप्नोत्यन्यां तथा त्रिधाम्।।८६।।
अविद्यायां विनष्टायां घ्रातृघ्राणादिभेदधीः।
विनश्यतीत्यभिप्रेत्य सञ्ज्ञा नास्तीति वर्णितम्।।६०।।
अभिज्ञोऽप्यज्ञवद् भेदं घ्रातृघ्राणादिलक्षणम्।
विजानातीति चेद् मैवं विद्यायां तदसम्भवात्।।६१।।

'फिर नाम नहीं रहता'इसे स्पष्ट करने के लिये बताते हैं कि आत्मा के नाम रहते कब हैं **जिस अविद्या की अवस्था में भेद का भ्रम है तब पुरुष (आत्मा) घ्राता-घ्रेय-घ्राण तथा ऐसे और भी तीन तरह के नाम पा जाता है।।८६।।** अविद्यावस्था अनादि है जिसमें हम सभी हैं और घ्राता आदि विभिन्न नाम पाये जा रहे हैं। तीन तरह के अर्थात् हमारे कर्त्तारूप को, करण रूप को और कर्मरूप को बताने वाले नाम। श्रुति ने 'जिघ्रति' से प्रारंभ किया अतः आचार्य ने घ्राता आदि नाम बताये। द्रष्टा, गन्ता आदि सभी नाम समझ लेने चाहिये। ज्ञेय या कर्म भी आत्मनाम ही हैं यह स्वप्नोपलब्ध ज्ञेयों व कर्मों से निश्चित किया।।८६।।

अतः नाम तभी न रहें जब उक्त अवस्था न रहे यह समझाते हैं **अविद्या विनष्ट होने पर घ्राता-घ्राण आदि भेदघटित अनुभव भी विनष्ट हो जाते हैंइस तात्पर्य से 'उसका नाम नहीं रहता' यह वर्णन किया।।६०।।** विज्ञानघन में 'ज्ञा' का अर्थ और 'संज्ञा' में 'ज्ञा' का अर्थ अलग-अलग है अतः मैत्रेयी की शंका का उन्मूलन हो गया। संज्ञा में औपाधिक भेदानुभव से तात्पर्य है, विज्ञानघन में ज्ञप्तिमात्र से तात्पर्य है। ज्ञप्ति में त्रिपुटी नहीं, संज्ञा में त्रिपुटी है। नाम भी तभी पड़ते और काम में लिये जाते हैं जब भेदानुभूति हो या करनी-करानी हो। अविद्या मिटने पर उपाधि न रह जाने से भेदानुभव अतः नाम नहीं रहता यह भाव है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय ऐसा भेद भी उस विज्ञानघन में सम्भव नहीं। तथापि जीवन्मुक्तिदशा में प्रारब्ध शेष रहते उपाधि-सम्पर्क प्रतीत हो जाने से व्यवहार संभव रहता है लेकिन मुक्त को वह बाधित के रूप में ही भासता है।।६०।।

मुक्त के व्यवहार पर निर्भर कर प्रश्न उठता है कि संज्ञा की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती होगी; किन्तु बाधित-अबाधित के भेद से व्यवहार और संज्ञानिवृत्ति दोनों उपपन्न हैं, यह स्पष्ट करते हैं **क्या तत्त्ववेत्ता भी घ्राता-घ्राण आदि भेद को वैसे ही समझता है जैसे अज्ञानी? नहीं, क्योंकि विद्या उत्पन्न हो जाने पर वैसे ही समझना संभव नहीं।।६१।। जिस विद्या की स्थिति में तो जगत् इसका आत्मा ही हो गया तब**

यस्यां तु विद्यावस्थायाम् आत्मैवाऽस्याऽभवज्जगत्।
तदा कः केन किं जिघ्रेद् अद्वैते परवस्तुनि।।९२।।
दृष्टगोचरवत्[1] सर्वं कार्यकारणवज्जगत्।
ध्वस्तात्मान्ध्यस्य विदुषः सम्यग्ज्ञानोदये भवेत्।।९३।।

अैद्वतरूप परमार्थ सत्य में कौन किससे किसे सूँघे!।।९२।। सम्यग् ज्ञान का उदय होने पर जिस विद्वान् का आत्मसम्बद्ध अज्ञान ध्वस्त हो चुका उसके लिये कार्य-कारण आदि भेदों वाला जगत् वैसे ही नहीं है जैसे छठे प्रमाण का विषय 'नहीं है'।।९३।। 'वैसे ही' नहीं समझता यह ज़रूरी बात है। जीवन रहते समझता तो है पर सत्य नहीं समझता। जैसे भगवान् ने 'कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तः' में बताया कि 'कुर्यात्' लेकिन 'असक्तः', वैसे प्रतीतिमात्र हो सकती है लेकिन जैसे अज्ञ को प्रतीत भेद सत्य लगता है वैसे तत्त्वज्ञ को असत्य लगता है। श्रुति ने कहा 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाऽभूत तत् केन कं जिघ्रेत्' आदि अर्थात् विज्ञान हो चुकने पर सर्व अर्थात् जगत् आत्मा ही हो जाता है। अतः एकमात्र परमात्मवस्तु रहते त्रिपुटी की सत्यरूप से उपलब्धि ही असंभव है। 'कौन किससे किसे' अर्थात् कर्त्ता कर्म करण को सचमुच विभिन्न समझते हुए व्यवहार नहीं हो सकता। 'सम्यग् ज्ञान' अर्थात् अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति से हुआ साक्षात्कार। उससे अज्ञान दूर होते ही संसार मिट जाता है। संसार कार्य-कारण के प्रवाह का नाम है। यद्यपि प्रपंच नाम-रूपात्मक या पंचभूतात्मक है तथापि उसका उपयोग निर्भर करता है कि हम प्रपंच को कार्य या कारण के रूप में ग्रहण करें। इसके लिये मात्र अविद्योपाधि नहीं वरन् व्यक्त-अव्यक्त उपाधि (स्थूल-सूक्ष्म शरीर) में तादात्म्य आवश्यक है, तभी कार्य-कारण का विभाजन संभव है। जब मूलभूत अविद्या ही निवृत्त हो चुकी तब कार्याविद्या असम्भव होने पर संसार न रहना ठीक है। अतः तब के लिये संसार को 'षष्ठगोचर' कहा। हमारी पाँच ही इंद्रियाँ हैं। न छठी इंद्रिय है अतः न कोई उसका विषय। अथवा षष्ठ अर्थात् छठा प्रमाण अनुपलब्धि, जिसका विषय होता है अभाव। अभाव का स्वरूप है 'नहीं है'। सारा कार्य-कारण संसार तत्त्वज्ञ की दृष्टि में नहीं ही है। (श्लोक में 'षष्ठगोचरवत्' मानकर अर्थ किया। अनुभूतिप्रकाश के प्रायः संस्करणों में 'दृष्टगोचरवत्' पाठ है जिसका अर्थ है : अविद्यानिवृत्ति के अनन्तर संसार वैसे ही ज्ञात हो चुकता है जैसे प्रत्यक्ष के विषय, क्योंकि वेद ने कहा है कि एक आत्मतत्त्व को जान

[1] वार्तिके (२.४.४७२) सारे (२.४.१७४) च 'षष्ठगोचरवत्' इति पाठः। अनुभूतिप्रकाशस्य नि. सा. मद्रसंस्करणयोः 'दृष्टे'ति पाठः। पुणेसंस्करणे द्वयोर्हस्तलेखयोः षष्ठेति पाठः।

विज्ञानघनः

ग्राहकादिविभागोऽत्र नास्ति तद्धेत्वसम्भवात्।
चिन्मात्रस्य स्वतः सिद्धेर्विज्ञानघनतेरिता।।६४।।
मुक्तस्य व्यवहारस्तु भ्रान्तिवासनया कृतः।
भ्रान्तिनाशेऽपि संस्काराऽनुवृत्तिर्दृश्यते खलु।।६५।।
वासनामात्रसंज्ञा तु देहे सति न वार्यते।
वस्तुत्वभ्रान्तिसंज्ञैव प्रबुद्धस्याऽत्र वार्यते।।६६।।

लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, अतः अब वह क्यों किसी उपाय से किसी विषय को जानेगा? न जानने तक ही साधनोपयोग से विषय जानने पड़ते हैं, सर्वज्ञता हासिल हो चुकने पर इसके कोई मायने नहीं। षष्ठगोचरवत्‌ही उचिततर पाठ है।)६१-३।।

त्रिपुटी के बिना ही तत्त्वबोध में आत्मप्रकाश कायम रहता है यह बताते हैं **ग्रहण करने वाला (ग्रहण के साधन और विषय)ये भेद मोक्षदशा में नहीं क्योंकि इनका हेतु अज्ञान तब नहीं बचता। तब केवल चेतन स्वयमेव भासमान रहता है, इसे बताने के लिये श्रुति ने आत्मा को विज्ञानघन कहा है।।६४।।** जो कुछ सिद्ध (प्रकाशित) होता है वह त्रिपुटी रहते हीऐसा नियम नहीं क्योंकि जो स्वयं विज्ञानरूप है उसकी सिद्धि त्रिपुटी के बिना भी है। उससे अन्य ही अपनी सिद्धि किसी से चाह सकता है और वह सिद्धि किसी साधन से हो भी सकती है। जो स्वयं ज्ञान है उसे किसी ज्ञाता से विषय होने की जरूरत नहीं अतः किसी साधन (प्रमाण) की ज़रूरत नहीं। इसलिये विद्यावस्था में बिना त्रिपुटी के चिन्मात्र है।।६५।।

त्रिपुटी नष्ट हो चुकने पर भी मुक्त का व्यवहार उपपन्न करते हैं **मुक्त का व्यवहार तो भ्रम के संस्कार से कर लिया जाता है। भ्रम मिट चुकने पर भी उसका संस्कार रह जाये यह देखा ही गया है।।६५।।** ज्ञान से पूर्व कर्तृत्व भोक्तृत्व अज्ञान के कारण है, ज्ञान के पश्चात् संस्कारों के कारण कर्त्ता जैसा, भोक्ता जैसा लगना बना रहता है। 'जैसा' अर्थात् मुक्त को मालूम रहता है कि वह लग ही कर्त्ता-भोक्ता रहा है, है वह अकर्त्ता-अभोक्ता ही।।६५।।

उक्त ढंग से तो 'प्रेत्य' अर्थात् जीवभाव हटने पर नाम भी रह ही सकता है यह बताते हैं **(मुक्त का) शरीर रहते केवल संस्काररूप संज्ञा रहेइसका निषेध नहीं है। तत्त्वज्ञ को संसार में वास्तविकता का भ्रम नहीं रहता, यही तात्पर्य है।।६६।।** जीवनपर्यन्त नाम और तन्निमित्तक भेदज्ञानरूप संज्ञा के बचे रहने का निषेध नहीं। केवल

ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा न संज्ञा विषये यथा।
प्रतीच्यपि तथा संज्ञा प्रबुद्धस्य न विद्यते।।९७।।
ज्ञानोत्पत्तौ न संज्ञाऽस्तीत्यास्तां तावद् इहात्मनि।
अपि सत्याम् अविद्यायां न संज्ञाऽस्त्यात्मनीदृशी।।९८।।
ग्राहकादि जगत् सर्वं येन कूटस्थसाक्षिणा।
लोकः सर्वो विजानाति जानीयात् केन तं वद।।९९।।

यही बताया है कि तत्त्वज्ञ को भेद, भेदज्ञान और भेदव्यवहार (नाम) में यह भ्रम संभव नहीं कि ये सत्य हैं। जैसे भूगोल-खगोल का जानकार भी धरती को सपाट, स्थिर एवं सूर्य को चलता हुआ ही देखता है पर जानता है कि स्थिति ऐसी है नहीं, वैसे तत्त्वज्ञ को भेद दीखता भले ही है पर वह जानता है कि यह वास्तविकता नहीं है।।९६।।

संसार-संज्ञा की तरह आत्म-संज्ञा भी नहीं रहती यह सूचित करते हैं **प्रबुद्ध के लिये जैसे (संसार के बारे में) ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय यह संज्ञा नहीं रहती वैसे प्रत्यगात्मा के बारे में भी संज्ञा नहीं रहती।।९७।।** प्रत्यक् को उपाधियुक्त समझने पर ही संज्ञा होती है, विशेष व्यवहार होता है; उपाधिमुक्त जान लेने पर स्वयं में भेदबुद्धि (मैं किसी से भिन्न हूँ, मुझ से कुछ भिन्न है यह अनुभव) संभव नहीं। यहाँ भी संस्कारमात्र से व्यवहार की मनाही नहीं है।।९७।।

आत्मा में 'संज्ञा' का वास्तविक अभाव व्यक्त करते हैं **जब अविद्या रहते भी आत्मा में त्रिपुटीरूप संज्ञा वास्तव में नहीं है तब ज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर संज्ञा नहीं इसमें क्या कहना!।।९८।।** आत्मा में वस्तुतः उपाधिसम्बंध असंभव होने से विद्या-अविद्या दोनों दशाओं में संज्ञा (भेदज्ञान, भेदव्यवहार) का वास्तविक अभाव ही है। अभी भी 'मैं हूँ' के ज्ञान में किसी त्रिपुटी का निर्धारण संभव नहीं क्योंकि कोई सच्ची त्रिपुटी है ही नहीं। व्यवहार-निर्वाह के लिये अंगीकार में कोई हानि नहीं, वैसी संज्ञा तो मुक्त में भी स्वीकार ही है।।९८।।

सबका प्रकाशक आत्मा कभी प्रकाश्य हो ही नहीं सकता यह निर्णय देते हैं **ज्ञाता आदि सारा जगत् जिस अपरिवर्तनीय साक्षी से सब लोग जानते हैं उस साक्षी को किससे जानें? बताओ।।९९।।** लोग ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इस त्रिपुटिरूप जगत् को जिस आत्मा के चित्प्रकाश से समझते हैं उस आत्मा 'को' जानना किसी साधन से संभव नहीं। सबके प्रकाशक सूर्य को जैसे किसी अन्य प्रकाश से नहीं जान सकते वैसे आत्मा को किसी साधन से कोई जाने यह सम्भव नहीं।।९९।।

बोद्धृत्वालोचनेनापि न संज्ञा प्रत्यगात्मनि।
न बोद्धा गृह्यतेऽन्येन[1] बोधेन विषयेण वा।।१००।।
व्यावहारिकसंज्ञाऽसौ संसारिण्यपि दुर्लभा।
किमु निःशेषविध्वस्तसंसारार्णवकारणे।।१०१।।

इस प्रकार 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्?' को समझाया अर्थात् आत्मप्रकाशन में समर्थ साधन का निषेध और ऐसे साधन का अनुपयोग सिद्ध किया। आगे श्रुति ने कहा है 'विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्' अर्थात् जानने वाले को कौन जाने! इसे समझाते हैं **आत्मा की बोद्धा-रूपता का विचार करने से भी निश्चय होता है कि प्रत्यगात्मा में 'संज्ञा' नहीं है (प्रत्यगात्मा के बारे में भेदज्ञान प्रवृत्त नहीं होता)। अपने से अन्य किसी बोध या विषय से बोद्धा का ग्रहण नहीं होता।।१००।।** बोद्धा अर्थात् जानने वाला। बोध अर्थात् जानना। विषय अर्थात् बोध से बोद्धा जिसे जानता है। क्योंकि बोध बोद्धा द्वारा प्रयोग में लाया जाता है इसलिये बोध बोद्धा को विषय नहीं कर सकता और विषय तो जड होने से ही विषय नहीं कर सकते। वस्तुतः बोद्धा भी स्वयं को विषय नहीं कर सकता क्योंकि उसे भी विषय करने के लिये बोध का प्रयोग करना पड़ता है अतः जब वह प्रयोग करेगा तब बोध बोद्धा को नहीं वरन् किसी बोध्य को ही विषय करेगा। वार्तिक में (२.४.४८३) इसीलिये कहा 'बोद्धारमपि चापेक्ष्य न संज्ञा प्रत्यगात्मनि। बोद्धृतज्ज्ञानविषयैर्न बोद्धा गृह्यते यतः।।' लोक में भी आत्मा कभी ग्रहण नहीं होता। शरीर के श्वासादि की गति न देखकर ही समझना पड़ता है कि ज़िन्दा है या मरा, जैसे कमरे में घड़ा है या नहीं यह आँख से दीखता है ऐसे आत्मा का बोध सम्भव नहीं।।१००।

अज्ञदशा में भी बोद्धा का बोध संभव नहीं तो तज्ज्ञदशा में कैसे होगा? **संसारी के बारे में भी यह व्यावहारिक 'संज्ञा' सुलभ नहीं तो संसारसमुद्र का कारण सर्वथा समाप्त हो चुकने पर यह नहीं रहे इसमें क्या कहना!।।१०१।।** संसारी अर्थात् जन्मने-मरने वाला जीव, जब उसे ही देख-सुन नहीं सकते तब असंसारी को देख-सुन नहीं सकते इसमें कहना ही क्या! 'संज्ञा' का अर्थ ही बताया था भेदज्ञान। भेद उपाधियों से होता है। जहाँ उपाधि हैं वहीं जब भेदव्यवहार साक्षात् संभव नहीं तब जहाँ उपाधि है ही नहीं वहाँ वह व्यवहार हो सके यह असंभव ही है।।१०१।।

---

१. 'ऽनेन' इति मुत्तु-मद्रपाठः।

इत्येवम् अपरायत्तबोधेनात्यन्तिको लयः।
निदिध्यासनरूपोऽत्र फलभूतः प्रकीर्तितः।।१०२।।
याज्ञवल्क्योऽत्र मैत्रेयीम् अन्वगृह्णाद् यथा तथा।
मुमुक्षुम् अनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१०३।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यकोपनिषदि मैत्रेयीविद्याप्रकाशो नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।

पूर्वोक्त (श्लोक. ७६-९) विषय में आये संदेह हट चुकने पर उस प्रसंग को समाप्त करते हैं **इस प्रकार 'अपरायत्त बोध' से आत्यन्तिक लय होती है। यह बोध निदिध्यासनात्मक तथा साक्षात्कार का फल बताया गया है।।१०२।।** 'पर' मायने अन्य किसी पर 'आयत्त' अर्थात् निर्भर; ऐसा जो न हो इस तरह के बोध से ही अविद्यानिवृत्तिरूप आत्यन्तिक लय हुआ करती है। दृढ बोध के लिये ही इस शब्द का प्रयोग है। इसके बाद क्षणभर को भी प्रतीति के दौरान भी स्वयं में कर्तृता आदि का और प्रपंच में सत्यता का भ्रम संभव नहीं। जब तक विचारादि की सहायता से निश्चय रहे तब तक परायत्त बोध और जब बिना किसी सहारे के रहे तब अपरायत्त बोध। इसे श्रवण-मनन की समाप्ति पर होने वाला निदिध्यासन या विज्ञान कहते हैं और यही तत्त्वज्ञान का फल है।।१०२।।

अध्याय समाप्त करते हैं **याज्ञवल्क्य ने जैसे मैत्रेयी पर अनुग्रह किया वैसे विद्यातीर्थरूप महेश्वर (मुझ) मुमुक्षु पर कृपा करें।।१०३।।** याज्ञवल्क्य ने जो विस्तार से तत्त्वोपदेश दिया यही उनका अनुग्रह था। आचार्य शिष्य के अज्ञान का निवारण करे यही उसका भी अनुग्रह होता है। श्रीविद्यारण्य सभी मुमुक्षुओं की ओर से यह प्रार्थन करते हैं कि विद्यातीर्थ-सृदश सभी आचार्य उन सरीखे सभी शिष्यों पर अनुग्रह करें। इस तरह मैत्रेयीविद्या का प्रकाशक यह पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।१०३।।

।। पन्द्रहवाँ अध्याय।।

ॐ

मधुविद्याप्रकाशः

षोडशोऽध्यायः

पञ्चमे ब्राह्मणे दध्यङ्ङाथर्वण उवाच याम्।
अश्विनोर्मधुविद्यां ताम् अत्र स्पष्टीकरोम्यहम्।।१।।

मधुविद्याप्रकाश : सोलहवाँ अध्याय

शुक्ल यजुर्वेद की शतपथ ब्राह्मण में आयी बृहदारण्यक उपनिषत् में मधु, मुनि और खिल नाम के तीन काण्ड (हिस्से) हैं। उपनिषत् के प्रथम-द्वितीय अध्याय में मधुकाण्ड का विस्तार है। मोक्ष का निरपेक्ष साधन आत्मस्वरूप का साक्षात्कार बताकर उसकी अद्वितीयता स्पष्ट की यह समझाने से कि आत्मा ही सब में समान है, सब आत्मा से ही प्रकट है, सब उसी में विलीन होता है। इसी परिस्थिति को सिद्ध करने के लिये पाँचवाँ मधुनामक ब्राह्मण है जिसमें इस काण्ड का उपदेश समाप्त है, छठे ब्राह्मण में वंशमात्र का (आचार्य-परम्परा का) स्मरण है। समस्त जगत् में परस्पर उपकार्य-उपकारकता होने से जगत् एक कारण वाला निर्धारित होता है। संसार में सबका सब पर उपकार है। यद्यपि आत्मा की सर्वहेतुता कह चुके तथापि आगम प्रधान होकर वेद उसको निर्णीत कर रहा है। विद्याफल सर्वात्मता का यहाँ परिचय मिल जाता है। जैसे एक माता के पुत्र आपस में उपकारक होते हैं ऐसे संसार में सब आपस में उपकारक होने से एककारणक होने संगत हैं। इस मधुविद्या का अनुभूतिप्रकाश में संग्रह करते हुए आचार्य इसके उपदेशक और अधिकारी का उल्लेख कर अध्याय प्रारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **पाँचवें ब्राह्मण में दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनीकुमारों को जो मधुविद्या सुनायी उसे इस अध्याय में मैं स्पष्ट करता हूँ।।१।।** पुराणों में दधीचि नाम से ज़्यादा प्रसिद्ध ऋषि का वेदों में दध्यङ् नाम से कथन है। वे कर्मकाण्ड व ब्रह्मकाण्ड दोनों में निष्णात सत्यप्रतिज्ञ ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। देव-भिषक् अश्विनी कुमार उनके कृपापात्र शिष्य थे फिर भी अयोग्य देखकर उन्हें दध्यङ् ने योग्यताप्राप्ति के लिये साधना बताकर कहा था कि योग्य हो जाने पर उन्हें उपदेश दिया जायेगा। अधिकारी बनकर गुरु के समीप आने पर उन्हें जो उपदेश दिया वही यह मधुविद्या है जो बृहदारण्यकोपनिषत् के दूसरे अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण में वर्णित है। इस कथांश को स्वयं आगे श्लोक २९ आदि में कहेंगे।।१।।

मधुत्वम्

परस्परोपकारित्वं पृथिव्याः प्राणिनामपि।
यत् तद् मधुत्वं विज्ञेयम् उपकारस्तु सर्जनम्।।२।।
जन्तुभिः पृथिवी सृष्टा स्वकर्मफलभुक्तये।
पृथिव्याऽप्यात्मभोगार्थं सृष्टाः सर्वेऽपि जन्तवः।।३।।

प्रथम वाक्य है 'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायम् अस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो, यश्चायम् अध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयम् आत्मेदममृतम् इदं ब्रह्मेदं सर्वम्' ।।१।। यह प्रसिद्ध सब भूतों की मधु है अर्थात् कार्य है। जैसे बहुत-सी मक्खियाँ एक छत्ता बनाती हैं वैसे सभी भूतों ने पृथ्वी बनायी है। इसी तरह सभी भूत भी पृथ्वी के मधु, कार्य हैं। साथ ही, पृथ्वी में चिन्मय, प्रकाशमय, अमरणधर्मा पुरुष है एवं शरीर में भी वैसा ही पुरुष है। वे दोनों लिंगाभिमानी भी उक्त ढंग से मधु ही हैं। उक्त चारों में (पृथ्वी, सारे भूत, पार्थिव पुरुष और शारीर पुरुष) परस्पर मधुता होने से निश्चित जो इनका एक कारण वही परमात्मा है। वही सत्य है, बाकी सब वाचारम्भण (कहने भरको) हैं। पृथ्वी के सन्दर्भ में कही बात अगले वाक्यों में जल, अग्नि,वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्र, बिजली, मेघ (स्तनयित्नु), आकाश, धर्म, सत्य, मानुष (अर्थात् सभी प्राणिजातियाँ) और आत्मा (विज्ञानमय)इन सबके बारे में बतायी है। अंत में आत्मा का अधिपति, राजा रूप में वर्णन है। विशेष समझने की बात मधुरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए व्याख्यारंभ करते हैं **पृथ्वी और प्राणियों की जो आपसी उपकारिता उसे मधु समझना चाहिये। यहाँ 'उपकार' तो सर्जन (सृष्टि) ही है।।२।।** पृथ्वी का प्राणियों पर और प्राणियों का पृथ्वी पर जो उपकार है उसे मधु-शब्द से कहा गया। उपकार का स्वरूप सृष्टि, उत्पादन है अर्थात् पृथ्वी ने प्राणियों को एवं प्राणियों ने पृथ्वी को उत्पन्न किया है (सार में 'सर्जने' पाठ है अर्थात् दोनों की जो सृष्टि होती है उसमें दोनों का उपकार है।)।।२।।

उक्त परस्पर सर्जकता व्यक्त करते हैं **अपने कर्मों के फल भोगने के लिये जन्तुओं द्वारा पृथ्वी उत्पादित है एवं पृथ्वी द्वारा अपने (धरित्री रूप के) भोग के लिये सारे ही जन्तु उत्पादित हैं।।३।।** प्राणियों के पुण्य-पापों का फल तभी भोगा जाये जब भोग-भूमि-रूप पृथ्वी हो। विभिन्न कर्मों का फल भूलोक में ही भोगना सम्भव है। ऐसे फलों का उपभोग तभी हो जब पृथ्वी उत्पन्न हो। अदृष्ट और प्रयोजन दोनों

पार्थिवाणि शरीराणि भुज्यन्ते जन्तुभिस्तथा।
पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वं भुज्यते जन्तुधारणात्[१]।।४।।

ही पदार्थ सृष्टि में कारण हैं। परमेश्वर की सृष्टि में निष्प्रयोजन कुछ नहीं है। क्योंकि जन्तुओं ने ऐसे कर्म किये जिनका फल भूमि पर ही भोगा जाये इसलिये जन्तु भूमि की उत्पत्ति में हेतु बने यह उचित है। पृथ्वी तो जन्तुओं के प्रति स्पष्ट ही कारण है क्योंकि शरीर, इन्द्रिय आदि पार्थिव हैं। भूलोक में शरीर पार्थिव हैं और घ्राण उपस्थ इन्द्रियाँ भी पार्थिव हैं। किंच, आत्मा को जो आवश्यक भोग, उन्हें सम्भव करने के लिये जन्तुओं की उत्पत्ति में पृथ्वी का उपकार मान्य है। अथवा उत्तर श्लोक में बताये जाने वाले अपने भोग के लिये पृथ्वी ने जन्तुओं की उत्पत्ति की अतः वे उसके मधु हैं। यदि जन्तु न होते तो भूमिकी भोगभूमिता ही संभव न होने से निष्प्रयोजन हो जाने पर पृथ्वी उत्पन्न ही न होती! अतः पृथ्वी ने अपने स्वरूप-लाभ के लिये जन्तु पैदा कियेयह भी ठीक है। केवल जन्तु ही पृथ्वी के प्रति और केवल पृथ्वी ही जन्तुओं के प्रति पर्याप्त कारण तो हैं नहीं, इसलिये 'सर्जने उपकारः' कहा था कि एक-दूसरे की उत्पत्ति में दोनों का योगदान है। अतः श्रुति ने सीधा कारण या कार्य न कहकर 'मधु' शब्द रखा। यद्यपि आगे (श्लोक ८) 'कार्य' शब्द आयेगा तथापि भाव है कि क्योंकि सभी में सभी की कार्यता है अर्थात् सबके प्रति सभी कारण हैं इसलिये पर्याप्त कारणता सब में है, किसी एक में नहीं। जन्तुओं की उत्पत्ति अर्थात् उनके संघातों की उत्पत्ति।।३।।

पूर्व श्लोक में भोगार्थ सृष्टि कही अतः आपसी भोग-साधनता ही व्यक्त करते हैं **जन्तुओं द्वारा पृथ्वी-प्रधान शरीर भोगे जाते हैं तथा जन्तुओं को धारण करने से पृथ्वी द्वारा धरित्रीरूपता भोगी जाती है।।४।** जन्तु पृथ्वी का नानाविध भोग करते हैं लेकिन अतिनिकट और अनिवार्य भोग करते हैं अपने-अपने शरीरों का। शरीर पाँचों भूतों के कार्य हैं लेकिन भूलोक में पृथ्वी-प्रधान शरीर होते हैं। पृथ्वी जन्तुओं को धारण करती है इससे उसकी धरित्रीरूपता संभव है। पृथ्वी देवता को जन्तुधारण से सन्तोष होता है कि इतने जन्तुओं को धारण किया, यह उसका भोग है। पृथ्वी आदि से यहाँ अभिमानी देवता समझने चाहिये। अचेतन जो पिण्डरूप पृथ्वी एवं उसके कार्यभूत शरीर इन्द्रिय, वे तो प्राणियों के प्रति भोग्य हैं जबकि पृथ्वी देवता-

---

१. अत्र श्रीहरिहरकृपालुः 'पृथिव्याऽपि धरित्रीत्वाद् भुज्यन्ते जन्तुधारणात्' इति पिपठिषति। पृथिव्या जन्तवो भुज्यन्ते पाल्यन्ते तेषां धारणाद् इति तदाशयः।

लिङ्गात्मा पुरुषः

अस्यां पृथिव्यां यो भास्वान् आमोक्षम् अविनश्वरः।
लिङ्गात्मा मध्वसौ सर्वभूतानां तानि तस्य च।।५।।
अध्यात्मं यश्च शारीरो लिङ्गात्मा पार्थिवांशजः।
स चाऽपि मधु सर्वेषां सर्वभूतानि तस्य च।।६।।

रूप चेतन जन्तुशरीरों का भोक्ता है। ऐसे ही शरीर-प्रधानता की दृष्टि से प्राणी पृथ्वी के भोग्य हैं एवं चेतन-प्रधानता से जीव पृथ्वी के भोक्ता हैं। किंच जन्तुओं का भोजन भी पार्थिवप्रधान होने से जन्तु पृथ्वी के भोक्ता स्पष्ट हैं। धारण और पालन करने वाली होने से पृथ्वी जन्तुओं के प्रति भोक्ता है। इस भाव से 'पृथिव्या भुज्यते पाल्यते' यह अर्थ है। 'जन्तुभिर्भुज्यन्तेऽभ्यवह्रियन्ते भक्ष्यन्ते' यह अर्थ है। यह पंडित हरिहरकृपालु की व्याख्या है जिसके अनुसार उत्तरार्ध में पाठान्तर की कल्पना है। दोनों अर्थ संगत हैं। इस प्रकार परस्पर कारणकार्यता से उनकी एकात्मजन्यता सिद्ध होती है।।४।।

इस प्रकार पृथ्वी और जन्तु अर्थात् उपाधियों का परस्पर मधुरूप बताया। आगे श्रुति ने 'यश्चायमस्याम्' आदि से लिंगात्मा (उपहित) का भी उसी प्रकार मधुरूप व्यक्त किया है, उसे समझाते हैं **इस पृथ्वी में जो दीप्तिमान् और मोक्ष तक स्थायी लिंगात्मा (सूक्ष्मोपाधिक) है वह सब भूतों का मधु है और सब भूत उसके मधु हैं।।५।।** 'दीप्तिमान्' मायने अर्थों का प्रकाशक, ज्ञानशक्तिसम्पन्न। सूक्ष्म शरीर की समाप्ति केवल आत्मज्ञान से अविद्या निवृत्त होने पर होती है, इसी से 'लिङ्गभङ्गो मोक्षः' भी प्रसिद्ध है। मोक्ष-पर्यन्त बचा रहने से श्रुति ने लिङ्गात्मा को अमृतमय कह दिया, वास्तविक अमृत के अभिप्राय से नहीं। पृथ्वी में लिंगात्मा अर्थात् जिसे पहले पृथ्वी देवता बताया। जैसे उपाधि वैसे उपहित भी मधु अर्थात् उपकारी एवं उपकृत है।।५।।

श्रुति में कहे अध्यात्म पुरुष की भी मधुरूपता बता देते हैं **और जो अध्यात्म अर्थात् तत्तत् प्राणियों के शरीरों में स्थित लिंगात्मा है वह पार्थिव आदि भौतिक अंशों से उत्पन्न है। वह भी सब भूतों का मधु और सब भूत उसके मधु हैं।।६।।** प्रत्येक जीव जैसे पृथ्वी आदि बाह्य जगत् का मधु है वैसे अन्य सब जीवों का भी मधु है। यद्यपि लिंगात्मा भौतिकांशों से साक्षात् जन्य नहीं तथापि जिस लिंग से वह उपहित होता है वह भौतिकांशों से जन्य है ही। जीवों में पृथ्वी आदि के द्वारा भी परस्पर मधुता है और सीधे भी परस्पर मधुता है। सब भूतों ने पृथ्वी बनायी

मधुविद्याप्रभावः

साध्यात्मं साऽधिदैवं च साधिभूतम् इदं जगत्।
एकैकस्यात्मनः कृत्स्नं भोग्यत्वेनाऽवतिष्ठते।।७।।
सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः।
इत्येषा मधुविद्याऽत्र वैषम्यक्लेशहारिणी।।८।।

अतः हमें पृथ्वी मिल रही है इसके लिये हम सबसे उपकृतयों तो पृथ्वी द्वारा मधुता है। बिना पृथ्वी के भी विभिन्न दृष्टियों से हमारा परस्पर उपकार होने से भी मधुता है।।६।।

पूर्वोक्त मधुरूपता का निगमन करते हैं **अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत समेत सारा जगत् प्रत्येक आत्मा के भोग्यरूप से अवस्थित है।।७।।** यह स्वानुभवसिद्ध है कि बताये ढंग से समझें तो सारा जगत् हम सबका भोग्य है। 'प्रत्येक आत्मा' अर्थात् जो भी स्वयं को जीव जान रहा है वह जगत् का भोक्ता है। थोड़ी-सी चीज़ों को समझ-बूझकर भोग रहा है, बाकी को बिना समझे भोग रहा हैयह भले ही अन्तर हो। पृथ्व्यादि अधिभूत, उनके देवता एवं शारीरयों अध्यात्मादि त्रितयरूप ही समस्त संसार भोग्य है यह भाव है।।७।।

मधुविद्या को समझने का प्रत्यक्ष फल दिखाते हैं **सभी सबका कार्य और सभी सबका भोग करने वाले हैंयह यहाँ कही मधुविद्या विषमता और उससे होने वाला क्लेश मिटा देती है।।८।।** कार्य-भोज्य से कारण व भोजक (भोक्ता) बेहतर समझे जाते हैं अतः कार्य व भोज्य को विषमता महसूस होकर दुःख होता है कि हम कारण व भोजक नहीं हैं। किन्तु मधुविद्या समझा देती है कि सभी परस्पर कारण और भोजक भी हैं अतः सबमें समानता आ जाने से उक्त क्लेश (दुःख) दूर हो जाता है। चेतनांश लिंगात्मा में है जिससे उपभोग होता है और जडांश भक्ष्य बनकर पालन करने से भोजक बनता है। 'मैं सबका उपकारक हूँ' इस निश्चय से स्वयं में किसी तरह की हीनता नहीं आती तथा 'सब से उपकृत हूँ' इस निश्चय से किसी के प्रति क्रोध या अमर्ष नहीं होता, स्वयं में अभिमान (दर्प) नहीं होता। यह समता सब क्लेश हटाती है।।८।।

आगे श्रुति है 'अयमेव स योऽयमात्मा, इदममृतम्, इदं ब्रह्म, इदं सर्वम्' अर्थात् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (२.४.६) से जिसकी प्रतिज्ञा की थी और जिसे मैत्रेयी को अमृतत्वका साधन कहा था एवं जिस ब्रह्म के उपदेश का कथन गार्ग्य-अजातशत्रु संवाद में (२.१) था,

मधुनस्तत्त्वम्

भूतानि भूमिर्द्वे लिङ्गे इत्युक्तं यच्चतुर्विधम्।
मध्वविद्याकृतं तस्य वस्तुतत्त्वमथोच्यते।।९।।
अयमेव स इत्यत्र मधुरूपश्चतुर्विधः।
प्रपञ्चोऽ'ऽयम्' इति प्रोक्तः 'स' इत्यात्मोच्यते परः।।१०।।
अयमेव स इत्युक्त्या सामानाधिकरण्यतः।
प्रत्यङ्मात्रैकयाथात्म्यं प्रपञ्चस्यावबोध्यते।।११।।

जिसके बारे में होने वाली विद्या को ब्रह्मविद्या कहते हैं, वही यह ब्रह्म है जिसके साक्षात्कार से सर्वभाव सुलभ है। चार तरह बँटे संसार की परस्पर मधुरूपता से संसार की ब्रह्मैकहेतुता द्वारा ब्रह्म ही अद्वितीय है यही स्पष्ट किया। इसी वाक्य का अभिप्राय समझाना शुरू करते हैं **प्राणिशरीर, भूमि और दोनों के लिंगात्मायह जो चार तरह का मधु कहा वह अविद्याकार्य ही है। उसका वास्तविक स्वरूप अब बताया जाता है।।९।।** कार्य, कारण, भोग्य और भोक्ता इनकी वास्तविकता का निरूपण होना बाकी है। आत्मा स्वरूप में तो अविभाज्य है लेकिन उसके अज्ञान के चलते उक्त चतुर्विधता उपलब्ध है। अविद्याजन्य होने से निश्चित है कि ये चारों मधु सत्य नहीं अतः इनका सत्य विज्ञेय है।।९।।

मधु के अनुवाद से परमेश्वरता का विधान व्यक्त करते हैं' **अयमेव सः' में चार प्रकार का मधुरूप प्रपंच 'अयम्' कहा और 'सः' से परमात्मा कहा।।१०।।** चार प्रकार अर्थात् पृथ्वी-पृथ्वीलिंग, भूत-भूतलिंग। ये चार तरह के मधु अर्थात् परस्पर कार्य कहे। इससे विलक्षण इनका साक्षी अपरोक्ष आत्मा 'सः' कहा। इनमें मधु का अनुवाद और परमात्मा का विधान है।।१०।।

उक्त अनुवाद-विधान से मधु और आत्मा का आपसी सम्बन्ध क्या बताया यह समझाते हैं **'यह ही वह है' यों कहने से समानाधिकरणता द्वारा समझाया कि प्रपंच की वास्तविकता अद्वितीय केवल प्रत्यग्वस्तु है।।११।।** एक ही विभक्ति में कहे शब्दों का आपसी सम्बन्ध समानाधिकरणता (सामानाधिकरण्य) कहलाता है। इससे अर्थों का सम्बन्ध चार तरह का हो सकता है १) एक के बाधपूर्वक दूसरे का विधान। 'साँप रस्सी है' अर्थात् साँप नहीं वरन् रस्सी है। २) अध्यास, आरोप। 'शालग्राम विष्णु है' अर्थात् शालग्राम में विष्णुरूपता का आरोप विवक्षित है। ३) विशेषण। 'लाल कपड़ा' अर्थात् लाली जिसका विशेषण ऐसा कपड़ा। ४) ऐक्य। 'वही

स इत्यनेन निर्देष्टुम् अतीतग्रन्थवर्णितः।
योऽयम् इत्यादिभिर्वाक्यैश्चतुर्भिः स्मार्यते परः।।१२।।
आत्मा द्रष्टव्य इत्युक्तम् अमृतत्वेन वर्णितम्।
नेति नेत्युदितं ब्रह्म तत् सर्वमभवत् त्विति।।१३।।
आत्माऽमृत-ब्रह्म-सर्वशब्दैः प्राक् प्रतिपादितम्।
वस्त्वस्य मधुनस्तत्त्वम् इति वाक्यार्थ ईरितः।।१४।।

यह पुरुष' अर्थात् वह-यह के विभाग से रहित पुरुषमात्र। प्रसंगानुसार अर्थ निश्चित होता है। प्रकृत श्रुति में प्रपंच का बाध और प्रत्यग्वस्तु का विधान विवक्षित है। भोक्ता, भोग्य, कार्य और कर्त्ता इन चार रूपों वाला है प्रपंच जिसका यथार्थ रूप में आत्मा प्रत्यग्वस्तु है। इसी प्रत्यक् को पूर्व में 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' कहा था।।११।।

श्रुति में 'अयमेव सः योऽयमात्मा' कहा, उसी का भाव बताते हैं **'सः' से उल्लेख करने के उद्देश्य से 'योऽयम्' इत्यादि चार वाक्यों से पूर्व ग्रंथ में वर्णित परमात्मा याद दिलाया गया है।।१२।।** 'द्रष्टव्य' रूप से जिस आत्मा का प्रकरण चला वही यह चार तरह के मधु-रूपों वाला है। मैत्रेयी ने जिस अमरता के उपाय के बारे में पूछा था और याज्ञवल्क्य ने जिसके ज्ञान को अमरता का साधन बताया, वह यही तत्त्व है। 'तुम्हें ब्रह्म सुनाता हूँ' से जिसके बारे में अजातशत्रु गार्ग्य संवाद प्रवृत्त हुआ, वह यही वस्तु है। जिसके ज्ञान से ब्रह्मा को सर्वरूपता की उपलब्धि प्रथमाध्याय में (१.४.६-१०) कही थी, वही यह तत्त्व है। इस प्रकार 'आत्मा', 'अमृत', 'ब्रह्म' और 'सर्व'इन शब्दों से युक्त चारों वाक्यों से परवस्तु का वर्णन किया। 'योयमात्मा' यह एक वाक्य, 'इदममृतं' दूसराइत्यादि चार वाक्य हैं। चारों से कहे को 'सः' से बताया। 'यत्' से अनुवादकर 'तत्' से कथनयही प्रसिद्ध रीति है अतः 'योयमि'त्यादि वाक्यों का पूर्व में सम्बन्ध है, 'सः' का बाद में है।।१२।।

उक्त चार वाक्य याद दिलाते हैं **'आत्मदर्शन कर्त्तव्य है' यह कहा। उसी का अमृतरूप से (मैत्रेयी के प्रति) वर्णन किया। (मूर्त्तामूर्त्तब्राह्मण में) 'नेति नेति' से ब्रह्म का कथन किया। 'वह सब हो गया' द्वारा पूर्ण ब्रह्म बताया।।१३।। आत्मा, अमृत, ब्रह्म और सर्व शब्दों से पूर्व में समझायी वस्तु ही इस 'मधु' की वास्तविकता हैयह 'अयमेव सः' वाक्य का अर्थ है।।१४।।** आत्मा द्रष्टव्य है यह अध्याय १५ श्लोक. १४ आदि में समझाया। 'नेति नेति' का विचार अ. १४ श्लोक. १०८ आदि में हो चुका है। अ. १३. श्लो. २४ आदि में 'तत् सर्वमभवत्' की चर्चा थी। उपनिषत्

उत्तरेष्वपि वाक्येषु मधुरूपमिदं जगत्।
ब्रह्माऽपि मधुनस्तत्त्वं योजयेद् उक्तवर्त्मना।।१५।।

धर्मः

साधारणविशेषाभ्यां धर्मो भोगप्रदो द्विधा।
अधिदैवं तथाऽध्यात्मम् इत्यत्राऽसौ विभज्यते।।१६।।

अ. २. ब्रा.४. कं.३ में वाक्य है 'येनाऽहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्!' इससे पूर्व कण्डिका २ में कहा है 'कथं तेनाऽमृता स्याम्? इति' और 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन इति।' इस प्रसंग से प्रारंभ हुआ आत्मवर्णन आत्मा को अमृतरूप कह रहा है यह समझा जा सकता है। उक्त सब स्थलों में कथित तत्त्व को ही मधु की वास्तविकता कहा, कोई नयी वस्तु नहीं बतायी।।१३-४।।

पृथ्वी के सहारे जैसे चतुर्विध मधु कहे वैसे जलादि के सहारे भी कहे, उन सभी वर्णनों में इसी ढंग से तात्पर्य समझना चाहिये यह बताते हैं **पूर्व प्रतिपादित तरीके से आगे के वाक्यों में भी समझ लेना चाहिये कि मधुरूप यह जगत् और मधु की वास्तविकता ब्रह्म यही प्रतिपादित है।।१५।।** श्रुति में 'जामिता' (आलस्य) न होने से जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्र, बिजली, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, मानुष, आत्माइन तेरह ढंगों से जगत् की परस्पर मधुरूपता और मधु के तत्त्व को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है किन्तु 'जल' आदि शब्दों के परिवर्तन के अलावा वाक्य-वाक्यार्थ में कोई विशेष न होने से यहाँ आचार्य ने सबका अलग-अलग उल्लेख नहीं किया, केवल धर्म, सत्य मानुष, आत्माइन तीन पर टिप्पण करेंगे।।१५।।

पहले ग्यारहवें पर्याय में आये 'धर्म' और 'धार्म' पदों का अर्थ करते हैं **साधारण धर्म और विशेष धर्मयों दो तरह से धर्म भोगदान का हेतु बनता है। आधिदैविक विभाग में 'धर्म' से साधारण धर्म एवं अध्यात्मविभाग में 'धार्म' से विशेष धर्म, इस प्रकार बाँटकर धर्म कहा गया है।।१६।।** धर्म शास्त्रनिर्धारित वस्तु है। उसे समस्त मानवता का नियामक तथा जगत् की नाभि (पोषक, धुरी) बताया गया है। विविधता क्योंकि धर्म से नियमित है इसलिये अत्यन्त न्यायसंगत है। नियमात्मना सनातन होने पर भी अनुष्ठेय रूप से वह हमारे नियंत्रण में है। धर्म शब्द से यहाँ धर्म के कार्यभूत पृथ्व्यादि और पार्थिवादि शरीर समझे जायें तो साधारण धर्म अर्थात् धर्म के साधारण कार्य जैसे पृथ्व्यादि और विशेष धर्म अर्थात् धर्म के विशेष कार्य जैसे हमारे शरीरादि। पृथ्व्यादि सभी प्राणियों के लिये समानरूप

सत्यमानुषे

सत्यमानुषयोरेवं विभागं योजयेद् द्विधा।
पृथिव्याद्या मानुषान्ता विराडंशा उदीरिताः।।१७।।

विराड्ढिरण्यगर्भौ

अयमात्मेति निर्देशो विराजोऽभिमतोंऽशिनः।
हिरण्यगर्भस्तत्रत्यः प्रोक्तस्तेजोमयोक्तितः।।१८।।

में उपलब्ध होने से साधारण हैं और शरीर तत्-तत् प्राणी के स्वयं के लिये होने से विशेष हैं।।१६।।

उक्त तरीका सत्य व मानुष पर लागू करते हैं **सत्य और मानुष पर्यायों में उक्त ढंग से उनकी दो तरह से अवस्थिति समझनी चाहिये। पृथिवी से प्रारम्भ कर मानुष पर्यन्त विराट् के अंश कहे गये हैं।।१७।।** बारहवें पर्याय में 'इस सत्य' को सब भूतों का एवं उन्हें इसका मधु कहा तथा अध्यात्म 'सात्य' पुरुष का उल्लेखकर उसे और सत्य में जो पुरुष है उसे ब्रह्म बताया। धर्म-धार्म को जैसे साधारण-विशेष से समझाया वैसे सत्य-सात्य समझने चाहिये यह भाव है। सत्य को 'यह' (इदम्) इसलिये कहा कि उसका कार्य प्रत्यक्ष होता है। किंच अनुष्ठीयमान धर्म की तरह उच्चारण आदि आचार में लाया जाता सत्य भी प्रत्यक्ष होता है। सत्य का सामान्य कार्य पृथ्वी आदि और विशेष देहादि हैं यह पूर्ववत् है। 'सत्येन वायुरावाति' (महाना. २२.१) आदि श्रुति सामान्य को सत्य का कार्य कहती ही है। तेरहवें पर्याय में मानुष व भूतों को परस्पर मधु बताया तथा इस मानुष को पुरुष और अध्यात्म मानुष को ब्रह्म कहा। भाष्यादि में सारी जातियों के उपलक्षण के लिये मानुष का ग्रहण बताया है। धर्म व सत्य से जन्य सभी संघात जातियों से सम्बद्ध होते हैं। वे जातियाँ और उससे युक्त व्यक्ति परस्पर मधु हैं। प्रत्येक की दृष्टि से अपने शरीर में स्थित जाति अध्यात्म तथा अन्य शरीरों में स्थित बाह्य समझी जाती है। मधुवर्णन का प्रारंभ पृथ्वी से किया, वहाँ से मानुष पर्यंत जितने कहे, सब विराट् (समष्टि स्थूल) के विभिन्न हिस्से ही हैं।।१७।।

चौदहवें पर्याय में 'इस आत्मा' को सब भूतों का तथा सबको इस आत्मा का मधु कहा। उसका भाव स्पष्ट करते हैं **'यह आत्मा'इस कथन से अंशी विराट् कहा और तेजोमय आदि वाक्य से विराट् में स्थित हिरण्यगर्भ को कहा।।१८।।** पृथ्वी आदि जिसके एक-एक हिस्से हैं वह समूचा विराट् कहा जाता है तथा उसमें जो

विराड्‌हिरण्यगर्भाख्यस्थूलसूक्ष्मशरीरगः।
चिदाभासोऽत्र 'यश्चायमात्मे' त्युक्त्याऽभिधीयते।।१६।।

अधिपती राजा

अपूर्वानपरामध्यप्रत्यग्याथात्म्यवित्तये।
स वा इत्यादिको ग्रन्थः सदृष्टान्तोऽभिधीयते।।२०।।
ननूक्तं मधुनस्तत्त्वम् अयमेव स इत्यतः।
वचनाद् बहुपर्यायैर्भूयोऽप्येतद् दृढीकृतम्।।२१।।
बाढम् एतावता वस्तुसार्वात्म्यं स्यात् प्रपञ्चितम्।
तदेवाऽभिव्यज्यतेऽथ विदुषः फलरूपतः।।२२।।

सूक्ष्म समष्टि का अभिमानी है, जिसे सर्वात्मक अमूर्त रस कहा गया है, वह हिरण्यगर्भ है। क्योंकि विराट्-हिरण्यगर्भ के हिस्सों को मधु कह आये हैं इसलिये इनके समूचे रूप को भी मधु कहना उचित है।।१८।।

इसी पर्याय में 'यश्चायमात्मा' (और जो यह आत्मा) कहा, उसका अर्थ बताते हैं **विराट् नामक स्थूल शरीर और हिरण्यगर्भ नामक सूक्ष्मशरीर में स्थित चैतन्य का आभास इस वाक्य में 'यश्चायमात्मा' इस कथन से अभिहित है।।१६।।** भाष्यकार ने इसी को 'बचा हुआ' कहा एवं इसी के प्रयोजन से देहादि-संघात को स्वीकारा है 'यस्तु परिशिष्टो विज्ञानमयो यदर्थोऽयं देहलिंगसंघात आत्मा स यश्चायमात्मेत्युच्यते।' इस प्रकार उपाधियों में मधुभाव जिस एक के कारण है उसकी ओर निर्देश यहाँ किया गया है। एक तो चित् है लेकिन बंधदशा में वह आभास रूप से उपलब्ध है। किंतु 'यदर्थ' कहने से भाष्यकार ने सूचित कर दिया कि इससे मुख्य आत्मा का इशारा है।।१६।।

सब मधु बताकर श्रुति ने कहा 'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा।' इसे समझाना प्रारम्भ करते हैं **पूर्व-अपर-मध्य से वर्जित प्रत्यगात्मा की सचाई के साक्षात्कार के लिये 'स वा' आदि दृष्टान्तयुक्त वाक्य कहा गया है।।२०।। यद्यपि 'यही वह है' से बहुत पर्यायों द्वारा मधु की सचाई कही जा चुकी है और फिर बारम्बार उसे दृढ भी किया जा चुका है तथापि पूर्व में मधुवस्तु की सर्वात्मता का ही विस्तार हुआ जबकि 'स वा' आदि से उसे उस रूप में स्पष्ट कर रहे हैं जो तत्त्ववेत्ता को फलरूप से उपलब्ध होता है।।२१-२२।।** अकारण होने से अपूर्व, अकार्य होने से अनपर, तथा विज्ञानघन होने से अमध्य रूप

स एव मधुतत्त्वाख्य आत्माऽयं तत्त्वविन्मतः।
आधिपत्यं च राजत्वं विदुष्यविदुषोऽधिकम्[1]।।२३।।
अत्राऽधिपतिशब्देन स्वातन्त्र्यम् अभिधीयते।
स्वार्थः प्रत्यक् तदर्थत्वात् सहेतोर्जगदात्मनः।।२४।।
राजत्वं राजनाद् भास्वद् अविलुप्तात्मदर्शनात्।
ब्रह्माऽस्मीतिपरिज्ञानध्वस्तध्वान्तत्वकारणात्।।२५।।

वाला आत्मा शास्त्रप्रसिद्ध है। नाभि-नेमि-अर का दृष्टान्त देकर इसे श्लोक २६ आदि में समझायेंगे। ऐसे आत्मवस्तु को 'स वा' आदि से बता रहे हैं। पूर्व का मधुब्राह्मण भी इसी आत्माके व्याख्यानार्थ है फिर भी 'स वा' आदि में फ़र्क़ है : पूर्व में व्यापकतामात्र कही, जब कि यहाँ बतायेंगे कि वह व्यापकता विद्वान् को अनुभवसिद्ध है। फलरूप से कहने पर विद्या के प्रति विशेष अभिरुचि होती है, यह स्पष्ट लाभ है।।२०-२२।।

इसी भाव को ग्रंथानुसार स्पष्ट करते हैं **जो मधु का तत्त्व कहा गया वही यह आत्मा तत्त्वज्ञ माना गया है। जो इसे नहीं जानता उसकी अपेक्षा इसके जानकार में अधिपतिरूपता और राजा-रूपता की अधिकता होती है।।२३।। यहाँ 'अधिपति' शब्द से स्वतन्त्रता कही जा रही है। 'स्वातंत्र्य' में 'स्व' का मतलब है प्रत्यक्। कारण समेत जगत् का स्वरूप उसी प्रत्यग्रूप स्व के लिये है।।२४।। उसकी राजा-रूपता है क्योंकि वह दीप्तिमान् है। कभी विलुप्त न होने वाले स्वप्रकाश आत्मा के साक्षात्कार से वह उद्दीप्त (सुशोभित) रहता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस पूर्ण बोध से अविद्या ध्वस्त कर चुकने से उसकी सनातन शोभा होती है।।२५।।** तत्त्वज्ञ भी जीवन्मुक्त दशा में राजा, अधिपति कहलाता है जैसे ईश्वर। ब्रह्मनिष्ठ में यह विशेषता उसे अज्ञानी जीवों से विलक्षण बनाती है। भाष्यकार ने सूत्रभाष्य में प्राकृत जनों के संकल्प से मुक्त के संकल्प को इसीलिये विशिष्ट बताया है। राजा-अधिपति प्रायः समानार्थक हैं फिर भी 'राजृ दीप्तौ' धातु से बने राज-शब्द में दीप्ति का भाव है। तत्त्वज्ञने आत्मसम्बन्धी अज्ञान मिटा लिया इसलिये वह स्वप्रकाशरूप से दीप्तिमान् रहता है। अधिपति स्वतंत्र को कहते हैं। आत्मा इसलिये स्वतंत्र है कि सारा जगत् और इसका कारण माया है ही आत्मा के लिये! वही एकमात्र शेषी है।।२३-५।।

---

१. नि. सा. पाठः 'वैदुष्यं विदुषोऽधिकम्'। एवं पुणेपाठः। अत्र सारपाठः मुत्तु-मद्रसंस्करणयोरादृतः स्थापितः।

जगदाधारः

योऽसावविद्यया देही संसारीवाऽप्यभूत् पुरा।
स एव विद्यया ब्रह्मेत्यतोऽस्मिञ्जगदर्पितम्।।२६।।
चक्रस्यारा यथा सर्वे नाभिनेम्न्योः समर्पिताः।
सजीवा निखिला देहा ब्रह्मविद्यर्पितास्तथा।।२७।।
समाप्ता ब्रह्मविद्येयं कैवल्यावाप्तयेऽखिला।
यथोक्तब्रह्मविद्यायाः स्तुत्यर्थाख्यायिकोच्यते।।२८।।

श्रुति में दृष्टांत है 'तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवम् एवास्मिन् आत्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः' (२.५.१५) अर्थात् रथ की नाभि-नेमि में सब अरों (ताड़ियों) की तरह इस आत्मा में सब भूत-लोक-देव-प्राण-आत्माएँ स्थित हैं। इसका तात्पर्य कहते हैं **जो वह पहले अविद्या से देही-सा, संसारी-सा हुआ था वह विद्या से ब्रह्म है इसलिये इसमें जगत् अर्पित है।।२६।। जैसे चक्के के सारे अरे नाभि व नेमि में अर्पित (निविष्ट, आश्रित) रहते हैं वैसे जीवों समेत सारे शरीर ब्रह्मवेत्ता में अर्पित हैं।।२७।।** क्योंकि देहधारणादि संसरण अविद्याप्रयुक्त है इसलिये प्रतीतिकाल में भी '-सा' अर्थात् अवास्तविक ही है। जैसे दर्पणादि उपाधिदोष प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब में प्रतीत हो जाते हैं वैसे अविद्या एवं उसके कार्यभूत अन्तःकरणादि की उपाधि से तादात्म्यवश आत्मा देही, संसारी प्रतीत हो जाता है। विद्या से अविद्या निवृत्त होती ही है अतः जो संसारी-सा था वही ब्रह्म रह जाता है। ब्रह्म जगद्धेतु है अतः उसमें संसार आश्रित है ही एवं ब्रह्मवित् ब्रह्म ही होने से उसमें जगत् अर्पित कहना संगत हो जाता है। ताड़ियों को अर कहते हैं, वे जैसे चक्के की नाभि-नेमि में स्थित होते हैं वैसे सारा जगत् आत्मा में स्थित है। चक्के का मध्यभाग (धुरी वाला भाग) नाभि और बाहरी (पहिये वाला) भाग नेमि है। प्रकृत में यह भेदविवक्षित नहीं यद्यपि अविद्यादशा में व्यष्टि समष्टि के अनुसार इसे समझा जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषत् के प्रारंभ में इस उदाहरण का विस्तार है।।२६-७।।

इस प्रसंग का प्रधान उपदेश पूरा हुआ, अब इससे सम्बद्ध कथा का संकेत करते हैं **मोक्ष की प्राप्ति के लिये पर्याप्त यह ब्रह्मज्ञान समाप्त हुआ। समझायी गयी ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिये कथा कही जाती है।।२८।। दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनी कुमारों को दो प्रकार का मधु सुनायाएक था 'प्रवर्ग्य' के अंगरूप**

आख्यायिका

दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्याम् उवाच द्विविधं मधु।
प्रवर्ग्याङ्गरविध्यानं ब्रह्मज्ञानम् इति द्वयम्।।२९।।
तं वृत्तान्तम् ऋषिः पश्यन् प्राब्रवीद् अश्विनौ प्रति।
वृत्तान्तम् अब्रवीद् ऋग्भ्याम् ऋग्भ्यां च ब्रह्मवेदनम्।।३०।।
[1]अश्विनौ युवयोरुग्रं लाभाय गुरुमारणम्।
आविष्करोमि लोकेऽस्मिन् मेघो वृष्टिं यथा तथा।।३१।।

से सूर्य का ध्यान और दूसरा यह ब्रह्मज्ञान।।२९।। इस वृत्तान्त के जानकार ऋषि ने दो मन्त्रों से अश्विनी कुमारों को वृत्तान्त सुनाया तथा दो मन्त्रों से ब्रह्मज्ञान का कथन किया।।३०।। मधुविद्या मोक्षोपयोगी समग्र ज्ञान है। इसकी प्रशंसा आवश्यक है ताकि इसमें तात्पर्य निर्धारित हो सके। अश्विनी कुमार दध्यङ् आथर्वण (दधीचि) के प्रिय शिष्य थे जिन्हें शतपथ-ब्राह्मण में आये प्रवर्ग्य-नामक कर्मविशेष के अंगरूप से कर्त्तव्य सूर्यध्यानका तो महर्षि ने उपदेश दिया था लेकिन ब्रह्मविद्या की योग्यता न होने से इसका उपदेश न देकर योग्यता-लाभार्थ साधनानुष्ठान का निर्देश देकर आश्वासन दिया था कि योग्य हुआ पाने पर वे ज़रूर ब्रह्मज्ञान देंगे। इस बीच इन्द्र ने ऋषि से ब्रह्मविद्या सुननी चाही। उसकी भूमिका बनाते हुए वैराग्य प्रकरण में इन्द्रपद की असारता सुनकर चिढ़े इन्द्र ने निर्देश दिया कि यदि आगे उन्होंने किसी को वह ज्ञान दिया तो इन्द्र ऋषि का सिर काट डालेगा! अतः अश्विनी कुमार योग्य होने पर लौटे तो ऋषि ने समस्या सुनाई। कुमारों ने समाधान निकाला कि वे पहले ऋषि का सिर काटकर सुरक्षित रखेंगे। घोड़े का सिर प्रत्यारोपित कर देंगे। उससे ऋषि उपदेश प्रारंभ करें, इंद्र काट देगा तो पुनः उन्हीं का सिर लौटाकर प्रत्यारोपित कर देंगे! ऐसे घोर संकट को सहकर भी दधीचि ने सत्य की रक्षा की एवं कुमारों को मधुविद्यारूप ब्रह्मज्ञान सुनाया। यह कथा किसी ऋषि को मालूम थी जिसने बृहदारण्यक में 'तद्वां नरा सनये दंस उग्रम् आविष्कृणोमि' (२.५.१६) आदि से उसे अश्विनीकुमारों को सम्बोधित करते हुए सुनाया। इस प्रसंग का सजीव चित्रण आत्मपुराण में दर्शनीय है।।२८-३०।।

उक्त मन्त्रों का भाव व्यक्त करते हैं **हे अश्विनी कुमारों! अपने फ़ायदे के लिये तुमने जो गुरु को मारने का उग्र कर्म किया उसे मैं इस संसार में प्रकट करता हूँ जैसे मेघ वर्षा को सार्वजनिक करता है।।३१।। दध्यङ् आथर्वण ने घोड़े के**

१. अश्विनोः इति सारपुस्तकेषु पठ्यते।

दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्वस्य शिरसा युवयोर्मधु।
यत् प्रोवाच तदप्यत्र जानन्नाविष्करोम्यहम्।।३२।।
छित्वा गुरोः शिरोऽन्यत्र निक्षिप्याऽश्वस्य यच्छिरः।
तद् आहृत्य गुरोः स्कन्धे प्रतिष्ठापयतो युवाम्।।३३।।
सत्यप्रतिज्ञः स गुरुः सोढ्वाऽप्येतादृशीं व्यथाम्।
मधुद्वयम् उवाचेति कथितोऽर्थ ऋचोर्द्वयोः।।३४।।

सिर द्वारा तुम्हें जो मधु सुनाया उसे भी समझते हुए मैं प्रकट करता हूँ।।३२।। गुरु का सिर काटकर, अन्य स्थान पर रखकर घोड़े का जो सिर (उपलब्ध था) उसे लाकर गुरु की गर्दन पर तुमने प्रतिष्ठापित किया।।३३।। वे गुरु सच्ची प्रतिज्ञा वाले रहे अतः ऐसी व्यथा सहकर भी उन्होंने दोनों मधुओं का उपदेश दिया।यह दोनों मन्त्रों का तात्पर्य बताया।।३४।। यद्यपि गुरु को मारा नहीं, मरने से बचाया, तथापि शिरश्छेदन पीडाजनक तो है ही एवं शल्य से पुनःस्थापित सिर पूर्वापेक्षया अदृढ-सन्धिबन्धन वाला तो हो ही गया इसलिये अश्विनीकुमारों का कर्म उग्र कहा गया। यह घटना ऋषि को ज्ञात थी, अन्यों को उन्होंने इन मन्त्रों से बतायी। दधीचिप्रोक्त मधुविद्या का भी सार ऋषि ने यहाँ व्यक्त किया। दधीचि ने इतनी जोखिम उठाई इसीलिये कि वे पहले अश्विनियों को कह चुके थे कि योग्य होने पर वे उन्हें मधुविद्या प्रदान करेंगे तथा केवल प्राणभय से वे सत्य से विमुख नहीं होना चाहते थे। तत्त्ववेत्ता की सत्यनिष्ठा सूचित करती है कि साधक को सत्य पर दृढ रहना ही चाहिये।।३१-४।।

कथासूचक ऋचाओं के बाद विद्यासूचक ऋचायें हैं 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् इति। (स वा अयं सर्वासु पूर्षु पुरशियो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किंचनासंवृतम्)' ।।२.५.१८।। एवं 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।। इति। (अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च, तदेतद् ब्रह्माऽपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। इत्यनुशासनम्)' ।।१९।। अर्थात् दो पैरों व चार पैरों वाले अर्थात् सभी प्राणिशरीर बनाकर परमेश्वर पक्षी (सूक्ष्मशरीर) होकर सब शरीरों में प्रवेश कर गया। क्योंकि जगज्जनक ही सब देहों में शयन कर रहा है अतः उससे अनाच्छादित कुछ नहीं तथा सभी कुछ इसके भीतर है। द्वितीय मंत्र का भाव हैहर उपाधि में वही परमेश्वर प्रतिबिम्बित है एवं इसमें प्रयोजन है स्वात्मसाक्षात्कार!

ब्रह्म

ईशो मनुष्यपश्वादिदेहांश्चक्रे पुरा ततः।
स पक्षी लिङ्गरूपेण भूत्वा तान् प्राविशत् प्रभुः।।३५।।
योऽयं पुरुषशब्दोऽस्मिन् मन्त्रे तस्य निरुक्तितः।
जीवब्रह्मैक्यतात्पर्यं मन्त्रस्याऽस्योपवर्ण्यते।।३६।।
पुरि शेते यतस्तस्मात् पुरुषो जीव उच्यते।
सर्वं पूरयतीत्येवं पुरुषो ब्रह्म भण्यते।।३७।।
अनेन ब्रह्मणा किञ्चिद् बहिर्नाऽनावृतं क्वचित्।
नास्त्यसंवृतमन्तश्च पूरणात् पुरुषस्तथा।।३८।।

इन्द्र अर्थात् परमेश्वर मायाशक्ति से अनन्त रूपों वाला होता है। रथ में जुते घोड़े के समान, विषयों का प्रकाशन करने के लिये इस आत्मा की दस और सौ (अर्थात् असंख्य, समस्त) इन्द्रियाँ हैं। यह आत्मा ब्रह्म अपूर्व है, निष्कारण है, अनपरनिष्कार्य, अनन्तरजात्यंतरहीन और अबाह्य है अर्थात् उससे बहिर्भूत भी कुछ नहीं है। इन ऋचाओं को समझाते हैं **ईश्वर ने पहले मनुष्य, पशु आदि शरीर बनाये फिर उस प्रभु ने पक्षी (सूक्ष्म भाग वाला) होकर लिंग (सूक्ष्मशरीर) के रूप से उन शरीरों में प्रवेश किया।।३५।। इस मंत्र में जो यह पुरुष-शब्द से कहा गया, उसके निर्वचन से मन्त्र का तात्पर्य जीव-ब्रह्म के अभेद में समझाया जाता है।।३६।। पुर अर्थात् शरीर में सोता रहता है अतः जीव पुरुष कहलाता है एवं सबको पूरा करता है इसलिये ब्रह्म (भी) पुरुष कहा जाता है।।३७।। इस ब्रह्म से कुछ भी बाहर तथा कहीं भी इससे अनावृत (अनाच्छादित, अव्याप्त) नहीं है और कुछ कहीं ऐसा भी नहीं जो इससे असंवृत हो अर्थात् ओत-प्रोतभाव से इसमें न हो। यों पूरा करने वाला होने से वह पुरुष है।।३८।।** सर्वकारण परमात्मा ही जीवभाव से उपस्थित है। पक्षी का रूपक तैत्तिरीय में भी आया है, प्रवेश के लिये उपलब्ध उपाधि सूक्ष्मदेह ही है जिसमें प्रतिबिम्बतुल्य या प्रविष्टि आकाशतुल्य परमात्मा उपलब्ध है। 'पक्षी' शब्द की भाष्य में व्याख्या है 'लिंगशरीरम्' अतः यहाँ पक्षी से सूक्ष्मभूत जिसके अवयव हैंऐसा समझाया। प्रवेश तो तादात्म्याध्यासरूप है यह प्रसिद्ध ही है। पुरुष शब्द क्योंकि जीव व ब्रह्म दोनों का बोधक है इसलिये दोनों का अभेद सूचित हुआ यह तात्पर्य है। शरीर में 'सोने' वाला इसलिये कहा कि तत्त्व का अदर्शन रहते ही शरीर में होने की अनुभूति होती है। दूसरी तरफ, ब्रह्म को 'पुरुष' कहा सोने के कारण नहीं वरन् सबकी

रूपं रूपं प्रविष्टः सन् प्रतिबिम्बो भवत्ययम्।
तदस्य प्रतिबिम्बत्वं प्रत्यग्याथात्म्यवित्तये।।३९।।
चैतन्यात्मादयः शब्दा व्युत्पन्नाः प्रतिबिम्बके।
लक्षयन्ति चिदात्मानं तेन याथात्म्यवेदनम्।।४०।।

पूर्णता का हेतु होने से। सर्वोत्पादक सर्वविलयाधार एवं सर्वनियन्ता है अतः परमेश्वर स्वरूप से पूर्ण है, उसी का सम्पर्क पाकर अन्यत्र पूर्णता प्रतीत हो जाती है। कपड़े से बने खिलौने को भी जैसे कपड़ा पहनाते हैं वैसे भीतर और बाहर दोनों ओर से आत्मा ने सब को घेरा हुआ है यह 'उससे असंवृत एवं अनावृत कुछ नहीं' का भाव है।।३५-८।।

'रूपं रूपं प्रतिरूपः' आदि ऋचा का अर्थ कहते हैं **हर उपाधि में प्रवेश कर चुका यह आत्मा प्रतिबिम्ब हो जाता है। उसका वह प्रतिबिम्बभाव इसीलिये है ताकि प्रत्यग्वस्तु के यथार्थ का अनुभव हो।।३९।।** श्रुति के रूप-शब्द का अर्थ है वे उपाधियाँ जिनसे तादात्म्य पाया आत्मा खुद को जीव समझता है। उस स्थिति को ही प्रतिबिम्ब कहा जाता है क्योंकि जैसे दर्पणादि 'में' हुए बिना ही मुखादि वहाँ प्रतीत होता है वैसे उपाधि से वास्तव में परिच्छिन्न हुए बिना ही आत्मा उपाधि में प्रतीत होता है। उसी को चित् जैसा लगने से चिदाभास कहते हैं। प्रवेश और प्रतिबिम्ब होना विभिन्न नहीं इसलिये 'प्रविष्टः सन्' यों कहा अर्थात् केवल 'प्रविष्ट' नहीं, 'प्रविष्ट हुआ'इतना कहा। क्योंकि प्रत्यग्-अज्ञान की निवृत्ति के लिये अखण्डाकार ज्ञान चाहिये जो साभास चित्त में ही संभव है इसीलिये परमेश्वर का प्रवेश हुआ।।३९।।

उक्त प्रयोजन के सम्पादन में प्रतिबिम्ब का उपयोग स्पष्ट करते हैं' **चैतन्य', 'आत्मा' आदि शब्द प्रतिबिम्बभूत प्रत्यग्वस्तु के बोधक होकर (बिम्बरूप) चित्स्वरूप आत्मा को लक्षणावृत्ति से समझाते हैं जिससे आत्मा की वास्तविकता का अवबोध प्राप्त होता है।।४०।।** मुख्य आत्मा प्रवृत्तिनिमित्तों से रहित होने से शब्दों का वाच्य हो नहीं सकता तो शास्त्र भी उसे लक्षणा से ही कह सकता है जिसके लिये मुख्य आत्मा से सम्बद्ध कुछ चाहिये जो आत्मा-शब्द से बोध्य हो क्योंकि शक्य से सम्बद्ध में ही लक्षणा हो सकती है। वही वस्तु उक्त चिदाभास है। उस मिथ्यात्मा में आत्मा आदि शब्द व्युत्पन्न अर्थात् गृहीत-शक्तिक होते हैं फिर प्रतिबिम्बवाचक से लक्षणा द्वारा बिम्ब समझा जाता है। चैतन्य का प्रतिबिम्ब भी चैतन्य-सा ही भासता है अतः उसमें

मिथ्याऽभिमानैः साभासबुद्ध्यादिपरिकल्पितैः।
द्रष्टा श्रोताऽहम् इत्यादिबहुरूपो विचेष्टते।।४१।।
सन्त्यस्य हरयोऽक्षाख्या हरणाद् विषयान् प्रति।
प्राणिभेदाद् अनन्तास्ते तैस्तु संसरतीश्वरः।।४२।।

शक्तिग्रह सुलभ है एवं उसके परिच्छिन्नतादि उपाधिधर्मों को त्यागकर चिन्मात्र में लक्षणा प्रवृत्त हो जाती है। जैसे लोक में उपलब्ध मीठा शक्कर, गुड, मधु आदि का ही है फिर भी 'मीठा' शब्द इन सब में अनुगत मिठास को बोधित करता है वैसे घड़ा है, कपड़ा है आदि सविशेष है मिलने पर भी 'है'-शब्द इन सबमें अनुगत सद्वस्तु का बोधक बनता है। इसी तरह मिथ्यात्मा की उपलब्धि होने पर भी 'आत्मा'-शब्द मुख्य आत्मा को उपस्थित करे यह संगत है।।४०।।

परमेश्वर की बहुरूपता अनुभवारूढ करते हैं **आभासयुक्त बुद्धि आदि द्वारा कल्पित मिथ्या अभिमानों से 'मैं द्रष्टा, श्रोता हूँ' आदि बहुत रूपों वाला हुआ आत्मा विविध चेष्टाएँ कर रहा है।।४१।।** द्रष्टा आदि आकार लेने वाली बुद्धि में आभास (प्रतिबिम्ब) पड़ने पर आत्मा का यह अभिमान कि 'यह मैं ही हूँ', प्रतीत कराता है कि द्रष्टा-आदि चेष्टाएँ आत्मा की हैं। चेष्टा बुद्धि में होने पर भी आत्मा में आरोपित है जैसे नौका की गति वृक्षों पर आरोपित होती है। अतः वास्तव में द्रष्टा आदि भेद आत्मा में बिना हुए भी वह इन भेदों वाला प्रतीत होने से श्रुति ने उसे 'बहुरूप' बनने वाला कहा। स्वप्न इसके लिये सुलभ उदाहरण है जहाँ मिथ्या ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व सबको प्रतीत होता है जिसका जगने पर बाध होता ही है।।४१।।

मन्त्रोक्त हरिरूप इंद्रियों का वर्णन करते हैं **इस आत्मा के इन्द्रिय नामक 'हरि' हैं जो इसे विषयों की ओर ले जाने से 'हरि' नाम पाते हैं। प्राणियों के भेद से इन्द्रियाँ असंख्य हैं तथा उनसे ईश्वर संसरण कर रहा है।।४२।।** कठोपनिषत् में शरीररूप रथ के घोड़ों की जगह इन्द्रियाँ कही हैं। घोड़ों को हरि शब्द से कहा जाता है। विषय-ग्रहणार्थ शरीर को विषय तक ले जाने से उन्हें ऐसा कहा। प्रतिप्राणि दस-दस होने पर भी सभी की दृष्टि से इंद्रियाँ असंख्य हैं। इन्हीं से अभेदाध्यासग्रस्त जीव सारे संसारधर्मों से युक्त है। इन्द्रियाँ न तो स्वरूपतः कोई सत्य वस्तु हैं और न उनका आत्मा से ही कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध होता है। 'ईश्वरः संसरति' कहकर आत्मा की अद्वयता की सूचना है।।४२।।

उपनिषत् में मन्त्रोदाहरण के अनन्तर ब्राह्मण ने व्याख्या की है, उसका सार कहते हैं **मन्त्र में कहे 'हरि' स्वयं अध्यस्त हैं तथा उनकी संख्या भी काल्पनिक है।**

मन्त्रोक्ता हरयोऽध्यस्तास्तत्सङ्ख्या च प्रकल्पिता।
एतेषां तत्त्वमात्मैवेत्याह ब्राह्मणम् आदरात्।।४३।।

मधुकाण्डसारः

निःशेषमधुकाण्डस्य तदेतद् इति वाक्यतः।
सारः संक्षिप्यते साक्षात् करविन्यस्तबिल्ववत्।।४४।।
अज्ञातं संशयज्ञातं मिथ्याज्ञातम् इदं जगत्।
तदेतद् इत्यनूद्याऽस्य तत्त्वं ब्रह्मेति बोध्यते।।४५।।
निष्कारणं तन्निष्कार्यं निश्छिद्रं बाह्यवर्जितम्।
पारोक्ष्यप्रतिषेधार्थम् आत्मा ब्रह्मेति भण्यते।।४६।।
सर्वानुभव एवाऽयं यतः सर्वानुभूस्ततः।
कात्स्न्यार्त् सर्वो भवेदेष चिन्मात्रत्वात्तथाऽनुभूः।।४७।।
कर्त्तव्यमेतद् विज्ञानम् इति वेदानुशासनम्।
अस्याऽतिलङ्घने दोषस्संसाराऽनर्थसङ्गतिः।।४८।।

इनकी वास्तविकता केवल आत्मा है। यह बात ब्राह्मण ने साभिप्राय व्यक्त की है।।४३।। 'साभिप्राय' इसलिये कि हरि तथा संख्या दोनों का पृथक् उल्लेख कर आत्मरूपता कहनी तभी उचित है जब इतना बताने का कोई अभिप्राय हो। वह यह है कि आत्मा में औपाधिक भी भेद वास्तविक नहीं क्योंकि उपाधि भी आत्मा से अन्य कुछ नहीं।।४३।।

समाप्ति में परमात्मस्वरूप का वर्णन करते हुए 'तदेतद् ब्रह्म' आदि ब्राह्मण की व्याख्या की जाती है **'तदेतद्' इस वाक्य से सारे मधुकाण्ड का सार एकत्र किया है जैसे हाथ में सीधे ही बिल्व रखा हो।।४४। जिसे नहीं जाना, जिसके बारे में सन्देह है और जिसे अन्यथा जाना जाता हैऐसा यह जगत् 'तदेतत्' ('वह यह') से कहकर इसकी वास्तविकता परमात्मा को कहा है।।४५।। परमात्मा का न कोई कारण है, न कार्य है। वह न खोखला है और न उससे बहिर्भूत (वस्त्वन्तररूप) कुछ है। वह परोक्ष नहीं यह समझाने के लिये ब्रह्म आत्मा है ऐसा कहते हैं।।४६।। वह सर्वरूप एवं अनुभवरूप होने से 'सर्वानुभूः' है। पूर्णता वाला होने से वह सब कुछ है और केवल चैतन्य होने से अनुभवरूप है।।४७।। यह साक्षात्कार प्राप्त करना ही चाहिये यह वेद का निर्देश है जिसके उल्लंघन से संसाररूप अनर्थ का संपर्क नामक दोष होता है।।४८।। साक्षात्कार**

कुर्वतस्तु महाँल्लाभः स्वात्मनः कृतकृत्यता।
मधुकाण्डार्थसर्वस्वम् इत्थं श्रुत्योपसंहृतम्।।४६।।

करने वाले को महान् लाभ होता है, वह स्वयं कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार मधुकाण्ड में कहे तात्पर्य का मुख्यभाग श्रुति ने समाप्ति में व्यक्त कर दिया।।४६।।

अध्याय-समाप्ति में आया 'तदेतद्' वाक्य आत्मस्वरूप का इसीलिये संक्षेप में उपस्थापन करता है ताकि हमें आत्मवस्तु सुस्पष्ट हो जाये। मधुकाण्ड ही नहीं, सारे वेद का ही सारभूत अर्थ इतना ही है। इससे अन्य जो संसार वह अज्ञात, संदिग्ध और भ्रमविषय होता रहता है। यद्यपि विचार से पता चलता है कि अज्ञात वस्तु एकमात्र आत्मा ही हो सकता है तथापि व्यवहार में संसार ही अज्ञात प्रतीत होता है। किं च संसार का स्वरूप है मिथ्या लेकिन हमें यह मिथ्या नहीं लगता इसलिये कहा कि इसका स्वरूप अज्ञात है। जब तक जिज्ञासा रहती है तब तक संसार के बारे में सभी तरह के विचार उपस्थित होते रहते हैं जिससे इसका याथार्थ्य सन्दिग्ध रहता है। जगत् सत्य है या मिथ्याये दोनों कोटियाँ रहते संदेह की स्थिति है। अभ्यासी को विचारदशा में मिथ्यात्व लगता है लेकिन व्यवहारकाल में सत्यता प्रतीत होती रहती है तथा दोनों में एक ही वास्तविक है ऐसा निर्णय नहीं होता अतः संशय की स्थिति है। जनसामान्य के लिये अज्ञात, जिज्ञासु के लिये संदिग्ध एवं जो शास्त्र-विरुद्ध मतों में आग्रही हैं उन्हें इसके बारे में विपरीत ही बोध होता है, वे प्रपंच को, भेद को अत्यन्त सत्य माने रहते हैं। सामान्य व्यक्ति भी प्रपंच को सत्य कहता है लेकिन उसका तात्पर्य इतना ही होता है कि प्रपंच व्यवहार-साधक है जबकि वादी आग्रह करता है कि यह परमार्थ सत्य है अतः वादी को मिथ्याज्ञान वाला बताया। ऐसे संसार की वास्तविकता को यहाँ श्रुति ने ब्रह्म नाम दिया है। इससे अर्थसिद्ध है कि ब्रह्मरूप सत्य में मिथ्याभूत प्रपंच अध्यस्त है। कल्पित की तात्त्विकता उसका अधिष्ठान ही होता है। ब्रह्म 'खोखला' नहीं अर्थात् सच्चिदानन्द का घनीभूत रूप है, अतः इसमें सत्यतादि का कहीं किंचित् भी अभाव नहीं है। इसी प्रकार वह अद्वय होने से उससे बहिर्भूत, विभिन्न भी कुछ हो सके यह संभव नहीं। वह क्योंकि वस्तुतः अज्ञात कभी नहीं हो पाता इसीलिये साक्षाद् अपरोक्ष कहा जाता है। 'तदेतद् ब्रह्म' यह सामानाधिकरण्य अभेद की सनातनता समझाता है अर्थात् 'एतत्' काल में भी ब्रह्म ही है। अनन्तर अबाह्य से निःसामान्य और निर्विशेष भी अर्थ किया गया है। अंतर अर्थात् भेद, जो रहने पर सामान्य की स्थिति स्वीकार्य है; घटभेद रहने से ही घटत्व सामान्य अंगीकार है, आकाशभेद अप्रसिद्ध होने से

विद्यावंशजपाद् विद्याविघ्नः सर्वो निवार्यते।
मुमुक्षुमनुगृह्णातु विद्यातीर्थमहेश्वरः।।५०।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यकोपनिषदि मधुविद्याप्रकाशो नाम षोडशोऽध्यायः।।

आकाशत्व सामान्य अमान्य है। अनन्तर अर्थात् भेदरहित होने से सामान्यरहित है। इससे विलक्षण हुआ बाह्य अर्थात् विशेष, उससे भी रहित है। इस प्रकार ब्रह्म की एकरसता कही गयी। क्योंकि ये विशेषताएँ आत्मा में ही उपपन्न हैं इसीलिये ब्रह्म की आत्मरूपता स्पष्ट है। आत्मा सबका अनुभव है एवं आत्मरूप अनुभव सारे ही आकार धारण करता लगता है। आत्मा स्वयं में पूर्ण अनुभव है। इन कारणों से तथा सर्वरूप और ज्ञानरूप होने से आत्मा को सर्वानुभू कहा। आत्मा के इस पूर्णत्व का ज्ञान श्रुति-दृष्टि में अवश्य कर्त्तव्य है। शमादिपूर्वक श्रवणादिका अनुष्ठान ही यहाँ विधेय है। इसे अनुशासन कहकर इसकी गरिमा व्यक्त की। इस निर्देश का पालन न करना दोषावह है क्योंकि अनर्थ परंपरा में पड़े रहना पड़ेगा। निर्देश-पालन से मोक्षरूप सर्वोत्तम लाभ है यह स्पष्ट है। आत्मस्वरूप ही मधुकाण्डोक्त अर्थ का सर्वस्व अर्थात् मुख्य भाग है, इसी में ग्रंथ का तात्पर्य है।।४४-९।।

छठे ब्राह्मण में आचार्य-परम्परा अर्थात् वंश बताया गया है, जिससे गुरुपरम्परा याद करना पुण्यावह है यह बताकर अध्याय पूरा करते हैं **विद्या के वंश के जप से विद्या में आने वाला सारा विघ्न दूर किया जाता है। श्री विद्यातीर्थरूप महेश्वर मुझ समेत हर एक मुमुक्षु पर अनुग्रह करें।।५०।।** 'वंश' अर्थात् उन आचार्यों का क्रमशः परिगणन जिनसे यह विद्या वेद से लेकर उत्तर काल तक कायम रही। इसके स्मरण से ज्ञानमार्ग के विघ्न दूर होते हैं। यद्यपि श्रुति में पौतिमाष्य-पर्यन्त वंश कहा तथापि हमें जिससे ज्ञान मिला उस पर्यन्त सभी का यथाशक्ति स्मरण कर्तव्य होने से यहाँ अंत में श्रीविद्यातीर्थका उल्लेख कर उनके अनुग्रह की प्रार्थना है जिससे निर्विघ्न ज्ञानलाभ एवं निष्ठाप्राप्ति-पूर्वक मोक्ष हो।।५०।।

।। सोलहवाँ अध्याय।।

ॐ

आश्वलायनादिमुनिबोधः

सप्तदशोऽध्यायः

याज्ञवल्क्योऽश्वलादिभ्यो विजिगीषुकथामुखात्।
उक्तवान् पञ्चमेऽध्याये तत्त्वविद्यामनेकधा।।१।।

आश्वलायन आदि मुनियों को उद्बोधन : सत्रहवाँ अध्याय

उपदेश-प्रधान मधुकाण्ड के बाद उपपत्ति-प्रधान याज्ञवल्क्यकाण्ड या मुनिकाण्ड कहलाने वाले उपनिषत् के तीसरे-चौथे अध्याय आरंभ होते हैं। पूर्वोक्त आत्मवस्तु के बारे में युक्तियाँ समझाना इस काण्ड की विशेषता है। तीसरा अध्याय जल्प के रूप में है अर्थात् विविधि ऋषियों से याज्ञवल्क्य का वाद-विवाद दिखाया गया है जबकि चौथा अध्याय वाद के रूप में है अर्थात् जनक को याज्ञवल्क्य ने समझाने के लिये क्या विचार व्यक्त किये, यह दिखाया गया है। तीसरे अध्याय में नौ ब्राह्मण हैं जिनमें आश्वलायन आदि आठ ऋषियों ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछे। गार्गी ने दो बार प्रश्न पूछे। प्रथम ब्राह्मण में मृत्यु को लाँघने की चर्चा है, द्वितीय में मृत्यु का निर्णय है, तीसरे में पुण्यफल की पराकष्ठा पूछी गयी है, चौथे में प्रत्यगात्मा बताया है, पाँचवें में उसी को परमात्मा कहा है। छठे में ब्रह्म का कार्य संसार बताया है। सातवें में सूत्रात्मा-अन्तर्यामी का वर्णन है, आठवें में ब्रह्मस्वरूप का विस्तार है एवं नौवे में देवताओं का तथा सगुण-निर्गुण ब्रह्म का कथन है। आरम्भ होता है इस कथा से कि वैदेह जनक ने एक ऐसे याग का आयोजन किया जिसमें बहुतेरी दक्षिणा बाँटी जाती है। कुरु पांचाल देश के ब्राह्मण उस याग में एकत्र हुए। इन देशों के ब्राह्मण विशेष प्रसिद्ध थे। जनक ब्रह्मविद्या के रसिक थे अतः उस बारे में तब कौन सर्वोत्तम विद्वान् हैं यह जानने के लिये उन्होंने सभा आयोजित की। जनक ने हज़ार गायें एकत्र करायीं जिनके सींगों में दस-दस तोला सोना और खुरों में चाँदी मढी हुई थी। राजा ने घोषणा की 'ब्राह्मणा भगवन्तो, यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजताम्' अर्थात् हे ऐश्वर्यशाली ब्राह्मणो! आप लोगों में जो सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता हो वह ये गायें ले जाये। यह सुनकर

सब चुप रहे, 'मैं सबसे बड़ा' यह कौन कहे! याज्ञवल्क्य ने विचार किया कि यदि कोई आगे नहीं बढ़ा तो प्रसिद्धि हो जायेगी कि आजकल कोई ब्रह्मज्ञ है ही नहीं। वे साक्षात् सूर्य के अतितेजस्वी शिष्य थे अतः सूर्य से प्राप्त विद्या की तौहीन नहीं कराना चाहते थे। किंतु ब्रह्म एकरस वस्तु होने से उसके ज्ञान में बड़प्पन क्या कहा जाये? वह तो जिसे भी, जब भी होता है, समान एकरस होता है। इसलिये 'मैं बड़ा ज्ञानी' यह न कहकर उन्होंने सबको सुनाते हुए अपने शिष्य से कहा 'सामश्रवा! ये गायें ले चल!' इस पर ब्राह्मणों को क्रोध आना ही था। अश्वल नामक विद्वान् ने पूछा 'क्या तुम सर्वाधिक ब्रह्मवेत्ता हो?' याज्ञवल्क्य बोले 'नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो, गोकामा एव वयं स्मः' श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता को हम प्रणाम करते हैं, हम तो केवल गायें चाहते हैं! किन्तु सब समझ तो गये कि याज्ञवल्क्य ने चुनौती दी है अतः पहले अश्वल ने ही याज्ञवल्क्य की परीक्षा लेने का निर्णय किया। इस प्रकार समझाया गया है कि दान, तत्त्वज्ञों से मुलाकात और उनके संवादये विद्याप्राप्ति के उपाय हैं। याज्ञवल्क्य की विनय भी सूचित है क्योंकि ब्रह्मिष्ठ को नमनीय कहा एवं व्यवहारभूमि में अपनी प्रवृत्ति का हेतु भी बताया कि गाय की ज़रूरत से ही इस मौके पर उन्होंने पहल की। आगे भी (४.१) 'उभयमेव सम्राट्' से याज्ञवल्क्य यही व्यक्त करेंगे कि व्यवहार के मापदण्डों का उल्लंघन करना ब्रह्मज्ञ का कार्य नहीं।

इस तरह मुनिकाण्ड के आरंभ को सूचित करते हुए श्रीविद्यारण्य इस अध्याय के प्रतिपाद्य की प्रतिज्ञा करते हैं **पाँचवें अध्याय में विजिगीषु-कथा से प्रारम्भ करते हुए अश्वलादिको याज्ञवल्क्य ने अनेक प्रकार से तत्त्व का ज्ञान सुनाया। ।१।।** आरण्यकक्रम से पाँचवाँ ही उपनिषत्क्रम से तीसरा अध्याय है। कथा अर्थात् विद्वानों की बातचीत के तीन प्रसिद्ध ढंग हैं।१) जिसमें अपने किसी पक्ष को स्थापित न कर केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन करते हैं वह वितण्डा है। २) जिसमें अपने पक्ष का समर्थन और दूसरों के पक्षों का निरास करते हैं वह जल्प है। इसमें अपने-अपने पक्षों का पहले से ही निर्णय है, बात-चीत इसलिये है कि हमारे पक्ष की जीत हो। यही विजिगीषु अर्थात् जयेच्छुकों की बात-चीत का तरीका है। ३) तीसरा प्रकार है वाद जिसमें तत्त्व समझने के लिये बात-चीत है। पहले से कोई निर्णय नहीं, विचारपूर्वक जिस किसी की बात संगत हो वह स्वीकारी जाती है। इसी तरीके को भगवान् ने अपनी विभूति कहा है। गुरु-शिष्य, सहपाठी आदि में ऐसा ढंग अपनाना श्रेष्ठ है। यद्यपि गुरु पूर्व से जानता है तथापि वह ढंग ऐसा अपनाये कि शिष्य को विचार स्वयं पर थोपा जाता न महसूस हो वरन् विचार से स्थापित प्रतीत हो, इसलिये

आश्वलप्रश्नः

अध्यात्ममधिभूतं च यजमानर्त्विगादिषु।
स्वाभाविकः परिच्छेदो मृत्युर्मर्त्यफलार्जनात्।।२।।

गौतमादि ने गुरु-शिष्य के विचार-प्रकार को वाद माना। उत्तम प्रकार वाद है, मध्यम जल्प है, निकृष्ट वितण्डा है। संसार में चाहे-जिसे तरीके से सत्य कहो, कहने के तरीके में ग़लती निकल ही जायेगी! जैसे जो नदी पार करा सके वही 'सही' नाव है, रूप-रंग आदि में अच्छी-बुरी होने से फ़र्क़ नहीं पड़ता, इसी प्रकार दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति जैसे हो जाये वही विचार सही है, तर्कादि से संगति-असंगति का कोई महत्त्व नहीं। अधिकारिभेद को ध्यान में रखते हुए ऋषियों ने विभिन्न सिद्धान्त व्यक्त किये हैं, अपने-अपने अधिकार के अनुसार उन्हें ग्रहण कर कल्याण पा लेना चाहिये। याज्ञवल्क्य-ऋषिसंवाद जल्परूप इस तरह नहीं कि ऋषि लोग अपने मत स्थापित कर रहे थे वरन् इस तरह कि वे प्रश्न इसलिये पूछ रहे थे ताकि याज्ञवल्क्य के ज्ञान की कमी प्रकट हो। और याज्ञवल्क्य भी किसी मत के स्थापन में प्रवृत्त नहीं थे वरन् पूछे जा रहे सभी सवालों का जवाब देकर अपने द्वारा स्वीकृत चुनौती को उपपन्न कर रहे थे। इस तरह यह विजिगीषु अर्थात् जीतने की इच्छा वालों की कथा थी। फिर भी इस क्रम में मुख्य विचार परतत्त्व का ही हुआ।।१।।

अश्वल का प्रश्न था 'यदिदं सर्वं मृत्युनाऽऽप्तं सर्वं मृत्युनाऽभिपन्नं, केन यजमानो मृत्योराप्तिम् अतिमुच्यत इति?' अर्थात् यह सब साधन-समुदाय मृत्यु से घिरा, मृत्यु से बेबस है, यजमान किस साधन से मृत्यु के घेरे से छूटता है? इसी प्रकार अहोरात्र और पूर्वापर पक्षों से छूटने के उपाय पूछे तथा चौथी बात पूछी कि किस सहारे से यजमान स्वर्ग तक जाता है। याज्ञवल्क्य ने क्रमशः चार त्रिक बताये जिनकी उपासना से मृत्यु से छूटा जाता है१) होता, अग्नि, वाक्; २) अध्वर्यु, चक्षु, आदित्य; ३) उद्गाता, वायु, प्राण; ४) ब्रह्मा, मन, चन्द्र। इन त्रिकों में अधियज्ञ और अध्यात्म साधनों में अधिदैव दृष्टि करनी है : अधियज्ञ हैं होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा; अध्यात्म हैं वाक्, चक्षु, प्राण, मन; इनमें अधिदैव दृष्टि करनी है अर्थात् क्रमशः अग्नि, आदित्य, वायु और चन्द्र की दृष्टि करनी है। इस ध्यान से 'मुक्ति' और 'अतिमुक्ति' मिलती है। इस प्रसंग को छह श्लोकों में एकत्र करते हैं **यजमान, ऋत्विक् आदि में अर्थात् अध्यात्म और अधिभूत में, स्वभाव से स्थित परिच्छेद (सीमितता) मृत्यु है क्योंकि नश्वर फल के अर्जन का हेतु है।।२।।** यज्ञ के अंगों में यजमान भी है।

कालोऽपि मृत्युः कर्त्रादिमारणात् स्यात् स च द्विधा।
सौरोऽहोरात्ररूपेण चान्द्रः पक्षादिरूपतः।।३।।
जेतुं मृत्युत्रयं ब्रह्मलोकं प्राप्तुं च साधनम्।
प्रश्नैश्चतुर्भिः पप्रच्छ देवध्यानं तदुत्तरम्।।४।।
यजमानस्य वागादेर्होत्रादेश्चाधिदैविके।
अग्न्यादावेकतां ध्यात्वा मुच्यते चातिमुच्यते।।५।।

ऋत्विक् भी हैं, घी आदि भी हैं लेकिन सभी परिच्छिन्न हैं। यजमानादि चेतन स्वयं न सही पर अभिमानवश परिच्छिन्न हैं जबकि अधिभूत घी आदि स्वयं परिच्छिन्न हैं। अत एव वे सीमित फल के हेतु हैं जिससे मृत्यु कहे गये हैं। यज्ञ के लिये वाणी से बोलेंगे, वाणी भी नश्वर, उससे किया उच्चारण भी नश्वर। ऐसी नश्वर चीज़ें नित्य फल नहीं दे सकतीं। अध्यात्म अर्थात् घी आदि भौतिक साधन। इनकी परिच्छिन्नता स्वाभाविक है अर्थात् इनका स्वभाव या स्वरूप ही ऐसा है कि परिच्छिन्न हों। जीव में स्वभावशब्दित अज्ञान से परिच्छेदाभिमान है तथा अन्यत्र तो स्वरूप लाभ ही परिच्छेदात्मक होने से है।।२।।

शंका होती है कि परिच्छिन्न होने पर भी क्योंकि शुभ मुहूर्त आदि विशिष्ट कालों में करते हैं इसलिये काल के प्रभाव से फल अक्षय हो सकता होगा? इसका समाधान करते हैं **काल भी कर्त्ता आदि को मारने वाला होने से मृत्यु है। काल दो तरह का हैसूर्य के उदय-अस्त से निरूपति दिन-रातरूप, एवं चन्द्र के बढ़ने-घटने से निरूपित पक्ष मास आदिरूप।।३।।** सबको मारने वाला, सबको सीमित करने वाला काल प्रसिद्ध ही है लेकिन उसके दोनों जो प्रसिद्ध भेद हैं सूर्य या चन्द्र पर निर्भरवे पुनः क्षयिष्णु, परिच्छिन्न हैं, क्षण-क्षण में समाप्त हो जाते हैं। जो स्वयं क्षयशील उस काल के योग से कर्म या उपासना कैसे अक्षय फल देगी!।।३।।

उक्त श्रुति में अश्वल के प्रश्नों का एवं याज्ञवल्क्य के उत्तर का संग्रह करते हैं **तीनों मृत्युओं को जीतने और ब्रह्मलोक को पाने का साधन चार प्रश्नों से पूछा तथा सभी का उत्तर हैदेव का ध्यान।।४।। यजमान के (अध्यात्म) वागादि तथा (अधिभूत) होता आदि ऋत्विकों का आधिदैविक अग्नि आदि रूप से ध्यान का फल मुक्ति व अतिमुक्ति की प्राप्ति है।।५।। असुरसम्बद्ध भाव छोड़कर देवभाव का चिन्तन मुक्ति और ब्रह्मलोक अतिमुक्ति है। उपासना से कैवल्यरूप मोक्ष**

मुक्तिस्त्यक्त्वासुरं भावं देवभावस्य चिन्तनम्।
ब्रह्मलोकोऽतिमुक्तिः स्यान्न कैवल्यमुपासनात्।।६।।

दुर्लभ है।।६।। अध्यात्म-अधिभूत का परिच्छेद, सौर काल का परिच्छेद और चान्द्रकालका परिच्छेदये तीन मृत्यु हैं तथा होता वाग् में अग्निदृष्टि, अध्वर्यु-चक्षु में आदित्यदृष्टि, उद्गाता-प्राण में वायुदृष्टि और ब्रह्मा-मन में चन्द्रदृष्टि ये देवध्यान हैं। ये देव परमात्मा की विभिन्न शक्तियाँ हैं अतः इनके परमात्मभाव के बल से ये अपरिच्छिन्नता के हेतु बनते हैं। उपाधि परिच्छिन्न होने पर भी उपधेय की अमर्त्यता है अतः उससे एकता के चिंतन से फल में अक्षयता आती है। इसी दृष्टि से ईशावास्योपनिषत् में भी कर्म-उपासना के समुच्चय से मृत्यु को पार कर अमृत की प्राप्ति कही गयी है (११)। कारण व्यापक तथा कार्य व्याप्य होता है। अग्नि आदि देव कारण हैं, वाक् आदि कार्य हैं यह शास्त्र से पता है। अतः परिच्छिन्न वाक् आदि को देवरूप से समझने पर परिच्छेद-कृत दुर्बलता दूर हो जाती है। अधिभूत ऋत्विक् आदि में भी देवभाव का चिंतन यही प्रभाव करता है। ऋत्विक् भी विशेषकर उन्ही इंद्रियों का यज्ञ में प्रयोग करते हैं। होता मंत्रोच्चारण करता है, अध्वर्यु सब क्रियाएँ करने के लिये सामग्री आदि को देखता सँभालता है, उद्गाता गान करने के लिये साँस का खास उपयोग करता है एवं ब्रह्मा सही-ग़लत के बारे में आलोचना करता है। अतः ऋत्विजों का भी उक्त देवताओं से सम्बन्ध संगत है। वाणी अग्निरूप है, होता भी अग्निरूप हैऐसा ध्यान विवक्षित है। व्यष्टि-उपाधि का परिच्छेद हटाकर समष्टि का आरोप करने का यहाँ विधान है। व्यष्टि उपकार्य और समष्टि उपकारक है। इस प्रकार साधनों को अपरिच्छिन्न बनाने से फल में अपरिच्छेद हो सकता है, यह भाव है। मुक्ति से इस प्रसंग में कैवल्य नहीं समझ सकते क्योंकि वह ज्ञानैकलभ्य है। यहाँ मुक्ति है असुरभाव छोड़ना अर्थात् 'मैं ही सब कुछ करने-धरने वाला हूँ' यह अभिमान छोड़ना। दम्भ दर्प आदि को गीता में (१६.४,७-१८) आसुरभाव बताया ही है। केवल अपने व्यक्तिगत भाव को लेकर किये यज्ञ दान आदि आसुर प्रवृत्ति ही होंगे, समष्टिभाव, देवभाव से करने पर ही इनसे मुक्ति मिलेगी। पूर्वदर्शित मधुविद्या के विचार से सबका आपसी उपकारकत्व समझने पर ही इस समष्टिता में स्थिर हुआ जा सकता है। सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र परमात्मा का रूप है; इसमें हम भी एक हैंयह सोचने का सही ढंग है। मैं ही संसार में सर्वप्रधान हूँ, सबको मेरे अनुकूल होना चाहियेयह सोचने का ग़लत ढंग है। इस उपासना से होने वाली ब्रह्मलोक की प्राप्ति को यहाँ अतिमुक्ति कहा है। इस प्रकार अश्वल के प्रारंभिक प्रश्नों का उत्तर हुआ।।४-६।।

अथ संपद उच्यन्ते स्वल्पे कर्मणि कर्मणः।
महतश्चिन्तनं संपत्तया प्राप्यं महत्फलम्।।७।।
होतृप्रयुक्त ऋग्जातित्रये संपादयन्नमून्।
लोकांस्त्रैलोक्यमाप्नोति समत्वात्त्रित्वसंख्यया।।८।।
समिन्मांसाज्यमुख्यानाम् उज्ज्वलत्वादिसाम्यतः।
देवलोकादिसंपत्त्या देवलोकादिमाप्नुयात्।।९।।

इसके बाद सम्पद् उपासना के बारे में अश्वल ने चार प्रश्न किये १) होता कितनी ऋचाएँ बोलेगा और उनसे क्या फल होगा? (२) अध्वर्यु कितनी तरह की आहुतियाँ डालेगा व उनसे क्या फल होगा (३) ब्रह्मा कितने देवताओं द्वारा रक्षा करेगा और वे कौन हैं? (४) उद्गाता कितने स्तोत्र गायेगा, उनका अध्यात्म में क्या स्थान है और उनके क्या फल हैं? इस प्रसंग का संक्षेप करते हैं **अब सम्पत् उपासनाएँ कही जाती हैं : स्वल्प कर्म में महान् कर्म की दृष्टि करना 'सम्पत्' है जिससे महान् फल मिल सकता है।।७।।** उपासना के प्रतीक, संवर्ग आदि अनेक भेदों में सम्पत् भी है जिसका स्वरूप भी यहाँ समझाया कि किये जाते छोटे कर्म को ही कोई बड़ा कर्म समझना, वह बड़ा कर्म किया जा रहा हैयह दृष्टि कायम रखना। शास्त्रानुसार यह दृष्टि करने से फल में विशेष उपलब्ध हो जाता है। यह कार्य मनमाने ढंग से विफल है, विधि-संमत होने पर ही सफल है।।७।।

प्रथम प्रश्नोत्तर दिखाते हैं **'होता' नामक ऋत्विक् द्वारा प्रयोग में लायी जाती तीन जातियों की ऋचाओं में इन लोकों का सम्पादन करे तो त्रिलोकी के प्राणियों पर जीत हासिल कर लेता है।।८।।** ऋग्वेदी ऋत्विक् का नाम 'होता' है। वह तीन तरह की ऋचाओं का पाठ करता है। आहुति से पूर्व जिसे पढ़ते हैं वह पुरोनुवाक्या, होमादि यागार्थ जिसे पढ़ते हैं वह याज्या एवं जो स्तुति करने के लिये पढ़ते हैं वह शस्या कही जाती है। इन में क्रमशः भूः, भुवः, स्वःइन तीन लोकों की दृष्टि करने पर तीनों लोकों में जितने प्राणी हैं सब पर विजय हो जाती है, सब वश में हो जाते हैं।।८।।

द्वितीय प्रश्नोत्तर बताते हैं **समिधा, मांस, आज्य जिनमें प्रमुख हैं उन आहुतियों में उज्ज्वलता आदि की समानता से देवलोक आदि का सम्पादन करने से देवलोक आदि पा जाता है।।९।।** अध्वर्यु आहुतियाँ डालता है जिनमें समिधा आदि खास पदार्थ हैं जिनमें समतावश देवलोकादि दृष्टि का विधान है। समिधा की आहुति में

ब्रह्मणो मनसो वृत्तिष्वनन्तास्वन्तवर्जितान् ।
विश्वान्संपादयन्देवान् अनन्तं लोकमाप्नुयात् ।।१० ।।
उक्तास्वृग्जातिषूद्गात्रा गीयमानासु संपदा ।
लोकत्रयस्य प्राणादेरपि लोकत्रयं व्रजेत् ।।११ ।।

देवलोक की दृष्टि, मांस की आहुति में पितृलोक की दृष्टि और आज्य (ताज़ा घी) की आहुति में मनुष्य लोक की दृष्टि कर्त्तव्य है। समिधा डालने पर अग्नि उज्ज्वल हो जाती है, देवलोक भी उज्ज्वल है। मांस डालने पर अग्निकुण्ड में चड़-चड़ आदि आवाज़ काफी होती है और पितृलोक में यमयातना भोगने वाले भी काफी हल्ला मचाते हैं। अतः हल्ले की समानता है। घी आदि तरल पदार्थ कुण्ड में नीचे की ओर जाता है, मनुष्य लोक भी नीचे हैयह समानता है। लोकप्राप्तिमात्र तो कर्मानुसार हो जाती है, उपासना के प्रभाव से प्राप्ति में विशेष आता है, लोकों पर नियंत्रण मिलता है।।९ ।।

तीसरा प्रश्न ब्रह्मा-सम्बन्धी है। ब्रह्मा का प्रधान कार्य है यज्ञ में ग़लती न होने देना, हो जाये तो टोककर प्रायश्चित्त करा देना। अतः ब्रह्मा यद्यपि स्थूल क्रिया कर्म करता है तथापि दक्षिणा ज़्यादा पाता है। वह होता भी विशेष विद्वान् है। तत्सम्बद्ध प्रश्नोत्तर सुनाते हैं **ब्रह्मा की अनन्त मनोवृत्तियों में अनन्त विश्वेदेवों का सम्पादन करने से अनन्त लोक पायेगा।।१०।।** ब्रह्मा का कार्य सावधानी से देखना सुनना है अतः वह यज्ञ के दौरान अनन्त वृत्तियाँ बनाता रहता है अतः असंख्य विश्वेदेवों की दृष्टि उसकी मनोवृत्तियों में करने का विधान है। इसके फलस्वरूप अनन्तलोक अर्थात् ब्रह्मलोक मिलता है।।१० ।।

चौथा प्रश्नोतर बताते हैं **उद्गाता द्वारा गायी जाती पूर्वोक्त जातियों की ऋचाओं में लोकत्रय और प्राण-अपान-व्यान इन तीन का भी सम्पादन करने से लोकत्रय की प्राप्ति होती है।।११।।** ऋचाएँ तो उन्हीं तीन जाति की होंगी जो होता की बातयी थीं, फ़र्क है कि उद्गाता ऋचाओं को गा कर सुनाता है, केवल पाठमात्र नहीं करता। वर्त्तमान काल में वैदिक स्वर गले से निकालने वाले रह नहीं गये अतः सुनने मात्र से अंतर न भी समझ आये परंतु सामगान करते समय वैदिक विद्वान् अपनी अंगुलियों पर तो सब अक्षरों के स्वरों का स्मरण करते ही हैं। जैसे शुक्ल यजुर्वेदी विद्वान् उदात्त आदि स्वर हाथ से चिह्नित करते हैं वैसे सामवेदी हाथ की अंगुलियों पर चिह्नित कर लेते हैं। प्रयास होना चाहिये कि सामगान पुनः कण्ठ से निकले। अस्तु! उद्गाता द्वारा गायी जाती पुरोनुवाक्या में भूलोक और प्राण का, याज्या में अंतरिक्ष और

गया भूर्ब्राह्मणो विष्णुरन्नं ब्रह्मेति संपदा।
श्राद्धे फलस्य बाहुल्यं मत्वा सम्पादयन्ति हि।।१२।।

अपान का तथा शस्या में द्युलोक और व्यान का संपादन करने का विधान है। इससे प्राप्य फल लोकत्रय ही है, उस पर विजय है। ये सभी ध्यान ऋत्विक् करते हैं किंतु फल जैसे कर्म का वैसे उपासना का, यजमान पा लेता है। आसुर भाव दूर होना एवं लोकों पर अधिकार मिलना फल है। हम अभी लोकों के प्रति शेष हैं लेकिन उक्त फल से सम्पन्न व्यक्ति लोकों के प्रति शेषी होता है, उनके प्रति गुणभूत नहीं।।११।।

उदाहरण से इस सम्पद्-उपासना को समझाते हैं **श्राद्ध के दौरान श्राद्धस्थल में गयादृष्टि, ब्राह्मण में विष्णु-दृष्टि और अन्न में ब्रह्मदृष्टियों सम्पत् उपासना से श्राद्धफल में आधिक्य समझकर लोग ऐसी सम्पद् उपासना किया ही करते हैं।।१२।।** सामान्य, जो कोई भी भूमि हो उसे गया समझकर, श्राद्ध कराने वाले व श्राद्ध भोजन करने वाले ब्राह्मण को साक्षाद् नारायण समझकर तथा भोजन को परमात्मा समझकर किये श्राद्ध का खास महत्त्व है। राजसूय आदि बड़े कर्मों का भी स्वल्प कर्मों में सम्पद् दृष्टि से सम्पादन फल में विशेष का हेतु होता है। इस प्रकार प्रथम ब्राह्मण में अश्वल के प्रश्नों को उत्तरित कर याज्ञवल्क्य ने अपनी महत्ता स्थापित की।।१२।।

दूसरा है 'आर्तभाग ब्राह्मण'। जरत्कारु गोत्रीय आर्तभाग ने पूछा 'कति ग्रहाः? कत्यतिग्रहाः?' ग्रह कितने होते हैं? अतिग्रह कितने होते हैं? याज्ञवल्क्य ने दोनों की संख्या आठ-आठ बताकर समझाया 'प्राणो वै ग्रहः, सोऽपानेनाऽतिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति' अर्थात् घ्राण ग्रह है जो अपान अर्थात् गन्ध नामक अतिग्रह से पकड़ा हुआ है। अपानवृत्ति से ही व्यक्ति गंध सूँघता है। इसी प्रकार वाक्-नाम, जिह्वा-रस, चक्षु-रूप, श्रोत्र-शब्द, मन-कान, हाथ-कर्म और त्वक्-स्पर्शइन कुल आठ जोड़ों को ग्रह-अतिग्रह के रूप में बताया। तदनन्तर आर्तभाग ने पूछा 'कास्वित् सा देवता यस्या मृत्युरन्नम्?' वह कौन देवता है जिसके लिये मृत्यु अन्न है? याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया 'अग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नम्' अर्थात् जगत् के विनाश का हेतु होने से अग्नि सबकी मृत्यु है किंतु उसे जल खा जाता है अतः अग्नि भी जल का अन्न है! अतः मृत्यु पर भी विजय असंभव नहीं। फिर आर्तभाग ने मृत्यु जीत चुके के बारे में पूछा कि उसके प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं? याज्ञवल्क्य ने घोषणा की 'नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते, स उच्छ्वयत्याध्मायति, आध्मातो मृतः शेते' अर्थात् प्राण उत्क्रमण बिना किये परमात्मा से एक हो जाते हैं। शरीर वायु से भरकर फूल जाता है

आर्तभागप्रश्नः

बन्धाख्यमृत्युस्तन्मृत्युर्विदुषोऽनुक्रमस्तथा।
प्रयोजकलयो मृत्योः प्रेरकश्चात्र पृच्छ्यते।।१३।।

अतः मरा पड़ा समझा जाता है। आर्तभाग ने कहा कि मरने पर भी तत्त्वज्ञानी को कौन नहीं छोड़ता? याज्ञवल्क्य ने बताया कि नाम उसे नहीं छोड़ता। तदनन्तर आर्तभाग ने सामान्य (अज्ञानी) के बारे में पूछा कि मृत्यु के अनंतर पुरुष कहाँ रहता है? इसका जवाब सार्वजनिक विश्लेषण से न कर आर्तभाग और याज्ञवल्क्य ने आपसी विचार-विमर्श से निर्णीत किया तथा श्रुति ने बताया है कि उत्तर था 'कर्म' अर्थात् कर्म ही जीवों के निरूपक हैं। इस प्रकार इस ब्राह्मण में विस्तृत चिन्तन है।

उक्त पाँच प्रश्नों का संक्षेप प्रकट करते हैं **बन्धन नामक मृत्त्यु का लक्षण, मृत्त्यु की मृत्यु, विद्वान् का उत्क्रमण, प्रयोजक का लय और मृत्त्यु का प्रेरकये सब बातें द्वितीय ब्राह्मण में पूछी गयी हैं।।१३।।** जरत्कारु के गोत्र में आर्तभाग हुए। गोत्र-प्रवर्त्तक ऋषि उस गोत्र वालों के प्रेरणास्रोत होते हैं। भले ही हम प्रेरणा न लें, लेकिन वे तो प्रेरणा देते ही हैं। जरत्कारु ब्रह्मचर्य में अत्यंत निष्ठावान् किंतु पितरों के उद्धारार्थ गार्हस्थ्य भी अंगीकार करने वाले अतः अतिश्रद्धालु ऋषि बताये गये हैं। दैवी सम्पत्ति वाले जीव सभी सत्प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं अतः अपने गोत्र ऋषि से तो अवश्य शिक्षा लेते हैं। आसुर स्वभाव वाले इससे विपरीत पूर्वजों से विरुद्ध करने में ही महत्ता समझते हैं! आर्तभाग दैवी सम्पत्-सम्पन्न थे अतः उन्होंने तपोनिष्ठा से योग्यता अर्जित की थी जिससे वे इतने सूक्ष्म प्रश्न कर याज्ञवल्क्य की परीक्षा कर रहे थे। पूर्व में अश्वल ने संसार-बंधनरूप मृत्यु का प्रसंग छेड़ा था। जन्म-मरण ही हमारा बंधन है, न चाहते हुए अनिवार्यतः इनके क्रम का पालन करना पड़ता है। वहाँ सीमित फल को यथासंभव असीम बनाने के तरीकों की चर्चा थी। अब आर्तभाग ने स्वयं मृत्यु का लक्षण ही पूछा और उससे अतीत होने के बारे में जिज्ञासा की। बन्धन से छूटे के बारे में भी पूछा एवं मृत्यु का क्या प्रयोजक (हेतु) यह भी जिज्ञासा की। ईश्वर, कर्म, काल आदि अनेक हेतु प्रसिद्ध हैं अतः कौन निश्चित हेतु है यह निर्धारणीय है। कर्म अर्थात् लौकिक कर्म भी बहुधा हेतु माने जाते हैं जैसे लोग समझते हैं कि अमुक जगह गया या अमुक यान में गया इसलिये मरा, न जाता तो न मरता! अतः जानारूप कर्म (क्रिया) को भी हेतु मान लेते हैं। अतः प्रश्न उचित है।।१३।।

बन्धन-नामक मृत्यु का लक्षण बताते हैं **बन्ध कहलाने वाली मृत्यु है ग्रह-अतिग्रहरूप अर्थात् इन्द्रिय-विषयरूप। उसी से अधिभूत (भौतिक), अधियज्ञ (यज्ञांग) आदि**

अधिभूताधियज्ञादिपरिच्छेदफलात्मकः ।
मोहासंगात्मको मृत्युर्ग्रहातिग्रहबन्धवान् ।।१४ ।।
ग्रहा घ्राणादयो ज्ञेया गृह्णन्ति विषयान् यतः ।
घ्राणादिप्रेरकत्वेन गन्धाद्याः स्युरतिग्रहाः ।।१५ ।।

सीमाएँ प्रतीत होती हैं तथा सारे फलों का रूप उपलब्ध होता है। अविवेक से होने वाली आसक्ति उस मृत्यु का सहारा है।।१४ ।। सीमा बन्धन हुआ करती है। हमें सारी सीमाएँ इन्द्रियों व विषयों के सन्दर्भ में ही प्रतीत हो पाती हैं। हेतु-फलभाव भी सीमा ही है क्योंकि हेतुरूप से वह फल नहीं होता, फलस्वरूप से हेतु नहीं होता। भ्रमवश बंधन भी मीठा लगता है जैसे विशिष्ट-अतिविशिष्ट लोग लगातार पुलिस आदि से घिरे रहते हैं, उनकी सब गतिविधियाँ अन्यों की निगरानी में रहती हैं, है यह बन्धन लेकिन उन्हें पसन्द आता है, यह प्रत्यक्ष ही है। हमारी सीमाएँ आधिभौतिक हैं क्योंकि शरीर आदि सब भौतिक वस्तुएँ हैं। भले ही जूँ, मच्छर को लगे कि मनुष्य अत्यंत विस्तृत, सर्वसमर्थ है पर हमें मालूम है कि हम कितने सीमित और अशक्त हैं, ऐसे ही हम देवता आदि को जितना बड़ा समझें, हैं वे भी सीमाओं से घिरे ही। अधियज्ञ अर्थात् यज्ञके स्वरूप, अंग, फलसभी दृष्टियों से सीमित हैं। हम सभी यज्ञ न कर सकते हैं अतः सबके फल भी नहीं पा सकते। ऐसे ही सारे स्तरों पर सीमाएँ समझ लेनी चाहिये। सभी सीमाओं का हेतु अज्ञानवश होने वाली आसक्ति ही है। ग्रह अर्थात् इन्द्रियों में मैं-भाव रहने से ही उनकी सीमा का स्वयं पर आरोप कर लेते हैं। आगे, विषयासक्ति इन्द्रियों को भी सीमित कर देती है, जिस विषय की आसक्ति है उस पर तो इंद्रिय टिकी रहेगी, बाकी की तरफ जायेगी ही नहीं। अतः ग्रह-अतिग्रह (इन्द्रिय-विषय) ही बंधन होने से मृत्यु हैं।।१४ ।।

ग्रह आदि शब्दों का अर्थ बताते हैं **क्योंकि विषयों को ग्रहण करते हैं इसलिये घ्राण आदि इंद्रियों को ग्रह समझना चाहिये। घ्राण आदि को प्रेरित करने वाले होने से गन्ध आदि विषय अतिग्रह हैं।।१५ ।।** लोक में नौ ग्रह प्रसद्धि हैं जो हम लोगों को मानो पकड़े रहते हैं। इसीलिये विषयों को पकड़ने वाली इंद्रियाँ भी ग्रह कही गयी हैं। इन्द्रियों को विषय पकड़ने की स्वाभाविक इच्छा रहती है, अत एव सम्पर्क-साधन दूरभाषादि और प्रसारण-साधन दूरदर्शन आदि का सरलता से विस्तार होता है। 'उपभोक्ता-संस्कृति' कहलाने वाली प्रथा प्रतिष्ठित होने में कठिनाई नहीं आती। इंद्रियों की इन प्रवृत्तियों पर नियंत्रण अतिकठिन है, थोड़ी-सी भी देखने-सुनने आदि की इच्छा

पूर्वब्राह्मणसम्प्रोक्तध्यानसंयुक्तकर्मभिः ।
परिच्छेदविनाशेऽपि मृत्योः सर्वस्य न क्षयः ।।१६ ।।
हिरण्यगर्भरूपेऽपि श्रूयन्ते हि क्षुधादयः ।
अतो मृत्योरशेषस्य मृत्युरन्योऽत्र पृच्छ्यते ।।१७ ।।

हो जाये तो आँख-कान आदि पर नियंत्रण रख पाना असम्भव-सा हो जाता है। मन भी इस दृष्टि से इन्द्रिय ही है, उसकी भी विषय-लोलुपता पर नियंत्रण अतिकठिन है। दार्शनिक या वैज्ञानिक चिंतन भी एक तरह से मन की विश्लेषणेच्छा का ही परिणाम है। ऐसी इच्छा जिन्हें नहीं वे उन चिन्तनों को व्यर्थ मानते हैं। तकनीक का उपयोग करते हुए भी विज्ञान की जानकारी निरर्थक समझते हैं। लेकिन जिन्हें ऐसी मानस जिज्ञासा है वे विश्लेषण में संलग्न रहते हैं। वेदान्त समझाता है कि जगत् मायिक है, इसमें एक सच्चिदानन्द के अलावा कोई तथ्य नहीं है, लेकिन उन्हें यह बात स्वीकार नहीं होती, खोजते रहते हैं। वृत्त (गोले) की परिधि में जैसे मध्य कोई बिंदु नहीं अतः खोजने पर भी मिल नहीं सकता वैसे नाम-रूपात्मक प्रपंच में कोई तात्त्विकता है नहीं कि मिल सके। जैसे 'गोरख-धन्धे' के खिलौने को उलझा दो तो सुलझा नहीं पाते वैसे मायामय प्रपंच का निर्वचन करना अशक्य है। इसका समाधान नहींयह निश्चय होने पर ही शांति है, अन्यथा कोई उपाय नहीं कि शांति हो। इन्द्रियाँ तो ग्रहरूप है ही, इनके विषय और जबरे हैं! वे अतिग्रह हैं, इन्द्रियों को आकृष्ट करते रहते हैं।।१५।।

यद्यपि अश्वल ने भी 'मृत्योराप्तिमतिमुच्यते' आदि से मृत्यु से छूटना पूछा था और आर्तभाग भी मृत्यु के समापक को पूछ रहा है तथापि दोनों प्रश्नों में अंतर है यह समझाते हैं **पूर्व ब्राह्मण में समझाये ध्यान समेत कर्मों से परिच्छेद (व्यष्टिसीमा) का विनाश होने पर भी समग्र मृत्यु की समाप्ति नहीं क्योंकि हिरण्यगर्भरूप में भी भूख आदि सुने जाते हैं। अतः पूर्वोक्त से अन्य, सारी मृत्यु की मृत्यु यहाँ पूछी जा रही है।।१६-७।।** अश्वल ब्राह्मण में देवभाव-प्राप्तिरूप सापेक्ष मोक्ष कहा था। ब्रह्मलोक में मानवलोक जैसा न सही, लेकिन इंद्रियादि का बन्धन रहता है ही। स्वयं हिरण्यगर्भ को भूख आदि लगी, अरति हुई, ऐसा बृहदारण्यक आदि में बताया ही गया है। अतः आर्तभाग का प्रश्न उतनी-मात्र मुक्ति के बारे में नहीं वरन् मृत्युमात्र की निवृत्तिरूप मुक्ति पूछी जा रही है।।१६-७।।

मृत्यु के मृत्यु को समझना उचित होने पर भी ग्रह-अतिग्रह का प्रसंग किसलिये? यह स्पष्ट करते हैं **बन्धन व मोक्ष समझने के लिये मृत्यु और उसके मृत्यु का**

निर्णेयौ मृत्युतन्मृत्यू बंधमोक्षावबुद्धये।
दुर्वचौ च ग्रहादीनां लोकेऽत्यन्ताऽप्रसिद्धितः।।१८।।
ग्रहातिग्रहवद्बन्धो देहोऽप्येष तथाप्यसौ।
जन्मान्तरेष्वसंचाराद् नाप्रसिद्धो न दुर्वचः।।१९।।

निर्णय करना उचित है। इन्द्रियादि की ग्रहादिरूपता लोक में अत्यन्त अप्रसिद्ध होने से इन्द्रियादि को ग्रहादि कहना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है। अतः इन शब्दों से पूछने से याज्ञवल्क्य की परीक्षा हो जाती है।।१८।। जिससे छूटना है उस बंधन को भी समझना ज़रूरी। यद्यपि इंद्रियाँ हम जानते हैं तथापि ये ग्रह (घड़ियाल; बंधकारी) हैं यह नहीं समझते और विषयों को अतिग्रह (तगड़ा घड़ियाल) भी नहीं समझते अतः इनके बन्धन को दृढतर ही बाँधते जाते हैं। इसलिये मृत्यु के इन रूपों का यहाँ निर्णय उचित है। ग्रह आदि शब्द यज्ञपात्र आदि अर्थों में प्रसिद्ध होने पर भी इंद्रियादि अर्थों में अप्रसद्धि हैं अतः 'ग्रह कौन' पूछने पर सामान्य विद्वान् 'इंद्रियाँ' जवाब नहीं देगा, यज्ञपात्र, आदि ही जवाब देगा; पूर्व ब्राह्मण के अनन्तर तथा 'ब्रह्मिष्ठ' के निर्णयार्थ होते वाद में ग्रह पूछा जायेगा तो उसका खास अर्थ होगायह समझ सकना वैदुष्य का प्रमाण है। याज्ञवल्क्य ने ग्रह का वैसा ही भाव समझकर उत्तर दिया अतः उनकी ब्रह्मनिष्ठा सत्यापित हो गयी। हमें कौन निरन्तर खींच रहा है?यह साधारण व्यक्ति निर्धारित नहीं कर पाता, कभी इंद्रियों को, कभी मन को, इच्छाओं को, आवश्यकताओं को आदि अनेक चीज़ों को खींचने वाला अनुभव करते हैं। अनेक पत्नियाँ जैसे पति को खींचती हैं वैसे हमें अनेक दिशाओं से आकर्षण प्रतीत होता है। अतः ठीक-ठीक निर्धारण नहीं कर पाते कि किससे छूटने के लिये पूर्ण प्रयास करें। जब शास्त्रादि से समझ आती है कि इंद्रियाँ और विषय ही बंधक हैं तब उन्हीं से छूटने के लिये एकान्त प्रयास कर पाते हैं।।१८।।

स्थूल शरीर भी एक बंधन है, उसकी चर्चा क्यों छोड़ दी, यह स्पष्ट करते हैं **यद्यपि यह शरीर भी ग्रह-अतिग्रह की तरह बंधनरूप है तथापि क्योंकि यह अन्य जन्मों में जीव के साथ-साथ नहीं जाता-आता इसलिये (इसका बंधन इंद्रियादि के बंधन जैसा स्थायी नहीं है), शरीर बंधन रूप से प्रसिद्ध भी है और आसानी से कहा जा सकता है कि यह बंधन है, (इसलिये प्रकृत प्रश्नोत्तर में इसका उल्लेख छोड़ दिया)।।१९।।** बंधन होने पर भी बिना प्रयास मृत्यु-मात्र से सभी का देहबंधन खुल जाता है इसलिये इसे सब समझते ही हैं, इसे पूछने-जानने की

एकमेव मनः सर्वजन्मगामीति तार्किकाः।
अक्षान्तराण्यपीत्यन्ये तेन संख्याऽत्र दुर्वचा।।२०।।
मनोन्यायः समोऽन्येषु तेनाशेषविवक्षया।
पर्यग्रहीदष्टसंख्यामन्यान्तर्भाव उह्यताम्।।२१।।
यस्येंद्रियस्य योऽर्थोऽस्मिन् जन्मन्यन्यत्र तत्तथा।
उतान्यथेति संदेहात् संख्येयं पृच्छ्यते पुनः।।२२।।

ज़रूरत नहीं। वर्त्तमान काल में देहासक्ति अधिक होने से भले ही इसकी बंधरूपता कथनीय लगे लेकिन जन्मान्तर स्वीकारने वालों को स्पष्ट है कि यह क्योंकि जीव का स्थायी संबंधी नहीं इसलिये इस-मात्र में स्वयं को समझना बंधन है।।१९।।

आर्तभाग केवल ग्रहादि का स्वरूप या नाम ही पूछता, संख्या क्यों पूछी? इसका जवाब देते हैं **तार्किक मानते हैं कि एक मन ही सारे जन्मों में जीव को बाँधे रखता है जबकि अन्यों का कहना है कि अन्य इन्द्रियाँ भी जन्मान्तर में बंधक रूप से अनुगत रहती हैं, इसलिये बंधकों की संख्या बताना भी सरल नहीं।।२०।। जिस तर्क से मन बन्धन है उसी से अन्य इन्द्रियादि भी बन्धन हैं इसलिये सभी बन्धनों का उल्लेख करने के लिये आठ की संख्या ग्रहण की जिसमें मनोभिन्न सब बन्धन समेट लेने चाहिये।।२१।।** प्रशस्त्रपादभाष्य न्यायकन्दली (पृ. ७३६) आदि तार्किक ग्रन्थों में स्पष्टतः बताया है कि जन्मान्तर में संचरण मन का ही होता है, इन्द्रियाँ नहीं जातीं। इस मत में ग्रह एक ही कहलायेगा। अन्य दार्शनिक इन्द्रियों का गमन मानते हैं, श्रीभगवान् ने भी 'मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि.... गृहीत्वा...संयाति' (१५.७-८) आदि से इन्द्रियों का गमन कहा ही है। अतः संख्याविषय का प्रश्न, उचित है। स्थूल देह प्रत्यक्ष होने से पूछने के अयोग्य है लेकिन जन्मान्तर सम्बन्धी सूक्ष्म होने से प्रष्टव्य है। याज्ञवल्क्य ने इन्द्रियों का संग्रह माना अतः आठ की संख्या बतायी। यद्यपि इन्द्रियाँ दस प्रसिद्ध हैं, मन भी गिनें तो ग्यारह हो जाती हैं, तथापि आठ में सबके अन्तर्भाव के तात्पर्य से आठ कहीं। आत्मपुराण में (५.१४२-५) उपस्थका त्वक् में, पायु-पादका हाथ में अन्तर्भाव समझाया है। आठ से अन्य इन्द्रियाँ बंधक नहींऐसा कोई भाव याज्ञवल्क्य का नहीं वरन् सभी को समेटने में तात्पर्य है।।२०-१।।

संख्याविषयक पुनः जिज्ञासा उपपन्न करते हैं **इस जन्म में जिस इन्द्रिय का जो विषय है वह अन्यत्र भी वैसा ही होता है या अलग ढंग के होते हैं इस सन्देह से पुनः संख्या पूछी है।।२२।।** आर्तभाग ने पहले 'कति' पूछा तो

दृष्टानुसार्यदृष्टं तु कल्पनीयमितीदृशात्।
न्यायात् प्राह यथादृष्टाम् इन्द्रियार्थव्यवस्थितिम्।।२३।।
बन्धत्वं विशदीकर्तुं ग्रहातिग्रहकल्पनम्।
मोचनीयो ग्रहग्रस्तस्तथैवाक्षार्थबंधनात्।।२४।।

याज्ञवल्क्य ने 'अष्टौ' जवाब दिया, आर्तभाग ने फिर पूछा 'ये ते अष्टौ...कतमे ते?' इस पुनः प्रश्न में यहाँ युक्ति दी है। यहाँ तो इंद्रिय-विषय बन्धक हैं, अन्यत्र नहीं होते होंगे? यह शंका होती है। कुछ लोग दिव्य शरीरों व दिव्य भोगों को इहलोक के शरीर-भोगों से विलक्षण मान कर उनकी प्राप्ति को मोक्षरूप कह देते हैं। अतः प्रश्न संगत है।।२२।।

सर्वत्र इंद्रिय-विषय ऐसे ही हैं, बंधक ही हैं यह समझाते हैं**क्योंकि विचारशास्त्र में स्थापित नियम है कि उपलब्ध प्रमाणों से निर्धारित के अनुसार ही उसके बारे में कल्पना करनी चाहिये जिसके बारे में प्रमाणों से निर्धारण नहीं हो पा रहा, इसलिये याज्ञवल्क्य ने बताया कि इन्द्रियों और उनके विषयों की वही व्यवस्था सर्वत्र है जो यहाँ अनुभूयमान है।।२३।।** वैदिक चिन्तकों की मर्यादा है कि यदि कल्पना से कुछ मानना हो तो उसे वैसा ही मानना चाहिये जैसा अब तक का अनुभव रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक भी ऐसा नियम स्वीकारते हैं अतः पृथ्वी पर जिन तत्त्वों का जो स्वरूप निर्धारित है वही स्वरूप चंद्र, मंगल आदि जहाँ भी वे तत्त्व होंगे वहाँ उनका रहेगा; अगर स्वभाव में अंतर मिले तो उसे तत्त्वान्तर मानेंगे। ऐसा नहीं कि यहाँ लोहे में जंग लगती है और मंगल में लोहा जंग न लगने वाला होता हो! इसी तरह याज्ञवल्क्य ने कहा कि इंद्रियों व उनके विषयों का स्वरूप एक-जैसा ही है, चाहे मानव योनि हो या अन्य योनि हो, अन्य लोक हो। आँख जहाँ भी होगी देखेगी ही, कान सुनेगा ही, रूप दीखेगा ही, शब्द सुनाई ही देगा। इस प्रकार ग्रहों की संख्या व उनका स्वरूपयह स्पष्ट हुआ।।२३।।

इंद्रियादि को ग्रहादि कहा क्यों? इसे स्पष्ट करते हैं **ग्रह-अतिग्रह की कल्पना बन्धनरूपता व्यक्त करने के लिये है। जैसे ग्रह से ग्रस्त को छुड़ाना पड़ता है। वैसे ही इन्द्रियों व विषयों के बंधन से स्वयं को छुड़ाना ज़रूरी है।।२४।।** इंद्रियाँ व मन कामनाओं से युक्त हैं अतः जन्म-जन्मान्तर में हमें ले जाती हैं। इसीलिये जब हृदयादि स्थित सारी कामनाएँ निवृत्त हों तभी जीव अमृत होता है ऐसा उपनिषद् आदि में कहा है। स्थूल देह बंधन तो है पर स्वयं छूट जाता है, सूक्ष्म देह यों न छूटने से दृढ बंधन है इसे बताने के लिये उसे ग्रह कहना उचित है। ग्रह से घड़ियाल समझें तो भी स्पष्ट

ग्रस्तं हिरण्यगर्भान्तं मृत्युना सकलं जगत्।
ग्रहातिग्रहरूपेण मृत्युस्तस्यास्ति वा न वा।।२५।।
अस्ति चेदनवस्था स्याद् अनिर्मोक्षोऽन्यथा भवेत्।
इत्यसौ दुर्वचः प्रश्नो दृष्टान्तेनाप्नुद्यते।।२६।।

है कि अगर किसी को ग्रह ने पकड़ लिया तो उससे छुड़ाना ही उपाय है, अन्यथा बेचारा मरेगा ही। अथवा ग्रह से शनि मंगल आदि भी समझ सकते हैं, उनके प्रभाव से भी छुड़ाना ही पड़ता है अन्यथा वे अपना असर डालते ही हैं। भूत-प्रेत आदि का आवेश भी कदाचित् 'ग्रह' कहा जाता है क्योंकि उसमें भी जीवांतर हमारे मन आदि को ग्रहण कर लेता है, वश में कर लेता है। ऐसे ग्रहग्रस्त को भी झाड़-फूँक आदि प्रयोगों से छुड़ाना ही पड़ता है अन्यथा पीडा पाता रहता है। इसी प्रकार, इंद्रियों के वशीभूत जीव को इस बंधन से कोई मुक्त ब्रह्मनिष्ठ ही उपदेश आदि द्वारा छुड़ा सकता है, स्वयं जीव इससे नहीं छूट सकता। अत एव 'मुक्तश्चान्यान् विमोचयेद्' आदि शास्त्र-निर्देश है। स्वयं छूट पाता तो अन्य पर निर्भर न होता लेकिन निर्भरता लोक-शास्त्र उभयत्र दृष्ट है अतः मुक्त ही बद्ध को छुड़ा सकता है यह निश्चित है। मुक्त में करुणा स्वाभाविक होने से वह छुड़ाता ही है, 'विमोचयेत्' वस्तुतः अनुवाद है न कि विधि। इन्द्रियों से भी तगड़े होने के कारण विषय अतिग्रह कहे गये हैं। वार्तिकसार में 'तथैवाऽज्ञानबन्धनात्' पाठ है लेकिन प्रसंगानुसार 'अक्षार्थ' ही उचित पाठ है।।२४।।

आर्त्तभाग का तीसरा प्रश्न है 'यह सब तो मृत्यु का अन्न है, वह कौन देवता है जिसका अन्न मृत्यु है?' इसे उपस्थापित करते हैं **हिरण्यगर्भ-समेत सारा जगत् ग्रह-अतिग्रहरूप मृत्यु से ग्रस्त (विषयीकृत) है। उस मृत्यु की भी मृत्यु है या नहीं?।।२५।। यदि है तो अनवस्था होगी, नहीं है तो मोक्ष न हो पायेगा। इसलिये इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है लेकिन याज्ञवल्क्य उदाहरण से समाधान करते हैं।।२६।।** ईश्वर ही सूक्ष्मोपाधि होने पर हिरण्यगर्भ है। वही आगे सारे नाम-रूप का विभाजन करता है। बहुभवन का संकल्प ईश्वर का, चीज़ें बनाने वाला हिरण्यगर्भयह व्यवस्थित क्रम है। कारण व सूक्ष्मइन उपाधियों का ही भेद है, वस्तु एक ही है। कर्म उपासना का चरम उत्कृष्ट फल हिरण्यगर्भभाव ही है। किन्तु वह भी मृत्यु से (भूख आदि से) ग्रस्त बताया ही गया है! जैसे मच्छर आदि कुछ घण्टे जीने वाले प्राणियों की दृष्टि में मनुष्य ही अमर है वैसे मनुष्य समझते हैं कि देवता अमर हैं, और देवताओं को लगता है कि हिरण्यगर्भ अमर है पर श्रुति सभी को मृत्युग्रस्त,

वह्नेः सर्वाशिनो मृत्योर्यथा मृत्युर्जलं महत्।
बन्धमृत्योस्तथा मृत्युरज्ञानं बन्धहृल्लये।।२७।।

मौत के मुँह में बताती है। उस मृत्यु की समाप्ति होती है या नहीं? समाप्ति हो तो कौन करेगा? जो करेगा वह फिर समाप्त होगा या नहीं? इस तरह मृत्यु के मारक को मानने से अनवस्था प्राप्त होगी। और यदि मृत्यु की मृत्यु होती नहीं, ऐसा मानें तो मोक्ष ही असम्भव होगा। अतः प्रश्न को 'दुर्वच' कहा अर्थात् प्रश्न का उत्तर देना अतिकठिन है, इसीलिये आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य की परीक्षार्थ इसे सामने रखा।

हिरण्यगर्भ को मृत्युग्रस्त श्रुति ने कहा ही है अतः कर्म-उपासना के प्रभाव से मृत्युसमाप्ति की आशा नहीं। कुछ विचारक इसीलिये ग्रह-अतिग्रह से युक्त रहना आत्मा के लिये स्वाभाविक है, उसका बंधन नहींऐसा मान लेते हैं! लेकिन श्रुतियाँ स्पष्ट ही इन्हें बंध कहती हैं और मोक्ष में मृत्यु से असम्बन्ध बताती हैं। अतः मृत्युमृत्यु स्वीकार्य भी है। प्रश्न कठिन होने से याज्ञवल्क्य ने हाँ-ना में जवाब न देकर उदाहरण से समझाना उचित समझा। इससे अनवस्था और मोक्षासम्भवता दोनों समस्याएँ दूर हो गयीं।।२५-६।।

याज्ञवल्क्य का उत्तर इतना ही है 'अग्निर्वै मृत्युः सोऽपाम् अन्नम्! अप पुनर्मृत्युं जयति' (३.२.१०) सबकी मृत्यु अग्नि प्रसिद्ध है क्योंकि सब कुछ जलाकर नष्ट कर देती है, किन्तु उस अग्नि को जल खा जाता है! यों अग्निरूप मृत्यु की मृत्यु जल सिद्ध हुआ। अतः मृत्यु की मृत्यु सिद्ध होने से समझा जा सकता है कि वही मृत्यु-मृत्यु सभी ग्रह-अतिग्रह को समाप्त करती है। अग्नि-जल के दृष्टान्त से मृत्यु-मृत्यु की सिद्धि हो जाने पर नतीजा निकलता है 'तेन, सर्वं ग्रहातिग्रहजातं भक्ष्यते मृत्योर्मृत्युना; तस्मिन् बन्धने नाशिते मृत्युना भक्षिते संसाराद् मोक्ष उपपन्नो भवति।' (भाष्य ३.२.१०) अतः मृत्यु (बंधन) पर विजय हासिल होना संगत है इतना ही याज्ञवल्क्य ने समझा कर पूर्वशंकित अनवस्था और अनिर्मोक्षप्रसंग का परिहार भी कर दिया। इस विषय का संग्रह करते हैं **जैसे सबको खा जाने वाली अग्निरूप मृत्यु के लिये अत्यधिक जल मृत्युरूप होता है, वैसे बन्धनरूप मृत्यु का मृत्यु है अज्ञान जो लय में (सुषुप्ति में) बन्धन का हरण कर लेता है।।२७।।** आग बड़ी हो तो जल के छींटों से बुझ नहीं सकती अतः 'महत् जलम्' कहा। ऐसे ही छोटे-मोटे अज्ञान से (घटाज्ञान, पटाज्ञान आदि से) बन्धन-निवृत्ति नहीं वरन् मूलभूत अज्ञान से ही बन्धन समाप्त होता है जैसे गहरी नींद आने से इंद्रिय-विषयरूप ग्रह-अतिग्रह-लक्षण मृत्यु का निवारण

अज्ञानमृत्योर्विज्ञानं मृत्युस्तस्यापि तत्तथा।
तत्कातकरजोन्यायाद् नानवस्थामिहानयेत्।।२८।।
प्राक्तनान्यपि जन्मानि सम्यग्ज्ञानमपह्नुते।
अपह्नुते स्वमित्यस्मिन्नर्थे नैषा चमत्कृतिः।।२९।।

अनुभवसिद्ध है। क्योंकि जगते ही सब अज्ञान से ही प्रकट होते हैं इसलिये उसी में लीन थे यह निश्चित हो जाता है। यही बात प्रलय में समझनी चाहिये। व्यष्टि-समष्टि का अंतर होने पर भी लय में अंतर नहीं। दृष्ट के अनुसार अदृष्ट की कल्पना होती है अतः सुषुप्ति के अनुसार लय समझा जाता है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता का यह आधार लेकर विचार करने से मोक्ष के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जाता है। ग्रह-अतिग्रह रूप बंध की मृत्यु अज्ञान, दृष्टांत में अग्निस्थानीय है जिसकी मृत्यु आगे बतायेंगे।।२७।।

अज्ञान ही मोक्ष है ऐसे भ्रम का निवारण करते हैं **अज्ञानरूप मृत्त्यु की मृत्त्यु विज्ञान है जिस विज्ञान की भी मृत्त्यु वही विज्ञान उसी प्रकार है जैसे अज्ञान की मृत्त्यु। यहाँ कतकरज का न्याय लागू होने से अनवस्था का आपादन नहीं किया जा सकता।।२८।। पूर्व में हो चुके जन्मों को भी जब आत्मा का सम्यग् ज्ञान समाप्त कर देता है तो स्वयं को समाप्त करता है इसमें तुम्हें क्या आश्चर्य है!।।२९।।** विज्ञान अर्थात् अधिष्ठानभूत परमात्मा का साक्षात्कार। आत्मा-परमात्मा के अभेद का साक्षाद् अवबोध यहाँ विज्ञान है। बाकी सब की समाप्ति अज्ञान से, उसकी समाप्ति ज्ञान से, यह भाव है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है यह अनुभवादि से स्पष्ट है। यज्ञादि अनुष्ठान से अज्ञान व तत्कार्य भ्रमादि की निवृत्ति नहीं होती। सच्चा सर्प हो तो 'आस्तीक' के स्मरण से चला भी जाये लेकिन भ्रमसिद्ध साँप उससे भी जायेगा नहीं। भ्रम तभी मिटे जब उसका हेतुभूत अज्ञान मिटे और वह केवल तत्त्वज्ञान से मिट सकता है। ज्ञान से निवृत्त होने पर भ्रमसिद्ध वस्तु का बाध होता है कि न वह था, न है, न होगा। क्योंकि ग्रहातिग्रह को अपने में लीन करता है इसलिये अज्ञान अग्निस्थानीय और उसे भी समाप्त करने वाला विज्ञान जलस्थानीय है। आगे, प्रश्न होगा कि वह ज्ञान भी मृत्यु होनेसे (अज्ञान का भक्षक होने से) उसकी भी मृत्यु होगी? जवाब दिया कि वह स्वयं की भी मृत्यु हो जाता है। दृष्टांत दिया कतकरज का; निर्मली चूर्ण एक वनस्पति का चूरा प्रसिद्ध है जिसे कतकरज कहते हैं; मटमैले पानी में डालने पर वह पानी के मैल को तो नीचे बैठाता ही है, खुद भी पानी में घुलता नहीं

अथ तत्त्वविदः प्राणा उत्क्रामन्त्यथवा न हि।
स्यात्पुनर्जनिरुत्क्रान्तावनुत्क्रान्तौ मृतिः कथम्।।३०।।
नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति किन्तु निर्वातदीपवत्।
न कारणं शिष्यतेऽत्र तस्य ज्ञानेन निह्नुतेः।।३१।।

वरन् मैल के साथ नीचे ही बैठ जाता है अतः पानी सर्वथा शुद्ध हो जाता है। फिटकरी भी पानी साफ करती है लेकिन थोड़ी बहुत पानी में घुल जाती है अतः प्रायः कतकरज का उदाहरण देते हैं। इसी प्रकार अज्ञान मिटाकर विज्ञानरूप वृत्ति भी समाप्त हो जाती है। क्योंकि मृत्यु के हेतु को ही निवृत्त करती है इसीलिये चरमवृत्ति बाकी सब को हटाते हुए स्वयं के भी हटने का हेतु बन जाती है। इस तरह अनवस्था का प्रसंग नहीं। इसमें आश्चर्य करना व्यर्थ है क्योंकि जो प्रमा अनादि और व्यतीत बंधन ही निवृत्त करती है वह स्वयं को क्योंकर नहीं निवृत्त करेगी! जो हो चुके, अब मौजूद नहीं, उनका हुआ-पना भी जो मिटा डाले उसके लिये क्या दुष्कर हो सकता है! अर्थात् मिथ्यामात्र का वह बाधक है अतः क्योंकि वृत्ति मिथ्या है इसलिये उसका भी बाधक हो जाता है। बाधक अर्थात् उसके विषय का विरोधी नहीं, वरन् स्वरूप के असत्त्व का बोधक अर्थात् जिस मन की वह वृत्ति है वह मन क्योंकि असत्य है इसलिये वृत्ति बाधित है न कि वृत्ति से उपलब्ध निश्चय ग़लत है। साक्षात्कार के अनन्तर भान (प्रतीति) का विरोध नहीं, केवल यह अन्तर है कि भानविषय को सत्य समझना असंभव रह जाता है।।२८-२९।।

जारत्कारव आर्तभाग का अगला प्रश्न है 'यत्राऽयं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्ति, आहो नेति?' जिसका याज्ञवल्क्यने जवाब दिया 'नेति होवाच याज्ञवल्क्यः अत्रैव समवनीयन्ते, स उच्छ्वयाति, आध्मायति, आध्मातः मृतः शेते।' अर्थात् तत्त्वेत्ता के प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं? जवाब हैनहीं होता, वे यहीं परमात्मा के साथ एकमेक हो जाते हैं। उसका देह फूल जाता है, उसमें हवा भर जाती है, फूली धौंकनी की तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है। इस प्रश्न-उत्तर का उपन्यास करते हैं **अब प्रश्न है कि तत्त्ववेत्ता के प्राण उत्क्रमण करते हैं या नहीं? उत्क्रमण करें तो पुनः जन्म (भी) होगा और उत्क्रमण नहीं करें तो तत्त्वज्ञ मरता कैसे है? ।।३०।। (उत्तर है) तत्त्ववेत्ता के प्राण न उत्क्रमण करते हैं और न बचे ही रहते हैं किन्तु उनकी हालत बुझे दीपक-सी है। प्राणों का कारण अज्ञान तब रह नहीं जाता क्योंकि तत्त्वज्ञान से उसका अपह्नव हो चुकता है।।३१।।**

अनारब्धफलं कर्म तदुत्क्रान्तेः प्रयोजकम्।
स्थितेर्निमित्तमारब्धं ते नष्टे ज्ञानभोगतः।।३२।।
उपादाननिमित्ताभ्यां हीनानामुत्क्रमः कथम्।
कथं वाऽत्र स्थितिस्तस्माद्युक्त आत्यन्तिको लयः।।३३।।
प्राणत्यागेन देहोऽयं म्रियते बाह्यवायुना।
आपूर्णः स्थौल्यमापन्नो निश्चेष्टो दृश्यते यतः।।३४।।

प्रारब्ध से अतिरिक्त कर्म प्राणों के उत्क्रमण में हेतु बनते हैं और प्राणों के बने रहने में निमित्त है प्रारब्ध कर्म। वे दोनों तरह के कर्म यथाक्रम ज्ञान एवं भोग से नष्ट हो चुकते हैं।।३२।। जिनके उपादान (अज्ञान) और निमित्त (कर्म) दोनों नहीं रहे उन प्राणों का उत्क्रमण कैसे हो या शरीर में बने रहना (भी) कैसे हो! इसलिये उनकी सर्वथा समाप्ति होती है, यही उपपन्न भी है।।३३।। प्राण न रह जाने से यह शरीर मर जाता है क्योंकि बाहरी वायु से भरा हुआ, फूलकर, बिना कोई चेष्टा किये पड़ा दीखता है।।३४।। प्रश्न स्पष्ट है कि विद्वान् मरता है या नहीं? मरेगा तो 'ध्रुवं जन्म मृतस्य' के अनुसार फिर पैदा होगा अर्थात् मुक्त नहीं रहेगा और न मरे तो प्रत्यक्ष-विरोध है। 'उत्क्रमण' अर्थात् एक स्थूल शरीर से निकलकर अन्य शरीर ग्रहण करने के लिये जाना। साँस छोड़ने में प्राण बाहर तो जाते हैं लेकिन पुनः उसी शरीर में लौटते भी हैं अतः उत्क्रमण नहीं। जिस शक्ति से शरीर में श्वास- प्रश्वास संभव हैं वह जब देहान्तर ग्रहण करने को जाती है तब उत्क्रमण कहा जाता है। कर्म और वासनाओं से ही अन्यान्य शरीरों को ग्रहण करने के लिये प्राण का गमन शास्त्र-प्रसिद्ध है। क्योंकि कामना अध्यासाधीन, अभिमानाधीन है, इसलिये जिसका अध्यास बाधित हो चुका उसका उत्क्रमण अशक्य है। किन्तु तब वह मरता कैसे है! प्रारब्ध समाप्ति पर तत्त्वज्ञ का भी मरण शास्त्रसम्मत है। इसलिये आर्तभाग की शंका वाजिब है।

याज्ञवल्क्य ने दीपके उदाहरण से समाधान कर दिया। तेल, रुई आदि समाप्त हो जाने पर दिया बुझ जाता है। वह रहता नहीं और कहीं गया हो ऐसा भी नहीं। ऐसे ही अज्ञान व कर्म न रहने से प्राण न शरीर में बने रहते हैं, न किसी देहान्तर में जाते हैं। प्राण रहने में दो हेतु हैंएक, उपादानरूप अज्ञान; दूसरा, निमित्तरूप कर्म। ज्ञान से अज्ञान मिटने से उपादान नहीं बचा। भोग से प्रारब्ध खत्म हो गये (ब्र.सू.४.१.९.१३) तो वर्तमान शरीर में प्राण बने रहें इसका कोई हेतु नहीं रहा और आत्मस्वरूप की

प्राणा एव विलीयन्ते किं वा सर्वं प्रयोजकम्।।
आद्ये प्राणजनिर्भूयो द्वितीये नाम तत्कथम्।।३५।।

अधिगति से पूर्वकृत कर्मों का विनाश एवं क्रियमाणों से असम्बन्ध हो जाने से (ब्र. सू. ४.१.६.१३) शरीरान्तर तक जाने का हेतु नहीं रहा। अतः प्राणों का न रहना बनता है, न जाना बनता है। शरीर फूल कर पड़ा रह जाता है अतः कहते हैं कि तत्त्वज्ञ मर गया। प्रारब्ध से अन्य जो कर्म अब तक भोगे नहीं जा चुके, अर्थात् संचित हैं, उन्हीं में से जो अगले जन्म में भोगने हैं वे प्राणों के उत्क्रमण में हेतु बनते हैं। प्रारब्ध वे कर्म हैं जिन्हें भोगने के लिये वर्त्तमान शरीर धारण किया है, इन्हें भोग कर ही समाप्त किया जाता है। अतः प्रारब्ध कर्म ही निमित्त बनते हैं प्राणों को शरीर में रखने के। तत्त्वज्ञ ने भोग कर प्रारब्ध और ज्ञान से अज्ञान नष्ट कर दिये तो प्राण क्यों तो रहेंगे और क्यों जायेंगे? अतः तत्त्ववित् इसलिये नहीं मरता कि उसके प्राण कहीं जाते हैं वरन् इसलिये कि प्राण रह ही नहीं जाते, उनका अस्तित्व ही नहीं रहता। प्राण न रहने पर शरीर में वायु भर जाती है अतः शरीर फूल जाता है। ज़िन्दा शरीर में प्राण भरा रहने से बाहरी हवा नहीं भर पाती है। फूले शरीर में कोई चेष्टा भी नहीं दीखती अतः समझा जाता है कि वह शव है।।३०-४।।

जारत्कारवका चौथा सवाल है 'यत्रायं पुरुषो म्रियते, किमेनं न जहाति? इति' जिसका जवाब है 'नाम'! अर्थात् तत्त्वज्ञ पुरुष के मरने पर भी उसे क्या नहीं छोड़ता? उत्तर है कि उसे नाम नहीं छोड़ता। 'शुक वामदेव आदि मुक्त हो चुके' यों उनके नामों से हम उन्हें आज भी याद करते ही हैं। इस प्रश्नोत्तर का संग्रह करते हैं **तत्त्ववेत्ता के प्राण ही विलीन होते हैं या कामनादि सारे ही वे पदार्थ जिनके प्रभाव से जीवन चल रहा है? यदि सिर्फ़ प्राण विलीन हों तो प्राणों की पुनः उत्पत्ति हो जायेगी और यदि सब लीन होते हैं तो मुक्तों के शुकादि वे प्रसिद्ध नाम कैसे रह जाते हैं?।।३५।।** जीवन केवल प्राण पर ही निर्भर नहीं, अविद्या, काम, कर्म आदि अनेक वस्तुएँ हैं जो इसे सम्भव करती हैं कि जीवन चलता रहे। अतः यदि बाकी वस्तुएँ बची रहीं, केवल प्राण लीन हुए तो बाकी के प्रभाव से दुबारा प्राण संभव हो जायेंगे अतः जीवन चलता रहेगा, बंधन कायम रहेगा। यदि कहें कि सभी निमित्त लीन होते हैं तो 'सब' में नाम भी आ जायेगा। श्रुति ने अन्यत्र (प्रश्न. ६.४) सोलह वस्तुएँ गिनायी हैं जिन्हें देहारम्भक (मुं. ३.२.७ भाष्य) माना गया है१) प्राण, २) श्रद्धा, ३. ३-७) महाभूत, ८)इंद्रियाँ, ९) मन, १०) अन्न, ११) वीर्य, १२) तप, १३) मन्त्र १४) कर्म, १५) लोक, १६)

अप्रयोजकनामैव शिष्यते न प्रयोजकम् ।
अविद्याकामकर्मादि नोक्तदोषद्वयं ततः ।।३६ ।।
परवाचाभिनिष्पत्तेर्विदुषो बन्धनं प्रति ।
नामाप्रयोजकं युक्तस्तच्छेषः परदेहवत् ।।३७ ।।

नाम। अतः नाम भी देह के प्रयोजकों में है, अगर नाम रह गया तो देह को फिर प्रयुक्त कर लेगा। अगर न रहा, तो हम शुकादिका स्मरण कैसे कर पाते हैं?यह प्रश्न का भाव है।।३५।।

याज्ञवल्क्य ने समझाया कि सारे प्रयोजक लीन होते हैं किंतु प्रयोजक न होने से नाम न लीन हो तो हर्ज़ नहीं **(प्राणादिकी उत्पत्ति में अथवा बन्धन में या जीवभाव में) जो प्रयोजक (प्रभावी, कारण) नहीं वह नाम ही बचता है, अविद्या, कामना, कर्म आदि कोई प्रयोजक वस्तु नहीं बचती, अतः प्रश्नान्तर्गत संभावित दोनों दोष नहीं हैं।।३६ ।। क्योंकि दूसरों की वाणी से सम्पन्न होता है इसलिये नाम विद्वान् के बंधन का हेतु नहीं। अतः उसका बचा रहना वैसे ही संगत है जैसे दूसरों के शरीर!।।३७ ।।** जिनके प्रभाव से जीवभाव होता व रहता है वे प्रयोजक हैं, उनकी समाप्ति आवश्यक भी है, होती भी है। नाम यद्यपि उपाधि है तथापि उसका प्रभाव यह नहीं कि जीवभाव रहे, जीवन रहे, बंधन रहे। बालक पैदा होता है तब उसका नाम नहीं वरन् ग्यारहवें दिन रखते हैं। मरने पर भी श्राद्धादि में नाम बोलते हैं पर वह जीवित नहीं हो उठता! अतः नाम के बिना जीवन और जीवन के बिना नामयों अनुभवसिद्ध होने से नाम अवश्य जीवभाव का, जीवन का, देहारंभ का प्रयोजक अर्थात् प्रभावी हेतु नहीं, यह निश्चित है। अतः वह बचा रहे तो जीवभाव फिर हो जायेगा, यह कथन असंभव है। अविद्यादि तो रहने पर अवश्य जीवभाव प्रकट रहेगा अतः उनका बचा रहना अनिष्ट है। इसी दृष्टि से मुण्डक में पंद्रह कलाओं के विलय का प्रसंग कुछ आचार्यो ने उपपादित किया है। आत्मपुराण अध्याय १६ श्लो. २३३-६ द्रष्टव्य है। नाम क्यों बंधन का हेतु नहीं? इसे स्पष्ट करते हुए यज्ञावल्क्य ने बताया कि वह दूसरों की वाणी से संपन्न है। नाम का उपयोग व्यवहार है जिसके लिये दूसरे ही हमारा नाम रखते हैं। हमें स्वयं के लिये अपना कोई नाम नहीं चाहिये, गूंगे-बहरे भी स्वयं का व्यवहार कर ही लेते हैं, नाम की ज़रूरत नहीं पड़ती! अतः नाम हमारे बन्धन का प्रयोजक नहीं। दूसरों का शरीर रह जाने से जैसे विद्वान् का बन्धन नहीं, वैसे उनके बनाये नाम आदि रह जाने से भी उसका बंधन नहीं। तात्पर्य है कि स्वदृष्ट्या सब कुछ बाधित होने पर भी अज्ञदृष्ट्या व्यावहारिक

मुक्तावप्यवशिष्टत्वान्नाम्नोनन्तत्वसाम्यतः ।
विश्वान् संपादयन् देवाननन्तं लोकमश्नुते ।।३८ ।।
ग्रहातिग्रहबन्धाख्यमृत्योर्यत् स्यात् प्रयोजकम् ।
कालकर्मेश्वरादीनां मध्ये तत् किमितीर्यते ।।३६ ।।

प्रपंच रह ही जाता है, महाभूत, मंत्र, लोक आदि रहते ही हैं अतः नाम का रहना मुक्त का कोई अनिष्ट नहीं करता। इस दृष्टि से नाम का ही कथन क्यों? क्योंकि प्रायः लोक में नाम-नामी का तादात्म्य अनुभव किया जाता है जबकि महाभूत, मंत्र आदि का जीव से तादात्म्य नहीं अनुभव किया जाता इसलिये उनके बचने से जीवभाव की प्रसक्ति की शंका नहीं होती जबकि नाम बचने पर शंका हो जाती है। अतः नाम का बचना कहा, अन्य वस्तुओं का ज़िक्र नहीं किया।।३६-७।।

तत्त्वज्ञान की प्रशंसा में याज्ञवल्क्य ने कहा, नाम और विश्वे देव अनन्त हैं अतः विश्वे देवों को आत्मा समझने से अनन्त लोक जीता जाता है। इस वाक्य का उल्लेख करते हैं **मोक्ष में भी बचा रहने से नाम में सिद्ध अनन्तता की समानता से सब देवों का आत्मरूप से ध्यान करते हुए अनंत लोक पाता है।।३८।।** 'मैं ब्रह्म हूँ' इस दर्शन से सभी देवों को आत्मरूप समझ चुका विद्वान् अनन्त परमात्मरूप लोक में प्रतिष्ठित होता है इस स्थित बात का ही अनुवाद श्रुति ने ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये किया है। अथवा, महान् की दृष्टि अल्प में करना अर्थात् जिस उपासना में आरोप्य प्रधान हो वह सम्पत् कही जाती है। तदनुसार विद्वान् के नाम में सब देवताओं की दृष्टि करने का फल बताकर विद्वत्प्रशंसा द्वारा विद्या की स्तुति है। नाम अनन्त, देवता भी अनन्त अतः अनन्तता की समानता स्पष्ट है। विद्वान् के विद्याप्रभाव से ही उसका नाम इतना प्रभावी है कि उसमें सर्वदेवदृष्टि करने से अनन्त लोक उपलब्ध होता है। अत एव वंशब्राह्मण आदि के भाष्य में बताया कि आचार्यों का नाम-स्मरण पवित्रता का हेतु है। इस प्रकार आर्तभाग के चौथे प्रश्न का उत्तर पूरा हुआ।।३८।।

अगला प्रश्न उठा कि मर जाने पर अध्यात्म उपाधियाँ तो अधिदैवभाव पा जाती हैं पर वह जीव कहाँ रहता है 'क्वाऽयं तदा पुरुषो भवतीति?' इसका जवाब एकान्त में विचारकर याज्ञवल्क्य और आर्तभाग ने निर्णीत किया कि कर्म है। मरने पर जीव कर्म में रहता है, पुण्य-पाप कर्म के अनुसार आगे फल पाता है। इस प्रश्नोत्तर का वर्णन करते हैं **अब बताया जायेगा कि काल, कर्म, ईश्वर आदि में से कौन है जो ग्रह-अतिग्रह नामक मृत्यु का हेतु है।।३६।।** इन्द्रिय-

अविद्वद्विषयः प्रश्नो विदुषो बन्धसंक्षयात्।
आतत्त्वबोधमज्ञानी बध्यतेऽनन्तजन्मभिः।।४०।।
अनुगृह्णन्ति वागादीन् स्वांशैरग्न्यादिदेवताः।
भोगक्षये मृतौ स्वांशान्संहरन्ति यथायथम्।।४१।।

विषय मृत्यु हैं किंतु इनका प्रयोजक अर्थात् हेतु क्या है, क्यों ये मृत्यु बन पाते हैं? पड़ा हुआ विषय तो किसी का मृत्यु बनता नहीं। इंद्रियाँ भी चाहे-जिसकी मृत्यु नहीं बनती रहती। वह कौन तत्त्व है जो इसका नियामक बनता है कि ग्रह-अतिग्रह प्राणी की मृत्यु बनें? ज्योतिर्विद् आदि काल को हेतु कहते हैं कि वह नियामक बनता है, काल, आने पर ही ग्रहादि मृत्यु बनते हैं। 'समय बड़ा बलवान है' आदि लोक में भी प्रसिद्ध है। अन्य मानते हैं कि भगवान् की मर्ज़ी इसमें नियामक है, भगवान् जब जैसा चाहते हैं तब वैसा हो जाता है। अन्य लोग कर्म को नियामक मानते हैं। 'स्वभाव-यदृच्छा-काल, कर्म-दैव-विज्ञानमात्र-शून्यानि वादिभिः परिकल्पितानि' ऐसा भाष्यकार ने (बृ.३.२.१३) लिखा है। स्वभाव मानने वालों को वहाँ आनंदगिरिस्वामी ने मीमांसक कहा है। यदृच्छा (अर्थात् अव्यवस्थित संयोग, जिसके लिये अंग्रेज़ी का 'चान्स' शब्द अधिक प्रचलित है) मानने वाले लोकायत हैं। कालवादी ज्योतिषी हैं, कर्मवादी वहाँ कहा है 'वैदिकों' को। दैव को मानने वालों का नाम रखा 'देवताकाण्डीय' अर्थात् देवताओं के उपासक। विज्ञानवादी और शून्यवादी दोनों बौद्धों के भेद हैं। इस प्रकार मृत्यु के प्रयोजक के बारे में मतभेद प्रसिद्ध हैं।।३९।।

प्रसंग यद्यपि ब्रह्मवित् का चल रहा था तथापि मृत्यु की चर्चा आने पर अज्ञानी के बारे में यहाँ पूछ लिया गया है। पुनर्जन्म अज्ञानीका ही होना है अतः यहाँ जो प्रयोजक पूछा कि 'मरने पर यह जीव कहाँ होता है?' वह अज्ञानी के बारे में ही प्रश्न है। ज्ञानी तो 'कहीं' नहीं होता, ब्रह्ममात्र रह जाता है। इस तथ्य को व्यक्त करते हैं **क्योंकि विद्वान् का बंधन सर्वथा समाप्त हो चुकता है इसलिये यह प्रश्न अज्ञानी के बारे में है। तत्त्वसाक्षात्कार होने तक अज्ञानी अनन्त जन्मों से बँधा रहता है।।४०।। अग्नि आदि देवता अपने-अपने अंशों से अनुग्रह करते हैं। तब शरीरादि संघात समर्थ हुआ जीवित रहता है। प्रारब्ध-भोग समाप्त होने पर जब जीव की मृत्यु होती है तब वे अपने अंशों का स्वयं में यथायोग्य आकर्षण कर लेते हैं।।४१।। पुरुष जब फिर (नया) शरीर ग्रहण करता है तब देवता शरीर के स्थानों पर (गोलकों पर) अपने-अपने अंशों को फिर स्थापित कर देते हैं।**

पुंसो देहग्रहे भूयो देहस्थानेषु देवताः।
अंशं निदधति स्वं स्वं न देहग्रहणात्पुरा।।४२।।
अधिष्ठातृवियोगेन न्यस्तदात्रोपमैर्युतः।
वागादिभिरसौ किंस्वित् प्रयोजकमुपाश्रयेत्।।४३।।

शरीरधारण से पहले वे वैसा अनुग्रह नहीं करते।।४२।। (इस परिस्थिति में प्रश्न उठता है कि) अधिष्ठाता देवों के अनुग्रह से रहित हुई वाक् आदि इन्द्रियाँ वैसी ही हो जाती हैं जैसे हाथ से छोड़ी, ज़मीन पर पड़ी दराँति; ऐसी इन्द्रियों से युक्त वह जीव किस प्रयोजक के सहारे रहता है?।।४३।। आर्तभाग का यह पाँचवा सवाल तत्त्वज्ञ के बारे में नहीं वरन् अज्ञानी के बारे में है। यद्यपि श्रुति में 'पुरुष' शब्द का ही पहले भी प्रयोग था, यहाँ भी है, तथापि मरने पर बचे रहने वाले के बारे में प्रश्न होने से स्पष्ट है कि यह ज्ञानी का प्रसंग नहीं है। ज्ञानी के रहने व फिर जन्म की संभावना ही नहीं कि कोई प्रयोजक हो। जिसका रहना और जन्म रहना संगत है उसी के बारे में पूछा जा रहा है कि उसको नियन्त्रण करने वाला कौन तत्त्व है? अज्ञ मरता है तो यद्यपि इन्द्रियाँ उसके साथ रहती हैं तथापि कार्यकारी नहीं रहती क्योंकि उन पर देवताओं का अनुग्रह रुक जाता है और तब तक रुका रहता है जब तक नूतन शरीर न मिल जाये। शरीर में भी जहाँ जिस इंद्रिय का प्रयोग होना है उसी पर पुनः अनुग्रह कर उसे कार्यकारी बनाया जाता है, जिसका प्रयोग योनि के अनुसार या प्रारब्ध के अनुसार नहीं होना, उस पर अनुग्रह भी नहीं होता, वह कार्यकारी बन नहीं पाती। अनुग्रह में निमित्त हमारा पुण्यादि ही है। अधिष्ठाता देवता अपनी सामर्थ्य का ही मानो थोड़ा-सा अंश जब इंद्रियों को देते हैं तब वे सचेष्ट होती हैं, अन्यथा निश्चेष्ट रहती हैं। जीव के मरने पर देवता उन अंशों को पुनः स्वयं में निहित कर लेते हैं, फिर जब ज़रूरत होती है तब पुनः सामर्थ्य प्रदान कर देते हैं। नये शरीर में आवश्यक नहीं कि सभी इंद्रियाँ चाहिये हों, पेड़ आदि बनने पर चलने आदि की इन्द्रियाँ नहीं चाहिये तो उन पर देवता अनुग्रह भी नहीं करते। ऐसे ही किसी का देखने आदि का पुण्य फलीभूत नहीं होना है तो वह जन्म से ही अंधा आदि पैदा होगा, देवता उस पर अनुग्रह नहीं करेंगे। जीवित काल में इन्द्रियादि के सहारे हम रह जाते हैं पर मरने पर वे इन्द्रियादि मौजूद रहने पर भी सहारा नहीं बन पाती क्योंकि उनमें समार्थ्य नहीं बचती, देवता उस सामर्थ्य को समेट चुकते हैं। इस हालत वाली इन्द्रियों के लिये दृष्टांत दिया दराँति का; हाथ में पकड़ी दराँति तो घास आदि काटने में सक्षम है लेकिन हाथ से छूटकर ज़मीन पर पड़ी दराँति घास आदि

किं कारणात्मतामेति किंवा केनचिदात्मना[1]।
अवतिष्ठत एवायं किं वा कर्मैव संश्रितः।।४४।।
गुणान्वा यदि वेशानं कालं वा दैवमेव वा।
यदृच्छां संततिं शून्यं विनाशं वेति भण्यताम्।।४५।।

नहीं काट सकती। ऐसे ही देवानुग्रह-रहित इंद्रियाँ कार्यकारी न होने से सहारा नहीं अतः आर्तभाग ने पूछा कि उस हालत में जीव किस सहारे से रहता है।।४०-३।।

सम्भावित विभिन्न आश्रय दिखाते हैं **(स्थूल देह त्यागने पर) क्या कारणरूपता प्राप्त करता है? या क्या वह किसी (अनिर्देश्य) रूप से रहता है (या अपने चैतन्यमात्र रूप से रहता है)? या वह क्या कर्म का ही सहारा लिये रहता है? अथवा क्या वह गुण, ईश्वर, काल, देव, यदृच्छा, विज्ञानधारा या शून्य में आश्रित होता है? या वह नष्ट ही हो जाता है? इनमें से, या जो आपको स्वीकार हो वह आश्रयभूत प्रयोजक बताइये।।४४-५।।** मृत जीव क्या कारण अर्थात् माया-विशिष्ट में लीन होता है? यद्यपि जीव कार्य न होने से उसकी कारणरूपता-प्राप्ति बनती नहीं तथापि भागवत आदि मत वाले जीव को कार्य मानते हैं, तदनुसार यह एक संभावना कही। दूसरा विकल्प है कि वह रहता अवश्य है पर जिस रूप में रहता है उसे कह नहीं सकते। 'केनचिदात्मना' वार्तिक-वार्तिकसार संमत पाठ है। वार्तिकटीका में (३.२.१३१) आनंदगिरिस्वामी ने लिखा है'त्यक्ते स्थूले देहे प्रतिबन्धकाऽभावाद् असाधारणेन स्वेन रूपेणैव स तिष्ठतिइत्येके; 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीराद्' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः।' इसी के अनुरोध से मुत्तुशास्त्री ने 'केनचित्' की जगह 'स्वेन चिदात्मना' पाठ माना होगा। यद्यपि यह विकल्प ठीक है तथापि प्रश्नानुरूप नहीं है क्योंकि प्रश्न है उस प्रयोजक का जिसके सहारे जीव बना रहता है और 'अपना निजी चैतन्यरूप' या 'अनिर्देश्य स्वरूप' तो सदा एक-सा है, स्वाभाविक है, सहारा-रूप नहीं है। तीसरा पक्ष है कि कर्म के सहारे रहता है। यही अंत में निर्णय भी होगा। गुण अर्थात् प्रकृति के सत्त्वादि तीन आयाम, उनमें किसी के सहारे रहता हैयह सांख्यादि-संमत पक्ष है। ईश्वर के सहारे रहता हैयह नैयायिकों की मान्यता कही। 'कारणात्मता' से मायाविशिष्ट कहा था जो वेदान्तसम्मत ईश्वर की बात थी, यहाँ तार्किक-संमत ईश्वर की बात है। जीव मरने पर ईश्वर पर आश्रित रहता है अर्थात् उन्हीं के संकल्पादि के अनुसार उसकी सदसद् गतियाँ होती हैं।

---

१. केनचिद्वक्तुमशक्येन आत्मनाऽऽत्मरूपेणेत्यर्थः। सारटीकानुरोधेन 'स्वेन चिदात्मना' इति मुत्तुशास्त्री पिपठिषति।

प्रश्नेन तुष्टः सन्त्यज्य विजिगीषां सहामुना।
निर्गतौ विजिगीषुभ्यो मिथो निर्णयमूचतुः।।४६।।

ज्योतिर्विद् जीव को काल पर आश्रित मानते हैं। इनसे भिन्न दैव-वादी हैं अर्थात् ईश्वर के बजाय विभिन्न देवताओं के वह सहारे रहता है ऐसा मानते हैं। जिसने जिस देवता की उपासना की है वह देवता उस जीव का आश्रय बन जाता हैयह उनका कथन है। लोकायत मत है कि यदृच्छा अर्थात् अव्यवस्था, संयोग ही जीव का आश्रय रहता है। बौद्धों में एक मत है क्षणिक विज्ञान का, दूसरा शून्यवाद का। जीव जीवनकाल में भी क्षणिक ज्ञानों की धारारूप है लेकिन और भी धाराओं सहित है। मरने पर अन्य धाराओं से रहित हुआ वह केवल उसी धारा (सन्तति) में आश्रित रहता है जो पुनः अन्य शरीरादि के साथ जुड़ी प्रतीत होगी। शून्यवादी मानता है कि प्रतीति रहते ही जीव है, मरने पर प्रतीति नहीं तो जीव को 'है' कहना नहीं बनने से उसे शून्याश्रित कहना ठीक है। अंतिम पक्ष है कि वह विनाशाश्रित रहता है अर्थात् नष्ट हो जाता है, रहता ही नहीं। शून्य-पक्ष में पुनः प्रतीति पर पुनः जन्म संभव है, विनाश-पक्ष में पुनर्जन्म संभव नहीं। शून्यपक्ष में 'है' नहीं कह सकते जबकि विनाश-पक्ष में 'नहीं है' कहते हैं। यों दोनों में भेद है। आर्तभाग के प्रश्न का ही यह विस्तार कहा।।४४-४५।।

यों पूछे जाने पर क्या हुआ, यह बताते हैं **इस प्रश्न से सन्तुष्ट याज्ञवल्क्य ने आर्तभाग को जीतने की इच्छा छोड़ दी। दोनों सभा से बाहर गये और आपस में विचारपूर्वक जो निर्णय किया वह उन सबको सुना दिया जो जीतने के इच्छुक थे।।४६।।** विद्वान् को सूक्ष्म प्रश्न से प्रसन्नता होती है। नासमझ को यदि जवाब के लिये विचारादि करना पडे तो झंझट महसूस करता है लेकिन जानकार विचार से खुशी अनुभव करता है। क्योंकि आर्तभाग का यह प्रश्न अति सूक्ष्म है अतः याज्ञवल्क्य प्रसन्न हुए। किंतु क्योंकि सभा में ऋषि जीत हासिल करने को उत्सुक थे इसलिये सूक्ष्म तत्त्व का निर्णय करने के लिये उचित माहौल ने होने से उन्होंने आर्तभाग को एकान्त में ले जाकर सभी पक्षों का परीक्षण करना उचित समझा। केवल जीतने के लिये तो याज्ञवल्क्य सभा में भी जवाब दे सकते थे लेकिन प्रश्न की सूक्ष्मता से प्रसन्न होकर वे, आर्तभाग को समझाना चाहते थे, केवल उसे परास्त नहीं करना चाहते थे। सभा में ऐसे समझाते तो सभी के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता और प्रसंग अत्यन्त विस्तृत हो जाता। किं च वहाँ उपस्थित सब लोग इस योग्य भी नहीं थे कि सब पक्षों के गुण-दोष समझते-बूझते। अतः एकांत में विचार ही योग्य था। ईश्वर आदि विकल्पों के निषेध से

संसारभूमिवर्तित्वान्नैवायं कारणाश्रयः।
कर्मादिपरतन्त्रत्वात् स्वाश्रयोऽयं न चेष्यते।।४७।।
जडत्वाद् गुणकालादिर्न जीवं नेतुमर्हति।
हठो यदृच्छा शून्यं तु मानहीनं तथेतरत्।।४८।।
देवेश्वरौ स्वतन्त्रौ चेद्विधिशास्त्रमनर्थकम्।
अतोऽसाधारणो जन्महेतुः कर्मैव शिष्यते।।४९।।
सति कर्मणि वैचित्र्यं देहानामुपपद्यते।
देवेशानुगृहीतत्वाज्जाड्यदोषो न कर्मणः।।५०।।

कम समझदार व्यक्ति को भ्रम हो सकता था कि ईश्वर और उसकी सर्वाश्रयता का ही निषेध है। ऐसे ही अन्य पक्षों के बारे में ग़लतफ़हमी संभव थी। सबका महत्त्व है, प्रधानता का भेद है। बृ.१.४.१० के भाष्य में कहा है 'कर्म-काल-दैव-द्रव्यादिस्वभावानां गुणप्रधानभावस्तु अनियतो दुर्विज्ञेयश्चेति तत्कृतो मोहो लोकस्य।...तत्र कर्मणः प्राधान्यम् अङ्गीकृत्य वेदस्मृतिवादाः 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इत्यादयः। यद्यप्येषां स्वविषये कस्यचिद् प्राधान्योद्भव इतरेषां तत्कालीनप्राधान्यशक्तिस्तम्भः, तथापि न कर्मणः फलप्राप्तिं प्रति अनैकान्तिकत्वम्।' (पृ. ९८ म. अ. सं.) जिज्ञासु इस ढंग से समझ सकता है, जल्प में प्रवृत्त तो निश्चित निर्धारण का आग्रह रखेगा। अतः सभा में यह प्रसंग विचारणीय नहीं माना गया।।४६।।

याज्ञवल्क्य और आर्तभाग ने क्या चिन्तन किया, यह दिखाते हैं **संसार की भूमिका में (कार्यावस्था में) वर्त्तमान होने से मृत जीव कारण में आश्रित नहीं ही है और कर्म आदि के पराधीन होने से इसे स्व में (स्वयंमात्र में) आश्रित नहीं स्वीकार सकते।।४७।। गुण, काल आदि जड होने से जीव को जन्मान्तर-लोकान्तर में ले जाने में समर्थ नहीं हैं। यदृच्छा को तत्त्व या आश्रय कहना केवल हठ है। शून्य तो अप्रामाणिक है, ऐसे ही विज्ञानसन्तति और जीवका विनाश भी मानने में कोई प्रमाण नहीं है।।४८।। दैव और ईश्वर यदि सर्वथा स्वतन्त्र हो तो विधि-शास्त्र प्रयोजनहीन होगा। अतः जन्म का असाधारण (विशेष) कारण कर्म ही बचता है।।४९।। कर्म रहने से शरीरों की विचित्रता संगत है। देवेश्वर का अनुग्रह प्राप्त किया कर्म क्योंकि फलहेतु बनता है इसलिये कर्म की जडता कोई दोष नहीं है।।५०।।** मृत जीव मुक्त न होने से कार्यावस्था में ही है, संसरण के प्रवाह में ही है, इसलिये उसे कारणभावापन्न कहना नहीं

बनता। कारणभाव में व्यक्त भेद अर्थात् कार्यावस्था नहीं रह सकती। किं च, जीव को उत्पत्तिशील मानना असंगत है क्योंकि तब अकृत-अभ्यागम का प्रसंग होगा। उत्पत्ति से पूर्व तो जीव का कोई कर्म था नहीं अतः पैदा होने पर उसे जो सुख-दुःख होंगे उनका निमित्त कुछ नहीं कहा जा सकेगा। इसलिये जीव कार्य नहीं तो वह कारणभााव पा भी नहीं सकता। द्वितीय विकल्प था कि वह अपने ही रूप से रहता है, स्वंय का जो चेतन स्वरूप उसी से रहता है। लेकिन वैसा हो तो उसकी कर्मादि-पराधीनता असंगत है। अर्थात् यदि वह चिन्मात्र रह गया था तो पुनः जन्म, वह भी दुःखबहुल जन्म, नरकादि में जन्म लिया क्यों? यदि स्वतंत्र था तो पुण्य-फल अंगीकार कर भी लेता, पापफल भोगने को क्यों पैदा हुआ? अतः कर्मादि के पराधीन ही उसकी स्थिति माननी पड़ेगी जिससे उसे चिन्मात्ररूप नहीं कह सकते। गुण आदि विकल्पों को आश्रय मानने में सामान्य दोष है जडता का : आश्रय ही जीव को जन्मान्तर दिलायेगा और जड वस्तु चेतन को नियंत्रित कर सके यह संभव नहीं। यदृच्छा या अव्यवस्था को आश्रय मानना एक हठ या ज़िद ही है। संसार में कहीं यदृच्छा अंगीकार कर कार्यकारणभाव की व्याख्या नहीं होती तो जन्म के प्रति ही उसे कारण या व्यवस्थापक हेतु मानना केवल हठ होगा, युक्ति प्रमाण से संमत नहीं होगा। शून्य आदि पक्ष प्रमाण-विरुद्ध ही है। बौद्धों ने अपने ढंग से क्षणिक विज्ञान एवं शून्य उपपन्न किये हैं लेकिन भाष्यकार, उदयनाचार्य आदि ने उनके तर्कों को खोखला सिद्ध कर दिया है अतः ये पक्ष प्रमाणरहित हैं। जीवविनाश मानने पर कृतप्रणाश दोष होगा अर्थात् जीव के किये कर्मों का फल हो नहीं पायेगा क्योंकि फलभोक्ता नहीं रह जायेगा। किं च जीवनाश में प्रमाण भी नहीं होगा क्योंकि जीव ही प्रमाता है, वही न रहे तो प्रमाता के बिना प्रमाण किसे प्रमा कराये! उपासित देवता को आश्रय मानें या ईश्वर (नैयायिक-संमत निमित्त कारण) को आश्रय मानें तो प्रश्न होता है कि क्या वे स्वतंत्र रहकर आश्रय बनते हैं या कर्माधीन? स्वतंत्र हों तो जीव का कर्म करना व्यर्थ है अतः कर्मविधायक शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा। अतः उन्हें भी कर्म पर निर्भर मानना पड़ेगा तो कर्म को ही वह विशेष तत्त्व स्वीकारना चाहिये जो मरे जीव का आश्रय बनता है। ईश्वर, काल आदि को साधारण, सामान्य कारण माना ही जाता है, असाधारण कारण कर्म मानना उचित है। जड होने पर भी क्योंकि परमेश्वर से अधिष्ठित होता है इसलिये कर्म आश्रय बनने में समर्थ है। अतः जीव का कर्मानुष्ठान भी सार्थक, परमेश्वर का प्रशासन भी सार्थक और फलविविधता भी संगत हो जाते हैं। कर्मों के भेद से जीव को विभिन्न प्रकार के जन्मादि फल मिलते रहते हैं। मीमांसक कर्म को स्वतंत्र मानते

भुज्युप्रश्नः

तृतीयब्राह्मणे पुण्यफलावधिरुदीर्यते।
अश्वमेधः परं पुण्यं ब्रह्मलोकःफलावधिः।।५१।।
प्रत्यक्षःस्थावरत्वाख्यः स्पष्टः पापफलावधिः।
विज्ञायते द्वयज्ञानाद् इयत्ता हेयसंसृतेः।।५२।।

हैं अतः जड होना दोष दिखाया जाता है कि जड कर्म चेतन जीव को कैसे नियमित कर सकता है। लेकिन वेदान्त सिद्धान्त में देवेश्वर के अनुग्रह से युक्त कर्म को फलदायी मानने से उक्त दोष संभव नहीं। इसी दृष्टि से कर्म को ईश्वरेच्छारूप कहा जाता है अर्थात् जीव के किये को जानने वाला ईश्वर किये के अनुरूप जो इच्छा करता है कि 'इसे यह मिले' वही पुण्यापुण्य रूप कर्म या अदृष्ट है। ईश्वर का अनुग्रह अर्थात् ईश्वर उन कर्मों से तादात्म्य करता है, उनका अध्यक्ष बनता है जिससे वे कर्म वैसे ही जड नहीं रहते जैसे अंतःकरण चेतन के आभास से युक्त हो जाने पर निरा जड नहीं रहता। जब ईश्वरानुग्रह-युक्त कर्मों से जन्म मिलता है तब देवता भी यथायोग्य अनुग्रह प्रदान कर इंद्रिय-प्राण आदि को सक्षम बना देते हैं ताकि जीव करने-भोगने में समर्थ हो सके। उपलब्ध होने वाले नये शरीर आदि भोगों की अच्छाई-बुराई जीव के अपने पुण्य-पाप पर निर्भर है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य-आर्तभाग का निर्णय यही रहा कि मरने पर जीव का आश्रय कर्म ही रहते हैं। यहाँ तक द्वितीय ब्राह्मण के विचार संगृहीत हुए।।४७-५०।।

आगे श्लो ७० तक भुज्यु लाह्यायनि के सवाल का जवाब समझाया जायेगा। उसने सुनाया कि पातंचल काप्य की कन्या किसी गन्धर्व से गृहीत थी जिस गंधर्व ने अपना नाम सुधन्वा आंगिरस बताया। उससे भुज्यु ने लोकों का अन्त (सीमा) पूछते हुए कहा 'पारिक्षित कहाँ हुए?' यही प्रश्न उसने याज्ञवल्क्य से पूछा। उन्होंने जवाब दिया कि अश्वमेधयाजी जहाँ जाते हैं वहीं पारिक्षित हुए। भुज्यु ने फिर पूछाअश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? तब याज्ञवल्क्य ने भुवन-परिमाण समझाया और ब्रह्माण्ड से बाहर उनकी स्थिति बतायी। इससे भुज्यु सन्तुष्ट हो गया। यह प्रसंग प्रारम्भ करते हैं **बृहराण्यक के तृतीयाध्याय के तीसरे ब्राह्मण में पुण्य-फल की पराकाष्ठा (सीमा) कही गयी है। अश्वमेध सबसे बड़ा पुण्य है और उत्तम फल की सीमा है ब्रह्मलोक।।५१।। स्थावर-रूपता की प्राप्ति पाप के फल की सीमा है यह तो स्पष्ट है। इन दोनों को समझ लेने से त्यागने योग्य संसार की परिधि पता चल जाती है।।५२।।** इस अध्याय के प्रारंभ में आश्वल का प्रश्न कर्म-सम्बन्धी था, आर्तभाग के भी प्रश्न अधिकांश

अश्वमेधादि यत्पुण्यं महोपासनया युतम्।
तत्फलं संसृतिस्तस्य भुज्युना पृच्छ्योऽवधिः।।५३।।
ब्रह्मांडाद् बहिरन्तश्च समष्टिव्यष्टिरूपिणः।
व्याप्तिर्हिरण्यगर्भस्य संसारस्यावधिर्मतः।।५४।।

कर्मपक्षीय थे, अंतिम प्रश्न का उत्तर कर्म ही निर्धारित हुआ था, अतः तृतीय ब्राह्मण भी कर्म के प्रसंग में है। शास्त्रानुसार सबसे उत्तम पुण्य कर्म अश्वमेध और सबसे बड़ा, घोरतम पाप भ्रूणहत्या है। यहाँ इस अश्वमेध का फल ही पूछा गया है ताकि कर्म से अधिकाधिक क्या मिल सकता है यह समझ आ जाये क्योंकि उस तक से वैराग्य हो तभी परमेश्वर के ज्ञान का अधिकार मिलेगा। पुण्यफल की सीमा पूछी, पाप की नहीं क्योंकि पापफल हमें स्पष्ट ही प्रत्यक्ष है। जीव की सामर्थ्य घटने से दुःख बढ़ता है यह सर्वानुभव-सिद्ध है। मनुष्य पीठ खुजा सकता है, गाय नहीं खुजा सकती तो उसका दुःख हम से ज़्यादा है क्योंकि खाज आये और खुजा न पायें तो दुःख होता ही है। इसी तरह सभी सामर्थ्यों में समझना सहज है। अतः जिन योनियों में सामर्थ्य अत्यन्त कम है जैसे वृक्ष, लता, तृण आदि, उनके दुःख का क्या कहना! सामान्यतः उन्हें जड ही मान लेते हैं, कणाद का भी ऐसा मत है यह छान्दोग्यभाष्य (६.११.२) में बताया है। इस तरह स्थावर योनियाँ अतिशय कष्ट वाली प्रत्यक्ष हैं अतः इनके बारे में पूछना ज़रूरी नहीं है। 'द्वयज्ञानात्' अर्थात् शास्त्र से पुण्यावधि और प्रत्यक्ष से पापावधि, दोनों को जान लेने से त्याग-योग्य संसार की सीमा समझ आ जाती है अर्थात् संसार इतना ही हैयह पता चल जाता है।।५१-२।।

अब प्रश्नोत्तर का भाव बताते हैं **महान् उपासना सहित किये अश्वमेधादि जो पुण्य हैं उनका फल संसार ही है, उसकी सीमा भुज्यु ने पूछी है।।५३।। समष्टि और व्यष्टि रूप वाले हिरण्यगर्भ ने भीतर-बाहर से ब्रह्माण्ड व्याप्त कर रखा है, यह व्याप्ति संसार की सीमा मानी गयी है।।५४।।** 'महोपासना' अर्थात् बड़ी उपासनाऐसा सार की हिन्दी व्याख्या में कहा है। अश्वमेध न कर सकने वाला उसकी उपासना से भी उसका फल पा सकता है ऐसा बृहदारण्यक के प्रारंभ में कहा है, वह उपासना विस्तृत और महान् फल वाली है अतः उसे यहाँ महोपासना कहा यह भाव है। अथवा, महत् कहलाने वाले हिरण्यगर्भ की उपासना सहित किये कर्म को कहा है। इसमें विद्या-असम्भूति आदि ईशश्रुति (११, १४) प्रमाण है। सर्वथाऽपि कर्म-उपासना का फल है तो संसार ही जिसकी सीमा की जिज्ञासा है। याज्ञवल्क्य का उत्तर है कि हिरण्यगर्भभाव ही संसरण की सीमा है, सोपासनकर्म से सम्पादित सर्वाधिक पुण्य से मिलने वाला सबसे

आगमैकाधिगम्योऽयमर्थ इत्युपदर्शयन्।
गन्धर्वाख्यायिकामाह गंधर्वस्तद्गुरुस्ततः।।५५।।
लोकान्तानपि गन्धर्वादश्वमेधकृतां फलम्।
श्रुत्वा पारिक्षितोक्त्यात्र वादिनं तं व्यमोहयत्।।५६।।
अश्वमेधकृतो वक्ति भुज्युः पारिक्षिता इति।
परितः क्षितिमावेष्ट्य स्थिता इति विवक्षया।।५७।।

बड़ा फल हिरण्यगर्भ पद ही है। हिरण्यगर्भ समष्टि है ही, वही व्यष्टि है अर्थात् परिच्छिन्न सूक्ष्मोपाधियाँ भी उससे पृथक् न होने से वह व्यष्टि भी है। ब्रह्माण्ड अर्थात् स्थूल जगत् उसका कार्य है अतः वह स्वयं उससे व्यापक है, ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये है, घेरे है। वही क्योंकि सब व्यष्टियों के रूप में ब्रह्माण्ड के भीतर है इसलिये ब्रह्माण्ड को भीतर से भी उसी ने घेर रखा है। यों ब्रह्माण्ड को घेरना अर्थात् हिरण्यगर्भ बनना पुण्य की सीमा है। यद्यपि इससे पापसीमा स्पष्ट नहीं हुई तथापि सारे व्यष्टि इसी का रूप कह देने से स्थावरादि भी कह दिये गये अतः पापावधि भी बता ही दी इसलिये इसे संसार की अवधि कहना ठीक है। यद्यपि कैवल्यार्थी के लिये संसार हेय होने से कर्म की तरह उपासना भी अनुपयोगी कही जाती है तथापि अभ्युदयार्थी के लिये कर्म-उपासना ही समर्थ साधन हैं।।५३-४।।

भुज्यु ने घटना सुनाते हुए क्यों पूछा यह स्पष्ट करते हैं **यह अर्थ सिर्फ आगम से अधिगत हो सकता है यह दिखाते हुए भुज्यु ने गन्धर्व-सम्बन्धी आख्यान सुनाया। इससे यह भी पता चला कि इस विषय में भुज्युका गुरु वह गंधर्व था।।५५।। अश्वमेध करने वालों को प्राप्य 'लोकान्त' रूप फल गन्धर्व से सुनकर भुज्यु ने जनकसभा में यही फल पूछने के लिये) पारिक्षितों के कथन से याज्ञवल्क्य रूप वादी को (मानो) मोह में डाला।।५६।। भुज्यु अश्वमेधकारियों को पारिक्षित कह रहा है क्योंकि वह बताना चाहता है कि वे क्षिति (ब्रह्माण्ड) को हर तरफ से घेर कर रहते हैं।।५७।।** भुज्यु ने जो गंधर्व से इस ज्ञान की प्राप्ति का ज़िक्र किया वह इस ज्ञान की दुर्लभता व्यक्त करने के लिये । सुधन्वा आंगिरस नामक उस गंधर्व ने विद्या व उपासना से वैशिष्ट्य अर्जित किया था फिर भी कर्मविपाक के अनुसार गंधर्वरूप मध्यम योनि में था। भुज्यु ने उससे विद्या पायी अतः वह सूचित कर रहा है कि यह ज्ञान आगम अर्थात् परंपरा से ही उपलब्ध होता है अतः संभवतः याज्ञवल्क्य इससे वंचित रहा हो! इतना ही नहीं, भुज्यु ने सीधे शब्दों में प्रश्न नहीं रखा

[1]द्विर्याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य प्रश्नोक्तिस्त्रासजन्मने।
अत्र स्तौतीन्द्रियज्ञानं दर्शयन्निदमुक्तवान्।।५८।।

ताकि याज्ञवल्क्य चक्कर में पड़े कि क्या पूछा जा रहा है। भुज्यु के शब्द थे 'लोकानाम् अन्तान् अपृच्छाम। अथ एनम् अब्रूमक्व पारिक्षिता अभवन्?-इति।' अर्थात् 'लोकों के अन्तों के बारे में पूछा तब कहा था पारिक्षित कहाँ हुए?' लोकों के अन्त अर्थात् सीमा। यद्यपि भुज्यु को पता चल चुका था कि हिरण्यगर्भ ही लोकों का अंत है अतः 'अन्तम्' कहना पर्याप्त था तथापि याज्ञवल्क्य को चक्कर में डालने के लिये 'अन्तान्' यों बहुवचन का प्रयोग किया। ऐसे ही, सीधे ही अश्वमेध करने का फलयों न पूछकर 'पारिक्षित' इस अप्रसिद्धि-से शब्द का प्रयोग किया। (श्लोक ५६ में 'लोकान्तान्' सारसंमत पाठ ही श्रुत्यनुकूल भी है।) याज्ञवल्क्य इस सभा में 'वादी' थे अर्थात् निष्पक्ष भाव से तत्त्वनिर्णय के लिये यत्नशील थे यह आर्तभाग को एकान्त में ले जाकर विचार करने से स्पष्ट था फिर भी उन्हें मोह में डालने का भुज्यु का प्रयास उसकी अपरिपक्वता का द्योतक है। 'पारिक्षित' संज्ञा इस अर्थ में ऋग्वेद के ब्राह्मण में प्रयुक्त है। याज्ञवल्क्य तुरन्त इसे समझ गये जिससे पता चलता है कि वे यजुः ही नहीं ऋक् के भी ज्ञाता थे। पूर्व में अपने शिष्य को सामश्रवा कहकर स्वयं को साम का ज्ञाता सूचित कर ही चुके थे। अश्वमेध के सफल अनुष्ठाता को पारिक्षित कहते क्यों हैं यह विद्यारण्यस्वामी ने बताया कि क्षिति अर्थात् स्थूल जगत् को हर ओर से घेरने, व्याप्त करने वाले हिरण्यगर्भ भाव को पाते हैं इसलिये पारिक्षित कहे जाते हैं। वार्तिकटीका है 'परितःक्षीयते सर्वं ब्रह्महत्यादि येन स परिक्षिद् अश्वमेधः, तद्याजिनः पारिक्षिता इति' (३.३.१४०) ब्रह्महत्यादि पाप जिससे पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं वह अश्वमेध परिक्षित् होने से उसके अनुष्ठाता पारिक्षित कहे गये हैं। इस प्रकार प्रश्न स्वरूप व्यक्त हुआ।।५५-७।।

भुज्यु ने प्रश्न में 'क्व पारिक्षिता अभवन्' ये शब्द तीन बार रखे। यद्यपि 'लोकानामन्तानपृच्छाम' से प्रश्न बता ही दिया था तथापि क्व-आदि का बारम्बार कथन क्यों? पहला कथन तो गंधर्व के प्रति थायह भुज्यु ने बताया लेकिन फिर दो बार क्यों कहा? इसका भाव समझाते हैं **याज्ञवल्क्य को सम्बोधित कर दो बार कहना उन्हें डराने के लिये था! लेकिन वे डरे नहीं, अपने अतीन्द्रिय ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने कहा।।५८।।** दो बार पूछने पर सुनने वाला या हड़बड़ाता है या सोचने

१. त्रिरिति कपालुः पठति, श्रुतावेवं दर्शनात् परन्तत्र प्रथमो गन्धर्वं प्रति पृष्ट इति याज्ञवल्क्यम् उद्दिश्य द्विवारमेव प्रश्नः। संस्कृतटीकोपेते संस्करणे द्विरित्येव पाठः।।

गन्धर्वेण गतिः प्रोक्ता अश्वमेधकृतामिति।
भूयः पृष्टः स्वयं वक्तुं प्राह लोकस्य विस्तृतिम्।।५९।।
आदित्यरथगत्याध्वामितो यावानहर्निशम्।
द्वात्रिंशद्गुणितस्तावान् व्याप्तो भानुगभस्तिभिः।।६०।।
इयानेव प्राणिभोगसिद्धये लोक इष्यते।
इतः परस्ताद् द्विगुणा पृथिव्यालोकवर्जिता।।६१।।
अन्तरालोकयुक्तः सन् बहिरालोकवर्जितः।
लोकालोकगिरिर्मध्ये पृथिव्योरनयोः स्थितः।।६२।।
समुद्रो द्विगुणो भूमेर्घनोदाख्यो बहिः स्थितः।
अण्डाद्बहिर्घनोदोऽयमिति पौराणिका जगुः।।६३।।

लगता है कि दोनों प्रश्नों में अन्तर क्या है इत्यादि; अतः भुज्यु ने ऐसा किया था। लेकिन याज्ञवल्क्य स्वयं अतीन्द्रिय ज्ञान के धनी थे अतः घबराने की संभावना नहीं थी, उन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय देते हुए तुरंत जवाब दिया। भाष्यटीका में तीन बार कथन के बारे में व्यवस्था यह दी हैपहला कथन गंधर्व के प्रति है; दूसरी बार कहने का मतलब है कि उसने हमें बता दिया था कि पारिक्षित कहाँ हुए; तीसरी बार का कथन याज्ञवल्क्य के प्रति है। इस योजना में त्रासोत्पादन के प्रयास का भाव नहीं है। यही वार्तिक में (३.३.१४१-२) कहा है। वार्तिकसार में और यहाँ विद्यारण्यस्वामी ने डराने की कोशिश मानी है जो प्रसंगानुसार ठीक ही है।।५८।।

याज्ञवल्क्य का उत्तर स्पष्ट करते हैं **(याज्ञवल्क्य ने कहा) गन्धर्व ने (पारिक्षितों की वह) गति बतायी जो अश्वमेध करने वालों को मिलती है। पुनः पूछने पर लोक के विस्तार को बताने के लिये उन्होंने स्वयं कहा।।५९।। सूर्य के रथ के दिन-रात चलने से जितना रास्ता नापा जाता है उससे बत्तीस गुणा क्षेत्र सूर्य की किरणों से घिरा है।।६०।। प्राणियों के भोग की सिद्धि के लिये इतना ही लोक स्वीकारा गया है। इससे परे दो गुणा पृथ्वी (=लोक) है जो सूर्यलोक से रहित है। इन सालोक-निरालोक पृथ्वियों के मध्य लोकालोक पर्वत स्थित है जिसके भीतर प्रकाश है, बाहर प्रकाश नहीं है।।६१-२।। भूमि से (लोक से) दो गुणा घनोद नामक समुद्र है जो भूमि से बाहर (किन्तु ब्रह्माण्ड के अंदर) स्थित है। पौराणिक समझते हैं कि यह घनोद ब्रह्माण्ड से भी बाहर है।।६३।। पुराण-कथन का श्रुति से बाध हो सकता है। या मानना चाहिये कि श्रुति का**

पुराणं बाध्यते श्रुत्या ध्यानार्था वा श्रुतिर्मता।
सर्वथाऽप्यण्डरूपोऽयं वैराजो देह इष्यताम्।।६४।।
योंऽडाद्बहिः स्थितो वायुः सूत्रात्मेति श्रुतीरितः।
एषोऽश्वमेधकृत्पुण्यपरिपाको न चापरः।।६५।।

वर्णन ध्यान के लिये है (वस्तुस्थिति बताने के लिये नहीं)। हर हालत में यह ब्रह्माण्डरूप ही विराट् का शरीर है।।६४।। याज्ञवल्क्य को शास्त्र उपस्थित था, मेधा थी, प्रतिभा थी, अतः अविलम्ब उत्तर दे दिया कि पारिक्षित कहाँ थेइसका गंधर्व ने यही जवाब दिया था कि जहाँ अश्वमेध करने वाले होते हैं वहीं पारिक्षित थे। अर्थात् पारिक्षित नाम से याज्ञवल्क्य को कोई चमत्कार नहीं हुआ, जाना-पहचाना शब्द था। भुज्यु ने फिर पूछा 'क्व चाश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति?' कि यह तो ठीक है कि पारिक्षितों की गति आपने बतायी लेकिन सीधे-सीधे उनका स्थान न बताकर उसका परिचय दिया कि जहाँ अश्वमेधयाजी जाते हैं; अतः बताइये कि अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं? उस स्थान अर्थात् हिरण्यगर्भरूप का वर्णन करने के लिये याज्ञवल्क्य ने भुवनविज्ञान सुनाना शुरू किया। सूर्य-प्रभा जहाँ तक है उतना क्षेत्र प्राणियों के उपभोगार्थ है, वहीं तक जीव अपने कर्मों के फल भोग सकते हैं। लेकिन इससे परे भी भूमि अर्थात् लोक तो है ही। इन दोनों हिस्सों की संधि में लोकालोक पर्वत की स्थिति है। दोनों भूमियों से दो गुणा घनोद नामक समुद्र है। घनोद-नाम से सूचित किया कि घन अर्थात् बादल वहाँ उद अर्थात् जल की जगह हैं। इस घनोद को भी ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत मानना श्रुतिसंमत है किंतु पुराण में इसे ब्रह्माण्ड से बाहर कहा है। यद्यपि श्रुति से पुराण की बात कट जाती है तथापि क्योंकि भुवन-परिमाण बताना वेद का तात्पर्य नहीं जबकि पुराण के प्रसंग तात्पर्यतः उसका वर्णन करते हैं इसलिये पुराण की बात यथावत् स्वीकार की जा सकती है और तब वेद का अभिप्राय इतना ही है कि वह घनोद ब्रह्माण्ड के अंदर है ऐसा ध्यान करना चाहिये। वस्तुस्थिति चाहे जो हो, ध्यान तो जैसा श्रुति ने कहा वैसा करना ही सफल है यह भाव है। ब्रह्माण्ड है विराट् का शरीर। इसका कथन इसलिये कि इससे परे हिरण्यगर्भ को बताया जा सके ।।५९-६४।।

इस प्रकार लोकान्त (लोकों की सीमा) कहकर इससे परे जहाँ पारिक्षित होते हैं उसे बताते हैं **ब्रह्माण्ड से बाहर जो वायु मौजूद है उसे श्रुति ने सूत्रात्मा कहा है, वही अश्वमेध करने वालों के पुण्य का फल है, और कोई नहीं।।६५।। ब्रह्माण्ड के दोनों कपालों की जो सन्धि है, जिसके लिये छुरे की धार की उपमा दी गयी**

क्षुरधाराद्युपमितः सन्धिर्योऽण्डकपालयोः ।
तेन बाह्ये नयत्येतानश्वमेधस्य देवता ।।६६ ।।
ते वायुभावमापन्नाः समष्टिव्यष्टिरूपतः ।
अण्डाद्बहिस्तदन्तश्च तिष्ठन्त्यखिलरूपिणः ।।६७ ।।
अध्यात्मादिविभागेन व्याप्तिर्व्यष्टिरितीरिता ।।
समस्तत्वेन संव्याप्तिः समष्टिरिति कीर्तिता ।।६८ ।।
समष्टिव्यष्टिरूपं य उपास्तेऽसौ सकृन्मृतः ।।
हिरण्यगर्भो भूत्वाऽथ मुच्यते म्रियते न तु ।।६९ ।।

है, उसमें से इन अश्वमेधयाजियों को अश्वमेध-देवता ब्रह्माण्ड से बाहर ले जाती है ।।६६ ।। वे उस वायु (सूत्रात्मा) से तादात्म्यापन्न हुए सारे ही रूपों वाले हो जाते हैं अतः समष्टि-व्यष्टि रूपों से ब्रह्माण्ड के बाहर-भीतर रहते हैं ।।६७ ।। ब्रह्माण्ड अर्थात् स्थूल से बाहर, परे सूक्ष्म (हिरण्यगर्भ) है जिसे यहाँ वायु कहा तथा अन्यत्र सूत्रात्मा कहा है। जैसे मणियों को धागा धारण किये रहता है ऐसे सबको धारण करने वाला हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा कहा गया है। सारी संसार-गति उसी से नियंत्रित है। अश्वमेध करने वाले उस सूत्रात्मा से ही अभेद उपलब्ध करते हैं। व्यावहारिक स्तर पर इसे ही ईश्वररूप भी समझ सकते हैं; हालाँकि ईश्वर कारणोपाधिक है जबकि यह कार्योपाधिक है, फिर भी स्थिति काल में इसी रूप से ईश्वर व्यवहार करता है इसलिये इसे ईश्वर कहना बन जाता है। ब्रह्माण्ड से बाहर निकलने का द्वार अत्यंत सूक्ष्म है मानो छुरे की धार हो। उससे हम स्वयं तो नहीं निकल सकते लेकिन अश्वमेध-नामक देवता हमें उससे पार करा देती है। सूत्रात्मा क्योंकि समष्टि भी है व्यष्टि भी अतः तद्रूप हुए अश्वमेधयाजी भी दोनों रूपों वाले होते हैं और सूत्रात्मा की ही तरह ब्रह्माण्ड को बाहर-भीतर से व्याप्त किये रहते हैं।।६५-७ ।।

समष्टि-व्यष्टिभाव समझाते हुए भुज्यु लाह्ययनि द्वारा किये प्रश्न के उत्तर का उपसंहार करते हैं **अध्यात्म आदि विभाजनों में बँटे रहकर व्यापन करना व्यष्टि कही जाती है और (बिना बँटे) समग्ररूप रहते हुए भली भाँति व्यापन करना समष्टि कही जाती है ।।६८ ।। समष्टि-व्यष्टि दोनों रूपों वाले हिरण्यगर्भ की जो उपासना करता है वह एक बार मरकर हिरण्यगर्भ बन जाता है, फिर मुक्त हो जाता है, फिर मरता नहीं है ।।६९ ।। उपासना व कर्म से उत्पन्न होने वाली संसार में उत्कर्ष की सीमा का यों वर्णन किया। इस हिरण्यगर्भ पद से भी**

संसारोत्कर्षसीमेत्थं वर्णिता ज्ञानकर्मजा।।
इतो विरक्तिमालक्ष्य वर्ण्यते स्वात्मनिर्णयः।।७०।।

विरक्त अधिकारी के उद्देश्य से स्वात्मा का निर्णय (आगे) वर्णित किया जा रहा है।।७०।। अध्यात्म आदि अर्थात् अधिदैव, अधिभूत आदि जो कोई भी विभाजन उपस्थित हों उनमें विभक्त रहकर जो व्याप्त करता है उसे व्यष्टि कहते हैं। हालाँकि अधिदैव को अध्यात्म की अपेक्षा समष्टि कह देते हैं फिर भी वह भी है एक विभाग में बँटा रूप इसलिये वस्तुतः व्यष्टि ही है, कुछ व्यापक होने से उसमें समष्टिता का उपचार हो जाता है। घड़े में जगह है, कमरे में जगह है, शहर में जगह हैयों जब कहते हैं तब व्यष्टि रूपसे कहा माना जाता है; सर्वत्र जगह है, कहते हैं तो समष्टि रूप से कहा माना जाता है। इसी तरह अध्यात्म आदि व्यष्टि रूप और सूत्रात्मा समष्टि रूप है। समष्टि का व्यापन 'सम्यक्' है क्योंकि भेदभाव के बिना सबको समेटता है, व्यष्टिरूप व्यापन में भेदभाव रहने से व्याप्ति है पर सम्यक् नहीं। दोनों तरह से व्यापन करने वाले हिरण्यगर्भ की उपासना क्रममोक्ष देती है अतः एक बार मरकर फिर नहीं मरना पड़ता क्योंकि हिरण्यगर्भभाव पाकर मोक्ष हो जाता है। हिरण्यगर्भोपासना और उसका फल बताना ही इस प्रश्नोत्तर-प्रसंग का उद्देश्य है।

यह उपासना अहंग्रह से होती है अर्थात् हिरण्यगर्भ से स्वयं को अभिन्न समझकर ध्यान करना पड़ता है। सद्योमोक्ष इसलिये नहीं कि हिरण्यगर्भ को प्रलय पर्यन्त उपाधि-सहित रहना ही होगा, अतः 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे' आदि तरीके से कल्पान्त में ही कैवल्य मिलेगा। इसके आगे परब्रह्म का प्रसंग आ रहा है क्योंकि इस सांसारिक सर्वोत्तम स्थिति से भी जो विरक्त है वही परमात्मा को समझने में अधिकारी है ऐसा श्रुति का मानना है।।६८-७०।।

जनकसभा में याज्ञवल्क्य की परीक्षा के क्रम में चौथा प्रश्न उठाया उषस्त चाक्रायण ने। स्वयं परब्रह्म में निष्ठा वाले होने से इन्होंने तत्सम्बद्ध ही सवाल उठाया। प्रसंग के अनुसार अपर ब्रह्म का कथन हो चुका था, कर्म-उपासना के चरम उत्कर्ष का वर्णन हो चुका था, अतः उससे परे के बारे में पूछना ही प्राप्त भी था। हिरण्यगर्भपद-पर्यन्त संसार से विरक्त को ही निर्विशेष वस्तु की जिज्ञासा और निर्विषय मोक्ष की इच्छा हो भी सकती है, यह तो इस विन्यास से सूचित है ही। वैराग्यवान् लोग देखे जाते ही हैं। गाँधी जी ने भारत की स्वतंत्रता के लिये जैसे संपूर्ण योगदान दिया वैसे पाकिस्तान के लिये जिन्ना ने दिया लेकिन वह तो पाकिस्तान के अध्यक्ष पद पर आसीन हो गया जबकि गाँधी जी

उषस्तप्रश्नः

चतुर्थब्राह्मणे मोक्षयोग्यः कर्तृत्ववर्जितः।।
विषयो ब्रह्मविद्याया अस्त्यात्मेति निरूप्यते।।७१।।

ने कोई भी पद लेने की कल्पना भी नहीं रखी। सबको आज़ादी मिलेयही उनका भाव था, उससे मुझे कोई फ़ायदा मिलेऐसा भाव नहीं था। इसी तरह जो हिरण्यगर्भ जैसे ईश्वरतुल्य पद को भी न चाहे वही परमात्मसाक्षात्कार पायेगा। अतः उषस्त ने अवसर के अनुरूप प्रश्न किया 'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' कि जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है वह मुझे बताओ। श्लोक ८५ तक प्रश्न का अभिप्राय समझाना शुरू करते हैं **चौथे ब्राह्मण में निरूपण किया गया है कि ब्रह्मज्ञान का विषय, मोक्ष के योग्य, कर्तृत्व से रहित आत्मा है।।७१।।** जो मुक्त हो सके ऐसे आत्मा का अस्तित्व बताया जायेगा। यदि जीव मुक्त होने लायक न हो अर्थात् या हमेशा बद्ध रहने वाली वस्तु हो या नश्वर वस्तु हो, तो आत्मज्ञान की साधना व्यर्थ होगी। स्वरूप से मुक्त होने पर भी अज्ञानवश आत्मा बद्ध है, जन्मादि के चक्र में भटक रहा है, अतः ज्ञान से मुक्त हो सकता है। ज्ञान-अज्ञान से वस्तु-उपयोग में अन्तर लोकसिद्ध है जिसे मूल्य का अज्ञान है वह वस्तु का विनियोग ठीक से नहीं कर पाता, जिसे ज्ञान है वह कर पाता है; अमुक पत्ता ओषधि है यह न जानने वाला उस पत्ते के पास बैठ रुग्ण बना रहता है, जानने वाला उसके सेवन से नीरोग हो जाता है। ऐसे ही नित्य शुद्धादिरूप आत्मा हम हैं सही पर इससे बेखबर हैं अतः परमानन्द से वंचित हैं, अपने आप को वैसा जान लें तो सारे दुःखों से छूट कर परमानंद में मग्न रहें अर्थात् मुक्त हों। हमारे ज्ञान-इच्छा-क्रिया हैं परमात्मा की अभिव्यक्ति, लेकिन उपाधि-परिच्छेद वाली अभिव्यक्ति, अतः वर्त्तमान ज्ञानादि से हम इहलोक-परलोक के फल ही प्राप्त कर पाते हैं, निरवच्छिन्न अभिव्यक्ति न होने से निरतिशय फल भी नहीं मिलता। सोपाधिक अभिव्यक्ति से अधिकाधिक हिरण्यगर्भभाव मिल सकता है यह बता ही चुके। उस तक से छूटना चाहे वही मुमुक्षु है। बंधनमात्र से मुक्ति चाहने पर ही मोक्षयोग्यता होगी, थोड़े-बहुत बंधनों से मुक्ति चाहें, थोड़े बहुत बंधन बचाये रखना चाहें तो मोक्षयोग्यता नहीं हो पायेगी। पूर्वतर ब्राह्मण में जो विषय-इंद्रियरूप बंधन कहे थे उन सब से छूटने की उत्सुकता चाहिये। अन्यत्र इसे तीव्र मुमुक्षा कहा है। अन्य सब फलों व साधनों को छोड़कर इस एक ही फल व इसके साधनों में पूर्ण तत्परता का हेतु बने वही मुमुक्षा तीव्र है। ब्रह्मविद्या का विषय एवं मोक्षयोग्य आत्मा वस्तुतः कर्तृत्व आदि धर्मों से वर्जित है।

अहंधीकर्मशास्त्राभ्यां दृष्टेर्द्रष्टा न सिध्यति।
किन्तु दृष्ट्यादिसंयुक्तो ब्रह्मताऽस्य विरुध्यते।।७२।।
अतो ब्रह्मत्वयोग्यस्य प्रतीचोऽत्र बुभुत्सया।
अनूद्य ब्रह्मतामादौ तदर्हं परिपृच्छति।।७३।।

कर्त्तृत्व रहते ही विषय-इन्द्रिय-व्यवहार होता है अतः इस व्यवहाररूप बंध से छूटने के लिये कर्तृत्व का परित्याग आवश्यक है। 'सारी दुनिया भगवान् चलाते हैं मेरे इंद्रिय-मन मैं चलाता हूँ'इत्यादि आधा-अधूरा कर्तृत्वत्याग प्रारंभ के लिये ठीक हो लेकिन मोक्ष के लिये अपर्याप्त है। मुमुक्षु को अभी कर्तृता प्रतीत भले ही हो लेकिन उसकी अभिलाषा उस आत्मस्वरूप को पाने की होनी चाहिये जो सारे ही व्यष्टि-समष्टि कर्तृत्व से रहित है। क्योंकि स्थूल के प्रति समग्र कर्तृत्व हिरण्यगर्भ का है अतः जब कर्तृभाव से रहित की अभिलाषा है तब हिरण्यगर्भभाव पाने की कोई आकांक्षा नहीं हो सकती है। ऐसा आत्मा हैपहले यह दृढ निश्चय हो तब उसकी प्राप्ति की इच्छा भी संभव हो अतः मुमुक्षोपयोगी आत्मास्तित्वका यहाँ निर्णय किया जा रहा है। जैसे परलोक-सम्बन्धी आत्मा की अस्तिता निश्चित होने पर ही कर्मशास्त्र प्रारंभ होता है वैसे निर्धर्मा आत्मा के अस्तित्व के निश्चय के अनन्तर ही ब्रह्मशास्त्र प्रवृत्त होता है।।७१।।

यद्यपि अभी भी हम आत्मा को जान ही रहे हैं लेकिन इतना ज्ञान पर्याप्त नहीं अतः शास्त्र को आत्मा के बारे में समझाना पड़ता है यह बताते हैं **(हम लोगों का वर्त्तमान) अहमाकार ज्ञान एवं कर्मविधायक शास्त्र की अन्यथानुपपत्ति से दृष्टि का द्रष्टा रूप निर्धर्मा आत्मा सिद्ध नहीं होता किन्तु दृष्टि-आदि धर्मों से जुड़ा हुआ ही सिद्ध होता है जिसकी ब्रह्मरूपता (अद्वय व्यापकता) स्वीकारना (अनुभव से) विरुद्ध पड़ता है।।७२।। इसलिये इस ब्राह्मण में उस प्रत्यक् को समझने की इच्छा से जो ब्रह्म होने योग्य है, पहले ब्रह्मरूपता का अनुवाद कर उस भाव के योग्य तत्त्व को उषस्त ऋषि पूछ रहे हैं।।७३।।** अज्ञानदशा में आत्मा के बारे में हमारा अनुभव 'अहन्धी' या अहंकार है जो हमें स्थूल-सूक्ष्म शरीरों व उनके धर्मों से युक्त ही आत्मा अर्थात् मैं को प्रतीत कराता है। कर्म का विधान करने वाला शास्त्र भी जिस आत्मा को बताता है वह कर्तृ-भोक्ता ही है, तभी विधि के पालन में योग्य है और उसे पालने से मिलने वाले फल को भोगने में योग्य है। ऐसे ही शास्त्रान्तर से ज्ञायमान आत्मा भी अनात्मधर्मों से युक्त ही रहता है। धर्मशास्त्र सीधे तो आत्मा क्या कैसा हैनहीं कहता, लेकिन शाब्दी अर्थापत्ति से कर्त्ता-भोक्ता-परलोक संबंधी आत्मा का बोधक बन

जाता है। अत एव कर्ममीमांसा के सूत्रकार ने यद्यपि आत्मवर्णन नहीं किया तथापि भाष्यकार ने युक्ति-पूर्वक आत्मास्तिता स्थापित की। चाहे अशिक्षित प्रत्यक्ष हो या शास्त्रीय बोध, दोनों जैसा आत्मा बताते हैं उसे परब्रह्म नहीं समझा जा सकता क्योंकि परब्रह्म जैसा कहा गया है वैसा यह आत्मा प्रतीत नहीं होता। इसलिये 'तत्त्वमसि' आदि में आये त्वम्पद के विवक्षित अर्थ आत्मा का स्पष्टीकरण करने के लिये उषस्त चाक्रायण ने चर्चा प्रारम्भ की। इसमें कहा तो आत्मा को ही है लेकिन उसके वैसे स्वरूप को जिसे ब्रह्म समझना संगत हो। इसलिये उसे साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म कहा। जिसे जान रहे हैं उसके और हमारे बीच कोई पर्दा न रहे ऐसा ज्ञान अपरोक्ष कहलाता है। सामान्यतः इसे प्रत्यक्ष कह देते हैं। सामने घोड़ा खड़ा है, रोशनी में उचित दूरी से स्वस्थ आँखों से सावधानीपूर्वक हमने देखा तो यह प्रत्यक्ष हुआ। इससे भिन्न, हिनहिनाना सुना, खुर पटकना सुना, कोई सफेद चीज़ सामने से गुज़रती देखीतीनों बातें जोड़कर समझते हैं कि सफेद घोड़ा दौड़ायह अप्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान हुआ। हिनहिनाना किस जानवर का होता है यह पता हो तभी घोड़ा पता चलेगा, घोड़े की टाप और दूसरे जानवरों की टाप में फ़र्क़ पता हो तभी घोड़ा पता चलेगा, अतः अन्य ज्ञानों के माध्यम से हुआ बोध परोक्ष है जबकि आँख से दीखना प्रत्यक्ष है, इसमें कोई और ज्ञान माध्यम नहीं बन रहा। आत्मा को प्रत्यक्ष के बजाये अपरोक्ष इसलिये कहते हैं कि 'अक्ष' नाम है इंद्रियों का अतः भ्रम हो सकता है कि आत्मा इंद्रियविषय होगा। ऐसा भ्रम न हो इसके लिये उसे अपरोक्ष कहा जाता है जिसका अभिप्राय है कि उसका ज्ञान न किसी अन्य ज्ञान के माध्यम से न इंद्रियों के माध्यम से है। अतः साक्षात् अपरोक्ष है। 'मैं सुखी, दुःखी, कामी' आदि हमारे अनुभव कुछ-कुछ ऐसे ही हैं, किसी अन्य पर निर्भर नहीं। सुखादि अनुभव परोक्ष भी नहीं और इन्द्रियों से भी नहीं अतः अपरोक्ष हैं। ऐंद्रिय प्रत्यक्ष वस्तुतः साक्षात् नहीं; रोशनी, हवा आदि बाह्य चीज़ों का उनमें व्यवधान रहता है, इंद्रियाँ और उनके दोषादि का व्यवधान रहता है, मन और उसके राग आदिका व्यवधान रहता है। अत एव विभिन्न लोगों के विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न परिस्थितियों में अनुभव विभिन्न हो जाते हैं। आत्मस्वरूप ही एकमात्र अव्यवहित है, बिना किसी माध्यम के भासता है। वही आत्मा ब्रह्म होने लायक है। यह हमारा प्रत्यक् स्वरूप है, मैं है। यद्यपि मन आदि साक्षिभास्य भी अव्यवहित लगते हैं तथापि वे सदा नहीं रहते, सुषुप्ति आदि में नहीं रहते एवं रहते हुए भी परिवर्तनशील हैं अतः उन्हें आत्मा कहना बनता नहीं, साक्षिमात्र ही आत्मा है, उसी को ब्रह्म महावाक्य बताते हैं।।७२-३।।

यत्साक्षादपरोक्षं स्याद् ब्रह्म तद्रूपतामयम्।
अर्हेत् सर्वान्तरस्तादृग् य आत्मा ब्रूहि तं मुने।।७४।।
साक्षादिति पदेनात्र व्यवधानं निवार्यते।
स्वर्गलोकादिवद् ब्रह्म नातो देशान्तरादिगम्।।७५।।
अगौणताऽपरोक्षोक्त्या ब्रह्मत्वस्य विवक्षिता।
नामादेरिव नो गौणं ब्रह्मत्वं प्रत्यगात्मनः।।७६।।

उषस्त-वाक्य सुनाते हैं **हे मुनि याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, उसके रूप वाला यह हो सके ऐसे उस सर्वान्तर आत्मा का कथन करिये।।७४।।** श्रुतिका यह अनुवाद है। इसके हर शब्द को स्वयं आगे समझा रहे हैं। ब्रह्म साक्षात् भी है, अपरोक्ष भी है और सबके सर्वाधिक भीतर भी है, ऐसा ही होने लायक आत्मा के बारे में जिज्ञासा है। आत्मा (मैं) को हम जानते हैं पर उसकी सर्वान्तरता नहीं जानते जिसे शास्त्र से समझना पड़ता है।।७४।।

प्रश्न के शब्दों के भाव स्पष्ट करते हैं **इस वाक्य में 'साक्षात्' इस शब्द से बताया कि ब्रह्म व्यवहित (देश या काल की दृष्टि से दूर) नहीं है अतः स्वर्ग लोकादि की तरह किसी अन्य देश में स्थित वस्तु नहीं है।।७५।। 'अपरोक्ष' कहने से यह बताना इष्ट है कि प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता गौण नहीं है। जैसे नाम आदि को भी ब्रह्म कहा है पर वह मुख्य नहीं गौण है वैसे आत्मा को ब्रह्म गौणदृष्ट्या नहीं, मुख्य दृष्टि से ही कहा है।।७६।।** व्यवधान मायने हमारे व परमेश्वर के मध्य कुछ और होना जैसे दो कमरों के बीच दीवाल का व्यवधान होता है। स्थूल वस्तु की तरह काल का भी व्यवधान होता है और ज्ञान-उपाय का भी व्यवधान होता है। अनुमिति में व्याप्तिज्ञान का व्यवधान है, शाब्दबोध में पदार्थज्ञान का व्यवधान है। हमें जर्मन न आये तो सुनते हुए भी उसका अर्थ हमें समझ नहीं आता, भाषा, शब्दार्थ मालूम हों तभी बात समझ आती है अतः भाषाज्ञान, कोषज्ञान के व्यवधान से वाक्यार्थज्ञान प्रसिद्ध है। आत्मा यों किसी तरह व्यवहित नहीं है। व्यापक होने से देश से, नित्य होने से काले से और स्वप्रकाश होने से ज्ञानोपाय से उसमें कोई व्यवधान संभव नहीं। जहाँ हम बैठे हैं वहीं मोहन पण्डित बैठा है पर हम उसे जानते नहीं; वह साक्षात् भी है अपरोक्ष भी लेकिन हमें अज्ञात है। जब कोई परिचय करा देता है तो उसे देखने-मिलने कहीं अन्य देश-काल में नहीं जाना पड़ता। ऐसे ही आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है किन्तु अज्ञात है, ज्ञान होते ही उसकी उपलब्धि है,

आविर्भावोऽपरोक्षत्वं तच्चास्त्यव्यवधानतः।
स्वप्रकाशं स्वभावत्वादिति वार्थः पदद्वये।।७७।।

किसी देश-काल-उपाय का इन्तजार नहीं करना पड़ता। ब्रह्मदर्शन कहाँ कब कैसे होगा? यह प्रश्न निरर्थक है। अविद्या-निवृत्ति ही चाहिये, वह हो जाये तो यहीं, अभी, खुद-ब-खुद होता रहेगा। अनात्मवस्तु के ज्ञान में इंद्रिय-मन आदि का व्यवधान उचित है, आत्मज्ञान में नहीं। बाहर पड़ा घड़ा देखने के लिये रोशनी, आँख और उधर ध्यान सब चाहिये; यदि बेध्याने हों तो सामने रखी चीज़ भी नहीं दीखती जैसे शकुंतला को दुर्वासा नहीं दीखे थे। लेकिन स्वयं को जानने के लिये कुछ और नहीं चाहिये। सुषुप्ति में मन नहीं रहता तो भी स्वयं का भान रहता ही है जिसके बल पर स्मृति होती है कि सुख से सोया। साक्षाद् ही नहीं, आत्मा को अपरोक्ष भी कहा जिसका भाव है कि आत्मा ब्रह्म हैयह बात वैसे सत्य है जैसे 'वही यह देवदत्त है' यह बात सत्य है। वेद ने 'नाम ब्रह्म है ऐसी उपासना करो' आदि भी कहा है लेकिन वहाँ नाम को ब्रह्म बताना अभिप्राय नहीं है; नाम ब्रह्म है नहीं, उसे ब्रह्म समझने से फलविशेष होगायह अभिप्राय है। ऐसे जीव-ब्रह्म का अभेद नहीं वरन् वास्तविक है, यह 'अगौणता' का तात्पर्य है। अनात्मा की, घट आदि की और यहाँ तक कि शरीर मन की भी अपरोक्षता है लेकिन वह गौण ही है क्योंकि अनात्मा कभी भासता है, कभी नहीं भासता। आत्मा क्योंकि सदा भासमान है इसलिये वह मुख्य दृष्टि से अपरोक्ष है। मन भी गहरी नींद में नहीं रहता, नहीं भासता, आत्मा तब भी भासता है बल्कि अज्ञान और आनंद का की भान होता रहता है। अभेद का कथन गौणदृष्टि से लोक में भी प्रचलित है। किसी अफ़सर की पत्नी को हीरों का हार दे दो तो अफ़सर तुम्हारा काम कर देता है। पत्नी को मिलने से 'मुझे मिला' ऐसा मानकर ही यह होता है। ऐसे स्थलों में 'पत्नी मैं ही हूँ' कथन गौण अभेद लेकर है। 'जो मैं विद्यालय में पढ़ता था वही मैं अब सेवानिवृत्त हुआ हूँ' आदि में 'वही मैं'यह कथन मुख्य अभेद लेकर है। ऐसे ही नाम आदि की ब्रह्मरूपता गौण है जबकि आत्मा की ब्रह्मरूपता मुख्य है इसे 'अपरोक्ष' से कहा। श्रुति के 'अपरोक्षात्' का अर्थ 'अपरोक्षम्' ही है।।७५-७६।।

साक्षात् और अपरोक्ष शब्दों का अर्थ दूसरे ढंग से बताते हैं **अथवा उक्त दोनों पदों के रहते वाक्य का अर्थ है कि क्योंकि आत्मा की ज्ञानरूपता अन्य किसी के अधीन नहीं है इसलिये बिना किसी व्यवधान के उसकी प्रकाशमानता है।।७७।।** आवि अर्थात् प्रकाश, ज्ञान। यह अपरोक्ष का अर्थ है। साक्षात् का अर्थ है 'बिना व्यवधान के।' घट आदि का अपरोक्ष होता है लेकिन इन्द्रिय-मनोवृत्ति आदि के व्यवधान

अव्याकृतानुगतं वस्तु ब्रह्मगिरोच्यते।
अकारणमकार्यं तदित्यनेनोदितं भवेत्।।७८।।

से, माध्यम से। ऐसे आत्मा का अपरोक्ष किसी व्यवधान से (माध्यम से, पर्दे में से) नहीं वरन् सीधे ही होता है। मैं हमें हमेशा बिना उपाय के, बिना प्रयास के, मालूम ही रहता है, भासता ही रहता है। 'मैं देवदत्त, मनुष्य' आदि भान के लिये तो मन आदि व्यवधान चाहिये लेकिन सिर्फ़ मैंइस भान के लिये कुछ चाहिये भी नहीं और यह भान कभी रुकता भी नहीं। आत्मा की ऐसी साक्षात् अपरोक्षता में हेतु दिया कि वह स्वभाव से स्वप्रकाश है। जैसे घड़े आदि को प्रकाशित करने के लिये रोशनी चाहिये लेकिन रोशनी को प्रकाशित करने के लिये कुछ नहीं चाहिये या आटा आदि को मीठा बनाने के लिये चीनी चाहिये पर खुद चीनी को मीठा करने के लिये कुछ नहीं चाहिये, ऐसे आत्मा के स्वयं के भान के लिये वह किसी और पर निर्भर नहीं जबकि बाकी सबका भान आत्मा पर निर्भर है। इसी कारण उसे साक्षात् और अपरोक्ष कहा। पूर्व व्याख्या में भी साक्षात् का तो यही अर्थ था लेकिन अपरोक्ष शब्द के अर्थ में अन्तर है, वहाँ अगौणता अभिप्राय था, यहाँ आविर्भाव या प्रकाशमानता अर्थ है।।७७।।

साक्षात् अपरोक्ष शब्द समझाकर अब ब्रह्म-शब्द का अर्थ कहते हैं **ब्रह्म शब्द से वह वस्तु कही जाती है जो न किसी और में है एवं न किसी से अलग है! इससे प्रकट होता है कि वह न कारण है, न कार्य।।७८।।** ब्रह्म मायने पूर्ण चैतन्य। वह व्यावृत्त नहीं अर्थात् किसी से अलग नहीं, कुछ उससे अन्य है नहीं जिससे ब्रह्म अलग हो। किसी के बारे में यह कहना नहीं बनता कि 'यह ब्रह्म नहीं।' अत एव ब्रह्म अनुगत भी नहीं; विभिन्न पदार्थों से सम्बद्ध कोई एक पदार्थ हो तो उसे उनमें अनुगत कहते हैं जैसे मणियों में पिरोया धागा उनमें अनुगत होता है या घड़ा-कुल्हड़ आदि में मिट्टी अनुगत होती है। अनुगत, अनुवृत्त, अन्वित आदि शब्द समानार्थक हैं। क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं तो वह किसमें पिरोया रहे, अनुगत रहे? आचार्य सुरेश्वर कहते हैं कि यदि एक तिनका भी उससे अलग रह गया तो 'ब्रह्म' यह नाम ही निरर्थक हो जायेगा! व्यापकता, पूर्णता में इतनी कमी आ जायेगी। यद्यपि यों प्रपंच ब्रह्मान्य नहीं तो प्रपंचज्ञान भी ब्रह्मज्ञान है तथापि ब्रह्म के बारे में ग़लत ज्ञान होने से बंधक है जैसे रस्सी के बारे में सर्पज्ञान ग़लत होने से भयप्रद है। हमें विषय विभिन्न, अब्रह्म दीख रहे हैं, स्वयं भी हम अपने को कर्त्ता-भोक्ता देख रहे हैं इसलिये यह ज्ञान ब्रह्म का होते हुए भी पुरुषार्थोपयोगी नहीं है। वर्तमान में हमारा ज्ञान जिसके बारे में है उसे हम कार्यरूप या कारणरूप समझते

अपुमर्थमिदं प्राप्तं न चेदात्मैव तद्भवेत्।
यतोऽत आत्मरूपार्थं य आत्मेति विशेष्यते।।७६।।
सजातीयविजातीयद्वितीयार्थनिवृत्तये।
सर्वांतर इति प्राह सार्वात्म्यं तेन सिध्यति।।८०।।

हैं। संसार में जो कुछ मिलता है वह या कार्य है या कारण है या दोनों है। गेहूँ कारण है, आटा उसका कार्य है लेकिन रोटी के प्रति आटा कारण भी है। लेकिन वस्तुभूत परमात्मा न कार्य है, न कारण है क्योंकि भेद रहते ही कार्यकारणभाव संभव है। जब ब्रह्म अव्यावृत्त है तो भेद न होने से कार्यकारणभाव संभव नहीं तथा क्योंकि वह अननुगत है इसलिये भी यह भाव संभव नहीं, कारण कि जो कारणवस्तु होती है उसे अपने कार्यों में अनुगत रहना पड़ता है जैसे मिट्टी सब बर्तनों में अनुगत रहती है, धागा कपड़ों में अनुगत रहता है। इस प्रकार, कार्यकारणभाव से निर्मुक्त अखण्ड नित्य सद्रूप व्यापक तत्त्व ब्रह्म-शब्द का अर्थ है।।७८।।

प्रश्न में 'यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' के बाद शब्द हैं 'य आत्मा'; इनका तात्पर्य बताते हैं **यदि यह ब्रह्म प्रत्यग्रूप ही न हो तो यह परम पुरुषार्थ नहीं हैयह (अनिष्ट) स्थिति होगी। क्योंकि (उसकी परमपुरुषार्थरूपता न होना शास्त्र-युक्ति से विरुद्ध है) इसलिये उसके बारे में विशेषकर कहा 'जो आत्मा' ताकि स्पष्ट हो कि वह आत्मरूप प्रत्यग्रूप है।।७६।।** अनात्मा धन, स्वर्ग आदि पुरुषार्थ होने पर भी परम पुरुषार्थ नहीं जबकि मोक्ष परम पुरुषार्थ है इसलिये ज़रूरी है कि वह अनात्मा न हो। झूठा नोट सच्चा मानते रहने से जैसे कोई धनी नहीं हो जाता वैसे यदि ब्रह्म आत्मा न हो तो उसे आत्मा मानने से कोई सच्चा लाभ नहीं हो सकता। वास्तविकता होने से ही ब्रह्मनिष्ठा परम पुरुषार्थ है। अत एव इसकी परप्रेमास्पदता पूर्वाध्याय में समझायी। अपना आपा, स्वरूप, हमेशा प्रिय है अतः उसमात्र रूप से अवस्थिति असीम प्रिय की आत्यंतिक उपलब्धि या मोक्ष होना उचित है। इसीलिये जिसे साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म कहा, उसी को आत्मा भी कहा ताकि वही परम पुरुषार्थ है यह स्पष्ट हो। यह श्लोक लगभग वार्तिक का ही है, वहाँ अंत है '...र्थमात्मेत्येवं विशेष्यते' (३.४.२१), इतना ही अंतर है।।७६।।

अगला शब्द है 'सर्वान्तरः' उसे समझाते हैं **उससे समान जाति की या विषम जाति की कोई दूसरी चीज़ हैयह संभावना हटाने के लिये उसे 'सर्वान्तर' कहा जिससे सिद्ध है कि वह सबका आत्मा है।।८०।।** भिन्न वस्तु समान जाति

सार्वात्म्यं ब्रह्मणो योग्यं तच्च जीवात्मनीरितम्।
मुख्यापरोक्ष्यं जीवस्य योग्यं ब्रह्मणि वर्णितम्।।८१।।

की भी होती है, विषम जाति की भी। अग्रहार दक्षिण भारत में ऐसे गाँव थे जहाँ केवल ब्राह्मण बसते थे। लोग तो अग्रहार में अनेक होते थे लेकिन सब एक ही जाति के होते थे। अतः वहाँ विभिन्न लोग होने पर भी समान जाति के ही थे। जिस गाँव में एक ही घर ब्राह्मण का हो वहाँ भी विभिन्न लोग हैं लेकिन विषम जाति के। सर्वत्र भेद दो प्रकार के होते हैंसमान जाति की विभिन्न वस्तुओं में रहने वाला परस्पर भेद सजातीय भेद; एवं विषम जाति की विभिन्न वस्तुओं में रहने वाला विजातीय भेद। परमात्मा से विभिन्न कुछ न सजातीय है, न विजातीय है, यह व्यक्त करने के लिये उसे 'सर्वान्तर' सबका अन्तस्तत्त्व, सबका निजी स्वरूप कह दिया। ब्रह्म एक ही है अतः सजातीय भेद असंभव और जो कुछ उससे भिन्न जाति का प्रसिद्ध हैप्रकृति, परमाणु आदि उस सबका भी वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही होने से सचमुच में कुछ विजातीय भी असंभव है। जैसे लाक्षागृह में ज़मीन, दीवार, खम्भा, छत आदि चाहे विभिन्न लगें लेकिन हैं एकमात्र लाक्षा ही इसलिये लाक्षा से उन्हें वस्तुतः भिन्न कहना नहीं बनना वैसे एक सत्तत्त्व से वास्तव में भिन्न कोई नाम-रूप न होने से विजातीय भेद वाली कोई वस्तु होना संभव नहीं। मुसलमान आदि ईश्वरवादी यहाँ तक तो मानते हैं कि अल्लाह की जाति की कोई दूसरी चीज़ नहीं, कोई दूसरा अल्लाह नहीं, लेकिन विभिन्न जाति के शैतान आदि संसार को वे मानते हैं। ऐसे ही वैष्णवादि भी ईश्वर की जाति का और कुछ न मानकर भी उससे अन्य जाति का सब कुछ मानते ही हैं। इन सबसे विलक्षण, सनातन धर्म की मान्यता है कि परमात्मा एक है और परमात्मा से भिन्न कहीं कुछ नहीं है। जैसे लहर-बुद्बुदे-झाग आदि एक समुद्र से अतिरिक्त कुछ नहीं है वैसे संसार में ग्राह्य-ग्राहक चाहे जो मिले, एक परमेश्वर ही है। ब्रह्म सद्रूप है, उससे अलग हो असत् ही हो सकता है! 'है' से अलग तो 'नहीं है' ही कहा-समझा जायेगा। यों जो ब्रह्म की सर्वात्मता 'ऐतदात्म्यम्' आदि श्रुतियों में प्रसिद्ध है उसे सर्वान्तर-शब्द से व्यक्त किया है।।८०।।

प्रश्न के शब्दों का अर्थ बता चुके। अब स्पष्ट करते हैं कि उषस्त ने जिस ढंग से शब्दविन्यास किया उसका क्या अभिप्राय निकलता है **योग्य तो है कि ब्रह्म में सर्वात्मता हो पर उषस्तने उसे जीवात्मा में कहा और मुख्य (=अगौण) अपरोक्षता जीव में होना योग्य है, उसे उषस्त ने ब्रह्म में कहा!।।८१।। इस**

अभेदो वास्तवो जीवब्रह्मणोर्व्यत्ययादतः।
विवक्षितस्तत्प्रसंगाद् वादिव्यामोह आर्थिकः।।८२।।

व्यत्यय (विपरीत विन्यास) से विवक्षित है कि जीव और ब्रह्म में वास्तविक अभेद है और यों कहने का यह भी एक प्रयोजन मान सकते हैं कि वादी अर्थात् याज्ञवल्क्य चक्कर में पड़ जाये, क्योंकि वादी-परीक्षा का प्रसंग है ही।।८२।। ब्रह्म जगत् के कारणरूप से शास्त्रादि में प्रसिद्ध होने से उसे सर्वान्तर कहना ठीक है एवं जीवरूप हमेशा प्रत्यक्षतया भासमान होने से उसे मुख्य, साक्षात् अपरोक्ष कहना ठीक है। लेकिन उषस्त ने उल्टा किया'साक्षात् अपरोक्षात्' ये ब्रह्म के विशेषण रखे और 'सर्वान्तरः' आत्मा का विशेषण रखा। यों कहने का नाम 'व्यत्यय' है अर्थात् विशेषणों में अदला-बदली कर देना। ऐसा करने में कोई प्रयोजन होता है। यहाँ प्रधान प्रयोजन तो है यह बताना कि वास्तव में जीव-ब्रह्म एक ही वस्तु है। अभी भले ही हम ब्रह्म को अपरोक्ष नहीं जान रहे, भले ही जीव को सर्वान्तर नहीं जान रहे लेकिन है ब्रह्म अपरोक्ष ही, है जीव सर्वान्तर ही क्योंकि ब्रह्म व जीव दो वस्तुएँ नहीं हैं। जीव को अपरोक्ष तो हम जानते ही हैं, इसके लिये उपदेश नहीं चाहिये; ब्रह्म को सर्वान्तर जानने के लिये भी विशेष प्रयास नहीं चाहिये; लेकिन जो अपरोक्ष है वही सर्वान्तर है, सर्वान्तर तत्त्व ही साक्षात् अपरोक्ष हैयह समझना यत्नसाध्य एवं सफल है। ब्रह्म, अगर जीव से अन्य हो तो ब्रह्मप्राप्ति अनित्य ही हो सकने से कैवल्यरूप न होती जबकि उसे कैवल्य, सनातन कहा है अतः निश्चित है कि ब्रह्म व जीव अनन्य ही हैं। इस वास्तविक अभेद को बताने के लिये व्यत्यय प्रयुक्त है। किं च व्यत्ययका यह भी फल है कि यों कहने से साधारण व्यक्ति चक्कर में पड़ जायेगा कि किस तत्त्व के बारे में पूछा जा रहा है? ब्रह्म तो परोक्ष होता है, आत्मा एक शरीर-मन के भीतर होता है; अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा क्या हो सकता है?यों समस्या उसके सामने खड़ी होगी जो परमात्मसाक्षात्कार किये हुए नहीं है। यदि याज्ञवल्क्य ब्रह्मनिष्ठ न होते तो चक्कर में पड़ जाते, इसी संभावना से उषस्त ने व्यत्यय का प्रयोग किया होयह भी मानना संभव है क्योंकि याज्ञवल्क्य की परीक्षा की जा रही है और परीक्षा में यों चक्कर में डालने वाले सवाल पूछे ही जाते हैं। इस तरह उषस्त ने अपना अद्वयता का सिद्धान्त कह भी दिया और याज्ञवल्क्य की परीक्षा को कठिन भी बना दिया।।८१-२।।

व्यत्ययका भाव बताकर अब सामानाधिकरण्य का अभिप्राय समझाते हैं। समान विभक्तिक पदों का परस्पर अभेद सम्बन्ध सामानाधिकरण्य कहा जाता है।

आत्मनो ब्रह्मता मुख्या ब्रह्मणोऽप्यात्मता तथा।
प्रत्यग्दृष्ट्या पराग्दृष्ट्या मिथो ब्रह्मात्मनोर्भिदा।।८३।।
ब्रह्मत्वमात्मनो रूपं तमसा तत्तिरोहितम्।
आत्मत्वं ब्रह्मणोऽप्येवं ततो जीवेशभेदधीः।।८४।।

प्रश्न वाक्य में ब्रह्म और आत्मा एक विभक्तिक पद हैं। यों कहने का उद्देश्य क्या है, यह समझाते हैं **आत्मा की ब्रह्मता मुख्य (अगौण) है, ब्रह्म की आत्मरूपता भी मुख्य (अगौण) है। ब्रह्म और आत्मा का आपसी भेद केवल इन दृष्टियों पर निर्भर करता है कि हम प्रत्यक् की ओर देख रहे हैं या पराक् की ओर ।।८३।।** आत्मा वास्तव में प्रत्यङ्मात्र है, इस ओर जागरूक रहने पर आत्मा ही ब्रह्म है यह सुस्पष्ट होता है। यही तथ्यात्मक ज्ञान है। क्योंकि यही वस्तुस्थिति है इसलिये आत्मा-ब्रह्म का अभेद मुख्य है, इसमें गौणता नहीं कि सिर्फ़ कह-भर दिया हो जैसे 'भद्रसेन मेरा ही आत्मा है' ऐसा कह देते हैं, जबकि पता है कि है नहीं, वह स्वतंत्र व्यक्ति है, मैं स्वतंत्र व्यक्ति हूँ। अथवा गुण देखकर कहना भी गौण कथन है : बनिया यदि शास्त्रादि में पाण्डित्य अर्जित कर ले तो उसे ब्राह्मण कह देते हैं या ब्राह्मण व्यापारादि में कुशल हो तो उसे बनिया कह देते हैं जबकि मालूम है कि वह उस वर्ण का है नहीं। इसी तरह जीव-ब्रह्म हों विभिन्न, लेकिन किसी गुण की समानता से जीव को सर्वान्तर और ब्रह्म को साक्षात् अपरोक्ष कहा जा रहा हो, यह बात नहीं वरन् ये दो हैं ही नहीं, एक ही है। एक होने पर भी दृष्टिभेद से भेदव्यवहार हो रहा है। पराक् दृष्टि अर्थात् उपाधि दृष्टि। उपाधि के अनुसार भेद है, प्रत्यक् अर्थात् उपधेय आत्मतत्त्व के स्तर पर कोई भेद नहीं है। ईश्वर-जीव का भेद औपाधिक है, ईश्वर सर्वज्ञ-सर्वकर्त्ता मायोपाधिक है, जीव अल्पज्ञ अल्पकर्त्ता अविद्योपाधिक है। अतः बाह्य या उपाधि को दृष्टि में रखने पर भेद लगता है पर सत्य को देखने से पता चलता है कि एक ही है।।८३।।

उक्त प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण करते हुए उषस्त चाक्रायण के प्रश्न के अर्थ के वर्णन का उपसंहार करते हैं **ब्रह्मस्वरूपता आत्मा की वास्तविक है पर वह अज्ञान से छिपी है। इसी तरह आत्मस्वरूपता (=प्रत्यक्ता) ब्रह्म की वास्तविकता है लेकिन अज्ञान से छिपी है। इसी से जीव-ईश्वर में भेद प्रतीत होता है।।८४।। अज्ञान का ज्ञान द्वारा नाश होने से (आत्मा में आरोपित) अब्रह्मता और (ब्रह्म पर आरोपित) अनात्मता समाप्त हो जाने के कारण क्योंकि केवल प्रत्यक् बचता है इसलिये**

तमसो बोधविध्वंसादब्रह्मानात्मताहतेः ।
प्रत्यङ्मात्रावशेषत्वात् स्यामपूर्वादिमानहम् ।।८५ ।।
अमूढो याज्ञवल्क्योऽत्र प्रत्यग्दृष्ट्या परामृशन् ।
प्रत्याहैष त आत्मेति तं सर्वान्तरमद्वयम् ।।८६ ।।

'अपूर्व आदि वाला मैं हूँ' यही अनुभव रहता है ।।८५ ।। जब तक हममें राग द्वेष काम क्रोध भरे हैं तब तक हमारे लिये अपनी व्यापकता (ब्रह्मता) आवृत (छिपी) है। उस अज्ञान के पर्दे से छनकर जो ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति हमें मिल रही है, उसी का जब हम इतना दुरुपयोग कर रहे हैं तो अगर कहीं अपनी असीम शक्ति का प्रयोग कर पाते तो न जाने कितनी हानि कर लेते! लेकिन ब्रह्मस्वरूप को भगवान् ने कहीं दूर ले जाकर नहीं रखा वरन् हमारे इस शरीररूप खेत में, क्षेत्र में ही छिपा कर रख दिया कि योग्य हो जायें तो इसे अनावृत कर अनन्तानन्द में मग्न होवें। रागादि दोषों से रहित होना ही योग्यता है। योग्य को वेद का इशारा समझ आता है कि जिसे हृदय गुहा में निहित कहा वह है कौन। अभी 'मैं' से कर्तृत्वादि वाले को समझते हैं, योग्य अधिकारी उसी से अपूर्व-अनपर-अबाह्य आदि स्वरूप वाली वस्तु को समझता है। अपूर्व आदि विशेषताओं का पहले (बृ.२.५.१९; अनु. प्र.१६.श्लोक ४४-७) स्पष्टीकरण दिया जा चुका है। जैसे हम मैं को ब्रह्म (व्यापक) नहीं जानते, वैसे ही ब्रह्म को मैं (अपरोक्ष) नहीं जानते; तत्त्वबोध से आवरण मिटने से दोनों बातें प्रकाश जाती हैं। अखण्ड आत्मवस्तु में जीव-ईश्वर भेदधी है जो मिटने पर अखण्डवस्तु यथावत् रहती है। ज्ञान ही इसके लिये सक्षम है और कुछ नहीं; बाकी साधन ज्ञान के लिये ही चाहिये, अज्ञान तो सिर्फ़ ज्ञान से मिटता है। अज्ञान रहते माया उपाधि से ईश्वर और अविद्या या अंतःकरण उपाधि से जीवयों विभिन्न प्रतीत हो रहे हैं, अविद्या मिटते ही यह भेद बाधित हो जाता है। यहाँ तक उषस्त के प्रश्न का विश्लेषण किया। ब्रह्मिष्ठ के सत्यापन के प्रसंग में यह अत्यन्त योग्य प्रश्न है एवं जो तत्त्ववित् नहीं होगा वह इसके इन भावों को समझ न सकने से उचित उत्तर नहीं दे सकता। अतः इसके जवाब से याज्ञवल्क्य की ब्रह्मिष्ठता व्यक्त होगी।।८४-५।।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'एष त आत्मा सर्वान्तरः।' कि यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है। इसे श्लोक ९५ तक समझायेंगे **आत्मा के बारे में निर्भ्रान्ति होने से यों मोहकारी प्रश्न होने पर भी याज्ञवल्क्य ने आत्मा को ही ध्यान में रखते हुए विचारपूर्वक जवाब दिया कि जिस सर्वान्तर अद्वय को तुम पूछ रहे हो वह यही तुम्हारा आत्मा है।।८६।।** सवाल पेचीदा होने पर भी याज्ञवल्क्य को किसी तरह की

मुख्योऽपरोक्षो यः प्रत्यक् स्वप्रकाशो विभासते।
एतच्छब्देन तं प्राह विस्पष्टत्वविवक्षया।।८७।।
अन्तर्मुखस्य विस्पष्टो नायं सन्देहगोचरः।
इत्यभिप्रेत्य तत्प्रश्ने बहुमानं तु नाकरोत्।।८८।।

समस्या नहीं हुई, उनकी दृष्टि प्रत्यक् आत्मा पर केन्द्रित थी अतः उषस्त ने किस के बारे में पूछायह समझने में विलम्ब नहीं लगा। व्यत्यय (श्लोक. ८२) से विरोधाभास प्रतीत होने पर भी तत्त्वज्ञ को परिहार का स्फुरण होने से व्यामोह नहीं होता जैसे लौकिक सन्दर्भों में जानकार विरोधाभासों से विचलित नहीं होते। उषस्त ने ब्रह्म-आत्मा का पृथक्-पृथक् उल्लेख कर पूछा, याज्ञवल्क्य ने उनके अभेद का कथनकर उत्तर दिया कि तेरा आत्मा अर्थात् प्रत्यक्स्वरूप ही ब्रह्म अर्थात् पूर्ण वस्तु है। यों अद्वितीय तत्त्व का निर्वचन हुआ। संसार में आत्मा-अनात्मा, अस्मत्प्रत्ययार्थ-युष्मत्प्रययार्थ, अहम्-इदम् दो ही चीज़ें हैं। अनात्मा ज्ञेय है, आत्मा ज्ञान है। (या अविद्यादशा में ज्ञाता है)। इस दृष्टि से 'ते', 'तेरा' का अर्थ अनात्मप्रपंच है, उसका आत्मा अर्थात् वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है, जैसा 'ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्' आदि छान्दोग्य में कहा है। 'ते' से जीव का शुद्ध रूप लें तो मुख्य, तथा 'ते' से अनात्मा लें तो बाधयों दोनों सामानाधिकरण्यों के अभिप्राय से 'तेरा आत्मा ब्रह्म है' कहा गया है। यह उत्तर भी कम पेचीदा नहीं, लेकिन याज्ञवल्क्य का भाव है कि उषस्त ज्ञानी होगा तो समझ ही जायेगा और न समझा तो प्रकट हो जायेगा कि वह ब्रह्म के बारे में पूर्ण जानकार नहीं है।।८६।।

याज्ञवल्क्य के उत्तर में 'एष' (यह) शब्द का तात्पर्य बताते हैं **वस्तुतः अपरोक्ष यह प्रत्यक् स्वयमेव ज्ञायमान होता हुआ विशेषतः अनुभूयमान है, उसकी इस अतिस्पष्टता को बताने के लिये उसे 'एषः' (यह) शब्द से कहा।।८७।। 'अन्तर्मुख व्यक्ति को यह साफ पता रहता है, इसके बारे में संदेह होता ही नहीं'इस अभिप्राय से उषस्त के प्रश्न को याज्ञवल्क्य ने अधिक महत्त्व नहीं दिया।।८८।।** अपरोक्ष तो घटादि भी कहलाते हैं पर वे प्रमाणादि के व्यवधान से ही अपरोक्ष होने के कारण 'वस्तुतः' या मुख्य रूप से अपरोक्ष नहीं जबकि बिना किसी व्यवधान के, बिना किसी साधन के सदा स्वरूप से ही अपरोक्ष रहने के कारण आत्मा वस्तुतः या मुख्य रूप से अपरोक्ष है। यह व्यक्त करने के लिये सन्निहित बोधक 'एषः' (यह) शब्द कहा, दूरस्थ-बोधक वह-शब्द नहीं। उसकी इस अपरोक्षता में 'स्वप्रकाश होना' उपपत्ति है। उसी की अनुभवारूढता के लिये 'विभासते' कहा है।

षष्ठ्यन्तस्य त इत्यस्य युष्मद्बुद्ध्युपलक्षितम् ।
देहादिसर्वमाव्योम्नो दृश्यमर्थो विवक्षितः ।।८९ ।।
आत्मेत्यव्यभिचारेण स्वरूपं यत्तदुच्यते ।[1]
प्रमात्राद्यागमापायसाक्षित्वात् तत्स्वरूपता ।।९० ।।

याज्ञवल्क्य ने जो कुल चार शब्दों में उत्तर निपटा दिया, विस्तृत भूमिकादि बाँधकर खुलासा नहीं किया, उसका हेतु है कि उन्हें लगा यह अद्वय तत्त्व अन्तर्मुखी के लिये इतना स्पष्ट है कि इसके बारे में कोई संदेह उसे होगा ही नहीं जिसे मिटाने के लिये कुछ खास कहा जाये। बहिर्मुखी को तो समझाने पर भी ग्रहण नहीं होगा अतः यदि उषस्त इतने से न समझा तो अयोग्य ही हैऐसा याज्ञवल्क्य का भाव था। बहिर्मुख अर्थात् उपाधियुक्त ही आत्मा समझने वाला, अन्तर्मुख अर्थात् आत्मशोधन किया हुआ साधक। याज्ञवल्क्य को उषस्त के बारे में यह भ्रम नहीं था कि वह अज्ञ या बहिर्मुख है लेकिन जैसे उसने यों प्रश्न पूछा कि समझदार के ही पल्ले पड़े, वैसे याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया कि समझदार इशारे से सन्तुष्ट हो जाये।।८७-८।।

'एषः' से स्पष्टता कह कर 'ते' (तुम्हारा) से क्या बताया यह समझाते हैं **युष्मत्-(तुम) बुद्धि से उपलक्षित शरीर से आकाश तक सारा दृश्य षष्ठी विभक्ति वाले 'तुम्हारा' शब्द का अभिप्रेत अर्थ है।।८९।।** 'तुम्हारा' से सम्बोध्य अर्थात् शरीरवान् जीव तो कहा ही है, जो कुछ भी 'मैं' से भेदेन कहा-समझा जा सकता है वह सब भी कह दिया है अतः आकाशपर्यन्त सारा ही जगत् इसका अर्थ हो गया। यहाँ आकाश से प्रथम कार्य महाभूत भी समझ सकते हैं और उसका कारण माया भी समझें तो हर्ज़ नहीं क्योंकि उसके भी अधिष्ठान का उपदेश विवक्षित है। जब सम्बोध चेतन अर्थ है तब उसकी ब्रह्म से मुख्य एकता कही और जब सारा संसार अर्थ है तब संसार की बाध्यता, मिथ्यारूपता कही, यह समझना चाहिये।।८९।।

तीसरे शब्द 'आत्मा' का भाव व्यक्त करते हैं **अव्यभिचारी (स्थायी एकरस स्वप्रकाश) होने से जो स्वरूप है वह 'आत्मा' शब्द से कहा जा रहा है। आने-जाने वाले प्रमाता आदि का साक्षी होने से आत्मा ही स्वरूप है।।९०।।** (अनुभूतिप्रकाश की प्रतियों का पाठ स्पष्ट है। वार्तिकसार के पाठ का अर्थ है कि प्रमाता आदि का स्वरूप 'आत्मा' शब्द से कहा गया है। दोनों में अंतर यह है कि

---

१. 'आत्मेति च प्रमात्रादेः स्वरूपम्' इति सारे पाठः।

यद्यस्मिन् व्यभिचार्येत तत् स्वरूपं न कुत्रचित्।
कुंडलित्वं यथा पुंसः साक्षी त्वव्यभिचारवान्।।६१।।

अनुभूतिप्रकाश-पाठ में 'आत्मा' का अर्थ है 'स्वरूप' जबकि सार-पाठमें 'प्रमाता आदि का स्वरूप' अर्थ है। अतः उत्तरार्ध में 'तत्स्वरूपता' के 'तत्' से प्रकाश में आत्मा का परामर्श है, सार में प्रमातादिका परामर्श है। तात्पर्यतः दोनों पाठ एक भाव कहते हैं लेकिन समझने में प्रकाश पाठ सरल है। वार्तिक में 'आत्मेति च प्रमात्रादेरागमापायसाक्ष्यपि' (३.५.५३) कहा है; 'अपि' का अर्थ 'एव' वहाँ टीका में कहा है।) 'प्रमाता' अर्थात् 'मैं, जानने वाला', इसकी जो वास्तविकता वह आत्मा है। वस्तुतः जो सत्-चित्-आनन्द का कभी व्यभिचारी नहीं अर्थात् इनसे रहित नहीं होता वही 'स्वरूप' कहलाने वाला आत्मा है, वही प्रमाता आदि सारे जड-चेतन जगत् का सच्चा रूप है, इस सबका आत्मा है। प्रमाता या अहंकार आदि चित्तवृत्तियाँ जिससे सात्मक (सचेतन) हैं और आकाशपर्यन्त जगत् भी जिससे सात्मक (सत्तावान्) है वही अव्यभिचारी वस्तु आत्मा है। जैसे जल आदि, अग्नि-संपर्क से दाह आदि करने वाले लगते हैं जबकि वास्तव में दाहक अग्नि ही है, वैसे जगत् भी सत्-चिद्-आनंद लगता है पर वास्तव में सच्चिदानन्द आत्मा ही है। अतः आत्मा ही सबका सच्चा स्वरूप है। हर चीज़ 'स्वरूप' वाली लगती है, वह स्वरूप कहलाने वाला अव्यभिचारी तत्त्व आत्मा है। इसमें उपपत्ति है कि प्रमाता आदि संसार की सभी चीज़ें आगम-अपाय वाली, कभी होने कभी न होने वाली हैं अतः ज़रूर कोई इनका साक्षी है जिसे इनके होने-न-होने की खबर है और जिसकी अपेक्षा से ही इन्हें होने-न-होने वाला समझा जा सकता है। कोई स्थायी हो तभी किसी को अस्थायी कह सकते हैं और अस्थायी के भाव-अभाव का कोई एक साक्षी हो तभी उन्हें अस्थायी कह सकते हैं। संसार की अस्थायिता में प्रमाण ही उसका साक्षी आत्मा है जो वास्तव में स्वरूप कहलाने योग्य है। प्रमाण-प्रमेय प्रमाता सभी परिवर्तनशील होने से सचमुच स्वरूप-पद के वाच्य नहीं।।६०।।

स्वरूप को ही स्पष्ट करते हैं **ऐसा कहीं नहीं माना जाता कि जिसके (स्थिर रहते) जो बदल जाये वह (बदलने वाला) स्वरूप हुआ करे! जैसे कुण्डलधारी होना पुरुष का (स्वरूप नहीं माना जाता)। साक्षी ही कभी न बदलने वाला है।।६१।।** पुरुष कभी कुण्डल पहनता है, कभी खोल देता है। अतः कुण्डलधारी होना अस्थिर, व्यभिचारी है, पुरुष स्थिर, अव्यभिचारी है, इसीलिये पुरुष का स्वरूप कुण्डलधारी होना नहीं माना जाता। इसी प्रकार सर्वत्र अव्यभिचारी को स्वरूप नहीं मान

व्यभिचारो मिथो यद्वत् प्रमात्रादेः ससाक्षिकः ।
साक्षिणोऽव्यभिचारस्तु तथा किंसाक्षिको भवेत् ।।६२ ।।

सकते। 'यस्मिन्' अर्थात् जिस अधिष्ठान में 'यत्' अर्थात् जो आगमापायी अध्यस्त प्रतीत हो वह अध्यस्त उस अधिष्ठान का स्वरूप नहीं वरन् अधिष्ठान ही अध्यस्तों का वास्तविक स्वरूप होता है जैसे रस्सी ही सर्पादि का वास्तविक स्वरूप है। अथवा गहनों को सोने का स्वरूप नहीं वरन् सोने को गहनों का स्वरूप मानते हैं। व्यभिचारी न केवल स्थायी का स्वरूप नहीं वरन् स्वयं अपना भी स्वरूप नहीं क्योंकि व्यभिचारी मिथ्या होने से स्वरूपहीन होता है जैसे सर्पादि का रस्सी से अतिरिक्त कोई स्वरूप नहीं होता है यह भाव है। इसलिये आत्मा ही स्वरूप शब्द का मुख्य अर्थ है।।६१।।

साक्षी अव्यभिचारी है इसे दृढ करते हैं **प्रमाता आदि का आपसी व्यभिचार जैसे आत्मरूप साक्षी वाला है, साक्षी का अगर व्यभिचार (आगमापाय) हो तो उसमें कौन साक्षी होगा!।।६२।।** स्थायी ही साक्षी होता है, वही अस्थायी में प्रमाण है। बचपन, जवानी, बुढ़ापा तो अपने-अपने काल में हैं, तीनों में समान रूप से होने वाला आत्मा ही इनमें, इनके आने-जाने में प्रमाण है। यदि आत्मा एकरस भाव से न रहे तो 'जो मैं बच्चा था, जवान रहा, अब बूढ़ा हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा ही असंभव हो। बचपन तो बुढ़ापे को नहीं जानता, बुढ़ापा भी बचपन को नहीं जानता, अतः जो दोनों को जाने उस साक्षी के आधार पर ही यह प्रत्यभिज्ञा होती है और तभी सिद्ध होता है कि एक के ही बचपन जवानी-बुढ़ापा ये अवस्थाएँ हुई। ऐसे ही द्रष्टा-श्रोता-गन्ता जो एक वह चक्षु श्रोत्र पाद का साक्षी ही माना जा सकता है, अन्यथा द्रष्टा श्रोता-गंता नहीं, श्रोता द्रष्टा-गन्ता नहीं और गन्ता द्रष्टा-श्रोता नहीं। क्योंकि प्रमेय व प्रमाण आगमापायी इसलिये प्रमाता भी अस्थायी है, अत एव वह भी साक्षी से ही अपनी सिद्धि अपेक्षित रखता है। यदि साक्षी अस्थिर हो तो उसकी अस्थिरता का साक्षी कौन होगा? और बिना किसी साक्षी के साक्षी को अस्थिर मानना अन्धविश्वास ही है जैसा बौद्धों में प्रसिद्ध है वे आत्मा हो अनित्य, क्षणिक कहते हैं जबकि आत्मा की क्षणिकता में प्रमाण हो ही वह सकता है जो स्थायी हो! साक्षी शब्द से आत्मा की निर्विकारता, असम्बद्धता, राग-द्वेष-शून्यता आदि विशेषताएँ भी कह दीं क्योंकि लोकसिद्ध साक्षी भी ऐसा ही स्वीकारा जाता है। साक्षी को अस्थिर मानकर उसका अन्य साक्षी स्वीकारना अनुभव, प्रमाण, तर्क से विरुद्ध है अतः ऐसी कल्पना को स्थान नहीं है।।६२।।

प्रमात्रादि जगत् का स्वरूप आत्मा है यह बात याज्ञवल्क्य के शब्दों पर आरूढ करने

आत्मात्मवत्त्वसम्बन्धः षष्ठ्योक्तो जगदात्मनोः ।
स्वतो निरात्मकं दृश्यमात्मना सात्मतां व्रजेत् । ।९३ । ।

के लिये 'ते' (तुम्हारा) शब्द में स्थित सम्बन्धवाचक षष्ठी विभक्ति का अर्थ कहते हैं **षष्ठी से कहा जगत्-आत्मा का सम्बन्ध है आत्मा-आत्मवत्त्व। दृश्य खुद आत्मतारहित है, आत्मा से ही दृश्य को आत्मता का लाभ होता है।।९३।।** तुम्हारा अर्थात् तुम-कहलाने वाले अनात्मा का; इस 'का' प्रत्यय से कोई सम्बन्ध कहा गया है जो तुम-पदार्थ और आत्मपदार्थ के बीच है। अनात्मा असद् आदि और आत्मा सद् आदि होने से परस्पर विरुद्धों का संयोगादि प्रसिद्ध कोई सम्बन्ध संभव नहीं और यदि सर्वथा कोई सम्बन्ध न हो तो इनमें परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशकता (साक्ष्य-साक्षिता) संभव नहीं। अतः इनमें आध्यासिक ही सम्बन्ध मान्य है जिसे यहाँ नाम दिया आत्मा-आत्मवत्त्व। आत्मवत्त्व अर्थात् आत्मवान् होने का भाव। धन और धनवान् में आपसी सम्बन्ध जैसे धनव त्त्व ही कहा जा सकता है वैसे यहाँ समझना चाहिये। सम्बन्ध सभी संबंधियों में रहना चाहिये ऐसा मानकर धन-धनवत्त्व को संबंध कहेंगे। इसी तरह यहाँ आत्मा और जो अनात्मा होने पर भी आत्मवान् लग रहा है उनमें आपसी सम्बन्ध आत्मात्मवत्त्व कहा गया है। यद्यपि विचार करने पर आत्मत्व आत्मा में ही है, आत्मवत्त्व अनात्मा में ही है, अतः दोनों में समान रहने वाला 'सम्बन्ध' इन्हें या इनमें से किसी को कहना नहीं बनता, तथापि यह दोष ऐसे तार्किक-संमत सभी सम्बन्धों में होने से यहाँ विचारणीय नहीं। इसीलिये वेदान्त में 'अध्यास' को संबंध मानते हैं जो अन्योन्याध्यास के रूप में उभयानुगत हो जाता है। प्रकृत में आत्मा-अनात्मा का परस्पर अध्यास ही आत्मात्मवत्त्व कहा है, जिससे अनात्मा सात्मक (आत्मवान्, स्वरूपवान्) तथा आत्मा उसे सात्मक बनाने वाला है। स्वयं में तो अनात्मा 'निरात्मक' (आत्मतारहित, स्वरूपरहित) ही है जैसा कि उसका अन्-आत्मा यह नाम ही बताता है। आत्मरूप सत् से ही जडों को सत्ता मिलती है, आत्मरूप चित् से ही जड ज्ञात होते हैं, खुद नहीं, आत्मरूप आनन्द से ही इनमें प्रियता आती है, अतः इनकी सात्मकता वही है जो इन्हें आत्मा से प्राप्त है। जड की सिद्धि ज्ञान पर निर्भर है, प्रत्यक्ष हो या अनुमानादि परोक्ष, किसी न किसी ज्ञान से ही जड को स्वीकारना संभव है, बिना किसी ज्ञान के नहीं। इसलिये साक्षी ही सर्वसाधक होने से स्वरूप-शब्द का मुख्य अर्थ है यह निश्चित हुआ। ।९३। ।

याज्ञवल्क्य के प्रतिवचन में अन्तिम पद है 'सर्वान्तरः', इसे समझाते हैं **सर्वान्तर-शब्द से आत्मा इसलिये कहा गया कि वही सबका स्वरूप है। सर्प, जलधारा, आदि**

आत्मा सर्वस्वरूपत्वात् सर्वान्तरगिरोदितः।
सर्पधारादिकल्पेषु रज्जोरान्तरता यथा।।६४।।
आत्मनोऽनवशेषेण तदन्यार्थाभिसंगतेः।
प्रत्यङ्मात्रतयैवान्यद् बोधादात्मनि लीयते।।६५।।

विकल्पनाओं के अन्दर (स्वरूप) जैसे रस्सी होती है (वैसे सर्व में आत्मा ही स्वरूप है)।।६४।। क्योंकि आत्मा, आत्मभिन्न चीज़ों में से किसी को भी छोड़े बगैर उनसे हर तरह सम्बद्ध होता है इसलिये केवल प्रत्यक्‌इस रूप से बोध होने के कारण जो कुछ भी आत्मभिन्न प्रतीयमान है वह आत्मा में लीन हो जाता है।।६५।। आत्मा, साक्षी ही सर्वान्तर भी कहा गया। किंतु घड़े में पानी-सा वह सबके भीतर नहीं वरन् गहनों में सोने की तरह, सर्पादि में रस्सी ती तरह वह सब में है। हालाँकि घड़े में पानी और गहने में सोनाप्रयोग दोनों होते हैं फिर भी एक में चीज़ें अलग हैं जबकि दूसरे में सोने से अलग *चीज़* कुछ नहीं है, प्रतीति ही है। गहने का कोई भी कण बिना सोने का नहीं है। ऐसे ही संसार कुछ हो जिसमें परमात्मा हैयह नहीं वरन् परमात्मा से अलग संसार कुछ है ही नहीं, प्रतीतिमात्र से भिन्न है। गहना-सोना श्रुतिसंमत दृष्टान्त होने पर भी साधारण लोग वहाँ परिणाम समझते हैं अतः आचार्य ने सर्प-धारादि में रस्सी का दृष्टांत दिया। सभी अध्यस्तों में अधिष्ठान भरा होता है, इसी तरह संसार में परमात्मा है अतः वह सर्वान्तर है। आत्मा सारे अनात्मा से सर्वथा सम्बद्ध इसीलिये है कि अनात्मा आत्मा पर आरोपित है जैसे गहना सोने पर या सर्प रज्जु पर आरोपित होने से ही आत्मा सारे गहने आदि से सर्वथा सम्बद्ध होता है। अनध्यस्त से तो संयोगादि सम्बन्ध होगा जो 'सर्वथा' नहीं होगा। घड़े में पानी होगा तो भीतर ही होगा, घड़े की दीवाल में नहीं, बाहर नहीं, घड़े के परमाणुओं में नहीं; लेकिन गहनों में तो सोना 'सर्वथा' (हर तरह से) ही होगा, सोने के बगैर गहने का कोई हिस्सा होगा ही नहीं। 'अनवशेषेण' अर्थात् कुछ भी किसी भी तरह अवशेष नहीं है, बचा नहीं है, सभी कुछ सभी तरह सिमट गया है। ओत-प्रोत शब्द से भी यह भाव कहा जाता है। इसीलिये प्रत्यगात्मा को जान लेने से समझ आता है कि सारा जगत् बस वही है! प्रत्यक् रह गया, तदन्य कुछ है-कहने जैसा नहीं रहा, इसी से तदन्य (जगत्, अनात्मा) का प्रत्यक् में विलय कहा गया। यह प्रत्यक् के सत्-स्वरूप के अनुसन्धान से भी स्पष्ट है व चित्-स्वरूप के अनुसन्धान से भी, क्योंकि कुछ भी न सत्-हीन मिलेगा और न चित्-हीन की सिद्धि होगी। चित्-असम्बद्ध असत् ही अर्थात् नहीं ही है। चित्-अचित् का वास्तविक सम्बन्ध संभव भी नहीं। अतः

इत्थं स्वानुभवाद्याज्ञवल्क्यः सर्वान्तरं जगौ।
अन्यः संशयमापाद्य जिगीषुः परिपृच्छति।।९६।।
तवात्मेत्युत्तरं दत्तं ममात्मेति त्रिधेक्ष्यते।
देहो लिंगं च साक्षीति तेषु सर्वान्तरस्तु कः।।९७।।
सर्वान्तरत्वं दुःसाध्यमल्पयोर्देहलिंगयोः।
सद्भावेऽन्यस्य किं मानमप्रमेयस्य साक्षिणः।।९८।।

अचित् की चित् पर आरोपितता स्वतः प्रकट होने से उसका चित् में विलय संगत है।।९४-५।।

इस संक्षप्ति सांकेतिक-से उत्तर से असंतुष्ट उषस्त ने स्पष्टीकरण माँगा 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः?' कि 'सर्वान्तर' से किसे कहा जा रहा है? इस प्रश्न में एक भाव तो था ही कि विस्तार सुनाने में याज्ञवल्क्य गड़बड़ा सकता है, दूसरा यह भी मान सकते हैं कि स्वयं ब्रह्मनिष्ठ होने से उषस्त ब्रह्मचर्चा में रुचि रखते थे एवं याज्ञवल्क्य जैसे प्रसिद्ध सूर्यशिष्यसे इस बारे में सुनना तथा सभा में सभी को सुनवाना चाहते थे। इसी प्रश्न को समझाते हैं **याज्ञवल्क्य ने तो यों (सभी के) स्वानुभव से सिद्ध वस्तु को सब के अन्दर कहा पर दूसरा (उषस्त) इस बारे में संशय उपस्थित कर स्पष्टतार्थ पूछता है (क्योंकि) जीतना चाहता है।९६।। 'तुम्हारा आत्मा' यह याज्ञवल्क्य ने जो उत्तर दिया; इसमें (प्रश्न है कि) मेरा आत्मा तीन तरह से प्रतीत हो रहा है : स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, साक्षी (तीनों को ही हम आत्मा समझते हैं)। इनमें से उत्तर में कथित सर्वान्तर है कौन?।।९७।। छोटे जो स्थूल-सूक्ष्म शरीर, उन्हें सर्वान्तर सिद्ध कर पाना कठिन है और इनसे अन्य साक्षी, जो प्रमाणविषय की कोटि का है ही नहीं, उसके होने में प्रमाण क्या हो सकता है!।।९८।।** याज्ञवल्क्य का उत्तर अनुभव-आधारित था, स्वयं का भी तथा उषस्त आदि अभिज्ञों का भी एवं मूलभूत रूप से सभी का। लेकिन 'आत्मा' शब्द क्योंकि कई चीज़ों का बोधक है इसलिये उषस्त ने ज़रूरी समझा पता लगाना कि याज्ञवल्क्य किसकी चर्चा कर रहे हैं। जैसे ब्रह्माजी का उपदेश इन्द्र-विरोचन को समझ नहीं आया पर शब्द याद रहे ऐसे ही कहीं याज्ञवल्क्य शब्दज्ञानी ही तो नहीं?यह भी संशय हो सकता था। सभा सर्वोत्तम ब्रह्मवेत्ता के निर्धारण की थी अतः योग्य का निर्धारण हो यह सभी की अभिलाषा होना उचित ही था। उषस्त स्वयं जिगीषु अर्थात् जयेच्छु होने से ही पूछने में प्रवृत्त हुआ था यह स्पष्ट ही है। याज्ञवल्क्य ने 'ते' (तुम्हारा) कहा, अतः जो कुछ

मेरा आत्मा कहा-समझा जा सकता है उस सबको या उसमें से किसी को सर्वान्तर कहा हो यह उचित है अत : प्रश्न उठाना संगत है। 'मैं देवदत्त, ब्राह्मण' आदि व्यवहार शरीर को 'मैं' (आत्मा) समझकर होता है। 'मैं सुखी, दुःखी' आदि मन (सूक्ष्म शरीर) को आत्मा समझकर व्यवहार है। ऐसे ही द्रष्टा, वक्ता, भूखा आदि भी सूक्ष्म को आत्मा मानकर व्यवहार है। किं च जो शरीर के और सूक्ष्म शरीर के विभिन्न भेदों को पहचानने समझने वाला अर्थात् साक्षी तत्त्व है उसे भी आत्मा समझते हैं तभी कहते है 'जो मैं बच्चा था वही बुड्ढा हो गया' या 'जो मैं कामनादि-ग्रस्त था वही अब विरक्त हो गया' आदि। स्थूल-सूक्ष्म शरीर तो बदल गये, जो नहीं बदला वह उनसे अन्य साक्षिरूप आत्मा ही सम्भव है। इन तीन आत्मा कहलाने वाली चीज़ों में से जो स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर हैं उन्हें सर्वान्तर कहना बनता ही नहीं : स्थूल तो बाह्य ही है, आन्तर ही नहीं तो सर्वान्तर कैसे होगा! सूक्ष्म भी 'ते' तुम्हारा यों कहा गया तो व्यष्टि ही विवक्षित होगा और वह एक स्थूल के भीतर हो भी गया पर सबके भीतर तो हो नहीं सकता। सब क्योंकि अतिविस्तृत क्षेत्र कहा जाता है अतः किसी स्वल्प को सबके भीतर समझना संभव नहीं होता। यद्यपि बड़े में छोटा हो तो सकता ही है तथापि यदि दस मन अनाज के बर्त्तन में एक दाना राई पड़ी हो तो 'बर्तन में राई रखी है' कहना उचित नहीं वैसे अतिस्वल्प को सर्वान्तर कहना भी अनुचित है। यों तीन आत्माओं में से दो जब सर्वान्तर नहीं तब बचा साक्षी, लेकिन वह प्रमाणों का विषय न होने से याज्ञवल्क्य उसे सिद्ध कैसे करेगायह उषस्त को कुतूहल था। आत्मरूप समझने स्वीकारने में सदा यही कठिनाई है कि शरीर-मन वाला तो खुद को महसूस कर सकते हैं, प्रमाणों से इनका निर्धारण कर सकते है, साक्षी 'को' न महसूस कर सकते हैं, न प्रमाण उस 'को' निर्धारित कर सकते हैं। वह तो जानने वाला है अतः उसे कैसे जाना जाये! जैसे नमक खारा *किया* नहीं जा सकता, चीनी मीठी *की* नहीं जा सकती, ऐसे आत्मा ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता, जाना नहीं जा सकता। यों प्रमाणविषय बिना बना आत्मा ही अंगीकार्य होने से उसे समझना अतिकठिन है। अतः याज्ञवल्क्य ने 'एष ते' से कहा था कि क्योंकि तुमने स्वयं 'साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म आत्मा सर्वान्तर' का ज़िक्र उठाया अतः उसे तुम जान ही रहे हो, उसके बारे में मुझे इतना ही 'व्याख्यान' करना है कि वही उक्त विशेषताओं वाला है जिसे तुम अपना स्वरूप समझ रहे हो। लेकिन उषस्त ने पृष्ट-परामर्शी 'एष ते' न मानकर आत्मशब्द के रूढ अर्थों में से कोई विवक्षित है यह समझकर प्रश्न किया।।९६-८।

इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति

एवं पृष्टः स्वानुभूतौ वादिनोऽनधिकारिताम्।
मत्वाऽनुमानतः सत्तामात्मनः प्रत्यपादयत्।।९९।।
स्वप्रभे माननैष्फल्याद् अप्रमेयत्वमिष्यते।
वादिभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं मानोक्तौ हीयतेऽत्र किम्।।१००।।

स..यो व्यानेन व्यानिति...य उदानेनोदानिति...एष त आत्मा सर्वान्तरः' अर्थात् प्राणापानादि से प्राणन-अपानन आदि चेष्टाएँ करने वाला स्वतो भासमान प्रत्यक् ही सर्वान्तर आत्मा है। इस उत्तर का वर्णन करते हैं **यों पूछे गये याज्ञवल्क्य ने यह विचार कर कि स्वानुभूति के बारे में वह नहीं समझ सकता जो जयेच्छुक होकर वार्त्ता कर रहा है, अनुमान से आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया।।९९।।** अनुभूति स्वीकार्य होती है पर आधारभूत ढंग से न शब्दों से पूरी-पूरी कही जा सकती है और न किसी ग़ैर जानकार को ठीक-ठीक समझ आ सकती है। अतः एक बार याज्ञवल्क्य ने उल्लेख से इशारा तो किया लेकिन उसके बारे में पुनः प्रश्न होने पर अनुभूतिका स्तर छोड़कर अनुमान के ढंग से समझाया। यहाँ उषस्त के अनधिकार में तात्पर्य नहीं वरन् आत्मा के स्पष्टीकरण के ही अभिप्राय से प्रश्न-उत्तर है। यद्यपि अन्ततोगत्वा आत्मा स्वानुभवरूप से ही सिद्ध है तथापि उसे युक्ति से उपपन्न किया जा सकता भी है एवं उसके बारे में कोई भ्रम न रहे इसके लिये उपपन्न करना आवश्यक भी है। आत्मा के बारे में अनुमान प्रमाण नहीं कह रहे वरन् उसके होने का प्रतिपादन अनुमान से कर रहे हैं अतः उसमें प्रमेयता की आपत्ति नहीं है।।९९।।

उक्त आपत्तिराहित्य स्पष्ट करते हैं **स्वयम्प्रकाश वस्तु के बारे में प्रमाण किसी फल वाला न होने से उसे अप्रमेय स्वीकारा जाता है लेकिन वादियों के भ्रमों को मिटाने के लिये प्रमाण कह देने से आत्मा का बिगड़ता क्या है!।।१००।।** अज्ञात को ज्ञात बनाना प्रमाण का फल है अतः जो कभी अज्ञात है ही नहीं उसके बारे में प्रमाण प्रवृत्त हुआ भी व्यर्थ-सा है। जो हमेशा पता है उसी के बारे बताने वाला प्रमाण कहलाने के भी योग्य नहीं। फिर भी उस स्वप्रकाश वस्तु के बारे में लोगों को अनेक भ्रम होते ही हैं। यहाँ तक कि वह है ही नहींऐसा भ्रम भी अनात्मवादियों का है। वह चिद्रूप, आनन्दरूप नहींयह तार्किकादि का भ्रम है। और भी बहुत-से भ्रम प्रसिद्ध हैं। प्रमाण यह कार्य कर सकते हैं कि उन भ्रमों को मिटायें। जैसे सामने रस्सी है, आँख से वही दीख रही है पर किसी को वह साँप लगी रही है तो दूसरा समझाता है कि 'साँप होता तो हिलता डुलता, नहीं हिल-डुल रहा है अतः साँप नहीं रस्सी है'।

प्राणादिकरणैश्चेष्टा कर्तृपूर्वा क्रियात्वतः।
छिदिक्रियावत् कर्तृत्वं न युक्तं देहलिंगयोः।।१०१।।
करणप्रेरकः कर्ता करणैः प्रेर्यते वपुः।
लिंगं तु करणात्मत्वान्नैव कर्तृत्वमर्हति।।१०२।।

इस अनुमानसे रस्सी सिद्ध नहीं हो रही, वह तो प्रत्यक्ष है ही, केवल उसके बारे में भ्रम मिट रहा है। राधेय को 'कौन्तेय हो' ऐसा उपदेश उसके स्वरूप के लिये नहीं वरन् राधेयता के भ्रम की निवृत्ति के लिये था। इसी तरह आत्मा के बारे में भ्रान्तियाँ मिटाना प्रमाणों का प्रयोजन है। वर्त्तमान काल में भी आत्मस्वरूप सही-सही न समझने वाले ही अधिक हैं अतः अनुमानों से उन्हें निर्भ्रान्त करना अनिवार्य है तभी शास्त्रसमर्पित आत्मा अंगीकार हो पायेगा। इसलिये आत्मा की अप्रमेयता के अनुरोध से उसके बारे में प्रमाणों के अनुसन्धान से डरना व्यर्थ है, प्रमाण का मुख्य फल न होने पर भी गौण फल भ्रमनिवृत्ति है ही। आवरण को भी एक भ्रम ही मानकर उसकी निवृत्ति प्रमाणफल होना उचित है। वस्तुतः बिना हुए प्रतीतियह भ्रमरूपता आवरण में है ही।।१००।।

याज्ञवल्क्य द्वारा कहे प्रमाणों का वर्णन करते हैं**प्राण आदि साधनों से होने वाली चेष्टा (यत्न) क्योंकि क्रिया है इसलिये अवश्य उसका उत्पादक कोई कर्त्ता है जैसे लकड़ी काटने की क्रिया। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का कर्त्ता होना उपपन्न नहीं।।१०१।। कर्त्ता वह होता है जो करणों (साधनों) का प्रेरक (प्रयोग में लेने वाला) हो जबकि स्थूल शरीर करणों से (इंद्रियादि से) स्वयं प्रेरित होता है (अतः कर्त्ता नहीं)। सूक्ष्म शरीर तो खुद करणरूप है अतः कर्त्ता नहीं ही हो सकता।।१०२।।** हाथ, आँख, श्वास आदि की क्रियाओं से ही देहादि में कर्त्ता-रूप आत्मा की अवस्थिति समझी जाती है। सामान्य नियम है कि करण अर्थात् साधन को कोई प्रेरित करेगा, काम में लेगा, तभी व्यवस्थित सफल क्रिया होगी। आधुनिक नास्तिक यद्यपि छोटे-मोटे सब कार्यों में सकर्तृकता मानते हैंचोरी हो जाये तो मानते हैं कि ज़रूर कोई जीता-जागता चोर किसी तरह घुसकर ले गया इत्यादि, तथापि समस्त सृष्टि के जन्मादि के प्रति सच्चिदानन्द परमेश्वर को कर्त्ता मानना नहीं चाहते! यह उनकी अयुक्तिसंगत विचारधारा ही उनका दौर्भाग्य है। आत्मा-शब्द से शरीर और लिंग (सूक्ष्मशरीर) दोनों कहे भले ही जायें लेकिन इन्हें कर्त्ता नहीं समझ सकते क्योंकि स्थूल करणों द्वारा प्रेरित है, और सूक्ष्म खुद ही करणरूप है।

मुखसंचारिणा जाग्रद्यः प्राणेनानितीक्षिता।
सर्वप्रत्यक्तमः सोऽयमात्मा सर्वान्तरावधिः।।१०३।।

करण जैसे पेड़ काटने में करण कुल्हाड़ी, उसे लकड़हारा-रूप कर्त्ता चलायेगा तभी पेड़ कटनारूप कार्य होगा। कुल्हाड़ी खुद ही चल जायेयह नहीं होता। ऐसे ही सूक्ष्म शरीर कर्त्ता भी होयह संभव नहीं। इस प्रकार आत्मा-शब्द से कहे तीन में से दो तो आत्मा-शब्द का मुख्य अर्थ नहीं हो सकते क्योंकि लोक में आत्मा कर्त्तारूप से पहचाना जाता है एवं उक्त दोनों कर्त्ता हैं नहीं।।१०१-२।।

याज्ञवल्क्य के उत्तर का मुख्य भाव समझा चुके, अब उत्तर व्यक्त करते हैं **जो (ईक्षिता=) जानकार (=साक्षी) जगते हुए प्राणों से श्वास-प्रश्वास आदि करता है, भीतर होने वालों की सीमा वह सर्वाधिक प्रत्यक् यह अपरोक्ष वस्तु आत्मा है।।१०३।।** श्वासादि प्राणन क्रिया यद्यपि हमें स्वाभाविक लगती है, हमारी किसी चेष्टा से होती नहीं लगती, तथापि इसमें चेतन की हेतुता अवश्य है। पानी में डूबने आदि की परिस्थिति में अनुभव होता है कि हम कितना प्रयास करते हैं साँस लेने के लिये। इसी तरह मरणासन्न अपनी आसक्ति-विशेष से प्राणान्त को मानो टालता है; जिस पुत्रादि को मिलना चाहता है उसके आते ही मर भी जाता है। इस सब से सूचित होता है कि प्राणों का चलना भी कर्त्ता से प्रेरित ही है। यह प्रेरक आत्मा 'सर्वान्तरावधिः' है अर्थात् शरीर के भीतर से भीतर जो है, उस सबके यह भीतर है। शरीर में प्राण मन बुद्धि प्रसिद्ध हैं, उस बुद्धि के भी भीतर आत्मा है। इसीलिये यह सबसे ज़्यादा प्रत्यक् है। विषयरूप से कभी न भासने वाला किन्तु सदा भासमान तत्त्व प्रत्यक् कहलाता है। आत्मा ऐसा ही है, इसे 'यह'यों घड़े आदि की तरह कभी अनुभव नहीं करते लेकिन एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब आत्मा अनुभूयमान न हो! ईक्षिता अर्थात् ईक्षण करने वाला। ईक्षण से ज्ञान, विचार कहा जाता है। स्वरूप से साक्षी ज्ञान है लेकिन वही उपाधि अंगीकार कर ज्ञान को 'करने वाला' भी बनता ही है। प्रमाता कोई और नहीं, साक्षी ही है; वास्तव में साक्षी रहते हुए भी अज्ञानवश प्रमाता प्रतीत हो रहा है। प्राणनादि के प्रति कर्त्ता यद्यपि प्रमातृरूप से होगा तथापि होगा तो वही जो सर्वान्तर आत्मा है, यह तात्पर्य है।।१०३।।

जाग्रत् में आत्मसिद्धि कर अब अन्य अवस्थाओं में उसे उपपन्न करते हैं **इन्द्रियाँ सो जाने पर भी जिसकी शक्ति का लोप नहीं होता, जो जगा रहता है इसलिये (सपने में) सारे नाम-रूप देखते हुए वायु से साँस लेता है (वह सर्वान्तर आत्मा**

सुप्तेऽस्मिन् करणग्रामे योऽसुप्तोऽलुप्तदृष्टिकः ।
अथ सर्वान्नामरूपान् पश्यन् प्राणिति वायुना ।।१०४ ।।[1]
स्पष्टेषु बहुलिंगेषु मानाभावमचूचुदः ।
इत्युपालब्धये लिंगान्यपानादीन्युदाहरत् ।।१०५ ।।
एकादशेन्द्रियोत्पन्नचेष्टानामुपलक्षणम् ।
प्राणाद्युदाहृतिस्तेन लिंगानां बहुता स्फुटा ।।१०६ ।।

है)।।१०४।। (मृत्तुशास्त्रीधृत सारानुसारी पाठ में 'वह सारे वासना-रूपों को देखते हुए'यह उत्तरार्ध में अर्थ है।) स्वप्न में इंद्रियाँ तो उपरत हो चुकती हैं फिर भी वासनाजन्य नाम-रूप उपलब्ध जिसकी शक्ति से होते हैं, अपनी शक्ति से उन्हें ग्रहण करने वाला आत्मा ही है। उसकी जानने की और प्रेरणा करने की शक्ति कहीं जाती नहीं, सिर्फ़ साधन लुप्त, सुप्त रहते हैं अतः कोई कार्य उनसे नहीं हो पाता। उन साधनों के बिना जो हो सकता है वह तो होता ही रहता है, शरीर के विविध तन्त्र (पाचन तन्त्र, रक्तसंचार तन्त्र आदि) चलते ही रहते हैं, सपना आये तो दीखता सुनायी देता भी रहता है। सपने में जो अनुभव होते हैं उनमें हेतु बनती है हमारी वासनाएँ, हमारे संस्कार। बहुधा लगता है कि जो दीखा वह पूर्वानुभूत नहीं तो उसके संस्कार कैसे हैं, लेकिन विभिन्न अनुभवों से उपलब्ध संस्कारों का मेल-जोल हम सपने में कर लेते हैं जिससे नवीनता प्रतीत होती है। रूप कहीं का, नाम कहीं का, गंध कहीं कीइन्हें सपने में जोड़ लेने से लगता है कुछ नया दीखा। अतः सपने की चीज़ों के प्रति जीव को 'कर्त्ता' श्रुति में कहा गया है। बाह्येन्द्रियाँ लुप्त होने पर स्वप्न के दौरान तथा मन भी लुप्त होने पर सुषुप्ति के दौरान प्राण (श्वास-निश्वास आदि देहरक्षक प्रक्रियाएँ) तो आजीवन चलता रहता है अतः आत्मा वायु के सहारे प्राणन-क्रिया करता रहता है।।१०३-४।।

आत्म-प्रबोधन उक्त 'यः प्राणेन प्राणिति' से ही हो गया, अपाननादिका भी वह कर्त्ता है यह क्यों कहा? इसका उत्तर बताते हैं(**आत्मसिद्धि के लिये) बहुतेरे स्पष्ट चिह्नों के रहते (श्लोक. ९८ में) 'उसके बारे में प्रमाण नहीं है'ऐसा जो उषस्त ने सम्भावित किया था, उस पर उसे उल्हाना देने के लिये अपान आदि लिंग (चिह्न) (याज्ञवल्क्य ने) कहे।।१०५।। प्राणादि का उल्लेख ग्यारहों इन्द्रियों के संग्रह के लिये है अतः चिह्न बहुत-से हैं यह बात स्पष्ट है।।१०६।।** विभिन्न

१. सर्वान् सवासनारूपान्इति सारपाठः।

प्राणादिकार्यकरणैः स्वतोऽसंहत एकलः।
अकुर्वन् कुरुते चेष्टामयस्कान्तो मणिर्यथा।।१०७।।

चेष्टाओं के कर्तृत्व भी विभिन्न मानकर अनेक अनुमान आत्मसिद्धि में उपन्यस्त हैं। त्वम्पदार्थ का इसी ढंग से विवेचन किया जाता है। वाच्य देहादि के आधार पर उसके प्रेरक को, फिर साक्षी को समझा जाता है। इसी से 'प्राक् प्रमातृत्वम्' और 'पाप्मदोषादिवर्जित' ऐसा सुन्दरपाण्ड्यकारिका द्वारा सूत्रभाष्य में समझाया है। एक-दो चेष्टाएँ भी कहते तो आयुर्विज्ञानादि नाना शास्त्रों में उनके प्रति कोई-न-कोई वैकल्पिक हेतु उपस्थित हो जाता, लेकिन जब यों अनेक चेष्टाएँ बतायीं जिन सबके बारे में एक ही प्रत्यभिज्ञा भी है, तब आत्मा से अन्य को हेतु मान पाना संभव नहीं रहा। इसीलिये जडवादी भी निरस्त होते हैं, आत्मा है ही नहीं ऐसा मानने वाले इन सब चेष्टाओं के प्रति किसी एक हेतु को उपस्थापित कर ही नहीं सकते। स्वप्न में रूप रसादि की प्रतीति निश्चित ही इन्द्रियद्वारक नहीं किंतु प्रतीति है अवश्य, अतः उसका हेतु इन्द्रियाँ नहीं ही हैं तो कौन है जो जाग्रत् में भी रूपादि-प्रतीतियों का वैसा ही हेतु है? इसका अनात्मवाद में आज तक उत्तर नहीं। आगे सुषुप्ति के आनन्द का कौन अनुभव करता हैयह भी अनात्मवादियों के लिये पहेली ही रहती है। श्लोक १०४ स्वप्नसाक्षी को स्पष्ट करता है। अथवा, प्रथमार्ध से सुषुप्ति-साक्षी और द्वितीयार्ध से स्वप्नसाक्षी का स्पष्टीकरण समझना चाहिये। पण्डित कृपालु ने वार्तिकसार व्याख्या में यह विभाजन माना है (३.४. श्लोक. ४०)। अनेक चिह्न उलाहने के लिये इस तरह कि यद्यपि शुद्ध, निर्विशेष, निरुपाधि आत्मा अप्रमेय है, अनुमान का भी विषय नहीं, तथापि स्थूल-सूक्ष्म शरीर आत्मा नहीं हैयह तो प्रमेय है ही, अनुमान से सिद्ध होता ही है। उषस्त को अप्रमेय में प्रमाण की जिज्ञासा अयोग्य है, जहाँ प्रमाण मिल सकता है वहीं वह पूछा जाना उचित होता है। अतः याज्ञवल्क्य देहद्वय की प्रेरणा को आत्मसिद्धि में चिह्न बता रहे हैं। सोपाधि आत्मा (प्रमाता) तो इन अनुमानों से अवश्य सिद्ध होता है। याज्ञवल्क्य के प्रथम संक्षिप्त उत्तर पर 'कतमः?' पूछना भी उषस्त का उपालंभ ही था कि 'मेरे गंभीर प्रश्न का यह क्या उत्तर दिया!' अतः याज्ञवल्क्य ने भी उपालम्भ दिया कि 'ऐसी स्पष्ट वस्तु के बारे में तुमने पूछा, यह भी क्या प्रश्न है!' अनेक उपाधियों वालाइस ढंग से समझते ही स्पष्ट होता है कि वह उपाधियों से अलग, निरुपाधि है। इसीलिये अवाङ्मनसगोचर का वाक् से वर्णन और मन से ग्रहण सम्भव हो जाता है।।१०५-६।।

आत्मा को कर्त्ता कहते ही विकारिता प्राप्त होने से स्पष्टीकरण देते हैं **आत्मा**

रथादौ नियता चेष्टा चेतनेनानधिष्ठिते।
न दृष्टा चेतनस्तेन प्राणादीनां प्रवर्तकः।।१०८।।

खुद संघात से परे, अकेला रहते हुए, कुछ न करते हुए भी प्राणादि कार्यों व करणों से चेष्टा करता है जैसे चुम्बक।।१०७।। क्रिया दो तरह कीएक वह जो किसी साधन के प्रयोग से हो; दूसरी वह जिसके लिये 'कर्त्ता' कुछ करता नहीं! ऐसी क्रिया होना अनिवार्य भी है अन्यथा कोई क्रिया सम्भव नहीं रहेगी : कर्त्ता करण से क्रिया करता है। लकड़हारा कुल्हाड़ी से पेड़ काटता है। लेकिन कुल्हाड़ी चलाने के लिये हाथ से उसे पकड़ कर ऊपर-नीचे करता है अतः हाथ साधन हुआ। आगे, हाथ चलाने के लिये स्नायु आदि का प्रयोग करता है, वे साधन हुए। किंतु उनसे किस साधन द्वारा करता है? यदि कोई साधन हो भी तो फिर वही कठिनाई कि उससे क्रिया करने में क्या साधन? अर्थात् अनवस्था नामक दोष होगा जिसका भाव है कि यह नियम अमान्य है कि कर्त्ता कुछ *करे* तभी क्रिया हो। कोई-न-कोई ऐसी क्रिया माननी अनिवार्य है जिसके लिये कर्त्ता को कुछ करना न पड़े, उसका होना ही पर्याप्त हो। एवं चुम्बक-संनिधि में होने वाली लोहे की क्रिया ऐसी प्रसिद्ध उदाहरण है। चुम्बक करता तो कुछ नहीं, फिर भी लोहे के हिलने आदि में कारण वही है। क्योंकि कुछ करके अर्थात् किसी साधन के उपयोग से कर्त्ता नहीं बनता इसलिये चुम्बक की वह करण-रहित ही क्रिया है। जैसे बिना कुछ किये चुम्बक करने वाला बनता है वैसे परमात्मा भी न करते हुए ही करता है। समग्र जड-चेतन जगत् जो कुछ कर रहा है उसमें मूल हेतु परमात्मा है, हालाँकि स्वयं वह कर कुछ नहीं रहा। उससे जितना हमारा भेदभाव घटता है उतनी हमारी भी बिना किये करने की सामर्थ्य विकसित होती है। अविद्या का पर्दा जितना हल्का होता है, द्वैतभाव उतना ही कम होता है। सर्वथा अविद्या मिटने पर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है। यह सामर्थ्यवर्द्धन सविशेष स्तर पर नहीं समझना चाहिये क्योंकि वह शक्ति उपाधि की है, उसमें ईश्वर की चेष्टा है, जबकि यहाँ चेष्टारहित कर्त्तापने की चर्चा है। चुम्बक का प्रभाव आस-पास के लोहे पर होता है, लोहे के बिना नहीं, इस प्रकार उपाधि रहते आत्मा की यह सामर्थ्य व्यक्त होती है, उपाधि बाधित हो जाने पर नहीं। इस तरह आत्मा की वास्तविक अकर्तृता, क्रियारहितता रहती है।।१०७।।

चुम्बक-समानता से आत्मा में जडता न प्राप्त हो इसलिये अन्य उदाहरण देते हैं **रथ आदि की नियमित चेष्टा तब तक नहीं देखी जाती जब तक रथादि चेतन से**

ससूत्रदारुयंत्रेण सदृशं लिंगवद्वपुः।
यः प्रेरयत्यसावात्मेत्युक्तेऽन्योपजहास तम्।।१०९।।
यथा गां दर्शयेत्युक्ते लिंगं मूढो वदेत्तथा।
आपरोक्ष्यमनुक्त्वा त्वं लिंगेनावेदयस्यहो।।११०।।

अधिष्ठित न हों। इससे समझ आता है कि प्राणादि को प्रवृत्त करने वाला चेतन है।।१०८।। न्यायशास्त्र आत्मा है तो मान लेता है क्योंकि चुम्बक है तो लोहे की गति से पता चलता है लेकिन जैसे चुम्बक की चेतना पता नहीं चलती वैसे वह आत्मा को चिद्रूप नहीं मानता। रथादि दृष्टांतसे प्रेरक की चेतनता सिद्ध होती है। अव्यवस्थित या अनियत चेष्टा से अथवा सर्वथा एकरस चेष्टा से भले ही चेतन-पूर्वकता न सिद्ध हो लेकिन रथादि की चेष्टा से होती है; रथ रास्ते पर चलता है, भीड़ से बचता है, पीछे से आने वालों को रास्ता देता है, किसी खास स्थान पर पहुँचकर रुकता है इत्यादि से निर्णय है कि उस पर किसी चेतन का नियंत्रण है। प्राणादि संघात की सप्रयोजन, परस्पर एवं अन्यों से तालमेल वाली चेष्टाएँ संघात के चेतन नियंता में चिह्न हैं।।१०८।।

इस पर उषस्त-चाक्रायण बोला 'यथा विब्रूयाद् असौ गौरसवाश्व इति, एवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति। यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः, तं मे व्याचक्ष्व' (३.४.२) कि गाय-घोड़े की तरह उसे बताओ! उसका यह प्रश्न दिखाते हैं **'लिंगदेह से जुड़ा शरीर धागों से जुड़ी कठपुतलियों की तरह है, इसे जो प्रेरित करता है वह आत्मा है' ऐसा कहा जाने पर उषस्त ने याज्ञवल्क्य की हँसी उड़ायी : जैसे 'गाय दिखाओ' कहने पर कोई मूर्ख गायका कोई चिह्न सुनाये ऐसे आत्मा का अपरोक्ष उल्लेख न कर तुम चिह्न से बता रहे हो, यह अचम्भे की बात है!।।१०९-१०।।** चाक्रायण का भाव है कि वस्तु अपरोक्ष है तो उसका उल्लेख भी साक्षात् होना चाहिये जैसे उपस्थित गाय को अंगुल्या निर्देश से दिखाया जा सकने पर केवल उसके चिह्नों का कथन बुद्धिमानी नहीं वैसे अपरोक्ष आत्मा का चिह्न-प्रदर्शन से वर्णन बुद्धिमानी नहीं।।१०९-१०।।

उषस्त ने 'यदेव' यों एव-शब्द के प्रयोग से क्या बताया यह कहते हैं **जो अर्थ परोक्ष हो उसके बारे में चिह्न बताना उचित है किंतु आत्मा परोक्ष है नहीं यह मानकर आत्मा की परोक्षता के निषेधक 'एव' शब्द का प्रयोग किया। ।१११।।** एव का मतलब 'ही' होता है जिससे समझ आता है कि जिसका उल्लेख

लिंगं वाच्यं परोक्षेऽर्थे न त्वात्मनि परोक्षता।
इति मत्वाऽऽहैवकारं पारोक्ष्यस्य निवर्तकम्।।१११।।
मुख्यापरोक्ष्यमुक्तं त इति दर्शयितुं पुनः।
प्रत्यग्दृष्टिपरं वाक्यमुत्तरत्वेन वक्त्यसौ।।११२।।

है उससे अन्यों का निषेध किया जा रहा है। 'देवदत्त को ही भोजन कराओ' मायने उसके साथ आये अन्यों को मत कराओ या अन्यों के बारे में जो मर्ज़ी करो, देवदत्त को अवश्य कराओ। उषस्त कहता है, जो आत्मा साक्षात् ही है, जिसमें परोक्षता असंभव है, उसे परोक्षरीति से क्यों बता रहे हो? संमुख स्थित व्यक्ति का सीधा परिचय न देकर उसके चिह्नों को क्यों कहना? एवकार का यहाँ यह भाव विद्यारण्य स्वामी ने ही प्रकट किया है। याज्ञवल्क्य ने परोक्षता का तो कथन नहीं किया था लेकिन बताने का ढंग वैसा था अतः चाक्रायण स्पष्टीकरण माँग रहे हैं।।१११।।

याज्ञवल्क्य ने यही जवाब दिया 'एष त आत्मा सर्वान्तरः'। उनका अभिप्राय है कि प्रत्यक्ष वस्तु को किसी तरह भी कहें, उसकी अपरोक्षता में क्या क्षति होनी है! जैसे शब्द से, वैसे अनुमान से भी अपरोक्ष बोध हो तो क्या हानि है? किंच अपरोक्ष होने से ही वह अविषय भी हैयह भी तो उसके वर्णन से व्यक्त होना चाहिये। यदि गाय-घोड़े की तरह कहें तो विषयता का भ्रम सहज होगा, इसलिये जैसा पहले जवाब दिया वैसे ही देना ठीक है यह अपनी दृढता दिखाते हुए उन्होंने उसे दुहरा दिया, यह समझाते हैं **तुम्हें मुख्य अपरोक्षता ही बतायी थीयह दिखाने के लिये प्रत्यक्तत्त्व की ओर दृष्टि ले जाने वाले वाक्य को उत्तर के रूप में याज्ञवल्क्य ने फिर से कहा।।११२।।** घटादि भी अपरोक्ष कहे जाते हैं लेकिन इसलिये कि आत्मा से एक होते हैं। प्रमातृसत्ताऽतिरिक्तसत्ताकत्वाभावरूप प्रमात्रभेद को विषय का अपरोक्ष होना वेदान्तपरिभाषादि में समझाया ही है। अतः मुख्य अर्थात् किसी और पर निर्भर न रहने वाली अपरोक्षता तो आत्मा की ही है। उसी को बताने के लिये 'तुम्हारा यह आत्मा' यों कहा था कि अपने निज स्वरूप को समझो। अपरोक्ष क्योंकि प्रत्यक् ही है और प्रत्यक्ता का किसी अन्य को बोध कराने के लिये उसे उसी की ओर उन्मुख करना पड़ता है इसलिये 'तुम्हारा आत्मा'यही बताने का सही ढंग है। अत एव इसे दुहरा दिया।।११२।।

चाक्रायण ने फिर 'कतमो याज्ञवल्क्य?' पूछा, इसमें हेतु स्पष्ट करते हैं **जानकर की भाषा बिना समझे रूपवान् आदि की तरह आत्मा में भी इंद्रियजन्य**

विद्व्द्राषामबुध्वाऽन्यः सरूपादिष्विवात्मनि।
अक्षजन्यापरोक्षत्वं मत्वाऽपृच्छत् पुरेव तम्।।११३।।

अपरोक्षता मानकर पहले की तरह चाक्रायण ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि देखे, सुने, विचारित और ज्ञातइनमें से सर्वान्तर तो कौन है?।।११३ +१/२) विद्वान् अर्थात् जानकार के शब्द-प्रयोग से ठीक ज्ञान भी जानकार को ही होगायह विडम्बना-सी है! जानकार प्रायः तो उसी को सुनायेगा जो ग़ैरजानकार है और वह सर्वथा ठीक समझ पाये यह संभव नहीं क्योंकि शब्द से पता वह लगता है जो थोड़ा-बहुत मालूम हो, सर्वथा अज्ञात को शब्द के सहारे ही समझें तो 'रेगिस्तान में ऊँट उड़ता है' सुनकर ऊँट कोई पक्षी है यह बोध हो जायेगा! उषस्त की भी यही समस्या रही। 'तेरा आत्मा' सुनकर शरीर-मन आदि ही उसे ध्यान में आये अतः इनमें से सर्वान्तर कौनयह उसका प्रश्न उठा। क्योंकि ये बहुतेरे हैं और ये सबको मालूम है जबकि शास्त्र में ब्रह्मज्ञान दुलर्भ कहा है तो इन्हीं का ज्ञान ब्रह्मज्ञान हो भी नहीं सकता। अपरोक्ष शब्द से वह इन्द्रियों के विषय को ही जानता था अतः इसी ढंग के आत्मा की जिज्ञासा की। अनेक लोग परमेश्वर का ऐसा ही दर्शन चाहते हैं, न मिले तो मान लेते हैं कि ईश्वर है ही नहीं! जिसने बनावटी मोती ही देखे हैं, उन्हीं को मोती समझता है, उसके सामने बसरे के असली मोती रखे हों और कोई कहे 'इन मोतियों को देखो', तो वह पूछेगा 'मोती हैं कहाँ!' उसे वे मोती-रूप से पहचान में ही नहीं आयेंगे। इसी तरह ऐंद्रिय वस्तुओं को ही अपरोक्ष जानने वाले को अतीन्द्रिय अपरोक्ष हैयह समझ ही नहीं आता। अत एव विवेक से पदार्थ-शोधन पर इतना ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है। अस्मत्तत्त्व समझें तब परमात्मा समझमें आये, अन्यथा असंभव है। प्रत्यक् का अवगम संभव है पर विवेक से, अन्यथा नहीं क्योंकि मिलता वह सोपाधि ही है, किंतु उपाधि की परिवर्तनशीलता और प्रत्यक् की स्थायिता के बल पर दोनों को अलग-अलग पहचाना जा सकता है । यद्यपि उषस्त को याज्ञवल्क्य पहले ही यह विवेकोपदेश दे सकते थे तथापि यहाँ वाद का प्रसंग था, शिष्यभाव से तो पूछा नहीं था, परीक्षा लेने को पूछा था, अतः यही आशा की जा सकती थी कि उषस्त भी आत्मा को समझे हुए था। किं च उषस्त यदि समझदार था तो इसलिये ऐसे पूछ रहा था ताकि याज्ञवल्क्य की योग्यता प्रकट हो कि अविषय अपरोक्ष को शब्दों में कैसे प्रकट करते हैं। याज्ञवल्क्य के दुबारा वही कहने पर चाक्रायण ने 'कतमः' से पूछा कि मेरा एक तो यह दीखने वाला (शरीर) आत्मा है, दूसरा सुना गया देहान्तर-सम्बन्धी सूक्ष्म शरीररूप आत्मा है, तीसरा विचारित अर्थात् न्याय-सांख्यादि तरीकों से सोचा गया कर्त्ता-भोक्ता

दृष्टश्रुतमतज्ञातेष्वेषु सर्वान्तरस्तु कः।
दृष्ट्याद्यगोचरः प्रत्यङ्ङिति प्रश्नमपाकरोत्।।११४।।
वेद्मीति यद्बलाद्वक्ति न वेद्मीति च यद्बलात्।
योगिनोऽनुभवन्त्येतमगोचरतयैव हि।।११५।।
उक्तवर्त्मातिरेकेण नात्मवस्तु घटादिवत्।
शक्यते प्रतिनिर्देष्टुं प्रमाणाऽगोचरत्वतः।।११६।।

आदिरूप आत्मा है और चौथा फिलहाल ज्ञात आत्मा है जो इन सबका मिला-जुला रूप है। अतः 'तुम्हारा आत्मा' तो कहा लेकिन मैं अपने कौन-से आत्मा को सर्वान्तर समझूँ?।।११३+१/२।।

इस पर याज्ञवल्क्य ने निषेधमुख का सहारा लिया 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' आदि, कि दृष्टि के देखने वाले को देख नहीं सकते, श्रुति के सुनने वाले को सुन नहीं सकते, मतिका मनन करने वाले को सोच नहीं सकते, विज्ञाति (जानकारी) के विज्ञाता (जानकार) का विज्ञान नहीं कर सकते। इस श्रुतिभाग का व्याख्यान करते हैं **(याज्ञवल्क्य ने) प्रश्न का निराकरण यह किया कि प्रत्यक् स्वरूप देखने आदि का विषय नहीं है।११४।। जिसके बल पर 'जानता हूँ' और 'नहीं जानता' दोनों बोले जाते हैं उस आत्मा का योगी अविषय रूप से ही अनुभव करते हैं।।११५।। जो तरीका अपनाया इससे अन्य किसी ढंग से आत्मरूप वस्तु का घड़े आदि की तरह प्रतिपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह प्रमाण का अविषय है।।११६।।** दृष्ट, श्रुत आदि अर्थात् देखी सुनी आदि जाने वाली वस्तु आत्मा ही नहीं है अतः उनमें से कौन आत्मा है यह ढूँढना ही बेकार है। आत्मा दृष्टि आदि का विषय न होने के स्वभाव की वस्तु है। सर्वान्तर होने से विषयता असंभव है। तब शंका होती है कि ऐसी वस्तु अंगीकार ही क्यों की जाये? इस पर बताया कि विषयों को तो ज्ञान से जानते हैं पर विषयज्ञान को किससे जानते हैं? ऐसे ही विषय अज्ञात है यह किसे पता चलता है? जिससे ज्ञान (विषयानुभव) भी जाना जाता है और अज्ञान भी, वही आत्मा है। इसका अनुभव नहीं, ऐसी बात नहीं वरन् योगी अर्थात् निरुद्धचित्तगतिक साधक इसे अनुभव से जानते हैं यद्यपि अनुभव के विषय से अर्थात् अनुभव से पृथक् किसी रूप से नहीं जानते क्योंकि वैसी जानी जाये ऐसी यह वस्तु नहीं। अत एव द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान को ही पतंजलि ने भी समाधि कहा है। प्रमाणों का भी प्रकाशक होने से निराकरण के अयोग्य फिर भी प्रमाणों का विषय नहीं है यह इसका महत्त्व है।।११४-६।।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां साक्षिणः स्वप्रभस्य तत् ।
प्रमाणागोचरत्वं तु वस्तुस्वाभाव्यतो भवेत् ।।११७ ।।
दृष्टेर्न पश्येद् द्रष्टारमिति प्रत्युत्तरं वचः ।
वक्त्यगोचरतामेतद् वाक्यं विव्रियते स्फुटम् ।।११८ ।।
चक्षुर्जन्यमनोवृत्तिश्चिद्युक्ता रूपभासिका ।
दृष्टिरित्युच्यते द्रष्टा दृष्टेः कर्तेति लौकिकैः ।।११९ ।।
अतो दृष्टिद्वयं वाक्ये भाति षष्ठ्यन्तशब्दतः ।
एका दृष्टिस्तृजन्तेन धातुनाऽन्येति तद्द्वयम् ।।१२० ।।

यद्यपि प्रमाणसिद्ध ही स्वीकार्य होता है तथापि जो वस्तु इसी स्वभाव की है कि विषय न होवे, उसे वैसा ही स्वीकारना अनिवार्य है यह स्पष्ट करते हैं **देखने वाला, देखना और दीखने वाला तीनों के स्वप्रकाश साक्षी में जो प्रमाणों की अविषयता है वह उसका (साक्षी का) स्वभाव ही है ।।११७ ।।** तात्पर्य है कि प्रमाणाविषयता किसी प्रमाण पर निर्भर करे तो व्याघात होगा अतः वह स्वभावमात्र है किंतु प्रमाण-विषयता का निरास होने से वह स्वभाव भी स्वीकार है। देखने आदि का भी साक्षी होने से वह दीख आदि तो सकता नहीं पर मालूम अवश्य है अतः स्वप्रकाश ही है। जैसे रुई को लाल-पीला आदि रंगना पड़ता है, सफेद रंगना नहीं पड़ता! हालाँकि सफेद भी एक रंग है फिर भी रुई को सफेद नहीं रंगना पड़ता क्योंकि उसका स्वभाव सफेदी है। ऐसे ही बाकी चीज़ें प्रमाणसिद्ध होने पर स्वीकार होती हैं लेकिन आत्मा प्रमाणों का साक्षी होने से ही स्वीकार है यह इसका स्वाभाविक विशेष है ।।११७ ।।

'दृष्टि के द्रष्टा को देख नहीं सकते' आदि में दृश आदि धातुओं का दो-दो बार प्रयोग हुआ'दृष्टिके' में एक बार और 'द्रष्टाको' में दूसरी बार; ऐसे ही 'श्रुतेः श्रोतारम्' आदि में हैअतः इन वाक्यों का अभिप्राय व्याख्यापेक्ष होने से समझाते हैं' **दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते' यह याज्ञवल्क्य का जवाब है। यह वाक्य आत्मा की अविषयता बताता है। इसे स्पष्टकर बताते हैं :।।११८ ।। चक्षु की सहायता से पैदा होने वाली, रूप का भान कराने वाली चेतनसंवलित मनोवृत्ति 'दृष्टि' कही जाती है एवं लोगों द्वारा दृष्टि का कर्त्ता द्रष्टा कहा जाता है ।।११९ ।। इस तरह वाक्य में दो दृष्टियाँ प्रतीत होती हैंएक षष्ठीविभक्ति वाले (दृष्टि का) शब्द से कही गयी, दूसरी तृच्प्रत्यययुक्त धातु (द्रष्टा इस शब्द) से ।।१२० ।। रूपविषयिणी चक्षुर्जन्य वृत्ति प्रमाता की उत्पन्न होती है, उससे रूप दीखता है न कि**

प्रमातुर्जायते वृत्तिश्चक्षुषा रूपरंजिता।
द्रष्टव्यं तु तया रूपं न साक्षी दृश्यते तया।।१२१।।
दृष्टेर्द्रष्टारमात्मानं दृष्ट्या पश्येन्न दृश्यया।
इति वाक्यं मुनिर्वक्ति वर्णितं न्यायगर्भितम्।।१२२।।

साक्षी।।१२१।। इसलिये यह युक्तियुक्त वाक्य याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि दृश्यभूत दृष्टि से उस आत्मा को नहीं देख सकते जो उस दृष्टि को भी देखता है।।१२२।। जैसे सबका प्रकाशक सूर्य किसी रोशनी से नहीं दीखने पर भी अस्वीकार नहीं वैसे आत्मा अस्वीकार नहीं हो सकता। रमण महर्षि ने 'कौन मरता है' इस पर चिंतन करके ही 'कौन' के अर्थभूत 'मैं' को मरणातीत जाना था। इसी आत्मा को यहाँ समझा रहे हैं। याज्ञवल्क्य ने दृष्टि और द्रष्टा शब्द कहे जिनका भाव विषयज्ञान और उस ज्ञान को अपना समझने वाला हैं। दृष्टि-श्रुति आदि हैं सब मनोवृत्तियाँ लेकिन जिस-जिस इंद्रिय की सहायता से पैदा होती हैं उस-उसके विषय को ग्रहण करती हैं अतः इंद्रियरूप निमित्त के भेद से इनमें भेद है, उपादान मन एक ही है। मन जड़ होनेसे विषय-प्रकाशन में तभी समर्थ होता है जब चेतन से युक्त हो अर्थात् चेतन से उसमें तादात्म्य हो। यह बंधदशा में मिथ्या और जीवन्मुक्तिदशा में गौण होता है यह बात अलग है। यद्यपि वृत्ति की चिद्युक्तता अनिवार्य है (जैसे घट की मृद्युक्तता अनिवार्य है) तथापि वृत्ति और चित् में अंतर पहचाना जाये इसलिये चिद्युक्तता का उल्लेख किया जाता है। शास्त्र में क्वचित् आत्मस्वरूप को भी दृष्टि कह देते हैं लेकिन लौकिक जनों में तो वैसा प्रयोग अप्रसिद्ध है, वे विषयज्ञान को ही ज्ञान समझते हैं। इसी तरह उन्हें द्रष्टा भी वही मालूम है जो उस दृष्टि के प्रति कर्त्ता बनता है। कर्त्ता अर्थात् 'मैंने देखा, मैं देखने वाला' ऐसा जिसे अभिमान है। द्रष्टा जिस दृष्टि के प्रति कर्त्ता है वह रूपादि विषयों के बारे में ही होती है, साक्षी के बारे में (अर्थात् उसे विषय करने वाली) नहीं होती। क्योंकि उस दृष्टि से युक्त होने पर ही द्रष्टा कहलाता है इसलिये वह दृष्टि प्रमाता में उत्पन्न होती है (प्रमाता को होती है) ऐसा समझना पड़ता है। साक्षी नित्यदृष्टि होने पर भी वृत्तिरूप उपाधि रहने पर प्रतीयमान अनित्य दृष्टि की अपेक्षा से अनित्यदृष्टिमान् (द्रष्टा) के रूप में व्यवहृत होता है। अत एव अधिकोपाधि-संपन्न साक्षी ही प्रमाता है आदि सर्वज्ञात्माचार्य का वर्णन संगत है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'दृष्टि के द्रष्टा को देख नहीं सकते' आदि मुनिवचन के गर्भ में अनेक युक्तियाँ निहित हैं। (बृहद्वार्तिक में 'वेद्मीति यद्बलात्' से 'येन चक्षुरिदं' तक ८२ श्लोक हैं, ३.४.८० से ३.४.१६३ तक। वार्तिकसार में 'अतो दृष्टिद्वयम्' से 'प्रमातुर्जायते' तक २२ श्लोक हैं ३.४.५७ से ३.४.८० तक।)।११८-२२।।

येन चक्षुरिदं दृष्टं चक्षुषा यन्न पश्यति।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वमिति श्रुत्यन्तरे स्फुटम्।।१२३।।
श्रुतिः श्रोत्रजधीवृत्तिस्तस्याः श्रोताऽवभासकः।
श्रुत्या शब्दावगाहिन्या श्रोतारं शृणुयान्न तम्।।१२४।।
ऊहापोहात्मधीवृत्तिर्मतिस्तस्याः प्रकाशकम्।
अनूह्यमनपोह्यं तं न मन्वीथास्त्वमेतया।।१२५।।

इस विषय में शाखान्तर का प्रमाण देते हैं **जिससे यह चक्षु दीखती है पर जिसे चक्षु से कोई नहीं देखता, उसे ही तुम ब्रह्म समझोऐसा अन्य श्रुतिवाक्य में स्पष्ट कहा है।।१२३।।** केन उपनिषत् में 'यच्चक्षुषा न पश्यति' आदि प्रसिद्ध प्रसंग है, यहाँ अध्याय १९ में समझाया भी है, उसी का उद्धरण दिया। जैसे रूपादि को चक्षु देखती है पर स्वयं को नहीं देखती फिर भी स्वयं की सत्ता में सन्देह भी नहीं छोड़ती वैसे आत्मा सबको जानता है, उसको कोई नहीं जानता फिर भी उसकी विद्यमानता में सन्देह भी सम्भव नहीं। यह आँख अर्थात् इन्द्रिय तो आत्मा (साक्षी) द्वारा जानी ही जाती है। (हालाँकि 'देखी' नहीं गयी क्योंकि देखना तो आँख से संभव है, 'आँख को' नहीं); लेकिन आँख से आत्मा किसी को नहीं दीखता, ऐसे आत्मा को ब्रह्म समझना है। जो कुछ भी आत्मा से पृथक्, इदं, है उसे ब्रह्म समझने की गलती नहीं करनी है। अतः इदं को बताने की भाषा में अनिदं को कहना पड़े तो जो दिक्कत है वही चाक्रायण को आ रही है।।१२३।।

दृष्टि-सम्बन्धी विषय की अन्य पर्यायों में घटाकर दिखाते हैं **श्रोत्र (कान) से उत्पन्न अंतःकरण-वृत्ति श्रुति और उसे अवभासित करने वाला श्रोता है। शब्द को विषय करने वाली श्रुति से उस श्रोता को कोई नहीं सुन सकता।।१२४।।** अंतःकरण की वृत्ति से विषयज्ञान होता है लेकिन किस इंद्रिय से अंतःकरण विषय तक पहुँचा इससे अंतर पड़ता है। काँच में घंटी बंद कर काँच की बोतल की सारी हवा खींच लें फिर घंटी बजायें तो घंटी पर चोट लगते दीखती है लेकिन आवाज़ नहीं सुनाई देती : आँख से तो मन वहाँ पहुँचा लेकिन कान से नहीं पहुँच सका क्योंकि कान की गति में वायु का सहयोग चाहिये जो बोतल में नहीं थी। वहाँ स्पष्ट है कि मन-संयोग होने पर भी इंद्रिय का योगदान है। अतः दृष्टि से पृथक् श्रुति कहकर सभी इंद्रियाँ अभिप्रायवश बतायीं।।१२५।।

बाह्य के समान अन्तरिन्द्रिय की भी अगोचरता व्यक्त करते हैं **ऊहरूप व**

अस्पष्ट ऊह्य आत्मा तु विस्पष्टो भानरूपतः।
अनपोह्योऽनपायित्वाद्[1] आत्मा नापैति कर्हिचित्।।१२६।।
निश्चयात्मकधीवृत्तिर्विज्ञातिस्तद्विभासकम्।
असन्दिग्धं तया वृत्त्या न विज्ञातुं त्वमर्हसि।।१२७।।

अपोहरूप मनोवृत्ति मति है, उसका प्रकाशक न ऊहके न अपोहके योग्य है अतः इस मति से उसका मनन नहीं कर सकते।।१२५।। जो साफ मालूम न हो उसका ऊह होता है, आत्मा तो भानरूप होने से बिलकुल साफ मालूम है अतः ऊह के योग्य नहीं। आत्मा का अपाय (हटना) संभव न होने से आत्मा कभी निवृत्त नहीं होता अतः अपोह के भी योग्य नहीं।।१२६।। अनुपलब्धार्थ की कल्पना को ऊह एवं उपलब्ध (प्रतीत) के परित्याग को अपोह कहते हैं। ऊह- अपोह को संकल्प-विकल्प भी कहते हैं। इस मनोवृत्ति को मति कहते हैं। आत्मा इसका (विचार, विश्लेषण का) भी प्रकाशक होने से क्योंकि ऊहापोह के योग्य नहीं इसलिये इसका मनन करना भी नहीं बनता। यद्यपि 'आत्मा मन्तव्यः' विधि है तथापि मनन का विषय आत्मा नहीं, विषयतया विचारणीय नहीं। जो वस्तु स्पष्ट पता न चले उसके बारे में ऊह होता है कि शायद ऐसी हो। आत्मा (मैं) सुस्पष्ट सदा भासता है तो ऊह क्या करें! जो प्रतीत हो लेकिन उसका निषेध किया जा सके वह अपोह के योग्य है पर आत्मा का निषेध संभव न होने से उसका अपोह भी नहीं हो सकता। वह स्थिर भाव से सदा एकरस भासता ही है। मनन आत्मा का नहीं वरन् आत्मसम्बन्धी गलतफ़हमी मिटाने के लिये उन विशेषताओं का होता है जो आत्मा पर आरोपित हैं। जैसे वह प्रतीत नहीं हो रहा वैसा उसे युक्ति से संभव समझना ऊह और जैसा प्रतीत हो रहा है वैसा युक्ति से विरुद्ध समझना अपोह है लेकिन स्वयं आत्मा (सच्चिदानन्द) न ऊह और न अपोह के योग्य है।।१२५-६।।

विज्ञानरूप अंतिम पर्याय बताते हैं **निश्चयरूप बुद्धिवृत्ति विज्ञाति है, उसे प्रकाशित करने वाला हमेशा सन्देह से परे है अतः विज्ञातिरूप वृत्ति से उस प्रकाशका विज्ञान तुम करो यह अयोग्य है।।१२७।।** जिसका निश्चय न हो उसका निश्चय किया जाता है, आत्मा क्योंकि निश्चय करने वाला है इसलिये निश्चय करने से पूर्व उसकी निश्चित अवस्थिति है अतः उसे निश्चय का विषय बनाने का प्रसंग

---

१. अनुपाधित्वादृइति सारे।

दृष्टश्रुतमतज्ञातेष्वित्थमात्मा न कश्चन।
किं तर्ह्येष तवात्मेति प्रोक्तः सर्वान्तरः पुरा।।१२८।।
यः सर्वं विषयीकुर्वन् विषयीक्रियते न हि।
किं तु भाति स्वयं सोऽयं सर्वान्तर इतीरितः।।१२६।।

ही नहीं! जैसे पानी भिगोया नहीं जा सकता, आग सुखायी नहीं जा सकती ऐसे आत्मा को निश्चयविषय नहीं बना सकते। अतः अन्यत्र विज्ञान का विधान भी अनात्मविज्ञान के परिहार में पर्यवसित समझना चाहिये।।१२७।।

इसके अनन्तर 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' कहा, उसमें 'एषः' का भाव बताकर वाक्यार्थ कहते हैं **इस प्रकार, दृष्ट श्रुत मत और ज्ञात में से कोई भी आत्मा नहीं है। फिर क्या है? वही है जिसे पहले ही 'तुम्हारा यह सर्वान्तर आत्मा' कहा।।१२८।। जो सबको विषय करता है पर जिसे विषय बनाया नहीं जा सकता फिर भी वह खुद भासमान रहता है वही यह सर्वान्तर कहा गया है।।१२६।।** उषस्त ने 'दृष्टादि में से कौन' पूछा था, याज्ञवल्क्य ने बताया कि दृष्टादि में से कोई नहीं है। इस प्रकार त्वम्पदार्थ के शोधित स्वरूप का प्रसंग स्पष्ट किया। त्वम्पदवाच्य में विषयभाव रहता है, जो उस सबको विषय करता रहता है वही सर्वान्तर बताया जा रहा है। त्वम्पदवाच्य ही नहीं, बाह्य विषयों को भी वही विषय करता है लेकिन मन-इन्द्रिय प्रमाणादि के व्यवधान से, जबकि त्वम्पदवाच्य को बिना व्यावधान के, इसलिये 'सर्वम्' कहा। ऐसी वस्तु न बाह्य विषयों के द्वारा और न त्वम्पदवाच्य के द्वारा ही ज्ञेय है क्योंकि वे सभी इसके प्रकाश्य (ज्ञेय) हैं। इस सर्वप्रकाशक का भान अन्य किसी पर निर्भर भी नहींयह भी सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिये 'स्वयं भाति' कहा।
इस प्रकार जब दृष्टादि से व्यावृत्त कर दिया तब जो स्वप्रकाश वस्तु बची वही सर्वान्तर आत्मा है यह याज्ञवल्क्य ने सुस्पष्ट कर दिया। अपरोक्ष आत्मा में हमें परिच्छेद प्रतीत होता है कि 'बस एक ही शरीर-मन में भासमान मैं आत्मा हूँ' एवं 'मुझ जैसे चलते बोलते संघातों में ही आत्मा है, अन्यत्र नहीं'; इस परिच्छेद, सीमा के भ्रम को मिटाने के लिये ही वेदान्तों की आवश्यकता है। इसीलिये उषस्त ने इतना स्पष्टीकरण माँगा।।१२८-६।।

उक्त अपरिच्छिन्नता, व्यापकता को उपपन्न करने के लिये याज्ञवल्क्य ने 'अतोऽन्यद् आर्तम्' (आत्मभिन्न सब विनाशी, मिथ्या है) कहा, उसे प्रश्नोत्तर द्वारा समझाते हैं **सर्वान्तर अर्थात् सबका आत्मा होना तो तभी संभव है जब अन्य कुछ**

सर्वान्तरत्वं सार्वात्म्यमन्यस्मिन् सति तत्कुतः।
न चेदन्यत्तदा सर्वशब्दार्थो नेति शंकिते।।१३०।।
अतोऽन्यदार्तमित्याह दोषद्वयनिवृत्तये।
आर्तं मायामयं तस्य तत्त्वज्ञानेन पीडनात्।।१३१।।
सर्पादीनां कल्पितानां रज्जुरात्मा यथा तथा।
मायामयस्य सर्वस्य चिद्वस्त्वात्मेति सुस्थितम्।।१३२।।

('सब' कहलाने वाला) हो। (किन्तु अद्वैत में) वह (अन्य) कैसे (होगा)? यदि अन्य कुछ हो नहीं तो 'सर्व' शब्द का अर्थ ही नहीं रहेगा!यह शंका होने पर।।१३०।। दोनों दोष हटाने के लिये याज्ञवल्क्य ने 'इससे अन्य आर्त है' यह कहा। आर्त अर्थात् मायिक है क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार से बाधित होता है।।१३१।। कल्पित सर्पादि का आत्मा जैसे रस्सी होती है वैसे मायिक जो सब उसका आत्मा चिद्रूप वस्तु है। यों आत्मा का यह वर्णन संगत है।।१३२।। 'सबके अन्दर' को 'घड़े के अंदर पानी' की तरह समझकर प्रश्न है कि यों आत्मा सब में हो तो पानी से घड़े की तरह आत्मा से 'सब' अलग होना पड़ेगा जिससे पुनः परिच्छिन्नता (वस्तुभेद) आ जायेगी। यदि 'सब' शब्द का अर्थ न हो तो आत्मा को सर्वान्तर कहना नहीं बनेगा। ये दो दोष हुए। इनका परिहार 'पूर्णो रज्ज्वेव पन्नगः' (तैत्ति. वार्ति. ब्रह्म.२.१६) के अनुसार दिया कि जैसे साँप में रस्सी 'भरी हुई' समझी जा सकती है वैसे आरोपित सबके अन्दर आत्मा समझा जा सकता है। 'समुद्र की बूँद-बूँद में जल है' का मतलब भेद में नहीं वरन् समुद्र-बूँद-जल के अभेद में ही है, इसी प्रकार सर्वान्तर का मतलब सबको आत्मा से बाहर रखने में नहीं वरन् अद्वैत में ही है। गहने में सोना भी इसी तरह समझा जाता है कि स्वर्ण से अतिरिक्त गहना कोई 'वस्तु' नहीं है, मायामय भले ही है। यह 'आर्त' शब्द का तात्पर्य समझाया। आर्त मायने मिथ्या सब, सत्य आत्मा को सद्वितीय बना नहीं सकता, केवल सर्वान्तर बनाये रखता है। आर्त अर्थात् मिथ्या कहने का यह अभिप्राय इस प्रसंग में ग्रंथकार का ही कौशल है, भाष्य या वार्तिक में यहाँ यह नहीं कहा है, अन्यत्र भले ही बताया है। इस प्रकार श्लोक ७१ से प्रारंभकर यहाँ तक साठ से अधिक श्लोकों में उषस्त चाक्रायण के प्रश्न के उत्तर के स्पष्टीकरण में त्वम्पदार्थ का विस्तृत वर्णन हुआ।।१३०-२।।

तृतीयाध्याय के पंचम ब्राह्मण में कहोल कौषीतकेय नामक ऋषि ने पूर्वोक्त आत्मप्रसंग को आगे बढ़ाने के लिये 'यदेव साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः, तं मे

कहोलप्रश्नः

पंचमब्राह्मणे पूर्वमुक्तस्य प्रत्यगात्मनः ।
ब्रह्मत्वसाधनं बोधो मुक्तलक्ष्म च वर्ण्यते । ।१३३ । ।[1]
उषस्तपृष्टादन्यत्वं निवर्तयितुमात्मनः ।
यदेव साक्षादित्युक्तावेवकारः प्रयुज्यते । ।१३४ ।

व्याचक्ष्व' यह प्रश्न किया। बाकी शब्द पूर्व प्रश्न के ही हैं पर एक एवकार अधिक है! इसे कहोल ने अपने अभिप्राय के सूचन के लिये रखा अतः याज्ञवल्क्य ने यद्यपि पहले 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' ही दुहराया लेकिन 'कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः?' पूछने पर 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' यों संसारधर्मराहित्य बताकर 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' से कहा कि इस आत्मा का ज्ञान एषणानिवृत्ति अतः संन्यास में पर्यवसित होता है। त्रिविध होने पर भी एषणारूप से एकता उपपन्न कर विधान किया कि ब्राह्मण को चाहिये कि पांडित्य पाकर बाल्य से रहे, मुनि हो, मौन-अमौन से परे हो जाये ताकि वास्तव में ब्राह्मण बने! श्लोक १८७ तक यह प्रसंग विचार का विषय है।

पहले ब्राह्मणार्थ की प्रतिज्ञा करते हैं **पाँचवें ब्राह्मण में पूर्वोक्त प्रत्यग्रूप आत्मा की ब्रह्मता के साधनभूत ज्ञान का एवं मुक्त के लक्षण का वर्णन किया गया है । ।१३३ । ।** जिसके बारे में पूछा वह आत्मा तो वही है जो उषस्त चाक्रायण को समझाया लेकिन वहाँ उसकी शुद्ध ज्ञानरूपता ही व्यक्त हुई, वही अखण्ड ब्रह्म है इसे केवल 'सर्वान्तर' कहकर इंगित किया, इसे समझने का न कोई उपाय बताया, न इसे समझने वाले का वर्णन किया। अतः कौषीतकेय इन बातों को जानना चाहता है जो पूर्व ब्राह्मण में छूट गयीं । ।१३३ । ।

उषस्त व कहोल के प्रश्नों की समानता से कुछ विचारक उषस्त ने जीव पूछा, कहोल ने ईश्वर पूछायह कल्पनाकर पुनरुक्ति बचाना चाहते हैं लेकिन यों दो आत्मा श्रुति-स्मृति-न्याय से असिद्ध होने के कारण ऐसी कल्पना अयोग्य है वरन् पहले पदार्थ-विषयक प्रश्न था अब वाक्यार्थविषयक हैयही पुनरुक्तिपरिहार उचित है यह निर्णय देते हैं **'उषस्त द्वारा पूछे से किसी अन्य आत्मा को पूछ रहा हूँ' इस वाक्य में एवकार अर्थात् ही-शब्द का प्रयोग है । ।१३४ । । पूर्व ब्राह्मण में उपदेश**

---

१. 'पञ्चमब्राह्मणे ब्रह्मबोधसंसिद्धिसाधनम्। समुत्पन्ने तत्त्वबोधे मुक्त'... इति सारे पाठः।

उपदेशस्य विषयस्त्वमर्थः शोधितः पुरा।
न ब्रह्मत्वं सम्यगुक्तमिति पृच्छति तत्पुनः।।१३५।।
अशनायादिरहितब्रह्मताया अभाषणे।
न स्यात् सर्वान्तरत्वादि संसारिणी चिदात्मनि।।१३६।।

के विषयभूत त्वम्पद के अर्थ का शोधन किया, वह ब्रह्म (व्यापक) है यह सम्यक् अर्थात् साधन आदि समेत नहीं कहा, इसलिये कहोल उसी के बारे में फिर पूछता है।।१३५।। यद्यपि एक के बाद दूसरा समान शब्दों में बँधा प्रश्न आने पर संभावना होती है कि पूर्व में निर्धारित से अन्य की ही जिज्ञासा होगी, शब्द साम्य तो वादी को व्यामोह में डालने के लिये होगा, तथापि क्योंकि निर्धारित वस्तु आत्मा है ही अद्वितीय इसलिये यह संभावना ग़लत है अत एव याज्ञवल्क्य ने इस दृष्टि से किसी अन्य तत्त्व का वर्णन न प्रारंभ कर 'एष त आत्मा' को ही दुहराया। प्रश्न का भाव निश्चित करने में उत्तर का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है यदि प्रष्टा उसे अपने प्रश्न के उत्तर के रूप में स्वीकार ले। किं च वाक्यभेदापादक लिंग से एकवाक्यतापादक प्रकरण भी बलवान् माना गया है। (ब्र. सूत्र १.२.४) अतः पुनःश्रवणरूप लिंग की अपेक्षा 'एष ते… योऽशनाया पिपासे' आदि से उषस्तपृष्ट के ही स्पष्टीकरणरूप प्रकरण का महत्त्व बढ़ जाता है। इस प्रकार कहोल उसी के बारे में पूछ रहे हैं जिसके बारे में उषस्त ने पूछा था, यही संगत मत है। जिसे उपदेश दिया जाये वह उपदेश का 'विषय' होता है। वही त्वम्पद का अर्थ कहा जाता है। उसका अशुद्धिमिश्रित वाच्य रूप सबको भासमान है किन्तु अशुद्धि हटाकर उसका लक्ष्य रूप पूर्व ब्राह्मण में बता चुके हैं। वही तत्त्व ब्रह्म अर्थात् व्यापक, पूर्ण भी है यह इस ब्राह्मण में स्पष्ट होगा। कहोल ने याज्ञवल्क्य की यह भी परीक्षा कर ली कि वे सांख्यवादी तो नहीं हैं, क्योंकि तब वे 'ब्रह्मिष्ठ' नहीं कहलाते। परीक्षा इस तरह कि सांख्य के अनुसार पुरुष का जो स्वरूप विज्ञेय है वह पूर्व ब्राह्मण में कहा जा चुका। पुनः पूछने पर याज्ञवल्क्य केवल उतना ही फिर कहते तो पता चल जाता कि वे सांख्य पुरुष के ही वेत्ता हैं, ब्रह्म के नहीं। जब याज्ञवल्क्य ने उसी को पूरा न दुहराकर उसके बारे में और वक्तव्य बता दिया तब उनकी ब्रह्मवादिता व्यक्त हो गयी।।१३४-५।।

उषस्त को दिये उत्तर की कमी दिखाकर उसे पूरा करने का अवसर कहोलने याज्ञवल्क्य को दिया यह समझाते हैं **(पूर्व ब्राह्मणोक्त रीति से) चिद्रूप (स्वप्रकाश ज्ञानरूप) होने पर भी 'वह भूख आदि से रहित होने के कारण ब्रह्मरूप है' यह न कहा जाये तो क्योंकि उसकी संसारिता अनिषिद्ध होगी इसलिये वह सर्वान्तर**

इत्यभिप्रेत्य तेनोक्तं साक्षादित्यादिकं पुनः।
अनूद्य सर्वं पप्रच्छ कहोलो ब्रह्मरूपताम्।।१३७।।
त्वमर्थाच्छोधितान्नान्यद् ब्रह्मेत्येतद्विवक्षया।
उक्तमेवोत्तरं भूय एष इत्याद्यवोचत।।१३८।।

आदि अभिप्रेत स्वरूप वाला हो यह असम्भव हो जायेगा।।१३६।। इस तात्पर्य से कहोल ने 'साक्षाद्' इत्यादि वचन पुनः कहे। इससे, पूर्वोक्त सारी बात का अनुवाद करके ब्रह्मरूपता पूछी (यह स्पष्ट है)।।१३७।। भूख-प्यास, जरा-मृत्यु, शोक-मोह इन छह ऊर्मियों से ब्रह्म परे है। ये छहों शरीर में (स्थूल-सूक्ष्म के सम्बद्ध रूप में) होंगी। भूख-प्यास प्राण में, शोक-मोह मन में और जरा-मरण स्थूल में होंगे। पूर्व में चिद्रूपता कह कर सर्वान्तर बताया लेकिन चिद्रूप को इन छह से रहित समझे बिना उसे सर्वान्तर जानना असंभव है। चिद्रूप स्वानुभवसिद्ध तो है पर उसका वर्तमान अनुभव इन ऊर्मियों वाले रूप में ही है अतः इनसे वह रहित है यह कहे बिना उसे सर्वान्तर बताना उचित नहीं। संसारी रहते आत्मा सर्वान्तर नहीं, संसारिता हटाकर ब्रह्मरूपता होने पर ही वह सर्वान्तर है। याज्ञवल्क्य ने पिछले संवाद में इस कदम को छोड़ दिया था, इसी कमी की ओर कहोल का इशारा था जिसे याज्ञवल्क्य समझ गये। कहोल ने पूर्वोक्त आत्मा का अनुवाद कर यह स्पष्ट किया कि उसे अब याज्ञवल्क्य न बताये क्योंकि अनुवाद उसी का होता है जो पहले से पता है। उषस्त ने तो प्रश्न किया था अतः उसे वह वस्तु अज्ञात थी। कहोल ने उसी वस्तु का अनुवाद कर बताया कि उसे ज्ञात है। एवकार ने अनुवादरूपता द्योतित की। अतः जो पूर्व में नहीं बतायी वह ब्रह्मरूपता ही जिज्ञासित है यह भाव है।।१३६-१३७।।

याज्ञवल्क्य ने पूर्वोक्त आत्मा ही ब्रह्म है यह पहले प्रतिज्ञा की **शोधित त्वम्पदार्थ से ब्रह्म अन्य कुछ नहीं हैयह बताने की इच्छा से पूर्वोक्त उत्तर ही 'एष' इत्यादि द्वारा फिर से कहा।।१३८।।** यदि प्रारम्भ से याज्ञवल्क्य 'जो भूख-प्यास से रहित है' आदि कहते तो 'जो' कौन?यह प्रश्न उठता एवं पूर्वोक्त सर्वान्तर से अन्य की चर्चा प्रारंभ हुई यह शंका होती। अतः उन्होंने पहले उसी उत्तर को दुहराया कि जो उषस्त को समझाया वही आत्मा असंसारी ब्रह्म है। अर्थात् सर्वान्तर कहने पर, जिसके बिना सर्वान्तरता संभव नहीं वह भी कह ही दियायह याज्ञवल्क्य का तात्पर्य था।।१३८।।

क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामृत्यू इतीदृशैः।
त्रिभिर्युग्मैर्विशिष्टानां मध्येऽसौ कतमो वद।।१३६।।
यद्यन्यतम एतेषां तस्य न ब्रह्मता तदा।
एतेष्वनन्तर्भूतस्तु न कोऽप्यात्मा जनैर्मतः।।१४०।।
विद्वज्जनानुभूत्यैष क्षुधादेरवभासकः।
प्रसिद्ध इत्यभिप्रेत्य ब्रह्मत्वेन तमुक्तवान्।।१४१।।
अत्येति योऽशनायादीन् विचारेण निरूपणे।
क्षुधादिसाक्षी तस्यास्य ब्रह्मत्वं केन वार्यते।।१४२।।

कहोल ने 'कतमः?' पूछा, इसका अर्थ बताते हैं **भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मृत्यु, इस तरह तीन जोड़ों वालों में से कौन-सा है? यह बताओ।।१३६।। (भाव है कि) यदि इन्हीं में से कोई एक है तो वह ब्रह्म नहीं होगा और इनमें से नहीं है तो वैसा कोई भी आत्मा लोग मानते नहीं।।१४०।।** आत्मा-रूप में वही प्रसिद्ध है जो शोकादि वाला है अतः 'एष त आत्मा' के आत्मा-शब्द से वही समझ आयेगा जो लोकप्रसिद्ध है। किन्तु शोकादि वाला होवे और ब्रह्म, सर्वान्तर भी होवे यह संगत नहीं तथा शोकादि वाला न हो तो उसे आत्मा कैसे समझें! यद्यपि दृष्ट-श्रुत-मत-विज्ञात से अन्य कहने पर लोकसिद्ध से अन्य कह दिया था क्योंकि शोकादि वाला ही विज्ञात है तथापि कहोल का कहना है कि अगर कोई कहे कि 'दृष्टादि से अन्य कोई है ही नहीं', तो इसका क्या परिहार है?।।१३६-४०।।

याज्ञवल्क्य ने 'योऽशनायापिपासे, शोकं मोहं, जरां मृत्युम् अत्येति' यह उत्तर दिया। इसे स्पष्ट करते हैं **भूख इत्यादि का प्रकाशक यह आत्मा विद्वान् लोगों की अनुभूति के आधार पर प्रसिद्ध है यह मानकर उसे मैंने सर्वान्तर ब्रह्म कहा।।१४१।। विचार से समझने पर जो भूख आदि को लाँघने वाला भूखादि का साक्षी समझ आता है उसकी ब्रह्मरूपता कौन नकार सकता है!।।१४२।।** याज्ञवल्क्य ने दो परिहार दियेएक तो विद्वत्-प्रत्यक्ष, दूसरा भूखादि 'वाला' होना। जैसे लोक में रत्न और काँच का भेद अप्रसिद्ध होने पर भी परीक्षकों को प्रत्यक्ष होने से मान्य ही है वैसे शुद्ध आत्मा विद्वान् को स्पष्ट भासता है अतः मान्य ही है। दूसरी बात, 'भूख वाला' यह अनुभव ही किसी 'वाले' को बताता है जो भूख से अन्य है। जैसे धनवाला धन से अन्य होता है वैसे ऊर्मि वाला ऊर्मियों से अन्य है ही। यह अन्यता इससे सिद्ध होती है कि इन ऊर्मियों के आगम और अपाय दोनों को वह जानता है, इनका प्रकाशक अतः साक्षी

नन्वेक आत्मा मूढानां विदुषां चेति ते मतम्।
उक्तोर्मिषट्कातीतत्वं तद्वत्त्वं चास्य तत्कथम्।।१४३।।

है। यों दो उत्तरों से कहोल की शंका मिटायी। यह जनसामान्य में अप्रसिद्ध है तभी तो वेद इसका उपदेश दे रहा है। किं च केवल लोकसिद्ध पदार्थ ही ज्ञेय नहीं होते, यूप आहवनीय आदि शास्त्रसिद्ध पदार्थ भी ज्ञेय होते ही हैं, अतः ऊर्मिहीन आत्मा शास्त्रीय हो तो हानि नहीं। सुषुप्ति में होने वाला आत्मरूप ऊर्मिरहित है अतः ऐसा आत्मा सर्वथा अप्रसिद्ध भी नहीं। निर्विकल्प समाधि में योगिजन भी इसका साक्षात्कार प्राप्त करते ही हैं। इसलिये याज्ञवल्क्य का कहना है कि पूर्व उत्तर में 'कमी' मानने की ज़रूरत भी नहीं, सर्वान्तरता से अर्थात् ऊर्मिराहित्य सिद्ध है। यद्यपि उपदेश विद्वान् को नहीं देते अतः उसे पता होने से उपदेष्टा को क्या लाभ और श्रोता को भी क्या लाभ, तथापि यहाँ ब्रह्मवेत्ताओं का परस्पर वार्तालाप है अतः याज्ञवल्क्य यह मानकर कह रहे हैं कि श्रोता विज्ञ हैं, यह समझना चाहिये।।१४१-२।।

याज्ञवल्क्य ने भूख आदि से परे जिस साक्षी को कहा उसे उस स्थिति में पहुँचने का साधन पूर्व श्लोक में विचार कहा क्योंकि सामान्य अतिक्रमण या लंघन में जिसे लाँघते हैं वह बचा रह जाता है, लाँघने वाला उससे चला जाता है जबकि भूख आदि यों कहीं और रहते नहीं, इसलिये जैसे साँपादि से रस्सी परे रहती है वैसे आत्मा को भूखादि से परे जान लेना ही उन्हें लाँघ जाना है। क्योंकि भूखादि सब ज्ञेय, दृश्य हैं इसलिये वे साक्षी आत्मा से अस्पृष्ट ही हैं, फिर भी उससे जुड़े मिल रहे हैं तो अवश्य मिथ्या ही हैं, यह तात्पर्य है। भूखादि और इनके धर्मी देहादि के भेद से ही आत्मा में भेद का आरोप होता है, इनसे उसे परे जान लेने पर वह अत्यन्त अभिन्न अतः व्यापक ब्रह्म ही है। भेद ही सापेक्ष है, अभेद को भेदसापेक्ष नहीं कह सकते क्योंकि वह पूर्ण-रूप है। अतः अभेद, अद्वैत को आत्मा का स्वरूप ही बताया गया है 'शिवमद्वैतम्' आदि द्वारा, भेदाभावादि के रूप में उसे नहीं समझाया है। अत एव अभेद 'सिद्ध' नहीं किया जाता है, वह स्वतः सिद्ध है, भेद ही सिद्धि-सापेक्ष होता है। उक्त रीति से आत्मा की भूखादि-अतीतता स्पष्ट करने के लिये आचार्य प्रश्न उठाकर जवाब देते हैं **वेदान्त सिद्धान्त में मूढ और विद्वान् का आत्म एक ही है तो पूर्वोक्त छह ऊर्मियों वाला होना और उनसे परे होना दोनों एक आत्मा में एक-साथ कैसे हो सकते हैं?।।१४३।। जैसे एक ही वस्तु में अविचार रहते सर्पता एवं विचार कर लेने पर रस्सीपना दोनों रहते हैं वैसे आत्मा में भी संसार का होना-न होना दोनों समझने चाहिये।।१४४।।** याज्ञवल्क्य

अविचारविचाराभ्यां यथा सर्पत्वरज्जुते।
तथात्मन्यपि संसारभावाभावावितीक्ष्यताम्।।१४४।।

ने श्लोक १४१ में विद्वदनुभव से कहा था कि आत्मा भूखादि से परे है; हमें आत्मा भूखादि से युक्त मिल रहा है; वेदांतानुसार आत्मा एक है तो ये दोनों विपरीत उपलब्धि कैसे संगत हैं? यह प्रश्न है। मूढ अर्थात् जिन्हें भूख आदि से युक्त आत्मा प्रतीत हो रहा है। यह तो कह नहीं सकते कि मूढ का आत्मा अलग और विद्वान् का आत्मा अलग है! आत्मा तो एक ही है। वैदिक निश्चित सिद्धान्त स्वीकारते हैं, जैनियों की तरह अनेकान्तवाद नहीं कि दृष्टिभेद से विरुद्ध बातें 'सही' हों! दृष्टिभेद से विरुद्ध बातें होती अवश्य हैं, जैसे यहीं कह रहे हैं कि एक ही चीज़ रस्सी व साँप दोनों है, लेकिन विरुद्ध बातें सब की सब सही नहीं होती; या उनमें से एक सही होगी और या सब ग़लत होंगी। रस्सी को दण्ड-माला-भूछिद्र-जलधारा देखने वालों की सभी जानकारियाँ ग़लत हैं यह हो सकता है; तब सही जानकारी कुछ और रहेगी; लेकिन विरुद्ध बातें सब ठीक हों, यह संभव नहीं। जैन दर्शन अवश्य ऐसी अनर्गल कल्पना करता है। आधुनिक युग में अव्यवस्थावादी स्वार्थवश ऐसी ही मान्यता पनपा रहे हैं। सही-गलत का विभाजन करें तब व्यवस्था होगी जिससे बंधन रहेगा, मन-मानी पर रुकावट होगी। यदि अपनी-अपनी दृष्टि से सभी कुछ सही है तो अव्यवस्था होगी, उच्छृंखलता रहेगी, मन-मानी ही बढ़ती जायेगी। व्यवस्था स्वीकारने पर ही समाज रहता है, अव्यवस्था में भीड़ होती है और जैसे भीड़ में किसी का कोई ज़िम्मा न होने से हर एक व्यक्ति जिस कार्य को ग़लत मानता है, भीड़ वह कार्य बेधड़क कर लेती है, वैसे समाज न रहने पर जो व्यक्ति-समूह उपस्थित है वह उन सब कार्यों में भागीदार बनता रहता है जिन्हें प्रत्येक ग़लत समझता है। भारतीय समाजशास्त्र व्यवस्थावादी रहा, वर्णव्यवस्था थी, आश्रम-व्यवस्था थी, समाज का एक उद्देश्य था, सही-ग़लत की स्पष्ट मर्यादाएँ थी जो सबके लिये जग-जाहिर थीं, प्रत्येक घटक को अपने कर्त्तव्यों, अधिकारों, सीमाओं का ज्ञान था अतः सहस्राब्दियों तक प्रवाह अनवरत चला। आधुनिक विचारधारा के अनुसार समाज विशृंखल हुए, व्यवस्था समाप्त हुए अभी शताब्दियाँ भी नहीं बीतीं कि केवल बिखराव, स्पर्धा, क्लेश एवं सामूहिक तथा वैयक्तिक असन्तोष असहनीय हो गया है। एक काल्पनिक 'न्याय' और 'समता' की आशा दिखायी जाती है जबकि हर दिन इस अव्यवस्थावाद के नियंत्रण में अन्याय और वैषम्य ही बढ़ता जा रहा है। व्यवस्थाकालीन इतिहास, जो अभी इतना प्राचीन भी नहीं कि उसके साक्षी सर्वथा रह न गये हों, इसका गवाह है कि पदार्थों की वर्तमान अतिशय उपलब्धि के बावजूद

प्रत्येक स्तर के प्रत्येक व्यक्ति और उनके समूहों में असंतोष, क्लेश, दुःख बढ़े हैं तथा मानवता एवं सारी ही प्रकृति में विप्लव की सामग्री लगातार बढ़ोतरी पर है। अनेकान्तवाद सुनने में मीठा लगता है क्योंकि स्वार्थपूर्ति के लिये इसमें अवसर 'दीखते' हैं, लेकिन यह अत्यंत घातक और अंततः स्वार्थोपलब्धि की संभावना ही समाप्त करने वाला है। जब तक थोड़े लोग अनेकान्ती हैं तब तक अन्य व्यवस्थावादियों की बदौलत वे स्वार्थसिद्धि कर लेते हैं, उन्हें धोखा दे लेते हैं, पर जब अधिकतर अनेकान्ती हो जाते हैं तब सब सभी की काट ही करते हैं तो किसी का स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। कम घूसखोर हों तो घूस से कमायी होती है लेकिन जब घूसखोर ही ज़्यादा हो जाते हैं तो दूसरों का काम करने के लिये ली हुई घूस अपना काम कराने में ही निकल जाती है!

जैसे समाज या आचार में निश्चय पर पहुँचना ही हितकर, वैसे आत्मकल्याण या मोक्ष के लिये भी, अतः कहोल ने पूछा कि भूखा आत्मा ही भूख से परे हैयह कैसे हो सकता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि सत्य तो है कि परे है, भ्रम से भूखा आदि है। किसी जानकार को रस्सी दीखे, अनेक ग़ैरजानकारों को साँप आदि दीखेंयह जैसे संभव है वैसे विद्वान् को भूखादि से अतीत दीखे, मूढों को भूखा आदि दीखेयह एक आत्मा के बारे में संगत है। यह अनेकांतता नहीं क्योंकि विचारित अनुभव ही ठीक है, अविचार के चलते होने वाले अनुभव गलत हैं। लोक में भी परीक्षित अनुभव ही सही माना जाता है, आपात नहीं। भूखा-प्यासा हूँयह आपात अनुभव है। तीनों अवस्थाओं में मैं तो एक-समान रहता हूँ लेकिन भूखादि का मुझ से वियोग हो जाता है : भूखा सोकर सपने में स्वयं को तृप्त पाता हूँ, सुषुप्ति में भूख और तृप्ति दोनों से रहित पाता हूँ, उठने पर फिर भूखा पाता हूँ; अतः स्पष्ट होता है कि प्राणादि रहते ही भूख आदि हैं, भूख आदि का मुझ से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं। प्राणादि में मैं तादात्म्य किये हूँ तो मैं भूखा आदि समझ रहा हूँ, स्वरूप से मैं भूखा आदि नहीं हूँ। इस तरह विचारपूर्वक निश्चित भूखादि से अतीतता ही सच्ची है, भूखा आदि प्रतीतियाँ झूठी हैं। अविचारित प्रतीतियों को महत्त्व देने की अनादिसिद्ध आदत को बदलने के लिये ही सब बहिर्मुखता त्याग कर विचार में तत्पर होना पड़ता है जिसे आगे याज्ञवल्क्य साधनरूप से बतायेंगे। आत्मा में 'संसार' का भाव (सद्भाव) अविचार से है, अभाव वस्तुतः है। सदा सरकने, बदलने वाला होने से अनात्मवर्ग संसार है, अतः पतंजलि आदि ने संसार को क्षणपरिणामी कहा है, जबकि आत्मा कूटस्थ नित्य, अपरिवर्तनीय स्थायी, ध्रुव है। अतः भ्रम से ही आत्मा का संसरण, ऊर्मियुक्तत्व संभव

क्षुत्पिपासे प्राणधर्मौ शोकमोहौ तु मानसौ ।
जरामृत्यू देहधर्मावात्मधर्मो न कश्चन । ।१४५ । ।
प्राणसंचारबाहुल्याद् गमनादिश्रमे सति ।
क्षुत्पिपासाजनिस्तेन प्राणधर्मत्वमेतयोः । ।१४६ । ।
इष्टस्य वस्तुनोऽसिद्धौ चेतसो याऽनवस्थितिः ।
स शोको मनसो धर्मो मोहश्च विषयभ्रमः । ।१४७ । ।

है, वस्तुतः नहीं। इस प्रकार मूढ-विद्वान् के आत्मा की एकता एवं ऊर्मियों की अनुभूति का सामंजस्य है। ।१४३-४ । ।

भूखादि आत्मा की विशेषताएँ नहीं यह समझाते हैं **भूख-प्यास प्राणों के धर्म (विशेषता) हैं, शोक-मोह तो मन के धर्म हैं, जरा-मृत्यु शरीर के धर्म हैं, आत्मा का कोई धर्म नहीं। ।१४५ । ।** भूखादि में से तो कोई आत्मा का धर्म नहीं ही है, और भी कोई धर्म नहीं जो आत्माका हो क्योंकि वह धर्मधर्मिभाव से परे है। ।१४५ । ।

भूख-प्यास को प्राण का धर्म सिद्ध करते हैं **चलना आदि परिश्रम करने पर प्राण के संचार की अधिकता से भूख-प्यास उत्पन्न होती है अतः ये प्राण के धर्म हैं। ।१४६ । ।** कोई क्रिया न करें तो भूख-प्यास घटती जाती हैं लेकिन परिश्रम करें तो भूख भी बढ़ती है, प्यास भी ज़्यादा लगती है। श्रम से प्राणों का संचार बढ़ता है। साँस ज़्यादा चलती है यह तो प्रत्यक्ष है, खून को शरीरभर में पहुँचाने वाले समान की गति भी बढ़ती है, देह सीधा रखने वाले उदान का भी प्रयास बढ़ता है, आदि। प्राण की गतिविधि कम रहते भूखादि कम, प्राण की गतिविधि बढ़ने पर भूखादि ज्यादाइससे सिद्ध होता है कि भूखादि प्राण के ही धर्म हैं न कि हर हालत में सम रहने वाले आत्मा के। ।१४७ । ।

शोकादि द्वन्द्व मानस हैं यह बताते हैं **अभिलषित वस्तु न मिलने पर चित्त की जो अस्थिरता वह शोक है तथा विषय के बारे में भ्रम मोह है। ये दोनों मन के धर्म हैं। ।१४७ । ।** जो कुछ इच्छा का विषय बना हो, वह न मिलने पर शोक प्रत्यक्ष है। चाहे नब्बे प्रतिशत अंक मिलें जो कि शिक्षा-परीक्षा की दृष्टि से अत्युत्तम हैं, लेकिन यदि किसी महाविद्यालय में प्रवेश बानबे से कम अंकों वालों का नहीं हो रहा है और उसमें प्रवेश इष्ट है, तो बच्चा शोकग्रस्त हो जाता है। सत्तर लाख रुपये कमाना इष्ट था, चालीस लाख कमाये, फिर भी व्यापारी तीस लाख के 'घाटे' से शोकसंतप्त हो जाता है। क्योंकि शोक इष्ट अर्थात् इच्छित पर निर्भर है और इच्छा

जरा देहस्य शैथिल्यं मृत्युः प्राणवियुक्तता।
ते सर्वेऽप्यात्मनि भ्रान्त्या कल्पिता व्योम्नि नैल्यवत्।।१४८।।

मनोधर्म है इसलिये शोक भी मनोधर्म ही है। गहरी नींद में मन न रहने पर शोकादि नहीं होते, इससे भी ये मनोधर्म हैं यह निर्णय होता है। विषय-भ्रम अर्थात् उन्हें सत्य, रमणीय आदि समझना। अनित्य, अशुद्ध, अनात्मा और दुःख को नित्य, शुद्ध, आत्मा और सुख समझना प्रसिद्ध भ्रम हैं। विषय हैं अनित्य, हम उन्हें स्थायी समझते हैं यह भ्रम है। वे हैं दुःख, हम उन्हें सुख समझते हैं, यह भ्रम है। गहने के भ्रम में जैसे सोने में धोखा खाते हैं अर्थात् गहने के आकार-प्रकार को स्थायी, सुखोपाय मानकर उसके सोने की परीक्षा नहीं करते तो नकली सोना खरीद बैठते हैं, अपनी हानि करते हैं, वैसे ही विषय-भ्रम में अपनी ही हानि करते हैं। परीक्षा में प्रवृत्ति रोकने वाला है आकार की (नाम-रूप की) आसक्ति, राग। यदि संसार की परीक्षा करेंगे तो निश्चित है कि इसके नाम-रूप का मज़ा किरकिरा होगा! नाम-रूप सत्य होते तो ऐसा न होता लेकिन क्योंकि ये हैं ही मिथ्या इसलिये निश्चित है कि अपरीक्षित दशा में जो इनका आकर्षण है वह परीक्षित दशा में नहीं रहेगा। जैसे सिनेमा की अभिनेत्री को साज-सज्जा के बगैर कोई देख ले तो उसका सारा आकर्षण समाप्त हो जाये क्योंकि उनमें वास्तव सौंदर्य होता ही नहीं, वैसे संसार की परीक्षा करें तो इसका आकर्षण भी रह नहीं सकता। रागी आकर्षण को बचाये रखने का आग्रही होता है अतः परीक्षा की चर्चा से ही बचता है। अतः विषयभ्रम को मोह कहा, यह चित्त को सत्य से विमुख किये रहता है। मोह भी मानस धर्म है क्योंकि एक तो मन न रहने पर सुषुप्ति में मोह भी नहीं रहता है और दूसरा, चित्त अर्थात् मन की ही विपरीत दृष्टिरूप होने से यह मनोधर्म ही संभव है।।१४७।।

जरा-मरण की स्थूलधर्मता कहते हैं **शरीर की शिथिलतारूप जरा और देह से प्राण का वियोगरूप मरण ये दोनों देह के (धर्म) हैं। आकाश में नीलिमा की तरह ये सभी धर्म आत्मा में भ्रम से कल्पित हैं।।१४८।।** शिथिलता, ढीलापन, कार्यक्षमता में कमीयही जरा या बुढ़ापा है एवं शरीर में प्राण न रहना ही मरण है। ये दोनों स्थूल देह के धर्म लोकसिद्ध ही हैं। भूख-प्यास लोक में शरीरधर्म माने जाते हैं अतः समझाना पड़ा कि वे प्राणों के धर्म हैं। शोक-मोह आत्मधर्म ही माने जाते हैं अतः उनकी मानसता कहनी पड़ी। जरा-मरण यद्यपि देहधर्म के रूप में प्रसिद्ध हैं तथापि स्थूल देह से आत्मतादात्म्य सहज होने से इन्हें आत्मधर्म के रूप में मानकर ही चलते हैं, इसलिये इनका भी उल्लेख आवश्यक है। 'मैं बूढ़ा नहीं होता, मरता नहीं' ऐसा

यः स्वकारणसंसर्गः क्षुधादेः प्रलये मतः।
अनात्यन्तिकरूपत्वात् सोऽत्ययोऽत्र न गृह्यते।।१४६।।
तत्कारणनिषेधो यः स्वमहिम्नैव वस्तुनः।
तमत्ययं मोक्षविधौ तद्विद्वांसः प्रचक्षते।।१५०।।

कोई लौकिक नहीं मानता अतः इनकी आत्मधर्मता प्रतीयमान है। फिर इन्हें देह धर्म लोक-दृष्ट्या क्यों कहते हैं? क्योंकि इनका निर्देश देह के उल्लेख के बिना होता नहीं इसलिये इनका देहसंबंध भी लोकसिद्ध है। ये छहों धर्म स्थूल सूक्ष्म शरीरों के होने पर भी लगते हैं मानों आत्मा में हों जैसे लगता है आकाश नीला हो या लगता है मानो सूर्य चलता हो। जैसे तत्त्वज्ञ आकाश को नीला देखते हुए नीरूप जानता है या सूर्य को चलता देखते हुए स्थिर जानता है वैसे आत्मज्ञ इन धर्मों वाला देखते हुए भी आत्मा को निर्धर्मक जानता है।।१४८।।

यद्यपि अत्यय को समझा चुके कि भूख आदि की सत्ता से अधिक सत्ता वाला ही रह जाना अभिप्रेत है तथापि इसमें उपपत्ति देते हैं **भूख आदि का प्रलय में जो अत्यय (नाश) होता है उसका स्वरूप है भूख आदि का अपने कारण से एकमेक होकर रहना। वह अत्यय यहाँ ग्रहण नहीं किया जा रहा क्योंकि वह सनातन (हमेशा के लिये) नहीं होता।।१४६।। मोक्षोपाय के प्रसंग में मोक्ष के बारे में ठीक-ठीक समझने वाले लोग उस अत्यय का प्रकथन करते हैं जिसमें अत्यय करने वाली अर्थात् लाँघने वाली वस्तु अर्थात् आत्मा अपनी महिमा के बल पर ही भूख आदि के कारण को मिटा देती है।।१५०।।** अत्यय से साधारण नाश यहाँ समझना इसलिये ग़लत है कि नाश सदा अपने कारण में होता है जैसे घड़े का नाश मिट्टी में होता है, भूख आदि यदि आत्मा में नष्ट हों तो आत्मा उनका कारण बन जायेगा जो कि वह है नहीं। किं च साधारण नाश क्योंकि कारणभाव से रहना रूप होता है इसलिये हमेशा के लिये नहीं होता जबकि यह अत्यय मोक्षात्मक होने से सनातन है। अतः रोज़ होने वाली सषुप्तिरूप प्रलय या कल्पान्त में होने वाली प्रलय की दशा में जो आत्मा, उसे भूखादि से अतीत यहाँ नहीं कह रहे। समाधि में होने वाला भूखादि का लंघन भी इसीलिये अभिप्रेत नहीं। यहाँ आचार्य ने साधारण नाश का स्वरूप स्पष्ट किया 'अपने कारण से सम्बन्ध'; यद्यपि कार्यकाल में भी कारण सम्बन्ध तो अनिवार्य है तथापि कार्यदशा में कारण से पार्थक्य प्रतीत होता है जबकि नाशदशा में कार्य अपने कारण से ऐसा पूरी तरह सम्बद्ध हो जाता है कि कारण ही प्रतीत होता है, उससे अलग कार्य की प्रतीति नहीं होती।

प्राणहेतुस्तमः प्राणधर्माभ्यामुपलक्ष्यते।
सूत्रात्मा शोकमोहाभ्यां जरया मृत्युना विराट्।।१५१।।
तमः सूत्रं विराजं च योऽत्येत्यात्मा स्वभावतः।
असंगस्तत्परं ब्रह्म साक्षादित्यादिलक्षणम्।।१५२।।

कारण-सम्बन्ध को जन्म की भी परिभाषा कहा जाता है! तब तात्पर्य होता है कि कार्य अपने कारण के सम्बन्धी रूप से प्रतीत होना प्रारंभ करे तब जन्म है। नाश के लिये कहने पर तात्पर्य होता है कि इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाये कि कार्य ही पहचान में न आ सके, कारण का ही भान रहे। किंतु कारण रहने पर कार्य का भी अस्तित्व निहित होता है अतः यह नित्य नाश या लंघन नहीं वरन् भूखादि के कारणभूत प्राणादि के आत्यन्तिक असत्त्व को समझ लेना ही भूख आदि को लाँघ जाना कहा जा रहा है। किंतु इस निषेध के फलस्वरूप लंघन नहीं है बल्कि आत्मा स्वभाव से ही प्राणादि के अतीत है। पीतल के बर्तन में खटाई खराब तब नहीं होती जब बर्तन पर कलई हो अर्थात् कलई की महिमा से वैसा होता है लेकिन चाँदी के बर्तन में भी खटाई खराब नहीं होती और इसके लिये कलई नहीं चाहिये, चाँदी की निजी महिमा से ऐसा है। इसी प्रकार आत्मा स्वभावतः ही प्राणादिरहित है, अज्ञानवश स्वयं को उन वाला मानकर भूख-प्यास से तड़पता है, ज्ञान होने पर तड़पना ख़त्म होने से 'लाँघ गया' ऐसा कहते-समझते हैं जबकि वस्तुस्थिति में वह सदा अतीत रहा। अतः यह बाधरूप अत्यय आत्यंतिक ही होता है। कार्य-कारण का इकट्ठे समाप्त होना बाध कहा जाता है जैसे सर्प और उसके कारण रज्ज्वज्ञान, दोनों एक-साथ मिटते हैं तब बाध है। यहाँ भी भूखादि ही नहीं, उनके कारणभूत प्राणादि भी निषिद्ध हो जाते हैं, उनको भी 'नहीं हैं' समझ लिया जाता है, इसलिये यह बाध है जो मोक्ष में उपयोगी है।।१४९-५०।।

'कारणनिषेध' केवल एक कदम के कारण के निषेध के लिये नहीं वरन् जहाँ-कहीं भी कारणबुद्धि हो उस सबके निषेध के लिये है यह सूचित करते हुए अत्यय केवल व्यष्टि स्तर के भूखादि से नहीं, समष्टि से भी है यह वक्त करते हैं **प्राणों के धर्मों से (भूख-प्यास से) प्राणकारण अज्ञान उपलक्षण द्वारा कहा जा रहा है, शोक-मोह से सूत्रात्मा एव जरा-मृत्त्यु से विराट् की उपलक्षणा है।।१५१।। जो आत्मा स्वभाववश ही अज्ञान सूत्रात्मा और विराट् को लाँघे रहता है वह असंग आत्मा ही 'साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर' लक्षण वाला परब्रह्म है।।१५२।।** याज्ञवल्क्य ने अशनाया-पिपासा से परे बताया। अशनाया अर्थात् भूख; भूख-प्यास से परे कहा तो

पहले लगता है कि केवल इन धर्मों से अतीत होगा। तब पूर्वश्लोक में समझाया था कि कारणनिषेध विवक्षित होने से धर्मों का कारण जो प्राण उससे अतीत है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि प्राण स्तर पर ही प्राण का निषेध होगा; तब बता रहे हैं कि जैसे भूखादि का निषेध उनके कारण के साथ था वैसे प्राण का निषेध भी उसके कारण के साथ है। अर्थात् प्राण का भी बाध कह रहे हैं। बाध में कार्य-कारण दोनों का निषेध होता है। प्राण का कारण अज्ञान ही है। शोक-मोह का निषेध मन के समेत और मन का निषेध उसके कारणभूत सूत्रात्मा के समेता। सूत्रात्मा अर्थात् समष्टि लिंग ही मन अर्थात् व्यष्टि लिंग का कारण है। यद्यपि प्राण भी लिंगान्तर्गत होने से सूत्रात्मा का कार्य कहना चाहिये और मन-प्राण माने भी वैसे ही अभिन्न हैं जैसे दर्पण के प्राग्भाग व पश्चाद्भाग, तथापि सुषुप्ति में बिना मन के प्राण की अवस्थिति स्वीकार्य होने से प्राण को तमःकारणक कहा। प्रश्नोपनिषत् में भी 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायु र्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः' (६.४) यों प्राण-मन में भेद का उल्लेख है। जीवनमात्रका निमित्त प्राण तमोहेतुक तथा क्रियाशक्तिरूप प्राण सूत्रात्महेतुक मानें तो कोई विसंगति नहीं रहती। सूत्रात्मा शोक-मोह से सीधे ही नहीं वरन् मन के द्वारा उपलक्षित है क्योंकि सूत्रात्मा तभी शोक-मोह का हेतु बनता है जब मन हो क्योंकि तभी निमित्तभूत पुण्य-पाप उपलब्ध होते हैं। जैसे मालाकार फूलों को धागे में गूंथता है तो धागा सब फूलों को धारण किये, व्यवस्थित किये रहता है वैसे सब प्राणियों को व्यवस्थित रूप से सम्बद्ध (संग्रथित) रखने वाला होने से हिरण्यगर्भ का नाम सूत्रात्मा है। एक प्राणी को सुख हो इसमें अनेक प्राणी मिलजुलकर हेतु बनते हैं। हमें सुख होना है; हमें रसगुल्ले की इच्छा है; उसी समय दुकान में स्वादिष्ट रसगुल्ला तैयार होना पड़ेगा। अगर हलवाई का प्रारब्ध हमारे प्रारब्ध से तालमेल वाला नहीं होगा तो उस दिन रसगुल्ला बिगड़ जायेगा! आगे, दूधवाले का भी प्रारब्ध तालमेल वाला नहीं होगा तो दूध ही फट जायेगा; गाय का भी प्रारब्ध तालमेल वाला नहीं होगा तो उसे रोगादि होकर उस दिन दूध नहीं उतरेगा। ऐसे ही हमें दुकान तक पहुँचाने वाले रिक्शाचालक के प्रारब्ध से तालमेल, दुकान में बेचने वाले से तालमेल इत्यादि मधुब्राह्मणोक्त रीति से सारे संसार के प्राणियों का तालमेल बैठे, तब हम रसगुल्ला खाकर सुखी हों। इतना जबर्दस्त तालमेल बैठाने वाला सूत्रात्मा ही है। हम मूर्खतावश सुखहेतु रसगुल्ला मानते हैं, थोड़ी सूक्ष्मबुद्धि हो तो अपने पुण्य को हेतु मानते हैं, वास्तव में जड चीज़ें हेतु नहीं, चेतन ही हेतु संभव है अतः सूत्रात्मा को शोक-मोह का मूल हेतु होने से शोक-मोह से

यथा विशुद्धमाकाशं सति वाऽसति वा मले।
नीहारादौ तथैवात्मा कार्यकारणवस्तुनि।।१५३।।
परमात्मस्वभावोऽयं कहोलाय प्रपंचितः।
तद्बोधसाधनं त्याग एतमित्यादिनोच्यते।।१५४।।

उपलक्षित बताया। जरा-मृत्यु का सीधा संबंध व्यष्टि देह से और उसके द्वारा समष्टि स्थूल से अतः जरा-मरण से विराट् की उपलक्षणा है। व्यष्टि क्योंकि समष्टि के अंशरूप से सत्ता में आता है इसलिये व्यष्टि का कारण समष्टि होता है। विराट्- हिरण्यगर्भ-ईश्वरये यहाँ कारणरूप से बताये और इनसे परे को साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर ब्रह्म कहा। 'तमः' शब्द से अविद्यावच्छिन्न अर्थात् ईश्वर कहा है। तीनों औपाधिक होने से परब्रह्म को निरुपाधिक समझाया गया है। शंका होती है कि ईश्वरपर्यन्त को लाँघने में हम कैसे समर्थ होंगे? समाधान दिया कि क्योंकि हम स्वभावतः असंग हैं इसलिये इस स्वभावस्थिति को समझते ही लाँघ जायेंगे। अगर कुछ करके लाँघना होता तो असंभव था लेकिन वस्तुतः लाँघे हुए ही हैंइस तथ्य को समझना ही लंघन है अतः असंभव नहीं। असंगता हमें स्वयं प्रत्यक्ष है। चाहे जितना भीषण दुःख उद्वेलित करे, कुछ समय बीतते ही हम अपनी स्वाभाविक अनुद्विग्न स्थिति में आ जाते हैं। ऐसे ही सुख एक क्षण को अतिप्रसन्न करता है, थोड़े समय में हम सहज हो जाते हैं। अतः आत्मा की असंगता बिना कारण है, वास्तविक है। इसके बारे में जो अज्ञान है उसे मिटाना ही उक्त अत्यय समझना चाहिये अर्थात् ब्रह्म अत्ययस्वरूप है तथा इसका अनावरण ही इसकी प्राप्ति है।।१५१-२।।

उक्त सनातन अतीतता को सोदाहरण बताते हैं **नीहार आदि मल हों या न हों, आकाश विशुद्ध ही है, इसी तरह कार्य-कारण वस्तु हों या न हों, आत्मा विशुद्ध ही है।।१५३।।** नीहार से कोहरा, ओस, बादल, धूम आदि सब समझ लेने चाहिये। ये आकाश में ही प्रतीत होंगे लेकिन फिर भी आकाश स्वच्छ ही रहता है, इनकी अप्रतीति की अपेक्षा से नहीं वरन् स्वभाव से स्वच्छ है। इसी तरह आत्मा स्वभाव से विशुद्ध है।।१५३।।

इस तरह परमब्रह्म बताकर इसकी प्राप्ति के उपाय भी बताते हैं **कहोल को समझाने के लिये परमात्मा के स्वभाव के बारे में यह विस्तृत व्याख्यान किया। इसे समझने का उपाय त्याग है जिसे 'एतम्' इत्यादि से बता रहे हैं।।१५४।।** कुछ बटोरना हो तब तो कोई कर सके, कोई न कर सके, लेकिन छोड़ना तो सभी के लिये

उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य संन्यासो लक्षणं यतः ।
साधनं च तदुत्पत्तौ संन्यासोऽतोऽत्र गम्यताम् ।।१५५ ।।
ब्रह्मात्मनोर्यदेकत्वं ब्राह्मणद्वयनिश्चितम् ।
एतं तमिति शब्दाभ्यां तदैकात्म्यमनूद्यते ।।१५६ ।।
अत्येति योऽशनायादीन् एतं सर्वान्तरं पुरा ।
उदितं तं विदित्वाऽथ व्युत्तिष्ठत्येषणात्रयात् ।।१५७ ।।

संभव है अतः आत्मज्ञान सभी को हो सकता है। धनाढ्य हो या गरीब, ब्राह्मण हो या म्लेच्छ, कोई भी सब कुछपाँचों कोश, सारे कार्य-करणछोड़े तो इस परमात्मा के अनावरण में कोई रुकावट नहीं। अतः मोक्षमार्ग सभी के लिये खुला है, इस पर चलने के लिये केवल छोड़ने की हिम्मत चाहिये।।१५४।।

याज्ञवल्क्यका वचन है 'एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।' इसे समझाना शुरू करते हैं **क्योंकि जिसे आत्मा के बारे में ठीक ज्ञान हो गया उसका लक्षण है संन्यास इसलिये ज्ञान की उत्पत्ति में साधन संन्यास है यह इस वाक्य में समझना चाहिये।।१५५।।** गीताभाष्य में समझाया है कि कृतार्थ के लक्षण ही साधक के लिये यत्नतः अनुष्ठेय साधन होते हैं। उसी नीति से तत्त्वज्ञ का लक्षण संन्यास बताकर याज्ञवल्क्य साधक के लिये उसका विधान कर रहे हैं। 'जानकर एषणा छोड़ते हैं तब भिक्षोपजीवी रहते हैं' कहने से एषणाहानि ज्ञान का प्रभाव कहा लेकिन इसी से एषणात्याग साधन भी बता दिया। 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्' आदि से भगवान् ने भी इसी साधन को सर्वप्रथम गिना। प्र-जहाति अर्थात् त्याग में प्रकर्ष चाहिये। पुनः संग्रह की दृष्टि न बने, उल्टी किये हुए भोजन में जैसे 'फिर खा लूँ' दृष्टि नहीं होती वैसे संसार में न हो, यह प्रहाण है जो विद्वान् का लक्षण है। जिज्ञासु इसे तो हासिल नहीं कर सकता लेकिन जितना छोड़ सकता है छोड़े, यह भाव है।।१५५।।

त्याग विद्वल्लक्षण होने से साधनरूप से निर्णीत कर याज्ञवल्क्य के वचन का अर्थ कहते हैं **'एतं' और 'तम्' शब्दों से उस एकात्मता का अनुवाद किया है जो ब्रह्म-आत्मा की एकता उषस्त और कहोल ब्राह्मणों में निर्धारित की।।१५६।। जो भूख आदि से परे है उस इस पूर्वोक्त सर्वान्तर का साक्षात्कार कर तब तीनों एषणाओं (कामनाओं) से विमुख हो उठ जाते हैं।।१५७।।** 'एतम्' सन्निहित को, 'तम्' विप्रकृष्ट को सूचित करता है अतः प्रकृत और पूर्ववर्ती ब्राह्मणों में उक्त अखण्ड

ब्रह्मप्रश्नेन पृष्टे ते तद्बोधफलसाधने।
इति मत्वोत्तरत्वेन व्युत्थानद्वयमुच्यते।।१५८।।
पूर्वं विदित्वा पश्चात् तु व्युत्थायेत्यन्वयाच्छ्रुतात्।
विद्वत्संन्यास आभाति ब्रह्मविद्याफलात्मकः।।१५९।।

वस्तु जानकर होने वाली कामनानिवृत्ति ज्ञानी का लक्षण अतः साधक के लिये उपाय कही। तीन एषणायें विषयों के भेद से हैं, एषणारूपता समान है। पुत्र, वित्त (धन) और लोक (विषय), इनमें सारी कामनाओं के विषय एकत्र हो जाते हैं अतः एषणात्रय प्रसिद्ध हैं। मुख्य रूप से शास्त्रश्रद्धालु को पुत्रैषणा होती है, बाकी लोग तो बेटों से ही प्रसन्न हैं! पितृ-ऋण चुकाने में उपाय ही पुत्र होगा जो शास्त्र-सम्मत कुल-धर्मों का संरक्षक होगा। इसके लिये उसे अनुशासित, शिक्षित होना पड़ेगा। शास्त्रीयादि कर्मों के सम्पादनार्थ वित्त की इच्छा भी श्रद्धालु में होगी। उपासनारूप वित्त भी वही कमायेगा। क्योंकि यहाँ त्याग का प्रसंग है इसलिये शुद्धचेता ही अधिकारी है अतः जो सांसारिक मौज-शोक के लिये धन चाहे, व्यापार आदि सँभालने के लिये सन्तान चाहे, उसे यहाँ सम्बोधित ही नहीं किया जा रहा। इसलिये यद्यपि वित्त से सभी तरह का धन समझना है तथापि प्रकृत अधिकारी उसी वित्त की एषणा पाले हुए है जो शास्त्रीय कर्मादि में उपयोगी है। उस एषणा का भी छूटना ज्ञानफल है। तीसरा एषणाविषय लोक अर्थात् देवादि उत्तम लोक हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि इन तीन से अन्य विषय चाहता रहे! वे विषय तो बहुत पूर्व आकृष्ट करना छोड़ चुके तब चित्त शुद्ध होकर 'विदित्वा' की स्थिति आयी अतः अब वे कामना के योग्य हो ही नहीं सकते। अतः आत्मबोध से सर्वकामनिवृत्ति यहाँ बतायी।।१५६-७।।

जिज्ञासाधिकरणभाष्य में 'यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तान्यर्थाक्षिप्तान्येव' कहा अर्थात् जो सब समझे बिना ब्रह्म नहीं समझा जा सकता उन्हें भी समझना 'ब्रह्म समझने' के अन्तर्गत ही है। अतः पद्मपादाचार्य ने 'स्वरूप-प्रमाण-युक्ति-साधन-प्रयोजन' इन पाँच की जानकारी ब्रह्मज्ञान की परिपूर्णता के लिये आवश्यक मानी। इसी न्याय से कहोल के प्रश्न का पूरा उत्तर देने के लिये याज्ञवल्क्य ने संन्यास-कथन किया यह समझाते हैं **ब्रह्मप्रश्न द्वारा ब्रह्मबोध का फल और ब्रह्मबोध का साधन भी पूछा गया है यह विचार कर उत्तर के रूप में दोनों व्युत्थान (संन्यास) बताये।।१५८।। 'पहले जानकर फिर संन्यास करके' यों यथाश्रुत अन्वय से ब्रह्मज्ञान का फलरूप विद्वन्निष्ठ संन्यास समझ आता है।।१५९।। प्रयोजनवश विपरीत**

व्युत्थायाथ विदित्वेति व्यत्ययेनार्थिकान्वयात्।
सिद्धो विविदिषात्यागः स्पष्टः श्रुत्यन्तरेष्वसौ।।१६०।।
स्वात्मलोकं समिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति वक्ष्यति।
त्यागेनैकेऽमृतत्वं तु प्राप्ता इत्यपरा श्रुतिः।।१६१।।

अन्वय से 'संन्यास करके फिर जानकर' यों विविदिषुकर्तृक त्याग समझ आता है। अन्य वेदवचनों में यह त्याग मुखतः कथित है।।१६०।। 'स्वात्मरूप लोक की समीचीन इच्छा करते हुए संन्यास करते हैं' यह ४.४.२२ में कहेंगे। अन्य (कैवल्य. २) श्रुति है 'मुख्य साधकों ने त्याग से अमरता पायी'।।१६१।। क्योंकि तत्त्वजिज्ञासा मोक्षार्थ है इसलिये साधन-फल अवश्य ज्ञेय हैं। शारीरकशास्त्र में भी सर्वविध अविरोध, साधन और फलइन सबको बताकर ही पूर्णता मानी, केवल शास्त्र-समन्वय कहकर नहीं छोड़ा। 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' का विरोध इसलिये नहीं कि ब्रह्मप्रश्न किया ही था। यथाश्रुत अन्वय से फलरूप व्युत्थान एवं साधनबोधन के प्रयोजन से पदों का क्रम बदलकर साधनरूप व्युत्थानयों दो व्युत्थान बताये हैं। व्युत्थान अर्थात् सब लोग कामनानुसार करते हैं, उससे विपरीत, कामना से प्रयुक्त होकर कुछ न करना। कामना से अपने लिये ही किया जाता है, कामना छूटने पर अपने लिये करना स्वतः समाप्त है। ज्ञानी को सर्वान्तरता का भान होने से कामना से अतीतता भासमान रहती है अतः संन्यास स्वाभाविक है। जिज्ञासु को चाहिये कि लगातार स्वरूप का विचार करके उस स्वरूप को समझने की कोशिश में संलग्न रहे अतः कामनापूर्ति के लिये कुछ न करे। केवल 'न करना' तो सुषुप्ति आदि में है ही, वह साधन नहीं! सर्वान्तर का विचार ही करना अतः और कुछ न करनायह साधन है। अतः यह तामस त्याग नहीं, सात्त्विक त्याग है। कामनापूर्ति करते रहने वाला कभी भी आत्मज्ञान नहीं पा सकता। यहाँ आचार्य ने दो अन्वय माने क्योंकि अर्थवश भी अन्वय मान्य है : 'अग्निहोत्र करो, यवागू (लप्सी) पकाओ' यह वाक्यक्रम होने पर भी यवागू पकाकर कुछ करना बताया नहीं, अग्निहोत्र काहे से करनायह बताया नहीं अतः अवश्य यवागू पकाकर उससे अग्निहोत्र करने का विधान उचित हैयों प्रयोजन के अनुसार उक्त क्रम का परिवर्तन न्यायसंमत है। इसी तरह प्रकृत में जानना चाहिये। इतना विशेष है कि यहाँ पाठक्रम और अर्थक्रम दोनों विवक्षित हैं; पाठक्रम से फलकथन है, अर्थक्रम से साधन-कथन है। अर्थ मायने प्रयोजन से अन्वय तब हो जब प्रयोजन निश्चित हो, अतः विविदिषावस्था में विद्या के उद्देश्य से त्याग की कर्त्तव्यता बताने वाले वचन उद्धृत किये जो उक्त प्रयोजन में प्रमाण हैं। तात्पर्य

ब्राह्मणग्रहणं श्रुत्वा विप्राणामेव भाष्यकृत्।
संन्यासेऽधिकृतिं प्राह चतुर्थाश्रमरूप्यसौ।।१६२।।
विद्यांगं तत्फलात्मानं गार्गीविदुरयोरपि।
स्त्रीशूद्रयोर्भाष्यकारः संन्यासमनुमन्यते।।१६३।।

है कि अन्वय में मनमाना हेरफेर नहीं कर सकते, प्रमाणनिर्भर परिवर्तन की ही अनुमति है। वक्ष्यमाण चतुर्थाध्याय की श्रुति के 'आत्मानम्' को आचार्य ने 'स्वात्मानम्' कहा ताकि वाच्य आत्मा नहीं, लक्ष्य आत्मा की इच्छा से प्रव्रज्या का विधान स्पष्ट हो। कैवल्य में अमृतत्व कहकर यह स्फुट है।।१५८-६१।।

याज्ञवल्क्य ने कहा कि आत्मा को जानकर ब्राह्मण ऐषणाएँ छोड़कर भिक्षाचरण करते हैं अतः आत्मज्ञान में केवल ब्राह्मण का अधिकार होगा या एषणात्याग में उसी का होगा, अन्यों को आत्मज्ञानूपर्वक मोक्ष में अधिकार नहीं होगा या एषणायें बिना छोड़े ज्ञान से मोक्ष में अधिकार होगा इत्यादि अनेक पक्ष संभव होने पर इस बारे में स्पष्टीकरण देते हैं **(इस उपदेश में) ब्राह्मण का नामतः उल्लेख सुनकर भाष्यकार ने कहा है कि ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार है। वह संन्यास चौथा आश्रमरूप है।।१६२।। विद्या का अंगरूप (साधन) और विद्याका फलरूप संन्यास गार्गी-विदुर (जैसे) स्त्री शूद्र का भी भाष्यकार को अनुमत (स्वीकृत) है।।१६३।।** आचार्य शंकर ने इस वाक्य के व्याख्यान में 'ब्राह्मणानामेवाधिकारो व्युत्थानेऽतो ब्राह्मणग्रहणम्' कहा है तथा ४.५.१५ में 'न हि क्षत्रिय-वैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति' कहा है जिससे यह मान्यता है कि आचार्य को ब्राह्मणों के लिये ही संन्यास अत एव तदंगक तत्त्वज्ञान में अधिकार संमत है। अधिकारी-विशेषण में उपरति का वे संन्यास अर्थ करते हैं तो संन्यासाऽनधिकारी का श्रवणादि में अनधिकार स्वतः है। वार्तिककार ने विस्तृत विचारकर ब्राह्मणग्रहण उपलक्षणार्थ माना है अतः तीन वर्णों का संन्यास उन्हें अभिमत है। विद्यारण्य स्वामी ने वार्तिकसार में यहाँ काफी ऊहापोह से स्पष्ट किया है कि संन्यास तीन तरहका हैविद्वत्संन्यास (ज्ञानफल), विविदिषासंन्यास (ज्ञानांग) और आश्रम संन्यास (वार्तिकसा. ३.५.५६)। भाष्यकार ने यहाँ जो ब्राह्मण का ही संन्यासाधिकार कहा है वह आश्रम संन्यास में है। बाकी दोनों संन्यासों में वे यह नियम नहीं मानते इसके लिये गार्गी व विदुर की ज्ञानी रूप से भाष्यकार द्वारा की गणना के आधार पर, ज्ञान संन्यासपूर्वक ही हो सकता है एवं यदि पूर्व संस्कारवश हो गया तो संन्यास में फलीभूत अवश्य होता है इस भाष्यसिद्धान्त के अनुसार, उन दोनों का संन्यास भी आचार्य को स्वीकृत है यों त्रैवर्णिक

पुत्रैषणेति पुत्रार्थं दारस्वीकारवाञ्छनम्।
कर्मणां साधने वित्ते तृष्णा वित्तैषणा मता।।१६४।।
लोकैषणेति देवादिलोकार्थोपासनाऽर्थिता।
न कश्चिदन्यः संसार उक्तादस्त्येषणात्रयात्।।१६५।।

के भी बंधन को अमान्य करते हैं। आश्रम संन्यास अनेक नियमों का पालनरूप, प्रायः जीवन के अंतिम चरण में ग्राह्य एवं ब्रह्मलोकफलक है। उसमें तीनों एषणाओं के त्याग की आवश्यकता नहीं। सारकार की व्यवस्था वर्तमान काल में सर्वमान्य प्रतीत होती है। उसी का अनुभूति-प्रकाश में उन्होंने संग्रह किया। इस पर सार के हिन्दी व्याख्याता पण्डित हरिहर कृपालु ने भी काफी चर्चा की है। ब्राह्मण के वर्णधर्म ही अध्यात्मोन्मुखता के अतीव अनुकूल हैं, किसी भी काल में स्वधर्मनिरत ब्राह्मण भोगपरायण हो नहीं सकता, इसके साधन ही जुटा नहीं सकता। उसे अवश्य ही विरक्त हो एषणा त्यागकर संन्यास ग्रहण कर आत्मज्ञान में निष्ठावान् होना चाहिये, इसीलिये उसे भगवान् ने ब्राह्मण जन्म दिया है, क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिये नहीं, वह यदि इस मार्ग पर आगे न बढ़े तो अशोभनीय है, इस दृष्टि से ब्राह्मण का उल्लेख उचित है। आश्रम संन्यास से अलग विद्यांग संन्यास है जिसमें शमादिपूर्वक श्रवणादि से अतिरिक्त सभी कर्मों का परित्याग है, परिग्रह का परित्याग है। फलसंन्यास में श्रवणादि की भी कर्त्तव्यता समाप्त है। महाभारत में वर्णन है कि विदुर का शरीर जलाने में प्रवृत्त युधिष्ठिर को आकाशवाणी ने बताया कि विदुर तत्त्वज्ञ होने से संन्यासी थे अतः उनका अग्निकर्म न किया जाये। सुलभा नाम की महिला संन्यासी भी प्रसिद्ध है। गार्गी को भी संन्यासी माना गया है। इस तरह आश्रमेतर संन्यास विरक्ताधिकार वाला समझना ठीक है। भाष्यकार की मुखतः अनुमति न सुलभ होने पर भी अर्थात् अनुमति है यह ग्रन्थकार का भाव है।।१६२-३।।

तीनों एषणाओं का स्वरूप बताते हैं **पुत्रप्राप्ति के लिये पत्नी ग्रहण करने की इच्छा पुत्रैषणा है। कर्मों के साधनरूप धन की अभिलाषा वित्तैषणा मानी गयी है।।१६४।। देवलोक आदि के प्रयोजन से उपासनानुष्ठान की कामना लोकैषणा है। इन तीन एषणाओं से अन्य कोई संसार है ही नहीं।।१६५।। इस बात को संक्षेप में कहती हुई श्रुति ने बताया है कि पुत्र से मनुष्यलोक, कर्म से पितृलोक और विद्या से देवलोक जीता जाता है।।१६६।।** पुत्र चाहने पर ही पत्नी स्वीकारने की इच्छा होती है अतः पुत्रैषणा से पत्नी की कामना समझायी। बृहदारण्यक में ही पहले, १.४.१७ कह चुके हैं 'जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय।

मनुष्यलोकः पुत्रेण पितृलोकस्तु कर्मणा ।
विद्यया देवलोकश्चेत्यब्रवीत् संग्रहश्रुतिः । ।१६६ । ।[1]

एतावान् वै कामः' कि कामना का क्षेत्र इतना ही हैपत्नी, पुत्र, धन और कर्म। जो तो कदाचित् पुत्रेच्छा के बगैर स्त्रीकामना है वह शास्त्रीय शिष्ट की नहीं अतः वेद में उसका उल्लेख, खासकर तत्त्वज्ञान के योग्य साधक के परिचय के प्रसंग में करना व्यर्थ है। इसी तरह इसी लोक में खाने-पीने-मौज करने की इच्छा की भी चर्चा अयोग्य है क्योंकि ऐसों को 'विदित्वा व्युत्थाय' या 'व्युत्थाय विदित्वा' दोनों श्रेणियों में स्थान मिलना स्वप्न में भी संभव नहीं। वित्तैषणा से उसी धन की इच्छा कही जो कर्म साधन है, न कि भोगसाधन; यह भी इसी अभिप्राय से कि एषणात्याग की सामर्थ्य आयेगी ही शास्त्रानुसार कर्मानुष्ठायी को, न कि भोगी को। लोकैषणा से विभिन्न लोक प्राप्त हों इतनी ही इच्छा नहीं वरन् उत्तम लोकों के लाभ के लिये उपासना करूँयह इच्छा विवक्षित है। इस प्रकार पुत्र के लिये जो ज़रूरी उसकी इच्छा, कर्म के लिये जो ज़रूरी उसकी इच्छा और लोक के लिये जो ज़रूरी उसकी इच्छा यों साधनों की इच्छाओं को एकत्र किया है। शास्त्र से प्राप्त संसार इतना ही है। इससे अन्य हम बिना शास्त्र की परवाह किये बटोरते फिर उसमें उलझते जाते हैं। शास्त्र ने जितना बोझ दिया, उतने से छूटने का रास्ता बता दिया। हम स्वयं जो बोझ लिये हैं वह तो विवेक से ही छूटेगा। धर्माचरण में तत्पर होने से ही साधारण कामनाएँ निवृत्त होती हैं। इन तीन एषणाओं का त्याग संन्यास है।। बृहदारण्यक में ही पूर्व में १.५.१६ कह आये हैं 'अथ त्रयो वाव लोकाःमनुष्यलोकः, पितृलोको, देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोकः। विद्यया देवलोकः'। लोक तीन ही हैं। वहाँ भाष्यकार ने कहा है 'त्रय एव शास्त्रोक्तसाधनार्हा लोकाः, न न्यूना नाधिका वा।' शास्त्र जिनका उपाय बताये यह उचित है, वे तीन ही लोक हैं और वे साध्य हैं पुत्र, कर्म और उपासना से, अन्य किसी साधन से नहीं। इसी वचन को यहाँ 'संग्रहश्रुति' कहा है। सार में (३.५.४१) 'संग्रहं श्रुतिः' पाठ है, वही बेहतर है, अर्थ में विशेष नहीं। सारे संसार को इकट्ठाकर श्रुति ने इन तीन में सीमिति कर दिया ताकि जो छोड़ना चाहे उसे छोड़ने योग्य की इयत्ता मालूम रहे।।१६५-६।।

श्रुति के 'व्युत्थाय' अर्थात् 'व्युत्थान करके'इस शब्द का अर्थ बताते हैं **न्यायसम्मत व्यवहार सर्वथा लाँघकर उससे विरुद्ध हुए रहना व्युत्थान कहा जाता है जैसे**

---

१. 'संग्रहं श्रुतिः' इति सारे पाठः।

न्याय्यां वृत्तिं समुल्लंघ्य तद्विरुद्धतया स्थितिः ।
व्युत्थानमुदितं राज्ञः सामन्तो व्युत्थितो यथा ।।१६७ ।।
भिक्षया लक्ष्यते चर्या परिग्रहविवर्जिता[1] ।
किं भोग्यं परिगृह्णीयात् सर्वभोग्येषु दोषदृक् ।।१६८ ।।
लोकत्रयार्थैषणाभ्यो व्युत्थानं चापरिग्रहः ।
द्वयं बोधमहिम्नै विदुषां न तु यत्नतः ।।१६९ ।।
आनन्दैकस्वभावं स्वमात्मानं पश्यतः कुतः ।
कामः परिग्रहो वा स्याद्योऽकाम इति वक्ष्यति ।।१७० ।।

'राजा से सामन्त व्युत्थित है' (आदि प्रयोग में)।।१६७।। राजेच्छानुसार शासनादि करने को नियुक्त सामन्त (मंत्री) यदि राजविरुद्ध कार्य में संलग्न हो तो यह न्यायसंमत व्यवहार का सर्वथा उल्लंघन और विपरीत व्यवहार है। मायाने भी सृष्टि में कर्त्ता-भोक्ता बनकर इसे चलाते रहने के लिये हमें नियुक्त किया। संसारचक्र चलायेंगे तभी जब कामनाग्रस्त रहेंगे। यदि माया की मंशा के विपरीत हम सृष्टि चलाने के हेतुभूत कर्तृत्व-भोक्तृत्व को उनके मूल कामना की निवृत्ति द्वारा उच्छिन्न करने का प्रयास करें तो यह न्यायसम्मत व्यवहार नहीं ही है इसलिये कामत्याग को व्युत्थान कहा। इसमें लौकिक प्रयोग दृष्टान्तार्थ है। यह वार्तिकोक्त अर्थ है। भाष्य में 'वैपरीत्येन उत्थानं कृत्वा। .... त्रिविधेऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः' यही कहा है।।१६७।।

'भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस श्रुतिवचन की व्याख्या करते हैं **भिक्षा से वह आचरण लक्षित है जहाँ कोई परिग्रह नहीं है। सारे भोग्य पदार्थों में दोष देखने वाला साधक किस भोग्य का परिग्रह करे!।।१६८।। त्रिलोकी के लिये होने वाली एषणाओं से व्युत्थान एवं अपरिग्रहये दोनों विद्वानों के ज्ञान के प्रताप से ही संभव हो जाते हैं, न कि किसी यत्न से।।१६९।। आनन्द ही जिसका स्थिर स्वभाव है ऐसे निज आत्मा को जानने वाले को क्यों तो कामना होगी और क्यों वह परिग्रह करेगा! आगे (४.४.६) 'जो अकाम है' ऐसा वेद कहेगा भी।।१७०।।** श्रुति ने भिक्षाचर्या कही, इससे बताया कि सारी चर्या, सारा आचरण भिक्षावृत्ति से हो अर्थात् बिना कामना के जो मिल जाये उस सब सुख-दुःख को जितना जीवननिर्वाह के लिये अनिवार्य है उतना सहता चले। अनायास प्राप्त वस्तु आदि से

१. 'भिक्षया लक्ष्यते चर्या ह्याकिंचन्यैकसंश्रया। अममाऽपरिग्रहोक्तेर्निष्कर्मा मुनिरुच्यते।।' इति वार्तिकम् ३.५.श्लोक. १२७।

एषणात्रय एतस्मिन् समाना बन्धहेतुता।
इति मत्वैकतां तासां त्याज्यैवेत्यब्रवीच्छ्रुतिः।।१७१।।

देहयात्रा चलाने मात्र से अतिरिक्त कोई सांसारिक गतिविधि न रखे। भिक्षा से मिले में 'यह मेरा ही है' यह भाव न बनने दे, ममता न आने दे। अहंकार व ममकार से वर्जित रहना भिक्षा से उपलक्षित चर्या है। भोग्यमात्र में अनेकविध दोष शास्त्रसहकृत विवेकदृष्टि से देखने वाला साधक परिग्रह करे यह अशक्य है। भोग्य विषय दुःखप्रद हैं, यही इनमें बड़ा दोष है, इसी से विवेकी इनका वैसे ही परिग्रह नहीं करता जैसे बुद्धिमान् लोग बिच्छू का परिग्रह नहीं करते! पूर्वोक्त तीनों लोकों के हेतुओं की कामना छोड़ने में एवं परिग्रह न करने में विद्वान् का कोई आयास नहीं क्योंकि उसे प्राप्त आत्मज्ञान यही स्वाभाविक बनाता है कि वह कामना न करे, परिग्रह न करे। १६८ में 'न तु' इस 'तु' से बताया कि जो विद्वान् नहीं, विद्यार्थी है, उसे तो प्रयत्नपूर्वक एषणात्याग और अपरिग्रह करना होगा, सावधान रहना होगा। जो स्वादिष्ट लड्डू को जहरीला जान चुका है उसके ज्ञान के प्रभाव से ही वह उस लड्डू से दूर रहता है लेकिन जिसे मालूम नहीं, उससे कहें 'मत खाना' तो बेचारा कोशिश करके, मन मारकर ही रुका रहेगा। यहाँ 'विदित्वा व्युत्थाय' क्रमानुसार कहते हैं कि यह व्युत्थान तृप्त का है, पराजित का नहीं; मिष्टान्न से आकण्ठ पेट-भरा व्यक्ति विष जैसे नहीं खाना चाहता है वैसे स्वरूपानंद का साक्षात्कार करने वाला कामना व परिग्रह से दूर ही रहता है। चतुर्थाध्याय में बताया है कि कामनावान् को लोक-लोकांतर में भटकना पड़ता है जबकि निष्काम यहीं मुक्त है 'अथ अकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (४.४.६)। इस श्रुति की व्याख्या अनुभूतिप्रकाश १८.२४३-२५१ में द्रष्टव्य है।।१६८-७०।।

याज्ञवल्क्य ने 'या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः' द्वारा तीनों एषणाओं को एक के ही विभिन्न पहलू बताया ताकि सबको छोड़ने के लिये एक ही यत्न पर्याप्त हो, यह बताते हैं **इस एषणाओं के त्रिक में बंधन-कारिता एक-सी है यह विचारकर श्रुति ने इनकी एकता कही और बताया कि एषणा त्यागने के ही योग्य है।।१७१।।** बन्धन, परिच्छिन्नता, दुःख का कारण बनना, समान होने से तीनों को एक कहना संगत है। कामना क्योंकि स्वाभाविक स्थिति से च्युत करती है, श्रम आदि में प्रवृत्त करती है, क्रोधादि में परिणत होती है, अपूर्ण रहने पर दुःख देती है; ये विशेषताएँ तीनों एषणाओं में समान हैं अतः विषयादि भेद से तीन होने पर भी एषणारूप से एक ही है। विभिन्न कही इसलिये कि साधक एक-एक कर

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेष्विति शास्त्रतः।
एषणात्वात् फलं त्याज्यं न तु कर्मादिसाधनम्।।१७२।।
इति भ्रमं व्युदसितुं प्राब्रवीत्साध्यसाधने।
उभे अप्येषणे एवेत्यतस्त्यागस्तयोर्द्वयोः।।१७३।।
अविशुद्धधियः कर्मण्यधिकारेऽपि शुद्धधीः।
सत्यां विविदिषोत्पत्तौ तदर्थं कर्म संत्यजेत्।।१७४।।

छोड़ने का प्रयास करे। एक ही एषणा सुनकर तथा युगपत् सारी कामना छूटना असंभव होने पर साधक किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है, इसलिये श्रुति ने एषणा का भेद बता दिया लेकिन ये तीन ही नहीं, समस्त कामना छोड़नी है यह समझाने के लिये इनकी एकता भी बता दी। (निर्णयसागरपाठ में 'एकता' पाठ है जो उत्तरत्र आये इति के कारण संगत हो जाता है।)।।१७१।।

तीन एषणाएँ कहने के बाद 'उभे ह्येते' ये दोनों ही हैं तो एषणा हीयों 'दोनों' क्यों कहा, 'तीनों' कहने के बजाये? इस शंका का समाधान करते हैं **'तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है, फलों में नहीं' इस शास्त्र से सिद्ध होता है कि एषणाविषयभूत फल त्यागने योग्य है, कर्मादि साधन तो त्यागने योग्य नहींयह भ्रम मिटाने के लिये खासकर कहा कि साध्यगोचर हो या साधनगोचर, दोनों ही हैं एषणायें ही अतः दोनों का त्याग ज़रूरी है।।१७२-३।।** 'उभे' अर्थात् दो विभाग करें तो एक साध्य की एषणा और दूसरी साधन की एषणा। पुत्र-कर्म-लोक साध्य हैं पत्नी-धन-उपासना साधन हैं, अतः पूर्वोक्त तीन का दो में अन्तर्भाव स्वरस है। इस पर प्रश्न होता है कि भगवान् ने (गी.२.४७) फलेच्छा तो त्यागने को कही, कर्म को अवश्य कर्त्तव्य बताया जिससे समझ आता है कि फल या साध्य की एषणा ही त्याज्य है, साधन की एषणा त्यागना अयुक्त है। इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताया कि एषणा होने से दोनों ही त्यागना उचित है।।१७२-३।।

गीतावचन के विरोध का परिहार करते हैं **अविशुद्ध बुद्धि वाले का कर्म में अधिकार होने पर भी शुद्ध बुद्धि वाले को तो चाहिये कि जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर उन कर्मों को भी छोड़े जो जिज्ञासा के लिये किये जा रहे थे।।१७४।।** भगवान् ने फलेच्छा छोड़कर कर्म का विधान इसीलिये किया है कि चित्त शुद्ध होकर विविदिषा, जिज्ञासा, मुमुक्षा, परमात्मप्राप्ति की इच्छा हो। निष्काम कर्म का यही प्रयोजन है। अतः जिज्ञासा हो जाने पर क्योंकि निष्काम कर्म का प्रयोजन प्राप्त हो

तस्माद्ब्रह्मविदः पूर्वे फलसंन्यासमाप्नुवन् ।
तस्माद्विविदिषुः कुर्यात् पांडित्यं फलसिद्धये । ।१७५ । ।
पाण्डित्यबाल्यमौनानि श्रवणादीनि तैरयम् ।
भवति ब्राह्मणस्तत्र ब्राह्मण्यं ब्रह्मरूपता । ।१७६ । ।

चुका इसलिये अब उन कर्मों का भी परित्याग उचित है। भगवान् ने योगारूढ के लिये शम को कारण कहकर (६.३) यह स्पष्ट किया भी है। क्योंकि अभी विविदिषा ही हुई है, विद्या नहीं, इसलिये श्रवणादि कर्म चलते रहेंगे अतः 'तदर्थं कर्म' अर्थात् चित्तशुद्धि प्रयोजन वाले कर्म छोड़ने को कहा अर्थात् कारक कर्म छोड़ने हैं, व्यंजक कर्म नहीं। ।१७४ । ।

आगे याज्ञवल्क्य बोले 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः। अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः।' यहाँ 'तस्मात्' अर्थात् इसलिये। इसे समझाते हैं **क्योंकि प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं ने फलभूत संन्यास ग्रहण किया था इसलिये जिज्ञासु को चाहिये कि फललाभ के लिये पाण्डित्य अर्जित करे। ।१७५ । ।** बृहदारण्यक ४.४.२२ में आता है 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च… भिक्षाचर्यं चरन्ति।' (अनुभूतिप्र. १८.३०६ में इसे इंगित किया है।) इस वाक्य में प्राचीन विद्वानों ने आत्मा को ही चाहने से पुत्रादि से निस्पृह हो संन्यास ग्रहण कियायह कहा है। इससे विविदिषु सीखे कि फलभूत विद्वत्संन्यास प्राप्त करने के लिये ज़रूरी विद्या, पाण्डित्य अर्जित करना अनिवार्य है। पाण्डित्य से आत्मसाक्षात्कार विवक्षित है। ।१७५ । ।

पाण्डित्यादि पदों का विवरण करते हैं **श्रवणादि ही पाण्डित्य, बाल्य और मौन है। इन्हीं के अनुष्ठान से साधक ब्राह्मण होता है। यहाँ 'ब्राह्मण होना' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होना। ।१७६ । ।** श्रवण को पाण्डित्य, मनन को बाल्य और निदिध्यासन को मौन कहा है। श्रवण से ज्ञात तत्त्व के बारे में उपस्थित विरोधों का परिहार करना मनन तथा यों निर्णीत पूर्ण स्वरूप से ही बने रहना, उससे विचलित न होना, स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता न समझने लगनायही निदिध्यासन है। इससे मुख्य ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है जिसका स्वरूप ही परमात्मा है। अर्थात् यह ब्राह्मणता वर्णरूप नहीं कि पौरोहित्यादि में अधिकार आ जाता हो वरन् व्यापक चिद्रूप ही है। ।१७६ । ।

गीता में भगवान् ने ज्ञानाग्निदग्धकर्मा को (४.१९) एवं समदर्शी को (५.१८) पण्डित कहा है। अतः आचार्य शंकर ने 'पण्डा आत्मज्ञाः, पण्डाऽऽत्मविषया बुद्धिर्येषान्ते हि

पण्डेति बुद्धेर्नामैतत् सा जाता यस्य मानतः।
स पण्डितस्तस्य कर्म पाण्डित्यं श्रवणं तु तत्।।१७७।।
आचार्याच्चागमाच्छ्रुत्वा निःशेषं वेदनं ततः।
बालभावेन तिष्ठासेद् युक्त्या मननतत्परः।।१७८।।

पण्डिताः पण्डित्यं निर्विद्येति श्रुतेः' (गीता भा. २.११) समझाया जिसे स्मरण कर पाण्डित्य का वर्णन करते हैं **'पण्डा' यह बुद्धि का नाम है। वह जिसे प्रमाण से उत्पन्न हो गयी वह पण्डित है। वह जो करे वह पाण्डित्य है जो तो श्रवण ही है।।१७७।।** बुद्धि अर्थात् सदसद्-विवेक करने वाला ज्ञान। वह भी प्रमाण से प्राप्त हो, अन्यथा मनमाना हठ ही होगा! बुद्धि तो निश्चय को कहते हैं, अप्रामाणिक भी निश्चय लोक में होते ही रहते हैं। उन सबको पण्डा नहीं वरन् श्रुतिप्रमाण से जन्य परमार्थ निश्चय को पण्डा कह रहे हैं। ऐसा पण्डित करेगा क्या? क्या करते-करते वह पण्डित बना? श्रवण करते रहने से ही बना अतः इसी के संस्कार से आगे भी श्रवण ही करता रहेगा। एवं च पण्डित का कर्म पाण्डित्य श्रवणरूप निश्चित हुआ। वेदान्तों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य निश्चय करना श्रवण है जिसका विस्तृत तरीका शारीरक प्रथमाध्याय में निरूपित है।।१७७।।

'बाल्य' पदार्थ बताते हैं **आचार्य और आगम से सुनकर, पूरी बात समझकर फिर युक्ति से मनन में संलग्न रहकर बालभाव से रहने में तत्पर होवे।।१७८।।** श्रवण आगम का एवं गुरुप्रोक्त ढंग से करना है अतः दोनों का कथन किया। आचार्य व्यक्ति होने से पुरुष-सुलभ सीमाओं वाले होंगे अतः सनातन प्रामाण्य उनमें होगा नहीं। इस कमी को वेद पूरा कर देता है। वह शब्दराशि ही है, उसका अभिप्राय उससे पता चलेगा नहीं अतः उसे समझाने वाला आचार्य वह कमी भी पूरी कर देता है। यों दोनों परस्पर पूरक हैं। बिना आचार्य के वेदविचार-मात्र आत्मवस्तु का प्रबोधक होना संभव नहीं। क्वचित् यदि होता है तो पूर्व संस्कार या ईश्वरकृपा ही हेतु है। रमणमहर्षि अत एव स्वयं को गुरुहीन नहीं मानते थे वरन् अरुणाचलेश्वर को गुरु बताते थे। यथाविधि श्रवण से 'मैं सर्वान्तर्यामी' बोध होगा। व्यवहार का प्रत्येक घटक इसकी काट करेगा, उसके परिहार का विवेकपूर्ण विचारात्मक प्रयास ही मनन है। वादग्रंथ पढ़ना-पढ़ाना ही मनन नहीं! अपने आत्मसाक्षात्कार का विरोध करने वाली मनोवृत्तियों की विरोधशक्ति समाप्त करना मनन है। यह विचाररूप है। व्यवहार में अच्छे-बुरे, सही-गलत आदि का विभाग देखने पर सर्वान्तर्यामी का ऐक्य असंगत लगने

श्रवणं शास्त्रतात्पर्यनिश्चयो मननं पुनः ।
अर्थासम्भावनोच्छित्त्यैयुक्तीनामनुचिन्तनम् । ।१७६ । ।
पाण्डित्येन विदित्वाऽथ छित्त्वा बाल्येन संशयम् ।
मुनिर्ध्यानसमाधिभ्यां भवेद्धीवृत्तिशान्तये । ।१८० । ।

पर, विभागादि व्यवहार उपाधिपर्यन्त ही है, ऐक्य उपहित का हैइस तथ्य को उपपन्न करते रह सकने की ताकत यहाँ बाल्य या बल है। बाल्य का 'ज्ञानबलभाव' भाष्य में अर्थ है। ज्ञान के बल का संवर्धन अनुकूल युक्ति-अनुसंधान से होता है। जिसमें शारीरक द्वितीयाध्याय सहायक है। साधक अपने साथ होने वाले व्यवहार के जवाब में कभी भी राग-द्वेष से प्रेरित न होवेयह बल प्राप्त करना है। अन्य लोग तो शरीरदृष्टि वाले होने से तथोचित कर रहे हैं, मैं आत्मदृष्टि वाला हूँ अतः तथोचित ही करूँयह विवेकपूर्ण निश्चय रखना यहाँ बल है। अतः'अनाविष्कुर्वन्ननन्वयात्' (३.४.५०) अधिकरण में भाष्य है 'आन्तरो भावविशेषो बालस्य अप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। ... ज्ञानाध्ययनधर्मिकत्वादिभिरात्मानम् अविख्यापयन् दम्भदर्पादिरहितो भवेत्।' अर्थात् जैसे बच्चा ऐन्द्रिय आकर्षणों से अविक्षिप्त रहता है, दिखावा करना नहीं जानता, वैसे रहना बाल्य है। बृहदारण्यक में विषयदृष्टि का तिरस्कार बल बताया है (भाष्य ३.५.१)। दोनों का संमिलित तात्पर्य समझकर उपरमतापूर्वक श्रवणनिष्ठार्थ विचारतत्परता को बाल्य जानना चाहिये। संसारसत्यता के भ्रम को दृढतर करना रूप व्यवहार सर्वथा छोड़ते ही रहना साधक का कार्य है। ।१७८ । ।

पाण्डित्य-बाल्य का भेद व्यक्त करते हैं **शास्त्र के तात्पर्य का निश्चय श्रवण है। मनन है : शास्त्र का अभिप्रेत अर्थ असंभव हैइस भावना के समापन के लिये युक्तियाँ सोचना। ।१७६ । ।** उपक्रमादि चिह्नों से शास्त्र का वास्तविक तात्पर्य स्वयं निर्णय करना श्रवण है। यह खुद को निश्चय करना है, केवल पूर्वाचार्यों के वचन याद नहीं कर लेने हैं। इस प्रकार निर्णीत अर्थ असंभव लगता है, मैं नित्यशुद्धादि अखण्ड आनंद हूँयह बात असंभव लगती है। इस असंभावना (असंभव लगना) को दूर करने के लिये, इसको निराधार बनाने के लिये युक्ति-विचार मनन है। सारे विरोध दृश्य को लेकर हैं, उनसे द्रष्टा के स्वरूप में कैसे अंतर आयेगा यही मूल आधार है जिस पर चिंतन करते-करते युक्तियाँ निकलती हैं जिनसे यह असंभावना दूर हो जाती है। ।१७६ । ।

इनके अनन्तर कर्त्तव्य मौन समझाते हैं **पाण्डित्य से आत्मा को जानकर फिर बाल्य से संशय मिटाकर ध्यान व समाधि द्वारा बुद्धि की वृत्ति को शांत करने**

प्रशान्तवृत्तिके चित्ते परमानन्ददीपके।
कृतकृत्यो ब्रह्मभावं गतो ब्राह्मण उच्यते।।१८१।।

के लिये मुनि बने।।१८०।। आत्मस्वरूप का ख्याल बना रहे यह ध्यान है तथा यह ख्याल भी हट जाये, स्वरूप ही रहे तब समाधि है। ख्याल न रहने पर अनभ्यासी को नींद आती है अतः 'लये सम्बोधयेत्' आदि ढंग बताया गया है लेकिन कषाय आदि दोष न रहने पर अभ्यासी को सम-प्राप्ति और वहीं स्थिरता होती है। इसी के लाभार्थ जो करना है वही 'मुनि बनना' है। ब्रह्मसूत्रों में ३.४.१४ अधिकरण है जहाँ विचार है कि मुनि बनने की विधि क्यों है। भाष्यकार ने कहा है कि मुनि के मायने हैं ज्ञान की बहुतायत में जो तत्पर है, मनन करता रहता है, युक्तियों (तरीकों) से ज्ञान को निर्मल बनाता रहता है। संन्यासी भी ज्ञानप्रधान होने से मुनि हैं, न कि मुनि संन्यासी ही होते हैं क्योंकि ग़ैर संन्यासी वाल्मीकि आदि भी मुनि माने गये हैं। व्युत्थान, भिक्षाचरण आदि पूर्वोक्त सन्दर्भ से ही समझ आता है कि यह विधान संन्यासी के लिये है कि वह मुनि बने अर्थात् ज्ञाननिष्ठा को अधिकाधिक गम्भीर बनाये। यद्यपि श्रेष्ठ अधिकारी स्वयं यही प्रयास करेगा तथापि भेददर्शन में बहिर्मुखता लाने का बहुत बल है अतः संभव है कोई पाण्डित्य-बाल्य पाकर भी विचलित हो जाये, इसलिये अत्यन्त हितैषिणी श्रुति विधिपूर्वक सावधान कर रही है कि संन्यासी अन्य कुछ न करने-सोचने लगे, केवल आत्मनिष्ठ रहे। यह ऐसा प्रसंग है जहाँ भामतीकार को भी श्रवणादिका विधान मानना पड़ता है! इस प्रकार, स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त और गुणातीत के लक्षण स्वयं लाने को लगातार यत्नशील रहना संन्यासी का कार्य निश्चित हो जाता है। श्रुति ने इसलिये 'संन्यासयोगाद्यतयः' आदि में यति के लिये संन्यासरूप योग का निर्देश दिया है अर्थात् इस 'योग' में तत्पर संन्यासी ही शुद्धसत्त्व होते हैं। आचार्य जगह-जगह संन्यासी को बहिर्मुखता से बचकर केवल आत्मचिन्तन करने के लिये प्रेरित करते ही हैं। परंपरा में इस तथ्य पर सर्वाधिक गौर श्रीशंकरानंद स्वामी ने गीताटीकादि में किया है।।१८०।।

इन सब साधनों को बातकर 'अथ ब्राह्मणः' कहा, उसका भाव बताते हैं **वृत्तियाँ प्रशान्त होने पर चित्त परमानन्द का दीपक बन जाता है। ऐसे चित्त वाला कृत-कृत्य, ब्रह्मस्वरूप को पा चुका ब्राह्मण कहा जा रहा है।।१८१।।** श्रुति के 'मौन' से ध्यान और 'अमौन' से समाधि, दोनों की पूर्त्ति पर चित्त प्रशान्त होता है। वासना ही चित्त को अशान्त करती है अतः दीर्घाभ्यास से वासना क्षीण होने पर चित्त सब वृत्तियों से रहित अत्यन्त निर्मल हो जाता है तो वह आत्मा के बिलकुल

केनेति लक्षणप्रश्नो येनेदृक्तेन लक्ष्यताम्।
इत्युत्तरवचो योज्यं तस्यार्थः प्रविविच्यते।।१८२।।
गीतायां कुत्रचित् प्रोक्तं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम्।
अन्यत्र विष्णुभक्तस्य गुणातीतस्य च क्वचित्।।१८३।।
येन चिह्नेन तत्रायमीदृगेव निरेषणः।
उपलक्षयितुं शक्यस्तदेवाऽस्त्यस्य लक्षणम्।।१८४।।
ब्रह्म यादृक्तादृगेव भवेद्विद्वान्विबोधतः।
बोधोऽतो लक्षणं तस्य बोधश्च स्वात्मसाक्षिकः।।१८५।।

सही रूप को दिखा देता है। वृत्ति भी दिखाती है लेकिन वह तो चिरकाल स्थायी होगी नहीं अतः निर्वृत्ति चित्त ही स्थिर दीपक हो परमानंद को दिखाये यह संगत है। लेकिन 'प्रशान्तर वृत्तिकं' से बताया कि अगर श्रवणादि से असंशयित अखण्ड बोध नहीं हुआ, अखण्डाकार, साक्षात्कार नहीं हुआ, तो चित्त प्रशांत होने पर भी कृतकृत्यता नहीं आयेगी। पहले वृत्ति हो, फिर शांत हो तब यह फल होता है जैसे पहले कमायें फिर खर्चें तब विषयसुख होता है। इसलिये श्रवणादि के बगैर भले ही समाधि स्थिर हो जाये, उससे अन्यान्य विभिन्न फल ज़रूर मिलेंगे पर यहाँ जो ब्राह्मण कहा है वह कहलाने लायक नहीं बनेंगे। आत्मा परमानंदस्वरूप है अतः शुद्ध चित्त में वैसा ही दीखता है। यहीं तक कृत्य, करने योग्य है, यह सब कर चुकने पर फिर करने लायक कुछ नहीं रहता। इसी से ब्रह्मभाव का आविर्भाव है जो हो जाने पर वेद की दृष्टि से ब्राह्मण-शब्द की विषयता आती है।।१८१।।

कहोल कौषीतकेय ने अंतिम प्रश्न पूछा 'स ब्राह्मणः केन स्यात्?' वह ब्राह्मण काहे से होता है? याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया 'येन स्यात्तेनेदृश एव' जिससे होता है उससे ऐसा ही होता है। इस प्रसंग को स्पष्ट करते हैं **'केन' आदि आत्मज्ञानी के लक्षण के बारे में प्रश्न है। इसका उत्तर यह वाक्य है 'जिससे ऐसा है उससे उसे लक्षित समझा जाये।' इसके अर्थ का स्पष्ट विवेचन करते हैं।।१८२।। गीता में कहीं स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहा, अन्यत्र विष्णुभक्त का और कहीं गुणातीत का लक्षण बताया।।१८३।। गीता में आत्मज्ञानी को जिस भी चिह्न से कहा, इसे ऐसा ही एषणारहित समझा जा सकता है अतः वही (ऐषणाहीनता) इसका लक्षण है।।१८४।। जैसा ब्रह्म है, तत्त्वसाक्षात्कार से विद्वान् वैसा ही होगा। इसलिये उसका लक्षण ज्ञान है और ज्ञान में स्वात्मा ही साक्षी होता है।।१८५।।** तत्त्ववेत्ता

अतोऽन्यदार्तमित्येष व्यतिरेकस्त्रिधोच्यते।
प्रतीचो ब्रह्मतेहोक्ता भेद आर्तस्ततस्तयोः।।१८६।।

का लक्षण क्या? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि जिससे अर्थात् जिन विशेषताओं से वह अर्थात् तत्त्ववेत्ता ऐसा अर्थात् पण्डित-बाल-मुनि-ब्राह्मण है उसी विशेषता को उसका लक्षण समझ लेना चाहिये। इससे अतिरिक्त उसमें कोई अनुगत दृश्यभूत चिह्न नहीं बता सकते। गीता में स्थितप्रज्ञ (२.५५), भगवद्भक्त (अध्याय १२) और गुणातीत (१४.२२-७) के लक्षणों द्वारा आत्मवेत्ता का परिचय कराया है लेकिन तीनों प्रसंगों का सार इतना ही है कि वह निष्काम होता है। निरेषण (निष्काम) होनायह आत्मज्ञका लक्षण भगवान् के वाक्यों से भी निश्चित होता है। ज्ञानी को उपलक्षित करना हो तो अकामता से ही कर सकते हैं। क्योंकि दूसरे की कामना दीखती नहीं इसलिये अकामता भी दीख तो नहीं सकती पर कामना की तरह समझी जा सकती है, इसे सूचित करने के लिये लक्षयितुम् के बजाये उपलक्षयितुम् कहा अर्थात् लगभग लक्षित कर सकते हैं। वास्तव लक्षण नहीं क्योंकि सास्ना जैसे गाय का जाहिर लक्षण है वैसे अकामता सर्वविदित नहीं हो सकती, विशेष योग्यता वाला ही पहचान सकता है। सर्वथा निश्चित लक्षण तो उसका ज्ञान है और वह भी स्वयं उसी को प्रत्यक्ष है! अतः कोई दूसरा उसे आत्मज्ञ पहचान सके ऐसा स्पष्ट लक्षण (निश्चित चिह्न) कोई नहीं, निकट से निकट लक्षण है तो अकामता। ब्रह्मवेत्ता क्योंकि ब्रह्म ही है इसलिये जैसे ब्रह्म का कोई परप्रत्यक्ष लक्षण नहीं वैसे ब्रह्मज्ञ का नहीं। सत्त्यादि स्वरूपलक्षण स्वरूप होने से ही केवल ब्रह्म को पता हैं तथा जगत्कारणतादि तटस्थ होने से 'उप' ही लक्षण हैं और ऐसे स्पष्ट भी नहीं कि सब समझ सकें अन्यथा इतने अनीश्वरवादी होते ही नहीं! वास्तविक लक्षण ज्ञान स्वात्मसाक्षिक अर्थात् केवल आत्मा को मालूम है। ऐसे ही तत्त्वज्ञान भी केवल तत्त्वज्ञानी को मालूम है। जैसे हमें क्या पता है यह ठीक से तो हमें ही मालूम हो सकता है, दूसरा तो हमारे कहने से जितना समझेगा उतना ही जानेगा, सर्वथा जान नहीं सकता, वैसे तत्त्वज्ञ का ज्ञान भी उसी को मालूम है। इस प्रकार कहोल को समझाया कि व्यावहारिक लक्षण निष्कामता और पारमार्थिक लक्षण ज्ञान ही है।।१८२-५।।

याज्ञवल्क्य ने प्रसंग समाप्त इन शब्दों से किया 'अतोऽन्यद् आर्तम्।' इसे समझाते हैं **'इससे अन्य सब आर्त है' यह तीन तरह का अभाव कहा गयाः (१) इस ब्राह्मण में प्रत्यगात्मा की ब्रह्मरूपता बतायी अतः उनमें परस्पर भेद आर्त मायने मिथ्या है।।१८६।। (२) निष्कामता विद्या में हेतु बतायी अतः विद्या के प्रसंग**

निरेषणत्वं विद्याया हेतुरार्ता इहैषणाः।
विदुषो लक्षणं बोध आत ' तल्लक्षणान्तरम्।।१८७।।

प्रथमो गार्गीप्रश्नः

षष्ठेऽस्मिन् ब्राह्मणे ब्रह्मकार्यं सर्वं विविच्यते।
सर्वान्तरत्वं सुज्ञेयं ब्रह्मणः सर्वनिर्णयात्।।१८८।।

में एषणा वाले आर्त अर्थात् विद्याहीन हैं। (३) विद्वान् का लक्षण ज्ञान है अतः उसके अन्य लक्षण आर्त हैं अर्थात् हैं ही नहीं।।१८७।। अपनी सर्वान्तरता, उसका साधन और उसके फलस्वरूप स्थितिइन तीन से अतिरिक्त सब आर्त, नश्वर, मिथ्या, हेय है। कहोल कौषीतकेय इससे सन्तुष्ट हो गया, आगे कुछ पूछना अनावश्यक समझा। यों पाँचवें ब्राह्मण का विचार पूरा हुआ।।१८६-७।।

तीसरे अध्याय का छठा ब्राह्मण गार्गी द्वारा पूछे प्रश्न और याज्ञवल्क्य द्वारा दिये उत्तर के रूप में उपलब्ध है। गार्गी ने छठे और आठवें ब्राह्मणों में प्रश्न किये हैं। बाकी को एक-एक बार मौका मिला, उसे दो बार मिला। शाकल्य ने यद्यपि गिनती में बहुत ज़्यादा प्रश्न किये तथापि साक्षात् ब्रह्मविद्या से सम्बद्ध वे नहीं हैं। छठे में 'ओत-प्रोत' का क्रमशः विवरण पूछा जिसमें उसने जल से प्रारंभ किया और याज्ञवल्क्य ने वायु, अन्तरिक्षलोक, गन्धर्वलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापति लोक और ब्रह्मलोक का कथन किया। ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत हैं?यह पूछने पर याज्ञवल्क्य ने गार्गी को सावधान किया कि ऐसा अतिप्रश्न हानिकर होगा, गार्गी पूछे इस लायक यह सवाल नहीं। 'अतिप्रश्न' अर्थात् जिस वस्तु को तर्क-रीति से विषय न किया जाना उचित हो उसे तर्क से जानने का प्रयास। इस सन्दर्भ को श्लोक २०१ तक समझाना है।

ब्राह्मण का भाव सूचित करते हैं **इस छठे ब्राह्मण में ब्रह्म के सारे कार्य का विवेचन किया है क्योंकि 'सब' का निर्णय हो जाने से ही समझ आयेगा कि ब्रह्म 'सब' के अंदर है।।१८८।।** चौथे ब्राह्मण में परमात्मा को सर्वान्तर कहा था एवं पाँचवें में उसे प्रत्यगात्मा बताया था। ये दो ही बातें समझने की हैं। अब सर्वान्तरता के स्पष्टीकरण के लिये यह ब्राह्मण है। 'सब' अलग और उसके 'अंदर' आत्मा अलग, ऐसी सर्वान्तरता न समझ ली जाये इसलिये 'ओत-प्रोत' शब्दों में कार्य-कारणता व्यक्त कर बताया जा रहा है कि परमात्मा ही सर्वकारण होने से सर्वान्तर है।।१८८।।

गार्गी के पूछने का आधार व्यक्त करते हैं **जो-जो कार्य होता है वह भीतर-बाहर से कारण से व्याप्त (घिरा) रहता हैइस तर्क से कारण की परम्परा गार्गी ने**

यद्यत्कार्यं कारणेन व्याप्तमन्तर्बहिश्च तत् ।
इति तर्केण पप्रच्छ कारणस्य परम्पराम् । ।१८६ । ।
पार्थिवं कठिनं सर्वमोतं प्रोतं द्रवे जले ।
दधिपिंड इव क्षीरे जलं कुत्र तथा स्थितम् । ।१६० । ।
दीर्घतन्तुवदोतत्वं तिर्यक्तन्तोरिवेतरत् ।
यद्वाऽन्तर्व्याप्तिरोतत्वं प्रोतत्वं तु बहिः स्थितिः । ।१६१ । ।

पूछी । ।१८६ । । तर्क पर या आगम पर आधारित ही विचार होता है। जैसे यदि प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि जल ठण्डा होते-होते चार अंश सेण्टीग्रेड से पुनः हल्का होने लगता है तो 'सब चीज़ें ठण्डी होकर भारी ही होती हैं' इस नियम पर आधारित तर्क बेमानी है, वैसे आगमैक समधिगम्य वस्तु का आगमानुसारी विचार ही योग्य है, तर्क से विश्लेषण नहीं। इस प्रश्न के अन्त में यही स्थिति आयी है कि गार्गी ने तर्क उस पर लागू किया जो आगमसिद्ध है और उसे लज्जित होना पड़ा। फिर भी तर्क के क्षेत्र में उसे लागू कर तथ्य समझना ही चाहियेयह भी प्रदर्शित करना है। अतः यहाँ दोनों बातें स्पष्ट कर रहे हैं। जैसे कपड़ा धागे से ओत-प्रोत है वैसे सभी कार्य अपने कारण से ओत-प्रोत हैंयह गार्गी का मूल तर्क है। कपड़े में ताना और बाना होता है अर्थात् लम्बाई में और चौड़ाई में धागे होते हैं, उन्हें ही ओत और प्रोत कहते हैं। कपड़े के बाहर-भीतर सिवाय धागे के कुछ है नहीं। अतः कपड़ा बाहर-भीतर से धागे से व्याप्त समझा जाता है। इसी ढंग से यहाँ प्रश्न-परंपरा है। ।१८६ । ।

प्रथम प्रश्न है 'यदिदं सर्वम् अप्सु ओतं च प्रोतं च, कस्मिन्नु खलु आप ओताश्च प्रोताश्चेति', इसे बताते हैं **सभी कठोर पार्थिव चीज़ें द्रवरूप जल में ओत-प्रोत हैं जैसे दूध में दही का पिण्ड। इसी तरह जल कहाँ स्थित है? । ।१६० । ।** बिना जल के जैसे सूखा सत्तू बिखर ही जाता है वैसे कोई पार्थिव शरीर (संहतावयव) बिना जलीयांश के सम्पिण्डित नहीं रहता। ।१६० । ।

ओत-प्रोत शब्दों का अर्थ कहते हैं **लम्बे धागे की तरह ओतता और चौड़ाई में बिने धगे की तरह प्रोतता समझनी चाहिये। अथवा, भीतर से व्याप्त करना ओतता और बाहर से व्याप्त करना प्रोतता है। ।१६१ । ।** माला में सूत्र प्रोत कहा जाता है किंतु पुष्पादि सूत्र के 'बाहर' होते हैं, ऐसे कार्य को कारण से 'बाहर' न समझ लें इसलिये 'बाहर से' भी व्याप्ति ओत-शब्द से कही जा रही है। ।१६१ । ।

जलस्य कारणं तेजस्तेजसो वायुराश्रयः ।
श्रुत्यन्तरादिदं ज्ञेयं वायोस्तु वियदाश्रयः ।।१६२ ।।
भूम्यादिवियदन्तानां भूतानामुत्तरोत्तरम् ।
सूक्ष्मताव्यापिते दृष्टे ताभ्यां कारणतेक्ष्यताम् ।।१६३ ।।

गार्गी-प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने 'वायौ' कहा कि जल वायु में ओत-प्रोत है। प्रायः समझा जाता है कि वायु का कारण तेज (अग्नि) है। लोकानुभव भी कुछ ऐसा ही है : जगह (आकाश) हो तब तेज़ी से चलने पर हवा (वायु) ज़्यादा लगती है, फिर शरीर में गर्मी (अग्नि) आने पर पसीना (जल) आता है जो सूखकर मैल (पृथ्वी) बन जाता है। अतः जल का हेतु अग्नि कहना था, जबकि बताया वायु! भाष्यानुसार याज्ञवल्क्य का भाव है कि अग्नि की उपलब्धि जल या मिट्टी की बगैर होती नहीं कि तर्कभूमि पर अकेले अग्नि का उल्लेख किया जा सके। अंतरिक्ष में सूर्य-किरणें होने पर भी अत्यंत शीतलता इसीलिये है कि गर्म होने लायक जल या पृथ्वी वहाँ नहीं है। अग्निमात्र अर्थात् पृथ्वी-जल के बिना अग्नि प्रत्यक्षसिद्ध न होने से तर्क-प्रयोग में उल्लेख योग्य नहीं अतः इस क्रम में उसे छोड़ा। आचार्य तो बताते हैं कि अन्यत्र प्रसिद्ध होने से अग्नि को यहाँ भी समझ लेना चाहिये **यह बात अन्य श्रुति से समझ लेनी चाहिये कि जल का कारण अग्नि और अग्नि का आश्रय अर्थात् कारण वायु है। वायु का तो आश्रय (कारण) आकाश है ।।१६२ ।।** 'अन्य श्रुति' अर्थात् तैत्तिरीय उपनिषत् का वचन (२.१) 'आकाशाद्वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी ।' ऐसे ही छान्दोग्योपनिषत् में तीन की ही सृष्टि बतायी लेकिन जल का कारण तेज ही कहा। विद्यारण्य स्वामी का आशय है कि इन श्रुतियों का विरोध करना याज्ञवल्क्य का भाव नहीं समझना चाहिये वरन् क्रम में अनुक्त को यथोचित स्थान दे देना चाहिये। सूत्रकारने भी जल को तेज से जन्य कहा (२.३.५.११)। 'वायुमब्दाद् अविशेषविशेषाभ्याम्' (४.३.२) अधिकरण का भी तात्पर्य ऐसा समझ आता है कि श्रुति में कहीं भी बताये क्रम का यथासंभव उपपादन होना चाहिये। तर्काश्रित प्रश्न के उत्तर में आगम का आश्रयण ठीक नहीं यह मानकर भाष्य में समझाया ।।१६२ ।।

पृथ्व्यादि कारणक्रम उपपन्न करते हैं **भूमि से शुरू कर आकाश पर्यन्त सूक्ष्मता और व्यापिता देखने में आती हैं। इन दोनों के सहारे कारणता समझी जाती है ।।१६३ ।।** पृथ्वी से जल सूक्ष्म और व्यापक है, जल से तेज सूक्ष्म और व्यापक हैयों आकाश तक प्रत्यक्ष है। सूक्ष्म और व्यापक कारण होता है, स्थूल और व्याप्त

पंचभूतेभ्य उत्पन्ना अस्मद्देहादयोऽखिलाः।
ब्रह्माण्डान्ता इमे देहा भोग्यत्वाल्लोकसंज्ञकाः।।१६४।।

कार्य होता हैयह लोकदृष्टि से भी निर्धारित है। इस आधार पर भूमि आदि कार्य एवं आकाशपर्यन्त कारण समझना संभव है। आचार्य शंकर ने इसी आधार पर प्रत्यगात्मा तक विचार किया है 'सूक्ष्मताव्यापिताप्रकरण' में (उप.सा.पद्य६)।।१६३।।

गार्गी ने आगे 'वायु कहाँ ओत-प्रोत है?' पूछा तो याज्ञवल्क्यने 'अन्तरिक्षलोकेषु' कहा। इसके बाद भी गंधर्वलोक, आदित्यलोक आदि 'लोक' कहे। आचार्य बताते हैं कि यहाँ 'लोक' का क्या अर्थ है **पाँचों भूतों से उत्पन्न हमारे शरीरादि ब्रह्माण्ड पर्यन्त सब पदार्थ ये जो प्रसिद्ध हैं, सब देह ही हैं एवं भोगविषय होने से इनका नाम 'लोक' है।।१६४।।** वायुके बाद सूक्ष्म-व्यापक वस्तुओं को अन्तरिक्षलोक आदि कहकर याज्ञवल्क्य ने भोग-भूमियों का उल्लेख किया है। भाष्य में बताया है कि पूर्वोक्त भूत ही प्राणियों के उपभोग के आश्रय के आकार में परिणत हुए सूक्ष्मता-व्यापकता के क्रम से अंतरिक्ष लोकादि कहे गये हैं। इस क्रम में प्रजापतिलोक शब्द से विराट्-शरीर (समष्टि स्थूल) कहा है। एवं ब्रह्मलोक शब्द से ब्रह्माण्ड के उत्पादक भूत कहे हैं। इसी के अनुसार यहाँ कहा कि हमारे देहों से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जो कुछ भी भोग्य है वह लोक कहा गया है। लोक उसे कहते हैं जिसका अवलोकन अर्थात् विषयतया अनुभव होवे अतः सभी देह लोक हैं। देहधारी द्वारा तो भोग्य हैं ही, अन्यों द्वारा भी भोग्य हैं जैसे मालिक के लिये कार्य करने वाला उसका भोग्य होता है एवं वेतनादि देते हुए मालिक उसका भोग्य होता है। अंतरिक्षलोकादि एक-दूसरे से व्यापक हैं यह शास्त्र से प्रकट है। व्यापक के अंतर्गत व्याप्य आ जाता है। हम चलते हैं तो हमारे शरीर में जो भी कीटाणुआदि हम से भिन्न जीव हैं वे भी साथ चलते हैं। उनके चलने से तो हम नहीं चलते, हमारे चलने से उनका चलना अर्थसिद्ध हो जाता है, अनिवार्य हो जाता है। ऐसे ही विराट् की गति से हम सबकी गति होती है जब कि हम चाहे जितनी गति करते रहें, विराट् में कोई अन्तर आने की संभावना नहीं! जैसे हमारा देह पंचभूतों से बना है ऐसे ही ब्रह्माण्डदेहधारी का देह अर्थात् ब्रह्माण्ड भी पाँचों भूतों से ही बना है। हमारा स्थूल और व्याप्य है, उसका सूक्ष्म और व्यापक है। पृथ्वी के दृष्टांत से समझ सकते हैंपृथ्वी देवता का शरीर पृथ्वी हम लोगों के शरीरों से सूक्ष्म और व्यापक है। उसके चलने आदि पर हमें चलनादि ही है जबकि हमारे दौड़ने-भागने से पृथ्वी कुछ हिल-डुल जाती हो ऐसा नहीं! पृथ्वी सूक्ष्म ऐसे कि वह कारण है। पृथ्वी से जल इत्यादि भी इसी तरह व्यापक व सूक्ष्म हैं और जो लोक कहे

यथैकस्मादिक्षुरसादुत्तरोत्तरपाकतः ।
गुडादीनि बहूनि स्युर्भूतेभ्योऽण्डादयस्तथा ।।१९५ ।।
नरगन्धर्वमार्तण्डचन्द्रनक्षत्रदेवताः ।
इंद्रो विराट् तदण्डं चेत्येता भूतदशाः स्मृताः ।।१९६ ।।
तत्तद् देहारम्भदशास्तत्तन्नाम्ना समीरिताः ।
स्थूलसूक्ष्मदशास्तासु कार्यकारणता क्रमात् ।।१९७ ।।

वे भी क्रमशः वैसे ही सूक्ष्म हैं। इस प्रकार देहों को भोग्य कहकर आचार्य ने तर्क भी सूचित कर दिया कि जो-जो भोक्ता होता जायेगा वह सूक्ष्म-व्यापक होता जायेगा। व्यापक क्योंकि व्याप्य का भोक्ता बन जाता है, व्याप्य उसके अन्तर्भुक्त हो जाता है, इसलिये उसमें भोग्य को ओत-प्रोत कहना संगत हो गया। अतः लोक-शब्दों से यहाँ तत्तत् के अधिष्ठाता का उल्लेख समझना चाहिये। अंतरिक्ष का अधिष्ठाता गन्धर्वलोक के अधिष्ठाता में ओत प्रोत, उसका कार्य है इत्यादि समझते जाना चाहिये।।१९४।।

पाँच भूत एक-से तो इतने लोक कैसे? इसे सोदाहरण समझाते हैं **जैसे ईख का रस एक ही होता है पर उसे पकाते जाते हैं तो गुड आदि बहुत चीज़ें तैयार हो जाती हैं वैसे महाभूतों से ब्रह्माण्ड आदि विविध लोक निर्मित हैं।।१९५।। मनुष्य, गंधर्व, मार्तण्ड (सूर्य), चन्द्र, नक्षत्र, देवता, इन्द्र, विराट् और उसका अण्ड (ब्रह्मलोक)ये महाभूतों की अवस्थाएँ समझायी गयी हैं उस-उस शरीरकी आरम्भदशा उस-उस नामसे कही है। इनमें स्थूल-सूक्ष्म दशाओं में यथाक्रम कार्य-कारणभाव है।।१९६-७।।** गन्ने के रस से पाकवश गुड, खाँड, चीनी (शक्कर), मिश्री आदि विभिन्न वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं। मिट्टी के तेल को विभिन्न स्तरों तक पकाने पर ऐसी विलक्षण तरह-तरह की चीज़ें बन रही हैं जिनमें यह पहचानना ही सम्भव नहीं कि ये मिट्टीतेल ही हैं! हवाईजहाज में भरा जाने वाला पेट्रोल और सड़क पर बिछने वाली डामर, दोनों एक ही मिट्टीतेल की दशाएँ हैं। ऐसे ही सभी लोकों के सभी शरीरादि भोग्य पाँच भूतों के ही विकार हैं, स्थूलता-सूक्ष्मता का ही अन्तर है। जो भूतदशा जिस देह को बनाती है उस नाम से उस दशा का उल्लेख है : मानव देह को बनाने वाली दशा के महाभूत मनुष्य लोक कहे जायेंगे, ऐसे ही गंधर्व-मार्त्तण्डादि लोकों को समझ लेना चाहिये। सर्वत्र भोग्य भौतिक हैं और प्राणी अपने कर्मानुसार उन्हें भोगता है। एक लोक में सभी को सभी भोग उपलब्ध नहीं होते जैसे मनुष्य लोक में ही कोई अस्सी कमरों के मकान में रहता है, कोई सड़क-किनारे सर्दी-गर्मी निकालता है। फिर भी लोक तो एक है। इन लोकों में स्थूल कार्य है और सूक्ष्म कारण है। यह क्रम ठेठ ब्रह्मलोक तक है।।१९५-७।।

पंचीकृतानां भूतानां सूक्ष्मताऽण्डे समाप्यते।
एतावदेव तर्केण गम्यं न तु ततः परम्।।१९८।।
अण्डारम्भकभूतानामपंचीकृतभूतजम्।
सूत्रं कारणमित्येतदागमेनैव गम्यते।।१९९।।
अचिंत्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
सूत्रान्तर्याम्यक्षराणि तार्किका नानुमन्वते।।२००।।
तर्काभासो भवेत्तेषु हेतुदृष्टान्तवर्जनात्।
अन्यथा प्रतिपत्त्याऽतो मूर्धपातं मुनिर्जगौ।।२०१।।

इस पर जब गार्गी ने 'कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च' पूछा तब याज्ञवल्क्य ने उसे पूछने से ही मना कर दिया कि ब्रह्मलोक से आगे तर्क का क्षेत्र नहीं है। इस भाग का वर्णन करते हैं **पंचीकृत भूतों की सूक्ष्मता ब्रह्माण्ड तक पहुँच कर समाप्त है। तर्क से यहीं तक समझ सकते हैं, इससे आगे नहीं।।१९८।। ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत होने वाले भूतों का कारण अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न सूत्रात्मा हैयह बात शास्त्र से ही पता चलती है।।१९९।। जो चीज़ें तर्क से चिन्तन के अयोग्य हैं उन पर तर्क लागू नहीं करना चाहिये। सूत्र, अन्तर्यामी और अक्षर तत्त्वों का अनुमान तार्किक (भी) नहीं करते।।२००।। इनके बारे में किया जाये तो वह तर्क का आभास ही होगा क्योंकि न हेतु और न दृष्टान्त मिलेगा। इसलिये यों विचार करने से ग़लत ही ज्ञान होगा जिसके फलस्वरूप मूर्धा गिर जायेगी। ऐसा याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा।।२०१।।** तर्क का आधार ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष होने से स्थूलभूतों की पराकाष्ठा ब्रह्माण्ड शरीर तक तर्क की गति है, उससे परे का चिन्तन करने में तर्क अक्षम है। स्थूल का हेतु सूक्ष्म है अर्थात् पंचीकृत का कारण अपंचीकृत हैं किंतु अपंचीकृत कभी भी इंद्रियगोचर न हो सकने से तर्क के काबिल नहीं। अपंचीकृत भूतों से जो शरीर बनता है वह है सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) का जो शास्त्रों से ही पता चलता है। इससे परे अंतर्यामी (ईश्वर) और उससे परे अक्षर (निर्विशेष), ये भी शास्त्र से ही समझ आयेंगे, तर्क से नहीं। ये 'भाव' अर्थात् तथ्य अचिन्त्य हैं अतः मनु महाराज का निर्देश है कि इन्हें तर्क से मत समझो। इसी का पालन करते हुए न्यायशास्त्री भी इनके बारे में तर्क नहीं चलाते। सांख्य, बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि युक्तिवादी ईश्वर को नहीं मान पाते। बौद्ध व चार्वाक तो जीवात्मा को भी नहीं मान सके क्योंकि वह भी तर्क से परे ही है। गौतमानुयायी भले ही तर्क से ईश्वर को समझने

का अभिमान रखें फिर भी वे जिसे समझते हैं उसने परमाणु तो नहीं बनाये, आकाश नहीं बनाया, काल नहीं बनाया! अतः सर्वकारण ईश्वर उन्हें भी समझ नहीं आया क्योंकि अचिन्त्य है। सूत्रात्मा आदि के बारे में तर्क करेंगे तो भले ही वह लगे तर्क लेकिन होगा नहीं क्योंकि जहाँ हेतु मिले, कोई उदाहरण हो वहीं तर्क हो सकता है और ये वस्तुएँ अतींद्रिय होने से इनसे हेतु संबंध नहीं दीख सकता एवं इन जैसी कोई अन्य वस्तु है नहीं कि दृष्टांत मिले। ईश्वर के बारे में ही दृष्टांत कहाँ मिलेगा! कुम्हार, जुलाहा आदि सशरीर, बाप-दादे वाले, अपने से भिन्न मिट्टी-धागे आदि से बनाने वाले, बेचना-पहनना आदि प्रयोजन से बनाने वाले, कहीं बैठ-खड़े होकर बनाने वाले मिलते हैं जबकि सभी तरह इनसे विलक्षण है तो ये ईश्वर में दृष्टान्त कैसे हो! इसलिये इन तत्त्वों को तर्क से समझने पर ग़लत ज्ञान ही होगा। महान् वस्तुओं के बारे में भ्रम से मूर्धा गिरने जैसा दण्ड मिलना योग्य है। अथवा ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में अपमानित होना पड़ेगा, लज्जा से सिर झुक जायेगा। याज्ञवल्क्य ने 'मत पूछ। पूछने लायक नहीं उसे पूछ रही है! मत पूछा।' यों तीन बार कहा क्योंकि वे गार्गी को ब्रह्मज्ञ जानते थे। उनका भाव था कि और कोई पूछता तो माफ किया जा सकता था पर गार्गी समझदार होकर पूछ रही थी अतः क्षमता के अयोग्य थी। यहाँ वह सामान्य नियम भी है कि तर्क भूमि पर प्रश्न उत्तर हों तो बीच में आगम न लाया जाये और आगम की चर्चा हो तो उसकी काट के लिये तर्क न दिया जाये। आगम के समर्थन में तर्क तो अनुमत है, आगम के विरोध में नहीं। इस प्रकार गार्गी का प्रथम प्रश्न निर्णीत हुआ।।१९८-२०१।।

गार्गी के चुप हो जाने पर उछालक आरुणि ने याज्ञवल्क्यका परीक्षण प्रारंभ किया। वैदिक साहित्य में ब्रह्मवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध ये महत्त्वपूर्ण आचार्य है। महावाक्योपदेशक के रूप में इनका ही नाम उपस्थित होता है। गार्गी ने तर्कनुसारी प्रश्न किया था यही उसकी ग़लती थी, प्रश्न तो ठीक ही था क्योंकि विराट् के आगे सूत्रात्मा ही समझने लायक है। उद्दालक ने अतः पहले सूचित किया कि वे इस विषय में तर्क से नहीं, पारंपरिक ज्ञान से समझ बूझकर पूछ रहे हैं अतः उसी तत्त्व के बारे में होने पर भी इन्हें उत्तर देना उचित होगा। किं च, पलटवार-सा करते हुए धमकी भी दी कि यदि सूत्र अन्तर्यामी को जाने बिना याज्ञवल्क्य ने गायें ग्रहण की होंगी तो उनका सिर गिर जायेगा! याज्ञवल्क्य तो सर्वज्ञ थे अतः स्पष्ट विस्तार से इन विषयों का वर्णन कर दिया। यह प्रसंग श्लोक २३ तक समझाया जायेगा।

उद्दालकप्रश्नः

सप्तमब्राह्मणे तर्क्यं संत्यज्यागममार्गतः।
ब्रह्माण्डकारणं सूत्रमन्तर्यामी च वर्ण्यते।।२०२।।
सूत्रान्तर्यामिणौ ज्ञातौ गन्धर्वस्योपदेशतः।।
तर्कान्नेति विवक्षित्वा कथां भुज्युवदुक्तवान्।।२०३।।
सूत्रबद्धं दारुयंत्रं पुरुषो नर्तयेद्यथा।।
सूत्रबद्धं जगत्तद्वद् अन्तर्यामी नियच्छति।।२०४।।
सूत्रान्तर्यामिणौ सर्वजगत्यनुगतावतः।।
तौ विद्वानखिलं वेत्तीत्यतो ज्ञातव्यता तयोः।।२०५।।

सप्तम ब्राह्मण के प्रारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **सातवें ब्राह्मण में तर्क छोड़कर आगमोक्त मार्ग से उन सूत्रात्मा और अन्तर्यामी का वर्णन किया जा रहा है जो ब्रह्माण्ड के प्रति कारणभूत हैं।। २०२।। 'सूत्रात्मा व अन्तर्यामी को तर्क से नहीं वरन् गंधर्व के उपदेश से मैंने समझा है' यह कहने की इच्छा से उद्दालक ने वैसे ही कथा सुनायी जैसे भुज्यु ने सुनायी थी।।२०३।।** मद्र-देश में पतंचल काप्य के घर यज्ञों का अध्ययन करते समय उद्दालकादि को पतंचल की भार्या में जिसका आवेश होता था उस कबन्ध आथर्वण ने सूत्र व अन्तर्यामी का रूप बताया था और उससे सर्वज्ञतारूप फल बताया था। उसी पारंपरिक ज्ञान के आधार पर वे याज्ञवल्क्य को चुनौती दे रहे हैं। कथा सुनाने का उद्देश्य अपने ज्ञान को पारंपरिक, न कि तर्कलब्ध बताना है।।२०२-३।।

सूत्र-अन्तर्यामी में अंतर एवं उनके ज्ञान का फल कहते हैं **जैसे धागे से बँधी कठपुतली को पुरुष नचाता है वैसे सूत्र से बँधे जगत् को अंतर्यामी नियंत्रित करता है।।२०४।। इसलिये सूत्र और अन्तर्यामी जगत् में अनुस्यूत हैं। क्योंकि उन्हें जानने वाला सब कुछ जान जाता है इसलिये वे समझने योग्य तत्त्व हैं।।२०५।।** कठपुतली धागे और उसे हिलाने वाले, दोनों से नियंत्रित होती है, वैसे जगत् सूत्र-अन्तर्यामी दोनों से नियंत्रित है। नियंत्रण के लिये वे सर्वत्र उपस्थित हैं क्योंकि व्यापक हैं। अतः इन्हें जानने वाला सर्वज्ञ है।।२०४-५।।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम्' कि सूत्रात्मा वायु है। इसे समझाते हैं **भुज्यु को समष्टि-व्यष्टि रूप से जो (हिरण्यगर्भ) समझाया था वही सूत्रात्मा है जिसे यहाँ वायु कहा। उसी ने सारा संसार धारण किया हुआ**

समष्टिव्यष्टिरूपेण भुज्युं प्रति य ईरितः ।।
स एव वायुः सूत्रात्मा तेन सर्वं जगद् धृतम् ।।२०६ ।।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं प्राणिकर्म पुरा कृतम् ।
वाय्वात्मना परिणतं वर्तते कारणात्मनि ।।२०७ ।।
मूर्तामूर्तब्राह्मणोक्तवासना एतमाश्रिताः ।
तदात्मकमिदं लिंगं यत्सप्तदशमुच्यते ।।२०८ ।।

है ।।२०६ ।। भुज्युप्रसंग में (३.३) 'वायुरेव व्यष्टिः वायुः समष्टिः' से सूत्र को वायु कहा था। (द्रष्टव्य इसी अध्याय में श्लोक ६५-६८)। उद्दालक के प्रश्न के जवाब में भी वही कह रहे हैं। विराट्-ईश्वर के मध्य इसका परामर्श आवश्यक होने से पुनर्वचन सार्थक है। हमारी सारी क्रियाशक्ति प्राण से ही संचालित है। क्रियाशक्तिका समष्टि रूप यहाँ वायु शब्दसे कहा गया है। इस व्यवस्था में ज्ञानशक्ति की समष्टि का स्वरूप अंतर्यामीहै। अंतर्यामी नियंत्रण करने वाला और सूत्र वह जिसके द्वारा अंतर्यामी नियंत्रण करता है। संसार का धारण वायु करती है यह अनुभव में आता है। सारे ब्रह्माण्ड को चलाने वाली समष्टि वायु, हमारे अंदर वह प्राणरूप से व्यष्टिभाव में है और हमारे शरीरादिको संचालित करती है। यहाँ केवल पंचीकृत अर्थात् स्थूल वायु नहीं समझनी चाहिये वरन् क्रियाशक्ति वाली उपाधि समझनी चाहिये जो सूक्ष्मभूतों के रजोंश से संपन्न है।।२०६ ।।

'वायु' की संसारधारकता व्यक्त करते हैं **ब्रह्मा से घासके तिनके तक सभी प्राणियों द्वारा पूर्व में किये कर्म वायुरूप से बदलकर कारणभूत आत्मा में रहते हैं।।२०७।। मूर्त्तामूर्त्तब्राह्मण में (बृ.२.३; अनु.प्र.१४.६१-६२) कही वासनाएँ इसी वायु में स्थित हैं। जिसे सत्रह टुकड़ों वाला कहा जाता है वह इस लिंगरूप वायु का स्वरूप है।।२०८।।** प्राणियों के कर्म क्योंकि प्रलय में रहने ज़रूरी, कारण कि तभी सृष्टि होने पर उनके फल मिलेंगे, इसलिये वे सूत्रात्मा के रूप में बदल जाते हैं और जब सूत्रात्मा (सूक्ष्म) कारण में लीन होता है तब उस रूप से बने कर्म भी कारण में पहुँच जाते हैं। प्रलयमें तो केवल कारणात्मा ईश्वर रहता है, वायु अर्थात् हिरण्यगर्भ भी रहता नहीं। कारणात्मा से सीधे तो वायु (सूत्र) पैदा होगा अतः प्राणिकर्म वायुरूप हों तभी प्रारंभ से प्राणिकर्मानुसार सृष्टि का विभाजन हो। किंच सूत्र अर्थात् हिरण्यगर्भ भी कर्मवश बनता है यह बृहदारण्यक प्रारंभमें कहा है अतः कारणात्मा में कर्मों को रहना पड़ेगा तभी वायु उत्पन्न होगा और वायु क्योंकि समष्टि के रूप में पैदा होगा इसलिये

विष्टब्धो वायुना देह इत्येतन्मरणे सति।
आवयोर्वपुषः कर्मायोग्यत्वादवसीयताम्।।२०९।।
अपंचीकृतभूतानां कार्यं सूत्रमुदाहृतम्।
अण्डारम्भकभूतानि प्रोतान्योतानि तत्र हि।।२१०।।
सूत्रादप्यान्तरं तत्त्वमन्तर्याम्याख्यमुच्यते।
कार्यकारणभावोऽयमस्मिन्नुक्ते समाप्यते।।२११।।

समष्टि अर्थात् सब प्राणियों के कर्मों का उसकी उत्पत्ति में विनियोग मानना होगा। जो अब ब्रह्मा बना उसके जो पूर्व के निजी (व्यष्टि) कर्म थे वे एवं बाकी सबके भी (समष्टि) जो कर्म थे वे कारणात्मा में रहें तब वाुय की सृष्टि हो अतः सृष्टि-अन्यथानुपपत्ति से कर्म तद्रूप से कारणात्मा में रहने वाले समझे जाते हैं। मूर्तामूर्त ब्राह्मण में बताया था कि वासनाएँ सूक्ष्म शरीर में रहती हैं अतः यहाँ वही याद दिलाया। अध्यात्मा में सत्रह अंग पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि हैं। ये ही अपने समष्टि भाव में वायु हैं। क्योंकि हमारा करना भोगना इन्हीं से है और ये वायु के ही व्यष्टि रूप हैं इसलिये हमारे सभी ज्ञानों व कर्मों पर सूत्रात्मा का नियंत्रण संभव हो जाता है। नियंत्रण ही प्रगति का हेतु है। नियंत्रण को बोझ या अनिष्ट समझना अनुचित है। नियंत्रण का विरोध ही पाप के रूप में व्यक्त होता है। सूत्रके नियंत्रणमें बने रहें तो धर्माचरण चलता रहेगा।।२०७-८।।

वायु की विधारकता अनुभवारूढ करते हैं **वायु ने शरीर का धारण किया हुआ है यह इस से निर्णय हो जाता है कि हम दोनों (श्रोता-वक्ता) के शरीर मृत्त्यु होते ही कुछ भी करने में अक्षम हो जाते हैं।।२०९।।** देहमें प्राणरूप वायु रहते इसके सभी अवयव संश्लिष्ट रहते हैं किंतु प्राण निकलने के साथ ही बिखराव शुरू हो जाता है। इससे पता लगता है कि प्राण (व्यष्टि सूक्ष्म) शरीर का धारण किये है। ऐसे ही वायु (समष्टि सूक्ष्म) सारे संसार का धारण किये हैं।।२०९।।

वायु के वर्णन और प्राण द्वारा उसके साक्षात् उपस्थापन से सन्तुष्ट हो उद्दालकने याज्ञवल्क्य से अन्तर्यामी के बारे में बताने को कहा। पृथ्वी, जल आदि अनेकों का नाम ले-लेकर याज्ञवल्क्य ने कहा कि अंतर्यामी इनके भीतर है, पृथ्वी आदि उसे नहीं जानते हालाँकि पृथ्वी आदि उसी के शरीर हैं और उसीसे नियंत्रित हैं। वह अंतर्यामी प्रत्यक्स्वरूप से भिन्न नहीं। यह प्रसंग प्रारंभ करते हैं **अपंचीकृत भूतों के कार्य सूत्र का कथन किया। ब्रह्माण्डोत्पादक भूत इस सूत्र में ही ओत-प्रोत हैं।।२१०।। सूत्र से भी**

भूमिष्ठोऽभ्यन्तरो भूमेर्भूम्यज्ञातश्च भूवपुः ।
नियच्छति भुवं योऽन्तः स आत्माऽन्यस्य तेऽपि मे ।।२१२ ।।
लोकं धत्ते स्वयं भूमिः स्वान्तर्यामी स्वयं ततः ।
इति स्वभाववादोऽयं भूमिष्ठत्वेन वार्यते ।।२१३ ।।

भीतरी जो तत्त्व वह अन्तर्यामी कहलाता है। यह कार्य-कारण का क्रम इस अन्तर्यामी का कथन होने पर सम्पूर्ण हो जाता है ।।२११ ।। कारण होने से सूक्ष्म में स्थूल का ओत-प्रोत होना संगत है। सूक्ष्म से अधिक 'सूक्ष्म' और व्यापक कारण है जो अन्तर्यामी, ईश्वर है। कारण-परंपरा यहाँ समाप्त है अर्थात् यह किसी का कार्य नहीं, इससे सूक्ष्म-व्यापक कोई नहीं। अक्षर को भले ही इससे परे कहें लेकिन वह है इसी का निरूपाधिक स्वरूप अतः पृथक तत्त्व नहीं। अज्ञान जो कारणता की उपाधि वह अनादि होने से उसके कारण का प्रश्न ही नहीं। तर्क की गति विराट् तक, शास्त्र की विषयता ईश्वर तक, ये सीमाएँ हैं। इससे परे अक्षर कार्यकारणभाव से निर्मुक्त अतः अविषय अतः प्रायः लोगों की समझ से परे है। कार्य-कारणता क्योंकि अवास्तविकता की भूमिका पर संभव है इसलिये वास्तविक परमात्मा उससे परे ही होना संगत है।।२१०-१।।

पृथ्वी आदि पर्यायों का वर्णन समझाते हैं **अन्तर्यामी भूमि में है, भूमि के भीतर है, भूमि को अज्ञात है, भूमि उसका शरीर है, भूमि पर उसका भीतर से शासन है वही तुम्हारा हमारा व अन्य सभी का आत्मा है ।।२१२ ।।** याज्ञवल्क्यका वाक्य है 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीम् अन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्मृतः' जिसे यहाँ अनुदित किया। अन्य पर्याय भी इसी तरह है। जैसे हम शरीर में और शरीर के अंदर हैं वैसे अंतर्यामी को बताया। जैसे शरीर हमें नहीं जानता वैसे पृथ्वी आदि अंतर्यामी को नहीं जानते। हमारा शरीर पर जैसे शासन है वैसे उसका पृथ्वी पर है। किंतु हम सब परस्पर भिन्न हैं जबकि अन्तर्यामी सर्वत्र अभिन्न है, समष्टि, व्यष्टि सभी उपाधियों में, सभी का शासक अंतर्यामी एक ही है।।२१२।।

पृथ्वी पर रहते हुए शासक है ऐसा कहने का प्रयोजन बताते हैं। **भूमि लोकों को एवं स्वयं को धारण करती है अतः खुद ही अपना अन्तर्यामी हैऐसा मानना, यह स्वभाव वाद है जिसे 'पृथ्वी पर अंतर्यामी स्थित है' बताने से हटाया।।२१३।।** वस्तु बिना किसी अन्य हेतु के जैसी रहे, जैसे प्रभाव वाली हो उसे उसका स्वभाव कहते हैं जैसे आग का स्वभाव गर्म, जल का स्वभाव गीलापन आदि।

अन्तरत्वेन भूमिष्ठ पर्वतादि निवर्त्यते।
भूदेवतानिवृत्तिः स्याद् यं न जानाति भूरिति।।२१४।।

कुछ विचारक परमेश्वर न मानकर वस्तुओं के स्वभावों से ही सांसारिक व्यवस्था उपपन्न करने का यन्त करते हैं जिन्हें स्वभाववादी कहा जाता है। जगत्कारण को स्वभावरूप मानने का पक्ष श्वेताश्वतर उपनिषत् में भी उपस्थापित कर निवारित किया गया है। बहुत कुछ वर्त्तमान वैज्ञानिकों की भी ऐसी ही सोच है। तदनुसार भूमि पर स्वयं उसी का शासन है यही मान्य है। उसे धारण करने वाले किसी अन्य को मानना व्यर्थ है। जैसे लोकों को यह धारण करती है वैसे खुद को भी कर लेगी, उसे धारण करने वाले किसी 'सूत्र' को और सूत्र के भी मूल 'कारण' को क्यो मानें! इस सम्भवना को याज्ञवल्क्य ने दूर किया यह कहकर कि अन्तर्यामी पृथ्वी पर है। पथ्वी तो 'पृथ्वी पर' नहीं कही जायेगी! अतः 'पृथ्वी पर' से स्पष्ट है कि पृथ्वी अन्तर्यामी नहीं अर्थात् स्वभाववाद को समर्थन नहीं। इससे तर्क देने का मौका नहीं क्योंकि आरुणि तर्करीति छोड़ कर बात कर रहे हैं। संक्षेप में इस वाद का मुख्य दोष है कि इसमें 'कैसे?; का उत्तर पाकर ही चुप होना पड़ता है, 'क्यों?' का उत्तर नहीं मिलता। चेतन स्वानुभव की वस्तु है अतः चेतननियंत्रण में 'क्यों' का पता हम अपनी परीक्षा से लगा सकते हैं, जड में ज्ञानोन्मेष अप्रसिद्ध होने से उसे 'क्यों' के अनुसार रहने वाला मानना केवल अंधविश्वास से कर सकते हैं। अतः स्वभाववादी इस 'क्यों?' प्रश्न को ही नहीं उठाते, उठाने के अयोग्य मानकर चलते हैं। किंतु मानव बुद्धि केवल 'कैसे' समझ कर सन्तुष्ट होती नहीं अतः किसी-न-किसी स्तर पर 'क्यों' का विचार उठता ही है।।२१३।।

लेकिन 'जो पृथ्वी पर रहता है वह अन्तर्यामी है' इतनी ही उसकी परिभाषा नहीं! और भी जोड़ना जरूरी है यह बताते हैं **'भूमि के अंदर है' कहने से भूमि पर होने वाले पर्वतादि अविवक्षित बताये। 'जिसे भूमि नहीं जानती' कहने से भूमिदेवता को अंतर्यामी कहा होगा यह संभावना दूर की।।२१४।।** पहाड़ों को भूधर, धराधर, पृथ्वीधर आदि कहते हैं अतः शंका हो सकती थी कि उन्हें ही शासक कहा हो लेकिन 'अंदर' कहने से निश्चय हो गया कि उन्हें नहीं कहा। किंतु अंदर तो पृथ्वी देवता भी है, वही कही जा रही होगीइस शंका को हटाने के लिये 'जिसे पृथ्वी जानती नहीं कहा। स्थूल पृथ्वी तो जड है, जान सकती नहीं कि निषेध करें अतः जान सकने वाली देवता के बारे में ही कहा कि वह जिसे नहीं जानती वह अंतर्यामी है तो अर्न्यामी पृथ्वी देवता से अन्य हो ही गया क्योंकि खुद को तो वह देवता जानती ही

नान्तर्यामिविदेहत्वे साधनानामसम्भवात्।
देहिता तु न दृष्टेति न दोषो भूवपुष्मतः।।२१५।।
भूदेवताया यो देहो देहोऽन्तर्यामिणोऽपि सः।
देवस्य कर्मणेशस्य मायया चार्जितो यतः।।२१६।।
न चैकदेहयोगेऽपि यन्तृयन्तव्यसंकरः।
बहिष्ठां देवतां भूमिमन्तस्थेशो नियच्छति।।२१७।।
कार्योपाधिर्बहिष्ठः स्यात्कारणोपाधिरान्तरः।
उपाधिमात्रतो भेदो वस्तुतस्तु न भिद्यते।।२१८।।

है। पृथ्वी देवता का निषध नहीं, वह तो है लेकिन वह अंतर्यामी नहीं है। जैसे हम अपने शरीर के अभिमानी हैं लेकिन अपने अंतर्यामी से अनभिज्ञ रहते हैं वैसे पृथ्वी देवता भी अनभिज्ञ है। विचार-पद्धति में परिभाषा के प्रत्येक शब्द का प्रयोजन होना चाहिये यह यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं।।२१४।।

इतना भी अपर्याप्त है यह समझाते हैं **यदि शरीर रहित हो तो अंतर्यामी नहीं हो सकता क्योंकि शासन करने के लिये उसके पास साधन ही नहीं होंगे, एवं पृथ्वी में, उसके भीतर भी कोई देहधारी दीखता नहीं जो अन्तर्यामी हो! यह दोष भी नहीं रहता 'पृथ्वी जिसका शरीर है' कह देने पर।।२१५।। पृथ्वी देवता का जो शरीर वही अन्तर्यामी का भी शरीर है किंतु अन्तर इतना ही है कि देवता ने उसे कर्म से अर्जित किया है जबकि ईश (अन्तर्यामी) ने उसी को माया से अर्जित किया है।।२१६।। एक ही शरीर से सम्बन्ध होने पर भी नियामक और नियम्य अलग हैं क्योंकि 'बाहर' रहने वाली भूमिदेवता पर 'भीतर' रहने वाला ईश नियंत्रण करता है।।२१७।। 'कार्य' उपाधि वाला बाहर रहने वाला और 'कारण' उपाधि वाला भीतर वाला है। इन दोनों में आपास में भेद वास्तविक नहीं, केवल उपाधि भेद से है।।२१८।।** अन्तर्यामी जिस पर नियंत्रण करना ही उसी के शरीर से स्वयं शरीरी बनकर नियंत्रण कर लेता है। उदाहरणार्थ इदानीं काल में साफ्टवेयर बनाने वाला उन सब का नियामक हो जाता है जो उस साफ्टवेयर का प्रयोग करने वाले हैं और इस कार्य के लिये किसी पृथक् साफ्टवेयर की ज़रूरत नहीं, प्रयोक्ता के ही साफ्टवेयर से यह काम हो जाता है। एक ही साफ्टवेयर से दोनों का संबंध है, अंतर इतना है कि एक ने बनाया है जबकि दूसरे ने उसे खरीदा है। ऐसे ही शरीर एक ही है पर देवता ने कर्म से पाया है जबकि ईश्वर ने माया से उसे

अतस्ते मेऽखिलस्यापि सोऽन्तर्याम्यात्मतां गतः।
अमृतत्वान्न जीवत्वमात्मत्वेऽप्यस्य शंक्यते।।२१९।।

स्वायत्त कर रखा है अतः ईश्वर शासन कर लेता है, देवता शासित ही रहता है और इसके लिये ईश्वर को अन्य देह नहीं चाहिये। अथवा, बैंक से उधार की व्यवस्था द्वारा गाड़ी खरीदो तो तुम भी उसके मालिक और बैंक भी। अगर किश्त न भरो तो बैंक गाड़ी ले जा सकता है किंतु भरते रहो तो कभी नहीं ले जा सकता। गाड़ी एक ही किन्तु मालिक दोयह भी लोकसिद्ध दृष्टांत है। वैसे, हम सभी का स्वानुभव है कि बहुत बार 'अंदर' से कोई प्रेरणा करता अवश्य है समस्या, दुविधा होने पर हम स्तब्ध हो जाते हैं तब अनेक बार यह भीतरी प्रेरणा स्पष्ट होती है। गाँधी जी ने भी इस अनुभव का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः अन्तर्यामी जीव से पृथक् मान्य ही है। शरीर एक होने पर भी बाहरी-भीतरी भावों के अंतर से शासित व शासक की व्यवस्था भी संगत है। 'बाहर' अर्थात् कार्य; यहाँ मन को, अन्तःकरण को कार्य समझना चाहिये। पाँचों भूतों के सत्त्वांश से उत्पन्न अतः मन कार्य है। अन्तःकरण (एवं समूचा ही लिंग देह) जिसकी उपाधि, परिचायक है वह बाहरी अर्थात् प्रमाता या जीव है एवं कारण अर्थात् माया उपाधि वाला भीतरी अर्थात् साक्षी है। क्योंकि भूतों द्वारा माया ही मन का कारण है इसलिये मायोपाधिक का मन उपाधिक पर नियंत्रण सहज है। नियामक मायोपाधिक होने से जब उसी के वशीभूत हो कुछ करते हैं तब हमें लगता है 'पता नहीं हमने ऐसा क्यों किया'; 'पता नहीं' यही अविद्यारूप माया है अतः 'मायावश ऐसा किया' यही तात्पर्य निकलता है। नियम्य-नियामक व्यवस्था से यह नहीं कि इनमें भेद सच्चा कहा जा रहा हो! एक ही आत्मा कार्योपाधि से नियम्य एवं कारणोपाधि से नियामक है। जैसे मैं एक पर आँख से देख ही सकता हूँ, चख नहीं, जीभ से चख ही सकता हूँ, देख नहीं, फिर भी हूँ मैं एक ही; ऐसे आत्मा है एक ही, कार्योपाधि से जीवोचित ही व्यवहार कर सकता है, कारणोपाधिक से ईश्वरोचित ही व्यवहार कर सकता है, जीव-ईश्वर परस्पर व्यवस्थित मार्यादा वाले हैं लेकिन आत्मा सर्वथा एक ही है।।२१५-२१८।।

अन्तर्यामी की एकता बताने के लिये याज्ञवल्क्य ने 'एष त आत्मान्तर्यामी' कहा और वह भी कोई जीव नहीं यह 'अमृतः' से निश्चित कर दिया यह व्यक्त करते हैं **इसलिये तुम्हारे, मेरे, सभी के अन्तर्यामी रूप को उसने धारण किया है। आत्मा होने पर भी अमृत है, अतः 'वह भी कोई जीव होगा'यह शंका नहीं होती।।२१९।।** माया एक होने से तदुपाधिक ईश्वर, अन्तर्यामी एक ही है। सभी

सार्वात्म्यं वक्तुमस्यैष बहूपाधिषु वर्णितः।
सर्वात्मा शक्तियुक्तो यः सोऽन्तर्यामीति गम्यताम्।।२२०।।
प्रत्यग्ध्वान्तं चिदाभासं स्वकार्यनियमात्मकम्।
तदुपाधिर्नियन्तैष परः प्रोक्तो न तु स्वतः।।२२१।।
सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सर्वात्मा सर्वगो ध्रुवः।
जगज्जन्मस्थितिध्वंसहेतुरेष महेश्वरः।।२२२।।
नारायणाभिधो मंत्र एतस्यैवाभिधायकः।
पंचाक्षरेण मंत्रेण शिव इत्येष गीयते।।२२३।।

प्राणियों का वही अंतर्यामी है। श्रुति में 'एस ते' अर्थात् 'तुम्हारा' ही कहा लेकिन आचार्य ने उसका आशय स्पष्ट किया कि 'तुम्हारा' अर्थात् सारे प्राणियों का। लोक में शासक जीव देखने में आते हैं तो कोई अन्तर्यामीको जीवविशेष न समझ ले इसलिये याज्ञवल्क्य ने उसे 'अमृत' भी कहा। वह निर्विकार होने से जीव नहीं, जीव तो जीवन-मरण वाला ही है।।२१६।।

इस प्रकार अन्तर्यामी के वर्णन के प्रत्येक शब्द की सप्रयोजनता बताकर पृथ्वी ही नहीं अन्य बहुत सी अध्यात्म-अधिभूत उपाधियों का याज्ञवल्क्य ने क्यों उल्लेख किया यह समझाते हैंयह सभी का आत्मा है **इस बात को कहने के लिये बहुतेरी उपाधियों में इसका वर्णन किया। शक्तियुक्त सर्वात्मा अन्तर्यामी है।।२२०।।**

अनेक उपाधियों का उल्लेख सब उपाधियों के उपलक्षणार्थ है। सर्वात्मा होना ही अन्तर्यामी होने के लिये पर्याप्त नहीं, शक्ति अर्थात् माया से युक्त अर्थात् उपहित भी होना जरूरी है। अत एव अन्तर्यामी है। अंतिम तत्त्व नहीं!।।२२०।।

शक्तियुक्त की ईश्वरता स्पष्ट करते हैं**चित् के प्रतिबिम्बसमेत जो प्रत्यगात्मा का अज्ञान वह स्व अर्थात् चित् का विवर्त्तरूप कार्य अतः स्व से नियम्य है। इस तरह, उक्त उपाधि वाला यह परमात्मा अन्तर्यामी कहा गया है, न कि खुद अपने निरुपाधिक रूप से।।२२१।। यही महेश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सबका आत्मा, व्यापक स्थिर एवं जगत् के उत्पत्ति व्यवस्था विनाशका एकमात्र कारण है।।२२२। नारायण नामक मंत्र इसी का बोधक है एवं पंचाक्षर मंत्र द्वारा यही शिव कहा जाता है।।२२३।। हिरण्यगर्भ संप्रदाय वाले इसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं। व्यास जी ने इसी को पुराणों में विभिन्न रूपों वाला वर्णित किया है।।२२४।।** अज्ञान सर्वानुभवसिद्ध वस्तु है किंतु इसीलिये-अनुभवगम्य होने सेवह

हिरण्यगर्भं हैरण्यगर्भीया एवमूचिरे।
व्यासस्तत्तत्पुराणेषु तत्तद्रूपतयोचिवान्।।२२४।।

जड अतः स्वतंत्र रूप से कुछ करने धरने में असमर्थ हैं। सांख्यवादी भले ही कल्पना करें कि जड प्रकृति स्वयमेव व्यवस्थित कार्य कर लेती है लेकिन यह शास्त्रविरुद्ध और अनुभव से सर्वथा असमर्थित है। वह अज्ञान जड होने पर भी चैतन्य का आभास (तादात्म्य) ग्रहण कर लगता है मानो चेतन हो और इसलिये उसमें व्यवस्थित परिवर्तन भी हो जाते हैं जैसे स्वयं गर्म न होने वाला पानी भी आग के सम्बन्ध से लगता है मानो गर्म हो और वैसा गर्म पानी ऐसे प्रयोजन सिद्ध करता है जो जल के नहीं हो सकते, आग के ही हो सकते हैं। किंतु जहाँ सीधे ही आग का पहुँचना असंभव है वहाँ पहुँचने के लिये आग को पानी का सहारा चाहिये ही। ऐसे ही चित्तत्त्व से ही व्यवस्थित प्रवृत्ति होना संगत है लेकिन वह निर्विकार होने से ऐसा सहारा चाहता है जहाँ विकार हो जायें, इसके लिये उसे अनादिसिद्ध अज्ञान सुलभ है अतः उसी के द्वारा चेतन संसार रूप से विवर्तित हो जाता है। संसार को अविद्या का परिणाम एवं चेतन का विवर्त इसी से कहते हैं कि संसार है तो चेतन के कारण किंतु चेतन में कोई परिवर्तन आये बगैर संसार बनता है एवं संसार रूप से परिवर्तन योग्य वस्तु अज्ञान है। कार्य को कारण का परिवर्तित रूप समझना क्योंकि युक्ति संमत है इसलिये संसार कार्य के लिये भी परिवर्तनशील कारण स्वीकार्य है। कुछ चिन्तक इस युक्ति बंधन से छूटने के प्रयास में संसारको चित्तत्त्व का ही परिणाम मानना चाहते हैं किन्तु तब उन्हें एक अप्रसिद्ध (अनुभव पर अनारूढ) 'अविकृत परिणामवाद' की कल्पना करनी पड़ती है जिसका शास्त्र-युक्ति-अनुभव से विरोध होता है एवं मोक्ष की अस्थायिता माननी पड़ जाती है क्योंकि साधना के फलस्वरूप ऐसा कुछ नहीं बताया जा सकता जिससे वह परिणाम या परिणामसामर्थ्य सदा के लिये नहीं रहे। एवं च शास्त्रादिसंमत प्रत्यगज्ञान द्वारा ही सृष्टि आदि स्वीकारना उपपन्न, अनुभवानुसारी और सफल है। इस अज्ञान को भी कोई वास्तविक तत्त्व न समझे इसलिये कहा कि यह स्व का कार्य अर्थात् आत्मा का विवर्त है। अनादि होने से अज्ञान को कार्य कहना नहीं बनता लेकिन प्रतीति विषय और बाधयोग्य होने से विवर्त कहना बन जाता है। अज्ञान के परिणाम पर जैसे अज्ञान का वैसे आत्मा के विवर्त्त पर आत्मा का स्थायी नियंत्रण रहता है। आत्मा विवर्त्ताधिष्ठान होने से ही कारण अतः उसी ढंग से नियन्ता भी है, स्वतः, निरुपाधिरूपसे न कारण और न नियन्ता है। अतः यहाँ वार्तिक में 'स्वतस्त्वकारणोऽदेहो निर्गुणोऽभेद एव च। चिदाभासः स्वमोहोत्थकार्यैस्तद्वान् इवेक्ष्यते।।' (३.७.३७) कहा है कि

भूम्यादिदेवताः कस्मान्न स्वान्तर्यामिणं विदुः ।
अदृष्टोऽश्रुत इत्याह कारणं तदवेदने ।।२२५ ।।
दृष्टिश्रुतिमतिज्ञातिविषयत्वं चिदात्मनः ।
उषस्तब्राह्मणे पूर्वं युक्त्या सम्यङ् निवारितम् ।।२२६ ।।
मागोचरातिवर्तित्वाद् मातृमानादिसाक्षिणः ।
द्रष्टुरन्यस्य चाभावान्न तं पश्यन्ति देवताः ।।२२७ ।।

कार्य मोहजन्य होने से चैतन्य मानो उन कार्यों से सम्बद्ध उनका कारण व नियन्ता लगता है। इस अन्तर्यामी को ही महेश्वर, ईश्वर, सविशेष ब्रह्म, सगुण ब्रह्म आदि कहा गया है। नारायण मंत्र से इसी का प्रतिपादन है। 'सहस्रशीर्षा' आदि नारायणसूक्त प्रसिद्ध है। अष्टाक्षर मंत्र भी नारायणमंत्र प्रसद्धि है। चार व्यूहों वाले नारायण को पांचरात्र आगमों के अनुसर्त्ता भागवत-मत वाले स्वीकारते हैं, वह इस अन्तर्यामी का ही रूप है। शैवों को सम्मत शिव भी अन्तर्यामी ही है, न कि अक्षर। शैव-वैष्णव दोनों ही विशिष्टाद्वैती यहाँ समझने चाहिये, द्वैत आदि मानने वालों का प्रसंग नहीं। पंचाक्षर शिवसम्बन्धी सुप्रसिद्ध मंत्र है। योगमतानुयामी हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं, उनके अनुसार जो हिरण्यगर्भ है वह अंतर्यामी का ही स्वरूप है। व्यास जी ने पुराण में इस अंतर्यामी ईश्वर को विविध नाम-रूप-लीलाओं वाले के रूप में विस्तार से कहा है। वार्तिकार ने यहाँ कहा है कि व्यास जी वेदात्मा एवं अज्ञान नाशक आचार्य हैं उन्होंने प्राणियों के हित की कामना से ही पुराणों का विस्तृत वर्णन उपनिबद्ध किया है। अतः अन्तर्यामी का महत्त्व धर्म, अध्यात्म में असीम है यह स्पष्ट है।।२२१-४।।

आगे याज्ञवल्क्य ने कहा 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता। नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता। एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। अतोऽन्यद् आर्तम्।' कि यह अन्तर्यामी देखता आदि तो है पर दीखता आदि नहीं, देखने आदि वाला इससे स्वतंत्र कोई नहीं है, इस अमृत आत्मरूप अन्तर्यामी से अन्य सब मिथ्या है। इस भाग को स्पष्ट करते हैं **भूदेवता आदि अपने अन्तर्यामी को क्यों नहीं जानते इसमें कारण बताया कि उसका अदृष्ट अश्रुत आदि स्वरूप वाला होना उसकी अज्ञातता में हेतु है।।२२५।। पहले उषस्त ब्राह्मण में युक्ति से भलीभाँति बता दिया था कि चिद्रूप आत्मा दृष्टि श्रुति मति और विज्ञानका विषय नहीं है।।२२६।। क्योंकि प्रमाता-प्रमाणादि का साक्षी अवश्य प्रमाणविषयता से परे है एवं उससे अन्य कोई द्रष्ट है नहीं इसलिये**

अदृष्टत्वाऽश्रुतत्वादि प्रत्यग्ध्वान्तेऽपि संभवेत्।
तन्निवृत्त्यै श्रुतिर्द्रष्टा श्रोता मन्तेत्यभाषत।।२२८।।
द्रष्टृत्वश्रोतृताद्यस्य दृष्टिश्रुत्यादिसाक्षिता।
अलुप्तचित्स्वभावत्वान्न विकारो मनागपि।।२२९।।

देवता भी उसे देख (जान) नहीं पाते।।२२७।। देवताओं की दुर्बलता नहीं कि वे अन्तर्यामी को न जानते हैं वरन् वह चीज़ ही ऐसी है कि जानी न जाये इसलिये नहीं जानते। पुराणों में आपाततः लगता है कि कहीं किसीं को सर्वश्रेष्ट कहा तो कहीं किसी दूसरे को, लेकिन विचारपूर्वक निर्णय है कि एक अंतर्यामी को ही सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ बताया है। उसी के सब रूप हैं, सब नाम हैं अतः कहीं किसी एक नाम-रूप को उसका बोधक लेना आवश्यक ही है लेकिन उपाधिविशिष्ट को सर्वोत्तम कहीं नहीं कहा और उपहित वस्तु सर्वत्र एक है। यहाँ जो देवताओं को उसका अज्ञान कहा वह भी देवों के अपकर्ष को बातने के लिये नहीं वरन् अन्तर्यामी की अविषयता बताने के लिये। उषस्त के (३.४) प्रश्न के उत्तर में यह अविषयता समझायी जा चुकी है। परमात्मा अप्रमेय होने पर भी स्वप्रकाश है अतः उसे 'नहीं है' कहना नहीं बनता लेकिन जैसे किसी वस्तु को परीक्षापूर्वक निर्णीत किया जानेपर वह प्रमाणित होती है वैसे इसे प्रमाणित न किया जा सकने से देवता और वे ही नहीं, उनके अनुयायी भी परमेश्वर को न समझ पायें तो क्या आश्चर्य! बल्कि बड़े-बड़ों का इस बारे में न समझना भी इसमें प्रमाण है कि यह अप्रमेय है।।२२५-७।।

याज्ञवल्क्य ने अदृष्ट अश्रुत इतना ही नहीं साथ में द्रष्टा, श्रोता आदि भी कहा, उसका प्रयोजन बताते हैं **अदृष्टता-अश्रुतता आदि प्रत्यक्सम्बद्ध अज्ञान में भी संभव है, कोई उसे अन्तर्यामी न समझ ले इसलिये वेद ने द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आदि भी कहा।।२२८।। दृष्टि-श्रुति आदि का साक्षी रहना ही परमात्मा का द्रष्टा-श्रोता आदि होना है। उसका चैतन्यरूप स्वभाव कदापि लुप्त होता नहीं अतः किंचित् भी विकारात्मक द्रष्टापना आदि उसमें नहीं।।२२९।।** प्रमाणों का अविषय तो अज्ञान, माया भी है; अज्ञान का साक्षात्कार भले ही है, 'मैं अज्ञ' 'मैं घट को नहीं जानता' आदि अनुभव से अज्ञान पता भले ही लगता है लेकिन उसमें प्रमाण कोई नहीं क्योंकि प्रमाण होता ही अज्ञान का विरोधी है! प्रमाण से तो अज्ञान दूर ही हो जाता है अतः उससे विषय किया जा सके यह असंभव है। मायाशक्ति ही अन्तःशासक होगीयह भ्रम दूर करने के लिये याज्ञवल्क्य ने कहा कि अन्तर्यामी चेतन है क्योंकि देखता-सुनता सोचता समझता है। देखना आदि तो परिच्छिन्न, आद्यन्तशाली ज्ञान हैं,

लोकसिद्धा नियम्यस्य जीवस्य द्रष्टृता तथा।
अन्तर्याम्यपि चेद् द्रष्टा देहे भासेत तद्द्वयम्।।२३०।।
इति शंकानिवृत्त्यर्थं नान्योऽतोऽस्तीति भण्यते।
लोके जीवतया मूढैरन्तर्याम्येव भाव्यते।।२३१।।
साधारणो यथा सूर्यो मां प्रत्येवेति पामरैः।
असाधारणरूपेण भाव्यते जीवता तथा।।२३२।।
बुद्धिस्थः पर एवात्मा जीवात्मेति निगद्यते।
बुद्ध्यागमापायसाक्षी नियंतेत्युच्यते परः।।२३३।।

इनसे परमात्मा (साक्षी) सम्पन्न हो तो विकारी क्यों न होगा? इसके उत्तर में आचार्य ने बताया कि अन्तर्यामी का द्रष्टा होना हमारे द्रष्टा होने से पृथक् है। हम अद्रष्टा रहते हैं, द्रष्टा बनते हैं, उस दर्शन से प्रभावित होते हैं, पुनः अद्रष्टा बन जाते हैं, उस द्रष्टापने को याद करते हैं, फिर द्रष्टा बनना चाहते (कामी) हैं, न बन सकें तो नाराज (क्रोधी) होते हैं इत्यादि। अन्तर्यामी का द्रष्टापना ऐसा नहीं वरन् निर्विकार लगातार ज्ञानरूप है। साक्ष्य तो उसके सामने आता-जाता रहता है लेकिन उसमें किंचित् भी परिवर्तन नहीं होता, जानने का कोई प्रयास नहीं होता, उसकी जानकारी से कोई अविद्या मिटती नहीं (क्योंकि साक्षी का अविद्या से विरोध नहीं), उसमें साक्षी बनने से कोई प्रभाव, संस्कार आदि नहीं पड़ते, काम-क्रोधादि नहीं उपजते। इस तरह द्रष्टा आदि होने पर भी हमारी तरह (अंतःकरणावच्छिन्न चेतन, जीव की तरह)। वह द्रष्टा नहीं केवल साक्षी है।।२२८-९।।

वेद ने आगे 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' आदि से पुनरपि कहा कि उक्त अंतर्यामी से अन्य कोई द्रष्टा आदि नहीं; यह कहने का उपयोग स्पष्ट करते हैं **शासित जीव द्रष्टा है यह बात लोकानुभवसिद्ध है, अंतर्यामी भी द्रष्टा हो तो शरीर में दो द्रष्टा प्रतीत होने चाहिय!।।२३०।। इस शंका को दूर करने के लिये कहा है कि उससे अन्य कोई द्रष्टा आदि नहीं। अंतर्यामी ही लोक में मोहग्रस्त लोगों द्वारा जीव रूप से समझा जाता है।।२३१।। जैसे सबके लिये एक-सा जो सूर्य उसे नासमझ लोग 'यह मेरे ही सम्मुख है' यों समझते हैं, वैसे व्यापक आत्मा को परिच्छिन्न उपाधि मात्र में समझनायह जीव भाव का अनुभव है।।२३२।। परमात्मा ही बुद्धि में स्थित होने पर जीवात्मा कहलाता है एवं बुद्धि के आने-जाने का साक्षी रहते वही परमात्मा अन्तर्यामी, शासक कहा जाता है।।२३३।।** 'मैं द्रष्टा' आदि जीवानुभव सुप्रसिद्ध है, इससे अन्य साक्षिरूप द्रष्टा तो प्रसिद्ध नहीं लेकिन उसमें हेतु

सूत्रान्तर्यामिणौ शास्त्रगम्यत्वेन प्रतिष्ठितौ।
अप्रतिष्ठिततर्केण गम्यमार्तमतोऽपरम्।।२३४।।

साक्षी की अनुपस्थिति नहीं वरन् हमारी मूढता है। अन्तर्यामी से अन्य कोई द्रष्टा नहीं मायने स्वतंत्र द्रष्टा नहीं। जैसे बिम्ब यदि दीपकादिप्रकाश है तो उसका प्रतिबिम्ब भी प्रकाश रूप है लेकिन स्वतंत्र प्रकाश नहीं, वैसे अन्तर्यामी के परतंत्र तो जीव (प्रमाता) भी द्रष्टा है लेकिन स्वतंत्र रहकर नहीं। इस तरह प्रसिद्ध द्रष्टा जो जीव और शास्त्रोक्त द्रष्टा जो साक्षी इनको पृथक् नहीं मान सकते कि 'दो द्रष्टाओं' का भान हो! वास्तव द्रष्टा जो साक्षी उसी को भ्रम से प्रमाता रूप द्रष्टा अर्थात् जीव माने हुए हैं क्योंकि मूढ अर्थात् इस विवेक से वंचित हैं कि ज्ञान आगमापायी होता नहीं। सर्वसाधारण सूर्य का उदाहरण स्पष्ट ही है; गर्मी सबके लिये होने पर भी सबको लगता है 'मैं ही गर्मी से तप रहा हूँ; ऐसे ही आत्मा व्यापक होने से सब बुद्धियों के प्रति एक-सा साक्षी है पर हर-एक उसे अपनी एक ही बुद्धि में प्रतिबद्ध समझता है कि 'मुझ में ही प्रत्यग्रूपता है, बाकी सब पराक् हैं।' 'असाधारणरूपेण' अर्थात् सब उपाधियों द्वारा एक-सा उपहित न समझकर एक-एक उपाधि से विशिष्ट समझना। बुद्धिरूप उपाधि में सीमित हुआ समझा जाने पर वह जीव कहलाता है। सीमितता को ही विशिष्टता प्रतिबिम्ब, भास, अवच्छिन्न आदि कहते हैं। बुद्धि रहे या न रहे, दोनों हालतों में एक-सा रहने वाला समझा जाने पर वही साक्षी, अन्तर्यामी, ईश्वर कहलाता है। जैसे घटाकाशको आकाश से अलग समझना वैसे जीव को साक्षी से (अन्तर्यामी से) अलग समझना। जिस बुद्धि को लेकर हम स्वयं को प्रमाता, जीव समझते हैं वह जब सुषुप्ति में नहीं रहती तब भी हम तो बने रहते हैं अतः वस्तुतः प्रमाता व साक्षी अलग है नहीं, केवल मूढता से इनके भेद की कल्पना है।।२३०-३।।

अन्त में 'अतोऽन्यदार्त्तम्' कहा, उसका अर्थ करते हैं **सूत्रात्मा व अन्तर्यामी शास्त्रसमधिगम्य हैं अतः प्रतिष्ठित, नकारने के अयोग्य हैं। इनसे अतिरिक्त सब उसी तर्क से समझा जाता है जो स्वयं अप्रतिष्ठित है अतः वे सब आर्त, मिथ्या, नकारने लायक हैं।।२३४।।** सूत्र व अन्तर्यामी का उपाधि वाला हिस्सा आर्त होने पर भी इनका स्वरूपभूत आत्मा सत्य है। इसी को यों भी कहते हैं कि ये स्वरूपतः अध्यस्त नहीं हैं जबकि उपाधि आदि जगत् स्वरूपतः अध्यस्त है। तर्क प्रतिष्ठित इसलिये नहीं कि औजार है अतः इसे काम में लेने वाले की कुशलता पर इसका महत्त्व निर्भर है। तार्किक द्वारा निर्णीत बात कुशलतर तार्किक द्वारा उलट दी जाती है। नैयायिकों में प्रसिद्ध

द्वितीयो गार्गीप्रश्नः

अष्टमब्राह्मणे ब्रह्मतत्त्वं सम्यङ् निरूपितम्।
सूत्रमन्तर्यामिता च यत्रोतप्रोततां व्रजेत्।।२३५।।
पूर्वत्र गौतमोऽपृच्छत् सूत्रान्तर्यामिवस्तुनी।
ओतप्रोतात्मतां गार्गी तयोरेवात्र पृच्छति।।२३६।।

'शिरोमणि' कहलाने वाले रघुनाथ पण्डित ने स्वयं कहा है कि 'अब तक जो कुछ जैसा माना जाता था, मैंने उस सब को विपरीत कर दिया है!' क्योंकि भूत-भावी सब तार्किक एकत्र होंगे नहीं इसलिये तर्क अप्रतिष्ठित ही रहना है। शास्त्र प्रतिष्ठित अतः श्रद्धेय है। संसार तर्कगम्य है अतः मिथ्या है, परमात्मा अप्रतर्क्य अतः सत्य है। परमात्मा में कोई तर्क नहींयह परमात्मा की सत्यता स्थापित करता है न कि उसे अन्धविश्वास रूप! मिथ्या अनित्य एवं सत्य नित्य है। नित्य यदि अनित्य में ममता रखे तो हमेशा दुःखी रहेगा क्योंकि अनित्य तो आकर निकल जायेंगे, नित्य स्थायी बना रहेगा। जैसे पिता के सामने बेटा, पोता मर जाये तो कष्ट होता है वैसे नित्य तो सदा होता रहेगा क्योंकि बाकी सब तो हैं ही अनित्य। अतः नित्य, सत्य आत्मा को अनित्य, मिथ्या अनात्मा में कैसा भी ममत्व रखना नहीं चाहिये। उसे अन्तर्यामी में ही अहम्भाव स्थिर रखना चाहिये, साक्षी रूप से ही बने रहना चाहिये, तभी कल्याण है। यहाँ तक उद्दालक आरुणि के प्रश्नों का जवाब हुआ।।२३४।।

आठवाँ पुनः गार्गी ब्राह्मण है जिसमें सूत्र-अन्तर्यामी से परे जो अक्षर उसका वर्णन है। इसे श्लोक २८० तक स्पष्ट किया जाना है। ब्राह्मण प्रारम्भ सूचित करते हैं **आठवें ब्राह्मण में वह ब्रह्मरूप सत्त्य ठीक से समझाया गया है जहाँ सूत्र और अन्तर्यामिता ओत-प्रोत की स्थिति पाते हैं।।२३५।। इससे पहले गौतम (उद्दालक) ने सूत्र एवं अन्तर्यामी वस्तुएँ पूछी थीं, यहाँ गार्गी उन्हीं की ओत-प्रोत रूपता पूछ रही है।।२३६।।** श्लोक में 'सूत्रम्' और 'अन्तर्यामिता' शब्द सूचित करते हैं कि सूत्र या हिरण्यगर्भ की जीवरूपता की ओर दृष्टि ले जायी जा रही है एवं 'अन्यदार्तम्' से जीव को भी नकार सकते हैं इस प्रक्रिया की ओर संकेत है। विद्यारण्यस्वामी की ऐसी व्यवस्था प्रायः न होने से इसका विस्तार यहाँ नहीं पर परंपरागत होने से सूचना दी है। पूर्व ब्राह्मण में निर्णीत तत्त्व के अधिष्ठान का प्रश्न है। गार्गी ने पहले इसी को तर्क से पूछने की कोशिश की थी, अब बिना तर्क से पूछ रही है अतः मुनि जवाब भी देंगे। अक्षर है कार्य-कारणभाव से रहित पर हमारा चिंतन इस भाव में बद्ध है अतः

शास्त्र को काल्पनिक कार्यकारणता के हसारे ही समझना पड़ता है। गणित में बहुधा सवाल हल करने के लिये संख्या को पक्का वर्ग बनाने के उद्देश्य से कोई संख्या जोड़ देते हैं, हल निकलने पर वहीं संख्या घटाकर असली उत्तर समझ लेते हैं। महात्माओं में एक दृष्टांत प्रसिद्ध है तीन मित्रों ने धन मिलाकर साझे में काम शुरू किया। एक का उसमें नौवाँ (१/९) हिस्सा था, दूसरे का छठा (१/६) और तीसरे का आधा (१/२) हिस्सा था। सारे पैसों से उन्होंने सत्रह घोड़े खरीदे। बेचते समय मूल्य पर विवाद हुआ तो तीनों ने कहा कि घोड़े बाँटकर प्रत्येक अपनी बुद्धि से बेचे। किन्तु बाँटें कैसे! रुपये-पैसे तो थे नहीं, घोड़े थे। आधे हिस्से वाले को साढ़े आठ घोड़े कैसे मिलें ऐसे ही सबकी दिक्कत थी। किसी समझदार ने निपटारा कराने को कहा 'मेरा एक घोड़ा इनमें मिला लो, तुम्हारा बँटवारा हो जायेगा।' अब कुल अठारह घोड़े थे तो एक को नौ, दूसरे को छह और तीसरे को दो हिस्से में आये, तीनों सन्तुष्ट हो गये तथा अठारवाँ घोड़ा उस समझदार का बचा ही रहा! एक घोड़ा मिलाना केवल हिसाब बैठाने के लिये था, वास्तव में उन्हें वह मिलना नहीं था। इसी तरह कार्यकारणभाव (अध्यारोप) अद्वैत समझने के लिये ही है, वास्तव में नहीं। अभी असंख्य कारण प्रतीत हो रहे हैं, शास्त्र ने घटाते-घटाते उन्हें सूत्र-अन्तर्यामी (उपाधि-उपहित) तक समेट दिया; अब यदि समझ आ जाये कि कार्यकारण भाव है नहीं तो क्योंकि अन्यत्र से कार्यकारणताकी दृष्टि हट चुकी हैं इसलिये स्वीकार हो जायेगा कि कार्यकारणभाव वस्तुतः है ही नहीं, एकमात्र अजात वस्तु है। प्रारंभ में लगता है कि धागे से कपड़ा बना पर विचार करने पर समझ आता है कि धागों से अतिरिक्त कपड़ा कुछ है ही नहीं जो बना हो अतः कपड़े का मिथ्यात्व स्फुट हो जाता है और जब बनने वाला कुछ नहीं तो 'बनाने वाला' किसी को कैसे कहें! यों कार्य-कारण दोनों की अवास्तव स्थिति प्रकट होती है। इसीलिये क्रमशः वर्णन करते हुए वेद ने यहाँ अक्षर का प्रसंग रखा।।२३५-६।।

गार्गी ने पुनः मौका पाने के लिये ब्राह्मणों की अनुमति माँगी और कहा कि इन दो प्रश्नों का यदि याज्ञवल्क्य उत्तर दे दें तो सब मान लें कि वे अजेय हैं। ब्रह्मवेत्ताओं ने याज्ञवल्क्य का महत्त्व समझ ही लिया था अतः विस्तृत परीक्षण अनावश्यक होने से गार्गी का प्रस्ताव स्वीकार लिया क्योंकि जानते थे कि वह अब अक्षर ही पूछेगी जिसके बारे में पहले से जवाब नहीं मिल सकता था। उसने अपने प्रश्नों को कठिन बताने के लिये याज्ञवल्क्य से कहा कि वीर योद्धा के दो प्रबल बाणों जैसे ये प्रश्न हैं! पहला प्रश्न है 'यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यद्वाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्

अण्डोर्ध्वाऽधोमध्यदेशान्कालं च व्याप्य तिष्ठति।
सूत्रमित्याहुराचार्या ओतं प्रोतं च कुत्रचित्।।२३७।।
अण्डारम्भकभूतानां न पृष्टा सूत्र ओतता।
सूत्रेण विधृतं सर्वमिति पूर्वत्र निर्णयात्।।२३८।।
तार्किकत्वनिवृत्त्यर्थमाचार्योक्तिमुदाहरत्।
निःशेषदेशकालोक्तया सूत्रे सर्वात्मतोदिता।।२३९।।
व्यक्तं सर्वं सूत्ररूपमव्यक्ते व्योमसंज्ञके।
ओत प्रोतं च विद्धीति प्राह पृष्टमनूद्य सः।।२४०।।

भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति'। यह प्रश्न दिखाते हैं **आचार्य कहते हैं कि ब्रह्माण्ड से ऊपर-नीचे और ब्रह्माण्ड के बीच, सब जगह और सब काल को व्याप्त कर सूत्र रहता है, वह कहाँ ओत-प्रोत है?।।२३७।।** 'आचार्य कहते हैं' से बताया कि तर्क का रास्ता छोड़कर प्रश्न है। ब्रह्माण्ड से निरूपित समूचा देश और समूचा काल सूत्रात्मा से व्याप्त है, उसको जो व्याप्त किये है वह पूछा गया है।।२३७।।

प्रश्न उपपन्न करते हैं **ब्रह्माण्डोत्पादक महाभूतों की सूत्र में ओत-प्रोतता नहीं पूछी क्योंकि (ब्रह्माण्डरूप) सबको सूत्र ने धारण किया हैयह पूर्व प्रश्न में ही निर्णीत हो चुका है।।२३८।। तार्किकता हटाने के लिये आचार्य कथन का उल्लेख किया एवं सारे देश-काल के कथन से बताया कि सूत्र सर्वात्मा है।।२३९।।** उद्दालक प्रसंग में निर्णीत से आगे ही पूछना उचित होने से गार्गी का प्रश्न संगत है। अन्तर्यामी भी उक्त था किन्तु अक्षर तक सहसा नहीं पहुँच सकते, 'अक्षर कौन?' यह प्रश्न नहीं उठा सकते क्योंकि अक्षर को जानें तभी पूछें और जान लिया तो पूछना क्यों! अतः अन्तर्यामी पर आधारित होकर ही पूछने के लिये उसको उपस्थित करना ज़रूरी तथा वह भी सूत्र व्यापक के रूप में ही सुबोध होने से यों ही प्रश्न ठीक है। किं च गार्गी को जहाँ चुप किया था, वहीं से पूछ रही है, केवल तर्क रीति छोड़कर, यह भी उसने व्यक्त किया।।२३८-९।।

सूत्र को व्याप्त करने वाले अव्यक्त को आकाश-शब्द से कहते हुए 'आकाशे तदोतं च प्रोतं च' यह याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया। उसे बताते हैं **पूछे गये का उल्लेख करके उन याज्ञवल्क्य ने कहा सारा व्यक्त, जो सूत्र का रूप, वह आकाश-नामक अव्यक्त में ओत-प्रोत है।।२४०।।** देश-काल क्योंकि सूत्र में आ चुके इसलिये अब

देशकालौ च सूत्रेऽन्तर्भूतौ देशात्मकं ततः ।
वियन्नाकाशमत्रेति सूचनायानुवादगीः ।।२४१।।

उन पर निर्भर व्याप्ति कहना न बनने से सूत्र की व्यक्तता (नाम रूप में विभक्तता) के आधार पर अव्यक्त को उससे व्यापक बताया। शासकरूप में जिसे निमित्त कहा था उसी को उपादान रूप से आकाश कहा क्योंकि सिद्धान्त में दोनों कारणताएँ एक में ही है। यहाँ जैसे पूर्व प्रसंग में वायु शब्द भूतपरक नहीं था, वैसे आकाश-शब्द भी भूतपरक नहीं, ईश्वरपरक है। समस्त देश जिसके अन्तर्गत है उसे आकाशरूप भूत में ओत-प्रोत कहना बनता भी नहीं। अक्षराधिकरण (१.३.३.१०-२) में परब्रह्म की अक्षरता इसी से उपपन्न की है कि उसे अम्बर पर्यन्त का विधारक कहा अतः अम्बर अर्थात् आकाश साधारण भूत को यहीं नहीं समझ सकते। आकाशाधिकरण (१.१.८.२२) में आकाश का परमेश्वर के लिये प्रयोग समझाया भी है। अतः आकाश पद का यही अर्थ ग्राह्य है।।२४०।।

जवाब में याज्ञवल्क्य ने गार्गी का प्रश्न क्यों दुहराया यह बताते हैं **देश-काल सूत्र के अन्तर्गत हैं इसलिये यहाँ बताया जा रहा 'आकाश' जगह रूप वियत् नहीं हो सकता यह सूचित करने के लिये अनुवाद वाक्य है।।२४१।।** प्रश्न दुहराने की आवश्यकता के बगैर याज्ञवल्क्य ने दुहराया तो विशेष अभिप्राय से; वह यह कि वे सूत्र को 'आकाश' में ओत-प्रोत कहने जा रहे हैं, गार्गी कहीं उससे भूताकाश न समझ ले इसलिये पूरा प्रश्न दुहरायासंभवतः ऊर्ध्व, अवाक् शब्दों पर काकु से ज़ोर देकर कि भूताकाश तो प्रश्न में ही आ गया, उत्तर में आया आकाश और कुछ है। सीधे ही अक्षरादि नाम से नहीं कहा ताकि गार्गी की समझदारी भी पता चले! यह आचार्य विद्यारण्य के प्रश्न पुनः कथन का तात्पर्य भूताकाशव्यावृत्ति स्पष्ट किया। भाष्य-वार्तिक में ऐसा कुछ स्पष्ट नहीं, आनंदगिरि स्वामी ने बताया है (वार्ति. ३.७.१३) कि प्रश्न दुहराना कद की प्रतिष्ठित मर्यादाओं में परिगणित होने से ऐसा किया है। जो प्रश्न ही न याद रखे वह उसका उत्तर क्या देगा!इस भाव से वाद में प्रवृत्त को प्रश्न दुहराना चाहिये ताकि निश्चित हो कि उसे प्रश्न ठीक-ठीक मालूम है। बहुधा जवाब सुनकर ही पता चलता है कि जिससे पूछा था उसने सवाल ही सही नहीं सुना था! जब वह सवाल दुहराता है तब पूछने वाला निर्णीत कर लेता है कि प्रश्न वही है या नहीं और वही प्रश्न है तो जवाब सुनता है अन्यथा अपना प्रश्न पुनः रखता है। शास्त्रार्थ में अभी भी ऐसी पद्धति चलती है।।२४१।।

बोद्धुं बोधयितुं चैतदव्यक्तं दुःशकन्त्विति।
विस्मिता प्रणनामाऽसौ तमव्याकृतवादिनम्।।२४२।।

इस उत्तर पर गार्गी बोली 'नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य!' कि ऐसा उत्तर देने वाले आपको प्रणाम है। इसे बताते हैं **इस अव्यक्त को समझना समझाना बहुत मुश्किल है अतः गार्गी को अचम्भा हुआ और उसने अव्याकृत का वर्णन करने वाले मुनि को प्रणाम किया।।२४२।।** पहले तो अव्यक्त को समझना मुश्किल, कथंचित् स्वयं समझ भी लें तो निर्दुष्ट ढंग से शब्दों में उसे व्यक्त करना और भी कठिन है। मन देश-काल से परे सोचने-समझने में अक्षम होने से उनसे अतीत तत्त्व को कैसे मन में बैठाया जायेयह बही जानेगा जो उस तत्त्व में रचा पचा है, उसके बारे में निःशंक है। सर्वत्र व हमेशा हैकहने पर सर्व-देश एवं सर्व-काल में परिच्छिन्न पता चलता है और कहीं नहीं, कभी नहीं हैकहने पर लगता है कि असत् होगा! ऐसी वस्तु को कैसे बतायें! याज्ञवल्क्य ने सूत्र की व्यक्तता का सहारा लेकर हल निकाल लिया अतः गार्गी को आश्चर्य हुआ। व्यक्त सदा अव्यक्त से प्रकट होता मिलता है अतः मन के चिंतन की धारा बिना तोड़े व्यक्त के कारण का कथन किया। इसी उत्तर का विकास वेदान्त में माया के रूपमें हुआ। वेदान्त है ब्रह्मवाद लेकिन उस ब्रह्म तक पहुँचना बिना माया के दुःशक है। मायाविरोधी जब अद्वैती बनते हैं तब चैतन्य को विकारी माने बिना समझ-समझा नहीं पाते। हम तो 'ब्रह्म माया से सुखी-दुःखी है' कहेंगे जिसका अर्थ है कि वह वास्तव में न सुखी, न दुःखी है, केवल ऐसा भास रहा है। माया न मानकर 'सब परमात्मा ही है' कहें तो सुखी-दुःखी अच्छा बुरा सब परमात्मा हो तभी संगत होगा। अतः निर्विकार चैतन्य अंगीकार करें तो बिना माया माने उपपत्ति नहीं। अनेक आधुनिक शब्दों में उलझकर, माया को आचार्यशंकर द्वारा वेदान्तशास्त्र में प्रवेशित विचार बताते हैं, कहते हैं कि अनादि अनिर्वाच्य मिथ्या भावरूप अविद्या या माया उपनिषदों में जगत्कारणता के प्रति नियामक नहीं कही गयी है। किन्तु ये कल्पनायें उपनिषदों का अर्थ न समझने से है। उपनिषदों में जो कुछ ब्रह्म-जगत् के बारे में कहा है उस सबका अर्थ समझें तो स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है कि भाष्यकारोक्त माया के अभिप्राय से ही औपनिषद वर्णन है। याज्ञवल्क्य ने 'आ = समन्तात्, काशते' के तात्पर्य से आत्मा की सदा भासमानताका 'आकाश' शब्द से उल्लेख किया जिसे जगद्धेतुरूप से श्रुति में जगह-जगह कहा है। माया का भी नामतः अनेक स्थलों में कथन है ही और उसे प्रकृति कहकर बताया है

भूयोऽपि पृष्टमप्राक्षीत्प्रधानादिषु शंकया।
प्रधानादीन् जगद्धेतून्वादिनः स्थापयन्ति हि।।२४३।।
सावधारणमाकाश एवेत्यन्यनिवृत्तये।
आहोत्तरं मूर्धपातं सूचयंस्तर्कनिर्णये।।२४४।।

कि कारण-प्रक्रिया में उसका मुख्य स्थान है। अज्ञानादि रूप से अनुभव मान उसे नकारना असंगत है। सुषुप्ति में अज्ञानभान सर्वसंमत है। यद्यपि जगने पर 'मैं अज्ञ रहा' यों मैं (अहंकार) से सम्बद्ध प्रतीत होता है तथापि मैं के प्राकट्य से पूर्व वह चेतन में ही रहता है। वार्तिकसार में (३.८.१५) कहा है 'अहंकारजनेः पूर्वं मोहश्चिन्मात्र-वर्त्यभूत्। तदुत्पत्तावहंकारविशेषणमिवेक्ष्यते।।' उस मोहयुक्त प्रत्यगात्मा को ही अव्याकृत, एवं सूत्र का कारण याज्ञवल्क्य ने बताया'प्रत्यक्तत्त्वं मोहयुक्तं पूर्वं व्यक्तं जगज्जनेः। अव्याकृताख्यम् अभवत् सूत्रं तत्र समाश्रितम्।।' (वा. सार ३.८.१६)। जगज्जन्म से पूर्व अव्यक्त ही व्यक्त था! अर्थात् तब अव्यक्त ही भासमान था। इस रहस्य तक याज्ञवल्क्य ने दृष्टि पहुँचा दी यह आश्चर्यकारी है।।२४२।।

गार्गी ने फिर से वही प्रश्न पूछा! इसमें हेतु बताते हैं **गार्गी ने पूछे हुए को ही पुनः पूछा इस शंका से कि आकाश शब्द प्रधान (प्रकृति) आदि को तो विषय नहीं कर रहा? शंका संभव इसलिये है कि वादी लोग प्रधान आदि को जगत् के कारण रूप से उपपादित करते हैं।।२४३।।** आकाश से प्रधान कह रहे होंजैसे यह संभावना हुई, वैसे यह भी कि सूत्रपर्यन्त सद्वयमें ही लय हुआ अतः इसका भी सद्वय में लय होता होगा। गार्गी ने मुखतः प्रकृति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृति तो तर्क संमत वस्तु है, वेद संमत नहीं तथा तर्क का सहारा गार्गी छोड़ चुकी थी। इस तरह वही प्रश्न दुबारा पूछना उपपन्न है।।२४३।।

याज्ञवल्क्य ने पूर्ववत् प्रश्न का अनुवादकर 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' यों एवकार जोड़कर वही उत्तर दिया, इसे समझाने हैं **'आकाश में ही' यों अवधारण सहित उत्तर याज्ञवल्क्य ने दिया ताकि अव्याकृत से अन्य की संभावना मिट जाये। इससे यह भी सूचित किया कि तर्क से निर्णय व्यावृत्ति में प्रवृत्त होने पर मूर्द्धा गिर जायेगी।।२४४।।** अवधारण मायने अन्य की व्यावृत्ति, निषेध। जहाँ विशेषण या क्रिया से एवकार जुड़े वहाँ अयोगादि का व्यवच्छेद होने पर भी 'आकाश एव' में ऐसा कुछ न होने से अन्य व्यावृत्ति ही अर्थ है अर्थात् आकाश से अन्य कुछ विवक्षित नहीं जहाँ सूत्र ओत-प्रोत हो। न गार्गी ने और न याज्ञवल्क्य ने प्रधान,

यद्वा तन्तुष्विव पटः सूत्रं बहुषु संस्थितम्।
इत्याशंक्य पुनः प्रश्न एवकारो बहुत्वनुत्।।२४५।।
कस्मिन्खल्वयमाकाश ओतः प्रोतश्च ईर्यताम्।
अनोतत्वे स्वतंत्रत्वात् प्रधानत्वं प्रसज्यते।।२४६।।

प्रकृति आदि नाम लिये क्योंकि वे तत्त्व तार्किक है। मुनि भी अगर कहते 'प्रधान में ओत-प्रोत नहीं' तो गार्गी तपाक से पूछती 'यह प्रधान क्या होता है?' अतः उन्होंने 'ही' शब्द से काम निकाल लिया। नाम लिये बगैर प्रधान, परमाणु आदि सबका निषेध हो गया।।२४४।।

सद्वय में ओतप्रोतता की संभावना के निवारणार्थ भी इस संवाद का उपयोग बताते हैं **अथवा, धागों में कपड़ें की तरह सूत्र भी बहुतों में प्रतिष्ठित होगा? यह शंका कर गार्गी का पुनः प्रश्न था और याज्ञवल्क्योक्त एवकार ('ही' शब्द) अनेकता का निरास कर रहा है।।२४५।।** प्रधान तो भाव रूप है जो आत्मा को सद्वय बनाता है, नैयायिक मानते हैं कि कार्य का प्रागभाव (पूर्ववर्त्ति अभाव) कार्योत्पत्ति के लिये आवश्यक है अतः उनके अनुसार प्रागभाव आत्मा को सद्वय बना सकता है। दोनों ही तरह से अव्यक्त इकलौता नहीं रहा जहाँ सूत्र ओत-प्रोत है। 'एव' से मुनि ने दोनों का निषेध कर दिया। व्यक्त का अभाव अव्यक्त नहीं वरन् व्यक्त करने की सामर्थ्य वाला सत्तत्त्व ही अव्यक्त है। अतः यहाँ अभावरूपता की संभावना नहीं। इस तरह सूत्र का हेतु सद्वय होगायह संभावना समाप्त की। यद्यपि नैयायिक 'नैकं स्वकार्ये पर्याप्तम्' अर्थात् अकेली वस्तु किसी का कारण नहीं बन सकती ऐसी घोषणा करते हैं तथापि यह मान्यता निर्मूल है और स्वयं नैयायिक को क्वचित् अकेले को कारण मानना पड़ता है। इस पर वार्तिकसार हिंदी दर्शनीय है।।२४५।।

यों अपने द्वारा पूछे पहले प्रश्न के बारे में स्पष्ट उत्तर से सन्तुष्ट गार्गी ने दूसरा सवाल किया 'कस्मिन्नु खलु आकाश ओतश्च प्रोत्तश्चेति, कि वह आकाश कहाँ ओत-प्रोत है? इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **(गार्गी बोलीहे याज्ञवल्क्य!) 'यह बताइये कि यह आकाश किसमें ओत-प्रोत है?' उसका भाव है कि यदि कहीं ओत-प्रोत नहीं तो स्वतंत्र होने से यह प्रधान (प्रकृति) ही होगा।।२४६।। सूक्ष्म होने से सूत्र ही बताना कठिन, व्योम (आकाश, अव्याकृत) तो सूत्र से भी ज्यादा सूक्ष्म है। व्योम का भी जो आश्रय है वह सर्वाधिक सूक्ष्म होने से वाणी का विषय बनता नहीं।।२४७।। फिर भी याज्ञवल्क्य यदि उस कहे न जा सकने वाले का**

सूक्ष्मत्वाद् दुर्वचं सूत्रं व्योम सूक्ष्मतरं ततः।
व्योमाश्रयः सूक्ष्मतमो न वाग्गोचरमेत्यतः।।२४७।।
वक्ति चेन्निग्रहस्थानमवाच्यस्योक्तितो भवेत्।
अनुक्तौ वादिताहानिरिति गार्ग्या विवक्षितम्।।२४८।।
उक्तदोषद्वयास्पृष्टं प्रत्युत्तरमभाषत।
एतद्वा अक्षरं गार्गि प्राहुस्तद्ब्राह्मणा इति।।२४९।।

वर्णन करेगा तो वाद नियमानुसार हार जायेगा और यदि उसका उल्लेख ही नहीं करेगा तो (जवाब न देने से) वाद में भागीदारी से वंचित हो जायेगा!।।२४८।। आकाश सारे संसार का कारण बताया। उसकी प्रतिष्ठा अन्य कोई नहीं यदि कहें तो उसमें और प्रधान में क्या अन्तर? जड चेतन का फ़र्क कह सकते हैं लेकिन वस्तुभूत कारणता तो स्वीकृत हो ही जाने से याज्ञवल्क्य ईश्वरवेत्ता ही रहेंगे, ब्रह्मवेत्ता नहीं। दूसरी ओर, जो आकाश का अधिष्ठान है वह शब्दों में बाँधा जाने लायक है नहीं, उसे याज्ञवल्क्य शब्दों से बतायें तो ग़लत होगा, हार का हेतुभूत दोष होगा जिसे नैयायिक निग्रह स्थान कहते हैं। इसलिये उन्हें चुप रहना पड़ेगा तो वैसे ही उत्तर न दे पाने से हार जायेंगे। यों उसने पेचीदे सवाल उठाया।।२४६-८।।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'एतद् वै तद् अक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्ति [१]अस्थूलम् [२]अनणु [३]अह्रस्वम् [४]अदीर्घम् [५]अलोहितम् [६]अस्नेहम् [७]अच्छायम् [८]अतमः [९]अवायु [१०]अनाकाशम् [११]असंगम् [१२]अरसम् [१३]अगन्धम् [१४]अचक्षुष्कम् [१५]अश्रोत्रम् [१६]अवाग् [१७]अमनः [१८]अतेजस्कम् [१९]अप्राणम् [२०]अमुखम् [२१]अमात्रम् [२२]अनन्तरम् [२३]अबाह्यं, [२४]न तद् अश्नाति किञ्चन [२५]न तदश्नाति कश्चन।।' इसे समझाना शुरू करते हैं **याज्ञवल्क्य ने ऐसा जवाब दिया जिसमें पूर्वदर्शित दोनों दोष नहीं थे! उन्होंने कहा 'गार्गि! जिसके बारे में तुमने पूछा है वह यही है जिसे ब्राह्मण 'अक्षर' कहते हैं।।'२४९।।** प्रथमतः तो 'ब्राह्मण कहते हैं।' से इस दोष से बच गये कि अवाच्य का कथन किया क्योंकि यह दोष तो ब्राह्मणों पर जायेगा! दूसरी बात, उसे तुमने पूछा यह 'तत्' से सूचित किया अतः यदि वह वस्तु पूछी जा सकती मानो तो बतायी भी जा सके ऐसी माननी पड़ेगी, अगर बतायी न जा सके तो पूछी भी नहीं जा सकती क्योंकि अविषय तो वह दोनों का है! तीसरी बात, 'एतत्' से उसका साक्षात्स्वरूप कह दिये जिस पर किसी को विवाद नहीं। चौथी बात, अक्षर शब्द निषेध मुख से कहने वाला रख दिया (बाकी भी सब ऐसे ही शब्द रखे) ताकि सीधी विषयता की संभावना ही न रहे। यों गार्गी के मंसूबों पर पूरा पानी फेर दिया, सर्वथा सटीक, दोषहीन उत्तर दिया।।२४९।।

एतच्छब्देन तस्याह प्रत्यक्त्वात् साक्षितामसौ[1]।
प्रत्यक्तया तदैकात्म्यं स्वयमेव प्रतीयताम्।।२५०।।
न व्यावृत्तं विशेषेभ्यो नानुवृत्तं च गोत्ववत्।
अव्यावृत्ताननुगतं चैतन्यं केन वीक्ष्यताम्।।२५१।।

उक्त उत्तर का व्याख्यान करते हैं **याज्ञवल्क्य ने एतत् (यह) शब्द से बताया कि प्रत्यक् होने से वह साक्षी है। क्योंकि प्रत्यक् है इसलिये उसकी अभिन्न स्वरूपता खुद समझी जाये।।२५०।। विशेषताओं के कारण वह व्यावृत्त नहीं (क्योंकि निर्विशेष है) और गोत्व की तरह अनुवृत्त नहीं (क्योंकि सद्वय नहीं)। व्यावृत्त और अनुगत न होने वाला चेतन किस साधन से समझना पड़ेगा! (उसे समझना साधनों पर निर्भर ही नहीं)।।२५१।।** एतत् या यह निकटवर्ती को कहते हैं। निरवच्छिन्न निकट प्रत्यक् ही है। 'उप' उपसर्ग के अर्थ के विचार में उपनिषत् शब्द समझाते हुए आचार्यों ने ऐसा ही बताया है। सारोक्त पाठ में 'एतत् शब्द उषस्त प्रश्न में उक्त त्वम्पदलक्ष्य साक्षी का वाचक है।' प्रत्यक् ही जिसमें साक्षी है वही आकाश का अधिष्ठान है। यह तत्त्व क्योंकि आत्मा से अभिन्न है इसलिये शब्द से समझने का बंधन नहीं, खुद ही पता लगता है। वर्तमान में उपाधि से खुद को एकमेक किये हैं इसलिये प्रतीत होता है कि आकाश से परे का तत्त्व कोई और होगा! विविक्त आत्मा की वही वास्तविकता है यह शास्त्रज्ञों से तिरोहित नहीं रहता। इस तरह, उसे विषयतया उपन्यस्त करने के लिये गार्गी नहीं कह सकती यह सूचित किया। जिसमें विशेषताएँ हों वह उनके कारण व्यावृत्त अर्थात् अलग किया जा पाता है। गायों में कोई काली, कोई लाल, कोई चितकबरी हो तो 'लाल गाय' कहकर दूसरी गायों से उसे व्यावृत्त, पृथक् कह सकते है। जिसमें विशेषता न हो उसे व्यावृत्त किया कैसे जाये! अक्षर निर्विशेष अतः अव्यावृत्त है। एवं अनेकों में प्रविष्ट हुआ अनुवृत्त, अनुगत होता है जैसे गायों में गोत्व। जो किसी दूसरे को सहन ही न करे वह अनुवृत्त हो किसमें? इस प्रकार की वस्तु किसी और पर निर्भर रहकर भासे यह संभव नहीं। जैसे सूर्य किसी अन्य प्रकाश पर निर्भर होकर नहीं दीखता वैसे आत्मा किसी पर निर्भर हुआ नहीं प्रतीत होता। अव्यावृत्तता आदि आत्मा का, अक्षर का स्वरूप है; ऐसा नहीं कि याज्ञवल्क्य उसका व्यावर्तक धर्म जानते नहीं थे, या उसकी अनुगति का उन्हें पता नहीं था! जैसे 'वायु नीरूप है' या 'जल निःस्वाद है' का यह अर्थ नहीं कि वायु के

---

१. प्रत्यक्साक्षिकताम् असौइति सारे पाठः।

यस्मात्प्रसिद्धं नास्त्यन्यत् प्रसिद्धं यन्न कस्यचित्।
स्वप्रभत्वादसंगत्वाद् वैशब्दस्तत्प्रसिद्धये।।२५२।।
साक्षादित्यादिना पूर्वं योऽशनायादिना तथा।
यत्नादभिहितः प्रत्यक् तच्छब्देन स गृह्यते।।२५३।।

रूप या जल के स्वाद को हम जानते नहीं वरन् यह अर्थ है कि इनका रूप या स्वाद होता ही नहीं, वैसे अक्षर में व्यावृत्ति अनुवृत्ति होती ही नहीं।।२५०-१।।

'वै' (निश्चयद्योती) का भाव बताते हैं **जिससे अन्य कोई प्रसिद्ध ही नहीं है और जो (अपने से अन्य) किसी को प्रसिद्ध ही नहीं है क्योंकि स्वयम्प्रकाश और असंबद्ध है, उसकी प्रसिद्धि स्फुट करने के लिये 'वै' शब्द रखा।।२५२।।** अपना आपा सबको हमेशा प्रसिद्ध है, उसकी प्रसिद्धि अशंकित है। उससे अलग कुछ हो तो प्रसिद्धि की संभावना उठे पर कुछ है ही नहीं जो आत्मा से पृथक् कहा जा सके और है कहा जा सके! अतः एक अक्षर आत्मा ही प्रसिद्ध है। अतः वह 'किसी को पता नहीं! स्वयं ही प्रसिद्ध है, स्वयं के लिये ही प्रसिद्ध है। इसलिये वह लोकप्रसिद्ध चीज़ों में से कुछ होगायह शंका मिट जाती है। यही उसकी स्वप्रकाशता है कि प्रसिद्ध है लेकिन किसी को नहीं! किंच वह असंग, असम्बद्ध है क्योंकि अद्वितीय है, इससे भी वह सुप्रसिद्ध है। हमारा आत्मा असंग है यह हमें सुप्रसिद्ध है। अनादि काल से असंख्य सम्बन्धी बंधु बांधव हमारे रहे पर यहाँ पैदा होते ही उन सबका थोड़ा-सा भी परामर्श हमें नहीं और यहाँ के सम्बन्धों को मरने के क्षण ही छोड़कर चल देंगे; यह हमारी असंगता में प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि हमें अपना स्वरूप प्रसिद्ध है इसलिये भी 'वै' कहा। जैसे रस्सी पर दस चीज़ों का भ्रम हो तो न रस्सी का उनसे कोई संग (संबंध) होता है और न उन्हीं का आपस में कोई संग होता है, वैसे अज्ञान-तत्कार्य के निमित्त आत्मा में किसी संग की संभावना नहीं।।२५२।।

'एतद्वैतत्' यों कहे तत् (वह) शब्द का अर्थ कहते हैं **पूर्व में (उषस्तप्रश्न में) जिसे साभिप्राय बताया था यह कहकर कि 'वह साक्षात् है? आदि तथा 'जो भूख आदि से परे है' आदि, उस प्रत्यक् का यहाँ तत् शब्द से ग्रहण किया है।।२५३।।** उषस्त को साक्षात् आदि से और कहोल को 'योऽशनायापिपासे...अत्येति' से समझाया तत्त्व यहाँ तत् शब्द से परामृष्ट (इंगित) है। 'यत्नात्' अर्थात् 'यत्नं विधाय', यत्न का विधान करके; संन्यास आदि साधन वहाँ वर्णित थे ही। अथवा 'यत्नात्' का मतलब 'साभिप्रायं' है।।२५३।।

क्षराद्विरुद्धधर्मत्वादक्षरं ब्रह्म भण्यते।
कार्यकारणरूपं तु नश्वरं क्षरमुच्यते।।२५४।।
ध्वस्तात्माऽज्ञानतत्कार्याः प्रत्यग्याथात्म्यबोधतः।
त्यक्तसर्वैषणा अत्र ब्राह्मणा इति कीर्तिताः।।२५५।।

अक्षर शब्द का मतलब समझाते हैं **क्षर से विरुद्ध स्वभाव वाला होने से ब्रह्म अक्षर कहा जाता है। कार्य रूप व कारण रूप जो कुछ नाशवान् है वह क्षर कहलाता है।।२५४।।** बिना घटे-बढ़े सर्वथा एक-सा परिपूर्ण रहने वाला होने से यह अक्षर है क्योंकि इससे अतिरिक्त सब 'आर्त' अर्थात् नश्वर है। क्षर अर्थात् विनाशी वस्तुएँ कार्य भी देखी जाती हैं, कारण भी। यह न कार्य है, न कारण, अतः क्षर हो नहीं सकता। कार्य की नश्वरता तो स्पष्ट हैघड़ा फूट ही जाता हैकारण भी इसलिये नश्वर है कि कार्योत्पत्ति हो जाये तब वह 'कारण' नहीं रह जाता, रोटी बन जाने से आटा 'समाप्त' हो जाता है। कारण से कार्य बना सकना चाहिये अतः जब वह कार्याकार धारण कर लेता है तब क्योंकि उससे कार्य अब बन नहीं सकता इसलिये उसे कारण नहीं कह सकते। यह कारण की नश्वरता है। 'क्षराद् विरुद्धधर्मत्वात्' में अक्षर की धर्माश्रयता नहीं वरन् क्षर-समान धर्मों से रहितता से उपलक्षित स्वरूप विवक्षित है।।२५४।।

याज्ञवल्क्य ने 'ब्राह्मण ऐसा कहते हैं' यों उत्तर दिया था; ब्राह्मण से उनका क्या अभिप्राय यह बताते हैं **जो सारी एषणाएँ छोड़ चुके, प्रत्यगात्मा की वास्तविकता के साक्षात्कार से आत्म-सम्बद्ध अज्ञान एवं उसके कार्यों को ध्वस्त कर चुके वे यहाँ 'ब्राह्मण' कहे गये हैं।।२५५।।** पूर्वश्लोक में जो नश्वर क्षर बताया था वह सब अज्ञान और उसका कार्य है। संशय-विपर्यय से रहित जो सही आत्मबोध वह अज्ञान को अतः तत्कार्य को उन्मूलित कर देता है। तदनन्तर एषणा असंभव हो जाती है। तब तक तो प्रवृत्ति मार्गी को 'ऐसा होवे' यह एषणा रहती है, निवृत्ति मार्गी को 'ऐसा न होवे' यह एषणा बनी रहती है। काम-क्रोध-लोभ आदि को भगाने की इच्छा भी है एषणा ही। झूठे हौवे से डरने की तरह कामनादि से छूटने की चाह है। जब तक उस झूठ को पहचाना नहीं तब तक एषणा से बच नहीं सकते और पहचानने के बाद एषणा हो नहीं सकती। ऐसे निरेषण तत्त्ववेत्ता यहाँ ब्राह्मण कहे जा रहे हैं क्योंकि वे ही अक्षर कथन करते हैं।।२५५।।

शास्त्रैकगम्यतासिध्यै वदन्तीत्यभिधीयते।
ब्राह्मणास्तद्वदन्तीति स्वापराधनिषेधगीः।।२५६।।
नावाच्यं वच्म्यहं किन्तु वदन्ति गुरवोऽखिलाः।
इति वच्मि वचस्तेन वादिताऽपि न हीयते।।२५७।।
गुरवोऽपि कथं प्राहुरवाच्यमिति चेच्छृणु।
स्थूलादीनां निषेधेन लक्षयन्त्यक्षरं बुधाः।।२५८।।

'ब्राह्मण कहते हैं' यह क्यों बोला, इसे स्पष्ट करते हैं **अक्षर केवल शास्त्र से सही समझा जा सकता है यह निर्णय व्यक्त करने के लिये 'ब्राह्मण कहते हैं' ऐसा कहा। 'ब्राह्मण उसे बताते हैं' यह कथन इस बात का निषेध करता है कि अक्षर का उल्लेख कर याज्ञवल्क्य ने कोई अपराध किया।।२५६।। 'मैं अवाच्य को नहीं बता रहा बल्कि 'सभी गुरु उसका ऐसा उपदेश देते हैं' यह कह रहा हूँ इसलिये मैंने उत्तर नहीं दिया यह नहीं कहा जा सकता।।२५७।।** याज्ञवल्क्य बताते तो मतलब होता कि वे अक्षर को शब्द का विषय मानते हैं जो ग़लत बात है। किंतु उन्होंने यह ग़लती नहीं की इसे सूचित किया ब्राह्मणों के उद्धरण से। तत्त्वज्ञ जब अक्षर का उपदेश देते हैं तब उसे अवाच्य जानते हुए ही देते हैं अतः उक्त अपराध नहीं होता। वह तत्त्व अन्य किसी तरह नहीं, सिर्फ़ शास्त्र से समझ आता है यों उसमें प्रमाण भी सूचित कर दिया 'मैं नहीं कह रहा' से स्वयं अपराध से बचे और ब्राह्मण कथन बताकर जवाब न दे पाने के संकट से बचेयह याज्ञवल्क्य की चातुरी है। यदि बताते नहीं तो लगता कि वे जानते ही नहीं, इसलिये गायों का पण हार जाते। बताने से वह समस्या नहीं रही। 'अखिल' इसलिये कि अनादि गुरु परंपरा यही बताती है। किसी एक आध ब्राह्मण की बात नहीं, जिसने भी अक्षर समझकर बताया, ऐसा ही बताया। परंपरा का महत्त्व वैदिक सिद्धान्त में असीम है। अन्यों को तो अपनी या किसी एक व्यक्ति की 'मौलिकता' पर भरोसा होता है जबकि वैदिकों को सम्प्रदाय पर श्रद्धा होती है, सम्प्रदाय से बहिर्भूत को वैदिक अश्रद्धेय ही मानता है। पारम्परिक की ही प्रामाणिकता है, स्वानुभव तो सही गलत दोनों ही सुलभ हैं।।२५६-७।।

याज्ञवल्क्य के बाकी वाक्य की व्याख्या करते हैं **यदि पूछो कि गुरुजन भी अवाच्य का कथन कैसे करते हैं? तो सुनो विद्वान् लोग स्थूल आदि के निषेध द्वारा अक्षर को लक्षित करते हैं।।२५८।। यह शंका उचित नहीं कि सबका निषेध होने पर अभाव ही बचेगा क्योंकि निषेध की सीमा बचती ही है।**

अभावशेषो नाशंक्यो निषेधावधिशेषणात्।
नाभावनिष्ठो लोकेऽपि निषेधः किमुताक्षरे।।२५६।।

लोक में भी निषेध अभाव में पर्यवसित नहीं होता तो अक्षर के बारे में प्रयुक्त निषेध अभावबोधक नहीं होता इसमें क्या कहना!।।२५६।। कोई पूछे 'हवा का क्या रंग होता है?' तो जानकार जवाब देगा कि 'हवा का रंग नहीं होता।' रंगरहित कहने से जैसे हवा के रंग के बारे में बताया जाता है वैसे जो कुछ वाणी का विषय है उससे पृथक् कहने से अवाच्य भी शब्दों द्वारा बताया जाता है। निषेध से वह लक्षित अर्थात् अवगत हो जाता है। यह अवगम भी लक्षणावृत्ति से होता है, स्थूलादिका अभाव जिसका परिचय कराता है वह अक्षर है। जो कुछ हटाया जा सके वह सब हटा देने पर जो चिन्मात्र सबको हटाने वाला वही बचता है, उसे हटाने वाला कोई नहीं अतः वह हटाने की, निषेध की सीमा है। वह सद्रूप है, अभावरूप नहीं। जैसे दो डालियों के बीच दृष्टि स्थिर होने पर चन्द्र दीख जाता है। वैसे स्थूलादि का निषेध कर देने पर अक्षर स्फुट हो जाता है। स्थूलादि भ्रमों के चलते ही अक्षर समझ नहीं आ रहा, उनके हटने पर उसे समझना सहज है। आचार्य ने कहा कि लोक में भी निषेध अभावनिष्ठ नहीं होताः 'घड़ा मोटा नहीं' का मतलब ऐसा तो नहीं कि घड़ा ही नहीं है! वरन् घड़ा है, उसकी मोटाई कम है। 'यहाँ कुछ नहीं है' का मतलब यह तो नहीं कि ज़मीन, रोशनी, हवा आदि भी नहीं! ये सब हैं, जो ढूँढ रहे हो वह नहीं है। इसी तरह अक्षर को स्थूलादि के निषेध से कहने पर अभाव ही रहे यह असंभव है।। जैसे 'साँप नहीं, माला नहीं' आदि कहने पर भी रस्सी तो वास्तविक ही रहती है वैसे स्थूलादिका निषेध करने पर भी सच्चिदानंद वस्तु रह ही जाती है। यद्यपि अव्याकृत (आकाश) ही सारे व्यक्त के निषेध से बोध योग्य है, वहीं जब स्थूलादि निषिद्ध हैं तब अक्षर में उनका निषेध व्यर्थ है, तथापि परमतत्त्व को अनेक लोग वस्तुतः नाम रूप से परे नहीं समझ पाते अतः उन्हें वह तत्त्व भी स्थूलादि लगता है, इसलिये उसे अस्थूलादि कहना जरूरी है। किं च आकाश में व्यक्त स्थूलादि ही निषिद्ध हैं, अव्यक्त रूप से तो संमत हैं जबकि अक्षर में उनकी अव्यक्त रूप से भी स्थिति नहीं है।।२५८-९।।

अस्थूलादि बताकर याज्ञवल्क्य बोले 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।' इत्यादि। प्रशासक, अन्तर्यामी के ही द्वारा अक्षर स्फुट होता है। प्रशासन अन्तर्यामी का धर्म होने पर भी अक्षर का तटस्थ लक्षण हो जाता है। यह प्रकट करते हैं **अन्तर्यामी समझ आ जाने के बाद अक्षर समझ आ सकता है।**

अन्तर्यामिणि बुद्धेऽथ सुशकं बोद्धुमक्षरम्।
प्रशासनेन लिंगेन सोऽन्तर्याम्यवबुध्यताम्।।२६०।।
ईशितव्यार्थसम्बन्धादन्तर्याम्येतदक्षरम्।
चैतन्याभासमोहाख्यवर्त्मनैव न तु स्वतः।।२६१।।
एतस्य वा अक्षरस्य शासने सत्यदो जगत्।
स्याद्व्यवस्थितमर्यादं सूर्यचन्द्रादिलक्षणम्।।२६२।।
विवादगोचारापन्ना यन्तृपूर्वा जगत्स्थितिः।
व्यवस्थितत्वाल्लोकस्य राजपूर्वा स्थितिर्यथा।।२६३।।
सूर्यचन्द्रौ द्युभूर्लोकौ कालो नद्यो यथायथम्।
नियमेन प्रवर्तन्ते सा प्रवृत्तिर्व्यवस्थितिः।।२६४।।

प्रशासनरूप चिह्न से वह अन्तर्यामी समझा जा सकता है।।२६०।। यह अक्षर शासन योग्य वस्तु के सम्बन्ध से अन्तर्यामी है (और यह सम्बन्ध) चैतन्य के आभास वाले मोह (अज्ञान) नामक मार्ग (द्वार) से ही है, खुद अक्षर और शासनयोग्य वस्तु में परस्पर कोई संबंध नहीं है।।२६१।। कठिनता से सही पर ईश्वर तक बुद्धि पहुँचती तो है, अतः उसी के माध्यम से अक्षर समझना चाहिये। वेदांत में निरीश्वरवाद को कोई स्थान नहीं। यद्यपि एक प्रक्रिया में जीवकल्पित ईश्वर माना है तथापि वहाँ स्वयं जीव भी कल्पित होने से जीव ईश्वर समान कोटि के हैं अतः साधना में ईश्वर का वही स्थान रहता है जो प्रक्रियान्तर में। संसार शासित मिलता है जिससे प्रशासक समझना सरल है। अक्षर शासक कैसे हो! जिस पर शासन करना है वह संसार अक्षर पर कल्पित है इसी से अक्षर उसका शासक बन गया है। साभास अविद्या ही वह माध्यम है जिससे अक्षर अन्तर्यामी हो जाता है अतः अविद्या रहते जो अन्तर्यामी वही अविद्या मिटने पर अक्षर है। अविद्या मिटे बिना भी है अक्षर ही लेकिन अविद्या वालों को अन्तर्यामी ही लग रहा है। इसीलिये अक्षर के बारे में समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने प्रशासक रूप का उल्लेख किया।।२६०-१।।

याज्ञवल्क्यवचन का सारभूत अर्थ बताते हैं **इसी अक्षर का नियंत्रण रहते सूर्य-चन्द्रादिरूप यह जगत् अपनी सीमाओं में बँधा रहता है।।२६२।। जगत् की विचाराधीन नियमितता अवश्य नियामकाधीन है क्योंकि निश्चित नियमों से बँधी है जैसे लोगों की नियमितता राजा के अधीन होती है।।२६३।। सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, भूलोक, काल, नदियाँ सब निर्धारित नियम से प्रवृत्त होते हैं, वह प्रवृत्ति 'व्यवस्था' कही जाती है।।२६४।।** यद्यपि सभी जीव शासित हैं तथापि

धने दानेन नष्टेऽपि तत्फलप्रद ईश्वरः।
यतोऽस्ति तेन दातारं तं प्रशंसन्ति वैदिकाः।।२६५।।
नापूर्वफलदं तस्मिन् मानाभावात् फलं पुनः।
ईशादप्युपपन्नत्वान्नैवापूर्वस्य कल्पकम्।।२६६।।
सेव्याद्राज्ञः फलप्राप्तिर्दृश्यते न त्वपूर्वतः।
दानादिक्रियया सेव्यादीशात्तद्वत्फलं भवेत्।।२६७।।

सूर्यादि का नाम लिया क्योंकि शुद्ध उपाधि वाले होने से वे शासन का उल्लंघन नहीं करते। अशुद्ध उपाधि वाले तो व्यवस्था की सुनिश्चितता के अज्ञानवश उल्लंघन करते फिर दण्ड पाते हैं। याज्ञवल्क्य ने विभिन्न नाम लिये, आचार्य ने समग्र जगत् विवक्षित है यह संक्षेप कर दिया। श्लोक २६३ में अनुमान से यही कहा। जगत् की शासितता विवादग्रस्त नहीं लेकिन उसी के कारण यह विचार चल रहा है अतः उसे विवाद गोचर कहा। 'राजा के अधीन' में वास्तविक राजा समझने चाहिये। आजकल के सरकारी तंत्र, मन्त्री आदि को दृष्टांत नहीं समझ सकते क्योंकि इनका कुछ भी नियंत्रण है नहीं! समूची प्रकृति पर प्रशासन करने वाला अन्तर्यामी ही है।।२६२-४।।

कोई शंका करता कि प्रकृति जड है, उसी पर प्रशासन होता होगा! इसलिये याज्ञवल्क्य ने कहा 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः' कि दानदाता की शिष्टों द्वारा प्रशंसा, देवताओं की यजमानों पर निर्भरता और पितरों का दर्वी होम पर आश्रित रहनाये भी प्रशासक को सिद्ध करने वाले तथ्य हैं। (जो किसी की न प्रकृति न विकृति है वह दर्वीहोम पितरों की तृप्ति के लिये विहित है।) यह प्रसंग समझाते है **धन दान से समाप्त हो जाने पर भी दान का फलदाता ईश्वर है इसीलिये वैदिक लोग धनदाता की प्रशंसा करते हैं।।२६५।। अपूर्व (पुण्य) फलप्रद नहीं क्योंकि अपूर्व अप्रमाणिक है। फल तो ईश्वर से भी उपपन्न है अतः फल लाभ से अपूर्व की कल्पना ही नहीं होती।।२६६।। जिसकी सेवा की जाये उस राजा से फल लाभ देखा जाता है न कि अपूर्व से। इसी तरह दान आदि कर्म से जिसकी सेवा हुई उस ईश्वर से ही दानादि का फल मिलता है।।२६७।।** दाता की प्रशंसा यही मान कर होती है कि वह सत्फल पायेगा। सामने-सामने तो उसके धन का व्यय ही दीखता है जिसे प्रशंसा के योग्य नहीं कह सकते। किन्तु कालान्तर, लोकान्तर में श्रेष्ठ फल सुनिश्चित समझकर ही वह स्वयं भी दान देकर प्रसन्न होता है तथा शिष्ट सज्जन भी उसकी वाह-वाही करते

हैं। केवल धन खर्च ने वाले या डुबा देने वाले की तो कोई प्रशंसा करता नहीं। अतः व्यय या नाश प्रशंसा हेतु नहीं वरन् दान ही है और वह भी इसलिये कि दान से उत्तम फल मिलेगा ऐसा निश्चय है। जिन्हें ईश्वर का निश्चय है वे ही दानादि सत्कर्म करते हैं, अन्य नहीं। पूर्वज ईश्वर पर श्रद्धा रखते थे तो धर्मशाला बना गये; उनके बेटे पोते अश्रद्धालु हैं अतः धर्मशाला की साफ-सफाई का भी खर्च नहीं उठाते, वह भी रहने वालों से वसूलते हैं। ऐसा भी नहीं कि इनके पास पैसों की कमी हो, भोज में, मौज-मस्ती में, प्रदर्शन में अनाप-शनाप खर्चते हैं, केवल धर्म में खर्चने के लिये कमी रहती है। कारण है कि ईश्वर पर भरोसा नहीं है। अफसर को देने से फायदा होगा यह निश्चय है अतः उन्हें तो देते ही हैं। ग़रीबों को देने से फ़ायदा होगा यह निश्चय नहीं अतः नहीं दे पाते। अतः 'प्रशंसन्ति वैदिकाः' कहा कि वेदादि सच्छास्त्रों पर श्रद्धा रखने वाले ही दानदाता की प्रशंसा करते हैं। मीमांसक पुण्य नामक अपूर्व अदृष्ट ही सत्फल दे देता है, ईश्वर अनावश्यक है ऐसा मानते हैं पर आचार्य ने स्पष्ट किया कि चेतन से फल संगत और ईश्वर प्रमाण सिद्ध है जबकि जड अपूर्व से फल असंगत और स्वयं अपूर्व अप्रामाणिक है अतः मीमांसक की मान्यता ग़लत है। फल मिलना यदि अन्यथा अनुपपन्न होता तो कथंचित् अपूर्व माना भी जाता लेकिन जब फल लाभ ईश्वर से उपपन्न है तब अपूर्व की कल्पना ही निरर्थक है। राग-द्वेष रहित होने से ईश्वर निष्पक्ष फलदाता है यही वेद व युक्ति को संमत है तथा लोक में भी देशान्तर-कालान्तर-निमित्तान्तर में मिलने वाले फल चेतन से ही मिलते हैं अतः दृष्टानुसारी भी ईश्वरवाद है। अपूर्ववाद नहीं। वैदिक वर्णाश्रम धर्म ईश्वर स्वीकारने पर ही निभते हैं। चेतन ईश्वर ने जिसे ब्राह्मण उत्पन्न किया उसका कर्त्तव्य ब्रह्मकर्म है न अन्य कर्म। जैसे राजा ने जिसे जो कार्य सौंपा वही करे तो राजा संतुष्ट होगा। वह छोड़कर मन माना कोई कार्य चाहे जितना अच्छा करे, राजा संतुष्ट नहीं होगा क्योंकि उसके निर्देश का पालन नहीं हुआ। ऐसे ही ईश्वर निर्देश के उल्लंघन से ईश्वर की सन्तुष्टि असंभव है। जो ईश्वरवादी नहीं वे तो मनमाना आचरण कर सकते हैं पर ईष्वरवादी वर्णादिधर्मों का पालन ही करेंगे। जो जिसके लिये विहित है वही उसका धर्म है, अच्छी तरह जो कर सके वह उसका धर्म नहीं हो जाता!।।२६५-७।।

प्रश्न होगा कि मनुष्य ही दाता के प्रशंसक हैं, इतने से ईश्वर सिद्धि कैसे, मनुष्य ना समझ भी हो सकते हैं? उत्तर के लिये मनुष्य से श्रेष्ठों का आचार उपन्यस्त करते हैं **देवता यागकर्त्ता के पास हव्य ग्रहण करने आते हैं, पितर श्राद्धकर्ता के पास कव्य ग्रहण करने आते हैं; यदि प्रशासक न होता तो ये समर्थ लोग मनुष्यों से**

देवता यागकर्तारं पितरः श्राद्धकारिणम् ।
नाप्नुयुर्हव्यकव्यार्थं यदि न स्यात्प्रशासिता ।।२६८।।
होमयागतपांस्यज्ञैर्बहुकृत्वः कृतान्यपि ।
विनाशफलदानीति शासनं तत्प्रशासितुः ।।२६९।।

लेने क्यों आते!।।२६८।। स्वर्ग में सोमादि से तृप्त एवं पितृलोक में दिव्य भोगों से तृप्त देवता व पितर भी शास्त्रानुसारी यज्ञ, श्राद्ध आदि करने वाले मानव के सन्निकट ईश्वर के विधान के पालनार्थ ही आते हैं, अन्यथा नहीं। लौकिक मंत्री तक को हम अपनी सुविधा से अपने घर बुलाने में और हमारा दिया खाने को बाध्य करने में असमर्थ हैं तो देवता या पितर हमारे निमंत्रण से आयेंयह अमान्य है। वे तो इसीलिये आते हैं कि ईश्वर का विधान है कि अधिकारी नियमानुसार आह्वान करे तो पहुँचना पड़ेगा। इसके उल्लंघन से बचने के लिये ही वे नियमतः उपस्थित होते हैं। इस प्रकार प्रशासन रूप चिह्न से सिद्ध अन्तर्यामी ही अक्षर समझने का माध्यम है।।२६८।।

प्रशासक के एक और नियम के आधार पर उसकी महत्ता की 'यो वा एतदक्षरं गार्गि! अविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवद् एवाऽस्य तद् भवति'; इसे कहते हैं **अज्ञानियों द्वारा बहुत बार भी किये गये होम, याग, तप नश्वर फल ही देते हैं; ऐसा उस प्रशासक का नियंत्रण है।।२६९।।** कर्म का महत्त्व मानने वाले भी उसका अनाशी फल नहीं मान सकते क्योंकि श्रुति-स्मृति युक्ति तीनों से उसको असंभव कहा जाता है। कर्म का नश्वर ही फल होयह ईश्वर का ही अनुशासन है अन्यथा बहुतेरे असंभव से लगने वाले कार्य कर्मादि से हो जाते हैं तो मोक्ष क्यों न होता! लेकिन ईश्वर का विधान ही ऐसा है कि कर्म से नहीं ज्ञान से ही मोक्ष होगा अतः यही व्यवस्था है। कहीं यदि कर्मों को अक्षयफलक कहते भी हैं तो प्रशंसा के लिये, वस्तु दृष्ट्या नहीं। अग्नि में आहुति डालने पर होम होता है जब कैसी भी देव पूजा यज्ञ कही जाती है अतः होम व याग पृथक् कहे। सार में याग की जगह दान पाठ है जो श्रुति के अनुकूल नहीं अर्थतः निर्दुष्ट है।।२६९।।

कर्म जैसे प्रबल साधन की अक्षमता और ज्ञान जैसे अयत्नसाध्य उपाय से असीम फलयह विस्मापक व्यवस्था ईश्वर पर श्रद्धा बढ़ाती है यह कहते हैं **इतना भीषण बंधन केवल अज्ञान से है! कर्मोपासना की सहायता के बिना ही ज्ञान से मोक्ष सुलभ है। इस तरह के सारे ही आश्चर्य परमेश्वर के अस्तित्व को सत्यापित करते हैं।।२७०।। इस ईश्वर के बारे में विवाद की शंका भी संभव नहीं, यह**

अज्ञानमात्रतो बंधो ज्ञानमात्रेण मुक्तता।
इत्याश्चर्याणि सर्वाणि कल्पयन्तीश्वरास्तिताम्।।२७०।।
विवादशंकाऽपीशेऽस्मिन्नसंभाव्येति दर्शयन्।
प्रशासनं लिंगरूपं प्रपंचितमनेकशः।।२७१।।
यदप्रबोधात्कार्पण्यं ब्राह्मण्यं यत्प्रबोधतः।
तदक्षरं प्रबोद्धव्यं यथोक्तेश्वरवर्त्मना।।२७२।।

दिखाते हुए उसके चिह्न रूप प्रशासन का नाना प्रकार से यहाँ विस्तार किया।।२७१।। बंधन अत्यंत दृढ है लेकिन बाँधने वाली रस्सी कितनी कमजोर है, अज्ञान ही है। यह अचम्भे की बात है लेकिन वस्तु स्थिति है। इसी तरह मोक्ष के लिये, बंधन नष्ट करने के लिये, अनादि काल से बटोरे कर्म व संस्कारों को समाप्त करने के लिये बेसहाय ज्ञान ही साधन हैयह भी स्तब्ध करने वाली बात है। बल्कि अगर ज्ञान को कर्म की या उपासना की सहायता उपलब्ध करा दें तो वह मोक्ष देने में अक्षम ही हो जाता है, अकेला रहे तभी मोक्ष दे पाता हैयह भी अतीव आश्चर्य की व्यवस्था है। लोकसिद्ध युक्तियों को मौका नहीं मिलने देना ईश्वर की अचिन्त्य सामर्थ्य सिद्ध करता है। इससे अन्य भी आश्चर्य समझ लेने चाहिये। ईश्वर की अस्तिता को आश्चर्य 'कल्पयन्ति' अर्थात् उपपन्न करते हैं। श्रुति सिद्ध ईश्वर में युक्ति चिन्तन रूप मनन का प्रदर्शन है, तर्क से ईश्वर-साधन नहीं। यह भी भाव नहीं कि ईश्वर की कल्पना अर्थात् सम्भावना होती है, वरन् उपपादन होता है यही तात्पर्य है। यह ईश्वर क्योंकि 'अस्मिन्' (श्लोक. २७१) स्वप्रकाश प्रत्यग्रूप है इसीलिये निर्विवाद है। अन्तर्यामी को नकारना किसी के लिये संभव नहीं। बहिर्यामी को हठ से कोई मना कर भी सकता है लेकिन अन्तर्यामी को नहीं। 'केनेषितम्' आदि में स्पष्ट है कि जिसे हम अपना संघात जानते हैं वह भी सर्वथा हमारे नियंत्रण में नहीं। अतः अन्तर्यामी को नकारना संभव नहीं। याज्ञवल्क्य ने प्रशासन के विविध आयाम दिखाकर यही निश्चितता प्रकट की है।।२७०-१।।

अक्षर की महिमा है कि उसे समझने से ही सारे बंधन खुल जाते हैं 'यो वा एतदक्षरं गार्गि! अविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः। अथ च एतदक्षरं गार्गि! विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः।' इसे समझाते हैं **जिसका अज्ञान रहते कृपणता है, जिसे समझ लेने पर वास्तविक ब्राह्मणता आती है, उस अक्षर को पूर्वोक्त ईश्वर के माध्यम से अवश्य समझना चाहिये।।२७२।।** कृपणता अर्थात् कर्मफल के भँवर में भरते रह जाना 'कृपणः कृतफलस्यैवोपभोक्ता जननमरणप्रबन्धा रूढः' ऐसा भाष्य है। यदि कंजूस

अक्षरस्य प्रशास्तृत्वं स्वमोहाभासकल्पितम् ।
न स्वाभाविकमित्येतद्वक्त्यदृष्टादिवाक्यतः ।।२७३।।

अर्थ लें तो भाव है कि संसार के आभास-सुख भी न छोड़ पाने वाला बना रहता है। गीता टीका में आनन्दगिरिस्वामी ने कहा है 'योल्पां स्वल्पामणि स्वक्षतिं न क्षमते स कृपणः तद्विधत्वादखिलोऽनात्मविद् अप्राप्तपरमपुरुषार्थतया कृपणो भवति' (२.७)। संसार सत्य और परमात्मा झूठ लगने तक हम से संसार छूटना असम्भव है एवं संसार पकड़े रहते दुःख बढ़ता ही जायेगा। आत्मबोध से ही संसार की मापिकता व्यक्त होने पर यह छूटता है और तब इसे पकड़ने की कभी इच्छा नहीं होती। ऐसा पर अक्षर अन्तर्यामी के सहारे समझना प्रधान पुरुषार्थ है।।२७२।।

अक्षर को याज्ञवल्क्य ने अदृष्ट किन्तु द्रष्टा इत्यादि वैसा ही बताया जैसे उद्दालक को अन्तर्यामी बताया था। इस सन्दर्भ को स्पष्ट करते हैं **अक्षर में प्रशासकता स्वाभाविक नहीं वरन् कल्पित है और कल्पना इसलिये है कि अक्षर सम्बन्धी अज्ञान है एवं आभास होता है मानो अक्षर उस अज्ञान से मिला-जुला हो। 'अदृष्ट' आदि वाक्य से यह बताया है।।२७३।।** अक्षर-अन्तर्यामी में इतना ही अंतर है कि उपाधि-सम्पर्क वाला समझा जाने वाला अंतर्यामी प्रशासक है और वस्तुतः अक्षर है। अक्षर को प्रशासक के माध्यम से समझ सकते हैं लेकिन बिना उपाधि के वह प्रशासक हो ऐसा नहीं, स्वभाव से अक्षर ही है, निरुपाधिक स्वरूप अक्षर ही है। आत्ममोह अर्थात् अज्ञान और उसका अक्षरतादात्म्यइनके रहते अक्षर अंतर्यामी प्रतीत होता है। हमें स्वयं भीतरी प्रेरक हमसे सर्वथा अतिरिक्त नहीं लगता क्योंकि वस्तुतः आत्मा तो एक ही है, अज्ञान-उपाधि से प्रेरक और मन उपाधि से प्रेरित अथवा मनोविशिष्ट हुआ प्रेरित एवं मन उपाधिक हुआ प्रेरक है। इसी प्रकार प्रशासक-अक्षर में है अभेद, उपाधि-परिप्रेक्ष्य रहने-न-रहने का अंतर है। क्योंकि शासक का कभी स्पष्ट पता नहीं चलता, अज्ञान रहता है इसलिये प्रशासकता में अज्ञान का विनियोग और क्योंकि प्रशासक चेतन ही होता है इसलिये उसमें आत्मता भी है। अज्ञान और आत्मा का मेल आभास में ही संभव है अतः स्वमोहाभासकल्पित बताया। निरुपाधिक अक्षर, मायोपाधिक प्रशासक और मनउपाधिक प्रशासित जीवये तीनों वास्तव में अभिन्न हैं। उपाधि-भेद से एक भी अनेक व्यवहार करता ही है जैसे हाथ से पकड़ने का व पैर से चलने का आदि। चैकोस्लवाकिया पर कब्ज़ा करने के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ में सिक्योरिटी काउन्सल का अध्यक्ष रूस का विदेश मंत्री (काउन्सल सदस्य) ही था अतः उसने अपनी महीने भर की अध्यक्षता की

मागोचरातिवर्तित्वाददृष्टं स्यात्तदक्षरम्।
अभावत्वनिषेधार्थं द्रष्ट्रक्षरमितीर्यते।।२७४।।
कूटस्थदृक्त्वं द्रष्टृत्वं न दृश्ये दृष्टिकर्तृता।
ओतप्रोतगिराऽशेषदृश्यवस्तुनिराकृतेः।।२७५।।
उक्तद्रष्ट्रतिरेकेण दृश्यं नास्ति यथा तथा।
जीवद्रष्टृनिषेधार्थं नान्यदित्याद्युदीरणम्।।२७६।।

पारी में अध्यक्ष के नाते सवाल पूछे और विदेश मंत्री के नाते जवाब दिये, अमरीका आदि के सदस्यों को बोलने का मौका ही नहीं दिया, तब तक रूस का कब्जा स्थापित हो गया। यों औपाधिक भेद भी पर्याप्त कारगर देखे गये हैं। इसलिये अदृष्ट आदि भी है एवं द्रष्टा आदि भी है।।२७३।।

अदृष्टादिरूपता व्यक्त करते हैं **वह अक्षर अदृष्ट इसलिये है कि ज्ञान की विषयता से परे है। वह अभाव नहीं है यह कहने के लिये उसे द्रष्टा भी बताया।।२७४।। अपरिवर्तनशील दृग्रूपता यहाँ द्रष्टापना है न कि किसी दृश्य के बारे में जन्य दृष्टि के प्रति कर्त्ता बनना। ऐसा इसलिये समझना होगा क्योंकि ओत-प्रोत के कथन से सारी दृश्य वस्तुओं का निराकरण किया जा चुका है।।२७५।।** अक्षर न तो ज्ञान का और न किसी प्रमाण का ही विषय है, स्वरूप से ही प्रत्यक् होने से वह विषयभाव से ही परे है। किंतु फिर भी उसे नकार इसलिये नहीं सकते कि द्रष्टा वही है। आत्मरूप, ज्ञानरूप, चिद्रूप होने से अक्षर की वास्तविकता है। अहमाकारवृत्तिका भी प्रकाशक, सुषुप्ति का भी साक्षी यहाँ दृग्रूप द्रष्टा समझना चाहिये। वृत्तियुक्त हुआ वह दृष्टिकर्त्ता हो जाता है। अथवा मायोपाधि में वह प्रशासक ईश्वर हो जाता है। इसलिये यह द्रष्टा होने पर भी निर्विकार है, कूटस्थ है। जीव-ईश्वर को तो कूट-पक्षीय कह सकते हैं क्योंकि औपाधिकता है लेकिन अक्षर को नहीं, वह तो कूट के अधिष्ठानरूप से स्थित है। अक्षर के स्तर पर दृश्य है ही नहीं कि वह दृश्यसम्पर्करूप दृष्टि स्थापित करे। वह तो है ही दृग्रूप, ज्ञानरूप, बस इतना ही उसका द्रष्टापना है।।२७४-५।।

अक्षर ही ज्ञान है यह और स्पष्ट करते हुए 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टृ' आदि भी पूर्ववत् कहा जिसे बताते हैं **यहाँ बताये अक्षररूप द्रष्टा से अन्य जैसे दृश्य नहीं वैसे जीवरूप द्रष्टा भी नहीं है! यह कहने के लिये 'इस से अन्य नहीं' आदि कथन है।।२७६।।** जीव यद्यपि द्रष्टा के रूप में उपलब्ध है तथापि वस्तुतः वह अक्षरभिन्न कुछ

विजातीयसजातीयवस्त्वन्तरनिषेधतः।
कूटस्थमेकं चैतन्यं सिद्धं वस्त्वक्षरं परम्।।२७७।।
एतस्मिन्नक्षरे गार्गि स्रजि क्लृप्तफणीन्द्रवत्।
ओतः प्रोतश्च निःशेष आकाशोऽकारणात्मनि।।२७८।।

नहीं है क्योंकि निरपेक्ष दृक् अक्षर ही है। जीव तो अंतःकरण पर निर्भर हुआ द्रष्टा है जबकि अक्षर स्वतंत्र द्रष्टा है। इसका यह अर्थ नहीं कि जीव कुछ पृथक् हो जो मन से मिलकर द्रष्टा हो, वरन् यह अर्थ है कि मन पर निर्भरता के भ्रम से ही जीवरूप भ्रान्ति भासमान है, जीवरूप से वह कोई वस्तु नहीं, वस्तु एक अक्षर ही है। ज्ञान से स्वतंत्र न ज्ञेय न ज्ञाता है अतः ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान पर ही आरोपित हैं यह भाव है। जैसे लहर झाग आदि समुद्र से अन्य चीज़ कुछ नहीं वैसे अक्षर से अन्य वस्तु कुछ नहीं, प्रतीतियाँ भले ही विभिन्न हैं। जीवरूप द्रष्टा क्योंकि मनोवृत्ति पर निर्भर है इसलिये केवल ज्ञातरूप से जानने वाला है जबकि अक्षर स्वतंत्र द्रष्टा है अतः ज्ञात-अज्ञात दोनों तरह से एकरस रहते हुए जानने वाला है। केवल तटस्थता महसूस होने से 'मैं' साक्षिभाव में स्थित हूँ नहीं समझ सकता, एकरसता, निर्विकारता, हेयोपादेय-शून्यता भी कायम रहे तभी साक्षिभाव है। यही अक्षर की स्थिति है।।२७६।।

निष्कर्ष कहते हैं **विजातीय व सजातीय सब तरह की अन्य वस्तुओं के निषेध से सिद्ध हुआ कि कूटस्थरूप, अद्वितीय, चिद्रूप, पारमार्थिक वस्तु अक्षर है।।२७७।।** दृक् से विजातीय दृश्य और सजातीय सभी द्रष्टा हैं; दोनों का निषेध हो गया। द्रष्टा यद्यपि दृङ्मात्र नहीं तथापि दृश्य न होने से दृक् के समान जाति वाला है। यद्वा दृक् को द्रष्टा कह चुके इसलिये सजाति है। दृश्य तो सर्वथा विजातीय है। दृश्य स्वरूपतः ही नहीं है, द्रष्टा नहीं केवल इसलिये है कि वह दृष्टिकर्त्ता है, अगर इस कर्तृत्व से छूट जाये तो द्रष्टा है ही जबकि दृश्य भले ही दृश्यभाव से छूटे, नहीं ही है। इसलिये दृश्य व द्रष्टा के निषेध से जो रहा वह अद्वितीय है, एक है। विकारहेतु न रह जाने से निर्विकार कूटस्थ है। दृग्रूप अतः चैतन्य है। अक्षर शब्द शास्त्रों में माया के लिये भी प्रयुक्त है अतः इसे परम् अक्षर कहा, कि यह परमार्थतः है एवं व्यापक अनंत है। यह अक्षर का वर्णन हुआ।।२७७।।

अन्त में याज्ञवल्क्य ने फिर कहा 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति'; इसका अर्थ करते हैं **हे गार्गि! माला में कल्पित नागराज की तरह अकारणस्वरूप अक्षर में समग्र 'आकाश' ओत-प्रोत है।।२७८।। अक्षर निज के अज्ञान से**

अक्षरं स्वात्मसंमोहात् कारणत्वं निगच्छति।
तथा कार्यत्वमप्येतन्निरवद्यं तदेकलम्।।२७९।।
सर्वस्याक्षरमात्रत्वात् कृत्स्नज्ञेयसमाप्तितः।
न ज्ञेयं शिष्यते किंचिन्नाप्यध्वस्तं तथा तमः।।२८०।।

कारणभाव पाता है और यह सारा जगत् भी उसी तरह (अक्षर के अज्ञान से) कार्यभाव पाता है अतः अक्षर अकेला है, सारे दोषों से अस्पृष्ट है।।२७९।। सब अक्षर ही होने से समूचा ज्ञेय समाप्त है अतः जब ज्ञेय नहीं रहा तब न नष्ट हुआ अज्ञान भी नहीं बचा।।२८०।। आकाशपर्यन्त ओत-प्रोतता में कार्य-कारणभाव स्वीकार था, अब उसे अस्वीकार करना होगा तभी अक्षर में आकाश की ओत-प्रोतता समझ आयेगी। 'समग्र' अर्थात् सकार्य। आकाश से अव्याकृत (ईश्वर) कहा था, बाकी सब उसके कार्य 'समग्र' में आ गये। कार्यों समेत कारण अक्षर पर अध्यस्त है। अध्यास वास्तव में कार्यकारण-व्यवस्था से परे है। अतः अज्ञान-मात्र पर टिके 'कार्य' को जैसे 'है' नहीं कहना बनता वैसे 'कारण' को भी 'है' नहीं कहना बनता! कार्य होता तभी कारण कह जाता। जब कार्य-कारण ही हैं नहीं तब अज्ञान को ही 'है' कैसे कहें? वे होते तो उनका उपस्थापक अज्ञान भी होता। जब कार्य-कारणरूप उपपाद्य नहीं तब उपपादक अज्ञान को 'है' कहना ही नहीं बनता। श्रुतियों में घट-मिट्टी आदि उदाहरण ही मिलने से अक्षर की कारणता साफ नहीं हो पाती अतः आचार्य प्रायः रज्जुसर्पादि दृष्टान्तों से यह रहस्य खोल देते हैं। 'एजति-नैजति' आदि विरोध कहकर श्रुति ने यह बताया ज़रूर है पर सामान्य साधक को उतने से स्पष्टता नहीं होती। श्रुति ने रज्जुसर्पादि दृष्टान्तों को महत्त्व इसलिये नहीं दिया कि ये भी कथंचित् उसी तरह के हैं जैसे घटादि। अतः अविद्या का परिणाम सर्प को मानना आदि वैसा ही है जैसे मिट्टा का परिणाम घड़े को। अतः अल्पप्रज्ञ के तोषार्थ भले ही आचार्य इनका उपयोग करें, श्रुति ऐसे हल्के सहारे नहीं खोजती। अकर्त्ता अभोक्ता आत्मा जैसे भ्रमवश कर्त्ता-भोक्ता हो रखा है वैसे सारा कार्य-कारण जगत् हो रखा है। वही आत्मा अक्षर है, परिपूर्ण अद्वय है। ज्ञेय का स्वरूप निरस्त होते ही ज्ञाता स्वतः समाप्त हो जाता है, ज्ञानमात्र रह जाता है, अज्ञान के लिये कोई स्थान नहीं बचता। इस प्रकार जिस परतत्त्व के बारे में गार्गी ने प्रश्न उठाया था उसका सम्पूर्ण वर्णन याज्ञवल्क्य ने सारी सावधानी रखते हुए कर दिया जिससे वे ब्रह्मिष्ठ अतः गायें ले जाने के हकदार सिद्ध हो गये। अतः गार्गी ने ब्राह्मणों से कहा कि याज्ञवल्क्य को प्रणाम कर छुटकारा पा लेना चाहिये क्योंकि उन्हें जीत सकने वाला कोई है नहीं। यह घोषित कर वाचक्नवी चुप हो गयी।।२७८-८०।।

शाकल्यप्रश्नः

नवमब्राह्मणे देवनिर्णयस्तदुपासनम् ।
अष्टधा पंचधा चौपनिषदश्चोच्यते क्रमात् । ।२८१ । ।
सूर्यचन्द्रादयो देवाः शासितव्या उदीरिताः ।
तेषां विस्तार आनन्त्यं संक्षेपस्त्वेकदेवता । ।२८२ । ।

नौवाँ है शाकल्य ब्राह्मण। यद्यपि ब्रह्मवेत्ता तो गार्गी की चेतावनी से समझ गये कि वास्तव में याज्ञवल्क्य अजेय है तथापि शाकल्य नामक विप्र को जँचा नहीं कि याज्ञवल्क्य सर्वज्ञ है। अधिक संभावना यही है कि क्योंकि वह स्वयं ब्रह्मवेत्ता ही नहीं था इसलिये पिछले तीन ब्राह्मणों की चर्चा, उनका रहस्य, उनकी महत्ता उसके पल्ले ही नहीं पड़ी अतः वेदविद्या में वह जो जानता था उसी सन्दर्भ में उसने परीक्षा उचित समझी। परमात्मोपदेश की परिपूर्णता के लिये उपनिषत् को जो कुछ और कहना है वह शाकल्य संवाद से कह देगी और ब्रह्मज्ञ के विरोध को हानिकर भी बता देगी। शंकरानंद जी ने आत्मपुराण में शाकल्य के मनोभावों का बारीकी से वर्णन किया है, वह विस्तार रुचिकर लेकिन ग्रंथ समझने के लिये अनावश्यक है। श्लोक २९८ तक शाकल्य का प्रसंग चलेगा।

ब्राह्मणारंभ की प्रतिज्ञा करते हैं **नौवें ब्राह्मण में देव का निर्णय, उसकी आठ तरह और पाँच तरह से उपासना एवं औपनिषद पुरुषये बातें, यथाक्रम बतायी हैं । ।२८१ । ।** एक देव का विस्तार कितने देवों के रूप में और विस्तृत देवों को कैसे संकुचित कर एक में समझ सकते हैं यह प्रारंभ में विचार है। फिर आठ तरह बँटे देव की एवं पाँच तरह बँटे देव की उपासनाओं की चर्चा है तथा अंत में उसी अक्षर पुरुष का संदर्भ है जिसे सिर्फ उपनिषत् से समझना संभव है। शाकल्य कर्मी एवं देवताराधक था अतः याज्ञवल्क्य का महत्त्व उसी शास्त्र की जानकारी से आँक सकता था। शतपथ में पूर्व का सन्दर्भ भी है जहाँ याज्ञवल्क्य-शाकल्य में बात-चीत हुई और परमात्म-विषय में शाकल्य को जानकारी न होने से दखल नहीं करना चाहिये ऐसा याज्ञवल्क्य ने सावधान किया। जनकसभा में परमात्मविषय ही उपस्थित होने पर भी शाकल्य ने अध्यारोपणीय भाग की ही चर्चा छेड़ी। ।२८१। ।

देवनिर्णय का उल्लेख करते हैं **सूर्य, चंद्र आदि देवता शासन के योग्य कहे थे। उनका विस्तार अनन्तता है और संक्षेप एक देवता है। ।२८२। ।** शाकल्य का प्रश्न देवतासंख्या के बारे में था अतः उनकी अधिकतम एवं न्यूनतम सभी संख्याओं का संग्रह बता दिया गया। कर्म-उपासना की पद्धतियों के लिये इन सबका महत्त्व है। ।२८२। ।

त्रयश्चेत्यादिभिर्लक्ष्या बहुशब्दैरनन्तता।
सुषुप्तिप्रलयावस्थः कारणात्मैकदेवता।।२८३।।
नानात्वैकत्वरूपाभ्यां तिष्ठति प्राणदेवता।।
नियन्तव्यनियन्तृत्वसम्बन्धस्य प्रसिद्धये।।२८४।।

याज्ञवल्क्य के शब्द तो हैं 'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा' अर्थात् तीन हज़ार तीन सौ छह लेकिन अभिप्राय अनन्तता में है यह बताते हैं **'त्रयश्च' इत्यादि बहुतेरे शब्दों से आनन्त्य लक्षित होता है। सुषुप्ति एवं प्रलय की अवस्था में कारणरूप एक ही देवता रहता है।।२८३।।** याज्ञवल्क्य ने 'अनन्त देवता हैं' यह कहा नहीं, लेकिन तीन हजार आदि जो कहा उससे उनका तात्पर्य आनन्त्य में समझना चाहिये। सचमुच में एक परमेश्वर ही देवता है लेकिन व्यवहार भूमि में जहाँ कहीं परमेश्वर की शासकतादि विभूति प्रतीत हो वे सब देवतारूप हो जाते हैं। भारतीय परंपरा में तो कुदाली तक देवता के रूप में पूज्य है! कलम-दवात आदि की पूजा दीपावली आदि में होती है। वह ईश्वररूप प्रलयदशा में और सुषुप्तिदशा में निर्विवाद है, बाकी अर्थात् कार्यदशा में भी वास्तविक तो वही है लेकिन माध्यमों के द्वारा ढक-सा जाने से अनंत देवताओं की प्रतीति होती है। अतः देवताओं की संक्षिप्त संख्या एक और विस्तृत संख्या अनंत है। जीव भी सुषुप्ति में एक और जागने पर देह-इन्द्रिय-प्राण-मन आदि के सम्बन्धों से विविध प्रतीत होता है, ऐसे ही ईश्वर है। द्रष्टा-श्रोता-वक्ता-मन्ता जैसे विभिन्न, वैसे सूर्य-इन्द्र-वायु आदि विभिन्न हैं, वास्तविक भेद नहीं है। जैसे देखने में आँख ही काम आयेगी, बिगड़ेगी तो उसी की दवा करनी होगी, वैसे तत्तत् देवताओं के तत्तत् काम हैं और वे पूजनीय भी रहते हैं। केवल अज्ञान पुष्ट करने से देखने आदि में मदद नहीं मिलेगी, ऐसे ही केवल कारणोपाधिक के आराधन से तत्तत् कामनाएँ नहीं पूरी होंगी। इसी से सभी देवताओं के पूजनादि तत्तत्काल आदि में कर्त्तव्य हो जाते हैं।।२८३।।

एक के इतने भेद क्यों? यह समझाते हैं **अनेक और एकइन दोनों रूपों से प्राण देवता इसलिये रहता है कि प्रशासित-प्रशासक-भाव संबंध संभव हो।।२८४।।** एक है कारणरूप, प्रशासकरूप, अनेक हैं कार्यरूप, प्रशासितरूप, इनमें परस्पर सम्बन्ध इसी से है कि दोनों एक के ही रूप हैं। जो कार्य से विरक्त है वह सब देवताओं को कारण में एक करने की तरफ जाता है, जो कार्य में आसक्त है वह एक के अधिकाधिक भेद खोजता है, किस-किस कार्य के लिये कौन-कौन देवता हैं उनके क्या-

पृथिव्येवेत्यादिवाक्यादष्टधोपासनेरिता।
किंदेवेत्यादिवाक्येन पंचधोपासनं श्रुतम्।।२८५।।
एतावदेव शाकल्यो वेत्ति मायामयं तु तत्।
याज्ञवल्क्यः स इत्यादिवस्त्वनूद्याऽथ पृष्टवान्।।२८६।।

क्या मंत्र हैं आदि अनुसन्धान में लगता है। बहुत-से लोग न एक पर स्थिर रह पाते हैं, न अनन्त को सह पाते हैं। वे अपने मतलब की संख्या पर अटक जाते हैं लेकिन वैदिक का सीधा हिसाब है कि घटानी है तो एक संख्या तक आओ, बढ़ानी है तो अनन्त तक जाने दो, 'मेरी संख्या ही ठीक, दूसरे की ग़लत' यह भाव व्यर्थ है। अनन्त भी वास्तव में एक से अलग नहीं हैं, अपनी शासकता व्यक्त करने के लिये ही वह अनन्त रूप धरता है। नियामक क्योंकि अक्षर समझने में माध्यम है और नियामक तब हो जब नियम्य हों इसलिये प्राणदेवता एक और नाना बना है। विद्यारण्य स्वामी शाकल्य के प्रश्नोत्तरों पर विशेष विचार अनावश्यक समझ रहे हैं क्योंकि इन्हें निर्विशेष का विवरण इस ग्रंथ में इष्ट है।।२८४।।

आगे शाकल्य ने पृथ्वी आदि आठ आयतनों वाले के बारे में और पूर्वादि दिशाओं के अभिमानी के बारे में पूछा। याज्ञवल्क्य ने सब प्रश्नों का जवाब दिया। इस बात को सूचित करते हैं **'पृथ्वी ही' आदि वाक्यों से आठ प्रकार की उपासना कही है तथा 'कौन-सा देवता' आदि वाक्य से पाँच प्रकार की उपासना कही है।।२८५।।** उपनिषत् के मुख्य प्रसंग से मेल न खाते शाकल्य के प्रश्नों पर याज्ञवल्क्य भी खीझे थे और अंत में 'अतिप्रश्न'-वश उसे मरना ही पड़ा, अतः आचार्य यहाँ इस संदर्भ का विस्तार नहीं कर रहे।।२८५।।

शाकल्य के सवालों का जवाब देते-देते याज्ञवल्क्य ने अंतिम प्रतिष्ठा 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते' आदि से कही और शाकल्य से उसके बारे में पूछ लिया जिसे वह जानता था नहीं अतः उसकी मूर्धा गिर गयी (३.९.२६)। इस प्रसंग का उल्लेख करते हैं **शाकल्य इतना ही (देवताओं के बारे में ही) जानता था और वह सब मायामय ही है। 'सः' आदि वाक्य से सत्य तत्त्व का अनुवाद कर याज्ञवल्क्य ने प्रश्न उठाया :।।२८६।।** कर्मकाण्डी होने से शाकल्य परमेश्वर से अनभिज्ञ था क्योंकि कर्मकाण्ड तभी तक टिक सकता है जब तक परमेश्वर भूले रहो। कर्मकाण्ड का आधार है कि हम करते हैं उससे फल मिलता है। ईश्वर का स्वरूप स्वतंत्र चेतन है। यदि ईश्वर पर दृष्टि जाये तो मालूम रहेगा कि उसके संकल्प के

बिना कुछ होता नहीं तथा वह सब रूप धरे खेल रहा है। रुद्राध्याय में चोर-उच्चकों के पति रूप में तक भगवान् का वर्णन है, सप्तशती में भी सभी रूपों का उल्लेख है। इन वचनों के अर्थविचार में न जाकर पाठादि से फल मान सकते हैं लेकिन अर्थ का चिंतन करते ही प्रवृत्ति रुक जाती है क्योंकि जिन सब से बचने के लिये हम प्रार्थनाएँ करते हैं वे सब वहाँ उसी परमेश्वर का रूप बता दिये गये हैं। जो हमारे पास है वह भी उसी का रूप, तो क्या चाहकर प्रार्थना करें? सर्वज्ञ-सर्वशक्ति स्वयं जो भी संकल्प करेगा सर्वाधिक उचित ही होना निश्चित है तो हम अपनी अल्प मति से उसमें हेर-फेर की प्रार्थना क्यों करें? अतः ईश्वर-विचार भक्ति में ही प्रेरित कर सकता है, कर्मकाण्ड में नहीं रख सकता। सब कर्म परमेश्वर-प्रसन्नता के लिये करना भक्ति है, कर्मकाण्ड में ऐसा नहीं किया जाता। स्वामी विवेकानंद को काश्मीर में क्षीरभवानी का टूटा मंदिर देख भाव आया 'मैं तब रहा होता तो कभी मंदिर न टूटने देता।' बाद में ध्यान करते हुए उन्हें देवी ने कहा 'मैं तेरी रक्षा करती हूँ कि तू मेरी रक्षा करता है? क्या मेरी इच्छा के बगैर मंदिर टूटा है जो तू रोक लेता!' स्वामी जी ने लिखा है कि उसी प्रबोधन से उनके सब संकल्प हट गये। अतः लौकिक कर्मकाण्ड सामाजिक, राष्ट्रीय आदि कार्यपर भी आग्रह ईश्वरविचार आने पर बच नहीं सकता, स्वयं के योगक्षेम के लिये भी सर्वथा निश्चिन्तता आ जाती है। यद्यपि कर्मकाण्ड के प्रत्येक मंत्र में बीज हैं जिनसे पूर्णतः परमेश्वर-परायणता आ सकती है तथापि संसार में राग रहते हम मंत्रार्थ का विचार बिलकुल न कर उनका प्रयोग, उपयोग ही करते रह जाते हैं। शाकल्य कर्मकाण्डी होने से कर्म-उपासना ही समझता था, उसी के बारे में पूछ सका और यह याज्ञवल्क्यादि ब्राह्मण समझ ही रहे थे कि यह सारा माया का ही विस्तार पूछा गया, 'ब्रह्मनिष्ठ' के निर्णयार्थ उचित प्रश्न नहीं पूछे गये। याज्ञवल्क्य इस विषय में भी निष्णात थे यह प्रकट हुआ, इतना अच्छा है, लेकिन बेमौके की बातें होने से रसभंग तो हुआ ही। गायों के लोभादि से अनधिकार सवाल उठाये अतः दण्डनीय माना गया। उसकी अनधिकारिता व्यक्त करने के लिये ही अब याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया। अब तक उनके परीक्षक ब्रह्मवेत्ता ही थे और याज्ञवल्क्य आदि सब यह जानते थे अतः उनसे अभी तक याज्ञवल्क्य ने पलटकर कुछ पूछा नहीं था। शाकल्य न तो ब्रह्मवेत्ता के रूप में प्रसिद्ध था, न उसके प्रश्नों से ऐसा आभास मिला अतः याज्ञवल्क्य ने ज़रूरी समझा सभा में यह व्यक्त करना कि वह उनका परीक्षक होने लायक ही नहीं कि वे उसके प्रश्नों का समाधान करते जायें। सार्वजनिक सभा में सभी ब्राह्मणों

देवविस्तारसंक्षेपावष्टधा पंचधा च यत् ।
उपास्यमुक्तं तत्सर्वं नेति नेतीत्यपोह्यते ।।२८७ ।।
इतिशब्देन निर्दिष्टे दृश्ये तस्मिन्नपोहिते ।
योऽवशिष्टः स आत्माऽस्य दृश्यस्यात्मवतो मतः ।।२८८ ।।

को पूछने का मौका था इसलिये शाकल्य के पूछते ही याज्ञवल्क्य ने पहले उसकी परीक्षा की नहीं सोची और जवाब दिये लेकिन शाकल्य को अप्रासंगिक दिशा में बढ़ता जाता देख यहाँ शाकल्य के अज्ञान को व्यक्त भी करना ठीक समझा। उन्होंने कहा कि 'परतत्त्व यही आत्मा है जिसे नेति नेति कहते हैं, जो ग्राह्य नहीं, विशीर्ण (बिखरता) नहीं होता, सम्बद्ध नहीं होता, व्यथित नहीं होता, हिंसित नहीं होता; जितना उपास्य विस्तार है सब इसी का विलास है, यह केवल उपनिषत् से समझ आता है। मैं तुझसे इस पुरुष के बारे में पूछता हूँ, अगर न बता पाया तो तेरी मूर्धा गिर जायेगी!' शाकल्य तो नहीं ही जानता था, उसकी मूर्धा गिर गयी, उसके शिष्यादि उसका शव लेकर गये, मार्ग में चोरों को लगा कुछ माल है तो उसकी हड्डियाँ भी चुरा ले गये! ब्रह्मवेत्ता के साथ दुर्व्यवहार अत्यंत कष्ट देता हैयह भाव है। यह प्रसंग अब कहा जाना है।।२८६ ।।

याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उपक्रम करते हैं **देव के जो विस्तार और संक्षेप कहे, आठ प्रकार और पाँच प्रकार का जो उपास्य बताया वह सब 'नेति नेति' से निरस्त किया जाता है।।२८७।। 'इति'-शब्द से दृश्य का उल्लेख कर, समूचे दृश्य का निरास हो जाने पर जो बचा वही इस सात्मक दृश्य का आत्मा माना गया है।।२८८ ।।** आत्मा को उपस्थित करने का तरीका ही अनात्म-निषेध का है अतः इति शब्दों से सारे अनात्मा को कहकर न-शब्दों से उसका निरास कर बचे को आत्मा कहा। दृश्य (संसार) जिससे आत्मवान् है, सस्वरूप है, वह यही आत्मा है जहाँ दृश्य का नामोनिशान नहीं है! अध्यासदशा में दृश्य को सात्मक बनाता लगने पर भी रहता उससे परे ही है। व्यवहारसिद्ध आत्मा क्योंकि सदृश्य ही उपलब्ध है इसलिये यहाँ सात्मक दृश्य का उल्लेख किया। मोक्षपर्यन्त आत्मा बिना उपाधि के मिलता नहीं, सुषुप्ति में भी अविद्योपाधि रहती ही है, अतः निरुपाधि समझाने के लिये सोपाधि को उपाधिपक्षीय कहना बन जाता है। जैसे अत्यन्तनिर्जगद्व्योम समझाना मुश्किल वैसे निरुपाधि आत्मा भी समझाना दुष्कर, फिर भी आचार्य लोग तरह-तरह से प्रयास करते ही हैं।।२८७-८ ।।

आत्मात्मवत्त्वसम्बन्धो नान्यो दृग्दृश्ययोरिति।
मत्वात्मशब्दो दृग्वस्तुन्यवाच्येऽपि प्रयुज्यते।।२८६।।

यदि सात्मक दृश्य (आत्मवान् दृश्य) का निषेध है तो अवशिष्ट को आत्मा कहना कैसे संगत है? यह समझाते हैं **दृग् और दृश्य से अतिरिक्त ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे वे परस्पर आत्मा-आत्मवान् बनते हों। यह विचार कर वाणी के अविषय दृग्वस्तु के लिये भी आत्मा-शब्द का प्रयोग किया जाता है।।२८६।।** दृश्य आत्मवान् (सात्मक) भले ही लगे, आत्मा भी उपाधिमान् भले ही लगे, लेकिन इन दोनों का सच्चा तो कोई सम्बन्ध है नहीं अतः सचमुच तो ये दो ही हैं, एक सत्य दृग्, और दूसरा असत्य दृश्य। इनका आपसी संबंध या आत्मरूप होगा या अनात्मरूप, दृश्यरूप होगा। अनित्यादि होने से वह सम्बन्ध आत्मरूप तो मान्य नहीं अतः अनात्मरूप ही होगा। फलतः दृश्य को आत्मवान् कहना ही बनता नहीं! न आत्मा को सोपाधिक ही कहना बनता है। अतः आत्मा को निरसनीय कोटि में रखने पर भी अर्थात् सात्मक दृश्य का निषेध करने पर भी क्योंकि वस्तु-भूमि पर आत्मा उस कोटिका है नहीं इसलिये निषेध की अवधि को आत्मा कहना उपपन्न है। है यह अवाच्य, इसे कहा जा सके यह स्थिति नहीं क्योंकि कहा वही जा सकता है जो ज्ञात हो और (निरुपाधि) आत्मा ज्ञात है नहीं, जो ज्ञात है वह दृश्यात्मा (सोपाधिक आत्मा) है, लेकिन जब दृग्दृश्य-सम्बन्ध ही असिद्ध है तब वास्तव में दृश्यात्मा तो कुछ है नहीं, आत्मा व दृश्य सर्वथा असम्बद्ध ही हैं तो दृश्य सात्मक नहीं, आत्मा सोपाधिक नहीं; ऐसी स्थिति में जो ज्ञात (सोपाधिक) आत्मा है उसी को (सात्मकदृश्य-निषेधपूर्वक) आत्मा कहना निर्दुष्ट है! जब समूचे दृश्य का ही कोई सम्बन्ध आत्मा से सिद्ध नहीं हो रहा तब वाच्यवाचकभाव के भय से आत्मा के उल्लेख से क्योंकर रुका जाये! अवाच्य का वचन इसीलिये नहीं करते कि उसमें वाच्यता नहीं है और वचन वाच्यता वाले का ही होता है; किन्तु उक्तरीत्या आत्मा में कोई भी सम्बन्ध हो नहीं सकने पर वचनप्रयोग से किस सम्बन्ध की संभावना देखकर वचन से परहेज करें? अतः आत्म-शब्द का प्रयोग करना संगत है। 'आत्मशब्देन उच्यते' या 'आत्मशब्दो वक्ति' न कहकर 'प्रयुज्यते' कहा ताकि स्पष्ट हो जाये कि आचार्य यहाँ आत्मा को वाच्य तो नहीं ही मान रहे, केवल कह रहे हैं कि अवाच्य के उल्लेख के लिये वचन का प्रयोग संगत है। अथवा, सदृश्य आत्मा में गृहीतसंगतिक आत्मशब्द लक्षणा से दृश्यशून्य आत्मा का बोध कराता हैयह सरल रीति जाननी चाहिये। वाच्य-संबंध लक्षणा है, आत्मशब्द का वाच्य जो आत्मा वही अपना सम्बन्ध भी है, क्योंकि

ननु ब्रह्माधिकारेऽस्मिन् कथमात्मेति वर्ण्यते।
नैष दोषोऽतिरेकेण नात्मनो ब्रह्मता यतः।।२९०।।
ग्राह्यत्वं शीर्णता संगो बन्धो भीतिश्च हिंसनम्।
जाड्याज्जडस्य धर्माः स्युर्न ते सन्त्यात्मवस्तुनि।।२९१।।

आत्मा-अनात्मा का संबंध इन दोनों से अतिरिक्त तो कुछ है नहीं; आत्मा का अनात्मा से जो सम्बन्ध वह अनात्मा से अन्य है (क्योंकि आत्मरूप है) अतः अनात्मा से सर्वथा अन्य जो निरुपाधिक आत्मा उसका बोध करा सकता है क्योंकि यों आत्मशब्द का लक्षित अर्थ 'दृश्यभिन्न' हो जाता है। हर हालत में आचार्य कह रहे हैं कि 'नेति नेति' कहकर भी आत्मा कहना उचित है।।२८९।।

ब्रह्मनिष्ठ के निर्णय के प्रसंग में आत्मा का उल्लेख संगत बनाते हैं **इस ब्रह्म के सन्दर्भ में 'आत्मा' ऐसा वर्णन क्यों किया जा रहा है? ऐसे वर्णन में कोई ग़लती नहीं क्योंकि आत्मा से हटकर ब्रह्मरूपता नहीं है।।२९०।।** आत्मशब्द साक्षादपरोक्षता को तथा ब्रह्मशब्द व्यापकता, पूर्णता को बताता है लेकिन वस्तु एक ही है जिसे आत्मा और ब्रह्म कहते हैं। बल्कि ब्रह्म को परोक्ष, पराक् न समझ लिया जाये इसलिये उसे आत्मा कहना ही ठीक है जैसे आत्मा को परिच्छिन्न न समझ लिया जाये इसलिये उसे ब्रह्म कहना ही ठीक है। किं च 'नेति नेति ब्रह्म' कहने पर यह नहीं व्यक्त होता कि वह निषेध की अवधि है। आत्मा कहने पर स्पष्ट होता है कि निषेधक अपना निषेध न कर पाने से निषेध की अवधि है। यह भी सूचित करना है कि 'तू आत्मा अर्थात् स्वयं को ही नहीं जानता तो और क्या जानेगा!' इसलिये भी आत्म-शब्द का ग्रहण ठीक है।।२९०।।

उसकी अग्राह्यतादि बताते हैं **ग्राह्यता, शिथिलता, संग, बंधन, भय और नाशये स्वयं जड होने से जड के ही धर्म हो सकते हैं आत्मरूप वस्तु में तो हैं नहीं।।२९१।।** ग्राह्यता आदि दृश्य होने से अनात्मा हैं। अशीर्य अर्थात् विशीर्ण न होने वाला, जिसके अवयव ढीले नहीं पड़ते। व्यथा की व्याख्या भय की। ग्रहणादि को भाष्य में 'कार्यधर्म' कहा है अतः जडधर्म कहा। अन्य भी जडधर्मों का आत्मा में निषेध समझ लेना चाहिये।।२९१।।

अग्राह्य आदि कहे तत्त्व का निर्देश देते हैं **कार्य के हेतुभूत अज्ञान का अपह्नव होन से इन कार्यधर्मों को लाँघकर अपूर्व, अनपर, पूर्ण आत्मा खुद में रहता है।।२९२।।** अपूर्व अर्थात् निष्कारण, अनपर अर्थात् निष्कार्य। खुद में रहता है अर्थात्

कार्यधर्मानतीत्यैतांस्तद्धेत्वज्ञाननिह्नुतेः।
अपूर्वानपरः पूर्ण आत्मा स्वात्मन्यवस्थितः।।२९२।।
इति तत्त्वमनूद्यास्य सृष्टिसंहारहेतुताम्।
तथैवोपनिषद्वेद्यमसंगत्वं च पृष्टवान्।।२९३।।
आत्मा निरूह्य प्रत्यूह्य पुरुषान् योऽत्यवर्तत।
तमौपनिषदं ब्रूहि मूर्धपातस्तु तेऽन्यथा।।२९४।।[1]

जैसे अभी उपाधियों में रहता है, वैसे कहीं नहीं रहता। अन्य कहीं न रहना बताने में तात्पर्य है। 'तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरम्' (२.५.१९) आदि मधुविद्या में (अनु. प्र. १६. ४५-७) बता आये हैं।।२९२।।

श्लोक २८६ में 'अनूद्य पृष्टवान्' कहा था; यहाँ तक अनुवाद भाग बताया, अब प्रश्न बताते हैं **इस तरह तत्त्व का उपन्यास करके याज्ञवल्क्य ने पूछा कि यह सृष्टि-संहार का हेतु कैसे है और इसकी उपनिषत् से समझी जाने वाली असंगता कैसे है?।।२९३।।** 'निरुह्य प्रत्युह्य' शब्दों से सृष्टि-संहार स्वयं बतायेंगे (२९६)। 'अत्यक्रामत्' से असंगता कही है 'औपनिषदम्' श्रुति में ही पद है। यद्यपि पुरुष के बारे में ही प्रश्न स्फुट है तथापि उक्त प्रश्न यहाँ अभिप्रेत बताये जा रहे हैं। क्योंकि श्रुति में यह वाक्य साफ़-साफ़ प्रश्न के रूप में नहीं इसलिये इसे दो तरह से माना है : एक तो यह कि आख्यायिका से हटकर वेद ने आत्मस्वरूप का कथन कर दिया और दूसरा यह कि याज्ञवल्क्य ने तत्त्व को उपन्यस्त कर उसके बारे में पूछा। वार्तिकसार में कहा 'इदं यदा श्रुतेर्वाक्यं तदा तत्त्वं निरूपितम्। याज्ञवल्क्यस्य वाक्यत्वे पृष्टमेतद् अनूदितम्।।' ३. ९.४२।। द्वितीय पक्ष ही अनुभूतिप्रकाश में लिया।।२९३।।

मुनिवचन है 'एतान्यष्टावायतनानि, अष्टौ लोका, अष्टौ देवा, अष्टौ पुरुषाः; स यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्युह्य अत्यक्रामत्, तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।' उपासना-प्रश्न में आठ-आठ आयतन, लोक, देव और पुरुष कहे थे (बृ. ३.९.१०-७)। इन सब रूपों में 'निरुह्य' फैलकर एवं 'प्रत्युह्य' सब रूप स्वयं में विलीनकर भी जो इनसे रहता अतीत है वह उपनिषत् से ही पता चलने वाला पुरुष है जिसके बारे में शाकल्य से पूछा जा रहा है। इसका संग्रह करते हैं **'पुरुषों' को फैलाकर और समेटकर (भी) जो आत्मा इनसे अतीत रहा, उस उपनिषद्वोध्य पुरुष का कथन करो, नहीं तो तुम्हारी मूर्धा गिर जायेगी।।२९४।।** श्रुतिस्थ 'पुरुषान्' शब्द यहाँ यथावत् रखा है, यह

१. 'मुर्द्धा पततु तेऽन्यथा' इति सारे पाठः।

योऽनूदितो नेति नेति सच्चिन्मात्रो ह्यविक्रियः।
उक्तौ पुरुषनिर्वाहप्रतिवाहौ तु मायिकौ।।२६५।।
सृष्टिरष्टविधोपास्यरूपा निर्वाह उच्यते।
प्रतिवाहस्तु संसारो दिग्देवद्वारतो हृदि।।२६६।।

आयतन-लोक-देव की भी उपलक्षणा के लिये है 'श्रौतस्य पुरुषशब्दस्य देवतालोकायतनोपलक्षणत्वात्' (आनंदगिरिटी. बृ. वार्ति. ३.९.११३)। यद्यपि फैलाना-समेटना उपासना के अभिप्राय से कहा था तथापि जीव वैसी उपासना से फल तभी पाता है जब ईश्वर ने वैसा फैलाव और समेटना किया हुआ है अतः जो वस्तुतः फैलाता-समेटता है उसके बारे में पूछा, न कि जो वैसे उपासना करता है, उसके बारे में। आधुनिक काल में भी एक विचारधारा चली है कि पुराण-इतिहास आदि 'मिथ' हैं अर्थात् वे कोई घटनाएँ नहीं, उनमें वर्णित कोई व्यक्ति नहीं, केवल हमें विविध सूचनाएँ-प्रेरणाएँ देने के लिये रूपक हैं! कर्मकाण्डी की उपासना भी इसी विचार पर होती है कि उपासना तो वैध क्रिया होने से सफल है लेकिन उपास्य कोई तत्त्व, वस्तु, देवतादि नहीं है। शाकल्य उपासना जानता था लेकिन उपास्य नकारता था इसीलिये उसकी दुर्गति हुई। जो तो परमेश्वर पर भक्ति रखकर उपासना करता है उसे स्वयं परमेश्वर दर्शन देते ही हैं। अतः यह शंका नहीं उठती कि 'शाकल्य उपासना में पारंगत था तो उपास्य तत्त्व का क्यों कथन नहीं कर पाया, अथवा निर्विशेष न सही, सविशेष को ही क्यों औपनिषद के रूप में नहीं बता पाया?' उसकी दृष्टि में सविशेष भी कोई वस्तु नहीं होने से औपनिषद पुरुष होता ही नहीं, आम्नाय तो क्रियार्थ है, इसलिये याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उसके पास जवाब नहीं था। आधुनिक भी 'मिथ'वादी इसीलिये हेय हैं कि वे बिना प्रेरक के प्रेरणा मानना चाहते हैं! कृष्ण-अर्जुन हुए ही नहीं फिर भी कृष्णार्जुन-संवाद हमें सद्बुद्धि देगाऐसी उनकी असंगत कल्पना है। ये भी सब शाकल्य की तरह होने से इनकी भी मूर्धा का पतन निश्चित है। इनके द्वारा कल्पित रूपक इन्हीं के सामने अन्य कल्पनाशील लोग निरस्त कर विपरीत ढंग से रूपक का उपन्यास कर देते हैं तो शर्म से इनका सिर अवश्य झुकता होगा!।।२६४।।

निर्वाह-प्रतिवाह समझाते हैं **'नेति नेति' से जिस निर्विकार अद्वितीय सच्चित्स्वरूप का अनुवाद किया (उसी के) मायिक (अतः मिथ्या) प्रभाव हैं निर्वाह और प्रतिवाह।।२६५।। आठ ढंग से उपास्यरूप सृष्टि निर्वाह और दिगभिमानी देवताओं के माध्यम से 'हृदय' में उपसंहार प्रतिवाह है।।२६६।।** वस्तुतः

वस्तुवृत्तेन निःशेषकार्यकारणवर्जनम्।
तस्यातिक्रान्तिरुद्दिष्टा स चोपनिषदि श्रुतः।।२६७।।
कर्मकाण्डे विरोधित्वाद् नैवायं श्रूयते क्वचित्।
ऐकात्म्यवस्तुविज्ञानं कर्मभिर्हि विरुध्यते।।२६८।।

निर्विकार है, सृष्टि आदि का कारण माया से है यह तात्पर्य है। आठ और पाँच का कथन इसलिये कि शाकल्य ने इसी ढंग की उपासना का ज़िक्र किया था। प्रतिवाह के प्रसंग में पूर्वादि दिशाओं के माध्यम से हृदय तक उपसंहार कहा था (३.६-२०-४) अतः समस्त नाम-रूप-कर्म जहाँ सिमट जाता है वह 'हृदय' विवक्षित है।।२६५-६।।

'अत्यक्रामत्' अर्थात् निर्वाह-प्रतिवाह के बावजूद इससे परे रहा; यह बताते हैं **समस्त कार्य-कारणों से रहित होना यह आत्मवस्तु का स्वभाव है, इसी को कहा कि वह ('अत्यक्रामत्') सबको लाँघे रहता है, सबसे परे रहता है और वह तत्त्व उपनिषत् में सुना गया है।।२६७।।** मायावश कार्य-कारण प्रतीत होने वाली वस्तु का सच्चा स्वभाव है कि वह न कार्य है, न कारण! उपास्य की वास्तविकता निरुपाधिक है। जैसे शाकल्य वैसे ही सब उपासक यही कठिनाई अनुभव करते हैं कि जिन धर्मों से वे उपास्य तत्त्व पहचानते हैं उन धर्मों को अवास्तविक नहीं मान पाते। अतः जो 'अत्यक्रामत्', उसके बारे में पूछने पर शाकल्य चुप हो गया, उन धर्मों का अतिक्रमण उसकी समझ से परे था। जैसे रस्सी वस्तुतः साँप का कारण न होने पर भी साँपरूप भी है इसलिये उसका कारण भी है वैसे आत्मा कार्य-कारण किंतु इनसे परे है। यह तात्पर्य है, यही औपनिषद आत्मतत्त्व है।।२६७।।

क्यों केवल उपनिषद्वेद्य है, यह स्पष्ट करते हैं **विरोधी होने से कर्मकाण्ड में यह तत्त्व कहीं नहीं सुना जाता। एकात्मता जिसकी वास्तविकता है उसका साक्षात्कार कर्मों से विरुद्ध ही है।।२६८।।** आत्मा कर्त्ता-भोक्ता है मानकर कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति अतः अकर्त्ता-अभोक्ता का वर्णन उसके विरुद्ध ही पड़ेगा। केनवाक्यभाष्य के प्रारंभ में ही 'कर्मविषये चानुक्तिस्तद्विरोधित्वात्' आदि बताया है। जब शास्त्र के ही कर्मभाग में इसका उल्लेख नहीं तब लोक में तो इसकी चर्चा ही असंभव है! अतः निर्विकार वस्तु का ज़िक्र आते ही लौकिक-शास्त्रीय सभी विरोध करते हैं। उन्हें इसे समझने की योग्यता ही प्राप्तव्य है यह मानकर विद्वान् उन्हें सत्कर्मों में ही प्रेरित करे यह 'बुद्धिभेदं न जनयेत्' (३.२६) आदि से भगवान् का निर्देश है। स्वयं में भोक्तृत्वानुभव रहने तक कर्त्तव्यनिर्वाह अवश्य करना चाहिये अन्यथा हानि ही है। 'मैं वस्तुतः अकर्त्ता हूँ' इस भरोसे कर्त्तव्य नहीं

याज्ञवल्क्योक्तिः

य औपनिषदस्तस्य विज्ञानानन्दरूपता।
दातृता भोगमुक्त्योश्च वक्तव्येत्युत्तरा श्रुतिः।।२६६।।
महाप्रलयसंपत्तौ जगतः पुनरुद्भवे।
कारणं पृच्छ्यते वृक्षसर्वसाधर्म्यपूर्वकम्।।३००।।

छूटते, 'मैं अभोक्ता हूँ' इस भरोसे तो छूट भी सकते हैं। भोग से तटस्थता का अभ्यासी यदि कर्म से तटस्थता का प्रयास करे तो विविदिषु कर्मत्यागी होगा। मोटी भाषा में, जब कहते हैं कि 'सब करने वाला परमात्मा न कि मैं' तब यह भी जानना चाहिये कि 'मैं भोगने वाला भी नहीं हूँ।' यदि सुख-दुःख रोग-भूख आदि मैं भोगता हूँ तो मुझे कर्त्तव्यों का पालन अभी करते रहना है। अपने अधिकारानुरूप कर्म या कर्मत्याग करना चाहिये, अनधिकार चेष्टा से नुकसान ही है। यद्यपि शास्त्रीय होने से आत्मयाथात्म्य और कर्मकाण्ड में विरोध संभव नहीं तथापि जैसे संन्यास धर्म और गृहस्थधर्म का अधिकारनिमित्तक विरोध है वैसे अज्ञानी के लिये ('अविद्यावद्विषयाणि') कर्म और विज्ञानी के लिये अद्वयाविर्भाव दोनों शास्त्रीय किन्तु परस्पर विरुद्ध हैं। अतः यहाँ वस्तु का विरोध नहीं वरन् उसके विज्ञान का विरोध कहा।।२६८।।

इसके बाद याज्ञवल्क्य ने सभी से कहा कि जो कोई कुछ पूछना चाहे, पूछ ले। जब कोई पूछने की हिम्मत नहीं कर पाया तब याज्ञवल्क्य ने सभी के सामने प्रश्न रखा कि पुरुष भी वृक्ष की तरह है; कटने पर वृक्ष मूल से फिर नया उग जाता है, पुरुष मृत्यु से कटने पर किस मूल से उगता है? इसका जवाब कोई न दे सका। श्रुति ने अपनी ओर से विज्ञान-आनंद ब्रह्म को बताया जो कर्मफलदाता है एवं ज्ञानी होकर ब्रह्मरूप से रहने वालों का परम आधार है। इसे समझाना शुरू करते हैं **जो उपनिषद्वेद्य पुरुष है वह विज्ञान-आनन्द-रूप है तथा भोग-मोक्ष प्रदान करने वाला हैयह सब बताना बाकी है इसलिये अगला श्रुतिवाक्य प्रवृत्त हो रहा है।।२६६।।** श्रुति के अंतिम वाक्य का विषय यहाँ संकेतित कर दिया। औषनिषद पुरुष विज्ञान-आनंद धर्मों वाला नहीं वरन् तद्रूप है। कर्म-उपासना-ज्ञान सभी का फल वही देता है। ज्ञान का यद्यपि 'फल' नहीं तथापि वृत्त्युपारूढ होकर अविद्यानिवृत्ति वही पुरुष करता है। किं च ज्ञानयोग्यता कर्मोपासना से उसी की कृपा से मिलती है।।२६६।।

याज्ञवल्क्य का प्रश्न बताते हैं **महाप्रलय होने पर जगत् की पुनरुत्पत्ति में कौन कारण है?यह वृक्ष की सर्वथा समानता बताकर पूछा गया है।।३००।।**

वृक्षः काण्डरुहो बीजरुहश्चेति द्विधा तयोः ।
समः काण्डरुहेणैष रेतसो योऽभिजायते । ।३०१ । ।
न पृच्छ्यतेऽतिस्पष्टत्वात्तदवान्तरकारणम् ।
किन्त्वस्पष्टमशेषस्य पृच्छ्यते मूलकारणम् । ।३०२ । ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बीजाख्यान्मूलकारणात् ।
दृष्टा वृक्षजनिस्तद्वत् कस्मान्मूलाज्जगज्जनिः । ।३०३ । ।

याज्ञवल्क्य ने कहा कि यह बात निश्चित है कि जैसे वनस्पति (वृक्ष) वैसे पुरुष (मनुष्य)। पुरुष के रोएँ होते हैं, पेड़ के पत्ते होते हैं। दोनों की चमड़ी या छाल भी होती है। काटने पर खून या रस दोनों से निकलता है। पुरुष के मांस की जगह पेड़ में कच्ची लकड़ी के टुकड़े हैं, पुरुष की नसों की जगह पेड़ में 'कीनाट' है अर्थात् उन टुकड़ें के भीतर का कड़ा हिस्सा। हड्डियों की जगह (पक्की) लकड़ी है और मज्जा की जगह लकड़ी का भीतरी भाग है। ज़िन्दे पुरुष से बच्चे होते हैं, ज़िन्दे पेड़ को छाँटो तो फिर और नया होकर पनप जाता है। मरणधर्मा जब मृत्यु से कट चुकता है तब किस मूल से फिर उगता है? 'रेतस् से उगता है' तो नहीं कह सकते क्योंकि रेतस् सजीव से ही निकलता है। वृक्ष टहनी से भी होता है और बीज से भी। मूलसमेत बीज का नाश होने पर वृक्ष नहीं पैदा होता। मृत पुरुष किस मूल से उगता है? याज्ञवल्क्य के इस प्रश्न में पुरुष से जगत् भी समझ लें ऐसा यहाँ आचार्य ने बताया। ।३०० । ।

उक्त प्रसंग ही कहते हैं **वृक्ष दो प्रकार के होते हैंबीजरुह और काण्डरुह। रेतस् से जो पैदा होता है वह काण्डरुह के समान है। ।३०१। । उसे नहीं पूछ रहे क्योंकि (उसका मूल तो) अतिस्पष्ट, प्रत्यक्ष है और वस्तुतः है वह अवान्तर अर्थात् मध्यवर्ती कारण, (न कि मूलकारण)। तो क्या पूछ रहे हैं? सबका मूल कारण अस्पष्ट है, वह पूछ रहे हैं। ।३०२ । । अन्वय-व्यतिरेक से वृक्ष का जन्म बीज-नामक मूल कारण से देखा गया है, उसी तरह किस मूल से जगत् का जन्म होता है? । ।३०३ । ।** बीज से पैदा होने वालों को बीजरुह और डाली गाड़ने पर जो वृक्ष तैयार हो जाते हैं उन्हें काण्डरुह कहते हैं। जीवित वृक्ष की टहनी के समान जीवित पुरुष का वीर्य है जिसे स्त्रीरूप भूमि में बोने पर गर्भरूप 'नया' वृक्ष तैयार होता है अतः यह उत्पत्ति काण्डरुह के समान है। जैसे काण्ड (टहनी) मध्यवर्ती कारण ही है, मूल तो बीज ही होता है, वैसे ज़िन्दे से पैदा होने वाले बच्चों का जो पितृवीर्यरूप कारण स्पष्ट है वह अवान्तर कारण ही है, मूल नहीं। वह जो अस्पष्ट है, सभी का (पुरुष व जगत् का) मूल

नित्यजातस्वभावत्वं न मन्तव्यं यतो मृतः।
पुनः पुनर्जायते स्यात् कृतनाशादिरन्यथा।।३०४।।

कारण है, वह पूछा जा रहा है। वृक्ष बीज से पैदा होता है यह अन्वय-व्यतिरेक से पता लगता हैबीज बोने पर वृक्ष होता है, बीज न बोयें तो वृक्ष नहीं होता। इस तरह का कारण क्या है, यह प्रश्न है। कर्म को अवान्तर ही कारण कह सकते हैं क्योंकि जैसे जीवित की ही टहनी होनी पड़ती है ऐसे जीवित से ही कर्म हो सकते हैं। इस तरह यहाँ मूल कारण के बारे में पूछा।।३०१-३।।

'मरकर कोई पैदा होता ही नहीं' ऐसी सम्भावना का निरास करते हैं **यह नहीं मान सकते कि हमेशा पैदा रहना ही स्वभाव है; क्योंकि (देखने में आता है कि) बार-बार मरता और पैदा होता है। यदि ऐसा न हो तो किये कर्मों का नाश आदि मानना पड़ेगा (जो असंगत है)।।३०४।।** यदि मनुष्य मरता नहीं, संसार का प्रलय होता नहीं, तब तो 'न ह्यनीदृशं जगत्' आदि मीमांसकानुसार सब कुछ सनातन मान भी लेते लेकिन सभी प्राणी मरते, सब चीज़ें नश्वर दीखते वैसा मानना असंगत है। यह भी अमान्य है कि मरकर प्राणी फिर पैदा नहीं होता : ऐसी संभावना उठाने वाले का भाव है कि याज्ञवल्क्य उसी का मूल पूछ रहे हैं जो नष्ट होकर पैदा होगा; जो मौजूद है उसका तो पूछ नहीं रहे; यदि नष्ट होकर उत्पत्ति हुआ ही न करे तो प्रश्न व्यर्थ हो जायेगा! जैसे फूटा घड़ा फिर नहीं पैदा होता ऐसे न प्राणी न जगत् नष्ट होकर पैदा होते हैंयह कल्पना करने से याज्ञवल्क्य का प्रश्न निर्मूल रह जायेगा। किंतु ऐसा मानने में दोष है कि प्राणी के कर्म निष्प्रभावी मानने पड़ेंगे अर्थात् जो पुण्य-पाप किये उनका उसे फल भोगना ही नहीं पड़ायह स्वीकारना पड़ेगा। यदि दुबारा पैदा होता तभी पूर्वकृत का फल भोगता, जब पैदा होना ही नहीं तब फल भोगने का प्रश्न ही नहीं। और यदि यों कर्मफल की व्यवस्था नहीं तो शास्त्र निरर्थक हो जायेगा। किं च, प्राणी उत्पन्न होते ही सुख-दुःख भोगते हैं। उनमें कारण क्या, यदि पूर्व में वह प्राणी था ही नहीं कि कोई पुण्य-पाप लेकर यहाँ आया हो? इस प्रकार अकृत-अभ्यागम अर्थात् जिस सुख-दुःख की सामग्री तैयार की नहीं थी वह अकस्मात् आ गयीयह भी असंगत परिस्थिति हो जायेगी। इसलिये यह मत ग़लत है। कुछ तार्किक भी इसी तरह समस्तकार्यों का ध्वंसरूप महाप्रलय हो गया तो पुनः सृष्टि होगी ही नहींऐसी कल्पना करते हैं क्योंकि 'समस्त' में अदृष्ट भी आ जायेगा और वह न रह जाने पर सृष्टिहेतु नहीं बचेगा। लेकिन सृष्टि-प्रलय का क्रम शास्त्र-संमत होने से यह भी मान्यता ठीक नहीं। इस तरह न्याय मीमांसा स्वभाववाद आदि कई पक्षों का यहाँ संग्रह कर 'जात एव न जायते' यह श्रुतिवाक्य है।।३०४।।

को न्वेनं जनयेन्मर्त्यमित्युक्ता न विदुर्द्विजाः।
जित्वा तान् याज्ञवल्क्यस्तु गोसहस्रं गृहीतवान्।।३०५।।

श्रुत्युपदेशः

मुनिपृष्टं जगन्मूलं मुमुक्ष्वनुजिघृक्षया।
आह विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतिरादरात्।।३०६।।
विज्ञानमिति चैतन्यं न क्रिया नापि तत्फलम्।
न कारकं न चाभासः[1] क्रियादेः किंतु भासकम्।।३०७।।

प्रश्न पूरा करते हैं **कौन इस मरणधर्मा को उत्पन्न करता है?यों पूछा गया तो द्विजों को इसका उत्तर मालूम नहीं था। उन सब को जीतकर याज्ञवल्क्य हज़ार गायें ले गये।।३०५।।** भले ही आरुणि, गार्गी आदि ब्रह्मवेत्ता वहाँ रहे हों लेकिन याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उत्तर उन्हें नहीं सूझा। ब्रह्म को वे जानते हों पर उत्तर तो प्रश्नानुसार व्यक्त करना पड़ता है। याज्ञवल्क्य के प्रश्न के अनुसार ब्रह्म को मूल कैसे कहा जाये, उन्होंने जिस तरह घटाकर दिखाया यों कैसे सदृष्टान्त बताया जाये, यह उन विद्वानों को समझ नहीं आया। किं च ब्रह्मवेत्ताओं द्वारा याज्ञवल्क्य की महत्ता स्वीकार चुकने के बाद ही शाकल्य आगे बढ़ा था अतः उसके समाप्त हो जाने के बाद याज्ञवल्क्य की ब्रह्मिष्ठता न व्यक्त हो यह कोई चाहता भी नहीं था कि इस प्रश्न का जवाब देता। इस तरह याज्ञवल्क्य की विजय हुई और जो गायें उनके शिष्य सामश्रवा ने घेर रखी थीं, उन पर उनका स्वामित्व सर्वसंमत हो गया। याज्ञवल्क्य में ऐसी जयेच्छा, गायें ग्रहण करने की इच्छा, शाकल्य के प्रति प्रकट हुआ क्रोध इत्यादि सब जीवन्मुक्तिकालिक बाधित प्रवृत्तियाँ हैं। जैसे शांति आदि वैसे ये, सभी क्षेत्रधर्म हैं जिन्हें मुक्त क्षेत्र में ही देखता है, बद्ध की तरह स्वयं में नहीं। निदिध्यासनादि के समय बहिर्मुखता नहीं रहती, बहिर्मुखता प्रारब्धवश होने पर भी तत्त्वज्ञान के प्रभाव से बाध्यमान ही रहती है, मुक्त को उसकी वैसे ही प्रतीति होती है जैसे हमें आकाश में नीलिमा की। हमें देखते हुए भी मालूम है कि आकाश नीला नहीं, ऐसे मुक्त को सारा द्वैत नहीं है यह ज्ञान बना रहता है, प्रारब्धरूप उपाधि से व्यवहार भी कर लेता है। इस तरह आख्यायिका पूरी हुई।।३०५।।

अध्यायसमाप्ति में श्रुति ने 'विज्ञानमानन्दं' आदि कहा, उसे समझाते हैं **मोक्षेच्छुकों**

---

१. चाभावःइति अनुभूतिप्रकाशपुस्तकेषु। वार्तिकेऽपि ३.९.१५२ 'न चापि तदभावश्च' इत्येवमभावपक्षो वर्णितः। तथापि 'चाभासः' इति वार्तिकसारपुस्तकयोः दृष्ट्वाऽत्र मूले तथा निवेशितः।

निर्धूताशेषदुःखौघहेतुत्वात् सुखमेव तत्।
अथैष परमानन्दो यो वै भूमेति शास्त्रतः।।३०८।।

पर अनुग्रह करने की इच्छा से श्रुति ने याज्ञवल्क्य मुनि द्वारा पूछे गये जगद्मूल का सादर कथन किया कि वह विज्ञानरूप, आनन्दरूप है।।३०६।। 'विज्ञान' अर्थात् चैतन्य, न कि कोई क्रिया या क्रिया का फल या क्रियाका जनक या क्रियादि से सम्बद्ध आभास वरन् वही जो सबका भासक है।।३०७।। वह सुख ही हैं क्योंकि सब दुःखसमूह के हेतु से रहित है। 'अब यही परम आनंद है' (बृ.४.३.३३) 'जो निश्चित रूप से बहुतायत (व्यापक) है' (छा. ७.२४.१) आदि वेदवचनों से जगत् का मूल सुख ही है यह निर्णीत है।।३०८।। याज्ञवल्क्य तो गायें लेकर चलते बने पर जो मुमुक्षु वेद के भरोस बैठे हैं उन्हें उस प्रश्न का उत्तर कौन बतायेगा! अतः मुमुक्षुओं की उपेक्षा बिना किये श्रुति ने समझाया कि विज्ञान-आनंदरूप ब्रह्म ही वह मूल कारण है। 'सादर' अर्थात् यह बताना तात्पर्यतः है, इसमें श्रुति प्रमाण है। मुमुक्षुओं को भी महत्त्व दिया इसलिये उनके प्रति आदर रखा यह भी भाव है। उपाधियाँ बदलने पर भी विज्ञानस्वरूप एक ही रहता है जिससे संसार-प्रवाह चलता रहता है। नदी बहती है पर उस गहरायी वाली धरती पर जो नदीतल कहलाती है; जगत्प्रवाह का तल, अधिष्ठान विज्ञान-आनन्द ब्रह्म है, उसी पर यह सब उपलब्ध है। समष्टि-व्यष्टिरूप ईश्वर-जीव प्रवाहस्थानीय ही हैं। मूल तो अधिष्ठान है। उसका स्वरूप 'विज्ञान' अर्थात् अनुभव है। सब कुछ अनुभव पर स्थित है। अनुभवमात्र क्योंकि अद्वय है इसलिये आनंदरूप है। दुःख हमेशा अनुभवातिरिक्त किसी-न-किसी कारण से ही होता है। बिना कारण के दुःख कभी नहीं होता, आनन्द ही अकारण होता है। विज्ञान से अन्तःकरण-परिणाम आदि ज्ञान-धात्वर्थरूप क्रिया, उसका फल या उसका हेतु नहीं वरन् सर्वभासक साक्षात् चैतन्य कहा जा रहा है। आभास अर्थात् वृत्ति संवलित चेतन अथवा नैयायिकाभिमत मनःसंयुक्त आत्मा भी यहाँ विज्ञान नहीं है। 'न चाभावः' पाठ में (श्लोक. ३०७) अर्थ है कि वृत्त्यादिरूप लोकप्रसिद्ध ज्ञान का अभाव मात्र भी यहाँ विज्ञान नहीं वरन् उनके अभाव का भी भासक विज्ञान है। अभाव को विज्ञान मानना संभवतः शून्य को चरम मानने वाले क्षणिक विज्ञानवादियों को अभिमत हो। यहाँ तो अनुभवरूप साक्षी विज्ञान कहा जा रहा है। वह दुःख-हेतुओं से अस्पष्ट, उनका भी साक्षी ही है अतः आनंदरूप है। सब दुःखसमूहों का हेतु है आत्मवस्तु का अज्ञान, उसका भी आत्मा तो साक्षी ही है, अतः दुःख की आत्मा में संभावना नहीं, स्वारसिक आनंद ही उसका स्वरूप है। दुःखहेतु अज्ञान का

अव्यावृत्ताननुगतभास्वद्विज्ञानमात्रतः।
निरवद्यान्वयत्वात्तत्साक्षाद् ब्रह्मेति भण्यते।।३०९।।[1]
तदेवाऽविद्यया शक्त्या भोगमोक्षप्रदातृ हि।
अनुगृह्णातु तद्भूयो विद्यातीर्थमहेश्वरः।।३१०।।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितेऽनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यकोपनिषदि आश्वलायनादिमुनिबोधो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

नितरां विधूनन श्रवण-मनन निदिध्यासन के सतत अभ्यास से ही संभव है। केवल एक साधन से सर्वथा उन्मूलन नहीं होता। शास्त्र का भी बारम्बार विचार करें, युक्तियों का भी पुनः पुनः आलोचन करें तथा 'ऐसा ही है' इस निश्चय को लगातार कायम रखें (क्योंकि यही निदिध्यासन है) तभी आनन्दरूप का आविर्भाव होता है। निष्ठा की कमी रहते प्रयास करने पर दुःख हटेगा, फिर भी तीव्र प्रारब्ध होने पर नहीं हट पायेगा; निष्ठा होने पर दुःख रहेगा ही नहीं, यदि प्रारब्ध लायेगा भी तो क्षेत्र में लाकर रख देगा, विज्ञान तो निर्दुःख आनंद ही रहेगा। बृहदारण्यक में आनंदमीमांसा में ब्रह्मलोक तक गणित कहकर 'अथ एष एव परम आनन्दः एष ब्रह्मलोकः' (४.३.३३) से गणितसमाप्ति कही अतः वही अंतिम तत्त्व विवक्षित मानकर यहाँ आनन्दरूपता में उसे उद्धृत किया। भूम-वाक्य छान्दोग्य के विवरण में (अनु. प्र.४. श्लोक ३९ आदि) दर्शनीय है।।३०६-८।।

'विज्ञानमानन्दं' के बाद आये 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ कहते हैं **क्योंकि वह न व्यावृत्त है न अनुगत वरन् भासमान अनुभवात्मक ही है तथा उसमें शास्त्र का निर्दोष समन्वय है इसलिये उसे साक्षात् ब्रह्म कहा है।।३०९।।** उक्त विज्ञान व्यावृत्त नहीं अर्थात् कुछ भी इससे अलग नहीं, इसके बिना नहीं जैसे साँप, जलधारा आदि रस्सी से अलग नहीं। क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त कुछ वास्तविक नहीं इसलिये वह अनुगत भी नहीं। 'निरवद्यान्वयत्वात्' यह निर्णयसागर एवं मद्रास संस्करणों का तथा पुणेविश्वविद्यालय में संपादित संस्करण का पाठ है। अर्थ है कि इसमें शास्त्र का समन्वय निर्दोष है। अथवा निरवद्यता का अन्वय है अर्थात् यह विज्ञान निर्दोष है। मुत्तुशास्त्री 'निरवद्याद्वयत्वात्' पाठ मानते हैं अर्थात् उसकी अद्वयता अशंकनीय है। सार में (३.९.७२) 'निरविद्याऽद्वयत्वात्'; पाठ है अर्थात् वह अविद्यारहित एवं अद्वितीय है। सभी पाठ ठीक हैं। 'भास्वद्विज्ञान'

---

१. 'निरविद्याऽद्वयत्वात्तत्'इति सारपाठः।

कहकर सत्त्वगुणकार्यभूत विज्ञान की व्यावृत्ति समझनी चाहिये। सत्त्व से होने वाला सापेक्ष विज्ञान जबकि जगन्मूल निरपेक्ष विज्ञान है। सत्त्वकार्य विज्ञान अज्ञान को विषय नहीं कर सकता (क्योंकि उसका नाशक है) जबकि आत्मविज्ञान अज्ञान को भी विषय करता ही है अतः यह सर्वभासक है जबकि सत्त्वकार्य सर्वभासक नहीं। ऐसा यह आनन्दरूप विज्ञान साक्षात् अर्थात् प्रत्यक्, अपरोक्ष है। इसे ही यहाँ ब्रह्म कहा है।।३०६।।

अन्त में 'रातिर्दातुः परायणः' कहा; यहाँ 'रातेः' यों षष्ठ्यन्त के अभिप्राय से 'रातिः' कहा है। राति अर्थात् धन का जो दाता होता है अर्थात् दानादि कर्मी होता है उसका यह 'परायण' अर्थात् फलदाता है। किं च 'तिष्ठमानस्य तद्विदः' जो उस विज्ञान का अनुभवी, मात्र उसी रूप से रहता है, उसका भी यही 'परायण' अर्थात् मोक्षदाता है। यह भाव सूचित करते हुए अध्याय पूरा करते हैं **वही अविद्याशक्ति से भोग व मोक्ष दोनों प्रदान करता है अतः विद्यातीर्थमहेश्वर रूप धारण किया वह तत्त्व और अधिक कृपा करे।।३१०।।** निरविद्य अद्वय में प्रदातृत्व नहीं लेकिन अविद्यारूप शक्ति से है। वह युगपत् निरविद्य और अविद्या-शक्ति वाला हो सकता है; परमार्थतः निरविद्य तथा व्यवहार की अपेक्षा से, भोग-मोक्ष के अधिकारियों की अपेक्षा से, अध्यास की अपेक्षा से अविद्याशक्ति वाला है। सार में यहाँ 'यत्र वाऽन्यदिव स्यात्' और 'यत्र सर्वमात्मैवाभूत्' वाक्यों के परामर्श से (श्लोक ७५) यह सूचित है। इसी तरह भोगप्रदातृता और मोक्षप्रदातृता में अंतर है, भेद रखते हुए भोग देता है लेकिन मोक्ष देता है अभेद रखते हुए। यह भी सार (७६) में कहा 'तस्मात्तमस्विनो ब्रह्म भेदेनैव परायणम्। ध्वस्ताऽविद्यस्य चैकात्म्यात् कैवल्येन परायणम्।।' अध्याय-समाप्ति में आचार्य कहते हैं कि विद्यातीर्थ नामक आचार्य भी उसी विज्ञान आनन्द ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति-विशेष हैं, उन्होंने पर्याप्त कृपा हम पर की है लेकिन क्योंकि वे हैं ही भोग-मोक्ष के प्रदाता इसलिये और अधिक कृपा से हमें कृतार्थ करें। आगे के अध्यायों को रचने की सामर्थ्य, ब्रह्मनिष्ठा आदि की अपेक्षा से 'अधिक' कृपा की प्रार्थना है।।३१०।।

।। सत्रहवाँ अध्याय।।

ॐ

जनकविद्याप्रकाशः

अष्टादशोऽध्यायः

षष्ठाध्याये याज्ञवल्क्यो जनकायोपदिष्टवान्।
उपास्तिं तत्त्वविद्यां तु संग्रहाद्विस्तरादपि।।१।।

जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद : अठारहवाँ अध्याय

पूर्वाध्याय में याज्ञवल्क्य ने प्रश्न ही उठाया था, उत्तर श्रुति ने भले ही दिया लेकिन मुनि के मुख से निर्णय प्रकट नहीं हुआ अतः जिसने ब्रह्मिष्ठ पता लगाने का प्रयास किया था वह जनक तो वंचित-सा रह गया। इसलिये याज्ञवल्क्य ने उचित समझा कि उससे मुलाकात करें। किं च पिछले अध्याय में जल्प अर्थात् जीत हासिल करने के लिये बातें की गयी थीं अतः वहाँ समझाना उद्देश्य नहीं था जबकि जनक वादी के रूप में समझना चाहने वाला तो था नहीं, अतः वाद अर्थात् गुरु-शिष्यादि के संवाद के ढंग से तत्त्व का उपस्थापन आवश्यक समझकर भी याज्ञवल्क्य फिर उपस्थित हुए। जनक ने पूछा 'और जानवरों की इच्छा से आये हो या सूक्ष्म तत्त्वों के विचार की इच्छा से?' याज्ञवल्क्य ने कहा 'दोनों ही प्रयोजन हैं! अगर कुछ चाहिये न होता तो आश्रम छोड़कर क्यों आता एवं कुछ बताऊँगा नहीं तो तुम दोगे काहे को!' यों यथाव्यवहार स्थिति व्यक्त की। उपदेश देने से पूर्व जनक से पूछा 'जो तुमने आचार्यों से सीखा है वह बताओ।' शिष्य के ज्ञानादि समझ-बूझकर ही उचित उपदेश संभव है। जिस क्रम से शिष्य अब तक चला है, यथासम्भव उसी ढंग से उसे आगे बढ़ाना योग्य है। बहुधा ऐसा हो जाता है कि जो शिष्य को श्रद्धा से गृहीत है, उपदेष्टा उसका निरास कर देता है तो शिष्य उद्विग्न हो जाता है, कदाचित् निर्विशेष से ही विमुख हो जाता है। अतः क्रमानुसार दृष्टि को परिपक्व करना ठीक है। किंच शिष्य की जानकारी के क्षेत्र में आचार्य की जानकारी उससे अधिक हो तो शिष्य को आचार्य पर श्रद्धातिशय होता है और तब जब आचार्य किसी साधन को अक्षम बताता है तो शिष्य को स्वीकार होता है। सगुणोपासना से आगे बढ़ने को कहें तो प्रायः शिष्य के मन में आता है 'शायद गुरु को इस उपासना का, इसके प्रभाव का ज्ञान नहीं इसलिये इसे अक्षम बता रहे हैं!' लेकिन जब समझ आये कि उस विद्या में पारंगत

उपासनोपन्यासः

ध्यानादिहैव देवः सन्मृत्वा देवत्वमाप्नुयात् ।
प्रथमब्राह्मणे प्रोक्तं चतुष्पाद्ब्रह्मचिंतनम् ।।२ ।।

होकर गुरु बोल रहा है तब यह भाव नहीं आता। जनक ने समझी हुई जो-जो विद्या बतायी उस सबमें जो-जो कमी थी वह याज्ञवल्क्य ने सूचित कर दी तो जनक को निश्चय हो गया कि इन सबके बारे में तो याज्ञवल्क्य की जानकारी पूर्ण है। अतः जब याज्ञवल्क्य ने कहा कि 'आगे के लिये क्या तैयारी कर रखी है? (४.२) तब जनक ने अपनी उपासना-कर्मरूप सम्पत्ति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि समझ गया कि इस सबको जानने के बावजूद प्रश्न है तो किसी और तैयारी के अभिप्राय से ही होगा। अतः याज्ञवल्क्य का उपदेश कारगर हो गया। इस अध्याय में छह ब्राह्मण हैं। पहले में क्रममुक्तिफलक उपासनाएँ कही हैं, दूसरे में प्रत्यगात्मा का वर्णन है, तीसरे में परलोक व मोक्ष का निरूपण है, चौथे में तत्त्वोपदेश, पाँचवें में साधन-विधान और छठे में वंश-उल्लेख है। विद्यारण्यस्वामी इस ग्रंथ में उपासना-भाग का विस्तार नहीं कर रहे, तत्त्वज्ञान का ही प्रतिपादन कर रहे हैं तथापि इस अध्याय को पिछले अध्याय से भी ज़्यादा, ३२४ श्लोकों में समझायेंगे। इस ग्रंथमें यही सबसे बड़ा अध्याय है। वैसे इस ग्रंथ में सर्वाधिक श्लोक बृहदारण्यक उपनिषत् को ही समझाने में लगे हैंअध्याय १३ से १८ तक इसी के स्थलों का व्याख्यान कुल ११९६ श्लोकों में करते हैं जबकि बाकी इस ग्रंथ में कुछ १०७८ श्लोक हैं! अर्थात् बाकी सब उपनिषदों को मिलाकर जितने श्लोकों की ज़रूरत समझी उससे ज़्यादा बृहदारण्यक को समझाने के लिये समझी। फिर, इससे भी विस्तृत इस उपनिषत् की 'वार्तिकसार' नामक व्याख्या की एवं माध्यन्दिनशाखीय उपनिषत् पर दीपिका भी लिखी। इस से पता चलता है कि आचार्य विद्यारण्य इसे कितना अधिक महत्त्व देते हैं।

अध्याय-प्रतिज्ञा से प्रारम्भ करते हैं **छठे अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक के हितार्थ संक्षेप एवं विस्तार से उपासना तथा तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया।।१।।** 'छठा' आरण्यक के क्रम से, चौथा उपनिषत् के क्रम से समझना चाहिये। उपासना का संक्षेप और तत्त्वज्ञान का विस्तार किया यह भाव है। किंतु प्रारम्भिक उपासनाएँ जनक को ज्ञात ही थीं अतः उनका विस्तार अपेक्षित ही नहीं था, केवल कमी पूरी करनी ज़रूरी थी अतः संक्षेप उचित होने से ऐसी रीति रखी।।१।।

उपासना-प्रसंग का उपन्यास करते हैं **ध्यान से यहीं देव हुआ मरकर देवभाव पायेगा। पहले ब्राह्मण में चार चरणों वाले के रूप में ब्रह्म का चिन्तन बताया**

वागाद्या देवतास्तासाम् आधारस्तत्तदिन्द्रियम्।
अव्याकृतं च नामेति पादाश्चत्वार ईरिताः।।३।।
असमाप्तेः पुमर्थस्य न मुख्यमनुशासनम्।
तद्दत्तां याज्ञवल्क्योऽतो नाग्रहीद् गुरुदक्षिणाम्।।४।।

है।।२।। चार चरण ये कहे हैंवाग् आदि देवता, उनके आधार वे-वे इंद्रियाँ, अव्याकृत उनकी प्रतिष्ठा तथा उनके नाम।।३।। जनक को शैलिनि आदि ने एक-एक ही चरण बताया था जैसे 'वाक् ब्रह्म है', याज्ञवल्क्य ने बाकी तीन भी बताकर सारे अंग पूरे किये। अधूरे उपदेश के बावजूद याज्ञवल्क्य ने सभी आचार्यों की प्रशंसा की 'यथा मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् ब्रूयात् तथा...अब्रवीत्' कि उन्होंने वैसा ही उपदेश दिया जैसा माता-पिता-आचार्य द्वारा शिक्षित को देना चाहिये। भाव है कि विद्योपदेश श्रेष्ठ है, उपदेष्टा अवश्य आदरयोग्य है, अधूरा बताना अनेक हेतुओं से संभव है, इतने से उसमें कमी न खोजी जाये। छह आचार्यों ने जनक को उपासनाएँ सिखायीं थीं। ये सब ब्रह्मोपासना हैं। इनमें उपास्य से अभेद का ध्यान रखा जाता है अर्थात् विहित विशेषताओं युक्त उपास्यको मैं समझकर ध्यान होता है। अतः इसी जीवन में अभिमानरूप देवभाव अर्थात् देवता से अभेद का सप्रयास बोध होकर मरने पर उपास्य से तादात्म्य प्राप्त हो जाता है। प्रतीकादि भेदोपासना से ऐसा उत्तम फल नहीं मिलता यह सूत्र-भाष्यादि में स्पष्ट है। तत्त्वसाक्षात्कार होते ही सफल है, मरने की इन्तज़ार या मरने के पश्चात् विशेष फल देने वाला नहीं होता। यहाँ कही उपासना में पाद या चरण से जानवरों के पैरों जैसा नहीं वरन् हिस्सा अर्थ में पाद या चरण कहा अर्थात् प्रत्येक देवता की ब्रह्मरूपता का ध्यान करते हुए चार बातें सोचनी हैं। जनक को जिनसे उपदेश मिला था वे थे १. जित्वा शैलिनि २. उदंक शौल्बायन, ३. बर्कु वार्ष्णि, ४. गर्दभीविपीत भारद्वाज ५. सत्यकाम जाबाल एवं ६. विदग्ध शाकल्य। इन्होंने क्रमशः वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय का ब्रह्मरूप से ध्यान करने को कहा था। याज्ञवल्क्य ने हर एक के बाकी तीन हिस्से बताये कि देवरूप वाक् आदि के साथ इनके आयतनभूत इंद्रिय, प्रतिष्ठाभूत अव्याकृत और तत्तत् नाम का भी चिन्तन कर्त्तव्य है। स्मर्तव्य है कि शाकल्य ने जनक को हृदय-ब्रह्म सिखाया था; इसी स्तर तक वह याज्ञवल्क्य से प्रश्न कर पाया था; स्वयं पूरी जानकारी के अभाव में उसकी उपासना फल न पाने से उसकी दुर्गति हुई।।२-३।।

प्रत्येक देवता के साथ तीन चरणों का उपदेश पाकर जनक दक्षिणा देने को तैयार होता था पर मुनि मना कर देते थे। उनका ऐसा करना क्यों था, यह बताते

है **शिष्य को पुरुषार्थ भली भाँति प्राप्त न होने तक मुख्य उपदेश पूरा नहीं होता इसलिये जनक द्वारा अर्पित गुरुदक्षिणा मुनि ने ली नहीं।।४।।** हर बार जनक को यह कहकर मना करते थे 'पिता मेऽमन्यत, नानुशिष्य हरेत' कि 'मेरे पिता मानते रहे कि अनुशासन (उपदेश) पूरा हुए बगैर गुरुदक्षिणा नहीं लेनी चाहिये।' अर्थात् जनक समझ लेता था कि आगे और समझने योग्य बचा है। यहाँ उपदेश की पूर्ति का रूप बताया पुरुषार्थ की समाप्ति अर्थात् कृतकृत्यता; जो कुछ चाहिये वह जब तक पूरा मिले नहीं, पुरुष को कुछ भी प्रार्थित रह जाये, तब तक उपदेश पूरा नहीं हुआ। प्रार्थना इसी से होती है कि प्रार्थित वस्तु आदि से आनंद होगा अतः निश्चित है कि स्वयं को आनंदरूप नहीं जान रहा! जब आत्मा से अतिरिक्त को समझ ले कि उससे प्रेम किया तो वह रुलायेगी ही, दुःख ही देगी, तब पुरुषार्थ समाप्त होगा। मुख्य ब्रह्मवेत्ता होने से याज्ञवल्क्य ऐसा मुख्य उपदेश दिये बिना दक्षिणा लेना अयोग्य समझते थे। पूर्व में जो गायें ली थीं वे गुरुदक्षिणा नहीं थीं, वरन् शर्त्त पर जीती थीं, चुनौती स्वीकार कर ग्रहण की थीं अतः वहाँ यह नियम लागू नहीं होता। यहाँ उपदेश के निमित्त जनक देना चाहता था इसलिये यह गुरुदक्षिणा है। गुरुदक्षिणा लेने से गुरु 'शिष्य को जो कुछ सिखाना था, सिखा चुका' ऐसी मानो घोषणा कर देता है; अगर शिष्य को अभी सीखना बाकी है तो गुरु कैसे दक्षिणा ले! भारतीय शिक्षा-प्रणाली में यह विशेषता रही कि शिष्य की आर्थिक स्थिति पर शिक्षा कभी निर्भर नहीं रही, शिष्यों ने अपनी-अपनी योग्यतानुसार गुरुओं की, गुरुकुलों की सेवा की तथा गुरुओं ने समग्र शिक्षा देने तक शिष्यों को उन्मुक्त नहीं छोड़ा अतः अधकचरे जानकारों से विद्याओं में शैथिल्य नहीं आ पाया एवं समाज को जो विद्वान् मिले वे समूची विद्या से सम्पन्न ही रहे। आधुनिक प्रणाली मुख्यतः पैसों पर टिकी है, छात्रों को समूची जानकारी मिले इसकी शिक्षकों को परवाह भी नहीं, उनका ऐसा दायित्व भी नहीं माना गया, यत्किंचित् रटकर परीक्षा उत्तीर्ण होने मात्र से प्रमाणपत्र दिये जाते हैं जिससे सर्वथा ग़ैरजानकार लोग विद्वानों के रूप में घूम रहे हैं एवं स्वयं अध्यापक भी बन रहे हैं! ऐसी प्रणाली के पुरोधा जब प्राचीन पद्धति के दोष गिनाते हैं तब समझदारों को उनकी निर्लज्जता पर शरम आती है। याज्ञवल्क्य ने आदर्श उपस्थित किया कि शिष्य को समूची शिक्षा दिये बिना उससे कुछ लेना ग़लत है।।४।।

पहले ब्राह्मण का इतना ही संक्षेप कर श्लोक २२ पर्यन्त द्वितीय ब्राह्मण समझाते

द्वितीये ब्राह्मणे जाग्रत्स्वप्नसुप्तिमुखाद् निजम्।
आत्मानं शास्त्यतो राजा यथाविध्युपसन्नवान्।।५।।
उक्तोपासनतः प्राप्यो देवभावः पुरोदितः।
देवत्वान्मुच्यमानेन प्राप्यं पृच्छत्यसौ मुनिः।।६।।

है **दूसरे ब्राह्मण में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति के सहारे निज आत्मा का उपदेश दे रहे हैं अतः राजा विधिवत् याज्ञवल्क्य की शरण गया।।५।।** उपनिषत् में कहा है 'जनको ह वैदेहः कूर्चाद् उपावसर्पन्नुवाच, नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य! अनु मा शाधि' कि सिंहासन से उतरते हुए जनक ने याज्ञवल्क्य को नमस्कारकर उपदेश की याचना की। इससे आचार्य विद्यारण्य बता रहे हैं कि जनक अभी तक शिष्यभाव से बात नहीं कर रहा था लेकिन जब पूर्व ब्राह्मण में उसे पता चल गया कि उसकी समूची जानकारी से याज्ञवल्क्य का ज्ञान महान् है तब वह उनमें गुरुभाव रखकर स्वयं शिष्यभाव से उनके संमुख आया। उसे मालूम था कि शिष्य गुरु के संमुख राजा की हैसियत से बैठकर उपदेश ग्रहण नहीं कर सकता। सारे अभिमान छोड़ने पर ही परम उपदेश लिया जा सकता है। यहाँ मुनि जाग्रदादि अवस्थाओं के माध्यम से आत्मा का वर्णन करेंगे। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय ये चार पाद प्रसिद्ध हैं; पहले राजा चार पादों से ब्रह्म सुन चुका है अतः यहाँ भी चार पादों के अनुरोध से उपदेश सुग्राह्य होगा ऐसा मुनि का भाव है। तीन अवस्थाएँ सभी को प्रत्यक्ष हैं, इनसे चौथा (तुरीय) वह जो तीनों में आता-जाता है; उस-की कही जाये ऐसी कौन अवस्था होगी! वह किसी में बँधा न होने से वस्तुतः उसकी कोई अवस्था नहीं, अतः वह चौथा ही है। उसे अवस्थारहित तो समझ सकते हैं, अवस्थावान् तो वह नहीं ही है। याज्ञवल्क्य इन्हीं पादों से निज अर्थात् प्रत्यग्रूप आत्मा का कथन करेंगे। यद्यपि आत्मोपदेश मिलेगा इसलिये तो राजा कुर्सी से नहीं उतरा क्योंकि वह आत्मवस्तु से अनभिज्ञ था, तथापि शास्त्र मर्यादा बता रहा है कि आत्मविद्या का आदान-प्रदान यथाविधि ही उचित है। किं च जनक सत्संगी होने से जानता ही था कि उपास्य ब्रह्म से परे केवल ज्ञेय ब्रह्म है अतः जब उपास्य की पूर्णता से आगे सीखना था तब वह आत्मतत्त्व को ही जानने के लिये कुर्सी से उतरा। इससे मुनि भी सावधान हो गये कि आत्मवस्तु की ओर ही उसे ले जाना है।।५।।

उपदेश-प्रारम्भ के लिये मुनि-राजा के प्रश्न उत्तर बताते हैं **उक्त उपासना से प्राप्तव्य देवरूपता पहले कही। देवभाव से छूटता साधक क्या पायेगा?यह मुनि ने पूछा।।६।। राजा बोला 'गन्तव्य तो नहीं जानता!' यों अपने में मौजूद**

इन्धविद्या

गन्तव्यं तु न जानामीत्यविद्यां स्वात्मनि स्थिताम्।
प्रकटीकुर्वतो राज्ञ इन्धतत्त्वमुपादिशत्।।७।।
इन्धतेऽहर्निशं यस्मादिन्धनामा ततः पुमान्।
वीर्यवद्दक्षिणं चक्षुः श्रौतो वातिशयोऽत्र हि।।८।।

अविद्या प्रकट करने वाले राजा को मुनि ने 'इन्ध' तत्त्व का उपदेश दिया।।७।। देवभाव प्राप्य है, जो मिलता है वह छूटता ही है अतः देवभाव भी छूटेगा, तब क्या गति होगीयह प्रश्न है। यद्यपि मनुष्यादि लोकों में पुनरावृत्ति होगी यह कह सकते हैं तथापि यह कोई गन्तव्य नहीं, केवल भटकना है, इसलिये मुनि के प्रश्न का यह उत्तर नहीं। उपासना क्रममोक्षफलक होने पर भी देवभाव और मोक्ष के मध्यवर्त्ती स्तर को राजा नहीं जानता था, यह भाव है। अतः भाष्यकार ने 'क्या वस्तु पाओगे' ऐसा व्याख्यान किया। राजा स्वयं को अज्ञ पहचानकर जिज्ञासु हो गया तभी उपदेश शुरू किया गया क्योंकि जिज्ञासु ही उपदेश का ग्राहक हो सकता है। सही या ग़लत किसी एक कोटि में स्थित को उपदेश देने पर भी वह ग्रहण नहीं करता, जिसे जिज्ञासा हो वही ग्रहण करता है।।६-७।।

याज्ञवल्क्य ने उपदेश प्रारंभ किया आत्मा को 'इन्ध' नाम वाला और दायीं आँख में रहने वाला बताते हुए। वह उपदेश सुनाते हैं **रात-दिन स्फुरता रहता है इसलिये पुरुष 'इन्ध' नाम वाला है। दायीं आँख ताकत वाली है (इसलिये) या दायीं आँख में वेदसंमत खासियत है (इसलिये पुरुष इसमें रहने वाला कहा है)।।८।।** यद्यपि जाग्रत् में दायीं आँख में रहता है और 'रात-दिन' तो जगे नहीं रहते हैं तथापि रात हो या दिन, जगे होने पर दायीं आँख में रहता है यह तात्पर्य है। अथवा इन्धन ही रात-दिन कहा है, दायीं आँख में रहना नहीं। जागरित अवस्था में बाह्य विषयों से सम्पर्क, उनका भोग, उनसे क्रिया आदि व्यवहार चलता रहता है जिससे पुरुष की इन्धरूपता, स्फुरणात्मकता प्रकट होती रहती है, उसकी आवश्यकता व्यक्त होती रहती है। सुषुप्ति में भी प्रकाशमानता रहती है लेकिन व्यक्त नहीं हो पाती। इस पुरुष को दायीं आँख में रहने वाला कहा क्योंकि प्रायः मनुष्यों के दायें अंग-ज़्यादा ताकतवर होते हैं, लेकिन ऐसा ज़रूरी नहीं इसलिये श्रुतिसम्मत विशेषता मानकर वहाँ रहना संगत समझना चाहिये। ध्यान के लिये स्थान विहित होने से उसमें वैशिष्ट्य स्वीकार्य है। है सारे शरीर में, लेकिन वहाँ ध्यान किया जाये तो सफलता होगी, यह तात्पर्य है। जीव को तीन अवस्थाएँ उपलब्ध

परोक्षनामव्याजेन परमैश्वर्यवाचिनम् ।।
इन्धशब्दं[1] प्रयुंजान इन्धस्याहेश्वरात्मताम् ।।६ ।।
दक्षिणाक्षिणि चैतन्यं पुरुषो वामचक्षुषि ।।
चैतन्यं स्त्रीति भेदोऽयं कल्प्यते सुखबुद्धये ।।१० ।।

इसलिये हैं कि वह अपने स्वरूप का विवेक करे तथा दृश्य-मिथ्यात्व समझे। स्वप्न न होता तो दृश्य मिथ्या हो सकता है यह न लगता। स्वप्न से पता लगता है कि दृश्य सत्य होना आवश्यक नहीं। सुषुप्ति से पता चलता है कि स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों के बगैर भी मैं रहता हूँ, अतः इनसे स्वतन्त्र ही हूँ। जगद्मिथ्यात्व और आत्मनिरुपाधित्व, इन दोनों के अवगम में अवस्थात्रय-विचार अतीव उपयोगी है।।८।।

आत्मा, जीव आदि साधारण नाम न लेकर 'इन्ध' यह अप्रसिद्ध नाम लेने का प्रयोजन बताते हैं **ग़ैर-साक्षात् नाम के बहाने सर्वोत्तम ऐश्वर्य के बोधक 'इन्ध' शब्द का प्रयोग करते हुए बताया कि इन्ध का स्वरूप ईश्वर ही है।।६।।** याज्ञवल्क्य ने पहले तो दायीं आँख में रहने वाले को 'इन्ध' कहा फिर बताया कि इन्ध को ही इन्द्र कहते हैं क्योंकि देवता चाहते हैं कि उन्हें साक्षात् नाम से न पुकारा जाये। प्रश्न है कि इन्द्र-देवता तो यहाँ प्रकृत ही नहीं है, फिर इन्ध क्यों कहना पड़ा? अगर देवराज का प्रसंग होता तो परोक्ष नाम लेना सार्थक भी होता। इसके उत्तर में कहा कि याज्ञवल्क्य को बताना तो है कि जीव का स्वरूप ईश्वर से अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसके लिये उन्होंने परोक्ष नाम लेने का बहाना किया। इन्धयह परोक्ष नाम है इन्द्र का। इन्द्र-शब्द 'इदि' धातु से बनता है जिसका अर्थ परम ऐश्वर्य है; इस तरह इन्ध शब्द जीव के लिये प्रयोग कर परम ऐश्वर्य सूचित कर जीव-ईश्वर की एकता बतायी। (सार और मुत्तुशास्त्री श्लोक के उत्तरार्ध में 'इन्द्रशब्दं' पाठ मानते हैं।) हर समय जानते रहनायह जीव में प्रकट ऐश्वर्य है। सब देवरूप इन्द्रियों का अधिपति इन्द्ररूप इन्ध दायीं आँख में मौजूद रहता है। सब इंद्रियों द्वारा भोग इसी को अर्पित किया जाता है। इस तरह जीव-ईश्वर की एकता बताने के लिये सीधे के बजाये इन्ध नाम लिया।।६।।

आगे मुनि ने कहा कि बाँयीं आँख में स्थित पुरुष रूप ही इस इन्ध की पत्नी विराट् है। इस रूपक का कथन करते हैं **दायीं आँख में चेतन पुरुष है, बाँयीं आँख में चेतन स्त्री हैयह भेद समझने की सुविधा के लिये माना गया।।१०।।** बाँयी आँख में चेतन को स्त्री अर्थात् विराट् अर्थात् अन्न के रूप में समझकर ध्यान के लिये

१. इन्द्रशब्दम्इति सारे मुत्तुशास्त्रिणश्च पाठः।

उक्ता जाग्रदवस्थैवम् इन्द्रियव्यवहारकृत् ।
दम्पत्योः संगमः स्वप्नो हार्दाकाशोऽथ भण्यते ।।११।।
संभूयस्तुतिरत्रेति संस्तावो हृदये सुषिः ।
अणिष्ठान्नरसो रक्तपिंडो यः सोऽन्नमेतयोः ।।१२।।
हृद्यन्तः शतनाडीनां पुंजं प्रावरणं विदुः ।
स्वप्नाज्जागरणप्राप्त्यै मार्गो नाड्यूर्ध्वगामिनी ।।१३।।
यस्मादन्नरसः केशसहस्रांशेन संमितैः ।
नाडीभेदैः स्वप्नदृश्यं याति सूक्ष्मतरस्ततः ।।१४।।

यहाँ ऐसा कहा। आगे स्वप्न में इन्द्र-इन्द्राणी का मिलन बताने में भी रूपक का उपयोग है। जनक वैश्वानर (विराट्) को ही आत्मा जानता था, उसे स्त्री या अन्न के रूप में कहकर स्पष्ट किया कि वह अनात्मा या आत्मा की उपाधिमात्र है।।१०।।

'तयोरेष संस्ताव' इत्यादि वाक्य समझाते हैं **इन्द्रिय व्यवहार की स्थानरूप जाग्रद् अवस्था पूर्वोक्त ढंग से कही। अब पति-पत्नी का संगमरूप स्वप्न हृदयाकाश में बताया जाता है।।११।। मिलकर स्तुति करने का स्थान हृदयकाश 'संस्ताव' है। अतिसूक्ष्म अन्नरसरूप लाल पिण्ड पति-पत्नी के लिये अन्न है।।१२।। हृदय में स्थित सौ नाडियों के समूह को दम्पती का प्रावरण (परिधान) समझते हैं एवं हृदय से ऊपर को जाने वाली नाडी स्वप्न से जाग्रत् में आने का रास्ता है।।१३।। केश के हज़ारवें भाग जितनी सूक्ष्म नाडियों द्वारा क्योंकि अन्नरस स्वप्न-द्रष्टा तक आता है इसलिये तैजस और उसका आहार (विश्व और उसके आहार से) सूक्ष्म है।।१४।।** जाग्रत् में भी चेतन (इन्ध) और उपाधि (इन्द्राणी) मिलकर भोग करते हैं लेकिन बाह्य विषय भी आवश्यक रहता है। स्वप्न में बाह्य विषय का कोई उपयोग नहीं, चित्त (उपाधि) और चेतन ही परस्पर व्यवहार कर लेते हैं। दोनों की बराबर प्रधानता स्वप्न में है। स्वप्न-स्थान हृदयाकाश है। उसे संस्ताव कहा : पति-पत्नी एक-दूसरे की स्तुति जहाँ करें वह संस्ताव है। अन्य कोई न होने पर प्रायः दम्पती परस्पर प्रशंसा करते हैं। इन्द्र-इन्द्राणी हृदय में मिलते हैं, वहाँ बाहरी विक्षेप होता नहीं अतः मानो एक-दूसरे की स्तुति करते हों! उनके लिये अन्न है वह सूक्ष्म रस जो हृदय के भीतर लाल पिण्ड के रूप में उपलब्ध है। मल बनकर निकलने वाले से भिन्न जो देह में पचता है उसके स्थूल भाग से शरीर पुष्ट होता है एवं सूक्ष्म भाग (अणिष्ठ, अणुतम) से मन पुष्ट होता है ऐसा छान्दोग्य में वर्णित है। अतः मनःपोषक

स्वप्नावस्था समाप्ताऽथ तस्य प्राचीति वाक्यतः ।
सुषुप्तिरुच्यते तत्र युक्ता सर्वदिगात्मता ।।१५ ।।
साश्रयैः करणैर्हीनो ग्रस्ताध्यात्माधिदैवतः ।
सुषुप्तावेक एवास्ते प्रज्ञानघनविग्रहः ।।१६ ।।

हिस्सा यहाँ लोहितपिण्ड कहा गया। हृदय में एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमें से ऊर्ध्वगामिनी से अन्य नाडियाँ उस समय (स्वप्न के समय) इन्द्र-इन्द्राणी को (जीव-मन को) ढाँके रहती हैं मानो ओढ़ने का वस्त्रादि हो। फिर ऊर्ध्व नाडी से पुनः जाग्रत् में इन्द्र-इन्द्राणी दायीं-बायीं आँखों में पहुँच जाते हैं। स्वप्न में जो कुछ देखना-करना है उसकी ताकत भी मिलती अन्न से (उसके सूक्ष्मतम भाग से) ही है। वह अन्नरस सूक्ष्म है यह बताने के लिये केश के हज़ारवें हिस्से जितनी नाडियों में रहने वाले के रूप में उसे कहा, यहाँ आयाम में नहीं, सूक्ष्मता में तात्पर्य है। सूक्ष्म होने से उसके आधार पर वासनामय स्वप्नादि या विचारात्मक चिंतन-मनन ही संभव है, शारीरिक श्रमादि नहीं। तथापि अन्न से मन (तेजस) का पोषण होने से अन्न के गुण-दोष का प्रभाव पड़ता है, तदनुसार स्वप्नों में भी तारतम्य, सद्-असद् आदि भेद उपलब्ध होता है।।११-४।।

स्वप्न बातकर मुनि ने प्राणों को दिशारूप बताया, उसका भाव समझाते हैं **स्वप्न अवस्था का वर्णन पूरा हुआ। तदनन्तर 'पूर्व दिशा उसके (पूर्वदिग्वर्ती प्राण हैं)' आदि वाक्य से सुषुप्ति कही जा रही है, वहीं यह संगत है कि सर्वदिशारूपता हो।।१५।। आश्रय अर्थात् शरीर और करणों (इन्द्रियों) से रहित तथा अध्यात्म-अधिदैव अभिमानों से शून्य हुआ प्राज्ञ केवल प्रज्ञान के घनीभूत रूप वाला सुषुप्ति में अकेला ही रहता है।।१६।।** जाग्रत् में स्थूल व स्वप्न में सूक्ष्म भोग होते हैं पर हैं दोनों भोगावस्थाएँ अतः कर्मफलानुसार होती हैं। स्वप्न के बाद ऊर्ध्व नाडी से जाने पर तो जाग्रत् होगी लेकिन उससे न जाकर सूक्ष्म-परिच्छेद भी छोड़ देने पर सुषुप्ति होती है। वह भोगावस्था न होने से कर्मफलरूप नहीं वरन् जितनी देर कोई फल नहीं भोगना उतनी देर रहने वाली दशा है। अतः सुषुप्ति जीव की स्वाभाविक स्थिति है, जाग्रत्-स्वप्न तो प्रारब्धरूप उपाधि से होती हैं। सुषुप्ति में कर्म व भोग नहीं करने इसलिये वहाँ स्थूल-सूक्ष्म सीमाएँ छूट जाती हैं। क्रिया या भोग के लिये ही आत्मा को सीमित होना पड़ता है। परिच्छेद रहते ही भोक्ता-भोग्य का भेद हो सकता है। सीमा न रहने पर सुषुप्ति में व्यापकता हो जाती है जिससे उस जीव को सर्वदिग्रूप कहना बनता है। सुषुप्ति में देह-इंद्रियाँ तो छूटते ही हैं, जीव के अध्यात्म-अभिमान (मैं द्रष्टा

इन्धतैजससौषुप्तैर्विराट्सूत्रेश्वरा अपि।
संलक्षिता अथैतेषां तत्त्वमात्मोपदिश्यते।।१७।।
विराडिन्धादिभिर्भेदैरभिन्नो योऽवभासते।
स एष नेति नेत्यात्मा न कार्यं नापि कारणम्।।१८।।
तेनैव ज्ञात्मनाऽशेषं तद्ध्वान्तं ध्वान्तजं तथा।
जग्ध्वा नेत्यात्मना विद्वान् पूर्णदृष्ट्याऽवशिष्यते।।१६।।

श्रोता आदि) और उसके इन्द्रिय मन पर होने वाले अधिदेव अभिमान (अर्थात् देवताओं के अभिमान) भी नहीं रह जाते, वह केवल प्रज्ञा का पिण्ड बचता है। उस दशा में सारी दिशाओं से वह एक कहा गया है। प्रज्ञारूप होने पर भी विषय-करण-रहित होने से 'कुछ' जानता नहीं है। जानते हुए तो है ही, तभी 'सुख से सोया' यह याद करता है। उपनिषदें स्पष्ट करती हैं कि आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है, ऐसा नहीं कि मन आदि कुछ जुड़े तब ज्ञान हुआ करे! मन आदि विषयसंपर्क के लिये भले ही चाहिये रहें पर ज्ञान उन पर निर्भर नहीं। लोक में जैसे भोजन में कुछ मीठा खिलाना हो और मिश्री परोसें तो लोग उसे मिठाई नहीं मानते, जबकि सब मिठाइयों का मूल सार वही है! वैसे ही निर्विषय ज्ञान को साधारण लोग ज्ञान ही नहीं समझ पाते, जब वह विषयादि से मिला-जुला उपलब्ध होता है तभी उन्हें लगता है कि ज्ञान है। लेकिन जैसे मिश्री, वैसे प्रज्ञानघन ही वास्तविक है।।१५-६।।

प्राज्ञ को अपरिच्छिन्न बताकर याज्ञवल्क्य ने कहा 'स एष नेति नेत्यात्मा', उसकी व्याख्या शुरू करते हैं **इन्ध, तैजस और सुषुप्तिवर्त्तीइन तीन से विराट्, सूत्रात्मा और ईश्वर भी सूचित हैं; अब इनकी वास्तविकता जो आत्मा उसका उपदेश दिया जाता है।।१७।। अद्वितीय वस्तु होने पर भी विराट्-इन्ध आदि भेदों में बँटा जो प्रतीत हो रहा है वही यह 'नेति नेति' आत्मा है। वह न कार्य है, न कारण है। उसके अज्ञान को एवं अज्ञानजन्य को, अर्थात् समस्त अनात्मा को, सिर्फ वही ज्ञानरूप आत्मा हैयों 'अनात्मा है ही नहीं' इस तरह विलीनकर जानकार पूर्ण के भान से सम्पन्न रहता है। ।१८-६।।** इन्ध से विश्व कहा और विराट् लक्षित किया, ऐसे ही तैजस से सूत्र और प्राज्ञ से ईश्वर सूचित है। 'नेति' से क्योंकि अद्वैत बता रहे हैं इसलिये समष्टि का भी संग्रह आवश्यक है तभी 'इति' से उसका अनुवाद होकर 'न' से निषेध होगा। तत्त्व सदा अभिन्न है, अज्ञान के रहते स्थूल-सूक्ष्म-कारण-समष्टि-व्यष्टि भेदों में

गन्तव्यमुपदिश्यैवं प्राप्तोऽस्यभयमित्यृषिः।
ऊचे बोधस्ततः प्राप्तः प्राप्स्यसीत्यन्यथा वदेत्।।२०।।

बँटा उपलब्ध है जैसे एक सूर्य दस काँचों में दस प्रतीत हो जाता है। स्थूलादि सब उपाधियों में सच्चिद्रूप प्रतीत होने से भेद लग रहा है। वास्तविकता तो चिन्मात्र ही है। उपलब्ध भेद को 'इति' से कहकर 'न' से उसका निषेध किया। कार्य-कारण इस द्वैत की अपेक्षा से दो इति शब्द हैं। तत्त्व को न कारण व न कार्य समझ सकते हैं क्योंकि ये सापेक्ष धर्म निरपेक्ष सत्त्य हो नहीं सकते। अज्ञान-तत्कार्य केवल आत्मा हैयही उनका विलय है। आत्मा प्रत्यक्स्वरूप होने से स्वतो भासमान है, उसकी ओर इशारा पर्याप्त है, वह किसी प्रमाण आदि पर निर्भर नहीं। वही वास्तव में पूर्ण है। क्योंकि ज्ञानरूप से सनातन है इसलिये उस पर आरोपित का निषेधमात्र आवश्यक है जो नेति से सम्पन्न हुआ।।१७-६।।

याज्ञवल्क्य ने जनक से जो उसका गन्तव्य पूछा था कि 'उपासनादि से अन्ततः कहाँ जाओगे?' उसी प्रश्न का उत्तर उन्होंने आत्मरूप से वर्णित किया यह समझाते हैं **यों गन्तव्य का उपदेश देकर ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा 'तुम अभय को पा चुके हो।' इससे निश्चित है कि जनक को तत्त्वज्ञान हो गया था, न हुआ होता तो 'अभय पाओगे' ऐसा कहते।।२०।।** नेति से समझाया आत्मा ही अंतिम गन्तव्य है। जब तक अज्ञान है तब तक सर्वत्र भटकना दुर्वार है, ज्ञान होते ही सब यातायात निवृत्त हो जाते हैं, स्वरूपस्थिति ही रह जाती है। यह गंतव्य केवल अज्ञान से व्यवहित होने के कारण ज्ञान से ही उपलब्ध होता है अतः उपदेश से जनक ने जैसे ही उसे समझा वैसे ही उसे इसकी प्राप्ति हो गयी। अत्यन्त अद्वितीय होने से यही अभय है जिसे जनक ने स्व-रूप से पा लिया। यह साधनों से साध्य गंतव्य नहीं कि भविष्य में होवे वरन् नित्य प्राप्त ही है अतः ज्ञानसमकाल उपलब्ध कहा जाता है। अत एव उस वस्तु को पूर्ण कहना बनता है। अयोग्य श्रोता तो संशय विपर्यय से ग्रस्त रहकर शास्त्रोपदेश सुनकर भी अभय को 'प्राप्त' नहीं जानता लेकिन जनक क्योंकि योग्य साधक था इसलिये इन्धादि वाक्यों से समझते हुए उसे 'इति' में सारा द्वैत एकत्र प्रतीत हो गया जिसका निषेध होते ही वह अभय को प्राप्त जान गया। इससे यह भी बताया कि जिस गंतव्यका पूर्व में प्रश्न था उसी का निर्णय यहाँ आत्मा या अभय रूप से किया है।।२०।।

पूर्व में तो जनक पशु-अर्पण की बात करता रहा लेकिन इस परविद्या को पाकर इतना

ज्ञानेन सदृशीमन्यामपश्यन् गुरुदक्षिणाम्।
अभयं त्वेति वचसा दक्षिणामाशिषं ददौ।।२१।।
उत्तमा दक्षिणैषाशीर्मध्यमा तु नमस्क्रिया।
स्वभूमिवपुषोर्दानं वित्तशाठ्यनिवृत्तये।।२२।।

ही बोला 'अभयं त्वागच्छताद् याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे, नमस्तेऽस्तु, इमे विदेहा अयमहमस्मि' कि हे याज्ञवल्क्य! आप अभय हों! आपने मुझे अभय दिला दिया, आपको नमस्कार है। यह विदेहराज्य, यह मैं, सब आपके लिये है। इसका तात्पर्य बताते हैं **ज्ञान के तुल्य और कोई गुरुदक्षिणा न समझ पाते हुए 'आपको अभय हो' इस वचन से आशारूप दक्षिणा प्रदान की।।२१।। यह आशा उत्तम दक्षिणा थी, मध्यम दक्षिणा के रूप में नमस्कार अर्पित किया तथा 'धन के बारे में शठता (कंजूसी) नहीं कर रहा' यह स्पष्ट करते हुए अपनी भूमि और शरीर का दान किया।।२२।।** पारमार्थिक वस्तु के ज्ञान से व्यावहारिक सब बाधित हो जाने से उस ज्ञान के निमित्त दक्षिणा क्या दी जाये! अतः जनक ने जो अभय पाया वही याज्ञवल्क्य को समर्पित किया, यही उत्तम दक्षिणा है। इसमें आदान-प्रदान आदि औपाधिक कोई व्यवहार नहीं, केवल निष्ठा की अभिव्यक्ति है। ऐसा भी नहीं कि जनक सोचता हो कि मुनि को अभय हासिल नहीं है! जानता था कि स्वयं अभय होने से ही अभय में मुझे स्थित कर पाये हैं, लेकिन अन्य देय है नहीं इसलिये, स्वरूपभूत अभय ही प्रदान किया। यह आत्मस्तर की दक्षिणा होने से उत्तम है। जिस अन्तःकरण के द्वारा आचार्य ने उपदेश दिया उसे मध्यम दक्षिणा प्रणाम दिया। राजा के प्रणाम से मुनि के मन को ही प्रसन्नता होगी। जैसे यज्ञ में आचार्य को ही ज़्यादा दक्षिणा मिलती है, अन्य ऋत्विकों को कम, वैसे आत्मा को उत्तम दक्षिणा दी, मन को मध्यम। जिस शरीर में रहकर मुनि उपदेश दे सके उसकी सेवा के लिये राज्यादि दक्षिणा भी प्रदान की। किं च अभय नमस्कार ही देकर चुप हो जाता तो किसी को शंका होती कि 'कंजूसी कर रहा है! देना नहीं चाहता इसलिये बड़ी बातें कर रहा है।' इस तरह की शंका का मौका न रहे इसलिये जनक ने अपने समेत सारा राज्य प्रदान कर दिया। इस प्रकार द्वितीय ब्राह्मण का संक्षेप हुआ।।२१-२।।

तृतीय है 'ज्योतिर्ब्राह्मण', इसमें आत्मा की स्वयंज्योतीरूपता वर्णित है। श्लोक २०३ तक इसका विस्तार करना है। पहले विषय-प्रदर्शन करते हैं **तीसरे ब्राह्मण में स्वप्न और सुषिप्ति का विस्तार है क्योंकि वे ही परलोक और विमोक्ष के लिये**

ज्योतिर्ब्राह्मणम्

तृतीयब्राह्मणे स्वप्नसुषुप्त्योरतिविस्तृतिः ।
क्रियतेऽतो हि दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः ।।२३।।
देहादिव्यतिरिक्तत्वस्वप्रभत्वम् असंगता ।
स्वप्नप्रसंगतस्त्वेतत् त्रयमत्र प्रपंच्यते ।।२४।।
अद्वैतत्वं दृष्ट्यलोप आनन्दैकस्वभावता ।
इदं त्रयं सुषुप्तस्य प्रसंगेनोपपाद्यते ।२५।।

उदाहरण हैं।।२३।। स्वप्न के प्रसंग से ये तीन बातें स्पष्ट की जा रही हैंदेहादि से आत्मा भिन्न है, स्वप्रकाश है और असंग है।।२४।। सुषुप्त के प्रसंग से ये तीन बातें उपपादित कर रहे हैंआत्मा अद्वैत है, ज्ञान का लोप नहीं, आनंद ही उसका एकमात्र स्वभाव है।।२५।। नेत्यादि उपदेश देकर याज्ञवल्क्य लौट गये। कालान्तर में जनक से प्रेमवश मिलने आये। कुछ चाहकर तो आये थे नहीं अतः 'जनक से कुछ कहना नहीं है'ऐसा मुनि का विचार था। जनक ने स्वागत सत्कार के बाद देखा कि वे अपनी तरफ से कोई उपदेश दे नहीं रहे तो उसी ने पूछने का निश्चय किया। संभवतः याज्ञवल्क्य ने टाला हो कि 'ये सब बातें रहने दो, हम तो सिर्फ़ मिलने चले आये', इत्यादि; तो जनक ने वर का उल्लेखकर उनसे उत्तर पा ही लिया! एक समय जनक-याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र-विषयक विचार किया था जिसमें जनक के ज्ञान पर खुश हो उन्होंने उसे वरदान दिया था कि जनक जो मर्ज़ी सो उनसे पूछ सकता है। उसी वर को याद दिलाकर जनक ने अब पूछा कि पुरुष का तो आप बोध करा गये किंतु यह 'किंज्योति' है अर्थात् विषयादि-व्यवहार में निमित्तभूत क्या है? इसी का क्रमशः उत्तर देते-देते याज्ञवल्क्य बहुत कुछ बता गये! मरकर परलोक जानाइसे स्वप्न के उदाहरण से तथा सुषुप्ति के उदाहरण से मोक्ष को उन्होंने स्पष्ट किया। परलोक जाना वैसा बताया जैसे सपने में जाते हैं। सपना सबको आता है अतः उसके सहारे परलोकप्राप्ति समझी जा सकती है। सुषुप्ति में भी सभी जाते हैं अतः उसके आधार पर मोक्ष का बोध संभव हो जाता है। पूर्व ब्राह्मण में इनका वर्णन तो किया था पर यहाँ विस्तार करेंगे। यद्यपि जनक पूर्व में ही अभय पा चुका था अतः तत्त्वज्ञानी था तथापि आत्मवेत्ता का विचार-चिंतन आत्मसन्दर्भ में ही चलता है एवं जो कुछ स्पष्टताएँ बढ़ायी जा सकें वे बढ़ाता रहता है इसलिये आत्मा की निरुपाधिक पूर्णता में निःशंक होते हुए भी उसके मन में प्रश्न उठना और मुनि से उत्तर माँगना संगत है। तत्त्ववेत्ता के लिये आचार-प्रदर्शन भी

हो गया कि आत्मचर्चा से ही समय-यापन करे। ध्यानी साधक जैसे रुचिपूर्वक ध्यानतत्पर रहता है बिना विधिप्रयुक्त हुए भी, मननशील उसी तरह ऊहापोह में रुचि से संलग्न रहता है, इससे निष्ठा में परिपाक होता है। प्रायः वेदान्त ग्रंथों के लेखक ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता रहे जिनकी विचारपरायणता का ही प्रसाद इतना विपुल साहित्य है। सभी वेदान्तोपदेशक इसी प्रकार तत्त्वानुसन्धान से स्वयं का जीवन सार्थक एवं जिज्ञासुओं का कल्याण करते हैं। सपने के माध्यम से पहली बात समझायेंगे कि आत्मा देहादि से स्वतंत्र है। देह में बुखार हो फिर भी सपने में हम स्वस्थ होते हैं! ऐसा कई बार अनुभव होता है। बूढ़े हैं पर स्वप्न में जवान होकर कैलास की यात्रा कर रहे होते हैं। इस तरह शरीर से भेद स्वप्नविचार से पता चल जाता है। दूसरी बात स्वप्रकाशता सपने में स्फुट है : जाग्रत् में सूर्य आग आदि की रोशनी के बिना कुछ न देख सकने पर भी सपने में इन सबके बिना ही देख लेते हैं! जाग्रत् में वायु के सहारे ही शब्द से संपर्क करते हैं (अतः वायुरहित बोतल में बजती घंटी सुन नहीं पाते) लेकिन सपने में बिना हवा के ही सब सुनते हैं! जुकाम से नाक बंद हो तो जाग्रत् में गंध नहीं आती पर उसी रात सपने में आराम से सूँघ लेते हैं। इस प्रकार जाग्रत् में जो सहारे ज्ञान के लिये चाहिये उनमें से कोई भी स्वप्न में बिना लिये सारा व्यवहार कर सकना हमारी स्वप्रकाशता व्यक्त करता है। यहाँ रोशनी का उदाहरण लेंगे, आवाज़ का भी लेंगे, लेकिन तात्पर्य है कि आत्मा ज्ञान के लिये किसी के परतंत्र नहीं है यह समझा जाये। स्वप्रकाश तो जाग्रत् में भी हैं लेकिन यहाँ सहारों के चलते स्पष्ट नहीं होता कि सहारों का कितना योगदान है और कितनी हमारी स्वतंत्रता है। स्वप्न में बाहरी सहारे न रहने से अपना स्वातंत्र्य प्रकट हो जाता है। तीसरी बात सपने में निश्चित होती है कि मैं असंग हूँ! जाग्रत् के सारे संग वहाँ सर्वथा नहीं रहते। जिनके बारे में हम स्वयं को दृढ आसक्त समझते हैं उन्हीं के प्रति वहाँ सर्वथा अनासक्ति अनुभव में आती है। इसका विस्तार श्लोक ९३ से १३५ तक करेंगे।

जैसे आत्मा के बारे में ये तीन बातें स्वप्न-विचार से पता चलती हैं वैसे सुषुप्ति के बारे में सोचने से पता चलता है कि आत्मा अद्वितीय है, भानरूप है, आनंदरूप है। स्वप्न में तो काल्पनिक ही सही पर सद्वयता रहती है, सुषुप्ति में किसी सद्वयता का प्रसंग नहीं रह जाता। मोक्ष में भी ऐसे ही अद्वयता है। इन्द्रिय-मन के बिना भी तब चिद्रूपता रहती है, मोक्ष में भी इनके बिना रहती है। सुषुप्ति में अहंकार तक न रह जाने पर भी प्रत्यग्रूप चैतन्य का अस्तित्व मोक्ष की प्राप्ति संभव दर्शाता है। किं च सुषुप्ति नियमतः आनंद की स्थिति होती है एवं अनात्मा वहाँ कुछ है नहीं तो आत्मा ही वह आनंद है। इसी से मोक्ष

वरदानेन संवादमिच्छन्तं तमशंकया।।
आदौ राजेष्टमप्राक्षीत् प्रत्यग्ज्योतिर्बुभुत्सया।।२६।।
देहेन्द्रियादिसंघातः पुमान् किंज्योतिरुच्यताम्।।
उपवेशनगत्यादि न युक्तं ज्योतिषा विना।।२७।।

पुरुषार्थ सिद्ध होता है। जाग्रत् में हमें भ्रम है कि सुखहेतु कोई और होता है, विषय व्यक्ति आदि से ही आनंद आ सकता है; लेकिन सुषुप्ति इस भ्रम को दूर कर देती है क्योंकि वहाँ निर्विषय सुख होता है और सविषय सुखों की अपेक्षा अत्यधिक होता है! अतः लोग विषयभोग छोड़कर सोते हैं। इस पर श्लोक १३६ से १८९ तक विचार करेंगे। इस प्रकार इस ब्राह्मण के महत्त्वपूर्ण विचारों का आचार्य ने निचोड़ बता दिया। उपनिषत् के विषयों को यों ढूँढकर संकलित करने में आचार्य विद्यारण्य स्वामी अप्रतिम प्रतिभा रखते हैं।।२३-५।।

ग्रंथव्याख्या प्रारंभ करते हैं **वरदान के निमित्त से जब संवाद करने के लिये मुनि तैयार हो गये तब राजा ने बेखटके उनसे प्रत्यगात्मा की ज्योति समझने की इच्छासे प्रारंभ में प्रश्न किया।।२६।।** श्रुति का कथन है 'समेनेन वदिष्ये' जिसे भाष्य में 'स मेने न वदिष्ये' समझाया कि बात न करने की सोचकर मुनि आये थे। वार्तिककार ने बताया कि 'सम् एनेन वदिष्ये' अर्थात् 'इससे संवाद करूँगा' इसलिये आये थे! दोनों तरह पदच्छेद सम्भव है। अनुभूतिप्रकाश में 'संवदिष्ये' मानकर मुनि को संवादेच्छुक कहा है लेकिन भाष्य से एकवाक्यता के तात्पर्य से मान सकते हैं कि वरदान की याद दिलायी तो मुनि संवादेच्छुक हो गये तब पूछा। 'अशंकया' अर्थात् मुनि के मौन से जो राजा को पूछने में संकोच हो रहा था, वह हट गया। गुरु बोलना न चाहे तब शिष्य को पूछने में रुकावट महसूस होती है। इष्ट प्रश्न किया अर्थात् आत्मज्योति समझने की उसे अभिलाषा थी जिसके बारे में पूछा। तात्पर्य है कि केवल औत्सुक्य से, बहुज्ञता चाहकर आदि नहीं वरन् वास्तविक जिज्ञासा से पूछा। किं च बोध के लिये पूछा, न कि वाद के लिये।।२६।।

'याज्ञवल्क्य! किंज्योतिरेवाऽयं पुरुषः? इति' यह राजा का प्रथम प्रश्न है। इसे व्यक्त करते हैं **बताइये कि शरीर-इन्द्रिय का संघातरूप पुरुष किस ज्योति वाला है? बैठना-चलना आदि ज्योति (प्रकाश) के बिना होना संगत नहीं है।।२७।। उसकी ज्योति क्या संघात में ही है या संघात से अतिरिक्त है?।।२७ १/२।** जनक के पुरुषशब्द का 'प्राकृतः कार्यकरणसंघाताख्यः शिरःपाण्यादिमान्' अर्थ भाष्य में

किं संघातगतं ज्योतिः किं वा संघातिरेकि तत्।
अतिरिक्तत्वमादत्त आदित्यादेरुदाहृतेः।।२८।।
रविसोमाग्निशब्दादिज्योतींष्युक्तानि जागरे।
निदर्शनतया ज्योतिस्तैः स्वप्नेऽप्यनुमीयताम्।।२९।।

है। नेत्यादि आत्मवस्तु स्वरूप से भले ही भासे, लोकव्यवहार के लिये वह पर्याप्त नहीं अतः इसमें कौन-सा ज्ञान हेतु हैयह प्रश्न का भाव है। लौकिक व्यवहार आत्मरूप ज्ञान से ही संभव है या यह कोई और ही ज्ञान हैयह जिज्ञासा का विषय है। आत्मा की ही सोपाधिक अभिव्यक्ति लौकिक ज्ञान हैयह निर्णय होने पर ज्ञान-ज्ञेय के सम्बन्ध की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञेय का ज्ञान पर अध्यास सिद्ध होने से दृश्यमिथ्यात्व उपपन्न होगा। यदि आत्मा से इतर ही लौकिक ज्ञान है तो इस प्रकार दृश्यमिथ्यात्व भी सिद्ध नहीं होगा एवं ज्ञाता-ज्ञेय का संबंध भी विचारणीय हो जायेगा। इसलिये राजा ने व्यावहारिक ज्योति के बारे में सवाल उठाया। संघात या इसमें से कोई चीज़ ज्योति (ज्ञान) हैयह एक संभावना, संघात से पृथक् ही कुछ है जो ज्योति हैयह दूसरी संभावना है। चार्वाक, आधुनिक वैज्ञानिक आदि संघात में ही ज्योति की कल्पना करते हैं कि शरीर में ही ज्ञान हो जाता है! नाडियों के भरोसे, भेजे में हलचल के भरोसे इन्हें लगता है कि ज्ञान हो जाता है।

संघात अर्थात् मिल-जुलकर तालमेल पूर्वक सप्रयोजन चेष्टा करने वाला समूह। हमें बैठना हो तो आँख देखती है कि कंकड़ आदि तो नहीं, हाथ देखता है कि धूल आदि तो नहीं, कान देखता है कि कोई मना तो नहीं कर रहा, इत्यादि। ऐसे ही चलना हो तो देखना पड़ता है। सभी इंद्रियाँ एवं मन मिल-जुलकर जानकारी बटोरते हैं तब क्रियायें होती हैं अतः देहादि संघात है। संघात या इसमें कोई तत्त्व प्रकाश (ज्ञान) हैयह जडवादी कहता है। इस मत का खोखलापन व्यक्त करते हुए याज्ञवल्क्य स्पष्ट करेंगे कि संघात से अन्य ही ज्योति पुरुषव्यवहार में हेतु है।।२७+१/२।।

'आदित्यज्योतिः सम्राट्! इति होवाच' याज्ञवल्क्य का उत्तर था, उसे बताते हैं **मुनि ने आदित्यादि को उपस्थापित कर संघात से अतिरिक्त ही ज्योति हैयह पक्ष स्वीकारा।।२८।। जाग्रत् अवस्था में सूर्य, चन्द्र, अग्नि, शब्द आदि ज्योतियाँ कही ताकि उनके दृष्टान्त से स्वप्न में भी संघात-भिन्न ज्योति का अनुमान हो जाये।।२९।।** राजा के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने सूर्यादि ज्योतियाँ बतायीं! यह उत्तर लगता अति स्थूल है; राजा इतना भी न समझता रहा हो कि हम सूर्यादि की रोशनी

स्वाप्नदेहव्यवहृतिर्भिन्नज्योतिःपुरःसरा।
व्यवहारत्वतो जाग्रद्व्यवहारो यथा तथा।।३०।।

से चलते-बैठते हैं, यह संभव नहीं। फिर याज्ञवल्क्य ने ऐसा जवाब क्यों दिया? इस पर समझाया कि मुनि का भाव था यह कहने का कि संघात से भिन्न ही ज्योति पुरुष को चाहिये अतः ज्योतीरूप चेतन संघात से स्वतंत्र है। पहले कहा कि सूर्यरूप ज्योतिवाला पुरुष व्यवहार कर पाता है। राजा ने पूछा कि सूर्यास्त के बाद कौन-सी ज्योतिवाला होता है? मुनि ने कहाचाँदरूप ज्योति वाला। फिर पूछा कि जिन रातों को चाँद भी नहीं होता तब किस ज्योतिवाला होगा? कहाअग्निरूप ज्योतिवाला। पूछाआग भी न हो तब? मुनि बोलेतब शब्द ही ज्योति होगा? अंधेरे में एक-दूसरे को दायें-बायें आदि निर्देश देते हैं तो रास्ता पता चल जाता है। राजा ने पूछा कि जहाँ कोई बताने वाला भी न हो वहाँ किस ज्योतिवाला होता है? इस पर मुनि ने 'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति इति, आत्मनैवाऽयं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येति' कहा कि आत्मा ही तब ज्योति है। लेकिन ऐसा नहीं कि रवि-सोम-अग्नि-शब्द की परिगणना में अभिप्राय हो, उनका तात्पर्य संघातान्य ज्योति में है। वाक् (शब्द) यद्यपि संघात में ही है तथापि एक व्यक्ति की वाणी दूसरे के लिये ज्योति होती है अतः जिसके लिये ज्योति है उसके तो संघात से अन्य ही है। अत एव सूर्यादि भी तत्तद् देवताओं के संघातरूप होने पर भी यहाँ दृष्टांत लिये गये हैं। अन्ततः याज्ञवल्क्य ने बताया कि आत्मा ही ज्योति है और वह संघात से अन्य है ही। जाग्रत् में निर्णय होने पर स्वप्न के बारे में प्रश्न उठता है कि वहाँ बाहरी प्रकाशादि न होने से किस ज्योति से व्यवहार चलता है? जवाब अनुमान से मिलता है। अनुमान अगले श्लोक में बताना है, उसके लिये ज़रूरी था दृष्टांत प्रसिद्ध करना, वह जाग्रत् में कर दिया ताकि व्यवहार और संघातभिन्न ज्योति की व्याप्ति ग्रहण हो। संघात की दृश्यता को अनुकूल तर्क जानना चाहिये।।२८-९।।

पूर्वसंकेतित अनुमान व्यक्त करते हैं **स्वप्न में होता शरीर-व्यवहार, संघात-भिन्न ज्योति से सम्पन्न होता है, क्योंकि व्यवहार है, जैसे जाग्रत् का व्यवहार।।३०।।** व्यवहार होनायही इसमें हेतु है कि इसे संभव करने वाला प्रकाश देहादि से अन्य हो। चार्वाकादि की सोच पहले ही कदम पर ग़लत दिशा पकड़ती है, इसी से वे संघात या जड प्रकाशों में ही भटकते रह जाते हैं। उपनिषत् ने प्रथमतः ही इस पर ध्यान आकृष्ट किया कि संघातभिन्न प्रकाश चाहिये। पहले भले ही सूर्यादि जड ही प्रकाश संघातभिन्न बताये लेकिन संघातभेद के सहारे सूर्यादि के भी साक्षी-पर्यन्त पहुँचने का मार्ग खुल गया

सुप्तौ च पुनरुत्थानव्यवहारस्य कारणम् ।
अस्ति ज्योतिरिति ज्ञात्वा तद्विशेषं स पृष्टवान् । ।३१ । ।
स्वप्रकाशस्वरूपत्वात् तद्विशेषो ह्यतिस्फुटः ।
तथाऽप्यविद्यया छन्नः सोऽस्पष्ट इव वर्तते । ।३२ । ।
एतादृश्या अविद्याया विचारेण निवृत्तये ।
आत्मैव ज्योतिरस्येति प्राह स्वप्नावभासकम् । ।३३ । ।

एवं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों के लिये एक नियम हो गया कि सर्वत्र प्रकाश संघातभिन्न ही होता है। चार्वाकादि जाग्रत् में शरीर से बाहरी प्रकाश की ज़रूरत कहेंगे, स्वप्नादि में शरीर के भीतरी प्रकाशों की चर्चा करेंगे! यों उन्हें विभिन्न नियम मानने पड़ेंगे जबकि वेदान्ती एक ही नियम से सर्वत्र व्यवस्था कर रहा है। इस प्रकार जडवादियों का दोष भी व्यक्त हो गया। ।३० । ।

सूर्यादि के राहित्य में स्वप्न की तरह सुषुप्ति भी होती है अतः उसका प्रकाशक भी समझ लेना चाहिये, इस अभिप्राय से बताते हैं **सोने पर फिर जगने के व्यवहार में कारण बनने वाली भी कोई ज्योति है ऐसा जानकर राजा ने 'वह कौन है' यह पूछा। ।३१। । (आत्मरूप) वह खास ज्योति स्वप्रकाश-स्वरूप होने से अतिस्पष्ट होने पर भी अविद्या से ढँकी है अतः अस्पष्ट-सी हो रखी है। ।३२। । ऐसी अविद्या की विचार से निवृत्ति के लिये कहा कि स्वप्न का अवभास कराने वाली इस पुरुष की ज्योति आत्मा ही है ।३३। ।** 'सुप्तौ' अर्थात् सुषुप्ति में; वहाँ आनंदानुभव और अज्ञानानुभव ये दो अभिज्ञात्मक व्यवहार होते हैं। किं च सुषुप्ति से उठने (जगने) का व्यवहार भी प्रारंभ तो सुषुप्ति में होगा अतः उसके कारणरूप से आत्मज्योति बतायी। राजा इतना समझता है कि कोई प्रकाश अवश्य है लेकिन उसका ठीक-ठीक स्वरूप जानने के लिये प्रश्न किया। यद्यपि सुषुप्ति-प्रकाश आत्मा होने से स्वयं भासमान एवं प्रत्यक् सत्तारूप से स्पष्ट है तथापि क्योंकि अविद्या से आवृत है इसलिये लगता है मानो उसका साफ बोध न हो। अतः प्रश्न संगत है। जाग्रत्-स्वप्न में अज्ञान व अज्ञानकार्य दोनों से ढँका है, सुषुप्ति में कार्य से तो नहीं पर अज्ञान से ढँका ही है। तीनों अवस्थाओं में परिस्थिति वही है कि 'सच्चिदानन्द आत्मा ही मैं हूँ' ऐसा भान नहीं है। आत्म-सम्बन्धी अविद्या विचार से ही दूर होगी। शास्त्र का श्रवणादि विचाररूप ही है, बिना विचार के तो, शास्त्र अनादि काल से है ही, वह हमारा अज्ञान कहाँ दूर कर पाया! अतः अज्ञाननिवृत्ति में विचार ही हेतु है। इसलिये याज्ञवल्क्यने आत्मोपदेश दिया ताकि जनक

भास्यं स्वप्नसुषुप्त्यादि यस्मिन् भाने प्रकल्पितम्।
तद्भानं तत्स्वरूपत्वादात्मशब्देन भण्यते।।३४।।
आत्माऽविद्यां तदुत्थं वा पराग्धीरवगाहते।
प्रत्यग्बुध्यावगाह्योऽत आत्माऽहं भामि केवलः।।३५।।
आत्मैवेत्येवकारेण स्वप्नदृश्येष्वनात्मसु।
ज्योतिष्ट्वशंका व्यावृत्ता वासनामयवस्तुषु।।३६।।
अस्येति वासनारूपो दृश्यो देहादिरुच्यते।
भास्यभासकसंबंधः षष्ठ्योक्तो वासनात्मनोः।।३७।।
ज्योतिष्ट्वं भासकत्वं स्याच्चिदाभासमुखेन तत्।
उपपन्नमसंगस्य भान्वादिवदनुग्रहात्।।३८।।

आत्मा का विचार-दृष्टि से आलोचन कर इस बारे में अविद्या दूर करे। यदि जनक पूर्व ब्राह्मण में निवृत्ताऽविद्य था तो यहाँ भाव है कि जो अन्य साधक यह वेदभाग पढ़े वह विचार में प्रवृत्त हो। अथवा प्रकाशक-सम्बन्धी अविद्या जनक में बची रही, वह निवृत्त हो इसके लिये विचार ज़रूरी मानकर उपदेश दिया, यह भाव है।।३१-३।।

याज्ञवल्क्यवचन समझाते हैं **सुषुप्ति आदि सब भानविषय जिस भान में अध्यस्त हैं वह भान उन सबका स्वरूप होने से 'आत्मा' इस शब्द से कहा गया है।।३४।। बहिर्मुख बुद्धि आत्मा की अविद्या या उससे जन्य को ही ग्रहण करती है। अन्तर्मुख बुद्धि से जो ग्रहण होता है वह अकेला मैं आत्मा प्रकाशमान रहता हूँ।।३५।। 'आत्मा ही' इस 'ही' शब्द से स्वप्न में दृश्य वासनाकार्यरूप अनात्म वस्तुएँ ज्योति होती होंगीयह शंका हटाई।।३६।। 'आत्मा ही इसकी ज्योति है' में 'इस' से वासनाकार्य दृश्यभूत देहादि कहा गया है तथा 'की' से वासना और आत्मा का भास्य-भासकभाव सम्बन्ध कहा गया है।।३७।। 'ज्योति' अर्थात् भासक। चिदाभास द्वारा असंग आत्मा में भासकता संगत है जैसे विद्यमानतामात्र से सूर्यादि में प्रकाशकता समझी जाती है।।३८।।** भानरूप को आत्मा कहा क्योंकि सब भास्यों का, दृश्यों का वही स्वरूप है जैसे रस्सी ही सर्पादि का स्वरूप होती है। भान को भास्य का स्वरूप न मानें तो भास्यभासकभाव संगत नहीं होता यह प्रतिकर्मव्यवस्था के (विषयविषयिभाव के) प्रसंग में विवरणाचार्य आदि ने स्पष्ट किया है। संक्षेप में इतना जान लेना चाहिये कि ज्ञान स्वभाव से निर्विकार (अपरिवर्तनीय) होने पर भी घटाकार-पटाकार सुखाकार-दुःखाकार आदि परिवर्तनों वाला

लग रहा है अतः अवश्य यह भ्रम है अर्थात् घट-सुख आदि का ज्ञान में अध्यास है। अतः यहाँ ज्ञान को घट आदि सब दृश्यों का स्वरूप (अधिष्ठान) कहा। बुद्धि पराक् अर्थात् दृश्य को ग्रहण करे तो अविद्या-तत्कार्य में ही उलझी रह सकती है। आत्मरूप भान को तभी समझ पायेगी जब प्रत्यक् की ओर एकाग्र होगी। स्व से पृथक् को पराक् और स्व को प्रत्यक् कहते हैं। बुद्धि खुद पर केन्द्रित हो तभी अपने वास्तविक तत्त्व को समझ सकती है, यह भाव है। याज्ञवल्क्य को यहाँ 'विचार' शब्द से यह अन्तर्मुखता अभिप्रेत है। वेदांती से अन्यों को 'मैं' का विचार व्यर्थ लगता है, वेदान्ती को 'यह' का विचार व्यर्थ लगता है। मैं का स्वभाव बताया 'केवलः भामि' अकेला भासता रहने वाला। अतः अंतःकरणादि-सहित-रूप को छोड़ उससे रहित साक्षिरूप को आत्मा कह रहे हैं। मुनि ने 'आत्मा ही' यों 'ही' से सभी अनात्माओं को हटाया अतः स्वप्नोत्पन्न सूर्यादि से स्वप्नादि व्यवहार होता है आदि भ्रम दूर हो गये। अन्यथा लगता कि जैसे व्यावहारिक सूर्य से व्यावहारिक घट दीखता है वैसे सपने का घड़ा देखने के लिये सपने का सूर्य चाहिये। 'ही' से यह संभावना कट गयी। अत एव क्षणिक विज्ञान की प्रकाशरूपता का निरास है क्योंकि वह भी अनात्मा है। 'इसकी' शब्द का भाव क्या? जाग्रत् में तो सिर-पैर वाला जीव 'इस' शब्द से समझा था। यहाँ संस्कार से आरोपित देहादि 'इस' से समझने हैं। सपने में अनुभूयमान शरीरादि किस रोशनी से व्यवहार करते हैंयह प्रश्न का अर्थ होने से इसी तात्पर्य से उत्तर है। 'इसकी ज्योति' यों इस और ज्योति का आपसी संबंध 'की' से बताया। वह संबंध यही है कि 'इस'-पदार्थ देहादि भास्य (भानविषय) हैं एवं ज्योति भासक (भानरूप) है। भासकता में भान के प्रति कर्तृत्व कहने को ही है जैसे सूर्य में; सूर्य हैबस इतने से ही वह प्रकाशक अर्थात् प्रकाश *करने* वाला समझा जाता है, ऐसे ही आत्मा है, इतने से ही वह भान *करने* वाला कहा जाता है। जो तो भान कभी हुआ कभी नहीं, किसी के बारे में हुआ, किसी के बारे में नहींइत्यादि परिस्थिति है, वह इसलिये कि विषयभाग में आभास का योगदान है : वृत्ति में आभास होने से भान 'होता' है, वृत्ति कभी और किसी के बारे में ही बनती है अतः कभी और किसी का ही भान होता है। स्वयं तो वह सनातन भान है। भानु का अनुग्रह अर्थात् सान्निध्य; इससे अन्य आगन्तुक अनुग्रह ज़रूरी नहीं। यदि आभास के लिये दृष्टांत चाहिये तो भानु का अनुग्रह अर्थात् हमारी चक्षु पर उनकी कृपा, जिसके रहते हम देखते हैं, जिसके बिना नहीं देखते। घटादि को भानु अपनी रोशनी से भी प्रकाशित करते हैं और अपनी कृपा द्वारा हमारी नेत्रज्योति से भी प्रकाशित करते हैं, तब घटादि का भान होता है। नेत्र द्वारा भान में उनका अनुग्रह हेतु है।

भान्वादयः प्रभाद्वारा चक्षुराद्यनुगृह्णते।
तथैवात्मानुगृह्णीते चिदाभासेन शेमुषीम्।।३९।।
अविद्यान्वयवद्बुद्धेश्चिदाभासान्वयस्तथा[1]।
अस्ति तद्व्यतिरेकेण बुद्धेः परिणतिर्वृथा।।४०।।
चिदाभासविहीनस्य चित्तस्य परिणामतः।
न किंचिद्भासते वस्तु साभासा धीस्ततः सदा।।४१।।
साभासपरिणामेन दुःख्यस्मीत्यपि धीर्भवेत्।
तथा साभासमज्ञानं न वेद्मीत्यनुभूयते।।४२।।

ऐसे ही अधिष्ठान-विधया आत्मा विषय-सम्बद्ध है पर जब चित्त में पड़े आभास से भी संबंध करे तब विषयभान होता है। इस प्रकार 'आत्मैवास्य ज्योतिः' का स्पष्टीकरण हुआ।।३४-८।।

उक्त व्यवस्था व्यक्त करते हैं **सूर्य आदि प्रभा के माध्यम से चक्षु आदि पर अनुग्रह करते हैं, इसी प्रकार आत्मा चिदाभास के माध्यम से बुद्धि पर अनुग्रह करता है।।३९।।** सूर्यादि अपनी प्रभा (रोशनी) से चीज़ों को घेरते हैं तभी हमारी आँख उन्हें देख पाती है अतः सूर्यादि का चक्षु पर अनुग्रह प्रभा द्वारा होने वाला बताया। इसी तरह आत्मा बुद्धि में जो अपना आभास डालता है उसी से वह बुद्धि पर अनुग्रह करता है क्योंकि उस चिदाभास के रहते ही बुद्धि विषयों को जान पाती है। साक्षात् तो आत्मा अनुग्रह आदि कुछ कर नहीं सकता क्योंकि निर्विकार है लेकिन बुद्धि में प्रतिबिम्बित हो जाने से वह सब कुछ कर लेता है। प्रतिबिम्ब कोई 'वस्तु' न होने से इसे 'आभास' कहा एवं इसके द्वारा करना भी मिथ्या ही रहा।।३९।।

बुद्धि में आभास उपपन्न करते हैं **अविद्या-सम्बन्ध की तरह बुद्धि से चिदाभास का सम्बन्ध है। आभास के बिना बुद्धि का परिणाम निष्फल है।।४०।। चिदाभासरहित चित्तविकार (वृत्ति) से किसी वस्तु का भान नहीं होता, इसलिये बुद्धि हमेशा आभासयुक्त रहती है।।४१।। आभासयुक्त वृत्ति से 'दुःखी हूँ' यह भी अनुभव होता है और आभासयुक्त अज्ञान का अनुभव 'नहीं जानता' के रूप में होता है।।४२।।** अविद्यासम्बन्ध अर्थात् अविद्या से आत्मा का सम्बन्ध। जड अविद्या से कुछ होता नहीं अतः उसमें जो आत्माभास है उसी के चलते संसार आदि परिणाम, व्यवस्था आदि संभव है। इसी तरह बुद्धि जड है, विषय भान में स्वयं असमर्थ

---
१. तथेत्यत्र सदेति सारे।

अन्यथात्मनि कौटस्थ्याद्बुद्धौ चैतन्यवर्जनात्।
सर्वोऽपि व्यवहारः स्यादन्धकारप्रनृत्तवत्।।४३।।

है, आत्माभास के प्रभाव से ही भान आदि सब कर पाती है। किं च बुद्धि अविद्याकार्य होने से उसमें अविद्या अनुस्यूत है ही, इसी तरह आत्मा अधिष्ठान होने से उसका भी बुद्धि में प्रवेश आभासरूप सम्बन्ध, हमेशा हैयह 'अविद्या-सम्बंध' का भाव है। सार और तदनुसारी मुत्तुशास्त्री का 'सदा' पाठ इस पक्ष में और संगत है। जैसे घड़े में मिट्टी ही नहीं, घटहेतु आकाश-पर्यन्त सभी की अनुवृत्ति मान्य है वैसे परिणामी और अधिष्ठान दोनों कारण बुद्धि में अनुवृत्त कहे गये हैं। आभास इसलिये स्वीकार्य है कि वह न हो तो वृत्ति निष्प्रयोजन हो जायेगी, वृत्ति बनी इसमें ही कोई प्रमाण नहीं होगा! विषय-व्यवहार होने से ही वृत्ति मानी जाती है, जब आभास के अभाव में व्यवहार न होगा तो वृत्ति हुई यही क्यों कहा जायेगा! हमेशा साभास रहने से ही विज्ञानवादी को बुद्धि में ज्ञानरूपता का भ्रम हुआ। जैसे बाह्य घटादि का भान साभास वृत्ति से वैसे 'मैं दुःखी हूँ' आदि भान भी दुःखाकारवृत्ति में चिदाभास के कारण ही होते हैं। 'नहीं जानता' यह अनुभूति भी अज्ञान में पड़े आभास के ही कारण है, अन्यथा चैतन्य तो जाननारूप ही है! अतएव दुःखी अनुभव-दृष्टांत लिया; सुखी-अनुभव तो कथंचित् आत्मसुख से भी उपपन्न हो जाता!।।४०-२।।

पूर्वदर्शित रीति मानना ज़रूरी बताते हैं **क्योंकि आत्मा में अपरिणामिता है एवं बुद्धि जड है इसलिये यदि पूर्वोक्त ढंग से दोनों का सम्बन्ध न हो तो सारा व्यवहार अंधेरे में नाच की तरह हो जायेगा।।४३।।** व्यवहार के लिये परिणाम (बदलाव) चाहिये जो आत्मा में असंभव और ज्ञान चाहिये जो बुद्धि में असंभव, लेकिन आभास द्वारा दोनों का संबंध हो जाने से आत्मा में परिणाम और बुद्धि में ज्ञान दोनों सुसंगत हो जाते हैं। इस तरह न हो तो जैसे अंधेरे में नाच किसी को मालूम नहीं चलेगा वैसे कोई व्यवहार किसी को मालूम नहीं चलेगा। इसी से आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपपन्न किया गया है। फिर भी आत्मा वास्तव में अकर्त्ता-अभोक्ता बना रहता है। चिद्रूप से अकर्तादि एवं आभासरूप से कर्त्ता आदियह व्यवस्था है। अत एव चिद-चिद् ग्रंथिरूप अहंकार रहते ही कर्तृत्वादि है, उसके बिना नहीं। आत्मा को अध्यात्म-अधिभूत व्यवहार प्रतीयमान है अतः अंधेरे में नाच-सी स्थिति न होने से उक्त व्यवस्था ठीक है।।४३।।

आत्मा को ज्योति कहने पर प्रश्न होता है कि फिर वह सूर्यादि ज्योतियों की तरह

चिदाभासानुग्रहोऽत्र ज्योतिष्ट्वं भानुवन्मतम्।
न तु रव्यादिवच्चक्षुर्ग्राह्यभास्वररूपता।।४४।।
आदित्यादिरनात्माऽर्थः सिध्यत्यक्षादिमानतः।
मात्रादिसिद्धिदस्यास्य स्वतः सिद्धेर्न मेयता।।४५।।
नाप्रमेयत्वमात्रेण शशशृंगादितुल्यता।।
अनन्यानुभवेनास्य विशदं स्फुरणं यतः।।४६।।

दीखता क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं **आत्मा के सन्दर्भ में ज्योतीरूपता यही है कि वह ज्ञान का आभासरूप अनुग्रह करता है जैसे सूर्य (चक्षु पर अनुग्रह करता है)। सूर्यादि की तरह आँख से दीखने वाली चमक आत्मा में हो, यह बात नहीं।।४४।।** अँधेरे में भी आदित्य का हमारी आँखों पर अनुग्रह रहने मात्र से जैसे बिना रोशनी जलाये घड़ा दीख नहीं सकतायह नहीं कह सकते कि आँख पर अनुग्रह करते हुए सूर्य मौजूद है तो उसी की रोशनी से घड़ा देख लोवैसे चैतन्यरूप आत्मा में चक्षुर्ग्राह्यता की आपत्ति नहीं कर सकते। यौक्तिक दृष्टि से, यदि अनुमान करें कि आदित्य की तरह ज्योति होने से आत्मा चक्षुर्ग्राह्य है; तो प्रमेयत्व उपाधि है : आदित्य प्रमेय है, आत्मा प्रमेय नहीं अतः आदित्य चक्षुर्ग्राह्य होने पर भी आत्मा चक्षुर्ग्राह्य नहीं। वस्तुतस्तु ज्योति, प्रकाश आदि शब्द शक्तिवृत्ति से चाक्षुष रोशनी को कहते हैं, लक्षणा से ज्ञान को एवं आत्मा को ज्ञान के अभिप्राय से ज्योति कहा जा रहा है अतः ये शंका-समाधान विशेष महत्त्व नहीं रखते।।४४।।

आत्मा की ज्योतीरूपता होने पर भी प्रत्यक्षादि से पता न चलना उपपन्न करते हैं **सूर्यादि अनात्म पदार्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध होते हैं लेकिन प्रमाता आदि को भी सिद्ध करने वाले इस आत्मा को प्रमाणों से सिद्ध नहीं कर सकते, यह स्वयं ही सिद्ध है।।४५।। अप्रमेय होने मात्र से इसे खरगोश के सींग-सा असत् नहीं कह सकते क्योंकि किसी अन्य के बिना होते रहने वाले अनुभव-रूप से इसका स्पष्ट स्फुरण है।।४६।।** सूर्यादि बिम्ब स्थूल होने से, परिच्छिन्न होने से, दृश्य होने से साफ ही अनात्मा हैं अतः उन्हें प्रत्यक्षादि प्रमाण के बल पर ही स्वीकारा जाता है यह उचित है लेकिन आत्मा यों प्रमाण पर निर्भर सिद्धि वाला इसलिये नहीं कि प्रमाण की भी सिद्धि करने वाला आत्मा है! असिद्ध रहकर तो आत्मा को सिद्ध करेगा नहीं और सिद्ध होने के लिये उसे निर्भर आत्मा पर ही रहना है। इसलिये आत्मसिद्धि से तो बाकी सब सिद्ध हो सकता है लेकिन और कोई आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकता।

स्यात्स्वप्नव्यवहारोऽयमात्मना ज्योतिषा दृशा।
देहादिव्यतिरिक्तत्वमेवं सिद्धं चिदात्मनः।।४७।।
आत्मैवास्येति देहादेः स्वरूपत्वेन चिच्छ्रुता।
चितो देहादिभेदोऽपि भान्वादिवदुदीरितः।।४८।।

जैसे प्रमाण वैसे प्रमाता भी आत्मा से सिद्ध होने के पश्चात् ही प्रमा के प्रति कर्त्ता बनेगा। इसी तरह प्रमेय क्योंकि प्रमाण-व्यापार से पूर्व अज्ञात रहता है इसलिये वह भी आत्मा से ही सिद्ध है, अज्ञाततया साक्षी से भास्य होने से ही मान्य है। न्यायरत्नावली में प्रमानिवर्त्त्याऽज्ञानविषयत्व को प्रमेयत्व मानकर (पृ. २८१ प्रक. द्वा.) भी यही व्यक्त किया। इस प्रकार प्रमाता आदि सबको सिद्ध करने वाला इनसे कैसे सिद्ध हो! अत एव इसे स्वतः सिद्ध, अप्रमेय स्वीकारते हैं। फिर भी अलीक, असत् इस लिये नहीं कि सबको सदा प्रत्यग्रूप से भास रहा है। शशशृंग, खरगोश के सींग भी अप्रमेय, प्रमाण-अगोचर हैं लेकिन इसलिये कि वे हैं ही नहीं जबकि आत्मा अप्रमेय है क्योंकि प्रमाणादि का भी साधक है, इसलिये दोनों में महान् अंतर है। बौद्धों का अनात्मवाद इसी भूल से है कि आत्मा प्रमेय नहीं तो वे समझते हैं कि सत् भी नहीं! प्रमेय मानने से मिथ्यात्व और न मानने से असत्त्वये दो पक्ष मानकर उन्हें आत्मा असत् जँचा। वेदान्त में इसी भ्रम से बचाने के लिये स्वप्रकाशता, स्वतःसिद्धता का विस्तृत वर्णन है। सभी कुछ जिस पर निर्भर होकर सिद्ध है उसे स्वयंसिद्ध स्वीकारने के सिवाय और कोई तरीका नहीं कि बौद्धों की गलती से बचा जा सके।।४५-६।।

यहाँ तक के उपदेश का संक्षेप करते हैं **स्वप्न का सर्वानुभूत व्यवहार दृग्रूप आत्मज्योति से होता है अतः चिद् आत्मा देहादिसंघात से पृथक् है यह सिद्ध हुआ।।४७।।** प्रारंभ में कहा था कि व्यवहार-साधक प्रकाश देहादि से स्वतंत्र होता है, सूर्यादि उदाहरणों से यह निश्चित किया था। स्वप्न (और सुषुप्ति) का व्यवहार जब आत्मप्रकाश से सम्पन्न होने वाला निर्णीत हुआ तब पूर्वोक्त नियम से सिद्ध हो गया कि आत्मा संघात से स्वतंत्र है। यहाँ स्वप्न का ही नाम लिया क्योंकि सुषुप्ति में व्यवहार यद्यपि समझाया था (श्लोक. ३१) तथापि इतना प्रसिद्ध नहीं है।।४७।।

इस पर जनक का सवाल है 'कतम आत्मा?' कि आत्मा है कौन-सा? इसे समझाते हैं **पहले 'आत्मैवास्य' द्वारा देहादि का स्वरूप चेतन को बताया और अब चेतन को सूर्यादि की तरह देहादि से भिन्न भी बता रहे हैं!।।४८।। ये दोनों पहले-पीछे की बातें आपस में विरुद्ध हैं, यह विचारकर भूपति ने पूछाआत्मा**

पूर्वोत्तरविरुद्धार्थं मत्वा पप्रच्छ भूपतिः ।
बहवोऽर्थाः समीक्ष्यन्त आत्माऽत्र कतमो वद ।।४६ ।।
पिंडस्तावदिहैकोऽर्थो द्वितीयो लिंगसंज्ञितः ।
चिद्बिम्बिताऽवधिश्चान्यश्चतुर्थो नेति नेति यः ।।५० ।।

रूप से बहुत चीज़ें अनुभव में आती हैं, इनमें से आपको संमत आत्मा कौन है यह बताइये ।।४६ ।। श्लोक ३४ में देहादि का स्व-रूप होने से भान को आत्मा कहा था जिससे लगता है कि देहादि से आत्मा अलग नहीं होगा। फिर अंत में उसे संघात से अलग बता दिया! अतः विरोध लगता ही है। यद्यपि विचार से तो सर्पादिका स्व-रूप जैसे रस्सी वैसे देहादि का स्वरूप आत्मा बताया था अतः वास्तविक भेद ही वहाँ भी समझ आता है तथापि जैसा सुनायी दे रहा है वैसा अर्थ मानकर प्रश्न है। सारा संसार ब्रह्मरूप तथा ब्रह्म संसारातीतजैसे ये दोनों वाक्य; या मोक्ष नित्यप्राप्त है एवं मोक्षार्थ ब्रह्मज्ञान का प्रयास कर्त्तव्य हैये दोनों वाक्य विरुद्ध लगते हैं, वैसे राजा को मुनिवचन भी लगे। अतः निर्णय के लिये जिज्ञासा की। उषस्त चाक्रायण एवं कहोल कौषीतकेय (३.४ एवं ५) भी इसी तरह आत्मनिर्धारण पूछ चुके हैं। उषस्त को समझाया था कि प्राणादि से व्यवहार करने वाला, दृष्टि आदि का द्रष्टा आदि आत्मा है। कहोल को बताया था कि छह ऊर्मियों से अतीत आत्मा है। यहाँ भी समझायेंगे। आत्मवस्तु दुर्बोध होने से पुनः पुनः उसका स्पष्टीकरण उपनिषत् में आवश्यक पड़ता है एवं इस अभ्यासरूप चिह्न से यह भी निर्णय होता है कि आत्म-प्रतिपादन उपनिषत् को तात्पर्यतः अभिप्रेत है।।४८-९ ।।

राजा को बहुतेरे आत्मा कौन-कौन से लगे यह बताते हैं **पहले तो शरीर एक चीज़ जो आत्मा कहलाती है। दूसरा सूक्ष्म शरीर है जो आत्मा कहा जाता है। तीसरा है अंतःकरण में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य एवं चौथा आत्मशब्दार्थ है जिसे मुनि ने 'नेति नेति' कहा था।।५०।।** स्थूल शरीर आत्मा सर्वत्र प्रसिद्ध है। काम, क्रोध, सुख आदि व्यवहार, मरण आदि का संदर्भ हो तो सूक्ष्म शरीर आत्मा कहा जाता है। इनमें समष्टि-व्यष्टि दोनों स्थूल-सूक्ष्म शरीर समझ लेने चाहिये। तीसरा आत्मा शास्त्रीय है जिसे चिद्बिम्बितावधि कहा। यह शब्द वार्तिक में ४.३.२८६ है, आनंदगिरि स्वामी ने अर्थ किया है अन्तर्यामी, साक्षी। (मुत्तुशास्त्री ने चिद्बिम्बतावधि पाठ माना, निर्णयसागर, पुणे एवं मद्रास संस्करणों में भी वैसा माना, लेकिन वार्तिक एवं उसकी टीका के अनुरोध से '...बिता...' पाठ स्वीकारा गया है।) बिम्बित मायने प्रतिबिम्बित होने वालों की सीमाभूत चित्यह शब्दार्थ है। चित् अविद्या में, साविद्यचित् अंतःकरण में,

देहादिभेदमाश्रित्य योऽयमित्युत्तरं जगौ।
अधिष्ठानारोप्यभाव आत्माऽस्येति विवक्षितः।।५१।।
विचारदृष्ट्याऽधिष्ठानमेवास्याध्यस्तवस्तुनः।
तथापि जाड्यचैतन्यभेदोऽप्यस्तीह लौकिकः।।५२।।
एवं सत्यविरोधः स्याद्भेदाभेदार्थवाक्ययोः।
योऽयमित्युत्तरे शब्दद्वयमेवं विविच्यताम्।।५३।।

अंतःकरण-प्रतिबिम्बित इंद्रियों में इत्यादि परंपरा के अनुरोध से अवधि या सीमा चित् को कहा। चौथा है जो बिम्बित भी नहीं होता, व्यवहार से परे है। इनमें से ज्योतीरूप कौन है यह विचारणीय है।।५०।।

याज्ञवल्क्य ने जवाब दिया 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' कि प्राणों से अतिरिक्त जो विज्ञानप्राय, हृदय के अंदर ज्योतीरूप से भासमान, उसे आत्मा कहा। इसे स्पष्ट करते हैं **देहादि विभिन्न उपाधियों का सहारा लेकर 'जो यह' आदि उत्तर मुनि ने दिया। 'आत्मैवाऽस्य ज्योतिः' आदि में जो संसार का स्वरूप आत्मा को कहा था, वह यह बताने के अभिप्राय से कि आत्मा अधिष्ठान है, संसार आरोप्य (अध्यस्त) है।।५१।। विचार की दृष्टि से आत्मा अध्यस्त वस्तुओं का अधिष्ठान ही है फिर भी जडता-चेतनता का लोकसिद्ध भेद भी यहाँ (आत्मा और संसार में) है।।५२।। इस प्रकार समझ लेने पर आत्मा का देहादि से भेद एवं अभेद बताने वाले वाक्यों का आपसी विरोध समाप्त हो जाता है। 'जो यह' इस उत्तर में आये दोनों शब्दों का इस ढंग से विचार किया जाये :।।५३।।** शंका थी कि आत्मा देहादि से भिन्न भी कहा और पहले उनका स्वरूप अर्थात् अभिन्न भी कहा था जिससे विरोध लगता है। समाधान किया कि स्वरूप उसे अधिष्ठान की दृष्टि से कहा था अतः वहाँ भी देहादि को अध्यस्त होने से आत्मा से अतिरिक्त ही बताया था। उपदेश तो उपाधियों के सहारे ही होगा अतः यह सावधानी हमेशा चाहिये कि न उन्हें सत्य समझें और न उनकी असत्यता से आत्मवस्तु को ही असत्य समझ लें! बौद्धादि ने यही किया, उपाधि निषेध करते-करते मान लिया कि कुछ भी नहीं है। सर्प की रज्जुरूपता केवल विचारदृष्ट्या है, प्रतीतिदृष्ट्या नहीं अतः प्रतीति के स्तर पर भेद मानकर व्यवहार संगत है। अतः जड-चेतन के विवेक का स्थान यथावत् रहता है, व्यवहार में सांकर्य आदि का प्रसंग नहीं आता। अनुभवी का विचार परिपक्व होने से भेदव्यवहार भी उसकी वास्तविकता को तिरोहित नहीं होने देता जैसे गहना

यः पृष्टः स पराग्वृत्तिप्रमामेयातिलंघितः ।
प्रत्यङ्मुखेन मानेन त्वयमित्युपदिश्यते ।।५४ ।।
परांचीति च मंत्रोक्तिः साक्षादात्मेति च श्रुतिः ।
पराङ्मानप्रमेयत्वमात्मनो विन्यवारयत् ।।५५ ।।

व्यवहार सुनार के लिये सोना छिपने नहीं देता। जब तक परिपाक न हो तब तक सायास विचार में तत्पर रहना ही उचित है, भेद-संस्कार धूमिल करते जाना ही श्रेष्ठ है। इसलिये पूर्वापर विरोध उक्त उपदेश में असंभावित है।।५१-३।।

विचार का ढंग ही समझाते हैं **'यः' (जो) अर्थात् जिसके बारे में पूछा गया था वह ऐसी वस्तु है जो परागर्थों में बर्तने वाली प्रमा से प्रमेयों को लाँघकर रहती है। 'अयम्' (यह) अर्थात् जिसे प्रत्यक् की ओर उन्मुख प्रमाण से समझाया जाता है।।५४।।** प्रमाण प्रायः पराग्वृत्ति होते हैं, पराक् अर्थात् दृश्य अर्थों में ही बर्तते हैं, उन्हीं के बारे में कुछ बताते हैं। ऐसे प्रमाणों से जो कुछ पता चलेगा वह उपाधि ही है जिसे लाँघकर परे रहने वाला आत्मा है, उपाधि से अस्पृष्ट है। 'यः' या 'जो' दूरवर्त्ती को कहते हैं, इस भाव से आत्मा को 'यः' कहा। प्रकृत के भाव से भी उसे 'यः' कहा क्योंकि पृष्ट होने से वही प्रकृत है, उसी का प्रकरण चल रहा है। जब प्रमाण को प्रत्यङ्मुख अर्थात् प्रत्यग्भूत आत्मा की ओर एकाग्र करते हैं तब 'अयम्' यह, सन्निहितरूप से आत्मा समझ आता है। आत्मा प्रमाणविषय तो नहीं बनता लेकिन प्रत्यङ्मुख, अंतर्मुख बनाना ही सबसे कठिन है। हम संसार में दूर से दूर, कठिन से कठिन खोज के लिये जाने को तैयार रहते हैं, इस प्रत्यग्भूत आत्मस्वरूप को खोजने की सोच ही नहीं पाते। कारण है कि हम विवेक-वैराग्य की कमी से आत्मबोध का महत्त्व नहीं समझ पा रहे। संसार में उपलब्धियों को सार्थक मान रहे हैं, संसार-समाप्ति की सार्थकता नकार रहे हैं। कीचड़ में फँसे व्यक्ति को वहीं रहने देकर भोजन पानी पहुँचाना बेहतर है या कीचड़ से निकाल बाहर करना? सांसारिक उपलब्धियाँ फँसे रहने की तरह तथा मोक्ष बाहर निकलने की तरह है। कीचड़ में रुचि हो जाये तो जैसे व्यक्ति निकलना न चाहे वैसे हम संसार से बहिर्भूत होना नहीं चाह रहे। इसलिये विवेक-वैराग्यपूर्वक अन्तर्मुखता उपजानी चाहिये।।५४।।

आत्मा को 'यः' 'अयम्' कहना वेदवाक्यों से समर्थित करते हैं **'इन्द्रियाँ पराग्दर्शी हैं' यह मंत्र में कहा, 'अव्यवहित वस्तु आत्मा है' यह भी वेदवचन है। इस प्रकार वेद ने बताया है कि आत्मा बहिर्मुख प्रमाणों से नहीं समझा जा सकता।।५५।। कुम्हार द्वारा जैसे घड़ावस्तु प्रत्यक्ष देखी जाती है वैसे**

कुंभकारेण कुभार्थो यथा प्रत्यक्ष ईक्ष्यते।
विज्ञानेन तथा प्रत्यङ्ङात्माकारेण गृह्यते।।५६।।
अयमित्यभिधायोग्यो लोके देहोऽपि वीक्ष्यते।
विज्ञानमय इत्युक्त्या स्थूलदेहो निवर्त्यते।।५७।।

आत्माकार बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान से प्रत्यग्वस्तु ग्रहण की जाती है।।५६।। 'इंद्रियाँ' इत्यादि कठोपनिषत् (४.१) तथा 'अव्यवहित' आदि बृहदारण्यक (३.४.१) के वचन हैं जिनका अनुभूतिप्रकाश अध्याय ११ श्लोक ६६ आदि तथा अध्याय १७ श्लोक ७१ आदि में विचार हो चुका है। साक्षात् अपरोक्ष होने से परागर्थक प्रमाणों का अविषय हैयह वेद का अर्थ है। जैसे उसे अविषय कहा, वैसे उसे शास्त्रादि द्वारा समझने लायक भी कहा। वहाँ तात्पर्य है कि बुद्धि जब आत्मा का आकार ग्रहण करती है तब आत्मसम्बन्धी अज्ञान दूर हो जाने से आत्मा जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है। निर्णयसागर में 'ध्याकारेण', पुणे संस्करण में भी 'ध्याकारेण' पाठ है; मुत्तुशास्त्री का 'विज्ञानेन' पाठ है, वार्तिकसार में 'धीज्ञानेन' पाठ है। वार्तिक में (४.३.३०२) 'विज्ञानेन' पाठ है, आनन्दगिरि टीका में 'आत्माकारेण विज्ञानेनेति सम्बन्धः' व्याख्या है। अतः अनुभूतिप्रकाश में भी विज्ञानेन पाठ उचित है। प्रायः विज्ञान कहते हैं अनुभव को। बुद्धि जब अपरोक्ष विषय का आकार लेती है तब उस विषय का अनुभव होता है अतः जैसा बुद्धि का आकार वैसा अर्थात् उस आकार का अनुभव हो जाता है। घड़ा प्रत्यक्ष रहते इंद्रिय द्वारा बुद्धि घड़े के आकार की बने तो घड़ा प्रत्यक्ष ग्रहण होता है; आत्मा स्वभाव से सदा प्रत्यक्ष है, उसके आकार की बुद्धि अर्थात् 'मैं' ऐसी वृत्ति, इसके माध्यम से आत्मा का अपरोक्ष ग्रहण हो जाता है। वृत्ति न रहते भी आत्मा अपरोक्ष होने के बावजूद उसका ग्रहण नहीं होता। अतः वृत्ति का उपयोग है। जब तक अन्तःकरण आदि उपाधियों से एक-मेक समझा है तब तक ऐसा ही बुद्धि का आकार बनकर ऐसे ही आत्मा का ग्रहण होता है, जब विवेकपूर्वक महावाक्य सुनते हैं तब अखण्ड तत्त्व का ग्रहण होता है। किंतु ग्रहण आत्मा का प्रत्यग्रूप से होता है अतः उसे 'अयम्' कहना बनता है।।५५-६।।

'योऽयम्' के बाद 'विज्ञानमयः;' कहा, उसका उपयोग बताते हैं **'यह' ऐसा कहलाने लायक (आत्मा) शरीर भी लोक में देखा जाता है (अतः) 'विज्ञानमय' यह कहने से स्थूल शरीर की अविवक्षा प्रकट की जा रही है।।५७।। 'जिससे सब कुछ जाना जाता है' इस व्युत्पत्ति से विज्ञानशब्द से बुद्धि कही। विज्ञानमयता**

विज्ञायतेऽनेन सर्वमिति विज्ञानशब्दतः।
धीरुक्ता तन्मयत्वं तु तत्प्राचुर्यं विवक्षितम्।।५८।।
आचख्युर्मयटं केचिद्विकारार्थे न तच्छुभम्।
अनिर्मोक्षो विकारार्थे प्रायोऽर्थस्तूपपद्यते।।५९।।

तो विज्ञान की प्रचुरता (अधिकता) बताना इष्ट है।।५८।। स्थूल शरीर लोकसिद्ध आत्मा है, वह 'अयं' (यह) भी कहा ही जाता है, वही यहाँ न समझ लिया जाये इसलिये 'विज्ञानमय' कहा। स्थूल देह अन्नमय है, विज्ञानमय तो है नहीं, अतः उसकी व्यावृत्ति हो गयी। 'विज्ञानमय' में विज्ञान-शब्द बुद्धि के लिये है, 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्य या बहुलता बताने के लिये है; इस प्रकार 'विज्ञानमय' का अर्थ वह आत्मा है जिसके अनुभव में बुद्धि ही प्रधान बनी हुई है। बुद्धिरूप उपाधि से आत्मा अविविक्त है अतः हम आत्मा को समझते हैं तो उसमें बुद्धि ही ज़्यादा दीखती है। जैसे भोजन में घी ज़्यादा हो जाये तो घृतमय भोजन कहते हैं क्योंकि बाकी स्वाद गौण और घीका स्वाद प्रधान होता है, वैसे विज्ञानमय में विज्ञान मायने बुद्धि की खास उपलब्धि है, निर्विकार सच्चित् गौण हो रखा है। लोक में प्रत्यक्ष है कि बिना रोशनी के कोई रूप नहीं दीखता लेकिन हम रूप के प्रति सजग रहते हैं, रोशनी को महत्त्व नहीं देते; ऐसे ही बुद्धि से एकमेक तो स्वयं को स्पष्ट जानते हैं, उससे स्वतंत्र अपना रूप महत्त्व का नहीं समझते।।५७-८।।

'मयट्' प्रत्यय का प्राचुर्य अर्थ ही यहाँ उपपन्न है यह स्पष्ट करते हैं **कुछ लोग इस मयट् को विकारार्थक समझाते हैं लेकिन वह ठीक नहीं क्योंकि विकाररूप अर्थ स्वीकारने पर मोक्ष असंभव हो जायेगा। 'प्रायः' अर्थात् प्राचुर्य अर्थ तो संगत है।।५९।।** 'विज्ञान' से परमात्मरूप विज्ञान अभिप्रेत मानकर 'परमात्मा का विकार जीव है' ऐसा 'विज्ञानमय' शब्द का भाव कुछ व्याख्याताओं को अभीष्ट है किंतु जीव को यदि विकार मानें तो मोक्ष नहीं हो पायेगा, कथंचित् कुछ निमित्तादिवश विज्ञानरूपता आयी भी तो क्योंकि विज्ञान (परमात्मा) विकारी वस्तु (परिवर्तनशील) माना गया इसलिये पुनरपि वह जीवाकार में विकृत हो जायेगा। इसलिये मयट् को कार्यार्थक और विज्ञान को परमात्मार्थक न मानकर विज्ञान को बुद्धिरूप एवं मयट् को प्राचुर्यार्थक मानना ही सारे श्रुतिप्रसंगों के अनुकूल अतः उपपन्न है।।५९।।

विज्ञानमय कहने का और भी भाव बताते हैं **जैसे चंद्र से सम्बद्ध ही राहु अनुभव किया जाता है वैसे बुद्धिरूप विज्ञान से सम्बद्ध ही प्रत्यग्वस्तु का अनुभव होता**

बुद्धिविज्ञानसंपृक्तश्चन्द्रसंसक्तराहुवत् ।
प्रमीयते ततः प्रत्यग्विज्ञानमय उच्यते । ।६० । ।
द्रष्टृत्वाद्यभिसंबंधः कारकस्यापि सर्वदा ।
धीविज्ञानकृतोऽतोऽपि विज्ञानमय उच्यते । ।६१ । ।

है इसलिये उसे विज्ञानमय कहा है । ।६० । । हमेशा अकारक रहने पर भी आत्मा का द्रष्टृत्व आदि से सम्बन्ध बुद्धिरूप विज्ञान के कारण होता है, इसलिये भी आत्मा विज्ञानमय कहा जाता है । ।६१ । । अन्य ग्रहों की तरह राहु स्वतः दीख नहीं सकता; चन्द्र-सूर्य का जब ग्रास करता है तभी दीखता है, इसी तरह आत्मा का अनुभव तभी हो जब वह बुद्धि से जुड़े, बिना बुद्धि से जुड़े आत्मा 'का' अनुभव होता नहीं। यों, बुद्धि पर निर्भर उसका अनुभव होने से आत्मा को बुद्धिमय या विज्ञानमय कहना बन जाता है। शुद्ध आत्मा ज्ञान का विषय हो नहीं सकता। यद्यपि चंद्रादि-संबद्ध ही मिलता है तथापि राहु को चन्द्रमात्र नहीं कह सकते, चन्द्र से स्वतंत्र ग्रह है, उसकी गति आदि पता है तभी ग्रहणादि के काल का पहले से निर्णय होता है। इसी प्रकार बुद्धि से स्वतन्त्र आत्मा भी मान्य है, श्रुति एवं अनुमान उसे निश्चित करते हैं लेकिन उसका अनुभव बुद्धिवृत्ति से युक्त स्थिति में ही होगा, अन्यथा नहीं। असंग होने पर भी आविद्यक, मायिक सम्बन्ध से आत्मा व बुद्धि का मेल हो जाता है यह आत्मानुभव की अन्यथानुपपत्ति से स्वीकार है। एक और हेतु है आत्मा को विज्ञानमय कहन में : आत्मा निर्विकार अतः कारक (क्रिया-सम्बद्ध) नहीं हो सकता जबकि हमें आत्मा (मैं) की प्रतीति होती है 'जानने वाला' के रूप में। जानने वाला अर्थात् जानना-क्रिया का कर्त्तारूप कारक। यह अनुभव संभव बनाने वाला है बुद्धिरूप ज्ञान; बुद्धि आत्मप्रभा स्वयं में ग्रहण कर 'ज्ञान' बन जाती है, बुद्धिरूप अर्थात् वृत्तिरूप ज्ञान तो जन्मादि वाला अतः क्रियात्मक है; इस प्रकार बुद्धि के ज्ञानकर्तृत्व का बिम्बभूत आत्मा पर आरोप होकर 'मैं जानने वाला' यह अनुभव संभव हो जाता है। 'मैं' वस्तुतः सिर्फ ज्ञान है, ज्ञानवान् नहीं; बुद्धि वस्तुतः 'मैं' नहीं है; फिर भी मैं और बुद्धि एकमेक हो जाने से 'मैं' 'जानने वाला' हो जाता हूँ। क्योंकि विज्ञानरूप बुद्धि के प्रभाव से ही आत्मा की ज्ञातारूप से उपलब्धि संगत है इसलिये आत्मा को विज्ञानमय कहना ठीक है। रहस्य याद रखना चाहिये कि ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है, बुद्धि नहीं; उत्पन्न आदि होने वाली बुद्धिवृत्ति ही है, आत्मा नहीं; इनके अन्योन्याध्यास से आत्मा में ज्ञातृत्व हो जाता है। अतः 'धीविज्ञानकृत' आत्मरूप ज्ञान नहीं वरन् उसका ज्ञातृत्वादि ही है। ज्ञाता अत एव चिदचिद्ग्रंथि या अहंकार है। इस

सर्वार्थकारणं बुद्धिर्द्वारमात्रं ततोऽपरम्।
इन्द्रियं तन्मयस्तस्माच्चिदाभासैकवर्त्मना।।६२।।
प्राणा बुध्यविनाभूता इति प्राणमयोऽप्यतः।
प्राणात्मवादः संप्राप्तः प्राणेष्विति निवार्यते।।६३।।
दशेन्द्रियाणि मरुतः पंच च प्राणशब्दिताः।
प्राणेषु योऽर्थोऽनुगतः स आत्मेत्यवधार्यताम्।।६४।।

'मैं' को अनिर्वाच्य अस्तित्व वाला न मानने पर सांख्यादिवाद प्रसक्त होता है पर वेदान्ताचार्यों ने इसे मिथ्या माना है अतः सारा शास्त्रीय व लौकिक व्यवहार तथा मोक्ष भी संगत है।।६०-१।।

जैसे बुद्धि से जुड़ा ज्ञाता लगता है ऐसे आँखों से जुड़ा द्रष्टा, कानों से जुड़ा श्रोता आदि भी लगता है तो चक्षुर्मय आदि न कहकर विज्ञानमय ही क्यों कहा? यह बताते हैं **सभी विषय जानने में कारण बुद्धि है, उससे अन्य इंद्रियाँ केवल द्वार हैं। इसलिये केवल चिदाभास के मार्ग से आत्मा विज्ञानमय है।।६२।।** इन्द्रियाँ तत्तत् विषय से संपर्क में द्वार पड़ने से विषयज्ञान में भले ही कारण कही जायें लेकिन प्रमाणव्यापार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह बुद्धि की ही वृत्ति होती है अतः सभी ज्ञान बुद्धिवृत्तिरूप होंगे ही। इसलिये बुद्धिमय या विज्ञानमय तो कहना बनता है, चक्षुर्मय आदि नहीं। फिर भी इन्द्रियादि से तादात्म्य आगे (४.४.५) याज्ञवल्क्य 'चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः' आदि से बतायेंगे जिसका श्लोक २३२ में उल्लेख होगा। अगला प्रश्न है कि बुद्धि-आत्मा का सम्बन्ध ही नहीं तो आत्मा विज्ञानमय कैसे कहा गया? भोजन-घी का सम्बन्ध हो तो भोजन को घृतमय कह सकते हैं, असम्बन्ध रहते तो नहीं कह सकते? इसके उत्तर में बताया कि जैसे प्रतिबिंबरूप में मुख-दर्पण का सम्बन्ध होता है वैसे बुद्धि में जो चिद् का आभास है, बस वही आत्मा-बुद्धि का सम्बन्ध है जिसके चलते आत्मा बुद्धिमय कहा-समझा जाता है। अतः वास्तव में असम्बन्ध होने पर भी विज्ञानमयता घट जाती है। (वार्तिक ४.३.३१४-६ में वह दर्शनीय है।)।।६२।।

'योऽयं विज्ञानमयः' के बाद आये 'प्राणेषु' का अर्थ कहते हैं **बुद्धि के बिना प्राण नहीं रहते अतः (बुद्धिमय को) प्राणमय भी होना पड़ेगा! इस तरह संभावित प्राणात्मवाद 'प्राणों में' कहकर निरस्त किया।।६३।। दस इन्द्रियाँ और पाँच वायुएँये सभी प्राण-शब्द से कहे जाते हैं। निश्चय यह करना है कि प्राणों में जो वस्तु अनुस्यूत है वह आत्मा है।।६४।।** प्राणापानादि भेद वाला प्राण अर्थात्

धीरेवात्मेत्यपाकर्तुं हृदीति श्रुतिरभ्यधात्।
स्वार्थबुद्धौ य आभाति स आत्मा बुद्धिवृत्तिदृक्।।६५।।

जीवनीशक्ति भी विज्ञान की (बुद्धि की) तरह आत्मा की पहचान के लिये आवश्यक है तो आत्मा को प्राणमय भी कहना चाहिये लेकिन प्राणों में जडता व्यक्त होने से आत्मा उनसे एकमेक नहीं लगता अतः ऐसा नहीं कहा वरन् 'प्राणेषु' द्वारा स्पष्ट किया कि वह प्राण नहीं किन्तु उनसे प्रत्यग्भूत है। किं च, प्राण बिना बुद्धि के रहेंगे नहीं क्योंकि दर्पण के आगे-पीछे के हिस्सों की तरह प्राण-बुद्धि हैं, अतः विज्ञानमय कहने से प्राणमयता तो अर्थसिद्ध है। फिर, सुषुप्ति में बुद्धि के बगैर प्राण रहने से प्राण ही आत्मा हैंयह संभावना भी है। इस प्रकार प्राणमय मान लें तो सुषुप्ति भी सात्मक सिद्ध होगी और अन्य अवस्थाओं में भी प्राण तो रहेंगे ही अतः जाग्रत्-स्वप्न भी सात्मक हैं। यों जो प्राणात्मवाद का पक्ष आ सकता है उसे हटाने के लिये 'प्राणों में' कहा। प्राण-शब्द से जीवनीशक्ति के सहित इंद्रियाँ भी ग्रहण करनी चाहिये। इस प्रकार दस इन्द्रियाँ और पाँच प्राण इन सब से आत्मा पृथक् है यह 'प्राणों में' कहने का भाव है। पृथक् इसलिये है कि सबमें अनुगत प्रतीत होता है। अनुगत चीज़ जैसे धागा, व्यावृत्तों से जैसे मणियों से अलग ही होती है। इंद्रियों में मैं हूँ, प्राणों में मैं हूँयों इन सबमें मैं की अनुगति उसे इन सबसे स्वतंत्र बताती है।।६३-४।।

'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' के बाद 'हृदि' कहा, उसका अर्थ बताते हैं **बुद्धि ही आत्मा है यह भ्रम मिटाने के लिये श्रुति ने 'हृदि' (हृदय में) कहा। 'स्व' (मैं) इस आकार की अनुभूति का जो विषय बुद्धि में भासता है, बुद्धिवृत्तियों का साक्षी वह आत्मा है।।६५।।** 'प्राणेषु' द्वारा प्राणभिन्न समझ आने पर भी विज्ञानमय से विज्ञानरूप बुद्धि ही क्यों न समझी जाये? अतः बुद्धि ही आत्मा होगीइस सम्भावना को दूर करने के उद्देश्य से 'हृदि' कहा अर्थात् वह बुद्धि न होकर बुद्धि के प्रति भी प्रत्यक् रहने वाली वस्तु है। 'हृच्छब्देन पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः तात्स्थ्याद् बुद्धिः' ऐसा भाष्य है अतः हदि का भाव हैबुद्धि में। किंतु 'मैं' से घड़े में पानी की तरह बुद्धि में आत्मा नहीं कह रहे किन्तु बुद्धि में प्रतीयमान को कह रहे हैं। बुद्धि में घड़ा भासता है तो बुद्धि से स्वतंत्र ही घड़ा सिद्ध होता है, ऐसे ही बुद्धि में भासने वाला आत्मा बुद्धि से स्वतंत्र ही सिद्ध होता है। बुद्धि जब स्व-आकार, मैं-आकार लेती है तब भासमान वस्तु आत्मा है जैसा कि आचार्य ने अन्यत्र कहा है 'अस्मत्प्रत्ययविषय' आत्मा है। यद्यपि देहेन्द्रियादियुक्त आत्मा वर्तमान में स्व-बुद्धि में भासता है तथापि पूर्वोक्त विचार के अनन्तर बनने वाली

हृदीत्याधारनिर्देशाद्धीस्थवृत्तिषु चात्मता।
प्रसक्ता तन्निवृत्त्यर्थम् अन्तरित्युपदिश्यते।।६६।।
परागर्थानुसारिण्यो यतो धीवृत्तयस्ततः।
प्रत्यक्त्ववाचकेनान्तःशब्देनैता निवर्तिताः।।६७।।
जाड्यमात्मन इच्छन्ति कणभुङ्मतजीविनः।
तेषां विप्रतिषेधार्थं ज्योतिरित्यभिधीयते।।६८।।

विवेकपूर्ण स्व-बुद्धि में जो भासता है उसे 'हृदि' से कहा है। बुद्धि की समस्त वृत्तियों का वही नित्यसिद्ध साक्षी है।।६५।।

'हृदि' के बाद 'अन्तः' क्यों कहा, यह समझाते हैं **'हृदय में' यों हृदय को आधाररूप से कहा होने से संभावना होती कि बुद्धि में स्थित वृत्तियाँ आत्मा होंगी; उस सम्भावना को निवृत्त करने के लिये 'अन्तः' (अन्दर) कहा।।६६।। बुद्धि की वृत्तियाँ क्योंकि विषयभूत वस्तुओं को ग्रहण करती हैं इसलिये प्रत्यग्रूपता के बोधक 'अन्तः'-शब्द से उनमें आत्मा का निषेध हो गया।।६७।।** हृदय से बुद्धि समझ लेने पर भी शंका संभव थी कि बुद्धि में होने वाली वृत्तियाँ आत्मा होंगी; 'चलां बुद्धिं' यह पक्ष दक्षिणामूर्तिस्तोत्र (श्लोक. ५) में भी उठा है, क्षणिक विज्ञान से परे कुछ नहीं यह भी लगभग ऐसी ही कल्पना है; अतः 'अन्तः' कहकर समझाया कि वृत्तियाँ आत्मा नहीं। अन्तः शब्द से यह अर्थ कैसे निकला? अन्तः का अर्थ है अंदर अर्थात् प्रत्यक्; वृत्तियाँ स्वभाव से बाह्य (पराक् अनात्मरूप) वस्तुओं से सम्पर्क रखती हैं अतः उन्हें बाह्य कहना ही ठीक है न कि अन्तः इसलिये अन्तः से प्रत्यगात्मा कह दिया गया। यद्यपि प्रत्यगाकार भी वृत्ति बनती है तथापि केवल योग्याधिकारी को शास्त्र-श्रवण से, अतः उस स्थिति के अलावा जो वृत्तियाँ बनती हैं उनके अभिप्राय से 'परागर्थानुसारिण्यः' कहा है।।६६-७।।

अगले शब्द 'ज्योति' को स्पष्ट करते हैं **कणाद ऋषि की मान्यता के अनुसार वैचारिक जीवन-व्यतीत करने वाले, आत्मा को जड मानना चाहते हैं। उनके सिद्धान्त का निषेध करने के लिये 'ज्योति' ऐसा कहा।।६८।।** कणाद ऋषि के मत को वैशेषिक दर्शन कहा जाता है, गौतम ऋषि का न्यायदर्शन भी आत्मादि वस्तुओं को प्रायः वैसा ही स्वीकारता है जैसा वैशेषिक, अतः 'कणभुङ्मतजीवी' से दोनों का संग्रह है। वे आत्मा को ज्ञानवान्, ज्ञानाधिकरण तो मानते हैं लेकिन ज्ञानरूप नहीं मानते। मनःसंयोग से आत्मा में ज्ञानरूप गुण उत्पन्न होता-नष्ट होता हैऐसी उनकी कल्पना है।

जडबुध्याद्युपादानं तमस्तस्यावभासकम् ।
सकृद्विभातं चिन्मात्रं ज्योतिरात्मेति भण्यते ।।६९ ।।

वे ज्ञानवान् को चेतन और जहाँ मनःसम्बन्धादि से भी ज्ञान न हो ऐसे घटादि को जड कहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में ज्ञान ही चेतन है, आत्मा स्वयं ज्ञान है, न कि ज्ञानवान्। यहाँ 'ज्योति' से ज्ञान कहा जिससे व्यक्त हुआ कि वैशेषिकाभिमत ज्ञानाधिकरणरूप वस्तु श्रुतिसंमत आत्मा नहीं है। काणादों का भ्रम वाजिब इसलिये है कि आपाततः आत्मा मनोयुक्त (बुद्धियुक्त, विज्ञानमय) रहते ही समझा जा पाता है और तब ज्ञाता (ज्ञानवान्) ही लगता है। यह तो औपनिषद निर्देश से जब 'बुद्धिवृत्तियों का बदलना कौन जानता है, वृत्ति-उत्पत्ति कौन देखता है, सुषुप्ति कौन अनुभव करता है?' आदि की परीक्षा करें तभी समझ आता है कि आत्मा मन से स्वतंत्र एवं ज्ञानस्वरूप है। ज्योति शब्द का ज्ञान अर्थ है।।६८।।

संसार जड है तो इसका कारण आत्मा जड ही क्यों न हो? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ज्योति पद का अर्थ कहते हैं **जड जो बुद्धि आदि (संसार) उनका उपादान कारण तम (अज्ञान) है, उसको प्रकाशित करने वाला केवल चैतन्य आत्मा (यहाँ) ज्योति कहा जा रहा है जो एक बार ही प्रकाशमान है।।६९।।** वेदान्त में आत्मा को संसार का विवर्त्तोपादान माना है न कि परिणामी उपादान अतः जैसे जड रस्सी से चेतन साँप हो जाता है वैसे चेतन ब्रह्म से जड संसार हो रखा है। यद्यपि औपनिषद भूमिका पर परिणामी कारण की जिज्ञासा नहीं होती क्योंकि विवर्त्त का निष्कर्ष अजात होता है, तथापि विवेकादि साधनों की भूमिका पर एवं व्यावहारिक व्यवस्थाओं के उपपादनार्थ जिज्ञासा होती है और उसके समाधान में तम, अज्ञान, माया का वर्णन प्रवृत्त होता है। उसका प्रकाशक ज्योतिरूप आत्मा है। 'सकृद्विभात' अर्थात् हमेशा एकरस भानरूप। सकृत् कहते हैं 'एक बार' को; यहाँ अर्थ है कि दुबारा तो होगा नहीं तथा हो रहा है अतः एक ही बार है, अर्थात् लगातार कायम है। छान्दोग्य (८.४.२) में 'सकृद्विभातः सदा विभातः' माण्डूक्यकारिकामें (३.३६) 'सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपम्, अग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात् ।...नित्यचैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातम्' आदि भाष्य इस शब्द को स्पष्ट करते हैं। अज्ञान, तम यद्यपि युक्तिसंमत कारण है तथापि उसकी अनुभूति 'मुझे नहीं पता' यही होती है अतः अनुभूयमान विषय (ग़ैर-आत्मा) होने से उसके प्रकाशक (अनुभविता) ज्योति को स्वीकारना अनिवार्य है। चेतन ही अज्ञान को जानता है। बुद्धिवृत्तियाँ भी जानती हैं लेकिन 'सकृत्' या सदा नहीं,

अचेतनोऽपि बुध्यादिश्चेतनावानिवेक्ष्यते।
यस्य संनिधितस्तस्य चिज्ज्योतिष्ट्वमतिस्फुटम्।।७०।।
आत्मच्छायं पयोऽशेषं यथा मारकतो मणिः।
परीक्षणाय प्रक्षिप्तः कुर्यादात्मा तथैव हि।।७१।।

जब उत्पन्न होंगी तभी जानेंगी; आत्मा भी जानता है लेकिन 'सकृत्' सदा, क्योंकि स्वयं सदा मौजूद है। उसी को याज्ञवल्क्य ज्योति कह रहे हैं।।६९।।

आत्मा की ज्ञानरूपता उपपन्न करते हैं **जिसकी निकटता से अचेतन भी बुद्धि आदि चेतनावान् (ज्ञानवान्) की तरह लगते हैं, उसकी चिदात्मक ज्योतीरूपता अत्यंत स्पष्ट है।।७०।। जैसे परीक्षा के लिये दूध में डाली मरकत मणि सारे दूध को अपने रंग से रंजित कर देती है वैसे ही आत्मा (अनात्मभूत बुद्धि आदि को ज्ञानवाला) कर देता है।।७१।।** आग के सम्पर्क से जल आदि गर्म होते हैं तो आग गर्म है इसमें क्या कहना, इसी तरह आत्मसंपर्क से बुद्धि आदि सचेतन हो जाते हैं तो आत्मा की चेतनता का क्या कहना! बुद्धि आदि 'चेतनावान् इव' इसलिये कि घटादि की अपेक्षा से चेतनावान् होने पर भी प्रत्यगात्मा की अपेक्षा से दृश्य ही हैं। चेतना शब्द के प्रयोग से स्पष्ट किया कि चाक्षुष प्रकाश ज्योति-शब्द से बिलकुल विवक्षित नहीं। आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है, ज्ञान उसका कोई गुण, अवयव आदि नहीं, तो वह बुद्धि आदि को ज्ञानवान् कैसे बना सकता है? इसके समाधान में दृष्टांत दिया : मरकत किसी ऐसी मणिका नाम है जिसे दूध में डालने पर दूध मणि के रंग वाला दीखता है, मणि हटाते ही सफेद दीखता है। जैसे मणि का रंग मणि को छोड़कर दूध में गया नहीं, फिर भी दूध को रंगा दिखा दिया, वैसे आत्मा निर्विकार रहते हुए ही बुद्धि आदि को ज्ञानयुक्त प्रतीत करा देता है। ऐसी मणि सुलभ न हो तो चुम्बक भी दृष्टांत है; चुम्बक की संनिधि में लोहा भी (सुई आदि भी) चुम्बक-सा हो जाता है, चुम्बक हटने पर लोहे की चुम्बकीय विशेषतायें समाप्त हो जाती हैं, चुम्बक दोनों हालतों में निर्विकार रहता है। जिसकी निकटता से लोहा चुम्बक-सा होता है उस चुम्बक की चुम्बकीय शक्ति जैसे अशंकनीय है वैसे आत्मा की चिच्छक्ति भी संदेहयोग्य नहीं।।७०-१।।

'बुद्धि आदि चेतनावान्-से लगते हैं' कहने पर प्रश्न होता है कि 'आदि' में किनका संग्रह है। इसे प्रकट करते हुए देहपर्यन्त आत्मबुद्धि (चेतनबुद्धि) में हेतु समझाते हैं **ज्योतीरूप आत्मा पहले तम को चैतन्य-सा बनाता है। तम के सम्बन्ध से बुद्धि को, बुद्धि-सम्बन्ध से इंद्रियों को और इंद्रियों के सम्बन्ध से शरीर**

ज्योतिरात्मा चितिच्छायं प्रथमं कुरुते तमः ।
तमोयोगेन धीस्तद्वद्धीयोगादिन्द्रियं तथा ।।७२।।
अक्षयोगात्तथा देह एवमेते चिदात्मवत् ।
भासन्ते तेष्वतः पुंसां प्रत्यगात्मत्वविभ्रमः ।।७३।।

कोयों ये सब चिद्रूप आत्मा वाले भासते हैं। इसीलिये लोगों को इनमें भ्रम होता है कि ये आत्मा हैं।।७२-३।। चेतन की साक्षात् उपाधि अज्ञान, उसमें चिदाभास पड़ने से ही सारी सृष्टि-प्रक्रिया चलती है। समष्टि में इस साभास उपाधि को ईश्वर और व्यष्टि में प्राज्ञ कहते हैं। चेतन के आभास के कारण चेतन से एकमेक हुई अविद्या (माया) चेतन ही लगती है तो 'माया सब कुछ करती है' आदि प्रतीति हो जाती है। व्यष्टि में अनुभव है कि 'मोह हमसे कार्य करा लेता है'; मोह जड है, कैसे करायेगा! लेकिन साभास होने से चेतन-सा लगता है। आगे, अज्ञान से बुद्धि पैदा होती है तो उसमें भी आभास पड़ता है; अज्ञान ने ही बुद्धि-आकार लिया अतः आभास पृथक् मानने की ज़रूरत नहीं; इसी तरह आगे भी उपाधियों में बढ़ोतरी होती जाती है और सबसे आभास का सम्बन्ध होता जाता है। इसलिये बुद्धि में अज्ञान रहना भी संगत है जैसे घड़े में मिट्टी रहती है। चाहे जितना किसी विषय में जान लें फिर भी असीम बातें अज्ञात रह जाती हैं। बल्कि जितना जानें उतना पता चलता है कि न जाना हुआ कितना ज़्यादा है। बच्चा सोचता है कि क-ख-ग-घ पढ़ लिये तो भाषा आ जायेगी! किन्तु जब स्नातकादि स्तर तक भाषा पढ़ता है तब समझ आता है कि समूची हिंदी किसी को पूरी आ जाये, यह संभव ही नहीं। ऐसे ही सर्वत्र सविषय अर्थात् बुद्धिस्तर के ज्ञान से अज्ञान का अन्वय रहता ही है। फिर, इन्द्रियाँ आयीं, उनसे बुद्धि का संबंध होगा अतः आभास इंद्रियों में भी रहेगा, वे भी चेतन लगती हैं। तदनन्तर स्थूल शरीर से सम्बन्ध रहते वह चेतन प्रतीत होता है।

प्रश्न होगा कि इन्द्रिय-पर्यन्त सूक्ष्मभूतकार्य होने से आत्मच्छाया ग्रहण होना ठीक है। स्थूल शरीर कैसे छायाग्राही या साभास हो सकता है? उत्तर है कि छाया, आभास आदि शब्द सर्वत्र अन्योन्याध्यास के बोधक हैं और अध्यास स्थूल शरीर से सभी को स्पष्ट है अतः स्थूल को सच्छाय, साभास कहना ठीक है। जो रूपकदृष्टि से ही समझ सके उसके लिये भाष्यकार ने बुद्धि में छाया और उसके बाद सम्बन्ध मात्र से छायानुगति कहीः 'बुद्धिस्तावत् स्वच्छत्वात्...आत्मचैतन्यज्योतिःप्रतिच्छाया भवति। ... मनसि...बुद्धिसम्पर्कात्, ...इन्द्रियेषु मनःसंयोगात्,...शरीरे इन्द्रिय सम्पर्कात्।' मरकत-दुग्ध के दृष्टांत से भाष्यकार ने माना कि एक-साथ सारे संघात को सच्छाय कर देता है '...कार्यकरणसंघातं चैकीकृत्य

तमेव भान्तमात्मानमनुभात्यखिलं जगत् ।
इति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमुक्तं ज्योतिष्ट्वमात्मनः ।।७४ ।।
आत्मेत्येवं[1] प्रबुद्धेऽस्मिन् ज्योतिषि ध्वान्तनाशतः ।
सर्वस्यैवात्मयाथात्म्यादात्मा पुरुष उच्यते ।।७५ ।।

आत्मज्योतिश्छायं करोति।' मकान में कमरा, उसमें बक्सा, उसमें थैला, उसमें कमीज, उसकी जेब में रुपयायों मकान से घिरा आकाशादि जैसे जेब तक समझ आता है, वैसे अर्थात् अवच्छेदवाद के उदाहरण से भी यही बात समझ सकते हैं। पूर्व में अध्याय १४ श्लोक १६ आदि में भी वर्णित प्रसंग का अनुसंधान कर लेना चाहिये। क्योंकि ये सभी उपाधियाँ, संघात चिदात्मा-जैसे लगते हैं इसीलिये हमें भ्रम रहता है कि ये ही, संघात ही प्रत्यगात्मा है। पामरों को संघात में और वादियों को तत्तत् उपाधि में प्रत्यगात्मता प्रतीत हो जाती है। (निर्णय सागार व पुणे संस्करण में श्लोक ७३ द्वितीयार्ध **'भासन्ते ते स्वतः पुंसां'** पाठ है; तब अर्थ है कि विभ्रम स्वतः है अर्थात् निरुपाधिक है। 'तेष्वतः' सारानुसारी मुत्तुशास्त्री का पाठ है, इसमें अर्थ स्पष्ट है कि उक्त क्रम से उपपन्न होने के कारण भ्रम हो जाता है।) ।७२-३।।

उक्त विषय को वाक्यान्तर से समर्थित करते हैं **उसी आत्मा के भासते, उसके अनुसार अखिल जगत् प्रतीत होता हैयों अन्य श्रुतिवाक्य में आत्मा की ज्योतीरूपता स्पष्ट बतायी है।।७४।।** यह वाक्य कठ (५.१५), मुंडक (२.२.११) एवं श्वेताश्वतर (६.१४) में प्रसिद्ध है, अनुभूतिप्रकाश ६.७०-१, ११.६३-४ एवं १२.१७ में इस पर विचार हो चुका है। भगवान् ने १५.६ में भी यह सूचित किया है।। ७४।।

'योऽयं विज्ञानमयो हृद्यन्तर्ज्योतिः' के बाद कहा 'पुरुषः', उसे समझाते हैं **इस प्रकार इस ज्योतीरूप आत्मा का प्रबोध हो जाने पर क्योंकि अज्ञान निवृत्त हो जाता है इसलिये सभी की वास्तविकता आत्मा ही रह जाने से आत्मा पुरुष कहलाता है।।७५।।** प्रबोध से साक्षात्कार बताया, परोक्ष ज्ञान से पुरुषता नहीं मिलती। सारा द्वैत, परिच्छेद, भेदरूप जगत् अज्ञान का ही फल है इसलिये जैसे ही तत्त्वज्ञान से अज्ञान नष्ट हुआ वैसे ही समझ आता है कि अब तक जो भेद-विस्तार दीख रहा था उसकी वास्तविकता केवल आत्मा है। स्वप्न से जगते ही जैसे स्वप्नदृष्ट का बाध होने पर उन सब चीज़ों की वास्तविकता आत्मा समझ आती है वैसे ही अज्ञाननिवृत्ति से द्वैत की सत्यता आत्मा समझ आती है। इसलिये वही पूर्ण, पुरुष है। जैसे जगने पर

---

१. आत्मन्येवम् इति सार-मद्र-मुत्तुपाठः।

आत्माज्ञानसमुच्छित्तौ तज्जस्य न हि वस्तुनः।
प्रत्यग्रूपात् पृथग्रूपं संभाव्यं केनचित् क्वचित्।।७६।।
पूर्णत्वात् पुरुषः सोऽयं ज्योतिरात्मेति भण्यते।
पूर्णस्य लोकसंचारः[1] कथं स्यादिति भण्यताम्।।७७।।
यः पूर्णः स समानः सन् बुध्यालोकावुभावपि।
संप्राप्तप्रतिपत्तव्यावनुसंचरति क्रमात्।।७८।।

यह प्रतीत होने पर भी कि 'स्वप्नदृष्ट सड़क की वास्तविकता मैं हूँ', ऐसा नहीं लगता कि 'मैं सड़क हूँ, ज़मीन पर बिछी लम्बी जगह हूँ, आदि,' वैसे पूर्णता के बोध में भेद को स्थान नहीं रहता।।७५।।

यही स्पष्ट करते हुए 'स समानः' इत्यादि उपदेश किस प्रश्न के उत्तर में है यह बताते हैं **आत्मसम्बद्ध अज्ञान निवृत्त हो जाने पर कोई कभी कहीं संभावना नहीं करता कि अज्ञानजन्य वस्तु किसी ऐसे स्वरूप वाली है जो प्रत्यगात्मा से अलग हो।।७६।। पूर्ण होने से वही यह ज्योतीरूप पुरुष आत्मा कहा जाता है। पूर्ण होने पर भी लोक-लोकांतर में इसका संचरण कैसे होता है, यह बताइये (ऐसा राजा का प्रश्न मानकर 'स समानः' आदि वाक्य है।)।।७७।।** अज्ञानजन्य का मतलब ही है कि वह वस्तु सचमुच में नहीं, केवल प्रतीति है, अतः अज्ञान मिटने पर उसका किसी भी तरह का रहना घटता नहीं। 'क्वचित्' से देश-काल दोनों समझने चाहिये अतः इह लोक में भेद मायिक है किंतु वैकुण्ठादि में अमायिक, चिन्मय, दिव्य, सत्य हैंइत्यादि कल्पना का भी निरास जानना चाहिये। अद्वितीयता को ही यहाँ पूर्णता कहा जाता है, व्यापकता कहा जाता है। पूर्ण व्यापक होने से लोकसंचार नहीं कर सकतायह शंका होती है। यदि न जा सके तो पाप-पुण्य व्यर्थ हो जायेंगे! अतः याज्ञवल्क्यने 'स समानः' आदि कहा।।७६-७।।

अब उक्त वाक्य की व्याख्या करते हैं **जो पूर्ण है वह बुद्धि के समान हुआ प्राप्त और प्राप्य दोनों लोकों में यथाक्रम संचार करता है।।७८।।** पूर्ण होने पर भी बुद्धि से तादात्म्य रखकर स्वयं को उतना ही जानता है अतः बुद्धि के संचार से संचारी हो जाता है जैसे घट के गमनागमन से घटाकाश का गमनागमन होता है। जीवनदशा में स्थूल देहपर्यंत अहम्भाव है लेकिन मरने पर केवल सत्रह अवयवों वाला अथवा पुर्यष्टकरूप शरीर ही (सूक्ष्म ही) जाता है जिसमें प्रधान है बुद्धि अतः 'बुद्ध्या समानः'

१. °रो बुद्ध्युपाधित्वकारणात्सारे।

किं पुनः स्यात् समानत्वम् आत्मबुध्योस्तदुच्यते।
विवेकानुपलम्भेन तादात्म्यं रज्जुसर्पवत्।।७६।।
सम एव धिया लोकौ संचरत्येष न स्वतः।
अतः संसारमिथ्यात्वं ध्यायतीवेति वर्ण्यते।।८०।।
ध्यायन्त्यां ध्यायतीवात्मा चलन्त्यां चलतीव च।
बुद्धिस्थे ध्यानचलने कल्प्येते बुद्धिसाक्षिणि।।८१।।

कहा। बुद्धि से 'मैं' अर्थात् साहंकार उपाधि समझनी चाहिये। बुद्धि से जो एकमेकता का भ्रम वही लोक-लोकान्तर जाने-आने का निमित्त है। सम्प्राप्त लोक अर्थात् उपलब्ध, इह लोक। प्रतिपत्तव्य अर्थात् प्राप्त होने वाला, भावी लोक। इस लोक में भी बुद्धियुक्त होने से ही आये हैं, रहते हैं, व्यवहार करते हैं एवं परलोक भी बुद्धियुक्त होने से ही जाना होगा। अगर बुद्धिसंबंध कट जाये तो उत्क्रमण भी नहीं होगा।।७८।।

आत्मा बुद्धि के समान होता हैइसका भाव बताते हैं **आत्मा और बुद्धि की समानता क्या है? बताते हैंविभिन्न प्रतीत न होने से रस्सी-साँप की तरह तादात्म्य (ही यहाँ 'समानः' से कहा जा रहा है।)।।७६।।** आत्मा व बुद्धि चीज़ें सर्वथा अलग होने पर भी हमें अलग-अलग नहीं लगती, एकमेक हुई ही मिलती हैं, जिसे बुद्धि (मैं) समझते हैं उसे ही आत्मा समझते हैं। सूक्ष्म वस्तुओं में भेदज्ञान विवेक पर निर्भर है जैसे असली-नकली नोट का फ़र्क़ बैंक का अभ्यासी रोकड़िया तो तुरंत जानता है जबकि सामान्य लोग उन्हें एक ही समझकर धोखा खाते रहते हैं। दीर्घकाल तक विवेक का अभ्यास न करने तक साभास बुद्धि ही आत्मा प्रतीत होती है। सिर्फ़ विवेक न होना तो अभाव है, वही 'समानः' का अर्थ नहीं, वरन् उसके प्रभाव से तादात्म्य अर्थात् बुद्धि-आत्मा का अभेदबोध 'समानः' का अर्थ है। रस्सी को ढंग से न देखने पर वह साँप दीखती है तो जो साँप लग रहा है और जो वहाँ रस्सी है उनमें अभेद प्रतीत होता है, उसी को तादात्म्य कहते हैं। वैसा बुद्धि-आत्मा में है, यही अर्थ है 'वह बुद्धि के समान हुआ' कहने का।।७६।।

आगे श्रुति है 'ध्यायतीव लेलायतीव', इसे समझाते हैं **बुद्धि-समान हुआ ही लोकों में संचरण करता है, खुद नहीं। इसलिये 'मानो ध्यान करता है' से संसरण मिथ्या है यह बता रहे हैं।।८०।। बुद्धि एकाग्र रहते लगता है आत्मा ध्यान कर रहा है, बुद्धि चंचल होते लगता है वह चंचल है अर्थात् बुद्धि में होने वाले ध्यान व चांचल्य का बुद्धिसाक्षी आत्मा पर अध्यास हो रहा है।।८१।।**

आलोके व्यंजके यद्वदभिव्यंग्यघटाकृतिः ।
आरोप्यते तथा बौद्धः संसारो बुद्धिसाक्षिणि ।।८२ ।।

'स्वतः' अर्थात् उपाधिनिरपेक्ष पूर्ण पुरुष में संचरणादि संभव नहीं। हमें बुद्धि से तादात्म्य रहते ही 'मैं एकाग्र या मैं चंचल' ऐसी प्रतीतियाँ होती हैं। परलोक भी बुद्धि जाती है तो 'मैं' साथ चला जाता हूँ जबकि वास्तव में न आत्मरूप मैं इस लोक में आया, न परलोक जाता हूँ। 'कर्मण्यकर्म' (४.१८) आदि गीता में इस पर प्रकाश डाला गया है।।८०-१।।

साक्ष्यनिष्ठ का साक्षी में आरोप उदाहरण से समझाते हैं **अभिव्यक्त होने वाले घट का आकार जैसे उसको अभिव्यक्त करने वाले प्रकाश पर आरोपित कर दिया जाता है वैसे बुद्धिगत संसरण बुद्धिसाक्षी पर आरोपित है।।८२।।** प्रकाश वास्तव में घटादि विषयों का साक्षी-जैसा है। कहते भले ही हैं कि घड़े को प्रकाशित करते हुए प्रकाश घट के आकार का हो जाता है, लेकिन वास्तव में प्रकाश में कोई फ़र्क़ आता नहीं; ऐसा नहीं कि घड़े के साथ संबंध न होने तक प्रकाश का 'अपना' कोई आकार था, घड़े से जुड़कर वह आकार ख़त्म होकर नया आकार बना, इत्यादि वरन् घड़े के आकार का प्रकाश पर आरोप हो गयाइतनी ही बात है। पानी जिस बर्तन में रखो उसी आकार का 'हो' जाता हैऐसा भी लगता अवश्य है पर वस्तुतः पानी उस आकार का 'हो' तो नहीं जाता! ऐसे ही प्रकाश भी घट की आकृतिका लगता ही है, वैसा 'हो' नहीं जाता। इसी प्रकार संसार, संसरण, परिवर्तन बुद्धि में हैं, आत्मा केवल साक्षी, अभिव्यंजक है, फिर भी बुद्धि के परिवर्तन आत्मा पर अध्यस्त हैं, यह तात्पर्य है। प्रकाश जैसे कहने को ही प्रकाशक है वैसे आत्मा केवल कहने को साक्षी भी है, वास्तव में वह चिन्मात्र है। यहाँ जैसे प्रकाश का दृष्टांत लिया वैसे अन्यत्र आकाश का दृष्टान्त भी लेते हैंघट-संबंध से आकाश घटाकार प्रतीत होता है, घट के गमनादि से गतिवाला प्रतीत होता है, इत्यादि लेकिन भाव एक ही है। पूर्व में ज्योतीरूपता का प्रसंग होने से प्रकाश का दृष्टांत संगत हो जाता है।।८२।।

याज्ञवल्क्य ने वाक्य पूरा किया 'स हि स्वप्नो भूत्वा इमं लोकम् अतिक्रामति मृत्त्यो रूपाणि' कि बुद्धितादात्म्यापन्न हुआ वही स्वप्न होकर जाग्रत् का अतिक्रमण कर लेता है, मृत्यु के रूपों से परे हो जाता है। इसे समझाते हैं **ध्यान आदि अवास्ताविक हैं इस बात में 'वही स्वप्न होकर' आदि श्रुति हेतु बता रही है। प्रकृत वह आत्मा बुद्धि के वशीभूत हुआ स्वप्न बन जाता है।।८३।। बुद्धि के जगे रहने पर जैसे आत्मा 'मैं जग रहा हूँ' समझता है वैसे बुद्धि के सपना देखने पर उसी स्वप्न**

ध्यानादीनामवस्तुत्वे स हि स्वप्न इति श्रुतिः।
हेतुमाह स आत्माऽयं स्वप्नो भवति धीवशात्।।८३।।
बुद्धिजागरणे यद्वज्जागर्मीत्यभिमन्यते।
बुद्धिस्वप्ने तथा स्वप्नरूपत्वमभिमन्यते।।८४।।
जाग्रद्भोगमिमं लोकं स्वप्नो भूत्वाऽतिवर्तते।
वासनाराशिसाक्षित्वं स्वाप्नं भोगं तदाऽप्नुयात्।।८५।।
अविद्याकामकर्माख्यमृत्यो रूपाण्यतीत्य सः।
जाग्रद्देहेन्द्रियादीनि तिष्ठति ज्योतिरात्मना।।८६।।

को अपना रूप समझता है।।८४।। स्वप्न होने पर जाग्रत्-कालीन भोगरूप इस लोक को लाँघता है एवं तब स्वप्नगत भोग पाता है अर्थात् वासनाराशि का साक्षी बनता है।।८५।। अविद्या, कामना, कर्मइन नामों वाले जो मृत्यु के रूप हैं अर्थात् जाग्रत् के शरीर इंद्रिय आदि, उनसे परे हो वह ज्योतीरूप से ही रहता है।।८६।। 'वह स्वप्न होकर' कहने का भाव है कि बुद्धि की अवस्थाएँ वस्तुतः आत्मा की नहीं हैं। वस्तु कभी बदलती नहीं, आत्मा वस्तुतः ध्यान करता तो सदा करता, चंचल होता तो सदा होता आदि, लेकिन ऐसा न होकर क्षण-क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे कोई भी परिवर्तन, वास्तविक नहीं हैं। आत्मा में वे वास्तविक नहीं इतना ही नहीं, स्वरूपतः ही अवास्तविक हैं। इस तथ्य को अवस्थान्तरण से व्यक्त कियाबूढ़ा व्यक्ति सपने में जवान हो जाता है! मरकर अगले शरीर में तो बालक ही हो जाता है! यदि वस्तुतः आत्मा शरीर होता तो यह सब संभव नहीं था। ऐसे ही दुःखी व्यक्ति सपने में सुखी या विपरीत भी हो जाता है जिससे पता चलता है कि बुद्धिरूप भी आत्मा नहीं है। बुद्धि के जगने-सोने पर जैसे जीव का जगना सोना निर्भर है वैसे ध्यान-चांचल्य भी, अतः ये न स्वयं वास्तविक हैं और न आत्मा के धर्म हैं। आत्मा को तो केवल अभिमान (अध्यास) है कि जग रहा हूँ, सपना देखा था इत्यादि। श्रुति में कहा 'स्वप्नो भूत्वा इमं लोकम् अतिक्रामति', यहाँ 'इमं लोकम्', 'इस लोक को' अर्थात् जाग्रत् अवस्था के भोगों को। भोगों से भोक्ता-भोग्य भी समझ लेने चाहिये। स्वप्न में भोग तो है लेकिन वासनामय से अतिरिक्त कोई भोग्य नहीं है। 'वासनाराशि' से तात्पर्य है कि उन पदार्थों का उपादान मिट्टी-पानी आदि विभिन्न वस्तुएँ या कुम्हार-जुलाहा आदि विभिन्न निमित्त नहीं; वहाँ केवल व्यष्टि अज्ञान, उसमें एकत्र वासनाएँ और कर्मइन्हीं के प्रभाव से भोग्यप्रतीति हो जाती है। अतः जो राशि अर्थात् बाहुल्य, वैविध्य है वह वासनाओं के ही

तस्मात् स्वाभाविको नैव क्रियाध्यानादिलक्षणः।
लोकद्वयानुसंचारः किंत्वौपाधिक इष्यताम्।।८७।।

कारण है। जब वासनामय स्वप्न में पहुँचते हैं तब जाग्रत् भोग पीछे छूट जाते हैं मानो इन्हें लाँघकर हम आगे बढ़ गये। अंत में शब्द आये 'मृत्यो रूपाणि'; मृत्यु के रूप यहाँ अविद्या, कामना और कर्म विवक्षित हैं। आत्मा को परिच्छिन्न समझे बिना, विकारी समझे बिना कामना नहीं, कामना के बगैर कर्म नहीं हो सकते। इसलिये ये तीनों अविद्या का ही विस्तार हैं। इस तरह अविद्या को मृत्यु बताया। अपने स्वरूप का अज्ञान वास्तविक मृत्यु है। त्रिरूप उक्त मृत्यु की अभिव्यक्ति जाग्रदादि में है। जाग्रत् एवं तदन्तर्गत शरीर तथा मन-इंद्रिय-प्राणइन्हीं में मृत्यु के रूप व्यक्त हैं। स्वप्न में यद्यपि काम-कर्म अनुभव में आते हैं तथापि व्यवहार-भूमि में ही बाधित हो जाने से उन्हें मृत्यु का कार्यकारी रूप कहना नहीं बनता। स्वप्न में किये कर्म सफल भी नहीं होते, न लोक में, न परलोक में उनकी सफलता है। अतः 'जाग्रद्देहेन्द्रियादि' कहना सुसंगत है। इन्हें लाँघने पर प्रकाशरूप ही आत्मा रहता है। यद्यपि अभी पहुँचा स्वप्न में ही है तथापि मृत्युरूपों से तो छूट गया, यह भाव है। प्रकाशरूपता का प्रतिबोध भले ही विचार से होगा लेकिन प्रकाशरूपता है इतना निर्णीत है। अज्ञाननाश से अतिक्रमण हो तब मुक्ति है, उसके बिना क्योंकि पुनः जाग्रदादितादात्म्य स्थापित हो जाता है इसलिये लंघन अपना लाभ नहीं दे पाता। स्वप्न-विचार से जाग्रन्मिथ्यात्व के निश्चय को दृढ करते रहना मुमुक्षुका कर्त्तव्य है। लौकिकों का यत्न जाग्रत्सत्यता सिद्ध करने का होने से वे स्वप्नादि भ्रमों का परीक्षण ही नहीं करना चाहते किंतु वेदान्ती अपनी तीनों अवस्थाओं का, प्रमा-भ्रम-संशय-अज्ञान का परीक्षण करता ही रहता है तभी दृश्यमिथ्यात्व का निश्चय प्राप्त करता है। तदनन्तर स्वप्रकाश ज्योतीरूप की निरंकुश स्फूर्ति है।।८३-६।।

श्लोक ७७ से शुरू चर्चा पूरी करते हैं **इसलिये दोनों लोकों में बुद्धि के पीछे-पीछे संचरण करना अर्थात् क्रिया ध्यान आदि करना, आत्मा का स्वभाव नहीं किंतु उपाधि-अध्यास से है।।८७।।** इह लोक एवं भूत-भावी लोक, इनमें गमन-आगमन आत्मा करता हुआ इसीलिये प्रतीत होता है कि बुद्धि आदि उपाधि से एकमेक समझा जा रहा है अतः उपाधि-तादात्म्यवश ऐसा है, न कि स्वरूपभूत।।८७।।

उपनिषत् ४.३. के वाक्य ८ को समझाना प्रारम्भ करते हैं **जाग्रत् के देहादि जो मृत्यु के रूप, उनका स्वप्न में भले ही लंघन हो जाये लेकिन जन्मान्तर में तो (देह का लंघन नहीं होता होगा)? ऐसी शंका कर याज्ञवल्क्य ने 'स वा अयं**

जाग्रद्देहादिकं मृत्यो रूपं स्वप्नेऽतिवर्तताम्।
न जन्मान्तर इत्येवमाशंक्योक्तं स वा इति।।८८।।
युज्यते जायमानः सन्दुःखैरात्मैष ऐहिकैः।
मृतो वियुज्यते भाविजन्म स्वप्नसमं ततः।।८९।।

पुरुषो जायमानः शरीरम् अभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति' ऐसा कहा।।८८।। उक्त श्रुति का अर्थ है कि आत्मा पैदा होते हुए अर्थात् शरीराभिमानी बनते हुए 'पाप्मभिः' अर्थात् धर्माधर्म के आश्रयभूत कार्य-करणों से सम्बद्ध हो जाता है और मरते हुए अर्थात् शरीर छोड़ते हुए उन कार्य-करणों को छोड़ जाता है। इससे व्यक्त किया कि क्योंकि शरीर छोड़कर मरता है इसलिये शरीर से अलग है यह निःसन्दिग्ध है।।८८।।

वाक्य-तात्पर्य समझाते हैं **यह आत्मा, उत्पन्न होता हुआ इह लोक (नवीन शरीर) के दुःखों से जुड़ता है, मरने पर उनसे छूट जाता है, इसलिये अगला जन्म स्वप्न की तरह है।।८९।।** आत्मा नित्य होने पर भी उत्पद्यमान स्थूल शरीर से तादात्म्य के कारण उत्पन्न होने वाला कहा-समझा जाता है। प्रारब्ध के उपभोगार्थ जन्म होता है अतः पैदा होते ही दुःख (और सुख) शुरू हो जाते हैं। प्रारब्ध अवश्य भोक्तव्य है इस निश्चय से व्यक्ति मृत्यु आदि से भयभीत नहीं रहता; बिना प्रारब्ध-समाप्ति मर नहीं सकते, समाप्ति होने पर बच नहीं सकते अतः मृत्यु से सदा डरना व्यर्थ समझ आ जाता है। अभी तो लगता है कि उपाय से बचना हो सकता है और उपाय असीम होने से अधिकाधिक उपायों की ओर बढ़ते हैं। भय मिटने पर उपलब्ध उपाय का स्वभाववश अवलम्बन करने से ही सन्तोष हो जायेगा। प्रारब्धरूप ईश्वरेच्छा पर निर्भरता अभयी जीवन बिताने का एकमात्र रास्ता है। पाप-दुःख, या पुण्य-सुख इनमें बीजभाव-फलभाव का ही अंतर है, वस्तु वही है। अच्छे-बुरे कर्मों से पुण्य-पाप द्वारा सुख-दुःख मिलता है, यह निरन्तरता है अर्थात् ये चीज़ें अलग-अलग नहीं, क्रिया के ही विकसित रूप हैं। यद्यपि मरने पर, जाते हुए ही कर्म साथ ले जाता है तथापि वे ही कर्म जो नवीन शरीर में भोगने हैं, अतः उन्हें भावी देह के कर्म कहना बनता है तथा क्योंकि वे प्रकट सुख-दुःख के रूप में शरीर में ही होते हैं अतः उत्पन्न होते हुए उनसे सम्बद्ध होता हैयह भी ठीक है। दुःखों के बाहुल्यवश या परमार्थ से वंचित रखना सुखों में भी होने से उन्हें दुःख में ही गिन लिया। जब जिस शरीर में खुद को समझता है तब उसीके दुःख भोगता है, शरीर छोड़ने पर नहीं अतः शरीरों से आत्मा अलग है यह उसी प्रकार सिद्ध हो जाता है जैसे जाग्रत्

जन्मात्र नासतः सत्त्वं किंतु देहेन संयुतिः।
प्रादुर्भावो जनेरर्थः सत एव स युज्यते।।९०।।
मृतिः प्राणवियोगः स्यान्नतु नाशः सतो मतः।
मृङ्प्राणत्याग इत्युक्त्या स्वयं नष्टः कथं त्यजेत्।।९१।।

से स्वप्न में जाने से सिद्ध होता है। प्रश्न था कि स्वप्न में लंघन होने पर भी जन्मान्तर में क्योंकि स्थूल देहेन्द्रियादि और उनसे भोग होता ही है इसलिये आत्मा सदेह ही रहा, देहभिन्न कैसे? उत्तर दिया कि देह बदल गया, आत्मा नहीं बदला, इससे सिद्ध हो गया कि सभी स्थूल शरीरों से भिन्न है। जैसे प्रकाश सदा प्रकाश्य पर ही दीखने पर भी प्रकाश्यभिन्न समझ आता है वैसे आत्मा देहभिन्न समझ आता है। खास तो जन्मान्तर-स्वप्न की समानता से दोनों का मिथ्यात्व कहा है।।८९।।

आत्मा का जन्म कहने का मतलब बताते हैं **आत्मप्रसंग में असत् का सत् हो जाना जन्म नहीं वरन् देह से सम्बन्ध जन्म है। जनि-धातु का अर्थ है 'प्रकट होना' तथा वह मौजूद का ही होना युक्तियुक्त है।।९०।। इसी तरह प्राणों का वियोग मरण है न कि सद्रूप आत्मा का नाश। मृङ्-धातु का अर्थ 'प्राण छोड़ना' बताया है, स्वयं नष्ट हुई चीज़ कुछ छोड़ेगी कैसे!।।९१।।** प्रायः मानते हैं कि जो है नहीं, वह जब हो जाता है तब उसका जन्म है और फिर जब नहीं रह जाता तब मरण है। लेकिन आत्मप्रसंग में ये जन्म-मरण नहीं हैं। वास्तव में तो अनात्मा घटादि का भी 'असत् का सद्भावरूप' जन्म असंभव है, जैसा 'नासतो विद्यते भावः' आदि गीता में स्पष्ट है अतः वेदान्त भी पूर्व भूमि के रूप में परिणाम की ही अनुमति देता है, प्रारंभवाद की नहीं। इसी दृष्टि से श्लोकस्थ 'अत्र' से औपनिषद दर्शन समझना चाहिये। आत्मा सदा है। शरीराभिमानवश कर्मवान् फिर उनके कारण फलवान् प्रतीत होता रहता है, इसमें जब-जब नया स्थूल देह अभिमान का विषय बनता है तब-तब जन्म और जब-जब प्राण-देहसंबंध टूटने पर वैसा विषय नहीं रहता तब-तब मरण कहा जाता है। जैसा पूर्व श्लोकों में बताया था कि कर्म-फल बीज-वृक्ष की तरह हैं, अतः जैसे बीजदशा में वृक्ष का रूप-रंग हर कोई नहीं समझ पाता वैसे कर्मकाल में उसका फल समझ नहीं आता जिससे हम पाप करते जाते हैं यह सोचते हुए कि पाप से कार्यसिद्धि होती जा रही है। फिर जब दुःख सामने आते हैं तब घबराते हैं, शोकमग्न हो जाते हैं। किंतु अज्ञान, मोह के वश में रहने से पुनरपि वही सिलसिला चला देते हैं! जन्म-मरण का यही भाव व्याकरण से निकलता है : जन्म-शब्द जनि-धतु से बना है और जनिका मतलब है प्रादुर्भाव, प्रकट

इमं लोकं परं चायं जाग्रत्स्वप्नप्रवाहवत्।
सदा भजति तेनास्य सिद्धा देहादिभिन्नता।।६२।।
लोकायताः परं लोकं नेच्छन्त्यन्ये तु मन्वते।
त्रीँल्लोकान् स्वप्नसंयुक्तांस्ततस्तस्येति वक्त्यसौ।।६३।।

होना। जो उपस्थित किंतु छिपा है वही प्रकट होता है, जो है ही नहीं, वह कैसे प्रकट हो सकता है! ऐसे ही प्राणों को छोड़ देनामृङ्धातु से कहा जाता है, छोड़ वही सकता है जो उपस्थित हो। अतः अन्यत्र जन्म-नाश चाहे जैसे समझें, आत्मा के तो जन्म मरण 'असत् का सद्भाव, सत् का असद्भाव' नहीं ही मान सकते। त्यागने छोड़ने वाला बना रहे और जो छोड़ना है वह छूटे, तब छोड़ना कहा-समझा जाता है। अत एव मरने को तलाक नहीं कहते! पति-पत्नी छूटते तो मरने से भी हैं लेकिन छोड़ने वाला रहा नहीं अतः यह नहीं कह सकते कि उसने पत्नी को छोड़ दिया। अतः प्राण वही त्यागता है जो रहता है। इससे आत्मा शरीरादि से अलग है यह और स्पष्ट हो जाता है। अतः भगवान् ने निर्णय ही दे रखा है कि जो 'नहीं है' वह कभी 'है' नहीं हो सकता, जो 'है' वह कभी 'नहीं है' नहीं हो सकता। स्वरूप कभी छूटता नहीं, सदा रहता है। हम इसी बारे में भ्रान्त हैं अतः 'है' को 'नहीं है' बनाना चाहते हैं, 'नहीं है' को 'है' बनना चाहते हैं! हमें लगता भी है कि हम इसमें कामयाब हो रहे हैंयह भ्रांति को दृढ करता जाता है। भ्रमानुभव से मानी चीज़ें ही मिथ्या, माया कही जाती हैं। जन्म-मरण ऐसे ही भ्रम हैं, सद्रूप आत्मा का न जन्म है, न मरण है क्योंकि वह तो अखण्ड 'है' ही है। 'है' व 'नहीं है' के बारे में यह स्पष्टता आ जाने पर वैराग्य स्वाभाविक हो जाता है।।६०-१।।

आठवें वाक्य की व्याख्या पूरी करते हैं **जाग्रत्-स्वप्न के प्रवाह की तरह यह आत्मा सदा इस लोक और परलोक का सेवन करता है अतः सिद्ध होता है कि यह शरीरादि से भिन्न है।।६२।।** लोकद्वय से सभी शरीर अभिप्रेत हैं अतः अनादि-अनन्त जन्म-मृत्यु का चक्र ही स्थूल देहादि से आत्मभेद सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है।।६२।।

अगला श्रुतिवाक्य कहता है कि इस पुरुष के दो ही स्थान हैंयह और परलोकस्थान। इनकी सान्धिरूप स्वप्न स्थान तीसरा समझ सकते हैं जहाँ रहते हुए यह आत्मा इस और परलोक स्थान दोनों को देख लेता है। इसे श्लोक ६८ तक समझायेंगे **लोकायत (चार्वाक) परलोक नहीं स्वीकारते, बाकी तो मानते हैं। इसलिये (चार्वाक को सन्तुष्ट करने के लिये) 'तस्य' आदि वाक्य स्वप्न समेत तीन लोकों का कथन**

अयोगं परलोकस्य वारयत्येवकारतः।
सन्ध्यत्वेन तृतीयत्वं स्वप्नलोकस्य वार्यते।।६४।।
भोगभावात्तृतीयत्वमुच्यते चेत्तथोच्यताम्।
वस्तुतो न तृतीयत्वं धर्माधर्मप्रसंगतः।।६५।।
देशयोरुभयोः संधिर्न हि देशान्तरं यथा।
लोकयोरुभयोः संधिस्तथा लोकान्तरं न हि।।६६।।
इमं लोकमिव स्वप्ने परलोकं स पश्यति।
अतः प्रत्यक्षतोऽस्तित्वं परलोकस्य गम्यताम्।।६७।।
अतीतजन्मवृत्तान्तं बाल्ये प्रायेण पश्यति।
ऐहिकं यौवनेऽन्ते तु तपस्वी भावि वीक्षते।।६८।।

करता है।।६३।। लोकायत, चार्वाक प्रत्यक्ष पर ही निर्भर रहने से परलोक या जन्मान्तर नहीं मानता अतः प्रत्यक्ष से ही उसे परलोक समझाने के लिये श्रुति ने सपने को इह-परलोक की संधि के रूप में बताया। जो ज्ञान ऐहिक नहीं वे भी सपने में होते हैं, देवता राक्षस आदि दीखते हैं, उनके लिये आवश्यक संस्कार आ ही तब सकते हैं जब परलोक, जन्मान्तर रहा हो। यों स्वप्नप्रत्यक्ष से जन्मान्तर को सिद्ध करना याज्ञवल्क्य का अत्यन्त प्रौढ प्रयास है।।६३।।

वाक्य है 'तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवतः', इसका अर्थ बताते हैं **एव शब्द से परलोक के असंबंध का या अयुक्तता का निषेध किया एवं स्वप्नलोक के तीसरेपन का निषेध उसे सन्ध्य (संधिरूप) कहने से किया।।६४।।** 'दो ही स्थान हैं' में 'ही' (एव) से लोकायत की बात ग़लत घोषित की। वह एक ही स्थान मानता है अतः स्पष्ट किया कि दो हैं, एक ही नहीं। कोई सपने को तीसरा मानता, उसे भी मना किया कि सपना तो संधिमात्र होने से तीसरा स्थान नहीं है, भले ही तीसरा कह दिया जाये।।६४।।

स्वप्न को तीसरा न कहना उपपन्न करते हैं **सपने में भोग होने से उसे तीसरा कहा भले ही जाये, वास्तव में वह तीसरा नहीं अन्यथा वहाँ भी धर्म-अधर्म होना ज़रूरी होगा!।।६५।। दो देशों की सीमा जैसे कोई अलग देश नहीं होता वैसे दोनों लोकों की संधि अन्य लोक नहीं है।।६६।। सपने में इस लोक की तरह परलोक भी आत्मा देखता है इसलिये परलोक का अस्तित्व प्रत्यक्ष से ही समझ सकते हैं।।६७।। बाल्यावस्था के सपनों में प्रायः बीते जीवन के वृत्तांत**

देखता है, यौवन के सपनों में इस लोक के स्वप्न देखता है और अन्त में तपस्वी हुआ भावी जन्म से सम्बद्ध स्वप्न देखता है।।९८।। भोगभूमि लोक कही जाती है अतः स्वप्न को लोक कह सकते हैं लेकिन उसे लोक उपचार से ही कहना संभव है। सचमुच वह लोक हो तो मनुष्याभिमान रहते वहाँ किये कर्मों से पुण्य-पाप भी होने लगेंगे जो न शास्त्रसम्मत है, न कोई वादी मानता है। चार्वाक भी सपने में किये को किया तो गिनता नहीं! जगते ही स्वप्न में किये का बाध हो जाता है। जब उन कर्मों में अभिमान ही नहीं रहा तो उनके फल का प्रसंग ही समाप्त है। सपने में भोगे सुख-दुःख का बाध नहीं होता; अच्छा सपना देखकर मज़ा नहीं आया थाऐसा जगने पर नहीं लगता। था सपना अर्थात् अवास्तविक पर देखते हुए अच्छा तो लगा ही था, सुख आया ही थायही प्रतीत होता है। ऐसे ही दुःख के बारे में है। लेकिन 'किया तो था ही' यह क्रिया के बारे में नहीं लगता वरन् 'देखा ही था, किया नहीं था' यही प्रतीत होता है। अतः भोग ही स्वप्न में मान सकते हैं, कर्म नहीं। इससे सपना लोक नहीं, यह सिद्ध होता है। दो लोकों की संधि ही सपना है इसलिये भी पृथक् लोक नहीं यह स्पष्ट है। इसलिये वहाँ भी कुछ वस्तुतः उत्पन्न हो सके इसका 'मायामात्रं तु' सूत्र से (३.२.३) निषेध किया है। स्वप्न में देखने के लिये ज़रूरी है संस्कार, वासनायें। जिन चीज़ों के संस्कार इस लोक में असंभव हैं उन्हें सपने में देखते हैं तो निश्चित है कि किसी पूर्वजन्म में परलोक के अंदर वे संस्कार एकत्र हुए थे। यों सपने से परलोक सिद्ध हो जाता है। सपने में स्वयं को दिव्य विमान में घूमता देखते हैं तो अवश्य उसका संस्कार दिव्य लोक में ही अर्जित किया होगा अन्यथा सपने में वैसा दीख नहीं सकता। स्वप्न की अन्यथानुपपत्तिरूप दृष्टार्थापत्ति के बल पर परलोक प्रमाणित होता है। जातमात्र बालक भी सपने तो देखता है, उसके पास यहाँ के तो संस्कार हैं नहीं अतः अवश्य पूर्व के संस्कारों से देखता है। कई बच्चे तो पूर्वजन्म याद भी रखे हुए देखे-सुने जाते हैं। जवानी के सपने प्रायः उन्हीं संस्कारों से आते हैं जो यहाँ बटोरे हैं। बुढ़ापे में भी यदि गृही रह गया तो इस लोक की ही चिंता से यहीं के सपने भी देखेगा लेकिन यदि तपस्वी हुआ तो क्योंकि वह अपने उज्ज्वल भविष्य के लिये उत्सुक होता है इसलिये तपोबल से वह सपने उस बारे में देखता है। संस्कारवश न होने पर भी तपोवश वह दर्शन होता है जिससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि भावी जन्म है। इससे बताया कि लोकायत भी तपस्या करे तो भावी का स्वयं स्वप्न में दर्शन कर सकता है अर्थात् प्रत्यक्ष से भावी जन्म की सिद्धि कर सकता है।।९५-८।।

सपने में भावी का दर्शन श्रुति ने 'अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तम् आक्रमम् आक्रम्य उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति' से कहा, उसे बताते हैं **जैसे**

आक्रम्य यादृग्देहादि भाविजन्मानि वीक्षते।
स्वप्नेऽपि तादृगाक्रम्य सुखदुःखानि पश्यति।।६६।।
बहुजन्मसु संचाराद्देहादिव्यतिरिक्तताम्।
निरूप्याथ स्वप्रभत्वं स यत्रेति निरूप्यते।।१००।।
स यदा वासनामस्य जाग्रल्लोकस्य सर्वशः।
आदाय शेते विज्ञेया तस्य स्वप्रभता तदा।।१०१।।
स यत्र प्रस्वपित्यत्र स्वयंज्योतिः पुमानिति।
योज्यमस्येत्यादिना तु स्वापशब्दार्थ उच्यते।।१०२।।
न सुषुप्तिरिह स्वापः किंतु स्वप्नो विवक्षितः।
स जाग्रद्वासनाजन्यप्रपंचप्रतिभात्मकः।।१०३।।

'आक्रम' के सहारे भावी जन्म में देहादि देखता है वैसे 'आक्रम' के सहारे सपने में भी सुख-दुःख देखता है।।६६।। जिसके द्वारा अगले देह से सम्बन्ध होता है उस कर्म उपासनादि को यहाँ 'आक्रम' कहा। कर्मोपासना के फलस्वरूप ही भावी जन्म मिलता है। सपने में भी कर्मोपासनावश सुखादि भोगे जाते हैं। तपस्वी, भाविदेहप्रद कर्म के ही प्रभाव से भावी को सपने में देख लेता है, यह भाव है। गैरतपस्वी में ऐसी सामर्थ्य नहीं होती।।६६।।

श्लोक २४ में प्रतिज्ञात तीन में से प्रथम प्रतिपाद्य का प्रसंग समाप्त करते हैं **बहुत जन्मों में संचरण के आधार पर आत्मा देहादि से पृथक् है यह निरूपित कर अब 'स यत्र' आदि वाक्य से स्वप्रकाशता का निरूपण किया जाता है।।१००।।** व्याख्येय वाक्य है 'स यत्र प्रस्वपिति अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्राम् उपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिर्भवति' (६) 'सर्वावान्' इस जाग्रत् लोक की 'मात्रा' वासना लेकर एवं स्थूल में अभिमान (विहत्य) छोड़कर जीव खुद अपनी वासनाओं से सपने बनाता है और अपनी रोशनी से ही उन्हें अनुभव कर लेता है। सबका अर्थात् सारे प्राणियों का अवन (रक्षण) करने से जाग्रत् का जीव सर्वावान् है यह ग्रंथकार ही बता देंगे।।१००।।

उक्त वाक्य का तात्पर्य कहते हैं **वह जब इस जाग्रत् लोक की सारी वासना ग्रहण कर सोता है तब पुरुष स्वप्रकाश हैयों वाक्य समझना उचित है। 'अस्य' आदि शब्दों द्वारा 'सोना' शब्द का अर्थ बताया।।१०१-२।। यहाँ गहरी नींद नहीं, सपना 'सोने' का अभिप्राय है। जाग्रत् की वासनाओं से जन्य प्रपंच**

जाग्रल्लोकस्तु सर्वावानशेषमवतीत्यतः।
अवितृत्वं च सप्तान्नब्राह्मणे[1] प्राक् प्रपंचितम्।।१०४।।
यद्वाऽध्यात्मादिभेदोऽयं सर्वोऽत्रास्तीति सर्ववान्।
तस्य सर्वावतोऽशेषवासना स्वप्नसृष्टिकृत्।।१०५।।

का प्रतिभास ही स्वप्न का स्वरूप है।।१०३।। जाग्रत् में बाहरी विषयों से संपर्क होने पर उनकी वासनाएँ पड़ती हैं तथा भ्रमों की भी वासनाएँ पड़ती हैं। शोभन-अशोभन, सुन्दर-स्वादिष्ट आदि सब भ्रमों की ही वासनायें हैं। इन सभी को साथ लेकर जीव सोता है। बाहरी विषय-इन्द्रिय तो यहीं छोड़ जाता है, केवल वासनाएँ लेकर सोता है। तब दीखने वाला सपना आत्मा के ही प्रभाव से है। जो चीज़ जैसी है उसको वैसा प्रकट कर देनायह प्रकाश करता है। जैसे आँखों को रूप देखने के लिये सूर्यादि रोशनी चाहिये वैसे जीभ को स्वाद चखने के लिये जल चाहिये, सर्वथा सूखी जीभ स्वाद नहीं ले सकती, ऐसे ही अन्यत्र कोई-न-कोई सहारा चाहिये रहता है तो निर्णय मुश्किल हो जाता है कि आत्मा अकेला समर्थ है, लेकिन सपने में अन्य कुछ न चाहिये रहने से निर्णय हो जाता है। इसीलिये 'सोने' से सपने की अवस्था समझनी चाहिये क्योंकि वहीं यह स्वप्रकाशता व्यक्त है। जाग्रत् प्रपंच जैसे परमेश्वर द्वारा प्रकाशित है, स्वप्न प्रपंच वैसे जीव द्वारा प्रकाशित है। उसके सहारे ज्योतीरूपता समझ आ सकती है।।१०१-३।।

'सर्वावतः' शब्द दो तरह से समझाते हैं **सब की रक्षा करता है इसलिये जाग्रत् लोक सर्वावान् है। सबका रक्षक होना पहले सप्तान्न ब्राह्मण में (बृ.१.५) समझा चुके हैं।।१०४।। अथवा, अध्यात्म आदि यह सारा भेद जाग्रत् में है इसलिये यह सर्ववान् है (और उसे ही सर्वावान् कहते हैं)। उस सर्वावान् की सारी वासना स्वप्न का सर्जन करती है।।१०५।।** उक्त ब्राह्मण में सभी के अन्नों का वर्णन है। अन्न मिलते रहने से सब सुरक्षित रहते हैं। सातों अन्न जाग्रत् में ही उपस्थित हैं अतः यह सबका अवन अर्थात् रक्षण करता है। सार में 'सप्तान्नब्राह्मणात् प्राक्' पाठ है। बृ. १.४.१६ में आत्मा को सब भूतों का 'लोक' कहा है अर्थात् उपकारक बताया है, वह प्रसंग सूचित है। सर्वावान् के दूसरे अर्थ में सर्ववान् मुख्य शब्द है, उसे ही सर्वावान् कहा है। दीर्घ को छान्दस समझना चाहिये। स्वप्न में अधिभूत-अधिदैव नहीं रहते अतः उसकी व्यावृत्ति कर जहाँ सारा ही भेद उपस्थित है उस जाग्रत् को सर्ववान् कहा। वहाँ वासना

---

१. सप्तान्नब्राह्मणात्इति सारे।

आदाय वासनां स्थूले देहे हित्वाऽभिमन्तृताम् ।
सूक्ष्मेऽभिमानं निर्माय पश्यन्नेषोऽवतिष्ठते ।।१०६ ।।
हननं च विनिर्माणं जीवकर्मवशादिति ।
विवक्षुः स्वयमित्याह दैवं कर्मानुसार्यतः ।।१०७ ।।

बटोरकर उनसे जीव सपना बुन लेता है। यद्यपि स्वप्न की वासना से स्वप्नान्तर बन सकता है तथापि बिना जाग्रद्वासना के नहीं बनता क्योंकि एक तो स्वप्न की वासनाएँ अत्यल्प होती हैं, दूसरा वे इतनी दृढ प्रायः नहीं होती कि उद्बुद्ध होवें। फिर भी उनका उपयोग नकारते नहीं, जाग्रद्वासना स्वप्नसृष्टि करती है इतना ही कह रहे हैं। 'कृत्' से वासना को हेतु बताया।।१०४-५ ।।

स्वप्न बताते हैं **स्थूल शरीर में अभिमान त्यागकर, वासनाएँ लेकर, सूक्ष्म में अभिमान बनाकर (सपना) देखते हुए यह (आत्मा) रहता है।।१०६ ।।** सोते समय जाग्रत् में, स्थूल देह में अभिमान नहीं रहता, इसकी सुविधा, रोग आदि का संपर्क छूट जाता है। वासनाओं से सपने में नये सूक्ष्म अर्थात् वासनामय शरीर बनाकर उनमें अभिमान करते हैं तब वहाँ के भोग होते हैं। सपने में जवान शरीर बनाकर उसमें अभिमान करते हैं कि यह मैं हूँ तब अपनी जवानी का वहाँ भोग करते हैं। वहीं पड़ौसी का बूढ़ा शरीर भी बनाते तो हैं लेकिन उसमें 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करते तो अपनी बुढ़ौती का वहाँ भोग भी नहीं होता। अतः केवल स्वाप्न शरीर ही नहीं, उनमें अभिमान का भी निर्माण करते हैं। जाग्रत् में जैसे जहाँ अभिमान है वहीं भोग है, अन्यत्र नहीं, ऐसे ही स्वप्न में स्थिति है। कर्म और भोग का मूल केवल अभिमान है।।१०६ ।।

श्रुति में 'स्वयं विहत्य, स्वयं निर्माय' यों स्वयं शब्द रखा, उसका उपयोग व्यक्त करते हैं **स्थूल को छोड़ना और वासनामय का निर्माण जीव के कर्म के प्रभाव से होता है यह बताने के लिये 'स्वयम्' कहा। इससे व्यक्त हुआ कि दैव भी कर्मों के अनुसार होता है।।१०७ ।।** चाहे मरकर जन्मान्तर के लिये जाना हो, चाहे जाग्रत् से स्वप्न में जाना हो, होता कर्मवश है और इसीलिये कर्मानुष्ठाता को स्वयं उसमें जिम्मेवार बताया है। जाग्रत् में भोग्य कर्म कुछ देर के लिये ख़त्म हैं, स्वप्न में भोग्य कर्मों का उद्भव (फलोन्मुखता) है तब जीव खुद जाग्रत् में अभिमान छोड़कर सपने में नये वासनामयको तैयारकर उसमें अभिमान बनाकर सपना देखता है। मरकर जाने पर तो भगवान् का बनायासृष्टि के ढंग के अनुसार माता-पिता अन्नादि क्रम से तैयारशरीर होता है जिसमें अभिमान करते हैं, सपने में भगवान् का बनाया न होने से स्वयं बनाना

स्वेन भासेति शब्दाभ्यां स्वकीया वासनोच्यते।
स्वरूपभूता चित्स्वेन ज्योतिषेति विवक्षिता।।१०८।।
इत्थंभावे तृतीया स्याद् वासनाज्योतिषोस्ततः।
भास्यभासकरूपेण स्थितिः स्वप्न इतीर्यते।।१०६।।
अत्रान्यऽज्योतिषोऽभावात् स्वयंज्योतिः पुमान् भवेत्।
न ज्योतिष्ट्वं वासनाया भास्यत्वेन परिक्षयात्।।११०।।

पड़ता है। अगर स्वप्नभोग्य भी कर्म न हों तब तो सुषुप्ति हो जायेगी। कर्म जैसे स्वप्न में वैसे जन्मान्तर में हेतु हैं। वहाँ उत्पाद्य शरीर भगवान् ने उत्पन्न होने वाले प्राणी के कर्मानुसार ही बनाया है। अतः दैव या ईश्वरेच्छा प्राणिकृत कर्म के अनुरूप होने से वैषम्य आदि कोई दोष दैव पर नहीं दिया जा सकता। इससे भी 'स्वयम्' कहना सार्थक हो जाता है।।१०७।।

आगे श्रुति है 'स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति', इसे समझाते हैं **'स्वेन भासा' इन दो शब्दों से अपनी वासना कही है, 'स्वेन ज्योतिषा' शब्दों से स्वरूपात्मक चैतन्य कहा है।।१०८।। उभयत्र तृतीया विभक्ति इत्थंभाव अर्थ में है, अतः कहा यह जा रहा है कि सपने में अपनी वासना ही भास्य (विषय) रूप से तथा अपनी ज्योति ही भासक रूप से स्थित हैं।।१०६।। स्वप्न में अन्य प्रकाश न होने से पुरुष स्वयं प्रकाश होता है। वासना वहाँ भास्य बनकर कृतकार्य हो चुकती है अतः वह वहाँ प्रकाश नहीं है।।११०।।** भास् और ज्योतिदोनों शब्द समानार्थ होने से समझाया कि भास् से वासना और ज्योति से ज्ञान (प्रकाश) अभिप्रेत है। ऐसे ही 'स्वेन' 'स्वेन' यों दो बार स्व-शब्द आया; भास् के साथ स्व का मतलब स्वकीय है तथा ज्योति के साथ स्व का मतलब स्वरूप है। अर्थात् वासना तो आत्मा नहीं उससे सम्बद्ध है जबकि ज्योति आत्मा ही है। चारों पद तृतीया विभक्ति में हैं, तृतीया यहाँ इत्थंभाव अर्थ के लिये रखी। इत्थंभाव अर्थात् 'वस्तु ऐसी है।' लक्ष्य को लक्षित करने के लिये कहे शब्द में तृतीया लगाने पर यह अर्थ प्रसिद्ध है जैसे 'जटाभिः तापसः', 'जटाओं से तपस्वी है' में 'जटाओं से' अर्थात् जटाओं से पता चलता है कि व्यक्ति तपस्वी है, जटा तपस्वी का लक्षण है। अतः वासना द्वारा या प्रकाश द्वारा यह अर्थ नहीं वरन् वासनारूप से और प्रकाशरूप सेयह अर्थ है। वासना केवल वासना के आकार में नहीं वरन् भास्य अर्थात् वासनामय शरीरादि के आकर में होती है तब स्वप्न होता है। 'स्वेन ज्योतिषा' से भासकरूप कहने का भाव है कि केवल ज्योतीरूप से आत्मा रहता है; क्योंकि वासनामय

आत्मबुद्धिमनश्चक्षुरालोकविषयैर्युते।
न जागरे स्वयं ज्योतिर्विवेक्तुं शक्यते नृभिः।।१११।।
न सुषुप्तेऽपि तच्छक्यं भास्याभिव्यक्त्यभावतः।
स्वप्ने तु भास्यमस्त्येकं ततो ज्योतिर्विविच्यते।।११२।।

दृश्य बने हैं इसलिये वे प्रकाशित हो जाते हैं तो प्रकाश को ही प्रकाशक कह दिया है, प्रकाशन करने के लिये प्रकाश ने किया कुछ नहीं। यों इत्थंभाव से ज्योति की निर्विकारता बतायी। जाग्रत् के बजाये स्वप्न में स्वप्रकाशता तो सुविधा के लिये कही है, वहाँ अन्य प्रकाश अप्रसिद्ध होते प्रकाश की स्थिति आत्मा को प्रकाश सिद्ध करती है। जाग्रत् में है भले ही आत्मा ही प्रकाश लेकिन अन्यान्य प्रकाश प्रसिद्ध तो हैं अतः वही एकमात्र प्रकाश है यह निर्णय नहीं हो पाता। पुनरपि प्रश्न उठ सकता है कि स्वप्न में वासना भी तो है, वह क्यों न प्रकाश मान ली जाये? इसका उत्तर दिया कि वासना क्योंकि वहाँ दृश्य बन चुकी है इसलिये वह प्रकाश नहीं मानी जा सकती, द्रष्टा-दृश्य एक ही वस्तु नहीं होती।।१०८-१०।।

स्वप्न-उपन्यास की आवश्यकता स्पष्ट करते हैं **आत्मा, बुद्धि, मन, चक्षु, आलोक और विषयइतनी चीज़ों से संपन्न जाग्रत् में विवेक से स्वयंज्योति का निर्णय लोग नहीं कर सकते।।१११।। सुषुप्ति में भास्य की अभिव्यक्ति ही नहीं रहती अतः वहाँ भी स्वयंज्योति का पता नहीं चलता। सपने में तो एक वासना ही भास्य है अतः विवेकपूर्वक ज्योति का निर्णय किया गया है।।११२।।** जाग्रत् में तो प्रकाश समझी जा सकें ऐसी चीज़ें बहुत हैं तथा सुषुप्ति में कुछ प्रकाशित हो रहा है ऐसा ही नहीं लगता, इसलिये ये दोनों अवस्थाएँ ज्योतिः-स्वरूप के निर्णय के लिये उचित नहीं। सपने में अन्य प्रकाश है नहीं, वासना नामक जो अनात्मा है वह दृश्य हो गयी है, इसलिये जो अद्वितीय आत्मा वहाँ है वही प्रकाश है यह समझ सकना संभव है। सुषुप्ति की तरह समाधि में भी दृश्य न रहने से दर्शन नहीं होता तो दृष्टिरूपता का निर्णय संभव नहीं। तार्किकों को समाहित होने पर भी आत्मा ज्ञानरूप नहीं समझ आया। जैसे प्रकाश्य के बिना प्रकाश प्रतीत नहीं होता वैसे दृश्य के बिना ज्ञान भी प्रतीत नहीं होता, भले ही मौजूद रहे। सांख्य योग आत्मा को ज्ञानरूप स्वीकारते हैं तो समाधि के नहीं, विवेक के आधार पर। यद्यपि वेदान्तविचारक सुषुप्ति में अज्ञान का और आनन्द का भान होने से वहाँ भास्य नहीं यह नहीं मानते, तथापि वहाँ भास्य की 'अभिव्यक्ति' तो नहीं ही है : अज्ञान तो है ही अनभिव्यक्त का नाम; और

स्वप्ने जागरवद् दृष्टा मातृमानादयस्ततः।
दुर्विवेचत्वमाशंक्य न तत्रेति निषिध्यते।।११३।।
रथाश्वादीनि वस्तूनि जाग्रत्कर्मक्षये सति।
लीयन्ते वासनास्तेषां तिष्ठन्ति स्वप्रसिद्धये।।११४।।
लोकसिद्धमुपादानं निमित्तं वा न विद्यते।
स्वप्ने तेन रथादीनां मिथ्यात्वं युज्यतेतराम्।।११५।।
असंगस्यापि संभाव्यम् अविद्याकामकर्मभिः।
स्रष्टृत्वमित्यभिप्रेत्य स हि कर्तेत्यवोचत।।११६।।

आनंद वहाँ विषयतया प्रतीत होता ही नहीं। अतः शास्त्रीय ढंग से सुषुप्ति की परीक्षा भले ही सार्थक निकले, 'नृभिः' अर्थात् जनसामान्य तो वहाँ भी स्वप्रकाश का विवेक कर नहीं सकते।।१११-२।।

दसवाँ वाक्य है कि रथ, घोड़े रास्ते सपने में नहीं होते पर जीव उन सबको उत्पन्न करता है, हर्ष व आनन्द को उत्पन्न करता है, नदी तालाब उत्पन्न करता है क्योंकि वही कर्त्ता है। इसे बताते हैं **स्वप्न में भी जाग्रत् की तरह प्रमाता-प्रमाण आदि देखे जाते हैं अतः विवेक की दुष्करता समान होगी? यह शंकाकर श्रुति 'न तत्र' से स्वप्न में इस सारे भेद का निषेध करती है।।११३।। जाग्रद्-भोग्य कर्म क्षीण होने पर रथ अश्व आदि वस्तुएँ लीन हो जाती हैं, उनकी वासनाएँ रहती हैं ताकि स्वप्न सम्पन्न होवे।।११४।। लोकप्रसिद्ध उपादान या निमित्त स्वप्न में नहीं होते अतः वहाँ दृष्ट रथादि मिथ्या हैं यह अत्यधिक संगत है।।११५।। असंग आत्मा भी उत्पादक हो यह इसलिये युक्त है कि अविद्या-कामना-कर्म इसमें द्वार बन जाते हैं। इस अभिप्राय से 'क्योंकि वह कर्त्ता है' कहा।।११६।।** सपने में विभिन्न इंद्रिय आलोक आदि प्रतीत होने से प्रकाशबाहुल्य की संभावना हटाने के लिये वहाँ इन सबका निषेध किया। फिर वहाँ प्रकाश्य कुछ नहीं होगायह संभावना हटाने के लिये मिथ्या रथादि की उत्पत्ति कही। जाग्रत् में भूत-भौतिक सामग्री से वस्तुओं का निर्माण होता है, स्वप्न में केवल वासना से हो जाता है अतः स्वाप्न वस्तुएँ मिथ्या ही समझ आती हैं। जाग्रद्भ्रमों में मिथ्या को न मानने वालों के लिये स्वप्न भारी समस्या है! वेदान्त तो तीनों अवस्थाओं का स्पष्ट विचार करता है, जाग्रद्भ्रम और स्वप्न दोनों के लिये एक ही व्यवस्था मानता है अतः मिथ्या के बारे में संशय नहीं रहता। स्वप्न में जो कुछ अनुभव में आता है वह मिथ्या है। है तो जाग्रद्दृश्य भी मिथ्या, तथापि जनसामान्य को

ब्राह्मणोक्तार्थदाढर्यार्थं श्रुतिर्मन्त्रानुदाहरत्।
स्वयंज्योतिष्ट्वदेहादिभिन्नत्वे तेष्वतिस्फुटे।।११७।।
आराममेव मायोत्थं स्वप्ननिर्माणलक्षणम्।
पश्यन्ति जन्तवस्तस्य न तं पश्यति कश्चन।।११८।।
चिकित्सकप्रसिध्यापि सुप्तो देहाद्विभिद्यते।
द्रुतं न बोधयेत् सुप्तमिति प्राहुश्चिकित्सकाः।।११९।।

वैसा मान्य नहीं, सपने को मिथ्या जनसामान्य भी मानता है। मिथ्या पदार्थों का रचयिता आत्मा इसी से बन पाता है कि वह अविद्या से आवृत है, अतः कामनाग्रस्त है, और उसने पुण्य-पाप बटोर रखे हैं। इन तीन के बिना आत्मा कर्त्ता नहीं बनता। जैसे स्वप्न का, वैसे ही जाग्रत् का भी कर्त्ता वह इन्हीं तीन से बनता है अतः जाग्रत् भी मिथ्या ही है।।११३-६।।

इसके अनन्तर याज्ञवल्क्य ने मंत्र उद्धृत किये हैं, उनका अभिप्राय संगृहीत करते हैं **ब्राह्मण में कहे अर्थ की दृढता के लिये श्रुति ने मंत्र उद्धृत किये जिनमें स्वयंज्योतीरूपता एवं आत्मा की देहादिभिन्नता अति स्पष्ट हैं।।११७।। स्वप्न- रचना-सी रचना वाले मायिक संसाररूप बगीचे को ही लोग देखते हैं, उस आत्मा को कोई नहीं देखता।।११८।।** मंत्रों में वही अर्थ समझाया है अतः आचार्य ने केवल उन्हें सूचित किया, व्याख्या नहीं की। जैसे स्वप्न देखते हैं, स्वप्नरचयिता को नहीं समझ पाते, वैसे संसार सब देखते हैं, परमेश्वर कोई नहीं समझता।।११७-८।।

याज्ञवल्क्य ने आयुर्वेद की बात से भी आत्मा को शरीरातिरिक्त सिद्ध किया 'तन्नायतं बोधयेद् इत्याहुः' कहकर। वह भी बताते हैं **चिकित्सकों में प्रसिद्ध एक नियम से भी निश्चित है कि सोया हुआ व्यक्ति स्थूल शरीर से अलग है। 'सोये हुए को अचानक नहीं जगाना चाहिये'ऐसा चिकित्साशास्त्री कहते हैं।।११९।।** उनका कहना है कि हड़बड़ाकर उठने पर कदाचित् जिन नाडियों में आना उचित था उनकी बजाये अन्यत्र प्रवेश हो जाता है जिससे अचिकित्स्य रोग हो जाया करते हैं। अतः धीरे-धीरे जगाना ही स्वास्थ्य के लिये उचित है। शरीर ही आत्मा होता, तो यह समस्या न आती। अतः उनका मत भी देहभिन्न आत्मा सिद्ध करता है।।११९।।

फिर श्रुति है 'अथो खल्वाहुः जागरितदेश एवास्यैष इति' कि चार्वाक मानता है कि

देहान्यत्वस्वप्रभत्वे असोढ्वा स्वप्नमप्यमुम् ।
अपह्नुवानाश्चार्वाकास्तस्याहुर्जागरात्मताम् ।।१२०।।
तदसत् स्वप्नपार्थक्यं प्रसिद्धं लोकशास्त्रयोः ।
अत्रायं पुरुषस्तेन स्वप्रभश्चेतनः पृथक् ।।१२१।।

जागरित स्थान में ही सपना भी होता है! इस प्रसंग को उठाते हैं **आत्मा देहभिन्न और स्वप्रकाश है यह सहन न कर इस सपने का भी निषेध कर इसे जाग्रद्रूप ही बताते हैं!।।१२०।। किंतु वह मत ग़लत है। लोक में व शास्त्रों में जाग्रत् से स्वप्न अलग है यह प्रसिद्ध है। इसलिये स्वप्न में यह चेतन पुरुष स्वप्रकाश और स्थूलभिन्न है ही।।१२१।।** कुछ लोग इतना मुखर न हो सकें लेकिन स्वप्न का एक पृथक् स्तर, धरातल मानना चाहते हैं जो जाग्रत् के समकक्ष सत्य है अतः सपनों के जाग्रत् से अनोखे सम्बन्ध मानकर व्यवहार करते हैं। चार्वक तो स्वप्न की सविषयता, वहाँ भी स्वाप्न इंद्रियादि की आवश्यकता, शरीरपरिच्छेद में उपलब्धि इत्यादि पर ज़ोर देकर स्वप्न कोई दूसरी अवस्था नहीं यह मानता है। इस पक्ष में प्रमाण-युक्ति कुछ है नहीं, लोक-शास्त्र विरोध है अतः इतने से ही इसका निरास कर दिया। भाष्यकार ने इतना जोड़ दिया कि जाग्रत् की इंद्रियाँ उपरत होने पर ही स्वप्न आता है तो उसे जाग्रत् कैसे कहें! पचीस साल का व्यक्ति यदि अंधा हो जाये जाग्रत् में, तो भी सपने में रूप देखता रहता है। यदि जाग्रत्-स्वप्न एक होते तो यह कैसे संभव होता है? इसलिये यह पक्ष विशेष विचारणीय नहीं। वार्तिककार ने समझाया है कि 'अथो खलु' आदि चार्वाकपक्ष पठित यहाँ होने पर भी समझना चाहिये नौवी कण्डिकाके 'स यत्र प्रस्वपिति' आदि वाक्य से पहले क्योंकि इस वाक्य से कहे मत का ही वहाँ खण्डन किया है अर्थात् वहाँ सिद्धान्त पक्ष है जिसका पूर्वपक्ष यहाँ पठित है। पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् मानकर यों योजना उचित हो जाती है।।१२०-१।।

पन्द्रहवीं कण्डिका है 'स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति स्वप्नायैव। स यत् तत्र किंचित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति। असङ्गो ह्ययं पुरुष इति।' इसमें आत्मा की असंगता को बताना प्रारंभ किया। अवस्थाओं में जाते-आते रहने पर भी जो जहाँ अनुभव करता है उसे वहीं छोड़कर चला जाता हैयह आत्मा को असंग सिद्ध करता है। और भी इसमें कुछ सूचित है, वह स्पष्ट करते हैं **कर्मफल सुख-दुःख सपने में भी आत्मा को होते देखे जाते हैं (अतः उनके हेतुभूत कर्म आत्मा के ही धर्म होंगे) यह शंका मानकर 'स**

मोदत्रासौ कर्मकार्यौ दृष्टौ स्वप्नेऽपि चात्मनः।
इत्याशंक्य स वा एष इति कर्म विविच्यते।।१२२।।
कालुष्यं जागरे जीवे स्वप्ने स्वल्पप्रसन्नता।
सम्यक् प्रसीदत्यत्रेति संप्रसादः सुषुप्तकम्।।१२३।।
स्वप्ने रत्वा चरित्वाऽथ विश्रान्तः संप्रसादके।
पुनरायात्यसौ नाडीं स्वप्नार्थमिति योजना।।१२४।।
दृष्ट्वैवेत्येवशब्देन न कृत्वेति विवक्षितम्।
न कर्म कुरुते स्वप्ने कारकाणामसंभवात्।।१२५।।

वा एषः' वाक्य से बता रहे हैं कि कर्म आत्मा से पृथक् है।।१२२।। जाग्रत् में जीव में कलुषता, स्वप्न में थोड़ी प्रसन्नता और सुषुप्ति में भली भाँति प्रसन्न होने से सुषुप्ति का नाम ही यहाँ श्रुति ने 'सम्प्रसाद' रखा।।१२३।। सपने में रमण व विचरण करके फिर थक कर सम्प्रसाद में आराम करने के पश्चात् पुनः स्वप्न देखने के लिये उचित नाडी में आ जाता है।।१२४।। 'देखकर ही' यों 'ही' शब्द से बताना चाहते हैं कि 'करके नहीं' अर्थात् स्वप्न में कर्म नहीं करता क्योंकि वहाँ क्रियासाधन होते ही नहीं।।१२५।। सपने में सुख-दुःख होते ही हैं और वे कर्मफल ही हैं तो स्वप्न में कर्म (अदृष्ट) की अवस्थिति होने से उसके निर्वर्त्तक कर्म (क्रिया) की भी संभावना हो जाती है कि स्वप्न में पुण्य-पाप किये जाते होंगे। इस पर श्रुति ने कहा कि कर्म आत्मधर्म नहीं, ज्ञान आत्मरूप है अतः 'दृष्ट्वैव' देखकर अर्थात् जानकर ही वहाँ से आत्मा लौटता है, कर्मानुष्ठान करके नहीं। स्वप्न में भोग ही होता है, कर्म नहीं। श्रुति में 'सम्प्रसादे रत्वा' कहा; सम्यक् जहाँ प्रसाद, प्रसन्नता, शान्ति हो उस सुषुप्ति के लिये सम्प्रसाद यह शब्द रखा है। इससे प्राप्त होता है कि बाकी दोनों अवस्थाओं में सम्यक् प्रसाद नहीं है। अतः वहाँ की हालत आचार्य ने बतायी कि सपने में थोड़ी-बहुत प्रसन्नता भले ही है, जाग्रत् में तो कालुष्य ही है। उत्कट रागादि और विक्षेप कालुष्य हैं जो जाग्रत् में सुलभ हैं। स्वप्न में क्योंकि थोड़े-से संस्कार ही उद्बुद्ध होते हैं, बाह्य सम्पर्क कोई होता नहीं इसलिये खास विक्षेप नहीं और स्वप्न इतना छोटा होता है कि खास रागादि का मौका नहीं अतः वहाँ प्रसन्नता है। हिंदी में खुशी को प्रसन्नता कहते हैं लेकिन संस्कृत में स्वच्छता, निर्दोषता, स्थिरता से होने वाली शांतिरूप खुशी ही प्रसन्नता कही जाती है। जड वस्तुओं में सिर्फ स्वच्छता और अचंचलता को प्रसन्नता कहते हैं। सुषुप्ति में अप्रसन्नता का हेतु बुद्धि रहती ही नहीं अतः सम्यक् प्रसाद है। ज्ञान

जागरात्स्वप्नमाप्नोति स्वप्नात्सुप्तिमिति क्रमात्।
वैपरीत्यं प्रतिन्यायं प्रतिमार्ग इतीर्यते।।१२६।।
प्रतियोनि यथास्थानं स्वप्ननाड्यादि भण्यते।
प्रतिमार्गमवाप्याथ स्वप्नाय स्थानमाव्रजेत्।।१२७।।

स्वयं नहीं वरन् उसका कार्य बुद्धि अशांति में हेतु है। सुषुप्ति में वह नहीं रहने से पूर्ण शांति है। फिर प्रारब्धवश स्वप्नादि अवस्थाओं में आने के लिये तत्तत् नाडी में घुसना पड़ता है। 'दृष्ट्वैव' से श्रुति ने कहा कि पुण्य-पाप को सिर्फ़ देखकर; सिर्फ से बताया कि वहाँ आत्मा करता कुछ नहीं, देखता ही है, जानता या भोगता ही है। पुण्य-पाप अर्थात् उनके फल सुख-दुःख, उन्हें अनुभव तो स्वप्न में करता है लेकिन पुण्यादि को संपन्न नहीं करता। स्वप्न में वासना है और भोग के लिये वह भी पर्याप्त है जबकि कर्म के लिये वासना पर्याप्त नहीं, इंद्रियादि साधन एवं घृत आदि सामग्री चाहिये। वासना से भोग जाग्रत् में भी होता है : जो पत्नी दस दिन पहले मर चुकी उसके मरने की खबर पति को दसवें दिन मिली लेकिन बीते नौ दिन वह 'मेरी पत्नी सुंदर है, प्रिय है, प्रतीक्षा कर रही है' आदि वासना से ही प्रसन्न होता रहा! ऐसे ही दुःख भी वासनामात्र से हो जाता है। अतः स्वप्न में वासना के सहारे भोग संगत है, कर्म संभव नहीं। एवं च कर्म आत्मस्वभाव न होने से आत्मा से सर्वथा पृथक् समझ आ जाते हैं जिस विवेक को श्लोक १२२ में कहा था।।१२२-५।।

'प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति' इस भाग का अर्थ कहते हैं **जाग्रत् से स्वप्न, स्वप्न से सुषुप्तिइस क्रम से विपरीत क्रम को 'प्रतिन्याय' कहा अर्थात् जाने के क्रम से उलटा क्रम।।१२६।। 'प्रतियोनि' अर्थात् स्वप्न नाडी आदि उचित स्थान। स्वप्न देखने के लिये प्रतिमार्ग से आकर उचित स्थान पर पहुँचता है।।१२७।।** सुषुप्ति से जाग्रत् के बीच प्रायः स्वप्न एवं जाग्रत् से सुषुप्ति के बीच प्रायः स्वप्न यह क्रम स्वाभाविक है। स्वप्न-सुषुप्ति में जाना-आना चलता रह सकता है। वस्तुतः क्रम में तात्पर्य नहीं वरन् संचरण बताने के द्वारा असंगता बताने में है। विभिन्न अवस्थाओं के दौरान जीव के रहने के विभिन्न स्थान प्रसिद्ध हैं जैसे दायीं आँख, कण्ठ और हृदय। ऐसे ही अवस्थानुरूप नाडियों के उपयोग की चर्चा बृ.२.१.१९ भाष्यवार्तिक में आयी है एवं अनुभूतिप्रकाश अध्याय ९ श्लोक २४-९ में संकेतित हो चुकी है।।१२६-७।।

अब असंगता व्यक्त करते हैं **आत्मा 'अनन्वागत' अर्थात् असम्बद्ध (या**

अनन्वागमने हेतुरसंगत्वं हि-शब्दतः।
सूच्यते बाधकस्तर्कः प्रसिद्धिर्वाऽत्र लौकिकी।।१२८।।
यद्वाऽनन्वागतत्वेन विवेकः कर्मणः कृतः।
असंगत्वेन कामस्य कामो न ह्यात्मनो गुणः।।१२९।।
'स ईयते यत्र कामं' 'यथाकामं प्रवर्तते'।
इति श्रुतिद्वयं स्वप्ने विस्पष्टं काममब्रवीत्।।१३०।।

अप्रभावित) रहता है इसमें कारण आत्मा की असंगता है। श्रुतिस्थ 'हि' शब्द से बाधक तर्क और लौकिक प्रसिद्धि सूचित है।।१२८।। जाग्रत् के अभिमान, सुखादि यथावत् स्वप्नादि में अनुगत नहीं होते, स्वप्न के जाग्रत् में नहीं होते, दोनों के सुषुप्ति में नहीं होते, सुषुप्ति की निर्विशेषता जाग्रत्-स्वप्न में नहीं होती, फिर भी तीनों जगह आत्मा एक हैयह आत्मा की वास्तविक अनासक्तिका ही चमत्कार है। पत्नी बारम्बार सास के विरुद्ध बोलती रहे तो अत्यंत मातृभक्त का भी माँ के साथ व्यवहार कुछ-न-कुछ बदलता है क्योंकि पत्नी की बातों का अनुगम रहता है, ऐसे ही कार्यालय में अतिविक्षेप होवे तो घर आकर भी व्यवहार चिड़चिड़ा रहता है क्योंकि अनुगम रहता है लेकिन जाग्रत् आदि में ऐसा नहीं होता। इससे आत्मा को असंग समझने में सहारा मिलता है। आत्मा को संगवान् मानने में बाधक तर्क 'हि' शब्द से कहा अर्थात् वह संगवान् हो तो तर्क, युक्ति का विरोध होगा। युक्ति इसमें आचार्यों ने बतायी है कि स्वप्न के दोषों से दोषवर्धन होता रहने से चित्तशुद्धि असंभव होगी। जाग्रत् में सावधान रहने वाले से भी सपने में पाप या विधि का अतिक्रमण हो ही जाता है और उसे नियंत्रित करना भी संभव नहीं अतः स्वप्न में भी पाप न हो यह मुमकिन न होने से हमेशा जीव पापवान् रहेगा तो ज्ञानाधिकारी नहीं हो सकेगायह तर्क है। एवं लोक में भी स्वीकृत है कि स्वप्न में किये-कराये से जाग्रद् में दण्ड-पुरस्कारादि नहीं मिलता, स्वप्न के दान से जाग्रत् में पुण्य नहीं होता इत्यादि। इन दोनों से समर्थित है कि आत्मा असंग है।।१२८।।

अनन्वागत और असंग पदों का अन्य भाव भी बताते हैं **अथवा, अनन्वागत कहकर कर्म का विवेक (पृथक्करण) किया और असंग कहकर कामना का विवेक किया क्योंकि कामना आत्माका गुण नहीं है।।१२९।। 'कामनानुसार जाता है' (बृ. ४.३.२), 'कामनानुसार प्रवृत्ति करता है' (२.१.१८)ये दोनों श्रुतिवाक्य स्वप्न में कामना का स्पष्ट कथन कर चुके हैं किंतु यदि श्रुतितात्पर्य होता कि स्वप्न में कामना सत्य है तो वह प्रामाणिक कामना जगने पर भी बनी**

स्वप्नकामस्य वस्तुत्वं श्रुतिभ्यां चेद्विवक्षितम्।
प्रबोधेऽप्यनुवर्तेत तच्च नास्ति ततो मृषा।।१३१।।
जाग्रत्प्रत्यक्षमाश्रित्य जागरे मृत्युसत्यताम्।
आशंक्य पुनरप्राक्षीद् दृष्ट्वैवेति तदुत्तरम्।।१३२।।
मूढप्रत्यक्षतः कर्ता विद्वत्प्रत्यक्षतोऽक्रियः।
विवेकिनामनुभवादात्मज्योतिर्विवेचितम्।।१३३।।

रहती जबकि ऐसा होता नहीं इसलिये इसे मिथ्या समझना ही उचित है।।१३०-१।। स्वप्न में किये कर्मों का असम्बन्ध और वहाँ की कामनाओं का असम्बन्धयों दोनों का असम्बन्ध एक-एक शब्द से कहा यह इस विकल्प में अर्थ है। यद्यपि स्वप्न में भी आत्मा कामनावान् मिलता है और तत्र-तत्र वैसा कहा भी है, तथापि सतात्पर्य अकामत्वश्रुति और अननुवृत्ति-प्रत्यक्ष से आत्मा का कामना-सम्बन्ध मिथ्या निर्णीत होता है। वास्तविक वही होता है जो कदापि बदले नहीं, कभी 'है' कभी 'नहीं है' होने वाला वास्तविक नहीं होता। आत्मा में बुद्धितादात्म्यवश ही कामना है, स्वतः नहीं।।१२९-३१।।

इस सन्दर्भ में जनक ने बार-बार कहा 'अब मोक्ष के लिये ही उपदेश दीजिये' और मुनि आगे-आगे समझाते चले। यहाँ भी ऐसे प्रश्नोत्तर का आशय बताते हैं **जाग्रत् के प्रत्यक्ष के आधार पर जाग्रत् में मृत्यु की सत्यता की शंकाकर जनक ने फिर पूछा तथा (बुद्धान्त-पर्याय में) 'देखकर ही' यह मुनि ने उसका उत्तर दिया।।१३२।।** यहाँ पहले (१५) वाक्य में 'सम्प्रसादे रत्वा', दूसरे में 'स्वप्ने रत्वा' और तीसरे में 'बुद्धान्ते रत्वा' कहा है अर्थात् सुषुप्ति से आना, सपने से आना और जाग्रत् में रमण-आचरण के बाद स्वप्न में जानाये बताये हैं। इनमें बुद्धांत अर्थात् जाग्रत् वाला वाक्य 'जाग्रत् में भी पुण्य-पाप को देखकर ही जीव स्वप्न में चला जाता है' यह कह रहा है। इससे समझाया कि जाग्रत् में भी देखना ही आत्मा के लिये संभव है, करना नहीं! जनक की शंका थी कि 'स्वप्न में अकर्ता होने से भी क्या लाभ, जाग्रत् में तो कर्त्ता ही हूँ अतः मृत्यु का रूप यथावत् है?' याज्ञवल्क्य ने बताया कि स्वप्न की तरह जाग्रत् में भी अकर्त्ता ही है! जाग्रत् में भी आत्मा वास्तव में कर्त्ता नहीं हो सकता।।१३२।।

अकर्त्ता है तो वैसा भासता क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं **मोहग्रस्त रहते जो प्रत्यक्ष है उससे आत्मा कर्त्ता लग रह है लेकिन विद्वान् जब मोह मिटा लेता है तब अक्रिय आत्मा ही प्रत्यक्ष होता है। विवेकवानों के अनुभव के अनुसार आत्मरूप ज्योति का स्पष्टीकरण किया गया है।।१३३।।** श्रुति ने ज्योति के बारे

असकृत्स्वप्नबुद्धान्तसंचारेऽपि न सङ्गवान् ।
इत्यर्थेऽस्मिन्महामत्स्यो दृष्टान्तत्वेन वर्ण्यते ।।१३४ ।।
इत्थं स्वप्नप्रसंगेन देहादिव्यतिरिक्तता ।
स्वप्रभत्वमसंगत्वं चेत्येतेऽर्थाः प्रपंचिताः ।।१३५ ।।
स एष परलोकस्य दृष्टांतः स्वप्न ईरितः ।
सुषुप्तिर्मोक्षदृष्टान्तस्तदर्थो ग्रंथ उत्तरः ।।१३६ ।।
तद्वा अस्यैतदित्यत्र प्राप्तकामस्वभावताम् ।
वक्तुं सुप्तावदुःखत्वं वक्ति श्येननिदर्शनात् ।।१३७ ।।

में बताया विवेकियों के अनुभव को महत्त्व देकर क्योंकि मूढ, अविवेकी, मोह में बँधों का प्रत्यक्ष प्रमाण कोटि में नहीं आता। सर्वत्र यही नियम है कि विवेकी का परीक्षित अनुभव की ठीक होता है। हमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व का जो अनुभव है वह बिना विवेक के, बिना परीक्षा के है अतः उसकी अपेक्षा श्रुतिसंमत विवेकपूर्ण विद्वदनुभव ही प्रबल है, वही मोक्षोपयोगी है।।१३३।।

अठारहवें वाक्य को सूचित करते हैं **बारम्बार स्वप्न व जाग्रत् में संचरण करते रहने पर भी आत्मा संगवाला नहीं हैइस बात में दृष्टांतरूप से महामत्स्य (बड़े मच्छ) का वर्णन किया गया है।।१३४।।** उस वाक्य में बताया है, जैसे बड़ा मच्छ नदी के दोनों किनारों पर क्रमशः तैर लेता है वैसे जीव अवस्थाओं में संचरण करता है। मच्छ प्रवाह के परवश या किनारा-विशेष में आसक्त नहीं होता, ऐसा आत्मा अवस्थाओं के परवश नहीं और आसक्त नहीं यह भाव है।।१३४।।

स्वप्न-प्रकरण का उपसंहार करते हैं **इस तरह, स्वप्न के प्रसंग से ये बातें समझायींआत्मा शरीरादि से अलग है, स्वप्रकाश है तथा असंग है।।१३५।।** श्लोक २४ में प्रारंभ विषय यहाँ पूरा हुआ।।१३५।।

कण्डिका १६ से ३३ तक के प्रसंग का श्लोक १८६ तक वर्णन प्रारंभ करते हैं **शास्त्रवर्णित एवं सर्वानुभूत स्वप्न परलोक के लिये दृष्टान्त बताया। मोक्ष में दृष्टांत है सुषुप्ति। यह समझाने के लिये आगे का ग्रंथ है।।१३६।।** श्लोक २५ में यह सूचना दे चुके हैं।।१३६।।

श्रुत्युक्त उदाहरण बताकर तात्पर्य सूचित करते हैं **'तद्वा अस्य' इत्यादि (४.३.२१) में आत्मा स्वभाव से पूर्णकाम है यह बताने के लिये यहाँ श्येन (बाज) के उदाहरण से सुषुप्ति में दुःखराहित्य कह रहे हैं।।१३७।।** वाक्य है 'तद्वा अस्यैतद्

आत्मस्वभावो निःशेषं पुंजीकृत्येह लक्ष्यते।
सुप्तौ मुक्ताविवाद्वैतस्वप्रभानन्दलक्षणः।।१३८।।
अविद्या तु स्थिताऽप्यत्र द्वैतदुःखाद्यनुद्भवात्।
स्वभावं न तिरोधत्ते स्वप्रभानन्दमद्वयम्।।१३६।।

अतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपम्।' अतिच्छन्द अर्थात् कामवर्जित और अपहतपाप्मा अर्थात् कर्मवर्जित अभयात्मक रूप सुषुप्ति में स्थित रहता है। इसकी व्याख्या के प्रारंभ में १६वें वाक्य में श्येन (बाज) का उदाहरण लिया कि उड़ते-उड़ते थक कर जैसे श्येन घोंसले की ओर जाता है वैसे जाग्रत्-स्वप्न से थका जीव सुषुप्ति में जाता है। जीव-श्येन के दो पंख कर्म और ज्ञान हैं, इन्हें सिमेटने पर ही सुषुप्ति (और मुक्ति) होती है। पक्षी की पूंछ की जगह जीव में इच्छा है, बहिर्मुखता की इच्छा रहते उधर एवं आत्मा की इच्छा रहते उधर गति होती है। सुषुप्ति में कर्म फलीभूत नहीं होते, नये ज्ञान के साधन नहीं होते, इच्छा व्यक्त नहीं होती तो स्वाभाविक आनन्द ही रहता है। कामना दुःख है, कामना पूरी होना अर्थात् समाप्त होना ही वैषयिक सुख है। यदि कामना है नहीं तो पूरी हुई से कोई फ़र्क नहीं रहा अतः सुख ही है। अकामहत को अन्यत्र भी सुखसंपन्न बताया है। वासनाजन्य दुःख भी सुषुप्ति में संभव नहीं क्योंकि वे सब तब अज्ञान में छिप जाती हैं। अतः सुषुप्ति को मोक्ष के लिये उचित दृष्टांत माना है।।१३७।।

उदाहरण-औचित्य व्यक्त करते हैं **आत्मा का संपूर्ण स्वभाव एकीभूत होकर सुषुप्ति में परिलक्षित होता है जैसे मुक्ति में अद्वैत स्वप्रकाश आनंद स्फुरित होता है।।१३८।। अविद्या तो सुषुप्ति में रहती है फिर भी क्योंकि द्वैत दुःख उद्भूत (प्रकट) नहीं होता इसलिये स्वप्रकाश आनन्द अद्वय आत्मस्वभाव को ढाँकती नहीं।।१३६।।** सुषुप्ति का सुख आत्मरूप है। जैसे रस्सी का अज्ञान स्वयं दुःख नहीं देता वरन् जब वह सर्पाकार बने तब दुःख देता है वैसे सुषुप्ति में अज्ञान रहते भी दुःख नहीं होता क्योंकि कार्यभूत द्वैत वहाँ नहीं है। स्वभाव नहीं ढकता अर्थात् आनन्दभान कायम रहता है जो जाग्रत्-स्वप्न में कामनादि से ढका रहने से कायम नहीं रहता केवल संतोष, शांति के समय कुछ क्षणों के लिये प्रकाशमान होता है। तिरोहित (छिपा) न होने पर भी ऐसा नहीं कि स्फुट भासे! इतना अंतर सुषुप्ति व मोक्ष में है। अतएव जो कुछ आधुनिक मूलाविद्या को बिना माने व्यवस्था बनाते हैं उनका प्रयास विफल हो जाता है क्योंकि तब मोक्ष व सुषुप्ति में कोई भेद नहीं बता सकते।।१३८-६।।

द्वैतदुःखादिरूपं यत्स्वात्मनः स्वप्नजाग्रतोः ।
तदविद्योत्थमित्येतत्ता वा अस्येति वर्ण्यते । ।१४० । ।
विद्यायाः परमोत्कर्षे जाग्रत्साक्ष्यात्मवासना ।
सर्वोऽस्मीति मतिं स्वप्ने करोत्यद्वैतभासिनीम् । ।१४१ । ।
सर्वात्मभावः परमो लोको बाधविवर्जनात् ।
बाध्यन्ते देवराजाद्या इवशब्दश्रुतत्वतः । ।१४२ । ।
नन्वद्वैतमपि द्वैतं सुप्त्यसुप्त्योरिहात्मनि ।
क्रमाद्भात्यत्र किं रूपं तस्येत्याशंक्य वर्ण्यते । ।१४३ । ।

आगे श्रुति में नाडियों में भटकना और उसका चरम उत्कर्ष बताया है, उसे सूचित करते हैं **'ता वा अस्य' इत्यादि से वर्णन किया कि जाग्रत्-स्वप्न में स्वात्मा का जो द्वैतरूप दुःखरूप आदि होता है वह अविद्या से उत्पन्न है । ।१४० । । विद्या की सर्वोत्तम स्थिति है जाग्रत् के साक्षी आत्मा की वासना, वह सपने में अद्वैत-प्रकाशक 'सब हूँ' ऐसा निश्चय पैदा करती है । ।१४१ । ।** नाडी-उपाधि पर निर्भर बताने से अस्वाभाविकता व्यक्त कर उसे आविद्यिक, मिथ्या बताया। संसार में सर्वोत्तम स्थिति है अद्वैत की दृढ वासना हो जाना। वैसी वासना होने पर सपने में भी वही अद्वैत भासता है। जाग्रत् की साधना की दृढता का पता स्वप्न से चलता है।।१४०-१।।

सर्वात्मभाव की परमता समझाते हैं **बाधित न होने से सर्वात्मता परम लोक है। देवराज आदि भावों का बाध हो जाता है। अतः श्रुति ने इव-शब्द रखा है । ।१४२ । ।** सपने में देखें 'मैं देवता हूँ' या 'राजा हूँ' तो जगने पर बाध होता है लेकिन सपने में भी देखी सर्वात्मता का जगने पर बाध नहीं होता, इसलिये वह परम लोक (दर्शन) है। 'चार तिया बारह'यह सपने में भी कहें तो वैसा ही सही है जैसे जाग्रत् में; इसी तरह सर्वात्मता सनातन सत्य है। अतः उदाहृत श्रुति में 'देव इव राजेव' यों 'इव' जोड़ा जबकि 'सर्वोऽस्मीति मन्यते' में इव नहीं जोड़ा। इव अर्थात् मानो। देवादिभाव तो मानो वहाँ होता है, सच में नहीं जबकि सर्वभाव होना मानने की ज़रूरत नहीं, उसे हुआ ही समझना है क्योंकि जगने पर भी वह कटेगा नहीं।।१४२।।

इक्कीसवीं कण्डिका में जिस प्रश्न का उत्तर दिया वह बताते हैं **आत्मा में सुषुप्तिकाल में अद्वैत, गैर सुषुप्तिकाल में द्वैतदोनों क्रमशः भासते हैं अतः इनमें से आत्मा का स्वरूप कौन-सा है? यह शंका कर इक्कीसवीं कण्डिका में वर्णन किया है । ।१४३ । ।** द्वैती लोग मानते हैं कि आत्मा सचमुच में सद्वितीय है,

यत्सार्वात्म्यं पुरा प्रोक्तं तदेवाद्वैतमात्मनः।
रूपमागमतः स्वानुभूतेश्च पुरुषार्थतः।।१४४।।
शास्त्रप्रसिद्धिं तच्छब्दो वक्ति स्वानुभवं पुनः।
एतच्छब्दः पुमर्थत्वमतिच्छंदादिनोच्यते।।१४५।।

साधनादि न होने से सुषुप्ति में ऐसा लगे भले ही कि कुछ दूसरा नहीं है। जैसे अंधेरा हो जाने से दुश्मन-मित्रादि समाप्त नहीं हो जाते ऐसे सुषुप्ति हो जाने से द्वैत छूट नहीं जाता। प्रायः लौकिकों को भी यह जँचता है। इसका समाधान देंगे।।१४३।।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं **पहले कही सर्वात्मता ही आत्मा का स्वरूपभूत अद्वैत है। आगम और अनुभव से वही समर्थित है एवं वही परम पुरुषार्थ है।।१४४।।** आगम अर्थात् उपनिषत्, वेद। वही आत्मा के बारे में प्रमाण है। स्वानुभव में सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधि दोनों का संग्रह है। केवल प्रमाण की अपेक्षा जब तदनुसारी अनुभव भी मिले तब निश्चय दृढ होता है। केवल अनुभव तो ग़लत भी हो सकता है अतः समर्थक प्रमाण चाहिये। सुषुप्ति में आवरण रहने पर भी निर्विकल्प समाधि में वह भी कार्यकारी नहीं रहता अतः स्पष्टता होती है। तीसरी बात है कि अद्वैत सार्थक है। सद्वैतरूप तो अनादि काल से है ही! उससे संसारदुःख ही है। अद्वैतरूप पुरुषार्थ है। यह भी सप्रयोजनतारूप तर्क सत्यता में मान्य है। प्रयोजनसाधक होने से रस्सी सच्ची, वैसा न होने से साँप झूठायह माना जाता है। दुःख द्वैत की अपेक्षा अवश्य रखता है, आनंद अद्वैत में हमेशा है। सुषुप्ति में द्वैत नहीं तो नियमतः आनंद है। इन तीन हेतुओं से अद्वैत ही वास्तव में आत्मा का स्वरूप निर्णीत होता है।।१४४।।

उक्त तीनों हेतु श्रुतिशब्दों पर आरूढ करते हैं **'तत्'-शब्द शास्त्रप्रसिद्धि, 'एतत्'-शब्द स्वानुभव और 'अतिच्छन्दा' आदि शब्द पुरुषार्थता बताते हैं।।१४५।।** 'तत्' का अनुवाद 'वह' है जो दूर या परोक्ष को बताता है। शास्त्र से समझी बात परोक्ष ही लगती है। 'एतत्' अर्थात् 'यह' जो पुरःस्थित, प्रत्यक्ष को बताता है अतः इससे स्वानुभव का कथन माना। 'अतिच्छन्दा, अपहतपाप्मा, अभयम्' ये तीन शब्द पुरुषार्थद्योती हैं। अतिच्छन्दा अर्थात् निष्कामयह वांछनीय स्थिति है क्योंकि कामना दुःख ही देती है पाप्मा अर्थात् पाप या कर्म; उनसे राहित्य भी अपेक्षित है क्योंकि कर्म भी बंधनकारी है। भय से छूटना तो इष्ट है ही। यों इन शब्दों से तीसरा हेतु कहा।।१४५।।

अन्यत्र भी प्रसिद्ध है यह कहते हैं **समाधि और सुषुप्ति में अद्वैत स्वयं अनुभव में आता ही है, बहुत-से शास्त्रवाक्य भी घोषित करते हैं कि शिव**

शिवमद्वैतमित्यादि शास्त्रमुद्धुष्यते बहु।
समाधिसुप्त्योरद्वैतं स्वयमेवानुभूयते।।१४६।।
छन्दः कामः कर्म पापं भयं स्यात् कर्मणः फलम्।
अनर्थरूपं त्रितयमद्वैते वीक्ष्यते न हि।।१४७।।
त्रितयेन तु यद्युक्तं द्वैतं तस्य पुमर्थता।[1]
नेति द्वैतं श्रुतावस्यां वैशब्देन निवर्त्यते।।१४८।।

अद्वैत है इत्यादि।।१४६।। 'शिवमद्वैतम्' माण्डूक्योपनिषत् (७) में सुप्रसिद्ध है जहाँ तुरीय तत्त्व आत्मा को ही परम कल्याणरूप बताया है। यद्यपि सुषुप्ति में अनुभूयमान प्राज्ञ को शिव नहीं कहा तथापि प्राज्ञ ही तुरीय के निकटतम पड़ता है अज्ञानदशा में आत्मा को समझने के लिये। अतः यहाँ आचार्य ने सुषुप्ति में अनुभव को ग्रहण किया।।१४६।।

पुरुषार्थता व्यक्त करते हैं **'छन्द' मायने कामना, 'कर्म' अर्थात् पाप, भय मतलब कर्म का फल। ये तीनों अनर्थात्मक हैं एवं अद्वैत में तीनों नहीं मिलते।।१४७।।** जिसे चाहें, जिसके लिये प्रार्थना करें वह अर्थ है। कामना, पाप और भयइन तीन के लिये कभी प्रार्थना नहीं करते! कामना हमारी प्रार्थना के बगैर जबरदस्ती हम में पैदा होती रहती है। काम्य वस्तुओं को तो चाहते हैं, कामनापूर्ति तो चाहते हैं लेकिन कामना नहीं चाहते अर्थात् हम में कामना बनी रहे, पूरी न हो यह नहीं चाहते। कारण है कि कामना एक तरह का दुःख ही है, तभी वह पूरी अर्थात् समाप्त हो तब सुख होता है। ऐसे ही पाप-पुण्यरूप कर्म भी चाहते नहीं, करना पड़ता है। या कामनापूर्ति के लिये, या किसी बंधनवश कर्म करते हैं, कर्म करना अपने आप में प्रार्थना का विषय नहीं होता। इसी तरह भय कभी नहीं चाहते। कर्मफल से ही भय होता है, पापफल से स्पष्ट ही भय है, पुण्यफल भी क्षीण न हो जाययह भय लगा रहता है। सुषुप्ति, समाधि, मोक्षइनमें ये तीनों नहीं होते। इसलिये अद्वैत आत्मवस्तु पुरुषार्थ है।।१४७।।

उदाहृत श्रुति के 'वै' शब्द का अर्थ भी बताते हैं **द्वैत तो उक्त तीनों (कामनादि) से सम्बद्ध है अतः वह पुरुषार्थ नहीं हैइस प्रकार इस श्रुति में 'वै' शब्द से द्वैत हटाया गया है।।१४८।।** (सारानुसारी पाठ का अर्थ है **क्योंकि उक्त तीनों तरह के अनर्थ से छूटा नहीं है, और भी अनर्थों से युक्त है, इसलिये इस श्रुति में**

१.'त्रितयानर्थनिर्मुक्तं नाऽनर्थान्तरयोगि च। इति द्वैतं श्रुतावस्यां वैशब्देन निवार्यते।।' इति सारे पाठो मुत्तुशास्त्र्यभिमतश्च।।

योषिदालिंगितः क्षेत्रं गृहं वाऽप्यविचारयन्।
यथा सुखी तथा सुप्तः कामभीत्यादिवर्जनात्।।१४९।।
तद्वा अस्येति वाक्येन कामाभावः प्रपंच्यते।
आत्मरूपं यदद्वैतमाप्तकामं तदीक्ष्यताम्।।१५०।।
सुषुप्तश्च समाधित्सुर्बाह्यं कामयते न हि।
अपि त्वात्मानमेवात्मा प्राप्त एवाऽखिलैः सदा।।१५१।।

'वै' शब्द से द्वैत का निवारण किया है।) 'वै' अर्थात् ही; इससे निवृत्ति कही जाती है जैसे 'आप ही आइयेगा' मायने और किसी को साथ मत लाइयेगा। यहाँ मोक्ष में 'ही' से द्वैत को निवृत्त किया क्योंकि वह कामनादि से तो युक्त है ही, अन्य भी अनर्थों से युक्त ही है।।१४८।।

लोकसिद्ध दृष्टांत से श्रुति ने सुषुप्ति-सुख का वर्णन किया, उसे सूचित करते हैं **स्त्री से आलिंगित व्यक्ति, खेत-घर आदि की चिन्ता बिना करते हुए जैसे सुखी होता है वैसे सोया व्यक्ति कामना भय आदि से रहित होने से सुखी होता है।।१४९।।** स्त्री अर्थात् प्रिय, सुन्दर पत्नी से आलिंगित पुरुष उतनी देर बाहर-भीतर की सब चिंताएँ छोड़ता है तभी सुखी होता है। जिसे तब भी वे चिन्ताएँ बनी रहें, वह स्त्रीसुख से वंचित रहता है। इसी तरह सुषुप्ति में (एवं समाधि में) परमात्मा से आलिंगित जीव बाहर-भीतर के सब ज्ञानों से छूटा रहता है अतः सुखी होता है। द्वैत-प्रतीति रहते सुख नहीं, यही सार है। यहाँ स्त्री की भी प्रतीति जब नहीं रहती उस काल का सुख दृष्टान्त है।।१४९।।

आगे श्रुति है 'तद्वा अस्यैतद् आप्तकामम् आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम्', इसे समझाते हैं **'तद् वा अस्य' आदि वाक्य से कामराहित्य का खुलासा किया है। आत्मा का स्वरूप जो अद्वैत है वह 'आप्तकाम' है यह समझना चाहिये।।१५०।। सुषुप्त और समाधि में प्रवेशेच्छुक बाह्य विषय नहीं चाहता वरन् आत्मा को ही चाहता है और आत्मा सबको सदा प्राप्त है।।१५१।।** कामराहित्य का विस्तार तीन शब्दों से कियाआप्तकाम, आत्मकाम और अकाम। सुषुप्ति में अज्ञानपूर्वक आत्मा में लीन होना चाहता है, समाधि में ज्ञानपूर्वक आत्मा में लीन होना चाहता है लेकिन दोनों जगह किसी अनात्मा को नहीं चाहता। आत्मा नित्यप्राप्त होने से वह ऐसा 'काम' अर्थात् काम्य वस्तु है जो हमेशा 'आप्त' पायी हुई है। अत एव आत्मा को 'प्राप्त' करने के साधन वास्तव में अनात्मा निवृत्त करने के ही उपाय हैं, अनात्मनिवृत्ति होने से नित्यप्राप्त

काम्यभोजनतस्तृप्तस्तदा भोज्यं न वांछति।
एवं काम्यात्मनि प्राप्ते किमन्यत् काम्यते पुनः।।१५२।।
आत्मरूपमकामं यत्तच्छोकरहितं सदा।
शोकान्तरं पृथक् शोकादिति निःशोकतोच्यते।।१५३।।
ननु देहाभिमानश्च धर्माऽधर्मौ च शोकदाः।
यथा जागरणे तद्वत्सुषुप्तौ च प्रसज्यते।।१५४।।
मैवं पिताऽहमित्यादिदेहात्मभ्रान्तिलोपनात्।
पितृत्वयुक्तदेहेऽभिमानः सुप्तस्य नेक्ष्यते।।१५५।।

आत्मा अनावृत हो जाता है।।१५०-१।।

आत्मकाम की अकामता बताते हैं **अभीष्ट भोजन से तृप्त व्यक्ति उसी समय और भोजन नहीं चाहता, इसी तरह कमनीय आत्मा जब सदा प्राप्त है तब और क्या चाहा जाये!।।१५२।।** जैसे भोजन से तृप्ति के लिये भोजन में इष्टता चाहिये वैसे मुमुक्षा के बगैर आत्मलाभ तृप्ति नहीं देगा। अत एव केवल द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थान के लिये ही समाधि नहीं बतायी, जो ऐसा आत्मेच्छु नहीं उस बहिर्मुख के लिये विविध विभूतियाँ देने वाली समाधियाँ भी पतंजलि ने बतायीं। आत्मा का अभिलाषी ही आत्मतृप्त होकर अकाम होगा, अन्य नहीं। अत एव भगवान् ने आत्मरति-आत्मतृप्त आत्मसन्तुष्ट (३.१७) क्रम रखा।।१५२।।

शोकान्तर-शब्द समझाते हैं **जो अकाम आत्मस्वरूप है वह सदा शोकरहित है। शोकान्तर अर्थात् शोक से अलग; एवं च इस शब्द से निःशोकता कही जा रही है।।१५३।।** शोकान्तर मतलब 'अन्य शोक' नहीं वरन् शोक से भिन्न अतः अशोक। अपनी प्रिय वस्तु व्यक्ति आदि के वियोग से शोक होता है, आत्मा का वियोग संभव नहीं अतः आत्मा शोक से पृथक् ही है। जाग्रत्-स्वप्न में अनात्मा में आत्मभ्रम रहते उनके वियोग से शोक होता रहता है। सुषुप्ति-समाधि में कोई अनात्मा है नहीं जिसमें तादात्म्य करें और वह वियुक्त होकर शोक दे अतः अशोकदशा ही है।।१५३।।

फिर वेद में कहा है कि सुषुप्ति में माता माता नहीं रह जाती इत्यादि। उसे प्रश्नोत्तर से व्यक्त करते हैं **शोकप्रद देहाभिमान, धर्म एवं अधर्म जाग्रत् की तरह क्या सुषुप्ति में नहीं हैं?।।१५४।। नहीं हैं, क्योंकि 'मैं पिता हूँ' आदि देह में आत्मबुद्धि तब लुप्त रहती है, सोये में यह अभिमान नहीं होता कि 'पितापने वाला शरीर मैं हूँ' आदि, अतः सुषुप्ति में देहाभिमान अस्वीकार है।।१५५।।**

तत्तद्देहाभिमानस्तु क्षीणस्तत्कर्मसंक्षयात्।
पुण्येन पाप्मनाऽनन्वागतं रूपं परात्मनः।।१५६।।
हृदयाख्यं मनस्तस्य पुण्यपापे ततोऽखिलाः।
शोका मनोगताः सुप्तौ शोकानात्माऽतिवर्तते।।१५७।।

उन सब देहों का अभिमान तब इसलिये क्षीण होता है कि तब देहों के कर्म फलोन्मुख नहीं होते, जो परमात्मरूप वहाँ रहता है वह पुण्य-पाप से असम्बद्ध है।।१५६।। सुषुप्त पुरुष मरा नहीं है, पुनः उठेगा तो धर्माधर्मादि संपन्न ही उठेगा। अतः जेब में पैसा रखने से जैसे कोई निर्धन नहीं हो जाता कि हाथ में पैसा नहीं तो दरिद्र हो गया, वैसे सोये को अभिमानादि से रहित कहना नहीं बनता। किंतु श्रुति इस बात को नहीं मानती अतः कहती है कि वहाँ माता आदि माता आदि नहीं रहते। अभिमानलोप सर्वानुभवसिद्ध है, धनादि जेब में रखने पर धनाभिमान लुप्त होता नहीं अतः सुषुप्ति एवं जाग्रत् में अंतर प्रत्यक्ष है। सुषुप्ति, समाधि, मोक्ष में देहाभिमान नहीं रहते। कर्मफल भोगने के लिये देहाभिमान चाहिये, जब फलभोग का काल नहीं तब निरुपयोग अभिमान नहीं रहता। इसलिये कर्म में भी अभिमान के प्रति हेतुता है। सुषुप्ति-आदि फल भोगने की स्थितियाँ हैं नहीं अतः उनमें देहाभिमान भी रहता नहीं। उन दशाओं में आत्मा अकेला है अतः पुण्य-पाप से उसका स्वाभाविक असम्बन्ध ही रहता है।।१५४-६।।

बाइसवीं कण्डिका में पिता आदि न रहना और कर्म से असम्बंध बताकर 'तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति' कहा, उसका अर्थ कहते हैं **(यहाँ) हृदय कहा गया है मन। उसी पर पुण्य-पाप आश्रित हैं। अतः (पुण्यादि-फलभूत) सारे शोक (सुख-दुःख) मन में ही होते हैं। सुषुप्ति में आत्मा शोकों से परे रहता है।।१५७।।** सुषुप्ति में मन विलीन होने से तत्प्रतिबद्ध कर्म एवं तत्फल शोक नहीं रह जाते। मनस्तादात्म्य न रहते कर्म सम्भव नहीं एवं भोग भी संभव नहीं अतः कर्म और फल मन पर निर्भर हैं। स्वाभाविक शोकातीतता (शोकान्तरता) का यहाँ सोपपत्ति निगमन हुआ कि क्योंकि शोक मन के हैं अतः आत्मा अशोक है।।१५७।।

तेइसवीं कण्डिका है 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयम् अस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्।' इसे समझाते हैं **प्रश्न होता है कि सुषुप्ति में जैसे शोकादि लुप्त होते हैं वैसे चैतन्य (ज्ञान) भी लुप्त हो जाता है तभी सब लोग कहते हैं कि सोया व्यक्ति कुछ नहीं**

ननु शोकादिवत् सुप्तौ चैतन्यमपि लुप्यते।
सुप्तौ न पश्यतीत्येवमाहुः सर्वेऽपि लौकिकाः।।१५८।।
आत्मन्यदृष्टवशतो ज्ञानमिच्छादिवद्भवेत्।
इत्याहुस्तार्किकाः सुप्तौ न ज्ञानं कर्मणः क्षयात्।।१५६।।
यद्वैतन्नेत्यादिवाक्यैरस्योत्तरमुदीर्यते।
न चिल्लोपः किंतु बुद्धेर्लोप इत्येतदुत्तरम्।।१६०।।
तच्छब्दः सुप्तिमाचष्टे वैशब्दोऽवधृतौ भवेत्।
तत्र सुप्तौ पुमान्नैव पश्यतीति जना जगुः।।१६१।।
अदर्शनं सर्वथेति तदाहुरविवेकिनः।
तद्विवेच्यं तथा चात्मा पश्यन्नेव न पश्यति।।१६२।।

जानता।।।१५८।। तार्किक भी मानते हैं कि आत्मा में अदृष्ट (प्रारब्ध) के कारण जैसे इच्छादि वैसे ज्ञान भी उत्पन्न होता है। सुषुप्ति में कर्म क्षीण हो जाने से ज्ञान नहीं होता।।१५६।। सुषुप्ति में कुछ नहीं जानते यह सबका अनुभव भी है और दूसरों के बारे में भी कहते हैं 'वह सो रहा है, उसे कुछ पता नहीं।' नैयायिक मानते हैं कि पुण्यपापरूप अदृष्ट व्यक्त होने पर ही आत्ममनःसंयोग से ज्ञानादि यथावश्यक गुण यथाक्रम उत्पन्न होते हैं। सुषुप्ति में उनके अनुसार मन रहने पर भी अदृष्ट फलोन्मुख न होने से ज्ञानादिजनक संयोग नहीं होता तो ज्ञानादि भी नहीं होते। वेदान्त में तो इच्छादि मनोधर्म हैं लेकिन नैयायिकादि उन्हें मनःसंयोग के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होने वाले धर्म मानते हैं। यों लौकिक एवं तार्किक मान्यता के अनुरूप सुषुप्ति में ज्ञान भी न रहना स्वीकारें तो इसी दृष्टांत से मोक्ष में ज्ञान नहीं रहेगा और ऐसा जड (ज्ञानहीन) मोक्ष पुरुषार्थ ही नहीं बनेगा। इसलिये यह प्रश्न निरासयोग्य समझा गया।।१५८-६।।

उक्त श्रुति से उत्तर बताते हैं **'यद्वैतन्न' आदि वाक्यों से इस प्रश्न का उत्तर कहा है। उत्तर इतना ही है कि सुषुप्ति में चित् (ज्ञान) का नहीं, बुद्धि (उपाधि) का ही लोप होता है।।१६०।। 'तत्' शब्द सुषुप्ति को कहता है, 'वै' अर्थात् 'ही' (अवधारण, निश्चय) 'सुषुप्ति में पुरुष नहीं ही जानता' ऐसा लोग कहते हैं। किंतु यह जो अविवेकियों का कथन है कि तब हर तरह का अननुभव है, उसका विवेकदृष्टि से विचार करना चाहिये। वस्तुतः उस अवस्था में आत्मा, जानते हुए ही नहीं जानता है!।।१६१-२।। साक्षीरूप चैतन्य नित्य**

साक्षिचैतन्यनित्यत्वात् पश्यन्नेव व्यवस्थितः ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयलोपाद्व्यवहारं न पश्यति ।।१६३ ।।
तस्मात्सुप्तौ चिदद्वैतं यद्रूपं परमात्मनः ।
एतद्द्रढयितुं प्रोक्ताः पर्याया बहवः श्रुतौ ।।१६४ ।।

होने से वह जानता हुआ ही स्थित रहता है लेकिन ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के लोप से व्यवहार को नहीं जानता।।१६३।। यों सुषुप्ति में परमात्मा का जो अद्वैत चैतन्य स्वरूप है उसे सुदृढ समझाने के लिये श्रुति में यहाँ अनेक पर्याय कहे।।१६४।। आत्मस्वरूप ज्ञान सनातन अतः सुषुप्ति में भी है, बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान बुद्धि न रहने से तब नहीं है। स्वरूप और वृत्ति यों दो तरह का ज्ञान न मानकर सिर्फ वृत्तिरूप ज्ञान मानने से नैयायिकों का वैसा मानना ठीक है, सुषुप्ति में वृत्तिज्ञान नहीं रहता यह ठीक बात है। लेकिन आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह श्रुतिसंमत होने से स्थायी नित्य ज्ञान सुषुप्ति में भी कायम रहता है यही तथ्य है। वृत्तिज्ञान से पृथक् स्वरूपज्ञान बिना वेद के समझ आ नहीं सकता, अतः बौद्धों को भी भ्रम हुआ। अब फिर से वेद से विमुखता हो रही है तो शहरों में कई हिंदू बौद्ध बन रहे हैं। वेद बताता है कि आत्मा सच्चिदानन्द है, अनात्मा असत् जड दुःख है, दोनों को भ्रम से एकमेक करने से हम इस बारे में गड़बड़ाये हुए हैं। सुषुप्ति में वृत्ति अतः वृत्तिरूप ज्ञान नहीं रहता अर्थात् जिस जड से एकमेक करके ज्ञान समझते हैं वह वृत्ति (और बुद्धि) नामक जड वस्तु नहीं रहती। तथापि अज्ञानसाक्षी और भासमान आनन्द के रूप में चित् अर्थात् ज्ञान रहता ही है। स्मृति को, 'आनन्द से सोया, कुछ नहीं जाना'इसे महत्त्व देने पर सुषुप्तिकालिक ज्ञान का सद्भाव अंगीकार हो जाता है। बुद्धि रहते जैसे साक्षी उसे प्रकाशित करता है, बुद्धि न रहने को भी वैसे ही प्रकाशित करता है। ज्ञाता आदि त्रिपुटी में जो ज्ञान वह वृत्तिरूप है, उसका लोप सुषुप्ति में अवश्य है, उसके साक्षी का लोप नहीं। अतः अनेक ज्ञान-पर्यायों का श्रुति ने प्रयोग किया कि देखता है, सूँघता है, चखता हैआदि (कंडिका २३-३०)। देखना आदि चाक्षुषादि बोधों के अभिप्राय से नहीं, यह तो स्पष्ट है क्योंकि सुषुप्ति का प्रसंग है, ज्ञानकी विद्यमानता बताना ही अभिप्रेत है। सुषुप्ति के रूप का यथाशास्त्र भलीभाँति विचार करने से परमात्मा के रूप का काफी स्पष्ट अवबोध प्राप्त होता है। समाधि सुलभ न होने से साधारण साधक सुषुप्ति का यथाशक्ति चिन्तन करे तो अवश्य लाभ मिलता है। विचार बार-बार करना पड़ता है, 'समझ लिया' इस भरोसे आवृत्ति न करने से संस्कार नहीं पड़ पता, समझी बात भी 'सोच' में, सोचने के ढंग में नहीं जज़्ब हो पाती। पर्यायबाहुल्य से

[1]ननु सर्वैर्जनैर्द्वैतं जागरे स्पष्टमीक्ष्यते।
सद्वैत एव किं न स्यादात्मेत्याशंक्य वर्ण्यते।।१६५।।
यत्रैव जागरे स्वस्मादन्यत्किंचिदिव भ्रमः।
तत्रैवान्यः स्वयं द्रष्टा दृश्यमन्यदिवेक्षते।।१६६।।

श्रुति भी विचार-आवृत्ति का विधान कर रही है। ज्ञान आवर्त्तन से नहीं, लेकिन ज्ञान की रुकावटें और दुर्बलतायें उससे अवश्य दूर होती हैं यह आवृत्त्यधिकरण में विस्तार से निर्णीत है।।१६०-४।।

इकतीसवीं कण्डिका बताती है कि भेद हो तभी भेदग्रह होता है! यह सीधी-सी बात श्रुति को क्यों कहनी पड़ी, यह समझाते हैं **सभी लोगों को जाग्रत् में स्पष्ट ही द्वैत दीखता है तो आत्मा सद्वैत (द्वैतयुक्त) ही क्यों न हो? यह शंका उठाकर वर्णन किया।।१६५।। जहाँ जाग्रदादि में ही स्वात्मा से अन्य भ्रम से कुछ है-जैसा लगता है वहीं अन्य हुआ स्वात्मा द्रष्टा बना अन्य-जैसे दृश्य को देखता है।।१६६।।** शंका सार्वजनिक है कि आत्मा सुषुप्ति में अद्वैत भले ही हो जाग्रत्-स्वप्न में सद्वैत (सोपाधिक) भी है ही, फिर यह कैसे स्वीकारें कि वास्तव में अद्वैत है न कि सद्वैत? समाधान केवल श्रुति के आधार पर होता है कि श्रुति ने द्वैत को भ्रम, अद्वैत को सत्य कहा है इसलिये स्वीकारना ठीक है कि वास्तव में वह अद्वैत है। यहाँ कुछ तर्क भी संभव हैंजाग्रत् का स्वप्न में और स्वप्न का जाग्रत् में बाध होता ही है लेकिन अद्वितीय चैतन्य का कभी बाध होता ही नहीं (और सुषुप्ति में सिद्धि होती है) इसलिये वही सत्य है। किंच, चैतन्य के आधार पर सिद्ध होने वाला द्वैत चैतन्य का बाधक हो यह संभव भी नहीं। किं च 'न सत्यमापेक्षिकमीक्षितं क्वचित्' न्याय से जो भी सापेक्ष है वह मिथ्या है। द्वैत भेदरूप होने से सापेक्ष है, अद्वैत स्वरूप होने से निरपेक्ष है अतः यही सत्य है। किं च कोई एक अनुगत द्वैत नहीं जिससे आत्मा सद्वैत मिलता हो, द्वैत बदलते रहते हैं अतः जैसे बदलते आकारों में मिलता आकाशादि स्वयं निराकार ही होता है वैसे आत्मा अद्वैत ही हो सकता है। वास्तव में सद्वैत होता तो कोई अनुगत द्वैत सदा मिलता। अन्य भी इस संदर्भ में आचार्यों ने तर्क दिये हैं, स्वयं भी विचार करना चाहिये। सद्वैत आत्मा स्वप्न में उपलब्ध हैइससे सद्वैतता भ्रम है क्योंकि 'अध्यस्तमेव हि परिस्फुरति भ्रमेषु' भ्रम में सत्य कभी भासता नहींयह चिंतन का ढंग होने से बात

१. इहत्यश्लोकौ १६५-६ मुत्तुशास्त्रिणां संस्करणे स्खलितौ, तैर्दत्तसंख्यानुसारं तैः स्वीकृतावेव।

यद्वै तदित्युपक्रम्य व्याख्यातं वस्तु विस्तरात्।
सलिलादिगिरा तस्य क्रियते चोपसंहृतिः।।१६७।।
आत्मा सलिलवच्छुद्धः कार्यकारणहीनतः।
स्वतोऽवबोधमात्रत्वात् कुतोऽविद्यादिसंगतिः।।१६८।।
अंतरेणापि सम्बन्धं कार्यकारणवस्तुनः।
स्वतोऽनेकात्मकं तत् स्याद् इत्याशंक्यैकतोच्यते।।१६९।।

स्पष्ट हो जाती है। जितना द्वैत में राग घटेगा उतना ही अद्वैत हृदयंगम होगा, अन्यथा उसे बचाने की भावना से उसके निरासक तर्कों को हम सबल ही नहीं होने देते।।१६५-६।।

बत्तीसवीं कण्डिका प्रारंभ होती है 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' वाक्य से। जैसे अकेला जल शुद्ध ही होता है ऐसे एक जो द्रष्टारूप आत्मा वह अद्वैत ही है तभी शुद्ध है। जल में अच्छा-बुरा कुछ भी दूसरा जुड़ जाये तो वह शुद्ध नहीं कहलाता। इस वाक्य का अर्थ कहते हैं **यद्वैतत्' से प्रारंभ कर जिस वस्तु का विस्तार से व्याख्यान किया उसका 'सलिलः' आदि वाक्य से उपसंहार किया जा रहा है।।१६७।। आत्मा जल-सा शुद्ध है क्योंकि कार्य-कारण से रहित है। खुद केवल ज्ञानरूप है तो अविद्यादिका उससे सम्बन्ध कैसे हो!।।१६८।।** इस प्रसंग में तात्पर्य-ग्राहक छहों लिंग स्पष्ट आये हैं। यहाँ सूचित की उपक्रमोपसंहार की एकवाक्यता तो कण्डिका २३ से शुरू किये वर्णन के बारे में है, लेकिन याज्ञवल्क्योपदेश में छहों लिंग उपलब्ध हैं। अभ्यास व युक्तियाँ प्रभूत हैं, ज्योतिर्विषयक प्रश्न से अपूर्वता, आप्तकामत्वादि से फल समझने चाहिये। 'न तत्र रथा' आदि, 'आरामम् अस्य' आदि, सुषुप्ताद्वैत-वर्णनादि एवं आगे आनंद-मीमांसाये अर्थवाद हैं। कार्य अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारण अर्थात् अव्याकृत, दोनों से अद्वैत का संपर्क नहीं। यद्यपि सुषुप्ति में कारणोपाधि है तथापि मुक्ति में नहीं। वस्तुतस्तु सुषुप्ति में भी नहीं क्योंकि ज्ञान का अज्ञान से योग ही असंभव है! इसलिये अशुद्धिहेतु न होने से आत्मा शुद्ध है।।१६७-८।।

'सलिलः' के बाद 'एकः' क्यों कहा यह बताते हैं **कार्यरूप व कारणरूप वस्तुओं के सम्बन्ध के बिना भी आत्मा खुद अनेकात्मक होगा? यह शंका कर, एकता कही गयी।।१६९।।** सलिल उदाहरण से सूचित शुद्धि से विजातीय भेद, अद्वैत-शब्द से सजातीय भेद और एक-शब्द से स्वगत भेद का निरास है यह भाव है। खुद अनेकात्मक जैसे छिलका, गूदा, रस, बीज आदि विभिन्न होने पर भी 'एक कैथ का फल है' यह व्यवहार होता है। हाथ, पैर, मुँह आदि असंख्य भेद रहते 'एक आदमी बैठा है' यह

अकारकस्वभावत्वम् अद्रष्टेत्यभिधीयते।
यत्र हि द्वैतमित्युक्तेर्यत्र त्वस्येति चेरणात्।।१७०।।
स्वतः पूर्णात्मकं ज्योतिरेष द्रष्टेति चोच्यते।
अविद्याकार्यराहित्याद् अद्वैतोऽयं भवेत् स्वतः।।१७१।।

व्यवहार होता है। आत्मा में ऐसा भी कोई भेद नहीं, यह अर्थ है।।१६९।।

'एको द्रष्टा'यहाँ अद्रष्टा भी पदच्छेद संभव है, उसका भाव सूचित करते हैं **आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कारक नहीं हैयह बात 'अद्रष्टा' शब्द से कही है। 'जहाँ द्वैत-सा होता है', 'जहाँ इसका सब आत्मा हो गया'इन वचनों से स्वाभाविक अकारकता कह चुके हैं।।१७०।।** उदाहृत वचन मैत्रेयी ब्राह्मण में २.४.१४ में है। 'ध्यायतीव' (४.३.७) आदि में भी यह सूचित है। जैसे आधुनिक युग की बिजली के बगैर कोई विद्युत्-यंत्र नहीं चलते लेकिन स्वयं बिजली रोशनी हवा ठंडक गर्मी पीसना आदि कुछ नहीं कर सकती, ऐसे उपाधि से आत्मा कारक बना-सा लगता है जबकि स्वयमेव वह कारक न है न हो सकता है, उसका स्वभाव ही ऐसा है। कारक अर्थात् क्रियाहेतु। आत्मा स्वयं क्रिया से सर्वथा अस्पृष्ट है, न उसका हेतु है, न फल है। 'अद्रष्टा' से दृष्टिक्रिया का वह हेतु नहीं यह बताकर सब क्रियाओं के प्रति हेतुता निषिद्ध की।।१७०।।

अब 'द्रष्टा' पदच्छेद के अनुसार अर्थ कहते हैं **अथवा स्वयं अखण्डस्वरूप ज्योति 'द्रष्टा' कही है। अविद्या-तत्कार्य से रहित होने के कारण यह स्वतः अद्वैत है।।१७१।।** (मुत्तुशास्त्री एवं मद्रास संस्करण में **'ज्योतिर्यद्वा द्रष्टा'** पाठ है जो बेहतर है। 'यत्र' पाठ में अर्थ है कि 'जिस पक्ष में द्रष्टा छेद है वहाँ'। भाष्य में 'द्रष्टा' और वार्तिक (४.३.१८०४) में 'अद्रष्टा' छेद है। 'यत्र' पाठ में 'च'कार दोनों छेदों को मान्यता देकर सार्थक है।) सारे विशेष न रहने पर बची आत्मवस्तु जड नहीं यह बताना आवश्यक होने से द्रष्टा भी छेद उचित है। नाम-रूप, कार्य-कारण, सत्-त्यत् आदि दो तरह से बँटा माया-तत्कार्य द्वैत है, इससे रहित आत्मा अद्वैत है, अत एव पूर्ण है, उसी से सब व्याप्त है। अहंकार-ममकाररूप द्वैत ही अपूर्णता लाता है, उसके न होते पूर्णता सहज है।।१७१।।

उसी आत्मा को 'एष ब्रह्मलोकः' कहा, उसे समझाते हैं **प्रत्यग्रूप ज्ञान से अदूरवर्त्ती होने से आत्मरूप वस्तु प्रत्यक्ष है इसलिये 'एषः' यों आत्मा का उल्लेख किया। 'जो साक्षात्' है यह श्रुति भी आत्मा को प्रत्यक्ष, अपरोक्ष कहती**

प्रत्यग्दृष्ट्यव्यवहिते प्रात्यक्ष्यादात्मवस्तुनः ।
एष इत्यात्मनिर्देशो यत्साक्षादिति च श्रुतेः ।।१७२।।
अव्यावृत्ताननुगतं निःसामान्यविशेषवत् ।
ब्रह्मेति मुख्यवृत्त्येह वस्तु श्रुत्याभिधीयते ।।१७३।।
तथा लोकयतेर्धातोर्दर्शनार्थत्वहेतुतः ।
प्रकृतत्वात्तथा दृष्टेर्लोकनं लोक उच्यते ।।१७४।।

है ।।१७२।। 'एषः' अर्थात् 'यह' प्रत्यक्ष वस्तु कही जाती है। आत्मा यद्यपि सामने तो नहीं कि 'यह' कहा जाये तथापि अपरोक्ष होने से प्रत्यक्ष तो कहा ही जा सकता है। बिना किसी माध्यम के हम सदा आत्मा को जानते ही हैं, कभी शंका भी नहीं होती कि हूँ या नहीं! प्रत्यक्स्वरूप क्योंकि ज्ञान है इसलिये स्वप्रकाश होना स्वाभाविक है। व्यवहित कहते हैं जिसके और अपने बीच कुछ और हो जैसे हमारे सामने पर्दा है और उसके पीछे कोई वस्तु पड़ी है तो उस वस्तु को हम से व्यवहित एवं पर्दे को व्यवधान कहते हैं। खुद का खुद से तो कोई व्यवधान होगा नहीं अतः वह अव्यवहित है। ज्ञान अपने से अव्यवहित को प्रकाशित करता ही है अतः प्रत्यक्स्वरूप का प्रकाश निश्चित है। फिर भी उसकी वास्तविकता का यथाशास्त्र विचार न करने से उसके यथार्थ रूप के बारे में हम अज्ञानी हैं! अतः स्वयम् को विभिन्न अनात्मरूपों का मानते हैं। इन्हीं भ्रमों को दूर करने के लिये शास्त्र के निर्देश हैं, सारी विवेक की साधना है। शरीर-मन आदि अवास्तविक आत्माओं में आत्मबुद्धि हटने पर वास्तविक आत्मा का ही भान रह जायेगा। वह भान अब भी है लेकिन अज्ञानवश भ्रमों से तिरोहित-सा है। 'यत्साक्षात्' पूर्व में व्याख्यात श्रुति है, बृ. ३.४ एवं ५; अनुभूतिप्रकाश १७. श्लोक. ७५ आदि में इसपर विचार हो चुका है।।१७२।।

'ब्रह्मलोक' कहने का भाव व्यक्त करते हैं **यहाँ श्रुति द्वारा मुख्य वृत्ति से वह वस्तु कही है जो न व्यावृत्त है न अनुगत, न सामान्य वाली है न विशेष वाली।।१७३।। इसी प्रकार लोक-शब्द से लोकन अर्थात् ज्ञान कहा है। लोकृ-धातु का अर्थ दर्शन होता है एवं प्रकरण भी दृष्टि (ज्ञान) का चल रहा है। इसलिये (भुवन आदि अर्थ के बजाये लोकन अर्थ ही अभिप्रेत है)।।१७४।।** अव्यावृत्त आदि शब्द पिछले अध्याय में (१७.७८) समझा चुके हैं। अद्वितीय होने से सामान्य-रहित तथा शुद्ध होने से विशेष-रहित है। अतः सप्रकारक-ज्ञान का विषय नहीं। मुख्य वृत्ति अर्थात् अभिप्राय प्रकट करने की सामर्थ्य। प्रायः शक्ति को मुख्य

विज्ञानपुरुषस्यास्य योक्ता ब्रह्मात्मता पुरा।
नैष्ठिकी गतिरेषाऽत्र गत्यन्तरसमाप्तितः।।१७५।।
सम्पच्च परमैषैव मोहोत्थाश्चान्यसंपदः।
उत्कर्षातिशयः संपद्विभूतिश्चेति भण्यते।।१७६।।

वृत्ति कहते हैं, तब अर्थ है कि ब्रह्मशब्द शक्ति से ही ऐसे अर्थ का उपस्थापक है। शक्तिग्रह के लिये अवान्तर वाक्य एवं समाधि-प्रत्यक्ष का अवलम्ब है ही। यहाँ ब्रह्म को ही ज्ञान होने से लोक कहा 'ब्रह्म च तद् लोकश्च' यों कर्मधारय है, ब्रह्म का लोक यों षष्ठी तत्पुरुष नहीं है। ब्रह्म ही लोक हैयह कहने से प्रज्ञानघनता स्फुट हो जाती है।।१७३-४।।

ब्रह्मलोक को ही 'एषाऽस्य परमा गतिः, एषाऽस्य परमा सम्पत्' भी कहा। उसका संग्रह करते हैं **इस विज्ञानात्मा की जो ब्रह्मस्वरूपता पूर्व में बतायी, वही नैष्ठिक गति है क्योंकि वहाँ अन्य सब गति समाप्त हो जाती है।।१७५।।** 'परम' की व्याख्या 'नैष्ठिक' है। जहाँ स्थिति निश्चित हो, हिलना-डुलना न हो उसे निष्ठारूप अतः नैष्ठिक कहते हैं। नि+स्था यों यह शब्द बनता है। स्था अर्थात् गति-समाप्ति। क्योंकि गति की निष्ठा कही इसलिये मूल में 'गत्यन्तर' शब्द रखा अर्थात् अन्य गतियाँ समाप्त होती हैं। अब केवल ज्ञानरूप गति रहती है। जिस अज्ञान से गत्यंतर संभव थीं, वह न रह जाने से यह नैष्ठिक है। जहाज का पंछी जब निर्णय कर लेता है कि कहीं और ठौर नहीं है तब जहाज पर बैठ जाता है, वह जैसे सापेक्षरूप से नैष्ठिक है वैसे जीव का ब्रह्मभाव निरपेक्ष रूप से नैष्ठिक है। जाग्रत्-स्वप्न में भटक कर शांति न मिलने पर सुषुप्ति में जाना भी सापेक्ष नैष्ठिक गति है। वैराग्य-पूर्वक अन्तर्मुख होने पर ही गत्यन्तर छूटती है, परम गति मिलती है।।१७५।।

उसी की सम्पद्रूपता बताते हैं **यही परम सम्पत् है। अन्य सम्पत्तियाँ तो मोह से ही उत्पन्न हैं। अत्यधिक उत्कृष्टता को सम्पत् और विभूति कहते हैं।।१७६।।** आत्मा ही सत्त्य सम्पत्ति है। अन्य सम्पत्तियाँ तो आगन्तुक निमित्तों (उपाधियों) की अपेक्षा से आती-जाती रहती हैं, आत्मा ही स्थायी है। लोक में भी कभी-कभी लोग स्थायी की उपेक्षा कर देते हैं अस्थायी के मोह में : ब्राह्मण यावज्जीवन दान-दक्षिणा पा सकता हैयह उसका स्थायी अधिकार है। नौकरी धन्धे से उसे अनाप-शनाप धन मिलता है लेकिन यह अस्थायी अधिकार है, नौकरी या धन्धे पर निर्भर है। फिर भी अनेक ब्राह्मण अस्थायी अधिकार के मोह में स्थायी अधिकार की उपेक्षा किये रहते हैं, अपने

एषोऽस्य परमो लोको लोकास्त्वन्ये क्षयिष्णवः।
क्षयिष्णुसाधनायत्ता न त्वेषोऽसाधनाश्रयात्।।१७७।।
आनन्दः परमोऽस्यैव सुखोत्कर्षसमाप्तितः।
सर्वानंदातिशायित्वात् तथा चैतत् प्रवक्ष्यते।।१७८।।
आनन्दः परमोऽस्यैष इत्युक्तार्थप्रसिद्धये।
एतस्यैवेति वचसा समर्थो हेतुरुच्यते।।१७६।।

ब्राह्मणत्वाभिमान को भुलाये रखते हैं, तप-श्रुत से दूरतर होते जाते हैं। कर्म-उपासना से पायी तो नैमित्तिक, क्षयिष्णु सम्पत्ति है, आत्मा ही परम संपत्ति है। सच्चिदानंदरूप कभी कहीं जाने वाला नहीं, घटने वाला नहीं। सम्पत् शब्द से अतिशय उत्कर्ष कहा जाता है जिसे विभूति, वैभव भी कहते हैं। उत्तमता की सीमा आत्मा ही है।।१७६।।

आगे वचन है 'एषोऽस्य परमो लोक एषोस्य परम आनन्दः' इसे समझाते हैं **आत्मा ही इसका (विज्ञानमयका) परम लोक है, अन्य लोक तो क्षयशील हैं क्योंकि क्षयी साधनों पर निर्भर हैं, यह परम इससे है कि साधनों पर निर्भर नहीं है।।१७७।। इसका परम आनन्द भी यही है क्योंकि आत्मा में ही सुख का उत्कर्ष पूर्ण होता है। सारे आनन्दों से अधिक आनंदरूप होने से आत्मा परम है। यह तथ्य व्यक्त किया जाने वाला है।।१७८।।** लोक चाहे देवतादि के ही हों, क्षीण ही होते हैं। कर्मादि से प्राप्त हैं अतः कर्म जब भोगकर खर्च हो जाते हैं तब लोक से गिरना पड़ता है। यह तो लोकक्षय है ही, लय आदि में वे स्वरूपतः ही समाप्त हो जाते हैं, इसलिये भी क्षयी हैं। हमसे ज़्यादा वहाँ उम्र होती है इसी से हमें वे स्थायी लगते हैं लेकिन वहाँ वालों के लिये तो वह भी उम्र उतनी ही कम है जितनी हमारे लिये यहाँ की उम्र! आत्मा स्वरूप है, साधन से प्राप्त है नहीं, स्वरूपतः अनादिनिधन है, इसलिये वह नित्य स्थायी लोक है। इसकी प्राप्ति अर्थात् इसके स्वरूप का अवबोध, तत्त्वज्ञान। जैसे स्वरूप ही संपत्ति है, बाकी सब विपत्ति ही है, वैसे आत्मा ही नित्य लोक है, अन्य सब अस्थायी निवास हैं। आत्मा ही परम आनंद भी है। सुखों की बढ़ोत्तरी आत्मा में पहुँचकर ही ख़त्म होती है। आनंदमीमांसा में यही बताने जा रहे हैं।।१७७-८।।

आत्मानन्द की परमता को यह कहकर संगत किया 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'। इसे बताते हैं **इसी का आनंद परम हैइस कही बात को सिद्ध करने के लिये 'एतस्यैव' आदि वाक्य से सक्षम हेतु कहा।।१७६।। यह आनंद सम्पूर्ण होने पर भी उसे सही-सही न समझने के कारण बुद्धि आदि उपाधि की**

कृत्स्नोऽपि चैष आनन्दस्तदविद्यैकहेतुतः।
बुध्याद्युपाध्यवच्छेदान्मात्रेति व्यपदिश्यते।।१८०।।
मानुषादिकहैरण्यगर्भान्तानन्दमात्रया।
परानन्दं बोधयितुं श्रोत्रिये तदुदाहृतिः।।१८१।।
श्रोत्रियो वेदशास्त्रज्ञो निष्पापो ब्रह्मवित्त्वतः।
भोग्यदोषान्विविच्यास्ते नातः कामेन हन्यते।।१८२।।
सुखं तृप्तिरकामत्वमित्येकार्था इमा गिरः।
सर्वकामविहीनेऽतः सुखं सर्वं व्यवस्थितम्।।१८३।।[1]

सीमा में प्रतीत होता 'मात्रा' (हिस्सा) कहा जाता है।।१८०।। आत्मा ही सम्पूर्ण आनंद है। हम यह समझते नहीं तो कामना होती है। फिर जब कामना पूरी होने पर वृत्ति लौटते हुए आत्माभिमुख होती है तब उसमें जो आत्मच्छाया पड़ती है उतने-से को हम आनंद या सुख माने बैठे हैं। यों थोड़े-थोड़े हिस्सा-रूप सुखों से ही सारे जीव गुज़ारा कर रहे हैं। चाहते सारे सुख अपने लिये हैं अतः हम स्वयं ही सर्वाधिक सुखरूप हैंइसका हमें अज्ञान है। क्योंकि वास्तविक सुख आत्मा है इसलिये अन्य विषयों में तो कभी सुखबुद्धि होती है, कभी नहीं रहती; उनमें सुखरूपता स्थिर नहीं; जबकि आत्मा में सुख(प्रिय)बुद्धि हमेशा ही रहती है, इसमें कभी परिवर्तन नहीं आता। इसका अज्ञान ही इस महान् आनंद से हमें वंचित किये है। सुषुप्ति में अपार आनंद है पर अज्ञान रहते उसे महत्त्व न देकर वृत्ति-सुखों की ही गणना करते रहते हैं। सच न जानने से झूठी चीज़ों में रमण होता ही है। रत्ती बीनने वाली गजमुक्ता चुनकर फैंक देती है। हम भी प्रतिबिम्ब को ही सर्वस्व समझे हैं, बिम्ब के बारे में बेखबर हैं।।१७९-८०।।

आनन्दमीमांसा का सार व्यक्त करते हैं **मानुष आनन्द से प्रारम्भ कर हिरण्यगर्भ के आनन्द पर्यन्त सभी सीमित सुखों के वर्णन से पर-आनन्द को समझाने के लिये श्रोत्रिय में उस आनन्द का उल्लेख किया।।१८१।। श्रोत्रिय वेद एवं शास्त्रों का जानकार होने से पापरहित और ब्रह्मवेत्ता होता है अतः भोगविषयों के दोषों को विवेक से जानकर उनके प्रति विरक्त रहता है अतः कामना से पीडित नहीं होता।।१८२।। सुख, तृप्ति, अकामतातीनों शब्दों का एक ही अर्थ है। अतः जिसमें कोई कामना नहीं उसमें सारा सुख मौजूद है।।१८३।।**

१. मुत्तुशास्त्रीमं श्लोकमुपरिष्टात् (१८४), तं चेह (१८३) पठति। सारे (४१०, ४१३) क्रमं दृष्ट्वा मद्र-निर्णयसागर-पुणेसंस्करणानुसारमत्र मुद्रितम्।।

श्रोत्रिये कामराहित्यात् सर्वानन्दाः सह स्थिताः ।
सोऽश्नुते सकलान् कामान् सहेति प्राह तित्तिरिः ।।१८४।।

श्रोत्रिय में कामना न रहने से सारे आनन्द एक-साथ उपस्थित हैं। तित्तिरि ऋषि ने भी कहा है कि वह सारी कामनाएँ एक-साथ पूरी किये रहता है!।।१८४।।

वेद ने कहा है कि भोगक्षम, समृद्ध, स्वतन्त्र, मानवोचित सब भोगों से संपन्न मनुष्य को जो आनंद होता है वह मनुष्यों का सर्वाधिक आनन्द है। उससे सौ-सौ गुणा अधिक आनंद पितर, गन्धर्व, कर्मदेव, आजानदेव, प्रजापति एवं ब्रह्मा के लोकों में है किन्तु जो श्रोत्रिय, निष्पाप, निष्काम, उसे ये सब आनन्द सदा उपलब्ध हैं। वेदज्ञ को श्रोत्रिय कहते हैं। जानकार पाप से बचता है तो चित्त शुद्ध होने से ब्रह्म को समझकर द्वैत से विरक्त रहता है अतः स्वात्मभूत पूर्णानन्द सर्वदा प्राप्त करता है, उसे कम करने वाली बहिर्मुखता के लिये द्वाररूप कामना उसके निकट आती ही नहीं। यह प्रसंग तैत्तिरीयोपनिषत् में भी है एवं अनुभूतिप्रकाश ३.१३८ में निर्दिष्ट है। श्रुत्युक्त मानुषानंद ही असंभव-सा है सांसारिक व्यक्ति के लिये! ऐसा बताना इस सूचना के लिये है कि हम जिसे बहुत ज़्यादा आनन्द मानते हैं वह तो मानुषानन्द का भी करोड़वाँ हिस्सा शायद ही हो! जबकि श्रोत्रियादि होवें तो समग्र आनन्द एक-साथ हासिल कर सकते हैं। श्रुति ने 'अवृजिन' से निष्पाप कहा। कुटिलता पापों का प्रवर्त्तक होती है। ऋजु व्यक्ति पापी हो यह कठिन है। श्रोत्रिय-अकामहत दोनों विशेषणों से ब्रह्मज्ञता सूचित है। ज्ञानपूर्ववर्ती वैराग्य और परवर्त्ती उपरति, दोनों का संग्रह है। 'विविच्य आस्ते' अर्थात् विवेक करके कामना से अविचलित रहता है, न कि विवेकपूर्वक किसी-किसी स्वर्गादि भोग से आकृष्ट हो कुछ करता है! मूढ तो सदोष जानकर भी व्यसनी की तरह भोगपरायण रहता है लेकिन विवेकी जिसे दोषवाला समझ लेता है उससे दूर ही रहता है। इसलिये 'मैं संसार भोग नहीं पा रहा' इत्यादि रूप कोई उसे मज़बूरी नहीं महसूस होती वरन् तृप्ति रहती है। लोक में सुख थोड़े से होता है, पर्याप्त से तृप्ति तो होती है पर कुछ समय की, पर्याप्त से भी कहीं अधिक हो तभी अकामता की झलक मिलती है। किन्तु आत्मानंद के संदर्भ में सुख-तृप्ति-अकामता एक ही स्थिति है! तारतम्य को कोई स्थान ही नहीं है। समग्रता बहुत्व पर निर्भर नहीं, अखण्ड व्यापक अद्वैत के बल पर है। श्रोत्रिय को सर्वानन्द अर्थात् जो परछाई-आनंद, टुकड़ा-आनन्दों का मूल स्रोत बिम्बभूत भूमा है वह भासमान है अतः सारे आनंद मानो एक-साथ ही हैं। भगवान् ने 'सम्प्लुतोदक' (२.४६) आदि से इसे सूचित किया है। श्रोत्रियसुख अन्यों के सुख

सूत्रात्परमनन्तत्वाद् गणितं विनिवर्तते।
यतो वाचो निवर्तन्त इति श्रुत्यन्तरं जगौ।।१८५।।
श्रोत्रियेणानुभूतो यो ब्रह्मानन्दोऽस्य विप्रुषः।
सार्वभौमादिसूत्रान्ताः प्राणिनोऽनुभवन्त्यमी।।१८६।।

का कुल जोड़ नहीं समझना चाहिये वरन् इन सब सुखों की कोई कीमत न रहे ऐसा सुख समझना चाहिये। शरीर-मन-प्राण से तादात्म्य रहते इनके परस्पर विपरीत आकर्षणों से आत्मा बहुतेरी सौतों से घिरे पति की तरह पीडित ही रहता है। श्रोत्रिय का वह तादात्म्य मिट चुकने से वह इनकी कामनाओं को स्वयं पर ओढ़ता ही नहीं अतः आनन्दमग्न बना रहता है। कामना से अतिविवेकपूर्वक बचे रहना अनिवार्य है। छोटी-से-छोटी कामना भी महान् अनर्थकारी हो जाती है। एक महात्मा को केवल कौपीन पहनने की इच्छा थी, उसी के चलते उन्हें राजदण्ड भोगना पड़ायह कथा प्रसिद्ध है। प्रायः कामना छोटी बनकर आती है कि उसकी लम्बाई-चौड़ाई पहचानी न जा सके लेकिन अगर कहीं उसे छोटा समझकर उसे पूरा करने चल पड़े तो अपने विकराल शिकंजे में ऐसा जकड़ती है कि समझ ही नहीं आता कि हो क्या गया! अतः 'छोटी है, इसे पूरा कर दें तो शांति रहेगी' यह मानसिकता अपनाना ही अपने से दुश्मनी करना है। उठते ही उसे विवेकपूर्वक निरस्त ही करना उचित है। बिना कामना के अणुमात्र भी दुःख नहीं है। रोगादि भी इसी से दुःखद हैं कि हमें नीरोगता की कामना है! जो वपु को प्रारब्ध के लिये समर्पित कर चुकता है वही आनन्द पाता है। प्रारब्ध के बिना कुछ भोगना है नहीं, प्रारब्ध अवश्य भोगना हैयह भी निश्चिय स्थिर हो जाये तो व्यक्ति जो उपस्थित है उसी को तल्लीनता से अंगीकार कर सकेगा, 'यह न होकर वह होता' की उसे भावना ही नहीं उठेगी क्योंकि जानता है कि जो होना है वही हो रहा है, कुछ और न होना है न हो सकता है। अतः वह कामपीडित न होने से निश्चिंत रहता हुआ भगवत्प्रसादरूप जीवन जी लेता है। श्रोत्रिय तो ब्रह्मनिष्ठ है, वह तो द्वैत के बाध से ही इससे परे है। उसकी मुक्त स्थिति ही परम आनंद है जिस तक दृष्टि ले जाने के लिये आनंदमीमांसा है।।१८१-४।।

यही परमता व्यक्त करते हैं **सूत्रात्मा से आगे आनंद का परिगणन समाप्त है क्योंकि सूत्र से परे जो ईश्वर उसमें सूत्र से सौ-हज़ार आदि गुणा नहीं वरन् अनंत गुणा आनंद है! अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि उसका वर्णन वाणी नहीं कर सकती।।१८५।। श्रोत्रिय को अनुभूयमान आनन्द की मानो बूँदें वे सुख हैं जिन्हें सार्वभौम मनुष्य से सूत्रात्मा पर्यन्त प्राणी अनुभव करते हैं।।१८६।।**

वक्तव्यार्थे समाप्तेऽपि राजा पृच्छति पूर्ववत्।
भीतो मुनिर्भये हेतुं मेधावीत्यादिनोक्तवान्।।१८७।।
सर्वेभ्यो निर्णयेभ्यो मामरौत्सीन्न तु मुंचति।
अयमेव भये हेतुर्नोत्तरानवबोधनम्।।१८८।।

विषयप्रयुक्त सुख में गणना संभव है, दो लड्डू से चार लड्डू का सुख दुगुणा कह सकते हैं, लेकिन निर्विषय सुख को गिन नहीं सकते। जैसे तैजसके स्वाप्न सुख से प्राज्ञ का सौषुप्त सुख असंख्य गुणा ज़्यादा कहा जायेगा वैसे सूत्र से ईश्वर का सुख इतना अधिक है कि गणना असंभव है। इसे दूसरी तरह यों कहा कि श्रोत्रिय के आनंद को यदि सागर समझें तो उसकी बूँदें बाकी सारे आनंद हैं। एक बूँद सूत्रानन्द है तो बूँद से सागर को कितने गुणा बड़ा कहा जाये! इस प्रकार परम आनन्दरूप आत्मा ज्योति का कथन किया।।१८५-६।।

इतना उपदेश सुनकर जनक ने वही, गोसहस्र-दक्षिणा निवेदित कर 'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि' कहा कि अब वही बताइये जिससे मोक्ष होवे! इस पर मुनि 'बिभयाञ्चकार। मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीद् इति' डर-से गये कि यह राजा मेधावी है तभी मैं वक्तव्य समाप्त करूँ तो रोक देता है, और भी ज्ञातव्य है यह भाँप लेता है।इस बात का उल्लेख करते हैं **बताने जैसी बातें पूरी हो चुकने पर भी राजा पहले जैसे ही पूछने लगा तो याज्ञवल्क्य डर गये! उनके डर का हेतु 'मेधावी' आदि शब्दों से वेद ने बताया।।१८७।। 'मुझे सारे निर्णयों से रोक लिया, छोड़ता नहीं'यह डर में हेतु है, न कि वे उसके प्रश्न का उत्तर न जानते हों यह कारण है।।१८८।।** मेधावी से स्मरण-सामर्थ्य और 'सर्वेभ्यः' आदि से प्रज्ञादोनों से राजा की सम्पन्नता व्यक्त की। 'निर्णयों से रोकना' अर्थात् अब तक जो कहा वही अंतिम ज्ञातव्य है यह स्थापित न होने देना। राजा उपदेश समझ लेता था तथा उतना मात्र मोक्षप्रद नहीं यह अनुभव कर मोचक बोध अवश्य अवशिष्ट है यों सामान्यतः जानकर पूछता था। राजा गृहस्थ था, राज्यादि कार्य संचालित करता था, ऐसा क्या तत्त्वबोध का अधिकारी है? इस विचार से याज्ञवल्क्य अंतिम बोध बिना दिये रुकते थे, पर जब वह आगे पूछे तब उसकी योग्यता प्रकट हो जाती थी। इसी क्रम से अब तक चले, अब अंतिम बोध ही बाकी होने से 'कहीं योग्यता-निर्णय में मैं न चूक जाऊँ' ऐसा मुनि को भय है।।१८७-८।।

याज्ञवल्क्यवचन समझाने से पूर्व राजा का अभिप्राय बताते हैं **परलोक और मोक्ष**

स्वप्नः सुप्तिश्च दृष्टान्तौ परलोकविमोक्षयोः ।
तावेव मुनिना प्रोक्तौ शिष्टं दार्ष्टान्तिकद्वयम् । ।१८६ । ।
स्वप्नाज्जागरणं यद्वद् देहाल्लोकान्तरं तथा । ।
इत्यभिप्रेत्य मुनिना स्वप्नाद् बोधोऽभिधीयते । ।१६० । ।
शकटं बहुभिर्द्रव्यैर्योजितं गुरुभारतः । ।
कुर्वन् शब्दान् बहून् याति चेतनेन प्रयोजितम् । ।१६१ । ।

में दृष्टांतरूप स्वप्न और सुषुप्ति बताये लेकिन बचे हुए जो इनके दार्ष्टान्त, वे अभी नहीं बताये । ।१८६ । । दृष्टांत जिस बारे में हो उसे दार्ष्टान्त कहते हैं। अब तक स्वप्न-सुषुप्ति तो स्पष्ट पता चले लेकिन परलोक व मोक्ष की उतनी स्पष्टता नहीं हुई। इसलिये राजा ने आगे पूछा । ।१८६ । ।

अतः मुनि बोले 'स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोनि आद्रवति बुद्धान्तायैव । ।' यह वाक्य पहले भी ४.३.१६ आ चुका है, श्लोक १३१ में इसकी ओर संकेत है। पुनः इसलिये ताकि दार्ष्टान्त से दृष्टान्त का सम्बन्ध ज्ञात रहे। इसका संक्षेप करते हैं **स्वप्न से जाग्रत् की तरह शरीर से लोकान्तर जाया जाता है इस अभिप्राय से मुनि ने सपने से जगने का उल्लेख किया । ।१६० । ।** सपने में किया-कराया वहीं छोड़कर जगने जैसा ही यहाँ करा-कराया सब छोड़कर परलोक जाना है। यह स्मरण रखें तो यहाँ के महत्त्व को अधिक आँक कर पाप-प्रवृत्ति छोड़ सकते हैं। परलोक के लिये कोई पाप नहीं करता! सारे पाप इहलोक के लिये हैं। पाप से प्राप्त तो यहीं छूटना है, पाप अवश्य साथ जायेगा यह याद रखना चाहिये। इहलोक को यहाँ श्रुति ने स्वप्न के उदाहरण से कहकर स्वप्न-सदृश बता दिया । ।१६० । ।

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा 'तद् यथाऽनः सुसमाहितम् उत्सर्जद् यायाद् एवमेवायं शारीर आत्मा प्रज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति यत्रैतद् ऊर्ध्वोच्छ्वासी भवति' (३५)। जैसे यात्रा के लिये सुसज्जित बैलगाड़ी चूं-चां करती चलती है वैसे जब साँस उखड़ने लगता है तब यह शरीरस्थ विज्ञानमय आत्मा प्राज्ञ अर्थात् परमात्मा से नियंत्रित हुआ चला जाता है। इसे बताते हैं **बहुत सामान से लदी बैलगाड़ी अधिक बोझ के कारण बहुत आवाज करती हुई, गाड़ीवान् से नियंत्रित होकर जाती है । ।१६१ । । इसी तरह चिद्रूप परमात्मा से नियंत्रित, शरीर में स्थित विज्ञानमय पहले अपूर्ण साँस लेते हुए फिर हिचकी आदि आवाज़ करते हुए**

शरीरस्थो हि लिंगात्मा ह्यन्वारूढश्चिदात्मना।
शब्दान् कुर्वन् हि हिक्कादीन् प्रैत्यूर्ध्वश्वासपूर्वकम्।।१६२।।
उपाध्यारोहमन्वात्मा रूढवत् प्रतिभासते।
भानोरिवोदपात्रादावारोहो नात्मनः स्वतः।।१६३।।
मर्मसूत्कृष्यमाणेषु वायुनोदानरूपिणा।
मुमूर्षोरत्र यद्दुःखं स्मर्यतां तन्मुमुक्षुभिः।।१६४।।
रोगेण जरया वाऽयं देहकार्श्यं यदाऽऽप्नुयात्।
तदाम्रादिफलं वृन्ताद् इवांगेभ्यः प्रमुच्यते।।१६५।।

प्रयाण करता है।।१६२।। कर्म और वासना के बोझ से दबी लिंगशरीररूप गाड़ी यहाँ से जायेगी। जैसे सपने की चीज़ें वहीं छूट जाती हैं, संस्कार (स्मृति) जाग्रत् में भी आ जाते हैं वैसे घर खेत आदि तो यहाँ छूट जायेंगे, इनकी वासना ही भार बनकर साथ जायेगी। वासना आगे जाने में प्रेरक बनती है। गाड़ी को जैसे गाड़ीवान् निर्देशित करता है वैसे प्राज्ञ अर्थात् स्वयंज्योतिस्वभाव परमात्मा लिंगदेह को निर्देशित करता है, तभी वह सही गन्तव्य पर पहुँचता है।।१६१-२।।

आत्मा का देहत्याग उपपन्न करते हैं **उपाधि के आरोह के पीछे आत्मा आरोह किया जैसा लगता है। जलपात्र आदि में सूर्य के आरोह जैसा आत्मा का आरोह है, बिना उपाधि के खुद उसका आरोह नहीं होता।।१६३।।** जैसे जलपात्र चले तो उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब चलता-सा है जिससे सूर्य चल रहा है ऐसा लग जाता है, वैसे सूक्ष्मशरीर के आरोह अर्थात् वर्तमान स्थूल शरीर को छोड़कर जाते समय सूक्ष्म में पड़ा चिदाभास जाता-सा है जिससे आत्मा जाने वाला समझ लिया जाता है। मरने पर विज्ञानमयरूप उपाधि का स्थूल से वियोग होता है और उस उपाधि के माध्यम से ही स्थूल में आत्मा उपलब्ध होता था अतः अब वैसा उपलब्ध नहीं होता, इसी को कहते हैं कि आत्मा चला गया। आत्मा स्वरूप से नित्य व्यापक है, उसमें गमनादि संभव नहीं।।१६३।।

इस प्रसंग में मरण-वर्णन वैराग्योत्पादन के लिये है यह समझाते हैं **उदानरूप वायु द्वारा मर्म उखाड़े जाते समय मरणासन्न को लोक में जो दुःख होता है वह मोक्षेच्छुकों को हमेशा याद रखना चाहिये।।१६४।। रोग या बुढ़ापे से जब यह स्थूल देह दुर्बल हो जाता है तब जैसे पके आमादि फल पेड़ से गिर जाते हैं वैसे सब अंगों से लिंगरूप उपाधि छूट जाती है।।१६५।।**

निर्गत्य हृदयस्थानान्नाडीमार्गेण जागरम् ।
प्राप्तोऽत्र वैपरीत्येन नाडीमार्गाद्धृदि व्रजेत् ।।१९६ ।।
जाग्रत्स्वप्नादिसिद्ध्यर्थं गमनागमने पुरा ।
इदानीं त्वन्यदेहेऽसौ प्राणं धारयितुं व्रजेत् ।।१९७ ।।

हृदयरूप स्थान से निकलकर नाडियों के जिस रास्ते (जीवित काल में) स्वप्न से जाग्रत् में आता है, मरते समय उससे उल्टे रास्ते उन्हीं नाडियों के द्वारा हृदय में पहुँचता है।।१९६।। स्थूल शरीर के विशेष स्थल मर्म कहे जाते हैं जहाँ प्राण-देह बंधन की विशेष ग्रंथियाँ हैं। वहाँ चोट लगना जानलेवा भी हो सकता है। मरते समय उन सब मर्मों से प्राण को उखाड़ना उदान वायु के लिये ज़रूरी है। वे मानो खूँटे हैं जिनसे प्राण शरीर में स्थित है, प्राण जाये तभी जब वे खूँटे उखड़े हों। उनके उखड़ते समय असह्य वेदना होती है, व्यक्ति छटपटा जाता है। उस स्थिति को हमेशा याद रखें तो मोक्ष के लिये तीव्रतम प्रयास कर पायेंगे। पाप से बचते हुए पुण्य तुरन्त करना भी तब सहज होता है जब वह दुःख याद रहे। मुर्दा देखकर कुछ देर तो उधर वृत्ति जाती है, सोचते हैं कि संसार असार है, लेकिन सदा याद न रख पाने से जल्दी ही वह सब भूलकर भोगादि में ही रमे रहते हैं। वृक्ष में वृन्त (डण्ठल) से फल लटकते हैं, पकने पर प्रायः अनायास गिर जाते हैं, ऐसे मृत्यु-काल में स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर वियुक्त हो जाता है। श्रुति में यहाँ (कंडिका ३६) आम, उदुम्बर और पीपलतीन फलों का उदाहरण दिया। इसमें आम तब के लिये दृष्टांत है जब पुष्ट देह वाला व्यक्ति घात आदि से मरता है जैसे कच्चा भी आम दण्डे आदि से मारकर गिराया जाता है। उदुम्बर तो बुढ़ापे में मरने के लिये सीधा ही दृष्टांत है। पीपल तेज़ हवा से गिरता है, इसी तरह बिजली गिरना, भूकम्प आदि से अर्थात् आधिदैविक कारणों से जीव मरता है। तीनों का यहाँ 'आम्रादिफल' में संग्रह कर दिया। नींद से जगते समय नाडियों से हृदय से बाहर निकलते हैं, मरते समय उन्हीं नाडियों से पहले हृदय में प्रविष्ट होते हैं फिर वहाँ से आगे बढ़ते हैं।।१९४-६ ।।

हृदय से नाडी द्वारा गमनागमन समान होने पर भी मरने में विशेष बताते हैं **पहले (जीवनकाल में) जाग्रत्-स्वप्न आदि को सम्पन्न करने के लिये नाडियों से जाना-आना होता था, अब तो (मरते वक़्त) वह अन्य स्थूल शरीर में प्राणों का धारण करने के लिये जायेगा।।१९७।।** हृदय में पहुँचना रोज़ होता है लेकिन लौटने के लिये, क्योंकि नींद पूरी होते ही नाडियों द्वारा हृदय से निकल आता है।

ननूपादित्सिते देहे भोगाय प्राणधारणम्।
भोग्यसम्पादने नास्ति शक्तिरस्येति चेच्छृणु।।१९८।।
तत्कर्मोपार्जितैरन्यैर्भोग्यं संपादयेत् पुरा।
इत्येतद्विशदीकर्तुं राजदृष्टान्त उच्यते।।१९९।।
राज्ञा जीवितदानेन ह्युग्रादय उपार्जिताः।
मुमूर्षुणा भाविदेहबन्धवः कर्मणार्जिताः।।२००।।
एनं पुत्रादिभावाय प्रतीक्षन्तेऽखिलाः सदा।
ऋतावस्मिन्समायाति ब्रह्म पुत्रादिरूपतः।।२०१।।

मरते समय हृदय में जाता है लेकिन वापिस नहीं आता, वहीं से नये शरीर में चला जाता है।।१९७।।

प्रश्नपूर्वक कण्डिकारम्भ करते हैं **जिसे ग्रहण करना है उस शरीर में भोग के लिये ही प्राणों को धारण (स्थापित) करना है लेकिन इस मुमूर्षु में भोगों के सम्पादन की तो शक्ति है नहीं, फिर यह वहाँ जाकर करेगा क्या! यह शंका है तो सुनो।।१९८।।** मरणासन्न अशक्त है, वहाँ जाकर जन्म लेगा तब भी अशक्त होगा। जाना वहाँ भोग करने है तो अशक्त का जाना कैसे उपपन्न होता है? यह प्रश्न है। उत्तर में श्रुति ने दृष्टांत से बताया है 'तद्यथा राजानम् आयान्तम् उग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायाति अयमागच्छतीति, एवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायाति इदमागच्छतीति' (३७)। तात्पर्य है कि जैसे राजा के आने पर उसके कर्मचारी आगे से आगे व्यवस्था कर इन्तज़ार करते हैं वैसे सारे भूत इस ब्रह्म (आत्मा) की अगुवायी की तैयारी किये रहते हैं जिससे अशक्त हुआ भी यह वहाँ पहुँचकर भोग कर लेता है। इसे अगले श्लोकों में बतायेंगे।।१९८।।

प्रश्न का श्रुत्यनुसारी उत्तर देते हैं **जीव के कर्मों से इस काम के लिये नियुक्त अन्यों द्वारा जीव के वहाँ पहुँचने से पहले ही वहाँ भोग्य तैयार कर लिया जाता है। यही स्पष्ट करने के लिये राजा का दृष्टान्त है।।१९९।। राजा वेतनादि देकर उग्र आदि सेवक तैयार रखता है। ऐसे ही मरने वाला जीव कर्म से उन बंधुओं को तैयार रखता है जो भावी देह में व्यवस्था करें।।२००।। 'इस ऋतु में पुत्रादिरूप से ब्रह्म आ रहा है' यों सब लोग सदा इसका इन्तज़ार करते हैं।।२०१।।** राजा ने वेतनादि से जो सेवक रखे हैं वे ही पहले से तैयारी कर इन्तज़ार करेंगे, ऐसे ही जीव के कर्मों से सभी पृथ्व्यादि भूत भाविदेह में तैयारी रखते हैं और

नन्विंद्रियाणि प्रेतस्य लीयन्ते वपुषा सह।
इत्याहुस्तार्किका ब्रह्म निरुपाधि कथं व्रजेत्।।२०२।।
प्राणोपाधिक एवात्मा गच्छतीति विवक्षया।
प्राणानामात्मसामीप्यगतिं वक्ति मृतौ श्रुतिः।।२०३।।
राजानं प्रयियासन्तम् आभिमुख्येन सेवितुम्।
आयान्त्युग्रादयस्तद्वत् प्राणानामात्मसंगतिः।।२०४।।

इन्तज़ार में रहते हैं कि यह ब्रह्म आने वाला है। जीव को ब्रह्म इसलिये कहा कि वास्तव में वह ब्रह्म ही है। जहाँ पैदा होना है वहाँ माँ के लिये घी मेवा आदि की व्यवस्था पहले से होती है। यह लोक में दृष्ट है। बच्चे के लिये कपड़े भी लोग बनवा रखते हैं। इस सब में उस जीव के कर्म हेतु हैं जो पैदा होने वाला है। 'उग्र' से 'सुरक्षाकर्मी' समझने चाहिये 'उग्रशब्देन कथ्यन्ते यष्टिका भटभर्त्सकाः' ऐसा सार में है। 'उग्रे कर्मणि ये राज्ञा नियुक्ताः पापकारिषु, उग्रास्तेऽत्राभिधीयन्ते जातितो वाऽभिधा भवेत्।।' ऐसा वार्तिक में ४.३.१९६१ है। जैसे पृथ्व्यादि भूत तैयारीपूर्वक इन्तज़ार करते हैं वैसे माता-पिता आदि भी तैयारी और इन्तज़ार करते हैं। पुत्रादिभाव कहा अर्थात् कोई पुत्र की, कोई पुत्री की, कोई भतीजे की, कोई पौत्र की इत्यादि की इन्तज़ार करता है। आने वाले को 'ब्रह्म' जानना तो चाहिये लेकिन अविवेकी ऐसा समझते नहीं। ब्रह्म ही उपाधिपरिच्छेद से जीव हुआ गमन-आगमन करता है।।१९९-२०१।।

सोपाधिक गति उपपन्न करते हैं **तार्किक कहते हैं कि मरे व्यक्ति की इन्द्रियाँ शरीर-समेत ही लीन हो जाती हैं। लेकिन बिना उपाधि के ब्रह्म तो जा सकता नहीं।।२०२।। इसलिये प्राणरूप उपाधि वाला ही आत्मा जाता है यह बताने के लिये श्रुति ने बताया कि मरते समय प्राण आत्मा के समीप आ जाते हैं।।२०३।। प्रवासार्थ जाते राजा के साथ रहकर उसकी सेवा करने के लिये जैसे उग्रादि आते हैं वैसे प्राण भी आत्मा के साथ एक से दूसरे शरीर में जाते हैं।।२०४।।** प्रशस्तपाद आदि ने मन की ही गति मानी है, इंद्रियादि की नहीं (द्रष्टव्य कंदली पृ ७३८-९ सम्पूर्णा.) उनके भी मत में आत्मा की तो गति होती नहीं है। उनकी मनोमात्रगति की बात मानें तो मनउपाधिक की गति अंगीकार करनी होगी लेकिन श्रुतियों के अनुसार केवल मन नहीं, अनेक चीज़ें साथ जाती हैं। यह विषय तदन्तर-प्रतिपत्त्यधिकरण (रंहत्यधिकरण) में ३.१.१ तथा ४.२ के प्रारंभ में ब्रह्मसूत्रों में निर्धारित है। अतः यहाँ भी राजा जैसे सेवक-सहायकों के साथ यात्रा करता है वैसे जीव प्राणों

चतुर्थब्राह्मणविवृतिः

तृतीयब्राह्मणे प्रोक्ता देहे स्वप्नादिसंसृतिः।
देहान्तरेषु संसारो मुक्तिश्चाथ प्रवक्ष्यते।।२०५।।

सहित जाता है यह उपनिषत् ने स्पष्ट किया। प्राण से सारा पुर्यष्टक समझ लेना चाहिये। राजा के खास साथी ही यात्रा में जाते हैं वैसे यहाँ भी श्रुतिनिर्दिष्ट तत्त्व ही जायेंगे। हो सकता है उनमें कोई चीज़ न ले जाते तो वहाँ भी मिल सकती थी लेकिन अपनी वस्तु के प्रयोग में जो निःशंक सुविधा है वह तो न मिलती! इसलिये लोक में भी सामान साथ ले जाते हैं, ऐसे ही जीव अपनी उपाधि साथ ले जाता है। अत एव मरते समय सब तत्त्व हृदय में आकर इकट्ठे हो जाते हैं। जिन सेवकों ने पहुँचने वाली जगह में पहले से तैयारी की है उनकी अपेक्षा साथ वाले सेवक विशेष होते हैं वैसे प्रकृत में भी भावी देह के निर्माण आदि के व्यवस्था-कर्त्ताओं की अपेक्षा साथ जाने वाले तत्त्व विशेष हैं, ज़्यादा निजी हैं, लगभग मैं ही हैं!।।२०२-४।।

यहाँ तक तीसरे अर्थात् ज्योतिर्ब्राह्मण को समझाया। अब चौथे अबल्य ब्राह्मण का विचार कर रहे हैं। विषय उसी क्रम में चल रहा है। ब्राह्मणभेद अध्ययन क्रम से अंगीकार है, उपपत्ति आचार्यों ने दी है कि ज्योतिर्ब्राह्मण में देहान्तरगति संक्षेप में कही थी, यहाँ उसे और समझाकर आगे सुषुप्तिदार्ष्टान्त मोक्ष का कथन करना है अतः संक्षिप्त पूर्व में और विस्तृत यहाँ वर्णन होगा।

ब्राह्मणभेद सूचित करते हैं **तीसरे ब्राह्मण में शरीर के भीतर होने वाला स्वप्नादि-संसरण बताया। अब (चौथे में) अन्य देहों में संसरण एवं मुक्ति बतायेंगे।।२०५।।** संसार दोनों हैशरीर में रहते जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में भटकना भी और देह छोड़कर अगला देह लेना भी। पहले वाले का विस्तार से वर्णन हो चुका। दूसरे वाले का कुछ ज़िक्र तो हुआ, विस्तार अब होगा। संसरण से छूटना तो अब ही बतायेंगे, केवल दृष्टांतभूत सुषुप्ति पहले बता आये हैं।।२०५।।

पूर्व ब्राह्मण की समाप्ति के प्रसंग से सम्बन्ध जोड़ते हुए श्रुति ने दुर्बल की मरणावस्था बताते हुए पिछली बात से अधिक यह जोड़ा 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' कि मरणासन्न व्यक्ति अपनी सब इंद्रियाँ हृदय में समेट लेता है। अतः तब देखना सूँघना चखना बोलना सुनना सोचना छूना सब बन्द हो जाते हैं। इसे बताते हैं **अज्ञ मरणासन्न के देह में जब अतिशय दुर्बलता आ जाती है तब वह बेहोश-सा हो जाता है। तब चक्षु आदि प्राण देही के पास (हृदय में) आ जाते**

स मुमूर्षुर्यदा देहे दौर्बल्यं प्राप्य मूढताम्।
प्राप्नोतीव तदा चक्षुराद्या आयान्ति देहिनम्।।२०६।।
राजदृष्टांततः प्रोक्तां प्राणानामात्मसंगतिम्।
अनूद्य तत्प्रकारोऽत्र विस्तरेणाभिधीयते।।२०७।।
तेजोमात्राश्चक्षुराद्याः प्रसृता मत्स्यजालवत्।।
जागरेऽथ मुमूर्षुस्ताः समादाय हृदि व्रजेत्।।२०८।।
अनुगृह्णाति यः पूर्वं चाक्षुषः पुरुषो रविः।।
भोगार्थमधुना सोऽयं भोगाभावादुपेक्षते।।२०६।।
इंद्रियस्योपसंहाराद् आदित्यस्याप्युपेक्षया।।
आत्मा द्रष्टुमसामर्थ्याद् अरूपज्ञो भवेत्तदा।।२१०।।

हैं।।२०६।। राजा के उदाहरण से जो यह बताया था कि प्राण आत्मा के पास आ जाते हैं, उस बात का उल्लेखकर यहाँ विस्तार से उस आने वगैराह का ढंग बताया है।।२०७।। 'मूढतां प्राप्नोति इव' यों इव से बताया कि एक तो यह मुमूर्षा मूर्छा से पृथक् है, और दूसरा, स्वयं आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान यथावत् रहता है, उसमें कमी नहीं आती है।।२०६-७।।

उक्त श्रुति का अर्थ कहते हैं **'तेजोमात्राः' अर्थात् चक्षु आदि जाग्रत् काल में (शरीर में) वैसे ही फैली हैं जैसे मछली पकड़ने का जाल फैला रहता है। मरणासन्न उन्हें इकट्ठा कर हृदय में प्रवेश करता है।।२०८।।** चक्षु आदि तत्तत् इंद्रिय एवं प्राणापानादि वृत्तियाँ सभी शरीर में अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित हैं मानो शरीर-भर में तेजोमात्राओं का जाल बिछा हो। जाल मछली पकड़ने के लिये फैलाया जाता है, जीव ने भी विषय पकड़ने के लिये जाल फैला रखा है। कोई-कोई इंद्रिय तो शरीर के बाहर भी फैली रहती है ताकि विषय पकड़ में आ जाये! मरते समय जीव अपना यह जाल साथ ले जाने के लिये समेट लेता है।।२०८।।

जाल सिमटने के बाद विषयज्ञान बंद होता है यह बताते हैं **सूर्यात्मक जो चाक्षुष पुरुष जीवनदशा में भोग के लिये आँख पर अनुग्रह रखता था, वह अब आँख की उपेक्षा कर देता है क्योंकि (प्रारब्ध पूरा हो जाने से जीव का) कोई भोग रह नहीं गया है।।२०६।। इन्द्रियाँ उपसंहृत हो चुकने से, आदित्यादि देवताओं द्वारा उपेक्षा किये जाने से आत्मा देखने आदि में असमर्थ होने के कारण रूपादि को नहीं जान पाता।।२१०।। यह बात सभी लोगों को प्रसिद्ध है।**

अस्मिन्नर्थे सर्वलोकप्रसिद्धिरभिधीयते।।
एकीभावादयं नैव पश्यतीति जगुर्जनाः।।२११।।
चक्षुर्बुद्धावैक्यमेति रवौ रव्यंश एकताम्।।
इंद्रियान्तरवद्देवेष्वयं न्यायोऽत्र योज्यताम्।।२१२।।
कृत्स्नप्राणोपसंहारसंयुक्तस्य मुमूर्षतः।।
नाड्यग्रं हृदयस्याथ प्रकर्षेण प्रकाशते।।२१३।।
भाविदेहात्मता यास्य प्रत्यक्चैतन्यबिंबिता।।
वासनैवात्मनः सैषा प्रद्योतवचसोच्यते।।२१४।।
स एष कर्मजो बुद्धेः प्रकाशो जायते मृतौ।।
स्वकर्मनिर्मितं लोकं तेनात्माऽयं प्रपश्यति।।२१५।।

मरणासन्न के बारे में लोग कहते ही हैं 'सब प्राण हृदय में इकट्ठे हो गये अतः यह देख नहीं रहा' इत्यादि।।२११।। चक्षु बुद्धि से एक हो जाती है, सूर्य का जो अंश चक्षु में था वह सूर्य से एक हो जाता है। ऐसे ही अन्य इंद्रियाँ बुद्धि से एक हो जाती हैं और उनमें जो अधिदैवांश हैं वे तत्तत् देवताओं से एक हो जाते हैं।।२१२।। इंद्रियाँ काम कर सकें ऐसी उन्हें सामर्थ्य उनके अधिष्ठाता देवता देते हैं ताकि जीव भोग सके। जब भोग पूरे हो गये तब इंद्रियों को कार्यकारी रहने की ज़रूरत नहीं अतः देवता वह सामर्थ्य स्वायत्त कर लेते हैं, इंद्रियों से हटा लेते हैं। तब इंद्रियाँ जीव के साथ रहती हैं लेकिन जानती-करती कुछ नहीं जैसे बिजली कट जाने पर लट्टू-पंखादि जलते-चलते नहीं। इंद्रियादि का 'एकीभाव' अर्थात् हृदय में इकट्ठा हो जाना लोक में भी प्रसिद्ध है, मरणासन्न के निकट स्थित लोग स्वयं अनुभव कर लेते हैं। करणों का 'बुद्धि' में जाना अर्थात् 'लिंग' रूप से एक हो जाना। जब तक देखना-सुनना आदि करें तब तक इंद्रियादि हैं, जब ये कुछ न कर सकें तब केवल 'लिंग' ही सबको कह सकते हैं, यह भाव है।।२०९-१२।।

हृदय में एकत्र होने के बाद का क्रम कहते हैं **जिस मरणासन्न के सारे प्राणों का उपसंहार हो चुका उसके हृदय में जो नाडियों के मुख (सिरे) हैं वे अत्यधिक प्रकाशमान हो जाते हैं।।२१३।। 'प्रकाशमानता' से आत्मा की प्रत्यक् चैतन्य से अवभासित वासना कही जा रही है जो भावी शरीर में मैं-रूप से प्रतीत होती है।।२१४।। मरते समय बुद्धि में यह प्रकाश कर्म के प्रभाव से होता है। भावी लोक भी जीव के कर्म से निर्मित है अतः जीव उसे देख लेता है।।२१५।।** जैसे

स्वप्नवत्प्राप्य तद्भावं पश्चाद् देहाद् विनिःसरेत्।
गम्यलोकानुसारेण द्वारं स्याच्चक्षुरादिकम्।।२१६।।
देहाज्जिगमिषुः प्राणसहितो निर्गतः पुनः।
सविज्ञानो भवेत्पूर्वं हृदि प्रद्योतनं यथा।२१७।।
पुरा नाडीविशेषेण निर्गन्तुं ज्ञानमीरितम्।
गन्तुं लोकविशेषेऽथ पुनर्विज्ञानमीर्यते।।२१८।।

स्वप्न में वासनामय शरीर का भान होता है वैसे मरते समय वासनामय ही भावी शरीर का 'यह मैं हूँ' ऐसा भान होता है। उसी भान को यहाँ श्रुति ने 'प्रद्योतते' कहा है, अत्यधिक प्रकाश कहा है। जैसे स्वप्न में कर्मफलानुरूप वासनामय देह दीखता है वैसे मरते समय भी भावी देह दीखता है क्योंकि वही कर्म के फलरूप से मिलने वाला है। जिसका भावी जन्म होना नहीं उस तत्त्वज्ञ को ऐसा 'प्रद्योतन' भी नहीं होता एवं वक्ष्यमाण उत्क्रमण भी नहीं होता।।२१३-५।।

देह छोड़ने का वर्णन करते हैं **स्वप्न में अपना शरीर देखने की तरह मरते समय भावी शरीर में अहम्भाव पाकर फिर जीव शरीर से निकलता है। जहाँ जाना है उस लोक के अनुसार निकलने के लिये चक्षु आदि द्वार बनते हैं।।२१६।। देह से जाते हुए प्राणों समेत जाता है। शरीर से निकलने पर फिर वैसे ही विशेष अनुभव वाला होता है जैसे पहले हृदय में प्रद्योतन हुआ था।।२१७।। पहले ज्ञान इसलिये कहा था कि किस नाडी से निकलना है यह पता चले, अब किस लोक में जाना है यह समझने के लिये आवश्यक विज्ञान याज्ञवल्क्य ने 'सविज्ञानो भवति' से कहा।।२१८।।** स्वप्न में स्वयं को जवान देखते हुए जैसे याद नहीं रहता कि 'हूँ तो मैं (जाग्रत् में) बुड्ढा', वैसे मरते समय अपना भावी रूप देखते समय याद नहीं रहता कि मैं फिलहाल और कोई हूँ। अर्थात् वर्त्तमान शरीर का अभिमान उस भावी देह के अभिमान को काटता नहीं। देह से निकलने के द्वार गन्तव्य लोकानुसार होते हैं। उत्तम लोकों में चक्षुरादि द्वारों से एवं अधो द्वारों से अधोलोकों को जाया जाता है। सपने में जैसे इंद्रियादि के बगैर सब पता चल जाता है वैसे पूर्वोक्त प्रद्योतन से उचित नाडीद्वार का पता चल जाता है। जीव के निकलने पर प्राण साथ जाते हैं। शरीर से निकलते ही फिर'सविज्ञान' हो जाता है अर्थात् गन्तव्य लोक का रास्ता समझ कर उस पर चल देता है। यह सारा यहाँ वर्णन हमें चेताने के लिये है कि 'मरते समय परमेश्वर-चिन्तन कर लेंगे' सोचकर अभी अगर उसे टाला तो मरते समय वह चिंतन

हेतुर्जाग्रद्वासनास्य स्वप्नारंभे यथा तथा।
जन्मान्तरारंभहेतुः कः स्यादिति तदुच्यते।।२१९।।
विद्या संपादिता तेन पुरा कर्म च यत्कृतम्।
या वासना च तत्सर्वं जन्मभोग्यादिकारणम्।।२२०।।
देहं विद्या परिच्छिद्यादीदृशो देह इत्यथ।
विकर्तृकर्मवोढ्री तु पूर्वप्रज्ञेह पूर्वयोः।।२२१।।
समर्था सैव ते यस्मादुद्वोढुं ज्ञानकर्मणी।
नरस्यातः प्रधानत्वात्ताभ्यां सा गृह्यते पृथक्।।२२२।।

संभव न होगा क्योंकि वह तो कर्मवश ही हो पाता है। बाह्य-आभ्यन्तर कर्म यदि योग्य एकत्र हो गये तब तो मरते समय परमेश्वर के आकार की वृत्ति बनेगी, अन्यथा नहीं। उस समय जीव वृत्ति बनाने में स्वतंत्र नहीं होता, मूढ-सा होता है। स्वस्थ रहते ही चित्त को शिवाकार में ढाल लेना उचित है।।२१६-१८।।

उक्त बात श्रुतिने कही है 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' कि उपासना, कर्म और वासनाये तीनों जीव का अनुगमन करते हैं। (समन्वारभेते अनुगच्छतः।) इसे समझाते हैं **जैसे जाग्रत् के संस्कार स्वप्नोत्पत्ति में हेतु हैं वैसे जन्मान्तर की उत्पत्ति में क्या हेतु है? यह बताते हैं।।२१९।। जीव ने जो पहले उपासना और कर्म किये हुए हैं तथा जो वासनाएँ बटोरी हुई हैं, वे सब जन्म और वहाँ उपलभ्य भोग्य आदि में कारण बनते हैं।।२२०।। उपासना निर्धारित करती है भावी देह को कि ऐसा शरीर होगा, कर्म उसके विकार का अर्थात् अवयवोपचयादिका हेतु बनता है तथा पूर्वोक्त दोनों को ढोने वाली है वासना।।२२१।। क्योंकि ज्ञान-कर्म दोनों को ढोने में वासना ही समर्थ है अतः जीव के लिये वह प्रधान होने से उन दोनों से अलग इसकी गणना की।।२२२।।** श्रुति का विद्यापद उपासनार्थक है, ब्रह्मविद्या का बोधक नहीं क्योंकि ब्रह्मज्ञ तो मरकर जाता नहीं है। विहित कर्म-उपासना सत्फल एवं निषिद्ध कर्म-उपासना असत्फल देंगे। निषिद्ध भी उपासनाएँ हैं, नग्न स्त्री देखना, उसका ध्यान करना आदि निषिद्ध उपासनाएँ हैं। जीवन में सभी तरह के कर्म-उपासना जीव बटोरता है। इन सबके संस्कार (वासना) अवश्य रहते हैं। उन्हीं के सहारे उपासना-कर्म साथ चलते हैं। इन दोनों में से उपासना से देह अर्थात् मनुष्य-देव-दानव-पशु आदि योनि निर्धारित होती है कि किस योनिका शरीर मिलेगा तथा शरीर के आकार-प्रकार सकलांगता-विकलांगता, सौंदर्य-कुरूपता, बली-दुर्बलता

सर्वगस्य मनोमात्रगतिं ब्रूतेऽत्र तार्किकः।
श्रुतिस्तु स्वमतं ब्रूते जलूकाख्यनिदर्शनात्।।२२३।।
जलूका हि तृणाग्रस्था स्वमुखेन तृणान्तरम्।
अवलंब्य वपुः शिष्टं सर्वं तत्रोपसंहरेत्।।२२४।।

आदि को कर्म प्रयुक्त करते हैं। भोग भी कर्म से मिलते हैं। बहुधा उपासना उत्तम होने से योनि उत्तम मिलकर भी कर्म निकृष्ट होने से भोग दुःख का ही अधिक होता है तथा कई बार योनि निकृष्ट लेकिन भोग सुख का ही अधिक होता है। कारण है कि उपासना-कर्म का सामंजस्य न होने से दोनों के फल असमान मिल जाते हैं। उपासना और कर्म दोनों का निर्वाह वासना से ही होता है। उत्तम योनि में निकृष्ट रुचियाँ या निकृष्ट योनि में उत्तम रुचियाँ देखने को मिलती हैं जो बता देती हैं कि वासनाओं में भेद है। वासना से ही संकल्प और उससे कर्म-उपासनामें प्रवृत्ति होने से वह निर्वाह करने वाली कही है। अतः संस्कारों को सर्वाधिक महत्त्व देना उचित है। यदि सही संस्कार दृढ पड़ गये तो मज़बूरी में भी ग़लत कार्य नहीं हो पायेगा। लगभग सौ साल पूर्व बिहार में भीषण अकाल पड़ा था, तब के अंग्रेज़ों के लेख हैं कि पटना में लोग सड़कों पर भूखे मर गये लेकिन हलवाइयों की दुकानों में काँच की अल्मारियों में रखे पदार्थ भी चुराकर नहीं खाये! चोरी बुरी हैइसका दृढ संस्कार घटते-हटते आज हर तरह से सम्पन्न लोग होटलों से चम्मच ही चुरा लेते हैं! अतः संस्कारों को महत्त्व देने के लिये यहाँ श्रुति ने विद्याकर्म को समास में इकट्ठा कर दिया, पूर्वप्रज्ञा का स्वतन्त्र उल्लेख किया।।२१९-२२।।

मरकर जाना चिड़िया के उड़ने जैसा, नौका में जाने जैसा, आदि दृष्टांतों से लोग बताते हैं, श्रुति ने जलूका (लीच) के उदाहरण से बताया है 'तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वा, अन्यम् आक्रमम् आक्रम्य आत्मानम् उपसंहरति' कि जैसे जलूका तिनके के किनारे पहुँचकर आधा शरीर आगे निकालती है और टिकने के लिये दूसरा तिनका मिल जाने पर उस पर आश्रित होने के बाद ही पूर्व तिनके से अपना सारा शरीर उठाती है, इसी प्रकार नया शरीर निर्धारित होने के बाद ही जीव पूर्व शरीर छोड़ता है। यह प्रसंग सूचित करते हैं **सर्वव्यापक आत्मा के केवल मन की मरने पर गति होती है ऐसा तार्किक कहते हैं लेकिन इस बारे में श्रुति अपना मत जलूका के उदाहरण से बताती है।।२२३। तिनके के कोने पर पहुँची जलूका अपने मुख से दूसरे तिनके का सहारा लेने के बाद बाकी सारा शरीर वहाँ ले जाती है।।२२४।। इसी तरह सूक्ष्मशरीररूप उपाधि वाला आत्मा बुद्धि से प्राप्तव्य देह को याद करते हुए**

लिंगदेहोपाधिरात्मा धिया देहान्तरं स्मरन्।
लिंगोपाधिकमात्मानं प्रापयेदन्यदेहकम्।।२२५।।
ननु देहान्तरारंभे उपादानं किमात्मनः।
एतद्देहारंभकं यत्तदेवोतान्यदीर्यताम्।।२२६।।
स्वर्णकारः सुवर्णांशमादायान्यं नवं नवम्।
तेनैव कुरुते भूय उपमृद्यातियत्नतः।।२२७।।
पंचीकृतास्तु भूतांशाः स्थूलदेहस्य हेतवः।।
अल्पत्वेनातिसूक्ष्मास्तैर्लिंगं तिष्ठति वेष्टितम्।।२२८।।

सूक्ष्मशरीर-उपाधि वाले स्वयं को उस देह में पहुँचाता है।।२२५।। क्योंकि जलूका, जौंक की तरह जाता है इसलिये अगला शरीर उसका होने पर पूर्व को छोड़ता है। इससे ये प्रश्न व्यर्थ हो जाते हैं कि मानव गर्भ में जीव किस महीने प्रवेश करता है, क्योंकि गर्भ का विकास ही सजीव होता है। आधुनिकों ने पहले तो निर्जीव कहकर अण्डे खाने शुरू किये, अब गर्भ को निर्जीव कहकर भ्रूणहत्या में तत्पर हैं। श्रुति स्पष्ट बता रही है कि पहले जीव ने उसे स्वीकार किया तभी वह बढ़कर उसके अनुरूप तैयार होगा। आयुर्वेद में तो माना है कि मरने से छह महीने पूर्व मनुष्य को अगले शरीर की वासना उद्भूत हो जाती है। काल के बारे में जैसा भी हो, श्रुति ने माना है कि प्राप्य देह अपनी निर्धारित करके तब वर्तमान देह छोड़ी जाती है। भावी देह को 'स्मरन्' (याद करते हुए) इसलिये कहा कि वह वासना से ही ज्ञात होती है। यह अर्थ नहीं कि किसी पुराने देह को याद करता हो। औपाधिक की ही उक्त ढंग से गति सिद्ध होने से आत्मा का गमनागमन संगत हो जाता है।।२२३-५।।

अब बताते हैं कि नया शरीर बनता काहे से है **नया शरीर बनाने के लिये आत्मा के पास उपादान (सामग्री) क्या है? वर्तमान शरीर बनने वाले पदार्थों से ही अगला भी शरीर बनता है या उसके लिये अलग पदार्थ चाहिये? यह बताया जाये।।२२६।। सुनार सोने का टुकड़ा लेकर उसी को बारम्बार गला कर अतिप्रयत्न से नये-नये गहने बना लेता है।।२२७।। पंचीकृत भूतों के अंश स्थूल देह के उपादान हैं। इस शरीर से जाते समय सूक्ष्म शरीर उन उपादानरूप भूतों से घिरा रहता है लेकिन वे मात्रा में इतने कम होते हैं कि अतिसूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं होते।।२२८।। उन्हीं से यह शरीर निर्मित है, पिता के वीर्य से तो पोषित ही है। वीर्य-निर्मित बाहरी हिस्सा मरते समय वैसे ही छूट जाता है**

निर्मितस्तैरयं देहः पोषितः पितृवीर्यतः।।
मृतौ कंचुकवत्त्याज्यो बाह्यांशो वीर्यनिर्मितः।।२२६।।

जैसे कुत्ता आदि खोल देते हैं।।२२६।। जन्म-जन्मान्तर में साथ जाने वाली चीज़ों में स्थूल भूतों के भी स्वल्प अंश हैं। जैसे खाद-मिट्टी से गड्ढा तैयार किया रहे तब उसमें बीज डालते हैं तो पौधा होता है वैसे शुक्र-शोणित आदि मिल-जुलकर स्थान तैयार रखते हैं जिसमें जायमान जीव अपने वे भूतांश लाकर डालता है, तब शुक्रादि से शरीर वैसे ही बनता जाता है जैसे बीज से खाद-पानी आदि मिलने पर अंकुरादि पैदा होते हैं। मरते समय उन मूल भूतांशों को जीव साथ ले जाता है, जो स्थूल शरीर यहाँ रह जाता है वह माता-पिता के अंशों से निर्मित खोल की तरह है। मिश्री बनाते समय एक छोटी-सी डली चासनी में डुबाकर रखते हैं, धीरे-धीरे उसके चारों ओर चीनी चिपकती जाती है, बहुत बड़ा कुज्जा तैयार हो जाता है, इसी तरह जीव के लाये भूतांशों के चारों ओर सारा शरीर निर्मित हो जाता है। जाते समय उन अंशों को जीव ले जाता है। अतः जो भूतांश वर्तमान शरीर के उपादान हैं वे ही सब भूत-भावी शरीरों के भी उपादान हैं। माता-पिता के रज-वीर्य एवं भोजन पानी आदि सब पोषक होने से उपादान कोटि के हैं जैसे खाद-पानी वृक्ष के उपादान कहे जाते हैं जबकि मूल उपादान बीज होता है। श्रुति ने इसके लिये सुनार का दृष्टांत लिया है, वह पुराना गहना तोड़कर उसी सोने से नया गहना बनाता है। पुराना जब गलाता है तब पुरानी खोट हट जाती है, नये के लिये नयी खोट डाली जाती है। पुरानी खोट की जगह मुर्दारूप से छोड़ा शरीर है, नयी खोट की जगह भावी माता-पिता के रज-वीर्य हैं तथा सोने की जगह भूतांश हैं एवं गहने की जगह शरीर है। यहाँ भूतांश पंचीकृत विवक्षित हैं। सभी भूतों के अंश जाते हैं, न कि केवल जल के, जैसा कि 'अप्परिवेष्टित' सुनकर कुछ लोग समझ लेते हैं। अप् अर्थात् जलका कथन उपलक्षणार्थ है। पंचीकृत होने पर भी इतनी कम मात्रा में होते हैं कि देखे आदि नहीं जा सकते। जब काफी स्थूल बैक्टीरिया, वायरस ही आँखों से नहीं दीखते तो पंचीकृत अवश्य दीखने चाहिये यह आग्रह कुतर्क ही है। उन भूतांशों से लिपटा हुआ ही लिंग शरीर प्रयाण करता है। तदन्तरप्रतिपत्ति (३.१.१-७) अधिकरण में इसी बात पर चर्चा है। एवं रत्नप्रभा, ब्रह्मामृतवर्षिणी एवं गौडब्रह्मानन्दीय सूत्रमुक्तावली में स्थूल भूतों का गमन सूचित भी है। यह विषय अत्यंत गूढ है। शंकरदिग्विजयों के अनुसार भगवान् वेदव्यास और आचार्य शंकर का इसी अधिकरण पर लम्बा शास्त्रार्थ चला और अंत में व्यास जी ने आचार्य की सूत्रव्याख्या सही घोषित की। कथा का जो भी अर्थ हो लेकिन इतना निर्णीत है कि यह

अधिष्ठानारोप्यभागौ तेषु देहेषु यौ स्थितौ।
तावुभौ विशदीकर्तुं स वा इत्यादिका श्रुतिः।२३०।।
यः संसारी पुरा प्रोक्तः स एवायं स्वतः स्फुरन्।
साक्षिचैतन्यरूपत्वादधिष्ठानमनात्मनः।।२३१।।
विज्ञानं कर्तृतोपाधिर्मनःप्राणादयोऽखिलाः।
बहिर्बहिः समारोप्याः सर्वमारोपितं चिति।।२३२।।

विषय इतना गंभीर माना गया कि व्यास-शंकर ने शास्त्रार्थ के योग्य ठहराया। अतः इसे यथाशास्त्र समझना ही उचित है, व्यर्थ कुतर्क इस विषय में कर्तव्य नहीं।।२२६-९।।

अनादि शरीर-परम्परा में होने वाले सब शरीर परमात्मावबोध में निमित्त बन सकते हैं यह श्रुति ने अगले वाक्य में बताना शुरू किया 'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयः' इत्यादि से। इसे समझाते हैं **उन शरीरों में जो अधिष्ठान और आरोप्य हिस्से हैं उन दोनों को स्पष्ट करने के लिये 'स वै' इत्यादि श्रुति है।।२३०।। जो पहले संसारी कहा गया वही अपरोक्ष स्वयंप्रकाश साक्षी चैतन्यरूप होने से सारे अनात्मा का अधिष्ठान है।२३१।। विज्ञान अर्थात् कर्तृता की उपाधि मन-प्राण आदि सारे अनात्मा, चैतन्य पर बाहर-बाहर से आरोपित हैं।।२३२।।** जैसे चित्र में कपड़ा कागज आदि अधिष्ठान और राम-कृष्ण-पक्षी-वृक्ष आदि आरोप, दोनों भाग होते हैं वैसे सब देहों में साक्षी अधिष्ठान एवं सभी कोश आरोप हैं। मरने पर जाने वाले भी दोनों ही भाग हैं। उपहित का गमन उपपन्न कर चुके अतः अधिष्ठान का औपाधिक गमन कहना बन जाता है। संसारी के रूप में कहा-समझा जाने वाला ही सचमुच में साक्षी चैतन्य है। वास्तविकता के अज्ञान से संसारी प्रतीत हो रहा है, कर्त्ता-भोक्ता प्रतीत हो रहा है, जन्म-मरण वाला एवं लोक-लोकान्तरगामी समझ आ रहा है। लोकांतर-सम्बन्धी आत्मा प्रत्यक्षसिद्ध न होने पर भी शास्त्र-युक्ति से समझ आता ही है। करने वाला और इसे जानने वालाये परस्पर भिन्न होने पर भी अन्योन्याध्यासवश एक लग रहे हैं, विवेक से इनका अन्तर स्फुट हो जाता है। दोनों को 'मैं' तो कहते समझते हैं लेकिन विवेक से पता चलता है कि दोनों अलग हैं। अज्ञान हटने पर तो उनको कभी एकमेक नहीं समझा जायेगा लेकिन विवेक से कुछ काल तक उनका स्वतंत्र अहसास संभव है। यही अभ्यास बढ़ते-बढ़ते पूर्ण विवेक के रूप में विकसित होता है। साक्षी ही वास्तव में अधिष्ठान है, बाह्य-आभ्यन्तर सारे जगत् का उसी पर आरोप है। आरोप्यांश हैं हमारे सारे कोश जिन सबको मिलाकर विज्ञान कहा। इन्हीं के चलते आत्मा कर्त्ता बनता है। ये

तद्यदित्यादिना सर्वशब्दस्यार्थ उदाहृतः ।
प्रत्यक्षवस्तुन्यध्यासे सतीदंमयता भवेत् । ।२३३ । ।
परोक्षवस्तुन्यध्यासाददोमय इतीर्यते ।
आरोपोक्तिसमाप्त्यर्थमितिशब्दः प्रयुज्यते । ।२३४ ।

बाहर-बाहर आरोपित हैं अर्थात् सबसे भीतर साक्षी, उस पर आनंदमय, उसके बाहर बुद्धि, उसके बाहर मन, उसके बाहर प्राण, उसके बाहर स्थूल शरीरयों सभी साक्षी पर आरोपित हैं। जिससे जितना अधिक तादात्म्य वह उतना भीतर कहा जाता है। शरीर में यों दोनों अंश हैं, विवेक दृष्टि से अधिष्ठानांश में ही मैं-बुद्धि स्थिर करनी चाहिये, आरोप्यभाग से मैं-बुद्धि दूर रखनी चाहिये। ।२३०-२। ।

आरोप्यभाग का श्रुति ने 'पृथिवीमय आपोमयः' आदि अनेक शब्दों में विस्तार कर सबको 'सर्वमयः' से इकट्ठा कर इस सर्वमयता को 'तद् यद् एतद् इदंमयोऽदोमय इति' से समझाया। इसका अर्थ बताते हैं **'तद् यद्' इत्यादि से 'सर्व' शब्द का अर्थ व्यक्त किया है। प्रत्यक्ष वस्तु का अध्यास होने पर 'इदंमयता' होगी एवं परोक्ष वस्तु के बारे में अध्यास से 'अदोमय' कहा जायेगा। 'इति' शब्दसे आरोप्य के वर्णन की समाप्ति सूचित है। ।२३३-४। ।** 'इदम्' पुरःस्थित अतः प्रत्यक्ष को एवं 'अदः' दूरस्थ अतः परोक्ष को कहते हैं। हिंदी में इदं के लिये 'यह' और 'अदः' के लिये 'वह' शब्द हैं। 'इदंमय' को 'यहमय' तथा 'अदोमय' को 'वहमय' कह सकते हैं। पहले एक-एक उपाधि का नाम लेकर पृथ्वीमय आदि कहा, अब सामान्य कह दिया यहमय-वहमय अर्थात् स्वयं को हम कभी प्रत्यक्ष उपाधि से जुड़ा अनुभव करते हैं, कभी परोक्ष से। सत् आदिरूप परमेश्वर पर भी प्रत्यक्ष परोक्ष दोनों ही तरह की चीज़ें आरोपित रहती हैं। अतः प्रत्यक्ष या परोक्ष चाहे जैसी अध्यात्म या अधिभूत उपाधि प्रतीत हो, विवेकी को साक्षिरूप या सद्रूप परमात्मा को उसके अधिष्ठानरूप से समझते रहना चाहिये। 'यहमय' कहने से पता चलता है कि वह 'यह' ही नहीं है; ऐसे ही केवल 'वह' ही नहीं है; अतः जो वस्तु यहमय-वहमय लग रही है उसे अधिष्ठान चैतन्य जानना है। 'मैं सुखी, दुःखी' यों प्रत्यक्ष आरोप है, उनके हेतु के बारे में 'मैं पुण्यशाली, पापशाली' यों धर्म-अधर्म का परोक्ष आरोप है। पुण्य-पाप क्रिया के रूप में तो 'इदंमय' हैं और जिसे वह क्रिया उत्पन्न करती है उस अपूर्व के रूप में 'अदोमय' हैं। इस प्रकार उपाधिमात्र को 'यहमय' 'वहमय' में एकत्र कर लिया। ।२३३-४। ।

गमनागमनशील शरीर की आरोप्य-अधिष्ठान उभयरूपता कहकर गतिहेतु बताया

इदंमयत्वं विस्पष्टमैहिकत्वादुपेक्ष्य तत्।
अदोमयत्वं व्याचष्टे यथाकारीति वाक्यतः।।२३५।।
करणं नित्यकर्म स्यात्काम्यं तु चरणं भवेत्।
करणं कर्मशक्तिर्वा[1] चरणं प्रत्ययात्मकम्।।२३६।।

'यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।' इसे समझाते हैं **'इदंमयता' इहलोकीय होने से सुस्पष्ट होने के कारण उस पर और कुछ न कहकर 'यथाकारी' आदि वाक्य से अदोमयता का व्याख्यान करते हैं।।२३५।।** प्रत्यक्ष-अनुमान से अगम्य अर्थ ही वेद का प्रतिपाद्य होना संगत है इसमें महाराजा मनु की भी संमति है। उल्लेख भले ही अन्य बातों का हो जाये लेकिन वे अभिप्रेत नहीं होती। अतः 'यहमय'-रूप प्रत्यक्ष-अनुमान से समझ सकने के कारण वेदार्थ के रूप में विशेष विचार के योग्य नहीं। 'वहमय'-रूप शास्त्र से पता चलता है अतः उसे स्वयं श्रुति ने 'यथाकारी' आदि से समझाया है।।२३५।।

उक्त श्रुति का अर्थ कहते हैं **('यथाकारी' शब्द में) करण का अर्थ नित्य कर्म अथवा कर्म की शक्ति है और ('यथाचारी' शब्द में) चरण का अर्थ काम्य कर्म अथवा सब प्रकार के ज्ञान की योग्यता है।।२३६।।** वर्णादि के अनुसार अवश्य करणीय शास्त्रोक्त क्रियाएँ नित्य कर्म कहे जाते हैं। जो अपनी कामना से ही प्रयुक्त होकर शास्त्रीय या अशास्त्रीय कर्म किये जाते हैं वे काम्य हैं। शास्त्रीय नित्य भी हैं काम्य भी; जिन्हें करना ज़रूरी, उनसे कोई फल चाहो या न चाहो करना अवश्य होगा अन्यथा दोष होगा, वे नित्य हैं। जो हैं तो शास्त्रोक्त लेकिन उनके फल चाहो तभी करो, न करने से भी दोष नहींवे काम्य कर्म। काम्य तो लौकिकादि भी होंगे, अशास्त्रीय, शास्त्रविरुद्ध भी होंगे। यद्यपि स्नान शौचादि को भी लोक में नित्य कर्म कहते हैं तथापि यदि उन्हें शास्त्रोक्त मर्यादानुसार किया जाये तभी वे 'यथाकारी' से कहे करण में गिने जायेंगे अन्यथा शास्त्रोल्लंघन ही माना जायेगा। कुछ कर्म हो सकते हैं जो विधि-निषेध दोनों के विषय न हों, उनसे पुण्य-पाप दोनों नहीं होंगे, वे 'यथाकारी' में भी नहीं आयेंगे। क्रिया-सामर्थ्य और ज्ञानसामर्थ्य भी करण-चरण से कथित हैं। ज्ञान से उपासना को समझना चाहिये क्योंकि वही अगले जन्म में फल प्रदान करती है। जैसे कर्म और जैसी उपासना यहाँ करते हैं वैसा ही भावी जन्म में फल पाते हैं यह अर्थ है। यह 'अदोमयता' (वहमयता)

---

१. 'कर्म वा करणे शक्तिः' इति निर्णयसागरपाठः।

वासना कर्म विद्या च त्रयं जन्मप्रयोजकम्।
उक्तं तत्र प्रधानत्वं कर्मणः श्रूयते पुनः।।२३७।।
पूर्वकांडपरा इत्थं कर्मप्राधान्यमूचिरे।
अथ वेदान्तशास्त्रज्ञाः प्राहुः कामप्रधानताम्।।२३८।।
इत्येतद्विशदीकर्तुं स यथेत्युत्तरा श्रुतिः।
कामः क्रतुः कर्म जन्मेत्येषामेष क्रमो भवेत्।।२३९।।

का व्याख्यान हुआ, यह तथ्य परोक्ष है कि यहाँ के कर्म-उपासना भविष्य में फलेंगे अतः यह बात श्रुति ने बतायी। यथाकारी भी आत्मा का ही एक रूप है, यथाचारी भी तथा इससे 'साधु' या 'पाप' (अर्थात् पापी)ये भी आत्मा के ही रूप हैं जो फलावस्था में मिलेंगे।।२३६।।

विद्या (उपासना), कर्म और पूर्व प्रज्ञा (वासना)ये तीन परलोक ले जाने वाले कहे थे। इनमें वासना का महत्त्व श्रुति बता रही है 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः इति। स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत् कर्म कुरुते तद् अभिसम्पद्यते' (५)। पुरुष काममय है। जैसी कामना करता है वैसा संकल्प और वैसा ही कर्म करके वैसा ही फल पाता है। इस तरह कामना, वासना, पूर्वप्रज्ञा का महत्त्व स्पष्ट होता है। इस वाक्य को बताते हैं **वासना, कर्म और विद्या, तीनों को जन्म का हेतु बताया। पूर्वकाण्ड में तात्पर्य वाले मीमांसक कहते हैं कि इन तीनों में कर्म की प्रधानता श्रुतिकथित होने से कर्म ही प्रधान है। लेकिन वेदान्त शास्त्र के ज्ञाता कामना को प्रधान बताते हैं।।२३७-८।। यह विषय व्यक्त करने के लिये 'स यथा' इत्यादि वाक्य है। कामना, क्रतु (संकल्प), कर्म और जन्मयह क्रम है।।२३९।।** कामना वासनाधीन है। जिन चीज़ों की वासना न हो उनके प्रति कामना भी आकृष्ट नहीं होती। यद्यपि नवीन भोग काम्य बनते हैं तथापि उनके समान भोगों की वासना के कारण ही। जैसे दूसरों से बात करने की वासना है तभी उसके नवीन साधन दूरभाष की कामना हो जाती है। इस वासना को ही भगवान् कहीं-कहीं 'प्रकृति' कहते हैं (४.३३) और इसी का निग्रह अतिकठिन है। विवेक से ही प्रकृति पर विजय संभव है, हठ से तो कुछ काल बाद मौका मिलने पर प्रकृति अधिक बलवती होकर निग्रह का ध्वंस ही करती है। प्रकृति से ही कामना नियत है अतः वासना, प्रकृति, कामना, श्रद्धा (गी. १७. ३) आदि को प्रायः एकार्थक मान लेते हैं। कर्मकाण्डी कर्म को ही प्रधान मानते हैं,

रुचेरतिशयः काम्ये विषये क्रतुरीर्यते।
पाक्षिकं कर्म कामे स्यात् करोत्येव क्रतौ सति।।२४०।।
कामप्राधान्यदार्ढ्यार्थं मंत्रस्योदाहृतिः श्रुतौ।
लिंग्यते गम्यते सर्वं मनसाऽतोऽस्य लिंगता।।२४१।।

भावना को भी नहीं और वासना (कामना) को भी नहीं। उपासनाकाण्डी ज्ञान (उपासना) को ही प्रधान मानते हैं। भावना का ही महत्त्व बताते हैं, कर्म और वासना का नहीं। वेदान्तशास्त्र तीनों को हेतु मानते हुए भी कामना (वासना) को प्रधान मानता है। अत एव गायत्री मंत्र में 'धियः प्रचोदयात्' से बुद्धि को सही प्रेरणा मिले यही प्रार्थना करते हैं क्योंकि प्रेरणा ठीक मिल गयी तो आगे सारा क्रम उचित ही होगा। वासना, संस्कार बदलने से कामना बदलेगी जिससे क्रतु-कर्म भी बदलेंगे ही। अतः वासना की प्रधानता स्पष्ट है। वासना का प्रभाव यों स्पष्ट होता है कि आज से साठ वर्ष पूर्व उम्रदार आदमी के भी मन में यह विकल्प नहीं आता था कि पिता की आज्ञा नहीं भी मानी जा सकती है। न जँचने वाले कार्य भी लोग तत्परता से आज्ञा मानकर कर लेते थे। आज प्रौढ तो छोड़ो, बालक तक की वासना है कि पिता की बात न मानना निर्दोष है! इतना अंतर वासनाभेद से ही है।।२३७-६।।

काम-क्रतु-कर्म इनमें काम-कर्म प्रसिद्ध हैं, क्रतु शब्द का अर्थ बता देते हैं **कमनीय विषय में अत्यधिक रुचि क्रतु कही जाती है। कामना-मात्र से कर्म-प्रवृत्ति हो भी सकती है, नहीं भी, लेकिन क्रतु होने पर व्यक्ति तदनुसार कर्म अवश्य करता है।।२४०।।** कामना ही बढ़ जाने पर क्रतु हो जाती है। क्योंकि क्रतु में इतना वेग होता है कि फलभूत कर्म हो ही जाता है इसलिये इसे 'संकल्प' भी कहते हैं। 'करोति एव' इसलिये कहा कि क्रतु होकर भी व्यक्ति अपनी ओर से ही चेष्टा कर सकता है, कार्य सम्पन्न होना तो अनेक कारकों पर निर्भर रहता है।।२४०।।

उक्त अभिप्राय में अगला श्रुतिवचन योजित करते हैं **कामना की प्रधानता को दृढ स्थापित करने के लिये श्रुति में मंत्रों का उद्धरण है। सब कुछ मन से 'लिंग्यते' ग्रहण होता है इसलिये मन को 'लिंग' कहते हैं।।२४१।।** प्रायः ब्राह्मण में विस्तार से उपपादित विषय का मंत्र द्वारा संक्षेप उपस्थापित किया ही जाता है, वैसे ही यहाँ भी है। मंत्र है 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्।। तस्माल्लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानः।' अर्थात् लिंगरूप मन जहाँ आसक्त है वहीं जीव भी पहुँचता है

यः पुरा स्वप्नदृष्टांतात्परो लोको विवक्षितः ।
इति न्वित्युपसंहारं तदुक्तेः कृतवान्मुनिः ।।२४२।।
मुक्तिः सुषुप्तिदृष्टान्ताद् मुनिना या विवक्षिता ।
मुनिरारभते वक्तुं तामथेत्यादिवाक्यतः ।।२४३।।
पूर्वोक्तकामिवैषम्यम् अथशब्देन सूच्यते ।
कामी संसरतीत्युक्तं कामाभावे विमुच्यते ।।२४४।।
परमानंदरूपत्वम् आत्मनश्चेद् विबुध्यते ।
कुतः कामयते भोग्यं ततो बोधादकामता ।।२४५।।

क्योंकि वह भी उसी फल में सक्त है। जाता कर्मद्वारा है, यहाँ किये कर्मों का फल भोगने परलोक जाता है, भोगकर यहाँ लौट आता है और कर्म करने के लिये। लेकिन यह चक्र कामनावान् का ही है। इस मंत्र में मन को लिंग इसलिये कहा कि आत्मा हो या अनात्मा, सब जाने मन से ही जाते हैं। 'लिंग्यते' का भाष्य में 'अवगम्यते' अर्थ कहा है, उसी का यहाँ उल्लेख किया। अग्निका अवगम कराने वाले धूम को भी इसी तात्पर्य से लिंग कहते हैं। मन की आसक्तिवश ही परलोक में फलों का हम चयन करते हैं, मरकर उन्हीं फलों को पाते हैं।।२४१।।

स्वप्न-प्रसंग का उपसंहार बताते हैं **पहले स्वप्न के दृष्टांत से 'परलोक' बताया था उसके बोधन का समापन 'इति नु' कहकर याज्ञवल्क्य मुनि ने किया।।२४२।।** सकाम का ही इह पर लोकों में यातायात चलता रहता है जैसे जाग्रत्-स्वप्न में आना-जाना चलता रहता है। श्लोक ६७ में स्वप्न परलोक का सम्बन्ध कहा था एवं श्लोक १३६ में उपसंहार किया था। यहाँ मंत्र में उसी का विषय इंगित है।।२४२।।

आगे श्रुति है 'अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।।' (६)। आत्मैककाम होने से जो पूर्णकाम है अतः उससे सारी कामना निकल चुकी होने से अकाम है, कुछ नहीं चाहता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, ब्रह्म रहता हुआ ही वह ब्रह्म को पा जाता है। इस वचन का भाव स्पष्ट करते हैं **सुषुप्ति के दृष्टान्त से मुनि जिस मुक्ति का निरूपण करना चाहते रहे उसे 'अथ' इत्यादि वाक्य से कह रहे हैं।।२४३।। 'अथ' शब्द से सूचित किया कि पूर्वोक्त कामवान् से विलक्षण का कथन हो रहा है। कामवान् संसरण करता है यह कहा (अतः अर्थसिद्ध है कि) कामना न रहने पर मोक्ष है।।२४४।। यदि आत्मा की परमानन्दरूपता समझ**

बोधलभ्यमकामत्वं यथाकामेत्यसूत्रयत् ।
योऽकाम इत्यादिनैतत् सूत्रं विव्रियते स्फुटम् । ।२४६ । ।
योऽकामस्तस्य न प्राणा उत्क्रामन्तीति योजना ।
संसृतिः कामिनो यद्वदकामो मुच्यते तथा । ।२४७ । ।
दृष्टानुश्रविका बाह्यकामा यस्य न संत्यसौ ।
अकामस्तादृशत्वं तु निष्कामत्वेन सिध्यति । ।२४८ । ।
विभ्रमापादिताः कामाः प्रत्यक्तत्त्वविवेकिनः ।
यस्माद्विनिर्गताः सोऽयं निष्काम इति भण्यते । ।२४९ । ।

आ जाये तो भोगयोग्य विषय क्यों चाहेगा! इसलिये आत्मज्ञान से अकामता सहज है । ।२४५ । । 'अथाकामयमानः' से सूत्र बताया कि बोध से अकामता होती है । 'योऽकामः' इत्यादि से इसी सूत्र का स्पष्ट व्याख्यान श्रुति ने किया । ।२४६ । । पूर्व में सुषुप्ति का विस्तार से वर्णन इसीलिये किया था कि उसे मोक्ष के लिये सही उदाहरण माना था । अब दार्ष्टान्त मोक्ष का वर्णन करेंगे । मोक्षभाग् वही होगा जो सब कामनाओं से रहित है । थोड़ी भी कामना रही तो पूर्वप्रदर्शित गमनागमन की ही गति है, कामना सामप्त होने पर ही मोक्ष है । कामना ही रस्सी है जिससे जीव विषयों से बँधता है अतः कामना मिट जाने पर स्वतः मुक्त हो जाता है । कामना आनन्द की ही होती है । आनंद के लिये साधनों को चाहते हैं । अपना स्वरूप असीम आनन्द समझ आ जाये तो क्योंकि स्वरूप सदा प्राप्त है इसलिये सभी कामनाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं । अपनी परमानंदरूपता का अपरोक्ष होते ही कामना के योग्य कोई अनात्म विषय रह नहीं जाता । अतः ज्ञान ही कामनानिवारक है, मोक्षहेतु है । कामना उपाधिधर्म होने से आत्मा स्वयं को उपाधि से स्वतंत्र जानते ही कामना-रहित हो जाता है । ।२४३-६ । ।

श्रुत्यर्थ कहते हैं **जो अकाम है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करतेयह अन्वय है । जैसे कामनावान् का संसरण ही होता है वैसे अकाम का मोक्ष ही होता है । ।२४७ । । देखे-सुने बाह्य विषयों की जिसे कामनायें नहीं होतीं वह अकाम है । ऐसी स्थिति निष्कामता से प्राप्त होती है । ।२४८ । । कामनायें सारी केवल भ्रम से आ पाती हैं । प्रत्यगात्मरूप तत्त्व का जिसने यथाशास्त्र विवेचन कर लिया उसमें से सारी कामनाएँ निष्कासित हो जाती हैं अतः वह निष्काम कहलाता है । ।२४९ । । आप्तकाम होने से ही संभव है कि बुद्धि से सारी कामनाएँ निकल जायें । जिसे चाहते हैं वह जब तक मिल न जाये तब तक**

आप्तकामत्वतः सिद्ध्येद् बुद्धेः कामविनिर्गमः।
अप्राप्तौ काम्यमानस्य कामः क्वापि न निःसरेत्।।२५०।।
एवं सत्याप्तकामत्वं निःकामत्वस्य साधनम्।
कामाप्तौ त्वात्मकामत्वमेव हेतुर्न चेतरत्।।२५१।।
निरुपाधिपरानंद आत्मेति श्रुतिसंमतः।
आनन्दाः सर्वभूतानां तस्मिन्नन्तर्भवन्ति हि।।२५२।।
पुत्रादिजन्या आनंदा अपि तस्मिन्नवस्थिताः।
तथाविधात्मकामोय आप्तकामो भवेदयम्।।२५३।।

कामना समाप्त हो यह कभी संभव नहीं।।२५०।। यह परिस्थिति होने पर स्पष्ट है कि आप्तकामता निष्कामता का साधन है एवं कामपूर्त्ति में हेतु तो आत्मकामता ही है, अन्य कोई नहीं।।२५१।। 'उत्क्रमण' अर्थात् वर्तमान देह छोड़कर भावी देह के लिये जाना। मुक्त का जन्मान्तर न होने से उत्क्रमण का प्रयोजन नहीं है। उसके प्राण यहीं लीन हो जाते हैं। मुक्त होगा वही जिसे न लौकिक और न शास्त्रीय किसी भोग की कामना है। अकाम अर्थात् कामना है नहीं; निष्काम अर्थात् कामना निकल गयी। थोड़ा ही अंतर है। क्योंकि आत्मा-अनात्मा के स्वरूप और सम्बन्ध के बारे में भ्रम है इसी से कामना संभव है। मैं भोक्ता हूँयह भ्रम है, विषयभोग सुख देता हैयह दूसरा भ्रम है; इन्हीं पर कामना का दारोमदार टिका है। जब आत्मस्वरूप का स्पष्ट यथाप्रमाण अवबोध होता है तब भ्रम सहेतु मिट जाने से कामना स्वतः निवृत्त हो जाती है। विषयों को सत्त्य मानकर कामना कायम रहती है, जैसे ही पता चलता है कि वे हैं ही नहीं, वैसे ही कामना समाप्त हो जाती है। क्योंकि एक आत्मा ही पूर्ण है, त्रिविध परिच्छेदरहित है इसलिये उसी की कामना हो तभी संसार की, अनात्मा की, अपूर्ण की कामना निवृत्त हो। आत्मा हमेशा प्राप्त है अतः आत्मकाम की कामना हमेशा पूरी ही है। अनात्मकाम रहते कभी आप्तकामता अर्थात् समस्त कामनाओं की समग्र पूर्ति नहीं हो सकती। अतः मुक्त क्योंकि आत्मा से अन्य की कामना नहीं करता इसलिये पूर्णकाम है।।२४७-५१।।

आत्मा की आनंदरूपता के आधार पर निष्कामता से मोक्षलाभ संगत बताते हैं **सारी उपाधियों से रहित आत्मा परम आनन्द है यह वेद का सिद्धान्त है। सारे प्राणियों के आनन्द उसी में समाये हुए हैं।।२५२।। पुत्रादि से मिलने वाले आनंद भी उस आत्मा में विद्यमान हैं। ऐसे आत्मा की ही जिसे कामना रह जाये उसी की समस्त कामना पूरी होती है।।२५३।। ऐसा आप्तकाम (पूर्णकाम)**

य ईदृगाप्तकामो यः स निष्कामो भवेत्ततः।
निष्कामत्वादकामः सन्संसारात् प्रविमुच्यते।।२५४।।
उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य प्राणा अज्ञानबाधनात्।
नोत्क्रामन्ति न तिष्ठन्ति न च नश्यन्त्यहेतुतः।।२५५।।

निष्काम हो जाने से अकाम हुआ संसार से सर्वथा छूट जाता है।।२५४।। वेदानुसार उपाधि दुःख तो दे सकती है, सुख नहीं। सुख अकेले आत्मा का स्वभाव है। सुषुप्ति में यह सर्वानुभूत भी है। वहाँ अज्ञानरूप उपाधि होने से आनन्द का विशद बोध नहीं। मोक्ष में अज्ञान भी न रहने से वह कमी भी दूर हो जाती है। केवल आत्मा ही आनंद होने से सारे संसार के सुखों का उसी में समावेश है जैसे घटाद्याकाशों का आकाश में या प्रतिबिंबों का बिम्ब में समावेश (अंतर्भाव) होता है। जो जिसके बिना उपलब्ध न हो वह तद्रूप होता है, आनन्द मैं के बिना उपलब्ध न होने से मैंरूप ही है। मैं न होवूँ और आनन्द होवेयह असंभव है, अकल्पनीय है। अतः आनन्द मैंरूप ही संगत है। 'मैं' से देवदत्तादि विशेष नहीं वरन् प्रत्यगात्ममात्र विवक्षित है। मैं में ढूँढने से आनन्द ही मिलता है। यही उपाधिस्वतन्त्र परमानंद है, यही जब एकमात्र अभीष्ट समझ आ गया तब बाह्य अर्थात् अनात्म-विषयक कामना असंभव हो जाती है। आत्मा स्वरूप, सदा उपलब्ध है अतः ऐसा व्यक्ति आप्तकाम ही होगा। इसीलिये अनात्मकामनाएँ निकल चुकने से निष्काम एवं कोई अपूर्ण कामना न रहने से अकाम ही होगा। ऐसा साधक सिर्फ परमानन्दरूप परमात्मा को चाहता है, और कुछ चाहता नहीं, इसलिये उसे परमात्मा ही मिल जाता है, वह मुक्त ही हो जाता है। श्रुति ने अन्यत्र कहा है 'यमेवैष वृणुते' जो केवल परमात्मा को चाहे उसे परमात्मा मिल सकता है। अतः आत्मकाम ही मुक्त होता है।।२५२-४।। (यत् = यस्मात्।)

मुक्त के मरण की विलक्षणता बताते हैं **जिसे दृढतम तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न हो चुका उसका अज्ञान बाधित हो चुकने से उसके प्राण न उत्क्रमण करते हैं, न रह जाते हैं, न नष्ट ही होते हैं क्योंकि तीनों के प्रति कोई हेतु ही नहीं है!।।२५५।।** जैसे रस्सी जान चुकने पर साँप न सरक कर जाता है, न रहता है, न नष्ट ही होता है वैसे भावी फल देने वाले कर्म न होने से प्राण उत्क्रमण नहीं करते, प्रारब्ध नहीं होने से रहते नहीं, जिस उपादान में लीन होनारूप नाश उनका होता वह उपादान अज्ञान भी न रह जाने से प्राण नष्ट भी नहीं होतेयह अर्थ है। अतः हम लोगों के मरण से ज्ञानी का मरण विलक्षण है।।२५५।।

बंधस्य कल्पितत्वेन तन्मुक्तिरपि कल्पिता।
इत्यभिप्रायमाचष्टे ब्रह्मैवेत्यादिवाक्यतः।।२५६।।
अविद्याध्वस्तिमापेक्ष्य सम्यग्धीजन्ममात्रतः।
आत्मा ब्रह्मैव सन्साक्षाद् ब्रह्माप्येतीति सुस्थितम्।।२५७।।
इत्येतत्सर्ववेदान्तसर्वस्वं ब्राह्मणोदितम्।
अस्यैवार्थस्य दार्ढ्यार्थं मन्त्रोदाहरणं भवेत्।।२५८।।
कामिनः सर्वसंसारः पुरा मंत्रेण वर्णितः।
अकामस्य विमोक्षोऽत्र तथा मंत्रेण वर्ण्यते।।२५९।।

छठे वाक्य की अंतिम पंक्ति 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' समझाते हैं**बन्धन कल्पित होने से उससे छूटना भी कल्पित हैयह 'ब्रह्मैव' इत्यादि वाक्य से प्रकट अभिप्राय है।।२५६।। सही ज्ञान के केवल जन्म से हुई अविद्यानिवृत्ति की अपेक्षा से 'ब्रह्म को पा जाता है' ऐसा कहते-समझते हैं जबकि आत्मा साक्षात् (स्वयम्) ब्रह्म ही है।।२५७।।** कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान बंधन है, इसकी निवृत्ति मोक्ष है। बंधन वास्तविक नहीं, भ्रान्त अभिमान ही है। अतः बंधननिवृत्ति भी वास्तविक नहीं लेकिन प्रतीति के कारण मान्य होने से उसके मिटने को 'छूटना' समझना संगत है। आत्मस्वरूप तो अकल्पित सत्त्य है पर उसे मुक्त या छूटा समझना कल्पित है क्योंकि कल्पित बंध के आधार पर है। अतः 'ब्रह्मैव सन्' अर्थात् 'ब्रह्म ही रहते हुए' से सनातन ब्रह्मरूपता कही। सही ज्ञान अर्थात् अप्रतिबद्ध अखण्ड साक्षात्कार, उससे अविद्यानिवृत्ति होती है, इतने मात्र से 'ब्रह्म-प्राप्ति' ऐसा व्यवहार हो जाता है। जैसे गले की माला पीछे की ओर हो जाये तो 'खो गयी' और पता चलते ही 'मिल गयी' व्यवहार हो जाता है वैसे यहाँ जानना चाहिये। अखण्ड सच्चिदानन्द परमात्मा सदा एकरस है पर अज्ञानरूप मायावश नाना दीखते बंधनकारी हो गया है, तत्त्वबोध से अज्ञान मिटते ही बंधनकारी नहीं रह जाता, स्वाभाविक पूर्णरूप रहता है।।२५६-७।।

उक्त विषय उपनिषत् ने मंत्र से कहा 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते।।' इसका संग्रह करते हैं **इस तरह ब्राह्मण में सारे वेदान्त का सर्वस्व (मूल प्रतिपाद्य) बताया। इसी बात को पक्का करने के लिये मंत्र उद्धृत किया है।।२५८।। पूर्वमंत्र ('तदेव सक्तः' आदि) में बताया था कि कामी का ही सारा संसरण है। यहाँ मंत्र में वर्णन है कि अकाम का मोक्ष है।।२५९।। जीव के हृदय में स्थित सकल कामनाएँ जब छूट जाती**

पुंसो हृदि श्रिताः कामा मुच्यन्ते निखिला यदा।
तदानीममृतो भूत्वा ब्रह्मैवात्र समश्नुते।।२६०।।
ननु ब्रह्माश्नुतेऽत्रेति जीवतो मुक्तिरीरिता।
जीवंश्चेत् को विशेषोऽस्य बन्धान्मुक्ताववितीर्यताम्।।२६१।।
अभिमानः पूर्वमासीद्देहादावधुना तथा।
नास्तीत्यत्रातिविस्पष्टः सर्पदृष्टान्त उच्यते।।२६२।।

हैं तब वह अमर होकर यहीं ब्रह्मभाव पा जाता है।।२६०।। सर्वस्व अर्थात् समूची पूँजी। वेदांतशास्त्र एवं इसके साधक की समूची पूँजी एकमात्र परब्रह्म है, कोई अनात्मा नहीं। कामना रहते जन्म-जन्मान्तर का यातायात 'जातस्य हि ध्रुवः' न्याय से निश्चित है। अभी हम कामना 'अपनी' मानते हैं। वस्तुतः अभी भी वे 'हृदिश्रित' हृदय की, मन की ही हैं। मन न रहने पर सुषुप्ति में कामना का नामो-निशान नहीं रहता। कामना की बंधनरूपता प्रत्यक्षसिद्ध हैजिसे जिसकी कामना हो वही उस विषय से बँधता है जिसे उसकी कामना नहीं, उसे वह विषय बाँधता भी नहीं। अतः कामना बंधन है, कामनानिवृत्ति मोक्ष है। अत एव 'अत्र' यहीं, अभी ही मोक्ष है, किसी देशान्तर-कालान्तर में नहीं। होता हुआ भी कामना से तिरोहित है अतः उनके मिटने से होता हुआ लगता है।।२५८-६०।।

अगला श्रुति वाक्य कहता है कि जैसे साँप की केंचुली बिल में पड़ी रहती है ऐसे मुक्त का शरीर रह जाता है। इसका भाव व्यक्त करते हैं **'यहाँ ब्रह्मभाव पा जाता है' इससे जीवित अवस्था में मोक्ष बताया लेकिन मुक्त भी जीवित रहता है तो बताना चाहिये कि बंधावस्था की अपेक्षा मुक्ति में उसमें (मुक्त में) क्या फ़र्क़ है?।।२६१।। बंधावस्था में शरीरादि में उसे अभिमान था, अब (मोक्षदशा में) वैसा अभिमान नहीं हैयह फ़र्क़ है। इस बारे में बहुत सटीक साँप का उदाहरण बताया है।।२६२।।** जीवन्मुक्ति वेदान्तसंमत, विद्वदनुभूत स्थिति है जिसे तर्क से संभावित ही कर सकते हैं, तर्क स्तर पर उसकी चर्चा निर्णायक नहीं हो सकती। मुक्त जियेगा तो भूख-प्यास-ठंड आदि लगेगी, खायेगा-पियेगा-ओढेगा, यह सब शरीर में आत्मभाव के बिना कैसे संभव है, इच्छादि के बिना कैसे संभव है? इस पर विचार कर कुछ लोग इन अनुभूतियों व प्रवृत्तियों की भी समाप्ति भूमिकारोहण के रूप में समझाते हैं। प्रधान पक्ष यहाँ स्पष्ट किया कि 'तथाऽभिमानो नास्ति' बद्ध का देहादि में मिथ्याभिमान है जबकि मुक्त का वैसा नहीं। मुक्त का 'आहार्य अभिमान', 'बाधित

प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके।
नेति नेति स्वरूपत्वादशरीरो भवत्ययम्।।२६३।।
स्थूलदेहं परित्यज्य लिंगदेहयुतो यदि।
मृतस्तदा स्यान्न त्वेवममृतोऽसावतो भवेत्।।२६४।।

अभिमान', 'अभिमानाभास' आदि जो कुछ जीवनोपपादन के लिये ज़रूरी लगे, मान लें, लेकिन बद्ध-समान अभिमान नहीं होता। अतएव 'विद्वांस्तथाऽसक्तः' (३.२५) आदि गीतावचन भी समझ आ जाता है। साँप अपनी केंचुली छोड़ देता है तो भी वह दीखती साँप-सी है पर साँप है नहीं। पहले ज़रूर वह साँप थी। अब साँप भी उसे देखते हुए 'यह मैं हूँ' ऐसा नहीं समझता। उसके कटने-फटने से कुछ भी प्रभावित नहीं होता। इसी तरह अहंकार से देहपर्यन्त को 'मैं' समझने वाला बद्ध जब मुक्त होता है तब ये सब उपाधियाँ उसे यावज्जीवन उपलब्ध होने पर भी इनमें 'मैं'-बुद्धि नहीं होती। व्यवहारार्थ मैं शब्द इनके लिये बोल तो देता है लेकिन जानता है कि ये मैं हूँ नहीं। चिर अभ्यस्त वासना से व्यवहार की संगति तृप्तिदीप (श्लोक. २६२) में भी बतायी है। जीवन्मुक्ति में दैहिक क्रियाकलाप बंद होना ज़रूरी मानना निराधार है। शरीरादि के विकारों से चित्तवृत्तियों तक ही अनुमान हो सकता है, अभिमान का नहीं। इस प्रकार बद्ध-मुक्त में अभिमान का ही अन्तर है, स्वरूप तो बद्ध का भी ब्रह्म ही है।।२६१-२।।

अगला श्रुतिवाक्य है 'अथाऽयम् अशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव।' इसे समझाते हैं **प्रत्यगात्मा के ज्ञानरूप वह्नि से सकारण मिथ्याज्ञान के जल जाने पर यह आत्मा अशरीर रह जाता है क्योंकि इसका स्वरूप ही 'नेति नेति' है।।२६३।।** इति अर्थात् सभी दृश्य जहाँ नहीं वह आत्मा सदा अशरीर है लेकिन यह न जानते हुए भ्रम से शरीरादि को मैं समझे है। विवेक से जब समझ लेता है कि सच्चिदानन्द जो आत्म-रूप हैं उनसे विहीन दृश्य नाम-रूप, शरीरादि हैं ही नहीं तो ये मैं कैसे हो सकते हैं! तब वास्तविक प्रत्यक्चैतन्य पर एकाग्र रहकर अन्यत्र आत्मबुद्धिरूप भ्रम जला डालता है जिससे अपनी सच्ची अशरीरता व्यक्त हो जाती है।।२६३।।

अशरीर से वर्त्तमानदेहराहित्य बताकर अमृत से भाविदेह-राहित्य समझाते हैं **स्थूल देह छोड़कर अगर सूक्ष्म देह (पुर्यष्टक) से सम्बद्ध रहता तब 'मरा' कहलाता लेकिन मुक्त यों सूक्ष्म से भी युक्त होता नहीं अतः वह अमृत है।।२६४।।** मरणप्रक्रिया बता चुके हैं, उसमें सूक्ष्मवान् रहना पड़ता है। तीनों शरीर छोड़ चुका विद्वान् मर भी नहीं सकता!।।२६४।।

प्रकृष्टचेष्टाहेतुत्वात् साक्ष्युक्तः प्राणशब्दतः ।
को ह्येवान्यादिति प्रोक्तं चेष्टाहेतुत्वमात्मनः ।।२६५।।
साक्षिणो ब्रह्मरूपत्वं ब्रह्मैवेत्यभिधीयते ।
संसर्गशंकानुत्त्यर्थमेवकारः प्रयुज्यते ।।२६६।।
संयोगः समवायो वा नैव ब्रह्मात्मनोरिह ।
अखण्डैकरसत्वं तु भवतीति विवक्षितम् ।।२६७।।
तदेव विशदीकर्तुं तेज एवेत्युदीर्यते ।
चैतन्यं तेज इत्युक्तं तच्चैकमुभयोरपि ।।२६८।।

श्रुति में मुक्त को प्राण क्यों कहा, यह बताते हैं **चेष्टाओं का मूल हेतु होने से साक्षी प्राण-शब्द से कहा गया है। आत्मा चेष्टाओं का हेतु है यह 'कौन अनन करता' आदि श्रुति में कहा है।।२६५।।** क्रिया प्राणों से होने पर भी प्राण जड होने से स्वयं सचेष्ट न हो सकने से आत्मा के ही बल पर सचेष्ट होते हैं जैसे मन आत्मा के ही बल पर सज्ञान होता है। आत्मा साक्षी न हो तो प्राण चेष्टा न करे जैसे ईट-पत्थर नहीं करते। आत्मा कोई चेष्टा किये बिना अपने प्रभाव से सारी चेष्टाएँ करा लेता है। अगर आत्मा भी चेष्टा करता तो उसकी चेष्टा भी अन्याधीन हो जाती! अतः चेष्टा का मुख्य मूल निश्चेष्ट होना ही उचित है। 'बिना हिले हिलाने वाला' आदि पाश्चात्य दार्शनिक भी परमात्मा को बताते हैं। सूर्य किसी से कुछ करने को कहता नहीं फिर भी सूर्य की मौजूदगी में सब अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं, ऐसे ही आत्मा के होने से ही सारी उपाधियाँ अपनी चेष्टाएँ करती रहती हैं। वह साक्षी है इसी से सारी चेष्टाएँ हो रही हैं अतः उसे चेष्टा का प्रकृष्ट हेतु बताया। उदाहृत श्रुति तैत्तिरीय २.७.१ में है 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' कि आनंदरूप व्यापक परमात्मा न होता तो प्राणनादि चेष्टाएँ कौन करता!।।२६५।।

'प्राणो ब्रह्मैव' आदि समझाते हैं **साक्षी ब्रह्मात्मक है यह 'ब्रह्मैव' से कहा। ब्रह्म और साक्षी अलग लेकिन परस्पर सम्बद्ध होंगेइस शंका को हटाने के लिये एव-शब्द (ही-शब्द) का प्रयोग किया।।२६६।। ब्रह्म और साक्षी आत्मा में परस्पर संयोग-समवायादि सम्बन्ध नहीं हैं, इनकी तो अखण्ड एकरसता हैयह तात्पर्य है।।२६७।। इसे ही स्पष्ट करने के लिये 'तेज एव' कहा : तेज-शब्द से चैतन्य को कहा, साक्षी व ब्रह्म में चैतन्य एक ही है।।२६८।। चैतन्य से अतिरिक्त अविद्यादिकी निवृत्ति भी नहीं हैऐसा भाव 'तेज एव' में प्रयुक्त एव**

अविद्यादिनिवृत्तिश्च चैतन्यव्यतिरेकतः ।
नास्तीत्येवमभिप्राय एवकारेण सूच्यते ।।२६६ ।।

शब्द का है ।।२६६ ।। अंशादिरूप जीव स्वीकारने वाले मतों के निरासार्थ एव शब्द है। भेदाभेदादि वाद काफी पुराने हैं, उन्हीं के विभिन्न संस्करण शैव-वैष्णव आदि प्रचलित हैं। द्वैतियों से पृथक् ये विचारक जीव को ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं मानते इतना तो ठीक लेकिन फिर भी किसी-न-किसी तरह का दोनों में फ़र्क़ समझते हैं जिसे निवृत्त करने के लिये एव कहा। जब फ़र्क़ है तो दोनों में कोई सम्बन्ध भी होगा। भगवान् वैकुण्ठ में हैं, हम वहाँ पहुँचकर उनके चरण स्पर्श करेंगे तो उनसे संयोग होगायह एक तरह का संबंध मानते हैं। इससे सूक्ष्म है समवाय जैसे शरीर और हाथ-पैर आदि का आपसी सम्बन्ध है। जाति जैसे सब व्यक्तियों में है वैसे सब जीवों में ईश्वर है इत्यादि समवाय सम्बन्ध बताने के ढंग हैं। किन्तु उपनिषत् का सिद्धांत है कि सर्वथा अभेद होने से ऐसा कोई सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है! साक्षी और ब्रह्म केवल शब्दों में भेद है, अर्थ में नहीं। चिन्मात्रस्वरूप की एकरसता ही अद्वैत का ख्यापन करती है। इसीलिये प्राण शब्द से कहे साक्षी की चित्स्वरूपता 'तेज' शब्द से कही जिसे ज्योतिर्ब्राह्मण में समझा चुके हैं। परिवर्तन किये बिना प्रकट करनायह भौतिक प्रकाश और ज्ञान में समानता होने से ज्ञान को तेज कहते हैं। यद्यपि शरीर की एक आभाविशेष होती है जो दैवी संपत्तिशालियों में अधिक होना उचित है तथापि जब सनातनी 'तेजस्वी' कहता है तब वह दिव्य ज्ञान के अभिप्राय से ही है, भौतिक प्रकाश के अभिप्राय से नहीं। 'उभयोः' से औपाधिक भेद का अनुवादकर 'एकम्' से स्वाभाविक अभेद का विधान है एवं स्वभाव का 'चैतन्यम्' से स्वरूपोल्लेख है। क्योंकि स्वरूप ही वस्तुभूत अद्वैत है इसलिये अविद्यानिवृत्ति भी उससे अलग नहीं अर्थात् तत्त्वज्ञान से होने वाला अज्ञाननाशरूप कोई अभाव पदार्थ आत्मा से पृथक् नहीं रह जाता। 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'यह सिद्धांत है, अज्ञान स्वयं कल्पित है अतः उसका नाश अधिष्ठान आत्मा ही हो सकता है। अभाव से भी जीव-ईश का विभाग संभव हैएक नित्यमुक्त है, दूसरा सादिमुक्त है। जैसे एक कभी जेल गया ही नहीं, अभियुक्त ही नहीं बना, और दूसरा जो जेल से छूट आया; इस समय तो दोनों छूटे हैं लेकिन दोनों में अंतर है ही और वह यही है कि दूसरे के साथ 'छूटा हुआ' अर्थात् सजा-पूर्तिरूप दण्डध्वंस विशेषण है। ऐसे ही जीव-ब्रह्म भले ही बाकी मायनों में एक हों लेकिन अभाव के निमित्त से दोनों में अंतर रह जायेगा। भावाद्वैती अर्थात् भावभूत कुछ द्वैत वास्तविक नहीं है, अभावभूत तो हैऐसा मानने वालों का यही कहना है। किन्तु

तत्त्वविद्यारसाकृष्टः श्रोतुं वांछति संग्रहात्।
साधनान्यपि विद्यायाः श्रोतुमिच्छति भूपतिः।।२७०।।
एतत्सर्वं विवक्षुः सन्मुनिः संग्रहरूपिणः।
श्लोकानुदाहरत्तत्र ज्ञानमार्गमिमं जगौ।।२७१।।

आचार्य शंकर ने जगह-जगह स्पष्ट किया कि कैसा भी द्वैत श्रुतिसंमत नहीं अतः यहाँ अविद्यानिवृत्ति भी चिद्रूप ही है यह कहा। 'आदि' से अविद्या के कार्य बंधनादि समझने चाहिये। यद्यपि अविद्यानिवृत्ति कैसी हैइस पर वेदान्ताचार्यों ने अनेक संभावनाएँ व्यक्त की हैं तथापि मूल सिद्धांत यहाँ बता दिया कि परमात्मा से पृथक् वह कुछ भी नहीं है।।२६६-९।।

महर्षि याज्ञवल्क्य के इस सविस्तर उपदेश के बाद जनक ने 'सोहं भगवते सहस्रं ददामि' इतना ही कहा, पहले की तरह 'मोक्षोपयोगी उपदेश दीजिये' ऐसा भी नहीं कहा तथा दक्षिणा में कोई विशेष भी नहीं किया जिससे उसकी पूर्ण सन्तुष्टि व्यक्त हो। उसकी ऐसी प्रवृत्ति का अभिप्राय बताते हैं **तत्त्व की विद्या के रस के आकर्षणवश भूपति श्रवण करते ही रहना चाहता है। किंच संक्षेप में विद्या के साधन भी सुनना चाहता है।।२७०।।** ज्ञान में तो रस है ही लेकिन मुमुक्षु को तत्त्व-वर्णन सुनने में भी रस ही आता है। जनक सुनने से विरत नहीं हुआ अतः सामान्य दक्षिणा कही, तत्त्वावगम हो चुकने से 'विमोक्षायैव ब्रूहि' नहीं कहा। इतना ही नहीं, उसे यह भी जानने की इच्छा थी कि तत्त्वबोध के साधन क्या हैं। यद्यपि पहले राजा के सामने ही कहोल (३.५) को विद्यासाधन बताये थे तथापि 'संग्रहात्' सारे साधन इकट्ठे सुनना चाहता है, वहाँ मुख्य साधन कहकर बाकी केवल इंगित थे। इसलिये आगे का ग्रंथ साधन-प्रधान है। विद्यारसिकता के कारण ही साधन-जिज्ञासा है, रसिक ही साध्य उपलब्धि के लिये यत्नशील होता है। यद्यपि जनक को तत्त्वबोध हो गया था तथापि रसिक जैसे अन्यों को भी रस चखाना चाहता है वैसे जनक सभी के उपयोगी साधन पूछ रहा है ताकि अयोग्य को भी योग्य बनाकर रसपान कराया जा सके। विद्या के परिपाक में भी साधनों का उपयोग होने से राजा की जिज्ञासा संगत है।।२७०।।

सहस्रदक्षिणा सुनकर एवं जनक की भावना समझकर मुनि ने चौदह श्लोकों (मंत्रों) द्वारा तथा फिर ब्राह्मण द्वारा संग्रहपूर्वक साधनोपदेश दिया जिसे ग्रंथकार समझाना शुरू करते हैं **यह सब बताना चाहते हुए याज्ञवल्क्य ने संग्रहरूपी श्लोक उद्धृत किये जिनमें यह ज्ञान-मार्ग बताया।।२७१।।** 'उद्धृत' से ज़रूरी नहीं कि अन्यत्र प्रसिद्ध

श्लोकेनाद्येन यः पंथाः प्रोक्तस्तस्मिन् मतान्तरम् ।
उपन्यस्याथ सिद्धान्तं प्राह श्लोकान्तरेण सः ।।२७२ ।।
ब्रह्मविन्मुक्तिमाप्नोति तेन बोधात्मना पथा ।
पुण्यकृत्तैजसश्चादौ भूत्वाऽथ ब्रह्मविद्भवेत् ।।२७३ ।।
तेजःशब्देन संशुद्धा बुद्धिरेवाभिधीयते ।
पुण्ये कृते बुद्धिशुद्धौ विद्या स्यात्स्मर्यते तथा ।।२७४ ।।

श्लोक सुनाये हों, यही अर्थ है कि मन्त्रबद्ध उपदेश दिया। ये मंत्र संग्रहरूपी हैं अर्थात् अनेक रहस्य इकट्ठे कर निरूपण करने वाले हैं। 'यह' अर्थात् पूर्व में सूचित एवं आगे बताया जाने वाला।।२७१।।

पहला मंत्र 'अणुः पन्था' (४.४.८) आदि है जिसमें धीरों के जाने लायक बारीक लम्बा पुराना रास्ता बताया गया है जो मोक्ष तक पहुँचाता है। इससे सम्बन्ध जोड़ते हुए दूसरे मंत्र का भाव बताते हैं **पहले श्लोक से बताये रास्ते के बारे में मतान्तर व्यक्तकर दूसरे श्लोक से तत्सम्बन्धी सिद्धान्त मुनि ने बताया।।२७२।।** ज्ञानमार्ग निष्काम या ईश्वरार्पण कर्म से प्रारंभ होता है जिसमें वैराग्य एक मुख्य मुकाम आता है जिसके बाद ही शमादि सहित श्रवणादि के कदम लिये जा सकते हैं। अतः रास्ता लम्बा है। विवेकी तो मानते हैं कि काम्य कर्म भी यदि शास्त्रानुसार ही किये जायें तो क्योंकि तदन्तर्गत वेदादिवचनों को कहा सुना समझा जायेगा इसलिये शनैः-शनैः 'कामनाओं से परे भी कुछ है' यह विचार अवश्य जगेगा जो लौकिक उपायों से कामनापूर्ति करने से नहीं होगा। इस मार्ग में मतान्तर है कि परमात्मा सगुण है। नाडियों में चित्त रहते विभिन्न गुणों की अनुभूति होती है, उनसे वास्तव में सम्बद्ध ही परमात्मा का स्वरूप हैयह भ्रम मतांतर है जिसे स्वयं याज्ञवल्क्य ने ग़लत समझाया। नौवें वाक्यरूप मंत्र की पहली अर्धाली मतांतर और दूसरी सिद्धांत बताती है।।२७२।।

नौवे की अंतिम पंक्ति 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च' का अर्थ कहते हैं **उस ज्ञानरूप रास्ते से ब्रह्मज्ञ मोक्ष पाते हैं। पहले पुण्यकारी और तेजस्वी होकर तब ब्रह्मज्ञानी हुआ जाता है।।२७३।। ('तेजस्वी' में) तेज-शब्द से संशुद्ध बुद्धि ही कही गयी है। पुण्य करने पर बुद्धि शुद्ध होती है तब विद्या का आविर्भाव होता है। ऐसा ही स्मृतियों में भी प्रसिद्ध है।।२७४।।** जैसा निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म है वैसा ही उसका अनुभव हो, वह ब्रह्मज्ञान है जिससे मुक्ति होती है। क्योंकि वास्तव में ब्रह्म सोपाधिक है नहीं इसलिये सोपाधिक ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष भी नहीं। ज्ञान ही मोक्ष का

यत्पुण्यं बुद्धिशुद्ध्यर्थं यो योगश्चात्मबोधकृत्।
श्लोके द्वितीये तौ प्रोक्तौ तृतीये त्वन्यथोच्यते।।२७५।।
यत्काम्यं कर्मयोगश्च योऽणिमादिप्रदो द्वयम्।
तत्संसारस्यैव हेतुर्न मुक्तावुपयुज्यते।।२७६।।

रास्ता है। 'ज्ञान' से अखण्ड साक्षात्कार मुख्य अर्थ है तथा 'एजज्ज्ञानम्' (१३.११) में बताया संग्रह गौण अर्थ है, दोनों यहाँ अभिप्रेत हैं। यथावस्तु प्रकाश यह ज्ञान का प्रधान भाव ही मुख्य मार्ग है, उस तक पहुँचाने वाले उपाय गौण ज्ञान हैं। जैसे शत्रु-मित्र आदि भाव से व्यक्ति को देखने पर ठीक ज्ञान नहीं हो पाता, उन भावों से रंजित ज्ञान ही होता है, ऐसे ही परमात्मा के साथ भी कोई संबंध जोड़ते हैं तो जैसा परमात्मा है वैसा ज्ञान नहीं हो पायेगा। 'मल्लानामशनिः' आदि भागवत में यह प्रसिद्ध है कि केवल योगी ही श्रीकृष्ण को परतत्त्व देख पाये, बाकी सब तो अपने संबंधों से रंजित हो अन्यथा-अन्यथा ही देखते रह गये। अन्य साधना-पद्धतियाँ ज़ोर देती हैं परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़ने पर ताकि भावना में तेज़ी आये लेकिन वेदान्त ज़ोर देता है सम्बन्ध हटाने पर ताकि यथावस्तु समझ आये! ईशोपनिषत् में भी सत्य के अपावरण की प्रार्थन की गयी है। पुण्य अर्थात् ईश्वरार्पित नित्यादि अनुष्ठान से ही ऐसी जिज्ञासा संभव है जब चित्त में तेज अर्थात् वैराग्यादिरूप शुद्धि आ जाये। चित्त स्वभाव से सात्त्विक है क्योंकि भूतों के सत्त्वांश का कार्य है, लेकिन रजः तमः से प्रच्छादित है। पुण्यों से वह प्रच्छादन दूर होने पर स्वाभाविक सात्त्विकता में तथ्य का सही प्रकाश हो जाता है। रागादि से प्रवृत्ति के बजाये धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति करने पर रागादि क्षीण होना स्वाभाविक है। मन के अनुसार चलते रहें तो रागादि कभी दूर नहीं होंगे। हमें क्या अच्छा लगता हैइसे छोड़कर केवल शास्त्र का अनुसरण करें तभी रागादि दूर होंगे। यहाँ सूचित स्मृति 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (शांतिपर्व २०४.८) आदि प्रसिद्ध है। तेजस्विता जैसे पुण्य कर्मों से आती है वैसे उपासना से भी आती है। वह भी मानस कर्म ही है अतः यहाँ पृथक् उल्लेख नहीं किया।।२७३-४।।

दसवाँ वाक्य 'अन्धं तमः' आदि मन्त्र है, उसका उल्लेख करते हैं **दूसरे श्लोक में बुद्धिशुद्धि में हेतुभूत पुण्य और आत्मज्ञान कराने वाले योग का कथन किया। तीसरे श्लोक में पूर्वोक्तकी अपेक्षा अन्य तरह के अनुष्ठान बताये।।२७५।। कामनापूर्ति के लिये किये कर्म तथा अणिमादि सिद्धि देने वाला योगये दोनों संसरण के ही हेतु हैं, मोक्ष के लिये इनका कोई उपयोग नहीं।।२७६।।** योग का एक रूप भक्ति है। ईश्वरप्रणिधान का योगसूत्रादि में ही महत्त्व बताया गया है। दूसरा

युज्यते मुक्त्यभावोऽयं तत्त्वबोधविवर्जनात्।
जन्मप्रवाह एवातश्चतुर्थे श्लोक ईर्यते।।२७७।।
ब्रह्मावबोधयुक्तानां निःशेषो दुःखसंक्षयः।
श्लोकेन पंचमेनात्र विस्पष्टमभिधीयते।।२७८।।
न दुःखक्षय एवास्य किंतु विश्वस्य कर्तृता।
सर्वलोकात्मता चेति षष्ठे श्लोक उदीर्यते।।२७९।।

रूप सिद्धिलाभार्थ की जाने वाली साधना है। पहले का ज्ञान में विनियोग है, दूसरे का नहीं। स्वर्गादि चाहे-जिस लोक ले जायें, जो काम्य कर्म एवं उपसिनाएँ हैं वे संसरण में ही भटकाते रहेंगे, इससे छुड़ायेंगे नहीं। मोक्षार्थ कर्म-उपासना ही ज्ञानसाधन हैं। उपनिषत् के श्लोकों के पदशः व्याख्यान में यहाँ आचार्य प्रवृत्त नहीं, उनका प्रधान सूचितार्थ बता रहे हैं।।२७५-६।।

ग्यारहवें वाक्य का अर्थ बताते हैं **यह सर्वानुभवसिद्ध मोक्ष का अभाव (बंधन) तत्त्वज्ञान न होने से रहना युक्तियुक्त है। अज्ञान से जन्मों का प्रवाह होता ही रहता है। यह चौथे श्लोक में कहा।।२७७।।** तत्त्व का स्वरूप और उससे अपना अभेदइन दोनों को न जानना तथा जगत् को सत्य और स्वयं को कर्त्ता-भोक्ता जानना यही परिस्थिति बंधन के लिये उपयुक्त है। तत्त्व का भी आपात ज्ञान या परोक्ष ज्ञान या अदृढ अपरोक्ष ज्ञान इस बंधन से नहीं छुड़ायेगा वरन् दृढ अपरोक्ष ही छुड़ायेगा।।२७७।।

बारहवें वाक्य की व्याख्या पंचदशी में एक समूचा प्रकरण ही है! ज्ञानफलदर्शक उस मंत्र का भाव व्यक्त करते हैं **इसी प्रसंग में पाँचवें श्लोक द्वारा बताया कि ब्रह्म के अनुभव से सम्पन्न मुक्तों के सारे दुःख यहीं ऐसे क्षीण हो जाते हैं कि उनका कोई अवशेष नहीं रह जाता।।२७८।।** बाध का मतलब कारण समेत कार्य-नाश बताया गया है। दुःख तो सभी के समाप्त होते हैं पर कारण अविद्या बची रहने से नये-नये दुःख उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञानी के दुःखों का बाध हो जाने से अब दुःख के मायने ही समाप्त हैं। 'अत्र' का 'संक्षयः' से भी संबंध है। अर्थात् जीवितकाल में ही दुःख ख़त्म हो जाते हैं। दूसरों को तो मुक्त के शरीर-मन के कष्ट दीखते हैं, उनसे उसका तादात्म्य है नहीं अतः उसके कोई दुःख नहीं, यह अन्यत्र विस्तार से बताया गया है।।२७८।।

तेरहवें वाक्य में भावरूप से मोक्ष दशा कही यह सूचित करते हैं **तत्त्वज्ञ के केवल दुःख ही क्षीण नहीं होते किन्तु वही विश्व का कर्त्ता एवं सारे लोकों का आत्मा हो जाता है। यह छठे श्लोक में बताया।।२७९।।** 'मुझ में ही सब उत्पन्न,

शास्त्राधिकारयुक्तेऽस्मिन् देहे विद्यात्परं पदम्।
अन्यथाऽनर्थ इत्येवं सप्तमे श्लोक ईर्यते।।२८०।।
गर्भप्रवेशादिरूपा जुगुप्सा नात्मवेदिनः।
इत्येषोऽर्थोऽष्टमे श्लोके विस्पष्टमभिधीयते।।२८१।।
निःशेषविक्रियाहेतुकालातिक्रमहेतुतः।
देवैरुपास्य इत्येतन्नवमे श्लोक उच्यते।।२८२।।

प्रतिष्ठित और विलीयमान है' ऐसे मुक्तानुभव से स्थिर होता है कि स्वयं को वह ईश्वर से अन्य कुछ भी नहीं जानता। 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः' आदि ईशवाक्य (७) इस विषय में स्पष्ट है। जगद्रचनादि क्यों नहीं करता? इत्यादि प्रश्न निरर्थक हैं क्योंकि ईश्वरात्मना वह जगद्रचनादि कर ही रहा है।।२७९।।

चौदहवें वाक्य में तत्त्वबोध की तत्काल आवश्यकता कही है, उसे दिखाते हैं **शास्त्रों में अधिकार से सम्पन्न इस शरीर में परम पद समझ लेना चाहिये। यदि ऐसा न किया तो अनर्थ ही कायम रहेगा। यह बात सातवें श्लोक में समझायी है।।२८०।।** पश्वादि शरीरों में शास्त्र सुन समझ नहीं सकते, तदनुसार साधन नहीं कर सकते। ईश्वरकृपा से मानव जन्म मिला, शास्त्र मिले, उन्हें पढ़ने-समझने की सामर्थ्य मिली तो उसका उपयोग कर कर्म-उपासना-भक्ति पूर्वक ज्ञान पाकर मोक्ष हासिल करने में ही बुद्धिमानी है अन्यथा ऐसा मौका दुर्लभ है। ग़ैर मनुष्य उत्तम शरीरों में ज्ञानाधिकार होने पर भी कर्माधिकार के अभाव में भोगाधिक्य रहते वैराग्योत्पादक निष्काम कर्म न कर सकने से ज्ञान होना है कठिन।।२८०।।

मुक्त के पुनर्जन्म के निषेधक पंद्रहवें वाक्य का अर्थ कहते हैं **आत्मवेत्ता को गर्भ-प्रवेशादि घृणित स्थिति में नहीं रहना पड़तायह बात आठवें श्लोक में साफ़-साफ़ कही है।।२८१।।** भूत-भव्य के ईश्वर देव को आत्मा जानने वाले को जन्मादि नहीं लेना पड़ता। श्रुति के अनुसार गर्भवासादि संसार ही जुगुप्सा, घृणा के योग्य है अतः इसी से बचने में चतुराई है। आत्मबोध के बिना केवल सुअर के गोबर से बचकर भैंस के गोबर में पैर डालने की तरह सारी ऐहिक-आमुष्मिक चेष्टाएँ हैं, यह भाव है।।२८१।।

मुक्त की ब्रह्मरूपता सर्वश्रेष्ठ बताने वाले सोलहवें वाक्य का कथन करते हैं **सारे विकारों के हेतुभूत कालको भी लाँघा होने से ब्रह्म सब देवताओं का उपास्य है। यह नौवें श्लोक में कहा है।।२८२।।** काल ब्रह्म से प्रकट है अतः ब्रह्म

चेतनाचेतनाधार आत्माऽस्य ब्रह्मतोचिता।
इति दर्शयितुं श्लोकं दशमं श्रुतिरब्रवीत्।।२८३।।
प्राणादिसंघ आत्मा स्यादेतस्य ब्रह्मता कथम्।
इत्याशंक्योत्तरं श्लोक एकादश उदीर्यते।।२८४।।
तस्यास्य दर्शनोपायः कः स्यादित्यभिचोदिते।
श्लोकेन द्वादशेनाह मनसैवेति निर्णयम्।।२८५।।

कालातीत है। विकार काल से ही संभव है, काल बीतने से ही परिवर्तन हो सकता है। काल से अतीत ब्रह्म अविकारी ही है। देवता विकारी हैं, काल के अन्तःपाती हैं। अतः वे ब्रह्म की उपासना करते हैं। उपास्य के अनुरूप उपासक बन जाता है अतः काल के अतिक्रमण के लिये ही वे ब्रह्म की उपासना करते हैं। ब्रह्मज्ञ क्योंकि ब्रह्म ही है इसलिये यह उपासना उसी की हो जाती है।।२८२।।

सत्रहवाँ वाक्य सर्वाधार के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादक समझाते हैं **चेतन-अचेतन के आधर आत्मा का ब्रह्म होना ही संगत हैयह दिखाने के लिये दसवाँ श्लोक श्रुति ने कहा।।२८३।।** अहंकार से शरीरपर्यन्त चेतन जगत् क्योंकि वहाँ चिद्रूपताका अध्यास है, बाकी सारा अचेतन जगत् क्योंकि वहाँ सद्रूपता का ही अध्यास है, चिद्रूपता का नहीं। दोनों तरह के संसार का आधार आत्मा ही है अतः वही ब्रह्म है। इस सत्रहवें वाक्य पर एक पूरा अधिकरण (ब्र. सू. १.४.३.११-१३) विचार करता है। 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति' (ईश०६) आदि शास्त्र इसमें सार्थक है।।२८३।।

अठारहवें मंत्र का भाव व्यक्त करते हैं **प्राण आदि का समुदाय आत्मा है, यह ब्रह्म कैसे? यह प्रश्न होने पर ग्यारहवें श्लोक में उत्तर दिया है।।२८४।।** अविवेकी अहंकार से देहपर्यन्त उपाधियों के संघात को आत्मा समझता है अतः उसे शंका होती है कि इस आत्मा को शास्त्र ब्रह्म कैसे कहता है? उत्तर में उपनिषत् ने समझाया कि प्राण नहीं वरन् जिसके बल पर प्राण प्राण है, जिसके बल से चक्षु चक्षु है, जिससे सामर्थ्य पाया श्रोत्र भी श्रोत्र और मन मन है, उस सनातन स्वतःस्फूर्त्त तत्त्व को आत्मा कहते हैं। उपाधि-संघात नहीं वरन् इसका साक्षी आत्मा है जो ब्रह्म है।।२८४।।

उन्नीसवें वाक्य का अर्थ बताते हैं **ऐसे इस आत्मा के दर्शन का उपाय क्या? यह पूछा जाने पर बारहवें श्लोक से निर्णीत उत्तर बताया कि मन ही उपाय है।।२८५।।** बंधन और मोक्ष दोनों का साधन मन है। साँप भी तभी दीखता है जब मन कार्य करे हालाँकि आधा-अधूरा करे; रस्सी भी मन से ही दीखती है। शास्त्राचार्योपदेश

अत्यन्तभेदाभावेऽपि भेदाभेदौ तयोरिति।
मतं वारयितुं श्लोकस्त्रयोदश इहोच्यते।।२८६।।
बोधादूर्ध्वं च कर्तव्यमस्तीत्याशंक्य वार्यते।
चतुर्दशेन श्लोकेन संग्रहोऽत्र समाप्यते।।२८७।।

से बिना संस्कार पये मन बंधन में हेतु है, संस्कृत मन मोक्ष में हेतु है। संस्कृत मन वेदमंत्रों का अर्थ समझता है परमात्मा, जबकि असंस्कारी उन्हीं से जगत् की विशेषताएँ, उपयोगिताएँ ढूँढता रहता है। कर्मकाण्ड के मंत्र भी वर्णन परमेश्वर का करते हैं लेकिन असंस्कारी को वे केवल विनियुक्त के रूप में ही सार्थक समझ आते हैं यह उनका दुर्भाग्य है। शुद्ध, नीराग, विवेकशील मन वेदप्रकाश में अद्वय वस्तु देख पाता है, प्रतीयमान नाना का सर्वथा निषेध कर पाता है।।२८५।।

बीसवाँ वाक्य अद्वैत का प्रतिपादक है। उसका उपन्यास करते हैं **जीव-ब्रह्म में अत्यंत भेद न होने पर भी भेद-अभेद दोनों होंगे? इस मत के वारण के लिये तेरहवाँ श्लोक है।।२८६।।** प्रायः मान्यता है कि जीव सर्वथा अलग वस्तु है, ब्रह्म सर्वथा अलग वस्तु है। इसकी अपेक्षा सूक्ष्म मान्यता है कि इनमें भेद होने पर भी किसी तरह का अभेद भी है। इस मत के अनेक संस्करण हैं। कोई बंध में भेद, मोक्ष में अभेद कहते हैं। कोई शरीरी की तरह ब्रह्म और उसके शरीर की तरह जीवयों दोनों का भेद-अभेद साथ-साथ और सनातन कहते हैं। आश्मरथ्य एवं औडुलोमि के मतों का भी यहाँ परामर्श कर लेना चाहिये जिन्हें सूत्रभाष्य (१.४.६.१९-२२) में संग्रह किया है। भेद तो असंगत है ही, भेदाभेद भी असंगत है यह 'एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।' इस बीसवें वाक्य से बताया। मटमैला दीखता हुआ भी आकाश जैसे निर्मल है वैसे भेद दीखते काल में भी आत्मा अभिन्न है।।२८६।।

इक्कीसवाँ श्लोक विद्वत्संन्यासपरक समझाते हैं **आत्मबोध के बाद भी क्या कोई कर्त्तव्य रह जाता है? इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर चौदहवें श्लोक द्वारा दिया गया है। मंत्रों द्वारा किया संग्रह यहाँ पूरा हुआ।।२८७।।** मंत्र है 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायेद् बहूञ्शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।।' एकमात्र आत्मा को समझकर बुद्धिमान् ब्राह्मण सिर्फ़ प्रज्ञा करे, बहुत्व की ओर कोई प्रवृत्ति न करे, बहिर्मुखता केवल हर्षक्षय ही करेगी। इस तरह ब्रह्मसंस्थता से अतिरिक्त कुछ कर्त्तव्य विद्वान् के लिये नहीं यह इस वाक्य का अर्थ है। मंत्रों में जो विषय इकट्ठा कर बताना था वह इन चौदह मंत्रों में समा गया।।२८७।।

मंत्रब्राह्मणसंघेन यत्तत्त्वं प्राङ् निरूपितम्।
तद्विद्यासाधनं सर्वं मुनिरेष विवक्षति।।२८८।।
तत्रादौ वेद्यतत्त्वस्यानुवादेन परिस्फुटम्।
निरूप्यते स्वरूपं तत् स वा इत्यादिवाक्यतः।।२८९।।

अगले ग्रंथभाग का विषय सूचित करते हैं **मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेद ने पहले जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया उसके ज्ञान के सारे साधन याज्ञवल्क्य मुनि बताना चाहते हैं।।२८८।।** उपसंहार के अभिप्राय से पूर्वोक्त का ही यथावश्यक अधिक अंगों के निर्देश सहित उपदेश देने के लिये आगे का ग्रंथ है। एक विशेष बात यहाँ बतानी है कि समूचा कर्मकाण्ड वेदान्त के अर्थ को समझने में उपयोगी है! 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि अब वचन आयेगा। अतः भगवान् वार्तिककार ने कहा है 'पूर्वो भागः समस्तोऽपि वेदान्तार्थाऽवबुद्धये। यथा भवति वेदस्य तथाऽथ प्रतिपाद्यते।।' ४.४.८७३।। स्वयं भाष्य में भी है 'आत्मविषये सर्वो वेदो यथोपयुक्तो भवति तत्तथा वक्तव्यमिति तदर्थेयं कण्डिकारभ्यते।' (४.४.२२)।।२८८।।

कण्डिका प्रारंभ होती है परमात्म-निरूपण से 'स वा एष महान् अज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तास्मिञ्छेते।' इसे स्पष्ट कहते हैं **उक्त वर्णन में पहले विज्ञेय तत्त्व का पुनरुल्लेख करते हुए 'स वै' आदि वाक्य से स्वरूप का अतिस्पष्ट निरूपण किया है।।२८९।।** आत्मा ही वेद्य, जानने योग्य वस्तु है। स्वरूप से प्रत्यक्ष होने पर भी हम उससे अपरिचित हैं अतः वह हमारे लिये विज्ञेय है। उपाधियों में दृढ अध्यास के चलते निरुपाधि स्वरूप आपाततः समझ आने पर भी हमें आकृष्ट नहीं करता, हमारी वृत्ति उस पर स्थिर नहीं रहती। जैसे मूत्र की आशंका से उत्तंक महर्षि ने अमृत नकार दिया ऐसे उपाधि छूटने के डर से हम आत्मा को अंगीकार नहीं करते। सुषुप्ति-प्रत्यक्ष को थोड़ा भी महत्त्व नहीं देते, जाग्रत्-स्वप्न के ही भरोसे रह जाते हैं। इसीलिये शास्त्र पुनः पुनः स्पष्ट करता ही रहता है। वह महान् अर्थात् व्यापक और अज अर्थात् जन्महीन है। विज्ञान और प्राण अर्थात् ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति वाली उपाधियों में वही महान् प्रतीत होकर परिच्छिन्न भी बना है। हमारा अहंकार इन दो शक्तियों को लेकर ही है, अहंकार रहते ही हमारा व्यवहार है, सुषुप्ति-समाधि में अहंकार के बिना व्यवहार भी नहीं है। यहाँ वेद ने 'स वै' से वस्तुतत्त्व और 'योऽयम्' आदि से उसका परिच्छिन्न रूप एक-साथ बताकर तत्-त्वम् के अभेद का उपदेश दिया।।२८९।।

उसी को 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' क्यों कहा, यह समझाते हैं

ब्रह्मत्वादेव जीवस्य भ्रान्तजीवत्ववारणात्।
वशित्वाद्या ब्रह्मधर्माः शिष्यन्तेऽतोऽयमीश्वरः।।२६०।।
जीवत्ववद्वशित्वाद्या यद्यपि भ्रान्तिकल्पिताः।
तथाप्येते समीचीनाः स्वप्ने पुत्रान्वयो[1] यथा।।२६१।।
अत एव हि जिज्ञासुं प्ररोचयितुमीरितैः।
वशित्वाद्यैः प्रेर्यतेऽसौ यज्ञादौ ज्ञानसाधने।।२६२।।
जीवधर्माश्चेशधर्माः सन्तीत्येतन्न मे मतम्।
असतामेव तेषां तु भानं मायिकमिष्यते।।२६३।।

जीव ब्रह्म ही है अतः भ्रमसिद्ध जीवरूपता के निवारण से बचे हुए जो वशित्वादि ब्रह्म के धर्म उनसे वह ईश्वर है।।२६०।। यद्यपि वशित्वादि भी जीवत्व की तरह भ्रम से कल्पित हैं तथापि ये भले (अच्छे) लगते हैं जैसे सपने में भी पेशाब से बचकर पैर रखना (या पुत्र प्राप्त करना) भला लगता है।।२६१।। इसलिये जिज्ञासु को आत्मा में रुचि बढ़े इस उद्देश्य से कहे वशित्वादि द्वारा ज्ञान के उपायभूत यज्ञादि के अनुष्ठान के लिये जिज्ञासु प्रेरित किया जा रहा है।।२६२।। वशित्वादि भी तत्पदार्थशोधन में वैसे ही निकल जायेंगे जैसे जीवधर्म कर्तृत्वादि, लेकिन प्रारंभ में आकर्षणार्थ उन्हें मानकर प्रवृत्ति होगी। मुक्त ईश्वररूप होता है आदि शास्त्रोपदेश इसी भाव से है। जैसा झूठा होने पर भी साँप डराता है, माला आकृष्ट करती है वैसे कर्तृतादि बंधरूप लगते हैं, वशित्वादि प्राप्तव्य लगते हैं। पुत्रान्वय अर्थात् पुत्रप्राप्ति, मूत्रात्यय अर्थात् पेशब लाँघना। जगने पर याद आये तो अच्छा लगता है कि सपने में पुत्रजन्म हुआ या सपने में भी मूत्र में पैर नहीं पड़ा; सपने में भी पुत्र मर जाये तो जगने पर याद आने से बुरा ही लगता है; वैसे ही मैं झूठ-मूठ भी कर्त्ता-भोक्ता नहीं, वशी आदि ही होना चाहूँयही संगत है। इसीलिये श्रुति ईश्वरधर्म मुक्तोपसृप्य में बताती रहती है। ज्ञान के बाद भले ही वे भी निरस्त हो जायें, अभी तो हमें चित्तशोधक कर्मों में प्रेरित करते ही रहेंगे।।२६०-२।।

जीव-ईश्वर के वशवर्तित्व-वशित्व आदि धर्म हैं जो साधनावश चले जायेंगे ऐसा भ्रम वारित करते हैं **ऐसा मेरा (याज्ञवल्क्य का) मानना नहीं है कि जीव और ईश्वर के धर्म (ब्रह्म में कभी भी वस्तुतः) हैं। बिना हुए ही मायावश वे प्रतीत होते हैं।।२६३।। विद्यमान वस्तु की किसी समय होने वाली असत्तायह नाशका**

---

१. मूत्रात्ययः इति सारानुरोधी मुत्तुशास्त्रिमतः पाठः।

कादाचित्की सतोऽसत्तेत्येष नाशो न तेष्वतः ।
कालत्रयासत्त्वबोधरूपो बाधस्तु संभवेत् । ।२६४ । ।
बाधिता अपि भासन्ते सामग्रीसंभवे सति ।
आरब्धाशेषसामग्रीविनिवृत्तौ न भासनम् । ।२६५ । ।

रूप उन धर्मों का इसीलिये नहीं कि वे विद्यमान ही नहीं हैं! उनका नाश तो बाधरूप ही संभव है। बाध अर्थात् यह ज्ञान कि उनका त्रिकाल में असत्त्व ही है। ।२६४ । । जीव-ईश्वर स्वरूप से एक सत्त्य ही हैं, उनके कर्तृत्वादि और वशित्वादि धर्म मिथ्या ही हैं। मिथ्या मायने बिना हुए प्रतीत होना। इसलिये इन धर्मों की नाशरूप निवृत्ति नहीं वरन् बाधरूप निवृत्ति ही संभव है। नाश अर्थात् कभी है ऐसी वस्तु का कभी न रहना जैसे घड़ा है, फूट गया तो नहीं है। जो कभी है ही नहीं उसका यों तो नाश संभव नहीं अतः उसका बाध ही हो सकता है जैसे भ्रमदृष्ट सर्प का बाध ही होता है। जीव-ईश्वर के कर्तृत्वादि धर्म मायिक (मिथ्या) होने से बाध के ही योग्य हैं।। अतः इसका हटना निवृत्त की निवृत्ति है जैसे ब्रह्मलाभ प्राप्त की प्राप्ति है। ।२६३-४ । ।

उक्त निवृत्ति का नाश से वैशिष्ट्य दिखाते हैं **बाधित हुए भी वे धर्म सामग्री रहते प्रतीत होते हैं। प्रारब्ध बचा रहना ही इस प्रसंग में सामग्री है, वह समाप्त होने पर प्रतीति भी नहीं रहती। ।२६५ । ।** नाश के बाद तो प्रतीति नहीं होती, घट फूटने के बाद 'घड़ा है' नहीं लगता, 'घड़ा नहीं है' यही लगता है। बाध के बाद प्रतीति संभव है, सोपाधिक भ्रमों में यह उपलब्ध हैदर्पणस्थ प्रतिबिम्ब को 'नहीं है' जानते हुए 'है' के रूप में देखते हैं, जल में डूबा डंडा टेढ़ा नहीं है जानते हुए टेढ़ा देखते हैं, आकाश नीला नहीं है जानते हुए नीला देखते हैं इत्यादि। जीव-ईश धर्मों की प्रतीति में सामग्रीभूत उपाधि प्रारब्ध है। जिस जीव का प्रारब्ध है वह तत्त्वसाक्षात्कार के बाद भी कर्तृत्वादि देखता रहेगा, जानते हुए कि वे नहीं हैं, एवं वशित्वादि भी देखता (समझता) रहेगा, जानते हुए कि वे भी हैं नहीं। उसके प्रारब्ध की समाप्ति पर उसे दोनों धर्म प्रतीत होना भी बंद हो जायेंगे। ईश्वर-धर्मों की प्रतीति भी प्रारब्धोपाधिक है, जब तक किसी भी जीव का प्रारब्ध है तब तक ईश्वर-धर्म भासमान रहेंगे। अतः जीवन्मुक्ति युक्तियुक्त समझ आ जाती है। ।२६५ । ।

जीव-ईश्वर धर्मों में अंतर स्पष्ट करते हैं **(सामग्री-समाप्ति से) निवृत्त हो चुकने के कारण जीवधर्म किसी को नहीं प्रतीत होते। ईश्वर-धर्म ईश्वर के किसी कर्म से तो हैं नहीं अतः (एक जीव के प्रारब्ध सर्वथा समाप्त होने पर भी)**

निवृत्तत्वाज्जीवधर्मा भासन्ते नैव कस्यचित्।
अनिवृत्ता ईशधर्मा अकर्मापादितत्वतः।।२६६।।
भान्ति ते त्वीश्वरस्यापि बद्धानां च स्वबुद्धितः।
ईश्वरस्य हि लीला तैर्बद्धानां त्वतिविस्मयः।।२६७।।[1]

निवृत्त बिना हुए बाकी बन्धनग्रस्त जीवों को अपनी बुद्धियों से भासित होते रहते हैं। उन धर्मों से ईश्वर की तो लीला चलती है, बद्ध लोग उन्हीं से आश्चर्यचकित होते हैं।।२६६-७।। मुक्त के जीवित काल में उसे अपने कर्तृत्वादि बाधित प्रतीत होते रहे और दूसरे भी उसके व्यवहार से उसमें कर्तृत्वादि समझते रहे। उसका प्रारब्ध समाप्त होने के बाद न उसे उन धर्मों की प्रतीति और मृत में क्रियादि दीखती नहीं इसलिये दूसरे भी उसे कर्त्तादि नहीं समझते। क्योंकि जीवोंके अपने-अपने कर्मों से अपना-अपना प्रारब्ध है इसलिये प्रारब्धपूर्ति से जीवभाव निवृत्त होना संगत है। ईश्वर तो शास्त्र में अधिकृत नहीं, कोई कर्म कर नहीं सकता अतः उसका कोई प्रारब्ध नहीं; उसके धर्म तो जीवों के प्रारब्ध से भासमान हैं। अतः कुछेक जीवों के मोक्ष से ईश्वर-धर्मों की निवृत्ति की संभावना नहीं। सभी जीव मुक्त हों तभी ईश्वर-धर्मों का भासना बंद हो। ईश्वर-धर्मों का बाध तो प्रत्येक तत्त्वनिष्ठ को होता है फिर भी ईश्वर-धर्मों की प्रतीति आसर्वमोक्ष रहती है। जो बचे बद्ध हैं वे ईश्वर को वशी आदि ही समझते हैं और उन धर्मों से ईश्वर जो कुछ सृष्टिसंचालनादि अनायास करता है उसे देख-देखकर आश्चर्यचकित होते रहते हैं। ईश्वर के लिये संचालनादि कर्म लीलामात्र हैं, उसे कोई ज़ोर नहीं पड़ता कर्मफल देने में, किसी पर कृपा कर देने में, लेकिन हमें आश्चर्य होता है कि कैसे इतना पेचीदा संसार चला रहा है, क्योंकि किसी की प्रार्थना झट सुन रहा है, किसी की दीर्घातिदीर्घ काल तक की प्रार्थना मानो सुन ही नहीं रहा, क्यों ईश्वरविरोधियों को, नास्तिक पापियों को सुख-समृद्धि सफलता दिये जाता है, क्यों भक्तों पर कष्ट डालता हैइत्यादि असंख्य आश्चर्य होते हैं जबकि ईश्वर लीलातिरिक्त कोई वास्तविक भेदव्यवहार कर ही नहीं रहा। (पाठान्तर में अर्थ है‘वशित्वादि ईश्वरधर्म ईश्वर को भी प्रतीत होते हैं, बुद्ध (मुक्त) ईश्वर से अभिन्न माना जाता है, अतः ईश्वर के धर्म वशित्वादि यदि मुक्त में प्रतीत हों तो आश्चर्य ही क्या है!’ (हरिहर कृपालु, सार. ४.४.३९१) ‘स्वबुद्धितः’ का अर्थ ‘अज्ञबुद्धि से’यह समझना चाहिये।।२६६-७।।

१.‘बुद्धानां च स्वबुद्धितः। ईश्वरस्य ततो धर्माः सन्तु न त्विह विस्मयः।।’ इति सारानुसारी मुत्तुशास्त्रिसम्मतः पाठः।

सर्वेश्वरादिकः पूर्वशेषश्चेदुपसंहृतिः ।
उत्तरस्य तु शेषत्वे बुभुत्साविषयो भवेत् । ।२६८ । ।
यः सर्वेशत्वादिलक्ष्यस्तं वेदाध्ययनादिभिः ।
ज्ञातुमिच्छत्यविज्ञातः स एवार्थो यतस्ततः । ।२६६ । ।
बहिरंगं कर्मजातं संन्यासस्यान्तरंगता ।
प्रत्यासन्ना शान्तिदान्तिक्षान्त्याद्या इत्यसौ क्रमः । ।३०० । ।[1]

आत्मा कर्म से बढ़ने-घटने वाला नहीं, यह कहने के बाद श्रुति है 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानाम् असम्भेदाय' अर्थात् संसारमर्यादा स्थापित रखने वाला सर्वशासक वही है। इसका पूर्वोत्तर दोनों प्रसंगों से सम्बन्ध बताते हैं **सर्वेश्वर आदि वचन पूर्वकथत से जुड़ा समझें तो उपसंहाररूप है और आगे के सन्दर्भ से जोड़ें तो मतलब है कि इस सर्वेश्वर आदि रूपवाले को ही यज्ञादि से चित्त तैयार कर साधक जानना चाहते हैं। ।२६८ । ।** 'तमेव विज्ञाय' (कं. २१) में कहे 'तम्' का रूप 'सर्वस्येशानः' से 'असंभेदाय' तक कहा अथवा 'तमेतं... विविदिषन्ति' (कं. २२) में कहे 'तम्' का परिचय 'एष सर्वेश्वर' आदि से दियायों दोनों तरफ सम्बन्ध समझ सकते हैं। जिस प्रकार मुक्त में ईश्वरधर्म हैं उसी प्रकार साधक उन्हें अपने में लाये यह सूचित करने के लिये दोनों से संबंध माना। ईश्वर-धर्म उपासनाविधया भी साधक स्वयं में समझ सकता है तथा मुक्त जैसे ईश्वर से स्वयं को पृथक् कुछ नहीं जानता वैसे साधक प्रयास करे कि स्वयं को ईश्वर से अलग न देखे, यह भी संभव है अर्थात् सर्वथा शरणागति अभिप्रेत है। कृतार्थ-लक्षण साधक के कर्त्तव्य होते हैं यह गीताभाष्य में स्पष्ट कहा है। ।२६८ । ।

अगला वाक्य है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप और अनशन द्वारा ब्राह्मण इस आत्मा को जानना चाहते हैं। इसे समझाते हैं **जो 'सर्वेश्वर' आदि शब्दों से लक्ष्यरूप से समझा जाता है, क्योंकि वही अर्थ अविज्ञात है इसलिये वेदाध्ययन आदि द्वारा उसे ही साधक जानना चाहता है। ।२६६ । । विद्या के प्रति कर्मसमूह बहिरंग उपाय हैं, संन्यास अन्तरंग उपाय है तथा शम, दम, (तितिक्षा) आदि (और भी अधिक) निकट के साधन हैं। यह साधनों में क्रम है। ।३०० । । कर्म शुद्धि सम्पन्न कर**

---

१. 'प्रत्यासन्नतराः शान्तिदान्त्याद्या इत्यासौ क्रमः'पाठान्तरम्।

प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव।।३०१।।
सामर्थ्यमीदृक् चेदस्ति कर्मणां तर्हि किं तव।
ज्ञानेनेति न वक्तव्यं मुनित्वार्थमपेक्षणात्।।३०२।।
बुभुत्सते यमात्मानं सर्वैर्यज्ञादिकर्मभिः।
एतमेव विदित्वाऽसौ मुनिर्भवति नान्यथा।।३०३।।

प्रत्यगुन्मुखता पैदा कर कृतकार्य हो जाते हैं अतः बरसात के ख़त्म होने पर बादलों की तरह समाप्त हो जाते हैं।।३०१।। परमेश्वरप्राप्ति सभी जीवों का लक्ष्य है, प्राप्तव्य है। सर्वेश्वर आदि शब्द वाचकरूप से सविशेष को कहने पर भी लक्षणा से निर्विशेष को कहते हैं, वही प्राप्तव्य, ज्ञेय है। हमारे हृदय में उपस्थित होने पर भी उस परमतत्त्व को हम जानते नहीं। मैं-रूप से जानने पर भी व्यापकादि रूप से न जानने के कारण वही विज्ञेय है। किंतु उसे समझने की सामर्थ्य लाने में कर्मादि का उपयोग है। साधन दो तरह के होते हैंबहिरंग एवं अन्तरंग। फलपर्यंत सम्बद्ध रहने वाले अंतरंग होते हें, शुरू में उपयोगी फिर निरुपयोग हो जाने वाले बहिरंग होते हैं। यहाँ वेदाध्ययनादि बहिरंग एवं संन्यास अन्तरंग है। फल के लिये आवश्यक तो सब हैं पर फलकाल तक रहना-न रहना इनमें भेद है। 'शान्तो दान्तः' आदि 'पश्येत्' से जोड़कर कहे हैं अतः वे और अधिक नज़दीक पड़ते हैं अर्थात् संन्यासी को भी शमादि-सम्पन्न रहना ही पड़ेगा तभी आत्मदर्शन होगा।

स्वभावतः परमात्म-श्रवण, परमात्म-चिन्तन ही पसन्द आने लगनायह प्रत्यक्प्रवणता (प्रत्यगुन्मुखता) है। यह स्थिति आने तक कर्म उपयोगी है, बाद में नहीं। बरसात-बाद बादलों की तरह व्यर्थ हुए कर्मों का परित्याग ही उचित है। अभी परमात्म-परायणता में कामना ही रुकावट डालती है, कामना मिटने पर रुकावट न रहने से वह सहज हो जाती है। अतः ज्ञानसाधन सकाम कर्म नहीं वरन् निष्काम कर्म ही है। अध्ययन-यज्ञ-दानादि अलग नहीं, कामना-निष्कामता से उनका प्रभाव अलग है। यह भाव है।।२९९-३०१।।

आगे श्रुति है 'एतम् एव विदित्वा मुनिर्भवति', इसका औचित्य व्यक्त करते हैं **कर्मों की ही यदि ऐसी सामर्थ्य है तो तुम्हें ज्ञान से क्या लाभऐसा पूछना उचित नहीं क्योंकि मुनिभाव के लिये ज्ञान ज़रूरी है।।३०२।। यज्ञादि सब कर्मों से जिस आत्मा को जानना चाहते हैं उसी को जानकर साधक मुनि हो सकता है, जाने बगैर नहीं।।३०३।।** जैसे ज्योतिष्टोम स्वर्ग-साधन है तो उसका अनुष्ठान कर

अरुचिप्रतिबंधस्य कर्मभिः प्रक्षये सति ।
गृहस्थो वा परिव्राड् वा शास्त्रेणात्मानमीक्षते ।।३०४।।
जनकोषस्तगार्ग्यादिर्न स्याद्वेदनमन्यथा ।
सुलभं तु परिव्राजो बहुविक्षेपवर्जनात् ।।३०५।।
सोढ्वापि कर्मविक्षेपं चित्तैकाग्र्ये क्षमो यदि ।
तदा वेत्तु गृहस्थोऽपि प्रव्रजत्वन्यथा पुमान् ।।३०६।।
अतो विदित्वेति वाक्यं सामान्यविषयं भवेत् ।
प्रव्रजन्तीति वाक्यं तु विशेषेण प्रवर्तते ।।३०७।।

लेना ही पर्याप्त है, उसी के बल पर फल मिल जाता है, वैसे ही निष्काम यज्ञादि ज्ञानार्थ हैं तो उनका अनुष्ठान ही पर्याप्त हो, ज्ञानार्थ श्रवणादि न चाहिये रहेंऐसी बात नहीं। यज्ञादि चित्त को सक्षम बनाते हैं, श्रवणादि उसमें आत्माकार का आधान करते हैं। श्रुति ने 'मुनि' बनने के लिये 'जानना' उपाय कहकर यही क्रम समझाया। 'विविदिषन्ति यज्ञेन' में यज्ञादि विद्या के उपाय हैं या विद्या के विषय में होने वाली इच्छा के? विद्या के तो यज्ञादि उपाय हो नहीं सकते क्योंकि यज्ञ कोई प्रमाण नहीं, ऐसे ही दानादि भी क्रियाएँ हैं, प्रमाकरण नहीं। इसलिये इच्छा के ही साधन हैं। इतना ज़रूर है कि इच्छापूर्ति अर्थात् ज्ञान भी हो, इसके लिये आवश्यक सामग्री जुटाने में अपेक्षित अदृष्ट सहयोग भी यज्ञादि से मिलता है अर्थात् वे इच्छा भी पैदा करते हैं, उसे पूरा करने में भी सहयोग देते हैं। लेकिन पूरा होने के लिये आवश्यक श्रवणादि तो अनुष्ठेय ही हैं।।३०२-३।।

ज्ञानमात्र में शुद्धचेता का अधिकार बताते हैं **कर्में द्वारा अरुचिरूप प्रतिबन्ध समाप्त होने पर गृहस्थ हो या संन्यासी, शास्त्रश्रवणादि से आत्मदर्शन पा लेता है।।३०४।। यदि ऐसा न होता तो जनक, उषस्त, गार्गी आदि को ज्ञान ही न होता। संन्यासी का लाभ यह है कि बहुत विक्षेप न होने से उसे ज्ञान अर्जित करना सरल है।।३०५।। कर्मनिमित्तक विक्षेप सहकर भी यदि गृहस्थ चित्त को एक ब्रह्म में स्थिर कर सके तो वह भी आत्मा को जाने, और यदि विक्षेपवश एकाग्र न हो सके तो ऐसा पुरुष कर्मसंन्यास करे।।३०६।। इस तरह 'विदित्वा' वाक्य सामान्य के बारे में और 'प्रव्रजन्ति' वाक्य विशेष के बारे में है।।३०७।।** निष्काम कर्म से चित्त शुद्ध हुआ यह इससे पता चलता है कि लगातार हमें आत्मचिन्तन रुचता है या नहीं। सोने का समय छोड़ बाकी सारा समय आत्मविचार में लगाना पसंद

सकृद्बोधो वेदनं स्याद् मुनित्वं ज्ञानशीलता।
अज्ञानहानिर्बोधात् स्याज्जीवन्मुक्तिर्मुनित्वतः।।३०८।।

आये तब चित्त को शुद्ध जानना चाहिये। यों तैयार अधिकारी गृहस्थ भी ज्ञान पाये तो कोई निषेध नहीं। लेकिन ऐसा होना गृहस्थ के लिये है कठिन क्योंकि विक्षेप उसे बहुत रहते हैं। फिर भी जनकादि योग्य साधक ज्ञान पा तो सके ही अतः गृहस्थ के लिये भी ज्ञान सर्वथा असंभव नहीं। संन्यासी को विक्षेप बहुत कम है अतः वह थोड़े प्रयास से ही ज्ञान पा सकता है। जिसमें इतनी सामर्थ्य नहीं उस मुमुक्षु को तो संन्यासपूर्वक ही ज्ञान प्राप्त करना होगा। ज्ञानलाभ के लिये कर्म छूटना तो ज़रूरी पर उन्हें विवेकमात्र से छोड़ा गया या स्वरूप से भी छोड़ा गयायह फ़र्क़ है। जनकादि ने विवेक के बल पर कर्तृत्व त्यागा, संन्यासी विवेक को स्वरूपतः कर्मत्याग का सहारा देकर वही स्थिति पाता है। इससे संन्यास की अन्तरंगता समझ आ जाती है। 'विदित्वा मुनिर्भवति' में वेदन का कर्त्ता गृहस्थ-संन्यासी आदि भेद छोड़कर अधिकारिमात्र है अर्थात् चाहे जो योग्य साधक जानकर मुनि होता है। 'प्रव्राजिनो लोकम् इच्छन्तः प्रव्रजन्ति' में आत्मलोकेच्छुक प्रव्रज्या का कर्त्ता सामन्य अर्थात् अधिकारी तो है ही, साथ में विशेष अर्थात् प्रव्राजी (प्रव्रजनशील) संन्यासी भी है। निरन्तर श्रवणादि में संलग्नता तो सभी के लिये अनिवार्य है, इसके लिये कर्मसंन्यास करे या न करे, यह अपनी-अपनी योग्यता पर निर्भर है।।३०४-७।।

वेदन (ज्ञान) और मौन (मुनिभाव) स्पष्ट करते हैं**एक बार जान लेना वेदन है और ज्ञान ही स्वभाव हो जाना मुनिभाव है। वेदन से अज्ञान दूर हो जाता है जबकि जीवन्मुक्ति मुनि बनने से होती है।।३०८।।** 'एक बार' का मतलब आपात, अदृढ प्रतिबद्ध आदि नहीं, यह समझाने के लिये उसका फल अज्ञानहानि बता दिया। आपातादि से अज्ञान नहीं मिटता। एक बार कहने का मतलब है अज्ञाननिवृत्ति से ज़्यादा ज्ञान कुछ कर सके ऐसी उसमें निष्ठा नहीं आयी। अतः 'मैं कर्त्ता-भोक्ता' यह निश्चय तो कट जाता है लेकिन जीवन रहते कर्तृत्व-भोक्तृत्व की प्रतीति के समय 'मैं अकर्ता-अभोक्ता' का भाव अभिभूत हो जाता है जिससे जो जीवन्मुक्ति की मस्ती होती है वह नहीं आ पाती। मुनि या निष्ठा हो जाने पर अपनी अकर्त्ता-आदि रूपता क्षणभर को भी तिरोहित नहीं होती।।३०८।।

अत एव वेदन के अनन्तर भी संन्यास उपयोगी बताते हैं **बिना मुनि (संन्यासी) हुए जो वेदन प्राप्त कर चुका वह भी विद्वत्संन्यास ग्रहण करे। यह बात 'एतद्ध**

बुद्धोऽपि न मुनिः[1] स्याच्चेद्विद्वत्संन्यासमाचरेत्।
एतद्धस्मेति वाक्येन तदेतदभिधीयते।।३०६।।
परिव्राड्भिर्बुद्ध आत्मा कीदृगित्यभिशंकिते।।
स एष नेति नेतीति श्रुतिः प्राहोत्सुका सती।।३१०।।

स्म' वाक्य से कही है।।३०६।। सार में श्लोकारंभ है 'जीवन्मुक्तिरभीष्टा चेत्' (४.४.४३७) अर्थात् जीवन्मुक्ति यदि अभीष्ट हो तो विद्वत्संन्यास ग्रहण करे। प्रतिबंधक विशेष के बिना सामन्यतः तो तत्त्वसाक्षात्कार के बाद संन्यास ही स्वाभाविक होता है क्योंकि प्रपंच में अत्यन्त अरुचि, महत्त्वशून्यता की दृष्टि बन जाती है। फिर भी हेतु दिया कि जीवन्मुक्ति के विशेष आनंद के लिये संन्यासी बने ही। यह विद्वत्संन्यास अकर्त्रात्म-बोध की कायमतारूप है, आश्रमप्रवेश, लिंगधारणादि इसके अर्थसिद्ध रूप भले ही हों, स्वरूप नहीं। याज्ञवल्क्य ने ज्ञानलाभ के अनन्तर ही संन्यास किया यह पन्द्रहवें अध्याय में बता चुके हैं। विद्वत्-विविदिषा-आश्रमयों तीन तरह के संन्यास अध्याय १७ श्लोक १६२ के व्याख्यान में कहे थे, उस संदर्भ का अनुसंधान कर्तव्य है। इस बात को 'एतद्धस्म वै' आदि प्राचीन तत्त्वज्ञों के आचार से यहाँ कहा (४.४.२२) कि उन्होंने विचार किया कि जब आत्मा ही हमारे लिये तत्त्व है तो प्रजादि से क्या फ़ायदा! अतः उन्होंने एषणाओं से व्युत्थित हो भिक्षोपलक्षित आचरण (अर्थात् संन्यास) ही किया।।३०६।।

इसके अनन्तर बाइसवीं कण्डिका में 'स एष नेति नेत्यात्मा' आदि आत्मवर्णन आया है, उसका उल्लेख करते हैं **संन्यासियों द्वारा समझा आत्मा कैसा है? इस प्रश्न का उत्तर देने को उत्सुक श्रुति ने 'स एष नेति नेति' आदि कहा।।३१०।।** बृहदारण्यक में ३.६.२६, ४.२.४, यहाँ (४.४.२२) और ४.५.१५ यों चार बार इसी तरह आत्मा को बताया अतः आचार्य ने लिखा कि श्रुति इस रहस्य को व्यक्त करने को उत्सुक है, उतावली है। आत्मस्वरूप के बारे में शंकाएँ होती रहने से पुनः पुनः उनके निरासार्थ श्रुति का प्रयास उचित है। अध्याय १७ श्लोक २८६-२६२ तक इस श्रुति को समझाया गया था, यहाँ अर्थविस्तार नहीं किया। संन्यासी द्वारा अपरोक्ष किया आत्मा सर्वोपाधिविनिर्मुक्त है, सर्वथा अविषय है।।३१०।।

सन्तापहीनतारूप विशेषता ज्ञानी में निरूपित करते हैं **भिक्षादि द्वारा शरीर-पोषण आदि समान रहते अज्ञानी की अपेक्षा आत्मतत्त्व के जानकार में क्या खास है?**

---

१. 'जीवन्मुक्तिरभीष्टा चेद्' इति सारे पाठः।

ननु भिक्षादिना देहपोषणादौ समे सति।
आत्मतत्त्वविदः कोऽतिशयो मूढादितीर्यताम्।।३११।।
सर्वेषामपि मूढानां चिन्ते स्तः पुण्यपापयोः।
एतमेवैकमात्मज्ञं चिन्ते द्वे प्राप्नुतो नहि।।३१२।।
उभे उ हेति हेतूक्ते तच्चिन्ताया असंभवे।
अतिक्रामति तत्त्वज्ञः पुण्यपापे उभे अपि।।३१३।।
कृते देहादिभिस्ते द्वे अकृते वा द्विधाऽपि च।
एवं तत्त्वविदं ते द्वे नैव तापयतः क्वचित्।।३१४।।

यह बताया जाये।।३११।। (बताते हैं) सभी अज्ञानियों को पुण्य-पाप की चिन्ताएँ सालती हैं लेकिन इस एक आत्मतत्त्ववेत्ता को वे चिन्ताएँ होती ही नहीं।।३१२।। उन चिन्ताओं की संभावना क्यों नहीं इसे 'उभे उ ह' से कहा। आत्मतत्त्वज्ञ पुण्य-पाप दोनों को लाँघ जाता है।।३१३।। शरीरादि द्वारा पुण्य-पाप किये हों या न किये हों, दोंनों हालतों में इस तत्त्ववेत्ता को उनके बारे में कोई संताप नहीं होता।।३१४।। बाहरी व्यवहार अज्ञानी और ज्ञानी का लगभग समान होता है। अज्ञानी संन्यासी भी भिक्षा से जीवनयापन करता है, विद्वान् भी वैसा ही करता है। लेकिन अंतर दोनों में यह है कि अज्ञानी को ये सन्ताप रहते हैं 'मैंने अमुक पुण्य कर क्यों न लिया, अमुक पाप क्यों कर लिया', जबकि ज्ञानी को ये सर्वथा नहीं होते क्योंकि वह अकर्ताभाव में प्रतिष्ठित रहता है। यद्यपि मूर्ख अज्ञानी पाप करते समय, पुण्य की उपेक्षा करते समय लगता है मानो पाप-पुण्य की चिंता न करता हो तथापि फल मिलते समय उनकी चिन्ता करता ही है। व्यास जी ने कहा है कि लोग पुण्य का फल तो चाहते हैं, पुण्य करना नहीं चाहते, पाप के फल से बचना चाहते हैं लेकिन खोज-खोजकर पाप करते हैं! प्रातः उठना, नहाना, जप आदि करना, शुद्धिपूर्वक भोजन करना आदि सीधे-सीधे धर्मों की उपेक्षा करने वाले दुःख आने पर शिकायत करते हैं 'हमने कुछ बुरा किया नहीं, हम पर दुःख क्यों आया?' अर्थात् फलकाल में चिंता करते ही हैं। ज्ञानी को ऐसी कोई चिंता कभी नहीं होती। इसमें हेतु है कि वह उस तत्त्व में प्रतिष्ठित रहता है जो पुण्य-पाप से परे है। पुण्य-पाप व्यावहारिक हैं, आत्मवस्तु पारमार्थिक है। पुण्यादि शरीर-मन के स्तर पर ही होते हैं अतः उनके होने-न होने से आत्मस्तर पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अज्ञानी तो 'मैं करता हूँ' समझता है अतः उसे फ़र्क़ पड़ता है, उसे सन्ताप होता है, ज्ञानी को कर्तृत्वबुद्धि होती नहीं अतः न फ़र्क़ पड़ता है न सन्ताप

अन्तरंगतरा ये ते शान्तिदान्त्यादयोऽखिलाः ।
वक्तव्या इत्यभिप्रेत्य श्रुतिस्तत्र प्रवर्तते ।।३१५ ।।
रुचिमान् कर्मसंन्यासी युक्तः शमदमादिभिः ।
मुख्याधिकारी भूत्वाऽसावात्मन्यात्मानमीक्षते ।।३१६ ।।

होता है। भगवान् ने अतः स्पष्ट किया कि अज्ञान से विमूढ हुआ ही 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है (३.२७)। ज्ञानी यों विमूढ नहींयही उसमें विशेष है, बाह्य व्यवहार में कोई वैशिष्ट्य नहीं।।३११-४।।

तेइसवी कण्डिका है 'तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम् एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा तो कनीयान्। तस्यैव स्यात् पदवित् तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन।। इति।। तस्माद् एवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति'। इसमें पहले ब्रह्मभूत ब्रह्मवेत्ता की स्थायी, स्वतन्त्र महिमा बतायी फिर 'पश्यति' अर्थात् आत्मदर्शन का ढंग (इतिकर्त्तव्य) समझाया कि शम आदि युक्त हुआ साधक प्रत्यक् में पूर्ण का दर्शन कर सकता है। वही मोक्षप्रद सर्वात्मा का, अखण्ड तत्त्व का साक्षात्कार है। इसे स्पष्ट करते हैं **संन्यास से भी अंतरंग (भीतरी, अनिवार्य) शम, दम आदि सारे साधन बताना आवश्यक होने से श्रुति इस विषय में प्रयत्न कर रही है :।।३१५।। आत्मा में जिसे रुचि हो चुकी वह कर्मत्यागी शम-दम आदि से सम्पन्न मुख्य अधिकारी होकर आत्मा में आत्मा को देखता है।।३१६।।** 'शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेः, तेषाम् अवश्यानुष्ठेयत्वात्' ऐसा व्यासवचन है (ब्र. सू. ३.४.२७) अतः शमादि की अधिक अंतरंगता है। विविदिषा से सम्बन्ध वाले कर्मों की अपेक्षा दर्शन से सम्बन्ध वाले होने से तो इनका महत्त्व है ही, संन्यास के बारे में क्योंकि विकल्प कहा था इसलिये उसकी भी अपेक्षा इन्हें ज़्यादा नज़दीकी कहने की आवश्यकता पड़ी। गृहस्थ भी यदि दर्शन कर पायेगा तो तभी जब शमादि-संपन्न हो, यह भाव है। शम अर्थात् मन को कामना के वश में न रहने देना। विषयों में सुखभ्रम से ही कामना होती है, विवेकाभ्यास से उन्हें दुःखरूप निर्णय करने से शम संभव होता है। ऐसा व्यक्ति हमेशा प्रारब्ध-निर्भर रहेगा, ईश्वराश्रित रहेगा अतः कामना उसे प्रेरित कर नहीं सकेगी तो शांत स्वभाव से बना रहेगा। दम अर्थात् इन्द्रियों की विषयों की ओर छलांग रोके रखना, उन्हें विषयों में रमण न करने की आदत वाला बना लेना। थोड़ा-सा विषय संपर्क होते ही इन्द्रिय उधर भागती है, किन्हीं की फुसफुसाहट सुनते ही कान सारी बात सुनने को चौकन्ने हो जाते हैं, सुंदर व्यक्ति पर नज़र पड़ते ही

उसे निहारते रहने को आँख तैयार रहती है; इत्यादि। इंद्रियों को यों शिक्षित करना पड़ेगा कि अत्यावश्यक होने पर ही विषय-सम्बन्ध करें, अन्यथा गोलक में ही स्थिर रहें जैसा कि कुछुए के उदाहरण से भगवान् ने (२.५८) बताया। उपरति अर्थात् हो सके तो सर्वकर्मनिवृत्ति, अन्यथा आवश्यक से अधिक अपने कर्म बढ़ाना नहीं। कर्म में एक विलक्षण वेग होता है जो नियंत्रण न करें तो बढ़ता जाता है; उससे बहिर्मुखता बढ़ना अनिवार्य है अतः आत्मदर्शन के लिये उस वेग पर नियंत्रण अनिवार्य है जिसे उपरति, उपरामता कहा। गृहस्थ यह ध्यान रखे कि परमात्म-मार्ग पर चलने की गति में कमी न आये उतनी ही प्रवृत्ति करे क्योंकि मिलना तो प्रारब्ध से है, अपनी चेष्टा बढ़ाने से नहीं। यह तभी हो सकता है जब तितिक्षा अर्थात् कष्ट सहने में उत्साह हो। पुरानी सोच में कष्ट सहना भोग-विलास या सुविधा भोगने की अपेक्षा बेहतर माना जाता था अतः तितिक्षा कुछ हद तक सहज थी। वर्तमान सोच कष्ट सहना मज़बूरी गिनती है, सुविधा भोगना उचित मानती है। किन्तु सुविधा सदा विषय-निर्भरता बढ़ाकर विक्षेपहेतु बनती है। अनिवार्य से अधिक सुविधा अवश्य हानिकर है। ऐसा व्यक्ति समाहित, एकाग्र हो सकेगा, रह सकेगा, तभी आत्मदर्शन कर पायेगा। आत्मा क्रिया से असम्बद्ध है अतः आत्मस्वभाव से रहने का मतलब कर्मसंन्यास हो जाता है। रुचि अर्थात् तीव्र मुमुक्षा हो जाने पर कर्म छोड़ना स्वाभाविक भी है, शास्त्रीय भी है। अकर्तापना जितना याद आयेगा उतनी ही क्रियाप्रवृत्ति छूटेगी। इसी रुचि से हुए संन्यास की पक्वता शमादि से आती है। विषय में रुचि रहते कामना नहीं छूटने से कर्म नहीं छूटते, विषयाकर्षण मिटने पर कर्म में प्रवर्तक कुछ रह नहीं जाता। ऐहिक-आमुष्मिक पदार्थों से सर्वथा वैराग्य होने पर ही आत्मरुचि पूरी होती है और कर्म छूटते हैं। शमादि सहित करने तो पड़ेंगे श्रवणादि, उन्हीं का प्रभाव आत्मदर्शन है। 'मुख्याधिकारी' अर्थात् रुचि से प्रारंभ कर तितिक्षा-समाधान पर्यन्त सब विशेषताओं से परिपूर्ण साधक। आत्मदर्शन तभी संभव है जब आत्मा पर ही बुद्धि स्थिर हो इसलिये 'आत्मा में ही आत्मा को देखता है' ऐसा कहा। अनात्मा में अर्थात् जहाँ प्रत्यग्भाव व्यक्त नहीं वहाँ चित्त रहते आत्मदर्शन असंभव है। अभी हम अनात्मभूत कोशों में आत्मदर्शन कर रहे हैं, यही भ्रम है जो दूर करना आत्मा में आत्मदर्शन है।।३१५-६।।

आगे वाक्य है 'नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सः' अर्थात् उसे पाप छूते नहीं, संतप्त नहीं करते, वह पापों को तर जाता है, उन्हें तपा चुकता, जला चुकता है, पाप आदि सब दोषों से रहित हो जाता है, उसे अपने पूर्ण स्वरूप के बारे में कोई संशय नहीं रहता। इसका संग्रह करते

पुण्यं च जन्महेतुत्वादत्र पाप्मेति वर्ण्यते।
कर्महानिः पूर्वमुक्ता या तस्या उपसंहृतिः।।३१७।।
ब्रह्मत्वमेव ब्राह्मण्यमित्यभिप्रायमात्मनः।
विशदीकर्तुमाहैष ब्रह्मलोक इतीदृशम्।।३१८।।

है **जन्म के प्रति कारण होने से पुण्य भी इस प्रसंग में पाप के रूप में उल्लिखित है। पहले कही कर्मसमाप्ति का ही यहाँ उपसंहार है।।३१७।।** शब्द पाप लिया लेकिन श्रुति का भाव है कि जो कुछ भी जन्म-मरण के प्रवाह में रख सकता है उस सबसे वह अस्पृश्य हो जाता है अतः पुण्य के बंधन से भी छूट जाता है यह समझ लेना चाहिये। सुख भी प्राप्ति से पूर्व, नाश के बाद एवं सातिशय आदि रहते दुःख ही है यह लोकसिद्ध है। पुण्यवश श्रेष्ठ ही सही, कोई जन्म लेना पड़ेगा, गर्भवासादि झेलना पड़ेगा और अंत में मरना भी पड़ेगा। अतः पुण्य दुःख अवश्य देता है इसलिये उसे पाप-शब्दसे कहना संगत है। मुक्त को न पुण्य न पाप फल देते हैं। पूर्व में ४.३.२२ में पुण्य-पाप से असंबंध कहा था, उसका यहाँ निर्णय हो गया।।३१७।।

अंत में मुनि बोले 'ब्राह्मणो भवति एष ब्रह्मलोकः सम्राड्! एनं प्रापितोऽसि' कि वही ब्राह्मण होता है, यही ब्रह्मलोक है; हे राजन्! तुम इस ब्रह्मलोक तक पहुँचाये जा चुके हो इस वचन को सूचित करते हैं **ब्राह्मण होने का मतलब ब्रह्म होना ही है यह अपना अभिप्राय व्यक्त करने के लिये 'यही ब्रह्मलोक है' ऐसा कहा।।३१८।।** आत्मा का ब्रह्मरूप से प्रकट हो जाना यहाँ ब्राह्मण होना विवक्षित है। केवल 'ब्राह्मणो भवति' कहते तो भ्रम संभव था कि मुनि वर्णभूत ब्राह्मण कह रहे होंगे अर्थात् ज्ञान से ब्राह्मण होगा अन्यथा ब्राह्मण नहीं है! आधुनिक युग में ऐसी विचारधारा प्रचलित है कि गुणादि से ब्राह्मणादि समझ लिये जायें। अतः भ्रम न रहे इसलिये याज्ञवल्क्य ने उसी को 'ब्रह्मलोक' भी कह दिया! यहाँ ब्रह्मदर्शन ही अभीष्ट है, वर्णादि का प्रसंग ही नहीं कि तद्विषयक कोई बात यहाँ कही जाये। अतः 'ब्राह्मण होता है' अर्थात् ब्रह्मज्ञ होता है। 'लोक' से दर्शन समझना चाहिये।।३१८।।

याज्ञवल्क्य का उपदेश पूरा होने पर राजा ने पहले की तरह हज़ार गौ ही दक्षिणा नहीं कही वरन् 'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चाऽपि सह दास्याय' कहा कि सारा राज्य आपको देता हूँ एवं स्वयं को भी आपके दासरूप में समर्पित करता हूँ। इसे कहते हैं **साधनों समेत विद्या सम्पूर्ण हो चुकने से इस राजा ने अपने शरीर सहित राज्य इस गुरु को निवेदित कर दिया।।३१९।।** जनक तत्त्व समझ गया था अतः

ससाधनाया विद्यायाः संपूर्णत्वादयं नृपः ।
स्वदेहसहितं राज्यं गुरवेऽस्मै न्यवेदयत् ।।३१६ ।।

श्रुत्युक्तः प्रतिपाद्यसारः

आख्यायिकां परित्यज्य श्रुतिरस्मदनुग्रहात् ।।
सगुणं निर्गुणं ब्रह्म संक्षिप्योचे स वा इति ।।३२० ।।
पूजास्वीकारदातृत्वगुणयुक्तं महेश्वरम् ।।
य उपास्ते पुमानेष यथेष्टं लभते धनम् ।।३२१ ।।

शरीर आदि सारे अनात्मा से मम-अहंभाव छूटने का ही उसने यों उल्लेख किया। शिष्य यही उचित गुरुदक्षिणा समर्पित कर सकता है कि सारे अनात्मा से तादात्म्य हटा ले। गुरु भी कोई परिच्छिन्न वस्तु नहीं कि शिष्यप्रदत्त को ग्रहण कर सके। वह तो पहले ही समझ चुका है कि अनात्मा अवस्तु है। अतः निवेदन ही शिष्य करेगा, गुरु ग्रहण करे इसकी संभावना नहीं। ।३१६ ।।

राजवचन समाप्त होने पर श्रुति है 'स वा एष महान् अज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद' (४.४.२४) महान् और अज आत्मा ही अन्न खाता और अन्न देता है। इसे द्योतित करते हैं **मुनि याज्ञवल्क्य का संवादरूप कथानक पूरा कर चुकने पर श्रुति ने हम पर कृपावश 'स वै' आदि से संक्षेप में सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म को बताया। ।३२० ।। 'महेश्वर पूजा स्वीकार भी करता है एवं प्रदान भी करता है' यों महेश्वर की जो उपासना करता है उस पुरुष को इच्छानुसार धन मिलता है। ।३२१ ।।**
परमेश्वर ही एकमात्र समझने योग्य तत्त्व है। उसके दो रूप हैंसगुण एवं निर्गुण। इन्हें अत्यन्त संक्षेप में यहाँ वेद ने बताया क्योंकि जीवों पर श्रुति को अत्यधिक दया बनी रहती है। वेद हमें केवल कृपा से प्रेरित हो उपदेश देता है। 'वही यह महान् अज आत्मा है'इतना निर्गुण का वर्णन है। 'अन्नादः' आदि सगुण का वर्णन है। 'भर्ता भोक्ता महेश्वरः' (गी. १३.२२) आदि स्मृति इस विषय में स्पष्ट है। श्रुति में अन्न कहा, अभिप्राय सभी विषयों से है, हमारे द्वारा अर्पित सभी कुछ परमात्मा ग्रहण करता है एवं वही हमें सब कुछ देता है। गीता में (९.२६) कहा ही है कि भगवान् भक्तिपूर्वक अर्पित पत्ते आदि 'खा' लेते हैं। हमें वे ही सर्वस्व देते भी हैं। लोक में भी प्रेम हो तो देना-लेना दोनों होते हैं। अहंकारी केवल देना जानता है, लोभी सिर्फ़ लेना चाहता है, प्रेमी लेना-देना दोनों में उत्साही होता है, उस व्यवहार से प्रसन्न, सन्तुष्ट होता है। परमेश्वर परम प्रिय होने से 'अन्नाद' एवं 'वसुदान' दोनों है। इन गुणों वाले परमेश्वर की उपासना इच्छानुरूप धन देती है। यद्यपि कामना को दुष्पूर, अनल कहा है तथापि परमेश्वरप्रेमी

विद्वद्दृष्ट्या स एवात्मा जरामरणवर्जितः।
आनन्दो भयहीनश्च ब्रह्मैवातो न चेतरः।।३२२।।
य एवं ब्रह्म जानाति तद् ब्रह्मैव भवत्यसौ।
हिशब्दोऽशेषवेदान्तप्रसिद्धं सूचयेदिह।।३२३।।
जनकायात्मविद्यैषा याज्ञवल्क्येन वर्णिता।
[1]तद्व्याख्यानेनानुगृह्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः।।३२४।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते अनुभूतिप्रकाशे बृहदारण्यके जनकविद्याप्रकाशो नामाष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

की इच्छा होगी ही ऐसी जो भगवान् सहज में पूरी करें, अनाप-शनाप इच्छाएँ उसे होंगी नहीं। भक्त का कोई काम भगवान् रुकने नहीं देते एवं धनादि के कारण वह ग़लत रास्ते पड़ जाये इतना उसे देते भी नहीं। यह प्रेमी का स्वभाव है कि हित प्रधान रखता है।।३२०-१।।

अंतिम कंडिका है 'स वा एष महान् अज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म। अभयं वै ब्रह्म। अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।' इसे ध्वनित करते हुए अध्याय उपसंहृत करते हैं **वही आत्मा अजर, अमर, आनन्द, अभय, ब्रह्म है, अन्य कोई ऐसा नहीं यह विद्वान् की दृष्टि से निर्णीत तथ्य है।।३२२।। जो इस तरह अपरोक्ष ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है। 'हि' शब्द यहाँ सूचित करता है कि सारे वेदान्तों में यह वास्तविकता प्रसिद्ध है।।३२३।।** सगुण ही विद्वान् को सुलभ ज्ञानदृष्टि से निर्गुण है। जैसे जो हम कर्ता-भोक्ता हैं वही हम इन कर्तृत्वादि से रहित हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में समझना चाहिये। 'न चेतरः' अर्थात् आत्मा, प्रत्यगात्मा से पृथक् कोई वस्तु नहीं, ब्रह्म ही एक अखण्ड तत्त्व है। जरा-मरण-भय आदि संसार धर्मों से अतीत वही आनन्दरूप पूर्ण प्रत्यक्तत्त्व है। यही वेदान्त का सार है, यही इस अध्याय का संदेश है।।३२२-३।।

अध्याय समाप्त करते हैं **यह आत्मविद्या याज्ञवल्क्य ने जनक को समझायी। श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर इसके व्याख्यान से अनुगृहीत करें।।३२४।।** व्याख्या से संतुष्ट हो ऐसी कृपा करें कि आत्मविद्या स्थिर हो यह अर्थ है। आचार्य की ईश्वररूपता शास्त्र-प्रसिद्ध है अतः यही प्रार्थना है कि ग्रंथार्थ अधिगत हो गया, अब यही सत्त्य भासता रहे ऐसी आचार्य की, ईश्वर की कृपा हो।।३२४।।

।। अठारहवाँ अध्याय।।

---

१. तद्व्याख्यानेन सन्तुष्याद् इति मुत्तुशास्त्रीपाठः।

ॐ

तलवकारविद्याप्रकाशः

एकोनविंशोध्यायः

शाखा तलवकाराणां सामवेदगताऽस्ति या।
विद्योक्ता तत्र संक्षेपात्तां विस्पष्टमिह ब्रुवे।।१।।

केनोपनिषद्विवरण : उन्नीसवाँ अध्याय

भगवान् श्रीकृष्ण ने जिसे अपनी विभूति बताया है उस सामवेद की यद्यपि एक सहस्र शाखायें रही तथापि कालक्रम में घटते-घटते कौथुमी और राणायनीय दो शाखायें ही अध्ययन में प्रचलित रह गयी हैं। जैमिनीय या तलवकार शाखा भी ग्रंथ रूप में उपलब्ध है। उसी के ब्राह्मण भाग में 'केनेषितम्' से प्रारम्भ हुई उपनिषत् को केनोपनिषत् या तलवकारोपनिषत् कहते हैं जिसमें चार खण्ड हैं। पहले अध्याय ३-५ तक में सामवेदीय छान्दोग्योपनिषत् का विचार कर आये हैं, अब केनोपनिषत् का सार बतायेंगे। इसी प्रतिज्ञा से प्रकरण प्रारम्भ करते हैं **तलवकारों की सामवेद में स्थित जो शाखा है उसमें विद्या बतायी गयी है, उसे यहाँ संक्षेप से साफ-साफ बताता हूँ।।१।।** तलवकारयह प्रकृत शाखा का ही नाम प्रसिद्ध है। इसमें विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या कही गयी है। परमात्मस्वरूप का प्रतिपादन समग्र वेद में हर शाखा में, मन्त्रादि सब भागों में उपलब्ध है। यद्यपि सर्वत्र पूर्ण उपनिषत् अर्थात् उपदेश है तथापि सभी शाखाओं में एक ही वस्तु कथित है इस निर्णय के लिये सबके समन्वितार्थ को समझना आवश्यक है, जिससे सभी उपनिषदें अध्येतव्य हैं। आचार्य यद्यपि इस ग्रंथ में सर्वत्र संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं तथापि यहाँ 'संक्षेपात्' कहने का खास तात्पर्य है : आचार्य श्री शंकर ने ईशादि दस उपनिषदों की भाष्यरूप व्याख्या रची यह निर्विवाद है। इनमें एक केन ही ऐसी उपनिषत् है जिस पर आचार्य ने दो भाष्य लिखे! पहला है पदभाष्य जो प्रायः वैसा ही है जैसी अन्य उपनिषदों की व्याख्या अर्थात् मन्त्रों के शब्दार्थ, तात्पर्यार्थ का वर्णन और उपपादन उसमें है। दूसरा है वाक्यभाष्य जो विचार-प्रधान है। उपनिषदों में अनेक दुरूह स्थल हैं जिनका प्रायः बादरायणाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों में स्पष्टीकरण कर दिया है। अतः आचार्य शंकर ने उन स्थलों पर जो चिन्तन

भूमिका

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।'
इत्यर्जुनाय भगवानाह प्रश्नाख्यसाधनम्।।२।।

किया वह सूत्रभाष्य में निबद्ध कर दिया। किन्तु केनोपनिषत् के ऐसे स्थलों पर बादरायणाचार्य ने मीमांसा ग्रथित की नहीं है अतः सूत्रभाष्य में इस उपनिषत् पर चिन्तन व्यक्त नहीं हो पाया। उस कमी को पूरा करने के लिये आचार्य ने इस उपनिषत् पर दूसरा भाष्य रचा। यद्यपि पदभाष्य में ही ये विचार निहित हैं तथापि वहाँ प्रकट अर्थात् खोलकर नहीं बताये हैं जिससे आवश्यक था कि उन बिन्दुओं का विस्तार सूचित हो। यह विस्तार वहीं जोड़ने पर मूल का भाव समझना दुष्कर होता! अतः पहला भाष्य ग्रन्थ समझाने के लिये और दूसरा उस पर सूक्ष्म विवेचन करने के लिये है। अन्य उपनिषदों के लिये यह कार्य ब्रह्मसूत्रों के अंतर्गत हो जाने से उन पर यों पृथक् लेख अनपेक्षित रहा। यद्यपि अल्पदृष्टि वाले आधुनिकों को उक्त भाष्यद्वय में कुछ परस्पर वैमत्य दीखता है तथापि साम्प्रदायिक व्याख्यानानुसार दोनों की सर्वथा एक वाक्यता ही है। यहाँ विद्यारण्यस्वामी ने वाक्य-भाष्य के विचारों के संग्रह का प्रयास बिना किये पदभाष्य की ही प्रणाली से व्याख्या की है, इसी के सूचनार्थ 'संक्षेपात्' कहा है। 'इह' से ग्रन्थ का समापन भाग सूचित है। अगले अध्याय में अनुभूतिप्रकाश पूरा हो जायेगा, इससे पूर्व बृहदारण्यक का काफी विस्तार कह चुके हैं, ग्यारह सौ छियानबे श्लोकों द्वारा! अतः इस उपान्त्य अध्याय में मात्र सौ श्लोकों में विद्या कही जा रही है जो इसके संश्लिष्ट रूप का हेतु है।।१।।

उपनिषदें प्रायः संवाद शैली में निबद्ध हैं। केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, तैत्तिरीय बृहदारण्यक, छांदोग्य का काफी भाग, श्वेताश्वतर, कैवल्य आदि सभी बातचीत, सवाल-जवाब के ढंग से उपदेश देती हैं। केन अर्थात् 'किसके द्वारा?' इस प्रश्नात्मक प्रथम शब्द के बल पर ही इस उपनिषत् का नामकरण है जैसे 'ईशा' से प्रारंभ होने के कारण माध्यंदिन एवं काण्व संहिताओं की उपनिषत् का नाम पड़ा है। क्यों ऐसे प्रश्न-उपन्यासपूर्वक समझाया गया हैयह बताते हुए भूमिका रचते हैं' **नमस्कार, प्रश्न और सेवा से उसे जानो' यों भगवान् ने अर्जुन को प्रश्न-नामक ज्ञानोपाय बताया है।।२।।** गीता (४.३४) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ब्रह्मतत्त्व समझायेंगे लेकिन इसके लिये उन्हें दीर्घ नमस्कार करना होगा, उनकी सेवा करनी होगी तथा उनसे इस बारे में साफ-साफ सवाल करना होगा। इससे प्रश्न

'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि तु मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्।।३।।

को ज्ञान-प्राप्ति में एक उपाय घोषित किया है। नम्रता का प्रणाम से ख्यापन होता है। नम्र, विनयी ही शिष्य बनने लायक है। उद्धत, गर्वीला आत्मविद्या के श्रवण का योग्य अधिकारी नहीं है। क्योंकि गुरु का कोई लौकिक-अलौकिक हित बचा नहीं है जो शिष्य साध सके इसलिये एकमात्र सेवा उपाय है जिससे गुरु को उपदेश-प्रदान के लिये उन्मुख कराया जाये। किन्तु सेवक नम्र हो तो भी जब तक पूर्व तैयारी कर तरीके से जिज्ञासा नहीं करेगा तब तक भी तत्त्वज्ञ प्रवृत्त नहीं होगा उसे समझाने में। आधुनिक मान्यता बिना पूछे बोलने की है, इसी को प्रचार समझते हैं, लेकिन शास्त्रकी मर्यादा है कि पूछे जाने पर ही परमात्मा का वर्णन सुनाया जाये। अर्जुन जैसे घनिष्ठ ने भी जब तक शिष्यभाव से जिज्ञासा नहीं की तब तक इतने दीर्घ काल में भी भगवान् ने उसे गीता नहीं सुनायी थी, इसीसे उन्होंने परिप्रश्न का महत्त्व बता दिया। जो हृदय से पूछता नहीं वह सुनाने पर भी ग्रहण नहीं करता। यद्यपि अनात्मविषयों के बारे में सुनने मात्र से रुचि होती है क्योंकि अनात्मसंस्कार पहले से हैं ही तथापि आत्मसंस्कार पूर्व से अर्जित न होने से आत्मा के बारे में बलात् सुनने से उसे ग्रहण नहीं कर पाते। इसलिये साधक को कर्त्तव्य निर्देश है कि विचारपूर्वक आत्मजिज्ञासा उपजाये ताकि तत्त्व को पूछने में प्रेरित हो।।२।।

जैसे गीता में शिष्य के लिये नियम किया कि पूछे, वैसे मनुस्मृति (१.१२०) में गुरु को भी निर्देश दिया है कि कब बताये **जब तक पूछा न जाये तब तक किसी को न बताये, ग़लत ढंग से पूछने वाले को भी न बताये। मेधावी स्वयं जानते हुए भी लोक में ग़ैरजानकार-सा आचरण करे।।३।।** शिष्यभाव से जिससे पूछा जाये वही आचार्य उपदेश करे क्योंकि उसी की बात जिज्ञासु सुनने को उत्सुक है। हमारे सामने किसी और से पूछा, हम उत्तर जानते हैं, पर उचित है कि हम न बोलें, जिससे पूछा वही बोले। हमारा बोला व्यर्थ ही जायेगा ऐसा नहीं, लेकिन हमारे लिये यों बोलना उचित नहीं। मुझे जानकारी हैइतने मात्र से बताना ही है, यह वृत्ति धीरे-धीरे बहिर्मुखता ही बढ़ायेगी अतः तत्त्वज्ञ के लिये उचित नहीं। लोकसिद्ध है कि तत्त्व की जानकारी के प्रति महत्त्वभाव न रहने पर उपेक्षा बढ़ते-बढ़ते तिरस्कार तक होने लगता है। इसीसे मनु महाराज ने कहा कि जानते हुए भी जड की तरह आचरण करे। मुत्तुशास्त्री का 'लोकम्' की जगह 'लोके' यों सप्तम्यन्त पाठ है। 'लोके' इसलिये कहा

इति शास्त्रमवेक्ष्यात्र कश्चिच्छिष्यगुणान्वितः ।
उपसद्य गुरुं सम्यगप्राक्षीदात्मबुद्धये ।।४ ।।

कि लौकिकों की दृष्टि में इहलोक ही सर्वस्व है अतः परमात्मा तो दूर, परलोक भी उनके विचार में स्थान नहीं पाता। जैसे जौहरियों से बैंगन-गाजर के बारे में विचार-विमर्श निरर्थक वैसे लौकिकों से परमात्मचर्चा व्यर्थ है। नाम-रूपात्मक जगत् ही सब कुछ समझने वालों से नाम-रूपरहित आत्मवस्तु के बारे में कहना इसलिये मायने नहीं रखता कि वे नाम-रूपरहित के आकार की बुद्धिवृत्ति ही न बना पाने से इसके बारे में कुछ भी समझ नहीं सकते, सोच नहीं सकते अतः सही मायने में 'सुन' भी नहीं सकते। शब्द तो सुनेंगे पर उसका कोई अर्थ उन्हें नहीं स्फुरेगा। आजकल एक नारा है। 'आगे किसने देखा है', मोटी बात है कि अगर देखा होता तो 'पीछे' होता, आगे कैसे होता? आगे है, इसीलिये नहीं देखा। आगे नहीं देखाइससे यह तो नहीं प्राप्त होता कि वह है ही नहीं। लेकिन इतने विचार में अक्षम होने से वे इस नारे से सन्तुष्ट होकर निर्णय कर लेते हैं या इस भ्रममें पड़ जाते हैं कि उन्हें निर्णय है कि भविष्य है ही नहीं। 'भ्रम' इसलिये कि वस्तुतः वे भविष्य के प्रति विविध आशाएँ, कामनाएँ कायम रखते ही हैं; यदि निश्चय हो जाये कि भविष्य नहीं है तो हमारी प्रायः सब कामनाएँ छूट जायें क्योंकि वर्तमान तो उपस्थित ही होने से उसकी कामना पूरी हो ही गयी। लेकिन सांसारिकों की कामनायें बनी रहती हैं फिर भी कहते हैं 'आगे किसने देखा' अतः भ्रम ही है। मेधावी जानते हुए भी, कुछ न कहे जब देखे कि श्रोता ऐसे अविचारशील हैं। इस स्तर वालों के लिये 'जोषयेत् सर्वकर्माणि' आदि नियम ही लागू होगा। जडवत् का यह मतलब नहीं कि ग़लत या शास्त्रविरुद्ध आचार करे! मेधावी के लिये वैसा संभव भी नहीं और उचित भी नहीं। इतना ही तात्पर्य है कि अयोग्य को तब तक सूक्ष्म तत्त्व न समझाना प्रारम्भ करे जब तक वह समझने के लिये तैयार न हो जाये।।३।।

इस भूमिका पर ग्रंथारम्भ सूचित करते हैं **पूर्वदर्शित आदि शास्त्रवचनों का विचारकर, शिष्योचित गुणों से युक्त किसी शिष्य ने गुरु के निकट जाकर आत्मज्ञान पाने के लिये सही तरीके से प्रश्न किया।।४।।** पूछने वाला शास्त्र को जानता हो तभी परमात्मजिज्ञासा करेगा। जो शास्त्र के धर्म-भाग से ही परिचय नहीं रखता, उसका पालन नहीं करता, वह ब्रह्म-भाग में सद्भाव रखे यह संभव नहीं। आजकल रिवाज़ है अध्यात्म को धर्महीन बताने का, लेकिन वैदिकों की दृष्टि में यह असंभव है। शास्त्र का विचार करने वाला जब स्वयं को शिष्यगुणों से युक्त पाता

प्रश्नः

मनःप्राणौ श्रोत्रचक्षुर्वाचश्च वपुषि स्थिताः।
प्रवर्त्तन्ते स्वस्वकार्ये विद्यते प्रेरको न वा।।५।।

है तब प्रश्न उठाता है। शिष्य के प्रधान गुण प्रणिपात और सेवा है। आचार्य ने उपदेशसाहस्री में विस्तार से गद्य भाग में शिष्य-गुण बताये हैं। दैवी सम्पत्, त्रयोदशाध्याय गीता में कहे अमानित्वादि, शम-दमादि अनेक गुण शास्त्र में सूचित हैं। पूर्वोक्त गीतावाक्य में सभी के संग्रहार्थ प्रणिपातादि कहे। ऐसा शिष्य गुरु के निकट यथाविधि जायेगा, समित्पाणि आदि होकर जायेगा। आत्मानुभूति ही क्योंकि उसका उद्देश्य होगा इसलिये वह पाने के लिये ही उसका प्रश्न होगा, बहुश्रुत होने के लिये या अन्य किसी प्रयोजन से नहीं। साधक को गुरु से वही पूछना उचित है जिसे समझकर उसे अपना जीवन ढालना हो, अन्यथा सिर्फ़ जानकारी के लिये न पूछे, क्योंकि दोनों तरह के प्रश्नों के प्रत्युत्तर अलग-अलग होंगे। स्वयं का प्रश्न हो तो उत्तर से सन्तोष संभव है, अन्यों का, विभिन्न शास्त्रों का प्रश्न हो तो निर्दुष्ट उत्तर भी किसी संतोष का हेतु नहीं बन सकता। भूखे को दाल-भात भी खिलाओ तो उसका पेट भर जाता है पर जो डटकर भोज में तृप्त होकर आया है उसे अच्छी से अच्छी सामग्री में नुक्स ही मिलेंगे। साधक के प्रश्न का ढंग भी उचित होना चाहिये अर्थात् गुरु की परिस्थिति आदि के अनुकूल एवं आदरादिपूर्वक प्रश्न करे। किं च शास्त्र की मान्य पद्धतियाँ जानकर उनके अनुसार पूछने पर आचार्य के लिये समझाना आसान हो जाता है। माध्यमिक स्तर की गणित जानकर उच्च माध्यमिक के स्तर का गणित-सवाल करे तो उसे समझाना सरल है बजाये उसके जो प्राथमिक स्तर की गणित जानता है, या जो उतनी भी नहीं जानता।।४।।

उपनिषत् प्रारंभ होती है 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचम् इमां वदन्ति चक्षुःश्रोत्रे क उ देवो युनक्ति।।' मन-प्राण-वाक्-चक्षुः-श्रोत्र पर किसका नियन्त्रण है?यह भाव है। इस प्रश्न का उपस्थापन करते हैं **शरीर में मन, प्राण, श्रोत्र, चक्षु और वाक् स्थित हैं जो अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं। इनका कोई प्रेरक है या नहीं?।।५।।** शरीरस्थ सभी करणों के जो-जो नियत कार्य हैं, उन्हीं का वे संपादन करते हैं; आँखें सुन नहीं लेंगी, कान देख नहीं लेंगे! लेकिन सवाल है कि इन साधनों की ये प्रवृत्तियाँ किसी प्रेरक के अधीन हैं, या नहीं? प्रवृत्ति निःसन्देह है, प्रवृत्त करने वाला पूछा जा रहा है। मन आदि जो कहे वे

न चेत्तर्हि जडत्वेन प्रवृत्तिर्मनआदिषु।
न स्याद्विना प्रेरकेण शकटाद्यप्रवृत्तितः।।६।।
चैतन्यमिन्द्रियाणां चेद् ब्रह्मासत्त्वं प्रसज्यते।
इंद्रियेभ्यश्चेतनोऽन्यः प्रेरकोऽभ्युपगम्यताम्।।७।।

उन सबके संग्रहार्थ हैं जो यहाँ नहीं कहे।।५।।

प्रेरक की सूक्ष्मता समझाने के लिये विचार करते हैं **यदि प्रेरक न हो तो मन आदि जड होने से इनमें प्रवृत्ति संभव नहीं क्योंकि प्रेरक के बिना जड छकड़े आदि में प्रवृत्ति नहीं होती।।६।।** यद्यपि प्रेरक है मानकर, वह कौन हैयह प्रश्न है तथापि प्रसिद्ध सम्भावना उठाकर परीक्षा कर रहे हैं। मन आदि किसी प्रेरक के अधीन नहीं वरन् स्वयमेव ज्ञानों व क्रियाओं में संलग्न हो जाते हैंयह मानना इसलिये असंगत है कि मन आदि सब जड हैं और जडों में स्वतन्त्र प्रवृत्ति कहीं नहीं दीखती कि इनमें मानी जा सके। छकड़ा अर्थात् गाड़ी को जब तक बैल आदि चेतन न खींचे, स्वयम् कहीं नहीं पहुँच सकती। यंत्र को भी संचालित कोई-न-कोई चेतन ही करता है। ‘स्व-चालित’ का इतना ही अर्थ है कि चेतन को साक्षात् बहुत कम कार्य करना पड़ता है, यह नहीं कि चेतन प्रेरक के बगैर जड व्यवस्थित प्रवृत्ति कर सके। चेतन तो चाहे गधा भी हो, बिना हाँके भी चल-फिर लेगा, पानी तक, घास तक पहुँच जायेगा। महँगी स्वचालित मोटरकार से भी यह आशा नहीं कर सकते कि टायरों पर एक ही जगह दबाव लम्बे समय तक न पड़े इसके लिये कुछ देर बाद गाड़ी थोड़ा-बहुत आगे-पीछे हो जाये या टंकी खाली होने पर खुद पैट्रोल पंप पहुँच जाये इत्यादि। मन आदि जड हैं अतः छकड़े की तरह उन्हें प्रेरकाधीन मानना अनिवार्य है।।६।।

मन आदि को जड ही क्यों माननायह समझाते हैं **इन्द्रियाँ यदि चेतन हों तो ब्रह्म ही नहीं रह जायेगा! अतः इन्द्रियों से भिन्न उनका प्रेरक चेतन अंगीकार्य ही है।।७।।** चेतन अर्थात् ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमें स्वतंत्र, इच्छा करने वाला, इच्छापूर्ति के लिये प्रयास में सक्षम। चेतनका निजीरूप ज्ञान है लेकिन इच्छा-क्रिया भी चेतन-सम्बन्ध सूचित करने वाले चिह्न हैं। ब्रह्म व्यापक वस्तु है। उससे अतिरिक्त चेतन हो तो उससे ब्रह्म परिच्छिन्न होने से व्यापक नहीं रहेगा कि ब्रह्म कहला सके। किंच चेतन ज्ञानात्मक होने से ज्ञेय नहीं अतः प्रत्यग्भिन्न चेतन अपरोक्ष होता नहीं और परोक्ष उसे सिद्ध करने वाला शास्त्ररूप प्रमाण व्यापक तथा एक बताता है। इसलिये इंद्रियादि नाना चेतन मानना ग़लत हो जाता है। अनेकात्मता-बोधक ग़ैरवैदिक शास्त्रों का

अनुसरण करें तो उन्हें स्वतः प्रमाण मानें या परतः? स्वतः मानने पर शास्त्रों में परस्पर विरोध उनमें से एक को भी प्रमाण नहीं रहने देगा। परतः मानने पर अज्ञेय आत्मा में कोई प्रमाण संभव न होने से वे शास्त्र आत्मभेद के साधक नहीं रह जायेंगे। वेदभिन्न शास्त्रों के अनुयायी उन्हें अपौरुषेय, स्वतःप्रमाण मानते भी नहीं। ज्ञेय, अनेक चेतन ही जब युक्ति से अस्वीकार हैं तब व्यापक के बहुत्व को असंगत समझना उचित ही है। मन आदि को हम जानते हैं अतः उनकी दृश्यता स्वानुभवसिद्ध है। जैसे जड होने से टेलीफोन, दूरभाष तभी बजेगा जब उसे कोई बजाये ऐसे मन आदि से कोई कराये तभी उनमें ज्ञान या क्रिया होगी, खुद होना संभव नहीं। चेतन हों तो इन्द्रियाँ स्वयम् कार्यकारी रहें, हमारे जगने-सोने से उनकी सामर्थ्य पर अंतर न आये। आता है अतः उनका प्रेरक उनसे अन्य आत्मा है यह सिद्ध होता है। जड अपनी योग्यतानुसार एकरस प्रवृत्ति करता है, इन्द्रियाँ योग्य रहते भी सदा प्रवृत्त भी नहीं रहतीं और कभी सावधान कभी असावधान आदि अनेकरस भी प्रवृत्ति करती हैं अतः उनकी प्रवृत्ति-निवृत्ति चेतनाधीन ही निर्णीत होती है क्योंकि इस भेद के लिये जरूरी चैतन्य उनमें मानना इसलिये संभव नहीं कि वे दृश्य, ज्ञेय हैं। जड पर चेतनका नियंत्रण होने से वही कर्त्ता बनता है, जड केवल करण, साधन होते हैं। अविचारशील इस कर्तृत्व के दायित्व से बचने का बहाना ढूँढने के लिये साधनों पर दायित्व डालते हैं किन्तु वैसी सोच अस्वाभाविक होने से सदा उस पर कायम नहीं रहते। कुछ वर्ष पूर्व एक महिला डकैत बनी, अनेक पुरुषों को उसने सड़क पर गोलियों से समाप्त कर दिया। सरकार आदि ने माना कि क्योंकि उस महिला पर समाज ने कोई अत्याचार किया था, उसकी प्रतिक्रिया में वह बागी बनी थी अतः क्षम्य थी। फिर वह सांसद बनकर मरी तो राष्ट्रपति-प्रधानमंत्री आदि ने उसे श्रद्धांजलि अर्पित की! इससे लगता है कि प्रतिक्रियात्मक अपराध क्षम्य है। किंतु वहीं सरकार गोधराकाण्ड की प्रतिक्रिया में किये कृत्यों को अक्षम्य घोषित करती है। इससे पता चलता है कि हृदय में सरकार भी समझती है कि जिसकी प्रतिक्रिया है वह नहीं वरन् जो प्रतिक्रिया करता है वह स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय करता है कि क्या करना, क्या नहीं, अतः वही ज़िम्मेवार भी है। तथापि ऐसी विषम मान्यताओं के चलते समाज अवश्य दिग्भ्रान्त होता है, अल्पमेधा लोग समझ नहीं पाते कि प्रतिक्रिया करना ठीक है या ग़लत। अतः सरकार आदि महत्त्वपूर्ण संस्थाओं और व्यक्तियों को कम से कम व्यक्त वे ही आचार-विचार करने चाहिये जो युक्ति-प्रमाण से परीक्षित हैं, जिन पर वे सदा कायम रह सकें। यही बात अन्य सामाजिक, आर्थिक

इंद्रियैः साधनैर्जीवो यः कर्ताऽसौ प्रवर्तकः।
इति चेन्न यतो जीवे पारतन्त्र्यमवेक्ष्यते।।८।।
व्यापारमिन्द्रियोत्थानं न करिष्येऽमुमित्ययम्।
संकल्प्यापि करोत्येव भूताविष्ट इवातुरः।।९।।

आदि परिस्थितियों के सन्दर्भ में है। जैसे समाज आदि समान रहते भी विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न चेष्टाएँ जीवस्वातन्त्र्य सिद्ध करती हैं वैसे वैयक्तिक जीवन में भी जीवात्मा की स्वतन्त्रता निश्चित होती है, न कि मन इन्द्रिय आदि की। उनसे अन्य अर्थात् जिसकी सत्ता-स्फूर्ति मनआदि की सत्तादि पर निर्भर नहीं ऐसे चेतन प्रेरक को स्वीकारना उचित ही है।।७।।

उक्त तर्क से मनआदि से भिन्न चेतन अंगीकार्य हो तो वही होगा जो जीवात्मारूप से प्रसिद्ध है अतः उसके बारे में प्रश्न उठाना व्यर्थ है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं **इन्द्रियरूप साधनों से जो करने वाला जीव है वही उनका प्रेरक क्यों न माना जाये? इसलिये नहीं माना जा सकता कि जीव में भी परतन्त्रता दीखती है।।८।। 'इन्द्रिय-साध्य अमुक कार्य नहीं करूँगा' यों संकल्प करके भी जीव वह कार्य वैसे ही कर लेता है जैसे कोई भूतावेश से पीडित व्यक्ति (न चाहकर भी चेष्टाएँ करता है)।।९।।** यद्यपि जीव में चेतना की उपलब्धि होने से पूर्वदर्शित समस्या का समाधान संभव लगता है तथापि जीव भी परतन्त्र मिल रहा है जबकि चेतन वास्तव में स्वतन्त्र ही हो सकता है। हम सभी अनुभव करते हैं कि ध्यान करना चाहते हैं पर मन विक्षिप्त हो जाता है, इन्द्रियाँ रोकना चाहते हैं पर वे चपल बनी रहती हैं, इत्यादि। रोगी को पता है कि आराम करना है पर भूत चढ़ जाये तो उछल-कूद मचाता है यह लोक में दीखता ही है। केवल बाहरी भूत ही नहीं, भीतरी भूत भी अण्डबण्ड बुलवाता-कराता है; शहरों में लोग कहते हैं कि खाने के लिये काम करते हैं और खाने के लिये ही उनके पास समय नहीं होता! यह विचार की अव्यवस्था वैसी ही है जैसे भूतावेश वालों की सोच किसी प्रमाण-युक्ति का अनुसरण नहीं करती। कार्यक्षेत्र के निकट का आवास छोड़कर दूर रहेंगे, फिर गाड़ी का खर्च और सड़क के धक्के सहते रहेंगे! ये सब बताते हैं कि जीव भी सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। खुद उन्हीं को नहीं पता कि क्यों कर रहे हैं जिससे परतंत्रता निर्णीत होती है। जीव में चेतना का आभास ही है अतः स्वतंत्रताका आभास तो मिलता है और व्यवहार स्तर पर उसी स्वतंत्रता के प्रयोग से प्रगति करना अनिवार्य है भी, तथापि परमार्थ का विचार प्रवृत्त

इंद्रियाधिष्ठातृदेवा न स्वतन्त्रा यथा वयम्।
धर्माधर्मात्मकं कर्म न स्वतन्त्रं जडत्वतः।।१०।।
तस्मात् केन प्रेरितं सद्विषयान् मनुते मनः।
कर्तुमुच्छ्वासनिश्वासौ प्राणः केन प्रणीयते।।११।।
वाक्चक्षुःश्रोत्रमुख्यानि प्रेरयेत् करणानि कः।
ईश्वरश्चेत् किमेकोऽसौ बहवोऽमीत्युतेर्यताम्।।१२।।

होने पर वास्तविक चेतन को समझना भी उचित होने से केनइत्यादि द्वारा उसके बारे में पूछा गया है।।८-९।।

शरीराभिमानी न सही, अन्य कोई नियामक होगाइस संभावना को भी समाप्त करतेहैं **इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता भी हमारी तरह ही परतन्त्र हैं। पुण्य-पाप रूप कर्म भी जड होने से स्वतन्त्र नहीं।।१०।।** आँखों के अधिष्ठाता सूर्य हैं लेकिन यह नहीं कह सकते कि वे ही स्वतंत्र रहकर आँखों को चलाते हैं क्योंकि हैं वे भी जीव अतः हमारी तरह उनकी परतंत्रता उचित है, पुराणादि में वर्णित भी है। धर्माधर्मरूप अदृष्ट तो जड है अतः मन आदि का स्वतंत्र प्रेरक होना संभव नहीं।।१०।।

प्रसिद्ध व्यवस्थानुसार सन्तोषजनक उत्तर अनुपलब्ध होने से उपनिषत् में प्रश्न उठाना उपपन्न करते हैं **इसलिये पूछा जाता है कि किससे प्रेरित हुआ मन विषय-चिन्तन करता है, साँस लेने-छोड़ने के लिये प्राण किससे प्रेरित होता है, वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि करणों को कौन प्रेरित करता है? यदि ईश्वर प्रेरणा करता है तो वह एक है या बहुतेरे ईश्वर हैं? यह सब बताइये।।११-२।।** 'प्रेरक' से उस स्वतन्त्र तत्त्व के बारे में पूछा है जो हमें अनुभव नहीं हो रहा। स्वयं को चेतन हम भी जानते हैं लेकिन सब प्रवृत्ति-निवृत्ति में स्वतन्त्र नहीं अनुभव करते अतः प्रश्न है। इंद्रियाँ व मन सोते समय आराम कर भी लें पर प्राण लगातार चलता ही रहता है जो अवश्य किसी महान् शासक का सूचक है। किं च मन रहते अहंकार का बोध भी होता है जिससे 'मन को मैं प्रेरित कर रहा हूँ' यह भी अनुभव हो सकता है किन्तु प्राण के लिये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अहंकार न रहने पर भी सुषुप्ति के दौरान प्राण चलते ही रहते हैं। जाग्रत् में भी हम कोई सावधान चेष्टाकर प्राणों को नहीं चलाते वरन् परमेश्वर के संकल्पानुसार बनी व्यवस्था से ही वे चलते रहते हैं। अतः प्राणन-अपानन कराने वाला हमेशा परमात्मा ही हैइसे सदा ध्यान में रखने से परमात्मसाक्षात्कार होता है। इसी से अन्यत्र 'साँस लेने छोड़ने को व्रत' कहना संगत है। परमात्मा स्वतन्त्र

प्रवर्त्यानामनन्तत्वाद् वैलक्षण्याच्च नैकता।
नैकमत्यं बहुत्वे स्याद् बहुराजकदेशवत्।।१३।।

है। धर्माधर्म की वासनाओं के अनुरूप वह जीवको और उसके माध्यम से मन आदि को प्रेरित करता है। उसके बारे में इतना ही निर्णय चाहिये कि वह एक है या अनेक? यद्यपि लगता है कि ईश्वर मानने वाले उसे अवश्य एक स्वीकारते होंगे तथापि जब सृष्ट आदि के कर्त्ता ब्रह्मा आदि को पृथक्-पृथक् स्वीकारते हैं तब अनेक ईश्वर मानने वाली स्थिति ही होती है। इस पक्ष में ईश्वर-शब्द का अर्थ कुछ संकुचित जरूर करना पड़ता है लेकिन हैं ऐसा मानने वाले भी काफी, अतः प्रश्न उठना उचित है। देवताओं और ईश्वरों में इतना ही अन्तर मानते हैं कि देवता पराधीन हैं जबकि ईश्वर अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं।।११-२।।

एक या अनेक ईश्वर मानने पर दोष बताते हैं **क्योंकि प्रवृत्त होने वाले अनन्त और परस्पर विलक्षण हैं इसलिये प्रवर्त्तक एक होना उचित नहीं। ईश्वर बहुत से हों तो उनमें एकमतता नहीं होगी तो जैसे वह देश (अव्यवस्थित) हो जाता है जहाँ बहुतेरे राजा हों (वैसे संसार हो जाये)!।।१३।।** प्रवर्त्त्य अर्थात् प्रवृत्त होने वाले जीव असंख्य और आपस में विपरीत स्वभाव के हैं, सबका प्रेरक एक संगत नहीं। हाथी किसी मनुष्य को कुचलने दौड़ता है, वह मनुष्य बचने के लिये भागता है; यदि दोनों का प्रेरक एक है तो वह चाहता क्या है? अगर हाथी कुचले यह उसे इष्ट है तो मनुष्य को भागने की क्यों प्रेरणा देता है तथा मनुष्यका बचना इष्ट है तो हाथी को क्यों उस पर दौड़ाता है? इसी प्रकार अत्यन्त विलक्षण, विरुद्ध प्रवृत्तियाँ संसार में लगातार देखने में आ रही हैं। इससे यह अमान्य है कि सबका प्रेरक एक ईश्वर है। पारसी धर्म वालों ने माना कि अच्छाई का प्रेरक है अहुर्मज़्दा और उससे अलग है बुराई का प्रेरक अर्हिमान्। अन्ततः अहुर्मज्दा की ही विजय होगी। मनुष्य का कर्त्तव्य उसी को साथ देना अर्थात् एकमात्र अच्छाई का पक्ष अपनाना है। बुराई का साथ दिया तो अन्ततः नरक ही पहुँचेंगे। यों दो ताकतें उन्होंने समझी। ईसाइयों में गॉड-डेविल, मुसलमानों में खुदा-शैतान ये जोड़े भी उसी रीति से प्रचलित हैं। यद्यपि वैदिक परम्परा से यह विचार सर्वथा विपरीत है अतः मुखतः इसे कोई हिन्दूवादी नहीं कहता तथापि द्वैतवादी इस समस्या से परेशान जरूर रहते हैं कि एक ईश्वर पुण्य-पाप दोनों का समान प्रेरक कैसे? यदि उसे पाप अनिष्ट है तो पापी की क्रिया-सामर्थ्य ही क्यों नहीं रोक देता, गायों को मरने क्यों देता है? इत्यादि। किन्तु यह भी संभव नहीं कि अनेक

अथोत्तरम्

उक्तदोषनिवृत्त्यर्थं गुरुर्वचनमब्रवीत्।
श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि तदर्थस्तु विविच्यते।।१४।।

(एकाधिक) ईश्वर हों क्योंकि संसार है अत्यन्त व्यवस्थित, नियमित और यदि एक से ज़्यादा इसके मालिक होते तो ऐसी व्यवस्था, नियमबद्धता संभव नहीं, जैसे गणतंत्र आदि में अनेक शासक हो जाते हैं तो अव्यवस्था ही मिलती है। इस प्रकार वागादि का प्रेरक इनसे स्वतंत्र चेतन मानना भी जरूरी, वह एक हो यह भी जरूरी अतः शिष्य स्वयं निर्णय न कर पाने से गुरु से पूछे यह उचित ही है।।१३।।

उपनिषत् में इसका जवाब दिया 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः। प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।' अर्थात् श्रोत्र-मन-वाक्-प्राण-चक्षु को जो श्रोत्रादि बनने में समर्थ बनाने और रखने वाला परमेश्वर है वही इनका नियन्ता है, उसे समझकर जब श्रोत्रादि में अहन्ता छोड़ता है तब जीव बुद्धिमान् बनता है और संसार से विमुख हुआ अमर हो जाता है। भाष्यकार ने 'ज्ञात्वा' का अध्याहार मानकर ऐसा ही अर्थ किया है। 'अतिमुच्य' अर्थात् श्रोत्रादि में आत्मभाव छोड़कर। 'प्रेत्य' अर्थात् पुत्र-मित्र-कलत्र-बंधु आदि इस लोक में ममभाव-अहंभाव छोड़कर। इस उत्तर को उपन्यस्त कर समझाते हैं **प्रेरक-सम्बन्धी बताये दोष को हटाने के लिये गुरु ने 'श्रोत्रका श्रोत्र' आदि वचन कहा। उसके अर्थ का विवेचन किया जाता है।।१४।।** क्योंकि प्रश्न न केवल वाजिब है वरन् शिष्य की वास्तविक जिज्ञासा से उठा है इसलिये गुरु ने आवश्यक समझा उसका उत्तर देना, अन्यथा उपेक्षा भी की जा सकती थी। गुरु के लिये यह व्यवहार-निर्देश भी है कि शिष्य की जिज्ञासा शान्त करे क्योंकि यदि शिष्य का मानस संशयग्रस्त रहा तो वह कोई भी उपदेश ग्रहण नहीं कर पायेगा। यद्यपि यह है अतिकठिन तथापि अनुभव-सिद्ध है कि जो गुरु सम्बद्ध-असम्बद्ध सर्वविध शंकाओं का समाधान कर पाते हैं, उनके उपदेश को अधिक श्रद्धा और सावधानी से सुना-माना जाता है जबकि जो यों शंकायें दूर न कर सकें उनके ठीक, संगत उपदेश भी उतनी गम्भीरता से नहीं ग्रहण किये जाते। किं च शिष्य की बुद्धि अनियंत्रित है अतः उसे, चाहे अनर्गल ही सही, यदि कोई प्रश्न उठा तो उसके उत्तर के बगैर वह क्योंकि उसी सन्दर्भ में उलझा रहेगा इसलिये बाकी का उपदेश ग्रहण नहीं कर पायेगा। नियंत्रित बुद्धि वाला तो प्रश्न उठने पर भी उसे कालान्तर में समाधेय के रूप में चित्त में निहित कर सकता है पर

अन्तर्याम्येक एवेशः स च सर्वं नियच्छति।
अधीयन्ते पृथिव्यादौ स्थितं वाजसनेयिनः।।१५।।

अशिक्षितमति वैसा नहीं कर पाता अतः उसे तत्काल उत्तर मिलने का महत्त्व है। उपनिषत् ने उत्तर तो सुझाया लेकिन इस ढंग से कहा कि एकाएक किसी की समझ में नहीं आता, अतः इसका विवेचन आचार्य करने जा रहे हैं।।१४।।

जटिल समस्याओं को सुलझाने का खास ढंग दिखाते हुए आचार्य विद्यारण्य पहले स्पष्ट प्रतिज्ञा द्वारा संक्षेप में निर्णय बताकर तब विस्तार से विवरण आरंभ करते हैं। समस्या कठिन है ही, अगर समाधान भी कठिन ही रहा तो समझना अतिकठिन हो जायेगा। अतः उसे यथासम्भव सरल शब्दों में व्यक्त करने के पश्चात् उसकी सूक्ष्मताओं से परिचय कराना चाहिये यह आचार्य का तात्पर्य है। पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में श्रुत्यन्तर-संवाद भी दिखाते हैं ताकि तथ्यको समग्रता से ग्रहण किया जाये **अन्तर्यामी एक ही ईश्वर है और वह सबको नियन्त्रित रखता है। वाजसनेयशाखा वाले पढ़ते हैं कि वह पृथ्वी आदि में मौजूद है।।१५।।** अनेक ईश्वर वाला पक्ष तो सीधे ही निरस्त कर दिया कहकर कि वह एक है। 'कानका कान' आदि ढंग से बताने का भाव व्यक्त किया कि यहाँ अन्तर्यामी रूप का उपदेश है। उपाधियों में रहकर, उपाधियों से एक होकर उन्हें प्रवृत्त करनायह अन्तर्यामिता है। बाहरी शासन का प्रसंग यहाँ नहीं लाया गया। यद्यपि हमें लगता है मानो ज़बर्दस्ती हमसे करवाया जा रहा है तथापि कराने वाला अपने से पृथक् नहीं प्रतीत होता बल्कि अपने में ही कोई अंश लगता है जिसकी वजह से हम करते भी हैं और एक अंश रहता है जो नहीं चाहता कि वैसा करें। वह अंश कामना, क्रोध, ज़िद, शिक्षा आदि कुछ भी लगे लेकिन हमसे सर्वथा विलग नहीं लगता क्योंकि परमेश्वर का यह अन्तर्यमन है, भीतर रहकर प्रेरणा देना है। बुद्धि, भावना, मोह, संस्कार आदि अनेक रूपों में हम प्रेरक को देखते हैं किन्तु सदा स्वयं से एकमेक पाते हैं। यही रहस्य है कि एक, समानभाव से प्रेरक रहता भी ईश्वर सारी विविधता का हेतु बना रहता है। प्रेर्यमाण उपाधियों की विविधता से भेद है, प्रेरक में भेद नहीं, आवश्यकता भी नहीं। जैसे एकरूप बिजली समान-भाव से प्रेरक बनकर पंखा, लट्टू आदि में विविध प्रवृत्ति करा लेती है वैसे समझ सकते हैं। बिजली उपाधियों पर (उपकरणों पर) बाहरी नहीं भीतरी नियंत्रण करती है, बिजली रहे तो वे चलेंगे, अन्यथा नहीं चलेंगे, ऐसे ही यहाँ अन्तर्यामी का नियंत्रण बता रहे हैं। इस स्वरूप की शास्त्र-प्रसिद्धि शुक्ल यजुर्वेद की उपनिषत् में

स्थित्वा मनस्यान्तरोऽस्माज्ज्ञायते मनसा न सः।
मनस्तस्य शरीरं स्यान्नियच्छत्यान्तरो मनः।।१६।।
एवं श्रुतः स सर्वेषु प्राणवागादिवस्तुषु।
अन्तः प्रविष्टः शास्ताऽयमिति श्रुत्यन्तरं जगौ।।१७।।

'अन्तर्यामी-ब्राह्मण' नामक प्रसंग में उपलब्ध है। बृहदारण्यक ३.७ में उद्दालक आरुणि ने याज्ञवल्क्य से अन्तर्यामी के बारे में पूछा तो उन्होंने जवाब में कहा कि जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशा, चन्द्र-तारे, आकाश, अँधेरा, तेज (शास्त्रीयज्ञान), सभी भूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, रेतस्-इनमें रहता है, इनके भीतर है, जिसे पृथ्वी आदि सभी नहीं जानते पृथ्व्यादि जिसके शरीर हैं, वह इन्हें भीतर से नियंत्रित करता है। वहाँ भाष्यकार ने समझाया है कि जिसे नियंत्रित करना है उसी को परमेश्वर उपाधिरूप से प्रयोग में ले लेते हैं अर्थात् नियमन करने के लिये परमेश्वर को कोई अलग उपाधि नहीं चाहिये। अतः 'ईश्वरसाक्षिमात्रसान्निध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम्' (भाष्य) ईश्वररूप साक्षी की मौजूदगी ही काफी है कि उपाधियाँ अनुरूप चेष्टा करें। अन्तर्यामी एक ही है, यह भी वहाँ स्पष्ट किया है। उपाधियों की योग्यता के फ़र्क़ से चेष्टाओं का फ़र्क़ भी संगत होता है। सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति का भेद है लेकिन भेदक उपाधि है न कि प्रेरक, यह भाव है। पुनरपि पूर्वोक्त भेदवाद की प्राप्ति नहीं होती कि अर्हिमान या शैतान की जगह उपाधि आ गयी, क्योंकि उपाधि अवास्तविक आरोपमात्र है। सत् हो या असत्-दोनों मिथ्याभूत उपाधि के स्तर के भेद हैं, जो सत्य है वह तो प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों से परे है। मतान्तर में ईश्वर की सत्ता की बराबरी वाला विरोधी है जबकि वेदान्त में नहीं, यह भाव है।।१५।।

केन में कहे श्रोत्रादि सभी उक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण में आये हैं अतः सबके प्रतिनिधिरूप में मन ग्रहणकर उसकी अन्तर्यामी-नियंत्रितता व्यक्त करते हैं **इस मनके भीतर रहकर जो मन से जाना नहीं जाता, मन उसका शरीर है, वह अन्दर स्थित तत्त्व मनको नियंत्रित करता है।।१६।। इस प्रकार प्राण, वाक् आदि वस्तुओं के भीतर उसकी उपस्थिति वेद में सुनी गयी है। दूसरी जगह वेद में कहा है कि यह अन्दर घुसा हुआ प्रशासक है।।१७।।** 'मनके भीतर' होने से निश्चित है कि वह मन नहीं है जैसे लट्टू में होने पर भी बिजली लट्टू नहीं है। उपहित उपाधिरूप नहीं होता। किंच, मन उस साक्षीको जान नहीं सकता कि 'मेरा यह

शासक, प्रकाशक है'। मनके सम्बन्ध से कही बात जीव में भी समझनी चाहिये कि वह हमारे अंदर हैं। हमें चला रहा है पर हम उसे कुछ भी नहीं समझ पाते! हमारा मन ही उस अंतर्यामी का शरीर हैयह स्थिति उसे और दुर्लक्ष्य बना देती है। अगर मनोभिन्न होता तो मनका विषय बन जाता और घटादि की तरह समझ आ जाता पर पहले मन ही समझना कठिन और यह वह है जिसके प्रति मन भी केवल शरीर का काम कर रहा है अतः यह और भी सूक्ष्म हो गया। जैसे लोक में उपकरण समझने की अपेक्षा 'बिजली क्या है'यह समझना कठिन है वैसे अंतर्यामी समझना कठिन है। मन के प्रति प्रत्यग्रूप होने से मन उसे नहीं जानता, विषयों की तरह अन्तर्यामी को नहीं समझ पाता। हालाँकि अंततः समझेगा मन ही लेकिन वैसे नहीं जैसे घटादि को समझता है।

शतपथकी तरह तैत्तिरीय आरण्यक (३.११) में भी परमात्माका अन्तर्यामी रूप बताया है। अनेक मंत्रों का 'हृदय' अर्थात् रहस्यभूत प्रतिपाद्य बताने के लिये प्रवृत्त उस अनुवाक में प्रारम्भ किया 'सुवर्णं धर्मं परिवेद वेनम् इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम्। अन्तःसमुद्रे मनसा चरन्तम् ब्रह्मान्वविन्दद् दशहोतारमर्णे।। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् एकः सन् बहुधा विचारः। शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति।। सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति स मानसीन आत्मा जनानाम्। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा सर्वाः प्रजा यत्रैकं भविन्त।।' मंत्रद्रष्टा कहते हैं कि इन्द्र अर्थात् परमेश्वर का जो सुवर्ण-सा स्वप्रकाश और धर्म अर्थात् अन्यों का प्रकाशक जो वेन अर्थात् कमनीय आत्मा अर्थात् स्वरूप है उसे मैं परिवेद अर्थात् सर्वत्र अवस्थित समझता हूँ। दस अर्थात् अनेक तरह से वही विचरण कर रहा है। सृष्टि से पूर्व जो जल अर्थात् कर्म-समेत सूक्ष्मभूतसमूह था उसी में व्याप्त रहकर उस परमात्मा ने मन से विचार किया कि सृष्टि करूँ। उस अर्ण अर्थात् जल में ब्रह्मा अर्थात् प्रजापति ने 'दशहोता' अर्थात् दशहोतृमन्त्रों से प्रतिपाद्य परमात्मा का ही 'अन्वविन्दत्' दर्शन किया। वह परमात्मा भीतर घुसकर सब लोगों का प्रशासन कर रहा है। एक रहता हुआ ही नाना प्रकार से विचरण कर रहा है। सैकड़ों (शुक्र) प्रकाश उससे अभिन्न हैं। सभी वेद एकमत से उसमें तात्पर्य वाले हैं। सब यजमान उसीके आराधक हैं। लोगों का वह आत्मा 'मानसीन' अर्थात् योगयुक्त मन से उपलभ्य है। सबमें प्रवेशकर सबका वह शासक सर्वात्मा भी है, सारी प्रजायें उसमें एकमेक हो जाती हैं। आगे वहीं उसी की जीवरूपता बतायी है 'अन्तः प्रविष्टं कर्त्तारम् एतम्' इत्यादि तथा हमेशा हमारे साथ

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म वेदेषु वर्णितम्।
तदेव मायासंयोगादीश्वरत्वं प्रपद्यते।।१८।।

होने पर भी हम इसे जान नहीं पाते 'सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः!' (३.११.५) इस प्रकार कृष्णयजु में भी अन्तर्यामी का विवरण होने से 'श्रोत्रका श्रोत्र' आदि से वही समझना संगत है।।१६-१७।।

श्रोत्रस्यादि केन का भाव और उसमें शाखान्तर का समर्थन दिखा चुके। अब विवेचन प्रारंभ करते हैं **वेदों में वर्णित जो सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म वही माया-सम्बन्ध से ईश्वरभाव पा जाता है।।१८।।** शब्दभेद के बावजूद ब्रह्म और ईश्वर में वस्तुकृत भेद नहीं है। सत्यादिस्वरूप ब्रह्म ही माया-संबंध की दृष्टि से ईश्वर कहा-समझा जाता है, ब्रह्म में ही ईश्वरता का व्यवहार होता है। ईश्वर की सत्यतादि यथावत् हैं, माया-सम्बन्ध के अभिप्राय से शब्दभेद है। ईश्वरभाव को पाया ब्रह्म ही सबको नचा रहा है। सारा संसार उसीका मानो शरीर है। माया अर्थात् अज्ञान; अज्ञान ही क्योंकि हमें ठग-सा लेता है इसलिये माया कहा जाता है। लोक में भी जिस बारे में हम समझते नहीं उसी में ठगे जाते हैं। हमारे अज्ञानका ही ठग ऐसा प्रयोग करते हैं कि हम धोखा खा जाते हैं, यही ठगों की कुशलता, उनकी माया कहलाती है। हमारा अज्ञान और उनकी माया कोई अलग चीज़ें नहीं, एक ही है। गाँव वाले बिजली के उपकरणों के बारे में नहीं समझते तो ठग उन्हीं के द्वारा ग्रामीणों को ठग लेते हैं, यन्त्रसिद्ध कार्य को चमत्कार के रूप में दिखाते हैं। ऐसे ही जो रसायन नहीं समझते उन्हें रसायन-प्रयोग से ठगा जा सकता है। सभी लोग किसी-न-किसी स्तर पर पहुँचकर अज्ञानी हैं, नहीं जानते; दो-चार-छह कोटियों तक जानने वाले भी आगे की कोटि पर कहते हैं 'यह तो पता नहीं।' इससे वेदान्ती मानता है कि सब चीज़ों का अंतिम कारण अज्ञान है। इसी अज्ञानरूप माया को जो मायिक ही सम्बन्ध अर्थात् अनिर्वाच्य, अवास्तविक सम्बन्ध उसी से ब्रह्म का 'ईश्वर' ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह 'जीव' ऐसे व्यवहार का हेतु भी वही अज्ञान है, ब्रह्म में ही जीवत्व का भी अध्यास है। इसीलिये जीव-ईश्वर यह विभाग मायिक बताया जाता है जो परमार्थ सत्य ब्रह्म पर कल्पित है।।१८।।

उक्त माया को स्वीकारना और उसीसे ईश्वरभाव मानना शास्त्रानुकूल है। माया स्वयं प्रामाणिक तो हो नहीं सकती लेकिन अनुभूयमान है ही, अर्थापत्ति से समर्थित है और वेदकी प्रक्रिया के अनुकूल होने से अंगीकार्य है। इसी उद्देश्य से माया के सन्दर्भ

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
पराऽस्य शक्तिर्विविधा ता मायाशक्तयोऽखिलाः।।१६।।

में वैदिक उल्लेख दिखाते हैं **माया को तो प्रकृति समझो, माया वाले को तो महेश्वर समझो। इसकी उत्तम सामर्थ्य नाना प्रकार की है, वे प्रकार सब माया शक्तियाँ हैं।।१६।।** 'मायां॰॰महेश्वरम्' श्वेताश्वतर ४.१०, 'परास्य॰॰विविधा' श्वेताश्वतर ६.८ के उद्धरण हैं और 'ता॰॰खिलाः' से बृहदारण्यक २.५.१६ का यह वचन सूचित है 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश'। प्रकृति-शब्द से कही वस्तु ही वेदान्तों में माया-शब्द से कही जाती है। संसाररूप खेल करना मायाका कार्य है। प्रकृष्ट कृति करते रहने से ही वह प्रकृति है। बिना रुके ज़्यादा-ज़्यादा कृति करना इसका स्वभाव है। माया द्वारा ब्रह्म नयी-नयी समस्या बनकर सामने आता ही रहता है, यदि सोचें कि सब समस्याओं का समाधान या किसी समस्या का स्थायी समाधान निकल जायेगा, तो दुःखी रहेंगे क्योंकि ऐसा कभी होगा नहीं। इस प्रकृति के अधिष्ठाता को जानकर इस गोरख-धन्धे से निकल तो सकते हैं, अज्ञान दूर करके माया के क्षेत्र से परे तो जा सकते हैं, लेकिन इसके भीतर इसे व्यवस्थित नहीं कर सकते। इस पर नियंत्रण ईश्वरका ही है और रहेगा, जीव का न है, न होगा। परमेश्वर को न जानने तक ही माया सब कार्य करती है। जानने योग्य मया नहीं वरन् इसे चलाने वाला आत्मा ही है। अध्यात्म या वैदिक दृष्टिकोण और अधिभूत या वैज्ञानिक दृष्टिकोण में यह आधारभूत फ़र्क़ है कि एक आत्मोन्मुख है व दूसरा अनात्मोन्मुख है। वैदिक जितनी प्रगति करता है उतना शान्त होता है, बहिर्मुख की प्रगति अशांति बढ़ाती है। परमात्माकी तरफ बढ़ने से सुखी होते जाते हैं। माया को बढ़ाने से दुःखी होते जाते हैं। सामान्य व्यवहार में भी यह अंतर प्रत्यक्ष है। परमेश्वर-केन्द्रित जीवन में साधन (उपकरण) तो सीमित रहते हैं लेकिन सुख-शांति-चैन रहता है जबकि संसार-केंद्रित जीवन में साधन असीम हो सकते हैं पर सुख-शांति-चैन का नामो-निशान नहीं रहता। परमात्मा की ओर बढ़ने पर सुविधायें कुछ नहीं मिलेंगी, सुविधाओं का रास्ता ही दूसरा है! उसमें तो सुविधाओं का त्याग करना है। स्वामी विवेकानन्द ने एक जगह कहा है कि हम हिन्दू इस बातका प्रयोग करते रहे कि कितने थोड़े में काम चल सकता हैयह आधारभूत दृष्टि है। जितनी कम सहायता से हम जी सकते हैं वह हमारी महत्ता है। आज दृष्टि है कि हमारे पास कितनी ज़्यादा सुविधायें हैं उससे हमारी महत्ता है। हिन्दू की दृष्टि में आदर के योग्य वह बनता है जो कम-से-कम में संतुष्ट

मायाभिरीशो बहुधा भाति सर्वेषु वस्तुषु।
श्रोत्रशक्तिमुपादाय श्रोत्रं सृष्ट्वाऽत्र भात्यसौ।।२०।।

है जबकि गैर हिंदू दृष्टि उसे महत्त्व का गिनती है जो ज़्यादा-से-ज़्यादा में भी असन्तुष्ट होकर और हासिल करने के लिये उत्साहित रहता है। आज यद्यपि हिंदुस्तान में भी ऐसी दृष्टि घर कर रही है तथापि मूलरूप से यह हिन्दू संस्कृति की सोच नहीं है। अत एव आधुनिकता में उपभोग करना भी एक सिद्धांत बना लिया गया है, जो उपभोक्ता नहीं उसे आधुनिकता का विरोधी मानते हैं। उपभोगवृद्धि के प्रभाव से ही प्राकृतिक संसाधनों का अनर्गल दोहन, अपशिष्ट की मात्रा में बेतहाशा बढ़ोतरी, आर्थिक स्रोतों का संकुचित नियंत्रण तथा स्पर्धा आदि क्लेशात्मक परिस्थितियाँ पनपती जा रही हैं। इसलिये श्रुति ने सावधान किया कि जिसका विस्तार यह संसार है वह माया है, उसका कार्य ही ठगना, धोखा देना है, उससे यथासंभव बचने में ही लाभ है, उसके दाव-पेंच समझने का प्रयास निरर्थक है। वास्तविकता समझनी तो है उसकी जिसका माया पर नियंत्रण है, मायी महेश्वर की विद्या तो पुरुषार्थप्रद है। श्वेताश्वतर में इसके अगले (४.११) ही मंत्र में कहा है 'तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति' कि स्तवनीय, वरप्रद, ईशान (प्रशासक), देवका निश्चय करके ही अत्यंत शांति मिलती है।

श्लोकोक्त द्वितीय उद्धरण में उसी मायाका वैविध्य कहा है। मंत्र है 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' परमेश्वर के कार्य-करण नहीं हैं, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' उसके बराबर और उससे अधिक कोई दीखता नहीं, 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' उसकी परा शक्ति नाना प्रकार की सुनी गयी है 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' जो स्वाभाविक है और ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में व्यक्त होती है। श्रोत्र का श्रोत्र आदि कहने पर हमें जिस भी तरह की सामर्थ्य उपलब्ध है, सभी अंतर्यामी की ही स्वभावसिद्ध शक्ति है अतः उस शक्ति में इन सभी प्रकारों से व्यक्त होने की योग्यता अंगीकार्य है। फिर भी परमेश्वर में शक्ति है एक माया ही, भेद तो उसी माया के हैं; यह चतुर्थ पाद में कहा। तदनुसार श्रोत्रादिका ही भेद है, उनका जो श्रोत्रादि, विभिन्न शब्दों से कहा गया है, वह अभिन्न है यह भाव है।।१९।।

उक्त जो एक की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ, उन्हीं को स्पष्ट करते हैं **ईश मायाशक्तियों द्वारा सभी वस्तुओं में बहुत तरह से प्रतीत होता है। सुनने की शक्ति ग्रहण कर श्रोत्र बनाकर वह (ईश) उसमें (श्रोत्रमें) प्रतीत होता है।।२०।।** 'मायाभिः' यों

येन शब्दः श्रूयते तच्छ्रोत्रं श्रोत्रत्वमस्य यत्।
तस्येशशक्त्या सृष्टत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमीश्वरः।।२१।।
व्याकृताऽव्याकृताकारौ यौ श्रोत्रस्य तयोरिदम्।
श्रोत्रं व्याकृत आकारः शक्तिरव्याकृताभिधा।।२२।।
तच्छक्त्युपहितत्वेन ब्रह्मापि श्रोत्रमुच्यते।
शृणोत्यकर्ण इत्युक्तं श्रोत्रशक्तियुतत्वतः।।२३।।

बहुवचन उसकी शक्तियों के आनन्त्यकी दृष्टि से है। परमेश्वर सभी चीज़ों में प्रतीत होता है अतः नाना तरह से उसकी उपलब्धि है पर सम्भव यह इसीलिये है कि माया में असंख्य शक्तियाँ हैं जिनके प्रयोग से परमेश्वर असंख्य तरह का मिलता रह सकता है। दृष्टान्त से समझाते हैंपरमेश्वर पहले श्रोत्र बनाता है उसी माया से जिसमें सुनने की शक्ति है; फिर कान में जो सुनने की शक्ति उपलब्ध होती है उस रूप में परमेश्वर उपलब्ध हो जाता है। कान में जो सुनने की शक्ति है वह वास्तव में परमेश्वर की मायाशक्ति ही है लेकिन उसकी सिर्फ़ सुनने की शक्ति वहाँ व्यक्त है। माया क्योंकि परमेश्वर की ही शक्ति है और शक्ति बिना शक्तिमान् के न रह सकती है, न प्रकट (कार्यकारी) हो सकती है इसलिये कान में सुनने की सामर्थ्य के रूप में परमेश्वरकी उपस्थिति सिद्ध होती है। कान के दृष्टांत से कही बात आँख आदि में तो है ही, सारे संसार की सभी चीज़ों में इसी तरह परमेश्वर की प्रत्यक्ष उपस्थिति समझें यह केन उपनिषत् का अपूर्व उपदेश है।।२०।।

जैसे आँख-नाक-हाथ-पैर आदि से विभिन्न तरह प्रकट होता हुआ भी जीव एक बना रहता है वैसे सभी उपाधियों से सब तरह प्रकट होता ईश्वर भी एक ही है यह समझाकर अब बताते हैं कि श्रुति में 'श्रोत्रका' से क्या कहा और श्रोत्रका जो 'श्रोत्र' बताया वह क्या है **जिस (करण) से शब्द सुना जाता है वह श्रोत्र है। इसका जो श्रोत्रत्व (श्रोत्रपना, जिसके कारण यह श्रोत्र कहा-समझा जाता है) वह ईशकी शक्ति से उत्पादित होने के कारण ईश्वर श्रोत्रका श्रोत्र है।।२१।। श्रोत्रके जो व्यक्त (करणरूप) और अव्यक्त (कारणरूप) आकार हैं उनमें यह (अर्थात् सुनने वाला) व्यक्त आकार है जबकि शक्ति वह आकार है जिसे अव्याकृत कहते हैं।।२२।। उस शक्तिरूप उपाधिकी दृष्टि से ब्रह्म भी श्रोत्र कहलाता है। उक्त श्रोत्रनामक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण वेद में कहा गया है कि परमात्मा बिना कान के सुनता है।।२३।। (केन वाक्य में) षष्ठी विभक्तिके बोधक प्रत्यय**

षष्ठ्यन्तं करणं तस्य प्रथमान्तं प्रवर्तकम्।
मनसो मन इत्यादावयं न्यायः समीक्ष्यताम्।।२४।।

वाले श्रोत्र शब्द से करण एवं प्रथमा विभक्तिके बोधक प्रत्यय वाले श्रोत्र शब्द से उस करण को प्रवृत्त करने वाले परमात्माको कहा गया है। 'मनका मन' इत्यादि वाक्यों में (भी) इस ढंग से समझ लिया जाये।।२४।। केन में 'श्रोत्रस्य' अर्थात् 'कानका' और 'श्रोत्रम्' अर्थात् 'कान'यों दो श्रोत्रादि शब्द आये हैं अतः दो अर्थ बताये : एक तो इन्द्रियरूप श्रोत्र प्रसिद्ध है, उसका जो श्रोत्र कहा वह है प्रेरकरूप परमात्मा। वास्तव में परमात्मा की जो शक्ति करणरूप श्रोत्र को इस लायक बनाती है कि यह सुन सके, वही श्लोक में 'श्रोत्रत्व' कही गयी है। जैसे बिजली की ही शक्ति पंखे को चलने में समर्थ बनाती है अतः पंखापना उसे कह सकते हैं, वैसे प्रकृत में भी है। जैसे पंखे आदि उपकरणों का भेद उनमें व्यक्तिगत है, सभी में मूलशक्ति बिजली की है जो एकरूप है, वैसे यहाँ इंद्रियादि के वैयक्तिक योग्यता-भेद के रहते ही आत्माकी शक्ति एकरूप है। आगे प्रश्न होता है कि करणरूप श्रोत्र में वह शक्ति पहुँची कैसे? इसके उत्तर में कहा कि वह उत्पन्न ही ईश की शक्ति से हुआ है इसलिये जैसे मिट्टी से बने घड़े में मिट्टी की शक्ति रहेगी ही वैसे श्रोत्र में सुनने की शक्ति रहना सहज है। पुनः प्रश्न होता है कि एकरूप शक्ति से श्रोत्र-मन-वाक्-प्राण-चक्षु आदि विभिन्न सामर्थ्यों वाले करण कैसे बने? इसके उत्तर के लिये पहले ही कह चुके हैं कि माया की असंख्य शक्तियाँ हैं। जैसे मिट्टी से ही दर्पण, पारदर्शी काँच, घड़ा ईंट आदि विभिन्न सामर्थ्य वाली चीज़ें बनती हैं वैसे समझना चाहिये। मिट्टी की अभिन्नता की तरह माया की अभिन्नता भी संगत है।

इस प्रकार श्रोत्रके दो स्तर (आकार) हुएएक व्याकृत या व्यक्त, दूसरा अव्याकृत या अव्यक्त। जहाँ नाम-रूप-कर्म का विभाजन हो उसे व्याकृत कहते हैं एवं ऐसे विभाजन से रहित को अव्याकृत कहते हैं। इंद्रियरूप में श्रोत्र यह नाम है, तदनुकूल रूप है एवं सुनना इसका अपना कर्म है अतः इंद्रिय व्याकृत है। यहाँ व्याकृत से गोलक नहीं समझें इसके लिये श्लोक २४ में मूलकार ने ही 'करणम्' कहा है। श्रोत्र का अव्याकृत आकार वह शक्ति है जिससे यह श्रोत्र बनता है। सुषुप्ति में वही आकार रह जाता है, व्याकृत आकार उसी में विलीन हो जाता है। अव्याकृत शब्द वेदादि शास्त्रों में माया के लिये प्रचलित है अतः बताया कि यहाँ कही शक्ति वही है जिसे अव्याकृत कहा जाता है। यद्यपि 'श्रोत्र का श्रोत्र' यों कहे दूसरे श्रोत्र-शब्द से शक्ति

ईश्वरः प्रेरकः

एकत्वेऽपीश्वरस्येत्थं तच्छक्तीनां बहुत्वतः।
विलक्षणाऽनन्तवस्तुप्रेरणं संभविष्यति।।२५।।

बतायी गयी तथापि शक्ति परतंत्र वस्तु होने से शक्तिमात्र विवक्षित नहीं वरन् शक्तिमान् अभिप्रेत है अतः कहा 'ब्रह्माऽपि उच्यते।' शब्द अभिधा से शक्ति को कहकर तात्पर्य वृत्ति से ब्रह्मको कहता है अतः 'अपि' या 'भी' कहा। शक्तिमान् ब्रह्मको शक्ति से उपहित कहा। उपाधि से जिसका परिचय मिलता है उसे उपहित कहते हैं। उपाधि अर्थात् वास्तव में असम्बद्ध और अप्रभावी रहकर भी उपहित का उपाधि-सम्बद्ध रूप से व्यवहार कराने वाली, उपहित को प्रभावित प्रतीत कराने वाली वस्तु। जैसे स्फटिक लाल दीखे यह संभव करने वाला लाल फूल उपाधि है। शक्ति अर्थात् माया यद्यपि ब्रह्म से सचमुच में सम्बद्ध नहीं और उस पर कोई प्रभाव भी नहीं डालती तथापि ब्रह्म शक्तिमान् और कारणादि सप्रपंच रूप से प्रतीत होता है अतः शक्ति उपाधि है। सुनने की शक्ति भी परमेश्वर की उपाधि है जिससे परमेश्वर को श्रोत्र कह दिया। उसकी इस औपाधिक सामर्थ्य से ही अन्यत्र (श्वे. ३.१९) उसे बिना कानों के सुनने वाला कहा गया है। प्रेरित होने वाले कानों पर निर्भर न रहकर सुनता हैइतना ही तात्पर्य है, न कि वह स्वरूप से सुनने वाला है। इसी रीति से प्रकृत केनवाक्य में श्रोत्रस्य-मनसः-वाचः-प्राणस्य-चक्षुषः यों जो षष्ठी विभक्ति वाले श्रोत्रादि शब्द हैं वे प्रवृत्त होने वाले करणों का कथन कर रहे हैं तथा श्रोत्रम् आदि प्रथमा विभक्ति वाले शब्द प्रवृत्त करने वाले परमात्मा, अन्तर्यामी को कह रहे हैं। 'कानका कान'इनमें 'कानका' यह षष्ठ्यन्त कान शब्द है जो करण (इंद्रिय) का बोधक है और दूसरा 'कान' शब्द प्रथमान्त है जो अन्तर्यामी का बोधक है। 'कानका कान' आदि का अर्थ है इन्द्रिय-मन-प्राणों का प्रवर्तक। 'मनसो मनः' अर्थात् 'मनका मन'यहाँ भी मनोरूप अंतरिन्द्रिय का प्रवर्तक। ऐसे ही सभी उक्त इंद्रियादि एवं अनुक्त भी प्रवर्त्यों के बारे में समझ लेना चाहिये।।२१-२४।।

प्रवृत्ति-वैलक्षण्य के आधार पर प्रवर्तक की एकता के बारे में उठे (श्लोक. १३) प्रश्न का यों समाधान हो गया यह निगमन करते हैं **इस प्रकार ईश्वर एक होने पर भी उसकी शक्तियों की बहुतायत के चलते सम्भव हो जायेगा कि विलक्षण और असंख्य वस्तुओं का प्रेरण हो।।२५।।** ईश्वर चेतन होने से एक ही होना संगत है और शास्त्र ने भी उसे एक ही बताया है। उसकी माया नामक उपाधि में अनंत

शक्तियाँ हैं, अनन्त कार्य सम्पन्न करने की सामर्थ्य है। इसी से एक रहते हुए भी परमेश्वर सभी वस्तुओं को नाना प्रकार के कार्यों में प्रेरित कर पाता है। हम एक हैं, हमारी बुद्धि ब्राह्म मुहूर्त में जग जाने की चेष्टा करती है, हमारा मन तब भी सोने की चेष्टा करता है; दोनों की परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियाँ हैं लेकिन दोनों का प्रवर्त्तक तो एकमात्र हम ही हैं! एक रहते हुए ही उपाधि की विभिन्न वृत्तियों से विभिन्न चेष्टाएँ कर लेते हैं। विवाह के बाद मन से पीहर में रहना चाहते हुए भी बुद्धि से ससुराल जाना चाहने वाली लड़की तो एक ही होती है। स्वयं को सुधारने के सभी प्रयासों में यह द्वैध प्रत्यक्ष होता है, मन ग़लत आदत रखना चाहता है, बुद्धि उसे छोड़ना चाहती है। जो वृत्ति बलवान् होगी वह जीत जायेगी। यदि मन जीता तो बाद में भले ही हम दुःखी हों, पश्चात्ताप करें, लेकिन आखिर मन को भी जीतने की सामर्थ्य दी किसने थी? हमने ही! इसी तरह दानवों को जीतने की सामर्थ्य को अलग ईश्वर नहीं देता, जो देवों को जिताता है वह राक्षसों को भी जिताता है लेकिन फ़र्क़ ईश्वर या उसके सामर्थ्य प्रदान में नहीं वरन् देवों या दानवों की ताकत में है। जो जब ज़्यादा ताकतवर होगा वह तब दूसरे को दबा लेगा। जैसे हमारा स्थिर पक्ष बुद्धि वाला होता है, मन, वाला नहीं, ऐसे परमेश्वर का पक्ष देवों वाला है, असुरों वाला नहीं। यह केन में ही आने वाली आख्यायिका में व्यक्त भी है। प्रश्न होगा कि हम तो अनीश हैं इसलिये मन की करके पछता भी लेते हैं लेकिन ईश्वर सर्वज्ञ समर्थ है, वह पछता तो सकता नहीं, उसकी इच्छा के विपरीत कहीं कुछ हो सकता नहीं, यदि वह देव-पक्ष वाला है तो असुर-पक्ष कैसे जीत पाता है? उत्तर है कि जैसे हमारी अनीशता वैसे परमेश्वर की समता, तटस्थता, निष्पक्षता यह संभव कर देती है कि उसके बनाये नियमों के पालन से प्रगति होती रहे। आसुर-सम्पत् 'निबंध' के लिये है अतः असुरों की 'प्रगति' की वही दिशा होगी, दैवी सम्पत् की प्रगति की दिशा 'विमोक्ष' की ओर होगी। किंतु यथानियम प्रयास करने वाले को सामर्थ्य देना रोके ऐसा अन्याय परमेश्वर नहीं करता। दुरुपयोग अर्थात् धर्म-विरुद्ध उपयोग का प्रभाव दुःख अवश्य देगा लेकिन पाप करने में रुकावट नहीं डालेगा क्योंकि समभाव कायम रखता है। इसमें उसकी निष्ठुरता नहीं क्योंकि शास्त्र-गुरु आदि द्वारा लगातार सावधान करता रहता है ताकि जीव स्वयं विकसित होकर स्वतंत्र बने। यदि बलात् बुराई रोककर अच्छाई कराता तो जीव को बन्धक बनाये रखने की स्थिति होती जो निष्ठुरता कही जाती। अभी तो करुणापूर्ण न्यायशीलता ही है।।२५।।

अक्षाधिष्ठातृदेवेषु जीवेष्वक्षेषु चेश्वरः।
अन्तर्यामितया स्थित्वा नियच्छति यथातथम्।।२६।।

केन में श्रोत्रादि ही कहे लेकिन अंतर्यामी ब्राह्मण के अनुसार यहाँ सभी प्रवर्त्त्य विवक्षित हैं यह बताते हैं **इंद्रियों में, उनके अधिष्ठाता देवताओं में एवं सभी जीवों में अंतर्यामी रूप से रहकर ईश्वर ठीक-ठीक नियंत्रण करता रहता है।।२६।।** जैसे इन्द्रियादि तत्तत् उपाधियों को सामर्थ्य देता है वैसे उनके अभिमानी जीवों को भी वही सामर्थ्य देता है। जीवों में ही कुछ हैं जो इंद्रियादि के अधिष्ठाता हैं, बाकी केवल अपने 'क्षेत्र' के अभिमानी हैं। दोनों जीव ही हैं, अधिष्ठाता देवताओं का कार्यक्षेत्र बड़ा है, बाकी का कम है, यह फ़र्क़ है। इंद्रिय में एक सामर्थ्य सीधे ईश्वर से प्राप्त है जिससे वह देखने में सक्षम है, या सुनने में सक्षम है आदि, और दूसरी सामर्थ्य अधिष्ठाता देवताके माध्यम से प्राप्त है। जिससे वह अपनी उस क्षमता को व्यक्त कर पाती है। अधिष्ठाता देवता यदि अपनी सामर्थ्य न दे तो आँख देख नहीं पायेगी, भले ही उसकी दर्शन सामर्थ्य बनी रहे। कुछ उस तरह समझ सकते हैं जैसे बैंक में लॉकर दो चाबियों से खुलता है, एक लॉकर जिसने किराये पर ले रखा है उसकी और दूसरी बैंक-प्रबंधक की। एक सज्जन कलकत्ता में थे जिनकी आँखों ने देखना छोड़ दिया, कोई इलाज कारगर नहीं हुआ। उनके घर जब वार्षिक दुर्गापूजा हुई तब भावविभोर होकर स्तुति करने लगे दुःखी होकर कि 'जन्मभर माँ का पूजन किया और आज उसका दर्शन करने लायक भी नहीं रहा!' प्रार्थना करते-करते ही उनकी रोशनी लौट आयी और जीवन-भर बनी रही। अधिष्ठाता देवता ने सामर्थ्य रोक रखी थी, देवीकी कृपा से देवता ने पुनः सामर्थ्य दे दी। आँख की सामर्थ्य तो यथावत् थी, अत एव देव-सामर्थ्य मिलते ही देखने लगी, किसी ओषधि आदि की ज़रूरत नहीं पड़ी। अधिष्ठाता देवों में भी है अन्तर्यामी वही ईश्वर, उसी का उन पर भी पूर्ण नियंत्रण है। 'ठीक-ठीक' अर्थात् ऐसा नियंत्रण कायम रहता है जो ईश्वर के स्थापित समग्र नियमों के अनुसार है। चाहे जितनी श्रेष्ठ उपाधि वाला हो, ग़लती का वह भी वैसा ही दण्ड पाता है जैसा कनिष्ठ उपाधि वाला और सही काम का फल छोटा भी वैसे ही पाता है जैसे बड़ा। किसके लिये क्या सही और क्या ग़लत हैयह परमेश्वर द्वारा निर्धारित है। मनुष्य के लिये सही को धर्म के रूप में शास्त्रों द्वारा परमेश्वर ने प्रकट किया अतः हम यह जान सकते हैं कि हमारे लिये क्या अच्छा-बुरा है पर इतने मात्र से अन्यों के बारे में निर्णय करने में हम समर्थ नहीं हो जाते! अतः अपने धर्मों

शक्तौ चिदाभासवत्यां स्थिता नियमनक्रिया।
तदधिष्ठानचैतन्ये नियन्तृत्वं प्रकल्पितम्।।२७।।

के पैमाने पर देव-ऋषि आदि को मापना ग़लत हो जाता है। नियम निर्धारित हैं, अटल हैं अतः इन्हें स्वयं परमेश्वर का शरीर मानते हैं तब उन्हें धर्मरूप में प्रणाम करते हैं 'तस्मै धर्मात्मने नमः'। क्योंकि उसी के बनाये हैं इसलिये वह स्वयं उनके अधीन हुए बगैर उनका पालन करता है। स्वतन्त्रता से वह नियमानुसार कार्य करता है। दूसरे के बनाये नियम अनिच्छा से मानने पड़ें तब परतंत्रता होती है, अन्यथा नहीं। इस तरह ईश्वर का स्वातंत्र्य, प्रेरकत्व, ऐक्य आदि उपपन्न है।।२६।।

अन्तर्यामी ईश्वर अर्थात् कारण ब्रह्म है, न कि निर्विशेष, इसे स्पष्ट करते हैं **नियंत्रित करना रूप क्रिया उस (माया) शक्ति में रहती है जिसमें चेतनका आभास है। उस शक्तिके अधिष्ठान चैतन्य में नियंत्रण-कर्तृत्व अध्यस्त है।।२७।।** नियंत्रित करना एक क्रिया है जिसे किसी क्रियावान् में रहना पड़ेगा। क्रियावान् वही होगा जो परिवर्तनशील है या परिच्छिन्न है क्योंकि क्रिया या परिणामरूप होती है या परिस्पन्दरूप। सच्चिदानंद ब्रह्म न परिवर्तनशील है न परिच्छिन्न अतः वह क्रियावान् हो नहीं सकता। नियमनादि क्रिया रहती है माया में। उस माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है अतः लगता है कि ब्रह्म ने क्रिया की। जैसे दर्पण के दागों का मुख पर आरोप हो जाता है वैसे माया की क्रिया का मायावी पर आरोप है। 'प्रतिबिम्ब है' का भी भाव स्पष्ट किया कि चैतन्य मायाका अधिष्ठान है, चैतन्य पर माया की कल्पना है। यह अनादि अध्यास है। जैसे रस्सी पर अध्यस्त सर्प रस्सी की सत्ता स्वयं में दिखाता है वैसे चेतन पर अध्यस्त माया (और मन) चेतन की चिद्रूपता स्वयं में दिखाती है, इसी का नाम माया (या मन) में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ना है। क्योंकि इस प्रतिबिम्बन के बगैर माया में नियमन क्रिया नहीं रहती इसलिये माया को स्वतंत्र रूप से नियामक नहीं कह सकते। क्योंकि माया के बगैर ब्रह्म में भी नियमन क्रिया नहीं रहती इसलिये अकेले ब्रह्म को भी नियामक नहीं कह सकते। अत एव मायोपाधिक को ही ईश्वर कहा जाता है। इस प्रकार 'किसके नियंत्रण में मन आदि हैं?' का उत्तर हुआ कि ईश्वर के नियंत्रण में मन आदि सारा संसार है।।२७।।

ईश्वर नियन्त्रक ही नहीं, मोचक भी है! उसके सोपाधिक रूपको, मायावीरूप को देखते रहें तो नियामक बना रहता है लेकिन उसके निजी रूप को, मायारहितरूपको देखने पर मोचक बन जाता है। इसीलिये सांसारिक उन्नति भी परमेश्वर से मिलती है

नियन्तृत्वोपाधिना यः परमात्मोपलक्षितः।
तम् इन्द्रियनिरोधेन धीराः पश्यन्ति योगिनः।।२८।।

और संसार से छुटकारा भी उसी से मिलता है। इस बात को केनोपनिषत् के ही द्वितीय मंत्रके बाकी भाग में कहा 'अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति' अर्थात् धीर मायने परमात्मबुद्धि पा चुके साधक 'अतिमुच्य' मायने श्रोत्र आदि उपाधियों से तादात्म्य हटाकर 'अस्मात् लोकात्' मायने पुत्र-मित्रादि विषयों से 'प्रेत्य' मानो मरकर अमृत अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाते हैं। इस श्रुतिको समझाते हैं **नियमन-कर्तृत्वरूप उपाधि से जो परमात्मा उपलक्षित है उसे धीर योगी इन्द्रियों के नियंत्रण से देखते हैं।।२८।।** जैसे जगत्कारणत्व उपाधि, वैसे नियमनकर्तृत्व भी उपाधि है। ईश्वर के पाँच कृत्य प्रसिद्ध हैंउत्पादन, रक्षण, संहार, नियमन और मोचन। छांदोग्यादि में कारणत्व-प्रधान उपदेश है, इसीका जन्मादि सूत्र में विस्तार है, केन में नियामकत्वरूप उपाधि के सहारे परमेश्वर का परिचय कराया है। परमात्मा वही है, उस तक चित्त पहुँचाने के लिये उपयोगी उपाधि का ही अंतर है। वस्तुतः उपाधि भी एक माया ही है लेकिन उसकी शक्तियों में भेद है जिससे उत्पादकत्व आदि विभिन्न धर्म प्रतीत होते हैं। परमात्मा नियामक हैयों क्योंकि उसे समझ पाते हैं इसलिये उसे नियामकत्व से उपलक्षित कहा। श्लोक २३ में उपहित कहा था क्योंकि सविशेष का प्रसंग था, यहाँ उपाधि से उपलक्षित कहा क्योंकि निर्विशेष बताना है। स्वरूप से बहिर्भूत रहना तो उपाधि व उपलक्षण में एक-सा लेकिन उपाधि यावत्कार्यावस्थायी होती है जबकि उपलक्षण वैसा नहीं, कादाचित्क होता है। घड़ा आकाश की उपाधि है पर तब तक रहेगा ही जब तक घटाकाश में पानी आदि रखा जा सकेगा जबकि कौवा देवदत्त के घर का उपलक्षण है अतः 'कौवे वाला घर देवदत्तका है' यह बताते-बताते भी उड़ सकता है और घरकी पहचान करा चुके यह हो सकता है। माया उपाधि है ईश्वर की और उपलक्षण है ब्रह्मकी। ईश्वर को नियामक भगवान् ने भी कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।'१८.६१।। सब भूतों के हृदयदेश में रहता ईश्वर सारे भूतों को वैसे ही माया से घुमाता रहता है जैसे यंत्र (झूले) पर चढ़े लोगों को यंत्री (झूलाचालक) घुमाता है। उपाधि वाले परमेश्वर की आराधना, उपासना होती है, उससे उत्तमोत्तम फल मिलते हैं पर उसका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। अपरोक्ष तो उपलक्षित परमेश्वर का ही होता है और अपरोक्ष होने पर संसारबंधन समाप्त हो जाते हैं। जो उस उपलक्षित की प्राप्ति करना

अदर्शने त्वहंकारतादात्म्यं चिति कल्प्यते।
तादात्म्याध्यासतो जीवो भूत्वाऽसौ बंधमाप्नुयात्।।२६।।
अध्यासवारिका बुद्धिर्येषां धीरास्त ईरिताः।
बन्धान्मुक्त्वा वपुस्त्यक्त्वा ते स्युर्मरणवर्जिताः।।३०।।

चाहे वही धीर है। धी अर्थात् तत्त्वज्ञान में रमण करने वाला धीर है। हमेशा विचार-पूर्वक सच्चिदानन्द परमात्मा में ही मन एकाग्र करना धीर का कार्य है। इसके लिये अत्यंत धैर्य अनिवार्य है, इसलिये धीर से धैर्यवान् भी कहा जाता है। धीर ही इंद्रिय-निरोध में सक्षम होगा। इंद्रियाँ 'प्रमाथी' हैं, बलात् मनका हरण कर लेती हैं (गी. २.६०) जिसके फलस्वरूप प्रज्ञा हाथ से निकल जाती है (गी. २.६७)। ऐसी इंद्रियों पर धैर्यवान् ही नियंत्रण रख पाता है। इन्द्रियाँ आकर्षण यह दिखाती हैं कि 'भोग का सुख तो सद्यः उपलब्ध है, नियंत्रण का फल ऐसा है नहीं, न जाने हो भी कि नहीं'। धीर तो इंतजार करता रहता है कि नियंत्रण पकने दें तब देखें कि इसका स्वाद कैसा है, अधीर चार-छह दिन के नियंत्रण की निष्फलता (अप्रभाविता) देखकर पुनः इंद्रियों को भोगकी छूट दे देता है जिससे नियंत्रण में परिपक्वता आ ही नहीं पाती। धीर को योगी होना पड़ेगा, निरन्तर अभ्यासी होना पड़ेगा। लक्ष्यवेध के लिये सतत प्रयासशीलता योग है, जुटे रहना है। श्रुति के 'अतिमुच्य' का 'इन्द्रियनिरोधेन' व्याख्यान है तथा 'धीराः' का अर्थ किया 'योगिनः'। नियमनकर्त्तारूप परमात्मा के स्वरूप को समझने वाले साधक को इंद्रिय-नियंत्रण और चित्तैकाग्रता का विशेष ख्याल रखना चाहिये। इंद्रियाँ वही करें जो अंतर्यामी की प्रेरणा है और चित्त इस पर स्थिर रहे कि उसकी प्रेरणा को ग्रहण करे, अन्य प्रेरणाओं की उपेक्षा करता रहे, तभी नियामक का स्वरूप आविर्भूत होगा। किं च इंद्रियनिरोध से साधन-सम्पत्ति, धीराः से श्रवण, योगिनः से मनन और पश्यन्ति से विज्ञानरूप निदिध्यासन समझ लेना चाहिये।।२८।।

धैर्यपूर्वक योगी बनकर शम-दम आदि का क्लेश सहते हुए दर्शन करने का क्या लाभ, न करने से क्या हानियह स्पष्ट करते हैं **परमात्मदर्शन न रहने पर चैतन्य पर अहंकार का तादात्म्य आरोपित रहता है। तादात्म्यके अध्यास से चेतन जीव होकर बँधा रहता है।।२६।। जिन्हें वह अध्यास समाप्त करने वाली बुद्धि प्राप्त हो गयी वे धीर कहलाते हैं। वे बंधन छोड़कर, शरीर छोड़कर मरणरहित हो जाते हैं।।३०।।** आत्मदर्शन का लाभ मोक्ष और अदर्शन से हानि बन्धन ही है। आत्मदर्शन के लिये आत्मश्रवण प्रथम आवश्यकता है। आत्मस्वरूप समझे बिना

ऐक्यभ्रान्तिर्बन्धकृत् स्याद् अहंकारचिदात्मनोः।
तद्विवेके कुतो बंधः शरीरं चात्मनः कुतः।।३१।।
देहप्राणवियोगः स्यान्मरणं यस्य तौ नहि।
तद्वियोगः कथं तस्य चिदेकरसवस्तुनः।।३२।।

उसके निमित्त कौन योगी बनेगा! लक्ष्य-वेध में तत्पर को योगी कहते हैं अतः पहले लक्ष्यबोध चाहिये। इसी में श्रवण-मनन का विनियोग है। संसार के बिगड़ने से 'मेरा' कुछ नहीं बिगड़ता यह निश्चय हुए बिना मोक्षसाधना में कोई संलग्न नहीं रह सकता, सांसारिक छोटे-बड़े कार्य लगातार सामने आते रहने से इनमें उलझा रहता है। मेरा स्वरूप शरीर-मन नहींयह निश्चय परोक्षतः भी हो जाये तभी अध्यात्मोन्मुखता कायम रहती है। आत्मबोध न रहने तक चिति अर्थात् शुद्ध चैतन्य में अहंकार का तादात्म्य अध्यास स्थिर रहता है। तादात्म्य अर्थात् ऐसा अभेद (अभेद ज्ञान) जो भेद के (भेदज्ञानके) बावजूद बना रहे। भले ही कदाचित् अहंकार में आत्मभिन्नता समझ आये फिर भी लगता वह आत्मरूप ही रहता है। मैं से स्वयं को अलग जानने वाला ही धीर है। सच्ची बुद्धिमानी इसी विवेक में है। संसार के बारे में बहुत कुछ जान लेना, उपकरण बना-चला लेना वस्तुतः बुद्धि का विकास नहीं है। शरीर-मन और इनके रोग-शोक आदि से अप्रभावित वस्तु को स्वस्वरूप समझने वाला बुद्धिमान् है। वही बन्धन से छूटेगा, अन्य नहीं। शरीर-मन आदि को स्वयं से एकमेक समझना अध्यास, भ्रम है जो धीरों का निवृत्त होता है अतः वे बंधनमुक्त हो चुकते हैं। प्रारब्धपर्यंत शरीर में रहकर फिर उनका मरण भी अप्रासंगिक हो जाता है।।२९-३०।।

आत्मबोध की मोचकता उपपन्न करते हैं **अहंकार और चिद्रूप आत्मा की एकता का भ्रम बन्धनकारी है। उन दोनों का परस्पर भेद समझ चुकने पर बंध किस कारण से होगा और शरीर आत्मा 'का' क्यों होगा!।।३१।। शरीर और प्राण का आपसी वियोग मृत्यु है। शरीर प्राण दोनों जिसके हैं नहीं ऐसी ज्ञानमात्ररूप वस्तु का वियोग कैसे होगा?।।३२।।** मैं से एक होते ही, अहंकार से जुड़ते ही हम मायाके संसार में पहुँच जाते हैं। इस भ्रमसिद्ध एकता से रहित हम हैं तो केवल ज्ञानरूप। अतः विवेक अर्थात् अहंकार और निजस्वरूप के विभेद का साक्षात्कार बंधन से छुड़ा देता है। यद्यपि विवेकमात्र नहीं, अभेदज्ञानको मोक्षहेतु बताया गया है तथापि बन्धन व्यक्त तभी हो सकता है जब ऐक्य भ्रम हो अतः जिसे विवेक होने से वह भ्रम नहीं रहा उसे बंधन की अभिव्यक्ति का अनुभव संभव नहीं।

इन्द्रियाद्यतीतता

बन्धो देहो मृतिर्बोधमात्राच्चेत् सन्ति नो तदा।
सर्वे बुध्वा निजात्मानं कृतकृत्याः कुतो नहि।।३३।।

शरीर-मन के बगैर बंधन अनुभव में आयेगा नहीं और इन्हें वह स्वयं का रूप समझेगा नहीं। फिर भी कारणभूत अविद्या रहते अव्यक्त बंधन बचता है जैसा सुषुप्ति में भासता है, उसकी निवृत्ति के लिये अभेदज्ञान चाहिऐ और तभी अहंकार की समूल, आत्यंतिक निवृत्ति होती है। किंतु विवेक होने पर ही वह तत्त्वबोध संभव, सुलभ होता है अतः विवेक को भी मोचक कहना संगत है। जैसे 'फ्यूज' के माध्यम से ही बिजली घर आदि की तारों द्वारा पंखे आदि तक पहुँचती है अतः 'फ्यूज' हट (उड़) जाने पर सरकारी तारों में रहते हुए भी घर आदि की तार आदि से उसका संबंध नहीं होता, वैसे आत्मा का शरीर आदि से सम्बन्ध अहंकार के ही मार्फ़त है, अहंकार निवृत्त होने पर आत्मा यथावत् रहे, उसका किसी उपाधि से कोई सम्बन्ध न रह सकने से बंधन असंभव है। कारण-रूप से अहंकार बना रहते अव्यक्त बंधन (या मोक्ष सुख का सावरण भान) रह सकता है लेकिन जब अहंकार समूल मिट जाता है तब बंधनका प्रसंग ही नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति मरता नहीं। मरने का मतलब अहं समझे जाते स्थूल शरीर से अहं समझे जाते प्राण अर्थात् सूक्ष्म शरीर का सर्वथा अलग हो जाना जिसे लोक में 'प्राण निकलना' भी कहते ही हैं। जिसे दोनों शरीरों में अहंबुद्धि नहीं उसका इसलिये मरण नहीं कि जिन शरीरों का वियोग होगा भी वे 'उसके' नहीं हैं अतः जैसे रोज़ लाखों प्राणियों के मरते रहने पर भी देवदत्तादि (जीवित व्यक्ति) मरता नहीं क्योंकि उन शरीरों में उसे मैं-बुद्धि नहीं, वैसे विवेकी को किसी भी शरीर में मैं-बुद्धि न रहने से कोई भी शरीर परस्पर वियुक्त हों, इससे वह धीर मर नहीं पाता। वह स्वयं को चिद्रूप, ज्ञानरूप जानता है, ज्ञान में भी घटा-बढ़ी आदि कोई फर्क़ नहीं और ज्ञान वस्तु अर्थात् सनातन सत्तत्व है। ऐसे को ही मैं जानने वाला मर सके यह संभव नहीं। यही उक्त विवेक का प्रभाव है।।३१-२।।

आगे उपनिषत् कहती है कि उस आत्मा को चक्षुरादि इंद्रियाँ व मन विषय नहीं करते अतः उसे समझने-समझाने का तरीका निश्चित करना संभव नहीं। ऐसा कथन किस अभिप्राय से है, यह बताते हैं **शरीर ही बंध है और ज्ञानमात्र से अमरता हो सकती है तो सभी लोग निज आत्मा को समझकर कृतार्थ क्यों नहीं हो जाते?।।३३।। (उत्तर है-) सद्गुरु से जिन्होंने परमात्मोपदेश नहीं पाया है वे**

गुरूपदेशरहिता आत्मानं बोद्धुमक्षमाः।
चक्षुर्वागादयो यस्मान्न गच्छन्ति चिदात्मनि।।३४।।
चक्षुर्न गच्छेन्नीरूपे वागवाच्यं कथं वदेत्।
अविकल्पमसंकल्पं ग्रहीतुं न मनोऽर्हति।।३५।।

आत्मा को समझने में असमर्थ रहते हैं क्योंकि आँख, वाणी आदि चिदात्मा तक नहीं पहुँचते।।३४।। रूपहीन को चक्षु नहीं देखती, वाचकशक्ति के अविषय को वाक् बोलती नहीं और संकल्प-विकल्प से रहित वस्तु का ग्रहण मन नहीं कर पाता।।३५।। (श्लोक ३३ में 'बोधमात्राद् अमृतिः' ऐसे प्रश्लिष्ट अकार मानकर योजना की है। 'मृतिः' ही शब्द मानें तो अर्थ है 'यदि ज्ञानमात्र से बंधन शरीर और मरण नहीं रहें तो सभी...।' पूर्वयोजना में 'सन्ति' का 'कृतकृत्याः' से सम्बन्ध है, दूसरी में बंधादि से है।) ज्ञान ही अगर मोक्ष के लिये पर्याप्त हो तो सभी जीव प्रत्यग्भूत तत्त्व के साक्षात्कार से सहजरूप से ही मुक्त होने चाहिये, अनादि बन्धन उपपन्न नहीं। भाव है कि ज्ञानमात्र मोक्षप्रद नहीं, बंधन ऐक्यभ्रममात्र नहीं। ज्ञानमात्र से बंधनाभाव और मरणाभाव की तरह शरीराभाव की संभावना या शरीर को मिथ्या मानकर संगत है, या शरीराभावका मतलब शरीर-सम्बन्धाभाव से है। अर्थात् जैसे मिथ्या रजत का शुक्तिज्ञानमात्र से अभाव हो जाता है वैसे आत्मज्ञानमात्र से शरीरका भी अभाव होना चाहिये। यदि शरीर नहीं, शरीर से सम्बन्ध ही मिथ्या है तो आत्म-ज्ञानमात्र से शरीरसंबंध नहीं रहना चाहिये। शरीरसंबंध न रहने को ही शरीर न रहना कह दिया है। लोक में भी 'देवदत्त का शरीर नहीं रहा' का मतलब होता है कि उस शरीर से देवदत्त का संबंध नहीं रहा, अन्यथा, शव तो पड़ा ही होता है। सर्वथापि, प्रश्न है कि आत्मा सर्वसुलभ वस्तु है तो उसे जानकर प्राणिमात्र मुक्त क्यों नहीं हो पा रहे? इसका उत्तर दिया कि गुरूपदेश से ही आत्मज्ञान होगा, उसके बिना नहीं। उपदेश भी ग्रहण करने की हममें सामर्थ्य चाहिये उसके बिना मिला हुआ भी उपदेश कारगर नहीं होगा। इंद्रिय-मनका विषय होता तो बिना उपदेश के या बिना हमारी योग्यता के उसे समझ लेते, किंतु इन्द्रियादिका अविषय होने से वैसा संभव नहीं। जैसे कसौटी पर कसने से गुलाब की महत्ता का निर्धारण संभव नहीं वैसे इंद्रिय-मन से आत्मा समझना संभव नहीं। अतः इंद्रियादि-निर्भरवादी आत्मा का अस्तित्व ही नकारते हैं। आत्मा को जानने का एकमात्र तरीका गुरुमुख से वेदान्तश्रवण है। प्रत्यक्ष भी आत्मा, बिना वेदान्तानुसारी उपदेश के समझा नहीं जा सकता। जैसे स्वयं कौन्तेय था फिर भी 'मैं

एवं सति कथं यूयं जानीथ मनसेति चेत्।
आचार्यनिरपेक्षेण न विद्मो मनसा वयम्।।३६।।

कौन्तेय' समझने के लिये कर्ण को कृष्णादि के वचनों पर निर्भर रहना पड़ा वैसे हमें श्रुति पर निर्भर रहना पड़ेगा। स्वतः प्रमाण वेद और तदनुसारी युक्ति से ही चिन्मात्र-स्वरूपता का निश्चय संभव है। अत एव यह अनुभव भी स्वयं को ही होना संभव है। जैसे मुक्का खाने के दर्द को खुद ही जान सकते हैं, अन्य की दर्द का साक्षात्कार संभव नहीं, वैसे आत्मरूपता को खुद ही अनुभव करना संभव है। परमात्मा रूपी द्रव्य या रूप तो है नहीं कि चक्षु से पता चले और उसमें प्रवृत्तिनिमित्त जात्यादि न होने से वह शब्दशक्ति का विषय नहीं कि उसे शब्द से कहा समझा जा सके। मनका कार्य संकल्प-विकल्प और आत्मा संकल्पादि से रहित है अतः मन का विषय नहीं। पक्षतः स्वीकारयोग्य स्वरूप या धर्म को 'कल्प' कहते हैं; किसी कल्प को सम्यक् समझना संकल्प एवं विरुद्ध कल्प को उपस्थित करना विकल्प है। मन ये दोनों कार्य करता है। परमात्मा में वैसा कोई स्वरूप या धर्म नहीं अतः वह संकल्पादि के अयोग्य है। परमात्मा का सत्त्यादि स्वरूप तो है लेकिन वह पक्षतः नहीं वरन् सर्वतः ही स्वीकार्य है, यह भाव है। इस प्रकार बिना शास्त्राचार्योपदेश के परमात्मबोध की असंभवता स्पष्ट की जिससे 'सब क्यों मुक्त नहीं हो जाते?' का समाधान हो गया कि क्योंकि उस उपदेश को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, उसके अयोग्य हैं, इसलिये सब मुक्त नहीं हो जाते; जो योग्य, समर्थ हैं, वे उपदेश ग्रहण कर मुक्त होते ही हैं।।३३-५।।

इन्द्रिय मन के अविषय को आचार्य भी कैसे जानता हैयह प्रश्नोत्तर से स्पष्ट करते हैं **ऐसा है तो आप (आचार्य) लोग भी मनसे उस तत्त्वको कैसे जानते हैं? 'आचार्य-उपदेश के सहारे के बिना अकेले मन से हम भी नहीं जानते।' ।३६।।** तात्पर्य है कि अनादि गुरुपरम्परा से उपदेश पा-पाकर ही प्रत्येक आचार्य भी उसे समझता है। समझना मन से ही है क्योंकि प्रमाण-वृत्ति मन की ही होती है, लेकिन आचार्योपदेश की अपेक्षा अर्थात् निर्भरता से ही मन वैसी वृत्ति बना सकता है, उसके बिना न इंद्रियादि के सहारे और न संकल्पादि या तर्कादि के सहारे।।३६।।

प्रश्न होता है कि वाक् का भी उसे अविषय कहा तो आचार्य से कोई उपदेश पा कैसे सकता है? इसका उत्तर बताते हैं **शब्द-शक्तिके अविषय पदार्थ को आचार्य भी कैसे कहेगा? अभिधावृत्ति से उसे कह सके ऐसा कोई प्रकार मुझे नहीं**

आचार्योऽपि कथं ब्रूयादवाच्यमिति चेद्यथा।
बोधयेदभिधावृत्त्या तं प्रकारं न वेद्म्यहम्।।३७।।
'षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते।।'३८।।[1]
ईदृशं यूयमाचार्याच्छ्रुतवन्तः कथं त्विति।
ब्रूषे चेच्छुश्रुमात्मानमतद्व्यावृत्तितो वयम्।।३९।।

मालूम।।३७।। शब्द शक्ति की प्रवृत्ति में हेतु होते हैंषष्ठी (सम्बन्ध), गुण, क्रिया, जाति या रूढि। इनमें से एक भी आत्मा में है नहीं अतः इसे अभिधावृत्ति से व्यक्त नहीं किया जाता।।३८।। अगर पूछो कि 'इस तरह का आत्मा आपने आचार्य से कैसे सुना?' तो (जवाब है कि) हमने आत्मा को अतद्-व्यावृत्ति (या अपोह) से समझा।।३९।। शब्द का जो कोशादि प्रसिद्ध, लोकप्रसिद्ध, प्रयोग में प्रचलित सर्वसम्मत अर्थ वह वाच्य अर्थ कहा जाता है जिसका ज्ञान कराने के लिये शब्द को अर्थान्तर उपस्थापित नहीं करना पड़ता। वाच्य से सम्बद्ध अर्थ को शब्द बताये तो उसे लक्ष्य अर्थ कहा जाता है, उसके ज्ञान के लिये शब्द को पहले वाच्यका उपस्थापन करना पड़ता है। गंगा से नदी अर्थ वाच्य है, तट अर्थ लक्ष्य है जिसे गंगा कहने पर पहले नदी अर्थ प्रतीत होगा फिर तात्पर्यानुरोध से उसे छोड़ तट समझ आयेगा। वाच्यबोधन की सामर्थ्य शब्द की शक्ति कही जाती है। वह उसी को विषय करती है जिसमें सम्बन्धादि हो। सम्बन्ध जैसे माता, पिता आदि शब्दों का अर्थ। लाल, पीला आदि शब्दों से लाल आदि गुणवाली चीज़ें कही जा सकती हैं। क्रियावान् भी पाचक, पाठक आदि शब्दों का अर्थ होता है। घटत्वादि जाति वाले घट आदि तो घटादि शब्दों के वाच्य प्रसिद्ध हैं। रूढि अर्थात् प्रमाणतः उपस्थित के साथ जहाँ सम्बन्ध निर्दिष्ट कर दिया जाये उस अर्थ का शब्द से ज्ञान, जैसे देवदत्त आदि शब्दों से उन व्यक्तियों का कथन होता है। आत्मा इन सब निमित्तों से वर्जित होने से अवाच्य है। अप्रमेय होने से परमात्मा रूढिग्राह्य नहीं है। लोग कह देते हैं कि जिसे कोई खुदा कहता है, कोई गोड कहता है उसी को हम ईश्वर कहते हैं। लेकिन यह तब होता जब वह वस्तु आँख आदि का विषय होती; उसे सामने कर उसके ये तीन नाम दे देते, फिर चाहे-जिस नाम से व्यवहार होता रहता जैसे एक चीज़को मेज़,

---

१. नैष्कर्म्यसिद्धि ३.१०३।

ज्ञातं चाज्ञातमित्येवं जगद् द्वेधावभासते।
तस्योभयस्य व्यावृत्त्या परमात्मावशिष्यते।।४०।।
धीर्वृत्तिविषयीकृत्य यद् घटाद्यवभासयेत्।
विदितं तद्यत्र नो धीस्तत्स्यादविदितं खलु।।४१।।

टेबल, चौकी आदि कहते हैं। परमेश्वर क्योंकि यों सर्वसाधारणरूप से अनुभव में आता नहीं इसलिये कोई भी नाम उसे दिया नहीं जा सकता। अतः परिभाषा से ही समझना पड़ेगा कि खुदा मायने क्या, गोड मायने क्या आदि। परिभाषाओं में अंतर है, अतः ये शब्द एकार्थबोधक नहीं हैं। यदि हम खुदा को जानते तब कोई कह सकता था कि 'इन्हीं जनाब का नाम गोड भी है', लेकिन हम क्योंकि न खुदा, न गोड, न ईश्वर से वाकिफ़ हैं इसलिये किसी भी शब्द से हम उस तत्त्व को नहीं समझ सकते। इकलौता होने से ईश्वर की जाति भी नहीं। सर्वज्ञता आदि गुण, जगद्रचना आदि क्रिया भी हमें वैसे ही अज्ञात हैं जैसे ईश्वर इसलिये उनके सहारे भी शब्द से ईश्वर नहीं कहा जा सकता। असंग होने से सम्बन्ध द्वारा भी वह वाच्य नहीं। इसलिये 'चाहे जिस शब्द से कहें, सब एक ईश्वर को कहते हैं' यह अनर्थक बात है। इसी तरह अखण्ड अद्वय आत्मवस्तु सर्वविशेष-रहित होने से शब्दशक्ति का विषय नहीं। अतः उसे अतद्-व्यावृत्ति से कहा समझा जाता है। तत् अर्थात् परमात्मा। जो परमात्मा नहीं वह अतत्, उसकी व्यावृत्ति मतलब निषेध। जो कुछ परमात्मा नहीं उस सबके निषेध से, बचे हुए स्वप्रकाश तत्त्व को समझना संभव है। इस निषेध के लिये शब्दों का उपयोग है। अतद्व्यावृत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण है राम-लक्ष्मण, साथ खड़े थे, कुछ दूर ऋषि पत्नियों के साथ सीता जी खड़ी थीं। ऋषिपत्नियों ने पूछा 'दोनों राजकुमारों में से तुम्हारा पति कौन-सा है?' सीता जी ने जवाब दिया 'गोरा वाला मेरा देवर है।' इससे ऋषिपत्नियों को पता चल गया कि राम जी कौन-से हैं। सीधे सीता जी ने नहीं कहा फिर भी ठीक-ठीक पता चला और सीता जी के कथन से ही चला। ऐसे ही सारे अतत् का निषेध होने से फलतः तत् का अवगम हो जाता है।।३६-९।।

तत्-अतत् का विभाजन स्पष्ट करते हैं **जगत् दो तरह से प्रतीत होता हैज्ञात और अज्ञात। इन दोनों के निषेध से परमात्मा बचा रह जाता है।।४०।। वृत्ति से विषय बनाकर बुद्धि जो घटादि प्रकाशित करती है वह ज्ञात होता है। जिसे बुद्धि यों नहीं प्रकाशित करती वह अज्ञात होता है। यह बात प्रसिद्ध है।।४१।।** केन वाक्य 'अन्यदेव तद् विदिताद् अतोऽविदितादधि' का

उपदेशप्रकारः

ज्ञाताज्ञाते साक्षिभास्ये स साक्षी भासते स्वयम्।
ज्ञाताज्ञातपरित्यागे साक्षिशेषो ह्यतिस्फुटः।।४२।।
वेद्मीति यद्बलादात्थ न वेद्मीत्यपि यद्बलात्।
तदन्यनिरपेक्षं सद्भातीत्यस्मद्गुरोर्वचः।।४३।।

यह व्याख्यान है। संसार दो तरह का ही है, ज्ञात या अज्ञात। दोनों तरह का संसार परमात्मा नहीं, परमात्मा न ज्ञात है, न अज्ञात। हम स्वयं को न जाना हुआ कह सकते हैं, न नहीं जाना हुआ कह सकते हैं अतः स्वात्मा ही विदिताविदित से अन्य है। विदित अर्थात् बुद्धि जिसे वृत्ति द्वारा घेरकर उसके आच्छादक अज्ञान को हटाये। जिसका आच्छादन नहीं हटाती वह अविदित, अज्ञात बना रहता है। यह सर्वानुभवसिद्ध विभाजन है। बुद्धि के भी द्वारा प्रकाशन करने वाला आत्मा इस विभाजन से परे है।।४०-१।।

उक्त ज्ञात-अज्ञात की व्यावृत्ति से साक्षिचैतन्य ही अवशेष रहता है यह कहते हैं **ज्ञात व अज्ञात साक्षी से भासित होते हैं। वह साक्षी खुद भासता है। ज्ञात-अज्ञात को छोड़ने पर अत्यंत स्पष्ट है कि साक्षी ही बचा रहता है।।४२।। जिसके बल से 'जानता हूँ' कहते हो और जिसके बल से 'नहीं जानता' भी कहते हो, किसी अन्य का सहारा न लेने वाली वही सद्रूप वस्तु (ज्ञाताज्ञातका निषेध होने पर) भासमान रहती हैयह हमारे गुरु का वचन है।।४३।।** ज्ञान का विषय ज्ञात, अज्ञान का विषय अज्ञात है, दोनों को भासित करने वाला साक्षी है। घटादि विषयका जब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब घटादि विषय साक्षी से ग्रहण किया जाता है अतः विषय भी प्रत्यक्ष होता है। विषय की प्रत्यक्षता का प्रयोजक तो प्रमाता से अभेद है लेकिन विषय ज्ञात है इसका ग्रहण तो साक्षीको ही सम्भव है। मानसोल्लासवार्तिक ३.६ में आचार्य ने कहा है 'जानामीत्येव यज्ज्ञानं भावान् आविश्य वर्तते। ज्ञातं मयेति तत् पश्चाद् विश्राम्यत्यन्तरात्मनि।।' पहले ज्ञान पदार्थों को 'मैं जानता हूँ' यों व्याप्त अर्थात् स्वयं से संबद्ध करता है फिर वही अन्तरात्मा में आकर 'जान लिया' यों ठहरता है। विषयाकार वृत्ति से तो प्रमाता सम्बद्ध होता है किन्तु भान (ज्ञान) का मूल स्रोत साक्षी ही होने से भास्य सब साक्षी का ही होगा। ज्ञानवृत्ति के माध्यम से हो या अज्ञान के, जो भी भासेगा वह साक्षी से ही भास सकता है। संसार ज्ञात-अज्ञात का पुंज है और वे साक्षी से भास्य हैं तो स्वयं साक्षी किसी और से भास्य हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा कुछ रहा ही नहीं जो साक्षी से भास्य न हो। अतः

अज्ञातज्ञातयोः साक्षी ब्रह्मेत्येवंविधा तु धीः।
अज्ञानं नाशयत्येव न ब्रह्म स्फोरयत्यसौ।।४४।।
स्वतः स्फुरणरूपेऽस्मिन् किमन्यत् स्फुरणं भवेत्।
स्फोर्यत्वाभावतस्तस्य न मनोगम्यता भवेत्।।४५।।
अवाङ्मनसगम्यं तदाचार्येणोपदिश्यते।
शिष्येण बुध्यते चेत्थं न किंचिन्नोपपद्यते।।४६।।

साक्षी स्वयं ही भासमान है। जब ज्ञात-अज्ञात को व्यावृत्त, निषिद्ध कर दिया तब सारा संसार, दृश्यमात्र निवृत्त हो जाने से स्वप्रकाश साक्षी ही रह जाता है जिसे बताने के लिये शब्द चाहिये ही नहीं क्योंकि वह स्वयं भासमान ही है। यह द्रष्टा नहीं है। द्रष्टा वह है जो साधनों से जाने जबकि साक्षी को कुछ जानने के लिये साधन नहीं चाहिये, साधनों को भी वही जानता है। अतः द्रष्टा (प्रमाता) हम तभी होते हैं जब कुछ 'बनें', मनवाले, आँखवाले आदि बनें तभी द्रष्टा होंगे जबकि कुछ न बनने पर जैसे हैं वैसे साक्षी ही हैं। साक्ष्य पर भी साक्षी की निर्भरता नहीं, भले ही 'साक्षी' ऐसे व्यवहार के लिये साक्ष्य की जरूरत हो। जैसे प्रकाश्य के होने-न होने से निरपेक्ष ही सूर्य चमकता है वैसे आत्मा भासमान है। कम जानना, ज्यादा जानना आदि ज्ञानतारतम्य द्रष्टा में ही होता है। साक्षी इन सभी तरह की सापेक्षताओं से मुक्त अतः निर्विकार है। राग-द्वेष आदि समस्त विकारों से रहित स्थिति में ही साक्षी समझ आ सकता है, उससे पूर्व तो द्रष्टा को ही साक्षी नाम से समझते रहते हैं। विषयों को जानना एवं न जानना, दोनों जिससे प्रकाशित हैं वही सद्रूप, भानरूप आत्मा है। आचार्य उसी को ज्ञात-अज्ञात के अपोह द्वारा हमेशा समझाते रहे हैं, यही सदा की परंपरा है। अतः केन में यहाँ कहा कि विदित-अविदित से अन्य है ऐसा हमने पूर्वाचार्यों से सुना जिन्होंने हमें समझाया। इसी से यहाँ कहा कि यह हमारे गुरु का वचन है।।४२-३।।

ब्रह्म का ज्ञान होता है तो ब्रह्म ज्ञात (ज्ञान विषय) कैसे नहीं? यह समझाते हैं **ब्रह्म वह है जो ज्ञात-अज्ञात का साक्षी हैऐसी बुद्धिवृत्ति केवल अज्ञान नष्ट करती है, ब्रह्मको प्रकाशित नहीं करती।।४४।। खुद स्फुरण जिसका स्वरूप है ऐसे इस ब्रह्म में और क्या स्फुरण होगा! क्योंकि किसी से प्रकाशित हो सकता नहीं इसलिये ब्रह्म मनका (बुद्धिका, ज्ञानका) विषय नहीं है।।४५।। मन-वाणीका अविषय वह तत्त्व आचार्य द्वारा समझाया भी जाता है, शिष्य द्वारा समझा भी जाता है। इस तरह इस बारे में कोई असंगति नहीं है।।४६।।**

अनिदं ब्रह्म

यन्नाभिधीयते वाचा वाग्येन प्रेर्यते सदा।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते।।४७।।

शरीर-मन की सीमाओं में बँधा प्रतीत होता साक्षी ही जब वे सीमायें हट जायें तब असीम भासता है अतः सीमाओं को हटाने के लिये ही बुद्धिवृत्ति कारगर है, भासता तो आत्मा खुद ही सदा है। अतः बुद्धि उसे 'स्फोरित' अर्थात् प्रकाशित करे यह न संभव और न जरूरी ही है। फिलहाल आत्मा को संसार से एकमेक जान रहे हैं, इसमें से संसार भाग हटा देना ही आवश्यक है, आत्मा तो अभी भी जान ही रहे हैं, आगे भी जानते रहेंगे। जैसे प्रकाश्यों को जानने के लिये प्रकाश चाहिये लेकिन प्रकाश को जानने के लिये कोई अन्य प्रकाश नहीं चाहिये वैसे आत्मा को जानने के लिये कोई ज्ञान नहीं चाहिये। हमारी ऐसी समझ हो रखी है कि जिसका भान हो वही है, जिसका भान नहीं वह है ही नहीं। लेकिन ब्रह्म ऐसी वस्तु है जो है पर उसका कभी भान नहीं। वह भानरूप है, उसका भान नहीं है। अतः ब्रह्म समझना कठिन हो जाता है। उसके बारे में अर्थात् उसे विषय करता कोई स्फुरण (ज्ञान) है भी नहीं और होता तो व्यर्थ भी था जैसे सूर्य को प्रकाशित करती कोई रोशनी है भी नहीं और होती तो व्यर्थ भी थी। इसलिये यद्यपि आचार्य और शास्त्र उसे शब्दों के सहारे समझा देते हैं तथापि रहता वह मन-वाणी से परे ही है। शिष्य भी उसे अविषय रूप से ही समझ लेता है। इतना अवश्य है कि अतिदीर्घ काल तक एकाग्रतापूर्वक विचार चाहिये तभी यह अविषय-भाव दृढ होता है अन्यथा थोड़ा-बहुत समझने पर भी जैसे ही विचार रुकता है तुरंत हम द्रष्टा बन जाते हैं। जब दीर्घकाल तक विचार से साक्षी के स्वरूप में प्रतिष्ठा दृढ हो जाती है तब अनायास साक्षिभाव में स्थिति रहती है। इस प्रकार विदित-अविदित से अन्य ब्रह्मका अज्ञान निवृत्त होने में कोई विसंगति नहीं।।४४-६।।

उपनिषत् में वाक्-मन-चक्षु-श्रोत्र-प्राण का उल्लेख करते हुए इनकी ब्रह्म में अविषयता तथा उसमें इनके प्रति प्रेरकता बताकर अनात्मभूत उपास्य की अपेक्षा प्रत्यक्स्वरूप को ब्रह्म जानने का विधान किया है। उस भाग को समझाना प्रारंभ करते हैं **जो वाणी द्वारा अभिधाशक्ति से कहा नहीं जाता, वाक् हमेशा जिससे प्रेरणा पाती है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो न कि इसे जिसकी उपासना की जाती है।।४७।। उपासक तो स्वयं से अन्य उसका ध्यान करते हैं जो सर्वज्ञ**

उपासकास्तु सर्वज्ञसर्वशक्त्यादिशब्दतः।
वाच्यं स्वभिन्नं ध्यायन्ति न मुख्यं ब्रह्म तद्भवेत्।।४८।।
स्फोर्यते मनसा यन्न स्फोरकं मनसस्तु यत्।
तद् ब्रह्म विद्धि न त्वेतद्यत्तु स्फोर्यमुपासते।।४९।।
भावनाजन्यवृत्त्यैव स्फोर्यं ध्यायन्त्युपासकाः।
उपासकेन दृश्यं तद् ब्रह्म मुख्यं कथं भवेत्।।५०।।

सर्वशक्तिमान् आदि शब्दों का वाच्य है। वह उपनिषदों में आये ब्रह्म-शब्द का प्रधान अभिप्रेत अर्थ नहीं है।।४८।। मनसे प्रकाशित न होते हुए जो मनका प्रकाशक है उसे ब्रह्म जानो न कि इस (मनसे) प्रकाशित होने वाले को जिसकी उपासना की जाती है।।४९।। भावना से उत्पाद्य मनोवृत्ति से ही स्फुरित होने वाले का उपासक ध्यान करते हैं। उपासक को दृश्य वह वस्तु ब्रह्म-शब्द का मुख्य अर्थ कैसे हो सकती है!।५०।। परमात्मा को शास्त्र सबका प्रकाशक अतः सबसे अप्रकाश्य कहता है। हम घड़े को आँख से देखते हैं : यहाँ देखना ज्ञान है, आँख उसमें साधन है, हम ज्ञाता और घड़ा ज्ञेय है; ज्ञाता, ज्ञानसाधन, ज्ञेयये तीनों निर्भर हैं ज्ञान पर। यदि देख न पाते तो न आँख की साधनता होती, न हम ज्ञाता होते, न घड़ा ज्ञेय होता। लेकिन वह ज्ञान किसी अन्य से तो जाना नहीं जाता। बाकी की जानकारी उस ज्ञान से पर उसकी जानकारी अन्य किसी से नहीं। यह दृष्टान्त परमात्मा को समझने के लिये उचित हो जाता है। वाणी अर्थात् वाक् से व्यक्त होने वाला शब्द। वह अभिधा अर्थात् वाचक शक्ति से जाति आदि वालों का बोध कराये यही देखा गया है और ब्रह्म उन सब प्रवृत्ति-निमित्तों से रहित है अतः शब्द से अभिधान-योग्य नहीं है। किन्तु वाक् इन्द्रिय भी चेतन से प्रेरित होकर ही शब्द को व्यक्त करती है एवं शब्द भी ईश्वर-प्रदत्त शक्ति से ही अर्थ को व्यक्त करता है। बिना चेतन से प्रेरणा पाये वाक् नहीं बोलती जैसे वादक-चेष्टा के बिना सितार नहीं बजता। शब्द भी अर्थ बताता है क्योंकि उसमें इसकी सामर्थ्य भरी गयी है अतः भरने वाले चेतन का ही प्रभाव है कि शब्द से अर्थ पता लगता है। आधुनिक लोग ईश्वर न भी मानें तो इतना मानते ही हैं कि जीवों ने शब्दों में वह सामर्थ्य स्वीकारी है तब शब्दों से अर्थबोध होता है। यद्यपि यह शास्त्र-संमत पक्ष नहीं तथापि प्रकृत में इतना ही कह रहे हैं कि शब्द जो अर्थबोधन करता है वह चेतन का प्रभाव है और यह बात जीव चेतन के प्रभाव को मानने से भी सिद्ध है अतः आधुनिकों को भी मान्य है। जो जिसके बल पर कार्य करे वह उस पर

'अपने' बल का प्रभाव नहीं डाल सकता क्योंकि 'अपना' उसके पास बल है ही नहीं! अतः शब्द चेतन को प्रकाशित करे यह संभव नहीं।

किंतु यह ब्रह्म समझा जा सकने पर भी ध्यान-विषय नहीं बनता। उपासक आत्मा का सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् आदि तरह से ध्यान कर सकते हैं लेकिन केवल अपोह की वृत्ति बनाने पर शून्य में पहुँचते हैं अतः सच्चिदानंद का ध्यान नहीं कर पाते। किं च ध्यान क्रिया है, चेष्टासाध्य है, सचेष्ट ध्याता स्वयं का अस्तित्व नकार नहीं सकता अतः उसके लिये ध्येय हमेशा 'इदम्' अर्थात् अप्रत्यक् ही रहेगा। यदि आत्मध्यान मानें तो भी अपनी ध्यातृरूपता कायम रखनी ही पड़ती है तो ध्यातृत्वविशिष्ट और ध्येयत्वविशिष्ट में अंतर रहता है अर्थात् ध्यान करते हुए वृत्ति बनानी पड़ती है कि मैं सब क्रियाओं से रहित हूँ आदि। इस प्रकार ध्यान स्तर पर सविशेषता का सर्वथा त्याग संभव न होने से ध्येय ब्रह्म को इदम् ही कहा जाता है। ज्ञान क्योंकि 'करना' नहीं पड़ता, चेष्टापेक्ष नहीं, अतः उससे ज्ञातृत्व का आपादन न होने से आत्मरूपता, निर्विशेषता रह जाती है, यह अन्तर है। उपास्य की इदमास्पदता से ही उसे अब्रह्म मानना पड़ता है क्योंकि इदम् कदापि आत्मा (चिद्रूप) होना संभव नहीं। 'मुख्य ब्रह्म' अर्थात् उपनिषत्प्रसंगों में ब्रह्म शब्द का तात्पर्य-विषयीभूत अर्थ। शब्द का अभिप्रेत अर्थ मुख्य होता है। किं च ब्रह्म शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ व्यापक वस्तु है अतः सर्वविध व्यापकता वाला ही उसका मुख्य अर्थ है, अन्यत्र सापेक्ष व्यापकता के सहारे यदि इस शब्द की प्रवृत्ति हो तो वह अमुख्य या गौण अर्थ ही होगा। कोश में 'तत्त्व' को ब्रह्मपदार्थ कहा है अतः परमार्थ सत्त्य ही मुख्य अर्थ है। उपासना का विषय मुख्य ब्रह्म संभव नहीं क्योंकि उपासना-विषयतारूप परिच्छिन्नता, व्यवहारयोग्यता एवं सर्वज्ञता आदि विशेषों वाला ही उपास्य होता है। जैसे वाणी का वह विषय नहीं वैसे मनका भी नहीं। घड़ा आदि मनका विषय बनता है क्योंकि तभी घड़ा आदि स्फुरित (स्फुरणयोग्य) हो पाता है जैसे तेल चुपड़ी लकड़ी ही चमक पाती है, सूखी लकड़ी नहीं। ब्रह्म स्वयं स्फुरणरूप है अतः मन उससे जुड़कर उसमें क्या वैशिष्ट्य लाये! दक्षिण भारत के अँधेरे मंदिरों में काली मूर्तियाँ होती हैं तो आरती करने से उनका दर्शन हो पाता है, अन्यथा नहीं अतः आरती उतारने का दृष्ट प्रयोजन भी है। सूर्यनारायण की आरती उतारते हैं तो अदृष्ट प्रयोजन भले ही सिद्ध हो, दृष्ट कोई फल नहीं होता। इसी तरह घड़े को विषय कर मन कोई प्रयोजन सिद्ध कर पाता है पर ब्रह्मको विषय कर कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं करता अतः यह मानने का कोई आधार

नहीं कि वह उसे विषय करता भी है! यद्यपि वृत्तिव्याप्ति को माना जाता है तथापि यहाँ 'स्फोर्यते' कहा है अर्थात् मनोनिमित्तक स्फुरण का निषेध है अतः मनोविषयता का अभिप्राय भी स्फुरणसम्पादक विषयता से है। ऐसी विषयता नहीं, यह तात्पर्य है। अविद्यानिवृत्ति आदि के लिये जरूरी मनका आकार-विशेष ग्रहण करना तो अभिमत है, वह बात दूसरी है।

ब्रह्म की जैसे यह पहचान की वह मन से स्फुरणा नहीं पाता वैसे दूसरी यह कि मनको वही स्फुरणा प्रदान करता है। बाह्य वस्तुओं को जानने में मनका उपयोग है लेकिन स्वयं मनको जानने के लिये एक आत्मतत्त्व के अलावा किसी का उपयोग नहीं। कोई दूसरा व्यक्ति अकस्मात् भेष बदल कर सामने आये तो जानकार भी एकाएक नहीं पहचान पाता, ध्यान दे, आवाज सुने तब भले ही पहचाने। लेकिन यदि हम स्वयं कभी भेष बदल लेते हैं तो हम स्वयं को न पहचानेंऐसी कभी भी परिस्थिति नहीं होती! अन्यत्र मन, मनकी सावधानी आदि चाहिये, मनके लिये नहीं चाहिये क्योंकि मन सीधे ही परमात्मा से स्फुरित होता है। अत एव वह ध्येय नहीं। ध्यान में ध्याता भावना के प्रकर्ष से वृत्ति बनाता है जिससे ध्येयका स्फुरण होता है। भावना अर्थात् दृढतर संस्कार जो श्रद्धा, राग, द्वेष आदि किसी भी हेतु से डाले जायें। देवता, ईश्वर आदि का ध्यान प्रायः श्रद्धा से डाले संस्कारों से होता है। भावना ज़्यादा हो तब वृत्ति से ध्येय का अनुभव होता है। कम भावना रहते तो ध्यान क्रियामात्र रहती है, 'मैं ध्यान कर रहा हूँ' यही लगता है, लेकिन भावना ज़्यादा होने पर ध्येय का स्फुरण होता है 'मैं ध्येय का साक्षात्कार कर रहा हूँ' यह प्रतीति होती है। शास्त्रानुसारी होने से प्रतीति को झूठा कहना नहीं बनता पर जो शास्त्रादि प्रमाणों के अनुसार न हो उसे मनोराज्य आदि नामों से भ्रमात्मक मानना पड़ता है। उपासक जिसका ध्यान करते हैं उसका स्फुरण क्योंकि उक्त वृत्ति पर निर्भर है अतः घट आदि की तरह वह मनका स्फोर्य ही होना संगत है जिससे उसे मुख्य ब्रह्म कहना नहीं बनता। जैसे मनःस्फोर्य घटादि भी व्यावहारिक हैं वैसे उपास्य भी है, उसे रज्जुसर्पादि की तरह प्रातिभासिक ही माना जाये ऐसा नियम नहीं यद्यपि कदाचित् वैसा भी होता है। हर हालत में, वागादि के प्रेरक अन्तर्यामी को यहाँ ज्ञेय ब्रह्म कहकर, ध्येय से पृथक् बताकर, उसकी पारमार्थिकता व्यक्त की है। इससे उनका मुख बंद हो जाता है जो वेदान्त की मर्यादाएँ बिना समझे कह देते हैं कि केवलाद्वैत में ईश्वर नकारा जाता है आदि।।४७-५०।।

मन के सन्दर्भ में कही बात का अन्यत्र अतिदेश करते हैं **जो आँख से नहीं**

न दृश्यते चक्षुषा यच्चक्षुषो भासकं तु यत्।
तद् ब्रह्म विष्णुमूर्त्यादिर्न मुख्यब्रह्मताऽस्ति हि।।५१।।
न श्रूयते यच्छ्रोत्रस्य साक्षी यद् ब्रह्म तद्भवेत्।
श्रुतं प्रणवनामादि न मुख्यब्रह्मतामियात्।।५२।।
न प्रेर्यते यत्प्राणेन प्राणस्य प्रेरकं तु यत्।
तद् ब्रह्म न तु हंसाख्यमंत्रः प्राणप्रचोदितः।।५३।।
अन्यैरपीन्द्रियैर्गम्यं न यत् किन्त्वक्षभासकम्।
ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते।।५४।।

दीखता बल्कि चक्षु को ही भासित करता है, वह ब्रह्म है। विष्णु-मूर्ति आदि ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ नहीं।।५१।। जो सुना नहीं जाता वरन् कानों का भी साक्षी है, वह ब्रह्म है। सुने गये ओंकार, नाम आदि ब्रह्म-शब्दका मुख्य अर्थ नहीं हैं।।५२।। जो प्राणों से प्रेरित नहीं होता किंतु प्राणों का प्रेरक है वह ब्रह्म है। प्राण से चलने वाला हंस नामक मंत्र ब्रह्म नहीं है।।५३।। अन्य भी इन्द्रियों से जो विषय नहीं किया जाता किन्तु इन्द्रियों का प्रकाशक है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो, न कि उसे जिसकी उपासना की जाती है।।५४।। नाम-रूप-कर्म ये परमात्मा का स्वरूप नहीं एवं इन्द्रियाँ और प्राण इन्हीं को प्रकट करते हैं अतः इंद्रिय- विषय परमात्मा नहीं। विष्णुमूर्ति अर्थात् जो चतुर्भुजादि शरीर विष्णुरूप से व्यवहार्य है। जैसे देवदत्तादि शरीर जीवात्मा नहीं वैसे विष्ण्वादि भी शरीर परमात्मा नहीं। इसी प्रकार ओंकारादि शब्द भी परमात्मा 'का' भले ही है लेकिन शब्द स्वयं परमात्मा नहीं। ऐसे ही राम, शिव आदि सभी नाम परमात्मा नहीं। अत एव बिंदु की तरह नाद का उपयोग होने पर भी उसे परमात्मस्वरूप नहीं समझा जा सकता। इन्द्रियों से अतिरिक्त प्राणों का भी उल्लेख किया ताकि स्पष्ट हो कि ज्ञानशक्ति की तरह क्रियाशक्ति का भी परमात्मा विषय नहीं। प्राण शरीर के सभी अवयवों को प्रेरित करता है, कोई भी देहावयव तभी तक कार्यकारी रहता है जब तक उसमें प्राण प्रेरकरूप से उपस्थित हो। प्राण जिस भाग को छोड़ दे वह सूख जाता है यह पेड़-पौधों तक में देखा जाता है। प्राण का प्रेरक ही परमात्मा है, उससे प्रेरित होने वाला नहीं। सीधे शब्दों में कहें, तो 'मैं हूँ इसलिये जानता व करता हूँ' न कि जैसा कुछ लोग समझते हैं कि 'क्योंकि जानता करता हूँ इसलिए मैं हूँ।' आत्मा स्वयंसिद्ध है, बाकी सब उससे स्फोर्य है, वह किसी से स्फोर्य नहीं है, यही प्रकरणार्थ है।।५१-४।। आगे उपनिषत् में कहा है कि 'यदि समझते हो कि आत्मा को अच्छी तरह समझ

मीमांसा

सर्वप्रत्ययवेद्यं यत्सोपाधि ब्रह्म विद्यते।
उपासकात् पृथग्भूतं तदेवोपासते जनाः।।५५।।
ब्रह्माभासमिदंरूपमुपेक्ष्यानिदमात्मकम्।
मुख्यब्रह्मैव साक्ष्याख्यं ज्ञात्वा स्वानुभवं वद।।५६।।

गये तो वास्तव में कम ही समझे हो! अभी और मीमांसा की ज़रूरत है।' इसे बताते हैं **उपाधि-समेत जो ब्रह्म सारी बुद्धि वृत्तियों से समझा जाता है एवं उपासकों से अलग होता है, लोग उसीकी उपासना करते हैं।।५५।। 'यह' इस तरह समझे जाने वाले इस ब्रह्मवत् प्रतीयमान वस्तुकी उपेक्षाकर जो 'यह' ऐसा नहीं है उस साक्षी नामक मुख्य ब्रह्म को ही जानकर अपना अनुभव बताओ।।५६।।** सभी 'प्रत्यय' अर्थात् प्रतीतियाँ विषय तो एक परमात्माके सिवाये किसी को नहीं करतीं। जैसे भ्रम से साँप देखने वाले की आँख टिकी तो रस्सी पर ही है, भले ही उसे यह पता नहीं है वैसे सभी को ज्ञान हो तो ब्रह्म का ही रहा है भले ही यह पता न होने से ग़लत ज्ञान हो रहा है, संसार दीख रहा है। जो कुछ समझदार हैं वे संसार को विराट् पुरुष अर्थात् परमात्माका शरीर देख पाते हैं। हर हालत में सभी प्रत्ययों का वेद्य, ज्ञेय तो परमात्मा है इसमें संदेह नहीं। भागवत में कहा है 'ज्ञानमेकं पराची- नैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा।' यह वेद्य ब्रह्म है सोपाधि अर्थात् उपाधि-सम्पर्क वाला। स्थूलादि कोई-न-कोई उपाधि से एकमेक हुए को ही वेद्य (ज्ञेय) समझा जाता है। सर्वथा संसारी तो घटादि उपाधि वाले को जानता है एवं उपासक विराट् आदि उपाधि वाले को जानता है। ऐसा ज्ञेय ही उपासकों द्वारा ध्येय है। उसे उपासक अपने से अलग ही समझता है। यहाँ जो 'वेद्य' कहा वह इस तात्पर्य से नहीं कि इसके ज्ञान से मोक्ष होता है। वैसे अभिप्राय से तो निरुपाधि को ज्ञेय कहते हैं। यहाँ अविद्यादशा में जो ज्ञेय है उसका उल्लेख है। वैसे, निरुपाधि ही सोपाधि बना ध्येय है अतः 'सर्वप्रत्यय' में कहे 'सर्व' से अखण्ड प्रत्यय भी मानें तो असंगत नहीं। सोपाधि समझने पर स्वयं को तथा ब्रह्म को परिच्छिन्न कर देते हैं अतः तुच्छ संसार-विषयों में ही उलझे रह जाते हैं। यह रूप भले ही लगे परमात्मा लेकिन है उसका आभास ही, वस्तुतः ब्रह्म नहीं है। इसे उपेक्षायोग्य समझना उचित है। कारण कि यह रूप पृथग्भूत, विषयभूत, युष्मत्प्रत्ययगोचर, दृश्य होने से व्यापक सच्चिदानंद नहीं हो सकता जो ब्रह्म शब्द का मुख्य अर्थ है। अतः जो कभी दृश्य होता नहीं उस

त्वत्कारुण्यात् सुष्ठु वेद ब्रह्माहमिति वक्षि चेत्।
अल्पं वेत्सि न संपूर्णं ज्ञातृज्ञेयविभेदतः।।५७।।
अखण्डैकरसे तत्त्वे ज्ञातृत्वं प्रत्यगात्मनः।
देवस्य[1] ब्रह्मतेत्येवं खंडनादल्पवेदनम्।।५८।।
मीमांस्यमेव तेऽथापि भेदभ्रमनिवृत्तये।
मीमांसित्वा निश्चयं ते वदेत्युक्तस्तथाऽकरोत्।।५९।।

साक्षी को ब्रह्मरूप जानना चाहिये। प्रकाश्य नहीं वरन् प्रकाश होने से सर्व-प्रकाशक परमात्मा है। गुरु ने निर्देश दिया कि उस प्रत्यक्स्वरूप को समझकर कहो कि क्या समझे।।५५-६।।

शिष्य को और भी चेतावनी देते हैं कि अपनी समझकी ठीक परीक्षा करके ही जवाब देना, शीघ्रता में अपरिपक्वता का परिचय मत देना **यदि कहोगे 'आपकी कृपा से मैं ब्रह्मको अच्छी तरह समझ गया' तो (यह निश्चित हो जायेगा कि) थोड़ा ही जानते हो, समूचा नहीं, क्योंकि ज्ञाता-ज्ञेय के विभाजन को सुरक्षित रख रहे हो।।५७।। अखण्ड और एक-समान रहने वाले तत्त्व में प्रत्यगात्मा (मैं) की ज्ञाता-रूपता और देव (परमेश्वर) की ब्रह्मरूपतायों टुकड़े करने से थोड़ा ही जानते हो (यह पता लगता है)।।५८।। अतः भेदके भ्रमको मिटाने के लिये और भी विचार कर्त्तव्य है। विचार करके तुम्हारा निश्चय सुनाओ।ऐसा निर्देश पाये शिष्य ने वैसा ही किया।।५९।।** जब तक अहंकार है, त्वमर्थ का शोधन नहीं हुआ, तब तक ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के खण्डों (हिस्सों) सहित ही ज्ञान होगा। अखंड ज्ञान के लिये अहं को हटाना पड़ेगा। अत एव सुषुप्ति के अनुभव का उल्लेख किया जाता है, वहाँ अहम् न रहने से ज्ञान में खण्ड भी नहीं रहते। यद्यपि वहाँ अज्ञान है तथापि क्योंकि अहम् नहीं इसलिये 'सुख से सोया' याद आने पर भी 'मैं सुख को भोग रहा था' यों त्रिपुटी याद नहीं आती। 'तत्त्वमसि' से आपाततः भी 'अहं ब्रह्म' समझ आता है पर इसमें अहम् और ब्रह्म में भेद है। जब विवेक हो चुकता है तब 'अहं ब्रह्म' अनुभूति में अहं और ब्रह्मका भेद नहीं है। इसे शब्दों में व्यक्त करना पेचीदा होने से ही यहाँ आचार्य शिष्य को सावधान कर रहे हैं कि सही अनुभव पाकर फिर सही तरह बताओ ताकि स्पष्ट हो जाये कि अखण्ड साक्षात्कार हो गया। इस सुस्पष्टता के लिये

१. ज्ञेयस्येति पिपठिषामि। मुत्तुशास्त्री 'ब्रह्मणो ज्ञेयत्वेन च विभागं करोषी'ति व्याख्यानादेवं सूचयतीव।

भेदभ्रमो निवृत्तोऽद्य यथाशास्त्रं विचारतः।
सुवेदेति न वेदेति द्वाभ्यां हीनं तु शेषितम्।।६०।।
स्वप्रकाशं तमात्मानं तथात्वेनैव वेद्म्यहम्।
नान्यथाऽतो यथाशास्त्रं बुद्धं ब्रह्मेति निश्चयः।।६१।।
सुवेदेत्यक्षविषये न वेदेत्यप्यभासिते।
वक्तुं युक्तं स्वयं भाते कथं तद्युज्यते द्वयम्।।६२।।
मध्येऽस्माकं हे सखायो ज्ञाताज्ञातत्ववर्जितम्।
ब्रह्मेति वेत्ति योऽसौ हि यथाशास्त्रं विबुद्धवान्।।६३।।

मीमांसा या विचार ही सक्षम उपाय है, अन्य कोई नहीं। श्रुति ने कैसे-कैसे क्या-क्या कहा और उस सबका अनुभव से कैसे सामंजस्य हैयह चिन्तन तब तक करना है जब तक सारे वेदोपदेश और अपने सब अनुभव एक ही निर्णय में पर्यवसित हों। इसी सश्रद्ध सोद्देश्य विचार को मीमांसा कहते हैं। सखण्डता और व्यापकता के विरोध के परिहार की प्रक्रिया विवेक है जिसके सहारे जानना पर जानने वाला न बनना और ब्रह्म को ही जानना पर उसे जाना गया न बनानाइस विरोधाभास का परिहार होता है। शिष्य ने ऐसा ही प्रयास कर वक्ष्यमाण उत्तर दिया।।५७-६।।

उपनिषत् में शिष्य ने कहा 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद् वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च।।' २.२।। अर्थात् 'भलीभाँति जानता हूँ ऐसा नहीं मानता पर नहीं जानता ऐसा भी नहीं क्योंकि जानता हूँ! हम में से जो कोई भी इस बात को समझता है वही तत्त्व जानता है। 'नहीं जानता' और 'जानता हूँ' दोनों ही उसके बारे में कहना नहीं बनता। इस प्रत्युत्तर का संग्रह करते है **शास्त्रानुसार चिन्तन से अब भेदका भ्रम दूर हो गया है। 'अच्छी तरह जानता हूँ' और 'नहीं जानता' इन दोनों से रहित तो बचा लिया है।।६०।। उस स्वयम्प्रभ आत्मा को वह वैसा ही है यों मैं जान रहा हूँ, अन्य किसी तरह का नहीं समझ रहा। इसलिये निश्चय है कि शास्त्रानुसार ब्रह्म जान लिया।।६१।। 'अच्छी तरह जानता हूँ' उसे कहना बनता है जो इन्द्रियगोचर हो; 'नहीं जानता' उसे कहना बनता है जो भास न रहा हो। जो खुद भासमान है उसके बारे में दोनों बातें कैसे संगत हों?।।६२।। हे मित्रो! हमारे बीच जो समझता है कि ब्रह्म ज्ञातता और अज्ञातता से रहित है, वही शास्त्रानुसार समझा है।।६३।।** शास्त्र के अनुसार चिन्तन ही एकमात्र उपाय होने से शिष्य ने उसी से समझ लिया : अभेद (अखण्ड) के ज्ञान की

जरूरत नहीं, वह तो सदा है ही, जरूरत भेद का भ्रम मिटाने की है। त्रिपुटी निवृत्त होने पर अवशिष्ट चिन्मात्र साक्षी ही अखण्ड है। विषयतया न जानने से 'अच्छी तरह' जानना नहीं कह सकते और नित्य भान होने से न जानना भी नहीं कह सकते। आत्मा स्वप्रकाश अर्थात् अपने अपरोक्ष व्यवहार में खुद ही समर्थ है, उसे ऐसा ही रहने देते हुए उसे समझना है। यदि उसे 'अन्यथा' अर्थात् बुद्धिवृत्ति आदि किसी अन्य के सहारे अपरोक्ष-योग्य समझा तो स्वप्रकाशता का विरोध होगा अतः 'अन्यथा' न समझकर यही समझना है कि मैं निरपेक्ष ज्ञानमात्र हूँ। यही शास्त्रानुसारी ब्रह्मनिश्चय है। आत्मनिश्चय ही ब्रह्मनिश्चय है। 'सुवेद' अर्थात् भलीभाँति समझना तब कहते हैं जब विषय इन्द्रियों के संमुख हो, उसमें अनेक विशेषताएँ हों जिन्हें जाना जाये। 'न वेद' या न जानना तब कहते हैं जब वस्तु का भान ही न हो। आत्मा ज्ञानरूप है, नित्य ही जाना जा रहा है। जाग्रत् आदि कल्पित पदार्थ आते-जाते हैं पर आत्मा सदा भासमान है, कुछ और है तब भी, कुछ और नहीं है तब भी। किन्तु आत्मा होने से ही वह इन्द्रियों के सम्मुख नहीं और अद्वय होने से उसमें विशेषतायें भी नहीं अतः उसके बारे में 'भलीभाँति' जानने की बात भी निरर्थक है। प्रारब्धपर्यन्त त्रिपुटी का व्यवहार रहने पर भी आत्मा को स्वयं में न ज्ञातृत्व प्रतीत होता है, न नाम-रूप में उसे ज्ञेयता (जानने योग्यता) प्रतीत होती है। न नाम-रूप के अनुभव को वह ज्ञान ही समझता है क्योंकि वे अनुभव अविद्या-निवर्त्तक तो हैं नहीं कि ज्ञान कहे जायें। अतः शिष्य ने घोषणा की कि आत्मा का ज्ञान ऐसा ही है। अनादिकाल से अज्ञान में रहकर भी आत्मा का स्फुरण बंद नहीं हुआ! इसी के स्फुरण से अज्ञान भी जाना जाता रहा। जो कभी सर्वथा अज्ञात न रहा हो उसे अब ज्ञात भी कैसे कहें! पहले अज्ञात हो फिर अज्ञात न रहे तो ज्ञात कहना बनता है, सदा भासमान को ज्ञात भी कहना नहीं बनता। यह उसकी ज्ञात-अज्ञात से विलक्षणता तत्त्वज्ञ को ही प्रत्यक्ष है।।६०-३।।

केनश्रुति ने निर्णय दिया है कि 'जिसे अमत है उसे मत है जबकि जिसे मत है वह अनजान है! जानकारों को उसका अनुभव नहीं, जो उसको नहीं जानते उन्हीं को प्रत्यक्ष है।' (अमत अर्थात् मति का विषय न बना हुआ। मत अर्थात् अनुभूयमान। दूसरे 'मत' का अर्थ है मति का विषय बना हुआ।) इसे समझाते हैं **जो लोकसिद्ध वस्तु होती है और जो ब्रह्म है, वे क्योंकि परस्पर विपरीत स्वरूप वाले हैं इसलिये जिसे (ब्रह्म) अमत है उसे मत है, जिसे मत है वह नहीं**

यल्लौकिकं वस्तु यच्च ब्रह्म तद्धि विलक्षणम्।
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।।६४।।
लोके घटो मतो येन स घटज्ञ इतीर्यते।
येन मन्त्रा मतं ब्रह्म न त्वसौ ब्रह्मविद्भवेत्।।६५।।
मन्तृमन्तव्यरूपेण विविधत्वं विजानता।
अविज्ञातं ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम्।।६६।।
विविधत्वमविज्ञाय यदखंडत्ववेदनम्।
तद्भवेद् ब्रह्मविज्ञानं धीमद्भिर्बुध्यतां तथा।।६७।।

जानता।।६४।। यद्यपि नित्य ही अद्वैत है तथापि इस सत्त्य से अनजान रहते सभी को नाम-रूप कर्मात्मक संसार उपलब्ध है जो लोकसिद्ध वस्तु है। इसे वस्तु इसलिये नहीं कहा कि यह वास्तविक है वरन् इसीसे कि लोक अर्थात् शास्त्रसंस्कारशून्य रहते यह सिद्ध अर्थात् उपलब्ध सत्त्य प्रतीत होता है। इसकी यह सिद्धता और प्रतीयमान सत्यता ही साधक को आकृष्ट किये रहती है अन्यथा शास्त्र तो संसार की असारता तथा परमात्मा की सारिष्ठता ऐसी प्रतिपादित करते हैं कि तत्काल तीव्रतम मुमुक्षा हो जाये! जब तक यह द्वैत उपलब्ध है तब तक समझना है कि ब्रह्म इससे विलक्षण है। परमार्थ समझने के पश्चात् तो या द्वैत वस्तु है नहीं कि 'उससे' अलग समझें और यदि है भी तो ब्रह्म का विलासमात्र होने से ब्रह्म से पृथग्भूत नहीं है कि विलक्षणता के मायने हों। उक्त विलक्षणता प्रसिद्ध है कि लौकिक वस्तु असत् जड दुःख है, ब्रह्म सत्-चित्-आनंद है। चिद्रूपता के कारण ही जिसे लगे कि ब्रह्म 'मत' अर्थात् मतिगोचर हो गया वह अज्ञानी ही है, जो उसकी मति-अविषयता समझ चुका उसे वह भास गया।।६४।।

सद्-असत् आदि विलक्षणता की तरह यह भी विलक्षणता है कि दोनों की समझ अलग-अलग हैं **लोक में घड़ेका जानकार वह कहा जाता है जिसके द्वारा घड़ा मतिका विषय बनाया जा चुका है किंतु जिस मननकर्त्ता द्वारा ब्रह्म मति-विषय बनाया जाता है वह ब्रह्मका जानकार नहीं हुआ करता।।६५।। मननकर्त्ता और मननविषयइस रूप से भेद समझने वाले को ब्रह्मतत्त्व नहीं मालूम है क्योंकि वह स्वरूप से ही अखंड एकरस है।।६६।। भेद का अनुभव बिना किये जो अखण्डता की अनुभूति वह ब्रह्मसाक्षात्कार है। बुद्धिमानों को वैसे समझना चाहिये।।६७।।** विषयतया ज्ञान लोक में सही मानते हैं। कहते भी हैं कि तटस्थ

ईदृशः प्रतिबोधो यस्तेन चेद्विदितं तदा।
मतं ब्रह्म भवेद्विद्वानमृतत्वं हि विन्दते।।६८।।
नित्यानित्यविवेकादियुक्तेन मनसा पुमान्।
वेदितुं लभते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।।६९।।

होकर अर्थात् ज्ञेय से स्वयं को पृथक्, असम्बद्ध रखकर समझना ही ठीक समझना है। इसीलिये स्वयं अपने बारे में जिसकी जो समझ हो उसे लोग महत्त्व नहीं देते, दूसरों की उसके बारे में समझ को ही महत्त्व देते हैं और उसे भी समझाते हैं कि दूसरों की समझ के अनुसार वह स्वयं को समझे। इस तरह लोकदृष्टि में विषयभाव ज्ञान के याथार्थ्य में प्रयोजक है। ब्रह्म (आत्मा) के बारे में इससे विपरीत है। इसे विषय समझना ही समझ को ग़लत बना देता है क्योंकि यह वस्तु है ही ऐसी कि विषय हो न सके। विषय बने का नाम दृश्य और दृश्य मिथ्या है जबकि ब्रह्म सत्य है अतः जो विषय के बारे में जाने उसे मिथ्याज्ञानी अर्थात् अज्ञानी ही कहना बनता है। संसार के अंतर्गत जो कुछ है सब दृश्य है अतः इसकी जानकारी अविद्या का ही विलास है। अतः आरोपित विविधता, द्रष्टा-दृश्य के विभाजन को निरस्त कर जो वास्तविक अखण्डता, पूर्णता का अनुभव वह आत्मबोध है। विविधता का अविज्ञान अर्थात् उसके सत्यत्व का बाध, भेदबाध होते ही अभेद प्रकाशमान रह जाता है।।६५-७।।

आगे उपनिषत् कहती है कि 'प्रतिबोधविदित' समझा जाने पर अमरता मिलती है, आत्मा से वीर्य और विद्या से अमरता का लाभ होता है। इसे व्यक्त करते हैं **ऐसा जो 'प्रतिबोध' उससे अगर जाना गया तो ब्रह्म समझा बना क्योंकि (ऐसा जानकार) अमरता पाता है।।६८।। नित्य-अनित्य का विवेक आदि साधनों से सम्पन्न मन से पुरुष ज्ञानोपयोगी सामर्थ्य पाता है तथा ज्ञान से अमरता पाता है।।६९।।** 'प्रतिबोध' अर्थात् समझ। लोक में भी जानकारी और समझ में अंतर होता है, जिसे बहुत-सी जानकारी हो वह आवश्यक नहीं कि समझदार हो और समझदार को ज़्यादा जानकारी होती हो यह भी जरूरी नहीं। वस्तुस्थिति को समग्रता से पहचानना समझ है जिसमें इंद्रियादि प्रमाणों का उपयोग तो है लेकिन उनसे सीमित रहने का बंधन नहीं है। परमेश्वर भी शास्त्रप्रमाण से पता लगता है लेकिन उसकी समझ केवल शास्त्र से नहीं, साधन-सम्पत्ति पूर्वक श्रवणादि के निरन्तर अभ्यास से ही प्राप्त ईशकृपा से मिलती है। विदित-अविदित से अलग को प्रमाणमात्र से नहीं जान सकते परन्तु समझ अवश्य सकते हैं। प्रकाश स्वयं से प्रकाशित नहीं भी है लेकिन

देहे प्राणवियोगाख्या मृतिरात्मनि कल्पिता।
अविद्यया विद्यया तु भ्रान्तिः सा विनिवर्तते।।७०।।

प्रकाशित होने पर जो स्थिति बनती अर्थात् दीखता, उस स्थिति में भी है अर्थात् दीखता है। ऐसे उदाहरण इस समझ के विकास में उपयोगी हैं। आत्माका अनुभव करना है यह कहते हैं लेकिन उसे अनुभवरूप भी बताते हैं तो अवश्य प्रश्न होता है कि फिर करना क्या है? घट अनुभवरूप नहीं तो उसका अनुभव कर सकते हैं लेकिन जो है ही अनुभवरूप उसके अनुभव का मतलब क्या? इसका उत्तर समझा ही जा सकता है एवं इसी समझ को 'प्रतिबोध' कहा है। अन्य सबको हटाते जाने पर एकमात्र आत्मा का स्फुरण रहना ही 'आत्मा को अनुभव करना' है। ऐसा हुआ या नहीं यह इससे पता चलता है कि अमरता मिली या नहीं क्योंकि इस अनुभव का फल अमरता ही है। मृत्यु जिस भूमिका पर है उससे निवृत्त होते ही आत्मा मृत्यु से परे हो जाता है। इस साक्षात्कार की सामर्थ्य-रूप वीर्य मिलता मन से है जिसे यहाँ श्रुति ने 'आत्मना' से बताया। साधनयुक्त होने पर ही मन वीर्यप्रद है।।६८-९।।

अमरता मिलती है तो बिछुड़ती भी होगीइस संभावना को मिटाते हैं **देह रहते प्राणका वियोग होने का नाम मरण है जो आत्मा में अविद्या से कल्पित है किन्तु विद्या से वह भ्रम दूर हो जाता है।।७०।।** आत्मा में मृत्यु के कोई मायने ही नहीं, केवल आत्मा को न समझकर जो आत्मा नहीं उस शरीर को आत्मा मानकर, उस शरीर से प्राणका वियोग होने पर जो शरीर की मृत्यु उसे आत्मा की समझना ही आत्मा की मरणधर्मिता है जो वास्तविकता अनावृत होने पर मिट जाने से आत्मा की वास्तविक अमरता व्यक्त होना ही अमरता मिलना है। देह-प्राण संयोग को प्रकाशित-मात्र करता 'मैं जीवित हूँ' मानने वाला आत्मा देह-प्राण वियोग को भी प्रकाशित-मात्र करने पर 'मर गया' माना जाता है। आत्मा तो प्रकाशमात्र, ज्ञानमात्ररूप है, शरीरादिरूप तो है नहीं, फिर भी तादात्म्यभ्रम से देहधर्म जीवन-मरण का आत्मा में आरोप है जिसकी निवृत्ति अमरता-प्राप्ति है। क्योंकि यह सदा निवृत्त मरण की ही निवृत्ति है, सदा प्राप्त अमरता की ही प्राप्ति है इसलिये इसके मिलने पर भी इससे बिछुड़ना नहीं होता।।७०।।

उपनिषत् में बताया कि यहीं जान लिया तो सत्य है, नहीं तो महान् विनाश है! 'यहीं' मायने अधिकार रहते। इसे समझाते हैं **सभी जन्मों में यह विद्या सुलभ नहीं है अपितु शिष्यभावके लिये विहित लक्षणों से भरे-पूरे जन्म में ही प्राप्त होती**

नैव जन्मनि सर्वस्मिन् विद्यासौ सुलभाऽपि तु।
शिष्यलक्षणसम्पूर्णजन्मन्येव हि लभ्यते।।७१।।
ईश्वरानुग्रहाच्छान्तिदान्त्यादिगुणसंयुतम्।
जन्म चेल्लभ्यते तस्मिन् विद्यया मोक्षमाप्नुयात्।।७२।।
नावेदि चेदिहालस्याद् विनष्टिर्महती भवेत्।
कदाचिज्जन्म पश्वादिरूपं स्यादिति वेत्ति कः।।७३।।
तस्माच्छास्त्राधिकारेण युक्तं विप्रादिजन्म चेत्।
लभ्यमालस्यरहितो विद्यादात्मानमद्वयम्।।७४।।

है।।७१।। ईश्वर के अनुग्रह से शम-दम आदि गुणों से युक्त जन्म यदि मिले तो उसमें विद्या से मोक्ष पा जाये।।७२।। ऐसे शरीर में भी अगर आलस्यवश न जाना तो महान् विनाश होगा। पशु-आदिरूप जन्म कब हो जायेगायह कौन जानता है!।।७३।। इसलिये शास्त्रोक्त अधिकारिगुणों से युक्त ब्राह्मण आदि जन्म अगर मिल गया तो आलस्य छोड़कर अद्वय आत्मा को अवश्य जाने (यह जीव के लिये योग्य है)।।७४।। शिष्य में आवश्यक लक्षण या गुण काफी हैं अतः यदि एक जन्म में सब न आयें तो 'अनेकजन्मसंसिद्धः' आदि गीतोक्त तरीके से जब आयेंगे तब ज्ञान होगा अतः मौका मिलते ही प्रयासरत तो होना ही चाहिये। जैसे सूर्य है ही, आतशी शीशा तैयार होने की ही देर है, उसके तैयार होते ही तिनकों को जलाने में विलम्ब नहीं वैसे आत्मा नित्यमुक्त है ही, मन में योग्यता लाने की देर है, आते ही बन्धन निवृत्त होने में देर नहीं है। ये लक्षण ईश्वर के अनुग्रह से ही आते हैं। यथानियम कर्म-उपासना से सन्तुष्ट ईश्वर कृपा करे तभी मन विवेकादि-संपन्न होता है, अन्यथा नहीं। ऐसा जन्म मिलने पर भी, मन योग्य होने पर भी यदि आलस्य के वशीभूत हो गया तो जीव उस मौके को खो देगा। परमेश्वर कृपा से सारी सामग्री उपस्थित करने पर भी जीवकी स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाता। प्रायः योग्यता होने पर साधक प्रयास करेगा ही लेकिन आलस्यवशीभूत होने का अवसर भी नकार नहीं सकते। इससे प्रमाद भी उपलक्षित है अर्थात् असावधान होकर विचार से भिन्न किसी मार्ग को अपना लेना भी संभव हो जाता है। भगवान् ने (१८.५८) अहंकारवश भी ऐसे विनाश का कथन किया है। इसलिये यदि ब्राह्मणादि शरीर मिला तो पूर्वजन्मों की साधना का फल पता लग गया, जैसा कि विवेकचूडामणि में 'ततो विप्रता' कहा है, अब आगे शमादि साधन अपनाने में तत्पर होना जीवका कार्य है। विप्रादि इसलिये कि

नानात्मत्वभ्रमोच्छित्त्यै तत्तद्देहेष्ववस्थितम्।
स्वात्मत्वेनैव निश्चित्य धीरा यान्ति कृतार्थताम्।।७५।।
मायया दृश्यते लोको येऽस्मात् प्रेत्य स्थिताः परे।
न तेषां जन्ममरणे विद्येते कर्हिचित् क्वचित्।।७६।।

पारिव्राज्य में ब्राह्मणका मुख्य अधिकार है। 'आदि' से वेदाधिकारयुक्त योनि समझनी चाहिये। सर्वथापि मनुष्य को शास्त्राधिकारी माना है अतः पश्वादि जन्मों में जायें उससे पूर्व ही मानव को चाहिये कि साधन संपन्न होकर अपरोक्ष आत्म दर्शन प्राप्त करे।।७१-४।।

सर्वत्र आत्मदर्शन कल्याणोपाय है यह समझाते हैं **अनेक आत्मा हैं इस भ्रमके समूल निरासके लिये सभी शरीरों में उपस्थित स्वयं का ही निश्चय कर बुद्धिमान् कृतार्थ होते हैं।।७५।। माया से लोक दीख रहा है। जो इससे सर्वथा पृथक् होकर परतत्त्व के रूप में स्थित हैं उनके कभी कहीं जन्म-मरण नहीं होते।।७६।।** जैसे विविध दर्पणादि में सूर्य विविध और अनेक दीखते हैं, बर्तनादि में आकाश विभिन्न प्रकार का व अनेक दीखता है, वैसे अनन्त शरीर-मनों में एक आत्मा ही अलग-अलग तरहका और अनेक दीख रहा है। शास्त्र के अनुसार विचार कर उसकी अखण्ड एकरस प्रत्यङ्मात्रता को समझना ही कृतार्थता हेतु है। जिस सच्चिदानन्द वस्तु को 'मैं' जान रहे हैं वही सब शरीरों में मौजूद हैयह 'सर्वभूतेषु आत्मदर्शनम्' है। इस बोध से राग-द्वेष सर्वथा मिटने पर स्वाभाविक स्वरस उपरति स्थिर होती है। इससे पहले वैराग्य ही हो सकता है, उपरति बोध का फल है। यह उपरति ही कृतार्थता है। इसके अनन्तर 'व्यवहार' का हौवा बेअसर है। जैसे जगने पर स्वप्न में ओढ़े कर्त्तव्यों का बोझ तुरन्त उतर जाता है वैसे परतत्त्व में जागते ही संसार स्वप्न का सारा बोझ उतर जाता है। इसलिये कहा कि अज्ञान से दीखते संसार के प्रति तो वह 'प्रेत्य' मर चुकता है! जैसे मरा व्यक्ति जहाँ मरा उस घर-परिवार-जाति-देश-धर्म के प्रति उसके सारे दायित्व ख़त्म हैं वैसे तत्त्वज्ञ के संसार के प्रति सारे दायित्व ख़त्म है। जैसे जहाँ नया जन्म मिले वहाँ के दायित्व प्रारंभ होते हैं वैसे जिस परतत्त्व में इसका जन्म हुआ वहीं का व्यवहार इसके लिये रहा और पर वस्तु का एकमात्र व्यवहार अखण्ड सद्भाव है। संसार छूटना भी वर्तमान भ्रमके अनुरोध से कहते हैं वस्तुतः तो तत्त्वसाक्षात्कार यह स्पष्ट करता है कि संसार कभी भी नहीं है।।७५-६।।

इसके आगे केनोपनिषत् में एक आख्यान सुनाया है जिसका प्रयोजन निर्देशपूर्वक

आख्यायिका

ईश्वरानुग्रहादेव भवेदद्वैतवासना।
नान्यथेति विवक्षित्वा काचिदाख्यायिकोच्यते।।७७।।
देवार्थमीश्वरो युद्धे विजयं कुरुते सदा।
अज्ञात्वाऽनुग्रहं देवा जयगर्वं प्रपेदिरे।।७८।।
जयः स्वकीय इत्येवं देवाभिप्रायमीश्वरः।
ज्ञात्वा देवान् बोधयितुं तेषां प्रादुर्बभौ पुनः।।७६।।
देवाः सभासदो दृष्ट्वा वपुरैशमलौकिकम्।
किमेतदिति विज्ञातुं प्रैरयन्ताग्निमन्तिके।।८०।।

संग्रह करते हैं **ईश्वर के अनुग्रह से ही अद्वैत का संस्कार दृढ होता है, और किसी तरह नहीं इसे कहना चाहकर कोई कहानी सुनायी जा रही है।।७७।। ईश्वर सदा युद्ध होने पर देवताओं के लिये जीत संपन्न करते हैं। देवता इस अनुग्रह को बिना समझे जयनिमित्तक गर्व से ग्रस्त हो गये।।७८।। 'जीत हमारी है' यों देवताओं की मान्यता समझकर ईश्वर उन्हें समझाने के लिये उनके संमुख प्रकट हुए।।७६।। सभा-स्थित देवों ने ईश्वर का अलौकिक शरीर देखकर, 'यह क्या है?' यह पता लगाने के लिये अग्नि को ईश्वर के पास भेजा।।८०।।** अद्वैत का आपात ज्ञान होने पर भी जब तक उसकी वासना न हो, दृढ संस्कार न हो, हरदम हर वृत्ति अद्वैतनिष्ठ न हो, तब तक कल्याण नहीं। यह वासनालाभ भी ईश्वरकृपा पर निर्भर है। अन्यथा, देवभाव मिलकर भी अभिमानवश द्वैतबंधन बना रहता है। कहानी से यह स्पष्ट कर रहे हैं। 'कोई' कहानी अर्थात् यहाँ इसे घटनाविशेष मात्र के रूप में नहीं वरन् उक्त तथ्य स्पष्ट करने के लिये कहा है, भले ही ऐसी विशेष घटना हुई हो या लगातार होती रहती हो। देवासुर संग्राम में जो देव-विजय होती है वह ईश्वरकृत ही हुआ करती है। कभी-कभी असुर-विजय होती है, वह भी ईश्वरकृत तो है लेकिन उसमें भी देवहित निहित अवश्य है इसके लिये 'सदा' कहा। किं च असुरों का भी जय-पराजय दोनों में हित अवश्य अभिप्रेत है क्योंकि हारकर उनके आसुरभाव को क्षति पहुँचती है। कदाचित् जय हितकर है कि उनकी शास्त्र के प्रति भावना कायम रहती है और ईश्वर के प्रति सजगता बनी रहती है। असुर दुरुपयोग भले ही करें पर शास्त्रीय रीति से या ईश्वरादि के निमित्त तप से बल पाते हैं अतः उनका संपर्क सन्मार्ग से ही है। इसे कायम रखने के लिये कभी-कभी जय

समागतं वह्निमीशः को भवानिति पृष्टवान्।
जातवेदोऽग्निनामाऽहमिति [1]गर्वितवानसौ।।८१।।
त्वयि किं वीर्यमित्याह गर्वं भंक्तुं परेश्वरः।
अग्निः सर्वं दहामीति वाक्यं गर्वादवोचत।।८२।।

भी जरूरी है। हर हालत में, जय हुई ईश्वरानुग्रह से पर देवों में गर्व हो गया कि 'हमारी ही यह जय है, हमारी ही यह महिमा है'। लोक में भी देखते हैं : एक दुकान चल रही है, सेठ जी तीन समय आश्रम आकर ध्यान-भजन-सत्संग विचार करते हैं। भगवान् से प्रार्थना की, उनकी कृपा से एकसे दो, दो से चार दुकानें हो गयीं। सेठ जी को यह भूल जाता है कि ईश्वरानुग्रह से व्यापार चमका है, यह अभिमान हो जाता है कि 'मेरे करने से चल रहा है' अतः भगवान् के पास तीन के बजाये चार बार न आकर चार दिनों में एक ही बार आने लगते हैं! यदि कृपा पर निष्ठा रहती तो सोचते, तीन बार जाने से चार दुकाने हुईं तो और ज्यादा भजन करने से आठ होंगी। ऐसा न होकर अपने श्रम पर निष्ठा होने से भगवान् छूटते हैं। यही हाल देवों का हुआ तो परमेश्वर ने सोचा कि देवों में यह आसुर भाव पनपना ठीक नहीं अतः जहाँ देवता सभा जमाये बैठे थे वहाँ पास में भगवान् एक विचित्र यक्षरूप धारण कर प्रकट हो गये जिसे देवता देख तो सकें पर कौन है यह समझ न सकें। सीधे ही पहचान सकने वाला रूप लेकर आये होते तो देवता आदर-सत्कार कर देते लेकिन जो मुख्य उद्देश्य था वह पूरा न होता कि उनका भ्रम मिटे। अज्ञात शरीर देख कर उसके बारे में पता लगाने को सबसे पहले अग्निदेव को भेजा गया।।७७-८०।।

परमेश्वर को अयोग्य ढंग से समझने का प्रयास निष्फल होता है एवं बहुधा जीव की असमर्थता उसे परमेश्वरोन्मुख करने के प्रयोजन वाली होती है यह दिखाने वाला अग्निदेव का हाल सुनाते हैं **पास आये अग्नि को ईश्वर ने 'आप कौन हैं?' यह पूछा। उसने गर्वीला हो कहा 'मैं अग्नि नाम का जातवेदा हूँ।'' ।८१।। उसका गर्व भंग करने के लिये परमेश्वर ने 'तुममें क्या ताकत है?' यह पूछा। उसने गर्व से यह बात कही 'सब कुछ जला डालता हूँ।' ।८२।। अपनी दी हुई शक्ति को खींचकर 'यह तिनका जलाओ' ऐसा ईश्वर बोले। वह (पूरा ज़ोर लगाकर) भी उस तिनके को जला ही नहीं पाया!।।८३।।** गया तो पता लगाने अग्नि था पर यक्ष के सम्मुख अभिभूत हो गया, पूछने की हिम्मत नहीं जुटा-पाया, बोलती बन्द

१. गर्जितवानसौइति मुत्तुशास्त्रीपाठः।

स्वदत्तां शक्तिमाहृत्य दहेति तृणमित्यमुम्।
उवाचेशः सोऽपि दग्धुं न शशाकैव तत्तृणम्।।८३।।
अग्निवद्वायुरप्यत्र गर्वे भग्ने निवृत्तवान्।
निर्गर्वमिन्द्रं दृष्ट्वेशः परीक्षायै तिरोभवत्।।८४।।

हो गयी। यक्ष ने ही उससे परिचय पूछा तो हिम्मत खुली, अपना नाम बताया और साथ में गर्वसूचक विशेषण दिया 'जातवेदा' अर्थात् जो कुछ संसार में उत्पन्न होता है उसे अग्नि जानता है! देवादिकर्मों में अग्नि ही साक्षी रहता है यह प्रसिद्ध ही है। यद्यपि सामने क्या है यह नहीं समझ पा रहा था तथापि इस अपनी कमज़ोरी को न देखकर साभिमान घोषणा करने लगा कि सर्वज्ञ है। जब अपनी ताकत सब जलाने की बतायी तब यक्ष ने पहले तो उसे दी हुई वह ताकत रोक ली फिर सामने एक तिनका रखकर उसे जलाने को कहा! अग्नि ने ताकत को परमेश्वर की कृपा से प्राप्तऐसा भूलकर 'अपनी' कहा था अतः यक्ष ने उसे प्रत्यक्ष करा दिया कि ताकत उसकी तो है लेकिन 'अपनी' नहीं, परमेश्वर-प्रदत्त है। पुराने समय में भारतीयों का बोलने का ढंग ही था कि परमेश्वर की कृपा से कुछ हुआ, उपलब्ध हुआ आदि। घर-मकान आदि को भी कहते थे 'भगवान् के दिये हैं।' भले ही सबको सर्वथा गर्वराहित्य नहीं हासिल होता था लेकिन कम-से-कम भगवान् याद आते थे, संस्कार पड़ता था, बच्चों को शिक्षा मिलती थी। आधुनिकता ने वह भाव तो मिटाया ही, बोलने में भी परिवर्तन कर दिया, भगवान् के जिक्र से ही परहेज होने लगा है। यह अभिमानवर्धन वर्तमान काल के दबाव तनाव आदि मनोविकारों का मुख्य हेतु है। भगवान् जिम्मेवार हैयह याद रखें तो अपने सिर का बोझ नहीं रहता, मैं ही सब करने-धरने वाला हूँ तो बोझ मुझ पर ही रहेगा! अग्नि भी इसी 'मैं' 'मेरा' के प्रभाव में था अतः उसका पराभव हुआ। परमेश्वर ने जब शक्ति रोक ली तब अग्नि सारी कोशिश करके भी उस एक छोटे से सूखे तिनके को भी जलाने में असमर्थ रहा! अत्यंत लज्जित हो, बिना कुछ कहे तुरंत लौट आया और देवताओं से इतना ही कहा 'मैं पता नहीं लगा पाया'। ।८१-३।।

आगे की कथा बताते हैं **अग्नि की तरह वायु भी यक्ष के समाने गर्व-भंग होने पर लौट आया। (इन्द्र ने प्रयास किया।) इन्द्र को गर्वरहित देख कर उसकी परीक्षा लेने के लिये ईश्वर तिरोहित हो गये।।८४।। ईश्वरकृपा चाहने वाला इन्द्र ऊपर देखता हुआ खड़ा रहा। उस इन्द्र पर अनुग्रह करने के लिये**

इंद्र ईशप्रसादार्थी तस्थावूर्ध्वं विलोकयन्।
अनुग्रहीतुमिन्द्रं तमुमारूपोऽभवद्धरः।।८५।।
देवि दृष्टं पुरा देवैः किं तद् ब्रूहीति पृष्टवान्।
तद्ब्रह्मानुग्रहात्तस्य जयोऽभूदित्युवाच सा।।८६।।
उत्कृष्टा अग्निवाय्विन्द्रा ईषत् संभाषणादमी।
तेषामपीन्द्रः पुण्यात्माऽनुग्रहोऽप्यधिको यतः।।८७।।

भगवान् हर ने उमा-रूप धारण कर लिया।।८५।। इन्द्र ने पूछा 'हे देवी! देवों ने इससे पहले जो देखा वह क्या है?' उमा बोली 'वह ब्रह्म है, उसके अनुग्रह से जीत हुई थी।'।।८६।। परमेश्वर से थोड़ी-सी बातचीत करने के कारण अग्नि, वायु और इन्द्र उत्कृष्ट हैं। इनमें भी इन्द्र पुण्यात्मा है क्योंकि उस पर अनुग्रह भी ज्यादा हुआ।।८७।। अग्नि निष्फल हुआ तो देवताओं ने वायुको भेजा। वह भी पूछ न पाया। यक्ष ने ही पूछा 'कौन हो, क्या करते हो?' वायु बोला 'वायु, मातरिश्वा हूँ, सब कुछ उड़ा देता हूँ।' यक्ष ने वैसे ही उसकी सामर्थ्य रोककर तिनका उड़ाने को कहा जिसे वह उड़ा न पाया तो मुँह लटकाकर लौट आया। इन प्रधान देवताओं की असामर्थ्य देखकर इन्द्र का गर्व जाता रहा। वह स्वयं पता लगाने चला। यक्ष ने समझ लिया कि गर्व तो इसका मिट ही चुका अब केवल इसकी श्रद्धा परीक्षणीय है। दैवी गुणों में निरभिमान और श्रद्धा प्रधान हैं। परीक्षा के लिये यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र यह देखकर अधिक श्रद्धालु हुआ। अश्रद्धालु सोचता 'कुछ नहीं था या ऐसा ही कोई तुच्छ बल वाला था जो मेरा तेज नहीं सह पाया' आदि। इंद्र में श्रद्धा हुई। उसे मालूम था कि अग्नि-वायु भी ऐरे-ग़ैरे नहीं हैं, प्रधान देवता हैं। भले ही इंद्र राजा होने से विशेष है पर वे भी अतिसमर्थ हैं। अतः यक्ष की उपेक्षा न कर उसके महत्त्व के प्रति सद्भाववाला हुआ। 'सब मेरी बुद्धि का विषय है। जो मुझे समझ न आये वह हो ही नहीं सकता'यह अश्रद्धालुओं का निश्चय होता है। शास्त्रों के वर्णन, देवकृपा, तपःसामर्थ्य आदि सब को इसी दृष्टि से देखने का बढ़ता रिवाज अश्रद्धा का ही परिचायक है। 'मेरी समझ से परे भी बहुत कुछ है' यह श्रद्धालु की सोच है जिससे प्रेरित हो वह अधिक-अधिक जानने का प्रयास करता है। समझने का प्रयास ही श्रद्धा को दिखाता है। अश्रद्धालु ऐसा प्रयास ही नहीं कर सकता क्योंकि अपने समझे हुए खाके में बैठाने में ही उलझा रहता है। इन्द्र निर्गर्व और श्रद्धालु था अतः वहीं रुका रहा। उसे निश्चय था कि भगवान् की कृपा से ही पता लगेगा अतः

वह कृपाप्रार्थी बना। ऊपर अर्थात् मन-वाणी से परे तत्त्व का विलोकन अर्थात् चिन्तन करते हुए स्थिर रहा। श्रद्धा देख भगवान् ने उमा-रूप में दर्शन दिया। जिसने यक्ष-रूप में जिज्ञासा जगायी उसी ने उमारूप से ज्ञान दिया। परमेश्वर ही विविदिषा-उत्पादन-पूर्वक विद्या देते हैं। किन्तु इसकी योग्यता गर्वहीन श्रद्धा है। जैसे अंधे को सूर्य भी नहीं दीखता वैसे श्रद्धारूप चक्षु से वंचित को परमार्थ उपलब्ध नहीं होता। अश्रद्धा रहते साकार परमेश्वर भी 'दीखता' नहीं, कंस शिशुपाल आदि को कृष्ण परमेश्वर नहीं दीखे। हैमवती को देख इन्द्र ने उसी यक्ष के बारे में पूछा जिसका स्वरूप उमा ने ब्रह्म बताया, उसका प्रभाव देवताओं की जीत बतायी। शास्त्रसंस्कारी इन्द्र 'ब्रह्म' शब्द सुनते ही ठीक समझ गया कि कौन यक्ष था। विजय उसका प्रभाव थासुनकर इंद्र को बोध हो गया कि किस प्रयोजन से यक्ष ने दर्शन दिया था। परमेश्वर और उनका सहारा देना इतना सूक्ष्म है कि अविचारशील महसूस ही नहीं कर पाता। विचारशील इंद्र योग्य था अतः उमा के उपदेशमात्र से उसे साक्षात्कार हो गया। श्रवण की ज्ञान-साधनता इससे स्पष्ट हो जाती है। अग्नि-वायु की यक्ष से और इन्द्र की उमा से जो थोड़ी-सी बातचीत हुई इसीसे ये देवताओं से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गये, वेदों में इनके मंत्र ज्यादा हैं। जैसे जो राजा से कुछ बातचीत कर आये, गाँव में उसका ओहदा बढ़ जाता है वैसे परब्रह्म परमात्मा से वार्तालाप किया तो इन देवताओं का सम्मान बढ़ गया। इनमें भी अधिक पुण्यशाली इंद्र है, तभी इसमें श्रद्धा का अतिशय था और उसे यक्ष की वास्तविकता पता चली जो अग्नि-वायु को न चल सकी थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वरानुग्रह ही परमात्मज्ञान में हेतु है और अनुग्रहपात्र बनने के लिये गर्वरहित एवं श्रद्धायुक्त होना आवश्यक है।।८४-७।।

उपनिषत् ने कहानी सुनाकर ईश्वर की उपासना का विधान किया है 'तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतद् आ इति। इद् न्यमीमिषद् आ ३ इति अधिदैवतम्।। अथ अध्यात्मम् यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरति अभीक्ष्णं सङ्कल्पः।। तद् ह तद्वनं नाम, तद्वनम् इति उपासितव्यम्' (केन ४.४-६)। किसी उपामा से दिये उपदेश को आदेश कहा है। बिजली चमकना और पलक झपकनाइन उपमाओं से यहाँ परमात्मा का उपदेश है। जो यह मन ब्रह्म की ओर जाता है, जिससे साधक ब्रह्म को साक्षाद्वस्तु के रूप में याद करता है, ब्रह्म के बारे में संकल्प बनाता है यह मन भी उपमा है उस परतत्त्व की। परमात्मा का 'तद्वन' नाम है, इस नाम से उसकी उपासना कर्त्तव्य है। इस प्रसंग को उपस्थापित करते हैं **मोक्षेच्छुकों को**

आदेशः

ईशानुग्रहसिद्ध्यर्थं ब्रह्मोपास्यं मुमुक्षुभिः।।
तच्चाधिदैवमध्यात्ममधिभूतमुपास्यताम्।।८८।।
आविर्भावतिरोभावौ विद्युद्वद्ब्रह्मणि स्थितौ।
ततो विद्युदुपाध्येतद् ब्रह्म स्यादधिदैवतम्।।८९।।

चाहिये कि ईश्वर की कृपा सिद्ध (प्राप्त) करने के लिये ब्रह्म की उपासना करें। अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत तीनों धरातलों पर उसकी उपासना की जाये।।८८।। कोई कर्मादि-विशेष ही ईश्वरोपासना नहीं, सभी बाह्य एवं भीतरी कर्म ईश्वर प्रीत्यर्थ करने पर उपासना है। अपने पिता की सेवा भी उसमें स्थित ईश्वरप्रीत्यर्थ करने पर ईश्वरोपासना हो जाती है। ईश्वर-प्रसन्नता के अलावा कोई कामना मन में न रखकर करने पर ही उपासना होगी। अतः मोक्षेच्छुक ही इस उपासना में समर्थ होता है। संसार में कुछ भी चाहने वाला ईश्वरोपासना में अक्षम है। अधिदैवादि सभी स्तरों पर एक परमेश्वर की आराधना हो तब उसका अनुग्रह सुलभ होता है।।८८।।

अधिदैव में बिजली की उपमा स्पष्ट करते हैं **जैसे बिजली प्रकट-अप्रकट हो जाती है वैसे ब्रह्म में प्रकट होना एवं छिप जाना दोनों हुआ करते हैं इसलिये अधिदैव में यह ब्रह्म बिजली-उपाधि वाला उपासनीय है।।८९।।** हमें अनुभव होते हैं, समाप्त हो जाते हैं। अभी तो हम दोनों दशाओं में कारणों को खोजने लगते हैं, कभी कुछ हद तक कारण मिलते भी हैं, कभी सर्वथा नहीं मिलते, फिर भी हमारी उधेड़बुन चलती रहती है। उपासक यह सावधानी रखे कि जैसे बिजली का स्वभाव ही अचानक चमकना फिर बुझना है वैसे ब्रह्म कभी किसी अनुभव रूप से प्रकट होता है फिर छिप जाता है, इसमें उसके स्वतंत्र संकल्प से अन्य हेतु की गवेषणा अनर्थक है। देवताओं को परमेश्वर ने यक्षरूप में अचानक ही दर्शन दिया, अचानक ही लुप्त हो गये। इससे इन्द्र ने यह तो पता लगाया कि कौन था, लेकिन क्यों दर्शन मिला और फिर वंचित रह गयेइसकी चिंता इन्द्रादि ने नहीं की। यह परमेश्वर की स्वतंत्रता ही है इसे स्वीकारने में ही बुद्धिमानी है। क्योंकि देवताओं को यों अनुभव हुआ यह बताया और क्योंकि बिजली चमकाना देवकार्य ही है इसलिये दिव्य उपमा से दिया यह आधिदैविक उपदेश है।।८९।।

अध्यात्म में मनको दृष्टान्त बनाया यह समझाते हैं **याद और संकल्प समेत मन अध्यात्म में उपाधि है। ब्रह्मका 'तद्वन' नाम है, इस नाम वाले की उपासना**

मनोऽध्यात्ममुपाधि स्यात् स्मृतिसंकल्पसंयुतम्।
तद्वनेति ब्रह्मनाम तन्नामकमुपास्यताम्।।६०।।
यत्तैः संभजनीयं तद्भवेत्तद्वननामकम्।
तथैवोपासितं ब्रह्म दद्यादाचार्यसंपदम्।।६१।।
तदुपासकमीशानुगृहीतं ब्रह्मवेदिनम्।
वांछन्ति विद्यां ब्रूहीति भक्तिमन्तोऽखिला जनाः।।६२।।

करनी चाहिये।।६०।। जैसे बिजली उपमा है वैसे मन भी। मन में स्मृति उठकर संकल्प होता है ऐसे ही परमात्मा पूर्वादिकल्प, प्राणिकर्म आदि यादकर सृष्टि का संकल्प करते हैं। मनश्चेष्टाओं से स्वात्मा भी अनुभव में आता रहता है। शरीर के भीतर रहने से मन अध्यात्म कहा गया है। जैसे हमें अचानक अनेक स्मृतियाँ आती हैं, वे क्यों आयीं कुछ पता नहीं, कोशिश करते हैं तो आती नहीं हैं, विविध संकल्प भी क्यों होते रहते हैं कुछ पता नहीं चलता, ऐसे ही परमेश्वर का कर्मादिस्मरण और सृष्टिसंकल्प क्यों होता है इसका एक ही सही उत्तर हैपता नहीं। अपनी समस्त मनोवृत्तियों को परमात्मा की मूर्ति समझना चाहिये। सभी वृत्तियाँ व्यक्त तो परमात्मा को ही करती हैं 'मत्तः स्मृतिः' आदि से भगवान् ने बताया कि कुछ भी याद आये तो समझो भगवान् ने अपनी स्मृति-प्रदान की सामर्थ्य व्यक्त की। ऐसे ही संकल्पादि में है। यहाँ भी वृत्तियों में उलझे बिना केवल उनसे परमात्मा का बोध कायम रखना यहाँ उपासना है। इस उपासना के विषयभूत परमात्माका नाम 'तद्वन' बताया।।६०।।

'तद्वन' अप्रचलित नाम होने से इसका भाव बताते हुए उपासनाफल कहते हैं **क्योंकि उपासकों द्वारा भलीभाँति भजा जाता है इसलिये ब्रह्म 'तद्वन' नाम वाला है। इसी तरह भजा गया ब्रह्म आचार्य की उपलब्धि कराता है।।६१।। उक्त उपासना करने वाले ईश्वर के कृपापात्र ब्रह्मवेत्ता को सभी भक्तियुक्त लोग चाहते हैं, 'विद्या सुनाइये' यों (उससे सदा ब्रह्मोपदेश की प्रार्थना करते हैं।)।।६२।।** अधिदैव विद्युत् अध्यात्म मन और अधिभूत उपाधि 'तद्वन्' यह शब्द है क्योंकि शब्द आकाशरूप भूत है। अतः श्लोक ८८ में तीनों का उल्लेख था। तत् अर्थात् उनके द्वारा, देव-मनुष्य आदि सभी के द्वारा परमात्मा भजा जाता है। उसका भजन करने को साधक वनों में जाते हैं इसलिये भी वह 'तद्वन' है। परमेश्वर के अलावा और कोई भी इस योग्य नहीं कि उसकी उपासना की जाये। परमेश्वर की विभूति होने से ही देवादि भी उपास्य हैं, स्वतः नहीं। यहाँ कही उपासना में संलग्न को

हे शिष्य ब्रह्मविद्या ते कथिताऽत्यन्तविस्तरात्।
श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेस्तद्विद्यासाधनं शृणु।।६३।।

साधनानि

वेदाः षडंगसहिता अग्निहोत्रादि कर्म च।।
कृच्छ्रादिकं तपो दान्तिस्तैर्विद्या प्रतितिष्ठति।।६४।।

सावधान होकर एकमात्र परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिये, उससे अलग को उपासना-योग्य न समझे। यों उपासित परमेश्वर साधकको योग्य आचार्य की उपलब्धि करा देता है। किं च ऐसे उपासक में ही आचार्य होने की योग्यता प्रकट होती है। उपासक ब्रह्मवेत्ता के पास ही भक्त आकर 'परमात्मा की विद्या सुनाइये' ऐसी प्रार्थना करते हैं। ईश्वरभक्त ब्रह्मज्ञ को चाहते सभी हैं पर भक्त यों चाहते हैं कि वह उपदेश दे। संसारी लोग उससे ब्रह्मोपदेश नहीं चाहते लेकिन उसकी ओर आकृष्ट तो होते ही हैं।।६१-२।।

इस उपासना-विधि के बाद तप, दम, कर्म और सांगवेद इन साधनों का निर्देश श्रुति में है, उसका उल्लेख करते हैं **(इसके अनन्तर जिनसे 'केन' आदि प्रश्न किया गया था वे आचार्य कहते हैं :) हे शिष्य! अत्यन्त विस्तार से तुम्हें कान का कान आदि से प्रारंभ कर ब्रह्मविद्या बतायी। उस विद्याका साधन अब सुनो।।६३।। छहों अंगों सहित वेद, अग्निहोत्र आदि कर्म, कृच्छ्र आदि तप और दमइनसे विद्या स्थिर होती है।।६४।।** यद्यपि ईश्वरानुग्रहरूप उपाय कह चुके तथपि अनुग्रहयोग्य बनने का उपाय वक्तव्य है। संसारबंधन से छूटने की इच्छा होने पर विद्यायोग्यता आयेगी। अन्यथा विषय-प्राप्ति और रोगादिनिवृत्ति के लिये ही ईश्वराराधना की जाती है। यहाँ कहे साधनों से विविदिषा दृढ होगी तो ईश्वरानुग्रह से साक्षात्कार और अद्वैतवासना स्थिर हो सकेगी। जैसे मेहनत से कमाये धन को व्यर्थ नहीं गँवाया जाता, बिना मेहनत मिल जाये तो अनाप-शनाप खर्च हो जाता है, वैसे बिना साधना के जो ईश्वरदत्त मुमुक्षा है, स्वाभाविक रूप से जीव मात्र में मोक्ष की इच्छा है, उसकी उपेक्षा हो जाती है, साधनों से उपजायी मुमुक्षा का महत्त्व रहता है और बाकी साधनसंपत्ति बटोर कर श्रवणादि में संलग्न होते हैं। साधनों में यहाँ पहला बताया छह अंगों समेत वेद। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छह अंग हैं। उच्चारण करने का सही तरीका सिखाने वाला शिक्षा शास्त्र है। विहित यज्ञादि कर्मों का ढंग कल्पशास्त्र सिखाता है। शब्दों का सहीपना एवं वाक्य के रूप में उन्हें

यत्सत्यं बाधरहितं तद्विद्यायतनं खलु।
साधनैः साधिता विद्या सत्येऽस्मिन् पर्यवस्यति।।९५।।
अर्ज्यते सुष्ठु यन्मुक्तिपदं तत्स्वर्ग उच्यते।
अनन्तो नाशराहित्याज्ज्येष्ठः सर्वोत्तमत्वतः।।९६।।

प्रयोग-योग्य समझ पाने की सामर्थ्य व्याकरणशास्त्र से मिलती है। शब्दों के अर्थ जानने का ढंग निरुक्तशास्त्र बताता है। मंत्रों के पद्यों के नियम छन्दःशास्त्र से पता चलते हैं। कर्म करने के सही समय की जानकारी निश्चित करने का तरीका ज्योतिष शास्त्र से समझ आता है। इन अंगों सहित वेद पढ़ने से ही उसका अभिप्राय स्पष्ट हो सकता है जिससे मुमुक्षा द्वारा मोक्षपर्यन्त पहुँचा जा सकता है। अग्निहोत्रादि सभी कर्म भी विविदिषा में विनियुक्त होकर विद्या-साधन हैं। तप अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से कष्ट सहना। कृच्छ्र एक व्रत विशेष है, उस ढंग से आहार-नियंत्रण तप है, और भी असंख्य तप शास्त्रों में विहित हैं, वे भी विद्या-साधन हैं अगर इस उद्देश्य से किये जायें, अन्यथा उनसे तुच्छ लाभ भी उठाये जा सकते हैं जैसे अग्निहोत्रादि से, तब वे ज्ञानोपाय नहीं बनेंगे। दान्ति या दम अर्थात् इन्द्रियनिरोध, विषयों की ओर इन्द्रियों को न भागने देना भी साधन है। इनसे अन्य भी सब शास्त्रोक्त साधन समझ लेने चाहिये।।९३-४।।

साधनों से अतिरिक्त, सत्त्य को 'आयतन' कहा है, उसे समझाते हैं **जिसका बाध नहीं होता ऐसा जो सत्य वह विद्याका आयतन है यह ध्रुव बात है। साधनों से उपलब्ध विद्या इस सत्य में समाप्त होती है।।९५।।** आयतन मायने रहने की जगह। विद्या रहती परमात्मा में ही है जो सत्यरूप है। बौद्धादि 'काम चलाऊ होने' को सत्य की परिभाषा मानते हैं लेकिन वेदान्त में सत्य वह है जिसका कभी निषेध संभव न हो, जो बाध के अयोग्य हो। ऐसे अपरिवर्तनीय ब्रह्म में ही यह विद्या रहती है। विद्या का पर्यवसान, समाप्ति अर्थात् विद्या को जो कुछ करना था वह कर चुकने पर जो वस्तुस्थिति बचती है वह सत्यात्मक ब्रह्म ही है। अविद्यानाश ही विद्याका कार्य है, वह होते ही ब्रह्म ही अद्वितीय बचता है, उसे सद्वितीय बनाने को विद्या भी नहीं रह जाती!।।९५।।

विद्याफल 'पाप से छूटकर अनन्त एवं महत्तर स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठा' बताया है, उसी का उल्लेख करते हैं **भलीभाँति जिसे अर्जित किया जाता है वह मुक्तिरूप पद यहाँ स्वर्ग कहा गया है। नाशरहित होने से वह अनंत एवं सबसे उत्तम होने के कारण वह ज्येष्ठ है।।९६।।** भली प्रकार से कमाया गया सुखरूप मोक्ष यहाँ

मुख्याधिकारिणः प्रष्टुः शिष्यस्य ब्रह्मबोधनम्।
ससाधनं सदाचार्य एवमत्रोपदिष्टवान्।।६७।।
विद्यामेतां वेद योऽसौ पाप्मानं प्रतिबंधकम्।
अपहत्य विमुक्त्याख्ये स्वर्गेऽस्मिन्प्रतितिष्ठति।।६८।।

स्वर्ग कहा है। लोकविशेष तो कर्मफल है, ज्ञानफल नहीं और उसका अर्जन भी सुष्ठु इसलिये नहीं कि अल्पकालिक ही है, पुण्य क्षय होते ही स्वर्ग छूट जाता है। मोक्ष 'अर्जित' होता है कहने से सूचित किया कि वस्तु वह सिद्ध है, साध्य नहीं। 'मुक्तिपद' शब्द में पद का भाव है जहाँ पहुँचा जाये अतः यह भी सिद्धरूपता का द्योतक है, पूर्वतः स्थित गंतव्यादि तक ही पहुँचा जाता है। यह स्वर्ग आदि-अन्त से रहित है। क्योंकि वह ज्ञानमात्र से प्राप्त होता है इसलिये प्राप्त होने पर भी उसकी प्राप्ति अनादि है। ज्ञानरूप प्राप्ति भी 'पद' शब्द से पता चलती है क्योंकि 'पद्यते' का अर्थ 'ज्ञायते' भी होता है। श्रुति में 'ज्येये' शब्द है जिसकी व्याख्या की उसे ज्येष्ठ कहकर। उत्तम, अनादि सिद्ध होने से वह ज्येष्ठ है। 'प्रशस्य' या 'वृद्ध' शब्द से दो की तुलना होने पर ज्यादा बताने वाला 'ज्यायस्' शब्द है, बहुतों में ज्यादा बताने वाला 'ज्येष्ठ' शब्द है। प्रशस्य अर्थात् अच्छा। इस दृष्टि से भी वह सर्वोत्तम है और अनादि होने से सर्वाधिक वृद्ध भी है। संसार और परमात्मा दो की दृष्टि से श्रुति ने 'ज्येये' कहा तथा संसार की विविधता के चलते सबकी दृष्टि से यहाँ ज्येष्ठ कहा।।६६।।

उपनिषत् की व्याख्या का उपसंहार करते हैं **इस प्रकार इस उपनिषत् में उत्तम आचार्य ने पूछने वाले श्रेष्ठ अधिकारी शिष्य को साधनों समेत ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया।।६७।। जो यह विद्या पा चुका है वह प्रतिबंधकरूप पाप त्यागकर विमुक्ति-नामक इस स्वर्ग में स्थिर होता है।।६८।।** शिष्य 'पूछने वाला' इसलिये कहा कि जिज्ञासु ही उपदेश-योग्य होता है। सही-गलत किसी भी कोटि में जो निश्चित है उसे उपदेश नहीं दिया जा सकता वरन् जिसे सन्देह है, अपनी जानकारी पर भरोसा नहीं है, वही समझने को तैयार हो सकता है। नचिकेता, मैत्रेयी, जनक, अर्जुन आदि जब यों प्रष्टा बने तभी उन्हें उपदेश मिला। किंच शिष्य अर्थात् अनुगत होना चाहिये, आचार्य से सीखने को उत्सुक होना चाहिये। फिर, अधिकारिगुणों से भरपूर होना चाहिये। अनधिकारी को अधिकार-लाभके साधन ही सिखाना उचित है, विद्योपदेश व्यर्थ है। शास्त्र इसके लिये गुडजिह्विकान्याय अपनाता है, मीठी बातों में लपेटकर कड़वा सच गले उतारता है। मोक्ष है तो अत्यन्त निर्विषय

उपसंहारः

अवाङ्मनसगम्यत्वमुपदेशश्च वेदनम्।
अविरोधेन तत्सर्वं विस्पष्टमिह वर्णितम्।।९९।।
विद्या तलवकाराणां शाखायां श्रूयते स्फुटम्।
तद्व्याख्यानेन संतुष्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१००।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते अनुभूतिप्रकाशे तलवकारविद्याप्रकाशो नामैकोनविंशोऽध्यायः।।१९।।

एकरस अद्वैत पर एकाएक ऐसे के प्रति संसारी उन्मुख होता नहीं अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्ता आदि विशेषताओं की ओर आकृष्ट करने से प्रारंभ करते हैं जिनके लिये पहले संसार का आकर्षण शिथिल हो, तब अंत में विवेक-वैराग्य पूर्ण हो जाने पर वास्तव 'नेति नेति' बताते हैं। इस ढंग से सद् अर्थात् श्रेष्ठ आचार्य ही समझायेगा। किंच जब कभी आचार्यों ने समझाया है, सदा ऐसे ही समझाया है। इस विद्या से पापरूप प्रतिबंधक दूर हो जाते हैं। पाप दुःख से पीडित कर एवं पुण्य सुखों में मस्त कर व्यक्ति को ब्रह्मविद्या की ओर जाने से रोके रखने से प्रतिबंधक हैं। पाप्मा-शब्द पुण्य का उपलक्षण है। अधिकार-सम्पन्न जब इस विद्याका अर्जन करता है तो ये प्रतिबंधक दूर हो जाते हैं। किं च उक्त उपासना से भी इन प्रतिबंधों का निरास होता है।।९७-८।।

अध्यायार्थ का संग्रह करते हुए केन वर्णन परिसमाप्त करते हैं **मन वाणी से परे होना, (फिर भी उसका) उपदेश और ज्ञान (संभव होना)यह सब शास्त्र युक्ति से अविरुद्ध है यह यहाँ साफ-साफ समझाया।।९९।। तलवकारशाखा में जो स्पष्ट सुनी गयी विद्या है उसके (इस) व्याख्यान से श्रीविद्यातीर्थरूप महेश्वर सन्तुष्ट हों।।१००।।** प्रारंभ में समझाया कि मनआदि का प्रेरक परमेश्वर मनआदि से परे, इनका अविषय है। फिर बताया कि ज्ञात-अज्ञात से विलक्षण होने पर भी इसे आचार्य द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। फिर कहा कि मीमांसापूर्वक इसका बोध होना संभव है। आपाततः भले अविषय वस्तु का उपदेश व ज्ञान संभव न हो लेकिन यहाँ स्पष्ट किया कि संभव होने में कोई शास्त्र-युक्ति का विरोध नहीं। इस व्याख्या को गुरुचरणों में समर्पित कर आचार्य अपनी कृतार्थता द्योतित करते हैं।।९९-१००।

।। उन्नीसवाँ अध्याय।।

ॐ

देवताविद्याप्रकाशः

नृसिंहोत्तरतापनीयव्याख्या

विंशोऽध्यायः

प्रतिज्ञा

अथर्वणे तापनीये उत्तरस्मिन् प्रजापतिः।
देवानबूबुधन्मंत्रराजप्रणवमार्गतः।।१।।

नृसिंहोत्तरतापनीयविवरण : बीसवाँ अध्याय

अथर्ववेद में उत्तर-पूर्वभेद से नृसिंहतापनीय नामक उपनिषत्प्रसंग प्रसिद्ध है। पूर्वतापनीय पर एक भाष्य उपलब्ध है जिसे परम्परा में आचार्यशंकर कृत कहा जाता है। उत्तरतापनीय पर विद्यारण्य स्वामीकी दीपिका उपलब्ध है। आत्मपुराण में शंकरानन्द स्वामी ने भी यह उपनिषत् समझायी है। यहाँ विद्यारण्य स्वामी भी इसकी व्याख्या कर रहे हैं किंतु तत्त्वज्ञानप्रधान उत्तरतापनीयका ही विद्यारण्य मुनि ने दीपिका में एवं अनुभूतिप्रकाश में व्याख्यान किया है, नृसिंहमंत्र-यन्त्रादि के उपदेशात्मक पूर्वतापनीय का नहीं। इसमें 'ओङ्कारं नो व्याचक्ष्व' से देवताओं ने मन्त्रोत्तम प्रणव के अर्थरूप से परमेश्वर के बारे में पूछा एवं ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया। ओंकार मंगल है अतः इसके विचार में ग्रंथ समाप्त करने से कार्यपूर्त्ति के समय मंगलाचरण किया जा रहा है। आत्मा के अनन्त ज्ञानको प्रतिबद्ध कर उसे अल्पज्ञ-अल्पशक्ति प्रतीत कराने वाले अज्ञानका निवारण ही मुख्य मंगल है। अहम् से शरीरपर्यन्त अनात्मा को स्वयं से बाँध लेने के कारण, अपने ऊपर थोप लेने के कारण हमें रुकावट, बंधन, पारतन्त्र्य उपलब्ध है। जैसे छोटे पौत्रका हाथ पकड़कर प्रौढ चाहकर भी तेज़ चलने में अक्षम बना रहता है, कदाचित् तो उसको खुश करने के लिये स्वयं घोड़ा बन जाता है, वैसे अहंकार-मन-इंद्रिय-शरीर के साथ तादात्म्य करने से हम इन्हीं के गुलाम बने विषयों में भटकते रहते हैं। इनके अधीन न होने पर भी मोहवश ऐसा समझकर हम सब क्लेशों से पीडित हैं। इस मोहात्मक प्रतिबंधकका असली कारण अज्ञान है, वही

मन्त्रराजं पूर्वतापनीयं श्रुत्वा तदा धिया।
ध्यायन्तः सगुणं ब्रह्म देवा धीशुद्धिमाप्नुवन्।।२।।

अमंगल है। इसे हटाने वाला मन्त्रराज प्रणव है। केवल सुनने से नहीं, मनन किया जाकर त्राण, रक्षा करने वाला मन्त्र कहलाता है। प्रणव 'मैं' के बारे में कहता है, इसी से मनन-योग्य है। किसी अज्ञात देवदत्तको यदि गदहा कहा जाये तो यह मननका विषय नहीं बनता किंतु हमें ही कोई गदहा कहे तो विचार करना पड़ता है कि क्यों कहा, किस ग़लती से कहा इत्यादि। सृष्टि-आदि का कारण जब 'मुझे' बताया जाता है तभी मनन जरूरी है। जब तक तो 'कोई' परमेश्वर है तब तक केवल सुनना है, किन्तु 'मैं परमेश्वर हूँ', तब सोचना पड़ता है कि प्रमाणरूप वेद कह क्या रहा है। ओंकार में सामर्थ्य है कि उस पर मनन करें तो वह स्पष्ट कर देता है कि अभेदोपदेशक वेदवाक्य कह क्या रहा है। अतः संन्यासियों के लिये यही मन्त्र है। माण्डूक्योपनिषत् और उस पर कारिकाओं में इसे समझाया है। माण्डूक्य के समान शब्दों में ही उत्तरतापनीय उस मंत्रकी व्याख्या प्रारंभ करती है। विद्यारण्यस्वामी ने इस ग्रंथ में माण्डूक्य नहीं समझायी अतः उत्तरतापनीय से वही कार्य संपन्न होगा। इसमें साधनादि-कथन स्पष्ट होने से माण्डूक्य के बजाये इसका संग्रह उचित समझा गया।

अध्याय-उपक्रम करते हैं **अथर्ववेदान्तर्गत उत्तरतापनीय में प्रजापति ने मन्त्रराज ओंकार के रास्ते देवताओं को परतत्त्व समझाया।।१।।** देवभाव, व्यापकदृष्टि उपजा चुका साधक ही प्रणव के सहारे वस्तु का बोध पायेगा, अन्यथा विस्तृत निरूपण चाहिये रहेंगे यह भाव है।।१।।

प्रणव में अधिकार सूचित करते हैं **पूर्वतापनीय में उपदिष्ट मंत्रराज सुनकर, तब सगुण ब्रह्म का ध्यान करते हुए देवताओं ने बुद्धि की शुद्धि प्राप्त की।।२।।** उक्त उपनिषत् में अनुष्टुप् छन्द का नृसिंहमन्त्र मन्त्रराजके रूप में उपदिष्ट है। तात्पर्यतः वह प्रणवात्मक है यह उत्तरतापनीय में सूचित है किन्तु मुख्य (शक्ति) वृत्ति से सगुण ब्रह्मका वर्णन करने वाला है। निष्काम भाव से उसका देवताओं ने यथाविधि विचार, ध्यान आदि कर बुद्धि शुद्ध की। संसार के विषयों में आसक्ति ही बुद्धि की अशुद्धि है। आसक्त व्यक्ति स्वयं का वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकता। विषयों में वैसी व्यर्थता की बुद्धि जैसी उल्टी (कै) किये भोजन में होती है, बुद्धि की शुद्धि है। सगुण ब्रह्मकी निष्काम उपासना ऐसी शुद्धि दे तब निर्गुण जिज्ञासा संभव है।।२।।

देवप्रश्नः

ततस्ते निर्गुणं ब्रह्म पप्रच्छुः शुद्धबुद्धयः।
अणोरणीयान्यः प्रत्यङ् प्रणवे तं वद प्रभो।।३।।
परमाणोर्योगिनेत्रगम्यं रूपं यदस्ति तत्।
प्रतीचो नास्त्यतः प्रत्यङ्ङणीयान्परमाणुतः।।४।।
ॐकारो वाचकस्तस्य प्रतीकं वेति हि श्रुतम्।
ॐकारेणात्मनो ध्यानं वदास्मभ्यं सविस्तरम्।।५।।

देवप्रश्न सुनाते हैं **फिर उन शुद्ध बुद्धि वाले देवताओं ने निर्गुण ब्रह्म के बारे में प्रश्न किया 'हे प्रभो! प्रणव में जो अणु से अधिक छोटा प्रत्यक्स्वरूप निहित है वह बताइये।'३।।** प्रणव के सहारे जिस अपर ब्रह्म का पता चलता है उसे जान चुकने के बाद देवताओं ने प्रणव के प्रधान बोध्य परब्रह्म की जिज्ञासा की। परब्रह्म उपनिषदों में जगह-जगह 'अणोरणीयान्' कहा गया है। भगवान् ने भी (८.९) इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया। नाम-रूप-कार्यकारणभाव से ही स्थूलता है, इसके बगैर सूक्ष्मता ही है। परमेश्वर को जगत्कारण कहने से उसे सर्वाधिक सूक्ष्म बताने में ही अभिप्राय है। कारण अपने कार्य से सूक्ष्म होता है, उसी सूक्ष्मता की परकाष्ठा होने से परमेश्वर को परमकारण कह दिया जाता है। वही तत्त्व बुद्धिसाक्षी हुआ साक्षिरूप से सभी को देख रहा है, सबको प्रकाशित कर रहा है। क्योंकि प्रत्यक् अर्थात् भीतर रहते हुए प्रकाशित करने वाला है इसीलिये उसका साक्षात्कार सम्भव है जिसमें ओंकार उपाय बन सकता है। पूर्व में नृसिंह मंत्र के अंगरूप से प्रणवका विस्तार (नृ. पूर्व. ४ उपनिषत्) माण्डूक्य के ही शब्दों में व्यक्त किया था अतः उसके प्रति सद्भाव वाले देव उसके सहारे परमात्मदर्शन के लिये प्रजापति से पूछें यह संगत है।।३।।

अणु से अणुतर कहने का भाव व्यक्त करते हैं **परमाणु में रूप है जो योगियों की दृष्टिका विषय होता है, प्रत्यगात्मा में वैसा भी रूप नहीं अतः उसे परमाणु से भी अणुतर बताया।।४।। यह वेदप्रसिद्ध है कि उस प्रत्यक्-परमात्मा का कथन करने वाला और उसका प्रतीक ओंकार है अतः देवों ने प्रार्थना की कि ओंकार के द्वारा आत्मा का ध्यान विस्तार से बताया जाये।।५।।** साधारण नेत्र से न दीखने वाले छोटे पदार्थ जैसे यंत्रों की सहायता से दीख जाते हैं वैसे योगकी सहायता से भी दीखते हैं लेकिन परमाणु देख सकने वाले योगी भी प्रत्यगात्मा को देख सकें यह संभव न होने से वह अणुतर है। देखने में सभी इंद्रियों की विषयता का

प्रजापतेरुत्तरम्

श्रूयतामयमोंकारो निःशेषजगदात्मकः।
इति ध्यात्वा ब्रह्म सर्वमात्मा ब्रह्मेति वै स्मरेत्।।६।।
यदोंकारस्य सार्वात्म्यं ध्यानायैतन्न वस्तुतः।
यद् ब्रह्मणस्तु सार्वात्म्यं वस्तुतोऽप्येतदीक्ष्यताम्।।७।।

अंतर्भाव है, किसी विषयग्राहक साधन से परमात्मग्रह नहीं होता। यहाँ कोई माप विवक्षित नहीं क्योंकि प्रायः श्रुतियाँ अणीयान् के साथ ही महीयान् भी कहती हैं अर्थात् उसे बड़े-से-बड़ा भी बताती हैं। ऐसे तत्त्वका दर्शनस्थल बुद्धिगुहा, अहंकार ग्रन्थि ही है। उसका साक्षी सब जानने वाला होने से खुद जाना जा सके यह असम्भव है। उसका वाचक ओंकार माना गया है। परमात्माका निकटतम नाम उसे अन्यत्र आचार्य कहते हैं। जो उसके अर्थरूप से परतत्त्व का अवगम न कर पायें उनके लिये वही उपासना के आलम्बन अर्थात् प्रतीक का भी कार्य करता है। परम ब्रह्म की उपासना सम्भव है या नहींइसमें विचारकों में आपाततः मतभेद होने पर भी पंचदशी के ध्यानदीप में विद्यारण्य स्वामी ने स्पष्ट कर दिया है कि उसका ध्यान सम्प्रदाय में स्वीकार है। वशिष्ठ महर्षि ने समझाया है कि कोई साधक विचारपूर्वक ज्ञाननिश्चय में अक्षम होता है, कोई समाहितावस्था को हि सत्य स्वीकारने में, अतः स्वयं की क्षमतानुसार साधन कर्त्तव्य है, उपाय दोनों बनते हैं। यहाँ ध्यान के बारे में प्रश्न है।।४-५।।

प्रजापति उत्तर देते हैं **सुनिये। यह ओंकार सारे जगत् का आत्मा हैयों ध्यान कर 'ब्रह्म ही सब कुछ है, आत्मा ही ब्रह्म है' यह ध्यान करना चाहिये।।६।।** जगत् में कुछ भी नहीं जो ओंकाररूप न हो यह पहले ध्यान करना है। वस्तुतः ब्रह्म ही सर्वरूप है लेकिन जब तक प्रणव पर चित्त स्थिर न हो जाये तब तक ब्रह्मका बोध ही संभव नहीं कि उसे सर्वरूप समझ सकें। ओंकी सर्वरूपता का ध्यान कर तब ब्रह्म की सर्वरूपता एवं प्रत्यग्रूपता का ध्यान कर्तव्य है। प्रत्यगात्मा होने से ही ब्रह्म को साक्षात् समझना सम्भव है।।६।।

प्रणव की सर्वरूपता उपयोगार्थ ही है यह स्पष्ट करते हैं **ओंकार की सर्वरूपता वस्तुतः नहीं ध्यान के लिये ही है जबकि ब्रह्म की सर्वरूपता वस्तुतः भी है, यह ज्ञातव्य है।।७।।** शब्दरूप प्रणव को जगत् का आत्मा नहीं कह सकते लेकिन उसका इस तरह ध्यान करना अवश्य सफल है। अत्यधिक महत्त्व होने पर भी है तो

ब्रह्म स्यात् सच्चिदानन्दरूपं सर्वेषु वस्तुषु।
विद्यन्ते सच्चिदानन्दा इति ह्यूर्ध्वं प्रवक्ष्यते।।८।।

उपाधि ही। वास्तव में परमेश्वर सर्वात्मा है परंतु परमेश्वर का बोधक तथा प्रतीक होने से ओंकार को सर्वात्मा कहना-समझना संगत है। लोक में कई चीजों को जानना उनका नाम जानना कहते हैं। सामने दीखते पेड़ के बारे में 'यह क्या है?' पूछें तो कोई व्यक्ति कह देता हैं 'पता नहीं', और कोई कहता है 'नीम है।' पता नहीं कहने वाला उसे पेड़ आदि तो देख ही रहा है अतः पता नहीं का मतलब उसका नाम मालूम नहीं। ऐसे ही पता है का मतलब कि नाम मालूम है। इसी तरह ओंकार यह नाम जानना भी परमेश्वर को जानना कह दिया जा सकने से ओंकार को सर्वरूप कहना अर्थात् ऐसा ध्यान करना संगत है। शास्त्रविहित होने से सफल भी है।।७।।

परमेश्वर की सचमुच सर्वात्मता प्रकट करते हैं **ब्रह्मका स्वरूप सत्-चित्-आनन्द है। सब वस्तुओं में सत्-चित्-आनन्द विद्यमान हैंयह आगे बतायेंगे।।८।।** सत् अर्थात् है, चित् मायने ज्ञान। हमें जगत् में जो कुछ भी (भाव या अभाव) मिलता है वह सत् (है) और चित् (ज्ञान) से तो जुड़ा ही रहता है। जो नहीं है वह उपलब्ध भी नहीं होता और जो उपलब्धि (ज्ञान, चित्) से असम्बद्ध है उसे वस्तु कहते ही नहीं! ब्रह्मका जो रूप यों सर्वत्र सर्वसाधारण प्रकट नहीं होता वह है आनन्द। इच्छा-उपाधिवश कहीं-कहीं ही, कभी-कभी ही, किसी-किसी को ही यह रूप प्रकट होता है जैसे जिसे रसगुल्ला पसन्द है उसे भूखादि लगी हो और बढ़िया रसगुल्ला खाने को मिले तो आनंद आता है। अन्यथा यह रूप छिपा रहता है, इसीके अनावरण के लिये मोक्ष-प्रयास है। किंतु क्योंकि है परमात्मा सर्वरूप इसलिये आनन्द भी है सर्वत्र जैसे सत्-चित् हैं। प्रायः सब चीज़ें किसी-न-किसी को सुख देती ही हैं। कबूतर की बीट भी जिसे वह दवाई बतायी गयी है उसे सुख ही देती है! हमें देह-सीमा में स्वयं को देखने का बन्धन है अतः हम सारा संसार आत्मरूप (आनन्दरूप) नहीं समझते लेकिन यदि सब प्राणियों में स्वयं को समझें तो स्पष्ट होगा कि है आनंद भी सत्-चित् की तरह अनुस्यूत ही। मिट्टी के कार्यों में मिट्टी की तरह परमेश्वर के कार्यों में सच्चिदानन्द व्याप्त हैं। इससे ब्रह्मको परिणामी नहीं समझ सकते क्योंकि घड़ा आदि भी मिट्टी के विवर्त ही हैं अतः श्रुति ने उन्हें वाचारम्भण और मिट्टी को सत्य कहा है। विवेक-चूडामणि श्लोक २३० से प्रारम्भ विचार इस बारे में स्पष्ट है। 'सचमुच की सर्वात्मता' कहने से संभावित भ्रम पन्द्रहवें श्लोक में 'माययाऽऽरोपितं' से मिटा देंगे।।८।।

देहेन्द्रियादिसाक्षी य आत्मास्मिन् ब्रह्मरूपता।
सच्चिदानन्दरूपत्वादसंसारिणि युज्यते।।९।।
देहाद्युपाधिसम्बन्धात् संसारित्वं चिदात्मनः।
स्वतः सोऽयमसंसारी ब्रह्मत्वं युज्यते ततः।।१०।।

परमेश्वर की प्रत्यग्रूपता व्यक्त करते हैं **जो शरीर इन्द्रिय आदि का साक्षी आत्मा है उस संसरणरहित तत्त्व में ब्रह्मरूपता है क्योंकि वह तत्त्व सच्चिदानन्दरूप है।।९।। शरीर आदि उपाधियों के सम्बन्ध से चिदात्मा का संसरण है। खुद वह असंसारी है अतः उसका ब्रह्म होना युक्तियुक्त है।।१०।।** हमें दो 'मैं' का अनुभव है, एक बदलने वाला और दूसरा न बदलने वाला एकरस, स्थायी। इस स्थायी मैं को साक्षी और बदलते रहने वाले को प्रमाता कहते हैं। एक मैं बच्चा 'था', (अब नहीं हूँ) और दूसरा मैं जो अब भी 'हूँ'। देह-इन्द्रिय आदि से तादात्म्यापन्न मैं परिवर्तित होने वाला हूँ, संसारी हूँ, यहाँ भी देश-अवस्था आदि में सरकता रहता हूँ और लोकलोकान्तर में भी जाता-आता रहता हूँ। किन्तु जो इन सब परिवर्तनों को, संसरणों को जानता है, जिसके द्वारा जाने गये होने से ही ये परिवर्तन एक के हैं यह सिद्ध होता है, वह अपरिवर्तनशील साक्षी ही वास्तव में आत्मा है, ब्रह्म है। यद्यपि विचार से उसमें सच्चिदानंदरूपता निश्चित है जैसा कि पंचदशी-प्रारंभ में व्यक्त किया, तथापि साक्षी की ब्रह्मरूपता तो शास्त्र से ही निश्चित है। लक्षण वही होने से अभेद सम्भावित भले ही हो पर वस्तु का अभेद प्रमाण पर निर्भर होता है। समान लक्षण वाले अनेक परमाणु प्रसिद्ध हैं ही! अतः ब्रह्मकी व्यापकता के आधार पर एवं साक्षात् अभेदबोधक वाक्यों से जीव ब्रह्म का अभेद विज्ञेय है। क्योंकि ब्रह्मकी सच्चिदानन्दरूपता जगत् में मिलने से व्यावृत्त जगत् अनुवृत्त सच्चिदानंद में कल्पित अतः मिथ्या निर्धारित हो चुकता है इसलिये जगद्-अंश शरीरादि उपाधियों से निरूपित आत्मभेद अवास्तविक है इसमें सन्देह नहीं। साक्षी स्वभाव से चित्, ज्ञान है। उसमें संसरण की प्रतीति उपाधि-सम्बन्ध से ही है। स्वयं का देश-काल-अवस्थादि भेद बिना उपाधि-परामर्श के कभी प्रतीत नहीं होता, कहा समझा नहीं जा सकता। स्वयं अपने आप में चेतन आत्मा संसरण करता ही नहीं इसीलिये वह ब्रह्म है इसमें विरोध नहीं! संसारिता और संसारातीततायह ही जीव-ब्रह्म में भेद माना जाता है, जब साक्षी में संसारिता सिद्ध नहीं तब उसे ब्रह्म से पृथक् कहने का आधार ही नहीं रहा। साक्षी रूप से परमात्मा का साक्षात्कार ही वेदान्तप्रमाण से सम्पन्न होकर मोक्ष देता है।।९-१०।।

ॐइत्युच्चारयन् ध्याता स्वात्मानं ब्रह्मणा सह।
एकीकृत्य पुनर्ब्रह्माप्येकीकुर्यात्तथात्मना।।११।।
तथाऽहं सः सोऽहमिति व्यतिहारोऽत्र लक्ष्यते।
विचिन्त्यान्योऽन्यतादात्म्यं तथैवानुभवेदिदम्।।१२।।

अब ध्यान का ढंग बताते हैं **ध्याता को चाहिये कि 'ॐ' ऐसा उच्चारण करते हुए स्वात्मा (साक्षी) को ब्रह्म से एक करके फिर ब्रह्मको भी स्वात्मा से एक करे।।११।।** जैसे जप के साथ अर्थभावना की जाती है वैसे यह ध्यान में ॐ का सहारा लेना है। यहाँ ध्यान अर्थात् मानस क्रिया बता रहे हैं, वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं। मनोवृत्ति दोनों हैं, ज्ञान भी और ध्यान भी, लेकिन ज्ञान अविद्या मिटाता है, ध्यान वैसा नहीं करता। ध्यान प्रयत्न से होता है जैसे मूर्ति में देवबुद्धि प्रयत्न से होती है। भक्ति अर्थात् वह प्रयत्न हो तभी विग्रह में भगवद्दर्शन संभव है अन्यथा पाषाणादि ही दीखता है, ज्ञान उसी का है। जैसे मूर्ति को साक्षात् परमेश्वर समझते हुए पूजादि करने से ही चित्तशुद्धि वैराग्योपलब्धि संभव है अन्यथा नहीं, वैसे यहाँ ध्याता स्वयं (साक्षी) को ब्रह्मरूप और ब्रह्मको स्वयंरूप समझे तभी कल्याण है। 'समझे' अर्थात् ऐसी वृत्ति सप्रयत्न बनाकर कायम रखे। जैसे नदी का समुद्र में मिलना, वैसे स्वात्मा का ब्रह्म से एकीभाव; जैसे समुद्र नदी की एकता वैसे ब्रह्मका स्वात्मा से एकीभाव। यों दोनों तरह से चिंतन सर्वथा अभेद को निश्चित करता है।।११।।

उक्त उभयतः ध्यान समझाते हैं **इस प्रकार 'मैं वह हूँ, वह मैं हूँ' ऐसा 'व्यतिहार' यह सूचित है। एक दूसरे के अभेदका चिन्तन कर उसी तरह इस तत्त्व का अनुभव करना चाहिये।।१२।।** अन्यत्र बताया है कि 'सोऽहम्' का ही संक्षिप्त रूप ओम् है; सकार-हकार के लोप से यह सिद्धि उपपन्न की है। 'सोऽहम्' में सः मायने वह (परमेश्वर), अहम् मायने मैं (साक्षी)। लगातार सोहं-सोहं-सोहम् कहने पर 'अहं सः' भी सम्बन्ध सुनाई देता है। उसके अनुसार यहाँ पहला चिंतन बताया और सोऽहम् के अनुसार दूसरा चिन्तन बताया। अहम् से केवल साक्षी लक्षित है, सः से कारणता का अधिष्ठान लक्षित है जिसे कहीं-कहीं ईश्वरसाक्षी कहा है। ओम् में अकार-उकार साक्षी को लक्षित करते हैं जबकि मकार परमात्मा को लक्षित करता है। यों दोनों को उद्देश्य-विधेय बनाकर कहना-समझना व्यतिहार कहा जाता है। ब्रह्मसूत्र ३.३.३७ में इसका उल्लेख है। घटाकाश महाकाश हैइतना ही कहने से घटाकाश की परिच्छिन्नता का भ्रम नहीं टूटता क्योंकि बड़े में छोटे का अन्तर्भाव ही समझ आता

बुद्धिस्तदाकृतिं कृत्वा यावन्नैश्चल्यमाप्नुयात्।
तावद्भवेदनुभवो जरामरणवर्जिते।।१३।।
चलिताऽनुभवाद् बुद्धिर्बहिश्चेद् गन्तुमुद्यता।
तदा बाह्यनिवृत्त्यर्थं कुर्यादारोपसंहृती।।१४।।

है। सिर्फ 'महाकाश घटाकाश है' कहने से भी वही पता चलता है। अतः जब सर्वथा अभेद कहना हो तब दोनों तरह बोलना पड़ता है। ऐसे ही ओम् से दोनों तरह की लक्षणा होने पर अखण्डता का अवबोध होता है। मैं परमात्मा का अंश हूँऐसा नहीं वरन् वही हूँऐसा यहाँ ध्यान कहा जा रहा है।।१२।।

ध्यान-स्वरूप सूचित करते हैं **बुद्धि जब तक उक्त अखण्ड आकार से रहती है तब तक जरा-मरण से रहित स्वरूपके बारे में अनुभव होता है।।१३।।** ध्यान भी बुद्धिवृत्ति है, निश्चयाकार है लेकिन सायास अभिमानात्मक है अतः ज्ञान नहीं। ध्यान में बनानी निश्चयाकार ही वृत्ति होगी, संभावना या मान्यता मात्र से सफलता नहीं होगी। जैसे मूर्ति की दृष्टिका तिरस्कार कर देवबुद्धि कायम रखने से मूर्ति पर देवपूजा होती है, बिना वैसी बुद्धि के करें तो मात्र मूर्तिपूजा रह जाती है, उसी प्रकार यथाशास्त्र 'सोऽहम् अहं सः' ऐसी ॐ से निश्चयवृत्ति बनाये रखना, विरोधी वृत्तियाँ उठने न देना, उठें तो उन्हें निरुद्ध करनायह ध्यान है। क्योंकि 'सः' में जरा-मरण आदि कैसा भी नहीं हैअर्थात् 'मैं' में कम-से-कम आरोपित जरादि है, प्रमातारूप में उनकी उपलब्धि है, लेकिन शिव में जरादि का आरोप भी, भ्रम भी नहीं है; इसलिये उससे अखण्डता के अभिमानकाल में स्वयं में जरादि नहीं भासते। किसी दरिद्र की किसी अतिधनाढ्य से अतिघनिष्ठ मैत्री हो जाये तो कदाचित् मित्रधन से स्वयं को ही धनी समझने लगता है, व्यय करते समय 'मैं निर्धन हूँ' यह स्मरण ही नहीं आता, घर पहुँचने पर ही भान होता है; ऐसे ही अपना जीवभाव ध्यानावस्था में न भासे इस तरह सोऽहंभाव कायम रखने को कहा जा रहा है।।१३।।

ध्यान-प्रयास स्पष्ट करते हैं **उक्त अनुभव से विचलित बुद्धि यदि विषयों की ओर जाने लगे तो विषयों को हटाने के लिये आरोप-संहार का अनुष्ठान करना चाहिये।।१४।।** ज्ञान निरालम्ब वस्तु है लेकिन जहाँ यह व्यक्त हो सकता है वह बुद्धि किसी विषय का आलिंगन किये बगैर नहीं रहती। ध्याता सोऽहम् यों अखण्ड का आलिंगन करना चाहता है किन्तु विषयरागवश बार-बार बुद्धि अखण्ड तत्त्व से डिगकर विषयाकार बनती है। यहाँ ध्यान को 'अनुभव' कहा क्योंकि पूर्व श्लोकोक्त रीति से वह

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरत्रयमात्मनि।
माययाऽऽरोपितं ध्यात्वा बोधाल्लीनमिति स्मरेत्।।१५।।

भी एक आभिमानिक अनुभव ही है। विषयों की ओर जाने से रोकने में वैराग्य का अनिवार्य उपयोग है, तत्पूर्वक आरोप-संहार का प्रकार यहाँ उपायरूप से बताया : जिस विषय की ओर जाये उसका तथा संभव हो तो जगद्मात्र का, सारे दृश्य प्रपंच का, अध्यात्म अधिभूत सभी उपाधियों कापहले शिव में आरोप करे कि यह शिवमात्र ही है जैसे घड़ादि मिट्टीमात्र होता है; फिर संहार (उपसंहार) करे कि है तो शिव ही, जगत् है ही नहीं जैसे है मिट्टी ही, घड़ा है ही नहीं। घड़ा कुछ हो तो उसे मिट्टी में मिला सकते हैं, विवेक-दृष्ट्या जब वह वाचारम्भण ही है तो जैसे भ्रमसिद्ध सर्प को रस्सी में मिला नहीं सकते वैसे घड़ा मिट्टी में नहीं मिला सकते। ब्रह्म में जगत् भी तभी मिले जब पहले जगत् कुछ हो; क्योंकि वह 'है' नहीं, है एकमात्र ब्रह्म, इसलिये जगत् का संहार हो जाता है। करना अभी यह कार्य ध्यान से पड़ेगा क्योंकि अधिष्ठान-ज्ञान हुआ नहीं है। जैसे स्वयं में सः का अभिमान करना है वैसे इदं में भी सः का ही अभिमान करना है, यद्यपि अहम् को सः समझना है जबकि इदं को 'है ही नहीं इसलिये केवल सः है' यों समझना है। वेदान्त में अध्यारोप-अपवाद प्रसिद्ध है, विवेक के लिये जैसा उसका उपयोग वैसा ध्यान के लिये भी है। राग से नाम-रूप का महत्त्व भासते उसके संहार में संकोच होता है अतः वैराग्य के बिना निर्विशेष की ध्यानसाधना भी संभव नहीं। इसीलिये ज्ञान-ध्यान उभयात्मक जिज्ञासा के अधिकार में विवेक-वैराग्यादि समान हैं यह अथ पद-सूचित तथ्य है।।१५।।

विषयों की तरह अध्यात्म-उपाधिका भी आरोप-संहार कर्त्तव्य बताते हैं **'स्थूल-सूक्ष्म-कारणतीनों शरीर मुझमें माया से आरोपित हैं' यह ध्यानकर फिर चिंतन करे कि ये 'बोध से लीन हैं'।।१५।।** बोध हुआ अभी नहीं है लेकिन जैसे पुत्रजन्म से पूर्व ही पिता 'मैं पुत्रवान् हूँ' मानकर व्यवस्थादि करने लगता है वैसे 'बोध होकर शरीरत्रय लीन हो चुके' ऐसा चिंतन करने को कहा है। जैसे यहाँ 'माया से आरोपित' कहा, वैसे पूर्व में इदम् के बारे में भी समझना चाहिये। अतः जैसे वास्तव में ब्रह्म सेदम् नहीं वैसे अहम् भी सशरीर नहीं, यह अर्थ है। स्थूल-सूक्ष्म की तरह तो नहीं लेकिन कारण भी समझ तो आता ही है अतः उसका भी स्वयं पर आरोप और संहार बताया। स्वयं में कारणता का ही संहार (निषेध) करते रहने से व्युत्थानदशा में याद बनी रहती है कि क्योंकि मैं कारण नहीं इसलिये प्रतीत होते हुए भी स्थूल-सूक्ष्म

तदाऽप्योंकारमुच्चार्य नादान्ते निर्विकल्पकम्।
चित्तं कृत्वा यथाशक्ति स्वात्मतत्त्वे स्थिरो भवेत्।।१६।।

के विकार मुझमें नहीं। विवेकी की तो प्रतीति ही होती है कि प्रमाता-रूप मैं ही विकारी है, साक्षिरूप मैं निर्विकार ही हूँ लेकिन ध्याता भी स्मरण रख सकता है कि मैं निर्विकार हूँ। ध्याता की सायास वही स्थिति होनी पड़ेगी जो ज्ञानी की निरायास है। ये आरोप-संहार बुद्धिको अनात्मा के आलिंगन से रोकते हैं, शरीरादि व विषयादि किसी की ओर उसे जाने में रुकावट डालते हैं। जितना विषय के बारे में 'नहीं है' (मिथ्यात्व) निश्चय होगा उतना बुद्धि उधर जाने में रुकावट महसूस करेगी। हमारी बुद्धि विषयों को 'हैं' मानकर हीहो सकते हैं, हुए थे मानकर हीउनके आकारों में ढलती रहती है। 'नहीं हैं' की भावना दृढ होने पर बुद्धि स्वयम् उन आकारों से दूर रहेगी। ध्यान में प्रथम विघ्न सूक्ष्म शरीर से और फिर स्थूल से आता है। इंद्रियाँ और मन बहिर्मुख होते हैं यह सूक्ष्मका विघ्न एवं शरीर पीडादि देने लगता है, मूत्र-पुरीष आदि का निःसारण आवश्यक हो जाता हैये सब स्थूल के विघ्न हैं। यथासंभव ये दिक्कतें होते समय उक्त आरोपसंहार करना चाहिये कि 'स्थूलदेह ही कल्पित अतः नहीं है तो इसकी पीडादि दूर करने का प्रयास काहे के लिये करें।' फिर भी एक सीमा के अनन्तर इनकी जीत हो जायेगी। ज्ञानी के सम्मुख इन विघ्नों की कभी जीत नहीं होगीयह फ़र्क है ही।।१५।।

आरोप-संहार के अनन्तर रक्षणीय स्थिति बताते हैं **उस समय भी ओंकार का उच्चारण कर नाद की समाप्ति पर चित्त को निर्विकल्प रखकर सामर्थ्यानुसार निज स्वरूप में स्थिर होवे।।१६।।** इस ध्यान में मंत्र ओंकार ही विनियुक्त किया जा रहा है अतः आरोप संहार के पश्चात् भी उच्चारण के लिये कहा। दीर्घ अर्थात् लम्बा कर ॐ का उच्चारण अर्थात् किंचिद् व्यक्त ध्वनि में अभिव्यंजन करना चाहिये। एक ॐ उच्चारण की ध्वनि (नाद) जब पूरी होती है तब कोई ध्वनि आदि न रहते समय चित्त निर्विकल्प, निराकार, निर्विषय रखना है। जैसे सुनते-पढ़ते समय मध्य में क्षण दो क्षण वक्ता चुप होता है या पन्ना पलटना पड़ता है तो चित्त निराकार ही रहता है जब तक अगला शब्द सुन या पढ़ न लें, वैसे प्रणव-समाप्ति पर होता है। ध्याता को चाहिये कि जब तक वह निर्विकल्पता रह सके तब तक रखे, न रहने पर ही दोबारा ॐ बोले। जप की तरह एक-के-बाद दूसरी बार ॐ बोलने की जल्दी नहीं करनी है, निर्विकल्पता छूटने के बाद ही पुनः उसे लाने के लिये ही ॐ का प्रयोग करना है। यही यहाँ स्थिरता है। गौडपादाचार्य ने भी (अद्वैत ४४) यही तरीका समझाया है। सामर्थ्यानुसार अर्थात्

निर्गते तु पुनश्चित्तेऽधिदैवाध्यात्मभेदतः।
यद्देहत्रयमस्त्येतद् अभेदेनैव चिन्तयेत्।।१७।।
अण्डसूत्राव्याकृताख्या देहाः स्युरधिदैवतम्।
पिण्डलिंगाज्ञानरूपमध्यात्मं वपुषां त्रयम्।।१८।।

उस निर्विकल्पता को कायम रखने की सामर्थ्य बढ़ाता रहे ताकि ध्यान का समाधि रूप में परिपाक होवे।।१६।।

सोऽहम् में साक्षी की एकता कही लेकिन 'साक्षी ही मैं हूँ' इस निश्चय पर टिकना भी आसान नहीं। प्रारब्धवश बहिर्मुखता में अधिकता आने पर प्रमातृरूप मैं भी प्रतीत होने लगता है। तब के लिये अन्य चिन्तन का विधान करते हैं **फिर भी चित्त बाहर निकल जाये तो अधिदेव और अध्यात्म यों बँटे जो तीन शरीर हैं उनका इस तरह चिंतन करे कि वे अभिन्न ही हैं।।१७।।** मान लें मच्छरों ने काटना शुरू कर दिया, उन्हें उड़ाने की तीव्र इच्छा में मन उलझा है; तब चिंतन करते हुए उड़ाये कि काटने वाला मच्छर अधिदेव है, जिसे काट रहा है वह शरीर अध्यात्म है अतः उड़ाने वाला हाथ भी अध्यात्म है, इन्हीं का परस्पर व्यवहार है, मैं इससे अछूता हूँ। किं च व्यष्टिका समष्टि से अभेद सोचते हुए चिंतन करे कि समष्टि स्थूल का ही एक अंश हाथ, दूसरे अंश मच्छरके स्थूल शरीर को उड़ा रहा है अतः वहाँ भी कोई भेद नहीं। जैसे नदी में भँवर पड़ जाये तो सिवाय पानी के वह है कुछ नहीं लेकिन भँवर के भीतर और बाहर का भेद व्यवहारयोग्य हो ही जाता है वैसे अहम् इदम् का व्यवहारयोग्य ही भेद है, वस्तु में भेद नहीं। सोऽहम्-चिन्तन में उपहितों की एकता थी जबकि इस चिन्तन में उपाधियों की एकता है। उपनिषदुक्त सृष्टिप्रक्रिया अभेद को उपपन्न करने के ही उद्देश्य से बतायी गयी है। भौतिक स्तर पर समष्टि-व्यष्टि सभी उपाधियाँ एक हैं यह सृष्टिप्रक्रिया से सरलतया समझ आ जाता है। यहाँ देहत्रय कहे हैं अतः व्यष्टि अज्ञान को भी समष्टि अज्ञान (माया) से एक जानना चाहिये। निर्विकार चैतन्य की तो एकता है ही, विकारभूत उपाधियों की भी एकता ही है। इस तरह उपाधि-प्राधान्य होने पर भी दृष्टि अभेद पर स्थिर करनी चाहिये। प्रमाता को भी समष्टि-अभिमानी से एक जानते हुए ध्यान का यह ढंग है।।१७।।

पूर्वश्लोकोक्त त्रिदेह का प्रदर्शन करते हैं **आधिदैविक तीन शरीर हैंब्रह्माण्ड, सूत्र और अव्याकृत एवं आध्यात्मिक तीन शरीर हैंपिण्ड, लिंग और अज्ञान।।१८।।** ब्रह्माण्ड को ही विराट्, सूत्र को हिरण्यगर्भ, अव्याकृत को ईश्वर भी कहते हैं लेकिन अभी

स्थूलसूक्ष्मैक्यरूपत्वमुभयत्र क्रमात् त्रिषु।
अस्ति साम्यमभेदोऽत उभयोरिह चिन्त्यताम्।।१६।।
विराड्ढिरण्यगर्भेशा अधिदैवं हि देहिनः।
विश्वश्च तैजसः प्राज्ञो ह्यध्यात्ममपि देहिनः।।२०।।

उपाधि-प्राधान्येन निर्देश होने से ब्रह्माण्ड आदि ही कहा। पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता सभी तरह है, स्थूल-सूक्ष्म-कारण तीनों स्तरों पर इनका अभेद है। ब्रह्माण्ड-पिण्ड उभयत्र समान ही नियम लागू होते हैं। यह सभी अन्वेषकों ने पाया है। जो चेतन ब्रह्माण्ड को चला रहा है, वही पिण्ड को भी चला रहा है, उसमें भी कोई भेद नहीं है। पिण्ड से व्यष्टि स्थूल, लिंग से व्यष्टि सूक्ष्म और अज्ञान से व्यष्टि को भासमान अज्ञान कहे हैं। अव्याकृत से यह अज्ञान पृथक् नहीं है फिर भी प्रत्यगात्मा की अपेक्षा से प्रतीत होने के कारण इसे व्यष्टि कहते हैं। इसी के कारण प्रत्यक्स्वरूप को सूक्ष्म से और उसके द्वारा स्थूल से तादात्म्याध्यास होता है एवं प्रारब्ध-समाप्ति पर एक स्थूल से सम्बन्ध टूटकर यथाकर्म-यथाश्रुत नये से सम्बन्ध होने पर उससे तादात्म्य हो जाता है।।१८।।

दर्शित देहों में अभेद संगत करते हैं **दोनों प्रकार के तीनों शरीरों में क्रमशः स्थूलता, सूक्ष्मता और एकताये समानताएँ हैं अतः इनके अभेद का चिन्तन किया जाये।।१६।।** दोनों प्रकार अर्थात् अध्यात्म (व्यष्टि) और अधिदैव (समष्टि)। स्थूलता अर्थात् पंचीकृत भूतरूपता। सूक्ष्मता अर्थात् अपंचीकृत भूतरूपता। समष्टि हो या व्यष्टि, हैं भूतरूप ही। कारण में एकता है और अज्ञान भी एक है। जाग्रदादि में घटाज्ञान-पटाज्ञान आदि भेद लगने पर भी सुषुप्ति में अज्ञान एक ही उपलब्ध होता है। ध्याता इन समानताओं से इन्हें अभिन्न समझे, ऐसा बार-बार चिन्तन करे कि ये एक ही वस्तु हैं जो दो-दो रूपों में प्रतीत हो रही हैं। इसे इतना बढ़ाना चाहिये कि व्युत्थानकाल में भी ज़रूरी न होने तक भेदबुद्धि न बने। जैसे अपने हाथ से अपने पैर में खाज करें तो किसी और ने की ऐसा नहीं लगता वैसे वहाँ भी लगे जहाँ अन्य व्यक्ति खुजला देइतनी दृढता लानी चाहिये। ऐसा साधक विशेष व्यवहार, रागादिप्रेरित कार्य नहीं कर सकता, अनिवार्य शारीर कर्म ही करेगा, उन्हीं में ऐसी दृष्टि रखने का प्रयास करेगा। इस श्लोक में उपाधियों के अभेदचिन्तन का विधान किया।।१६।।

अब उपहित का अभेद बताते हैं **विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वरये आधिदैविक देही हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञये आध्यात्मिक देही हैं।।२०।। ये तीनों देही यथाक्रम स्थूल का, सूक्ष्म का और आनन्द का उपभोग करते हैं यह**

स्थूलसूक्ष्मानन्दभुजः क्रमात्ते देहिनस्त्रयः।
एतत्सर्वं स्फुटीकर्तुं चतुष्पात् प्रविविच्यते।।२१।।

चतुष्पादात्मा

इन्द्रियैर्विषयज्ञानं यत्तज्जागरितं भवेत्।
तत्र स्थित्वा जगत् स्थूलं वेत्त्यात्मा तत्तदिन्द्रियैः।।२२।।
शिरश्चक्षुर्मुखं प्राणो मध्यं बस्तिस्ततोऽप्यधः।
इत्यंगसप्तकं वैश्वानरोपास्तिश्रुतौ श्रुतम्।।२३।।

सब स्पष्ट करने के लिये चार चरणों वाले आत्मा का विवेचन किया जाता है।।२१।। विराट् विश्व को अभिन्न, हिरण्यगर्भ तैजस को अभिन्न एवं ईश्वर प्राज्ञ को अभिन्न समझना है क्योंकि इनमें समानता स्थूलभोगादि की है। 'उपभोग करते हैं' में समष्टि उपभोग कराता है यह भी संगृहीत है। 'ऋतं पिबन्तौ' आदि के विचार में पिलाने वाले को भी पीने वाला कह सकते हैंऐसा सूत्रभाष्य आदि में वर्णन है। एवमपि यहाँ समानता पर ज़ोर है अतः स्थूलादि को जानना रूप उपभोग समष्टि-व्यष्टि उभयत्र समान समझना ही उचित है। समानता के आधार पर एकता का चिंतन कर्त्तव्य है। इस प्रकार उपाधि-उपहित दोनों के अभेद का चिंतन होने से मन अभेद पर स्थिर रह सकेगा, स्थिर होने पर वहीं रखना चाहिये, विचलित हो तो पुनः सायास चिन्तन करे।।२०-१।।

आत्माके चरण ही समझाते हैं **जागरित अवस्था वह है जहाँ इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान होता है। उस अवस्था में आत्मा विभिन्न इन्द्रियों से स्थूल जगत् को जानता है।।२२।।** गीली मिट्टी पर चलकर गये चोर को उसके पदचिह्नों से पकड़ लेते हैं, ऐसे ही जागरादि से आत्मस्वरूप का ग्रहण हो जाता है इसलिये इन्हें पाद या चरण कहते हैं। उपदेश, विचार, नवीन बोध जाग्रत् में ही सम्भव है अतः प्रथम इसे ही माना। इन्द्रियों से बहिरिन्द्रियाँ विवक्षित हैं क्योंकि मन इनके बगैर बाह्य अर्थ नहीं ग्रहण करता। किं च योग्यताघटित लक्षण अभिप्रेत होने से ध्यान, समाधि आदि में बाह्यार्थबोध न होने पर भी जाग्रत् ही अवस्था स्वीकारना संगत है। जाग्रत् में स्थूल अर्थात् पंचीकृत विषय ही ग्रहण होंगे, वे ही इन्द्रियग्राह्य हैं।।२२।।

वैश्वानर को सात अंगों और उन्नीस मुखों वाला बताते हैं **सिर, आँखें, मुख, प्राण, मध्यभाग (धड़), बस्ति (मूत्र स्थान), और उससे नीचे पैर आदिये सात अंग वैश्वानर की उपासना में सुने गये हैं।।२३।। ज्ञानेन्द्रियों के भेद, कर्मेन्द्रियों**

ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणभेदाः पंचदशेरिताः।
चतुर्विधान्तःकरणं मुखान्येकोनविंशतिः।।२४।।
स्थूलमिंद्रियगम्यं यत्तद्भुंक्तेऽसौ चतुर्विधः।
जागरे जागरस्वप्नसुप्तितुर्याख्यभेदतः।।२५।।
जागरो व्यवहारोऽक्षैः स्वप्नो मानसचिन्तनम्।
तूष्णींस्थितिः सुषुप्तिः स्यात् तृप्तत्वं तुर्यमुच्यते।।२६।।
अध्यात्ममधिदैवं च विश्ववैश्वानराभिधः।
ईदृशः प्रथमः पाद आत्मनः स्याच्चतुष्पदः।।२७।।

के भेद, प्राणों के भेद मिलकर पंद्रह बताये गये हैं, (इनमें) चार तरह का अन्तःकरण (जोड़कर) इक्कीस मुख समझने चाहिये।।२४।। पिण्ड के सात अंग स्पष्ट हैं, ब्रह्माण्ड में द्युलोक सिर, चक्षु सूर्य, वायु प्राण, आकाश धड़, जल बस्ति और पृथ्वी पैर है। इनमें व्यष्टि-समष्टिका अभेद चिन्तनका विषय है। उन्नीस मुखों के रूप में गिने इन्द्रियादि के अधिदेव सूर्यादि प्रसिद्ध हैं अतः वहाँ पिण्ड-ब्रह्माण्ड का अभेद समझना चाहिये।।२३-४।।

उसकी स्थूलोपभोगिता तथा जाग्रत् अवस्था की ही चार तरह अवस्थिति समझाते हैं **इन्द्रिय-विषय स्थूल कहे जाते हैं जिन्हें जाग्रदभिमानी भोगता है। जाग्रत् के अन्तर्गत ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय इन नामों वाले भेदों के संदर्भ में भोग करता वह चार प्रकार का हो जाता है।।२५।। इन्द्रियों से व्यवहार जाग्रत् में जाग्रत् है। मन से चिन्तन करना जाग्रत् में स्वप्न है। इन्द्रिय-मन की निश्चेष्ट स्थिति जाग्रत् में सुषुप्ति है। तृप्तता जाग्रत् में तुरीय है।।२६।। चार चरणों वाले आत्मा का उक्त ढंग का पहला चरण है जिसका अध्यात्म में विश्व और अधिदैव में वैश्वानर नाम है।।२७।।** यन्त्रादि के माध्यम से भी जो इन्द्रियों के विषय बनते हैं वे स्थूल ही विषय हैं। जाग्रत् में प्रधान भोग इन्हीं स्थूल विषयों का है, फिर भी जगते समय भावना, सौंदर्य आदि के भी भोग होते हैं अतः जाग्रत् को पुनः चार हिस्सों में बाँटा : इन्द्रियव्यवहार मात्र को जाग्रत्-जाग्रत् कहते हैं, इसमें मन से होते ग्रहणों का समावेश नहीं। जैसे किसी मनुष्य को देखते हैंइतना इंद्रियव्यवहार, उसे शत्रु मित्रादि 'देखते' हैंयह मन का व्यवहार है। कभी इंद्रियाँ रोककर मन से चिंतन करते हैं, चाहे योजनादि बनायें, कल्पना आदि करें, वह सब जाग्रत्स्वप्न है। क्योंकि स्थूलाभिमान रहता है, हल्लादि हो तो सुनाई दे जाता है इसलिये सर्वथा

इन्द्रियाणामुपरमे धिया जागरवासनाम्।
सूक्ष्मां जानन् वासनात्मा सप्तांगादियुतो भवेत्।।२८।।
स्पष्टस्मृतिरविस्पष्टस्मृतिरस्मृतिरित्यपि।
स्वप्नभेदाः स्वप्नमध्ये जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः।।२९।।
स्वप्नेऽपि तुर्यं तृप्तत्वं जाग्रतीवानुभूयते।
हिरण्यगर्भोऽधिदैवम् अध्यात्मं तैजसाभिधः।।३०।।

स्वप्नावस्था नहीं है किंतु जाग्रत् के अन्तर्गत स्वप्न है। कदाचित् जगे रहने पर भी न इंद्रियाँ व्यवहार करती हैं, न कुछ सोच ही रहे होते हैं, उसे संस्कृत में तूष्णीम् अर्थात् चुप-चाप की स्थिति कहते हैं, वह जाग्रत् में सुषुप्ति है। एवं तृप्ति अर्थात् सुख की पूर्णता और सन्तोष की अनुभूतियह जाग्रत् में तुरीय है। भले ही विषयप्रयुक्त हो लेकिन तृप्ति को जाग्रत्-तुरीय में गिना जायेगा। यों विभाजन करने पर ही जाग्रत् के समग्र अनुभवों का संग्रह होता है। इस तरह के अनुभव करता आत्मा विश्व, वैश्वानर (विराट्) नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है तथा आत्मा के चरणों में प्रथम है। प्रथमता प्रधानता से है, क्रम से इसलिये नहीं कि चरणों में चक्रात्मकता है, एक के बाद एक ये आते-जाते रहते हैं।।२५-७।।

अब दूसरा चरण कहते हैं **इन्द्रियाँ जब कार्य करना छोड़ देती हैं और आत्मा जाग्रत् की सूक्ष्म वासनाओं को बुद्धि से जानता है तब उसे वासनात्मा अर्थात् सूक्ष्मप्रज्ञ कहते हैं। वह भी सात अंग आदि से युक्त है।।२८। स्वप्न के अंतर्गत भी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीयये चार स्वप्न के भेद हैं। साफ-साफ याद, धुंधली याद और याद आना ही नहींये क्रमशः स्वप्न-जाग्रत्, स्वप्न-स्वप्न और स्वप्न-सुषुप्ति हैं। स्वप्नतुरीय तो तृप्तता ही है जो स्वप्न में भी वैसी ही अनुभव की जाती है जैसी जाग्रत् में। स्वप्नाभिमानी अध्यात्म में तैजस और अधिदैव में हिरण्यगर्भ है। चार चरणों वाले आत्माका यह दूसरा चरण है।।२९-३० १/२।।** स्वप्न वासनाओं का ही विलास है। जाग्रत्की वासनाओं से सपने दीखते हैं। यद्यपि एक ही जन्मका जाग्रत् अभिप्रेत नहीं तथापि वासनाप्राप्ति की मुख्य भूमि जाग्रत् ही है। किं च सपने के संस्कार से आगे फिर सपना दीख सकता है मगर ऐसा सपना जो नये सपने को दिखाने लायक संस्कार छोड़े वह यहाँ स्वप्न में जाग्रत् कहा गया है अतः जाग्रत् की वासना कहने पर उस जाग्रत् का भी संग्रह संभव है। वासना मन में रहती है, मन सूक्ष्मभूतों का कार्य है अतः वासना सूक्ष्म होती है। स्वप्न

द्वितीयः पाद एष स्यादात्मनोऽस्य चतुष्पदः।
धियो लये सुषुप्तिस्थ एकोऽभूद् द्वैतलोपनात्।।३१।।
धीवृत्तिरूपाः प्रज्ञास्ता एकीभावमुपागताः।
दुःखहान्यानन्दमयो भुंक्ते ब्रह्मसुखं तदा।।३२।।
अविद्यावृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यं भोगसाधनम्।
सुषुप्तौ चतुरात्मत्वं जागरादिविभेदतः।।३३।।
तन्द्र्यामध्यापयेद्वाचा तदा स्यात् सुप्तिजागरः।
ध्यानाभ्यासस्तु यस्तन्द्र्यां सुप्तिस्वप्नः स उच्यते।।३४।।
गाढनिद्रा सुप्तिसुप्तिः सुप्तितुर्यं सुखोद्भवः।
अध्यात्मं प्राज्ञ एवं स्यादधिदैवं तथेश्वरः।।३५।।

में वासनाका ही भोग है, विषयों के आकार में वासना ही उपस्थित है। अतः स्वप्न-द्रष्टा को वासनात्मा कहना बनता है। अंग-मुख जाग्रत् जैसे ही हैं क्योंकि जाग्रत् की ही वासना से स्वप्न में भी अंग-मुख हो सकते हैं। सपने के भी जाग्रद् आदि चार विभाजन हैं : सपना ठीक याद आये तो समझना चाहिये कि दीखते समय वह सपने में जाग्रत् स्थिति थी। साफ न याद आये तो वह सपने में सपने की अवस्था थी। बिलकुल याद न रहे फिर भी शरीर के भारीपन से या अन्य उपाय से पता चले कि सपने आते रहे, तो वह सपने में सुषुप्ति थी। स्वप्नतुरीय तृप्ति ही है, स्वप्न में भी तृप्ति का अनुभव हो ही जाता है। यों आत्मा के दूसरे चरण का वर्णन हुआ।।२८-३० १/२।

अब पाँच श्लोकों से तीसरा चरण समझाते हैं **(इन्द्रियों सहित) बुद्धि लीन हो जाने पर आत्मा सुषुप्ति में स्थित रहता है। तब द्वैत का लोप (अदर्शन) हो जाने से आत्मा अकेला होता है।।३१।। बुद्धिवृत्तिरूप प्रज्ञाएँ अपने सारे भेद छोड़कर आत्मरूप ज्ञान से एक हुई रहती हैं। सारे दुःख समाप्त हो चुकने से आनन्दमय आत्मा तब ब्रह्मसुख का अनुभव करता है।।३२।। उस स्थिति में भोग का साधन चेतन ही है लेकिन अविद्यावृत्ति से परिसीमित रहने के फलस्वरूप सुषुप्ति में भी जाग्रद् आदि विभाजनों से चार प्रकार हैं।।३३।। तन्द्रा में जब वाणी से व्यक्ति अध्यापन करा देता है तब सुषुप्ति में जाग्रत् है। तन्द्रा में ध्यानका अभ्यास सुषुप्ति में स्वप्न कहलाता है।।३४।। गहरी नींद सुषुप्ति में सुषुप्ति है। सुखका उद्भव सुषुप्तितुरीय है। सुषुप्ति वाला आत्मा अध्यात्म में प्राज्ञ एव अधिदैव में ईश्वर है। चार चरणों वाले आत्मा का यह तीसरा चरण बताया।।३५ १/२।।** स्वप्न में ही

इन्द्रियाँ लीन हो चुकी थी अतः अब बुद्धि का ही लय कहना बाकी रहा। एकता लाने के लिये कुछ करना नहीं पड़ता, केवल अनेकता हटानी पड़ती है। इंद्रियाँ-मन ही अनेकता को ग्रहण करते हैं, ये लीन हो जाने पर एकता तो स्वाभाविक है। लोक में बुद्धि की वृत्तियाँ प्रज्ञा कही जाती हैं, प्रज्ञावान् पण्डित कहने से अनेक विषयों में प्रविष्ट विद्वान् समझ आता है। सुषुप्ति में वे प्रज्ञायें समाप्त होकर अखण्ड चिन्मात्र रह जाता है। वास्तव में हमेशा वही एक ज्ञान है लेकिन वृत्तियाँ रहते उनमें प्रतिबिम्ब पड़ने से वृत्तियाँ भी ज्ञान लगती हैं, जब वृत्तियाँ नहीं रहीं तब ज्ञान ही बना रह जाता है। यही वृत्तियों का एकीभाव है। जैसे कह देते हैं कि सारे प्रतिबिम्ब बिम्ब से एकमेक हो जाते हैं जब दर्पण निवृत्त हो जायें, वैसे ही वृत्तियाँ निवृत्त हो जाने पर प्रज्ञायें ज्ञानघन से एकमेक कही जाती हैं। सारे दुःख द्वैत में ही हैं अतः द्वैत हटते ही दुःख निवृत्त हैं। सुषुप्ति में कोई दुःख नहीं हो सकता। आत्मा सुखरूप है, दुःख उत्पन्न होने पर आत्मसुख छिप-सा जाता है और हमें अनुभव में उल्लेख दुःख का ही होता है; जब द्वैत न रहने से दुःख है नहीं तब स्वतः स्फूर्त आत्मसुख बना ही रहता है। इसी से सुषुप्त को आनन्दमय कहा। क्योंकि दुःखबीज अज्ञान बचा है इसलिये आनंदरूप नहीं कह सकते। मयट् से प्रचुरता, बहुतायत की विवक्षा समझनी चाहिये। किन्तु आनंद वहाँ ब्रह्मरूप ही है। उसका हमें 'मैं आनन्द हूँ' अनुभव नहीं होता वरन् याद आती है 'मुझे आनंद आ रहा था' अतः आनंदका भोग ही होने से साधन की जरूरत है। अन्य कोई साधन वहाँ हैं नहीं, अविद्या की वृत्ति से सीमित आत्मा ही वहाँ भोगका साधन है। जैसे बुद्धि-इन्द्रियादि से अवच्छिन्न आत्मा ही स्थूलादि भोगोंका साधन है वैसे अज्ञान से अवच्छिन्न आत्मा ही सौषुप्त सुख भोगने का साधन है। अत एव वह परमार्थ सुख नहीं है! जैसे काँच की शीशी में रखा घी दीखता जरूर है पर शीशी फिरा देने से फुलका नहीं चुपड जाता, वैसे सुषुप्ति में आनन्दानुभव होता जरूर है पर क्योंकि तब भी आनन्दरूप आत्मा अविद्यारूप शीशी में बंद है इसलिये मोक्षरूप पूर्ण आनन्द का आविर्भाव नहीं होता। सुषुप्ति का अत्यंत महत्त्व होने पर भी वह मोक्ष नहीं, मोक्ष के लिये उदाहरणमात्र है। सुषुप्ति के अन्तर्गत भी जाग्रद् आदि चार अवस्थाएँ हैं। अत्यधिक अभ्यास वाला तंद्रा मेंलगभग सोते हुएभी सही मंत्र का
उच्चारण, सही पहाड़े का उच्चारण कर पाता है जिसे सुनकर शिष्य ठीक शिक्षा भी ग्रहण कर सकता है। नशे में भी अभ्यस्त विषय का समुचित उपस्थापन हो पाता है। ऐसी स्थिति को सुषुप्ति में जाग्रत् कहा। ध्यानाभ्यासी तंद्रा में ध्यान करता है तो

तृतीयः पाद इत्युक्त आत्मनोऽस्य चतुष्पदः।
पादत्रयमिदं मायामात्रं स्यान्न तु तात्त्विकम्।।३६।।
सुषुप्तिस्वप्ननामभ्यां तत्त्वविद्वक्ति तत् त्रयम्।
तत्त्वावृतेः सुप्तसुप्तं स्वप्नता त्वन्यथेक्षणात्।।३७।।
पादत्रयेणावृताऽसौ चिदेकरसताऽऽत्मनः।
अथ पादश्चतुर्थो यश्चतुरात्मा स पूर्ववत्।।३८।।

क्योंकि बहिरिन्द्रिय-व्यापार नहीं इसलिये उसे सुषुप्ति में स्वप्न कहा। गहन निद्रा, जहाँ से उठकर 'आज कुछ पता ही नहीं चला' इतना ही याद आता है वह सुषुप्ति में सुषुप्ति है। सुखोत्पत्ति सुषुप्ति में तुरीय है, इससे उठकर 'आनंद से सोया' यह याद आता है। इसी से तृप्ति की अनुभूति होती है। यों चतुर्भेद सुषुप्ति में आत्मा प्राज्ञ और ईश्वर कहलाता है। इस तरह तीसरा चरण स्पष्ट हुआ।।३१-३५ १/२।।

नृसिंहोत्तर में यहाँ 'त्रयम् अपि एतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्' (पृ. ८० आ. आ.) कहकर अवस्थात्रय को मिथ्या बताया है। इस वाक्य का अर्थ कहते हैं **ये तीनों चरण केवल माया हैं, वास्तविक नहीं।।३६।। तत्त्ववेत्ता इन तीनों को 'सुषुप्ति' और 'स्वप्न' नामों से कह देता है। क्योंकि तीनों के दौरान तत्त्व ढका ही रहता है इसलिये तीनों सुप्त-सुप्त अर्थात् सुषुप्ति कहलाने लायक हैं तथा क्योंकि तीनों में जैसा तत्त्व नहीं वैसा उसका ग्रहण है इसलिये तीनों स्वप्न कहलाने लायक हैं।।३७।।** उक्त चतुर्विध तीनों अवस्थाएँ सर्वानुभूत हैं, तत्त्वसाक्षात्कार के बिना ही उपलब्ध हैं अतः केवल माया हैं, सत्य नहीं। उल्लेख इनका इसलिये किया कि इनके आधर पर अखण्डताका चिन्तन संभव है। मायारूप होने से ही तत्त्वज्ञ इन्हें नींद या सपना ही कहते हैं। जाग्रत् तभी कहें जब तत्त्वज्ञान हो, उसके बिना सभी अवस्थाएँ नींद के ही विभिन्न स्तर हैं। माण्डूक्यकारिका (आगम. १५) में भी तीनों अवस्थाओं को इसी तरह इकट्ठा किया है। किंतु है यह तत्त्ववित् की दृष्टि से; व्यवहार में तो प्रमा-भ्रम आदि भेद उपयोगी ही हैं। अत एव तत्त्वज्ञों के लिये समुचित माना गया है सर्वकर्मसंन्यास क्योंकि वहीं व्यवहार की न्यूनतमता है।।३६-७।।

अवस्थात्रय-वर्णनका उपसंहार करते हुए तुरीय वर्णन प्रारम्भ करते हैं **आत्मा की एकरस चिन्मात्रता जाग्रदादि तीन चरणों से ढकी है। पूर्वकी तरह चार प्रकार का चौथा चरण अब बताया जाता है।।३८।।** अवस्थात्रय तो आवरक हैं, तुरीय उस आवरण को दूर करने वाला है अतः अन्त में बताया जा रहा है।।३८।।

तुरीयाऽवसितत्वं तु भवेत् पादचतुष्टये।
ओताऽनुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पशब्दैरुदीरिताः।।३६।।
तुरीयपादगा भेदास्तत्स्वरूपं विविच्यते।
ब्रह्मणो गुरुशास्त्राभ्यां बुद्ध्वा सर्वात्मतां ततः।।४०।।

नृसिंहोत्तर में तीन अवस्थाओं को मायामात्र कहने के अनन्तर वाक्य है 'चिदेकरसो ह्ययमात्मा। अथ चतुर्थश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वाद् एकैकस्य, ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैः'। आत्मा को चिदेकरस पूर्वश्लोक में कह चुके। तुरीय को चतुरात्मा कहने पर प्रश्न हुआ कि चार स्वरूपों को तुरीय कैसे कहा? इसका जवाब देते हैं **चारों स्वरूप तुरीय में अवसान वाले हैं। ओता, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पइन शब्दों से तुरीय के चार पाद कहे जाते हैं।।३६।। तुरीय के पाद (आत्मा, स्वरूप) रूप से स्थित भेदों का स्वरूप बताते हैंगुरु व शास्त्र से ब्रह्म की सर्वात्मता समझकर सब वस्तुओं में ब्रह्मको अनुगत देखता हुआ आत्मा ओता है।।४० १/२।।** चतुरात्मा से कहे चार विभागों के लिये यहाँ पाद-शब्द है। चार होने पर भी इनकी समाप्ति, पूर्णता, सार्थकता तुरीय में होने से इन्हें तुरीयरूप कहना उचित बताया। प्रथम है ओता। शास्त्र से ब्रह्मतत्त्व समझ आता है लेकिन गुरु समझाये तभी। ब्रह्म अर्थात् सर्वरूप चेतन। यही गुरु और शास्त्र मिलकर समझाते हैं। अर्थात् पता चलता है कि बाकी सब मिथ्या है। इस सर्वरूप वस्तु को समझने के बाद सारे भेद दीखने पर भी उनमें समान रूप से स्थित परमात्मा उपलब्ध होता रहे तब आत्माका ओता नाम पड़ता है। हमेशा अनुस्यूत, अनुगत, व्यापक, पिरोया हुए होने पर भी गुरु-शास्त्र से समझने पर ही अनुभव में आता है। जैसे सुनार हर गहने में सोना देखता है वैसे ओता सर्वत्र सच्चिदानन्द देखता है। जैसे पीतल के गहने पर सोने का पानी चढ़ा हो तो शुरू में गहना सोने का लगता है, समय बीतने पर पानी उतर जाता है, वैसे नाम-रूप पर सच्चिदानंद का पानी ही चढ़ा है इसलिये हर चीज़ शुरू में 'है' लगने पर भी कुछ समय बाद 'है' नहीं लगती, 'थी' लगती है! सुख भी सुख नहीं लगता, जिसे समझ, जानकारी मानते थे वही नासमझी, मुग़ालता पता चलता है। लोकदृष्टि से मायिक नाम-रूप से जुड़े सत्त्यादि ही दीखते हैं जबकि शास्त्रदृष्टि से, जुड़े दीखते हुए भी मालूम रहता है कि सत्त्यादि इन नाम-रूपों के नहीं हैं, ब्रह्म की ही इनमें अनुगति इस तरह दीख रही है। यह ओता-रूपता स्पष्ट ही तुरीय में अवसान वाली है।।३६-४० १/२।।

सर्ववस्तुष्वनुस्यूतं पश्यन्नोता भवेदयम्।
इन्द्रियाणि निरुध्याहं ब्रह्मेति ब्रह्मतात्मनि।।४१।।
येनानुज्ञायते सोऽयमनुज्ञातेति कथ्यते।
ज्ञातृत्वं तु निराकृत्य चिदेकरसशेषता।।४२।।
अनुज्ञेत्युच्यते मुक्तिरविकल्प इतीर्यते।
विद्वज्जागरणस्वप्नसुप्तितुर्याऽभिधा इमाः।।४३।।
अवस्थास्तिस्र एतास्तु मायालेशेन संयुताः।
निःशेषमायाहीनोऽयमविकल्पो भवत्यथ।।४४।।

तुरीय का अगला रूप बताते हैं **इन्द्रियों को निरुद्ध कर 'मैं ब्रह्म हूँ' यों जिसके द्वारा आत्मा में ब्रह्मता (व्यापकता) स्वीकारी जाती है वह आत्मा अनुज्ञाता कहा जाता है।।४१ १/२।।** ओता को नाम-रूप मिथ्या निश्चित होने से इन्द्रियनिरोध स्वाभाविक हो जाता है। तीव्र प्रारब्ध से भले ही यत्किंचित् बहिर्दृष्टि बने, स्वभाव से वह अन्तर्मुख ही रहता है। उस दशा में वह गुरु-शास्त्र से समझी अपनी व्यापकता को स्वीकारता है अर्थात् उसे उस पूर्णता का भान होता है अतः अनुज्ञाता कहा जाता है। अनु अर्थात् तत्त्वमस्यादि के भावार्थ को समझने के पश्चात् वह उसे अनुभव करता है। प्रारब्धवेग से विषय-व्यवहार हो तो ओता बन जाता है, अन्तर्मुख दशा में अनुज्ञाता रहता है।।४१ १/२।।

बाकी रूप दिखाते हैं **ज्ञातापना भी हटाकर एकरस चैतन्य बचा रहना अनुज्ञा कही जाती है। मुक्ति को अविकल्प कहते हैं। विद्वान् की दृष्टि से ओता ही जाग्रत्, अनुज्ञाता स्वप्न, अनुज्ञा सुषुप्ति और अविकल्प तुरीय है।।४२-३।।** अनुज्ञाता में मैं-का भान है, वह भी हटकर केवल चैतन्य का भान रहे तब अनुज्ञा है। वृत्तिरूप मैं ही हटेगा, साक्षिरूप मैं नहीं हटेगा क्योंकि वही प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्म है। चौथा रूप अविकल्प या विदेह कैवल्य है। तत्त्वज्ञ को अपनी ये चार अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं जिन्हें वह जाग्रदादि समझता है।।४२-३।।

उक्त चारों में एक विशेष बताते हैं **इनमें पहली तीन अवस्थाएँ मायालेश से जुड़ी हैं, सर्वथा मायारहित यह अविकल्प ही है।।४४।।** जीवन्मुक्ति में मायालेश (अविद्यालेश) रहते ही ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञाये दशाएँ हैं। विदेहकैवल्य में लेशाविद्या का भी स्पर्श नहीं। बाधित हो चुकी अविद्या की प्रतीति का नाम अविद्यालेश आदि है जो मुक्त के प्रारब्धसमाप्ति पर्यन्त व्यवस्थोपपादन के लिये अंगीकार है।

आत्मादेशः

अतद्व्यावृत्तिरूपेण तस्यादेशोऽत्र वर्ण्यते।
जाग्रत्स्वप्नान्तरालानि विद्याविद्ये सुषुप्तकम्।।४५।।
न स्थूलप्रज्ञमित्याद्यैः क्रमात् षड्भिर्निवार्यते।
न चक्षुरादिभिर्दृश्यं न प्राणैर्व्यवहारभाक्।।४६।।
नापि कर्मेन्द्रियैर्ग्राह्यं नानुमेयं च लक्षणात्।
न चिन्त्यं मनसा नैव शब्दैश्च व्यपदिश्यते।।४७।।

विदेहताकालीन अविद्यास्तमयरूप मोक्ष का माया से किंचित् भी संबंध नहीं। इस प्रकार श्लोक ३९ से शुरू तुरीय का वर्णन हुआ।।४४।।

नृसिंहोत्तर में आगे कहा 'अथाऽयमादेशो न स्थूलप्रज्ञं, न सूक्ष्मप्रज्ञं, नोभयतःप्रज्ञं, न प्रज्ञं, नाऽप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनम्'; इन छह बातों का संग्रह करते हैं **अतत् की व्यावृत्ति (निषेध) के ढंग से उस आत्माका आदेश अब समझाया जाता है'न स्थूलप्रज्ञम्' इत्यादि छह निषेधों द्वारा क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, अन्तराल (मध्य) की दशा, विद्या (सामान्य ज्ञान), अविद्या और सुषुप्ति का निवारण किया गया है।।४५ १/२।।** 'तत्' अर्थात् वक्तव्य वस्तु। जो-जो वह वस्तु नहीं उस सबको अतत् कहते हैं। उसकी व्यावृत्ति अर्थात् उसका निषेध। इसी ढंग से आत्मवस्तु यहाँ बतायी है। अन्तराल अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न के बीच की, तन्द्रावस्था। विद्या से विषयज्ञानों का निषेध है।।४५+१/२।।

उपनिषत् पुनः कहती है 'अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्'; ये शब्द समझाते हैं **वह तत्त्व नेत्रादि का विषय नहीं, प्राणों से उसका व्यवहार नहीं होता, कर्मेन्द्रियाँ उसे ग्रहण नहीं कर सकती, लक्षणों से उसे अनुमित नहीं किया जा सकता, मन से चिन्तन और शब्द से कथन किया जा सके ऐसा उसका स्वरूप नहीं।।४६-७।।** अदृश्य का यह भाव नहीं कि आत्मानुभव संभव न हो, वरन् यह है कि इन्द्रियगम्य नहीं है। चेतनरूप से वह निरन्तर भासमान है ही। इसके लिये किसी साधन की जरूरत नहीं। प्राणों से श्वास का व्यवहार, भोजन निगलने-निकालने का व्यवहार, खाया पचाने का और शरीर में फैलाने का व्यवहार, ताकत के कार्य के समय ज़ोर लगाने का व्यवहार आदि तो हो सकते हैं पर प्राणों से आत्मा का कोई व्यवहार नहीं हो सकता। कर्मेंद्रियों से वह ग्रहण न होने लायक है। जैसे ज्ञानेंद्रियाँ रूपादि ही देखेंगी, चेतन नहीं, वैसे कर्मेन्द्रियाँ शरीरादि को

स्वप्रकाशात्मसारत्वान्नापि शक्याऽस्य शून्यता।
स्थूलप्रज्ञादिरूपो यः प्रपंचः स्वात्मनः पृथक्।।४८।।
तत्कृतैर्बहुविक्षेपैरात्मनो दुःखितेति चेत्।
प्रपंचः कल्पितस्तत्त्वबोधेनैवोपशाम्यति।।४९।।

ही पकड़ेंगी चेतन को नहीं। आत्मा ही ज्ञान-कर्मेन्द्रियों का, प्राण मन आदि का प्रेरक है, इनका विषय नहीं। वह सब व्यवहारों को विषय करता है, उसे कोई व्यवहार विषय नहीं करता। प्रत्यक्षव्यवहार की तरह अनुमानादि परोक्ष व्यवहार के भी योग्य परमात्मा नहीं। आगका लक्षण गर्मी, बर्तन गर्म हो तो अनुमान हो जाता है कि आग पर चढ़ाया है। ऐसे आत्मा लक्षणों से अनुमान का विषय नहीं बनता। तटस्थ और स्वरूप कहलाने वाले लक्षण हमारी दृष्टि अनात्मा से हटा पाते हैं, यही उनका उपयोग है, आत्मावबोध उनसे नहीं वरन् प्रत्यग्रूप से स्वयम् ही है। जैसे 'मैं भारतीय' इस अभिमान से 'मैं गुजराती, मराठी' आदि अभिमान ज़्यादा स्फुट होने से देशहित की चिंता न कर परस्पर लड़ते हैंकभी पानी के लिये, कभी ज़मीन के लिये, कभी शिक्षा-संस्थानों के लिये, वैसे हमें अपनी चेतनता का भले ही भान है पर 'मैं शरीर आदि हूँ' का अभिमान ही ज़्यादा स्फुट रहने से स्वयं को, आत्मा को शरीरादिरूप ही समझते हैं। लक्षणविचार से वह भ्रम दूर होता है, यही लाभ है, चेतनानुभव उनका फल नहीं। इसी तरह मन अनात्म-चिंतन छोड़ सकता है यही आत्मचिंतन कह भले ही दिया जाये पर मन आत्मा को विषय कर चिन्तन करे यह संभव नहीं। शब्द भी शक्ति से नहीं कहता, लक्षणा से इशारामात्र कर पाता है। नित्य भासमान तत्त्व वास्तव में प्रत्यक् होने से अविषय है यह अभिप्राय है।।४६-७।।

'एकात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमम्' शब्दों का अर्थ बताते हैं **क्योंकि यह सारभूत वस्तु स्वप्रकाश आत्मा है इसलिये इसे शून्य नहीं समझ सकते। स्थूलप्रज्ञ आदि रूप वाला जो प्रपंचसम्बद्ध आत्मा (प्रमाता) है वह इस निजात्मा (साक्षी) से पृथक् है।।४८।। प्रमाता द्वारा किये बहुतेरे विक्षेपों से आत्मा दुःखी होता होगायह प्रश्न व्यर्थ है क्योंकि प्रपंच (प्रमाता) कल्पित है अतः तत्त्वबोध से ही उपशांत (अविक्षेपक) हो जाता है।।४९।।** सार मायने वास्तविक रस। आत्मा परमार्थ आनन्द होने से सार कहा गया। स्वतः उसका भान सदा अबाध्य रहने से उसे निषेधमुख से समझने पर भी शून्य (असत्) नहीं कह सकते। ज्ञान को आत्मा का सार कहा जैसे घी (चिकनायी) दूध का सार है। भले ही बेचते समय घी-निकले

दूधकी महिमा गाये पर खरीदते समय दूधका व्यापारी उसमें घी ही नापकर पैसे देता है या सुनार बेचते समय चाहे आकार (डिजाइन) की ही प्रशंसा करता रहे, खरीदते समय सोने का ही मूल्य देता है। अतः सार ही मूल्यवान् है। ज्ञान ही मूल्यवान् रूप है। आँख-कान आदि से होने वाले तो ज्ञानाभास हैं, आत्मरूप ज्ञान तो अपरोक्ष, निरपेक्ष अनुभूति है। उसे समझाने के लिये दृष्टि श्रुति आदि को भी ज्ञान कहते हैं किन्तु तात्पर्य उनके बिम्बभूत ज्ञान से है। ज्ञान ही सत्त्य है तो संसार में कुछ भी ज्ञान से अन्य होगा नहीं अतः बंधनदशा में ही एकमात्र आत्मा है तो मोक्ष में क्या विशेषता है? इसका उत्तर है कि आत्मा से भिन्न समझना ही दुःखहेतु बनता है। स्थूल जाग्रत् में और सूक्ष्म स्वप्न में भिन्न प्रतीत होकर दुःखदायी है ही, सुषुप्ति में भेदप्रतीति न सही पर सारे भेदों के बीज रहने से सभी दुःखों के बीज भी वहाँ हैं अतः उसे भी वास्तव में दुःखरहित अवस्था नहीं कह सकते। भेददृष्टि आत्मस्वरूप के अज्ञान से है। तत्त्वसाक्षात्कार से अज्ञान दूर हो चुकने से भेददृष्टि समाप्त हो जाती है अतः कोई दुःख संभव नहीं रहता, यही मोक्ष में बंधन से विशेष है। बंधन अज्ञान के रहते है, अज्ञान की निवृत्ति से मोक्ष है। अज्ञान से ही स्वयं को साक्षी न जानकर प्रमाता समझते हैं, आँख-कान के सहारे ज्ञान वाला समझते हैं, देखने-सुनने चलने-पकड़ने वाला, सोचने-समझने वाला स्वयं को मानते हैं और तभी प्रपंच क्लेश देता रहता है। यह जो भ्रमसिद्ध आत्मा दुःखी होता है वह मोक्ष में रहने वाले वास्तविक साक्षिरूप आत्मा से पृथक् ही है। साक्षी तो अभी भी दुःखी नहीं होता लेकिन अज्ञानवश हम खुदको साक्षी समझ ही नहीं पाते इसलिये दुःखी बने रहते हैं। 'स्थूलप्रज्ञादिरूपः प्रपंचः' से उपाधि और अभिमानी दोनों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि दोनों अज्ञान से हैं। मिथ्या होने से प्रपंच (उपाधि) और उसमें अभिमानी का तत्त्वसाक्षात्कार-प्रयुक्त बाध ही संभव है, इससे अन्य उसे दूर किया जा सके ऐसा कोई उपाय नहीं है। दुःख की पहुँच है ही मन तक, मुझ तक नहीं है, फिर भी इस तथ्य को न जानकर हम मन से एकमेक हुए दुःखी हैं। ऐसा दुःख तभी मिटे जब हम समझ लें कि हम मन नहीं उसके साक्षी हैं। इसी से अपने प्रमातृरूपका बाध हो जाता है जैसे स्वयं को कौन्तेय जानते ही कर्ण के कौन्तेयरूपका बाध हो गया था। श्रद्धालु को शास्त्र से किंचित् पता चलता है, विचार से उसमें निःसंदिग्धता आती है और आत्मसाक्षात्कार से सुस्पष्ट हो जाता है कि मैं सदा प्रपंचातीत चिन्मात्र हूँ।।४८-६।।

उसी को 'शिवं शान्तम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' कहा है यह सूचित कर देते

ततः शिवं दुःखहीनं सर्वविक्षेपशान्तितः।
पादं चतुर्थं मन्यन्ते वस्त्वद्वैतमिहोच्यते।।५०।।
मतिरेव बुभुत्सूनां न त्वद्वैते चतुर्थता।
यदद्वैतं स एवात्मा ज्ञेयो जिज्ञासुना स हि।।५१।।
तुर्यपादे त्रयं त्यक्त्वा तुर्ये तुर्योऽवबुध्यताम्।
मायित्वादीश्वरोऽप्यत्र ग्रस्तः स्यादवबोधतः।।५२।।

है **अतः वह शिव है, सारे विक्षेप उसमें निरस्त हो चुकने से वह दुःखहीन है। ऐसी अद्वैत वस्तु यहाँ कही जा रही है जिसे चौथा पाद माना जाता है।।५०।।** तुरीय सत्त्य है, विश्वादि उस पर अध्यस्त हैं। तुरीय ही कल्याणस्वरूप, आनंदस्वरूप होने से शिव है। स्वरूप से निर्विकार होने पर भी भ्रम से आरोपित विकारों के भी बाधित हो जाने पर वह शांत, दुःखरहित है। द्वैत उसमें कदापि नहीं अतः वही सत्त्य वस्तु अद्वैत है। समझने के लिये उसे आत्मा का चौथा चरण कहते हैं। वास्तव में वही आत्मा है लेकिन भ्रमसिद्ध तीन चरणों से स्वतन्त्र बताने के लिये उसे चौथा चरण कह देते हैं।।५०।।

आत्मा की तुरीयता व्यवहारमात्र है यह बताते हैं **समझना चाहने वालों को समझते समय लगता ही है कि वह चौथा है, वास्तव में उसमें चौथापना नहीं है। जो अद्वैत है वही आत्मा है वही जिज्ञासु को जानना चाहिये।।५१।।** क्योंकि हमारी स्थूल-सूक्ष्म-कारण की दृष्टि है इसलिये इससे परे बताने का ढंग है उसे चौथा कहना। वास्तव में स्थूलादि हैं ही नहीं तो आत्मा चौथा कैसे कहा जाये! फिर भी समझने का उपाय यही है अतः वेद में इसी का सहारा लिया गया हालाँकि उपदेश के समय भी सत्य यही है कि वह तुरीय नहीं बल्कि सद्वितीय भी नहीं है! अद्वैत का इतना ही मतलब नहीं कि उसमें दोपना नहीं, क्योंकि तब कोई त्रैत की कल्पना कर लेगा! वरन् यह भी मतलब है कि उसमें कैसा भी भेद नहीं है। ऐसा अत्यन्त अखण्ड आत्मा ही मुमुक्षु को जानना हितकर है।५१।।

निष्कर्षभूत आत्मा का कथन करते हैं **तीन चरणों को चौथे चरण में विलीन कर चौथे में चौथा (अविकल्प) आत्मा है यह समझ प्राप्तव्य है। तत्त्वसाक्षात्कार से ईश्वर भी चौथे में विलीन हो जाता है क्योंकि ईश्वरता भी मायामय है।।५२।।** जाग्रदादि तीन का और तुरीय के प्रथम तीन रूपों का तुरीय में विलय समझना चाहिये। बाध से तो विलय होगा ही, यहाँ ऐसा ध्यान करने को कह रहे हैं

इत्थं योगविवेकौ द्वौ प्रथमे खंड ईरितौ।
चित्तभ्रमणरूपस्य संसारस्य प्रशान्तये।।५३।।
योगो विवेक इत्युक्तौ प्रकारौ श्रुतिसंमतौ।
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः।।५४।।

कि बाकी सब तुरीय में लीन हो गये, वही एकमात्र भास रहा है। सारी उपाधियाँ और उपहितों का विलय करने पर ईश्वर का विलय भी अर्थसिद्ध है फिर भी यह बताने के लिये कि ध्याता स्वयं को ईश्वर न समझे वरन् तुरीय समझे, ईश्वर का उल्लेख किया, अन्यथा अभेद की बात से जीव-ईश्वर का अभेद प्रतीत होता है और उपासक ने क्योंकि शोधनका रास्ता लिया नहीं इसलिये उसे जीवभाव-ईश्वरभाव उपस्थित ही रहता है जिससे उक्त भ्रम संभव भी है। अविकल्प क्योंकि विदेहावस्था कही थी इसलिये वहाँ प्रारब्ध का भी प्रसंग न रहने से ईशितव्य के अभाव में ईश्वर का विलय समझना संभव है। निर्धर्मक स्वरूप के दीर्घ चिन्तन के संस्कारों से आत्मा का यह रूप आभासित होने पर विवेकी को पदार्थशोधन में असीम सहायता मिलती है, शब्द से निर्विशेष का ग्रहण संभव हो जाता है।।५२।।

उपनिषत् प्रथमखण्ड का सार यहाँ तक बताया यह सूचित करते हैं **चित्तका भटकना ही संसार का स्वरूप है जिसकी स्थायी शांति के लिये प्रथम खण्ड में योग और विवेक दो साधन बताये।।५३।।** उक्त ध्यान सांसारिक फलों के लिये नहीं, संसारनिवृत्ति के लिये है अतः विरक्त मुमुक्षु ही इसका अभ्यास करे। जन्म-मरण का चक्ररूप संसार है चित्तका भ्रमण ही। 'भ्रमण' से ध्वनित है कि चित्त-निमित्तक भ्रम ही संसार है। उपाधितादात्म्य को ही जन्म और स्थूल से तादात्म्य छूटने को मरण कहते हैं। तादात्म्य स्पष्ट ही भ्रम है अतः संसार को भ्रम कहना बनता है। जीवन के दौरान भी सुख-दुःख का भोगरूप संसार तादात्म्य से ही है क्योंकि आत्मा वस्तुतः तो साक्षी ही रहता है। इस भ्रमण से वैराग्य हो तभी अध्यात्म साधना प्रारंभ होगी। दुःख भी जब तक वैराग्य पर्यन्त न फलित हो तब तक अध्यात्म मार्ग पर बढ़ने में प्रेरक नहीं बनेगा। इस उपासना में भी विवेक का अतएव स्थान बताया।।५३।।

योग-विवेक का परस्पर सम्बन्ध होने पर भी अधिकारिभेद से प्रधानता का भेद हो जाता है यह समझाते हैं **(साधना के) श्रुति को अभिमत दो प्रकार हैंएक है योग और दूसरा है विवेक। किसी साधक से योग की सिद्धि नहीं की जा पाती, किसी से ज्ञान का निश्चय नहीं हो पाता।।५४।। अतः**

आत्मस्वरूपम्

प्रकारौ द्वौ ततः प्रोक्तौ सर्वानुग्रहकाम्यया।
आदौ द्वितीयखंडस्य सच्चिदानन्दतात्मनः।।५५।।

सब तरह के अधिकारियों पर अनुग्रह करने की इच्छा से श्रुति ने दोनों प्रकार वर्णित किये।।५५ १/२।। योग में चित्तप्रवाहका निरोध चाहिये, ज्ञाननिश्चय में प्रमाण पर अटूट श्रद्धा चाहिये; विभिन्न व्यक्तियों में यह अन्तर मिलता है कि कोई चित्त तो निरुद्ध कर सकता है पर चित्त विक्षिप्त रहते उस दशा को असत्य नहीं स्वीकार सकता जबकि कोई ऐसा होता है जिसे प्रमाण से निश्चय हो जाता है कि सद्वयता नहीं है लेकिन चित्त पर उसका ऐसा नियंत्रण नहीं होता कि उसे निरुद्ध कर ले। यह तो ठीक है कि यहाँ योग से भेददृष्टि कायम रखने वाला पातंजलादि योग नहीं कह रहे, अत एव 'श्रुतिसम्मत' विशेषण दिया, और ज्ञाननिश्चय भी असमाहित को नहीं हो सकता, अत एव 'समाहितो भूत्वा...पश्येत्' श्रुति ने कहा है, फिर भी साधना में गुण-प्रधानभाव का अंतर सूचित है। निरोध में सक्षम को चाहिये कि श्रवणादि किये तत्त्व का निरुद्धदशा में अनुभव करे एवं ज्ञाननिश्चय वाले को चाहिये कि प्रमाण-प्रमेयके बारे में संशयादि का संपूर्णतः निवारण करे। भेद-दर्शन विचलित करे तब योगी तो 'कूर्मोऽङ्गानीव' अन्तर्मुख हो जाये और ज्ञान-निश्चयी प्रमाण के अनुसन्धान से भेद और विचलनका निषेध करे। 'भूत नहीं होते' ऐसे निश्चय वाला जब किसी भुतहे खण्डहर में घुसता है और विचित्र ध्वनियाँ, विचित्र रूप-गन्ध आदि आते हैं तो क्षणभर को ठिठकता है, फिर अपने निश्चय के बल पर ही आगे बढ़ता है। इसी तरह ज्ञाननिश्चयी साधक भी सुख-दुःख से विचलित होने पर ज्ञाननिश्चय से ही उसे निवृत्त करे। जैसे बाइस्कोप से लौट कर उसके पात्र की मृत्यु हुई या नहींऐसा कोई विचार विवेकी नहीं कर पाते क्योंकि जानते हैं कि वह पात्र कोई वस्तु नहीं, वैसे ज्ञाननिश्चयी को दृश्यका विचार छोड़ना है, उपलब्धि तो यथाप्रारब्ध होती रहेगी। योगवासिष्ठ में भी दोनों साधनों को मान्यता दी है।।५५+१/२।।

नृसिंहोत्तरतापनीय के द्वितीय खण्ड में तुरीयका ही और स्पष्टीकरण है। उसका श्लोक ८२ तक संग्रह करेंगे। द्वितीय खण्ड का व्याख्यान प्रारंभ करते हैं **द्वितीय खंड के प्रारंभ में आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता का विवेचन किया गया है। सर्वत्र अनुस्यूत होने से पता चलता है कि सत्ता नित्य है। जाग्रद् आदि का व्यभिचार**

विविच्यते नित्यसत्ता गम्यते ह्यनुवृत्तितः।
व्यभिचारे जागरादेर्यत् सदव्यभिचारि तत्।।५६।।
आनन्दैकरसं नित्यमिति सत्त्वं विवेचितम्।
चक्षुःश्रोत्रादयः सर्वे मदीया इति भासिताः।।५७।।
भाताऽसौ चक्षुरादिभ्यो द्रष्टाऽन्यश्चेतनो भवेत्।
द्रष्टेति दृष्टिकर्तृत्वमहंकारेण कल्पितम्।।५८।।

होने पर जो अव्यभिचारी है वही सत् है।।५५-६।। सच्चिदानन्द कहने पर पहला स्वरूप सत् पता चलता है, उसे अव्यभिचारी, सनातन, अनुवृत्त के रूप में समझाया। जैसे घड़ों में अनुस्यूत घड़ापना नित्य होता है, घड़े अनित्य होते हैं, वैसे सब अनित्य होने पर भी उसमें अनुस्यूत सत् (है) नित्य ही है। घड़ा सामने न हो तो घड़ापना प्रकट नहीं होता फिर भी रहता सदा है वैसे सत् प्रकट होने पर ही निर्भर नहीं, बिना प्रकट हुए भी वह नित्य ही है। घटहीन कमरे में घटत्वकी उपस्थिति जैसे विवेकी को अंगीकार है वैसे सत् भी विवेकी ही ग्रहण करता है। जैसे रूपादि घड़ों में ही संभव हैं, घड़ापने में नहीं, वैसे सत् भी नाम-रूप-कर्म से वर्जित है। अतः अनुवृत्तइसी तरह उसे समझना चाहिये। 'जागरादेः' में पूर्वोक्त द्रष्टा-दृश्य सारा जगत् आ जाता है जिसमें अनुगत सत् विज्ञेय है।।५५-६।।

सत्त्वनिर्णय का उल्लेख कर चित् को समझाते हैं **सत् का स्वरूप एकरस सनातन आनंद है। सत्त्व के बारे में यह स्पष्ट निर्णय उपनिषत् में सूचित है। (अब चिद्रूप कहते हैं) चक्षुः, श्रोत्रादि सब यों प्रतीत होते हैं कि 'मेरे हैं'। इन्हें ऐसा प्रतीत करने वाला द्रष्टा (साक्षी) इनसे अन्य चेतन है, उसमें 'जानने वाला' यों जानने के प्रति कर्तापना अहंकार द्वारा आरोपित है।।५७-८।। निर्विकार होने से साक्षिरूप आत्मा केवल दृग्रूप (ज्ञानरूप) है।।५८ १/२।।** ज्ञाता ज्ञेय से पृथक् होता ही है, हमें चक्षु आदि ज्ञेयरूप से प्रतीत होते हैं अतः निश्चय है कि हम उनसे पृथक् हैं। चक्षु आदि में मन भी आ जाता है। मन से पृथक् स्वयं को समझते ही साक्षिरूप में स्थिति हो जाती है। साक्षी नित्यदृष्टि होने पर भी उसे अनित्य ज्ञान इसीलिये हो पाते हैं कि उसपर अहंकार आरोपित है। अहंकाररूप उपाधि से ही साक्षी प्रमाता बनता है। सुषुप्ति में अहंकार न रहते कोई अनित्य ज्ञान भी नहीं होता, ज्ञानमात्र कायम रहता ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लगातार रहता है वह ज्ञान आत्मा है, उसमें जो ज्ञानकर्तृत्व, ज्ञातृत्व, अनित्य ज्ञानवत्त्व प्रतीत

दृङ्मात्रत्वेन साक्ष्यात्मा विकाररहितत्वतः।
आनन्दघन आत्माऽसौ परप्रेमास्पदत्वतः।।५६।।
मा न भूवं सदा सम्यग्भूयासमिति हीक्ष्यते।
सच्चिदानन्दैकरसो भात्यस्माद् दृश्यतः पुरा।।६०।।
सर्वेषु व्यवहारेषु निर्विकल्पं स्फुरेत् पुरः।
तमेव भान्तमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत्।।६१।।
इति श्रुत्यन्तरे प्रोक्तः परमात्मा पुरा स्फुरन्।
अखण्डैकरसः सोऽयं जरामरणवर्जितः।।६२।।

होता है वह अहंकार उपाधि से होने वाला भ्रम है। उसे साक्षी भी इसलिये नहीं कहते कि उसके साक्ष्य बताने हैं वरन् इसलिये कि उसे निर्विकार बताना चाहते हैं। लोक में जो दोनों पक्षों के प्रति राग-द्वेष आदि विकार वाला न हो उसे ही साक्षी मानते हैं। स्थूल सूक्ष्म देहों के विकार प्रमाता में ही हैं, साक्षी में नहीं, जैसे दर्पणदोष प्रतिबिम्ब में ही होते हैं, बिम्ब में नहीं।।५७-८ १/२।।

सत्, चित् बताकर आनंद का कथन करते हैं **यही आत्मा घनीभूत आनन्द है क्योंकि यही परम प्रेमका विषय है। आत्मा के प्रति प्रेम यों अनुभव में आता है 'मैं न होऊँऐसा कभी न हो, मैं हमेशा भली-भाँति रहूँ।।'५६ +१/२।।** मैत्रेयी-प्रसंग में (१५.११) इस बारे में विचार किया जा चुका है। दुःख विकारहेतुक होता है अतः निर्विकार साक्षी निर्दुःख आनंद ही संभव है। क्योंकि स्वरूप सदा प्रिय अतः आनन्दरूप है इसलिये सब दुःख निवृत्त होने पर आनन्द रहना अनिवार्य है। वृत्ति से आनंद का विवेक न कर पाने से ही अन्यान्य विचारक मोक्ष में दुःखहानि मानकर भी आनंद स्वीकारने से डरते हैं। वास्तव में सत्-ज्ञान-आनन्द एक ही वस्तु है यह वेद से निर्णय होता है। आत्मप्रेम की सर्वानुभवसिद्धता भी आनंदरूपता में प्रमाण है।।५६+१/२।।

आत्मा को आनंदघन कहने के पश्चात् 'अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातम्' (पृ. ८३ आ. आ.) कहा, उसका अर्थ कहते हैं **इस समग्र दृश्य से पहले एकरस सच्चिदानन्द भासमान रहता है।।६०।। सभी व्यवहारों में निर्विकल्प आत्मा पहले स्फुरित होता है। उसके भासते रहते उसी के भास से जगत् भासमान होता है।।६१।। सर्वप्रथम स्फुरने वाला परमात्मा अन्यत्र (कठ.५.१५) इन्हीं (पूर्वश्लोकोक्त) शब्दों में बताया गया है। यही अखण्ड एकरस जरा-मृत्यु से असम्बद्ध तत्त्व है।।६२।।** आत्मा भानस्वरूप है, तभी उसके सम्बन्ध से मन-इंद्रियादि

प्रणवे विश्वाद्युपासना

इत्यात्मानं विविच्याथ युंजीत प्रणवेन तम्।
चतुर्णां जागरादीनां प्रत्येकं चतुरात्मता।।६३।।
पूर्वमुक्ता यथा तद्वदकारादिषु कल्पयेत्।
आधारादुत्थियो वायुर्नाभिहृत्कंठगो बहिः।।६४।।
निर्गच्छन् जनयेच्छब्दं सोऽपि स्थानैश्चतुर्विधः।
संज्ञाः परेति पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति च।।६५।।
आगमोक्ता वैखरी तु श्रूयते मुखनिर्गता।
वाचः पदानि चत्वारि त्रीणि गूढानि विग्रहे।।६६।।
तुर्यं मर्त्या वदन्तीति प्राह मन्त्रोऽप्यतिस्फुटम्।
वैखर्याद्याः परान्तास्तु शब्दभेदाः क्रमादमी।।६७।।

में और फिर बाहरी चीजों में भान, ज्ञान प्राप्त होता है। लोक में बहुधा साधारण से अनुभवों पर चिंतन करने से गंभीर तथ्य प्रकट होते हैं : सेब गिरना देखने से गुरुत्वाकर्षण का निर्णय निकला, कचरे को चमकता देखने से रेडियम का पता चला, फूल का रंग बदलना देखने से रमण-प्रभाव का निर्णय हुआ; ऐसे ही हमारे सभी अनुभव इस योग्य हैं कि इन पर चिंतन करें तो परमात्मा का आविष्कार हो सकता है। इसीलिये आचार्य ने 'सर्वेषु व्यवहारेषु' कहा। श्रुत्युक्त रीति से, प्रत्येक अनुभव स्वप्रकाश साक्षी को संकेतित करता है। अध्याय ११ श्लोक ६४, अ. १८. श्लोक. ७४ आदि में भी यह विषय आ चुका है।।६१-२।।

'एनं चतुष्पादं मात्राभिरोंकारेण चैकीकुर्यात्' इत्यादि (पृ. ८४ आ. आ) उपनिषद्वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं **इस प्रकार आत्मा का विवेचन कर फिर उसे प्रणव से जोड़ना चाहिये। जाग्रदादि प्रत्येक चार प्रकार के हैं यह पहले बताया था, उन्हीं का अकारादि पर आरोप करना चाहिये। मूलाधार से उठी वायु नाभि, हृदय और कण्ठ से गुजरते हुये बाहर निकली हुई शब्द (ध्वनि) उत्पन्न करती है। वह शब्द भी उक्त स्थानभेद से चार तरह का है। उन प्रकारों के आगमोक्त नाम हैंपरा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।।६३-५।। मुँहसे निकलने पर वैखरी शब्द तो सुनाई देता है (बाकी नहीं)। मन्त्र भी अतिस्पष्ट कहता है कि वाक् के चार पाद हैं, तीन शरीर में छिपे रहते हैं, मनुष्य लोग चौथे को बोला करते हैं। वैखरी से परा तक के विभिन्न शब्द श्रुति में क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म,**

स्थूलसूक्ष्मौ बीजसाक्षिणावित्येव श्रुतीरिताः।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिश्च वै कलाः।।६८।।
अकारेऽस्मिंश्चतुर्भेदे जागरं तु चतुर्विधम्।
ध्यायेत् साम्यं तयोराप्तिरादित्वं चेति चिन्तयेत्।।६९।।
जागरेऽक्षैर्व्याप्तिरस्ति व्याप्तोऽकारः कखादिषु।
आदित्वं लोकतः सिद्धं जागराकारयोर्द्वयोः।।७०।।

बीज और साक्षी कहे गये हैं। इन्हें ही निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति इन कलाओं के रूप में भी बताया गया है।।६६-८।। जैसे जाग्रत् में जाग्रत् इत्यादि ढंग से सोलह विभाजन थे वैसे अ-उ-म-नाद ये चार और परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीये चार परस्पर गुणित होकर सोलह विभाग हो जाते हैं। तब उपासनार्थ आरोप संभव होता है। ऋग्वेद (अ. २.३.२२) में वाक् के चार प्रकार कहे हैं 'चत्वारि वाक्-परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।' इसे ही नृसिंहतापनीय में 'चतूरूपो ह्ययम् अकारः स्थूल-सूक्ष्मबीजसाक्षिभिः अकाररूपैः' (नृ. ८४) से कहा है। वैखरी स्थूल है, मध्यमा सूक्ष्म है, पश्यन्ती बीच है तथा परा साक्षी है। परा निर्विकार है, पश्यन्ती में भेद निहित किन्तु अप्रकट हैं, मध्यमा में भेद की सूक्ष्मावस्था और वैखरी में स्थूलावस्था है। इन्हीं का कलारूप से भी वर्णन है। निवृत्ति स्थूल है। प्रतिष्ठा सूक्ष्म है। कर्म के फल का भोग स्थूल है, उसमें हेतुभूत रागादि सूक्ष्म है। रागादि के रूप में ही वह प्रतिष्ठित रहता है। शिव में भी राग होगा तभी हम शिवध्यान करेंगे, विषयराग रहते शिव से माँगेंगे तो सही, शिव का ही ध्यान नहीं कर पायेंगे। विद्या बीज है। विवेकात्मक विद्या से ही अर्थात् भेदबुद्धि से ही विषयज्ञान और विषयक्रिया प्रवृत्त होती है। शान्ति साक्षी है। सारे विकारों से रहित वस्तु ही वास्तव में शान्तिस्वरूप है।।६३-८।।

आरोप्य-आलम्बन की व्यवस्था व्यक्त करते हैं **चार प्रकार के इस अकार में चार प्रकार के जाग्रत् का ध्यान करना चाहिये। इनमें समानता है व्यापकता और प्राथम्ययह भी चिन्तन करना चाहिये।।६९।। जाग्रत् में इन्द्रियों द्वारा व्याप्ति (व्यापकता) है और क-ख आदि में अकार भी व्याप्त (व्यापक) है। जाग्रत् और अकार दोनों की प्रथमता लोकसिद्ध है।।७०।।** परा आदि चार रूपों का अकार है एवं जाग्रत्-जाग्रत् जाग्रत्स्वप्न आदि चार रूपों वाला जाग्रत् है। वैखरी-अकार में जाग्रत्-जाग्रत् का ध्यान करे, मध्यमा-अकार में जाग्रत्स्वप्न का, पश्यन्ती-अकार

स्थूलसूक्ष्मत्वादिसाम्यं तद्भेदानां क्रमाद्भवेत्।
फलं यथागुणं ध्याने भवेत् सर्वत्र कामिनः।।७१।।

में जाग्रत्सुषुप्ति का एवं परा-अकार में जाग्रत्-तुरीय का। चारों अकार प्रतीक हैं, उनमें दृष्टि चारों जाग्रत् की करनी है। प्रायः ध्यान में आलम्बन आरोप्य में साम्यादि सम्बन्ध बताये ही जाते हैं, यहाँ व्यापकता और प्रथमता साम्य है। संस्कृत (हिंदी) में सारे व्यंजनों का सामान्य उच्चारण अकारयुक्त होने से अकार को ककारादि में व्यापक कहा। जाग्रत् में भी व्यापकता है : इन्द्रियों द्वारा जाग्रत् में हम सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं। चक्षु-श्रोत्र दो इंद्रियों से बहिर्गमन माना गया है। किंच जाग्रत्संस्कार से ही स्वप्न बनता है। और जाग्रत् में किये कर्म ही सुषुप्ति में रहकर सुषुप्ति से बाहर आने में निमित्त बनते हैं इसलिये तीनों अवस्थाओं में जाग्रत् भी व्याप्त है। तुरीयका अवबोध भी जाग्रत् में ही संभव है। प्रथमता लोकसिद्ध हैप्रातः पहले जगते हैं फिर रात को सोते समय कुछ देर सपने आकर गहरी नींद आती है। वर्णमाला में अ प्रथम है ही। इन समानताओं का भी चिंतन विहित है।।६६-७०।।

अकार-जाग्रत् का साम्य बताकर अब इनके भेदों की समानता और ध्यानका प्रभाव सूचित करते हैं **दोनों के भेदों की क्रमशः समानता स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व आदि है। सर्वत्र ध्यान-प्रसंग में नियम है कि कामनावान् को वैसा फल मिलता है जैसे गुण का उसने ध्यान किया है।।७१।।** स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्वये साम्य हैं जिन्हें वैखर्यादि क्रम से पूर्वक्त ढंग से याद रखना चाहिये। ध्यान में व्याप्ति प्राथम्य गुण कहे थे अतः ध्याता को सब कुछ प्राप्त होना और अग्रगण्य होनाये फल मिलेंगे यदि इन्हें चाहे तो, यदि मोक्षेच्छा से ध्यान करे तो स्वरूपावस्थान ही परमफल है। ओंकार को कामद-मोक्षद दोनों माना है अतः दोनों फल बताये। किंच मोक्षार्थ ध्याता भी अवान्तर फलरूप से इन्हें पा ले तो कोई विरोध नहीं, उस पक्ष में इनका उल्लेख अर्थवाद होगा।।७१।।

अकार की तरह ही बाकी के भी भेदों पर अवस्थाभेदों का ध्यान करना चाहिये। तदनन्तर श्रुति है 'मात्रा मात्राः प्रतिमात्राः कुर्यात्' (पृ. ८६)। अ-की प्रतिमात्रा उ, उ-की म और म- की तुरीय है। अ का उ में विलय, ऐसे ही आगे भी करते जाना है, साथ ही स्थूल का (विश्ववैश्वानर का) सूक्ष्म में आदि करना है। पंचीकरण नामक प्रकरण में यह स्पष्ट है। इसी का विधान करते हैं **अकार को जाग्रत् में, इसे भी उकार में, उकार को मकार में और उसे नादरूप ओंकार में उपसंहृत करना**

अकारं जागरेऽप्येतमुकारे संहरेत्तथा।
उकारं च मकारे तमोंकारे नादरूपिणि।।७२।।

नादे तुरीयध्यानम्

अथ तुर्यं चतुर्भेदमीशग्रासादिनामकम्।
ध्यायेन्महेश्वरोऽमायी यस्तमोऽतो ग्रसत्ययम्।।७३।।

चाहिये।।७२।। (मुत्तुशास्त्री से अतिरिक्त संपादक 'जागरोऽप्येतम्' पाठ स्वीकारते हैं किन्तु सप्तम्यन्त पाठ ही सार्थक प्रतीत होता है।) जागर से इसके समग्र भेद ले लेने पर विराट् का ग्रहण हो जाता है। विराट् का वाचक अकार बोलेन पर जो वृत्ति बने उसमें विराट् की दृष्टि करनी है। जैसे घट बोलने पर बनी वृत्ति घटाकार होती है वैसे अ बोलने पर बनी वृत्ति विराट् के आकार की है। उ का उच्चारण करते समय बनी वृत्ति में हिरण्यगर्भ-दृष्टि करनी है। हिरण्यगर्भ विराट् का कारण है यह सोचते हुए अ का उ में एवं विराट् का हिरण्यगर्भ में विलय हो रहा हैऐसा चिंतन करना चाहिये। विलय अर्थात् उ ही है, अ नहीं, हिरण्यगर्भ ही है, विराट् नहींऐसी दृष्टि बनाना। म- का उच्चारण करने पर बनी वृत्ति में ईश्वरदृष्टि कर उसमें हिरण्यगर्भ का और म में उ का विलय करना चाहिये। फिर नाद के समय की वृत्ति को तुरीय समझते हुए उसमें ईश्वर का और नाद में म- का विलय करना चाहिये। उपासना या ध्यान उसी ढंग से कदम-कदम करने पर ही फल होता है जिस तरह उसका विधान है। प्रणवोपासना का प्रधान तरीका यही है, माण्डूक्य, पंचीकरण आदि से यही समर्थित है अतः इसी प्रकार साधक चिन्तन करे यह उचित है। सोलह भेदों के बारे में विकल्प है लेकिन ओं-के चार और उनके बोध्य अर्थों के चार भेद तथा पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर में विलययह क्रम ही मान्य है। कोई सोचे कि सीधे ही ओंकार से अद्वितीय चिन्मात्र का चिन्तन कर ले तो वह शास्त्रीय न होने से सफल नहीं होगा।।७२।।

तुरीय का ध्यान बताते हैं **इसके अनन्तर ईशग्रास आदि नामक चार भेदों वाले तुरीय का ध्यान करे। यह महेश्वर अमायावी है अतः तम को (अविद्या, माया को) निगल लेता है।।७३।।** उपनिषत् (पृ. ८६) में तुरीय के चार भेदों के नाम दिये हैं। 'ईश्वरग्रासः स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशः।' मायातीत होने से माया और तदुपाधिक ईश्वर को निगलता है अतः ईश्वरग्रास है पर इसे निगलने वाला और कोई नहीं अतः स्वराट् है। इसकी सामर्थ्य औपाधिक नहीं अतः स्वयमीश्वर है एवं इसकी सिद्धि प्रमाणनिर्भर नहीं अतः स्वप्रकाश है। ईश्वरको निगलने वाला होने से

कालाग्निसूर्यः संहारकाले स्वैस्तीव्ररश्मिभिः।
तिरस्कुर्याज्जगत्तु लेशाद्भाति यथा तथा।।७४।।
ओताऽयं सच्चिदानन्दैर्नामरूपे जगद्गते।
तिरस्कुर्यात्ते तु लेशमात्रे भातः क्वचित् क्वचित्।।७५।।

श्लोक में तुरीय को महेश्वर कहा।।७३।।

तुरीय के ओतादि चार रूप बताकर उपनिषत् में कहा 'ओतो ह्ययमात्मा यथेदं सर्वमन्तकाले कालाग्निसूर्य उस्त्रैः'; उस्त्र अर्थात् अपनी दीप्ति से जैसे इस सबको प्रलय के समय सूर्य निगल लेता है वैसे तुरीय सबको निगलता है। इस वाक्य का अर्थ कहते हैं **संहार के समय कालाग्नितुल्य सूर्य अपनी तीव्र किरणों द्वारा जैसे जगत् को छिपा देता है और जगत् केवल लेश अर्थात् कारणरूप से बच जाता है वैसे यह ओता सच्चिदानन्दरूप किरणों से जगत्के नाम-रूप को छिपा देता है और वे कभी-कहीं लेशमात्र प्रतीत हो जाते हैं।।७४-५।।** जीव व जड जगत् की भोग-सामर्थ्य व क्रियासामर्थ्य क्षयिष्णु है। आधुनिक विज्ञान मानता है कि अधिक शक्ति की तरफ से शक्तिप्रवाह उधर होता है जिधर शक्ति कम है अतः जब शक्ति का प्रवाह प्रारम्भ होता है तब सर्वाधिक होता है, जैसे-जैसे शक्ति फैलती है वैसे-वैसे प्रवाह कम होता है एवं सर्वत्र सामरस्य आने पर प्रवाह रुक जाता है। तात्पर्य यही है कि शक्ति अर्थात् उपयोग में लायी जा सकने वाली सामर्थ्य घटती जाती है, भले ही कुल शक्ति हमेशा समान है। इसी तरह जीवादिसामर्थ्य जब इतनी घट जाये कि कर्मफल का भोग ही असम्भव हो, तब संहार का काल होता है। उस समय कालाग्नि के समान सूर्यदीप्ति अत्युग्र होकर जगत् को जला डालती है, फिर वह जगत् किसी ज्ञान का या क्रिया का विषय नहीं रह जाता है, अव्यक्त हो जाता है। 'लेशाद् भाति'पहले तो भेद घटते जाते हैं इसलिये लेश अर्थात् यत्किंचित् भासता है, अंत में लेश अर्थात् कारण रूप से ही भासता है, सारे कार्याकार निवृत्त हो जाते हैं। इसी तरह तुरीय की प्रथम अवस्था ओता है वह सच्चिदानंद से नाम-रूप को तिरस्कृत करता है, फिर भी कभी-कहीं वे उपलब्ध हो जाते हैं। प्रारब्ध-भोग की तीव्रता के कारण उपलब्धि संगत है। सामान्य प्रारब्ध पर तो समाधि में नियंत्रण रहता है, तीव्र हो तब सच्चिदानंद से हटकर नाम-रूप व्यक्त हो जाते हैं। किन्तु ओता यथाशीघ्र उन्हें तिरस्कृत करता जाता है।।७४-५।।

तुरीय के अगले रूप के बारे में उपनिषत् ने कहा 'अनुज्ञाता ह्ययमात्माऽस्य सर्वस्य

यथा सूर्यस्तमः सर्वं प्रकाशीकुरुते तथा।
अनुज्ञाता जगत् सर्वं स्वात्ममात्रं करोति हि।।७६।।
दाह्यं दग्ध्वा यथा वह्निर्निर्व्यापारोऽवशिष्यते।
अनुज्ञैकरसस्तद्वच्चिन्मात्रः परिशिष्यते।।७७।।
अवाङ्मनसगम्योऽयमविकल्पश्चतुर्विधः।
तुर्यपादं चतुर्भेदे नादे संचिन्तयेत् क्रमात्।।७८।।
सर्वस्य जगतो वस्तु तत्त्वं यन्निर्विकल्पकम्।
तदात्मेति समाधाय चित्तं तस्मिन् भवेद्धि तत्।।७९।।

स्वात्मानं ददाति इदं सर्वं स्वात्मानमेव करोति यथा तमः सविता' (पृ. ८७) इसे बताते हैं **जैसे सूर्य सारे अँधेरे को प्रकाश बना देता है वैसे अनुज्ञाता सारे जगत् को केवल स्वात्मा बना देता है।।७६।।** सूर्य पूरा उग जाये तो अँधेरा न रहकर रोशनी ही रहती है मानो सूर्य ने अँधेरे को रोशनी बना दिया हो! अनुज्ञाता के स्तर पर इसी तरह क्वचित्-क्वचित् लेशमात्र भान भी नाम-रूपका न रहकर सच्चिदानन्द ही भासता है।।७६।।

तीसरा रूप भी यथाश्रुति समझाते हैं **ईंधन जला चुक कर जैसे आग कुछ न करते हुए रहती है वैसे अनुज्ञा बचती है जो निर्विशेष ज्ञानरूप है।।७७।।** लकड़ी आदि ईंधन जलानारूप व्यापार अग्नि करे तब वह पहचानी जाती है कि 'आग है', जब सारा ईंधन जलकर खाक हो गया तब वह आग क्योंकि 'कर' कुछ नहीं रही, केवल अपने व्यापक रूप से मौजूद है, इसलिये 'आग है' यों सामान्य लोगों द्वारा पहचानी भी नहीं जाती। इसी प्रकार अनुज्ञाता में तो अँधेरा दूर करनारूप व्यापार था, अब अँधेरा बचा ही नहीं जिसे वह प्रकाश बनाये। अर्थात् अनुज्ञाता में साक्षिभाव था, अनुज्ञा में वह भी नहीं है। एकरस, घटा-बढ़ी से रहित, सब विशेषताओं से वर्जित ज्ञान-मात्र अनुज्ञा है।।७७।।

चौथे अविकल्प का कथन करते हैं **वाणी और मन से अगम्य यही चार भेद वाला तुरीय 'अविकल्प' है। तुरीय अर्थात् चौथे चरण को परा आदि चार तरह के नाद में क्रमशः आरोपित कर ध्यान करना चाहिये।।७८।। सारे जगत् की वास्तविकता जो निर्विकल्प वही आत्मा है यों चित्त समाहित कर उसी आत्मा को 'मैं हूँ' ऐसा चिन्तन करना चाहिये।।७९।।** (श्लोक ७८ में द्वितीय पाद का अंतिम शब्द 'चतुर्विधम्' यदि हो तो 'तुर्यपादं' के विशेषण रूप से योजना स्पष्टतर

अथवा मंत्रराजे[1] धीः समाधेयात्मवाचिनि।
सर्वसंहारशक्त्याद्या अर्था उग्रादिशब्दगाः।।८०।।
आत्मानं मंत्रराजेन ध्यायन् ब्रह्मतया पुमान्।
ब्रह्मरूपो नृसिंहः स्याद्योगः शुद्धधियो ह्ययम्।।८१।।

होगी।) जीवन्मुक्ति तक अनुज्ञा और विदेह कैवल्य अविकल्पयह निर्णीत व्यवस्था ही यहाँ सूचित है। यह ध्यान का प्रसंग है अतः इस तरह के चिंतन के विधान में तात्पर्य है। अविकल्प तत्त्व, मुक्तोपसृप्य परमात्मा ही जगत् की वास्तविकता है जैसे सर्प की वास्तविकता रस्सी होती है। उस आत्मा में समाधान कर्त्तव्य है। साथ ही उसमें प्रत्यग्भावका उल्लेख रखना चाहिये अर्थात् वह मैं हूँयों उसका चिंतन करना चाहिये। इस प्रकार ओंकार का ध्यान करने से मोक्ष सुलभ हो जाता है।।७६।।

उपनिषत् ने (पृ. ८८) आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र से भी उक्त चिंतन संभव बताया है, इसका उल्लेख करते हैं **अथवा, आत्मा का कथन करने वाले मन्त्रराज में बुद्धि समाहित करनी चाहिये। उसमें आये उग्र-आदि शब्दों के अर्थ सर्वसंहारशक्ति आदि हैं।।८०।। मन्त्रराज से स्वयं का ब्रह्मरूप से ध्यान करता पुरुष ब्रह्मरूप नृसिंह हो जाता है। किन्तु यह योग (ध्यान समाधि) शुद्ध बुद्धि वाला ही कर सकता है।।८१।।** नृसिंहतापनीय में नृसिंहमंत्र का विस्तार है, उसे भी ब्रह्मध्यान में विनियुक्त किया। अनुष्टुप् छन्द में वह मंत्र है। महाविष्णु का उग्रवीरता वाला, भीषण फिर भी भद्र, मृत्यु का भी मारक, सब ओर मुख वाला जलता हुआ रूप वर्णित है। गीता (११.१० आदि) में ऐसा ही ऐश्वररूप वर्णित है। प्रणव सूक्ष्म मंत्र है अतः सबसे उसकी उपासना नहीं हो पाती इसीलिये उपनिषत् ने यह विस्तृत मंत्र भी दे दिया जिससे वही पूर्वोक्त उपासना की जा सकती है। इसमें सबका संहार करने वाला रूप बताया अतः आत्यंतिक अद्वैत ही इसका बोध्य भाव है। शुद्धचेता, सांसारिक रागों से रहित साधक ही यह साधना कर सकता है। दृश्य में राग रहते सबका, अहंकार पर्यन्त का संहार सहन नहीं होता! यहाँ नृसिंह ब्रह्मरूप ही विवक्षित है न कि मूर्ति आदि रूप, तभी पूर्वोक्त रीति से ध्यान संभव है।।८०-१।।

द्वितीय खण्ड की व्याख्या पूरी कर तीसरे खंड का परिचय देते हैं **द्वितीय खण्ड में आत्मविषयक विवेक और योगका प्रतिपादन हुआ एवं प्रणव तथा मन्त्रराज**

१. 'उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतो मुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्।।' इति मन्त्रराज इहोपनिषद्युक्तः।।

विवेकयोगौ संप्रोक्तौ द्वितीये खंड आत्मनः।
प्रणवे मंत्रराजे च द्विविधो योग ईरितः।।८२।।
तृतीये मंत्रराजस्य प्रणवस्यात्मनोऽपि च।
एकीकारेण यद्ध्यानं तत् सम्यगभिधीयते।।८३।।
पृथिव्याद्यात्मकोंकारः[1] पाद उग्रादिकोऽपि च।
परापश्यन्त्यादिरूपः सोऽयं विश्वश्चतुर्विधः।।८४।।
तैजसप्राज्ञतुर्याश्च तथा ध्यात्वोपसंहरेत्।
असौ प्रपंचहीनः स्यादविकल्पे स्थिरः पुमान्।।८५।।

में दो तरह का योग (ध्यान) बताया।।८२।। तृतीय खंड में मन्त्रराज-प्रणव-आत्मा तीनों को इकट्ठाकर बताये ध्यान को समझाया जाता है।।८३।। मंत्रराज के चार चरणों को प्रणवकी चार मात्राओं से एक कर विराट् आदि चार आत्मचरणों का उन पर ध्यान तृतीय खंड में वर्णित है।।८२-३।।

उक्त विषय उपन्यस्त करते है **अकार १-) पृथ्वी आदि रूपवाला है, २-) पाद (आत्मा का प्रथमपाद) भी उसका रूप है, ३-) उग्रादि श्लोक का पहला चरण भी अकार का ही रूप है एवं ४-) परा पश्यन्ती आदि भी उसी का रूप है। ऐसे विश्व चार तरह का है।।८४।। इसी तरह तैजस, प्राज्ञ, तुरीय का ध्यानकर उपसंहार करना चाहिये। यों ध्यान करने वाला पुरुष प्रपंचरहित होकर अविकल्प में स्थिर हो जाता है।।८५।।** अकार विराट् का वाचक है, उग्रादि श्लोक का प्रथम चरण भी विराट्-परक समझना चाहिये। बीज-बिन्दु-नाद-शक्ति अर्थात् परा आदि चारों तरह का अकार है ही। ऐसे ही उकार और ज्वलन्तम् आदि मंत्र का द्वितीय चरण हिरण्यगर्भ का कथन करते हैं। मकार एवं नृसिंहम् आदि तीसरा पाद ईश्वर को कहते हैं और नाद तथा मृत्यु-मृत्युम् आदि चौथा पाद तुरीय का बोध कराते हैं। अकार को इन रूपों वाला कहा (पृ. ६२) पृथ्वी, ऋग्वेद, ब्रह्मा, वसु, गायत्री, गार्हपत्य। ऐसे ही उकारादि को अंतरिक्षादिरूप बताया है। 'अ' बोलते समय चिन्तन करना चाहिये कि अपने परादि चार रूपों से यह अकार विराट् के चारों रूप कह रहा है, मंत्रराज का प्रथम चरण भी उसी विराट् को कह रहा है इसलिये वह श्लोकांश 'अ' ही है। फिर 'उ' कार का उच्चारण कर उससे हिरण्यगर्भ को सोचे और उसमें विराट् को विलीन कर देवे। तब मन्त्रराजके द्वितीय चरण से फिर हिरण्यगर्भ को सोचे और उसे 'उ' रूप

---

१. 'पृथिव्याद्यात्मकोऽकारः' इति पठितव्यम्।

ज्ञश्चिन्मात्रोऽमृतो नित्यो हुतसंविदवृत्तिकः।
शुद्धो भ्रान्तिविहीनत्वात् संविष्टोऽयमविक्रियः।।८६।।
प्राणायामेन निर्विघ्नोऽनुभवेदीदृशात्मताम्।
प्राणाधीना मनोवृत्तिः प्राणरोधेन शाम्यति।।८७।।
निर्विकल्पधिया पश्येज्जगत् स्वात्मतया तदा।
ध्याने प्रपंचं सन्त्यज्य ब्रह्मरूपेण तिष्ठति।।८८।।

समझे। म-कार के उच्चारण से अव्याकृत (ईश्वर) का चिन्तन करे, उसमें हिरण्यगर्भ को लीन करे, श्लोक के तीसरे चरण से फिर ईश्वर को सोचे और चरण को म-रूप समझे। नाद से तुरीय का चिंतन करे, ईश्वर उसमें विलीन करे, चौथे श्लोकचरण से ईश्वर को सोचकर श्लोकचरण नादरूप समझे। यों सब लीन कर स्वरूपस्थ बना रहे। यह उपनिषद्दीपिका में संक्षेप बताया (पृ. ६२) है।।८४-५।।

आत्मरूप बताते हैं **वह जानने वाला, अनुभवमात्र, मृत्युरहित, सनातन है। सारे व्यवहार की आहुति उस ज्ञानरूप में ही पड़ी है। उसमें कोई वृत्ति नहीं है, शुद्ध है, भ्रान्तिरहित होने से संविष्ट अर्थात् स्थिर है, निर्विकार है।।८६।।** उपनिषद्दीपिका (पृ.६४) में इस प्रसंग में विभन्न मंत्र एवं अनुष्ठान सूचित हैं। अभ्यास करना चाहने वाले को वहीं से समझना चाहिये। यहाँ आचार्य संक्षेप से उल्लेख ही कर रहे हैं। 'हुतसंवित्' का भाव वहाँ बताया कि पहले किये जा चुके व्यवहार एवं आगे किये जाने वाले व्यवहार सभी को संविद्रूप देखते हुए परिपूर्ण सच्चिदानन्द परमेश्वर में उन्हें अर्पित करना चाहिये। मन से अलग है अतः वृत्तिरहित है। भ्रान्ति अर्थात् बिखराव, भटकाव न होने से वह स्थिर है।।८६।।

आगे वचन है 'निर्विघ्न इममसुनियमेऽनुभूयेहेदं सर्वं दृष्ट्वाऽसुप्रपञ्चहीनः' (पृ. ६४), इसका कथन करते हैं। **विघ्न-निवारण कर प्राणायाम द्वारा ऐसी आत्मरूपता का अनुभव करना चाहिये। मन की वृत्ति प्राण के अधीन होती है अतः प्राण के निरोध से मनोवृत्ति शांत होती है।।८७।। तब निर्विकल्प बुद्धि से जगत् को स्वात्मरूप देख सकते हैं। प्रपंच को छोड़कर ध्यान में ब्रह्मरूप ही रह जाते हैं।।८८।।** गुरु-अनुमति आदि उपायों से विघ्न हटाकर ही यह साधना की जा सकती है। इस ग्रंथ में ध्यान का लेशमात्र दिग्दर्शन है, कदम-कदम गुरुमुख से समझना पड़ता है। प्राणायाम के अभ्यास से मन शांत होता है। यह तथ्य पतंजलि ने भी स्वीकारा है। शांत मन में ही आत्मदर्शन संभव है। कुम्भक-वृद्धि से शांति बढ़ती

अन्यो देवोऽहमप्यन्य इति द्वैतस्य वासना।
दृढा चेत्तादृशी देवपूजोपास्तिरथोच्यते।।८६।।
योऽस्मिन् खंडे वर्णितोऽसौ संकल्पः पूज्य इष्यते।
षट् तु स्थानानि देहेऽस्मिन् पूजाधाराः प्रकीर्तिताः।।६०।।
आधारनाभिहृदयभ्रूमध्यद्वादशान्तकाः।
षोडशान्तश्च तेऽष्वग्निब्रह्माद्यानर्चयेत् क्रमात्।।६१।।

है। कुंभक का हठ से प्रयास नहीं करना चाहिये वरन् शनैः-शनैः सामर्थ्य बढ़ाकर अभ्यास करना चाहिये अन्यथा शरीर में विकार हो जाते हैं। 'प्रपंच छोड़कर' अर्थात् उसके प्रति राग छोड़कर। मन पर प्राणायाम से नियंत्रण होगा लेकिन राग उसे पुनः बहिर्मुख बना देता है। भगवान् ने भी अभ्यास के साथ वैराग्य को मनोनिग्रह में साधन कहा है।।८७-८।।

इसके आगे मानस पूजा का उपनिषत् में (पृ. ६८-१०७) वर्णन है, उसका संक्षेप बताते हैं **'परमेश्वर मुझसे अन्य है, मैं भी परमेश्वर से भिन्न हूँ' ऐसी द्वैत की वासना यदि दृढ हो तो वैसी देवपूजारूप उपासना अब बतायी जाती है।।८६।। इस खण्ड में वर्णित संकल्प (ध्यान) पूज्य (आदरणीय) है। इस शरीर में पूजा के आधार-स्थल छह स्थान बताये गये हैं।।६०।।** भेदाग्रह द्वैतवासनावश सहज है, उसे मिटाने के लिये यह पूजा-चिन्तन है। यह भेदभूमि में ही है लेकिन इसके अभ्यास से अभेद स्वीकार हो जायेगा। यहाँ विहित संकल्प में पूज्य की दृष्टि बतायी। संकल्प स्वदेह में ही है अतः पूज्य को स्वदेह में ही देखेंगे तो 'मुझसे अन्य पूज्य देव है' यह भाव जायेगा तथा शरीर के स्थानों को उसी का आधार देखने से 'मैं उससे अन्य हूँ' यह भाव जायेगा। शरीर में मै-बुद्धि होने से देव को शरीर में बैठाने पर देव से अभेद भासने लगता है। देहमात्र मैं नहीं हूँयह भी मालूम होने से देव को भी देहरूप नहीं समझते। बाह्यपूजा में यह लाभ नहीं, आन्तर पूजा से ही यह लाभ मिलता है।।८६-६०।।

पूजा-स्थान बताते हैं **मूलाधार, नाभि, हृदय, भ्रूमध्य, द्वादशान्त (ललाट) और षोडशान्त (शीर्ष)ये छह स्थान हैं जहाँ क्रमशः अग्नि, ब्रह्मा आदि की पूजा करनी चाहिये।।६१।।** द्वादशान्त अर्थात् बारह पंखुडियों वाला कमल जहाँ है और षोडशान्त अर्थात् सोलह पंखुडियों वाला जहाँ है। यहाँ पद्मदलसंख्या और स्थानों का क्रम यथासम्प्रदाय बताया होने से अन्यत्र के वर्णन से भिन्न लगे तो शंका

यश्चतुर्भेद ओताद्यैः सोऽमृतो निरुपाधिकः।
उपाधीनां बोधबाधादविकल्पोऽवशेषणात्।।६२।।
सोऽविकल्पः सर्वमयस्तस्मिन् सर्वाधिरोपणात्।
ये जागरादयो भेदाश्चत्वारस्तेऽत्र कल्पिताः।।६३।।
परिवारा मन्त्रराजे महाचक्रे[1] प्रकीर्तिताः।
पृथिव्याद्याः सप्तसप्त भेदा मात्रास्त्विह श्रुताः।।६४।।
परिवारेण संयुक्तं चतुःसप्तात्मकं प्रभुम्।
नृसिंहमग्निरूपं तं मूलाधारे विचिन्तयेत्।।६५।।

में नहीं पड़ना चाहिये। जहाँ उपासना बताते हैं वहाँ कहा क्रम आदि ही उस उपासना में उपयोगी होता है। उपनिषद्दीपिका में इन प्रंसगों में बहुत विस्तार है। अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और आनन्द की उन-उन जगहों पर पूजा की भावना करनी है।।६१।।

मुख्य चिन्तन का उल्लेख करते हैं **जो ओता आदि चार भेद वाला तुरीय है वह वस्तुतः निरुपाधिक अमृत है। बोध से उपाधियों का बाध होता है अतः बाध की अवधिरूप से बचा तुरीय ही निर्विकल्प है।।६२।। अविकल्प होने पर भी सब उस पर आरोपित होने से वह सर्वमय है।। जाग्रदादि चारों भेद इसी पर अध्यस्त हैं।।६३।।** ध्याता को बोध नहीं हुआ लेकिन उसे चिंतन करना है कि बोध से बाध होता है अतः उपाधियाँ हैं ही नहीं, केवल आत्मा है। उपाधि-अध्यास पूर्वक ही द्रष्टा-श्रोता-पिता-पुत्र-कर्त्ता आदि अध्यास हो सकते हैं, उपाधिभान न रहने पर सुषुप्ति या मृत्यु के बाद ये अध्यास नहीं रहते। इस जन्म की उपाधि का अनुगमन न होने से जन्मान्तर में यहाँ वाले अध्यास नहीं रहते, नये ही होते हैं। अतः ध्याता जाग्रदादि समष्टि-व्यष्टि सभी भेदों को आरोपित समझे यह भाव है।।६२-३।।

उपासना-प्रकार का विस्तार करते हैं **महाचक्र सम्बन्धी मन्त्रराज से सात-सात भेद वाले पृथ्वी आदि परिवार बताये गये हैं, मात्राएँ तो पूर्व में बतायी ही जा चुकी हैं।।६४।। चारों सप्तक जिनका रूप हैं वे परिवारसमेत नृसिंह प्रभु मूलाधार में अग्निरूप से स्थित हैंयह ध्यान करना चाहिये।।६५।।** सुदर्शन नामक यंत्र को ही महाचक्र कहते हैं जिसमें अनेक परिवार देवताओं की स्थिति वर्णित है। उन सबका चिंतन मंत्रराज से ध्यान करते हुए आवश्यक है। चार सप्तक इस

---

१. माहाचक्रे इति मुत्तुभिन्नसमेषां पाठः।

भूम्यादिभिः सप्तविधं स्थूलाद्यैश्च चतुर्विधम्।
अकाररूपं ब्रह्माणमेतं नाभौ विचिन्तयेत्।।९६।।
हृदि विष्णुमुकारेण भ्रूमध्ये च मकारतः।
रुद्रं नादेन सर्वेशं द्वादशांतेऽग्निवत् स्मरेत्।।९७।।
चतुःसप्तात्मकोऽमायी सर्वेशो ह्यनुपाधिकः।
षोडशान्ते सुखं ध्यायेच्चतुःसप्तात्मलक्षितम्।।९८।।

प्रकार हैं१-) पृथ्वी, अकार, ऋग्वेद, ब्रह्मा, वसु, गायत्री, गार्हपत्य। २-) अन्तरिक्ष, उकार, यजुर्वेद, विष्णु, रुद्र, त्रिष्टुप्, दक्षिणाग्नि। ३-) द्यु, मकार, सामवेद, रुद्र, आदित्य जगती, आहवनीय। ४-) सोमलोक, नाद, अथर्ववेद, संवर्तकाग्नि, मरुत, विराट्, एकर्षि-अग्नि। (उपनिषत्में पृ. ९२-३)। ये सभी नृसिंह के अन्तर्गत ही हैं, उन्हीं के परिवार हैं। ऐसे नृसिंह अग्निरूप से आधार चक्र में ध्येय हैं।।९४-५।।

अकार-ध्यान का स्थान कहते हैं **भूमि-आदि भेदों से सात तरह के और स्थूलादि भेदों से चार तरह के अकार रूप वाले ब्रह्मा का नाभि में ध्यान करना चाहिये।।९६।।** भूम्यादि पूर्व श्लोक में बता दिये, स्थूलादि पहले कह आये हैं कि वैखर्यादि चार तरह के ये प्रत्येक अक्षर हैं। जैसे अग्निरूप नृसिंह का ध्यान था वैसे अकाररूप ब्रह्मा का ध्यान है।।९६।।

उकार-मकार और नाद का ध्यान बताते हैं **उकार से सम्बद्ध विष्णु का हृदय में, मकार-सम्बद्ध रुद्रका भ्रूमध्य में ध्यान करना चाहिये। द्वादशान्त में अग्नि जैसे सर्वेश का नाद से स्मरण करना चाहिये।।९७।।** द्वादशान्त ललाट में बताया गया है। अकार की तरह उकारादि के भी पूर्वोक्त सब भेदों का अनुसंधान करना पड़ेगा।।९७।।

शरीर-स्थानों में अंतिम जगह पर ध्यान बताते हैं **चारों सप्तकों के रूप में प्रतीयमान सर्वेश वस्तुतः उपाधिहीन है, मायारहित है। चारों सप्तकों से लक्षित उस आनन्दरूप का षोडशान्त में ध्यान करना चाहिये।।९८।।** पूर्वोक्त सारा विस्तार इसी के ध्यान के लिये है। शब्दों से शक्तिवृत्त्या पूर्वोक्त भेद कहे जाते हैं, लक्षणा से इसकी ओर संकेत होता है। इस प्रक्रिया में तुरीय का उपाधि-सम्बंध मान्य है।।९८।।

इसे व्यापक समझना है **उक्त आनन्द-अमृतरूप सर्वेश से नीचे स्थित पाँचों देवता व्याप्त (घिरे हुए) हैं और साथ ही स्थूलादि चारों प्रकार के अकारादि भी**

तेनानंदामृतेनाधः स्थितास्ताः पंच देवताः।
व्याप्ताश्चतुर्विधाः स्थूलादिभिरित्येव चिन्तयेत्।।९९।।
उपचारैरागमोक्तैर्देवाँस्तान् मनसार्चयेत्।
ब्रह्मादिमूर्तिभेदेन तथैक्येनापि पूजयेत्।।१००।।
भक्ष्यभोज्यैर्लेह्यचोष्यैरित्येतैरुपहारयेत्।
गुरुश्रुत्युक्तमार्गेण पूजयित्वा यथाविधि।।१०१।।

उपसंहारध्यानम्

मूर्तिं तेजसि संहृत्य तेजश्चात्मनि संहरेत्।
सूत्रे विराजं संहृत्य सूत्रमव्याकृते च तत्।।१०२।।

व्याप्त हैंऐसा चिन्तन करना चाहिये।।९९।। षोडशान्त में जिस आनन्दरूप का ध्यान किया वही सारे शरीर में फैला है अतः तत्तत् स्थानों में कहे नृसिंह, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और सर्वेश सभी उस आनंद से घिरे हैं, एवं समस्त भेदों समेत अकारादि भी उसी से घिरे हैं, उससे बाहर कुछ नहीं है, वही परिपूर्ण एकरस हैऐसा ध्यान करना बताया जा रहा है।।९९।।

ध्यान के बाद मानस पूजा का विधान करते हैं **उक्त देवताओं की आगमोक्त उपचारों द्वारा मन से अर्चना करनी चाहिये। ब्रह्मादि की पूजा उन्हें विभिन्न मूर्तियाँ समझकर और एक समझकर करना उचित है।।१००।।** पूजावर्णन उपनिषद्दीपिका में (पृ १००-६) विस्तार से बताया है। श्रुति में 'विभक्तांस्त्री-नेवाऽविभक्तांस्त्रीनेव' (पृ. १०४) कहा है अतः श्लोक में भेद और ऐक्य दोनों कहे। भेदपक्ष में सभी परिवारदेवताओं सहित नृसिंहादि की आराधना करे फिर अभेद पक्ष में परिवारदेवताओं को मूल देवता से एक समझकर पूजे। इस तरह पाँचों को अलग-अलग मानकर पूजने के अनन्तर सब एक ही हैं यह समझकर पूजे। यों एक ही आनन्दात्मा है इस निश्चय तक पहुँचे। पूजा यहाँ मानस ही है।।१००।।

मन से अर्पणीय मुख्य वस्तुएँ बताते हैं **भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य इन चारों तरह का भोजन अर्पित करना चाहिये। जब गुरु व श्रुति द्वारा बताये तरीके से विधिवत् पूजा कर चुके तब मूर्ति का तेज में संहार करके, तेजका आत्मा में संहार करे, सूत्र में विराट् का संहार करके सूत्रका अव्याकृत में संहार करे, अव्याकृत का अविकल्प में संहार करे फिर वहीं चित्त एकाग्र कर स्थिर रहे।।१०१-२ +१/२।।** चबाने लायक, मुँह में घुमाकर खाने लायक (हलुवा आदि),

अविकल्पे तत्र चित्तं समाधाय स्थिरो भव।
पूज्यपूजकयोर्भेदवासना यस्य हीयते।।१०३।।
चतुर्थखंडे योगोऽस्य धीविश्रान्त्यै निगद्यते।
नादस्तुरीय ॐकारस्तस्यान्ते स्फुरदद्वयम्।।१०४।।
मन्त्रराजे नमाम्यन्तैः[1] पदैर्नत्वा प्रसादयेत्।
प्रणवात्मतया ध्यात्वाऽहमित्यात्मतया स्मरेत्।।१०५।।

चाटने लायक और चूसने लायकयों चार तरह का भोजन अर्पित करना चाहिये। भगवान् ने गीता में 'चारों तरह का अन्न मैं पचाता हूँ' (१५.१४) कहा ही है। पूजा के बाद सभी सपरिवार मूर्तियों को पहले तेजोरूप फिर स्वात्मरूप समझना है। विराट् आदि का यथाक्रम संहार करके अविकल्प ही हैइस स्थिति में टिकना पड़ेगा।।१०१-२ + १/२।।

अब चतुर्थ खण्ड का संग्रह करते हैं **पूजनीय देव और मुझ पूजक में आपसी भेद हैयह वासना जिस साधक की क्षीण हो चुके उसकी बुद्धि की शांति के लिये चौथे खण्ड में योग कहा है। ओंकार का चौथा भाग जो नाद, उसकी समाप्ति पर अद्वय ब्रह्म स्फुरता रहता है।।१०३-४।। मन्त्रराज में जो 'नमामि' तक के शब्द हैं उन सबसे देव को प्रणाम कर प्रसन्न करना चाहिये। फिर उसका प्रणवरूप से ध्यान कर 'मैं ही हूँ' यों आत्मरूप से स्मरण कर्त्तव्य है।।१०५।।** पूज्य-पूजक में भेद हैयह संस्कार कठिनाई से ही जाता है लेकिन पूर्वोक्त सारी उपासना व्यष्टि को समष्टि में विलीन करने की थी अतः उसके अभ्यास से मुमुक्षु में वह वासना क्षीण होनी आवश्यक है। ओंकार का नाद समाप्त होने पर शांत चित्त में चेतन का स्फुरण होता है, उसी को मंत्रराज से प्रणाम कर 'यही मैं हूँ' यों मंत्रराज के अंतिम 'अहम्' शब्द से प्रतीति करनी चाहिये। पंचीकरण में 'ॐ कारोऽहम्येव' से आचार्य ने भी यह सूचित किया है।।१०३-५।।

इस स्थिति की स्थिरता के लिये अभ्यास का विधान करते हैं **जब तक पूर्वोक्त अवस्था निश्चल रहे तब तक वैसा रहकर चांचल्य आते ही पुनः (प्रणव से) चिन्तन करे, नादान्त में मंत्रराज से नमस्कार करे, फिर 'ॐ' उच्चारण कर उसी**

१. 'मन्त्रराजे नमाम्यन्तैःपदैः' इति मुत्तुशास्त्रीपाठः। अन्ये तु 'मन्त्रराजेन साम्यं तैः पादैः' इति पठन्ति। नादान्ते यत् स्फुरति तस्य मन्त्रराजेन साम्यमिति वाक्यं योजयामासांऽग्लव्याख्याता श्रीगोदावरीशमिश्रः। पादैरित्यस्य तु पदैरित्येव तत्कृतोऽर्थः।।

यावन्निश्चलता तावत् स्थित्वोर्ध्वं चिन्तयेत् पुनः।
कृत्स्नमन्त्रेण नत्वोमित्युच्चार्यान्ते स्थिरो भवेत्।।१०६।।
ध्यात्वोंकारं पुनर्मन्त्रान् महावाक्यादनुस्मरेत्।
मन्त्रेण वा केवलेन नृसिंहेति पदेन वा।।१०७।।
संस्मृत्याखण्डवाक्यार्थं युंजीतोंकारमंत्रयोः।
संस्तभ्य चित्ते स्वात्मानं गुणत्रयविवर्जितम्।।१०८।।

अद्वय प्रत्यक् स्थिति में कायम रहे। (यह क्रम बार-बार करना पड़ेगा।)।१०६।। दीर्घ प्रणव का उच्चारण करते हुए पूर्वोक्त रीति से अध्यात्म-अधिभूत सारे द्वैत का प्रविलापन होने पर चिन्मात्र की स्फुरणा में यथासंभव स्थिर रहते हुए मन बहिर्मुख होगा ही, कभी रागादिवश, कभी बाह्य ध्वनि आदि सुनने से, कभी शरीर की ओर वृत्ति जाने से इत्यादि। तब पुनः वही ढंग अपनाना है, यही आवृत्ति या अभ्यास है। 'चिन्तयेत्' से समझना चाहिये कि अद्वय की उपस्थिति के लिये जहाँ से चिंतन आवश्यक हो वहीं से शुरू करे, यदि केवल स्मरणमात्र जरूरी लगे तो सीधे ही प्रणव से अद्वयरूप का उल्लेख करके पुनः स्थिर हो जाये। उस स्थिति के महत्त्व को आँकते हुए मंत्रराज से प्रणाम भी करे। जो साधक नृसिंह मंत्र का समाश्रयण नहीं लेता, वह भी समग्र ओंकार से प्रणाम करे और पुनः ओंकार के उच्चारण से तत्त्वका दर्शन करता हुआ स्थिर रहे। ब्राह्म मुहूर्त में शुद्ध अवस्था में यह अभ्यास तीन से पाँच घड़ी तक (सवा से दो घण्टे तक) कर्त्तव्य है।।१०६।।

यथाशक्ति पर्याप्त काल तक उक्त साधन के बादका कर्त्तव्य बताते हैं **ओंकार का ध्यान कर पुनः मंत्रों को याद करे। महावाक्य से, मंत्र से या सिर्फ़ नृसिंह-शब्द से अखण्ड वाक्यार्थ याद करे, त्रिगुणातीत उस प्रत्यग्रूप में चित्त स्थिर रखे तथा ओंकार और मंत्र को भी उसी तत्त्व से एकमेक कर दे।।१०७-८।।** मंत्रों को याद करने में आगे बताये (उपनिषत् पृ० ११२) श्लोक समझने चाहिये। अथवा अंगपूजादि में प्रयुक्त सभी मंत्रों को इस भाव से दुहराये कि उन सभी का महातात्पर्य इसी अद्वय में है। अथवा 'मन्त्रात्' यह पदच्छेद है अर्थात् नृसिंह मंत्र से तत्त्वानुस्मरण करे। उग्रादिपदोक्त ब्रह्मका अहं से अभेद है यह उस मन्त्र का भाव है। मंत्र से समझने में कठिनाई लगे तो प्रसिद्ध 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य से अनुस्मरण करे। 'मन्त्रान्महावाक्याद् अनुस्मरेत्' एक वाक्य है 'मन्त्रेण....संस्मृत्य' दूसरा वाक्य है अतः मंत्रपद की पुनरुक्ति संगत है। नृसिंह-शब्द भी नृ-से जीव और सिंह-से ईश्वर को

ब्रह्मादिकानकाराद्यैः संयोज्यात्मनि संहरेत्।
तेषां तु कारणाविद्यां बाधित्वा वस्तुतोऽसतीम्।।१०६।।

कहकर दोनों का अभेद व्यक्त करता है। 'षिञ् बन्धने' से बाँधने वाले के अभिप्राय से सिंह-शब्द माया तत्कार्य अर्थात् तत्पदवाच्य का कथन करता है। हिंस-धातु से सिंह शब्द बनायें तो माया के नाशक अखण्डवृत्त्युपारूढ का कथन करता है। नृ का मतलब नर या जीव प्रसिद्ध है। दोनों की समानाधिकरणता से अभेद ग्रहण हो जाता है। जब तक जीव ईश्वर अलग भासें तब तक खण्ड हैं, उनमें भेद न भासे तब अखण्ड बोध है। उस अखण्ड तत्त्व से उसके बोधक मंत्र या प्रणव भी अलग नहीं रह जाते। मंत्र व प्रणव का वही अर्थ है जो महावाक्य का और अखण्ड होने से उस अर्थ में सभी कुछ समा जाने से मंत्र व प्रणव भी उसी में समाये हुए हैं यह भाव है।१०७-८।।

उपनिषद् (पृ. ११२) में दो मंत्र कहे हैं

(१) 'संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान् गुणर्द्धान्
संयोज्य शृंगैर्ऋषभस्य हत्वा।
वश्यां स्फुरन्तीम् असतीं निपीड्य
सम्भक्ष्य सिंहेन स एष वीरः।।'

अर्थात् उपाधितादात्म्यवश चंचल आत्मा को विवेक से स्थिर कर, स्थूलत्वादि गुणों की बढ़ोत्तरी से विराडादि भावों को प्राप्त विश्वादि (अपने पुत्रों) को प्रणवकी मात्राओं से एक करके विलीन कर मायाको आत्माके वश में लाकर प्रतीतिमात्रसिद्ध उस माया को निष्प्रभाव बनाकर उसे साक्षी में डुबाकर, ब्रह्मानुभवरूप सिंह से उसे खाकर रहने वाला यह वीर किसी से हार नहीं सकता।

(२) 'शृंगप्रोतान् पदा स्पृष्ट्वा हत्वा ताम् अग्रसत् स्वयम्
नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयम् उद्बभौ।।'

अर्थात् प्रणव-मात्राओं से व्याप्त विराडादि को मंत्रराज के पादों से जोड़कर, क्रमशः उपसंहृतकर, उनकी कारणभूत माया को जिसने स्वयं खा लिया, स्वात्मा को प्रणाम कर एवं बहुत तरह से देखकर वह नृसिंह खुद ही निरावृत हो जाता है। इन मन्त्रों का भाव सूचित करते हैं **ब्रह्मा आदि को अकार आदि से जोड़कर आत्मा में उपसंहृत करे। उनकी कारणभूत अविद्या, जो वास्तव में है ही नहीं, उसे चित् से खाया हुआ बनाकर वीर को चाहिये कि तत्त्वस्मरण करते हुए निर्भय हो जाये।।१०६ +१/२।।**

कृत्वा चिद्रक्षितां वीरः संस्मरन् निर्भयो भवेत्।
ब्रह्मादीन् मंत्रराजस्य पादैश्चिद्रूपतां नयेत्।।११०।।
अविद्याविनिवर्त्येष[1] नृसिंहः स्वयमुद्बभौ।
योगान्तरं पंचमेऽस्मिन् षष्ठे स्पष्टमुदीर्यते।।१११।।
अकारार्थं मंत्रराजपदार्थैर्योजयेत् क्रमात्।
चतुर्मूर्त्यात्मकैर्योगैरविकल्पान्तकैरपि।।११२।।

विश्वादि विराडादि से अभिन्न होकर अकारादि में संगृहीत होने पर आत्मा में उपसंहृत हो जाते हैं। समष्टि स्तर पर उपाधिभूत अविद्या ही कारणाविद्या है। अन्तःकरणादि कार्याविद्या का तो उसी में संहार हो गया, कारणाविद्या का चित्, ज्ञान में संहार होता है, उपाधि का बाध हो जाता है। इस अद्वयता से वास्तविक अभय प्रकट होना स्वाभाविक है।।१०९+१/२।।

दूसरे मंत्र का भाव बताते हैं **ब्रह्मादि को चिद्रूप बनाये, इस कार्य में मंत्रराज के पादों का उपयोग करे। अविद्या को हटाने वाला यह नृसिंह स्वयं प्रकट होता है।।११०+**१/२**।।** अविद्या का तो स्वरूपतः बाध है, उसे तो चित् खा जाता है, नष्ट कर देता है, लेकिन उपहितों को चिद्रूपता मिलती है, उनका केवल संसर्ग बाधित होता है, स्वरूप तो चित् ही होने से सत्य है। मंत्रराज के पादों से ब्रह्मादि (विराडादि) की चिद्रूपता ही बतायी है। अतः इसके लिये उन पादों का प्रयोग उचित है। अथवा प्रणव के पादों से भी यही कार्य किया जाता है। इतना करना साधकका कार्य है, फिर अविद्यानिवर्त्तक नृसिंह, अखण्डबोध स्वयम् उपलब्ध होगा, यत्नसाध्य नहीं है। मृत्तुशास्त्री एवं मद्रास के पाठ में अर्थ है कि उक्त साधन के पश्चात् अविद्या को निवृत्त करके प्रकट होने वाला वही है जो हमेशा स्वयं नृसिंह ही था! अर्थात् ब्रह्म ही बंधानुभव कर रहा था, साधना कर रहा था, अब मुक्त है भले ही ब्रह्म होने से सदा मुक्त रहता है। तात्पर्यतः कोई विशेष भेद नहीं है।।११०+१/२।।

अब पंचम खण्ड का संक्षेप करते हैं **मन्त्रराज में आये शब्दों के अर्थों से अकार के अर्थ को क्रमशः जोड़ना चाहिये। उक्त पदों के अर्थ विश्वादि चारों मूर्त्तियाँ और अविकल्पपर्यन्त उनके भेद हैं। ये सभी ध्यानोपयोगी होने से 'योग' हैं। चौदह शब्दों से कहे अर्थ ही एक अकार से भी कहे जाते हैं। इनके अर्थों का अभेद हैऐसा लगातार चिंतन करे। चिन्तन में यह भान हो कि उग्र**

१. अविद्यां विनिवृत्त्यैष नृसिंहः स्वयमुद्बभौ-इति मुत्तु-मद्रयोः पाठः।

चतुर्दशभिरेकेनाप्यजस्रं प्रयतो वसेत्।
उग्रे वीरे महाविष्णावुज्ज्वले सर्वतोमुखे।।११३।।
नृसिंहे भीषणे भद्रे मृत्युमृत्यौ न मय्यजा।
भाति हिंसाकरी माया न मय्यस्ति चिदात्मनि।।११४।।
नमामीति पदाद् ब्रह्माभिन्नतामनुचिन्तयेत्।
ईदृग्योगी स्यादकामः काम्यमस्य न संभवेत्।।११५।।
निष्कामोऽसौ लौकिकानां कामानां विनिवृत्तितः।
काम्य आत्माऽपि बोधाप्तः किमन्यत् काम्यते पुनः।।११६।।

वीर महाविष्णु उज्ज्वल सर्वतोमुख नृसिंह भीषण भद्र मृत्युमृत्यु जो मैं ऐसे मुझ में माया है ही नहीं। हिंसा करने वाली लगती माया मुझ चिद्रूप आत्मा में है ही नहीं।।११२-४।। 'अ' इससे वह सब समझ सकते हैं जो मंत्रराज (नृसिंहमंत्र) में कहा है इसका ढंग उपनिषद्दीपिका (पृ.११४-५) में स्पष्ट किया है। अ-की तरह उ व म का भी वही अर्थ निकलता है जो सारे मंत्रराज का है। इस खण्ड में अ-उ-म इन तीन मात्राओं का ही ओंकार में विभाजन है, पूर्व खण्डों की तरह चार मात्राओं का नहीं। चौदह शब्द उपनिषत् (पृ.११४-५) में कहे हैं १) साक्षी, २) ईश्वर, ३) उग्र, ४) वीर, ५) महान्, ६) विष्णु, ७) ज्वलन्, ८) सर्वतोमुख, ९) नृसिंह, १०) भीषण, ११) भद्र, १२) मत्त्युमृत्यु, १३) नमामि, १४) अहम्। इनसे कहे अर्थ अ-से पता चल जाते हैं यदि उपनिषत् सूचित दीपिकाप्रोक्त तरीके से विचार करें। ऐसे ही उ व म से ये भाव निकल आते हैं। अतः मंत्रराज और अ में अभेद हो गया। ऐसा ही उ से व म से भी जब मंत्रराज का अभेद है तब अ-उ-म का भी परस्पर अभेद ही हुआ। अर्थ का अभेद ही शब्द का अभेद कह दिया जाता है। उग्रादि शब्द मन्त्रराजके ही हैं, उनका उल्लेख प्रत्येक अ-उ-म से अतः समूचे ॐ से हो और मैं रूप से हो यह प्रयास करना है।।११२-४।।

चिद्रूप के साथ पूर्णता भी अनुसन्धेय बताते हैं **'नमामि' शब्द से ब्रह्म से अभिन्नता का अनुचिंतन करे। ऐसा योगी कामनारहित होगा, वह कामना करे ऐसा कोई विषय संभव नहीं।।११५।। लौकिक कामनाएँ निवृत्त हो चुकने से यह निष्काम है, जो चाहता रहा वह आत्मा भी बोध से प्राप्त हो गया, अब और क्या चाह सकता है।।११६।। उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वरन् वे परमात्मा में लीन हो जाते हैं। पहले भी ब्रह्म रहा वह अवबोध के बल पर ब्रह्म**

उत्क्रामन्ति न तत्प्राणा लीयन्ते तु परात्मनि।
ब्रह्मैव सन् पुराप्येष ब्रह्माप्नोत्यवबोधतः।।११७।।
तथोकारमकारौ च योज्यौ मंत्रपदेष्वतः।
अस्मिन् खंडे त्रयो योगा धीविश्रान्त्यै प्रकीर्तिताः।।११८।।

को पा जाता है।।११७।। अ- की तरह ही उकार-मकार को मन्त्रराज से जोड़ कर चिंतन करना चाहिये। इस पाँचवें खण्ड में बुद्धि को श्रमहीन करने के लिये अकारादि तीन के सहारे तीन योग (ध्यान) बताये हैं।।११८।। अहंकार समाप्त करना 'नमामि', नमनका अर्थ है। अहं छोड़ते ही ब्रह्म से अभेद पता चल जाता है। 'पता' अर्थात् ज्ञान नहीं क्योंकि यह ध्यानका प्रसंग है लेकिन अहम् का उल्लेख हटने पर परिच्छिन्नता मिटती है तो पूर्णता भासती ही है। ऐसे उपासक को यहीं श्रुति ने 'सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः' (पृ० ११५) कहा। आत्मोपासक को अनात्मकामना रह नहीं जातीं। यदि रहती लगें तो वैराग्य भी बढाये और उपासना भी बढ़ाये तो इसी के प्रभाव से कामनाएँ दूर हो जायेंगी। जब आत्मसुख प्राप्त होता है तब अनात्मा में सुख प्रतीत ही होना ख़त्म हो जाता है अतः अकामता स्वाभाविक होती है। ब्रह्मोपासक को ब्रह्मलोक के व्यवधान से ही सही पर मोक्षप्राप्ति निश्चित है। अतः यहाँ उपासक के प्राणोत्क्रमणादि का निषेध अर्थवाद है। अथवा उपासनापरिपाक से उसे निश्चय हो जाता है अतः वह तत्त्वज्ञ है इसलिये सद्योमुक्ति कही। योग-ज्ञान को व्यवस्थित साधनों के रूप में श्लोक ५४ में कह चुके हैं। यथाश्रुति और अखण्ड वृत्ति है तो इसे ध्यान से बनी इतने कारण से ज्ञान न मानना उपपन्न नहीं। यथाविषय वृत्ति जिस भी साधन से बने ज्ञान कहलाने योग्य है। अतः इस उपासना का पूर्ण विकास ज्ञानरूप होने से अनुत्क्रमण संगत है। प्राणों का परमात्मा में विलय 'तानि परे तथा ह्याह' (ब्र.४.२.१५) में निर्णीत है। भ्रमसिद्ध वस्तु का अधिष्ठान में ही लय देखा गया है। उपासना जीवनकाल में ही पक्व होने से तभी साधक को ब्रह्मभाव मिल गया, मिलने पर भले ही लगा कि 'मैं सदा से यही रहा, मिला क्या!' प्राणों का परमात्मा में विलय होने पर विदेह भाव हो गया, उपलभ्य भी द्वैत नहीं रहा। यहाँ अ- के सहारे ही वर्णन किया, उपनिषत् में उ और म के भी सहारे यही चिन्तन विहित है अतः अभ्यासी को तीनों के आधार पर आत्मचिंतन करते ही रहना चाहिये ताकि बुद्धि सभी श्रमों से रहित हो जाये। अनात्मचिंतन ही श्रम है। उसका मौका ही न रहे यह प्रयास हो तभी मोक्ष फल का लाभ होगा।।११५-८।।

साधनोपदेशः

षष्ठे खण्डेऽथ विद्यायाः साधनान्यखिलान्यपि।
जीवन्मुक्त्यवसायीनि संगृह्यन्ते ह्यतिस्फुटम्।।११९।।
विषयासंगरूपो यः पाप्मासावासुरत्वतः।
विद्येच्छां प्रतिबध्नाति सोऽयमादौ निवर्त्यताम्।।१२०।।
रजस्तमोवृत्तयो या लोभमोहादयो हृदि।
क्रूरत्वादसुरास्ते स्युर्देवाः स्युः सत्त्ववृत्तयः।।१२१।।
'सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।'१२२।।

छठे खण्ड का श्लोक १२८ तक वर्णन प्रारम्भ करते हैं **इसके अनन्तर छठे खण्ड में विद्या के सारे साधन अत्यंत स्पष्ट रूप से एकत्र कर बताये हैं जिनका यथाविधि अनुष्ठान करें तो जीवन्मुक्ति में पर्यवसान निश्चित है।।११९।। विषयों के प्रति आसक्ति आसुर प्रवृत्ति होने से पाप है, वह विद्या की इच्छा को ही प्रतिबद्ध (रोक) कर लेती है अतः पहले इसे ही हटाया जाये।।१२०।।** आसक्ति, आकर्षण होता है नाम-रूप-कर्म के प्रति तथा वे ही मिथ्या हैं! सत्य की ओर हमारा आकर्षण ही नहीं। लौकिक सत्य दाल-चावल के प्रति नहीं, इडली, डोसा, पुलाव आदि के प्रति है जो हैं केवल दाल-चावलरूप उपादान पर आरोपित नाम-रूप जैसे मिट्टी पर घटादि आरोपित होते हैं। आसक्ति आसुर इसलिये कि प्राणोंइन्द्रियों के रमणार्थ ही आसक्ति हुआ करती है। कल्याण, हित के लिये विवेकपूर्ण मुमुक्षा ही होगी, आसक्ति कभी नहीं। इन्द्रिय-मन में तादात्म्य कर हम इनके गुलाम बने हैं, इनसे अपना भेद पहचानकर इस गुलामी से मुक्ति पुरुषार्थ है। तादात्म्याध्यास या मोह से गुलामी आजकल बहुत स्पष्ट है, बच्चों के आचार-विचार सर्वथा ग़लत, अधार्मिक, अहितकर जानते हुए भी माता-पिता उन्हें प्रोत्साहन देते रहते हैं! विषयासक्ति सबसे बड़ी रुकावट है आत्मज्ञान की इच्छा उत्पन्न होने में। अतः इसे दूर करने को प्राथमिकता देना साधक का कार्य है।।११९-२०।।

आसक्ति की आसुरी सम्पत्ति-रूपता स्पष्ट करते हैं **हृदय में जो लोभ-मोहादि रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियाँ होती हैं वे क्रूर होने से असुर हैं। सत्त्वगुण से बनी वृत्तियाँ देव हैं।।१२१।। (भगवान् ने बताया है) सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ और तम से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान होते हैं।।१२२।।** लोभ-मोह क्योंकि अतिशय

अर्थावुग्रादिशब्दानां यौ प्रोक्तौ तापनीययोः।
सगुणागुणभेदेन तद्ध्यानादसुरान् जयेत्।।१२३।।
त्यक्त्वा रजस्तमोवृत्ती सात्विकीं वृत्तिमाश्रिता।
धीश्चिदानन्दमात्मानं ध्यायन्ती तन्मयी भवेत्।१२४।।
ततो ध्यातृध्येयभेदनिवृत्त्यै मन्त्रराजतः।
[1]तुर्यातुर्यमनुस्मृत्य समाधिः प्रणवे भवेत्।।१२५।।

कष्ट देते रहते हैं इसलिये क्रूर हैं। इन दोनो दुर्गुणों से कभी भी सुख नहीं मिलता, न लोभादि करते समय और न उनके प्रभाव के समय। फिर भी भ्रमवश इन वृत्तियों को प्रिय मानकर इनका अनुसरण करते ही रहते हैं। दयनीय दशा में भी लोभादि वृत्तियाँ पुरुष को छोड़ती नहीं अतः क्रूर हैं। बहुधा देखा जाता है कि बच्चों आदि से अपमानादि पाकर भी व्यक्ति उन्हीं की प्रसन्नता के लिये सचेष्ट रहता है क्योंकि मोह उस पर दयाकर उसे छोड़ता नहीं। इसी से इन्हें आसुर कहना बनता है। इनसे विपरीत सात्त्विक वृत्तियाँ हैं जो यथावस्तु ज्ञान और वास्तविक सुख प्रदान करती हैं। भगवद्वचन (१४-१७) इस सन्दर्भ में स्फुट प्रमाण है।।१२१-२।।

आसुरी वृत्तियों पर नियंत्रण पाने का उपाय बताते हैं **पूर्वोत्तर तापनीयों में उग्रादि शब्दों के सगुण-निर्गुण भेद से जो अर्थ बताये उनके ध्यान से आसुर वृत्तियों पर विजय पानी चाहिये।।१२३।। रज और तमकी वृत्तियाँ छोड़कर सात्त्विक वृत्ति का सहारा लेने वाली बुद्धि जब चिदानन्दरूप आत्मा के ध्यान में संलग्न रहती है तब तदाकार ही हो जाती है।।१२४।। तब ध्याता-ध्येय का भेद मिटाने के लिये मन्त्रराज द्वारा तुरीय-तुरीय (अविकल्प) को याद कर प्रणव में (तदर्थभूत परमेश्वर में) बुद्धि समाहित हो जाती है।।१२५।।** सगुण की उपासना से तमोगुण पर और निर्गुण की उपासना से रजोगुण पर विजय होती है। मंत्र वही है, उसके अर्थों में ही भेद है। सर्वत्र वेदादि के मंत्रों में यह रहस्य है कि आपाततः सगुण का वर्णन करते हुए भी वे लक्षणा-व्यंजना-ध्वनि आदि वृत्तियों से निर्गुण का कथन करते हैं। साधक एकाएक निर्गुणोपासना कर नहीं सकता अतः सगुणोपासना से ही प्रारम्भ करे। यद्यपि बाह्य पूजादि भी उपासना है तथापि यहाँ 'ध्यानात्' से बताया कि आसुर वृत्तियों पर विजय के लिये सगुण-निर्गुण परमेश्वर के मंत्रोक्त स्वरूप पर ध्यान

---

१. तुर्यतुर्यम् इति पिपठिषामि।

मन्त्रार्थे प्रणवं दीर्घमुक्त्वा चित्तं विलापयेत्।
अमूर्तमद्वयं ब्रह्मानुभवन् वर्तते तदा।।१२६।।
ईदृक् समाधिविघ्नानां शान्त्यै पुत्रैषणादिकम्।
त्यक्त्वा चित्तं समाधाय जीवन्मुक्तः सुखी भवेत्।।१२७।।

अनिवार्य है, अन्यथा पूजादि से यह फल नहीं मिलता। किं च ईश्वरोपासना का ही यह प्रभाव है, देवतोपासना का नहीं। उपास्य को जगज्जन्मादिहेतु अपरिच्छिन्न स्वतंत्र समझें तब उसे ईश्वर देखते हैं और सर्वहेतु, असीमित, सर्वसमर्थ न समझने पर उसे देवता देखते हैंयह अनुभवानुसारी दृष्टिभेद है। साथ ही साधक में उक्त वृत्तियों को दूर करने की इच्छा भी चाहिये अर्थात् इस तथ्य को स्वीकारना चाहिये कि ये हेय वृत्तियाँ हैं और आराध्य से इन्हें हटाने की प्रार्थना करनी चाहिये। जैसे राजस-तामस का त्याग आवश्यक है वैसे सात्त्विक का आश्रयण भी आवश्यक है। सात्त्विकता के अभिवर्धन के बिना परमात्मबोध असंभव है। भले ही अन्त में तीनों गुण छूटेंगे पर इस कार्य को संभव सत्त्वगुण ही करेगा। सात्त्विक चित्त ही परमशुद्ध परमात्मा का आकार ग्रहण कर सकता है और वह आकार ग्रहण करने पर ही अविद्या दूर होती है। किंतु यह आकार सायास न रहे इसलिये ध्याता-ध्येय का भेद दूर करना पड़ता है। इस भेद के रहते अखण्ड आकार पलकारा-मात्र होता है, अस्थिर अतः कार्यकारी नहीं होता। भेद-निवृत्ति में भी साधन मन्त्रसूचित अविकल्प पर एकाग्रता ही है क्योंकि इस उपनिषत् में योग-अधिकारी ही प्रधान है ज्ञानाधिकारी इससे पूर्व पूरे ग्रंथ में प्रधान था।।१२३-५।।

प्रणव में समाधि ही स्पष्ट करते हैं **दीर्घ ओंकार का उच्चारण कर चित्त को मन्त्र के अर्थ में विलीन करे, तब अमूर्त अद्वय व्यापक चेतन का अनुभव करते हुए रहता है।।१२६।।** मन्त्रराज और प्रणव दोनों का सारभूत अर्थ जो अखण्ड अद्वय प्रत्यगात्मा, उस मन्त्र का भान कायम रखने का प्रयास कर्त्तव्य है। अमूर्त खासकर नृसिंहाकार वृत्ति के निषेधार्थ कहा अर्थात् यह निर्गुण उपासना का ही उत्कर्ष है।।१२६।।

उपनिषत् में (पृ. १२४) एषणा-व्युत्थानादि का कथन है जिसका उद्देश्य स्पष्ट करते हैं **ऐसी समाधि के विघ्नों की शान्ति के लिये पुत्रैषणा आदि छोड़कर चित्त एकाग्र कर जीवन्मुक्त सुखी रह सकता है।।१२७।।** अध्याय १७ श्लोक १७१ आदि में एषणात्याग का वर्णन हो चुका है। तापनीय में 'ससाधनेभ्यो व्युत्थाय' यह

अकारादिषडंगेषु संयोज्यासंगमद्वयम् ।
मन्त्रार्थमपि संयोज्य ह्यकारादीनुपेक्षते । ।१२८ । ।
खण्डेऽथ सप्तमे योगाः प्रवक्ष्यन्ते पुनस्त्रयः ।
तेषामन्यतमेनाऽसौ विद्वान् कालं नयेत् पुमान् । ।१२६ । ।

(पृ. १२४) और स्पष्ट किया है। ऐसों का वर्णन भी मार्मिक है 'निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा बधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ता इव परिवर्तमानाः शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परमं ब्रह्माऽऽत्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः'। यही परमहंस स्थिति है। इसमें बाह्य अभिव्यक्ति अभिप्रेत नहीं, आगार-परिग्रहादि में ममत्वराहित्य सुस्पष्ट अनुभूयमान हो यही जरूरी है भले ही इसके लिये आगारादि से स्थूल वियोग भी आवश्यक हो; किंतु स्थूल वियोग रखकर आगारादि को चित्त में महत्त्व देना इस साधना में हानिकर ही है, लाभप्रद बिलकुल नहीं। ।१२७ । ।

छठे खण्ड के अंत में मंत्र है 'शृंगेष्वशृगं संयोज्य, सिंहं शृंगेषु योजयेत्। शृंगाभ्यां शृंगमाबध्य त्रयो देवा उदासते। ।' अर्थात् अ-उ-म रूप शृंगों में अमात्र रूप शृंग जोड़कर अर्थात् अ-उ-म से अभिप्रेत अमात्र है यह जानकर सिंह अर्थात् पदार्थशोधन-रूप विवेक को शृंगों से अर्थात् तत्-त्वंपदार्थों से जोड़े, उनका विवेक करे। शृंगों से अर्थात् अ-उ के अर्थभूत स्थूल-सूक्ष्म के साक्षी से शृंग को अर्थात् म के अर्थ ईश्वर को आबध्य अर्थात् अभिन्न जानकर कर्मेंद्रिय-ज्ञानेन्द्रिय-मन सभी केवल (उत्) ब्रह्मरूप से रहते हैं। इसका भावार्थ व्यक्त करते हैं **अकार आदि छह अंगों से असंग अद्वय को जोड़कर, उसी से मंत्रार्थ भी जोड़कर अकार आदि की उपेक्षा करता है। ।१२८ । ।** विश्व-विराट् आदि छह अंग अकारादि से द्योत्य हैं। उन्हें अद्वय से अभिन्न जानना है और इस ज्ञानकी प्राप्ति का हेतु भी उस अद्वय से अभिन्न है यह निर्णय करना है अर्थात् प्रमाण और तन्निमित्तक त्रिपुटी विलीन करनी है। इस स्थिति के बाद अकारादि अर्थात् वाच्य-वाचक दोनों ही केवल (उप-ईक्षित) प्रतीयमान ही रहते हैं, उनमें सत्त्यता का भ्रम नहीं होता है। ।१२८ । ।

सप्तम खण्ड श्लोक १४२ तक समझाते हैं **इसके अनन्तर सातवें खण्ड में फिर तीन योग बतायेंगे। विद्वान् को चाहिये कि इनमें से किसी एक का अनुष्ठान करते हुए समय व्यतीत करे। ।१२६ । ।** आत्मानुसन्धान में विविध ग्रंथश्रवण, विविध युक्ति मनन की तरह विविध योगों का भी उपयोग है। यत्नतः चिन्तन करने

अकारार्थमजत्वाद्यैश्चिन्तयेद् बुद्धिसाक्षिणम्।
उत्कर्षाद्यैरुकारार्थं मन्त्रदेवं विचिन्तयेत्।।१३०।।
अनूद्य साक्षिणं प्रोक्तं मंत्रदेवत्वमस्य तत्।
उत्कृष्टत्वादिभिः शब्दैः पंचभिश्चिन्तयेत्तथा।।१३१।।
उत्तरैः पंचभिर्देवमनूद्य परमात्मताम्।
महत्त्वाद्यैर्मकारार्थरूपं तस्य विचिन्तयेत्।।१३२।।
शरीरत्रयहीनो यः सच्चिदानन्दलक्षणः।
स एव भवति ध्यानाद्योगोऽयं प्रथमो भवेत्।।१३३।।

से विचलन की संभावना भी नहीं रहती।।१२६।।

देवताओं ने पुनरुपदेश की प्रार्थना की तो उन्होंने क्या उपदेश दिया यह बताते हैं **अकार के अर्थ बुद्धिसाक्षी का अज आदि रूप से चिन्तन करना चाहिये। उकार का अर्थ जो मंत्रदेव उसका उत्कर्ष आदि विशेषताओं वाले के रूप में अनुसन्धान करना चाहिये।।१३०।। 'अ' से साक्षी को उद्देश्य करके 'उ' से उसकी परमात्मता का विधान किया इसलिए 'उ' का अर्थ मंत्रदेव (मंत्र-प्रोक्त देव) है। उत्कृष्टत्व आदि पाँच शब्दों के सहारे उस तरह उसका चिन्तन करना चाहिये।।१३१। महत्त्व आदि आगे आये पाँच शब्दों से मंत्रदेव को उद्देश्य कर उसे 'म' से परमात्मा बताया अतः मकार के अर्थरूप से उसका चिन्तन करना चाहिये।।१३२।। यों ध्यान के फलस्वरूप साधक जो तीनों शरीरों से रहित सच्चिदानन्दरूप है वही हो जाता है। यह इस खंड में कहा पहला योग है।।१३३।।** उपनिषत् (पृ. १२७) में अ-उ-म से सूचित कुछ भाव बताये हैं जिनके बोधक शब्द अ-उ-म से प्रारंभ होते हैं, उन भावों वाले अर्थों के चिंतन का विधान किया जा रहा है। वे भाव हैं

अ'अजत्वाद् अमरत्वाद् अजरत्वाद् अमृतत्वाद् अभयत्वाद् अशोकत्वाद् अमोहत्वाद् अनशनायत्वाद् अपिपासत्वाद् अद्वैतत्वाच्च।'

उ'उदुत्कृष्टत्वाद् उदुत्पादकत्वाद् उदुत्प्रवेष्टृत्वाद् उदुत्थापयितृत्वाद् उदुद्द्रष्टृत्वाद् उदुत्कर्तृत्वाद् उदुत्पथवारकत्वाद् उदुद्ग्रासकत्वाद् उदुद्भ्रान्तत्वाद् उदुत्तीर्णविकृतित्वाच्च।'

म'महत्त्वाद् महस्त्वाद् मानत्वाद् मुक्तत्वाद् महादेवत्वाद् महेश्वरत्वाद् महासत्त्वाद् महाचित्त्वाद् महानन्दत्वाद् महाप्रभुत्वाच्च।'

अ-उ-म इस क्रम को उद्देश्य-विधेय के ढंग से कहने पर अ को उ तथा उ को म

अन्येन कस्त्वमित्येवं पृष्टाः सर्वेऽपि मानवाः।
अहमित्याहुरेतेषामहमित्यभिधानतः।।१३४।।
अहंशब्दे प्रत्यगात्मवाचिन्यादेरकारतः।
प्रथमे [1]प्रथमाद्वर्णादात्मानमनुचिन्तयेत्।।१३५।।
ब्रह्मणः सच्चिदानन्दा वीक्ष्यन्ते सर्ववस्तुषु।
तस्मात् सर्वात्मकं ब्रह्म मकारो ब्रह्मशब्दगः।।१३६।।
मकारः प्रणवस्यान्ते यस्तेन ब्रह्म चिन्तयेत्।
आत्मनो ब्रह्मणैकत्वमुकारेण विचिन्तयेत्।।१३७।।
आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे योगोऽयं प्रणवे श्रुतः।
अर्थे तत्त्वमसीत्यस्य योगोऽथ प्रणवे भवेत्।।१३८।।

बताना सिद्ध होता है जिससे अखण्ड वाक्यार्थ प्रकट हो जाता है। अ-से जीव कहकर उसे ही उ-से ईश्वर कहा एवं इनके वाच्यरूपों को हटाने पर बचे सच्चिदानन्द को म-से बताया। उकार के भावों में 'उत्' शब्द सर्वत्र अतिशयार्थ है। दीपिका में (पृ.१२७) 'उत्कृष्टत्वधर्माद् उत्कृष्टत्वे सति उत्कृष्टत्वम् उदुत्कृष्टत्वम्। उदुत्पादकत्वादिकम् अपि एवं द्रष्टव्यम्।' उत्पथ अर्थात् ग़लत रास्ता, उससे रोकने वालों में उत्तमयह उदुत्पथवारक का मतलब है। उद्भ्रान्त अर्थात् व्यापक, उससे भी उत्तम उदुद्भ्रान्त है। बाकी शब्दों के अर्थ प्रायः स्पष्ट हैं।।१३०-३।।

दूसरा योग समझाते हैं **'तुम कौन हो?' यों किसी के द्वारा पूछे जाने पर सभी मानव 'अहम्' (मैं) यह कहते हैं क्योंकि इन सबका 'अहम्' यह नाम है।।१३४।। प्रत्यगात्माके वाचक अहंशब्द में प्रारम्भ अकार से है अतः प्रणव में प्रथम वर्ण से आत्माका अनुचिन्तन करना चाहिये।।१३५।। ब्रह्मके सत्-चिद्-आनन्द सब वस्तुओं में दीखते हैं अतः ब्रह्म सबका आत्मा है। मकार ब्रह्म शब्द में उपस्थित है।।१३६।। प्रणव के अन्त में जो मकार है उससे ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये। आत्मा और ब्रह्म की एकता का उकार से चिन्तन करना चाहिये।।१३७।। 'आत्मा ब्रह्म है' इस वाक्य के अर्थ के बारे में यह योग प्रणव के सम्बन्ध में श्रुतिसिद्ध है। आगे 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अर्थ पर योग प्रणव में कैसे है यह बताते हैं।।१३८।।** अ-उ-म के अ का मतलब अहम् अर्थात् स्वयं को मैं बोलने वाला जीव। तथा म का मतलब ब्रह्म अर्थात् सबमें व्याप्त आत्मा। 'उ'

१. सर्वत्रैवं मुद्रितम्। 'प्रणवे' इति तु पठितुं युक्तम्। श्लो. १३७ प्रणवस्येति प्रयोगादप्येवमवसीयते।

सर्वात्मकं ब्रह्म यत् स्यादुग्रादिपदभाषितम्।
संहारे जगदत्तृत्वात्तस्योकारार्थतोचिता[1] ।।१३९।।
संहृते जगति ब्रह्म सततं ह्यवतिष्ठते।
पुनरुग्रादिशब्दैस्तदखण्डत्वेन संस्मरेत्।।१४०।।
साक्षिणं मन आदीनामात्मानं तु मकारतः।
ध्यात्वा ब्रह्मत्वसंपत्त्यै दृष्टिसृष्टिमनुस्मरेत्।।१४१।।
ब्रह्मात्मनोस्तु समयोरैक्यं ध्यायेदुकारतः।
फलं तु पूर्ववद्विद्यात् त्रयो योगा इतीरिताः।।१४२।।

का अर्थ अवधारण या निश्चय भी है यह इस प्रसंग में श्रुति ने सूचित किया है (पृ.१३१) 'किमिदमेवम्? इति, उ इत्येवाहाविचिकित्सन्'। अतः अ ही म है इसे निर्धारित करना उ का भाव है। इस तरह 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य का अर्थ ॐ से स्पष्ट हुआ। आगे तीसरा योग 'तत्त्वमसि' का अर्थ ॐ से पता चलाने वाला बता रहे हैं।।१३४-८।।

तीसरे योग का निर्देश करते हैं **उग्रादिशब्दों से कथित जो सर्वरूप परमेश्वर वह अ-कार का अर्थ हो यह उचित है क्योंकि संहार के समय वह सारे जगत् का अदन (भक्षण) करता है।।१३९।। जगत् का संहार हो चुकने पर क्योंकि ब्रह्म ही लगातार बना रहता है। इसलिये फिर उग्रादि शब्दों से उसी तत्त्व को अखण्डरूप से याद करना चाहिये।।१४०।। मकार से मनआदि के साक्षी आत्मा का ध्यानकर स्वयं ब्रह्म होने के लिये दृष्टि-सृष्टि का स्मरण बनाये रखना उचित है।।१४१।। सर्वथा समान जो ब्रह्म और आत्मा, उनकी एकता का उ-कार से ध्यान करे तो ब्रह्मरूपता सम्पन्न हो जाती है। इस तरह सातवें खण्ड के तीनों योग बता दिये।।१४२।।** इस योग अर्थात् ध्यानप्रक्रिया में 'अ' से सर्वरूप परमेश्वर 'म' से साक्षी तथा 'उ' से इनके अभेदका चिंतन है। पिछले योग में 'अ' से अहमर्थ लिया था, पहले में भी बुद्धिसाक्षी लिया था, अब विपरीत लिया है। इस तरह व्यतिहार (ब्र.सू. ३.३.३७) का प्रदर्शन कर अत्यन्त अभेद को प्रणवार्थ कह दिया। व्यतिहार मायने उद्देश्य-विधेय को उलट-पलटकर ऐक्य कहना, इससे जो अभेद कथित होता है वह भेद को बिलकुल सहन नहीं करता। सृष्टिकाल में अर्थात् जब तक

---

१. 'तस्याऽकारार्थतोचिता' इति युक्तं पठितुम्।।

चत्वारो ह्यष्टमे खण्डे योगास्तुर्यस्य भासकाः।
ॐकारनामा प्रणवे नादो यस्तत्र वर्णितः।।१४३।।
ओतानुज्ञात्रनुज्ञातैरविकल्प इतीरितैः।
भेदैर्योगा विभिन्नाः स्युरभयं ब्रह्म तैर्भवेत्।।१४४।।

संहारकता संभव है तब तक उसे सर्वरूप तथा संहार के बाद अखण्डरूप यों सविशेष-निर्विशेष दोनों तरह 'अ' से चिंतन सूचित किया। दृष्टि-सृष्टि अर्थात् अनुभूयमान से अतिरिक्त की अनुपस्थिति का निश्चय। बालाकि को दिये उपदेश के सन्दर्भ में (अनु. प्र. अध्याय ६ श्लोक ४६) बता चुके हैं कि दृष्टिसृष्टि शीघ्रफलार्थ उपयोगी है अतः यहाँ उसीका अवलम्बन कहा। घोर विरक्ति होने पर ही यह दृष्टि रखी जा सकती है एवं बहिःसम्पर्क अत्यन्त न्यूनतम हो, किसी के प्रति न कोई कर्त्तव्य रहे न निर्भरता, तभी साधक यह अभ्यास कर सकता है। ब्रह्म-आत्मा को समान इसलिये कहते हैं कि सोपाधिक दशा में भेद-प्रतीति है। जैसे वस्तुतः अभिन्न होने पर भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब को समान कह देते हैं वैसे समझना चाहिये। उकार से क्योंकि अ व म दोनों एक से सम्बद्ध हैं इसलिये इससे अ-म का सर्वथा साम्य पता चलता है। यह चिंतन भी परमात्मरूपता के लाभार्थ, विद्यादार्ढ्य के लिये ही है। अतः तत्त्ववेत्ता को इसका उपयोग करना उचित है।।१३६-४२।।

अ-उ-म में बँटे प्रणव से चिन्तन के विधान के अनन्तर आठवें खण्ड में अविभक्त प्रणव से चिन्तनका विधान है यह बताते हैं **तुरीय के प्रकाशक चार योग ओंकार नामक प्रणव में जो नाद है, उसके सहारे आठवें खंड में वर्णित हैं।।१४३।। ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा, अविकल्पइन नामों वाले भेदों से योग विभिन्न हैं जिनके अनुष्ठान से साधक निर्भय ब्रह्म हो सकता है।।१४४।।** अकारादि के अभ्यासातिशय से अखण्ड के संस्कार दृढ हो चुकने पर विभाजनों का उल्लेख बिना किये प्रणवनाद पर मन स्थिर रखकर तुरीय के गाम्भीर्य में उतरते-उतरते अविकल्प पर पहुँचकर स्थिर रहना इस खण्ड में विहित है। अविकल्प ही वस्तुतः अद्वय होने से अभय है। यहाँ श्रुति ने (पृ. १३६) स्पष्ट कहा है 'नाऽत्र काचन भिदाऽस्ति नैवाऽत्र काचन भिदाऽस्ति, अत्र भिदाम् इव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्त्योर्मृत्त्युम् आप्नोति', अतः यही अत्यन्त अद्वैत की स्थिति है। अनुभूतिप्रकाश में इसका कथन-भर किया, विस्तार उपनिषद्दीपिका से समझा जाये।।१४३-४।।

नौवाँ उपसंहारात्मक खण्ड संगृहीत करते हैं **ओंकार और नृसिंहमन्त्र द्वारा**

उपनिषदुपसंहारः

ॐकारमंत्रयोर्ध्येयं वस्तु यद् बहुधेरितम्।
तत्तत्त्वं नवमे खण्डे विस्पष्टं प्रविविच्यते।।१४५।।
य आत्मा ध्यातृदेहेषु यश्च ध्येयेषु भासते।
एक एव स चिद्रूपो मायया भात्यनेकवत्।।१४६।।
सुषुप्तौ जीवचैतन्यमद्वयं ब्रह्मतां व्रजेत्।
जगत् सर्वमविद्येति सर्वैरप्यनुभूयते।।१४७।।
सृष्टेः प्रागप्येवमासीत् सा माया वटबीजवत्।
अनेकरूपतां प्राप्य जीवेशावपि निर्ममे।।१४८।।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
उपाध्योर्यौ चिदाभासौ तौ जीवेशावुदीरितौ।।१४९।।

ध्यानयोग्य जो वस्तु नाना प्रकार से बतायी उसी का वास्तविक स्वरूप नौवें खण्ड में समझाया है।।१४५।। ध्येय की वास्तविकता समझना जरूरी अन्यथा उपास्य-गुणों से परे नहीं जा पाते। जैसे पति या पत्नी की शक्ल-सूरत आदि से छिपा जो उसका स्वभाव उसे पहचाने बगैर दम्पती सुख से नहीं रह सकते, बाह्याडम्बर में हेर-फेर से विचलित होते रहते हैं, वैसे उपास्य के गुणों से मुग्ध रहने पर भेदबुद्धि का निवारण नहीं हो पाता अतः तत्त्वका स्वरूप स्पष्ट समझे रखना आवश्यक है।।१४५।।

स्वरूप की अद्वितीयता प्रकट करते हैं **जो आत्मा ध्याताओं के शरीरों में एवं ध्येयस्वरूपों में भासमान है वह चित्स्वरूप एक ही है, अनेक जैसा मायावश प्रतीयमान है।।१४६।।** प्रत्येक ध्याता के जन्म-जन्मान्तर में अनेक स्थूल शरीर होने पर भी जैसे आत्मा एक ही रहता है वैसे सभी शरीरों में आत्मा एक ही है। ध्येय रूप भी अनेक बताये पर आत्मा उनमें भी एक ही है और ध्याता-ध्येय दोनों प्रकार की उपाधियों में प्रतीयमान आत्मा वही है, विभिन्न नहीं।।१४६।।

अद्वैत से द्वैतोपलब्धि उपपन्न करते हैं **सुषुप्ति में जीव-चैतन्य अद्वैत ब्रह्मरूप हो जाता है और सारा जगत् अविद्या रह जाता है यह सभी का अनुभव है।।१४७।। सृष्टि से पहले भी ऐसे ही अद्वैतस्थिति थी। वट के बीज जैसी उस माया ने अनेक रूप धारण कर जीव और ईश्वर का निर्माण किया।।१४८।। कार्य की उपाधि वाला यह जीव है तथा कारणरूप उपाधि वाला ईश्वर है; उपाधियों में जो चिदाभास हैं वे जीव और ईश्वर कहे गये हैं।।१४९।।** अद्वैत

नियन्तेशोऽनुमन्ता तु जीवः सोऽपि द्विधा भवेत्।
समष्टिव्यष्टिरित्याद्यस्तयोः सर्वाभिमानवान्।।१५०।।

का अनुभव हमें गहरी नींद में ही है और वहाँ अज्ञान है ही अतः सृष्टि के प्राक्काल में जब अद्वैत बताया जाये तब भी अज्ञान की अवस्थिति नकारना व्यर्थ है। जगने पर ये अज्ञान समेत जो हम, उस हमसे ही सारा भेद प्रकट होता है, ऐसे ही सृष्टि उस सद्रूप अद्वैत से, मायोपहित से व्यक्त होती है। वटबीज में अतिविस्तृत वट वृक्ष की तरह ईश्वर में संसार था जो उसी में से प्रकट हो गया तो जिन उपाधियों का विकास हुआ उनके संबंध से परमेश्वर ही ईश्वर एवं जीव कहलाने व समझा जाने लग गया। उपनिषत् में (पृ. १४४) बताया है कि जैसे एक ही वटबीज-सामान्य अपने से अभिन्न अनेक सबीज वट उत्पन्न कर उनमें स्वयं पूर्णतः रहता है 'एवम् एवैषा माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति।' अभिन्न भी अविद्या मायामय अनेक जीवादि का आभास कराती है क्योंकि दुर्घट-घटना में समर्थ है। उस कार्य-कारण विभाग को प्राप्त अविद्या में आभास द्वारा अहंकार बाँधे रखने वाला जीव हो जाता है और आभास का साक्षी रहने वाला ईश्वर हो जाता है। साक्षी होने से ही वह किसी परिच्छिन्न में सीमित नहीं रहता अतः व्यापक जो कारण उस उपाधि वाले के रूप में समझा जाता है। कार्य अर्थात् परिच्छिन्न, व्यावृत्त उपाधि वाला कर्त्ता-भोक्ता तथा कारण उपाधि वाला फलदाता हो जाता है। इनमें भेद उपाधिकृत ही है अतः वास्तव में ये अभिन्न ही हैं। कारण-उपाधि में सर्वसामर्थ्य है अतः ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, कार्य-उपाधि में अल्प सामर्थ्य है अतः जीव अल्पशक्तिमान् है। लेकिन यह भेद उपाधि पर निर्भर है, वास्तव नहीं। जीव की सामर्थ्य अल्प ही रहती है। ईसाई सुनाते हैं कि ईसा ने एक मुर्दे को ज़िंदा कर दिया। हमने पूछा 'कहाँ है वह ज़िंदा हुआ व्यक्ति?' वे कहते हैं 'अरे! अब कहाँ होगा! वह तो फिर मर ही गया।' तो विचार करो, ईसा की महत्ता क्या हुई! मिनट-घण्टा-दिन-महीना-साल भले ही बदले पर मरने वाले को न मरने वाला तो नहीं बनाया। अतः जीव स्वयं परिच्छिन्न उपाधि में खुद को बँधा मानने से परिच्छिन्न ही सामर्थ्य वाला है। ईश्वर ऐसे सीमित अभिमान वाला है नहीं अतः असीमित सामर्थ्य वाला है। फिर भी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति उपाधि-सापेक्ष होने से आभास द्वारा जीव-ईश्वर का निर्माण माया करती है ऐसा कहा।।१४७-९।।

जीव-ईश्वर का वर्णन करते हैं **ईश्वर नियामक है, जीव उसके नियंत्रण में**

हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा त्रिमूर्तिश्चेत्युदीर्यते।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च मूर्तयो गुणभेदतः।।१५१।।
लिंगोपाधित्वतो जीवा अपीशाः सर्ववित्त्वतः।
समष्टिः समुदायात्मा व्यष्टिस्तु पृथगात्मवान्।।१५२।।
समष्टिः सूत्रवज्ज्ञेयो ब्रह्माण्डाख्यवपुर्विराट्।
देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहो व्यष्टिरितीर्यते।।१५३।।
परः प्रविश्य देहेषु मायया गूढवत् स्थितः।
द्वैतस्य मायिकत्वेन तत्त्वमद्वैतमिष्यताम्।।१५४।।

रहने वाला है। जीव पुनः समष्टि और व्यष्टि यों दो तरह का है। इनमें पहला अर्थात् समष्टि का सबमें अभिमान है।।१५०।। समष्टिको हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा, त्रिमूर्ति आदि कहा जाता है।। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रये गुणों के भेद से विभिन्न मूर्तियाँ हैं।।१५१। सूक्ष्मोपाधिक होने से जीव होने पर भी ये सर्ववित् होने से ईश्वर हैं। समुदाय का आत्मा हुआ चेतन समष्टि है और पृथक्-पृथक् उपाधियों का आत्मा हुआ वही व्यष्टि है।।१५२।। जीव है अनुमंता, भले ही उसे भ्रम है कि वह नियंता है या हो सकता है। ईश्वर के निर्णयों का अनुमोदन करने के अलावा जीव कुछ कर नहीं सकता लेकिन यह न स्वीकारने से कर्तृत्वभ्रम पाले हुए है जिसके फलस्वरूप भोक्तृत्वभ्रम अनिवार्य है। समष्टि-व्यष्टिभाव जीव में है क्योंकि कार्यभूत उपाधि में ही समूह-समूही की व्यवस्था संभव है। कारणोपाधि में कार्य विभक्त ही नहीं तो न वे व्यष्टि हैं, न उनका समुदाय कोई समष्टि समझी जा सकती है। जीव होने पर भी समष्टिभाव में हिरण्यगर्भादि सर्वज्ञ-सर्वशक्ति है, व्यष्टिभाव में सर्वज्ञतादि नहीं होते। त्रिमूर्ति को यहाँ समष्टि स्तर का माना। कहीं-कहीं इन्हें ईश्वर का रूप बताते हैं। क्योंकि समष्टि में सर्वज्ञतादि के रूप में ईश्वरता ही व्यक्त है इसलिये अन्यत्र इन्हें ईश्वर कहते हैं, गुणरूप कार्य के सम्बन्ध वाले होने से कार्योपाधिता के चलते इन्हें जीवकोटिका कहना संगत हो जाता है।।१५२।।

सूक्ष्म की तरह स्थूल उपाधि भी समझाते हैं **ब्रह्माण्ड नामक शरीर वाले विराट् को भी सूत्रात्मा की तरह समष्टि जानना चाहिये। देव-जानवर-मनुष्य आदि शरीर वाला चेतन व्यष्टि कहा जाता है।।१५३।। परमेश्वर ही शरीरों में घुसकर माया से छिपा-सा रहता है। द्वैत मायामय होने से सत्य अद्वैत है यह समझना चाहिये।।१५४।। 'सन्मात्र नित्य' इत्यादि तापनीय श्रुति (पृ. १४७) द्वारा अद्वैत**

अध्यायपूर्त्तिः

सन्मात्रो नित्य इत्यादि श्रुत्या तत्तु स्फुटीकृतम्।
आथर्वणे तु कैवल्यप्रमुखाः श्रुतयः स्फुटाः।।१५५।।

ग्रन्थोपसंहारः

श्रुतिस्मृतीतिहासानामभिप्रायविदव्ययः।
श्रुतिव्याख्यानतस्तुष्याद् विद्यातीर्थमहेश्वरः।।१५६।।

।। इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचिते अनुभूतिप्रकाशे देवविद्याख्यो नृसिंहतापिनीविवरणो नाम विंशोऽध्यायः।।२०।।

अनुभूतिप्रकाशः सम्पूर्णः

आत्मा स्पष्ट किया गया है। अथर्ववेद में स्थित कैवल्य आदि श्रुतिसन्दर्भ इस विषय में और व्यवस्थित उपस्थापना करते हैं।।१५५।। विराट् और हिरण्यगर्भ दोनों कार्योपाधि हैं, दोनों समष्टि हैं। स्थूल समष्टिरूप उपाधि से चेतन विराट् कहा समझा जाता है जैसे सूक्ष्म समष्टिरूप उपाधि से वह हिरण्यगर्भ कहा-समझा जाता है। व्यष्टि सूक्ष्मों में देव-पशु आदि भेद नहीं क्योंकि जो आज देव है वही कल पशु पैदा हो जाता है! अतः व्यष्टि स्थूलों में ही ये भेद हैं। इससे आत्मानात्मविवेक के लिये सरलता हो गयी। जिन भेदों से हम स्वयं को परिच्छिन्न जान रहे हैं वे प्रधानतः स्थूल के ही हैं। जब स्थूल अत्यन्त अस्थिर होने से हम नहीं तो उन सारे भेदों के मायने ही समाप्त हो जाते हैं। सूक्ष्म भी सुषुप्ति में न रहने से तत्कृत भेद भी निरर्थक समझने पर साक्षिभाव में स्थिति सम्भव है। समष्टि-व्यष्टि देहों में चेतन एक ही है, परमेश्वर ही मानो इनमें घुसकर माया से (अविद्या से) स्वयं को छिपाये है। उस परमब्रह्मको सन्मात्रादि शब्दों से सूचित किया क्योंकि अथर्व की ही कैवल्यादि उपनिषदों में इस तत्त्व की मीमांसा हो चुकी है। मुक्तिकोपनिषत् में कैवल्य को यजुर्वेद की उपनिषत् माना है। तथापि यहाँ विद्यारण्यस्वामी और इसी तरह उपनिषद्ब्रह्मेन्द्र कैवल्य को अथर्ववेद की उपनिषत् मानते हैं। अथवा, 'आथर्वणे तु' से अथर्व में प्रसिद्ध अद्वैतप्रसंग एवं 'कैवल्यप्रमुखाः' से ग़ैरअथर्व श्रुतियों का संग्रह समझ सकते हैं। प्रधान बोद्धव्य इतना ही है कि आत्मा नित्य ही सच्चिदानन्द है। अविद्या के नशे में स्वयं को और कुछ समझने पर भी वास्तव में वही है। नशा उतारने के लिये ही साधना का विधान इस अध्याय में एवं समग्र शास्त्रों में किया गया है।।१५३-५।।

इस प्रकार अध्याय की पूर्ति करने के अनन्तर 'अनुभूतिप्रकाश' का समापन करते हैं। अध्याय ८ से यह ग्रंथ प्रारम्भ हुआ था। पूर्व के सात अध्यायों को 'चतुर्वेदविद्याप्रकाश' नाम से एकत्र किया था। प्रत्येक अध्याय के समर्पण की तरह ग्रंथ भी गुरुचरणों में समर्पित करते हैं **श्रुति, स्मृति और इतिहासों के अभिप्राय के जानकार स्वयम् अव्ययरूप विद्यातीर्थ नामक साक्षात् शिव, श्रुतियों की इस व्याख्या से सन्तुष्ट हों।।१५६।।** आचार्य की शास्त्रज्ञता एवं परमेश्वरनिष्ठाका कथन किया। अभिप्रायज्ञता आचार्य की विशेषता है, शब्दार्थमात्र तो कोई भी जान लेता है, तात्पर्य का जानकार दुर्लभ है। तात्पर्य परमेश्वर ही है, उसी में सदा स्थित होने से आचार्य को अव्यय कहना बनता है। ईश्वर ही गुरुमूर्ति धारण करता है यह आगमादि की मर्यादा है अतः उन्हें महेश्वर के रूप में सर्वत्र स्मरण किया। उपनिषदों की यह पद्यबद्ध व्याख्या उनके सन्तोष का हेतु बने यह ग्रंथकार की प्रार्थना है। आचार्य सदा सन्तुष्ट रहने पर भी स्वयं को ज्ञात तत्त्व के समुचित उपस्थापन को देखकर समधिक प्रसन्न होंगे यह शिष्यभाव से आचार्य विद्यारण्य का कथन है। आचार्यतुष्टि से अन्य किसी दृष्ट-अदृष्ट- प्रयोजन को विद्यारण्यस्वामी नहीं स्वीकारतेयों अपनी कृतार्थता भी प्रकट की।।१५६।।

इस प्रकार ऐतरये, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, मुण्डक और प्रश्नइस सप्ताध्यायी रूप विद्याप्रकाश और तदनन्तर कौषीतकी, मैत्रायणी, कठ, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक, केन और नृसिंहोत्तरतापनीयइस त्रयोदशाध्यायीरूप अनुभूतिप्रकाश; यों बीस अध्यायों वाले इस स्वल्पकलेवर ग्रन्थरत्न में बारह उपनिषदों का अत्यंत संश्लिष्ट तथा सरल प्रामाणिक व्याख्यान आचार्य विद्यारण्य ने कृपापूर्वक उपलब्ध कराया।।

श्रुत्वा प्रत्यक्षरं श्रीमन्महेशाख्यगुरोर्मुखात्। अनुभूतिप्रकाशस्य व्याख्येयं निर्मला कृता।।
यतिभिर्वेदतात्पर्यचिन्तया कालयापनम्। क्रियते धर्मबुद्ध्यैव तत्पुण्यं सर्वमर्पये।।
कृपयतु जगदीशो हेतुना क्लेशहेतून् अपगमयतु बुद्धिं निर्मलां स्वीकरोतु।
प्रकटयतु महेश! प्राक्समर्चाप्रयास-स्मरणजनिततुष्टिं स्वीयसन्तोषकारिन्।।

।। बीसवाँ अध्याय।।

अनुभूतिप्रकाश सम्पूर्ण

श्लोकानुक्रमणिका

आ

ब

भ

श

ष